ॐ

श्रीमद् राजचंद्र

(मूल गुजरातीका हिन्दी अनुवाद)

"जिसने आत्माको जाना उसने सब जाना"

–निर्ग्रंथ प्रवचन

श्रीमद् राजचंद्र आश्रम

अगास

ॐ

श्रीमद् राजचंद्र

(मूल गुजरातीका हिन्दी अनुवाद)

"जिसने आत्माको जाना उसने सब जाना"

— निर्ग्रंथ प्रवचन

अनुवादक

हंसराज जैन

श्रीमद् राजचंद्र आश्रम

अगास

इस संस्करण में यदि कहीं भी शब्दांतर दिखाई दे तो वह हिन्दी संस्करण की तृतीय आवृत्ति और परमकृपालुदेव के मूळ पत्र तथा 'आश्रम' प्रकाशित 'श्रीमद् राजचंद्र' ग्रंथ की गुजराती प्रथमावृत्ति के आधार पर किया गया है।

प्रकाशक

भरतभाई म. मोदी
अध्यक्ष, श्रीमद् राजचंद्र आश्रम,
स्टेशन अगास, वाया आणंद
पोस्ट बोरीआ, गुजरात – ३८८ १३०

मुद्रक

काव्य प्रिन्टर्स,
१-बी, शिव एस्टेट, सीटीएम,
एक्सप्रेस हाईवेके नजदीक,
अहमदाबाद - ३८० ०२६

प्राप्तिस्थान

श्रीमद् राजचंद्र आश्रम,
स्टेशन अगास, वाया आणंद,
पोस्ट बोरीआ, गुजरात - ३८८१३०
फोन : ०२६९२-२८१७७८
फेक्स : ०२६९२-२८१३७८
E-mail : info@agasashram.org

श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास - संचालित
श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल,
हाथी बिल्डींग, ए/१८ दूसरी मंजिल,
भांगवाडी, ४४८, कालबादेवी रोड,
बंबई-४००००२
फोन : ०२२-२२०६९२३४

षष्ठावृत्ति : प्रति १०००, विक्रम संवत् २०७३, ईस्वी सन २०१७.

लागत मूल्य रू. ३५०/- **बिक्री मूल्य** रू. १०/-

कृपया इस पुस्तककी किसी प्रकारसे
आशातना न करें, इस पर दाग न लगायें,
इसे न फाडें तथा नीचे जमीन पर न रखें।

© इस ग्रंथके सभी अधिकार प्रकाशकने स्वाधीन रखें है। अतः प्रकाशककी लिखित अनुमतिके बिना इस ग्रंथको या इस के किसी अंशको मूलरूपमें या अनुवाद के रूपमें तथा इस ग्रंथमें मुद्रित चित्रपटोंको छापने या छपवानेका काम कोई भी व्यक्ति या संस्था न करें।

श्रीमद् राजचंद्र विचाररत्न

"परम पुरुष प्रभु सद्गुरु, परम ज्ञान सुखधाम।
जेणे आप्युं भान निज, तेने सदा प्रणाम॥" –आंक २६६

*

"सर्व भावथी औदासीन्यवृत्ति करी,
मात्र देह ते संयमहेतु होय जो।
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहीं,
देहे पण किंचित् मूर्च्छा नव जोय जो॥
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे?" –आंक ७३८ गाथा २

*

"जिसके एक रोममें किंचित् भी अज्ञान, मोह या असमाधि नहीं रही उस सत्पुरुषके वचन और बोधके लिये कुछ भी नहीं कहते हुए, उसीके वचनमें प्रशस्तभावसे पुनः पुनः प्रसक्त होना, यह भी अपना सर्वोत्तम श्रेय है।

कैसी इसकी शैली! जहाँ आत्माके विकारमय होनेका अनंतांश भी नहीं रहा है। शुद्ध, स्फटिक, फेन और चंद्रसे भी उज्ज्वल शुक्लध्यानकी श्रेणीसे प्रवाहरूपसे निकलते हुए उस निर्ग्रंथके पवित्र वचनोंकी मुझे और आपको त्रिकाल श्रद्धा रहे!

यही परमात्माके योगबलके आगे प्रयाचना!" –आंक ५२

*

"अनन्तकालसे जो ज्ञान भवहेतु होता था, उस ज्ञानको एक समयमात्रमें जात्यंतर करके जिसने भवनिवृत्तिरूप किया उस कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शनको नमस्कार।" –आंक ८३९

*

"जगतके अभिप्रायकी ओर देखकर जीवने पदार्थका बोध पाया है। ज्ञानीके अभिप्रायकी ओर देखकर पाया नहीं है। जिस जीवने ज्ञानीके अभिप्रायसे बोध पाया है उस जीवको सम्यग्दर्शन होता है।" –आंक ३५८

*

"विचारवानको देह छूटने सम्बन्धी हर्षविषाद योग्य नहीं है। आत्मपरिणामकी विभावता ही हानि और वही मुख्य मरण है। स्वभावसन्मुखता तथा उसकी दृढ इच्छा भी उस हर्षविषादको दूर करती है।" – आंक ६०५

*

"श्री सद्गुरुने कहा है ऐसे निर्ग्रंथमार्गका सदैव आश्रय रहे।

मैं देहादिस्वरूप नहीं हूँ, और देह, स्त्री, पुत्र आदि कोई भी मेरे नहीं हैं, शुद्ध चैतन्य स्वरूप, अविनाशी ऐसा मैं आत्मा हूँ, इस प्रकार आत्मभावना करते हुए रागद्वेषका क्षय होता है।"

–आंक ६९२

*

"अनन्तबार देहके लिये आत्मका उपयोग किया है। जिस देहका आत्माके लिये उपयोग होगा उस देहमें आत्मविचारका आविर्भाव होने योग्य जानकर, सर्व देहार्थकी कल्पना छोडकर, एकमात्र आत्मार्थमें ही उसका उपयोग करना, ऐसा निश्चय मुमुक्षुजीवको अवश्य करना चाहिये।" –आंक ७१९

*

"विषयसे जिसकी इंद्रियाँ आर्त्त हैं उसे शीतल आत्मसुख, आत्मत्त्व कहाँसे प्रतीतिमें आयेगा ?

'जहाँ सर्वोत्कृष्ट शुद्धि वहाँ सर्वोत्कृष्ट सिद्धि।"

हे आर्यजनों ! इस परम वाक्यका आत्मभावसे आप अनुभव करें।" –आंक ८३२

*

"लोक संज्ञा जिसके जिंदगीका लक्ष्यबिंदु है वह जिंदगी चाहे जैसी श्रीमंतता, सत्ता या कुटुम्ब परिवार आदिके योगवाली हो तो भी वह दुःखका ही हेतु है। आत्मशांति जिस जिंदगीका लक्ष्यबिंदु है वह जिंदगी चाहे तो एकाकी, निर्धन और निर्वस्त्र हो तो भी परम समाधिका स्थान है।" – आंक ९४९

*

"श्रीकृष्ण महात्मा थे और ज्ञानी होते हुए भी उदयभावसे संसारमें रहे थे, इतना जैन शास्त्रसे भी जाना जा सकता है, और यह यथार्थ है; तथापि उनकी गतिके विषयमें जो भेद बताया है उसका भिन्न कारण है। और भागवत आदिमें तो जिन श्रीकृष्णका वर्णन किया है वे तो परमात्मा ही हैं। परमात्माकी लीलाको महात्मा कृष्णके नामसे गाया है। और इस भागवत और इस कृष्णको यदि महापुरुषसे समझ ले तो जीव ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यह बात हमें बहुत प्रिय है।" –आंक २१८

*

"सबकी अपेक्षा वीतरागके वचनको संपूर्ण प्रतीतिका स्थान कहना योग्य है, क्योंकि जहाँ राग आदि दोषोंका संपूर्ण क्षय होता है वहाँ संपूर्ण ज्ञानस्वभाव प्रगट होना योग्य है ऐसा नियम है।

श्री जिनेन्द्रमें सबकी अपेक्षा उत्कृष्ट वीतरागता होना संभव है, क्योंकि उनके वचन प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। जिस किसी पुरुषमें जितने अंशमें वीतरागताका संभव है, उतने अंशमें उस पुरुषका वाक्य मानने योग्य है।" –संस्मरण पोथी १/६१

*

"जैसे भगवान जिनेन्द्रने निरूपण किया है वैसे ही सर्व पदार्थका स्वरूप है।

भगवान जिनेन्द्रका उपदिष्ट आत्माका समाधिमार्ग श्री गुरुके अनुग्रहसे जानकर, परम प्रयत्नसे उसकी उपासना करे।" –संस्मरण पोथी २/२१

*

"सर्व प्रकारसे ज्ञानीकी शरणमें बुद्धि रखकर निर्भयताका, शोकरहितताका सेवन करनेकी शिक्षा श्री तीर्थंकर जैसोंने दी है, और हम भी यही कहते है। किसी भी कारणसे इस संसारमें क्लेशित होना योग्य नहीं है। अविचार और अज्ञान ये सर्व क्लेशके, मोहके और अशुभगतिके कारण हे। सद्विचार और आत्मज्ञान आत्मगतिके कारण है।" –आंक ४६०

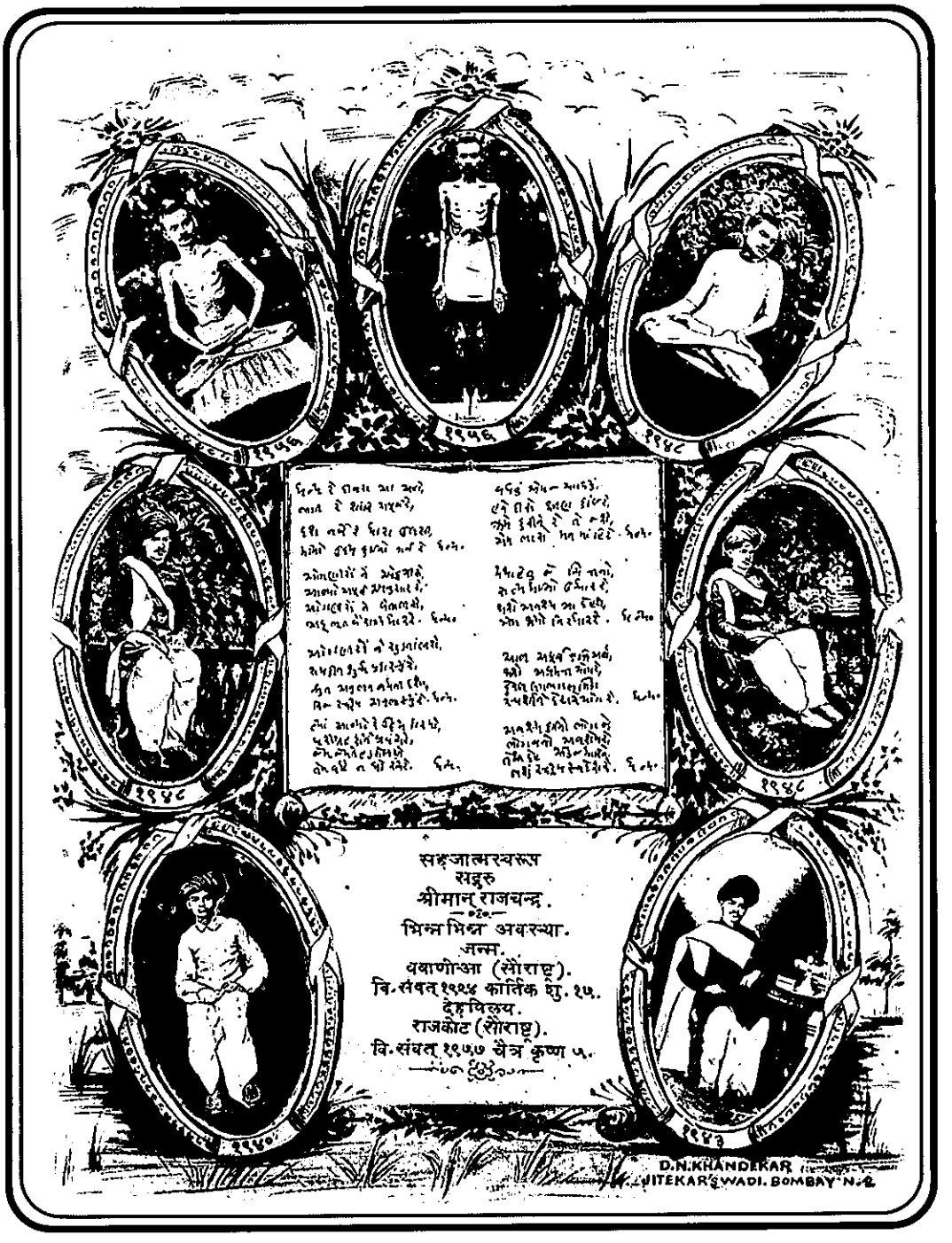

श्रीमद् राजचंद्र
भिन्न भिन्न अवस्था

प्रकाशकीय निवेदन

(द्वितीयावृत्ति-हिन्दी)

'श्रीमद् राजचंद्र' ग्रन्थ मूल गुजराती भाषामें है। इसका प्रथम हिन्दी अनुवाद पं. जगदीशचन्द्र शास्त्री, एम.ए. कृत विक्रम संवत् १९४४ (ई॰सन् १९३८) में श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल द्वारा प्रकाशित हुआ था जो काफी समयसे अप्राप्य था। इस दौरान 'श्रीमद् राजचंद्र' ग्रन्थका गुजरातीमें नवीन संशोधित परिवर्धित संस्करण वि.सं. २००७ में इसी आश्रम द्वारा प्रकाशित हुआ जिसका हिन्दी अनुवाद स्वतंत्र रूपसे करनेकी आवश्यकता थी।

प्रसंगवशात् ललितपुरके पं॰ परमेष्ठीदास जैनका आश्रममें आना हुआ। उनकी भावना एवं उत्साह देखकर उन्हें अनुवादका काम सौंपा गया। उन्होंने आंक ३७५ तक अनुवाद किया भी, परन्तु बादमें शारीरिक अस्वस्थाके कारण वे स्वेच्छासे इस अनुवादकी जिम्मेदारीसे मुक्त हुए। उसी अरसेमें संयोगवश श्री हंसराजजी जैनका परिचय हुआ और अनुवाद पूरा करनेके लिये उनसे कहा गया जिसे उन्होंने सहर्ष एवं सोत्साह मान्यकर, दृढ़ निष्ठा एवं बड़े परिश्रमसे यह कार्य यथासम्भव शीघ्र ही पूरा कर दिया। संस्कृतमें एम.ए. होनेसे उनका संस्कृत भाषाका ज्ञान अच्छा था और मूल पंजाबी होते हुए भी बरसोंसे गुजरातमें रहनेसे उनका गुजराती भाषाका ज्ञान भी प्रशस्त था। इस प्रकार वि. सं. २०३० में इस ग्रन्थका संशोधित-परिवर्धित प्रथम हिन्दी संस्करण श्रीमद् राजचन्द्र आश्रमके अन्तर्गत श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डलकी ओरसे दो भागोंमें प्रगट हुआ।

तत्पश्चात् सभी प्रतियाँ बिक जानेसे इसके पुनर्मुद्रणकी आवश्यकता प्रतीत हुई परन्तु शीघ्र मुद्रणके कारण प्रथम संस्करणमें काफी अशुद्धियाँ रह गई थीं तथा अमुक जगह वाक्यांश छूट गये थे अतः अनुवादको फिरसे मूलके साथ मिलान करना अत्यंत जरूरी था। सद्भाग्यसे दो-तीन मुमुक्षुओंने यह कार्य हाथमें लिया और सम्पूर्ण ग्रन्थको यथासम्भव शुद्ध कर दिया। उसीका परिणाम है कि आज हिंदीभाषी मुमुक्षुओंके समक्ष वि.सं. २००७ के आश्रम प्रकाशित गुजराती संस्करणके अनुसार ही यह द्वितीय हिंदी संस्करण श्रीमद् राजचंद्र आश्रमकी ओरसे प्रस्तुत हो रहा है । सन्दर्भकी दृष्टिसे दो भागके बदले एक ही भागमें ग्रन्थ मुद्रित करना योग्य लगनेसे वैसा किया है।

प्रथम संस्करणकी तरह इसमें भी मूल गुजराती काव्योंके भावार्थ (छायामात्र अर्थ) पादटिप्पणीमें दिये हैं जिससे हिन्दीभाषी जिज्ञासु उन काव्योंका सामान्य अर्थ समझ सके। विशेषार्थके जिज्ञासुओंको "न्यानियमादि पाठ (भावार्थ सहित)"का हिन्दी अनुवाद देखनेका अनुरोध है।

अन्तमें लिखना है कि अनुवाद अनुवाद ही होता है, वह मूलकी समानता कभी नहीं कर सकता। यथासम्भव शुद्ध करनेका पूरा प्रयास करने पर भी कहीं पर आशयभेद (अर्थस्खलना) हुआ हो अथवा त्रुटियाँ रह गई हो तो पाठकगण हमारे ध्यानमें लानेकी कृपा करें ताकि भविष्यमें उन्हें शुद्ध किया जा सके।

ग्रन्थका विशेष परिचय न देकर मूल गुजराती प्रथम एवं द्वितीय संस्करणकी प्रस्तावनाओंका हिन्दी-रूपान्तर ही दे दिया है जिससे ग्रन्थकर्त्ता, ग्रन्थका विषय तथा ग्रन्थकी संकलना एवं उसका आधार इत्यादिका परिचय मिल ही जाता है।

यह आत्मश्रेयसाधक ग्रन्थ मुमुक्षुबंधुओंको आत्मानंदकी साधनामें सहायक सिद्ध हो यही प्रार्थना।

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास —प्रकाशक
चैत्र वदी ५ वि॰ सं॰ २०४१

गुजराती प्रथमावृत्तिका निवेदन

(हिन्दी रूपान्तर)

"जे स्वरूप समज्या विना, पाम्यो दुःख अनंत।
समजाव्युं ते पद नमुं, श्री सद्गुरु भगवंत॥" —आत्मसिद्धि, दोहा १

अहो सत्पुरुषके वचनामृत, मुद्रा और सत्समागम।
सुषुप्त चेतनको जागृत करनेवाले,
गिरती वृत्तिको स्थिर रखनेवाले,
दर्शनामात्रसे भी निर्दोष अपूर्व स्वभावके प्रेरक,
स्वरूपप्रतीति, अप्रमत्त संयम और
पूर्ण वीतराग निर्विकल्प स्वभावके कारणभूत;
अन्तमें अयोगी स्वभाव स्थिति प्रगट करके,
अनंत अव्याबाध स्वरूपमें स्थिति करानेवाले।
त्रिकाल जयवंत रहें। —आंक ८७५

'....हम ऐसा ही जानते हैं कि एक अंश सातासे लेकर पूर्णकामता तककी सर्व समाधिका कारण सत्पुरुष ही है...।" —आंक २१३

आत्माके अस्तित्वका किसी भी प्रकारसे स्वीकार करनेवाले दर्शनोंके सभी महात्मा इस बातको मानते हैं कि यह जीव निजस्वरूपके अज्ञानसे, भ्रांतिसे अनादिकालसे इस संसारमें भटक रहा है और अनेक प्रकारके अनंत दुःखोंका अनुभव कर रहा है। उस जीवको किसी भी प्रकारसे निजस्वरूपका भान कराकर शुद्धस्वरूपमें स्थिति करानेवाला यदि कोई हो तो वह मात्र एक सत्पुरुष और उनकी बोधवाणी है।

जिस पुण्यश्लोक महापुरुषके आत्मोपकारकी पुनित स्मृति श्रीमान् लघुराजस्वामीको इस श्रीमद् राजचंद्र आश्रमके नामसंस्करणमें हेतुभूत हुई—ऐसी समीपवर्ती परम माहात्म्यवान विभूति श्रीमद् राजचंद्रके सर्व पारमार्थिक प्राप्त लेखोंका यह संग्रह-ग्रन्थ श्रीमद् राजचंद्र आश्रमकी ओरसे प्रसिद्ध करनेकी दीर्घकालसेवित शुभ भावना आज साकार होनेसे हृदय आनंदसे भर उठता है। सर्व साधकादिको यह अक्षरदेह आत्मश्रेय साधनाका एक सत्य साधन सिद्ध हो यही हार्दिक अभिलाषा है।

जिन महापुरुषके वचनोंका यह ग्रन्थ संग्रह है उन श्रीमद् राजचंद्र जैसे परम उत्कृष्ट कोटिके शुद्धात्माके बारेमें लिखते हुए अपनी अयोग्यताके कारण क्षोभ हुए बिना नहीं रहता। इस ग्रंथमें संग्रहित पत्रोंमें अपने अंतरंग अनुभव, आत्मदशा, कर्म उदयकी विचित्रतामें भी अंतरंग आत्मवृत्तिकी स्थिरता और अन्य अनेक गहन विषयों संबंधी सहज, सरल भाववाही भाषामें उन्होंने स्वयं ही अपना मंथन और नवनीत प्रगट किया है। विपरीत कर्मसंयोगोंमेंसे निज शुद्ध स्वरूपस्थितिकी ओर गमन करते हुए, अंतरमें प्रज्वलित आत्मज्योतके प्रकाशको मंद न होने देते हुए, इस आत्मप्रकाशके प्रकाशसे बाह्यजीवनको उज्जवल करता हुआ अद्भुत जीवनदर्शन दृष्टिगोचर होता है। उनके लेख निर्भयतासे, निर्दंभतासे स्वानुभूत परमसत्यका निरूपण करते हैं।

छोटी आयुमें ही जातिस्मरणज्ञानकी प्राप्ति, आश्चर्यकारी तीव्र स्मरणशक्ति, शतावधान जैसे एकाग्रता और स्मरणशक्तिके विरल प्रयोग, साक्षात् सरस्वतीकी उपाधिसे सन्मानित सहज काव्यस्फुरणा (कला) आदि पूर्व जन्मके उत्कट आत्मसंस्कारोंकी झाँकी कराते हैं।

कृष्णादि अवतारोंमें भक्ति तथा प्रीति, फिर जैनसूत्रोंकी प्रियता और मुक्तिमार्गमें एक साधनरूप मूर्तिकी उपयोगिता-इनकी जिस तरह सत्य प्रतीति इन्हें हुई उसी तरह उन्हें सरलतासे माना और प्ररूपित किया। अन्य दर्शनोंकी उपेक्षा श्री वीरआदि वीतराग पुरुषों द्वारा प्ररूपित वीतराग दर्शन ज्यादा प्रमाणयुक्त और प्रतीति-योग्य लगा; ऐसा 'मोक्षमाला' में दर्शनाभ्यासकी तुलनात्मक शैलीसे प्रगट किया है।

निज अनुभवकी परिपक्व विचारणाके फलस्वरूप प्राप्त सत्यदर्शनको अपनानेमें महापुरुष जिनते तत्पर होते हैं उतने ही उसे पकड रखनेमें दृढ होते हैं। अतः इसमें विघ्न करनेवाले सभी दोषोंका नाश करनेके लिये ये उतने ही तत्पर और दृढ पुरुषार्थी होते हैं। हम श्रीमद्जीके जीवनमें देखते हैं कि जो कर्मबंध किया है उसे भोगनेके लिये वे दीर्घकाल तक धैर्य धारण करते हैं, परंतु उनका हृदय आत्मवृत्तिकी असमाधि समयमात्र भी सहन करनेके लिये तैयार नहीं है; इतना ही नहीं किन्तु असमाधिसे प्रवृत्ति करनेकी अपेक्षा वे देहत्याग उचित मानते हैं। —आंक ११३

इसी आत्मवृत्तिके कारण, अपनेको पर्याप्त ज्योतिषज्ञान होनेपर भी (आंक ११६/७) वह परमार्थमार्गमें कल्पित लगनेसे, तथा शतावधान जैसे विरल प्रयोगोंसे प्राप्त लोगोंका आदर और प्रशंसा आदिकी जिसे पानेके लिये जगतके जीव आकाश-पाताल एक कर देते हैं, वह भी आत्ममार्गमें अविरोधी न लगनेसे, उनका त्याग करते हुए उन्हें अंशमात्र भी रंज नहीं होता।

गृहस्थभावसे बाह्यजीवन जीते हुए, अंतरंग निर्ग्रंथभावसे अलिप्त रहते हुए, इस संसारमें प्राप्त होनेवाली अनेक उपाधियाँ सहन करनेमें अंतरात्मवृत्तिको भूले बिना कैसी धीरज, कैसी आत्मविचारणा और पुरुषार्थमय तीक्ष्ण उपयोग-दृष्टि रखी है यह उनके कई पत्रोंमें स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है जो आत्मश्रेयसाधकके लिये एक ज्वलन्त दृष्टांतरूप है।

सत्पुरुषोंका जीवन आत्माकी अंतरविशुद्धि पर अवलंबित होनेसे, जब तक जीवकी अंतर्दृष्टि खुली न हो तब तक उसे पहचान होना दुर्घट है; इसलिये सत्पुरुषकी पहचान उनके बाह्यजीवन और प्रवृत्तिसे हो या न भी हो। यद्यपि उनके अंतरमें आविर्भूत आत्मज्योति तो उनके प्रत्येक कार्यमें झलकती है ही परन्तु जगतके जीवोंको आत्मलक्ष्य न होनेसे इस ज्योतिके दर्शनकी अंतर्दृष्टि उनमें नहीं होती। यह सत्य, है कि यदि महापुरुष स्वयं अपनी अंतरंगदशाके बारेमें न बताते तो अन्य जीवोंको महापुरुषोंकी पहचान होना दुर्लभ ही होता। (आंक १८) आत्मानुभवी पुरुषके बिना कोई यथार्थरूपसे आत्मकथन नहीं कर सकता। अनुभवहीन वाणी आत्मा प्रगट करनेमें समर्थ नहीं होती। जब तक आत्मलक्ष्य नहीं होता तब तक आत्मप्राप्ति स्वप्नवत् है इसमें आश्चर्य नहीं है।

अपनी अंतरंगदशाके बारे में उल्लेख करते हुए श्रीमद्जी लिखते हैं—"निःसंदेहस्वरूप ज्ञानावतार है और व्यवहारमें रहते हुए भी वीतराग हैं।" (आंक १६७) "आत्माने ज्ञान पा लिया यह तो निःसंशय है; ग्रंथिभेद हुआ यह तीनों कालमें सत्य बात है।" (आंक १७०) "अविषमतासे जहाँ आत्मध्यान रहता है ऐसे 'श्री रायचंद्र' के प्रति बार-बार नमस्कार करते हैं।" (आंक ३७६) "हममें मार्गानुसारिता कहना संगत नहीं है। अज्ञानयोगिता तो जबसे इस देहको धारण किया तभीसे नहीं होगी ऐसा लगता है। सम्यक्दृष्टिपन तो जरूर सम्भव है।" (आंक ४५०)—इत्यादि अपनी अंतरदशा संबंधी अनेक उल्लेख कई पत्रोंमें दृष्टिगोचर होते हैं। स्वयं अपने बारेमें ऐसा क्यों कहा ? ऐसा विकल्प, श्रीमद्जी जैसे उच्च कोटिके आत्माके लिये, अनुचित है। परन्तु जैसा कि पहले कहा हैं कि सत्यनिरूपणके लिये यह जरूरी है, जिससे उनकी सच्ची पहचान हो और परमार्थप्रेमी जिज्ञासु जीव उनके वचनोंकी आराधना करके त्रिविध तापाग्निको शांत कर सके।

श्रीमद्जीके साहित्यमें, जैन, वेदांत आदि संप्रदायोंके ग्रंथोंका विशाल वाचन, निदिध्यासन और अपने अंतरमें ओतप्रोत आत्मानुभवका प्रवाह सहज बहता है। आत्मसमाधिके लिये जैसे उनका सारा जीवन है,

वैसे ही मात्र परमार्थ कहनेके लिये उनका साहित्य है।

धर्म-प्रवर्तन करनेकी तीव्र करुणाबुद्धि होने पर भी (आंक ७०८) अपनी उस कार्यके योग्य तैयारी न होनेसे परम संयमितभावसे उस भावनाको अपनेमें समाविष्ट कर देनेकी शक्ति—उनके अंतरकी, प्रवृत्तिकी और लेखनकी सत्यता प्रगट करती है।

आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके बिना जगतके जीवोंके दुःखोंका अंत आनेवाला नहीं है; आत्मा जिन्होंने जाना है ऐसे सत्पुरुषके सत्संगके बिना, उनकी आज्ञाके आराधनके बिना आत्मप्राप्ति होनेवाली नहीं है—ऐसा कहकर वारंवार सत्पुरुष और सत्संगकी आराधना करनेके लिये बलपूर्वक कहा है। सत्संग और सत्पुरुषके आज्ञाराधनमें विघ्नरूप मिथ्याग्रह, स्वच्छंद, इंद्रियविषय, कषाय, प्रमाद आदि दोषोंका त्याग करनेके लिये भी उतने ही बलपूर्वक कहा है। फिर भी इस कालके जीवोंकी वीर्यहीनता तथा अनाराधकता देखकर सत्संगका ही उत्कटरूपसे वर्णन किया है।

आत्मप्राप्तिमें एक बडा विघ्न मतमतांतर है। मताग्रह दूर करनेके लिये वे अपने प्रसंगमें आनेवाले मुमुक्षुओंको वेदांत, जैन आदि भिन्न भिन्न संप्रदायोंके ग्रंथ पढनेका अनुरोध करते हैं। उनके विचारों और पत्रोंमें जैन और वेदांत—दोनों शैलीका दर्शन होता है। अपना अंतर अनुभव प्रगट करनेके लिये उन्होंने दोनों शैलीका उपयोग किया है। साथ ही यह भी स्पष्ट बताया है कि जैन या वेदांतका आग्रह मोक्षका कारण नहीं हैं, परन्तु जिस प्रकारसे आत्म आत्मभावको प्राप्त हो वही मोक्षका साधन है। वह परमतत्त्व परमसत्, सत्, परमज्ञान, आत्मा, सर्वात्मा, सत्-चित्-आनंद, हरि, पुरुषोत्तम, सिद्ध ईश्वर आदि अनंत नामोंसे कहा गया है। (आंक २०९) "मैं किसी गच्छमें नहीं हैं, परंतु आत्मामें हूँ इसे न भूलियेगा।" (आंक ३७) तात्पर्य कि परमार्थवांचन आत्मा जाननेके लिये है, आत्माको बंधन होनेके लिये नहीं है।

"बंध-मोक्षकी यथार्थ व्यवस्था कहने योग्य यदि किसीको हम विशेषरूपसे मानते हों तो वे श्री तीर्थंकरदेव हैं। (आंक ३२२) यों लिखकर उन्होंने श्री तीर्थंकरके वचनोंकी सत्यताकी अपनी आत्मानुभवजन्य अंतर प्रतीति प्रगट की है।

इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक गूढ प्रश्नोंके भी सरल अर्थ समझाये हैं; और अपने आत्मानुभवके बलसे केवलज्ञानीकी व्याख्या, अधिष्ठान आदिके संबंधमें, तथा इस कालमें मोक्ष नहीं होता, क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता इत्यादि मान्यताओंके संबंधमें आत्महितकारी स्पष्टीकरण किये हैं।

सोलह वर्षकी लघु वयमें तीन दिनमें 'मोक्षमाला' जैसी विविध विषयोंका शास्त्रोक्त विवेचन करनेवाली १०८ शिक्षापाठयुक्त उत्तम पुस्तक लिखना; और सभी शास्त्रोंके निचोडरूप आत्मज्ञानप्राप्तिका सरल, सत्य और अचूक मार्ग दिखानेवाला १४२ दोहोंका 'आत्मसिद्धिशास्त्र' मात्र देढ़ घंटेसे चाहे जहाँ, चाहे जिस स्थितिमें लिखना-यह गूढ और गहन आत्मज्ञानका विषय उन्हें कैसा हस्तामलकवत् था इसका सहज सूचन करता है।

'धन्य रे दिवस आ अहो!' (संस्मरण पोथी १/३२) और 'अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे?' (आंक ७३८) इत्यादि काव्योंमें श्रीमद्जीने अपनी अंतर्दशा और भावना सुवाच्यरूपसे प्रगट की है।

श्रीमद्जीके जीवनप्रसंगोमें सर्वोच्च प्रामाणिकता, सत्यनिष्ठा, नीतिमत्ता, अन्यको लेशमात्र भी दुभानेकी अनिच्छा और अनुकंपा आदि अनेक अनुकरणीय गुणोंका स्वाभाविक दर्शन होता है। ऐसे प्रसंग तथा विस्तृत जीवन जाननेके लिये इस आश्रमसे प्रकाशित [1]'श्रीमद् राजचंद्र जीवनकला' नामकी पुस्तक पढनेका अनुरोध करता हूँ।

श्रीमद्जीके हस्ताक्षरोंका एक लघु ग्रंथ 'श्री सद्गुरु प्रसाद'के नामसे इस आश्रमकी ओरसे प्रकाशित हुआ है। उस ग्रंथकी प्रस्तावनामें श्रीमद्जीके वचनोंके बारेमें परमकृपालु मुनिवर्य महात्मा श्री

---

१. इसका हिंदी अनुवाद भी प्रकट हो चूका है।

लघुराजस्वामीने जो लिखा है वह इस ग्रंथके पाठकोंको उपकारक होनेसे यहाँ देता हूँ–

"परम माहात्म्यवान सद्गुरु श्रीमद् राजचंद्र देवके वचनोंमें जिसे तल्लीनता, श्रद्धा हुई है या होगी उसका महद् भाग्य है। वह भव्य जीव अल्पकालमें मोक्ष पाने योग्य है, ऐसी अंतरंग प्रतीति—विश्वास होनेसे मुझे सद्गुरुकृपासे प्राप्त हुए वचनोमेंसे यह संग्रह 'श्री सद्गुरु प्रसाद' के नामसे प्रकाशित किया गया है। इसमेंके पत्र तथा काव्य सरल भाषामें होते हुए भी गहन विषयोंकी समृद्धिसे भरपूर है, अतः अवश्य मनन करने योग्य है, भावना करने योग्य है, अनुभव करने योग्य है।

लघु कद होने पर भी श्री सद्गुरुके गौरवसे गौरवान्वित यह 'श्री सद्गुरु प्रसाद' सर्व आत्मार्थी जीवोंको मधुरताका आस्वाद करायेगा, तत्त्वप्रीतिरसका पान करायेगा और मोक्षरुचिको प्रदीप्त करेगा। मुझे तो उनके हस्ताक्षर और मुद्रासहित यह ग्रंथ देखकर वृद्धकी लकडीकी तरह आधार, उल्लासपरिणामके कारण प्राप्त हुआ है।"

श्रीमद्जीकी विद्यमानतामें ही उनके परमभक्त खंभातवासी भाई श्री अंबालाल लालचंदने, श्रीमद्जीकी अनुमतिसे, मुमुक्षुओंको लिखे गये पत्र तथा अन्य लेखोंका संग्रह किया था और उसमेंसे श्री अंबालालभाईने परमार्थ संबंधी लेखोंकी एक पुस्तक तैयार की थी जिसे खुद श्रीमद्जीने जाँच ली थी और अपने हाथसे कुछ शुद्धि-वृद्धि की थी।

यह संशोधित मूल पुस्तक, श्रीमद्जीके हस्ताक्षरके मूल पत्र, जो मूल पत्र मुमुक्षुओंने वापिस माँग लिये थे उन पत्रोंकी नकलें, तथा अन्य लेखोंकी हस्तलिखित नकलें–इत्यादि जो-जो साहित्य श्री अंबालालभाइने संग्रहित किया था वह सारा साहित्य श्री परमश्रुत प्रभावक मंडलको सौंप दिया गया है।

इस श्री परमश्रुत प्रभावक मंडलकी स्थापना श्रीमद्जीने अपनी विद्यमानतामें संवत् १९५६ में श्री वीतरागश्रुतके प्रकाशन तथा प्रचारके लिये की थी। यह मंडल आज भी श्री वीतरागश्रुतके प्रकाशनका सुंदर कार्य कर रहा है। इस श्री परमश्रुत प्रभावक मंडलने इस श्रीमद् राजचंद्र वचनामृतका प्रथम संस्करण वि० संवत् १९६१ में प्रकट किया था और द्वितीय संस्करण वि० संवत् १९८२ में प्रगट किया था जिसमें बहुत-कुछ अप्रगट साहित्यका समावेश कर दिया गया था। श्रीमद्जीके लेख गुजराती भाषामें होते हुए भी दोनों संस्करण महत्तादर्शक नागरी लिपिमें मुद्रित किये गये थे। श्री परमश्रुत मंडलने यह सारा वचनामृत हिंदी भाषामें अनुवादित करा कर वि० संवत् १९९४ में प्रकट किया था जिसमें अनुवादक पं० श्री जगदीशचंद्र शास्त्रीने श्रीमद्जीके जीवन और विचारों संबंधी विस्तृत विवेचन किया है।

इस संस्करणके संबंधमें–

श्रीमद्जीके अनन्य उपासक, परम भक्तिमान श्री लघुराजस्वामीके आश्रयमें स्थापित इस श्रीमद् राजचंद्र आश्रमके व्यवस्थापकोंकी बहुत समयसे अपने आराध्यदेव श्रीमद्जीके लेख प्रकाशित करनेकी भावना थी। तत्संबंधी श्री परमश्रुत प्रभावक मंडलकी अनुमति मिलनेसे इस कार्यके लिये संशोधन कर पूरी नयी पाण्डुलिपि निम्न साधनोंके आधार पर तैयार की गई है-

१. श्रीमद्जीके हस्ताक्षरके मूल पत्र, अन्य लेख तथा संस्मरणपोथियाँ तथा मूल हस्ताक्षरके पत्रों परसे इस आश्रम द्वारा तैयार कराये हुए चित्र (फोटे)।
२. श्री अंबालालभाई द्वारा तैयार की गई पुस्तक जिसमें श्रीमद्जीने स्वयं शुद्धि-वृद्धि की है।
३. श्री दामजीभाई केशवजी द्वारा मूल पत्र तथा अन्य साहित्यकी कराई गई नकलें।
४. श्रीमद्जीकी सूचनासे श्री अंबालालभाईने श्री लघुराजस्वामी आदि मुनियोंको नकल कर दी हुई डायरियाँ।
५. मुमुक्षुओंसे प्राप्त मूलपत्रोंकी नकलें।

६. उपदेशछाया, उपदेशनोंध, व्याख्यानसार आदिकी लिखी हुई डायरियाँ ।

७. अब तक प्रकाशित संस्करण ।

संग्रहका विवरण–

इस संग्रहमें (१) श्रीमद्‌जी द्वारा मुमुक्षुओंको लिखे गये पत्र, (२) स्वतंत्र काव्य; (३) मोक्षमाला, भावनाबोध, आत्मसिद्धिशास्त्र ये तीन स्वतंत्र ग्रंथ; (४) मुनिसमागम, प्रतिमासिद्धि आदि स्वतंत्र लेख; (५) पुष्पमाला, बोधवचन, वचनामृत महानीति आदि स्वतंत्र बोधवचनमालायें; (६) 'पंचास्तिकाय' ग्रंथका गुजराती भाषांतर; (७) श्री रत्नकरंड श्रावकाचारमेंसे तीन भावनाओंका अनुवाद तथा स्वरोदयज्ञान, द्रव्यसंग्रह, दशवैकालिक आदि ग्रंथोंमेंसे कुछ गाथाओंका भाषांतर, आनन्दघन-चौबीसीमेंसे कुछ एक स्तवनोंके अर्थ, (८) वेदांत और जैनदर्शन संबंधी टिप्पणियाँ, (९) सं० १९४६ की दैनंदिनी आदि श्रीमद्‌जीके लेख आंक १ से ९५५, पृष्ठ ६७२ तक दिये गये हैं । आंक ७१८में आत्मसिद्धिशास्त्रके दोहोंका श्री अंबालालभाई कृत संक्षिप्त विवेचन दिया गया है जिसे श्रीमद्‌जी देख गये थे । उस विवेचनके साथ खुद श्रीमद्‌जीका लिखा हुआ किसी-किसी दोहेका विस्तृत विवेचन भी दिया गया है । पृष्ठ ६७३ से ८०० तक उपदेशनोंध, उपदेशछाया, व्याख्यानसार १ और २ दिये गये हैं जो श्रीमद्‌जीके उपदेश और व्याख्यानकी मुमुक्षुओं द्वारा की गई नोंध पर आधारित है । इसमेंसे 'उपदेशछाया' शीर्षकांतर्गत बोध श्रीमद्‌जीकी नजरसे निकल चुका है ऐसा सुना जाता है ।

पृष्ठ ८०१ से ८४९ तक श्रीमद्‌जीकी स्वहस्तलिखित तीन संस्मरण-पोथियाँ (Diaries) दी गई हैं ।

इस संस्करण संबंधी सामान्य विवरण–

१. इस संस्करणमें, पूर्व संस्करणोंमें अप्रकाशित ऐसा बहुतसा साहित्य समाविष्ट कर लिया गया है ।

२. मूल लेखमें-जितना श्रीमद्‌जीका स्वयं लिखा हुआ प्रतीत हुआ उतना ही लिया है । पूर्व संस्करणोंमें मूल लेखरूपमें प्रकाशित, किन्तु वस्तुतः उपदेशनोंध होनेसे ऐसे लेख वर्तमान संस्करणमें उपदेशनोंधके अंतर्गत दिये है ।

३. श्री परमश्रुत प्रभावक मंडलके द्वितीय संस्करणमें तीनों संस्मरण पोथियोंके लेख-लेख परसे मितीका अनुमान करके संबंधित वर्षके अंतर्गत मुद्रित किये गये हैं । इस संस्करणमें वैसा नहीं किया परंतु प्रथम संस्करणके अनुसार तीनों संस्मरण-पोथियाँ एक साथ दी है ।

४. पूर्व संस्करणोंमें कई स्थलों पर एक ही लेखके भागकर भिन्न-भिन्न आंकके अंतर्गत दिये गये हैं तथा कई लेख अलग होने पर भी एक आंकके अंतर्गत दिये गये हैं, परंतु इस संस्करणमें मूल आधारका अनुसरण करके एक लेख एक ही आंकके अंतर्गत दिया गया है ।

५. मूल लेखमें आनेवाले व्यक्तियोंके नाम प्रायः रहने दिये हैं ।

६. मूल स्थितिमें ही लेख प्रकाशित हो ऐसा लक्ष्य रखा गया है । अतः पूर्व संस्करणोंके लेखकी अपेक्षा इसमें कई स्थलों पर न्यूनाधिक लगेगा परंतु वह शुद्धि-वृद्धि मूलके आधार पर ही की गई है ।

७. पूर्वापर संबंध बना रहे यह ध्यानमें रखकर व्यक्तिगत और व्यावहारिक लेख पत्रमेंसे निकाल दिये गये हैं और इसे सूचित करनेके लिए कोई चिह्न भी नहीं रखा है । फिर भी सामान्यतः उपकारक ऐसा व्यक्तिगत लेख ले लिया गया है ।

८. पाठक स्वतंत्रतासे और सुगमतासे पढ-विचार कर अपना निर्णय कर सके इस हेतुसे किसी वाक्य या शब्दके नीचे न तो लीटी खींची है और न ही उसे बडे अक्षरोंमें लिया है । परंतु मूल

लेखके अनुसार ही मुद्रित किया है । खास आवश्यकताके बिना या हकीकत विदित करनेके सिवाय पादटिप्पण भी नहीं दिया है । क्रमबद्ध एक सरीखे अक्षरोंमें पूरा वचनामृत मुद्रित किया है ।

९. स्वतंत्र रीतिसे नये अनुक्रमांक दिये हैं ।

१०. श्री परमश्रुत प्रभावक मंडलके *द्वितीय संस्करणके आंक दायीं ओर [ ] ऐसे कोष्ठकमें दिये गये हैं । जहाँ ऐसा आंक नहीं है उसे अप्रगट साहित्य समझें ।

११. सामान्यतया श्री परमश्रुत प्रभावक मंडलके द्वितीय संस्करणके क्रमका अनुसरण कर, लेख वयक्रममें रखे हैं । जहाँ मितीमें प्रमाणभूत भूल लगी, वह लेख नयी मितीके अनुसार अन्यत्र रखा है ।

१२. प्रत्येक लेखके ऊपर प्राप्त मिती दी गई हैं ।

१३. विस्तृत अनुक्रमणिका तथा परिशिष्ट देकर, हो सका उतना ग्रंथका अभ्यास सुगम करनेका प्रयास किया है ।

परिशिष्टोंमें–इस ग्रंथमें आनेवाले अन्य ग्रंथोके उद्धरण और उनके मूल स्थान; पत्रों संबंधी विशेष जानकारी; पारिभाषिक और कठिन शब्दोंके अर्थ; ग्रंथनाम, स्थल, विशेषनाम तथा विषयसूची भी दिये गये हैं । इस तरहके विवरणसे ग्रंथ समझनेमें सुगमता होगी ।

अवधान–समयके काव्य, स्त्रीनीतिबोधक, अन्य पत्रिकाओंमें प्रकाशित काव्य–इत्यादि सोलह वर्षकी आयुके पहलेके काव्य आदि 'सुबोध संग्रह' ग्रंथरूपसे अलग प्रकाशित करनेकी भावनासे इस संग्रहमें नहीं दिये हैं ।

अवधान संबंधी लिखित एक पत्र (आंक १८) इस ग्रंथमें दिया है ।

आत्मसिद्धिशास्त्रका अंग्रेजी, मराठी और संस्कृतमें भाषान्तर हुआ है।

यह आत्मसाधन जो आज हमें प्राप्त हो रहा है उसका संग्रह कर श्री अंबालालभाईने आजके साधकवर्ग पर परम उपकार किया है।

श्रीमद्जीके संसर्गमें आनेवाले मुमुक्षुओंमेंसे श्री अंबालालभाई, श्री जूठाभाई, श्री सौभाग्यभाई, मुनि श्री लघुराज-स्वामी जैसे आत्मा श्रीमद्जीकी आश्रयभक्तिसे आत्मसाक्षात्कार कर परम श्रेयको प्राप्त हुए हैं। ऐसे परमभक्तिवान आत्माओंके निमित्तसे उद्भूत यह साहित्य आज हमें आत्मार्थ-साधनमें परम निमित्तरूप बनो यह प्रार्थना है।

श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल और उसके व्यवस्थापक श्री मणिलाल रेवाशंकर जौहरीने यह ग्रन्थ प्रकाशित करनेकी अनुमति दी एतदर्थ उनका आभार मानते हैं।

इस सत्साधनके प्रकाशनमें जिन व्यक्तियोंने तन, मन, धन और वचनसे उल्लासपूर्वक सहयोग दिया है, उन सबको यह आत्मश्रेयका कारण बनो।

श्री वसंत प्रिन्टींग प्रेसके व्यवस्थापक श्री जयंति दलालने इस ग्रन्थके मुद्रणमें रसपूर्वक सद्भावनासे कार्य किया है जिससे यह ग्रन्थ इतनी सुन्दरतासे प्रकाशित हो सका है।

इस आत्मश्रेयसाधक ग्रन्थका विनय और विवेकपूर्वक उपयोग करनेका अनुरोध अनुचित नहीं होगा।

श्रीमद् राजचंद्र आश्रम
स्टे. अगास; वाया आणंद
वि०सं० २००७ आषाढ वदी १२, सोम
ता. ३०-७-१९५१

लि.
ब्रह्मचारी गोवर्धनदास

* ये आंक प्रस्तुत संस्करणमेंसे निकाल दिये गये हैं ।

गुजराती द्वितीयावृत्तिकी प्रस्तावना

(हिन्दी रूपान्तर)

दृश्यन्ते भुवि किं न तेऽल्पमतयः संख्याव्यतीताश्चिरम्
ये लीलां परमेष्ठिनो निजनिजैस्तन्वन्ति वाग्भिः परम् ।
तं साक्षादनुभूय नित्यपरमानन्दाम्बुराशिं पुन-
र्ये जन्मभ्रममुत्सृजंति सहसा धन्यास्तु ते दुर्लभाः ॥ —श्री ज्ञानार्णव

जो पुरुष मात्र अपने अपने वचनोंसे परमेष्ठीकी अर्थात् परमात्माकी लीलाका या उनके गुणानुवादका दीर्घकाल तक विस्तार करते हैं ऐसे अल्पमति तो इस जगतमें प्रायः असंख्य नजर नहीं आते ? अर्थात् ऐसे जीव तो कई नजर आते हैं। परन्तु जो पुरुष नित्य शाश्वत परमानन्दरूप अमृतसागर शुद्ध सहजात्मस्वरूपरूप परमात्मपदका साक्षात् अनुभव कर संसारके भ्रमको शीघ्र ही छोड देते हैं ऐसे पुरुष तो इस जगतमें दुर्लभ ही हैं; और ऐसे पुरुष धन्य हैं, कृतार्थ हैं, जयवन्त हैं। ऐसे पुरुषोंका योगबल जगतका कल्याण करनेके लिये समर्थ है।

ऐसे धन्यरूप स्वरूपनिष्ठ महापुरुषों द्वारा निष्कारण करुणाशीलतासे प्रकाशित वाणीयोग सत्साधकवृन्दके लिये परमोत्कृष्ट अमूल्य अवलंबनरूप जानकर, मुमुक्षु इस अमूल्य वचनामृतकी परम आदरपूर्वक उपासना कर कृतार्थ होते हैं।

प्रबोधाय विवेकाय हिताय प्रशमाय च।
सम्यक् तत्त्वोपदेशाय सतां सूक्तिः प्रवर्तते ॥ —श्री ज्ञानार्णव

सत्पुरुषोंकी उत्तम वाणी जीवोंको आत्मजागृतिरूप प्रकृष्ट ज्ञान, विवेक, हित, प्रशमता और सम्यक् प्रकारसे तत्त्वोपदेश देनेके लिये प्रवर्तित होती है।

तच्छ्रुतं तच्च विज्ञानं तद्ध्यानं तत्परं तपः।
अयमात्मा यदासाद्य स्वस्वरूपे लयं व्रजेत् ॥ —श्री ज्ञानार्णव

यही सत्श्रुत है, यही प्रकृष्ट ज्ञान अथवा विज्ञान है, यही ध्यान है और यही उत्तम तप है कि जिसे प्राप्तकर यह जीव निज शुद्ध सहजात्मस्वरूपमें लीन हो जाये, स्वरूपनिष्ठ हो जाये।

ब्रह्मस्थो ब्रह्मज्ञो ब्रह्म प्राप्नोति तत्र किं चित्रम्।
ब्रह्मविदां वचसाऽपि ब्रह्मविलासाननुभवामः ॥ —श्री अध्यात्मसार

ब्रह्मरूप शुद्ध सहजात्मस्वरूपमें लीन हुए हैं ऐसे स्वरूपनिष्ठ ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मको प्राप्त हो इसमें क्या आश्चर्य ? परन्तु ऐसे ब्रह्मज्ञके वचनसे भी हम ब्रह्मविलासका, आत्मरमणताका अभुनव करते हैं।

अहो श्री सत्पुरुषके वचनामृत, मुद्रा और सत्समागम।

श्रीमद् राजचन्द्र ऐसे विरल स्वरूपनिष्ठ तत्त्ववेत्ताओंमेंसे एक है। श्रीमद् राजचन्द्र यानि अध्यात्मगगनमें झिलमिलाती हुई अद्‌भुत ज्ञानज्योति। मात्र भारतकी ही नहीं, अपितु विश्वकी एक विरल विभूति! अमूल्य आत्मज्ञानरूप दिव्यज्योतिके जाज्वल्यमान प्रकाशसे, पूर्वमहापुरुषों द्वारा प्रकाशित सनातन मोक्षमार्गका उद्योतकर भारतकी पुनीत पृथ्वीको विभूषित कर इस अवनीतलको पावन करनेवाले परम ज्ञानावतार, ज्ञाननिधान, ज्ञानभास्कर, ज्ञानमूर्ति।

शास्त्रके ज्ञाता तथा उपदेशक तो हमें अनेक मिल जायेंगे परन्तु जिनका जीवन ही सत्शास्त्रका प्रतीक हो ऐसी विभूति प्राप्त होना दुर्लभ है। श्रीमद् राजचन्द्रके पास तो जाज्वल्यमान आत्मज्ञानमय उज्ज्वल जीवनका अंतरंग प्रकाश था और इसीलिये इन्हें अद्‌भुत अमृतवाणीकी सहज स्फुरणा थी।

"काका साहेब कालेलकरने श्रीमद्‌के लिये 'प्रयोगवीर' ऐसा सूचक अर्थगर्भित शब्द प्रयोग किया है सो सर्वथा यथार्थ है। श्रीमद् सचमुच प्रयोगवीर ही थे। प्रयोगसिद्ध समयसारका दर्शन करना हो अथवा परमात्मप्रकाशका दर्शन करना हो, प्रयोगसिद्ध समाधिशतकका दर्शन करना हो अथवा प्रशमरतिका दर्शन करना हो, प्रयोगसिद्ध योगदृष्टिका दर्शन करना हो अथवा आत्मसिद्धिका दर्शन करना हो तो 'श्रीमद्' को देख लीजिये। उन उन समयसार आदि शास्त्रोंमें वर्णित भावोंका जीता-जागता अवलम्बन उदाहरण चाहिये तो देख लीजिये श्रीमद्‌का जीवनवृत्त! श्रीमद् ऐसे प्रत्यक्ष प्रगट परम प्रयोगसिद्ध आत्मसिद्धिको प्राप्त हुए पुरुष हैं, इसीलिये उनके द्वारा रचित आत्मसिद्धि आदिमें इतना अपूर्व सामर्थ्य दिखाई देता है।"

—श्रीमद् राजचन्द्र जीवनरेखा।

भारतकी विश्वविख्यातविभूति राष्ट्रपिता महात्मा गांधीजी लिखते हैं—

"मेरे जीवनको श्रीमद् राजचन्द्रने मुख्यतया प्रभावित किया है। महात्मा टोल्स्टोय तथा रस्किनकी अपेक्षा भी श्रीमद्‌ने मेरे जीवन पर गहरा असर किया है। बहुत बार कह और लिख गया हूँ कि मैंने बहुतोंके जीवनमेंसे बहुत कुछ लिया है; परन्तु सबसे अधिक किसीके जीवनमेंसे मैंने ग्रहण किया हो तो वह कवि (श्रीमद् राजचन्द्र) के जीवनमेंसे है।...

श्रीमद् राजचन्द्र असाधारण व्यक्ति थे। उनके लेख अनुभवबिंदुस्वरूप है। उन्हें पढनेवाले, विचारनेवाले और तदनुसार आचरण करनेवालेको मोक्ष सुलभ होता है। उसके कषाय मन्द पडते हैं, उसे संसारमें उदासीनता रहती है और वह देह-मोह छोडकर आत्मार्थी हो जाता है।

इस परसे पाठक देखेगा कि श्रीमद्‌के लेख अधिकारीके लिये हैं। सभी पाठक उसमेंसे रस नहीं ले सकते। टीकाकारको उसमें टीकाका कारण मिलेगा, परन्तु श्रद्धावान तो उसमेंसे रस ही लूटेगा। उनके लेखोंमें सत् ही टपक रहा है ऐसा मुझे हमेशा भास होता है। उन्होंने अपना ज्ञान दिखानेके लिये एक भी अक्षर नहीं लिखा। लेखकका हेतु पाठकको अपने आत्मानंदमें साझीदार बनानेका था। जिसे आत्माक्लेश दूर करना है, जो अपना कर्तव्य जाननेको उत्सुक है उसे श्रीमद्‌के लेखोंमेंसे बहुत-कुछ मिल जायेगा ऐसा मुझे विश्वास है, फिर भले ही वह हिन्दु हो या अन्य धर्मी।...

जो वैराग्य (अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे?) इन पद्योंमें झलझला रहा है वह मैंने उनके दो वर्षके गाढ परिचयमें प्रतिक्षण उनमें देखा है। उनके लेखोंमें एक असाधारणता यह है कि उन्होंने स्वयं जो अनुभव किया वही लिखा है। उसमें कहीं भी कृत्रिमता नहीं है। दूसरे पर प्रभाव डालनेके लिये एक पंक्ति

भी लिखी हो ऐसा मैंने नहीं देखा।...

खाते, बैठते, सोते प्रत्येक क्रिया करते उनमें वैराग्य तो होता ही। किसी समय इस जगतके किसी भी वैभवके प्रति उन्हें मोह हुआ हो ऐसा मैंने नहीं देखा।...

यह वर्णन संयमीमें संभवित है। बाह्याडंबरसे मनुष्य वीतराग नहीं हो सकता। वीतरागता आत्माकी प्रसादी है। अनेक जन्मोंके प्रयत्नसे मिल सकती है ऐसा प्रत्येक व्यक्ति अनुभव कर सकता है। रागभावोंको दूर करनेका प्रयत्न करनेवाला जानता है कि रागरहित होना कितना कठिन है? यह रागरहित दशा कविको स्वाभाविक थी, ऐसा मुझ पर प्रभाव पडा था।

मोक्षकी प्रथम सीढी वीतरागता है। जब तक जगतकी एक भी वस्तुमें मन धँसा हुआ है, तब तक मोक्षकी बात कैसे रुचे? अथवा रुचे तो केवल कानको ही—अर्थात् जैसे हमें अर्थ जाने-समझे बिना किसी संगीतका केवल स्वर ही रुच जाये वैसे। ऐसे मात्र कर्णप्रिय आनन्दसे मोक्षानुसारी वर्तन आते तो बहुत काल बीत जायें। अन्तर्वैराग्यके बिना मोक्षकी लगन नहीं होती। ऐसी वैराग्यकी लगन कविको थी।...

इसके अलावा इनके जीवनमेंसे दो मुख्य बातें सीखने जैसी हैं—सत्य और अहिंसा। स्वयं जिसे सच्चा मानते थे वही कहते थे और तदनुसार ही आचरण करते थे।...

इनके जीवनमेंसे ये चार बातें ग्रहण की जा सकती है—

(१) शाश्वत वस्तुमें तन्मयता; (२) जीवनकी सरलता; समस्त संसारके साथ एक-सी वृत्तिसे व्यवहार; (३) सत्य और (४) अहिंसामय जीवन।"

मात्र क्लेश और दुःखके सागररूप इस असार संसारमें जन्म-जरा-मरण, आधि-व्याधि-उपाधि आदि त्रिविध तापमय दुःखदावानलसे प्रायः सभी जीव सदैव जल रहे हैं। उससे बचानेवाले ज्ञान और वैराग्यकी मूर्ति समान, परमशांतिके धामरूप मात्र एंक आर्षद्रष्टा तत्त्ववेत्ता स्वरूपनिष्ठ महापुरुष ही भाग्यशाली हैं। उन्हींकी शरण, उन्हींकी वाणीका अवलंबन—यही त्रिलोकको त्रिविध तापाग्निसे बचानेके लिये समर्थ उपकारक है।

"मायामय अग्निसे चौदह राजूलोक प्रज्वलित है। उस मायामें जीवकी बुद्धि अनुरक्त हो रही है, और इस कारणसे जीव भी उस त्रिविध ताप-अग्निसे जला करता है; उसके लिये परम कारुण्यमूर्तिका उपदेश ही परम शीतल जल है; तथापि जीवको चारों ओरसे अपूर्ण पुण्यके कारण उसकी प्राप्ति होना दुर्लभ हो गया है।" —आंक २३८

"तत्त्वज्ञानकी गहरी गुफाका दर्शन करने जायें तो वहाँ नेपथ्यमेंसे ऐसी ध्वनि ही निकलेगी कि आप कौन हैं? कहाँसे आये हैं? क्यों आये हैं? आपके पास यह सब क्या है? आपको अपनी प्रतीति है? आप विनाशी, अविनाशी अथवा कोई त्रिराशी है? ऐसे अनेक प्रश्न उस ध्वनिसे हृदयमें प्रवेश करेंगे। और इन प्रश्नोंसे जब आत्मा घिर गया तब फिर दूसरे विचारोंके लिये बहुत ही थोडा अवकाश रहेगा। यद्यपि इन विचारोंसे ही अंतमें सिद्धि हैं...इन्हीं विचारोंके मननसे अनंतकालकी उलझन दूर होनेवाली हैं...बहुतसे आर्य पुरुष इसके लिये विचार कर गये हैं, उन्होंने इस पर अधिकाधिक मनन किया है। जिन्होंने आत्माकी शोध करके, उसके अपार मार्गकी बहुतोंकी प्राप्ति करानेके लिये अनेक क्रम बाँधे हैं; वे महात्मा जयवान हो! और उन्हें त्रिकाल नमस्कार हो!" —आंक ८३

यों ऐसे समर्ज तत्त्वविज्ञानी स्वरूपनिष्ठ महापुरुषकी अनुभवयुक्त वाणीका अवलम्बन कोई महाभाग्यके

योगसे ही प्राप्त होने योग्य है।

तत्त्वजिज्ञासुओंकी ज्ञानपिपासाको परितृप्त करनेवाले और आत्मार्थियोंके हृदयमें आत्मज्योति जगानेवाले ऐसे एक समर्थ तत्त्ववेत्ता श्रीमद् राजचन्द्र इस कालमें महाभाग्यसे प्रगट हुए हैं। उनकी अमृततुल्य अमूल्य वाणी हमें संप्राप्त हुई है यही हमारा महाभाग्य है। उसके पठन, मनन और परिशीलनसे हम अपना श्रेय कर लें तो ही उसकी प्राप्तिकी सार्थकता है।

उनका जो कुछ साहित्य उपलब्ध है वह सारा इस ग्रन्थमें प्रसिद्ध किया गया है। यह साहित्य तत्त्वज्ञान या अध्यात्मके क्षेत्रमें अत्युत्तम कक्षाका अमूल्य साहित्य है। तत्त्वरसिकोंकी तत्त्वपिपासाके संतोषके लिये अथवा आत्मार्थियोंको आत्मोन्नतिमें प्रगतिमान होनेके लिये गूर्जर भाषामें यह एक अपूर्व साहित्य है। मोक्षार्थियोंको निज शुद्ध सहज आत्मतत्त्वकी उपासनासे परमानंदमय मोक्षमहलमें सुगमतासे चढनेके लिये यह एक दुषमकालमें अनोखा ही अवलम्बन है जो सोपान समान उपकारी हो सकता है। इसमें विविध पारमार्थिक विषयोंको छूनेवाला, मुख्यतः मोक्षमार्गको स्पष्टतासे और सुगमतासे दर्शानेवाला, अमूल्य यत्र-तत्र बिखरे हुए वचनरत्नोंके प्रकाशसे सर्वत्र चमकता हुआ, रत्नाकरकी तरह अगाध और सर्वत्र शांतरसगर्भित उच्चतम आध्यात्मिक साहित्य भरा पडा है, जो शोधकके लिये अमूल्य रत्नत्रयकी प्राप्तिसे परमश्रेयको प्राप्त करानेवाले निधान समान है। यह साहित्य तत्त्वसाधकोंको परमानंदकी साधनामें सहायक बनकर परम श्रेयका कारण होओ! अथवा विदग्धमुखमंडनं भवतु–विद्वानोंके मुखका आभूषणरूप होओ!

अज्ञानवश बाह्यदृष्टिसे, लौकिकभावसे, वैसे किसी आग्रहसे या संकुचित मनोवृत्तिसे यदि श्रीमद्को मात्र गृहस्थ, जौहरी या कविके रूपमें पहचाननेकी क्वचित् भूल होती हो तो कुछ गुणानुराग या प्रमोदभावसे, सत्यको खोजनेकी एवं स्वीकार करनेकी विशाल दृष्टि रखकर आग्रहरहित होकर इस ग्रंथका अवलोकन या अभ्यास करेंगे तो अवश्य इतना तो दृष्टिगोचर होगा ही कि श्रीमद् कोई सामान्य कोटिके मनुष्य नहीं, प्रत्युत् ईश्वर कोटिके मनुष्य हैं अथवा वे मनुष्यदेहमें परमात्मा, परम ज्ञानावतार, साक्षात् धर्ममूर्तिरूपसे ही भारतको विभूषित कर गये हैं। पूर्वकालमें अनेक भवोंमें आराधित योगके फलस्वरूप इस भवमें अपूर्व आत्मसमाधि साध्य करनेवाले कोई अद्भुत योगीश्वर ही हैं।

"एक पुराणपुरुष और पुराणपुरुषकी प्रेमसंपत्तिके बिना हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता; हमें किसी पदार्थमें रुचिमात्र नहीं रही हैं; कुछ प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं होती; व्यवहार कैसे चलता है इसका भान नहीं है; जगत किस स्थितिमें है इसकी स्मृति नहीं रहती; शत्रुमित्रमें कोई भेदभाव नहीं रहा; कौन शत्रु है और कौन मित्र है, इसका ख्याल रखा नहीं जाता; हम देहधारी हैं या नहीं इसे जब याद करते हैं तब मुश्किलसे जान पाते हैं; हमें क्या करना हैं, यह किसीसे जाना नहीं जा सकता।" —आंक २५५

"किसी भी प्रकारसे विदेही दशाके बिनाका, यथायोग्य जीवन्मुक्तदशारहित और यथायोग्य निर्ग्रंथदशा रहित एक क्षणका जीवन भी देखना जीवको सुलभ नहीं लगता।...एक पर राग और एक पर द्वेष ऐसी स्थिति एक रोममें भी उसे प्रिय नहीं है।..." — आंक १३४

चैतन्यका निरन्तर अविच्छिन्न अनुभव प्रिय है, यही चाहिये है। दूसरी कोई स्पृहा नहीं रहती। रहती हो तो भी रखनेकी इच्छा नहीं है। एक 'तू ही, तू ही' यही यथार्थ अस्खलित प्रवाह चाहिये।"

—आंक १४४

"निरंजनपदको समझनेवालेको निरंजन कैसी स्थितिमें रखते हैं, यह विचार करते हुए अकल गति

पर गंभीर एवं समाधियुक्त हास्य आता है! अब हम अपनी दशाको किसी भी प्रकारसे नहीं कह सकेंगे; तो फिर लिख कैसे सकेंगे ?" —आंक १८७

"...मुझे भी असंगता बहुत ही याद आती है, और कितनी ही बार तो ऐसा हो जाता है कि उस असंगताके बिना परम दुःख होता है। यम अंतकालमें प्राणीको दुःखदायक नहीं लगता होगा, परन्तु हमें संग दुःखदायक लगता है।" —आंक २१७

"समय समय पर अनन्तगुणविशिष्ट आत्मभाव बढता हो ऐसी दशा रहती है, जिसे प्रायः भाँपने नहीं दिया जाता, अथवा भाँप सकनेवालेका प्रसंग नहीं है।" —आंक ३१३

"देह होते हुए भी मनुष्य पूर्ण वीतराग हो सकता है ऐसा हमारा निश्चल अनुभव है। क्योंकि हम भी निश्चयसे उसी स्थितिको प्राप्त करनेवाले हैं, यों हमारा आत्मा अखण्डरूपसे कहता है; और ऐसा ही है, अवश्य ऐसा ही है। पूर्ण वीतरागकी चरणरज निरन्तर मस्तकपर हो, ऐसा रहा करता है। अत्यन्त विकट ऐसा वीतरागत्व अत्यन्त आश्चर्यकारक है, तथापि यह स्थिति प्राप्त होती है, सदेह प्राप्त होती है, यह निश्चय है, प्राप्त करनेके लिये पूर्ण योग्य है, ऐसा निश्चय है। संदेह ऐसे हुए बिना हमारी उदासीनता दूर हो ऐसा मालूम नहीं होता और ऐसा होना सम्भव हैं, अवश्य ऐसा ही है।" —आंक ३३४

"मनमें बारंबार विचार करनेसे निश्चय हो रहा है कि किसी भी प्रकारसे उपयोग फिरकर अन्यभावमें ममत्व नहीं होता, और अखण्ड आत्मध्यान रहा करता है...।" —आंक ३६६

"हम कि जिनका मन प्रायः क्रोधसे, मानसे, मायासे, लोभसे, हास्यसे, रतिसे, अरतिसे, भयसे, शोकसे, जुगुप्सासे या शब्द आदि विषयोंसे अप्रतिबद्ध जैसा है; कुटुम्बसे, धनसे, पुत्रसे, 'वैभव'से, स्त्रीसे या देहसे मुक्त जैसा है; ऐसे मनको भी सत्संगमें बाँध रखनेकी अत्यधिक इच्छा रहा करती है।"

—आंक ३४७

जगह जगह पर ऐसे असंग, अप्रतिबद्ध स्वदशासूचक वचन उनकी अंतरंगचर्या या आत्ममग्नताका अवश्य दिग्दर्शन कराते हैं। उनका ज्ञान एवं वैराग्यकी अखंड धारारूप अंतरंग पुरुषार्थ-पराक्रम बाह्यदृष्टिसे भाँपा नहीं जा सकता। इसीलिये कहा है कि "मुमुक्षुके नेत्र महात्माको पहचान लेते हैं।" अंतरंग चर्या तक दृष्टि जानेके लिये मुमुक्षुतारूप नेत्रोंकी जरूरत है।

जैसे जनक राजा राज्य करते हुए भी विदेहीरूपसे रहते थे और त्यागी संन्यासियोंसे भी उत्कृष्ट असंग अप्रतिबद्ध विदेही दशामें रहकर आत्मानंदमें मग्न थे तथा भरत महाराजा चक्रवर्तीपदका समर्थ ऐश्वर्य तथा छः खण्डके साम्राज्यकी उपाधि वहन करते हुए भी अंतरंग ज्ञान-वैराग्यके बलसे आत्मदशा संभालते हुए अलिप्तभावमें रहकर आत्मानंदकी मजा लूटते थे; वैसे ये महात्मा भी, प्रतिसमय अनंतगुणविशिष्ट आत्मभाव वर्धमान होता रहे ऐसी बलवान त्यागवैराग्यकी अखण्ड अप्रमत्तधारासे किसी अपूर्व अंतरंग चर्यासे रागद्वेष आदिका पराजय करके मोक्षपुरी पहोंचनेके लिये मानो वायुवेगसे, त्वरित गतिसे दौडे न जा रहे हो! यों अत्यन्त उदासीनता पूर्वक आत्मानंदमें लीन, अन्तर्मग्न रहते थे। ऐसा उनके इस ग्रंथमें संग्रहित लेखोंमें जगह-जगहपर दृष्टिगोचर होने योग्य है; और अनेक शास्त्रोंके पठनसे भी जो लाभ प्राप्त होना मुश्किल है, वह लाभ इस एक ही ग्रंथके शांतभावसे पठन, मनन, परिशीलन व अभ्यास द्वारा सरलतासे प्राप्त कर जिज्ञासु अपनेको धन्यरूप, कृतार्थरूप कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त उनकी अंतरंग असंग, अप्रतिबद्ध, जीवन्मुक्त, वैराग्यपूर्ण, विदेही, वीतराग, समाधि-

बोधिमय, अद्‌भुत, अलौकिक, अचिंत्य, आत्ममग्न, परमशांत, शुद्ध सच्चिदानंदमय सहजात्मदशाकी झाँकी होनेसे, सद्‌गुणानुरागीको तो अपनी मोहाधीन पामर दशा देखकर समस्त गर्व नष्ट होकर ऐसी उच्चतम दशाके प्रति सहज ही सिर झुके बिना नहीं रहता। और उस अलौकिक असंग दशाके प्रति प्रेम, प्रतीति, भक्ति प्रगट होकर उनके शुद्ध चैतन्यस्वरूप, परमार्थस्वरूप, सत्यस्वरूपकी पहचान होनेसे उनमें आविर्भूत हुए शुद्ध आत्मदर्शन, आत्मज्ञान व आत्मरमणतारूप रत्नत्रयादि आत्मिक गुण जो साक्षात् मूर्तिमान मोक्षमार्ग है, उसके प्रति अत्यन्त प्रमोद, प्रेम एवं उल्लास आने योग्य है। अन्तमें अनादिसे अप्रगट जो अपना परमात्मस्वभाव है उसका भी भान होता है और उसे प्रगट करनेका लक्ष्य और पुरुषार्थ जागृत होनेपर, आत्मा परमात्मा होकर परम श्रेयको प्राप्तकर शाश्वतपदमें स्थित होनेरूप भाग्यशाली हो तब तकका सन्मार्ग और सत्साधन संप्राप्त होने योग्य है। मुनि श्री लघुराज स्वामी, श्री सौभाग्यभाई, श्री जूठाभाई, श्री अंबालालभाई आदि उज्ज्वल आत्मा इस सद्‌गुणानुरागसे मुमुक्षुतारूप नेत्र अथवा अलौकिक दृष्टि पाकर श्रीमद्‌की सच्ची पहचान करनेवाले भाग्यशाली हुए और फलस्वरूप आत्मज्ञानादि गुणोंसे विभूषित होकर स्वपरका श्रेय कर गये, यह प्रत्यक्ष दृष्टांतरूप है।

सत्पदाभिलाषी सज्जनोंको सत्पदकी साधनामें इस अत्युत्तम सद्‌ग्रंथका विनय और विवेकपूर्वक सदुपयोग आत्मश्रेय साधनमें प्रबल उपकारी हो यही अभ्यर्थना!

जेना प्रतापे अंतरे परमात्म पूर्ण प्रकाशतो,
जेथी अनादिनो महा मोहांधकार टळी जतो।
बोधि समाधि शांति सुखनो सिंधु जेथी ऊछळतो,
ते राजचंद्र प्रशान्त किरणो उर अम उजाळजो॥

श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास
ता.१-१-१९६४, वि०सं०२०२० पौष वदी २

संतसेवक
रावजीभाई छ. देसाई

अनुवादकका नम्र निवेदन

(हिन्दी-प्रथम संस्करण)

'श्रीमद् राजचंद्र' शब्द व्यक्ति और कृति दोनोंका बोधक है। श्रीमद् राजचंद्र जन्मसे महान हैं और उनकी आध्यात्मिकता जन्मसिद्ध है। श्रीमद्जी नीति एवं न्यायसे सांसारिक कार्य करते हुए आत्मविकासकी पराकाष्ठा तक पहुँचे हैं, यह उनके जीवनकी एक अनोखी अनुकरणीय विशेषता है। श्रीमद्जीने खुद ही अपने संस्कार, विचार और आचार अपनी विविध रचनाओं-मुख्यतः मुमुक्षुओंको लिखे गये पत्रोंमें अति स्पष्टता एवं सुदृढतासे प्रदर्शित किये हैं। धर्म और अध्यात्म जीवन है, इस सनातन सत्यके श्रीमद्जी एक ज्वलंत तथा अनुपम उदाहरण हैं अर्थात् वे धर्ममूर्ति एवं अध्यात्ममूर्ति हैं। उन्होंने अपनी अलौकिक स्मृति, प्रज्ञा आदि अनेकविध शक्तियोंका उपयोग लौकिक ऐश्वर्यकी प्राप्ति या सिद्धिके लिये नहीं किया है, किन्तु आत्मिक ऐश्वर्यकी सिद्धिके लिये किया है। और इसके लिये उन्होंने अपनी देहकी भी आहुति देकर मनुष्यदेहकी सार्थकताका एक अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया है। उनका जीवन गृहस्थ तथा साधु दोनोंके लिये प्रेरक एवं उत्साहवर्धक है। उनकी कृति ही उनके जीवनका दर्पण है। यदि उन्होंने 'आत्मसिद्धि' की भाँति संपूर्ण आत्मकथा लिखी होति तो वह भी एक अपूर्व देन होती। उनके जीवनको जानने और समझनेके लिये इन आंकोंका तो अध्ययन, मनन और निदिध्यासन करना ही चाहिये–३०, ५०, ७७, ७८, ८२, ८३, ८९ (समुच्चय वयचर्या), ११३, १२६, १२८, १३३, १५७, (दैनंदिनी) के ७ व १३, १६१, १६२, १६३, १७०, २४७, २५५, २६४, ३२२, ३२९, ३३४, ३३९, ३९८, ५८६, ६८०, ७०८, ७३८ (अपूर्व अवसर) ९५१, ९५४, ९६० (संस्मरण पोथी १/३२ धन्य रे दिवस आ अहो)

३३ वर्षके जीवनका दिग्दर्शन

जन्म–संवत् १९२४ कार्तिक सुदी पूर्णिमा, रविवार रातको २ बजे ववाणिया गाँव (काठियावाड) में; **नामपरिवर्तन**–चौथे वर्षमें प्यारा नाम लक्ष्मीनंदन बदलकर रायचंद; **जातिस्मरणज्ञान**–७वें वर्षमें बबूलके पेड पर; **शिक्षा**–७वें से ११वें वर्ष तक, गुजराती ७ श्रेणि; **लेखन-प्रवृत्ति**–८वें वर्षमें ही कविता करनेका श्रीगणेश, ५००० कडियाँ, ९वें वर्षमें संक्षिप्त रामायण और महाभारत काव्य; 'स्वदेशीओने विनंति' (स्वदेशियोंको विनती) 'श्रीमंत जनोने शिखामण' (श्रीमंतोको सिखावन), 'हुन्नरकळा वधारवा विषे' (हुनरकला बढानेके विषयमें) 'आर्यप्रजानी पडती' (आर्यप्रजाकी अधोगति), 'स्त्रीनीतिबोधक' आदि सामाजिक और देशोन्नति-विषयक अनेक काव्य; **अवधान**–१६वेंसे १९वें वर्ष तक, सं०१९४२ में बंबईमें शतावधान; **विवाह**–१९वें वर्षमें–सं०१९४३ माघ सुदी १२, गृहस्थजीवन लगभग १२ साल; **व्यापार**–२२वें वर्षमें श्री रेवाशंकर जगजीवनदासके साझेमें बंबईमें जवाहरातका व्यवसाय, व्यापारी जीवन लगभग ११ साल; **क्षायिक सम्यग्दर्शन** (आत्मज्ञान) २३वें वर्षमें (सं०१९४७), तभीसे कल्पित एवं आध्यात्मिक प्रगतिमें महत्त्वहीन ज्योतिषका त्याग; **कंचनकामिनीत्याग**–मुनि शिष्योंके सामने ३२वें वर्षमें (सं०१९५६); **श्री परमश्रुतप्रभावक-मण्डल**–सं०१९५६में स्थापना; **अस्वस्थता**– विशेषतः सं०१९५६में उनकी शरीरप्रकृति अधिक बिगड़ने लगी। युवावस्थामें उनका वजन १३२ पौंड था, जो कम होते होते ६५ पौंड हो गया। **समाधिमरण**–सं०१९५७ चैत्र वदी पंचमी मंगलवार, दिनके २ बजे राजकोटमें, वजन ४५ पौंड।

श्रीमद्जी समय-समयपर अपने प्रवृत्तिमय जीवनसे निवृत्ति लेने और सत्संग करनेके लिये वडवा, खंभात, काविठा, राळज, उत्तरसंडा, नडियाद, खेडा, नरोडा, ईडर आदि स्थलोंमें जाया करते थे और

कभी-कभी गुप्तरूपसे भी रहते थे। उसी दौरान एक बार अगास (आश्रम) भी पधारे थे जहाँ तब जंगल था।

'श्रीमद् राजचंद्र' ग्रंथ भी अपने ढंगका एक मौलिक एवं अद्वितीय ग्रंथ है। लगभग पन्द्रह बरस पहले मुझे इसे पढनेका सद्भाग्य प्राप्त हुआ था। तब मुझे यह प्रतीत हुआ था कि आत्मदशाका चित्रण जैसा इसमें है वैसा अन्यत्र मिलना मुश्किल है। इसका भाषान्तर करते हुए मेरी प्रतीति सुदृढ हो गयी है। जिन्हें अध्यात्मकी प्यास है उन्हें इस ग्रंथका, विशेषतः आत्मदशादर्शक आंकोंका बारंबार स्वाध्याय करना चाहिये ताकि वे आत्म-विकासके पथ पर अग्रेसर हो सके।

यह ग्रंथ एक संकलन है। इसकी कुल आंक-संख्या ९६० है, जिसमें लगभग ८०० तो पत्र हैं। संभवतः पत्र-साहित्यमें यह बेजोड़ है।

अनुवाद

'श्रीमद् राजचंद्र' के सं० २००७ (सन् १९५१)में प्रकाशित गुजराती संस्करणका यह हिन्दी अनुवाद है। पं० परमेष्ठीदास जैनने आंक ३७५ तक अनुवाद किया था, और मैंने अपना अनुवाद आंक ३७६ से शुरू किया था। कुछ एक मासके बाद मुझे विचार आया कि अनुवाद-शैलीकी एकरूपताकी दृष्टिसे पूर्वकृत अनुवादको भी फिरसे करना ठीक होगा। श्री रावजीभाई देसाईकी अनुमतिसे उसे भी किया गया है। अनुवाद मुख्यतः शाब्दिक है। सामान्यतः श्रीमद्जी द्वारा प्रयुक्त संस्कृत शब्दोंको ज्यों का त्यों रहने दिया है। परन्तु आशयको ध्यानमें रखकर कहीं कहीं मूल संस्कृत शब्द बदलने पडे हैं, जैसे कि 'जिज्ञासा' के लिये 'अभिलाषा', जिज्ञासु' के लिये 'अभिलाषी', 'लक्ष' के लिये 'ध्यान', 'ज्ञानीदृश्य'के लिये 'ज्ञानीदृष्ट', 'साध्य' के लिये 'सिद्ध', 'अवश्य' के लिये 'आवश्यकता', 'दुर्लभ' के लिये 'दुष्कर', 'अनुभव' के लिये 'अनुभवसिद्ध' इत्यादि शब्दोंका उपयोग किया गया है । फिर यह भी कोशिककी गई है कि गुजराती शब्दोंके लिये वैसे या मिलते-जुलते हिंदी शब्द रखे जायें।

मैंने अनुवादकी यथार्थता एवं शुद्धताके लिये भरसक प्रयत्न किया है। श्रीमद्जीके आशयको समझनेके लिये समय-समयपर श्री रावजीभाई देसाई, श्री कंचनभाई परीख, श्री बाबूलाल जैन आदिसे परामर्श करता रहा हूँ। फिर भी भाषाकी प्राचीनता, शैलीकी विलक्षणता और विषयकी तात्त्विकतासे अपेक्षित यथार्थता एवं शुद्धताके बाधित तथा दूषित हो जानेकी पूरी-पूरी संभावना है। आशा है कि सहृदय पाठक उसके लिये मुझे क्षमा करेंगे और त्रुटियोंकी ओर ध्यान दिलाकर मुझे आभारी करेंगे।

श्री रावजीभाई और श्री कंचनभाई दोनोंने मेरे नमूनेके अनुवादको परखा और मान्य किया, जिससे अनुवाद करनेका मुझे शुभ अवसर मिला। इसलिये मेरे अनुवादका श्रेय मुख्यतः उन्हींको है।

अनुवादकी यथार्थता एवं शुद्धताके संबंधमें विचार-विमर्श करनेके लिये श्री कंचनभाईको अनेक बार कष्ट देना पड़ा है, जिसके लिये क्षमायाचनापूर्वक उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रगट करता हूँ।

'श्रीमद् राजचंद्र' के गूढ एवं संदिग्ध स्थलोंको समझनेमें उपर्युक्त महाशयों और अन्य अनेक बंधुओंने मेरी बहुत सहायता की है। उन सबका मैं हार्दिक आभार मानता हूँ। मैंने मुख्यतः संस्कृत तथा प्राकृत अवतरणोंके संशोधनमें श्रद्धेय पं०बेचरदास दोशी, पं० लालचंद भगवानदास गांधी और श्री दलसुखभाई मालवणियासे सहायता ली है, जिसके लिये उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास
ता.७-१२-१९७३

हंसराज जैन

प्रकाशकीय निवेदन

'षष्ठम संस्करण'

हिन्दी में श्रीमद् राजचन्द्र वचनामृत नामक इस बृहद् ग्रन्थ को 'आश्रम' द्वारा प्रकाशित करते हुए हमें प्रसन्नता हो रही है । हिन्दी भाषी जिज्ञासु मुमुक्षुओने जिस उत्साह से इस ग्रन्थको स्वीकारा है उससे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि श्रीमद् राजचन्द्रके अगाध आध्यात्मिक ज्ञानके प्रति लोगोंकी श्रद्धा बढ़ रही है ।

श्रीमद् राजचन्द्रजीके वचन दार्शनिक होकर भी सम्पूर्ण मुक्ति मार्गकी प्राप्तिमें सर्वथा व्यवहारिक और अन्तरको स्पर्श करने में अद्वितीय है । जैसे किसी भी भाषाके लेखककी कृतियोंका यथार्थ भाव उसी भाषामें आत्मसात् किया जा सकता है वैसे ही श्रीमद्जीके वचनोंका सही भाव उन्हींकी भाषा गुजरातीमें और सत्संगमें बैठकर समझा जा सकता है । फिर भी यह हिन्दी अनुवाद तैयार करनेमें श्रीमद्के वचनोंके अध्येता और योग्य व्यक्तियोंका सहयोग मिला है जिससे मुमुक्षुओंको समझनेमें सरलता आयेगी । फिर भी इतना निवेदन है कि जो मुमुक्षु गुजरातीमें श्रीमद् राजचन्द्रजीके वचनोंके अभ्यासी रहे हैं उनके सानिध्यमें हिन्दी भाषी आत्मार्थीजन इन वचनोंका स्वाध्याय करें तो अधिक लाभदायी होगा ।

इस संस्करणमें हिन्दी वचनामृतकी तीसरी आवृत्तिके अनुसार तथा परमकृपालुदेवके मूळ पत्रोंके आधार पर सुधार कीये गये है ।

इस संस्करणमें परिशिष्ट-१ बाराक्षरीके अनुसार नहीं रखकर पृष्ठ नंबरके अनुसार रखा गया है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ सम्बन्धी विस्तृत जानकारी जो पिछली आवृत्तियोंकी प्रस्तावनाओं में दी गई हैं, वह मुमुक्षुओंके अवलोकनार्थ इसके साथ प्रकाशित है ।

इस आत्मउद्धारक ग्रन्थको सावधानीपूर्वक, विनय, विवेक सहित सद्उपयोग करनेका निवेदन है ।

श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास
ता. ०१-०९-२०१७

—प्रकाशक

'श्रीमद् राजचंद्र'

अनुक्रमणिका

आंक	विषय	पृष्ठ
	१७ वे वर्षसे पहले	
१	प्रथम शतक (काव्य)	१
	मंगलाचरण	१
	प्रभुप्रार्थना	१
	धर्म विषे (काव्य)	३
२	पुष्पमाला	३
३	काळ कोईने नहि मूके ! (काव्य)	८
४	धर्म विषे (काव्य) धर्मविषयक	१०
५	बोधवचन	११
६	जहाँ उपयोग वहाँ धर्म है ! आर्यजीवन	१५
७	नित्यस्मृति	१५
८	सहजप्रकृति	१५
९	प्रश्नोत्तर	१६
१०	द्वादशानुप्रेक्षा	१७
	अनित्य अनुप्रेक्षा	१७
	अशरण अनुप्रेक्षा	२०
	संसार अनुप्रेक्षा	२२
११	मुनि समागम	२४
	जैनसिद्धांत	२६
	(१) अभयदान	२६
	(२) तप	२७
	(३) भाव	२७
	(४) ब्रह्मचर्य	२७
	(५) संसारत्याग	२७
	(६) सुदेव भक्ति	२७
	(७) निःस्वार्थी गुरु	२८
	(८) कर्म	२८
	(९) सम्यग्दृष्टि	२९
१२	सज्जनता	३०
१३	श्री शांतिनाथ स्तुति (काव्य)	३१
१४	छत्रप्रबंधस्थ प्रेमप्रार्थना (काव्य)	३२
१५	दोहे– ज्ञानी के अज्ञानी जन	३३
	१७ वाँ वर्ष	
१६	भावनाबोध : (द्वादशानुप्रेक्षा-स्वरूपदर्शन)	३४
	उपोद्घात : सच्चा सुख किसमें हैं ?	३४
	प्रथम दर्शन : बारह भावनाएँ	३६
	प्रथम चित्र : अनित्यभावना	
	भिखारीका खेद	३७
	द्वितीय चित्र : अशरणभावना	
	अनाथी मुनिका दृष्टांत	३९
	तृतीय चित्र : एकत्वभावना	४२

आंक	विषय	पृष्ठ
	(१) नमिराजर्षि और शक्रेन्द्रका संवाद	४२
	(२) नमिराजका एकत्वसंबंध	४४
	चतुर्थ चित्र-अन्यत्वभावना	
	राजराजेश्वर भरतका चरित्र	४६
	पंचम चित्र-अशुचिभावना	
	सनत्कुमार चक्रवर्तीका चरित्र	४९
	अंतर्दर्शन-षष्ठ चित्र-निवृत्तिबोध	५१
	मृगापुत्रका चरित्र	५१
	सप्तम चित्र-आस्रवभावना	५६
	कुंडरिकका चरित्र	५६
	अष्टम चित्र-संवरभावना	५७
	(१) पुंडरिकका चरित्र	५७
	(२) वज्रस्वामी-रुक्मिणीका दृष्टांत	५७
	नवम चित्र-निर्जराभावना	५८
	दृढप्रहारीका चरित्र	५८
	दशम चित्र-लोकस्वरूपभावना	५९
१७	मोक्षमाला (बालावबोध)	६०
	उपोद्घात	६०
	शिक्षण पद्धति और मुखमुद्रा	६०
शिक्षापाठ	१ वाचकसे अनुरोध	६१
,,	२ सर्वमान्य धर्म (काव्य)	६१
,,	३ कर्मके चमत्कार	६२
,,	४ मानवदेह	६३
,,	५ अनाथी मुनि-भाग १	६३
,,	६ अनाथी मुनि-भाग २	६४
,,	७ अनाथी मुनि-भाग ३	६५
,,	८ सद्देवतत्त्व	६६
,,	९ सद्धर्मतत्त्व	६६
,,	१० सद्गुरुतत्त्व-भाग १	६७
,,	११ सद्गुरुतत्त्व-भाग २	६८
,,	१२ उत्तम गृहस्थ	६८
,,	१३ जिनेश्वरकी भक्ति-भाग १	६९
,,	१४ जिनेश्वरकी भक्ति-भाग २	७०
,,	१५ भक्तिका उपदेश (काव्य)	७१
,,	१६ सच्ची महत्ता	७१
,,	१७ बाहुबल	७२
,,	१८ चार गति	७३
,,	१९ संसारकी चार उपमाएँ-भाग १	७४
,,	२० संसारकी चार उपमाएँ-भाग २	७५
,,	२१ बारह भावना	७५
,,	२२ कामदेव श्रावक	७६

आंक	विषय	पृष्ठ
शिक्षापाठ	२३ सत्य	७७
,,	२४ सत्संग	७८
,,	२५ परिग्रहको मर्यादित करना	७९
,,	२६ तत्त्वको समझना	८०
,,	२७ यत्ना	८०
,,	२८ रात्रिभोजन	८१
,,	२९ सर्व जीवोंकी रक्षा-भाग १	८१
,,	३० सर्व जीवोंकी रक्षा-भाग २	८२
,,	३१ प्रत्याख्यान	८३
,,	३२ विनयसे तत्त्वकी सिद्धि है	८४
,,	३३ सुदर्शन सेठ	८५
,,	३४ ब्रह्मचर्य संबंधी सुभाषित (काव्य)	८६
,,	३५ नवकार मंत्र	८६
,,	३६ अनानुपूर्वी	८७
,,	३७ सामायिकविचार-भाग १	८८
,,	३८ सामायिकविचार-भाग २	८९
,,	३९ सामायिकविचार-भाग ३	९०
,,	४० प्रतिक्रमणविचार	९०
,,	४१ भिखारीका खेद-भाग १	९१
,,	४२ भिखारीका खेद-भाग २	९२
,,	४३ अनुपम क्षमा	९३
,,	४४ राग	९३
,,	४५ सामान्य मनोरथ (काव्य)	९४
,,	४६ कपिलमुनि-भाग १	९४
,,	४७ कपिलमुनि-भाग २	९५
,,	४८ कपिलमुनि-भाग ३	९६
,,	४९ तृष्णाकी विचित्रता (काव्य)	९७
,,	५० प्रमाद	९८
,,	५१ विवेक किसे कहते हैं ?	९९
,,	५२ ज्ञानियोंने वैराग्यका बोध क्यों दिया ?	१००
,,	५३ महावीरशासन	१००
,,	५४ अशुचि किसे कहना ?	१०२
,,	५५ सामान्य नित्यनियम	१०२
,,	५६ क्षमापना	१०३
,,	५७ वैराग्य धर्मका स्वरूप है	१०३
,,	५८ धर्मके मतभेद-भाग १	१०४
,,	५९ धर्मके मतभेद-भाग २	१०५
,,	६० धर्मके मतभेद-भाग ३	१०५
,,	६१ सुख संबंधी विचार-भाग १	१०६
,,	६२ सुख संबंधी विचार-भाग २	१०७
,,	६३ सुख संबंधी विचार-भाग ३	१०८
,,	६४ सुख संबंधी विचार-भाग ४	१०९
,,	६५ सुख संबंधी विचार-भाग ५	११०
,,	६६ सुख संबंधी विचार-भाग ६	१११
,,	६७ अमूल्य तत्त्वविचार (काव्य)	११२
आंक	विषय	पृष्ठ
शिक्षापाठ	६८ जितेन्द्रियता	११३
,,	६९ ब्रह्मचर्यकी नौ बाडें	११३
,,	७० सनत्कुमार-भाग १	११४
,,	७१ सनत्कुमार-भाग २	११५
,,	७२ बत्तीस योग	११५
,,	७३ मोक्षसुख	११७
,,	७४ धर्मध्यान-भाग १	११८
,,	७५ धर्मध्यान-भाग २	११९
,,	७६ धर्मध्यान-भाग ३	११९
,,	७७ ज्ञानसंबंधी दो शब्द-भाग १	१२०
,,	७८ ज्ञानसंबंधी दो शब्द-भाग २	१२०
,,	७९ ज्ञानसंबंधी दो शब्द-भाग ३	१२१
,,	८० ज्ञानसंबंधी दो शब्द-भाग ४	१२२
,,	८१ पंचमकाल	१२२
,,	८२ तत्त्वावबोध-भाग १	१२३
,,	८३ तत्त्वावबोध-भाग २	१२४
,,	८४ तत्त्वावबोध-भाग ३	१२४
,,	८५ तत्त्वावबोध-भाग ४	१२५
,,	८६ तत्त्वावबोध-भाग ५	१२५
,,	८७ तत्त्वावबोध-भाग ६	१२६
,,	८८ तत्त्वावबोध-भाग ७	१२७
,,	८९ तत्त्वावबोध-भाग ८	१२७
,,	९० तत्त्वावबोध-भाग ९	१२८
,,	९१ तत्त्वावबोध-भाग १०	१२८
,,	९२ तत्त्वावबोध-भाग ११	१२९
,,	९३ तत्त्वावबोध-भाग १२	१२९
,,	९४ तत्त्वावबोध-भाग १३	१३०
,,	९५ तत्त्वावबोध-भाग १४	१३१
,,	९६ तत्त्वावबोध-भाग १५	१३१
,,	९७ तत्त्वावबोध-भाग १६	१३२
,,	९८ तत्त्वावबोध-भाग १७	१३२
,,	९९ समाजकी आवश्यकता	१३३
,,	१०० मनोनिग्रहके विघ्न	१३३
,,	१०१ स्मृतिमें रखने योग्य महावाक्य	१३४
,,	१०२ विविध प्रश्न-भाग १	१३४
,,	१०३ विविध प्रश्न-भाग २	१३५
,,	१०४ विविध प्रश्न-भाग ३	१३५
,,	१०५ विविध प्रश्न-भाग ४	१३६
,,	१०६ विविध प्रश्न-भाग ५	१३७
,,	१०७ जिनेश्वरकी वाणी (काव्य)	१३७
,,	१०८ पूर्णमालिका मंगल (काव्य)	१३८
	१९ वाँ वर्ष	
१८	बावन अवधान, अवधान आत्मशक्तिका कार्य, न्यायशास्त्र अभ्यासार्थ काशीयात्रा विचारणीय	१३९

आंक	विषय	पृष्ठ
१९	महानीति (वचन सप्तशती)	१४१
२०	एकान्तवाद ही ज्ञानकी अपूर्णता	१६०
२१	वचनामृत	१६०
२२	स्वरोदयज्ञान-प्रस्तावना और पद्यार्थ; आत्मज्ञ चिदानंदजीकी मध्यम अप्रमत्तदशा	१६५
२३	जीवतत्त्वसम्बन्धी विचार	१६९
२४	जीवाजीवविभक्ति	१७०
२५	प्रमादसे आत्मस्वरूपकी विस्मृति	१७१
२६	मनकी विचित्र दशा, सावधानी शूरका भूषण	१७१
२७	दूसरा महावीर, सर्वज्ञ जैसी स्थितिमें, सच्चे धर्मके प्रवर्तनकी उत्कंठा	१७२
२८	धर्मप्रवर्तनमें विलंब, किसीको निराश नहीं करूंगा	१७३
	२१ वाँ वर्ष	
२९	भाइयोंमें प्रीति आदिकी वृद्धि करें, समयका सदुपयोग करें, निश्चिंत रहें।	१७४
३०	लग्न सम्बन्धी विचार, परार्थ करते हुए लक्ष्मीसे अंधता आदिका संभव, विवाह दिलका रिश्ता	१७४
३१	दुनियामें सत्समागम ही अमूल्य लाभ	१७५
३२	एक अद्भुत बात, बायीं आँखमें चमकारा	१७५
३३	आर्थिक बेफिक्री न रखें, आत्मसुखके लिये व्यय-संकोच	१७५
३४	चमत्कारसे आत्मशक्तिमें परिवर्तन	१७५
३५	समय-यापन, सत्संग न मिलनेसे विवेक व्याकुलता	१७५
३६	मतभेदसे अनंतकालमें भी धर्म नहीं पाया	१७५
३७	जगतको अच्छा दिखानेके लिये अनंतबार प्रयत्न, उपयोगशुद्धि, इस कालकी अपेक्षासे मोक्षमार्ग, आपके 'पूज्य' की निर्विकल्प होने की इच्छा, रागद्वेषरहित होना ही मेरा सर्वसम्मत धर्म, आत्मामें हूँ, देह धर्मोपयोगके लिये	१७६
३८	स्वभावमुक्त प्रत्यक्ष अनुभवस्वरूप आत्मा, अगम-अगोचर, सुगम-सुगोचर	१७७
३९	चैतन्य सत्ता प्रत्यक्ष व सन्मुख, आत्मज्ञानसे विश्राम	१७७
४०	तत्त्व पानेके लिये उत्तम पात्र, सुलभ बोधित्व की योग्यता, निर्ग्रन्थ दर्शन मानने योग्य, दुःषम काल, मत-प्रवर्तनमें मुख्य कारण, धर्मकी दुर्लभता, सच्चे दीक्षित एवं शोधक पुरुष विरल, मुख्य विवाद प्रतिमापूजन, प्रतिमासिद्धिके प्रमाण, शास्त्र-सूत्र कितने, अन्तिम अनुरोध	१७७

आंक	विषय	पृष्ठ
	२२ वाँ वर्ष	
४१	निरन्तर सत्पुरुषकी कृपादृष्टि चाहे, शोक-रहित रहें।	१८३
४२	आत्मा अनादिकालसे क्यों भटकता रहा?	१८३
४३	मेरे प्रति मोहदशा न रखें, सत्पुरुषोंका गुण-स्मरण और समागम करें।	१८३
४४	शोचसम्बन्धी न्यूनता और पुरुषार्थकी अधिकता	१८३
४५	यदि न चले तो प्रशस्त राग रखें।	१८४
४६	आत्मत्वप्राप्तिका मार्ग खोजें।	१८४
४७	सात प्रकृतियोंका ग्रन्थिछेदन और आत्म दर्शन, संतप्त आत्माको शीतल करना ही कृतकृत्यता, "धर्म" बहुत गुप्त वस्तु, उसकी प्राप्ति अंतःशोधनसे	१८४
४८	व्यवहारशुद्धि, उसके नियम	१८५
४९	आशीर्वाद देते ही रहें, तन-मन-वचन और आत्मस्थितिको सँभालें	१८६
५०	अंतःकरणको प्रदर्शित करनेके स्थान बहुत ही कम, चार पुरुषार्थोंकी प्राप्ति, प्रमाद करना महामोहनीयका बल	१८७
५१	महान बोध-नया कर्मबंध न होनेके लिये सचेतता, समभावकी श्रेणि	१८७
५२	सर्वोत्तम श्रेय, कैसी इसकी शैली। आत्म-पहचानकी ओर ध्यान दें।	१८८
५३	सत्संग खोजें, सत्पुरुषकी भक्ति करें।	१८८
५४	मोक्षके मार्ग दो नहीं, एक ही मार्गके लिये सभी क्रियाएँ और उपदेश, वह मार्ग सर्वत्र संभव, वह मार्ग आत्मामें, उसकी प्राप्तिमें मतभेद बाधक	१८८
५५	कर्म जड वस्तु, अबोधताकी प्राप्तिका कारण, समत्व-श्रेणिसे चेतनशुद्धि, मोक्ष हथेलीमें	१८९
५६	धर्मसाधन-देहकी संभाल	१९०
५७	मैत्री आदि चार भावनाएँ	१९०
५८	शास्त्रमें मार्ग, मर्म तो सत्पुरुषके अंतरात्मामें	१९०
५९	मैं आपके समीप ही हूँ, देहत्यागका भय न समझें, दशवैकालिक अपूर्व बात, परम कल्याणकी एक श्रेणि	१९०
६०	(१) संयत धर्म-यतना, 'पहले ज्ञान और फिर दया', जीव, अजीव, गति, पुण्य आदिके स्वरूपज्ञानसे संसार-निवृत्ति, संवर, निर्जरा, केवलज्ञान, सिद्धगति	१९१
	(२) अहिंसा, सत्य आदि पाँच महाव्रत, एक बार खाना, रात्रिभोजन त्याग, छकाय जीवकी रक्षा	१९३
६१	ज्ञानवृद्धताकी प्राप्ति	१९४

आंक	विषय	पृष्ठ
६२	परमात्माके ध्यानसे परमात्मा, ध्यान सत्पुरुष की विनयोपासनासे, धर्मध्यान राजमार्ग, धर्मध्यानकी प्राप्ति, उसकी भूमिकाएँ, भेद और भूषण, जहाँ वासना जय वहाँ श्वास जाय; उसके साधन, श्रेणि, वर्धमानता, सबका मूल सत्पात्रता	१९५
६३	चित्तकी दशा विदित करना उपकारक	१९६
६४	जहाँसे 'यथार्थदृष्टि' अथवा 'वस्तुधर्म' प्राप्त करें वहाँसे सम्यग्ज्ञान संप्राप्त हो, जो एकको जानता है वह सबको जानता है, ज्ञावृद्धता, पुनर्जन्मसंबंधी विचार, चैतन्य और जडकी भिन्नता; आत्मज्ञान श्रेष्ठ, उसकी प्राप्ति, सत्पुरुषोंके चारित्र दर्पणरूप	१९६
६५	धर्मनिष्ठ आत्माको शांति एक पुण्य	१९९
६६	निर्ग्रंथ द्वारा उपदिष्ट शास्त्रोंकी शोधके लिये आगमन	१९९
६७	धर्मप्रशस्त ध्यानके लिये विज्ञापन	१९९
६८	अनंत भवके आत्मिक दुःखका परमौषध, यथार्थदृष्टि हुए बिना सब दर्शनोंका तात्पर्य ज्ञान हृदयगत नहीं होता, बुद्ध चरित्र मननीय	१९९
६९	महासतीजी मोक्षमालाका यथार्थ श्रवण-मनन करें, अनुभव और कालभेदके अनुसार उसका लेखन	२००
७०	सत्संगकी बलवत्तरता है ।	२००
७१	शास्त्रबोध, क्रिया आदिका प्रयोजन स्वरूपप्राप्ति, सर्वसंगपरित्यागकी आवश्यकता, अंतरंग निर्ग्रंथश्रेणिसे सर्वसिद्धि, अन्य दर्शनमें मध्यस्थता, प्राप्त अनुत्तरजन्मका साफल्य, प्रत्येक पदार्थकी प्रज्ञापनीयता, आत्मव्याख्या भी उसीसे	२००
७२	बाह्यभावसे जगतमें रहें और अंतरंगमें निर्लेप रहें	२०१
७३	शोकरहित प्रवृत्ति करें	२०१
७४	क्षमा-याचना, परतंत्रके लिये खेद	२०१
७५	मुझ पर शुद्ध राग रखें, लोभी गुरु दोनोंके लिये अधोगतिका कारण	२०२
७६	सत्पुरुषको ही खोज, सत्पुरुषके लक्षण, उसकी सेवासे पंद्रह भवमें मोक्ष	२०२
७७	सुखकी सहेली, अध्यात्मकी जननी उदासीनता, लघुवयथी अद्भुत थयो.....(काव्य)	२०२
७८	स्त्रीके संबंधमें मेरे विचार, निराबाध सुख व परम समाधिका आश्रय शुद्ध ज्ञान, स्त्रीमें दोष नहीं परंतु आत्मामें, शुद्ध उपयोगसे मोहनीय भस्मीभूत	२०३
७९	दृष्टिभेदसे भिन्न-भिन्न मत (काव्य)	२०४
८०	प्रतापी पुरुष	२०४
८१	कर्मकी विचित्र बंध-स्थिति, महान मनोजयी वर्धमान आदि	२०५
८२	दुखिया मनुष्योंका सिरताज बन सकूँ, अंतरङ्गचर्या प्रगट करने योग्य पात्रोंकी दुर्लभता ही महा दुःख है	२०५
८३	गृहाश्रमसंबंधी विचार आपके सामने रखनेका हेतु, तत्त्वज्ञानकी गहरी गुफाका दर्शन और निवास, जगतकी विचित्रता त्रिकाल	२०६
	२३ वाँ वर्ष	
८४	भाई, इतना तो तेरे लिये अवश्य करने योग्य है	२०८
८५	समझकर अल्पभाषी होनेवालेको पश्चातापका अवसर कम, आत्माको पहचाननेके लिये आत्म-परिचयी एवं पर वस्तुका त्यागी होना	२०८
८६	अनंतकाल हुआ, जीवकी निवृत्ति क्यों नहीं होती ? संसारमें रहना और मोक्ष होना कहना यह होना असुलभ, चार भावना	२०९
८७	परमतत्त्वको सामान्य ज्ञानमें प्रस्तुत करनेकी हरिभद्राचार्यकी स्तुत्य चमत्कृति, नास्तिकके उपनामसे जैनदर्शनका खंडन यथार्थ नहीं, अंतरङ्ग अभिलाषा तरनेका एक ही मार्ग	२०९
८८	सर्वव्यापक चेतनका चित्तसे विचार, प्रकाशस्वरूप धाम, अंतःकरण व आत्मा	२१०
८९	समुच्चयवयचर्या	२११
९०	अद्भुत योजना-धर्मके दो प्रकार-१ सर्वसंगपरित्यागी २ देशपरित्यागी, ज्ञानका उद्धार निर्ग्रंथ धर्म आदिकी योजना, मत-, मतांतरादिकी विचारणा	२१३
९१	वह पवित्र दर्शन होनेके बाद बंधन आदि नहीं, सत्स्वरूपदर्शिताकी बलिहारी	२१४
९२	आत्मदर्शिता तब प्राप्त होगी	२१४
९३	नवपदध्यानियोंकी वृद्धिकी अभिलाषा	२१५
९४	बँधे हुओंको छुडाना	२१५
९५	उपालंभ, सर्वगुणांश सम्यक्त्व	२१५
९६	धर्म, अर्थ, कामकी एकत्रता	२१५
९७	चार पुरुषार्थकी समझ दो प्रकारसे	२१५
९८	समाधिभाव प्रशस्त रहता है, वीतराग देवमें वृत्तिपूर्वक प्रवृत्त रहें	२१६
९९	चार आश्रमवाला काल धन्य	२१६
१००	श्री ऋषभदेव द्वारा व्यवहार धर्मोपदेश, भरत द्वारा वेद, आश्रम, वर्ण और पुरुषार्थकी योजना	२१६
१०१	मनुष्यात्मा चार वर्गकी सिद्धिके योग्य, आश्चर्यकारी विचित्रता, मोहदृष्टिसे दुःख	२१७

आंक	विषय	पृष्ठ
१०२	मनुष्यजन्म दुर्लभ, परम पुरुषार्थ मोक्षका स्वरूप, ध्यानरूप जहाज उपादेय	२१७
१०३	कुटुम्बरूपी काजलकी कोठरीमें रहनेसे संसार वृद्धि	२१८
१०४	व्यवहारक्रम तोडकर लिखनेमें अशक्त, जिनोक्त पदार्थ यथार्थ ही है	२१८
१०५	महावीरके बोधका पात्र कौन ?	२१८
१०६	रचनाकी विचित्रता सम्यग्ज्ञान-बोधक, जन समूहकी अपेक्षासे यह काल अति निकृष्ट	२१९
१०७	लोक पुरुषसंस्थाने कह्यो.....(काव्य) पुरुषाकार लोकका रहस्य क्या ? हम कौन ? कहाँ से ? सुखी-दुःखी क्यों ? जहाँ शंका वहाँ संताप, गुरु-पहचानके लिये वैराग्य आवश्यक, सब धर्मोमें एक तत्त्वका ही गुणगान, जीवन्मुक्त दशा	२१९
१०८	हितकी बातें-अंतरमें सुख बाहरमें नहीं; तेरे दोषसे तुझे बंधन, तेरा दोष यह कि अन्यको अपना मानना, अपनेको भूल जाना, निर्णय योग्य विषय	२२१
१०९	आत्मा नाम मात्र या वस्तुस्वरूप ?	२२३
११०	आत्मा कैसा है ? आत्माका लक्षण क्या ?	२२३
१११	परम सत्य है, तू सर्वथा स्वयं प्रवृत्ति कर, जीवन-अजीवनमें समवृत्ति, व्यवहारमें भी सत्य सो सत्य हो, सबको समान ही मान	२२३
११२	मोहाच्छादित दशासे अविवेक, कार्यमें एक निष्ठा, आप अपना वैरी	२२४
११३	गृहाश्रम मध्यम, तत्त्वज्ञानकी गुफाका दर्शन, तत्त्वज्ञानका विवेक, उस पर आवरण, असमाधिसे प्रवृत्ति न करनेकी प्रतिज्ञा	२२४
११४	प्रशस्त व्यवहार करें	२२५
११५	उपाधिकी प्रबलतामें उदासीन भावसे प्रवृत्ति, शुभ योगकी अपेक्षासे अनारंभी, अशुभ योगकी अपेक्षासे आत्मारंभी, परारम्भी, तदुभयारम्भी, वीतरागके उपदेशमें परायण रहें ।	२२५
११६	जूठाभाईके समाधिमरणकी सूचना	२२६
११७	लिंगदेहजन्यज्ञानमें थोडा परिवर्तन, जूठाभाई का गुणगान, मोक्षमार्ग देनेवाला सम्यक्त्व	२२६
११८	धर्मेच्छुकके अनन्य सहायक, सत्यपरायणके स्मरणार्थ एक शिक्षाग्रन्थ लिखना, आत्माका शब्द-वर्णन, योग दशामें आहारादि नियमित, इस भव और परभवकी निरूपाधिता करें	२२७
११९	वीतरागत्व ही अभ्यास करने योग्य, निर्भयतासे विचरना श्रेयस्कर	२२७
१२०	योगवासिष्ठ उपाधितापशमक चन्दन, यथायोग्य स्थितिकी ही इच्छा, दीनता उचित नहीं, सहजभावसे व्यवहारकी प्रणालिका, मुक्तभावसे मोक्ष	२२७
१२१	वैराग्य प्रेरक पुस्तक पढना, दुषमकाल, त्याज्य स्वच्छंद आदिमें जीवरूचि	२२८
१२२	कर्मबन्धका हेतु, अनारंभी और आरंभी, मर्मबोधकी प्राप्ति और रूचि, सत्पुरुषोंकी कृपादृष्टिमें	२२८
१२३	आत्महितका रास्ता, महावीरका मार्ग, विवेकीका कर्तव्य	२२९
१२४	अप्रतिबद्ध दशासे त्यागकी उत्पत्ति	२२९
१२५	पर्युषण मतमतांतर, चित्त गुफाके योग्य	२२९
१२६	सचमुच यह कलिकाल, विश्रांतिके बदले अविश्रांति, कैसी दशा आनी चाहिये ? किस मार्गसे ? शिशुवयसे ही उपशमवृत्ति, आनंदावरण दूर करनेका उपाय	२२९
१२७	दो पर्युषण दुःखदायक, मतांतर कम होने चाहिये ।	२३०
१२८	प्रथम संवत्सरी-क्षमायाचना, अंतर्ज्ञानसे परिभ्रमण आदिका स्मरण महा वैराग्यदायी, परिभ्रमण केवल स्वच्छंदसे, कैसे जीनेकी चिंता, नेपथ्यसे मिला उत्तर यथायोग्य, पलटनेवाली स्वभाववृत्ति आदि नहीं चाहिये, समझ आये बिना आगम अनर्थकारक, लोकत्यागके बिना वैराग्य दुर्लभ, परिभ्रमणका प्रत्याख्यान	२३१
१२९	उपाधि आदिके कारण उधर आऊँगा	२३२
१३०	एक महती इच्छा, विडंबनदशा भी कल्याणकारक छः महा प्रवचन, स्वात्माके अनुग्रहमें दृष्टि बढायें, धर्म ही जिसका सर्वस्व है, मनुष्यदेहमें परमात्मा, आत्मभावकी वृद्धि	२३२
१३१	भगवतीसूत्रके पाठके दोनों अर्थ ठीक, प्रत्याख्यान व दुःप्रत्याख्यानमें भेद	२३३
१३२	सज्जनसंगति नौका, परमार्थरूप होना, अनेकको परमार्थ सहायक होना	२३३
१३३	पहलेकी संगतिसे उपाधि, इश्वरपर विश्वास, दिनरात एक परमार्थका ही मनन, दुःखका कारण विषमात्मा, समयवृत्तिसे समाधि, सांसारिक प्रवृत्तिकी विवशता, भविष्यज्ञान या सिद्धियोंकी अनिच्छा, उनके उपयोगमें उदासीनता	२३४
१३४	देहधारीको विडंबना एक धर्म, इस देहधारीका जन्म होना योग्य न था, विदेही-जीवन्मुक्त-निर्ग्रंथदशा रहित जीवन असह्य, यथायोग्य दशाका अभी मुमुक्षु	२३५

आंक	विषय	पृष्ठ
१३५	सम्यक्दशाके पाँच लक्षण-शमादि	२३५
१३६	देहभाव व अहंभावमें आत्मशांति दुर्लभ	२३६
१३७	आत्मशांतिमें प्रवृत्ति करें	२३६
१३८	योग्यता प्राप्त करें	२३६
१३९	आठ रुचकप्रदेश निर्बंधन, शास्त्रकारकी शैली, अन्तर्मुहूर्तका अर्थ, समुद्घात वर्णनका हेतु, ज्ञानमें कुछ न्यून चौदह पूर्वधारी निगोदमें, जघन्य ज्ञानी मोक्षमें, लवणसमुद्र व मीठी 'वीरडी', उपाधिग्रस्त इस देहधारीकी पूर्ण कसौटी करें	२३६
१४०	पात्रताप्राप्तिका प्रयास अधिक करें	२३८
१४१	व्यासवचन-इच्छाद्वेषविहीनेन	२३८
१४२	आत्माका विस्मरण क्यों हुआ होगा ? अपनी किसी न्यूनताकी पूर्णता कैसे कहूँ ?	२३८
१४३	पाँच अभ्यास, निर्वाणमार्ग	२३९
१४४	चैतन्यका अविच्छिन्न अनुभव प्रिय, "तूही तूही" का अस्खलित प्रवाह	२३९
१४५	आत्मनिवृत्ति कीजियेगा	२३९
१४६	जो समझे वे सद्गतिको प्राप्त हुए, इस व्यक्तिके प्रति राग हितकारक कैसे होगा ?	२४०
१४७	आत्मामें ही एकतान हुए बिना परमार्थमार्ग-की प्राप्ति बहुत ही असुलभ	२४०
१४८	सिद्धि किस प्रकारसे ?	२४०
१४९	धर्मध्यान आदिकी वृद्धि करें	२४०
१५०	मौतका औषध, कर्मको आज्ञा	२४०
१५१	वीर्यके भेद-प्रभेद, यह अर्थ समर्थ है	२४०
१५२	सर्वार्थसिद्धकी ध्वजासे बारह योजन दूर मुक्तिशिला, कबीर ध्वजासे आनंद विभोर, मूलपदका अति स्मरण, 'केवलज्ञान अब पायेंगे रे'	२४१
१५३	उदासीनता अध्यात्मजननी, संसारमें रहना, मोक्ष होना कहना	२४१
१५४	बीजां साधन बहु कर्यां (काव्य) दूसरे बहुतसे साधन किये; सद्गुरुका योग, निश्चय, सत्संग	२४१
१५५	मात्र आत्मग्राह्य बातें, श्री मघशाप, श्री बखलाध	२४२
१५६	महावीरका जगतदर्शन	२४२
१५७	दैनंदिनी-	
	१ आत्मदृष्टिसे सिद्धि	२४२
	२ मोहनीय बलवत्तरतासे युवावस्था दुःख-मय, फिर सुखका समय कौनसा ? अंतरंग विचारजन्य विवेकसे सुख	२४२
	३ छद्मस्थावस्थामें एक रात्रिकी महाप्रतिमा	२४३
	४ बहुत ध्यान देने योग्य नियम	२४३
	५ आज मने उछरंग अनुपम (काव्य)	२४४
	६ मनुष्यप्राणी-अधोवृत्तिवत्, ऊर्ध्वगामीवत्	२४४
	७ परिचयीसे अनुरोध	२४४
	८ सबेरेका समय समाधियुक्त बीता, अखाजीके विचारोंका मनन	२४४
	९ रेवाशंकरजीके आनेपर क्रम	२४४
	१० अपने अस्तित्वमें शंका ठीक नहीं	२४५
	११ अद्भुत स्वप्नसे परमानंद	२४५
	१२ कलिकाल, धन्य व्यक्ति; सत्संग और आत्मश्रेणि	२४५
	१३ व्यवहारोपाधि ग्रहण करनेका हेतु, इसी क्रममें प्रवृत्ति कर, व्यवहारमें संबद्धके साथ बरताव, किसीके दोष मत देख, आत्मप्रशंसा न कर, निवृत्तिश्रेणीका लक्ष्य प्रिय	२४५
	१४ विश्वाससे व्यवहार करके अन्यथा व्यवहार करनेवाले पछतावा करते हैं	२४६
	१५ क्षुद्र और वाचाहीन जगत	२४६
	१६ दृष्टिकी स्वच्छता	२४६
	१७ बीजज्ञान और केवलज्ञान, ज्ञानी रत्नाकर, नियतियाँ	२४६
	१८ बँधे हुए मोक्ष पाते हैं; पाये हुए पदार्थ-का स्वरूप शास्त्रोंमें क्यों नहीं ?	२४७
१५७	(अ) श्रीमान पुरुषोत्तम, उनका मूर्तिमान स्वरूप उनकी भक्तिरुचि	२४७
१५८	श्रीमान पुरुषोत्तम, श्री सद्गुरु और संत तीनों एक, विश्व और भगवान, जड और जीव दोनों भगवद्रूप, तत्त्वमसि, अहंब्रह्मास्मि	२४७
१५९	सर्वरूपसे एक श्री हरि, श्री हरि निराकार, श्री पुरुषोत्तम साकार, हरि स्वेच्छासे बहुरूप	२४८
१६०	विश्व चैतन्याधिष्ठित, विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत, परमात्म-सृष्टि और जीव-सृष्टि, हरि और माया, जीव-परिभ्रमण, परमात्माका अनुग्रह ब्राह्मी स्थिति, सर्व ब्रह्म है, हरिका अंश हूँ, केल पद, वस्तु, अवस्तु	२४८
१६१	सहजात्मस्वरूपीकी दुविधा, सभी दर्शनोंमें शंका, आत्माकी आस्था, आत्माकी व्यापकता, मुक्ति स्थान आदिमें शंका ही शंका, सद्गुरुका अयोग, दर्शनपरिषह, जहर पी या उपाय कर	२५२
१६२	शंकारूप भँवरमें, यथेष्ट सत्समागमकी दुर्लभता, सामान्य सत्समागमी स्वविचार दशाके लिये प्रतिबन्धरूप	२५३
१६३	कलिकालका स्वरूप, हमें भी कलियुगका प्रसंगी संग, जीवोंकी वृत्ति विमुखता हमारा परम दुःख	२५४
१६४	हे हरि ! तेरा स्वरूप परम अचिंत्य, अद्भुत ! अनुग्रह कर !	२५४

आंक	विषय	पृष्ठ
	२४ वाँ वर्ष	
१६५	केवलबीजसंपन्न, सर्व गुणसंपन्न भगवानमें भी अपलक्षण, केवलज्ञान तकका परिश्रम व्यर्थ नहीं जायेगा; निःशंकता, निर्भयता आदिकी जरूरत, मोक्षकी नहीं	२५५
१६६	सत्पुरुषके एक-एक वाक्यमें एक-एक शब्दमें अनंत आगम, मंगलरूप वाक्य-मायिक सुखकी इच्छा छोडे बिना छुटकारा नहीं, मायिक वासनाके अभावके लिये सद्गुरुको आत्मार्पण, मोक्षमार्ग आत्मामें है।	२५५
१६७	सत्य एक है, दो प्रकारका नहीं; व्यवहारमें रहते हुए वीतराग, कबीरपंथीके सत्संगके लिये ज्ञानावतारकी प्रेरणा और शिक्षा	२५६
१६८	किसे संसारका संग अच्छा नहीं लगता? ग्यारहवें गुणस्थानकसे गिरे हुएका मोक्ष	२५८
१६९	अभिलाषाके प्रति पुरुषार्थ करना	२५८
१७०	आत्माने ज्ञान पा लिया, ग्रन्थिभेद हुआ, अंतिम निर्विकल्प समाधि सुलभ, गुप्तता, वेदोदय तक गृहवास, तीर्थंकरके किये अनुसार करनेकी इच्छा उपशम और क्षपक श्रेणियाँ, आधुनिक मुनियोंका सूत्रार्थ श्रवणके भी अयोग्य	२५८
१७१	पत्र लिखनेका उद्देश, संग किसका?	२६०
१७२	अनंतकालसे स्वयंको स्वविषयक भ्रांति, परम रहस्य, ईश्वरके घरका मर्म पानेका महा मार्ग, छुटकारा कब?	२६०
१७३	व्यवहार-बंधन न होता तो अपूर्व हितकारी होता, मार्गमर्मदाता	२६१
१७४	सत्संग बडेसे बडा साधन, सत्पुरुष-श्रद्धा	२६२
१७५	सत्संगकी वृद्धि करें	२६२
१७६	संसार-परिभ्रमणका मुख्य कारण, दीनबंधुकी दृष्टि, अलख 'लय'में आत्मा, अवधूत हुए अवधूत करनेकी दृष्टि, भक्तिसत्संग दुर्लभ	२६२
१७७	धर्मेच्छुकोंके पत्र-प्रश्नादि बंधनरूप, नित्य नियम	२६३
१७८	अभी धर्म बतानेके अयोग्य हूँ, पहले जिज्ञासुता	२६३
१७९	उपशम भाव	२६४
१८०	दृढज्ञानप्राप्तिका लक्षण, अमरवरके आनन्दका अनुभव, 'इस कालमें मोक्ष' का स्याद्वाद, अमृतके नारियलका पूरा वृक्ष	२६४
१८१	यहाँ तीनों काल समान, प्रवृत्ति मार्ग जीवोंको सद्दर्शन करनेमें बाधक	२६५
१८२	निर्वाण मार्गके इच्छुक विरल, इस कालमें हमारा जन्म कारणयुक्त	२६५
१८३	सत्पुरुषसेवा, जीवने अपूर्वको नहीं पाया, पूर्वानुपूर्वकी वासनाके त्यागका अभ्यास, क्रिया आदि सब आत्माको छुडानेके लिये	२६६
१८४	आधार निमित्तमात्र, निष्ठा सबल करें	२६६
१८५	हृदय भर आया है	२६६
१८६	मार्गानुसारी होनेका प्रयत्न करें	२६६
१८७	अंतिम स्वरूप समझमें आया है, परिपूर्ण स्वरूपज्ञान तो उत्पन्न, कुनबी-कोली जातिके मार्गप्राप्तपुरुष अंतिम ज्ञानको अप्राप्त, ज्ञानीकी अपेक्षा मुमुक्षुपर उल्लास, मुक्ति भी नहीं चाहिये, जैनका केवलज्ञान भी नहीं चाहिये, यह भूमि उपाधिकी शोभाका संग्रहालय	२६७
१८८	कहनेरूप मैं	२६८
१८९	अलखनामकी धुन लगी है	२६८
१९०	पूर्वापर असमाधि न करनेकी शिक्षा	२६८
१९१	हरिजनकी भक्ति प्रिय, परमार्थकी परम आकांक्षाकी पूर्ति ईश्वराधीन	२६८
१९२	आत्मसाधनरूप वृत्ति, कबीरका पद 'करना फकीरी क्या दिलगीरी' निष्कारण परमार्थवृत्ति	२६८
१९३	मुमुक्षुओंका दासत्व प्रिय, आश्रम छोडना अनावश्यक	२६९
१९४	मार्ग सरल परन्तु प्राप्ति-योग दुर्लभ, सत्स्वरूपप्राप्ति किंवा ज्ञान-प्राप्तिका मार्ग ज्ञानीकी चरणसेवा है, मुनियोंकी सामायिक, आणाए धम्मो आणाए तवो, लक्ष न समझनेका प्रधान कारण स्वच्छन्द	२६९
१९५	परिभ्रमणनिवृत्ति किससे हो? इसे विचारें	२७१
१९६	दो बडे बन्धन-स्वच्छंद और प्रतिबन्ध, व्याख्यानको प्रतिबन्धरूप समझें	२७१
१९७	परिपूर्ण दर्शन असंगतामें, एकान्तवाससे परदा दूर होगा	२७१
१९८	सजीवन-मूर्तिसे सत्प्राप्ति, जीवने क्या नहीं किया? क्या करना है? इसे विचारें; योग्यताके लिये ब्रह्मचर्य	२७१
१९९	मनुष्यताकी सफलताके लिये जीयें, मिथ्या वासनाओंकी निवृत्तिका विचार	२७२
२००	वचनावली-अपनेको भूलनेसे सत्सुखका वियोग, अनन्तानुबन्धी कषायका मूल, ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन कौन कर सके, ज्ञानमार्गकी श्रेणिकी प्राप्तिसे मोक्ष	२७३
२०१	निरंजनदेवका अनुग्रह, भागवतकी कथा : "कोई माधव लो" पराभक्तिका अनुपम उदय, भागवतमें अद्भुत भक्ति, भक्ति सर्वोपरि मार्ग	२७३

आंक	विषय	पृष्ठ
२०२	परमार्थमार्गमें प्रेम ही धर्म	२७५
२०३	विकल्प न कीजियेगा	२७५
२०४	परमार्थके लिये परिपूर्ण इच्छा, प्रगट होनेकी अनिच्छा	२७५
२०५	तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः वास्तविक सुख जगतकी दृष्टिमें नहीं आया, ज्ञानीको भी विचारकर पैर रखने जैसा जगत	२७६
२०६	महात्माओका रिवाज	२७६
२०७	सच्चे धर्म और ज्ञान, परमार्थ-प्रीति होनेमें सत्संग अनुपम साधन, विकट पुरुषार्थ, 'सत्' सरल है, सत्को बतानेवाला सत् चाहिये, ज्ञानियोंकी वाणी नयमें उदासीन	२७६
२०८	नयके रास्तेसे पदार्थनिर्णय अशक्य	२७७
२०९	परम तत्त्व अनंत नामोंसे	२७७
२१०	सब जीवोंके, विशेषतः धर्मजीवके दास, पुरानेको छोडे बिना छुटकारा नहीं	२७८
२११	'सत्' का स्वरूप और प्राप्ति, परम पद दायक वचन, समस्त द्वादशांगी, षड्दर्शनका सर्वोत्तम तत्त्व और बोधबीज, गुप्त रीतिसे कहनेका हमारा मंत्र	२७८
२१२	अनन्य भक्तिभाव, सजीवनमूर्तिका योग और पहचान, मार्गकी निकटता	२७८
२१३	पुराण पुरुष और सत्पुरुष, सत्पुरुषकी विशेषता, महत्ता, त्रिकालिक बात और ज्ञानी, भक्ति और असंगता प्रिय	२७९
२१४	अभेददशा आनेके लिये रचनाके कारणमें प्रीति और अहंरूप भ्रांतिका त्याग, सत्पुरुषकी शरण अपूर्व औषध, जगतके प्रति हमारा उदासीन भाव, परमात्माकी विभूतिरूप हमारा भक्तिधाम	२८०
२१५	परमात्माके प्रसन्न होने योग्य भक्तिमान, हम आपके आसरेसे ही जीवित हैं	२८१
२१६	सत् ही सब कुछ, सत् जगतरूपसे अनेक प्रकारका	२८१
२१७	परमात्मामें परम स्नेह और अनन्य भक्ति, घर भी वनवास, जडभरतकी दशा, यमकी अपेक्षा संग दुःखदायक, 'सत्-सत्'की रटन, पागल शिक्षा, हम निर्बल परंतु सम्मति सबल	२८१
२१८	सत् सर्वत्र, कालाबाधित और सबका अधिष्ठान, सत्की प्राप्ति, लोकस्वरूपकी रूपान्तरता, जैनकी बाह्य और अंतर शैली, तीर्थंकरदेव और अधिष्ठानरहित जगत निरूपण, जनक विदेहीकी दशा, श्रीकृष्ण और भागवत, स्वर्ग, नरक आदिकी प्रतीतिका उपाय मोक्षकी शब्द व्याख्या, जीव एक और अनेक	२८३
२१९	"एक देखिये, जानिये," प्रेमभक्ति, परमार्थ उदासीनता	२८५
२२०	'अधिष्ठान' का अर्थ	२८५
२२१	श्रीमद् भागवत परम भक्तिरूप ही, ज्योतिषादि कल्पित पर ध्यान नहीं है	२८५
२२२	ज्योतिष कल्पित, कालको कलिकालका उपनाम, कलियुगकी कृपा	२८६
२२३	देहाभिमाने गलिते, किसे सर्वत्र समाधि? निःस्पृह दशा, पराभक्तिकी आखिरी हद, ज्ञानी तो परमात्मा ही है, परमात्म-भक्ति और कठिनाई	२८६
२२४	योगवासिष्ठ आदि वैराग्य-उपशमके शास्त्र	२८८
२२५	परमार्थके लिये स्पष्ट कह सकने जैसी दशा नहीं है ।	२८८
२२६	वासनाके उपशमका सर्वोत्तम उपाय, प्रतिबद्धतामें भी आत्मा अप्रमत्त चाहिये	२८८
२२७	प्रारब्धका समाधान होनेके लिये	२८८
२२८	सदुपदेशात्मक वचन लिखनेमें वृत्तिमन्दता, उसका कारण	२८९
२२९	सत्संस्कारोंकी दृढता होनेके लिये लोकलज्जाकी उपेक्षा	२८९
२३०	तिनकेके दो टुकडे करनेकी सत्ता भी हम नहीं रखते	२८९
२३१	कबीरजी और नरसिंहकी भक्ति, निःस्पृहताके बिना विडंबना	२८९
२३२	कार्यका जाल, मायाका स्वरूप और प्रपंच, कल्पद्रुमछाया प्रशस्त, योग्य व्यवहार	२९०
२३३	जंबूस्वामीके त्यागका आशय, ईश्वरप्रसन्नताका मार्ग, ज्योतिषसंबंधी	२९०
२३४	'अपना-पराया' रहित दशा, निर्विकल्प हुए बिना छुटकारा नहीं, परम प्रेम परंतु निरुपायता	२९१
२३५	राग-द्वेषकी निवृत्ति	२९१
२३६	परमार्थ-चर्चाकी प्रेरणा, परमार्थमें विशेष उपयोगी बातें, अबंध बंधनयुक्त	२९१
२३७	"परेच्छानुचारीको शब्दभेद नहीं," अर्थ समागममें	२९२
२३८	परम कारुण्यमूर्तिका उपदेश	२९२
२३९	'दिया सबको वह अक्षरधाम रे' । मंत्रका अर्थ, परम अभेद सत् सर्वत्र	२९३
२४०	मुमुक्षु-प्रतिबंध भी अनिष्ट, आपको पोषण देनेकी मेरी अशक्यता	२९३
२४१	ब्राह्मीवेदना, सुगम मोक्षमार्ग	२९३
२४२	सुदृढ स्वभावसे आत्मार्थका प्रयत्न, आत्मकल्याण और प्रबल परिषह, उपाश्रयमें शांति एवं विवेकसे बरताव करें ।	२९४

आंक	विषय	पृष्ठ
२४३	समागम एकांत अज्ञात स्थानमें, सच्चे पुरुष-को कैसे पहचानें	२९५
२४४	परब्रह्मविचार, अथाह वेदना, साता पूछने वाला नहीं	२९५
२४५	उपाधि-योगसे उपेक्षा	२९५
२४६	अतिशय विरहाग्निसे साक्षात् हरिप्राप्ति, पूर्णकाम हरिके लयवाले पुरुषोंसे भारत शून्यवत्	२९५
२४७	हरिका स्वरूप मिलनेपर समझायेंगे, चित्तकी दशा चैतन्यमय, पूर्णकामता, जगजीवनरस-का अनुभव होनेपर हरिमें लय, पराभक्ति एवं तीव्र मुमुक्षुताका अभाव, अनंत गुण-गंभीर ज्ञानावतारका लक्ष्य, सर्वसत्ता हरिको अर्पण; सर्व कृति, वृत्ति और लिखनेका हेतु	२९६
२४८	'प्रबोधशतक' चित्तस्थिरतार्थ	२९७
२४९	कराल काल होनेसे समाधिकी अप्राप्ति, सत्संग मोक्षका परम साधन, सत्संग और परम सत्संगका अर्थ, प्रत्यक्ष योगमें बिना समझाये भी स्वरूपस्थिति, सत्पुरुष ही मूर्तिमान मोक्ष	२९७
२५०	भक्ति पूर्णता पाने योग्य कब? व्यवहार चिंताकी व्याकुलता अयोग्य, प्रत्यक्ष दर्शन	२९८
२५१	हरीच्छासे जीना, परेच्छासे चलना	२९९
२५२	पठनीय और मननीय पुस्तकादि	२९९
२५३	अकाल और अशुचि दोष, सेव्य भक्ति और स्वरूपचिंतन भक्तिके योग्य काल, सर्व शुचिका कारण	२९९
२५४	निःशंकतासे निर्भयता, उससे निःसंगता, सबसे बडा दोष, मुमुक्षुता और तीव्र मुमुक्षुता, स्वच्छंद-हानिसे बोधबीज योग्य भूमि, मार्गप्राप्तिके रोधक कारण, परम धर्म, परम दीनता, परमयोग्यता, महात्माके प्रति परम प्रेमार्पण, महात्माओंकी शिक्षा	२९९
२५५	हमारी विदेह दशा, हमारी दशा मंद योग्यको अलभकर, बीजज्ञानके साथ सिद्धांतज्ञान आवश्यक; हमारा देश जाति सर्व हरि है	३०१
२५६	जीव, आत्मा आदिके विषयमें समागममें बतानेका विचार	३०२
२५७	दोष देखना यह अनुकंपा त्याग	३०३
२५८	'बिना नयन पावे नहिं' (काव्य) तृषातुर और अतृषातुरको	३०३
२५९	हरीच्छा सदैव सुखरूप, हमारा वियोग रहनेमें हरिकी इच्छा, मूल मार्ग पूरी तरह कहेंगे, हरि हमारे हाथसे आपको पराभक्ति दिलायेंगे, चित्त हरिमय परंतु संग कलियुगका	३०४
२६०	सर्वोत्तम योगीका लक्षण	३०५
२६१	निवृत्तिके योग्य स्थल	३०५
२६२	सत्संगकी प्राप्तिकी दुर्लभता, वियोगमें गुणोत्पत्तिके लिये पुरुषार्थ, निवृत्तिके कारणोंका विचार, दोषस्थितिमें जगतके जीवोंके तीन प्रकार, सद्विचारसे स्वरूपकी उत्पत्ति	३०५
२६३	प्रेमरूप भक्तिके बिना ज्ञान शून्य	३०६
२६४	'हे प्रभु, हे प्रभु' (काव्य) भक्तिके बीस दोहे-सद्गुरुभक्ति रहस्य	३०७
२६५	'यम नियम संजम आप कियो' (काव्य)	३०९
२६६	'जड भावे जड परिणमे' (काव्य)	३१०
२६७	'जिनवर कहे छे ज्ञान...' (काव्य)	३११
२६८	फलदय झीश खांदी इश्रो-जीव कैसे पाया जाये?	३१३
२६९	मोक्षकी अपेक्षा संतकी चरणसमीपता प्रिय	३१३
२७०	ज्ञान एक अभिप्रायी, अनुभवज्ञानसे निबटारा	३१३
२७१	परिचय करने योग्य पदार्थ	३१४
२७२	महात्माके प्रति मुमुक्षुकी दृष्टि	३१४
२७३	कलियुगमें सत्पुरुषकी पहचान, कंचन-कामिनीका मोह, जीवकी वृत्ति	३१४
२७४	'सत्' अभी तो केवल अप्रगट, मुमुक्षुका आचरण	३१४
२७५	कलिकालने अनर्थको परमार्थ बना दिया	३१४
२७६	धर्मज सत्संगार्थ जानेकी आज्ञा	३१५
२७७	चित्तकी उदासीन स्थिति, मतभेदकी बातसे हृदयमें मृत्युसे अधिक वेदना	३१५
२७८	आत्मारामी मुनि भी भगवद्भक्तिमें	३१५
२७९	मतमतांतरमें मध्यस्थता	३१५
२८०	बताने जैसा तो मन है, परिपूर्ण प्रेम-भक्ति	३१५
२८१	उपजीविकाके वियोगसे वृत्ति	३१६
२८२	महात्मा व्यासजीकी तरह भक्तिसम्बन्धी विह्वलता, कलियुगकी विषमता, धर्मसम्बन्ध और मोक्षसम्बन्धसे भी विरक्ति	३१६
२८३	भगवानकी कृपणता	३१६
२८४	परसमय, स्वसमय, परद्रव्य, स्वद्रव्य, जितने वचन-मार्ग उतने नयवाद, कर्ता और कर्म, जीव और शिव	३१६
२८५	जीवका भुलावा, ठाणांगमें आठ वाद तीर्थं-करकी जन्मसे जान-पहचान, परमार्थमौन-कर्मका उदय	३१७

आंक	विषय	पृष्ठ
२८६	'हम परदेशी पंखी' काल क्या खाता है ?	३१८
२८७	भगवत्सम्बन्धी ज्ञान और प्रगट मार्गका प्रकाशन कब ?	३१८
२८८	आदि पुरुष लीला शुरू करके बैठा है ? नया पुराना तो एक आत्मवृत्ति	३१९
२८९	परमार्थ पत्रव्यवहार प्रतिकूल	३१९
२९०	एक दशासे प्रवृत्ति, उदयानुसार प्रवर्तन	३१९
२९१	पूर्णकाम चित्त; आत्मा ब्रह्म-समाधिमें, मन वनमें; एक दूसरेके आभाससे देहक्रिया, धर्मज निवासी मुमुक्षुओंकी दशा और प्रथा, अखंड सत्संगकी ही इच्छा	३१९
२९२	निकटभवी, स्वेच्छासे अशुभभावसे प्रवृत्ति	३१९
२९३	श्री हरिकी अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र	३२०
२९४	धर्मध्यानमें वृत्ति लगना श्रेयस्कर, स्वच्छंद बहुत बडा दोष	३२०
२९५	मन जीतनेकी सच्ची कसौटी	३२०
२९६	उदयको कैसे भोगना ? अछेद्य अभेद्य वस्तु	३२०
२९७	आत्मार्थके लिये विचारमार्ग और भक्तिमार्ग, केवलदर्शन सम्बन्धी आशंका	३२०
	२५ वाँ वर्ष	
२९८	कहीं भी चैन नहीं, यह बडी विडंबना	३२१
२९९	जगतकी विस्मृति करना और सत्के चरणमें रहना, एक लक्ष्य-सिद्धिके लिए सभी साधन, केवल उपर्युक्त समझनेके लिये सभी शास्त्र	३२१
३००	प्रसिद्धि अभी प्रतिबंधरूप	३२१
३०१	संसारमें किस तरह रहना योग्य है ?	३२१
३०२	सत्यं परं धीमहि; ग्रंथ पृच्छा हेतु	३२२
३०३	अभी प्रगटरूपसे समागम बंद, अप्रगट सत्	३२२
३०४	'परमार्थमौन' कर्म उदयमें, सत्की अप्राप्ति-के तीन कारण	३२२
३०५	यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान, तेजोमयादिक दर्शनकी अपेक्षा याथर्थबोध श्रेष्ठ है	३२३
३०६	श्री सुभाग्य प्रेम समाधिमें	३२३
३०७	सर्व समर्पणसे देहाभिमान निवृत्ति	३२३
३०८	असंगवृत्ति, वस्तुको समझें	३२३
३०९	क्षायिकभावको प्राप्त सिद्धार्थपुत्रकी भाव पूजा	३२४
३१०	आत्मज्ञानी दर्शन या मतमें अनाग्रही, ओघ-दृष्टि, योगदृष्टि, योगके बीज	३२४
३११	मोक्ष-सिद्धिका उपाय, वीर परमात्माका ध्यान, अनुभवके बिना ध्यानसुख अगम्य	३२४
३१२	क्षायिक चारित्रको याद करते हैं	३२५
३१३	ज्ञानीके आत्माको देखते हैं, यों सहन करना योग्य, ज्ञानी अन्यथा नहीं करते, अपूर्व वीतराग, पूर्ण वीतराग जैसे बोधकी सहज याद	३२५
३१४	जिनेश्वरकी आराधनासे जिनेश्वर, आत्म-स्वरूपका ध्यान ममत्व-जालमें नहीं फँसता	३२६
३१५	स्वरूप सहज और ज्ञानीकी चरणसेवा	३२६
३१६	'एक परिनामके न करता दरव दोई	३२६
३१७	'एक परिनामके न करता दरव दोई', इत्यादिका विवेचन, आत्माको मुक्तस्वरूप लगता है, वीतरागता विशेष है	३२६
३१८	अन्यत्वभावनासे प्रवृत्तिका अभ्यास, प्रमाद और मुमुक्षुता	३२८
३१९	स्वरूपविस्मरण एवं अन्य भाव दूर करनेका उपाय, पूर्ण स्वरूपस्मृति संभव	३२८
३२०	जीव पौद्गलिक पदार्थ नहीं है	३२८
३२१	माया दुस्तर एवं दुरंत, अबंधपरिणामी प्रवृत्ति, जनककी विदेहीरूपसे प्रवृत्ति, महात्माके आलम्बनकी प्रबलता	३२९
३२२	तो अलौकिक दृष्टिसे कौन प्रवृत्ति करेगा ? ज्ञानीमें अखंड विश्वासका फल मुक्ति, संसार तथा परमार्थकी चिंताके लिये स्पष्ट सूचन, सिद्धियोग और विद्यायोगसम्बन्धी प्रतिज्ञा, हमारी निर्विकल्प समाधिका कारण, अनुभव ज्ञानका फल वीतरागता, जगत-कल्याणकी इच्छा, 'जीव नवि पुग्गली'का अर्थ	३२९
३२३	पूर्णज्ञानयुक्त समाधिकी याद	३३०
३२४	उपाधिकी ज्वालामें समाधि परम दुष्कर, सम्यग्दर्शनका मुख्य लक्षण वीतरागता	३३०
३२५	अद्भुत दशा-'जबहीतें चेतन निभावसों उलटि आपु-	३३१
३२६	'शुद्धता विचारे ध्यावे'	३३१
३२७	अनुभवके सामर्थ्यसे काव्यादिका परिणमन	३३१
३२८	'लेवेकों न रही ठोर' का अर्थ, स्वरूपभानसे पूर्णकामता	३३१
३२९	पूर्वकर्मका निबंधन, ज्ञानीको उपाधि भीज की अवस्थामें प्रवेश करनेका द्वार	३३२
३३०	बोधबीजकी प्राप्ति, बोधबीज निश्चय सम्यक्त्व, दर्शन और अज्ञान परिषह विचारणीय, छः पद विचारणीय	३३३
३३१	संसारगत प्रीतिको असंसारगत प्रीति करना	३३४
३३२	आरम्भ-परिग्रहका मोह मिटनेसे मुमुक्षुता	३३४
३३३	सत्पुरुषके प्रति अपने समान कल्पना, सैद्धांतिक ज्ञान	३३४
३३४	हमारे जैसे उपाधि-प्रसंग और चित्तस्थिति-वाले अपेक्षाकृत थोडे, 'सर्वसंग'का लक्ष्यार्थ, देह होते हुए भी मनुष्य पूर्ण वीतराग हो सकता है	३३४

आंक	विषय	पृष्ठ
३३५	उदास-परिणाम, निरुपायताका उपाय काल, वस्तुतः ज्ञानीको पहचाननेवाला ध्यान आदि नहीं चाहता, उत्तम मुमुक्षु	३३५
३३६	'वैराग्य प्रकरण' के वैराग्यके कारण पुनः पुनः विचारणीय	३३६
३३७	शोचनीय बात विचारणीय, सुखदुःखका समताभावसे वेदन करना	३३६
३३८	पूर्वनिबद्ध कर्म निवृत्त होनेके लिये शीघ्र उदयमें आते हैं	३३६
३३९	कर्मबंध हमारा दोष, सत्के ज्ञानमें ही रुचि, व्यवहारमें आत्मा प्रवृत्त नहीं होता, इस कार्यके पश्चात् 'त्याग'	३३६
३४०	भवांतकारी ज्ञानकी प्राप्ति दुष्कर	३३७
३४१	समाधि ही बनाये रखनेकी दृढता, पारमार्थिक दोषका ख्याल दुष्कर	३३७
३४२	भावसमाधि तो है, द्रव्यसमाधि आनेके लिये	३३८
३४३	भाव-समाधि	३३८
३४४	उपाधि उदयरूपसे	३३८
३४५	सत्संग करते रहना	३३८
३४६	पूर्वकर्म शीघ्र निवृत्त हो ऐसा करते हैं	३३८
३४७	मन व्यवहारमें नहीं जमता, 'कर्तव्यरूप श्री सत्संग' दुर्लभ, क्रोधादिसे अप्रतिबद्ध, कुटुम्बादिसे मुक्त जैसे मनको सत्संगका बंधन	३३८
३४८	लोकस्थिति और रचना	३३९
३४९	लोकस्थिति आश्चर्यकारक	३३९
३५०	ज्ञानीके सर्वसंगपरित्यागका हेतु क्या होगा ?	३३९
३५१	सद्विचारके परिचय और उपाधिमें न उलझनेका ध्यान रखना योग्य	३४०
३५२	दुःखको समतासे भोगनेमें सद्या कल्याण और सुख	३४०
३५३	अप्रमत्त आत्माकार मन उदयाधीन	३४०
३५४	समकितकी स्पर्शना और दशा	३४०
३५५	प्रतिबंधता दुःखदायक	३४०
३५६	ज्ञानियोंने शरीर आदीकी प्रवर्तनाके भानका भी त्याग किया था	३४१
३५७	रुचि सत्यके ध्यानी संत आदीमें, आत्मा तो कृतार्थ प्रतीत होता है	३४१
३५८	सम्यग्दर्शन किसे ? दो प्रकारका मार्ग- १ उपदेश प्राप्तिका, २ वास्तविक : आत्मा जैनी व वेदान्ती नहीं है	३४१
३५९	अपनापन दूर करना योग्य है । देहाभिमान रहितके लिये सब कुछ सुखरूप, हरिच्छामें दृढ विश्वास	३४१
३६०	जहाँ पूर्णकामता वहाँ सर्वज्ञता, बोधबीवकी उत्पत्तिसे स्वरूपसुखसे परितृप्तता, क्षणिक जीवनमें नित्यता, अखंड आत्मबोधका लक्षण	३४२
३६१	उपाधिमें समाधि	३४२
३६२	आत्माता होनेसे समाधि, पूर्ण ज्ञानका लक्षण, सद्मे आत्माभानसे अहंप्रत्ययी बुद्धिका विलय	३४२
३६३	व्यवहारकी झंझटमें परमार्थका विसर्जन न हो	३४२
३६४	ज्ञानवार्ता लिखनेका व्यवसाय	३४३
३६५	'प्राणविनिमय' –मिस्मिरेजमकी पुस्तक संबंधी	३४३
३६६	अखंड आत्मध्यान, 'वननी मारी कोयल'	३४३
३६७	उपाधि-प्रसंग तथापि आत्मसमाधि	३४३
३६८	ज्ञानीसे धनादिकी इच्छासे दर्शनावरणीय, ज्ञानीका उपजीवन पूर्वकर्मानुसार, ईश्वर आदि सहित सबमें उदासीनता, मोक्ष तो हमें सर्वथा निकट	३४३
३६९	सब कुछ हरिके अधीन	३४४
३७०	अविच्छिन्नरूपसे आत्मध्यान, चित्तको नमस्कार	३४४
३७१	सत्संगसेवनसे लोकभावना कम हो, लोक-सहवास भवरूप, मुमुक्षुका वर्तन, प्राप्तिमें कालक्षेप हानि नहीं, भ्रांति होनेमें हानि	३४५
३७२	समागमका अभेद चिंतन	३४५
३७३	"मनके कारण यह सब है", महात्माकी देह दो कारणोंसे विधमान, उपाधियोगमें प्रवृत्ति करना श्रेयस्कर कब ?	३४६
३७४	ज्ञानीका वैभव और मुमुक्षु, वर्तमानमें समतापूर्वक प्रवृत्ति करनेका दृढ निश्चय करना योग्य, भविष्यचिंतासे परमार्थका विस्मरण, लज्जा और आजीविका मिथ्या, समपरिणाममें परिणमित होना	३४६
३७५	जिनागम उपशमस्वरूप, आत्मार्थके लिये उसका आराधन, राग आदि दोषोंकी निवृत्ति एक आत्माज्ञानसे, सत्संगका माहात्म्य, कर्मक्लेशकी निवृत्ति एवं आत्म-स्वरूपकी प्राप्तिके लिये सूत्रकृतांगका अध्ययन व श्रवण कर्तव्य	३४७
३७६	ज्ञानीकी देह और वर्तन, प्रवृत्ति-योग परेच्छासे, अविषमतासे आत्मध्यान	३४८
३७७	नवपदकी संपत्ति भी आत्मामें, आत्मस्थ ज्ञानी पुरुषका स्वरूप, 'ईश्वरेच्छा' का अर्थ	३४९
३७८	निश्चयसे अकर्ता, व्यवहारसे कर्ता इत्यादि विचारणीय, छः मासिसे परमार्थके प्रति निर्विकल्प	३५०
३७९	तरनतारन, मोक्ष दुर्लभ नहीं, दाता दुर्लभ निःस्पृह बुद्धि, 'वननी मारी कोयल'	३५०

आंक	विषय	पृष्ठ
३८०	मोक्षका धुरंधर मार्ग, प्रभुभक्ति मनकी स्थिरताका उपाय, सद्गुणोंसे योग्यता प्राप्त करना	३५०
३८१	वैराग्ययुक्त पुस्तकें पढें	३५१
३८२	वैराग्यवर्धक अध्ययन, मतमतांतरका त्याग	३५१
३८३	विचारवानको संसार सर्वथा क्लेशरूप, तेरहवें गुणस्थानकवर्तीका स्वरूप	३५१
३८४	'दुःषम कलियुगमें' जिसका चित्त विह्वलता, विक्षेप आदिसे अलिप्त रहा वह 'दूसरा श्रीराम' है, लगभग १७ घंटे उपाधि-योग, अनादि-कालका दृष्टिभ्रम दूर नहीं हुआ !	३५१
३८५	सूर्य जैसे ही ज्ञानी है, ज्ञानीके संबंधमें अपने जैसी दशाकी कल्पना, हमारा चित्त नेत्र जैसा, धन्यरूप—कृतार्थरूप हममें यह उपाधि-योग	३५२
३८६	परिपक्व समाधिरूप	३५३
३८७	स्वस्वरूपज्ञानसे छुटकारा, जिन होकर जिनकी आराधना, मुख्य समाधि	३५३
३८८	'जगत जिससें सोता है, उसमें ज्ञानी जागता है'	३५३
३८९	'सत्ज्ञान'की समझ कब ? जगत और मोक्षका मार्ग एक नहीं	३५३
३९०	त्वरासे कर्मक्षय करनेका अनेक वर्षोंका संकल्प, ध्यानसुख	३५४
३९१	'सत्' एक प्रदेश भी दूर नहीं, तथापि अनंत अंतराय, अप्रमत्ततासे 'सत्'का श्रवण आदि	३५४
३९२	सनातनधर्म-अवसरप्राप्तमें संतुष्ट रहना	३५४
३९३	पूर्वकालमें आराधित उपाधि उदयरूपसे समाधि है, आनंदघनजीके दो पद्योंकी स्मृति	३५४
३९४	'मन महिलानुं रे वहाला उपरे', और 'जिन-स्वरूप थई जिन आराधे' पद्योंका विवेचन, भक्तिप्रधान दशा, उस मूर्तिको प्रत्यक्षतामें गृहाश्रम और चित्रपटमें संन्यस्ताश्रम, उस आत्मस्वरूप पुरुषकी दशा विचारणीय है	३५५
३९५	'तेम श्रुतधर्मे रे मन दृढ धरे' का विवेचन, दुःख मिटनेका मार्ग	३५७
३९६	अनवकाश आत्मस्वरूप, उस पुरुषके स्वरूपको जानकर उसकी भक्तिके सत्संगका महान फल, 'मन महिलानुं वहाला उपरे'का पुनः विवेचन	३५७
३९७	क्षायिक समकित, उसके निषेधक जीवोंके प्रति केवल निष्काम करुणादृष्टि, यही परमार्थ मार्ग है, ज्ञानीपुरुषकी अवज्ञा और गुणगानका फल, क्षायिक समकितकी आश्चर्यकारक व्याख्या, व्याख्याओंको सत्पुरुषके आशयसे जानना सफल, माननेका फल नहीं पर दशाका फल है, उपदेशक जीव अपनी दशा विचारे, उपयुक्त शब्द आगम ही है ।	३५७
३९८	कालकी दुःषमता, परमार्थवृत्तिकी क्षीणता, कालका स्वरूप देखकर अनुकंपा, दुर्लभ पुरुषका योग, वर्तमानमें जीवोंका कल्याण हमसे ही, परमार्थ किस प्रकारके संप्रदायसे कहना ? आत्माकार स्थिति, चित्त अबद्ध, संसारसुखवृत्तिसे निरंतर उदासीनता, सबसे अभेददृष्टि	३६१
३९९	सत्संगमें आत्मसाधन अल्पकालमें ज्ञानीमें, ज्ञानीके आश्रयमें समपरिणाम, गुणगान करने योग्यका अवर्णवाद, उपाधिमें निरुपाधिका विसर्जन न करें	३६४
४००	सर्वथा अप्रतिबद्ध पुरुष, उपाधियोगमें चित्त-की अपूर्व मुक्तता	३६५
४०१	कल्याण कैसे प्राप्त हो ? जपतपादि संसार-रूप होनेका कारण क्या ? उपाधि ऐसा कि तीर्थंकर जैसे पुरुषके विषयमें निर्धार करना विकट, दीक्षावृत्ति शांत करें	३६५
४०२	उदय देखकर उदास न होवे, किसी भी जीवके प्रति दोष अकर्तव्य	३६६
४०३	आत्मा आत्मभाव प्राप्त करे वह प्रकार धर्मका, आत्मधर्मका श्रवणादि आत्मस्थित पुरुषसे ही	३६७
४०४	क्षमायाचना	३६७
४०५	क्षमायाचना	३६७
४०६	इन सबके विसर्जन करनेरूप उदासीनता	३६७
४०७	दीक्षा कब योग्य और सफल ? आरंभ-परिग्रहका सेवन अयोग्य	३६८
४०८	ज्ञानीपुरुषोंका सनातन आचरण हमें उदय-रूप, साक्षीरूपसे रहना और कर्ताकी तरह भासमान होना, उपशम और ईश्वरेच्छा	३६८
४०९	पारेका चाँदी आदि रूप हो जाना, कौतुक आत्मपरिणामके लिये अयोग्य	३६९
४१०	वर अथवा शापसे शुभाशुभ कर्मका ही फल	३६९
४११	भवांतरका वर्णन, भवांतरका ज्ञान और आत्मज्ञान, सुवर्णदृष्टि, पूर्ण आत्मस्वरूप और महत् प्रभावयोग, दस बोलोंका विच्छेद दिखानेका आशय, सर्वथा मोक्ष और चरमशरीरिता, अशरीरी भावसे आत्मस्थिति	३६९
४१२	आत्मकारता	३७१
४१३	स्वयंप्रकाशित ज्ञानीपुरुष यथार्थ द्रष्टा	३७१

आंक	विषय	पृष्ठ
४१४	इतना अवकाश आत्माको रहता है, ज्ञानी-पुरुषोंका मार्ग, तीव्र वैराग्य, तीर्थंकरके मार्गसे बाहर	३७१
४१५	आत्मिक-बंधनसे हम संसारमें नहीं रह रहे है, अंतरंगका भेद	३७२
४१६	ध्यानका स्वरूप, आत्मध्यान सर्वश्रेष्ठ, ज्ञानीपुरुषकी पहचान न होने देनेवाले तीन दोष, स्वच्छंद और असत्संग	३७२
४१७	परमकृपालुदेवका उपकार	३७४
४१८	रविकै उदोत अस्त होत (काव्य)	३७४
४१९	संसारका प्रतिबंध	३७५
४२०	कि बहुणा-, कितना कहें? प्रवृत्ति कैसे करना?	३७५
४२१	व्यवसाय-प्रसंग और वर्तन, आत्माको अफल प्रवृत्तिसे खेद	३७५
	२६ वाँ वर्ष	
४२२	कालकी दुःषमता क्यों? परमार्थमार्गकी प्राप्ति दुःखसे और उसके कारण शुष्क-क्रियाप्रधानता आदिमें मोक्षमार्गकी कल्पना, शुष्क अध्यात्मी, दुःषमता होने पर भी एकावतारिता शक्य, मुमुक्षुताके लक्षण	३७६
४२३	विचारमार्गमें स्थिति	३७८
४२४	पुनर्जन्म है-जरूर है, तापमें विश्रांतिका स्थान मुमुक्षु	३७८
४२५	उपाधि-वेदनके लिये अपेक्षित दृढता मुझमें नहीं, चित्तका उद्वेग, देह मूर्च्छापात्र नहीं है, देह और आत्माकी भिन्नता	३७८
४२६	उदासीनता एक उपाय	३७९
४२७	ज्ञानीपुरुषकी सेवाके इच्छावान, अपराध-योग्य परिणाम नहीं	३७९
४२८	प्रमाद कम होनेके लिये सद्ग्रन्थ पढें	३७९
४२९	मेरी चित्तवृत्तिके विषयमें लिखनेका अर्थ, उपाधिताप या लोकसंज्ञाभय	३७९
४३०	सत्पुरुषोंके संप्रदायकी सनातन करुणा, लोकसंबंधी मार्ग मात्र संसार, सारे समूहमें कल्याण मानना योग्य नहीं, कल्याणमार्गके दो कारण, असंगताका अर्थ, दीक्षा संबंधी प्रतिबंध और तीर्थंकरदेवका मार्ग	३७९
४३१	तीर्थंकरके आशयसे केवलज्ञान और परमार्थ-सम्यक्त्व, बीजरुचिसम्यक्त्व, मार्गानुसारी जीव, 'आत्मत्व' यही ध्वनि	३८१
४३२	आत्मस्थ होनेके लिये ज्ञानीकी भक्ति, स्वरूप-विस्मरण विचारणीय	३८१
४३३	हुंडाअवसर्पिणी, मुमुक्षुता, सरलता आदि साधन परम दुर्लभ, तीर्थंकरवाणी सत्य करनेके लिये ऐसा उदय	३८२
४३४	यहाँ उपाधियोग	३८२
४३५	चिंतारहित परिणामसे उदयका वेदन	३८२
४३६	'समता, रमता, ऊरधता...' तीर्थंकर, उनके वचन, मार्गबोध और उद्देशवचनको नमस्कार	३८२
४३७	कल्याण-प्राप्तिकी दुर्लभता, जीव-समुदायकी भ्रांतिके दो कारणोंका एकत्र अभिप्राय, असत्संग आदि दूर करनेका उपाय, आत्म-त्वको जाननेके लिये तीर्थंकरादिका दुष्कर पुरुषार्थ	३८३
४३८	'समता, रमता, ऊरधता' इस दोहेमें बताये गये जीवके लक्षणोंका विवेचन	३८४
४३९	वर्तमान अवस्था उपाधिरहित होनेके लिये अत्यंत योग्य	३८५
४४०	कल्याणके प्रतिबंधक कारण, उनमें उदा-सीनता	३८५
४४१	सत्संग योगकी इच्छा करना और अपने दोष देखना योग्य	३८६
४४२	'धार तरवारनी सोहली...' मार्गकी ऐसी दुष्करता किसलीये?	३८६
४४३	तीर्थंकर या तीर्थंकर जैसा पुरुष	३८६
४४४	जलको सूर्यादिके ताप-योग जैसा प्रवृत्तियोग हमें हैं।	३८६
४४५	विशेषरूपसे सत्संग करना	३८७
४४६	आकर्षक संसारमें अवकाश लेनेकी सर्वथा ना, चिंता-उपद्रव कोई शत्रु नहीं है	३८७
४४७	अनुकूल प्रसंगोंमें संसार-त्याग दुष्कर, प्रति-कूल प्रसंग आत्मसाधक	३८७
४४८	'माहण' 'श्रमण' 'भिक्षु' और 'निर्ग्रंथ'की वीतराग अवस्थाएँ, 'आत्मवादप्राप्त'का अर्थ	३८८
४४९	सत्संग परम साधन, ज्ञानीपुरुषकी प्रवृत्ति, अनादिके तीन दोष, उन्हें दूर करनेके उपाय, कल्याणका उपाय, हमारे समागमके अंतरायसे निराश व प्रमादी न हों, स्वाध्याय, निवृत्ति आदिमें प्रयत्नशील रहें	३८८
४५०	जीव! तू किसलिये शोक करता है? मार्गा-नुसारी और अज्ञानयोगी पुरुषोंमें भी सिद्धि-योग, सिद्धियोग और गुणस्थान, ज्ञानीसे सिद्धियोग स्वाभाविक परिणामी, सिद्धि-योग साधनका हमने कभी विचार नहीं किया, राम, पांडव और गजसुकुमारके दुःखकी तुलनामें आपका और हमारा दुःख कुछ भी नहीं	३९०
४५१	सत्संगके इच्छावान जीवोंकी उपकारक देखभाल	३९१

आंक	विषय	पृष्ठ
४५२	दुःख कल्पित है	३९१
४५३	दुषमकालमें आत्मप्रत्ययी पुरुषके बचनेका एक मात्र उपाधि-निरंतर सत्संग, उपाधि परिणामसे आत्मप्रत्ययी, मूर्खकी भाँति उदय-व्यवहारका सेवन किया करते हैं।	३९१
४५४	ज्ञानीको देखने सुननेवाला पुरुष न तो संसारसे प्रीति और न स्त्रीमें राग कर सकता है; ज्ञानीपुरुषका मार्गानुसारीको बोध, ध्यानमें रखने योग्य बातें	३९२
४५५	अनुकूलता-प्रतिकूलताके कारणमें अविषमता	३९३
४५६	प्राणी आशासे जीते हैं, आत्मज्ञानी आत्म-स्वरूपसे जीता है, आशामें समाधि किस तरह ?	३९३
४५७	रखा कुछ रहता नहीं, छोडा कुछ जाता नहीं	३९३
४५८	विचारस्थिति	३९४
४५९	श्री कृष्णादिकी क्रिया उदासीन-सी, भाव अप्रतिबन्धके प्रमाणमें सम्यग्दृष्टिपन, अनन्तानुबंधी कषाय और सम्यक्त्व, परमार्थ मार्गका लक्षण, परमार्थ-बडका बीज	३९४
४६०	शारीरिक वेदना सम्यक् प्रकारसे सहन करने योग्य, देहमें अपारिणामिक ममता, निर्भयता और खेदशून्यताका सेवन करनेकी शिक्षा, सद्विचार और आत्मज्ञान आत्मगतिके कारण हैं	३९५
४६१	आत्मज्ञान वेदक होनेसे उद्विग्न नहीं करता, आत्मवार्ताका वियोग उद्विग्न करता है, चिन्तामें समता	३९६
४६२	दुर्लभ माणिकका तो अद्भुत माहात्म्य, और दुर्लभ सत्संगमें अरुचि यह आश्चर्य विचारणीय	३९६
४६३	मेरु आदि सम्बन्धी, उदासी एकदम गुप्त जैसी, आत्मा समाधिप्रत्ययी	३९७
४६४	गुजरातके किसी निवृत्तिक्षेत्रका विचार संभव	३९७
४६५	प्राणघातक उपाधियोग, अखंड आत्मधुन पूर्वक भक्तिकी आतुरता	३९७
४६६	आत्मतामार्गरूप धर्म, प्रत्यक्ष ज्ञानी मीठे पानीका लोटा, ज्ञानीपुरुषने कुछ कहना बाकी नहीं रखा, जीवने करना बाकी रखा है	३९८
४६७	ज्ञानीपुरुषमें विभ्रमबुद्धि अथवा विकल्पबुद्धि, ज्ञानी-अज्ञानीकी दशाकी विलक्षणता	३९९
४६८	सच्ची ज्ञानदशा होनेपर दुःखमें अविषमता	४००
४६९	सर्व आत्माओंके प्रति समदृष्टि, सर्व पदार्थों के प्रति उदासीनता, सबसे अभिन्न भावना, अविकल्परूप स्थिति	४००
४७०	कल्याणका महान निश्चय, मुमुक्षु भाई-बहन-का परस्पर व्यवहार	४०१
४७१	सुधारस बीजज्ञान-स्वररूप कब ?	४०१
४७२	सुधारससम्बन्धी, सहजस्वभावसे परमार्थरूप प्रवर्तन	४०१
४७३	व्याकुलता धीरजसे सहन करने योग्य	४०३
४७४	आत्मभावना भाते-भाते केवलज्ञान	४०४
४७५	सुधारसका माहात्म्य	४०४
४७६	मनुष्य प्रयत्न और प्रारब्ध	४०४
	२७ वाँ वर्ष	
४७७	शालिभद्र और धनाभद्रका वैराग्य, कालका विश्वास	४०५
४७८	बाह्य चित्तकी अव्यवस्था	४०५
४७९	वाणीका संयम श्रेयरूप, जीवकी मूढताके विचारमें सावधानी	४०५
४८०	मुमुक्षु जीवको परिश्रम देना अपराध	४०६
४८१	मुमुक्षुको परिश्रम देनेमें खेद	४०६
४८२	चित्तका संक्षेप भाव, अप्रमत्तदशामें सम्पूर्णज्ञान	४०६
४८३	विचारभूमिकामें विचारणीय, कविताका आराधन आत्मकल्याणके लिये	४०६
४८४	उपाधि प्रसंगमें गुणकी विशेष स्पष्टता	४०७
४८५	संसार-स्वरूपका वेदन मोक्षोपयोगी	४०७
४८६	ज्ञानी और अज्ञानीका स्वरूप, सर्व धर्मोंका आधार शान्ति	४०८
४८७	प्रारब्ध-कर्मकी निवृत्ति, प्रारब्ध स्थितिमें जड मौनदशा	४०८
४८८	सुदर्शन सेठ	४०९
४८९	'शिक्षापत्र'में भक्तिका प्रयोजन	४०९
४९०	उपाधि दूर करनेके लिये दो पुरुषार्थ, आकुलतासे मार्गका विरोध	४०९
४९१	तीर्थंकरका उपदेश, दुःख-मुक्तिके लिये आत्म-गवेषणा, सत्संगकी भक्ति और सर्वोत्तम अपूर्वता	४०९
४९२	संसारकी प्रतिकूल दशा उपकारक	४१०
४९३	छः पद सम्यग्दर्शनके निवासके सर्वोत्कृष्ट स्थानक	४११
४९४	दो प्रकारके पूर्वकर्म और उनकी निवृत्ति	४१२
४९५	संसारमें अधिक व्यवसाय न करना, सत्संग करना, विशेष अपराधीकी भाँति आत्मामें संलग्न रहेंगे	४१४
४९६	गृहस्थको अखंड नीतिके मूलके बिना उपदेशादि निष्फल	४१४
४९७	उपदेशकी आकांक्षा	४१५
४९८	मुमुक्षुताका मुख्य लक्षण	४१५

आंक	विषय	पृष्ठ
४९९	व्यवसायके संक्षेपसे बोधका फलित होना	४१५
५००	वैराग्य-उपशमका बल, सब भूलोंकी बीज-भूत भूल, उपदेशज्ञान और सिद्धांतज्ञान	४१५
५०१	साधुका पत्र-समाचार मात्र आत्मार्थक लिये, जिनेन्द्रकी आज्ञाएँ-आत्मकल्याणके लिये पाँच महाव्रत आदि और अपवाद	४१७
५०२	उस पुरुषकी आत्मदशा और उपकार	४२०
५०३	महाव्रतादिमें कभी अपवाद, ब्रह्मचर्यमें सर्वथा अनपवाद, साधुके पत्र-समाचारादिमें अपवाद, प्रमाद सब कर्मोंका हेतु	४२१
५०४	सर्वज्ञकी पहचानका फल दुषमकाल-असयंतिपूजा नामसे आश्चर्ययुक्त	४२३
५०५	वीतरागकथित परम शान्तरसमय धर्म पूर्ण सत्य है, ऐसा निश्चय रखना	४२३
५०६	आत्मपरिणामी ज्ञानीपुरुषको भी प्रारब्ध व्यवसायमें जागृति रखना योग्य, दो प्रकार-का बोध-सिद्धान्तबोध और उपदेशबोध; वैराग्य, उपशम और विवेक, आरंभपरिग्रह वैराग्य उपशमके काल	४२४
५०७	निवृत्तिकी इच्छा, आत्माकी शिथिलतासे खेद	४२६
५०८	वारंवार संसार भयरूप लगता है।	४२६
५०९	ज्ञानसंस्कारसे जीव और कायाकी भिन्नता एकदम स्पष्ट, आत्माका अव्याबाधत्व और वेदनीय, सिद्ध और संसारी जीवकी समानता, आत्मस्वरूपमें जगत नहीं है।	४२७
५१०	बन्धवृत्तियोंके उपशमन और निवर्तनका सतत अभ्यास कर्तव्य, पिता-पुत्रकी मान्यता जीवकी मूढता	४२८
५११	सिद्धपदका सर्वश्रेष्ठ उपाय-ज्ञानीकी आज्ञा-का आराधन, अज्ञानदशामें समय-समयपर अनंतकर्मबन्ध होते हुए भी मोक्षका अवकाश, काम जलानेका बलवान उपाय सत्संग	४२९
५१२	सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवोंका अग्नि आदिसे व्याघात	४३०
५१३	वेदान्त और जिनसिद्धांत, सिद्धांत-विचार योग्यता होनेपर, मुमुक्षुका मुख्य कर्तव्य	४३२
५१४	आत्मासे असह्य व्यवसायको सहन करते हैं	४३२
५१५	आत्मबल अप्रमादी होनेके लिये कर्तव्य	४३२
५१६	व्यवसाय समाधिशीतल पुरुषके प्रति उष्णताहेतु, वर्धमानस्वामीका भी असंग प्रवर्तन	४३२
५१७	अप्रतिबद्धता प्रधानमार्ग होते हुए भी सत्संग-में प्रतिबद्ध बुद्धि	४३३
५१८	त्याग, वैराग्य और उपशम प्रगट होनेपर आत्मस्वरूपका यथार्थरूपसे विचार हो सकता है	४३३
५१९	संकुचित चित्तपरिणामके कारण पत्रादिका लेखन अशक्य	४३३
५२०	चित्तकी अस्थिरता, समयसार (नाटक)में बीजज्ञानका प्रकाश, बनारसीदासकी अनु-भवदशा, प्रभावनाहेतुके अवरोधक बलवान कारणोंसे खेदपूर्वक प्रारब्धवेदन	४३४
५२१	प्रत्यक्ष आश्रयमार्ग प्रकाशक सत्पुरुषकी करुणास्वभावता	४३६
५२२	सत्पुरुषकी पहचानका परिणाम, सारे लोक-की अधिकरणक्रियाका हेतु	४३६
५२३	अज्ञानमार्ग प्राप्त करते देखकर करुणा, पदोंको पढने आदिमें उपयोगका अभाव, सिद्धकी अवगाहना	४३७
५२४	क्षमायाचना	४३९
५२५	बोधबीज, उदासीनता, मुक्तता, ज्ञानीपुरुषके लिये भी पुरुषार्थ प्रशस्त, निवृत्तिबुद्धिकी भावना कर्तव्य, सत्संगकी आवश्यकता	४३९
५२६	अहंवृत्तिका प्रतिकार, वंचनाबुद्धि	४४०
५२७	कौन अधिक उपकारी : महावीरस्वामी या प्रत्यक्ष सद्गुरु? व्यावहारिक जंजालमें उत्तर देने अयोग्य	४४१
५२८	संसारमें लौकिकभावसे आत्महित अशक्य, सत्संग भी निष्फल	४४१
५२९	भगवान भगवानका संभालेगा	४४२
५३०	गांधीजीके आत्मा, ईश्वर, मोक्ष आदि संबंधी २७ प्रश्न और उनके उत्तर	४४२
५३१	परमार्थ-प्रसंगी आजीविका आदि विषयमें लिखे तो परेशानी	४५०
५३२	साक्षीवत् देखना श्रेयरूप	४५०
	२८ वाँ वर्ष	
५३३	दुःषमकालमें सबके प्रति अनुकंपा	४५१
५३४	बीस दोहे, आठ त्रोटक छंद-अनुप्रेक्षा करने योग्य	४५१
५३५	श्रीकृष्णकी दशा विचारणीय	४५२
५३६	मुमुक्षु जीवको दो प्रकारकी दशा-विचारदशा, स्थितप्रज्ञदशा	४५२
५३७	विचारवानको भय और इच्छा; अज्ञान-परिषह और दर्शनपरिषह, जीव दिशामूढ रहना चाहता है, समझे तो मोक्ष सहज, मान्यता ही संसार है	४५३
५३८	सत्पुरुषके संगका माहात्म्य, निदान बुद्धिसे सम्यक्त्वका रोध	४५४

आंक	विषय	पृष्ठ
५३९	दासानुदासरूपसे ज्ञानीकी अनन्य भक्ति, सर्वांश दशाके बिना शिष्यमें दासानुदासता	४५४
५४०	विवाह जैसे कार्यमें चित्त अप्रवेशक हमारे प्रति व्यावहारिक बुद्धि अयथार्थ प्रवृत्तिकी थकावटकी विश्रांति, दूसरे व्यवहारको सुनते-पढते आकुलता	४५४
५४१	ज्ञानीको समय-समयमें अनंत संयमपरिणाम	४५६
५४२	ठाणांगसूत्रकी एक चौभंगी	४५६
५४३	अन्यसंबंधी तादात्म्यकी निवृत्तिसे मुक्ति	४५६
५४४	निर्बल प्रारब्धोदयमें संभाल, हमारे वचनके प्रति गौण भाव	४५६
५४५	बढता हुआ व्यवसाय	४५७
५४६	परमाणुके अनंत पर्याय, सिद्धके भी अनन्त पर्याय	४५७
५४७	अप्रतिबंध भावके प्रवाहमें, बडे आस्रवरूप सर्वसंगमें उदासीनता	४५८
५४८	उपार्जित प्रारब्ध भोगना पडे, मलिनवासना	४५९
५४९	दुःषमकालमें कौन समझकर शांत रहेगा ?	४६०
५५०	अयोग्य याचना, निष्काम भक्ति कर्तव्य	४६०
५५१	समाधि व असमाधि, आर्त्तध्यान, पदार्थके परिणाम और पर्याय, मोक्षमार्गमें कौन ?	४६२
५५२	सकाम भक्तिसे प्रतिबंध, सकाम वृत्ति दुःषमकालके कारण	४६२
५५३	असंगतासे आत्मभाव सिद्ध हो उस प्रकारसे प्रवृत्ति करना	४६३
५५४	अन्तर्धर्म श्रेयरूप, परमार्थके लिये बाह्य आडंबरका निषेध	४६४
५५५	प्रत्यक्ष कारागृह	४६४
५५६	ब्रह्मरस, त्यागावसरसम्बन्धी समागममें	४६४
५५७	जगत मिथ्या	४६५
५५८	उदय प्रारब्धके बिना सब प्रकारोंमें असंगता	४६५
५५९	अधिक समागममें आनेकी उदासीनता	४६५
५६०	ज्ञानीपुरुषके दृढाश्रयसे सर्व साधन सुलभ, मुमुक्षु कठिनसे कठिन आत्मसाधनकी प्रथम इच्छा करे, ज्ञानीपुरुष भी पुरुषार्थको मुख्य रखे, व्यापारादिसे निवृत्तिकी इच्छा	४६६
५६१	मुमुक्षुताकी दुष्करता	४६६
५६२	ज्ञानीकी भिन्नता	४६७
५६३	उदास भावना होनेके साधन	४६७
५६४	उपरामताकी इच्छा	४६७
५६५	छूटनेका एक प्रकार	४६७
५६६	संसारके मुख्य कारण रागद्वेष, भयंकर व्रत	४६७
५६७	अंतर्व्यापार बंधमोक्षका हेतु	४६८
५६८	अनादिकी भूल, दुःखनिवृत्तिका उपाय आत्मज्ञान, समाधि, असमाधि, धर्म, कर्म; वेदान्तादिसे भिन्नता, देहकी अनित्यता, द्रव्य अनन्त पर्यायवाला	४६८
५६९	आत्मज्ञानसे मोक्ष, मुनि-अमुनि, मनुष्यताका मूल्य, उपाधि-कार्यसे छूटनेकी आर्त्ति, जीवन्मुक्तदशा, त्याग और ज्ञान	४६९
५७०	उपाधि और समाधि, अविचारसे मोहबुद्धि, विवेकज्ञान अथवा सम्यग्दर्शन, मोहबुद्धिको दूर करनेके लिये अत्यन्त पुरुषार्थ	४७१
५७१	मुक्तसे संसारी त्रिकाल अनन्त गुने, उपाधि और असंगदशा	४७२
५७२	तीव्रज्ञानदशा, उससे मुक्ति, आश्रय भक्ति-मार्ग, ज्ञानीके आश्रयमें विरोध करनेवाले दोष तथा उनकी निवृत्ति	४७२
५७३	संसारकी आस्था छोडनेसे आत्मस्वभावकी प्राप्ति और निर्भयता	४७३
५७४	तृष्णासे जन्ममरण	४७३
५७५	सद्गुरुका माहात्म्य और आश्रयका स्वरूप	४७३
५७६	कल्पितका माहात्म्य ? जगतकी प्रवृत्ति लेनेके लिये, अपनी प्रवृत्ति देनेके लिये	४७४
५७७	वेदांतके पृथक्करणके लिये जिनागम विचार करने योग्य	४७४
५७८	सट्टेको न अपनाये	४७४
५७९	मौन, आत्मा सबसे अत्यंत प्रत्यक्ष	४७५
५८०	पूछने-लिखनेमें प्रतिबंध नहीं	४७५
५८१	चेतनका चेतन पर्याय, जडका जड पर्याय	४७५
५८२	आत्मवीर्यके प्रवर्तन और संकोच करनेमें विचार, आत्मदशाकी स्थिरताके लिये असंगताका ध्यान, उस तरफ अभी न आनेका आशय	४७६
५८३	एक आत्मपरिणतिके सिवाय दूसरे विषयों-में चित्त अव्यवस्थित, लोकव्यवहार अरुचि-कर, अचलित आत्मरूपसे रहनेकी इच्छा; स्मृति, वाणी और लेखनशक्तिकी मंदता	४७६
५८४	'जेम निर्मलता रे', संगसे व्यतिरिक्तता परम श्रेयरूप	४७७
५८५	असंगता और सुखस्वरूपता, स्थिरताके हेतु	४७७
५८६	पूर्णज्ञानी श्री ऋषभादिको भी प्रारब्धोदय भोगना पडा, मोतीसम्बन्धी व्यापारसे छूटने-की लालसा, परमार्थ एवं व्यवहार सम्बन्धी लेखनसे कंटाला, वीतरागकी शिक्षा-द्रव्यभाव संयोगसे छूटना	४७७
५८७	केवलज्ञानसे पदार्थ किस प्रकार दिखायी देते है ? दीपक आदिकी भाँति	४७९
५८८	वीतरागकी शिक्षा द्रव्य-भाव संयोगसे छूटना, अनादिकी भूल, सर्व जीवोंका परमात्मत्व	४७९

आंक	विषय	पृष्ठ
५८९	वेदांत ग्रन्थ वैराग्य और उपशमके लिये	४८०
५९०	चारित्रदशाकी अनुप्रेक्षासे स्वस्थता, स्वस्थताके बिना ज्ञान निष्फल	४८०
५९१	ज्ञानदशाके बिना विषयकी निर्मूलता असंभव, ज्ञानीपुरुषकी भोगप्रवृत्ति	४८०
५९२	क्षणभंगुर देहमें प्रीती क्या करें? आत्मासे शरीर भिन्न देखनेवाले धन्य, महात्मा पुरुषोंकी प्रमाणिकता	४८०
५९३	सर्व ज्ञानका सार, ग्रन्थिभेदके लिये वीर्य गति और उनके साधन	४८१
५९४	दुःखरुप काया और विचारवान	४८१
५९५	वेदांतादि और जिनागममें आत्मस्वरुपकी विचारणामें भेद	४८१
५९६	सर्वकी अपेक्षा वीतराग-वचन संपूर्ण प्रतीतिका स्थान	४८२
५९७	वर्धमानस्वामी आदिका आत्मकल्याणका निर्धार अद्वितीय, वेदान्तकथित आत्मस्वरुप पूर्वापर विरोधी, जिनकथित विशेष विशेष अविरोधी, सम्पूर्ण आत्मस्वरुप प्रगट करने योग्य पुरुष	४८२
५९८	अल्पकालमें उपाधिरहित होनेके लिये, सत्संगमें विचारवानकी मानदशा अयोग्य, निवृत्ति क्षेत्रमें समागम अधिक योग्य	४८३
५९९	शरण और निश्चय कर्तव्य	४८४
६००	ज्ञानीपुरुषका उपकार, कभी विचारवानको प्रवृत्तिक्षेत्रमें समागम विशेष लाभकारक, भीडमें ज्ञानीपुरुषकी निर्मलदशा, नववाड-विशुद्ध ब्रह्मचर्य दशासे अवर्णनीय संयमसुख	४८४
६०१	अष्टमहासिद्धि आदि है, आत्माका सामर्थ्य	४८५
६०२	समयकी सूक्ष्मता और रागद्वेषादि मनपरिणाम और उनका उद्भव, स्वाध्याय काल	४८६
६०३	ज्ञानीपुरुषको स्वभावस्थितिका सुख, ज्ञानीका दशाफेर तो भी प्रयत्न स्वधर्ममें, सम्पूर्ण ज्ञानदशामें परिग्रहका अप्रसंग	४८६
६०४	वचनोंकी पुस्तक	४८६
६०५	आत्मपरिणामकी विभावता ही मुख्य मरण	४८७
६०६	ज्ञानका फल विरति, पूर्वकर्मकी सिद्धि	४८७
६०७	जंगमकी यूक्तियाँ	४८७
६०८	सात भर्तारवाली	४८७
६०९	आत्मामें निरन्तर परिणमन करने योग्य वचन-सहजस्वरुपसे स्थिति, सत्संग निवार्णका मुख्य हेतु,असंगता, सत्संग निष्फल क्यों? सत्संगकी पहचान, आत्मकल्याणार्थ ही प्रवृत्ति	४८८
६१०	मिथ्याभाव प्रवृत्ति और सत्य ज्ञान, देवलोकसे आनेवालोंको लोभ विशेष	४८९
६११	आमका विपरिणाम काल	४८९
६१२	अहोरात्र विचारदशा,कबीरपंथीका संग	४९०
६१३	अनंतानुबंधी और उसके स्थानक, मुमुक्षु पुरुषका भूमिकाधर्म	४९०
६१४	त्यागका क्रम	४९१
६१५	केवलज्ञान आदि संबंधी बोलोंके प्रति विचारपरिणति कर्त्तव्य	४९१
६१६	अपने दोष कम किये बिना सत्पुरुषके मार्गका फल पाना कठिन है	४९२
६१७	केवलज्ञान विशेष विचारणीय, स्वरूप प्राप्तिका हेतु विचारणीय, सब दर्शनोंका तुलनात्मक विचार, अल्पकालमें सर्व प्रकारका सर्वांग समाधान	४९२
६१८	उदयप्रतिबंध आत्महितार्थ दूर करनेका क्या उपाय?	४९३
६१९	सर्व प्रतिबंधमुक्तिके बिना सर्व दुःखमुक्ति असंभव, अल्पकालकी अल्प असंगताका विचार	४९४
६२०	महावीरस्वामीका मौनप्रवर्तन उपदेशमार्गप्रवर्तकको शिक्षाबोधक, उपयोगकी जागृतिपूर्वक प्रारब्धका वेदन, सहज प्रवृत्ति और उदीरण प्रवृत्ति	४९४
६२१	अधिक समागम नहीं कर सकने योग्य दशा, अविरतिरूप उदय विराधनाका हेतु	४९५
६२२	'अनन्तानुबन्धी'का विशेषार्थ, उपयोगकी शुद्धतासे स्वप्नदशाकी परिक्षीणता	४९६
६२३	मुमुक्षुकी आसातनाका डर	४९६
६२४	अमुक प्रतिबंध करनेकी अयोग्यता	४९७
६२५	पर्याय पदार्थका विशेष स्वरूप, मनःपर्यायज्ञानको ज्ञानोपयोगमें गिना है, दर्शनोपयोगमें नहीं	४९७
६२६	निमित्तयासी यह जीव है	४९७
६२७	आत्मार्थके लिये विचारमार्ग और भक्तिमार्ग आराधनीय	४९७
६२८	गुणसमुदाय और गुणीका स्वरूप	४९७
६२९	गुण-गुणीके स्वरूपका विचार, इस कालमें केवलज्ञानका विचार, जातिस्मरणज्ञान, जीव प्रति समय मरता है, केवलज्ञानदर्शनमें भूत-भविष्य पदार्थका दर्शन	४९८
६३०	क्षयोपशमजन्य इन्द्रियलब्धि, जीवके ज्ञान-दर्शन (प्रदेशकी निरावरणता) क्षायिक भाव और क्षयोपशम भावके अधीन; वेदनाके वेदनमें उपयोग रूकता है।	४९९

आंक	विषय	पृष्ठ
६३१	एक आत्माको जानते हुए समस्त लोकालोकका ज्ञान, और सब जाननेका फल आत्मप्राप्ति, आत्मज्ञानकी पात्रताके लिये यमनियमादि साधन तत्त्वका तत्त्व	५०१
६३२	युवावस्थामें इन्द्रिय-विकारके कारण	५०१
६३३	आत्मसाधनके लिये कर्तव्यका विचार	५०१
६३४	संवत्सरी क्षमापना	५०२
६३५	निवृत्तिक्षेत्रमें स्थितिकी वृत्ति	५०२
६३६	निमित्ताधीन जीव निमित्तवासी जीवोंका संग छोडकर सत्संग करें	५०२
६३७	सर्वदुःख मिटानेका उपाय	५०२
६३८	धर्म, अधर्मकी निष्क्रियता और सक्रियता, जीव, परमाणुकी सक्रियता	५०२
६३९	आत्मार्थके लिये चाहे जहाँ श्रवणादिका प्रसंग करना योग्य	५०३
६४०	आत्माकी असंगता मोक्ष है, तदर्थ सत्संग कर्तव्य	५०३
६४१	देखतभूलीके प्रवाहमें न बहनेका कौन-सा आधार ?	५०३
६४२	परकथा-परवृत्तिमें बहते विश्वमें स्थिरता कहाँसे ? आत्मप्राप्ति एकदम सुलभ	५०३
६४३	आत्मदशा कैसे आये ?	५०३
६४४	वैराग्य, उपशमादि भावोंकी परिणति कठिन होनेपर भी सिद्धि	५०४
६४५	'समज्या ते शमाई रह्या....गया'	५०४
६४६	विचारवानकी विचारश्रेणि, अपनी त्रिकाल विद्यमानता, वस्तुता बदलती नहीं, सर्व ज्ञानका फल आत्मस्थिरता	५०४
६४७	निर्वाणमार्ग अगम-अगोचर है	५०५
६४८	ज्ञानीका अनंत ऐश्वर्य-वीर्य	५०५
६४९	जीवनका हीन उपयोग	५०५
६५०	अंतर्मुख पुरुषोंको भी सतत जागृतिकी शिक्षा	५०५
	२९ वाँ वर्ष	
६५१	'समजीने शमाई रह्या...गया'का अर्थ, सत्संग, सद्विचारसे शांत होने तकके पद सच्चे, निःसंदेह हैं	५०६
६५२	वेदान्तमें निरूपित मुमुक्षु तथा जिननिरूपित सम्यग्दृष्टिके लक्षण	५०६
६५३	द्रव्यसंयमरूप साधुत्व किसलिये ?	५०७
६५४	अंतर्लक्ष्यवत् वृत्ति	५०७
६५५	'निशदिन नैनमें....नारायण पावे'	५०७
६५६	यथार्थ समाधिके योग्य लक्ष्य	५०७
६५७	सर्वसंगपरित्याग बलवान उपकारी	५०७
६५८	लौकिक और शास्त्रीय अभिनिवेश	५०८
६५९	सर्व दुःखका मूल संयोग	५०८
६६०	प्रमादका नाश न हुआ तो	५०८
६६१	शास्त्रीय अभिनिवेश	५०८
६६२	वैराग्य ही अभय, नवपद एक योग	५०८
६६३	सर्वसंगपरित्यागका उपदेश क्यों ?	५०९
६६४	त्यागकी उत्कृष्टता, परमार्थसंयम और व्यवहारसंयम	५०९
६६५	आरंभ-परिग्रहका त्याग	५०९
६६६	विचारवान पुरुषका आचरण	५१०
६६७	जरा आदि चारको जीतनेका उपाय आत्म-ज्ञान और भक्तिमार्ग	५१०
६६८	सत्संगका माहात्म्य	५१०
६६९	ज्ञानवार्ता नियमित लिखिये	५१०
६७०	ज्ञानीका व्यवहार परमार्थमूल, मुक्त होनेका सर्वोत्कृष्ट उपाय आत्मज्ञान, कर्तव्य मात्र आत्मार्थ	५१०
६७१	सुंदरदासजीके ग्रन्थ विचारणीय	५११
६७२	काया तक माया, शूरवीरता (शूरातनअंगमें)	५११
६७३	यथार्थज्ञानसे पहले उपदेशकी पद्धति	५१२
६७४	ज्ञानी या वीतरागकी पहचान	५१२
६७५	शूरवीर साधु	५१३
६७६	अनुप्रेक्षा करने योग्य आशंका	५१३
६७७	ज्ञानीपुरुषकी मंदतासे उपदेशप्रवृत्ति क्यों ? अंतर्परिणतिपर दृष्टि, विचारवान जीवका कर्तव्य, लौकिक अभिनिवेश	५१३
६७८	मुमुक्षुके लिये उपासनीय दशा	५१४
६७९	निरावरण ज्ञान, ज्ञानी और शुष्कज्ञानीकी वाणीका भेद और परीक्षा, ज्ञानके पाँच प्रकार और उनका संभव-जिसे एक समयका, एक परमाणुका, और एक प्रदेशका ज्ञान हो उसे 'केवलज्ञान' प्रगट होता है । एक विचारयोग-कबीर आदि संबंधी अभिप्राय, केवलकोटि, जगतज्ञान और केवलज्ञान संबंधी-समाधान समुच्चयार्थ	५१५
६८०	हमारा परमानंद, दूसरे श्री राम अथवा श्री महावीर-निष्कारण करूणासे अंतर अनुभव लिखा है	५१८
६८१	चित्तस्थिरतासे वचन पढियेगा	५१८
६८२	मुमुक्षुकी वृत्तिके उत्कर्षादिका साधन	५१९
६८३	सत्समागमके अभावमें कर्तव्य	५१९
६८४	'अन्य पुरुषकी दृष्टि में कौन व्यवहार बताय ?'	५१९
६८५	उपकारभूत वचन लिख भेजियेगा	५१९
६८६	उपदेशपत्रोंके अभ्याससे क्षयोपशमकी शुद्धि	५१९
६८७	व्यवहारमें प्रवर्तमान आप्तपुरुषकी पहचान किस तर व्यवहारत्याग तक आप्तपुरुष किस तरह प्रवृत्ति करे ?	५२०

आंक	विषय	पृष्ठ
६८८	वचनोंकी प्रतिमें अर्थांतर नहीं है	५२०
६८९	विचारवानको खेदके प्रसंगमें विशेष प्रतिबोध, मृत्युभयसे अविनाशी पदके प्रति वृत्ति, असंगभाव प्रत्ययी खेद कर्तव्य	५२०
६९०	नियममें आगार, ब्रह्मचर्य परम साधन, वैराग्य परिणतिके लिये सत्समागम	५२२
६९१	निर्वाणप्राप्ति, केवलज्ञान आदिके विच्छेद सम्बन्धी प्रश्न	५२२
६९२	इस मनुष्यदेहकी कृतार्थता, आत्मभावना	५२३
६९३	सुखसे कौन सोये? ज्ञानमार्ग दुराराध्य, क्रियामार्ग और भक्तिमार्ग	५२३
६९४	केवलज्ञानका अर्थ	५२४
६९५	स्वधर्ममें रहकर भक्ति करना	५२५
६९६	श्री वर्धमान आदिका पुरुषार्थ	५२६
६९७	प्रारब्धरूप दुस्तर प्रतिबंध	५२६
६९८	पाँच अस्तिकाय, काल औपचारिक द्रव्य, सर्वज्ञकी सर्वज्ञता, आत्मप्रतीति कब?	५२७
६९९	पंचास्तिकायका स्वरूप, कालका स्वरूप	५२८
७००	शरीर मोहका है	५२९
७०१	कालका द्रव्यत्व, धर्म आदिका अस्तिकायत्व, अप्कायिक जीवोंका स्वरूप और सचित्तता, सजीव बीज, आत्मा देखनेका यंत्र	५२९
७०२	आत्मदृष्टि विरल, सुविचार दृष्टि, बाह्य क्रियाके विधि-निषेधमें कल्याण नहीं	५३०
७०३	मनुष्यादिकी वंशवृद्धि, लौकिक और अलौकिक दृष्टि, मनुष्यदेहका माहात्म्य	५३१
७०४	त्यागसंबंधी जिनसिद्धांत, ज्ञानीपुरुषके वचन अलौकिक दृष्टिसे विचारणीय	५३४
७०५	क्षमापना	५३५
७०६	वृत्तिका संयम, वैराग-उपशमके आधारसे ज्ञान, विचार आदिके लिये अनन्य आश्रय-भक्ति, तृष्णाका पराभव, परमार्थ आत्मा शास्त्रमें नहीं किन्तु सत्पुरुषमें, ज्ञानकी याचना अयोग्य परन्तु उपशमादिका उपाय कर्तव्य, आजीविका किस क्षेत्रमें?	५३६
७०७	ब्रह्मरंध्र आदिका साधन आत्माके लिये	५३७
७०८	जैनदर्शनकी पद्धतिसे सम्यग्दर्शन और वेदान्तकी पद्धतिसे केवलज्ञान हमें सम्भव, जैन और वेदोक्त मार्गकी स्थिति, जैनमार्गका उद्धार करनेकी अभिलाषा और योग्यता	५३७
७०९	धर्मोन्नतिके साधन	५३९
७१०	आत्माका स्वरूप, छः पद, केवलज्ञान, सम्यक्त्वके भेद	५३९
७११	छः दर्शन, उनके भेद और अभिप्राय	५४०
७१२	आत्मार्थका लक्ष्य प्रथम कर्तव्य	५४१
७१३	जैनदर्शनकी स्थिति और उन्नतिके विचार	५४१
७१४	जिनकथित भावोंकी यथार्थता, अतींद्रिय ज्ञानके भेद	५४२
७१५	मूळ मारग (काव्य) मूल मार्ग रहस्य	५४३
७१६	'दासबोध' विचारणीय, अहंभाव जहर है	५४४
७१७	अनार्य क्षेत्रमें सत्संग आदिकी अप्राप्ति, आर्य आचारविचार, वर्णाश्रमादि, भक्ष्याभक्ष्य विचार	५४५
७१८	आत्मसिद्धि (काव्य)	५४७
	आद्यमंगल	५४७
	क्रियाजड और शुष्कज्ञानीके लक्षण	५४७
	आत्मार्थीका लक्षण	५४९
	ठाणांगसूत्रकी चौभंगी	५५०
	सद्गुरुसे परमार्थकी प्राप्ति	५५२
	सद्गुरुके लक्षण	५५३
	स्वरुपस्थितिकी स्पष्टता	५५३
	सद्गुरुसे निवस्वरुपकी प्राप्ति	५५५
	स्वच्छन्द रोके तो मोक्ष पाये	५५५
	समकित, विनयमार्ग	५५६
	मतार्थीके लक्षण और प्रकार	५५७
	आत्मार्थीके लक्षण	५५८
	षट्पद नामकथन	५५९
	प्रथम पद—शंका-आत्मा नहीं है, समाधान	५६०
	द्वितीय पद—शंका—आत्मा नित्य नहीं है, समाधान	५६२
	तृतीय पद—शंका—आत्मा कर्मका कर्ता नहीं है, समाधान	५६६
	चतुर्थ पद—शंका-जीव कर्मका भोक्ता नहीं है, समाधान	५६९
	पंचम पद—शंका-कर्मसे मोक्ष नहीं है, समाधान	५७२
	षष्ठ पद—शंका-मोक्षका उपाय नहीं है, समाधान	५७३
	मोक्षमार्ग या मोक्षमें जाति, वेष आदि का भेद नहीं है, जिज्ञासुके लक्षण	५७५
	परमार्थ समकित, चारित्र, केवलज्ञान और आत्माका सच्चा स्वरुप	४७६
	अनादि विभावका नाश, धर्मका मर्म, शिष्यको बोध-बीजकी प्राप्ति	५७७
	उपसंहार	५७८
७१९	आत्मसिद्धिके अवगाहनकी रीति, ज्ञानका सम्यक्परिणामी होना, आत्मार्थके लिये उपदेश, देहका आत्मार्थमें ही उपयोग	५८१
७२०	पैसा कमानेका लोभ नहीं है परन्तु परम कल्याणकी इच्छा है	५८१
७२१	अनधिकारीको ज्ञान अहितकारी	५८२

आंक	विषय	पृष्ठ
	३० वाँ वर्ष	
७२२	असातामें विचारवानकी प्रवृत्ति	५८३
७२३	ज्ञानीकी दृष्टिका वास्तविक माहात्म्य ध्यानगत न हो सके	५८३
७२४	पंथ परमपद (काव्य)	५८३
७२५	मनुष्यभवका मूल्य	५८४
७२६	मुमुक्षु जीव आत्महितका ही विचार करे	५८४
७२७	इस कालमें मार्ग दुष्कर होनेपर भी प्राप्ति	५८५
७२८	देहान्तसे पहले ही ममत्वनिवृत्ति कर्तव्य	५८५
७२९	लोकदृष्टिमें बडप्पनवाली वस्तुएँ प्रत्यक्ष जहर	५८५
७३०	एक समय भी सर्वोत्कृष्ट चिन्तामणि	५८६
७३१	कर्मानुसार आजीविकादि, प्रयत्न निमित्त, चिन्ता आत्मगुणरोधक	५८६
७३२	भावसंयमकी सफलताके साधन	५८६
७३३	वैराग्य-उपशमकी वृद्धिके लिये विचारणीय ग्रन्थ	५८६
७३४	पत्रोंकी अलग प्रति लिखें	५८६
७३५	निरपेक्ष अविषम उपयोग	५८७
७३६	ज्ञानीके ज्ञानके विचारसे महती निर्जरा	५८७
७३७	त्यागमार्ग अनुसरणीय	५८७
७३८	अपूर्व अवसर (काव्य)	५८७
७३९	निग्रँथके लिये अप्रतिबंधता	५९१
७४०	सदाचार तथा संयम इच्छुकको उपदेशसे अधिक लाभकारी	५९१
७४१	इस बार समागम विशेष लाभकारी	५९२
७४२	संस्कृतका परिचय, परस्पर ज्ञानकथा	५९२
७४३	संसारी इन्द्रियरामी आत्मरामी निष्कामी	५९२
७४४	शास्त्रानुसार चारित्रकी शुद्धसेवा प्रदान करे	५९२
७४५	केवलज्ञान होनेमें श्रुतज्ञानका अवलंबन	५९३
७४६	मोहनीयका स्वरुप वारंवार विचारणीय	५९३
७४७	'दीनता'के बीस दोहे मुखाग्र करने योग्य	५९३
७४८	कर्मबंधकी विचित्रता	५९४
७४९	मुमुक्षुके लिये स्मरणीय वचन–'ज्ञानका फल विरति है ।' विचारकी सफलता	५९४
७५०	वडवाके समागमसंबंधी, अद्वेषभावनामें स्वधर्म	५९४
७५१	'आत्मसिद्ध'में तीन प्रकारके समकित, सत्पुरुषके वचनोंका आलंबन	५९५
७५२	लेश्या आदिका अर्थ	५९५
७५३	'ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे' और 'पंथडो निहाळुं रे' का विशेषार्थ	५९६
७५४	कालकी बलिहारी ! शासनदेवीसे विनती	६०१
७५५	दुःख किी तरह मिट सके ? दुःख, उसके कारण आदि सम्बन्धी मुख्य अभिप्राय, सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्र, दुःखक्षयका मार्ग, द्वादशांग, निग्रँथ सिद्धान्तकी उत्तमता	६०२
७५६	जैनमार्गविवेक	६०५
७५७	मोक्षसिद्धांत	६०६
७५८	द्रव्यप्रकाश	६०७
७५९	दुःख क्यो नहीं मिटता ? प्राणीके भेद-प्रभेद	६०८
७६०	जीवलक्षण, संसारी जीव, सिद्धात्मा, भावकर्म, द्रव्यकर्म	६०९
७६१	नव तत्त्व, रत्नत्रय, ध्यान	६०९
७६२	मोक्ष और उसका उपाय-वीतराग सन्मार्ग	६१०
७६३	आत्मस्वरुपका ध्यान, निर्जरा	६११
७६४	वीतराग सन्मार्गकी उपासना कर्तव्य	६११
७६५	मोक्षमार्गमें प्रयोजनभूत विषय	६१२
७६६	पंचास्तिकाय : प्रथम अध्याय	६१२
	द्वितीय अध्याय	६१८
७६७	कठोर क्रियाओंके उपदेशमें रहस्य दृष्टि, निग्रँथका परम धर्म, पाँच समिति	६२२
७६८	एकेन्द्रियको मैथुनादि संज्ञा; ज्ञान, अज्ञान और ज्ञानावरणीय	६२३
७६९	समकित और मोक्ष	६२४
७७०	मिथ्यात्वज्ञान 'अज्ञान' और सम्यग्ज्ञान 'ज्ञान'	६२४
७७१	समकित और संसारकाल; प्रतीतिरुप समकित	६२५
७७२	कर्मबंधानुसार औषधका असर, निरवद्य औषधादिके ग्रहणमें आज्ञाका अनतिक्रम	६२६
७७३	वेदनीय और औषध, परिणामानुसार बंध, हिंसा और असत्य आदिका पाप, अर्हतको प्रथम नमस्कार क्यों ?	६२७
७७४	बंध और शुभाशुभ कर्मयोग, पुद्गल विपाकी वेदना	६२८
७७५	अप्रमत्त उपयोग होनेका साधन, जीवका आगमन, शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन	६२८
७७६	कर्मबंधके पाँच कारण, प्रदेशबंधका अर्थ	६२९
७७७	आप्तपुरुषके समागम आदिमें पुण्यहेतु, विशुद्धि स्थानकका अभ्यास कर्तव्य	६२९
७७८	सत्समागम परम पुण्ययोग	६२९
७७९	स्वभावजागृतदशा, अनुभव-उत्साहदशा स्थितिदशा, मुक्त और मुक्तदशा	६३०
७८०	इस देहकी विशेषता; इस देहसे करने योग्य कार्य; कल्याणका मुख्य निश्चय	६३१
७८१	परमपुरुषदशावर्णन, सर्वथा असंग उपयोगसे आत्मस्थिति करें; वीतरागदशा रखना ही सर्व ज्ञानका फल	६३१
७८२	संसारका मुख्य बीज, देहत्याग करते हुए श्री सोभागकी दशा, उनके अद्भुत गुणोंका स्मरण	६३२
७८३	दुःखक्षयका उपाय, प्रत्यक्ष सत्पुरुषसे सर्व साधन सिद्ध, आरंभपरिग्रहकी वृत्ति मंद करें	६३३

आंक	विषय	पृष्ठ
७८४	सच्चे ज्ञान और चारित्रसे कल्याण	६३४
७८५	ज्ञानीके वचन त्यागवैराग्यका निषेध नहीं करते	६३५
७८६	आतमरामी निष्कामी, सोभागकी अंतरदशा अनुप्रेक्षा योग्य	६३५
७८७	ज्ञानीका मार्ग स्पष्ट सिद्ध	६३५
७८८	परम संयमी पुरुषोंका भीष्मव्रत	६३५
७८९	सत्शास्त्रपरिचय कर्तव्य	६३५
७९०	दीर्घकालको अति अल्पकालमें लानेके ध्यानमें, एकत्वभावनासे आत्मशुद्धिकी उत्कृष्टता	६३६
७९१	सद्वर्तन आदिमें प्रमाद अकर्तव्य	६३६
७९२	परमोत्कृष्ट संयमका स्वरुपविचार भी विकट	६३६
७९३	व्रत आदि और सम्यग्दर्शनका बल सत्पुरुष-की वाणी	६३६
७९४	ऐसा वर्तन करें कि गुण उत्पन्न हों	६३७
७९५	किसका समागमदि कर्तव्य ?	६३७
७९६	'मोहमुद्गर' और 'मणिरत्नमाला' पढें	६३७
७९७	श्री डुंगरकी दशा	६३७
७९८	'मोक्षमार्गप्रकाश'का श्रवण, श्रोताकी हितकारी दृष्टि	६३८
७९९	श्रुतज्ञानका अवलंबन	६३८
८००	आत्मदशा होनेके प्रबल अवलंबन	६३८
८०१	क्षमापना	६३८
८०२	असद्वृत्तिके निरोधके लिये	६३९
८०३	क्षमापना	६३९
८०४	क्षमापना	६३९
८०५	क्षमापना	६३९
८०६	सत्समागमसे कैवल्यपर्यंत निर्विघ्नता	६३९
८०७	दिगम्बरत्व और श्वेताम्बरत्व; 'मोक्षमार्ग-प्रकाश'में जिनागमका निषेध अयोग्य	६४०
८०८	संयम प्रथम दशामें कालकूट विष और परिणाममें अमृत	६४०
८०९	निष्काम भक्तिमानका सत्संग या दर्शन यह पुण्यरुप	६४०
८१०	लोकदृष्टि और ज्ञानीकी दृष्टि, प्रमादमें रति	६४०
८११	सबके प्रति क्षमादृष्टि, सत्पुरुषका योग शीतल छाया समान	६४१
८१२	निवृत्तिमान द्रव्य आदिके योगसे उत्तरोत्तर ऊँची भूमिका, जीवको भान कब आये ?	६४१
८१३	ऊपरकी भूमिकाओंमें अनादि वासनाका संक्रमण, अंतराय-परिणाममें शूरवीरता और सद्विचार	६४१
८१४	योगदृष्टिसमुच्चय आदि योग-ग्रंथ, अष्टांग योग दो प्रकारसे	६४२

आंक	विषय	पृष्ठ
	३१ वाँ वर्ष	
८१५	विहार योग्य क्षेत्र	६४३
८१६	सर्व दुःखक्षयका उपाय, प्रमाद	६४३
८१७	सम्यग्दर्शनसे दुःखकी आत्यंतिक निवृत्ति	६४३
८१८	ज्ञान आदि समझनेके लिये अवलंबनभूत क्षयोपशमादि भाव	६४३
८१९	मोक्षपट्टन सुलभ ही है, शौर्य	६४४
८२०	सद्विचारवानके लिये हितकारी प्रश्न	६४४
८२१	आत्महितके लिये बलवान प्रतिबंध, 'आत्मसिद्धि' ग्रंथमें अमोहदृष्टि	६४४
८२२	समागमके प्रति उदासीनता	६४५
८२३	अबंधताके लिये अधिकार	६४५
८२४	सत्श्रुत और सत्समागमका सेवन	६४५
८२५	आत्मस्वभावकी निर्मलताके साधन	६४५
८२६	सत्श्रुत-परिचयमें अंतराय	६४६
८२७	उत्तापका मूल हेतु क्या ?	६४६
८२८	अहमदाबादमें जानेकी वृत्ति अयोग्य	६४६
८२९	मुमुक्षुता दृढ करें	६४७
८३०	नियमित शास्त्रावलोकन कर्तव्य	६४७
८३१	दुःषमकालमें भी परम शांतिके मार्गकी प्राप्ति संभव	६४७
८३२	अंतर्मुखतासे अपार आनंदका अनुभव, किंचित्मात्र भी ग्रहण करना ही सुखका नाश, सर्वोत्कृष्ट सिद्धि	६४७
८३३	स्वरुपस्थितका अति उत्कृष्ट पराक्रम, महापुरुषोंको जीवन-मरण समान, अचिंत्य द्रव्य, आत्मा विश्वरुप नहीं होता, अक्लेश समाधि, आत्मभावना	६४८
८३४	श्री डुंगर देहमुक्त	६४९
८३५	सत्समागमकी दुर्लभता	६४९
८३६	वस्तुमें उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व; जीव और परमाणुओंका संयोग	६४९
८३७	मार्गप्रकाशक सद्गुरुके लक्षण-आत्मज्ञान, समदर्शिता आदि; इन लक्षणोंकी सूचकता; समदर्शिताका अर्थ, समदर्शिता और अहिंसादि व्रत	६५०
८३८	ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण	६५३
८३९	कल्याणमूर्ति सम्यगदर्शन	६५३
८४०	द्रव्य-मन	६५३
८४१	समाधिके विषयमें अवसरपर	६५३
८४२	परमार्थके लिये लोक-पद्धति रक्षणीय	६५३
८४३	जयशाली धर्मका आश्रय सदैव कर्तव्य, पूर्ण द्वादशांगी संक्षेपमें	६५४
८४४	कराल काल !	६५५
८४५	मोक्षमार्गस्य नेतारं, अज्ञानतिमिरांधाना	६५५

आंक	विषय	पृष्ठ
८४६	आश्चर्यकारक निष्पापवृत्ति (आहारग्रहण), असंग निर्ग्रंथ पदका अभ्यास	६५५
८४७	विक्षेपरहित रहें	६५५
८४८	परिचय बढनेका डर	६५६
८४९	हे जीव ! संसारसे निवृत्त हो	६५६
८५०	चित्त, चित्तवृत्तियाँ इतनी शांत हो जाये	६५६
	३२ वाँ वर्ष	
८५१	व्यवहारप्रतिबद्धता, प्रतिकूल मार्गमें तप्त हृदय और शांत आत्मा	६५७
८५२	वीतरागमार्ग उपासनीय	६५७
८५३	वीतरागश्रुतका अनुप्रेक्षण, प्रमाद परम रिपु	६५७
८५४	आत्मानुशासन पढने-विचारने योग्य	६५८
८५५	वीतरागश्रुतका अभ्यास रखियें	६५८
८५६	जिज्ञासा आदि बल बढनेके लिये ज्ञानीका समागम उपासनीय, वीतराग वचनानुप्रेक्षा चित्तस्थैर्यके लिये परम औषध	६५८
८५७	भक्ति अप्रमत्ततासे उपासनीय	६५८
८५८	स्थिरता चाहते हो तो मोह आदि न करो, निश्चय ध्यान	६५८
८५९	नियमादिका ग्रहण मुनियोंके समीप	६५९
८६०	स्वरुपावलोकनदृष्टिका परिणमन	६५९
८६१	शिथिलता घटनेका उपाय सुगम	६५९
८६२	वीतरागवृत्तिका अभ्यास रखियेगा	६६०
८६३	बोध कब परिणमित हो ? असद्वृत्तियोंका निरोध कर्तव्य	६६०
८६४	'चरमावर्त हो चरमकरण तथा रे....' निवृत्तिक्षेत्रमें स्थिति सत्श्रुतप्राप्तिके योग्य	६६०
८६५	धीर पुरुष मोक्षपुरगामी	६६०
८६६	द्रव्यानुयोग परम गंभीर, उसकी प्राप्ति, योग्यता, परिणमन और फल, समाधिका रहस्य	६६१
८६७	भवस्वयंभूरमण तरकर पारको संप्राप्त होवें	६६१
८६८	निवृत्तिवाले क्षेत्रमें चतुर्मास	६६१
८६९	आत्महितकी अप्रमत्ततासे उपासना	६६२
८७०	अनुकूलक्षेत्रमें चतुर्मास करनेसे भगवदाज्ञाका संरक्षण	६६२
८७१	निवृत्तिक्षेत्रमें चतुर्मास, सन्मार्गकी उपासनामें वीर्य उत्साहयुक्त करें	६६२
८७२	शुभ ध्यानका मूल हेतुभूत सद्वर्तन, 'न्याय संपन्न आजीविकादि व्यवहार'की सिद्धि कर्तव्य	६६३
८७३	असंग महात्माओंके संसारका अंत समीप	६६३
८७४	अप्रमत्त चित्तसे स्मरणीय उपदेश	६६३
८७५	अहो सत्पुरुषके वचनामृत, मुद्रा और सत्समागम !	६६३
८७६	उसका जीना धन्य है	६६४
८७७	आचारांगसूत्रके एक वाक्यसंबंधी	६६४
८७८	स्वरुपनिष्ठ वृत्ति करनी	६६४
८७९	शुद्धात्मस्थितिके दो मुख्य अवलंबन, परम तत्त्वका अधिकारी	६६४
८८०	अप्रमत स्वभावका स्मरण, पारमार्थिक श्रुत और वृत्तिजयका अभ्यास	६६५
८८१	'पद्मनंदि पंचविंशति' मुनिवर्यके मननार्थ	६६५
८८२	प्रवृत्तिस्वभावके प्रति उपशांत वृत्ति, परम-पदके उपदेशका आकर्षक आत्मस्वभाव	६६५
८८३	'बिना नयन' आदिका चिचार, अप्रमत्त प्रयत्न कर्तव्य	६६५
८८४	दुःषमकालमें परम सत्संग और असंगता कहाँसे छाजे ?	६६६
८८५	ज्ञानीकी मुख्य आज्ञा, अनेक शास्त्रोंसे होनेवाला फल सहजमें	६६६
८८६	'पद्मनंदी शास्त्र'का मनन और निदिध्यासन, महापुरुषोंके वचनामृतका मनन परम श्रेयस्कर कब ?	६६६
८८७	सच्ची मुमुक्षुता	६६६
८८८	ज्ञानीकी आज्ञाका अवलंबन	६६७
८८९	वनवासी शास्त्र	६६७
८९०	क्षमायाचना	६६७
८९१	इन्द्रियनिग्रहपूर्वक सत्शास्त्रका परिचय	६६७
८९२	क्षमायाचना	६६८
८९३	स्वप्न आदिके प्रसंगमें निर्विक्षिप्त रहें	६६८
८९४	क्षमापना आदि कंठस्थ करनेके विषयमें आज्ञा	६६८
८९५	ज्ञानीपुरुषोंके लिये सत्पुरुषार्थता उपकारभूत	६६८
	३३ वाँ वर्ष	
८९६	दुःषमकालमें असंगत्वका योग कहाँसे हो ? सत्समागमका प्रतिबंध अयोग्य, स्वरुप-स्थिरताका प्रगट होना	६६९
८९७	परम शांत श्रुतका मनन कर्तव्य	६६९
८९८	प्रवृत्तिव्यवहारमें स्वरुपनिष्ठा दुर्घट, कैसे योगमें शांतिके मार्गकी प्राप्ति ?	६६९
८९९	'स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा' आदिकी नकल	६७०
९००	सबके उपकारका मार्ग	६७०
९०१	अनंत अव्याबाध सुखका एक अनन्य उपाय-स्वरुपस्थ होना	६७०
९०२	जड ने चैतन्य बन्ने द्रव्यनो स्वभाव भिन्न (काव्य) जड-चेतन विवेक	६७१
९०३	प्राणीमात्रका रक्षक, बांधव और हितकारी उपाय धर्म	६७१
९०४	लोकादि स्वरुपनिरुपण आलंकारिक भाषामें	६७२

आंक	विषय	पृष्ठ
९०५	आत्मबलकी वृद्धिके सदुपाय	६७२
९०६	वैराग्यका उपदेश कयों दिया ?	६७२
९०७	'समयसार'की प्रति शुद्ध गुर्जर भाषामें	६७२
९०८	कल्याणजीभाईका देहत्याग	६७२
९०९	कार्तिकेयानुप्रेक्षा और समयसारकी नकलें	६७२
९१०	'गोम्मटसार' आदि ग्रन्थ	६७२
९११	स्वामी वर्धमान जन्मतिथि	६७३
९१२	धन्य ते मुनिवरा जे चाले समभावे रे	६७३
९१३	मुख्यतः असाताका ही अनुभव, साताअसाताके मूल कारणोंके गवेषकोंकी वृत्ति, सर्वोत्कृष्ट औषध, महात्माओंकी वारंवार शिक्षा, आत्माके कल्याणके परम कारण, जिनभावना-का भावन कर	६७३
९१४	महापुरुषोंके लिये विहारयोग्य क्षेत्र	६७४
९१५	उपशमश्रेणिमें उपशमसम्यक्त्व, अनंत दानादि लब्धिकी संप्राप्ति आत्माकी स्वरुपभूत, ज्ञानकी अनुप्रेक्षासे अनंत कर्मक्षय	६७५
९१६	चातुर्मासयोग्य क्षेत्र	६७५
९१७	बोया बीज न खोदना	६७६
९१८	सत्पुरुषकी ज्ञानदशा आदि, जिनाज्ञासे मोक्ष, ज्ञानका लक्षण, मोक्षके चार कारण, अध्यात्म-मार्ग, स्वभाव-विभावदशाके फल, आत्मार्थमें प्रवृत्तिसे अवश्य कल्याण, आत्मार्थीका लक्षण	६७६
९१९	वर्तमान जीव प्रमत्तातिप्रमत्त	६७८
९२०	स्वास्थ्य कुछ ठीक	६७८
९२१	मोक्षमालामें शब्दांतर, उपोद्घात आदि	६७८
९२२	पत्र मिला, चातुर्मास	६७८
९२३	शरीरप्रकृति सहज स्वस्थ	६७८
९२४	मुनियोंका चातुर्मास कहाँ योग्य ? आत्मार्थी को सब समान ही है	६७८
९२५	विनयभक्ति मुमुक्षुधर्म, अनादि चपल मनका क्षय	६७९
९२६	'क्षायोपशमिक असंख्य, क्षायिक एक अनन्य'	६७९
९२७	शरीर वेदनाकी मूर्ति, मानसिक असाताकी मुख्यता, वेदनाके समय आत्मार्थीका अनुप्रेक्षण	६७९
९२८	त्रिभोवनका देहोत्सर्ग, अशाश्वत अनित्य ऐसा यह वास	६८०
९२९	निर्ग्रंथ महात्माओंके दर्शन, समागम और वचन	६८०
९३०	कुंदकुंदाचार्यकृत समयसार, आर्य त्रिभोवन-की आत्मस्थिति	६८०
९३१	वजनके बिनाका मनुष्य निकम्मा	६८१
९३२	शरीरप्रकृति स्वस्थास्वस्थ	६८१
९३३	अपूर्व शांति और अचल समाधि, पाँचों वायु	६८१
९३४	मनुष्यता, आर्यता आदि उत्तरोत्तर दुर्लभ	६८१
९३५	मनुष्यदेहका एक समय भी अमूल्य, प्रमाद-जय परमपदजय, शरीरप्रकृति	६८२
९३६	मनुष्यदेह चिंतामणि, ग्यारहवाँ आश्चर्य	६८२
९३७	बाकीका समय आत्मविचारमें, निर्जराका सुन्दर मार्ग	६८२
९३८	'समयचरण सेवा शुद्ध देजो,' शरीरस्थिति	६८३
९३९	वेदना सहन करना परम धर्म, शुद्ध चारित्रका मार्ग, परम निर्जरा	६८३
९४०	असातामुख्यता उदयमान, आत्माके शुद्ध स्वरुपकी याद	६८३
९४१	आज्ञा करना भयंकर, नियममें स्वेच्छाचार प्रवर्तनसे मरण श्रेयस्कर	६८४
९४२	परम निवृत्तिका सेवन, दुःषमकालमें प्रमाद अकर्तव्य, आत्मबलाधीनतासे पत्रलेखन	६८४
९४३	ज्ञानीकी प्रधान आज्ञा, परम मंगलकारी सुदृढता	६८४
९४४	प्रमत्तभाव	६८५
९४५	श्री पर्युषण-आराधना	६८५
९४६	श्री 'मोक्षमाला'के 'प्रज्ञावबोध' भागकी संकलना	६८५
	३४ वाँ वर्ष	
९४७	वर्तमान दुःषमकालमें ध्यान रखने योग्य	६८७
९४८	मदनरेखाका अधिकार आदिकी चर्चा अयोग्य	६८७
९४९	जिन्दगीका लक्ष्यबिंदु-लोकसंज्ञा और आत्मशांति	६८७
९५०	अधिकारीको दीक्षा	६८८
९५१	प्रवासमें सहराका रेगिस्तान, निकाचित उदयमान थकान, स्वरुप अन्यथा नहीं होता	६८८
९५२	शरीरसंबंधी अप्राकृत क्रम	६८८
९५३	वेदनीयको वेदन करनेमें हर्षशोक क्या ?	६८८
९५४	'इच्छे छे जे जोगीजन, अनंत सुखस्वरुप' (काव्य), अंतिम संदेश—जिन और जीव दोनों एक, जिनप्रवचन सद्गुरुके अवलंबन-से सुगम, आत्मप्राप्तिकी प्रथम-मध्यम भूमिका, आत्मप्राप्तिके मार्गके श्रेष्ठ अधिकारी, आत्मस्वभावमें मनका लय-संसारविलय, अनंत सुखधाम	६८९
९५५	रोग नहीं है, निर्बलता है	६९०

आंक	विषय	पृष्ठ
९५६	उपदेश नोंध	
	अनुक्रमांक	
१	षड्दर्शनसमुच्चयका भाषांतर	६९१
२	वेशभूषा, धर्मद्रोह, प्रयोगके बहाने पशुवध	६९१
३	ज्ञानियोंको सदाचार प्रिय, अकाम और सकाम निर्जरासे प्राप्त मनुष्यदेह	६९१
४	आठ दृष्टि आत्मदशामापक यंत्र, शास्त्र अर्थात् शास्तापुरुषके वचन, ऋतुको सन्निपात, व्यसन, पढा हुआ भूलनेसे छुटकारा	६९२
५	परम सत् पीडित होता हो तो, संपूर्ण निरावरण ज्ञान होने तक श्रुतज्ञानकी आवश्यकता सकाम निर्जरासे प्राप्त मनुष्यदेह	६९३
६	मनके पर्याय जाने जा सकते हैं, आसनजय, परमाणुकी दृश्यता	६९३
७	मोक्षमालाकी रचना, भावनाबोध, किस विचारसे नव तत्त्वके तत्त्वज्ञानका बोध? कल्पित क्या?	६९३
८	योगकी तरतमतासे वासनाकी तरतमता	६९४
९	श्री हेमचंद्राचार्य और आनंदघनजीका निष्कारण लोकानुग्रह, अंतरालमें वीतरागमार्गकी विमुखता, विषमताके कारण	६९५
१०	जैनधर्मसे भारतवर्षकी अधोगति या उन्नति?	६९५
११	श्री आत्मारामजी, श्रावकता या साधुता कुलसंप्रदायमें नहीं, आत्मामें है, ज्योतिष कल्पित समझकर छोड दिया, मानपत्र आदिमें विवेकहीनता, परिग्रहधारी यतियोंके सन्मानसे मिथ्यात्वका पोषण, बडे जैसे कहें वैसे करना, जैसे करें वैसे नहीं करना, कबीरका दृष्टांत	६९७
१२	सिद्धकी अवगाहना, सिद्धात्माकी ज्ञायकता और भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व, गोमटेश्वरकी प्रतिमा, निदान बाँधना अयोग्य, वसुदेवका दृष्टांत	६९८
१३	आवगाहनाका अर्थ	६९९
१४	समतासे निर्जरा, ज्ञानीका मार्ग सुलभ, पाना दुर्लभ	६९९
१५	श्री सत्श्रुत	६९९
१६	ज्ञानीको पहचानें, आज्ञाका आराधन करें	७००
१७	लोकभ्रांतिका कारण, जीव-अजीवका भेद	७००
१८	'इर्नाक्युलेशन' महामारीका टीका	७००
१९	प्रारब्ध और पुरुषार्थ	७००
२०	भगवद्गीतामें पूर्वापर विरोध, उसपर भाष्य और टीकाएँ, विद्वत्ता और ज्ञान, हरिभद्रसूरिसंबंधी मणिभाईका अभिप्राय	७०१
२१	क्षयरोगका मुख्य उपाय	७०१
२२	'प्रशमरस निमग्नं...' देव कौन? दर्शनयोग्य मुद्रा कोनसी? 'स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' वैराग्यका उत्तम ग्रन्थ,कार्त्तिकस्वामी	७०१
२३	'षड्दर्शनसमुच्चय' और 'योगदृष्टि-समुच्चय'का भाषातंर, 'योगशास्त्र'का मंगलचरण—नमो दुर्वाररागादिवैरिवार निवारिणे, सच्चा मेला	७०२
२४	'मोक्षमाला'के पाठ, श्रोता-वाचकमें अपने आप अभिप्राय उत्पन्न होंने दें; 'प्रज्ञावबोध'के मनके, परम सत्श्रुतके प्रचाररूप योजना	७०२
२५	श्री 'शाँतसुधारस'का विवेचनरूप भाषांतर	७०२
२६	'देवगमनभोयान...' सद्देवका महत्व, श्री समंतभद्रसूरि, लोककल्याण करते हुए ध्यान रखने योग्य	७०२
२७	मनःपर्यायज्ञान किस तरह प्रगट होता है? उसका विषय	७०३

आंक	विषय	पृष्ठ
९५६	**उपदेश नोंध**	
	अनुक्रमांक	
२८	मोहनीयकर्मके त्यागका क्रमिक अभ्यास, यथासंभव पाँच इंद्रियोंके विषयोंको शिथिल करना, प्रवृत्तिकी आडमें निवृत्तिका विचार न करना एक बहाना	७०३
२९	व्रतसबंधी	७०४
३०	मोहकषाय संबंधी	७०४
३१	आस्था तथा श्रद्धा, ज्ञानीका अवलंबन	७०५
३२	'जे अबुद्धा महाभागा...' मिथ्यादृष्टिकी क्रिया सफल, सम्यग्दृष्टिकी क्रिया अफल	७०६
३३	नित्यनियम	७०६
३४	परमार्थसत्य और व्यवहारसत्य	७०६
३५	सत्पुरुष अन्याय नहीं करते, आत्मा अपूर्व वस्तु, जागृति और पुरुषार्थ, स्वच्छंदसे ध्यान, उपदेश आदि, आत्मा और देह, 'सुंदर विलास' उपदेशार्थ, छः दर्शनोंपर दृष्टांत, वीतरागदर्शन त्रिवैद्य जैसा	७०८
३६	संन्यासी, गोसांई, यति; किस दोषसे समकित नहीं होता? मुनि और व्याख्यान, कषायके सामने युद्ध, क्षत्रिय भावसे वर्तन, पूजामें पुष्प, मुमुक्षुके लिये साधन, 'सिज्झंति', 'बुज्झंति' आदिका रहस्य	७०९
३७	अज्ञानतिमिरान्धानां का अर्थ, मोक्ष-मार्गस्य नेतारं' का विवेचन	७१०
३८	आत्मा, जड आदि संबंधी प्रश्नोत्तर	७११
३९	कर्मकी मूल आठ प्रकृति, चार घातिनी, चार अघातिनी	७१२
४०	मूर्च्छाभाव और ज्ञानकी न्यूनता, ज्ञानीका संसारमें वर्तन	७१२
४१	चार गोलोंके दृष्टांतसे जीवके चार भेद	७१३

आंक	विषय	पृष्ठ
९५७	**उपदेशछाया**	
	अनुक्रमांक	
१	मूल ज्ञानसे वंचित कर देनेकी भावना, ज्ञानीपुरुषोंको भी सर्वथा असंगता श्रेयस्कर, निर्ध्वंस परिणाम मनुष्यभव निरर्थक जानेके कारण, झूठ बोलकर सत्संगमें आना अनावश्यक	७१५
२	स्व-उपयोग और पर-उपयोग, सिद्धांतकी रचना, ज्ञानीके आज्ञाकारी और शुष्कज्ञानीको स्त्री आदि प्रसंग, प्राप्त और आप्त, परमार्थिक और अपारमार्थिक गुरु	७१६
३	तीन प्रकारके ज्ञानीपुरुष, सत्पुरुषकी पहचान, सद्वृत्ति और सदाचारका सेवन, आचारांग आदि नियमित पढ़ना, सच्चा सम्यक्त्व, सत्पुरुषकी आशातनादि टालना, सत्संगका फल	७१७
४	भक्ति सर्वोत्कृष्ट मार्ग, आत्मानुभवी कौन? ज्ञान, सम्यग्दृष्टिकी जागृति, ज्ञानी और मिथ्यादृष्टि, बारह उपांगका सार-वृत्तियोंका क्षय करना, चौदह गुणस्थानक, वृत्तियोंकी ठगाई, सुपच्च-क्खान, दुपच्चक्खान, पुरुषार्थधर्मका मार्ग खुला, श्रेणिक, चार लकडहारेके दृष्टांतसे चार प्रकारके जीव, पहचानके अनुसार माहात्म्य, ज्ञानीकी पहचान, ज्ञानीको अंतर्दृष्टिसे देखनेके बाद रागकी अनुत्पत्ति, संसाररूपी शरीरका बल विषयादिरूप कमरपर, ज्ञानीपुरुषके बोधका सामर्थ्य, श्री महावीरस्वामीकी अद्भुत समता, तीर्थंकर ममत्व करते ही नहीं, इस कालमें चरमशरीरी और एकावतारी, केशीस्वामीकी सरलता, ज्ञानीपुरुषकी	

आंक	विषय	पृष्ठ
९५७	उपदेशछाया	
अनुक्रमांक		
	आज्ञा, गौतमस्वामी और आनंदश्रावक, सास्वादनसमकित, निर्ग्रंथ गुरु, सद्गुरुमें सद्देव और केवली, सद्गुरु और असद्गुरुको परखनेकी शक्ति, मिथ्यात्वरूपी समुद्रका खारापन दूर करना, सबसे बडा रोग मिथ्यात्व, दुराग्रह और स्वच्छंद छोडनेसे कल्याण, उदय कर्म, मोहगर्भित और दुःखगर्भित वैराग्य, सत्संगका माहात्म्य	७१९
५	ज्ञानीको योग होता है प्रमाद नहीं होता, स्वभावमें रहना और विभावसे छूटना, स्वच्छंद, अहंकार आदिसे तपश्चर्या नहीं करना, सद्गुरुकी आज्ञासे साधन करे, चौदह पूर्वधारी भी निगोदमें, आस्रव, संवर, वृत्तियोंको अंतर्मुख करना, कर्मसे पुरुषार्थ बलवान, मिथ्यात्वरुपी भैंसा, मिथ्यादृष्टि और समकितीके जप, तप आदि, जैन धर्ममें दयाका सूक्ष्म वर्णन, अपूर्व वचनोंके अंतर परिणमनसे उल्लास एवं भान, केशीस्वामीकी कठोर वाणी, कल्याणका मुख्य मार्ग, आस्रव ज्ञानीको मोक्ष हेतु-उपयोग जागृतिसे, उपयोगके दो प्रकार, द्रव्यजीव, भावजीव, कर्मबंध और उसका अभाव उपयोगानुसार	७२८
६	जीवका सामर्थ्य, जीवकी अनादि भूल, रात्रिभोजनके दोष, ज्ञानीका सब कुछ सीधा, अज्ञानीका कुछ उलटा, ज्ञानी क्रोधादिका वैद्य, ज्ञानसे निर्जरा, स्वस्वरूप समझनेके लिये सिद्धस्वरूपका विचार, भूल दूर होनेपर साधुता और श्रावकपन, वस्तुओंपर तुच्छभाव लानेसे इन्द्रियवशता, लौकिक-अलौकिक भाव, बीजज्ञानका प्रगट होना, मुक्तिमें	

आंक	विषय	पृष्ठ
९५७	उपदेशछाया	
अनुक्रमांक		
	प्रत्येक आत्मा भिन्न, स्मशान-वैराग्य आज्ञा स्व व संयमके लिए, कठिन मार्गका प्ररूपण, केशीस्वामी और गौतमस्वामीकी सरलता, आत्मोन्नतिके लिए लोकलाज त्याज्य, शुद्धतापूर्वक सद्व्रतका सेवन, मतरहित हितकारी, आवश्यकके छः प्रकार, हीन पुरुषार्थकी बातें, उपादान और निमित्तकारण, मीरांबाई और नाभा भगतकी भक्ति, सामायिकका विधान, तिथिमर्यादा आत्मार्थके लिये, क्रिया मोक्षके लिये, लोग तो आत्माका ही त्याग कर देते हैं पंचमकालमें गुरु, अध्यात्मज्ञान, अध्यात्मशास्त्र, द्रव्यअध्यात्मी, मोक्षमार्गमें विघ्न, विचारदशामें अंतर, अध्यवसायका क्षय ज्ञानसे, मोक्षकी अपेक्षा सत्संग अधिक यथार्थ, ढूँढिया सम्प्रदाय यथाख्यात चारित्र, भय अज्ञानसे, वीतरागसंयम, भ्रांति, शंका, आशंका, आशंकामोहनीय, मिथ्या प्रतीति, अप्रतीति	७३१
७	यह जीव क्या करे? समझ आ जानेसे आत्मा सहजमें प्रगट हो, अंतःकरण शुद्धिसे ज्ञान अपने आप, बाह्य त्याग किसलिये श्रेष्ठ? मायाका भुलावा, भक्तिसे माया जीती जाये, जनक-विदेहीकी दशा, सच्चे शिष्य-गुरु, परम ज्ञानी गृहस्थावस्थामें मार्ग नहीं चलाते, निष्काम भक्तिसे ज्ञान, ज्ञानी-अज्ञानीका उपदेश, कदाग्रह छुडानेके लिये तिथियाँ, बडा पाप अज्ञानका, अपनी शिथिलताके बदले उदयको दोष, पुरुषार्थ करना श्रेष्ठ	७३९
८	पुरुषार्थजयका आलंबन, साधन मिलनेसे आत्मज्ञान, ज्ञानके दो प्रकार-बीज-	

आंक	विषय	पृष्ठ
९५७	उपदेशछाया	
अनुक्रमांक		
	भूत और वृक्षभूत, आत्मा अरूपी, बंधकी मूल प्रकृति आठ, गच्छके भेद, कल्याणका मार्ग एक ही, आत्माकी सामायिक, आत्माकी पहचानसे कर्म-नाश, सम्यक्त्वके प्रकार, सात प्रकृतियोंके क्षयसे सम्यक्त्वकी उत्पत्ति, सच्ची भक्तिकी प्राप्ति, व्रतादि नियमसे कोमलता	७४२
९	गृहस्थाश्रममें सत्पुरुषका त्याग-वैराग्य, सत्पुरुषके गृहस्थाश्रमकी स्थिति प्रशस्त, सदाचार, सत्पुरुष और योग्यता, स्वयं जागृत रहे, दोषोंका ही दोष, मुमुक्षुका त्याग-वैराग्य, सम्यक्त्व अपने पास ही सच्चा शिष्य, आज्ञासे कल्याण, ममत्व मिथ्यात्व, सच्चा संग, भेद भासना अनादि भूल, मोक्ष क्या है? सम्यक्त्व-का मार्ग, षड्दर्शन, केवलज्ञान, सम्यक्त्व कैसे ज्ञात हो? सम्यक्त्व सर्वोत्कृष्ट साधन, अंतरात्मा होनेके बाद परमात्मत्व, उपयोग और मन, कदाग्रह, आत्मा तिलमात्र दूर नहीं है, ग्रन्थिभेद, उपशम सम्यक्त्व, व्रतमें उपयोग	७४३
१०	कामना पाप, आत्मामें आंटी, आत्मज्ञान, जीवन्मुक्त होना, निष्क्रियता, विचारा-नुसार भावात्मा, ब्रह्मचर्य, देहकी मूर्च्छा, जीव कैसे वर्तन करे? ज्ञानीका सदाचरण परोपकारके लिये, जैनधर्म-की स्थिति, तीन प्रकारके जीव, पडि-क्कमामि आदिका अर्थ, सूत्र आदि साधन आत्मपहचानके लिये, समकिती-में गुण, नय आत्माको समझनेके लिये, समकितीको देशकेवलज्ञान, व्रतनियम, सच्चे-झूठेकी परीक्षा, उपवास तिथिके लिए नहीं परंतु आत्माके लिये, तप	

आंक	विषय	पृष्ठ
९५७	उपदेशछाया	
अनुक्रमांक		
	बारह प्रकारका, समकित और सामायिक, ज्ञान, दर्शन और चारित्र, आत्मा और सद्गुरु एक, सच्ची सामायिक, महावीरके दीक्षाजुलूसकी बात, सत्पुरुषके लक्षण, तरनेका कामी, आत्मस्वरूप, केवलज्ञान, सम्यक्त्वके प्रकार, स्वभावस्थिति	७४८
११	इस कालमें मोक्ष, शुभाशुभ क्रिया, सहजसमाधि, कुगुरु, समकित देश-चारित्र, देशकेवलज्ञान, मोक्षमार्ग है, भगवानका स्वरुप, समकित सर्वोत्कृष्ट, उलटे मार्गपर सिद्धका सुख, वृत्ति रोकना, ममत्व दुःख, आहार आदिकी बातें तुच्छ, क्रोध आदि कृश करना, विवेक, शम और उपशमसे मोक्ष, वेदांती और पूर्वमीमांसककी मुक्ति-मान्यता, सिद्धमें संवर-निर्जरा नहीं, धर्मसंन्यास, जीव सदा ही जीवित, आत्माकी निंदा करें, पुरुषार्थमें पाँच कारण, चौथेगुणस्थानकमें व्यवहार, पुरुषार्थवृद्धिके लिये नय, सत्संगसे अनायास गुणोत्पत्ति, सत्य बोलना बिलकुल सहज, सच्चा नय, सदाचार-का सेवन, ज्ञानका अभ्यास, विभावके त्यागके लिये सत्साधन, समकितके मूल बारह व्रत, सत्पुरुषके योगसे व्रतादि सफल, सत्संगसे शल्य दूर हो, सदा भिखारी, सदा सुखी, सच्चे देव, गुरु और धर्मकी पहचान, सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ	७५५
१२	मिथ्यात्व जानेपर फल, जैनके साधु, सच्चा ज्ञान, मनुष्यभव भी वृथा, सत्पुरुषकी पहचान, सचमुच पाप, अल्प व्यवहारमें बडप्पन और अहंकार, परिग्रहकी मर्यादा, क्रोधादिका	

आंक	विषय	पृष्ठ
९५७	**उपदेशछाया**	
	अनुक्रमांक	
	त्याग, ब्रह्मचर्य मेरा स्वरुप भिन्न, क्षणिक आयु, बडप्पनकी तृष्णा, अज्ञानीकी क्रिया निष्फल, विभाव ही मिथ्यात्व, अधमाधम पुरुषके लक्षण, नाककी राख, देहका स्वरुप, संसार-प्रीतिसे पराधीनताके दुःख, सच्चा श्रावक, जीव अविचारसे भूला है।	७६२
	१३ पंद्रह भेदोंसे सिद्ध, लोच किसलिये? यात्राका हेतु, सत्पुरुषका उपदेश निष्कारण, महावीरस्वामी, ज्ञानीका संगमें व्यवहार, बाडा और मताग्रह, जैनमार्ग, शाश्वतमार्ग, धर्मका मिथ्या-भिमान, लिंगधारी अनंत बार भटका, मनष्यदेहकी सार्थकता	७६५
	१४ देहका प्रत्यक्ष अनुभव होनेपर भी मूर्च्छा, देहात्मबुद्धि और सम्यक्त्व, समकितीकी दशा छिपी नहीं रहती, पच्चक्खान, कल्पित ज्ञानी, समकिती और मिथ्यात्वीकी वाणी, अंतरकी गाँठ, साधुका आहार, तृष्णा कैसे कम हो? कल्याणकी कुंजी, सम्यक्त्वप्राप्ति, सूत्र और अनुभव, घातीकर्म, निकाचितकर्म, यथार्थज्ञान, जगतकी झंझट और कल्पना, सम्यग्ज्ञान, तरने-का कामी, जीवका स्वरुप और कुलधर्म आदिका आग्रह, मनुष्यभवमें विचार कर्तव्य	७६७
९५८	**श्री व्याख्यानसार—१**	
	अनुक्रमांक	
	१ प्रथम गुणस्थानक, ग्रंथिभेद, चौथा गुणस्थानक- बोधबीज	७७२
	२ गुणस्थानकोंमें आत्मानुभव	७७२
	३ केवलज्ञान, मोक्ष	७७२
	७ इस कालमें मोक्ष	७७३

आंक	विषय	पृष्ठ
९५८	**श्री व्याख्यानसार—१**	
	अनुक्रमांक	
	१२ सकाम और अकाम निर्जरा	७७३
	१६ लौकिक और लोकोत्तरमार्ग	७७३
	१९ अनंतानुबंधी कषाय	७७४
	२४ केवलज्ञानसंबंधी विवेचन, अनुभवगम्य और बुद्धिगम्य निर्णय	७७४
	२७ ज्ञानक्षीणतासे मतभेद	७७५
	२८ श्रुतश्रवण आदि निष्फल	७७५
	२९ छोटी-छोटी शंकाओंमें उलझना	७७५
	३० ग्रंथिभेद	७७६
	३१ पुरुषार्थसे सम्यक्त्वप्राप्ति	७७६
	३२ कर्मप्रकृति और सम्यक्त्वका सामर्थ्य	७७६
	३३ सम्यक्त्वका ज्ञान विचारवानको	७७६
	३४ सम्यक्त्वप्राप्तिमें अंतराय	७७६
	३६ इस कालमें मोक्ष और ज्ञान, दर्शन, चारित्र	७७६
	४१ सामायिक और कोटियाँ	७७७
	४३ मोक्षमार्ग तलवारकी धार जैसा	७७७
	४४ बादर और बाह्य क्रियाका निषेध	७७७
	४९ ज्ञानीकी आज्ञा और स्वच्छंदता	७७७
	५१ छः पदकी निःशंकता	७७७
	५२ श्रद्धा दो प्रकारसे	७७७
	५३ मतिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान	७७८
	५७ सम्यक्त्व और निश्चयसम्यक्त्व होनेका ज्ञान	७७८
	६० सम्यक्त्वके बाद सादिसात संसार	७७८
	६२ आत्मज्ञान आदिका सूक्ष्म स्वरुप प्रकाशित करनेमें हेतु	७७९
	६३ कर्मके प्रकार	७७९
	६५ कर्मबंधके प्रकार	७७९
	६६ सम्यक्त्वके अन्योक्तिसे दूषण, उसकी महत्ता	७७९
	६७ सम्यक्त्वका केवलज्ञानको ताना	७७९
	६८ ग्रन्थ आदि पढनेमें मंगलाचरण और अनुक्रम	७७९
	६९ आत्मजनितसुख और मोक्षसुख	७८०

आंक	विषय	पृष्ठ
९५८	श्री व्याख्यानसार–१	
	अनुक्रमांक	
७०	केवलज्ञानीकी पहचान	७८०
७१	केवलज्ञानका स्वरूप समझनेके लिये मतिश्रुतज्ञान अपेक्षित	७८०
७२	मतिज्ञान और श्रुतज्ञान	७८०
७३	ज्ञानीके मार्ग और आज्ञासे चलनेवाले-को कर्मबंध नहीं, फिर भी 'ईर्यापथ' की क्रिया	७८०
७४	विधासे कर्मबंधन और मुक्ति	७८०
७६	क्षेत्रसमासकी बातोंमें श्रद्धा	७८०
७७	ज्ञानके आठ प्रकार	७८१
७९	कर्म और निर्जरा	७८१
८०	'मोक्ष नहीं होता, परन्तु समझमें आता है' का तात्पर्य	७८१
८१	नव पदार्थ सद्भाव	७८१
८२	वेदांत और जिनदर्शन	७८१
८३	नव तत्त्वका जीव-अजीवमें समावेश	७८१
८४	निगोद और कंदमूलमें अनंत जीव	७८१
८५	सम्यक्त्व होनेके लिये	७८२
८६	जीवमें संकोच-विस्तारकी शक्ति	७८२
८८	पदार्थमें अचिंत्य शक्ति	७८२
८९	परभावके सूक्ष्म निरूपणके कारण	७८२
९२	जीवकी अल्पज्ञता	७८३
९३	उत्तम मार्ग, द्रव्यके सामर्थ्यकी अनुभव सिद्धिका पुरुषार्थ	७८३
९४	कर्मबंधमें देहस्थित आकाशके सूक्ष्म पुद्गलोंका ग्रहण	७८३
९७	नामकर्मका संबंध	७८३
९८-१०२	विरति, अविरति, अविरतिके बारह प्रकार, अविरतिपनाकी पापक्रिया	७८३-७८४
१०३-१०४	व्यक्त व अव्यक्त क्रिया, क्रियासे होनेवाले बंधके पाँच प्रकार	७८४
१०५-१०७	बाह्याभ्यंतर विरतिपन, मोह-भावसे मिथ्यात्व	७८४-७८५
१०८	बारह प्रकारकी विरतिमें जीवाजीवकी विरति	७८५

आंक	विषय	पृष्ठ
९५८	श्री व्याख्यानसार–१	
	अनुक्रमांक	
१०९-११०	ज्ञानीकी वाणी और आशा	७८५
१११	वस्तुस्वरूपकी प्रतिष्ठितता	७८५
११३	लोकके पदार्थोंका प्रवर्तन ज्ञानीकी आज्ञाके अनुसार	७८५
११४-११६	काल औपचारिक द्रव्य, ऊर्ध्व-प्रचय, तिर्यक्प्रचय	७८५-७८६
११७	द्रव्य के अंनत धर्म	७८६
११८-११९	असंख्यात और अनंत	७८६
१२०-१२५	नय प्रमाणका एक अंश, नय सात, जितने वचन उतने नय, नयका स्वरूप	७८६
१२६	केवलज्ञान और रागद्वेष	७८६
१२७	गुण और गुणी	७८७
१२८	केवलज्ञानीकी आत्मा	७८७
१२९-१३०	ज्ञान और अज्ञान, 'जैन'का अर्थ जैनत्व	७८७
१३१-१३२	सूत्र और सिद्धांत, उपदेशमार्ग और सिद्धांतमार्ग	७८७
१३३-१३५	सिद्धांत और तर्क	७८७
१३६-१३८	सुप्रतीतिसे अनुभवसिद्ध, सिद्धांतके दृष्टांत	७८८
१३९-१४१	क्षयोपशमके अतिरिक्तकी बातें, पूर्ण शक्ति लगाकर ग्रन्थिभेद करनेसे मोक्षकी मुहर, अविरतिसम्यग्दृष्टि	७८८
१४२-१४३	तेरहवाँ और सातवाँ गुणस्थानक	७८८-७८९
१४४-१४७	पहले और चौथे गुणस्थानकमें स्थिति अथवा भावकी भिन्नता	७८९
१४८-१५१	सातवें गुणस्थानकमें आगेके विचारकी सुप्रतीति और सिंहका दृष्टांत, मतभेद आदि और सत्यकी प्रतीति	७८९
१५२	परिणाम और बादरदशा	७८९
१५३	चतुराई और स्वेच्छा दूर करनेके लिये, सम्यक्त्वप्राप्ति, जिनप्रतिमासे शांतदशाकी प्रतीति	७८९

आंक	विषय	पृष्ठ
९५८	**श्री व्याख्यानसार–१**	
	अनुक्रमांक	
१५४	जैनमार्गमें गच्छोंकी परस्पर मान्यता, नौ कोटि	७९०
१५५	मोक्षमार्ग और रूढि	७९०
१५६	सम्यक्त्वकी चमत्कृति	७९०
१५७	दुर्धर पुरुषार्थसे मोक्षमार्गकी प्राप्ति	७९०
१५८-१६०	सूत्र आदिकी सफलता, व्यवहारका भेद और मोक्षमार्ग	७९०
१६१-१६४	मिथ्यात्व और सम्यक्त्व विचार ज्ञान "मोक्ष"	७९०-७९१
१६५	कर्मपरमाणु दृश्य	७९१
१६६	पदार्थधर्मका वक्तव्य	७९१
१६७-१६८	यथाप्रवृत्ति आदि करण, युंजन करण और गुणकरण	७९१
१६९-१७०	कर्मप्रकृतिके बंध आदि भावोंका वर्णन करनेवाला पुरुष ईश्वर कोटिका	७९१
१७१	जातिस्मरण मतिज्ञानका भेद	७९१
१७२	आज्ञा और अदत्तग्रहण	७९१
१७३	उपदेशके मुख्य चार प्रकार–द्रव्यानुयोग आदि	७९१
१७४	परमाणुके गुण और पर्याय, उसके विचारसे क्रमशः ज्ञान	७९२
१७५-१७६	तेजस और कार्मण शरीर	७९२
१७७-१७८	चार अनुयोगके विचारसे निर्जरा	७९२
१७९	पुद्गल पर्याय आदिका सूक्ष्म कथन आत्मार्थ	७९२
१८०	मान और मताग्रह मार्गमें अवरोधक स्तंभरूप	७९२
१८१	स्वाध्यायके भेद	७९३
१८२	धर्मके मुख्य चार अंग	७९३
१८३-१८६	मिथ्यात्वके भेद और मिथ्यात्व गुणस्थानक	७९३
१८७	मिश्रगुणस्थानक और मिथ्यात्वगुणस्थानक	७९३
१८८	दूसरा गुणस्थानक	७९३

आंक	विषय	पृष्ठ
९५८	**श्री व्याख्यानसार–१**	
	अनुक्रमांक	
१८९-१९१	श्वेताम्बर और दिगम्बर दृष्टिसे केवलज्ञान	७९३
१९२	ओघ आस्थासे विचारसहित आस्था	७९३
१९३-१९८	त्यागकी आवश्यकता, प्रकार त्यागकी कसरत, अभ्यास किस तरह ?	७९३-७९४
१९९-२००	अनंतानुबंधी आदि कषाय, उसके उदय और क्षयका क्रम तथा बंध	७९४
२०१	घनघाती और अघाती कर्मके क्षय-संबंधी	७९५
२०२	उन्माद-चारित्रमोहनीयका पर्याय	७९५
२०३	संज्ञाके विविध भेद	७९५
२०४	कर्म या प्रकृतिके प्रकार	७९५
२०५	भाव अथवा स्वभाव और विभाव	७९५
२०६-७	कालके अणुओंका पृथक्त्व और धर्मास्तिकाय आदिकी प्रदेशात्मकता	७९५-७९६
२०८-२०९	वस्तु और गुण-पर्याय	७९६
२१०-२११	पदार्थमात्रमें रहनेवाली त्रिपदि और काल	७९६
२१२	पदार्थवर्ती षट्चक्र	७९६
२१३	पदार्थके गमनमें समश्रेणिका कारण	७९६
२१४-२१९	इन्द्रिय और अतीन्द्रिय ज्ञान	७९६-७९७
२२०-२२१	आत्माके अस्तित्वका भासना-सम्यक्त्वका अंग	७९७
२२२	धर्मसम्बन्धी (श्री रत्नकंरडश्रावकाचार)	७९७
९५९	**श्री व्याख्यानसार–२**	
	अनुक्रमांक	
१	ज्ञान और वैराग्य, ज्ञानीके वचन, 'छद्मस्थ' और 'शैलेशीकरण'का अर्थ, मोक्षमें अनुभव, ऊर्ध्वगमनस्वभावी आत्मा, भरत, सगर और नमिराजकी कथायें	७९९
२	जैन आत्माका स्वरुप, अनादि आत्म धर्म, कर्मप्रकृतिके उत्कर्ष, अपकर्ष	

आंक	विषय	पृष्ठ
९५९	श्री व्याख्यानसार–२	
	अनुक्रमांक	
	और संक्रमण, परमाणु और चैतन्य द्रव्यकी शक्ति	७९९
३	वेदक सम्यक्त्व, पाँच स्थावर बादर व सूक्ष्म, गुणस्थानकका स्पर्श, परिणामकी तीन धारायें, उदय, आयुकर्म, चक्षुके प्रकार	८००
४	अष्ट पाहुड, आत्मधर्मका भावन, द्रव्य और पर्याय, आत्मसिद्धि, छः दर्शन, जीवपर्यायके भेद, विषयका नाश, जिन और जैन, आत्माका सनातन धर्म, ज्ञानीका आश्रय, वस्तुव्यवच्छेद और पुरुषार्थ	८०१
५	चार पुरुषार्थ, मौक्षमार्ग, सम्यग्ज्ञान, जीवके भेद	८०३
६	जातिस्मरणज्ञान, आत्माकी नित्यता, अप्रमत्त गुणस्थानक, स्मृति, ग्रंथिके भेद, आयुकर्मसम्बन्धी (कर्मग्रन्थसे) ज्ञानकी कसौटी, परिणामकी धारा थर्मामीटर	८०३
७	मोक्षमालामेंसे असमंजसता आदि, हेमचन्द्राचार्य	८०६
८	सरस्वती, संसारप्रपंचके कारण	८०७
९	योगदृष्टिसम्बन्धी, सूत्रसिद्धांत, जिनमुद्रा, ईश्वरत्व तीन प्रकारसे	८०७
१०	'भगवती आराधना' मोक्षमार्ग अगम्य तथा सरल, नितांत विषम मार्ग परमशांत होना, काम आदि छोडनेमें अप्रमादी सच्चे गुरुसे आत्मशांति सहजमें, मोक्ष पुरुषार्थके अधीन	८०८
११	रासभवृत्ति, 'भगवती आराधना' मेंसे-परिणाम, लेश्या तथा योग, बंध, आस्रव, संवर, दर्शन और ज्ञानमें भूल, भेदज्ञान	८०९
१२	ज्ञान-दर्शनका फल	८११
१३	देवोगमस्तोत्र, आप्तके लक्षण, करणानुयोग या द्रव्यानुयोग, निराकुलता सुख, संकल्प दुःख, चैतन्य स्पष्ट, मुक्ति, मोहनीय और वेदनीय, जिनकल्पीके गुण, चेतनाके प्रकार	८११
१४	इन्द्रिय, मन और आत्मा, कर्मबंध अदृश्य, विपाक दृश्य अनागार आदिके अर्थ	८१४
१५	अनुपपन्नका अर्थ	८१५
१६	श्रावक आश्रयी अणुव्रतके विषयमें	८१५
१७	दिगम्बर और श्वेताम्बर दृष्टिसे केवल ज्ञान, तेजस और कार्मण आदि शरीर, आठ रुचक प्रदेश, मौतकी औषधि नहीं	८१५
१८	अंतर्वृत्ति और उसकी प्रतीति, सम्यग्दृष्टिकी निर्जरा, गाढ आदि सम्यक्त्व और गुणस्थानक, धर्मकी कसौटी, आचार्यका उत्तरदायित्व	८१६
१९	अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और परमावधिज्ञान	८१७
२०	आराधना, उसके प्रकार और विधि, गुणकी अतिशयता ही पूज्य, सिद्धि, लब्धि आदि आत्माके जागृत भावमें, लब्धि आदि ज्ञानीसे तिरस्कृत आत्मा और मृत्यु, स्थविरकल्प, जिनकल्प	८१७
२१	जिनका अहिंसा धर्म, हिन्दी और युरोपियनका विद्याभ्यास	८१९
२२	वेदनीय कर्मकी स्थिति और बंध, प्रकृतियोंका एक साथ बंध, मूलोत्तर प्रकृतियोंका बंध	८१९
२३	आयुका बंध, उदय और उदीरणा	८२०
२४	ज्ञानावरणीय आदि और क्षयोपशमभाव ज्ञान, दर्शन और वीर्यका काम, कर्मप्रकृतिके वर्णनमें निश्चितता	८२०
२५	ज्ञान धागेवाली सूई	८२१
२६	प्रतिहार, नग्न आदि शब्दोंके अर्थ, ज्ञान और दर्शन	८२१

आंक	विषय	पृष्ठ
९५९	**श्री व्याख्यानसार–२**	
	अनुक्रमांक	
	२७ चयोपचय, चयविचय, चिंताका शरीरपर असर, वनस्पतिमें आत्मा	८२२
	२८ साधु, यति, मुनि, ऋषि	८२२
	२९ भव्य और अभव्य	८२२
	३० बंध और मोक्ष, प्रवेश आदि बंध, विपाक, चार्वाक कौन ? तेरहवें गुणस्थानकमें एक समयवर्ती बंध, कषायका रस, श्रवण, मनन आदि, आत्मासंबंधी विचारमें कामका बहाना, सम्यग्दृष्टिकी प्रवृत्ति, सिद्धि आदि शक्तियाँ सच्ची, वीर्यमंदता, काम कर लेनेका योग्य समय, ज्ञानीपुरुषकी व्यवहारमें भी अंतरात्म-दृष्टि, उपाधिमें उपाधि और समाधिमें समाधि रखना, व्यवहारमें आत्मकर्तव्य कर्मरुपी कर्ज, इंद्र आदि भी अशक्तिमान, आत्माका अप्रमत्त उपयोग, करणानुयोग और चरणानुयोग, ९वें गुणस्थानकमें वेदोदयका क्षय	८२२
९६०	**आभ्यंतर-परिणामावलोकन**	८२५
	प्रस्तावना	८२६
	संस्मरण पोथी–१	
	अनुक्रमांक	
	१ स्वरूप दृष्टिगत न होनेका कारण	८२७
	२ छः पदका दृढनिश्चय	८२८
	३ जीवकी व्यापकता, परिणामिता, कर्म-संबद्धता आदिके निर्णयकी दुष्करता	८२९
	४ सहज	८२९
	५ स्वविचारभुवन-कल्याणमार्ग	८३०
	६ अंतिम समझ	८३२
	७ आत्मसाधन-आत्माके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव	८३२
	८ मन वचन कायाका संयम	८३३
	९ सुख न चाहनेवाला	८३३
	१० स्यात् मुद्रा, सच्चिदानंद और नय प्रमाण आदि, दृष्टिविष जानेके बाद, पुनर्जन्म है इस कालमें मेरा जन्म लेना, हम जो हैं वह पायें, विकराल काल-कर्म-आत्मा	८३३
	११ इतना ही खोजा जाय तो सब मिलेगा	८३४
	१२ मारग साचा मिल गया...(काव्य)	८३४
	१३ स्वभुवनमें विचारमें	८३५
	१४ होत आसवा परिसवा...(काव्य)	८३५
	१५ अनुभव	८३६
	१६ यह त्यागी भी नहीं अत्यागी भी नहीं, संतपना अति दुर्लभ	८३६
	१७ प्रकाशभुवन-आप इस ओर मुडें, यह बोध सम्यक् है, यह पुरुष यथार्थवक्ता था	८३६
	१८ वह दशा किसलिये आवृत्त हुई ? वही परमात्मा है	८३६
	१९ बडा आश्चर्य	८३६
	२० 'कोई ब्रह्मरसना भोगी...'	८३७
	२१ परिग्रह मर्यादा	८३७
	२२ चेतन और चैतन्य	८३७
	२३ चक्षु और मन अप्राप्यकारी, चेतनका बाह्य अगमन	८३७
	२४ समय-समयमें अनंत संयमपरिणाम, योगदशामें आत्माका संकोच-विकास	८३८
	२५ ध्यान	८३८
	२६ पुरुषाकार चिदानंदघनका ध्यान करें, चमत्कारका धाम	८३८
	२७ विश्व, जीव, परमाणु और कर्मसंबंध अनादि	८३९
	२८ विश्व, जीव, परमाणु	८३९
	२९ आत्मभावना करनेका क्रम	८३९
	३० प्राण, वाणी, रसमें	८३९
	३१ जैन सिद्धांतके ग्रंथकी रचनाका प्रकार	८३९
	३२ धन्य रे दिवस...(काव्य)	८४०
	३३ बंध और मोक्ष	८४१
	३४ छः पद	८४१

आंक	विषय	पृष्ठ
	संस्मरण पोथी–१	
	अनुक्रमांक	
३५	आत्माके नित्यत्व आदि सम्बन्धी छः दर्शनकी मान्यताका कोष्ठक	८४२
३६	बुद्धि, आत्मा, विश्व और परमात्माके विषयमें जिन, वेदांत आदिके कथन	८४२
३७	महावीरस्वामीके पुरुषार्थसे बोध, अपनी कल्पनासे वर्तन करनेसे भववृद्धि	८४२
३८	सर्वसंग महास्रव, मिश्रगुणस्थानक जैसी स्थिति, वैश्यवेष और निर्ग्रंथभाव, विभावयोगका विचार, ज्ञानका तारतम्य और उदयबल, हत-पुण्य लोगोंने भरतक्षेत्रको घेरा है	८४२
३९	व्यवहारका विस्तार और निवृत्ति, उदय रूप दोष	८४४
४०	चित्तकी शांतिके लिये समाधान	८४४
४१	जीवनकाल भोगनेका विचार	८४४
४२	तत्त्वज्ञानी अपनी देहमें भी ममत्व नहीं करते	८४४
४३	काम आदिका संयम	८४५
४४	व्यवसायसे निवृत्त हो, प्रारब्धसे सहज निवृत्ति	८४५
४५	संग या अंश संग निवृत्तिरूप कालकी प्रतिज्ञा, निवृत्ति ही प्रशस्त	८४५
४६	प्रत्याख्यान	८४५
४७	क्षायोपशमिक ज्ञान	८४५
४८	'जेम निर्मलता रे...'जिनवीर-प्रकाशित धर्म	८४५
४९	वीतरागदर्शनके निर्धारित ग्रन्थका विषय	८४६
५०	जैन और वेदांत पद्धतिके एकीकरणके लिये विचारित विषय	८४६
५१	जैनशासनकी विचारणा	८४६

आंक	विषय	पृष्ठ
	संस्मरण पोथी–१	
	अनुक्रमांक	
५२	जैनपद्धतिके विचारणीय मूलोत्तर प्रश्न	८४७
५३	न्यायविषयक प्रश्न	८४७
५४	आत्मदशा और लोकोपकार प्रवृत्ति-संबंधी	८४७
५५	आत्मपरिणामकी विशेष स्थिरताके लिये वाणी-कायाका संयम	८४७
५६	जीव आदि द्रव्यसम्बन्धी	८४८
५७	हे योग	८४८
५८	एक चैतन्यमें यह सब किस तरह घटता है ?	८४८
५९	विभाव परिणाम क्षीण न करनेसे दुःखका वेदन	८४८
६०	चिंतनानुसार आत्माका प्रतिभासन, विचारशक्ति और विषयार्तता, चेतन-की अनुत्पत्ति, नित्यत्व और द्रव्यत्व	८४८
६१	वीतरागके सम्पूर्ण प्रतीतियोग्य वचन, वीतरागताके प्रमाणमें श्रद्धेयत्व, जिनेन्द्रकी शिक्षा अविकल	८४८
६२	जैनदर्शन आदिका मंथन	८४९
६३	धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकसंस्थान, आदिके रहस्यसम्बन्धी प्रश्न	८४९
६४	सिद्ध आत्माकी लोकालोक प्रकाशकता, अगुरुलघुता	८५०
६५	आत्मध्यानके लिये ज्ञान-तारतम्यतादि	८५०
६६	जगतका त्रिकालवर्तित्व	८५०
६७	वस्तुका अस्तित्व, दो प्रकारका पदार्थ-स्वभाव स्पष्ट	८५०
६८	गुणातिशयता क्या ? केवलज्ञानमें आहार, निहार आदि क्रियायें किस तरह ?	८५०
६९	ज्ञानके भेद	८५१
७०	परमावधिके बाद केवलज्ञान, द्रव्योंकी गुणातीतता, केवलज्ञानकी निर्विकल्पता	८५१
७१	अस्तित्व, बंध, अमूर्तता, पुद्गल और जीवका संयोग, धर्मादिकी क्षेत्र-	

आंक	विषय	पृष्ठ
	संस्मरण पोथी–१	
	अनुक्रमांक	
	व्यापिता, द्रव्यस्वरुप, केवलज्ञान और अनंतता-अनादिताकी शंकायें	८५२
७२	सर्वप्रकाशकता और सर्वव्यापकता, आत्मा सम्बन्धी विचारणीय विषय	८५२
७३-७४	मार्गप्रवर्तनसम्बन्धी विचारणा	८५२-८५३
७५	'सोहं' आश्चर्यकारक गवेषणा, आत्म-ध्यान सम्बन्धी ऊहापोह	८५३
७६	आत्माका असंख्यातप्रदेश-प्रमाणत्व	८५३
७७	अमूर्तत्त्व, अनंतत्त्व, मूर्तामूर्तत्व और बंध आदि	८५३
७८	केवलज्ञान और ब्रह्म	८५४
७९	जिनके अभिमतसे आत्मा	८५४
८०	मध्यम परिमाणका नित्यत्व, कर्मबंध-का हेतु, द्रव्य और गुण, अभव्यत्व धर्मास्तिकाय आदिका वस्तुत्व, सर्वज्ञता	८५४
८१	वेदांतके आत्मादि सम्बन्धी निरूपण	८५४
८२-८३	जैनमार्ग	८५५-८५६
८४	मोहमयीसंबंधी उपाधिकी अवधि	८५६
८५	कुछ स्वविचार	८५६
८६	देव, गुरु, धर्म	८५६
८७	जिनसदृश ध्यानसे तन्मयात्मस्वरूप कब होऊँगा ?	८५७
८८	अपूर्वसंयम प्रगट करनेके लिये	८५७
	संस्मरण पोथी–२	
	अनुक्रमांक	
१	सहज शुद्ध आत्मस्वरूप	८५७
२	सर्वज्ञपदका ध्यान करें	८५७
३	सत्पुरुषोंको नमस्कार	८५७
४	जिनतत्त्वसंक्षेप	८५७
५	मुख्य आवरण, मुमुक्षुता आदि उत्पन्न कैसे हो ?	८५८
६	जीवके बंधनके मुख्य हेतु	८५८
७	सर्व द्रव्यसे मुक्त स्वरूपका अनुभव, सम्यग्दर्शनी और साम्यक्चारित्रीको उद्बोधन	८५८

आंक	विषय	पृष्ठ
	संस्मरण पोथी–२	
	अनुक्रमांक	
८	दुःख और उसका बीज आदि, कर्मके पाँच कारण, उसके अभावका क्रम	८५९
९	ध्यान और स्वाध्याय, कैसी दशाका सेवन करते केवलज्ञान उत्पन्न हो	८५९
१०	सहजात्मस्वरूप लक्षी विचारश्रेणि	८६०
११	अप्रमत्त होनेके लिये प्रतीति करने योग्य भाव	८६०
१२	तीव्र वैराग्यसे लेकर अचिंत्य सिद्ध-स्वरूप तकके विचार	८६०
१३	संयम, समाधान, पद्धति और वृत्ति	८६१
१४-१५	सत्य धर्मके उद्धारसम्बन्धी	८६२
१६	नयदृष्टि विचार	८६२
१७	मैं असंग शुद्ध चेतन हूँ । अनुभव-स्वरूप हूँ ।	८६३
१८	चैतन्य जिनप्रतिमा हो,	८६३
१९	अंतराय करनेवाले काम आदिको सम्बोधन	८६३
२०	सम्यग्दर्शन, जिनवीतराग आदिको भक्तिसे नमस्कार	८६३
२१	उपासनीय समाधिमार्ग	८६४
२२	बंध, कर्म, मोक्ष	८६४
२३	मोक्ष और मोक्षमार्गरुप सम्यग्दर्शनसे १२वें गुणस्थानकपर्यंत दशाओंके लक्षण	८६४
	संस्मरण पोथी–३	
	अनुक्रमांक	
१	सर्वज्ञ, जिन, वीतराग, सर्वज्ञ है, जीवका ज्ञानसामर्थ्य संपूर्ण	८६५
२	सर्वज्ञपद श्रवण-पठन-विचार करने योग्य और स्वानुभवसे सिद्ध करने योग्य	८६५
३	देव, गुरु, धर्म	८६५
४	प्रदेश, समय, परमाणु; द्रव्य, गुण, पर्याय; जड, चेतन	८६६
५	मूल द्रव्य और पर्याय	८६६

आंक	विषय	पृष्ठ
	संस्मरण पोथी–३	
	अनुक्रमांक	
६	दुःखका आत्यंतिक अभाव मोक्ष, सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र और मोक्ष, सकर्म जीव, भावकर्म, तत्त्वार्थप्रतीति	८६६
७	शुद्ध निर्विकल्प चैतन्यकी स्वरूप-रहस्यमय उक्ति-आपसे जगत भिन्न, अभिन्न, भिन्नाभिन्न है	८६७
८	केवलज्ञानका स्वरूप	८६७
९	केवलज्ञान कैसे हो ?	८६८
१०	आकाशवाणी–तप करें, चैतन्यका ध्यान करें	८६८
११	अपना स्वरूप चित्रसहित	८६८
१२	शुद्ध चैतन्य, सद्भावकी प्रतीति–सम्यगदर्शनज्ञानसम्बन्धी प्रश्न, ध्यान और अध्ययन	८६८
१३	ठाणांगमें विचारणीय एक सूत्र	८६९
१४	अवधूतवत्, विदेहवत्, जिनकल्पीवत् विचरनेवाले पुरुष भगवानके स्वरूप-का ध्यान	८६९
१५	प्रवृत्तिकी विरति, संग और स्नेहपाशको तोडना	८६९
१६	स्वरूपबोध आदि स्वविचार	८६९
१७	सर्वज्ञ–वीतरागदेव–ईश्वर, मनुष्यदेहमें उस पदकी प्राप्ति	८७०
१८	अप्रमत्त उपयोगसे केवल अखंडाकार स्वानुभवस्थिति	८७०
१९	ब्रह्मचर्य अद्भुत अनुपम सहायकारी	८७०
२०	संयम	८७०
२१	जागृतसत्ता, ज्ञायकसत्ता, आत्मस्वरूप	८७०
२२	आत्मध्यानार्थ विचरनेकी भावना	८७०
२३	सन्मार्ग, सद्देव और सद्गुरु जयवंत रहें	८७०
२४	विश्वके द्रव्योंका विचार	८७१
२५	परम गुणमय चारित्र आदिकी आवश्यकता, एक ग्रन्थकी संकलना	८७१
२६	स्वपर-उपकारका कार्य कर लेनेकी भावनाके मंत्रात्मक वाक्य	८७१
२७	निर्ग्रन्थप्रवचनसम्बन्धी सूत्रकृतांगका अवतरण	८७२
२८	शरीरसंबंधी दूसरी बार अप्राकृत क्रम	८७२
२९	निर्विकल्परूपसे अंतर्मुखवृत्ति करके आत्मध्यानका क्रम	८७३
३०	वीतरागदर्शनसंक्षेप एक पुस्तककी संकलना	८७३

अहो !

सर्वोत्कृष्ट शांत रसमय सन्मार्ग–

अहो !

उस सर्वोत्कृष्ट शांत रसप्रधान मार्गके

मूल सर्वज्ञदेव –

अहो !

उसे सर्वोत्कृष्ट शांत रसको जिन्होंने सुप्रतीत कराया

ऐसे परमकृपालु सद्गुरुदेव–

इस विश्वमें सर्वकाल

आप

जयवंत रहें, जयवंत रहें ।

–श्रीमद् राजचंद्र (संस्मरण पोथी–३/२३)

श्रीमद् राजचंद्र

१७ वें वर्षसे पहले

१

प्रथम शतक

(शार्दूलविक्रीडितवृत्त)

* ग्रंथारंभ प्रसंग रंग भरवा, कोडे करुं कामना;
बोधुं धर्मद मर्म भर्म हरवा, छे अन्यथा काम ना;
भाखुं मोक्ष सुबोध धर्म धनना, जोडे कथुं कामना;
एमां तत्त्व विचार सत्त्व सुखदा, प्रेरो प्रभु कामना ॥१॥

(छप्पय)

नाभिनंदन नाथ, विश्ववंदन विज्ञानी;
भव बंधनना फंद, करण खंडन सुखदानी;
ग्रंथ पंथ आद्यंत, खंत प्रेरक भगवंता;
अखंडित अरिहंत तंतहारक जयवंता;
श्री मरणहरण तारणतरण, विश्वोद्धारण अघ हरे;
ते ऋषभदेव परमेशपद, रायचंद वंदन करे ॥२॥

प्रभुप्रार्थना

(दोहा)

झळहळ ज्योति स्वरूप तुं, केवळ कृपानिधान ।
प्रेम पुनित तुज प्रेरजे, भयभंजन भगवान ॥३॥

नित्य निरंजन नित्य छो, गंजन गंज गुमान ।
अभिवंदन अभिवंदना, भयभंजन भगवान ॥४॥

---

* **भावार्थ**—१. ग्रंथके आरंभरूप प्रसंगको सुन्दर एवं मनोहर बनानेकी उल्लासपूर्ण कामना करता हूँ। इस ग्रंथमें भ्रम—अज्ञानको दूर करनेके लिये धर्मका बोध करानेवाले मर्मको प्रकाशित करना चाहता हूँ, अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थोंके सुबोध—सम्यग्ज्ञानका वर्णन करना चाहता हूँ। वीतराग प्रभो ! आप मुझे सुखद तत्त्वविचारकी शक्ति प्रदान करें।

२. नाभिनंदन, नाथ, विश्ववंद्य, विज्ञानी—विशिष्ट ज्ञानी, भवबंधनके फंदेका खंड़न करनेवाले, सुखदानी, ग्रंथके पथमें आदिसे अन्त तक उत्साहित करनेवाले भगवान, अखंड़ित, अरिहंत, कर्मसंततिके नाशक, विजयी, मरण-हरण, तरनतारन, विश्वोद्धारक प्रभु पापको दूर करें। उन श्री ऋषभदेव परमेश्वरके चरणोंमें रायचंद वंदन करते हैं।

३. हे भयभंजन भगवान ! तू प्रकाशमान, ज्योतिस्वरूप और सर्वथा कृपानिधान है। तेरा पुनित प्रेम मुझे प्रेरित करे।

४. हे भयभंजन भगवान ! तू नित्य निरंजन, नित्य और अहंकारपुंजका नाशक है। तुझे वारंवार अभिवन्दन हो।

धर्मधरण तारणतरण, शरण चरण सन्मान ।
विघ्नहरण पावनकरण, भयभंजन भगवान ॥५॥

भद्रभरण भीतिहरण, सुधाझरण शुभवान ।
क्लेशहरण चिंताचूरण, भयभंजन भगवान ॥६॥

अविनाशी अरिहंत तुं, एक अखंड अमान ।
अजर अमर अणजन्म तुं, भयभंजन भगवान ॥७॥

आनंदी अपवर्गी तुं, अकळ गति अनुमान ।
आशिष अनुकूळ आपजे, भयभंजन भगवान ॥८॥

निराकार निर्लेप छो, निर्मळ नीतिनिधान ।
निर्मोहक नारायणा, भयभंजन भगवान ॥९॥

सचराचर स्वयंभू प्रभु, सुखद सोंपजे सान ।
सृष्टिनाथ सर्वेश्वरा, भयभंजन भगवान ॥१०॥

संकट शोक सकळ हरण, नौतम ज्ञान निदान ।
इच्छा विकळ अचळ करो, भयभंजन भगवान ॥११॥

आधि व्याधि उपाधिने, हरो तंत तोफान ।
करुणाळु करुणा करो, भयभंजन भगवान ॥१२॥

किंकरनी कंकर मति, भूल भयंकर भान ।
शंकर ते स्नेहे हरो, भयभंजन भगवान ॥१३॥

शक्ति शिशुने आपशो, भक्ति मुक्तिनुं दान ।
तुज जुक्ति जाहेर छे, भयभंजन भगवान ॥१४॥

नीति प्रीति नम्रता, भली भक्तिनुं भान ।
आर्य प्रजाने आपशो, भयभंजन भगवान ॥१५॥

---

५. हे भयभंजन भगवान ! तू धर्मका धारक, तरनतारन, विघ्नहारी एवं पावनकारी है। तेरे चरणोंकी उपासना मेरी शरण है।

६. हे भयभंजन भगवान ! तू कल्याणकारी, भीतिहारी, सुधाका झरना, मंगलमय, क्लेशहर और चिन्तानाशक है।

७. हे भयभंजन भगवान ! तू अविनाशी, अरिहंत, एक, अखंड़ एवं असीम है। तू अजन्मा, अजर और अमर है।

८. हे भयभंजन भगवान ! तू आनन्दमय, मोक्षमय और अनुमानसे अगोचर है। मुझे अनुकूल आशीर्वाद दे।

९. हे भयभंजन भगवान ! तू निराकार, निर्लेप, निर्मल, नीतिनिधान और निर्मोहक नारायण है।

१०. हे भयभंजन भगवान ! तू सचराचर स्वयंभू, प्रभु, विश्वनाथ और सर्वेश्वर है। मुझे सुखद बोध दे।

११. हे भयभंजन भगवान ! तू समस्त संकट और शोकका निवारक और नूतन ज्ञानका मूल कारण है। मेरी विकल इच्छाको अचल कर।

१२. हे भयभंजन भगवान ! करुणालु करुणा कर। आधि, व्याधि, उपाधि और कर्मसन्ततिका उपद्रव दूर कर।

१३. हे भयभंजन भगवान ! किंकरकी मति कंकड़ जैसी है, आत्मभानकी भयंकर भूल है। हे शंकर ! उसे प्रेमसे दूर कर।

१४. हे भयभंजन भगवान ! तेरी युक्ति प्रसिद्ध है। शिशुको शक्ति, भक्ति और मुक्तिका दान दे।

१५. हे भयभंजन भगवान ! तू नीति, प्रीति, नम्रता और सद्भक्तिका ज्ञान आर्य प्रजाको दे।

दया शांति औदार्यता, धर्म मर्म मनध्यान ।
संप जंप वण कंप दे, भयभंजन भगवान ॥१६॥

हर आळस एदीपणुं, हर अघ ने अज्ञान ।
हर भ्रमणा भारत तणी, भयभंजन भगवान ॥१७॥

तन, मन, धन ने अन्ननुं, दे सुख सुधा समान ।
आ अवनीनुं कर भलुं, भयभंजन भगवान ॥१८॥

विनय विनंती रायनी, धरो कृपाथी ध्यान ।
मान्य करो महाराज ते, भयभंजन भगवान ॥१९॥

धर्म विषे

(कवित)

दिनंकर विना जेवो, दिननो देखाव दीन,
शशि विना जेवी जोजो, शर्वरी सुहाय छे;
प्रतिपाळ विना जेवी, प्रजा पुरतणी पेखो,
सुरस विनानी जेवी, कविता कहाय छे;
सलिल विहीन जेवी सरितानी शोभा अने,
भर्त्तार विहीन जेवी भामिनी भळाय छे;
वदे रायचंद वीर एम धर्ममर्म विना,
मानवी महान पण, कुकर्मी कळाय छे ॥२०॥ (अपूर्ण)

२

ॐ

पुष्पमाला

१. रात्रि बीत गई, प्रभात हुआ, निद्रासे मुक्त हुए। भावनिद्राको दूर करनेका प्रयत्न करें।

२. व्यतीत रात्रि और अतीत जीवन पर दृष्टि ड़ाल जायें।

३. सफल हुए समयके लिये आनन्द मानें, और आजका दिन भी सफल करें। निष्फल हुए दिनके लिये पश्चात्ताप करके निष्फलताको विस्मृत करें।

४. क्षण क्षण करके अनन्त काल व्यतीत हुआ, तो भी सिद्धि नहीं हुई।

५. यदि तुझसे एक भी कृत्य सफल न बन पाया हो तो बार-बार शरमा।

६. यदि तुझसे अघटित कृत्य हुए हों तो लज्जित होकर मन, वचन और कायके योगसे उन्हें न करनेकी प्रतिज्ञा ले।

---

१६. हे भयभंजन भगवान ! तू आर्य प्रजाको दया, शांति, उदारता, धर्म-मर्मका ध्यान, एकता और निश्चल शांति दे।

१७. हे भयभंजन भगवान ! तू भारतका आलस्य एवं अकर्मण्यता दूर कर; और पाप, अज्ञान तथा भ्रान्ति दूर कर।

१८. हे भयभंजन भगवान ! तन, मन, धन तथा अन्नका सुधाके समान सुख दे। इस विश्वका भला कर।

१९. हे भयभंजन भगवान ! रायचंदकी सविनय विनति पर कृपया ध्यान दे; हे महाराज ! उसे मान्य कर।

२०. देखिये, दिनकरके बिना जैसे दिन निस्तेज दीखता है, शशिके बिना जैसे रात शोभाहीन लगती है, प्रतिपाल—रक्षकके बिना जैसे नगरकी प्रजा सुरक्षित नहीं है, सुरसके बिना जैसे कविता नीरस कहलाती है, जलके बिना जैसे नदी शोभित नहीं होती, पतिके बिना जैसे स्त्री दुःखी होती है; वैसे, रायचंद कहते हैं कि वीर भगवानके धर्मका मर्म जाने बिना महान मानव भी अधार्मिक-पापी समझा जाता है। (अपूर्ण)

७. यदि तू स्वतंत्र हो तो संसार-समागममें अपने आजके दिनके निम्नलिखित विभाग कर—

(१) १ प्रहर—भक्तिकर्तव्य।
(२) १ प्रहर—धर्मकर्तव्य।
(३) १ प्रहर—आहारप्रयोजन।
(४) १ प्रहर—विद्याप्रयोजन।
(५) २ प्रहर—निद्रा।
(६) २ प्रहर—संसारप्रयोजन।

८ प्रहर

८. यदि तू त्यागी हो तो त्वचारहित वनिताके स्वरूपका विचार करके संसारकी ओर दृष्टि कर।

९. यदि तुझे धर्मका अस्तित्व अनुकूल न आता हो तो नीचेके कथन पर विचार कर देख—

(१) तू जिस स्थितिको भोग रहा है वह किस प्रमाणसे ?
(२) आगामी कालकी बातको क्यों नहीं जान सकता ?
(३) तू जो चाहता है वह क्यों नहीं मिलता ?
(४) चित्रविचित्रताका प्रयोजन क्या है ?

१०. यदि तुझे धर्मका अस्तित्व प्रमाणभूत लगता हो, और उसके मूल तत्त्वमें आशंका हो तो नीचे कहता हूँ—

११. सर्व प्राणियोंमें समदृष्टि,—

१२. अथवा किसी प्राणीको प्राणरहित नहीं करना, शक्तिसे अधिक उससे काम नहीं लेना।

१३. अथवा सत्पुरुष जिस मार्ग पर चले, उस मार्गको ग्रहण कर।

१४. मूल तत्त्वमें कहीं भी भेद नहीं है, मात्र दृष्टिमें भेद है, ऐसा मानकर और आशयको समझकर पवित्र धर्ममें प्रवृत्ति कर।

१५. तू चाहे जिस धर्मको मानता हो, मुझे उसका पक्षपात नहीं है। मात्र कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस मार्गसे संसारमलका नाश हो, उस भक्ति, उस धर्म और उस सदाचारका तू सेवन कर।

१६. तू चाहे जितना परतंत्र हो तो भी मनसे पवित्रताका विस्मरण किये बिना आजका दिन रमणीय कर।

१७. यदि आज तू दुष्कृतकी ओर जा रहा हो, तो मरणका स्मरण कर।

१८. यदि आज किसीको दुःख देनेमें तत्पर हो तो अपने दुःखसुखकी घटनाओंकी सूची याद कर ल ।

१९. तू राजा हो या रंक हो, चाहे जो हो, परंतु यह विचार करके सदाचारकी ओर आ कि इस कायाके पुद्गल थोड़े समयके लिये मात्र साढ़े तीन हाथ भूमि माँगनेवाले हैं।

२०. तू राजा हो तो फिक्र नहीं, परन्तु प्रमाद न कर; क्योंकि नीचसे नीच, अधमसे अधम, व्यभिचारका, गर्भपातका, निर्वंशका, चाण्डालका, कसाईका और वेश्याका कण तू खाता है। तो फिर ?

२१. प्रजाके दुःख, अन्याय और करकी जाँच करके आज कम कर। तू भी हे राजन् ! कालके घर आया हुआ अतिथि है।

२२. यदि तू वकील हो तो इससे आधे विचारका मनन कर जा।

२३. यदि तू श्रीमंत हो तो पैसेके उपयोगका विचार कर। कमानेका कारण आज खोजकर कह।

२४. धान्यादिके व्यापारमें होनेवाली असंख्य हिंसाका स्मरण करके आज न्यायसंपन्न व्यापारमें अपने चित्तको लगा।

२५. यदि तू कसाई हो तो अपने जीवके सुखका विचार करके आजके दिनमें प्रवेश कर।

२६. यदि तू समझदार बालक हो तो विद्या और आज्ञाकी ओर दृष्टि कर।

२७. यदि तू युवान हो तो उद्यम और ब्रह्मचर्यकी ओर दृष्टि कर।

२८. यदि तू वृद्ध हो तो मृत्युकी ओर दृष्टि करके आजके दिनमें प्रवेश कर।

२९. यदि तू स्त्री हो तो अपने पति सम्बन्धी धर्मकर्तव्यको याद कर,—दोष हुए हों उनकी क्षमा माँग और कुटुम्बकी ओर दृष्टि कर।

३०. यदि तू कवि हो तो असंभवित प्रशंसाका स्मरण करके आजके दिनमें प्रवेश कर।

३१. यदि तू कृपण हो तो,—

३२. यदि तू अमलमस्त हो तो नेपोलियन बोनापार्टका, दोनों स्थितियोंसे स्मरण कर।

३३. यदि कल कोई कार्य अपूर्ण रह गया हो तो उसे पूर्ण करनेका सुविचार करके आजके दिनमें प्रवेश कर।

३४. यदि आज किसी कृत्यका आरंभ करना चाहता हो तो समय, शक्ति और परिणामका विवेकपूर्वक विचार करके आजके दिनमें प्रवेश कर।

३५. कदम रखनेमें पाप है, देखनेमें जहर है, और सिर पर मौत सवार है; यह विचार करके आजके दिनमें प्रवेश कर।

३६. यदि आज तुझे अघोर कर्म करनेमें प्रवृत्त होना हो तो, राजपुत्र हो तो भी भिक्षाचर्या मान्य करके आजके दिनमें प्रवेश कर।

३७. यदि तू भाग्यशाली हो तो उसके आनंदमें दूसरेको भी भाग्यशाली कर, परंतु दुर्भाग्यशाली हो तो दूसरेका बुरा करनेसे रुककर आजके दिनमें प्रवेश कर।

३८. धर्माचार्य हो तो अपने अनाचारकी ओर कटाक्षदृष्टि करके आजके दिनमें प्रवेश कर।

३९. अनुचर हो तो प्रियसे प्रिय ऐसे शरीरको निभानेवाले अपने अधिराजकी नमकहलाली चाहकर आजके दिनमें प्रवेश कर।

४०. दुराचारी हो तो अपने आरोग्य, भय, परतंत्रता, स्थिति और सुखका विचार करके आजके दिनमें प्रवेश कर।

४१. दुःखी हो तो (आजकी) आजीविका जितनी आशा रखकर आजके दिनमें प्रवेश कर।

४२. धर्मकर्मके लिये अवश्य समय निकालकर तू आजकी व्यवहारसिद्धिमें प्रवेश कर।

४३. कदाचित् प्रथम प्रवेशमें अनुकूलता न हो तो भी रोज जाते हुए दिनके स्वरूपका विचार करके आज कभी भी उस पवित्र वस्तुका मनन कर।

४४. आहार,विहार और निहार संबंधी अपनी प्रक्रियाकी जाँच करके आजके दिनमें प्रवेश कर।

४५. यदि तू कारीगर हो तो आलस्य और शक्तिके दुरुपयोगका विचार करके आजके दिनमें प्रवेश कर।

४६. तू चाहे जो धंधा करता हो, परंतु आजीविकाके लिये अन्यायसंपन्न द्रव्यका उपार्जन मत कर।

४७. यह स्मृति ग्रहण करनेके बाद शौचक्रियायुक्त होकर भगवद्भक्तिमें लीन होकर क्षमा माँग।

४८. यदि तू संसार प्रयोजनमें अपने हितके लिये अमुक समुदायका अहित कर डालता हो तो रुक जा।

४९. अत्याचारी, कामी और अनाड़ीको उत्तेजन देता हो तो रुक जा।

५०. कमसे कम आधा प्रहर भी धर्मकर्तव्य और विद्यासंपादनमें लगा।

५१. जिंदगी छोटी है और जंजाल लम्बा है; इसलिये जंजाल कम कर, तो सुखरूपसे जिंदगी लंबी लगेगी।

५२. स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, लक्ष्मी इत्यादि सभी सुख तेरे घरमें हों तो भी इन सुखोंमें गौणतासे दुःख रहा हुआ है, ऐसा मानकर आजके दिनमें प्रवेश कर।

५३. पवित्रताका मूल सदाचार है।

५४. चंचल हो जाते हुए मनको सँभालनेके लिये,–

५५. शांत, मधुर, कोमल, सत्य और पवित्र वचन बोलनेकी सामान्य प्रतिज्ञा लेकर आजके दिनमें प्रवेश कर।

५६. काया मलमूत्रका पिण्ड़ है, इसके लिये 'मैं यह क्या अयोग्य कार्य करके आनंद मानता हूँ,' ऐसा आज विचार कर।

५७. तेरे द्वारा आज किसीकी आजीविका नष्ट होनेवाली हो तो,–

५८. अब तूने आहारक्रियामें प्रवेश किया। मिताहारी अकबर सर्वोत्तम बादशाह माना गया है।

५९. यदि आज दिनमें सोनेका तेरा मन हो, तो उस समय ईश्वरभक्ति-परायण हो जा, अथवा सत्शास्त्रका लाभ उठा ले।

६०. मैं समझता हूँ कि ऐसा होना दुष्कर है, तो भी अभ्यास सबका उपाय है।

६१. चला आता हुआ वैर आज निर्मूल किया जाये तो उत्तम, नहीं तो उसकी सावधानी रख।

६२. इस तरह नया वैर मत बढ़ा; क्योंकि वैर करके कितने समयका सुख भोगना है यह विचार तत्त्वज्ञानी करते हैं।

६३. आज महारंभी एवं हिंसायुक्त व्यापारमें लगना पड़ता हो तो रुक जा।

६४. बहुत लक्ष्मी मिलने पर भी आज अन्यायसे किसीकी जान जाती हो तो रुक जा।

६५. समय अमूल्य है, इस बातका विचार करके आजके दिनके २,१६,००० विपलोंका उपयोग कर।

६६. वास्तविक सुख मात्र विरागमें है, इसलिये आज जंजालमोहनीसे अभ्यंतरमोहनीको मत बढ़ा।

६७. फुरसतका दिन हो तो आगे कही हुई स्वतंत्रताके अनुसार चल।

६८. किसी प्रकारका निष्पाप विनोद किंवा अन्य कोई निष्पाप साधन आजके आनंदके लिये खोज।

६९. सुयोजक कृत्य करनेमें प्रवृत्त होना हो तो विलम्ब करनेका आजका दिन नहीं है, क्योंकि आज जैसा मंगलदायक दिन दूसरा नहीं है।

७०. अधिकारी हो तो भी प्रजाहितको मत भूल, क्योंकि जिसका (राजाका) तू नमक खाता है, वह भी प्रजाका प्रिय सेवक है।

७१. व्यावहारिक प्रयोजनमें भी उपयोगपूर्वक विवेकी रहनेकी सत्प्रतिज्ञा लेकर आजके दिनमें प्रवृत्ति कर।

७२. सायंकाल होनेके बाद विशेष शान्ति ले।

७३. आजके दिनमें इतनी वस्तुओंको बाधा न आये तभी वास्तविक विचक्षणता मानी जाये—
१. आरोग्य, २. महत्ता, ३. पवित्रता और ४. कर्तव्य।

७४. यदि आज तुझसे कोई महान कार्य होता हो, तो अपने सर्व सुखका त्याग भी कर दे।

७५. करज यह नीच रज (क+रज) है, *करज यह यमके हाथसे उत्पन्न वस्तु है; (कर+ज) कर यह राक्षसी राजाका क्रूर कर उगाहनेवाला है। यह हो तो आज चुका दे, और नया करते हुए रुक जा।

७६. दैनिक कृत्यका हिसाब अब देख जा।

७७. सबेरे याद दिलायी है, फिर भी कुछ अयोग्य हुआ हो तो पश्चात्ताप कर और शिक्षा ले।

७८. कोई परोपकार, दान, लाभ अथवा दूसरेका हित करके आया हो तो आनन्द मान और निरभिमान रह।

७९. जाने-अनजाने भी यदि कुछ विपरीत हुआ हो तो अब ऐसा काम मत कर।

८०. व्यवहारका नियम रख और अवकाशमें संसारकी निवृत्ति खोज।

८१. आज तूने जैसा उत्तम दिन भोगा है वैसा अपना जीवन भोगनेके लिये तू आनंदित हो, तो ही आ०—

८२. आज जिस पलमें तू मेरी कथाका मनन करता है, उसीको अपनी आयु समझकर सद्वृत्तिमें लग जा।

८३. सत्पुरुष विदुरके कहे अनुसार आज ऐसा कृत्य कर कि रातमें सुखसे सोया जा सके।

८४. आजका दिन सुनहरा है, पवित्र है, कृतकृत्य होनेरूप है, ऐसा सत्पुरुषोंने कहा है; इसलिये मान्य कर।

८५. जैसे हो सके वैसे आजके दिनमें, स्वपत्नीमें भी विषयासक्त कम रहना।

८६. आत्मिक और शारीरिक शक्तिकी दिव्यताका वह मूल है, यह ज्ञानियोंका अनुभवसिद्ध वचन है।

८७. तम्बाकू सूँघने जैसा छोटा व्यसन भी हो तो आज उसे छोड़ दे।—(०) नवीन व्यसन करनेसे रुक जा।

८८. देश, काल, मित्र इन सबका विचार सभी मनुष्योंको इस प्रभातमें यथाशक्ति करना उचित है।

८९. आज कितने सत्पुरुषोंका समागम हुआ, आज वास्तविक आनन्दस्वरूप क्या हुआ? यह चिन्तन विरले पुरुष करते हैं।

९०. आज तू चाहे जैसे भयंकर किंतु उत्तम कृत्यके लिये तत्पर हो तो हिम्मत मत हार।

९१. शुद्ध, सच्चिदानंद, करुणामय परमेश्वरकी भक्ति आजके तेरे सत्कृत्यका जीवन है।

९२. तेरा, तेरे कुटुंबका, मित्रका, पुत्रका, पत्नीका, मातापिताका, गुरुका, विद्वानका, सत्पुरुषका यथाशक्ति हित, सन्मान, विनय और लाभका कर्तव्य हुआ हो तो वह आजके दिनकी सुगंध है।

९३. जिसके घर यह दिन क्लेशरहित, स्वच्छतासे, शुचितासे, एकतासे, संतोषसे, सौम्यतासे, स्नेहसे, सभ्यतासे और सुखसे बीतेगा उसके घरमें पवित्रताका वास है।

९४. कुशल और आज्ञाकारी पुत्र, आज्ञावलंबी धर्मयुक्त अनुचर, सद्गुणी सुन्दरी, मेलजोलवाला कुटुंब, सत्पुरुष जैसी अपनी दशा जिस पुरुषकी होगी उसका आजका दिन हम सबके लिये वंदनीय है।

९५. इन सब लक्षणोंसे संयुक्त होनेके लिये जो पुरुष विचक्षणतासे प्रयत्न करता है, उसका दिन

---

* करज (कर+ज)

हमारे लिये माननीय है।

९६. इससे विपरीत बर्ताव जहाँ हो रहा है वह घर हमारी कटाक्षदृष्टिकी रेखा है।

९७. भले ही तू अपनी आजीविका जितना प्राप्त करता हो, परन्तु यदि निरुपाधिमय हो तो उस उपाधिमय राजसुखकी इच्छा करके अपने आजके दिनको अपवित्र मत कर।

९८. किसीने तुझे कटुवचन कहा हो तो उस समय सहनशीलता—निरुपयोगी भी,

९९. दिनकी भूलके लिये रातमें हँसना, परंतु वैसा हँसना फिरसे न हो, यह ध्यानमें रख।

१००. आज कुछ बुद्धिप्रभाव बढ़ाया हो, आत्मिक शक्ति उज्ज्वल की हो, पवित्र कृत्यकी वृद्धि की हो तो वह,—

१०१. आज अपनी किसी शक्तिका अयोग्य रीतिसे उपयोग मत कर,—मर्यादालोपनसे करना पड़े तो पापभीरु रह।

१०२. सरलता धर्मका बीजस्वरूप है। प्रज्ञापूर्वक सरलताका सेवन किया गया हो तो आजका दिन सर्वोत्तम है।

१०३. स्त्री, राजपत्नी हो या दीनजनपत्नी हो, परन्तु मुझे उसकी कोई परवा नहीं है। मर्यादासे चलनेवालीकी, मैंने तो क्या परंतु पवित्र ज्ञानियोंने भी प्रशंसा की है।

१०४. सद्गुणके कारण यदि आप पर जगतका प्रशस्त मोह होगा तो हे स्त्री! मैं आपको वंदन करता हूँ।

१०५. बहुमान, नम्रभाव और विशुद्ध अंतःकरणसे परमात्माका गुणसंबंधी चिन्तन, श्रवण, मनन, कीर्तन, पूजा, अर्चा—इनकी ज्ञानी पुरुषोंने प्रशंसा की है; इसलिये आजके दिनको सुशोभित कर।

१०६. सत्-शीलवान् सुखी है, दुराचारी दुःखी है; यह बात यदि मान्य न हो तो अभीसे आप ध्यान रखकर इस बातका विचार कर देखें।

१०७. इन सबका सरल उपाय आज कहे देता हूँ कि दोषको पहचानकर दोषको दूर करना।

१०८. लंबी छोटी या क्रमानुक्रम चाहे जिस स्वरूपमें यह मेरी कही हुई, पवित्रताके पुष्पोंसे गूँथी हुई माला प्रातःकाल, सायंकाल और अन्य अनुकूल निवृत्तिके समय विचार करनेसे मंगलदायिका होगी। विशेष क्या कहूँ?

३

काळ कोईने नहि मूके!

(हरिगीत)

***मोतीतणी माळा गळामां मूल्यवंती मलकती,**
हीरातणा शुभ हारथी बहु कंठकांति झळकती;
आभूषणोथी ओपता भाग्या मरणने जोईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥१॥

काल किसीको नहीं छोड़ता!

* **भावार्थ**—१. जिनके गलेमें मोतियोंकी मूल्यवती माला सुशोभित हो रही थी, जिनकी कंठकांति हीरेके उत्तम हारसे बहुत प्रकाशित हो रही थी, और जो अनेक आभूषणोंसे विभूषित हो रहे थे; वे भी मृत्युको देखकर भाग गये। अर्थात् कालकवलित हो गये। इसलिये हे मनुष्यों! इसे भली भाँति जानें और मनमें ठानें कि काल किसीको नहीं छोड़ता।

२. जो मस्तक पर मणिमय मुकुट धारण करते थे, कानोंमें कुण्डल पहनते थे, हाथोंमें सोनेके कड़े पहनते थे, और

मणिमय मुगट माथे धरीने कर्ण कुंडल नाखता,
कांचन कडां करमां धरी कशीये कचाश न राखता;
पळमां पड़्या पृथ्वीपति ए भान भूतळ खोईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥२॥

दश आंगळीमां मांगलिक मुद्रा जडित माणिक्यथी,
जे परम प्रेमे पे'रता पोंची कळा बारीकथी;
ए वेढ वींटी सर्व छोडी चालिया मुख धोईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥३॥

मूछ वांकडी करी फांकडा थई लींबु धरता ते परे,
कापेल राखी कातरा हरकोईनां हैयां हरे;
ए सांकडीमां आविया छटक्या तजी सहु सोईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥४॥

छो खंडना अधिराज जे चंडे करीने नीपज्या,
ब्रह्मांडमां बळवान थईने भूप भारे ऊपज्या;
ए चतुर चक्री चालिया होता नहोता होईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥५॥

जे राजनीतिनिपुणतामां न्यायवंता नीवड्या,
अवळा कर्ये जेना बधा सवळा सदा पासा पड्या;
ए भाग्यशाळी भागिया ते खटपटो सौ खोईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥६॥

तरवार बहादुर टेकधारी पूर्णतामां पेखिया,
हाथी हणे हाथे करी ए केशरी सम देखिया;

वस्त्रालंकारसे सुशोभित होनेमें कोई कमी न रखते थे, ऐसे पृथ्वीपति भी क्षणभरमें बेहोश होकर भूतल पर गिर पड़े। इसलिये हे मनुष्यों ! इसे भली भाँति जानें और मनमें ठानें कि काल किसीको नहीं छोड़ता।

३. जो दसों अंगुलियोंमें माणिकसे जड़ित मांगलिक अँगूठियाँ पहनते थे, और कलाइयोंमें सूक्ष्म कलामय पहुँचियाँ परम प्रेमसे पहनते थे, वे अँगूठियाँ आदि सब छोड़कर, मुँह धोकर चल बसे। इसलिये हे मनुष्यों ! इसे भली भाँति जानें और मनमें ठानें कि काल किसीको नहीं छोड़ता।

४. जो मूँछें बांकी कर, फक्कड़ बनकर मूँछोंपर निंबू रखते थे, और जो सुंदर कटे हुए बालोंसे हर किसीके मनको हरते थे, वे भी संकटमें आ गये और सब सुविधाएँ छोड़कर चल दिये। इसलिये हे मनुष्यों ! इसे भली भाँति जानें और मनमें ठानें कि काल किसीको नहीं छोड़ता।

५. जो अपने प्रतापसे छः खंड़के अधिराज बने हुए थे, और ब्रह्माण्ड़में बलवान होकर महान सम्राट कहलाते थे, ऐसे चतुर चक्रवर्ती भी इस तरह चल बसे कि मानो वे हुए ही न थे। इसलिये हे मनुष्यों ! इसे भली भाँति जानें और मनमें ठानें कि काल किसीको नहीं छोड़ता।

६. जो राजनीतिकी निपुणतामें न्यायवान् सिद्ध हुए थे, और जिनके उलटे पासे सदा सीधे ही पड़ते थे; ऐसे भाग्यशाली भी सब खटपटें छोड़कर भाग निकले। इसलिये हे मनुष्यों ! इसे भली भाँति जानें और मनमें ठानें कि काल किसीको नहीं छोड़ता।

७. जो तलवार चलानेमें बहादुर थे; जो अपनी टेकपर मरनेवाले थे, सब प्रकारसे परिपूर्ण दीखते थे, जो अपने हाथोंसे हाथीको मारकर केसरीके समान दिखायी देते थे; ऐसे सुभटवीर भी अंतमें रोते ही रह गये। इसलिये हे मनुष्यों ! इसे भली भाँति जाने और मनमें ठानें कि काल किसीको नहीं छोड़ता।

एवा भला भडवीर ते अंते रहेला रोईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥७॥

४

धर्म विषे

(कवित्त)

*साह्यबी सुखद होय, मानतणो मद होय,
खमा खमा खुद होय, ते ते कशा कामनुं ?
जुवानीनुं जोर होय, एशनो अंकोर होय,
दोलतनो दोर होय, ए ते सुख नामनुं;
वनिता विलास होय, प्रौढता प्रकाश होय,
दक्ष जेवा दास होय, होय सुख धामनुं,
वदे रायचंद एम, सद्धर्मने धार्या विना,
जाणी लेजे सुख ए तो, बेए ज बदामनुं ! ॥१॥

मोह मान मोडवाने, फेलपणुं फोडवाने,
जाळफंद तोडवाने, हेते निज हाथथी;
कुमतिने कापवाने, सुमतिने स्थापवाने,
ममत्वने मापवाने, सकल सिद्धांतथी;
महा मोक्ष माणवाने, जगदीश जाणवाने,
अजन्मता आणवाने, वळी भली भातथी;
अलौकिक अनुपम, सुख अनुभववाने,
धर्म धारणाने धारे, खरेखरी खांतथी ॥२॥

दिनकर विना जेवो, दिननो देखाव दीसे,
शशी विना जेवी रीते, शर्वरी सुहाय छे;
प्रजापति विना जेवी, प्रजा पुरतणी पेखो,
सुरस विनानी जेवी, कविता कहाय छे;
सलिल विहीन जेवी, सरितानी शोभा अने,
भर्तार विहीन जेवी, भामिनी भळाय छे;
वदे रायचंद वीर, सद्धर्मने धार्या विना,
मानवी महान तेम, कुकर्मी कळाय छे ॥३॥

धर्मविषयक

*भावार्थ—१. सुखद वैभव हो, मानका मद हो, 'जीते रहें,' 'जीते रहें' के उद्‌गारोंसे बधाई मिलती हो—यह सब किस कामके ? जवानीका जोर हो, ऐशका सामान हो, दौलतका दौर हो—यह सब सुख तो नामका है। वनिताका विलास हो, प्रौढ़ताका प्रकाश हो, दक्ष जैसे दास हों, सुविधायुक्त घर हों। रायचंद यह कहते हैं कि सद्धर्मको धारण किये बिना यह सब सुख दो ही कौड़ीका है।

२. अपने ही हाथसे प्रेमपूर्वक मोह और मानको दूर करनेके लिये, ढ़ोंगको मिटानेके लिये, कपटजालके फंदको तोड़नेके लिये, सकल सिद्धान्तकी सहायतासे कुमतिको काटनेके लिये, सुमतिको स्थापित करनेके लिये और ममत्वको मापनेके लिये, भली भाँति महामोक्षको भोगनेके लिये, जगदीशको जाननेके लिये, अजन्मताको प्राप्त करनेके लिये, तथा अलौकिक एवं अनुपम सुखका अनुभव करनेके लिये सच्चे उत्साहसे धर्मको धारण करें।

३. इस पद्यका भावार्थ पृष्ठ ३ पर देखें।

चतुरो चोंपेथी चाही चिंतामणि चित्त गणे,
पंडितो प्रमाणे छे, पारसमणि प्रेमथी;
कविओ कल्याणकारी, कल्पतरु कथे जेने,
सुधानो सागर कथे, साधु शुभ क्षेमथी;
आत्मना उद्धारने उमंगथी अनुसरो जो,
निर्मळ थवाने काजे, नमो नीति नेमथी;
वदे रायचंद वीर, एवुं धर्मरूप जाणी,
"धर्मवृत्ति ध्यान धरो, विलखो न वे'मथी" ॥४॥

५

ॐ

बोधवचन

१. आहार नहीं करना।
२. यदि आहार करना तो पुद्गलके समूहको एकरूप मानकर करना, परंतु लुब्ध नहीं होना।
३. आत्मश्लाघाका चिन्तन नहीं करना।
४. त्वरासे निरभिमान होना।
५. स्त्रीका रूप नहीं देखना।
६. स्त्रीका रूप देखा जाये तो रागयुक्त नहीं होना, परंतु अनित्यभावका विचार करना।
७. यदि कोई निंदा करे तो उसपर द्वेषबुद्धि नहीं रखना।
८. मतमतांतरमें नहीं पड़ना।
९. महावीरके पंथका विसर्जन नहीं करना।
१०. त्रिपदके उपयोगका अनुभव करना।
११. अनादिका जो स्मृतिमें है उसे भूल जाना।
१२. जो स्मृतिमें नहीं है उसे याद करें।
१३. वेदनीय कर्मका उदय हुआ हो तो पूर्वकर्मस्वरूपका विचार करके घबराना नहीं।
१४. वेदनीयका उदय हो तो निश्चय रूप 'अवेद' पदका चिंतन करना।
१५. पुरुष वेदका उदय हो तो स्त्रीका शरीर पृथक्करणपूर्वक देखना—ज्ञानदशासे।
१६. त्वरासे आग्रह-वस्तुका त्याग करना, त्वरासे आग्रह 'स' दशाका ग्रहण करना।
१७. परंतु बाह्य उपयोग नहीं देना।
१८. ममत्व ही बंध है।
१९. बंध ही दुःख है।
२०. दुःखसुखसे पराङ्मुख होना।
२१. संकल्प-विकल्पका त्याग करना।
२२. आत्म-उपयोग कर्मत्यागका उपाय है।

---

४. जिसे चतुर लोग उत्कंठासे चाहकर चित्तमें चिंतामणि मानते हैं, जिसे प्रेमसे पंड़ित लोग पारसमणि मानते हैं, जिसे कवि कल्याणकारी कल्पतरु कहते हैं, जिसे साधु शुभ क्षेमसे सुधाका सागर कहते हैं—ऐसा धर्मका स्वरूप है। यदि उत्साहपूर्वक आत्माका उद्धार करना चाहते हों तो निर्मल होनेके लिये नियमपूर्वक नीति-धर्मका पालन करें। रायचंद वीर कहते हैं कि ऐसा धर्मका स्वरूप जानकर धर्मवृत्तिमें ध्यान रखे और भ्रान्त मान्यतासे दुःखी न हों।

२३. रसादिक आहारका त्याग करना।
२४. पूर्वोदयसे न छोड़ा जाये तो अबंधरूपसे भोगना।
२५. जो जिसकी है उसे वह सौंप दे (विपरीत परिणति)।
२६. जो है सो है परंतु मन विचार करनेके लिये शक्तिमान नहीं है।
२७. क्षणिक सुख पर लुब्ध नहीं होना।
२८. समदृष्टिके लिये गजसुकुमारके चरित्रका विचार करना।
२९. रागादिसे विरक्त होना यही सम्यग्ज्ञान है।
३०. सुगंधी पुद्गलोंको नहीं सूंघना। स्वभावतः वैसी भूमिकामें आ गये तो राग नहीं करना।
३१. दुर्गंधसे द्वेष नहीं करना।
३२. पुद्गलकी हानिवृद्धिसे खेदखिन्न या प्रसन्न नहीं होना।
३३. आहार अनुक्रमसे कम करना (लेना)।
३४. हो सके तो कायोत्सर्ग अहोरात्र करना; नहीं तो एक घंटा करनेसे नहीं चूकना।
३५. ध्यान एकचित्तसे रागद्वेष छोड़कर करना।
३६. ध्यान करनेके बाद चाहे जैसा भय उत्पन्न हो तो भी नहीं ड़रना। अभय आत्मस्वरूपका विचार करना। 'अमर दशा जानकर चलविचल नहीं होना।'
३७. अकेले शयन करना।
३८. अंतरंगमें सदा एकाकी विचार लाना।
३९. शंका, कंखा या वितिगिच्छा नहीं करना। ऐसेकी संगति करना कि जिससे शीघ्र आत्महित हो।
४०. द्रव्यगुण देखकर भी राजी नहीं होना।
४१. षड् द्रव्यके गुणपर्यायका विचार करें।
४२. सबको समदृष्टिसे देखें।
४३. बाह्य मित्रसे जो जो इच्छा रखते हों, उसकी अपेक्षा अभ्यंतर मित्रको शीघ्र चाहें।
४४. बाह्य स्त्रीकी जिस प्रकारसे इच्छा रखते हों, उससे विपरीत प्रकारसे आत्माकी स्त्री तद्रूप वही चाहें।
४५. बाहर लड़ते हैं, उसकी अपेक्षा तो अभ्यंतर महाराजाको हरायें।
४६. अहंकार न करें।
४७. भले कोई द्वेष करे परंतु आप वैसा न करें।
४८. क्षण क्षणमें मोहका संग छोड़ें।
४९. आत्मासे कर्मादिक अन्य है, तो ममत्वरूप परिग्रहका त्याग करें।
५०. सिद्धके सुख स्मृतिमें लायें।
५१. एकचित्तसे आत्माका ध्यान करें। प्रत्यक्ष अनुभव होगा।
५२. बाह्य कुटुम्ब पर राग न करें।
५३. अभ्यंतर कुटुंब पर राग न करें।
५४. स्त्री पुरुषादिक पर अनुरक्त न हो।
५५. वस्तुधर्मको याद करें।
५६. कोई बाँधनेवाला नहीं है, अपनी भूलसे बँधता है।
५७. एकको उपयोगमें लायेंगे तो सब शत्रु दूर हो जायेंगे।
५८. गीत और गायनको विलापतुल्य जानें।

५९. आभरण ही द्रव्यभार (भाव) भारकर्म।
६०. प्रमाद ही भय है।
६१. अप्रमाद भाव ही अभयपद है।
६२. जैसे भी हो, त्वरासे प्रमाद छोड़ें।
६३. विषमता छोड़ें।
६४. कर्मयोगसे आत्मा नयी नयी देह धारण करते हैं।
६५. अभ्यंतर दयाका चिन्तन करना।
६६. स्व और परके नाथ बनें।
६७. बाह्य मित्र आत्महितका मार्ग बताये, उसे अभ्यंतर मित्रके रूपमें–
६८. जो बाह्य मित्र पौद्गलिक बातों और पर वस्तुका संग करायें, उन्हें त्वरासे छोड़ा जा सके तो छोड़े और कदाचित् छोड़ा न जा सके तो अभ्यंतरसे लुब्ध एवं आसक्त न हो। उन्हें भी, जो जानते हों उसका बोध दें।
६९. जैसे चेतनरहित काष्ठका छेदन करनेसे काष्ठ दुःख नहीं मानता, वैसे आप भी समदृष्टि रखिये।
७०. यतनासे चलना।
७१. विकारको घटायें।
७२. सत्पुरुषके समागमका चिंतन करें और मिल जाने पर दर्शनलाभसे न चूकें।
७३. कुटुंबपरिवारके प्रति आन्तरिक चाह न रखें।
७४. अत्यंत निद्रा न लें।
७५. व्यर्थ समय न जाने दें।
७६. व्यावहारिक कामसे जिस समय मुक्त हो जायें, उस समय एकांतमें जाकर आत्मदशाका विचार करें।
७७. संकट आने पर भी धर्म न चूकें।
७८. असत्य न बोलें।
७९. आर्त्त एवं रौद्र ध्यानका शीघ्र त्याग करें।
८०. धर्मध्यानके उपयोगमें चलना।
८१. शरीर पर ममत्व न रखें।
८२. आत्मदशा नित्य अचल है, इसमें संशय न करें।
८३. किसीकी गुप्त बात किसीसे न करें।
८४. किसी पर जन्म पर्यन्त द्वेषबुद्धि न रखें।
८५. यदि किसीको कुछ द्वेषवश कहा गया हो, तो अति पश्चात्ताप करें, और क्षमा माँगे। फिर कभी वैसा न करें।
८६. कोई तुझसे द्वेषबुद्धि करे, परंतु तू वैसा नहीं करना।
८७. जैसे भी हों, ध्यान शीघ्र करें।
८८. यदि किसीने कृतघ्नता की हो तो उसे भी समदृष्टिसे देखें।
८९. दूसरेको उपदेश देनेका लक्ष्य है, इसकी अपेक्षा निजधर्ममें अधिक लक्ष्य देना।
९०. कथनकी अपेक्षा मथनपर अधिक ध्यान देना।
९१. वीरके मार्गमें संशय न करें।

९२. ऐसा न हो तो केवलीगम्य है, ऐसा चिंतन करें, जिससे श्रद्धा बदलेगी नहीं।
९३. बाह्य करनीकी अपेक्षा अभ्यंतर करनी पर अधिक ध्यान देना।
९४. 'मैं कहाँसे आया?' 'मैं कहाँ जाऊँगा?' 'मुझे क्या बंधन है?' 'क्या करनेसे बंधन चला जाये?' 'कैसे छूटना हो?' ये वाक्य स्मृतिमें रखें।
९५. स्त्रियोंके रूप पर ध्यान रखते हैं, इसकी अपेक्षा आत्मस्वरूप पर ध्यान दें तो हित होगा।
९६. ध्यानदशा पर ध्यान रखते हैं, इसकी अपेक्षा आत्मस्वरूप पर ध्यान देंगे तो उपशम भाव सहजतासे होगा और समस्त आत्माओंको एक दृष्टिसे देखेंगे। एकचित्तसे अनुभव होगा तो आपके लिये यह इच्छा अन्तरसे अमर हो जायेगी। यह अनुभवसिद्ध वचन है।
९७. किसीके अवगुणोंकी ओर ध्यान न देना। परन्तु अपने अवगुण हों तो उन पर अधिक दृष्टि रखकर गुणस्थ हो जाना।
९८. बद्ध आत्माको जैसे बाँधा उससे विपरीत वर्तन करनेसे वह छूट जायेगा।
९९. स्वस्थानक पर पहुँचनेका उपयोग रखें।
१००. महावीर द्वारा उपदिष्ट बारह भावनाएँ भावें।
१०१. महावीरके उपदेशवचनोंका मनन करें।
१०२. महावीर प्रभु जिस मार्गसे तरे और उन्होंने जैसा तप किया वैसा तप निर्मोहतासे करना।
१०३. परभावसे विरक्त हो।
१०४. जैसे भी हो, आत्माका आराधन त्वरासे करें।
१०५. सम, दम, खमका अनुभव करें।
१०६. स्वराज पदवी स्वतप आत्माका लक्ष रखें (दें)।
१०७. रहन-सहन पर ध्यान देना।
१०८. स्वद्रव्य और अन्य द्रव्यको भिन्न-भिन्न देखें।
१०९. स्वद्रव्यके रक्षक शीघ्र हों।
११०. स्वद्रव्यके व्यापक शीघ्र हों।
१११. स्वद्रव्यके धारक शीघ्र हों।
११२. स्वद्रव्यके रमक शीघ्र हों।
११३. स्वद्रव्यके ग्राहक शीघ्र हों।
११४. स्वद्रव्यकी रक्षकता पर ध्यान रखें (दें)।
११५. परद्रव्यकी धारकता शीघ्र छोड़ें।
११६. परद्रव्यकी रमणता शीघ्र छोड़ें।
११७. परद्रव्यकी ग्राहकता शीघ्र छोड़ें।
११८. जब ध्यानकी स्मृति हो तब स्थिरता करें, उसके बाद सर्दी, गर्मी, छेदन, भेदन इत्यादि-इत्यादि देहके ममत्वका विचार न करे।
११९. जब ध्यानकी स्मृति हो तब स्थिरता करें; उसके बाद देव, मनुष्य, तिर्यंचके परिषह आयें तो एक उपयोगसे, आत्मा अविनाशी है, ऐसा विचार लाये, तो आपको भय नहीं होगा, और शीघ्र कर्मबंधसे मुक्त होंगे। आत्मदशाको अवश्य देखेंगे। अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन इत्यादि-इत्यादि ऋद्धि प्राप्त करेंगे।
१२०. फुर्सतके वक्त व्यर्थ कूट और निंदा करते हैं, इसकी अपेक्षा वह वक्त ज्ञानध्यानमें लगायें तो

कैसा योग्य गिना जाये !

१२१. देनदार मिल जाये किन्तु आप कर्ज सोच-बूझ कर लेना।

१२२. देनदार चक्रवृद्धि व्याज लेनेके लिये कर्ज दे, परंतु आप उस पर ख्याल रखें।

१२३. यदि तू कर्जका ख्याल नहीं रखेगा तो बादमें पछतायेगा।

१२४. द्रव्यऋणको चुकानेकी चिंता करते हैं, इसकी अपेक्षा भावऋण चुकानेकी अधिक तत्परता रखें।

१२५. कर्ज चुकानेके लिये अधिक शीघ्रता करें।

६

जहाँ उपयोग वहाँ धर्म है।

महावीरदेवको नमस्कार।

१. अन्तिम निर्णय होना चाहिये।

२. सर्व प्रकारका निर्णय तत्त्वज्ञानमें है।

३. आहार, विहार, निहारकी नियमितता।

४. अर्थकी सिद्धि।

आर्यजीवन

उत्तम पुरुषोंने आचरण किया है।

७

नित्यस्मृति

१. जिस महान कार्यके लिये तू जन्मा है, उस महान कार्यका अनुप्रेक्षण कर।

२. ध्यान धारण कर, समाधिस्थ हो जा।

३. व्यवहारकार्यका विचार कर ले। जिसका प्रमाद हुआ है, उसके लिये अब प्रमाद न हो, ऐसा कर। जिसमें साहस हुआ हो, उससे ऐसा बोध ले कि अब वैसा न हो।

४. तू दृढ़ योगी है, वैसा ही रह।

५. कोई भी अल्प भूल तेरी स्मृतिमेंसे नहीं जाती यह महाकल्याण है।

६. लिप्त नहीं होना।

७. महागंभीर हो।

८. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका विचार कर ले।

९. यथार्थ कर।

१०. कार्यसिद्धि करके चला जा।

८

सहजप्रकृति

१. परहितको ही निजहित समझना, और परदुःखको अपना दुःख समझना।

२. सुखदुःख दोनों मनकी कल्पनाएँ हैं।

३. क्षमा ही मोक्षका भव्य द्वार है।

४. सबके साथ नम्रभावसे रहना ही सच्चा भूषण है।

५. शान्त स्वभाव ही सज्जनताका सच्चा मूल है।
६. सच्चे स्नेहीकी चाह सज्जनताका विशेष लक्षण है।
७. दुर्जनका कम सहवास।
८. विवेकबुद्धिसे सब आचरण करना।
९. द्वेषभावको विषरूप समझना।
१०. धर्मकर्ममें वृत्ति रखना।
११. नीतिके विधान पर पैर नहीं रखना।
१२. जितेन्द्रिय होना।
१३. ज्ञानचर्चा और विद्याविलासमें तथा शास्त्राध्ययनमें जुट जाना।
१४. गंभीरता रखना।
१५. संसारमें रहते हुए भी तथा उसे नीतिसे भोगते हुए भी विदेही दशा रखना।
१६. परमात्माकी भक्तिमें रत होना।
१७. परनिंदाको ही प्रबल पाप मानना।
१८. दुर्जनता करके जीतना यही हारना है, ऐसा मानना।
१९. आत्मज्ञान और सज्जन-संगति रखना।

९

ॐ

प्रश्नोत्तर

प्रश्न	उत्तर
१. जगतमें आदरणीय क्या है ?	१. सद्गुरुका वचन।
२. शीघ्र करने योग्य क्या ?	२. कर्मका निग्रह।
३. मोक्षतरुका बीज क्या ?	३. क्रियासहित सम्यग्ज्ञान।
४. सदा त्याज्य क्या ?	४. अकार्य काम।
५. सदा पवित्र कौन ?	५. जिसका अन्तःकरण पापरहित हो।
६. सदा यौवनवान् कौन ?	६. तृष्णा (लोभ दशा)।
७. शूरवीर कौन ?	७. जो स्त्रीके कटाक्षसे बींधा न जाये।
८. महत्ताका मूल क्या ?	८. किसीसे प्रार्थना (याचना) नहीं करना।
९. सदा जागृत कौन ?	९. विवेकी।
१०. इस संसारमें नरक जैसा दुःख क्या ?	१०. परतंत्रता (परवश रहना)।
११. अस्थिर वस्तु क्या ?	११. यौवन, लक्ष्मी और आयु।
१२. इस जगतमें अति गहन क्या ?	१२. स्त्रीचरित्र और उससे अधिक पुरुषचरित्र।
१३. चन्द्रमाकी किरणोंके समान श्वेत कीर्तिके धारक कौन ?	१३. सुमति और सज्जन।
१४. जिसे चोर भी न ले सके वह खजाना कौनसा ?	१४. विद्या, सत्य और शीलव्रत।
१५. जीवका सदा अनर्थ करनेवाला कौन ?	१५. आर्त्त और रौद्र ध्यान।

१६. अंधा कौन ?	१६. कामी तथा रागी।
१७. बहरा कौन ?	१७. जो हितकारी वचन न सुने।
१८. गूँगा कौन ?	१८. जो अवसर आने पर प्रिय वचन न बोल सके।
१९. शल्यकी भाँति सदा दुःखदायी क्या ?	१९. गुप्त किया हुआ काम।
२०. अविश्वास करने योग्य कौन ?	२०. युवती और असज्जन (दुर्जन) मनुष्य।
२१. सदा ध्यान रखने योग्य क्या ?	२१. संसारकी असारता।
२२. सदा पूजनीय कौन ?	२२. वीतराग देव, सुसाधु और सुधर्म।

१०

द्वादशानुप्रेक्षा*

आत्माके लिये परमहितकारी द्वादशानुप्रेक्षा अर्थात् वैराग्यादि भाव-भावित बारह चिन्तनाओंके स्वरूपका चिन्तन करता हूँ।

१. अनित्य, २. अशरण, ३. संसार, ४. एकत्व, ५. अन्यत्व, ६. अशुचि, ७. आस्रव, ८. संवर, ९. निर्जरा, १०. लोक, ११. बोधिदुर्लभ और १२. धर्म। इन बारह चिन्तनाओंके नाम प्रथम कहे हैं। भगवान तीर्थंकर भी इनके स्वभावका चिन्तन करके संसार, देह एवं भोगसे विरक्त हुए हैं। ये चिन्तनाएँ वैराग्यकी माता हैं। समस्त जीवोंका हित करनेवाली हैं। अनेक दुःखोंसे व्याप्त संसारी जीवोंके लिये ये चिन्तनाएँ अति उत्तम शरण हैं। दुःखरूप अग्निसे संतप्त जीवोंके लिये शीतल पद्मवनके मध्यमें निवासके समान हैं। परमार्थ मार्गको दिखानेवाली हैं। तत्त्वका निर्णय करानेवाली हैं। सम्यक्त्व उत्पन्न करनेवाली हैं। अशुभ ध्यानका नाश करनेवाली हैं। इन द्वादश चिन्तनाओंके समान इस जीवका हित करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। ये द्वादशांगका रहस्य हैं। इसलिये इन बारह अनुप्रेक्षाओंमेंसे अब अनित्य अनुप्रेक्षाका भावसहित चिन्तन करते हैं।

अनित्य अनुप्रेक्षा

देव, मनुष्य और तिर्यंच, यह सब देखते ही देखते पानीकी बूँद और ओसके पुंजकी भाँति विनष्ट हो जाते हैं। देखते ही देखते विलीयमान होकर चले जाते हैं। और यह सब ऋद्धि, संपदा और परिवार स्वप्न-समान हैं। जिस तरह स्वप्नमें देखी हुई वस्तु पुनः दिखायी नहीं देती, उसी तरह ये विनाशको प्राप्त होते हैं। इस जगतमें धन, यौवन, जीवन और परिवार सब क्षणभंगुर हैं। संसारी मिथ्यादृष्टि जीव इन्हें अपना स्वरूप, अपना हित मानता है। अपने स्वरूपकी पहचान हो तो परको अपना स्वरूप क्यों माने ? समस्त इन्द्रियजनित सुख जो दृष्टिगोचर होता है, वह इन्द्रधनुषके रंगोंकी भाँति देखते ही देखते नष्ट हो जाता है। जवानीका जोश संध्याकालकी लालीकी भाँति क्षण क्षणमें विनाशको प्राप्त होता है। इसलिये, यह मेरा गाँव, यह मेरा राज्य, यह मेरा घर, यह मेरा धन, यह मेरा कुटुम्ब; इत्यादि विकल्प करना ही महामोहका प्रभाव है। जो-जो पदार्थ आँखसे देखनेमें आते हैं, वे सब नष्ट हो जायेंगे, इन्हें देखने-जाननेवाली इंद्रियाँ भी अवश्य नष्ट हो जायेंगी। इसलिये आत्महितके लिये ही शीघ्र उद्यम करें। जैसे एक जहाजमें अनेक देशों और अनेक जातियोंके मनुष्य इकट्ठे होकर बैठते हैं, और फिर किनारे पर पहुँचकर विविध देशोंकी ओर चले जाते हैं, वैसे कुलरूप जहाजमें अनेक गतियोंसे आये हुए प्राणी एक साथ रहते हैं, फिर आयु पूरी होने पर अपने-अपने कर्मानुसार चारों गतियोंमें जाकर उत्पन्न होते हैं। जिस देहसे स्त्री,

* रत्नकरंड श्रावकाचारमेंसे प्रथम तीन अनुप्रेक्षाओंका यह अनुवाद है, जो अपूर्ण है।

पुत्र, मित्र, भाई आदिके साथ संबंध मानकर रागी हो रहा है, वह देह अग्निसे भस्म हो जायेगी, फिर मिट्टीमें मिल जायेगी। तथा इसे जीव खायेंगे तो विष्ठा एवं कृमिकलेवररूप हो जायेगी। इसके परमाणु एक-एक करके जमीन और आकाशमें अनंत विभागरूपमें बिखर जायेंगे; फिर कहाँसे मिलेंगे ? इसलिये यह निश्चित समझें कि इसका संबंध फिर प्राप्त नहीं होगा। स्त्री, पुत्र, मित्र, कुटुंब आदिमें ममता करके धर्म बिगाड़ना, यह महान अनर्थ है। जिन पुत्र, स्त्री, भाई, मित्र, स्वामी, सेवक आदिके सहवासके सुखसे जीवन चाहते हैं, वह समस्त कुटुंब शरत्कालके बादलोंकी तरह बिखर जायेगा। यह संबंध जो इस समय दिखायी देता है वह नहीं रहेगा, जरूर बिखर जायेगा, ऐसा नियम समझें। जिस राज्यके लिये और जमीनके लिये तथा हाट, हवेली, मकान एवं आजीविकाके लिये हिंसा, असत्य, छल-कपटमें प्रवृत्ति करते हैं, भोले-भालोंको ठगते हैं, स्वयं बलवान होकर निर्बलको मारते हैं, उस समस्त परिग्रहका संबंध आपसे अवश्य बिछुड़ जायेगा। अल्प जीवनके लिये नरक व तिर्यंचगतिके अनंतकाल पर्यंत रहनेवाले अनंत दुःखसंतानको ग्रहण न करें। उनके स्वामित्वका अभिमान करके अनेक चले गये, और अनेक प्रत्यक्ष चले जाते हुए देखते हैं। इसलिये अब तो ममता छोड़कर, अन्यायका परिहार करके अपने आत्माके कल्याणके कार्यमें प्रवृत्ति करें। जैसे ग्रीष्म ऋतुमें चौराहेके वृक्षकी छायामें अनेक देशोंके राहगीर विश्राम लेकर अपने-अपने स्थानको चले जाते हैं, वैसे कुलरूप वृक्षकी छायामें साथमें रहे हुए भाई, मित्र, पुत्र, कुटुंब आदि कर्मानुसार अनेक गतियोंमें चले जाते हैं। जिनसे आप अपनी प्रीति मानते हैं वे सभी मतलबके हैं। आँखके रागकी भाँति क्षणमात्रमें प्रीतिका राग नष्ट हो जाता है। जैसे पक्षी पूर्व संकेत किये बिना ही एक वृक्ष पर आकर बसते हैं; वैसे ही कुटुम्बके मनुष्य संकेत किये बिना कर्मवश इकट्ठे होकर बिखर जाते हैं। यह सब धन, संपदा, आज्ञा, ऐश्वर्य, राज्य और इंद्रियोंके विषयोंकी सामग्री देखते ही देखते अवश्य ही वियोगको प्राप्त हो जायेगी। युवानी मध्याह्नकी छायाकी तरह ढ़ल जायेगी, स्थिर नहीं रहेगी। चंद्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि तो अस्त होकर पुनः उदित होते हैं, और हेमंत, वसंत आदि ऋतुएँ भी चली जाकर फिर आ जाती हैं; परंतु गई हुई इंद्रियाँ, युवानी, आयु, काया आदि वापस नहीं आती। जैसे पर्वतसे गिरनेवाली नदीकी तरंगें रुके बिना चली जाती हैं, वैसे ही आयु रुके बिना क्षण-क्षणमें व्यतीत होती है। जिस देहके अधीन जीना है उस देहको जर्जरित करनेवाली वृद्धावस्था प्रति समय आती है। यह वृद्धावस्था युवानीरूप वृक्षको दग्ध करनेके लिये दावाग्निके समान है। यह भाग्यरूप पुष्पों (मौर) के नाशक कुहरेकी वृष्टिके समान है। स्त्रीकी प्रीतिरूप हरिणीके लिये व्याघ्रके समान है। ज्ञाननेत्रको अन्ध करनेके लिये धूलकी दृष्टिके समान है । तपरूप कमलवनके लिये हिमके समान है। दीनताकी जननी है। तिरस्कारको बढ़ानेवाली धायके समान है। उत्साह घटानेके लिये तिरस्कार जैसी है। रूपधनको चुरानेवाली है। बलका नाश करनेवाली है। जंघाबलको बिगाड़नेवाली है। आलस्यको बढ़ानेवाली है। स्मृतिका नाश करनेवाली है। ऐसी यह वृद्धावस्था है। मौतसे मिलाप करानेवाली दूती जैसी वृद्धावस्थाको प्राप्त होनेसे अपने आत्महितका विस्मरण करके स्थिर हो रहे हैं, यह महान अनर्थ है। वारंवार मनुष्यजन्मादि सामग्री नहीं मिलती। नेत्र आदि इंद्रियोंका जो तेज है उसका क्षण-क्षणमें नाश होता है। समस्त संयोग वियोगरूप समझें। इन इंद्रियोंके विषयोंमें राग करके कौन-कौन नष्ट नहीं हुए ? ये सभी विषय भी नष्ट हो जायेंगे, और इंद्रियाँ भी नष्ट हो जानेवाली हैं। किसके लिये आत्महितको छोड़कर घोर पापरूप अशुभ ध्यान कर रहे है ? विषयोंमें राग करके अधिकाधिक लीन हो रहे हैं ? सभी विषय आपके हृदयमें तीव्र दाह उत्पन्न करके विनाशको प्राप्त होंगे। इस शरीरको सदा रोगसे व्याप्त जानें। जीवको मरणसे घिरा हुआ जानें। ऐश्वर्यको विनाशके सन्मुख जानें। यह जो संयोग है उसका नियमसे वियोग होगा। ये समस्त विषय आत्मस्वरूपको भुलानेवाले हैं। इनमें अनुरक्त होकर त्रिलोक नष्ट

हो गया है। जिन विषयोंके सेवनसे सुख चाहते हैं, वह जीनेके लिये विष पीना है; शीतल होनेके लिये अग्निमें प्रवेश करनेके समान है; मीठे भोजनके लिये जहरके वृक्षको पानी देना है। विषय महामोहमदके उत्पादक हैं, उनका राग छोड़कर आत्मकल्याण करनेका यत्न करें। अचानक मृत्यु आयेगी, फिर यह मनुष्यजन्म तथा जिनेन्द्रका धर्म चले जानेके बाद पुनः प्राप्त होने अनंतकालमें दुर्लभ हैं। जैसे नदीका प्रवाह निरंतर चला जाता है, फिर नहीं आता; वैसे आयु, काया, रूप, बल, लावण्य और इंद्रियशक्ति चले जानेके बाद वापस नहीं आते। जो ये प्रिय माने हुए स्त्री, पुत्र आदि नजरसे दिखायी देते हैं, उनका संयोग नहीं रहेगा। स्वप्न-संयोगके समान जान कर, इनके लिये अनीति-पाप छोड़कर शीघ्र ही संयमादि धारण करें। वह इंद्रजालकी भाँति लोगोंमें भ्रम पैदा करनेवाला है। इस संसारमें धन, यौवन, जीवन, स्वजन और परजनके समागममें जीव अंधा हो रहा है। यह धनसंपत्ति चक्रवर्तियोंके यहाँ भी स्थिर नहीं रही, तो फिर दूसरे पुण्यहीनके यहाँ कैसे स्थिर रहेगी ? यौवन वृद्धावस्थासे नष्ट होगा। जीवन मरणसहित है। स्वजन-परजन वियोगके सन्मुख हैं। किसमें स्थिर बुद्धि करते हैं ? इस देहको नित्य स्नान कराते हैं; सुगन्ध लगाते हैं; आभरण, वस्त्र आदिसे विभूषित करते हैं; विविध प्रकारके भोजन कराते हैं; वारंवार इसीकी दासतामें समय व्यतीत करते है; शय्या, आसन, कामभोग, निद्रा, शीतल, उष्ण आदि अनेक उपचारोंसे इस पुष्ट करते हैं। इसके रागमें ऐसे अंधे हो गये हैं कि भक्ष्य-अभक्ष्य, योग्य-अयोग्य, न्याय-अन्यायके विचारसे रहित होकर आत्मधर्मको बिगाड़ना, यशका विनाश करना, मरणको प्राप्त होना, नरकमें जाना, निगोदमें वास करना—इन सबको नहीं गिनते। इस शरीरका जलसे भरे हुए कच्चे घड़ेकी तरह शीघ्र विनाश हो जायेगा। इस देहका उपकार कृतघ्नके उपकारकी भाँति विपरीत फलित होगा। सर्पको दूध-मिसरीका पान करानेके समान अपनेको महान दुःख, रोग, क्लेश, दुर्ध्यान, असंयम, कुमरण और नरकके कारणरूप शरीरका मोह है, ऐसा निश्चयपूर्वक जानें। इस शरीरको ज्यों-ज्यों विषयादिसे पुष्ट करेंगे त्यों त्यों यह आत्माका नाश करनेमें समर्थ होगा। एक दिन इसे आहार नहीं देंगे तो यह बहुत दुःख देगा। जो-जो शरीरके रागी हुए हैं, वे-वे संसारमें नष्ट होकर एवं आत्मकार्यको बिगाड़कर अनंतानंत काल नरक और निगोदमें भ्रमण करते हैं। जिन्होंने इस शरीरको तपसंयममें लगाकर कृश किया है उन्होंने अपना हित किया है। ये इंद्रियाँ ज्यों-ज्यों विषयोंको भोगती हैं, त्यों-त्यों तृष्णाको बढ़ाती हैं। जैसे अग्नि ईंधनसे तृप्त नहीं होती, वैसे ही इंद्रियाँ विषयोंसे तृप्त नहीं होती। एक-एक इंद्रियके विषयकी वांछा करके बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजा भ्रष्ट होकर नरकमें जा पहुँचे हैं, तो फिर दूसरोंका तो क्या कहना ? इन इंद्रियोंको दुःखदायी, पराधीन करनेवाली, नरकमें पहुँचानेवाली जानकर, इन इन्द्रियोंका राग छोड़कर इन्हें वश करें।

संसारमें हम जितने निंद्य कर्म करते हैं, वे सब इंद्रियोंके अधीन होकर करते हैं। इसलिये इंद्रियरूपी सर्पके विषसे आत्माकी रक्षा करें। यह लक्ष्मी क्षणभंगुर है। यह लक्ष्मी कुलीनमें नहीं रमती। धीरमें, शूरमें, पंड़ितमें, मूर्खमें, रूपवानमें, कुरूपमें, पराक्रमीमें, कायरमें, धर्मात्मामें, अधर्मीमें, पापीमें, दानीमें, कृपणमें—कहीं भी नहीं रमती। यह तो पूर्व जन्ममें जिसने पुण्य किया हो उसकी दासी है। कुपात्र दानादि एवं कुतप करके उत्पन्न हुए जीवको, बुरे भोगमें, कुमार्गमें, मदमें लगाकर दुर्गतिमें पहुँचानेवाली है। इस पंचमकालमें तो कुपात्र दान करके, कुतपस्या करके लक्ष्मी पैदा होती है। यह बुद्धिको बिगाड़ती है, महादुःखसे उत्पन्न होती है, महादुःखसे भोगी जाती है। पापमें लगाती है। दानभोगमें खर्च किये बिना मरण होने पर, आर्त्तध्यानसे लक्ष्मीको छोड़कर जीव तिर्यंच गतिमें उत्पन्न होता है। इसलिये लक्ष्मीको तृष्णा बढानेवाली और मद उत्पन्न करनेवाली जानकर दुःखित और दरिद्रीके उपकारमें, धर्म-वर्धक धर्मस्थानोंमें, विद्यादानमें, वीतराग-सिद्धान्तके लिखवानेमें लगाकर सफल करें। न्यायके प्रामाणिक भोगमें, जैसे धर्म न बिगड़े वैसे

लगायें। यह लक्ष्मी जलतरंगवत् अस्थिर है। अवसर पर दान एवं उपकार कर लें। यह परलोकमें साथ नहीं आयेगी। इसे अचानक छोड़कर मरना पड़ेगा। जो निरंतर लक्ष्मीका संचय करते हैं, दान-भोगमें इसका उपयोग नहीं कर सकते, वे अपने आपको ठगते हैं। पापका आरंभ करके, लक्ष्मीका संग्रह करके, महामूर्च्छासे जिसका उपार्जन किया है, उसे दूसरेके हाथमें देकर, अन्य देशोंमें व्यापारादिसे बढ़ानेके लिये उसे स्थापित करके, जमीनमें अति दूर गाड़कर, और दिनरात उसीका चिंतन करते-करते दुर्ध्यानसे मरकर दुर्गतिमें जा पहुँचते हैं। कृपणको लक्ष्मीका रखवाला और दास समझना। दूर जमीनमें गाड़कर लक्ष्मीको पत्थर-सा कर दिया है। जैसे जमीनमें दूसरे पत्थर पड़े रहते हैं, वैसे लक्ष्मीको समझें। राजाके, उत्तराधिकारीके तथा कुटुंबके कार्य सिद्ध किये; परंतु अपनी देह तो भस्म होकर उड़ जायेगी, इसे प्रत्यक्ष नहीं देखते ? इस लक्ष्मीके समान आत्माको ठगनेवाला दूसरा कोई नहीं है। जीव अपने समस्त परमार्थको भूलकर लक्ष्मीके लोभका मारा रात और दिन घोर आरंभ करता है। समय पर भोजन नहीं करता। सर्दी-गर्मीकी वेदना सहन करता है। रागादिकके दुःखको नहीं जानता। चिंतातुर होकर रातको नींद नहीं लेता। लक्ष्मीका लोभी यह नहीं समझता कि मेरा मरण हो जायेगा। वह संग्रामके घोर संकटमें चला जाता है। समुद्रमें प्रवेश करता है। घोर भयानक वीरान पर्वत पर जाता है। धर्मरहित देशमें जाता है, जहाँ अपनी जाति, कुल या घरका कोई व्यक्ति देखनेमें नहीं आता। ऐसे स्थानमें केवल लक्ष्मीके लोभसे भ्रमण करता-करता मरकर दुर्गतिमें जा पहुँचता है। लोभी नहीं करने योग्य और नीच भीलके करने योग्य काम करता है। अतः तू अब जिनेन्द्रके धर्मको पाकर संतोष धारण कर। अपने पुण्यके अनुरूप न्यायमार्गको प्राप्त होकर, धनका संतोषी होकर, तीव्र राग छोड़कर, न्यायके विषय भोगोंमें और दुःखित, बुभुक्षित, दीन एवं अनाथके उपकारके लिये दान एवं सन्मानमें लक्ष्मीको लगा। इस लक्ष्मीने अनेकोंको ठग कर दुर्गतिमें पहुँचाया है। लक्ष्मीका संग करके जगतके जीव अचेत हो रहे हैं। पुण्यके अस्त होते ही यह भी अस्त हो जायेगी। लक्ष्मीका संग्रह करके मर जाना ऐसा लक्ष्मीका फल नहीं है। इसके फल हैं केवल उपकार करना और धर्मका मार्ग चलाना। जो इस पापरूप लक्ष्मीको ग्रहण नहीं करते वे धन्य हैं। और जिन्होंने इसे ग्रहण करके इसकी ममता छोड़कर क्षण मात्रमें इसका त्याग कर दिया है वे धन्य है। विशेष क्या लिखें ? इस धन, यौवन, जीवन, कुटुंबके संगको पानीके बुलबुलेके समान अनित्य जानकर आत्महितरूप कार्यमें प्रवृत्ति करें। संसारके जितने-जितने सम्बन्ध हैं उतने-उतने सभी विनाशी हैं।

इस प्रकार अनित्य भावनाका विचार करें। पुत्र, पौत्र, स्त्री, कुटुंब आदि कोई परलोकमें न तो साथ गया है और न जायेगा। अपने उपार्जित किये हुए पुण्यपापादि कर्म साथ आयेंगे। यह जाति, कुल, रूप आदि तथा नगर आदिका संबंध देहके साथ ही नष्ट हो जायेगा। इस अनित्य अनुप्रेक्षाका क्षण मात्र भी विस्मरण न हो। जिससे परका ममत्व छूट कर आत्मकार्यमें प्रवृत्ति हो ऐसी अनित्य भावनाका वर्णन किया॥१॥

अशरण अनुप्रेक्षा

अब अशरण अनुप्रेक्षाका चिन्तन करते हैं—

इस संसारमें कोई देव, दानव, इन्द्र, मनुष्य ऐसा नहीं है कि जिसपर यमराजकी फाँसी न पड़ी हो। मृत्युके वश होने पर कोई आश्रय नहीं है। आयु पूर्ण हो जानेके समय इन्द्रका पतन क्षण मात्रमें हो जाता है। जिसके असंख्यात देव आज्ञाकारी सेवक हैं, जो सहस्रों ऋद्धियोंवाला है, जिसका स्वर्गमें असंख्यात कालसे निवास है, जिसका शरीर रोग, क्षुधा, तृषादि उपद्रवोंसे रहित है, जो असंख्यात बलपराक्रमका धारक है; ऐसे इन्द्रका पतन हो जाये वहाँ भी अन्य कोई शरण नहीं है। जैसे उजाड़ वनमें शेरसे पकड़े हुए हिरनके बच्चेकी रक्षा करनेके लिये कोई समर्थ नहीं हैं, वैसे मृत्युसे प्राणीकी रक्षा करनेके लिये कोई

कोई समर्थ नहीं है। इस संसारमें पहले अनन्तानन्त पुरुष प्रलयको प्राप्त हुए हैं। कोई शरण है ? कोई ऐसा औषध, मंत्र, यंत्र अथवा देवदानव आदि नहीं हैं कि जो एक क्षण मात्र भी कालसे रक्षा करें। यदि कोई देव, देवी, वैद्य, मंत्र, तंत्र आदि एक मनुष्यकी मरणसे रक्षा कर पाते तो मनुष्य अक्षय हो जाता। इसलिये मिथ्याबुद्धिको छोडकर अशरण अनुप्रेक्षाका चिन्तन करें। मूढ मनुष्य ऐसा विचार करता है कि मेरे सगेका हितकारी इलाज नहीं हुआ, औषधि न दी, देवताकी शरण नहीं ली, उपाय किये बिना मर गया; इस प्रकार अपने स्वजनका शोक करता है। परन्तु अपनी चिन्ता नहीं करता कि मैं यमकी दाढोंके बीच बैठा हूँ। जिस कालको करोड़ों उपायोंसे भी इन्द्र जैसे भी न रोक सके, उसे बेचारा मनुष्य भला क्या रोकेगा ? जैसे हम दूसरेका मरण होते हुए देखते हैं वैसे हमारा भी अवश्य होगा।

जैसे दूसरे जीवोंका स्त्री, पुत्रादिसे वियोग होता देखते हैं, वैसे हमारे लिये भी वियोगमें कोई शरण नहीं है। अशुभ कर्मकी उदीरणा होने पर बुद्धिनाश होता है, प्रबल कर्मोदय होने पर एक भी उपाय काम नहीं आता। अमृत विषमें परिणमित हो जाता है, तृण भी शस्त्रमें परिणत हो जाता है, अपना प्रिय मित्र भी शत्रु हो जाता है, अशुभ कर्मके प्रबल उदयसे बुद्धि विपरीत होकर स्वयं अपना ही घात करता है। जब शुभ कर्मका उदय होता है, तब मूर्खको भी प्रबल बुद्धि उत्पन्न होती है। किये बिना अनेक सुखकारी उपाय अपने आप प्रगट होते हैं। शत्रु मित्र हो जाता है, विष भी अमृतमें परिणत हो जाता है। जब पुण्यका उदय होता है तब समस्त उपद्रवकारी वस्तुएँ नाना प्रकारके सुख देनेवाली हो जाती है। यह पुण्यकर्मका प्रभाव है।

पापके उदयसे हाथमें आया हुआ धन क्षण मात्रमें नष्ट हो जाता है। पुण्यके उदयसे बहुत ही दूरकी वस्तु भी प्राप्त हो जाती है। जब लाभांतरायका क्षयोपशम होता है तब यत्नके बिना निधिरत्न प्रगट होता है। जब पापोदय होता है तब सुन्दर आचरण करनेवालेको भी दोष एवं कलंक लग जाते हैं, अपवाद तथा अपयश होते हैं। यश नाम कर्मके उदयसे समस्त अपवाद दूर होकर दोष गुणमें परिणत हो जाते हैं।

यह संसार पुण्यपापके उदयरूप है।

परमार्थसे दोनों उदयों (पुण्यपाप) को परकृत और आत्मासे भिन्न जानकर उनके ज्ञाता अथवा साक्षी मात्र रहें, हर्ष एवं खेद न करे। पूर्वमें बाँधे हुए कर्म अब उदयमें आये हैं। अपने किये हुए कर्म दूर नहीं होते। उदयमें आनेके बाद उपाय नहीं है। कर्मके फल जो जन्म, जरा, मरण, रोग, चिंता, भय, वेदना, दुःख आदि है, उनके आने पर मंत्र, तंत्र, देव, दानव, औषध आदि कोई उनसे रक्षा करनेके लिये समर्थ नहीं है। कर्मका उदय आकाश, पाताल अथवा कहीं भी नहीं छोडता। औषधादि बाह्य निमित्त, अशुभ कर्मका उदय मन्द होने पर उपकार करते हैं। दुष्ट, चोर, भील, वैरी तथा सिंह, बाघ, सर्प आदि गाँवमें या वनमें मारते हैं, जलचरादि जीव पानीमें मारते हैं, परंतु अशुभ कर्मका उदय तो जलमें, स्थलमें, वनमें, समुद्रमें, पर्वतमें, गढ़में, घरमें, शय्यामें, कुटुंबमें, राजादि सामन्तोंके बीचमें शस्त्रोंसे रक्षा करते हुए भी कहीं भी नहीं छोड़ता। इस लोकमें ऐसे स्थान हैं कि जहाँ सूर्य व चन्द्रका प्रकाश, पवन तथा वैक्रियिक ऋद्धिवाले नहीं जा सकते; परन्तु कर्मका उदय तो सर्वत्र जाता है। प्रबल कर्मका उदय होने पर विद्या, मंत्र, बल, औषधि, पराक्रम, प्रिय मित्र, सामन्त, हाथी, घोड़े, रथ, पैदल सेना, गढ़, कोट, शस्त्र, साम, दाम, दंड़, भेद आदि सभी उपाय शरणरूप नहीं होते। जैसे उदित होते हुए सूर्यको कौन रोक सकता है ? वैसे कर्मके उदयको नहीं रोका जा सकता, ऐसा समझकर समताभावकी शरण ग्रहण करें, तो अशुभ कर्मकी निर्जरा होती है और नया बंध नहीं होता। रोग, वियोग, दारिद्र्य, मरण आदिका भय छोडकर परम धैर्य ग्रहण करें, अपना वीतराग भाव, संतोषभाव, और परम समताभाव ही शरण हैं, अन्य कोई शरण नहीं है। इस जीवके उत्तम क्षमादि भाव स्वयमेव शरणरूप हैं।

क्रोधादि भाव इस लोक एवं परलोकमें इस जीवके घातक हैं। इस जीवके लिये कषायकी मंदता इस लोकमें हजारों विघ्नोंका नाश करनेवाली परम शरणरूप है, और परलोकमें नरक व तिर्यंच गतिसे रक्षा करती है। मन्दकषायी जीव देवलोक तथा उत्तम मनुष्यजातिमें उत्पन्न होता है। यदि पूर्वकर्मके उदयके समय आर्त्त एवं रौद्र परिणाम करेंगे तो उदीरणाको प्राप्त हुए कर्मोंको रोकनेमें कोई समर्थ नहीं है। केवल दुर्गतिके कारण नवीन कर्म और बढ़ेंगे। कर्मोदयके लिये अपेक्षित बाह्य निमित्त– क्षेत्र, काल और भावके मिलनेके बाद उस कर्मोदयको इन्द्र, जिनेन्द्र, मणि, मंत्र, औषध आदि कोई भी रोकनेमें समर्थ नहीं है। रोगके इलाज तो औषधादि जगतमें हम देखते हैं, परन्तु प्रबल कर्मोदयको रोकनेके लिये औषध आदि समर्थ नहीं हैं, प्रत्युत वे विपरीतरूपसे परिणत होते हैं।

इस जीवको जब असातावेदनीय कर्मका उदय तीव्र होता है तब औषध आदि विपरीत रूपसे परिणत होते हैं। असाताका मंद उदय हो अथवा उपशम हो तब औषध आदि उपकार करते हैं। क्योंकि मन्द उदयको रोकनेमें समर्थ तो अल्प शक्तिवाले भी होते हैं। प्रबल शक्तिवालेको रोकनेमें अल्प शक्तिवाला समर्थ नहीं है। इस पंचम कालमें अल्प मात्र बाह्य द्रव्य, क्षेत्रादि सामग्री है, अल्प मात्र ज्ञानादि है, अल्प मात्र पुरुषार्थ है। और अशुभका उदय आनेसे बाह्य सामग्री प्रबल है, तो वह अल्प सामग्री अल्प पुरुषार्थसे प्रबल असाताके उदयको कैसे जीत सकती है ? बडी नदियोंका प्रवाह तरंगोंको उछालता हुआ चला आता हो तो उसमें तैरनेकी कलामें समर्थ पुरुष भी तैर नहीं सकता। जब नदीके प्रवाहका वेग मन्द होता जाता है तब तैरनेकी विद्याका जानकार तैर कर पार हो जाता है, उसी प्रकार प्रबल कर्मोदयमें अपनेको अशरण जानें। पृथ्वी और समुद्र दोनों विशाल हैं, परन्तु पृथ्वीका छोर पानेके लिये और समुद्रको तैरनेके लिये बहुतसे समर्थ देखे जाते हैं, परन्तु कर्मोदयको तैरनेके लिये समर्थ दिखायी नहीं देते। इस संसारमें सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र तथा सम्यक् तप–संयम शरण हैं। इन चार आराधनाओंके बिना और कोई शरण नहीं हैं। तथा उत्तम क्षमादि दश धर्म इस लोकमें समस्त क्लेश, दुःख, मरण, अपमान और हानिसे प्रत्यक्ष रक्षा करनेवाले हैं। मन्द कषायके फल स्वाधीन सुख, आत्मरक्षा, उज्वल यश, क्लेशाभाव तथा उच्चता इस लोकमें प्रत्यक्ष देखकर उसकी शरण ग्रहण करें। परलोकमें उसका फल स्वर्गलोक है। विशेषतः व्यवहारमें चार शरण हैं–अर्हंत, सिद्ध, साधु और केवल ज्ञानी द्वारा प्ररूपित धर्म। इन्हींको शरण जानें। इस प्रकार यहाँ इनकी शरणके बिना आत्माकी उज्वलता प्राप्त नहीं होती, ऐसा बतानेवाली अशरण अनुप्रेक्षाका विचार किया।।२।।

संसार अनुप्रेक्षा

अब संसार अनुप्रेक्षाके स्वरूपका विचार करते हैं–

इस संसारमें अनादि कालके मिथ्यात्वके उदयसे अचेत हुआ जीव, जिनेन्द्र सर्वज्ञ वीतराग द्वारा प्ररूपित सत्यार्थ धर्मको प्राप्त न होकर चारों गतियोंमें भ्रमण करता है। संसारमें कर्मरूप दृढ़ बन्धनसे बँध कर पराधीन होकर, त्रसस्थावरमें निरन्तर घोर दुःखको भोगता हुआ वारंवार जन्ममरण करता है। जो-जो कर्मका उदय आकर रस देता है, उस उदयमें तन्मय होकर अज्ञानी जीव अपने स्वरूपको छोडकर नया-नया कर्मबंध करता है। कर्मबंधके अधीन हुए प्राणीके लिये ऐसी कोई दुःखकी जाति बाकी नहीं रही कि जिसे उसने न भोगा हो। सभी दुःखोंको अनंतानंत बार भोगकर अनन्तानंत काल व्यतीत हो गया है। इस प्रकार इस संसारमें इस जीवके अनन्त परिवर्तन हुए है। संसारमें ऐसा कोई पुद्गल नहीं रहा कि जिसे इस जीवने शरीररूपसे, आहाररूपसे ग्रहण न किया हो। अनन्त जातिके अनन्त पुद्गलोंके शरीर धारणकर आहाररूप (भोजनपानरूप) किया है।

तीन सौ तैंतालीस घनरज्जुप्रमाण लोकमें ऐसा कोई एक भी प्रदेश नहीं है कि जहाँ संसारी जीवने अनंतानंत जन्म-मरण नहीं किये हो। उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालका ऐसा एक भी समय बाकी नहीं रहा कि जिस समयमें यह जीव अनंतवार जन्मा न हो और मरा न हो। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव, इन चारों पर्यायोंमें इस जीवने जघन्य आयुसे लेकर उत्कृष्ट आयु पर्यंत समस्त आयुओंके प्रमाण धारण करके अनंतवार जन्म ग्रहण किया है। केवल अनुदिश, अनुत्तर विमानमें वह उत्पन्न नहीं हुआ, क्योंकि इन चौदह विमानोंमें सम्यग्दृष्टिके बिना अन्यका जन्म नहीं होता। सम्यग्दृष्टिको संसार-भ्रमण नहीं है। कर्मकी स्थितिबंधके स्थान और स्थितिबंधके कारण असंख्यात लोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थान, उसके कारण असंख्यात लोकप्रमाण अनुभाग बंधाध्यवसायस्थान तथा जगतश्रेणीके संख्यातवें भाग जितने योगस्थानोंमेंसे ऐसा कोई भाव बाकी नहीं रहा कि जो संसारी जीवको न हुआ हो। केवल सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रके योगभाव नहीं हुए। अन्य समस्त भाव संसारमें अनंतानंत बार हुए हैं। जिनेंद्रके वचनके अवलम्बनसे रहित पुरुषको मिथ्या ज्ञानके प्रभावसे अनादिसे विपरीत बुद्धि हो रही है। इसलिये सम्यग्मार्गको ग्रहण न करके संसाररूप वनमें नष्ट होकर जीव निगोदमें जा गिरता है। कैसी है निगोद ? अनंतानंत काल बीत जाने पर भी जिसमेंसे निकलना बहुत मुश्किल है। कदाचित् पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, प्रत्येक वनस्पतिकाय और साधारण वनस्पतिकायमें लगभग समस्त ज्ञानका नाश होनेसे जडरूप होकर, एक स्पर्शेन्द्रिय द्वारा कर्मोदयके अधीन होकर आत्मशक्तिरहित, जिह्वा, नासिका, नेत्र, कर्णादि इंद्रियसे रहित होकर दुःखमें दीर्घकाल व्यतीत करता है। और द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रियरूप विकलत्रय जीव, आत्मज्ञानरहित केवल रसना आदि इंद्रियोंके विषयोंकी अति तृष्णाके मारे उछल-उछलकर विषयोंके लिये गिर-गिर कर मरते हैं। असंख्यात काल विकलत्रयमें रहकर पुनः एकेंद्रियमें फिर-फिर कर वारंवार कुएँके रहँटकी घटीकी भाँति नयी-नयी देह धारण करते-करते चारों गतियोंमें निरंतर जन्म, मरण, भूख, प्यास, रोग, वियोग और संताप भोगकर अनंतकाल तक परिभ्रमण करते हैं। इसका नाम संसार है।

जैसे उबलते हुए अदहनमें चावल सब तरफ फिरते हुए भी सीझ जाते हैं, वैसे संसारी जीव कर्मसे तप्तायमान होकर परिभ्रमण करते हैं। आकाशमें उडते हुए पक्षीको दूसरा पक्षी मारता है, जलमें विचरते हुए मत्स्यादिको दूसरे मत्स्यादि मारते हैं, स्थलमें विचरते हुए मनुष्य, पशु आदिको स्थलचारी सिंह, बाघ, सर्प आदि दुष्ट तिर्यंच तथा भील, म्लेच्छ, चोर, लुटेरे तथा महान निर्दय मनुष्य मारते हैं। इस संसारमें सभी स्थानोंमें निरंतर भयभीत होकर निरंतर दुःखमय परिभ्रमण करते हैं। जैसे शिकारीके उपद्रवसे भयभीत हुए जीव मुँह फाडकर बैठे हुए अजगरके मुँहमें बिल समझकर प्रवेश करते हैं, वैसे अज्ञानी जीव भूख, प्यास, काम, कोप इत्यादि तथा इंद्रियोंके विषयोंकी तृष्णाके आतापसे संतप्त होकर, विषयादिरूप अजगरके मुँहमें प्रवेश करते हैं। विषयकषायमें प्रवेश करना संसाररूप अजगरके मुँहमें प्रवेश करना है। इसमें प्रवेश करके अपने ज्ञान, दर्शन, सुख, सत्ता आदि भावप्राणोंका नाश करके, निगोदमें अचेतन तुल्य होकर, अनंतवार जन्म-मरण करते हुए अनंतानंत काल व्यतीत करते हैं। वहाँ आत्मा अभाव तुल्य है; जब ज्ञानादिका अभाव हुआ तब नाश भी हुआ।

निगोदमें अक्षरका अनंतवाँ भाग ज्ञान है, यह सर्वज्ञने देखा है। त्रस पर्यायमें जितने दुःखके प्रकार हैं वे सब दुःख जीव अनंतवार भोगता है। दुःखकी ऐसी कोई जाति बाकी नहीं रही, कि जिसे इस जीवने संसारमें नहीं पाया। इस संसारमें यह जीव दुःखमय अनंत पर्याय पाता है, तब कहीं एक बार इंद्रियजनित सुखका पर्याय प्राप्त करता है, और वह भी विषयोंके आताप सहित, भय शंकासे संयुक्त अल्पकालके लिये प्राप्त करता है। पश्चात् अनंत पर्याय दुःखके, फिर इंद्रियजनित सुखका कोई एक पर्याय कदाचित् प्राप्त होता है।

अब चतुर्गतिके कुछ स्वरूपका परमागमके अनुसार चिंतन करते हैं। नरककी सात पृथ्वियाँ हैं, उनमें उनचास भूमिकाएँ हैं। उन भूमिकाओंमें चौरासी लाख बिल हैं, जिन्हें नरक कहते हैं। उनकी वज्रमय भूमि दीवारकी भाँति छजी हुई है। कितने ही बिल संख्यात योजन लंबे-चौडे हैं, और कितने ही बिल असंख्यात योजन लंबे-चौडे हैं। उस एक एक बिलकी छतमें नारकीके उत्पत्तिस्थान हैं। वे ऊँटके मुखके आकार आदि वाले, तंग मुखवाले और उलटे मुँह होते हैं। उनमें नारकी जीव उत्पन्न होकर नीचे सिर और ऊपर पैर किये हुए आकर वज्राग्निमय पृथ्वीमें पडकर नारकी जोरसे गिरी हुई गेंदकी तरह इधर-उधर उछलते और लोटते हैं। कैसी है नरकभूमि ? असंख्यात बिच्छूके एक साथ काटनेसे जो वेदना होती है, उससे भी असंख्यातगुनी अधिक वेदना देनेवाली है।

ऊपरकी चार पृथ्वियोंके चालीस लाख बिल और पाँचवी पृथ्वीके दो लाख बिल, यों बयालीस लाख बिलोंमें तो केवल आताप, अग्निकी उष्ण वेदना है। उस नरककी उष्णता बतानेके लिये यहाँ कोई पदार्थ देखने-जाननेमें नहीं आता कि जिसकी उपमा दी जा सके; तो भी भगवानके आगममें उष्णताका ऐसा अनुमान कराया गया है कि यदि लाख योजनप्रमाण मोटा लोहेका गोला छोडें तो वह नरक भूमिमें न पहुँचकर, पहुँचनेसे पहले ही नरक क्षेत्रकी उष्णतासे रसरूप होकर बह जाता है। (अपूर्ण)

११

मुनिसमागम

राजा—हे मुनिराज ! आज मैं आपके दर्शन करके कृतार्थ हुआ हूँ। एक बार मेरा अभी और आगे घटित सुनने योग्य चरित्र सुननेके बाद आप मुझे अपने पवित्र जैन धर्मका सत्त्वगुणी उपदेश दें। इतना बोलनेके बाद वह चुप हो गया।

मुनि—हे राजन् ! तेरा चरित्र धर्म संबंधी हो तो भले आनंदके साथ कह सुना।

राजा—(स्वगत) अहो ! इन महान मुनिराजने 'मैं राजा हूँ,' ऐसा कहाँसे जाना ! भले, यह बात फिर। अभी तो अवसरके ही गीत गाऊँ। (प्रकट) हे भगवन् ! मैंने एकके बाद एक इस तरह अनेक धर्म देखे। परंतु उस प्रत्येक धर्ममेंसे कुछ कारणोंसे मेरी आस्था उठ गयी। मैं जब प्रत्येक धर्मको ग्रहण करता तब उसके गुण विचार कर; परंतु बादमें न मालूम क्या हो जाता कि जमी हुई आसक्ति एकदम नष्ट हो जाती। यद्यपि ऐसा होनेके कुछ कारण भी थे। केवल मेरी मनोवृत्ति ही ऐसी थी, यह बात नहीं थी। किसी धर्ममें धर्मगुरुओंकी धूर्तता देख कर, उस धर्मको छोडकर मैंने दूसरा स्वीकार किया, फिर उसमें कोई व्यभिचार जैसी दुर्गंध देखकर उसे छोडकर तीसरा ग्रहण किया। फिर उसमें हिंसायुक्त सिद्धांत देखनेसे, उसे छोडकर चौथा ग्रहण किया। फिर किसी कारणसे उसे छोड देनेका फरज आ पडनेसे उसे छोडकर पाँचवाँ धर्म स्वीकार किया। इस तरह जैन धर्मके सिवाय अनेक धर्म अपनाये और छोडे। जैन धर्मका केवल वैराग्य ही देखकर मूलतः उस धर्म पर मुझे भाव हुआ ही नहीं था। बहुतसे धर्मोंकी उधेडबुनमें आखिर मैंने ऐसा सिद्धांत निश्चित किया कि सभी धर्म मिथ्या है। धर्माचार्योंने अपनी-अपनी रुचिके अनुसार पाखंडी जाल फैला रखे हैं। बाकी कुछ भी नहीं है। यदि धर्मपालन करनेका सृष्टिका स्वाभाविक नियम होता तो सारी सृष्टिमें एक ही धर्म क्यों न होता ? ऐसी-ऐसी तरंगोंसे मैं केवल नास्तिक हो गया। संसारी शृंगारको ही मैंने मोक्ष ठहरा दिया। न पाप है और न पुण्य है, न धर्म है और न कर्म है, न स्वर्ग है और न नरक है, ये सब पाखंड हैं। जन्मका कारण मात्र स्त्रीपुरुषका संयोग है। और जैसे जीर्ण वस्त्र कालक्रमसे नाशको प्राप्त होता है, वैसे यह काया धीरे-धीरे क्षीण होकर अंतमें निष्प्राण होकर नष्ट हो जाती है। बाकी सब मिथ्या है। इस प्रकार मेरे अंतःकरणमें दृढ़ हो जानेसे मुझे जैसा रुचा, जैसा

अच्छा लगा, जैसा रास आया वैसा करने लगा। अनीतिके आचरण करने लगा। बेचारी दीन प्रजाको पीडित करनेमें मैंने किसी भी प्रकारकी कसर नहीं रखी। शीलवती सुंदरियोंका शीलभंग कराकर मैंने हाहाकार मचानेमें किसी भी प्रकारकी कसर नहीं छोडी। सज्जनोंको दंडित करनेमें, संतोंको सतानेमें और दुर्जनोंको सुख देनेमें मैंने इतने पाप किये हैं कि किसी भी प्रकारकी न्यूनता नहीं रहने दी। मैं मानता हूँ कि मैंने इतने पाप किये हैं कि उन पापोंका एक प्रबल पर्वत खडा किया जाये तो वह मेरु पर्वतसे भी सवाया हो। यह सब होनेका कारण मात्र धूर्त धर्माचार्य थे। ऐसीकी ऐसी मेरी चांडालमति अभी तक रही है। मात्र अद्‌भुत कौतुक हुआ कि जिससे मुझमें शुद्ध आस्तिकता आ गयी। अब मैं यह कौतुक आपके समक्ष निवेदन करता हूँ–

मैं उज्जयिनी नगरीका अधिपति हूँ। मेरा नाम चन्द्रसिंह है। विशेषतः दयालुओंका दिल दुखानेके लिये मैं प्रबल दलके साथ शिकारके लिये निकला था। एक रंक हिरनके पीछे दौडते हुए मैं सैन्यसे बिछुड गया। और उस हिरनके पीछे अपने घोडेको दौड़ाता-दौड़ाता इस तरफ निकल पडा। अपनी जान बचानेकी किसे इच्छा न हो ? और वैसा करनेके लिये उस बेचारे हिरनने दौडनेमें कुछ भी कसर नहीं रखी। परन्तु इस पापी प्राणीने अपना जुल्म गुजारनेके लिये उस बेचारे हिरनके पीछे घोडा दौडाकर उसके नजदीक आनेमें कुछ कम प्रयास नहीं किया। आखिर उस हिरनको इस बागमें प्रवेश करते हुए देखकर मैंने धनुष पर बाण चढ़ा कर छोड दिया। उस समय मेरे पापी अन्तःकरणमें लेशमात्र भी दयादेवीका अंश न था। सारी दुनियाके धीवरों और चाण्डालोंका सरदार मैं ही न होऊँ, ऐसा मेरा कलेजा क्रूरावेशमें बाँसों उछल रहा था। मैंने ताककर मारा हुआ तीर व्यर्थ जानेसे मुझे दुगुना पापावेश आ गया। इसलिये मैने अपने घोड़ेको एड़ी मार कर इस तरफ खूब दौडाया। दौड़ाते-दौड़ाते ज्यों ही इस सामनेवाली झाड़ीके गहरे मध्य भागमें आया त्यों ही घोड़ा ठोकर खाकर लड़खड़ाया। लड़खड़ानेके साथ वह चौंक गया। और चौंकते ही खडा रह गया। जैसे ही घोडा लड़खड़ाया था वैसे ही मेरा एक पैर एक ओर की रकाब पर और दूसरा पैर नीचे भूमिसे एक बित्ता दूर लटक रहा था। म्यानमेंसे चमकती तलवार भी निकल पड़ी थी। जिससे यदि मैं घोडे पर चढ़ने जाऊँ तो वह तेज तलवार मेरे गलेके आर-पार होनेमें एक पलकी भी देर करनेवाली न थी। और नीचे जहाँ दृष्टि करके देखता हूँ वहाँ एक काला एवं भयंकर नाग नजर आया। मुझ जैसे पापीका प्राण लेनेके लिये ही अवतरित उस काले नागको देखकर मेरा कलेजा काँप उठा। मेरा अंग-अंग थरथराने लगा। मेरी छाती धडकने लगी। मेरी जिंदगी अब पूरी हो जायेगी। हाय ! अब पूरी हो जायेगी ! ऐसा भय मुझे लगा। हे भगवन् ! ऊपर कहे अनुसार, उस समय मैं न तो नीचे उतर सकता था और न घोड़े पर चढ़ सकता था। इसलिये अब मैं कोई उपाय खोजनेमें निमग्न हुआ। परन्तु निरर्थक ! केवल व्यर्थ और बेकार !! धीरे से आगे खिसक कर रास्ता लूँ, ऐसा विचार करके मैं ज्यों ही दृष्टि उठाकर सामने देखता हूँ त्यों ही वहाँ एक विकराल सिंहराज नजर आया। रे ! अब तो मैं जाड़ेकी ठंडसे भी सौगुना थर्राने लग गया। और फिर विचारमें पड़ गया, 'खिसक कर पीछे मुड़ूँ तो कैसा ?' ऐसा लगा, वहाँ तो उस तरफ घोडेकी पीठ पर नंगी पौनी तलवार देखी। इसलिये यहाँ अब मेरे विचार तो पूरे हो चुके। जहाँ देखूँ वहाँ मौत। फिर विचार किस कामका ? चारों दिशाओंमें मौतने अपना जबरदस्त पहरा बिठा दिया। हे महामुनिराज ! ऐसा चमत्कारिक परन्तु भयंकर दृश्य देखकर मुझे अपने जीवनकी शंका होने लगी। मेरा प्यारा जीव कि जिससे मैं सारे ब्रह्माण्डके राज्य जैसा वैभव भोग रहा हूँ, वह अब इस नरदेहको छोड़ कर चला जायेगा ! रे चला जायेगा ! अरे ! अब मेरी कैसी विपरीत गति हो गयी ! मेरे जैसे पापीको ऐसा ही उचित है। ले पापी जीव ! तू ही अपने कर्तव्यको भोग। तूने अनेकोंके कलेजे

जलाये हैं। तूने अनेक रंक प्राणियोंका दमन किया है; तूने अनेक संतोंको संतप्त किया है। तूने अनेक सती सुंदरियोंका शील भंग किया है। तूने अनेक मनुष्योंको अन्यायसे दंडित किया है। संक्षेपमें तूने किसी भी प्रकारके पापमें कमी नहीं रखी। इसलिये रे पापी जीव! अब तू ही अपना फल भोग। तू अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करता रहा; और साथ ही मदांध होकर ऐसा भी मानता था कि मैं क्या दुःखी होनेवाला था? मुझे क्या कष्ट आने वाले थे? परन्तु रे पापी प्राण! अब देख ले। तू अपने इस मिथ्या मदका फल भोग ले। तू मानता था कि पापका फल है ही नहीं। परन्तु देख ले, अब यह क्या है? इस तरह मैं पश्चात्तापमें डूब गया। अरे हाय! मैं अब बचूँगा ही नहीं? यह विडम्बना मुझे हो गयी। इस समय मेरे पापी अन्तःकरणमें यह आया कि यदि अभी कोई आकर मुझे एकदम बचा ले तो कैसा मांगलिक हो! वह प्राणदाता इसी क्षण जो माँगे उसे देनेके लिये बँध जाऊँ। वह मेरे सारे मालवा देशका राज्य माँगे तो देनेमें ढ़ील न करूँ। और इतना सब देते हुए भी और माँगे तो अपनी एक हजार नव-यौवना रानियाँ दे दूँ। वह माँगे तो अपनी विपुल राजलक्ष्मी उसके चरणकमलोंमें धर दूँ। और इतना सब देते हुए भी वह कहता हो तो मैं जीवन पर्यंत उसके किंकरका किंकर होकर रहूँ। परन्तु मुझे इस समय कौन जीवनदान दे? ऐसी-ऐसी तरंगोंमें झोंके खाता-खाता मैं आपके पवित्र जैनधर्मके चिंतनमें पड गया। इसके कथनका मुझे उस समय भान हो आया। इसके पवित्र सिद्धान्त उस समय मेरे अन्तःकरणमें प्रभावक ढ़ंगसे अंकित हो गये। और उसने उनका यथार्थ मनन शुरू कर दिया, कि जिससे आपके समक्ष आनेके लिये यह पापी प्राणी समर्थ हुआ।

१. **अभयदान**—यह सर्वोत्कृष्ट दान है। इसके जैसा एक भी दान नहीं है। इस सिद्धांतका प्रथम मेरा अन्तःकरण मनन करने लगा। अहो! इसका यह सिद्धांत कैसा निर्मल और पवित्र है! किसी भी प्राणीभूतको पीडा देना महापाप है। यह बात मेरे रोम-रोममें व्याप्त हो गयी—व्याप्त हुई तो ऐसी कि हजार जन्मांतरमें भी न छटके! ऐसा विचार भी आया कि कदाचित् पुनर्जन्म न हो, ऐसा क्षणभरके लिये मान लें, तो भी की गयी हिंसाका किंचित् फल भी इस जन्ममें मिलता जरूर है। नहीं तो तेरी ऐसी विपरीत दशा कहाँसे होती? तुझे सदा शिकारका पापी शौक लगा था, और इसीलिये तूने आज जानबूझकर दयालुओंका दिल दुखानेका उपाय किया था, तो अब यह उसका फल तुझे मिला। तू अब केवल पापी मौतके पंजेमें फँसा। तुझमें केवल हिंसामति न होती, तो ऐसा वक्त तुझे मिलता ही क्यों? मिलता ही नहीं। केवल यह तेरी नीच मनोवृत्तिका फल है। हे पापी आत्मन्! अब तू यहाँसे अर्थात् इस देहसे मुक्त होकर चाहे कहीं जा, तो भी इस दयाका ही पालन करना। अब तेरे और इस कायाके अलग होनेमें क्या देर है? इसलिये इस सत्य, पवित्र और अहिंसायुक्त जैन धर्मके जितने सिद्धांत तुझसे मनन किये जा सकें उतने कर और अपने जीवकी शांति चाह। इसके सभी सिद्धांत, ज्ञानदृष्टिसे देखते हुए और सूक्ष्म बुद्धिसे विचार करते हुए सत्य ही है। जैसे अभयदान संबंधी इसका अनुपम सिद्धांत इस समय तुझे अपने इस अनुभवसे यथार्थ प्रतीत हुआ, वैसे इसके दूसरे सिद्धांत भी सूक्ष्मतासे मनन करनेसे यथार्थ ही प्रतीत होंगे। इसमें कुछ न्यूनाधिक है ही नहीं। सभी धर्मोंमें दया संबंधी थोड़ा-थोड़ा बोध जरूर है; परन्तु इसमें जैन तो जैन ही है। हर किसी प्रकारसे भी सूक्ष्मसे सूक्ष्म जन्तुओंकी रक्षा करना, उन्हें किसी भी प्रकारसे दुःख न देना ऐसे जैनके प्रबल और पवित्र सिद्धान्तोंसे दूसरा कौनसा धर्म अधिक सच्चा था! तूने एकके बाद एक ऐसे अनेक धर्म अपनाये और छोडे, परंतु तेरे हाथ जैन धर्म आया ही नहीं। रे! कहाँसे आये? तेरे प्रचुर पुण्यके उदयके बिना कहाँसे आये? यह धर्म तो गंदा है। नहीं नहीं, म्लेच्छ जैसा है। इस धर्मको भला कौन ग्रहण करे? ऐसा मानकर ही तूने इस धर्मकी ओर तनिक दृष्टि तक भी नहीं की। अरे! तू

दृष्टि क्या कर सके ? अपने अनेक भवोंके तपके कारण तू राजा हुआ। तो अब नरकमें जानेसे कैसे रुके ? 'तपेश्वरी सो राजेश्वरी और राजेश्वरी सो नरकेश्वरी' यह कहावत, तेरे हाथ यह धर्म आनेसे मिथ्या ठहरती। और तू नरकमें जानेसे रुक जाता। हे मूढ़ात्मन् ! यह सब विचार अब तुझे रह रहकर सूझते हैं। परंतु अब यह सूझा हुआ किस कामका ? कुछ भी नही। प्रथमसे ही सूझा होता तो यह दशा कहाँसे होती ? होनेवाला हुआ। परंतु अब अपने अंतःकरणमें दृढ़ कर कि यही धर्म सच्चा है, यही धर्म पवित्र है। और अब इसके दूसरे सिद्धांतोंका अवलोकन कर।

२. **तप**—इस विषय संबंधी भी इसने जो उपदेश दिया है, वह अनुपम है। और तपके महान योगसे मैंने मालवा देशका राज्य पाया है, ऐसा कहा जाता है, यह भी सच्चा ही है। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति, ये तीन इसने तपके भाग किये हैं। ये भी सच्चे हैं। ऐसा करनेसे उत्पन्न होनेवाले सभी विकार शांत होते-होते कालक्रमसे विलीन हो जाते हैं, जिससे बँधनेवाला कर्मजाल रुक जाता है। वैराग्य सहित धर्म भी पाला जा सकता है। और अंतमें यह महान सुखप्रद सिद्ध होता है। देख ! इसका यह सिद्धांत भी कैसा उत्कृष्ट है !

३. **भाव**—भावके विषयमें इसने कैसा उपदेश दिया है ! यह भी सच्चा ही है। भावके बिना धर्म कैसे फलीभूत हो ? भावके बिना धर्म हो ही कहाँसे ? भाव तो धर्मका जीवन है। जब तक भाव न हो तब तक कौनसी वस्तु भली प्रतीत हो सकती थी ? भावके बिना धर्मका पालन नहीं हो सकता। तब धर्मके पालनके बिना मुक्ति कहाँसे हो सकती है ? इसका यह सिद्धांत भी सच्चा और अनुपम है।

४. **ब्रह्मचर्य**—अहो ! ब्रह्मचर्य संबंधी इसका सिद्धांत भी कहाँ कम है ? सभी महाविकारोंमें काम विकार अग्रेसर है। उसका दमन करना महा दुर्घट है। इसे दहन करनेसे फल भी महा शांतिकारक होता है, इसमें अतिशयोक्ति क्या ? कुछ भी नहीं। दुःसाध्य विषयको सिद्ध करना तो दुर्घट ही है ! इसका यह सिद्धांत भी कैसा उपदेशजनक है।

५. **संसारत्याग**—साधु होने संबंधी इसका उपदेश कुछ लोग व्यर्थ मानते हैं। परंतु यह उनकी केवल मूर्खता है। वे ऐसा मत प्रदर्शित करते हैं कि तब स्त्रीपुरुषका जोडा उत्पन्न होनेकी क्या आवश्यकता थी ? परंतु यह उनकी भ्रांति है। सारी सृष्टि कहीं मोक्ष जानेवाली नहीं है, ऐसा जैनका एक वचन मैंने सुना था। तदनुसार थोडे ही जीव मोक्षवासी हो सकते हैं, ऐसा मेरी अल्पबुद्धिमें आता है। फिर संसारका त्याग भी थोडे ही जीव कर सकते हैं, यह बात कौन नहीं जानता ? संसारत्याग किये बिना मुक्ति कहाँसे हो ? स्त्रीके शृंगारमें लुब्ध हो जानेसे कितने ही विषयोंमें लुब्ध हो जाना पडता है। संतान उत्पन्न होती है। उसका पालन-पोषण और संवर्धन करना पडता है। मेरा-तेरा करना पडता है। उदरभरणादिके लिये प्रपंचसे व्यापारादिमें छलकपटका आयोजन करना पडता है। मनुष्योंको ठगनेके लिये 'सोलह पाँचे बियासी और दो गये छूटके' ऐसे प्रपंच करने पडते हैं। अरे ! ऐसी तो अनेक झंझटोंमें जुटना पडता है। तब फिर ऐसे प्रपंचोंमेंसे मुक्तिको कौन सिद्ध कर सकनेवाला था ? और जन्म, जरा, मरणके दुःखोंको कहाँसे दूर करनेवाला था ? प्रपंचमें रहना ही बंधन है। इसलिये इसका यह उपदेश भी महा मंगलदायक है।

६. **सुदेवभक्ति**—इसका यह सिद्धांत भी जैसा-तैसा नहीं है। जो केवल संसारसे विरक्त होकर, सत्य धर्मका पालन करके अखंड मुक्तिमें बिराजमान हुए हैं, उनकी भक्ति क्यों न सुखप्रद हो ? उनकी भक्तिके स्वाभाविक गुण अपने सिरसे भवबंधनके दुःख दूर कर दें, यह बात कोई संशयात्मक नहीं है। ये अखंड परमात्मा कुछ राग या द्वेषवाले नहीं हैं, परंतु परम भक्तिका यह फल स्वतः होता है। अग्निका स्वभाव जैसे उष्णता है वैसे, ये तो रागद्वेषरहित हैं परंतु इनकी भक्ति न्यायदृष्टिसे गुणदायक है। परंतु जो

भगवान जन्म, जरा तथा मरणके दुःखमें डुबकियाँ लगाया करते हैं, वे क्या तार सकते हैं? पत्थर पत्थरको कैसे तारे? इसलिये इसका यह उपदेश भी दृढ़ हृदयसे मान्य करने योग्य है।

७. **निःस्वार्थी गुरु**—जिसे किसी भी प्रकारका स्वार्थ नहीं है वैसा गुरु धारण करना चाहिये, यह बात इसकी एकदम सच्ची ही है। जितना स्वार्थ होता है उतना धर्म और वैराग्य कम होता है। सभी धर्मोंमें मैंने धर्मगुरुओंका स्वार्थ देखा, केवल एक जैन धर्मके सिवा! उपाश्रयमें आते वक्त चपटी चावल या आधी अंजलि ज्वार लानेका भी इन्होंने बोध नहीं दिया और इसी तरह इन्होंने किसी भी प्रकारका स्वार्थ नहीं चलाया। तब ऐसे धर्मगुरुओंके आश्रयसे मुक्ति क्यों न मिले? मिले ही। इनका यह उपदेश महा श्रेयस्कर है। नाव पत्थरको तारती है, इसी तरह सुगुरु उपदेश देकर अपने शिष्योंको तार सकता है, इसमें असत्य क्या?

८. **कर्म**—सुख और दुःख, जन्म और मरण आदि सब कर्मके अधीन हैं। जीव अनादिकालसे जैसे कर्म करता आ रहा है वैसे फल पा रहा है। यह उपदेश भी अनुपम ही है। कुछ कहते हैं कि भगवान अपराध क्षमा करे तो यह हो सकता है। परन्तु नहीं। यह उनकी भूल है। इससे वह परमात्मा भी रागद्वेषवाला सिद्ध होता है। और इससे कालक्रमसे मनमाना बरताव करना होता है। इस तरह इन सभी दोषोंका कारण परमेश्वर होता है। तब यह बात सत्य कैसे कही जाय? जैनियोंका सिद्धांत है कि फल कर्मानुसार होता है, यही सत्य है। ऐसा ही मत उनके तीर्थंकरोंने भी प्रदर्शित किया है। इन्होंने अपनी प्रशंसा नहीं चाही। और यदि चाहें तो वे मानवाले ठहरते हैं। इसलिये उन्होंने सत्य प्ररूपित किया है। कीर्तिके बहाने धर्मवृद्धि नहीं की। तथा उन्होंने किसी भी प्रकारसे अपने स्वार्थकी गन्ध तक भी नहीं आने दी। कर्म सभीके लिये बाधक हैं। मुझे भी किये हुए कर्म नहीं छोडते और उन्हें भोगना पड़ता है। ऐसे विमल वचन भगवान श्री वर्धमानने कहे हैं। और फिर दृष्टान्तसहित वर्णन करके उन्हें दृढ़ किया है। भरतेश्वरजीने भगवान श्री ऋषभदेवजीसे पूछा—'हे भगवन्! अब अपने वंशमें कोई तीर्थंकर होगा?' तब आदि तीर्थंकर भगवानने कहा—'हाँ, यह बाहर बैठा हुआ त्रिदंडी वर्तमान चौबीसीमें चौबीसवाँ तीर्थंकर होगा।' यह सुनकर भरतेश्वरजी आनंदित हुए, और विनययुक्त अभिवन्दन करके वहाँसे उठे। बाहर आकर त्रिदंडीको वंदन किया और सूचित किया—'तेरा अभीका पराक्रम देखकर मैं कुछ वंदन नहीं करता; परंतु तू वर्तमान चौबीसीमें भगवान वर्धमानके नामसे अंतिम तीर्थंकर होनेवाला है, उस पराक्रमके कारण वंदन करता हूँ।' यह सुनकर त्रिदंडीजीका मन प्रफुल्लित हुआ, और अहं आ गया—'मैं तीर्थंकर होऊँ इसमें क्या आश्चर्य? मेरा दादा कौन है? आद्य तीर्थंकर श्री ऋषभदेवजी। मेरा पिता कौन है? छ खण्डके राजाधिराज चक्रवर्ती भरतेश्वर। मेरा कुल कौनसा है? इक्ष्वाकु। तब मैं तीर्थंकर होऊँ इसमें क्या?' इस प्रकार अभिमानके आवेशमें हँसे, खेले और उछले-कूदे, जिससे सत्ताईस श्रेष्ठ व अनिष्ट भव बाँधे और उन भवोंको भोगनेके बाद वर्तमान चौबीसीके अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी हुए। यदि उन्होंने स्वार्थ या कीर्तिके लिये धर्मप्रवर्तन किया होता तो वे इस बातको प्रगट भी करते? परन्तु उनका धर्म स्वार्थरहित था। इसलिये सच कहनेसे क्यों रुकते? देखो भाई! मुझे भी कर्म नहीं छोडते, तो आपको कैसे छोडेंगे? इसलिये इनका यह कर्मसिद्धांत भी सच्चा है। यदि उनका स्वार्थी और कीर्तिके बहाने भुलावा देनेवाला धर्म होता तो वे यह बात प्रदर्शित भी करते? जिन्हें स्वार्थ हो वे तो ऐसी बातको केवल भूमिमें ही दफना दे और दिखावे कि, नहीं नहीं, मुझे कर्म पीडा नहीं देते। मैं सबको जैसे चाहूँ वैसे कर सकता हूँ, तरनतारन हूँ ऐसी शान बघारते हैं। परंतु भगवान वर्धमान जैसे निःस्वार्थी और सत्यनिष्ठको अपनी झूठी प्रशंसा कहना-करना छाजे ही क्यों? ऐसे निर्विकारी परमात्मा ही यथार्थ उपदेश

दे सकते हैं। इसलिये इनका यह सिद्धांत भी किसी भी प्रकारसे शंका करने योग्य नहीं है।

९. **सम्यग्दृष्टि**—सम्यग्दृष्टि अर्थात् भली दृष्टि। निष्पक्षतासे सदसद्का विचार करना। इसका नाम विवेकदृष्टि और विवेकदृष्टि अर्थात् सम्यग्दृष्टि। इनका यह बोध संपूर्ण सत्य ही है। विवेक-दृष्टिके बिना सत्य कहाँसे सूझे? और सत्य सूझे बिना सत्यका ग्रहण भी कहाँसे हो? इसलिये सभी प्रकारसे सम्यग्दृष्टिका उपयोग करना चाहिये। यह भी इसका सूचन क्या कम श्रेयस्कर है?

हे पापी आत्मन्! तूने अनेक स्थलों पर जैन मुनीश्वरोंको अहिंसा सहित इन नौ सिद्धांतोंका उपदेश देते हुए सुना था। परन्तु उस समय तुझे भली दृष्टि ही कहाँ थी? इसके ये नवों सिद्धांत कैसे निर्मल हैं! इसमें तिलभर बढ़ती या जौ भर घटती नहीं है। इनके धर्ममें किंचित् विरोध नहीं है। इसमें जितना कहा है उतना सत्य ही है। मन, वचन और कायाका दमन करके आत्माकी शांति चाहो। यही इसका स्थल-स्थल पर उपदेश है। इसका प्रत्येक सिद्धांत सृष्टिनियमका स्वाभाविक रूपसे अनुसरण करता है। इसने शील संबंधी जो उपदेश दिया है, वह कैसा प्रभावशाली है! पुरुषोंको एक पत्नीव्रत और स्त्रियोंको एक पतिव्रतका तो (संसार न छोडा जा सके, और कामका दहन न हो सके तो) पालन करना ही चाहिये। इसमें उभय पक्षमें कितना फल है! एक तो मुक्तिमार्ग और दूसरा संसारमार्ग, इन दोनोंमें इससे लाभ है। आज केवल संसारका लाभ तो देख। एक पत्नीव्रत (स्त्रीको पतिव्रत) को पालते हुए प्रत्यक्षमें भी उसकी सुमनोकामना धारणानुसार पूरी हो जाती है। यह कीर्तिकर और शरीरसे भी आरोग्यप्रद है। यह भी संसारी लाभ है। परस्त्रीगामी कलंकित होता है। आतशक, प्रमेह, और क्षय आदि रोग सहन करने पडते हैं। और दूसरे अनेक दुराचार लग जाते हैं। यह सब संसारमें भी दुःखकारक हैं, तो वे मुक्तिमार्गमें किसलिये दुःखप्रद न हों? देख, किसीको अपनी पुनीत स्त्रीसे वैसा रोग हुआ सुना है? इसलिये इसके सिद्धांत दोनों पक्षोंमें श्रेयस्कर हैं। सच्चा तो सर्वत्र अच्छा ही होता है न? गरम पानी पीने संबंधी इसका उपदेश सभीके लिये है और अन्तमें जो वैसा न कर सके वह भी छाने बिना तो पानी न ही पिये। यह सिद्धांत दोनों पक्षमें लाभदायक है। परन्तु हे दुरात्मन्! तू मात्र संसारपक्ष ही (तेरी अल्पबुद्धि है तो) देख। एक तो रोग होनेका संभव कम ही रहता है। अनछना पानी पीनेसे कितने-कितने प्रकारके रोगोंकी उत्पत्ति होती है। नारू, हैजा आदि अनेक प्रकारके रोगोंकी उत्पत्ति इसीसे होती है। जब यहाँ पवित्र रूपसे लाभकारक है, तब मुक्तिपक्षमें क्यों न हो? इन नौ सिद्धांतोंमें कितना अधिक तत्त्व रहा है! जो एक सिद्धांत है वह एक जवाहरातकी लडी है। वैसे नौ सिद्धांतोंसे बनी हुई यह नौलडी माला जो अंतःकरणरूपी गलेमें पहने वह किसलिये दिव्य सुखका भोक्ता न हो? यथार्थ एवं निःस्वार्थ धर्म तो यह एक ही है। हे दुरात्मन्! यह काला नाग अब करवट बदल कर तेरी ओर ताकनेको तैयार हुआ है। इसलिये तू अब इस धर्मके 'नवकार स्तोत्र' का स्मरण कर। और अब आगेके जन्ममें भी इसी धर्मको माँग। ऐसा जब मेरा मन हो गया और 'नमो अरिहंताणं' यह शब्द मुखसे कहता हूँ तब दूसरा कौतुक हुआ। जो भयंकर नाग मेरे प्राण लेनेके लिये करवट बदल रहा था वह काला नाग वहाँसे धीरेसे खिसककर बांबीकी ओर जाता हुआ मालूम हुआ। इसके मनसे ही ऐसी इच्छा उत्पन्न हुई कि मैं धीरे-धीरे खिसक जाऊँ, नहीं तो यह बेचारा पामर प्राणी अब भयमें ही कालधर्मको प्राप्त हो जायेगा। ऐसा सोच कर वह खिसककर दूर चला गया। दूर जाते हुए वह बोला—'हे राजकुमार! तेरे प्राण लेनेमें मैं एक पलकी भी देर करनेवाला न था, परन्तु तुझे शुद्ध वैराग्य और जैनधर्ममें निमग्न देखकर मेरा दिल धीरे-धीरे पिघलता गया। वह ऐसा तो कोमल हो गया कि हद हो गयी! यह सब होनेका कारण मात्र जैनधर्म ही है। तेरे अंतःकरणमें जब उस धर्मकी तरंगें उठ रही थीं तब मेरे मनमें उसी धर्मकी तरंगसे तुझे न

मारना ऐसा स्फुरित हो आया था। जैसे-जैसे धीरे-धीरे तुझपर उस धर्मका असर बढ़ता गया वैसे-वैसे मेरी सुमनोवृत्ति तेरी ओर होती गयी। अन्तमें तूने अब 'नमो अरिहंताणं' इतना कहा तब तुझे पूरा जैनास्तिक हुआ देखकर मैंने अपना शरीर खिसका दिया। इसलिये तू मन, वचन और कायासे उस धर्मका पालन करना। तू यह मान कि मैं जैनधर्मके प्रतापसे ही अब तुझे जिंदा छोड रहा हूँ। यह धर्म तो धर्म ही है। रे! मुझे मनुष्यजन्म मिला नहीं है। नहीं तो इस धर्मका ऐसा सेवन करता कि बस! परंतु जैसा मेरा कर्मप्रभाव। तो भी मुझसे जैसे हो सकेगा वैसे मैं इस धर्मका शुद्ध आचरण करूँगा। हे राजकुमार! अब तू आनंदसे पैर नीचे रख कर अपनी तलवारको म्यानमें डाल। जिनशासनके शृंगार-तिलकरूप महामुनीश्वर यहाँ सामनेवाले सुन्दर बागमें बिराजते हैं। इसलिये तू वहाँ जा। उनके मुखकमलसे पवित्र उपदेशका श्रवण करके अपना मानवजन्म कृतार्थ कर।' हे महामुनिराज! मणिधरके ऐसे वचन सुनकर मैं तो दंग रह गया। कैसा जैनधर्मका प्रताप! मैं मौतके पंजेसे छटक गया। तब मैं सचमुच दंग तो रह गया, परंतु उस आश्चर्यके साथ अहो! जीवनदान देनेवाला तो यही जैनधर्म है। उस समय मेरे आनंदका कोई पार नहीं रहा। मेरा सारा शरीर ही मानो हर्षसे बना हुआ हो ऐसा हो गया, और तुरंत ही मैं उस दया करनेवाले नागदेवको प्रणाम करके और तलवारको म्यानमें रखकर दूसरे रास्तेसे होकर आपका पवित्र दर्शन करनेके लिये इस तरफ मुडा। अब मुझे उस धर्मकी यथार्थ सूक्ष्मताका उपदेश करें। एक नवकार मंत्रके प्रतापसे मैंने जीवनदान पाया तो इस सारे धर्मका पालन करते हुए क्या नहीं हो सकेगा? हे भगवन्! अब आप मुझे उस नौलडी मालाका अनुपम उपदेश दें।

(शार्दूलविक्रीडितवृत्त)

*पाम्या मोद मुनि सुणी मन विषे, वृत्तांत राजा तणो,
पाछुं निज चरित्र ते वरणव्युं, उत्साह राखी घणो;
थाशे त्यां मन भूपने दृढ़ दया, ने बोध जारी थशे,
त्रीजो खंड खचीत मान सुखदा, आ मोक्षमाला विषे। (अपूर्ण)

१२

श्री परमात्मने नमः।

ॐ नमः सच्चिदानंदाय।

सज्जनता तीन भुवनका तिलकरूप है।
सज्जनता सच्ची प्रीतिके मूल्यसे भरपूर चमकदार हीरा है।
सज्जनता आनंदका पवित्र धाम है।
सज्जनता मोक्षका सरल और उत्तम राजमार्ग है।
सज्जनता धर्म विषयकी प्यारी जननी है।
सज्जनता ज्ञानीका परम एवं दिव्य भूषण है।
सज्जनता सुखका ही केवल स्थान है।
सज्जनता संसारकी अनित्यतामें मात्र नित्यतारूप है।
सज्जनता मनुष्यके दिव्य भागका प्रकाशित सूर्य है।
सज्जनता नीतिके मार्गमें समझदार मार्गदर्शक है।

---

* **भावार्थ**—राजाका वृत्तांत सुनकर मुनि मनमें मुदित हुए, और पश्चात् अति उत्साहसे अपना चरित्र सुनाया। उधर राजाके मनमें दया दृढ़ होगी और इधर मुनिराजका उपदेश जारी होगा। इस तरह इस मोक्षमालाके तीसरे खंडको सुखकारी अवश्य मानो।

सज्जनता निरंतर स्तुतिपात्र लक्ष्मी है।

सज्जनता सभी स्थलोंमें प्रेम करनेका प्रबल मूल है।

सज्जनता भव एवं परभवमें अनुसरणके योग्य सुंदर सडक है।

(दूसरे स्थलमें इसका विवेचन करनेका विचार है।)

आप इस सज्जनताका सन्मान करते हैं यह सचमुच इस लेखकके अंतःकरणको ठंडा करनेके लिये पवित्र औषध है।

प्यारे भाई! इस सज्जनता संबंधी मुझमें कुछ भी ज्ञान नहीं है, तो भी जो स्वाभाविक रूपसे लिखना सूझा उसे यहाँ प्रदर्शित करता हूँ।

वृन्दसतसईमें एक दोहा ऐसे भावार्थसे सुशोभित है कि–"कानको बींध कर बढ़ाया जा सकता है। परंतु आँखके लिये वैसा नहीं हो सकता।" इसी तरह विद्या बढ़ानेसे बढ़ती है, परंतु सज्जनता बढ़ाये नहीं बढ़ती।

इस महान कविराजके मतका बहुधा हम अनुसरण करेंगे तो कुछ अयोग्य नहीं माना जायेगा। मेरे मतके अनुसार तो सज्जनता जन्मके साथ ही जोडी जानी चाहिये। ईश्वरकृपासे अति यत्नसे भी प्राप्त अवश्य होती है। मन जीतनेकी यह सच्ची कसौटी है।

सज्जनताके लिये शंकराचार्यजी एक श्लोकमें ऐसा भावार्थ प्रदर्शित करते हैं कि (सत्संगका) एक क्षण भी, मूर्खके जन्मभरके सहवासकी अपेक्षा, उत्तम फलदायक सिद्ध होता है।

संसारमें सज्जनता ही सुखप्रद है ऐसा यह श्लोक बताता है–

*संसारविषवृक्षस्य द्वे फले अमृतोपमे।
काव्यामृतरसास्वाद आलापः सज्जनैः सह॥

इसके बिना भी यह समझा जा सकता है कि जो नीति है वह सकल आनंदका विधान है।

१३

श्री शांतिनाथ भगवान

स्तुति

[1]परिपूर्ण ज्ञाने परिपूर्ण ध्याने,
परिपूर्ण चारित्र बोधित्व दाने;
नीरागी महाशांत मूर्ति तमारी,
प्रभु प्रार्थना शांति लेशो अमारी.

दउं उपमा तो अभिमान मारुं;
अभिमान टाळ्या तणुं तत्त्व तारुं;
छतां बालरूपे रह्यो शिर नामी,
स्वीकारो घणी शुद्धिए शांतिस्वामी.

---

* संसाररूपी विषवृक्षके अमृततुल्य दो फल हैं–एक काव्यामृतका रसास्वाद और दूसरा सज्जनोंके साथ वार्तालाप।

१. **भावार्थ**–हे शांतिनाथ भगवन्! आप ज्ञान, ध्यान और चारित्रमें परिपूर्ण है एवं बोधित्व देनेमें परिपूर्ण हैं, आप वीतराग हैं और आपकी मूर्ति महाशांत है। हे शांति प्रभो! हमारी प्रार्थना स्वीकार करें। यदि मैं आपके लिये कोई उपमा दूँ, तो यह मेरा अभिमान ठहरता है, और आपका तत्त्वबोध तो अभिमानका नाशक है। फिर भी मैं बालरूपमें अति शुद्ध भावसे सिर झुकाकर वन्दना कर रहा हूँ। हे शांतिनाथ! मेरी वन्दना स्वीकार करें। आपके स्वरूपमें शांतता है, आपके नाममें शांति है, और आप महाशांति एवं आनन्दके धाममें बिराजमान हैं।

छत्रप्रबंधस्थ प्रेम प्रार्थना **१४** **जेतपुर, कार्तिक सुदी १५, १९४१**

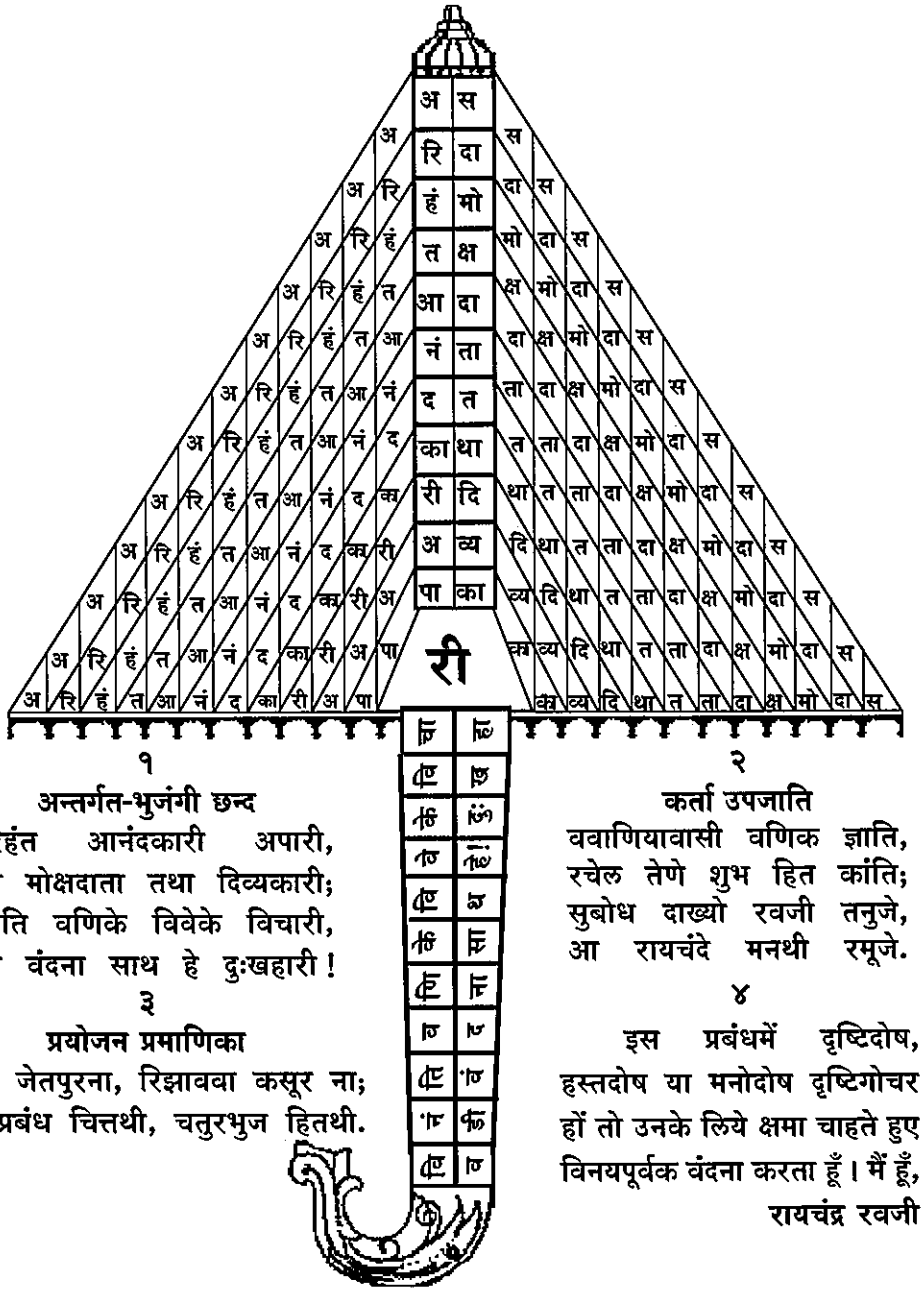

१

अन्तर्गत-भुजंगी छन्द

अरिहंत आनंदकारी अपारी,
सदा मोक्षदाता तथा दिव्यकारी;
विनंति वणिके विवेके विचारी,
वडी वंदना साथ हे दुःखहारी !

३

प्रयोजन प्रमाणिका

वणिक जेतपुरना, रिझाववा कसूर ना;
रच्यो प्रबंध चित्तथी, चतुरभुज हितथी.

२

कर्ता उपजाति

ववाणियावासी वणिक ज्ञाति,
रचेल तेणे शुभ हित कांति;
सुबोध दाख्यो रवजी तनुजे,
आ रायचंदे मनथी रमूजे.

४

इस प्रबंधमें दृष्टिदोष, हस्तदोष या मनोदोष दृष्टिगोचर हों तो उनके लिये क्षमा चाहते हुए विनयपूर्वक वंदना करता हूँ। मैं हूँ,

रायचंद्र रवजी

---

१. अरिहंत सदा आनंद देनेवाले, अपार गुणवाले, मोक्षके देनेवाले, दिव्यकर्म करनेवाले हैं। हे दुःखहारी ! यह वणिक विवेकपूर्वक विचार करके वंदनाके साथ आपसे विनती करता है।

२. जो ववाणियावासी और वणिक जातिका है उसने शुभ, हित और कांतिके लिये यह रचना की है। श्री रवजीभाईके पुत्र इस रायचंदने मनसे विनोदमें यह सुबोध दिया है।

३. जेतपुरके वणिक निर्दोष चतुर्भुजकी प्रसन्नता तथा हितके लिये चित्तकी उमंगसे यह प्रबंध रचा है।

स्वरूपे रही शांतता शांति नामे,
बिराज्या महा शांति आनंद धामे.
..... (अपूर्ण)

१५

दोहे

ज्ञानी के अज्ञानी जन, सुख दुःख रहित न कोय।
ज्ञानी वेदे धैर्यथी, अज्ञानी वेदे रोय॥

मंत्र तंत्र औषध नहीं, जेथी पाप पलाय।
वीतराग वाणी विना, अवर न कोई उपाय॥

वचनामृत वीतरागनां, परम शांतरस मूल।
औषध जे भवरोगनां, कायरने प्रतिकूल॥

जन्म, जरा ने मृत्यु, मुख्य दुःखना हेतु।
कारण तेनां बे कह्यां, राग द्वेष अणहेतु॥

नथी धर्यो देह विषय वधारवा।
नथी धर्यो देह परिग्रह धारवा॥

भावार्थ–ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी मनुष्य सुखदुःखसे रहित नहीं है। ज्ञानी सुखदुःखको धैर्यसे भोगता है और अज्ञानी रो रोकर भोगता है।

संसारमें कोई भी मंत्र, तंत्र और औषध नहीं है कि जिससे पाप दूर किया जाये। वीतरागकी वाणीके सिवाय पापका नाशक अन्य कोई उपाय नहीं है।

वीतरागके वचनामृत परम शांतरसके मूल हैं, जो भवरोगके औषध है; परन्तु कायरके लिये प्रतिकूल हैं।

जन्म, जरा और मृत्यु दुःखके मुख्य हेतु हैं। अनावश्यक राग और द्वेष ही उनके दो कारण कहे हैं।

हे जीव! तूने विषयको बढ़ानेके लिये देह धारण नहीं की है, और परिग्रहको अपनानेके लिये भी देह धारण नहीं की है।

---

१७ वाँ वर्ष

१६

भावनाबोध

(द्वादशानुप्रेक्षा-स्वरूपदर्शन)

उपोद्घात

सच्चा सुख किसमें है ?

चाहे जैसे तुच्छ विषयमें प्रवेश होनेपर भी उज्ज्वल आत्माओंकी सहज प्रवृत्ति वैराग्यमें जुट जानेकी होती है । बाह्य दृष्टिसे जब तक उज्ज्वल आत्मा संसारके मायिक प्रपंचमें दिखायी देते हैं तब तक इस कथनकी सिद्धि कदाचित् दुर्लभ है, तो भी सूक्ष्म दृष्टिसे अवलोकन करनेपर इस कथनका प्रमाण सर्वथा सुलभ है, यह निःसंशय है ।

एक छोटेसे छोटे जन्तुसे लेकर एक मदोन्मत्त हाथी तक सभी प्राणी, मनुष्य और देवदानव इन सबकी स्वाभाविक इच्छा सुख और आनंद प्राप्त करनेकी है । इसलिए वे उसकी प्राप्तिके उद्योगमें जुटे रहते हैं, परंतु विवेक बुद्धिके उदयके बिना वे उसमें विभ्रमको प्राप्त होते हैं । वे संसारमें नाना प्रकारके सुखोंका आरोप करते हैं । अति अवलोकनसे यह सिद्ध है कि वह आरोप वृथा है । इस आरोपको अनारोप करनेवाले विरले मनुष्य विवेकके प्रकाश द्वारा अद्भुत परंतु अन्य विषयको प्राप्त करनेके लिए कहते आये हैं । जो सुख भयवाले हैं वे सुख नहीं हैं परन्तु दुःख हैं । जिस वस्तुको प्राप्त करनेमें महाताप है, जिस वस्तुको भोगनेमें इससे भी विशेष ताप है, तथा परिणाममें महाताप, अनन्त शोक और अनन्त भय है, उस वस्तुका सुख मात्र नामका सुख है; अथवा है ही नहीं । इसलिए विवेकी उसमें अनुरक्ति नहीं करते । संसारके प्रत्येक सुखसे विराजित राजेश्वर होनेपर भी, सत्य तत्त्वज्ञानकी प्रसादी प्राप्त होनेसे, उसका त्याग करके योगमें परमानन्द मानकर सत्य मनोवीरतासे अन्य पामर आत्माओंको भर्तृहरि उपदेश देते हैं कि—

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं,
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे तरुण्या भयम् ।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतांताद्भयं,
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥

भावार्थ—भोगमें रोगका भय है; कुलमें पतनका भय है; लक्ष्मीमें राजाका भय है; मानमें दीनताका भय है; बलमें शत्रुका भय है; रूपसे स्त्रीको भय है; शास्त्रमें वादका भय है; गुणमें खलका भय है; और काया पर कालका भय है; इस प्रकार सभी वस्तुएँ भयवाली हैं; एकमात्र वैराग्य ही अभय है !!!

महायोगी भर्तृहरिका यह कथन सृष्टिमान्य अर्थात् सभी उज्ज्वल आत्माओंको सदैव मान्य रखने योग्य है । इसमें सारे तत्त्वज्ञानका दोहन करनेके लिए इन्होंने सकल तत्त्ववेत्ताओंके सिद्धांतरहस्यरूप और संसारशोकका स्वानुभूत तादृश चित्र प्रस्तुत किया है । इन्होंने जिन-जिन वस्तुओंपर भयकी छाया प्रदर्शित की है वे सब वस्तुएँ संसारमें मुख्यतः सुखरूप मानी गयी हैं । संसारका सर्वोत्तम सुखका साधन जो भोग है वह तो रोगका धाम ठहरा । मनुष्य ऊँचे कुलसे सुख मानता है, वहाँ पतनका भय दिखाया । संसारचक्रमें व्यवहारका ठाठ चलानेके लिए दंडरूप लक्ष्मी है वह राजा इत्यादिके भयसे भरपूर है । कोई



१६ वाँ वर्ष **श्रीमद् राजचंद्र** वि. सं. १९४०

भी कृत्य करके यश-कीर्तिसे मान प्राप्त करना या मानना, ऐसी संसारके पामर भी कृत्य करके यश-कीर्तिसे मान प्राप्त करना या मानना, ऐसी संसारके पामर जीवोंकी अभिलाषा है; तो उसमें महादीनता और दरिद्रताका भय है। बल-पराक्रमसे भी ऐसी ही उत्कृष्टता प्राप्त करनेकी चाह रही है, तो उसमें शत्रुका भय रहा हुआ है। रूप-कांति भोगीके लिए मोहिनीरूप है तो उसे धारण करनेवाली स्त्रियाँ निरंतर भययुक्त ही हैं। अनेक प्रकारसे गूँथी हुई शास्त्रजालमें विवादका भय रहा है। किसी भी सांसारिक सुखका गुण प्राप्त करनेसे जो आनंद माना जाता है, वह खल मनुष्यकी निंदाके कारण भयान्वित है। जिसमें अनंत प्रियता रही है वह काया एक समय कालरूपी सिंहके मुखमें पडनेके भयसे भरी है। इस प्रकार संसारके मनोहर परंतु चपल सुख-साधन भयसे भरे हुए हैं। विवेकसे विचार करनेपर जहाँ भय है वहाँ केवल शोक ही है; जहाँ शोक हो वहाँ सुखका अभाव है; और जहाँ सुखका अभाव है वहाँ तिरस्कार करना यथोचित है।

योगींद्र भर्तृहरि एक ही ऐसा कह गये हैं ऐसा नहीं है। कालानुसार सृष्टिके निर्माण समयसे लेकर भर्तृहरिसे उत्तम, भर्तृहरिके समान और भर्तृहरिसे कनिष्ठ ऐसे असंख्य तत्त्वज्ञानी हो गये हैं। ऐसा कोई काल या आर्य देश नहीं है जिसमें तत्त्वज्ञानियोंकी उत्पत्ति बिलकुल न हुई हो। इन तत्त्ववेत्ताओंने संसारसुखकी प्रत्येक सामग्रीको शोकरूप बताया है; यह इनके अगाध विवेकका परिणाम है। व्यास, वाल्मीकि, शंकर, गौतम, पतंजलि, कपिल और युवराज शुद्धोदनने अपने प्रवचनोंमें मार्मिक रीतिसे और सामान्य रीतिसे जो उपदेश दिया है, उसका रहस्य नीचेके शब्दोंमें कुछ आ जाता है :—

"अहो लोगो ! संसाररूपी समुद्र अनंत एवं अपार है। इसका पार पानेके लिए पुरुषार्थका उपयोग करो ! उपयोग करो !!"

ऐसा उपदेश करनेमें इनका हेतु प्रत्येक प्राणीको शोकसे मुक्त करनेका था। इन सब ज्ञानियोंकी अपेक्षा परम मान्य रखने योग्य सर्वज्ञ महावीरके वचन सर्वत्र यही हैं कि संसार एकांत और अनंत शोकरूप तथा दुःखप्रद है। अहो भव्य लोगो ! इसमें मधुरी मोहिनी न लाकर इससे निवृत्त होओ ! निवृत्त होओ !!

महावीरका एक समयमात्रके लिए भी संसारका उपदेश नहीं है। इन्होंने अपने सभी प्रवचनोंमें यही प्रदर्शित किया है तथा स्वाचरणसे वैसा सिद्ध भी कर दिया है। कंचनवर्णी काया, यशोदा जैसी रानी, अपार साम्राज्यलक्ष्मी और महाप्रतापी स्वजन परिवारका समूह होनेपर भी उनकी मोहिनीका त्यागकर ज्ञान-दर्शनयोगपरायण होकर इन्होंने जो अद्‌भुतता प्रदर्शित की है वह अनुपम है। यहीका यही रहस्य प्रकट करते हुए पवित्र उत्तराध्ययनसूत्रके आठवें अध्ययनकी पहली गाथामें महावीर कपिल केवलीके समीप तत्त्वाभिलाषीके मुखकमलसे कहलवाते हैं:

अधुवे असासयम्मि संसारम्मि दुक्खपउराए ।
किं नाम हुज्ज कम्मं जेणाहं दुग्गई न गच्छिज्जा ॥

'अध्रुव एवं अशाश्वत संसारमें अनेक प्रकारके दुःख हैं; मैं ऐसी कौनसी करनी करूँ कि जिस करनीसे दुर्गतिमें न जाऊँ ?' इस गाथामें इस भावसे प्रश्न होनेपर कपिलमुनि फिर आगे उपदेश चलाते हैं :—

अधुवे असासयम्मि—ये महान तत्त्वज्ञानप्रसादीभूत वचन प्रवृत्तिमुक्त योगीश्वरके सतत वैराग्यवेगके हैं। अति बुद्धिशालियोंको संसार भी उत्तमरूपसे मान्य रखता है, फिर भी वे बुद्धिशाली उसका त्याग करते हैं; यह तत्त्वज्ञानका स्तुतिपात्र चमत्कार है। वे अति मेधावी अंतमें पुरुषार्थकी स्फुरणा कर महायोग साधकर आत्माके तिमिरपटको दूर करते हैं। संसारको शोकाब्धि कहनेमें तत्त्वज्ञानियोंकी

भ्रांति नहीं है, परन्तु ये सभी तत्त्वज्ञानी कहीं तत्त्वज्ञानचंद्रकी सोलह कलाओंसे पूर्ण नहीं होते; इसी कारणसे सर्वज्ञ महावीरके वचन तत्त्वज्ञानके लिए जो प्रमाण देते हैं वे महत्त्वपूर्ण, सर्वमान्य और सर्वथा मंगलमय हैं। महावीरके तुल्य ऋषभदेव जैसे जो जो सर्वज्ञ तीर्थंकर हुए हैं, उन्होंने निःस्पृहतासे उपदेश देकर जगतहितैषीकी पदवी प्राप्त की है।

संसारमें जो एकांत और अनंत भरपूर ताप है वह ताप तीन प्रकारका है—आधि, व्याधि और उपाधि। इससे मुक्त होनेके लिए सभी तत्त्वज्ञानी कहते आये हैं। संसारत्याग, शम, दम, दया, शांति, क्षमा, धृति, अप्रभुत्व, गुरुजनोंकी विनय, विवेक, निःस्पृहता, ब्रह्मचर्य, सम्यक्त्व और ज्ञान, इन सबका सेवन करना; क्रोध, लोभ, मान, माया, अनुराग, अनबन, विषय, हिंसा, शोक, अज्ञान और मिथ्यात्व, इन सबका त्याग करना। यही सभी दर्शनोंका सामान्यतः सार है। नीचेके दो चरणोंमें इस सारका समावेश हो जाता है—

प्रभु भजो नीति सजो, परठो परोपकार।

सचमुच! यह उपदेश स्तुतिपात्र है। यह उपदेश देनेमें किसीने किसी प्रकारकी और किसीने किसी प्रकारकी विचक्षणता प्रदर्शित की है। यह सब उद्देशकी दृष्टिसे तो समतुलित-से दिखायी देते हैं। परंतु सूक्ष्म उपदेशकके तौरपर सिद्धार्थ राजाके पुत्र श्रमण भगवान प्रथम पदवीके धनी हो जाते हैं। निवृत्तिके लिये जिन-जिन विषयोंको पहले बताया है उन-उन विषयोंके सच्चे स्वरूपको समझकर सर्वांशमें मंगलमय बोध देनेमें ये राजपुत्र बाजी ले गये हैं। इसके लिए उन्हें अनंत धन्यवाद छाजता है!

इन सब विषयोंका अनुकरण करनेका क्या प्रयोजन अथवा क्या परिणाम है? अब इसका निर्णय करें। सभी उपदेशक यों कहते आये हैं कि इसका परिणाम मुक्ति प्राप्त करना, और प्रयोजन दुःखकी निवृत्ति है। इसीलिए सब दर्शनोंमें सामान्यतः मुक्तिको अनुपम श्रेष्ठ कहा है। द्वितीय अंग सूत्रकृतांगके प्रथम श्रुतस्कंधके छठे अध्ययनकी चौबीसवीं गाथाके तीसरे चरणमें कहा है कि—

निव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा।

सभी धर्मोंमें मुक्तिको श्रेष्ठ कहा है।

सारांश यह है कि मुक्ति अर्थात् संसारके शोकसे मुक्त होना। परिणाममें ज्ञानदर्शनादि अनुपम वस्तुओंको प्राप्त करना। जिसमें परमसुख और परमानंदका अखंड निवास है, जन्ममरणकी विडंबनाका अभाव है, शोक एवं दुःखका क्षय है, ऐसे इस वैज्ञानिक विषयका विवेचन अन्य प्रसंगमें करेंगे।

यह भी निर्विवाद मान्य रखना चाहिये कि उस अनन्त शोक एवं अनंत दुःखकी निवृत्ति इन्हीं सांसारिक विषयोंसे नहीं है। रुधिरसे रुधिरका दाग नहीं जाता, परंतु जलसे वह दूर हो जाता है; इसी तरह शृंगारसे या शृंगारमिश्रित धर्मसे संसारकी निवृत्ति नहीं होती। इसीलिए वैराग्यजलकी आवश्यकता निःसंशय सिद्ध होती है, और इसीलिए वीतरागके वचनोंमें अनुरक्त होना उचित है। निदान इससे विषयरूप विषका जन्म नहीं होता। परिणाममें यही मुक्तिका कारण है। इन वीतराग सर्वज्ञके वचनोंका विवेकबुद्धिसे श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके हे मनुष्य! आत्माको उज्ज्वल कर।

प्रथम दर्शन

इसमें वैराग्यबोधिनी कुछ भावनाओंका उपदेश करेंगे। वैराग्य एवं आत्महितैषी विषयोंकी सुदृढता होनेके लिए तत्त्वज्ञानी बारह भावनाएँ बताते हैं—

१. **अनित्यभावना**—शरीर, वैभव, लक्ष्मी, कुटुम्ब-परिवार आदि सर्व विनाशी हैं। जीवका मूल धर्म अविनाशी है, ऐसा चिन्तन करना, यह पहली अनित्यभावना।

२. **अशरणभावना**–संसारमें मरणके समय जीवको शरणमें रखनेवाला कोई नहीं है, मात्र एक शुभ धर्मकी शरण ही सत्य है; ऐसा चिंतन करना, यह दूसरी अशरणभावना।

३. **संसारभावना**–इस आत्माने संसारसमुद्रमें पर्यटन करते-करते सर्व भव किये हैं। इस संसार बेडीसे मैं कब छूटूँगा? यह संसार मेरा नहीं है, मैं मोक्षमयी हूँ; इस तरह चिंतन करना, यह तीसरी संसारभावना।

४. **एकत्वभावना**–यह मेरा आत्मा अकेला है, यह अकेला आया है, अकेला जायेगा, अपने किये हुए कर्मोंको अकेला भोगेगा; अंतःकरणसे इस तरह चिंतन करना, यह चौथी एकत्वभावना।

५. **अन्यत्वभावना**–इस संसारमें कोई किसीका नहीं है, इस तरह चिंतन करना, यह पाँचवीं अन्यत्वभावना।

६. **अशुचिभावना**–यह शरीर अपवित्र है, मल-मूत्रकी खान है, रोग-जराका निवासधाम है, इस शरीरसे मैं न्यारा हूँ; इस तरह चिंतन करना, यह छठी अशुचिभावना।

७. **आस्रवभावना**–राग, द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व इत्यादि सर्व आस्रव हैं, इस तरह चिंतन करना, यह सातवीं आस्रवभावना।

८. **संवरभावना**–ज्ञान, ध्यानमें प्रवर्तमान होकर जीव नये कर्म नहीं बाँधता, यह आठवीं संवरभावना।

९. **निर्जराभावना**–ज्ञानसहित क्रिया करना यह निर्जराका कारण है, इस तरह चिंतन करना, यह नौवीं निर्जराभावना।

१०. **लोकस्वरूपभावना**–चौदह राजूलोकके स्वरूपका विचार करना, यह दसवीं लोकस्वरूपभावना।

११. **बोधिदुर्लभभावना**–संसारमें भ्रमण करते हुए आत्माको सम्यग्ज्ञानकी प्रसादी प्राप्त होना दुर्लभ है; अथवा सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ तो चारित्र-सर्वविरतिपरिणामरूप धर्म प्राप्त होना दुर्लभ है; इस तरह चिंतन करना, यह ग्यारहवीं बोधिदुर्लभभावना।

१२. **धर्मदुर्लभभावना**–धर्मके उपदेशक तथा शुद्ध शास्त्रके बोधक गुरु और उनके उपदेशका श्रवण मिलना दुर्लभ है, इस तरह चिंतन करना, यह बारहवीं धर्मदुर्लभभावना।

इस प्रकार मुक्ति साध्य करनेके लिए जिस वैराग्यकी आवश्यकता है उस वैराग्यको दृढ करनेवाली बारह भावनाओंमेंसे कुछ भावनाओंका इस दर्शनके अन्तर्गत वर्णन करेंगे। कुछ भावनाएँ कुछ विषयोंमें बाँट दी गयी हैं, और कुछ भावनाओंके लिए अन्य प्रसंगकी आवश्यकता है; अतः यहाँ उनका विस्तार नहीं किया है।

प्रथम चित्र

अनित्यभावना

(उपजाति)

विद्युत लक्ष्मी प्रभुता पतंग,
आयुष्य ते तो जळना तरंग;
पुरंदरी चाप अनंग रंग,
शुं राचीए त्यां क्षणनो प्रसंग!

विशेषार्थ–लक्ष्मी बिजलीके समान है। जैसे बिजलीका चमकारा होकर विलीन हो जाता है, वैसे

लक्ष्मी आकर चली जाती है । अधिकार पतंगके रंगके समान है। पतंगका रंग जैसे चार दिनकी चाँदनी है, वैसे अधिकार मात्र थोडा समय रहकर हाथसे चला जाता है । आयुष्य पानीकी हिलोरके समान है । जैसे पानीकी हिलोर आयी कि गयी वैसे जन्म पाया और एक देहमें रहा या न रहा, इतनेमें दूसरी देहमें जाना पडता है । कामभोग आकाशमें उत्पन्न होनेवाले इंद्रधनुषके सदृश है । जैसे इन्द्रधनुष वर्षाकालमें उत्पन्न होकर क्षणभरमें विलीन हो जाता है, वैसे यौवनमें कामविकार फलीभूत होकर जरावस्थामें चले जाते हैं । संक्षेपमें हे जीव ! इन सभी वस्तुओंका सम्बन्ध क्षणभरका है, इनमें प्रेम-बंधनकी साँकलसे बँधकर क्या प्रसन्न होना ? तात्पर्य कि ये सब चपल एवं विनाशी हैं, तू अखंड एवं अविनाशी है, इसलिए अपने जैसी नित्य वस्तुको प्राप्त कर !

भिखारीका खेद

दृष्टांत–इस अनित्य और स्वप्नवत् सुखके विषयमें एक दृष्टांत कहते हैं–

एक पामर भिखारी जंगलमें भटकता था । वहाँ उसे भूख लगी । इसलिए वह बिचारा लडखडाता हुआ एक नगरमें एक सामान्य मनुष्यके घर पहुँचा । वहाँ जाकर उसने अनेक प्रकारकी आजिजी की। उसकी गिडगिडाहटसे करुणार्द्र होकर उस गृहपतिकी स्त्रीने घरमेंसे जीमनेसे बचा हुआ मिष्टान्न लाकर उसे दिया । ऐसा भोजन मिलनेसे भिखारी बहुत आनन्दित होता हुआ नगरके बाहर आया । आकर एक वृक्षके नीचे बैठा। वहाँ जरा सफाई करके उसने एक ओर अपना बहुत पुराना पानीका घडा रख दिया, एक ओर अपनी फटी पुरानी मलिन गुदडी रखी और फिर एक ओर वह स्वयं उस भोजनको लेकर बैठा । खुशी-खुशीसे उसने कभी न देखे हुए भोजनको खाकर पूरा किया । भोजनको स्वधाम पहुँचानेके बाद सिरहाने एक पत्थर रखकर वह सो गया । भोजनके मदसे जरासी देरमें उसकी आँखें मिच गयीं । वह निद्रावश हुआ कि इतनेमें उसे एक स्वप्न आया । मानो वह स्वयं महा राज-ऋद्धिको प्राप्त हुआ है, इसलिए उसने सुन्दर वस्त्राभूषण धारण किये हैं, सारे देशमें उसकी विजयका डंका बज गया है, समीपमें उसकी आज्ञाका पालन करनेके लिए अनुचर खडे हैं, आसपास छडीदार "खमा ! खमा !" पुकार रहे हैं, एक उत्तम महालयमें सुन्दर पलंगपर उसने शयन किया है, देवांगना जैसी स्त्रियाँ उसकी पाँव-चप्पी कर रही हैं, एक ओरसे मनुष्य पंखेसे सुगन्धी पवन कर रहे हैं, इस प्रकार उसने अपूर्व सुखकी प्राप्तिवाला स्वप्न देखा । स्वप्नावस्थामें उसके रोमांच उल्लसित हो गये । वह मानो स्वयं सचमुच वैसा सुख भोग रहा है ऐसा वह मानने लगा । इतनेमें सूर्यदेव बादलोंसे ढँक गया, बिजली कौंधने लगी, मेघमहाराज चढ आये, सर्वत्र अँधेरा छा गया, मूसलधार वर्षा होगी ऐसा दृश्य हो गया, और घनगर्जनाके साथ बिजलीका एक प्रबल कडाका हुआ । कडाकेकी प्रबल आवाजसे भयभीत हो वह पामर भिखारी शीघ्र जाग उठा । जागकर देखता है तो न है वह देश कि न है वह नगरी, न है वह महालय कि न है वह पलंग, न हैं वे चामरछत्रधारी कि न हैं वे छडीदार, न है वह स्त्रीवृन्द कि न हैं वे वस्त्रालंकार, न हैं वे पंखे कि न है वह पवन, न हैं वे अनुचर कि न है वह आज्ञा, न है वह सुखविलास कि न है वह मदोन्मत्तता । देखता है तो जिस जगह पानीका पुराना घडा पडा था उसी जगह वह पडा है, जिस जगह फटी-पुरानी गुदडी पडी थी उसी जगह वह फटी-पुरानी गुदडी पडी है । महाशय तो जैसे थे वैसेके वैसे दिखायी दिये । स्वयं जैसे मलिन और अनेक जाली-झरोखेवाले वस्त्र पहन रखे थे वैसेके वैसे वही वस्त्र शरीरपर विराजते हैं । न तिलभर घटा कि न रत्तीभर बढा । यह सब देखकर वह अति शोकको प्राप्त हुआ । 'जिस सुखाडंबरसे मैंने आनन्द माना, उस सुखमेंसे तो यहाँ कुछ भी नहीं है । अरे रे ! मैंने स्वप्नके भोग तो भोगे नहीं और मुझे मिथ्या खेद प्राप्त हुआ।' इस प्रकार वह बिचारा भिखारी ग्लानिमें आ पडा ।

प्रमाणशिक्षा—स्वप्नमें जैसे उस भिखारीने सुखसमुदायको देखा, भोगा और आनन्द माना, वैसे पामर प्राणी संसारके स्वप्नवत् सुखसमुदायको महानन्दरूप मान बैठे हैं। जैसे वह सुखसमुदाय जागृतिमें उस भिखारीको मिथ्या प्रतीत हुआ, वैसे तत्त्वज्ञानरूपी जागृतिसे संसारके सुख मिथ्या प्रतीत होते हैं। स्वप्नके भोग न भोगे जानेपर भी जैसे उस भिखारीको शोककी प्राप्ति हुई, वैसे पामर भव्य जीव संसारमें सुख मान बैठते हैं, और भोगे हुएके तुल्य मानते हैं, परन्तु उस भिखारीकी भाँति परिणाममें खेद, पश्चात्ताप और अधोगतिको प्राप्त होते हैं। जैसे स्वप्नकी एक भी वस्तुका सत्यत्व नहीं हैं, वैसे संसारकी एक भी वस्तुका सत्यत्व नहीं है। दोनों चपल और शोकमय हैं। ऐसा विचार करके बुद्धिमान पुरुष आत्मश्रेयको खोजते हैं।

इति श्री 'भावनाबोध' ग्रन्थके प्रथम दर्शनका प्रथम चित्र 'अनित्यभावना' इस विषयपर सदृष्टान्त वैराग्योपदेशार्थ समाप्त हुआ।

द्वितीय चित्र

अशरणभावना

(उपजाति)

सर्वज्ञनो धर्म सुशर्ण जाणी,
आराध्य आराध्य प्रभाव आणी।
अनाथ एकांत सनाथ थाशे,
एना विना कोई न बांह्य स्हाशे॥

विशेषार्थ—सर्वज्ञ जिनेश्वरदेवके द्वारा निःस्पृहतासे उपदिष्ट धर्मको उत्तम शरणरूप जानकर, मन, वचन और कायाके प्रभावसे हे चेतन! उसका तू आराधन कर, आराधन कर। तू केवल अनाथरूप है सो सनाथ होगा। इसके बिना भवाटवीभ्रमणमें तेरी बाँह पकडनेवाला कोई नहीं है।

जो आत्मा संसारके मायिक सुखको या अवदर्शनको शरणरूप मानते हैं, वे अधोगतिको प्राप्त करते हैं, तथा सदैव अनाथ रहते हैं, ऐसा बोध करनेवाले भगवान अनाथी मुनिका चरित्र प्रारम्भ करते हैं, इससे अशरणभावना सुदृढ होगी।

अनाथी मुनि

दृष्टान्त—अनेक प्रकारकी लीलाओंसे युक्त मगध देशका श्रेणिकराजा अश्वक्रीडाके लिए मंडिकुक्ष नामके वनमें निकल पडा। वनकी विचित्रता मनोहारिणी थी। नाना प्रकारके तरुकुञ्ज वहाँ नजर आ रहे थे, नाना प्रकारकी कोमल वल्लिकाएँ घटाटोप छायी हुई थीं; नाना प्रकारके पक्षी आनन्दसे उनका सेवन कर रहे थे; नाना प्रकारके पक्षियोंके मधुर गान वहाँ सुनायी दे रहे थे; नाना प्रकारके फूलोंसे वह वन छाया हुआ था; नाना प्रकारके जलके झरने वहाँ बह रहे थे; संक्षेपमें सृष्टिसौंदर्यका प्रदर्शनरूप होकर वह वन नंदनवनकी तुल्यता धारण कर रहा था। वहाँ एक तरुके नीचे महान समाधिमान पर सुकुमार एवं सुखोचित मुनिको उस श्रेणिकने बैठे हुए देखा। उनका रूप देखकर वह राजा अत्यन्त आनन्दित हुआ। उस अतुल्य उपमारहित रूपसे विस्मित होकर मनमें उनकी प्रशंसा करने लगा— "अहो! इस मुनिका कैसा अद्भुत वर्ण है! अहो! इसका कैसा मनोहर रूप है! अहो! इस आर्यकी कैसी अद्भुत सौम्यता है! अहो! यह कैसी विस्मयकारक क्षमाके धारक है! अहो! इसके अंगसे वैराग्यकी कैसी उत्तम स्फुरणा है! अहो! इसकी कैसी निर्लोभता मालूम होती है! अहो! यह संयति कैसा निर्भय अप्रभुत्व-नम्रता धारण किये हुए है! अहो! इसकी भोगकी निःसंगता कितनी सुदृढ है!" यों चिंतन करते-करते, मुदित

होते-होते, स्तुति करते-करते, धीरेसे चलते-चलते, प्रदक्षिणा देकर उस मुनिको वंदन करके, न अति समीप और न अति दूर वह बैठा। फिर अंजलिबद्ध होकर विनयसे उसने मुनिको पूछा—"हे आर्य! आप प्रशंसा करने योग्य तरुण हैं; भोगविलासके लिए आपकी वय अनुकूल है; संसारमें नाना प्रकारके सुख हैं; ऋतु-ऋतुके कामभोग, जलसंबंधी कामभोग, तथा मनोहारिणी स्त्रियोंके मुखवचनोंका मधुर श्रवण होने पर भी इन सबका त्याग करके मुनित्वमें आप महान उद्यम कर रहे हैं, इसका क्या कारण? यह मुझे अनुग्रहसे कहिये।"

राजाके ऐसे वचन सुनकर मुनिने कहा, "मैं अनाथ था। हे महाराजन्! मुझे अपूर्व वस्तुको प्राप्त करानेवाला तथा योगक्षेमका करनेवाला, मुझपर अनुकंपा लानेवाला, करुणा करके परम सुखका देनेवाला सुहृत्-मित्र लेशमात्र भी कोई न हुआ। यह कारण मेरी अनाथताका था।"

श्रेणिक, मुनिके भाषणसे मुस्कराया। "अरे! आप जैसे महान ऋद्धिमानको नाथ क्यों न हो? लीजिये, कोई नाथ नहीं है तो मैं होता हूँ। हे भयत्राण! आप भोग भोगिये। हे संयति! मित्र! जातिसे दुर्लभ ऐसे अपने मनुष्य-भवको सफल कीजिये।"

अनाथीने कहा—"परन्तु अरे श्रेणिक, मगधदेशके राजन्! तू स्वयं अनाथ है तो मेरा नाथ क्या होगा? निर्धन धनाढ्य कहाँसे बना सके? अबुध बुद्धिदान कहाँसे दे सके? अज्ञ विद्वत्ता कहाँसे दे सके? वंध्या संतान कहाँसे दे सके? जब तू स्वयं अनाथ है, तब मेरा नाथ कहाँसे होगा?" मुनिके वचनोंसे राजा अति आकुल और अति विस्मित हुआ। जिन वचनोंका कभी श्रवण नहीं हुआ, उन वचनोंका यतिमुखसे श्रवण होनेसे वह शंकाग्रस्त हुआ और बोला—"मैं अनेक प्रकारके अश्वोंका भोगी हूँ, अनेक प्रकारके मदोन्मत्त हाथियोंका धनी हूँ, अनेक प्रकारकी सेना मेरे अधीन हैं; नगर, ग्राम, अंतःपुर, तथा चतुष्पादकी मेरे कोई न्यूनता नहीं है; मनुष्यसम्बन्धी सभी प्रकारके भोग मुझे प्राप्त हैं; अनुचर मेरी आज्ञाका भलीभाँति पालन करते हैं; पाँचों प्रकारकी संपत्ति मेरे घरमें है; सर्व मनोवांछित वस्तुएँ मेरे पास रहती हैं। ऐसा मैं जाज्वल्यमान होते हुए भी अनाथ कैसे हो सकता हूँ? कहीं हे भगवन्! आप मृषा बोलते हों।" मुनिने कहा—"हे राजन्! मेरे कहे हुए अर्थकी उपपत्तिको तूने ठीक नहीं समझा। तू स्वयं अनाथ है, परन्तु तत्सम्बन्धी तेरी अज्ञता है। अब मैं जो कहता हूँ उसे अव्यग्र एवं सावधान चित्तसे तू सुन, सुनकर फिर अपनी शंकाके सत्यासत्यका निर्णय करना। मैंने स्वयं जिस अनाथतासे मुनित्वको अंगीकृत किया है उसे मैं प्रथम तुझे कहता हूँ—

कौशाम्बी नामकी अति प्राचीन और विविध प्रकारके भेदोंको उत्पन्न करनेवाली एक सुन्दर नगरी थी। वहाँ ऋद्धिसे परिपूर्ण धनसंचय नामके मेरे पिता रहते थे। प्रथम यौवनावस्थामें हे महाराजन्! मेरी आँखोंमें अतुल्य एवं उपमारहित वेदना उत्पन्न हुई। दुःखप्रद दाहज्वर सारे शरीरमें प्रवर्तमान हुआ। शस्त्रसे भी अतिशय तीक्ष्ण वह रोग वैरीकी भाँति मुझपर कोपायमान हुआ। आँखोंकी उस असह्य वेदनासे मेरा मस्तक दुखने लगा। इंद्रके वज्रके प्रहार सरीखी, अन्यको भी रौद्र भय उत्पन्न करानेवाली उस अत्यंत-परम दारुण वेदनासे मैं बहुत शोकार्त था। शारीरिक विद्यामें निपुण, अनन्य मंत्रमूलके सुज्ञ वैद्यराज मेरी उस वेदनाका नाश करनेके लिए आये; अनेक प्रकारके औषधोपचार किये, परंतु वे वृथा गये। वे महानिपुण गिने जानेवाले वैद्यराज मुझे उस रोगसे मुक्त नहीं कर सके। हे राजन्! यही मेरी अनाथता थी। मेरी आँखोंकी वेदनाको दूर करनेके लिए मेरे पिता सारा धन देने लगे, परन्तु उससे भी मेरी वह वेदना दूर नहीं हुई। हे राजन्! यही मेरी अनाथता थी। मेरी माता पुत्रके शोकसे अति दुःखार्त हुई, परन्तु वह भी मुझे उस रोगसे नहीं छुडा सकी, हे महाराजन्! यही मेरी अनाथता थी। एक उदरसे उत्पन्न

हुए मेरे ज्येष्ठ एवं कनिष्ठ भाई भरसक प्रयत्न कर चुके, परंतु मेरी वेदना दूर नहीं हुई; हे राजन्! यही मेरी अनाथता थी। एक उदरसे उत्पन्न हुई मेरी ज्येष्ठा एवं कनिष्ठा भगिनियोंसे मेरा दुःख दूर नहीं हुआ। हे महाराजन्! यही मेरी अनाथता थी। मेरी स्त्री जो पतिव्रता, मुझपर अनुरक्त और प्रेमवती थी, वह अश्रुपूर्ण आँखोंसे मेरे हृदयको सींचती और भिगोती थी। उसके अन्न-पानी देनेपर और नाना प्रकारके उबटन, चूवा आदि सुगंधी द्रव्य तथा अनेक प्रकारके फूल-चंदनादिके ज्ञात अज्ञात विलेपन किये जानेपर भी मैं उस यौवनवती स्त्रीको भोग नहीं सका। जो मेरे पाससे क्षणभर भी दूर नहीं रहती थी, अन्यत्र जाती नहीं थी, हे महाराजन्! ऐसी वह स्त्री भी मेरे रोगको दूर नहीं कर सकी, यही मेरी अनाथता थी। यों किसीके प्रेमसे, किसीकी औषधिसे, किसीके विलापसे या किसीके परिश्रमसे वह रोग उपशांत नहीं हुआ। मैंने उस समय पुनः पुनः असह्य वेदना भोगी।

फिर मैं अनंत संसारसे खिन्न हो गया। यदि एक बार मैं इस महाविडंबनामय वेदनासे मुक्त हो जाऊँ तो खंती, दंती और निरारंभी प्रव्रज्याको धारण करूँ, यों चिन्तन करता हुआ मैं शयन कर गया। जब रात्रि व्यतीत हो गयी तब हे महाराजन्! मेरी उस वेदनाका क्षय हो गया; और मैं नीरोग हो गया। मात, तात और स्वजन, बांधव आदिसे प्रभातमें पूछकर मैंने महाक्षमावान, इन्द्रिय-निग्रही और आरंभोपाधिसे रहित अनगारत्वको धारण किया। तत्पश्चात् मैं आत्मा परात्माका नाथ हुआ। सर्व प्रकारके जीवोंका मैं नाथ हूँ।" अनाथी मुनिने इस प्रकार उस श्रेणिकराजाके मनपर अशरण भावनाको दृढ किया। अब उसे दूसरा अनुकूल उपदेश देते हैं—

"हे राजन्! यह अपना आत्मा ही दुःखसे भरपूर वैतरणीको करनेवाला है। अपना आत्मा ही क्रूर शाल्मली वृक्षके दुःखको उत्पन्न करनेवाला है। अपना आत्मा ही मनोवांछित वस्तुरूपी दूध देनेवाली कामधेनु गायके सुखको उत्पन्न करनेवाला है। अपना आत्मा ही नंदनवनकी भाँति आनंदकारी है। अपना आत्मा ही कर्मका करनेवाला है। अपना आत्मा ही उस कर्मको दूर करनेवाला है। अपना आत्मा ही दुःखोपार्जन करनेवाला है। अपना आत्मा ही सुखोपार्जन करनेवाला है। अपना आत्मा ही मित्र और अपना आत्मा ही वैरी है। अपना आत्मा ही निकृष्ट आचारमें स्थित और अपना आत्मा ही निर्मल आचारमें स्थित रहता है।" इस प्रकार तथा अन्य अनेक प्रकारसे उस अनाथी मुनिने श्रेणिक राजाको संसारकी अनाथता कह सुनायी। इससे श्रेणिकराजा अति संतुष्ट हुआ। वह अंजलिबद्ध होकर यों बोला, "हे भगवन्! आपने मुझे भलीभाँति उपदेश दिया। आपने जैसी थी वैसी अनाथता कह सुनायी। हे महर्षि! आप सनाथ, आप सबांधव और आप सधर्म हैं, आप सर्व अनाथोंके नाथ हैं। हे पवित्र संयति! मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ। ज्ञानरूपी आपकी शिक्षाको चाहता हूँ। धर्मध्यानमें विघ्न करनेवाले भोग भोगने संबंधी, हे महाभाग्यवान्! मैंने आपको जो आमन्त्रण दिया तत्संबंधी अपने अपराधकी नत-मस्तक होकर क्षमा माँगता हूँ।" इस प्रकार स्तुति करके राजपुरुष-केसरी परमानन्दको पाकर रोमांचसहित प्रदक्षिणा देकर सविनय वंदन करके स्वस्थानको चला गया।

प्रमाणशिक्षा—अहो भव्यो! महा तपोधन, महा मुनि, महा प्रज्ञावान, महा यशस्वी, महा निर्ग्रंथ और महा श्रुत अनाथी मुनिने मगधदेशके राजाको अपने बीते हुए चरित्रसे जो बोध दिया है वह सचमुच अशरणभावना सिद्ध करता है। महामुनि अनाथीके द्वारा सहन किये गये दुःखोंके तुल्य अथवा इससे अति विशेष असह्य दुःख अनंत आत्मा सामान्य दृष्टिसे भोगते हुए दिखायी देते हैं। तत्संबंधी तुम किंचित् विचार करो। संसारमें छायी हुई अनन्त अशरणताका त्याग करके सत्य शरणरूप उत्तम तत्त्वज्ञान और परम सुशीलका सेवन करो, अन्तमें ये ही मुक्तिके कारणरूप हैं। जिस प्रकार संसारमें रहे हुए अनाथी

अनाथ थे, उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा तत्त्वज्ञानकी उत्तम प्राप्तिके बिना सदैव अनाथ ही है। सनाथ होनेके लिए पुरुषार्थ करना यही श्रेय है !

इति श्री 'भावनाबोध' ग्रन्थके प्रथम दर्शनके द्वितीय चित्रमें 'अशरणभावना'के उपदेशार्थ महानिर्ग्रंथका चरित्र समाप्त हुआ।

तृतीय चित्र

एकत्वभावना

(उपजाति)

शरीरमां व्याधि प्रत्यक्ष थाय,
ते कोई अन्ये लई ना शकाय ।
ए भोगवे एक स्व-आत्म पोते,
एकत्व एथी नय सुज्ञ गोते ॥

विशेषार्थ—शरीरमें प्रत्यक्ष दीखनेवाले रोग आदि जो उपद्रव होते हैं वे स्नेही, कुटुंबी, पत्नी या पुत्र किसीसे लिये नहीं जा सकते; उन्हें मात्र एक अपना आत्मा स्वयं ही भोगता है। इसमें कोई भी भागी नहीं होता। तथा पाप-पुण्य आदि सभी विपाक अपना आत्मा ही भोगता है। यह अकेला आता है, अकेला जाता है; ऐसा सिद्ध करके विवेकको भलीभाँति जाननेवाले पुरुष एकत्वको निरन्तर खोजते हैं।

दृष्टांत—महापुरुषके इस न्यायको अचल करनेवाले नमिराजर्षि और शक्रेंद्रका वैराग्योपदेशक संवाद यहाँपर प्रदर्शित करते हैं। नमिराजर्षि मिथिला नगरीके राजेश्वर थे। स्त्री, पुत्र आदिसे विशेष दुःख-समूहको प्राप्त न होते हुए भी एकत्वके स्वरूपको परिपूर्ण पहचाननेमें राजेश्वरने किंचित् विभ्रम किया नहीं है। शक्रेंद्र पहले जहाँ नमिराजर्षि निवृत्तिमें विराजते हैं, वहाँ विप्ररूपमें आकर परीक्षा हेतुसे अपना व्याख्यान शुरू करता है :—

विप्र—हे राजन् ! मिथिला नगरीमें आज प्रबल कोलाहल व्याप्त हो रहा है। हृदय एवं मनको उद्वेग करनेवाले विलापके शब्दोंसे राजमंदिर और सामान्य घर छाये हुए हैं। मात्र तेरी दीक्षा ही इन सब दुःखोंका हेतु है। परके आत्माको जो दुःख अपनेसे होता है उस दुःखको संसारपरिभ्रमणका कारण मानकर तू वहाँ जा, भोला न बन।

नमिराज—(गौरवभरे वचनोंसे) हे विप्र ! तू जो कहता है वह मात्र अज्ञानरूप है। मिथिला नगरीमें एक बगीचा था, उसके मध्यमें एक वृक्ष था, शीतल छायाके कारण वह रमणीय था, पत्र, पुष्प और फलसे वह युक्त था; नाना प्रकारके पक्षियोंको वह लाभदायक था; वायु द्वारा कंपित होनेसे उस वृक्षमें रहनेवाले पक्षी दुःखार्त एवं शरणरहित हो जानेसे आक्रंद करते हैं। वे स्वयं वृक्षके लिए विलाप करते नहीं हैं; अपना सुख नष्ट हो गया, इसलिए वे शोकार्त हैं।

विप्र—परन्तु यह देख ! अग्नि और वायुके मिश्रणसे तेरा नगर, तेरे अन्तःपुर और मन्दिर जल रहे हैं, इसलिए वहाँ जा और उस अग्निको शांत कर।

नमिराज—हे विप्र ! मिथिला नगरी, उन अन्तःपुरों और उन मन्दिरोंके जलनेसे मेरा कुछ भी नहीं जलता है; जैसे सुखोत्पत्ति है वैसे मैं वर्तन करता हूँ। उन मंदिर आदिमें मेरा अल्पमात्र भी नहीं है। मैंने पुत्र, स्त्री आदिके व्यवहारको छोड दिया है। मुझे इनमेंसे कुछ प्रिय नहीं है और अप्रिय भी नहीं है।

विप्र—परन्तु हे राजन् ! तू अपनी नगरीके लिए सघन किला बनाकर, सिंहद्वार, कोठे, किवाड और

भुंगाल बनाकर और शतघ्नी खाई बनवानेके बाद जाना।

नमिराज—(हेतु-कारण-प्रे०[1]) हे विप्र! मैं शुद्ध श्रद्धारूपी नगरी बनाकर, संवररूपी भुंगाल बनाकर, क्षमारूपी शुभ गढ बनाऊँगा; शुभ मनोयोगरूपी कोठे बनाऊँगा, वचनयोगरूपी खाई बनाऊँगा, कायायोगरूपी शतघ्नी बनाऊँगा, पराक्रमरूपी धनुष् करूँगा, ईर्यासमितिरूपी पनच करूँगा, धीरतारूपी कमान पकडनेकी मूठ करूँगा, सत्यरूपी चापसे धनुष्को बाँधूँगा, तपरूपी बाण करूँगा और कर्मरूपी वैरीकी सेनाका भेदन करूँगा। लौकिक संग्रामकी मुझे रुचि नहीं है। मैं मात्र वैसे भावसंग्रामको चाहता हूँ।

विप्र—(हेतु-कारण-प्रे०) हे राजन्! शिखरबंध ऊँचे आवास करवाकर, मणिकंचनमय गवाक्षादि रखवाकर और तालाबमें क्रीडा करनेके मनोहर महालय बनवाकर फिर जाना।

नमिराज—(हेतु-कारण-प्रे०) तूने जिस प्रकारके आवास गिनाये हैं उस उस प्रकारके आवास मुझे अस्थिर एवं अशाश्वत मालूम होते हैं। वे मार्गके घररूप लगते हैं। इसलिए जहाँ स्वधाम है, जहाँ शाश्वतता है, और जहाँ स्थिरता है वहाँ मैं निवास करना चाहता हूँ।

विप्र—(हेतु-कारण-प्रे०) हे क्षत्रियशिरोमणि! अनेक प्रकारके तस्करोंके उपद्रवको दूर करके, और इस तरह नगरीका कल्याण करके तू जाना।

नमिराज—हे विप्र! अज्ञानी मनुष्य अनेक बार मिथ्या दंड देते हैं। चोरी न करनेवाले जो शरीरादिक पुद्गल हैं वे लोकमें बाँधे जाते हैं; और चोरी करनेवाले जो इन्द्रियविकार हैं उन्हें कोई बाँध नहीं सकता। तो फिर ऐसा करनेकी क्या आवश्यकता?

विप्र—हे क्षत्रिय! जो राजा तेरी आज्ञाका पालन नहीं करते हैं और जो नराधिप स्वतंत्रतासे चलते हैं उन्हें तू अपने वशमें करनेके बाद जाना।

नमिराज—(हेतु-कारण-प्रे०) दस लाख सुभटोंको संग्राममें जीतना दुष्कर गिना जाता है; तो भी ऐसी विजय करनेवाले पुरुष अनेक मिल जाते हैं, परन्तु एक स्वात्माको जीतनेवाला मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। उन दस लाख सुभटोंपर विजय पानेवालेकी अपेक्षा एक स्वात्माको जीतनेवाला पुरुष परमोत्कृष्ट है। आत्माके साथ युद्ध करना उचित है। बहिर्युद्धका क्या प्रयोजन है? ज्ञानरूप आत्मासे क्रोधादि युक्त आत्माको जीतने-वाला स्तुतिपात्र है। पाँचों इन्द्रियोंको, क्रोधको, मानको, मायाको तथा लोभको जीतना दुष्कर है। जिसने मनोयोगादिको जीता उसने सबको जीता।

विप्र—(हेतु-कारण-प्रे०) समर्थ यज्ञ करके, श्रमण, तपस्वी, ब्राह्मण आदिको भोजन देकर, सुवर्ण आदिका दान देकर, मनोज्ञ भोगोंको भोगकर हे क्षत्रिय! तू बादमें जाना।

नमिराज—(हेतु-कारण-प्रे०) हर महीने यदि दस लाख गायोंका दान दे तो भी उस दस लाख गायोंके दानकी अपेक्षा जो संयम ग्रहण करके संयमकी आराधना करता है, वह उसकी अपेक्षा विशेष मंगल प्राप्त करता है।

विप्र—निर्वाह करनेके लिए भिक्षासे सुशील प्रव्रज्यामें असह्य परिश्रम सहना पडता है; इसलिए उस प्रव्रज्याका त्याग करके अन्य प्रव्रज्यामें रुचि होती है; इसलिए इस उपाधिको दूर करनेके लिए तू गृहस्थाश्रममें रहकर पौषधादि व्रतमें तत्पर रहना। हे मनुष्याधिपति! मैं ठीक कहता हूँ।

नमिराज—(हेतु-कारण-प्रे०) हे विप्र! बाल अविवेकी चाहे जैसा उग्र तप करे परंतु वह सम्यक् श्रुतधर्म तथा चारित्रधर्मके तुल्य नहीं हो सकता। एकाध कला सोलह कलाओं जैसी कैसे मानी जाय?

---

१. हेतु और कारणसे प्रेरित।

विप्र—अहो क्षत्रिय ! सुवर्ण,मणि,मुक्ताफल, वस्त्रालंकार और अश्वादिकी वृद्धि करके पीछे जाना ।

नमिराज—(हेतु-कारण-प्रे०) मेरु पर्वत जैसे कदाचित् सोने-चाँदीके असंख्यात पर्वत हों तो भी लोभी मनुष्यकी तृष्णा नहीं बुझती । वह किंचित् मात्र संतोषको प्राप्त नहीं होता । तृष्णा आकाश जैसी अनंत है । धन, सुवर्ण, चतुष्पाद इत्यादिसे सकल लोक भर जाये इतना सब लोभी मनुष्यकी तृष्णा दूर करनेके लिए समर्थ नहीं है । लोभकी ऐसी निकृष्टता है । इसलिए संतोषनिवृत्ति-रूप तपका विवेकी पुरुष आचरण करते हैं ।

विप्र—(हेतु-कारण-प्रे०) हे क्षत्रिय ! मुझे अद्‌भुत आश्चर्य होता है कि तू विद्यमान भोगोंको छोडता है। फिर अविद्यमान कामभोगके संकल्प-विकल्प करके भ्रष्ट होगा । इसलिए इस सारी मुनित्वसंबंधी उपाधिको छोड ।

नमिराज—(हेतु-कारण-प्रे०) कामभोग शल्य सरीखे हैं, कामभोग विष सरीखे हैं, कामभोग सर्पके तुल्य हैं; जिनकी इच्छा करनेसे जीव नरकादिक अधोगतिमें जाता है; तथा क्रोध एवं मानके कारण दुर्गति होती हैं; मायाके कारण सद्‌गतिका विनाश होता है; लोभसे इस लोक व परलोकका भय होता है। इसलिए हे विप्र ! इसका तू मुझे बोध न दे । मेरा हृदय कभी भी विचलित होनेवाला नहीं हैं; इस मिथ्या मोहिनीमें अभिरुचि रखनेवाला नहीं है । जानबूझकर जहर कौन पिये ? जानबूझकर दीपक लेकर कुएँमें कौन गिरे ? जानबूझकर विभ्रममें कौन पडे ? मैं अपने अमृत जैसे वैराग्यके मधुर रसको अप्रिय करके इस विषको प्रिय करनेके लिए मिथिलामें आनेवाला नहीं हूँ।

महर्षि नमिराजकी सुदृढता देखकर शक्रेंद्रको परमानंद हुआ, फिर ब्राह्मणके रूपको छोडकर इन्द्रका रूप धारण किया । वंदन करनेके बाद मधुर वाणीसे वह राजर्षीश्वरकी स्तुति करने लगा– "हे महायशस्विन् ! बडा आश्चर्य है कि तूने क्रोधको जीता। आश्चर्य, तूने अहंकारका पराजय किया। आश्चर्य, तूने मायाको दूर किया । आश्चर्य, तूने लोभको वशमें किया । आश्चर्य, तेरी सरलता। आश्चर्य, तेरा निर्ममत्व । आश्चर्य, तेरी प्रधान क्षमा । आश्चर्य, तेरी निर्लोभता । हे पूज्य ! तू इस भवमें उत्तम है, और परभवमें उत्तम होगा । तू कर्मरहित होकर प्रधान सिद्धगतिमें जायेगा ।" इस प्रकार स्तुति करते-करते प्रदक्षिणा देते-देते श्रद्धाभक्तिसे उस ऋषिके पादांबुजको वंदन किया । तदनंतर वह सुंदर मुकुटवाला शक्रेंद्र आकाशमार्गसे चला गया ।

प्रमाणशिक्षा–विप्ररूपमें नमिराजके वैराग्यको परखनेमें इंद्रने क्या न्यूनता की है ? कुछ भी नहीं की। संसारकी जो-जो लोलुपताएँ मनुष्यको विचलित करनेवाली हैं, उन-उन लोलुपताओं संबंधी महागौरवसे प्रश्न करनेमें उस पुरंदरने निर्मल भावसे स्तुतिपात्र चातुर्य चलाया है । फिर भी निरीक्षण तो यह करना है कि नमिराज सर्वथा कंचनमय रहे हैं । शुद्ध एवं अखंड वैराग्यके वेगमें अपने बहनेको उन्होंने उत्तरमें प्रदर्शित किया है–"हे विप्र ! तू जिन-जिन वस्तुओंको मेरी कहलवाता है वे-वे वस्तुएँ मेरी नहीं हैं । मैं एक ही हूँ, अकेला जानेवाला हूँ; और मात्र प्रशंसनीय एकत्वको ही चाहता हूँ ।" ऐसे रहस्यमें नमिराज अपने उत्तर और वैराग्यको दृढीभूत करते गये हैं । ऐसी परम प्रमाणशिक्षासे भरा हुआ उन महर्षिका चरित्र है । दोनों महात्माओंका पारस्परिक संवाद शुद्ध एकत्वको सिद्ध करनेके लिए तथा अन्य वस्तुओंका त्याग करनेके उपदेशके लिए यहाँ दर्शित किया है । इसे भी विशेष दृढीभूत करनेके लिए नमिराजने एकत्व कैसे प्राप्त किया, इस विषयमें नमिराजके एकत्व-संबंधको किंचित् मात्र प्रस्तुत करते हैं ।

वे विदेह देश जैसे महान राज्यके अधिपति थे । अनेक यौवनवती मनोहारिणी स्त्रियोंके समुदायसे घिरे हुए थे । दर्शनमोहनीयका उदय न होनेपर भी वे संसारलुब्धरूप दिखायी देते थे। किसी समय उनके

शरीरमें दाहज्वर नामके रोगकी उत्पत्ति हुई। सारा शरीर मानो प्रज्वलित हो जाता हो ऐसी जलन व्याप्त हो गयी। रोम-रोममें सहस्र बिच्छुओंकी दंशवेदनाके समान दुःख उत्पन्न हो गया। वैद्य-विद्यामें प्रवीण पुरुषोंके औषधोपचारका अनेक प्रकारसे सेवन किया; परन्तु वह सब वृथा गया। लेशमात्र भी वह व्याधि कम न होकर अधिक होती गयी। औषधमात्र दाहज्वरके हितैषी होते गये। कोई औषध ऐसा न मिला कि जिसे दाहज्वरसे किंचित् भी द्वेष हो! निपुण वैद्य हताश हो गये, और राजेश्वर भी उस महाव्याधिसे तंग आ गये। उसे दूर करनेवाले पुरुषकी खोज चारों तरफ चलती थी। एक महाकुशल वैद्य मिला; उसने मलयगिरि चंदनका विलेपन करनेका सूचन किया। मनोरमा रानियाँ चन्दन घिसनेमें लग गयीं। चंदन घिसनेसे प्रत्येक रानीके हाथोंमें पहने हुए कंकणोंका समुदाय खलभलाहट करने लग गया। मिथिलेशके अंगमें एक दाहज्वरकी असह्य वेदना तो थी ही और दूसरी उन कंकणोंके कोलाहलसे उत्पन्न हुई। वे खलभलाहट सहन नहीं कर सके; इसलिए उन्होंने रानियोंको आज्ञा की, "तुम चंदन न घिसो, क्यों खलभलाहट करती हो? मुझसे यह खलभलाहट सहन नहीं हो सकती। एक तो मैं महाव्याधिसे ग्रसित हूँ, और यह दूसरा व्याधितुल्य कोलाहल होता है सो असह्य है।" सभी रानियोंने मंगलके तौर पर एक एक कंकण रखकर कंकण-समुदायका त्याग कर दिया, जिससे वह खलभलाहट शांत हो गयी। नमिराजने रानियोंसे कहा, "तुमने क्या चंदन घिसना बन्द कर दिया?" रानियोंने बताया, "नहीं, मात्र कोलाहल शांत करनेके लिए एक एक कंकण रखकर, दूसरे कंकणोंका परित्याग करके हम चंदन घिसती हैं। कंकणके समूहको अब हमने हाथमें नहीं रखा है, इससे खलभलाहट नहीं होती।" रानियोंके इतने वचन सुनते ही नमिराजके रोम-रोममें एकत्व स्फुरित हुआ, व्याप्त हो गया और ममत्व दूर हो गया—"सचमुच! बहुतोंके मिलनेसे बहुत उपाधि होती है। अब देख, इस एक कंकणसे लेशमात्र भी खलभलाहट नहीं होती; कंकणके समूहके कारण सिर चकरा देनेवाली खलभलाहट होती थी। अहो चेतन! तू मान कि एकत्वमें ही तेरी सिद्धि है। अधिक मिलनेसे अधिक उपाधि है। संसारमें अनन्त आत्माओंके सम्बन्धसे तुझे उपाधि भोगनेकी क्या आवश्यकता है? उसका त्याग कर और एकत्वमें प्रवेश कर। देख! यह एक कंकण अब खलभलाहटके बिना कैसी उत्तम शांतिमें रम रहा है? जब अनेक थे तब यह कैसी अशांति भोगता था? इसी तरह तू भी कंकणरूप है। इस कंकणकी भाँति तू जब तक स्नेही कुटुम्बीरूपी कंकणसमुदायमें पडा रहेगा तब तक भवरूपी खलभलाहटका सेवन करना पडेगा; और यदि इस कंकणकी वर्तमान स्थितिकी भाँति एकत्वका आराधन करेगा तो सिद्धगतिरूपी महा पवित्र शांति प्राप्त करेगा।" इस तरह वैराग्यमें उत्तरोत्तर प्रवेश करते हुए उन नमिराजको पूर्वजातिकी स्मृति हो आयी। प्रव्रज्या धारण करनेका निश्चय करके वे शयन कर गये। प्रभातमें मांगल्यरूप बाजोंकी ध्वनि गूँज उठी; दाहज्वरसे मुक्त हुए। एकत्वका परिपूर्ण सेवन करनेवाले उन श्रीमान नमिराज ऋषिको अभिवन्दन हो!

(शार्दूलविक्रीडित)

राणी सर्व मळी सुचंदन घसी, ने चर्चवामां हती,
बूझ्यो त्यां ककळाट कंकणतणो, श्रोती नमि भूपति।
संवादे पण इन्द्रथी दृढ रह्यो, एकत्व साचुं कर्युं,
एवा ए मिथिलेशनुं चरित आ, संपूर्ण अत्रे थयुं॥

विशेषार्थ—रानियोंका समुदाय चंदन घिसकर विलेपन करनेमें लगा हुआ था; उस समय कंकणकी खलभलाहटको सुनकर नमिराज प्रतिबुद्ध हुए। वे इन्द्रके साथ संवादमें भी अचल रहे; और उन्होंने एकत्वको सिद्ध किया।

ऐसे उन मुक्तिसाधक महावैरागीका चरित्र 'भावनाबोध' ग्रन्थके तृतीय चित्रमें पूर्ण हुआ।

चतुर्थ चित्र

अन्यत्वभावना

(शार्दूलविक्रीडित)

ना मारां तन रूप कांति युवती, ना पुत्र के भ्रात ना,
ना मारां भृत स्नेहीओ स्वजन के, ना गोत्र के ज्ञात ना।
ना मारां धन धाम यौवन धरा, ए मोह अज्ञात्वना;
रे! रे! जीव विचार एम ज सदा, अन्यत्वदा भावना॥

विशेषार्थ—यह शरीर मेरा नहीं, यह रूप मेरा नहीं, यह कांति मेरी नहीं, यह स्त्री मेरी नहीं, ये पुत्र मेरे नहीं, ये भाई मेरे नहीं, ये दास मेरे नहीं, ये स्नेही मेरे नहीं, ये संबंधी मेरे नहीं, यह गोत्र मेरा नहीं, यह जाति मेरी नहीं, यह लक्ष्मी मेरी नहीं, ये महालय मेरे नहीं, यह यौवन मेरा नहीं और यह भूमि मेरी नहीं; यह मोह मात्र अज्ञानताका है। सिद्धगति साधनेके लिए हे जीव! अन्यत्वका बोध देनेवाली अन्यत्वभावनाका विचार कर! विचार कर!

मिथ्या ममत्वकी भ्रांति दूर करनेके लिए और वैराग्यकी वृद्धिके लिए उत्तम भावसे मनन करने योग्य राजराजेश्वर भरतका चरित्र यहाँ पर उद्धृत करते हैं :—

दृष्टांत—जिसकी अश्वशालामें रमणीय, चतुर और अनेक प्रकारके तेज अश्वोंका समूह शोभा देता था; जिसकी गजशालामें अनेक जातिके मदोन्मत्त हस्ती झूम रहे थे; जिसके अंतःपुरमें नवयौवना, सुकुमारी और मुग्धा सहस्रों स्त्रियाँ विराजित हो रही थीं; जिसकी निधिमें समुद्रकी पुत्री लक्ष्मी, जिसे विद्वान चंचलाकी उपमासे जानते हैं, स्थिर हो गयी थी; जिसकी आज्ञाको देवदेवांगनाएँ अधीन होकर मुकुटपर चढा रहे थे; जिसके प्राशनके लिए नाना प्रकारके षड्रस भोजन पल-पलमें निर्मित होते थे; जिसके कोमल कर्णके विलासके लिए बारीक एवं मधुर स्वरसे गायन करनेवाली वारांगनाएँ तत्पर थीं; जिसके निरीक्षण करनेके लिए अनेक प्रकारके नाटक चेटक थे; जिसकी यशःकीर्ति वायुरूपसे फैलकर आकाशकी तरह व्याप्त थी; जिसके शत्रुओंको सुखसे शयन करनेका वक्त नहीं आया था; अथवा जिसके बैरियोंकी वनिताओंके नयनोंसे सदैव आँसू टपकते थे; जिससे कोई शत्रुता दिखानेके लिए तो समर्थ न था, परन्तु जिसकी ओर निर्दोषतासे उँगली उठानेमें भी कोई समर्थ न था; जिसके समक्ष अनेक मन्त्रियोंका समुदाय उसकी कृपाकी याचना करता था; जिसके रूप, कांति और सौंदर्य मनोहारी थे; जिसके अंगमें महान बल, वीर्य, शक्ति और उग्र पराक्रम उछल रहे थे; जिसके क्रीडा करनेके लिये महासुगन्धीमय बाग-बगीचे और वनोपवन थे; जिसके यहाँ प्रधान कुलदीपक पुत्रोंका समुदाय था; जिसकी सेवामें लाखों अनुचर सज्ज होकर खडे रहते थे; वह पुरुष जहाँ जहाँ जाता था; वहाँ-वहाँ खमा-खमाके उद्गारोंसे, कंचनके फूलोंसे और मोतियोंके थालोंसे उसका स्वागत होता था; जिसके कुंकुमवर्णी पादपंकजका स्पर्श करनेके लिए इन्द्र जैसे भी तरसते रहते थे; जिसकी आयुधशालामें महायशस्वी दिव्य चक्रकी उत्पत्ति हुई थी; जिसके यहाँ साम्राज्यका अखंड दीपक प्रकाशमान था; जिसके सिरपर महान छ खंडकी प्रभुताका तेजस्वी और प्रकाशमान मुकुट सुशोभित था; कहनेका आशय यह है कि जिसके दलकी, जिसके नगर-पुरपट्टनकी, जिसके वैभवकी और जिसके विलासकी संसारकी दृष्टिसे किसी भी प्रकारकी न्यूनता न थी, ऐसा वह श्रीमान राजराजेश्वर भरत अपने सुंदर आदर्शभुवनमें

वस्त्राभूषणोंसे विभूषित होकर मनोहर सिंहासनपर बैठा था। चारों ओरके द्वार खुले थे; नाना प्रकारके धूपोंका धूम्र सूक्ष्म रीतिसे फैल रहा था; नाना प्रकारके सुगंधी पदार्थ खूब महक रहे थे; नाना प्रकारके सुस्वरयुक्त बाजे यांत्रिक कलासे बज रहे थे; शीतल, मंद और सुगंधी यों त्रिविध वायुकी लहरें उठ रही थीं; आभूषण आदि पदार्थोंका निरीक्षण करते-करते वह श्रीमान राजराजेश्वर भरत उस भुवनमें अपूर्वताको प्राप्त हुआ।

उसके हाथकी एक उँगलीमेंसे अंगूठी निकल पडी। भरतका ध्यान उस ओर आकृष्ट हुआ और उँगली सर्वथा शोभाहीन दिखाई दी। नौ उँगलियाँ अंगूठियोंसे जो मनोहरता रखती थीं उस मनोहरतासे रहित इस उँगलीको देखकर भरतेश्वरको अद्‌भुत मूलभूत विचारकी प्रेरणा हुई। किस कारणसे यह उँगली ऐसी लगती है? यह विचार करनेपर उसे मालूम हुआ कि इसका कारण अंगूठीका निकल जाना है। इस बातको विशेष प्रमाणित करनेके लिए उसने दूसरी उँगलीकी अंगूठी खींच निकाली। ज्यों ही दूसरी उँगलीमेंसे अंगूठी निकली त्यों ही वह उँगली भी शोभाहीन दिखायी दी; फिर इस बातको सिद्ध करनेके लिए उसने तीसरी उँगलीमेंसे भी अंगूठी सरका ली, इससे यह बात और अधिक प्रमाणित हुई। फिर चोथी उँगलीमेंसे अंगूठी निकाल ली, जिससे यह भी वैसी ही दिखाई दी। इस प्रकार अनुक्रमसे दसों उँगलियाँ खाली कर डाली; खाली हो जानेसे सभीका देखाव शोभाहीन मालूम हुआ। शोभाहीन दीखनेसे राजराजेश्वर अन्यत्व-भावनासे गद्‌गद होकर इस प्रकार बोला—

"अहोहो! कैसी विचित्रता है कि भूमिमें उत्पन्न हुई वस्तुको पीटकर कुशलतासे घडनेसे मुद्रिका बनी; इस मुद्रिकासे मेरी उँगली सुन्दर दिखायी दी; इस उँगलीमेंसे मुद्रिका निकल पडनेसे विपरीत दृश्य नजर आया; विपरीत दृश्यसे उँगलीकी शोभाहीनता और बेहूदापन खेदका कारण हुआ। शोभाहीन लगनेका कारण मात्र अंगूठी नहीं, यही ठहरा न? यदि अंगूठी होती तब तो ऐसी अशोभा मैं न देखता। इस मुद्रिकासे मेरी यह उँगली शोभाको प्राप्त हुई; इस उँगलीसे यह हाथ शोभा पाता है; और इस हाथसे यह शरीर शोभा पाता है। तब इसमें मैं किसकी शोभा मानूँ? अति विस्मयता! मेरी इस मानी जानेवाली मनोहर कांतिको विशेष दीप्त करनेवाले ये मणिमाणिक्यादिके अलंकार और रंग-बिरंगे वस्त्र ठहरे। यह कांति मेरी त्वचाकी शोभा ठहरी। यह त्वचा शरीरकी गुप्तताको ढँककर उसे सुन्दर दिखाती है। अहोहो! यह महाविपरीतता है! जिस शरीरको मैं अपना मानता हूँ, वह शरीर मात्र त्वचासे, वह त्वचा कांतिसे और वह कांति वस्त्रालंकारसे शोभा पाती है। तो फिर क्या मेरे शरीरकी तो कुछ शोभा ही नहीं न? रुधिर, मांस और हड्डियोंका ही केवल यह ढाँचा है क्या? और इस ढाँचेको मैं सर्वथा अपना मानता हूँ। कैसी भूल! कैसी भ्रांति! और कैसी विचित्रता है! मै केवल परपुद्‌गलकी शोभासे शोभित होता हूँ। किसीसे रमणीयता धारण करनेवाले इस शरीरको मैं अपना कैसे मानूँ? और कदाचित् ऐसा मानकर मैं इसमें ममत्वभाव रखूँ तो वह भी केवल दुःखप्रद और वृथा है। इस मेरी आत्माका इस शरीरसे एक समय वियोग होनेवाला है! आत्मा जब दूसरी देहको धारण करनेके जायेगा तब इस देहके यहीं रहनेमें कोई शंका नहीं है। यह काया मेरी न हुई और न होगी तो फिर मैं इसे अपनी मानता हूँ या मानूँ, यह केवल मूर्खता है। जिसका एक समय वियोग होनेवाला है, और जो केवल अन्यत्वभाव रखती है उसमें ममत्वभाव क्या रखना? यह जब मेरी नहीं होती तब मुझे इसका होना क्या उचित है? नहीं, नहीं, यह जब मेरी नहीं तब मैं इसका नहीं, ऐसा विचार करूँ, दृढ करूँ, और प्रवर्तन करूँ, यह विवेकबुद्धिका तात्पर्य है। यह सारी सृष्टि अनंत वस्तुओंसे और पदार्थोंसे भरी हुई है; उन सब पदार्थोंकी अपेक्षा जिसके जितनी किसी भी वस्तुपर मेरी प्रीति नहीं है, वह वस्तु भी मेरी न हुई, तो फिर दूसरी कौनसी वस्तु मेरी

होगी ? अहो ! मैं बहुत भूल गया । मिथ्या मोहमें फँस गया । वे नवयौवनाएँ, वे माने हुए कुलदीपक पुत्र, वह अतुल लक्ष्मी, वह छ खंडका महान राज्य, ये मेरे नहीं हैं । इनमेंसे लेशमात्र भी मेरा नहीं है । इनमें मेरा किंचित् भाग नहीं है । जिस कायासे मैं इन सब वस्तुओंका उपभोग करता हूँ, वह भोग्य वस्तु जब मेरी न हुई तब अपनी मानी हुई अन्य वस्तुएँ—स्नेही, कुटुम्बी इत्यादि—क्या मेरी होनेवाली थीं ? नहीं, कुछ भी नहीं । यह ममत्वभाव मुझे नहीं चाहिए ! ये पुत्र, ये मित्र, ये कलत्र, यह वैभव और यह लक्ष्मी, इन्हें मुझे अपना मानना ही नहीं है ! मैं इनका नहीं और ये मेरे नहीं ! पुण्यादिको साधकर मैंने जो जो वस्तुएँ प्राप्त की वे वस्तुएँ मेरी न हुई, इसके जैसा संसारमें क्या खेदमय है ? मेरे उग्र पुण्यत्वका परिणाम यही न ? अंतमें इन सबका वियोग ही न ? पुण्यत्वका यह फल प्राप्त कर इसकी वृद्धिके लिए मैंने जो जो पाप किये वह सब मेरे आत्माको ही भोगना है न ? और वह अकेले ही न ? इसमें कोई सहभोक्ता नहीं ही न ? नहीं नहीं । इन अन्यत्वभाववालोंके लिए ममत्वभाव दिखाकर आत्माका अहितैषी होकर मैं इसे रौद्र नरकका भोक्ता बनाऊँ इसके जैसा कौनसा अज्ञान है ? ऐसी कौनसी भ्रांति है ? ऐसा कौनसा अविवेक है ? त्रेसठ शलाकापुरुषोंमें मैं एक गिना गया; फिर भी मैं ऐसे कृत्यको दूर न कर सकूँ और प्राप्त प्रभुताको खो बैठूँ, यह सर्वथा अयुक्त है। इन पुत्रोंका, इन प्रमदाओंका, इस राजवैभवका और इन वाहन आदिके सुखका मुझे कुछ भी अनुराग नहीं है ! ममत्व नहीं है !"

राजराजेश्वर भरतके अंतःकरणमें वैराग्यका ऐसा प्रकाश पडा कि तिमिरपट दूर हो गया । शुक्लध्यान प्राप्त हुआ । अशेषकर्म जलकर भस्मीभूत हो गये ! ! ! महादिव्य और सहस्र किरणसे भी अनुपम कांतिमान केवलज्ञान प्रकट हुआ । उसी समय इन्होंने पंचमुष्टि केशलुंचन किया । शासनदेवीने इन्हें संतसाज दिया; और ये महाविरागी सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर चतुर्गति, चौबीस दंडक, तथा आधि, व्याधि एवं उपाधिसे विरक्त हुए । चपल संसारके सकल सुख-विलाससे इन्होंने निवृत्ति ली, प्रियाप्रियका भेद चला गया; और ये निरन्तर स्तवन करने योग्य परमात्मा हो गये ।

प्रमाणशिक्षा—इस प्रकार ये छ खंडके प्रभु, देवोंके देव जैसे, अतुल साम्राज्यलक्ष्मीके भोक्ता, महायुके धनी, अनेक रत्नोंके धारक, राजराजेश्वर भरत आदर्शभुवनमें केवल अन्यत्वभावना उत्पन्न होनेसे शुद्ध विरागी हुए !

सचमुच भरतेश्वरका मनन करने योग्य चरित्र संसारकी शोकार्तता और उदासीनताका पूरा-पूरा भाव, उपदेश और प्रमाण प्रदर्शित करता है । कहिये ! इनके यहाँ क्या कमी थी ? न थी इन्हें नवयौवना स्त्रियोंकी कमी कि न थी राजऋद्धिकी कमी, न थी विजयसिद्धिकी कमी कि न थी नवनिधिकी कमी, न थी पुत्र-समुदायकी कमी कि न थी कुटुम्ब-परिवारकी कमी, न थी रूपकांतिकी कमी कि न थी यशःकीर्तिकी कमी ।

इस तरह पहले कही हुई इनकी ऋद्धिका पुनः स्मरण कराकर प्रमाणसे शिक्षाप्रसादीका लाभ देते हैं कि भरतेश्वरने विवेकसे अन्यत्वके स्वरूपको देखा, जाना और सर्पकंचुकवत् संसारका परित्याग करके उसके मिथ्या ममत्वको सिद्ध कर दिया। महावैराग्यकी अचलता, निर्ममता और आत्मशक्तिकी प्रफुल्लितता, यह सब इस महायोगीश्वरके चरित्रमें गर्भित है ।

एक पिताके सौ पुत्रोंमेंसे निन्यानवें पुत्र पहलेसे ही आत्मसिद्धिको साधते थे । सौवें इन भरतेश्वरने आत्मसिद्धि साधी। पिताने भी यही सिद्धि साधी । उत्तरोत्तर आनेवाले भरतेश्वरी राज्यासनके भोगी इसी आदर्शभुवनमें इसी सिद्धिको प्राप्त हुए हैं ऐसा कहा जाता है । यह सकल सिद्धिसाधक मंडल अन्यत्वको ही सिद्ध करके एकत्वमें प्रवेश कराता है । अभिवन्दन हो उन परमात्माओंको !

(शार्दूलविक्रीडित)

देखी आंगळी आप एक अडवी, वैराग्य वेगे गया,
छांडी राजसमाजने भरतजी, कैवल्यज्ञानी थया ।
चोथुं चित्र पवित्र ए ज चरिते, पाम्युं अहीं पूर्णता,
ज्ञानीनां मन तेह रंजन करो, वैराग्य भावे यथा ॥

विशेषार्थ–जिसने अपनी एक उँगलीको शोभाहीन देखकर वैराग्यके प्रवाहमें प्रवेश किया, और जिसने राजसमाजको छोडकर केवलज्ञान प्राप्त किया, ऐसे उस भरतेश्वरके चरित्रको धारण करके यह चौथा चित्र पूर्णताको प्राप्त हुआ । यह यथोचित वैराग्य भाव प्रदर्शित करके ज्ञानीपुरुषोंके मनको रंजन करनेवाला हो !

'भावनाबोध' ग्रन्थमें 'अन्यत्वभावना'के उपदेशके लिए प्रथम दर्शनके चतुर्थ चित्रमें भरतेश्वरका दृष्टांत और प्रमाणशिक्षा पूर्णताको प्राप्त हुए ।

पंचम चित्र

अशुचिभावना

(गीतिवृत्त)

खाण मूत्र ने मळनी, रोग जरानुं निवासनुं धाम ।
काया एवी गणीने, मान त्यजीने कर सार्थक आम ॥

विशेषार्थ–हे चैतन्य ! इस कायाको मल और मूत्रकी खानरूप, रोग और वृद्धताके रहनेके धाम जैसी मानकर उसका मिथ्या मान त्याग करके सनत्कुमारकी भाँति उसे सफल कर !

इन भगवान सनत्कुमारका चरित्र अशुचिभावनाकी प्रामाणिकता बतानेके लिए यहाँ पर शुरू किया जाता है ।

दृष्टांत–जो जो ऋद्धि, सिद्धि और वैभव भरतेश्वरके चरित्रमें वर्णित किये, उन सब वैभवादिसे युक्त सनत्कुमार चक्रवर्ती थे । उनका वर्ण और रूप अनुपम था । एक बार सुधर्मसभामें उस रूपकी स्तुति हुई । किन्हीं दो देवोंको यह बात न रुची । बादमें वे उस शंकाको दूर करनेके लिए विप्रके रूपमें सनत्कुमारके अंतःपुरमें गये । सनत्कुमारकी देहमें उस समय उबटन लगा हुआ था; उसके अंगोंपर मर्दनादिक पदार्थोंका मात्र विलेपन था । एक छोटी अङ्गोछी पहनी हुई थी । और वे स्नानमज्जन करनेके लिए बैठे थे । विप्रके रूपमें आये हुए देवता उनका मनोहर मुख, कंचनवर्णी काया और चन्द्र जैसी कान्ति देखकर बहुत आनन्दित हुए और जरा सिर हिलाया । इसपर चक्रवर्तीने पूछा, "आपने सिर क्यों हिलाया ?" देवोंने कहा, "हम आपके रूप और वर्णका निरीक्षण करनेके लिए बहुत अभिलाषी थे । हमने जगह-जगह आपके वर्ण, रूपकी स्तुति सुनी थी; आज वह बात हमें प्रमाणित हुई, अतः हमें आनन्द हुआ, और सिर इसलिए हिलाया कि जैसा लोगोंमें कहा जाता है वैसा ही आपका रूप है । उससे अधिक है परन्तु कम नहीं ।" सनत्कुमार स्वरूपवर्णकी स्तुतिसे गर्वमें आकर बोले, "आपने इस समय मेरा रूप देखा सो ठीक है, परन्तु मैं जब राजसभामें वस्त्रालंकार धारण करके सर्वथा सज्ज होकर सिंहासनपर बैठता हूँ, तब मेरा रूप और मेरा वर्ण देखने योग्य है, अभी तो मैं शरीरमें उबटन लगाकर बैठा हूँ । यदि उस समय आप मेरा रूप वर्ण देखेंगे तो अद्भुत चमत्कारको प्राप्त होंगे और चकित हो जायेंगे ।" देवोंने कहा, "तो फिर हम राजसभामें आयेंगे," यों कहकर वे वहाँसे चले गये ।

तत्पश्चात् सनत्कुमारने उत्तम और अमूल्य वस्त्रालंकार धारण किये । अनेक प्रसाधनोंसे अपने

शरीरको विशेष आश्चर्यकारी ढंगसे सजाकर वे राजसभामें आकर सिंहासनपर बैठे। आसपास समर्थ मंत्री, सुभट, विद्वान और अन्य सभासद अपने-अपने आसनोंपर बैठ गये थे। राजेश्वर चमरछत्रसे और खमा-खमाके उद्‌गारोंसे विशेष शोभित तथा सत्कारित हो रहे थे। वहाँ वे देवता फिर विप्रके रूपमें आये। अद्‌भुत रूपवर्णसे आनन्दित होनेके बदले मानों खिन्न हुए हों ऐसे ढंगसे उन्होंने सिर हिलाया।

चक्रवर्तीने पूछा, "अहो ब्राह्मणों! गत समयकी अपेक्षा इस समय आपने और ही तरहसे सिर हिलाया है, इसका क्या कारण है सो मुझे बतायें।" अवधिज्ञानके अनुसार विप्रोंने कहा, "हे महाराजन्! उस रूपमें और इस रूपमें भूमि-आकाशका फर्क पड गया है।" चक्रवर्तीने उसे स्पष्ट समझानेके लिए कहा। ब्राह्मणोंने कहा, "अधिराज! पहले आपकी कोमल काया अमृततुल्य थी, इस समय विषतुल्य है। इसलिए जब अमृततुल्य अंग था तब हमें आनन्द हुआ था। इस समय विषतुल्य है अतः हमें खेद हुआ है। हम जो कहते हैं उस बातको सिद्ध करना हो तो आप अभी तांबूल थूकें; तत्काल उस पर मक्षिका बैठेगी और परधामको प्राप्त होगी।"

सनत्‌कुमारने यह परीक्षा की तो सत्य सिद्ध हुई। पूर्व कर्मके पापके भागमें इस कायाके मदका मिश्रण होनेसे इस चक्रवर्तीकी काया विषमय हो गयी थी। विनाशी और अशुचिमय कायाका ऐसा प्रपंच देखकर सनत्‌कुमारके अंतःकरणमें वैराग्य उत्पन्न हुआ। यह संसार सर्वथा त्याग करने योग्य है। ऐसीकी ऐसी अशुचि स्त्री, पुत्र, मित्र आदिके शरीरमें है। यह सब मोह-मान करने योग्य नहीं है, यों कहकर वे छः खण्डकी प्रभुताका त्याग करके चल निकले। वे जब साधुरूपमें विचरते थे तब महारोग उत्पन्न हुआ। उनके सत्यत्वकी परीक्षा लेनेके लिए कोई देव वहाँ वैद्यके रूपमें आया। साधुको कहा, "मैं बहुत कुशल राजवैद्य हूँ, आपकी काया रोगका भोग बनी हुई है; यदि इच्छा हो तो तत्काल मैं उस रोगको दूर कर दूँ।" साधु बोले, "हे वैद्य! कर्मरूपी रोग महोन्मत्त है; इस रोगको दूर करनेकी यदि आपकी समर्थता हो तो भले मेरा यह रोग दूर करें। यह समर्थता न हो तो यह रोग भले रहे।" देवताने कहा, "इस रोगको दूर करनेकी समर्थता तो मैं नहीं रखता।" बादमें साधुने अपनी लब्धिके परिपूर्ण बलसे थूकवाली अंगुलि करके उसे रोगपर लगाया कि तत्काल वह रोग नष्ट हो गया; और काया फिर जैसी थी वैसी हो गयी। बादमें उस समय देवने अपना स्वरूप प्रगट किया; धन्यवाद देकर, वंदन करके वह अपने स्थानको चला गया।

प्रमाणशिक्षा—रक्तपित्त जैसे सदैव खून-पीपसे खदबदाते हुए महारोगकी उत्पत्ति जिस कायामें है; पलभरमें विनष्ट हो जानेका जिसका स्वभाव है; जिसके प्रत्येक रोममें पौने दो दो रोगोंका निवास है; वैसे साढे तीन करोड रोमोंसे वह भरी होनेसे करोडों रोगोंका वह भंडार है, ऐसा विवेकसे सिद्ध है। अन्नादिकी न्यूनाधिकतासे वह प्रत्येक रोग जिस कायामें प्रगट होता है; मल, मूत्र, विष्ठा, हड्डी, मांस, पीप और श्लेष्मसे जिसका ढाँचा टिका हुआ है; मात्र त्वचासे जिसकी मनोहरता है; उस कायाका मोह सचमुच! विभ्रम ही है! सनत्‌कुमारने जिसका लेशमात्र मान किया वह भी जिससे सहन नहीं हुआ उस कायामें अहो पामर! तू क्या मोह करता है? 'यह मोह मंगलदायक नहीं है।'[1]

ऐसा होनेपर भी आगे[2] चलकर मनुष्यदेहको सर्व-देहोत्तम कहना पडेगा। इससे सिद्धगतिकी सिद्धि है, यह कहनेका आशय है। वहाँपर निःशंक होनेके लिए यहाँ नाममात्रका व्याख्यान किया है।

आत्माके शुभ कर्मका जब उदय आता है तब उसे मनुष्यदेह प्राप्त होती है। मनुष्य अर्थात् दो हाथ, दो पैर, दो आँखें, दो कान, एक मुख, दो ओष्ठ और एक नाकवाली देहका अधीश्वर ऐसा नहीं है। परन्तु

१. द्वि० आ० पाठा०-'यह किंचित् स्तुतिपात्र नहीं है।' २. देखिये मोक्षमाला शिक्षापाठ ४—मानवदेह।

उसका मर्म कुछ और ही है। यदि इस प्रकार अविवेक दिखायें तो फिर वानरको मनुष्य माननेमें क्या दोष है? उस बेचारेने तो एक पूँछ भी अधिक प्राप्त की है। पर नहीं, मनुष्यत्वका मर्म यह है—विवेकबुद्धि जिसके मनमें उदित हुई है, वही मनुष्य है; बाकी सभी इसके बिना दो पैरवाले पशु ही हैं। मेधावी पुरुष निरंतर इस मानवत्वका मर्म इसी प्रकार प्रकाशित करते हैं। विवेकबुद्धिके उदयसे मुक्तिके राजमार्गमें प्रवेश किया जाता है। और इस मार्गमें प्रवेश यही मानवदेहकी उत्तमता है। फिर भी इतना स्मृतिमें रखना उचित है कि यह देह केवल अशुचिमय और अशुचिमय ही है। इसके स्वभावमें और कुछ भी नहीं है।

'भावनाबोध' ग्रन्थमें 'अशुचिभावना'के उपदेशके लिए प्रथम दर्शनके पाँचवें चित्रमें सनत्कुमारका दृष्टांत और प्रमाणशिक्षा पूर्ण हुए।

अंतर्दर्शन : षष्ठ चित्र

निवृत्तिबोध

(नाराच छंद)

अनंत सौख्य नाम दुःख त्यां रही न मित्रता !
अनंत दुःख नाम सौख्य प्रेम त्यां, विचित्रता !!
उघाड न्याय-नेत्र ने निहाळ रे! निहाळ तुं;
निवृत्ति शीघ्रमेव धारीं ते प्रवृत्ति बाळ तुं॥

विशेषार्थ—जिसमें एकांत और अनंत सुखकी तरंगें उछलती हैं ऐसे शील, ज्ञानको नाममात्रके दुःखसे तंग आकर, मित्ररूप न मानते हुए उनमें अप्रीति करता है; और केवल अनंत दुःखमय ऐसे जो संसारके नाममात्रके सुख हैं, उनमें तेरा परिपूर्ण प्रेम है, यह कैसी विचित्रता है! अहो चेतन! अब तू अपने न्यायरूपी नेत्रोंको खोलकर देख! रे देख!!! देखकर शीघ्रमेव निवृत्ति अर्थात् महावैराग्यको धारण कर, और मिथ्या कामभोगकी प्रवृत्तिको जला दे!

ऐसी पवित्र महानिवृत्तिको दृढीभूत करनेके लिए उच्च विरागी युवराज मृगापुत्रका मनन करने योग्य चरित्र यहाँ प्रस्तुत करते हैं। तूने कैसे दुःखको सुख माना है? और कैसे सुखको दुःख माना है? इसे युवराजके मुखवचन तादृश सिद्ध करेंगे।

दृष्टान्त—नाना प्रकारके मनोहर वृक्षोंसे भरे हुए उद्यानोंसे सुशोभित सुग्रीव नामक एक नगर है। उस नगरके राज्यासन पर बलभद्र नामका एक राजा राज्य करता था। उसकी प्रियंवदा पटरानीका नाम मृगा था। इस दम्पतीसे बलश्री नामके एक कुमारने जन्म लिया था। वे मृगापुत्रके नामसे प्रख्यात थे। वे मातापिताको अत्यन्त प्रिय थे। उन युवराजने गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी संयतिके गुणोंको प्राप्त किया था; इसलिए वे दमीश्वर अर्थात् यतियोंमें अग्रेसर गिने जाने योग्य थे। वे मृगापुत्र शिखरबंद आनन्दकारी प्रासादमें अपनी प्राणप्रिया सहित दोगुंदक देवताकी भाँति विलास करते थे। वे निरंतर प्रमुदित मनसे रहते थे। प्रासादका दीवानखाना चंद्रकांतादि मणियों तथा विविध रत्नोंसे जडित था। एक दिन वे कुमार अपने झरोखेमें बैठे हुए थे। वहाँसे नगरका परिपूर्ण निरीक्षण होता था। जहाँ चार राजमार्ग मिलते थे ऐसे चौकमें उनकी दृष्टि वहाँ पडी कि जहाँ तीन राजमार्ग मिलते थे। वहाँ उन्होंने महातप, महानियम, महासंयम, महाशील, और महागुणोंके धामरूप एक शान्त तपस्वी साधुको देखा। ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है त्यों-त्यों मृगापुत्र उस मुनिको खूब गौरसे देख रहे हैं।

इस निरीक्षणसे वे इस प्रकार बोले—"जान पडता है कि ऐसा रूप मैंने कहीं देखा है।" और यों बोलते-बोलते वे कुमार शुभ परिणामको प्राप्त हुए। मोहपट दूर हुआ और वे उपशमताको प्राप्त हुए। जातिस्मृतिज्ञान प्रकाशित हुआ। पूर्वजातिकी स्मृति उत्पन्न होनेसे महाऋद्धिके भोक्ता उन मृगापुत्रको पूर्वके चारित्रका स्मरण भी हो आया। शीघ्रमेव वे विषयमें अनासक्त हुए और संयममें आसक्त हुए। मातापिताके पास आकर वे बोले, "पूर्व भवमें मैंने पाँच महाव्रत सुने थे, नरकमें जो अनन्त दुःख हैं वे भी मैंने सुने थे, तिर्यंचमें जो अनंत दुःख हैं वे भी मैंने सुने थे। उन अनन्त दुःखोंसे खिन्न होकर मैं उनसे निवृत्त होनेका अभिलाषी हुआ हूँ। संसाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिए हे गुरुजनों! मुझे उन पाँच महाव्रतोंको धारण करनेकी अनुज्ञा दीजिये।"

कुमारके निवृत्तिपूर्ण वचन सुनकर मातापिताने उन्हें भोग भोगनेका आमंत्रण दिया। आमंत्रण-वचनसे खिन्न होकर मृगापुत्र यों कहते हैं—"अहो मात! और अहो तात! जिन भोगोंका आप मुझे आमंत्रण देते हैं उन भोगोंको मैं भोग चुका हूँ। वे भोग विषफल—किंपाक वृक्षके फलके समान है, भोगनेके बाद कडवे विपाकको देते हैं और सदैव दुःखोत्पत्तिके कारण हैं। यह शरीर अनित्य और केवल अशुचिमय है, अशुचिसे उत्पन्न हुआ है, यह जीवका अशाश्वत वास है, और अनन्त दुःखोंका हेतु है। यह शरीर रोग, जरा और क्लेशादिका भाजन है, इस शरीरमें मैं कैसे रति करूँ? फिर ऐसा कोई नियम नहीं है कि यह शरीर बचपनमें छोडना है या बुढापेमें। यह शरीर पानीके फेनके बुलबुले जैसा है, ऐसे शरीरमें स्नेह करना कैसे योग्य हो सकता है? मनुष्यभवमें भी यह शरीर कोढ, ज्वर आदि व्याधियोंसे तथा जरा-मरणसे ग्रसित होना सम्भाव्य है। इससे मैं कैसे प्रेम करूँ?

जन्मका दुःख, जराका दुःख, रोगका दुःख, मृत्युका दुःख, इस तरह केवल दुःखके हेतु संसारमें है। भूमि, क्षेत्र, आवास, कंचन, कुटुम्ब, पुत्र, प्रमदा, बांधव, इन सबको छोडकर मात्र क्लेशित होकर इस शरीरसे अवश्यमेव जाना है। जैसे किंपाक वृक्षके फलका परिणाम सुखदायक नहीं है वैसे भोगका परिणाम भी सुखदायक नहीं है। जैसे कोई पुरुष महा प्रवासमें अन्न-जल साथमें न ले तो क्षुधा-तृषासे दुःखी होता है वैसे ही धर्मके अनाचरणसे परभवमें जानेपर वह पुरुष दुःखी होता है, जन्म-जरादिकी पीडा पाता है। महाप्रवासमें जाता हुआ जो पुरुष अन्न-जलादि साथमें लेता है वह पुरुष क्षुधा-तृषासे रहित होकर सुख पाता है उसी प्रकार धर्मका आचरण करनेवाला पुरुष परभवमें जानेपर सुख पाता है; अल्प कर्मरहित होता है और असातावेदनीयसे रहित होता है। हे गुरुजनों! जैसे किसी गृहस्थका घर प्रज्वलित होता है तब उस घरका मालिक अमूल्य वस्त्रादिको ले जाकर जीर्ण वस्त्रादिको वहीं छोड देता है, वैसे ही लोकको जलता देखकर जीर्ण वस्त्ररूप जरा-मरणको छोडकर अमूल्य आत्माको उस दाहसे (आप आज्ञा दें तो मैं) बचाऊँगा।"

मृगापुत्रके वचन सुनकर उसके मातापिता शोकार्त होकर बोले, "हे पुत्र! यह तू क्या कहता है? चारित्रका पालन अति दुष्कर है। यतिको क्षमादिक गुण धारण करने पडते हैं, निभाने पडते हैं और यत्नासे सँभालने पडते हैं। संयतिको मित्र और शत्रुमें समभाव रखना पडता है, संयतिको अपने आत्मा और परात्मापर समबुद्धि रखनी पडती है; अथवा सर्व जगतपर समान भाव रखना पडता है। ऐसा पालनेमें दुष्कर प्राणातिपात-विरति प्रथम व्रत, उसे जीवनपर्यंत पालना पडता है। संयतिको सदैव अप्रमत्ततासे मृषा वचनका त्याग करना और हितकारी वचन बोलना, ऐसा पालनेमें दुष्कर दूसरा व्रत धारण करना पडता है। संयतिको दंत-शोधनके लिए एक सलाईके भी अदत्तका त्याग करना और निरवद्य एवं दोषरहित भिक्षाका ग्रहण करना, ऐसा पालनेमें दुष्कर तीसरा व्रत धारण करना पडता है। कामभोगके

स्वादको जानने और अब्रह्मचर्यके धारण करनेका त्याग करके ब्रह्मचर्यरूप चौथा व्रत संयतिको धारण करना तथा उसका पालन करना बहुत दुष्कर है। धनधान्य, दास-समुदाय, परिग्रहके ममत्वका वर्जन और सभी प्रकारके आरंभका त्याग करके केवल निर्ममत्वसे यह पाँचवाँ महाव्रत संयतिको धारण करना अति विकट है। रात्रिभोजनका वर्जन तथा घृतादि पदार्थोंके वासी रखनेका त्याग करना अति दुष्कर है।

हे पुत्र! तू चारित्र चारित्र क्या करता है? चारित्र जैसी दुःखप्रद वस्तु दूसरी कौनसी है? क्षुधाका परिषह सहन करना; तृषाका परिषह सहन करना; शीतका परिषह सहन करना; उष्ण तापका परिषह सहन करना; डाँस-मच्छरका परिषह सहन करना; आक्रोशका परिषह सहन करना; उपाश्रयका परिषह सहन करना; तृणादिके स्पर्शका परिषह सहन करना; तथा मैलका परिषह सहन करना; हे पुत्र! निश्चय मान कि ऐसा चारित्र कैसे पाला जा सकता है? वधका परिषह और बन्धका परिषह कैसे विकट हैं? भिक्षाचरी कैसी दुष्कर है? याचना करना कैसा दुष्कर है? याचना करनेपर भी प्राप्त न हो, यह अलाभ-परिषह कैसा दुष्कर है? कायर पुरुषके हृदयका भेदन कर डालनेवाला केशलुंचन कैसा विकट है? तू विचार कर, कर्मवैरीके लिए रौद्र ऐसा ब्रह्मचर्य व्रत कैसा दुष्कर है? सचमुच! अधीर आत्माके लिए यह सब अति-अति विकट है।

प्रिय पुत्र! तू सुख भोगनेके योग्य है। तेरा सुकुमार शरीर अति रमणीय रीतिसे निर्मल स्नान करनेके योग्य है। प्रिय पुत्र! निश्चय ही तू चारित्र पालनेके लिए समर्थ नहीं है। जीवन पर्यन्त इसमें विश्राम नहीं है। संयतिके गुणोंका महासमुदाय लोहेकी भाँति बहुत भारी है। संयमका भार वहन करना अति अति विकट है। जैसे आकाशगंगाके प्रवाहके सामने जाना दुष्कर है वैसे ही यौवनवयमें संयम महादुष्कर है। जैसे प्रतिस्रोत जाना दुष्कर है, वैसे ही यौवनमें संयम महादुष्कर है। भुजाओंसे जैसे समुद्रको तरना दुष्कर है वैसे ही यौवनमें संयम-गुणसमुद्र पार करना महादुष्कर है। जैसे रेतका कौर नीरस है वैसे ही संयम भी नीरस है। जैसे खड्ग-धारापर चलना विकट है वैसे ही तपका आचरण करना महाविकट है। जैसे सर्प एकांत दृष्टिसे चलता है, वैसे ही चारित्रमें ईर्यासमितिके लिए एकांतिक चलना महादुष्कर है। हे प्रिय पुत्र! जैसे लोहेके चने चबाना दुष्कर है वैसे ही संयमका आचरण करना दुष्कर है। जैसे अग्निकी शिखाको पीना दुष्कर है, वैसे ही यौवनमें यतित्व अंगीकार करना महादुष्कर है। सर्वथा मंद संहननके धनी कायर पुरुषके लिये यतित्व प्राप्त करना तथा पालना दुष्कर है। जैसे तराजूसे मेरु पर्वतका तौलना दुष्कर है वैसे ही निश्चलतासे, निःशंकतासे दशविध यतिधर्मका पालन करना दुष्कर है। जैसे भुजाओंसे स्वयंभूरमणसमुद्रको पार करना दुष्कर है वैसे ही उपशमहीन मनुष्यके लिए उपशमरूपी समुद्रको पार करना दुष्कर है।

हे पुत्र! शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श इन पाँच प्रकारसे मनुष्यसंबंधी भोगोंको भोगकर भुक्तभोगी होकर तू वृद्धावस्थामें धर्मका आचरण करना।"

मातापिताका भोगसंबंधी उपदेश सुनकर वे मृगापुत्र मातापितासे इस तरह बोल उठे—

"जिसे विषयकी वृत्ति न हो उसे संयम पालना कुछ भी दुष्कर नहीं है। इस आत्माने शारीरिक एवं मानसिक वेदना असातारूपसे अनंत बार सहन की है, भोगी है। महादुःखसे भरी, भयको उत्पन्न करनेवाली अति रौद्र वेदनाएँ इस आत्माने भोगी है। जन्म, जरा, मरण—ये भयके धाम हैं। चतुर्गतिरूप संसाराटवीमें भटकते हुए अति रौद्र दुःख मैंने भोगे हैं। हे गुरुजनों! मनुष्यलोकमें जो अग्नि अतिशय उष्ण मानी गयी है, उस अग्निसे अनंत गुनी उष्ण ताप-वेदना नरकमें इस आत्माने भोगी है। मनुष्यलोकमें जो ठंड अति शीतल मानी गयी है उस ठंडसे अनंत गुनी ठंड नरकमें इस आत्माने असातासे भोगी है। लोहमय

भाजनमें ऊपर पैर बाँधकर और नीचे मस्तक करके देवतासे वैक्रिय की हुई धायँ धायँ जलती हुई अग्निमें आक्रंदन करते हुए इस आत्माने अत्युग्र दुःख भोगे हैं। महा दवकी अग्नि जैसे मरुदेशमें जैसी बालू है उस बालू जैसी वज्रमय बालू कदंब नामक नदीकी बालू है, उस सरीखी उष्ण बालूमें पूर्वकालमें मेरे इस आत्माको अनंत बार जलाया है।

आक्रंदन करते हुए मुझे पकानेके लिए पकानेके बरतनमें अनंत बार डाला है। नरकमें महारौद्र परमाधामियोंने मुझे मेरे कडवे विपाकके लिए अनंत बार ऊँचे वृक्षकी शाखासे बाँधा था। बान्धवरहित मुझे लम्बी करवतसे चीरा था। अति तीक्ष्ण काँटोंसे व्याप्त ऊँचे शाल्मलि वृक्षसे बाँधकर मुझे महाखेद दिया था। पाशमें बाँधकर आगे-पीछे खींचकर मुझे अति दुःखी किया था। अत्यंत असह्य कोल्हूमें ईखकी भाँति आक्रंदन करता हुआ मैं अति रौद्रतासे पेला गया था। यह सब जो भोगना पडा वह मात्र मेरे अशुभ कर्मके अनंत बारके उदयसे ही था। साम नामके परमाधामीने मुझे कुत्ता बनाया, शबल नामके परमाधामीने उस कुत्तेके रूपमें मुझे जमीन पर पटका; जीर्ण वस्त्रकी भाँति फाडा; वृक्षकी भाँति छेदा; उस समय मैं अतीव तडफडाता था।

विकराल खड्गसे, भालेसे तथा अन्य शस्त्रोंसे उन प्रचंडोंने मुझे विखंडित किया था। नरकमें पाप कर्मसे जन्म लेकर विषम जातिके खंडोंका दुःख भोगनेमें कमी नहीं रही। परतंत्रतासे अनंत प्रज्वलित रथमें रोझकी भाँति बरबस मुझे जोता था। महिषकी भाँति देवताकी वैक्रिय की हुई अग्निमें मैं जला था। मैं भुरता होकर असातासे अत्युग्र वेदना भोगता था। ढंक-गीध नामके विकराल पक्षियोंकी सँडसे जैसी चोंचोंसे चूंथा जाकर अनंत बिलबिलाहटसे कायर होकर मैं विलाप करता था। तृषाके कारण जलपानके चिन्तनसे वेगमें दौडते हुए वैतरणीका छरपलेकी धार जैसा अनन्त दुःखद पानी मुझे प्राप्त हुआ था। जिसके पत्ते खड्गकी तीव्र धार जैसे हैं, जो महातापसे तप रहा है, वह असिपत्रवन मुझे प्राप्त हुआ था; वहाँ पूर्वकालमें मुझे अनंत बार छेदा गया था। मुद्गरसे, तीव्र शस्त्रसे, त्रिशूलसे, मूसलसे तथा गदासे मेरे शरीरके टुकडे किये गये थे। शरणरूप सुखके बिना मैंने अशरणरूप अनंत दुःख पाया था। वस्त्रकी भाँति मुझे छरपलेकी तीक्ष्ण धारसे, छुरीसे और कैंचीसे काटा गया था। मेरे खंड खंड टुकडे किये गये थे। मुझे तिरछा छेदा गया था। चररर शब्द करती हुई मेरी त्वचा उतारी गयी थी। इस प्रकार मैंने अनंत दुःख पाया था।

मैं परवशतासे मृगकी भाँति अनंत बार पाशमें पकडा गया था। परमाधामियोंने मुझे मगर-मच्छके रूपमें जाल डालकर अनंत बार दुःख दिया था। बाजके रूपमें पक्षीकी भाँति जालमें बाँधकर मुझे अनंत बार मारा था। फरसा इत्यादि शस्त्रोंसे मुझे अनंत बार वृक्षकी तरह काटकर मेरे सूक्ष्म टुकडे किये गये थे। जैसे लुहार घनसे लोहेको पीटता है वैसे ही मुझे पूर्व कालमें परमाधामियोंने अनंत बार पीटा था। ताँबे, लोहे और सीसेको अग्निसे गलाकर उनका उबलता हुआ रस मुझे अनंत बार पिलाया था। अति रौद्रतासे वे परमाधामी मुझे यों कहते थे कि पूर्व भवमें तुझे माँस प्रिय था, अब ले यह माँस। इस तरह मैंने अपने ही शरीरके खंड खंड टुकडे अनंत बार निगले थे। मद्यकी प्रियताके कारण भी मुझे इससे कुछ कम दुःख उठाना नहीं पडा। इस प्रकार मैंने महा-भयसे, महात्राससे और महादुःखसे कंपायमान काया द्वारा अनंत वेदनाएँ भोगी थीं। जो वेदनाएँ सहन करनेमें अति तीव्र, रौद्र और उत्कृष्ट कालस्थितिवाली हैं, और जो सुननेमें भी अति भयंकर हैं; वे मैंने नरकमें अनंत बार भोगी थीं। जैसी वेदना मनुष्यलोकमें है वैसी दीखती परन्तु उससे अनंत गुनी अधिक असातावेदना नरकमें थी। सभी भवोंमें असातावेदना मैंने भोगी है। निमेषमात्र भी वहाँ साता नहीं है।"

इस प्रकार मृगापुत्रने वैराग्यभावसे संसार-परिभ्रमणके दुःख कह सुनाये । इसके उत्तरमें उसके मातापिता इस प्रकार बोले—"हे पुत्र ! यदि तेरी इच्छा दीक्षा लेनेकी है तो दीक्षा ग्रहण कर; परंतु चारित्रमें रोगोत्पत्तिके समय चिकित्सा कौन करेगा ? दुःख-निवृत्ति कौन करेगा ? इसके बिना अति दुष्कर है ।" मृगापुत्रने कहा—"यह ठीक है, परंतु आप विचार कीजिये कि अटवीमें मृग तथा पक्षी अकेले होते हैं; उन्हें रोग उत्पन्न होता है तब उनकी चिकित्सा कौन करता है ? जैसे वनमें मृग विहार करता है वैसे ही मैं चारित्रवनमें विहार करूँगा, और सत्रह प्रकारके शुद्ध संयमका अनुरागी बनूँगा; बारह प्रकारके तपका आचरण करूँगा तथा मृगचर्यासे विचरूँगा । जब मृगको वनमें रोगका उपद्रव होता है, तब उसकी चिकित्सा कौन करता है ?" ऐसा कहकर वे पुनः बोले, "कौन उस मृगको औषध देता है ? कौन उस मृगको आनन्द, शांति और सुख पूछता है ? कौन उस मृगको आहार, जल लाकर देता है ? जैसे वह मृग उपद्रवमुक्त होनेके बाद गहन वनमें जहाँ सरोवर होता है वहाँ जाता है, तृण-पानी आदिका सेवन करके फिर जैसे वह मृग विचरता है वैसे ही मैं विचरूँगा । सारांश यह कि मैं तद्रूप मृगचर्याका आचरण करूँगा। इस तरह मैं भी मृगकी भाँति संयमवान् बनूँगा । अनेक स्थलोंमें विचरता हुआ यति मृगकी भाँति अप्रतिबद्ध रहे । मृगकी तरह विचरण करके, मृगचर्याका सेवन करके और सावद्यको दूर करके यति विचरे । जैसे मृग तृण, जल आदिकी गोचरी करता है वैसे ही यति गोचरी करके संयमभारका निर्वाह करे । दुराहारके लिए गृहस्थकी अवहेलना न करे, निंदा न करे, ऐसे संयमका मैं आचरण करूँगा ।"

"एवं पुत्ता जहासुखं—हे पुत्र ! जैसे तुम्हें सुख हो वैसे करो !" इस प्रकार मातापिताने अनुज्ञा दी। अनुज्ञा मिलनेके बाद ममत्वभावका छेदन करके जैसे महा नाग कंचुकका त्याग करके चला जाता है वैसे ही वे मृगापुत्र संसारका त्याग कर संयम-धर्ममें सावधान हुए । कंचन, कामिनी, मित्र, पुत्र, जाति और सगे संबंधियोंके परित्यागी हुए । जैसे वस्त्रको झटककर धूलको झाड डालते हैं वैसे ही वे सब प्रपंचका त्याग कर दीक्षा लेनेके लिए निकल पडे । वे पवित्र पाँच महाव्रतसे युक्त हुए, पंच समितिसे सुशोभित हुए, त्रिगुप्तिसे अनुगुप्त हुए, बाह्याभ्यंतर द्वादश तपसे संयुक्त हुए, ममत्वरहित हुए, निरहंकारी हुए । स्त्री आदिके संगसे रहित हुए, और सभी प्राणियोंमें उनका समभाव हुआ । आहार जल प्राप्त हो या न हो, सुख प्राप्त हो या दुःख, जीवन हो या मरण, कोई स्तुति करे या कोई निंदा करे, कोई मान दे या कोई अपमान करे, उन सब पर वे समभावी हुए । ऋद्धि, रस और सुख इस त्रिगारवके अहंपदसे वे विरक्त हुए । मनदंड, वचनदंड और तनदंडको दूर किया। चार कषायसे विमुक्त हुए । मायाशल्य, निदानशल्य तथा मिथ्यात्वशल्य इस त्रिशल्यसे विरागी हुए । सप्त महाभयसे वे अभय हुए । हास्य और शोकसे निवृत्त हुए । निदानरहित हुए । रागद्वेषरूपी बन्धनसे छूट गये । वांछारहित हुए। सभी प्रकारके विलासोंसे रहित हुए । कोई तलवारसे काटे और कोई चन्दनका विलेपन करे, उसपर समभावी हुए । उन्होंने पाप आनेके सभी द्वार रोक दिये । शुद्ध अन्तःकरणसहित धर्मध्यानादिके व्यापारमें वे प्रशस्त हुए । जिनेन्द्रके शासनतत्त्वमें परायण हुए । ज्ञानसे, आत्म-चारित्रसे, सम्यक्त्वसे, तपसे, प्रत्येक महाव्रतकी पाँच भावनाओंसे अर्थात पाँच महाव्रतोंकी पच्चीस भावनाओंसे और निर्मलतासे वे अनुपम विभूषित हुए । सम्यक् प्रकारसे बहुत वर्ष तक आत्मचारित्रका परिसेवन करके एक मासका अनशन करके उन महाज्ञानी युवराज मृगापुत्रने प्रधान मोक्षगतिमें गमन किया ।

प्रमाणशिक्षा—तत्त्वज्ञानियों द्वारा सप्रमाण सिद्ध की हुई द्वादश भावनाओंमेंसे संसार भावनाको दृढ करनेके लिए मृगापुत्रके चरित्रका यहाँ वर्णन किया है । संसाराटवीमें परिभ्रमण करते हुए अनन्त दुःख

है, यह विवेकसिद्ध है; और इसमें भी, निमेषमात्र भी जिसमें सुख नहीं है ऐसी नरकाधोगतिके अनन्त दुःखोंका वर्णन युवज्ञानी योगींद्र मृगापुत्रने अपने मातापिताके समक्ष किया है, वह केवल संसारसे मुक्त होनेका विरागी उपदेश प्रदर्शित करता है। आत्मचारित्रको धारण करनेमें तप-परिषहादिके बहिर्दुःखको दुःख माना है, और महाधोगतिके परिभ्रमणरूप अनन्त दुःखको बहिर्भाव मोहिनीसे सुख माना है, यह देखो, कैसी भ्रमविचित्रता है? आत्मचारित्रका दुःख दुःख नहीं परन्तु परम सुख है, और परिणाममें अनन्त सुखतरंगकी प्राप्तिका कारण है; और भोगविलासादिका सुख जो क्षणिक एवं बहिर्दृष्ट सुख है वह केवल दुःख ही है, और परिणाममें अनन्त दुःखका कारण है, इसे सप्रमाण सिद्ध करनेके लिए महाज्ञानी मृगापुत्रका वैराग्य यहाँ प्रदर्शित किया है। इन महाप्रभावक, महायशस्वी मृगापुत्रकी भाँति जो तपादिक और आत्मचारित्रादिक शुद्धाचरण करता है, वह उत्तम साधु त्रिलोकमें प्रसिद्ध और प्रधान परमसिद्धिदायक सिद्धगतिको पाता है। संसारममत्वको दुःखवृद्धिरूप मानकर तत्त्वज्ञानी इन मृगापुत्रकी भाँति परम सुख और परमानंदके लिए ज्ञानदर्शनचारित्ररूप दिव्य चिंतामणिकी आराधना करते हैं।

महर्षि मृगापुत्रका सर्वोत्तम चरित्र (संसारभावनारूपसे) संसार-परिभ्रमणकी निवृत्तिका और उसके साथ अनेक प्रकारकी निवृत्तिका उपदेश देता है। इस परसे अंतर्दर्शनका नाम निवृत्तिबोध रखकर आत्मचारित्रकी उत्तमताका वर्णन करते हुए मृगापुत्रका यह चरित्र यहाँ पूर्ण होता है। तत्त्वज्ञानी संसारपरिभ्रमणनिवृत्ति और सावद्यउपकरणनिवृत्तिका पवित्र विचार निरंतर करते हैं।

इति अंतर्दर्शनके 'संसारभावना'रूप छठे चित्रमें मृगापुत्रचरित्र समाप्त हुआ।

सप्तम चित्र

आस्रवभावना

द्वादश अविरति, षोडश कषाय, नव नोकषाय, पंच मिथ्यात्व, और पंचदश योग यह सब मिलकर सत्तावन आस्रव-द्वार अर्थात् पापके प्रवेश करनेके प्रणाल हैं।

दृष्टान्त : महाविदेहमें विशाल पुंडरीकिणी नगरीके राज्य सिंहासन पर पुंडरीक और कुंडरीक नामके दो भाई आरूढ थे। एक बार वहाँ महातत्त्वज्ञानी मुनिराज विहार करते हुए आये। मुनिके वैराग्य वचनामृतसे कुंडरीक दीक्षानुरक्त हुआ और घर आनेके बाद पुंडरीकको राज्य सौंपकर चारित्र अंगीकार किया। सरस-नीरस आहार करनेसे थोडे समयमें वह रोगग्रस्त हुआ, जिससे वह चारित्र-परिणामसे भ्रष्ट हो गया। पुंडरीकिणी महानगरीकी अशोकवाटिकामें आकर उसने ओघा, मुखपटी वृक्ष पर लटका दिये। वह निरंतर यह परिचिंतन करने लगा कि पुंडरीक मुझे राज देगा या नहीं? वनरक्षकने कुंडरीकको पहचान लिया। उसने जाकर पुंडरीकको विदित किया कि आकुल व्याकुल होता हुआ आपका भाई अशोक बागमें ठहरा हुआ है। पुंडरीकने आकर कुंडरीकके मनोभाव देखे और उसे चारित्रसे डगमगाते हुए देखकर कुछ उपदेश देनेके बाद राज सौंपकर घर आया।

कुंडरीककी आज्ञाको सामंत या मंत्री कोई भी नहीं मानते थे, बल्कि वह हजार वर्ष तक प्रव्रज्या पालकर पतित हुआ, इसलिए उसे धिक्कारते थे। कुंडरीकने राज्यमें आनेके बाद अति आहार किया। इस कारण वह रात्रिमें अति पीडित हुआ और वमन हुआ। अप्रीतिके कारण उसके पास कोई आया नहीं, इससे उसके मनमें प्रचण्ड क्रोध आया। उसने निश्चय किया कि इस पीडासे यदि मुझे शांति मिले तो फिर प्रभातमें इन सबको मैं देख लूँगा। ऐसे महादुर्ध्यानसे मरकर वह सातवीं नरकमें अपयठाण पाथडमें तैतीस

सागरोपमकी आयुके साथ अनंतदुःखमें जाकर उत्पन्न हुआ। कैसा विपरीत आस्रवद्वार!!

इति सप्तम चित्रमें 'आस्रवभावना' समाप्त हुई।

अष्टम चित्र

संवरभावना

संवरभावना: उपर्युक्त आस्रवद्वार और पापप्रणालको सर्वथा रोकना (आते हुए कर्म-समूहको रोकना) यह संवरभाव है।

दृष्टान्त: (१) (कुंडरीकका अनुसंबंध) कुंडरीकके मुखपटी इत्यादि उपकरणोंको ग्रहण करके पुंडरीकने निश्चय किया कि मुझे पहले महर्षि गुरुके पास जाना चाहिए और उसके बाद ही अन्न जल ग्रहण करना चाहिए। नंगे पैरोंसे चलनेके कारण पैरोंमें कंकर एवं काँटे चुभनेसे लहूकी धाराएँ बह निकलीं, तो भी वह उत्तम ध्यानमें समताभावसे रहा। इस कारण यह महानुभाव पुंडरीक मृत्यु पाकर समर्थ सर्वार्थसिद्ध विमानमें तैतीस सागरोपमकी उत्कृष्ट आयुसहित देव हुआ। आस्रवसे कुंडरीककी कैसी दुःखदशा! और संवरसे पुंडरीककी कैसी सुखदशा!!

दृष्टांत: (२) श्री वज्रस्वामी कंचनकामिनीके द्रव्यभावसे सर्वथा परित्यागी थे। एक श्रीमंतकी रुक्मिणी नामकी मनोहारिणी पुत्री वज्रस्वामीके उत्तम उपदेशको सुनकर उन पर मोहित हो गयी। घर आकर उसने मातापितासे कहा, "यदि मैं इस देहसे पति करूँ, तो मात्र वज्रस्वामीको ही करूँ, अन्यके साथ संलग्न न होनेकी मेरी प्रतिज्ञा है।" रुक्मिणीको उसके माता-पिताने बहुत ही कहा, "पगली! विचार तो सही कि क्या मुनिराज भी कभी विवाह करते हैं? उन्होंने तो आस्रवद्वारकी सत्य प्रतिज्ञा ग्रहण की है।" तो भी रुक्मिणीने कहना नहीं माना। निरुपाय होकर धनावा शेठने कुछ द्रव्य और सुरूपा रुक्मिणीको साथ लिया; और जहाँ वज्रस्वामी बिराजते थे वहाँ आकर कहा, "यह लक्ष्मी है, इसका आप यथारुचि उपयोग करें, और वैभवविलासमें लगायें; और इस मेरी महासुकोमला रुक्मिणी नामकी पुत्रीसे पाणिग्रहण करे।" यों कहकर वह अपने घर चला आया।

यौवनसागरमें तैरती हुई रूपराशि रुक्मिणीने वज्रस्वामीको अनेक प्रकारसे भोग संबंधी उपदेश किया; भोगके सुखोंका अनेक प्रकारसे वर्णन किया; मनमोहक हावभाव तथा अनेक प्रकारके अन्य चलित करनेके उपाय किये; परंतु वे सर्वथा वृथा गये; महासुंदरी रुक्मिणी अपने मोहकटाक्षमें निष्फल हुई। उग्रचरित्र विजयमान वज्रस्वामी मेरुकी भाँति अचल और अडोल रहे। रुक्मिणीके मन, वचन और तनके सभी उपदेशों तथा हावभावोंसे वे लेशमात्र न पिघले। ऐसी महाविशाल दृढतासे रुक्मिणीने बोध प्राप्त करके निश्चय किया कि ये समर्थ जितेन्द्रिय महात्मा कभी चलित होनेवाले नहीं है। लोहे और पत्थरको पिघलाना सरल है, परंतु इन महापवित्र साधु वज्रस्वामीको पिघलानेकी आशा निरर्थक होते हुए भी अधोगतिके कारणरूप है। इस प्रकार सुविचार करके उस रुक्मिणीने पिताकी दी हुई लक्ष्मीको शुभक्षेत्रमें लगाकर चारित्र ग्रहण किया; मन, वचन और कायाका अनेक प्रकारसे दमन करके आत्मार्थ साधा। इसे तत्त्वज्ञानी संवरभावना कहते हैं।

इति अष्टम चित्रमें 'संवरभावना' समाप्त हुई।

नवम चित्र

निर्जरा भावना

द्वादश प्रकारके तपसे कर्म-समूहको जलाकर भस्मीभूत कर डालनेका नाम निर्जराभावना है। तपके बारह प्रकारमें छः बाह्य और छः अभ्यंतर प्रकार है। अनशन, ऊनोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रस-परित्याग, कायक्लेश और संलीनता ये छः बाह्य तप हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, शास्त्र-पठन, ध्यान और कायोत्सर्ग ये छः अभ्यंतर तप है। निर्जरा दो प्रकारकी है—एक अकाम निर्जरा और दूसरी सकाम निर्जरा। निर्जराभावना पर एक विप्र-पुत्रका दृष्टांत कहते हैं।

दृष्टांत—किसी ब्राह्मणने अपने पुत्रको सप्तव्यसनभक्त जानकर अपने घरसे निकाल दिया। वह वहाँसे निकल पडा और जाकर उसने तस्करमंडलीसे स्नेहसंबंध जोडा। उस मंडलीके अग्रेसरने उसे अपने काममें पराक्रमी जानकर पुत्र बनाकर रखा। वह विप्रपुत्र दुष्टदमन करनेमें दृढप्रहारी प्रतीत हुआ। इससे उसका उपनाम दृढप्रहारी रखा गया। वह दृढप्रहारी तस्करोंमें अग्रेसर हुआ। नगर, ग्रामका नाश करनेमें वह प्रबल हिंमतवाला सिद्ध हुआ। उसने बहुतसे प्राणियोंके प्राण लिये। एक बार अपने संगति समुदायको लेकर उसने एक महानगरको लूटा। दृढप्रहारी एक विप्रके घर बैठा था। उस विप्रके यहाँ बहुत प्रेमभावसे क्षीरभोजन बना था। उस क्षीरभोजनके भाजनको उस विप्रके मनोरथी बाल-बच्चे घेरे बैठे थे। दृढप्रहारी उस भाजनको छूने लगा, तब ब्राह्मणीने कहा, "हे मूर्खराज! इसे क्यों छूता है? यह फिर हमारे काम नहीं आयेगा, इतना भी तू नहीं समझता?" दृढप्रहारीको उन वचनोंसे प्रचंड क्रोध आ गया और उसने उस दीन स्त्रीको मौतके घाट उतार दिया। नहाता नहाता ब्राह्मण सहायताके लिए दौड आया, उसे भी उसने परभवको पहुँचा दिया। इतनेमें घरमेंसे गाय दौडती हुई आयी, और वह सींगोंसे दृढप्रहारीको मारने लगी। उस महादुष्टने उसे भी कालके हवाले कर दिया। उस गायके पेटमेंसे एक बछडा निकल पडा; उसे तडफडाता देखकर दृढप्रहारीके मनमें बहुत बहुत पश्चात्ताप हुआ। "मुझे धिक्कार है कि मैंने महाघोर हिंसाएँ कर डालीं! मेरा इस महापापसे कब छुटकारा होगा? सचमुच! आत्मकल्याण साधनेमें ही श्रेय है!"

ऐसी उत्तम भावनासे उसने पंचमुष्टि केशलुंचन किया। नगरके द्वार पर आकर वह उग्र कायोत्सर्गमें स्थित रहा। वह पहिले सारे नगरके लिए संतापरूप हुआ था, इसलिए लोग उसे बहुविध संताप देने लगे। आते जाते हुए लोगोंके धूल-ढेलों, ईंट-पत्थरों और तलवारकी मूठोंसे वह अति संतापको प्राप्त हुआ। वहाँ लोगोंने डेढ महीने तक उसे तिरस्कृत किया, फिर थके और उसे छोड दिया। दृढप्रहारी वहाँसे कायोत्सर्ग पूरा कर दूसरे द्वार पर ऐसे ही उग्र कायोत्सर्गमें स्थित रहा। उस दिशाके लोगोंने भी उसी तरह तिरस्कृत किया, डेढ महीने तक छेडछाड कर छोड दिया। वहाँसे कायोत्सर्ग पूरा कर दृढप्रहारी तीसरे द्वार पर स्थित रहा। वहाँके लोगोंने भी बहुत तिरस्कृत किया। डेढ महीने बाद छोड देनेसे वह वहाँसे चौथे द्वार पर डेढ मास तक रहा। वहाँ अनेक प्रकारके परिषह सहन करके वह क्षमाधर रहा। छठे मासमें अनंत कर्म-समुदायको जलाकर उत्तरोत्तर शुद्ध होकर वह कर्मरहित हुआ। सर्व प्रकारके ममत्वका उसने त्याग किया। अनुपम केवलज्ञान पाकर वह मुक्तिके अनंत सुखानंदसे युक्त हो गया। यह 'निर्जराभावना' दृढ हुई। अब—

दशम चित्र

लोकस्वरूपभावना

लोकस्वरूपभावना—इस भावनाका स्वरूप यहाँ संक्षेपमें कहना है । जैसे पुरुष दो हाथ कमरपर रखकर पैरोंको चौडा करके खडा रहे, वैसा ही लोकनाल किंवा लोकस्वरूप जानना चाहिये । वह लोकस्वरूप तिरछे थालके आकारका है । अथवा खडे मर्दलके समान है । नीचे भवनपति, व्यंतर और सात नरक है। मध्य भागमें अढाई द्वीप है । ऊपर बारह देवलोक, नव ग्रैवेयक, पाँच अनुत्तर विमान और उन पर अनंत सुखमय पवित्र सिद्धोंकी सिद्धशिला है । यह लोकालोकप्रकाशक सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और निरुपम केवलज्ञानियोंने कहा है । संक्षेपमें 'लोकस्वरूपभावना' कही गयी ।

पापप्रणालको रोकनेके लिए आस्रवभावना और संवरभावना, महाफली तपके लिए निर्जराभावना और लोकस्वरूपका किंचित् तत्त्व जाननेके लिए 'लोकस्वरूपभावना' इस दर्शनके इन चार चित्रोंमें पूर्ण हुई ।

दशम चित्र समाप्त ।

---

[1]ज्ञान, ध्यान, वैराग्यमय, उत्तम जहाँ विचार ।
ए भावे शुभ भावना, ते ऊतरे भव पार ॥

---

१. **भावार्थ**—ज्ञान, ध्यान और वैराग्यमय उत्तम विचारोंके साथ जो इन शुभ भावनाओंका चिंतन करता है, वह संसारसे पार हो जाता है ।

१७

मोक्षमाला

(बालावबोध)

उपोद्घात

निर्ग्रंथ प्रवचनके अनुसार अति संक्षेपमें इस ग्रंथकी रचना करता हूँ। प्रत्येक शिक्षाविषयरूपी मनकेसे इसकी पूर्णाहुति होगी। आडंबरी नाम ही गुरुत्वका कारण है, यों समझते हुए भी परिणाममें अप्रभुत्व रहा होनेसे इस प्रकार किया है, सो उचित सिद्ध होओ ! उत्तम तत्त्वज्ञान और परम सुशीलका उपदेश करनेवाले पुरुष कुछ कम नहीं हुए हैं, और फिर यह ग्रंथ उनसे कुछ उत्तम अथवा समान नहीं है; परंतु विनयरूपमें उन उपदेशकोंके धुरंधर प्रवचनोंके आगे यह कनिष्ठ है। यह भी प्रमाणभूत है कि प्रधान पुरुषके समीप अनुचरकी आवश्यकता है; उसी तरह वैसे धुरंधर ग्रंथोंके उपदेशबीजको बोनेके लिए तथा अंतःकरणको कोमल करनेके लिए ऐसे ग्रंथका प्रयोजन है।

इस प्रथम दर्शन और दूसरे अन्य दर्शनोंमें तत्त्वज्ञान और सुशीलकी प्राप्तिके लिए और परिणामतः अनंत सुखतरंगको प्राप्त करनेके लिए जो-जो साध्य-साधन श्रमण भगवान ज्ञातपुत्रने प्रकाशित किये हैं, उनका स्वल्पतासे किंचित् तत्त्वसंचय करके उसमें महापुरुषोंके छोटे-छोटे चरित्र एकत्र करके इस भावनाबोध और इस मोक्षमालाको विभूषित किया है। यह—"विदग्धमुखमंडनं भवतु।"

(संवत् १९४३) —कर्ता पुरुष

शिक्षणपद्धति और मुखमुद्रा

यह एक स्याद्वाद तत्त्वावबोध वृक्षका बीज है। यह ग्रंथ तत्त्वप्राप्तिकी जिज्ञासा उत्पन्न कर सकनेकी कुछ अंशमें भी सामर्थ्य रखता है। यह समभावसे कहता हूँ। पाठक और वाचक वर्गसे मुख्य अनुरोध यह है कि शिक्षापाठोंको मुखाग्र करनेकी अपेक्षा यथाशक्ति मनन करें, उनके तात्पर्यका अनुभव करें, जिनकी समझमें न आता हो वे ज्ञाता शिक्षक या मुनियोंसे समझें और ऐसा योग न मिले तो पाँच सात बार उन पाठोंको पढ जायें। एक पाठ पढ जानेके बाद आधी घडी उसपर विचार करके अंतःकरणसे पूछें कि क्या तात्पर्य मिला ? उस तात्पर्यमेंसे हेय, ज्ञेय और उपादेय क्या है ? ऐसा करनेसे पूरा ग्रंथ समझा जा सकेगा। हृदय कोमल होगा, विचारशक्ति खिलेगी और जैन तत्त्वपर सम्यक् श्रद्धा होगी। यह ग्रंथ कुछ पठन करनेके लिए नहीं है, मनन करनेके लिए है। इसमें अर्थरूप शिक्षाकी योजना की है। यह योजना 'बालावबोध' रूप है। 'विवेचन' और 'प्रज्ञावबोध' भाग भिन्न है, यह उनका एक खण्ड है, फिर भी सामान्य तत्त्वरूप है।

जिन्हें स्वभाषासंबंधी अच्छा ज्ञान है, और नव तत्त्व तथा सामान्य प्रकरण ग्रंथोंको जो समझ सकते हैं, उन्हें यह ग्रंथ विशेष बोधदायक होगा। इतना तो अवश्य अनुरोध है कि छोटे बालकोंको इन शिक्षापाठोंका तात्पर्य सविधि समझायें।

ज्ञानशालाके विद्यार्थियोंको शिक्षापाठ मुखाग्र करायें और वारंवार समझायें। जिन-जिन ग्रंथोंकी इसके लिए सहायता लेनी योग्य हो वह ली जाये। एक-दो बार पुस्तकको पूरा सीख लेनेके बाद उसका अभ्यास उलटेसे करायें।

मैं मानता हूँ कि सुज्ञ वर्ग इस पुस्तककी ओर कटाक्ष दृष्टिसे नहीं देखेगा। बहुत गहराईसे मनन

करनेपर यह मोक्षमाला मोक्षका कारणरूप हो जायेगी ! इसमें मध्यस्थतासे तत्त्वज्ञान और शीलका बोध देनेका उद्देश्य है।

इस पुस्तकको प्रसिद्ध करनेका मुख्य हेतु यह भी है कि जो उगते हुए बाल-युवक अविवेकी विद्या प्राप्त करके आत्मसिद्धिसे भ्रष्ट होते हैं, उनकी भ्रष्टता रोकी जाये।

मनमाना उत्तेजन नहीं होनेसे लोगोंकी भावना कैसी होगी इसका विचार किये बिना ही यह साहस किया है; मैं मानता हूँ कि यह फलदायक होगा। शालामें पाठकोंको भेंटरूप देनेमें उत्साहित होनेके लिए और जैनशालामें अवश्य इसका उपयोग करनेके लिए मेरा अनुरोध है। तभी पारमार्थिक हेतु सिद्ध होगा।

शिक्षापाठ १ : वाचकसे अनुरोध

वाचक ! मैं आज तुम्हारे हस्तकमलमें आती हूँ। मुझे यत्नापूर्वक पढना। मेरे कहे हुए तत्त्वको हृदयमें धारण करना। मैं जो-जो बात कहूँ उस-उसका विवेकसे विचार करना। यदि ऐसा करोगे तो तुम ज्ञान, ध्यान, नीति, विवेक, सद्गुण और आत्मशांति पा सकोगे।

तुम जानते होंगे कि कितने ही अज्ञानी मनुष्य न पढने योग्य पुस्तकें पढकर अपना वक्त खो देते हैं, और उल्टे रास्तेपर चढ जाते हैं। वे इस लोकमें अपकीर्ति पाते हैं, तथा परलोकमें नीच गतिमें जाते हैं।

तुमने जिन पुस्तकोंको पढा है, और अभी पढते हो, वे पुस्तकें मात्र संसारकी है; परंतु यह पुस्तक तो भव और परभव दोनोंमें तुम्हारा हित करेगी। भगवानके कहे हुए वचनोंका इसमें थोडा उपदेश किया है।

तुम किसी प्रकारसे इस पुस्तककी अविनय न करना, इसे न फाडना, इसपर दाग न लगाना या दूसरी किसी भी तरहसे न बिगाडना। विवेकसे सारा काम करना। विचक्षण पुरुषोंने कहा है कि जहाँ विवेक है वहीं धर्म है।

तुमसे एक यह भी अनुरोध है कि जिन्हें पढना न आता हो और उनकी इच्छा हो तो यह पुस्तक अनुक्रमसे उन्हें पढ सुनाना।

तुम जिस बातको न समझ पाओ उसे सयाने पुरुषसे समझ लेना। समझनेमें आलस्य या मनमें शंका न करना।

तुम्हारे आत्माका इससे हित हों, तुम्हें ज्ञान, शांति और आनंद मिले, तुम परोपकारी, दयालु, क्षमावान, विवेकी और बुद्धिशाली बनो, ऐसी शुभ याचना अर्हत् भगवानसे करके यह पाठ पूर्ण करता हूँ।

शिक्षापाठ २ : सर्वमान्य धर्म

(चौपाई)

***धर्मतत्त्व जो पूछ्युं मने, तो संभळावुं स्नेहे तने;**
जे सिद्धांत सकळनो सार, सर्व मान्य सहुने हितकार. १

भाख्युं भाषणमां भगवान, धर्म न बीजो दया समान;
अभयदान साथे संतोष, द्यो प्राणीने, दळवा दोष. २

---

* **भावार्थ :** यदि तूने धर्मतत्त्व मुझसे पूछा है, तो उसे तुझे स्नेहसे सुनाता हूँ। जो सकल सिद्धांतका सार है, सर्वमान्य और सर्वहितकर है ॥१॥ भगवानने प्रवचनमें कहा है कि दयाके समान दूसरा धर्म नहीं है। दोषोंका नाश करनेके लिए प्राणियोंको अभयदानके साथ संतोष दो ॥२॥ सत्य, शील और सभी दान दयाके होनेपर ही प्रमाणित है। जैसे सूर्यके बिना किरणें नहीं है, वैसे ही दयाके न होनेपर सत्य, शील, दान आदि एक भी गुण नहीं है ॥३॥

सत्य शीळ ने सघळां दान, दया होईने रह्यां प्रमाण;
दया नहीं तो ए नहि एक, विना सूर्य किरण नहि देख. ३

पुष्पपांखडी ज्यां दूभाय, जिनवरनी त्यां नहि आज्ञाय;
सर्व जीवनुं इच्छो सुख, महावीरनी शिक्षा मुख्य. ४

सर्व दर्शने ए उपदेश, ए एकांते, नहीं विशेष;
सर्व प्रकारे जिननो बोध, दया दया निर्मळ अविरोध ! ५

ए भवतारक सुंदर राह, धरिये तरिये करीं उत्साह;
धर्म सकळनुं ए शुभ मूळ, ए वण धर्म सदा प्रतिकूळ. ६

तत्त्वरूपथी ए ओळखे, ते जन पहोंचे शाश्वत सुखे;
शांतिनाथ भगवान प्रसिद्ध, राजचंद्र करुणाए सिद्ध. ७

शिक्षापाठ ३ : कर्मके चमत्कार

मैं तुम्हें बहुतसी सामान्य विचित्रताएँ बताये देता हूँ; इनपर विचार करोगे तो तुम्हें परभवकी श्रद्धा दृढ होगी।

एक जीव सुंदर पलंगपर पुष्पशय्यामें शयन करता है, और एकको फटी-पुरानी गुदडी भी नसीब नहीं होती। एक भाँति-भाँतिके भोजनोंसे तृप्त रहता है और एक दाने-दानेको तरसता है। एक अगणित लक्ष्मीका उपभोग करता है और एक फूटी कौडीके लिए दर-दर भटकता है। एक मधुर वचनोंसे मनुष्यका मन हरता है और एक मूक-सा होकर रहता है। एक सुंदर वस्त्रालंकारसे विभूषित होकर फिरता है और एकको कडे जाडेमें चीथडा भी ओढनेको नहीं मिलता। एक रोगी है और एक प्रबल है। एक बुद्धिशाली है और एक जडभरत है। एक मनोहर नयनवाला है और एक अंधा है। एक लूला है और एक लंगडा है। एक कीर्तिमान है और एक अपयश भोगता है। एक लाखों अनुचरोंपर हुक्म चलाता है और एक लाखोंके ताने सहन करता है। एकको देखकर आनंद होता है और एकको देखकर वमन होता है। एककी इंद्रियाँ संपूर्ण है और एककी अपूर्ण है। एकको दीन-दुनियाका लेश भान नहीं है और एकके दुःखका अंत भी नहीं है।

एक गर्भमें आते ही मर जाता है, एक जन्म लेते ही मर जाता है, एक मरा हुआ जन्म लेता है, और एक सौ वर्षका वृद्ध होकर मरता है।

किसीका मुख, भाषा और स्थिति समान नहीं है। मूर्ख राजगद्दीपर खमा-खमाके उद्गारोंसे अभिनंदन पाते हैं और समर्थ विद्वान धक्के खाते हैं !

इस प्रकार सारे जगतकी विचित्रता भिन्न-भिन्न प्रकारसे तुम देखते हो; इस परसे तुम्हें कुछ विचार आता है ? मैंने कहा है, फिर भी विचार आता हो तो कहो कि यह सब किस कारणसे होता है ?

जिससे पुष्पकी एक पंखडीको भी दुःख होता है, वह करनेकी जिनवरकी आज्ञा ही नहीं है। सब जीवोंका सुख चाहो यही महावीरकी मुख्य शिक्षा है॥४॥ सब दर्शनोंमें दयाका उपदेश है। यह एकांत है, विशेष नहीं। सर्व प्रकारसे जिन भगवानका यही बोध है कि दया एवं विरोधरहित निर्मल दया परम धर्म है॥५॥ यह संसारसे पार करनेवाला सुंदर मार्ग है, इसे उत्साहसे अपनाओ और संसार-सागरको तर जाओ। यह सकल धर्मका शुभ मूल है। इसके बिना धर्म सदा अधर्म है॥६॥ जो मनुष्य इसे तत्त्वरूपसे जान-समझ लेते हैं, वे इसके आचरणसे शाश्वत सुखको प्राप्त करते हैं। राजचंद्र कहते हैं कि शांतिनाथ भगवान करुणासे सिद्ध हुए हैं यह बात प्रसिद्ध है॥७॥

अपने बाँधे हुए शुभाशुभ कर्मसे। कर्मसे सारे संसारमें भ्रमण करना पडता है। परभव नहीं माननेवाला स्वयं यह विचार किससे करता है ? यह विचार करे तो अपनी यह बात वह भी मान्य रखे।

शिक्षापाठ ४ : मानवदेह

[1]तुमने सुना तो होगा कि विद्वान मानवदेहको दूसरी सभी देहोंकी अपेक्षा उत्तम कहते हैं। परंतु उत्तम कहनेका कारण तुम नहीं जानते होंगे इसलिए मैं उसे कहता हूँ।

यह संसार बहुत दुःखसे भरा हुआ है। ज्ञानी इसमेंसे तरकर पार होनेका प्रयत्न करते हैं। मोक्षको साधकर वे अनंत सुखमें विराजमान होते हैं। यह मोक्ष दूसरी किसी देहसे मिलनेवाला नहीं है। देव, तिर्यंच या नरक इनमेंसे एक भी गतिसे मोक्ष नहीं है; मात्र मानवदेहसे मोक्ष है।

अब तुम पूछोगे कि सभी मानवोंका मोक्ष क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर भी मैं कह दूँ। जो मानवताको समझते हैं वे संसारशोकसे पार हो जाते हैं। जिनमें विवेकबुद्धिका उदय हुआ हो उनमें विद्वान मानवता मानते हैं। उससे सत्यासत्यका निर्णय समझकर परम तत्त्व, उत्तम आचार और सद्धर्मका सेवन करके वे अनुपम मोक्षको पाते हैं। मनुष्यके शरीरके देखावसे विद्वान उसे मनुष्य नहीं कहते; परंतु उसके विवेकके कारण उसे मनुष्य कहते हैं। जिसके दो हाथ, दो पैर, दो आँखें, दो कान, एक मुख, दो होंठ और एक नाक हों उसे मनुष्य कहना, ऐसा हमें नहीं समझना चाहिये। यदि ऐसा समझें तो फिर बन्दरको भी मनुष्य मानना चाहिये। उसने भी तदनुसार सब प्राप्त किया है। विशेषरूपसे उसके एक पूँछ भी है। तब क्या उसे महामनुष्य कहे ? नहीं, जो मानवता समझे वही मानव कहलाये।

ज्ञानी कहते हैं कि यह भव बहुत दुर्लभ है, अति पुण्यके प्रभावसे यह देह मिलती है; इसलिए इससे शीघ्र आत्मसार्थकता कर लेनी चाहिये। अयमंतकुमार, गजसुकुमार जैसे छोटे बालक भी मानवताको समझनेसे मोक्षको प्राप्त हुए। मनुष्यमें जो शक्ति विशेष है उस शक्तिसे वह मदोन्मत्त हाथी जैसे प्राणीको भी वशमें कर लेता है; इसी शक्तिसे यदि वह अपने मनरूपी हाथीको वशमें कर ले तो कितना कल्याण हो !

किसी भी अन्य देहमें पूर्ण सद्विवेकका उदय नहीं होता और मोक्षके राजमार्गमें प्रवेश नहीं हो सकता। इसलिए हमें मिली हुई अति दुर्लभ मानवदेहको सफल कर लेना आवश्यक है। बहुतसे मूर्ख दुराचारमें, अज्ञानमें, विषयमें और अनेक प्रकारके मदमें, मिली हुई मानवदेहको वृथा गँवा देते हैं। अमूल्य कौस्तुभ खो बैठते हैं। ये नामके मानव गिने जा सकते हैं, बाकी तो वे वानररूप ही हैं।

मौतके पलको निश्चितरूपसे हम नहीं जान सकते; इसलिए यथा-संभव धर्ममें त्वरासे सावधान होना चाहिये।

शिक्षापाठ ५ : अनाथी मुनि—भाग १

अनेक प्रकारकी ऋद्धिवाला मगधदेशका श्रेणिक नामक राजा अश्वक्रीडाके लिए मंडिकुक्ष नामके वनमें निकल पडा। वनकी विचित्रता मनोहारिणी थी। नाना प्रकारके वृक्ष वहाँ नजर आ रहे थे; नाना प्रकारकी कोमल बेलें घटाटोप छायी हुई थीं; नाना प्रकारके पक्षी आनंदसे उसका सेवन कर रहे थे; नाना प्रकारके पक्षियोंके मधुर गान वहाँ सुनायी दे रहे थे; नाना प्रकारके फूलोंसे वह वन छाया हुआ था; नाना प्रकारके जलके झरने वहाँ बह रहे थे; संक्षेपमें वह वन नंदनवन जैसा लग रहा था। उस वनमें एक वृक्षके नीचे महान् समाधिमान् पर सुकुमार एवं सुखोचित मुनिको उस श्रेणिकने बैठे हुए देखा। उसका

१. देखिये 'भावनाबोध'—पंचम चित्र—प्रमाणशिक्षा।

रूप देखकर वह राजा अत्यंत आनंदित हुआ। उपमारहित रूपसे विस्मित होकर मनमें उसकी प्रशंसा करने लगा—"इस मुनिका कैसा अद्‌भुत वर्ण है! इसका कैसा मनोहर रूप है! इसकी कैसी अद्‌भुत सौम्यता है! यह कैसी विस्मयकारक क्षमाका धारक है! इसके अंगसे वैराग्यका कैसा उत्तम प्रकाश निकल रहा है! इसकी कैसी निर्लोभता मालूम होती है! यह संयति कैसी निर्भय नम्रता धारण किये हुए है! यह भोगसे कैसा विरक्त है!" यों चिंतन करते करते, मुदित होते होते, स्तुति करते करते, धीरेसे चलते चलते, प्रदक्षिणा देकर उस मुनिको वंदन करके, न अति समीप और न अति दूर वह श्रेणिक बैठा। फिर अंजलिबद्ध होकर विनयसे उसने उस मुनिसे पूछा—"हे आर्य! आप प्रशंसा करने योग्य तरुण हैं; भोगविलासके लिए आपकी वय अनुकूल है; संसारमें नाना प्रकारके सुख हैं; ऋतु-ऋतुके कामभोग, जलसंबंधी विलास, तथा मनोहारिणी स्त्रियोंके मुखवचनोंका मधुर श्रवण होनेपर भी इन सबका त्याग करके मुनित्वमें आप महान उद्यम कर रहे हैं, इसका क्या कारण? यह मुझे अनुग्रहसे कहिये।" राजाके ऐसे वचन सुनकर मुनिने कहा—"हे राजन्! मैं अनाथ था। मुझे अपूर्व वस्तुको प्राप्त करानेवाला तथा योगक्षेमका करनेवाला, मुझ पर अनुकंपा लानेवाला, करुणासे परम सुखका देनेवाला, ऐसा मेरा कोई मित्र नहीं हुआ, यह कारण था मेरी अनाथताका।"

शिक्षापाठ ६ : अनाथी मुनि—भाग २

श्रेणिक, मुनिके भाषणसे मुस्कराकर बोला—"आप जैसे महान ऋद्धिमानको नाथ क्यों न हो? यदि कोई नाथ नहीं है तो मैं होता हूँ। हे भयत्राण! आप भोग भोगिये। हे संयति! मित्र, जातिसे दुर्लभ ऐसे अपने मनुष्यभवको सफल कीजिये।" अनाथीने कहा—"अरे श्रेणिक राजन्! परंतु तू स्वयं अनाथ है तो मेरा नाथ क्या होगा? निर्धन धनाढ्य कहाँसे बना सके? अबुध बुद्धिदान कहाँसे दे सके? अज्ञ विद्वत्ता कहाँसे दे सके? वंध्या संतान कहाँसे दे सके? जब तू स्वयं अनाथ है, तब मेरा नाथ कहाँसे होगा?" मुनिके वचनोंसे राजा अति आकुल और अति विस्मित हुआ। जिन वचनोंका कभी श्रवण नहीं हुआ, उन वचनोंका यतिमुखसे श्रवण होनेसे वह शंकित हुआ और बोला—"मैं अनेक प्रकारके अश्वोंका भोगी हूँ; अनेक प्रकारके मदोन्मत्त हाथियोंका धनी हूँ; अनेक प्रकारकी सेना मेरे अधीन है; नगर, ग्राम, अंतःपुर और चतुष्पादकी मेरे कोई न्यूनता नहीं है; मनुष्य संबंधी सभी प्रकारके भोग मैंने प्राप्त किये हैं; अनुचर मेरी आज्ञाका भलीभाँति आराधन करते हैं; पाँचों प्रकारकी संपत्ति मेरे घरमें हैं; अनेक मनोवांछित वस्तुएँ मेरे पास रहती हैं। ऐसा मैं महान होते हुए भी अनाथ कैसे हो सकता हूँ? कहीं हे भगवन्! आप मृषा बोलते हों।" मुनिने कहा—"राजन्! मेरा कहना तू न्यायपूर्वक समझा नहीं है। अब मैं जैसे अनाथ हुआ; और जैसे मैंने संसारका त्याग किया वह तुझे कहता हूँ। उसे एकाग्र एवं सावधान चित्तसे सुन; सुनकर फिर अपनी शंकाके सत्यासत्यका निर्णय करना—

कौशाम्बी नामकी अति प्राचीन और विविध प्रकारकी भव्यतासे भरी हुई एक सुंदर नगरी थी। वहाँ ऋद्धिसे परिपूर्ण धनसंचय नामके मेरे पिता रहते थे। हे महाराजन्! यौवनवयके प्रथम भागमें मेरी आँखें अति वेदनासे ग्रस्त हुईं; सारे शरीरमें अग्नि जलने लगी; शस्त्रसे भी अतिशय तीक्ष्ण वह रोग वैरीकी भाँति मुझ पर कोपायमान हुआ। आँखोंकी उस असह्य वेदनासे मेरा मस्तक दुखने लगा। वज्रके प्रहार सरीखी, दूसरेको भी रौद्र भय उत्पन्न करानेवाली उस दारुण वेदनासे मैं अत्यंत शोकमें था। बहुतसे वैद्यशास्त्र-निपुण वैद्यराज मेरी उस वेदनाका नाश करनेके लिए आये, अनेक औषधोपचार किये, परंतु वे वृथा गये। वे महानिपुण गिने जानेवाले वैद्यराज मुझे उस रोगसे मुक्त नहीं कर सके, यही हे राजन्! मेरी

अनाथता थी। मेरी आँखकी वेदनाको दूर करनेके लिए मेरे पिता सारा धन देने लगे; परंतु उससे भी मेरी वह वेदना दूर नहीं हुई; हे राजन्! यही मेरी अनाथता थी। मेरी माता पुत्रके शोकसे अति दुःखार्त हुई; परंतु वह भी मुझे उस रोगसे छुडा नहीं सकी, यही हे राजन्! मेरी अनाथता थी। एक पेटसे जन्मे हुए मेरे ज्येष्ठ और कनिष्ठ भाई भरसक प्रयत्न कर चुके; परंतु मेरी वह वेदना दूर नहीं हुई, हे राजन्! यही मेरी अनाथता थी। एक पेटसे जन्मी हुई मेरी ज्येष्ठा और कनिष्ठा भगिनियोंसे मेरा वह दुःख दूर नहीं हुआ, हे महाराजन्! यही मेरी अनाथता थी। मेरी स्त्री जो पतिव्रता, मुझपर अनुरक्त और प्रेमवती थी वह आँसुओंसे मेरे हृदयको भिगोती थी। उसके अन्न-पानी देनेपर भी और नाना प्रकारके उबटन, चूवा आदि सुगंधी पदार्थों तथा अनेक प्रकारके फूल-चंदनादिके ज्ञात अज्ञात विलेपन किये जानेपर भी मैं उन विलेपनोंसे अपना रोग शांत नहीं कर सका; क्षणभर भी दूर न रहती थी ऐसी वह स्त्री भी मेरे रोगको मिटा न सकी, यही हे महाराजा! मेरी अनाथता थी। इस प्रकार किसीके प्रेमसे, किसीके औषधसे, किसीके विलापसे या किसीके परिश्रमसे वह रोग शांत नहीं हुआ। उस समय मैंने पुनः पुनः असह्य वेदना भोगी। फिर मैं प्रपंची संसारसे खिन्न हो गया। एक बार यदि इस महान विडम्बनामय वेदनासे मुक्त हो जाऊँ तो खंती, दंती और निरारंभी प्रव्रज्या को धारण करूँ, यों चिंतन करके मैं शयन कर गया। जब रात्रि व्यतीत हो गयी तब हे महाराजन्! मेरी उस वेदनाका क्षय हो गया, और मैं नीरोग हो गया। माता, पिता, स्वजन, बांधव आदिसे पूछकर प्रभातमें मैने महाक्षमावान, इंद्रिय-निग्रही और आरंभोपाधिसे रहित अनगारत्वको धारण किया।

शिक्षापाठ ७ : अनाथी मुनि—भाग ३

हे श्रेणिक राजन्! तदनन्तर मैं आत्मा परात्माका नाथ हुआ। अब मैं सर्व प्रकारके जीवोंका नाथ हूँ। तुझे जो शंका हुई थी वह अब दूर हो गयी होगी। इस प्रकार सारा जगत चक्रवर्ती पर्यंत अशरण और अनाथ है। जहाँ उपाधि है वहाँ अनाथता है। इसलिए मैं जो कहता हूँ उस कथनको तू मनन कर जाना। निश्चयसे मानना कि अपना आत्मा ही दुःखसे भरपूर वैतरणीको करनेवाला है; अपना आत्मा ही क्रूर शाल्मली वृक्षके दुःखको उत्पन्न करनेवाला है। अपना आत्मा ही वांछित वस्तुरूपी दूध देनेवाली कामधेनु गायके सुखको उत्पन्न करनेवाला है; अपना आत्मा ही नंदनवनकी तरह आनंदकारी है; अपना आत्मा ही कर्मको करनेवाला है; अपना आत्मा ही इस कर्मको दूर करने-वाला है। अपना आत्मा ही दुःखोपार्जन करनेवाला है। अपना आत्मा ही सुखोपार्जन करनेवाला है। अपना आत्मा ही मित्र और अपना आत्मा ही वैरी है। अपना आत्मा ही निकृष्ट आचारमें स्थित और अपना आत्मा ही निर्मल आचारमें स्थित रहता है।"

इस प्रकार उन अनाथी मुनिने श्रेणिकको आत्मप्रकाशक बोध दिया। श्रेणिक राजा बहुत संतुष्ट हुआ। अंजलिबद्ध होकर वह इस प्रकार बोला—"हे भगवन्! आपने मुझे भलीभाँति उपदेश दिया। आपने जैसी थी वैसी अनाथता कह सुनायी। महर्षि! आप सनाथ, आप सबांधव और आप सधर्म हैं; आप सर्व अनाथोंके नाथ हैं। हे पवित्र संयति! मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ। आपकी ज्ञानपूर्ण शिक्षासे मुझे लाभ हुआ है। धर्मध्यानमें विघ्न करनेवाले भोग भोगने संबंधी, हे महाभाग्यवान्! मैंने आपको जो आमंत्रण दिया तत्संबंधी अपने अपराधकी नतमस्तक होकर क्षमा माँगता हूँ।" इस प्रकारसे स्तुति करके राजपुरुषकेसरी श्रेणिक विनयसे प्रदक्षिणा करके अपने स्थानको गया।

महातपोधन, महामुनि, महाप्रज्ञावान, महायशस्वी, महानिर्ग्रंथ और महाश्रुत अनाथी मुनिने मगध

देशके राजा श्रेणिकको अपने बीते हुए चरित्रसे जो बोध दिया है वह सचमुच अशरणभावना सिद्ध करता है। महामुनि अनाथीसे भोगी हुई वेदना जैसी अथवा उससे अति विशेष वेदनाको भोगते हुए अनंत आत्माओंको हम देखते हैं, यह कैसा विचारणीय है ! संसारमें अशरणता और अनंत अनाथता छायी हुई है; उसका त्याग उत्तम तत्त्वज्ञान और परम शीलका सेवन करनेसे ही होता है। यही मुक्ति-का कारणरूप है। जैसे संसारमें रहते हुए अनाथी अनाथ थे, वैसे ही प्रत्येक आत्मा तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके बिना सदैव अनाथ ही है। सनाथ होनेके लिए सद्देव, सद्धर्म और सद्गुरुको जानना आवश्यक है।

शिक्षापाठ ८ : सद्देवतत्त्व

तीन तत्त्व हमें अवश्य जानने चाहिये। जब तक इन तत्त्वोंके संबंधमें अज्ञानता रहती है तब तक आत्महित नहीं होता। ये तीन तत्त्व हैं—सद्देव, सद्धर्म और सद्गुरु। इस पाठमें सद्देव स्वरूपके विषयमें कुछ कहता हूँ।

जिन्हें केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त होता है; जो कर्मसमुदायको महोग्रतपोपध्यानसे विशोधन करके जला डालते हैं, जिन्होंने चंद्र और शंखसे भी उज्ज्वल शुक्लध्यान प्राप्त किया है; चक्रवर्ती राजाधिराज अथवा राजपुत्र होते हुए भी जो संसारको एकांत अनंत शोकका कारण मानकर उसका त्याग करते हैं; जो केवल दया, शांति, क्षमा, वीतरागता और आत्मसमृद्धिसे त्रिविध तापका नाश करते हैं; संसारमें मुख्य माने जानेवाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय इन चार कर्मोंको भस्मीभूत करके जो स्व-स्वरूपमें विहार करते हैं; जो सर्व कर्मोंके मूलको जला डालते हैं; जो केवल मोहिनीजनित कर्मका त्याग करके निद्रा जैसी तीव्र वस्तुको एकांततः दूर करके शिथिल कर्मोंके रहने तक उत्तम शीलका सेवन करते हैं; जो विरागतासे कर्मग्रीष्मसे अकुलाते हुए पामर प्राणियोंको परम शांति प्राप्त होनेके लिए शुद्ध बोधबीजका मेघधारा वाणीसे उपदेश करते हैं; किसी भी समय किंचित्मात्र भी संसारी वैभव विलासका स्वप्नांश भी जिनको नहीं रहा है; जो कर्मदलका क्षय करनेसे पहले छद्मस्थता मानकर श्रीमुखवाणीसे उपदेश नहीं करते; जो पाँच प्रकारके अंतराय, हास्य, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, शोक, मिथ्यात्व, अज्ञान, अप्रत्याख्यान, राग, द्वेष, निद्रा और काम इन अठारह दूषणोंसे रहित है; जो सच्चिदानंद स्वरूपमें विराजमान है; और जिनमें महोद्योतकर बारह गुण प्रकट होते हैं; जिनका जन्म, मरण और अनंत संसार चला गया है उन्हें निर्ग्रंथ आगममें सद्देव कहा है। वे दोषरहित शुद्ध आत्मस्वरूपको प्राप्त होनेसे पूजनीय परमेश्वर कहलाते हैं। जहाँ अठारह दोषोंमेंसे एक भी दोष होता है वहाँ सद्देवका स्वरूप नहीं है। इस परम तत्त्वको उत्तम सूत्रोंसे विशेष जानना आवश्यक है।

शिक्षापाठ ९ : सद्धर्मतत्त्व

अनादिकालसे कर्मजालके बन्धनसे यह आत्मा संसारमें भटका करता है। समयमात्र भी इसे सच्चा सुख नहीं है। यह अधोगतिका सेवन किया करता है; और अधोगतिमें गिरते हुए आत्माको धारण करनेवाली जो वस्तु है उसका नाम 'धर्म' है। इस धर्मतत्त्वके सर्वज्ञ भगवानने भिन्न-भिन्न भेद कहे हैं। उनमेंसे मुख्य दो हैं—१. व्यवहार धर्म, २. निश्चय धर्म।

व्यवहार धर्ममें दया मुख्य है। शेष चार महाव्रत भी दयाकी रक्षाके वास्ते है। दयाके आठ भेद हैं—१. द्रव्यदया, २. भावदया, ३. स्वदया, ४. परदया, ५. स्वरूपदया, ६. अनुबन्धदया, ७. व्यवहारदया, ८. निश्चयदया।

१. प्रथम द्रव्यदया—किसी भी कामको यत्नापूर्वक जीवरक्षा करके करना यह 'द्रव्यदया' है।

२. दूसरी भावदया—दूसरे जीवको दुर्गतिमें जाते देखकर अनुकंपाबुद्धिसे उपदेश देना यह 'भावदया' है।

३. तीसरी स्वदया—यह आत्मा अनादिकालसे मिथ्यात्वसे ग्रसित है, तत्त्वको नहीं पाता है, जिनाज्ञाको पाल नहीं सकता है, इस प्रकार चिन्तन करके धर्ममें प्रवेश करना यह 'स्वदया' है।

४. चौथी परदया—छःकाय जीवकी रक्षा करना यह 'परदया' है।

५. पाँचवी स्वरूपदया—सूक्ष्म विवेकसे स्वरूपका विचार करना यह 'स्वरूपदया' है।

६. छठी अनुबन्धदया—गुरु या शिक्षकका शिष्यको कड़वे वचनसे उपदेश देना, यह देखनेमें तो अयोग्य लगता है, परंतु परिणाममें करुणाका कारण है; इसका नाम 'अनुबन्धदया' है।

७. सातवीं व्यवहारदया—उपयोगपूर्वक और विधिपूर्वक दया पालनेका नाम 'व्यवहारदया' है।

८. आठवीं निश्चयदया—शुद्ध साध्य उपयोगमें एकता भाव और अभेद उपयोगका होना यह 'निश्चयदया' है।

इन आठ प्रकारकी दयायुक्त व्यवहार धर्म भगवानने कहा है। इसमें सर्व जीवोंका सुख, संतोष और अभयदान, ये सब विचारपूर्वक देखनेसे आ जाते है।

दूसरा निश्चयधर्म—अपने स्वरूपका भ्रम दूर करना, आत्माको आत्मभावसे पहचानना। 'यह संसार मेरा नहीं है, मैं इससे भिन्न, परम असंग सिद्धसदृश शुद्ध आत्मा हूँ,' ऐसी आत्मस्वभाववर्तना यह निश्चयधर्म है।

जिसमें किसी प्राणीका दुःख, अहित या असंतोष रहा है वहाँ दया नहीं है; और जहाँ दया नहीं है वहाँ धर्म नहीं है। अर्हत भगवानके कहे हुए धर्मतत्त्वसे सर्व प्राणी अभय होते हैं।

शिक्षापाठ १० : सद्गुरुतत्त्व—भाग १

पिता—पुत्र ! तू जिस शालामें अभ्यास करने जाता है उस शालाका शिक्षक कौन है ?

पुत्र—पिताजी ! एक विद्वान और समझदार ब्राह्मण है।

पिता—उसकी वाणी, चाल-चलन आदि कैसे हैं ?

पुत्र—उनकी वाणी बहुत मधुर है। वे किसीको अविवेकसे नहीं बुलाते और बहुत गंभीर है। जब बोलते हैं तब मानो मुखसे फूल झडते हैं। वे किसीका अपमान नहीं करते, और हमें समझपूर्वक शिक्षा देते हैं।

पिता—तू वहाँ किसलिए जाता है ? यह मुझे कह तो सही।

पुत्र—आप ऐसा क्यों कहते हैं, पिताजी ? संसारमें विचक्षण होनेके लिए युक्तियाँ समझूँ, व्यवहारनीति सीखूँ, इसीलिए तो आप मुझे वहाँ भेजते हैं।

पिता—तेरे ये शिक्षक दुराचारी अथवा ऐसे होते तो ?

पुत्र—तब तो बहुत बुरा होता। हमें अविवेक और कुवचन बोलना आता; व्यवहारनीति तो फिर सिखाता भी कौन ?

पिता—देख पुत्र, इसपरसे मैं अब तुझे एक उत्तम शिक्षा देता हूँ। जैसे संसारमें पडनेके लिए

व्यवहारनीति सीखनेका प्रयोजन है, वैसे ही परभवके लिए धर्मतत्त्व और धर्मनीतिमें प्रवेश करनेका प्रयोजन है। जैसे यह व्यवहारनीति सदाचारी शिक्षकसे उत्तम मिल सकती है, वैसे ही परभवमें श्रेयस्कर धर्मनीति उत्तम गुरुसे मिल सकती है। व्यवहारनीतिके शिक्षक तथा धर्मनीतिके शिक्षकमें बहुत भेद है। बिल्लौरके टुकडे जैसा व्यवहारशिक्षक है और अमूल्य कौस्तुभ जैसा आत्मधर्म शिक्षक है।

पुत्र–सिरछत्र! आपका कहना वाजिब है। धर्मके शिक्षककी संपूर्ण आवश्यकता है। आपने वारंवार संसारके अनंत दुःखोंके संबंधमें मुझे कहा है। इससे पार पानेके लिए धर्म ही सहायभूत है। तब धर्म कैसे गुरुसे प्राप्त किया जाये तो वह श्रेयस्कर सिद्ध हो, यह मुझे कृपा करके कहिये।

शिक्षापाठ ११ : सद्गुरुतत्त्व–भाग २

पिता–पुत्र! गुरु तीन प्रकारके कहे जाते हैं–१. काष्ठस्वरूप, २. कागजस्वरूप, ३. पत्थरस्वरूप। १. काष्ठस्वरूप गुरु सर्वोत्तम है; क्योंकि संसाररूपी समुद्रको काष्ठस्वरूप गुरु ही तरते हैं; और तार सकते हैं। २. कागजस्वरूप गुरु मध्यम है। ये संसारसमुद्रको स्वयं तर नहीं सकते, परंतु कुछ पुण्य उपार्जन कर सकते हैं। ये दूसरेको तार नहीं सकते। ३. पत्थरस्वरूप गुरु स्वयं डूबते हैं और परको भी डुबाते हैं। काष्ठस्वरूप गुरु मात्र जिनेश्वर भगवानके शासनमें है। बाकी दो प्रकारके जो गुरु हैं वे कर्मावरणकी वृद्धि करनेवाले हैं। हम सब उत्तम वस्तुको चाहते हैं; और उत्तमसे उत्तम वस्तु मिल सकती है। गुरु यदि उत्तम हों तो वे भवसमुद्रमें नाविकरूप होकर सद्धर्मनावमें बैठाकर पार पहुँचा देते हैं। तत्त्वज्ञानके भेद, स्व-स्वरूपभेद, लोकालोक विचार, संसार स्वरूप यह सब उत्तम गुरुके बिना मिल नहीं सकते। अब तुझे प्रश्न करनेकी इच्छा होगी कि ऐसे गुरुके लक्षण कौन-कौनसे है? उन्हें मैं कहता हूँ। जो जिनेश्वर भगवानकी कही हुई आज्ञाको जानें, उसे यथातथ्य पालें और दूसरेको उसका उपदेश करें, कंचनकामिनीके सर्वभावसे त्यागी हों, विशुद्ध आहार-जल लेते हों, बाईस प्रकारके परिषह सहन करते हों, क्षांत, दांत, निरारंभी और जितेन्द्रिय हों, सैद्धान्तिक ज्ञानमें निमग्न रहते हों, मात्र धर्मके लिए शरीरका निर्वाह करते हों, निर्ग्रंथ पंथ पालते हुए कायर न हों, सलाई मात्र भी अदत्त न लेते हों, सर्वप्रकारके रात्रिभोजनके त्यागी हों, समभावी हों और नीरागतासे सत्योपदेशक हों। संक्षेपमें उन्हें काष्ठस्वरूप सद्गुरु जानना। पुत्र! गुरुके आचार एवं ज्ञानके संबंधमें आगममें बहुत विवेकपूर्वक वर्णन किया है। ज्यों-ज्यों तू आगे विचार करना सीखता जायेगा, त्यों-त्यों फिर मैं तुझे उन विशेष तत्त्वोंका उपदेश करता जाऊँगा।

पुत्र–पिताजी! आपने मुझे संक्षेपमें भी बहुत उपयोगी और कल्याणमय बताया है। मैं निरन्तर इसका मनन करता रहूँगा।

शिक्षापाठ १२ : उत्तम गृहस्थ

संसारमें रहते हुए भी उत्तम श्रावक गृहाश्रमसे आत्मसाधनको साध्य करते हैं; उनका गृहाश्रम भी सराहा जाता है।

ये उत्तम पुरुष सामायिक, क्षमापना, चौविहार-प्रत्याख्यान इत्यादि यमनियमोंका सेवन करते हैं।

परपत्नीकी ओर माँ-बहनकी दृष्टि रखते हैं।

यथाशक्ति सत्पात्रमें दान देते हैं।

शांत, मधुर और कोमल भाषा बोलते हैं।

सत्शास्त्रका मनन करते हैं।

यथासंभव उपजीविकामें भी माया, कपट इत्यादि नहीं करते।
स्त्री, पुत्र, माता, पिता, मुनि और गुरु इन सबका यथायोग्य सन्मान करते हैं।
माँ-बापको धर्मका बोध देते हैं।
यत्नासे घरकी स्वच्छता, रांधना, शयन इत्यादिको कराते हैं।
स्वयं विचक्षणतासे आचरण करके स्त्री-पुत्रको विनयी और धर्मी बनाते हैं।
सारे कुटुंबमें ऐक्यकी वृद्धि करते हैं।
आये हुए अतिथिका यथायोग्य सन्मान करते हैं।
याचकको क्षुधातुर नहीं रखते।
सत्पुरुषोंका समागम और उनका बोध धारण करते हैं।
निरंतर मर्यादासहित और संतोषयुक्त रहते हैं।
यथाशक्ति घरमें शास्त्रसंचय रखते हैं।
अल्प आरंभसे व्यवहार चलाते हैं।
ऐसा गृहस्थाश्रम उत्तम गतिका कारण होता है, ऐसा ज्ञानी कहते हैं।

शिक्षापाठ १३ : जिनेश्वरकी भक्ति—भाग १

जिज्ञासु—विचक्षण सत्य! कोई शंकरकी, कोई ब्रह्माकी, कोई विष्णुकी, कोई सूर्यकी, कोई अग्निकी, कोई भवानीकी, कोई पैगम्बरकी और कोई ईसाकी भक्ति करता है। ये भक्ति करके क्या आशा रखते होंगे?

सत्य—प्रिय जिज्ञासु! ये भाविक मोक्ष प्राप्त करनेकी परम आशासे इन देवोंकी भक्ति करते हैं।

जिज्ञासु—तब कहिये, क्या आपका ऐसा मत है कि ये इससे उत्तम गति प्राप्त करेंगे?

सत्य—ये उनकी भक्तिसे मोक्ष प्राप्त करेंगे, ऐसा मैं नहीं कह सकता। जिनको ये परमेश्वर कहते हैं वे कुछ मोक्षको प्राप्त नहीं हुए हैं; तो फिर वे उपासकको मोक्ष कहाँसे देंगे? शंकर इत्यादि कर्मक्षय नहीं कर सके हैं और दूषणसहित हैं, इसलिए वे पूजनीय नहीं है।

जिज्ञासु—वे दूषण कौन-कौनसे है? यह कहिये।

सत्य—[1]'अज्ञान, काम, हास्य, रति, अरति इत्यादि मिलकर अठारह' दूषणोंमेंसे एक दूषण हो तो भी वे अपूज्य हैं। एक समर्थ पंडितने भी कहा है कि, 'मैं परमेश्वर हूँ' यों मिथ्या रीतिसे मनानेवाले पुरुष स्वयं अपनेको ठगते हैं; क्योंकि पासमें स्त्री होनेसे वे विषयी ठहरते हैं; शस्त्र धारण किये होनेसे वे द्वेषी ठहरते हैं। जप माला धारण करनेसे यह सूचित होता है कि उनका चित व्यग्र है। 'मेरी शरणमें आ, मैं सब पापोंको हर लूँगा', यों कहनेवाले अभिमानी और नास्तिक ठहरते हैं। ऐसा है तो फिर वे दूसरेको कैसे तार सकते हैं? और कितने ही अवतार लेनेके रूपमें अपनेको परमेश्वर कहलवाते हैं, तो [2]'ऐसी स्थितिमें यह सिद्ध होता है कि अमुक कर्मका प्रयोजन शेष है।'

जिज्ञासु—भाई! तब फिर पूज्य कौन और भक्ति किसकी करनी कि जिससे आत्मा स्वशक्तिका प्रकाश करे?

सत्य—शुद्ध सच्चिदानंदस्वरूप [3]'अनंत सिद्धकी' भक्तिसे तथा सर्वदूषणरहित, कर्ममलहीन, मुक्त,

---

द्वि० आ० पाठा०—१ 'अज्ञान, निद्रा, मिथ्यात्व, राग, द्वेष, अविरति, भय, शोक, जुगुप्सा, दानांतराय, लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, भोगांतराय और उपभोगांतराय, काम, हास्य, रति और अरति, ये अठारह'

२. ऐसी स्थितिमें यह सिद्ध होता है कि उनके लिए अमुक कर्मका भोगना बाकी है।' ३. 'सिद्ध भगवानकी।'

नीराग, सकलभयरहित, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी जिनेश्वर भगवानकी भक्तिसे आत्मशक्ति प्रकाशित होती है।

जिज्ञासु–इनकी भक्ति करनेसे ये हमें मोक्ष देते हैं, ऐसा मानना ठीक है ?

सत्य–भाई जिज्ञासु ! ये अनंतज्ञानी भगवान तो नीराग और निर्विकार हैं। इन्हें स्तुति-निंदाका हमें कुछ भी फल देनेका प्रयोजन नहीं है। हमारा आत्मा जो कर्मदलसे घिरा हुआ है, तथा अज्ञानी एवं मोहांध बना हुआ है, उसे दूर करनेके लिए अनुपम पुरुषार्थकी आवश्यकता है। सर्व कर्मदलका क्षय करके [1]'अनंत जीवन, अनंत वीर्य, अनंत ज्ञान और अनंत दर्शनसे स्वस्वरूपमय हुए' ऐसे जिनेश्वरोंका स्वरूप आत्माकी निश्चयनयसे ऋद्धि होनेसे [2]'यह पुरुषार्थता देता है', विकारसे विरक्त करता है, शांति और निर्जरा देता है। जैसे हाथमें तलवार लेनेसे शौर्य और भाँगसे नशा उत्पन्न होता है, वैसे ही इस गुणचिंतनसे आत्मा स्वस्वरूपानंदकी श्रेणि पर चढता जाता है। हाथमें दर्पण लेनेसे जैसे मुखाकृतिका भान होता है वैसे ही सिद्ध या जिनेश्वर-स्वरूपके चिंतनरूप दर्पणसे आत्मस्वरूपका भान होता है।

शिक्षापाठ १४ : जिनेश्वरकी भक्ति–भाग २

जिज्ञासु–आर्य सत्य ! सिद्धस्वरूपको प्राप्त जिनेश्वर तो सभी पूज्य हैं, तो फिर नामसे भक्ति करनेकी कुछ जरूरत है ?

सत्य–हाँ, अवश्य है। अनंत सिद्धस्वरूपका ध्यान करते हुए जो शुद्ध स्वरूपका विचार आता है वह तो कार्य है; परंतु वे जिनसे उस स्वरूपको प्राप्त हुए वे कारण कौनसे हैं ? इसका विचार करते हुए उग्र तप, महान वैराग्य, अनंत दया, महान ध्यान, इन सबका स्मरण होगा। अपने अर्हत तीर्थंकर-पदमें जिस नामसे वे विहार करते थे उस नामसे उनके पवित्र आचार और पवित्र चरित्रका अंतःकरणमें उदय होगा, जो उदय परिणाममें महा लाभदायक है। जैसे महावीरका पवित्र नाम स्मरण करनेसे वे कौन थे ? कब हुए ? उन्होंने किस प्रकारसे सिद्धि पायी ? इन चरित्रोंकी स्मृति होगी; और इससे हमें वैराग्य, विवेक इत्यादिका उदय होगा।

जिज्ञासु–परंतु 'लोगस्स'में तो चौबीस जिनेश्वरोंके नाम सूचित किये हैं, इसका क्या हेतु है ? यह मुझे समझाइये।

सत्य–इस कालमें इस क्षेत्रमें जो चौबीस जिनेश्वर हुए, उनके नाम और चरित्रका स्मरण करनेसे शुद्ध तत्त्वका लाभ हो, यह इसका हेतु है। वैरागीका चरित्र वैराग्यका बोध देता है। अनंत चौबीसीके अनंत नाम सिद्धस्वरूपमें समग्रतः आ जाते हैं। वर्तमानकालके चौबीस तीर्थंकरोंके नाम इस कालमें लेनेसे कालकी स्थितिका अति सूक्ष्म ज्ञान भी याद आ जाता है। जैसे इनके नाम इस कालमें लिये जाते हैं वैसे ही चौबीसी चौबीसीके नाम, काल और चौबीसी बदलने पर लिये जाते रहते हैं। इसलिए अमुक नाम लेना ऐसा कुछ निश्चित नहीं हैं; परंतु उनके गुण और पुरुषार्थकी स्मृतिके लिए वर्तमान चौबीसीकी स्मृति करना, ऐसा तत्त्व निहित है। उनका जन्म, विहार, उपदेश यह सब नामनिक्षेपसे जाना जा सकता है।

इससे हमारा आत्मा प्रकाश पाता है। सर्प जैसे बाँसुरीके नादसे जागृत होता है वैसे ही आत्मा अपनी सत्य ऋद्धि सुननेसे मोहनिद्रासे जागृत होता है।

जिज्ञासु–आपने मुझे जिनेश्वरकी भक्तिसंबंधी बहुत उत्तम कारण बताया। आधुनिक शिक्षासे

द्वि० आ० पाठा०–१. 'अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत चारित्र, अनंत वीर्य, और स्वस्वरूपमय हुए।' २. 'उन भगवानका स्मरण, चिंतन, ध्यान और भक्ति ये पुरुषार्थता देते हैं।'

जिनेश्वरकी भक्ति कुछ फलदायक नहीं है ऐसी मेरी आस्था हुई थी, वह नष्ट हो गयी है। जिनेश्वर भगवानकी भक्ति अवश्य करनी चाहिये, यह मैं मान्य रखता हूँ।

सत्य–जिनेश्वर भगवानकी भक्तिसे अनुपम लाभ है। [1]'उनके उपकारसे उनकी भक्ति अवश्य करनी चाहिये। उनके पुरुषार्थका स्मरण होता है, जिससे कल्याण होता है। इत्यादि इत्यादि मात्र सामान्य कारण मैंने यथामति कहे है। वे अन्य भाविकोंके लिए भी सुखदायक हों।'

शिक्षापाठ १५ : भक्तिका उपदेश

(तोटक छन्द)

*शुभ शीतळतामय छांय रही, मनवांछित ज्यां फळपंक्ति कही.
जिनभक्ति ग्रहो तरु कल्प अहो, भर्जोने भगवंत भवंत लहो. १

निज आत्मस्वरूप मुदा प्रगटे, मनताप उताप तमाम मटे.
अति निर्जरता वणदाम ग्रहो, भर्जोने भगवंत भवंत लहो. २

समभावी सदा परिणाम थशे, जड मंद अधोगति जन्म जशे;
शुभ मंगळ आ परिपूर्ण चहो, भर्जोने भगवंत भवंत लहो. ३

शुभ भाव वडे मन शुद्ध करो, नवकार महापदने समरो;
नहि एह समान सुमंत्र कहो, भर्जोने भगवंत भवंत लहो. ४

करशो क्षय केवल रागकथा, धरशो शुभ तत्त्वस्वरूप यथा;
नृपचंद्र प्रपंच अनंत दहो, भर्जोने भगवंत भवंत लहो. ५

शिक्षापाठ १६ : सच्ची महत्ता

कितने मानते हैं कि लक्ष्मीसे महत्ता मिलती है; कितने मानते हैं कि महान कुटुंबसे महत्ता मिलती है; कितने मानते हैं कि पुत्रसे महत्ता मिलती है; कितने मानते हैं कि अधिकारसे महत्ता मिलती है। परंतु उनका यह मानना विवेकदृष्टिसे मिथ्या सिद्ध होता है। वे जिसमें महत्ता मानते हैं उसमें महत्ता नहीं, परंतु लघुता है। लक्ष्मीसे संसारमें खानपान, मान, अनुचरोंपर आज्ञा, वैभव, ये सब मिलते हैं और यह महत्ता है, ऐसा तुम मानते होंगे; परंतु इतनेसे उसे महत्ता माननेकी जरूरत नहीं है। लक्ष्मी अनेक पापोंसे पैदा होती है। आनेके बाद यह अभिमान, बेभानता और मूढता लाती है। कुटुंब समुदायकी महत्ता पानेके लिए

---

१. 'उनके परम उपकारके कारण भी उनकी भक्ति अवश्य करनी चाहिए। और उनके पुरुषार्थका स्मरण होनेसे भी शुभ वृत्तियोंका उदय होता है। ज्यों-ज्यों श्री जिनेन्द्रके स्वरूपमें वृत्तिका लय होता है, त्यों-त्यों परम शांति प्रगट होती है। इस प्रकार जिनभक्तिके कारण यहाँ संक्षेपमें कहे हैं, वे आत्मार्थियोंके लिए विशेषरूपसे मनन करने योग्य है।'

* **भावार्थ**–जिसकी शुभ शीतलतामय छाया है, जिसमें मनोवांछित फूलोंकी पंक्ति लगी है। अहो भव्यों ! तुम कल्पतरुरूपी जिनभक्तिका आश्रय लो, और भगवद्भक्ति करके भवांत प्राप्त करो॥१॥ इससे अपने आत्मस्वरूपका आनंद प्रगट होता है, मनका ताप एवं अन्य सब उत्ताप मिट जाते हैं। मुफ्तमें कर्मोंकी अति निर्जरा होती है। तुम भगवद् भक्ति करके भवांत प्राप्त करो॥२॥ इससे परिणाम सदा समभावी होंगे; जड, मंद और अधोगतिके जन्म नष्ट होंगे; इस परिपूर्ण शुभ मंगलकी इच्छा करो और भगवद्भक्ति करके भवांत प्राप्त करो॥३॥ शुभ भावसे मनको शुद्ध करो, नवकार महामंत्रका स्मरण करो, इसके समान दूसरा कोई सुमंत्र नहीं है। तुम भगवद्भक्ति करके भवांत प्राप्त करो॥४॥ रागकथाका सर्वथा क्षय करो, यथार्थ शुभ तत्त्वस्वरूपको धारण करो। राजचंद्र कहते है कि भगवद्भक्तिसे संसारके अनंत प्रपंचका दहन करो, और भगवद्भक्ति करके भवांत प्राप्त करो॥५॥

उसका पालन-पोषण करना पडता है। उससे पाप और दुःख सहन करने पडते हैं। हमें उपाधिसे पाप करके उसका उदर भरना पडता है। पुत्रसे कोई शाश्वत नाम नहीं रहता। इसके लिए भी अनेक प्रकारके पाप और उपाधि सहने पडते हैं, फिर भी इससे अपना क्या मंगल होता है? अधिकारसे परतंत्रता या सत्तामद आता है और इससे जुल्म, अनीति, रिश्वत तथा अन्याय करने पडते हैं, अथवा होते हैं । तब कहिये, इसमेंसे महत्ता किसकी होती है? मात्र पापजन्य कर्मकी। पापकर्मसे आत्माकी नीच गति होती है; जहाँ नीच गति है वहाँ महत्ता नहीं है परंतु लघुता है।

आत्माकी महत्ता तो सत्य वचन, दया, क्षमा, परोपकार और समतामें रही है। लक्ष्मी आदि तो कर्ममहत्ता है। ऐसा होने पर भी सयाने पुरुष लक्ष्मीको दानमें देते हैं, उत्तम विद्याशालाएँ स्थापित करके परदुःखभंजन होते हैं। [1]'एक स्त्रीसे विवाह करके' मात्र उसमें वृत्ति रोककर परस्त्रीकी ओर पुत्रीभावसे देखते हैं। कुटुंब द्वारा अमुक समुदायका हितकाम करते हैं। पुत्र होनेसे उसे संसारभार देकर स्वयं धर्ममार्गमें प्रवेश करते हैं। अधिकार द्वारा चतुराईसे आचरण करके राजा-प्रजा दोनोंका हित करके धर्मनीतिका प्रकाश करते हैं। ऐसा करनेसे कुछ सच्ची महत्ता प्राप्त होती है; फिर भी यह महत्ता निश्चित नहीं है। मरण-भय सिर पर सवार है। धारणा धरी रह जाती है। योजित योजना या विवेक शायद हृदयमेंसे चला जाय, ऐसी संसारमोहिनी है; इसलिए हमें यह निःसंशय समझना चाहिये कि सत्य वचन, दया, क्षमा, ब्रह्मचर्य और समता जैसी आत्ममहत्ता किसी भी स्थलमें नहीं है। शुद्ध पंच महाव्रतधारी भिक्षुकने जो ऋद्धि और महत्ता प्राप्त की है उसे ब्रह्मदत्त जैसे चक्रवर्तीने लक्ष्मी, कुटुंब, पुत्र या अधिकारसे प्राप्त नहीं की, ऐसा मेरा मानना है!

शिक्षापाठ १७ : बाहुबल

बाहुबल अर्थात् अपनी भुजाका बल यह अर्थ यहाँ नहीं करना है; क्योंकि बाहुबल नामके महापुरुषका यह एक छोटा परंतु अद्‌भुत चरित्र है।

ऋषभदेवजी भगवान सर्वसंगका परित्याग करके भरत और बाहुबल नामके अपने दो पुत्रोंको राज्य सौंप कर विहार करते थे। तब भरतेश्वर चक्रवर्ती हुआ। आयुधशालामें चक्रकी उत्पत्ति होनेके बाद उसने प्रत्येक राज्य पर अपना आम्नाय स्थापित किया और छः खंडकी प्रभुता प्राप्त की। मात्र बाहुबलने ही यह प्रभुता अंगीकार नहीं की। इससे परिणाममें भरतेश्वर और बाहुबलके बीच युद्ध शुरू हुआ। बहुत समय तक भरतेश्वर या बाहुबल इन दोनोंमेंसे एक भी पीछे नहीं हटा, तब क्रोधावेशमें आकर भरतेश्वरने बाहुबल पर चक्र छोडा। एक वीर्यसे उत्पन्न हुए भाई पर वह चक्र प्रभाव नहीं कर सकता, इस नियमसे वह चक्र फिरकर वापस भरतेश्वरके हाथमें आया। भरतके चक्र छोडनेसे बाहुबलको बहुत क्रोध आया। उसने महाबलवत्तर मुष्टि उठायी। तत्काल वहाँ उसकी भावनाका स्वरूप बदला। उसने विचार किया, "मैं यह बहुत निंदनीय कर्म करता हूँ। इसका परिणाम कैसा दुःखदायक है! भले भरतेश्वर राज्य भोगे। व्यर्थ ही परस्परका नाश किसलिए करना? यह मुष्टि मारनी योग्य नहीं है; तथा उठायी है तो इसे अब पीछे हटाना भी योग्य नहीं है।" यों कहकर उसने पंचमुष्टि केशलुंचन किया; और वहाँसे मुनित्वभावसे चल निकला। उसने, भगवान आदीश्वर जहाँ अठानवें दीक्षित पुत्रों और आर्यआर्याके साथ विहार करते थे, वहाँ जानेकी इच्छा की; परंतु मनमें मान आया। "वहाँ मैं जाऊँगा तो अपनेसे छोटे अठानवें भाइयोंको वंदन करना पडेगा। इसलिए वहाँ तो जाना योग्य नहीं।" फिर वनमें वह एकाग्र ध्यानमें रहा। धीरे-धीरे

१. द्वि० आ० पाठा०—'एक विवाहित स्त्रीमें ही।'

बारह मास हो गये। महातपसे काया हड्डियोंका ढाँचा हो गयी। वह सूखे पेड जैसा दीखने लगा, परंतु जब तक मानका अंकुर उसके अंतःकरणसे हटा न था तब तक उसने सिद्धि नहीं पायी। ब्राह्मी और सुंदरीने आकर उसे उपदेश दिया, "आर्य वीर! अब मदोन्मत्त हाथीसे उतरिये, इसके कारण तो बहुत सहन किया।" उनके इन वचनोंसे बाहुबल विचारमें पडा। विचार करते-करते उसे भान हुआ, "सत्य है। मैं मानरूपी मदोन्मत्त हाथीसे अभी कहाँ उतरा हूँ? अब इससे उतरना ही मंगलकारक है।" ऐसा कहकर उसने वंदन करनेके लिए कदम उठाया कि वह अनुपम दिव्य कैवल्यकमलाको प्राप्त हुआ।

पाठक! देखो, मान कैसी दुरित वस्तु है!!

शिक्षापाठ १८ : चार गति

[1]'सातावेदनीय और असातावेदनीयका वेदन करता हुआ शुभाशुभ कर्मका फल भोगनेके लिए इस संसारवनमें जीव चार गतियोंमें भ्रमण करता रहता है।' ये चार गति अवश्य जाननी चाहिये।

१. नरकगति—महारंभ, मदिरापान, मांसभक्षण इत्यादि तीव्र हिंसाके करनेवाले जीव भयानक नरकमें पडते हैं। वहाँ लेशमात्र भी साता, विश्राम या सुख नहीं है। महान अंधकार व्याप्त है। अंगछेदन सहन करना पडता है, अग्निमें जलना पडता है, और छरपलाकी धार जैसा जल पीना पडता है। जहाँ अनंत दुःखसे प्राणीभूतोंको तंगी, असाता और बिलबिलाहटको सहन करना पडता है; जिन दुःखोंको केवलज्ञानी भी नहीं कह सकते। अहोहो!! वे दुःख अनंत बार इस आत्माने भोगे हैं।

२. तिर्यंचगति—छल, झूठ, प्रपंच इत्यादिके कारण जीव सिंह, बाघ, हाथी, मृग, गाय, भैंस, बैल इत्यादि तिर्यंचके शरीर धारण करता है। इस तिर्यंचगतिमें भूख, प्यास, ताप, वध, बंधन, ताडन, भारवहन इत्यादिके दुःख सहन करता है।

३. मनुष्यगति—खाद्य, अखाद्यके विषयमें विवेकरहित है, लज्जाहीन, माता-पुत्रीके साथ कामगमन करनेमें जिन्हें पापापापका भान नहीं है; निरंतर मांस-भक्षण, चोरी, परस्त्रीगमन इत्यादि महापातक किया करते हैं; ये तो मानो अनार्य देशके अनार्य मनुष्य हैं। आर्य देशमें भी क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य आदि मतिहीन, दरिद्री, अज्ञान और रोगसे पीडित मनुष्य है। मान-अपमान इत्यादि अनेक प्रकारके दुःख वे भोग रहे हैं।

४. देवगति—परस्पर वैर, द्वेष, क्लेश, शोक, मत्सर, काम, मद, क्षुधा इत्यादिसे देवता भी आयु व्यतीत कर रहे हैं; यह देवगति है।

इस प्रकार चार गति सामान्यरूपसे कही। इन चारों गतियोंमें मनुष्यगति सबसे श्रेष्ठ और दुर्लभ है। आत्माका परम हित मोक्ष इस गतिसे प्राप्त होता है। इस मनुष्यगतिमें भी कितने ही दुःख और आत्मसाधन करनेमें अंतराय हैं।

एक तरुण सुकुमारको रोम रोममें लाल अंगारे सूएँ भोंकनेसे जो असह्य वेदना उत्पन्न होती है, उससे आठ गुनी वेदना गर्भस्थानमें रहते हुए जीव पाता है। मल, मूत्र, लहू, पीप आदिमें लगभग नौ महीने अहोरात्र मूर्च्छागत स्थितिमें वेदना भोग भोगकर जन्म पाता है। जन्मके समय गर्भस्थानकी वेदनासे अनंत गुनी वेदना उत्पन्न होती है। उसके बाद बाल्यावस्था प्राप्त होती है। मल, मूत्र, धूल और नग्नावस्थामें नासमझीसे रो-भटककर यह बाल्यावस्था पूर्ण होती है, और युवावस्था आती है। धन-उपार्जन करनेके लिए नाना प्रकारके पाप करने पडते हैं। जहाँसे उत्पन्न हुआ है वहाँ अर्थात् विषय-विकारमें वृत्ति जाती

---

१. द्वि० आ० पाठा०—'संसारवनमें जीव सातावेदनीय-असातावेदनीयका वेदन करता हुआ शुभाशुभ कर्मफल भोगनेके लिए इन चार गतियोंमें भ्रमण करता रहता है।'

है। उन्माद, आलस्य, अभिमान, निंद्यदृष्टि, संयोग, वियोग आदिके चक्करमें युवावस्था चली जाती है। फिर वृद्धावस्था आती है। शरीर काँपता है; मुखसे लार झरती है; त्वचा पर झुर्री पड जाती है; सूँघने, सुनने और देखनेकी शक्तियाँ सर्वथा मंद हो जाती है; केश सफेद होकर झडने लगते हैं। चलनेकी शक्ति नहीं रहती, हाथमें लकडी लेकर लडखडाते हुए चलना पडता है, या तो जीवनपर्यंत खाट पर पडा रहना पडता है। श्वास, खांसी इत्यादि रोग आकर घेर लेते हैं, और थोडे कालमें काल आकर कवलित कर जाता है। इस देहमेंसे जीव चल निकलता है। काया हुई न हुई हो जाती है। मरणके समय कितनी अधिक वेदना होती है ? चतुर्गतिमें श्रेष्ठ जो मनुष्य-देह है उसमें भी कितने अधिक दुःख रहे हुए हैं ! फिर भी ऊपर कहे अनुसार अनुक्रमसे काल आता है ऐसा नहीं है। चाहे जब वह आकर ले जाता है। इसीलिए विचक्षण पुरुष प्रमाद किये बिना आत्मकल्याणकी आराधना करते हैं।

शिक्षापाठ १९ : संसारकी चार उपमाएँ—भाग १

१. महातत्त्वज्ञानी संसारको एक समुद्रकी उपमा भी देते हैं। संसाररूपी समुद्र अनंत और अपार है। अहो लोगो ! इसका पार पानेके लिए पुरुषार्थका उपयोग करो ! उपयोग करो ! इस प्रकार उनके स्थान-स्थान पर वचन हैं। संसारको समुद्रकी उपमा छाजती भी है। समुद्रमें जैसे मौजोंकी उछालें उछला करती हैं, वैसे संसारमें विषयरूपी अनेक मौजें उछलती हैं। समुद्रका जल जैसे ऊपरसे सपाट दिखायी देता है वैसे संसार भी सरल दिखायी देता है। समुद्र जैसे कहीं बहुत गहरा है, और कहीं भँवरोंमें डाल देता है, वैसे संसार कामविषयप्रपंचादिमें बहुत गहरा है, वह मोहरूपी भँवरोंमें डाल देता है। थोडा जल होते हुए भी समुद्रमें खडे रहनेसे जैसे कीचडमें धँस जाते हैं, वैसे संसारके लेशभर प्रसंगमें वह तृष्णारूपी कीचडमें फँसा देता है। समुद्र जैसे नाना प्रकारकी चट्टानों और तूफानोंसे नाव या जहाजको हानि पहुँचाता है, वैसे स्त्रियोंरूपी चट्टानों और कामरूपी तूफानोंसे संसार आत्माको हानि पहुँचाता है। समुद्र जैसे अगाध जलसे शीतल दिखायी देने पर भी उसमें वडवानल नामकी अग्निका वास है, वैसे संसारमें मायारूपी अग्नि जला ही करती है। समुद्र जैसे चौमासेमें अधिक जल पाकर गहरा हो जाता है, वैसे पापरूपी जल पाकर संसार गहरा हो जाता है, अर्थात् जड जमाता जाता है।

२. संसारको दूसरी उपमा अग्निकी छाजती है। अग्निसे जैसे महातापकी उत्पत्ति होती है, वैसे संसारसे भी त्रिविध तापकी उत्पत्ति होती है। अग्निसे जला हुआ जीव जैसे महान बिलबिलाहट करता है, वैसे संसारसे जला हुआ जीव अनंत दुःखरूप नरकसे असह्य बिलबिलाहट करता है। अग्नि जैसे सब वस्तुओंका भक्षण कर जाती है वैसे अपने मुखमें पडे हुओंको संसार भक्षण कर जाता है। अग्निमें ज्यों-ज्यों घी और ईंधन होमे जाते हैं त्यों-त्यों वह वृद्धि पाती है, [1]'वैसे संसारमें ज्यों-ज्यों तीव्र मोहिनीरूपी घी और विषयरूपी ईंधन होमे जाते हैं त्यों-त्यों वह वृद्धि पाता है।'

३. संसारको तीसरी उपमा अंधकारकी छाजती है। अंधकारमें जैसे रस्सी सर्पका ज्ञान कराती है, वैसे संसार सत्यको असत्यरूप बताता है। अंधकारमें जैसे प्राणी इधर-उधर भटक कर विपत्ति भोगते हैं, वैसे संसारमें बेभान होकर अनंत आत्मा चतुर्गतिमें इधर-उधर भटकते हैं। अंधकारमें जैसे काँच और हीरेका ज्ञान नहीं होता, वैसे संसाररूपी अंधकारमें विवेक-अविवेकका ज्ञान नहीं होता। जैसे अंधकारमें प्राणी आँखें होनेपर भी अंधे बन जाते हैं, वैसे शक्तिके होनेपर भी संसारमें वे मोहांध बन जाते हैं। अंधकारमें जैसे उल्लू इत्यादिका उपद्रव बढ जाता है, वैसे संसारमें लोभ, माया आदिका उपद्रव बढ जाता

---

१. द्वि० आ० पाठा०—'उसी प्रकार संसाररूपी अग्निमें तीव्र मोहिनीरूपी घी और विषयरूपी ईंधन होमा जानेसे वह वृद्धि पाती है।'

है। अनेक प्रकारसे देखते हुए संसार अंधकाररूप ही प्रतीत होता है।

शिक्षापाठ २० : संसारकी चार उपमाएँ—भाग २

४. संसारको चौथी उपमा शकटचक्र अर्थात् छकडेके पहियेकी छाजती है। चलता हुआ शकटचक्र जैसे घूमता रहता है, वैसे संसारमें प्रवेश करनेसे वह फिरता रहता है। शकटचक्र जैसे धुराके बिना नहीं चल सकता, वैसे संसार मिथ्यात्वरूपी धुराके बिना नहीं चल सकता। शकटचक्र जैसे आरोंसे टिका हुआ है, वैसे संसार शंका, प्रमाद आदि आरोंसे टिका हुआ है। इस तरह अनेक प्रकारसे शकटचक्रकी उपमा भी संसारको लागू हो सकती है।

[1]'संसारको' जितनी हीन उपमाएँ दें उतनी थोडी हैं। हमने ये चार उपमाएँ जानी। अब इनमेंसे तत्त्व लेना योग्य है।

१. जैसे सागर मजबूत नाव और जानकार नाविकसे तैरकर पार किया जाता है, वैसे सद्धर्मरूपी नाव और सद्गुरुरूपी नाविकसे संसारसागर पार किया जा सकता है। सागरमें जैसे चतुर पुरुषोंने निर्विघ्न मार्ग खोज निकाला होता है, वैसे जिनेश्वर भगवानने तत्त्वज्ञानरूप उत्तम मार्ग बताया है, जो निर्विघ्न है।

२. जैसे अग्नि सबका भक्षण कर जाती है, परंतु पानीसे बुझ जाती है, वैसे वैराग्यजलसे संसाराग्नि बुझाई जा सकती है।

३. जैसे अंधकारमें दीया ले जानेसे प्रकाश होनेपर देखा जा सकता है, वैसे तत्त्वज्ञानरूपी न बुझनेवाला दीया संसाररूपी अंधकारमें प्रकाश करके सत्य वस्तुको बताता है।

४. जैसे शकटचक्र बैलके बिना नहीं चल सकता, वैसे संसारचक्र रागद्वेषके बिना नहीं चल सकता।

इस प्रकार इस संसाररोगका निवारण उपमा द्वारा अनुपानके साथ कहा है। आत्महितैषी निरंतर इसका मनन करे और दूसरोंको उपदेश दे।

शिक्षापाठ २१ : बारह भावना

वैराग्यकी और ऐसे आत्महितैषी विषयोंकी सुदृढताके लिए तत्त्वज्ञानी बारह भावनाओंका चिन्तन करनेको कहते हैं—

१. शरीर, वैभव, लक्ष्मी, कुटुंब, परिवार आदि सर्व विनाशी है। जीवका मूल धर्म अविनाशी है, ऐसा चिन्तन करना, यह पहली 'अनित्यभावना'।

२. संसारमें मरणके समय जीवको शरण देनेवाला कोई नहीं है; मात्र एक शुभ धर्मकी ही शरण सत्य है, ऐसा चिन्तन करना, यह दूसरी 'अशरणभावना'।

३. इस आत्माने संसारसमुद्रमें पर्यटन करते-करते सर्व भव किये हैं। इस संसारकी बेडीसे मैं कब छूटूँगा ? यह संसार मेरा नहीं है, मैं मोक्षमयी हूँ, ऐसा चिंतन करना, यह तीसरी 'संसारभावना'।

४. यह मेरा आत्मा अकेला है, यह अकेला आया है, अकेला जायेगा; अपने किये हुए कर्मोंको अकेला भोगेगा, ऐसा चिंतन करना, यह चौथी 'एकत्वभावना'।

५. इस संसारमें कोई किसीका नहीं है, ऐसा चिंतन करना, यह पाँचवीं 'अन्यत्वभावना'।

६. यह शरीर अपवित्र है, मलमूत्रकी खान है, रोग-जराके रहनेका धाम है, इस शरीरसे मैं भिन्न हूँ,

१. द्वि० आ० पाठा० - 'इस प्रकार संसारको।'

ऐसा चिंतन करना, यह छठी 'अशुचिभावना'।

७. राग, द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व इत्यादि सर्व आस्रव हैं, ऐसा चिंतन करना, यह सातवीं 'आस्रवभावना'।

८. ज्ञान, ध्यानमें प्रवर्तमान होकर जीव नये कर्म नहीं बाँधता, ऐसा चिंतन करना, यह आठवीं 'संवरभावना'।

९. ज्ञानसहित क्रिया करना यह निर्जराका कारण है, ऐसा चिंतन करना, यह नौवीं 'निर्जरा-भावना'।

१०. लोकस्वरूपकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाशके स्वरूपका विचार करना, यह दसवीं 'लोक-स्वरूपभावना'।

११. संसारमें परिभ्रमण करते हुए आत्माको सम्यग्ज्ञानकी प्रसादी प्राप्त होना दुर्लभ है, अथवा सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ तो चारित्र—सर्वविरतिपरिणामरूप धर्म—प्राप्त होना दुर्लभ है, ऐसा चिंतन करना, यह ग्यारहवीं 'बोधिदुर्लभभावना'।

१२. धर्मके उपदेशक तथा शुद्ध शास्त्रके बोधक गुरु तथा उनके उपदेशका श्रवण मिलना दुर्लभ है, ऐसा चिंतन करना, यह बारहवीं 'धर्मदुर्लभभावना'।

इन बारह भावनाओंका मननपूर्वक निरंतर विचार करनेसे सत्पुरुष उत्तम पदको प्राप्त हुए हैं, प्राप्त होते हैं और प्राप्त होंगे।

शिक्षापाठ २२ : कामदेव श्रावक

महावीर भगवानके समयमें द्वादश व्रतको विमल भावसे धारण करनेवाला, विवेकी और निर्ग्रंथ-वचनानुरक्त कामदेव नामका एक श्रावक उनका शिष्य था। एक समय इन्द्रने सुधर्मासभामें कामदेवकी धर्म-अचलताकी प्रशंसा की। उस समय वहाँ एक तुच्छ बुद्धिमान देव बैठा हुआ था। [1]"वह बोला— "यह तो समझमें आया, जब तक नारी न मिले तब तक ब्रह्मचारी तथा जब तक परिषह न पडे हों तब तक सभी सहनशील और धर्मदृढ।' यह मेरी बात मैं उसे चलायमान करके सत्य कर दिखाऊँ।" धर्मदृढ कामदेव उस समय कायोत्सर्गमें लीन था। देवताने विक्रियासे हाथीका रूप धारण किया; और फिर कामदेवको खूब रौंदा, तो भी वह अचल रहा; फिर मूसल जैसा अंग बनाकर काले वर्णका सर्प होकर भयंकर फुँकार किये, तो भी कामदेव कायोत्सर्गसे लेशमात्र चलित नहीं हुआ। फिर अट्टहास्य करते हुए राक्षसकी देह धारण करके अनेक प्रकारके परिषह किये, तो भी कामदेव कायोत्सर्गसे डिगा नहीं। सिंह आदिके अनेक भयंकर रूप किये, तो भी कामदेवने कायोत्सर्गमें लेश हीनता नहीं आने दी। इस प्रकार देवता रात्रिके चारों प्रहर उपद्रव करता रहा, परंतु वह अपनी धारणामें सफल नहीं हुआ। फिर उसने उपयोगसे देखा तो कामदेवको मेरुके शिखरकी भाँति अडोल पाया। कामदेवकी अद्भुत निश्चलता जानकर उसे विनयभावसे प्रणाम करके अपने दोषोंकी क्षमा माँगकर वह देवता स्वस्थानको चला गया।

[2]'कामदेव श्रावककी धर्मदृढता हमें क्या बोध देती है, यह बिना कहे भी समझमें आ गया होगा। इसमेंसे यह तत्त्वविचार लेना है कि निर्ग्रंथ-प्रवचनमें प्रवेश करके दृढ रहना। कायोत्सर्ग इत्यादि जो ध्यान करना है, उसे यथासंभव एकाग्र चित्तसे और दृढतासे निर्दोष करना।' चलविचल भावसे कायोत्सर्ग बहुत

द्वि॰आ॰पाठा॰ —१. 'उसने ऐसी सुदृढताके प्रति अविश्वास बताया और कहा कि जब तक परिषह न पडे हों तब तक सभी सहनशील और धर्मदृढ मालूम होते हैं।' २.'कामदेव श्रावककी धर्मदृढता ऐसा बोध करती है कि सत्य धर्म और सत्य प्रतिज्ञामें परम दृढ रहना और कायोत्सर्गादिको यथासंभव एकाग्र चित्तसे और सुदृढतासे निर्दोष करना।'

दोषयुक्त होता है। [१] 'पाईके लिए धर्मकी सौगन्ध खानेवाले धर्ममें दृढता कहाँसे रखें ? और रखें तो कैसी रखें ?' यह विचारते हुए खेद होता है।

शिक्षापाठ २३ : सत्य

सामान्य कथनमें भी कहा जाता है कि सत्य इस [२]'सृष्टिका आधार' है; अथवा सत्यके आधार पर यह [३]'सृष्टि टिकी है।' इस कथनसे यह शिक्षा मिलती है कि धर्म, नीति, राज और व्यवहार ये सब सत्य द्वारा चल रहे हैं; और ये चार न हों तो जगतका रूप कैसा भयंकर हो ? इसलिए सत्य [४]'सृष्टिका आधार' है, यह कहना कुछ अतिशयोक्ति जैसा या न मानने योग्य नहीं है।

वसुराजाका एक शब्दका असत्य बोलना कितना दुःखदायक हुआ था, [४]'उसे तत्त्वविचार करनेके लिए मैं यहाँ कहता हूँ।'

वसुराजा, नारद और पर्वत ये तीनों एक गुरुके पास विद्या पढे थे। पर्वत अध्यापकका पुत्र था। अध्यापक चल बसा। इसलिए पर्वत अपनी माँके साथ वसुराजाके राजमें आकर रहा था। एक रात उसकी माँ पासमें बैठी थी, और पर्वत तथा नारद शास्त्राभ्यास कर रहे थे। इस दौरानमें पर्वतने 'अजाहोतव्यं' ऐसा एक वाक्य कहा। तब नारदने कहा, "अजका अर्थ क्या है, पर्वत ?" पर्वतने कहा, "अज अर्थात् बकरा।" नारद बोला, "हम तीनों जब तेरे पिताके पास पढते थे तब तेरे पिताने तो 'अज' का अर्थ तीन वर्षके 'व्रीहि' बताया था; और तू उलटा अर्थ क्यों करता है ?" इस प्रकार परस्पर वचन-विवाद बढा। तब पर्वतने कहा, "वसुराजा हमें जो कहें वह सही।" यह बात नारदने भी मान ली और जो जीते उसके लिए अमुक शर्त की। पर्वतकी माँ जो पासमें बैठी थी उसने यह सब सुना। 'अज' अर्थात् 'व्रीहि' ऐसा उसे भी याद था। शर्तमें अपना पुत्र हार जायेगा इस भयसे पर्वतकी माँ रातको राजाके पास गयी और पूछा, "राजन् ! 'अज' का क्या अर्थ है ?" वसुराजाने संबंधपूर्वक कहा, "अज का अर्थ 'व्रीहि' है।" तब पर्वतकी माँने राजासे कहा, "मेरे पुत्रने अजका अर्थ बकरा कह दिया है, इसलिए आपको उसका पक्ष लेना पडेगा। आपसे पूछनेके लिए वे आयेंगे।" वसुराजा बोला, "मैं असत्य कैसे कहूँ ? मुझसे यह नहीं हो सकेगा।" पर्वतकी माताने कहा, "परंतु यदि आप मेरे पुत्रका पक्ष नहीं लेंगे, तो मैं आपको हत्याका पाप दूँगी।" राजा विचारमें पड गया– "सत्यके कारण मैं मणिमय सिंहासन पर अधरमें बैठता हूँ। लोकसमुदायका न्याय करता हूँ। लोग भी यह जानते हैं कि राजा सत्य गुणके कारण सिंहासन पर अंतरिक्षमें बैठता है। अब क्या करूँ ? यदि पर्वतका पक्ष न लूँ तो ब्राह्मणी मरती है, और यह तो मेरे गुरुकी स्त्री है।" लाचार होकर अंतमें राजाने ब्राह्मणीसे कहा, "आप खुशीसे जाइये। मैं पर्वतका पक्ष लूँगा।" ऐसा निश्चय कराकर पर्वतकी माता घर आयी। प्रभातमें नारद, पर्वत और उसकी माता विवाद करते हुए राजाके पास आये। राजा अनजान होकर पूछने लगा–"पर्वत, क्या है ?" पर्वतने कहा, "राजाधिराज ! अजका अर्थ क्या है ? यह बताइये।" राजाने नारदसे पूछा–"आप क्या कहते है ?" नारदने कहा–"'अज' अर्थात् तीन वर्षके 'व्रीहि', आपको कहाँ याद नहीं है ?" वसुराजाने कहा–"अजका अर्थ है बकरा, व्रीहि नहीं।" उसी समय देवताने उसे सिंहासनसे उछालकर नीचे पटक दिया; वसु कालपरिणामको प्राप्त हुआ।

---

१. 'पाई जैसे द्रव्यलाभके लिए धर्मकी सौगन्ध खानेवालेकी धर्ममें दृढता कहाँसे रह सके ? और रह सके तो कैसी रहे ?'

२. 'जगतका आधार' ३. ' जगत टिका है। '

४. द्वि० आ० पाठा० - 'वह प्रसंग विचार करनेके लिए यहाँ कहेंगे।'

इसपरसे यह मुख्य बोध मिलता है कि [२]'हम सबको सत्य और राजाको सत्य एवं न्याय दोनों ग्रहण करने योग्य हैं।'

भगवानने जो पाँच महाव्रत प्रणीत किये हैं, उनमेंसे प्रथम महाव्रतकी रक्षाके लिए शेष चार व्रत बाडरूप हैं; और उनमें भी पहली बाड सत्य महाव्रत है। इस सत्यके अनेक भेदोंको सिद्धांतसे श्रवण करना आवश्यक है।

शिक्षापाठ २४ : सत्संग

सत्संग सर्व सुखका मूल है। [२]'सत्संग मिला' कि उसके प्रभावसे वांछित सिद्धि हो ही जाती है। चाहे जैसा पवित्र होनेके लिए सत्संग श्रेष्ठ साधन है। सत्संगकी एक घडी जो लाभ देती है वह लाभ कुसंगके एक करोड वर्ष भी नहीं दे सकते, अपितु वे अधोगतिमय महापाप कराते हैं तथा आत्माको मलिन करते हैं। सत्संगका सामान्य अर्थ यह कि उत्तमका सहवास। जहाँ अच्छी हवा नहीं आती वहाँ रोगकी वृद्धि होती है, वैसे जहाँ सत्संग नहीं वहाँ आत्मरोग बढता है। दुर्गंधसे तंग आकर जैसे नाक पर वस्त्र रख लेते हैं, वैसे ही कुसंगका सहवास बंद करना आवश्यक है। संसार भी एक प्रकारका संग है; और वह अनंत कुसंगरूप एवं दुःखदायक होनेसे त्याग करने योग्य है। चाहे जिस प्रकारका सहवास हो परंतु जिससे आत्मसिद्धि नहीं है वह सत्संग नहीं है। आत्माको जो सत्यका रंग चढाये वह सत्संग है। जो मोक्षका मार्ग बताये वह मैत्री है। उत्तम शास्त्रमें निरंतर एकाग्र रहना यह भी सत्संग है; सत्पुरुषोंका समागम भी सत्संग है। मलिन वस्त्रको जैसे साबुन तथा जल स्वच्छ करते हैं वैसे आत्माकी मलिनताको, शास्त्रबोध और सत्पुरुषोंका समागम दूर करके शुद्ध करते हैं। जिसके साथ सदा परिचय रहकर राग, रंग, गान, तान और स्वादिष्ट भोजन सेवित होते हों वह तुम्हें चाहे जैसा प्रिय हो, तो भी निश्चित मानो कि वह सत्संग नहीं प्रत्युत कुसंग है। सत्संगसे प्राप्त हुआ एक वचन अमूल्य लाभ देता है। तत्त्वज्ञानियोंने मुख्य बोध यह दिया है कि सर्वसंगका परित्याग करके, अंतरमें रहे हुए सर्व विकारसे भी विरक्त रहकर एकांतका सेवन करो। इसमें सत्संगकी स्तुति आ जाती है। सर्वथा एकांत तो ध्यानमें रहना या योगाभ्यासमें रहना यह है, परंतु समस्वभावीका समागम जिसमेंसे एक ही प्रकारकी वर्तनताका प्रवाह निकलता है वह, भावसे एक ही रूप होनेसे बहुत मनुष्योंके होने पर भी और परस्परका सहवास होनेपर भी एकांतरूप ही है और ऐसा एकांत मात्र संतसमागममें रहा है। कदाचित् कोई ऐसा विचार करेगा कि विषयीमंडल मिलता है वहाँ समभाव होनेसे उसे एकांत क्यों न कहा जाये ? इसका समाधान तत्काल हो जाता है कि वे एक स्वभावी नहीं होते। उनमें परस्पर स्वार्थबुद्धि और मायाका अनुसंधान होता है; और जहाँ इन दो कारणोंसे समागम होता है वह एक स्वभावी या निर्दोष नहीं होता। निर्दोष और समस्वभावी समागम तो परस्पर शांत मुनीश्वरोंका है; तथा धर्मध्यानप्रशस्त अल्पारंभी पुरुषोंका भी कुछ अंशमें है। जहाँ स्वार्थ और माया-कपट ही है वहाँ समस्वभावता नहीं है और वह सत्संग भी नहीं है। सत्संगसे जो सुख, आनंद मिलता है वह अति स्तुतिपात्र है। जहाँ शास्त्रोंके सुंदर प्रश्न होते हों, जहाँ उत्तम ज्ञान, ध्यानकी सुकथा होती हो, जहाँ सत्पुरुषोंके चरित्र पर विचार किया जाता हो, जहाँ तत्त्वज्ञानके तरंगकी लहरें उठती हों, जहाँ सरल स्वभावसे सिद्धांतविचारकी चर्चा होती हो और जहाँ मोक्षजनक कथनपर पुष्कल विवेचन होता हो, ऐसा सत्संग महादुर्लभ है। कोई यों कहे कि सत्संगमंडलमें क्या कोई मायावी नहीं होता ? तो इसका समाधान

---

१. 'सामान्य मनुष्योंको सत्य तथा राजाको न्यायमें अपक्षपात और सत्य दोनों ग्रहण करने योग्य है।'
२.'सत्संगका लाभ मिला'

यह है—जहाँ माया और स्वार्थ होता है वहाँ सत्संग ही नहीं होता। राजहंसकी सभामें काग देखावसे कदाचित् न भाँपा जाये तो रागसे अवश्य भाँपा जायेगा; मौन रहा तो मुखमुद्रासे ताडा जायेगा; परंतु वह छिपा नहीं रह पायेगा। उसी प्रकार मायावी स्वार्थसे सत्संगमें जाकर क्या करेंगे ? वहाँ पेट भरनेकी बात तो होती नहीं। दो घडी वहाँ जाकर विश्रांति लेते हों तो भले लें कि जिससे रंग लगे, और रंग न लगे, तो दूसरी बार उनका आगमन नहीं होगा। जैसे पृथ्वी पर तैरा नहीं जाता, वैसे ही सत्संगसे डूबा नहीं जाता, ऐसी सत्संगमें चमत्कृति है। निरंतर ऐसे निर्दोष समागममें माया लेकर आये भी कौन ? कोई दुर्भागी ही; और वह भी असंभव है। सत्संग आत्माका परम हितैषी औषध है।

शिक्षापाठ २५ : परिग्रहको मर्यादित करना

जिस प्राणीको परिग्रहकी मर्यादा नहीं है, वह प्राणी सुखी नहीं है। उसे जो मिला वह कम है; क्योंकि उसे जितना मिलता जाये उतनेसे विशेष प्राप्त करनेकी उसकी इच्छा होती है। परिग्रहकी प्रबलतामें जो कुछ मिला हो उसका सुख तो भोगा नहीं जाता, परंतु जो होता है वह भी कदाचित् चला जाता है। परिग्रहसे निरंतर चलविचल परिणाम और पापभावना रहती है; अकस्मात् योगसे ऐसी पापभावनामें यदि आयु पूर्ण हो जाये तो बहुधा अधोगतिका कारण हो जाता है। संपूर्ण परिग्रह तो मुनीश्वर त्याग सकते हैं; परंतु गृहस्थ उसकी अमुक मर्यादा कर सकते हैं। मर्यादा हो जानेसे उससे अधिक परिग्रहकी उत्पत्ति नहीं है; और इसके कारण विशेष भावना भी बहुधा नहीं होती; और फिर जो मिला है उसमें संतोष रखनेकी प्रथा पडती है, जिससे सुखमें समय बीतता है। न जाने लक्ष्मी आदिमें कैसी विचित्रता है कि ज्यों-ज्यों लाभ होता जाता है त्यों-त्यों लोभ बढता जाता है। धर्मसंबंधी कितना ही ज्ञान होने पर, धर्मकी दृढता होने पर भी परिग्रहके पाशमें पडा हुआ पुरुष कोई विरल ही छूट सकता है; वृत्ति इसीमें लटकी रहती है; परंतु यह वृत्ति किसी कालमें सुखदायक या आत्महितैषी नहीं हुई है। जिन्होंने इसकी मर्यादा कम नहीं की वे बहुत दुःखके भोगी हुए हैं।

छः खंडोंको जीतकर आज्ञा मनानेवाले राजाधिराज चक्रवर्ती कहलाते है। इन समर्थ चक्रवर्तियोंमें सुभूम नामक एक चक्रवर्ती हो गया है। उसने छः खंड जीत लिये इसलिए वह चक्रवर्ती माना गया; परंतु इतनेसे उसकी मनोवांछा तृप्त न हुई, अभी वह प्यासा रहा। इसलिए धातकी खंडके छः खंड जीतनेका उसने निश्चय किया। "सभी चक्रवर्ती छः खंड जीतते हैं; और मैं भी इतने ही जीतूँ, इसमें महत्ता कौनसी ? बारह खंड जीतनेसे मैं चिरकाल तक नामांकित रहूँगा, और उन खंडोंपर जीवनपर्यंत समर्थ आज्ञा चला सकूँगा।" इस विचारसे उसने समुद्रमें चर्मरत्न छोडा, उसपर सर्व सैन्यादिका आधार था। चर्मरत्नके एक हजार देवता सेवक कहे जाते हैं; उनमेंसे प्रथम एकने विचार किया कि न जाने कितने ही वर्षोंमें इससे छुटकारा होगा ? इसलिये देवांगनासे तो मिल आऊँ, ऐसा सोचकर वह चला गया; फिर दूसरा गया; तीसरा गया; और यों करते-करते हजारके हजार देवता चले गये। तब चर्मरत्न डूब गया; अश्व, गज और सर्व सैन्यसहित सुभूम नामका वह चक्रवर्ती भी डूब गया। पापभावनामें और पापभावनामें मरकर वह अनंत दुःखसे भरे हुए सातवें तमतमप्रभा नरकमें जाकर पडा। देखो ! छः खंडका आधिपत्य तो भोगना एक ओर रहा; परंतु अकस्मात् और भयंकर रीतिसे परिग्रहकी प्रीतिसे इस चक्रवर्तीकी मृत्यु हुई, तो फिर दूसरेके लिये तो कहना ही क्या ? परिग्रह पापका मूल है; पापका पिता है; अन्य एकादश व्रतको महादूषित कर दे ऐसा इसका स्वभाव है। इसलिये आत्महितैषीको यथासंभव इसका त्याग करके मर्यादापूर्वक आचरण करना चाहिये।

शिक्षापाठ २६ : तत्त्वको समझना

जिन्हें शास्त्रोंके शास्त्र मुखाग्र हों; ऐसे पुरुष बहुत मिल सकते हैं परंतु जिन्होंने थोडे वचनोंपर प्रौढ और विवेकपूर्वक विचार करके शास्त्र जितना ज्ञान हृदयगत किया हो, ऐसे पुरुष मिलने दुर्लभ है। तत्त्वको पा जाना यह कोई छोटी बात नहीं है, कूदकर समुद्र लाँघ जाना है।

अर्थ अर्थात् लक्ष्मी, अर्थ अर्थात् तत्त्व और अर्थ अर्थात् शब्दका दूसरा नाम। इस प्रकार 'अर्थ' शब्दके बहुत अर्थ होते हैं। परंतु यहाँ 'अर्थ' अर्थात् 'तत्त्व' इस विषयपर कहना है। जो निर्ग्रंथ प्रवचनमें आये हुए पवित्र वचनोंको मुखाग्र करते हैं, वे अपने उत्साहके बलसे सत्फलका उपार्जन करते हैं; परंतु यदि उनका मर्म पाया हो तो इससे वे सुख, आनंद, विवेक और परिणाममें महान फल पाते हैं। अनपढ पुरुष सुन्दर अक्षर और खींची हुई मिथ्या लकीरें इन दोनोंके भेदको जितना जानता है, उतना ही मुखपाठी अन्य ग्रंथ-विचार और निर्ग्रंथ-प्रवचनको भेदरूप मानता है; क्योंकि उसने अर्थपूर्वक निर्ग्रंथ-वचनामृतको धारण नहीं किया है और उस पर यथार्थ तत्त्व-विचार नहीं किया है। यद्यपि तत्त्वविचार करनेमें समर्थ बुद्धिप्रभावकी आवश्यकता है, तो भी कुछ विचार कर सकता है; पत्थर पिघलता नहीं तो भी पानीसे भीग जाता है। इसी प्रकार जो वचनामृत कंठस्थ किये हों, वे अर्थसहित हों तो बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं; नहीं तो तोतेवाला रामनाम। तोतेको कोई परिचयसे रामनाम कहना सिखला दे; परंतु तोतेकी बला जाने कि राम अनार है या अंगूर। सामान्य अर्थको समझे बिना ऐसा होता है। कच्छी वैश्योंका एक दृष्टांत कहा जाता है, वह कुछ हास्ययुक्त जरूर है परंतु इससे उत्तम शिक्षा मिल सकती है। इसलिये उसे यहाँ कह देता हूँ।

कच्छके किसी गाँवमें श्रावक धर्मको पालते हुए रायसी, देवसी और खेतसी नामके तीन ओसवाल रहते थे। वे संध्याकाल और प्रातःकालमें नियमित प्रतिक्रमण करते थे। प्रातःकालमें रायसी और संध्याकालमें देवसी प्रतिक्रमण कराते थे। रात्रिसंबंधी प्रतिक्रमण रायसी कराता था, और रात्रिके संबंधसे, 'रायसी पडिक्कमणुं ठायंमि' इस तरह उसे बुलवाना पडता था। इसी तरह देवसीको दिनका संबंध होनेसे 'देवसी पडिक्कमणुं ठायंमि' ऐसा बुलवाना पडता था। योगानुयोगसे बहुतोंके आग्रहसे एक दिन संध्याकालमें खेतसीको प्रतिक्रमण बुलवानेके लिये बैठाया। खेतसीने जहाँ 'देवसी पडिक्कमणुं ठायंमि' ऐसा आया, वहाँ 'खेतसी पडिक्कमणुं ठायंमि' यह वाक्य लगा दिया ! यह सुनकर सब हास्यग्रस्त हो गए और पूछा, ऐसा क्यों ? खेतसी बोला, "क्यों, इसमें क्या हो गया ?" वहाँ उत्तर मिला, 'खेतसी पडिक्कमणुं ठायंमि' ऐसा आप क्यों बोलते हैं ? खेतसीने कहा, "मै गरीब हूँ इसलिये मेरा नाम आया कि तुरन्त ही तकरार खडी कर दी, परंतु रायसी और देवसीके लिये तो किसी दिन कोई बोलता भी न था। ये दोनों क्यों 'रायसी पडिक्कमणुं ठायंमि' और 'देवसी पडिक्कमणुं ठायंमि' ऐसा कहते हैं; तो फिर मैं 'खेतसी पडिक्कमणुं ठायंमि' यों क्यों न कहूँ ?" इसकी भद्रिकताने तो सबका मन बहलाया; बादमें उसे प्रतिक्रमणका कारण सहित अर्थ समझाया, जिससे खेतसी अपने रटे हुए प्रतिक्रमणसे शर्मिंदा हुआ।

यह तो एक सामान्य वार्ता है; परंतु अर्थकी खूबी न्यारी है। तत्त्वज्ञ उसपर बहुत विचार कर सकते हैं। बाकी तो गुड जैसे मीठा ही लगता है वैसे निर्ग्रंथ-वचनामृत भी सत्फल ही देते हैं। अहो ! परंतु मर्म पानेकी बातकी तो बलिहारी ही है।

शिक्षापाठ २७ : यत्ना

जैसे विवेक धर्मका मूल तत्त्व है, वैसे ही यत्ना धर्मका उपतत्त्व हैं। विवेकसे धर्मतत्त्वको ग्रहण

किया जाता है और यत्नासे वह तत्त्व शुद्ध रखा जा सकता है, उसके अनुसार आचरण किया जा सकता है। पाँच समितिरूप यत्ना तो बहुत श्रेष्ठ है; परंतु गृहस्थाश्रमीसे वह सर्व भावसे पाली नहीं जा सकती, फिर भी जितने भावांशमें पाली जा सके उतने भावांशमें भी असावधानीसे वे पाल नहीं सकते। जिनेश्वर भगवान द्वारा बोधित स्थूल और सूक्ष्म दयाके प्रति जहाँ बेपरवाही है वहाँ बहुत दोषसे पाली जा सकती है। इसका कारण यत्नाकी न्यूनता है। उतावली और वेगभरी चाल, पानी छानकर उसकी जीवानी रखनेकी अपूर्ण विधि, काष्ठादि ईंधनका बिना झाडे, बिना देखे उपयोग, अनाजमें रहे हुए सूक्ष्म जन्तुओंकी अपूर्ण देखभाल, पोंछे-माँजे बिना रहने दिए हुए बरतन, अस्वच्छ रखे हुए कमरे, आँगनमें पानीका गिराना, जूठनका रख छोडना, पटरेके बिना खूब गरम थालीका नीचे रखना, इनसे अपनेको अस्वच्छता, असुविधा, अनारोग्य इत्यादि फल मिलते हैं; और ये महापापके कारण भी हो जाते हैं। इसलिये कहनेका आशय यह है कि चलनेमें, बैठनेमें, उठनेमें, जीमनेमें और दूसरी प्रत्येक क्रियामें यत्नाका उपयोग करना चाहिये। इससे द्रव्य एवं भाव दोनों प्रकारसे लाभ है। चाल धीमी और गंभीर रखनी, घर स्वच्छ रखना, पानी विधिसहित छनवाना, काष्ठादि ईंधन झाडकर डालना, ये कुछ हमारे लिये असुविधाजनक कार्य नहीं है और इनमें विशेष वक्त भी नहीं जाता। ऐसे नियम दाखिल कर देनेके बाद पालने मुश्किल नहीं है। इनसे बिचारे असंख्यात निरपराधी जन्तु बचते हैं।

प्रत्येक कार्य यत्नापूर्वक ही करना यह विवेकी श्रावकका कर्तव्य है।

शिक्षापाठ २८ : रात्रिभोजन

अहिंसादिक पंच महाव्रत जैसा भगवानने रात्रिभोजनत्याग व्रत कहा है। रात्रिमें जो चार प्रकारका आहार है वह अभक्ष्यरूप है। जिस प्रकारका आहारका रंग होता है उस प्रकारके तमस्काय नामके जीव उस आहारमें उत्पन्न होते हैं। रात्रिभोजनमें इसके अतिरिक्त भी अनेक दोष हैं। रात्रिमें भोजन करनेवालेको रसोईके लिए अग्नि जलानी पडती है; तब समीपकी भीतपर रहे हुए निरपराधी सूक्ष्म जन्तु नष्ट होते हैं। ईंधनके लिये लाये हुए काष्ठादिकमें रहे हुए जन्तु रात्रिमें न दीखनेसे नष्ट होते हैं; तथा सर्पके विषका, मकडीकी लारका और मच्छरादिक सूक्ष्म जन्तुओंका भी भय रहता है। कदाचित् यह कुटुंब आदिको भयंकर रोगका कारण भी हो जाता है।

पुराण आदि मतोंमें भी सामान्य आचारके लिये रात्रिभोजनके त्यागका विधान है; फिर भी उनमें परंपरागत रूढिसे रात्रिभोजन घुस गया है, परंतु ये निषेधक तो हैं ही।

शरीरके अंदर दो प्रकारके कमल हैं, वे सूर्यास्तसे संकुचित हो जाते हैं; इसलिये रात्रिभोजनमें सूक्ष्म जीवोंका भक्षण होनेरूप अहित होता है, जो महारोगका कारण है, ऐसा कई स्थलोंपर आयुर्वेदका भी मत है।

सत्पुरुष तो दो घडी दिन रहने पर ब्यालू करते हैं, और दो घडी दिन चढनेसे पहले किसी भी प्रकारका आहार नहीं करते। रात्रिभोजनके लिये विशेष विचार मुनि-समागमसे या शास्त्रसे जानना चाहिये। इस संबंधमें बहुत सूक्ष्म भेद जानने आवश्यक है। रात्रिमें चारों प्रकारके आहारका त्याग करनेसे महान फल है, यह जिन-वचन है।

शिक्षापाठ २९ : सर्व जीवोंकी रक्षा—भाग १

दया जैसा एक भी धर्म नहीं है। दया ही धर्मका स्वरूप है। जहाँ दया नहीं वहाँ धर्म नहीं।

जगतीतलमें ऐसे अनर्थकारक धर्ममत विद्यमान हैं जो, जीवका हनन करनेमें लेश भी पाप नहीं होता, बहुत तो मनुष्यदेहकी रक्षा करो, ऐसा कहते हैं। इसके अतिरिक्त ये धर्ममतवाले जनूनी और मदांध हैं, और दयाका लेश स्वरूप भी नहीं जानते। यदि ये लोग अपने हृदयपटको प्रकाशमें रखकर विचार करें तो उन्हें अवश्य मालूम होगा कि एक सूक्ष्मसे सूक्ष्म जंतुके हननमें भी महापाप है। जैसा मुझे अपना आत्मा प्रिय है, वैसा उसे भी अपना आत्मा प्रिय है। मैं अपने थोडेसे व्यसनके लिये या लाभके लिये ऐसे असंख्यात जीवोंका बेधडक हनन करता हूँ, यह मुझे कितने अधिक अनंत दुःखका कारण होगा ? उनमें बुद्धिका बीज भी न होनेसे वे ऐसा विचार नहीं कर सकते। वे दिन-रात पाप ही पापमें मग्न रहते हैं। वेद और वैष्णव आदि पंथोंमें भी सूक्ष्म दयासंबंधी कोई विचार देखनेमें नहीं आता, तो भी ये दयाको सर्वथा न समझनेवालोंकी अपेक्षा बहुत उत्तम हैं। स्थूल जीवोंकी रक्षा करनेमें ये ठीक समझे हैं; परंतु इन सबकी अपेक्षा हम कैसे भाग्यशाली हैं कि जहाँ एक पुष्पपंखडीको भी पीडा हो वहाँ पाप है, इस यथार्थ तत्त्वको समझे हैं और यज्ञ-यागादिकी हिंसासे तो सर्वथा विरक्त रहे हैं। जहाँ तक हो सके वहाँ तक जीवोंको बचाते हैं; फिर भी जानबूझकर जीवहिंसा करनेकी हमारी लेशमात्र इच्छा नहीं है। अनंतकाय अभक्ष्यसे प्रायः हम विरक्त ही हैं। इस कालमें यह समस्त पुण्यप्रताप सिद्धार्थ भूपालके पुत्र महावीरके कहे हुए परम तत्त्वबोधके योगबलसे बढा है। मनुष्य ऋद्धि पाते हैं, सुन्दर स्त्री पाते हैं, आज्ञाकारी पुत्र पाते हैं, बडा कुटुंब-परिवार पाते हैं, मानप्रतिष्ठा और अधिकार पाते हैं, और यह सब पाना कुछ दुर्लभ नहीं है; परंतु यथार्थ धर्मतत्त्व या उसकी श्रद्धा या उसका थोडा अंश भी पाना महादुर्लभ है। यह ऋद्धि इत्यादि अविवेकसे पापका कारण होकर अनंत दुःखमें ले जाती है; परंतु यह थोडी श्रद्धाभावना भी उत्तम पदवीपर पहुँचाती है। ऐसा दयाका सत्परिणाम है। हमने धर्मतत्त्वयुक्त कुलमें जन्म पाया है, तो अब यथासंभव हमें विमल दयामय वर्तनको अपनाना चाहिये। वारंवार यह ध्यानमें रखना चाहिये कि सब जीवोंकी रक्षा करनी है। दूसरोंको भी युक्ति-प्रयुक्तिसे ऐसा ही बोध देना चाहिये। सर्व जीवोंकी रक्षा करनेके लिये एक बोधदायक उत्तम युक्ति बुद्धिशाली अभयकुमारने की थी उसे मैं अगले पाठमें कहता हूँ। इसी प्रकार तत्त्वबोधके लिये यौक्तिक न्यायसे अनार्य जैसे धर्ममतवादियोंको शिक्षा देनेका अवसर मिले तो हम कैसे भाग्यशाली !

शिक्षापाठ ३० : सर्व जीवोंकी रक्षा—भाग २

मगध देशकी राजगृही नगरीका अधिराज श्रेणिक एक बार सभा भरकर बैठा था। प्रसंगोपात्त बातचीतके दौरान जो मांसलुब्ध सामंत थे वे बोले कि आजकल मांस विशेष सस्ता है। यह बात अभयकुमारने सुनी। इसलिये उसने उन हिंसक सामंतोंको बोध देनेका निश्चय किया। सायं सभा विसर्जित हुई; राजा अंतःपुरमें गया। उसके बाद अभयकुमार कर्तव्यके लिये जिस-जिसने मांसकी बात कही थी उस-उसके घर गया। जिसके घर गया वहाँ स्वागत करनेके बाद उसने पूछा—"आप किसलिये परिश्रम उठा कर मेरे घर पधारे हैं ?" अभयकुमारने कहा—"महाराजा श्रेणिकको अकस्मात् महारोग उत्पन्न हुआ है। वैद्योंको इकट्ठे करनेपर उन्होंने कहा कि कोमल मनुष्यके कलेजेका सवा टंकभर मांस हो तो यह रोग मिटे। आप राजाके प्रियमान्य हैं, इसलिये आपके यहाँ यह मांस लेने आया हूँ।" सामंतने विचार किया—"कलेजेका मांस मैं मरे बिना किस तरह दे सकूँ ?" इसलिये अभयकुमारसे पूछा—"महाराज, यह तो कैसे हो सके ?" ऐसा कहनेके बाद अपनी बात राजाके आगे प्रगट न करनेके लिये अभयकुमारको बहुतसा द्रव्य [1]'दिया जिसे वह' अभयकुमार लेता गया। इस प्रकार अभयकुमार सभी

१. द्वि॰आ॰पाठा॰ 'प्रत्येक सामंत देता गया और वह'

सामंतोंके घर फिर आया। सभी मांस न दे सके और अपनी बातको छुपानेके लिये उन्होंने द्रव्य दिया।

फिर जब दूसरे दिन सभा मिली तब सभी सामंत अपने-अपने आसनपर आकर बैठे। राजा भी सिंहासनपर विराजमान था। सामंत आ-आकर राजासे कलकी कुशल पूछने लगे। राजा इस बातसे विस्मित हुआ। अभयकुमारकी ओर देखा। तब अभयकुमार बोला—"महाराज! कल आपके सामंत सभामें बोले थे कि आजकल मांस सस्ता मिलता है, इसलिये मैं उनके यहाँ मांस लेने गया था; तब सबने मुझे बहुत द्रव्य दिया; परंतु कलेजेका सवा पैसा भर मांस नहीं दिया। तब यह मांस सस्ता या महँगा?" यह सुनकर सब सामंत शरमसे नीचे देखने लगे; कोई कुछ बोल न सका। फिर अभय-कुमारने कहा—"यह मैंने कुछ आपको दुःख देनेके लिये नहीं किया परंतु बोध देनेके लिये किया है। यदि हमें अपने शरीरका मांस देना पडे तो अनंत भय होता है, क्योंकि हमें अपनी देह प्रिय है। इसी प्रकार जिस जीवका वह मांस होगा उसे भी अपना जीव प्यारा होगा। जैसे हम अमूल्य वस्तुएँ देकर भी अपनी देहको बचाते हैं वैसे ही उन बिचारे पामर प्राणियोंको भी होना चाहिये। हम समझवाले बोलते-चालते प्राणी हैं, वे बिचारे अवाचक और नासमझ हैं। उन्हें मौतका दुःख दें यह कैसा पापका प्रबल कारण है? हमें इस वचनको निरंतर ध्यानमें रखना चाहिये कि सब प्राणियोंको अपना जीव प्यारा है; और सब जीवोंकी रक्षा करना इसके जैसा एक भी धर्म नहीं है।" अभयकुमारके भाषणसे श्रेणिक महाराजा संतुष्ट हुए, सभी सामंत भी प्रतिबुद्ध हुए। उन्होंने उस दिनसे मांस न खानेकी प्रतिज्ञा की; क्योंकि एक तो यह अभक्ष्य है, और किसी जीवको मारे बिना मिलता नहीं है, यह बडा अधर्म है। इसलिये अभय मंत्रीका कथन सुनकर उन्होंने अभयदानमें ध्यान दिया, जो आत्माके परम सुखका कारण है।

शिक्षापाठ ३१ : प्रत्याख्यान

'पच्चक्खान' शब्द वारंवार तुम्हारे सुननेमें आया है। इसका मूल शब्द 'प्रत्याख्यान' है, और यह अमुक वस्तुकी ओर चित्त न जाने देनेका जो नियम करना उसके लिये प्रयुक्त होता है। प्रत्याख्यान करनेका हेतु अति उत्तम तथा सूक्ष्म है। प्रत्याख्यान न करनेसे चाहे किसी वस्तुको न खाओ अथवा उसका भोग न करो तो भी उससे संवर नहीं होता, क्योंकि तत्त्वरूपसे इच्छाका निरोध नहीं किया है। रातमें हम भोजन न करते हों; परंतु उसका यदि प्रत्याख्यानरूपसे नियम न किया हो तो वह फल नहीं देता, क्योंकि अपनी इच्छाके द्वार खुले रहते हैं। जैसे घरका द्वार खुला हो और श्वान आदि प्राणी या मनुष्य भीतर चले आते हैं वैसे ही इच्छाके द्वार खुले हों तो उनमें कर्म प्रवेश करते हैं। अर्थात् उस ओर अपने विचार यथेच्छरूपसे जाते हैं; यह कर्मबंधनका कारण है। और यदि प्रत्याख्यान हो तो फिर उस ओर दृष्टि करनेकी इच्छा नहीं होती। जैसे हम जानते हैं कि पीठका मध्य भाग हमसे देखा नहीं जा सकता; इसलिये उस ओर हम दृष्टि भी नहीं करते; वैसे ही प्रत्याख्यान करनेसे अमुक वस्तु खायी या भोगी नहीं जा सकती; इसलिये उस ओर अपना ध्यान स्वाभाविकरूपसे नहीं जाता। यह कर्मोंको रोकनेके लिये बीचमें दुर्गरूप हो जाता है। प्रत्याख्यान करनेके बाद विस्मृति आदिके कारण कोई दोष लग जाये तो उसके निवारणके लिये महात्माओंने प्रायश्चित्त भी बताये हैं।

प्रत्याख्यानसे एक दूसरा भी बडा लाभ है; वह यह कि अमुक वस्तुओंमें ही हमारा ध्यान रहता है, बाकी सब वस्तुओंका त्याग हो जाता है। जिस-जिस वस्तुका त्याग किया है, उस-उस वस्तुके संबंधमें फिर विशेष विचार, उसका ग्रहण करना, रखना अथवा ऐसी कोई उपाधि नहीं रहती। इससे मन बहुत

विशालताको पाकर नियमरूपी सडकपर चला जाता है। अश्व यदि लगाममें आ जाता है तो फिर चाहे जैसा प्रबल होनेपर भी उसे इच्छित रास्तेसे ले जाया जाता है; वैसे ही मन इस नियमरूपी लगाममें आनेके बाद चाहे जैसी शुभ राहमें ले जाया जाता है; और उसमें वारंवार पर्यटन करानेसे वह एकाग्र, विचारशील और विवेकी हो जाता है। मनका आनंद शरीरको भी नीरोग बनाता है। और अभक्ष्य, अनंतकाय, परस्त्री आदिका नियम करनेसे भी शरीर नीरोग रह सकता है। मादक पदार्थ मनको उलटे रास्तेपर ले जाते हैं, परंतु प्रत्याख्यानसे मन वहाँ जाता हुआ रुकता है; इससे वह विमल होता है।

प्रत्याख्यान यह कैसी उत्तम नियम पालनेकी प्रतिज्ञा है, यह बात इस परसे तुम समझे होंगे। विशेष सद्गुरुके मुखसे और शास्त्रावलोकनसे समझनेका मैं बोध करता हूँ।

शिक्षापाठ ३२ : विनयसे तत्त्वकी सिद्धि है।

राजगृही नगरीके राज्यासनपर जब श्रेणिक राजा बिराजमान था तब उस नगरीमें एक चांडाल रहता था। एक बार उस चांडालकी स्त्रीको गर्भ रहा तब उसे आम खानेकी इच्छा उत्पन्न हुई। उसने आम ला देनेके लिये चांडालसे कहा। चांडालने कहा, "यह आमका मौसम नहीं है, इसलिये मैं निरुपाय हूँ; नहीं तो मैं आम चाहे जितने ऊँचे स्थानपर हों वहाँसे अपनी विद्याके बलसे लाकर तेरी इच्छा पूर्ण करूँ।" चांडालीने कहा, "राजाकी महारानीके बागमें एक असमयमें आम देनेवाला आम्रवृक्ष है, उसपर अभी आम लचक रहे होंगे, इसलिये वहाँ जाकर आम ले आओ।" अपनी स्त्रीकी इच्छा पूरी करनेके लिये चांडाल उस बागमें गया। गुप्तरूपसे आम्रवृक्षके पास जाकर मन्त्र पढकर उसे झुकाया और आम तोड लिये। दूसरे मंत्रसे उसे जैसाका तैसा कर दिया। बादमें वह घर आया और अपनी स्त्रीकी इच्छापूर्तिके लिये निरंतर वह चांडाल विद्याके बलसे वहाँसे आम लाने लगा। एक दिन फिरते-फिरते मालीकी दृष्टि आम्रवृक्षकी ओर गयी। आमोंकी चोरी हुई देखकर उसने जाकर श्रेणिक राजाके सामने नम्रतापूर्वक कहा। श्रेणिककी आज्ञासे अभयकुमार नामके बुद्धिशाली मंत्रीने युक्तिसे उस चांडालको खोज निकाला। चांडालको अपने सामने बुलाकर पूछा, "इतने सारे मनुष्य बागमें रहते हैं, फिर भी तू किस तरह चढकर आम ले गया कि यह बात किसीके भाँपनेमें भी न आयी? सो कह।" चांडालने कहा, "आप मेरा अपराध क्षमा करे। मैं सच कह देता हूँ कि मेरे पास एक विद्या है, उसके प्रभावसे मैं उन आमोंको ले सका।" अभयकुमारने कहा, "मुझसे तो क्षमा नहीं दी जा सकती; परंतु महाराजा श्रेणिकको तू यह विद्या दे तो उन्हें ऐसी विद्या लेनेकी अभिलाषा होनेसे तेरे उपकार के बदलेमें मैं अपराध क्षमा करा सकूँ।" चांडालने वैसा करना स्वीकार किया। फिर अभयकुमारने चांडालको जहाँ श्रेणिक राजा सिंहासनपर बैठा था वहाँ लाकर सामने खडा रखा; और सारी बात राजाको कह सुनायी। इस बातको राजाने स्वीकार किया। फिर चांडाल सामने खडे रहकर थरथराते पैरोंसे श्रेणिकको उस विद्याका बोध देने लगा; परंतु वह बोध लगा नहीं। तुरन्त खडे होकर अभयकुमार बोले, "महाराज! आपको यदि यह विद्या अवश्य सीखनी हो तो सामने आकर खडे रहें, और इसे सिंहासन दें।" राजाने विद्या लेनेके लिये वैसा किया तो तत्काल विद्या सिद्ध हो गयी।

यह बात केवल बोध लेनेके लिये है। एक चांडालकी भी विनय किये बिना श्रेणिक जैसे राजाको विद्या सिद्ध न हुई, तो इसमेंसे यह तत्त्व ग्रहण करना है कि, सद्विद्याको सिद्ध करनेके लिये विनय करनी चाहिये। आत्मविद्या पानेके लिये यदि हम निर्ग्रंथ गुरुकी विनय करें तो कैसा मंगलदायक हो!

विनय यह उत्तम वशीकरण है। भगवानने उत्तराध्ययनमें विनयको धर्मका मूल कहकर वर्णित किया है। गुरुकी, मुनिकी, विद्वानकी, माता-पिताकी, और अपनेसे बडोंकी विनय करनी यह अपनी उत्तमताका कारण है।

शिक्षापाठ ३३ : सुदर्शन सेठ

प्राचीनकालमें शुद्ध एकपत्नीव्रतको पालनेवाले असंख्य पुरुष हो गये हैं; उनमेंसे संकट सहन करके प्रसिद्ध होनेवाला सुदर्शन नामका एक सत्पुरुष भी है। वह धनाढ्य, सुन्दर मुखाकृतिवाला, कांतिमान् और युवावस्थामें था। जिस नगरमें वह रहता था, उस नगरके राजदरबारके सामनेसे किसी कार्य-प्रसंगके कारण उसे निकलना पडा। वह जब वहाँसे निकला तब राजाकी अभया नामकी रानी अपने आवासके झरोखेमें बैठी थी। वहाँसे सुदर्शनकी ओर उसकी दृष्टि गयी। उसका उत्तम रूप और काया देखकर उसका मन ललचाया। एक अनुचरीको भेजकर कपटभावसे निर्मल कारण बताकर सुदर्शनको ऊपर बुलाया। अनेक प्रकारकी बातचीत करनेके बाद अभयाने सुदर्शनको भोग भोगनेका आमंत्रण दिया। सुदर्शनने बहुत-सा उपदेश दिया तो भी उसका मन शांत नहीं हुआ। आखिर तंग आकर सुदर्शनने युक्तिसे कहा, "बहिन! मैं पुरुषत्वहीन हूँ!" तो भी रानीने अनेक प्रकारके हावभाव किये। परंतु उन सारी कामचेष्टाओंसे सुदर्शन विचलित नहीं हुआ; इससे तंग आकर रानीने उसे जाने दिया।

एक बार उस नगरमें उत्सव था, इसलिये नगरके बाहर नगरजन आनंदसे इधर-उधर घूमते थे। धूमधाम मची हुई थी। सुदर्शन सेठके छः देवकुमार जैसे पुत्र भी वहाँ आये थे। अभया रानी कपिला नामकी दासीके साथ ठाठबाटसे वहाँ आयी थी। सुदर्शनके देवपुतले जैसे छः पुत्र उसके देखनेमें आये। उसने कपिलासे पूछा, "ऐसे रम्य पुत्र किसके हैं?" कपिलाने सुदर्शन सेठका नाम लिया। यह नाम सुनते ही रानीकी छातीमें मानो कटार भोंकी गयी, उसे घातक चोट लगी। सारी धूमधाम बीत जानेके बाद माया-कथन गढकर अभया और उसकी दासीने मिलकर राजासे कहा—"आप मानते होंगे कि मेरे राज्यमें न्याय और नीतिका प्रवर्तन है, दुर्जनोंसे मेरी प्रजा दुःखी नहीं है; परंतु यह सब मिथ्या है। अंतःपुरमें भी दुर्जन प्रवेश करें यहाँ तक अभी अंधेर है! तो फिर दूसरे स्थानोंके लिये तो पूछना ही क्या? आपके नगरके सुदर्शन नामके सेठने मुझे भोगका आमंत्रण दिया; न कहने योग्य कथन मुझे सुनने पडे; परंतु मैंने उसका तिरस्कार किया। इससे विशेष अंधेर कौनसा कहा जाय!" राजा मूलतः कानके कच्चे होते हैं, यह बात तो यद्यपि सर्वमान्य ही है, उसमें फिर स्त्रीके मायावी मधुर वचन क्या असर न करें? तत्ते तेलमें ठंडे जल जैसे वचनोंसे राजा क्रोधायमान हुआ। उसने सुदर्शनको शूलीपर चढा देनेकी तत्काल आज्ञा कर दी, और तदनुसार सब कुछ हो भी गया। मात्र सुदर्शनके शूली पर चढनेकी देर थी।

चाहे जो हो परंतु [1]'सृष्टिके' दिव्य भंडारमें उजाला है। सत्यका प्रभाव ढका नहीं रहता। सुदर्शन को शूलीपर बिठाया कि शूली मिट कर जगमगाता हुआ सोनेका सिंहासन हो गया, और देवदुंदुभिका नाद हुआ, सर्वत्र आनंद छा गया। सुदर्शनका सत्य शील विश्वमंडलमें झलक उठा। सत्य शीलकी सदा जय है। शील और सुदर्शनकी उत्तम दृढता ये दोनों आत्माको पवित्र श्रेणिपर चढाते है!

---

१. द्वि० आ० पाठा०-'जगतके'

शिक्षापाठ ३४ : ब्रह्मचर्यसंबंधी सुभाषित

(दोहे)

*नीरखीने नवयौवना, लेश न विषयनिदान;
गणे काष्ठनी पूतळी, ते भगवान समान. १
आ सघळा संसारनी, रमणी नायकरूप;
ए त्यागी, त्याग्युं बधुं, केवळ शोकस्वरूप. २
एक विषयने जीततां, जीत्यो सौ संसार;
नृपति जीततां जीतिये, दळ, पुर ने अधिकार. ३
विषयरूप अंकुरथी, टळे ज्ञान ने ध्यान;
लेश मदिरापानथी, छाके ज्यम अज्ञान. ४
जे नव वाड विशुद्धथी, धरे शियल सुखदाई;
भव तेनो लव पछी रहे, तत्त्ववचन ए भाई. ५
सुंदर शियल सुरतरु, मन वाणी ने देह;
जे नरनारी सेवशे, अनुपम फळ ले तेह. ६
पात्र विना वस्तु न रहे, पात्रे आत्मिक ज्ञान;
पात्र थवा सेवो सदा, ब्रह्मचर्य मतिमान. ७

शिक्षापाठ ३५ : नवकारमंत्र

नमो अरिहंताणं।
नमो सिद्धाणं।
नमो आयरियाणं।
नमो उवज्झायाणं।
नमो लोए सव्वसाहूणं।

इन पवित्र वाक्योंको निर्ग्रंथप्रवचनमें नवकारमंत्र, नमस्कार-मंत्र या पंचपरमेष्ठीमंत्र कहते हैं।

अर्हत भगवानके बारह गुण, सिद्ध भगवानके आठ गुण, आचार्यके छत्तीस गुण, उपाध्यायके पच्चीस गुण और साधुके सत्ताईस गुण मिलकर एक सौ आठ गुण होते हैं। अंगूठेके बिना बाकीकी चार अंगुलियोंकी बारह पोरें होती है, और इनसे इन गुणोंका चिंतन करनेकी योजना होनेसे बारहको नौसे गुणा करने पर १०८ होते हैं। इसलिये नवकार कहनेमें ऐसा सूचन भी गर्भित मालूम होता है कि हे

---

*भावार्थ—नवयौवनाको देखकर जिसके मनमें विषयविकारका लेश भी उदय नहीं होता और जो उसे काठकी पुतली समझता है, वह भगवानके समान है॥१॥ इस सारे संसारकी नायकरूप रमणी सर्वथा दुःखस्वरूप है; जिसने इसका त्याग कर दिया उसने सब कुछ त्याग दिया॥२॥ जैसे एक नृपतिको जीतनेसे उसका सैन्य, नगर और अधिकार जीते जाते हैं, वैसे एक विषयको जीतनेसे सारा संसार जीता जाता है॥३॥ जैसे लेश भर मदिरापानसे मनुष्य ज्ञान खोकर नशेसे उन्मत्त हो जाता है, वैसे थोडी-सी विषयवासनासे ज्ञान और ध्यान नष्ट हो जाते हैं॥४॥ जो नौ बाडपूर्वक विशुद्ध एवं सुखदायी ब्रह्मचर्यका पालन करता है, उसका भवभ्रमण लवलेश रह जाता है; हे भाई! यह तत्त्ववचन है॥५॥ जो नर-नारी मन, वचन और कायासे शीलरूप सुन्दर कल्पवृक्षका सेवन करेंगे वे अनुपम फलको पायेंगे॥६॥ पात्रके बिना वस्तु नहीं रहती, पात्रमें ही आत्मज्ञान होता है। हे मतिमान मनुष्यों! पात्र बननेके लिये सदा ब्रह्मचर्यका सेवन करो॥७॥

भव्य ! अपनी अंगुलियोंकी पोरोंसे नवकार मंत्र नौ बार गिन। 'कार' शब्दका अर्थ 'करनेवाला' भी होता है। बारहको नौसे गुणा करनेपर जितने हों उतने गुणोंसे भरा हुआ मंत्र, इस प्रकार नवकारमंत्रके तौरपर इसका अर्थ हो सकता है। और पंचपरमेष्ठी अर्थात् इस सकल जगतमें पाँच वस्तुएँ परमोत्कृष्ट है, वे कौन-कौनसी ? तो कह बतायीं कि अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इन्हें नमस्कार करनेका जो मंत्र वह परमेष्ठीमंत्र और पाँच परमेष्ठियोंको एक साथ नमस्कार होनेसे 'पंचपरमेष्ठीमंत्र' ऐसा शब्द हुआ। यह मंत्र अनादिसिद्ध माना जाता है, कारण कि पंचपरमेष्ठी अनादिसिद्ध है अर्थात् ये पाँचों पात्र आदिरूप नहीं है। ये प्रवाहसे अनादि हैं, और उसके जपनेवाले भी अनादिसिद्ध हैं, इसलिये यह जाप भी अनादिसिद्ध ठहरता है।

प्रश्न—इस पंचपरमेष्ठीमंत्रको परिपूर्ण जाननेसे मनुष्य उत्तम गति पाता है, ऐसा सत्पुरुष कहते हैं। इस विषयमें आपका क्या मत है ?

उत्तर—यह कहना न्यायपूर्वक है, ऐसा मैं मानता हूँ।

प्रश्न—इसे किस कारणसे न्यायपूर्वक कहा जा सकता है ?

उत्तर—हाँ। यह मैं तुम्हें समझाता हूँ—मनके निग्रहके लिये एक तो सर्वोत्तम जगद्भूषणके सत्य गुणोंका यह चिंतन है तथा तत्त्वसे देखनेपर अर्हत्स्वरूप, सिद्धस्वरूप, आचार्यस्वरूप, उपाध्यायस्वरूप और साधुस्वरूप, इनका विवेकपूर्वक विचार करनेका भी यह सूचक है। क्योंकि वे किस कारणसे पूजने योग्य है ? ऐसा विचार करनेपर इनके स्वरूप, गुण इत्यादिका विचार करनेकी सत्पुरुषको तो सच्ची आवश्यकता है। अब कहो कि इससे यह मंत्र कितना कल्याणकारक है ?

प्रश्नकर्ता—सत्पुरुष नवकारमंत्रको मोक्षका कारण कहते हैं, इसे इस व्याख्यानसे मैं भी मान्य रखता हूँ।

अर्हत् भगवान, सिद्ध भगवान, आचार्य, उपाध्याय और साधु इनका एक एक प्रथम अक्षर लेनेसे "असिआउसा" यह महान वाक्य बनता है। जिसका ॐ ऐसा योगबिंदुका स्वरूप होता है। इसलिये हमें इस मंत्रका अवश्य ही विमलभावसे जाप करना चाहिये।

शिक्षापाठ ३६: अनानुपूर्वी

१	२	३	४	५
२	१	३	४	५
१	३	२	४	५
३	१	२	४	५
२	३	१	४	५
३	२	१	४	५

पिता—इस प्रकारके कोष्ठकसे भरी हुई एक छोटी पुस्तक है उसे तूने देखा है ?

पुत्र—हाँ, पिताजी।

पिता—इसमें उलटे-सीधे अंक रखे हैं उसका कुछ भी कारण तेरी समझमें आता है ?

पुत्र—नहीं पिताजी, मेरी समझमें नहीं आता। इसलिये आप वह कारण बताइये।

पिता—पुत्र ! यह प्रत्यक्ष है कि मन एक बहुत चंचल वस्तु है, और इसे एकाग्र करना अत्यंत विकट

है। वह जब तक एकाग्र नहीं होता तब तक आत्ममलिनता नहीं जाती, पापके विचार कम नहीं होते। इस एकाग्रताके लिये बारह प्रतिज्ञा आदि अनेक महान साधन भगवानने कहे हैं। मनकी एकाग्रतासे महा योगकी श्रेणिपर चढनेके लिये और उसे अनेक प्रकारसे निर्मल करनेके लिये सत्पुरुषोंने यह एक कोष्ठकावली बनायी है। इसमें पहले पंचपरमेष्ठी मंत्रके पाँच अंक रखे हैं; और फिर लोम-विलोमस्वरूपमें लक्ष्यबद्ध इन्हीं पाँच अंकोंको रखकर भिन्न-भिन्न प्रकारसे कोष्ठक बनाये हैं। ऐसा करनेका कारण भी यही है कि मनकी एकाग्रता प्राप्त करके निर्जरा की जा सके।

पुत्र—पिताजी, अनुक्रमसे लेनेसे ऐसा क्यों नहीं हो सकता ?

पिता—यदि लोमविलोम हो तो उन्हें व्यवस्थित करते जाना पडे और नाम याद करते जाना पडे। पाँचका अंक रखनेके बाद दोका अंक आये कि 'नमो लोए सव्वसाहूणं' के बाद 'नमो अरिहंताण' यह वाक्य छोडकर 'नमो सिद्धाणं' यह वाक्य याद करना पडे। इस प्रकार पुनः पुनः लक्ष्यकी दृढता रखनेसे मन एकाग्रतापर पहुँचता है। यदि ये अंक अनुक्रमबद्ध हों तो वैसा नहीं हो सकता; क्योंकि विचार करना नही पडता। इस सूक्ष्म समयमें मन परमेष्ठीमंत्रमेंसे निकलकर संसारतंत्रकी खटपटमें जा पडता है; और कदाचित् धर्म करते हुए अनर्थ भी कर डालता है, इसलिये सत्पुरुषोंने इस अनानुपूर्वीकी योजना की है; यह बहुत सुन्दर और आत्मशांतिको देनेवाली है।

शिक्षापाठ ३७ : सामायिकविचार—भाग १

आत्मशक्तिका प्रकाश करनेवाला, सम्यग्ज्ञानदर्शनका उदय करनेवाला, शुद्ध समाधिभावमें प्रवेश करानेवाला, निर्जराका अमूल्य लाभ देनेवाला, रागद्वेषमें मध्यस्थबुद्धि करनेवाला ऐसा सामायिक नामका शिक्षाव्रत है। सामायिक शब्दकी व्युत्पत्ति सम+आय+इक इन शब्दोंसे होती है। 'सम' अर्थात् रागद्वेषरहित मध्यस्थ परिणाम, 'आय' अर्थात् उस समभावसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञानदर्शनचारित्ररूप मोक्षमार्गका लाभ, और 'इक' का अर्थ भाव होता है। अर्थात् जिससे मोक्षके मार्गका लाभदायक भाव उत्पन्न हो वह 'सामायिक'। आर्त्त और रौद्र इन दो प्रकारके ध्यानका त्याग करके, मन, वचन और कायाके पाप भावोंको रोककर विवेकी श्रावक सामायिक करता है।

मनके पुद्गल [1]दोरंगे है। सामायिकमें जब विशुद्ध परिणामसे रहना कहा है तब भी यह मन आकाश-पातालकी योजनाएँ बनाया करता है। इसी तरह भूल, विस्मृति, उन्माद इत्यादिसे वचनकायामें भी दूषण आनेसे सामायिकमें दोष लगता है। मन, वचन और कायाके मिलकर बत्तीस दोष उत्पन्न होते हैं। दस मनके, दस वचनके और बारह कायाके इस प्रकार बत्तीस दोषोंको जानना आवश्यक है। जिन्हें जाननेसे मन सावधान रहता है।

मनके दस दोष कहता हूँ—

१. **अविवेकदोष** : सामायिकका स्वरूप न जाननेसे मनमें ऐसा विचार करे कि इससे क्या फल होनेवाला है ? इससे तो कौन तरा होगा ? ऐसे विकल्पोंका नाम 'अविवेकदोष' है।

२. **यशोवांछादोष** : स्वयं सामायिक करता है यह अन्य मनुष्य जाने तो प्रशंसा करे, इस इच्छासे सामायिक करे इत्यादि, यह 'यशोवांछादोष' है।

३. **धनवांछादोष** : धनकी इच्छासे सामायिक करना, यह 'धनवांछादोष' है।

---

१. द्वि० आ० पाठा० 'तरंगी'

४. गर्वदोष : मुझे लोग धर्मी कहते हैं और मैं सामायिक भी वैसी ही करता हूँ, यह 'गर्वदोष' है।

५. भयदोष : मैं श्रावक कुलमें जन्मा हूँ, मुझे लोग बडा समझकर सम्मान देते हैं; और यदि मैं सामायिक नहीं करूँ तो कहेंगे कि इतना भी नहीं करता, इससे निंदा होगी, यह 'भयदोष' है।

६. निदानदोष : सामायिक करके उसके फलसे धन, स्त्री, पुत्र आदि प्राप्त करनेकी इच्छा करना, यह 'निदानदोष' है।

७. संशयदोष : सामायिकका परिणाम होगा या नहीं ? यह विकल्प करना 'संशयदोष' है।

८. कषायदोष : क्रोध आदिसे सामायिक करने बैठ जाय अथवा किसी कारणसे फिर क्रोध, मान, माया और लोभमें वृत्ति रखें, यह 'कषायदोष' है।

९. अविनयदोष : विनयरहित सामायिक करे, यह 'अविनयदोष' है।

१०. अबहुमानदोष : भक्तिभाव और उमंगपूर्वक सामायिक न करे, यह 'अबहुमानदोष' है।

शिक्षापाठ ३८ : सामायिकविचार—भाग २

मनके दस दोष कहे; अब वचनके दस दोष कहता हूँ :—

१. कुवचनदोष : सामायिकमें कुवचन बोलना, यह 'कुवचनदोष' है।

२. सहसात्कारदोष : सामायिकमें साहससे अविचारपूर्वक वाक्य बोलना, यह 'सहसात्कारदोष' है।

३. असदारोपणदोष : दूसरेको खोटा उपदेश दे, यह 'असदारोपणदोष' है।

४. निरपेक्षदोष : सामायिकमें शास्त्रकी अपेक्षा बिना वाक्य बोले, यह 'निरपेक्षदोष' है।

५. संक्षेपदोष : सूत्रके पाठ इत्यादि संक्षेपमें बोल डाले, और यथार्थ उच्चारण नहीं करे, यह 'संक्षेपदोष' है।

६. क्लेशदोष : किसीसे झगडा करे, यह 'क्लेशदोष' है।

७. विकथादोष : चार प्रकारकी विकथा ले बैठे, यह 'विकथादोष' है।

८. हास्यदोष : सामायिकमें किसीकी हंसी, मसखरी करे, यह 'हास्यदोष' है।

९. अशुद्धदोष : सामायिकमें सूत्रपाठ न्यूनाधिक और अशुद्ध बोले, यह 'अशुद्धदोष' है।

१०. मुणमुणदोष : सामायिकमें गडबडीसे सूत्रपाठ बोले, जिसे स्वयं भी पूरा मुश्किलसे समझ सके, यह 'मुणमुणदोष' है।

ये वचनके दस दोष कहे; अब कायाके बारह दोष कहता हूँ :

१. अयोग्यासनदोष : सामायिकमें पैरपर पैर चढाकर बैठे यह गुर्वादिकका अविनयरूप आसन है, इसलिये यह पहला 'अयोग्यासनदोष' है।

२. चलासनदोष : डगमगाते आसनसे बैठकर सामायिक करे, अथवा जहाँसे वारंवार उठना पडे ऐसे आसनपर बैठे यह 'चलासनदोष' है।

३. चलदृष्टिदोष : कायोत्सर्गमें आँखें चंचल रखे, यह 'चलदृष्टिदोष' है।

४. सावद्यक्रियादोष : सामायिकमें कोई पापक्रिया या उसकी संज्ञा करे, यह 'सावद्यक्रियादोष' है।

५. आलंबनदोष : भीत आदिका सहारा लेकर बैठे, इससे वहाँ बैठे हुए जन्तु आदिका नाश हो और खुदको प्रमाद हो, यह 'आलंबनदोष' है।

६. आकुंचनप्रसारणदोष : हाथ-पैरको सिकोडे, लम्बा करे आदि, यह 'आकुंचनप्रसारणदोष' है।

७. आलसदोष : अंगको मरोडे, उँगलियाँ चटकावे आदि, यह 'आलसदोष' है।

८. **मोटनदोष** : उंगली आदिको टेढी करे, उसे चटकावे यह 'मोटनदोष' है।

९. **मलदोष** : घिस-घिस कर सामायिकमें खुजाकर मैल उतारे यह 'मलदोष' है।

१०. **विमासणदोष** : गलेमें हाथ डालकर बैठे इत्यादि, यह 'विमासणदोष' है।

११. **निद्रादोष** : सामायिकमें ऊँघ आना, यह 'निद्रादोष' है।

१२. **वस्त्रसंकोचनदोष** : सामायिकमें ठंड आदिकी भीतिसे वस्त्रसे शरीरको सिकोडे, यह 'वस्त्र-संकोचनदोष' है।

इन बत्तीस दूषणोंसे रहित सामायिक करनी चाहिये और पाँच अतिचार टालने चाहिये।

शिक्षापाठ ३९ : सामायिकविचार–भाग ३

एकाग्रता और सावधानीके बिना इन बत्तीस दोषोंमेंसे कोई न कोई दोष लग ही जाते हैं। विज्ञानवेत्ताओंने सामायिकका जघन्य प्रमाण दो घडीका बाँधा है। यह व्रत सावधानीपूर्वक करनेसे परम शांति देता है। कितने ही लोगोंका यह दो घडीका काल जब नहीं बीतता तब वे बहुत तंग आ जाते हैं। सामायिकमें निठल्ले बैठनेसे काल बीते भी कहाँसे ? आधुनिक कालमें सावधानीसे सामायिक करनेवाले बहुत ही थोडे हैं। प्रतिक्रमण सामायिकके साथ करना होता है तब तो वक्त गुजरना सुगम पडता है। यद्यपि ऐसे पामर लक्षपूर्वक प्रतिक्रमण नहीं कर सकते, फिर भी केवल निठल्ले बैठनेकी अपेक्षा इसमें जरूर कुछ अंतर पडता है। जिन्हें सामायिक भी पूरी नहीं आती वे बिचारे फिर सामायिकमें बहुत व्याकुल हो जाते हैं। बहुतसे बहुलकर्मी इस अवसरमें व्यवहारके प्रपंच भी गढ रखते हैं। इससे सामायिक बहुत दूषित होती है।

विधिपूर्वक सामायिक न हो यह बहुत खेदकारक और कर्मकी बहुलता है। साठ घडीका अहोरात्र व्यर्थ चला जाता है। असंख्यात दिनोंसे भरपूर अनंत कालचक्र व्यतीत करते हुए भी जो सार्थक नहीं हुआ उसे दो घडीकी विशुद्ध सामायिक सार्थक कर देती है। लक्षपूर्वक सामायिक होनेके लिये सामायिकमें प्रवेश करनेके बाद चार लोगस्ससे अधिक लोगस्सका कायोत्सर्ग करके चित्तकी कुछ स्वस्थता लायें। फिर सूत्रपाठ या उत्तम ग्रंथका मनन करना। वैराग्यके उत्तम काव्य बोलना। पिछले अध्ययन किये हुएका स्मरण कर जाना। नूतन अभ्यास हो सके तो करना। किसीको शास्त्राधारसे बोध देना। इस तरह सामायिकका काल व्यतीत करना। यदि मुनिराजका समागम हो तो आगमवाणी सुनना और उसका मनन करना; वैसा न हो और शास्त्रपरिचय न हो तो विचक्षण अभ्यासीसे वैराग्यबोधक कथन श्रवण करना; अथवा कुछ अभ्यास करना। यह सारा योग न हो तो कुछ समय लक्षपूर्वक कायोत्सर्गमें लगाना, और कुछ समय महापुरुषोंकी चरित्रकथामें उपयोगपूर्वक लगाना। परंतु जैसे बने वैसे विवेक और उत्साहसे सामायिकका काल व्यतीत करना। कोई साधन न हो तो पंचपरमेष्ठीमंत्रका जप ही उत्साहपूर्वक करना। परंतु कालको व्यर्थ नहीं जाने देना। धैर्यसे, शांतिसे और यत्नासे सामायिक करना। जैसे बने वैसे सामायिकमें शास्त्रपरिचय बढाना।

साठ घडीके वक्तमेंसे दो घडी अवश्य बचाकर सामायिक तो सद्भावसे करना।

शिक्षापाठ ४० : प्रतिक्रमण विचार

प्रतिक्रमण अर्थात् सामने जाना–स्मरण कर जाना–फिरसे देख जाना–ऐसा इसका अर्थ हो सकता

है। [1]'जिस दिन जिस समय प्रतिक्रमण करनेके लिये बैठे उस समयसे पहले उस दिन जो जो दोष हुए हैं उन्हें एकके बाद एक देख जाना और उनका पश्चात्ताप करना या दोषोंका स्मरण कर जाना इत्यादि सामान्य अर्थ भी है।'

उत्तम मुनि और भाविक श्रावक संध्याकालमें और रात्रिके पिछले भागमें, दिन और रात्रिमें यों अनुक्रमसे हुए दोषोंका पश्चात्ताप या क्षमापना करते हैं, इसका नाम यहाँ प्रतिक्रमण है। यह प्रतिक्रमण हमें भी अवश्य करना चाहिये; क्योंकि आत्मा मन, वचन और कायाके योगसे अनेक प्रकारके कर्म बाँधता है। प्रतिक्रमणसूत्रमें इसका दोहन किया हुआ है; जिससे दिन-रातमें हुए पापोंका पश्चात्ताप उसके द्वारा हो सकता है। शुद्ध भावसे पश्चात्ताप करनेसे लेश पाप होते हुए परलोकभय और अनुकंपा प्रगट होते हैं; आत्मा कोमल होता है। त्याग करने योग्य वस्तुका विवेक आता जाता है। भगवानकी साक्षीसे, अज्ञान इत्यादि जिन जिन दोषोंका विस्मरण हुआ हो उनका पश्चात्ताप भी हो सकता है। इस प्रकार यह निर्जरा करनेका उत्तम साधन है।

इसका 'आवश्यक' ऐसा भी नाम है। आवश्यक अर्थात् अवश्य करने योग्य; यह सत्य है। इससे आत्माकी मलिनता दूर होती है, इसलिये अवश्य करने योग्य ही है।

सायंकालमें जो प्रतिक्रमण किया जाता है, उसका नाम 'देवसिय पडिक्कमण' अर्थात् दिवससंबंधी पापका पश्चात्ताप; और रात्रिके पिछले भागमें जो प्रतिक्रमण किया जाता है, वह 'राइय पडिक्कमण' कहलाता है। 'देवसिय' और 'राइय' ये प्राकृत भाषाके शब्द हैं। पक्षमें किया जानेवाला प्रतिक्रमण पाक्षिक और संवत्सरमें किया जानेवाला प्रतिक्रमण सांवत्सरिक कहलाता है। सत्पुरुषोंने योजनासे बाँधा हुआ यह सुन्दर नियम है।

कितने ही सामान्य बुद्धिमान ऐसा कहते हैं कि दिन और रात्रिका सबेरे प्रायश्चित्तरूप प्रतिक्रमण किया हो तो कुछ हानि नहीं है। परन्तु यह कहना प्रामाणिक नहीं है। रात्रिमें यदि अकस्मात् कोई कारण या मृत्यु हो जाये तो दिवससंबंधी भी रह जाये।

प्रतिक्रमणसूत्रकी योजना बहुत सुन्दर है। इसके मूल तत्त्व बहुत उत्तम है। जैसे बने वैसे प्रतिक्रमण धैर्यसे, समझमें आये ऐसी भाषासे, शांतिसे, मनकी एकाग्रतासे और यत्नापूर्वक करना चाहिये।

शिक्षापाठ ४१ : भिखारीका खेद—भाग १

एक पामर भिखारी जंगलमें भटकता था। वहाँ उसे भूख लगी इसलिये वह बिचारा लडखडाता हुआ एक नगरमें एक सामान्य मनुष्यके घर पहुँचा। वहाँ जाकर उसने अनेक प्रकारकी आजिजी की; उसकी गिडगिडाहटसे करुणार्द्र होकर उस गृहस्थकी स्त्रीने उसे घरमेंसे जीमनेसे बचा हुआ मिष्टान्न भोजन लाकर दिया। भोजन मिलनेसे भिखारी बहुत आनंदित होता हुआ नगरके बाहर आया, आकर एक वृक्षके नीचे बैठा; वहाँ जरा सफाई करके उसने एक ओर अपना बहुत पुराना पानीका घडा रख दिया। एक ओर अपनी फटी-पुरानी मलिन गुदडी रखी और एक ओर वह स्वयं उस भोजनको लेकर बैठा। बहुत खुश होते हुए उसने वह भोजन खाकर पूरा किया। फिर सिरहाने एक पत्थर रखकर वह सो गया। भोजनके मदसे जरासी देरमें उसकी आँख लग गयी। वह निद्रावश हुआ कि इतनेमें उसे एक स्वप्न आया। वह स्वयं

---

१. द्वि० आ० पाठा०—'भावकी अपेक्षासे जिस दिन जिस समय प्रतिक्रमण करना हो, उस समयसे पहले अथवा उस दिन जो जो दोष हुए हों उन्हें एकके बाद एक अंतरात्मभावसे देख जाना और उनका पश्चात्ताप करके दोषोंसे पीछे हटना, यह प्रतिक्रमण है।'

मानो महा राजऋद्धिको प्राप्त हुआ है; उसने सुन्दर वस्त्राभूषण धारण किये हैं; सारे देशमें उसकी विजयका डंका बज गया है; समीपमें उसकी आज्ञाका पालन करनेके लिये अनुचर खडे हैं; आसपास छडीदार खमा-खमा पुकार रहे हैं; एक रमणीय महलमें सुन्दर पलंगपर उसने शयन किया है; देवांगना जैसी स्त्रियाँ उसकी पाँवचप्पी कर रही है; एक ओरसे पंखेसे मंद-मंद पवन दिया जा रहा है; ऐसे स्वप्नमें उसका आत्मा तन्मय हो गया। उस स्वप्नका भोग करते हुए उसके रोम उल्लसित हो गये। इतनेमें मेघ महाराज चढ आये, बिजली कौंधने लगी, सूर्यदेव बादलोंसे ढक गया, सर्वत्र अंधकार छा गया, मुसलधार वर्षा होगी ऐसा मालूम हुआ और इतनेमें घनगर्जनाके साथ बिजलीका एक प्रबल कडाका हुआ। कडाकेकी आवाजसे भयभीत होकर वह बिचारा पामर भिखारी जाग उठा।

शिक्षापाठ ४२ : भिखारीका खेद—भाग २

देखता है तो जिस जगह पानीका टूटा-फूटा घडा पडा था उसी जगह वह घडा पडा है; जहाँ फटी-पुरानी गुदडी पडी थी वहीं वह पडी है। उसने जैसे मलिन और जाली-झरोखेवाले कपडे पहन रखे थे वैसेके वैसे वे वस्त्र शरीरपर विराजते हैं। न तिलभर बढा कि न जौभर घटा। न है वह देश कि न है वह नगरी, न है वह महल कि न है वह पलंग, न हैं वे चमरछत्रधारी कि न हैं वे छडीदार, न हैं वे स्त्रियाँ कि न हैं वे वस्त्रालंकार, न है वह पंखा कि न है वह पवन, न हैं वे अनुचर कि न है वह आज्ञा, न है वह सुख-विलास कि न है वह मदोन्मत्तता। महाशय तो स्वयं जैसे थे वैसेके वैसे दिखायी दिये। इससे उस देखावको देखकर वह खेदको प्राप्त हुआ। स्वप्नमें मैंने मिथ्या आडंबर देखा, उससे आनंद माना; उसमेंसे तो यहाँ कुछ भी नहीं है। मैंने स्वप्नके भोग तो भोगे नहीं, और उसका परिणाम जो खेद है उसे मैं भोग रहा हूँ, इस प्रकार वह पामर जीव पश्चात्तापमें पड गया।

अहो भव्यो! भिखारीके स्वप्नकी भांति संसारके सुख अनित्य हैं। जिस प्रकार स्वप्नमें उस भिखारीने सुखसमुदायको देखा और आनंद माना, उसी प्रकार पामर प्राणी संसारस्वप्नके सुखसमुदायमें आनंद मानते हैं। जैसे वह सुखसमुदाय जागृतिमें मिथ्या मालूम हुआ वैसे ही ज्ञान प्राप्त होनेपर संसारके सुख वैसे मालूम होते हैं। स्वप्नके भोग न भोगनेपर भी जैसे भिखारीको खेदकी प्राप्ति हुई, वैसे ही मोहांध प्राणी संसारमें सुख मान बैठते हैं, और उन्हें भोगे हुओंके समान मानते हैं; परंतु परिणाममें खेद, दुर्गति और पश्चात्ताप पाते हैं। वे चपल और विनाशी होनेपर भी उनका परिणाम स्वप्नके खेद जैसा रहा है। इसलिये बुद्धिमान पुरुष आत्महितको खोजते हैं। संसारकी अनित्यतापर एक काव्य है कि—

(उपजाति)

विद्युत लक्ष्मी प्रभुता पतंग, आयुष्य ते तो जळना तरंग,
पुरंदरी चाप अनंगरंग, शुं राचिये त्यां क्षणनो प्रसंग?

विशेषार्थ—लक्ष्मी बिजली जैसी है। जैसे बिजलीकी चमक उत्पन्न होकर नष्ट हो जाती है, वैसे लक्ष्मी आकर चली जाती है। अधिकार पतंगके रंग जैसा है। पतंगका रंग जैसे चार दिनकी चाँदनी है, वैसे अधिकार मात्र थोडा समय रहकर हाथमेंसे चला जाता है। आयु पानीकी लहर जैसी है। जैसे पानीकी हिलोर आयी कि गयी वैसे जन्म पाया, और एक देहमें रहा या न रहा कि इतनेमें दूसरी देहमें जाना पडता है। कामभोग आकाशमें उत्पन्न होनेवाले इंद्रधनुष जैसे हैं। जैसे इंद्रधनुष वर्षाकालमें उत्पन्न होकर क्षणभरमें विलीन हो जाता है, वैसे यौवनमें कामके विकार फलीभूत होकर जरावयमें चले जाते हैं। संक्षेपमें हे जीव! इन सारी वस्तुओंका संबंध क्षणभरका है। इसमें प्रेमबंधनकी सांकलसे बँधकर क्या

प्रसन्न होना ? तात्पर्य यह कि ये सब चपल और विनाशी हैं, तू अखंड और अविनाशी है; इसलिये अपने जैसी नित्य वस्तुको प्राप्त कर ! यह बोध यथार्थ है।

शिक्षापाठ ४३ : अनुपम क्षमा

क्षमा अंतर्शत्रुको जीतनेका खड्ग है। पवित्र आचारकी रक्षा करनेका बख्तर है। शुद्धभावसे असह्य दुःखमें सम-परिणामसे क्षमा रखनेवाला मनुष्य भवसागरको तर जाता है।

कृष्ण वासुदेवके गजसुकुमार नामके छोटे भाई महा सुरूपवान एवं सुकुमार मात्र बारह वर्षकी आयुमें भगवान नेमिनाथके पास संसारत्यागी होकर स्मशानमें उग्रध्यानमें स्थित थे; तब वे एक अद्‌भुत क्षमामय चरित्रसे महा सिद्धिको पा गये, उसे मैं यहाँ कहता हूँ।

सोमल नामके ब्राह्मणकी सुरूपवर्णसंपन्न पुत्रीके साथ गजसुकुमारकी सगाई हुई थी। परंतु विवाह होनेसे पहले गजसुकुमार तो संसार त्याग कर चले गये। इसलिये अपनी पुत्रीके सुखनाशके द्वेषसे उस सोमल ब्राह्मणको भयंकर क्रोध व्याप्त हो गया। गजसुकुमारकी खोज करता करता वह उस स्मशानमें आ पहुँचा जहाँ महा मुनि गजसुकुमार एकाग्र विशुद्ध भावसे कायोत्सर्गमें थे। उसने कोमल गजसुकुमारके माथेपर चिकनी मिट्टीकी बाड बनाई और उसके अंदर धधकते हुए अंगारे भरे और ईंधन भरा जिससे महा ताप उत्पन्न हुआ। इससे गजसुकुमारकी कोमल देह जलने लगी तब सोमल वहाँसे जाता रहा। उस समय गजसुकुमारके असह्य दुःखके बारेमें भला क्या कहा जाये ? परंतु तब वे समभाव परिणाममें रहे। किंचित् क्रोध या द्वेष उनके हृदयमें उत्पन्न नहीं हुआ। अपने आत्माको स्वरूपस्थित करके बोध दिया, "देख ! यदि तूने इसकी पुत्रीके साथ विवाह किया होता तो यह कन्यादानमें तुझे पगडी देता। वह पगडी थोडे समयमें फट जानेवाली तथा परिणाममें दुःखदायक होती। यह इसका बडा उपकार हुआ कि उस पगडीके बदले इसने मोक्षकी पगडी बँधवायी।" ऐसे विशुद्ध परिणामोंसे अडिग रहकर समभावसे उस असह्य वेदनाको सहकर, सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर वे अनंत जीवनसुखको प्राप्त हुए। कैसी अनुपम क्षमा और कैसा उसका सुन्दर परिणाम ! तत्त्वज्ञानियोंके वचन हैं कि आत्मा मात्र स्वसद्‌भावमें आना चाहिये, और वह उसमें आया तो मोक्ष हथेलीमें ही है। गजसुकुमारकी प्रसिद्ध क्षमा कैसा विशुद्ध बोध देती है !

शिक्षापाठ ४४ : राग

श्रमण भगवान महावीरके अग्रेसर गणधर गौतमका नाम तुमने बहुत बार पढा है। गौतमस्वामीके प्रबोधित कितने ही शिष्य केवलज्ञानको प्राप्त हुए, फिर भी गौतम स्वयं केवलज्ञानको पाते न थे; क्योंकि भगवान महावीरके अंगोपांग, वर्ण, वाणी, रूप इत्यादि पर अभी गौतमको मोहिनी थी। निर्ग्रन्थप्रवचनका निष्पक्ष न्याय ऐसा है कि किसी भी वस्तुका राग दुःखदायक है। राग ही मोहिनी और मोहिनी ही संसार है। गौतमके हृदयसे यह राग जब तक दूर नहीं हुआ तब तक वे केवलज्ञानको प्राप्त नहीं हुए। फिर श्रमण भगवान ज्ञातपुत्र जब अनुपमेय सिद्धिको प्राप्त हुए, तब गौतम नगरमेंसे आ रहे थे। भगवानके निर्वाणके समाचार सुनकर उन्हें खेद हुआ। वे विरहसे अनुरागपूर्ण वचन बोले, "हे महावीर ! आपने मुझे साथ तो न लिया, परंतु याद भी न किया। मेरी प्रीतिकी ओर आपने दृष्टि भी नहीं की ! ऐसा आपको छाजता न था।" ऐसे विचार करते-करते उनका लक्ष्य बदला और वे नीरागश्रेणि पर आरूढ हुए। "मैं बहुत मूर्खता करता हूँ। ये वीतराग निर्विकारी और नीरागी भला मुझमें कैसे मोहनी रखे ? इनकी शत्रु

और मित्र पर सर्वथा समानदृष्टि थी। मैं इन नीरागीका मिथ्या मोह रखता हूँ। मोह संसारका प्रबल कारण है।" इस प्रकार विचार करते-करते वे शोक छोडकर नीरागी हुए। तब उन्हें अनंतज्ञान प्रकाशित हुआ और अन्तमें वे निर्वाण पधारे।

गौतम मुनिका राग हमें बहुत सूक्ष्म बोध देता है। भगवान पर का मोह गौतम जैसे गणधरको दुःखदायक हुआ, तो फिर संसारका और वह भी पामर आत्माओंका मोह कैसा अनन्त दुःख देता होगा! संसाररूपी गाडीके रागद्वेषरूप दो बैल हैं। यदि ये न हों तो संसारका रोध है। जहाँ राग नहीं है वहाँ द्वेष नहीं है; यह मान्य सिद्धान्त है। राग तीव्र कर्मबंधका कारण है; इसके क्षयसे आत्मसिद्धि है।

शिक्षापाठ ४५ : सामान्य मनोरथ

(सवैया)

*मोहिनीभाव विचार अधीन थई, ना नीरखुं नयने परनारी;
पथ्थरतुल्य गणुं परवैभव, निर्मळ तात्त्विक लोभ समारी!
द्वादश व्रत अने दीनता धरी, सात्त्विक थाउं स्वरूप विचारी;
ए मुज नेम सदा शुभ क्षेमक, नित्य अखंड रहो भवहारी. १

ते त्रिशलातनये मन चिंतवी, ज्ञान, विवेक, विचार वधारुं;
नित्य विशोध करी नव तत्त्वनो, उत्तम बोध अनेक उच्चारुं;
संशयबीज ऊगे नहीं अंदर, जे जिननां कथनो अवधारुं,
राज्य, सदा मुज ए ज मनोरथ, धार, थशे अपवर्ग, उतारुं. २

शिक्षापाठ ४६ : कपिलमुनि—भाग १

कौशाम्बी नामकी एक नगरी थी। वहाँके राजदरबारमें राज्यके आभूषणरूप काश्यप नामका एक शास्त्री रहता था। उसकी स्त्रीका नाम श्रीदेवी था। उसके पेटसे कपिल नामका एक पुत्र जन्मा था। जब वह पन्द्रह वर्षका हुआ तब उसके पिताका स्वर्गवास हो गया। कपिल लाडप्यारमें पला होनेसे विशेष विद्वत्ताको प्राप्त नहीं हुआ था, इसलिये उसके पिताका स्थान किसी दूसरे विद्वानको मिला। काश्यप शास्त्री जो पूँजी कमाकर गये थे, उसे कमानेमें अशक्त कपिलने खाकर पूरी कर दी। एक दिन श्रीदेवी घरके दरवाजेमें खडी थी कि इतनेमें दो-चार नौकरोंसहित अपने पतिकी शास्त्रीय पदवीको प्राप्त विद्वान जाता हुआ उसके देखनेमें आया। बहुत मानसे जाते हुए उस शास्त्रीको देखकर श्रीदेवीको अपनी पूर्वस्थितिका स्मरण हो आया। "जब मेरे पति इस पदवीपर थे, तब मैं कैसा सुख भोगती थी! यह मेरा सुख तो गया, परंतु मेरा पुत्र भी पूरा पढा ही नहीं।" इस प्रकार विचारमें डोलते-डोलते उसकी आँखोंमेंसे टपाटप आँसू गिरने लगे। इतनेमें घूमता घूमता कपिल वहाँ आ पहुँचा। श्रीदेवीको रोती हुई देखकर उसका कारण पूछा। कपिलके बहुत आग्रहसे श्रीदेवीने जो था वह कह बताया। फिर कपिल

---

* **भावार्थ :** मोहिनीभावके विचारोंके अधीन होकर नयनोंसे परनारीको नहीं देखूँ, लोभको निर्मल एवं तात्त्विक बनाकर परवैभवको पत्थरतुल्य समझूँ। द्वादश व्रत और दीनता धारण कर स्वरूपका विचार करके सात्त्विक बनूँ। यह मेरा सदा शुभ क्षेमकारी और भवहारी नियम नित्य अखंड रहे॥१॥

उन त्रिशलातनयका मनमें चिन्तन करके ज्ञान, विवेक और विचारको बढाऊँ; नित्य नव तत्त्वोंका विशोधन करके अनेक प्रकारके उत्तम बोधवचन मुखसे कहूँ। जिनभगवानके जो कथन हैं उनका अवधारण करूँ ताकि मनमें संशयबीजका उदय न हो। राजचन्द्र कहते हैं कि मेरा सदा यही मनोरथ है, इसे धारण कर मोक्षपथिक बनूँ॥२॥

बोला, "देख माँ, मैं बुद्धिशाली हूँ, परंतु मेरी बुद्धिका उपयोग जैसा चाहिये वैसा नहीं हो सका। इसलिये विद्याके बिना मैंने यह पदवी प्राप्त नहीं की। तू जहाँ कहे वहाँ जाकर अब मैं यथा-शक्ति विद्या सिद्ध करूँ।" श्रीदेवीने खेदपूर्वक कहा, "यह तुझसे नहीं हो सकेगा, नहीं तो आर्यावर्तकी सीमापर स्थित श्रावस्ती नगरीमें इन्द्रदत्त नामका तेरे पिताका मित्र रहता है, वह अनेक विद्यार्थियोंको विद्यादान देता है; यदि तू वहाँ जा सके तो अभीष्ट सिद्धि अवश्य होगी।" एक-दो दिन रुक कर सज्ज होकर, 'अस्तु' कह कर कपिलजीने रास्ता पकडा।

अवधि बीतनेपर कपिल श्रावस्तीमें शास्त्रीजीके घर आ पहुँचा। प्रणाम करके अपना इतिहास कह सुनाया। शास्त्रीजीने मित्रपुत्रको विद्यादान देनेके लिये बहुत आनंद प्रदर्शित किया। परंतु कपिलके पास कोई पूँजी न थी कि उसमेंसे वह खाये और अभ्यास कर सके; इसलिये उसे नगरमें भिक्षा माँगनेके लिये जाना पडता था। माँगते माँगते दोपहर हो जाती थी, फिर रसोई बनाता और खाता कि इतनेमें संध्याका थोडा समय रहता था; इसलिये वह कुछ भी अभ्यास नहीं कर सकता था। पंडितजीने उसका कारण पूछा तो कपिलने सब कह सुनाया। पंडितजी उसे एक गृहस्थके पास ले गये और उस गृहस्थने कपिलपर अनुकंपा करके एक विधवा ब्राह्मणीके घर ऐसी व्यवस्था कर दी कि उसे हमेशा भोजन मिलता रहे, जिससे कपिलकी यह एक चिंता कम हुई।

शिक्षापाठ ४७ : कपिलमुनि—भाग २

यह छोटी चिंता कम हुई, वहाँ दूसरी बडी झंझट खडी हुई। भद्रिक कपिल अब जवान हो गया था; और जिसके यहाँ वह खाने जाता था वह विधवा स्त्री भी जवान थी। उसके साथ उसके घरमें दूसरा कोई आदमी नहीं था। दिन प्रतिदिन पारस्परिक बातचीतका संबंध बढा; बढकर हास्य-विनोदरूपमें परिणत हुआ; यों होते होते दोनों प्रेमपाशमें बँध गये। कपिल उससे लुभाया ! एकांत बहुत अनिष्ट वस्तु है ! !

वह विद्या प्राप्त करना भूल गया। गृहस्थकी ओरसे मिलनेवाले सीधेसे दोनोंका मुश्किलसे निर्वाह होता था; परंतु कपडे-लत्तेकी तकलीफ हुई। कपिलने गृहस्थाश्रम बसा लेने जैसा कर डाला। चाहे जैसा होनेपर भी लघुकर्मी जीव होनेसे उसे संसारके प्रपंचकी विशेष जानकारी भी नहीं थी। इसलिये वह बेचारा यह जानता भी न था कि पैसा कैसे पैदा करना। चंचल स्त्रीने उसे रास्ता बताया कि व्याकुल होनेसे कुछ नहीं होगा; परंतु उपायसे सिद्धि है। इस गाँवके राजाका ऐसा नियम है कि सबेरे पहले जाकर जो ब्राह्मण आशीर्वाद दे उसे वह दो माशा सोना देता है। वहाँ यदि जा सको और प्रथम आशीर्वाद दे सको तो वह दो माशा सोना मिले। कपिलने यह बात मान ली। आठ दिन तक धक्के खाये परंतु समय बीत जानेके बाद पहुँचनेसे कुछ हाथ नहीं आता था। इसलिये उसने एक दिन निश्चय किया कि यदि मैं चौकमें सोऊँ तो सावधानी रखकर उठा जायगा। फिर वह चौकमें सोया। आधी रात बीतनेपर चंद्रका उदय हुआ। कपिल प्रभात समीप समझकर मुट्ठियाँ बाँधकर आशीर्वाद देनेके लिये दौडते हुए जाने लगा। रक्षपालने उसे चोर जानकर पकड लिया। लेनेके देने पड गये। प्रभात होने पर रक्षपालने उसे ले जाकर राजाके समक्ष खडा किया। कपिल बेसुध-सा खडा रहा; राजाको उसमें चोरके लक्षण दिखाई नहीं दिये। इसलिये उससे सारा वृत्तांत पूछा। चंद्रके प्रकाशको सूर्यके समान माननेवालेकी भद्रिकतापर राजाको दया आयी। उसकी दरिद्रता दूर करनेकी राजाकी इच्छा हुई, इसलिये कपिलसे कहा, "आशीर्वाद देनेके लिये यदि तुझे इतनी झंझट खडी हो गई है तो अब तू यथेष्ट माँग ले; मैं तुझे दूँगा।" कपिल थोडी देर मूढ

जैसा रहा। इससे राजाने कहा, "क्यों विप्र! कुछ माँगते नहीं हो?" कपिलने उत्तर दिया, "मेरा मन अभी स्थिर नहीं हुआ है; इसलिये क्या माँगूँ यह नहीं सूझता।" राजाने सामनेके बागमें जाकर वहाँ बैठकर स्वस्थतापूर्वक विचार करके कपिलको माँगनेके लिये कहा। इसलिये कपिल उस बागमें जाकर विचार करने बैठा।

शिक्षापाठ ४८ : कपिलमुनि—भाग ३

दो माशा सोना लेनेकी जिसकी इच्छा थी, वह कपिल अब तृष्णातरंगमें बहने लगा। पाँच मुहरें माँगनेकी इच्छा की, तो वहाँ विचार आया कि पाँचसे कुछ पूरा होनेवाला नहीं है। इसलिये पच्चीस मुहरे माँगूँ। यह विचार भी बदला। पच्चीस मुहरोंसे कहीं सारा वर्ष नहीं निकलेगा; इसलिये सौ मुहरें माँग लूँ। वहाँ फिर विचार बदला। सौ मुहरोंसे दो वर्ष कट जायेंगे, वैभव भोगकर फिर दुःखका दुःख, इसलिये एक हजार मुहरोंकी याचना करना ठीक है; परंतु एक हजार मुहरोंसे, बाल-बच्चोंके दो चार खर्च आ जाय, या ऐसा कुछ हो तो पूरा भी क्या हों? इसलिये दस हजार मुहरें माँग लूँ कि जिससे जीवनपर्यन्त भी चिन्ता न रहे। वहाँ फिर इच्छा बदली। दस हजार मुहरें खत्म हो जायेगी तो फिर पूँजीहीन होकर रहना पडेगा। इसलिये एक लाख मुहरोंकी माँग करूँ कि जिसके ब्याजमें सारा वैभव भोगूँ; परंतु जीव! लक्षाधिपति तो बहुतसे हैं, इनमें मैं नामांकित कहाँसे हो पाऊँगा? इसलिये करोड मुहरें माँग लूँ कि जिससे मैं महान श्रीमान कहा जाऊँ। फिर रंग बदला। महती श्रीमत्तासे भी घरमें सत्ता नहीं कहलायेगी, इसलिये राजाका आधा राज्य माँगूँ। परंतु यदि आधा राज्य माँगूँगा तो भी राजा मेरे तुल्य गिना जायगा; और फिर मैं उसका याचक भी माना जाऊँगा। इसलिये माँगूँ तो पूरा राज्य ही माँग लूँ। इस तरह वह तृष्णामें डूबा; परंतु वह था तुच्छ संसारी, इसलिये फिरसे पीछे लौटा। भले जीव! मुझे ऐसी कृतघ्नता किसलिये करनी पडे कि जो मुझे इच्छानुसार देनेको तत्पर हुआ उसीका राज्य ले लेना और उसीको भ्रष्ट करना? यथार्थ दृष्टिसे तो इसमें मेरी ही भ्रष्टता है। इसलिये आधा राज्य माँगना; परन्तु यह उपाधि भी मुझे नहीं चाहिये। तब पैसेकी उपाधि भी कहाँ कम है? इसलिये करोड, लाख छोडकर सौ दो सौ मुहरें ही माँग लूँ। जीव! सौ दो सौ मुहरे अभी मिलेगी तो फिर विषय-वैभवमें वक्त चला जायगा; और विद्याभ्यास भी धरा रहेगा; इसलिये अभी तो पाँच मुहरें ही ले जाऊँ, पीछेकी बात पीछे। अरे! पाँच मुहरोंकी भी अभी कुछ जरूरत नहीं है; मात्र दो माशा सोना लेने आया था वही माँग लूँ। जीव! यह तो हद हो गई। तृष्णासमुद्रमें तूने बहुत गोते खाये। संपूर्ण राज्य माँगते हुए भी जो तृष्णा नहीं बुझती थी, मात्र संतोष एवं विवेकसे उसे घटाया तो घट गई। यह राजा यदि चक्रवर्ती होता तो फिर मैं इससे विशेष क्या माँग सकता था? और जब तक विशेष न मिलता तब तक मेरी तृष्णा शांत भी न होती; जब तक तृष्णा शांत न होती तब तक मैं सुखी भी न होता। इतनेसे भी मेरी तृष्णा दूर न हो तो फिर दो माशेसे कहाँसे दूर होगी? उसका आत्मा सुलटे भावमें आया और वह बोला, "अब मुझे दो माशे सोनेका भी कुछ काम नहीं; दो माशेसे बढकर मैं किस हद तक पहुँचा! सुख तो संतोषमें ही है। यह तृष्णा संसारवृक्षका बीज है। इसकी हे जीव! तुझे क्या आवश्यकता है? विद्या ग्रहण करते हुए तू विषयमें पड गया; विषयमें पडनेसे इस उपाधिमें पडा; उपाधिके कारण तू अनंत तृष्णासमुद्रकी तरंगोंमें पडा। इस प्रकार एक उपाधिसे इस संसारमें अनंत उपाधियाँ सहनी पडती हैं। इसलिये इसका त्याग करना उचित है। सत्य संतोष जैसा निरुपाधि सुख एक भी नहीं है।" यों विचार करते करते तृष्णाको शान्त करनेसे उस

कपिलके अनेक आवरण क्षय हो गये। उसका अंतःकरण प्रफुल्लित और बहुत विवेकशील हो गया। विवेक ही विवेकमें उत्तम ज्ञानसे वह स्वात्माका विचार कर सका। अपूर्व श्रेणिपर चढकर वह केवलज्ञानको प्राप्त हुआ ऐसा कहा जाता है।

तृष्णा कैसी कनिष्ठ वस्तु है! ज्ञानी ऐसा कहते हैं कि तृष्णा आकाश जैसी अनंत है। निरंतर वह नवयौवना रहती है। कुछ चाह जितना मिला कि वह चाहको बढा देती है। संतोष ही कल्पवृक्ष है; और यही मात्र मनोवांछाको पूर्ण करता है।

शिक्षापाठ ४९ : तृष्णाकी विचित्रता

मनहर छंद

(एक गरीबकी बढती हुई तृष्णा)

*हती दीनताई त्यारे ताकी पटेलाई अने,
मळी पटेलाई त्यारे ताकी छे शेठाईने;
सांपडी शेठाई त्यारे ताकी मंत्रिताई अने,
आवी मंत्रिताई त्यारे ताकी नृपताईने;
मळी नृपताई त्यारे ताकी देवताई अने,
दीठी देवताई त्यारे ताकी शंकराईने;
अहो! राजचंद्र मानो मानो शंकराई मळी,
वधे तृषनाई तोय जाय न मराईने. १

करोचळी पडी दाढी डाचां तणो दाट वळ्यो,
काळी केशपटी विषे श्वेतता छवाई गई;
सूंघवुं, सांभळवुं, ने देखवुं ते मांडी वाळ्युं,
तेम दांत आवली ते, खरी के खवाई गई;
वळी केड वांकी, हाड गयां, अंगरंग गयो,
ऊठवानी आय जतां लाकडी लेवाई गई;
अरे! राजचंद्र एम, युवानी हराई पण,
मनथी न तोय रांड ममता मराई गई. २

---

*भावार्थ–जब गरीब था तब मुखिया होनेकी इच्छा हुई, जब मुखिया हो गया तब नगरसेठ होनेकी इच्छा हुई, जब नगरसेठ हुआ तब मन्त्री होनेकी इच्छा हुई, जब मन्त्री हुआ तब राजा होनेकी इच्छा हुई, जब राजा हुआ तब देव होनेकी इच्छा हुई, जब देव हुआ तब शंकर–महादेव होनेकी इच्छा हुई। राजचंद्र कहते हैं कि यह आश्चर्य है कि यदि वह शंकर हो जाये तो भी उसकी तृष्णा बढती ही रहेगी, मरेगी नहीं॥१॥

मुँहपर झुर्रियाँ पड गई, गाल पिचक गये, काली केशपट्टियाँ सफेद हो गई, सूँघने, सुनने और देखनेकी शक्ति जाती रही, दाँत गिर गये या सड गये, कमर टेढी हो गई, हड्डियाँ कमजोर हो गई, शरीरकी शोभा जाती रही, उठने-बैठनेकी शक्ति जाती रही, और चलने-फिरनेमें लकडी लेनी पडी। राजचन्द्र कहते हैं कि यह आश्चर्य है कि इस तरह जवानी तो चली गई, परन्तु फिर भी मनसे यह रांड ममता नहीं मरी॥२॥

करोडोना करजना शिर पर डंका वागे,
रोगथी रूँधाई गयुं, शरीर सुकाईने;
पुरपति पण माथे, पीडवाने ताकी रह्यो,
पेट तणी वेठ पण, शके न पुराईने;
पितृ अने परणी ते, मचावे अनेक धंध,
पुत्र, पुत्री भाखे खाउं खाउं दुःखदाईने;
अरे ! राजचंद्र तोय जीव झावा दावा करे,
जंजाळ छंडाय नहीं, तजी तृषनाईने. ३

थई क्षीण नाडी अवाचक जेवो रह्यो पडी,
जीवन दीपक पाम्यो केवळ झंखाईने;
छेल्ली ईसे पड्यो भाळी भाईए त्यां एम भाख्युं;
हवे टाढी माटी थाय तो तो ठीक भाईने;
हाथने हलावी त्यां तो खीजी बुढ्ढे सूचव्युं ए,
बोल्या विना बेस बाळ तारी चतुराईने !
अरे ! राजचंद्र देखो देखो आशापाश केवो ?
जतां गई नहीं डोशे ममता मराईने. ४

शिक्षापाठ ५० : प्रमाद

धर्मका अनादर, उन्माद, आलस्य और कषाय ये सब प्रमादके लक्षण हैं।

भगवानने उत्तराध्ययनसूत्रमें गौतमसे कहा—"हे गौतम ! मनुष्यकी आयु कुशकी अनीपर पडे हुए जलके बिन्दु जैसी है। जैसे उस बिंदुके गिरनेमें देर नहीं लगती, वैसे इस मनुष्यकी आयुके बीत जानेमें देर नहीं लगती।" इस बोधके काव्यमें चौथी पंक्ति स्मरणमें अवश्य रखने योग्य है। **'समयं गोयम मा पमाए।'** इस पवित्र वाक्यके दो अर्थ होते हैं। एक तो यह कि हे गौतम ! समय अर्थात् अवसर पाकर प्रमाद नहीं करना, और दूसरा यह कि निमेषोन्मेषमें बीतते हुए कालका असंख्यातवाँ भाग जो समय कहलाता है उतने वक्तका भी प्रमाद नहीं करना। क्योंकि देह क्षणभंगुर है। कालशिकारी सिरपर धनुषबाण चढा-कर खडा है। उसने शिकारको लिया अथवा लेगा यह दुविधा हो रही है; वहाँ प्रमादसे धर्मकर्तव्यका करना रह जायगा।

अति विचक्षण पुरुष संसारकी सर्वोपाधिका त्याग करके अहोरात्र धर्ममें सावधान होते हैं; पलका भी प्रमाद नहीं करते। विचक्षण पुरुष अहोरात्रके थोडे भागको भी निरंतर धर्मकर्तव्यमें बिताते हैं; और अवसर अवसरपर धर्मकर्तव्य करते रहते हैं। परंतु मूढ पुरुष निद्रा, आहार, मौज-शौक और विकथा

करोडोंके कर्जका सिरपर डंका बज रहा है, शरीर सूखकर रोगोंका घर हो गया है, राजा भी पीडा देनेके लिये मौका ताक रहा है और पेट भी पूरी तरहसे भरा नहीं जा सकता, माता-पिता और स्त्री अनेक उपद्रव मचाते हैं, पुत्र-पुत्री दुःखदायीको खानेको दौडते हैं। राजचंद्र कहते हैं कि यह आश्चर्य है कि तो भी यह जीव मिथ्या प्रयत्न करता रहता है परन्तु इससे तृष्णाको छोडकर जंजाल नहीं छोड पाता॥३॥

नाडी क्षीण हो गई है, अवाचककी भाँति पडा हुआ है, जीवनका दीया बुझनेको है, इस अन्तिम अवस्थामें पडा देखकर भाईने यों कहा कि अब मिट्टी ठंडी हो जाय तो ठीक है। इतनेमें उस बुड्ढेने खीजकर हाथको हिलाकर इशारेसे कहा—"अरे मूर्ख ! चुप रह, अपनी चतुराईको चूल्हेमें डाल।" राजचंद्र कहते हैं कि यह आश्चर्य है कि देखिये, देखिये, आशापाश कैसा है ! मरते-मरते भी बुड्ढेकी ममता नहीं मरी॥४॥

एवं रागरंगमें आयु व्यतीत कर डालते हैं। इसके परिणाममें वे अधोगतिको प्राप्त करते हैं।

यथासंभव यत्ना और उपयोगसे धर्मको सिद्ध करना योग्य है। साठ घडीके अहोरात्रमें बीस घडी तो हम निद्रामें बिता देते हैं। बाकीकी चालीस घडी उपाधि, गपशप और बेकार घूमने-फिरनेमें गुजार देते हैं। इसकी अपेक्षा साठ घडीके समयमेंसे दो चार घडी विशुद्ध धर्मकर्तव्यके लिये उपयोगमें लें तो यह आसानीसे हो सकता है। इसका परिणाम भी कैसा सुन्दर हो ?

पल एक अमूल्य वस्तु है। चक्रवर्ती भी यदि एक पल पानेके लिये अपनी सारी ऋद्धि दे दे तो भी वह उसे पा नहीं सकता। एक पल व्यर्थ खोनेसे एक भव हार जाने जैसा है, यह तात्त्विक दृष्टिसे सिद्ध है !

शिक्षापाठ ५१ : विवेक किसे कहते हैं ?

लघु शिष्य–भगवन् ! आप हमें स्थान-स्थानपर कहते आये हैं कि विवेक महान श्रेयस्कर है। विवेक अंधकारमें पडे हुए आत्माको पहचाननेका दीपक है। विवेकसे धर्म टिकता है। जहाँ विवेक नहीं वहाँ धर्म नहीं, तो विवेक किसे कहते हैं ? यह हमें कहिये।

गुरु–आयुष्मानो ! सत्यासत्यको अपने-अपने स्वरूपसे समझना, इसका नाम विवेक है।

लघु शिष्य–सत्यको सत्य और असत्यको असत्य कहना तो सभी समझते हैं। तब महाराज ! वे धर्मके मूलको पा गये ऐसा कहा जा सकता है ?

गुरु–तुम जो बात कहते हो उसका एक दृष्टांत भी तो दो।

लघु शिष्य–हम स्वयं कडवेको कडवा ही कहते हैं, मधुरको मधुर कहते हैं, जहरको जहर और अमृतको अमृत कहते हैं।

गुरु–आयुष्मानो ! ये सब द्रव्य पदार्थ हैं। परंतु आत्माको कौनसी कटुता और कौनसी मधुरता, कौनसा विष और कौनसा अमृत है इन भावपदार्थोंकी इससे क्या परीक्षा हो सकती है ?

लघु शिष्य–भगवन् ! इस ओर तो हमारा लक्ष्य भी नहीं है।

गुरु–तब यही समझना है कि ज्ञानदर्शनरूप आत्माके सत्य भावपदार्थको अज्ञान और अदर्शनरूप असत् वस्तुने घेर लिया है। इसमें इतनी अधिक मिश्रता हो गई है कि परीक्षा करना अति अति दुष्कर है। आत्माने संसारके सुख अनंत बार भोगे फिर भी उसमेंसे अभी तक मोह दूर नहीं हुआ और उसे अमृत जैसा माना यह अविवेक है; क्योंकि संसार कडवा है, कडवे विपाकको देता है। इसी प्रकार वैराग्य जो इस कडवे विपाकका औषध है, उसे कडवा माना; यह भी अविवेक है। ज्ञान, दर्शन आदि गुणोंको अज्ञान और अदर्शनने घेरकर जो मिश्रता कर डाली है उसे पहचान कर भाव अमृतमें आना, इसका नाम विवेक है। अब कहो कि विवेक कैसी वस्तु ठहरी ?

लघु शिष्य–अहो ! विवेक ही धर्मका मूल और धर्मरक्षक कहलाता है, यह सत्य है। आत्म-स्वरूपको विवेकके बिना पहचाना नहीं जा सकता, यह भी सत्य है। ज्ञान, शील, धर्म, तत्त्व और तप ये सब विवेकके बिना उदयको प्राप्त नहीं होते, यह आपका कहना यथार्थ है। जो विवेकी नहीं है वह अज्ञानी और मन्द है। वही पुरुष मतभेद और मिथ्यादर्शनमें लिपटा रहता है। आपकी विवेकसंबंधी शिक्षाका हम निरंतर मनन करेंगे।

शिक्षापाठ ५२ : ज्ञानियोंने वैराग्यका बोध क्यों दिया?

संसारके स्वरूपके संबंधमें पहले कुछ कहा गया है वह तुम्हारे ध्यानमें होगा।

ज्ञानियोंने इसे अनंत खेदमय, अनंत दुःखमय, अव्यवस्थित, चलविचल और अनित्य कहा है। ये विशेषण लगानेसे पहले उन्होंने संसारसंबंधी संपूर्ण विचार किया है, ऐसा मालूम होता है। अनंत भवोंका पर्यटन, अनंत कालका अज्ञान, अनंत जीवनका व्याघात, अनंत मरण और अनंत शोकसे आत्मा संसारचक्रमें भ्रमण किया करता है। संसारकी दीखती हुई इंद्रवारुणी जैसी सुन्दर मोहिनीने आत्माको सम्पूर्ण लीन कर डाला है। इस जैसा सुख आत्माको कहीं भी भासित नहीं होता। मोहिनीसे सत्य सुख और उसके स्वरूपको देखनेकी इसने आकांक्षा भी नहीं की है। पतंगकी जैसे दीपकके प्रति मोहिनी है वैसे आत्माकी संसारके प्रति मोहिनी है। ज्ञानी इस संसारको क्षणभरके लिये भी सुखरूप नहीं कहते। इस संसारकी तिलभर जगह भी जहरके बिना नहीं रही है। एक सूअरसे लेकर एक चक्रवर्ती तक भावकी अपेक्षासे समानता है; अर्थात् चक्रवर्तीकी संसारमें जितनी मोहिनी है उतनी ही बल्कि उससे अधिक मोहिनी सूअरकी है। चक्रवर्ती जैसे समग्र प्रजापर अधिकार भोगता है वैसे उसकी उपाधि भी भोगता है। सूअरको इसमेंसे कुछ भी भोगना नहीं पडता। अधिकारकी अपेक्षा उलटे उपाधि विशेष है। चक्रवर्तीका अपनी पत्नीके प्रति जितना प्रेम होता है, उतना ही बल्कि उससे विशेष सूअरका अपनी सूअरनीके प्रति प्रेम रहा है। चक्रवर्ती भोगमें जितना रस लेता है उतना ही रस सूअर भी मान बैठा है। चक्रवर्तीको जितनी वैभवकी बहुलता है, उतनी ही उपाधि है। सूअरको उसके वैभवके अनुसार उपाधि है। दोनों उत्पन्न हुए हैं और दोनों मरनेवाले हैं। इस प्रकार अति सूक्ष्म विचार करने पर क्षणिकता, रोग और जरासे दोनों ग्रसित हैं। द्रव्यसे चक्रवर्ती समर्थ है, महा-पुण्यशाली है, सातावेदनीय भोगता है, और सूअर बेचारा असातावेदनीय भोग रहा है। दोनोंको असाता-साता भी है; परन्तु चक्रवर्ती महासमर्थ है। परन्तु यदि वह जीवनपर्यन्त मोहांध रहा तो सारी बाजी हार जाने जैसा करता है। सूअरका भी यही हाल है। चक्रवर्ती शलाकापुरुष होनेसे सूअरसे इस रूपमें उसकी तुलना ही नहीं है; परन्तु इस स्वरूपमें है। भोग भोगनेमें भी दोनों तुच्छ हैं; दोनोंके शरीर मांस, मज्जा आदिके हैं। संसारकी यह उत्तमोत्तम पदवी ऐसी है, उसमें ऐसा दुःख, क्षणिकता, तुच्छता और अंधता रहे हैं तो फिर अन्यत्र सुख किसलिये मानना चाहिये? ये सुख नहीं हैं, फिर भी सुख मानों तो जो सुख भयवाले और क्षणिक हैं वे दुःख ही हैं। अनंत ताप, अनंत शोक, अनंत दुःख देखकर ज्ञानियोंने इस संसारको पीठ दी है, यह सत्य है। इस ओर पीछे मुडकर देखने जैसा नहीं है, वहाँ दुःख, दुःख और दुःख ही है। दुःखका यह समुद्र है।

वैराग्य ही अनंत सुखमें ले जानेवाला उत्कृष्ट मार्गदर्शक है।

शिक्षापाठ ५३ : महावीरशासन

अभी जो शासन प्रवर्तमान है वह श्रमण भगवान महावीरका प्रणीत किया हुआ है। [1]भगवान महावीरको निर्वाण पधारे २४१४ वर्ष हो गये। मगध देशके क्षत्रियकुण्ड नगरमें त्रिशलादेवी क्षत्रियाणीकी कोखसे सिद्धार्थ राजासे भगवान महावीर जन्मे थे। महावीर भगवानके बडे भाईका नाम नन्दि-वर्धन था। महावीर भगवानकी स्त्रीका नाम यशोदा था। ये तीस वर्ष गृहस्थाश्रममें रहे। एकांतिक विहारमें साढे बारह वर्ष एक पक्ष, तपादिक सम्यक् आचारसे इन्होंने अशेष घनघाती कर्मोंको जलाकर भस्मीभूत किया; और अनुपमेय केवलज्ञान तथा केवलदर्शन ऋजुवालिका नदीके किनारे प्राप्त किया। कुल लगभग

१. मोक्षमालाकी प्रथमावृत्ति वीर संवत २४१४ अर्थात् विक्रम संवत १९४४ में छपी थी।

७२ वर्षकी आयु भोगकर सब कर्मोंको भस्मीभूत करके सिद्धस्वरूपको प्राप्त किया। वर्तमान चौबीसीके ये अंतिम जिनेश्वर थे।

इनका यह धर्मतीर्थ प्रवर्तमान है। यह २१००० वर्ष अर्थात् पंचम कालकी पूर्णता तक प्रवर्तमान रहेगा, ऐसा भगवतीसूत्रमें प्रवचन है।

यह काल दस अपवादोंसे युक्त होनेसे इस धर्मतीर्थपर अनेक विपत्तियाँ आ गयी हैं, आती हैं और प्रवचनके अनुसार आयेगी भी सही।

जैन समुदायमें परस्पर मतभेद बहुत पड गये हैं। परस्पर निंदाग्रंथोंसे जंजाल माँड बैठे हैं। मध्यस्थ पुरुष विवेक-विचारसे मतमतांतरमें न पडते हुए जैनशिक्षाके मूल तत्त्व पर आते हैं, उत्तम शीलवान मुनियोंपर भक्ति रखते हैं, और सत्य एकाग्रतासे अपने आत्माका दमन करते हैं।

समय समयपर शासन कुछ सामान्य प्रकाशमें आता है; परन्तु कालप्रभावके कारण वह यथेष्ट प्रफुल्लित नहीं हो पाता।

***'वंक जडा य पछिमा'**—ऐसा उत्तराध्ययनसूत्रमें वचन है; इसका भावार्थ यह है कि अंतिम तीर्थंकर (महावीरस्वामी) के शिष्य वक्र एवं जड होंगे; और उनकी सत्यताके विषयमें किसीको कुछ बोलने जैसा नहीं रहता। हम कहाँ तत्त्वका विचार करते हैं ? कहाँ उत्तम शीलका विचार करते हैं ? नियमित समय धर्ममें कहाँ व्यतीत करते हैं ? धर्मतीर्थके उदयके लिये कहाँ ध्यान रखते हैं ? कहाँ लगनसे धर्मतत्त्वकी खोज करते हैं ? श्रावककुलमें जन्मे इसलिये श्रावक, यह बात हमें भावकी दृष्टिसे मान्य नहीं करनी चाहिये; इसके लिये आवश्यक आचार, ज्ञान, खोज अथवा इनमेंसे कोई विशेष लक्षण जिसमें हो उसे श्रावक मानें तो वह यथायोग्य है। अनेक प्रकारकी द्रव्यादिक सामान्य दया श्रावकके घर जन्म लेती है और वह उसका पालन भी करता है, यह बात प्रशंसा करने योग्य है; परन्तु तत्त्वको कोई विरले ही जानते हैं; जाननेकी अपेक्षा अधिक शंका करनेवाले अर्धदग्ध भी हैं; जानकर अहंकार करनेवाले भी हैं; परन्तु जानकर तत्त्वके काँटेमें तोलनेवाले कोई विरले ही हैं। परंपर आम्नायसे केवल, मनःपर्यय और परमावधिज्ञानका विच्छेद हो गया। दृष्टिवादका विच्छेद हो गया; सिद्धांतके बहुतसे भागका विच्छेद हो गया; मात्र थोडे रहे हुए भागपर सामान्य समझसे शंका करना योग्य नहीं है। जो शंका हो उसे विशेष जानकारसे पूछना चाहिये। वहाँसे मनमाना उत्तर न मिले तो भी जिन-वचनकी श्रद्धा चलविचल नहीं करनी चाहिये। अनेकांत शैलीके स्वरूपको विरले जानते हैं।

भगवानके कथनरूप मणिके घरमें कई पामर प्राणी दोषरूपी छिद्रको खोजनेका मथन करके अधोगतिजनक कर्म बाँधते हैं। हरी शाकभाजीके बदलेमें उसे सुखाकर उपयोगमें लेनेकी बात किसने और किस विचारसे ढूँढ निकाली होगी ?

यह विषय बहुत बडा है। इस संबंधमें यहाँ कुछ कहना योग्य नहीं है। संक्षेपमें कहना यह है कि हमें अपने आत्माकी सार्थकताके लिये मतभेदमें नहीं पडना चाहिये। उत्तम और शांत मुनिका समागम, विमल आचार, विवेक, दया, क्षमाका सेवन करना चाहिये। हो सके तो महावीर-तीर्थके लिये विवेकी बोध कारण सहित देना चाहिये। तुच्छ बुद्धिसे शंकित नहीं होना चाहिये, इसमें अपना परम मंगल है, इसका विसर्जन नहीं करना चाहिये।

---

* पाठांतर - वक्क जड्ढा य पच्छिमा

शिक्षापाठ ५४ : अशुचि किसे कहना ?

जिज्ञासु–मुझे जैन मुनियोंके आचारकी बात बहुत अच्छी लगी है। इनके जैसा किसी दर्शनके संतोंका आचार नहीं है। चाहे जैसे जाडेकी ठंडमें इन्हें अमुक वस्त्रोंसे निभाना पडता है; गरमीमें चाहे जैसा ताप पडनेपर भी ये पैरमें जूते अथवा सिरपर छत्री नहीं रख सकते। इन्हें गरम रेतमें आतप लेना पडता है। यावज्जीवन गरम पानी पीते हैं। गृहस्थके घर ये बैठ नहीं सकते। शुद्ध ब्रह्मचर्य पालते हैं। फूटी कौडी भी पासमें नहीं रख सकते। ये अयोग्य वचन नहीं बोल सकते। ये वाहन नहीं ले सकते। ऐसे पवित्र आचार, सचमुच ! मोक्षदायक हैं। परंतु नौ बाडमें भगवानने स्नान करनेका निषेध किया है वह बात तो मुझे यथार्थ नहीं जँचती।

सत्य–किसलिये नहीं जँचती ?

जिज्ञासु–क्योंकि इससे अशुचि बढती है।

सत्य–कौनसी अशुचि बढती है ?

जिज्ञासु–शरीर मलिन रहता है यह।

सत्य–भाई ! शरीरकी मलिनताको अशुचि कहना, यह बात कुछ विचारपूर्ण नहीं है। शरीर स्वयं किसका बना है, यह तो विचार करो। रक्त, पित्त, मल, मूत्र, श्लेष्मका यह भंडार है। इस पर मात्र त्वचा है तब फिर यह पवित्र कैसे हो ? और फिर साधुओंने ऐसा कोई संसारी कर्तव्य किया नहीं होता कि जिससे उन्हें स्नान करनेकी आवश्यकता रहे।

जिज्ञासु–परंतु स्नान करनेसे उन्हें हानि क्या है ?

सत्य–यह तो स्थूल बुद्धिका ही प्रश्न है। नहानेसे असंख्यात जन्तुओंका विनाश, कामाग्निकी प्रदीप्तता, व्रतका भंग, परिणामका बदलना, यह सारी अशुचि उत्पन्न होती है और इससे आत्मा महा मलिन होता है। प्रथम इसका विचार करना चाहिये। शरीरकी, जीवहिंसायुक्त जो मलिनता है वह अशुचि है। अन्य मलिनतासे तो आत्माकी उज्वलता होती है, इसे तत्त्वविचारसे समझना है। नहानेसे व्रत भंग होकर आत्मा मलिन होता है; और आत्माकी मलिनता ही अशुचि है।

जिज्ञासु–मुझे आपने बहुत सुन्दर कारण बताया। सूक्ष्म विचार करनेसे जिनेश्वरके कथनसे बोध और अत्यानंद प्राप्त होता है। अच्छा, गृहस्थाश्रमियोंको जीवहिंसा या संसार-कर्तव्यसे हुई शरीरकी अशुचि दूर करनी चाहिये या नहीं ?

सत्य–समझपूर्वक अशुचि दूर करनी ही चाहिये। जैन जैसा एक भी पवित्र दर्शन नहीं है; और वह अपवित्रताका बोध नहीं करता। परन्तु शौचाशौचका स्वरूप समझना चाहिये।

शिक्षापाठ ५५ : सामान्य नित्यनियम

प्रभातसे पहले जागृत होकर नमस्कार मंत्रका स्मरण करके मन विशुद्ध करना चाहिये। पापव्यापारकी वृत्तिको रोककर रात्रिसंबंधी हुए दोषोंका उपयोगपूर्वक प्रतिक्रमण करना चाहिये।

प्रतिक्रमण करनेके बाद यथावसर भगवानकी उपासना, स्तुति तथा स्वाध्यायसे मनको उज्वल करना चाहिये।

माता-पिताकी विनय करके, आत्महितका लक्ष विस्मृत न हो इस तरह यत्नासे संसारी काममें प्रवृत्ति करनी चाहिये।

स्वयं भोजन करनेसे पहले सत्पात्रमें दान देनेकी परम आतुरता रखकर वैसा योग मिलनेपर यथोचित प्रवृत्ति करनी चाहिये।

आहार-विहारका नियमित समय रखना चाहिये, तथा सत्शास्त्रके अभ्यासका और तात्त्विक ग्रंथके मननका भी नियमित समय रखना चाहिये।

सायंकालमें संध्यावश्यक उपयोगपूर्वक करना चाहिये।

चौविहार प्रत्याख्यान करना चाहिये।

नियमित निद्रा लेनी चाहिये।

सोनेसे पहले अठारह पापस्थान, द्वादशव्रतदोष और सर्व जीवोंसे क्षमा माँगकर, पंचपरमेष्ठी मंत्रका स्मरण करके महा शांतिसे समाधिभावसे शयन करना चाहिये।

ये सामान्य नियम बहुत लाभदायक होंगे। ये तुम्हें संक्षेपमें कहे हैं। सूक्ष्म विचारसे और तदनुसार प्रवर्तन करनेसे ये विशेष मंगलदायक होंगे।

शिक्षापाठ ५६ : क्षमापना

हे भगवन्! मैं बहुत भूल गया, मैंने आपके अमूल्य वचनोंको ध्यानमें लिया नहीं। आपके कहे हुए अनुपम तत्त्वोंका मैंने विचार किया नहीं। आपके प्रणीत किये हुए उत्तम शीलका सेवन किया नहीं। आपकी कही हुई दया, शांति, क्षमा और पवित्रताको मैंने पहचाना नहीं। हे भगवन्! मैं भूला, भटका, घूमा-फिरा और अनंत संसारकी विडंबनामें पडा हूँ। मैं पापी हूँ। मैं बहुत मदोन्मत्त और कर्मरजसे मलिन हूँ। हे परमात्मन्! आपके कहे हुए तत्त्वोंके बिना मेरा मोक्ष नहीं। मैं निरंतर प्रपंचमें पडा हूँ। अज्ञानसे अंध हुआ हूँ, मुझमें विवेकशक्ति नहीं है और मैं मूढ हूँ, मैं निराश्रित हूँ, अनाथ हूँ। नीरागी परमात्मन्! मैं अब आपकी, आपके धर्मकी और आपके मुनियोंकी शरण लेता हूँ। मेरे अपराधोंका क्षय होकर मैं उन सब पापोंसे मुक्त होऊँ यह मेरी अभिलाषा है। पूर्वकृत पापोंका मैं अब पश्चात्ताप करता हूँ। ज्यों-ज्यों मैं सूक्ष्म विचारसे गहरा उतरता हूँ त्यों-त्यों आपके तत्त्वोंके चमत्कार मेरे स्वरूपका प्रकाश करते हैं। आप नीरागी, निर्विकारी, सच्चिदानंदस्वरूप, सहजानंदी, अनंतज्ञानी, अनंतदर्शी और त्रैलोक्यप्रकाशक हैं। मैं मात्र अपने हितके लिये आपकी साक्षीमें क्षमा चाहता हूँ। एक पल भी आपके कहे हुए तत्त्वोंकी शंका न हो, आपके बताये हुए मार्गमें अहोरात्र मैं रहूँ, यही मेरी आकांक्षा और वृत्ति हो! हे सर्वज्ञ भगवन्! आपसे मैं विशेष क्या कहूँ? आपसे कुछ अज्ञात नहीं है। मात्र पश्चात्तापसे मैं कर्मजन्य पापकी क्षमा चाहता हूँ।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः।

शिक्षापाठ ५७ : वैराग्य धर्मका स्वरूप है

एक वस्त्र खूनसे रंगा गया। उसे यदि खूनसे धोयें तो वह धोया नहीं जा सकता, परंतु अधिक रंगा जाता है। यदि पानीसे उस वस्त्रको धोयें तो वह मलिनता दूर होना संभव है। इस दृष्टांतसे आत्माका विचार करें। आत्मा अनादिकालसे संसाररूप खूनसे मलिन हुआ है। यह मलिनता रोम-रोममें व्याप्त हो गई है! इस मलिनताको हम विषयशृंगारसे दूर करना चाहें तो यह दूर नहीं हो सकती। खूनसे जैसे खून नहीं धोया जाता, वैसे शृंगारसे विषयजन्य आत्ममलिनता दूर होनेवाली नहीं है यह मानो निश्चित ही है। अनेक धर्ममत इस जगतमें प्रचलित हैं, उनके संबंधमें अपक्षपातसे विचार करते हुए पहले इतना विचार

करना आवश्यक है कि, जहाँ स्त्रियाँ भोगनेका उपदेश किया हो, लक्ष्मी-लीलाकी शिक्षा दी हो, रंग, राग, मौज-शौक और एशो-आराम करनेका तत्त्व बताया हो वहाँसे अपने आत्माको सत्-शांति नहीं है। कारण कि इसे धर्ममत माना जाये तो सारा संसार धर्ममतयुक्त ही है। प्रत्येक गृहस्थका घर इसी योजनासे भरपूर होता है। बाल-बच्चे, स्त्री, राग-रंग, गान-तान वहाँ जमा रहता है; और उस घरको धर्म-मंदिर कहें तो फिर अधर्म-स्थान कौन-सा ? और फिर जैसे हम बरताव करते हैं वैसे बरताव करनेसे बुरा भी क्या ? यदि कोई यों कहे कि उस धर्म-मंदिरमें तो प्रभुकी भक्ति हो सकती है तो उनके लिए खेदपूर्वक इतना ही उत्तर देना है कि वे परमात्मतत्त्व और उसकी वैराग्यमय भक्तिको जानते नहीं हैं। चाहे जो हो परन्तु हमें अपने मूल विचारपर आना चाहिए। तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे आत्मा संसारमें विषयादिक मलिनतासे पर्यटन करता है। उस मलिनताका क्षय विशुद्ध भावजलसे होना चाहिए। अर्हंतके कहे हुए तत्त्वरूपी साबुन और वैराग्यरूपी जलसे उत्तम आचाररूप पत्थरपर रखकर आत्मवस्त्रको धोनेवाला निर्ग्रंथ गुरु हैं। इसमें यदि वैराग्य-जल न हो तो सभी साधन कुछ नहीं कर सकते; इसलिए वैराग्यको धर्मका स्वरूप कहा जा सकता है। यदि अर्हंतप्रणीत तत्त्व वैराग्यका ही बोध देते हैं तो वही धर्मका स्वरूप है ऐसा समझना चाहिये।

शिक्षापाठ ५८ : धर्मके मतभेद—भाग १

इस जगतीतलपर अनेक प्रकारके धर्ममत विद्यमान हैं। ऐसे मतभेद अनादिकालसे हैं, यह न्यायसिद्ध है। परन्तु ये मतभेद कुछ-कुछ रूपांतरित होते रहते हैं। इस संबंधमें कुछ विचार करें।

कितने मतभेद परस्पर मिलते हुए और कितने परस्पर विरुद्ध हैं; कितने ही मतभेद केवल नास्तिकों द्वारा फैलाये हुए भी हैं। कितने सामान्य नीतिको धर्म कहते हैं। कितने ज्ञानको ही धर्म कहते हैं। कितने अज्ञानको धर्ममत कहते हैं। कितने भक्तिको कहते हैं; कितने क्रियाको कहते हैं; कितने विनयको कहते हैं और कितने शरीरकी रक्षा करना इसे धर्ममत कहते हैं।

इन धर्ममतस्थापकोंने ऐसा उपदेश किया मालूम होता है कि हम जो कहते हैं वह सर्वज्ञवाणीरूप और सत्य है, बाकीके सभी मत असत्य और कुतर्कवादी हैं; इसलिए उन मतवादियोंने परस्पर योग्य या अयोग्य खण्डन किया है। वेदान्तके उपदेशक यही उपदेश देते हैं; सांख्यका भी यही उपदेश है; बुद्धका भी यही उपदेश है; न्याय-मतवालोंका भी यही उपदेश है; वैशेषिकोंका यही उपदेश है; शक्तिपंथीका यही उपदेश है; वैष्णवादिकका यही उपदेश है; इस्लामका यही उपदेश है; और ईसा मसीहका यही उपदेश है कि यह हमारा कथन आपको सर्व सिद्धि देगा। तब हमें अब क्या विचार करना ?

वादी प्रतिवादी दोनों सच्चे नहीं होते और दोनों झूठे भी नहीं होते। बहुत हुआ तो वादी कुछ अधिक सच्चा और प्रतिवादी कुछ कम झूठा होता है।[1] दोनोंकी बात सर्वथा झूठी नहीं होनी चाहिए। ऐसा विचार करने पर तो एक धर्ममत सच्चा ठहरता है और बाकीके झूठे ठहरते हैं।

जिज्ञासु—यह एक आश्चर्यकारक बात है। सबको असत्य और सबको सत्य कैसे कहा जा सकता है ? यदि सबको असत्य कहें तो हम नास्तिक ठहरते हैं और धर्मकी सच्चाई जाती रहती है। यह तो निश्चित है कि धर्मकी सच्चाई है, और सृष्टिपर उसकी आवश्यकता है। एक धर्ममत सत्य और बाकीके सब असत्य ऐसा कहें तो इस बातको सिद्ध करके बतलाना चाहिए। सबको सत्य कहें तो फिर यह बालूकी भींत हुई; क्योंकि फिर इतने सारे मतभेद किसलिए हों ? सब एक ही प्रकारके मत स्थापित

१. द्वितीयावृत्तिमें यह पाठ विशेष है—'अथवा प्रतिवादी कुछ अधिक सच्चा और वादी कुछ कम झूठा होता है।'

करनेका यत्न किसलिए न करें? इस तरह अन्योन्यके विरोधाभासके विचारसे थोडी देर रुकना पडता है।

तो भी तत्संबंधी यथामति मैं कुछ स्पष्टता करता हूँ। यह स्पष्टता सत्य और मध्यस्थ-भावनाकी है, एकांतिक या मताग्रही नहीं है, पक्षपाती या अविवेकी नहीं है; परन्तु उत्तम और विचार करने योग्य है। देखनेमें यह सामान्य लगेगी; परन्तु सूक्ष्म विचारसे बहुत मर्मवाली लगेगी।

शिक्षापाठ ५९ : धर्मके मतभेद–भाग २

इतना तो तुम्हें स्पष्ट मानना चाहिये कि कोई भी एक धर्म इस सृष्टिपर संपूर्ण सत्यता रखता है। अब एक दर्शनको सत्य कहते हुए बाकीके धर्ममतोंको सर्वथा असत्य कहना पडे; परन्तु मैं ऐसा नहीं कह सकता। शुद्ध आत्मज्ञानदाता निश्चयनयसे तो वे असत्यरूप सिद्ध होते हैं; परन्तु व्यवहार-नयसे वे असत्य नहीं कहे जा सकते। एक सत्य और बाकीके अपूर्ण और सदोष हैं ऐसा मैं कहता हूँ। तथा कितने ही कुतर्कवादी और नास्तिक हैं वे सर्वथा असत्य हैं; परन्तु जो परलोकसंबंधी या पापसंबंधी कुछ भी बोध या भय बताते हैं उस प्रकारके धर्ममतोंको अपूर्ण और सदोष कहा जा सकता है। एक दर्शन जिसे निर्दोष और पूर्ण कहनेका है उसकी बात अभी एक ओर रखें।

अब तुम्हें शंका होगी कि सदोष और अपूर्ण कथनका उपदेश उसके प्रवर्तकने किसलिए दिया होगा? उसका समाधान होना चाहिए। उन धर्ममतवालोंकी जहाँ तक बुद्धिकी गति पहुँची वहाँ तक उन्होंने विचार किये। अनुमान, तर्क और उपमा आदिके आधारसे उन्हें जो कथन सिद्ध प्रतीत हुआ वह प्रत्यक्षरूपसे मानो सिद्ध है ऐसा उन्होंने बताया। जो पक्ष लिया उसमें मुख्य एकांतिकवाद लिया; भक्ति, विश्वास, नीति, ज्ञान या क्रिया इनमेंसे एक विषयका विशेष वर्णन किया, इससे दूसरे मानने योग्य विषयोंको उन्होंने दूषित कर दिया। फिर जिन विषयोंका उन्होंने वर्णन किया वे सर्व भावभेदसे उन्होंने कुछ जाने नहीं थे; फिर भी अपनी महाबुद्धिके अनुसार उनका बहुत वर्णन किया। तार्किक सिद्धांत तथा दृष्टांत आदिसे सामान्य बुद्धिवालों या जडभरतोंके आगे उन्होंने सिद्ध कर बताया। कीर्ति, लोकहित या भगवान मनवानेकी आकांक्षा इनमेंसे एकाध भी उनके मनका भ्रम होनेसे अत्युग्र उद्यमादिसे वे विजयको प्राप्त हुए। कितनोंने शृंगार और लहरी[1] साधनोंसे मनुष्योंके मन जीत लिये। दुनिया मोहिनीमें तो मूलतः डूबी पडी है; इसलिए ऐसे लहरी दर्शनसे भेडिया-धसानरूप होकर उन्होंने प्रसन्न होकर उनका कहना मान्य रखा। कितनोंने नीति तथा कुछ वैराग्य आदि गुण देखकर उस कथनको मान्य रखा। प्रवर्तककी बुद्धि उनकी अपेक्षा विशेष होनेसे उसे फिर भगवानरूप ही मान लिया। कितनोंने वैराग्यसे धर्ममत फैलाकर पीछे से कुछ सुखशील साधनोंका बोध घुसेड दिया। अपने मतका स्थापन करनेके महान भ्रमसे और अपनी अपूर्णता इत्यादि चाहे जिस कारणसे दूसरेका कहा हुआ स्वयंको न रुचा इसलिए उसने अलग ही मार्ग निकाला। इस प्रकार अनेक मतमतांतरोंका जाल फैलता गया। चार-पाँच पीढियों तक एकका एक धर्मका पालन हुआ इसलिए फिर वह कुलधर्म हो गया। इस प्रकार स्थान-स्थानपर होता गया।

शिक्षापाठ ६० : धर्मके मतभेद–भाग ३

यदि एक दर्शन पूर्ण और सत्य न हो तो दूसरे धर्ममतोंको अपूर्ण और असत्य किसी प्रमाणसे नहीं कहा जा सकता; इसलिए जो एक दर्शन पूर्ण और सत्य है उसके तत्त्वप्रमाणसे दूसरे मतोंकी अपूर्णता और एकांतिकता देखें।

---

१. द्वि० आ० पाठा० 'लोकेच्छित'

इन दूसरे धर्ममतोंमें तत्त्वज्ञानसंबंधी यथार्थ सूक्ष्म विचार नहीं है। कितने ही जगत्कर्ताका उपदेश करते हैं, परन्तु जगत्-कर्ता प्रमाणसे सिद्ध नहीं हो सकता। कितने ज्ञानसे मोक्ष है ऐसा कहते हैं वे एकांतिक हैं; इसी प्रकार क्रियासे मोक्ष है, ऐसा कहनेवाले भी एकांतिक हैं। ज्ञान और क्रिया इन दोनोंसे मोक्ष कहनेवाले उसके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानते और वे इन दोनोंके भेदको श्रेणिबद्ध नहीं कह सके, इसीसे उनकी सर्वज्ञताकी कमी सिद्ध होती है। सद्देवतत्त्वमें कहे हुए अठारह दूषणोंसे वे धर्ममतस्थापक रहित नहीं थे ऐसा उनके रचे हुए चरित्रोंसे भी तत्त्वकी दृष्टिसे दिखायी देता है। कितने ही मतोंमें हिंसा, अब्रह्मचर्य इत्यादि अपवित्र विषयोंका उपदेश है वे तो सहज ही अपूर्ण और सरागी द्वारा स्थापित दिखायी देते हैं। इनमेंसे किसीने सर्व व्यापक मोक्ष, किसीने शून्यरूप मोक्ष, किसीने साकार मोक्ष, किसीने अमुक काल तक रहकर पतित होनेरूप मोक्ष माना है; परन्तु इनमेंसे उनकी कोई भी बात सप्रमाण नहीं हो सकती।[1] 'उनके अपूर्ण विचारोंका खंडन वस्तुतः देखने जैसा है और वह निर्ग्रंथ आचार्योंके रचे हुए शास्त्रोंमें मिल सकेगा।'

वेदके अतिरिक्त दूसरे मतोंके प्रवर्तक, उनके चरित्र, विचार इत्यादि पढनेसे वे अपूर्ण हैं ऐसा मालूम हो जाता है। [2]'वेदने प्रवर्तकोंको भिन्न-भिन्न करके बेधडकतासे बातको मर्ममें डालकर गंभीर डौल भी किया है। फिर भी उसके पुष्कल मतोंको पढनेसे यह भी अपूर्ण और एकांतिक मालूम हो जायेगा।'

जिस पूर्ण दर्शनके विषयमें यहाँ कहना है वह जैन अर्थात् नीरागीके स्थापन किये हुए दर्शनके विषयमें है। इसके बोधदाता सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे। कालभेद है तो भी यह बात सैद्धांतिक प्रतीत होती है। दया, ब्रह्मचर्य, शील, विवेक, वैराग्य, ज्ञान, क्रिया आदिका इनके जैसा पूर्ण वर्णन एकने भी नहीं किया है। उसके साथ शुद्ध आत्मज्ञान, उसकी कोटियाँ, जीवके च्यवन, जन्म, गति, विगति, योनिद्वार, प्रदेश, काल और उनके स्वरूपके विषयमें ऐसा सूक्ष्म बोध है कि जिससे उनकी सर्वज्ञताकी निःशंकता होती है। कालभेदसे परम्परास्नायसे केवलज्ञानादि ज्ञान देखनेमें नहीं आते, फिर भी जो जो जिनेश्वरके रहे हुए सैद्धांतिक वचन हैं वे अखंड हैं। उनके कतिपय सिद्धांत ऐसे सूक्ष्म हैं कि जिनमेंसे एक एकका विचार करते हुए सारी जिंदगी बीत जाय ऐसा है। आगे इस संबंधमें बहुत कुछ कहना है।

जिनेश्वरके कहे हुए धर्मतत्त्वोंसे किसी भी प्राणीको लेशमात्र खेद उत्पन्न नहीं होता। सर्व आत्माओंकी रक्षा और सर्वात्म-शक्तिका प्रकाश इसमें निहित है। इन भेदोंको पढनेसे, समझनेसे और इन पर अति अति सूक्ष्म विचार करनेसे आत्मशक्ति प्रकाश पाकर जैनदर्शनकी सर्वज्ञताके लिए, सर्वोत्कृष्टताके लिए हा कहलवाती है। बहुत मननपूर्वक सभी धर्ममतोंको जानकर फिर तुलना करनेवालेको यह कथन अवश्य सत्य सिद्ध होगा।

इस सर्वज्ञदर्शनके मूल तत्त्वों और दूसरे मतोंके मूल तत्त्वोंके विषयमें यहाँ विशेष कह सकने जितनी जगह नहीं है।

शिक्षापाठ ६१ : सुखसंबंधी विचार—भाग १

एक ब्राह्मण दरिद्रावस्थासे बहुत पीडित था। उसने तंग आकर आखिर देवकी उपासना करके लक्ष्मी प्राप्त करनेका निश्चय किया। स्वयं विद्वान होनेसे उसने उपासना करनेसे पहले विचार किया कि कदाचित् कोई देव तो संतुष्ट होगा, परन्तु फिर उससे कौन-सा सुख माँगना ? तप करनेके बाद माँगनेमें

---

१. द्वि॰आ॰पाठा॰—'उनके विचारोंकी अपूर्णता निःस्पृही तत्त्ववेत्ताओंने बतायी है उसे यथास्थित जानना योग्य है।'

२. द्वि॰ आ॰ पाठा॰—'वर्तमानमें जो वेद हैं वे बहुत प्राचीन ग्रंथ हैं, इसलिए उस मतकी प्राचीनता है। परंतु वे भी हिंसाके कारण दूषित होनेसे अपूर्ण हैं, और सरागीके वाक्य हैं, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है।'

कुछ सूझे नहीं, अथवा न्यूनाधिक सूझे तो किया हुआ तप भी निरर्थक हो जाये; इसलिए एक बार सारे देशमें प्रवास करूँ। संसारके महापुरुषोंके धाम, वैभव और सुख देखूँ। ऐसा निश्चय करके वह प्रवासमें निकल पडा। भारतके जो जो रमणीय और ऋद्धिमान शहर थे वे देखे। युक्ति-प्रयुक्तिसे राजाधिराजोंके अन्तःपुर, सुख और वैभव देखे। श्रीमानोंके आवास, कारोबार, बाग-बगीचे और कुटुम्ब परिवार देखे; परन्तु इससे उसका मन किसी तरह माना नहीं। किसीको स्त्रीका दुःख, किसीको पतिका दुःख, किसीको अज्ञानसे दुःख, किसीको प्रियजनोंके वियोगका दुःख, किसीको निर्धनताका दुःख, किसीको लक्ष्मीकी उपाधिका दुःख, किसीको शरीरसंबंधी दुःख, किसीको पुत्रका दुःख, किसीको शत्रुका दुःख, किसीको जडताका दुःख, किसीको माँ-बापका दुःख, किसीको वैधव्यदुःख, किसीको कुटुम्बका दुःख, किसीको अपने नीच कुलका दुःख, किसीको प्रीतिका दुःख, किसीको ईर्ष्याका दुःख, किसीको हानिका दुःख, इस प्रकार एक, दो, अधिक अथवा सभी दुःख स्थान-स्थानपर उस ब्राह्मणके देखनेमें आये। इससे उसका मन किसी स्थानमें नहीं माना; जहाँ देखे वहाँ दुःख तो था ही। किसी भी स्थानमें संपूर्ण सुख उसके देखनेमें नहीं आया। अब फिर क्या माँगना ? यों विचार करते-करते एक महाधनाढ्यकी प्रशंसा सुनकर वह द्वारिकामें आया। द्वारिका महाऋद्धिसंपन्न, वैभवयुक्त, बागबगीचोंसे सुशोभित और बस्तीसे भरपूर शहर उसे लगा। सुन्दर एवं भव्य आवासोंको देखता हुआ और पूछता-पूछता वह उस महाधनाढ्यके घर गया। श्रीमान दीवानखानेमें बैठा हुआ था। उसने अतिथि जान कर ब्राह्मणका सन्मान किया; कुशलता पूछी और उसके लिए भोजनकी व्यवस्था करवाई। थोडी देरके बाद सेठने धीरजसे ब्राह्मणको पूछा, "आपके आगमनका कारण यदि मुझे कहने योग्य हो तो कहिये।" ब्राह्मणने कहा, "अभी आप क्षमा कीजिये। पहले आपको अपने सभी प्रकारके वैभव, धाम, बाग-बगीचे इत्यादि मुझे दिखाने पडेंगे; उन्हें देखनेके बाद मैं अपने आगमन-का कारण कहूँगा।" सेठने इसका कुछ मर्मरूप कारण जानकर कहा "भले, आनंदपूर्वक अपनी इच्छाके अनुसार करिये।" भोजनके बाद ब्राह्मणने सेठको स्वयं साथ चलकर धामादिक बतानेके लिए विनती की। धनाढ्यने उसे मान्य रखा; और स्वयं साथ जाकर बागबगीचा, धाम, वैभव यह सब दिखाया। सेठकी स्त्री, पुत्र भी वहाँ ब्राह्मणके देखनेमें आये। उन्होंने योग्यतापूर्वक उस ब्राह्मणका सत्कार किया। उनके रूप, विनय, स्वच्छता तथा मधुरवाणीसे ब्राह्मण प्रसन्न हुआ। फिर उसकी दुकानका कारोबार देखा। सौ एक कारिंदे वहाँ बैठे हुए देखे। वे भी मायालु, विनयी और नम्र उस ब्राह्मणके देखनेमें आये। इससे वह बहुत संतुष्ट हुआ। उसके मनको यहाँ कुछ संतोष हुआ। सुखी तो जगतमें यही मालूम होता है ऐसा उसे लगा।

शिक्षापाठ ६२ : सुखसंबंधी विचार—भाग २

कैसे सुन्दर इसके भवन हैं ! इनकी स्वच्छता और संभाल कैसी सुन्दर है ! कैसी सयानी और मनोज्ञा इसकी सुशील स्त्री है ! इसके कैसे कांतिमान और आज्ञाकारी पुत्र है ! कैसा मेलजोलवाला इसका कुटुम्ब है ! लक्ष्मीकी कृपा भी इसके यहाँ कैसी है ! सारे भारतमें इसके जैसा दूसरा कोई सुखी नहीं है। अब तप करके यदि मैं माँगूँ तो इस महाधनाढ्य जैसा ही सब माँगूँ, दूसरी चाह न करूँ।

दिन बीत गया और रात्रि हुई। सोनेका वक्त हुआ। धनाढ्य और ब्राह्मण एकांतमें बैठे थे; फिर धनाढ्यने विप्रसे आगमनका कारण कहनेकी विनती की।

विप्र—मैं घरसे ऐसा विचार करके निकला था कि सबसे अधिक सुखी कौन है यह देखूँ; और तप करके फिर उस जैसा सुख प्राप्त करूँ। सारा भारत और उसके सभी रमणीय स्थल देखे, परन्तु किसी

राजाधिराजके वहाँ भी संपूर्ण सुख मेरे देखनेमें नहीं आया। जहाँ देखा वहाँ आधि, व्याधि और उपाधि देखनेमें आई। इस ओर आने पर आपकी प्रशंसा सुनी, इसलिए मैं यहाँ आया; और संतोष भी पाया। आपके जैसी ऋद्धि, सत्पुत्र, कमाई, स्त्री, कुटुम्ब, घर आदि मेरे देखनेमें कहीं भी नहीं आये। आप स्वयं भी धर्मशील, सद्गुणी और जिनेश्वरके उत्तम उपासक है। इससे मैं ऐसा मानता हूँ कि आपके जैसा सुख अन्यत्र नहीं है। भारतमें आप विशेष सुखी हैं। उपासना करके कदाचित् देवसे माँगूँ तो आपके जैसी सुखस्थिति माँगूँ।

धनाढ्य—पंडितजी, आप एक बडे मर्मभरे विचारसे निकले हैं; इसलिए मैं अवश्य आपसे अपने अनुभवकी बात ज्यों की त्यों कहता हूँ; फिर आपकी जैसी इच्छा हो वैसा करें। मेरे यहाँ आपने जो जो सुख देखे वे वे सुख भारत भरमें कहीं भी नहीं हैं यह आपने कहा, तो वैसा होगा; परन्तु सचमुच यह मुझे संभव नहीं लगता। मेरा सिद्धान्त ऐसा है कि जगतमें किसी स्थानमें वास्तविक सुख नहीं है। जगत दुःखसे जल रहा है। आप मुझे सुखी देखते हैं परंतु वस्तुतः मैं सुखी नहीं हूँ।

विप्र—आपका यह कहना कोई अनुभव-सिद्ध और मार्मिक होगा। मैंने अनेक शास्त्र देखे हैं; फिर भी ऐसे मर्मपूर्वक विचार ध्यानमें लेनेका मैंने परिश्रम ही नहीं उठाया और मुझे ऐसा अनुभव सबके लिए नहीं हुआ। अब आपको क्या दुःख है, वह मुझसे कहिये।

धनाढ्य—पंडितजी, आपकी इच्छा है तो मैं कहता हूँ, वह ध्यानपूर्वक मनन करने योग्य है; और इस पर से कोई मार्गदर्शन मिल सकता है।

शिक्षापाठ ६३ : सुखसंबंधी विचार—भाग ३

आप अभी मेरी जैसी स्थिति देखते हैं वैसी स्थिति लक्ष्मी, कुटुम्ब और स्त्रीके सम्बन्धमें पहले भी थी। जिस समयकी मैं बात कर रहा हूँ, उस समयको लगभग बीस वर्ष हो गये। व्यापार और वैभवकी बहुलता यह सब कारोबार उलटा पडनेसे घटने लगी। करोडपति कहलानेवाला मैं लगातार घाटेका भार वहन करनेसे मात्र तीन वर्षमें लक्ष्मीहीन हो गया। जहाँ सर्वथा सीधा समझकर दाव लगाया था वहाँ उलटा दाव पडा। उस अरसेमें मेरी स्त्री भी गुजर गई। उस समय मेरे कोई संतान न थी। प्रबल हानियोंके कारण मुझे यहाँसे निकल जाना पडा। मेरे कुटुम्बियोंने यथाशक्ति रक्षा की; परन्तु वह आकाश फटनेपर थिगली लगाना था। अन्न और दाँतमें वैर होनेकी स्थितिमें मैं बहुत आगे निकल पडा। जब मैं वहाँसे निकला तब मेरे कुटुम्बी मुझे रोककर कहने लगे—"तूने गाँवका दरवाजा भी नहीं देखा, इसलिए तुझे जाने नहीं दिया जा सकता। तेरा कोमल शरीर कुछ भी कर नहीं सकेगा; और तू वहाँ जाये और सुखी हो जाये तो फिर वापस भी नहीं आयेगा; इसलिए यह विचार तुझे छोड देना चाहिये।" मैंने अनेक प्रकारसे उन्हें समझाया और यदि मैं अच्छी स्थिति प्राप्त करूँगा तो यहाँ अवश्य आऊँगा ऐसा वचन देकर मैं जावाबंदरके पर्यटनमें निकल पडा।

प्रारब्ध पलटनेकी तैयारी हुई। दैवयोगसे मेरे पास एक दमडी भी रही न थी। एक या दो महीने उदरपोषण चलाने जितना साधन भी रहा न था। फिर भी मैं जावामें गया। वहाँ मेरी बुद्धिने मेरे प्रारब्धको चमकाया। जिस जहाजमें मैं बैठा था उस जहाजके नाविकने मेरी चपलता और नम्रता देखकर अपने सेठसे मेरे दुःखकी बात की। उस सेठने मुझे बुलाकर एक काममें लगा दिया, जिसमें मैं अपने पोषणसे चौगुना पैदा करता था। इस व्यापारमें मेरा चित्त जब स्थिर हो गया तब भारतके साथ इस व्यापारको बढानेका मैंने प्रयत्न किया और उसमें सफल हुआ। दो वर्षमें पाँच लाख जितनी कमाई हुई।

फिर सेठसे राजी-खुशीसे आज्ञा लेकर मैं कुछ माल खरीदकर द्वारिकाकी ओर चल दिया। थोडे समयमें वहाँ आ पहुँचा, तब बहुतसे लोग मेरा स्वागत करने आये थे। मैं अपने कुटुम्बियोंसे आनन्दपूर्वक जाकर मिला। वे मेरे भाग्यकी प्रशंसा करने लगे। जावेसे लिये हुए मालने मुझे एकके पाँच कराये। पंडितजी! वहाँ अनेक प्रकारसे मुझे पाप करने पडे थे; पेटभर खानेको भी मुझे नहीं मिला था; परन्तु एक बार लक्ष्मी सिद्ध करनेकी जो मैंने प्रतिज्ञा की थी वह प्रारब्धयोगसे पूर्ण हुई। जिस दुःखदायक स्थितिमें मैं था उसमें दुःखकी क्या कमी थी? स्त्री, पुत्र ये तो यद्यपि थे ही नहीं; माँ-बाप पहलेसे परलोक सिधार गये थे। कुटुम्बियोंके वियोगसे और बिना दमडीके जिस समय मैं जावा गया था उस समयकी स्थिति अज्ञानदृष्टिसे आँखोंमें आँसू ला देती है। ऐसे समयमें भी मैंने धर्ममें ध्यान रखा था, दिनका अमुक भाग उसमें लगाता था, वह लक्ष्मी या ऐसी किसी लालचसे नहीं; परन्तु यह मानकर कि यह संसारदुःखसे पार करनेवाला साधन है। मौतका भय क्षणभर भी दूर नहीं हैं, इसलिए यथासंभव यह कर्तव्य कर लेना चाहिये, यह मेरी मुख्य नीति थी। दुराचारसे कोई सुख नहीं है; मनकी तृप्ति नहीं है; और आत्माकी मलिनता है। इस तत्त्वकी ओर मैंने अपना ध्यान लगाया था।

शिक्षापाठ ६४ : सुखसंबंधी विचार—भाग ४

यहाँ आनेके बाद मैंने अच्छे घरकी कन्या प्राप्त की। वह भी सुलक्षणी और मर्यादाशील निकली। उससे मेरे तीन पुत्र हुए। कारोबार प्रबल होनेसे और पैसा पैसेको खींचता है इस न्यायसे मैं दस वर्षमें महान करोडपति हो गया। पुत्रोंकी नीति, विचार और बुद्धिको उत्तम रखनेके लिए मैंने बहुत सुन्दर साधनोंकी व्यवस्था की, जिससे वे इस स्थितिको प्राप्त हुए हैं। अपने कुटुम्बियोंको यथायोग्य स्थानोंमें लगाकर उनकी स्थितिको सुधारा। दुकानके मैंने अमुक नियम बनाये। उत्तम मकान बनवानेका आरंभ कर दिया। यह मात्र एक ममत्वके लिए किया। गया हुआ फिर प्राप्त किया; और कुल परंपराकी प्रसिद्धिको जानेसे रोका, ऐसा कहलवानेके लिए मैंने यह सब किया। इसे मैं सुख नहीं मानता। यद्यपि मैं दूसरोंकी अपेक्षा सुखी हूँ, तो भी यह सातावेदनीय है, सत्सुख नहीं है। जगतमें बहुधा असातावेदनीय है। मैंने धर्ममें अपना समय बितानेका नियम रखा है। सत्शास्त्रोंका वाचन, मनन, सत्पुरुषोंका समागम, यमनियम, एक मासमें बारह दिन ब्रह्मचर्य, यथाशक्ति गुप्तदान, इत्यादि धर्ममें अपना समय बिताता हूँ। सर्व व्यवहारसंबंधी उपाधियोंमेंसे कितना ही भाग मैंने अधिकतर छोड दिया है। पुत्रोंको व्यवहारमें यथायोग्य बनाकर मैं निर्ग्रंथ होनेकी इच्छा रखता हूँ। अभी निर्ग्रंथ हो सकूँ ऐसी स्थिति नहीं है; इसमें संसारमोहिनी या ऐसा कोई कारण नहीं है, परन्तु वह भी धर्मसंबंधी कारण है। गृहस्थधर्मके आचरण बहुत निकृष्ट हो गये हैं; और मुनि उन्हें सुधार नहीं सकते। गृहस्थ गृहस्थको विशेष बोध दे सकता है, आचरणसे भी असर डाल सकता है। इसलिए मैं गृहस्थवर्गको प्रायः धर्मसंबंधी बोध देकर यमनियममें लगाता हूँ। प्रति सप्ताह अपने यहाँ लगभग पाँचसौ सद्गृहस्थोंकी सभा होती है। उन्हें आठ दिनके नये अनुभव और बाकीके पिछले धर्मानुभवका दो-तीन मुहूर्त्त तक बोध देता हूँ। मेरी स्त्री धर्मशास्त्रकी कुछ जानकार होनेसे वह भी स्त्रीवर्गको उत्तम यमनियमका बोध देकर साप्ताहिक सभा करती है। पुत्र भी शास्त्रोंका यथाशक्ति परिचय रखते हैं। विद्वानोंका सन्मान, अतिथिका सन्मान, विनय और सामान्य सत्यता, एक ही भाव—ऐसे नियम बहुधा मेरे अनुचर भी पालते हैं। इसलिए ये सब साता भोग सकते हैं। लक्ष्मीके साथ-साथ मेरी नीति, धर्म, सद्गुण और विनयने जनसमुदायपर बहुत अच्छा असर किया है। राजा तक भी मेरी नीतिकी बातको अङ्गीकार करे, ऐसी स्थिति हो गयी है। यह सब मैं आत्मप्रशंसाके

लिए कहता नहीं हूँ, यह आप ध्यानमें रखें; मात्र आपकी पूछी हुई बातकी स्पष्टताके लिए यह सब संक्षेपमें कह रहा हूँ।

शिक्षापाठ ६५ : सुखसंबंधी विचार–भाग ५

इन सब बातोंसे आपको ऐसा लग सकेगा कि मैं सुखी हूँ और सामान्य विचारसे आप मुझे बहुत सुखी मानें तो माना जा सकता है। धर्म, शील और नीतिसे तथा शास्त्रावधानसे मुझे जो आनन्द प्राप्त होता है वह अवर्णनीय है। परन्तु तत्त्वदृष्टिसे मैं सुखी न माना जाऊँ। जब तक मैंने बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहका सर्व प्रकारसे त्याग नहीं किया तब तक रागदोषका भाव है। यद्यपि वह बहुत अंशमें नहीं है, परंतु हैं सही; तो वहाँ उपाधि भी है। सर्वसंगपरित्याग करनेकी मेरी सम्पूर्ण आकांक्षा हैं; परन्तु जब तक ऐसा नहीं हुआ है तब तक अभी किसी माने गये प्रियजनका वियोग, व्यवहारमें हानि और कुटुम्बीका दुःख, ये थोडे अंशमें भी उपाधि दे सकते हैं। अपनी देहमें मौतके सिवाय भी नाना प्रकारके रोगोंका होना संभव है। इसलिए जब तक सर्वथा निर्ग्रंथ, बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्याग, अल्पारंभका त्याग यह सब नहीं हुआ तब तक मैं अपनेको सर्वथा सुखी नहीं मानता। अब आपको तत्त्वदृष्टिसे विचार करनेपर मालूम होगा कि लक्ष्मी, स्त्री, पुत्र या कुटुम्बसे सुख नहीं है; और इसे यदि सुख मानूँ तो जब मेरी स्थिति पतित हुई थी तब यह सुख कहाँ गया था ? जिसका वियोग है, जो क्षणभंगुर है और जिसमें एकत्व या अव्याबाधत्व नहीं है वह सुख सम्पूर्ण नहीं है। इसलिए मैं अपनेको सुखी नहीं कह सकता। मैं बहुत विचार विचारकर व्यापार कारोबार करता था, तो भी मुझे आरम्भोपाधि, अनीति और लेश भी कपटका सेवन करना नहीं पडा, ऐसा तो है ही नहीं। अनेक प्रकारके आरम्भ और कपटका मुझे सेवन करना पडा था। आप यदि मानते हो कि देवोपासनासे लक्ष्मी प्राप्त करना, तो वह यदि पुण्य न हो तो कदापि मिलनेवाली नहीं है। पुण्यसे लक्ष्मी प्राप्त करके महारंभ, कपट और मान इत्यादि बढाना ये महापापके कारण हैं; पाप नरकमें डालता है। पापसे आत्मा प्राप्त की हुई महान मनुष्यदेहको व्यर्थ गवाँ देता है। एक तो मानो पुण्यको खा जाना; और फिर पापका बंध करना; लक्ष्मीकी और उसके द्वारा सारे संसारकी उपाधि भोगना, यह बात विवेकी आत्माको मान्य नहीं होगी ऐसा मैं मानता हूँ। मैंने जिस कारणसे लक्ष्मीका उपार्जन किया था, वह कारण मैंने पहले आपको बताया था। जैसी आपकी इच्छा हो वैसा करें। आप विद्वान हैं, मैं विद्वानको चाहता हूँ। आपकी अभिलाषा हो तो धर्मध्यानमें प्रसक्त होकर सहकुटुम्ब यहाँ भले रहें। आपकी आजीविकाकी सरल योजना जैसे कहें वैसे मैं रुचिपूर्वक करा दूँ। यहाँ शास्त्राध्ययन और सद्वस्तुका उपदेश करें। मिथ्यारंभोपाधिकी लोलुपतामें, मैं समझता हूँ कि न पडें, फिर आपकी जैसी इच्छा।

पंडित–आपने अपने अनुभवकी बहुत मनन करने जैसी आख्यायिका कही। आप अवश्य कोई महात्मा हैं; पुण्यानुबंधी पुण्यवान जीव हैं; विवेकी हैं। आपकी शक्ति अद्भुत है। मैं दरिद्रतासे तंग आकर जो इच्छा रखता था वह एकांतिक थी। ऐसे सर्व प्रकारके विवेकी विचार मैंने किये नहीं थे। ऐसा अनुभव, ऐसी विवेकशक्ति, मैं चाहे जैसा विद्वान हूँ फिर भी मुझमें है ही नहीं। यह मैं सत्य ही कहता हूँ। आपने मेरे लिए जो योजना बताई है उसके लिए आपका बहुत उपकार मानता हूँ; और नम्रतापूर्वक उसे अंगीकार करनेके लिए मैं हर्ष प्रगट करता हूँ। मैं उपाधिको नहीं चाहता। लक्ष्मीका फंदा उपाधि ही देता है। आपका अनुभवसिद्ध कथन मुझे बहुत अच्छा लगा है। संसार जलता ही है, इसमें सुख नहीं है। आपने निरुपाधिक मुनिसुखकी प्रशंसा की वह सत्य है। वह सन्मार्ग परिणाममें सर्वोपाधि, आधि, व्याधि और

सर्व अज्ञानभावसे रहित ऐसे शाश्वत मोक्षका हेतु है।

शिक्षापाठ ६६ : सुखसंबंधी विचार—भाग ६

धनाढ्य—आपको मेरी बात अच्छी लगी इससे मुझे निरभिमानपूर्वक आनन्द होता है। आपके लिए मैं योग्य योजना करूँगा। मैं अपने सामान्य विचार कथानुरूप यहाँ कहनेकी आज्ञा चाहता हूँ।

जो केवल लक्ष्मीको उपार्जन करनेमें कपट, लोभ और मायामें उलझे पडे हैं वे बहुत दुःखी हैं। वे उसका पूरा या अधूरा उपयोग नहीं कर सकते, मात्र उपाधि ही भोगते हैं। वे असंख्यात पाप करते हैं। उन्हें काल अचानक उठा ले जाता है। अधोगतिको पाकर वे जीव अनन्त संसारकी वृद्धि करते हैं। प्राप्त मनुष्यदेहको वे निर्मूल्य कर डालते हैं, जिससे वे निरंतर दुःखी ही हैं।

जिसने अपनी आजीविका जितने ही साधन अल्पारंभसे रखे हैं, शुद्ध एकपत्नीव्रत, संतोष, परात्माकी रक्षा, यम, नियम, परोपकार, अल्प राग, अल्प द्रव्यमाया और सत्य तथा शास्त्राध्ययन रखे हैं, जो सत्पुरुषोंकी सेवा करता है, जिसने निर्ग्रंथताका मनोरथ रखा है, जो बहुत प्रकारसे संसारसे विरक्त जैसा है, जिसके वैराग्य और विवेक उत्कृष्ट हैं, वह पवित्रतामें सुखपूर्वक काल निर्गमन करता है।

जो सर्व प्रकारके आरंभ और परिग्रहसे रहित हुए हैं, द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे जो अप्रतिबंधरूपसे विचरते हैं, शत्रु-मित्रके प्रति जो समान दृष्टिवाले हैं और शुद्ध आत्मध्यानमें जिनका समय व्यतीत होता है, अथवा स्वाध्याय एवं ध्यानमें जो लीन हैं, ऐसे जितेन्द्रिय और जितकषाय निर्ग्रंथ परम सुखी हैं।

सर्व घनघाती कर्मोंका जिन्होंने क्षय किया है, जिनके चार कर्म दुर्बल पड गये हैं, जो मुक्त हैं, जो अनंतज्ञानी और अनंतदर्शी हैं, वे तो संपूर्ण सुखी ही हैं। वे मोक्षमें अनंत जीवनके अनंत सुखमें सर्व कर्मविरक्ततासे विराजते हैं।

इस प्रकार सत्पुरुषों द्वारा कहा हुआ मत मुझे मान्य है। पहला तो मुझे त्याज्य है, दूसरा अभी मान्य है, और प्रायः इसे ग्रहण करनेका मेरा बोध है। तीसरा बहु मान्य है। और चौथा तो सर्वमान्य तथा सच्चिदानंदस्वरूप ही है।

इस प्रकार पंडितजी ! आपकी और मेरी सुखसंबंधी बातचीत हुई। प्रसंगोपात्त इस बातकी चर्चा करते रहेंगे और इसपर विचार करेंगे। ये विचार आपको कहनेसे मुझे बहुत आनंद हुआ है। आप ऐसे विचारोंके अनुकूल हुए इससे तो आनंदमें और वृद्धि हुई है। परस्पर यों बातचीत करते-करते हर्षके साथ वे समाधिभावसे शयन कर गये।

जो विवेकी यह सुखसंबंधी विचार करेंगे वे बहुत तत्त्व और आत्मश्रेणिकी उत्कृष्टताको प्राप्त करेंगे। इसमें कहे हुए अल्पारंभी, निरारंभी और सर्वमुक्तके लक्षण लक्ष्यपूर्वक मनन करने योग्य हैं। यथासंभव अल्पारंभी होकर समभावसे जनसमुदायके हितकी ओर लगना, परोपकार, दया, शांति, क्षमा और पवित्रताका सेवन करना यह बहुत सुखदायक है। निर्ग्रंथताके विषयमें तो विशेष कहनेकी जरूरत ही नहीं है। मुक्तात्मा तो अनंत सुखमय ही है।

शिक्षापाठ ६७ : अमूल्य तत्त्वविचार

(हरिगीत छंद)

*बहु पुण्यकेरा पुंजथी शुभ देह मानवनो मळ्यो,
तोये अरे! भवचक्रनो आंटो नहि एक्के टळ्यो;
सुख प्राप्त करतां सुख टळे छे लेश ए लक्षे लहो,
क्षण क्षण भयंकर भावमरणे कां अहो राची रहो? १

लक्ष्मी अने अधिकार वधतां, शुं वध्युं ते तो कहो?
शुं कुटुंब के परिवारथी वधवापणुं, ए नय ग्रहो;
वधवापणुं संसारनुं नर देहने हारी जवो,
एनो विचार नहीं अहोहो! एक पळ तमने हवो!!! २

निर्दोष सुख निर्दोष आनंद, ल्यो गमे त्यांथी भले,
ए दिव्य शक्तिमान जेथी जंजीरेथी नीकळे!!
परवस्तुमां नहि मूंझवो, एनी दया मुजने रही,
ए त्यागवा सिद्धांत के पश्चात्दुःख ते सुख नहीं. ३

हुं कोण छुं? क्यांथी थयो? शुं स्वरूप छे मारुं खरुं?
कोना संबंधे वळगणा छे? राखुं के ए परहरुं?
एना विचार विवेकपूर्वक शांत भावे जो कर्या,
तो सर्व आत्मिक ज्ञाननां सिद्धांततत्त्व अनुभव्यां. ४

ते प्राप्त करवा वचन कोनुं सत्य केवळ मानवुं?
निर्दोष नरनुं कथन मानो 'तेह' जेणे अनुभव्युं;
रे! आत्म तारो! आत्म तारो! शीघ्र एने ओळखो;
सर्वात्ममां समदृष्टि द्यो आ वचनने हृदये लखो. ५

---

*भावार्थ—बहुत पुण्यके पुंजसे यह शुभ मानवदेह मिली, तो भी यह खेदकी बात है कि भवचक्रका एक भी चक्कर दूर नहीं हुआ। इसे जरा ध्यानमें लो कि सुख प्राप्त करते हुए सुख दूर होता है। यह आश्चर्य है कि क्षण-क्षणमें होनेवाले भावमरणमें तुम क्यों खुश हो रहे हो?॥१॥ भला यह तो बताओ कि लक्ष्मी और अधिकार बढनेसे तुम्हारा क्या बढा? कुटुम्ब और परिवार बढनेसे तुम्हारी क्या बढती हुई? इस रहस्यको समझो। क्योंकि संसारका बढना तो मनुष्यदेहको हार जाना है। यह कितना आश्चर्य है कि तुम्हें इसका विचार एक क्षणभरको भी नहीं हुआ!!॥२॥ निर्दोष सुख और निर्दोष आनंद चाहे जहाँसे भले लो, जिससे यह दिव्य शक्तिमान आत्मा बंधनसे मुक्त हो। परवस्तुमें तुम मोह मत करो। तुम मोह कर रहे हो इसकी मुझे दया आती है। परवस्तुके मोहको छोडनेके लिये इस सिद्धांतको ध्यानमें रखो कि जिस वस्तुके अंतमें दुःख है वह सुख नहीं है॥३॥ मैं कौन हूँ? कहाँसे आया हूँ? मेरा सच्चा स्वरूप क्या है? ये सारे लगाव किसके संबंधसे है? इन्हें रखूँ या छोड दूँ? यदि विवेकपूर्वक और शांतभावसे इन बातोंका विचार किया तो आत्मज्ञानके सभी सिद्धांततत्त्व अनुभवमें आ गये॥४॥ इसे प्राप्त करनेके लिये किसके वचनको सर्वथा सत्य मानना? जिसने इसका अनुभव किया है उस निर्दोष पुरुषके कथनको सत्य मानो। हे भव्यो! अपने आत्माको तारो! अपने आत्माको तारो! उसे शीघ्र पहचानो, और सभी आत्माओंमें समदृष्टि रखो, इस वचनको हृदयमें अंकित करो॥५॥

शिक्षापाठ ६८ : जितेन्द्रियता

जब तक जीभ स्वादिष्ट भोजन चाहती है, जब तक नासिका सुगंध चाहती है, जब तक कान वारांगनाके गायन और वाद्य चाहते हैं, जब तक आँखें वनोपवन देखनेका लक्ष रखती हैं, जब तक त्वचा सुगंधीलेपन चाहती है, तब तक यह मनुष्य नीरागी, निर्ग्रंथ, निष्परिग्रही, निरारंभी और ब्रह्मचारी नहीं हो सकता। मनको वश करना यह सर्वोत्तम है। इससे सभी इन्द्रियाँ वश की जा सकती है। मनको जीतना बहुत-बहुत दुष्कर है। एक समयमें असंख्यात योजन चलनेवाला अश्व यह मन है। इसे थकाना बहुत दुष्कर है। इसकी गति चपल और पकडमें न आ सकनेवाली है। महाज्ञानियोंने ज्ञानरूपी लगामसे इसे स्तंभित करके सब पर विजय प्राप्त की है।

उत्तराध्ययनसूत्रमें नमिराज महर्षिने शक्रेन्द्रसे ऐसा कहा कि दस लाख सुभटोंको जीतनेवाले कई पडे हैं; परन्तु स्वात्माको जीतनेवाले बहुत दुर्लभ हैं; और वे दस लाख सुभटोंको जीतनेवालोंकी अपेक्षा अति उत्तम हैं।

मन ही सर्वोपाधिकी जन्मदात्री भूमिका है। मन ही बंध और मोक्षका कारण है। मन ही सर्व संसारकी मोहिनीरूप है। यह वश हो जानेपर आत्मस्वरूपको पाना लेशमात्र दुष्कर नहीं है।

मनसे इन्द्रियोंकी लोलुपता है। भोजन, वाद्य, सुगंध, स्त्रीका निरीक्षण, सुन्दर विलेपन यह सब मन ही माँगता है। इस मोहिनीके कारण यह धर्मको याद तक नहीं करने देता। याद आनेके बाद सावधान नहीं होने देता। सावधान होनेके बाद पतित करनेमें प्रवृत्त होता है अर्थात् लग जाता है। इसमें सफल नहीं होता तो सावधानीमें कुछ न्यूनता पहुँचाता है। जो इस न्यूनताको भी न पाकर अडिग रहकर मनको जीतते हैं वे सर्वसिद्धिको प्राप्त करते हैं।

मन अकस्मात् किसीसे ही जीता जा सकता है, नहीं तो अभ्यास करके ही जीता जाता है। यह अभ्यास निर्ग्रंथतामें बहुत हो सकता है, फिर भी गृहस्थाश्रममें हम सामान्य परिचय करना चाहें तो उसका मुख्य मार्ग यह है कि यह जो दुरिच्छा करे उसे भूल जायें, वैसा न करें। यह जब शब्द, स्पर्श आदि विलासकी इच्छा करे तब इसे न दें। संक्षेपमें, हम इससे प्रेरित न हों, परन्तु हम इसे प्रेरित करें और वह भी मोक्षमार्गमें। जितेन्द्रियताके बिना सर्व प्रकारकी उपाधि खडी ही रहती है। त्यागने पर भी न त्यागने जैसा हो जाता है, लोक-लज्जासे उसे निभाना पडता है। इसलिए अभ्यास करके भी मनको जीतकर स्वाधीनतामें लाकर अवश्य आत्महित करना चाहिये।

शिक्षापाठ ६९ : ब्रह्मचर्यकी नौ बाडें

ज्ञानियोंने थोडे शब्दोंमें कैसे भेद और कैसा स्वरूप बताया है? इससे कितनी अधिक आत्मोन्नति होती है? ब्रह्मचर्य जैसे गंभीर विषयका स्वरूप संक्षेपमें अति चमत्कारी ढंगसे दिया है। ब्रह्मचर्यरूपी एक सुन्दर वृक्ष और उसकी रक्षा करनेवाली जो नौ विधियाँ हैं उसे बाडका रूप देकर ऐसी सरलता कर दी है कि आचारके पालनमें विशेष स्मृति रह सके। ये नौ बाडें जैसी है वैसी यहाँ कह जाता हूँ।

१ वसति—जो ब्रह्मचारी साधु है वह जहाँ स्त्री, पशु या पण्डगसे संयुक्त वसति हो वहाँ न रहे। स्त्री दो प्रकारकी हैं : मनुष्यिणी और देवांगना। इस प्रत्येकके फिर दो दो भेद हैं : एक तो मूल और दूसरी स्त्रीकी मूर्ति या चित्र। इस प्रकारका जहाँ वास हो वहाँ ब्रह्मचारी साधु न रहे। पशु अर्थात् तिर्यंचिणी गाय, भैंस इत्यादि जिस स्थानमें हों उस स्थानमें न रहे; और जहाँ पण्डग अर्थात् नपुंसकका वास हो वहाँ भी न रहे। इस प्रकारका वास ब्रह्मचर्यकी हानि करता है। उनकी कामचेष्टा, हावभाव इत्यादिक विकार

मनको भ्रष्ट करते हैं।

२ कथा—केवल अकेली स्त्रियोंको ही या एक ही स्त्रीको ब्रह्मचारी धर्मोपदेश न करे। कथा मोहकी जननी है। स्त्रीके रूपसम्बन्धी ग्रन्थ, कामविलाससम्बन्धी ग्रन्थ ब्रह्मचारी न पढे, या जिससे चित्त चलित हो ऐसी किसी भी प्रकारकी शृंगार सम्बन्धी कथा ब्रह्मचारी न करे।

३ आसन—स्त्रियोंके साथ एक आसनपर न बैठे। जहाँ स्त्री बैठी हो वहाँ दो घडी तक ब्रह्मचारी न बैठे। यह स्त्रियोंकी स्मृतिका कारण है; इससे विकारकी उत्पत्ति होती है; ऐसा भगवानने कहा है।

४ इन्द्रियनिरीक्षण—ब्रह्मचारी साधु स्त्रियोंके अंगोपांग न देखे; उनके अमुक अंगपर दृष्टि एकाग्र होनेसे विकारकी उत्पत्ति होती है।

५ कुड्यांतर—भीत, कनात अथवा टाटका व्यवधान बीचमें हो और जहाँ स्त्री-पुरुष मैथुन करते हों वहाँ ब्रह्मचारी न रहे। क्योंकि शब्द, चेष्टादिक विकारके कारण हैं।

६ पूर्वक्रीडा—स्वयं गृहस्थावासमें चाहे जिस प्रकारके शृंगारसे विषयक्रीडा की हो उसकी स्मृति न करे; वैसा करनेसे ब्रह्मचर्यका भंग होता है।

७ प्रणीत—दूध, दही, घृतादि मधुर और चिकने पदार्थोंका बहुधा आहार न करे। इससे वीर्यकी वृद्धि और उन्माद होते हैं और उससे कामकी उत्पत्ति होती है; इसलिए ब्रह्मचारी वैसा न करे।

८ अतिमात्राहार—पेट भरकर आहार न करे तथा जिससे अति मात्राकी उत्पत्ति हो ऐसा न करे। इससे भी विकार बढता है।

९ विभूषण—स्नान, विलेपन, पुष्प आदिको ब्रह्मचारी ग्रहण न करे। इससे ब्रह्मचर्यकी हानि होती है।

इस प्रकार भगवानने नौ बाडें विशुद्ध ब्रह्मचर्यके लिये कही हैं। बहुधा ये तुम्हारे सुननेमें आयी होंगी। परन्तु गृहस्थावासमें अमुक अमुक दिन ब्रह्मचर्य धारण करनेमें अभ्यासियोंके ध्यानमें रहनेके लिये यहाँ कुछ समझाकर कही हैं।

शिक्षापाठ ७० : सनत्कुमार—भाग १

चक्रवर्तीके वैभवमें क्या कमी हो? सनत्कुमार चक्रवर्ती थे। उनका वर्ण और रूप अत्युत्तम था। एक बार सुधर्मसभामें उस रूपकी स्तुति हुई। किन्हीं दो देवोंको यह बात न रुची। फिर वे उस शंकाको दूर करनेके लिये विप्रके रूपमें सनत्-कुमारके अंतःपुरमें गये। सनत्कुमारकी देहमें उस समय उबटन लगा हुआ था। उसके अंगोंपर मर्दनादिक पदार्थोंका मात्र विलेपन था। एक छोटी अंगोछी पहनी हुई थी और वे स्नान-मज्जन करनेके लिये बैठे थे। विप्रके रूपमें आये हुए देवता उनका मनोहर मुख, कंचनवर्णी काया और चन्द्र जैसी कांति देखकर बहुत आनंदित हुए और सिर हिलाया। इस पर चक्रवर्तीने पूछा, "आपने सिर क्यों हिलाया?" देवोंने कहा, "हम आपके रूप और वर्णका निरीक्षण करनेके लिये बहुत अभिलाषी थे। हमने स्थान-स्थानपर आपके वर्ण-रूपकी स्तुति सुनी थी, आज उसे हमने प्रत्यक्ष देखा, इससे हमें पूर्ण आनंद हुआ। सिर हिलानेका कारण यह है कि जैसा लोगोंमें कहा जाता है वैसा ही आपका रूप है; उससे अधिक है, परन्तु कम नहीं।" सनत्कुमार स्वरूपवर्णकी स्तुतिसे गर्वमें आकर बोले, "आपने इस समय मेरा रूप देखा सो ठीक है, परन्तु मैं जब राजसभामें वस्त्रालंकार धारण करके सर्वथा सज्ज होकर सिंहासनपर बैठता हूँ, तब मेरा रूप और मेरा वर्ण देखने योग्य है। अभी तो मैं शरीरमें उबटन लगाकर बैठा हूँ। यदि उस समय आप मेरे रूप-वर्णको देखेंगे तो अदभुत चमत्कारको प्राप्त होंगे और चकित हो जायेंगे।" देवोंने कहा, "तो फिर हम राजसभामें आयेंगे" ऐसा कहकर वे वहाँसे चले गये।

तत्पश्चात् सनत्कुमारने उत्तम वस्त्रालंकार धारण किये। अनेक प्रसाधनोंसे अपने शरीरको विशेष आश्चर्यकारी ढंगसे सजाकर वे राजसभामें आकर सिंहासनपर बैठे। आसपास समर्थ मंत्री, सुभट, विद्वान और अन्य सभासद अपने-अपने योग्य आसनोंपर बैठे हुए थे। राजेश्वर चमरछत्रसे और खमा खमाके उद्गारोंसे विशेष शोभित तथा सत्कारित हो रहे थे। वहाँ वे देवता फिर विप्रके रूपमें आये। अद्भुत रूप-वर्णसे आनंदित होनेसे बदले मानो खिन्न हुए हों ऐसे ढंगसे उन्होंने सिर हिलाया। चक्रवर्तीने पूछा, "अहो ब्राह्मणो ! गत समयकी अपेक्षा इस समय आपने और ही तरहसे सिर हिलाया है, इसका क्या कारण है सो मुझे बतायें।" अवधिज्ञानके अनुसार विप्रोंने कहा, "हे महाराजन् ! उस रूप और इस रूपमें भूमि-आकाशका फर्क पड गया है ।" चक्रवर्तीने उसे स्पष्ट समझानेके लिये कहा । ब्राह्मणोंने कहा, "अधिराज ! पहले आपकी कोमल काया अमृततुल्य थी, इस समय विषतुल्य है । जब अमृततुल्य अंग था तब हमें आनंद हुआ था और इस समय विषतुल्य है अतः हमें खेद हुआ है । हम जो कहते हैं उस बातको सिद्ध करना हो तो आप ताम्बूल थूकें। तत्काल उस पर मक्खी बैठेगी और परलोक पहुँच जायेगी ।"

शिक्षापाठ ७१ : सनत्कुमार—भाग २

सनत्कुमारने यह परीक्षा की तो सत्य सिद्ध हुई । पूर्व कर्मके पापके भागमें इस कायाके मदका मिश्रण होनेसे इस चक्रवर्तीकी काया विषमय हो गई थी । विनाशी और अशुचिमय कायाका ऐसा प्रपंच देखकर सनत्कुमारके अंतःकरणमें वैराग्य उत्पन्न हुआ। यह संसार सर्वथा त्याग करने योग्य है । ऐसीकी ऐसी अशुचि स्त्री, पुत्र, मित्र आदिके शरीरमें रही है। यह सब मोह-मान करने योग्य नहीं है, यों कहकर वे छः खंडकी प्रभुताका त्याग करके चल निकले । वे जब साधुरूपमें विचरते थे तब महारोग उत्पन्न हुआ । उनके सत्यत्वकी परीक्षा लेनेके लिये कोई देव वहाँ वैद्यरूपमें आया। साधुसे कहा, "मैं बहुत कुशल राजवैद्य हूँ; आपकी काया रोगका भोग बनी हुई है; यदि इच्छा हो तो तत्काल मैं उस रोगको दूर कर दूँ ।" साधु बोले, "हे वैद्य ! कर्मरूपी रोग महोन्मत्त है; इस रोगको दूर करनेकी आपकी समर्थता हो तो भले मेरा यह रोग दूर करें। यह समर्थता न हो तो यह रोग भले रहे ।" देवताने कहा,"इस रोगको दूर करनेकी समर्थता तो मैं नहीं रखता ।" साधुने अपनी लब्धिके परिपूर्ण बलसे थूकवाली अंगुलि करके उसे रोग पर लगाया कि तत्काल वह रोग नष्ट हो गया, और काया फिर जैसी थी वैसी हो गई। बादमें उस समय देवने अपना स्वरूप प्रकट किया, धन्यवाद देकर वंदन करके वह अपने स्थानको चला गया।

रक्तपित्त जैसे सदैव खून-पीपसे खदबदाते हुए महारोगकी उत्पत्ति जिस कायामें है, पलभरमें विनष्ट हो जानेका जिसका स्वभाव है, जिसके प्रत्येक रोममें पौने दो दो रोगोंका निवास है, ऐसे साढे तीन करोड रोमोंसे भरी होनेसे वह रोगोंका भंडार है ऐसा विवेकसे सिद्ध है। अन्न आदिकी न्यूनाधिकतासे वह प्रत्येक रोग जिस कायामें प्रगट होता है; मल, मूत्र, विष्ठा, हड्डी, मांस, पीप और श्लेष्मसे जिसका ढाँचा टिका हुआ है, मात्र त्वचासे जिसकी मनोहरता है, उस कायाका मोह सचमुच विभ्रम ही है ! सनत्कुमारने जिसका लेशमात्र मान किया, वह भी जिससे सहन नहीं हुआ, उस कायामें अहो पामर ! तू क्या मोह करता है ? यह मोह मंगलदायक नहीं है।

शिक्षापाठ ७२ : बत्तीस योग

सत्पुरुष नीचेके बत्तीस योगोंका संग्रह करके आत्माको उज्ज्वल करनेके लिए कहते हैं—

१. 'शिष्य अपने जैसा हो इसके लिए उसे श्रुतादिका ज्ञान देना।'[१]
२. 'अपने आचार्यत्वका जो ज्ञान हो उसका दूसरेको बोध देना और उसे प्रकाशित करना।'[२]
३. आपत्तिकालमें भी धर्मकी दृढताका त्याग नहीं करना।
४. लोक-परलोकके सुखके फलकी इच्छाके बिना तप करना।
५. जो शिक्षा मिली है उसके अनुसार यत्नासे वर्तन करना; और नयी शिक्षाको विवेकसे ग्रहण करना।
६. ममत्वका त्याग करना।
७. गुप्त तप करना।
८. निर्लोभता रखना।
९. परिषह-उपसर्गको जीतना।
१०. सरल चित्त रखना।
११. आत्मसंयम शुद्ध पालना।
१२. सम्यक्त्व शुद्ध रखना।
१३. चित्तकी एकाग्र समाधि रखना।
१४. कपटरहित आचार पालना।
१५. विनय करने योग्य पुरुषोंकी यथायोग्य विनय करनी।
१६. संतोषसे तृष्णाकी मर्यादा कम कर डालना।
१७. वैराग्यभावनामें निमग्न रहना।
१८. मायारहित वर्तन करना।
१९. शुद्ध करनीमें सावधान होना।
२०. संवरको अपनाना और पापको रोकना।
२१. अपने दोषोंको समभावपूर्वक दूर करना।
२२. सर्व प्रकारके विषयसे विरक्त रहना।
२३. मूल गुणोंमें पंचमहाव्रतोंको विशुद्ध पालना।
२४. उत्तर गुणोंमें पंचमहाव्रतोंको विशुद्ध पालना।
२५. उत्साहपूर्वक कायोत्सर्ग करना।
२६. प्रमादरहित ज्ञान व ध्यानमें प्रवर्तन करना।
२७. सदैव आत्मचारित्रमें सूक्ष्म उपयोगसे प्रवृत्त रहना।
२८. जितेन्द्रियताके लिये एकाग्रतापूर्वक ध्यान करना।
२९. मरणांत दुःखसे भी भयभीत नहीं होना।
३०. स्त्री आदिके संगका त्याग करना।
३१. प्रायश्चित्तसे विशुद्धि करना।
३२. मरणकालमें आराधना करना।

यह एक एक योग अमूल्य है। इन सबका संग्रह करनेवाला परिणाममें अनंत सुखको प्राप्त होता है।

द्वि० आ० पाठा०—१. 'मोक्षसाधक योगके लिये शिष्य आचार्यके पास आलोचना करे।'
२. 'आचार्य आलोचनाको दूसरेके पास प्रकाशित न करे।'

शिक्षापाठ ७३ : मोक्षसुख

इस सृष्टिमंडलमें भी कितनी ही ऐसी वस्तुएँ और मनकी इच्छाएँ रही हैं कि जिन्हें कुछ अंशमें जानते हुए भी कहा नहीं जा सकता। फिर भी ये वस्तुएँ कुछ सम्पूर्ण शाश्वत या अनंत भेदवाली नहीं है। ऐसी वस्तुका जब वर्णन नहीं हो सकता तब अनन्त सुखमय मोक्षसम्बन्धी उपमा तो कहाँसे मिलेगी ? गौतम स्वामीने भगवानसे मोक्षके अनन्त सुखके विषयमें प्रश्न किया तब भगवानने उत्तरमें कहा—"गौतम ! यह अनंतसुख ! मैं जानता हूँ, परन्तु उसे कहा जा सके ऐसी यहाँ पर कोई उपमा नहीं है। जगतमें इस सुखके तुल्य कोई भी वस्तु या सुख नहीं है।" ऐसा कहकर उन्होंने निम्न आशयका एक भीलका दृष्टांत दिया था।

एक जंगलमें एक भद्रिक भील अपने बालबच्चों सहित रहता था। शहर आदिकी समृद्धिकी उपाधिका उसे लेश भान भी न था। एक दिन कोई राजा अश्वक्रीडाके लिये घूमता घूमता वहाँ आ निकला। उसे बहुत प्यास लगी थी, जिससे उसने इशारेसे भीलसे पानी माँगा। भीलने पानी दिया। शीतल जलसे राजा संतुष्ट हुआ। अपनेको भीलकी तरफसे मिले हुए अमूल्य जलदानका बदला चुकानेके लिये राजाने भीलको समझाकर अपने साथ लिया। नगरमें आनेके बाद राजाने भीलको उसने जिन्दगीमें न देखी हुई वस्तुओंमें रखा। सुन्दर महल, पासमें अनेक अनुचर, मनोहर छत्रपलंग, स्वादिष्ट भोजन, मंद-मंद पवन और सुगन्धी विलेपनसे उसे आनन्दमय कर दिया। विविध प्रकारके हीरा, माणिक, मौक्तिक, मणिरत्न और रंग-बिरंगी अमूल्य वस्तुएँ निरन्तर उस भीलको देखनेके लिये भेजा करता था, और उसे बाग-बगीचोंमें घूमने-फिरनेके लिये भेजा करता था। इस प्रकार राजा उसे सुख दिया करता था। एक रात जब सब सो रहे थे तब उस भीलको बालबच्चे याद आये, इसलिये वह वहाँसे कुछ लिये किये बिना एकाएक निकल पडा। जाकर अपने कुटुम्बियोंसे मिला। उन सबने मिलकर पूछा, "तू कहाँ था ?" भीलने कहा, "बहुत सुखमें। वहाँ मैंने बहुत प्रशंसा करने योग्य वस्तुएँ देखीं।"

कुटुम्बी—परंतु वे कैसी थीं ? यह तो हमें बता।

भील—क्या कहूँ ? यहाँ वैसी एक भी वस्तु नहीं है।

कुटुम्बी—भला ऐसा हो क्या ? ये शंख, सीप, कौडा कैसे मनोहर पडे हैं ! वहाँ ऐसी कोई देखने लायक वस्तु थी ?

भील—नहीं, नहीं भाई, ऐसी वस्तु तो यहाँ एक भी नहीं है। उनके सौवें या हजारवें भाग जितनी भी मनोहर वस्तु यहाँ नहीं है।

कुटुम्बी—तब तो तू चुपचाप बैठा रह, तुझे भ्रम हुआ है, भला, इससे अच्छा और क्या होगा ?

हे गौतम ! जैसे यह भील राजवैभवसुख भोगकर आया था, और जानता भी था, फिर भी उपमा-योग्य वस्तु न मिलनेसे वह कुछ कह नहीं सकता था; वैसे ही अनुपमेय मोक्षको, सच्चिदानन्द स्वरूपमय निर्विकारी मोक्षके सुखके असंख्यातवें भागके भी योग्य उपमेय न मिलनेसे मैं तुझे नहीं कह सकता।

मोक्षके स्वरूपके विषयमें शंका करनेवाले तो कुतर्कवादी हैं, उन्हें क्षणिक सुखसंबंधी विचारके कारण सत्सुखका विचार नहीं आता। कोई आत्मिकज्ञानहीन यों भी कहता है कि इससे कोई विशेष सुखका साधन वहाँ है नहीं, इसलिये अनंत अव्याबाध सुख कह देते हैं। उसका यह कथन विवेकपूर्ण नहीं है। निद्रा प्रत्येक मानवको प्रिय है; परन्तु उसमें वह कुछ जान या देख नहीं सकता; और यदि कुछ जाननेमें आये तो मात्र स्वप्नोपाधिका मिथ्यापना आता है जिसका कुछ असर भी हो। वह स्वप्नरहित निद्रा

जिसमें सूक्ष्म एवं स्थूल सब जाना और देखा जा सके, और निरुपाधिसे शांत ऊँघ ली जा सके तो उसका वह वर्णन क्या कर सकता है ? उसे उपमा भी क्या दे सकता है ? यह तो स्थूल दृष्टांत है; परन्तु बाल, अविवेकी इस परसे कुछ विचार कर सके, इसलिये कहा है।

भीलका दृष्टांत, समझानेके लिये भाषाभेदके फेरफारसे तुम्हें कह बताया।

शिक्षापाठ ७४ : धर्मध्यान—भाग १

भगवानने चार प्रकारके ध्यान कहे हैं—आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। पहले दो ध्यान त्यागने योग्य हैं। पिछले दो ध्यान आत्मसार्थकरूप हैं। श्रुतज्ञानके भेदोंको जाननेके लिये, शास्त्रविचारमें कुशल होनेके लिये, निर्ग्रंथप्रवचनका तत्त्व पानेके लिये, सत्पुरुषोंके द्वारा सेवन करने योग्य, विचारने योग्य और ग्रहण करने योग्य धर्मध्यानके मुख्य सोलह भेद हैं। पहले चार भेद कहता हूँ। १. आणाविजय (आज्ञाविचय), २. अवायविजय (अपायविचय), ३. विवागविजय (विपाकविचय), ४. संठाण-विजय (संस्थानविचय)।

१. **आज्ञाविचय**—आज्ञा अर्थात् सर्वज्ञ भगवानने धर्मतत्त्व संबंधी जो जो कहा है वह वह सत्य है; इसमें शंका करने योग्य नहीं है। कालकी हीनतासे, उत्तम ज्ञानका विच्छेद होनेसे, बुद्धिकी मंदतासे या ऐसे अन्य किसी कारणसे मेरी समझमें वह तत्त्व नहीं आता। परन्तु अर्हत भगवानने अंशमात्र भी मायायुक्त या असत्य कहा ही नहीं है; क्योंकि वे नीरागी, त्यागी और निःस्पृही थे। मृषा कहनेका उन्हें कोई कारण न था, और वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी होनेसे अज्ञानसे भी मृषा नहीं कहेंगे। जहाँ अज्ञान ही नहीं है, वहाँ तत्संबंधी मृषा कहाँसे होगा ? ऐसा जो चिंतन करना वह 'आज्ञाविचय' नामका प्रथम भेद है।

२. **अपायविचय**—राग, द्वेष, काम, क्रोध इनसे जो दुःख उत्पन्न होता है उसका जो चिंतन करना वह 'अपायविचय' नामका दूसरा भेद है। अपाय अर्थात् दुःख।

३. **विपाकविचय**—मैं क्षण-क्षणमें जो जो दुःख सहन करता हूँ, भवाटवीमें पर्यटन करता हूँ, अज्ञानादिक पाता हूँ, वह सब कर्मके फलके उदयसे है, इस प्रकार जो चिंतन करना वह धर्मध्यानका तीसरा भेद है।

४. **संस्थानविचय**—तीन लोकके स्वरूपका चिंतन करना। लोकस्वरूप सुप्रतिष्ठकके आकारका है, जीव-अजीवसे संपूर्ण भरपूर है। असंख्यात योजनकी कोटानुकोटिसे तिरछा लोक है, जहाँ असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं। असंख्यात ज्योतिषी, वाणव्यंतर आदिके निवास हैं। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी विचित्रता इसमें लगी हुई है। ढाई द्वीपमें जघन्य तीर्थंकर बीस, उत्कृष्ट एक सौ सत्तर होते हैं, तथा केवली भगवान और निर्ग्रंथ मुनिराज विचरते हैं, उन्हें "वंदामि, नमंसामि, सक्कारेमि, सम्माणेमि, कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं, पज्जुवासामि" इस प्रकार तथा वहाँ रहनेवाले श्रावक-श्राविकाओंका गुणगान करें। उस तिरछे लोकसे असंख्यातगुना अधिक ऊर्ध्वलोक है। वहाँ अनेक प्रकारके देवताओंके निवास हैं। फिर ईषत् प्राग्भारा है। उसके बाद मुक्तात्मा विराजते हैं, उन्हें "वंदामि, यावत् पज्जुवासामि।" उस ऊर्ध्वलोकसे कुछ विशेष अधोलोक है, वहाँ अनंत दुःखसे भरे हुए नरकावास हैं और भवनपतिके भवनादिक हैं। इन तीन लोकके सर्व स्थानकोंको इस आत्माने सम्यक्त्वरहित करनीसे अनंतवार जन्ममरण करके स्पर्श किया है; ऐसा जो चिंतन करना वह 'संस्थानविचय' नामका धर्मध्यानका चौथा भेद है। इन चार भेदोंको विचारकर सम्यक्त्वसहित श्रुत और चारित्रधर्मकी आराधना करनी चाहिये जिससे ये अनंत जन्ममरण दूर हो। धर्मध्यानके इन चार भेदोंको स्मरणमें रखना चाहिये।

शिक्षापाठ ७५ : धर्मध्यान–भाग २

धर्मध्यानके चार लक्षण कहता हूँ। १. **आज्ञारुचि**–अर्थात् वीतराग भगवानकी आज्ञा अंगीकार करनेकी रुचि उत्पन्न होना। २. **निसर्गरुचि**–आत्मा स्वाभाविकरूपसे जातिस्मरणादि ज्ञानसे श्रुतसहित चारित्रधर्मको धारण करनेकी रुचि प्राप्त करे उसे निसर्गरुचि कहते हैं। ३. **सूत्ररुचि**–श्रुतज्ञान और अनंत तत्त्वके भेदोंके लिये कहे हुए भगवानके पवित्र वचनोंका जिनमें गूँथन हुआ है, उन सूत्रोंका श्रवण करने, मनन करने और भावसे पठन करनेकी रुचि उत्पन्न हो, उसे सूत्ररुचि कहते हैं। ४. **उपदेशरुचि**–अज्ञानसे उपार्जित कर्मोंको हम ज्ञानसे खपायें, तथा ज्ञानसे नये कर्मोंको न बाँधे; मिथ्यात्वसे उपार्जित कर्मोंको सम्यक्भावसे खपायें और सम्यक् भावसे नये कर्मोंको न बाँधे; अवैराग्यसे उपार्जित कर्मोंको वैराग्यसे खपायें और वैराग्यसे फिर नये कर्मोंको न बाँधे; कषायसे उपार्जित कर्मोंको कषायको दूर करके खपायें और क्षमादिसे नये कर्मोंको न बाँधे; अशुभयोगसे उपार्जित कर्मोंको शुभयोगसे खपायें और शुभयोगसे नये कर्मोंको न बाँधे; पाँच इन्द्रियोंके स्वादरूप आस्रवसे उपार्जित कर्मोंको संवरसे खपायें, और तपरूप संवरसे नये कर्मोंको न बाँधे; इसके लिए अज्ञानादिक आस्रव मार्ग छोडकर ज्ञानादिक संवर मार्ग ग्रहण करनेके लिए तीर्थंकर भगवानके उपदेशको सुननेकी रुचि उत्पन्न हो, उसे उपदेशरुचि कहते हैं। ये धर्मध्यानके चार लक्षण कहे गये।

धर्मध्यानके चार आलंबन कहता हूँ। १. वाचना, २. पृच्छना, ३. परावर्तना, ४. धर्मकथा। १. **वाचना**–अर्थात् विनय सहित निर्जरा तथा ज्ञान प्राप्त करनेके लिये सूत्र-सिद्धांतके मर्मके जानकार गुरु अथवा सत्पुरुषके समीप सूत्र तत्त्वका वाचन लें, उसका नाम वाचनालंबन है। २. **पृच्छना**–अपूर्व ज्ञान प्राप्त करनेके लिये, जिनेश्वर भगवानके मार्गको रोशन करनेके लिये तथा शंकाशल्यके निवारणके लिये तथा अन्यके तत्त्वोंकी मध्यस्थ परीक्षाके लिये यथायोग्य विनय सहित गुरु आदिको प्रश्न पूछें, उसे पृच्छनालंबन कहते हैं। ३. **परावर्त्तना**–पूर्वमें जो जिन-भाषित सूत्रार्थ पढे हों उन्हें स्मरणमें रखनेके लिये, निर्जराके लिये शुद्ध उपयोग सहित शुद्ध सूत्रार्थका वारंवार स्वाध्याय करें, उसका नाम परावर्त्तनालंबन है। ४. **धर्मकथा**–वीतराग भगवानने जो भाव जैसे प्रणीत किये हैं, उन भावोंको उसी तरह समझ करके, ग्रहण करके, विशेषरूपसे निश्चय करके, शंका, कंखा और वितिगिच्छारहितरूपसे, अपनी निर्जराके लिये सभामें उन भावोंको उसी तरह प्रणीत करें, उसे धर्मकथालंबन कहते हैं। इससे सुननेवाला और श्रद्धा करनेवाला दोनों भगवानकी आज्ञाके आराधक होते हैं। ये धर्मध्यानके चार आलंबन कहे गये। धर्मध्यानकी चार अनुप्रेक्षा कहता हूँ। १. एकत्वानुप्रेक्षा, २. अनित्यानुप्रेक्षा, ३. अशरणानुप्रेक्षा, ४. संसारानुप्रेक्षा। इन चारोंका बोध बारह भावनाके पाठमें कहा जा चुका है वह तुम्हें स्मरणमें होगा।

शिक्षापाठ ७६ : धर्मध्यान–भाग ३

धर्मध्यानको पूर्वाचार्योंने और आधुनिक मुनीश्वरोंने भी विस्तारपूर्वक बहुत समझाया है। इस ध्यानसे आत्मा मुनित्वभावमें निरंतर प्रवेश करता है।

जो जो नियम अर्थात् भेद, आलंबन और अनुप्रेक्षा कहे हैं वे बहुत मनन करने योग्य हैं। अन्य मुनीश्वरोंके कथनानुसार मैंने उन्हें सामान्य भाषामें तुम्हें कहा है; इसके साथ निरंतर यह ध्यान रखनेकी आवश्यकता है कि इनमेंसे हमने कौनसा भेद प्राप्त किया; अथवा किस भेदकी ओर भावना रखी है ? इन सोलह भेदोंमेंसे कोई भी भेद हितकारी और उपयोगी है; परंतु जिस अनुक्रमसे लेना चाहिये उस अनुक्रमसे लिया जाये तो यह विशेष आत्मलाभका कारण होता है।

कितने ही लोग सूत्र-सिद्धांतके अध्ययन मुखाग्र करते हैं; यदि वे उनके अर्थ और उनमें कहे हुए मूलतत्त्वोंकी ओर ध्यान दें तो कुछ सूक्ष्मभेदको पा सकते हैं। जैसे केलेके पत्रमें, पत्रमें पत्रकी चमत्कृति है वैसे ही सूत्रार्थमें चमत्कृति है। इस पर विचार करनेसे निर्मल और केवल दयामय मार्गका जो वीतरागप्रणीत तत्त्वबोध है उसका बीज अंतःकरणमें अंकुरित हो उठेगा। वह अनेक प्रकारके शास्त्रावलोकनसे, प्रश्नोत्तरसे, विचारसे और सत्पुरुषके समागमसे पोषण पाकर बढकर वृक्षरूप होगा। फिर वह वृक्ष निर्जरा और आत्मप्रकाशरूप फल देगा।

श्रवण, मनन और निदिध्यासनके प्रकार वेदांतवादियोंने बताये हैं; परंतु जैसे इस धर्मध्यानके पृथक् पृथक् सोलह भेद यहाँ कहे हैं वैसे तत्त्वपूर्वक भेद किसी स्थानमें नहीं हैं, ये अपूर्व है। इनसे शास्त्रको श्रवण करनेका, मनन करनेका, विचारनेका, अन्यको बोध करनेका, शंका, कंखा दूर करनेका, धर्मकथा करनेका, एकत्व विचारनेका, अनित्यता विचारनेका, अशरणता विचारनेका, वैराग्य पानेका, संसारके अनंत दुःखका मनन करनेका और वीतराग भगवानकी आज्ञासे सारे लोकालोकका विचार करनेका अपूर्व उत्साह मिलता है। भेद-प्रभेद करके इनके फिर अनेक भाव समझाये हैं।

इनमेंसे कतिपय भावोंको समझनेसे तप, शांति, क्षमा, दया, वैराग्य और ज्ञानका बहुत बहुत उदय होगा।

तुम कदाचित् इन सोलह भेदोंका पठन कर गये होंगे, फिर भी पुनः पुनः उसका परावर्त्तन करना।

शिक्षापाठ ७७ : ज्ञानसंबंधी दो शब्द—भाग १

जिसके द्वारा वस्तुका स्वरूप जाना जाता है वह ज्ञान है। ज्ञान शब्दका यह अर्थ है। अब यथामति यह विचार करना है कि इस ज्ञानकी कुछ आवश्यकता है ? यदि आवश्यकता है तो इसकी प्राप्तिके कुछ साधन हैं ? यदि साधन हैं तो उसके अनुकूल देश, काल और भाव हैं ? यदि देशकालादि अनुकूल हैं तो कहाँ तक अनुकूल हैं ? विशेषमें यह भी विचार करना है कि इस ज्ञानके भेद कितने हैं ? जानने योग्य क्या है ? इसके फिर कितने भेद हैं ? जाननेके साधन कौन-कौनसे हैं ? उन साधनोंको किस-किस मार्गसे प्राप्त किया जाता है ? इस ज्ञानका उपयोग या परिणाम क्या है ? यह सब जानना आवश्यक है।

१. ज्ञानकी क्या आवश्यकता है ? पहले इस विषयमें विचार करें। इस चतुर्दश रज्ज्वात्मक लोकमें चतुर्गतिमें अनादि-कालसे सकर्मस्थितिमें इस आत्माका पर्यटन है। निमेषमात्र भी सुखका जहाँ भाव नहीं है ऐसे नरक-निगोदादिक स्थानोंका इस आत्माने बहुत बहुत काल तक वारंवार सेवन किया है; असह्य दुःखोंको पुनः पुनः अथवा यों कहिये कि अनंतवार सहन किया है। इस उत्तापसे निरन्तर संतप्त होता हुआ आत्मा मात्र स्वकर्मविपाकसे पर्यटन करता है। पर्यटनका कारण अनंत दुःखद ज्ञानावरणीयादि कर्म है, जिनके कारण आत्मा स्वस्वरूपको पा नहीं सकता; और विषयादिक मोह बंधनको स्वस्वरूप मान रहा है। इन सबका परिणाम मात्र ऊपर कहा वही है कि अनंत दुःखको अनंत भावोंसे सहन करना; चाहे जितना अप्रिय, चाहे जितना दुःखदायक और चाहे जितना रौद्र होनेपर भी जो दुःख अनंत कालसे अनंतवार सहन करना पडा, वह दुःख मात्र उस अज्ञानादिक कर्मके कारण सहन किया; उस अज्ञानादिकको दूर करनेके लिये ज्ञानकी परिपूर्ण आवश्यकता है।

शिक्षापाठ ७८ : ज्ञानसंबंधी दो शब्द—भाग २

२. अब ज्ञानप्राप्तिके साधनोंके विषयमें कुछ विचार करें। अपूर्ण पर्याप्तिसे परिपूर्ण आत्मज्ञान सिद्ध

नहीं होता, इसलिये छः पर्याप्तिसे युक्त देह ही आत्मज्ञानको सिद्ध कर सकती है। ऐसी देह एक मात्र मानवदेह है। यहाँ पर यह प्रश्न उठेगा कि मानवदेहको प्राप्त तो अनेक आत्मा हैं, तो वे सब आत्मज्ञानको क्यों नहीं प्राप्त करते ? इसके उत्तरमें हम यह मान सकेंगे कि जिन्होंने संपूर्ण आत्मज्ञानको प्राप्त किया है उनके पवित्र वचनामृतकी उन्हें श्रुति नहीं है। श्रुतिके बिना संस्कार नहीं है। यदि संस्कार नहीं है तो फिर श्रद्धा कहाँसे होगी ? और जहाँ यह एक भी नहीं है वहाँ ज्ञानप्राप्ति कहाँसे होगी ? इसलिये मानवदेहके साथ सर्वज्ञवचनामृतकी प्राप्ति और उसकी श्रद्धा यह भी साधनरूप है। सर्वज्ञवचनामृत अकर्मभूमि या केवल अनार्यभूमिमें नहीं मिलते, तो फिर मानवदेह किस उपयोगकी ? इसलिये आर्यभूमि भी साधनरूप है। तत्त्वकी श्रद्धा उत्पन्न होनेके लिये और बोध होनेके लिये निर्ग्रंथ गुरुकी आवश्यकता है। द्रव्यसे जो कुल मिथ्यात्वी है उस कुलमें हुआ जन्म भी आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें हानिरूप है। क्योंकि धर्ममतभेद अति दुःखदायक है। परंपरासे पूर्वजों द्वारा ग्रहण किये हुए दर्शनमें ही सत्यभावना बनती है; इससे भी आत्मज्ञान रुकता है। इसलिये उत्तम कुल भी आवश्यक है। इन सबको प्राप्त करनेके लिये भाग्यशाली होना चाहिये। इसमें सत्पुण्य अर्थात् पुण्यानुबंधी पुण्य इत्यादि उत्तम साधन हैं। यह द्वितीय साधनभेद कहा।

३. यदि साधन हैं तो उनके अनुकूल देश और काल हैं ? इस तीसरे भेदका विचार करें। भारत, महाविदेह इत्यादि कर्मभूमि और उसमें भी आर्यभूमि यह देशकी अपेक्षासे अनुकूल है। जिज्ञासु भव्य ! तुम सब इस कालमें भारतमें हो, इसलिये भारत देश अनुकूल है। कालकी अपेक्षासे मति और श्रुत प्राप्त किये जा सके इतनी अनुकूलता है; क्योंकि इस दुःषम पंचमकालमें परम्पराम्नायसे परमावधि, मनःपर्यय और केवल ये पवित्र ज्ञान देखनेमें नहीं आते, इसलिये कालकी परिपूर्ण अनुकूलता नहीं है।

४. देश, काल आदि यदि अनुकूल है तो कहाँ तक हैं ? इसका उत्तर है कि शेष रहा हुआ सैद्धांतिक मतिज्ञान, श्रुतज्ञान सामान्यमतसे कालकी अपेक्षासे इक्कीस हजार वर्ष तक रहेगा। इनमेंसे ढाई हजार वर्ष बीत गये, बाकी साढे अठारह हजार वर्ष रहे; अर्थात् पंचमकालकी पूर्णता तक कालकी अनुकूलता है। इसलिये देश, काल अनुकूल हैं।

शिक्षापाठ ७९ : ज्ञानसंबंधी दो शब्द—भाग ३

अब विशेष विचार करें :—

१. आवश्यकता क्या है ? इस महान विचारका मंथन पुनः विशेषतासे करें। मुख्य आवश्यक यह है कि स्वस्वरूप स्थितिकी श्रेणिपर चढना। जिससे अनंत दुःखका नाश हो, दुःखके नाशसे आत्माका श्रेयस्कर सुख है; और सुख निरंतर आत्माको प्रिय ही है, परन्तु जो स्वस्वरूपसुख है वह। देश, काल और भावकी अपेक्षासे श्रद्धा, ज्ञान इत्यादि उत्पन्न करनेकी आवश्यकता है। सम्यग्भावसहित उच्चगति, वहाँसे महाविदेहमें मानवदेहके रूपमें जन्म, वहाँ सम्यग्भावकी पुनः उन्नति, तत्त्वज्ञानकी विशुद्धता और वृद्धि, अन्तमें परिपूर्ण आत्मसाधन ज्ञान और उसका सत्य परिणाम सर्वथा सर्व दुःखका अभाव अर्थात् अखंड, अनुपम, अनंत शाश्वत पवित्र मोक्षकी प्राप्ति; इस सबके लिये ज्ञानकी आवश्यकता है।

२. ज्ञानके भेद कितने हैं तत्संबंधी विचार कहता हूँ। इस ज्ञानके भेद अनंत हैं; परंतु सामान्यदृष्टि समझ सके इसलिये सर्वज्ञ भगवानने मुख्य पाँच भेद कहे हैं। उन्हें मैं ज्यों का त्यों कहता हूँ। प्रथम मति, द्वितीय श्रुत, तृतीय अवधि, चतुर्थ मनःपर्यय और पंचम संपूर्ण स्वरूप केवल। इनके पुनः प्रतिभेद हैं। और फिर उनके अतीन्द्रिय स्वरूपसे अनंत भंग जाल हैं।

३. जानने योग्य क्या है ? इसका अब विचार करें। वस्तुके स्वरूपको जाननेका नाम जब ज्ञान है,

तब वस्तुएँ तो अनंत हैं, उन्हें किस क्रमसे जानना ? सर्वज्ञ होनेके बाद सर्वदर्शितासे वे सत्पुरुष उन अनंत वस्तुओंके स्वरूपको सर्व भेदोंसे जानते हैं और देखते हैं; परंतु वे किन किन वस्तुओंको जाननेसे इस सर्वज्ञश्रेणिको प्राप्त हुए ? जब तक अनंत श्रेणियोंको नहीं जाना तब तक किन वस्तुओंको जानते-जानते उन अनंत वस्तुओंको अनंतरूपसे जान सकें? इस शंकाका समाधान अब करें। जो अनंत वस्तुएँ मानी हैं वे अनंत भंगोंकी अपेक्षासे हैं; परंतु मुख्य वस्तुत्व-स्वरूपसे उनकी दो श्रेणियाँ हैं—जीव और अजीव। विशेष वस्तुत्व-स्वरूपसे नव तत्त्व किंवा षड्द्रव्यकी श्रेणियाँ जानने योग्य हो जाती हैं। इस क्रमसे चढते-चढते सर्व भावसे ज्ञात होकर लोकालोकस्वरूप हस्तामलकवत् जाना देखा जा सकता है। इसलिये जानने योग्य पदार्थ जीव और अजीव हैं। ये जानने योग्य मुख्य दो श्रेणियाँ कही गई।

शिक्षापाठ ८० : ज्ञानसंबंधी दो शब्द—भाग ४

४. इनके उपभेदोंको संक्षेपमें कहता हूँ। 'जीव' चैतन्य लक्षणसे एकरूप है, देहस्वरूपसे और द्रव्यस्वरूपसे अनंतानंत है। देहस्वरूपसे उसकी इन्द्रिय आदि जानने योग्य हैं, उसकी गति, विगति इत्यादि जानने योग्य हैं, उसकी संसर्गऋद्धि जानने योग्य हैं। इसी प्रकार 'अजीव', उसके रूपी-अरूपी पुद्गल, आकाशादिक विचित्र भाव, कालचक्र इत्यादि जानने योग्य हैं। प्रकारान्तरसे जीव-अजीवको जाननेके लिये सर्वज्ञ सर्वदर्शीने नौ श्रेणीरूप नौ तत्त्व कहे हैं।

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष। इनमेंसे कुछ ग्रहण करने योग्य, कुछ जानने योग्य और कुछ त्यागने योग्य हैं। ये सभी तत्त्व जानने योग्य तो हैं ही।

५. जाननेके साधन—यद्यपि सामान्य विचारसे इन साधनोंको जान तो लिया है, तो भी विशेषरूपसे कुछ जानें। भगवानकी आज्ञा और उसका शुद्ध स्वरूप यथातथ्य जानना चाहिये। स्वयं तो कोई ही जानता है, नहीं तो निर्ग्रंथ ज्ञानी गुरु बता सकते हैं। नीरागी ज्ञाता सर्वोत्तम हैं। इसलिये श्रद्धाके बीजका रोपण करनेवाले या उसका पोषण करनेवाले गुरु साधनरूप हैं। इस साधन आदिके लिये संसारकी निवृत्ति अर्थात् शम, दम, ब्रह्मचर्य आदि अन्य साधन हैं। यदि इन्हें साधन प्राप्त करनेका मार्ग कहें तो भी योग्य है।

६. इस ज्ञानके उपयोग अथवा परिणामके उत्तरका आशय ऊपर आ गया है; परंतु कालभेदसे कुछ कहना है, और वह इतना ही कि दिनमें दो घडीका समय भी नियमित रखकर जिनेश्वर भगवानके कहे हुए तत्त्वबोधका परिशीलन करो। वीतरागके एक सैद्धांतिक शब्दसे ज्ञानावरणीयका बहुत क्षयोपशम होगा यह मैं विवेकसे कहता हूँ।

शिक्षापाठ ८१ : पंचमकाल

कालचक्रके विचार अवश्य जानने योग्य हैं। जिनेश्वरने इस कालचक्रके दो भेद कहे हैं—१. उत्सर्पिणी, २. अवसर्पिणी। एक-एक भेदके छः छः आरें हैं। आधुनिक प्रवर्तमान आरा पंचमकाल कहलाता है और वह अवसर्पिणी कालका पाँचवाँ आरा है। अवसर्पिणी अर्थात् उतरता हुआ काल। इस उतरते हुए कालके पाँचवें आरेमें इस भरतक्षेत्रमें कैसा वर्तन होना चाहिये इसके बारेमें सत्पुरुषोंने कुछ विचार बताये हैं, वे अवश्य जानने योग्य हैं।

वे पंचमकालके स्वरूपको मुख्यतः इस आशयमें कहते हैं। निर्ग्रंथ प्रवचनमें मनुष्योंकी श्रद्धा क्षीण होती जायेगी। धर्मके मूल तत्त्वोंमें मतमतांतर बढेंगे। पाखंडी और प्रपंची मतोंका मंडन होगा।

जनसमूहकी रुचि अधर्मकी ओर जायेगी। सत्य, दया धीरे धीरे पराभवको प्राप्त होंगे। मोहादिक दोषोंकी वृद्धि होती जायेगी। दंभी और पापिष्ठ गुरु पूज्य होंगे। दुष्टवृत्तिके मनुष्य अपने प्रपंचमें सफल होंगे। मीठे परंतु धूर्त वक्ता पवित्र माने जायेंगे। शुद्ध ब्रह्मचर्य आदि शीलसे युक्त पुरुष मलिन कहलायेंगे। आत्मिकज्ञानके भेद नष्ट होते जायेंगे। हेतुहीन क्रियाएँ बढती जायेंगी। अज्ञान क्रियाका बहुधा सेवन किया जायेगा। व्याकुल करनेवाले विषयोंके साधन बढते जायेंगे। एकांतिक पक्ष सत्ताधीश होंगे। शृंगारसे धर्म माना जायेगा।

सच्चे क्षत्रियोंके बिना भूमि शोकग्रस्त होगी। निस्सत्त्व राजवंशी वेश्याके विलासमें मोहित होंगे। धर्म, कर्म और सच्ची राजनीतिको भूल जायेंगे; अन्यायको जन्म देंगे; जैसे लूट सकेंगे वैसे प्रजाको लूटेंगे। स्वयं पापिष्ठ आचरणोंका सेवन करके प्रजासे उनका पालन करायेंगे। राजबीजके नामपर शून्यता आती जायेगी। नीच मंत्रियोंकी महत्ता बढती जायेगी। वे दीन प्रजाको चूसकर भंडार भरनेका राजाको उपदेश देंगे। शील भंग करनेका धर्म राजाको अंगीकार करायेंगे। शौर्य आदि सद्गुणोंका नाश करायेंगे। मृगया आदि पापोंमें अंध बनायेंगे। राज्याधिकारी अपने अधिकारसे हजारगुना अहंकार रखेंगे। विप्र लालची और लोभी हो जायेंगे। वे सद्विद्याको दबा देंगे, संसारी साधनोंको धर्म ठहरायेंगे। वैश्य मायावी, केवल स्वार्थी और कठोर हृदयके होते जायेंगे। समग्र मनुष्यवर्गकी सद्वृत्तियाँ घटती जायेगी। अकृत्य और भयंकर कृत्य करते हुए उनकी वृत्ति नहीं रुकेगी। विवेक, विनय, सरलता इत्यादि सद्गुण घटते जायेंगे। अनुकंपाके नामपर हीनता होगी। माताकी अपेक्षा पत्नीमें प्रेम बढेगा; पिताकी अपेक्षा पुत्रमें प्रेम बढेगा; नियमपूर्वक पतिव्रत पालनेवाली सुन्दरियाँ घट जायेंगी। स्नानसे पवित्रता मानी जायेगी; धनसे उत्तम कुल माना जायेगा। शिष्य गुरुसे उलटे चलेंगे। भूमिका रस घट जायेगा। संक्षेपमें कहनेका भावार्थ यह है कि उत्तम वस्तुओंकी क्षीणता होगी और निकृष्ट वस्तुओंका उदय होगा। पंचमकालका स्वरूप इनका प्रत्यक्ष सूचन भी कितना अधिक करता है ?

मनुष्य सद्धर्मतत्त्वमें परिपूर्ण श्रद्धावान नहीं हो सकेगा; संपूर्ण तत्त्वज्ञान नहीं पा सकेगा; जम्बुस्वामीके निर्वाणके बाद दस निर्वाणी वस्तुओंका इस भरतक्षेत्रसे व्यवच्छेद हो गया।

पंचमकालका ऐसा स्वरूप जानकर विवेकी पुरुष तत्त्वको ग्रहण करेंगे; कालानुसार धर्मतत्त्वश्रद्धाको पाकर उच्चगतिको साधकर परिणाममें मोक्षको साधेंगे। निर्ग्रंथ प्रवचन, निर्ग्रंथ गुरु इत्यादि धर्मतत्त्वकी प्राप्तिके साधन हैं। इनकी आराधनासे कर्मकी विराधना है।

शिक्षापाठ ८२ : तत्त्वावबोध—भाग १

दशवैकालिकसूत्रमें कथन है कि जिसने जीवाजीवके भावोंको नहीं जाना वह अबुध संयममें कैसे स्थिर रह सकेगा ? इस वचनामृतका तात्पर्य यह है कि तुम आत्मा एवं अनात्माके स्वरूपको जानो, इसे जाननेकी परिपूर्ण आवश्यकता है।

आत्मा-अनात्माका सत्य स्वरूप निर्ग्रंथ प्रवचनमेंसे प्राप्त हो सकता है; अनेक मतोंमें इन दो तत्त्वोंके विषयमें विचार प्रदर्शित किये हैं वे यथार्थ नहीं है। महाप्रज्ञावान आचार्यों द्वारा किये गये विवेचन सहित प्रकारांतरसे कहे हुए मुख्य नव तत्त्वोंको जो विवेकबुद्धिसे जानता है, वह सत्पुरुष आत्मस्वरूपको पहचान सकता है।

स्याद्वादशैली अनुपम और अनंत भेदभावसे भरपूर है। इस शैलीको परिपूर्णरूपसे तो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी ही जान सकते हैं, फिर भी उनके वचनामृतोंके अनुसार आगमकी सहायतासे यथामति नव

तत्त्वके स्वरूपको जानना आवश्यक है। इस नव तत्त्वको प्रिय श्रद्धाभावसे जाननेसे परम विवेकबुद्धि, शुद्ध सम्यक्त्व और प्रभावक आत्मज्ञानका उदय होता है। नव तत्त्वमें लोकालोकका संपूर्ण स्वरूप आ जाता है। जिनकी जितनी बुद्धिकी गति है वे उतनी तत्त्वज्ञानकी ओर दृष्टि पहुँचाते हैं; और भावानुसार उनके आत्माकी उज्ज्वलता होती है। इससे वे आत्मज्ञानके निर्मल रसका अनुभव करते हैं। जिनका तत्त्वज्ञान उत्तम और सूक्ष्म है, तथा जो सुशीलयुक्त तत्त्वज्ञानकी उपासना करते हैं वे पुरुष बडभागी हैं।

इन नव तत्त्वोंके नाम मैं पिछले शिक्षापाठमें कह गया हूँ; इनका विशेष स्वरूप प्रज्ञावान आचार्योंके महान ग्रन्थोंसे अवश्य जानना चाहिये; क्योंकि सिद्धांतमें जो जो कहा है उन सबको विशेष भेदसे समझनेके लिये प्रज्ञावान आचार्यों द्वारा विरचित ग्रन्थ सहायभूत हैं। ये गुरुगम्यरूप भी हैं। नव तत्त्वके ज्ञानमें नय, निक्षेप और प्रमाणके भेद आवश्यक हैं; और उनका यथार्थ बोध उन प्रज्ञावानोंने दिया है।

शिक्षापाठ ८३ : तत्त्वावबोध–भाग २

सर्वज्ञ भगवानने लोकालोकके संपूर्ण भावोंको जाना और देखा। उसका उपदेश भव्य लोगोंको किया। भगवानने अनंत ज्ञानसे लोकालोकके स्वरूपविषयक अनंत भेद जाने थे; परंतु सामान्य मनुष्योंको उपदेशसे श्रेणी चढनेके लिये उन्होंने मुख्य दीखते हुए नौ पदार्थ बताये। इससे लोकालोकके सर्वभावोंका इसमें समावेश हो जाता है। निर्ग्रंथ प्रवचनका जो जो सूक्ष्म बोध है वह तत्त्वकी दृष्टिसे नव तत्त्वमें समा जाता है; तथा सभी धर्ममतोंका सूक्ष्म विचार इस नव तत्त्व विज्ञानके एक देशमें आ जाता है। आत्माकी जो अनंत शक्तियाँ आवरित हो रही हैं उन्हें प्रकाशित करनेके लिये अर्हंत भगवानका पवित्र बोध है। ये अनंत शक्तियाँ तब प्रफुल्लित हो सकती हैं जब आत्मा नवतत्त्वविज्ञानमें पारंगत ज्ञानी हो।

सूक्ष्म द्वादशांगीका ज्ञान भी इन नवतत्त्वके स्वरूपज्ञानमें सहायरूप है। यह भिन्न-भिन्न प्रकारसे नवतत्त्वके स्वरूपज्ञानका बोध करता है; इसलिये यह निःशंक मानने योग्य है कि जिसने नव तत्त्वको अनंत भाव-भेदसे जाना, वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हुआ।

इन नव तत्त्वोंको त्रिपदीकी अपेक्षासे घटाना योग्य है। हेय, ज्ञेय और उपादेय अर्थात् त्याग करने योग्य, जानने योग्य और ग्रहण करने योग्य–ये तीन भेद नव-तत्त्वस्वरूपके विचारमें निहित हैं।

प्रश्न–जो त्यागने योग्य है उसे जानकर क्या करना? जिस गाँवको जाना नहीं उसका मार्ग किसलिये पूछना?

उत्तर–आपकी इस शंकाका समाधान सहजमें हो सकता है। त्यागने योग्यको भी जानना आवश्यक है। सर्वज्ञ भी सब प्रकारके प्रपंचोंको जान रहे हैं। त्यागने योग्य वस्तुको जाननेका मूलतत्त्व यह है कि यदि उसे न जाना हो तो अत्याज्य समझकर किसी समय उसका सेवन हो जाय। एक गाँवसे दूसरे गाँवमें पहुँचने तक रास्तेमें जो जो गाँव आनेवाले हों उनका रास्ता भी पूछना पडता है, नहीं तो जहाँ जाना है वहाँ नहीं पहुँचा जा सकता। जैसे वे गाँव पूछे परंतु वहाँ वास नहीं किया, वैसे ही पापादि तत्त्वोंको जानना तो चाहिये परन्तु ग्रहण नहीं करना चाहिये। जैसे रास्तेमें आनेवाले गाँवोंका त्याग किया वैसे उनका भी त्याग करना आवश्यक है।

शिक्षापाठ ८४ : तत्त्वावबोध–भाग ३

जो सत्पुरुष गुरुगम्यतासे श्रवण, मनन और निदिध्यासन-पूर्वक नवतत्त्वका ज्ञान कालभेदसे प्राप्त करते हैं, वे सत्पुरुष महापुण्यशाली तथा धन्यवादके पात्र हैं। प्रत्येक सुज्ञ पुरुषको मेरा विनयभाव-भूषित

यही बोध है कि वे नव तत्त्वको स्वबुद्धिके अनुसार यथार्थ जानें।

महावीर भगवानके शासनमें बहुत मतमतांतर पड गये हैं, उसका एक मुख्य कारण यह भी है कि तत्त्वज्ञानकी ओर उपासक वर्गका ध्यान नहीं रहा। वह मात्र क्रियाभावमें अनुरक्त रहा, जिसका परिणाम दृष्टिगोचर है। वर्तमान खोजमें आई हुई पृथ्वीकी आबादी लगभग डेढ अरब मानी गयी हैं; उसमें सब गच्छोंको मिलाकर जैन प्रजा केवल बीस लाख है। यह प्रजा श्रमणोपासक है। मैं मानता हूँ कि इसमेंसे दो हजार पुरुष भी मुश्किलसे नवतत्त्वको पठनरूपसे जानते होंगे। मनन और विचारपूर्वक जाननेवाले तो उँगलिकी नोक पर गिने जा सके उतने पुरुष भी नहीं होंगे। जब तत्त्वज्ञानकी ऐसी पतित स्थिति हो गयी है तभी मतमतांतर बढ गये हैं। एक लौकिक कथन है कि 'सौ सयाने एक मत'। इस तरह अनेक तत्त्वविचारक पुरुषोंके मतमें बहुधा भिन्नता नहीं आती।

इस नवतत्त्वके विचारके संबंधमें प्रत्येक मुनिसे मेरी विज्ञप्ति है कि वे विवेक और गुरुगम्यतासे इसके ज्ञानकी विशेष वृद्धि करें। इससे उनके पवित्र पाँच महाव्रत दृढ होंगे; जिनेश्वरके वचनामृतके अनुपम आनंदकी प्रसादी मिलेगी; मुनित्वके आचारका पालन सरल हो जायेगा; ज्ञान और क्रिया विशुद्ध रहनेसे सम्यक्त्वका उदय होगा; परिणाममें भवांत हो जायेगा।

शिक्षापाठ ८५ : तत्त्वावबोध—भाग ४

जो जो श्रमणोपासक नव तत्त्वको पठनरूपसे भी नहीं जानते वे उसे अवश्य जानें। जाननेके बाद बहुत मनन करें। जितना समझमें आ सके, उतने गम्भीर आशयको गुरुगम्यतासे सद्भावसे समझें। इससे आत्मज्ञान उज्ज्वलताको प्राप्त होगा; और यमनियम आदिका पालन होगा।

नवतत्त्व अर्थात् नवतत्त्व नामकी कोई रचित सामान्य पुस्तक नहीं; परंतु जिस जिस स्थलमें जो जो विचार ज्ञानियोंने प्रणीत किये हैं वे सब विचार नवतत्त्वमेंसे किसी एक दो या अधिक तत्त्वके होते हैं। केवली भगवानने इन श्रेणियोंसे सकल जगतमंडल दिखा दिया है; इससे ज्यों ज्यों नय आदिके भेदसे यह तत्त्वज्ञान मिलेगा त्यों त्यों अपूर्व आनंद और निर्मलताकी प्राप्ति होगी; मात्र विवेक, गुरुगम्यता और अप्रमाद चाहिये। यह नवतत्त्वज्ञान मुझे बहुत प्रिय है। इसके रसानुभवी भी मुझे सदैव प्रिय हैं।

कालभेदसे इस समय भरतक्षेत्रमें मात्र मति और श्रुत ये दो ज्ञान विद्यमान हैं; बाकीके तीन ज्ञान परंपराम्नायसे देखनेमें नहीं आते; फिर भी ज्यों ज्यों पूर्ण श्रद्धाभावसे इस नवतत्त्वज्ञानके विचारोंकी गुफामें उतरा जाता है, त्यों त्यों उसके अंदर अद्भुत आत्मप्रकाश, आनंद, समर्थ तत्त्वज्ञानकी स्फुरणा, उत्तम विनोद और गंभीर चमक चकित करके वे विचार शुद्ध सम्यग्ज्ञानका बहुत उदय करते हैं। स्याद्वादवचनामृतके अनंत सुन्दर आशयोंको समझनेकी परम्परागत शक्तिका इस कालमें इस क्षेत्रसे विच्छेद हो गया है, फिर भी उस संबंधी जो जो सुन्दर आशय समझमें आते हैं वे सब आशय अति अति गंभीर तत्त्वसे भरे हुए हैं। उन आशयोंका पुनः पुनः मनन करनेसे चार्वाकमतिके चंचल मनुष्य भी सद्धर्ममें स्थिर हो जाते हैं। संक्षेपमें सर्व प्रकारकी सिद्धि, पवित्रता, महाशील, निर्मल गहन और गंभीर विचार, स्वच्छ वैराग्यकी भेंट ये सब तत्त्वज्ञानसे मिलते हैं।

शिक्षापाठ ८६ : तत्त्वावबोध—भाग ५

एक बार एक समर्थ विद्वानसे निर्ग्रंथ प्रवचनकी चमत्कृतिके संबंधमें बातचीत हुई। उसके संबंधमें उस विद्वानने बताया—"मैं इतना तो मान्य रखता हूँ कि महावीर एक समर्थ तत्त्वज्ञानी पुरुष थे; उन्होंने

जो बोध दिया है, उसे ग्रहण करके प्रज्ञावान पुरुषोंने अंग, उपांगकी योजना की है; उनके जो विचार हैं वे चमत्कृतिसे भरे हुए हैं; परन्तु इससे मैं यह नहीं कह सकता कि इनमें सारी सृष्टिका ज्ञान निहित है। ऐसा होने पर भी यदि आप इस संबंधमें कुछ प्रमाण देते हों तो मैं इस बात पर कुछ श्रद्धा कर सकता हूँ।" इसके उत्तरमें मैंने यह कहा कि मैं कुछ जैन वचनामृतको यथार्थ तो क्या परन्तु विशेष भेदसे भी नहीं जानता; परन्तु सामान्य भावसे जो जानता हूँ उससे भी प्रमाण अवश्य दे सकता हूँ। फिर नवतत्त्वविज्ञानसंबंधी बातचीत निकली। मैंने कहा कि इसमें सारी सृष्टिका ज्ञान आ जाता है, परन्तु यथार्थ समझनेकी शक्ति चाहिये। फिर उन्होंने इस कथनका प्रमाण माँगा, तब मैंने आठ कर्म कह बताये। उसके साथ यह सूचित किया कि इनके सिवाय इनसे भिन्न भाव बतानेवाला कोई नौवाँ कर्म खोज निकालें। पाप और पुण्यकी प्रकृतियोंको बताकर कहा कि इनके सिवाय एक भी अधिक प्रकृति खोज निकालें। यों कहते कहते अनुक्रमसे बात चलायी। पहले जीवके भेद कहकर पूछा कि क्या इनमें आप कुछ न्यूनाधिक कहना चाहते हैं ? अजीवद्रव्यके भेद कहकर पूछा कि क्या आप इससे कुछ विशेष कहते हैं ? यों नवतत्त्वसंबंधी बातचीत हुई तब उन्होंने थोडी देर विचार करके कहा—"यह तो महावीरकी कहनेकी अद्‌भुत चमत्कृति है कि जीवका एक भी नया भेद नहीं मिलता; इसी तरह पापपुण्य आदिकी एक भी विशेष प्रकृति नहीं मिलती; और नौवाँ कर्म भी नहीं मिलता। ऐसे ऐसे तत्त्वज्ञानके सिद्धांत जैनदर्शनमें हैं यह मेरे ध्यानमें नहीं था। इसमें सारी सृष्टिका तत्त्वज्ञान कुछेक अंशोंमें अवश्य आ सकता है।"

शिक्षापाठ ८७ : तत्त्वावबोध—भाग ६

इसका उत्तर हमारी ओरसे यह दिया गया कि अभी आप जो इतना कहते हैं वह भी तब तक कि जब तक आपके हृदयमें जैनधर्मके तत्त्वविचार नहीं आये हैं; परंतु मैं मध्यस्थतासे सत्य कहता हूँ कि इसमें जो विशुद्ध ज्ञान बताया है वह कहीं भी नहीं हैं; और सर्व मतोंने जो ज्ञान बताया है वह महावीरके तत्त्वज्ञानके एक भागमें आ जाता है। इनका कथन स्याद्वाद है, एकपक्षी नहीं।

आपने यों कहा कि इसमें सारी सृष्टिका तत्त्वज्ञान कुछेक अंशोंमें अवश्य आ सकता है, परन्तु यह मिश्र वचन है। हमारी समझानेकी अल्पज्ञतासे ऐसा अवश्य हो सकता है, परंतु इससे इन तत्त्वोंमें कुछ अपूर्णता है ऐसा तो है ही नहीं। यह कुछ पक्षपाती कथन नहीं है। विचार करनेपर सारी सृष्टिमेंसे इनके सिवाय कोई दसवाँ तत्त्व खोजनेसे कभी मिलनेवाला नहीं है। इस संबंधमें प्रसंगोपात्त हमारी जब बातचीत और मध्यस्थ चर्चा होगी तब निःशंकता होगी।

उत्तरमें उन्होंने कहा कि इसपरसे मुझे यह तो निःशंकता है कि जैन एक अद्‌भुत दर्शन है। आपने मुझे श्रेणिपूर्वक नवतत्त्वके कुछ भाग कह बताये, इससे मैं यह बेधडक कह सकता हूँ कि महावीर गुप्तभेदको प्राप्त पुरुष थे। इस प्रकार थोडीसी बात करके 'उप्पन्नेवा', 'विघनेवा', 'धुवेवा' यह लब्धिवाक्य उन्होंने मुझे कहा। यह कहनेके बाद उन्होंने यों बताया—"इन शब्दोंके सामान्य अर्थमें तो कोई चमत्कृति नहीं दीखती। उत्पन्न होना, नाश होना और अचलता ऐसा इन तीन शब्दोंका अर्थ है। परन्तु श्रीमान गणधरोंने तो ऐसा उल्लेख किया है कि इन वचनोंको गुरुमुखसे श्रवण करनेसे पहलेके भाविक शिष्योंको द्वादशांगीका आशयपूर्ण ज्ञान हो जाता था। इसके लिये मैंने बहुतकुछ विचार किये, फिर भी मुझे तो ऐसा लगा कि यह होना असंभव है; क्योंकि अतीव सूक्ष्म माना हुआ सैद्धांतिक ज्ञान इसमें कहाँसे समा सकता है ? इस संबंधमें आप कुछ प्रकाश डाल सकेंगे ?"

शिक्षापाठ ८८ : तत्त्वावबोध–भाग ७

मैंने उत्तरमें कहा कि इस कालमें तीन महाज्ञान परम्पराम्नायसे भारतमें देखनेमें नहीं आते, ऐसा होनेपर भी मैं कोई सर्वज्ञ या महाप्रज्ञावान नहीं हूँ; फिर भी मैं सामान्य बुद्धिसे जितना विचार कर सकूँगा, उतना विचार करके कुछ समाधान कर सकूँगा ऐसा मुझे संभव लगता है। तब उन्होंने कहा कि यदि ऐसा संभव हो तो यह त्रिपदी जीवपर 'ना' और 'हाँ' के विचारसे घटित करें। वह यों कि जीव क्या उत्पत्तिरूप है ? नहीं। जीव क्या व्ययरूप हैं ? नहीं। जीव क्या ध्रुवरूप है ? नहीं। इस तरह एक बार घटित करें। और दूसरी बार, जीव क्या उत्पत्तिरूप है ? हाँ। जीव क्या व्ययरूप हैं ? हाँ। जीव क्या ध्रुवरूप है ? हाँ। इस तरह घटित करें। ये विचार सारे मंडलने एकत्र करके योजित किये हैं। यदि ये यथार्थ न कहे जा सकें तो अनेक प्रकारसे दूषण आ सकते हैं। जो वस्तु व्ययरूप हो वह ध्रुवरूप न हो, यह पहली शंका। यदि उत्पत्ति, व्यय और ध्रुवता नहीं है तो जीवको किन प्रमाणोंसे सिद्ध करेंगे ? यह दूसरी शंका। व्यय और ध्रुवतामें परस्पर विरोधाभास है, यह तीसरी शंका। जीव केवल ध्रुव है तो उत्पत्तिमें जो 'हाँ' कही वह असत्य ठहरेगी; यह चौथा विरोध। उत्पत्तियुक्त जीवका ध्रुवभाव कहें तो उत्पत्ति किसने की ? यह पाँचवाँ विरोध। अनादिता जाती रहती है यह छठी शंका। केवल ध्रुव-व्ययरूप है ऐसा कहें तो चार्वाकमिश्र वचन हुआ, यह सातवाँ दोष। उत्पत्ति और व्ययरूप कहेंगे तो केवल चार्वाकका सिद्धांत होगा, यह आठवाँ दोष। उत्पत्तिकी ना, व्ययकी ना और ध्रुवताकी ना कहकर फिर तीनोंकी हाँ कही इसके पुनः रूपमें छः दोष। इस प्रकार कुल मिलाकर चौदह दोष हुए। केवल ध्रुवता चली जानेसे तीर्थंकरके वचन खंडित हो जाते हैं, यह पन्द्रहवाँ दोष। उत्पत्ति, ध्रुवता लेनेपर कर्त्ताकी सिद्धि हो जानेसे सर्वज्ञवचन खंडित हो जाते हैं, यह सोलहवाँ दोष। उत्पत्ति-व्ययरूपसे पापपुण्यादिकका अभाव अर्थात् धर्माधर्म सबका लोप हो जाता है, यह सत्रहवाँ दोष। उत्पत्ति, व्यय और सामान्य स्थितिसे (केवल अचलता नहीं) त्रिगुणात्मक माया सिद्ध होती है, यह अठारहवाँ दोष।

शिक्षापाठ ८९ : तत्त्वावबोध–भाग ८

ये कथन सिद्ध न होनेसे इतने दोष आते हैं। एक जैनमुनिने मुझे और मेरे मित्रमंडलसे यों कहा था कि जैन सप्तभंगी नय अपूर्व है, और इससे सर्व पदार्थ सिद्ध होते हैं। इसमें नास्तिअस्तिके अगम्य भेद निहित हैं। यह कथन सुनकर हम सब घर आये, फिर योजना करते-करते इस लब्धिवाक्यको जीवपर योजित किया। मैं मानता हूँ कि ऐसे नास्ति-अस्तिके दोनों भाव जीवपर घटित नहीं हो सकते। लब्धिवाक्य भी क्लेशरूप हो पडेंगे। यद्यपि इस ओर मेरी कोई तिरस्कारकी दृष्टि नहीं है। इसके उत्तरमें मैंने कहा कि आपने जो नास्ति और अस्ति नय जीवपर घटित करनेका सोचा है वह सनिक्षेप शैलीसे नहीं है, इसलिए कदाचित् इसमेंसे एकांतिक पक्ष भी लिया जा सकता है। और फिर मैं कोई स्याद्वाद शैलीका यथार्थ ज्ञाता नहीं हूँ। मन्दमतिसे लेश भाग जानता हूँ। नास्ति-अस्ति नयको भी आपने शैलीपूर्वक घटित नहीं किया हैं; इसलिये मैं तर्कसे जो उत्तर दे सकता हूँ, उसे आप सुनें।

उत्पत्तिमें 'नास्ति'की जो योजना की है वह यों यथार्थ हो सकती है कि 'जीव अनादि अनन्त है।' व्ययमें 'नास्ति'की जो योजना की है वह यों यथार्थ हो सकती है कि 'इसका किसी कालमें नाश नहीं है।'

ध्रुवतामें 'नास्ति'की जो योजना की है वह यों यथार्थ हो सकती है कि 'एक देहमें वह सदैवके लिये

रहनेवाला नहीं है।'

शिक्षापाठ ९० : तत्त्वावबोध–भाग ९

उत्पत्तिमें 'अस्ति'की जो योजना की है वह यों यथार्थ हो सकती है कि 'जीवका मोक्ष होने तक एक देहमेंसे च्युत होकर वह दूसरी देहमें उत्पन्न होता है।'

व्ययमें 'अस्ति'की जो योजना की है वह यों यथार्थ हो सकती है कि 'वह जिस देहमेंसे आया वहाँसे व्ययको प्राप्त हुआ; अथवा प्रतिक्षण इसकी आत्मिक ऋद्धि विषयादि मरणसे रुद्ध हो रही है; इस प्रकार व्ययको घटित कर सकते हैं।

ध्रुवतामें 'अस्ति'की जो योजना की है वह यों यथार्थ हो सकती है कि 'द्रव्यकी अपेक्षासे जीव किसी कालमें नाशरूप नहीं है, त्रिकाल सिद्ध है।'

मैं समझता हूँ कि अब इस प्रकारसे योजित दोष भी दूर हो जायेंगे।

१. जीव व्ययरूप नहीं है, इसलिये ध्रुवता सिद्ध हुई। यह पहला दोष दूर हुआ।

२. उत्पत्ति, व्यय और ध्रुवता ये न्यायसे भिन्न भिन्न सिद्ध हुए, इसलिये जीवका सत्यत्व सिद्ध हुआ, यह दूसरा दोष दूर हुआ।

३. जीवकी सत्यस्वरूपसे ध्रुवता सिद्ध हुई इसलिये व्यय चला गया। यह तीसरा दोष दूर हुआ।

४. द्रव्यभावसे जीवकी उत्पत्ति असिद्ध हुई। यह चौथा दोष दूर हुआ।

५. जीव अनादि सिद्ध हुआ, इसलिये उत्पत्तिसंबंधी पाँचवाँ दोष दूर हुआ।

६. उत्पत्ति असिद्ध हुई इसलिये कर्त्तासंबंधी छठा दोष दूर हुआ।

७. ध्रुवताके साथ व्यय लेनेमें अबाध हुआ इसलिये चार्वाक-मिश्रवचनका सातवाँ दोष दूर हुआ।

८. उत्पत्ति और व्यय पृथक् पृथक् देहमें सिद्ध हुआ, इसलिये केवल चार्वाकसिद्धांत नामका आठवाँ दोष दूर हुआ।

९. से १४. शंकाका पारस्परिक विरोधाभास दूर हो जानेसे चौदह तकके दोष दूर हो गये।

१५. अनादि अनंतता सिद्ध हो जानेसे स्याद्वादवचन सत्य हुआ, यह पंद्रहवाँ दोष दूर हुआ।

१६. कर्त्ता नहीं है, यह सिद्ध होनेसे जिनवचनकी सत्यता सिद्ध हुई, यह सोलहवाँ दोष दूर हुआ।

१७. धर्म, अधर्म, देह आदिका पुनरावर्तन सिद्ध होनेसे सत्रहवाँ दोष दूर हुआ।

१८. ये सब बातें सिद्ध होनेसे त्रिगुणात्मक माया असिद्ध हुई, यह अठारहवाँ दोष दूर हुआ।

शिक्षापाठ ९१ : तत्त्वावबोध–भाग १०

मैं समझता हूँ कि आपकी योजित योजनाका इससे समाधान हुआ होगा। यह कोई यथार्थ शैली घटित नहीं की है, तो भी इसमें कुछ भी विनोद मिल सकता है। इस पर विशेष विवेचन करनेके लिये बहुतसा वक्त चाहिये, इसलिये अधिक नहीं कहता; परन्तु एक दो संक्षिप्त बातें आपसे कहनी है, सो यदि इससे योग्य समाधान हुआ हो तो कहूँ। बादमें उनकी ओरसे मनमाना उत्तर मिला और उन्होंने कहा कि एक दो बातें जो आपको कहनी हों उन्हें सहर्ष कहें।

फिर मैंने अपनी बातको संजीवित करके लब्धिके संबंधमें कहा। आप इस लब्धिके संबंधमें शंका

करें या इसे क्लेशरूप कहें तो इन वचनोंके प्रति अन्याय होता है। इसमें अति-अति उज्ज्वल आत्मिक शक्ति, गुरुगम्यता और वैराग्यकी आवश्यकता है। जब तक ऐसा नहीं है तब तक लब्धिके विषयमें शंका अवश्य रहेगी। परंतु मैं समझता हूँ कि इस समय इस संबंधमें कहे हुए दो शब्द निरर्थक नहीं होंगे। वे ये हैं कि जैसे इस योजनाको नास्ति-अस्तिपर योजित करके देखा, वैसे इसमें भी बहुत सूक्ष्म विचार करना है। प्रत्येक देहकी पृथक्-पृथक् उत्पत्ति, च्यवन, विश्राम, गर्भाधान, पर्याप्ति, इंद्रिय, सत्ता, ज्ञान, संज्ञा, आयु, विषय इत्यादि अनेक कर्मप्रकृतियोंको प्रत्येक भेदसे लेनेपर जो विचार इस लब्धिसे निकलते हैं वे अपूर्व हैं। जहाँ तक लक्ष पहुँचता है वहाँ तक सभी विचार करते हैं; परंतु द्रव्यार्थिक और भावार्थिक नयसे सारी सृष्टिका ज्ञान इन तीन शब्दोंमें निहित है उसका विचार कोई विरला ही करता है; वह सद्गुरुमुखकी पवित्र लब्धिके रूपमें जब आये तब द्वादशांगीका ज्ञान किसलिये न हो? 'जगत' ऐसा कहनेसे जैसे मनुष्य, एक घर, एक वास, एक गाँव, एक शहर, एक देश, एक खंड, एक पृथ्वी इन सबको छोडकर असंख्यात द्वीप समुद्र आदिसे भरपूर वस्तु एकदम कैसे समझ जाता है? इसका कारण मात्र इतना ही है कि इस शब्दकी विशालताको उसने समझा है, किंवा लक्षकी अमुक विशालताको समझा है; जिससे 'जगत' यों कहते ही इतने बडे मर्मको समझ सकता है; इसी तरह ऋजु और सरल सत्पात्र शिष्य निर्ग्रंथ गुरुसे इन तीन शब्दोंकी गम्यता लेकर द्वादशांगीका ज्ञान प्राप्त करते थे। और वह लब्धि अल्पज्ञतासे भी विवेक-पूर्वक देखनेपर क्लेशरूप भी नहीं है।

शिक्षापाठ ९२ : तत्त्वावबोध—भाग ११

इसी प्रकार नव तत्त्वके संबंधमें है। जिस मध्यवयके क्षत्रियपुत्रने 'जगत अनादि है', यों बेधडक कहकर कर्त्ताको उडाया होगा, उस पुरुषने क्या कुछ सर्वज्ञताके गुप्त भेदके बिना किया होगा? इसी तरह जब आप इनकी निर्दोषिताके विषयमें पढेंगे तब अवश्य ऐसा विचार करेंगे कि ये परमेश्वर थे। कर्त्ता न था और जगत अनादि था, इसलिये ऐसा कहा। इनके अपक्षपाती और केवल तत्त्वमय विचार आपको अवश्य विशोधन करने योग्य हैं। जैनदर्शनके अवर्णवादी मात्र जैनदर्शनको नहीं जानते इसलिये अन्याय करते हैं। मैं समझता हूँ कि वे ममत्वसे अधोगतिको प्राप्त करेंगे।

इसके बाद बहुत-सी बातचीत हुई। प्रसंगोपात्त इस तत्त्वका विचार करनेका वचन लेकर मैं सहर्ष वहाँसे उठा था।

तत्त्वावबोधके संबंधमें यह कथन कहा गया। अनंत भेदसे भरे हुए ये तत्त्वविचार जितने कालभेदसे जितने ज्ञेय प्रतीत हों उतने ज्ञेय करना, जितने ग्राह्य हों उतने ग्रहण करना और जितने त्याज्य दिखायी दें उतने त्यागना।

इन तत्त्वोंको जो यथार्थ जानता है वह अनंत चतुष्टयसे विराजमान होता है यह मैं सत्यतासे कहता हूँ। इन नव तत्त्वोंके नाम रखनेमें भी मोक्षकी निकटताका अर्ध सूचन मालूम होता है।

शिक्षापाठ ९३ : तत्त्वावबोध—भाग १२

यह तो आपके ध्यानमें है कि जीव, अजीव—इस अनुक्रमसे अंतमें मोक्षका नाम आता है। अब इन्हें एकके बाद एक रखते जायें तो जीव और मोक्षको अनुक्रमसे आद्यंत रहना पडेगा।

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष।

मैंने पहले कहा था कि इन नामोंके रखनेमें जीव और मोक्षकी निकटता है। फिर भी यह निकटता

तो न हुई, परन्तु जीव और अजीवकी निकटता हुई, परन्तु ऐसा नहीं है। अज्ञानसे तो इन दोनोंकी ही निकटता है। ज्ञानसे जीव और मोक्षकी निकटता है, जैसे कि :—



अब देखो, इन दोनोंमें कुछ निकटता आई है? हाँ, कही हुई निकटता आ गई है। परंतु यह निकटता तो द्रव्यरूप है। जब भावसे निकटता आये तब सर्व सिद्धि होती है। इस निकटताका साधन सत्पुरुषात्मतत्त्व, सद्गुरुतत्त्व और सद्धर्मतत्त्व है। केवल एक ही रूप होनेके लिये ज्ञान, दर्शन और चारित्र है।

इस चक्रसे ऐसी भी आशंका हो सकती है कि जब दोनों निकट हैं तब क्या बाकीका त्याग करना? उत्तरमें यों कहता हूँ कि यदि सबका त्याग कर सकते हों तो त्याग कर दो, जिससे मोक्षरूप ही हो जाओगे। नहीं तो हेय, ज्ञेय, उपादेयका बोध लो, इससे आत्मसिद्धि प्राप्त होगी।

शिक्षापाठ ९४ : तत्त्वावबोध—भाग १३

जो जो मैं कह गया हूँ वह सब केवल जैनकुलमें जन्म पानेवाले पुरुषोंके लिये नहीं है, परन्तु सबके लिये है। इसी तरह यह भी निःशंक मानो कि मैं जो कहता हूँ वह अपक्षपातसे और परमार्थबुद्धिसे कहता हूँ।

तुमसे जो धर्मतत्त्व कहना है वह पक्षपात या स्वार्थबुद्धिसे कहनेका मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। पक्षपात या स्वार्थसे मैं तुम्हें अधर्मतत्त्वका बोध देकर अधोगतिको किसलिये साधूँ? वारंवार मैं तुमसे निर्ग्रंथके वचनामृतके लिए कहता हूँ, उसका कारण यह है कि वे वचनामृत तत्त्वमें परिपूर्ण हैं। जिनेश्वरोंके लिये ऐसा कोई भी कारण न था कि जिसके निमित्तसे वे मृषा या पक्षपाती बोध देते; और वे अज्ञानी भी न थे कि जिससे मृषा उपदेश दिया जाय। आशंका करेंगे कि वे अज्ञानी नहीं थे यह किस प्रमाणसे मालूम हो? तो इसके उत्तरमें कहता हूँ कि उनके पवित्र सिद्धांतोंके रहस्यका मनन करो; और जो ऐसा करेगा वह तो फिर लेश भी आशंका नहीं करेगा। जैनमतप्रवर्तकोंने मुझे कोई भूरसी दक्षिणा नहीं दी है; और वे मेरे कोई कुटुम्ब-परिवारी भी नहीं हैं कि उनके पक्षपातसे मैं तुम्हें कुछ भी कह दूँ। इसी तरह अन्यमतप्रवर्तकोंके प्रति मेरी कोई वैरबुद्धि नहीं है कि मिथ्या ही उनका खंडन करूँ। दोनोंके प्रति मैं तो मंदमति मध्यस्थरूप हूँ। बहुत बहुत मनन करनेसे और मेरी मति जहाँ तक पहुँची वहाँ तक विचार करनेसे मैं विनयपूर्वक इतना कहता हूँ कि प्रिय भव्यो! जैन जैसा एक भी पूर्ण और पवित्र दर्शन नहीं है; वीतराग जैसा एक भी देव नहीं है; तैरकर अनंत दुःखसे पार पाना हो तो इस सर्वज्ञ-दर्शनरूप कल्पवृक्षका सेवन करो।

शिक्षापाठ ९५ : तत्त्वावबोध—भाग १४

जैनदर्शन इतनी अधिक सूक्ष्म विचारसंकलनासे भरा हुआ दर्शन है कि जिसमें प्रवेश करनेमें भी बहुत वक्त चाहिये। ऊपर-ऊपरसे या किसी प्रतिपक्षीके कहनेसे अमुक वस्तुसंबंधी अभिप्राय बना लेना या अभिप्राय दे देना, यह विवेकीका कर्तव्य नहीं है। एक तालाब संपूर्ण भरा हुआ हो, उसका जल ऊपरसे समान लगता है; परन्तु ज्यों-ज्यों आगे चलते हैं त्यों-त्यों अधिक-अधिक गहराई आती जाती है, फिर भी ऊपर तो जल सपाट ही रहता है; इसी प्रकार जगतके सभी धर्ममत एक तालाबरूप हैं। उन्हें ऊपरसे सामान्य सतह देखकर समान कह देना यह उचित नहीं हैं। यों कहनेवाले तत्त्वको पाये हुए भी नहीं हैं। जैनके एक एक पवित्र सिद्धांतपर विचार करते हुए आयु भी पूर्ण हो जाये तो भी पार न पाये, ऐसी स्थिति है। बाकीके सभी धर्ममतोंके विचार जिनप्रणीत वचनामृतसिंधुके आगे एक बिन्दुरूप भी नहीं है। जिसने जैनदर्शनको जाना और सेवन किया वह सर्वथा नीरागी और सर्वज्ञ हो जाता है। इसके प्रवर्तक कैसे पवित्र पुरुष थे ? इसके सिद्धांत कैसे अखंड, संपूर्ण और दयामय है ! इसमें दूषण कोई भी नहीं हैं। सर्वथा निर्दोष तो मात्र इनका दर्शन है। ऐसा एक भी पारमार्थिक विषय नहीं हैं कि जो जैनदर्शनमें न हो और ऐसा एक भी तत्त्व नहीं है कि जो जैनदर्शनमें नहीं है। एक विषयको अनंत भेदोंसे परिपूर्ण कहनेवाला तो जैनदर्शन ही है। प्रयोजनभूत तत्त्व इसके जैसे कहीं भी नहीं है। एक देहमें दो आत्मा नहीं हैं; इसी प्रकार सारी सृष्टिमें दो जैन अर्थात् जैनके तुल्य एक भी दर्शन नहीं है। ऐसा कहनेका कारण क्या ? मात्र उसकी परिपूर्णता, नीरागिता, सत्यता और जगद्हितैषिता।

शिक्षापाठ ९६ : तत्त्वावबोध—भाग १५

न्यायपूर्वक इतना मुझे भी मान्य रखना चाहिये कि जब एक दर्शनको परिपूर्ण कहकर बात सिद्ध करनी हो तब प्रतिपक्षकी मध्यस्थबुद्धिसे अपूर्णता दिखानी चाहिये। और इन दो बातों पर विवेचन करने जितना यहाँ स्थान नहीं है; तो भी थोडा-थोडा कहता आया हूँ। मुख्यतः जो बात है वह यह है कि मेरी यह बात जिसे रुचिकर न लगती हो या असम्भव लगती हो उसे जैनतत्त्वविज्ञानी शास्त्रोंको और अन्य तत्त्वविज्ञानी शास्त्रोंको मध्यस्थबुद्धिसे मनन करके न्यायके काँटेपर तौलना चाहिये। इस परसे अवश्य ही इतना महावाक्य फलित होगा कि जो पहले डंकेकी चोटसे कहा गया था वह सच था।

जगत भेडियाधसान है। धर्मके मतभेदसंबंधी शिक्षापाठमें प्रदर्शित किये अनुसार अनेक धर्ममतोंका जाल फैला हुआ है। विशुद्ध आत्मा कोई ही होता है। विवेकसे कोई ही तत्त्वको खोजता है। इसलिये मुझे कुछ विशेष खेद नहीं है कि अन्य दार्शनिक जैनतत्त्वको किसलिये नहीं जानते ? यह आशंका करने योग्य नहीं है।

फिर भी मुझे बहुत आश्चर्य लगता है कि केवल शुद्ध परमात्मतत्त्वको पाये हुए, सकल दूषणरहित, मृषा कहनेका जिन्हें कोई निमित्त नहीं है ऐसे पुरुषोंके कहे हुए पवित्र दर्शनको स्वयं तो जाना नहीं, अपने आत्माका हित तो किया नहीं, परंतु अविवेकसे मतभेदमें पडकर सर्वथा निर्दोष और पवित्र दर्शनको नास्तिक किसलिये कहा होगा ? मैं समझता हूँ कि ऐसा कहनेवाले इसके तत्त्वोंको जानते न थे। तथा इसके तत्त्वोंको जाननेसे अपनी श्रद्धा बदल जायेगी, तब लोग फिर अपने पहले कहे हुए मतको नहीं मानेंगे। जिस लौकिक मतसे अपनी आजीविका चल रही है, ऐसे वेदोंकी महत्ता घटानेसे अपनी महत्ता घटेगी; अपना मिथ्या स्थापित किया हुआ परमेश्वरपद नहीं चलेगा, इसलिये जैनतत्त्वमें प्रवेश करनेकी रुचिको मूलसे ही बंद करनेके लिये लोगोंको ऐसी भ्रमभस्म दी कि जैनदर्शन नास्तिक है। लोग तो बेचारे

भोले भेडें हैं, इसलिये वे फिर विचार भी कहाँसे करें ? यह कहना कितना अनर्थकारक और मृषा है, इसे वे ही जानते हैं जिन्होंने वीतरागप्रणीत सिद्धांत विवेकसे जाने हैं। संभवतः मंदबुद्धि मेरे कहनेको पक्षपातपूर्ण मान लें।

शिक्षापाठ ९७ : तत्त्वावबोध—भाग १६

पवित्र जैनदर्शनको नास्तिक कहलवानेमें वे एक दलीलसे व्यर्थ ही सफल होना चाहते हैं कि जैनदर्शन इस जगतके कर्त्ता परमेश्वरको नहीं मानता; और जो परमेश्वरको नहीं मानता वह तो नास्तिक ही है। यह बात भद्रिक जनोंको शीघ्र जम जाती है, क्योंकि उनमें यथार्थ विचार करनेकी प्रेरणा नहीं है। परंतु यदि इस परसे यह विचार किया जाये कि फिर जैन जगतको अनादि अनंत तो कहता है सो किस न्यायसे कहता है ? जगतकर्त्ता नहीं है यों कहनेमें इसका कारण क्या है ? यों एकके बाद एक भेदरूप विचारसे वे जैनकी पवित्रताको समझ सकते हैं। जगतको रचनेकी परमेश्वरको क्या आवश्यकता थी ? रचा तो सुख-दुःख रखनेका क्या कारण था ? रचकर मौत किसलिये रखी ? यह लीला किसे दिखानी थी ? रचा तो किस कर्मसे रचा ? उससे पहले रचनेकी इच्छा क्यों नहीं थी ? ईश्वर कौन है ? जगतके पदार्थ क्या हैं ? और इच्छा क्या हैं ? रचा तो जगतमें एक ही धर्मका प्रवर्तन रखना था; यों भ्रममें डालनेकी क्या आवश्यकता थी ? कदाचित् मान लें कि यह सब उस बेचारेसे भूल हुई ! खैर, क्षमा करें, परंतु ऐसी सवाई बुद्धि कहाँसे सूझी कि उसने अपनेको ही जड-मूलसे उखाडनेवाले महावीर जैसे पुरुषोंको जन्म दिया ? इनके कहे हुए दर्शनको जगतमें क्यों विद्यमान रखा ? अपने ही हाथसे अपने ही पाँव पर कुल्हाडी मारनेकी उसे क्या आवश्यकता थी ? एक तो मानो इस प्रकारसे विचार और बाकी दूसरे प्रकारसे ये विचार कि जैनदर्शनके प्रवर्तकोंको इससे कोई द्वेष था ? यह जगतकर्त्ता होता तो यों कहनेसे उनके लाभको कोई हानि पहुँचती थी ? जगतकर्त्ता नहीं है, जगत अनादि अनंत है यों कहनेमें उन्हें कुछ महत्ता मिल जाती थी ? ऐसे अनेक विचार करनेसे मालूम होगा कि जैसा जगतका स्वरूप था वैसा ही उन पवित्र पुरुषोंने कहा है। इससे भिन्न रूपमें कहनेका उन्हें लेशमात्र प्रयोजन नहीं था। सूक्ष्मसे सूक्ष्म जीवकी रक्षाका जिन्होंने विधान किया है, एक रजकणसे लेकर सारे जगतके विचार जिन्होंने सर्व भेदोंसे कहे हैं, ऐसे पुरुषोंके पवित्र दर्शनको नास्तिक कहनेवाले किस गतिको प्राप्त होंगे यह सोचते हुए दया आती है !

शिक्षापाठ ९८ : तत्त्वावबोध—भाग १७

जो न्यायसे जय प्राप्त नहीं कर सकता वह फिर गालियाँ देने लगता है, इसी तरह जब शंकराचार्य, दयानन्द संन्यासी इत्यादि पवित्र जैनदर्शनके अखंड तत्त्व-सिद्धांतोंका खंडन नहीं कर सके तब फिर वे 'जैन नास्तिक है', 'वह चार्वाकमेंसे उत्पन्न हुआ है', ऐसा कहने लगे। परंतु यहाँ कोई प्रश्न करे कि महाराज ! यह विवेचन आप बादमें करें। ऐसे शब्द कहनेमें कुछ समय, विवेक या ज्ञानकी जरूरत नहीं है; परंतु इसका उत्तर दें कि जैनदर्शन वेदसे किस बातमें कम है, इसका ज्ञान, इसका बोध, इसका रहस्य और इसका सत्शील कैसा है उसे एक बार कहें ! आपके वेदविचार किस विषयमें जैनदर्शनसे उत्तम हैं ? इस प्रकार जब बात मर्मस्थानपर आती है तब मौनके सिवाय उनके पास दूसरा कोई साधन नहीं रहता। जिन सत्पुरुषोंके वचनामृत और योगबलसे इस सृष्टिमें सत्य, दया, तत्त्वज्ञान और महाशील उदयको प्राप्त होते हैं, उन पुरुषोंकी अपेक्षा जो पुरुष शृंगारमें रचे-पचे पडे हैं, सामान्य तत्त्वज्ञान को भी नहीं जानते, जिनका आचार भी पूर्ण नहीं है, उन्हें उत्तम कहना, परमेश्वरके नामसे स्थापित करना,

सत्यस्वरूपकी निंदा करना तथा परमात्मस्वरूपको प्राप्त पुरुषोंको नास्तिक कहना, यह सब उनकी कितनी अधिक कर्मकी बहुलताका सूचन करता है! परंतु जगत मोहांध है, जहाँ मतभेद है वहाँ अंधेरा है; जहाँ ममत्व या राग है वहाँ सत्यतत्त्व नहीं है यह बात हम किसलिये न विचारें?

मैं एक मुख्य बात तुमसे कहता हूँ कि जो ममत्वरहित और न्याययुक्त है। वह यह है कि तुम चाहे जिस दर्शनको मानों, फिर चाहे जो तुम्हारी दृष्टिमें आये वैसे जैनदर्शनको कहो, सब दर्शनोंके शास्त्रतत्त्वको देखो उसी तरह जैनतत्त्वको भी देखो। स्वतंत्र आत्मिक शक्तिसे जो योग्य लगे उसे अंगीकार करो। मेरी या किसी दूसरेकी बातको भले एकदम तुम मान्य न करो, परन्तु तत्त्वका विचार करो।

शिक्षापाठ ९९ : समाजकी आवश्यकता

आंग्लभौमिक संसारसम्बन्धी अनेक कला-कौशलमें किस कारणसे विजयको प्राप्त हुए? यह विचार करनेसे हमें तत्काल मालूम होगा कि उनका बहुत उत्साह और उस उत्साहमें अनेकोंका मिल जाना उनकी विजयका कारण है। कला-कौशलके इस उत्साही काममें उन अनेक पुरुषोंकी खडी हुई सभा या समाजने क्या परिणाम पाया? तो उत्तरमें यह कहा जायेगा कि लक्ष्मी, कीर्ति और अधिकार। उनके इस उदाहरणसे उस जातिके कला-कौशलोंकी खोज करनेका मैं यहाँ उपदेश नहीं करता, परंतु यह बतलाता हूँ कि सर्वज्ञ भगवानका कहा हुआ गुप्त तत्त्व प्रमादस्थितिमें आ पडा है, उसे प्रकाशित करनेके लिये तथा पूर्वाचार्योंके रचे हुए महान शास्त्रोंको एकत्र करनेके लिये, गच्छोंके पडे हुए मतमतांतरको दूर करनेके लिये तथा धर्मविद्याको प्रफुल्लित करनेके लिये सदाचारी श्रीमान् और धीमान् दोनोंको मिलकर एक महान समाजकी स्थापना करनेकी आवश्यकता है। पवित्र स्याद्वादमतके ढँके हुए तत्त्वको प्रसिद्धिमें लानेका जब तक प्रयत्न नहीं होता तब तक शासनकी उन्नति भी नहीं होगी। संसारी कला-कौशलसे लक्ष्मी, कीर्ति और अधिकार मिलते हैं, परंतु इस धर्मकलाकौशलसे तो सर्व सिद्धि संप्राप्त होगी। महान समाजके अंतर्गत उपसमाज स्थापित करना। साम्प्रदायिक बाडेमें बैठे रहनेकी अपेक्षा मतमतांतर छोडकर ऐसा करना उचित है। मैं चाहता हूँ कि इस कृत्यकी सिद्धि होकर जैनके अंतर्गच्छ-मतभेद दूर हों, सत्य वस्तुपर मनुष्य मंडलका ध्यान आओ और ममत्व जाओ।

शिक्षापाठ १०० : मनोनिग्रहके विघ्न

वारंवार जो बोध करनेमें आया है उसमेंसे मुख्य तात्पर्य यह निकलता है कि आत्माको तारो और तारनेके लिये तत्त्वज्ञानका प्रकाश करो तथा सत्शीलका सेवन करो। इसे प्राप्त करनेके लिये जो जो मार्ग बतलाये हैं वे सब मार्ग मनोनिग्रहके अधीन हैं। मनोनिग्रहके लिये लक्ष्यकी विशालता करना यथोचित है। इसमें निम्नलिखित दोष विघ्नरूप है :—

१. आलस्य
२. अनियमित निद्रा
३. विशेष आहार
४. उन्माद प्रकृति
५. माया प्रपंच
६. अनियमित काम
७. अकरणीय विलास
८. मान
९. मर्यादासे अधिक काम
१०. आत्मप्रशंसा

११. तुच्छ वस्तुसे आनन्द
१२. रसगारवलुब्धता
१३. अतिभोग
१४. दूसरेका अनिष्ट चाहना
१५. निष्कारण कमाना
१६. बहुतोंका स्नेह
१७. अयोग्य स्थानमें जाना
१८. एक भी उत्तम नियमको सिद्ध नहीं करना

अष्टादश पापस्थानकका क्षय तब तक नहीं होगा जब तक इन अष्टादश विघ्नोंसे मनका संबंध है। ये अष्टादश दोष नष्ट होनेसे मनोनिग्रह और अभीष्ट सिद्धि हो सकती है। जब तक ये दोष मनसे निकटता रखते हैं तब तक कोई भी मनुष्य आत्मसार्थकता नहीं कर सकता। अति भोगके स्थानपर सामान्य भोग नहीं परंतु जिसने सर्वथा भोगत्यागव्रत धारण किया है तथा जिसके हृदयमें इनमेंसे एक भी दोषका मूल नहीं है वह सत्पुरुष बडभागी है।

शिक्षापाठ १०१ : स्मृतिमें रखने योग्य महावाक्य

१. एक भेदसे नियम ही इस जगतका प्रवर्तक है।

२. जो मनुष्य सत्पुरुषोंके चरित्ररहस्यको पाता है वह मनुष्य परमेश्वर हो जाता है।

३. चंचल चित्त ही सर्व विषम दुःखोंका मूल है।

४. बहुतोंका मिलाप और थोडोंके साथ अति समागम ये दोनों समान दुःखदायक हैं।

५. समस्वभावीका मिलना इसे ज्ञानी एकांत कहते हैं।

६. इंद्रियाँ तुम्हें जीतें और तुम सुख मानो इसकी अपेक्षा उन्हें जीतनेमें ही तुम सुख, आनंद और परमपद प्राप्त करोगे।

७. रागके बिना संसार नहीं और संसारके बिना राग नहीं।

८. युवावस्थाका सर्वसंगपरित्याग परमपदको देता है।

९. उस वस्तुके विचारमें लगो कि जो वस्तु अतीन्द्रिय-स्वरूप हैं।

१०. गुणीके गुणमें अनुरक्त होओ।

शिक्षापाठ १०२ : विविध प्रश्न—भाग १

आज मैं तुमसे कितने ही प्रश्न निर्ग्रंथप्रवचनके अनुसार उत्तर देनेके लिये पूछता हूँ।

प्र०—कहो धर्मकी आवश्यकता क्या है ?

उ०—अनादिकालीन आत्माके कर्मजालको दूर करनेके लिये।

प्र०—जीव पहले या कर्म ?

उ०—दोनों अनादि ही हैं; यदि जीव पहले हो तो इस विमल वस्तुको मल लगनेका कोई निमित्त चाहिये। कर्म पहले कहो तो जीवके बिना कर्म किये किसने ? इस न्यायसे दोनों अनादि ही हैं।

प्र०—जीव रूपी या अरूपी ?

उ०—रूपी भी है और अरूपी भी है।

प्र०—रूपी किस न्यायसे और अरूपी किस न्यायसे ? यह कहो।

उ०—देहके निमित्तसे रूपी और स्वस्वरूपसे अरूपी है।

प्र०—देह निमित्त किस कारणसे है ?

उ०—स्वकर्मके विपाकसे।

प्र०—कर्मकी मुख्य प्रकृतियाँ कितनी हैं ?

उ०—आठ।

प्र०—कौन-कौनसी ?

उ०—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, नाम, गोत्र, आयु और अंतराय।

प्र०—इन आठों कर्मोंकी सामान्य जानकारी दो।

उ०—ज्ञानावरणीय आत्माकी ज्ञानसंबंधी जो अनंत शक्ति है उसका आच्छादन करता है। दर्शनावरणीय आत्माकी जो अनंत दर्शनशक्ति है उसका आच्छादन करता है। वेदनीय अर्थात् देहनिमित्तसे साता असाता दो प्रकारके वेदनीय कर्मोंसे अव्याबाधसुखरूप आत्माकी शक्ति जिससे अवरुद्ध रहती है वह। मोहनीय कर्मसे आत्मचारित्ररूप शक्ति अवरुद्ध रही है। नामकर्मसे अमूर्तरूप दिव्य शक्ति अवरुद्ध रही है। गोत्रकर्मसे अटल अवगाहनारूप आत्मशक्ति अवरुद्ध रही है। आयुकर्मसे अक्षयस्थिति गुण अवरुद्ध रहा है। अन्तरायकर्मसे अनंत दान, लाभ, वीर्य, भोग और उपभोगकी शक्ति अवरुद्ध रही हैं।

शिक्षापाठ १०३ : विविध प्रश्न—भाग २

प्र०—इन कर्मोंके दूर होनेसे आत्मा कहाँ जाता है ?

उ०—अनंत और शाश्वत मोक्षमें।

प्र०—इस आत्माका मोक्ष कभी हुआ है ?

उ०—नहीं।

प्र०—कारण ?

उ०—मोक्षप्राप्त आत्मा कर्ममलरहित है, इसलिये उसका पुनर्जन्म नहीं है।

प्र०—केवलीके लक्षण क्या है ?

उ०—चार घनघाती कर्मोंका क्षय करके और शेष चार कर्मोंको दुर्बल करके जो पुरुष त्रयोदश गुणस्थानमें विहार करता है।

प्र०—गुणस्थानक कितने ?

उ०—चौदह।

प्र०—उनके नाम कहो।

उ०—

१. मिथ्यात्व गुणस्थानक।	२. सास्वादन गुणस्थानक।	३. मिश्र गुणस्थानक।
४. अविरतिसम्यग्दृष्टि गुणस्थानक।	५. देशविरति गुणस्थानक।	६. प्रमत्तसंयत गुणस्थानक।
७. अप्रमत्तसंयत गुणस्थानक।	८. अपूर्वकरण गुणस्थानक।	९. अनिवृत्तिबादर गुणस्थानक।
१०. सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानक।	११. उपशांतमोह गुणस्थानक।	१२. क्षीणमोह गुणस्थानक।
१३. सयोगीकेवली गुणस्थानक।	१४. अयोगीकेवली गुणस्थानक।	

शिक्षापाठ १०४ : विविध प्रश्न—भाग ३

प्र०—केवली और तीर्थंकर इन दोनोंमें क्या अंतर है ?

उ०—केवली और तीर्थंकर शक्तिमें समान हैं; परंतु तीर्थंकरने पूर्वमें तीर्थंकरनामकर्मका उपार्जन

किया है; इसलिये वे विशेषरूपसे बारह गुण और अनेक अतिशय प्राप्त करते हैं।

प्र०—तीर्थंकर पर्यटन करके किसलिये उपदेश देते हैं ? वे तो नीरागी हैं।

उ०—पूर्वमें जो तीर्थंकरनामकर्म बाँधा हैं उसे वेदन करनेके लिये उन्हें अवश्य ऐसा करना पडता है।

प्र०—अभी प्रवर्तमान शासन किसका है ?

उ०—श्रमण भगवान महावीरका।

प्र०—महावीरसे पहले जैनदर्शन था ?

उ०—हाँ।

प्र०—उसे किसने उत्पन्न किया था ?

उ०—उनसे पहलेके तीर्थंकरोंने।

प्र०—उनके और महावीरके उपदेशमें कोई भिन्नता है क्या ?

उ०—तत्त्वस्वरूपसे एक ही है। पात्रको लेकर उपदेश होनेसे और कुछ कालभेद होनेसे सामान्य मनुष्यको भिन्नता अवश्य मालूम होती है; परंतु न्यायसे देखते हुए यह भिन्नता नहीं है।

प्र०—उनका मुख्य उपदेश क्या है ?

उ०—आत्माको तारो; आत्माकी अनंत शक्तियोंका प्रकाश करो और उसे कर्मरूप अनंत दुःखसे मुक्त करो।

प्र०—इसके लिये उन्होंने कौनसे साधन बताये हैं ?

उ०—व्यवहारनयसे सद्देव, सद्धर्म और सद्गुरुका स्वरूप जानना, सद्देवका गुणगान करना, त्रिविध धर्मका आचरण करना और निर्ग्रंथ गुरुसे धर्मका बोध पाना।

प्र०—त्रिविध धर्म कौनसा ?

उ०—सम्यग्ज्ञानरूप, सम्यग्दर्शनरूप और सम्यग्चारित्ररूप।

शिक्षापाठ १०५ : विविध प्रश्न—भाग ४

प्र०—ऐसा जैनदर्शन जब सर्वोत्तम है तब सभी आत्मा इसके बोधको क्यों नहीं मानते ?

उ०—कर्मकी बहुलतासे, मिथ्यात्वके जमे हुए दलसे और सत्समागमके अभावसे।

प्र०—जैनमुनियोंके मुख्य आचार क्या हैं ?

उ०—पाँच महाव्रत, दशविध यतिधर्म, सप्तदशविध संयम, दशविध वैयावृत्य, नवविध ब्रह्मचर्य, द्वादश प्रकारका तप, क्रोधादिक चार प्रकारके कषायका निग्रह, इनके अतिरिक्त ज्ञान, दर्शन और चारित्रका आराधन इत्यादि अनेक भेद हैं।

प्र०—जैनमुनियोंके जैसे ही संन्यासियोंके पाँच याम हैं, बौद्ध धर्मके पाँच महाशील हैं। इसलिये इस आचारमें तो जैनमुनि, संन्यासी तथा बौद्धमुनि एक-से हैं न ?

उ०—नहीं।

प्र०—क्यों नहीं ?

उ०—उनके पाँच याम और महाशील अपूर्ण हैं। महाव्रतके प्रतिभेद जैनमें अति सूक्ष्म हैं। उन दोनोंके स्थूल हैं।

प्र०—सूक्ष्मताके लिये कोई दृष्टांत भी तो दो।

उ०—दृष्टांत प्रत्यक्ष ही है। पंचयामी कंदमूलादिक अभक्ष्य खाते हैं, सुखशय्यामें सोते हैं, विविध

प्रकारके वाहनों और पुष्पोंका उपभोग करते हैं, केवल शीतल जलसे व्यवहार करते हैं, रात्रिमें भोजन करते हैं। इसमें होनेवाला असंख्यात जंतुओंका विनाश, ब्रह्मचर्यका भंग इत्यादिकी सूक्ष्मता वे नहीं जानते। इसी प्रकार बौद्धमुनि मांसादिक अभक्ष्य और सुखशील साधनोंसे युक्त हैं। जैनमुनि तो इनसे सर्वथा विरक्त ही हैं।

शिक्षापाठ १०६ : विविध प्रश्न—भाग ५

प्र०—वेद और जैनदर्शनमें प्रतिपक्षता है क्या ?

उ०—जैनदर्शनकी वेदसे किसी द्वेषसे प्रतिपक्षता नहीं है; परंतु जैसे सत्यका असत्य प्रतिपक्षी गिना जाता है वैसे जैनदर्शनसे वेदका संबंध है।

प्र०—इन दोनोंमें आप किसे सत्यरूप कहते हैं ?

उ०—पवित्र जैनदर्शनको।

प्र०—वेददर्शनवाले वेदको कहते हैं, उसका क्या ?

उ०—यह तो मतभेद और जैनदर्शनके तिरस्कारके लिये है। परंतु न्यायपूर्वक दोनोंके मूलतत्त्व आप देख जाइये।

प्र०—इतना तो मुझे लगता है कि महावीरादिक जिनेश्वरोंका कथन न्यायके काँटे पर है; परंतु जगतकर्त्ताका वे निषेध करते हैं, और जगत अनादि अनंत है ऐसा कहते हैं; इस विषयमें कुछ कुछ शंका होती है कि यह असंख्यात द्वीप-समुद्रयुक्त जगत बिना बनाये कहाँसे हुआ ?

उ०—आपको जब तक आत्माकी अनंत शक्तिकी लेश भी दिव्य प्रसादी नहीं मिली तब तक ऐसा लगता है, परंतु तत्त्वज्ञानसे ऐसा नहीं लगेगा। 'सम्मतितर्क' ग्रन्थका आप परिशीलन करेंगे तो यह शंका दूर हो जायेगी।

प्र०—परंतु समर्थ विद्वान अपनी मृषा बातको भी दृष्टांतादिकसे सैद्धांतिक कर देते हैं, इसलिये वह खंडित नहीं हो सकती, परंतु वह सत्य कैसे कही जाये ?

उ०—परंतु उन्हें कुछ मृषा कहनेका प्रयोजन न था, और थोडी देरके लिये यों मानें कि हमें ऐसी शंका हुई कि यह कथन मृषा होगा, तो फिर जगतकर्त्ताने ऐसे पुरुषको जन्म भी क्यों दिया ? नामडुबाऊ पुत्रको जन्म देनेका क्या प्रयोजन था ? और फिर वे सत्पुरुष सर्वज्ञ थे; जगतकर्त्ता सिद्ध होता तो ऐसा कहनेसे उन्हें कुछ हानि न थी।

शिक्षापाठ १०७ : जिनेश्वरकी वाणी

(मनहर छन्द)

[1]**अनंत अनंत भाव भेदथी भरेली भली,**
अनंत अनंत नय निक्षेपे व्याख्यानी छे;
सकल जगत हितकारिणी हारिणी मोह,
तारिणी भवाब्धि मोक्षचारिणी प्रमाणी छे;

---

१. **भावार्थ**—जिनेश्वरकी वाणी अनंतानंत भावभेदोंसे भरी हुई है, इसलिये मनोहर है; अनंतानंत नय-निक्षेपोंसे जिसकी व्याख्या की गई है; जो सकल जगतका हित करनेवाली, मोहको हरनेवाली, भवसागरसे तारनेवाली है

उपमा आप्यानी जेने तमा राखवी ते व्यर्थ,
आपवाथी निज मति मपाई में मानी छे;
अहो ! राजचन्द्र, बाळ ख्याल नथी पामता ए,
जिनेश्वर तणी वाणी जाणी तेणे जाणी छे. १

शिक्षापाठ १०८ : पूर्णमालिका मंगल

(उपजाति)

*तपोपध्याने रविरूप थाय,
ए साधीने सोम रही सुहाय;
महान ते मंगळ पंक्ति पामे,
आवे पछी ते बुधना प्रणामे. १

निर्ग्रंथ ज्ञाता गुरु सिद्धिदाता,
कां तो स्वयं शुक्र प्रपूर्ण ख्याता;
त्रियोग त्यां केवळ मंद पामे,
स्वरूप सिद्धे विचरी विरामे. २

और जिसे मोक्ष देनेके लिए समर्थ एवं प्रमाणभूत माना है; जिसे उपमा देनेकी लालसा रखना व्यर्थ है, और उपमा देनेसे अपनी मतिका माप निकल जाता है, ऐसा मैंने माना है। राजचन्द्र कहते हैं कि यह कितना आश्चर्य है कि अज्ञानी जीवोंका जिनवाणीका ख्याल भी नहीं आता अर्थात् वे उसकी महिमाको नहीं जानते हैं। जिनेश्वरकी वाणीको जिसने जाना है उसीने जाना है॥१॥

* **भावार्थ**—आत्मा तप और ध्यानसे सूर्यकी भाँति तेजस्वी होता है। तप और ध्यानकी सिद्धिसे शान्त तथा शीतल होकर आत्मा चंद्रकी तरह शोभता है। फिर महामंगलकी महापदवीको प्राप्त होता है। फिर वह बुधके परिणाममें आता है अर्थात् बोधिस्वरूप हो जाता है॥१॥

फिर वह सिद्धिदाता एवं ज्ञाता निर्ग्रंथ गुरु अथवा पूर्ण व्याख्याता स्वयं शुक्रका स्थान ग्रहण करता है। उस दशामें त्रियोग सर्वथा मंद हो जाते हैं। परिणामतः आत्मा स्वरूपसिद्ध होनेपर ऊर्ध्वगमन करके सिद्धालयमें विराजता है॥२॥



जन्म-ववाणिया
वि. सं. १९२४, कार्तिक पूर्णिमा, रविवार

श्रीमद् राजचंद्र

देहविलय-राजकोट
वि. सं. १९५७, चैत्र वदी ५, मंगलवार

१९ वाँ वर्ष

१८

ववाणिया, मि.२.६-१-८-१९४२

मुकुटमणि रवजीभाई देवराजकी पवित्र सेवामें,

ववाणिया बंदरसे वि० रायचंद वि० रवजीभाई मेहताका प्रेमपूर्वक प्रणाम मान्य कीजियेगा। यहाँ मैं धर्म-प्रभाव-वृत्तिसे कुशल हूँ। आपकी कुशलता चाहता हूँ। आपका दिव्य प्रेमभावभूषित पत्र मुझे मिला, पढ़कर अत्यानंदार्णवतरंगें उमड़ आई हैं। दिव्य प्रेमका अवलोकन करके आपका परम स्मरण हो आया है। ऐसे प्रेम भरे पत्र निरंतर मिलते रहनेका निवेदन है, और उसे स्वीकृत करना आपके हाथकी बात है। इसलिये चिन्ता जैसा नहीं है। आपके द्वारा पूछे गये प्रश्नोंके उत्तर यहाँ प्रस्तुत करनेकी अनुमति लेता हूँ।

प्रवेशक—आपका लिखना उचित है। स्वस्वरूपका चित्रण करते हुए मनुष्य झिझकता जरूर है। परंतु स्वस्वरूपमें जब आत्मस्तुतिका किंचित् अंश मिल जाये तब, नहीं तो कदापि नहीं, ऐसा मेरा अभिप्राय है। आत्मस्तुतिका सामान्य अर्थ भी ऐसा होता है कि अपनी झूठी आपबडाई चित्रित करना; अन्यथा वह आत्मस्तुतिका उपनाम प्राप्त करती है, परंतु यथार्थ चित्रण वैसा नहीं कहा जाता। और यदि यथार्थ स्वरूपको आत्मस्तुति माना जाये तो फिर महात्मा प्रख्यातिमें आवें ही कैसे? इसलिये आपके पूछनेपर स्वस्वरूपकी सत्यता किंचित् बताते हुए यहाँ मैंने संकोच नहीं किया है, और तदनुसार करते हुए मैं न्यायपूर्वक दोषी भी नहीं हुआ हूँ।

अ—बम्बई-निवासी पंड़ित लालाजीके अवधानोंके संबंधमें आपने बहुत-कुछ पढ़ा होगा। ये पंड़ितराज अष्टावधान करते हैं, जो हिंदप्रसिद्ध है।

यह लिखनेवाला बावन अवधान खुले आम एक बार कर चुका है; और उसमें यह विजयी सिद्ध हो सका है। वे बावन अवधान—

१.	तीन व्यक्तियोंके साथ चौपड़ खेलते जाना	१
२.	तीन व्यक्तियोंके साथ ताश खेलते जाना	१
३.	एक व्यक्तिके साथ शतरंज खेलते जाना	१
४.	झालरके बजते टकोरे गिनते जाना	१
५.	जोड़, बाकी, गुणाकार एवं भागाकार मनमें गिनते जाना	४
६.	मालाके मनकेपर ध्यान रखकर गिनती करना	१
७.	आठेक नयी समस्याओंकी पूर्ति करना	८
८.	विवादकोंसे निर्दिष्ट सोलह नये विषयोंपर निर्दिष्ट छंदोंमें रचना करते जाना	१६
९.	ग्रीक, अँग्रेजी, संस्कृत, अरबी, लेटिन, उर्दू, गुजराती, मराठी, बंगाली, मारवाड़ी, जाड़ेजी आदि सोलह भाषाओंके अनुक्रमविहीन चारसौ शब्द कर्त्ता-कर्मसहित पुनः अनुक्रमबद्ध कह सुनाना, बीचमें दूसरे काम भी करते जाना	१६
१०.	विद्यार्थीको समझाना	१
११.	कतिपय अलंकारोंका विचार	२
		५२

इस प्रकार किये गये बावन अवधानोंके संबंधमें लिखनेकी यहाँपर पूर्णाहुति होती है।

ये बावन काम एक समयमें एक साथ मनःशक्तिमें धारण करने पड़ते हैं। अज्ञात भाषाके विकृत अक्षर सुकृत करने पड़ते हैं। संक्षेपमें आपसे कह देता हूँ कि यह सब याद ही रह जाता है। (अभी तक कभी विस्मृति नहीं हुई है।) इसमें बहुत-कुछ मर्म समझना रह जाता है। परन्तु दिलगीर हूँ कि वह समझाना प्रत्यक्षमें ही संभव है। इसलिये यहाँ लिखना वृथा है। आप निश्चय कीजिये कि यह एक घंटेका कितना कौशल्य है ? संक्षिप्त हिसाब गिनें तो भी बावन श्लोक तो एक घंटेमें याद रहे या नहीं ? सोलह नये (विषय), आठ समस्याएँ, सोलह भिन्न-भिन्न भाषाके अनुक्रमविहीन अक्षर और बारह दूसरे काम कुल मिलाकर एक विद्वानने गिनती करनेपर मान्य रखा था कि ५०० श्लोकोंका स्मरण एक घंटेमें रह सकता है। यह बात अब यहाँपर इतनेसे ही समाप्त कर देते हैं।

आ—तेरह महीने हुए देहोपाधि और मानसिक व्याधिके परिचयसे कितनी ही शक्ति दबाकर रखने जैसी ही हो गई है। (बावन जैसे सौ अवधान तो अभी भी हो सकते हैं।) नहीं तो आप चाहे जिस भाषाके सौ श्लोक एक बार बोल जायें तो उन्हें पुनः उसी प्रकार स्मृतिमें रखकर कह सुनानेकी समर्थता इस लेखकमें थी। और इसके लिये तथा अवधानोंके लिये इस मनुष्यको 'सरस्वतीका अवतार' ऐसा उपनाम मिला हुआ है। अवधान आत्मशक्तिका कार्य है, यह मुझे स्वानुभवसे प्रतीत हुआ है। आपका प्रश्न ऐसा है कि "एक घंटेमें सौ श्लोक स्मरणमें रह सकते हैं ?" इसकी मार्मिक स्पष्टता तो उपर्युक्त विषय कर ही देंगे, ऐसा मानकर उसे यहाँ नहीं लिखा है। आश्चर्य, आनन्द और संदेहमेंसे अब आपको जो योग्य लगे उसे ग्रहण करें।

इ—मेरी क्या शक्ति है ? कुछ भी नहीं। आपकी शक्ति अद्भुत है। आप मेरे लिये आश्चर्यचकित होते हैं और मैं आपके लिये आनंदित होता हूँ।

आप सरस्वती सिद्ध करनेके लिये काशीक्षेत्रकी ओर पधारनेवाले हैं, यह पढ़कर मैं अत्यानंद-कुशल हुआ हूँ। अस्तु ! आप कौनसे न्यायशास्त्रकी बात करते हैं ? गौतम मुनिका या मनुस्मृति, हिंदू धर्मशास्त्र, मिताक्षरा, व्यवहार, मयूख आदि प्राचीन न्यायग्रन्थ या आधुनिक ब्रिटिश लॉ प्रकरण ? इसकी स्पष्टता मुझे नहीं हुई। मुनिका न्यायशास्त्र मुक्ति-प्रकरणमें समाविष्ट होने योग्य है। दूसरे ग्रन्थ राज्य-प्रकरणमें— "ब्रिटिशमां माठां"—समाविष्ट होते हैं। तीसरा खास ब्रिटिशके लिये ही है, परन्तु वह अँग्रेजीमें है। तो अब आपने इनमेंसे किसे पसन्द किया है ? यह मर्म खुलना चाहिये। यदि मुनिशास्त्र और प्राचीन शास्त्रके सिवाय गिना हो तो इसका अभ्यास काशीमें नहीं होता। परन्तु मेट्रिक्युलेशन पास होनेके बाद बम्बई और पूनामें होता है। दूसरे शास्त्र समयानुकूल नहीं हैं। आपका विचार जाने बिना ही यह सब लिख डाला है। परन्तु लिख डालनेमें भी एक कारण है। वह यह है कि आपने साथमें अँग्रेजी विद्याभ्यासकी बात लिखी है, तो मैं मानता हूँ कि इसमें आप कुछ भूल करते होंगे। बम्बईकी अपेक्षा काशीकी तरफ अँग्रेजी-अभ्यास कुछ उत्कृष्ट नहीं है; जब उत्कृष्ट न हो तब दूर जानेका हेतु कुछ और होगा। आप लिखें तो जानूँ, तब तक शंकाग्रस्त हूँ।

१. मुझे अभ्यासके बारेमें पूछा है इसकी जो स्पष्टता मुझे करनी है, वह उपर्युक्त बातकी स्पष्टता हुए बिना नहीं की जा सकती; और जो स्पष्टता मैं करनेवाला हूँ वह दलीलोंसे करूँगा।

ज्ञानवर्धक सभाके व्यवस्थापकका उपकार मानता हूँ, क्योंकि वे इस अनुचरके लिये कष्ट उठाते हैं।

यह सारी स्पष्टता संक्षेपमें कर दी है। विशेषकी आवश्यकता हो तो पूछिये।



१९ वाँ वर्ष **श्रीमद् राजचंद्र** वि. सं. १९४३

२० वाँ वर्ष

१९

[1]महानीति

(वचन सप्तशती)

१. सत्य भी करुणामय बोलना।
२. निर्दोष स्थिति रखना।
३. वैरागी हृदय रखना।
४. दर्शन भी वैरागी रखना।
५. पहाडकी तलहटीमें अधिक योग साधना।
६. बारह दिन पत्नी संसर्गका त्याग करना।
७. आहार, विहार, आलस्य, निद्रा इत्यादिको वशमें करना।
८. संसारकी उपाधिसे यथासंभव विरक्त रहना।
९. सर्व-संगउपाधिका त्याग करना।
१०. गृहस्थाश्रमको विवेकी बनाना।
११. तत्त्वधर्मको सर्वज्ञतासे प्रणीत करना।
१२. वैराग्य और गम्भीरभावसे बैठना।
१३. सारी स्थिति वैसी ही।
१४. विवेकी, विनयी और प्रिय भी मर्यादित बोलना।
१५. साहसिक कार्य करनेसे पहले विचार करना।
१६. प्रत्येक प्रकारसे प्रमादको दूर करना।
१७. सभी कार्य नियमित ही रखना।
१८. शुक्ल भावसे मनुष्यका मन हरना।
१९. सिर जाते हुए भी प्रतिज्ञा भंग न करना।
२०. मन, वचन और कायाके योगसे परपत्नीका त्याग।
२१. इसी प्रकार वेश्या, कुमारी, विधवाका त्याग।
२२. मन, वचन और कायाका अविचारसे उपयोग न करूँ।
२३. निरीक्षण नहीं करूँ।
२४. हावभावसे मोहित न होऊँ।
२५. बातचीत नहीं करूँ।
२६. एकान्तमें नहीं रहूँ।
२७. स्तुति नहीं करूँ।
२८. चिंतन नहीं करूँ।
२९. शृंगार-साहित्य नहीं पढूँ।
३०. विशेष प्रसाद नहीं लूँ।

---

१. देखें आंक २१ में नं० १६ तथा आंक २७।

३१. स्वादिष्ट भोजन नहीं लूँ।
३२. सुगंधी द्रव्यका उपयोग नहीं करूँ।
३३. स्नान व मंजन नहीं करूँ।
३४.
३५. काम विषयको ललित भावसे नहीं चाहूँ।
३६. वीर्यका व्याघात नहीं करूँ।
३७. अधिक जलपान नहीं करूँ।
३८. कटाक्ष दृष्टिसे स्त्रीको नहीं देखूँ।
३९. हँसकर बात नहीं करूँ। (स्त्रीसे)
४०. शृङ्गारी वस्त्र नहीं देखूँ।
४१. दंपती-सहवासका सेवन नहीं करूँ।
४२. मोहनीय स्थानकमें नहीं रहूँ।
४३. इस प्रकार महापुरुषोंको पालन करना चाहिये। मैं पालन करनेमें प्रयत्नशील हूँ।
४४. लोकनिंदासे नहीं डरूँ।
४५. राज्यभयसे त्रस्त न होऊँ।
४६. असत्य उपदेश नहीं दूँ।
४७. सदोष क्रिया नहीं करूँ।
४८. अहंपद रखूँ या बोलूँ नहीं।
४९. सम्यक् प्रकारसे विश्वकी ओर दृष्टि करूँ।
५०. निःस्वार्थभावसे विहार करूँ।
५१. अन्यमें मोहनी उत्पन्न करनेवाला देखाव नहीं करूँ।
५२. धर्मानुरक्त दर्शनसे विचरण करूँ।
५३. सब प्राणियोंमें समभाव रखूँ।
५४. क्रोधी वचन नहीं बोलूँ।
५५. पापी वचन नहीं बोलूँ।
५६. असत्य आज्ञा नहीं दूँ।
५७. अपथ्य प्रतिज्ञा नहीं दूँ।
५८. सृष्टिसौंदर्यमें मोह नहीं रखूँ।
५९. सुख-दुःखमें समभाव रखूँ।
६०. रात्रिभोजन नहीं करूँ।
६१. नशीली वस्तुका सेवन नहीं करूँ।
६२. प्राणीको दुःख देनेवाला असत्य नहीं बोलूँ।
६३. अतिथिका सन्मान करूँ।
६४. परमात्माकी भक्ति करूँ।
६५. प्रत्येक स्वयंबुद्धको भगवान मानूँ।
६६. उसकी प्रतिदिन पूजा करूँ।

६७. विद्वानोंका सन्मान करूँ।
६८. विद्वानोंसे माया नहीं करूँ।
६९. मायावीको विद्वान नहीं कहूँ।
७०. किसी दर्शनकी निंदा नहीं करूँ।
७१. अधर्मकी स्तुति नहीं करूँ।
७२. एक पक्षीय मतभेद नहीं बनाऊँ।
७३. अज्ञान पक्षकी आराधना नहीं करूँ।
७४. आत्मप्रशंसा नहीं चाहूँ।
७५. किसी कृत्यमें प्रमाद नहीं करूँ।
७६. मांसादिक आहार नहीं करूँ।
७७. तृष्णाको शांत करूँ।
७८. तापसे मुक्त होनेमें मनोज्ञता मानूँ।
७९. उस मनोरथको पूरा करनेके लिये परायण होऊँ।
८०. योगसे हृदयको शुक्ल करूँ।
८१. असत्य प्रमाणसे वार्तापूर्ति नहीं करूँ।
८२. असंभव कल्पना नहीं करूँ।
८३. लोक-अहितका विधान नहीं करूँ।
८४. ज्ञानीकी निंदा नहीं करूँ।
८५. वैरीके गुणकी भी स्तुति करूँ।
८६. किसीसे वैरभाव नहीं रखूँ।
८७. माता-पिताको मुक्तिमार्गपर चढ़ाऊँ।
८८. सुमार्गसे उनका बदला चुकाऊँ।
८९. उनकी मिथ्या आज्ञा नहीं मानूँ।
९०. स्वस्त्रीसे समभावसे बर्ताव करूँ।
९१.
९२. जल्दीसे नहीं चलूँ।
९३. तीव्र वेगसे नहीं चलूँ।
९४. ऐंठकर नहीं चलूँ।
९५. उच्छृङ्खल वस्त्र नहीं पहनूँ।
९६. वस्त्रका अभिमान नहीं करूँ।
९७. अधिक बाल नहीं रखूँ।
९८. तंग वस्त्र नहीं पहनूँ।
९९. अपवित्र वस्त्र नहीं पहनूँ।
१००. ऊनके वस्त्र पहननेका प्रयत्न करूँ।
१०१. रेशमी वस्त्रका त्याग करूँ।
१०२. शांत चालसे चलूँ।

१०३. मिथ्या आडंबर नहीं करूँ।
१०४. उपदेशकको द्वेषसे नहीं देखूँ।
१०५. द्वेषमात्रका त्याग करूँ।
१०६. रागदृष्टिसे एक भी वस्तुका आराधन नहीं करूँ।
१०७. वैरीके सत्य वचनका मान करूँ।
१०८.
१०९.
११०.
१११.
११२.
११३.
११४.
११५.
११६. बाल नहीं रखूँ। (गृ०)
११७. कचरा नहीं रखूँ।
११८. कीचड़ नहीं करूँ—आँगनके पास।
११९. मुहल्लेमें अस्वच्छता नहीं रखूँ। (साधु)
१२०. फटे कपड़े नहीं रखूँ।
१२१. अनछना पानी नहीं पीऊँ।
१२२. पापी जलसे नहीं नहाऊँ।
१२३. अधिक जल नहीं गिराऊँ।
१२४. वनस्पतिको दुःख नहीं दूँ।
१२५. अस्वच्छता नहीं रखूँ।
१२६. प्रहरका पकाया हुआ भोजन नहीं करूँ।
१२७. रसेंद्रियकी वृद्धि नहीं करूँ।
१२८. रोगके बिना औषधका सेवन नहीं करूँ।
१२९. विषयका औषध नहीं खाऊँ।
१३०. मिथ्या उदारता नहीं करूँ।
१३१. कृपण नहीं होऊँ।
१३२. आजीविकाके सिवाय किसीमें माया नहीं करूँ।
१३३. आजीविकाके लिये धर्मका उपदेश नहीं करूँ।
१३४. समयका अनुपयोग नहीं करूँ।
१३५. बिना नियम कार्य नहीं करूँ।
१३६. प्रतिज्ञा-व्रत नहीं तोड़ूँ।
१३७. सत्य वस्तुका खंड़न नहीं करूँ।
१३८. तत्त्वज्ञानमें शंकित नहीं होऊँ।

१३९. तत्त्वका आराधन करते हुए लोकनिंदासे नहीं डरूँ।
१४०. तत्त्व देते हुये माया नहीं करूँ।
१४१. स्वार्थको धर्म नहीं कहूँ।
१४२. चारों वर्गका मंड़न करूँ।
१४३. धर्मसे स्वार्थ सिद्ध नहीं करूँ।
१४४. धर्मपूर्वक अर्थ कमाऊँ।
१४५. जडता देखकर रोष नहीं करूँ।
१४६. खेदकी स्मृति नहीं लाऊँ।
१४७. मिथ्यात्वका विसर्जन करूँ।
१४८. असत्यको सत्य नहीं कहूँ।
१४९. शृंगारको उत्तेजन नहीं दूँ।
१५०. हिंसासे स्वार्थ नहीं चाहूँ।
१५१. सृष्टिका खेद नहीं बढ़ाऊँ।
१५२. मिथ्या मोह उत्पन्न नहीं करूँ।
१५३. विद्याके बिना मूर्ख नहीं रहूँ।
१५४. विनयकी आराधना करके रहूँ।
१५५. मायाविनयका त्याग करूँ।
१५६. अदत्तादान नहीं लूँ।
१५७. क्लेश नहीं करूँ।
१५८. दत्ता अनीति नहीं लूँ।
१५९. दुःखी करके धन नहीं लूँ।
१६०. झूठा तौल नहीं तौलूँ।
१६१. झूठी गवाही नहीं दूँ।
१६२. झूठी सौगंध नहीं खाऊँ।
१६३. हँसी नहीं करूँ।
१६४. मृत्युको समभावसे देखूँ।
१६५. मौतसे हर्ष मानना।
१६६. किसीकी मौतपर नहीं हँसना।
१६७. हृदयको विरागी करता जाऊँ।
१६८. विद्याका अभिमान नहीं करूँ।
१६९. गुरुका गुरु नहीं बनूँ।
१७०. अपूज्य आचार्यकी पूजा नहीं करूँ।
१७१. उसका मिथ्या अपमान नहीं करूँ।
१७२. अकरणीय व्यापार नहीं करूँ।
१७३. गुणहीन वक्तृत्वका सेवन नहीं करूँ।
१७४. तात्त्विक तप अकालिक नहीं करूँ।

१७५. शास्त्र पढ़ूँ।
१७६. अपने मिथ्या तर्कको उत्तेजन नहीं दूँ।
१७७. सर्व प्रकारकी क्षमा चाहूँ।
१७८. संतोषकी प्रयाचना करूँ।
१७९. स्वात्मभक्ति करूँ।
१८०. सामान्य भक्ति करूँ।
१८१. अनुपासक होऊँ।
१८२. निरभिमानी होऊँ।
१८३. मनुष्यजातिमें भेद न गिनूँ।
१८४. जड़की दया खाऊँ।
१८५. विशेषसे नयन ठंडे करूँ।
१८६. सामान्यसे मित्रभाव रखूँ।
१८७. प्रत्येक वस्तुका नियम करूँ।
१८८. सादी पोशाकको चाहूँ।
१८९. मधुर वाणी बोलूँ।
१९०. मनोवीरत्वकी वृद्धि करूँ।
१९१. प्रत्येक परिषह सहन करूँ।
१९२. आत्माको परमेश्वर मानूँ।
१९३. पुत्रको तेरे मार्गपर चढ़ाऊँ। (पिता इच्छा करता है।)
१९४. खोटे लाड़ नहीं लड़ाऊँ। (पिता इच्छा करता है।)
१९५. मलिन नहीं रखूँ। (पिता इच्छा करता है।)
१९६. उलटी बातसे स्तुति नहीं करूँ। (पिता इच्छा करता है।)
१९७. मोहभावसे नहीं देखूँ। (पिता इच्छा करता है।)
१९८. पुत्रीकी सगाई योग्य गुणवालेसे करूँ। (पिता इच्छा करता है।)
१९९. समवयस्क देखूँ। (पिता इच्छा करता है।)
२००. समगुणी देखूँ। (पिता इच्छा करता है।)
२०१. तेरे सिद्धांतका भंग करनेवाला संसारव्यवहार न चलाऊँ।
२०२. प्रत्येकको वात्सल्यका उपदेश दूँ।
२०३. तत्त्वसे नहीं उकताऊँ।
२०४. विधवा हूँ। तेरे धर्मको अंगीकार करूँ। (विधवा इच्छा करती है।)
२०५. सुवासिनी साज नहीं सजूँ।
२०६. धर्मकथा करूँ।
२०७. निठल्ली नहीं रहूँ।
२०८. तुच्छ विचारपर नहीं जाऊँ।
२०९. सुखकी ईर्ष्या नहीं करूँ।
२१०. संसारको अनित्य मानूँ।

२११. शुद्ध ब्रह्मचर्यका सेवन करूँ।
२१२. परघरमें नहीं जाऊँ।
२१३. किसी पुरुषके साथ बात नहीं करूँ।
२१४. चंचलतासे नहीं चलूँ।
२१५. ताली देकर बात नहीं करूँ।
२१६. पुरुष-लक्षण नहीं रखूँ।
२१७. किसीके कहनेसे रोष नहीं लाऊँ।
२१८. त्रिदंड़से खेद नहीं मानूँ।
२१९. मोहदृष्टिसे वस्तुको नहीं देखूँ।
२२०. हृदयसे दूसरा रूप नहीं रखूँ।
२२१. सेव्यकी शुद्ध भक्ति करूँ। (सामान्य)
२२२. नीतिसे चलूँ।
२२३. तेरी आज्ञाका भङ्ग नहीं करूँ।
२२४. अविनय नहीं करूँ।
२२५. छाने बिना दूध नहीं पीऊँ।
२२६. तेरे द्वारा निषिद्ध वस्तु उपयोगमें नहीं लाऊँ।
२२७. पापसे जय करके आनन्द नहीं मानूँ।
२२८. गायनमें अधिक अनुरक्त नहीं होऊँ।
२२९. नियम तोड़नेवाली वस्तु नहीं खाऊँ।
२३०. गृहसौंदर्यकी वृद्धि करूँ।
२३१. अच्छे स्थानोंकी इच्छा नहीं करूँ।
२३२. अशुद्ध आहार-जल नहीं लूँ। (मुनित्व भाव)
२३३. केशलुंचन करूँ।
२३४. प्रत्येक प्रकारसे परिषह सहन करूँ।
२३५. तत्त्वज्ञानका अभ्यास करूँ।
२३६. कंदमूलका भक्षण नहीं करूँ।
२३७. किसी वस्तुको देखकर प्रसन्न न होऊँ।
२३८. आजीविकाके लिये उपदेशक नहीं बनूँ। (२)
२३९. तेरे नियमको नहीं तोड़ूँ।
२४०. श्रुतज्ञानकी वृद्धि करूँ।
२४१. तेरे नियमका मंड़न करूँ।
२४२. रसगारव नहीं होऊँ।
२४३. कषाय धारण नहीं करूँ।
२४४. बन्धन नहीं रखूँ।
२४५. अब्रह्मचर्यका सेवन नहीं करूँ।
२४६. आत्मा परात्माको समान मानूँ। (२)

२४७. लिये हुए त्यागका त्याग नहीं करूँ।
२४८. मृषा इत्यादि भाषण नहीं करूँ।
२४९. किसी पापका सेवन नहीं करूँ।
२५०. अबंध पापकी क्षमापना करूँ।
२५१. क्षमायाचनामें अभिमान नहीं रखूँ। (मुनि सामान्य)
२५२. गुरुके उपदेशका भङ्ग नहीं करूँ।
२५३. गुरुका अविनय नहीं करूँ।
२५४. गुरुके आसनपर नहीं बैठूँ।
२५५. उससे किसी प्रकारकी महत्ताका भोग नहीं करूँ।
२५६. उससे शुक्लहृदयसे तत्त्वज्ञानकी वृद्धि करूँ।
२५७. मनको अंतःस्थिर रखूँ।
२५८. वचनको रामबाण रखूँ।
२५९. कायाको कूर्मरूप रखूँ।
२६०. हृदयको भ्रमररूप रखूँ।
२६१. हृदयको कमलरूप रखूँ।
२६२. हृदयको पत्थररूप रखूँ।
२६३. हृदयको निंबूरूप रखूँ।
२६४. हृदयको जलरूप रखूँ।
२६५. हृदयको तेलरूप रखूँ।
२६६. हृदयको अग्निरूप रखूँ।
२६७. हृदयको आदर्शरूप रखूँ।
२६८. हृदयको समुद्ररूप रखूँ।
२६९. वचनको अमृतरूप रखूँ।
२७०. वचनको निद्रारूप रखूँ।
२७१. वचनको तृषारूप रखूँ।
२७२. वचनको स्वाधीन रखूँ।
२७३. कायाको कमानरूप रखूँ।
२७४. कायाको चंचल रखूँ।
२७५. कायाको निरपराधी रखूँ।
२७६. किसी प्रकारकी चाह नहीं रखूँ। (परमहंस)
२७७. तपस्वी हूँ, वनमें तपश्चर्या किया करूँ। (तपस्वीकी इच्छा)
२७८. शीतल छाया लेता हूँ।
२७९. समभावसे सर्व सुखका संपादन करता हूँ।
२८०. मायासे दूर रहता हूँ।
२८१. प्रपंचका त्याग करता हूँ।
२८२. सर्व त्यागवस्तुको जानता हूँ।

२८३. मिथ्या प्रशंसा नहीं करूँ। (मु०,ब्र०,उ०,गृ०,सामान्य)
२८४. झूठा कलंक नहीं लगाऊँ।
२८५. मिथ्या वस्तु प्रणीत नहीं करूँ।
२८६. कुटुम्बक्लेश नहीं करूँ। (गृ०,उ०)
२८७. अभ्याख्यान धारण नहीं करूँ। (सा०)
२८८. पिशुन नहीं बनूँ।
२८९. असत्यसे प्रसन्न नहीं होऊँ। (२)
२९०. खिलखिलाकर नहीं हँसूँ। (स्त्री)
२९१. बिना कारण नहीं मुस्कराऊँ।
२९२. किसी समय नहीं हँसूँ।
२९३. मनके आनन्दकी अपेक्षा आत्मानन्दको चाहूँ।
२९४. सबको यथातथ्य मान दूँ। (गृहस्थ)
२९५. स्थितिका गर्व नहीं करूँ। (गृ०, मु०)
२९६. स्थितिका खेद नहीं करूँ।
२९७. मिथ्या उद्यम नहीं करूँ।
२९८. अनुद्यमी नहीं रहूँ।
२९९. खोटी सलाह नहीं दूँ। (गृ०)
३००. पापी सलाह नहीं दूँ।
३०१. न्यायविरुद्ध कृत्य नहीं करूँ। (२-३)
३०२. किसीको झूठी आशा नहीं दूँ। (गृ०,मु०,ब्र०,उ०)
३०३. असत्य वचन नहीं दूँ।
३०४. सत्य वचनका भंग नहीं करूँ।
३०५. पाँच समितिको धारण करूँ। (मु०)
३०६. अविनयसे नहीं बैठूँ।
३०७. बुरे मण्डलमें नहीं जाऊँ। (गृ०,मु०)
३०८. वेश्याकी ओर दृष्टि नहीं करूँ।
३०९. इसके वचनोंका श्रवण नहीं करूँ।
३१०. वाद्य नहीं सुनूँ।
३११. विवाह विधि नहीं पूछूँ।
३१२. इसकी प्रशंसा नहीं करूँ।
३१३. मनोरममें मोह नहीं मानूँ।
३१४. कर्माधर्मी नहीं करूँ। (गृ०)
३१५. स्वार्थसे किसीकी आजीविकाका नाश नहीं करूँ। (गृ०)
३१६. वधबंधनकी शिक्षा नहीं करूँ।
३१७. भय तथा वात्सल्यसे राज्य चलाऊँ। (रा०)
३१८. नियमके बिना विहार नहीं करूँ। (मु०)

३१९. विषयकी स्मृति होनेपर ध्यान किये बिना न रहूँ। (मृ०,गृ०,ब्र०,उ०)
३२०. विषयकी विस्मृति ही करूँ। (मु०,गृ०,ब्र०,उ०)
३२१. सर्व प्रकारकी नीति सीखूँ। (मु०,गृ०,ब्र०,उ०)
३२२. भयभाषा नहीं बोलूँ।
३२३. अपशब्द नहीं बोलूँ।
३२४. किसीको नहीं सिखाऊँ।
३२५. असत्य मर्मभाषा नहीं बोलूँ।
३२६. लिया हुआ नियम कर्णोपकर्णिकाकी रीतिसे नहीं तोडूँ।
३२७. पीठचौर्य नहीं करूँ।
३२८. अतिथिका तिरस्कार नहीं करूँ। (गृ०,उ०)
३२९. गुप्त बातको प्रसिद्ध नहीं करूँ। (गृ०,उ०)
३३०. प्रसिद्ध करने योग्यको गुप्त नहीं रखूँ।
३३१. उपयोगके बिना द्रव्य नहीं कमाऊँ। (गृ०,उ०,ब्र०)
३३२. अयोग्य करार नहीं कराऊँ। (गृ०)
३३३. अधिक ब्याज नहीं लूँ।
३३४. हिसाबमें नहीं भुलाऊँ।
३३५. स्थूल हिंसासे आजीविका नहीं चलाऊँ।
३३६. द्रव्यका दुरुपयोग नहीं करूँ।
३३७. नास्तिकताका उपदेश नहीं दूँ। (उ०)
३३८. वयमें विवाह नहीं करूँ। (गृ०)
३३९. वयके बाद विवाह नहीं करूँ।
३४०. वयके बाद स्त्रीका भोग नहीं करूँ।
३४१. वयमें स्त्रीका भोग नहीं करूँ।
३४२. कुमार पत्नीको नहीं बुलाऊँ।
३४३. विवाहितपर अभाव नहीं लाऊँ।
३४४. वैरागी अभाव नहीं गिनूँ। (गृ०,मु०)
३४५. कटु वचन नहीं कहूँ।
३४६. हाथ नहीं ऊठाऊँ।
३४७. अयोग्य स्पर्श नहीं करूँ।
३४८. बारह दिन स्पर्श नहीं करूँ।
३४९. अयोग्य उलाहना नहीं दूँ।
३५०. रजस्वलाका भोग नहीं करूँ।
३५१. ऋतुदानमें अभाव नहीं लाऊँ।
३५२. शृङ्गार भक्तिका सेवन नहीं करूँ।
३५३. सबपर यह नियम, न्याय लागू करूँ।
३५४. नियममें खोटी दलीलसे नहीं छूटूँ।

३५५. खोटी रीतिसे नहीं उकसाऊँ।
३५६. दिनमें भोग नहीं भोगूँ।
३५७. दिनमें स्पर्श नहीं करूँ।
३५८. अवभाषासे नहीं बुलाऊँ।
३५९. किसीका व्रतभंग नहीं कराऊँ।
३६०. अधिक स्थानोंमें नहीं भटकूँ।
३६१. स्वार्थके बहानेसे किसीका त्याग नहीं छुड़ाऊँ।
३६२. क्रियाशीलकी निंदा नहीं करूँ।
३६३. नग्नचित्र नहीं देखूँ।
३६४. प्रतिमाकी निंदा नहीं करूँ।
३६५. प्रतिमाको (ध्यानसे) देखूँ नहीं।
३६६. प्रतिमाकी पूजा करूँ। (केवल गृहस्थ स्थितिमें)
३६७. पापसे धर्म नहीं मानूँ। (सर्व)
३६८. सत्य व्यवहारको नहीं छोड़ूँ। (सर्व)
३६९. छल नहीं करूँ।
३७०. नग्न नहीं सोऊँ।
३७१. नग्न नहीं नहाऊँ।
३७२. महीन कपड़े नहीं पहनूँ।
३७३. अधिक अलंकार नहीं पहनूँ।
३७४. अमर्यादासे नहीं चलूँ।
३७५. तेज आवाजसे नहीं बोलूँ।
३७६. पतिपर दबाव नहीं रखूँ। (स्त्री)
३७७. तुच्छ संभोग नहीं भोगना। (गृ०,उ०)
३७८. खेदमें भोग नहीं भोगना।
३७९. सायंकालमें भोग नहीं भोगना।
३८०. सायंकालमें भोजन नहीं करना।
३८१. अरुणोदयमें भोग नहीं भोगना।
३८२. ऊँघमेंसे उठकर भोग नहीं भोगना।
३८३. ऊँघमेंसे उठकर भोजन नहीं करना।
३८४. शौचक्रियासे पहले कोई क्रिया नहीं करना।
३८५. क्रियाकी कोई आवश्यकता नहीं है। (परमहंस)
३८६. ध्यानके बिना एकांतमें नहीं रहूँ। (मु०,गृ०,ब्र०,उ०,प०)
३८७. लघुशंकामें तुच्छ नहीं होऊँ।
३८८. दीर्घशंकामें समय नहीं लगाऊँ।
३८९. प्रत्येक ऋतुके शरीरधर्मकी रक्षा करूँ। (गृ०)
३९०. मात्र आत्माकी ही धर्मकरनीकी रक्षा करूँ। (मु०)

३९१. अयोग्य मार, बंधन नहीं करूँ।
३९२. आत्मस्वतंत्रता नहीं खोऊँ। (मु०,गृ०,ब्र०)
३९३. बंधनमें पडनेसे पहले विचार करूँ। (सा०)
३९४. पूर्वकृत भोगको याद नहीं करूँ। (मु०,गृ०)
३९५. अयोग्य विद्या नहीं साधूँ। (मु०,गृ०,ब्र०,उ०)
३९६. बोध भी नहीं दूँ।
३९७. अनुपयोगी वस्तु नहीं लूँ।
३९८. नहीं नहाऊँ। (मु०)
३९९. दातुन नहीं करूँ।
४००. संसार-सुख नहीं चाहूँ।
४०१. नीतिके बिना संसारका भोग नहीं करूँ। (गृ०)
४०२. प्रकट रूपमें कुटिलतासे भोगका वर्णन नहीं करूँ। (गृ०)
४०३. विरहग्रंथ नहीं रचूँ। (मु०,गृ०,ब्र०)
४०४. अयोग्य उपमा नहीं दूँ। (मु०,गृ०,ब्र०,उ०)
४०५. स्वार्थके लिये क्रोध नहीं करूँ। (मु०,गृ०)
४०६. वादयश प्राप्त नहीं करूँ। (उ०)
४०७. अपवादसे खेद नहीं करूँ।
४०८. धर्मद्रव्यका उपयोग नहीं कर सकूँ। (गृ०)
४०९. दशांश या—धर्ममें निकालूँ। (गृ०)
४१०. सर्वसंगका परित्याग करूँ। (परमहंस)
४११. तेरा कहा हुआ अपना धर्म नहीं भूलूँ। (सर्व)
४१२. स्वप्नानंदखेद नहीं करूँ।
४१३. आजीविक विद्याका सेवन नहीं करूँ। (मु०)
४१४. तपको नहीं बेचूँ। (गृ०,ब्र०)
४१५. दो बारसे अधिक नहीं खाऊँ। (गृ०,मु०,ब्र०,उ०)
४१६. स्त्रीके साथ नहीं खाऊँ। (गृ०,उ०)
४१७. किसीके साथ नहीं खाऊँ। (स०)
४१८. परस्पर कवल नहीं दूँ, नहीं लूँ। (स०)
४१९. न्यूनाधिक पथ्यका साधन नहीं करूँ। (स०)
४२०. नीरागीके वचनोंको पूज्यभावसे मान दूँ।
४२१. नीरागी ग्रंथोंको पढ़ूँ।
४२२. तत्त्वको ही ग्रहण करूँ।
४२३. निःसार अध्ययन नहीं करूँ।
४२४. विचारशक्तिका विकास करूँ।
४२५. ज्ञानके बिना तेरे धर्मको अंगीकार नहीं करूँ।
४२६. एकांतवादको नहीं अपनाऊँ।

४२७. नीरागी अध्ययनोंको मुखाग्र करूँ।
४२८. धर्मकथाका श्रवण करूँ।
४२९. नियमित कर्तव्य नहीं चूकूँ।
४३०. अपराधशिक्षाका भंग नहीं करूँ।
४३१. याचककी हँसी नहीं करूँ।
४३२. सत्पात्रमें दान दूँ।
४३३. दीनपर दया करूँ।
४३४. दुःखीकी हँसी नहीं करूँ।
४३५. क्षमापनाके बिना शयन नहीं करूँ।
४३६. आलस्यको उत्तेजन नहीं दूँ।
४३७. सृष्टिक्रम-विरुद्ध कर्म नहीं करूँ।
४३८. स्त्रीशय्याका त्याग करूँ।
४३९. निवृत्ति-साधनके सिवाय सबका त्याग करता हूँ।
४४०. मर्मलेख नहीं लिखूँ।
४४१. पर दुःखसे दुःखी होऊँ।
४४२. अपराधीको भी क्षमा करूँ।
४४३. अयोग्य लेख नहीं लिखूँ।
४४४. आशुप्रज्ञकी विनयको सँभालूँ।
४४५. धर्मकर्तव्यमें द्रव्य देते हुए माया नहीं करूँ।
४४६. नग्नवीरत्वसे तत्त्वका उपदेश करूँ।
४४७. परमहंसकी हँसी नहीं उड़ाऊँ।
४४८. आदर्श नहीं देखूँ।
४४९. आदर्शमें देखकर नहीं हँसूँ।
४५०. प्रवाही पदार्थमें मुख नहीं देखूँ।
४५१. तसवीर नहीं खिंचवाऊँ।
४५२. अयोग्य तसवीर नहीं खिंचवाऊँ।
४५३. अधिकारका दुरुपयोग नहीं करूँ।
४५४. झूठी हाँ नहीं कहूँ।
४५५. क्लेशको उत्तेजन नहीं दूँ।
४५६. निंदा नहीं करूँ।
४५७. कर्तव्य नियम नहीं चूकूँ।
४५८. दिनचर्याका दुरुपयोग नहीं करूँ।
४५९. उत्तम शक्तिको सिद्ध करूँ।
४६०. बिना शक्तिका कृत्य नहीं करूँ।
४६१. देश, काल आदिको पहचानूँ।
४६२. कृत्यका परिणाम देखूँ।

४६३. किसीके उपकारका लोप नहीं करूँ।
४६४. मिथ्या स्तुति नहीं करूँ।
४६५. कुदेवकी स्थापना नहीं करूँ।
४६६. कल्पित धर्मको नहीं चलाऊँ।
४६७. सृष्टिस्वभावको अधर्म नहीं कहूँ।
४६८. सर्व श्रेष्ठ तत्त्वको लोचनदायक मानूँ।
४६९. मानता नहीं मानूँ।
४७०. अयोग्य पूजन नहीं करूँ।
४७१. रातमें शीतल जलसे नहीं नहाऊँ।
४७२. दिनमें तीन बार नहीं नहाऊँ।
४७३. मानकी अभिलाषा नहीं रखूँ।
४७४. आलापादिका सेवन नहीं करूँ।
४७५. दूसरेके पास बात नहीं करूँ।
४७६. छोटा लक्ष्य नहीं रखूँ।
४७७. उन्मादका सेवन नहीं करूँ।
४७८. रौद्रादि रसका उपयोग नहीं करूँ।
४७९. शांत रसकी निंदा नहीं करूँ।
४८०. सत्कर्मके आड़े नहीं आऊँ। (मु०,गृ०)
४८१. पीछे हटानेका प्रयत्न नहीं करूँ।
४८२. मिथ्या हठ नहीं पकडूँ।
४८३. अवाचकको दुःख नहीं दूँ।
४८४. अपंगकी सुखशांति बढ़ाऊँ।
४८५. नीतिशास्त्रको मान दूँ।
४८६. हिंसक धर्मको ग्रहण नहीं करूँ।
४८७. अनाचारी धर्मसे लगाव नहीं रखूँ।
४८८. मिथ्यावादीसे लगाव नहीं रखूँ।
४८९. शृङ्गारी धर्मको ग्रहण नहीं करूँ।
४९०. अज्ञान धर्मसे दूर रहूँ।
४९१. केवल ब्रह्मको नहीं पकडूँ।
४९२. केवल उपासनाका सेवन नहीं करूँ।
४९३. नियतिवादका सेवन नहीं करूँ।
४९४. भावसे सृष्टिको अनादि अनंत नहीं कहूँ।
४९५. द्रव्यसे सृष्टिको सादिसांत नहीं कहूँ।
४९६. पुरुषार्थकी निंदा नहीं करूँ।
४९७. निष्पापीको चंचलतासे नहीं छलूँ।
४९८. शरीरका भरोसा नहीं करूँ।

४९९. अयोग्य वचनसे नहीं बुलाऊँ।
५००. आजीविकाके लिये नाटक नहीं करूँ।
५०१. माँ, बहनके साथ एकांतमें नहीं रहूँ।
५०२. पूर्वके स्नेहियोंके यहाँ आहार लेने नहीं जाऊँ।
५०३. तत्त्वधर्मनिंदकपर भी रोष नहीं करना।
५०४. धैर्यको नहीं छोडना।
५०५. चरित्रको अद्भुत बनाना।
५०६. सर्व पक्षी विजय, कीर्ति और यश प्राप्त करना।
५०७. किसीके घरसंसारको नहीं तोड़ना।
५०८. अंतराय नहीं डालना।
५०९. शुक्लधर्मका खंड़न नहीं करना।
५१०. निष्काम शीलका आराधन करना।
५११. त्वरित भाषा नहीं बोलना।
५१२. पापग्रंथ नहीं रचूँ।
५१३. क्षौरके समय मौन रहूँ।
५१४. विषयके समय मौन रहूँ।
५१५. क्लेशके समय मौन रहूँ।
५१६. जल पीते हुए मौन रहूँ।
५१७. खाते हुए मौन रहूँ।
५१८. पशु पद्धतिसे जलपान नहीं करूँ।
५१९. छलांग मारकर जलमें नहीं पड़ूँ।
५२०. श्मशानमें वस्तुमात्रको नहीं चखूँ।
५२१. औंधे शयन नहीं करूँ।
५२२. दो पुरुष साथमें न सोएँ।
५२३. दो स्त्रियाँ साथमें न सोएँ।
५२४. शास्त्रकी आशातना नहीं करूँ।
५२५. उसी प्रकार गुरु आदिकी भी।
५२६. स्वार्थसे योग और तप नहीं साधूँ।
५२७. देशाटन करूँ।
५२८. देशाटन नहीं करूँ।
५२९. चातुर्मासमें स्थिरता करूँ।
५३०. सभामें पान नहीं खाऊँ।
५३१. स्वस्त्रीके साथ मर्यादाके सिवाय नहीं फिरूँ।
५३२. भूलकी विस्मृति नहीं करना।
५३३. कं० कलाल, सुनारकी दुकानपर नहीं बैठूँ।
५३४. कारीगरके यहाँ (गुरुभावसे) नहीं जाना।

५३५. तम्बाकूका सेवन नहीं करना।
५३६. सुपारी दो बार खाना।
५३७. गोल कूपमें नहानेके लिये नहीं पड़ूँ।
५३८. निराश्रितको आश्रय दूँ।
५३९. समयके बिना व्यवहारकी बात नहीं करना।
५४०. पुत्रका विवाह करूँ।
५४१. पुत्रीका विवाह करूँ।
५४२. पुनर्विवाह नहीं करूँ।
५४३. पुत्रीको पढ़ाये बिना नहीं रहूँ।
५४४. स्त्री विद्याशाली ढूँढूँ, करूँ।
५४५. उन्हें धर्मपाठ सिखलाऊँ।
५४६. प्रत्येक घरमें शांतिविराम रखना।
५४७. उपदेशकका सन्मान करूँ।
५४८. अनंत गुणधर्मसे भरपूर सृष्टि है, ऐसा मानूँ।
५४९. किसी समय तत्त्व द्वारा दुनियामेंसे दुःख चला जायेगा ऐसा मानूँ।
५५०. दुःख और खेद भ्रम हैं।
५५१. मनुष्य चाहे सो कर सकता है।
५५२. शौर्य, बुद्धि इत्यादिका सुखद उपयोग करूँ।
५५३. किसी समय अपनेको दुःखी नहीं मानूँ।
५५४. सृष्टिके दुःखोंका प्रणाशन करूँ।
५५५. सर्व साध्य मनोरथ धारण करूँ।
५५६. प्रत्येक तत्त्वज्ञानीको परमेश्वर मानूँ।
५५७. प्रत्येकका गुणतत्त्व ग्रहण करूँ।
५५८. प्रत्येकके गुणको प्रफुल्लित करूँ।
५५९. कुटुंबको स्वर्ग बनाऊँ।
५६०. सृष्टिको स्वर्ग बनाऊँ तो कुटुंबको मोक्ष बनाऊँ।
५६१. तत्त्वार्थसे सृष्टिको सुखी करते हुए मैं स्वार्थका त्याग करूँ।
५६२. सृष्टिके प्रत्येक (–) गुणकी वृद्धि करूँ।
५६३. सृष्टिके प्रवेश होने तक पाप पुण्य हैं ऐसा मानूँ।
५६४. यह सिद्धांत तत्त्वधर्मका है, नास्तिकताका नहीं ऐसा मानूँ।
५६५. हृदयको शोकातुर नहीं करूँ।
५६६. वात्सल्यसे वैरीको भी वश करूँ।
५६७. तू जो करता है उसमें असंभव नहीं मानूँ।
५६८. शंका न करूँ, खण्ड़न न करूँ, मंड़न करूँ।
५६९. राजा होनेपर भी प्रजाको तेरे मार्गपर लगाऊँ।
५७०. पापीका अपमान करूँ।

५७१. न्यायको चाहूँ और पालूँ।
५७२. गुणनिधिका मान करूँ।
५७३. तेरा मार्ग सर्व प्रकारसे मान्य रखूँ।
५७४. धर्मालय स्थापित करूँ।
५७५. विद्यालय स्थापित करूँ।
५७६. नगर स्वच्छ रखूँ।
५७७. अधिक कर नहीं लगाऊँ।
५७८. प्रजापर वात्सल्य रखूँ।
५७९. किसी व्यसनका सेवन नहीं करूँ।
५८०. दो स्त्रियोंसे विवाह नहीं करूँ।
५८१. तत्त्वज्ञानके प्रायोजनिक अभावमें दूसरा विवाह करूँ तो यह अपवाद।
५८२. दोनों ( ) पर समभाव रखूँ।
५८३. तत्त्वज्ञ सेवक रखूँ।
५८४. अज्ञान क्रियाको छोड़ दूँ।
५८५. ज्ञान क्रियाका सेवन करनेके लिये।
५८६. कपटको भी जानना।
५८७. असूयाका सेवन नहीं करूँ।
५८८. धर्मकी आज्ञाको सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ।
५८९. सद्गति मूलक धर्मका ही सेवन करूँगा।
५९०. सिद्धांत मानूँगा, प्रणीत करूँगा।
५९१. धर्म महात्माओंका सन्मान करूँगा।
५९२. ज्ञानके सिवाय सभी याचनाएँ छोड़ता हूँ।
५९३. भिक्षाचरी याचनाका सेवन करता हूँ।
५९४. चातुर्मासमें प्रवास नहीं करूँ।
५९५. जिसका तूने निषेध किया उसे नहीं खोजूँ या उसका कारण नहीं पूछूँ।
५९६. देहघात नहीं करूँ।
५९७. व्यायामादिका सेवन करूँगा।
५९८. पौषधादिक व्रतका सेवन करता हूँ।
५९९. अपनाये हुए आश्रमका सेवन करता हूँ।
६००. अकरणीय क्रिया और ज्ञानकी साधना नहीं करूँ।
६०१. पाप व्यवहारके नियम नहीं बनाऊँ।
६०२. द्युतरमण नहीं करूँ।
६०३. रातमें क्षौरकर्म नहीं कराऊँ।
६०४. पैरसे सिर तक खूब खींचकर नहीं ओढ़ूँ।
६०५. अयोग्य जागृतिका सेवन नहीं करूँ।
६०६. रसास्वादसे तनधर्मको मिथ्या नहीं करूँ।

६०७. शारीरिक धर्मका एकांत आराधन नहीं करूँ।
६०८. अनेक देवोंकी पूजा नहीं करूँ।
६०९. गुणस्तवनको सर्वोत्तम मानूँ।
६१०. सद्गुणका अनुकरण करूँ।
६११. शृंगारी ज्ञाता प्रभु नहीं मानूँ।
६१२. सागर-प्रवास नहीं करूँ।
६१३. आश्रमके नियमोंको जानूँ।
६१४. क्षौरकर्म नियमित रखना।
६१५. ज्वरादिमें स्नान नहीं करना।
६१६. जलमें डुबकी नहीं लगाना।
६१७. कृष्णादि पाप लेश्याका त्याग करता हूँ।
६१८. सम्यक् समयमें अपध्यानका त्याग करता हूँ।
६१९. नामभक्तिका सेवन नहीं करूँगा।
६२०. खड़े खड़े पानी नहीं पीऊँ।
६२१. आहारके अंतमें पानी नहीं पीऊँ।
६२२. चलते हुए पानी नहीं पीऊँ।
६२३. रातमें छाने बिना पानी नहीं पीऊँ।
६२४. मिथ्या भाषण नहीं करूँ।
६२५. सत्शब्दोंका सन्मान करूँ ।
६२६. अयोग्य आँख से पुरुष नहीं देखूँ।
६२७. अयोग्य वचन नहीं बोलूँ।
६२८. नंगे सिर नहीं बैठूँ।
६२९. वारंवार अवयवोंको नहीं देखूँ।
६३०. स्वरूपकी प्रशंसा नहीं करूँ।
६३१. कायापर गृद्धभावसे प्रसन्न नहीं होऊँ।
६३२. भारी भोजन नहीं करूँ।
६३३. तीव्र हृदय नहीं रखूँ।
६३४. मानार्थ कृत्य नहीं करूँ।
६३५. कीर्तिके लिये पुण्य नहीं करूँ।
६३६. कल्पित कथा-दृष्टांतको सत्य नहीं कहूँ।
६३७. अज्ञात मार्गपर रातमें नहीं चलूँ।
६३८. शक्तिका दुरुपयोग नहीं करूँ।
६३९. स्त्री पक्षसे धन प्राप्त नहीं करूँ।
६४०. वंध्याका मातृभावसे सत्कार करूँ।
६४१. अकृतधन नहीं लूँ।
६४२. बलदार पगड़ी नहीं बाँधूँ।

६४३. बलदार—चूड़ीदार पायजामा नहीं पहनूँ।
६४४. मलिन वस्त्र पहनूँ।
६४५. मृत्युपर रागसे नहीं रोऊँ।
६४६. व्याख्यानशक्तिकी आराधना करूँ।
६४७. धर्मके नामपर क्लेशमें नहीं पड़ूँ।
६४८. तेरे धर्मके लिये राजद्वारमें केस नहीं चलाऊँ।
६४९. यथासंभव राजद्वारमें नहीं जाऊँ।
६५०. श्रीमंतावस्थामें वि० शालासे करूँ।
६५१. निर्धनावस्थाका शोक नहीं करूँ।
६५२. परदुःखमें हर्ष नहीं मानूँ।
६५३. यथासंभव धवल वस्त्र पहनूँ।
६५४. दिनमें तेल नहीं लगाऊँ।
६५५. स्त्री रातमें तेल न लगाये।
६५६. पापपर्वका सेवन नहीं करूँ।
६५७. धर्मी, यशस्वी एक कृत्य करनेका मनोरथ रखता हूँ।
६५८. गाली सुनूँ परन्तु गाली दूँ नहीं।
६५९. शुक्ल एकांतका निरंतर सेवन करता हूँ।
६६०. सभी धूमधाममें नहीं जाऊँ।
६६१. रातमें वृक्षके नीचे नहीं सोऊँ।
६६२. रातमें कुएँके किनारे नहीं बैठूँ।
६६३. ऐक्य नियमको नहीं तोड़ूँ।
६६४. तन, मन, धन, वचन और आत्माका समर्पण करता हूँ।
६६५. मिथ्या परद्रव्यका त्याग करता हूँ।
६६६. अयोग्य शयनका त्याग करता हूँ।
६६७. अयोग्य दानका त्याग करता हूँ।
६६८. बुद्धिकी वृद्धिके नियमोंको नहीं छोड़ूँ।
६६९. दासत्व—परम—लाभका त्याग करता हूँ।
६७०. धर्मधूर्त्तताका त्याग करता हूँ।
६७१. मायासे निवृत्त होता हूँ।
६७२. पापमुक्त मनोरथका स्मरण करता हूँ।
६७३. विद्यादान देते हुए छलका त्याग करता हूँ।
६७४. संतको संकट नहीं दूँ।
६७५. अनजानको रास्ता बताऊँ।
६७६. दो भाव नहीं रखूँ।
६७७. वस्तुमें मिलावट नहीं करूँ।
६७८. जीवहिंसक व्यापार नहीं करूँ।

६७९. निषिद्ध अचार आदि नहीं खाऊँ।
६८०. एक कुलमें कन्या नहीं दूँ, नहीं लूँ।
६८१. दूसरे पक्षके सगे (संबंधी) स्वधर्मी ही ढूँढूँगा।
६८२. धर्मकर्त्तव्यमें उत्साह आदिका उपयोग करूँगा।
६८३. आजीविकाके लिये सामान्य पाप करते हुए भी ड़रता रहूँगा।
६८४. धर्ममित्रसे माया नहीं करूँ।
६८५. चातुर्वर्ण्य धर्मको व्यवहारमें नहीं भूलूँगा।
६८६. सत्यवादीका सहायक बनूँगा।
६८७. धूर्त त्यागका त्याग करता हूँ।
६८८. प्राणीपर कोप नहीं करना।
६८९. वस्तुका तत्त्व जानना।
६९०. स्तुति, भक्ति और नित्यकर्मका विसर्जन नहीं करूँ।
६९१. अनर्थ पाप नहीं करूँ।
६९२. आरंभोपाधिका त्याग करता हूँ।
६९३. कुसंगका त्याग करता हूँ।
६९४. मोहका त्याग करता हूँ।
६९५. दोषका प्रायश्चित्त करूँगा।
६९६. प्रायश्चित्त आदिकी विस्मृति नहीं करूँ।
६९७. सबकी अपेक्षा धर्मवर्गको प्रिय मानूँगा।
६९८. तेरे धर्मका त्रिकरण शुद्ध सेवन करनेमें प्रमाद नहीं करूँगा।
६९९.
७००.

२०

हे वादियों ! मुझे आपके लिये एकांतवाद ही ज्ञानकी अपूर्णताका लक्षण दिखाई देता है, क्योंकि "नौसिखिये" कवि काव्यमें जैसे तैसे दोष दबानेके लिये 'ही' शब्दका उपयोग करते हैं, वैसे आप भी 'ही' अर्थात् 'निश्चितता', 'नौसिखिया' ज्ञानसे कहते हैं। मेरा महावीर ऐसा कभी नहीं कहेगा, यही इसकी सत्कविकी भाँति चमत्कृति है !!!

२१

वचनामृत

१. इसे तो अखण्ड़ सिद्धांत मानिये कि संयोग, वियोग, सुख, दुःख, खेद, आनन्द, अराग, अनुराग इत्यादिका योग किसी व्यवस्थित कारणपर आधारित हैं।

२. एकांत भावी अथवा एकांत न्यायदोषका सन्मान न कीजिये।

३. किसीका भी समागम करना योग्य नहीं है, फिर भी जब तक वैसी दशा न हो तब तक सत्पुरुषका समागम अवश्य करना योग्य है।

४. जिस कृत्यके परिणाममें दुःख है उसका सन्मान करनेसे पहले विचार करें।

५. किसीको अन्तःकरण न दीजियेगा, जिसे दें उससे भिन्नता न रखियेगा; भिन्नता रखें तो अंतःकरण दिया न दिया समान है।

६. एक भोग भोगता है फिर भी कर्मकी वृद्धि नहीं करता, और एक भोग नहीं भोगता फिर भी कर्मकी वृद्धि करता है; यह आश्चर्यकारक परंतु समझने योग्य कथन है।

७. योगानुयोगसे बना हुआ कृत्य बहुत सिद्धि देता है।

८. आपने जिससे अंतर्भेद पाया उसे सर्वस्व अर्पण करते हुए न रुकियेगा।

९. तभी लोकापवाद सहन करना कि जिससे वे ही लोग अपने किये हुए अपवादका पुनः पश्चात्ताप करें।

१०. हजारों उपदेश-वचन और कथन सुननेकी अपेक्षा उनमेंसे थोड़े भी वचनोंका विचार करना विशेष कल्याणकारी है।

११. नियमसे किया हुआ कार्य त्वरासे होता है, निर्धारित सिद्धि देता है, और आनंदका कारण हो जाता है।

१२. ज्ञानियों द्वारा एकत्र की हुई अद्‌भुत निधिके उपभोगी बनें।

१३. स्त्री जातिमें जितना मायाकपट है उतना भोलापन भी है।

१४. पठन करनेकी अपेक्षा मनन करनेकी ओर अधिक ध्यान दीजिये।

१५. महापुरुषके आचरण देखनेकी अपेक्षा उनका अंतःकरण देखना, यह अधिक परीक्षा है।

१६. वचनसप्तशतीको[1] पुनः पुनः स्मरणमें रखें।

१७. महात्मा होना हो तो उपकारबुद्धि रखें; सत्पुरुषके समागममें रहें; आहार, विहार आदिमें अलुब्ध और नियमित रहें; सत्शास्त्रका मनन करें; और ऊँची श्रेणिमें ध्यान रखें।

१८. इनमेंसे एक भी न हो तो समझकर आनंद रखना सीखें।

१९. वर्तनमें बालक बनें, सत्यमें युवक बनें और ज्ञानमें वृद्ध बनें। ★★★

२०. राग नहीं करना, करना तो सत्पुरुषसे करना; द्वेष नहीं करना, करना तो कुशीलसे करना।

२१. अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतचारित्र और अनंतवीर्यसे अभिन्न ऐसे आत्माका एक पल भी विचार करें।

२२. जिसने मनको वश किया उसने जगतको वश किया।

२३. इस संसारको क्या करें ? अनंत बार हुई माँको आज हम स्त्रीरूपसे भोगते हैं।

२४. निर्ग्रन्थता धारण करनेसे पहले पूर्ण विचार कीजिये; इसे अपनाकर दोष लगानेकी अपेक्षा अल्पारम्भी बनें।

२५. समर्थ पुरुष कल्याणका स्वरूप पुकार पुकारकर कह गये हैं; परन्तु किसी विरलेको ही वह यथार्थ समझमें आया है।

२६. स्त्रीके स्वरूपपर होनेवाले मोहको रोकनेके लिये उसके त्वचारहित रूपका वारम्वार चिंतन करना योग्य है।

२७. कुपात्र भी सत्पुरुषके रखे हुए हाथसे पात्र हो जाता है, जैसे छाछसे शुद्ध किया हुआ संखिया शरीरको नीरोग करता है।

२८. आत्माका सत्यस्वरूप केवल शुद्ध सच्चिदानंदमय है, फिर भी भ्रांतिसे भिन्न भासित होता है,

---

१. देखें महानीति, आंक १९

जैसे कि तिरछी आँख करनेसे चंद्र दो दिखायी देते हैं।

२९. यथार्थ वचन ग्रहण करनेमें दंभ न रखियेगा या देनेवालेके उपकारका लोप न कीजियेगा।

३०. हमने बहुत विचार करके यह मूल तत्त्व खोजा है कि,—गुप्त चमत्कार ही सृष्टिके ध्यानमें नहीं है।

३१. रुलाकर भी बच्चेके हाथमें रहा हुआ संखिया ले लेना।

३२. निर्मल अंतःकरणसे आत्माका[1] विचार करना योग्य है।

३३. जहाँ 'मैं' मानता है वहाँ 'तू' नहीं है; जहाँ 'तू' मानता है वहाँ 'तू' नहीं है।

३४. हे जीव! अब भोगसे शांत हो, शांत। विचार तो सही कि इसमें कौनसा सुख है?

३५. बहुत परेशान होकर संसारमें मत रहना।

३६. सत्‌ज्ञान और सत्‌शीलको साथ-साथ बढ़ाना।

३७. एकसे मैत्री न कर, करना हो तो सारे जगतसे कर।

३८. महा सौंदर्यसे परिपूर्ण देवांगनाके क्रीड़ाविलासका निरीक्षण करते हुए भी जिसके अंतःकरणमें कामसे विशेषातिविशेष विराग स्फुरित होता है, वह धन्य है, उसे त्रिकाल नमस्कार है।

३९. भोगके समय योग याद आये यह लघुकर्मीका लक्षण है।

४०. इतना हो तो मैं मोक्षकी इच्छा नहीं करता—सारी सृष्टि सत्‌शीलका सेवन करे, नियमित आयु, नीरोगी शरीर, अचल प्रेमी प्रमदा, आज्ञाकारी अनुचर, कुलदीपक पुत्र, जीवनपर्यन्त बाल्यावस्था और आत्मतत्त्वका चिंतन।

४१. ऐसा कभी होनेवाला नहीं है, इसलिये मैं तो मोक्षको ही चाहता हूँ।

४२. सृष्टि सर्व अपेक्षासे अमर होगी?

४३. किसी अपेक्षासे मैं ऐसा कहता हूँ कि यदि सृष्टि मेरे हाथसे चलती होती तो बहुत विवेकी स्तरसे परमानंदमें बिराजमान होती।

४४. शुक्ल निर्जनावस्थाको मैं बहुत मान्य करता हूँ।

४५. सृष्टिलीलामें शांतभावसे तपश्चर्या करना यह भी उत्तम है।

४६. एकांतिक कथन करनेवाला ज्ञानी नहीं कहा जा सकता।

४७. शुक्ल अंतःकरणके बिना मेरे कथनको कौन दाद देगा?

४८. ज्ञातपुत्र भगवानके कथनकी ही बलिहारी है।

४९. मैं आपकी मूर्खतापर हँसता हूँ कि—नहीं जानते गुप्त चमत्कारको फिर भी गुरुपद प्राप्त करनेके लिये मेरे पास क्यों पधारें?

५०. अहो! मुझे तो कृतघ्नी ही मिलते मालूम होते हैं, यह कैसी विचित्रता है!

५१. मुझ पर कोई राग करे इससे मैं प्रसन्न नहीं हूँ, परन्तु कंटाला देगा तो मैं स्तब्ध हो जाऊँगा और यह मुझे पुसायेगा भी नहीं।

५२. मैं कहता हूँ ऐसा कोई करेगा? मेरा कहा हुआ सब मान्य रखेगा? मेरा कहा हुआ शब्दशः अंगीकृत करेगा? हाँ हो तो ही हे सत्पुरुष! तू मेरी इच्छा करना।

५३. संसारी जीवोंने अपने लाभके लिये द्रव्यरूपसे मुझे हँसता-खेलता लीलामय मनुष्य बनाया!

---

१. पाठा० गुप्त चमत्कारका।

५४. देवदेवीकी तुष्यमानताको क्या करेंगे ? जगतकी तुष्यमानताको क्या करेंगे ? तुष्यमानता तो सत्पुरुषकी चाहें।

५५. मैं सच्चिदानंद परमात्मा हूँ।

५६. ऐसा समझे कि आपको अपने आत्माके हितकी ओर जानेकी अभिलाषा रखते हुए भी निराशा प्राप्त हुई तो वह भी आपका आत्महित ही है।

५७. आप अपने शुभ विचारमें सफल होवें, नहीं तो स्थिर चित्तसे ऐसा समझें कि सफल हुए हैं।

५८. ज्ञानी अंतरंग खेद और हर्षसे रहित होते हैं।

५९. जब तक उस तत्त्वकी प्राप्ति न हो तब तक मोक्षकी तात्पर्यता नहीं मिली।

६०. नियम-पालनको दृढ़ करते हुए भी वह नहीं पलता यह पूर्वकर्मका ही दोष है ऐसा ज्ञानियोंका कहना है।

६१. संसाररूपी कुटुम्बके घरमें अपना आत्मा अतिथि तुल्य है।

६२. वही भाग्यशाली है कि जो दुर्भाग्यशालीपर दया करता है।

६३. महर्षि कहते हैं कि शुभ द्रव्य शुभ भावका निमित्त है।

६४. स्थिर चित्त होकर धर्म और शुक्ल ध्यानमें प्रवृत्ति करें।

६५. परिग्रहकी मूर्च्छा पापका मूल है।

६६. जिस कृत्यको करते समय व्यामोहसंयुक्त खेदमें हैं और परिणाममें भी पछताते हैं, तो उस कृत्यको ज्ञानी पूर्वकर्मका दोष कहते हैं।

६७. जड़भरत और विदेही जनककी दशा मुझे प्राप्त हो।

६८. सत्पुरुषके अंतःकरणने जिसका आचरण किया अथवा जिसे कहा वह धर्म है।

६९. जिसकी अंतरंग मोहग्रंथि चली गई वह परमात्मा है।

७०. व्रत लेकर उल्लासित परिणामसे उसका भंग न करें।

७१. एक निष्ठासे ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन करनेसे तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है।

७२. क्रिया ही कर्म, उपयोग ही धर्म, परिणाम ही बंध, भ्रम ही मिथ्यात्व, ब्रह्म ही आत्मा और शंका ही शल्य है। शोकका स्मरण न करें; यह उत्तम वस्तु ज्ञानियोंने मुझे दी।

७३. जगत जैसा है वैसा तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे देखें।

७४. श्री गौतमको पठन किये हुए चार वेद देखनेके लिये श्रीमान महावीर स्वामीने सम्यक्नेत्र दिये थे।

७५. भगवतीमें कही हुई [1]पुद्गल नामके परिव्राजककी कथा तत्त्वज्ञानियोंका कहा हुआ सुन्दर रहस्य हैं।

७६. वीरके कहे हुए शास्त्रोंमें सुनहरी वचन जहाँ तहाँ अलग-अलग और गुप्त है।

७७. सम्यक्नेत्र प्राप्त करके आप चाहे जिस धर्मशास्त्रका विचार करें तो भी आत्महित प्राप्त होगा।

७८. हे कुदरत ! यह तेरा प्रबल अन्याय है कि मेरी निर्धारित नीतिसे मेरा काल व्यतीत नहीं कराती ! [कुदरत अर्थात् पूर्वकृत कर्म।]

७९. मनुष्य परमेश्वर होता है ऐसा ज्ञानी कहते हैं।

८०. उत्तराध्ययन नामके जैनसूत्रका तत्त्वदृष्टिसे पुनः पुनः अवलोकन करें।

---

१. शतक ११, उद्देश १२ में।

८१. जीते हुए मरा जाये तो फिर मरना न पड़े ऐसे मरणकी इच्छा करना योग्य है।

८२. कृतघ्नता जैसा एक भी महा दोष मुझे नहीं लगता।

८३. जगतमें मान न होता तो यहीं मोक्ष होता।

८४. वस्तुको वस्तुरूपसे देखें।

८५. धर्मका मूल वि० है।

८६. उसका नाम विद्या है कि जिससे अविद्या प्राप्त न हो।

८७. वीरके एक वाक्यको भी समझें।

८८. अहंपद, कृतघ्नता, उत्सूत्रप्ररूपणा और अविवेकधर्म ये दुर्गतिके लक्षण हैं।

८९. स्त्रीका कोई अंग लेशमात्र भी सुखदायक नहीं है, फिर भी मेरी देह उसे भोगती है।

९०. देह और देहार्थममत्व यह मिथ्यात्वका लक्षण है।

९१. अभिनिवेशके उदयमें उत्सूत्रप्ररूपणा न हो उसे मैं ज्ञानियोंके कहनेसे महाभाग्य कहता हूँ।

९२. स्याद्वाद शैलीसे देखते हुए कोई मत असत्य नहीं है।

९३. ज्ञानी स्वादके त्यागको आहारका सच्चा त्याग कहते हैं।

९४. अभिनिवेश जैसा एक भी पाखंड़ नहीं है।

९५. इस कालमें इतना बढ़ा—अतिशय मत, अतिशय ज्ञानी, अतिशय माया और अतिशय परिग्रहविशेष।

९६. तत्त्वाभिलाषासे मुझे पूछें तो मैं आपको नीरागीधर्मका उपदेश जरूर कर सकूँगा।

९७. जिसने सारे जगतका शिष्य होनेरूप दृष्टिका वेदन नहीं किया वह सद्गुरु होने योग्य नहीं है।

९८. कोई भी शुद्धाशुद्ध धर्मकरनी करता हो तो उसे करने दें।

९९. आत्माका धर्म आत्मामें ही है।

१००. मुझपर सभी सरल भावसे हुक्म चलायें तो मैं राजी हूँ।

१०१. मैं संसारसे लेश भी रागसंयुक्त नहीं, फिर भी उसीको भोगता हूँ, मैंने कुछ त्याग नहीं किया।

१०२. निर्विकारी दशासे मुझे अकेला रहने दें।

१०३. महावीरने जिस ज्ञानसे इस जगतको देखा है वह ज्ञान सब आत्माओंमें है, परंतु उसका आविर्भाव करना चाहिये।

१०४. बहुत बहक जाएँ तो भी महावीरकी आज्ञाका भंग न कीजियेगा। चाहे जैसी शंका हो तो भी मेरी ओरसे वीरको निःशंक मानिये।

१०५. पार्श्वनाथस्वामीके ध्यानका स्मरण योगियोंको अवश्य करना चाहिये। निः०—नागकी छत्रछायाके समयका वह पार्श्वनाथ और ही था!

१०६. गजसुकुमारकी क्षमा और राजेमती रहनेमीको जो बोध देती है वह बोध मुझे प्राप्त होवें।

१०७. भोग भोगने तक [जब तक वह कर्म है तब तक] मुझे योग ही प्राप्त रहे।

१०८. सब शास्त्रोंका एक तत्त्व मुझे मिला है ऐसा कहूँ तो यह मेरा अहंपद नहीं है।

१०९. न्याय मुझे बहुत प्रिय है। वीरकी शैली ही न्याय है, समझना दुष्कर है।

११०. पवित्र पुरुषोंकी कृपादृष्टि ही सम्यग्दर्शन है।

१११. भर्तृहरिका कहा हुआ त्याग, विशुद्ध बुद्धिसे विचार करनेसे बहुत ऊर्ध्वज्ञानदशा होने तक रहता है।

११२. मैं किसी धर्मसे विरुद्ध नहीं हूँ। मैं सब धर्मोंका पालन करता हूँ। आप सभी धर्मोंसे विरुद्ध हैं यों कहनेमें मेरा उत्तम हेतु है।

११३. आपके माने हुए धर्मका उपदेश मुझे किस प्रमाणसे देते है उसे जानना मेरे लिये आवश्यक है।

११४. शिथिल बंध दृष्टिसे नीचे आकर ही बिखर जाये (—यदि निर्जरामें आये तो)

११५. किसी भी शास्त्रमें मुझे शंका न हो।

११६. दुःखके मारे वैराग्य लेकर ये लोग जगतको भ्रममें ड़ालते हैं।

११७. अभी मैं कौन हूँ इसका मुझे पूर्ण भान नहीं है।

११८. तू सत्पुरुषका शिष्य है।

११९. यही मेरी आकांक्षा है।

१२०. मेरे लिये गजसुकुमार जैसा कोई समय आये।

१२१. राजेमती जैसा कोई समय आये।

१२२. सत्पुरुष कहते नहीं, करते नहीं, फिर भी उनकी सत्पुरुषता निर्विकार मुखमुद्रामें निहित है।

१२३. संस्थानविचयध्यान पूर्वधारियोंको प्राप्त होता होगा, ऐसा मानना योग्य लगता है। आप भी उसका ध्यान करें।

१२४. आत्मा जैसा कोई देव नहीं है।

१२५. भाग्यशाली कौन ? अविरति सम्यग्दृष्टि या विरति ?

१२६. किसीकी आजीविका नष्ट न करें।

---

२२ बंबई, कार्तिक, १९४३

स्वरोदयज्ञान

यह 'स्वरोदयज्ञान' ग्रन्थ पाठकके करकमलमें रखते हुए इस विषयमें कुछ प्रस्तावना लिखना योग्य मानकर उसे लिखता हूँ। हम यह देख सकेंगे कि 'स्वरोदयज्ञान' की भाषा आधी हिन्दी और आधी गुजराती है। इसके कर्ता एक आत्मानुभवी व्यक्ति थे; परन्तु ऐसा कुछ मालूम नहीं होता कि उन्होंने दोनोंमेंसे किसी एक भी भाषाको विधिपूर्वक पढ़ा हो। इससे उनकी आत्मशक्ति या योगदशामें कोई बाधा नहीं आती। और यह बात भी नहीं है कि वे भाषाशास्त्री होनेकी कुछ इच्छा भी रखते थे। इसलिये उन्हें स्वयं जो कुछ अनुभवसिद्ध हुआ है उसमेंसे लोगोंको मर्यादापूर्वक कुछ भी बोध दे देनेकी उनकी अभिलाषासे इस ग्रन्थकी उत्पत्ति हुई है। और ऐसा होनेसे ही भाषा या छन्दकी टीमटाम अथवा युक्ति-प्रयुक्तिका अधिक दर्शन इस ग्रन्थमें नहीं कर सकते।

जगत जब अनादि अनन्त कालके लिये है तब फिर उसकी विचित्रताके लिये क्या विस्मय करें ? आज जड़वादके बारेमें जो शोधन चल रहा है वह कदाचित् आत्मवादको उड़ा देनेका प्रयत्न है, परन्तु ऐसे भी अनन्त काल आये हैं कि जब आत्मवादका प्राधान्य था, और इसी तरह कभी जड़वादका भी बोलबोला था। इसके लिये तत्त्वज्ञानी किसी विचारमें नहीं पड़ जाते; क्योंकि जगतकी ऐसी ही स्थिति है, तो फिर विकल्पसे आत्माको दुःखी क्यों करना ? परन्तु सब वासनाओंका त्याग करनेके बाद जिस वस्तुका अनुभव हुआ, वह वस्तु क्या है, अर्थात् स्व और पर क्या है ? अथवा इस बातका निर्णय किया कि स्व तो स्व है, फिर तो भेदवृत्ति रही नहीं। इसलिये सम्यक्दर्शनसे उनकी यही सम्मति रही कि

मोहाधीन आत्मा अपने आपको भूलकर जड़त्व स्वीकार करता है, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। फिर उसका स्वीकार करना शब्दकी तकरारमें—

× × × × ×

वर्तमान शताब्दीमें और फिर उसके भी कितने ही वर्ष व्यतीत होने तक आत्मज्ञ चिदानन्दजी विद्यमान थे। बहुत ही समीपका समय होनेसे जिन्हें उनके दर्शन हुए थे, समागम हुआ था और जिन्हें उनकी दशाका अनुभव हुआ था उनमेंसे कुछ प्रतीतिवाले मनुष्योंसे उनके विषयमें जाना जा सका है, तथा अब भी वैसे मनुष्योंसे जाना जा सकता है।

जैन मुनि होनेके बाद अपनी निर्विकल्प दशा हो जानेसे उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि वे अब क्रमपूर्वक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे यम-नियमोंका पालन नहीं कर सकेंगे। जिस पदार्थकी प्राप्तिके लिये यम-नियमका क्रमपूर्वक पालन करना होता है, उस वस्तुकी प्राप्ति हो गयी तो फिर उस श्रेणिसे प्रवृत्ति करना और न करना दोनों समान हैं ऐसी तत्त्वज्ञानियोंकी मान्यता है। जिसे निर्ग्रंथ प्रवचनमें अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि माना है, उसमेंसे सर्वोत्तम जातिके लिये कुछ कहा नहीं जा सकता। परन्तु एकमात्र उनके वचनोंका मेरे अनुभवज्ञानके कारण परिचय होनेसे ऐसा कहा जा सका है कि वे प्रायः मध्यम अप्रमत्तदशामें थे। फिर उस दशामें यम-नियमका पालन गौणतासे आ जाता है। इसलिये अधिक आत्मानन्दके लिये उन्होंने यह दशा मान्य रखी। इस कालमें ऐसी दशाको पहुँचे हुए बहुत ही थोड़े मनुष्योंकी प्राप्ति भी दुर्लभ है। उस अवस्थामें अप्रमत्तता विषयक बातका असम्भव त्वरासे होगा ऐसा मानकर उन्होंने अपना जीवन अनियतरूपसे और गुप्तरूपसे बिताया। यदि ऐसी ही दशामें वे रहे होते तो बहुतसे मनुष्य उनके मुनिपनेकी स्थितिशिथिलता समझते और ऐसा समझनेसे उनपर ऐसे पुरुषका अभीष्ट प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसा हार्दिक निर्णय होनेसे उन्होंने यह दशा स्वीकार की।—

× × ×

णमो जहट्ठियवत्थुवाईणं।

× × ×

रूपातीत व्यतीतमल, पूर्णानंदी ईस ।
चिदानन्द ताकूं नमत, विनय सहित निज शीस ॥[1]

जो रूपसे रहित हैं, कर्मरूपी मल जिनका नष्ट हो गया है, और जो पूर्णानंदके स्वामी हैं; उन्हें चिदानन्दजी अपना मस्तक झुकाकर विनयसहित नमस्कार करते हैं।

रूपातीत—इस शब्दसे यह सूचित किया कि परमात्म-दशा रूपरहित है।

व्यतीतमल—इस शब्दसे यह सूचित किया कि कर्मका नाश हो जानेसे वह दशा प्राप्त होती है।

पूर्णानन्दी ईस—इस शब्दसे उस दशाका सुख बताया कि जहाँ सम्पूर्ण आनन्द है, अर्थात् यह सूचित किया कि परमात्मा पूर्ण आनन्द के स्वामी हैं। फिर रूपरहित तो आकाश भी है, इसलिये कर्ममल के नाशसे आत्मा जड़रूप सिद्ध हो जाये। इस शंकाको दूर करनेके लिये यह कहा कि उस दशामें आत्मा पूर्णानन्दका ईश्वर है, और ऐसी उसकी रूपातीतता है।

चिदानन्द ताकूं नमत—इन शब्दोंसे अपनी उनपर नाम लेकर अनन्य प्रीति बतायी है। सर्वाङ्ग नमस्कार करनेकी भक्तिमें अपना नाम लेकर अपना एकत्व बता करके विशेष भक्तिका प्रतिपादन किया है।

---

१. पद्य संख्या ८,

विनयसहित–इस शब्दसे यथायोग्य विधिका बोध दिया। यह सूचित किया कि भक्तिका मूल विनय है।

निज शीस–इन शब्दोंसे यह बताया कि देहके सब अवयवोंमें मस्तक श्रेष्ठ है, और उसके झुकानेसे सर्वाङ्ग नमस्कार हुआ। तथा यह भी सूचित किया कि मस्तक झुकाकर नमस्कार करनेकी विधि श्रेष्ठ है। 'निज' शब्दसे आत्मत्व भिन्न बताया कि मेरे उपाधिजन्य देहका जो उत्तमांग वह.....(शीस)

कालज्ञानादिक थकी, लही आगम अनुमान।
गुरु करुना करी कहत हूँ, शुचि स्वरोदयज्ञान ॥[२]

'कालज्ञान' नामके ग्रन्थ इत्यादिसे, जैनसिद्धांतमें कहे हुए बोधके अनुमानसे और गुरुकी कृपाके प्रतापसे स्वरोदयका पवित्र ज्ञान कहता हूँ।

'कालज्ञान' इस नामका अन्य दर्शनमें आयुका बोधक उत्तम ग्रंथ है और उसके सिवाय 'आदि' शब्दसे दूसरे ग्रन्थोंका भी आधार लिया है, ऐसा कहा।

आगम अनुमान–इन शब्दोंसे यह बताया कि जैनशास्त्रमें ये विचार गौणतासे प्रदर्शित किये हैं; इसलिये मैंने अपनी दृष्टिसे जहाँ जहाँ जैसा बोध लिया वैसा प्रदर्शित किया है। मेरी दृष्टिसे अनुमान है, क्योंकि मैं आगमका प्रत्यक्ष ज्ञानी नहीं हूँ, यह हेतु है।

गुरु करुना–इन शब्दोंसे यह कहा कि कालज्ञान और आगमके अनुमानसे कहनेकी मेरी समर्थता न होती, क्योंकि वह मेरी काल्पनिक दृष्टिका ज्ञान था, परन्तु उस ज्ञानका अनुभव करा देनेवाली जो गुरु महाराजकी कृपादृष्टि–

स्वरका उदय पिछानिये, अति थिरता चित्त धार ।
ताथी शुभाशुभ कीजिये, भावि वस्तु विचार ॥[३]

चित्तकी अतिशय स्थिरता करके भावी वस्तुका विचार करके 'शुभाशुभ' यह,

अति थिरता चित्त धार–इस वाक्यसे यह सूचित किया कि चित्तकी स्वस्थता करनी चाहिये ताकि स्वरका उदय यथायोग्य हो।

शुभाशुभ भावि वस्तु विचार–इन शब्दोंसे यह सूचित किया कि वह ज्ञान प्रतीतभूत है; अनुभव कर देखें!

अब विषयका प्रारंभ करते हैं–

नाडी तो तनमें घणी, पण चौबीस प्रधान ।
तामें नव पुनि ताहुमें, तीन अधिक कर जान ॥[४]

शरीरमें नाड़ियाँ तो बहुत हैं, परन्तु उन नाड़ियोंमें चौबीस मुख्य हैं; और उनमें नौ मुख्य है और उनमें भी तीनको तो विशेष जानें।

अब उन तीन नाड़ियोंके नाम कहते हैं–

इंगला पिंगला सुषुमना, ये तीनुंके नाम ।
भिन्न भिन्न अब कहत हूँ, ताके गुण अरु धाम ॥[५]

---

२. पद्य संख्या ९ ३. पद्य संख्या १० इसका पूरा अर्थ यह है–चित्तको अति स्थिर करके स्वरके उदय एवं अस्तको पहचानें। फिर उसके आधारसे भावी वस्तुका विचार करके शुभाशुभ कार्य कीजिये। २. पद्य संख्या ११ ४. पद्य संख्या १२ ५. पद्य संख्या ८२

इंगला, पिंगला, सुषुम्ना ये तीन नाड़ियोंके नाम हैं। अब उनके भिन्न भिन्न गुण और रहनेके स्थान कहता हूँ।

× × ×

अल्पाहार निद्रा वश करे,
हेत स्नेह जगथी परिहरे ।
लोकलाज नवि धरे लगार,
एक चित्त प्रभुथी प्रीत धार ॥[४]

अल्प आहार करनेवाला, निद्राको वशमें करनेवाला अर्थात् नियमित निद्रा लेनेवाला, जगतके हेतप्रेमसे दूर रहनेवाला; (कार्यसिद्धिके प्रतिकूल ऐसे) लोककी जिसे तनिक लज्जा नहीं है; चित्तको एकाग्र करके परमात्मामें प्रीति रखनेवाला।

आशा एक मोक्षकी होय,
दूजी दुविधा नवि चित्त कोय ।
ध्यान जोग जाणो ते जीव;
जे भवदुःखथी डरत सदीव ॥[१]

जिसने मोक्षके अतिरिक्त संभी प्रकारकी आशाका त्याग किया है, और जो संसारके भयंकर दुःखोंसे निरंतर काँपता है, ऐसे जीवात्माको ध्यान करने योग्य जानें।

परनिंदा मुखथी नवि करे,
निज निंदा सुणी समता धरे ।
करे सहु विकथा परिहार,
रोके कर्म आगमन द्वार ॥[२]

जिसने अपने मुखसे परकी निंदाका त्याग किया है; अपनी निंदा सुनकर जो समता धारण करके रहता है; स्त्री, आहार, राज, देश इत्यादि सबकी कथाओंका जिसने नाश कर दिया है; और कर्मके प्रवेश करनेके द्वार जो अशुभ मन, वचन और काया हैं, उन्हें जिसने रोक रखा है।

× × × × ×

अहर्निश अधिका प्रेम लगावे, जोगानल घटमांहि जगावे ।
अल्पाहार आसन दृढ करे, नयन थकी निद्रा परिहरे ॥[३]

दिनरात ध्यानविषयमें बहुत प्रेम लगाकर घटमें योगरूपी अग्नि (कर्मको जला देनेवाली) जगाये। (यह मानो ध्यानका जीवन है।) अब इसके अतिरिक्त उसके दूसरे साधन बताते हैं।

थोड़ा आहार और आसनकी दृढ़ता करे। पद्म, वीर, सिद्ध अथवा चाहे जो आसन कि जिससे मन वारंवार विचलित न हो ऐसा आसन यहाँ समझाया है। इस प्रकार आसनका जय करके निद्राका परित्याग करे। यहाँ परित्यागको देशपरित्याग बताया है। जिस निद्रासे योगमें बाधा आती है उस निद्रा अर्थात् प्रमत्तताका कारण और दर्शनावरणकी वृद्धि इत्यादिसे उत्पन्न होनेवाली अथवा अकालिक निद्राका त्याग करे।

× × ×

मेरा मेरा मत करे, तेरा नहि है कोय ।
चिदानन्द परिवारका, मेला है दिन दोय ॥[४]

---

१. पद्य संख्या ८३ २. पद्य संख्या ८४, ३. पद्य संख्या ८८, ४. पद्य संख्या ३८१,

चिदानंदजी अपने आत्माको उपदेश देते हैं कि हे जीव ! मेरा मेरा मत कर, तेरा कोई नहीं है। हे चिदानंद ! परिवारका मेला तो दो दिनका है।

ऐसा भाव निहार नित, कीजे ज्ञान विचार ।
मिटे न ज्ञान बिचार बिन, अंतर-भाव-विकार ॥[1]

ऐसा क्षणिक भाव निरंतर देखकर हे आत्मन् ! ज्ञानका विचार कर। ज्ञानविचार किये बिना (मात्र अकेली बाह्य क्रियासे) अंतरमें भाव-कर्मके रहे हुए विकार नहीं मिटते।

ज्ञान-रवि वैराग्य जस, हिरदे चंद समान ।
तास निकट कहो क्यों रहे, मिथ्यातम दुःख जान ॥[2]

जीव ! समझ कि जिसके हृदयमें ज्ञानरूपी सूर्यका प्रकाश हुआ है, और जिसके हृदयमें वैराग्यरूपी चंद्रका उदय हुआ है; उसके समीप क्योंकर रह सकता है ?—क्या ? मिथ्या भ्रमरूपी अंधकारका दुःख।

× × × × ×

जैसे कंचुक-त्यागसे, बिनसत नहीं भुजंग ।
देह त्यागसे जीव पुनि, तैसे रहत अभंग ॥[3]

जैसे काँचलीका त्याग करनेसे साँपका नाश नहीं होता, वैसे देहका त्याग करनेसे जीव भी अभंग रहता है अर्थात् नष्ट नहीं होता। यहाँ इस बातकी सिद्धि की है कि जीव देहसे भिन्न है।

बहुतसे लोग कहते हैं कि देह और जीवकी भिन्नता नहीं है, देहका नाश होनेसे जीवका भी नाश हो जाता है। यह मात्र विकल्परूप है, परन्तु प्रमाणभूत नहीं है; क्योंकि वे काँचलीके नाशसे साँपका भी नाश हुआ समझते हैं। और यह बात तो प्रत्यक्ष है कि साँपका नाश काँचलीके त्यागसे नहीं है। उसी प्रकार जीवके लिये है।

देह तो जीवकी काँचली मात्र है। जब तक काँचली साँपके साथ लगी हुई है तब तक जैसे साँप चलता है वैसे वह उसके साथ चलती हैं, उसकी भाँति मुड़ती है और उसकी सभी क्रियाएँ साँपकी क्रियाके अधीन हैं। साँपने उसका त्याग किया कि फिर उनमेंसे एक भी क्रिया काँचली नहीं कर सकती। पहले वह जिन क्रियाओंको करती थी, वे सब क्रियाएँ मात्र साँपकी थी, उनमें काँचलीका मात्र संबंध था। इसी प्रकार जैसे जीव कर्मानुसार क्रिया करता है वैसे देह भी क्रिया करती है—चलती है, बैठती है, उठती है—यह सब होता है जीवरूप प्रेरकसे, उसका वियोग होनेके बाद कुछ नहीं होता; (अपूर्ण)

२३

जीवतत्त्वसम्बन्धी विचार[4]

एक प्रकारसे, दो प्रकारसे, तीन प्रकारसे, चार प्रकारसे, पाँच प्रकारसे और छः प्रकारसे जीवतत्त्व समझा जा सकता है।

---

१. पद्य संख्या ३८२, २. पद्य संख्या ३८३ ३. पद्य संख्या ३८६।

४. नव तत्त्व प्रकरण, गाथा ३—

एगविह दुविह तिविहा, चउव्विहा पंच छव्विहा जीवा।
चेयण—तस—इयरेहिं, वेय—गई—करण—काएहिं ॥३॥

भावार्थ—जीव अनुक्रमसे चेतनरूप एक ही भेद द्वारा एक प्रकारके है, त्रस और स्थावररूपसे दो प्रकारके है, वेदरूपसे तीन प्रकारके, गतिरूपसे चार प्रकारके, इन्द्रियरूपसे पाँच प्रकारके और कायाके भेदसे छ प्रकारके भी कहलाते हैं।

सब जीवोंको कमसे कम श्रुतज्ञानका अनंतवाँ भाग प्रकाशित रहनेसे सब जीव चैतन्यलक्षणसे एक ही प्रकारके हैं।

त्रस जीव अर्थात् जो धूपमेंसे छायामें आयें, छायामेंसे धूपमें आयें, चलनेकी शक्तिवाले हों और भय देखकर त्रास पाते हों, ऐसे जीवोंकी एक जाति है। दूसरे स्थावर जीव अर्थात् जो एक ही स्थलमें स्थितिवाले हों, ऐसे जीवोंकी दूसरी जाति है। इस तरह सब जीव दो प्रकारसे समझे जा सकते हैं।

सब जीवोंको वेदसे जाँचकर देखें तो स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेदमें उनका समावेश होता है। कोई जीव स्त्रीवेदमें, कोई जीव पुरुषवेदमें और कोई जीव नपुंसकवेदमें होते हैं। इनके अतिरिक्त चौथा वेद न होनेसे वेददृष्टिसे सब जीव तीन प्रकारसे समझे जा सकते हैं।

कितने ही जीव नरकगतिमें, कितने ही तिर्यंचगतिमें, कितने ही मनुष्यगतिमें और कितने ही देवगतिमें रहते हैं। इनके अतिरिक्त पाँचवी संसारी गति न होनेसे जीव चार प्रकारसे समझे जा सकते हैं।

(अपूर्ण)

२४

जीवाजीव विभक्ति

जीव और अजीवके विचारको एकाग्र मनसे श्रवण करें। जिसे जानकर भिक्षु सम्यक् प्रकारसे संयममें यत्न करते हैं।

जीव और अजीव (जहाँ हो उसे) लोक कहा है। अजीवके आकाश नामके भागको अलोक कहा है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे जीव और अजीवका बोध हो सकता है।

रूपी और अरूपी इस प्रकार अजीवके दो भेद होते हैं। अरूपीके दस प्रकार और रूपीके चार प्रकार कहे हैं।

धर्मास्तिकाय, उसका देश, और उसके प्रदेश; अधर्मास्तिकाय, उसका देश, और उसके प्रदेश; आकाश, उसका देश, और उसके प्रदेश; अद्धासमय कालतत्त्व, इस प्रकार अरूपीके दस प्रकार होते हैं।

धर्म और अधर्म ये दोनों लोक प्रमाण कहे हैं।

आकाश लोकालोकप्रमाण और अद्धासमय समयक्षेत्र[1]-प्रमाण है। धर्म, अधर्म और आकाश ये अनादि अपर्यवस्थित हैं।

निरंतरकी उत्पत्तिकी अपेक्षासे समय भी इसी प्रकार हैं। संतति एक कार्यकी अपेक्षासे सादि-सांत है।

स्कंध, स्कंधदेश, उसके प्रदेश और परमाणु इस तरह रूपी अजीव चार प्रकारके हैं।

जिसमें परमाणु एकत्र होते हैं और जिससे परमाणु पृथक् होते हैं वह स्कंध है। उसका विभाग देश और उसका अंतिम अभिन्न अंश प्रदेश है।

वह लोकके एक देशमें क्षेत्री है। उसके कालके विभाग चार प्रकारके कहे जाते हैं।

---

१. मनुष्यक्षेत्र—ढ़ाईद्वीप प्रमाण।

निरन्तर उत्पत्तिकी अपेक्षासे अनादि अपर्यवस्थित है। एक क्षेत्रकी स्थितिकी अपेक्षासे सादि-सपर्यवस्थित है। (अपूर्ण)

(उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन ३६)

---

२५ कार्तिक, १९४३

१. प्रमादके कारण आत्मा प्राप्त हुए स्वरूपको भूल जाता है।

२. जिस जिस कालमें जो जो करना है उसे सदा उपयोगमें रखे रहें।

३. फिर क्रमसे उसकी सिद्धि करें।

४. अल्प आहार, अल्प विहार, अल्प निद्रा, नियमित वाचा, नियमित काया और अनुकूल स्थान, ये मनको वश करनेके उत्तम साधन हैं।

५. श्रेष्ठ वस्तुकी अभिलाषा करना ही आत्माकी श्रेष्ठता है। कदाचित् वह अभिलाषा पूरी न हुई तो भी वह अभिलाषा भी उसीके अंशके समान है।

६. नये कर्मको नहीं बाँधना और पुरानोंको भोग लेना, ऐसी जिसकी अचल अभिलाषा है, वह तदनुसार वर्तन कर सकता है।

७. जिस कृत्यका परिणाम धर्म नहीं है, उस कृत्यको करनेकी इच्छा मूलसे ही नहीं रहने देनी चाहिये।

८. यदि मन शंकाशील हो गया हो तो 'द्रव्यानुयोग' का विचार करना योग्य है; प्रमादी हो गया हो तो 'चरणकरणानुयोग' का विचार करना योग्य है; और कषायी हो गया हो तो 'धर्मकथानुयोग' का विचार करना योग्य है; और जड़ हो गया हो तो 'गणितानुयोग' का विचार करना योग्य है।

९. किसी भी कामकी निराशा चाहना, परिणाममें फिर जितनी सिद्धि हुई उतना लाभ; ऐसा करनेसे संतोषी रहा जायेगा।

१०. पृथ्वीसंबंधी क्लेश हो तो यों समझ लेना कि वह साथ आनेवाली नहीं है; प्रत्युत मैं उसे देह देकर चला जानेवाला हूँ; और वह कुछ मूल्यवान नहीं है। स्त्रीसंबंधी क्लेश, शंका भाव हो तो यों समझकर अन्य भोक्ताके प्रति हँसना कि वह मल-मूत्रकी खानमें मोहित हो गया, (जिस वस्तुका हम नित्य त्याग करते हैं उसमें!) धनसम्बन्धी निराशा या क्लेश हो तो वे ऊँची जातिके कंकर हैं यों समझकर संतोष रखना; तो क्रमसे तू निःस्पृही हो सकेगा।

११. उसका तू बोध प्राप्त कर कि जिससे समाधिमरणकी प्राप्ति हो।

१२. एक बार यदि समाधिमरण हुआ तो सर्व कालके असमाधिमरण दूर हो जायेंगे।

१३. सर्वोत्तम पद सर्वत्यागीका है।

---

२६ ववाणिया बंदर, १९४३

सुज्ञश्री चत्रभुज बेचर,

पत्रका उत्तर नहीं लिख सका। यह सब मनकी विचित्र दशाके कारण है। रोष या मान इन दोमेंसे

कोई नहीं है। कुछ संसार भावकी खिन्नता तो जरूर है। इससे आपको परेशान नहीं होना चाहिये। क्षमा चाहते हैं। बातका विस्मरण करनेके लिये विनती है।

× × × × ×

सावधानी शूरवीरका भूषण है।

जिनाय नमः

---

२७ बंबई, सं० १९४३

महाशय,

आपकी पत्रिका मिली थी। समाचार विदित हुए। उत्तरमें निवेदन है कि मुझे किसी भी प्रकारसे बुरा नहीं लगा। वैराग्यके कारण अपेक्षित स्पष्टीकरण लिख नहीं सकता। यद्यपि अन्य किसीको तो पहुँच भी नहीं लिख सकता, तो भी आप मेरे हृदयरूप हैं, इसलिये पहुँच इत्यादि लिख सकता हूँ। मैं केवल हृदयत्यागी हूँ। थोड़े समयमें कुछ अद्भुत करनेके लिये तत्पर हूँ। संसारसे तंग आ गया हूँ।

मैं दूसरा महावीर हूँ, ऐसा मुझे आत्मिक शक्तिसे मालूम हुआ है। दस विद्वानोंने मिलकर मेरे ग्रहोंको परमेश्वरग्रह ठहराया है। सत्य कहता हूँ कि मैं सर्वज्ञ जैसी स्थितिमें हूँ। वैराग्यमें झूमता हूँ।

आशुप्रज्ञ राजचंद्र

दुनिया मतभेदके बंधनसे तत्त्वको पा नहीं सकी। इसमें सत्य सुख और सत्य आनंद नहीं हैं। उसके स्थापित होनेके लिये और एक सच्चे धर्मको चलानेके लिये आत्माने साहस किया है। उस धर्मका प्रवर्तन करूँगा ही।

महावीरने अपने समयमें मेरा धर्म कुछ अंशोंमें प्रचलित किया था। अब वैसे पुरुषोंके मार्गको ग्रहण करके श्रेष्ठ धर्मकी स्थापना करूँगा।

यहाँ इस धर्मके शिष्य बनाये हैं। यहाँ इस धर्मकी सभाकी स्थापना कर ली है।

[1]सात सौ महानीति अभी इस धर्मके शिष्योंके लिये एक दिनमें तैयार की है।

सारी सृष्टिमें पर्यटन करके भी इस धर्मका प्रवर्तन करेंगे। आप मेरे हृदयरूप और उत्कंठित हैं, इसलिये यह अद्भुत बात बतायी है। अन्यको न बताइयेगा।

अपनी जन्मकुण्ड़ली मुझे लौटती ड़ाकसे भेज दीजिये। मुझे आशा है कि उस धर्मका प्रचार करनेमें आप मुझे बहुत सहायक सिद्ध होंगे, और मेरे महान शिष्योंमें आप अग्रेसरता भोगेंगे। आपकी शक्ति अद्भुत होनेसे ऐसे विचार लिखनेमें मैंने संकोच नहीं किया है।

अभी जो शिष्य बनाये हैं उन्हें संसार छोड़नेके लिये कहें तो खुशीसे छोड़ सकते हैं। अभी भी उनकी ना नहीं हैं, ना हमारी है। अभी तो सौ दो सौ व्यक्ति चौतरफा तैयार रखना कि जिनकी शक्ति अद्भुत हो।

धर्मके सिद्धांतोंको दृढ़ करके, मैं संसारका त्याग करके, उनसे त्याग कराऊँगा। कदाचित् मैं पराक्रमके लिये थोड़े समय तक त्याग न करूँ तो भी उनसे त्याग करवाऊँगा।

---

१. देखें आंक १९

सर्व प्रकारसे अब मैं सर्वज्ञके समान हो चुका हूँ ऐसा कहूँ तो चले।

देखें तो सही ! सृष्टिको किस रूपमें बदलते हैं !

पत्रमें अधिक क्या बताऊँ ? रुबरुमें लाखों विचार बताने हैं। सब अच्छा ही होगा। मेरे प्रिय महाशय, ऐसा ही मानें।

हर्षित होकर लौटती डाकसे उत्तर लिखें। बातको सागररूप होकर सुरक्षित रखियेगा।

त्यागीके यथायोग्य।

---

२८ बंबई बंदर, सोम, १९४३

प्रिय महाशय,

रजिस्टर्ड पत्रके साथ जन्मकुण्ड़ली मिली है।

अभी मेरे धर्मको जगतमें प्रवर्तन करनेके लिये कुछ समय बाकी है। अभी मैं संसारमें आपकी निर्धारित अवधिसे अधिक रहनेवाला हूँ। हमें जिन्दगी संसारमें अवश्य गुजारनी पड़ेगी तो वैसा करेंगे। अभी तो इससे अधिक अवधि तक रहनेका बन पायेगा। स्मरण रखिये कि किसीको निराश नहीं करूँगा। धर्मसम्बन्धी आपने अपने विचार बतानेका परिश्रम उठाया यह उत्तम किया है। किसी प्रकारकी अड़चन नहीं आयेगी। पंचमकालमें प्रवर्तन करनेके लिये जो जो चमत्कार चाहिये वे सब एकत्रित हैं और होते जाते हैं। अभी इन सब विचारोंको पवनसे भी सर्वथा गुप्त रखिये। यह कृत्य सृष्टिमें विजयी होनेवाला ही है।

आपकी जन्मकुण्ड़ली, दर्शनसाधना, धर्म इत्यादि सम्बन्धी विचार समागममें बताऊँगा। मैं थोड़े समयमें संसारी होनेके लिये वहाँ आनेवाला हूँ। आपको पहलेसे ही मेरा आमंत्रण है।

अधिक लिखनेकी सहज आदत न होनेसे क्षेमकुशल और शुक्लप्रेम चाहकर पत्रिका पूर्ण करता हूँ।

लि० रायचंद्र।

---

२१ वाँ वर्ष

२९ बंबई, कार्तिक सुदी ५, १९४४

रा. रा. चत्रभुज बेचरकी सेवामें सविनय विनती है कि–

मेरे सम्बन्धमें निरंतर निश्चिंत रहियेगा। आपके लिये मैं चिंतातुर रहूँगा।

जैसे बने वैसे अपने भाइयोंमें प्रीति, एकता और शांतिकी वृद्धि करें। ऐसा करनेसे मुझपर बड़ी कृपा होगी।

समयका सदुपयोग करते रहियेगा, गाँव छोटा है तो भी।

'प्रवीणसागर' की व्यवस्था करके भिजवा दूँगा।

निरंतर सभी प्रकारसे निश्चिंत रहियेगा।

लि० रायचंदके जिनाय नमः

---

३० बंबई, पौष वदी १०, बुध, १९४४

[1]विवाह संबंधी उन्होंने जो मिती निश्चित की है, उसके विषयमें उनका आग्रह है तो भले वह मिती निश्चित रहे।

लक्ष्मीपर प्रीति न होनेपर भी किसी भी परार्थिक कार्यमें वह बहुत उपयोगी हो सकती है ऐसा लगनेसे मौन धारणकर यहाँ उसकी सुव्यवस्था करनेमें लगा हुआ था। उस व्यवस्थाका अभीष्ट परिणाम आनेमें बहुत समय नहीं था। परन्तु इनकी ओरका केवल ममत्वभाव शीघ्रता कराता है, जिससे उस सबको छोड़कर वदी १३ या १४ (पौषकी) के दिन यहाँसे रवाना होता हूँ। परार्थ करते हुए कदाचित् लक्ष्मी अंधता, बधिरता और मूकता दे देती है; इसलिये उसकी परवाह नहीं है।

हमारा अन्योन्य सम्बन्ध कोई कौटुम्बिक रिश्ता नहीं है; परन्तु दिलका रिश्ता है। परस्पर लोह-चुम्बकका गुण प्राप्त हुआ है, यह प्रत्यक्ष है; तथापि मैं तो इससे भी भिन्नरूपसे आपको हृदयरूप करना चाहता हूँ। जो विचार सारे सम्बन्धोंको दूर कर, संसार योजनाको दूर कर तत्त्वविज्ञानरूपसे मुझे बताने हैं; और आपको स्वयं उनका अनुकरण करना है। इतना संकेत बहुत सुखप्रद होनेपर भी मार्मिक रूपमें आत्मस्वरूपके विचारसे यहाँ लिखे देता हूँ।

वे शुभ प्रसंगमें सद्विवेकी सिद्ध हों और रूढ़िसे प्रतिकूल रहें जिससे परस्पर कौटुम्बिक स्नेह निष्पन्न हो सके–ऐसी सुंदर योजना उनके हृदयमें है क्या ? आप ठसायेंगे क्या ? कोई दूसरा ठसायेगा क्या ? यह विचार पुनः पुनः हृदयमें आया करता है।

निदान, साधारण विवेकी जिन विचारोंको हवाई समझें, वैसे विचार, जो वस्तु और जो पद आज सम्राज्ञी विक्टोरियाके लिये दुर्लभ–केवल असंभवित हैं–उन विचारों, उस वस्तु और उस पदकी और संपूर्ण इच्छा होनेसे, ऊपर लिखा है उससे लेश मात्र भी प्रतिकूल हो तो उस पदाभिलाषी पुरुषके चरित्रको परम लांछन लगने जैसा है। ये सारे हवाई (अभी लगनेवाले) विचार केवल आपको ही बताता हूँ। अंतःकरण शुक्ल–अद्‌भुत–विचारोंसे भरपूर है। परन्तु आप वहाँ रहे और मैं यहाँ रहा !

---

१. वि. सं. १९४४ माघ सुदी १२–गृहस्थाश्रममें प्रवेश।

३१ ववाणिया, प्र० चैत्र सुदी ११॥ रवि, १९४४

क्षणभंगुर दुनियामें सत्पुरुषका समागम ही अमूल्य और अनुपम लाभ है।

---

३२ ववाणिया, आषाढ़ वदी ३, बुध, १९४४

यह एक अद्‌भुत बात है कि चार पाँच दिन हुए बायीं आँखमें एक छोटे चक्र जैसा बिजलीके समान चमकारा हुआ करता है, जो आँखसे जरा दूर जाकर अदृश्य हो जाता है। लगभग पाँच मिनिट होता है या दिखायी देता है। मेरी दृष्टिमें वारंवार यह देखनेमें आता है। इस बारेमें किसी प्रकारकी भ्रान्ति नहीं है। इसका कोई निमित्त कारण मालूम नहीं होता। बहुत आश्चर्यकारी है। आँखमें दूसरा किसी भी प्रकारका असर नहीं है। प्रकाश और दिव्यता विशेष रहते हैं। चारेक दिन पहले दोपहरके २-२० मिनिटपर एक आश्चर्यभूत स्वप्न आनेके बाद यह हुआ हो ऐसा मालूम होता है। अन्तःकरणमें बहुत प्रकाश रहता है, शक्ति बहुत तेजस्वी है। ध्यान समाधिस्थ रहता है। कोई कारण समझमें नहीं आता। यह बात गुप्त रखनेके लिये ही बता देता हूँ। अब इस सम्बन्धमें विशेष फिर लिखूँगा।

---

३३ ववाणिया, आषाढ़ वदी ४, शुक्र, १९४४

आप भी आर्थिक बेपरवाही न रखियेगा। शरीर और आत्मिकसुखकी इच्छा करके, व्ययका कुछ संकोच करेंगे तो मैं मानूँगा कि मुझपर उपकार हुआ। भवितव्यताका भाव होगा तो मैं आपके अनुकूल सुविधायुक्त समागमका लाभ उठा सकूँगा।

---

३४ ववाणिया, श्रावण वदी १३, सोम, १९४४

वामनेत्रसम्बन्धी चमत्कारसे आत्मशक्तिमें अल्प परिवर्तन हुआ है।

---

३५ ववाणिया, श्रावण वदी ३०, १९४४

उपाधि कम है, यह आनन्दजनक है। धर्मकरनीके लिये कुछ समय मिलता होगा।

धर्मकरनीके लिये थोड़ा समय मिलता है, आत्मसिद्धिके लिये भी थोड़ा समय मिलता है, शास्त्रपठन और अन्य वाचनके लिये भी थोड़ा समय मिलता है, थोड़ा समय लेखनक्रियामें जाता है, थोड़ा समय आहार-विहार-क्रिया ले लेती है, थोड़ा समय शौचक्रियामें जाता है, छः घंटे निद्रा ले लेती है, थोड़ा समय मनोराज ले जाता है; फिर भी छः घंटे बचते हैं। सत्संगका लेश अंश भी न मिलनेसे बिचारा यह आत्मा विवेक-विकलताका वेदन करता है।

---

३६ बम्बई, भाद्रपद वदी १, शनि, १९४४

वंदामि प्रभुवर्द्धमानपादम्

प्रतिमाके कारण यहाँ समागममें आनेवाले लोग बहुत प्रतिकूल रहते हैं। यों ही मतभेदसे अनन्तकाल और अनन्त जन्ममें भी आत्माने धर्म नहीं पाया। इसलिये सत्पुरुष उसे नहीं चाहते, परन्तु स्वरूप श्रेणिको चाहते हैं।

---

३७ बम्बई बन्दर, आसोज वदी २, गुरु, १९४४

पार्श्वनाथ परमात्माको नमस्कार

प्रिय भाई सत्याभिलाषी उजमसी, राजनगर।

आपका हस्तलिखित शुभ पत्र मुझे कल सायंकाल मिला। आपकी तत्त्वजिज्ञासाके लिये विशेष सन्तोष हुआ।

जगतको अच्छा दिखानेके लिये अनन्त बार प्रयत्न किया; फिर भी उससे अच्छा नहीं हुआ। क्योंकि परिभ्रमण और परिभ्रमणके हेतु अभी प्रत्यक्ष विद्यमान हैं। यदि एक भव आत्माका भला करनेमें व्यतीत हो जायेगा, तो अनन्त भवोंका बदला मिल जायेगा, ऐसा मैं लघुत्वभावसे समझा हूँ; और वैसा करनेमें ही मेरी प्रवृत्ति है। इस महाबन्धनसे रहित होनेमें जो-जो साधन और पदार्थ श्रेष्ठ लगें, उन्हें ग्रहण करना, यही मान्यता है; तो फिर उसके लिये जगतकी अनुकूलता-प्रतिकूलता क्या देखनी ? वह चाहे जैसे बोले, परन्तु आत्मा यदि बन्धनरहित होता हो, समाधिमय दशा पाता हो तो वैसे कर लेना। जिससे सदाके लिये कीर्ति-अपकीर्तिसे रहित हुआ जा सकेगा।

अभी उनके और उनके पक्षके लोगोंके जो विचार मेरे विषयमें हैं, वे मेरे ध्यानमें हैं ही; परन्तु उन्हें विस्मृत कर देना ही श्रेयस्कर है। आप निर्भय रहिये। मेरे लिये कोई कुछ कहे उसे सुनकर मौन रहिये; उनके लिये कुछ शोक-हर्ष न कीजियेगा। जिस पुरुषपर आपका प्रशस्त राग है, उसके इष्ट देव परमात्मा जिन, महायोगीन्द्र पार्श्वनाथ आदिका स्मरण रखिये और यथासम्भव निर्मोही होकर मुक्त दशाकी इच्छा करिये। जीवितव्य या जीवनपूर्णता सम्बन्धी कुछ संकल्प-विकल्प न कीजियेगा। उपयोगको शुद्ध करनेके लिये इस जगतके संकल्प-विकल्पोंको भूल जाइये; पार्श्वनाथ आदि योगीश्वरकी दशाका स्मरण करिये; और वही अभिलाषा रखे रहिये; यही आपको पुनः पुनः आशीर्वादपूर्वक मेरी शिक्षा है। यह अल्पज्ञ आत्मा भी उस पदका अभिलाषी और उस पुरुषके चरणकमलमें तल्लीन हुआ दीन शिष्य है। आपको वैसी श्रद्धाकी ही शिक्षा देता है। वीरस्वामी द्वारा उपदिष्ट द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे सर्वस्वरूप यथातथ्य है, इसे न भूलियेगा। उनकी शिक्षाकी किसी भी प्रकारसे विराधना हुई हो तो उसके लिये पश्चात्ताप कीजिये। इस कालकी अपेक्षासे मन, वचन और कायाको आत्मभावसे उनकी गोदमें अर्पण करें, यही मोक्षका मार्ग है। जगतके सब दर्शनोंकी—मतोंकी श्रद्धाको भूल जाइये; जैनसम्बन्धी सब विचार भूल जाइये; मात्र उन सत्पुरुषोंके अद्भुत, योगस्फुरित चरित्रमें ही उपयोगको प्रेरित कीजियेगा।

इस आपके माने हुए 'पूज्य'के लिये किसी भी प्रकारसे हर्ष-शोक न कीजियेगा; उसकी इच्छा मात्र संकल्प-विकल्पसे रहित होनेकी ही है; उसका इस विचित्र जगतसे कुछ सम्बन्ध या लेना-देना नहीं है। इसलिये उसमें उसके लिये चाहे जो विचार किये जायें या कहे जायें उनकी ओर अब ध्यान देनेकी इच्छा नहीं है। जगतमेंसे जो परमाणु पूर्वकालमें इकट्ठे किये हैं उन्हें धीरे-धीरे उसे देकर ऋणमुक्त होना, यही उसकी सदा उपयोगसहित, प्रिय, श्रेष्ठ और परम अभिलाषा है; बाकी उसे कुछ नहीं आता; वह दूसरा कुछ नहीं चाहता, पूर्वकर्मके आधारसे उसका सारा विचरना है; ऐसा समझकर परम सन्तोष रखिये; यह बात गुप्त रखिये। हम क्या मानते हैं ? अथवा कैसे बरताव करते हैं ? यह जगतको दिखानेकी जरूरत नहीं है; परन्तु आत्माको इतना ही पूछनेकी जरूरत है कि यदि तू मुक्तिको चाहता है तो संकल्प-विकल्प, रागद्वेषको छोड़ दे और उसे छोड़नेमें तुझे कुछ बाधा हो तो उसे कह। वह अपने आप मान जायेगा और

वह अपने आप छोड़ देगा।

जहाँ-तहाँसे रागद्वेषरहित होना यही मेरा धर्म है; और वह अभी आपको बताये देता हूँ। परस्पर मिलेंगे तब फिर आपको कुछ भी आत्म-साधना बता सकूँगा तो बताऊँगा। बाकी धर्म तो वही है जो मैंने ऊपर कहा है और उसीमें उपयोग रखिये। उपयोग ही साधना है। विशेष साधना मात्र सत्पुरुषके चरणकमल हैं; यह भी कहे देता हूँ।

आत्मभावमें सब कुछ रखिये; धर्मध्यानमें उपयोग रखिये; जगतके किसी भी पदार्थ, सगे संबंधी, कुटुंबी और मित्रका कुछ हर्ष-शोक करना योग्य ही नहीं है। परमशांतिपदकी इच्छा करें यही हमारा सर्वसम्मत धर्म है और यही इच्छा करते-करते वह मिल जायेगा, इसलिये निश्चिंत रहें। मैं किसी गच्छमें नहीं हूँ, परन्तु आत्मामें हूँ, इसे न भूलियेगा।

जिसकी देह धर्मोपयोगके लिये है, उस देहको रखनेके लिये जो प्रयत्न करता है, वह भी धर्मके लिये ही है।

वि० रायचन्द्र

३८

वि० सं० १९४४

(१) सहज स्वभावसे मुक्त, अत्यंत प्रत्यक्ष अनुभव स्वरूप आत्मा है, तो फिर ज्ञानी पुरुषोंको आत्मा है, आत्मा नित्य है, बंध है, मोक्ष है इत्यादि अनेक प्रकारका निरूपण करना योग्य न था।

(२) आत्मा यदि अगम अगोचर है तो फिर वह किसीको प्राप्त होने योग्य नहीं है, और यदि सुगम सुगोचर है तो फिर प्रयत्न करना योग्य नहीं है।

३९

वि० सं० १९४४

नेत्रोंकी श्यामता विषे जो पुतलियाँरूप स्थित है, अरु रूपको देखता है, साक्षीभूत है, सो अंतर कैसे नहीं देखता? जो त्वचा विषे स्पर्श करता है, शीतउष्णादिकको जानता है, ऐसा सर्व अंग विषे व्यापक अनुभव करता है; जैसे तिलों विषे तेल व्यापक होता है, तिसका अनुभव कोऊ नहीं करता। जो शब्द श्रवणइन्द्रियके अन्तर ग्रहण करता है, तिस शब्दशक्तिको जाननेहारी सत्ता है, जिस विषे शब्दशक्तिका विचार होता है, जिसकरि रोम खड़े होई आते हैं, सो सत्ता दूर कैसे होवे? जो जिह्वाके अग्रविषे रसस्वादको ग्रहण करता है, तिस रसका अनुभव करनेहारी अलेप सत्ता है, सो सन्मुख कैसे न होवे? वेद वेदांत, सप्तसिद्धांत, पुराण, गीता करि जो ज्ञेय, जानने योग्य आत्मा है तिसको जब जान्या तब विश्राम कैसे न होवे?

४०

बंबई, १९४४

विशालबुद्धि, मध्यस्थता, सरलता और जितेन्द्रियता इतने गुण जिस आत्मामें हों, वह तत्त्व पानेके लिये उत्तम पात्र है।

अनंत जन्ममरण कर चुकनेवाले इस आत्माकी करुणा वैसे अधिकारीको उत्पन्न होती है और वही कर्ममुक्त होनेका अभिलाषी कहा जा सकता है। वही पुरुष यथार्थ पदार्थको यथार्थ स्वरूपसे समझकर मुक्त होनेके पुरुषार्थमें लग जाता है।

जो आत्मा मुक्त हुए हैं वे आत्मा कुछ स्वच्छंदवर्तनसे मुक्त नहीं हुए हैं, परन्तु आप्त पुरुष द्वारा उपदिष्ट मार्गके प्रबल अवलंबनसे मुक्त हुए हैं।

अनादिकालके महाशत्रुरूप राग, द्वेष और मोहके बंधनमें वह अपने सम्बन्धमें विचार नहीं कर सका। मनुष्यत्व, आर्यदेश, उत्तमकुल और शारीरिक संपत्ति ये अपेक्षित साधन हैं; और अन्तरङ्ग साधन मात्र मुक्त होनेकी सच्ची अभिलाषा है।

इस प्रकार यदि आत्मामें सुलभबोधिताकी योग्यता आयी हो तो वह, जो पुरुष मुक्त हुए हैं, अथवा वर्तमानमें मुक्तरूपसे या आत्मज्ञानदशासे विचरते हैं, उनके उपदिष्ट मार्गमें निःसंदेह श्रद्धाशील होगा।

जिसमें राग, द्वेष और मोह नहीं हैं, वह पुरुष इन तीन दोषोंसे रहित मार्गका उपदेश कर सकता है अथवा तो उसी पद्धतिसे निःसंदेहरूपसे आचरण करनेवाले सत्पुरुष उस मार्गका उपदेश दे सकते हैं।

सभी दर्शनोंकी शैलीका विचार करनेपर राग, द्वेष और मोह रहित पुरुषका उपदिष्ट निर्ग्रंथदर्शन विशेष मानने योग्य है।

इन तीन दोषोंसे रहित, महातिशयसे प्रतापी तीर्थंकरदेवने मोक्षके कारणरूप जिस धर्मका उपदेश दिया है, उस धर्मको चाहे जो मनुष्य स्वीकार करते हों, परन्तु वह एक पद्धतिसे होना चाहिये, यह बात निःशंक है।

अनेक पद्धतिसे अनेक मनुष्य उस धर्मका प्रतिपादन करते हों और वह मनुष्योंमें परस्पर मतभेदका कारण होता हो तो उसमें तीर्थंकरदेवकी एक पद्धतिका दोष नहीं है परन्तु उन मनुष्योंकी समझशक्तिका दोष माना जा सकता है।

इस तरह हम निर्ग्रंथधर्मप्रवर्तक हैं, यों भिन्न-भिन्न मनुष्य कहते हों, तो उनमेंसे उन मनुष्योंको प्रमाणाबाधित गिना जा सकता है कि जो वीतरागदेवकी आज्ञाके सद्भावसे प्ररूपक और प्रवर्तक हों।

यह काल 'दुःषम' नामसे प्रख्यात है। दुःषम काल उसे कहा जाता है कि जिस कालमें मनुष्य महादुःखसे आयु पूर्ण करते हों, और धर्माराधनाके पदार्थोंको प्राप्त करनेमें दुःषमता अर्थात् महाविघ्न आते हों।

हालमें वीतरागदेवके नामसे जैनदर्शनमें इतने अधिक मत प्रचलित हैं कि वे मत, केवल मतरूप हैं; परन्तु जब तक वीतरागदेवकी आज्ञाका अवलंबन करके उनका प्रवर्तन न होता हो तब तक वे सत्रूप नहीं कहे जा सकते।

इस मतप्रवर्तनमें इतने मुख्य कारण मुझे सम्भाव्य लगते हैं—(१) अपनी शिथिलताके कारण कितने ही पुरुषोंने निर्ग्रंथदशाकी प्रधानता कम कर दी हो; (२) परस्पर दो आचार्योंका वाद-विवाद; (३) मोहनीय कर्मका उदय और तदनुरूप प्रवर्तन हो जाना; (४) ग्रहण करनेके बाद उस बातका मार्ग मिलता हो तो भी उसे दुर्लभबोधिताके कारण ग्रहण न करना; (५) मतिकी न्यूनता; (६) जिसपर राग हो उसकी इच्छानुसार प्रवर्तन करनेवाले अनेक मनुष्य; (७) दुःषम काल और (८) शास्त्रज्ञानका घट जाना।

इन सब मतोंके संबंधमें समाधान होकर निःशंकतासे वीतरागकी आज्ञा रूप मार्ग प्रवर्त्तित हो तो महाकल्याण हो, परन्तु ऐसी संभावना कम है। जिसे मोक्षकी अभिलाषा है उसकी प्रवर्तना तो उसी मार्गमें होती है; परन्तु लोक अथवा ओघदृष्टिसे प्रवर्तन करनेवाले पुरुष, और पूर्वके दुर्घट कर्मके उदयके कारण मतकी श्रद्धामें पडे हुए मनुष्य उस मार्गका विचार कर सकें; या बोध ले सकें; ऐसा उनके कितने ही दुर्लभबोधी गुरु करने दें और मतभेद दूर होकर परमात्माकी आज्ञाका सम्यक्रूपसे आराधन करते हुए उन मतवादियोंको देखें, यह बहुत असंभवित है। सबमें एकसी बुद्धि प्रगट होकर, उसका संशोधन

होकर, वीतरागकी आज्ञारूप मार्गका प्रतिपादन हो, यह यद्यपि सर्वथा असंभव जैसा है; फिर भी सुलभबोधी आत्मा अवश्य इसके लिये प्रयत्न करते रहें तो परिणाम श्रेष्ठ आये यह बात मुझे संभवित लगती है।

दु:षम कालके प्रतापसे जो लोग विद्याका बोध ले सके हैं उन्हें धर्मतत्त्वपर मूलसे ही श्रद्धा दिखाई नहीं देती। जिसे सरलताके कारण कुछ श्रद्धा होती है उसे इस विषयकी कुछ सूझबूझ नहीं होती। यदि कोई सूझबूझवाला निकल आये तो उसे उस वस्तुकी वृद्धिमें विघ्नकर्त्ता मिलेंगे, परन्तु सहायक नहीं होंगे, ऐसी आजकी कालचर्या है। इस प्रकार शिक्षितोंके लिये धर्मकी दुर्लभता हो गयी है।

अशिक्षित लोगोंमें यह एक स्वाभाविक गुण रहा है कि हमारे बापदादा जिस धर्मको मानते आये हैं, उस धर्ममें ही हमें प्रवर्तन करना चाहिये, और वही मत सत्य होना चाहिये; और अपने गुरुके वचनोंपर ही हमें विश्वास रखना चाहिये; फिर चाहे वह गुरु शास्त्रोंके नाम भी न जानता हो, परन्तु वही महाज्ञानी है ऐसा मानकर प्रवृत्ति करनी चाहिये। और हम जो मानते हैं वही वीतरागका उपदिष्ट धर्म है, बाकी जो जैन नामसे प्रचलित हैं वे सभी मत असत् हैं। ऐसी उनकी समझ होनेसे वे बिचारे उसी मतमें रचेपचे रहते हैं। अपेक्षासे देखें तो उनका भी दोष नहीं है।

जो जो मत जैनमें प्रचलित हैं उनमें प्राय: जैनसम्बन्धी ही क्रियाएँ हों यह मानी हुई बात है। तदनुसार प्रवृत्ति देखकर जिस मतमें स्वयं दीक्षित हुए हों, उस मतमें ही दीक्षित पुरुषोंका रचा-पचा रहना होता है। दीक्षितोंमें भी भद्रिकताके कारण ली हुई दीक्षा, या भिक्षा माँगने जैसी स्थितिसे घबराकर ग्रहण की गई दीक्षा, या स्मशानवैराग्यसे ली गयी दीक्षा होती है। शिक्षाकी सापेक्ष स्फुरणासे प्राप्त हुई दीक्षावाला पुरुष आप विरल ही देखेंगे, और देखेंगे तो वह मतसे तंग आकर वीतरागदेवकी आज्ञामें राचनेके लिये अधिक तत्पर होगा।

जिसे शिक्षाकी सापेक्ष स्फुरणा हुई है, उसके सिवाय दूसरे जितने मनुष्य दीक्षित या गृहस्थ हैं वे सब जिस मतमें स्वयं पड़े होते हैं उसीमें रागी होते हैं; उन्हें विचारकी प्रेरणा देनेवाला कोई नहीं मिलता। अपने मतसंबंधी नाना प्रकारके आयोजित विकल्प (चाहे फिर उनमें यथार्थ प्रमाण हो या न हो) समझाकर गुरु अपने पंजेमें रखकर उन्हें चला रहे हैं।

इसी प्रकार त्यागी गुरुओंके अतिरिक्त बरबस बन बैठे महावीरदेवके मार्गरक्षक गिने जानेवाले यति हैं, उनकी तो मार्गप्रवर्तनकी शैलीके लिये कुछ कहना ही नहीं रहता। क्योंकि गृहस्थके तो अणुव्रत भी होते हैं; परंतु ये तो तीर्थंकर देवकी भाँति कल्पातीत पुरुष हो बैठे हैं।

संशोधक पुरुष बहुत कम हैं। मुक्त होनेकी अंत:करणमें अभिलाषा रखनेवाले और पुरुषार्थ करनेवाले बहुत कम हैं। उन्हें साधन जैसे कि सद्गुरु, सत्संग या सत्शास्त्र मिलने दुर्लभ हो गये हैं। जहाँ पूछने जायें वहाँ सब अपना अपना राग आलापते हैं। फिर वह सच्चा या झूठा इसका कोई भाव नहीं पूछता। भाव पूछनेवालेके आगे मिथ्या विकल्प करके अपनी संसारस्थिति बढ़ाते हैं और दूसरेको वैसा निमित्त बनाते हैं।

अधूरेमें पूरा कोई संशोधक आत्मा होगा तो वह अप्रयोजनभूत पृथ्वी इत्यादिक विषयोंमें शंका होनेसे रुक गया है। अनुभव धर्म पर आना उसके लिये भी दुष्कर हो गया है।

इस परसे मैं ऐसा नहीं कहता कि वर्तमानमें कोई भी जैनदर्शनके आराधक नहीं हैं; हैं सही, परन्तु बहुत ही थोड़े, बहुत ही थोड़े, और जो हैं वे ऐसे कि जिन्हें मुक्त होनेके अतिरिक्त और कोई अभिलाषा

नहीं है, और जिन्होंने अपना आत्मा वीतरागकी आज्ञामें समर्पित कर दिया है और वे भी अंगुलियों पर गिने जा सके उतने होंगे। बाकी तो दर्शनकी दशा देखकर करुणा उत्पन्न होने जैसा है। आप स्थिर चित्तसे विचार कर देखेंगे तो यह मेरा कथन आपको सप्रमाण लगेगा।

इन सभी मतोंमें कितनोंका तो साधारण-सा विवाद है। मुख्य विवाद यह है कि एकका कथन प्रतिमाकी सिद्धिके लिये है, दूसरे उसका सर्वथा खण्ड़न करते हैं।

दूसरे पक्षमें पहले मैं भी गिना गया था। मेरी अभिलाषा वीतरागदेवकी आज्ञाके आराधनकी ओर है। ऐसा सत्यताके लिये कह कर बता देता हूँ कि प्रथम पक्ष सत्य है, अर्थात् जिनप्रतिमा और उसका पूजन शास्त्रोक्त, प्रमाणोक्त, अनुभवोक्त और अनुभवमें लेने योग्य हे। मुझे उन पदार्थोंका जिस रूपसे बोध हुआ अथवा उस विषय सम्बन्धी मुझे जो अल्प शंका थी वह दूर हो गयी, उस वस्तुका किंचित् भी प्रतिपादन होनेसे कोई भी आत्मा तत्सम्बन्धी विचार कर सकेगा; और उस वस्तुकी सिद्धि प्रतीत हो तो तत्सम्बन्धी उसके मतभेद दूर हो जायेंगे; यह सुलभबोधिताका कार्य होगा ऐसा समझकर, संक्षेपमें कुछेक विचार प्रतिमासिद्धिके लिये प्रदर्शित करता हूँ।

मेरी प्रतिमामें श्रद्धा है, इसलिये आप सब श्रद्धा करें, इसके लिये मेरा कहना नहीं है, परन्तु यदि उससे वीर भगवानकी आज्ञाका आराधन होता दिखाई दे, तो वैसा करे। परन्तु इतना स्मरण रखें कि—

कतिपय आगमप्रमाणोंकी सिद्धिके लिये परंपरा, अनुभव इत्यादिकी आवश्यकता हैं। यदि आप कहें तो कुतर्कसे पूरे जैनदर्शनका भी खण्ड़न कर दिखाऊँ; परन्तु उसमें कल्याण नहीं है। जहाँ प्रमाणसे और अनुभवसे सत्य वस्तु सिद्ध हो गई हो, वहाँ जिज्ञासु पुरुष अपने चाहे जैसे हठको भी छोड़ देते हैं।

यदि ये महान विवाद इस कालमें न पड़े होते तो लोगोंको धर्मप्राप्ति बहुत सुलभ होती।

संक्षेपमें मैं इस बातको पाँच प्रकारके प्रमाणोंसे सिद्ध करता हूँ—

१. आगमप्रमाण, २. इतिहासप्रमाण, ३. परंपराप्रमाण, ४. अनुभवप्रमाण, ५. प्रमाणप्रमाण।

---

१. आगमप्रमाण

आगम किसे कहा जाये इसकी पहले व्याख्या होनेकी जरूरत है। जिसका प्रतिपादक मूल पुरुष आप्त हो और जिसमें उसके वचन होते हैं वह आगम है।

गणधरोंने वीतरागदेव द्वारा उपदिष्ट अर्थकी योजना करके संक्षेपमें मुख्य वचनोंको लिया, वे आगम या सूत्रके नामसे पहचाने जाते हैं। सिद्धांत, शास्त्र ये उसके दूसरे नाम हैं।

गणधरोंने तीर्थंकरदेव द्वारा उपदिष्ट शास्त्रोंकी द्वादशांगीरूपसे योजना की, उन बारह अंगोके नाम कह देता हूँ—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथांग, उपासकदशांग, अंतकृतदशांग, अनुत्तरौपपातिक, प्रश्नव्याकरण, विपाक और दृष्टिवाद।

× × × × ×

१. जिससे वीतरागकी किसी भी आज्ञाका पालन हो ऐसी प्रवृत्ति करना यह मुख्य मान्यता है।

२. मैं पहले प्रतिमाको नहीं मानता था और अब मानता हूँ, इसमें कोई पक्षपाती कारण नहीं हैं; परन्तु मुझे उसकी सिद्धि प्रतीत हुई इसलिये मान्य रखता हूँ; और सिद्धि होनेपर भी नहीं माननेसे पहलेकी मान्यताकी भी सिद्धि नहीं है, और वैसा होनेसे आराधकता नहीं है।

३. मेरी इस मत या उस मतकी मान्यता नहीं है, परन्तु रागद्वेषरहित होनेकी परमाकांक्षा है; और उसके लिये जो जो साधन हों, उन सबको चाहना और करना ऐसी मान्यता है; और इसके लिये महावीरके वचनोंपर मुझे पूर्ण विश्वास है।

४. अभी मात्र इतनी प्रस्तावना करके प्रतिमासंबंधी अनेक प्रकारसे जो सिद्धि मुझे प्रतीत हुई उसे अब कहता हूँ। उस सिद्धिका मनन करनेसे पहले वाचक निम्न विचारोंको कृपया ध्यानमें रखें–

(अ) आप भी तरनेके इच्छुक हैं, और मैं भी हूँ; दोनों महावीरके बोध, आत्महितैषी बोधको चाहते हैं और वह न्याययुक्त है। इसलिये जहाँ सत्यता हो वहाँ दोनों अपक्षपातसे सत्यता कहें।

(आ) कोई भी बात जब तक योग्य रीतिसे समझमें न आये तब तक उसे समझे; तत्संबंधी कुछ कहते हुए मौन रखें।

(इ) अमुक बात सिद्ध हो तभी ठीक है, ऐसा न चाहें, परंतु सत्य, सत्य सिद्ध हो ऐसा चाहें। प्रतिमाको पूजनेसे ही मोक्ष है किंवा उसे न माननेसे मोक्ष है; इन दोनों विचारोंके बारेमें, इस पुस्तकका योग्य प्रकारसे मनन करने तक मौन रहें।

(ई) शास्त्रकी शैलीसे विरुद्ध अथवा अपने मानकी रक्षाके लिये कदाग्रही होकर कोई भी बात न कहें।

(उ) एक बातको असत्य और दूसरीको सत्य माननेमें जब तक अटूट कारण न दिया जा सके, तब तक अपनी बातको मध्यस्थवृत्तिमें रोक रखें।

(ऊ) किसी धर्मको माननेवाला सारा समुदाय कहीं मोक्षमें चला जायेगा ऐसा शास्त्रकारका कहना नहीं है, परन्तु जिसका आत्मा धर्मत्वको धारण करेगा वह सिद्धिसंप्राप्त होगा, ऐसा कहना है। इसलिये स्वात्माको धर्मबोधकी पहले प्राप्ति करानी चाहिये। उसका एक साधन यह भी है; उसका परोक्ष या प्रत्यक्ष अनुभव किये बिना खंड़न कर ड़ालना योग्य नहीं है।

(ए) यदि आप प्रतिमाको माननेवाले हैं तो उससे जिस हेतुको सिद्ध करनेकी परमात्माकी आज्ञा है उसे सिद्ध कर लें; और यदि आप प्रतिमाके उत्थापक हैं तो इन प्रमाणोंको योग्य रीतिसे विचारकर देख लें। दोनों मुझे शत्रु या मित्र कुछ भी न मानें। चाहे जो कहनेवाला है, ऐसा समझकर ग्रन्थको पढ़ जायें।

(ऐ) इतना ही सच्चा है अथवा इतनेमेंसे ही प्रतिमाकी सिद्धि हो तो हम मानें ऐसा आग्रह न रखियेगा। परन्तु वीरके उपदिष्ट शास्त्रोंसे सिद्धि हो ऐसी इच्छा कीजियेगा।

(ओ) इसीलिये पहले इस बातको ध्यानमें लेना पडेगा कि वीरके उपदिष्ट शास्त्र कौनसे कहे जा सकते हैं; अथवा माने जा सकते हैं; इसलिये मैं पहले इस संबंधमें कहूँगा।

(औ) मुझे संस्कृत, मागधी या किसी भाषाका अपनी योग्यताके अनुसार परिचय नहीं है, ऐसा मानकर मुझे अप्रामाणिक ठहरायेंगे तो न्यायके प्रतिकूल जाना पड़ेगा। इसलिये मेरे कथनकी शास्त्र और आत्ममध्यस्थतासे जाँच कीजियेगा।

(अं) यदि मेरे कोई विचार योग्य न लगें तो सहर्ष पूछियेगा; परंतु उससे पहले उस विषयमें अपनी समझसे शंकायुक्त निर्णय न कर बैठियेगा।

(अः) संक्षेपमें कहना यह है कि जैसे कल्याण हो वैसे प्रवर्तन करनेके संबंधमें मेरा कहना अयोग्य लगता हो, तो उसके लिये यथार्थ विचार करके फिर जैसा हो वैसा मान्य करें।

शास्त्र-सूत्र कितने ?

१. एक पक्ष यों कहता है कि आजकल पैंतालीस या उससे अधिक सूत्र हैं। और उनकी निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका इन सबको मानना चाहिये। दूसरा पक्ष कहता है कि बत्तीस ही सूत्र हैं, और वे बत्तीस ही भगवानके उपदिष्ट हैं, बाकी मिश्र हो गये हैं; और निर्युक्ति इत्यादि भी वैसे ही हैं; इसलिये बत्तीस मानना चाहिये। इस मान्यताके लिये पहले अपनी समझमें आये हुए विचार बताता हूँ।

दूसरे पक्षकी उत्पत्तिको आज लगभग चार सौ वर्ष हुए हैं। वे जो बत्तीस सूत्र मानते हैं वे निम्न-लिखित हैं–

११ अंग, १२ उपांग, ४ मूल, ४ छेद, १ आवश्यक

× × × × ×

अंतिम अनुरोध

अब इस विषयको संक्षेपमें पूर्ण किया है। केवल प्रतिमासे ही धर्म है, ऐसा कहनेके लिये अथवा प्रतिमापूजनकी ही सिद्धिके लिये मैंने इस लघु ग्रन्थमें कलम नहीं चलायी। प्रतिमाके विषयमें मुझे जो जो प्रमाण ज्ञात हुए थे उन्हें संक्षेपमें बतला दिया। शास्त्रविचक्षण और न्यायसंपन्न पुरुषोंको उसमें औचित्य अनौचित्य देखना है, और फिर जैसे सप्रमाण लगे वैसे प्रवृत्ति करना या प्ररूपण करना यह उनके आत्मापर आधार रखता है। इस पुस्तकको मैं प्रसिद्ध न करता, क्योंकि जिस मनुष्यने एक बार प्रतिमापूजन का विरोध किया हो, वही मनुष्य जब उसका समर्थन करे तब वह प्रथम पक्षवालोंके लिये बहुत खेद और कटाक्षका विषय हो जाता है। मैं मानता हूँ कि आप भी मेरे प्रति कुछ समय पहले ऐसी स्थितिमें आ गये थे। यदि उस समय इस पुस्तकको मैंने प्रसिद्ध किया होता तो आपके अंतःकरण अधिक दुःखी होते और दुःखी करनेका निमित्त मैं होता। इसलिये मैंने वैसा नहीं किया। कुछ समय बीतनेपर मेरे अंतःकरणमें एक ऐसे विचारने जन्म लिया कि तेरे लिये उन लोगोंको संक्लिष्ट विचार आते रहेंगे; तूने जिन प्रमाणोंसे इसे माना है वे भी केवल तेरे हृदयमें रह जायेंगे, इसलिये उन्हें सत्यतापूर्वक अवश्य प्रसिद्ध किया जाये। इस विचारको मैंने अपना लिया। तब उसमेंसे बहुत निर्मल विचारकी प्रेरणा हुई; उसे संक्षेपमें बता देता हूँ। आप प्रतिमाको मानें इस आग्रहके लिये यह पुस्तक लिखनेका कोई हेतु नहीं है, तथा वे प्रतिमाको मानें इससे मैं कुछ धनवान होनेवाला नहीं हूँ, तत्संबंधी जो विचार मुझे आये थे (अपूर्ण प्राप्त)

२२ वाँ वर्ष

४१ भरुच, मार्गशीर्ष सुदी ३, गुरु, १९४५

पत्रसे समाचार मालूम हुए। अपराध नहीं, परंतु परतंत्रता है। निरंतर सत्पुरुषकी कृपादृष्टि चाहें और शोकरहित रहें, यह मेरा परम अनुरोध है। उसे स्वीकार कीजियेगा। विशेष न लिखे तो भी इस आत्माको उसका ध्यान है। बड़ोंको प्रसन्न रखें। सच्चा धैर्य रखें। पूर्ण खुशीमें हूँ।

---

४२ भरुच, मार्गशीर्ष सुदी १२, १९४५

चि० जूठाभाई,

जहाँ पत्र देने जाते हैं, वहाँ निरन्तर कुशलता पूछते रहियेगा। प्रभुभक्तिमें तत्पर रहियेगा। नियमका पालन कीजियेगा, और सब बड़ोंकी आज्ञाके अनुकूल रहियेगा, यह मेरा अनुरोध है।

जगतमें नीरागत्व, विनय और सत्पुरुषकी आज्ञा न मिलनेसे यह आत्मा अनादिकालसे भटकता रहा; परन्तु निरुपायता हुई सो हुई। अब हमें पुरुषार्थ करना उचित है। जय हो!

यहाँ चारेक दिन ठहरना होगा। वि० रायचन्द

---

४३ बंबई, मार्गशीर्ष वदी ७, मंगल, १९४५

जिनाय नमः

सुज्ञ,

आपका सूरतसे लिखा हुआ पत्र मुझे आज सवेरे ११ बजे मिला। उसका ब्योरा पढ़कर एक प्रकारसे शोच हुआ, क्योंकि आपको निष्फल चक्कर काटना पड़ा। यद्यपि मैंने यह बतलानेके लिये पहलेसे एक पत्र लिखा था कि मैं सूरतमें कम ठहरनेवाला हूँ; मैं मानता हूँ कि वह पत्र आपको समय पर नहीं मिला होगा। अस्तु। अब हम थोड़े समयमें वतनमें मिल सकेंगे। यहाँ मैं कुछ बहुत समय रुकनेवाला नहीं हूँ। आप धैर्य रखें, और शोचका त्याग करें, ऐसी विनती है। मिलनेके बाद मैं यह चाहता हूँ कि आपको प्राप्त हुआ नाना प्रकारका खेद दूर हो! और ऐसा होगा। आप उदास न हों।

साथका चि० का विनतीपत्र मैंने पढ़ा था। उन्हें भी धीरज दे। दोनों भाई धर्ममें प्रवृत्ति करे।

मेरे प्रति मोहदशा न रखें, मैं तो एक अल्पशक्तिवाला पामर मनुष्य हूँ। सृष्टिमें अनेक सत्पुरुष गुप्तरूपमें मौजूद हैं। प्रगटरूपमें भी मौजूद हैं। उनके गुणोंका स्मरण करे। उनका पवित्र समागम करे और आत्मिक लाभसे मनुष्यभवको सार्थक करे यह मेरी निरन्तर प्रार्थना है।

दोनों साथ मिलकर यह पत्र पढ़े। जल्दी होनेसे इतनेसे ही अटकता हूँ।

लि०रायचन्दके प्रणाम विदित हो।

---

४४ बंबई, मार्गशीर्ष वदी १२, शनि, १९४५

सुज्ञ,

विशेष विदित हुआ होगा।

मैं यहाँ समयानुसार आनन्दमें हूँ। आपका आत्मानन्द चाहता हूँ। चि० जूठाभाईका आरोग्य सुधरनेके

लिये पूर्ण धीरज दीजियेगा। मैं भी अब यहाँ कुछ समय रहनेवाला हूँ।

एक बड़ी विज्ञप्ति है कि पत्रमें निरन्तर शोचसम्बन्धी न्यूनता और पुरुषार्थकी अधिकता प्राप्त हो, इस तरह पत्र लिखनेका परिश्रम लेते रहें। विशेष अब फिर।

रायचंदके प्रणाम।

---

४५ बंबई, मार्गशीर्ष वदी ३०, १९४५

सुज्ञ,

जूठाभाईकी स्थिति विदित हुई। मैं निरुपाय हूँ। यदि न चले तो प्रशस्त राग रखें, परन्तु मुझे खुदको, आप सबको इस रास्तेके अधीन न करें।

प्रणाम लिखूँ इसकी भी चिन्ता न करें। अभी प्रणाम करने लायक ही हूँ, करवानेके नहीं।

वि० रायचंदके प्रणाम।

---

४६ मार्गशीर्ष, १९४५

आपका प्रशस्तभावभूषित पत्र मिला। संक्षेपमें उत्तर यह है कि जिस मार्गसे आत्मत्व प्राप्त हो उस मार्गको खोजें। मुझपर प्रशस्तभाव लायें ऐसा मैं पात्र नहीं हूँ, फिर भी यदि आपको इस तरह शांति मिलती हो तो करें।

दूसरा चित्रपट तैयार नहीं होनेसे जो है वह भेजता हूँ। मुझसे दूर रहनेमें आपके आरोग्यको हानि हो ऐसा नहीं होना चाहिये। सब कुछ आनन्दमय ही होगा। अभी इतना ही।

रायचंदके प्रणाम।

---

४७ ववाणिया बंदर, माघ सुदी १४, बुध, १९४५

सत्पुरुषोंको नमस्कार

सुज्ञ,

मेरी ओरसे एक पत्र पहुँचा होगा।

आपके पत्रका मैंने मनन किया। आपकी वृत्तिमें हुआ परिवर्तन मुझे आत्महितकारी लगता है।

अनंतानुबंधी क्रोध, अनंतानुबंधी मान, अनंतानुबंधी माया और अनंतानुबंधी लोभ ये चार तथा मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय ये तीन इस तरह इन सात प्रकृतियोंका जब तक क्षयोपशम, उपशम या क्षय नहीं होता तब तक सम्यक्दृष्टि होना सम्भव नहीं है। ये सात प्रकृतियाँ ज्यों ज्यों मंद होती जाती हैं त्यों त्यों सम्यक्त्वका उदय होता है। इन प्रकृतियोंका ग्रन्थिछेदन परम दुष्कर है। जिसका यह ग्रन्थिछेदन हो गया उसे आत्मप्राप्ति होना सुलभ है। तत्त्वज्ञानियोंने इसी ग्रन्थिभेदनका पुनः पुनः उपदेश किया है। जो आत्मा अप्रमत्ततासे उस ग्रन्थिभेदनकी ओर दृष्टि रखेगा वह आत्मा आत्मत्वको प्राप्त होगा यह निःसंदेह है।

इस [1]वस्तुसे आत्मा अनंत कालसे सर्वथा बद्ध रहा है। इसपर दृष्टि होनेसे निजगृहपर उसकी यथार्थ दृष्टि नहीं हुई है। सच्ची तो पात्रता है, परन्तु मैं इस कषायादिके उपशमनमें आपके लिये निमित्तभूत हुआ ऐसा आप मानते हैं; इसलिये मुझे आनन्द माननेका यही कारण है कि निर्ग्रंथ शासनकी कृपा प्रसादीका लाभ लेनेका सुन्दर समय मुझे मिलेगा ऐसा संभव है। ज्ञानीदृष्ट सो सच्चा।

जगतमें सत्परमात्माकी भक्ति, सद्गुरु, सत्संग, सत्शास्त्राध्ययन, सम्यग्दृष्टित्व और सत्योग, ये

---

१. ग्रन्थिसे

कभी प्राप्त नहीं हुए। हुए होते तो ऐसी दशा नहीं होती। परन्तु 'जब जागे तभी सवेरा' यों सत्पुरुषोंका बोध विनयपूर्वक ध्यानमें लेकर उस वस्तुके लिये प्रयत्न करना, यही अनंत भवकी निष्फलताका एक भवमें दूर होना मेरी समझमें आता है।

सद्गुरुके उपदेशके बिना और जीवकी सत्पात्रताके बिना ऐसा होना रुका हुआ है। उसकी प्राप्ति करके संसारतापसे अत्यन्त संतप्त आत्माको शीतल करना, यही कृतकृत्यता है।

इस प्रयोजनमें आपका चित्त आकर्षित हुआ, यह भाग्यका सर्वोत्तम अंश है। आशीर्वचन है कि इसमें आप फलीभूत होवें।

भिक्षासंबंधी प्रयत्न अभी स्थगित करें। जब तक संसारको जैसे भोगनेका निमित्त होगा वैसे भोगना पड़ेगा। इसके बिना छुटकारा भी नहीं है। अनायास योग्य स्थान मिल जाये तो ठीक, नहीं तो प्रयत्न करें। और भिक्षाटनके सम्बन्धमें योग्य समय पर पुनः पूछें। विद्यमानता होगी तो उत्तर दूँगा।

"धर्म" यह वस्तु बहुत गुप्त रही है। यह बाह्य शोधनसे मिलनेवाली नहीं है। अपूर्व अन्तःशोधनसे यह प्राप्त होती है। यह अन्तःशोधन कोई महाभाग्यको सद्गुरुके अनुग्रहसे प्राप्त होता है।

आपके विचारोंको सुन्दर श्रेणिमें आये हुए देखकर मेरे अन्तःकरणने जो भाव उत्पन्न किया है उसे यहाँ बतानेसे सकारण रुक जाता हूँ।

चि० दयालभाईके पास जायें। वे कुछ कहें तो मुझे बतायें।

लिखनेके सम्बन्धमें अभी मुझे कुछ कंटाला रहता है। इसलिये जितना सोचा था उसके आठवें भागका भी उत्तर नहीं लिख सकता।

यह मेरी विनयपूर्वक अन्तिम शिक्षा ध्यानमें रखियेगाः—

एक भवके थोड़े सुखके लिये अनंत भवके अनंत दुःखको नहीं बढ़ानेको प्रयत्न सत्पुरुष करते हैं।

स्याद्वाद शैलीसे यह बात भी मान्य है कि जो होनेवाला है वह बदलनेवाला नहीं है और जो बदलनेवाला है वह होनेवाला नहीं है। तो फिर धर्मप्रयत्नमें, आत्महितमें अन्य उपाधिके अधीन होकर प्रमाद क्यों करना ? ऐसा है फिर भी देश, काल, पात्र और भाव देखने चाहिये।

सत्पुरुषोंका योगबल जगतका कल्याण करे।

ऐसी इच्छा करके वापसी डाकसे पत्र लिखनेकी विनती करके पत्रिका पूर्ण करता हूँ।

लि० मात्र

रवजी आत्मज रायचंदके प्रणाम—नीराग श्रेणी समुच्चयसे।

---

४८ ववाणिया, माघ, १९४५

जिज्ञासु,

आपके प्रश्नको उद्धृत करके अपनी योग्यताके अनुसार आपके प्रश्नका उत्तर लिखता हूँ।

प्रश्न—व्यवहारशुद्धि कैसे हो सकती है ?

उत्तर—व्यवहारशुद्धिकी आवश्यकता आपके ध्यानमें होगी; फिर भी विषयके प्रारंभके लिये आवश्यक समझकर यह बतलाना योग्य है कि जो संसारप्रवृत्ति इस लोक और परलोकमें सुखका कारण हो उसका नाम व्यवहारशुद्धि है। सुखके सब अभिलाषी हैं; जब व्यवहारशुद्धिसे सुख मिलता है तब उसकी आवश्यकता भी निःशंक है।

१. जिसे धर्मसंबंधी कुछ भी बोध हुआ है, और जिसे कमानेकी जरूरत नहीं है, उसे उपाधि करके

कमानेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये।

२. जिसे धर्मसम्बन्धी बोध हुआ है, फिर भी स्थितिका दुःख हो तो उसे यथाशक्ति उपाधि करके कमानेका प्रयत्न करना चाहिये।

(जिसकी अभिलाषा सर्वसंगपरित्यागी होनेकी है उसका इन नियमोंसे सम्बन्ध नहीं है।)

३. उपजीवन सुखसे चल सके ऐसा होनेपर भी जिसका मन लक्ष्मीके लिये बेचैन रहता हो वह पहले उसकी वृद्धि करनेका कारण अपने आपको पूछे। यदि उत्तरमें परोपकारके सिवाय कुछ भी प्रतिकूल बात आती हो, अथवा पारिणामिक लाभको हानि पहुँचनेके सिवाय कुछ भी आता हो तो मनको संतोषी बना ले; ऐसा होनेपर भी मन न मुड सकनेकी स्थितिमें हो तो अमुक मर्यादामें आ जाये। वह मर्यादा ऐसी होनी चाहिये कि जो सुखका कारण हो।

४. परिणामतः आर्त्तध्यान करनेकी जरूरत पड़े, तो वैसा करके बैठ रहनेकी अपेक्षा कमाना अच्छा है।

५. जिसका उपजीवन अच्छी तरह चलता है, उसे किसी भी प्रकारके अनाचारसे लक्ष्मी प्राप्त नहीं करनी चाहिये। जिससे मनको सुख नहीं होता उससे काया या वचनको भी सुख नहीं होता। अनाचारसे मन सुखी नहीं होता, यह स्वतः अनुभवमें आने जैसा कथन है।

६. लाचारीसे उपजीवनके लिये कुछ भी अल्प अनाचार (असत्य और सहज माया) का सेवन करना पड़े तो महाशोचसे सेवन करना, प्रायश्चित्त ध्यानमें रखना। सेवन करनेमें निम्नलिखित दोष नहीं आने चाहिये :—

१. किसीसे महान विश्वासघात
२. मित्रसे विश्वासघात
३. किसीकी धरोहर हड़प कर जाना
४. व्यसनका सेवन करना
५. मिथ्या दोषारोपण
६. झूठा दस्तावेज लिखना
७. हिसाबमें भुलाना
८. अन्यायी भाव कहना
९. निर्दोषको अल्प मायासे भी ठगना
१०. न्यूनाधिक तोल देना
११. एकके बदले दूसरा अथवा मिश्रण करके देना
१२. कर्मादानी धंधा।
१३. रिश्वत अथवा अदत्तादान

——इन मार्गोंसे कुछ भी कमाना नहीं।

यह मानो उपजीवनके लिये सामान्य व्यवहारशुद्धि कह गया। (अपूर्ण)

---

४९ ववाणिया, माघ वदी ७, शुक्र, १९४५

सत्पुरुषोंको नमस्कार

कल सबेरे आपका पत्र मिला। किसी भी प्रकारसे खेद न कीजियेगा। ऐसा होनहार था सो ऐसा हुआ, यह कोई विशेष बात न थी।

आत्माकी इस दशाको यथासंभव रोककर योग्यताके अधीन होकर, उन सबके मनका समाधान करके इस संगतको चाहें और यह संगत या यह पुरुष उस परमात्मतत्त्वमें लीन रहें, यह आशीर्वाद देते ही रहें। तन, मन, वचन और आत्मस्थितिको सँभालें। धर्मध्यान करनेके लिये अनुरोध है।

यह पत्र जूठाभाईको तुरत दें।

वि० रायचंद के प्रणाम विदित हो।

---

५० ववाणिया, माघ वदी ७, शुक्र, १९४५

ॐ

सत्पुरुषोंको नमस्कार

सुज्ञ,

आप मेरे वैराग्यसंबंधी आत्मवर्तनके बारेमें पूछते हैं, इस प्रश्नका उत्तर किन शब्दोंमें लिखूँ ? और उसके लिये आपको क्या प्रमाण दे सकूँगा ? तो भी संक्षेपमें यह कि ज्ञानीके माने हुए (तत्त्व ?) को मान्य करें कि उदयमें आये हुए प्राचीन कर्मोंको भोग लेना और नूतन कर्म न बँधने पायें इसीमें अपना आत्महित है। इस श्रेणिमें वर्तन करनेकी मेरी प्रपूर्ण आकांक्षा है, परन्तु वह ज्ञानीगम्य है, इसलिये अभी उसका एक अंश भी बाह्य-प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

आंतर-प्रवृत्ति चाहे जितनी नीरागश्रेणिकी ओर जाती हो परन्तु बाह्यके अधीन अभी बहुत बरतना पड़े यह स्पष्ट है।—बोलते, चलते, बैठते, उठते और कुछ भी काम करते हुए लौकिक श्रेणिका अनुसरण करके चलना पड़े। यदि ऐसा न हो तो लोग कुतर्कमें ही लग जायें, ऐसा मुझे संभव लगता है तो भी कुछ प्रवृत्ति रखी है।

आप सबकी दृष्टिमें मेरी (वैराग्यमयी) चर्या कुछ आपत्तिपूर्ण है, तथा किसीकी दृष्टिमें मेरी वह श्रेणि शंकापूर्ण भी हो सकती है, इसलिये आप इत्यादि वैराग्यमें जाते हुए मुझे रोकनेका प्रयत्न करें और शंकावाले उस वैराग्यसे उपेक्षित होकर माने नहीं; इससे खिन्न होकर संसारकी वृद्धि करनी पड़े, इसलिये मेरी मान्यता यही है कि प्रायः भूमितलपर सत्य अंतःकरणको प्रदर्शित करनेके स्थान बहुत ही कम संभवित है; जैसे हो वैसे आत्माको आत्मामें समाकर जीवनपर्यन्त समाधिभाव संयुक्त रहा जाये तो फिर संसारके उस खेदमें पड़ना ही न हो। अभी तो आप जैसा देखते हैं वैसा हूँ। जो संसारी प्रवर्तन होता है वह करता हूँ। धर्म सम्बन्धी मेरी चर्या उस सर्वज्ञ परमात्माके ज्ञानमें दीखती हो वह ठीक; उसके बारेमें पूछना नहीं चाहिये था। पूछनेसे वह कही भी नहीं जा सकती। सहज उत्तर देना योग्य था, सो दिया है। क्या होता है और पात्रता कहाँ है, यह देखता हूँ। उदयमें आये हुए कर्म भोगता हूँ। यथार्थ स्थितिमें अभी एकाध अंश भी आया होऊँ यों कहनेमें तो आत्मप्रशंसाकी ही संभावना है।

यथाशक्ति प्रभुभक्ति, सत्संग, सत्य व्यवहारके साथ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ प्राप्त करते रहें। प्रयत्नसे जैसे आत्मा ऊर्ध्वगतिका परिणामी हो वैसे करें।

प्रति समय क्षणिक जीवन व्यतीत होता जाता है, इसमें हम प्रमाद करते हैं यही महामोहनीयका बल है।

वि० रायचंदके सत्पुरुषोंको नमस्कारसहित प्रणाम।

---

५१ ववाणिया बंदर, माघ वदी ७, १९४५

नीरागी पुरुषोंको नमस्कार

उदयमें आये हुए कर्मोंको भोगते हुए नये कर्म न बँधे इसके लिये आत्माको सचेत रखना यह सत्पुरुषोंका महान बोध है।

आत्माभिलाषी,—

यदि वहाँ आपको समय मिलता हो तो जिनभक्तिमें विशेष विशेष उत्साहकी वृद्धि करते रहियेगा, और एक घड़ी भी सत्संग या सत्कथाका संशोधन करते रहियेगा।

(किसी समय) शुभाशुभ कर्मके उदयके समय हर्ष-शोकमें न पड़ते हुए भोगनेसे ही छुटकारा है,

और यह वस्तु मेरी नहीं है ऐसा मानकर समभावकी श्रेणिको बढ़ाते रहियेगा।

विशेष लिखनेसे अब रुक जाता हूँ।

वि० रायचंदके सत्पुरुषोंको नमस्कारसहित प्रणाम विदित हो।

---

५२ ववाणिया बंदर, माघ वदी १०, सोम, १९४५

नीरागी पुरुषोंको नमस्कार

आत्महिताभिलाषी आज्ञाकारी,

आपका आत्मविचारपूर्ण पत्र कल प्रभातमें मिला।

निर्ग्रंथ भगवान प्रणीत पवित्र धर्मके लिये जो जो उपमाएँ दें वे सब न्यून ही हैं। आत्मा अनंत काल भटका, यह मात्र उसके निरुपम धर्मके अभावसे। जिसके एक रोममें किंचित् भी अज्ञान, मोह या असमाधि नहीं रही उस सत्पुरुषके वचन और बोधके लिये कुछ भी नहीं कहते हुए, उसीके वचनमें प्रशस्तभावसे पुनः पुनः प्रसक्त होना, यह भी अपना सर्वोत्तम श्रेय है।

कैसी इसकी शैली ! जहाँ आत्माके विकारमय होनेका अनंतांश भी नहीं रहा है। शुद्ध, स्फटिक, फेन और चंद्रसे भी उज्ज्वल शुक्लध्यानकी श्रेणिसे प्रवाहरूपसे निकलते हुए उस निर्ग्रंथके पवित्र वचनोंकी मुझे और आपको त्रिकाल श्रद्धा रहे !

यही परमात्माके योगबलके आगे प्रयाचना !

दयालभाईने जो बताया उसके अनुसार आपने लिखा है, और मैं मानता हूँ कि वैसा ही होगा। दयालभाई सहर्ष पत्र लिखे ऐसा उन्हें कहें और धर्मध्यानकी ओर प्रवृत्ति हो, इस कर्तव्यकी सूचना दे। "प्रवीणसागर" संबंधी कोई उत्तर नहीं है सो लिखे।

यथासंभव आत्माको पहचाननेकी ओर ध्यान दे यही प्रार्थना है। कविराज—आपके निःस्वार्थ प्रेमके लिये विशेष क्या लिखे ? मैं धनादिकसे तो आपका सहायक नहीं हो सकता, (और वैसा परमात्माका योगबल भी न करे !) परन्तु आत्मासे सहायक होऊँ और कल्याणके मार्गपर आपको ला सकूँ, तो सर्व जय मंगल ही है। इतना उन्हें पढ़वाएँ। इसमेंसे आपके लिये भी कुछ मनन करने योग्य है।

दयालभाईके पास जाते रहें। नौकरीके दौरान जब-जब समय मिले तब-तब उनके सत्संगमें रहें, ऐसा मेरा अनुरोध है। अभी इतना ही।

वि० रायचन्दके प्रणाम सत्पुरुषोंको नमस्कारसहित।

---

५३ ववाणिया, फागुन सुदी ६, गुरु, १९४५

चि०,

जो जो आपकी अभिलाषाएँ हैं उन्हें भलीभाँति नियममें लायें और फलीभूत हों ऐसा प्रयत्न करें। यह मेरी इच्छा है। शोच न करें। योग्य होकर रहेगा।

सत्संग खोजें। सत्पुरुषकी भक्ति करें।

वि० रायचन्दके प्रणाम।

---

५४ ववाणिया, फाल्गुन सुदी ९, रवि, १९४५

निर्ग्रंथ महात्माओंको नमस्कार

मोक्षके मार्ग दो नहीं है। जिन जिन पुरुषोंने मोक्षरूप परमशान्तिको भूतकालमें पाया है, उन सब

सत्पुरुषोंने एक ही मार्गसे पाया है, वर्तमानकालमें भी उसीसे पाते हैं; और भविष्यकालमें भी उसीसे पायेंगे। उस मार्गमें मतभेद नहीं है, असरलता नहीं है, उन्मत्तता नहीं है, भेदाभेद नहीं हैं, मान्यामान्य नहीं है। वह सरल मार्ग है, वह समाधिमार्ग है, तथा वह स्थिर मार्ग है, और स्वाभाविक शान्तिस्वरूप है। सर्व कालमें उस मार्गका अस्तित्व है, जिस मार्गके मर्मको पाये बिना कोई भूतकालमें मोक्षको प्राप्त नहीं हुआ; वर्तमानकालमें प्राप्त नहीं होता और भविष्यकालमें प्राप्त नहीं होगा।

श्री जिनने इस एक ही मार्गको बतानेके लिये सहस्रशः क्रियाएँ कही हैं और सहस्रशः उपदेश दिये हैं, और इस मार्गके लिये वे क्रियाएँ और उपदेश ग्रहण किये जायें तो सब सफल हैं। और इस मार्गको भूलकर वे क्रियाएँ और उपदेश ग्रहण किये जायें तो सब निष्फल हैं।

श्री महावीर जिस मार्गसे तरे उस मार्गसे श्रीकृष्ण तरेंगे। जिस मार्गसे श्रीकृष्ण तरेंगे उस मार्गसे श्री महावीर तरे हैं। यह मार्ग चाहे जिस स्थानमें, चाहे जिस कालमें, चाहे जिस श्रेणिमें, और चाहे जिस योगमें जब प्राप्त होगा, तब उस पवित्र और शाश्वत सत्पदके अनन्त अतीन्द्रिय सुखका अनुभव होगा। यह मार्ग सर्वत्र सम्भव है। योग्य सामग्री न प्राप्त करनेसे भव्य भी इस मार्गको पानेसे रुके हुए हैं, तथा रुकेंगे और रुके थे।

किसी भी धर्मसम्बन्धी मतभेद रखना छोड़कर एकाग्र भावसे सम्यक्योगसे जिस मार्गका शोधन करना है, वह यही है। मान्यामान्य, भेदाभेद अथवा सत्यासत्यके लिये विचार करनेवालों या बोध देनेवालोंको मोक्षके लिये जितने भवोंका विलम्ब होगा उतने समयका (गौणतासे) शोधक और उस मार्गके द्वारपर आ पहुँचे हुओंको विलम्ब नहीं होगा।

विशेष क्या कहना ? वह मार्ग आत्मामें रहा है। आत्मत्वप्राप्त पुरुष—निर्ग्रंथ आत्मा—जब योग्यता समझकर उस आत्मत्वका अर्पण करेगा—उदय करेगा—तभी वह प्राप्त होगा, तभी वह मार्ग मिलेगा, और तभी वे मतभेद आदि दूर होंगे।

मतभेद रखकर किसीने मोक्ष नहीं पाया है। विचारकर जिसने मतभेद दूर किया, वह अन्तर्वृत्तिको पाकर क्रमशः शाश्वत मोक्षको प्राप्त हुआ है, प्राप्त होता है और प्राप्त होगा।

किसी भी अव्यवस्थित भावसे अक्षरलेख हुआ हो तो क्षम्य होवे।

---

५५ ववाणिया, फाल्गुन सुदी ९, रवि, १९४५

नीरागी महात्माओंको नमस्कार

कर्म जड़ वस्तु है। जिस जिस आत्माको इस जड़से जितना जितना आत्मबुद्धिसे समागम है, उतनी उतनी जड़ताकी अर्थात् अबोधताकी उस उस आत्माको प्राप्ति होती है, ऐसा अनुभव होता है। आश्चर्य है कि स्वयं जड़ होते हुए भी चेतनको अचेतन मनवा रहा है ! चेतन चेतनभावको भूलकर उसे स्वस्वरूप ही मानता हे। जो पुरुष उस कर्मसंयोग और उसके उदयसे उत्पन्न हुए पर्यायोंको स्वस्वरूप नहीं मानते और पूर्वसंयोग सत्तामें हैं, उन्हें अबंध परिणामसे भोग रहे हैं, वे आत्मा स्वभावकी उत्तरोत्तर ऊर्ध्वश्रेणि पाकर शुद्ध चेतनभावको पायेंगे ऐसा कहना सप्रमाण है। क्योंकि अतीत कालमें वैसा हुआ है, वर्तमानकालमें वैसा होता है और अनागत कालमें वैसा ही होगा।

कोई भी आत्मा उदयी कर्मको भोगते हुए समत्वश्रेणिमें प्रवेश करके अबंध परिणामसे प्रवृत्ति करेगा तो वह अवश्य चेतनशुद्धि प्राप्त करेगा।

आत्मा विनयी होकर, सरल और लघुत्वभावको पाकर सदैव सत्पुरुषके चरणकमलमें रहे तो जिन

महात्माओंको नमस्कार किया है उन महात्माओंकी जिस प्रकारकी ऋद्धि है उस प्रकारकी ऋद्धि संप्राप्त की जा सकती है।

अनन्तकालमें या तो सत्पात्रता नहीं हुई और या तो सत्पुरुष (जिसमें सद्गुरुत्व, सत्संग और सत्कथा निहित है) नहीं मिले, नहीं तो निश्चय है कि मोक्ष हथेलीमें है, ईषत्प्राग्भारा अर्थात् सिद्ध-पृथ्वीपर उसके बाद है। इससे सर्वशास्त्र भी सम्मत हैं, (मनन कीजियेगा) और यह कथन त्रिकाल सिद्ध है।

---

५६ मोरबी, चैत्र सुदी ११, बुध, १९४५

चि०,

आपके आरोग्यकी स्थिति मालूम हुई। आप देहकी सँभाल रखें। देह हो तो धर्म हो सकता है। इसलिये वैसे साधनकी सँभाल रखनेके लिये भगवानका भी उपदेश है।

वि० रायचन्दके प्रणाम।

---

५७ मोरबी, चैत्र वदी ९, १९४५

चि०,

कर्मगति विचित्र है। निरन्तर मैत्री, प्रमोद, करुणा और उपेक्षा भावना रखियेगा।

मैत्री अर्थात् सर्व जगतसे निर्वैरबुद्धि; प्रमोद अर्थात् किसी भी आत्माके गुण देखकर हर्षित होना; करुणा अर्थात् संसारतापसे दुःखी आत्माके दुःखसे अनुकम्पा आना; और उपेक्षा अर्थात् निःस्पृहभावसे जगतके प्रतिबन्धको भूलकर आत्महितमें आना। ये भावनाएँ कल्याणमय और पात्रता देनेवाली हैं।

---

५८ मोरबी, चैत्र वदी १०, १९४५

आप दोनोंके पत्र मिले। स्याद्वाद-दर्शनका स्वरूप जाननेके लिये आपकी परम अभिलाषासे मुझे सन्तोष हुआ है। परन्तु यह एक वचन अवश्य स्मरणमें रखें कि शास्त्रमें मार्ग कहा है, मर्म नहीं कहा। मर्म तो सत्पुरुषके अन्तरात्मामें रहा है। इसके बारेमें मिलने पर विशेष चर्चा की जा सकेगी।

धर्मका रास्ता सरल, स्वच्छ और सहज है; परन्तु वह विरल आत्माओंको प्राप्त हुआ है, प्राप्त होता है और प्राप्त होगा।

अपेक्षित काव्य मौका मिलने पर भेज दूँगा। दोहोंके अर्थके लिये भी यही बात है। अभी तो ये चार भावनाएँ भाये—

मैत्री (सर्व जगतपर निर्वैरबुद्धि); अनुकंपा (उनके दुःखपर करुणा); प्रमोद (आत्मगुण देखकर आनंद); उपेक्षा (निःस्पृह बुद्धि)। इससे पात्रता आयेगी।

---

५९ ववाणिया, वैशाख सुदी १, १९४५

आपकी देहसंबंधी शोचनीय स्थिति जानकर व्यवहारकी अपेक्षासे खेद होता है। मुझपर अतिशय भावना रखकर बरतनेकी आपकी इच्छाको मैं रोक नहीं सकता; परन्तु वैसी भावना भानेसे आपकी देहको यत्किंचित् हानि हो ऐसा न करें। मुझपर आपका राग रहता है, इस कारण आपपर राग रखनेकी मेरी इच्छा नहीं है; परन्तु आप एक धर्मपात्र जीव हैं और मुझे धर्मपात्रपर कुछ विशेष अनुराग उत्पन्न करनेकी परम इच्छा है; इस कारण किसी भी तरह आपके प्रति कुछ अंशमें भी चाह रहती है।

निरन्तर समाधिभावमें रहें। यों समझें कि मैं आपके समीप ही बैठा हूँ। अब मानो देहदर्शनका ध्यान

हटाकार आत्मदर्शनमें स्थिर रहें। समीप ही हूँ, यों समझकर शोक कम करें। जरूर कम करें। आरोग्य बढ़ेगा; जिन्दगीकी सँभाल रखे; अभी देहत्यागका भय न समझें; ऐसा वक्त होगा तो और ज्ञानीदृष्ट होगा तो जरूर पहलेसे कोई बता देगा अथवा कोई सहायक हो जायेगा। अभी तो वैसा नहीं है।

प्रत्येक लघु कामके आरम्भमें भी उस पुरुषको याद करें, समीप ही है। यदि ज्ञानीदृष्ट होगा तो कुछ समय वियोग रहकर संयोग होगा और सब अच्छा ही होगा।

अभी दशवैकालिक शास्त्रका पुनः मनन करता हूँ। अपूर्व बात है।

यदि पद्मासन लगाकर अथवा स्थिर आसनसे बैठा जा सकता हो, लेटा जा सकता हो तो भी चलेगा; परन्तु स्थिरता चाहिये। देह चल विचल न होती हो, तो आँखें बन्द करके नाभिके भाग पर दृष्टि पहुँचाकर, फिर छातीके मध्य भागमें लाकर, ठेठ कपालके मध्य भागमें उस दृष्टिको लाकर सर्व जगतका शून्याभासरूप चिन्तन करके, अपनी देहमें सर्वत्र एक तेज व्याप्त हुआ है ऐसी कल्पना करके जिस रूपसे पार्श्वनाथ आदि अर्हतकी प्रतिमा स्थिर एवं धवल दिखायी देती है, ऐसा विचार छातीके मध्य भागमें करें। इनमेंसे कुछ न हो सकता हो तो सवेरे चार या पाँच बजे जागकर मेरे दुपट्टे (मैंने जो रेशमी किनारीका रखा था) को ओढ़कर मुँह ढ़ँककर एकाग्रताका चिन्तन करना। हो सके तो अर्हत्स्वरूपका चिन्तन करना, नहीं तो कुछ भी चिन्तन न करते हुए समाधि या बोधि इन शब्दोंका ही चिन्तन करना। अभी इतना ही। परम कल्याणकी एक श्रेणि होगी। कमसे कम बारह पल और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्तकी स्थिति रखना।

वि० रायचन्द

---

६० वैशाख, १९४५

(१)

संयत धर्म

१. अयतनासे चलते हुए प्राणभूत-त्रसस्थावर जीवोंकी हिंसा होती है, जिससे वह पापकर्म बाँधता है; उसका उसे कड़वा फल मिलता है।

२. अयतनासे खड़े होते हुए प्राणभूत-त्रसस्थावर जीवोंकी हिंसा होती है, जिससे वह पापकर्म बाँधता है; उसका उसे कड़वा फल मिलता है।

४. अयतनासे सोते हुए प्राणभूत-त्रसस्थावर जीवोंकी हिंसा होती है, जिससे वह पापकर्म बाँधता है; उसका उसे कड़वा फल मिलता है।

५. अयतनासे भोजन करते हुए प्राणभूत-त्रसस्थावर जीवोंकी हिंसा होती है, जिससे वह पापकर्म बाँधता है; उसका उसे कड़वा फल मिलता है।

६. अयतनासे बोलते हुए प्राणभूत-त्रसस्थावर जीवोंकी हिंसा होती है, जिससे वह पापकर्म बाँधता है; उसका उसे कड़वा फल मिलता है।

७. किस तरह चले? किस तरह खड़ा रहे? किस तरह बैठे? किस तरह सोये? किस तरह भोजन करे? किस तरह बोले? तो वह पापकर्म न बाँधे।

८. यतनासे चले, यतनासे खड़ा रहे, यतनासे बैठे, यतनासे सोये, यतनासे भोजन करे, यतनासे बोले, तो वह पापकर्म नहीं बाँधता।

९. जो सब जीवोंको अपने आत्माके समान समझता है, जो सब जीवोंको मन, वचन, कायासे सम्यक् प्रकारसे देखता है, जिसने आस्रवोंके निरोधसे आत्माका दमन किया है, वह पापकर्म नहीं बाँधता।

१०. 'पहले ज्ञान और फिर दया' इस सिद्धांतमें सब संयमी स्थित हैं अर्थात् मानते हैं। अज्ञानी संयममें क्या करेगा यदि वह कल्याण या पापको नहीं जानता ?

११. श्रवण कर कल्याणको जानना चाहिये, पापको जानना चाहिये, दोनोंको श्रवण कर जाननेके बाद जो श्रेय हो उसका सम्यक् प्रकारसे आचरण करना चाहिये।

१२. जो जीव अर्थात् चैतन्यके स्वरूपको नहीं जानता, जो अजीव अर्थात् जड़के स्वरूपको नहीं जानता, अथवा जो उस दोनोंके तत्त्वको नहीं जानता वह साधु संयमकी बात कहाँसे जानेगा ?

१३. जो चैतन्यका स्वरूप जानता है, जो जड़का स्वरूप जानता है और जो दोनोंका स्वरूप जानता है, वही साधु संयमका स्वरूप जानता है।

१४. जब जीव और अजीव इन दोनोंको जानता है, तब सब जीवोंकी बहुत प्रकारसे गति-आगतिको जानता है।

१५. जब सब जीवोंकी बहुविध गति-आगतिको जानता है, तभी पुण्य, पाप, बंध और मोक्षको जानता है।

१६. जब पुण्य, पाप, बंध और मोक्षको जानता है, तब मनुष्यसम्बन्धी और देवसम्बन्धी भोगोंकी इच्छासे निवृत्त होता है।

१७. जब देव और मनुष्य सम्बन्धी भोगोंसे निवृत्त होता है, तब सब प्रकारसे बाह्य और अभ्यंतर संयोगोंका त्याग कर सकता है।

१८. जब बाह्य और अभ्यंतर संयोगका त्याग करता है, तब द्रव्य और भावसे मुंड़ित होकर मुनिकी दीक्षा लेता है।

१९. जब मुंडित होकर मुनिकी दीक्षा लेता है, तब उत्कृष्ट संवरकी प्राप्ति करता है और उत्तम धर्मका अनुभव करता है।

२०. जब उत्कृष्ट संवरकी प्राप्ति करता है और उत्तम धर्ममय होता है तब कर्मरूप रज, जो अबोधि-मिथ्याज्ञानजन्य कलुषरूपसे जीवको मलिन कर रही है, उसे दूर करता है।

२१. जब अबोधि-मिथ्याज्ञानजन्य कलुषसे उपार्जित कर्मरजको दूर करता है, तब सर्वव्यापी केवलज्ञान और केवलदर्शनको प्राप्त होता है।

२२. जब सर्वव्यापी केवलज्ञान और केवलदर्शनको प्राप्त होता है, तब नीरागी होकर वह केवली लोकालोकके स्वरूपको जानता है।

२३. जब नीरागी होकर केवली लोकालोकके स्वरूपको जानता है तब मन, वचन और कायाके योगका निरोध कर शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होता है।

२४. जब योगका निरोधकर शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होता है, तब सर्व कर्मक्षय करके निरंजन होकर सिद्धि अर्थात् सिद्धगतिको प्राप्त हो जाता है।

(दशवैकालिक, अध्ययन ४, गाथा १ से २४)

(२)

१. उसमें [1]प्रथम स्थानमें महावीर देवने सब जीवोंके साथ संयमपूर्वक बरतना यही सुखद एवं उत्तम अहिंसा है, ऐसा उपदेश दिया है।

२. संसारमें जितने त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उन सबका साधु जाने-अनजाने स्वयं वध न करे और दूसरेसे वध न कराये।

३. सब जीव जीना चाहते हैं; मरना नहीं चाहते। इसलिये निर्ग्रंथ भयंकर प्राणीवधका त्याग करे।

४. साधु क्रोध या भयसे अपने लिये तथा दूसरोंके लिये प्राणियोंको पीडाकारी असत्य स्वयं न बोले और न दूसरेसे बुलवाये।[2]

५. सब सत्पुरुषोंने मृषावादका निषेध किया है। वह प्राणियोंमें अविश्वास उत्पन्न करता है। इसलिये साधु उसका त्याग करे।

६. सचित्त या अचित्त पदार्थ—थोड़े या बहुत, यहाँ तक कि दंतशोधनके लिये एक तृण भी साधु बिना माँगे न ले।[3]

७. स्वयं अयाचित वस्तु न ले, तथा दूसरेसे न लिवावे, और अन्य लेनेवालेका अनुमोदन न करें। जो संयत पुरुष हैं वे ऐसा करते हैं।

८. महारौद्र, प्रमादके रहनेका स्थान तथा चारित्रका नाश करनेवाला ऐसे अब्रह्मचर्यका इस जगतमें मुनि सेवन न करे।[4]

९. अधर्मका मूल, और महादोषोंकी जन्मभूमि ऐसे मैथुनके आलाप-प्रलापका निर्ग्रंथ त्याग करे।

१०. ज्ञातपुत्र महावीरके वचनोंमें प्रीति रखनेवाले मुनि सेंधा और समुद्री नमक, तेल, घी, गुड़ आदि खाद्य-पदार्थ अपने पास रातमें नहीं रखें।[5]

११. लोभसे तृणका भी स्पर्श न करे। जो ऐसे किसी पदार्थको रात्रिमें अपने पास रखना चाहे वह मुनि नहीं, किन्तु गृहस्थ है।

१२. जो वस्त्र, पात्र, कम्बल तथा रजोहरण है, उन्हें भी संयमकी रक्षाके लिये ही साधु धारण करे, नहीं तो त्याग करे।

१३. जो पदार्थ संयमकी रक्षाके लिये रखने पड़ते हैं उन्हें परिग्रह नहीं कहना, ऐसा छः कायके रक्षक ज्ञातपुत्रने कहा है; परन्तु मूर्च्छाको परिग्रह कहना ऐसा पूर्वमहर्षियोंने कहा है।

१४. तत्त्वज्ञानको प्राप्त मनुष्य छः कायकी रक्षाके लिये मात्र उतना ही परिग्रह रखे, परन्तु ममत्व तो अपनी देहमें भी न रखे। (यह देह मेरी नहीं है इसी उपयोगमें रहे।)

१५. आश्चर्य ! निरंतर तपश्चर्या और जिसकी सर्व सर्वज्ञोंने प्रशंसा की है ऐसे संयमको अविरोधी एवं जीवननिर्वाहरूप एक बार भोजन लेना।

१६. स्थूल और सूक्ष्म प्रकारके त्रस और स्थावर जीव रात्रिमें दिखाई नहीं देते, इसलिये साधु उस समय आहार कैसे करे ?[6]

---

१. अठारह संयमस्थानमें पहला संयमस्थान, २. दूसरा संयमस्थान, ३. तीसरा संयमस्थान, ४. चौथा संयमस्थान, ५. पाँचवाँ संयमस्थान, ६. छठा संयमस्थान।

१७. पानीसे भीगी हुई और बीज आदिसे युक्त पृथ्वीपर प्राणी बिखरे पड़े हो, वहाँ दिनमें भी चलनेका निषेध है, तो फिर रातको मुनि भिक्षाके लिये कैसे जा सकता है ?

१८. इन हिंसा आदि दोषोंको देखकर ज्ञातपुत्र भगवानने ऐसा कहा है कि निर्ग्रंथ साधु रात्रिमें सभी प्रकारका आहार न करे।

१९. सुसमाधिवाले साधु मन, वचन और कायासे स्वयं पृथ्वीकायकी हिंसा नहीं करते, दूसरोंसे नहीं करवाते और करनेवालोंका अनुमोदन नहीं करते।[1]

२०. पृथ्वीकायकी हिंसा करते हुए तदाश्रित चक्षुगोचर और अचक्षुगोचर विविध त्रस और स्थावर प्राणियोंकी हिंसा होती है।

२१. इसलिये दुर्गतिको बढ़ानेवाले इस पृथ्वीकायके समारंभरूप दोषका जीवनपर्यन्त त्याग करे।

२२. सुसमाधिवाले साधु मन, वचन और कायासे स्वयं जलकायकी हिंसा नहीं करते, दूसरोंसे नहीं करवाते और करनेवालोंका अनुमोदन नहीं करते।[2]

२३. जलकायकी हिंसा करते हुए तदाश्रित चक्षुगोचर और अचक्षुगोचर विविध त्रस एवं स्थावर प्राणियोंकी हिंसा होती है।[3]

२४. इसलिये जलकायका समारम्भ दुर्गतिको बढ़ानेवाला दोष जानकर जीवनपर्यंत उसका त्याग करे।

२५. मुनि अग्नि जलानेकी इच्छा नहीं करते क्योंकि वह जीवघातके लिये सबसे भयंकर तीक्ष्ण शस्त्र है।[3]

२६. पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर इन चार दिशाओंमें और चार विदिशाओंमें और ऊपर एवं नीचेकी दो दिशाओंमें रहे हुए जीवोंको यह अग्नि जलाकर भस्म कर देती है।

२७. यह अग्नि प्राणियोंकी घातक है ऐसा निःसंशय माने; और ऐसा है इसलिये साधु प्रकाश या तापनेके लिये अग्नि न जलाये।

२८. इसलिये दुर्गतिको बढ़ानेवाले हिंसारूप दोषको जानकर साधु अग्निकायके समारंभका जीवनपर्यंत त्याग कर दे।*

(दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन ६, गाथा ९ से ३६)

---

६१ ववाणिया, वैशाख सुदी ६, सोम, १९४५

सत्पुरुषोंको नमस्कार

आपके दर्शन मुझे यहाँ लगभग सवा मास पहले हुए थे। धर्म सम्बन्धी जो कुछ मौखिक चर्चा हुई थी वह आपको याद होगी, ऐसा समझकर उस चर्चा सम्बन्धी कुछ विशेष बतानेकी आज्ञा नहीं लेता। धर्मसम्बन्धी माध्यस्थ, उच्च और अदंभी विचारोंसे आप पर मेरी कुछ विशेष प्रशस्त अनुरक्तता हो जानेसे

---

१. सातवाँ संयमस्थान, २. आठवाँ संयमस्थान, ३. नौवाँ संयमस्थान।

* शेष संयमस्थान निम्नलिखित है—

१०. वायुकायकी हिंसा नहीं करना। ११. वनस्पतिकायकी हिंसा नहीं करना। १२. त्रसकायकी हिंसा नहीं करना। १३. अकल्पित वस्तुका त्याग। १४. गृहस्थके पात्रमें नहीं खाना। १५. गृहस्थकी शय्यापर नहीं सोना। १६. गृहस्थके आसनपर नहीं बैठना। १७. स्नान नहीं करना। १८. शृङ्गार नहीं करना।

कभी कभी आध्यात्मिक शैली सम्बन्धी प्रश्न आपके समक्ष रखनेकी आज्ञा लेनेका आपको कष्ट देता हूँ, योग्य लगे तो आप अनुकूल होवे।

मैं अर्थ या वयकी दृष्टिसे वृद्ध स्थितिवाला नहीं हूँ, तो भी कुछ ज्ञानवृद्धता प्राप्त करनेके लिये आप जैसोंके सत्संगका, उनके विचारोंका और सत्पुरुषकी चरणरजका सेवन करनेका अभिलाषी हूँ। मेरी यह बालवय विशेषतः इसी अभिलाषामें बीती है; इससे जो कुछ भी मेरी समझमें आया है, उसे दो शब्दोंमें समयानुसार आप जैसोंके समक्ष रखकर विशेष आत्महित कर सकूँ, यह प्रयाचना इस पत्रसे करता हूँ।

इस कालमें आत्मा पुनर्जन्मका निश्चय किससे, किस प्रकार और किस श्रेणिमें कर सकता है, इस सम्बन्धमें जो कुछ मेरी समझमें आया है, उसे यदि आपकी आज्ञा हो तो आपके समक्ष रखूँगा।

वि० आपके माध्यस्थ विचारोंका अभिलाषी
रायचंद रवजीभाईके पंचांगी प्रशस्त भावसे प्रणाम।

---

६२ ववाणिया, वैशाख सुदी १२, १९४५

सत्पुरुषोंको नमस्कार

परमात्माका ध्यान करनेसे परमात्मा हुआ जाता है; परन्तु आत्मा उस ध्यानको सत्पुरुषके चरण-कमलकी विनयोपासनाके बिना प्राप्त नहीं कर सकता, यह निर्ग्रंथ भगवानका सर्वोत्कृष्ट वचनामृत है।

मैंने आपको चार भावनाओंके बारेमें पहले कुछ सूचन किया था। उस सूचनको यहाँ विशेषतासे किंचित् लिखता हूँ।

आत्माको अनन्त भ्रांतिमेंसे स्वरूपमय पवित्र श्रेणिमें लाना यह कैसा निरुपम सुख है, यह कहनेसे कहा नहीं जाता, लिखनेसे लिखा नहीं जाता और मनसे विचारनेसे विचारा नहीं जाता।

इस कालमें शुक्लध्यानकी मुख्यताका अनुभव भारतमें असंभव है। उस ध्यानकी परोक्ष कथारूप अमृतताका रस कुछ पुरुष प्राप्त कर सकते हैं; परंतु मोक्षके मार्गकी अनुकूलता प्रथम धर्मध्यानके राजमार्गसे है।

इस कालमें रूपातीत तकके धर्मध्यानकी प्राप्ति कितने ही सत्पुरुषोंको स्वभावसे, कितनोंको सद्गुरुरूप निरुपम निमित्तसे और कितनोंको सत्संग आदि अनेक साधनोंसे हो सकती है; परन्तु वैसे पुरुष—निर्ग्रंथमतके—लाखोंमें भी विरले ही निकल सकते हैं। प्रायः वे सत्पुरुष त्यागी होकर एकांत भूमिमें वास करते हैं, कितने ही बाह्य अत्यागके कारण संसारमें रहते हुए भी संसारीपन ही दिखाते हैं। पहले पुरुषका मुख्योत्कृष्ट और दूसरे पुरुषका गौणोत्कृष्ट ज्ञान प्रायः गिना जा सकता हे।

चौथे गुणस्थानकमें आया हुआ पुरुष पात्रताको प्राप्त हुआ माना जा सकता है; वहाँ धर्मध्यानकी गौणता है। पाँचवेमें मध्यम गौणता है। छठेमें मुख्यता तो हैं परन्तु वह मध्यम है। सातवेमें मुख्यता है। हम गृहवासमें सामान्य विधिसे उत्कृष्टतः पाँचवे गुणस्थानमें आ सकते हैं, इसके सिवाय भावकी अपेक्षा तो और ही है!

इस धर्मध्यानमें चार भावनाओंसे भूषित होना संभव है—

१. मैत्री—सर्व जगतके जीवोंकी ओर निर्वैरबुद्धि।

२. प्रमोद—अंशमात्र भी किसीका गुण देखकर उल्लासपूर्वक रोमांचित होना।

३. करुणा—जगतके जीवोंके दुःख देखकर अनुकंपित होना।

४. माध्यस्थ या उपेक्षा—शुद्ध समदृष्टिके बलवीर्यके योग्य होना।

इसके चार आलंबन हैं। इसकी चार रुचि हैं। इसके चार पाये हैं। इस प्रकार धर्मध्यान अनेक भेदोंमें विभक्त है।

जो पवन (श्वास)का जय करता है, वह मनका जय करता है। जो मनका जय करता है वह आत्मलीनता प्राप्त करता है। यह जो कहा वह व्यवहार मात्र है। निश्चयसे निश्चय-अर्थकी अपूर्व योजना तो सत्पुरुषके अन्तरमें निहित है।

श्वासका जय करते हुए भी सत्पुरुषकी आज्ञासे पराङ्मुखता है, तो वह श्वासजय परिणाममें संसारको ही बढ़ाता है। श्वासका जय वहाँ है कि जहाँ वासनाका जय है। उसके दो साधन हैं—सद्गुरु और सत्संग। उसकी दो श्रेणियाँ हैं—पर्युपासना और पात्रता। उसकी दो वर्धमानताएँ हैं—परिचय और पुण्यानुबंधी पुण्यता। सबका मूल आत्माकी सत्पात्रता है।

अभी इस विषयके संबंधमें इतना ही लिखता हूँ।

दयालभाईके लिये 'प्रवीणसागर' भेज रहा हूँ। 'प्रवीणसागर' को समझकर पढ़ा जाये तो दक्षता देनेवाला ग्रन्थ है, नहीं तो अप्रशस्तछंदी ग्रन्थ है।

---

६३ ववाणिया, वैशाख वदी १३, १९४५

अंतिम समागमके समय चित्तकी जो दशा थी, वह आपने लिखी, सो योग्य है। वह दशा ज्ञात थी, ज्ञात है ऐसा मालूम हो तो भी यथावसर आत्मार्थी जीवको वह दशा उपयोगपूर्वक विदित करनी चाहिये; इससे जीवका विशेष उपकार होता है।

जो प्रश्न लिखे हैं उनका समागमयोगमें समाधान होनेकी वृत्ति रखना योग्य है, उससे विशेष उपकार होगा। इस ओर विशेष समय अभी स्थिति होना संभव नहीं है।

---

६४ ववाणिया बंदर, ज्येष्ठ सुदी ४, रवि, १९४५

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥ —श्री हरिभद्राचार्य

आपका वैशाख वदी ६ का धर्मपत्र मिला। आपके विशेष अवकाशके लिये विचार करके उत्तर लिखनेमें मैंने इतना विलंब किया है; जो विलंब क्षमापात्र है।

उस पत्रमें आप लिखते हैं कि किसी भी मार्गसे आध्यात्मिक ज्ञानका संपादन करना चाहिये, यह ज्ञानियोंका उपदेश है, यह वचन मुझे भी मान्य है। प्रत्येक दर्शनमें आत्माका ही उपदेश है; और मोक्षके लिये सबका प्रयत्न है, तो भी इतना तो आप भी मान्य कर सकेंगे कि जिस मार्गसे आत्मा आत्मत्व—सम्यग्ज्ञान—यथार्थदृष्टि—प्राप्त करे वह मार्ग सत्पुरुषकी आज्ञानुसार मान्य करना चाहिये। यहाँ किसी भी दर्शनके लिये कुछ कहना उचित नहीं है; फिर भी यों तो कहा जा सकता है कि जिस पुरुषका वचन पूर्वापर अखण्डित है उसका उपदिष्ट दर्शन पूर्वापर हितकारी है। आत्मा जहाँसे 'यथार्थदृष्टि' अथवा 'वस्तुधर्म' प्राप्त करे वहाँसे सम्यग्ज्ञान संप्राप्त होता है यह सर्वमान्य है।

आत्मत्व प्राप्त करनेके लिये क्या हेय, क्या उपादेय और क्या ज्ञेय है, इस विषयमें प्रसंगोपात्त

सत्पुरुषकी आज्ञानुसार आपके समक्ष कुछ न कुछ रखता रहूँगा। यदि ज्ञेय, हेय और उपादेयरूपसे किसी पदार्थको, एक भी परमाणुको नहीं जाना तो वहाँ आत्माको भी नहीं जाना। महावीरके उपदिष्ट 'आचारांग' नामके एक सैद्धांतिक शास्त्रमें ऐसा कहा है कि— **एगं जाणई से सव्वं जाणई, जे सव्वं जाणई से एगं जाणई।** अर्थात् जिसने एकको जाना उसने सबको जाना और जिसने सबको जाना उसने एकको जाना। यह वचनामृत ऐसा उपदेश करता है कि कोई एक आत्मा जब जानने का प्रयत्न करेगा तब सबको जाननेका प्रयत्न होगा, और सबको जाननेका प्रयत्न एक आत्माको जाननेके लिये है; तो भी जिसने विचित्र जगतका स्वरूप नहीं जाना वह आत्माको नहीं जानता। यह उपदेश अयथार्थ नहीं ठहरता।

आत्मा किससे, क्यों और किस प्रकारसे बँधा हुआ है यह ज्ञान जिसे नहीं हुआ, उसे वह किससे, क्यों और किस प्रकारसे मुक्त हो, इसका ज्ञान भी नहीं हुआ; और न हुआ हो तो यह वचनामृत भी प्रमाणभूत है। महावीरके उपदेशका मुख्य आधार उपर्युक्त वचनामृतसे शुरू होता है; और इसका स्वरूप उन्होंने सर्वोत्तम बताया है। इसके लिये आपको अनुकूलता होगी तो आगे कहूँगा।

यहाँ आपको एक यह भी विज्ञापना करना योग्य है कि महावीर या किसी भी दूसरे उपदेशकके पक्षपातके लिये मेरा कोई भी कथन अथवा मानना नहीं है; परंतु आत्मत्व प्राप्त करनेके लिये जिसका उपदेश अनुकूल है, उसके लिये पक्षपात (!), दृष्टिराग, प्रशस्त राग या मान्यता है, और उसके आधारपर मेरी प्रवृत्ति है; इसलिये यदि मेरा कोई भी कथन आत्मत्वको बाधा करनेवाला हो, तो उसे बताकर उपकार करते रहें। प्रत्यक्ष सत्संगकी तो बलिहारी है; और वह पुण्यानुबंधी पुण्यका फल है; फिर भी जब तक ज्ञानीदृष्टानुसार परोक्ष सत्संग मिलता रहेगा तब तक भी मेरे भाग्यका उदय ही है।

२. निर्ग्रंथशासन ज्ञानवृद्धको सर्वोत्तम वृद्ध मानता है। जातिवृद्धता, पर्यायवृद्धता ऐसे वृद्धताके अनेक भेद हैं, परंतु ज्ञानवृद्धताके बिना ये सारी वृद्धताएँ नामवृद्धताएँ हैं, अथवा शून्यवृद्धताएँ हैं।

३. पुनर्जन्मसंबंधी मेरे विचार प्रदर्शित करनेके लिये आपने सूचित किया था उसके लिये यहाँ प्रसंगोचित संक्षेपमात्र बताता हूँ—

(अ) कुछ निर्णयोंके आधारपर मैं यह मानने लगा हूँ कि इस कालमें भी कोई कोई महात्मा गत-भवको जातिस्मरणज्ञानसे जान सकते हैं, जो जानना कल्पित नहीं परन्तु सम्यक् होता है। उत्कृष्ट संवेग, ज्ञानयोग और सत्संगसे भी यह ज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् पूर्वभव प्रत्यक्ष अनुभवरूप हो जाता है।

जब तक पूर्वभव अनुभवगम्य न हो तब तक आत्मा भविष्यकालका धर्मप्रयत्न शंकासहित किया करता है; और शंकासहित प्रयत्न योग्य सिद्धि नहीं देता।

(आ) 'पुनर्जन्म है;' इतना परोक्ष या प्रत्यक्षसे निःशंकत्व जिस पुरुषको प्राप्त नहीं हुआ, उस पुरुषको आत्मज्ञान प्राप्त हुआ हो ऐसा शास्त्रशैली नहीं कहती। पुनर्जन्मके संबंधमें श्रुतज्ञानसे प्राप्त हुआ जो आशय मुझे अनुभवगम्य हुआ है उसे यहाँ थोड़ासा बतलाये देता हूँ।

(१) 'चैतन्य' और 'जड' इन दोनोंको पहचाननेके लिये इन दोनोंके बीच जो भिन्न धर्म हैं उनका पहले ज्ञान हाना चाहिये; और उन भिन्न धर्मोंमें भी जिस मुख्य भिन्न धर्मको पहचानना है वह यह है कि 'चैतन्य' में 'उपयोग' (अर्थात् जिससे किसी भी वस्तुका बोध होता है वह गुण) रहता है, और 'जड़' में वह नहीं है। यहाँ कदाचित् कोई यह निर्णय करना चाहे कि 'जड़'में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये गुण रहते हैं और चैतन्यमें वे नहीं हैं; परन्तु यह भिन्नता आकाशकी अपेक्षा लेनेसे समझमें नहीं आ सकती, क्योंकि निरंजनता, निराकारता, अरूपिता इत्यादि कितने ही गुण आत्माकी भाँति आकाशमें भी

रहते हैं तो फिर आकाशको आत्माके सदृश गिना जा सकता है क्योंकि दोनोंमें भिन्न धर्म न रहे। परन्तु भिन्न धर्म आत्माका पूर्वोक्त 'उपयोग' नामका गुण है जो जड़-चैतन्यकी भिन्नता सूचित करता है और फिर जड़ चैतन्यका स्वरूप समझना सुगम हो जाता है।

(२) जीवका मुख्य गुण या लक्षण 'उपयोग' (किसी भी वस्तुसंबंधी संवेदन, बोध, ज्ञान) है। जिसमें अशुद्ध और अपूर्ण उपयोग रहता है वह व्यवहारनयकी अपेक्षासे जीव है। निश्चयनयसे आत्मा स्वस्वरूपसे परमात्मा ही है, परंतु जब तक आत्माने स्वस्वरूपको यथार्थ नहीं समझा तब तक वह छद्मस्थ जीव है अर्थात् वह परमात्मदशामें नहीं आया। जिसे शुद्ध और संपूर्ण यथार्थ उपयोग रहता है उसे परमात्मदशाको प्राप्त हुआ आत्मा माना जाता है। अशुद्ध उपयोगी होनेसे ही आत्मा कल्पितज्ञान (अज्ञान) को सम्यग्ज्ञान मान रहा है और सम्यग्ज्ञानके बिना पुनर्जन्मका निश्चय किसी अंशमें भी यथार्थ नहीं होता। अशुद्ध उपयोग होनेका कुछ भी निमित्त होना चाहिये। वह निमित्त अनुपूर्वीसे चले आते हुए बाह्यभावसे गृहीत कर्मपुद्गल हैं। (उस कर्मका यथार्थ स्वरूप सूक्ष्मतासे समझने योग्य है, क्योंकि आत्माकी ऐसी दशा किसी भी निमित्तसे ही होनी चाहिये; और जब तक वह निमित्त जिस प्रकारसे है उस प्रकारसे समझमें न आये तब तक जिस मार्गसे जाना है उस मार्गकी निकटता नहीं होती।) जिसका परिणाम विपर्यय हो उसका प्रारंभ अशुद्ध उपयोगके बिना नहीं होता, और अशुद्ध उपयोग भूतकालकी किसी भी संलग्नताके बिना नहीं होता। वर्तमान कालमेंसे हम एक-एक पलको निकालते जायें और देखते जायें, तो प्रत्येक पल भिन्न-भिन्न स्वरूपसे बीता हुआ मालूम होगा। (उसके भिन्न-भिन्न होनेका कोई कारण तो होगा ही।) एक मनुष्यने ऐसा दृढ़ संकल्प किया कि यावज्जीवन स्त्रीका चिंतन भी मुझे करना नहीं है; फिर भी पाँच पल न बीत पाये कि उसका चिंतन हो गया तो फिर उसका कारण होना चाहिये। मुझे जो शास्त्रसंबंधी अल्प बोध हुआ है उससे यह कह सकता हूँ कि वह पूर्वकर्मका किसी भी अंशमें उदय होना चाहिये। कैसे कर्मका? तो कह सकूँगा कि मोहनीयकर्मका। उसकी किस प्रकृतिका? तो कह सकूँगा कि पुरुषवेदका। (पुरुषवेदकी पंद्रह प्रकृतियाँ हैं।) पुरुषवेदका उदय दृढ़ संकल्पसे रोकनेपर भी हुआ, उसका कारण अब कहा जा सकेगा कि वह कोई भूतकालका होना चाहिये; और अनुपूर्वीसे उसके स्वरूपका विचार करनेसे पुनर्जन्म सिद्ध होगा। यहाँ इस बातको बहुत दृष्टांतोंसे कहनेकी मेरी इच्छा थी, परन्तु निर्धारितसे अधिक कहा गया है, और आत्माको जो बोध हुआ उसे मन यथार्थ नहीं जान सकता और मनके बोधको वचन यथार्थ नहीं कह सकते। वचनका कथनबोध भी कलम नहीं लिख सकती, ऐसा होनेसे और इस विषयके संबंधमें कुछ पारिभाषिक शब्दोंके उपयोगकी आवश्यकता होनेसे अभी इस विषयको अपूर्ण छोड़ देता हूँ। यह अनुमानप्रमाण कह गया। प्रत्यक्ष प्रमाणसंबंधी ज्ञानीदृष्ट होगा, तो उसे फिर, अथवा प्रत्यक्ष समागम होगा तब कुछ बता सकूँगा। आपके उपयोगमें रम रहा है, फिर भी यहाँ दो-एक वचन प्रसन्नतार्थ लिखता हूँ—

१. सबकी अपेक्षा आत्मज्ञान श्रेष्ठ है।

२. धर्मविषय, गति, आगति निश्चयसे हैं।

३. ज्यों ज्यों उपयोगकी शुद्धता होती जाती है, त्यों त्यों आत्मज्ञान प्राप्त होता जाता है।

४. इसके लिये निर्विकार दृष्टिकी आवश्यकता है।

५. 'पुनर्जन्म है,' यह योगसे, शास्त्रसे और सहजरूपसे अनेक सत्पुरुषोंको सिद्ध हुआ है।

इस कालमें इस विषयमें अनेक पुरुषोंको निःशंकता नहीं होती इसके कारण—मात्र सात्त्विकताकी न्यूनता, त्रिविधतापकी मूर्च्छना, 'श्रीगोकुलचरित्र'में आपकी बतायी हुई निर्जनावस्थाकी कमी, सत्संगका

अभाव, स्वमान और अयथार्थ दृष्टि हैं।

आपकी अनुकूलता होगी तो इस विषयमें विशेष फिर बताऊँगा। इससे मुझे आत्मोज्ज्वलताका परम लाभ है। इसलिये आपको अनुकूल होगा ही। अवकाश हो तो दो चार बार इस पत्रका मनन होनेसे मेरा कहा हुआ अल्प आशय आपको बहुत दृष्टिगोचर होगा। शैलीके कारण विस्तारसे कुछ लिखा है; फिर भी जैसा चाहिये वैसा नहीं समझाया गया ऐसा मेरा मानना है। परन्तु मैं समझता हूँ कि धीरे-धीरे आपके समक्ष सरलरूपमें रख सकूँगा।

* * *

बुद्ध भगवानका जीवनचरित्र मेरे पास नहीं आया। अनुकूलता हो तो भिजवानेकी सूचना करें। सत्पुरुषोंके चरित्र दर्पणरूप हैं। बुद्ध और जैनके उपदेशमें महान अंतर है।

सब दोषोंकी क्षमा चाहकर यह पत्र पूरा (अपूर्ण स्थितिमें) करता हूँ। आपकी आज्ञा होगी तो ऐसा वक्त निकाला जा सकेगा कि जिससे आत्मत्व दृढ़ हो।

असुगमतासे लेख दूषित हुआ है, परन्तु कितनी ही निरुपायता थी। नहीं तो सरलताका उपयोग करनेसे आत्मत्वकी प्रफुल्लितता विशेष हो सकती है।

वि० धर्मजीवनके इच्छुक
रायचंद रवजीभाईके विनयभावसे प्रशस्त प्रणाम।

---

६५ मोरबी, ज्येष्ठ सुदी १०, सोम, १९४५

आपका अतिशय आग्रह है और न हो तो भी एक धर्मनिष्ठ आत्माको यदि मुझसे कुछ शांति होती हो तो एक पुण्य समझकर आना चाहिये। और ज्ञानीदृष्ट होगा तो मैं जरूर कुछ ही दिनोंमें आता हूँ। विशेष समागममें।

---

६६ अहमदाबाद, ज्येष्ठ वदी १२, मंगल, १९४५

मैंने आपको ववाणियाबंदरसे पुनर्जन्मसंबंधी परोक्षज्ञानकी अपेक्षासे दो-एक विचार लिखे थे; और इस विषयमें अवकाश पाकर कुछ बतानेके बाद प्रत्यक्ष अनुभवगम्य ज्ञानसे इस विषयका जो कुछ निश्चय मेरी समझमें आया है उसे बतानेकी इच्छा रखी है।

वह पत्र आपको ज्येष्ठ सुदी पंचमीको मिल गया होगा। अवकाश प्राप्तकर कुछ उत्तर देना ठीक लगे तो उत्तर, नहीं तो पहुँच मात्र लिखकर प्रशम दीजियेगा, यह विज्ञापना है।

निर्ग्रंथ द्वारा उपदिष्ट शास्त्रोंकी शोधके लिये सातेक दिनोंसे मेरा यहाँ आना हुआ है।

धर्मोपजीवनके इच्छुक
रायचन्द रवजीभाईके यथाविधि प्रणाम।

---

६७ वढ़वाणकेम्प, आषाढ़ सुदी ८, शनि, १९४५

आत्माका कल्याण खोजनेके लिये आपकी जो अभिलाषाएँ दिखायी देती हैं, वे मुझे प्रसन्न करती हैं।

धर्म प्रशस्त ध्यान करनेके लिये विज्ञापन करके अब यह पत्र पूरा करता हूँ।

रायचन्द

---

६८ बजाणा-काठियावाड, आषाढ़ सुदी १५, शुक्र, १९४५

आपका आषाढ़ सुदी ७ का लिखा हुआ पत्र मुझे वढ़वाणकेम्पमें मिला। उसके बाद मेरा यहाँ आना

हुआ; इसलिये पहुँच लिखनेमें विलम्ब हुआ। पुनर्जन्मसंबंधी मेरे विचार आपको अनुकूल होनेसे मुझे इस विषयमें आपकी सहायता मिली। आपने अंतःकरणीय–आत्मभावजन्य जो अभिलाषा प्रदर्शित की है उसे सत्पुरुष निरंतर रखते आये हैं; उन्होंने मन, वचन, काया और आत्मासे वैसी दशा प्राप्त की है; और उस दशाके प्रकाशसे दिव्यताको प्राप्त आत्माने वाणी द्वारा सर्वोत्तम आध्यात्मिक वचनामृत प्रदर्शित किये हैं; जिनका आप जैसे सत्पात्र मनुष्य निरंतर सेवन करते हैं; और यही अनन्तभवके आत्मिक दुःखको दूर करनेका परमौषध है।

सभी दर्शन पारिणामिकभावसे मुक्तिका उपदेश करते हैं, यह निःसंशय है; परन्तु यथार्थदृष्टि हुए बिना सब दर्शनोंका तात्पर्यज्ञान हृदयगत नहीं होता। जिसके होनेके लिये सत्पुरुषोंकी प्रशस्त भक्ति, उनके पादपंकज और उपदेशका अवलंबन और निर्विकार ज्ञानयोग आदि जो साधन हैं, वे शुद्ध उपयोगसे मान्य होने चाहिये।

पुनर्जन्मका प्रत्यक्ष निश्चय तथा अन्य आध्यात्मिक विचार अब फिर प्रसंगानुकूल प्रदर्शित करनेकी आज्ञा लेता हूँ।

बुद्ध भगवानका चरित्र मनन करने योग्य है, यह मानो निष्पक्षपाती कथन है।

कितने ही आध्यात्मिक तत्त्वोंसे भरपूर वचनामृत अब लिख सकूँगा।

धर्मोपजीवनके इच्छुक
रायचन्दके विनययुक्त प्रणाम।

---

६९ ववाणिया, आषाढ़ वदी १२, बुध, १९४५

महासतीजी 'मोक्षमाला' का श्रवण करती हैं, यह बहुत सुखद और लाभदायक हैं। उनसे मेरी ओरसे विनती कीजियेगा कि इस पुस्तकका यथार्थ श्रवण करें और मनन करें। इसमें जिनेश्वरके सुन्दर मार्गसे बाहरका एक भी विशेष वचन रखनेका प्रयत्न नहीं किया है। जैसा अनुभवमें आया और कालभेद देखा वैसे मध्यस्थतासे यह पुस्तक लिखी है। मैं मानता हूँ कि महासतीजी इस पुस्तकका एकाग्रभावसे श्रवण करके आत्मश्रेयमें वृद्धि करेंगी।

---

७० भरुच, श्रावण सुदी १, रवि, १९४५

आपके आत्मबोधके कारण प्रसन्नता होती है। यहाँ आत्मचर्चा श्रेष्ठ चलती है। सत्संगकी बलवत्तरता है।

वि० रायचन्दके प्रणाम।

---

७१ भरुच, श्रावण सुदी ३, बुध, १९४५

बजाणा नामके गाँवसे मेरा लिखा हुआ एक विनयपत्र आपको प्राप्त हुआ होगा।

मैं अपनी निवासभूमिसे लगभग दो माससे सत्योग और सत्संगकी वृद्धिके लिये प्रवासरूपसे कितने ही स्थानोंमें विहार कर रहा हूँ। प्रायः एक सप्ताहमें आपके दर्शन और समागमके लिये मेरा वहाँ आगमन होना संभव है।

सब शास्त्रोंके बोधका, क्रियाका, ज्ञानका, योगका और भक्तिका प्रयोजन स्वस्वरूपप्राप्तिके लिये है, और ये सम्यक्श्रेणियाँ आत्मगत हों तो ऐसा होना प्रत्यक्ष संभव है; परन्तु इन वस्तुओंको प्राप्त करनेके लिये सर्वसंगपरित्यागकी आवश्यकता है । निर्जनावस्था–योगभूमिमें वास-से सहज समाधिकी प्राप्ति नहीं है, वह तो सर्वसंगपरित्यागमें नियमसे रहती है। देश (भाग) संगपरित्यागमें उसकी भजना संभव है। जब तक पूर्वकर्मके बलसे गृहवास भोगना बाकी है, तब तक धर्म, अर्थ और कामको उल्लासित

उदासीनभावसे सेवन करना योग्य है। बाह्यभावसे गृहस्थश्रेणि होनेपर भी अंतरंग निर्ग्रंथश्रेणि चाहिये, और जहाँ ऐसा हुआ है वहाँ सर्व सिद्धि है।

मेरी आत्माभिलाषा बहुत माससे उस श्रेणिमें रहा करती है। धर्मोपजीवनकी पूर्ण अभिलाषा कई एक व्यवहारोपाधियोंके कारण पूरी नहीं हो सकती, परन्तु आत्माको सत्पदकी सिद्धि प्रत्यक्ष होती है, यह बात तो मान्य ही है, और इसमें कुछ वय-वेषकी विशेष अपेक्षा नहीं है। निर्ग्रन्थके उपदेशको अचलभावसे और विशेषतः मान्य करते हुए अन्य दर्शनके उपदेशमें मध्यस्थता प्रिय है।

चाहे जिस मार्गसे और चाहे जिस दर्शनसे कल्याण होता हो तो उसमें फिर मत-मतांतरकी कोई अपेक्षा खोजनी योग्य नहीं है। जिस अनुप्रेक्षासे, जिस दर्शनसे या जिस ज्ञानसे आत्मत्व प्राप्त हो, वह अनुप्रेक्षा, वह दर्शन या वह ज्ञान सर्वोपरि है; और जितने आत्मा तरे, वर्तमानमें तरते हैं और भविष्यमें तरेंगे वे सब इस एक ही भावको पाकर। हम इसे सर्व भावसे प्राप्त करें यह मिले हुए अनुत्तर जन्मका साफल्य है।

कितने ही ज्ञानविचारोंको लिखते हुए उदासीन भावकी वृद्धि हो जानेसे इच्छित लिखा नहीं जा सकता और न ही उसे आप जैसोंको बताया जा सकता है। यह किसी.....का कारण।

नाना प्रकारके विचार चाहे जिस रूपमें अनुक्रमविहीन आपके पास रखूँ, तो उन्हें योग्यतापूर्वक आत्मगत करते हुए दोषके लिये—भविष्यके लिये भी—क्षमाभाव ही रखें।

इस बार लघुत्व भावसे एक प्रश्न करनेकी आज्ञा लेता हूँ। आपके ध्यानमें होगा कि प्रत्येक पदार्थकी प्रज्ञापनीयता चार प्रकारसे हैं—द्रव्य (उसके वस्तुस्वभाव) से, क्षेत्र (कुछ भी उसका व्याप्त होना—उपचार या अनुपचार) से, कालसे और भाव (उसके गुणादिक भाव) से। अब हम आत्माकी व्याख्या भी इसके बिना नहीं कर सकते। आप यदि इस प्रज्ञापनीयतासे आत्माकी व्याख्या अवकाशानुकूल बतलायें, तो संतोषका कारण होगी। इसमेंसे एक अद्भुत व्याख्या निकल सकती है, परंतु आपके विचार पहलेसे कुछ सहायक हो सकेंगे ऐसा मानकर यह प्रयाचना की है। धर्मोपजीवन प्राप्त करनेमें आपकी सहायताकी प्रायः आवश्यकता पड़ेगी, ऐसा लगता है, परन्तु सामान्यतः वृत्ति-भाव संबंधी आपके विचार जान लेनेके बाद उस बातको जन्म देना, ऐसी इच्छा है। शास्त्र परोक्षमार्ग है; और...प्रत्यक्षमार्ग है। इस बार इतना ही लिखकर इस पत्रको विनय-भावसे पूरा करता हूँ।

यह भूमिका एक श्रेष्ठ योगभूमिका है। यहाँ मुझे एक सन्मुनि इत्यादिका प्रसंग रहता है।

वि० आ० रायचंद रवजीभाईके प्रणाम।

---

७२ भरुच, श्रावण सुदी १०, १९४५

बाह्यभावसे जगतमें रहें और अंतरंगमें एकांत शीतलीभूत—निर्लेप रहें, यही मान्यता और उपदेश है।

---

७३ बंबई, श्रावण वदी ७, शनि, १९४५

आपके आरोग्यकी खबर अभी नहीं मिली है। उसे अवश्य लिखें, और शरीरकी स्थितिके लिये यथासंभव शोकरहित होकर प्रवृत्ति करें।

---

७४ ववाणिया, भादों सुदी २, १९४५

सुज्ञ चि०

संवत्सरी संबंधी हुए अपने दोषोंकी शुद्ध बुद्धिसे क्षमा-याचना करता हूँ। आपके सारे कुटुम्बसे

अविनय आदिके लिये क्षमा चाहता हूँ।

परतंत्रताके लिये खेद है। परन्तु अभी तो निरुपायता है।

पत्रका उत्तर लिखनेमें सावधानी रखियेगा। महासतीजीको अभिवंदन कीजियेगा।

राज्य० के य० आ०

---

७५ बंबई, भादों वदी ४, शुक्र, १९४५

मुझ पर शुद्ध राग समभावनासे रखें। विशेषता न करें। धर्मध्यान और व्यवहार योनो की रक्षा करें। लोभी गुरू, गुरू-शिष्य दोनो के लिये अधोगति का कारण है। में एक संसारी हूँ। मुझे अल्प ज्ञान है। आपको शुद्ध गुरूकी जरूरत है।

---

७६ मोहमयी, आसोज वदी १०, शनि, १९४५

दूसरा कुछ मत खोज, मात्र एक सत्पुरुषको खोजकर उसके चरणकमलमें सर्वभाव अर्पण करके प्रवृत्ति किये जा। फिर यदि मोक्ष न मिले तो मुझसे लेना।

सत्पुरुष वही है कि जो रात दिन आत्माके उपयोगमें हैं, जिसका कथन शास्त्रमें नहीं मिलता, सुननेमें नहीं आता, फिर भी अनुभवमें आ सकता है; अंतरंग स्पृहारहित जिसका गुप्त आचरण है; बाकी तो कुछ कहा नहीं जा सकता और ऐसा किये बिना तेरा कभी छुटकारा होनेवाला नहीं है, इस अनुभव प्रवचनको प्रामाणिक मान।

एक सत्पुरुषको प्रसन्न करनेमें, उसकी सर्व इच्छाओंकी प्रशंसा करनेमें, उसे ही सत्य माननेमें पूरी जिन्दगी बीत गई तो अधिकसे अधिक पंद्रह भवमें तू अवश्य मोक्षमें जायेगा।

वि० रायचंदके प्रणाम

---

७७ वि० सं० १९४५

* **"सुखकी सहेली है, अकेली उदासीनता"।**
अध्यात्मनी जननी ते उदासीनता ॥

लघु वयथी अद्‌भुत थयो, तत्त्वज्ञाननो बोध।
ए ज सूचवे एम के, गति आगति कां शोध? ॥१॥

जे संस्कार थवो घटे, अति अभ्यासे कांय।
विना परिश्रम ते थयो, भवशंका शी त्यांय? ॥२॥

जेम जेम मति अल्पता, अने मोह उद्योत।
तेम तेम भवशंकना, अपात्र अन्तर ज्योत ॥३॥

---

* **भावार्थ**—अकेली उदासीनता सुखकी सहेली है। यह उदासीनता अध्यात्मकी जननी है।

छोटी उमरमें ही तत्त्वज्ञानका अद्‌भुत बोध हुआ। यही सूचित करता है कि अब गमन-आगमन अर्थात् जन्म-मरणकी खोज किसलिये? वैयक्तिक दृष्टिसे इस पद्यका अर्थ यह है—छोटी उमरमें ही तत्त्वज्ञानका बोध हो जानेसे यह फलित होता है कि 'पुनर्जन्म है' इसलिये तुझे जन्म-मरणकी खोज करनेकी जरूरत नहीं है॥१॥

जो ज्ञान-संस्कार अत्यंत अभ्याससे होने योग्य है, वह परिश्रमके बिना ही सहज हो गया; तो फिर अब पुनर्भवकी शंका कैसी?॥२॥

ज्यों ज्यों बुद्धि-ज्ञान कम होता जाता है, और मोह बढ़ता जाता है; त्यों त्यों अपात्र जीवोंके अंतरमें अज्ञानकी अधिकता होनेसे, पुनर्भव संबंधी शंका प्रबल होती जाती है॥३॥

करी कल्पना दृढ़ करे, नाना नास्ति विचार ।
पण अस्ति ते सूचवे, ए ज खरो निर्धार ॥४॥
आ भव वण भव छे नहीं, ए ज तर्क अनुकूल ।
विचारतां पामी गया, आत्मधर्मनुं मूळ ॥५॥ (अंगत)

---

७८ वि० सं० १९४५

स्त्रीके संबंधमें मेरे विचार

(१)

अति अति स्वस्थ विचारणासे ऐसा सिद्ध हुआ है कि शुद्ध ज्ञानके आश्रयमें निराबाध सुख रहा है; और वहीं परम समाधि रही है।

स्त्री संसारका सर्वोत्तम सुख है, यह मात्र आवरणिक दृष्टिसे कल्पित किया गया है परंतु वह वैसा है ही नहीं। स्त्रीसे संयोगसुख भोगनेका जो अंग है वह विवेक-दृष्टिसे देखनेपर वमन करने योग्य भूमिके भी योग्य नहीं ठहरता। जिन-जिन पदार्थोंपर जुगुप्सा आती है, वे सभी पदार्थ तो उसके शरीरमें रहे हुए हैं; और उनकी वह जन्मभूमि है। फिर यह सुख क्षणिक, खेदमय और खुजलीके दर्द जैसा ही है। उस समयका दृश्य हृदयमें चित्रित होकर हँसाता है कि यह कैसा भुलावा है ? संक्षेपमें यह कहना है कि उसमें कुछ भी सुख नहीं है, और यदि सुख हो तो उसका अपरिच्छेद रूपसे वर्णन कर देखें तो यही मालूम होगा कि मात्र मोहदशाके कारण वैसी मान्यता हुई है। यहाँ मैं स्त्रीके अवयव आदि भागोंका विवेक करने नहीं बैठा हूँ; परंतु उस ओर आत्मा पुनः आकर्षित ही न हो, यह विवेक आया है, उसका सहज सूचन किया है। स्त्रीमें दोष नहीं है, परन्तु आत्मामें दोष है और इस दोषके चले जानेसे आत्मा जो देखता है वह अद्‌भुत आनन्दमय ही है; इसलिये इस दोषसे रहित होनेकी ही परम अभिलाषा है।

यदि शुद्ध उपयोगकी प्राप्ति हो गई तो फिर वह प्रति समय पूर्वोपार्जित मोहनीयको भस्मीभूत कर सकेगा। यह अनुभवगम्य प्रवचन है।

परंतु पूर्वोपार्जित कर्म अभी तक मुझे उदयमें है, तब तक मेरी किस प्रकारसे शान्ति हो ? इसका विचार करते हुए मुझे निम्न प्रकारसे समाधान हुआ—

स्त्रीको सदाचारी ज्ञान देना। उसे एक सत्संगी मानना। उसके साथ धर्मबहनका सम्बन्ध रखना। अन्तःकरणसे किसी भी प्रकारसे माँ-बहन और उसमें अन्तर नहीं समझना। उसके शारीरिक भागका किसी भी तरह मोहकर्मके वश होकर उपभोग किया जाता है, वहाँ योगकी ही स्मृति रखकर, 'यह है तो मैं कैसे सुखका अनुभव करता हूँ !" इसे भूल जाना। (तात्पर्य—एसा मानना असत् है।) मित्र परस्पर जैसे साधारण वस्तुका उपभोग करते हैं वैसे उस वस्तु (वि०) का सखेद उपभोग करके पूर्वबंधनसे छूट जाना। उसके साथ यथासम्भव निर्विकारी बात करना। कायासे विकारचेष्टाका अनुभव करते हुए भी उपयोग लक्ष्य पर ही रखना।

कोई कल्पना करके नाना प्रकारके नास्तिक विचारों—आत्मा नहीं है, मोक्ष नहीं है इत्यादि—को दृढ़ करता है, परन्तु वे विविध 'नास्ति' विचार ही 'अस्ति' का सूचन करते हैं, क्योंकि 'नास्ति'= न+अस्तिमें ही 'अस्ति'का सूचन निहित है। और यही निर्णय वास्तविक है॥४॥

यही एक बड़ा अनुकूल तर्क है कि यह भव दूसरे भवके बिना नहीं हो सकता। यह न्याययुक्त तर्क तत्त्वप्राप्तिके लिये अनुकूल योग्य साधन है। इस तरह उत्तरोत्तर विचार करते-करते विचारशील जीव आत्मधर्मका मूल प्राप्त करके कृतार्थ हो गये हैं॥५॥ (निजी)

उससे कोई सन्तानोत्पत्ति हो तो वह एक साधारण वस्तु है, ऐसा समझकर ममत्व नहीं करना। परन्तु ऐसा चिंतन करना कि जिस द्वारसे लघुशंका की जाती है उस द्वारसे उत्पन्न हुआ पदार्थ (यह जीव) पुनः उसमें क्यों भूल जाता है—महान अँधेरी कोठरीसे परेशान होकर आनेके बाद भी फिर वहीं मित्रता करने जाता है। यह कैसी विचित्रता है ! चाहना यह कि दोनोंके संयोगसे कुछ हर्षशोक या बालबच्चेरूप फलकी उत्पत्ति न हो। मुझे इस चित्रकी याद भी न करने दें। नहीं तो एक मात्र सुन्दर मुखमंड़ल और सुंदर वर्ण (जड पदार्थका) आत्माको कितना बंधन करा कर संपत्तिहीन करता है, उसे यह आत्मा किसी भी प्रकारसे न भुला दे।

(२)

स्त्रीके संबंधमें किसी भी प्रकारसे रागद्वेष रखनेकी मेरी अंश मात्र इच्छा नहीं है, परंतु पूर्वोपार्जनके कारण इच्छाके प्रवर्तनमें अटका हूँ।

---

७९ वि॰ सं॰ १९४५

जगतमें भिन्न भिन्न मत और दर्शन देखनेमें आते हैं यह दृष्टिभेद है।

*भिन्न भिन्न मत देखीए, भेद दृष्टिनो एह ।
एक तत्त्वना मूळमां, व्याप्या मानो तेह ॥१॥

तेह तत्त्वरूप वृक्षनुं, आत्मधर्म छे मूळ ।
स्वभावनी सिद्धि करे, धर्म ते ज अनुकूल ॥२॥

प्रथम आत्मसिद्धि थवा, करीए ज्ञान विचार ।
अनुभवी गुरुने सेवीए, बुधजननो निर्धार ॥३॥

क्षण क्षण जे अस्थिरता, अने विभाविक मोह ।
ते जेनामांथी गया, ते अनुभवी गुरु जोय ॥४॥

बाह्य तेम अभ्यन्तरे, ग्रंथ ग्रंथि नहि होय ।
परम पुरुष तेने कहो, सरळ दृष्टिथी जोय ॥५॥

बाह्य परिग्रह ग्रंथि छे, अभ्यंतर मिथ्यात्व ।
स्वभावथी प्रतिकूळता,— ॥६॥

---

८० वि॰ सं॰ १९४५

जिसकी मनोवृत्ति निराबाधरूपसे बहा करती है, जिसके संकल्प-विकल्प मंद हो गये हैं, जिसमें पाँच विषयोंसे विरक्त बुद्धिके अंकुर फूट निकले हैं, जिसने क्लेशके कारण निर्मूल कर दिये हैं, जो

---

* **भावार्थ**—यह दृष्टिका भेद है कि भिन्न भिन्न मत दिखायी देते हैं। वे सब मत मानों एक ही तत्त्वके मूलमें व्याप्त हैं ॥१॥

उस तत्त्वरूप वृक्षका मूल आत्मधर्म है। जो धर्म स्वभावकी सिद्धि करता है, वही धर्म उपादेय है ॥२॥

आत्मसिद्धिके लिये पहले तो ज्ञानका विचार करें, और फिर ज्ञानकी प्राप्तिके लिये अनुभवी गुरुकी सेवा करे, ऐसा ज्ञानियोंका निश्चय है ॥३॥

जिसके आत्मामेंसे क्षण-क्षणकी अस्थिरता और वैभाविक मोह दूर हो गये हैं, वही अनुभवी गुरु है ॥४॥

जिसकी बाह्य एवं अभ्यंतर परिग्रहकी ग्रंथियाँ छिन्न हो चुकी है और जो सरल दृष्टिसे देखते हैं, उसे परम पुरुष मानें ॥५॥

परिग्रह बाह्य ग्रंथि है और मिथ्यात्व अभ्यंतर ग्रंथि है। स्वभावसे प्रतिकूलता,— ॥६॥

अनेकांतदृष्टियुक्त एकांतदृष्टिका सेवन किया करता है, और जिसकी मात्र एक शुद्ध वृत्ति ही है, वह प्रतापी पुरुष जयवंत रहे।

हमें वैसा बननेका प्रयत्न करना चाहिये।

---

८१ वि० सं० १९४५

अहो हो! कर्मकी कैसी विचित्र बंधस्थिति है? जिसकी स्वप्नमें भी इच्छा नहीं होती, जिसके लिये परम शोक होता है, उसी अंगभीरदशासे प्रवृत्त होना पडता है।

वे जिन– वर्धमान आदि सत्पुरुष कैसे महान मनोजयी थे! उन्हें मौन रहना–अमौन रहना दोनों ही सुलभ थे, उन्हें सर्व अनुकूल प्रतिकूल दिन समान थे, उन्हें लाभ हानि समान थी; और उनका क्रम मात्र आत्मसमताके लिये था। यह कैसा आश्चर्यकारक है कि एक कल्पनाका जय एक कल्पमें होना दुष्कर है, ऐसी अनंत कल्पनाओंको उन्होंने कल्पके अनंतवें भागमें शांत कर दिया!

---

८२ वि० सं० १९४५

दुःखी मनुष्योंका प्रदर्शन करनेमें आये तो जरूर उनका सिरताज मैं बन सकूँ। मेरे इन वचनोंको पढ़कर कोई विचारमें पड़कर, भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ करेगा अथवा इसे मेरा भ्रम मान बैठेगा; परंतु इसका समाधान यहीं संक्षेपमें किये देता हूँ। आप मुझे स्त्री संबंधी दुःख न समझे, लक्ष्मी संबंधी दुःख न समझे, पुत्र संबंधी दुःख न समझे, कीर्ति संबंधी दुःख न समझे, भय संबंधी दुःख न समझे, काया संबंधी दुःख न समझे अथवा सबसे दुःख न समझे। मुझे दुःख अन्य प्रकारका है। वह दुःख वातका नहीं है, कफका नहीं है या पित्तका नहीं है, वह शरीरका नहीं है, वचनका नहीं है या मनका नहीं है। समझें तो सभीका है और न समझें तो एकका भी नहीं है। परंतु मेरी विज्ञापना उसे न समझनेके लिये है, क्योंकि इसमें कोई और मर्म निहित है। आप जरूर मानिये कि मैं बिना किसी पागलपनके यह कलम चला रहा हूँ। मैं राजचंद्र नामसे पहचाना जानेवाला, ववाणिया नामके छोटे गाँवका, लक्ष्मीमें साधारण परंतु आर्य गिने जाते दशाश्रीमाली–वैश्यका पुत्र माना जाता हूँ। मैंने इस देहमें मुख्य दो भव किये हैं, अमुख्यका हिसाब नहीं है। बचपनकी छोटी समझमें कौन जाने कहाँसे बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ आया करती थीं। सुखकी अभिलाषा भी कम न थी और सुखमें भी महालय, बागबगीचे, और लाड़ीवाड़ीके कुछ सुख माने थे। बड़ी कल्पना इसकी थी कि यह सब क्या है। इस कल्पनाका एक बार ऐसा परिणाम देखा कि–पुनर्जन्म भी नहीं है, पाप भी नहीं है, पुण्य भी नहीं है, सुखसे रहना और संसार भोगना, यही कृतकृत्यता है। परिणामस्वरूप दूसरी झंझटमें न पड़ते हुए धर्मकी वासनाएँ निकाल ड़ाली। किसी धर्मके लिये न्यूनाधिक भाव या श्रद्धाभाव नहीं रहा। कुछ समय बीतनेके बाद इसमेंसे कुछ और ही हुआ। जिसके होनेकी मैंने कोई कल्पना नहीं की थी, तथा उसके लिये मेरा ऐसा कोई प्रयत्न न था कि जो मेरे ख्यालमें हो, फिर भी अचानक परिवर्तन हो गया; कोई और अनुभव हुआ, और यह अनुभव ऐसा था कि जो प्रायः न तो शास्त्रमें लिखा है और न जड़वादियोंकी कल्पनामें भी है। वह क्रमसे बढ़ा, बढ़कर अब एक 'तू ही', 'तू ही' का जाप करता है। अब यहाँ समाधान हो जायेगा। भूतकालमें न भोगे हुए अथवा भविष्य कालके भय आदिके दुःखोंमेंसे कोई दुःख नहीं है। ऐसा अवश्य समझमें आयेगा। स्त्रीके सिवाय दूसरा कोई पदार्थ खास करके मुझे नहीं रोक सकता। दूसरा कोई भी संसारी साधन मेरी प्रीतिका विषय नहीं बना, और किसी भयने बहुलतासे मुझे आक्रांत नहीं किया। स्त्रीके संबंधमें मेरी अभिलाषा कुछ और है तथा वर्तन

कुछ और है। एक पक्षने उसका कुछ काल तक सेवन करना सम्मत किया है। तथापि उसमें सामान्य प्रीति-अप्रीति है। परंतु दुःख यह है कि अभिलाषा नहीं होने पर भी पूर्वकर्म क्यों घेरते हैं ? इतनेसे पूरा नहीं होता; परन्तु उसके कारण अरुचिकर पदार्थोंको देखना, सूँघना और छूना पड़ता है, और इसी कारणसे प्रायः उपाधिमें रहना पड़ता है।

महारंभ, महा परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ या ऐसा तैसा जगतमें कुछ भी नहीं है, ऐसा विस्मरणध्यान करनेसे परमानंद रहता है। उसे उपर्युक्त कारणोंसे देखना पड़ता है यह महाखेद है। अंतरंग चर्या भी कही प्रगट नहीं की जा सकती, ऐसे पात्र मेरे लिये दुर्लभ हो गये हैं, यही महा दुःखकी बात है।

---

८३ वि० सं० १९४५

यहाँ कुशलता है। आपकी कुशलता चाहता हूँ। आज आपका जिज्ञासु पत्र मिला। उस जिज्ञासु पत्रके उत्तरमें जो पत्र भेजना चाहिये वह पत्र यह है—

इस पत्रमें गृहाश्रमसंबंधी अपने कुछ विचार आपके सामने रखता हूँ। इन्हें रखनेका हेतु मात्र इतना ही है कि किसी भी प्रकारके उत्तम क्रममें आपके जीवनका झुकाव हो, और उस क्रमका जबसे आरंभ होना चाहिये वह काल अभी आपके पास आया है, इसलिये वह क्रम बतानेका उचित समय है, और बताये हुए क्रमके विचार अति सांस्कारिक होनेसे पत्र द्वारा प्रगट हुए हैं। आपको और किसी भी आत्मोन्नति या प्रशस्त क्रमके इच्छुकको वे अवश्य अधिक उपयोगी सिद्ध होंगे, ऐसी मेरी मान्यता है।

तत्त्वज्ञानकी गहरी गुफाका दर्शन करने जायें तो वहाँ नेपथ्यमेंसे ऐसी ध्वनि ही निकलेगी कि आप कौन हैं ? कहाँसे आये हैं ? क्यों आये हैं ? आपके पास यह सब क्या है ? आपको अपनी प्रतीति है ? आप विनाशी, अविनाशी अथवा कोई त्रिराशी है ? ऐसे अनेक प्रश्न उस ध्वनिसे हृदयमें प्रवेश करेंगे। और इन प्रश्नोंसे जब आत्मा घिर गया तब फिर दूसरे विचारोंके लिये बहुत ही थोड़ा अवकाश रहेगा। यद्यपि इन विचारोंसे ही अंतमें सिद्धि है, इन्हीं विचारोंके विवेकसे जिस अव्याबाध सुखकी इच्छा है, उसकी प्राप्ति होती है; इन्हीं विचारोंके मननसे अनंतकालकी उलझन दूर होनेवाली है; तथापि ये सबके लिये नहीं है। वास्तविक दृष्टिसे देखनेपर उसे अंत तक पानेवाले पात्रोंकी न्यूनता बहुत है; काल बदल गया है; इस वस्तुका अधीरता अथवा अशौचतासे अंत लेने जानेपर जहर निकलता है; और भाग्यहीन अपात्र दोनों लोकोंसे भ्रष्ट होता है। इसलिये अमुक सन्तोंको अपवादरूप मानकर बाकीको उस क्रममें आनेके लिये उस गुफाका दर्शन करनेके लिये बहुत समय तक अभ्यासकी जरूरत है। कदाचित् उस गुफाके दर्शन करनेकी उसकी इच्छा न हो तो भी अपने इस भवके सुखके लिये भी जन्म और मरणके बीचके भागको किसी तरह बितानेके लिये भी इस अभ्यासकी अवश्य जरूरत है। यह कथन अनुभवसिद्ध है, बहुतोंको यह अनुभवमें आया है। बहुतसे आर्य पुरुष इसके लिये विचार कर गये हैं, उन्होंने इसपर अधिकाधिक मनन किया है। जिन्होंने आत्माकी शोध करके, उसके अपार मार्गकी बहुतोंको प्राप्ति करानेके लिये, अनेक क्रम बाँधे हैं; वे महात्मा जयवान हो ! और उन्हें त्रिकाल नमस्कार हो !

हम थोड़ी देरके लिये तत्त्वज्ञानकी गुफाका विस्मरण करके आर्यों द्वारा उपदिष्ट अनेक क्रमोंपर आनेके लिये परायण हैं, उस समयमें यह बता देना योग्य ही है कि जिसे पूर्ण आह्लादकर माना है और जिसे परमसुखकर, हितकर और हृदयमय माना है, वह वैसा है, अनुभवगम्य है, वह तो उसी गुफाका निवास है; और निरन्तर उसीकी अभिलाषा है। अभी कुछ उस अभिलाषाके पूर्ण होनेके चिह्न नहीं हैं; तो

भी क्रमसे, इसमें इस लेखकका भी जय होगा ऐसी उसकी अवश्य शुभाकांक्षा है, और यह अनुभवगम्य भी है। अभीसे ही यदि योग्य रीतिसे उस क्रमकी प्राप्ति हो जाये, तो इस पत्रके लिखने जितनी देर करनेकी इच्छा नहीं है; परन्तु कालकी कठिनता है, भाग्यकी मंदता है, सन्तोंकी कृपादृष्टि दृष्टिगोचर नहीं है, सत्संगकी कमी है, वहाँ, कुछ ही—

तो भी उस क्रमका बीजारोपण हृदयमें अवश्य हो गया है, और यही सुखकर हुआ है। सृष्टिके राजसे जो सुख मिलनेकी आशा न थी, तथा किसी भी तरह चाहे जैसे औषधसे, साधनसे, स्त्रीसे, पुत्रसे, मित्रसे या दूसरे अनेक उपचारसे जो अंतःशांति होनेवाली न थी, वह हुई है। निरंतरकी—भविष्यकालकी—भीति चली गई है और एक साधारण उपजीवनमें प्रवृत्ति करता हुआ ऐसा आपका यह मित्र इसीको लेकर जीता है, नही तो जीनेमें अवश्य शंका ही थी; विशेष क्या कहना! यह भ्रम नहीं है, वहम नहीं है, अवश्य सत्य ही है। त्रिकालमें इस एक ही परम प्रिय और जीवनवस्तुकी प्राप्ति, उसका बीजारोपण क्यों और कैसे हुआ इस व्याख्याका प्रसंग यहाँ नहीं है, परन्तु अवश्य यही मुझे त्रिकाल मान्य हो! इतना ही कहनेका प्रसंग है। क्योंकि लेखन समय बहुत थोड़ा है।

इस प्रियजीवनको सभी पा जाये, सभी इसके योग्य हों, सभीको यह प्रिय लगे, सभीको इसमें रुचि हो, ऐसा भूतकालमें हुआ नहीं है, वर्तमानकालमें होनेवाला नहीं है, और भविष्यकालमें भी होना असम्भव है, और इसी कारणसे इस जगतकी विचित्रता त्रिकाल है।

मनुष्यके सिवाय दूसरे प्राणीकी जाति देखते हैं तो उसमें तो इस वस्तुका विवेक मालूम नहीं होता; अब जो मनुष्य रहे, उन सब मनुष्योंमें भी वैसा नहीं देख सकेंगे। (अपूर्ण)

---

२३ वाँ वर्ष

८४ वि० सं० १९४६

भाई, इतना तो तेरे लिये अवश्य करने योग्य है—

१. देहमें विचार करनेवाला बैठा है वह देहसे भिन्न है ? वह सुखी है या दुःखी है ? यह याद कर ले।

२. दुःख लगेगा ही, और दुःखके कारण भी तुझे दृष्टिगोचर होंगे, फिर भी कदाचित् न हों तो मेरे० किसी भागको पढ़ जा, इससे सिद्ध होगा। उसे दूर करनेका जो उपाय है वह इतना ही कि उससे बाह्याभ्यन्तररहित होना।

३. रहित हुआ जाता है, और ही दशाका अनुभव होता है, यह प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ।

४. उस साधनके लिये सर्वसंगपरित्यागी होनेकी आवश्यकता है। निर्ग्रंथ सद्गुरुके चरणमें जाकर पड़ना योग्य है।

५. जैसे भावसे पड़ा जाये वैसे भावसे सर्वकाल रहनेका विचार पहले कर ले। यदि तुझे पूर्वकर्म बलवान लगते हों तो अत्यागी, देशत्यागी रहकर भी उस वस्तुको मत भुलाना।

६. प्रथम चाहे जैसे करके तू अपने जीवनको जान। जानना किसलिये ? भविष्यसमाधि होनेके लिये। अब अप्रमादी होना।

७. इस आयुका मानसिक आत्मोपयोग तो निर्वेदमें रख।

८. जीवन बहुत छोटा है, उपाधि बहुत है, और उसका त्याग नहीं हो सकता है, तो नीचेकी बातें पुनः पुनः ध्यानमें रख—

(१) उस वस्तुकी अभिलाषा रखना।

(२) संसारको बंधन मानना।

(३) पूर्वकर्म नहीं है ऐसा मानकर प्रत्येक धर्मका सेवन किये जाना। फिर भी यदि पूर्वकर्म दुःख दे तो शोक नहीं करना।

(४) देहकी जितनी चिन्ता रखता है उतनी नहीं परन्तु उससे अनन्तगुनी चिंता आत्माकी रख, क्योंकि अनन्त भवोंको एक भवमें दूर करना है।

(५) न चले तो प्रतिश्रोती हो जा।

(६) जिसमेंसे जितना हो उतना कर।

(७) पारिणामिक विचारवाला हो जा।

(८) अनुत्तरवासी होकर रह।

(९) अंतिमको किसी भी समय न चूकियेगा। यही अनुरोध और यही धर्म।

---

८५ बम्बई, वि० सं० १९४६

समझकर अल्पभाषी होनेवालेको पश्चात्ताप करनेका अवसर कम ही सम्भव है।

हे नाथ ! सातवे तमतमप्रभा नरककी वेदना मिली होती तो शायद मान्य करता, परंतु जगतकी मोहिनी मान्य नहीं होती।

पूर्वके अशुभकर्मके उदय आनेपर वेदन करते हुए शोक करते हैं तो अब यह भी ध्यान रखें कि नये कर्मोंको बाँधते हुए परिणाममें वैसे ही तो नहीं बँधते ?

आत्माको पहचानना हो तो आत्माका परिचयी होना और परवस्तुका त्यागी होना।

जो जितना अपना पौद्गलिक बड़प्पन चाहते हैं वे उतने ही हलके होने संभव हैं।

प्रशस्त पुरुषकी भक्ति करें, उसका स्मरण करें, गुणचिंतन करें।

---

८६ सं० १९४६

निःस्पृह महात्माओंको अभेदभावसे नमस्कार

[1]'जीवको परिभ्रमण करते हुए अनंतकाल हुआ, फिर भी उसकी निवृत्ति क्यों नहीं होती, और वह क्या करनेसे हो ?' इस वाक्यमें अनेक अर्थ समाये हुए हैं। उनका विचार किये बिना या दृढ़ विश्वाससे व्यथित हुए बिना मार्गके अंशका अल्प भान नहीं होता। दूसरे सब विकल्प दूर करके इस एक ऊपर लिखे हुए सत्पुरुषोंके वचनामृतका वारंवार विचार कर लें।

[2]संसारमें रहना और मोक्ष होना कहना यह होना असुलभ है।

मैत्री—सब जीवोंके प्रति हितचिन्तन।

प्रमोद—गुणी जीवके प्रति उल्लासपरिणाम।

करुणा—कोई भी जीव जन्म-मरणसे मुक्त हो ऐसा प्रयत्न करना।

मध्यस्थता—निर्गुणी जीवके प्रति मध्यस्थता।

---

८७ बंबई, कार्तिक सुदी ७, गुरु, १९४६

'अष्टक' और 'योगबिंदु' नामकी दो पुस्तकें आपकी दृष्टिसे निकल जानेके लिये मैं इसके साथ भेज रहा हूँ। 'योगबिंदु' का दूसरा पन्ना ढूँढ़नेपर मिल नहीं सका; तो भी बाकीका भाग समझा जा सकता है इसलिये यह पुस्तक भेज रहा हूँ। 'योगदृष्टिसमुच्चय' बादमें भेजूँगा। परमतत्त्वको सामान्य ज्ञानमें प्रस्तुत करनेकी हरिभद्राचार्यकी चमत्कृति स्तुत्य है। किसी स्थलमें खंडन-मंडनका भाग सापेक्ष होगा, उस ओर आपकी दृष्टि नहीं होनेसे मुझे आनन्द है।

अथसे इति तक अवलोकन करनेका समय निकालनेसे मेरे पर एक कृपा होगी। (जैनदर्शन ही मोक्षका अखण्ड उपदेश करनेवाला और वास्तविक तत्त्वमें श्रद्धा रखनेवाला दर्शन है। फिर भी कोई 'नास्तिक' के उपनामसे उसका पहले खण्डन कर गये हैं, यह यथार्थ नहीं हुआ, यह बात इस पुस्तकके पढ़नेसे प्रायः आपकी दृष्टिमें आ जायेगी।)

मैं आपको जैनसम्बन्धी कुछ भी अपना आग्रह नहीं बताता। और आत्मा जिस रूपमें हो उस रूपमें चाहे जिससे हो जाये इसके सिवाय दूसरी कोई मेरी अंतरंग अभिलाषा नहीं है, ऐसा कुछ कारणसे कहकर, जैन भी एक पवित्र दर्शन है ऐसा कहनेकी आज्ञा लेता हूँ। यह मात्र यों समझकर कहता हूँ कि जो वस्तु जिस रूपमें स्वानुभवमें आयी हो उसे उस रूपमें कहना चाहिये।

सभी सत्पुरुष मात्र एक ही मार्गसे तरे हैं, और वह मार्ग वास्तविक आत्मज्ञान और उसकी अनुचारिणी देहस्थितिपर्यंत सक्रिया या रागद्वेष और मोहसे रहित दशा होनेसे वह तत्त्व उन्हें प्राप्त हुआ

१. देखें आंक १९५। २. देखें आंक १५३ में भी यह वाक्य है।

हो ऐसा मेरा निजी मत है।

आत्मा ऐसा लिखनेके लिये अभिलाषी था, इसलिये लिखा है। इसकी न्यूनाधिकता क्षमापात्र है।

वि० रायचंदके विनयपूर्वक प्रणाम।

---

८८ बंबई, कार्तिक, १९४६

(१)

यह पूरा कागज है, यह [1]सर्वव्यापक चेतन है। उसके कितने भागमें माया समझनी ? जहाँ जहाँ वह माया हो वहाँ-वहाँ चेतनको बंध समझना या नहीं ? उसमें भिन्न भिन्न जीव किस तरह मानने ? और उन जीवोंको बंध किस तरह मानना ? और उस बंधकी निवृत्ति किस तरह माननी ? उस बंधकी निवृत्ति होनेपर चेतनका कौनसा भाग मायारहित हुआ माना जाये ? जिस जिस भागमेंसे पूर्वमें मुक्त हुए हों उस उस भागको निरावरण समझना अथवा किस तरह ? और एक जगह निरावरणता, तथा दूसरी जगह आवरण, तीसरी जगह निरावरण ऐसा हो सकता है या नहीं ? इसका चित्र बनाकर विचार करें।

सर्वव्यापक आत्मा–

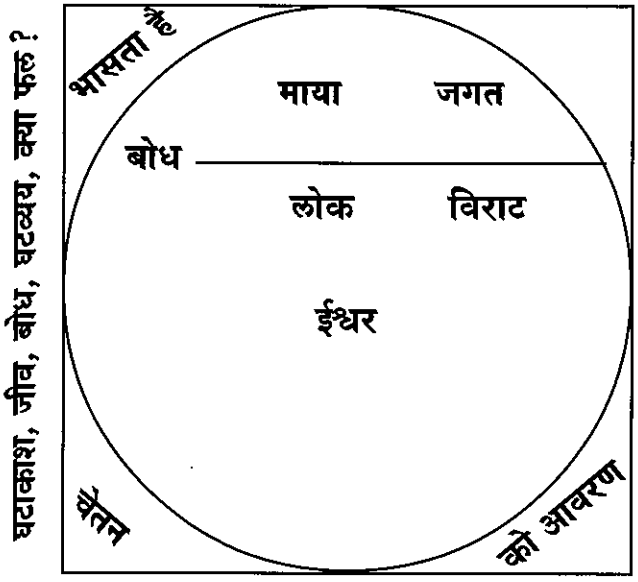

इस तरह तो यह घटित नहीं होता–

---

(२)

प्रकाशस्वरूप धाम

उसमें अनंत अप्रकाश भासमान अंतःकरण।

इससे क्या होता है ?

जहाँ जहाँ वे अंतःकरण व्याप्त हों वहाँ वहाँ माया भासमान हो, आत्मा असंग होनेपर भी संगवान मालूम हो, अकर्ता होनेपर भी कर्ता मालूम हो, इत्यादि विपरीतताएँ होती है।

---

१. 'मानो कि' अध्याहार।

इससे क्या होता है ?
आत्माको बंधकी कल्पना होती है उसका क्या करना ?
अंतःकरणका सम्बन्ध दूर करनेके लिये उससे अपनी भिन्नता समझनी।
भिन्नता समझनेसे क्या होता है ?
आत्मा स्वस्वरूपमें अवस्थित रहता है।
एकदेश निरावरण होता है या सर्वदेश निरावरण होता है ?

---

८९ बंबई, कार्तिक सुदी १५, १९४६

समुच्चयवयचर्या

सम्वत् १९२४की कार्तिक सुदी १५, रविवारको मेरा जन्म होनेसे आज मुझे सामान्य गणनासे बाईस वर्ष पूरे हुए। बाईस वर्षकी अल्प वयमें मैंने अनेक रंग आत्माके सम्बन्धमें, मनके सम्बन्धमें, वचनके सम्बन्धमें, तनके सम्बन्धमें और धनके सम्बन्धमें देखे हैं। नाना प्रकारकी सृष्टिरचना, नाना प्रकारकी सांसारिक तरंगें, अनंत दुःखमूल, इन सबका अनेक प्रकारसे मुझे अनुभव हुआ है। समर्थ तत्त्वज्ञानियोंने और समर्थ नास्तिकोंने जो जो विचार किये हैं उस प्रकारके अनेक विचार इस अल्प वयमें मैंने किये हैं। महान चक्रवर्ती द्वारा किये गये तृष्णाके विचार और एक निःस्पृही महात्मा द्वारा किये गये निःस्पृहताके विचार मैंने किये हैं। अमरत्वकी सिद्धि और क्षणिकत्वकी सिद्धिका खूब विचार किया है। अल्प वयमें महान विचार कर ड़ाले हैं। महान विचित्रताकी प्राप्ति हुई है। यह सब बहुत गंभीरभावसे आज मैं दृष्टि ड़ालकर देखता हूँ तो पहलेकी मेरी उगती हुई विचारश्रेणि, आत्मदशा और आजकी, दोनोंमें आकाश-पातालका अंतर है; उसका सिरा और इसका सिरा किसी कालमें मानो मिलाया मिले वैसा नहीं है। परन्तु आप सोचेंगे कि इतनी सारी विचित्रताका किसी स्थलपर कुछ लेखन—चित्रण किया है या नहीं ? तो इस विषयमें इतना ही कह सकूँगा कि लेखन—चित्रण सब स्मृतिके चित्रपट पर है। किन्तु पत्र-लेखनीका समागम करके जगतमें दर्शानेका प्रयत्न नहीं किया है। यद्यपि मैं ऐसा समझ सकता हूँ कि वह वयचर्या जनसमूहके लिये बहुत उपयोगी, पुनः पुनः मनन करने योग्य तथा परिणाममें उनकी ओरसे मुझे श्रेयकी प्राप्ति हो वैसी है; परन्तु मेरी स्मृतिने वह परिश्रम उठानेकी मुझे स्पष्ट ना कही थी, इसलिये निरुपायतासे क्षमा माँग लेता हूँ। पारिणामिक विचारसे उस स्मृतिकी इच्छाको दबाकर उसी स्मृतिको समझाकर, वह वयचर्या धीरे धीरे संभव हुआ तो अवश्य धवलपत्रपर रखूँगा; तो भी समुच्चयवयचर्याको याद कर जाता हूँ—

सात वर्ष तक बालवयकी खेलकूदका अत्यंत सेवन किया था। उस समयकी मुझे इतनी तो याद आती है कि विचित्र कल्पना—कल्पनाका स्वरूप या हेतु समझे बिना—मेरे आत्मामें हुआ करती थी। खेलकूदमें भी विजय पानेकी और राजेश्वर जैसी उच्च पदवी प्राप्त करनेकी परम अभिलाषा थी। वस्त्र पहननेकी, स्वच्छ रखनेकी, खाने-पीनेकी, सोने-बैठनेकी, सारी विदेही दशा थी, फिर भी अंतःकरण कोमल था। वह दशा आज भी बहुत याद आती है। आजका विवेकी ज्ञान उस वयमें होता तो मुझे मोक्षके लिये विशेष अभिलाषा न रहती। ऐसी निरपराध दशा होनेसे पुनः पुनः वह याद आती है।

सात वर्षसे ग्यारह वर्ष तकका समय शिक्षा लेनेमें बीता। आज मेरी स्मृतिको जितनी ख्याति प्राप्त हैं, उतनी ख्याति प्राप्त होनेसे वह किंचित् अपराधी हुई है; परन्तु उस समय निरपराध स्मृति होनेसे एक

ही बार पाठका अवलोकन करना पड़ता था; फिर भी ख्यातिका हेतु न था, अतः उपाधि बहुत कम थी। स्मृति ऐसी बलवत्तर थी कि वैसी स्मृति बहुत ही थोड़े मनुष्योंमें इस कालमें, इस क्षेत्रमें होगी। पढ़नेमें प्रमादी बहुत था। बातोंमें कुशल, खेलकूदमें रुचिवान और आनंदी था। जिस समय शिक्षक पाठ पढ़ाता, मात्र उसी समय पढ़कर उसका भावार्थ कह देता। इस ओरकी निश्चिंतता थी। उस समय मुझमें प्रीति—सरल वात्सल्यता—बहुत थी; सबसे ऐक्य चाहता; सबमें भ्रातृभाव हो तभी सुख, इसका मुझे स्वाभाविक ज्ञान था। लोगोंमें किसी भी प्रकारसे जुदाईके अंकुर देखता कि मेरा अंतःकरण रो पड़ता। उस समय कल्पित बातें करनेकी मुझे बहुत आदत थी। आठवें वर्षमें मैंने कविता की थी; जो बादमें जाँचनेपर समाप थी।

अभ्यास इतनी त्वरासे कर सका था कि जिस व्यक्तिने मुझे प्रथम पुस्तकका बोध देना आरम्भ किया था उसीको गुजराती शिक्षण भली भाँति प्राप्त कर उसी पुस्तकका पुनः मैंने बोध किया था। तब कितने ही काव्यग्रन्थ मैंने पढ़े थे। तथा अनेक प्रकारके इधर-उधरके छोटे-मोटे बोधग्रन्थ मैंने देखे थे; जो प्रायः अभी तक स्मृतिमें विद्यमान हैं। तब तक मुझसे स्वाभाविकरूपसे भद्रिकताका ही सेवन हुआ था। मैं मनुष्यजातिका बहुत विश्वासी था। स्वाभाविक सृष्टिरचनापर मुझे बहुत प्रीति थी।

मेरे पितामह कृष्णकी भक्ति करते थे। उनसे उस वयमें कृष्णकीर्तनके पद मैंने सुने थे; तथा भिन्न-भिन्न अवतारोंके सम्बन्धमें चमत्कार सुने थे, जिससे मुझे भक्तिके साथ-साथ उन अवतारोंमें प्रीति हो गयी थी, और रामदासजी नामके साधुके पास मैंने बाललीलामें कंठी बँधवाई थी। नित्य कृष्णके दर्शन करने जाता; समय समयपर कथाएँ सुनता; बार-बार अवतारों सम्बन्धी चमत्कारोंमें मैं मुग्ध होता और उन्हें परमात्मा मानता, जिससे उनके रहनेका स्थान देखनेकी परम अभिलाषा थी। उनके सम्प्रदायके महंत होवें, जगह-जगहपर चमत्कारसे हरिकथा करते होवें और त्यागी होवें तो कितना आनन्द आये? यही कल्पना हुआ करती; तथा कोई वैभवी भूमिका देखता कि समर्थ वैभवशाली होनेकी इच्छा होती। 'प्रवीण-सागर' नामका ग्रन्थ उस अरसेमें मैंने पढ़ा था, उसे अधिक समझा नहीं था; फिर भी स्त्रीसम्बन्धी नाना प्रकारके सुखोंमें लीन होवें और निरुपाधिरूपसे कथाकथन श्रवण करते होवें तो कैसी आनंददायक दशा, यह मेरी तृष्णा थी। गुजराती भाषाकी वाचनमालामें जगतकर्त्ता-सम्बन्धी कितने ही स्थलोंमें उपदेश किया है वह मुझे दृढ़ हो गया था, जिससे जैन लोगोंके प्रति मुझे बहुत जुगुप्सा आती थी; बिना बनाये कोई पदार्थ नहीं बन सकता, इसलिये जैन लोग मूर्ख हैं, उन्हें कुछ मालूम नहीं है। तथा उस समय प्रतिमाके अश्रद्धालु लोगोंकी क्रियाएँ मेरे देखनेमें आती थी, जिससे वे क्रियाएँ मलिन लगनेसे मैं उनसे डरता था अर्थात् वे मुझे प्रिय न थी।

जन्मभूमिमें जितने वणिक रहते हैं, उन सबकी कुलश्रद्धा भिन्न भिन्न होनेपर भी कुछ प्रतिमाके अश्रद्धालु जैसी ही थी, इससे मुझे उन लोगोंका ही संसर्ग था। लोग मुझे पहलेसे ही समर्थ शक्तिशाली और गाँवका नामांकित विद्यार्थी मानते थे, इसलिये मैं अपनी प्रशंसाके कारण जानबूझकर वैसे मंडलमें बैठकर अपनी चपलशक्ति दर्शानेका प्रयत्न करता। कंठीके लिये बारबार वे मेरी हास्यपूर्वक टीका करते; फिर भी मैं उनसे वाद करता और उन्हें समझानेका प्रयत्न करता। परन्तु धीरे-धीरे मुझे उनके प्रतिक्रमणसूत्र इत्यादि पुस्तकें पढ़नेके लिये मिलीं; उनमें बहुत विनयपूर्वक जगतके सब जीवोंसे मित्रता चाही है अतः मेरी प्रीति इसमें भी हुई और उसमें भी रही। धीरे-धीरे यह प्रसंग बढ़ा। फिर भी स्वच्छ रहनेके तथा दूसरे आचारविचार मुझे वैष्णवोंके प्रिय थे और जगतकर्त्ताकी श्रद्धा थी। उस अरसेमें कंठी टूट गई, इसलिये उसे फिरसे मैंने नहीं बाँधा। उस समय बाँधने, न बाँधनेका कोई कारण मैंने ढूँढ़ा न था। यह मेरी तेरह

वर्षकी वयचर्या है। फिर मैं अपने पिताकी दूकानपर बैठता और अपने अक्षरोंकी छटाके कारण कच्छदरबारके उतारेपर मुझे लिखनेके लिये बुलाते तब मैं वहाँ जाता। दूकानपर मैंने नाना प्रकारकी लीलालहर की है, अनेक पुस्तकें पढ़ी हैं; राम इत्यादिके चरित्रोंपर कविताएँ रची हैं; सांसारिक तृष्णाएँ की हैं; फिर भी किसीको मैंने न्यूनाधिक दाम नहीं कहा या किसीको न्यून-अधिक तौल कर नहीं दिया, यह मुझे निश्चित याद है।

९०

बंबई, कार्तिक, १९४६

दो भेदोंमें विभक्त धर्मको तीर्थंकरने दो प्रकारका कहा है—

१. सर्वसंगपरित्यागी।

२. देशपरित्यागी।

सर्व परित्यागी—

भाव और द्रव्य।

उसका अधिकारी।

पात्र, क्षेत्र, काल, भाव।

पात्र—

वैराग्य आदि लक्षण, त्यागका कारण और पारिणामिक भावकी ओर देखना।

क्षेत्र—

उस पुरुषकी जन्मभूमि, त्यागभूमि ये दो।

काल—

अधिकारीकी वय, मुख्य वर्तमान काल।

भाव—

विनय आदि, उसकी योग्यता, शक्ति।

गुरु उसे प्रथम क्या उपदेश करे ?

'दशवैकालिक', 'आचारांग' इत्यादि संबंधी विचार;

उसके नवदीक्षित होनेके कारण उसे स्वतंत्र विहार करने देनेकी आज्ञा इत्यादि।

नित्यचर्या।

वर्ष कल्प।

अंतिम अवस्था।

(तत्सम्बन्धी परम आवश्यकता है।)

देशत्यागी—

आवश्यक क्रिया।

नित्य कल्प।

भक्ति।

अणुव्रत।

दान-शील-तप-भावका स्वरूप।

ज्ञानके लिये उसका अधिकार।

(तत्संबंधी परम आवश्यकता है।)

ज्ञानका उद्धार–

श्रुत ज्ञानका उदय करना चाहिये।
योगसम्बन्धी ग्रन्थ।
त्यागसम्बन्धी ग्रन्थ।
प्रक्रियासम्बन्धी ग्रन्थ।
अध्यात्मसम्बन्धी ग्रन्थ।
धर्मसम्बन्धी ग्रन्थ।
उपदेश ग्रन्थ।
आख्यान ग्रन्थ।
द्रव्यानुयोगी ग्रन्थ।

(इत्यादि विभाग करने चाहिये।)

उसका क्रम और उदय करना चाहिये।

निर्ग्रंथधर्म।

आचार्य। उपाध्याय। मुनि। गृहस्थ। } गच्छ। प्रवचन। द्रव्यलिंगी। अन्य दर्शन सम्बन्ध।

(इन सबकी योजना करनी चाहिये।)

मतमतांतर
उसका स्वरूप।
उसको समझाना।
मार्गकी शैली।
जीवनका बिताना।
उद्योत।
(यह विचारणा।)

---

९१ बंबई, कार्तिक, १९४६

वह पवित्र दर्शन होनेके बाद चाहे जैसा वर्तन हो, परन्तु उसे तीव्र बंधन नहीं है, अनन्त संसार नहीं है, सोलह भव नहीं हैं, अभ्यंतर दुःख नहीं है, शंकाका निमित्त नहीं है, अंतरंग मोहिनी नहीं है, सत् सत् निरुपम, सर्वोत्तम, शुक्ल, शीतल, अमृतमय दर्शनज्ञान, सम्यक् ज्योतिर्मय, चिरकाल आनन्दकी प्राप्ति, अद्‌भुत सत्स्वरूपदर्शिताकी बलिहारी है।

जहाँ मतभेद नहीं है; जहाँ शंका, कंखा, वितिगिच्छा, मूढ़दृष्टि इनमेंसे कुछ भी नहीं है। जो है उसे कलम लिख नहीं सकती, वचन कह नहीं सकता, और मन जिसका मनन नहीं कर सकता।

है वह।

---

९२ बंबई, कार्तिक, १९४६

सब दर्शनोंसे उच्च गति है। परंतु ज्ञानियोंने मोक्षका मार्ग उन शब्दोंमें स्पष्ट नहीं बताया है, गौणतासे रखा है। उस गौणताका सर्वोत्तम तत्त्व यह मालूम होता है–

निश्चय, निर्ग्रंथ ज्ञानी गुरुकी प्राप्ति, उसकी आज्ञाका आराधन, सदैव उसके पास रहना, अथवा

सत्संगकी प्राप्तिमें रहना, आत्मदर्शिता तब प्राप्त होगी।

---

९३ बंबई, कार्तिक, १९४६

नवपदके ध्यानियोंकी वृद्धि करनेकी मेरी अभिलाषा है।

---

९४ बंबई, मगसिर सुदी ९, रवि, १९४६

सुज्ञश्री,

आपने मेरे विषयमें जो जो प्रशंसा प्रदर्शित की है, उस सबपर मैंने बहुत मनन किया है। वैसे गुण प्रकाशित हों ऐसी प्रवृत्ति करनेकी अभिलाषा है। परंतु वैसे गुण कुछ मुझमें प्रकाशित हुए हों, ऐसा मुझे नहीं लगता। मात्र रुचि उत्पन्न हुई है, ऐसा मानें तो माना जा सकता है। हम यथासंभव एक ही पदके इच्छुक होकर प्रयत्नशील होते हैं, वह यह कि "बँधे हुओंको छुड़ाना।" यह बंधन जिससे छूटे उससे छोड़ लेना, यह सर्वमान्य है।

वि० रायचंदके प्रणाम।

---

९५ बंबई, पौष, १९४६

इस प्रकारसे तेरा समागम मुझे किसलिये हुआ? कहाँ तेरा गुप्त रहना हुआ था?

सर्वगुणांश सम्यक्त्व है।

---

९६ बंबई, पौष सुदी ३, बुध, १९४६

कोई ऐसा योजक पुरुष (होना चाहे तो) धर्म, अर्थ, कामकी एकत्रता प्रायः एक पद्धति– एक समुदायमें, कितने ही उत्कृष्ट साधनोंसे, साधारण श्रेणिमें लानेका प्रयत्न करे, और वह प्रयत्न अनासक्त भावसे–

१. धर्मका प्रथम साधन।
२. फिर अर्थका साधन।
३. कामका साधन।
४. मोक्षका साधन।

---

९७ बंबई, पौष सुदी ३, १९४६

सत्पुरुषोंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंको प्राप्त करनेका उपदेश दिया है। ये चार पुरुषार्थ नीचेके दो प्रकारसे समझमें आये हैं–

१. वस्तुके स्वभावको धर्म कहा गया है।
२. जड़चैतन्यसम्बन्धी विचारोंको अर्थ कहा है।
३. चित्तनिरोधको काम कहा है।
४. सर्व बंधनसे मुक्त होना मोक्ष है।

इस प्रकार सर्वसंगपरित्यागीकी अपेक्षासे घटित हो सकता है। सामान्यतः निम्न प्रकारसे है–

धर्म–जो संसारमें अधोगतिमें गिरनेसे रोककर धारण कर रखता है वह धर्म है।

अर्थ–वैभव, लक्ष्मी, उपजीवनमें सांसारिक साधन।

काम–नियमितरूपसे स्त्री-सहवास करना काम है।

मोक्ष–सब बन्धनोंसे मुक्ति मोक्ष है।

'धर्म' को पहले रखनेका हेतु इतना ही है कि 'अर्थ' और 'काम' ऐसे होने चाहिये कि जिनका मूल 'धर्म' हो।

इसीलिये 'अर्थ' और 'काम' बादमें रखे गये हैं।

गृहस्थाश्रमी सर्वथा धर्मसाधन करना चाहे तो वैसा नहीं हो सकता, सर्वसंगपरित्याग ही चाहिये। गृहस्थके लिये भिक्षा आदि कृत्य योग्य नहीं है।

और गृहस्थाश्रम यदि– (अपूर्ण)

---

९८ बंबई, पौष वदी ९, मंगल, १९४६

आपका पत्र आज मिला, समाचार विदित हुए।

किसी प्रकारसे उसमें शोक करने जैसा कुछ नहीं है। आप शरीरसे सुखी हो ऐसा चाहता हूँ। आपका आत्मा सद्भावको प्राप्त हो यही प्रार्थना है।

मेरा आरोग्य अच्छा है। मुझे समाधिभाव प्रशस्त रहता है। इसके लिये भी निश्चिंत रहियेगा।

एक वीतरागदेवमें वृत्ति रखकर प्रवृत्ति करते रहियेगा।

आपका शुभचिंतक रायचंद्र।

---

९९ बंबई, पौष, १९४६

आर्य ग्रन्थकर्ताओं द्वारा उपदिष्ट चार आश्रम जिस कालमें देशकी विभूषाके रूपके प्रचलित थे उस कालको धन्य है!

चार आश्रमोंका अनुक्रम यह है–पहला ब्रह्मचर्याश्रम, दूसरा गृहस्थाश्रम, तीसरा वानप्रस्थाश्रम और चौथा संन्यासाश्रम। परंतु आश्चर्यके साथ यह कहना पड़ता है कि यदि जीवनका ऐसा अनुक्रम हो तो वे भोगनेमें आवें। कुल मिलाकर सौ वर्षकी आयुवाला व्यक्ति वैसे ही ढ़ंगसे चलता आये तो वह आश्रमोंका उपभोग कर सकता है। प्राचीनकालमें अकालिक मौतें कम होती होंगी ऐसा इस आश्रमव्यवस्थासे प्रतीत होता है।

---

१०० बंबई, पौष, १९४६

प्राचीनकालमें आर्यभूमिमें चार आश्रम प्रचलित थे, अर्थात् आश्रमधर्म मुख्यतः चलता था। परमर्षि नाभिपुत्रने भारतमें निर्ग्रंथधर्मको जन्म देनेसे पहले उस कालके लोगोंको व्यवहारधर्मका उपदेश इसी आशयसे किया था। उन लोगोंका व्यवहार कल्पवृक्षसे मनोवांछित पदार्थ मिलनेसे चलता था, जो अब क्षीण होता जाता था। उनमें भद्रता और व्यवहारकी भी अज्ञानता होनेसे, कल्पवृक्षकी सम्पूर्ण क्षीणताके समय वे बहुत दुःख पायेंगे, ऐसा अपूर्वज्ञानी ऋषभदेवजीने देखा। प्रभुने अपनी परम करुणादृष्टिसे उनके व्यवहारकी क्रममालिका बना दी।

जब भगवान तीर्थंकररूपमें विहार करते थे, तब उनके पुत्र भरतने व्यवहारशुद्धि होनेके लिये, उनके उपदेशका अनुसरण कर, तत्कालीन विद्वानोंसे चार वेदोंकी योजना करायी और उसमें चार आश्रमधर्म और चार वर्णकी नीतिरीतिका समावेश किया। भगवानने परम करुणासे जिन लोगोंको भविष्यमें धर्मप्राप्ति होने के लिये व्यवहारशिक्षा और व्यवहारधर्म बताया था; उन्हें भरतजीके इस कार्यसे परम सुगमता हो गयी।

इसपरसे चार वेद, चार आश्रम, चार वर्ण और चार पुरुषार्थके सम्बन्धमें यहाँ कुछ विचार करनेकी इच्छा है, उसमें भी मुख्यतः चार आश्रम और चार पुरुषार्थके सम्बन्धमें विचार करेंगे, और अंतमें हेयोपादेयके विचारसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको देखेंगे।

चार वेद, जिनमें आर्यगृहधर्मका मुख्य उपदेश था, वे इस प्रकार थे।

१०१

बंबई, पौष, १९४६

'जो मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंकी प्राप्ति कर सकना चाहते हों, उनके विचारमें सहायक होना' इस वाक्यमें इस पत्रको जन्म देनेका सब प्रकारका प्रयोजन बता दिया है। उसे कुछ प्रेरणा देना योग्य है।

इस जगतमें विचित्र प्रकारके देहधारी हैं, और प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रमाणसे यों सिद्ध हो सका है, कि उनमें मनुष्यरूपमें प्रवर्तमान देहधारी आत्मा इन चारों वर्गोंको सिद्ध कर सकनेके लिये विशेष योग्य है। मनुष्यजातिमें जितने आत्मा हैं उतने सब कहीं एकसी वृत्तिके, एकसे विचारके या समान जिज्ञासा और इच्छावाले नहीं हैं, ऐसा हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं। प्रत्येकको सूक्ष्मदृष्टिसे देखते हुए वृत्ति, विचार और इच्छाकी इतनी अधिक विचित्रता लगती है कि आश्चर्य होता है। इस आश्चर्यका बहुत प्रकारसे अवलोकन करनेसे यह फलित होता है कि सर्व प्राणियोंकी अपवादके बिना सुख प्राप्त करनेकी जो इच्छा है वह अधिकांश मनुष्यदेहमें सिद्ध हो सकती है, ऐसा होनेपर भी वे सुखके बदले दुःख ले लेते हैं; यह मात्र मोह दृष्टिसे हुआ है।

१०२

ॐ ध्यान

दुरंत तथा सारवर्जित इस अनादि संसारमें गुणसहित मनुष्यजन्म जीवको दुष्प्राप्य अर्थात् दुर्लभ है।

हे आत्मन्! तूने यदि यह मनुष्यजन्म काकतालीय न्यायसे प्राप्त किया है, तो तुझे अपनेमें अपना निश्चय करके अपना कर्तव्य सफल करना चाहिये। इस मनुष्य जन्मके सिवाय अन्य किसी भी जन्ममें अपने स्वरूपका निश्चय नहीं होता। इसीलिये यह उपदेश है।

अनेक विद्वानोंने पुरुषार्थ करनेको इस मनुष्यजन्मका फल कहा है। यह पुरुषार्थ धर्म आदिके भेदसे चार प्रकारका है। प्राचीन महर्षियोंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष यों चार प्रकारका पुरुषार्थ कहा है। इन पुरुषार्थोंमें पहले तीन पुरुषार्थ नाशसहित और संसाररोगसे दूषित हैं ऐसा जानकर तत्त्वज्ञ ज्ञानीपुरुष अंतके परमपुरुषार्थ अर्थात् मोक्षका साधन करनेमें ही यत्न करते हैं। कारण कि मोक्ष नाशरहित अविनाशी है।

प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप समस्त कर्मोंके सम्बन्धके सर्वथा नाशरूप लक्षणवाला तथा जो संसारका प्रतिपक्षी है वह मोक्ष हे। यह व्यतिरेक प्रधानतासे मोक्षका स्वरूप है। दर्शन और वीर्यादि गुणसहित तथा संसारके क्लेशोंसे रहित चिदानंदमयी आत्यंतिक अवस्थाको साक्षात् मोक्ष कहा है। यह अन्वय प्रधानतासे मोक्षका स्वरूप कहा है।

जिसमें अतींद्रिय, इंद्रियोंसे अतिक्रांत, विषयोंसे अतीत, उपमारहित और स्वाभाविक विच्छेद रहित पारमार्थिक सुख हो उसे मोक्ष कहा जाता है। जिसमें यह आत्मा निर्मल, शरीररहित, क्षोभरहित,

शांतस्वरूप, निष्पन्न (सिद्धरूप), अत्यंत अविनाशी सुखरूप, कृतकृत्य तथा समीचीन सम्यग्ज्ञान स्वरूप हो जाता है उस पदको मोक्ष कहते हैं।

धीर वीर पुरुष इस अनन्त प्रभाववाले मोक्षरूप कार्यके निमित्त समस्त प्रकारके भ्रमोंको छोड़कर कर्मबंधके नाश करनेके कारणरूप तपको अंगीकार करते हैं।

श्री जिन सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्रको मुक्तिका कारण कहते हैं। अतएव जो मुक्तिकी इच्छा करते हैं वे सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्रको ही मोक्षका साधन कहते हैं।

मोक्षके साधन जो सम्यक्दर्शन आदि हैं उनमें 'ध्यान' गर्भित है। इसलिये ध्यानका उपदेश अब प्रकट करते हुए कहते हैं—"हे आत्मन्! तू संसारदुःखके विनाशके लिये ज्ञानरूपी सुधारसको पी और संसारसमुद्रको पार करनेके लिये ध्यानरूप जहाजका अवलंबन कर। (अपूर्ण)

---

१०३ बंबई, माघ, १९४६

कुटुंबरूपी काजलकी कोठरीमें रहनेसे संसार बढ़ता है। चाहे जितना उसका सुधार करें; तो भी एकान्तवाससे जितना संसार क्षय होनेवाला है उसका सौवाँ हिस्सा भी उस काजलगृहमें रहनेसे नहीं होनेवाला है। वह कषायका निमित्त है; मोहके रहनेका अनादिकालीन पर्वत है। वह प्रत्येक अंतर गुफामें जाज्वल्यमान है। सुधार करते हुए कदाचित् श्राद्धोत्पत्ति[1] होना संभव है, इसलिये वहाँ अल्पभाषी होना, अल्पहासी होना, अल्पपरिचयी होना, अल्पसत्कारी होना, अल्पभावना बताना, अल्प सहचारी होना, अल्पगुरु होना, परिणामका विचार करना, यही श्रेयस्कर है।

---

१०४ बंबई, माघ वदी २, शुक्र, १९४६

आपका पत्र कल मिला। खम्भातवाले भाई मेरे पास आते हैं। मैं उनकी यथाशक्ति उपासना करता हूँ। वे किसी तरह मताग्रही हों ऐसा अभी तक उन्होंने मुझे नहीं दिखलाया है। जीव धर्मजिज्ञासु मालूम होते हैं। सत्य केवलीगम्य।

आपका आरोग्य चाहता हूँ। आपकी जिज्ञासाके लिये मैं निरुपाय हूँ। व्यवहारक्रमको तोड़कर मैं कुछ भी नहीं लिख सकता यह आपको अनुभव है, तो अब क्यों पुछवाते हो?

आपकी आत्मचर्या शुद्ध रहे ऐसी प्रवृत्ति करें।

जिनेन्द्रके कहे हुए पदार्थ यथार्थ ही है। अभी यही विज्ञापन।

---

१०५ बंबई, फागुन सुदी ६, १९४६

महावीरके बोधका पात्र कौन?

१. सत्पुरुषके चरणोंका इच्छुक,
२. सदैव सूक्ष्म बोधका अभिलाषी,
३. गुणपर प्रशस्त भाव रखनेवाला,
४. ब्रह्मव्रतमें प्रीतिमान,
५. जब स्वदोष देखे तब उसे दूर करनेका उपयोग रखनेवाला,
६. एक पल भी उपयोगपूर्वक बितानेवाला,

---

१. 'श्राद्ध' अर्थात् श्रावक धर्म और 'उत्पत्ति' अर्थात् प्रगटता।

७. एकांतवासकी प्रशंसा करनेवाला,

८. तीर्थादि प्रवासका उमंगी,

९. आहार, विहार और निहारका नियम रखनेवाला,

१०. अपनी गुरुताको छिपानेवाला,

ऐसा कोई भी पुरुष महावीरके बोधका पात्र है, सम्यग्दशाका पात्र है। पहले जैसा एक भी नहीं है।

---

१०६ बंबई, फागुन सुदी ८, १९४६

सुज्ञ भाईश्री,

आपके दोनों पत्र मिले थे। आपने पत्रके लिये तृषा प्रदर्शित की उसे समय निकालकर लिख सकूँगा।

व्यवहारोपाधि चल रही है। रचनाकी विचित्रता सम्यग्ज्ञानका उपदेश करनेवाली है।

त्रिभोवन यहाँसे सोमवारको रवाना होनेवाले थे। आपको मिलने आ सके होंगे। आप, वे और दूसरे आपके मंडलके साथी धर्मकी इच्छा रखते हैं। यह यदि सबकी अंतरात्माकी इच्छा होगी तो परम कल्याणरूप है। मुझे आपकी धर्म-अभिलाषाका औचित्य देखकर संतोष होता है।

जनसमूहकी अपेक्षासे यह बहुत ही निकृष्ट काल है। अधिक क्या कहना?

एक अंतरात्मा ज्ञानी साक्षी है। वि० रायचंदके प्रणाम—आपको और उन्हें।

---

१०७ बंबई, फागुन वदी १, १९४६

१. लोक पुरुषसंस्थाने कह्यो, एनो भेद तमे कंई लह्यो?
एनुं कारण समज्या कांई, के समजाव्यानी चतुराई? ॥१॥
शरीर परथी ए उपदेश, ज्ञान दर्शने के उद्देश।
जेम जणावो सुणीए तेम, कां तो लईए दईए क्षेम ॥२॥

---

२. शुं करवाथी पोते सुखी? शुं करवाथी पोते दुःखी?
पोते शुं? क्यांथी छे आप? एनो मागो शीघ्र जवाप ॥१॥

---

१. **भावार्थ**—कमरपर दोनों हाथोंको रखकर और पाँवोंको फैलाकर खड़े हुए पुरुषके आकारके समान लोककर स्वरूप बताया है। क्या आपने इसके रहस्यको समझा है? इसके कारणको आपने समझा है? अथवा तो उपमा द्वारा उसे समझानेकी चतुराई दिखाई हैं क्या?॥१॥ 'पिंडे सो ब्रह्मांडे' की उक्ति यहाँ लागू होती है। 'पुरुष' अर्थात् मनुष्य शरीरपरसे लोकस्वरूपका बोध करना है कि पुरुष अर्थात् आत्मा, जिसमें आत्माके ज्ञान-दर्शन गुण आत्माकार है, जिनमें लोकस्वरूप प्रतिभासित होता है; इसलिये अध्यात्मदृष्टिसे लोकको पुरुषाकार कहा है? इस तरह दोनों प्रकारसे जो प्रश्न होता है उसका समाधान आपको कुछ समझमें आता है? इस विषयमें विचार करनेसे आपने जो समझा हो वह कहें तो सुनें और हमने जो कुछ समझा है उसे हम कहें। इस तरह परस्पर विचार-विनिमयसे आत्मकल्याण एवं सुखशांतिका आदानप्रदान करें॥२॥

२. **भावार्थ**—क्या करनेसे हम सुखी हैं? क्या करनेसे हम दुःखी हैं? हम कौन हैं? हम कहाँसे आये हैं? इत्यादि प्रश्न अंतरमें खड़े होते हैं। इनके यथार्थ उत्तर शीघ्र माँगें॥१॥

३. ज्यां शंका त्यां गण संताप, ज्ञान तहां शंका नहि स्थाप ।
प्रभुभक्ति त्यां उत्तम ज्ञान, प्रभु मेळववा गुरु भगवान ॥१॥

गुरु ओळखवा घट वैराग्य, ते ऊपजवा पूर्वित भाग्य ।
तेम नहीं तो कंई सत्संग, तेम नहीं तो कंई दुःखरंग ॥२॥

---

४. जे गायो ते सघळे एक, सकळ दर्शने ए ज विवेक ।
समजाव्यानी शैली करी, स्याद्वाद समजण पण खरी ॥१॥

मूळ स्थिति जो पूछो मने, तो सोंपी दउं योगी कने ।
प्रथम अंत ने मध्ये एक, लोकरूप अलोके देख ॥२॥

जीवाजीव स्थितिने जोई, टळ्यो ओरतो शंका खोई ।
एम जस्थिति त्यां नहीं उपाय, "उपाय कां नहीं ?" शंका जाय ॥३॥

ए आश्चर्य जाणे ते जाण, जाणे ज्यारे प्रगटे भाण ।
समजे बंधमुक्तियुत जीव, नीरखी टाळे शोक सदीव ॥४॥

बंधयुक्त जीव कर्म सहित, पुद्गल रचना कर्म खचीत ।
पुद्गलज्ञान प्रथम ले जाण, नर देहे पछी पामे ध्यान ॥५॥

जो के पुद्गलनो ए देह, तो पण ओर स्थिति त्यां छेह ।
समजण बीजी पछी कहीश, ज्यारे चित्ते स्थिर थईश ॥६॥

---

३. **भावार्थ**—जहाँ शंका है वहाँ संताप समझें; और जहाँ ज्ञान है वहाँ शंका नहीं रहती। जहाँ प्रभुभक्ति है वहाँ उत्तम ज्ञान है। प्रभुप्राप्तिके लिये गुरु भगवानकी शरण लें॥१॥ गुरुको पहचाननेके लिये हृदयमें वैराग्यकी आवश्यकता है, और इस वैराग्यकी उत्पत्तिके लिये पूर्वके पुण्यरूप भाग्यकी आवश्यकता है। यदि भाग्योदय नहीं है तो कुछ सत्संगकी अपेक्षा है। यदि सत्संग नहीं है तो कुछ दुःखरंग देखनेपर यह आता है॥२॥

४. **भावार्थ**—सब धर्मोंमें एक परम तत्त्वका ही गुणगान है, और सब दर्शनोंने भिन्न-भिन्न शैलीसे उसी परम तत्त्वका विवेचन किया है। परन्तु स्याद्वाद शैली सम्पूर्ण एवं यथार्थ है॥१॥ यदि आप मुझे मूल स्थिति अर्थात् लोकस्वरूप अथवा आत्मस्वरूपके बारेमें पूछते हैं तो मैं आपसे कहता हूँ कि आत्मज्ञानी योगी अथवा सयोगी केवलीने जो लोकस्वरूप बताया है वही यथार्थ एवं मान्य करने योग्य हैं। अलोकाकाशमें जीव, पुद्गल आदि छः द्रव्यसमूहरूप लोक पुरुषाकारसे स्थित है और जो आदि, मध्य और अन्तमें अर्थात् तीन कालमें इसी रूपसे रहनेवाला है॥२॥ उसमें जीवाजीवकी स्थितिको देखकर तत्संबंधी जिज्ञासा शांत हुई, व्याकुलता मिट गई और शंका दूर हो गई। लोककी यही स्थिति है, उसे किसी भी उपायसे अन्यथा करनेके लिये कोई भी समर्थ नहीं है। उसे अन्यथा करनेका उपाय क्यों नहीं ? इत्यादि शंकाओंका समाधान हो गया॥३॥ जो इस आश्चर्यकारी स्वरूपको जानता है वह ज्ञानी है। और जब केवलज्ञानरूपी भानु (सूर्य) का उदय हो तभी इस लोकका स्वरूप जाना जा सकता है। फिर वह समझ जाता है कि जीव बंध और मुक्तिसे युक्त है। संसारकी ऐसी स्थिति देखकर हर्ष-शोक सदाके लिये दूरकर वह वीतराग सदैव समता सुखमें निमग्न हो जाता है ॥४॥ संसारी जीव बंधयुक्त है और वह बंध पुद्गलवर्गणारूप कर्मोंसे हुआ है। अनंत शक्तिशाली जीवको पुद्गल परमाणुओंकी कर्मरूप रचनासे बंधनकी अवस्थाको प्राप्त होकर संसारमें अनंत दुःखद परिभ्रमण करना पडता है। इसलिये पहले वह पुद्गलस्वरूपको जाने और अनुक्रमसे धर्मध्यान एवं शुक्लध्यानमें एकाग्र होकर परम पुरुषार्थ मोक्षमें प्रवृत्ति करें। नरदेहमें ही ऐसा पुरुषार्थ हो सकता है॥५॥ देह यद्यपि पुद्गलका ही है, तो भी भेदज्ञानको प्राप्त होकर आत्मज्ञानी ध्यानमें एकाग्र होकर अपूर्व आनंदको प्राप्त होता है। जब चित्त संकल्प-विकल्प से रहित होकर स्थिर होगा तब फिर दूसरा बोध दूँगा॥६॥

५. जहां राग अने वळी द्वेष, तहां सर्वदा मानो क्लेश ।
उदासीनतानो ज्यां वास, सकळ दुःखनो छे त्यां नाश ॥१॥
सर्व कालनुं छे त्यां ज्ञान, देह छतां त्यां छे निर्वाण ।
भव छेवटनी छे ए दशा, राम धाम आवीने वस्या ॥२॥

---

१०८ बंबई, फागुन, १९४६

हे जीव ! तू भ्रममें मत पड़, तुझे हितकी बात कहता हूँ।

अंतरमें सुख है, बाहर खोजनेसे नहीं मिलेगा।

अंतरका सुख अंतरकी समश्रेणीमें है, उसमें स्थिति होनेके लिये बाह्य पदार्थोंका विस्मरण कर, आश्चर्य भूल।

समश्रेणी रहना बहुत दुर्लभ है, निमित्ताधीन वृत्ति पुनः पुनः चलित हो जायेगी, चलित न होनेके लिये अचल गंभीर उपयोग रख।

यह क्रम यथायोग्यरूपसे चलता आया तो तू जीवनका त्याग करता रहेगा, हताश नहीं होगा, निर्भय होगा।

भ्रममें मत पड़, तुझे हितकी बात कहता हूँ।

यह मेरा है, ऐसे भावकी व्याख्या प्रायः न कर।

यह उसका है ऐसा न मान बैठ।

इसके लिये ऐसा करना है यह भविष्यनिर्णय न कर रख।

इसके लिये ऐसा न हुआ होता तो सुख होता ऐसा स्मरण न कर।

इतना इस प्रकारसे हो तो अच्छा, ऐसा आग्रह न कर रख।

इसने मेरे प्रति अनुचित किया, ऐसा स्मरण करना न सीख।

इसने मेरे प्रति उचित किया ऐसा स्मरण न रख।

यह मुझे अशुभ निमित्त है ऐसा विकल्प न कर।

यह मुझे शुभ निमित्त है ऐसी दृढ़ता न मान बैठ।

यह न होता तो मैं नहीं बँधता ऐसी अचल व्याख्या न कर।

पूर्वकर्म बलवान है, इसलिये ये सब प्रसंग मिल गये ऐसा एकांतिक ग्रहण न कर।

पुरुषार्थकी जय नहीं हुई ऐसी निराशाका स्मरण न कर।

दूसरेके दोषसे तुझे बंधन है ऐसा न मान।

अपने निमित्तसे भी दूसरेको दोष करते हुए रोक।

तेरे दोषसे तुझे बंधन है यह संतकी पहली शिक्षा है।

तेरा दोष इतना ही कि अन्यको अपना मानना, और अपने आपको भूल जाना।

इन सबमें तेरा मनोभाव नहीं है इसलिये भिन्न भिन्न स्थलोंमें तूने सुखकी कल्पना की है। हे मूढ़ ! ऐसा न कर—

---

५. **भावार्थ**—जहाँ राग और द्वेष होते हैं, वहाँ सदा क्लेश ही बना रहता है। जब जीव संसारसे उदासीन एवं विरक्त हो जाता है तभी सर्व दुःखोंका अन्त आता है ॥१॥ उस दशामें जीव त्रिकालज्ञानी होता है और देह होते हुए भी देहातीत जीवन्मुक्तदशाका अनुभव होता है। चरमशरीरी जीव ही ऐसी दशाको प्राप्त करता है—और वह आत्मस्वरूपमें रमण करता हुआ सदाके लिये परमपद मोक्षमें स्थित हो जाता है ॥२॥

यह तूने अपनेको हितकी बात कही।

अंतरमें सुख है।

जगतमें ऐसी कोई पुस्तक या लेख या कोई ऐसा अपरिचित साक्षी तुझे यों नहीं कह सकता कि यह सुखका मार्ग है, अथवा आप ऐसा वर्तन करें अथवा सबको एक ही क्रमसे विचार आये; इसीसे सूचित होता है कि यहाँ कुछ प्रबल विचारधारा रही है।

एक भोगी होनेका उपदेश करता है।

एक योगी होनेका उपदेश करता है।

इन दोनोंमेंसे किसे मान्य करेंगे ?

दोनों किसलिये उपदेश करते हैं ?

दोनों किसको उपदेश करते हैं ?

किसकी प्रेरणासे करते हैं ?

किसीको किसीका और किसीको किसीका उपदेश क्यों लगता है ?

इसके कारण क्या हैं ?

इसका साक्षी कौन है ?

आप क्या चाहते हैं ?

वह कहाँसे मिलेगा ? अथवा किसमें है ?

उसे कौन प्राप्त करेगा ?

कहाँ होकर लायेंगे ?

लाना कौन सिखायेगा ?

अथवा सीखे हुए हैं ?

सीखे हैं तो कहाँसे सीखे हैं ?

अपुनर्वृत्तिरूपसे सीखे हैं ?

नहीं तो शिक्षण मिथ्या ठहरेगा।

जीवन क्या है ?

जीव क्या है ?

आप क्या हैं ?

आपकी इच्छानुसार क्यों नहीं होता ?

उसे कैसे कर सकेंगे ?

बाधता प्रिय है या निराबाधता प्रिय है ?

वह कहाँ कहाँ और किस किस प्रकारसे है ?

इसका निर्णय करे।

अंतरमें सुख है।

बाहरमें नहीं है।

सत्य कहता हूँ।

हे जीव ! भूल मत, तुझे सत्य कहता हूँ।

सुख अन्तरमें है, वह बाहर खोजनेसे नहीं मिलेगा।

अंतरका सुख अंतरकी स्थितिमें है; स्थिति होनेके लिये बाह्य पदार्थोंका आश्रय भूल।

स्थिति रहनी बहुत विकट है; निमित्ताधीन वृत्ति पुनः पुनः चलित हो जाती है। इसका दृढ़ उपयोग रखना चाहिये।

इस क्रमको यथायोग्य निभाता चलेगा तो तू हताश नहीं होगा, निर्भय होगा।

हे जीव! तू भूल मत। समय-समयपर उपयोग चूककर किसीको रंजित करनेमें, किसीसे रंजित होनेमें अथवा मनकी निर्बलताके कारण तू दूसरेके पास मंद हो जाता है, यह भूल होती है। इसे न कर।

१०९

आत्मा नाममात्र है या वस्तुस्वरूप है?

यदि वस्तुस्वरूप है तो किसी भी लक्षणादिसे वह जाना जा सकने योग्य है या नहीं?

यदि वह लक्षणादिसे किसी भी प्रकारसे जाना जा सकने योग्य नहीं है ऐसा माने तो जगतमें उपदेशमार्गकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? अमुकके वचनसे अमुकको बोध होता है इसका हेतु क्या है?

अमुकके वचनसे अमुकको बोध होता है, यह सारी बात कल्पित है, ऐसा मानें तो प्रत्यक्ष वस्तुका बाध होता है क्योंकि वह प्रवृत्ति प्रत्यक्ष दिखायी देती है। केवल वंध्यापुत्रवत् नहीं है।

किसी भी आत्मवेत्तासे किसी भी प्रकारसे आत्मस्वरूपका वचन द्वारा उपदेश–

(अपूर्ण)

११०

आत्मा चक्षुगोचर हो सकता है या नहीं? अर्थात् आत्मा किसी भी तरह आँखसे देखा जा सकता है या नहीं?

आत्मा सर्वव्यापक है या नहीं?

मैं या आप सर्वव्यापक हैं या नहीं?

आत्माका देहांतरमें जाना होता है या नहीं? अर्थात् आत्मा एक गतिमेंसे दूसरी गतिमें जाता है या नहीं? जा सकने योग्य है या नहीं?

आत्माका लक्षण क्या है?

किसी भी प्रकारसे आत्मा ध्यानमें आ सकता है या नहीं?

सबसे अधिक प्रामाणिक शास्त्र कौनसे है?

---

१११ बंबई, फागुन, १९४६

परम सत्य है।
परम सत्य है। } त्रिकाल ऐसा ही है।
परम सत्य है।

व्यवहारके प्रसंगको सावधानीसे, मंद उपयोगसे और समताभावसे निभाते आना।

दूसरे तेरा क्यों नहीं मानते ऐसा प्रश्न तेरे अन्तरमें न उठे।

दूसरे तेरा मानते हैं यह बहुत योग्य है, ऐसा स्मरण तुझे न हो।

तू सर्व प्रकारसे स्वतः प्रवृत्ति कर।

जीवन-अजीवनपर समवृत्ति हो।

जीवन हो तो इसी वृत्तिसे पूर्ण हो।

जब तक गृहवास प्रारब्धमें हो तब तक व्यवहार प्रसंगमें भी सत्य सो सत्य ही हो।

गृहवासमें उसमें ही ध्यान हो।

गृहवासमें प्रसंगमें आनेवालोंको उचित वृत्ति रखना सिखा, सबको समान ही मान।

तब तकका तेरा समय बहुत ही उचित बीते।

अमुक व्यवहार-प्रसंगका काल।

उसके सिवाय तत्सम्बन्धी कार्यकाल।

पूर्वकृत कर्मोदयकाल।

निद्राकाल।

यदि तेरी स्वतंत्रता और तेरे क्रमसे तेरा उपजीवन—व्यवहारसम्बन्धी सन्तोषयुक्त हो तो उचित प्रकारसे अपने व्यवहारको चलाना।

उसकी इससे दूसरे चाहे जिस कारणसे सन्तोषयुक्त वृत्ति न रहती हो तो तू उसके कहे अनुसार प्रवृत्ति करके उस प्रसंगको पूरा करना, अर्थात् प्रसंगकी पूर्णाहुति तक ऐसा करनेमें तू विषम नहीं होना।

तेरे क्रमसे वे सन्तुष्ट रहें तो औदासीन्यवृत्ति द्वारा निराग्रहभावसे उनका भला हो वैसा करनेकी सावधानी तू रखना।

---

११२ बंबई, चैत्र, १९४६

मोहाच्छादित दशासे विवेक न हो यह सत्य है, नहीं तो वस्तुतः यह विवेक यथार्थ है।

बहुत ही सूक्ष्म अवलोकन रखें।

१. सत्यको तो सत्य ही रहने देना।

२. कर सके उतना कहें, अशक्यता न छिपाएँ।

३. एकनिष्ठ रहें।

चाहे जिस किसी प्रशस्त कार्यमें एकनिष्ठ रहें।

वीतरागने सत्य कहा है।

अरे आत्मन्! अन्तःस्थित दशा ले।

यह दुःख किसे कहना? और कैसे दूर करना?

आप अपना वैरी, यह कैसी सच्ची बात है!

---

११३ बंबई, वैशाख वदी १२, १९४६

सुज्ञ भाईश्री,

आज आपका एक पत्र मिला। यहाँ समय अनुकूल है। वहाँकी समयकुशलता चाहता हूँ। आपको जो पत्र भेजनेकी मेरी इच्छा थी, उसे अधिक विस्तारसे लिखनेकी आवश्यकता होनेसे और वैसा करनेसे

उसकी उपयोगिता भी अधिक सिद्ध होनेसे, वैसा करनेकी इच्छा थी, और अब भी है। तथापि कार्यो पाधिकी ऐसी प्रबलता है कि इतना शान्त अवकाश मिल नहीं सकता, मिल नहीं सका और अभी कुछ समय तक मिलना भी सम्भव नहीं है। आपको इस समय यह पत्र मिला होता तो अधिक उपयोगी होता, तो भी इसके बाद भी इसकी उपयोगिता तो आप भी अधिक ही मान सकेंगे। आपकी जिज्ञासाको कुछ शान्त करनेके लिये उस पत्रका संक्षिप्त वर्णन दिया है।

मैं इस जन्ममें आपसे पहले लगभग दो वर्षसे कुछ अधिक समयसे गृहाश्रमी हुआ हूँ, यह आपको विदित है। जिसके कारण गृहाश्रमी कहा जा सकता है, उस वस्तुका और मेरा इस अरसेमें कुछ अधिक परिचय नहीं हुआ है; फिर भी इससे मैं उसका कायिक, वाचिक और मानसिक झुकाव बहुत करके समझ सका हूँ; और इस कारणसे उसका और मेरा सम्बन्ध असन्तोषपात्र नहीं हुआ है, ऐसा बतलानेका हेतु यह है कि गृहाश्रमका वर्णन अल्प मात्र भी देते हुए तत्सम्बन्धी अनुभव अधिक उपयोगी होता है; मुझे कुछ सांस्कारिक अनुभव स्फुरित हो आनेसे ऐसा कह सकता हूँ कि मेरा गृहाश्रम अभी तक जैसे असन्तोषपात्र नहीं है, वैसे उचित सन्तोषपात्र भी नहीं है। वह मात्र मध्यम है; और उसके मध्यम होनेमें भी मेरी कितनी ही उदासीनवृत्तिकी सहायता है।

तत्त्वज्ञानकी गुप्त गुफाका दर्शन करने पर गृहाश्रमसे विरक्त होना अधिकतर सूझता है, और अवश्य ही उस तत्त्वज्ञानका विवेक भी इसे उदित हुआ था; कालकी बलवत्तर अनिष्टताके कारण, उसे यथायोग्य समाधिसंगकी अप्राप्तिके कारण उस विवेकको महाखेदके साथ गौण करना पड़ा; और सचमुच ! यदि वैसा न हो सका होता तो उसके (इस पत्रलेखकके) जीवनका अन्त आ जाता।

जिस विवेकको महाखेदके साथ गौण करना पड़ा है, उस विवेकमें ही चित्तवृत्ति प्रसन्न रह जाती है, उसकी बाह्य प्रधानता नहीं रखी जा सकती, इसके लिये अकथ्य खेद होता है। तथापि जहाँ निरुपायता है, वहाँ सहनशीलता सुखदायक है, ऐसी मान्यता होनेसे मौन रखा है।

कभी-कभी संगी और प्रसंगी तुच्छ निमित्त हो पड़ते हैं, उस समय उस विवेकपर किसी तरहका आवरण आ जाता है, तब आत्मा बहुत ही दुविधामें पड़ जाता है। जीवनरहित होनेकी, देहत्याग करनेकी दुःखस्थितिकी अपेक्षा उस समय भयंकर स्थिति हो जाती है; परन्तु ऐसा अधिक समय तक नहीं रहता; और ऐसा जब रहेगा तब अवश्य ही देह त्याग करूँगा। परन्तु असमाधिसे प्रवृत्ति नहीं करूँगा ऐसी अब तककी प्रतिज्ञा स्थिर बनी हुई है।

---

११४ मोरबी, आषाढ़ सुदी ४, १९४६

मोरबीका निवास व्यवहारनयसे भी अस्थिर होनेसे उत्तर भेजा नहीं जा सकता था।

आपके प्रशस्त भावके लिये आनन्द होता है। उत्तरोत्तर यह भाव आपके लिये सत्फलदायक हो !

उत्तम नियमानुसार और धर्मध्यानप्रशस्त व्यवहार करें, यह मेरी वारंवार मुख्य विज्ञप्ति है। शुद्धभावकी श्रेणीको विस्मृत नहीं करते, यह एक आनन्दकथा है।

---

११५ बंबई, आषाढ़ सुदी ५, रवि, १९४६

धर्मेच्छुक भाई श्री,

आपके दोनों पत्र मिले। पढ़कर सन्तोष हुआ।

उपाधिकी प्रबलता विशेष रहती है। जीवन कालमें ऐसा कोई योग आना निर्मित हो, तो मौनभाव-

उदासीनभावसे प्रवृत्ति कर लेना ही श्रेयस्कर है।

भगवतीजीके पाठके सम्बन्धमें संक्षिप्त स्पष्टीकरण नीचे दिया है–

सुहजोगं पडुच्चं अणारंभी, असुहजोगं पडुच्चं आयारंभी, परारंभी, तदुभयारंभी।

शुभ योगकी अपेक्षासे अनारंभी, अशुभयोगकी अपेक्षासे आत्मरंभी, परारंभी, तदुभयारंभी (आत्मारंभी और परारंभी)।

यहाँ शुभका अर्थ पारिणामिक शुभ लेना चाहिये, यह मेरी दृष्टि है। पारिणामिक अर्थात् जो परिणाममें शुभ अथवा जैसा था वैसा रहना है।

यहाँ योगका अर्थ मन, वचन और काया है।

शास्त्रकारका यह व्याख्यान करनेका मुख्य हेतु यथार्थ दिखानेका और शुभयोगमें प्रवृत्ति करानेका है। पाठमें बोध बहुत सुंदर है।

आप मेरा मिलाप चाहते हैं; परन्तु यह कोई अनुचित काल उदयमें आया है। इसलिये आपके लिये मिलापमें भी मैं श्रेयस्कर सिद्ध हो सकूँ ऐसी आशा थोड़ी ही है।

जिन्होंने यथार्थ उपदेश किया है, ऐसे वीतरागके उपदेशमें परायण रहें, यह मेरा विनयपूर्वक आप दोनों भाइयोंसे और दूसरोंसे अनुरोध है।

मोहाधीन ऐसा मेरा आत्मा बाह्योपाधिसे कितने प्रकारसे घिरा हुआ है, यह आप जानते हैं, इसलिये अधिक क्या लिखूँ?

अभी तो आप अपनेसे ही धर्मशिक्षा लें। योग्य पात्र बनें। मैं भी योग्य पात्र बनूँ। अधिक फिर देखेंगे।

वि० रायचन्दके प्रणाम।

११६[1] बंबई, वैशाख सुदी ३, १९४६

इस उपाधिमें पड़नेके बाद यदि मेरा लिंगदेहजन्यज्ञान-दर्शन वैसा ही रहा हो–यथार्थ ही रहा हो तो जूठाभाई आषाढ़ सुदी ९ गुरुकी रातको समाधिपूर्वक इस क्षणिक जीवनका त्याग कर जायेंगे, ऐसा वह ज्ञान सूचित करता है।

---

११७ बंबई, आषाढ़ सुदी १०, १९४६

लिंगदेहजन्यज्ञानमें उपाधिके कारण यत्किंचित् परिवर्तन मालूम हुआ। पवित्रात्मा जूठाभाईके उपर्युक्त तिथिको परन्तु दिनमें स्वर्गवासी होनेकी आज खबर मिली।

इस पावन आत्माके गुणोंका क्या स्मरण करें? जहाँ विस्मृतिको अवकाश नहीं वहाँ स्मृति हुई मानी ही कैसे जाये?

इसका लौकिक नाम ही देहधारीरूपसे सत्य था, यह आत्मदशाके रूपमें सच्चा वैराग्य था।

जिसकी मिथ्यावासना बहुत क्षीण हो गई थी, जो वीतरागका परमरागी था, संसारसे परम जुगुप्सित था, जिसके अंतरमें भक्तिका प्राधान्य सदैव प्रकाशित था, सम्यक्भावसे वेदनीय कर्म वेदन करनेकी जिसकी अद्भुत समता थी, मोहनीय कर्मका प्राबल्य जिसके अंतरमें बहुत शून्य हो गया था, जिसमें मुमुक्षुता उत्तम प्रकारसे दीपित हो उठी थी, ऐसा यह जूठाभाईका पवित्रात्मा आज जगतके इस

---

१. यह लेख श्रीमद्की दैनिक नोंधका है।

भागका त्याग करके चला गया। इन सहचारियोंसे मुक्त हो गया। धर्मके पूर्णाह्लादमें आयुष्य अचानक पूर्ण किया।

अरेरे! इस कालमें ऐसे धर्मात्माका अल्प जीवन हो यह कुछ अधिक आश्चर्यकारक नहीं है। ऐसे पवित्रात्माकी इस कालमें कहाँसे स्थिति हो? दूसरे साथियोंके ऐसे भाग्य कहाँसे हों कि ऐसे पवित्रात्माके दर्शनका लाभ उन्हें अधिक काल तक मिले? मोक्षमार्गको देनेवाला सम्यक्त्व जिसके अंतरमें प्रकाशित हुआ था, ऐसे पवित्रात्मा जूठाभाईको नमस्कार हो! नमस्कार हो!

---

११८ बंबई, आषाढ़ सुदी १५, बुध, १९४६

धर्मेच्छुक भाइयो,

चि० सत्यपरायणके स्वर्गवाससूचक शब्द भयंकर हैं। परन्तु ऐसे रत्नोंका दीर्घ जीवन कालको नहीं पुसाता। धर्मेच्छुकके ऐसे अनन्य सहायकको रहने देना मायादेवीको योग्य नहीं लगा।

इस आत्माके इस जीवनके रहस्यमय विश्रामको कालकी प्रबल दृष्टिने खींच लिया। ज्ञानदृष्टिसे शोकका अवकाश नहीं माना जाता; तथापि उसके उत्तमोत्तम गुण वैसा करनेकी आज्ञा करते हैं, बहुत स्मरण होता है; ज्यादा नहीं लिख सकता।

सत्यपरायणके स्मरणार्थ यदि हो सका तो एक शिक्षाग्रन्थ लिखनेका विचार करता हूँ।

[1]**न छिज्जइ।** यह पाठ पूरा लिखेंगे तो ठीक होगा। मेरी समझके अनुसार इस स्थलपर आत्माका शब्दवर्णन है "छेदा नहीं जाता, भेदा नहीं जाता", इत्यादि।

"आहार, विहार और निहारका नियमित" इस वाक्यका संक्षेपार्थ इस प्रकार है–

जिसमें योगदशा आती है, उसमें द्रव्य आहार, विहार और निहार (शरीरके मलकी त्याग क्रिया) यह नियमित अर्थात् जैसी चाहिये वैसी, आत्माको निर्बाधक क्रियासे यह प्रवृत्ति करनेवाला।

धर्ममें प्रसक्त रहें यही वारंवार अनुरोध है। सत्यपरायणके मार्गका सेवन करेंगे तो जरूर सुखी होंगे और पार पायेंगे, ऐसा मैं मानता हूँ।

इस भवकी और परभवकी निरुपाधिता जिस रास्तेसे की जा सके उस रास्तेसे कीजियेगा, ऐसी विनती है।

उपाधिग्रस्त रायचंदके यथायोग्य

---

११९ बंबई, आषाढ़ वदी ७, मंगल, १९४६

निरंतर निर्भयतासे रहित इस भ्रांतिरूप संसारमें वीतरागत्व ही अभ्यास करने योग्य है; निरंतर निर्भयतासे विचरना ही श्रेयस्कर है; तथापि कालकी और कर्मकी विचित्रतासे पराधीनतासे यह.....करते हैं।

दोनों पत्र मिले। संतोष हुआ। आचारांग सूत्रका पाठ देखा। यथाशक्ति विचारकर अन्य प्रसंगपर अर्थ लिखूँगा।

धर्मेच्छुक त्रिभोवनदासके प्रश्नका उत्तर भी प्रसंगपर दे सकूँगा।

जिसका अपार माहात्म्य है, ऐसी तीर्थंकरदेवकी वाणीकी भक्ति करें।

वि० रायचंद

---

१२० बंबई, आषाढ़ वदी ३०, १९४६

आपकी 'योगवासिष्ठ' पुस्तक इसके साथ भेजता हूँ। उपाधिका ताप शमन करनेके लिये यह

---

१. श्री आचारांग सूत्र, अध्य० ३, उद्देशक ३, देखें आंक २९६

शीतल चंदन है; इसके पढ़नेमें आधि-व्याधिका आगमन सम्भव नहीं है। इसके लिये आपका उपकार मानता हूँ।

आपके पास कभी कभी आनेमें भी एक मात्र इसी विषयकी अभिलाषा है। बहुत वर्षोंसे आपके अन्तःकरणमें रही हुई ब्रह्मविद्याका आपके ही मुखसे श्रवण हो तो एक प्रकारकी शांति मिले। किसी भी रास्तेसे कल्पित वासनाओंका नाश होकर यथायोग्य स्थितिकी प्राप्तिके सिवाय अन्य इच्छा नहीं है; परन्तु व्यवहारके सम्बन्धमें कितनी ही उपाधियाँ रहती हैं, इसलिये सत्समागमका यथेष्ट अवकाश नहीं मिलता; तथा आपको भी कुछ कारणोंसे उतना समय देना अवश्य समझता हूँ; और इसी कारणसे अन्तःकरणकी अन्तिम वृत्ति पुनः पुनः आपको बता नहीं सकता; तथा तत्सम्बन्धी अधिक बातचीत नहीं हो सकती। यह एक पुण्यकी न्यूनता है, अधिक क्या ?

आपके सम्बन्धसे किसी तरह व्यावहारिक लाभ लेनेकी इच्छा स्वप्नमें भी नहीं की है; तथा आप जैसे दूसरोंसे भी इसकी इच्छा नहीं रखी है। एक जन्म और वह भी थोड़े ही कालका, प्रारब्धानुसार बिता लेना, उसमें दीनता उचित नहीं है, यह निश्चय प्रिय है। सहज भावसे व्यवहार करनेकी अभ्यासप्रणालिका कुछ (थोड़ेसे) वर्षोंसे आरंभ की है; और इससे निवृत्तिकी वृद्धि है। यह बात यहाँ बतानेका हेतु इतना ही है कि आप अशंकित होंगे, तथापि पूर्वापरसे भी अशंकित रहनेके लिये जिस हेतुसे आपकी ओर मेरा देखना है, उसे बताया है; और यह अशंकितता संसारसे औदासीन्य भावको प्राप्त दशाके लिये सहायक होगी, ऐसा माना होनेसे (बताया है)।

'योगवासिष्ठ' के सम्बन्धमें आपको कुछ बताना चाहता हूँ (प्रसंग मिलनेपर)।

जैनधर्मके आग्रहसे ही मोक्ष है; ऐसा मानना आत्मा बहुत समयसे भूल चुका है। मुक्तभावमें (!) मोक्ष है ऐसी धारणा है; इसलिये बातचीतके समय आप कुछ अधिक कहते हुए न रुकें ऐसी विज्ञप्ति है।

---

१२१ बंबई, आषाढ़, १९४६

जिस पुस्तकके पढ़नेसे उदासीनता, वैराग्य या चित्तकी स्वस्थता होती हो ऐसी कोई भी पुस्तक पढ़ना। जिससे योग्यता प्राप्त हो ऐसी पुस्तक पढ़नेका विशेष परिचय रखना।

धर्मकथा लिखनेके विषयमें लिखा, तो वह धार्मिक कथा मुख्यतः तो सत्संगमें ही निहित है। दुषमकालरूप इस कालमें सत्संगका माहात्म्य भी जीवके ध्यानमें नहीं आता।

कल्याणके मार्गके साधन कौनसे हैं उनका ज्ञान बहुत बहुत सी क्रियादि करनेवाले जीवको भी हो ऐसा मालूम नहीं होता।

त्याग करने योग्य स्वच्छंद आदि जो कारण हैं उनमें तो जीव रुचिपूर्वक प्रवृत्त हो रहे हैं। जिनका आराधन करना योग्य है ऐसे आत्मस्वरूप सत्पुरुषोंमें जीवको या तो विमुखता और या तो अविश्वास रहता है, और ऐसे असत्संगियोंके सहवासमें किन्हीं किन्हीं मुमुक्षुओंको भी रहना पड़ता है। उन दुःखियोंमें आप और मुनि आदि भी किसी न किसी अंशमें गिनने योग्य है। असत्संग और स्वेच्छाचार न हो अथवा उनका अनुसरण न हो ऐसे प्रवर्तनसे अंतर्वृत्ति रखनेका विचार बनाये ही रखना यह सुगम साधन है।

---

१२२ बंबई, आषाढ़, १९४६

पूर्वकर्मका उदय बहुत विचित्र है। अब 'जब जागे तभी सवेरा'।

तीव्ररससे और मंदरससे कर्मका बंध होता है। उसमें मुख्य हेतु रागद्वेष है। इससे परिणाममें अधिक

पछताना पड़ता है।

शुद्धयोगमें रहा हुआ आत्मा अनारंभी है और अशुद्धयोगमें रहा हुआ आत्मा आरंभी है। यह वाक्य वीरकी भगवतीका है। मनन कीजियेगा।

परस्पर ऐसा होनेसे, धर्म-विस्मृत आत्माको स्मृतिमें योगपद याद आता है। बहुल कर्मके योगसे पंचमकालमें उत्पन्न हुए, परंतु कुछ शुभके उदयसे जो योग मिला है, वैसा बहुत ही थोड़े आत्माओंको मर्मबोध मिलता है; और वह रुचिकर होना बहुत दुर्घट है। वह सत्पुरुषोंकी कृपादृष्टिमें निहित है। अल्पकर्मका योग होगा तो बनेगा। निःसंशय जिस पुरुषका योग मिला उस पुरुषको शुभोदय हो तो अवश्य बनेगा; फिर न बने तो बहुल कर्मका दोष।

---

१२३ बंबई, आषाढ़, १९४६

धर्मध्यान लक्ष्यार्थसे हो यही आत्महितका रास्ता है। चित्तके संकल्प-विकल्पसे रहित होना यह महावीरका मार्ग है। अलिप्तभावमें रहना, यह विवेकीका कर्तव्य है।

---

१२४ ववाणिया बंदर, १९४६

जं णं जं णं दिसं इच्छइ तं णं तं णं दिसं अप्पडिबद्धे।

जिस जिस दिशाकी ओर जाना चाहे वह वह दिशा जिसके लिये अप्रतिबद्ध अर्थात् खुली है। (रोक नहीं सकती।)

जब तक ऐसी दशाका अभ्यास न हो तब तक यथार्थ त्यागकी उत्पत्ति होना कैसे सम्भव है?

पौद्गलिक रचनासे आत्माको स्तम्भित करना उचित नहीं है।

वि० रायचंदके यथायोग्य।

---

१२५ ववाणिया, श्रावण वदी १३, बुध, १९४६

धर्मेच्छुक भाईश्री,

आज मतांतरसे उत्पन्न हुआ पहला पर्युषण आरम्भ हुआ। अगले मासमें दूसरा पर्युषण आरंभ होगा। सम्यक्दृष्टिसे मतांतर दूर करके देखनेसे यही मतांतर दुगुने लाभका कारण है, क्योंकि दुगुना धर्म सम्पादन किया जा सकेगा।

चित्त गुफाके योग्य हो गया है। कर्मरचना विचित्र है।

वि० रायचंदके यथायोग्य।

---

१२६ ववाणिया, प्रथम भादों सुदी ३, सोम, १९४६

आपके दर्शनका लाभ लिये लगभग एक माससे कुछ अधिक समय हुआ। बंबई छोड़े एक पक्ष हुआ। बंबईका एक वर्षका निवास उपाधिग्रस्त रहा। समाधिरूप तो एक आपका समागम था, उसका यथेष्ट लाभ प्राप्त न हुआ।

ज्ञानियों द्वारा कल्पित सचमुच यह कलिकाल ही है। जनसमुदायकी वृत्तियाँ विषय-कषाय आदिसे विषमताको प्राप्त हुई है। इसकी बलवत्तरता प्रत्यक्ष है। राजसी वृत्तिका अनुकरण उसे प्रिय हुआ है। तात्पर्य यह कि विवेकियोंकी और यथायोग्य उपशमपात्रोंकी छाया भी नहीं मिलती। ऐसे विषमकालमें

जन्मा हुआ यह देहधारी आत्मा अनादिकालके परिभ्रमणकी थकानसे विश्रांति लेनेके लिये आया, प्रत्युत अविश्रांति पाकर फँस गया है। मानसिक चिंता कहीं भी कही नहीं जा सकती। कहने योग्य पात्रोंकी भी कमी है। ऐसी स्थितिमें अब क्या करना? यद्यपि यथायोग्य उपशमभावको प्राप्त आत्मा संसार और मोक्षमें समवृत्तिवाला होता है। इसलिये अप्रतिबद्धतासे विचर सकता है। परन्तु इस आत्माको तो अभी वह दशा प्राप्त नहीं हुई है। उसका अभ्यास है। तो फिर उसके पास यह प्रवृत्ति किसलिये खड़ी होगी? जिसमें निरुपायता है उसमें सहनशीलता सुखदायक है और ऐसा ही प्रवर्तन है; परन्तु जीवन पूर्ण होनेसे पहले यथायोग्यरूपसे नीचेकी दशा आनी चाहिये–

१. मन, वचन और कायासे आत्माका मुक्तभाव।

२. मनका उदासीनतासे प्रवर्तन।

३. वचनकी स्याद्वादता (निराग्रहता)।

४. कायाकी वृक्षदशा (आहार-विहारकी नियमितता)।

अथवा सर्व संदेहोंकी निवृत्ति; सर्व भयमुक्ति और सर्व अज्ञानका नाश।

संतोंने शास्त्रों द्वारा अनेक प्रकारसे उसका मार्ग बताया है, साधन बताये हैं, योगादिकसे उत्पन्न हुआ अपना अनुभव कहा है, तथापि उससे यथायोग्य उपशमभाव आना दुष्कर है। वह मार्ग है; परन्तु उपादानकी बलवान स्थिति चाहिये। उपादानकी बलवान स्थिति होनेके लिये निरन्तर सत्संग चाहिये, वह नहीं है।

शिशुवयसे ही इस वृत्तिका उदय होनेसे किसी प्रकारका परभाषाभ्यास न हो सका। अमुक संप्रदायसे शास्त्राभ्यास न हो सका। संसारके बंधनसे ऊहापोहाभ्यास भी न हो सका; और वह न हो सका इसके लिये कोई दूसरा विचार नहीं हैं। उससे आत्मा अधिक विकल्पी होता (सबके लिये विकल्पिता नहीं, परन्तु मैं केवल अपनी अपेक्षासे कहता हूँ।) और विकल्पादिक क्लेशका तो नाश ही करना चाहा था, इसलिये जो हुआ वह कल्याणकारक ही है। परन्तु अब जैसे महानुभाव वसिष्ठ भगवानने श्रीरामको इसी दोषका विस्मरण कराया था वैसे कौन कराये? अर्थात् भाषाभ्यासके बिना भी शास्त्रका बहुत परिचय हुआ है, धर्मके व्यावहारिक ज्ञाताओंका भी परिचय हुआ है; तथापि इस आत्माका आनंदावरण इससे दूर नहीं हो सकता, मात्र सत्संगके सिवाय और योगसमाधिके सिवाय, तब क्या करना? इतना भी बतलानेके लिये कोई सत्पात्र स्थल नहीं था। भाग्योदयसे आप मिले कि जिन्हें रोम-रोममें यही रुचिकर है।

---

१२७ ववाणिया, प्रथम भादों सुदी ४, १९४६

पत्र मिला।

सारे वर्षमें आपके प्रति हुए अपने अपराधकी, नम्रतासे, विनयसे और मन, वचन, कायाके प्रशस्त योगसे पुनः पुनः क्षमा चाहता हूँ। सब प्रकारसे मेरे अपराधका विस्मरण कर आत्मश्रेणीमें प्रवर्तन करते रहें, यह विनती है।

आजके पत्रमें, मतांतरसे दुगुना लाभ होता है ऐसा इस पर्युषण पर्वको सम्यक्दृष्टिसे देखते हुए मालूम हुआ, यह बात अच्छी लगी। तथापि कल्याणके लिये यह दृष्टि उपयोगी है। समुदायके कल्याणकी दृष्टिसे देखते हुए दो पर्युषण दुःखदायक हैं। प्रत्येक समुदायमें मतांतर बढ़ने नहीं चाहिये, कम होने चाहिये।

वि० रायचंदके यथायोग्य।

---

१२८ ववाणिया, प्रथम भादों सुदी ६, १९४६

धर्मेच्छुक भाइयो,

प्रथम संवत्सरीसे लेकर आजके दिन तक किसी भी प्रकारसे आपकी अविनय, आशातना, असमाधि मेरे मन, वचन, कायाके किसी भी योगाध्यवसायसे हुई हों उनके लिये पुनः पुनः क्षमा चाहता हूँ।

अंतर्ज्ञानसे स्मरण करते हुए ऐसा कोई काल ज्ञात नहीं होता अथवा याद नहीं आता कि जिस कालमें, जिस समयमें इस जीवने परिभ्रमण न किया हो, संकल्प-विकल्पकी रटन न की हो, और इससे 'समाधि'को न भूला हो। निरंतर यह स्मरण रहा करता है, और यह महावैराग्यको देता है।

और स्मरण होता है कि यह परिभ्रमण केवल स्वच्छंदसे करते हुए जीवको उदासीनता क्यों न आई ? दूसरे जीवोंके प्रति क्रोध करते हुए, मान करते हुए, माया करते हुए, लोभ करते हुए या अन्यथा करते हुए, यह बुरा है, ऐसा यथायोग्य क्यों न जाना ? अर्थात् ऐसा जानना चाहिये था, फिर भी न जाना; यह भी पुनः परिभ्रमण करनेसे विरक्त बनाता है।

और स्मरण होता है कि जिनके बिना एक पल भी मैं न जी सकूँ, ऐसे कितने ही पदार्थ (स्त्री आदि), उनको अनंत बार छोड़ते, उनका वियोग हुए अनंत काल भी हो गया; तथापि उनके बिना जीवित रहा गया, यह कुछ कम आश्चर्यकारक नहीं है। अर्थात् जिस जिस समय वैसा प्रीतिभाव किया था उस उस समय वह कल्पित था। ऐसा प्रीतिभाव क्यों हुआ ? यह पुनः पुनः वैराग्य देता है।

और जिसका मुख किसी कालमें भी न देखूँ, जिसे किसी कालमें मैं ग्रहण ही न करूँ, उसके घर पुत्रके रूपमें, स्त्रीके रूपमें, दासके रूपमें, दासीके रूपमें, नाना जंतुके रूपमें क्यों जन्मा ? अर्थात् ऐसे द्वेषसे ऐसे रूपमें जन्म लेना पड़ा ! और वैसा करनेकी तो इच्छा न थी। कहिये, यह स्मरण होने पर इस क्लेशित आत्माके प्रति जुगुप्सा नहीं आती होगी ? अर्थात् आती है।

अधिक क्या कहना ? जो जो पूर्वके भवांतरमें भ्रांतिरूपसे भ्रमण किया, उसका स्मरण होने पर अब कैसे जीना यह चिंतना हो पड़ी है। फिर जन्म लेना ही नहीं और फिर ऐसा करना ही नहीं ऐसा दृढत्व आत्मामें प्रकाशित होता है। परंतु कितनी ही निरुपायता है वहाँ क्या करना ? जो दृढता है उसे पूर्ण करना, अवश्य पूर्ण करना यही रटन है; परन्तु जो कुछ आड़े आता है उसे एक ओर करना पड़ता है, अर्थात् खिसकाना पड़ता है; और उसमें काल व्यतीत होता है, जीवन चला जाता है, उसे न जाने देना, जब तक यथायोग्य जय न हो तब तक, ऐसी दृढता है, उसका क्या करना ? कदापि किसी तरह उसमेंसे कुछ करें तो वैसा स्थान कहाँ है कि जहाँ जाकर रहें ? अर्थात् वैसे संत कहाँ हैं कि जहाँ जाकर इस दशामें बैठकर उसका पोषण प्राप्त करें ? तो फिर अब क्या करना ?

"चाहे जो हो, चाहे जितने दुःख सहो, चाहे जितने परिषह सहन करो, चाहे जितने उपसर्ग सहन करो, चाहे जितनी व्याधियाँ सहन करो, चाहे जितनी उपाधियाँ आ पडो, चाहे जितनी आधियाँ आ पड़ो, चाहे तो जीवनकाल एक समय मात्र हो, और दुर्निमित्त हो, परंतु ऐसा करना ही।

तब तक हे जीव ! छुटकारा नहीं है।"

इस प्रकार नेपथ्यमेंसे उत्तर मिलता है और वह यथायोग्य लगता है।

क्षण-क्षणमें पलटनेवाली स्वभाववृत्ति नहीं चाहिये। अमुक काल तक शून्यके सिवाय कुछ नहीं चाहिये; वह न हो तो अमुक काल तक संतके सिवाय कुछ नहीं चाहिये; वह न हो तो अमुक काल तक

सत्संगके सिवाय कुछ नहीं चाहिये; वह न हो तो आर्याचरण (आर्यपुरुषों द्वारा किये गये आचरण) के सिवाय कुछ नहीं चाहिये; वह न हो तो जिनभक्तिमें अति शुद्ध भावसे लीनताके सिवाय कुछ नहीं चाहिये; वह न हो तो फिर माँगनेकी इच्छा भी नहीं है।

समझमें आये बिना आगम अनर्थकारक हो जाते हैं। सत्संगके बिना ध्यान तरंगरूप हो जाता है। संतके बिना अंतकी बातका अंत नहीं पाया जाता। लोकसंज्ञासे लोकाग्रमें नहीं पहुँचा जाता। लोकत्यागके बिना वैराग्य यथायोग्य पाना दुर्लभ है।

"यह कुछ झूठा है ?" क्या ?

परिभ्रमण किया सो किया; अब उसका प्रत्याख्यान लें तो ?

लिया जा सकता है।

यह भी आश्चर्यकारक है।

अभी इतना ही, फिर सुयोगसे मिलेंगे।

यही विज्ञापन।

वि० रायचन्दके यथायोग्य।

---

१२९ ववाणिया, प्रथम भादों सुदी ७, शुक्र, १९४६

बम्बई इत्यादि स्थलोंमें सहन की हुई उपाधि, यहाँ आनेके बाद एकांतादिका अभाव (नहीं होना) और वक्रताकी अप्रियताके कारण यथासम्भव त्वरासे उधर आऊँगा।

---

१३० ववाणिया, प्रथम भादों सुदी ११, मंगल, १९४६

धर्मेच्छुक भाई खीमजी,

कितने वर्ष हुए एक महती इच्छा अन्तःकरणमें रहा करती है, जिसे किसी स्थलपर नहीं कहा, कहा नहीं जा सका, कहा नहीं जा सकता, नहीं कहना आवश्यक है। महान परिश्रमसे प्रायः उसे पूरा किया जा सकता है; तथापि उसके लिये यथेष्ट परिश्रम नहीं हो पाता, यह एक आश्चर्य और प्रमत्तता है। यह इच्छा सहज उत्पन्न हुई थी। जब तक वह यथायोग्य रीतिसे पूरी न की जाये तब तक आत्मा समाधिस्थ होना नहीं चाहता, अथवा नहीं होगा। यदि कभी अवसर होगा तो उस इच्छाकी झाँकी करा देनेका प्रयत्न करूँगा। इस इच्छाके कारण जीव प्रायः विडम्बनदशामें ही जीवन व्यतीत करता रहता है। यद्यपि वह विडम्बनदशा भी कल्याणकारक ही है, तथापि दूसरोंके प्रति वैसी कल्याणकारक होनेमें कुछ कमीवाली है।

अन्तःकरणसे उदित अनेक ऊर्मियाँ आपको बहुत बार समागममें बतायी हैं। सुनकर उन्हें कुछ अंशोंमें धारण करनेकी आपकी इच्छा होती हुई देखनेमें आयी है। पुनः अनुरोध है कि जिन जिन स्थलोंमें वे ऊर्मियाँ बतायी हों उन उन स्थलोंमें जानेपर पुनः पुनः उनका अधिक स्मरण अवश्य कीजियेगा।

१. आत्मा है।

२. वह बंधा हुआ है।

३. वह कर्मका कर्ता है।

४. वह कर्मका भोक्ता है।

५. मोक्षका उपाय है।

६. आत्मा साध सकता है।

ये जो छः महा प्रवचन हैं उनका निरंतर शोधन करें।

दूसरेकी विडम्बनाका अनुग्रह न करके अपना अनुग्रह चाहनेवाला जय नहीं पाता ऐसा प्रायः होता है। इसलिये चाहता हूँ कि आपने स्वात्माके अनुग्रहमें दृष्टि रखी है उसकी वृद्धि करते रहिये; और उससे आप परका अनुग्रह भी कर सकेंगे।

धर्म ही जिसकी अस्थि और धर्म ही जिसकी मज्जा है, धर्म ही जिसका रुधिर है, धर्म ही जिसका आमिष है, धर्म ही जिसकी त्वचा है, धर्म ही जिसकी इंद्रियाँ हैं, धर्म ही जिसका कर्म है, धर्म ही जिसका चलना है, धर्म ही जिसका बैठना है, धर्म ही जिसका उठना है, धर्म ही जिसका खड़ा रहना है, धर्म ही जिसका शयन है, धर्म ही जिसकी जागृति है, धर्म ही जिसका आहार है, धर्म ही जिसका विहार है, धर्म ही जिसका निहार (!) है, धर्म ही जिसका विकल्प है, धर्म ही जिसका संकल्प है, धर्म ही जिसका सर्वस्व है, ऐसे पुरुषकी प्राप्ति दुर्लभ है, और वह मनुष्यदेहमें परमात्मा है। इस दशाको क्या हम नहीं चाहते ? चाहते हैं; तथापि प्रमाद और असत्संगके आड़े आनेसे उसमें दृष्टि नहीं देते।

आत्मभावकी वृद्धि कीजिये, और देहभावको कम कीजिये।

वि० रायचंदके यथोचित।

---

१३१ जेतपर (मोरबी), प्रथम भादों वदी ५, बुध, १९४६

धर्मेच्छुक भाइयो,

भगवतीसूत्रके[1] पाठके सम्बन्धमें दोनोंके अर्थ मुझे तो ठीक ही लगते हैं। बालजीवोंकी अपेक्षासे टबेके लेखक द्वारा किया गया अर्थ हितकारक है; मुमुक्षुके लिये आपका कल्पित अर्थ हितकारक है; संतोंके लिये दोनों हितकारक हैं। मनुष्य ज्ञानके लिये प्रयत्न करें इसके लिये इस स्थलपर प्रत्याख्यानको दुःप्रत्याख्यान कहनेकी अपेक्षा है। यदि यथायोग्य ज्ञानकी प्राप्ति न हुई हो तो जो प्रत्याख्यान किये हों वे देव आदि गति देकर संसारके ही अंगभूत होते हैं। इसलिये उन्हें दुःप्रत्याख्यान कहा है। परन्तु इस स्थलपर ज्ञानके बिना प्रत्याख्यान करने ही नहीं ऐसा कहनेका हेतु तीर्थंकर देवका है ही नहीं। प्रत्याख्यान आदि क्रियासे ही मनुष्यत्व मिलता है, उच्च गोत्र और आर्यदेशमें जन्म मिलता है, तो फिर ज्ञानकी प्राप्ति होती है; इसलिये ऐसी क्रिया भी ज्ञानकी साधनभूत ही समझनी चाहिये।

वि० रायचंदके यथोचित।

---

१३२ ववाणिया, प्रथम भादों वदी १३, शुक्र, १९४६

"क्षणमपि सज्जनसंगतिरेका भवति भवार्णवतरणे नौका"

सत्पुरुषका क्षणभरका भी समागम संसाररूपी समुद्र तरनेके लिये नौकारूप होता है। यह वाक्य महात्मा शंकराचार्यजीका है; और यह यथार्थ ही लगता है।

आपने मेरे समागमसे हुआ आनंद और वियोगसे हुआ अनानंद प्रदर्शित किया है; वैसा ही आपके समागमके लिये मुझे भी हुआ है।

अन्तःकरणमें निरंतर ऐसा ही आया करता है कि परमार्थरूप होना, और अनेकको परमार्थ सिद्ध

---

१. श्री भगवतीसूत्र, शतक ७, उद्देशक २।

करनेमें सहायक होना यही कर्तव्य है, तथापि कुछ वैसा योग अभी वियोगमें है।

भविष्यज्ञानकी जिसमें आवश्यकता है, उस बातपर अभी ध्यान नहीं रहा।

---

१३३ ववाणिया, द्वितीय भादों सुदी २, मंगल, १९४६

आत्मविवेकसंपन्न भाई श्री सोभागभाई, मोरबी।

आज आपका एक पत्र मिला। पढ़कर परम संतोष हुआ। निरंतर ऐसा ही संतोष देते रहनेके लिये विज्ञप्ति है।

यहाँ जो उपाधि है, वह एक अमुक कामसे उत्पन्न हुई है; और उस उपाधिके लिये क्या होगा, ऐसी कुछ कल्पना भी नहीं होती; अर्थात् उस उपाधिसम्बन्धी कोई चिंता करनेकी वृत्ति नहीं रहती। यह उपाधि कलिकालके प्रसंगसे एक पहलेकी संगतिसे उत्पन्न हुई है। और उसके लिये जैसा होना होगा वैसा थोड़े समयमें हो रहेगा। इस संसारमें ऐसी उपाधियाँ आना यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।

ईश्वरपर विश्वास रखना यह एक सुखदायक मार्ग है। जिसका दृढ़ विश्वास होता है वह दुःखी नहीं होता, अथवा दुःखी होता है तो दुःखका वेदन नहीं करता। दुःख उलटा सुखरूप हो जाता है।

आत्मेच्छा ऐसी ही रहती है कि संसारमें प्रारब्धानुसार चाहे जैसे शुभाशुभ उदयमें आयें, परन्तु उनमें प्रीति-अप्रीति करनेका हम संकल्प भी न करें।

रात-दिन एक परमार्थ विषयका ही मनन रहता है। आहार भी यही है, निद्रा भी यही है, शयन भी यही है, स्वप्न भी यही है, भय भी यही है, भोग भी यही है, परिग्रह भी यही है, चलना भी यही है, आसन भी यही है। अधिक क्या कहना ? हाड, मांस और उसकी मज्जा सभी इसी एक ही रंगमें रंगे हुए हैं। एक रोम भी मानो इसीका ही विचार करता है, और उसके कारण न कुछ देखना भाता है, न कुछ सूँघना भाता है, न कुछ सुनना भाता है, न कुछ चखना भाता है कि न कुछ छूना भाता है, न बोलना भाता है कि न मौन रहना भाता है, न बैठना भाता है कि न उठना भाता है, न सोना भाता है कि न जागना भाता है, न खाना भाता है कि न भूखे रहना भाता है, न असंग भाता है कि न संग भाता है, न लक्ष्मी भाती है कि न अलक्ष्मी भाती है ऐसा है; तथापि उसके प्रति आशा निराशा कुछ भी उदित होती मालूम नहीं होती। वह हो तो भी ठीक और न हो तो भी ठीक, यह कुछ दुःखका कारण नहीं है। दुःखका कारण मात्र विषमात्मा है, और वह यदि सम है तो सब सुख ही है। इस वृत्तिके कारण समाधि रहती है। तथापि बाहरसे गृहस्थीकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, देहभाव दिखाना नहीं पुसाता; आत्मभावसे प्रवृत्ति बाहरसे करनेमें कितना ही अंतराय है। तो अब क्या करना ? किस पर्वतकी गुफामें जाना और ओझल हो जाना, यही रटन रहा करती है। तथापि बाहरसे अमुक सांसारिक प्रवृत्ति करनी पड़ती है। उसके लिये शोक तो नहीं है तथापि जीव सहन करना नहीं चाहता ! परमानंदको छोड़कर इसे चाहे भी क्यों ? और इसी कारणसे ज्योतिष आदिकी ओर अभी चित्त नहीं है। चाहे जैसे भविष्यज्ञान अथवा सिद्धियोंकी इच्छा नहीं है, तथा उनका उपयोग करनेमें उदासीनता रहती है। उसमें भी अभी तो अधिक ही रहती है। इसलिये इस ज्ञानके सम्बन्धमें चित्तकी स्वस्थतासे विचार करके पूछे हुए प्रश्नोंके विषयमें लिखूँगा अथवा समागममें बताऊँगा।

जो प्राणी ऐसे प्रश्नोंके उत्तर पाकर आनंद मानते हैं वे मोहाधीन हैं, और वे परमार्थके पात्र होने दुर्लभ हैं ऐसी मान्यता है। इसलिये वैसे प्रसंगमें आना भी नहीं भाता, परन्तु परमार्थ हेतुसे प्रवृत्ति करनी पड़ेगी तो किसी प्रसंगसे करूँगा। इच्छा तो नहीं होती।

आपका समागम अधिकतासे चाहता हूँ। उपाधिमें यह एक अच्छी विश्रांति है। कुशलता है, चाहता हूँ।

वि० रायचंदके प्रणाम

---

१३४ ववाणिया, द्वितीय भादों सुदी ८, रवि, १९४६

दोनों भाइयों,

देहधारीको विडंबनाका होना तो एक धर्म है। उसमें खेद करके आत्मविस्मरण क्यों करना? धर्मभक्तियुक्त आपसे ऐसी प्रयाचना करनेका योग मात्र पूर्वकर्मने दिया है। इसमें आत्मेच्छा कंपित है। निरुपायताके आगे सहनशीलता ही सुखदायक है।

इस क्षेत्रमें इस कालमें इस देहधारीका जन्म होना योग्य न था। यद्यपि सब क्षेत्रोंमें जन्म लेनेकी इच्छा उसने रोक ही दी है, तथापि प्राप्त हुए जन्मके लिये शोक प्रदर्शित करनेके लिये ऐसा रुदनवाक्य लिखा है। किसी भी प्रकारसे विदेही दशाके बिनाका, यथायोग्य जीवन्मुक्तदशा रहित और यथायोग्य निर्ग्रंथदशा रहित एक क्षणका जीवन भी देखना जीवको सुलभ नहीं लगता तो फिर बाकी रही हुई अधिक आयु कैसे बीतेगी यह विडंबना आत्मेच्छाकी है।

यथायोग्य दशाका अभी मुमुक्षु हूँ। कितनी तो प्राप्त हुई है। तथापि सम्पूर्ण प्राप्त हुए बिना यह जीव शांति प्राप्त करे ऐसी दशा प्रतीत नहीं होती। एक पर राग और एक पर द्वेष ऐसी स्थिति एक रोममें भी उसे प्रिय नहीं है। अधिक क्या कहे? परके परमार्थके सिवायकी तो देह ही नहीं भाती। आत्मकल्याणमें प्रवृत्ति कीजियेगा।

वि० रायचंदके यथायोग्य

---

१३५ ववाणिया, द्वितीय भादों सुदी १४, रवि, १९४६

धर्मेच्छुक भाइयों,

मुमुक्षुताके अंशोंसे गृहीत हुआ आपका हृदय परम सन्तोष देता है। अनादिकालका परिभ्रमण अब समाप्तिको प्राप्त हो ऐसी अभिलाषा, यह भी एक कल्याण ही है। कोई ऐसा यथायोग्य समय आ जायेगा कि जब इच्छित वस्तुकी प्राप्ति हो जायेगी।

निरन्तर वृत्तियाँ लिखते रहियेगा। अभिलाषाको उत्तेजन देते रहियेगा। और नीचेकी धर्मकथाका श्रवण किया होगा तथापि पुनः पुनः उसका स्मरण कीजियेगा।

सम्यक्दशाके पाँच लक्षण हैं:—

शम
संवेग
निर्वेद
आस्था } अनुकंपा

क्रोधादि कषायोंका शांत हो जाना, उदयमें आये हुए कषायोंमें मंदता होना, मोड़ी जा सके ऐसी आत्मदशा होना अथवा अनादिकालकी वृत्तियाँ शांत हो जाना, यह 'शम' है।

मुक्त होनेके सिवाय दूसरी किसी भी प्रकारकी इच्छाका न होना, अभिलाषाका न होना, यह 'संवेग' है।

जबसे यह समझमें आया कि भ्रांतिमें ही परिभ्रमण किया, तबसे अब बहुत हो गया, अरे जीव! अब

ठहर, यह 'निर्वेद' है।

जिनका परम माहात्म्य है ऐसे निःस्पृह पुरुषोंके वचनमें ही तल्लीनता, यह 'श्रद्धा' 'आस्था' है।

इन सब द्वारा जीवोंमें स्वात्मतुल्य बुद्धि होना, यह 'अनुकंपा' है।

ये लक्षण अवश्य मनन करने योग्य हैं, स्मरण करने योग्य हैं, इच्छा करने योग्य है, और अनुभव करने योग्य हैं। अधिक अन्य प्रसंगपर। वि० रायचंद्रके यथायोग्य।

---

१३६ ववाणिया, द्वितीय भादों सुदी १४, रवि, १९४६

आपका संवेग-भरा पत्र मिला। पत्रोंसे अधिक क्या बताऊँ? जब तक आत्मा आत्मभावसे अन्यथा अर्थात् देहभावसे व्यवहार करेगा; मैं करता हूँ, ऐसी बुद्धि करेगा, मैं ऋद्धि इत्यादिसे अधिक हूँ यों मानेगा, शास्त्रको जालरूप समझेगा, मर्मके लिये मिथ्या मोह करेगा, तब तक उसकी शांति होना दुर्लभ है, यही इस पत्रसे बताता हूँ। इसीमें बहुत समाया हुआ है। कई स्थलोंमें पढ़ा हो, सुना हो तो भी इसपर अधिक ध्यान रखियेगा। रायचंद

---

१३७ मोरबी, द्वितीय भादों वदी ४, गुरु, १९४६

पत्र मिला। 'शांतिप्रकाश' नहीं मिला। मिलनेपर योग्य सूचित करूँगा। आत्मशांतिमें प्रवृत्ति कीजियेगा।

वि० रायचंद्रके यथायोग्य।

---

१३८ मोरबी, द्वितीय भादों वदी ६, शनि, १९४६

योग्यता प्राप्त करें।
इसी प्रकार मिलेगी।

---

१३९ मोरबी, द्वितीय भादों वदी ७, रवि, १९४६

मुमुक्षु भाइयों,

कल मिले हुए पत्रकी पहुँच पत्रसे दी है। उस पत्रमें लिखे हुए प्रश्नोंका संक्षिप्त उत्तर नीचे यथामति लिखता हूँ—

आपका प्रथम प्रश्न आठ रुचकप्रदेश सम्बन्धी है।

उत्तराध्ययन शास्त्रमें सर्व प्रदेशोंमें कर्मसम्बन्ध बताया है, उसका हेतु यह समझमें आया है कि यह कहना उपदेशार्थ है। 'सर्व प्रदेशमें' कहनेसे, आठ रुचकप्रदेश कर्मरहित नहीं है, ऐसा शास्त्रकर्ता निषेध करते हैं, यों समझमें नहीं आता। असंख्यातप्रदेशी आत्मामें जब मात्र आठ ही प्रदेश कर्मरहित हैं, तब असंख्यातप्रदेशोंके सामने वे किस गिनतीमें हैं? असंख्यातके आगे उनका इतना अधिक लघुत्व है कि शास्त्रकारने उपदेशकी अधिकताके लिये यह बात अंतःकरणमें रखकर बाहरसे इस प्रकार उपदेश किया; और ऐसी ही शैली निरन्तर शास्त्रकारकी है।

अन्तर्मुहूर्त अर्थात् दो घड़ीके भीतरका कोई भी समय ऐसा साधारणतः अर्थ होता है। परन्तु शास्त्रकारकी शैलीके अनुसार इसका अर्थ ऐसा करना पडता है कि आठ समयसे अधिक और दो घड़ीके भीतरका समय अन्तर्मुहूर्त कहलाता है। परन्तु रूढ़िमें तो जैसा पहले बताया है वैसा ही समझमें आता है;

तथापि शास्त्रकारकी शैली ही मान्य है। जैसे यहाँ आठ समयकी बात बहुत लघुत्ववाली होनेसे स्थल स्थलपर शास्त्रमें नहीं बतायी है, वैसे आठ रुचकप्रदेशकी बात भी है ऐसा मेरा समझना है; और भगवती, प्रज्ञापना, स्थानांग इत्यादि शास्त्र उसकी पुष्टि करते हैं।

फिर मेरी समझ तो ऐसी है कि शास्त्रकारने सभी शास्त्रोंमें न होनेवाली भी कोई बात शास्त्रमें कही हो तो कुछ चिन्ताकी बात नहीं है। उसके साथ ऐसा समझें कि सब शास्त्रोंकी रचना करते हुए उस एक शास्त्रमें कही हुई बात शास्त्रकारके ध्यानमें ही थी। और सभी शास्त्रोंकी अपेक्षा कोई विचित्र बात किसी शास्त्रमें कही हो तो इसे अधिक मान्य करने योग्य समझें, कारण कि यह बात किसी विरले मनुष्यके लिये कही गयी होती है; बाकी तो साधारण मनुष्योंके लिये ही कथन होता है। ऐसा होनेसे आठ रुचकप्रदेश निर्बंधन है, यह बात अनिषिद्ध है, ऐसी मेरी समझ है। बाकीके चार अस्तिकायके प्रदेशोंके स्थलपर इन रुचकप्रदेशोंको रखकर समुद्घात करनेका केवलीसम्बन्धी जो वर्णन है, वह कितनी ही अपेक्षाओंसे जीवका मूल कर्मभाव नहीं है, ऐसा समझानेके लिये है। इस बातकी प्रसंगवशात् समागममें चर्चा करें तो ठीक होगा।

दूसरा प्रश्न—'ज्ञानमें कुछ न्यून चौदह पूर्वधारी अनन्त निगोदको प्राप्त होते हैं और जघन्यज्ञानवाले भी अधिकसे अधिक पन्द्रह भवोंमें मोक्षमें जाते हैं, इस बातका समाधान क्या है ?'

इसका उत्तर जो मेरे हृदयमें है, वही बताये देता हूँ कि यह जघन्यज्ञान दूसरा है और यह प्रसंग भी दूसरा है। जघन्यज्ञान अर्थात् सामान्यतः किन्तु मूल वस्तुका ज्ञान, अतिशय संक्षिप्त होनेपर भी मोक्षके बीजरूप है, इसलिये ऐसा कहा है, और 'एक देश न्यून' चौदहपूर्वधारीका ज्ञान एक मूल वस्तुके ज्ञानके सिवाय दूसरा सब जाननेवाला हुआ, परन्तु देह देवालयमें रहे हुए शाश्वत पदार्थका ज्ञाता न हुआ; और यह न हुआ तो फिर जैसे लक्ष्यके बिना फेंका हुआ तीर लक्ष्यार्थका कारण नहीं होता वैसे यह भी हुआ। जिस वस्तुको प्राप्त करनेके लिये जिनेन्द्रने चौदह पूर्वके ज्ञानका उपदेश दिया है वह वस्तु न मिली तो फिर चौदह पूर्वका ज्ञान अज्ञानरूप ही हुआ। यहाँ 'देश न्यून' चौदह पूर्वका ज्ञान समझना। 'देश न्यून' कहनेसे अपनी साधारण मतिसे यों समझा जाये कि पढ़ पढ़कर चौदह पूर्वके अन्त तक आ पहुँचनेमें एकाध अध्ययन या वैसा कुछ रह गया और इससे भटके, परन्तु ऐसा तो नहीं है। इतने सारे ज्ञानका अभ्यासी एक अल्प भागके लिये अभ्यासमें पराभवको प्राप्त हो, यह मानने जैसा नहीं है। अर्थात् कुछ भाषा कठिन या कुछ अर्थ कठिन नहीं है कि स्मरणमें रखना उन्हें दुष्कर हो। मात्र मूल वस्तुका ज्ञान न मिला इतनी ही न्यूनता, उसने चौदह पूर्वके शेष ज्ञानको निष्फल कर दिया। एक नयसे यह विचार भी हो सकता है कि शास्त्र (लिखे हुए पन्ने) उठाने और पढ़ने इसमें कोई अन्तर नहीं है, यदि तत्त्व न मिला तो; क्योंकि दोनोंने बोझ ही उठाया। जिसने पन्ने उठाये उसने कायासे बोझ उठाया, और जो पढ़ गया उसने मनसे बोझ उठाया। परन्तु वास्तविक लक्ष्यार्थके बिना उनकी निरुपयोगिता सिद्ध होती है ऐसा समझमें आता है। जिसके घरमें सारा लवण समुद है वह तृषातुरकी तृषा मिटानेमें समर्थ नहीं है; परन्तु जिसके घरमें एक मीठे पानीकी 'वीरडी'[1] है, वह अपनी और दूसरे कितनोंकी ही तृषा मिटानेमें समर्थ है, और ज्ञानदृष्टिसे देखते हुए महत्व उसीका है, तो भी दूसरे नयपर अब दृष्टि करनी पड़ती है, और वह यह कि किसी तरह भी शास्त्राभ्यास होगा तो कुछ पात्र होनेकी अभिलाषा होगी, और कालक्रमसे पात्रता भी मिलेगी और दूसरोंको भी पात्रता देगा। इसलिये यहाँ शास्त्राभ्यासके निषेध करनेका हेतु नहीं है, परन्तु मूल वस्तुसे दूर जाया जाये ऐसे शास्त्राभ्यासका निषेध करें तो एकान्तवादी नहीं कहलायेंगे।

१. नदी या तालाबके जलविहीन भागमें पानीके लिये बनाई हुई गढ़ी।

इस तरह संक्षेपमें दो प्रश्नोंका उत्तर लिखा है। लिखनेकी अपेक्षा वाचासे अधिक समझाना हो सकता है। तो भी आशा है कि इससे समाधान होगा, और यह पात्रता के किन्हीं भी अंशोंको बढ़ायेगा, एकान्त दृष्टिको घटायेगा, ऐसी मान्यता है।

अहो ! अनन्त भवोंके पर्यटनमें किसी सत्पुरुषके प्रतापसे इस दशाको प्राप्त इस देहधारीको आप चाहते हैं, उससे धर्म चाहते हैं, और वह तो अभी किसी आश्चर्यकारक उपाधिमें पड़ा है। निवृत्त होता तो बहुत उपयोगी हो पड़ता। अच्छा ! आपको उसके लिये जो इतनी अधिक श्रद्धा रहती है उसका कोई मूल कारण हाथ लगा है ? उसपर रखी हुई श्रद्धा, उसका कहा हुआ धर्म अनुभव करनेपर अनर्थकारक तो नहीं लगेंगे ? अर्थात् अभी उसकी पूर्ण कसौटी कीजिये; और ऐसा करनेमें वह प्रसन्न है; साथ ही आपको योग्यताका कारण है, और कदाचित् पूर्वापर भी निःशंक श्रद्धा ही रहेगी, ऐसा हो तो वैसा ही रखनेमें कल्याण है, यों स्पष्ट कह देना आज उचित लगनेसे कह दिया है। आजके पत्रमें बहुत ही ग्रामीण भाषाका प्रयोग किया है, तथापि उसका उद्देश एक परमार्थ ही है।

आपके समागमके इच्छुक
रायचन्द (अनाम) के प्रणाम।

---

१४० मोरबी, द्वितीय भादों वदी ८, सोम, १९४६

प्रश्नवाला पत्र मिला। प्रसन्न हुआ। प्रत्युत्तर लिखूँगा।
पात्रता-प्राप्तिका प्रयास अधिक करें।

---

१४१ ववाणिया, द्वितीय भादों वदी १२, शुक्र, १९४६

सौभाग्यमूर्ति सौभाग्य,

व्यास भगवान कहते हैं—

[1] **इच्छाद्वेषविहीनेन सर्वत्र समचेतसा ।**
भगवद्भक्तियुक्तेन प्राप्ता भागवती गतिः ॥

इच्छा और द्वेषसे रहित, सर्वत्र समदृष्टिसे देखनेवाले पुरुष भगवानकी भक्तिसे युक्त होकर भागवती गतिको प्राप्त हुए अर्थात् निर्वाणको प्राप्त हुए।

आप देखें, इस वचनमें कितना अधिक परमार्थ उन्होंने समा दिया है ? प्रसंगवशात् इस वाक्यका स्मरण हो आनेसे लिखा है। निरंतर साथ रहने देनेमें भगवानको क्या हानि होती होगी ?

आज्ञाकारी

---

१४२ ववाणिया, द्वि० भादों वदी १३, शनि, १९४६

आत्माका विस्मरण क्यों हुआ होगा ?

धर्मजिज्ञासु भाई त्रिभुवन, बंबई।

आप और दूसरे जो जो भाई मेरे पाससे कुछ आत्मलाभ चाहते हैं, वे सब लाभ प्राप्त करें यह मेरे अंतःकरणकी ही इच्छा है। तथापि उस लाभको देनेकी मेरी यथायोग्य पात्रतापर अभी कुछ आवरण है, और उस लाभको लेनेकी इच्छा करनेवालोंकी योग्यताकी भी मुझे अनेक प्रकारसे न्यूनता मालूम हुआ

१. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ३, अध्याय २४, श्लोक ४७

करती है। इसलिये ये दोनों योग जब तक परिपक्वताको प्राप्त न हों तब तक इच्छित सिद्धिमें विलंब है, ऐसी मेरी मान्यता है। वारंवार अनुकंपा आ जाती है, परन्तु निरुपायताके आगे क्या करूँ ? अपनी किसी न्यूनताको पूर्णता कैसे कहूँ ? इसलिये ऐसी इच्छा रहा करती है कि अभी तो जैसे आप सब योग्यता प्राप्त कर सकें वैसा कुछ निवेदन करता रहूँ, और जो कुछ स्पष्टीकरण पूछें सो यथामति बताता रहूँ, नहीं तो योग्यता प्राप्त करते रहें, ऐसा बार-बार सूचित करता रहूँ।

[1]साथमें खीमजीका पत्र है, यह उन्हें दे दें। यह पत्र आपको भी लिखा है, ऐसा समझे।

---

१४३ ववाणिया, द्वि० भादों वदी १३, शनि, १९४६

नीचेकी बातोंका अभ्यास तो करते ही रहें–

१. चाहे जिस प्रकारसे भी उदयमें आये हुए और उदयमें आनेवाले कषायोंको शांत करें।
२. सभी प्रकारकी अभिलाषाकी निवृत्ति करते रहें।
३. इतने काल तक जो किया उस सबसे निवृत्त हो, उसे करनेसे अब रुके।
४. आप परिपूर्ण सुखी हैं ऐसा मानें, और बाकीके प्राणियोंकी अनुकंपा किया करें।
५. किसी एक सत्पुरुषको खोजे, और उसके चाहे जैसे वचनोंमें भी श्रद्धा रखे।

ये पाँचों अभ्यास अवश्य योग्यता देते हैं। और पाँचवेमें चारोंका समावेश हो जाता है, ऐसा अवश्य मानें। अधिक क्या कहूँ ? चाहे जिस कालमें भी यह पाँचवाँ प्राप्त हुए बिना इस पर्यटनका अन्त आनेवाला नहीं है। बाकीके चार इस पाँचवेंकी प्राप्तिमें सहायक हैं। पाँचवेंके अभ्यासके सिवाय, उसकी प्राप्तिके सिवाय दूसरा कोई निर्वाणमार्ग मुझे नहीं सूझता; और सभी महात्माओंको भी ऐसा ही सूझा होगा–(सूझा है)।

अब जैसे आपको योग्य लगे वैसे करें। आप इन सबकी इच्छा रखते हैं, तो भी अधिक इच्छा करें; शीघ्रता न करें। जितनी शीघ्रता उतनी कचाई और जितनी कचाई उतनी खटाई, इस सापेक्ष कथनका स्मरण करें।

प्रारब्धजीवी रायचंदके यथायोग्य।

---

१४४ ववाणिया, द्वि० भादों वदी ३०, सोम, १९४६

आपका पत्र मिला। परमानंद हुआ।

चैतन्यका निरन्तर अविच्छिन्न अनुभव प्रिय है, यही चाहिये है। दूसरी कोई स्पृहा नहीं रहती। रहती हो तो भी रखनेकी इच्छा नहीं है। एक "तू ही, तू ही" यही यथार्थ अस्खलित प्रवाह चाहिये। अधिक क्या कहना ? यह लिखनेसे लिखा नहीं जाता और कहनेसे कहा नहीं जाता, मात्र ज्ञानगम्य है। अथवा तो श्रेणिशः समझमें आने योग्य है। बाकी तो अव्यक्तता ही है। इसलिये जिस निःस्पृह दशाकी ही रटन है, उसके मिलनेपर और इस कल्पितको भूल जानेपर छुटकारा है।

कब आगमन होगा ?

वि० आ० रा०

---

१४५ ववाणिया, आसोज सुदी २, गुरु, १९४६

मेरा विचार ऐसा होता है कि.....पास आप सदा जायें। हो सके तो जीभसे, नहीं तो लिखकर बता दें कि मेरा अन्तःकरण आपके प्रति निर्विकल्प ही है, फिर भी मेरी प्रकृतिके दोषसे किसी भी तरह

---

१. देखें साथका आंक १४३

आपको दुःखी करनेका कारण न हो इसलिये मैंने आगमनका परिचय कम रखा है, इसके लिये क्षमा कीजियेगा। इत्यादि जैसे योग्य लगे वैसे करके आत्मनिवृत्ति कीजियेगा। अभी इतना ही।

वि० रायचंदके यथायोग्य

---

१४६ ववाणिया, आसोज सुदी ५, शनि, १९४६

[1]ऊंचनीचनो अंतर नथी। समज्या ते पाम्या सद्गति॥

तीर्थंकरदेवने राग करनेका निषेध किया है, अर्थात् जब तक राग है तब तक मोक्ष नहीं होता। तब फिर इसके प्रति राग आप सबके लिये हितकारक कैसे होगा?

लिखनेवाला अव्यक्तदशा

---

१४७ ववाणिया, आसोज सुदी ६, रवि, १९४६

सुज्ञ भाई खीमजी,

आज्ञाके प्रति अनुग्रहदर्शक संतोषप्रद पत्र मिला।

आज्ञामें ही एकतान हुए बिना परमार्थके मार्गकी प्राप्ति बहुत ही असुलभ है। एकतान होना भी बहुत ही असुलभ है।

इसके लिये आप क्या उपाय करेंगे? अथवा क्या सोचा है? अधिक क्या? अभी इतना भी बहुत है।

वि० रायचन्दके यथायोग्य।

---

१४८ ववाणिया, आसोज सुदी १०, गुरु, १९४६

पाँचेक दिन पहले पत्र मिला, जिस पत्रमें लक्ष्मी आदिकी विचित्र दशाका वर्णन किया है। ऐसे अनेक प्रकारके परित्यागयुक्त विचारोंको पलट पलटकर जब आत्मा एकत्व बुद्धिको पाकर महात्माके संगकी आराधना करेगा, अथवा स्वयं किसी पूर्वके स्मरणको प्राप्त करेगा तो इच्छित सिद्धिको प्राप्त करेगा। यह निःसंशय है। विस्तारपूर्वक पत्र लिख सकूँ ऐसी दशा नहीं रहती।

वि० रायचंदके यथोचित।

---

१४९ ववाणिया, आसोज सुदी १०, गुरु, १९४६

धर्मध्यान, विद्याभ्यास इत्यादिकी वृद्धि करें।

---

१५० ववाणिया, आसोज, १९४६

यह मैं तुझे मौतका औषध देता हूँ। उपयोग करनेमें भूल मत करना।

तुझे कौन प्रिय है? मुझे पहचाननेवाला।

ऐसा क्यों करते हैं? अभी देर है। क्या होनेवाला है?

हे कर्म! तुझे निश्चित आज्ञा करता हूँ कि नीति और नेकीपर मेरा पैर मत रखवाना।

---

१५१ आसोज, १९४६

तीन प्रकारके वीर्यका विधान किया है—

(१) महावीर्य (२) मध्यवीर्य (३) अल्पवीर्य।

महावीर्यका तीन प्रकारसे विधान किया है—

---

१. **भावार्थ**—ऊँचनीचका कोई अंतर नहीं है। जो समझे वे सद्गतिको प्राप्त हुए।

(१) सात्त्विक (२) राजसी (३) तामसी।

सात्त्विक महावीर्यका तीन प्रकारसे विधान किया है--

(१) सात्त्विक शुक्ल (२) सात्त्विक धर्म (३) सात्त्विक मिश्र।

सात्त्विक शुक्ल महावीर्यका तीन प्रकारसे विधान किया है--

(१) शुक्ल ज्ञान (२) शुक्ल दर्शन (३) शुक्ल चारित्र (शील)।

सात्त्विक धर्मका दो प्रकारसे विधान किया है--

(१) प्रशस्त (२) प्रसिद्ध प्रशस्त।

इसका भी दो प्रकारसे विधान किया है--

(१) पण्णत्ते (२) अपण्णत्ते

सामान्य केवली
तीर्थंकर
यह अर्थ समर्थ है।

---

१५२ ववाणिया, आसोज सुदी ११, शुक्र, १९४६

आज आपका कृपा पत्र मिला।

साथमें पद मिला।

सर्वार्थसिद्धकी ही बात है। जैनमें ऐसा कहा है कि सर्वार्थसिद्ध महाविमानकी ध्वजासे बारह योजन दूर मुक्तिशिला है। कबीर भी ध्वजासे आनन्दविभोर हो गये हैं। उस पदको पढ़कर परमानन्द हुआ। प्रभातमें जल्दी उठा, तबसे कोई अपूर्व आनन्द रहा ही करता था। इतनेमें पद मिला; और मूलपदका अतिशय स्मरण हो आया, एकतान हो गया। एकाकार वृत्तिका वर्णन शब्दसे कैसे किया जा सकता है? दिनके बारह बजे तक रहा। अपूर्व आनन्द तो वैसाका वैसा ही है। परन्तु दूसरी वार्ता (ज्ञानकी) करनेमें उसके बादका कालक्षेप किया।

[1]"केवलज्ञान हवे पामशुं, पामशुं, पामशुं, पामशुं रे के०" ऐसा एक पद बनाया। हृदय बहुत आनन्दमें है।

---

१५३ ववाणिया, आसोज सुदी १२, शनि, १९४६

धर्मेच्छुक भाइयों,

आज आपका एक पत्र मिला (अंबालालका)।

उदासीनता अध्यात्मकी जननी है।

[2]संसारमें रहना और मोक्ष होना कहना, यह होना असुलभ है।

वि० रायचन्दके यथायोग्य।

---

१५४ मोरबी, आसोज, १९४६

ॐ

* **बीजां साधन बहु कर्यां, करी कल्पना आप ।**
अथवा असद्गुरु थकी, ऊलटो वध्यो उताप ॥

---

१. अर्थात् केवलज्ञान अब पायेंगे, पायेंगे, पायेंगे रे के०। २. देखें आंक ८६।

* **भावार्थ**--अपनी कल्पनासे अथवा असद्गुरुके योगसे सुखके लिये दूसरे बहुतसे साधन किये; परन्तु सुखके बदले दुःख ही बढ़ा।

[1]पूर्व पुण्यना उदयथी, मळ्यो सद्गुरु योग ।
वचन सुधा श्रवणे जतां, थयुं हृदय गतशोग ॥

[2]निश्चय एथी आवियो, टळशे अहीं उताप ।
नित्य कर्यो सत्संग में, एक लक्षथी आप ॥

---

१५५ बंबई, १९४६

कितनी ही बातें ऐसी हैं कि जो मात्र आत्मग्राह्य हैं, और मन, वचन एवं कायासे पर हैं। कितनी ही बातें ऐसी हैं कि जो वचन और कायासे पर हैं; परन्तु हैं।

श्री भगवान। श्री मघशाप[3]। श्री बखलाध[4]।

---

१५६ बंबई, १९४६

पहले तीन कालको मुट्ठीमें लिया, इसलिये महावीरदेवने जगतको इस प्रकार देखा—
उसमें अनन्त चैतन्यात्मा मुक्त देखे।
अनन्त चैतन्यात्मा बद्ध देखे।
अनन्त मोक्षपात्र देखे।
अनन्त मोक्ष-अपात्र देखे।
अनन्त अधोगतिमें देखे।
ऊर्ध्वगतिमें देखे।
उसे पुरुषाकारमें देखा।
जड़ चैतन्यात्मक देखा।

---

१५७ सं० १९४६

दैनंदिनी[5]

(१) बंबई, कार्तिक वदी १, शुक्र, १९४६

नाना-प्रकारका मोह क्षीण हो जानेसे आत्माकी दृष्टि अपने गुणसे उत्पन्न होनेवाले सुखकी ओर जाती है, और फिर उसे प्राप्त करनेका वह प्रयत्न करती है। यही दृष्टि उसे उसकी सिद्धि देती है।

---

(२) बंबई, कार्तिक वदी ३, रवि, १९४६

हमने आयुका प्रमाण नहीं जाना है। बालावस्था नासमझीमें व्यतीत हुई। मानले कि ४६ वर्षकी आयु होगी, अथवा वृद्धता देख सकेंगे इतनी आयु होगी। परन्तु उसमें शिथिल दशाके सिवाय और कुछ नहीं देख सकेंगे। अब मात्र एक युवावस्था रही। उसमें यदि मोहनीयबलवत्तरता न घटी तो सुखसे निद्रा नहीं आयेगी, नीरोग रहा नहीं जायेगा, अनिष्ट संकल्प-विकल्प दूर नहीं होंगे और जगह जगह भटकना पड़ेगा,

---

१. **भावार्थ**—पूर्वपुण्यके उदयसे सद्गुरुका योग मिला, उनके वचनामृत कर्णगोचर होनेसे हृदय शोकरहित हो गया।

२. **भावार्थ**—इससे मुझे निश्चय हुआ कि अब यहीं दुःख दूर हो जायेगा। फिर मैंने एकनिष्ठासे निरन्तर सत्संग किया।

३. वर्णमालाका पहला एक एक अक्षर पढ़नेसे 'भगवान' शब्द बनता है।

४. वर्णमालाका दूसरा एक एक अक्षर पढ़नेसे 'भगवान' शब्द बनता है।

५. संवत् १९४६ की दैनंदिनीमें श्रीमद्ने अमुक तिथियोंमें अपनी विचारचर्या लिखी है। किसीने इस दैनंदिनीमेंसे कुछ पन्ने फाड़ लिये मालूम होते हैं। उसमें जितने पन्ने विद्यमान है वे यहाँ दिये हैं।

और वह भी ऋद्धि होगी तो होगा, नहीं तो पहले उसके लिये प्रयत्न करना पड़ेगा। वह इच्छानुसार मिली या न मिली यह तो एक ओर रहा, परन्तु कदाचित् निर्वाह योग्य मिलनी भी दुर्लभ है। उसीकी चिन्तामें, उसीके विकल्पमें और उसे प्राप्तकर सुख भोगेंगे इसी संकल्पमें मात्र दुःखके सिवाय और कुछ नहीं देख सकेंगे। इस वयमें किसी कार्यमें प्रवृत्ति करनेसे सफल हो गये तो एकदम घमंड़ आ जायेगा। सफल न हुए तो लोगोंका भेद और अपना निष्फल खेद बहुत दुःख देगा। प्रत्येक समय मृत्युके भयवाला, रोगके भयवाला, आजीविकाके भयवाला, यश होगा तो उसकी रक्षाके भयवाला, अपयश होगा तो उसे दूर करनेके भयवाला, लेनदारी होगी तो उसे लेनेके भयवाला, ऋण होगा तो उसकी चिन्ताके भयवाला, स्त्री होगी तो उसकी.....के भयवाला, नहीं होगी तो उसे प्राप्त करनेके विचारवाला, पुत्रपौत्रादि होंगे तो उनकी किचकिचके भयवाला, नहीं होंगे तो उन्हें प्राप्त करनेके विचारवाला, कम ऋद्धि होगी तो अधिकके विचारवाला, अधिक होगी तो उसे संचित रखनेके विचारवाला, ऐसा ही सभी साधनोंके लिये अनुभव होगा। क्रमसे या अक्रमसे संक्षेपमें कहना यह है कि अब सुखका समय कौनसा कहना? बालावस्था? युवावस्था? जरावस्था? नीरोगावस्था? रोगावस्था? धनावस्था? निर्धनावस्था? गृहस्थावस्था? अगृहस्थावस्था?

इस सब प्रकारके बाह्य परिश्रमके बिना अनुपम अन्तरंग विचारसे जो विवेक हुआ वही हमें दूसरी दृष्टि देकर सर्व कालके लिये सुखी करता है। इसका आशय क्या? यही कि अधिक जिये तो भी सुखी, कम जिये तो भी सुखी, फिर जन्मना होगा तो भी सुखी, न जन्मना होगा तो भी सुखी।

---

(३) बंबई, मगसिर सुदी १-२, रवि, १९४६

हे गौतम! उस काल और उस समयमें छद्मस्थ अवस्थामें, मैं एकादश वर्षके पर्यायमें, षष्ठभक्तसे षष्ठभक्त ग्रहण करके, सावधानतासे, निरन्तर तपश्चर्या और संयमसे आत्मताकी भावना करते हुए, पूर्वानुपूर्वीसे चलते हुए, एक गाँवसे दूसरे गाँवमें जाते हुए, जहाँ सुषुमारपुर नगर, जहाँ अशोक वनखंड उद्यान, जहाँ अशोकवर पादप, जहाँ पृथ्वीशिलापट्ट था, वहाँ आया; आकर अशोकवर पादपके नीचे, पृथ्वीशिलापट्टपर अष्टमभक्त ग्रहण करके, दोनों पैरोंको संकुचित करके, करोंको लम्बा करके, एक पुद्गलमें दृष्टिको स्थिर करके, अनिमेष नयनसे, शरीरको जरा नीचे आगे झुकाकर, योगकी समाधिसे, सर्व इन्द्रियोंको गुप्त करके, एक रात्रिकी महा प्रतिमा धारण करके, विचरता था।

(चमर)[1]

---

(४) बंबई, पौष सुदी ३, बुध, १९४६

नीचेके नियमोंपर बहुत ध्यान दे—

१. एक बात करते हुए उसके पूरी न होने तक आवश्यकताके बिना दूसरी बात नहीं करनी चाहिये।

२. कहनेवालेकी बात पूरी सुननी चाहिये।

३. स्वयं धीरजसे उसका सदुत्तर देना चाहिये।

४. जिसमें आत्मश्लाघा या आत्महानि न हो वह बात कहनी चाहिये।

५. धर्मसम्बन्धी अभी बहुत ही कम बात करना।

६. लोगोंसे धर्मव्यवहारमें नहीं पड़ना।

---

१. श्री भगवती सूत्र, शतक ३, उद्देशक २।

(५) बंबई, वैशाख वदी ४, गुरु, १९४६

*आज मने उछरंग अनुपम, जन्मकृतार्थ जोग जणायो ।
वास्तव्य वस्तु, विवेक विवेचक ते क्रम स्पष्ट सुमार्ग गणायो ॥

---

(६) बंबई, वैशाख वदी ५, शुक्र, १९४६

इच्छारहित कोई प्राणी नहीं है। उसमें भी मनुष्य प्राणी विविध आशाओंसे घिरा हुआ है। जब तक इच्छा-आशा अतृप्त है तब तक वह प्राणी अधोवृत्तिवत् है। इच्छाजयी प्राणी ऊर्ध्वगामीवत् है।

---

(७) बंबई, जेठ सुदी ४, गुरु, १९४६

हे परिचयी ! आपसे मैं अनुरोध करता हूँ कि आप अपनेमें योग्य होनेकी इच्छा उत्पन्न करें। मैं उस इच्छाको पूर्ण करनेमें सहायक होऊँगा।

आप मेरी अनुयायी हुईं, और उसमें जन्मांतरके योगसे मुझे प्रधानपद मिलनेसे आप मेरी आज्ञाका अवलंबन करके व्यवहार करें यह उचित माना है।

और मैं भी आपके साथ उचितरूपसे व्यवहार करना चाहता हूँ, दूसरी तरह नहीं।

यदि आप पहले जीवनस्थिति पूर्ण करें, तो धर्मार्थके लिये मुझे चाहें, ऐसा करना उचित मानता हूँ; और यदि मैं करूँ तो धर्मपात्रके रूपमें मेरा स्मरण हो, ऐसा होना चाहिये।

दोनों धर्ममूर्त्ति होनेका प्रयत्न करें, बड़े हर्षसे प्रयत्न करें।

आपकी गतिसे मेरी गति श्रेष्ठ होगी, ऐसा अनुमान किया है—मतिमें। उसका लाभ आपको देना चाहता हूँ, क्योंकि आप बहुत ही निकटके सम्बन्धी हैं। वह लाभ आप लेना चाहती हों तो दूसरी धारामें कहे अनुसार जरूर करेंगी ऐसी आशा रखता हूँ।

आप स्वच्छताको बहुत ही चाहें। वीतरागभक्तिको बहुत ही चाहें। मेरी भक्तिको समभावसे चाहें। आप जिस समय मेरी संगतिमें हों उस समय ऐसे रहें कि मुझे सभी प्रकारसे आनंद हो।

विद्याभ्यासी होवें। मुझसे विद्यायुक्त विनोदी संभाषण करें। मैं आपको युक्त बोध दूँगा। उससे आप रूपसंपन्न, गुणसंपन्न और ऋद्धि तथा बुद्धिसंपन्न होंगी।

फिर यह दशा देखकर मैं परम प्रसन्न होऊँगा।

---

(८) बंबई, जेठ सुदी ११, शुक्र, १९४६

सबेरेका छः से आठ तकका समय समाधियुक्त बीता था। अखाजीके विचार बहुत स्वस्थ चित्तसे पढ़े थे, मनन किये थे।

---

(९) बंबई, जेठ सुदी १२, शनि, १९४६

कल रेवाशंकरजी आनेवाले हैं, इसलिये तबसे नीचेके क्रमका पार्श्व प्रभु पालन करायें—

१. कार्यप्रवृत्ति।

२. साधारण भाषण—सकारण।

३. दोनोंके अंतःकरणकी निर्मल प्रीति।

---

* **भावार्थ**—आज मुझे अनुपम आनन्द हुआ है, जन्मकी कृतार्थताका योग प्रतीत हुआ है। वस्तुकी यथार्थता, विवेक और विवेचनके क्रमका सुमार्ग स्पष्टतासे प्रतीत हुआ है।

४. धर्मानुष्ठान।
५. वैराग्यकी तीव्रता।

---

(१०) बंबई, जेठ वदी ११, शुक्र, १९४६

तुझे अपना अस्तित्व माननेमें कहाँ शंका है शंका हो तो वह ठीक भी नहीं है।

---

(११) बंबई, जेठ वदी १२, शनि, १९४६

कल रात एक अद्भुत स्वप्न आया था। जिसमें दो एक पुरुषोंके सामने इस जगतकी रचनाके स्वरूपका वर्णन किया था, पहले सब कुछ भुलाकर पीछे जगतका दर्शन कराया था। स्वप्नमें महावीरदेवकी शिक्षा सप्रमाण हुई थी। इस स्वप्नका वर्णन बहुत सुन्दर और चमत्कारिक होनेसे परमानन्द हुआ था। अब फिर तत्सम्बन्धी अधिक।

---

(१२) बंबई, आषाढ़ सुदी ४, शनि, १९४६

कलिकालने मनुष्यको स्वार्थपरायण और मोहवश किया।
जिसका हृदय शुद्ध है और जो संतकी बतायी हुई राहसे चलता है, उसे धन्य है।
सत्संगके अभावसे चढ़ी हुई आत्मश्रेणी प्रायः पतित होती है।

---

(१३) बंबई, आषाढ़ सुदी ५, रवि, १९४६

जब यह व्यवहारोपाधि ग्रहण की तब उसे ग्रहण करनेका हेतु यह था—

भविष्यकालमें जो उपाधि बहुत समय लेगी, वह उपाधि अधिक दुःखदायक हो तो भी थोड़े समयमें भोग लेनी यह अधिक श्रेयस्कर है।

यह उपाधि निम्नलिखित हेतुओंसे समाधिरूप होगी ऐसा माना था—

धर्मसम्बन्धी अधिक बातचीत इस कालमें गृहस्थावस्थामें न हो तो अच्छा।

भले तुझे विषम लगे, परन्तु इसी क्रममें प्रवृत्ति कर। अवश्य ही इसी क्रममें प्रवृत्ति कर। दुःखको सहन करके, क्रमकी रक्षाके परिषहको सहन करके, अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गको सहन करके तू अचल रह। अभी कदाचित् अधिकतर विषम लगेगा, परन्तु परिणाममें वह विषम सम हो जायेगा। घेरेमें तू मत फँसना। बार-बार कहता हूँ मत फँसना, दुःखी होगा, पश्चात्ताप करेगा; इसकी अपेक्षा अभीसे इस वचनोंको हृदयमें उतार—प्रीतिपूर्वक उतार।

१. किसीके भी दोष मत देख। जो कुछ होता है, वह तेरे अपने दोषसे होता है, ऐसा मान।

२. तू अपनी (आत्म) प्रशंसा मत करना; और करेगा तो तू ही हलका है ऐसा मैं मानता हूँ।

३. जैसा दूसरोंको प्रिय लगे वैसा अपना बर्ताव रखनेका प्रयत्न करना। उसमें तुझे एकदम सिद्धि नहीं मिलेगी, अथवा विघ्न आयेंगे, तथापि दृढ़ आग्रहसे धीरे-धीरे उस क्रमपर अपनी निष्ठा जमाये रखना।

४. तू व्यवहारमें जिसके साथ सम्बद्ध हुआ हो उसके साथ अमुक प्रकारसे बरताव करनेका निर्णय करके उसे बता दे। उसे अनुकूल आ जाये तो वैसे; नहीं तो जैसे वह कहे वैसे बरताव करना। साथ ही बता देना कि आपके कार्यमें (जो मुझे सौंपेंगे उसमें) किसी प्रकारसे मैं अपनी निष्ठाके कारण हानि नहीं पहुँचाऊँगा। आप मेरे सम्बन्धमें दूसरी कोई कल्पना न करें; मुझे व्यवहार सम्बन्धी अन्यथा भाव नहीं है,

और मैं आपसे वैसा बरताव करना भी नहीं चाहता। इतना ही नहीं, परन्तु मनवचनकायासे मेरा कुछ विपरीताचरण हो गया तो उसके लिये पश्चात्ताप करूँगा। ऐसा नहीं करनेके लिये आगेसे बहुत सावधानी रखूँगा। आपका सौंपा हुआ काम करते हुए मैं निरभिमानी रहूँगा। मेरी भूलके लिये मुझे उपालम्भ देंगे उसे सहन करूँगा। मेरा बस चलेगा वहाँ तक स्वप्नमें भी आपका द्वेष या आपके सम्बन्धमें किसी भी प्रकारकी अन्यथा कल्पना नहीं करूँगा। आपको किसी प्रकारकी शंका हो तो मुझे बताइयेगा, तो आपका उपकार मानूँगा, और उसका सच्चा स्पष्टीकरण करूँगा। स्पष्टीकरण न हुआ तो मौन रहूँगा, परन्तु असत्य नहीं बोलूँगा। आपसे मात्र इतना ही चाहता हूँ कि किसी भी प्रकारसे आप मेरे निमित्तसे अशुभ योगमें प्रवृत्ति न करें। आप अपनी इच्छानुसार वर्तन करें, इसमें मुझे कुछ भी अधिक कहनेकी जरूरत नहीं है। मात्र मुझे मेरी निवृत्तिश्रेणिमें प्रवृत्ति करने देते हुए किसी तरह अपना अन्तःकरण छोटा न करें; और यदि छोटा करनेकी आपकी इच्छा हो तो अवश्य मुझे पहलेसे कह दें। उस श्रेणिको निभानेकी मेरी इच्छा है और उसके लिये मैं योग्य कर लूँगा। मेरा बस चलेगा तब तक मैं आपको दुःखी नहीं करूँगा और आखिर यही निवृत्तिश्रेणि आपको अप्रिय होगी तो भी मैं यथाशक्ति सावधानीसे, आपके समीपसे, आपको किसी भी प्रकारकी हानि पहुँचाये बिना शक्य लाभ पहुँचाकर, भविष्यके चाहे जिस कालके लिये भी वैसी इच्छा रखकर खिसक जाऊँगा।

---

(१४) बंबई, आषाढ़ वदी ४, रवि, १९४६

विश्वाससे व्यवहार करके अन्यथा व्यवहार करनेवाले आज पछतावा करते हैं।[1]

---

(१५) बंबई, आषाढ़ वदी ११, शनि, १९४६

तुच्छ[2] और [3]वाचाहीन यह जगत तो देखें।

---

(१६) बंबई आषाढ़ वदी १२, रवि, १९४६

दृष्टि ऐसी स्वच्छ करें कि जिसमें सूक्ष्मसे सूक्ष्म दोष भी दिखायी दे सकें; और दिखायी देनेसे उनका क्षय हो सके।

---

(१७) ववाणिया, आसोज सुदी १०, गुरु, १९४६

बीजज्ञान।
शोधे तो केवलज्ञान।

भगवान महावीरदेव।

कुछ कहा जा सके ऐसा यह स्वरूप नहीं है।

ज्ञानी रत्नाकर

१ ३

\+

२ ४

ये सब नियतियाँ किसने कही ?

हमने ज्ञानसे देखकर फिर जैसी योग्य प्रतीत हुई वैसी व्याख्या की।

पाठान्तर- १. कराते है। २ अविद्यमान। ३. अयाचित।

भगवान महावीरदेव।

१०, ९, ८, ७, ६, ४, ३, २, १

---

(१८) ववाणिया, आसोज सुदी ११, शुक्र, १९४६

ये बँधे हुए पाते हैं मोक्ष ऐसा क्यों नहीं कह देना ?

ऐसी किसे इच्छा रही है कि वैसे होने देता है ?

जिनेंद्रके वचनोंकी रचना अद्भुत है, इसमें तो ना नहीं।

परन्तु पाये हुए पदार्थका स्वरूप उसके शास्त्रोंमें क्यों नहीं ?

क्या उसे आश्चर्य नहीं लगा होगा, या छिपाया होगा ?

---

१५७ अ

वे श्रीमान पुरुषोत्तम सत्-चित्-आनन्दरूपसे सर्वत्र व्याप्त है। मूर्तिमान! (गुरुगम) स्वरूप अक्षयधाममें विराजते हैं। हम उस मूर्तिमान स्वरूपका क्या वर्णन करें ? उस स्वरूपका विचार करते हुए, स्मरण करते हुए हमें तो परम समाधि आती है। अहो वह स्वरूप! अहो वह स्वरूप! अहो हमारा महाभाग्य कि इस जन्ममें हमें उसकी भक्तिकी दृढ़ रुचि हुई !

१५८

ॐ

सत्

श्रीमान पुरुषोत्तम, श्री सद्गुरु और सन्त इनमें हमें भेदबुद्धि है ही नहीं। तीनों एकरूप ही हैं।

यह समस्त विश्व भगवद्रूप ही है। वे भगवान ही स्वेच्छासे जगदाकार हुए हैं।

तीनों कालमें भगवान भगवत्स्वरूप ही है। विश्वाकार होते हुए भी निर्बाध ही है। जैसे सर्प कुंडलाकार हो जानेसे किसी भी प्रकारके विकारको प्राप्त नहीं होता, और स्वरूपसे च्युत नहीं होता, वैसे श्री हरि जगदाकार होनेपर भी स्वरूपमें ही है।

हमारा और सर्व ज्ञानियोंका निश्चय है कि अनन्त स्वरूपसे एक वे भगवान ही है।

अनन्तकाल पहले यह समस्त विश्व उन श्रीमान भगवानसे ही उत्पन्न हुआ था; और अनन्तकालमें लय होकर वह भगवद्रूप ही होगा।

चित् और आनन्द ये दो 'पदार्थ' भगवानने जड़में तिरोभाव किये हैं। जीवमें एक आनन्दका ही तिरोभाव किया है। स्वरूपसे तो सर्व सत्-चित्-आनन्दरूप ही है। स्वरूपलीला भजनेके लिये भगवानकी आविर्भाव और तिरोभाव नामकी शक्तियाँ प्रचरित हैं।

यह जड़ या जीव कहीं औरसे नहीं आये हैं। उनकी उत्पत्ति श्रीमान हरिसे ही है। उसके वे अंश ही हैं; ब्रह्मरूप ही हैं; भगवद्रूप ही हैं।

यह सब जो कुछ प्रवर्तित है वह सब श्रीमान हरिसे ही प्रवर्तित है। सब वही है। सर्व तद्रूप ही है। भिन्नभाव और भेदाभेदका अवकाश ही नहीं है; वैसा है ही नहीं। ईश्वरेच्छासे वैसा भासित हुआ है, और वह उन (श्रीमान हरि) को ही भासित हुआ है; अर्थात् तू वही है। **'तत्त्वमसि'**।

आनन्दके अंशका आविर्भाव होनेसे जीव उसे खोजता है और इसलिये जिसमें चित् और आनन्द इन दो अंशोंका तिरोभाव किया है उस जड़में खोजनेके भ्रममें पड़ा है; परन्तु वह आनन्दस्वरूप तो भगवानमें ही प्राप्त होनेवाला है। जिसके प्राप्त होनेपर, ऐसा अखण्ड बोध होनेपर यह समस्त विश्व ब्रह्मरूप ही, भगवद्रूप ही भासित होगा, ऐसा ही है। ऐसा हमारा निश्चित अनुभव है ही।

जब यह समस्त विश्व भगवद्स्वरूप लगेगा तब जीवभाव मिटकर सत्-चित्-आनन्द ऐसा ब्रह्मस्वरूप प्राप्त होगा। **'अहं ब्रह्मास्मि'**। (अपूर्ण)

१५९

उन अचिंत्यमूर्ति हरिको नमस्कार

परम प्रेमस्वरूप आनन्दमूर्ति आनन्द ही जिसका स्वरूप है ऐसे श्रीमान हरिके चरणकमलकी अनन्य भक्ति हम चाहते हैं। वारंवार और असंख्य प्रकारसे हमने विचार किया कि किस तरह हम समाधिरूप होवें ? तो उस विचारका आखिर यह निर्णय हुआ कि सर्वरूपसे एक श्री हरि ही हैं ऐसा तुझे निश्चय करना ही है।

सर्वत्र आनन्दरूप सत् है। व्यापक श्री हरिको निराकार मानते हैं और केवल उस सर्वके बीजभूत अक्षरधाममें श्री पुरुषोत्तम साकार सुशोभित हैं।

केवल वह आनन्दकी ही मूर्ति है। सर्व सत्ताकी बीजभूत उस शाश्वत मूर्तिको हम वारंवार देखनेके लिये तरसते हैं।

अनन्त प्रदेशभूत ऐसे उन श्री पुरुषोत्तमका स्वरूप रोम-रोममें अनन्त ब्रह्मांडात्मक सत्तासे व्याप्त है, ऐसा निश्चय है, यों दृढ़ करता हूँ।

इस सृष्टिसे पहले श्रीमान पुरुषोत्तम एक ही थे और वे अपनी इच्छासे जगदाकार हुए है।

बीजभूत ऐसे वे श्रीमान परमात्मा ऐसी महाविस्तृत स्थितिमें आते हैं। परिपूर्ण अमृतरस उस बीजको वृक्षरूप होनेमें श्री हरि प्रेरित करते हैं।

वह अमृतरस उन श्री पुरुषोत्तमकी इच्छारूप नियतिका सर्व प्रकारसे अनुसरण करता है, कारण कि वह वही है।

अनन्तकालसे श्रीमान हरि इस जगतको समेटते हैं। उत्पत्तिसे पहले बंध मोक्ष कुछ था ही नहीं और अनन्त लयके पश्चात् होगा भी नहीं। हरि ऐसा चाहते ही है कि एक ऐसा मैं बहुरूप होऊँ और वैसे होते हैं।

१६०

[1]पन्ना १ यह विश्व चैतन्याधिष्ठित होना योग्य है।

पन्ना २ विशिष्टाद्वैतमें हमारी परम रुचि है।

---

१. एक मुमुक्षुसे प्राप्त श्रीमद्के स्वहस्ताक्षरकी नोटबुक, जिसमें इस तरहके ३१ पन्ने लिखे हुए हैं।

यद्यपि एक शुद्धाद्वैत ही समझमें आता है।
और ऐसा ही है।

सत् चित् आनंद	हरि	जड़ जीव परमात्मा

और यही हमारी अन्तरकी परम रुचि है।

परमात्मा आनन्द, सत् और चिन्मय है।

पन्ना ३ परमात्मसृष्टि किसीको विषम होने योग्य नहीं है।

पन्ना ४ जीवसृष्टि जीवको विषमताके लिये स्वीकृत है।

पन्ना ५-६ परमात्मसृष्टि परम ज्ञानमय और परम
आनन्दसे परिपूर्ण व्याप्त है।

पन्ना ७ जीवको स्वसृष्टिसे उदासीन होना योग्य है।

पन्ना ८ हरिकी प्राप्तिके बिना जीवका क्लेश दूर नहीं होता।

पन्ना ९ हरिके गुणग्रामका अनन्य चिंतन नहीं है,
यह चिंतन भी विषम है।

पन्ना १० हरिमय ही हम होनेके योग्य हैं।

पन्ना ११ हरिकी माया है, उससे वह प्रवृत्त होता है।
हरिको वह प्रवृत्त कर सकने योग्य है ही नहीं।

पन्ना १२ वह माया भी होनेके योग्य ही है।

पन्ना १३ माया न होती तो हरिका अकलत्व कौन कहता ?

पन्ना १४ माया ऐसी नियतिसे युक्त है कि उसका प्रेरक अबंधन ही होने योग्य है।

पन्ना १५ हरि हरि ऐसा ही सर्वत्र हो,
वही प्रतीति हो, उसीका भान हो।
उसीकी सत्ता हमें भासित हो।
उसमें ही हमारा अनन्य, अखण्ड
अभेद...होना योग्य ही था।

पन्ना १६ जीव अपनी सृष्टिपूर्वक अनादिकालसे परिभ्रमण करता है।
हरिकी सृष्टिसे अपनी सृष्टिका अभिमान मिटता है।

पन्ना १७ ऐसा समझानेके लिये, प्राप्ति होनेके लिये हरिका अनुग्रह चाहिये।

पन्ना १८ तपश्चर्यावान प्राणीको संतोष देना इत्यादि साधन उस परमात्माके अनुग्रहके कारणरूप होते हैं।

पन्ना १९ उस परमात्माके अनुग्रहसे पुरुष वैराग्य विवेक आदि साधनसंपन्न होता है।

पन्ना २० इस साधनोंसे युक्त ऐसा योग्य पुरुष सद्गुरुकी आज्ञाको समुत्थित करने योग्य है।

पन्ना २१-२२ ये साधन जीवकी परम योग्यता और यही परमात्माकी प्राप्तिका सर्वोत्तम उपाय हैं।

पन्ना २३ सभी कुछ हरिरूप ही है। इसमें फिर भेद कैसा ?

भेद है ही नहीं।
सर्व आनन्दरूप ही है।
ब्राह्मी स्थिति।
स्थापितो ब्रह्मवादो हि,
सर्व वेदांतगोचरः।

पन्ना २४ यह सब ब्रह्मरूप ही है, ब्रह्म ही है।
ऐसा हमारा दृढ़ निश्चय है।
इसमें कोई भेद नहीं है; जो है वह सर्व ब्रह्म ही है।
सर्वत्र ब्रह्म है; सर्वरूप ब्रह्म है। उसके सिवाय कुछ नहीं है।
जीव ब्रह्म है, जड़ ब्रह्म है, हरि ब्रह्म है, हर ब्रह्म है।
ब्रह्मा ब्रह्म है। ॐ ब्रह्म है। वाणी ब्रह्म है। गुण ब्रह्म है।
सत्त्व ब्रह्म है। रजो ब्रह्म है। तमो ब्रह्म है। पंचभूत ब्रह्म है।
आकाश ब्रह्म है। वायु ब्रह्म है। अग्नि ब्रह्म है। जल भी ब्रह्म है।
पृथ्वी भी ब्रह्म है। देव ब्रह्म है। मनुष्य ब्रह्म है। तिर्यंच ब्रह्म है।
नरक ब्रह्म है। सर्व ब्रह्म है। अन्य नहीं है।

पन्ना २५ काल ब्रह्म है। कर्म ब्रह्म है। स्वभाव ब्रह्म है। नियति ब्रह्म है।
ज्ञान ब्रह्म है। ध्यान ब्रह्म है। जप ब्रह्म है। तप ब्रह्म है। सर्व ब्रह्म है।
नाम ब्रह्म है। रूप ब्रह्म है। शब्द ब्रह्म है। स्पर्श ब्रह्म है। रस ब्रह्म है।
गंध ब्रह्म है। सर्व ब्रह्म है।
ऊँचे नीचे तिरछे सर्व ब्रह्म है।
एक ब्रह्म है। अनेक ब्रह्म हैं।
ब्रह्म एक है, अनेक भासित होता है।

सर्व ब्रह्म है।
सर्व ब्रह्म है।
सर्व ब्रह्म है।
ॐ शांतिः शांतिः शांतिः।

पन्ना २६ सर्व ब्रह्म है, इसमें संशय नहीं।
मैं ब्रह्म, तू ब्रह्म, वह ब्रह्म इसमें संशय नहीं।
हम ब्रह्म, आप ब्रह्म, वे ब्रह्म इसमें संशय नहीं।
जो ऐसा जानता है वह ब्रह्म, इसमें संशय नहीं।
जो ऐसा नहीं जानता वह भी ब्रह्म, इसमें संशय नहीं।
जीव ब्रह्म है, इसमें संशय नहीं।
जड़ ब्रह्म है, इसमें संशय नहीं।
ब्रह्म जीवरूप हुआ है, इसमें संशय नहीं।
ब्रह्म जड़रूप हुआ है, इसमें संशय नहीं।

सर्व ब्रह्म है, इसमें संशय नहीं।
ॐ ब्रह्म।
सर्व ब्रह्म, सर्व ब्रह्म।
ॐ शांतिः शांतिः शांतिः।

पन्ना २७ सर्व हरि है, इसमें संशय नहीं।

पन्ना २८ यह सब आनन्दरूप ही है, आनन्द ही है, इसमें संशय नहीं।

पन्ना २९ हरि ही सर्वरूप हुआ है।
–हरिका अंश हूँ।
१. उसका परमदासत्व करने योग्य हूँ, ऐसा दृढ़ निश्चय करना; इसे हम विवेक कहते हैं।
२. ऐसे दृढ निश्चयको उस हरिकी माया आकुल करनेवाली लगती है, वहाँ धैर्य रखना।
३. वह सब रहनेके लिये उस परम रूप हरिका आश्रय अंगीकार करना अर्थात् 'मैं' के स्थानपर हरिको स्थापित करके **मैं** को दासत्व देना–
४. ऐसे ईश्वराश्रयी होकर प्रवृत्ति करें,
ऐसा हमारा निश्चय आपको रुचे।

पन्ना ३० केवल पद

---

[1]कक्का केवळ पद उपदेश।
कहीशुं प्रणमी देव रमेश॥

---

१. **भावार्थ**–रमेशदेवको प्रणाम करके हम कहते हैं कि कक्का केवल पदका उपदेश देता है।

पन्ना ३१ १. कोई भी वस्तु किसी भी भावसे परिणत होती है।
२. जो किसी भी भावसे परिणत नहीं, वह अवस्तु है।
३. कोई भी वस्तु केवल परभावमें समवतरित नहीं होती।
४. जिससे, जो सर्वथा मुक्त हो सके वह वह न था, ऐसा जानते हैं।
५.

१६१

हे सहजात्मस्वरूपी! आप कहाँ-कहाँ और किस-किस तरह दुविधामें पड़े हैं? यह कहें। ऐसी विभ्रांत और दिग्मूढ दशा क्यों?

मैं क्या कहूँ? आपको क्या उत्तर दूँ? मति दुविधामें पड़ गयी है, गति नहीं चलती। आत्मामें खेद ही खेद और कष्ट ही कष्ट हो रहा है। कहीं भी दृष्टि नहीं ठहरती और हम निराधार, निराश्रय हो गये हैं। ऊँचे-नीचे परिणाम प्रवाहित होते रहते हैं। अथवा लोकादिके स्वरूपके विषयमें उलटे विचार आया करते हैं, किंवा भ्रांति और मूढ़ता रहा करती है। कहीं दृष्टि नहीं पहुँचती। भ्रांति हो गयी है कि अब मुझमें कोई विशेष गुण दिखायी नहीं देता। मैं अब दूसरे मुमुक्षुओंको भी सच्चे स्नेहसे प्रिय नहीं हूँ। वे सच्चे भावसे मुझे नहीं चाहते। अथवा कुछ अनिच्छासे और मध्यम स्नेहसे प्रिय समझते हैं। अधिक परिचय नहीं करना चाहिये, वह मैंने किया, उसका भी खेद होता है।

सभी दर्शनोंमें शंका होती है। आस्था नहीं आती।

यदि ऐसा है तो भी चिन्ता नहीं। आत्माकी आस्था है अथवा वह भी नहीं है?

उसकी आस्था है। उसका अस्तित्व है, नित्यत्व है, और वह चैतन्यवान है। अज्ञानसे कर्ताभोक्तापन है। ज्ञानसे परयोगका कर्ताभोक्तापन नहीं है।

ज्ञानादि उसका उपाय है। इतनी आस्था है। परन्तु उस आस्थाके प्रति अभी आत्मवृत्ति विचार-शून्यतावत् रहती है। इसका बड़ा खेद है।

यह जो आपको आस्था है यही सम्यग्दर्शन है। किसलिये दुविधामें पड़ते हैं? विकल्पमें पड़ते हैं?

इस आत्माकी व्यापकताके लिये, मुक्तिस्थानके लिये, जिनकथित केवलज्ञान और वेदान्तकथित केवलज्ञानके लिये तथा शुभाशुभ गति भोगनेके स्थान, तथा वैसे स्थानोंके स्वभावतः शाश्वत अस्तित्वके लिये, तथा इसके मापके लिये वारंवार शंका और शंका ही हुआ करती है, और इससे आत्मा स्थिर नहीं हो पाता।

जो जिनेन्द्रने कहा है उसे मानें न।

जगह-जगह शंका होती है। तीन कोसके आदमी—चक्रवर्ती आदिके स्वरूप इत्यादि मिथ्या लगते है। पृथिवी आदिके स्वरूप असंभव लगते हैं।

उसका विचार छोड़ दे।

छोड़े छूटता नहीं है।

किसलिये?

यदि उसका स्वरूप उनके कहे अनुसार न हो तो उन्हें जैसा केवलज्ञान कहा है वैसा नहीं था, ऐसा सिद्ध होता है। तो क्या वैसा मानना? तो फिर लोकका स्वरूप कौन यथार्थ जानता है ऐसा मानना? कोई नहीं जानता ऐसा मानना? और ऐसा जाने तो सबने अनुमान करके ही कहा है, ऐसा मानना पड़ता है। तो फिर बंध मोक्ष आदि भावोंकी प्रतीति क्या?

योगसे वैसा दर्शन होता हो, तो किसलिये अन्तर पड़ेगा ?
समाधिमें छोटी वस्तु बड़ी दिखायी देती है और इससे मापमें विरोध आता है। समाधिमें चाहे जैसा दिखायी देता हो परन्तु मूलरूप इतना है और समाधिमें इस प्रकार दिखायी देता है, ऐसा कहनेमें क्या हानि थी ?
वह कहा भी गया हो, परन्तु वर्तमान शास्त्रमें वह नहीं रहा ऐसा समझनेमें क्या हानि ?
हानि कुछ नहीं, परन्तु इस तरह स्थिरता यथार्थ नहीं आती।
दूसरे भी बहुतसे भावोंमें जगह-जगह विरोध दिखायी देता है।
आप स्वयं भूलते हों तो ?
यह भी सत्य है, परन्तु हम सत्य समझनेके अभिलाषी हैं। कुछ लाज-शर्म, मान, पूजा आदिके अभिलाषी नहीं है फिर भी सत्य समझमें क्यों नहीं आता ?
सद्गुरुकी दृष्टिसे समझमें आता है। स्वतः यथार्थ समझमें नहीं आता।
सद्गुरुका योग तो मिलता नहीं है। और हमको सद्गुरुके तौरपर माना जाता है। तो फिर क्या करना ?
हम जिस विषयमें शंकावाले हैं, उस विषयमें दूसरोंको क्या समझायें ? कुछ समझाया नहीं जाता और समय बीतता जाता है। इस कारणसे तथा कुछ विशेष उदयसे त्याग भी नहीं होता। जिससे सारी स्थिति शंकारूप हो गयी है। इसकी अपेक्षा तो हमारे लिये जहर पीकर मर जाना उत्तम है, सर्वोत्तम है।
दर्शनपरिषह इसी तरह भोगा जाता है क्या ?
यह योग्य है। परन्तु हमको लोगोंका परिचय 'हम ज्ञानी हैं' ऐसी उनकी मान्यताके साथ न हुआ होता तो क्या बुरा था ?
वही होनहार था।
अरे ! हे दुष्टात्मन् ! पूर्वमें उचित सन्मति नहीं रखी और कर्मबन्ध किये तो अब तू ही उनके फल भोगता है। तू या तो जहर पी और या तो उपाय तत्काल कर।
योगसाधन करूँ ?
उसमें बहुत अंतराय देखनेमें आते हैं। वर्तमानमें परिश्रम करते हुए भी वह उदयमें नहीं आता।

१६२

हे श्री..... ! आप शंकारूप भँवरमें वारंवार फँसते हैं, इसका अर्थ क्या है ? निःसंदेह होकर रहें, और यही आपका स्वभाव है।

हे अन्तरात्मा ! आपने जो वाक्य कहा वह यथार्थ है। निःसंदेहरूपसे स्थिति यह स्वभाव है, तथापि जब तक संदेहके आवरणका सर्वथा क्षय न किया जा सका हो तब तक वह स्वभाव चलायमान अथवा अप्राप्त रहता है और इस कारणसे हमें भी वर्तमान दशा प्राप्त है।

हे श्री..... ! आपको जो कुछ संदेह रहता हो उस संदेहका स्वविचारसे अथवा सत्समागमसे क्षय करें।

हे अन्तरात्मा ! वर्तमान आत्मदशाको देखते हुए यदि परम सत्समागम प्राप्त हुआ हो और उसके आश्रयमें वृत्ति प्रतिबंधको प्राप्त हुई हो तो वह संदेहकी निवृत्तिका हेतु होना संभव है। अन्यथा दूसरा कोई उपाय दिखायी नहीं देता, और परम सत्समागम अथवा सत्समागम भी प्राप्त होना अत्यंत कठिन है।

हे श्री..... ! आप कहते हैं वैसे सत्समागमकी दुर्लभता है, इसमें संशय नहीं है; परन्तु वह दुर्लभता यदि सुलभ न हो और वैसा विशेष अनागत कालमें भी आपको दिखायी देता हो तो आप शिथिलताका

त्याग करके स्वविचारका दृढ़ अवलंबन ग्रहण करे, और परम पुरुषकी आज्ञामें भक्ति रखकर सामान्य सत्समागममें भी काल व्यतीत करे।

हे अन्तरात्मा ! वे सामान्य सत्समागमी हमें पूछकर संदेहकी निवृत्ति करना चाहते हैं, और हमारी आज्ञासे प्रवृत्ति करना कल्याणरूप है ऐसा जानकर वशवर्ती होकर प्रवृत्ति करते हैं; जिससे हमें उनके समागममें तो निजविचार करनेमें भी उनकी संभाल लेनेमें पड़ना पड़े, और प्रतिबन्ध होकर स्वविचारदशा बहुत आगे न बढ़ें, इसलिये संदेह तो वैसे ही रहे। ऐसा संदेहसाहचर्य जब तक हो तब तक दूसरे जीवोंके अर्थात् सामान्य सत्समागम आदिमें भी आना योग्य नहीं; इसलिये क्या करना यह नहीं सूझता।

१६३

हे हरि ! इस कलिकालमें तेरे प्रति अखंड प्रेमका एक क्षण भी बीतना दुर्लभ है, ऐसी निवृत्ति लोग भूल गये हैं। प्रवृत्तिमें प्रवृत्त होकर निवृत्तिका भान भी नहीं रहा। नाना प्रकारके सुखाभासके लिये प्रयत्न हो रहा हैं। चाव भी नष्टप्रायः हो गया है। वृद्धमर्यादा नहीं रही। धर्ममर्यादाका तिरस्कार हुआ करता है। सत्संग क्या ? और यही एक कर्तव्यरूप है ऐसा समझना केवल दुष्कर हो पड़ा है। सत्संगकी प्राप्तिमें भी जीवको उसकी पहचान होनी महा विकट हो पड़ी है। जीव मायाकी प्रवृत्तिका प्रसंग वारंवार किया करते है। एक बार जिन वचनोंकी प्राप्ति होनेसे जीव बंधनमुक्त हो और तेरे स्वरूपको प्राप्त करे, वैसे वचन बहुत बार कह जानेका भी कुछ ही फल नहीं होता। ऐसी अयोग्यता जीवोंमें आ गयी है। निष्कपटता हानिको प्राप्त हुई है। शास्त्रमें संदेह उत्पन्न करना इसे जीवने एक ज्ञान मान लिया है। परिग्रहकी प्राप्तिके लिये तेरे भक्तको भी ठगनेका कार्य उसे पापरूप नहीं लगता। परिग्रहका उपार्जन करनेवाले सगे सम्बन्धियोंसे जीवने जैसा प्रेम किया है वैसा प्रेम तुझसे अथवा तेरे भक्तसे किया होता तो जीव तुझे प्राप्त कर लेता। सर्व भूतोंमें दया रखनी और सबमें तू है ऐसा समझकर दासत्वभाव रखना, यह परम धर्म स्खलित हो गया है। सर्व रूपोंमें तेरा अस्तित्व समान ही है, इसलिये भेदभावका त्याग करना, यह महापुरुषोंका अन्तरंग ज्ञान आज कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। हम कि जो तेरा मात्र निरंतर दासत्व ही अनन्य प्रेमसे चाहते हैं, उसे भी तू कलियुगका प्रसंगी संग दिया करता है।

अब हे हरि ! यह देखा नहीं जाता, सुना नहीं जाता, यह न कराना योग्य है। फिर भी हमारे प्रति तेरी ऐसी ही इच्छा हो तो प्रेरणा कर कि जिससे हम उसे केवल सुखरूप ही मान लेंगे। हमारे प्रसंगमें आये हुए जीव किसी प्रकारसे दुःखी न हों और हमारे द्वेषी न हों (हमारे कारणसे) ऐसा मुझ शरणागतपर अनुग्रह होना योग्य हो तो कर। मुझे बड़ेसे बड़ा दुःख मात्र इतना ही है कि जीव तेरेसे विमुख करनेवाली वृत्तियोंसे प्रवृत्ति करते हैं। उनका प्रसंग होना और फिर किन्हीं कारणोंसे उन्हें तेरे सन्मुख होनेका कहनेपर भी उसका अंगीकार न होना यह हमें परम दुःख है। और यदि वह योग्य होगा तो उसे दूर करनेके लिये हे नाथ ! तू समर्थ है, समर्थ है। हे हरि ! वारंवार मेरा समाधान कर, समाधान कर।

१६४

अद्‌भुत ! अद्‌भुत ! अद्‌भुत ! परम अचिंत्य ऐसा तेरा स्वरूप, हे हरि ! मैं पामर प्राणी उसका कैसे पार पाऊँ ? मैं जो तेरे अनंत ब्रह्मांडका एक अंश वह तुझे कैसे जानूँ ? सर्वसत्तात्मक ज्ञान जिसके मध्यमें है ऐसे हे हरि ! तुझे चाहता हूँ, चाहता हूँ। तेरी कृपा चाहता हूँ। तुझे वारंवार हे हरि ! चाहता हूँ। हे श्रीमान पुरुषोत्तम ! तू अनुग्रह कर ! अनुग्रह कर !!

---

२४ वाँ वर्ष

१६५ बंबई, कार्तिक सुदी ५, सोम, १९४७

परम पूज्य–केवलबीज-सम्पन्न,

सर्वोत्तम उपकारी श्री सौभाग्यभाई,

मोरबी।

आपके प्रतापसे यहाँ आनन्दवृत्ति है।

प्रभुके प्रतापसे उपाधिजन्य वृत्ति है।

भगवान परिपूर्ण सर्वगुणसम्पन्न कहलाते हैं। तथापि इनमें भी कुछ कम अपलक्षण नहीं है ! विचित्र करना यही है इसकी लीला ! तो अधिक क्या कहना !

सर्व समर्थ पुरुष आपको प्राप्त हुए ज्ञानके ही गीत गा गये हैं। इस ज्ञानकी दिन प्रतिदिन इस आत्माको भी विशेषता होती जाती है। मैं मानता हूँ कि केवलज्ञान तकका परिश्रम व्यर्थ तो नहीं जायेगा। हमें मोक्षकी कोई जरूरत नहीं है। निःशंकताकी, निर्भयताकी, निराकुलताकी और निःस्पृहताकी जरूरत थी, वह अधिकांशमें प्राप्त हुई मालूम होती है, और पूर्णांशमें प्राप्त करानेकी गुप्त रहे हुए करुणासागरकी कृपा होगी, ऐसी आशा रहती है। फिर भी इससे भी अधिक अलौकिक दशाकी इच्छा रहती है, तो विशेष क्या कहना ?

अनहद ध्वनिमें कमी नहीं है। परन्तु गाड़ी-घोड़ेकी उपाधि श्रवणका सुख थोड़ा देती है। निवृत्तिके सिवाय यहाँ दूसरा सब कुछ है।

जगतको, जगतकी लीलाको बैठे बैठे मुफ्तमें देख रहे हैं।

आपकी कृपा चाहता हूँ।

वि० आज्ञाकारी रायचन्दका प्रणाम।

---

१६६ बंबई, कार्तिक सुदी ६, मंगल, १९४७

सत्पुरुषके एक-एक वाक्यमें, एक-एक शब्दमें अनंत आगम निहित हैं, यह बात कैसे होगी ?

निम्नलिखित वाक्य मैंने असंख्य सत्पुरुषोंकी सम्मतिसे प्रत्येक मुमुक्षुके लिये मंगलरूप माने हैं, मोक्षके सर्वोत्तम कारणरूप माने हैं–

१. मायिक सुखकी सर्व प्रकारकी वांछा चाहे जब भी छोड़े बिना छुटकारा होनेवाला नहीं है, तो

जबसे इस वाक्यका श्रवण किया, तभीसे उस क्रमका अभ्यास करना योग्य ही है, ऐसा समझें।

२. किसी भी प्रकारसे सद्गुरुकी शोध करे, शोध करके उसके प्रति तन, मन, वचन और आत्मासे अर्पणबुद्धि करे; उसीकी आज्ञाका सर्वथा निःशंकतासे आराधन करे, और तभी सर्व मायिक वासनाका अभाव होगा, ऐसा समझें।

३. अनादि कालके परिभ्रमणमें अनंतवार शास्त्रश्रवण, अनंतवार विद्याभ्यास, अनंतवार जिनदीक्षा और अनंतवार आचार्यत्व प्राप्त हुआ है। मात्र 'सत्' मिला नहीं, 'सत्' सुना नहीं, और 'सत्'की श्रद्धा की नहीं, और इसके मिलने, सुनने और श्रद्धा करनेपर ही छुटकारेकी गूँज आत्मामें उठेगी।

४. मोक्षका मार्ग बाहर नहीं, परन्तु आत्मामें है। मार्गको प्राप्त पुरुष मार्गको प्राप्त करायेगा।

५. मार्ग दो अक्षरोंमें निहित है और अनादि कालसे इतना सब करनेपर भी क्यों प्राप्त नहीं हुआ, इसका विचार करें।

---

१६७ बंबई, कार्तिक सुदी १२, रवि, १९४७

ॐ सत्

हरीच्छा सुखदायक ही है।

निर्विकल्प ज्ञान होनेके बाद जिस परमतत्त्वका दर्शन होता है,

उस परम तत्त्वरूप सत्यका ध्यान करता हूँ।

त्रिभोवनका पत्र और अंबालालका पत्र प्राप्त हुआ है।

धर्मज जाकर सत्समागम करनेकी अनुमति है, परन्तु आप तीनके सिवाय और कोई न जाने ऐसा यदि हो सकता हो तो उस समागमके लिये प्रवृत्ति करें; नहीं तो नहीं। इस समागमको यदि प्रगटतामें आने देंगे तो हमारी इच्छानुसार नहीं हुआ, ऐसा समझें।

धर्मज जानेका प्रसंग लेकर यदि खम्भातसे निकलेंगे तो सम्भव है कि यह बात प्रगट हो जायेगी और आप कबीर आदि संप्रदायमें मानते हैं, ऐसी लोकचर्चा होगी अर्थात् आप उस कबीर संप्रदायके न होनेपर भी वैसे माने जायेंगे। इसलिये, कोई दूसरा प्रसंग लेकर निकलना और बीचमें धर्मजमें मिलाप करते आना। वहाँ भी अपने धर्म, कुल इत्यादि संबंधी अधिक परिचय नहीं देना। तथा उनसे पूर्ण प्रेमसे समागम करना, भेदभावसे नहीं, मायाभावसे नहीं, परन्तु सत्स्नेहभावसे करना। मलातज सम्बन्धी अभी समागम करनेका प्रयोजन नहीं है। खंभातसे धर्मजकी ओर जानेसे पहले धर्मज एक पत्र लिखना; जिसमें विनयसहित जताना कि किसी ज्ञानावतार पुरुषकी अनुमति आपका सत्संग करनेके लिये हमें मिली है जिससे आपके दर्शनके लिये.....तिथिको आयेंगे। हम आपका समागम करते हैं यह बात अभी किसी भी तरहसे अप्रगट रखना ऐसी उस ज्ञानावतार पुरुषने आपको और हमें सूचना दी है। इसलिये आप इसका पालन कृपया अवश्य करेंगे ही।

उनका समागम होनेपर एक बार नमस्कार करके विनयसे बैठना। थोड़ा समय बीतनेके बाद उनकी प्रवृत्ति–प्रेमभावका अनुसरण करके बातचीत करना। (एक साथ तीन व्यक्ति अथवा एकसे अधिक व्यक्ति न बोलें।) पहले यों कहें कि आप हमारे सम्बन्धमें निःसन्देह दृष्टि रखें। आपके दर्शनार्थ हम आये हैं। सो किसी भी तरहके दूसरे कारणसे नहीं, परन्तु मात्र सत्संगकी इच्छासे। इतना कहनेके बाद उन्हें बोलने देना। उसके थोड़े समय बाद आप बोलना। हमें किसी ज्ञानावतार पुरुषका समागम हुआ था। उनकी दशा अलौकिक देखकर हमें आश्चर्य हुआ था। हमारे जैन होनेपर भी उन्होंने निर्विसंवादरूपसे

प्रवृत्ति करनेका उपदेश दिया था। "सत्य एक है, दो प्रकारका नहीं है। और वह ज्ञानीके अनुग्रहके बिना प्राप्त नहीं होता। इसलिये मतमतांतरका त्याग करके ज्ञानीकी आज्ञामें अथवा सत्संगमें प्रवृत्ति करना। जैसे जीवका बंधन निवृत्त हो वैसे करना योग्य है। और इसके लिये हमारे ऊपर कहे हुए साधन हैं।" इत्यादि प्रकारसे उन्होंने हमें उपदेश दिया था। और जैन आदि मतोंका आग्रह मिटाकर उनके आदेशानुसार प्रवृत्ति करनेकी हमारी अभिलाषा उत्पन्न हुई थी, और अब भी वैसी ही है कि मात्र सत्यका ही आग्रह रखना। मतमें मध्यस्थ रहना। वे अभी विद्यमान हैं। युवावस्थाके पहले भागमें हैं। अभी उनकी इच्छा अप्रगट रूपसे प्रवृत्ति करनेकी है। निःसंदेह स्वरूप ज्ञानावतार हैं और व्यवहारमें रहते हुए भी वीतराग हैं। उन कृपालुका समागम होनेके बाद हम विशेषतः निराग्रही रहते हैं। मतमतांतर संबंधी विवाद खड़ा नहीं होता। निष्कपटभावसे सत्यका आराधन करनेकी ही दृढ़ अभिलाषा है। उन ज्ञानावतार पुरुषने हमें बताया था—"हम अभी प्रगटरूपसे मार्ग बताये ऐसी ईश्वरेच्छा नहीं है। इसलिये हम आपसे अभी कुछ कहना नहीं चाहते। परन्तु योग्यता आये और जीव यथायोग्य मुमुक्षुता प्राप्त करे इसके लिये प्रयत्न करें।" और इसके लिये उन्होंने अनेक प्रकारसे संक्षेपमें अपूर्व उपायोंका उपदेश दिया था। अभी उनकी इच्छा अप्रगट ही रहनेकी है, इसलिये परमार्थके सम्बन्धमें वे प्रायः मौन ही रहते हैं। हम पर इतनी अनुकंपा हुई कि उन्होंने इस मौनको विस्मृत किया था और उन्हीं सत्पुरुषने आपका समागम करनेकी हमारी इच्छाको जन्म दिया था, नहीं तो हम आपके समागमका लाभ कहाँसे पा सकते ? आपके गुणोंकी परीक्षा कहाँसे होती ? ऐसी आप अपनी अभिलाषा बताना कि हमें आपसे किसी प्रकारसे बोध प्राप्त हो और हमें मार्गकी प्राप्ति हो तो इसमें वे ज्ञानावतार प्रसन्न ही हैं। हमने उनके शिष्य होनेकी इच्छा रखी थी। तथापि उन्होंने बताया था—"अभी प्रगटरूपसे मार्ग कहनेकी हमें ईश्वराज्ञा नहीं है, तो फिर आप चाहे जिस सत्संगमें योग्यता या अनुभव प्राप्त करें इसमें हमें संतोष ही है।" आपके लिये भी उनका ऐसा ही अभिप्राय समझें कि हम आपके शिष्यके तौर पर प्रवृत्ति करें तो भी आप मेरे ही शिष्य हैं ऐसा उन्होंने कहा है। आपके प्रति उन्होंने परमार्थयुक्त प्रेमभाव हमें बताया था। यद्यपि उन्हें किसीसे भेदभाव नहीं है, तथापि आपके प्रति स्नेहभाव किसी पूर्वके कारणसे बताया मालूम होता है। मुक्तात्मा होनेसे वस्तुतः उनका नाम, धाम, ग्राम कुछ भी नहीं है; तथापि व्यवहारसे वैसा है। फिर भी उन्होंने यह सब अप्रगट रखनेकी हमें आज्ञा की है। आपसे वे अप्रगटरूपसे व्यवहार करते हैं। तथापि आप उनके पास प्रगट हैं। अर्थात् आपको भी अभी तक उन्होंने प्रगट समागम, नाम, धामके बारेमें कुछ भी कहनेके लिये हमें प्रेरित नहीं किया है और ईश्वरेच्छा होगी तो थोड़े समयमें आपको उनका समागम होगा ऐसा हम समझते हैं।

इस प्रकार प्रसंगानुसार बातचीत करना। किसी भी प्रकारसे नाम, धाम और ग्राम प्रगट करना ही नहीं और उपर्युक्त बात आपको अपने हृदयमें समझनेकी है। इसपरसे उस प्रसंगमें जो योग्य लगे वह बात करना। उसका भावार्थ न जाना चाहिये।

'ज्ञानावतार' सम्बन्धी ज्यों ज्यों उनकी इच्छा जागृत हो त्यों त्यों बातचीत करना। वे ज्ञानावतारका समागम चाहें इस प्रकारसे बातचीत करें। परन्तु 'ज्ञानावतार'की प्रशंसा करते हुए उनका अविनय न हो जाये यह ध्यान रखे। तथा 'ज्ञानावतार'की अनन्य भक्ति भी ध्यानमें रखे।

जब मनमेलका योग लगे तब बताइये कि हम उनके शिष्य हैं वैसे आपके भी शिष्य ही हैं। हमें किसी तरहसे मार्गकी प्राप्ति हो ऐसा बतायें इत्यादि बातचीत कीजिये। और हम कौनसे शास्त्र पढ़ें ? क्या श्रद्धा रखें ? कैसे प्रवृत्ति करें ? योग्य लगे तो यह सब बताइयें। कृपया आपका हमारेसे भेदभाव न हो।

उनका सिद्धांत भाग पूछिये। इत्यादि जान लेनेका प्रसंग बन जाये तो भी उन्हें बताइये कि हमने जिन

ज्ञानावतार पुरुषको बताया है वे और आप हमारे लिये एक ही हैं। क्योंकि ऐसी बुद्धि रखनेकी उन ज्ञानावतारकी हमें आज्ञा है। मात्र अभी उनकी अप्रगट रहनेकी इच्छा होनेसे हमने उनकी इच्छाका अनुसरण किया है।

विशेष क्या लिखें ? हरीच्छा जो होगी वह सुखदायक ही होगी।

एकाध दिन रुकिये। अधिक नहीं, फिरसे मिलिये।

मिलनेकी हाँ बताइये। हरीच्छा सुखदायक है।

ज्ञानावतार संबंधी वे पहले बात कहें तो इस पत्रमें बतायी हुई बातको विशेषतः दृढ़ कीजिये।

भावार्थ ध्यानमें रखिये। इसके अनुसार चाहे जिस प्रसंगमें इसमेंसे कोई बात उनसे करनेकी आपको स्वतंत्रता है।

उनमें ज्ञानावतारके लिये अधिक प्रेम पैदा हो ऐसा प्रयत्न कीजिये। हरीच्छा सुखदायक है।

---

१६८ बंबई, कार्तिक सुदी १३, सोम, १९४७

[1]एनुं स्वप्ने जो दर्शन पामे रे, तेनुं मन न चढे बीजे भामे रे ।
थाय कृष्णनो लेश प्रसंग रे, तेने न गमे संसारनो संग रे ॥

---

[2]हसतां रमतां प्रगट हरि देखुं रे, मारुं जीव्युं सफळ तव लेखुं रे ।
मुक्तानन्दनो नाथ विहारी रे, ओधा जीवनदोरी अमारी रे ॥

आपका कृपापत्र कल मिला। परमानन्द और परमोपकार हुआ।

ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरा हुआ जीव कम-से-कम तीन और अधिक-से-अधिक पन्द्रह भव करे, ऐसा अनुभव होता है। ग्यारहवाँ गुणस्थान ऐसा है कि वहाँ प्रकृतियाँ उपशम भावमें होनेसे मन, वचन और कायाके योग प्रबल शुभ भावमें रहते हैं; इससे साताका बंध होता है, और यह साता बहुत करके पाँच अनुत्तर विमानकी ही होती है।

आज्ञाकारी

---

१६९ बंबई, कार्तिक सुदी १३, सोम, १९४७

कल आपका एक पत्र मिला। प्रसंगात् कोई प्रश्न आनेपर अधिक लिखना हो सकेगा।

चि. त्रिभोवनदासकी अभिलाषा प्रसंगोपात्त समझी जा सकी तो है ही, तथापि अभिलाषाके लिये पुरुषार्थ करनेकी बात नहीं बतायी; जो इस समय बता रहा हूँ।

---

१७० बंबई, कार्तिक सुदी १४, १९४७

परम पूज्यश्री,[3]

आज आपका एक पत्र भूधर दे गया। इस पत्रका उत्तर लिखनेसे पहले कुछ प्रेमभक्ति सहित लिखना चाहता हूँ।

---

१. **भावार्थ**—यदि कोई स्वप्नमें भी इसका दर्शन पाता है तो उसका मन दूसरे मोहमें नहीं पड़ता। जिसे कृष्णका लेश मात्र भी प्रसंग हो जाता है, उसे फिर संसारका संग अच्छा नहीं लगता।

२. **भावार्थ**—मैं जब हँसते-खेलते हुए हरिको प्रत्यक्ष देखूँगा तब अपने जीवनको सफल समझूँगा। हे उद्धव! मुक्तानन्दके नाथ और बिहारी श्रीकृष्ण हमारे जीवनके आधार है। ३. यह पत्र श्री सोभागभाईको लिखा है।

आत्माने ज्ञान पा लिया यह तो निःसंशय है; ग्रन्थिभेद हुआ यह तीनों कालमें सत्य बात है। सब ज्ञानियोंने भी इस बातका स्वीकार किया है। अब हमें अन्तिम निर्विकल्प समाधि प्राप्त करना बाकी है, जो सुलभ है। और उसे प्राप्त करनेका हेतु भी यही है कि किसी भी प्रकारसे अमृतसागरका

अवलोकन करते हुए अल्प भी मायाका आवरण बाध न करे, अवलोकन सुखका अल्प भी विस्मरण न हो, 'तू ही, तू ही' के सिवाय दूसरी रटन न रहे; मायिक भयका, मोहका, संकल्पका या विकल्पका एक भी अंश न रहे। यदि यह एक बार यथायोग्य प्राप्त हो जाये तो फिर चाहे जैसा प्रवर्तन किया जाये, चाहे जैसा बोला जाये, चाहे जैसा आहार-विहार किया जाये, तथापि उसे किसी भी प्रकारकी बाधा नहीं है। परमात्मा भी उसे पूछ नहीं सकता। उसका किया हुआ सब कुछ सुलटा है। ऐसी दशा प्राप्त करनेसे परमार्थके लिये किया हुआ प्रयत्न सफल होता है। और ऐसी दशा हुए बिना प्रगट मार्ग प्रकाशित करनेकी परमात्माकी आज्ञा नहीं है ऐसा मुझे लगता है। इसलिये दृढ़ निश्चय किया है कि इस दशाको प्राप्त करके फिर प्रगट मार्ग कहना—परमार्थ कहना—तब तक नहीं, और इस दशाको पानेमें अब कुछ ज्यादा वक्त भी नहीं है। पन्द्रह अंशों तक तो पहुँचा जा चुका है। निर्विकल्पता तो है ही, परन्तु निवृत्ति नहीं है; निवृत्ति हो तो दूसरोंके परमार्थके लिये क्या करना इसका विचार किया जा सकता हैं। उसके बाद त्याग चाहिये, और उसके बाद त्याग कराना चाहिये।

महापुरुषोंने कैसी दशा प्राप्त करके मार्ग प्रगट किया है, क्या क्या करके मार्ग प्रगट किया है, इस बातका आत्माको भलीभाँति स्मरण रहता है; और यही प्रगट मार्ग कहने देनेकी ईश्वरी इच्छाका लक्षण मालूम होता है।

इसलिये अभी तो केवल गुप्त हो जाना ही योग्य है। एक अक्षर भी इस विषयमें कहनेकी इच्छा नहीं होती। आपकी इच्छाकी रक्षाके लिये कभी कभी प्रवर्तन होता है; अथवा बहुत परिचयमें आये हुए योगपुरुषकी इच्छाके लिये कुछ अक्षरोंका उच्चारण या लेखन किया जाता है। बाकी सर्व प्रकारसे गुप्तता रखी है। अज्ञानी होकर वास करनेकी इच्छा बना रखी है। वह ऐसी कि अपूर्व कालमें ज्ञान प्रगट करते हुए बाध न आये।

इतने कारणोंसे दीपचन्दजी महाराज या दूसरेके लिये कुछ नहीं लिखता। गुणस्थान इत्यादि का उत्तर नहीं लिखता। सूत्रका स्पर्श भी नहीं करता। व्यवहारकी रक्षा करनेके लिये थोड़ीसी पुस्तकोंके पन्ने पलटता हूँ। बाकी सब कुछ पत्थर पर पानीके चित्र जैसा कर रखा है। तन्मय आत्मयोगमें प्रवेश है। वहीं उल्लास है, वहीं याचना है, और योग (मन, वचन और काया) बाहर पूर्वकर्म भोगता है। वेदोदयका नाश होने तक गृहवासमें रहना योग्य लगता है। परमेश्वर जान-बूझकर वेदोदय रखता है, क्योंकि पंचम कालमें परमार्थकी वर्षाऋतु होने देनेकी उसकी थोड़ी ही इच्छा लगती है।

तीर्थंकरने जो समझा और पाया उसे...इस कालमें न समझ सके अथवा न पा सके ऐसी कुछ भी बात नहीं है। यह निर्णय बहुत समयसे कर रखा है। यद्यपि तीर्थंकर होनेकी इच्छा नहीं है; परन्तु तीर्थंकरके किये अनुसार करनेकी इच्छा है, इतनी अधिक उन्मत्तता आ गयी है। उसे शांत करनेकी शक्ति भी आ गयी है, परन्तु जान-बूझकर शांत करनेकी इच्छा नहीं रखी है।

आपसे निवेदन है कि वृद्धमेंसे युवान बनें और इस अलख वार्ताके अग्रेसरके अग्रेसर बनें। थोड़ा लिखा बहुत समझे।

गुणस्थान समझनेके लिये कहे हैं। उपशम और क्षपक ये दो प्रकारकी श्रेणियाँ है। उपशममें प्रत्यक्ष

दर्शनका सम्भव नहीं है, क्षपकमें है। प्रत्यक्ष दर्शनके सम्भवके अभावमें ग्यारहवें गुणस्थानसे जीव पीछे लौटता है। उपशम श्रेणी दो प्रकारकी है। एक आज्ञारूप और दूसरी मार्गके जाने बिना स्वाभाविक उपशम होनेरूप। आज्ञारूप उपशम श्रेणीवाला भी आज्ञाके आराधन तक पतित नहीं होता। दूसरी श्रेणीवाला अन्त तक जानेके बाद मार्गकी अज्ञानताके कारण पतित होता है। यह आँखों देखी, आत्मासे अनुभव की हुई बात है। किसी शास्त्रमेंसे मिल जायेगी, न मिले तो कोई बाध नहीं है। तीर्थंकरके हृदयमें यह बात थी, ऐसा हमने जाना है।

दशपूर्वधारी इत्यादिकी आज्ञाका आराधन करनेकी महावीरदेवकी शिक्षाके विषयमें आपने जो बताया है वह ठीक है। इसने तो बहुत कुछ कहा था, परन्तु रहा है थोड़ा और प्रकाशक पुरुष गृहस्थावस्थामें हैं। बाकीके गुफामें हैं। कोई कोई जानता है परन्तु उतना योगबल नहीं है।

तथाकथित आधुनिक मुनियोंका सूत्रार्थ श्रवणके योग्य भी नहीं है। सूत्र लेकर उपदेश करनेकी आगे जरूरत नहीं पड़ेगी। सूत्र और उसके पहलू सब कुछ ज्ञात हो गये हैं।

यही विनती।

वि० आ० रायचंद।

---

१७१ बंबई, कार्तिक सुदी १४, बुध, १९४७

सुज्ञ भाईश्री अंबालाल इत्यादि,

खंभात।

श्री मुनिका पत्र[1] इसके साथ संलग्न है सो उन्हें पहुँचाइयेगा।

निरन्तर एक ही श्रेणी रहती है। हरिकृपा पूर्ण है।

त्रिभोवन द्वारा वर्णित एक पत्रकी दशा स्मरणमें है। वारंवार इसका उत्तर मुनिके पत्रमें बताया है वही आता है। पत्र लिखनेका उद्देश मेरे प्रति भाव करानेके लिये है, ऐसा जिस दिन मालूम हो उस दिनसे मार्गका क्रम भूल गये ऐसा समझ लीजिये। यह एक भविष्यकालमें स्मरण करने योग्य कथन है।

सत् श्रद्धा पाकर
जो कोई आपको धर्म-निमित्तसे चाहे
उसका संग रखें।

वि० रायचन्दके यथायोग्य।

---

१७२ मोहमयी, कार्तिक सुदी १४, बुध, १९४७

सद्जिज्ञासु-मार्गानुसारी मति, खंभात।

कल आपका परम भक्तिसूचक पत्र मिला। विशेष आह्लाद हुआ।

अनंतकालसे स्वयंको स्वविषयक ही भ्रांति रह गयी है; यह एक अवाच्य और अद्भुत विचारका विषय है। जहाँ मतिकी गति नहीं, वहाँ वचनकी गति कहाँसे हो ?

निरंतर उदासीनताके क्रमका सेवन करना; सत्पुरुषकी भक्तिमें लीन होना; सत्पुरुषोंके चरित्रोंका स्मरण करना; सत्पुरुषोंके लक्षणका चिंतन करना; सत्पुरुषोंकी मुखाकृतिका हृदयसे अवलोकन करना; उनके मन, वचन और कायाकी प्रत्येक चेष्टाके अद्भुत रहस्योंका वारंवार निदिध्यासन करना; और उनका मान्य किया हुआ सभी मान्य करना।

---

१. साथका पत्र नं० १७२।

यह ज्ञानियों द्वारा हृदयमें स्थापित, निर्वाणके लिये मान्य रखने योग्य, श्रद्धा करने योग्य, वारंवार चिंतन करने योग्य, प्रति क्षण और प्रति समय उसमें लीन होने योग्य परम रहस्य है। और यही सर्व शास्त्रोंका, सर्व संतोंके हृदयका और ईश्वरके घरका मर्म पानेका महामार्ग है। और इन सबका कारण किसी विद्यमान सत्पुरुषकी प्राप्ति और उसके प्रति अविचल श्रद्धा है।

अधिक क्या लिखना ? आज, चाहे तो कल, चाहे तो लाख वर्षमें और चाहे तो उसके बादमें या उससे पहले, यही सूझनेपर, यही प्राप्त होनेपर छुटकारा है। सर्व प्रदेशोंमें मुझे तो यही मान्य है।

प्रसंगोपात्त पत्र लिखनेका ध्यान रखूँगा। आप अपने प्रसंगियोंमें ज्ञानवार्ता करते रहियेगा, और उन्हें परिणाममें लाभ हो इस तरह मिलते रहियेगा।

अंबालालसे यह पत्र अधिक समझा जा सकेगा। आप उनकी विद्यमानतामें पत्रका अवलोकन कीजियेगा और उनके तथा त्रिभोवन आदिके उपयोगके लिये चाहिये तो पत्रकी प्रतिलिपि करनेके लिये दीजियेगा।

यही विज्ञापन।

सर्वकाल यही कहनेके लिये जीनेके इच्छुक
रायचन्दकी वंदना।

---

१७३ बंबई, कार्तिक वदी ३, शनि, १९४७

जिज्ञासु भाई,

आपका पहले एक पत्र मिला था, जिसका उत्तर अंबालालके पत्रसे लिखा था। वह आपको मिला होगा। नहीं तो उनके पाससे वह पत्र मँगवाकर देख लीजियेगा।

समय निकालकर किसी न किसी अपूर्व साधनका कारणभूत प्रश्न यथासम्भव करते रहियेगा।

आप जो जो जिज्ञासु हैं, वे सब प्रतिदिन अमुक समय, अमुक घड़ी तक धर्मकथार्थ मिलते रहें तो परिणाममें वह लाभका कारण होगा।

इच्छा होगी तो किसी समय नित्य नियमके लिये बताऊँगा। अभी नित्य नियममें साथ मिलकर एकाध अच्छे ग्रन्थका अवलोकन करते हों तो अच्छा। इस विषयमें कुछ पूछेंगे तो अनुकूलताके अनुसार उत्तर दूँगा।

अंबालालके पास लिखे हुए पत्रोंकी पुस्तक है। उसमेंसे कुछ भागका उल्लासयुक्त समयमें अवलोकन करनेमें मेरी ओरसे आपके लिये अब कोई इनकार नहीं है। इसलिये उनसे यथासमय पुस्तक मँगवाकर अवलोकन कीजियेगा।

दृढ़ विश्वाससे मानिये कि इसे व्यवहारका बंधन उदय कालमें न होता तो आपको और दूसरे कई मनुष्योंको अपूर्व हितकारी सिद्ध होता। प्रवृत्ति है तो उसके लिये कुछ असमता नहीं है; परन्तु निवृत्ति होती तो अन्य आत्माओंको मार्गप्राप्तिका कारण होता। अभी उसे विलंब होगा। पंचमकालकी भी प्रवृत्ति है। इस भवमें मोक्षगामी मनुष्योंकी संभावना भी कम है। इत्यादि कारणोंसे ऐसा ही हुआ होगा। तो इसके लिये कुछ खेद नहीं है।

आप सबको स्पष्ट बता देनेकी इच्छा हो आनेसे बताता हूँ कि अभी तक मैंने आपको मार्गके मर्मका (एक अंबालालके सिवाय) कोई अंश नहीं बताया है; और जिस मार्गको प्राप्त किये बिना किसी तरह किसी कालमें जीवका छुटकारा होना सम्भव नहीं है। यदि आपकी योग्यता होगी तो उस मार्गको देनेमें

समर्थ कोई दूसरा पुरुष आपको ढूँढ़ना नहीं पड़ेगा। इसमें किसी तरह मैंने अपनी स्तुति नहीं की है।

इस आत्माको ऐसा लिखना योग्य नहीं लगता, फिर भी लिखा है।

अंबालालका अभी पत्र नहीं है, उनसे लिखनेके लिये कहें।

वि० रायचन्दके यथायोग्य।

---

१७४ बंबई, कार्तिक वदी ५, सोम, १९४७

संतकी शरणमें जा।

सुज्ञ भाई श्री अंबालाल,

आपका एक पत्र मिला। आपके पिताश्रीका धर्मेच्छुक पत्र मिला। प्रसंगवश उन्हें योग्य उत्तर देना हो सकेगा। ऐसी इच्छा करूँगा।

सत्संग यह बड़ेसे बड़ा साधन है।

सत्पुरुषकी श्रद्धाके बिना छुटकारा नहीं है।

ये दो विषय शास्त्र इत्यादिसे उन्हें बताते रहियेगा। सत्संगकी वृद्धि कीजियेगा।

वि० रायचन्दके यथायोग्य।

---

१७५ बंबई, कार्तिक वदी ८, गुरु, १९४७

सुज्ञ भाई अंबालाल,

यहाँ आनंदवृत्ति है। आप सब सत्संगकी वृद्धि करें। छोटालालका आज पत्र मिला। आप सबका जिज्ञासु भाव बढ़े यह निरन्तरकी इच्छा है।

परम समाधि है।

वि० रायचंदके यथायोग्य।

---

१७६ बंबई, कार्तिक वदी ९, शुक्र, १९४७

जीवन्मुक्त सौभाग्यमूर्ति सौभाग्यभाई, मोरबी।

मुनि दीपचंदजीके सम्बन्धमें आपका लिखना यथार्थ है। भवस्थितिकी परिपक्वता हुए बिना, दीनबंधुकी कृपाके बिना, संतचरणकी सेवा किये बिना त्रिकालमें मार्ग मिलना दुर्लभ है।

जीवके संसार परिभ्रमणके जो जो कारण हैं, उनमें मुख्य स्वयं जिस ज्ञानके लिये शंकित है, उस ज्ञानका उपदेश करना, प्रगटमें उस मार्गकी रक्षा करना, हृदयमें उसके लिये चलविचलता होते हुए भी अपने श्रद्धालुओंको उसी मार्गके यथायोग्य होनेका ही उपदेश देना, यह सबसे बड़ा कारण है। आप उस मुनिके सम्बन्धमें विचार करेंगे तो ऐसा ही प्रतीत हो सकेगा।

स्वयं शंकामें गोते खाता हो, ऐसा जीव निःशंक मार्गका उपदेश देनेका दंभ रखकर सारा जीवन बिता दे यह उसके लिये परम शोचनीय है। मुनिके सम्बन्धमें यहाँ पर कुछ कठोर भाषामें लिखा है ऐसा लगे तो भी वैसा हेतु है ही नहीं। जैसा है वैसा करुणार्द्र चित्तसे लिखा है। इसी प्रकार दूसरे अनंत जीव पूर्वकालमें भटके हैं, वर्तमानकालमें भटक रहे हैं और भविष्य कालमें भटकेंगे।

जो छूटनेके लिये ही जीता है वह बंधनमें नहीं आता, यह वाक्य निःशंक अनुभवका है। बंधनका त्याग करनेसे छूटा जाता है, ऐसा समझनेपर भी उसी बंधनकी वृद्धि करते रहना, उसमें अपना महत्त्व स्थापित करना और पूज्यताका प्रतिपादन करना, यह जीवको बहुत भटकानेवाला है। यह समझ समीप-

मुक्तिगामी जीवको होती है, और ऐसे जीव समर्थ चक्रवर्ती जैसी पदवीपर आरूढ होते हुए भी उसका त्याग करके, करपात्रमें भिक्षा माँगकर जीनेवाले सन्तके चरणोंको अनंतानंत प्रेमसे पूजते हैं, और वे अवश्यमेव छूटते हैं।

दीनबंधुकी दृष्टि ही ऐसी है कि छूटनेके कामीको बाँधना नहीं, और बँधनेके कामीको छोड़ना नहीं। यहाँ विकल्पशील जीवको ऐसा विकल्प हो सकता है कि जीवको बँधना पसन्द नहीं है, सभीको छूटनेकी इच्छा है तो फिर बँधता है क्यों? इस विकल्पकी निवृत्ति इतनी ही है कि ऐसा अनुभव हुआ है कि जिसे छूटनेकी दृढ़ इच्छा होती है उसे बन्धनका विकल्प मिट जाता है; और यह इस बातका सत्साक्षी है।

एक ओर तो परमार्थमार्गको शीघ्रतासे प्रगट करनेकी इच्छा है, और एक ओर अलख 'लय'में समा जानेकी इच्छा रहती है। अलख 'लय'में आत्मासे समावेश हुआ है, योगसे करना यह एक रटन है। परमार्थके मार्गको बहुतसे मुमुक्षु प्राप्त करें, अलख समाधि प्राप्त करें तो अच्छा, और इसके लिये कितना ही मनन है। दीनबन्धुकी इच्छानुसार हो रहेगा।

अद्भुत दशा निरन्तर रहा करती है। अवधूत हुए हैं, अवधूत करनेके लिये कई जीवोंके प्रति दृष्टि है।

महावीरदेवने इस कालको पंचमकाल कहकर दुःषम कहा, व्यासने कलियुग कहा; यों बहुतसे महा पुरुषोंने इस कालको कठिन कहा है; यह बात निःशंक सत्य है। क्योंकि भक्ति और सत्संग विदेश गये हैं अर्थात् सम्प्रदायोंमें नहीं रहे और ये प्राप्त हुए बिना जीवका छुटकारा नहीं है। इस कालमें प्राप्त होने दुष्कर हो गये हैं, इसलिये काल भी दुषम है। यह बात यथायोग्य ही है। दुःषमको कम करनेके लिये आशिष दीजियेगा। बहुत कुछ बतानेकी इच्छा होती है, परन्तु लिखने या बोलनेकी अधिक इच्छा नहीं रही। चेष्टासे समझमें आये ऐसा हुआ ही करे, यह इच्छा निश्चल है।

वि० आज्ञाकारी रायचंदके दंडवत्।

---

१७७ बंबई, कार्तिक वदी १४, गुरु, १९४७

सुज्ञ भाई श्री त्रिभोवन,

आपका एक पत्र मिला। मनन किया।

अंतरकी परमार्थवृत्तियोंको थोड़े समय तक प्रकट करनेकी इच्छा नहीं होती। धर्मेच्छुक प्राणियोंके, पत्र, प्रश्न आदि तो अभी बंधनरूप माने हैं, क्योंकि जिन इच्छाओंको अभी प्रगट करनेकी इच्छा नहीं है उनके अंश (निरुपायतासे) उस कारणसे प्रगट करने पड़ते हैं।

नित्य नियममें आपको और सभी भाइयोंको अभी तो इतना ही बताता हूँ कि जिस जिस राहसे अनंतकालसे पकड़े हुए आग्रहका, अहंत्वका और असत्संगका नाश हो उस राहमें वृत्ति लानी; यही चिंतन रखनेसे, और परभवका दृढ़ विश्वास रखनेसे कुछ अंशोंमें उसमें सफलता प्राप्त होगी।

वि० रायचंदके यथायोग्य।

---

१७८ बंबई, कार्तिक वदी ३०, शुक्र, १९४७

सुज्ञ भाई श्री अंबालाल,

यहाँ आनंदवृत्ति है। आपकी और दूसरे भाइयोंकी आनंदवृत्ति चाहता हूँ। आपके पिताजीके धर्म-विषयक दो पत्र मिले। इसका क्या उत्तर लिखना? इसका बहुत विचार रहा करता है।

अभी तो मैं किसीको स्पष्टरूपसे धर्म बतानेके योग्य नहीं हूँ, अथवा वैसा करनेकी मेरी इच्छा नहीं

रहती। इच्छा न रहनेका कारण उदयमान कर्म हैं। उनकी वृत्ति मेरी ओर झुकनेका कारण आप इत्यादि हैं, ऐसी कल्पना है। और मैं भी इच्छा रखता हूँ कि कोई भी जिज्ञासु हो वह धर्मप्राप्तोंसे धर्म प्राप्त करे; तथापि मैं वर्तमानकालमें रहता हूँ, वह काल ऐसा नहीं है। प्रसंगोपात्त मेरे कुछ पत्र उन्हें पढ़ाते रहिये अथवा उनमें कही हुई बातोंका उद्देश आपसे जितना समझाया जाये उतना समझाते रहिये।

पहले मनुष्यमें यथायोग्य जिज्ञासुता आनी चाहिये। पूर्वके आग्रह और असत्संग दूर होने चाहिये। इसके लिये प्रयत्न कीजिये। और उन्हें प्रेरणा करते रहेंगे तो किसी प्रसंगपर अवश्य सम्भाल लेनेका स्मरण करूँगा। नहीं तो नहीं।

दूसरे भाइयोंको भी, जिसके पाससे धर्म प्राप्त करना हो उस पुरुषके धर्मप्राप्त होनेकी पूर्ण परीक्षा करनी चाहिये, यह संतकी समझने जैसी बात है। वि० रायचंदके यथायोग्य।

---

१७९ बंबई, कार्तिक, १९४७

उपशम भाव

सोलह भावनाओंसे भूषित होनेपर भी स्वयं जहाँ सर्वोत्कृष्ट माना गया है वहाँ दूसरेकी उत्कृष्टताके कारण अपनी न्यूनता होती हो और कुछ मत्सरभाव आकर चला जाये तो उसे उपशम भाव था, क्षायिक न था, यह नियम है।

---

१८० बंबई, मगसिर सुदी ४, सोम, १९४७

परम पूज्यश्री,

कलके पत्रमें सहज व्यवहारचिंता बतायी थी; उसके लिये सर्वथा निर्भय रहना। रोम रोममें भक्ति तो यही है कि ऐसी दशा आनेपर अधिक प्रसन्न रहना। मात्र दूसरे जीवोंके दिल दुःखानेका कारण आत्मा हो वहाँ चिंता सहज करना। दृढ़ज्ञानकी प्राप्तिका यही लक्षण है।

[1]मुनिको समझानेकी माथापच्चीमें आप न पड़ें तो अच्छा। जिसे परमेश्वर भटकने देना चाहता है, उसे निष्कारण भटकनेसे रोकना यह ईश्वरीय नियमका भंग करना किसलिये न माना जाये?

रोम रोममें खुमारी आयेगी, [2]अमरवरमय ही आत्मदृष्टि हो जायेगी, एक 'तू ही, तू ही' का मनन करनेका अवकाश भी नहीं रहेगा, तब आपको अमरवरके आनन्दका अनुभव होगा।

यहाँ यही दशा है। राम हृदयमें बसे हैं, अनादिके (आवरण) दूर हुए हैं। सुरति इत्यादिक खिले हैं। यह भी एक वाक्यकी बेगार की है। अभी तो भाग जानेकी वृत्ति है। इस शब्दका अर्थ भिन्न होता है।

नीचे एक वाक्यको तनिक स्याद्वादमें घटाया है—

"इस कालमें कोई मोक्ष जाता ही नहीं है।"

"इस कालमें कोई इस क्षेत्रसे मोक्ष जाता ही नहीं है।"

"इस कालमें कोई इस कालका जन्मा हुआ इस क्षेत्रसे मोक्ष जाता ही नहीं है।"

"इस कालमें कोई इस कालका जन्मा हुआ सर्वथा मुक्त नहीं होता।"

"इस कालमें कोई इस कालका जन्मा हुआ सब कर्मोंसे सर्वथा मुक्त नहीं होता।"

अब इसपर तनिक विचार करें। पहले एक व्यक्ति बोला कि इस कालमें कोई मोक्ष जाता ही नहीं है। ज्यों ही यह वाक्य निकला कि शंका हुई—इस कालमें क्या महाविदेहसे मोक्षमें जाता ही नहीं है? वहाँसे

---

१. मुनि दीपचन्दजी। २. परमात्ममय

तो जाता है, इसलिये फिर वाक्य बोलो। तब दूसरी बार कहा; इस कालमें कोई इस क्षेत्रसे मोक्षमें नहीं जाता। तब प्रश्न किया कि जंबु, सुधर्मास्वामी इत्यादि कैसे गये ? वह भी तो यही काल था, इसलिये फिर वह व्यक्ति विचार करके बोला—इस कालमें कोई इस कालका जन्मा हुआ इस क्षेत्रसे मोक्षमें नहीं जाता। तब प्रश्न किया कि किसीका मिथ्यात्व जाता होगा या नहीं ? उत्तर दिया, हाँ जाता है। तब फिर कहा कि यदि मिथ्यात्व जाता है तो मिथ्यात्वके जानेसे मोक्ष हुआ कहा जायेगा या नहीं ? तब उसने हाँ कही कि ऐसा तो होता है। तब कहा—ऐसा नहीं परन्तु ऐसा होगा कि इस कालमें कोई इस कालका जन्मा हुआ सब कर्मोंसे मुक्त नहीं होता।

इसमें भी अनेक भेद हैं, परन्तु यहाँ तक कदाचित् साधारण स्याद्वाद मानें तो यह जैनके शास्त्रके लिये स्पष्टीकरण हुआ माना जाये। वेदांत आदि तो इस कालमें सर्वथा सब कर्मोंसे छुड़ानेके लिये कहते हैं। इसलिये अभी भी आगे जाना होगा। उसके बाद वाक्य सिद्धि होगी। इस तरह वाक्य बोलनेकी अपेक्षा रखना उचित है। परन्तु ज्ञान उत्पन्न हुए बिना इस अपेक्षाकी स्मृति रहना सम्भव नहीं है। या तो सत्पुरुषकी कृपासे सिद्धि हो।

अभी इतना ही। थोडा लिखा बहुत समझें। ऊपर लिखी हुई माथापच्ची भी लिखना पसन्द नहीं है। शक्करके श्रीफलकी सभीने प्रशंसा की है; परन्तु यहाँ तो अमृतका नारियलका पूरा वृक्ष है। तो यह कहाँसे पसन्द आये ? नापसन्द भी नहीं किया जाता।

अन्तमें आज, कल और सदाके लिये यही कहना है कि इसका संग होनेके बाद सर्वथा निर्भय रहना सीखें। आपको यह वाक्य कैसा लगता है ?

वि० रायचन्द।

---

१८१ बंबई, मगसिर सुदी २, शनि, १९४७

सुज्ञ भाई छोटालाल,

भाई त्रिभोवनका और आपका पत्र मिला। और भाई अंबालालका पत्र मिला।

अभी तो आपका लिखा हुआ पढ़नेकी इच्छा रखता हूँ। किसी प्रसंगसे प्रवृत्ति (आत्माकी) होगी तो मैं भी लिखता रहूँगा।

आप जिस समय समतामें हों उस समय अपनी अंतरकी ऊर्मियोंके विषयमें लिखियेगा।

यहाँ तीनों काल समान हैं। प्राप्त व्यवहारके प्रति असमता नहीं है, और उसका त्याग करनेकी इच्छा रखी है; परन्तु पूर्व प्रकृतिको दूर किये बिना छुटकारा नहीं है।

कालकी दुःषमता.....से यह प्रवृत्तिमार्ग बहुतसे जीवोंको सत्के दर्शन करनेसे रोकता है।

आप सबसे अनुरोध है कि इस आत्माके संबंधमें दूसरोंसे कोई बातचीत न करें।

वि० रायचन्द।

---

१८२ बंबई, मगसिर सुदी १३, बुध, १९४७

आपका कृपापत्र कल मिला। पढ़कर परम संतोष प्राप्त हुआ।

आप हृदयके जो जो उद्गार लिखते हैं, उन सबको पढ़कर आपकी योग्यताके लिये प्रसन्न होता हूँ, परम प्रसन्नता होती है, और वारंवार सत्युगका स्मरण होता है। आप भी जानते हैं कि इस कालमें मनुष्योंके मन मायिक संपत्तिकी इच्छावाले हो गये हैं। कोई विरल मनुष्य निर्वाण-मार्गकी दृढ़ इच्छावाला रहना सम्भव है; अथवा वह इच्छा किसी एकको ही सत्पुरुषके चरणसेवनसे प्राप्त होती है ऐसा है।

महांधकारवाले इस कालमें हमारा जन्म किसी कारणसे ही हुआ होगा, यह निःशंक है; परन्तु क्या करे ? वह संपूर्णतासे तो वह सुझाये तब हो सकता है ।

१८३ बंबई, मगसिर सुदी १४, १९४७

आनन्दमूर्ति सत्स्वरूपको अभेदभावसे त्रिकाल नमस्कार करता हूँ।

परमजिज्ञासासे भरपूर आपका धर्मपत्र परसों मिला। पढ़कर संतोष हुआ।

उसमें जो जो इच्छायें बतायी हैं, वे सब कल्याणकारक ही हैं; परन्तु उन इच्छाओंकी सब प्रकारकी स्फुरणा तो सच्चे पुरुषके चरणकमलकी सेवामें निहित है। और अनेक प्रकारसे सत्संगमें निहित है। यह सब अनन्त ज्ञानियोंका सम्मत किया हुआ निःशंक वाक्य आपको लिखा है।

परिभ्रमण करते हुए जीवने अनादिकालसे अब तक अपूर्वको नहीं पाया है। जो पाया है वह सब पूर्वानुपूर्व है। इन सबकी वासनाका त्याग करनेका अभ्यास कीजियेगा। दृढ़ प्रेमसे और परमोल्लाससे यह अभ्यास विजयी होगा, और वह कालक्रमसे महापुरुषके योगसे अपूर्वकी प्राप्ति करायेगा।

सर्व प्रकारकी क्रियाका, योगका, जपका, तपका और इसके सिवाय अन्य प्रकारका लक्ष्य ऐसा रखिये कि यह सब आत्माको छुड़ानेके लिये हैं; बन्धनके लिये नहीं हैं। जिनसे बन्धन हो वे सब (क्रियासे लेकर समस्त योगादि तक) त्याज्य हैं।

मिथ्यानामधारीके यथायोग्य।

---

१८४ बंबई, मगसिर सुदी १५, १९४७

सत्स्वरूपको अभेद भक्तिसे नमस्कार।

आपका पत्र कल मिला।

आपके प्रश्न मिले। यथासमय उत्तर लिखूँगा। आधार निमित्त मात्र हूँ। आप निष्ठाको सबल करनेका प्रयत्न करें यह अनुरोध है।

---

१८५ बंबई, मगसिर वदी ७, शुक्र, १९४७

आज हृदय भर आया है। जिससे विशेष प्रायः कल लिखूँगा। हृदय भर आनेका कारण भी व्यवहारिक नहीं है।

सर्वथा निश्चिंत रहनेकी विनती है।

वि० आ० रायचंद।

---

१८६ बंबई, मगसिर वदी १०, १९४७

सुज्ञ भाई श्री अंबालाल,

यहाँ आनंदवृत्ति है। जैसे मार्गानुसारी हुआ जाये वैसे प्रयत्न करना यह अनुरोध है।

विशेष क्या लिखना ? यह कुछ सूझता नहीं है।

रायचंदके यथायोग्य।

---

१८७ बंबई, मगसिर वदी ३०, १९४७

प्राप्त हुए सत्स्वरूपको अभेदभावसे अपूर्व समाधिमें स्मरण करता हूँ।

महाभाग्य, शांतमूर्ति, जीवन्मुक्त श्री सोभागभाई,

यहाँ आपकी कृपासे आनन्द है, आप निरन्तर आनन्दमें रहें यह आशिष है।

अन्तिम स्वरूपके समझनेमें, अनुभव करनेमें अल्प भी न्यूनता नहीं रही है। जैसा है वैसा सर्वथा समझमें आया है। सब प्रकारोंका एक देश छोड़कर बाकी सब अनुभवमें आया है। एक देश भी समझमें आनेसे नहीं रहा; परन्तु योग (मन, वचन, काया) से असंग होनेके लिये वनवासकी आवश्यकता है; और ऐसा होनेपर वह देश भी अनुभवमें आ जायेगा, अर्थात् उसीमें रहा जायेगा; परिपूर्ण लोकालोकज्ञान उत्पन्न होगा, और उसे उत्पन्न करनेकी (वैसे) आकांक्षा नहीं रही, फिर भी उत्पन्न कैसे होगा? यह भी आश्चर्यकारक है! परिपूर्ण स्वरूपज्ञान तो उत्पन्न हुआ ही है; और इस समाधिमेंसे निकलकर लोकालोकदर्शनके प्रति जाना कैसे होगा? यह भी एक मुझे नहीं परन्तु पत्र लिखनेवालेको विकल्प होता है!

कुनबी और कोली जैसी जातिमें भी थोड़े ही वर्षोंमें मार्ग-प्राप्त बहुत पुरुष हो गये हैं। उन महात्माओंकी जनसमुदायको पहचान न होनेके कारण कोई विरला ही उनसे सार्थकता सिद्ध कर सका है। जीवको महात्माके प्रति मोह ही नहीं हुआ, यह कैसी अद्भुत ईश्वरीय नियति है?

वे सब कुछ अन्तिम ज्ञानको प्राप्त नहीं हुए थे, परन्तु उसकी प्राप्ति उनके बहुत समीप थी। ऐसे बहुतसे पुरुषोंके पद इत्यादि यहाँ देखें। ऐसे पुरुषोंके प्रति रोमांच बहुत उल्लसित होता है; और मानो निरन्तर उनकी चरणसेवा ही करते रहें, यह एकमात्र आकांक्षा रहती है। ज्ञानीकी अपेक्षा ऐसे मुमुक्षुओंपर अतिशय उल्लास आता है, इसका कारण यही कि वे निरन्तर ज्ञानीकी चरणसेवा करते हैं; और यही उनका दासत्व उनके प्रति हमारा दासत्व होनेका कारण है। भोजा भगत, निरांत कोली इत्यादिक पुरुष योगी (परम योग्यतावाले) थे। निरंजन पदको समझनेवालेको निरंजन कैसी स्थितिमें रखते हैं, यह विचार करते हुए अकल गतिपर गम्भीर एवं समाधियुक्त हास्य आता है। अब हम अपनी दशाको किसी भी प्रकारसे नहीं कह सकेंगे; तो फिर लिख कैसे सकेंगे? आपके दर्शन होनेपर जो कुछ वाणी कह सकेगी वह कहेगी, बाकी निरुपायता है। (कुछ) मुक्ति भी नहीं चाहिये, और जिस पुरुषको जैनका केवलज्ञान भी नहीं चाहिये, उस पुरुषको अब परमेश्वर कौनसा पद देगा? यह कुछ आपके विचारमें आता है? आये तो आश्चर्य कीजिये; नहीं तो यहाँसे तो किसी तरह कुछ भी बाहर निकाला जा सके ऐसी सम्भावना मालूम नहीं होती।

आप जो कुछ व्यवहार-धर्मप्रश्न भेजते हैं, उनपर ध्यान नहीं दिया जाता। उनके अक्षर भी पूरे पढ़नेके लिये ध्यान नहीं जाता, तो फिर उनका उत्तर न लिखा जा सका हो तो आप किसलिये राह देखते हैं? अर्थात् वह अब कब हो सकेगा, उसकी कुछ कल्पना नहीं की जा सकती।

आप वारंवार लिखते हैं कि दर्शनके लिये बहुत आतुरता है; परन्तु महावीरदेवने पंचमकाल कहा है और व्यास भगवानने कलियुग कहा है, वह कहाँसे साथ रहने दे? और दे ते आपको उपाधियुक्त किसलिये न रखे?

यह भूमि उपाधिकी शोभाका संग्रहालय है।

खीमजी इत्यादिको एक बार आपका सत्संग हो तो जहाँ एक लक्षता करनी चाहिये वहाँ होगी, नहीं तो होनी दुर्लभ है; क्योंकि हमारी अभी बाह्य वृत्ति कम है।

---

१८८ बंबई, पौष सुदी २, सोम, १९४७

कहनेरूप जो **मैं** उसे नमस्कार हो।

सर्व प्रकारसे समाधि है।

---

१८९ बंबई, पौष सुदी ५, गुरु, १९४७

*अलखनाम धुनि, लगी गगनमें, मगन भया मन मेरा जी ।
आसन मारी सुरत दृढ धारी, दिया अगम घर डेरा जी ॥
दरश्या अलख देदारा जी ।

---

१९० बंबई, पौष सुदी ९, १९४७

चि० त्रिभोवनका लिखा पत्र कल मिला। आपको हमारे ऐसे व्यावहारिक कार्य-कथनसे भी विकल्प न हुआ, इसके लिये सन्तोष हुआ है। आप भी सन्तोष ही रखिये।

पूर्वापर असमाधिरूप हो उसे न करनेकी शिक्षा पहले भी दी है। और अब भी यही शिक्षा विशेष स्मरणमें रखने योग्य है। क्योंकि ऐसा रहनेसे भविष्यमें धर्मप्राप्ति सुलभ होगी।

जैसे आपको पूर्वापर असमाधि प्राप्त न हो वैसे आज्ञा होगी। चुनीलालका द्वेष क्षमा करने योग्य है।

समय समयपर कुंवरजीको पत्र लिखते रहिये; क्योंकि वे पत्र लिखनेके लिये लिखते हैं।

वि० रायचन्दके यथायोग्य।

---

१९१ बंबई, पौष सुदी १०, सोम, १९४७

महाभाग्य जीवन्मुक्त,

आपका कृपापत्र आज एक मिला। उसे पढ़कर परम सन्तोष हुआ।

प्रश्नव्याकरणमें सत्यका माहात्म्य पढ़ा है। मनन भी किया था। अभी हरिजनकी संगतिके अभावसे काल कठिनतासे बीतता है, हरिजनकी संगतिमें भी उसकी भक्ति करना बहुत प्रिय है।

आप परमार्थके लिये जो परम आकांक्षा रखते हैं, वह ईश्वरेच्छा होगी तो किसी अपूर्व रास्तेसे पूरी होगी। जिन्हें भ्रान्तिसे परमार्थका लक्ष मिलना दुर्लभ हो गया है, ऐसे भारतक्षेत्रवासी मनुष्योंपर वह परमकृपालु परमकृपा करेगा; परन्तु अभी कुछ समय तक उसकी इच्छा हो, ऐसा मालूम नहीं होता।

---

१९२ बंबई, पौष सुदी १४, शुक्र, १९४७

आयुष्मान भाई,

आज आपका एक पत्र मिला।

आपको किसी भी प्रकारसे पूर्वापर धर्मप्राप्ति असुलभ हो इसलिये कुछ भी न करनेके लिये आज्ञा दी थी; तथा अन्तिम पत्रमें सूचित किया था कि अभी इस विषयमें कोई व्यवस्था न करें। यदि जरूरत

---

*भावार्थ—गगनमें अलख नामकी धुन लगी है, जिसमें मेरा मन मग्न हो गया है। आसन लगाकर सुरतको दृढ़तासे धारणकर अगमके घर डेरा जमाया है और अलखके स्वरूपका दर्शन किया है।

पड़ेगी तो तत्सम्बन्धी कुछ करनेके लिये इस तरह लिखूँगा कि जिससे आपको पूर्वापर असमाधि न हो। यह वाक्य यथायोग्य समझमें आया होगा। तथापि कुछ भक्तिदशानुयोगसे ऐसा किया मालूम होता है।

कदाचित् आपने इतना भी न किया होता तो यहाँ आनन्द ही था। प्रायः ऐसे प्रसंगमें भी दूसरे प्राणीको दुःखी करनेका न होता हो तो आनन्द ही रहता है। यह वृत्ति मोक्षाभिलाषीके लिये तो बहुत उपयोगी है, आत्मसाधनरूप है।

सत्को सत्रूपसे कहनेकी जिसकी निरन्तर परम अभिलाषा थी ऐसे महाभाग्य कबीरका एक पद इस विषयमें स्मरण करने योग्य है। यहाँ एक उसकी मूर्द्धन्य कड़ी लिखी है—

"करना फकीरी क्या दिलगीरी, सदा मगन मन रहेना जी।"

मुमुक्षुओंको इस वृत्तिको अधिकाधिक बढ़ाना उचित है। परमार्थचिंता होना यह एक अलग विषय है; व्यवहारचिंताका वेदन अन्तरसे कम करना, यह मार्गप्राप्तिका एक साधन है।

आपने इस बार मेरे प्रति जो कुछ किया है, वह एक अलग ही विषय है, तथापि विज्ञापन है कि किसी भी प्रकारसे आपको असमाधिरूप जैसा मालूम हो तब इस विषयमें यहाँ लिख भेजना जिससे योग्य व्यवस्था करनेका यथासम्भव प्रयास होगा।

अब इस विषयको इतनेसे यहाँ छोड़ देता हूँ।

हमारी वृत्ति जो करना चाहती है, वह निष्कारण परमार्थ है, तत्सम्बन्धी आप वारंवार जान सके हैं; तथापि कुछ समवाय कारणकी न्यूनताके कारण अभी तो वैसा कुछ अधिक नहीं किया जा सकता। इसलिये अनुरोध है कि हम अभी कोई परमार्थज्ञानी हैं अथवा समर्थ हैं ऐसी बात प्रसिद्ध न करें; क्योंकि यह हमें वर्तमानमें प्रतिकूल जैसा है।

आप जो समझे हैं वे मार्गको सिद्ध करनेके लिये निरन्तर सत्पुरुषके चरित्रका मनन करते रहें। प्रसंगात् वह विषय हमें पूछें। सत्शास्त्र, सत्कथा और सद्व्रतका सेवन करें।

वि० निमित्तमात्र

---

१९३ बंबई, पोष वदी २, सोम, १९४७

सुज्ञ भाई,

हमें सभी मुमुक्षुओंका दासत्व प्रिय है। जिससे उन्होंने जो जो विज्ञापन किया है, वह सब हमने पढ़ा है। यथायोग्य अवसर प्राप्त होनेपर इस विषयमें उत्तर लिखा जा सकता है; तथा अभी आश्रम (जो स्थिति है वह स्थिति) छोड़ देनेकी आवश्यकता नहीं है। हमारे समागमकी जो आवश्यकता बतायी वह अवश्य हितकारी है। तथापि अभी उस दशाका योग आना शक्य नहीं है। यहाँ निरन्तर आनन्द है। वहाँ धर्मयोगकी वृद्धि करनेके लिये सभीसे विनती है। वि० रा०

---

१९४ बंबई, पौष, १९४७

जीवको मार्ग मिला नहीं है, इसका क्या कारण?

इसका वारंवार विचार कर, योग्य लगे तब साथका पत्र पढ़ें।

अभी विशेष लिख सकनेकी या बतलानेकी दशा नहीं है, तो भी एक मात्र आपकी मनोवृत्ति कुछ दुःखित होनेसे रुके इसलिये यथावसर जो कुछ योग्य लगा सो लिखा है।

हमें लगता है कि मार्ग सरल है, परंतु प्राप्तिका योग मिलना दुर्लभ है।

सत्स्वरूपको अभेदभावसे और अनन्य भक्तिसे नमोनमः

जो निरंतर भाव-अप्रतिबद्धतासे विचरते हैं ऐसे ज्ञानीपुरुषके चरणारविंदके प्रति अचल प्रेम हुए बिना और सम्यक्प्रतीति आये बिना सत्स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती, और आने पर अवश्य वह मुमुक्षु, जिसके चरणारविंदकी उसने सेवा की है, उसकी दशाको पाता है। सर्व ज्ञानियोंने इस मार्गका सेवन किया है, सेवन करते हैं और सेवन करेंगे। ज्ञानप्राप्ति इससे हमें हुई थी, वर्तमानमें इसी मार्गसे होती है और अनागतकालमें भी ज्ञानप्राप्तिका यही मार्ग है। सर्व शास्त्रोंका बोध-लक्ष्य देखा जाये तो यही है। और जो कोई भी प्राणी छूटना चाहता है उसे अखंड वृत्तिसे इसी मार्गका आराधन करना चाहिये। इस मार्गका आराधन किये बिना जीवने अनादि कालसे परिभ्रमण किया है। जब तक जीवको स्वच्छंदरूपी अंधत्व है, तब तक इस मार्गका दर्शन नहीं होता। (अंधत्व दूर होनेके लिये) जीवको इस मार्गका विचार करना चाहिये, दृढ़ मोक्षेच्छा करनी चाहिये; इस विचारमें अप्रमत्त रहना चाहिये, तो मार्गकी प्राप्ति होकर अंधत्व दूर होता है, यह निःशंक मानें। अनादिकालसे जीव उलटे मार्गपर चला है। यद्यपि उसने जप, तप, शास्त्राध्ययन इत्यादि अनंत बार किया है; तथापि जो कुछ भी अवश्य करने योग्य था, वह उसने किया नहीं है; जो हमने पहले ही बताया है।

*सूयगडांगसूत्रमें ऋषभदेवजी भगवानने जहाँ अट्ठानवें पुत्रोंको उपदेश दिया है, मोक्षमार्गपर चढ़ाया है वहाँ यही उपदेश किया है–

"हे आयुष्मानों! इस जीवने सब कुछ किया है एक इसके बिना, वह क्या? तो कि निश्चयपूर्वक कहते हैं कि सत्पुरुषका कहा हुआ वचन, उसका उपदेश सुना नहीं है, अथवा सम्यक्प्रकारसे उसका पालन नहीं किया है। और इसे ही हमने मुनियोंकी सामायिक (आत्मस्वरूपकी प्राप्ति) कहा है।"

*सुधर्मास्वामी जंबुस्वामीको उपदेश देते हैं कि सारे जगतका जिन्होंने दर्शन किया है, ऐसे महावीर भगवानने हमें इस प्रकार कहा है–"गुरुके अधीन होकर आचरण करनेवाले अनन्त पुरुषोंने मार्ग पाकर मोक्ष प्राप्त किया है।"

एक इस स्थलमें नहीं, परन्तु सर्व स्थलों और सर्व शास्त्रोंमें यही बात कहनेका लक्ष्य है।

आणाए धम्मो आणाए तवो।

आज्ञाका आराधन ही धर्म और आज्ञाका आराधन ही तप है। (आचारांग सूत्र)

सब जगह यही महापुरुषोंके कहनेका लक्ष्य है। यह लक्ष्य जीवकी समझमें नहीं आया। इसके कारणोंमें सबसे प्रधान कारण स्वच्छंद है और जिसने स्वच्छंदको मंद किया है, ऐसे पुरुषके लिये प्रतिबद्धता (लोकसम्बन्धी बंधन, स्वजनकुटुम्ब बंधन, देहाभिमानरूप बंधन, संकल्प-विकल्परूप बन्धन) इत्यादि बन्धनको दूर करनेका सर्वोत्तम उपाय जो कोई हो उसका इसपरसे आप विचार कीजिये; और इसे विचारते हुए जो कुछ योग्य लगे वह हमें पूछिये; और इस मार्गसे यदि कुछ योग्यता प्राप्त करेंगे तो चाहे जहाँसे भी उपशम मिल जायेगा। उपशम मिले और जिसकी आज्ञाका आराधन करें ऐसे पुरुषकी खोजमें रहिये।

बाकी दूसरे सभी साधन बादमें करने योग्य है। इसके सिवाय दूसरा कोई मोक्षमार्ग विचारने पर प्रतीत नहीं होगा। (विकल्पसे) प्रतीत हो तो बताइयेगा ताकि जो कुछ योग्य हो वह बताया जा सकें।

---

१९५ बंबई, पौष, १९४७

सत्स्वरूपको अभेदरूपसे अनन्य भक्तिसे नमस्कार

जिसे मार्गकी इच्छा उत्पन्न हुई है, उसे सब विकल्पोंको छोड़कर इस एक विकल्पको वारंवार स्मरण करना आवश्यक है—

"[1]अनन्तकालसे जीवका परिभ्रमण हो रहा है, फिर भी उसकी निवृत्ति क्यों नहीं होती? और वह क्या करनेसे हो?"

इस वाक्यमें अनंत अर्थ समाया हुआ है; और इस वाक्यमें कही हुई चिंतना किये बिना, उसके लिये दृढ़ होकर तरसे बिना मार्गकी दिशाका भी अल्प भान नहीं होता; पूर्वमें हुआ नहीं, और भविष्यकालमें भी नहीं होगा। हमने तो ऐसा जाना है। इसलिये आप सबको यही खोजना है। उसके बाद दूसरा क्या जानना? वह मालूम होता है।

---

१९६ बंबई, माघ सुदी ७, रवि, १९४७

[2]मु—पनसे रहना पड़ता है ऐसे जिज्ञासु,

जीवके लिये दो बड़े बंधन हैं, एक स्वच्छंद और दूसरा प्रतिबंध। जिसकी इच्छा स्वच्छंद दूर करनेकी है, उसे ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन करना चाहिये, और जिसकी इच्छा प्रतिबंध दूर करनेकी है, उसे सर्वसंगका त्यागी होना चाहिये। ऐसा न हो तो बंधनका नाश नहीं होता। जिसका स्वच्छंद नष्ट हुआ है, उसको जो प्रतिबंध है, वह अवसर प्राप्त होनेपर नष्ट होता है, इतनी शिक्षा स्मरण करने योग्य है।

यदि व्याख्यान करना पड़े तो करे, परन्तु इस कार्यकी अभी मेरी योग्यता नहीं है और यह मुझे प्रतिबंध है, ऐसा समझते हुए उदासीन भावसे करे। उसे न करनेके लिये श्रोताओंको रुचिकर तथा योग्य लगें ऐसे प्रयत्न करे, और फिर भी जब करना पड़े तो उपर्युक्तके अनुसार उदासीन भाव समझकर करे।

---

१९७ बंबई, माघ सुदी ९, मंगल, १९४७

आपका आनंदरूप पत्र मिला। ऐसे पत्रके दर्शनकी तृषा अधिक है।

ज्ञानके 'परोक्ष-अपरोक्ष' होनेके विषयमें पत्रसे लिखा जा सकना सम्भव नहीं है, परन्तु सुधाकी धाराके पीछेके कितने ही दर्शन हुए हैं, और यदि असंगताके साथ आपका सत्संग हो तो अंतिम स्वरूप परिपूर्ण प्रकाशित हो ऐसा है; क्योंकि उसे प्रायः सर्व प्रकारसे जाना है, और वही राह उसके दर्शनकी है। इस उपाधियोगमें भगवान इस दर्शनको नहीं होने देंगे, ऐसा वे मुझे प्रेरित करते हैं, इसलिये जब एकांतवासी हुआ जायेगा तब जान-बूझकर भगवानका रखा हुआ परदा मात्र थोड़े ही प्रयत्नसे दूर हो जायेगा। इसके अतिरिक्त दूसरे स्पष्टीकरण पत्र द्वारा नहीं किये जा सकते।

अभी आपके समागमके बिना आनंदका रोध है। वि० आज्ञाकारी

---

१९८ बंबई, माघ सुदी ११, गुरु, १९४७

सत्को अभेद भावसे नमोनमः

पत्र आज मिला। यहाँ आनन्द है (वृत्तिरूप)। आजकल किस प्रकारसे कालक्षेप होता है सो लिखियेगा।

दूसरी सभी प्रवृत्तियोंकी अपेक्षा जीवको योग्यता प्राप्त हो ऐसा विचार करना योग्य है; और उसका मुख्य साधन सर्व प्रकारके कामभोगसे वैराग्यसहित सत्संग है।

---

* प्रथम श्रुतस्कन्ध द्वितीय अध्ययन गाथा ३१-३२ १. देखें आंक ८६ २. मुनि—मुनिश्री लल्लुजी

सत्संग (समवयस्क पुरुषोंका, समगुणी पुरुषोंका योग)में, जिसे सत्का साक्षात्कार है ऐसे पुरुषके वचनोंका परिशीलन करना कि जिससे कालक्रमसे सत्की प्राप्ति होती है।

जीव अपनी कल्पनासे किसी भी प्रकारसे सत्को प्राप्त नहीं कर सकता। सजीवनमूर्तिके प्राप्त होनेपर ही सत् प्राप्त होता है, सत् समझमें आता है, सत्का मार्ग मिलता है और सत्पर ध्यान आता है। सजीवनमूर्तिके लक्षके बिना जो कुछ भी किया जाता है, वह सब जीवके लिये बन्धन है। यह मेरा हार्दिक अभिमत है।

यह काल सुलभबोधिता प्राप्त होनेमें विघ्नभूत है। फिर भी अभी उसकी विषमता कुछ (दूसरे कालकी अपेक्षा बहुत) कम है; ऐसे समयमें जिससे वक्रता व जड़ता प्राप्त होती है ऐसे मायिक व्यवहारमें उदासीन होना श्रेयस्कर है...सत्का मार्ग कहीं भी दिखायी नहीं देता।

आप सबको आजकल जो कुछ जैनकी पुस्तकें पढ़नेका परिचय रहता हो, उसमेंसे जिस भागमें जगतका विशेष वर्णन किया हो उस भागको पढ़नेका ध्यान कम रखें; और जीवने क्या नहीं किया? और अब क्या करना? इस भागको पढ़ने और विचारनेका विशेष ध्यान रखें।

कोई भी दूसरे धर्मक्रियाके नामसे जो आपके सहवासी (श्रावक आदि) क्रिया करते हों, उसका निषेध न करें। अभी जिसने उपाधिरूप इच्छा अंगीकार की है, उस पुरुषको किसी भी प्रकारसे प्रगट न करें। मात्र कोई दृढ़ जिज्ञासु हो उसका ध्यान मार्गकी ओर जाये ऐसी थोड़े शब्दोंमें धर्मकथा करें (और वह भी यदि वह इच्छा रखता हो तो), बाकी अभी तो आप सब अपनी-अपनी सफलताके लिये मिथ्या धर्मवासनाओंका, विषयादिककी प्रियताका, और प्रतिबंधका त्याग करना सीखें। जो कुछ प्रिय करने योग्य है, उसे जीवने जाना नहीं है; और बाकीका कुछ प्रिय करने योग्य नहीं है, यह हमारा निश्चय है।

आप जो यह बात पढ़े उसे सुज्ञ मगनलाल और छोटालालको किसी भी प्रकारसे सुना दीजिये, पढ़वा दीजिये।

योग्यताके लिये ब्रह्मचर्य एक बड़ा साधन है। असत्संग एक बड़ा विघ्न है।

---

१९९ बंबई, माघ सुदी ११, गुरु १९४७

उपाधियोगके कारण यदि शास्त्रवाचन न हो सकता हो तो अभी उसे रहने दें। परन्तु उपाधिसे नित्य प्रति थोड़ा भी अवकाश लेकर जिससे चित्तवृत्ति स्थिर हो ऐसी निवृत्तिमें बैठनेकी बहुत आवश्यकता है। और उपाधिमें भी निवृत्तिका ध्यान रखनेका स्मरण रखिये।

आयुका जितना समय है उतना ही समय यदि जीव उपाधिका रखे तो मनुष्यत्वका सफल होना कब सम्भव है? मनुष्यताकी सफलताके लिये जीना ही कल्याणकारक है; ऐसा निश्चय करना चाहिये। और सफलताके लिये जिन जिन साधनोंकी प्राप्ति करना योग्य है उन्हें प्राप्त करनेके लिये नित्य प्रति निवृत्ति प्राप्त करनी चाहिये। निवृत्तिके अभ्यासके बिना जीवकी प्रवृत्ति दूर नहीं होती यह प्रत्यक्ष समझमें आने जैसी बात है।

धर्मके रूपमें मिथ्या वासनाओंसे जीवको बंधन हुआ है, यह महान लक्ष रखकर वैसी मिथ्या वासनायें कैसे दूर हों इसके लिये विचार करनेका अभ्यास रखियेगा।

---

२०० बंबई, माघ सुदी, १९४७

वचनावली

१. जीव स्वयंको भूल गया है, और इसलिये उसे सत्सुखका वियोग है, ऐसा सर्व धर्म सम्मत कथन है।

२. स्वयंको भूल जानेरूप अज्ञानका नाश ज्ञान मिलनेसे होता है, ऐसा निःशंक मानना।

३. ज्ञानकी प्राप्ति ज्ञानीके पाससे होनी चाहिये। यह स्वाभाविकरूपसे समझमें आता है, फिर भी जीव लोकलज्ञा आदि कारणोंसे अज्ञानीका आश्रय नहीं छोड़ता, यही अनंतानुबंधी कषायका मूल है।

४. जो ज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छा करता है, उसे ज्ञानीकी इच्छानुसार चलना चाहिये, ऐसा जिनागम आदि सभी शास्त्र कहते हैं। अपनी इच्छानुसार चलता हुआ जीव अनादिकालसे भटक रहा है।

५. जब तक प्रत्यक्ष ज्ञानीकी इच्छानुसार, अर्थात् आज्ञानुसार न चला जाये, तब तक अज्ञानकी निवृत्ति होना संभव नहीं है।

६. ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन वह कर सकता है कि जो एकनिष्ठासे, तन, मन और धनकी आसक्तिका त्याग करके उसकी भक्तिमें जुट जाये।

७. [1]यद्यपि ज्ञानी भक्तिकी इच्छा नहीं करते, परन्तु मोक्षाभिलाषीको वह किये बिना उपदेश परिणमित नहीं होता, और मनन तथा निदिध्यासन आदिका हेतु नहीं होता; इसलिये मुमुक्षुको ज्ञानीकी भक्ति अवश्य करनी चाहिये ऐसा सत्पुरुषोंने कहा है।

८. इसमें कही हुई बात सब शास्त्रोंको मान्य है।

९. ऋषभदेवजीने अट्ठानवें पुत्रोंको त्वरासे मोक्ष होनेका यही उपदेश किया था।

१०. परीक्षित राजाको शुकदेवजीने यही उपदेश किया है।

११. अनंत काल तक जीव स्वच्छंदसे चलकर परिश्रम करे तो भी अपने आप ज्ञान प्राप्त नहीं करता; परन्तु ज्ञानीकी आज्ञाका आराधक अन्तर्मुहूर्तमें भी केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है।

१२. शास्त्रमें कही हुई आज्ञाएँ परोक्ष हैं और वे जीवको अधिकारी होनेके लिये कही हैं; मोक्षप्राप्तिके लिये ज्ञानीकी प्रत्यक्ष आज्ञाका आराधन करना चाहिये।

१३. यह ज्ञानमार्गकी श्रेणि कही, इसे प्राप्त किये बिना दूसरे मार्गसे मोक्ष नहीं है।

१४. इस गुप्त तत्त्वका जो आराधन करता है, वह प्रत्यक्ष अमृतको पाकर अभय होता है।

॥ इति शिवम् ॥

---

२०१ बंबई, माघ वदी ३, गुरु, १९४७

सर्वथा निर्विकार होनेपर भी परब्रह्म प्रेममय पराभक्तिके वश है, इसका जिन्होंने हृदयमें अनुभव किया है, ऐसे ज्ञानियोंकी गुप्त शिक्षा है।

यहाँ परमानंद है। असंगवृत्ति होनेसे समुदायमें रहना बहुत विकट है। जिसका यथार्थ आनंद किसी भी प्रकारसे नहीं कहा जा सकता, ऐसा सत्स्वरूप जिनके हृदयमें प्रकाशित हुआ है, उन महाभाग्य ज्ञानियोंकी और आपकी हमपर कृपा रहे। हम तो आपकी चरणरज हैं; और त्रिकाल इसी प्रेमकी निरंजनदेवसे याचना है।

---

१. पाठांतर—यद्यपि ज्ञानी भक्तिकी इच्छा नहीं करते, परन्तु मोक्षाभिलाषीको वह किये बिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती; यह अनादि कालका गुप्त तत्त्व संतोंके हृदयमें रहा है, जिसे यहाँ लिपिबद्ध किया है।

आजके प्रभातसे निरंजनदेवका कोई अद्‌भुत अनुग्रह प्रकाशित हुआ है; आज बहुत दिनोंसे इच्छित पराभक्ति किसी अनुपम रूपमें उदित हुई है। गोपियाँ भगवान वासुदेव (कृष्णचंद्र)को दहीकी मटकीमें रखकर बेचने निकली थी ऐसी श्रीमद् भागवत्‌में एक कथा है; वह प्रसंग आज बहुत याद आ रहा है। जहाँ अमृत बहता है वहाँ सहस्रदल कमल है, यह दहीकी मटकी है; और आदिपुरुष उसमें बिराजमान है वह भगवान वासुदेव हैं। उसकी प्राप्ति सत्पुरुषकी चित्तवृत्तिरूप गोपीको होनेपर वह उल्लासमें आकर किसी दूसरे मुमुक्षु आत्माके प्रति ऐसा कहती है—"कोई माधव लो, हाँरे कोई माधव लो।" अर्थात् वह वृत्ति कहती है कि हमें आदिपुरुषकी प्राप्ति हुई है और यह एक ही प्राप्त करने योग्य है, अन्य कुछ भी प्राप्त करने योग्य नहीं है, इसलिये आप प्राप्त कीजिये। उल्लासमें वारंवार कहती है कि आप उस पुराणपुरुषको प्राप्त करें, और यदि उस प्राप्तिको अचल प्रेमसे चाहेंगे तो हम वह आदिपुरुष आपको दे देंगी। हम इस मटकीमें रखकर बेचने निकली हैं, ग्राहक देखकर दे देती हैं, कोई ग्राहक बनो, अचल प्रेमसे कोई ग्राहक बनो, तो वासुदेवकी प्राप्ति करा देंगी।

मटकीमें रखकर बेचने निकलनेका अर्थ यह है कि सहस्रदल कमलमें हमें वासुदेव भगवान मिले हैं, मक्खनका तो नाम मात्र है; यदि सारी सृष्टिको मथ कर मक्खन निकालें तो मात्र एक अमृतरूप वासुदेव भगवान ही मक्खन निकलता है। ऐसे सूक्ष्म स्वरूपको स्थूल बनाकर व्यासजीने अद्‌भुत भक्तिका गान किया है। यह कथा और समस्त भागवत इस एकको ही प्राप्त करानेके लिये अक्षरशः भरपूर है। और वह मुझे (हमें) बहुत समय पहले समझमें आ गया है; आज अति अति स्मरणमें है; क्योंकि साक्षात् अनुभवप्राप्ति है, और इसी कारण आजकी परम अद्‌भुत दशा है। ऐसी दशासे जीव उन्मत्त भी हुए बिना नहीं रहेगा, और वासुदेव हरि जान-बूझकर कुछ समयके लिये अदृश्य भी हो जायें, ऐसे लक्षणके धारक हैं। इसलिये हम असंगता चाहते हैं; और आपका सहवास भी असंगता ही है, इसलिये भी वह हमें विशेष प्रिय है।

सत्संगकी यहाँ कमी है, और विकट वासमें निवास है। हरीच्छासे घूमने-फिरनेकी वृत्ति है। इसलिये कुछ खेद तो नहीं है; परन्तु भेदका प्रकाश नहीं किया जा सकता, यह चिंतना निरंतर रहा करती है।

आज भूधर एक पत्र दे गये हैं। तथा आपका एक पत्र सीधा मिला है।

मणिको भेजी हुई [1]वचनावलीमें आपकी प्रसन्नतासे हमारी प्रसन्नताको उत्तेजन मिला है। इसमें संतका अद्‌भुत मार्ग प्रगट किया है। यदि [2]मणि एक ही वृत्तिसे इन वाक्योंका आराधन करेगा, और उसी पुरुषकी आज्ञामें लीन रहेगा तो अनन्त कालसे प्राप्त हुआ परिभ्रमण मिट जायेगा। मणि मायाका मोह विशेष रखता है, कि जो मार्गप्राप्तिमें बड़ा प्रतिबंध गिना गया है। इसलिये ऐसी वृत्तिको धीरे-धीरे कम करनेके लिये मणिसे मेरी विनती है।

आपको जो पूर्णपदोपदेशक अखरावट या पद भेजनेकी इच्छा है, वह किस ढालमें अथवा रागमें हो इसके लिये आपको जो योग्य लगे वह लिखें।

अनेकानेक प्रकारसे मनन करनेपर हमारा यह दृढ़ निश्चय है कि भक्ति सर्वोपरि मार्ग है, और वह सत्पुरुषके चरणोंमें रहकर हो तो क्षणभरमें मोक्ष प्राप्त करा दे ऐसा साधन है।

विशेष कुछ नहीं लिखा जाता। परमानंद है, परन्तु असत्संग है अर्थात् सत्संग नहीं है।

विशेष आपकी कृपादृष्टि, बस यही।

वि० आज्ञाकारीके दंडवत्

---

१. देखें आंक २०० २. मणिलाल, श्री सौभाग्यभाईके पुत्र

२०२ बंबई, माघ वदी ३, १९४७

सुज्ञ मेहता चत्रभुज,

जिस मार्गसे जीवका कल्याण हो उसका आराधन करना 'श्रेयस्कर' है, ऐसा वारंवार कहा है। फिर भी यहाँ इस बातका स्मरण कराता हूँ।

अभी मुझसे कुछ भी लिखा नहीं गया है, उसका उद्देश इतना ही है कि संसारी सम्बन्ध अनन्त बार हुआ है; और जो मिथ्या है उस मार्गसे प्रीति बढ़ानेकी इच्छा नहीं है। परमार्थ मार्गमें प्रेम उत्पन्न होना यही धर्म है। उसका आराधन करें।

वि० रायचंदके यथायोग्य।

---

२०३ बंबई, माघ वदी ४, १९४७

ॐ सत्स्वरूप

सुज्ञ भाई,

आज आपका एक पत्र मिला। इससे पूर्व तीन दिन पहले एक सविस्तर पत्र मिला था। उसके लिये कुछ असंतोष नहीं हुआ। विकल्प न कीजियेगा।

आपने मेरे पत्रके उत्तरमें जो सविस्तर पत्र लिखा है, वह पत्र आपने विकल्पपूर्वक नहीं लिखा। मेरा वह लिखा हुआ पत्र[1] मुख्यतः मुनिपर था। क्योंकि उनकी माँग निरन्तर रहती थी।

यहाँ परमानंद है। आप और दूसरे भाई सत्के आराधनका प्रयत्न करें। हमारा यथायोग्य मानें। और भाई त्रिभोवन आदिसे कहें।

वि० रायचंदके यथायोग्य।

---

२०४ बंबई, माघ वदी ७, मंगल, १९४७

यहाँ परमानंद वृत्ति है। आपका भक्तिपूर्ण पत्र आज प्राप्त हुआ।

आपको मेरे प्रति परमोल्लास आता है, और वारंवार इस विषयमें आप प्रसन्नता प्रगट करते हैं; परन्तु अभी हमारी प्रसन्नता हमपर नहीं होती, क्योंकि यथेष्ट असंगदशासे रहा नहीं जाता; और मिथ्या प्रतिबंधमें वास है। परमार्थके लिये परिपूर्ण इच्छा है, परन्तु ईश्वरेच्छाकी अभी तक उसमें सम्मति नहीं है; तब तक मेरे विषयमें अंतरमें समझ रखियेगा, और चाहे जैसे मुमुक्षुओंको भी नामपूर्वक मत बताइयेगा। अभी ऐसी दशामें रहना हमें प्रिय है।

आपने खंभात पत्र लिखकर मेरा माहात्म्य प्रगट किया, परन्तु अभी वैसा नहीं होना चाहिये। वे सब मुमुक्षु हैं। सच्चेको कितनी ही तरहसे पहचानते हैं, तो भी उनके सामने अभी प्रगट होकर प्रतिबंध करना मुझे योग्य नहीं लगता। आप प्रसंगोपात्त उन्हें ज्ञानकथा लिखियेगा, तो मेरा एक प्रतिबंध कम होगा। और ऐसा करनेका परिणाम अच्छा है। हम तो आपका समागम चाहते हैं। कई बातें अंतरमें घूमती हैं, परन्तु लिखी नहीं जा सकती।

---

१. देखें आंक १९८

२०५ बंबई, माघ वदी ११, शुक्र, १९४७

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः

उसे मोह क्या ? शोक क्या ? कि जो सर्वत्र एकत्व (परमात्मस्वरूप) को ही देखता है।

वास्तविक सुख यदि जगतकी दृष्टिमें आया होता तो ज्ञानी पुरुषों द्वारा नियत किया हुआ मोक्ष स्थान ऊर्ध्व लोकमें नहीं होता; परन्तु यह जगत ही मोक्ष होता।

ज्ञानीको सर्वत्र मोक्ष है, यह बात यद्यपि यथार्थ है, तो भी जहाँ मायापूर्वक परमात्माका दर्शन है ऐसे जगतमें विचारकर पैर रखने जैसा उन्हें भी कुछ लगता है। इसलिये हम असंगता चाहते हैं, या फिर आपका संग चाहते हैं, यह योग्य ही है।

---

२०६ बंबई, माघ वदी १३, रवि, १९४७

घट परिचयके लिये आपने कुछ नहीं लिखा सो लिखियेगा। तथा महात्मा कबीरजीकी दूसरी पुस्तकें मिल सकें तो भेजनेकी कृपा कीजियेगा।

पारमार्थिक विषयमें अभी मौन रहनेका कारण परमात्माकी इच्छा है। जब तक असंग नहीं होंगे और उसके बाद उसकी इच्छा नहीं होगी तब तक प्रगटरूपसे मार्ग नहीं कहेंगे, और ऐसा सभी महात्माओंका रिवाज है। हम तो दीन मात्र है।

भागवतवाली बात आत्मज्ञानसे जानी हुई है।

---

२०७ बंबई, माघ वदी ३०, १९४७

यद्यपि किसी प्रकारकी क्रियाका उत्थापन नहीं किया जाता तो भी उन्हें जो लगता है उसका कुछ कारण होना चाहिये, जिस कारणको दूर करना कल्याणरूप है।

परिणाममें 'सत्' को प्राप्त करानेवाली और प्रारम्भमें 'सत्' की हेतुभूत ऐसी उनकी रुचिको प्रसन्नता देनेवाली वैराग्यकथाका प्रसंगोपात्त उनसे परिचय करे; तो उनके समागमसे भी कल्याणकी ही वृद्धि होगी, और वह कारण भी दूर होगा।

जिनमें पृथ्वी आदिका विस्तारसे विचार किया गया है ऐसे वचनोंकी अपेक्षा 'वैतालीय' अध्ययन जैसे वचन वैराग्यकी वृद्धि करते हैं, और दूसरे मतभेदवाले प्राणियोंको भी उनमें अरुचि नहीं होती।

जो साधु आपका अनुसरण करते हैं, उन्हें समय समयपर बताते रहे : "धर्म उसीको कहा जा सकता है कि जो धर्म होकर परिणमे; ज्ञान उसीको कहा जा सकता है कि जो ज्ञान होकर परिणमे। हम ये सब क्रियाएँ, वाचन इत्यादि करते हैं, वे मिथ्या हैं ऐसा कहनेका मेरा हेतु आप न समझें तो मैं आपको कुछ कहना चाहता हूँ," इस प्रकार कहकर उन्हें बताना कि यह जो कुछ हम करते हैं, उसमें कोई ऐसी बात रह जाती है कि जिससे 'धर्म और ज्ञान' हममें अपने रूपसे परिणमित नहीं होते और कषाय एवं मिथ्यात्व (संदेह) का मंदत्व नहीं होता; इसलिये हमें जीवके कल्याणका पुनः पुनः विचार करना योग्य है और उसका विचार करनेपर हम कुछ न कुछ फल पाये बिना नहीं रहेंगे। हम सब कुछ जाननेका प्रयत्न करते हैं, परन्तु अपना 'संदेह' कैसे दूर हो, यह जाननेका प्रयत्न नहीं करते। यह जब तक नहीं करेंगे तब तक 'संदेह' कैसे दूर होगा ? और जब तक सन्देह होगा तब तक ज्ञान भी नहीं होगा, इसलिये संदेहको दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये। वह सन्देह यह है कि यह जीव भव्य है या अभव्य ? मिथ्यादृष्टि है या सम्यग्दृष्टि ? सुलभबोधी है या दुर्लभबोधी ? अल्पसंसारी है या अधिक संसारी ? यह सब हमें ज्ञात हो ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकारकी ज्ञानकथाका उनसे प्रसंग रखना योग्य है।

परमार्थपर प्रीति होनेमें सत्संग सर्वोत्कृष्ट और अनुपम साधन है; परन्तु इस कालमें वैसा योग होना बहुत विकट है; इसलिये जीवको इस विकटतामें रहकर सफलतापूर्वक पूरा करनेके लिये विकट पुरुषार्थ करना योग्य है, और वह यह कि "अनादि कालसे जितना जाना है उतना सभी अज्ञान ही है, उसका विस्मरण करना।"

'सत्' सत् ही है, सरल है, सुगम है, सर्वत्र उसकी प्राप्ति होती है; परन्तु 'सत्' को बतानेवाला 'सत्' चाहिये।

नय अनंत हैं; प्रत्येक पदार्थमें अनंत गुणधर्म हैं; उनमें अनंत नय परिणमित होते हैं; तो फिर एक या दो चार नयपूर्वक बोला जा सके ऐसा कहाँ है ? इसलिये नयादिकमें समतावान रहना। ज्ञानियोंकी वाणी 'नय'में उदासीन रहती है, उस वाणीको नमस्कार हो ! विशेष किसी प्रसंगसे।

---

२०८ बंबई, माघ वदी ३०, १९४७

अनंत नय हैं; एक एक पदार्थ अनंत गुणसे और अनंत धर्मसे युक्त है; एक एक गुण और एक एक धर्ममें अनंत नय परिणमित होते हैं; इसलिये इस रास्तेसे पदार्थका निर्णय करना चाहें तो नहीं हो सकता; इसका रास्ता कोई दूसरा होना चाहिये। प्रायः इस बातको ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं; और वे उस नयादिक मार्गके प्रति उदासीन रहते हैं; जिससे किसी नयका एकांत खंडन नहीं होता, अथवा किसी नयका एकांत मंडन नहीं होता। जितनी जिसकी योग्यता है, उतनी उस नयकी सत्ता ज्ञानी पुरुषोंको मान्य होती है। जिन्हें मार्ग नहीं प्राप्त हुआ ऐसे मनुष्य 'नय' का आग्रह करते हैं; और उससे विषम फलकी प्राप्ति होती है। कोई नय जहाँ बाधित नहीं है ऐसे ज्ञानीके वचनोंको हम नमस्कार करते हैं। जिसने ज्ञानीके मार्गकी इच्छा की हो ऐसा प्राणी नयादिमें उदासीन रहनेका अभ्यास करे; किसी नयमें आग्रह न करे और किसी प्राणीको इस राहसे दुःखी न करे; और यह आग्रह जिसका मिट गया है, वह किसी राहसे भी प्राणीको दुःखी करनेकी इच्छा नहीं करता।

२०९

महात्माओंने चाहे जिस नामसे और चाहे जिस आकारसे एक 'सत्' को ही प्रकाशित किया है। उसीका ज्ञान करना योग्य है। वही प्रतीत करने योग्य है, वही अनुभवरूप है और वही परम प्रेमसे भजने योग्य है।

उस 'परमसत्' की ही हम अनन्य प्रेमसे अविच्छिन्न भक्ति चाहते हैं।

उस 'परमसत्' को 'परमज्ञान' कहें, चाहे तो 'परमप्रेम' कहें और चाहे तो 'सत्-चित्-आनंदस्वरूप' कहें, चाहे तो 'आत्मा' कहें, चाहे तो 'सर्वात्मा' कहें, चाहे तो एक कहें, चाहे तो अनेक कहें, चाहे तो एकरूप कहें, चाहे तो सर्वरूप कहें; परन्तु सत् सत् ही है। और वही इस सब प्रकारसे कहने योग्य है, कहा जाता है। सब यही है, अन्य नहीं।

ऐसा वह परमतत्त्व, पुरुषोत्तम, हरि, सिद्ध, ईश्वर, निरंजन, अलख, परब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर और भगवत आदि अनंत नामोंसे कहा गया है।

हम जब परमतत्त्व कहना चाहते हैं तो उसे किन्हीं भी शब्दोंमें कहें तो वह यही है, दूसरा नहीं।

---

२१० बंबई, माघ वदी ३०, १९४७

सत्स्वरूपको अभेदभावसे नमोनमः

यहाँ आनंद है। सर्वत्र परमानंद दर्शित है।

क्या लिखना ? यह तो कुछ सूझता नहीं है; क्योंकि दशा भिन्न रहती है; तो भी प्रसंगसे कोई सद्वृत्ति प्रेरक पुस्तक होगी तो भेजूँगा। हमपर आपकी चाहे जैसी भक्ति हो, परन्तु सब जीवोंके और विशेषतः धर्मजीवके तो हम त्रिकालके लिये दास ही हैं।

सबको इतना ही अभी तो करना है कि पुरानेको छोड़े बिना तो छुटकारा ही नहीं हैं; और वह छोड़ने योग्य ही है ऐसा दृढ़ करना।

मार्ग सरल है, प्राप्ति दुर्लभ है।

*साथके पत्र पढ़कर उनमें जो योग्य लगे उसे लिखकर मुनिको दे दीजिये। उन्हें मेरी ओरसे स्मृति और वंदन कीजिये। हम तो सबके दास हैं। त्रिभोवनसे अवश्य कुशल क्षेम पूछिये।

---

२११ बंबई, माघ वदी ३०, १९४७

'सत्' कुछ दूर नहीं है, परन्तु दूर लगता है, और यही जीवका मोह है।

'सत्' जो कुछ है, वह 'सत्' ही है; सरल है, सुगम है, और सर्वत्र उसकी प्राप्ति होती है; परन्तु जिसपर भ्रांतिरूप आवरणतम छाया रहता है उस प्राणीको उसकी प्राप्ति कैसे हो ? अन्धकारके चाहे जितने प्रकार करें, परन्तु उनमें कोई ऐसा प्रकार नहीं निकलेगा कि जो प्रकाशरूप हो; इसी प्रकार जिसपर आवरणतिमिर छाया हुआ है उस प्राणीकी कल्पनाओंमेंसे कोई भी कल्पना 'सत्' मालूम नहीं होती और 'सत्' के निकट होना भी सम्भव नहीं है। 'सत्' है, वह भ्रांति नहीं है, वह भ्रांतिसे सर्वथा व्यतिरिक्त (भिन्न) हैं; कल्पनासे पर (दूर) है; इसलिये जिसकी उसे प्राप्त करनेकी दृढ़ मति हुई है वह पहले ऐसा दृढ़ निश्चयात्मक विचार करे कि स्वयं कुछ भी नहीं जानता; और फिर 'सत्' की प्राप्तिके लिये ज्ञानीकी शरणमें जाये तो अवश्य मार्गकी प्राप्ति होगी।

ये जो वचन लिखे हैं वे सभी मुमुक्षुओंके लिये परम बांधवरूप हैं, परम रक्षकरूप हैं, और इनका सम्यक् प्रकारसे विचार करनेपर ये परमपदको देनेवाले हैं। इनमें निर्ग्रंथ-प्रवचनकी समस्त द्वादशांगी, षड्दर्शनका सर्वोत्तम तत्त्व और ज्ञानीके बोधका बीज संक्षेपमें कहा हैं; इसलिये वारंवार इनका स्मरण कीजिये, विचार कीजिये, समझिये, समझनेका प्रयत्न कीजिये, इनके बाधक अन्य प्रकारोंमें उदासीन रहिये, इन्हींमें वृत्तिका लय कीजिये। यह आपको और किसी भी मुमुक्षुको गुप्त रीतसे कहनेका हमारा मंत्र है; इनमें 'सत्' ही कहा है, यह समझनेके लिये अत्यधिक समय लगाइये।

---

२१२ बंबई, माघ वदी, १९४७

सत्को नमोनमः

वांछा—इच्छाके अर्थमें 'काम' शब्द प्रयुक्त होता है; तथा पंचेंद्रिय-विषयके अर्थमें भी प्रयुक्त होता है।

'अनन्य' अर्थात् जिसके जैसा दूसरा नहीं, सर्वोत्कृष्ट। 'अनन्य भक्तिभाव' अर्थात् जिसके जैसा दूसरा नहीं ऐसा भक्तिपूर्वक उत्कृष्ट भाव।

---

* देखें आंक २११, २१२

मुमुक्षु वै० योगमार्गके अच्छे परिचयवाले हैं, ऐसा जानता हूँ। सद्वृत्तिवाले योग्य जीव है। जिस 'पद' का आपने साक्षात्कार पूछा, वह अभी उन्हें नहीं हुआ है।

पूर्वकालमें उत्तर दिशामें विचरनेके बारेमें उनके मुखसे श्रवण किया है। तो उस बारेमें अभी तो कुछ लिखा नहीं जा सकता। परंतु इतना बता सकता हूँ कि उन्होंने आपसे मिथ्या नहीं कहा है।

जिसके वचनबलसे जीव निर्वाणमार्गको पाता है, ऐसी सजीवनमूर्तिका योग पूर्वकालमें जीवको बहुत बार हो गया है; परन्तु उसकी पहचान नहीं हुई है। जीवने पहचान करनेका प्रयत्न क्वचित् किया भी होगा, तथापि जीवमें जड़ जमाई हुई सिद्धियोगादि, ऋद्धियोगादि और दूसरी वैसी कामनाओंसे जीवकी अपनी दृष्टि मलिन थी। यदि दृष्टि मलिन हो तो वैसी सत्मूर्तिके प्रति भी बाह्य लक्ष्य रहता है, जिससे पहचान नहीं हो पाती; और जब पहचान होती है, तब जीवको कोई ऐसा अपूर्व स्नेह आता है, कि उस मूर्तिके वियोगमें एक घडीभर भी जीना उसे विडंबनारूप लगता है, अर्थात् उसके वियोगमें वह उदासीनभावसे उसीमें वृत्ति रखकर जीता है; अन्य पदार्थोंका संयोग और मृत्यु—ये दोनों उसे समान हो गये होते हैं। ऐसी दशा जब आती है, तब जीवको मार्ग बहुत निकट होता है ऐसा समझें। ऐसी दशा आनेमें मायाकी संगति बहुत विडंबनामय है; परन्तु यही दशा लानेका जिसका दृढ़ निश्चय है उसे प्रायः अल्प समयमें वह दशा प्राप्त होती है।

आप सब अभी तो हमें एक प्रकारका बंधन करने लगे हैं, इसके लिये हम क्या करें यह कुछ सूझता नहीं है। 'सजीवनमूर्ति'से मार्ग मिलता है ऐसा उपदेश करते हुए हमने स्वयं अपनेआपको बंधनमें ड़ाल लिया है कि जिस उपदेशका लक्ष्य आप हमको ही बना बैठे हैं। हम तो उस सजीवनमूर्तिके दास हैं, चरणरज हैं। हमारी ऐसी अलौकिक दशा भी कहाँ है कि जिस दशामें केवल असंगता ही रहती है? हमारा उपाधियोग तो, आप प्रत्यक्ष देख सकें, ऐसा है।

ये अंतिम दो बातें तो हमने आप सबके लिये लिखी हैं। हमें अब कम बंधन हो ऐसा करनेके लिये आप सबसे विनती है। दूसरी एक बात यह बतानी है कि आप हमारे लिये अब किसीसे कुछ न कहें। आप उदयकाल जानते हैं।

---

२१३ बंबई, फागुन सुदी ४, शनि, १९४७

पुराणपुरुषको नमोनमः

यह लोक त्रिविध तापसे आकुलव्याकुल है। मृगतृष्णाके जलको लेनेके लिये दौड़कर प्यास बुझाना चाहता है ऐसा दीन है। अज्ञानके कारण स्वरूपका विस्मरण हो जानेसे उसे भयंकर परिभ्रमण प्राप्त हुआ है। वह समय समय पर अतुल खेद, ज्वरादि रोग, मरणादि भय और वियोग आदि दुःखोंका अनुभव करता है, ऐसे अशरण जगतके लिये एक सत्पुरुष ही शरण है। सत्पुरुषकी वाणीके बिना इस ताप और तृषाको दूसरा कोई मिटा नहीं सकता, ऐसा निश्चय है। इसलिये वारंवार उस सत्पुरुषके चरणोंका हम ध्यान करते हैं।

संसार केवल असातामय है। किसी भी प्राणीको अल्प भी साता है, वह भी सत्पुरुषका ही अनुग्रह है। किसी भी प्रकारके पुण्यके बिना साताकी प्राप्ति नहीं होती; और इस पुण्यको भी सत्पुरुषके उपदेशके बिना किसीने नहीं जाना। बहुत काल पूर्व उपदिष्ट वह पुण्य रूढ़िके अधीन होकर प्रवर्तित रहा है; इसलिये मानो वह ग्रंथादिसे प्राप्त हुआ लगता है, परन्तु उसका मूल एक सत्पुरुष ही है; इसलिये हम ऐसा ही जानते हैं कि एक अंश सातासे लेकर पूर्णकामता तककी सर्व समाधिका कारण सत्पुरुष ही है।

इतनी अधिक समर्थता होनेपर भी जिसे कुछ भी स्पृहा नहीं है, उन्मत्तता नहीं है, अहंता नहीं है, गर्व नहीं है, गारव नहीं है, ऐसे आश्चर्यकी प्रतिमारूप सत्पुरुषको हम पुनः पुनः नामरूपसे स्मरण करते हैं।

त्रिलोकके नाथ जिसके वश हुए हैं, ऐसा होनेपर भी वह ऐसी अटपटी दशासे रहता है कि जिसकी सामान्य मनुष्यको पहचान होना दुर्लभ है; ऐसे सत्पुरुषकी हम पुनः पुनः स्तुति करते हैं।

एक समय भी सर्वथा असंगतासे रहना त्रिलोकको वश करनेकी अपेक्षा भी विकट कार्य है, ऐसी असंगतासे जो त्रिकाल रहा है उस सत्पुरुषके अंतःकरणको देखकर हम परमाश्चर्य पाकर नमन करते हैं।

हे परमात्मा ! हम तो ऐसा ही मानते हैं कि इस कालमें भी जीवका मोक्ष हो सकता है। फिर भी जैन ग्रन्थोंमें क्वचित् प्रतिपादन हुआ है, तदनुसार इस कालमें मोक्ष नहीं होता हो, तो इस क्षेत्रमें यह प्रतिपादन तू रख, और हमें मोक्ष देनेकी अपेक्षा ऐसा योग प्रदान कर कि हम सत्पुरुषके ही चरणोंका ध्यान करें और उसके समीप ही रहें।

हे पुरुषपुराण ! हम तेरेमें और सत्पुरुषमें कोई भेद ही नहीं समझते; तेरी अपेक्षा हमें तो सत्पुरुष ही विशेष लगता है कारण कि तू भी उसके अधीन ही रहा है और हम सत्पुरुषको पहचाने बिना तुझे पहचान नहीं सके, यही तेरी दुर्घटता हममें सत्पुरुषके प्रति प्रेम उत्पन्न करती है। क्योंकि तू वशमें होनेपर भी वे उन्मत्त नहीं है, और तेरेसे भी सरल है, इसलिये अब तू जैसा कहे वैसा करें।

हे नाथ ! तू बुरा न मानना कि हम तेरी अपेक्षा भी सत्पुरुषकी विशेष स्तुति करते हैं। सारा जगत तेरी स्तुति करता है; तो फिर हम एक तुझसे विमुख बैठे रहेंगे तो उससे कहाँ तुझे न्यूनता भी है और उनको (सत्पुरुषको) कहाँ स्तुतिकी आकांक्षा है ?

ज्ञानी पुरुष त्रिकालकी बात जानते हुए भी प्रगट नहीं करते ऐसा आपने पूछा; इस सम्बन्धमें ऐसा लगता है कि ईश्वरीय इच्छा ही ऐसी है कि अमुक पारमार्थिक बातके सिवाय ज्ञानी दूसरी त्रिकालिक बात प्रसिद्ध न करे; और ज्ञानीकी भी अंतरंग इच्छा ऐसी ही मालूम होती है। जिनकी किसी भी प्रकारकी आकांक्षा नहीं है ऐसे ज्ञानीपुरुषके लिये कुछ कर्तव्यरूप न होनेसे जो कुछ उदयमें आता है उतना ही करते हैं।

हम तो कुछ वैसा ज्ञान नहीं रखते कि जिससे त्रिकाल सर्वथा मालूम हो, और हमें ऐसे ज्ञानका कुछ विशेष ध्यान भी नहीं है। हमें तो वास्तविक जो स्वरूप उसकी भक्ति और असंगता ही प्रिय है। यही विज्ञापन।

'वेदान्त ग्रंथ प्रस्तावना' भेजी होगी, नहीं तो तुरन्त भेजियेगा।

वि० आज्ञाकारी—

---

२१४ बंबई, फागुन सुदी ५, रवि, १९४७

अभेददशा आये बिना जो प्राणी इस जगतकी रचना देखना चाहते हैं वे बंधे जाते हैं। ऐसी दशा आनेके लिये वे प्राणी उस रचनाके कारणके प्रति प्रीति करें और अपनी अहंरूप भ्रांतिका परित्याग करें। उस रचनाके उपभोगकी इच्छाका सर्वथा त्याग करना योग्य है, और ऐसा होनेके लिये सत्पुरुषकी शरण जैसा एक भी औषध नहीं है। इस निश्चयवार्ताको न जानकर त्रितापसे जलते हुए बेचारे मोहांध प्राणियोंको देखकर परम करुणा आती है और यह उद्‌गार निकल पड़ता है—'हे नाथ ! तू अनुग्रह करके इन्हें अपनी गतिमें भक्ति दे।'

आज कृपापूर्वक आपकी भेजी हुई वेदांतकी 'प्रबोध शतक' नामकी पुस्तक प्राप्त हुई। उपाधिकी निवृत्तिके समयमें उसका अवलोकन करूँगा।

उदयकालके अनुसार वर्तन करते हैं। क्वचित् मनोयोगके कारण इच्छा उत्पन्न हो तो बात अलग है परन्तु हमें तो ऐसा लगता है कि इस जगतके प्रति हमारा परम उदासीन भाव रहता है; वह बिलकुल सोनेका हो तो भी हमारे लिये तृणवत् है; और परमात्माकी विभूतिरूप हमारा भक्तिधाम है।

आज्ञाकारी

---

२१५ बंबई, फागुन सुदी ८, १९४७

आपका कृपापत्र प्राप्त हुआ। इसमें पूछे गये प्रश्नोंका सविस्तर उत्तर यथासम्भव शीघ्र लिखूँगा।

ये प्रश्न ऐसे पारमार्थिक हैं कि मुमुक्षु पुरुषको उनका परिचय करना चाहिये। हजारों पुस्तकोंके पाठीको भी ऐसे प्रश्न नहीं उठते, ऐसा हम समझते हैं। उनमें भी प्रथम लिखा हुआ प्रश्न (जगतके स्वरूपमें मतांतर क्यों है?) तो ज्ञानी पुरुष अथवा उनकी आज्ञाका अनुसरण करनेवाला पुरुष ही खड़ा कर सकता है। यहाँ मनमानी निवृत्ति नहीं रहती; जिससे ऐसी ज्ञानवार्ता लिखनेमें जरा विलंब करनेकी जरूरत होती है। अन्तिम प्रश्न हमारे वनवासका पूछा है, यह प्रश्न भी ऐसा है कि ज्ञानीकी ही अंतर्वृत्तिके जानकार पुरुषके सिवाय किसी विरलेसे ही पूछा जा सकता है।

आपकी सर्वोत्तम प्रज्ञाको नमस्कार करते हैं। कलिकालमें परमात्माको किन्हीं भक्तिमान पुरुषोंपर प्रसन्न होना हो, तो उनमेंसे आप एक हैं। हमें आपका बड़ा आश्रय इस कालमें मिला और इसीसे जीवित हैं।

२१६

ॐ

'सत्'

यह जो कुछ देखते हैं, जो कुछ देखा जा सकता है; जो कुछ सुनते हैं, जो कुछ सुना जा सकता है, वह सब एक सत् ही है।

जो कुछ है वह सत् ही है, अन्य नहीं।
वह सत् एक ही प्रकारका होने योग्य है।

वही सत् जगतरूपसे अनेक प्रकारका हुआ है, परन्तु इससे वह कहीं स्वरूपसे च्युत नहीं हुआ है। स्वरूपमें ही वह एकाकी होनेपर भी अनेकाकी हो सकनेमें समर्थ है। एक सुवर्ण-कुंडल, कड़ा, साँकला, बाजूबन्द आदि अनेक प्रकारसे हो, इससे उसका कुछ सुवर्णत्व घट नहीं जाता। पर्यायांतर भासता है। और वह उसकी सत्ता है। इसी प्रकार यह समस्त विश्व उस 'सत्' का पर्यायांतर है, परन्तु 'सत्' रूप ही है।

---

२१७ बंबई, माघ सुदी, १९४७

परम पूज्य,

आपके सहज वाचनके उपयोगार्थ आपके प्रश्नोंके उत्तरवाला पत्र इसके साथ भेज रहा हूँ।

परमात्मामें परम स्नेह चाहे जिस विकट मार्गसे होता हो तो भी करना योग्य ही है। सरल मार्ग मिलनेपर भी उपाधिके कारण तन्मय भक्ति नहीं रहती, और एकतार स्नेह उमड़ता नहीं है। इसलिये खेद रहा करता है और वनवासकी वारंवार इच्छा हुआ करती है। यद्यपि वैराग्य तो ऐसा रहता है कि प्रायः

आत्माको घर और वनमें कोई भेद नहीं लगता; परन्तु उपाधिके प्रसंगके कारण उसमें उपयोग रखनेकी वारंवार जरूरत रहा करती है, कि जिससे परम स्नेहपर उस समय आवरण लाना पड़ता है, और ऐसा परम स्नेह और अनन्य प्रेमभक्ति आये बिना देहत्याग करनेकी इच्छा नहीं होती। कदाचित् सर्वात्माकी ऐसी ही इच्छा होगी तो चाहे जैसी दीनतासे भी उस इच्छाको बदलेंगे। परन्तु प्रेमभक्तिका पूर्ण लय आये बिना देहत्याग नहीं किया जा सकेगा ऐसा लगता है, और वारंवार यही रटन रहनेसे 'वनमें जायें' 'वनमें जायें' ऐसा मनमें हो आता है। आपका निरन्तर सत्संग हो तो हमें घर भी वनवास ही है।

श्रीमद् भागवतमें गोपांगनाकी जैसी प्रेमभक्तिका वर्णन है, ऐसी प्रेमभक्ति इस कलिकालमें प्राप्त होनी दुर्लभ है, ऐसा यद्यपि सामान्य लक्ष्य है, तथापि कलिकालमें निश्चल मतिसे यही लय लगे तो परमात्मा अनुग्रह करके शीघ्र यह भक्ति प्रदान करता है।

श्रीमद् भागवतमें जडभरतजीकी सुंदर आख्यायिका दी है। यह दशा वारंवार याद आती है और ऐसी उन्मत्तता परमात्मप्राप्तिका परम द्वार है। यह दशा विदेह थी। भरतजीको हरिणके संगसे जन्मकी वृद्धि हुई थी और इसी कारणसे वे जडभरतके जन्ममें असंग रहे थे। ऐसे कारणोंसे मुझे भी असंगता बहुत ही याद आती है, और कितनी ही बार तो ऐसा हो जाता है कि उस असंगताके बिना परम दुःख होता है। यम अंतकालमें प्राणीको दुःखदायक नहीं लगता होगा, परन्तु हमें संग दुःखदायक लगता है। यों अंतर्वृत्तियाँ बहुतसी हैं कि जो एक ही प्रवाहकी हैं। लिखी नहीं जातीं; रहा नहीं जाता; और आपका वियोग रहा करता है। कोई सुगम उपाय नहीं मिलता। उदयकर्म भोगते हुए दीनता अनुकूल नहीं है। भविष्यके एक क्षणका भी प्रायः विचार भी नहीं रहता।

'सत्-सत्' इसकी रटन है। और सत्का साधन 'आप' तो वहाँ हैं। अधिक क्या कहें ? ईश्वरकी इच्छा ऐसी है, और उसे प्रसन्न रखे बिना छुटकारा नहीं है। नहीं तो ऐसी उपाधियुक्त दशामें न रहें, और मनमाना करें, परमपीयूषमय और प्रेमभक्तिमय ही रहें ! परन्तु प्रारब्ध कर्म बलवत्तर है !

आज आपका एक पत्र मिला। पढ़कर हृदयांकित किया। इस विषयमें हम आपको उत्तर न लिखें इस हमारी सत्ताका उपयोग आपके लिये करना योग्य नहीं समझते; तथापि आपको, जो रहस्य मैंने समझा है उसे जताता हूँ कि जो कुछ होता है सो होने देना, न उदासीन होना, न अनुद्यमी होना, न परमात्मासे भी इच्छा करना, और न दुविधामें पड़ना, कदाचित् आपके कहे अनुसार अहंता आड़े आती हो तो यथाशक्ति उसका रोध करना, और फिर भी वह दूर न होती हो तो उसे ईश्वरार्पण कर देना; तथापि दीनता न आने देना। क्या होगा ? ऐसा विचार नहीं करना, और जो हो सो करते रहना। अधिक उधेड़-बुन करनेका प्रयत्न नहीं करना। अल्प भी भय नहीं रखना, उपाधिके लिये भविष्यके एक पलकी भी चिन्ता नहीं करना, चिन्ता करनेका जो अभ्यास हो गया है, उसे विस्मरण करते रहना, तभी ईश्वर प्रसन्न होगा; और तभी परमभक्ति पानेका फल है; तभी हमारा-आपका संयोग हुआ योग्य है। और उपाधिमें क्या होता है उसे हम आगे चलकर देख लेंगे। 'देख लेंगे' इसका अर्थ बहुत गंभीर है।

सर्वात्मा हरि समर्थ है। आप और महा पुरुषोंकी कृपासे निर्बल मति कम रहती है। आपके उपाधियोगके सम्बन्धमें यद्यपि ध्यान रहा करता है, परन्तु जो कुछ सत्ता है वह उस सर्वात्माके हाथ है। और वह सत्ता निरपेक्ष, निराकांक्ष ज्ञानीको ही प्राप्त होती है। जब तक उस सर्वात्मा हरिकी इच्छा जैसी हो उसी प्रकार ज्ञानी भी चले यह आज्ञाकारी धर्म है, इत्यादि बहुतसी बातें हैं। शब्दोंमें लिखी नहीं जा सकतीं, और समागमके सिवाय यह बात करनेका अन्य कोई उपाय हाथमें नहीं है, इसलिये जब ईश्वरेच्छा होगी तब यह बात करेंगे।

ऊपर जो उपाधिमेंसे अहंत्व दूर करनेके वचन लिखे हैं, उन पर आप कुछ समय विचार करेंगे त्यों ही वैसी दशा हो जायेगी ऐसी आपकी मनोवृत्ति है; और ऐसी पागल शिक्षा लिखनेकी सर्वात्मा हरिकी इच्छा होनेसे मैंने आपको लिखी है, इसलिये यथासंभव इसे अपनायें। पुनः पुनः आपसे अनुरोध है कि उपाधिमें आप यथासंभव निःशंकतासे रहकर उद्यम करें। क्या होगा ? यह विचार छोड़ दे।

इससे विशेष स्पष्ट बात लिखनेकी योग्यता अभी मुझे देनेका अनुग्रह ईश्वरने नहीं किया है, और उसका कारण मेरी वैसी अधीन भक्ति नहीं है। आप सर्वथा निर्भय रहें ऐसी मेरी पुनः पुनः विनती है। इसके सिवाय मैं और कुछ लिखने योग्य नहीं हूँ। इस विषयमें समागममें हम बातचीत करेंगे। आप किसी तरह खिन्न न हों। यह खाली धीरज देनेके लिये ही सम्मति नहीं दी है, परंतु जैसी अन्तरमें स्फुरित हुई वैसी सम्मति दी है। अधिक लिखा नहीं जा सकता, परंतु आपको आकुल नहीं रहना चाहिये, इस विनतीको वारंवार मानिये। बाकी हम तो निर्बल हैं। जरूर मानिये कि हम निर्बल हैं; परन्तु ऊपर लिखी हुई सम्मति सबल है; जैसी-तैसी नहीं है; परंतु सच्ची है। आपके लिये यही मार्ग योग्य है।

आप ज्ञानकथा लिखियेगा। 'प्रबोधशतक' अभी तो भाई रेवाशंकर पढ़ते हैं। रविवार तक वापिस भेजना सम्भव होगा तो वापिस भेजूँगा, नहीं तो रखनेके बारेमें लिखूँगा, और ऐसा होनेपर भी उसके मालिककी ओरसे कुछ जल्दी हो तो लिखियेगा, तो भेज दूँगा।

आपके सभी प्रश्नोंके यथेच्छ उत्तर उपाधियोगके कारण अपनी पूर्ण इच्छासे नहीं लिख सका हूँ; परंतु आप मेरे अंतरको समझ लेंगे ऐसी मुझे निःशंकता है।

लि० आज्ञाकारी रायचंद।

---

२१८ बंबई, फागुन सुदी १३, सोम, १९४७

सर्वात्मा हरिको नमस्कार

'सत्' सत् है, सरल है, सुगम है, उसकी प्राप्ति सर्वत्र होती है।

सत् है। कालसे उसे बाधा नहीं है। वह सबका अधिष्ठान है। वाणीसे अकथ्य है। उसकी प्राप्ति होती है; और उस प्राप्तिका उपाय है।

चाहे जिस संप्रदाय, दर्शनके महात्माओंका लक्ष्य एक 'सत्' ही है। वाणीसे अकथ्य होनेसे गूँगेकी भाँति समझाया गया है, जिससे उनके कथनमें कुछ भेद लगता है; वस्तुतः भेद नहीं है।

लोकका स्वरूप सर्व कालमें एक स्थितिका नहीं है; वह क्षण क्षणमें रूपांतर पाता रहता है; अनेक रूप नये होते हैं, अनेक स्थिर रहते हैं और अनेक लय पाते हैं। एक क्षण पहले जो रूप बाह्य ज्ञानसे मालूम नहीं हुआ था, वह दिखायी देता है; और क्षणमें बहुत दीर्घ विस्तारवाले रूप लयको प्राप्त होते जाते हैं। महात्माकी विद्यमानतामें भासमान लोकके स्वरूपको अज्ञानीके अनुग्रहके लिये कुछ रूपांतरपूर्वक कहा जाता है; परंतु जिसकी सर्व कालमें एकसी स्थिति नहीं है, ऐसा यह रूप 'सत्' नहीं होनेसे चाहे जिस रूपमें वर्णन करके उस समय भ्रांति दूर की गयी है, और इसके कारण, सर्वत्र यह स्वरूप हो ही, ऐसा नहीं है ऐसा समझमें आता है। बालजीव तो उस स्वरूपको शाश्वत मानकर भाँतिमें पड़ जाते हैं; परन्तु कोई योग्य जीव ऐसी अनेकताकी कथनीसे परेशान होकर 'सत्' की ओर झुकता है। प्रायः सभी मुमुक्षु इसी प्रकार मार्गको प्राप्त हुए हैं। 'भ्रांति'का ही रूप ऐसे इस जगतका वारंवार वर्णन करनेका महा पुरुषोंका यही उद्देश है कि उस स्वरूपका विचार करते हुए प्राणी भ्रांतिको प्राप्त हो कि सच्चा क्या है ? यों अनेक प्रकारसे कहा गया है, उसमें क्या मानूँ ? और मेरे लिये क्या कल्याणकारक है ? यों विचार

करते करते इसे एक भ्रांतिका विषय मानकर जहाँसे 'सत्' की प्राप्ति होती हैं ऐसे संतकी शरणके बिना छुटकारा नहीं है, ऐसा समझकर, उसे खोजकर, शरणापन्न होकर, 'सत्' पाकर 'सत्' रूप हो जाता है।

जैनकी बाह्य शैलीको देखते हुए तो, तीर्थंकरको संपूर्ण ज्ञान होता है यों कहते हुए हम भ्रांतिमें पड़ जाते हैं। इसक अर्थ यह है कि जैनकी अंतर्शैली दूसरी होनी चाहिये। क्योंकि इस जगतको 'अधिष्ठान' से रहित वर्णित किया गया है, और वह वर्णन अनेक प्राणियों, विचक्षण आचार्योंको भी भ्रांतिका कारण हुआ है। तथापि हम अपने अभिप्रायसे विचार करते हैं, तो ऐसा लगता है कि तीर्थंकरदेव तो ज्ञानी आत्मा होने चाहिये, परंतु उस कालकी अपेक्षासे जगतके रूपका वर्णन किया है और लोक सर्व कालके लिये ऐसा मान बैठे हैं, जिससे भ्रांतिमें पड़े हैं। चाहे जो हो, परंतु इस कालमें जैनमें तीर्थंकरके मार्गको जाननेकी आकांक्षावाले जीवोंका होना दुर्लभ संभवित है, क्योंकि चट्टानपर चढ़ा हुआ जहाज, और वह भी पुराना, यह भयंकर है। उसी प्रकार जैनकी कथनी जीर्ण शीर्ण हो गयी है। 'अधिष्ठान' विषयकी भ्रांतिरूप चट्टानपर उसका जहाज चढ़ा है, जिससे सुखरूप होना संभव नहीं है। यह हमारी बात प्रत्यक्षरूपमें दिखायी देगी।

तीर्थंकरदेवके सम्बन्धमें हमें वारंवार विचार रहा करता है कि उन्होंने 'अधिष्ठान'के बिना इस जगतका वर्णन किया है, उसका क्या कारण होगा? क्या उन्हें 'अधिष्ठान'का ज्ञान नहीं हुआ होगा? अथवा 'अधिष्ठान' ही नहीं होगा? अथवा किसी उद्देशसे छुपाया होगा? अथवा कथन भेदसे परम्परासे समझमें न आनेसे 'अधिष्ठान' विषयक कथन लयको प्राप्त हुआ होगा? ये विचार हुआ करते हैं। यद्यपि हम तीर्थंकरको महा पुरुष मानते हैं, उन्हें नमस्कार करते हैं, उनके अपूर्व गुणोंपर हमारी परम भक्ति है, और इसलिये हम समझते हैं कि 'अधिष्ठान' तो उन्होंने जाना था, परंतु लोगोंने परंपरासे मार्गकी भूलसे उसका लय कर ड़ाला।

जगतका कोई 'अधिष्ठान' होना चाहिये ऐसा बहुतसे महात्माओंका कथन है। और हम भी यही कहते हैं कि 'अधिष्ठान' है। और वह 'अधिष्ठान' ही हरि भगवान है, जिसे पुनः पुनः हृदयदेशमें देखते हैं।

'अधिष्ठान' एवं उपर्युक्त कथनके विषयमें समागममें अधिक सत्कथा होगी। लेखनमें वैसी नहीं आ सकेगी। इसलिये इतनेसे ही रुक जाता हूँ।

जनक विदेही संसारमें रहते हुए भी विदेही रह सके यह यद्यपि एक बड़ा आश्चर्य है, महा महा विकट है; तथापि जिसका आत्मा परमज्ञानमें तदाकार है, वह जैसे रहता है वैसे रहा जाता है। और जैसे प्रारब्धकर्मका उदय वैसे रहते हुए उसे बाध नहीं होता। जिनका सदेह होनेका अहंभाव मिट गया है ऐसे उन महाभाग्यकी देह भी मानो आत्मभावमें ही रहती थी, तो फिर उनकी दशा भेदवाली कहाँसे होगी?

श्रीकृष्ण महात्मा थे और ज्ञानी होते हुए भी उदयभावसे संसारमें रहे थे, इतना जैन शास्त्रसे भी जाना जा सकता है और यह यथार्थ है; तथापि उनकी गतिके विषयमें जो भेद बताया है उसका भिन्न कारण है। और भागवत आदिमें तो जिन श्रीकृष्णका वर्णन किया है वे तो परमात्मा ही हैं। परमात्माकी लीलाको महात्मा कृष्णके नामसे गाया है। और इस भागवत और इस कृष्णको यदि महापुरुषसे समझ ले तो जीव ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यह बात हमें बहुत प्रिय है। और आपके समागममें अब इसकी विशेष चर्चा करेंगे। लिखा नहीं जाता।

स्वर्ग, नरक आदिकी प्रतीतिका उपाय योगमार्ग है। उसमें भी जिसे दूरदर्शिताकी सिद्धि प्राप्त होती

है, वह उसकी प्रतीतिके लिये योग्य है। सर्वकाल यह प्रतीति प्राणीके लिये दुर्लभ हो पड़ी है। ज्ञानमार्गमें इस विशेष बातका वर्णन नहीं है, परन्तु यह सब हैं अवश्य।

मोक्ष जितने स्थानमें बताया है वह सत्य है। कर्मसे, भ्रांतिसे अथवा मायासे छूटना यह मोक्ष है। यह मोक्षकी शब्द व्याख्या है।

जीव एक भी है और अनेक भी है। अधिष्ठानसे एक है। जीवरूपसे अनेक है। इतना स्पष्टीकरण लिखा है, तथापि इसे बहुत अधूरा रखा है। क्योंकि लिखते हुए कोई वैसे शब्द नहीं मिले। परन्तु आप समझ सकेंगे ऐसी मुझे निःशंकता है।

तीर्थंकरदेवके लिये सख्त शब्द लिखे गये हैं, इसलिये उन्हें नमस्कार।

---

२१९ बंबई, फागुन वदी १, १९४७

"एक देखिये, जानिये'[1] इस दोहेके विषयमें आपने लिखा, तो यह दोहा हमने आपकी निःशंकताकी दृढ़ताके लिये नहीं लिखा था; परन्तु स्वभावतः यह दोहा प्रशस्त लगनेसे लिख भेजा था। ऐसा लय तो गोपांगनाओंमें था। श्रीमद्भागवतमें महात्मा व्यासने वासुदेव भगवानके प्रति गोपियोंकी प्रेमभक्तिका वर्णन किया है वह परमाह्लादक और आश्चर्यकारक है।

'नारद भक्तिसूत्र' नामका एक छोटा शिक्षाशास्त्र महर्षि नारदजीका रचा हुआ है, उसमें प्रेमभक्तिका सर्वोत्कृष्ट प्रतिपादन किया है।

उदासीनता कम होनेके लिये आपने दो तीन दिन यहाँ दर्शन देनेकी कृपा प्रदर्शित की, परन्तु वह उदासीनता दो तीन दिनके दर्शनलाभसे दूर होनेवाली नहीं है। परमार्थ उदासीनता है। ईश्वर निरन्तरका दर्शनलाभ दे ऐसा करें तो पधारना, नही तो अभी नहीं।

---

२२० बंबई, फागुन वदी ३, शनि, १९४७

आज आपका जन्मकुण्डलीसहित पत्र मिला। जन्मकुण्डली सम्बन्धी उत्तर अभी नहीं मिल सकता, भक्ति सम्बन्धी प्रश्नोंके उत्तर यथाप्रसंग लिखूँगा। हमने आपको जिस सविस्तर पत्रमें 'अधिष्ठान' के विषयमें लिखा था वह समागममें समझा जा सकता है।

'अधिष्ठान'का अर्थ यह है कि जिसमेंसे वस्तु उत्पन्न हुई, जिसमें वह स्थिर रही और जिसमें वह लयको प्राप्त हुई। इस व्याख्याके अनुसार 'जगतका अधिष्ठान' का अर्थ समझियेगा।

जैनदर्शनमें चैतन्यको सर्वव्यापक नहीं कहा है। इस विषयमें आपके ध्यानमें जो कुछ हो सो लिखियेगा।

---

२२१ बंबई, फागुन वदी ८, बुध, १९४७

श्रीमद्भागवत परमभक्तिरूप ही है। इसमें जो जो वर्णन किया है वह सब लक्ष्यरूपको सूचित करनेके लिये है।

मुनिको सर्वव्यापक अधिष्ठान आत्माके विषयमें कुछ पूछनेसे लक्ष्यरूप उत्तर नहीं मिल सकेगा। कल्पित उत्तरसे कार्यसिद्धि नहीं है। आप अभी ज्योतिषादिकी भी इच्छा न करें, क्योंकि वह कल्पित है;

---

१. एक देखिये जानिये, रमी रहिये ईक ठौर।
समल विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहि और॥ – समयसार नाटक, जीवद्वार।

और कल्पितपर ध्यान नहीं है।

परस्पर समागम-लाभ परमात्माकी कृपासे हो ऐसा चाहता हूँ। वैसे उपाधियोग विशेष रहता है, तथापि समाधिमें योगकी अप्रियता कभी न हो ऐसा ईश्वरका अनुग्रह रहेगा, ऐसा लगता है। विशेष सविस्तर पत्र लिखूँगा तब। वि० रायचंद।

---

२२२ बंबई, फागुन वदी ११, १९४७

ज्योतिषको कल्पित कहनेका हेतु यह है कि यह विषय पारमार्थिक ज्ञानकी अपेक्षासे कल्पित ही है; और पारमार्थिक ही सत् है, और उसीकी रटन रहती है। अभी ईश्वरने मेरे सिरपर उपाधिका बोझ विशेष रख दिया है, ऐसा करनेमें उसकी इच्छाको सुखरूप ही मानता हूँ।

जैन ग्रंथ इस कालको पंचमकाल कहते हैं और पुराण ग्रन्थ इसे कलिकाल कहते हैं, यों इस कालको कठिन काल कहा है, इसका हेतु यह है कि जीवको इस कालमें 'सत्संग और सत्शास्त्र' का मिलना दुर्लभ है, और इसीलिये कालको ऐसा उपनाम दिया है।

हमें भी पंचमकाल अथवा कलियुग अभी तो अनुभव देता है। हमारा चित्त निःस्पृह अतिशय है; और जगतमें सस्पृहके रूपमें रह रहे हैं, यह कलियुगकी कृपा है।

---

२२३ बंबई, फागुन वदी १४, बुध, १९४७

देहाभिमाने गलिते, विज्ञाते परमात्मनि ।
यत्र यत्र मनो याति, तत्र तत्र समाधयः ॥

मैं कर्ता, मैं मनुष्य, मैं सुखी, मैं दुःखी इत्यादि प्रकारसे रहा हुआ देहाभिमान जिसका क्षीण हो गया है, और सर्वोत्तम पदरूप परमात्माको जिसने जान लिया है, उसका मन जहाँ जहाँ जाता है वहाँ वहाँ उसे समाधि ही है।

आपके पत्र अनेक बार सविस्तर मिलते हैं, और उन पत्रोंको पढ़कर पहले तो समागममें ही रहनेकी इच्छा होती है। तथापि.....कारणसे उस इच्छाका चाहे जिस प्रकारसे विस्मरण करना पड़ता है, और पत्रका सविस्तर उत्तर लिखनेकी इच्छा होती है, तो वह इच्छा भी प्रायः क्वचित् ही पूरी हो पाती है। इसके दो कारण हैं। एक तो इस विषयमें अधिक लिखने जैसी दशा नहीं रही है, और दूसरा कारण है उपाधियोग। उपाधियोगकी अपेक्षा वर्तमान दशाका कारण अधिक बलवान है। जो दशा बहुत निःस्पृह है, और उसके कारण मन अन्य विषयमें प्रवेश नहीं करता; और उसमें भी परमार्थके विषयमें लिखते हुए केवल शून्यता जैसा हुआ करता है; इस विषयमें लेखनशक्ति तो इतनी अधिक शून्यताको प्राप्त हो गई है; वाणी प्रसंगोपात्त अभी इस विषयमें कुछ कार्य कर सकती है; और इससे आशा रहती है कि समागममें ईश्वर अवश्य कृपा करेगा। वाणी भी जैसे पहले क्रमपूर्वक बात कर सकती थी, वैसी अब नहीं लगती। लेखनशक्ति शून्यताको प्राप्त हुई जैसी होनेका कारण एक यह भी है कि चित्तमें अद्‌भुत बात बहुत नयोंसे युक्त होती है, और वह लेखनमें नहीं आ सकती, जिससे चित्त वैराग्यको प्राप्त हो जाता है।

आपने एक बार भक्तिके सम्बन्धमें प्रश्न किया था, उसके सम्बन्धमें अधिक बात तो समागममें हो सकती है, और प्रायः सभी बातोंके लिये समागम ठीक लगता है। तो भी बहुत ही संक्षिप्त उत्तर लिखता हूँ।

परमात्मा और आत्माका एकरूप हो जाना (!) यह पराभक्तिकी आखिरी हद है। एक यही लय

रहना सो पराभक्ति है। परममहात्म्या गोपांगनाएँ महात्मा वासुदेवकी भक्तिमें इसी प्रकारसे रही थीं। परमात्माको निरंजन और निर्देहरूपसे चिंतन करनेपर जीवको यह लय आना विकट है, इसलिये जिसे परमात्माका साक्षात्कार हुआ है, ऐसा देहधारी परमात्मा उस पराभक्तिका परम कारण है। उस ज्ञानी पुरुषके सर्व चरित्रमें ऐक्यभावका लक्ष्य होनेसे उसके हृदयमें बिराजमान परमात्माका ऐक्यभाव होता है, और यही पराभक्ति है। ज्ञानीपुरुष और परमात्मामें अंतर ही नहीं है, और जो कोई अन्तर मानता है उसे मार्गकी प्राप्ति परम विकट है। ज्ञानी तो परमात्मा ही है, और उसकी पहचानके बिना परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई है, इसलिये सर्वथा भक्ति करने योग्य ऐसी देहधारी दिव्य मूर्ति—ज्ञानीरूप परमात्माकी—का नमस्कार आदि भक्तिसे लेकर पराभक्तिके अंत तक एक लयसे आराधन करना, ऐसा शास्त्रका आशय है। परमात्मा इस देहधारीरूपसे उत्पन्न हुआ है ऐसी ही ज्ञानी पुरुषके प्रति जीवको बुद्धि होनेपर भक्ति उदित होती है, और वह भक्ति क्रमशः पराभक्तिरूप हो जाती है। इस विषयमें श्रीमद्भागवतमें, भगवद्गीतामें बहुतसे भेद प्रकाशित करके इसी लक्ष्यकी प्रशंसा की है; अधिक क्या कहना ? ज्ञानी तीर्थंकरदेवमें लक्ष्य होनेके लिये जैनधर्ममें भी पंचपरमेष्ठी मंत्रमें 'णमो अरिहंताणं' पदके बाद सिद्धको नमस्कार किया है, यही भक्तिके लिये यह सूचित करता है कि पहले ज्ञानी पुरुषकी भक्ति; और यही परमात्माकी प्राप्ति और भक्तिका निदान है।

दूसरा एक प्रश्न (एकसे अधिक बार) आपने ऐसा लिखा था कि व्यवहारमें व्यापार आदिके विषयमें यह वर्ष यथेष्ट लाभदायक नहीं लगता, और कठिनाई रहा करती है।

परमात्माकी भक्ति ही जिसे प्रिय है, ऐसे पुरुषको ऐसी कठिनाई न हो तो फिर ऐसा समझना कि उसे सच्चे परमात्माकी भक्ति ही नहीं है। अथवा तो जान-बूझकर परमात्माकी इच्छारूप मायाने वैसी कठिनाई भेजनेके कार्यका विस्मरण किया है। जनक विदेही और महात्मा कृष्णके विषयमें मायाका विस्मरण हुआ लगता है, तथापि ऐसा नहीं है। जनक विदेहीकी कठिनाईके विषयमें यहाँ कुछ कहना योग्य नहीं है, क्योंकि वह अप्रगट कठिनाई है, और महात्मा कृष्णकी संकटरूप कठिनाई प्रगट ही है। इसी तरह अष्ट महासिद्धि और नवनिधि भी प्रसिद्ध ही है; तथापि कठिनाई तो योग्य ही थी, और होनी चाहिये। यह कठिनाई मायाकी है, और परमात्माके लक्ष्यकी तो यह सरलता ही है, और ऐसा ही हो। × × × राजाने विकट तप करके परमात्माका आराधन किया, और देहधारीरूपसे परमात्माने उसे दर्शन दिया और वर माँगनेको कहा तब × × × राजाने माँगा कि हे भगवन् ! ऐसी जो राज्यलक्ष्मी मुझे दी है वह ठीक ही नहीं है, तेरा परम अनुग्रह मुझपर हो तो यह वर दे कि पंचविषयकी साधनरूप इस राज्यलक्ष्मीका फिरसे मुझे स्वप्न भी न आये। परमात्मा दंग रहकर 'तथास्तु' कहकर स्वधामको चले गये।

कहनेका आशय यह है कि ऐसा ही योग्य है। भगवद्भक्तको कठिनाई और सरलता तथा साता एवं असाता यह सब समान ही हैं। और फिर कठिनाई और असाता तो विशेष अनुकूल हैं कि जहाँ मायाके प्रतिबंधका दर्शन ही नहीं होता।

आप तो इस बातको जानते ही हैं, तथापि कुटुम्ब आदिके विषयमें कठिनाई होनी योग्य नहीं है ऐसा मनमें उठता हो तो उसका कारण यही है कि परमात्मा यों कहता है कि आप अपने कुटुम्बके प्रति निःस्नेह होवें, और उसके प्रति समभावी होकर प्रतिबन्ध रहित होवें, वह आपका है ऐसा न मानें, और प्रारब्धयोगके कारण ऐसा माना जाता है, उसे दूर करनेके लिये मैंने यह कठिनाई भेजी है। अधिक क्या कहना ? यह ऐसा ही है।

---

२२४ बंबई, फागुन वदी २, १९४७

'योगवासिष्ठ' आदि वैराग्य उपशम आदिके उपदेशक शास्त्र हैं, उन्हें पढ़नेका जितना अधिक अभ्यास हो, उतना करना योग्य है। अमुक क्रियाके प्रवर्तनमें जो लक्ष्य रहता है उसका विशेषतः समाधान बतलाने संबंधी भूमिकामें अभी हमारी स्थिति नहीं है।

---

२२५ बंबई, फागुन वदी ३, शनि, १९४७

सुज्ञ भाई,

भाई त्रिभोवनका एक प्रश्न उत्तर देने योग्य है। तथापि अभी कोई इस प्रकारका उदयकाल रहता है कि ऐसा करनेमें निरुपायता हो रही है। इसके लिये क्षमा चाहता हूँ।

भाई त्रिभोवनके पिताजीसे मेरे यथायोग्यपूर्वक कहना कि आपके समागममें प्रसन्नता है, परंतु कितनी ही ऐसी निरुपायता है कि उस निरुपायताको भोगे बिना दूसरे प्राणीको परमार्थके लिये स्पष्ट कह सकने जैसी दशा नहीं है। और इसके लिये दीनभावसे आपकी क्षमा चाही है।

योगवासिष्ठसे वृत्ति उपशम रहती हो तो पढ़ने-सुननेमें प्रतिबन्ध नहीं है। अधिक उदयकाल बीतनेपर। उदयकाल तक अधिक कुछ नहीं हो सकेगा।

---

२२६ बंबई, फागुन, १९४७

सत्स्वरूपको अभेद भक्तिसे नमस्कार

सुज्ञ भाई छोटालाल,

यहाँ आनंदवृत्ति है। सुज्ञ अंबालाल और त्रिभोवनके पत्र मिले ऐसा उन्हें कहें। अवसर प्राप्त होनेपर योग्य उत्तर दिया जा सके ऐसा भाई त्रिभोवनका पत्र है।

वासनाके उपशमार्थ उनका विज्ञापन है, और उसका सर्वोत्तम उपाय तो ज्ञानी पुरुषका योग मिलना है। दृढ मुमुक्षुता हो और अमुक काल तक वैसा योग मिला हो तो जीवका कल्याण हो जाये इसे निःशंक मानिये।

आप सब सत्संग, सत्शास्त्र आदि सम्बन्धी आजकल कैसे योगमें रहते हैं सो लिखें। इस योगके लिये प्रमादभाव करना योग्य ही नहीं है; मात्र पूर्वकी कोई गाढ प्रतिबद्धता हो, तो आत्मा तो इस विषयमें अप्रमत्त होना चाहिये।

आपकी इच्छाकी खातिर कुछ भी लिखना चाहिये, इसलिये यथा प्रसंग लिखता हूँ। बाकी अभी सत्कथा लिखी जा सकने जैसी दशा (इच्छा ?) नहीं है।

दोनोंके पत्र न लिखने पड़ें, इसलिये यह एक आपको लिखा है। और यह जिसे उपयोगी हो उसका है। आपके पिताजीसे मेरा यथायोग्य कहिये, याद किया है ऐसा भी कहिये। वि॰रायचंद।

---

२२७ बंबई, फागुन, १९४७

तत्काल या नियमित समयपर पत्र लिखना नहीं बन पाता। इसलिये विशेष उपकारका हेतु होनेका यथायोग्य कारण उपेक्षित करना पड़ता है, जिसके लिये खेद हो तो भी प्रारब्धका समाधान होनेके लिये वे दोनों ही प्रकार उपशम करने योग्य हैं।

---

२२८ बंबई, फागुन, १९४७

सदुपदेशात्मक सहज वचन लिखने हों इसमें भी लिखते लिखते वृत्ति संकुचितताको प्राप्त हो जाती है, क्योंकि उन वचनोंके साथ समस्त परमार्थ मार्गकी सन्धि मिली होती है, उसको ग्रहण करना पाठकोंके लिये दुष्कर होता है और विस्तारसे लिखनेपर भी पाठकोंको अपने क्षयोपशमकी क्षमतासे अधिक ग्रहण करना कठिन होता है; और फिर लिखनेमें उपयोगको कुछ बहिर्मुख करना पड़ता है, वह भी नहीं हो सकता। यों अनेक कारणोंसे पत्रोंकी पहुँच भी कितनी ही बार लिखी नहीं जाती।

---

२२९ बंबई, फागुन, १९४७

अनंतकालसे जीवको असत् वासनाका अभ्यास है। इसमें एकदम सत् संबंधी संस्कार स्थित नहीं होते। जैसे मलिन दर्पणमें यथायोग्य प्रतिबिंब-दर्शन नहीं हो सकता वैसे असद्वासनायुक्त चित्तमें भी सत् सम्बन्धी संस्कार यथायोग्य प्रतिबिंबित नहीं होते। क्वचित् अंशतः होते हैं, वहाँ जीव फिर अनंतकालका जो मिथ्या अभ्यास है, उसके विकल्पमें पड़ जाता है। इसलिये क्वचित् उन सत्के अंशोंपर आवरण आ जाता है। सत् संबंधी संस्कारोंकी दृढता होनेके लिये सर्वथा लोकलज्जाकी उपेक्षा करके सत्संगका परिचय करना श्रेयस्कर है। लोकलज्जाको तो किसी बड़े कारणमें सर्वथा छोड़ना पड़ता है। सामान्यतः लोकसमुदायमें सत्संगका तिरस्कार नहीं है, जिससे लज्जा दुःखदायक नहीं होती। मात्र चित्तमें सत्संगके लाभका विचार करके निरंतर अभ्यास करे तो परमार्थमें दृढ़ता होती है।

---

२३० बंबई, चैत्र सुदी ४, रवि, १९४७

एक पत्र मिला कि जिसमें 'कितने ही जीव योग्यता रखते हैं, परन्तु मार्ग बतानेवाला नहीं है' इत्यादि विवरण लिखा है। इस विषयमें पहले आपको प्रायः अति गूढ भी स्पष्टीकरण किया है। तथापि आप परमार्थकी उत्सुकतामें अत्यधिक तन्मय हैं कि जिससे उस स्पष्टीकरणका विस्मरण हो जाये, इसमें आश्चर्यकी बात नहीं है फिर भी आपको स्मरण रहनेके लिये लिखता हूँ कि जब तक ईश्वरेच्छा नहीं होगी तब तक हमसे कुछ भी नहीं हो सकेगा। एक तिनकेके दो टुकड़े करनेकी सत्ता भी हम नहीं रखते। अधिक क्या कहें? आप तो करुणामय हैं। फिर भी आप हमारी करुणाके विषयमें क्यों ध्यान नहीं देते, और ईश्वरको क्यों नहीं समझाते?

---

२३१ बंबई, चैत्र सुदी ७, बुध, १९४७

महात्मा कबीरजी तथा नरसिंह मेहताकी भक्ति अनन्य, अलौकिक, अद्भुत और सर्वोत्कृष्ट थी, फिर भी वह निःस्पृहा थी। ऐसी दुःखी स्थिति होनेपर भी उन्होंने स्वप्नमें भी आजीविकाके लिये और व्यवहारके लिये परमेश्वरके प्रति दीनता प्रगट नहीं की। यद्यपि ऐसा किये बिना ईश्वरेच्छासे उनका व्यवहार चलता रहा है, तथापि उनकी दारिद्र्यावस्था अभी तक जगतविदित है, और यही उनका प्रबल माहात्म्य है। परमात्माने उनका 'परचा' पूरा किया है; और वह भी उन भक्तोंकी इच्छाकी उपेक्षा करके, क्योंकि भक्तोंकी ऐसी इच्छा नहीं होती, और ऐसी इच्छा हो तो उन्हें रहस्यभक्तिकी भी प्राप्ति नहीं होती। आप हजारों बातें लिखें, परंतु जब तक निःस्पृह न हों (न बनें) तब तक विडंबना ही है।

---

२३२ बंबई, चैत्र सुदी ९, शुक्र, १९४७

परेच्छानुचारीको शब्दभेद नहीं है

सुज्ञ भाई त्रिभोवन,

कार्यके जालमें आ पड़नेके बाद प्रायः प्रत्येक जीव पश्चात्तापयुक्त होता है। कार्यके जन्मसे पहले विचार हो और वह दृढ़ रहे, ऐसा होना बहुत विकट है, ऐसा जो सयाने मनुष्य कहते हैं वह सच है। तो आपको भी इस प्रसंगमें दुःखपूर्वक चिंतन रहता होगा, और ऐसा होना सम्भव है। कार्यका जो परिणाम आया हो वह पश्चात्तापसे तो अन्यथा नहीं होता; तथापि दूसरे वैसे प्रसंगमें उपदेशका कारण होता है। ऐसा ही होना योग्य था, ऐसा मानकर शोकका परित्याग करना और मात्र मायाकी प्रबलताका विचार करना यह उत्तम है। मायाका स्वरूप ऐसा है कि इसमें, जिसे 'सत्' संप्राप्त है ऐसे ज्ञानी पुरुषको भी रहना विकट है, तो फिर जिसमें अभी मुमुक्षुताके अंशोंकी भी मलिनता है उसे इस स्वरूपमें रहना विकट, भुलावेमें ड़ालनेवाला और चलित करनेवाला हो, इसें कुछ आश्चर्य नहीं है ऐसा जरूर समझिये।

यद्यपि हमें उपाधियोग है, तथापि ऐसा कुछ नहीं है कि अवकाश नहीं मिलता; परन्तु दशा ऐसी है कि जिसमें परमार्थ संबंधी कुछ न हो सके, और रुचि भी अभी तो वैसी ही रहती है।

मायाका प्रपंच क्षण क्षणमें बाधकर्ता है; उस प्रपंचके तापकी निवृत्ति किसी कल्पद्रुमकी छाया है, और या तो केवलदशा है; तथापि कल्पद्रुमकी छाया प्रशस्त है; उसके बिना इस तापकी निवृत्ति नहीं है; और इस कल्पद्रुमकी वास्तविक पहचानके लिये जीवको योग्य होना प्रशस्त है। उस योग्य होनेमें बाधकर्ता ऐसा यह माया-प्रपंच है, जिसका परिचय जैसे कम हो वैसे चले बिना योग्यताके आवरणका भंग नहीं होता। कदम-कदमपर भययुक्त अज्ञान भूमिकामें जीव बिना विचारे करोड़ों योजन चलता रहता है; वहाँ योग्यताका अवकाश कहाँसे हो? ऐसा न होनेके लिये किये हुए कार्योंके उपद्रवको यथाशक्ति शान्त करके, (इस विषयकी) सर्वथा निवृत्ति करके योग्य व्यवहारमें आनेका प्रयत्न करना उचित है। 'लाचार होकर' करना चाहिये, और वह भी प्रारब्धवशात् निःस्पृह बुद्धिसे, ऐसे व्यवहारको योग्य व्यवहार मानिये। यहाँ ईश्वरानुग्रह है।

वि० रायचन्दके प्रणाम।

---

२३३ बंबई, चैत्र सुदी १०, १०४७

जंबुस्वामीका दृष्टान्त प्रसंगको प्रबल करनेवाला और बहुत आनन्ददायक दिया गया है। लुटा देनेकी इच्छा होनेपर भी लोकप्रवाह ऐसा माने कि चोरों द्वारा ले जानेके कारण जंबुस्वामीका त्याग है, तो यह परमार्थके लिये कलंकरूप है, ऐसा जो महात्मा जंबुका आशय था वह सत्य था।

इस बातको यहाँ संक्षिप्त करके अब आपको प्रश्न करना योग्य है कि चित्तकी मायाके प्रसंगोंमें आकुलता-व्याकुलता हो, और उसमें आत्मा चिंतित रहा करता हो, यह ईश्वरकी प्रसन्नताका मार्ग है क्या? तथा अपनी बुद्धिसे नहीं, परंतु लोकप्रवाहके कारण भी कुटुम्ब आदिके कारणसे शोकातुर होना यह वास्तविक मार्ग है क्या? हम आकुल होकर कुछ कर सकते हैं क्या? और यदि कर सकते हैं तो फिर ईश्वरपर विश्वास क्या फलदायक है?

ज्योतिष जैसे कल्पित विषयकी ओर सांसारिक प्रसंगमें निःस्पृह पुरुष ध्यान देते होंगे क्या? और हम ज्योतिष जानते हैं, अथवा कुछ कर सकते हैं, ऐसा न मानें तो अच्छा, ऐसी अभी इच्छा है। यह आपको पसन्द है क्या? सो लिखियेगा।

---

२३४ बंबई, चैत्र सुदी १०, शनि, १९४७

सर्वात्मस्वरूपको नमस्कार

जिसके लिये अपना या पराया कुछ नहीं रहा है, ऐसी किसी दशाकी प्राप्ति अब समीप ही है, (इस देहमें है); और इसी कारण परेच्छासे रहते हैं। पूर्वकालमें जिस जिस विद्या, बोध, ज्ञान और क्रियाकी प्राप्ति हो गयी है उन सबको इस जन्ममें ही विस्मरण करके निर्विकल्प हुए बिना छुटकारा नहीं है, और इसी कारण इस तरह रहते हैं। तथापि आपकी अधिक आकुलता देखकर कुछ कुछ आपको उत्तर देना पड़ा है, वह भी स्वेच्छासे नहीं; ऐसा होनेसे आपसे विनंती है कि इस सब मायिक विद्या अथवा मायिक मार्ग सम्बन्धी आपकी ओरसे मेरी दूसरी दशा होनेतक स्मरण न दिलाया जाये, ऐसा योग्य है। यद्यपि मैं आपसे भिन्न नहीं हूँ, तो आप सर्वथा निराकुल रहें। आपसे परमप्रेम है, परंतु निरुपायता मेरी है।

---

२३५ बंबई, चैत्र सुदी १४, १९४७

सविस्तर पत्रमेंसे अमुक थोड़ा भाग छोड़कर शेष भाग परमानन्दका निमित्त हुआ था। जो थोड़ा भाग बाधकर्तारूप है, वह ईश्वरानुग्रहसे आपके हृदयसे विस्मृत होगा ऐसी आशा रहा करती है।

ज्ञानीकी परिपक्व अवस्था (दशा) होनेपर सर्वथा राग-द्वेषकी निवृत्ति हो जाती है ऐसी हमारी मान्यता है, तथापि इसमें भी कुछ समझने जैसी बात है, यह सच है। प्रसंगसे इस विषयमें लिखूँगा।

ईश्वरेच्छाके अनुसार जो हो सो होने देना यह भक्तिमानके लिये सुखदायक है।

---

२३६ बम्बई, चैत्र सुदी १५, गुरु, १९४७

सुज्ञ भाई श्री अंबालाल,

यहाँ कुशलता है। आपका कुशलपत्र प्राप्त हुआ। रतलामसे लौटते हुए आप यहाँ आना चाहते है, उस इच्छामें मेरी सम्मति है। वहाँसे बिदा होनेका दिन निश्चित होनेपर यहाँ दुकानपर पत्र लिखियेगा।

आप जब यहाँ आयें तब, आपका हमारेमें जो परमार्थ प्रेम है वह यथासंभव कम ही प्रगट हो ऐसा कीजियेगा। तथा निम्नलिखित बातें ध्यानमें रखेंगे तो श्रेयस्कर है।

१. मेरी विद्यमानतामें श्री रेवाशंकर अथवा खीमजीसे किसी तरहकी परमार्थ विषयक चर्चा नहीं करना (विद्यमानतामें अर्थात् मैं पास बैठा हूँ तब)।

२. मेरी अविद्यमानतामें उनसे गंभीरतापूर्वक परमार्थ विषयकी चर्चा हो सके तो जरूर करें, कभी रेवाशंकरसे और कभी खीमजीसे।

३. परमार्थमें नीचे लिखी बातें विशेष उपयोगी है—

(१) पार होनेके लिये जीवको पहले क्या जानना चाहिये ?

(२) जीवके परिभ्रमण होनेमें मुख्य कारण क्या ?

(३) वह कारण कैसे दूर हो ?

(४) उसके लिये सुगमसे-सुगम अर्थात् अल्पकालमें फलदायक हो ऐसा उपाय कौनसा है ?

(५) क्या ऐसा कोई पुरुष होगा कि जिससे इस विषयका निर्णय प्राप्त हो सके ? इस कालमें ऐसा पुरुष हो सकता है ऐसा आप मानते हैं ? और यदि मानते हैं तो किन कारणोंसे ? ऐसे पुरुषके कोई लक्षण होते हैं या नहीं ? अभी ऐसा पुरुष हमें किस उपायसे प्राप्त हो सकता है ?

(६) यदि हमारे संबंधी कोई प्रसंग आये तो पूछना कि 'मोक्षमार्ग'की इन्हें प्राप्ति है, ऐसी निःशंकता आपको है ? और है तो किन कारणोंसे ? ये प्रवृत्तिवाली दशामें रहते हों, तो पूछना कि इस विषयमें आपको विकल्प नहीं आता ? इन्हें सर्वथा निःस्पृहता होगी क्या ? किसी तरहके सिद्धियोग होंगे क्या ?

(७) सत्पुरुषकी प्राप्ति होनेपर जीवको मार्ग न मिले, ऐसा संभव है क्या ? ऐसा हो तो इसका क्या कारण ? यदि जीवकी 'अयोग्यता' बतानेमें आये तो वह अयोग्यता किस विषयकी ?

(८) खीमजीसे प्रश्न करना कि क्या आपको ऐसा लगता है कि इस पुरुषके संगसे योग्यता प्राप्त होनेपर इससे ज्ञानप्राप्ति हो सकती है ?

इत्यादि बातोंकी चर्चा प्रसंगानुसार करें। एक एक बातका कोई निर्णायक उत्तर उनकी तरफसे मिलनेपर दूसरे प्रसंगपर दूसरी बातकी चर्चा करें।

खीमजीमें कुछ समझनेकी शक्ति ठीक है; परन्तु योग्यता रेवाशंकरकी विशेष है। योग्यता ज्ञान-प्राप्तिके लिये अति बलवान कारण है।

उपर्युक्त बातोंमेंसे आपको जो सुगम लगें वे पूछें। एककी भी सुगमता न हो तो एक भी न पूछें; तथा इन बातोंका प्रेरक कौन है ? यह मत बताना।

खंभातसे श्री त्रिभोवनदासकी यहाँ आनेकी इच्छा रहती है, तो इस इच्छामें मैं सम्मत हूँ। आप उन्हें रतलामसे पत्र लिखें तो आपकी बंबईमें जब स्थिति हो, तब उन्हें आनेकी अनुकूलता हो तो आनेमें मेरी सम्मति है, ऐसा लिखियेगा।

आप कोई मुझसे मिलने आये हैं; यह बात खीमजी आदिसे भी न कहना। यहाँ आनेका कोई व्यावहारिक कारण हो तो उसे अवश्य खीमजीसे कहना।

यह सब लिखना पड़ता है इसका उद्देश मात्र यह एक प्रवृत्तियोग है। ईश्वरेच्छा बलवान है, और सुखदायक है।

यह पत्र वारंवार मनन करने योग्य है।

वारंवार मनमें यह उठता है कि क्या अबंध बंधनयुक्त हो सकता है ? आप क्या मानते हैं ?

वि० रायचन्दके प्रणाम।

---

२३७ बंबई, चैत्र वदी २, शनि, १९४७

सुज्ञ भाई त्रिभोवन,

"परेच्छानुचारीको शब्दभेद नहीं है।" इस वाक्यका अर्थ समागममें पूछिये।

परम समाधिरूप ज्ञानीकी दशाको नमस्कार।

वि० रायचंदके प्रणाम।

---

२३८ बंबई, चैत्र वदी ३, रवि, १९४७

उस पूर्णपदको ज्ञानी परम प्रेमसे उपासना करते हैं।

चारेक दिन पहले आपका पत्र मिला। परम स्वरूपके अनुग्रहसे यहाँ समाधि है। आपकी इच्छा सद्वृत्तियोंकी प्राप्तिके लिये रहती है; यह पढ़कर वारंवार आनंद होता है।

चित्तकी सरलता, वैराग्य और 'सत्' प्राप्त होनेकी अभिलाषा—ये प्राप्त होने परम दुर्लभ है; और उनकी प्राप्तिके लिये परम कारणरूप सत्संगका प्राप्त होना तो परम परम दुर्लभ है। महान पुरुषोंने इस कालको कठिन काल कहा है, उसका मुख्य कारण तो यह है कि जीवको सत्संगका योग मिलना बहुत कठिन है, और ऐसा होनेसे कालको भी कठिन कहा है। मायामय अग्निसे चौदह राजूलोक प्रज्वलित है। उस मायामें जीवकी बुद्धि अनुरक्त हो रही है, और इस कारणसे जीव भी उस त्रिविध ताप-अग्निसे जला करता है; उसके लिये परम कारुण्यमूर्तिका उपदेश ही परम शीतल जल है; तथापि जीवको चारों ओरसे अपूर्ण पुण्यके कारण उसकी प्राप्ति होना दुर्लभ हो गया है। परन्तु इसी वस्तुका चिंतन रखना। 'सत्' में प्रीति, 'सत्' रूप संतमें परम भक्ति, उसके मार्गकी अभिलाषा, यही निरंतर स्मरण करने योग्य हैं। उनका स्मरण रहनेमें वैराग्य आदि चरित्रवाली उपयोगी पुस्तकें, वैरागी एवं सरल चित्तवाले मनुष्योंका संग और अपनी चित्तशुद्धि, ये सुन्दर कारण हैं। इन्हींकी प्राप्तिकी रटन रखना कल्याणकारक है। यहाँ समाधि है।

---

२३९ बंबई, चैत्र वदी ७, गुरु, १९४७

[1]'आप्युं सौने ते अक्षरधाम रे!'

कल एक कृपापत्र मिला था। यहाँ परमानन्द है।

यद्यपि उपाधिसंयुक्त बहुतसा काल जाता है, किन्तु ईश्वरेच्छाके अनुसार प्रवृत्ति करना श्रेयस्कर है और योग्य है; इसलिये जैसे चल रहा है वैसे चाहे उपाधि हो तो ठीक, न हो तो भी ठीक, जो हो वह समान ही है।

ज्ञानवार्ता सम्बन्धी अनेक मंत्र आपको बतानेकी इच्छा होती है; तथापि विरहकाल प्रत्यक्ष है, इसलिये निरुपायता है। मंत्र अर्थात् गुप्तभेद। ऐसा तो समझमें आता है कि भेदका भेद दूर होनेपर वास्तविक तत्त्व समझमें आता है। परम अभेद ऐसा 'सत्' सर्वत्र है। वि० रायचंद

---

२४० बंबई, चैत्र वदी ९, रवि, १९४७

कल पत्र और प० पूज्य श्री सोभागभाईका पत्र साथमें मिला।

आप उन्हें विनयपूर्ण पत्र सहर्ष लिखिये। साथ ही विलंब होनेका कारण बताइये। साथ ही लिखिये कि रायचंदने इस विषयमें बहुत प्रसन्नता प्रदर्शित की है।

अभी मुझे मुमुक्षुओंका प्रतिबन्ध भी नहीं चाहिये था; क्योंकि अभी आपको पोषण देनेकी मेरी अशक्यता रहती है। उदयकाल ऐसा ही है। इसलिये सोभागभाई जैसे सत्पुरुषके साथका पत्रव्यवहार आपको पोषणरूप होगा। यह मुझे बड़े संतोषका मार्ग मिला है। उन्हें पत्र लिखें। ज्ञानकथा लिखे, तो मैं विशेष प्रसन्न हूँ।

---

२४१ बंबई, चैत्र वदी १४, गुरु, १९४७

जिसे लगी है, उसीको लगी है और उसीने जानी है; वही 'पी पी' पुकारता है। यह ब्राह्मी वेदना कैसे कही जाय? कि जहाँ वाणीका प्रवेश नहीं है। अधिक क्या कहना? जिसे लगी है उसीको लगी है। उसीके चरणसंगसे लगती है; और जब लगती है तभी छुटकारा होता है। इसके बिना दूसरा सुगम

---

१. दिया सबको वह अक्षरधाम रे।

मोक्षमार्ग है ही नहीं। तथापि कोई प्रयत्न नहीं करता। मोह बलवान है!

---

२४२ बंबई, चैत्र, १९४७

ॐ

आपके पत्र प्राप्त हुए हैं। इस पत्रके आनेके विषयमें सर्वथा गंभीरता रखिये।

आप सब धीरज रखिये और निर्भय रहिये।

सुदृढ़ स्वभावसे आत्मार्थका प्रयत्न करना। आत्मकल्याण प्राप्त होनेमें प्रायः वारंवार प्रबल परिषहोंका आना स्वाभाविक है। परन्तु यदि उन परिषहोंका वेदन शांत चित्तसे करनेमें आता है, तो दीर्घ कालमें हो सकने योग्य आत्मकल्याण बहुत अल्प कालमें सिद्ध हो जाता है।

आप सब ऐसे शुद्ध आचरणसे रहिये कि विषम दृष्टिसे देखनेवाले मनुष्योंमेंसे बहुतोंको, समय बीतनेपर अपनी उस दृष्टिके लिये पश्चात्ताप करनेका वक्त आये।

निराश न होना।

उपाश्रयमें जानेसे शांति होती हो तो वैसा करें। साणन्द जानेसे अशांति कम होती हो तो वैसा करे। वंदन, नमस्कार करनेमें आज्ञाका अतिक्रम नहीं है। उपाश्रयमें जानेकी वृत्ति हो तो मनुष्योंकी भीड़के समय नहीं जाना, एवं सर्वथा एकांतमें भी नहीं जाना। मात्र जब थोड़े योग्य मनुष्य हों तब जाना। और जाना तो क्रमशः जानेका रखना। क्वचित् कोई क्लेश करे तो सहन करना। जाते ही पहलेसे बलवान क्लेश करनेकी वृत्ति दिखायी दे तो कहना कि "ऐसा क्लेश मात्र विषमदृष्टिवाले मनुष्य उत्पन्न कराते हैं। और यदि आप धैर्य रखेंगे तो अनुक्रमसे वह कारण आपको मालूम हो जायेगा। अकारण नाना प्रकारकी कल्पनाओंको फैलानेका जिसे भय न हो उसे ऐसी प्रवृत्ति योग्य है। आपको क्रोधातुर होना योग्य नहीं है। वैसा होनेसे बहुतसे जीवोंको मात्र प्रसन्नता होगी। संघाडेकी, गच्छकी और मार्गकी अकारण अपकीर्ति होनेमें साथ नहीं देना चाहिये। और यदि शांत रहेंगे तो अनुक्रमसे यह क्लेश सर्वथा शांत हो जायेगा। लोग वही बात करते हों तो आपको उसका निवारण करना योग्य है, वहाँ उसे उत्पन्न करने जैसा अथवा बढ़ाने जैसा कोई कथन नहीं करना चाहिये। फिर जैसी आपकी इच्छा।"

मुनि लल्लुजीसे आपने मेरे लिये जो बात कही है उस बातको मैं सिद्ध करना चाहता हूँ ऐसा कहें तो कहना कि "वे महात्मा पुरुष और आप जब पुनः मिलें तब उस बातका यथार्थ स्पष्टीकरण प्राप्त करके मेरे प्रति क्रोधातुर होना योग्य लगे तो वैसा कीजियेगा। अभी आपने उस विषयमें यथार्थ स्पष्टतासे श्रवण नहीं किया होगा ऐसा मालूम होता है।

आपके प्रति द्वेषबुद्धि करनेका मुझे नहीं कहा है। और आपके लिये विसंवाद फैलानेकी बात भी किसीके मुँहपर मैंने नहीं की है। आवेशमें कुछ वचन निकला हो तो वैसा भी नहीं है। मात्र द्वेषवान जीवोंकी यह सारी खटपट है।

ऐसा होनेपर भी यदि आप कुछ आवेश करेंगे तो मैं तो पामर हूँ, इसलिये शांत रहनेके सिवाय दूसरा कोई मेरा उपाय नहीं है। परन्तु आपको लोगोंके पक्षका बल है, ऐसा मानकर आवेश करने जायेंगे तो हो सकेगा। परन्तु उससे आपको, हमें और बहुतसे जीवोंको कर्मका दीर्घबंध होगा, इसके सिवाय कोई दूसरा फल नहीं आयेगा। और अन्य लोग प्रसन्न होंगे। इसलिये शांतदृष्टि रखना योग्य है।"

यदि किसी प्रसंगमें ऐसा कहना उचित लगे तो कहना; परन्तु वे कुछ प्रसन्नतामें दिखायी दें तब

कहना। और कहते हुए उनकी प्रसन्नता बढ़ती जाती हो, अथवा अप्रसन्नता होती न दिखायी देती हो, तब तक कहना।

अपरिचित मनुष्यों द्वारा वे उलटी सीधी बात फैलाये अथवा दूसरे वैसी बात लाये तो कहना कि आप सबका कषाय करनेका हेतु मेरी समझमें है। किसी स्त्री या पुरुषपर कलंक लगते हुए इतनी अधिक प्रसन्नता रखते हैं तो इसमें कहीं अनिष्ट हो जायेगा। मेरे साथ आप अधिक बात नहीं करें। आप अपनी सँभाले। इस तरह योग्य भाषामें जब अवसर दिखायी दे तब कहना। बाकी शांत रहना। मनमें आकुल नहीं होना। उपाश्रयमें जाना, न जाना, साणंद जाना, न जाना यह अवसरोचित जैसे आपको लगे वैसे करें। परन्तु मुख्यतः शांत रहे और सिद्ध कर देनेके सम्बन्धमें किसी भी स्पष्टीकरणपर ध्यान न दें। ऐसा धैर्य रखकर, आत्मार्थमें निर्भय रहिये।

बात कहनेवालेको कहना कि मनकी कल्पित बातें किसलिये चला रहे हैं? कुछ परमेश्वरका डर रखें तो अच्छा, यों योग्य शब्दोंमें कहना; आत्मार्थमें प्रयत्न करना।

---

२४३ बंबई, वैशाख सुदी २, १९४७

सर्वात्माके अनुग्रहसे यहाँ समाधि है। बाह्योपाधियोग रहता है। आपकी इच्छा स्मृतिमें है। और उसके लिये आपकी अनुकूलताके अनुसार करनेको तैयार हैं; तथापि ऐसा तो रहता है कि अबका हमारा समागम एकांत अज्ञात स्थानमें होना कल्याणक है। और वैसा प्रसंग ध्यानमें रखनेका प्रयत्न है। नहीं तो फिर आपको अपनी अनुकूलताके अनुसार करना मान्य है। श्री त्रिभोवनको प्रणाम कहें। आप सब जिस स्थलमें (पुरुषमें) प्रीति करते हैं, वह क्या यथार्थ कारणोंको लेकर है? सच्चे पुरुषको हम कैसे पहचानें?

---

२४४ बंबई, वैशाख सुदी ७, शुक्र, १९४७

परब्रह्म आनंदमूर्ति है; उसका त्रिकालमें अनुग्रह चाहते हैं।

कुछ निवृत्तिका समय मिला करता है; परब्रह्मविचार तो ज्योंका त्यों रहा ही करता है; कभी तो उसके लिये आनंदकिरणें बहुत स्फुरित हो उठती हैं; और कुछकी कुछ (अभेद) बात समझमें आती है; परन्तु किसीसे कही नहीं जा सकती; हमारी यह वेदना अथाह है। वेदनाके समय साता पूछनेवाला चाहिये, ऐसा व्यवहारमार्ग है; परन्तु हमें इस परमार्थमार्गमें साता पूछनेवाला नहीं मिलता; और जो है उससे वियोग रहता है। तो अब जिसका वियोग है ऐसे आप हमें किसी भी प्रकारसे साता पूछे ऐसी इच्छा करते हैं।

---

२४५ बंबई, वैशाख सुदी १३, १९४७

निर्मल प्रीतिसे हमारा यथायोग्य स्वीकार कीजिये।

श्री त्रिभोवन और छोटालाल इत्यादिसे कहिये, कि ईश्वरेच्छाके कारण उपाधियोग है, इसलिये आपके वाक्योंके प्रति उपेक्षा रखनी पड़ती है; और वह क्षमा करने योग्य है।

---

२४६ बंबई, वैशाख वदी ३, १९४७

विरह भी सुखदायक मानना।

हरिकी विरहाग्नि अतिशय जलनेसे साक्षात् उसकी प्राप्ति होती है। उसी प्रकार संतके

विरहानुभवका फल भी वही है। ईश्वरेच्छासे अपने सम्बन्धमें वैसा ही मानियेगा।

पूर्णकाम हरिका स्वरूप है। उसमें जिनका निरंतर लय लग रहा है। ऐसे पुरुषोंसे भारतक्षेत्र प्रायः शून्यवत् हुआ है। माया, मोह ही सर्वत्र दिखायी देता है। क्वचित् मुमुक्षु दिखाई देते हैं; तथापि मतांतर आदिके कारणोंसे उन्हें भी योगका मिलना दुर्लभ होता है।

आप जो हमें वारंवार प्रेरित करते हैं, उसके लिये हमारी जैसी चाहिये वैसी योग्यता नहीं है; और हरि साक्षात् दर्शन देकर जब तक उस बातके लिये प्रेरित नहीं करते तब तक इच्छा नहीं होती और होगी भी नहीं।

---

२४७ बंबई, वैशाख वदी ८, रवि, १९४७

हरिके प्रतापसे हरिका स्वरूप मिलेंगे तब समझायेंगे (!)

उपाधियोग और चित्तके कारण कितना ही समय सविस्तर पत्रके बिना व्यतीत किया है, उसमें भी चित्तकी दशा मुख्य कारणरूप है। आजकल आप किस प्रकारसे समय व्यतीत करते हैं सो लिखियेगा, और क्या इच्छा रहती है? यह भी लिखियेगा। व्यवहारके कार्यमें क्या प्रवृत्ति है, और तत्संबंधी क्या इच्छा रहती है? यह भी विदित कीजियेगा, अर्थात् वह प्रवृत्ति सुखरूप लगती है क्या? यह भी लिखियेगा।

चित्तकी दशा चैतन्यमय रहा करती है; जिससे व्यवहारके सभी कार्य प्रायः अव्यवस्थासे करते हैं। हरीच्छाको सुखदायक मानते हैं। इसलिये जो उपाधियोग विद्यमान है, उसे भी समाधियोग मानते हैं। चित्तकी अव्यवस्थाके कारण मुहूर्तमात्रमें किये जा सकनेवाले कार्यका विचार करनेमें भी पखवारा बिता दिया जाता है और कभी उसे किये बिना ही जाने देना होता है। सभी प्रसंगोंमें ऐसा हो तो भी हानि नहीं मानी है; तथापि आपसे कुछ कुछ ज्ञानवार्ता की जाय तो विशेष आनन्द रहता है; और उस प्रसंगमें चित्तको कुछ व्यवस्थित करनेकी इच्छा रहा करती है, फिर भी उस स्थितिमें भी अभी प्रवेश नहीं किया जा सकता। ऐसी चित्तकी दशा निरंकुश हो रही है, और उस निरंकुशताके प्राप्त होनेमें हरिका परम अनुग्रह कारण है ऐसा मानते हैं। इसी निरंकुशताकी पूर्णता किये बिना चित्त यथोचित समाधियुक्त नहीं होगा ऐसा लगता है। अभी तो सब कुछ अच्छा लगता है, और सब कुछ अच्छा नहीं लगता, ऐसी स्थिति है। जब सब कुछ अच्छा लगेगा तब निरंकुशताकी पूर्णता होगी। यह पूर्णकामता भी कहलाती है, जहाँ हरि ही सर्वत्र स्पष्ट भासता है। अभी कुछ अस्पष्ट भासता है; परन्तु स्पष्ट है ऐसा अनुभव है।

जो रस जगतका जीवन है, उस रसका अनुभव होनेके बाद हरिमें अतिशय लय हुआ है, और उसका परिणाम ऐसा आयेगा कि जहाँ जिस रूपमें चाहें उस रूपमें हरि...आयेंगे, ऐसा भविष्यकाल ईश्वरेच्छाके कारण लिखा है।

हम अपने अंतरंग विचार लिख सकनेमें अतिशय अशक्त हो गये हैं; जिससे समागमकी इच्छा करते हैं; परन्तु ईश्वरेच्छा अभी वैसा करनेमें असम्मत लगती है; जिससे वियोगमें रहते हैं।

उस पूर्णस्वरूप हरिमें जिसकी परम भक्ति है, ऐसा कोई भी पुरुष वर्तमानमें दिखायी नहीं देता, इसका क्या कारण होगा? तथा ऐसी अति तीव्र अथवा तीव्र मुमुक्षुता किसीमें देखनेमें नहीं आयी इसका क्या कारण होगा? क्वचित् तीव्र मुमुक्षुता देखनेमें आयी होगी तो वहाँ अनंतगुणगंभीर ज्ञानावतार पुरुषका लक्ष्य क्यों देखनेमें नहीं आया होगा? इस विषयमें आपको जो लगे सो लिखियेगा। दूसरी बड़ी आश्चर्यकारक बात तो यह है कि आप जैसोंको सम्यग्ज्ञानके बीजकी, पराभक्तिके मूलकी प्राप्ति होनेपर

भी उसके बादका भेद क्यों प्राप्त नहीं होता ? तथा हरिके प्रति अखण्ड लयरूप वैराग्य जितना चाहिये उतना क्यों वर्धमान नहीं होता ? इसका जो कुछ कारण समझमें आता हो सो लिखियेगा।

हमारे चित्तकी अव्यवस्था ऐसी हो जानेके कारण किसी काममें जैसा चाहिये वैसा उपयोग नहीं रहता, स्मृति नहीं रहती, अथवा खबर भी नहीं रहती, इसके लिये क्या करना ? क्या करना अर्थात् व्यवहारमें रहते हुए भी ऐसी सर्वोत्तम दशा दूसरे किसीको दुःखरूप नहीं होनी चाहिये, और हमारे आचार ऐसे हैं कि कभी वैसा हो जाता है। दूसरे किसीको भी आनंदरूप लगनेमें हरिको चिंता रहती है, इसलिये वे रखेंगे। हमारा काम तो उस दशाकी पूर्णता करनेका है, ऐसा मानते हैं; तथा दूसरे किसीको संतापरूप होनेका तो स्वप्नमें भी विचार नहीं है। सभीके दास हैं, तो फिर दुःखरूप कौन मानेगा ? तथापि व्यवहारप्रसंगमें हरिकी माया हमें नहीं तो दूसरेको भी कोई और ही आशय समझा दे तो निरुपायता है, और इतना भी शोक रहेगा। हम सर्व सत्ता हरिको अर्पण करते हैं, की है। अधिक क्या लिखना ? परमानंदरूप हरिको क्षण भर भी न भूलना, यह हमारी सर्व कृति, वृत्ति और लिखनेका हेतु है।

---

२४८ बंबई, वैशाख वदी ८, रवि, १९४७

ॐ नमः

किसलिये कंटाला आता है, आकुलता होती है ? सो लिखें। हमारा समागम नहीं है, इसलिये ऐसा होता है, यों कहना हो तो हमारा समागम अभी कहाँ किया जा सकता है ? यहाँ करने देनेकी हमारी इच्छा नहीं होती। अन्य किसी स्थानपर होनेका प्रसंग भवितव्यताके योगपर निर्भर है। खंभात आनेके लिये भी योग नहीं बन सकता।

पूज्य सोभागभाईका समागम करनेकी इच्छामें हमारी अनुमति है। तथापि अभी उनका समागम करनेका आपके लिये अभी कारण नहीं है; ऐसा जानते हैं।

हमारा समागम आप (सब) किसलिये चाहते हैं, इसका स्पष्ट कारण बतायें तो उसे जाननेकी अधिक इच्छा रहती है।

'प्रबोधशतक' भेजा है, सो पहुँचा होगा। आप सबके लिये यह शतक श्रवण, मनन और निदिध्यासन करने योग्य है। यह पुस्तक वेदांतकी श्रद्धा करनेके लिये नहीं भेजी है, ऐसा लक्ष्य सुननेवालेका पहले होना चाहिये। दूसरे किसी कारणसे भेजी है, जिसे प्रायः विशेष विचार करनेसे आप जान सकेंगे। अभी आपके पास कोई वैसा बोधक साधन नहीं होनेसे यह शतक ठीक साधन है, ऐसा मानकर इसे भेजा है। इसमेंसे आपको क्या जानना चाहिये, इसका आप स्वयं विचार करें। इसे सुननेपर कोई हमारे विषयमें यह आशंका न करे कि इसमें जो कुछ आशय बताया गया है, वह मत हमारा है; मात्र चित्तकी स्थिरताके लिये इस पुस्तकके बहुतसे विचार उपयोगी हैं, इसलिये भेजी है, ऐसा मानना।

श्री दामोदर और मगनलालके हस्ताक्षरवाला पत्र चाहते हैं ताकि उसमें उनके विचार मालूम हों।

---

२४९ बम्बई, जेठ सुदी ७, शनि, १९४७

ॐ नमः

कराल काल होनेसे जीवको जहाँ वृत्तिकी स्थिति करनी चाहिये, वहाँ वह कर नहीं सकता।
सद्धर्मका प्रायः लोप ही रहता है। इसलिये इस कालको कलियुग कहा गया है।
सद्धर्मका योग सत्पुरुषके बिना नहीं होता, क्योंकि असत्में सत् नहीं होता।

प्रायः सत्पुरुषके दर्शन और योगकी इस कालमें अप्राप्ति दिखायी देती है। जब ऐसा है, तब सद्धर्मरूप समाधि मुमुक्षु पुरुषको कहाँसे प्राप्त हो? और अमुक काल व्यतीत होनेपर भी जब ऐसी समाधि प्राप्त नहीं होती तब मुमुक्षुता भी कैसे रहे?

प्रायः जीव जिस परिचयमें रहता है, उस परिचयरूप अपनेको मानता है। जिसका प्रत्यक्ष अनुभव भी होता है कि अनार्यकुलमें परिचय रखनेवाला जीव अपनेको अनार्यरूपमें दृढ़ मानता है और आर्यत्वमें मति नहीं करता।

इसलिये महा पुरुषोंने और उनके आधारपर हमने ऐसा दृढ़ निश्चय किया है कि जीवके लिये सत्संग, यही मोक्षका परम साधन है।

सन्मार्गके विषयमें अपनी जैसी योग्यता है, वैसी योग्यता रखनेवाले पुरुषोंके संगको सत्संग कहा है। महान पुरुषके संगमें जो निवास है, उसे हम परम सत्संग कहते हैं; क्योंकि इसके समान कोई हितकारी साधन इस जगतमें हमने न देखा है और न सुना है।

पूर्वमें हो गये महा पुरुषोंका चिन्तन कल्याणकारक है; तथापि वह स्वरूपस्थितिका कारण नहीं हो सकता; क्योंकि जीवको क्या करना चाहिये यह बात उनके स्मरणसे समझमें नहीं आती। प्रत्यक्ष योग होनेपर बिना समझाये भी स्वरूपस्थितिका होना हम संभवित मानते हैं, और इससे यह निश्चय होता है कि उस योगका और उस प्रत्यक्ष चिंतनका फल मोक्ष होता है, क्योंकि सत्पुरुष ही 'मूर्तिमान मोक्ष' है।

मोक्षगत (अर्हत आदि) पुरुषोंका चिंतन बहुत समयमें भावानुसार मोक्षादि फलका दाता होता है। सम्यक्त्वप्राप्त पुरुषका निश्चय होनेपर और योग्यताके कारण जीव सम्यक्त्व पाता है।

---

२५० बम्बई, जेठ सुदी १५, रवि, १९४७

भक्ति पूर्णता पानेके योग्य तब होती है कि
एक तृणमात्र भी हरिसे न माँगना,
सर्वदशामें भक्तिमय ही रहना।

कल एक पत्र और आज एक पत्र चि. केशवलालकी ओरसे मिला। पढ़कर कुछ तृषातुरता मिटी। और फिर वैसे पत्रकी आतुरता वर्धमान हुई।

व्यवहारचिंतासे व्याकुलता होनेसे सत्संगके वियोगसे किसी प्रकारसे शांति नहीं होती ऐसा आपने लिखा वह योग्य ही है। तथापि व्यवहारचिंताकी व्याकुलता तो योग्य नहीं है। सर्वत्र हरीच्छा बलवान है, यह दृढ़ करानेके लिये हरिने ऐसा किया है, ऐसा आप निःशंक समझे; इसलिये जो हो उसे देखा करे; और फिर यदि आपको व्याकुलता होगी, तो देख लेंगे। अब समागम होगा तब इस विषयमें बातचीत करेंगे, व्याकुलता न रखें। हम तो इस मार्गसे तरे हैं।

चि. केशवलाल और लालचंद हमारे पास आते हैं। ईश्वरेच्छासे टकटकी लगाये हम देखते हैं। ईश्वर जब तक प्रेरित नहीं करता तब तक हमें कुछ नहीं करना है और वह प्रेरणा किये बिना कराना चाहता है। ऐसा होनेसे घड़ी घड़ीमें परमाश्चर्यरूप दशा हुआ करती हे। केशवलाल और लालचन्द हमारी दशाके अंशकी प्राप्तिकी इच्छा करें, इस विषयमें प्रेरणा रहती है। तथापि ऐसा होने देनेमें ईश्वरेच्छा विलंबवाली होगी। जिससे उन्हें आजीविकाकी उपाधिमें फँसाया है। और इसलिये हमें भी मनमें यह खटका करता है; परन्तु निरुपायताका उपाय अभी तो नहीं किया जा सकता।

छोटम ज्ञानी पुरुष थे। पदकी रचना बहुत श्रेष्ठ है।

'साकाररूपसे हरिकी प्रगट प्राप्ति' इस शब्दको मैं प्रायः प्रत्यक्षदर्शन मानता हूँ।
आगे जाकर आपके ज्ञानमें वृद्धि होगी।

लि० आज्ञाकारी रायचन्द।

---

२५१ बम्बई, जेठ वदी ६, शनि, १९४७

हरीच्छासे जीना है, और परेच्छासे चलना है। अधिक क्या कहे ?

लि. आज्ञाकारी।

---

२५२ बम्बई, जेठ सुदी, १९४७

अभी छोटमकृत पदसंग्रह इत्यादि पुस्तकें पढ़नेका परिचय रखिये। इत्यादि शब्दसे ऐसी पुस्तकें समझें कि जिनमें सत्संग, भक्ति और वीतरागताके माहात्म्यका वर्णन किया हो।

जिनमें सत्संगके माहात्म्यका वर्णन किया हो ऐसी पुस्तकें, अथवा पद एवं काव्य हों उन्हें वारंवार मनन करने योग्य और स्मृतिमें रखने योग्य समझें।

अभी यदि जैनसूत्रोंके पढ़नेकी इच्छा हो तो उसे निवृत्त करना योग्य है, क्योंकि उन्हें (जैनसूत्रोंको) पढ़ने, समझनेमें अधिक योग्यता होनी चाहिये, उसके बिना यथार्थ फलकी प्राप्ति नहीं होती। तथापि यदि दूसरी पुस्तकें न हों, तो 'उत्तराध्ययन' अथवा 'सूयगडांग' का दूसरा अध्ययन पढ़ें, विचारें।

---

२५३ बम्बई, आषाढ़ सुदी १, सोम, १९४७

जब तक गुरुगमसे भक्तिका परम स्वरूप समझमें नहीं आया, और उसकी प्राप्ति नहीं हुई, तब तक भक्तिमें प्रवृत्ति करनेसे अकाल और अशुचि दोष होता है।

अकाल और अशुचिका विस्तार बड़ा है, तो भी संक्षेपमें लिखा है।

(एकांत) प्रभात, प्रथम प्रहर, यह सेव्य भक्तिके लिये योग्य काल है। स्वरूपचिंतनभक्ति सर्व कालमें सेव्य है।

व्यवस्थित मन सर्व शुचिका कारण है। बाह्य मलादिरहित तन और शुद्ध एवं स्पष्ट वाणी यह शुचि है।

वि० रायचंद

---

२५४ बंबई, आषाढ़ सुदी ८, मंगल, १९४७

निःशंकतासे निर्भयता उत्पन्न होती है;
और उससे निःसंगता प्राप्त होती है

प्रकृतिके विस्तारसे जीवके कर्म अनंत प्रकारकी विचित्रतासे प्रवर्तन करते हैं; और इससे दोषके प्रकार भी अनंत भासित होते हैं; परंतु सबसे बड़ा दोष यह है कि जिससे 'तीव्र मुमुक्षुता' उत्पन्न ही न हो, अथवा 'मुमुक्षुता' ही उत्पन्न न हो।

प्रायः मनुष्यात्मा किसी न किसी धर्ममतमें होता है, और उससे वह धर्ममतके अनुसार प्रवर्तन करता है ऐसा मानता है; परंतु इसका नाम 'मुमुक्षुता' नहीं है।

'मुमुक्षुता' यह है कि सर्व प्रकारकी मोहासक्तिसे अकुलाकर एक मोक्षके लिये ही यत्न करना और 'तीव्र मुमुक्षुता' यह है कि अनन्य प्रेमसे मोक्षके मार्गमें प्रतिक्षण प्रवृत्ति करना।

'तीव्र मुमुक्षुता' के विषयमें यहाँ कहना नहीं है परन्तु 'मुमुक्षुता' के विषयमें कहना है, कि वह उत्पन्न होनेका लक्षण अपने दोष देखनेमें अपक्षपातता है और उससे स्वच्छंदका नाश होता है।

स्वच्छंदकी जहाँ थोड़ी अथवा बहुत हानि हुई है, वहाँ उतनी बोधबीज योग्य भूमिका होती है।

स्वच्छंद जहाँ प्रायः दब गया है, वहाँ फिर 'मार्गप्राप्ति' को रोकनेवाले मुख्यतः तीन कारण होते हैं, ऐसा हम जानते हैं।

इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा, [1]परम दीनताकी न्यूनता और पदार्थका अनिर्णय।

इन सब कारणोंको दूर करनेका बीज अब आगे कहेंगे। इससे पहले इन्हीं कारणोंको अधिकतासे कहते हैं।

'इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा' यह प्रायः तीव्र मुमुक्षुताकी उत्पत्ति होनेसे पहले होती है। उसके होनेके कारण ये हैं—निःशंकतासे यह 'सत्' है ऐसा दृढ़ नहीं हुआ है, अथवा यह 'परमानन्दरूप' ही है ऐसा भी निश्चय नहीं है; अथवा तो मुमुक्षुतामें भी कितने ही आनंदका अनुभव होता है, इससे बाह्यसाताके कारण भी कितनी ही बार प्रिय लगते हैं(!) और इससे इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा रहा करती है, जिससे जीवकी योग्यता रुक जाती है।

[2]सत्पुरुषमें ही परमेश्वरबुद्धि, इसे ज्ञानियोंने परम धर्म कहा है; और यह बुद्धि परम दीनताको सूचित करती है, जिससे सर्व प्राणियोंके प्रति अपना दासत्व माना जाता है और परम योग्यताकी प्राप्ति होती है। यह 'परम दीनता' जब तक आवरित रही है तब तक जीवकी योग्यता प्रतिबंधयुक्त होती है।

कदाचित् ये दोनों प्राप्त हो गये हों तथापि वास्तविक तत्त्व पानेकी कुछ योग्यताकी न्यूनताके कारण पदार्थ-निर्णय न हुआ हो तो चित्त व्याकुल रहता है, और मिथ्या समता आती है; कल्पित पदार्थमें 'सत्' की मान्यता होती है; जिससे कालक्रमसे अपूर्व पदार्थमें परम प्रेम नहीं आता, और यही परम योग्यताकी हानि है।

ये तीनों कारण प्रायः हमें मिले हुए अधिकांश मुमुक्षुओंमें हमने देखे हैं। मात्र दूसरे कारणकी कुछ न्यूनता किसी-किसीमें देखी है, और यदि उनमें सर्व प्रकारसे ([3]परम दीनताकी कमीकी) न्यूनता होनेका प्रयत्न हो तो योग्य हो ऐसा जानते हैं। परम दीनता इन तीनोंमें बलवान साधन है; और इन तीनोंका बीज महात्माके प्रति परम प्रेमार्पण है।

अधिक क्या कहें ? अनंत कालमें यही मार्ग है।

पहले और तीसरे कारणको दूर करनेके लिये दूसरे कारणकी हानि करना[4] और महात्माके योगसे उसके अलौकिक स्वरूपको पहचानना। पहचाननेकी परम तीव्रता रखना, तो पहचाना जायेगा। मुमुक्षुके नेत्र महात्माको पहचान लेते हैं।

महात्मामें जिसे दृढ़ निश्चय होता है, उसे मोहासक्ति दूर होकर पदार्थका निर्णय होता है। उससे व्याकुलता मिटती है। उससे निःशंकता आती है जिससे जीव सर्व प्रकारके दुःखोंसे निर्भय हो जाता है और उसीसे निःसंगता उत्पन्न होती है, और ऐसा योग्य है।

---

१. पाठान्तर—परम विनयकी न्यूनता। २. पाठान्तर—तथारूप पहचान होनेपर सद्गुरुमें परमेश्वरबुद्धि रखकर उनकी आज्ञासे प्रवृत्ति करना इसे 'परम विनय' कहा है। इससे परम योग्यताकी प्राप्ति होती है। यह परम विनय जब तक नहीं आती तब तक जीवमें योग्यता नहीं आती। ३. पाठान्तर—परम विनयकी। ४. पाठान्तर—और परम विनयमें रहना योग्य है।

मात्र आप सब मुमुक्षुओंके लिये यह अति संक्षिप्त लिखा है; इसका परस्पर विचार करके विस्तार करना और इसे समझना ऐसा हम कहते हैं।

हमने इसमें बहुत गूढ़ शास्त्रार्थ भी प्रतिपादित किया है।

आप वारंवार विचार कीजिये। योग्यता होगी तो हमारे समागममें इस बातका विस्तारसे विचार बतायेंगे।

अभी हमारे समागमका संभव तो नहीं है; परन्तु शायद श्रावण वदीमें करें तो हो, परन्तु वह कहाँ होगा उसका अभी तक विचार नहीं किया है।

कलियुग है, इसलिये क्षण भर भी वस्तुविचारके बिना नहीं रहना यह महात्माओंकी शिक्षा है।

आप सबको यथायोग्य पहुँचे।

---

२५५ बंबई, आषाढ़ सुदी १३, १९४७

ॐ

[1]सुखना सिंधु श्री सहजानंदजी, जगजीवन के जगवंदजी ।
शरणागतना सदा सुखकंदजी, परमस्नेही छो (!) परमानंदजी ।।

अपूर्व स्नेहमूर्ति आपको हमारा प्रणाम पहुँचे। हरिकृपासे हम परम प्रसन्न पदमें हैं। आपका सत्संग निरंतर चाहते हैं।

हमारी दशा आजकल कैसी रहती है, यह जाननेकी आपकी इच्छा रहती है; परंतु यथेष्ट विवरणपूर्वक वह लिखी नहीं जा सकती, इसलिये वारंवार नहीं लिखी है। यहाँ संक्षेपमें लिखते है।

एक पुराणपुरुष और पुराणपुरुषकी प्रेमसंपत्तिके बिना हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता; हमें किसी पदार्थमें रुचि मात्र नहीं रही है; कुछ प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं होती; व्यवहार कैसे चलता है इसका भान नहीं हैं; जगत किस स्थितिमें है इसकी स्मृति नहीं रहती; शत्रु-मित्रमें कोई भेदभाव नहीं रहा; कौन शत्रु है और कौन मित्र है, इसका ख्याल रखा नहीं जाता; हम देहधारी हैं या नहीं इसे जब याद करते हैं तब मुश्किलसे जान पाते हैं; हमें क्या करना है, यह किसीसे जाना नहीं जा सकता; हम सभी पदार्थोंसे उदास हो जानेसे चाहे जैसे वर्तन करते हैं; व्रत नियमोंका कोई नियम नहीं रखा; जात-पाँतका कोई प्रसंग नहीं है; हमसे विमुख जगतमें किसीको नहीं माना; हमारे सन्मुख ऐसे सत्संगी नहीं मिलनेसे खेद रहा करता है, संपत्ति पूर्ण है इसलिये संपत्तिकी इच्छा नहीं है; अनुभूत शब्दादि विषय स्मृतिमें आनेसे,—अथवा ईश्वरेच्छासे उनकी इच्छा नहीं रही है; अपनी इच्छासे थोड़ी ही प्रवृत्ति की जाती है; हरि इच्छित क्रम जैसे चलाता है वैसे चलते हैं; हृदय प्रायः शून्य जैसा हो गया है; पाँचों इंद्रियाँ शून्यरूपसे प्रवृत्त होती रहती हैं। नय, प्रमाण इत्यादि शास्त्रभेद याद नहीं आते; कुछ पढ़ते हुए चित्त स्थिर नहीं रहता; खानेकी, पीनेकी, बैठनेकी, सोनेकी, चलनेकी और बोलनेकी वृत्तियाँ अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करती रहती हैं; मन अपने अधीन है या नहीं, इसका यथायोग्य भान नहीं रहा। इस प्रकार सर्वथा विचित्र उदासीनता आनेसे चाहे जैसी प्रवृत्ति की जाती है। एक प्रकारसे पूरा पागलपन है। एक प्रकारसे उस पागलपनको कुछ छिपाकर रखते हैं, और जितना छिपाकर रखा जाता है उतनी हानि है। योग्य प्रवृत्ति करते हैं या अयोग्य इसका कुछ हिसाब नहीं रखा। आदिपुरुषमें अखंड प्रेमके सिवाय दूसरे मोक्षादि पदार्थोंकी आकांक्षाका भंग हो

१. भावार्थ—सहजानंदस्वरूप परमात्मा सुखके सागर, जगतके आधार, जगतवंद्य, सदा शरणागतको सुखके मूल कारण, परम स्नेही और परमानंदरूप है।

गया है। इतना सब होते हुए भी मनमानी उदासीनता नहीं है, ऐसा मानते हैं। अखंड प्रेमखुमारी जैसी प्रवाहित होनी चाहिये वैसी प्रवाहित नहीं होती, ऐसा समझते है। ऐसा करनेसे वह अखंड प्रेमखुमारी प्रवाहित होगी ऐसा निश्चलतासे जानते हैं; परन्तु उसे करनेमें काल कारणभूत हो गया है; और इस सबका दोष हमें है या हरिको है, ऐसा दृढ़ निश्चय नहीं किया जा सकता। इतनी अधिक उदासीनता होनेपर भी व्यापार करते हैं; लेते हैं, देते हैं, लिखते हैं, पढ़ते हैं; सम्भालते हैं और खिन्न होते हैं; और फिर हँसते हैं—जिसका ठिकाना नहीं ऐसी हमारी दशा है। और इसका कारण मात्र यही है कि जब तक हरिकी सुखद इच्छा नहीं मानी तब तक खेद मिटनेवाला नहीं है।

(अ) समझमें आता है, समझते हैं, समझेंगे; परंतु हरि ही सर्वत्र कारणरूप है।

जिस मुनिको आप समझाना चाहते हैं, वह अभी योग्य है, ऐसा हम नहीं जानते।

हमारी दशा अभी ऐसी नहीं है कि मंद योग्यको लाभ करे, हम अभी ऐसा जंजाल नहीं चाहते, उसे नहीं रखा; और उन सबका कारोबार कैसे चलता है, इसका स्मरण भी नहीं है। ऐसा होनेपर भी हमें उन सबकी अनुकंपा आया करती है; उनसे अथवा प्राणीमात्रसे मनसे भेदभाव नहीं रखा, और रखा भी नहीं जा सकता। भक्तिवाली पुस्तकें कभी पढ़ते हैं; परंतु जो कुछ करते हैं वह सब बिना ठिकानेकी दशासे करते हैं।

हम अभी प्रायः आपके पत्रोंका समयसे उत्तर नहीं लिख सकते; तथा पूरी स्पष्टताके साथ भी नहीं लिखते। यह यद्यपि योग्य तो नहीं है; परंतु हरिकी ऐसी इच्छा है, जिससे ऐसा करते हैं। अब जब समागम होगा, तब आपको हमारा यह दोष क्षमा करना पड़ेगा, ऐसा हमें भरोसा है।

और यह तब माना जायेगा कि जब आपका संग फिर होगा। उस संगकी इच्छा करते हैं, परन्तु जैसे योगसे होना चाहिये वैसे योगसे होना दुर्लभ है। आप जो भादोंमें इच्छा रखते हैं, उससे हमारी कुछ प्रतिकूलता नहीं है, अनुकूलता है। परंतु उस समागममें जो योग चाहते हैं, उसे होने देनेकी यदि हरिकी इच्छा होगी और समागम होगा तभी हमारा खेद दूर होगा ऐसा मानते हैं।

दशाका संक्षिप्त वर्णन पढ़कर, आपको उत्तर न लिखा गया हो उसके लिये क्षमा देनेकी विज्ञापना करता हूँ।

प्रभुकी परम कृपा है। हमें किसीसे भेदभाव नहीं रहा; किसीके सम्बन्धमें दोषबुद्धि नहीं आती; मुनिके विषयमें हमें कोई हलका विचार नहीं है; परंतु हरिकी प्राप्ति न हो ऐसी प्रवृत्तिमें वे पड़े हैं। अकेला बीजज्ञान ही उनका कल्याण करे ऐसी उनकी और दूसरे बहुतसे मुमुक्षुओंकी दशा नहीं है। साथमें 'सिद्धांतज्ञान' होना चाहिये। यह 'सिद्धांतज्ञान' हमारे हृदयमें आवरितरूपसे पड़ा है। हरीच्छा यदि प्रगट होने देनेकी होगी तो होगा। हमारा देश हरि है, जाति हरि है, काल हरि है, देह हरि है, रूप हरि है, नाम हरि है, दिशा हरि है, सर्व हरि है; और फिर भी इस प्रकार कारोबारमें हैं, यह इसकी इच्छाका कारण है।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः।

---

२५६ बंबई, आषाढ़ वदी २, १९४७

'अथाह प्रेमसे आपको नमस्कार'

विस्तारसे लिखे हुए दो पत्र आपकी ओरसे मिले। आप इतना परिश्रम उठाते हैं यह हमपर आपकी कृपा है।

इनमें जिन जिन प्रश्नोंका उत्तर पूछा है वे समागममें जरूर देंगे। जीवके बढ़ने घटनेके विषयमें, एक

आत्माके विषयमें, अनंत आत्माके विषयमें, मोक्षके विषयमें और मोक्षके अनंत सुखके विषयमें, आपको इस बार समागममें सभी प्रकारसे निर्णय बता देनेका सोच रखा है। क्योंकि इसके लिये हमपर हरिकी कृपा हुई है, परंतु वह मात्र आपको बतानेके लिये; दूसरोंके लिये प्रेरणा नहीं की है।

---

२५७ बंबई, आषाढ़ वदी ४, १९४७

यहाँ ईश्वरकृपासे आनन्द है। आपका पत्र चाहता हूँ।

बहुत कुछ लिखना सूझता है, परन्तु लिखा नहीं जा सकता। उनमें भी एक कारण समागम होनेके बाद लिखनेका है। और समागमके बाद लिखने जैसा तो मात्र प्रेम-स्नेह रहेगा, लिखना भी वारंवार आकुल होनेसे सूझता है। बहुतसी धाराएँ बहती देखकर, कोई कुछ पेट देने योग्य मिले तो बहुत अच्छा हो, ऐसा प्रतीत हो जानेसे, कोई न मिलनेसे आपको लिखनेकी इच्छा होती है। परन्तु उसमें उपर्युक्त कारणसे प्रवृत्ति नहीं होती।

जीव स्वभावसे (अपनी समझकी भूलसे) दूषित है; तो फिर उसके दोषकी ओर देखना, यह अनुकंपाका त्याग करने जैसी बात है, और बड़े पुरुष ऐसा आचरण करना नहीं चाहते। कलियुगमें असत्संगसे और नासमझीसे भूलभरे रास्तेपर न जाया जाये, ऐसा होना बहुत मुश्किल है; इस बातका स्पष्टीकरण फिर होगा।

---

२५८ बंबई, आषाढ़, १९४७

ॐ सत्

[1]*बिना नयन पावे नहीं, बिना नयनकी बात ।
सेवे सद्गुरुके चरन, सो पावे साक्षात् ॥१॥

बूझी चहत जो प्यासको, है बूझनकी रीत ।
पावे नहि गुरुगम बिना, एही अनादि स्थित ॥२॥

एही नहि है कल्पना, एही नहीं विभंग ।
कई नर पंचमकाळमें, देखी वस्तु अभंग ॥३॥

नहि दे तुं उपदेशकुं, प्रथम लेहि उपदेश ।
सबसें न्यारा अगम है, वो ज्ञानीका देश ॥४॥

जप, तप और व्रतादि सब, तहाँ लगी भ्रमरूप ।
जहाँ लगी नहि संतकी, पाई कृपा अनूप ॥५॥

---

१. देखें आंक ८८३।

* **भावार्थ**—अंतर्दृष्टिके बिना इन्द्रियातीत शुद्ध आत्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती अर्थात् उसका साक्षात्कार नहीं हो सकता। जो सद्गुरुके चरणोंकी उपासना करता है उसे आत्मस्वरूपकी साक्षात् प्राप्ति होती है॥१॥

यदि तू आत्मदर्शनकी प्यासको बुझाना चाहता है तो उसे बुझानेका उपाय है, जिसकी प्राप्ति गुरुसे होती है, यही अनादि कालकी स्थिति है॥२॥

यह उपायकी बात न तो कल्पना है और न ही असत्य—मिथ्या है। इसी उपायसे इस पंचम कालमें अनेक सत्पुरुषोंने अभंग वस्तु—अविनाशी आत्माके दर्शनसे अपने जीवनको कृतार्थ किया है॥३॥

तू दूसरेको उपदेश न दे, तुझे तो पहले अपने आत्मबोधके लिये उपदेश लेनेकी जरूरत है। ज्ञानीका देश तो सबसे न्यारा और अगोचर है अर्थात् ज्ञानीका निवास तो आत्मामें है॥४॥

जब तक संतकी अनुपम कृपा प्राप्त नहीं होती तब तक जप, तप, व्रत, नियम आदि सभी साधन भ्रमरूप हैं, अर्थात् गुरुसे जप, तप, आदिका रहस्य समझकर उनकी आज्ञासे ही इनकी आराधना सफल होती है ॥५॥

पायाकी ए बात है, निज छंदनको छोड़ ।
पिछे लाग सत्पुरुषके, तो सब बंधन तोड़ ॥६॥

तृषातुरको पिलानेकी मेहनत कीजिये।

अतृषातुरमें तृषातुर होनेकी अभिलाषा उत्पन्न कीजिये। जिसमें वह उत्पन्न न हो सके उसके लिये उदासीन रहिये।

आपका कृपापत्र आज और कल मिला था। स्याद्वादकी पुस्तक खोजनेसे नहीं मिली। कुछ एक वाक्य अब फिर लिख भेजूँगा।

उपाधि ऐसी है कि यह काम नहीं होता। परमेश्वरको पुसाता न हो तो इसमें क्या करें ? विशेष फिर कभी।

वि० आ० रायचंदके प्रणाम

---

२५९ बंबई, श्रावण सुदी १, बुध, १९४७

परम पूज्यजी,

आपका एक पत्र कल केशवलालने दिया। जिसमें यह बात लिखी है कि निरंतर समागम रहनेमें ईश्वरेच्छा क्यों नहीं होगी ?

सर्वशक्तिमान हरिकी इच्छा सदैव सुखरूप ही होती है, और जिसे भक्तिके कुछ भी अंश प्राप्त हुए हैं ऐसे पुरुषको तो जरूर यही निश्चय करना चाहिये कि 'हरिकी इच्छा सदैव सुखरूप ही होती है।"

हमारा वियोग रहनेमें भी हरिकी ऐसी इच्छा है, और वह इच्छा क्या होगी ? यह हमें किसी तरहसे भासित होता है, जिसे समागममें कहेंगे। श्रावण वदीमें आपको समय मिल सके तो पाँच-पंद्रह दिनके लिये समागमकी व्यवस्था करनेकी इच्छा करूँ ।

'ज्ञानधारा' सम्बन्धी मूलमार्ग हम आपसे इस बारके समागममें थोड़ा भी कहेंगे; और वह मार्ग पूरी तरह इसी जन्ममें आपसे कहेंगे यों हमें हरिकी प्रेरणा हो ऐसा लगता है।

जब तक संतकी अनुपम कृपा प्राप्त नहीं होती तब तक जप, तप, व्रत, नियम आदि सभी साधन भ्रमरूप हैं, अर्थात् गुरुसे जप, तप, आदिका रहस्य समझकर उनकी आज्ञासे ही इनकी आराधना सफल होती है॥५॥

संत (गुरु) कृपाकी प्राप्तिका यह मूल आधार है कि तू स्वच्छन्दको छोड़ दे, और सत्पुरुषका अनुयायी बन जा, तो सभी कर्मबंधन तोड़कर तू मोक्षको प्राप्त होगा॥६॥

आपने हमारे लिये जन्म धारण किया होगा, ऐसा लगता है। आप हमारे अथाह उपकारी है। आपने हमें अपनी इच्छाका सुख दिया है, इसके लिये हम नमस्कारके सिवाय दूसरा क्या बदला दें ?

परंतु हमें लगता है कि हरि हमारे हाथसे आपको पराभक्ति दिलायेंगे; हरिके स्वरूपका ज्ञान करायेंगे, और इसे ही हम अपना बड़ा भाग्योदय मानेंगे।

हमारा चित्त तो बहुत हरिमय रहता है, परंतु संग सब कलियुगके रहे हैं। मायाके प्रसंगमें रात दिन रहना होता है, इसलिये पूर्ण हरिमय चित्त रह सकना दुर्लभ होता है, और तब तक हमारे चित्तका उद्वेग नहीं मिटेगा।

हम ऐसा समझते हैं कि खंभातवासी योग्यतावाले जीव हैं; परंतु हरिकी इच्छा अभी थोड़ा विलंब

संत (गुरु) कृपाकी प्राप्तिका यह मूल आधार है कि तू स्वच्छन्दको छोड़ दे, और सत्पुरुषका अनुयायी बन जा, तो सभी कर्मबंधन तोड़कर तू मोक्षको प्राप्त होगा ॥६॥

करनेकी दिखायी देती है। आपने दोहे इत्यादि लिख भेजे यह अच्छा किया। हम तो अभी किसीकी सम्भाल नहीं ले सकते। अशक्ति बहुत आ गयी है, क्योंकि चित्त अभी बाह्य विषयमें नहीं जाता।

लि० ईश्वरार्पण।

---

२६० बंबई, श्रावण सुदी ९, गुरु, १९४७

आपने नथुरामजीकी पुस्तकोंके विषयमें तथा उनके बारेमें लिखा, वह मालूम हुआ। अभी कुछ ऐसा जाननेमें चित्त नहीं है। उनकी एक दो पुस्तकें छपी हैं, उन्हें मैंने पढ़ा है।

चमत्कार बताकर योगको सिद्ध करना, यह योगीका लक्षण नहीं है। सर्वोत्तम योगी तो वह है कि जो सर्व प्रकारकी स्पृहासे रहित होकर सत्यमें केवल अनन्य निष्ठासे सर्वथा 'सत्' का ही आचरण करता है, और जिसे जगत विस्मृत हो गया है। हम यही चाहते हैं।

---

२६१ बंबई, श्रावण सुदी ९, गुरु, १९४७

पत्र पहुँचा।

आपके गाँवसे (खंभातसे) पाँच-सात कोसपर क्या कोई ऐसा गाँव है कि जहाँ अज्ञातरूपसे रहना हो तो अनुकूल आये? जहाँ जल, वनस्पति और सृष्टिरचना ठीक हो, ऐसा कोई स्थल यदि ध्यानमें हो तो लिखें।

जैनके पर्युषणसे पहले और श्रावण वदी १ के बाद यहाँसे कुछ समयके लिये निवृत्त होनेकी इच्छा है।

जहाँ हमें लोग धर्मके सम्बन्धसे भी पहचानते हों ऐसे गाँवमें अभी तो हमने प्रवृत्ति मानी हैं, जिससे अभी खंभात आनेका विचार सम्भव नहीं है।

अभी कुछ समयके लिये यह निवृत्ति लेना चाहता हूँ। सर्व कालके लिये (आयुपर्यंत) जब तक निवृत्ति प्राप्त करनेका प्रसंग न आया हो तब तक धर्मसंबंधसे भी प्रगटमें आनेकी इच्छा नहीं रहती।

जहाँ मात्र निर्विकारतासे (प्रवृत्ति रहित) रहा जाये, और वहाँ जरूरत जितने (व्यवहारकी प्रवृत्ति देखें!) दो एक मनुष्य हों इतना बहुत है। क्रमपूर्वक आपका जो कुछ समागम रखना उचित होगा, वह रखेंगे। अधिक जंजाल नहीं चाहिये। उपर्युक्त बातके लिये साधारण व्यवस्था करना। ऐसा नहीं होना चाहिये कि यह बात अधिक फैल जाये।

भवितव्यताके योगसे अभी यदि मिलना हुआ तो भक्ति और विनयके विषयमें सुज्ञ त्रिभोवनने जो पत्रमें पूछा है उसका समाधान करूँगा।

आपके अपने भी जहाँ अधिक (हो सके तो एक भी नहीं) परिचित न हों ऐसे स्थानके लिये व्यवस्था हो तो कृपा मानेंगे।

लि० समाधि

---

२६२ बंबई, श्रावण सुदी, १९४७

उपाधिके उदयके कारण पहुँच देना नहीं हो सका, उसके लिये क्षमा करें। यहाँ हमारी उपाधिके उदयके कारण स्थिति है। इसलिये आपको समागम रहना दुर्लभ है।

इस जगतमें, चतुर्थकाल जैसे कालमें भी सत्संगकी प्राप्ति होना बहुत दुर्लभ है, तो इस दुःषमकालमें उसकी प्राप्ति परम दुर्लभ होना सम्भव है, ऐसा समझकर जिस जिस प्रकारसे सत्संगके वियोगमें भी

आत्मामें गुणोत्पत्ति हो उस उस प्रकारसे प्रवृत्ति करनेका पुरुषार्थ वारंवार, समय समय पर और प्रसंग प्रसंगपर करना चाहिये, और निरंतर सत्संगकी इच्छा, असत्संगमें उदासीनता रहनेमें मुख्य कारण वैसा पुरुषार्थ है, ऐसा समझकर जो कुछ निवृत्तिके कारण हों उन सब कारणोंका वारंवार विचार करना योग्य है।

हमें यह लिखते हुए ऐसा स्मरण होता है कि "क्या करना ?" अथवा "किसी प्रकारसे नहीं हो पाता ?" ऐसा विचार आपके चित्तमें वारंवार आता होगा, तथापि ऐसा योग्य है कि जो पुरुष दूसरे सब प्रकारके विचारोंको अकर्तव्यरूप जानकर आत्मकल्याणमें उत्साही होता है उसे, कुछ नहीं जाननेपर भी, उसी विचारके परिणाममें जो करना योग्य है, और किसी प्रकारसे नहीं हो पाता, ऐसा भासमान होनेपर उसके प्रकट होनेकी स्थिति जीवमें उत्पन्न होती है, अथवा कृतकृत्यताका साक्षात् स्वरूप उत्पन्न होता है।

दोष करते हैं ऐसी स्थितिमें इस जगतके जीवोंके तीन प्रकार ज्ञानी पुरुषने देखे हैं। (१) किसी भी प्रकारसे जीव दोष या कल्याणका विचार नहीं कर सका, अथवा करनेकी जो स्थिति है उसमें बेभान है, ऐसे जीवोंका एक प्रकार है। (२) अज्ञानतासे, असत्संगके अभ्याससे भासमान बोधसे दोष करते हैं उस क्रियाको कल्याणस्वरूप माननेवाले जीवोंका दूसरा प्रकार है। (३) उदयाधीनरूपसे मात्र जिसकी स्थिति है, सर्व परस्वरूपका साक्षी है ऐसा बोधस्वरूप जीव, मात्र उदासीनतासे कर्ता दिखायी देता है; ऐसे जीवोंका तीसरा प्रकार है।

इस तरह ज्ञानीपुरुषने तीन प्रकारका जीवसमूह देखा है। प्रायः प्रथम प्रकारमें स्त्री, पुत्र, मित्र, धन आदिकी प्राप्ति-अप्राप्तिके प्रकारमें तदाकार-परिणामी जैसे भासित होनेवाले जीवोंका समावेश होता है। भिन्न-भिन्न धर्मोंकी नामक्रिया करनेवाले जीव, अथवा स्वच्छंदपरिणामी परमार्थमार्गपर चलते हैं ऐसी बुद्धि रखनेवाले जीवोंका दूसरे प्रकारमें समावेश होता है। स्त्री, पुत्र, मित्र, धन आदिकी प्राप्ति-अप्राप्ति इत्यादि भावमें जिन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ है अथवा हुआ करता है; जिनका स्वच्छंद-परिणाम गलित हुआ है, और जो ऐसे भावके विचारमें निरंतर रहते हैं, ऐसे जीवोंका समावेश तीसरे प्रकारमें होता है। जिस प्रकारसे तीसरा प्रकार सिद्ध हो ऐसा विचार है। जो विचारवान है उसे यथाबुद्धिसे, सद्ग्रंथसे और सत्संगसे वह विचार प्राप्त होता है, और अनुक्रमसे दोषरहित स्वरूप उसमें उत्पन्न होता है। यह बात पुनः पुनः सोते जागते और भिन्न भिन्न प्रकारसे विचार करने, स्मरण करने योग्य है।

---

२६३ राळज, भादों सुदी ८, शुक्र, १९४७

वियोगसे हुए दुःखके सम्बन्धमें आपका एक पत्र चारेक दिन पहले प्राप्त हुआ था। उसमें प्रदर्शित इच्छाके विषयमें थोड़े शब्दोंमें बताने जितना समय है, वह यह है कि आपको जैसी ज्ञानकी अभिलाषा है वैसी भक्तिकी नहीं है। प्रेमरूप भक्तिके बिना ज्ञान शून्य ही है; तो फिर उसे प्राप्त करके क्या करना है ? जो रुका है वह योग्यताकी न्यूनताके कारण है, और आप ज्ञानीकी अपेक्षा ज्ञानमें अधिक प्रेम रखते हैं उसके कारण है। ज्ञानीसे ज्ञानकी इच्छा रखनेकी अपेक्षा बोधस्वरूप समझकर भक्ति चाहना परम फल है। अधिक क्या कहें ?

मन, वचन और कायासे आपके प्रति कोई भी दोष हुआ हो, तो दीनतापूर्वक क्षमा माँगता हूँ। ईश्वर जिसपर कृपा करता है उसे कलियुगमें उस पदार्थकी प्राप्ति होती है। महा विकट है। कल यहाँसे रवाना होकर ववाणियाकी ओर जाना सोचा है।

---

२६४ राळज, भादों सुदी ८, १९४७

(दोहे)

*हे प्रभु! हे प्रभु! शुं कहुं, दीनानाथ दयाळ ।
हुं तो दोष अनंतनुं, भाजन छुं करुणाळ ॥१॥

शुद्ध भाव मुजमां नथी, नथी सर्व तुजरूप ।
नथी लघुता के दीनता, शुं कहुं परमस्वरूप? ॥२॥

नथी आज्ञा गुरुदेवनी, अचळ करी उरमांहीं ।
आप तणो विश्वास दृढ, ने परमादर नाहीं ॥३॥

जोग नथी सत्संगनो, नथी सत्सेवा जोग ।
केवळ अर्पणता नथी, नथी आश्रय अनुयोग ॥४॥

'हुं पामर शुं करी शकुं?' एवो नथी विवेक ।
चरण शरण धीरज नथी, मरण सुधीनी छेक ॥५॥

अचिंत्य तुज माहात्म्यनो, नथी प्रफुल्लित भाव ।
अंश न एके स्नेहनो, न मळे परम प्रभाव ॥६॥

अचळरूप आसक्ति नहि, नहीं विरहनो ताप ।
कथा अलभ तुज प्रेमनी नहि तेनो परिताप ॥७॥

भक्तिमार्ग प्रवेश नहि, नहीं भजन दृढ भान ।
समज नहीं निज धर्मनी, नहि शुभ देशे स्थान ॥८॥

काळदोष कळिथी थयो, नहि मर्यादाधर्म ।
तोय नहीं व्याकुळता, जुओ प्रभु मुज कर्म ॥९॥

---

* **भावार्थ**–हे प्रभु! हे दयालु दीनानाथ! क्या कहूँ? हे करुणानिधि! मैं तो अनंत दोषोंका भाजन हूँ॥१॥

मुझमें शुद्ध भाव नहीं है। मुझे सबमें तेरे रूपका दर्शन नहीं होता। न तो मुझमें लघुता है और न ही दीनता है। हे सहजात्मस्वरूप परमात्मा! मैं अपनी अपात्रताका क्या वर्णन करूँ?॥२॥

मैंने गुरुदेवकी आज्ञाको अपने हृदयमें दृढ़ नहीं किया है। मुझमें न तो आपके प्रति दृढ़ विश्वास है और न ही परम आदर है॥३॥

मुझे न तो सत्संगका योग प्राप्त है और न ही सत्सेवाका। फिर मुझमें सर्वथा समर्पणकी भावना भी नहीं है, और मुझे द्रव्यानुयोग आदि शास्त्रोंका आश्रय भी प्राप्त नहीं है॥४॥

'मैं कर्मबद्ध पामर क्या कर सकता हूँ?' ऐसा विवेक मुझमें नहीं है। और मुझमें ठेठ मरणपर्यंत आपके चरणोंकी शरणका धैर्य नहीं है॥५॥

आपका माहात्म्य अचिंत्य एवं अद्भुत है; परन्तु उसके लिये मुझमें कोई उल्लास नहीं है। उसके प्रति अनन्य प्रेमका एक अंश भी मुझमें नहीं है। इसलिये उसके परम प्रभावसे वंचित रहा हूँ॥६॥

आपमें मेरी निश्चल आसक्ति नहीं है, और आपके विरहका संताप एवं खेद नहीं है। आपके निष्कारण प्रेमकी गुणगाथाका श्रवण अत्यंत दुर्लभ हो गया है, इसका संताप तथा खेद नहीं रहता॥७॥

मेरा भक्तिमार्गमें प्रवेश नहीं है, और मुझे भजनकीर्तनका दृढ़ भान नहीं है। मैं निजधर्म अर्थात् आत्मस्वभावको नहीं समझता हूँ, और शुभ देशमें मेरा स्थान नहीं है॥८॥

कलिकालसे काल दूषित हो गया है, और मर्यादाधर्म अर्थात् आज्ञा-आराधनरूप धर्म नहीं रहा है। फिर भी मुझमें व्याकुलता नहीं है। हे प्रभु! मेरे कर्मकी बहुलता तो देखें॥९॥

सेवाने प्रतिकूळ जे, ते बंधन नथी त्याग ।
देहेन्द्रिय माने नहीं, करे बाह्य पर राग ॥१०॥

तुज वियोग स्फुरतो नथी, वचन नयन यम नाहीं ।
नहि उदास अनभक्तथी, तेम गृहादिक मांहीं ॥११॥

अहंभावथी रहित नहि, स्वधर्म संचय नाहीं ।
नथी निवृत्ति निर्मळपणे, अन्य धर्मनी कांई ॥१२॥

एम अनन्त प्रकारथी, साधन रहित हुंय ।
नहीं एक सद्गुण पण, मुख बतावुं शुंय ? ॥१३॥

केवळ करुणामूर्त्ति छो, दीनबन्धु दीननाथ ।
पापी परम अनाथ छुं, ग्रहो प्रभुजी हाथ ॥१४॥

अनन्त काळथी आथड्यो, विना भान भगवान ।
सेव्या नहि गुरु सन्तने, मूक्युं नहि अभिमान ॥१५॥

सन्त चरण आश्रय विना, साधन कर्यां अनेक ।
पार न तेथी पामियो, ऊग्यो न अंश विवेक ॥१६॥

सहु साधन बन्धन थयां, रह्यो न कोई उपाय ।
सत् साधन समज्यो नहीं, त्यां बंधन शुं जाय ? ॥१७॥

प्रभु प्रभु लय लागी नहीं, पड्यो न सद्गुरु पाय ।
दीठा नहि निज दोष तो, तरीए कोण उपाय ? ॥१८॥

सत्सेवाके प्रतिकूल जो बंधन है उनका मैंने त्याग नहीं किया है। देह और इन्द्रियाँ मेरे वशमें नहीं हैं, और वे बाह्य वस्तुओंमें राग करती रहती है॥१०॥

तेरे वियोगका दुःख अखरता नहीं है, वाणी और नेत्रोंका संयम नहीं है अर्थात् वे भौतिक विषयोंमें अनुरक्त है। हे प्रभु ! आपके जो भक्त नहीं है उनके प्रति और गृहादि सांसारिक बंधनोंके प्रति मैं उदासीन नहीं हूँ॥११॥

मैं अहंभावसे मुक्त नहीं हुआ हूँ इसीलिये स्वभावरूप संचय नहीं कर पाया हूँ, और मैं निर्मल भावसे परभावरूप अन्य धर्मसे निवृत्त नहीं हुआ हूँ॥१२॥

इस तरह मैं अनंत प्रकारसे साधन रहित हूँ। मुझमें एक भी सद्गुण नहीं है। इसलिये हे प्रभु ! मैं अपना मुँह आपको क्या बताऊँ ?॥१३॥

हे प्रभु ! आप तो दीनबंधु और दीनानाथ हैं, तथा केवल करुणामूर्ति हैं; और मैं परम पापी एवं अनाथ हूँ, आप मेरा हाथ पकड़ें और उद्धार करें॥१४॥

हे भगवन् ! मैं आत्मभानके बिना अनंतकालसे भटक रहा हूँ। मैंने आत्मज्ञानी संतको सद्गुरु मानकर निष्ठापूर्वक उसकी उपासना नहीं की है और अभिमानका त्याग नहीं किया है॥१५॥

मैंने संतके चरणोंके आश्रयके बिना साधन तो अनेक किये हैं, परन्तु सदसत् तथा हेयोपादेयके विवेकके अंश मात्रका भी उदय नहीं हुआ, जिससे विषम एवं अनंत संसार परिभ्रमणका अंत नहीं हुआ है॥१६॥

हे प्रभु ! सभी साधन तो बंधन हो गये हैं, और कोई उपाय शेष नहीं रहा है। जब मैं सत् साधनको ही न समझ पाया तो फिर मेरा बंधन कैसे दूर होगा ?॥१७॥

हे प्रभु ! मुझे तेरी ही लगन नहीं लगी, मैंने सद्गुरुके चरणकी शरण नहीं ली, और अभिमान आदि अपने दोष मुझे दिखायी नहीं दिये, तो फिर मैं किस उपायसे संसारसागरको पार कर सकूँगा ?॥१८॥

अधमाधम अधिको पतित, सकल जगतमां हुंय ।
ए निश्चय आव्या विना, साधन करशे शुंय ? ॥१९॥

पडीं पडीं तुज पदपंकजे, फरीं फरीं मागुं ए ज ।
सद्गुरु सन्त स्वरूप तुज, ए दृढता करी दे ज ॥२०॥

---

२६५ राळज, भादों सुदी ८, १९४७

ॐ

सत्

(त्रोटक छंद)

*यमनियम संजम आप कियो, पुनि त्याग बिराग अथाग लह्यो ।
वनवास लियो मुख मौन रह्यो, दृढ आसन पद्म लगाय दियो ॥१॥

मन पौन निरोध स्वबोध कियो, हठजोग प्रयोग सु तार भयो ।
जप भेद जपे तप त्यौंहि तपे, उरसेंहि उदासी लही सबपें ॥२॥

सब शास्त्रनके नय धारि हिये, मत मंडन खंडन भेद लिये ।
वह साधन बार अनन्त कियो, तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो ॥३॥

अब क्यौं न बिचारत है मनसें, कछु और रहा उन साधनसें ? ।
बिन सद्गुरु कोय न भेद लहे, मुख आगल हैं कह बात कहे ? ॥४॥

करुना हम पावत हे तुमकी, वह बात रही सुगुरु गमकी ।
पलमें प्रगटे मुख आगलसें, जब सद्गुरुचर्न सुप्रेम बसें ॥५॥

तनसें, मनसें, धनसें, सबसें, गुरुदेवकी आन स्वआत्म बसें ।
तब कारज सिद्ध बने अपनो, रस अमृत पावहि प्रेम घनो ॥६॥

वह सत्य सुधा दरशावहिंगे, चतुरांगुल हे दृगसे मिलहे ।
रस देव निरंजन को पिवही, गहि जोग जुगोजुग सो जीवही ॥७॥

पर प्रेम प्रवाह बढे प्रभुसें, सब आगमभेद सुउर बसें ।
वह केवलको बीज ग्यानि कहे, निजको अनुभौ बतलाई दिये ॥८॥

मैं ही समस्त जगतमें अधमाधम और महा पतित हूँ, यह निश्चय हुए बिना साधन किस तरह सफल होंगे ? ॥१९॥

हे भगवन् ! तेरे चरणकमलमें वारंवार गिर-गिरकर यही माँगता हूँ कि सद्गुरु एवं संत तेरा ही स्वरूप है और परमार्थसे वही मेरा स्वरूप हैं, ऐसा दृढ़ विश्वास मुझमें उत्पन्न कर दे ॥२०॥

* इसका विशेषार्थ 'नित्यनियमादि पाठ (भावार्थ सहित)' में देखें।

२६६ राळज, भाद्रपद सुदी ८, १९४७

(दोहे)

*(१) जड भावे जड परिणमे, चेतन चेतन भाव ।
कोई कोई पलटे नहीं, छोडी आप स्वभाव ॥१॥

जड ते जड त्रण काळमां, चेतन चेतन तेम ।
प्रगट अनुभवरूप छे, संशय तेमां केम? ॥२॥

जो जड छे त्रण काळमां, चेतन चेतन होय ।
बन्ध मोक्ष तो नहि घटे, निवृत्ति प्रवृत्ति न्होय ॥३॥

बंध मोक्ष संयोगथी, ज्यां लग आत्म अभान ।
पण नहि त्याग स्वभावनो, भाखे जिन भगवान ॥४॥

वर्ते बंध प्रसंगमां, ते निज पद अज्ञान ।
पण जडता नहि आत्मने, ए सिद्धांत प्रमाण ॥५॥

ग्रहे अरूपी रूपीने, ए अचरजनी वात ।
जीव बंधन जाणे नहीं, केवो जिन सिद्धांत ॥६॥

प्रथम देह दृष्टि हती, तेथी भास्यो देह ।
हवे दृष्टि थई आत्मामां, गयो देहथी नेह ॥७॥

जड चेतन संयोग आ, खाण अनादि अनन्त ।
कोई न कर्ता तेहनो, भाखे जिन भगवन्त ॥८॥

---

*(१) **भावार्थ**—जड़का परिणमन जड़रूपसे होता है और चेतनका चेतनरूपसे, परंतु दोनोंमेंसे कोई भी अपने स्वभावको छोड़कर अन्यरूपसे परिणमित नहीं होता ॥१॥

जड़ तीनों कालमें जड़ ही रहता है और इसी तरह चेतन तीनों कालमें चेतन ही रहता है। यह बात प्रत्यक्ष अनुभवकी हैं, इसमें संशय करनेकी जरूरत ही नहीं है ॥२॥

यदि जड़ तीनों कालमें जड़ रहता है और चेतन चेतन रहता है, तो फिर बंध-मोक्ष आदि अवस्था घटित नहीं होती अथवा प्रवृत्ति या निवृत्तिका संभव नहीं है ॥३॥

जब तक आत्माको अपने स्वरूपका ज्ञान नहीं है तब तक रागद्वेषादि विभावसे जड़ कर्मपरमाणुओंको संयोग-संबंधसे ग्रहण करता है और अज्ञान एवं विभावके दूर हो जानेसे वह कर्ममुक्त हो जाता है। परंतु दोनों अपने स्वभावको नहीं छोड़ते, ऐसा जिन भगवानका कथन है ॥४॥

जीव अपने मूल स्वरूपको न जाननेसे कर्मबन्ध अवस्थामें रहता है। परंतु इससे आत्मा जड़ताको प्राप्त नहीं होता अर्थात् चेतन कभी जड़ नहीं हो जाता, यह सिद्धांत प्रमाण एवं न्यायसे युक्त है ॥५॥

यह कितने आश्चर्यकी बात है कि अरूपी जीव रूपी जड़ परमाणुओंको कर्मरूपसे ग्रहण करता है और उनसे बद्ध होता है। परंतु जीव स्वयं अपने कर्मबन्धनको नहीं जानता यह जिनेंद्रका कैसा अनुपम सिद्धांत है ॥६॥

अनादिसे अपने स्वरूपकी अज्ञानताके कारण आत्मा देहात्मबुद्धिसे प्रवृत्ति करता आया है। किसी पूर्वके योगाभ्यास और गुरुगमसे अब आत्मामें दृष्टि हो गयी है, जिससे देहकी ममता एवं प्रीति चली गई है ॥७॥

इस विश्वमें जड़ और चेतन पदार्थ अनादि है और दोनोंका संयोगसंबंध भी अनादि अनंत है। इनकी अवस्थाएँ बदलती है परंतु इनका कोई कर्ता-हर्ता नहीं है ऐसा जिन भगवानका कथन है ॥८॥

मूळ द्रव्य उत्पन्न नहि, नहीं नाश पण तेम ।
अनुभवथी ते सिद्ध छे, भाखे जिनवर एम ॥९॥

होय तेहनो नाश नहि, नहीं तेह नहि होय ।
एक समय ते सौ समय, भेद अवस्था जोय ॥१०॥

(२) परम पुरुष प्रभु सद्गुरु, परम ज्ञान सुखधाम ।
जेणे आप्युं भान निज, तेने सदा प्रणाम ॥१॥

---

२६७ राळज, भाद्रपद, १९४७

(हरिगीत)

*जिनवर कहे छे ज्ञान तेने सर्व भव्यो सांभळो ।

जो होय पूर्व भणेल नव पण, जीवने जाण्यो नहीं,
तो सर्व ते अज्ञान भाख्युं, साक्षी छे आगम अहीं;
ए पूर्व सर्व कह्यां विशेषे, जीव करवा निर्मळो,
जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभळो ॥१॥

नहि ग्रंथमांही ज्ञान भाख्युं, ज्ञान नहि कविचातुरी,
नहि मंत्र तंत्रो ज्ञान दाख्यां, ज्ञान नहि भाषा ठरी;
नहि अन्य स्थाने ज्ञान भाख्युं, ज्ञान ज्ञानीमां कळो,
जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभळो ॥२॥

आ जीव ने आ देह एवो, भेद जो भास्यो नहीं,
पचखाण कीधां त्यां सुधी, मोक्षार्थ ते भाख्यां नहीं;

इस विश्वमें जीव, पुद्गल आदि छः मूल द्रव्योंको किसीने उत्पन्न नहीं किया है—अनादिसे स्वयंसिद्ध हैं, और इनका कभी नाश भी नहीं होगा। यह सिद्धांत अनुभवसिद्ध है ऐसा जिन भगवानने कहा है॥९॥

जिन द्रव्योंका अस्तित्त्व है उनका नाश कभी संभव नहीं है, और जो द्रव्य पदार्थ नहीं है, उसकी उत्पत्ति संभव नहीं है। जिस द्रव्यका अस्तित्त्व एक समयके लिये है उसका अस्तित्त्व सौ समय अर्थात् सदाके लिये है। परंतु मात्र द्रव्यकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ बदलती रहती है और मूलतः उसका नाश कदापि नहीं होता॥१०॥

(२) परम पुरुष सद्गुरु भगवान परम ज्ञान तथा सुखके धाम हैं। जिन्होंने इस पामरको अपने स्वरूपका भान करानेका परम अनुग्रह किया, उन करुणामूर्ति सद्गुरुको परम भक्तिसे प्रणाम करता हूँ॥१॥

* **भावार्थ**—जिनवर जिसे ज्ञान कहते हैं उसे हे सर्व भव्यजनों! आप ध्यानपूर्वक सुनें।

यदि जीवने अपने आत्मस्वरूपको नहीं जाना, फिर चाहे उसने नव पूर्व जितना शास्त्राभ्यास किया हो तो उस सारे ज्ञानको आगममें अज्ञान ही कहा है अर्थात् आत्मतत्त्वके बोधके बिना समस्त शास्त्राभ्यास व्यर्थ ही है। भगवानने पूर्व आदिका ज्ञान विशेषतः इसलिये प्रकाशित किया है कि जीव अपने अज्ञान एवं रागद्वेषादिको दूर कर अपने निर्मल आत्मतत्त्वको प्राप्तकर कृतकृत्य हो जाये। जिनवर जिसे ज्ञान कहते है उसे हे सर्व भव्यजनों! आप ध्यानपूर्वक सुनें॥१॥

ज्ञानको किसी ग्रंथमें नहीं बताया है, काव्यरचनारूप कविकी चतुराईमें भी ज्ञान नहीं है, अनेक प्रकारके मंत्र, तंत्र आदिकी साधना ज्ञान नहीं है, और भाषाज्ञान, वाक्पटुता, वक्तृत्व आदि भी ज्ञान नहीं है और किसी अन्य स्थानमें ज्ञान नहीं है। ज्ञानकी प्राप्ति तो ज्ञानीसे ही होती है। जिनवर जिसे ज्ञान कहते हैं उसे हे सर्व भव्यजनों! आप ध्यानपूर्वक सुनें॥२॥

ए पांचमें अंगे कह्यो, उपदेश केवळ निर्मळो,
जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभळो ॥३॥

केवळ नहीं ब्रह्मचर्यथी,.....
केवळ नहीं संयम थकी, पण ज्ञान केवळथी कळो,
जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभळो ॥४॥

शास्त्रो विशेष सहित पण जो, जाणियुं निजरूपने,
कां तेहवो आश्रय करजो, भावथी साचा मने;
तो ज्ञान तेने भाखियुं, जो सम्मति आदि स्थळो;
जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभळो ॥५॥

आठ समिति जाणीए जो, ज्ञानीना परमार्थथी,
तो ज्ञान भाख्युं तेहने, अनुसार ते मोक्षार्थथी;
निज कल्पनाथी कोटि शास्त्रो, मात्र मननो आमळो,
जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभळो ॥६॥

चार वेद पुराण आदि शास्त्र सौ मिथ्यात्वनां,
श्रीनन्दीसूत्रे भाखिया छे, भेद ज्यां सिद्धांतना;
पण ज्ञानीने ते ज्ञान भास्यां, ए ज ठेकाणे ठरो,
जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभळो ॥७॥

यह जीव है और यह देह है ऐसा भेदज्ञान यदि नहीं हुआ है अर्थात् जड़ देहसे भिन्न चैतन्यस्वरूप अपने आत्माका जब तक प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हुआ है तब तक पचक्खाण या व्रत आदिका अनुष्ठान मोक्षसाधक नहीं होता। आत्मज्ञानके अनंतर ही यथार्थ त्याग होता है और उससे मोक्षसिद्धि होती है। पाँचवें अंग श्री भगवतीसूत्रमें इस विषयका निर्मल बोध दिया है। जिनवर जिसे ज्ञान कहते हैं उसे हे सर्व भव्यजनों! आप ध्यानपूर्वक सुनें॥३॥

पाँच महाव्रतोंमें ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ व्रत है, परंतु केवल उससे भी ज्ञान नहीं होता। उपलक्षणसे पाँच महाव्रतोंको धारणकर सर्व विरतिरूप संयम ग्रहण करनेसे भी ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती। देहादिसे भिन्न केवल शुद्ध आत्माके ज्ञानको ही भगवानने सम्यग्ज्ञान कहा है। जिनवर जिसे ज्ञान कहते हैं उसे हे सर्व भव्यजनों! आप ध्यानपूर्वक सुनें॥४॥

शास्त्रोंके विशिष्ट एवं विस्तृत ज्ञानसहित जिसने अपने स्वरूपको जान लिया है, अनुभव किया है वह साक्षात् ज्ञानी है और उसका ज्ञान यथार्थ सम्यग्ज्ञान है। और वैसा अनुभव जिसे नहीं हुआ है परंतु जिसे उसकी तीव्र इच्छा है और तदनुसार जो सच्चे मनसे मात्र आत्मार्थके लिये अनन्य प्रेमसे वैसे ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन करनेमें संलग्न रहता है वह भी शीघ्र ज्ञानप्राप्ति कर सकता है और उसका ज्ञान भी यथार्थ माना गया है। सन्मतितर्क आदि शास्त्रोंमें इस बातका प्रतिपादन किया है। ज्ञानीसे ही ज्ञानप्राप्ति होती है इसीको भगवानने ज्ञान कहा है। जिनवर जिसे ज्ञान कहते हैं उसे हे सर्व भव्यजनों! आप ध्यानपूर्वक सुनें॥५॥

यदि आठ समिति (तीन गुप्ति और पाँच समिति) का रहस्य ज्ञानीसे समझा जाये तो वह मोक्षसाधक होनेसे ज्ञान कहा जाता है। परंतु अपनी कल्पनासे करोड़ों शास्त्रोंका ज्ञान भी बीजज्ञान किंवा स्वस्वरूपज्ञानरहित होनेसे अज्ञान ही है। और वह ज्ञान मात्र अहंका सूचक एवं पोषक है। जिनवर जिसे ज्ञान कहते हैं उसे हे सर्व भव्यजनों! आप ध्यानपूर्वक सुनें॥६॥

श्री नंदीसूत्रमें जहाँ सिद्धांतके भेद बताये हैं वहाँ चार वेद तथा पुराण आदिको मिथ्यात्वके शास्त्र कहा है। किन्तु वे भी आत्मज्ञानीको सम्यग्दृष्टि होनेसे ज्ञानरूप प्रतीत होते हैं। इसलिये आत्मज्ञानीकी उपासना ही श्रेयस्कर है। जिनवर जिसे ज्ञान कहते है उसे हे सर्व भव्यजनों! आप ध्यानपूर्वक सुनें॥७॥

व्रत नहीं पचखाण नहि, नहि त्याग वस्तु कोईनो,
महापद्म तीर्थंकर थशे, श्रेणिक ठाणंग जोई लो;
छेद्यो अनन्ता.....
.....

२६८ राळज, भाद्रपद, १९४७

ॐ

(प्रश्न)		(उत्तर)
[1]फ्लदय झीश खांदी इश्रो ?	}	आख्सल नायदी (ष्लीयथ् फुलुसोथ्थययांदी।)
आंथे झीश झषे ख्रां ?		झषे थ्रां।
थेपे फयार खेय ?		हध्घुलुदी।

[2]प्रथम जीव क्यांथी आव्यो ?	}	अक्षर धामथी (श्रीमत् पुरुषोत्तममांथी।)
अन्ते जीव जशे क्यां ?		जशे त्यां।
तेने पमाय केम ?		सद्गुरुथी।

अन्तिम स्पष्टीकरण यह है कि अब इनमेंसे जो जो प्रश्न खड़े हों उनका विचार करेंगे तो उत्तर मिल जायेगा; अथवा हमें पूछ लेंगे तो स्पष्टीकरण कर देंगे। (ईश्वरेच्छा होगी तो।)

२६९ ववाणिया, भाद्रपद वदी ३, सोम, १९४७

ईश्वरेच्छा होगी तो प्रवृत्ति होगी; और उसे सुखदायक मान लेंगे; परन्तु मनमाने सत्संगके बिना कालक्षेप होना दुष्कर है। मोक्षकी अपेक्षा हमें संतकी चरणसमीपता बहुत प्रिय हैं; परन्तु उस हरिकी इच्छाके आगे हम दीन हैं। पुनः पुनः आपकी स्मृति होती है।

२७० ववाणिया, भादों वदी ४, मंगल, १९४७

ॐ सत्

ज्ञान वही कि अभिप्राय एक ही हो; थोड़ा अथवा बहुत प्रकाश, परंतु प्रकाश एक ही है।

शास्त्रादिके ज्ञानसे निबटारा नहीं है परंतु अनुभव ज्ञानसे निबटारा है।

श्रेणिक महाराजने अनाथी मुनिसे समकित प्राप्त किया। तथारूप पूर्व प्रारब्धसे वे थोड़ा भी व्रत पचखाण या त्याग न कर सके। फिर भी उस समकितके प्रतापसे वे आगामी चौबीसीमें महापद्म नामक प्रथम तीर्थंकर होकर अनेक जीवोंका उद्धार करके परमपद मोक्षको प्राप्त करेंगे, ऐसा स्थानांगसूत्रमें उल्लेख है। छेदन किया अनंत...॥८॥

१. यहाँ प्रश्न और उत्तर दोनों दिये हैं। पहला शब्द 'फ्लदय' है, जिसका मूल 'प्रथम' शब्द है। इस प्रथम शब्दसे फ्लदय इस तरह बनता है—मूल व्यंजन अक्षरोंके पीछेका एक-एक अक्षर लिया जाये। जैसे प् के पीछे फ्, र के पीछे ल, थ के पीछे द, म के पीछे य लें। इस तरह अक्षर लेनेसे 'प्रथम' से 'फ्लदय' बन जाता है। इसी तरह दूसरे शब्द भी बन जाते हैं। —अनुवादक

२. पहले जीव कहाँसे आया ?	}	अक्षर धामसे (श्रीमद् पुरुषोत्तममेंसे।)
अन्तमें जीव कहाँ जायेगा ?		वहाँ जायेगा।
उसे कैसे पाया जाये ?		सद्गुरुसे।

२७१ ववाणिया, भादों वदी ४, मंगल, १९४७

ॐ सत्

श्रीमान् पुरुषोत्तमकी अनन्य भक्तिको अविच्छिन्न चाहता हूँ

ऐसा एक ही पदार्थ परिचय करने योग्य है कि जिससे अनंत प्रकारका परिचय निवृत्त होता है; वह कौनसा है। और किस प्रकारसे है ? इसका विचार मुमुक्षु करते हैं। लि० सत्में अभेद।

---

२७२ ववाणिया, भादों वदी ४, मंगल, १९४७

जिस महापुरुषका चाहे जैसा आचरण भी वन्दनीय ही है; ऐसे महात्माके प्राप्त होनेपर यदि उसकी प्रवृत्ति ऐसी प्रतीत हो कि जो निःसंदेहरूपसे की ही नहीं जा सकती, तो मुमुक्षु कैसी दृष्टि रखे, यह बात समझने योग्य है। लि० अप्रगट सत्।

---

२७३ ववाणिया, भादों वदी ५, बुध १९४७

आपने विवरण लिखा सो मालूम हुआ। धैर्य रखना और हरीच्छाको सुखदायक मानना, इतना ही हमारे लिये तो कर्तव्यरूप है।

कलियुगमें अपार कष्टसे सत्पुरुषकी पहचान होती है। और फिर कंचन और कामिनीका मोह ऐसा है कि उसमें परम प्रेम नहीं होने देता। पहचान होनेपर निश्चलतासे न रह सके ऐसी जीवकी वृत्ति है, और यह कलियुग है, इसमें जो दुविधामें नहीं पड़ता उसे नमस्कार है।

---

२७४ ववाणिया, भादों वदी ५, बुध, १९४७

'सत्' अभी तो केवल अप्रगट रहा दीखता है। भिन्न भिन्न चेष्टासे (योगादिक साधन, आत्माका ध्यान, अध्यात्मचिंतन, शुष्क वेदांत इत्यादिसे) वह अभी प्रगट जैसा माना जाता है, परंतु वह वैसा नहीं है।

जिनेंद्र भगवानका सिद्धांत है कि जड़ किसी समय जीव नहीं होता, और जीव किसी समय जड़ नहीं होता। इसी तरह 'सत्' कभी 'सत्' के सिवाय दूसरे किसी साधनसे उत्पन्न हो ही नहीं सकता। ऐसी प्रत्यक्ष समझमें आने जैसी बातमें उलझकर जीव अपनी कल्पनासे 'सत्' करनेको कहता है, 'सत्' का प्ररूपण करता है, 'सत्' का उपदेश देता है, यह आश्चर्य है।

जगतमें अच्छा दिखानेके लिये मुमुक्षु कोई आचरण न करे, परंतु जो अच्छा हो उसीका आचरण करे।

---

२७५ ववाणिया, भादों वदी ५, बुध, १९४७

आज आपका एक पत्र मिला। उसे पढ़कर सर्वात्माका चिंतन अधिक याद आया है। हमारे लिये सत्संगका वारंवार वियोग रखनेकी हरिकी इच्छा सुखदायक कैसे मानी जाये ? तथापि माननी पड़ती है।

.....को दासत्वभावसे वंदन करता हूँ। यदि इनकी इच्छा 'सत्' प्राप्त करनेकी तीव्र रहती हो तो भी सत्संगके बिना उस तीव्रताका फलदायक होना दुष्कर है। हमें तो कोई स्वार्थ नहीं है, इसलिये यह कहना योग्य है कि वे प्रायः 'सत्' से सर्वथा विमुख मार्गमें प्रवृत्ति करते हैं।

जो वैसे प्रवृत्ति नहीं करते वे अभी तो अप्रगट रहना चाहते हैं। आश्चर्यकारक तो यह है कि कलिकालने थोड़े समयमें परमार्थको घेरकर अनर्थको परमार्थ बना दिया है।

---

२७६ ववाणिया, भादों वदी ७, १९४७

सविस्तर पत्र और धर्मजवाला पत्र प्राप्त हुआ।

अभी चित्त परम उदासीनतामें रहता है। लिखने आदिमें प्रवृत्ति नहीं होती। जिससे आपको विशेष विस्तारसे कुछ लिखा नहीं जा सकता है। धर्मज लिखना कि आपसे मिलनेके लिये मैं (अर्थात् अंबालाल) उत्कंठित हूँ। आप जैसे पुरुषके सत्संगमें आनेके लिये मुझे किसी श्रेष्ठ पुरुषकी आज्ञा है। इसलिये यथासंभव दर्शन करनेके लिये आऊँगा। ऐसा होनेमें कदाचित् किसी कारणसे विलम्ब हुआ तो भी आपका सत्संग करनेकी मेरी इच्छा मंद नहीं होगी। इस आशयसे लिखियेगा। अभी किसी भी प्रकारसे उदासीन रहना योग्य नहीं है।

हमारे विषयमें अभी कोई भी बात उन्हें नहीं लिखनी है।

---

२७७ ववाणिया, भादों वदी ७, १९४७

चित्त उदास रहता है, कुछ अच्छा नहीं लगता; और जो कुछ अच्छा नहीं लगता वही सब दिखायी देता है, वही सुनायी देता है। तो अब क्या करे? मन किसी कार्यमें प्रवृत्ति नहीं कर सकता। जिससे प्रत्येक कार्य स्थगित करना पड़ता है। कुछ पढ़ने, लिखने या जनपरिचयमें रुचि नहीं होती। प्रचलित मतके प्रकारकी बात सुनायी पड़ती है कि हृदयमें मृत्युसे अधिक वेदना होती है। इस स्थितिको या तो आप जानते हैं या स्थिति भोगनेवाला जानता है; और हरि जानता है।

---

२७८ ववाणिया, भादों वदी १०, रवि, १९४७

"जो आत्मामें रमण कर रहे हैं, ऐसे निर्ग्रंथ मुनि भी निष्कारण भगवानकी भक्तिमें प्रवृत्ति करते हैं, क्योंकि भगवानके गुण ऐसे ही हैं।"

—[1]श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १, अ०७, श्लोक १०

---

२७९ ववाणिया, भादों वदी ११, सोम, १९४७

जीवको जब तक संतका योग न हो, तब तक मतमतांतरमें मध्यस्थ रहना योग्य है।

---

२८० ववाणिया, भादों वदी १२, मंगल, १९४७

बताने जैसा तो मन है, कि जो सत्स्वरूपमें अखंड स्थिर हुआ है (नाग जैसे बाँसुरीपर); तथापि उस दशाका वर्णन करनेकी सत्ता सर्वाधार हरिने वाणीमें पूर्णरूपसे नहीं दी हैं; और लेखमें तो उस वाणीका अनंतवाँ भाग मुश्किलसे आ सकता है, ऐसी वह दशा उस सबके कारणभूत पुरुषोत्तम-स्वरूपमें हमारी, आपकी अनन्य प्रेमभक्ति अखंड रहे, वह प्रेमभक्ति परिपूर्ण प्राप्त हो, यही प्रयाचना चाहकर अभी अधिक नहीं लिखता।

---

१. मूल श्लोक—आत्मारामाच्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥
—श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १, अ०७, श्लोक १०

२८१ ववाणिया, भादों वदी १३, बुध, १९४७

कलियुग है इसलिये अधिक समय उपजीविकाका वियोग रहनेसे यथायोग्य वृत्ति पूर्वापर नहीं रहती। वि० रायचंदके यथायोग्य।

---

२८२ ववाणिया, भादों वदी १४, गुरु, १९४७

परम विश्राम सुभाग्य,

पत्र मिला। यहाँ भक्तिसम्बन्धी विह्वलता रहा करती है, और वैसा करनेमें हरीच्छा सुखदायक ही मानता हूँ।

महात्मा व्यासजीको जैसा हुआ था, वैसा हमें आजकल हो रहा है। आत्मदर्शन प्राप्त करनेपर भी व्यासजी आनन्दसंपन्न नहीं हुए थे, क्योंकि उन्होंने हरिरस अखंडरूपसे नहीं गाया था। हमारी भी ऐसी ही दशा है। अखंड हरिरसका परम प्रेमसे अखण्ड अनुभव करना अभी कहाँसे आयेगा ? और जब तक ऐसा नहीं होगा तब तक हमें जगतकी वस्तुका एक अणु भी अच्छा नहीं लगेगा।

भगवान व्यासजी जिस युगमें थे, वह युग दूसरा था; यह कलियुग है। इसमें हरिस्वरूप, हरिनाम और हरिजन दृष्टिमें भी नहीं आते, श्रवणमें भी नहीं आते; और इन तीनोंमेंसे किसीकी स्मृति हो ऐसी कोई भी वस्तु भी दिखायी नहीं देती। सभी साधन कलियुगसे घिर गये हैं। प्रायः सभी जीव उन्मार्गमें प्रवृत्त हैं, अथवा सन्मार्गके सन्मुख प्रवर्तते हुए दिखायी नहीं देते। क्वचित् मुमुक्षु हैं, परंतु वे अभी मार्गके निकट नहीं है।

निष्कपटता भी मनुष्योंमेंसे चली गयी लगती है। सन्मार्गका एक अंश और उसका शतांश भी किसीमें भी दृष्टिगोचर नहीं होता; केवलज्ञानके मार्गका तो सर्वथा विसर्जन हो गया है। कौन जाने हरिकी इच्छा भी क्या है ? ऐसा विकट काल तो अभी ही देखा। सर्वथा मन्द पुण्यवाले प्राणी देखकर परम अनुकम्पा आती है। हमें सत्संगकी न्यूनताके कारण कुछ भी अच्छा नहीं लगता। अनेक बार थोड़ा थोड़ा कहा गया है, तथापि स्पष्ट शब्दोंमें कहा जानेसे स्मृतिमें अधिक रहे इसलिये कहते हैं कि किसीसे अर्थसम्बन्ध और कामसम्बन्ध तो बहुत समयसे अच्छे ही नहीं लगते। आजकल धर्मसंबंध और मोक्षसंबंध भी अच्छे नहीं लगते। धर्मसंबंध और मोक्षसंबंध तो प्रायः योगियोंको भी अच्छे लगते हैं; और हम तो उनसे भी विरक्त रहना चाहते हैं। अभी तो हमें कुछ अच्छा नहीं लगता, और जो कुछ अच्छा लगता है, उसका अतिशय वियोग है। अधिक क्या लिखें ? सहन करना ही सुगम है।

---

२८३ ववाणिया, भादों वदी ३०, शुक्र, १९४७

परम पूज्य श्री सुभाग्य,

यहाँ हरीच्छानुसार प्रवृत्ति है।

भगवान मुक्ति देनेमें कृपण नहीं है, परंतु भक्ति देनेमें कृपण है, ऐसा लगता है। भगवानको ऐसा लोभ किसलिये होगा ? वि० रायचंदके प्रणाम।

---

२८४ ववाणिया, आसोज सुदी ६, गुरु, १९४७

१. परसमयको जाने बिना स्वसमयको जाना है ऐसा नहीं कहा जा सकता।

२. परद्रव्यको जाने बिना स्वद्रव्यको जाना है ऐसा नहीं कहा जा सकता।

३. सम्मतितर्कमें श्री सिद्धसेन दिवाकरने कहा है कि [1]जितने वचनमार्ग हैं उतने नयवाद हैं, और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय हैं।

४. अक्षय भगत कविने कहा है–

*'कर्ता मटे तो छूटे कर्म, ए छे महा भजननो मर्म,
जो तुं जीव तो कर्त्ता हरि, जो तुं शिव तो वस्तु खरी,
तुं छो जीव ने तुं छो नाथ, एम कही अखे झटक्या हाथ ॥'

---

२८५ ववाणिया, आसोज सुदी ७, शुक्र, १९४७

ॐ

अपनेसे अपनेको अपूर्व प्राप्त होना दुष्कर है; जिससे प्राप्त होता है, उसका स्वरूप पहचाना जाना दुष्कर है, और जीवका भुलावा भी यही है।

इस पत्रमें लिखे हुए प्रश्नोंके उत्तर संक्षेपमें निम्नलिखित हैं–

१, २, ३, ये तीनों प्रश्न स्मृतिमें होंगे। इनमें यों बताया गया है कि–"(१) ठाणांगमें जो आठ वादियोंके वाद कहे हैं उनमेंसे आपको और हमें किस वादमें दाखिल होना? (२) इन आठ वादोंसे कोई भिन्न मार्ग अपनाने योग्य हो तो उसे जाननेकी आकांक्षा है। (३) अथवा आठों वादियोंके मार्गका एकीकरण करना ही मार्ग है या किस तरह? अथवा उन आठ वादियोंके एकीकरणमें कुछ न्यूनाधिकता करके मार्ग ग्रहण करने योग्य है? और है तो क्या?"

ऐसा लिखा है, इस विषयमें कहना है कि इन आठ वादके अतिरिक्त अन्य दर्शनोंमें–सम्प्रदायोंमें–मार्ग कुछ (अन्वित) जुड़ा हुआ रहता है, नहीं तो प्रायः भिन्न ही (व्यतिरिक्त) रहता है। वह वाद, दर्शन, सम्प्रदाय ये सब किसी तरह प्राप्तिमें कारणरूप होते हैं; परंतु सम्यग्ज्ञानीके बिना दूसरे जीवोंके लिये तो बन्धन भी होते हैं। जिसे मार्गकी इच्छा उत्पन्न हुई है उसे इन सबका साधारण ज्ञान करना, पढ़ना और विचार करना, तथा बाकीमें मध्यस्थ रहना योग्य है। साधारण ज्ञानका अर्थ यहाँ यह समझे कि सभी शास्त्रोंमें वर्णन करते हुए जिस ज्ञानमें अधिक भिन्नता न आयी हो वह।

'तीर्थंकर आकर गर्भमें उत्पन्न हो अथवा जन्म ले तब या उसके बाद देवता जानें कि यह तीर्थंकर है? और जानें तो किस तरह?' इसका उत्तर यह है कि जिन्हें सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ है वे देवता 'अवधिज्ञानसे' तीर्थंकरको जानते हैं, सभी नहीं जानते। जिन प्रकृतियोंके नाशसे 'जन्मतः' तीर्थंकर अवधिज्ञान संयुक्त होते हैं वे प्रकृतियाँ उनमें दिखायी न देनेसे वे सम्यग्ज्ञानी देवता तीर्थंकरको पहचान सकते हैं। यही विज्ञापन है।

मुमुक्षुताके सन्मुख होनेके इच्छुक आप दोनोंको यथायोग्य प्रणाम करता हूँ।

प्रायः परमार्थ मौनमें रहनेकी स्थिति अभी उदयमें है और इसी कारण तदनुसार प्रवृत्ति करनेमें काल व्यतीत होता है, और इसी कारणसे आपके प्रश्नोंके उत्तर ऊपर संक्षेपमें दिये हैं।

शांतमूर्ति सौभाग्य अभी मोरबीमें है।

---

१. सम्मतितर्क तृतीय काण्ड, गाथा ४७

* **भावार्थ**–कर्तृत्वभाव मिट जाये तो कर्म छूट जायें, यह महा भक्तिका मर्म है। यदि तू जीव है तो हरि कर्त्ता है, और यदि तू शिव है तो वस्तु-तत्त्व-परमसत् सत्य है। तू जीव है और तू नाथ है अर्थात् द्वैत न होकर अद्वैत है। यों कहकर अक्षय भगतने अपने हाथ झाड़ दिये॥

२८६ ववाणिया, आसोज सुदी १९४७

ॐ सत्

"हम परदेशी पंखी साधु, आ रे देशके नाहीं रे।"

परम पूज्य श्री सुभाग्य,

एक प्रश्नके सिवाय बाकीके प्रश्नोंका उत्तर जान बूझकर नहीं लिख सका।

'काल' क्या खाता है? इसका उत्तर तीन प्रकारसे लिखता हूँ–

सामान्य उपदेशमें काल क्या खाता है इसका उत्तर यह है कि 'वह प्राणीमात्रकी आयु खाता है।'

व्यवहारनयसे काल 'पुराना' खाता है।

निश्चयनयसे काल मात्र पदार्थका रूपांतर करता है, पर्यायांतर करता है।

अन्तिम दो उत्तर अधिक विचार करनेसे मेल खा सकेंगे। "व्यवहारनयसे काल 'पुराना' खाता है" ऐसा जो लिखा है उसे फिर नीचे विशेष स्पष्ट किया है–

"काल 'पुराना' खाता है"–'पुराना' अर्थात् क्या? जो वस्तु एक समयमें उत्पन्न होकर दूसरे समयमें रहती है वह वस्तु पुरानी मानी जाती है। (ज्ञानीकी अपेक्षासे) उस वस्तुको तीसरे समयमें, चौथे समयमें, यों संख्यात असंख्यात समयमें, अनन्त समयमें काल बदलता ही रहता है। दूसरे समयमें वह जैसी होती है, वैसी तीसरे समयमें नहीं होती, अर्थात् यह कि दूसरे समयमें पदार्थका जो स्वरूप था उसे खाकर तीसरे समयमें कालने पदार्थको दूसरा रूप दिया, अर्थात् पुराना वह खा गया। पहले समयमें पदार्थ उत्पन्न हुआ और उसी समय काल उसे खा जाये यों व्यवहारनयसे नहीं हो सकता। पहले समयमें पदार्थका नयापन माना जाता है; परन्तु उस समय काल उसे खा नहीं जाता, दूसरे समयमें उसे बदलता है, इसलिये पुरानेपनको वह खाता है, ऐसा कहा है।

निश्चयनयसे पदार्थ मात्र रूपांतरको ही प्राप्त होता है, कोई भी 'पदार्थ' किसी भी कालमें सर्वथा नाशको प्राप्त ही नहीं होता, ऐसा सिद्धांत है; और यदि पदार्थ सर्वथा नाशको प्राप्त हो जाता, तो आज कुछ भी न होता। इसलिये काल खाता नहीं, परंतु रूपांतर करता है, ऐसा कहा है। तीन प्रकारके उत्तरोंमें पहला उत्तर समझना 'सभीको' सुलभ है।

यहाँ भी दशाके प्रमाणमें बाह्य उपाधि विशेष है। आपने कितने ही व्यावहारिक (यद्यपि शास्त्र-संबंधी) प्रश्न इस बार लिखे थे; परंतु चित्त वैसा पढ़नेमें भी अभी पूरा नहीं रहता, इसलिये उत्तर किस तरह लिखा जा सके?

---

२८७ ववाणिया, आसोज वदी १, रवि, १९४७

पूर्वापर अविरुद्ध भगवत्सम्बन्धी ज्ञानको प्रगट करनेके लिये जब तक उसकी इच्छा नहीं हैं, तब तक किसीसे अधिक प्रसंग करनेमें नहीं आता, इसे आप जानते हैं।

जब तक हम अपनेमें अभिन्नरूप हरिपदको नही मानते तब तक प्रगट मार्ग नहीं कहेंगे। आप भी जो हमें जानते हैं, उनके सिवाय आप नाम, स्थान और गाँवसे हमें अधिक व्यक्तियोंसे परिचित न कीजियेगा।

एकसे अनन्त है, और जो अनन्त है वह एक है।

---

२८८ ववाणिया, आसोज वदी ५, १९४७

आदिपुरुष लीला शुरू करके बैठा है।

एक आत्मवृत्तिके सिवाय हमारे लिये नया पुराना तो कहाँ है? और उसे लिखने जितना मनको अवकाश भी कहाँ है? नहीं तो सब कुछ नया ही है, और सब कुछ पुराना ही है।

---

२८९ ववाणिया, आसोज वदी १०, सोम, १९४७

परमार्थके विषयमें मनुष्योंका पत्रव्यवहार अधिक रहता है, और हमें वह अनुकूल नहीं आता। जिससे बहुतसे उत्तर तो लिखनेमें ही नहीं आते; ऐसी हरीच्छा है; और हमें यह बात प्रिय भी है।

२९०

एक दशासे प्रवृत्ति है, और यह दशा अभी बहुत समय तक रहेगी। तब तक उदयानुसार प्रवर्तन योग्य माना है। इसलिये किसी भी प्रसंगपर पत्रादिकी पहुँच मिलनेमें विलंब हो जाये अथवा न भेजी जाये, अथवा कुछ न लिखा जा सके तो वह शोचनीय नहीं है, ऐसा निश्चय करके यहाँका पत्रप्रसंग रखिये।

---

२९१ ववाणिया, आसोज वदी १२, गुरु, १९४७

ॐ

पूर्णकाम चित्तको नमोनमः

आत्मा ब्रह्मसमाधिमें है। मन वनमें है। एक दूसरेके आभाससे अनुक्रमसे देह कुछ क्रिया करती है, इस स्थितिमें सविस्तर और संतोषरूप आप दोनोंके पत्रोंका उत्तर कैसे लिखना, इसे आप कहें।

धर्मजके सविस्तर पत्रकी किसी-किसी बातके विषयमें सविस्तर लिखता, परंतु चित्त लिखनेमें नहीं रहता, इसलिये लिखा नहीं हैं।

त्रिभुवनादिककी इच्छाके अनुसार आणंदमें समागमका योग हो ऐसा करनेकी इच्छा है; और तब उस पत्रसम्बन्धी कुछ पूछना हो तो पूछिये।

धर्मजमें जिनका निवास है उन मुमुक्षुओंकी दशा और प्रथा आपको स्मरणमें रखने योग्य है, अनुसरण करने योग्य है।

मगनलाल और त्रिभुवनके पिताजी कैसी प्रवृत्तिमें हैं, सो लिखें। यह पत्र लिखते हुए सूझनेसे लिखा है।

आप सब परमार्थ विषयक कैसी प्रवृत्तिमें रहते हैं, सो लिखियेगा।

आप हमारे वचनादिकी इच्छासे पत्रकी राह देखते होंगे, परंतु उपर्युक्त कारणोंको पढ़कर ऐसा समझें कि आपने बहुतसे पत्र पढ़े हैं।

किसी एक न बताये हुए प्रसंगके विषयमें सविस्तर पत्र लिखनेकी इच्छा थी, उसका भी निरोध करना पड़ा है। उस प्रसंगको गांभीर्यवशात् इतने वर्ष तक हृदयमें ही रखा है। अब चाहते हैं कि उसे कहें, तथापि आपकी सत्संगतिका अवसर आनेपर कहें तो कहें। लिखना सम्भव नहीं लगता।

एक समय भी विरह न हो, इस तरह सत्संगमें ही रहना चाहते हैं। परंतु यह तो हरीच्छावश है।

कलियुगमें सत्संगकी परम हानि हो गयी है। अंधकार व्याप्त है। और सत्संगकी अपूर्वताका जीवको यथार्थ भान नहीं होता।

---

२९२ ववाणिया, आसोज वदी १२, १९४७

कुटुम्बादिक संगके विषयमें लिखा सो ठीक है, उसमें भी इस कालमें ऐसे संगमें जीवका समभावमें

परिणमन होना महा विकट है, और जो इतना होते हुए भी समभावमें परिणमित होते हैं उन्हें हम निकटभवी जीव मानते हैं।

आजीविकाके प्रपंचके विषयमें वारंवार स्मृति न हो इसलिये नौकरी करनी पड़े, यह हितकारक है। जीवको अपनी इच्छासे किये हुए दोषको तीव्रतासे भोगना पड़ता है, इसलिये चाहे जिस संग-प्रसंगमें भी स्वेच्छासे अशुभभावसे प्रवृत्ति न करनी पड़े ऐसा करें।

---

२९३ ववाणिया, आसोज वदी १३, शुक्र, १९४७

श्री सुभाग्य, स्वमूर्तिरूप श्री सुभाग्य,

हमें विरहकी वेदना अधिक रहती है, क्योंकि वीतरागता विशेष है; अन्य संगमें बहुत उदासीनता है, परंतु हरीच्छाके अनुसार प्रसंगोपात्त विरहमें रहना पड़ता है; जिस इच्छाको सुखदायक मानते हैं, ऐसा नहीं है। भक्ति और सत्संगमें विरह रखनेकी इच्छाको सुखदायक माननेमें हमारा विचार नहीं रहता। श्री हरिकी अपेक्षा इस विषयमें हम अधिक स्वतंत्र हैं।

---

२९४ बंबई, १९४७

आर्त्तध्यान करनेकी अपेक्षा धर्मध्यानमें वृत्तिको लाना ही श्रेयस्कर है। और जिसके लिये आर्त्तध्यान करना पड़ता हो वहाँसे या तो मनको उठा लेना अथवा तो उस कृत्यको कर लेना, जिससे विरक्त हुआ जा सकेगा।

जीवके लिये स्वच्छंद बहुत बड़ा दोष है। यह जिसका दूर हो गया है उसे मार्गके क्रमकी प्राप्ति बहुत सुलभ है।

---

२९५ बंबई, १९४७

यदि चित्तकी स्थिरता हुई हो तो ऐसे समयमें सत्पुरुषोंके गुणोंका चिंतन, उनके वचनोंका मनन, उसके चारित्रका कथन, कीर्तन, और प्रत्येक चेष्टाका पुनः पुनः निदिध्यासन हो सकता हो तो मनका निग्रह अवश्य हो सकता है; और मनको जीतनेकी एकदम सच्ची कसौटी यह है। ऐसा होनेसे ध्यान क्या है यह समझमें आयेगा। परंतु उदासीनभावसे चित्तस्थिरताके समय उसकी विशेषता मालूम पड़ेगी।

---

२९६ बंबई, १९४७

१. उदयको अबंध परिणामसे भोगा जाये तो ही उत्तम है।

२. दोके अंतमें रही हुई जो वस्तु, वह छेदनेसे छेदी नहीं जाती, भेदनेसे भेदी नहीं जाती।[1]

—श्री आचारांग

---

२९७ बंबई, १९४७

आत्मार्थके लिये विचारमार्ग और भक्तिमार्ग आराधन करने योग्य हैं। परंतु विचारमार्गके योग्य जिसकी सामर्थ्य नहीं है, उसे उस मार्गका उपदेश करना योग्य नहीं है, इत्यादि जो लिखा वह यथायोग्य है। तो भी उस विषयमें कुछ भी लिखना अभी चित्तमें नहीं आ सकता।

[2]श्री डुँगर द्वारा केवलदर्शन सम्बन्धी प्रदर्शित जो आशंका लिखी है उसे पढ़ा है। दूसरे अनेक प्रकार समझनेके बाद उस प्रकारकी आशंका शांत होती है अथवा प्रायः वह प्रकार समझने योग्य होता है। ऐसी आशंकाको अभी संक्षिप्त करके अथवा उपशांत करके विशेष निकटवर्ती आत्मार्थका विचार करना योग्य है।

---

१. देखें आंक ११८। २. वचनामृत (गुजराती)-१२ वीं आवृत्तिके अनुसार

२५ वाँ वर्ष

२९८ ववाणिया, कार्तिक सुदी ४, गुरु, १९४८

काल विषम आ गया है। सत्संगका योग नहीं है, और वीतरागता विशेष है, इसलिये कहीं भी चैन नहीं है, अर्थात् मन विश्रांति नहीं पाता। अनेक प्रकारकी विडंबना तो हमें नहीं है, तथापि निरंतर सत्संग नहीं है, यह बड़ी विडंबना है। लोकसंग नहीं रुचता।

---

२९९ ववाणिया, कार्तिक सुदी ७, रवि, १९४८

चाहे जिस क्रिया, जप, तप अथवा शास्त्राध्ययन करके भी एक ही कार्य सिद्ध करना है, वह यह कि जगतकी विस्मृति करना और सत्के चरणमें रहना।

और इस एक ही लक्ष्यमें प्रवृत्ति करनेसे, जीवको स्वयं क्या करना योग्य है, और क्या करना अयोग्य है वह समझमें आता है, समझमें आता रहता है।

यह लक्ष्य सन्मुख हुए बिना जप, तप, ध्यान या दान किसीकी यथायोग्य सिद्धि नहीं है; और तब तक ध्यान आदि अनुपयोगी जैसे हैं।

इसलिये इनमेंसे जो जो साधन हो सकते हों वे सब एक लक्ष्य सिद्ध होनेके लिये करें कि जिस लक्ष्यको हमने ऊपर बताया है। जप, तप आदि कुछ निषेध करने योग्य नहीं है, तथापि वे सब एक लक्ष्यके लिये हैं; और उस लक्ष्यके बिना जीवको सम्यक्त्वसिद्धि नहीं होती।

अधिक क्या कहें ? जो ऊपर कहा है उतना ही समझनेके लिये सभी शास्त्र प्रतिपादित हुए हैं।

---

३०० ववाणिया, कार्तिक सुदी ८, सोम, १९४८

ॐ

दो दिन पहले पत्र प्राप्त हुआ है। साथके चारों पत्र पढ़े हैं।

मगनलाल, कीलाभाई, खुशालभाई इत्यादिकी आणंद आनेकी इच्छा है, तो वैसा करनेमें कोई बाधा नहीं है। तथापि इस बातसे दूसरे मनुष्योंको हमारी प्रसिद्धिका पता चलता है कि इनके समागमके लिये अमुक लोग जाते हैं, यह यथासंभव कम प्रसिद्धिमें आना चाहिये। वैसी प्रसिद्धि अभी हमें प्रतिबंधरूप होती है।

कीलाभाईको सूचित करें कि आपने पत्रेच्छा की परंतु उससे कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकेगा। कुछ पूछनेकी इच्छा हो तो वे आणंदमें हर्षपूर्वक पूछें।

---

३०१ ववाणिया, कार्तिक सुदी ८, सोम, १९४८

स्मरणीय मूर्ति श्री सुभाग्य,

जगत आत्मरूप माननेमें आये, जो हो वह योग्य ही माननेमें आये, परके दोष देखनेमें न आये, अपने गुणोंकी उत्कृष्टता सहन करनेमें आये तो ही इस संसारमें रहना योग्य है, दूसरी तरहसे नहीं।

वि० रायचंदके यथायोग्य।

---

३०२ ववाणिया, कार्तिक सुदी १३, शनि, १९४८

[1]'सत्यं परं धीमहि।'

(ऐसा जो) परम सत्य, उसका हम ध्यान करते हैं।

यहाँसे कार्तिक वदी ३, बुधके दिन विदा होनेकी इच्छा है।

पूज्य श्री दीपचंदजी स्वामीको वंदना करके विज्ञापन करे कि यदि उनके पास कोई दिगम्बर संप्रदायका ग्रंथ मागधी, संस्कृत या हिन्दीमें हो और वह पढ़नेके लिये दिया जा सके तो लेकर अपने पास रखे, अथवा तो वैसा कोई अध्यात्म ज्ञानग्रंथ हो तो उस विषयमें पूछें। उनसे यदि कोई वैसा ग्रंथ प्राप्त हो तो उन्हें वह मोरबीसे पाँच-सात दिनमें वापस मिल जाये, ऐसी योजना करेंगे। मोरबीमें दूसरी उपाधिको दूर करनेके लिये यह ग्रंथपृच्छा की है। यहाँ कुशलता है।

---

३०३ ववाणिया, कार्तिक सुदी १३, शनि, १९४८

शुभोपमा योग्य श्री अंबालाल,

यहाँसे कार्तिक वदी ३ को निकलनेका विचार है। संभवतः मोरबीमें पाँच-सात दिन लग जायेंगे। तथापि व्यावहारिक प्रसंग है इसलिये आपका आना योग्य नहीं है। आणंदमें समागमकी इच्छा रखिये। मोरबीकी निवृत्त करें।

और एक बात स्मरणमें रखनेके लिये लिखते हैं कि परमार्थप्रसंगसे अभी हमने प्रगटरूपसे किसीका भी समागम करना नहीं रखा है। ईश्वरेच्छा ऐसी लगती है।

सब भाईयोंको यथायोग्य दिगंबर ग्रंथ मिले तो ठीक, नहीं तो कोई बात नहीं।

अप्रगट सत्।

---

३०४ ववाणिया, कार्तिक सुदी, १९४८

ॐ

यथायोग्य वंदन स्वीकार करें। समागममें दो चार कारण आपको खुले दिलसे बात नहीं करने देते। अनन्तकालकी वृत्ति, समागमियोंकी वृत्ति और लोकलज्जा प्रायः ये सब उन कारणोंकी जड़ है। ऐसे कारणोंसे कोई भी प्राणी कटाक्षका पात्र बने ऐसी मेरी दशा प्रायः नहीं रहती। परंतु अभी मेरी दशा कोई भी लोकोत्तर बात करते हुए झिझकती है अर्थात् मनका मेल नहीं बैठता।

'परमार्थ मौन' नामका एक कर्म अभी उदयमें भी रहता है, जिससे बहुत प्रकारका मौन भी अंगीकार किया है; अर्थात् परमार्थसंबंधी बातचीत प्रायः नहीं की जाती। ऐसा उदयकाल है। क्वचित् साधारण मार्गसम्बन्धी बातचीत की जाती है, नहीं तो इस विषयमें वाणीसे और परिचयसे मौन और शून्यता ग्रहण किये गये हैं। जब तक योग्य समागम होकर चित्त ज्ञानी पुरुषके स्वरूपको नहीं जान सकता, तब तक उपर्युक्त तीन कारण सर्वथा दूर नहीं होते, और तब तक 'सत्' का यथार्थ कारण प्राप्त भी नहीं होता। ऐसा होनेसे आपको मेरा समागम होनेपर भी बहुत व्यावहारिक और लोकलज्जायुक्त बात करनेका प्रसंग रहेगा, और उससे मुझे कंटाला आता है। आप चाहे जिससे भी मेरा समागम होनेके बाद इस प्रकारकी बातमें फँसे, इसे मैंने योग्य नहीं माना है।

---

१. श्रीमद् भागवत, स्कंध १२, अध्याय १३, श्लोक १९

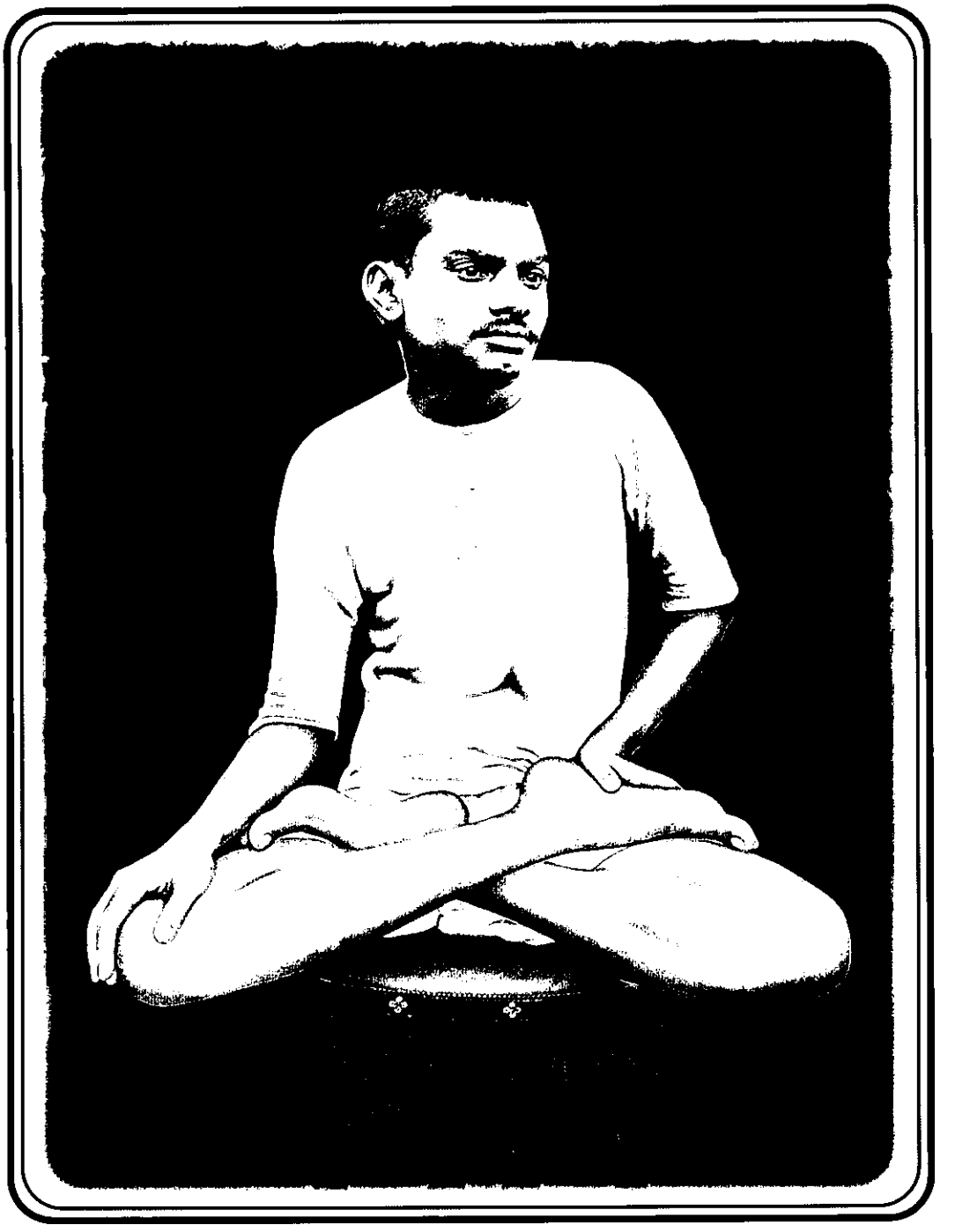

२४ वाँ वर्ष **श्रीमद् राजचंद्र** वि. सं. १९४८

३०५ ववाणिया, कार्तिक वदी १, १९४८

ॐ

जो धर्मजवासी हैं, उन्हें यद्यपि सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति नहीं है, तथापि मार्गानुसारी जीव होनेसे वे समागम करने योग्य हैं। उनके आश्रयमें रहनेवाले मुमुक्षुओंकी भक्ति, विनयादिका व्यवहार, वासना-शून्यता ये देखकर अनुसरण करने योग्य है। आपका जो कुलधर्म है, उसके कुछ व्यवहारका विचार करनेसे उपर्युक्त मुमुक्षुओंका व्यवहार आदि [1].....उनके मन, वचन और कायाकी प्रवृत्ति, सरलता [1]....के लिये समागम करने योग्य है। किसी भी प्रकारका दर्शन हो उसे महा पुरुषोंने सम्यग्ज्ञान माना है ऐसा नहीं समझना है। पदार्थका यथार्थ बोध प्राप्त हो उसे सम्यग्ज्ञान माना गया है।

धर्मज जिनका निवास है, वे अभी उस भूमिकामें नहीं आये हैं। उन्हें अमुक तेजोमयादिका दर्शन है। तथापि वह यथार्थ बोधपूर्वक नहीं है। दर्शनादिकी अपेक्षा यथार्थ बोध श्रेष्ठ पदार्थ है। यह बात जतानेका हेतु यह है कि आप किसी भी प्रकारकी कल्पनासे निर्णय करनेसे निवृत्त हो जायें।

ऊपर जो कल्पना शब्दका प्रयोग किया गया है, वह इस अर्थमें है कि—"हमने आपको उस समागमकी सम्मति दी जिससे वे समागमी 'वस्तुज्ञान' के सम्बन्धमें जो कुछ प्ररूपण करते हैं, अथवा उपदेश देते हैं, वैसी ही हमारी मान्यता भी हैं, अर्थात् जिसे हम 'सत्' कहते हैं वह, परंतु हम अभी मौन रहते हैं इसलिये उनके समागमसे आपको उस ज्ञानका बोध प्राप्त कराना चाहते हैं।"

---

३०६ मोरबी, कार्तिक वदी ७, रवि, १९४८

ॐ ब्रह्म समाधि

श्री सुभाग्य प्रेमसमाधिमें रहते हैं। अप्रगट सत्।

---

३०७ आणंद, मागसिर सुदी २, गुरु, १९४८

ॐ

(ऐसा जो) परमसत्य उसका हम ध्यान करते हैं।

भगवानको सर्व समर्पण किये बिना इस कालमें जीवका देहाभिमान मिटना सम्भव नहीं है। इसलिये हम सनातन धर्मरूप परम सत्यका निरंतर ध्यान करते हैं। जो सत्यका ध्यान करता है वह सत्य हो जाता है।

---

३०८ बंबई, मगसिर सुदी १४, मंगल, १९४८

ॐ सत्

श्री सहज समाधि

यहाँ समाधि है। स्मृति रहती है, तथापि निरुपायता है। असंगवृत्ति होनेसे अणुमात्र उपाधि सहन हो सके ऐसी दशा नहीं है, तो भी सहन करते हैं। सत्संगी 'पर्वत' के नामसे जिनका नाम है उन्हें यथायोग्य।

आप दोनों विचार करके वस्तुको पुनः पुनः समझें। मनसे किये हुए निश्चयको साक्षात् निश्चय न मानियेगा। ज्ञानीसे हुए निश्चयको जानकर प्रवृत्ति करनेमें कल्याण है। फिर जैसा भावी।

सुधाके विषयमें हमें सन्देह नहीं है, आप उसका स्वरूप समझें, और तभी फल है।

प्रणाम पहुँचे।

---

१. पत्र फटा हुआ होनेसे यहाँसे अक्षर उड़ गये हैं।

३०९ बंबई, मगसिर वदी ३०, गुरु, १९४८

"अनुक्रमे संयम स्पर्शतो जी, पाम्यो क्षायकभाव रे ।
संयम श्रेणी फूलडे जी, पूजुं पद निष्पाव रे ॥"

(आत्माकी अभेदचिंतनारूप) संयमके एकके बाद एक क्रमका अनुभव करके क्षायिक भाव (जड़ परिणतिका त्याग) को प्राप्त हुए सिद्धार्थके पुत्रके निर्मल चरणकमलकी संयमश्रेणिरूप फूलोंसे पूजा करता हूँ।

उपर्युक्त वचन अतिशय गंभीर है। लि० यथार्थ बोधस्वरूपका यथार्थ।

---

३१० बंबई, पौष सुदी ३, १९४८

[1]अनुक्रमे संयम स्पर्शतो जी, पाम्यो क्षायकभाव रे ।
संयम श्रेणी फूलडे जी, पूजुं पद निष्पाव रे ॥

---

[2]दर्शन सकलना नय ग्रहे, आप रहे निज भावे रे ।
हितकरी जनने संजीवनी, चारो तेह चरावे रे ॥

---

[3]दर्शन जे थयां जूजवां, ते ओघ नजरने फेरे रे ।
भेद थिरादिक दृष्टिमां, समकितदृष्टिने हेरे रे ॥

---

[4]योगनां बीज इहां ग्रहे, 'जिनवर' शुद्ध प्रणामो रे ।
'भावाचारज' सेवना, भव उद्वेग सुठामो रे ॥

जनक विदेही संबंधी लक्ष्यमें है।

---

३११ बंबई, पौष सुदी ३, रवि, १९४८

अनुक्रमे संयम स्पर्शतो जी, पाम्यो क्षायकभाव रे ।
संयम श्रेणी फूलडे जी, पूजुं पद निष्पाव रे ॥

---

१. **भावार्थ**–अनुक्रमसे उत्तरोत्तर संयमस्थानकको स्पर्श करते हुए मोहनीयकर्मका क्षय करके उत्कृष्ट संयमस्थानरूप क्षीणमोहगुणस्थानको प्राप्त हुए श्री वीरस्वामीके पापरहित चरणकमलको संयमश्रेणिरूप भावपुष्पोंसे पूजता हूँ।

२. **भावार्थ**–आत्मज्ञानी सभी दर्शनोंके नय अर्थात् दृष्टिबिंदुको यथावत् समझता है, और स्वयं किसी दर्शन अथवा मतमें रागद्वेष या आग्रह न करते हुए आत्मस्वभावमें रमण करता है। वह अन्य जीवोंको अनुरूप एवं हितकारी संजीवनीरूप वास्तविक धर्मका उपदेश देता है।

३. **भावार्थ**–जगतमें जो भिन्न भिन्न धर्ममत प्रचलित है उसका कारण ओघदृष्टि अर्थात् मिथ्या ज्ञान है, स्थिरादिक चार दृष्टिमें सम्यग्दर्शन अथवा आत्माका वास्तविक योग होता है जिससे वह योगदृष्टि है। फिर सम्यग्दृष्टिको वह भेद प्रतीत नहीं होता अर्थात् भेद दूर हो जाता है।

४. **भावार्थ**–इस दृष्टिमें जीव योगके बीज अथवा समकित प्राप्त होनेके कारणोंको प्राप्त करता रहता है। फिर वह शुद्ध एवं निष्काम भावसे जिनवरको प्रणाम करता है, भावाचार्यकी सेवा करता है और भवोद्वेग अथवा वैराग्य धारण करता है।

[1]शुद्ध निरंजन अलख अगोचर, एहि ज साध्य सुहायो रे ।
ज्ञानक्रिया अवलंबी फरस्यो, अनुभव सिद्धि उपायो रे ॥
[2]रायसिद्धारथ वंश विभूषण, त्रिशला राणी जायो रे ।
अज अजरामर सहजानंदी, ध्यानभुवनमां ध्यायो रे ॥

---

[3]नागर सुख पामर नव जाणे, वल्लभसुख न कुमारी रे ।
अनुभव वण तेम ध्यानतणुं सुख, कोण जाणे नरनारी रे ॥

---

३१२ बंबई, पौष सुदी ५, मंगल, १९४८

क्षायिक चारित्रको याद करते हैं।

जनक विदेहीकी बात ध्यानमें है। करसनदासका पत्र ध्यानमें है। बोधस्वरूपके यथायोग्य।

---

३१३ बंबई, पौष सुदी ७, गुरु, १९४८

ज्ञानीके आत्माको देखते हैं और वैसे होते हैं।

आपकी स्थिति ध्यानमें है। आपकी इच्छा भी ध्यानमें है। आपने गुरुके अनुग्रहवाली जो बात लिखी है वह भी सच है। कर्मका उदय भोगना पड़ता है यह भी सच है। आप समय-समयपर अतिशय खेदको प्राप्त हो जाते हैं, यह भी जानते हैं। आपको वियोगका असह्य संताप रहता है यह भी जानते हैं। बहुत प्रकारसे सत्संगमें रहने योग्य हैं, ऐसा मानते हैं, तथापि अभी तो यों सहन करना योग्य माना है।

चाहे जैसे देशकालमें यथायोग्य रहना और यथायोग्य रहनेकी इच्छा ही किये जाना यह उपदेश है। आप अपने मनकी चिंता लिख भेजें तो भी हमें आपपर खेद नहीं होगा। ज्ञानी अन्यथा नहीं करते, ऐसा करना उन्हें नहीं सूझता, ऐसी स्थितिमें दूसरे उपायकी इच्छा भी न करें ऐसी विनती है।

कोई इस प्रकारका उदय है कि अपूर्व वीतरागताके होनेपर भी हम व्यापार संबंधी कुछ प्रवृत्ति कर सकते हैं, तथा खाने-पीने आदिकी अन्य प्रवृत्तियाँ भी बड़ी मुश्किलसे कर पाते हैं। मन कहीं भी विराम नहीं पाता, प्रायः यहाँ किसीके समागमकी वह इच्छा नहीं करता। कुछ लिखा नहीं जा सकता। अधिक परमार्थवाक्य कहनेकी इच्छा नहीं होती। किसीके द्वारा पूछे गये प्रश्नोंके उत्तर जानते हुए भी लिख नहीं सकते। चित्तका भी अधिक संग नहीं है, और आत्मा आत्मभावमें रहता है।

समय-समयपर अनन्तगुणविशिष्ट आत्मभाव बढ़ता हो ऐसी दशा रहती है, जिसे प्रायः भाँपने नहीं दिया जाता, अथवा भाँप सकनेवालेका प्रसंग नहीं है।

आत्माके विषयमें सहज स्मरणसे प्राप्त हुआ ज्ञान श्री वर्धमानमें था ऐसा मालूम होता है। पूर्ण वीतराग जैसा बोध हमें सहज ही याद आ जाता है, इसीलिये आपको और गोसलियाको लिखा था कि आप पदार्थको समझें। वैसा लिखनेमें दूसरा कोई हेतु न था।

---

१. **भावार्थ**—शुद्ध=निरावरण, निरंजन=रागद्वेषरूपी मैलसे रहित, अलख=अलक्ष्य और अगोचर=इन्द्रियातीत परमात्मा स्वरूपानन्द विलासी एवं परभाव उदासी है। यही हमें साध्यरूपसे सुहाया है। हे आत्मन्! सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्क्रियाका अवलम्बन लेकर स्वरूपमें स्थिर होनेके अपूर्व आनन्दका अनुभव करना ही मोक्षसिद्धिका उपाय है।

२. **भावार्थ**—त्रिशला रानीसे उत्पन्न, राजा सिद्धार्थके वंशविभूषण, जन्म-जरा-मरणरहित एवं सहज स्वरूपानन्दी वीर परमात्माका ध्यानरूप भावभुवनमें ध्यान किया।

३. **भावार्थ**—पामर ग्रामीण व्यक्ति नगरके सुखको नहीं जानता है, और कुमारी पतिके सुखको नहीं जानती है। इस तरह अनुभवके बिना ध्यानके सुखको भला कौनसा स्त्री-पुरुष जानता है?

३१४ बंबई, पौष सुदी ११, सोम, १९४८

[1]जिन थई जिनवरने आराधे, ते सही जिनवर होवे रे।
भृंगी इलिकाने चटकावे, ते भृंगी जग जोवे रे॥

---

[2]आतमध्यान करे जो कोउ, सो फिर इणमें नावे।
वाक्य जाळ बीजुं सौ जाणे, एह तत्त्व चित्त चावे॥

---

३१५ बंबई, पौष सुदी ११, १९४८

हम कभी कोई वाक्य, पद या चरण लिख भेजे उसे आपने कहीं भी पढ़ा या सुना हो तो भी अपूर्ववत् मानें।

हम स्वयं तो अभी यथाशक्ति वैसा कुछ करनेकी इच्छावाली दशामें नहीं हैं।

स्वरूप सहजमें है। ज्ञानीके चरणोंकी सेवाके बिना अनन्त काल तक भी प्राप्त न हो ऐसा विकट भी है।

आत्मसंयमको याद करते हैं। यथारूप वीतरागताकी पूर्णता चाहते हैं। बस इतना ही।

श्री बोधस्वरूपके यथायोग्य।

---

३१६ बंबई, पौष वदी ३, रवि, १९४८

'एक परिनामके न करता दरव दोई,
दोई परिनाम एक दर्व न धरतु है।
एक करतूति दोई दर्व कबहूँ न करै,
दोई करतूति एक दर्व न करतु है।
जीव पुद्गल एक खेत अवगाही दोउ,
अपने अपने रूप, कोउ न टरतु है।
जड परिनामनिको, करता है पुद्गल,
चिदानंद चेतन सुभाव आचरतु है।' —समयसार नाटक

---

३१७ बंबई, पौष वदी ९, रवि, १९४८

'एक परिनामके न करता दरव दोई',

वस्तु अपने स्वरूपमें ही परिणत होती है ऐसा नियम है। जीव जीवरूपसे परिणत हुआ करता है, और जड़ जड़रूपसे परिणत हुआ करता है। जीवका मुख्य परिणमन चेतन (ज्ञान) स्वरूप है, और जड़का मुख्य परिणमन जड़त्वस्वरूप है। जीवका जो चेतनपरिणाम है वह किसी प्रकारसे जड़ होकर परिणत

---

१. **भावार्थ**—जो प्राणी जिनेश्वरके स्वरूपको लक्ष्यमें रखकर तदाकार वृत्तिसे जिनेश्वरकी आराधना करता है—ध्यान करता है वह निश्चयसे जिनवर—केवलदर्शनी हो जाता है। जैसे भौंरी कीड़ेको मिट्टीके घरमें बन्द कर देती है, फिर उसे चटकाने—डंक मारनेसे वह कीड़ा भौंरी होकर बाहर आता है जिसे जगत देखता है। तात्पर्य यह है कि श्रद्धा, निष्ठा एवं भावनासे जीव इष्टसिद्धि प्राप्त कर लेता है। विशेषार्थके लिये देखें आंक ३८७।

२. **भावार्थ**—जो कोई स्थिर आसनसे आत्मामें लीन होकर तदाकार वृत्तिसे शुद्ध आत्मस्वरूपका ध्यान करता है वह अनेक मतवादियोंके विभ्रम—ममत्वरूप जालमें नहीं फँसता तथा रागद्वेष, मोह और अज्ञानको छोड़ता है, आत्मस्वरूपके कथनके बिना अन्य जप, तप, पूजा, नियम आदिको वाग्जाल समझता है और आत्मस्वरूपके तत्त्वका ही अपने चित्तमें चिंतन करता है।

नहीं होता, और जड़का जो जड़त्वपरिणाम है वह किसी दिन चेतनपरिणामसे परिणत नहीं होता; ऐसी वस्तुकी मर्यादा है; और चेतन, अचेतन ये दो प्रकारके परिणाम तो अनुभवसिद्ध है। उनमेंसे एक परिणामको दो द्रव्य मिलकर नहीं कर सकते; अर्थात् जीव और जड़ मिलकर केवल चेतनपरिणामसे परिणत नहीं हो सकते। अथवा केवल अचेतन परिणामसे परिणत नहीं हो सकते। जीव चेतन परिणामसे परिणत होता है और जड़ अचेतनपरिणामसे परिणत होता है, ऐसी वस्तुस्थिति है। इसलिये जिनेन्द्र कहते हैं कि एक परिणामको दो द्रव्य नहीं कर सकते। जो-जो द्रव्य हैं वे वे अपनी स्थितिमें ही होते हैं और अपने स्वभावमें परिणत होते हैं।

'दोई परिनाम एक दर्व न धरतु है।'

इसी प्रकार एक द्रव्य दो परिणामोंमें भी परिणमित नहीं हो सकता, ऐसी वस्तुस्थिति है। एक जीवद्रव्यका चेतन एवं अचेतन इन दोनों परिणामोंसे परिणमन नहीं हो सकता, अथवा एक पुद्गल द्रव्य अचेतन तथा चेतन इन दो परिणामोंसे परिणमित नहीं हो सकता। मात्र स्वयं अपने ही परिणाममें परिणमित होता है। चेतनपरिणाम अचेतनपदार्थमें नहीं होता; और अचेतनपरिणाम चेतनपदार्थमें नहीं होता; इसलिये एक द्रव्य दो प्रकारके परिणामोंसे परिणमित नहीं होता,—दो परिणामोंको धारण नहीं कर सकता।

'एक करतूति दोई दर्व कबहूँ न करै,'

इसलिये दो द्रव्य एक क्रियाको कभी भी नहीं करते। दो द्रव्योंका एकांततः मिलन होना योग्य नहीं है। यदि दो द्रव्य मिलकर एक द्रव्यकी उत्पत्ति होती हो, तो वस्तु अपने स्वरूपका त्याग कर दें; और ऐसा तो कभी भी नहीं हो सकता कि वस्तु अपने स्वरूपका सर्वथा त्याग कर दे।

जब ऐसा नहीं होता, तब दो द्रव्य सर्वथा एक परिणामको पाये बिना एक क्रिया भी कहाँसे करें ? अर्थात् बिलकुल न करें।

'दोई करतूति एक दर्व न करतु है,'

इसी तरह एक द्रव्य दो क्रियाओंको धारण भी नहीं करता; एक समयमें दो उपयोग नहीं हो सकते। इसलिये

'जीव पुद्गल एक खेत अवगाही दोउ,'

जीव और पुद्गल कदाचित् एक क्षेत्रको रोककर रहे हों तो भी

'अपने अपने रूप, कोउ न टरतु है,

अपने अपने स्वरूपसे किसी अन्य परिणामको प्राप्त नहीं होते, और इसलिये ऐसा कहते हैं कि—

'जड परिनामनिको, करता है पुद्गल,'

देहादिकसे जो परिणाम होता है उसका पुद्गल कर्त्ता है; क्योंकि देहादि जड़ है; और जड़परिणाम तो पुद्गलमें होता है। जब ऐसा ही है तो फिर जीव भी जीवस्वरूपमें ही रहता है, इसमें अब किसी दूसरे प्रमाणकी जरूरत नहीं है, ऐसा मानकर कहते हैं कि—

'चिदानंद चेतन सुभाव आचरतु है।'

काव्यकर्त्ताके कहनेका हेतु यह है कि यदि आप इस तरह वस्तुस्थितिको समझें तो जड़संबंधी जो स्वस्वरूपभाव है वह मिटे और स्वस्वरूपका जो तिरोभाव है वह प्रगट हो। विचार करें तो स्थिति भी ऐसी ही है। अति गहन बातको यहाँ संक्षेपमें लिखा है। (यद्यपि) जिसे यथार्थ बोध है उसे तो सुगम है।

इस बातका अनेक बार मनन करनेसे कुछ बोध हो सकेगा।

आपका एक पत्र परसों मिला था। आपको पत्र लिखनेका मन तो होता है; परंतु जो लिखनेका सूझता है वह ऐसा सूझता है कि आपको उस बातका बहुत समय तक परिशीलन होना चाहिये, और वह विशेष गहन होता है। इसके सिवाय लिखना नहीं सूझता। अथवा लिखनेमें मन नहीं लगता। बाकी तो नित्य समागमकी इच्छा करते हैं।

प्रसंगोपात्त कुछ ज्ञानवार्ता लिखियेगा। आजीविकाके दुःखके लिये आप जो लिखते हैं वह सत्य है।

चित्त प्रायः वनमें रहता है, आत्मा तो प्रायः मुक्तस्वरूप लगता है। वीतरागता विशेष है। बेगारकी भाँति प्रवृत्ति करते हैं; दूसरोंका अनुसरण भी करते हैं। जगतसे बहुत उदास हो गये हैं। बस्तीसे तंग आ गये हैं। किसीको दशा बता नहीं सकते। बताने जैसा सत्संग नहीं है; मनको जैसे चाहें वैसे मोड़ सकते हैं, इसलिये प्रवृत्तिमें रह सके हैं। किसी प्रकारसे रागपूर्वक प्रवृत्ति न होती हो ऐसी दशा है, ऐसा रहता है। लोकपरिचय अच्छा नहीं लगता। जगतमें चैन नहीं पड़ता।

अधिक क्या लिखें? आप जानते हैं। यहाँ समागम हो ऐसी तो इच्छा करते हैं, तथापि किये हुए कर्मोंकी निर्जरा करनी है, इसलिये उपाय नहीं है।

लि० यथार्थ बोधस्वरूपके यथायोग्य।

---

३१८ बंबई, पौष वदी १३, गुरु, १९४८

दूसरे काममें प्रवृत्ति करते हुए भी अन्यत्वभावनासे प्रवृत्ति करनेका अभ्यास रखना योग्य है।

वैराग्य भावनासे भूषित 'शांतसुधारस' आदि ग्रंथ निरंतर चिंतन करने योग्य हैं।

प्रमादमें वैराग्यकी तीव्रता, मुमुक्षुता मंद करने योग्य नहीं है; ऐसा निश्चय रखना योग्य है।

श्री बोधस्वरूप।

---

३१९ बंबई, माघ सुदी ५, बुध, १९४८

अनंतकालसे स्वरूपका विस्मरण होनेसे जीवको अन्यभाव साधारण हो गया है। दीर्घकाल तक सत्संगमें रहकर बोधभूमिकाका सेवन होनेसे वह विस्मरण और अन्यभावकी साधारणता दूर होती हैं, अर्थात् अन्यभावसे उदासीनता प्राप्त होती हैं। यह काल विषम होनेसे स्वरूपमें तन्मयता रहना दुष्कर है; तथापि सत्संगका दीर्घकाल तक सेवन उस तन्मयताको देता है इसमें संदेह नहीं होता।

जीवन अल्प है और जंजाल अनंत है; धन सीमित है, और तृष्णा अनंत है; इस स्थितिमें स्वरूपस्मृतिका संभव नहीं है। परंतु जहाँ जंजाल अल्प है, और जीवन अप्रमत्त है, तथा तृष्णा अल्प है अथवा नहीं है, और सर्व सिद्धि है, वहाँ पूर्ण स्वरूपस्मृति होना संभव है। अमूल्य ऐसा ज्ञानजीवन प्रपंचसे आवृत्त होकर चला जाता है। उदय बलवान है।

---

३२० बंबई, माघ सुदी १३, बुध, १९४८

(राग प्रभाती)

*जीव नवि पुग्गली नैव पुग्गल कदा, पुग्गलाधार नहीं तास रंगी।
पर तणो ईश नहीं अपर ऐश्वर्यता, वस्तुधर्मे कदा न परसंगी॥

(श्री सुमतिनाथ स्तवन–देवचंद्रजी)

प्रणाम पहुँचे।

---

* **भावार्थ**–जीव पौद्गलिक पदार्थ नहीं है, पुद्गल नहीं है, पुद्गलका आधार नहीं है, और वह पुद्गलके रंगवाला नहीं है; अपनी स्वरूपसत्ताके सिवाय जो कुछ अन्य है उसका स्वामी नहीं है; क्योंकि परका ऐश्वर्य स्वरूपमें नहीं होता। वस्तुधर्मसे देखते हुए किसी कालमें भी वह परसंगी भी नहीं है।

३२१ बंबई, माघ वदी २, रवि, १९४८

अत्यंत उदास परिणाममें रहे हुए चैतन्यको ज्ञानी प्रवृत्तिमें होनेपर भी वैसा ही रखते हैं; तो भी कहते हैं कि माया दुस्तर है, दुरंत है, क्षणभर भी, एक समय भी इसे आत्मामें स्थापन करना योग्य नहीं है। ऐसी तीव्र दशा आनेपर अत्यंत उदास परिणाम उत्पन्न होता है; और वैसे उदास परिणामकी जो प्रवृत्ति—(गार्हस्थ्य सहितकी)—वह अबंधपरिणामी कहने योग्य है। जो बोधस्वरूपमें स्थित है वह इस तरह कठिनतासे प्रवृत्ति कर सकता है क्योंकि उसकी विकटता परम है।

जनकराजाकी विदेहीरूपसे जो प्रवृत्ति थी वह अत्यंत उदासीन परिणामके कारण थी; प्रायः उन्हें वह सहजस्वरूपमें थी; तथापि किसी मायाके दुरन्त प्रसंगमें, समुद्रमें जैसे नाव थोड़ीसी डोला करती है वैसे उस परिणामकी चलायमानताका संभव होनेसे प्रत्येक मायाके प्रसंगमें जिसकी सर्वथा उदासीन अवस्था है ऐसे निजगुरु अष्टावक्रकी शरण अपनानेसे मायाको आसानीसे तरा जा सकता था; क्योंकि महात्माके आलंबनकी ऐसी ही प्रबलता है।

---

३२२ रविवार, १९४८

लौकिकदृष्टिसे आप और हम प्रवर्तन करेंगे तो फिर अलौकिकदृष्टिसे कौन प्रवर्तन करेगा?

आत्मा एक है या अनेक है, कर्ता है या अकर्त्ता है, जगतका कोई कर्त्ता है या जगत स्वतः है, इत्यादि विषय क्रमशः सत्संगमें समझने योग्य हैं, ऐसा मानकर इस विषयमें अभी पत्र द्वारा नहीं लिखा गया है।

सम्यक्प्रकारसे ज्ञानीमें अखंड विश्वास रखनेका फल निश्चय ही मुक्ति है।

आपको संसारसंबंधी जो जो चिंताएँ हैं उन्हें प्रायः हम जानते हैं, और इस विषयमें आपको अमुक अमुक विकल्प रहा करते हैं उन्हें भी जानते हैं। और आपको सत्संगके वियोगके कारण जो परमार्थचिंता भी रहती है उसे भी जानते हैं।। दोनों प्रकारके विकल्प होनेसे आपको आकुल-व्याकुलता प्राप्त होती हो, इसमें भी आश्चर्य नहीं लगता अथवा यह असंभवरूप मालूम नहीं होता। अब इन दोनों प्रकारोंके लिये हमारे मनमें जो कुछ है उसे स्पष्ट शब्दोंमें नीचे लिखनेका प्रयत्न किया है।

संसार संबंधी आपको जो चिंता है उसे उदयके अनुसार वेदन करें, सहन करें। यह चिंता होनेका कारण ऐसा कोई कर्म नहीं है कि जिसे दूर करनेके लिये प्रवृत्ति करते हुए ज्ञानी पुरुषको बाधा न आये। जबसे यथार्थ बोधकी उत्पत्ति हुई है, तबसे किसी भी प्रकारके सिद्धियोगसे या विद्याके योगसे स्वसम्बन्धी या परसम्बन्धी सांसारिक साधन न करनेकी प्रतिज्ञा है; और इस प्रतिज्ञाके पालनमें एक पलके लिये भी मंदता आज दिन तक आयी हो यह याद नहीं आता। आपकी चिंता जानते हैं, और हम उस चिंताके किसी भी भागको यथाशक्ति वेदन करना चाहते हैं। परंतु ऐसा तो कभी भूतकालमें हुआ नहीं है, तो अब कैसे हो सकता है? हमें भी उदयकाल ऐसा रहता है कि अभी ऋद्धियोग हाथमें नहीं है।

प्राणीमात्र प्रायः आहार, पानी पा लेते है। तो आप जैसे प्राणीके कुटुम्बके लिये उससे विपरीत परिणाम आये ऐसा मानना योग्य ही नहीं है। कुटुम्बकी लाज वारंवार आड़े आकर जो आकुलता उत्पन्न करती है, उसे चाहे तो रखें और चाहे तो न रखें, दोनों समान है, क्योंकि जिसमें अपनी निरुपायता है उसमें तो जो हो उसे योग्य ही मानना, यही दृष्टि सम्यक् है। जो लगा वह बताया है।

हमें जो निर्विकल्प नामकी समाधि है वह तो आत्माकी स्वरूपपरिणति रहनेके कारण है। आत्माके

स्वरूपसंबंधी तो हमें प्रायः निर्विकल्पता ही रहना संभव है, क्योंकि अन्यभावमें मुख्यतः हमारी प्रवृत्ति ही नहीं है।

बंध-मोक्षकी यथार्थ व्यवस्था जिस दर्शनमें यथार्थरूपसे कही गयी है, वह दर्शन निकट मुक्तिका कारण है; और इस यथार्थ व्यवस्थाको कहने योग्य यदि किसीको हम विशेषरूपसे मानते हों तो वे श्री तीर्थंकरदेव हैं।

और आज इस क्षेत्रमें श्री तीर्थंकरदेवका यह आंतरिक आशय प्रायः मुख्यरूपसे यदि किसीमें हों तो वे हम होंगे ऐसा हमें दृढ़तापूर्वक भासित होता है।

क्योंकि हमारे अनुभवज्ञानका फल वीतरागता है, और वीतरागका कहा हुआ श्रुतज्ञान भी उसी परिणामका कारण लगता है; इसलिये हम उनके वास्तविक और सच्चे अनुयायी हैं।

वन और घर ये दोनों किसी प्रकारसे हमें समान है; तथापि पूर्ण वीतरागभावके लिये वनमें रहना अधिक रुचिकर लगता है; सुखकी इच्छा नहीं है परंतु वीतरागताकी इच्छा है।

जगतके कल्याणके लिये पुरुषार्थ करनेके बारेमें लिखा तो वह पुरुषार्थ करनेकी इच्छा किसी प्रकारसे रहती भी है, तथापि उदयके अनुसार चलना यह आत्माकी सहज दशा हुई है, और वैसा उदयकाल अभी समीपमें दिखायी नहीं देता; और उसकी उदीरणा की जाये ऐसी दशा हमारी नहीं है।

'भीख माँगकर गुजरान चलायेंगे परंतु खेद नहीं करेंगे; ज्ञानके अनंत आनंदके आगे वह दुःख तृण मात्र है' इस भावार्थका जो वचन लिखा है उस वचनको हमारा नमस्कार हो! ऐसा वचन सच्ची योग्यताके बिना निकलना संभव नहीं है।

"जीव यह पौद्गलिक पदार्थ नहीं है, पुद्गल नहीं है, और पुद्गलका आधार नहीं है, उसके रंगवाला नहीं है; अपनी स्वरूपसत्ताके सिवाय जो अन्य है उसका स्वामी नहीं है, क्योंकि परका ऐश्वर्य स्वरूपमें नहीं होता। वस्तुधर्मसे देखते हुए वह कभी भी परसंगी भी नहीं है।" इस प्रकार सामान्य अर्थ 'जीव नवि पुग्गली' इत्यादि पदोंका है।

[1]"दुःखसुखरूप करम फळ जाणो, निश्चय एक आनंदो रे।
चेतनता परिणाम न चूके, चेतन कहे जिनचंदो रे॥"

(श्री वासुपूज्य स्तवन-आनन्दघनजी)

---

३२३ बंबई, माघ वदी २, रवि, १९४८

यहाँ समाधि है। पूर्णज्ञानसे युक्त ऐसी जो समाधि वह वारंवार याद आती है।

परमसत्का ध्यान करते हैं। उदासीनता रहती है।

---

३२४ बंबई, माघ वदी ४, बुध, १९४८

चारों तरफ उपाधिकी ज्वाला प्रज्वलित हो उस प्रसंगमें समाधि रहना परम दुष्कर है और यह बात तो परम ज्ञानीके बिना होना विकट है। हमें भी आश्चर्य हो आता है, तथापि प्रायः ऐसा रहा ही करता है ऐसा अनुभव है।

जिसे आत्मभाव यथार्थ समझमें आता है, निश्चल रहता है, उसे यह समाधि प्राप्त होती है।

सम्यग्दर्शनका मुख्य लक्षण वीतरागता जानते हैं, और वैसा अनुभव है।

---

१. **भावार्थ**—हे भव्यों! दुःख और सुख दोनोंको कर्मका फल जानें। यह व्यवहारनयकी अपेक्षासे है और निश्चयनयसे तो आत्मा आनंदमय ही है। जिनेश्वर कहते हैं कि आत्मा कभी भी चेतनताके परिणामको नहीं छोड़ता।

३२५ बंबई, माघ वदी ९, सोम, १९४८

[1]"जबहीतें चेतन विभावसों उलटि आपु,
समै पाई अपनो सुभाव गहि लीनो है।
तबहीतें जो जो लेनेजोग सो सो सब लीनो,
जो जो त्यागजोग सो सो सब छांडी दीनो है।
लेवेकों न रही ठोर, त्यागीवेकों नाहीं ओर,
बाकी कहा उबर्यो जु, कारज नवीनो है।
संगत्यागी, अंगत्यागी, वचनतरंगत्यागी,
मनत्यागी, बुद्धित्यागी, आपा शुद्ध कीनो है॥"

—कैसी अद्‌भुत दशा?

जैसा समझमें आये वैसा यदि योग्य लगे तो अर्थ लिखियेगा।

प्रणाम पहुँचे।

---

३२६ बंबई, माघ वदी ११, बुध, १९४८

शुद्धता विचारे ध्यावे, शुद्धतामें केली करे।
शुद्धतामें थिर व्हे, अमृत धारा वरसे॥

— समयसार नाटक

---

३२७ बंबई, माघ वदी १४, शनि, १९४८

अद्‌भुतदशाके [2]काव्यका अर्थ लिख भेजा सो यथार्थ है। अनुभवका ज्यों-ज्यों विशेष सामर्थ्य उत्पन्न होता है त्यों-त्यों ऐसे काव्य, शब्द, वाक्य यथातथ्यरूपसे परिणमित होते हैं; इसमें आश्चर्यकारक दशाका वर्णन है।

जीवको सत्पुरुषकी पहचान नहीं होती और उनके प्रति अपने समान व्यावहारिक कल्पना रहती है, यह जीवकी कल्पना किस उपायसे दूर हो, सो लिखियेगा।

उपाधिका प्रसंग बहुत रहता है। सत्संगके बिना जी रहे हैं।

---

३२८ बंबई, माघ वदी ३०, रवि, १९४८

"लेवेकों न रही ठोर, त्यागीकों नाहीं ओर।
बाकी कहा उबर्यो जु, कारज नवीनो है!"

स्वरूपका भान होनेसे पूर्णकामता प्राप्त हुई; इसलिये अब कुछ भी लेनेके लिये दूसरा कोई क्षेत्र नहीं रहा। स्वरूपका त्याग तो मूर्ख भी कभी करना नहीं चाहता; और जहाँ केवल स्वरूपस्थिति है, वहाँ तो फिर दूसरा कुछ रहा नहीं, इसलिये त्याग करना भी नहीं रहा। अब जब लेनादेना दोनों निवृत्त हो गये, तब दूसरा कोई नवीन कार्य करनेके लिये क्या बाकी रहा? अर्थात् जैसे होना चाहिये वैसे हो गया। तो

---

१. **भावार्थ**—अवसर मिलनेपर जबसे आत्माने विभाव परिणतिको छोड़कर निज स्वभावको ग्रहण किया है, तबसे जो जो बातें उपादेय थीं वे वे सब ग्रहण कीं, और जो जो बातें हेय थीं वे वे सब छोड़ दीं। अब ग्रहण करने योग्य और त्यागने योग्य कुछ नहीं रह गया और न कुछ शेष रह गया जो नया काम करनेको बाकी हो। परिग्रह छोड़ दिया, शरीर छोड़ दिया, वचन-तर्ककी क्रियासे रहित हुआ, मनके विकल्प त्याग दिये, इन्द्रियजनित ज्ञान छोड़ा और आत्माको शुद्ध किया।
(समयसार नाटक हिंदी टीका सर्वविशुद्धिद्वार १०९)

२. देखें आंक ३२५

फिर दूसरा लेने-देनेका जंजाल कहाँसे हो ? इसलिये कहते हैं कि यहाँ पूर्णकामता प्राप्त हुई।

---

३२९ बंबई, माघ वदी, १९४८

कोई क्षणभरके लिये अरुचिकर करना नहीं चाहता। तथापि उसे करना पड़ता है, यह यों सूचित करता है कि पूर्वकर्मका निबंधन अवश्य है।

अविकल्प समाधिका ध्यान क्षणभरके लिये भी नहीं मिटता। तथापि अनेक वर्षोंसे विकल्परूप उपाधिकी आराधना करते जाते हैं।

जब तक संसार है तब तक किसी प्रकारकी उपाधि होना तो संभव है; तथापि अविकल्प समाधिमें स्थित ज्ञानीको तो वह उपाधि भी अबाध है, अर्थात् समाधि ही है।

इस देहको धारण करके यद्यपि कोई महान ऐश्वर्य नहीं भोगा, शब्दादि विषयोंका पूरा वैभव प्राप्त नहीं हुआ, किसी विशेष राज्याधिकार सहित दिन नहीं बिताये, अपने माने जानेवाले किसी धाम व आरामका सेवन नहीं किया, और अभी युवावस्थाका पहला भाग चलता है, तथापि इनमेंसे किसीकी आत्मभावसे हमें कोई इच्छा उत्पन्न नहीं होती, यह एक बड़ा आश्चर्य मानकर प्रवृत्ति करते हैं। और इन पदार्थोंकी प्राप्ति-अप्राप्ति दोनों एकसी जानकर बहुत प्रकारसे अविकल्प समाधिका ही अनुभव करते हैं। ऐसा होनेपर भी वारंवार वनवासकी याद आती है, किसी प्रकारका लोकपरिचय रुचिकर नहीं लगता, सत्संगमें सुरत बहा करती है, और अव्यवस्थित दशासे उपाधियोगमें रहते हैं। एक अविकल्प समाधिके सिवाय सचमुच कोई दूसरा स्मरण नहीं रहता, चिंतन नहीं रहता, रुचि नहीं रहती, अथवा कुछ काम नहीं किया जाता।

ज्योतिष आदि विद्या या अणिमा आदि सिद्धिको मायिक पदार्थ समझकर आत्माको उसका स्मरण भी क्वचित् ही होता है। उस द्वारा किसी बातको जानना अथवा सिद्ध करना कभी योग्य नहीं लगता, और इस बातमें किसी तरह अभी तो चित्तप्रवेश भी नहीं रहा।

पूर्व निबन्धन जिस जिस प्रकारसे उदयमें आये उस उस प्रकारसे[1]....अनुक्रमसे वेदन करते जाना, ऐसा करना योग्य लगा है।

आप भी ऐसे अनुक्रममें चाहे जितने थोड़े अंशमें प्रवृत्ति की जाय तो भी वैसी प्रवृत्ति करनेका अभ्यास रखिये और किसी भी कामके प्रसंगमें अधिक शोकमें पड़नेका अभ्यास कम कीजिये; ऐसा करना या होना यह ज्ञानीकी अवस्थामें प्रवेश करनेका द्वार है।

आप किसी भी प्रकारका उपाधिप्रसंग लिखते हैं, वह यद्यपि पढ़नेमें आता है, तथापि तत्संबन्धी चित्तमें कुछ भी आभास न पड़नेसे प्रायः उत्तर लिखना भी नहीं बन पाता, इसे दोष कहें या गुण कहें, परंतु क्षमा करने योग्य है।

सांसारिक उपाधि हमें भी कुछ कम नहीं है, तथापि उसमें निज भाव न रहनेसे उससे घबराहट उत्पन्न नहीं होती। उस उपाधिके उदयकालके कारण अभी तो समाधि गौणभावसे रहती है, और उसके लिये शोक रहा करता है।

लि० वीतरागभावके यथायोग्य।

---

१. कागज फट जानेसे अक्षर उड़ गये है।

३३० बंबई, माघ, १९४८

किसनदास आदि जिज्ञासु,

दीर्घकाल तक यथार्थ बोधका परिचय होनेसे बोधबीजकी प्राप्ति होती है, और यह बोधबीज प्रायः निश्चय सम्यक्त्व होता है।

जिनेंद्र भगवानने बाईस प्रकारके परिषह कहे हैं, उनमें दर्शनपरिषह नामका एक परिषह कहा है, और एक दूसरा अज्ञानपरिषह नामका परिषह भी कहा है। इस दोनों परिषहोंका विचार करना योग्य है; यह विचार करनेकी आपकी भूमिका है; अर्थात् उस भूमिका (गुणस्थानक) का विचार करनेसे किसी प्रकारसे आपको यथार्थ धैर्य प्राप्त होना सम्भव है।

किसी भी प्रकारसे स्वयं मनमें कुछ संकल्प किया हो कि ऐसी दशामें आयें अथवा इस प्रकारका ध्यान करें, तो सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है, तो वह संकल्पित प्रायः (ज्ञानीका स्वरूप समझमें आनेपर) मिथ्या है, ऐसा मालूम होता है।

यथार्थ बोधके अर्थका विचार करके, अनेक बार विचार करके अपनी कल्पनाको निवृत्त करनेका ज्ञानियोंने कहा है।

'अध्यात्मसार' का अध्ययन, श्रवण चलता है सो अच्छा है। अनेक बार ग्रंथ पढ़नेकी चिंता नहीं परंतु किसी प्रकारसे उसका अनुप्रेक्षण दीर्घकाल तक रहा करे ऐसा करना योग्य है।

परमार्थ प्राप्त होनेके विषयमें किसी भी प्रकारकी आकुलता-व्याकुलता रखना—होना—उसे 'दर्शनपरिषह' कहा है। यह परिषह उत्पन्न हो यह तो सुखकारक है; परंतु यदि धैर्यसे वह वेदा जाये तो उसमेंसे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होना संभव होता है।

आप 'दर्शनपरिषह' में किसी भी प्रकारसे रहते हैं, ऐसा यदि आपको लगता हो तो वह धैर्यसे वेदने योग्य है, ऐसा उपदेश है। आप प्रायः 'दर्शनपरिषह' में है, ऐसा हम जानते हैं।

किसी भी प्रकारकी आकुलताके बिना वैराग्यभावनासे, वीतरागभावसे, ज्ञानीमें परमभक्तिभावसे सत्शास्त्र आदिका और सत्संगका परिचय करना अभी तो योग्य है।

परमार्थसंबंधी मनमें किये हुए संकल्पके अनुसार किसी भी प्रकारकी इच्छा न करें, अर्थात् किसी भी प्रकारके दिव्यतेजयुक्त पदार्थ इत्यादि दिखायी देने आदिकी इच्छा, मनःकल्पित ध्यान आदि इन सब संकल्पोंकी यथाशक्ति निवृत्ति करें।

'शांतसुधारस' में कही हुई भावना और 'अध्यात्मसार' में कहा हुआ आत्मनिश्चयाधिकार ये वारंवार मनन करने योग्य हैं, इन दोनोंकी विशेषता मानें।

'आत्मा है' ऐसा जिस प्रमाणसे ज्ञात हो, 'आत्मा नित्य है' ऐसा जिस प्रमाणसे ज्ञात हो, 'आत्मा कर्ता है' ऐसा जिस प्रमाणसे ज्ञात हो, 'आत्मा भोक्ता है' ऐसा जिस प्रमाणसे ज्ञात हो, 'मोक्ष है' ऐसा जिस प्रमाणसे ज्ञात हो, और 'उसका उपाय है' ऐसा जिस प्रमाणसे ज्ञात हो, वह वारंवार विचारणीय है। 'अध्यात्मसार' में अथवा चाहे किसी दूसरे ग्रंथमें यह बात हो तो विचार करनेमें बाधा नहीं है। कल्पनाका त्याग करके विचारणीय है।

जनक विदेहीकी बात अभी जाननेसे आपको लाभ नहीं है।

सबके लिये यह पत्र है।

३३१ बंबई, माघ, १९४८

ॐ

वीतरागतासे, अत्यंत विनयसे प्रणाम।

भ्रांतिवश सुखस्वरूप भासमान होते हैं ऐसे इन संसारी प्रसंगों एवं प्रकारोंमें जब तक जीवको प्रीति रहती है, तब तक जीवको अपने स्वरूपका भास होना असंभव है, और सत्संगका माहात्म्य भी तथारूपतासे भासमान होना असंभव है। जब तक यह संसारगत प्रीति असंसारगत प्रीतिको प्राप्त न हो तब तक अवश्य ही अप्रमत्तभावसे वारंवार पुरुषार्थको स्वीकार करना योग्य है। यह बात त्रिकालमें विसंवादरहित जानकर निष्कामभावसे लिखी है।

---

३३२ बंबई, फागुन सुदी ४, बुध, १९४८

आरंभ और परिग्रहका मोह ज्यों-ज्यों मिटता है, ज्यों-ज्यों तत्सम्बंधी अपनेपनका अभिमान मंदपरिणामको प्राप्त होता है, त्यों त्यों मुमुक्षुता बढ़ती जाती है। अनंत कालसे परिचित यह अभिमान प्रायः एकदम निवृत्त नहीं होता। इसलिये तन, मन, धन आदि जिनमें ममत्व रहता है उन्हें ज्ञानीको अर्पित किया जाता है; प्रायः ज्ञानी कुछ उन्हें ग्रहण नहीं करते, परंतु उनमेंसे ममत्वको दूर करनेका ही उपदेश देते हैं; और करने योग्य भी यही है कि आरंभ-परिग्रहको वारंवारके प्रसंगमें पुनः पुनः विचार करके उनमें ममत्व न होने दे; तब मुमुक्षुता निर्मल होती है।

---

३३३ बंबई, फागुन सुदी ४, बुध, १९४८

[1]'जीवको सत्पुरुषकी पहचान नहीं होती, और उनके प्रति अपने समान व्यावहारिक कल्पना रहती हैं, यह जीवकी कल्पना किस उपायसे दूर हो ?' इस प्रश्नका यथार्थ उत्तर लिखा है। ऐसा उत्तर ज्ञानी अथवा ज्ञानीका आश्रित मात्र जान सकता है, कह सकता है, अथवा लिख सकता है। मार्ग कैसा हो इसका जिन्हें ज्ञान नहीं हैं, ऐसे शास्त्राभ्यासी पुरुष उसका यथार्थ उत्तर नहीं दे सकते, यह भी यथार्थ ही है। 'शुद्धता विचारे ध्यावे,' इस पदके विषयमें अब फिर लिखेंगे।

अंबारामजीकी पुस्तकके विषयमें आपने विशेष अध्ययन करके जो अभिप्राय लिखा, उसके विषयमें अब फिर बातचीतके समय विशेष बताया जा सकता है। हमने उस पुस्तकका बहुतसा भाग देखा है; परंतु सिद्धांतज्ञानसे असंगत बातें लगती हैं, और ऐसा ही है, तथापि उस पुरुषकी दशा अच्छी है, मार्गानुसारी जैसी है ऐसा तो हम कहते हैं। हमने जिसे सिद्धांतिक अथवा यथार्थ ज्ञान माना है वह अति-अति सूक्ष्म है; परंतु वह प्राप्त हो सकनेवाला ज्ञान है। विशेष अब फिर। चित्तने कहे अनुसार नहीं किया इसलिये आज विशेष नहीं लिखा गया, सो क्षमा कीजियेगा।

परम प्रेमभावसे नमस्कार प्राप्त हो।

---

३३४ बंबई, फागुन सुदी १०, बुध, १९४८

हृदयरूप श्री सुभाग्यके प्रति,

भक्तिपूर्वक नमस्कार पहुँचे।

'अब फिर लिखेंगे, अब फिर लिखेंगे' ऐसा लिखकर अनेक बार लिखना बन नहीं पाया, सो क्षमा

---

१. श्री सौभाग्यभाई द्वारा दिया गया उत्तर–"निष्पक्ष होकर सत्संग करे तो सत् मालूम होता है, और फिर सत्पुरुषका योग मिले तो उसे पहचानता है और पहचाने तो व्यावहारिक कल्पना दूर होती है। इसलिये पक्षरहित होकर सत्संग करना चाहिये। इस उपायके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है। बाकी भगवत्कृपाकी बात और है।"

करने योग्य है, क्योंकि चित्तस्थिति प्रायः विदेही जैसी रहती है; इसलिये कार्यमें अव्यवस्था हो जाती है। अभी जैसी चित्तस्थिति रहती है, वैसी अमुक समय तक चलाये बिना छुटकारा नहीं है।

बहुत बहुत ज्ञानीपुरुष हो गये हैं, उनमें हमारे जैसे उपाधिप्रसंग और उदासीन, अति उदासीन चित्तस्थितिवाले प्रायः अपेक्षाकृत थोड़े हुए हैं। उपाधिप्रसंगके कारण आत्मा संबंधी विचार अखण्डरूपसे नहीं हो सकता, अथवा गौणरूपसे हुआ करता है, ऐसा होनेसे बहुत काल तक प्रपंचमें रहना पड़ता है; और उसमें तो अत्यंत उदास परिणाम हो जानेसे क्षणभरके लिये भी चित्त स्थिर नहीं रह सकता; जिससे ज्ञानी सर्वसंगपरित्याग करके अप्रतिबद्धरूपसे विचरण करते हैं। 'सर्वसंग' शब्दका लक्ष्यार्थ है ऐसा सग कि जो अखण्डरूपसे आत्मध्यान या बोध मुख्यतः न रखा सके। हमने यह संक्षेपमें लिखा है; और इस प्रकारकी बाह्य एवं अंतरसे उपासना करते रहते हैं।

देह होते हुए भी मनुष्य पूर्ण वीतराग हो सकता है ऐसा हमारा निश्चल अनुभव है। क्योंकि हम भी निश्चयसे उसी स्थितिको प्राप्त करनेवाले हैं; यों हमारा आत्मा अखण्डरूपसे कहता है; और ऐसा ही है, अवश्य ऐसा ही है। पूर्ण वीतरागकी चरणरज निरंतर मस्तकपर हो, ऐसा रहा करता है। अत्यंत विकट ऐसा वीतरागत्व अत्यंत आश्चर्यकारक है, तथापि यह स्थिति प्राप्त होती है, सदेह प्राप्त होती है, यह निश्चय है, प्राप्त करनेके लिये पूर्ण योग्य हैं, ऐसा निश्चय है। सदेह ऐसे हुए बिना हमारी उदासीनता दूर हो ऐसा मालूम नहीं होता और ऐसा होना सम्भव है, अवश्य ऐसा ही है।

प्रश्नोंके उत्तर प्रायः नहीं लिखे जा सकेंगे, क्योंकि चित्तस्थिति जैसी बतायी वैसी रहा करती है।

अभी वहाँ कुछ पढ़ना और विचार करना चलता है क्या? अथवा किस तरह चलता है? इसे प्रसंगोपात्त लिखियेगा।

त्याग चाहते हैं, परन्तु नहीं होता। वह त्याग कदाचित् आपकी इच्छानुसार करें; तथापि उतना भी अभी तो हो सकना सम्भव नहीं है।

अभिन्न बोधमयके प्रणाम प्राप्त हो।

---

३३५ बंबई, फागुन सुदी १०, बुध, १९४८

उदास-परिणाम आत्माको भजा करता है। निरुपायताका उपाय काल है।

पूज्य श्री सौभाग्यभाई,

समझनेके लिये जो विवरण लिखा है, वह सत्य है। जब तक ये बातें जीवकी समझमें नहीं आती, तब तक यथार्थ उदासीन परिणतिका होना भी कठिन लगता है।

'सत्पुरुष पहचाननेमें क्यों नहीं आते?' इत्यादि प्रश्न उत्तरसहित लिख भेजनेका विचार तो होता है; परंतु लिखनेमें चित्त जैसा चाहिये वैसा नहीं रहता, और वह भी अल्प काल रहता है, इसलिये निर्धारित लिखा नहीं जा सकता।

उदास-परिणाम आत्माको अत्यंत भजा करता है।

किसी अर्धजिज्ञासु पुरुषको आठेक दिन पूर्व एक पत्र भेजनेके लिये लिख रखा था। पीछेसे अमुक कारणसे चित्त रुक जानेसे वह पत्र पड़ा रहने दिया था जिसे पढ़नेके लिये आपको भेज दिया है।

जो वस्तुतः ज्ञानीको पहचानता है वह ध्यान आदिकी इच्छा नहीं करता, ऐसा हमारा अंतरंग अभिप्राय रहता है।

जो मात्र ज्ञानीको चाहता है, पहचानता है और भजता है, वही वैसा होता है, और वह उत्तम मुमुक्षु जानने योग्य है।

उदास परिणाम आत्माको भजा करता है।

चित्तकी स्थितिमें यदि विशेषरूपसे लिखा जायेगा तो लिखूँगा।

नमस्कार प्राप्त हो।

---

३३६ बंबई, फागुन सुदी ११, बुध, १९४८

यहाँ भावसमाधि है।

विशेषतः 'वैराग्य प्रकरण'में श्रीरामने जो अपनेको वैराग्यके कारण प्रतीत हुए सो बताये हैं, वे पुनः पुनः विचारणीय हैं।

खंभातसे पत्रप्रसंग रखे। उनकी ओरसे पत्र आनेमें ढ़ील होती हो तो आग्रहसे लिखे जिससे वे ढ़ील कम करेंगे। परस्पर कुछ पृच्छा करना सूझे तो वह भी उन्हें लिखें।

---

३३७ बंबई, फागुन सुदी ११।।, गुरु, १९४८

चि० चंदुके स्वर्गवासकी खबर पढ़कर खेद हुआ। जो जो प्राणी देह धारण करते हैं वे वे प्राणी उस देहका त्याग करते हैं, ऐसा हमें प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध दिखायी देता है; फिर भी अपना चित्त उस देहकी अनित्यताका विचार करके नित्य पदार्थके मार्गमें नहीं जाता, इस शोचनीय बातका वारंवार विचार करना योग्य है। मनको धैर्य देकर उदासीको निवृत्त किये बिना छुटकारा नहीं है। खेद न करके धैर्यसे उस दुःखको सहन करना ही हमारा धर्म है।

इस देहका भी जब-तब ऐसे ही त्याग करना है, यह बात स्मरणमें आया करती है, और संसारके प्रति वैराग्य विशेष रहा करता है। पूर्वकर्मके अनुसार जो कुछ भी सुखदुःख प्राप्त हो, उसे समानभावसे वेदन करना, यह ज्ञानीकी सीख याद आनेसे लिखी है। मायाकी रचना गहन है।

---

३३८ बंबई, फागुन सुदी १३, शुक्र, १९४८

परिणामोंमें अत्यंत उदासीनता परिणमित होती रहती है।

ज्यों-ज्यों ऐसा होता है, त्यों-त्यों प्रवृत्ति-प्रसंग भी बढ़ते रहते हैं। अनिर्धारित प्रवृत्तिके प्रसंग भी प्राप्त हुआ करते हैं; और इससे ऐसा मानते हैं कि पूर्व निबद्ध कर्म निवृत्त होनेके लिये शीघ्र उदयमें आते हैं।

---

३३९ बंबई, फागुन सुदी १४, १९४८

किसीका दोष नहीं है, हमने कर्म बाँधे इसलिये हमारा दोष है।

ज्योतिषकी आम्नाय संबंधी कुछ विवरण लिखा, सो पढ़ा है। उसका बहुतसा भाग ज्ञात है। तथापि चित्त उसमें जरा भी प्रवेश नहीं कर सकता, और तत्संबंधी पढ़ना व सुनना कदाचित् चमत्कारिक हो, तो भी बोझरूप लगता है। उसमें किंचित् भी रुचि नहीं रही है।

हमें तो मात्र अपूर्व सत्के ज्ञानमें ही रुचि रहती है। दूसरा जो कुछ किया जाता है या जिसका अनुसरण किया जाता है, वह सब आसपासके बंधनको लेकर किया जाता है।

अभी जो कुछ व्यवहार करते हैं, उसमें देह और मनको बाह्य उपयोगमें प्रवृत्त करना पड़ता है। आत्मा

उसमें प्रवृत्त नहीं होता। क्वचित् पूर्वकर्मानुसार प्रवृत्त करना पड़ता है, जिससे अत्यंत आकुलता आ जाती है। जिन कर्मोंका पूर्वमें निबंधन किया गया है, उन कर्मोंसे निवृत्त होनेके लिये, उन्हें भोग लेनेके लिये, अल्प कालमें भोग लेनेके लिये, यह व्यापार नामके व्यावहारिक कामका दूसरेके लिये सेवन करते हैं।

अभी जो व्यापार करते हैं उस व्यापारके विषयमें हमें विचार आया करता था, और उसके बाद अनुक्रमसे उस कार्यका आरंभ हुआ, तबसे लेकर अब तक दिन प्रतिदिन कार्यकी कुछ वृद्धि होती रही है।

हमने इस कार्यको प्रेरित किया था, इसलिये तत्संबंधी.....यथाशक्ति मजदूरी जैसा काम भी करनेका रखा है। अब कार्यकी सीमा बहुत बढ़ जानेसे निवृत्त होनेकी अत्यंत बुद्धि हो जाती है। परंतु.....को दोषबुद्धि आ जानेका सम्भव है; वह अनंत संसारका कारण.....को हो ऐसा जानकर यथासंभव चित्तका समाधान करके वह मजदूरी जैसा काम भी किये जाना ऐसा अभी तो सोचा है।

इस कार्यकी प्रवृत्ति करते समय हमारी जितनी उदासीन दशा थी, उससे आज विशेष है। और इसलिये हम प्रायः उनकी वृत्तिका अनुसरण नहीं कर सकते; तथापि जितना हो सकता है उतना अनुसरण तो जैसे-तैसे चित्तका समाधान करके करते आये हैं।

कोई भी जीव परमार्थकी इच्छा करे और व्यावहारिक संगमें प्रीति रखे, और परमार्थ प्राप्त हो, ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता। पूर्वकर्मको देखते हुए तो इस कार्यसे निवृत्ति अभी हो ऐसा दिखायी नहीं देता।

इस कार्यके पश्चात् 'त्याग' ऐसा हमने तो ज्ञानमें देखा था; और अभी ऐसा स्वरूप दीखता है, इतनी आश्चर्यकी बात है। हमारी वृत्तिको परमार्थके कारण अवकाश नहीं है ऐसा होनेपर भी बहुतसा समय इस काममें बिताते हैं; और इसका कारण मात्र इतना ही है कि उन्हें दोषबुद्धि न आये। तथापि हमारा आचरण ही ऐसा है, कि यदि जीव उसका ख्याल न कर सके तो इतना काम करते हुए भी दोषबुद्धि ही रहा करे।

---

३४० बंबई, फागुन सुदी १५, रवि, १९४८

जिसमें चार प्रश्न लिखे गये हैं, तथा जिसमें स्वाभाविक भावके विषयमें जिनेंद्रका जो उपदेश है उस विषयमें लिखा है, वह पत्र कल प्राप्त हुआ है।

लिखे हुए प्रश्न बहुत उत्तम हैं, जो मुमुक्षु जीवको परम कल्याणके लिये उठने योग्य है। उन प्रश्नोंके उत्तर बादमें लिखनेका विचार है।

जिस ज्ञानसे भवांत होता है उस ज्ञानकी प्राप्ति जीवके लिये बहुत दुर्लभ है। तथापि वह ज्ञान स्वरूपसे तो अत्यंत सुगम है, ऐसा जानते हैं। उस ज्ञानके सुगमतासे प्राप्त होनेमें जिस दशाकी जरूरत है उस दशाकी प्राप्ति अति अति कठिन है, और उसके प्राप्त होनेके जो दो कारण हैं उनकी प्राप्तिके बिना जीवको अनंतकालसे भटकना पड़ा है, जिन दो कारणोंकी प्राप्तिसे मोक्ष होता है।

प्रणाम।

---

३४१ बंबई, फागुन वदी ४, गुरु, १९४८

यहाँसे कल एक पत्र लिखा है, उसे पढ़कर चित्तमें अविक्षिप्त रहिये, समाधि रखिये। वह वार्ता चित्तमें निवृत्त करनेके लिये आपको लिखी है, जिसमें उस जीवकी अनुकम्पाके सिवाय दूसरा हेतु नहीं है।

हमें तो चाहे जैसे हो तो भी समाधि ही बनाये रखनेकी दृढ़ता रहती है। अपनेपर जो कुछ आपत्ति,

विडंबना, दुविधा या ऐसा कुछ आ पड़े तो उसके लिये किसीपर दोषारोपण करनेकी इच्छा नहीं होती। और परमार्थदृष्टिसे देखते हुए तो वह जीवका दोष है। व्यावहारिकदृष्टिसे देखते हुए नहीं जैसा है, और जीवकी जब तक व्यावहारिकदृष्टि होती है तब तक पारमार्थिक दोषका ख्याल आना बहुत दुष्कर है।

आपके आजके पत्रको विशेषतः पढ़ा है। उससे पहलेके पत्रोंकी भी बहुतसी प्रश्नचर्चा आदि ध्यानमें है। यदि हो सका तो रविवारको इस विषयमें संक्षेपमें कुछ लिखूँगा।

मोक्षके दो मुख्य कारण जो आपने लिखे हैं वे वैसे ही हैं। इस विषयमें विशेष फिर लिखूँगा।

---

३४२ बंबई, फागुन वदी ६, शनि, १९४८

यहाँ भावसमाधि तो है। आप जो लिखते हैं वह सत्य है। परंतु ऐसी द्रव्यसमाधि आनेके लिये पूर्वकर्मोको निवृत्त होने देना योग्य है।

दुषमकालका बड़ेसे बड़ा चिह्न क्या है ? अथवा दुषमकाल किसे कहा जाता है ? अथवा किन मुख्य लक्षणोसे वह पहचाना जा सकता है ? यही विज्ञापन है। लि० बोधबीज।

---

३४३ बंबई, फागुन वदी ७, रवि, १९४८

यहाँ समाधि है।
जो समाधि है वह कुछ अंशोंमें है।
और जो है वह भावसमाधि है।

---

३४४ बंबई, फागुन वदी १०, बुध, १९४८

उपाधि उदयरूपसे रहती है। पत्र आज पहुँचा है।
अभी तो परम प्रेमसे नमस्कार पहुँचे।

---

३४५ बंबई, फागुन वदी ११, बुध, १९४८

किसी भी प्रकारसे सत्संगका योग हो तो वह करते रहना, यह कर्तव्य है, और जिस प्रकारसे जीवको ममत्व विशेष हुआ करता हो अथवा बढ़ा करता हो उस प्रकारसे यथासंभव संकोच करते रहना, यह सत्संगमें भी फल देनेवाली भावना है।

---

३४६ बंबई, फागुन वदी १४, रवि, १९४८

सभी प्रश्नोंके उत्तर स्थगित रखनेकी इच्छा है।
पूर्वकर्म शीघ्र निवृत्त हो, ऐसा करते हैं।
कृपाभाव रखिये और प्रणाम स्वीकार कीजिये।

---

३४७ बंबई, फागुन वदी ३०, सोम, १९४८

ॐ

आत्मस्वरूपसे हृदयरूप विश्राममूर्ति श्री सौभाग्यके प्रति,

हमारा विनययुक्त प्रणाम पहुँचे ।

यहाँ प्रायः आत्मदशासे सहजसमाधि रहती है। बाह्य उपाधिका योग विशेषतः उदयको प्राप्त होनेसे तदनुसार प्रवृत्ति करनेमें भी स्वस्थ रहना पड़ता है।

जानते हैं कि जो परिणाम बहुत कालमें प्राप्त होनेवाला है वह उससे थोड़े कालमें प्राप्त होनेके लिये वह उपाधियोग विशेषतः रहता है।

आपके बहुतसे पत्र हमें मिले हैं। उनमें लिखी हुई ज्ञानसंबंधी वार्ता प्रायः हमने पढ़ी है। उन सब प्रश्नोंके उत्तर प्रायः नहीं लिखे गये हैं, इसके लिए क्षमा करना योग्य है।

उन पत्रोंमें प्रसंगात् कोई कोई व्यावहारिक वार्ता भी लिखी है, जिसे हम चित्तपूर्वक पढ़ सके ऐसा होना विकट है। और उस वार्तासंबंधी प्रत्युत्तर लिखने जैसा नहीं सूझता है। इसलिये उसके लिये भी क्षमा करना योग्य है।

अभी यहाँ हम व्यावहारिक काम तो प्रमाणमें बहुत करते हैं, उसमें मन भी पूरी तरह लगाते हैं, तथापि वह मन व्यवहारमें नहीं जमता, अपनेमें ही लगा रहता है, इसलिये व्यवहार बहुत बोझरूप रहता है।

सारा लोक तीनों कालमें दुःखसे पीड़ित माना गया है, और उसमें भी जो चल रहा है, वह तो महा दुषमकाल है; और सभी प्रकारसे विश्रांतिका कारणभूत जो 'कर्तव्यरूप श्री सत्संग' है, वह तो सभी कालमें प्राप्त होना दुर्लभ है। वह इस कालमें प्राप्त होना अति-अति दुर्लभ हो यह कुछ आश्चर्यकारक नहीं है।

हम कि जिनका मन प्रायः क्रोधसे, मानसे, मायासे, लोभसे, हास्यसे, रतिसे, अरतिसे, भयसे, शोकसे, जुगुप्सासे या शब्द आदि विषयोंसे अप्रतिबद्ध जैसा है; कुटुंबसे, धनसे, पुत्रसे, 'वैभवसे', स्त्रीसे या देहसे मुक्त जैसा है; ऐसे मनको भी सत्संगमें बाँध रखनेकी अत्यधिक इच्छा रहा करती है; ऐसा होनेपर भी हम और आप अभी प्रत्यक्षरूपसे तो वियोगमें रहा करते हैं यह भी पूर्व निबंधनके किसी बड़े प्रबंधके उदयमें होनेके कारण सम्भव है।

ज्ञानसंबंधी प्रश्नोंके उत्तर लिखवानेकी आपकी अभिलाषाके अनुसार करनेमें प्रतिबंध करनेवाली एक चित्तस्थिति हुई है जिससे अभी तो उस विषयमें क्षमा प्रदान करना योग्य है।

आपकी लिखी हुई कितनी ही व्यावहारिक बातें ऐसी थीं कि जिन्हें हम जानते हैं। उनमें कुछ उत्तर लिखने जैसी भी थीं। तथापि मन वैसी प्रवृत्ति न कर सका इसलिये क्षमा करना योग्य है।

---

३४८ बंबई, चैत्र सुदी २, बुध, १९४८

नमस्कार पहुँचे।

यह लोकस्थिति ही ऐसी है कि उसमें सत्यकी भावना करना परम विकट है। सभी रचना असत्यके आग्रहकी भावना करानेवाली है।

---

३४९ बंबई, चैत्र सुदी ४, शुक्र, १९४८

नमस्कार पहुँचे।

लोकस्थिति आश्चर्यकारक है।

---

३५० बंबई, चैत्र सुदी ६, रवि, १९४८

ज्ञानीको [1]सर्वसंग परित्याग करनेका क्या हेतु होगा

प्रणाम प्राप्त हो।

---

१. देखें आंक ३३४ और ६६३.

३५१ बंबई, चैत्र सुदी ९, बुध, १९४८

बाह्योपाधि प्रसंग रहता है।

यथासम्भव सद्विचारका परिचय हो, ऐसा करनेके लिये ('उपाधिमें उलझे रहनेसे') योग्यरूपसे प्रवृत्ति न हो सके, इस बातको ध्यानमें रखने योग्य ज्ञानियोंने जाना है। प्रणाम।

---

३५२ बंबई, चैत्र सुदी ९, बुध, १९४८

शुभोपमायोग्य मेहता श्री ५[1] चत्रभुज बेचर,

आपने अभी सभीसे कंटाला आनेके बारेमें जो लिखा है उसे पढ़कर खेद हुआ। मेरा विचार तो ऐसा रहता है कि यथासम्भव वैसे कंटालेका शमन करें और उसे सहन करें।

किन्हीं दुःखके प्रसंगोंमें ऐसा हो जाता है और उसके कारण वैराग्य भी रहता है, परंतु जीवका सच्चा कल्याण और सुख तो यों मालूम होता है कि उस सब कंटालेका कारण अपना उपार्जित प्रारब्ध है, जो भोगे बिना निवृत्त नहीं होता, और उसे समतासे भोगना योग्य है। इसलिये मनके कंटालेको यथाशक्ति शांत करें और उपार्जित न किये हुए कर्म भोगनेमें नहीं आते, ऐसा समझकर दूसरे किसीके प्रति दोषदृष्टि करनेकी वृत्तिको यथाशक्ति शांत करके समतासे प्रवृत्ति करना योग्य लगता है, और यही जीवको कर्तव्य है। लि० रायचंदके प्रणाम।

---

३५३ बंबई, चैत्र सुदी १२, शुक्र, १९४८

ॐ

आप सबका मुमुक्षुतापूर्वक लिखा हुआ पत्र मिला है।

समय मात्रके लिये भी अप्रमत्तधाराका विस्मरण न करनेवाला ऐसा आत्माकार मन वर्तमान समयमें उदयानुसार प्रवृत्ति करता है; और जिस किसी भी प्रकारसे प्रवृत्ति की जाती है, उसका कारण पूर्वमें निबंधन करनेमें आया हुआ उदय ही है। इस उदयमें प्रीति भी नहीं है, और अप्रीति भी नहीं है। समता है, करने योग्य भी यही है। पत्र ध्यानमें है। यथायोग्य।

---

३५४ बंबई, चैत्र सुदी १३, रवि, १९४८

समकितकी स्पर्शना कब हुई समझी जाये ? उस समय कैसी दशा रहती है ? इस विषयका अनुभव करके लिखियेगा।

संसारी उपाधिका जैसे होता हो वैसे होने देना, कर्तव्य यही है, अभिप्राय यही रहा करता है। धीरजसे उदयका वेदन करना योग्य है।

---

३५५ बंबई, चैत्र वदी १, बुध, १९४८

सम्यक्त्वकी स्पर्शनाके संबंधमें विशेषरूपसे लिखा जा सके तो लिखियेगा।

लिखा हुआ उत्तर सत्य है।

प्रतिबंधता दुःखदायक है, यही विज्ञापन। स्वरूपस्थ यथायोग्य।

---

१. श्री ५ = पांच श्री (श्री श्री श्री श्री श्री) आदर सूचक संबोधन

३५६ बंबई, चैत्र वदी १, बुध, १९४८

आत्मसमाधिपूर्वक योग-उपाधि रहा करती है, जिस प्रतिबंधके कारण अभी तो कुछ इच्छित काम नहीं किया जा सकता।

ऐसे ही हेतुके कारण श्री ऋषभ आदि ज्ञानियोंने शरीर आदिकी प्रवर्तनाके भानका भी त्याग किया था। समस्थितभाव।

---

३५७ बंबई, चैत्र वदी ५, रवि, १९४८

हृदयरूप श्री सुभाग्य,

आपके एकके बाद एक बहुतसे सविस्तर पत्र मिला करते हैं, जिनमें प्रसंगोपात्त शीतल ज्ञानवार्ता भी आया करती है। परंतु खेद होता है कि उस विषयमें प्रायः हमसे अधिक लिखना नहीं हो सकता।

सत्संग होनेके प्रसंगकी इच्छा करते हैं, परंतु उपाधियोगके उदयका भी वेदन किये बिना उपाय नहीं है। चित्त बहुत बार आपमें रहा करता है। जगतमें दूसरे पदार्थ तो हमारे लिये कुछ भी रुचिकर नहीं रहे हैं। जो कुछ रुचि रही है वह मात्र एक सत्यका ध्यान करनेवाले संतमें, जिसमें आत्माका वर्णन है ऐसे सत्शास्त्रमें, और परेच्छासे परमार्थके निमित्तकारण ऐसे दान आदिमें रही है। आत्मा तो कृतार्थ प्रतीत होता है।

---

३५८ बंबई, चैत्र वदी ५, रवि, १९४८

जगतके अभिप्रायकी ओर देखकर जीवने पदार्थका बोध पाया है। ज्ञानीके अभिप्रायकी ओर देखकर पाया नहीं है। जिस जीवने ज्ञानीके अभिप्रायसे बोध पाया है उस जीवको सम्यग्दर्शन होता है।

'विचारसागर' अनुक्रमसे (प्रारंभसे अंत तक) विचार करनेका अभ्यास अभी हो सके तो करना योग्य है।

हम दो प्रकारका मार्ग जानते हैं। एक उपदेशप्राप्तिका मार्ग और दूसरा वास्तविक मार्ग। 'विचारसागर' उपदेशप्राप्तिके लिये विचारणीय है।

जब हम जैनशास्त्र पढ़नेके लिये कहते हैं तब जैनी होनेके लिये नहीं कहते; जब वेदांतशास्त्र पढ़नेके लिये कहते हैं, तब वेदांती होनेके लिये नहीं कहते; इसी तरह अन्य शास्त्र पढ़नेके लिये कहते हैं तो अन्य होनेके लिये नहीं कहते; मात्र जो कहते हैं वह आप सबको उपदेश लेनेके लिये कहते हैं। जैनी और वेदांती आदिके भेदका त्याग करें। आत्मा वैसा नहीं है।

---

३५९ बंबई, चैत्र वदी ८, १९४८

हृदयरूप सुभाग्य,

आज एक पत्र प्राप्त हुआ है।

पत्र पढ़नेसे और वृत्तिज्ञानसे, अभी आपको कुछ ठीक तरहसे धीरजबल रहता है यह जानकर संतोष हुआ है।

किसी भी प्रकारसे पहले तो जीवका अहंत्व दूर करना योग्य है। जिसका देहाभिमान गलित हुआ है उसके लिये सब कुछ सुखरूप ही है। जिसे भेद नहीं है उसे खेदका सम्भव नहीं है। हरीच्छामें दृढ़ विश्वास

रखकर आप प्रवृत्ति करते हैं, यह भी सापेक्ष सुखरूप है। आप जो कुछ विचार लिखना चाहते हैं उन्हें लिखनेमें भेद नहीं रखते, इसे हम भी जानते हैं।

---

३६० बंबई, चैत्र वदी १२, रवि, १९४८

जहाँ पूर्णकामता है, वहाँ सर्वज्ञता है।

जिसे बोधबीजकी उत्पत्ति होती है, उसे स्वरूपसुखसे परितृप्तता रहती है, और विषयके प्रति अप्रयत्न दशा रहती है।

जिस जीवनमें क्षणिकता है, उस जीवनमें ज्ञानियोंने नित्यता प्राप्त की है, यह अचरजकी बात है।

यदि जीवको परितृप्तता न रहा करती हो तो उसे अखण्ड आत्मबोध नहीं है ऐसा समझें।

---

३६१ बंबई, वैशाख सुदी ३, शुक्र (अक्षयतृतीया),१९४८

भावसमाधि है। बाह्यउपाधि है; जो भावसमाधिको गौण कर सके ऐसी स्थितिवाली है, फिर भी समाधि रहती है।

---

३६२ बंबई, वैशाख वदी ४, शनि, १९४८

हृदयरूप श्री सुभाग्य,

नमस्कार पहुँचे।

यहाँ आत्मता होनेसे समाधि है।

हमने पूर्णकामताके बारेमें लिखा है, वह इस आशयसे लिखा है कि जितना ज्ञान प्रकाशित होता है उतनी शब्द आदि व्यावहारिक पदार्थोंमें निःस्पृहता रहती है; आत्मसुखसे परितृप्तता रहती है। अन्य सुखकी इच्छा न होना, यह पूर्णज्ञानका लक्षण है।

ज्ञानी अनित्य जीवनमें नित्यता प्राप्त करते हैं, ऐसा जो लिखा है वह इस आशयसे लिखा है कि उन्हें मृत्युसे निर्भयता रहती है। जिन्हें ऐसा हो उनके लिये फिर यों न कहें कि वे अनित्यतामें रहते हैं तो यह बात सत्य है।

जिसे सच्चा आत्मभान होता है उसे, मैं अन्य भावका अकर्त्ता हूँ, ऐसा बोध उत्पन्न होता है और उसकी अहंप्रत्ययीबुद्धि विलीन हो जाती है।

ऐसा आत्मभान उज्वलरूपसे निरंतर रहा करता है, तथापि जैसा चाहते हैं वैसा तो नहीं है। यहाँ समाधि है। समाधिरूप।

---

३६३ बंबई, वैशाख सुदी ५, रवि, १९४८

अभी तो अनुक्रमसे उपाधियोग विशेष रहा करता है।

अधिक क्या लिखें व्यवहारके प्रसंगमें धीरज रखना योग्य है। इस बातका विसर्जन नहीं होता हो, ऐसा धारणा रहा करती है।

अनंतकाल व्यवहार करनेमें व्यतीत किया है, तो फिर उसकी झंझटमें परमार्थका विसर्जन न किया जाये, ऐसी प्रवृत्ति करनेका जिसका निश्चय है, उसे वैसा होता है, ऐसा हम जानते हैं।

वनमें उदासीनतासे स्थित जो योगी—तीर्थंकर आदि—हैं उनके आत्मत्वकी याद आती है।

---

३६४ बंबई, वैशाख सुदी ९, गुरु, १९४८

हृदयरूप श्री सुभाग्य,

यहाँ समाधि है। बाह्योपाधि है।

अभी कुछ ज्ञानवार्ता लिखनेका व्यवसाय कम रखा है, उसे प्रकाशित कीजियेगा।

---

३६५ बंबई, वैशाख सुदी ११, शनि, १९४८

आज पत्र आया है।

व्यवसाय विशेष रहता है।

'प्राणविनिमय' नामकी मिस्मिरेजमकी पुस्तक पहले पढ़नेमें आ चुकी है, उसमें बतायी हुई बात कोई बड़ी आश्चर्यकारक नहीं है; तथापि उसमें कितनी ही बातें अनुभवकी अपेक्षा अनुमानसे लिखी हैं। उनमें कितनी ही असंभव हैं।

जिसे आत्मत्वका ध्येय नहीं है, उसके लिये यह बात उपयोगी है; हमें तो उसके प्रति कुछ ध्यान देकर समझानेकी इच्छा नहीं होती, अर्थात् चित्त ऐसे विषयकी इच्छा नहीं करता।

यहाँ समाधि है। बाह्य प्रतिबद्धता रहती है। सत्स्वरूपपूर्वक नमस्कार

---

३६६ बंबई, वैशाख सुदी १२, रवि, १९४८

हृदयरूप श्री सुभाग्य,

मनमें वारंवार विचार करनेसे निश्चय हो रहा है कि किसी भी प्रकारसे उपयोग फिर कर अन्यभावमें ममत्व नहीं होता, और अखण्ड आत्मध्यान रहा करता है, ऐसी दशामें विकट उपाधियोगका उदय आश्चर्यकारक है। अभी तो थोड़े क्षणोंकी निवृत्ति मुश्किलसे रहती है और प्रवृत्ति कर सकनेकी योग्यतावाला तो चित्त नहीं है, और अभी वैसी प्रवृत्ति करना कर्तव्य है, तो उदासीनतासे ऐसा करते हैं; मन कहीं भी नहीं लगता, और कुछ भी अच्छा नहीं लगता; तथापि अभी हरीच्छाके अधीन हैं।

निरुपम आत्मध्यान जो तीर्थंकर आदिने किया है, वह परम आश्चर्यकारक है। वह काल भी आश्चर्यकारक था। अधिक क्या कहें? [1]'वननी मारी कोयल' की कहावतके अनुसार इस कालमें और इस प्रवृत्तिमें हम हैं।

---

३६७ बंबई, वैशाख वदी १, गुरु, १९४८

आपका पत्र प्राप्त हुआ।

उपाधिप्रसंग तो रहता है, तथापि आत्मसमाधि रहती है। अभी कुछ ज्ञानप्रसंग लिखियेगा।

नमस्कार पहुँचे।

---

३६८ बंबई, वैशाख वदी ६, मंगल, १९४८

हृदयरूप श्री सुभाग्य,

पत्र प्राप्त हुआ था। यहाँ समाधि है।

सट्टेमें जीव[2] रहता है, यह खेदकी बात है; परंतु यह तो जीवको स्वतः विचार किये बिना समझमें नहीं आ सकता।

---

१. अर्थात् वनमें रहनेवाली कोयल किसी कारणवश शहरमें आ गई हो ऐसे इस कालमें हमारा जन्म हुआ है।

२. मणिभाई सौभाग्यभाईके संबंधमें।

ज्ञानीसे यदि किसी भी प्रकारसे धन आदिकी इच्छा रखी जाती है, तो जीवको दर्शनावरणीय कर्मका प्रतिबंध विशेष उत्पन्न होता है। प्रायः ज्ञानी, किसीको अपनेसे वैसा प्रतिबंध न हो, इस तरह प्रवृत्ति करते हैं।

ज्ञानी अपना उपजीवन—आजीविका भी पूर्वकर्मानुसार करते हैं; ज्ञानमें प्रतिबद्धता हो, इस तरह आजीविका नहीं करते, अथवा इस तरह आजीविका करानेके प्रसंगको नहीं चाहते, ऐसा हम जानते हैं।

जिसे ज्ञानीमें केवल निःस्पृह भक्ति है, उनसे अपनी इच्छा पूर्ण होती हुई न देखकर भी जिसमें दोषबुद्धि नहीं आती ऐसे जीवकी आपत्तिका ज्ञानीके आश्रयसे धैर्यपूर्वक प्रवृत्ति करनेसे नाश होता है, अथवा उसकी बहुत मंदता हो जाती है, ऐसा जानते हैं; तथापि इस कालमें ऐसी धीरज रहनी बहुत विकट है, और इसलिये उपरोक्त परिणाम बहुत बार आता हुआ रूक जाता है।

हमें तो ऐसी झंझटमें उदासीनता रहती है। यह तो स्मरणमें आ जानेसे लिखा है।

हममें विद्यमान परम वैराग्य व्यवहारमें कभी भी मनको लगने नहीं देता, और व्यवहारका प्रतिबंध तो सारे दिनभर रखना ही पड़ता है। अभी तो उदयकी ऐसी स्थिति है, इससे संभव होता है कि वह भी सुखका हेतु है।

हम तो पाँच माससे जगत, ईश्वर और अन्यभाव इन सबसे उदासीन भावसे रह रहे हैं तथापि यह बात गंभीरताके कारण आपको नहीं लिखी। आप जिस प्रकारसे ईश्वर आदिमें श्रद्धाशील हैं, आपके लिये उसी प्रकारसे प्रवृत्ति करना कल्याणकारक है, हमें तो किसी तरहका भेदभाव उत्पन्न न होनेसे सब कुछ झंझटरूप है इसलिये ईश्वर आदि सहित सबमें उदासीनता रहती है। हमारे इस प्रकारके लिखनेको पढ़कर आपको किसी प्रकारसे संदेहमें पड़ना योग्य नहीं है।

अभी तो हम इस स्थितिमें रहते हैं, इसलिये किसी प्रकारकी ज्ञानवार्ता भी लिखी नहीं जा सकती; परंतु मोक्ष तो हमें सर्वथा निकटरूपसे रहता है, यह तो निःशंक बात है। हमारा चित्त आत्माके सिवाय किसी अन्य स्थलपर प्रतिबद्ध नहीं होता, क्षणभरके लिये भी अन्यभावमें स्थिर नहीं होता; स्वरूपमें स्थिर रहता है। ऐसा जो हमारा आश्चर्यकारक स्वरूप है उसे अभी तो कहीं भी कहा नहीं जाता। बहुत मास बीत जानेसे आपको लिखकर संतोष मानते हैं।

नमस्कार पढ़ियेगा। हम भेदरहित हैं।

---

३६९ बंबई, वैशाख वदी ९, शुक्र, १९४८

सब कुछ हरिके अधीन है।
पत्रप्रसादी प्राप्त हुई है।
यहाँ समाधि है।
सविस्तर पत्र अब फिर,
निरुपायताके कारण लिखा नहीं जा सकता।

---

३७० बंबई, वैशाख वदी ११, रवि, १९४८

हृदयरूप श्री सुभाग्यके प्रति,

अविच्छिन्नरूपसे जिन्हें आत्मध्यान रहता है, ऐसे श्री.....के प्रणाम पहुँचे।

जिसमें अनेक प्रकारकी प्रवृत्ति रहती है ऐसे योगमें अभी तो रहते हैं। उसमें आत्मस्थिति

उत्कृष्टरूपसे विद्यमान देखकर श्री.....के चित्तको अपने आपसे नमस्कार करते हैं।

बहुत प्रकारसे समागमकी और बाह्य प्रवृत्तिके योगत्यागकी जिनकी चित्तवृत्ति किसी प्रकारसे भी रहती है ऐसे हम अभी तो इतना लिखकर रुक जाते हैं।

---

३७१ बंबई, वैशाख वदी १३, मंगल, १९४८

श्री कलोलवासी जिज्ञासु श्री कुंवरजीके प्रति,

जिन्हें निरंतर अभेदध्यान रहता है ऐसे श्री बोधपुरुषके यथायोग्य विदित हो।

यहाँ अंतरमें तो समाधि रहती है, और बाह्य उपाधियोग रहता है; आपके लिखे हुए तीन पत्र प्राप्त हुए हैं, और उस कारणसे उत्तर नहीं लिखा।

इस कालकी विषमता ऐसी है कि जिसमें बहुत समय तक सत्संगका सेवन हुआ हो तो जीवमें लोकभावना कम होती है; अथवा लयको प्राप्त होती है। लोकभावनाके आवरणके कारण जीवको परमार्थभावनाके प्रति उल्लासपरिणति नहीं होती, और तब तक लोकसहवास भवरूप होता है।

जो सत्संगका सेवन निरंतर चाहता है, ऐसे मुमुक्षु जीवको, जब तक उस योगका विरह रहे तब तक दृढभावसे उस भावनाकी इच्छा करके प्रत्येक कार्यको करते हुए विचारसे प्रवृत्ति करके, अपनेमें लघुता मान्य करके, अपने देखनेमें आनेवाले दोषकी निवृत्ति चाहकर सरलतासे प्रवृत्ति करते रहना, और जिस कार्यसे उस भावनाकी उन्नति हो ऐसी ज्ञानवार्ता या ज्ञानलेख या ग्रंथका कुछ कुछ विचार करते रहना यह योग्य है।

जो बात ऊपर कही है उसमें बाधा करनेवाले बहुतसे प्रसंग आप लोगोंके सामने आया करते हैं ऐसा हम जानते हैं; तथापि उन सब बाधक प्रसंगोंमें यथासंभव सदुपयोगसे विचारपूर्वक प्रवृत्ति करनेकी इच्छा करें, यह अनुक्रमसे होने जैसी बात है। किसी भी प्रकारसे मनमें संतप्त होना योग्य नहीं है। जो कुछ पुरुषार्थ हो उसे करनेकी दृढ इच्छा रखना योग्य है, और जिसे परम बोधस्वरूपकी पहचान है, ऐसे पुरुषको तो निरंतर वैसी प्रवृत्ति करनेके पुरुषार्थमें परेशान होना योग्य नहीं है।

अनंतकालमें जो प्राप्त नहीं हुआ है, उसकी प्राप्तिमें अमुक काल व्यतीत हो तो हानि नहीं है। मात्र अनंतकालमें जो प्राप्त नहीं हुआ है उसके विषयमें भ्रांति हो जाये, भूल हो जाये वह हानि है। यदि ज्ञानीका परम स्वरूप भासमान हुआ है, तो फिर उसके मार्गमें अनुक्रमसे जीवका प्रवेश होता है; यह सरलतासे समझमें आने जैसी बात है।

सम्यक् प्रकारसे इच्छानुसार प्रवृत्ति करें। वियोग है तो उसमें कल्याणका भी वियोग है, यह बात सत्य है, तथापि यदि ज्ञानीके वियोगमें भी उसीमें चित्त रहता है, तो कल्याण है। धीरजका त्याग करना योग्य नहीं है।

श्री स्वरूपके यथायोग्य

---

३७२ बंबई, वैशाख वदी १४, बुध, १९४८

आपका एक पत्र आज प्राप्त हुआ।

आपने उपाधिके दूर होनेमें जो समागममें रहने रूप मुख्य कारण बताया है वह यथातथ्य है। आपने पहले भी अनेक प्रकारसे वह कारण बताया है, परंतु वह ईश्वरेच्छाधीन है। जिस किसी भी प्रकारसे पुरुषार्थ हो उस प्रकारसे अभी तो करें और समागमकी परम इच्छामें ही अभेदचिंतन रखें। आजीविकाके कारणमें प्रसंगोपात्त विह्वलता आ जाती है यह सच है; तथापि धैर्य रखना योग्य है। जल्दी करनेकी

जरूरत नहीं है, और वैसे वास्तविक भयका कोई कारण नहीं है। श्री–

---

३७३ बंबई, वैशाख वदी १४, बुध, १९४८

मोहमयीसे जिनकी अमोहरूपसे स्थिति है, ऐसे श्री.....के यथायोग्य।

"मनके कारण यह सब है" ऐसा जो अब तकका हुआ निर्णय लिखा, वह सामान्यतः तो यथातथ्य है। तथापि 'मन', 'उसके कारण', 'यह सब' और 'उसका निर्णय' ऐसे जो चार भाग इस वाक्यके होते हैं, वे बहुत समयके बोधसे यथातथ्य समझमें आते हैं, ऐसा मानते हैं। जिसे ये समझमें आते हैं, उसका मन वशमें रहता है, रहता है यह बात निश्चयरूप है; तथापि यदि न रहता हो तो भी वह आत्मस्वरूपमें ही रहता है। मनके वश होनेका यह उत्तर ऊपर लिखा है, वह सबसे मुख्य लिखा है। जो वाक्य लिखे गये हैं वे बहुत प्रकारसे विचारणीय हैं।

महात्माकी देह दो कारणोंसे विद्यमान रहती है–प्रारब्ध कर्मको भोगनेके लिये और जीवोंके कल्याणके लिये; तथापि वे इन दोनोंमें उदासीनतासे उदयानुसार प्रवृत्ति करते हैं ऐसा हम जानते हैं।

ध्यान, जप, तप और किया मात्र इन सबसे हमारे बताये हुए किसी वाक्यको यदि परम फलका कारण समझते हों तो, निश्चयसे समझते हों तो, पीछेसे बुद्धि लोकसंज्ञा, शास्त्रसंज्ञापर न जाती हो तो, जाये तो वह भ्रांतिसे गयी है, ऐसा समझते हों तो, और उस वाक्यका अनेक प्रकारके धैर्यसे विचार करना चाहते हों तो, लिखनेकी इच्छा होती है। अभी इससे विशेषरूपसे निश्चय-विषयक धारणा करनेके लिये लिखना आवश्यक जैसा लगता है, तथापि चित्तमें अवकाश नहीं है, इसलिये जो लिखा है उसे प्रबलतासे मानें।

सब प्रकारसे उपाधियोग तो निवृत्त करने योग्य है; तथापि यदि वह उपाधियोग सत्संग आदिके लिये ही चाहा जाता हो तथा फिर चित्तस्थिति संभवरूपसे रहती हो तो उस उपाधियोगमें प्रवृत्ति करना श्रेयस्कर है। अप्रतिबद्ध प्रणाम।

---

३७४ बंबई, वैशाख, १९४८

"चाहे जितनी विपत्तियाँ पडें, तथापि ज्ञानीसे सांसारिक फलकी इच्छा करना योग्य नहीं है।"

उदयमें आया हुआ अंतराय समपरिणामसे वेदन करने योग्य है, विषमपरिणामसे वेदन करने योग्य नहीं है।

आपकी आजीविका संबंधी स्थिति बहुत समयसे ज्ञात है; यह पूर्वकर्मका योग है।

जिसे यथार्थ ज्ञान है ऐसा पुरुष अन्यथा आचरण नहीं करता; इसलिये आपने जो आकुलताके कारण इच्छा अभिव्यक्त की, वह निवृत्त करने योग्य है।

ज्ञानीके पास सांसारिक वैभव हो तो भी मुमुक्षुको किसी भी प्रकारसे उसकी इच्छा करना योग्य नहीं है। प्रायः ज्ञानीके पास वैसा वैभव होता है, तो वह मुमुक्षुकी विपत्ति दूर करनेके लिये उपयोगी होता है। पारमार्थिक वैभवसे ज्ञानी मुमुक्षुको सांसारिक फल देना नहीं चाहते; क्योंकि यह अकर्तव्य है–ऐसा ज्ञानी नहीं करते।

धीरज न रहे ऐसी आपकी स्थिति है ऐसा हम जानते हैं, फिर भी धीरजमें एक अंशकी भी न्यूनता न होने देना, यह आपका कर्तव्य है; और वह यथार्थ बोध पानेका मुख्य मार्ग है।

अभी तो हमारे पास ऐसा कोई सांसारिक साधन नहीं है कि जिससे आपके लिये धीरजका कारण होवें; परंतु वैसा प्रसंग ध्यानमें रहता है; बाकी दूसरे प्रयत्न तो करने योग्य नहीं हैं।

किसी भी प्रकारसे भविष्यका सांसारिक विचार छोड़कर वर्तमानमें समतापूर्वक प्रवृत्ति करनेका दृढ़ निश्चय करना यह आपके लिये योग्य है। भविष्यमें जो होना योग्य होगा, वह होगा, वह अनिवार्य है, ऐसा समझकर परमार्थ-पुरुषार्थकी ओर सन्मुख होना योग्य है।

चाहे जिस प्रकारसे भी इस लोकलज्जारूप भयके स्थानभूत भविष्यका विस्मरण करना योग्य है। उसकी 'चिन्तासे' परमार्थका विस्मरण होता है। और ऐसा होना महान आपत्तिरूप है; इसलिये वह आपत्ति न आये इतना ही वारंवार विचारणीय है। बहुत समयसे आजीविका और लोकलज्जाका खेद आपके अंतरमें इकट्ठा हुआ है। इस विषयमें अब तो निर्भयता ही अंगीकार करना योग्य है। फिर कहते हैं कि यही कर्तव्य है। यथार्थ बोधका यह मुख्य मार्ग है। इस स्थलमें भूल खाना योग्य नहीं है। लज्जा और आजीविका मिथ्या है। कुटुंब आदिका ममत्व रखेंगे तो भी जो होना होगा वही होगा। उसमें समता रखेंगे तो भी जो होना योग्य होगा वही होगा। इसलिये निःशंकतासे निरभिमानी होना योग्य है।

समपरिणाममें परिणमित होना योग्य है, और यही हमारा उपदेश है। यह जब तक परिणमित नहीं होगा तब तक यथार्थ बोध भी परिणमित नहीं होगा।

---

३७५ बंबई, वैशाख, १९४८

जिनागम उपशमस्वरूप है। उपशमस्वरूप पुरुषोंने उपशमके लिये उसका प्ररूपण किया है, उपदेश किया है। यह उपशम आत्माके लिये है, अन्य किसी प्रयोजनके लिये नहीं है। आत्मार्थमें यदि उसका आराधन नहीं किया गया, तो उस जिनागमका श्रवण एवं अध्ययन निष्फलरूप है; यह बात हमें तो निःसंदेह यथार्थ लगती है।

दुःखकी निवृत्तिको सभी जीव चाहते हैं, और दुःखकी निवृत्ति, जिनसे दुःख उत्पन्न होता है ऐसे राग, द्वेष और अज्ञान आदि दोषोंकी निवृत्ति हुए बिना, होना संभव नहीं है। इन राग आदिकी निवृत्ति एक आत्मज्ञानके सिवाय दूसरे किसी प्रकारसे भूतकालमें हुई नहीं है, वर्तमानकालमें होती नहीं है, भविष्यकालमें हो नहीं सकती। ऐसा सर्व ज्ञानीपुरुषोंको भासित हुआ है। इसलिये वह आत्मज्ञान जीवके लिये प्रयोजनरूप है। उसका सर्वश्रेष्ठ उपाय सद्गुरुवचनका श्रवण करना या सत्शास्त्रका विचार करना है। जो कोई जीव दुःखकी निवृत्ति चाहता हो, जिसे दुःखसे सर्वथा मुक्ति पानी हो उसे इसी एक मार्गकी आराधना किये बिना अन्य दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसलिये जीवको सर्व प्रकारके मतमतांतरसे, कुलधर्मसे, लोकसंज्ञारूप धर्मसे और ओघसंज्ञारूप धर्मसे उदासीन होकर एक आत्मविचारकर्तव्यरूप धर्मकी उपासना करना योग्य है।

एक बड़ी निश्चयकी बात तो मुमुक्षु जीवको यही करना योग्य है कि सत्संग जैसा कल्याणका कोई बलवान कारण नहीं है, और उस सत्संगमें निरंतर प्रतिसमय निवास चाहना, असत्संगका प्रतिक्षण विपरिणाम विचारना, यह श्रेयरूप है। बहुत बहुत करके यह बात अनुभवमें लाने जैसी है।

यथाप्रारब्ध स्थिति है इसलिये बलवान उपाधियोगमें विषमता नहीं आती। अत्यंत ऊब जानेपर भी उपशमका, समाधिका यथारूप रहना होता है; तथापि चित्तमें निरंतर सत्संगकी भावना रहा करती है। सत्संगका अत्यंत माहात्म्य पूर्व भवमें वेदन किया है, वह पुनः पुनः स्मृतिमें आता है और निरंतर अभंगरूपसे वह भावना स्फुरित रहा करती है।

जब तक इस उपाधियोगका उदय है तब तक समतासे उसका निर्वाह करना, ऐसा प्रारब्ध है; तथापि जो काल व्यतीत होता है वह उसके त्यागके भावमें प्रायः बीता करता है।

निवृत्तिके योग्य क्षेत्रमें चित्तस्थिरतासे अभी 'सूत्रकृतांगसूत्र' के श्रवण करनेकी इच्छा हो तो करनेमें बाधा नहीं है। मात्र जीवको उपशमके लिये वह करना योग्य है। किस मतकी विशेषता है; किस मतकी न्यूनता है; ऐसे अन्यार्थमें पड़नेके लिये वैसा करना योग्य नहीं है। उस 'सूत्रकृतांग' की रचना जिन पुरुषोंने की है, वे आत्मस्वरूप पुरुष थे, ऐसा हमारा निश्चय है।

'यह कर्मरूप क्लेश जो जीवको प्राप्त हुआ है, वह कैसे दूर हो ?' ऐसा प्रश्न मुमुक्षु शिष्यके मनमें उत्पन्न करके 'बोध प्राप्त करनेसे दूर हो' ऐसा उस 'सूत्रकृतांग' का प्रथम वाक्य है। 'वह बंधन क्या ? और क्या जाननेसे वह टूटे ?' ऐसा दूसरा प्रश्न वहाँ शिष्यको होना संभव है और उस बंधनको वीर-स्वामीने किस प्रकारसे कहा है ? ऐसे वाक्यसे उस प्रश्नको रखा है; अर्थात् शिष्यके प्रश्नमें उस वाक्यको रखकर ग्रंथकार यों कहते हैं कि आत्मस्वरूप श्री वीरस्वामीका कहा हुआ तुम्हें कहेंगे क्योंकि आत्मस्वरूप पुरुष आत्मस्वरूपके लिये अत्यंत प्रतीति योग्य है। उसके बाद ग्रंथकार उस बंधनका स्वरूप कहते हैं वह पुनः पुनः विचार करने योग्य है। तत्पश्चात् इसका विशेष विचार करनेपर ग्रंथकारको स्मृति हो आयी कि यह समाधिमार्ग आत्माके निश्चयके बिना घटित नहीं होता, और जगतवासी जीवोंने अज्ञानी उपदेशकोंसे जीवका स्वरूप अन्यथा जानकर, कल्याणका स्वरूप अन्यथा जानकर, अन्यथाका यथार्थतासे निश्चय किया है; उस निश्चयका भंग हुए बिना, उस निश्चयमें संदेह हुए बिना, जिस समाधिमार्गका हमने अनुभव किया है वह उन्हें किसी प्रकारसे सुनानेसे कैसे फलीभूत होगा ? ऐसा जानकर ग्रंथकार कहते हैं कि 'ऐसे मार्गका त्याग करके कोई एक श्रमण ब्राह्मण अज्ञानतासे, बिना विचारे अन्यथा प्रकारसे मार्ग कहता है', ऐसा कहते थे। उस अन्यथा प्रकारके पश्चात् ग्रंथकार निवेदन करते हैं कि कोई पंचमहाभूतका ही अस्तित्व मानते हैं, और उससे आत्माका उत्पन्न होना मानते हैं, जो घटित नहीं होता। ऐसे बताकर आत्माकी नित्यताका प्रतिपादन करते हैं। यदि जीवने अपनी नित्यताको नहीं जाना तो फिर निर्वाणका प्रयत्न किसलिये होगा ? ऐसा अभिप्राय बताकर नित्यता दिखलायी है। उसके बाद भिन्न-भिन्न प्रकारसे कल्पित अभिप्राय प्रदर्शित करके यथार्थ अभिप्रायका बोध देकर यथार्थ मार्गके बिना छुटकारा नहीं है, गर्भास्थिति दूर नहीं होती, जन्म दूर नहीं होता, मरण दूर नहीं होता, दुःख दूर नहीं होता, आधि, व्याधि और उपाधि कुछ भी दूर नहीं होते और हम ऊपर जो कह आये हैं ऐसे सभी मतवादी ऐसे ही विषयोंमें संलग्न हैं कि जिससे जन्म, जरा, मरण आदिका नाश नहीं होता, ऐसा विशेष उपदेशरूप आग्रह करके प्रथम अध्ययन समाप्त किया है। तत्पश्चात् अनुक्रमसे इससे बढ़ते हुए परिणामसे उपशम—कल्याण—आत्मार्थका उपदेश दिया है। उसे ध्यानमें रखकर अध्ययन व श्रवण करना योग्य है। कुलधर्मके लिये 'सूत्रकृतांग'का अध्ययन, श्रवण निष्फल है।

---

३७६ बंबई, वैशाख वदी, १९४८

श्री स्थंभतीर्थवासी जिज्ञासुके प्रति,

श्री मोहमयीसे अमोहस्वरूप ऐसे श्री रायचंद्रके आत्मसमानभावकी स्मृतिसे यथायोग्य पढ़ियेगा।

अभी यहाँ बाह्यप्रवृत्तिका योग विशेषरूपसे रहता है। ज्ञानीकी देह उपार्जन किये हुये पूर्वकर्मोंको निवृत्त करनेके लिये और अन्यकी अनुकंपाके लिये होती है।

जिस भावसे संसारकी उत्पत्ति होती है, वह भाव जिनका निवृत्त हो गया है, ऐसे ज्ञानी भी बाह्यप्रवृत्तिकी निवृत्ति और सत्समागममें रहना चाहते हैं। उस योगका जहाँ तक उदय प्राप्त न हो वहाँ तक अविषमतासे प्राप्त स्थितिमें रहते हैं, ऐसे ज्ञानीके चरणारविंदकी पुनः पुनः स्मृति हो आनेसे परम विशिष्टभावसे नमस्कार करते हैं।

अभी जिस प्रवृत्तियोगमें रहते हैं वह तो बहुत प्रकारकी परेच्छाके कारणसे रहते हैं। आत्मदृष्टिकी अखण्डता उस प्रवृत्तियोगसे बाधाको प्राप्त नहीं होती। इसलिये उदयमें आये हुए योगकी आराधना करते है। हमारा प्रवृत्तियोग जिज्ञासुको कल्याण प्राप्त होनेमें किसी प्रकारसे बाधक है।

जो सत्स्वरूपमें स्थित है, ऐसे ज्ञानीके प्रति लोकस्पृहादिका त्याग करके जो भावसे भी उनका आश्रित होता है, वह शीघ्र कल्याणको प्राप्त होता है, ऐसा जानते हैं।

निवृत्तिको, समागमको अनेक प्रकारसे चाहते हैं, क्योंकि इस प्रकारका जो हमारा राग है उसे हमने सर्वथा निवृत्त नहीं किया है।

कालका कलिस्वरूप चल रहा है, उसमें जो अविषमतासे मार्गकी जिज्ञासाके साथ, बाकी दूसरे जो अन्य जाननेके उपाय हैं उनके प्रति उदासीनता रखता है वह ज्ञानीके समागममें अत्यंत शीघ्रतासे कल्याण पाता है, ऐसा जानते हैं।

कृष्णदासने जगत, ईश्वरादि संबंधी जो प्रश्न लिखे हैं वे हमारे अति विशेष समागममें समझने योग्य है। इस प्रकारका विचार (कभी कभी) करनेमें हानि नहीं है। उनके यथार्थ उत्तर कदाचित् अमुक काल तक प्राप्त न हों तो इससे धीरजका त्याग करनेके प्रति जाती हुई मतिको रोकना योग्य है।

अविषमतासे जहाँ आत्मध्यान रहता है ऐसे 'श्रीरायचन्द्र' के प्रति बार बार नमस्कार करके यह पत्र अब पूरा करते हैं।

---

३७७ बंबई, वैशाख, १९४८

[1]योग असंख जे जिन कह्या, घटमांही रिद्धि दाखी रे।
नव पद तेमज जाणजो, आतमराम छे साखी रे॥

आत्मस्थ ज्ञानी पुरुष ही सहजप्राप्त प्रारब्धके अनुसार प्रवृत्ति करते हैं। वास्तविकता तो यह है कि जिस कालमें ज्ञानसे अज्ञान निवृत्त हुआ उसी कालमें ज्ञानी मुक्त है। देहादिमें अप्रतिबद्ध है। सुख दुःख हर्ष शोकादिमें अप्रतिबद्ध है। ऐसे ज्ञानीको कोई आश्रय या आलम्बन नहीं है। धीरज प्राप्त होनेके लिये उसे 'ईश्वरेच्छादि' भावना होना योग्य नहीं है। भक्तिमानको जो कुछ प्राप्त होता है, उसमें कोई क्लेशका प्रकार देखकर तटस्थ धीरज रहनेके लिये वह भावना किसी प्रकाररो योग्य है। ज्ञानीके लिये 'प्रारब्ध' 'ईश्वरेच्छादि' सभी प्रकार एक ही भावके–सरीखे भावके हैं। उसे साता-असातामें कुछ किसी प्रकारसे रागद्वेषादि कारण नहीं हैं। वह दोनोंमें उदासीन है। जो उदासीन है वह मूल स्वरूपमें निरालम्बन है। उसकी निरालम्बन उदासीनताको ईश्वरेच्छासे भी बलवान समझते हैं।

'ईश्वरेच्छा' शब्द भी अर्थान्तरसे जानने योग्य है। ईश्वरेच्छारूप आलम्बन आश्रयरूप भक्तिके लिये योग्य है। निराश्रय ज्ञानीको तो सभी समान है अथवा ज्ञानी सहज परिणामी है, सहजस्वरूपी है, सहजरूपसे स्थित है, सहजरूपसे प्राप्त उदयको भोगते हैं। सहजरूपसे जो कुछ होता है, वह होता है; जो नहीं होता वह नहीं होता है। वे कर्तव्यरहित है, उनका कर्तव्यभाव विलीन हो चुका है। इसलिये आपको यह जानना योग्य है कि उन ज्ञानीके स्वरूपमें प्रारब्धके उदयकी सहज प्राप्ति अधिक योग्य है। ईश्वरमें किसी प्रकारसे इच्छा स्थापित कर उसे इच्छावान कहना योग्य है। ज्ञानी इच्छारहित या इच्छासहित यों कहना भी नहीं बनता, वे तो सहजस्वरूप हैं।

---

१. **भावार्थ**–जिनेन्द्र भगवानने मुक्तिके लिये असंख्य योग–साधन बताये हैं। समस्त प्रकारकी सिद्धियोंकी संपत्ति आत्मामें ही रही हुई है, ऐसा कहा हैं। उसी प्रकार नव पदकी संपत्ति भी आत्मामें ही रही हुई है, जिसका साक्षी आत्मा स्वयमेव है।

३७८ बंबई, जेठ सुदी १०, रवि, १९४८

ईश्वरादि संबंधी जो निश्चय है, तत्संबंधी विचारका अभी त्याग करके सामान्यतः 'समयसार' का अध्ययन करना योग्य है; अर्थात् ईश्वरके आश्रयसे अभी धीरज रहती है, वह धीरज उसके विकल्पमें पडनेसे रहनी विकट हैं।

'निश्चय'में अकर्त्ता, 'व्यवहार'में कर्त्ता, इत्यादि जो व्याख्यान 'समयसार'में है, वह विचारणीय है; तथापि जिसके बोधसंबंधी दोष निवृत्त हुए हैं, ऐसे ज्ञानीसे वह प्रकार समझना योग्य है।

समझने योग्य तो जो है वह.....स्वरूप, जिसे निर्विकल्पता प्राप्त हुई है, ऐसे ज्ञानीसे—उनके आश्रयसे जीवके दोष गलित होकर, प्राप्त होता है, समझमें आता है।

छः मास संपूर्ण हुए जिसे परमार्थके प्रति एक भी विकल्प उत्पन्न नहीं हुआ ऐसे श्री...को नमस्कार है।

---

३७९ बंबई, जेठ वदी ३०, शुक्र, १९४८

हृदयरूप श्री सुभाग्य,

जिसकी प्राप्तिके बाद अनन्तकालकी याचकता मिटकर सर्व कालके लिये अयाचकता प्राप्त होती है, ऐसा जो कोई हो तो उसे तरनतारन जानते हैं, उसे भजें।

मोक्ष तो इस कालमें भी प्राप्त हो सकता है, अथवा प्राप्त होता है। परंतु मुक्तिका दान देनेवाले पुरुषकी प्राप्ति परम दुर्लभ है; अर्थात् मोक्ष दुर्लभ नहीं, दाता दुर्लभ है।

उपाधियोगकी अधिकता रहती है। बलवान क्लेश जैसा उपाधियोग देनेकी 'हरीच्छा' होगी, अब इस स्थितिमें वह जैसे उदयमें आये वैसे वेदन करना योग्य समझते हैं।

संसारसे कंटाले हुए तो बहुत समय हो गया है, तथापि संसारका प्रसंग अभी विरामको प्राप्त नहीं होता; यह एक प्रकारका बड़ा 'क्लेश' रहता है।

आपके सत्संगकी अत्यंत रुचि रहती है, तथापि उस प्रसंगकी प्राप्ति अभी तो 'निर्बल' होकर श्री 'हरि'को सौंपते हैं।

हमें तो कुछ करनेकी बुद्धि नहीं होती, और लिखनेकी बुद्धि नहीं होती। कुछ कुछ वाणीसे प्रवृत्ति करते हैं, उसकी भी बुद्धि नहीं होती; मात्र आत्मरूप मौनस्थिति और उस संबंधी प्रसंग, इस विषयमें बुद्धि रहती है और प्रसंग तो उससे अन्य प्रकारके रहते हैं।

ऐसी ही 'ईश्वरेच्छा' होगी यह समझकर जैसे स्थिति प्राप्त होती है, वैसे ही योग्य समझकर रहते हैं।

'बुद्धि तो मोक्षके विषयमें भी स्पृहावाली नहीं है।' परंतु प्रसंग यह रहता है। सत्संगमें रुचि रखनेवाले डुंगरको हमारा प्रणाम प्राप्त हो।

[1]"वननी मारी कोयल" ऐसी एक गुर्जरादि देशकी कहावत इस प्रसंगमें योग्य है।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

नमस्कार पहुँचे।

---

३८० बंबई, जेठ, १९४८

प्रभुभक्तिमें जैसे णयेगा।

प्रभुभक्तिमें जैसे हो वैसे तत्पर रहना यह मुझे मोक्षका धुरंधर मार्ग लगा है । चाहे तो मनसे भी स्थिरतासे बैठकर प्रभुभक्ति अवश्य करनी योग्य है ।

---

१. वननी मारी कोयल। अर्थके लिये देखें पृष्ठ ३३४

मनकी स्थिरता होनेका मुख्य उपाय अभी तो प्रभुभक्ति समझें। आगे भी वह, और वैसा ही है, तथापि स्थूलरूपसे इसे लिखकर जताना अधिक योग्य लगता है।

'उत्तराध्ययनसूत्र' के दूसरे इच्छित अध्ययन पढ़ियेगा; बत्तीसवें अध्ययनकी शुरूकी चौबीस गाथाओंका मनन करियेगा।

शम, संवेग, निर्वेद, आस्था और अनुकम्पा इत्यादि सद्गुणोंसे योग्यता प्राप्त करना और किसी समय महात्माके योगसे, तो धर्मप्राप्त हो जायेगा।

सत्संग, सत्शास्त्र और सद्व्रत ये उत्तम साधन हैं।

३८१

'सूयगडांगसूत्र' का योग हो तो उसका दूसरा अध्ययन, तथा उदकपेढालवाला अध्ययन पढ़नेका अभ्यास रखिये। तथा 'उत्तराध्ययन' के कुछ एक वैराग्यादिक चरित्रवाले अध्ययन पढ़ते रहिये, और प्रभातमें जल्दी उठनेकी आदत रखिये, एकांतमें स्थिर बैठनेका अभ्यास रखिये। माया अर्थात् जगत, लोकका जिनमें अधिक वर्णन किया है वैसी पुस्तकें पढ़नेकी अपेक्षा, जिनमें विशेषतः सत्पुरुषोंके चरित्र अथवा वैराग्यकथाएँ हैं ऐसी पुस्तकें पढनेका भाव रखिये।

३८२

जिससे वैराग्यकी वृद्धि हो उसका अध्ययन विशेषरूपसे रखना; मतमतांतरका त्याग करना; और जिससे मतमतांतरकी वृद्धि हो वैसा पठन नहीं करना। असत्संगादिमें उत्पन्न होती हुई रुचि दूर करनेका विचार वारंवार करना योग्य है।

---

३८३ बंबई, जेठ, १९४८

जो विचारवान पुरुषको सर्वथा क्लेशरूप भासता है, ऐसे इस संसारमें अब फिर आत्मभावसे जन्म न लेनेकी निश्चल प्रतिज्ञा है। अब आगे तीनों कालमें इस संसारका स्वरूप अन्यरूपसे भासमान होने योग्य नहीं है, और भासित हो ऐसा तीनों कालमें सम्भव नहीं है।

यहाँ आत्मभावसे समाधि है, उदयभावके प्रति उपाधि रहती है।

श्री तीर्थंकरने तेरहवें गुणस्थानकमें रहनेवाले पुरुषका निम्नानुसार स्वरूप कहा है—

जिसने आत्मभावके लिये सर्व संसार संवृत किया है, अर्थात् जिसके प्रति सर्व संसारकी इच्छाके आनेका निरोध हुआ है, ऐसे निर्ग्रंथको—सत्पुरुषको—तेरहवें गुणस्थानकमें कहना योग्य है। मनसमितिसे युक्त, वचनसमितिसे युक्त, कायसमितिसे युक्त, किसी भी वस्तुका ग्रहण-त्याग करते हुए समितिसे युक्त, दीर्घशंकादिका त्याग करते हुए समितिसे युक्त, मनको संकोचनेवाला, वचनको संकोचनेवाला, कायाको संकोचनेवाला, सर्व इन्द्रियोंके संयमसे ब्रह्मचारी, उपयोगपूर्वक चलनेवाला, उपयोगपूर्वक खड़ा रहनेवाला, उपयोगपूर्वक बैठनेवाला, उपयोगपूर्वक शयन करनेवाला, उपयोगपूर्वक बोलनेवाला, उपयोगपूर्वक आहार लेनेवाला और उपयोगपूर्वक श्वासोच्छ्वास लेनेवाला, आँखको एक निमिषमात्र भी उपयोगरहित न चलानेवाला अथवा उपयोगरहित जिसकी क्रिया नहीं है ऐसे इस निर्ग्रंथको एक समयमें क्रियाका बंध होता है, दूसरे समयमें क्रिया भोगी जाती है, तीसरे समयमें वह कर्मरहित होता है, अर्थात् चौथे समयमें वह क्रियासंबंधी सर्व चेष्टासे निवृत्त होता है। श्री तीर्थंकर जैसेको कैसा अत्यंत निश्चल, (अपूर्ण)

---

३८४ बंबई, आषाढ़ सुदी ९, १९४८

शब्दादि पाँच विषयोंकी प्राप्तिकी इच्छासे जिनके चित्तमें अत्यंत व्याकुलता रहती है, ऐसे जीव जिस

कालमें विशेषरूपसे दिखायी देते हैं, वह यह 'दुषम कलियुग' नामका काल है। उस कालमें जिसे परमार्थके प्रति विह्वलता नहीं हुई, चित्त विक्षेपको प्राप्त नहीं हुआ, संगसे प्रवर्तनभेद प्राप्त नहीं हुआ, दूसरी प्रीतिके प्रसंगमें जिसका चित्त आवृत नहीं हुआ, और जो दूसरे कारण हैं उनमें जिसका विश्वास नहीं है, ऐसा यदि कोई हो तो वह इस कालमें 'दूसरा श्री राम' है। तथापि यह देखकर सखेद आश्चर्य होता है कि इन गुणोंके किसी अंशमें सम्पन्न भी अल्प जीव दृष्टिगोचर नहीं होते।

निद्राके सिवाय शेष समयमेंसे एकाध घंटेके सिवाय शेष समय मन, वचन, कायासे उपाधिके योगमें बीतता है। उपाय नहीं है, इसलिये सम्यक्परिणतिसे संवेदन करना योग्य है।

महान आश्चर्यकारी जल, वायु, चंद्र, सूर्य, अग्नि आदि पदार्थोंके गुण सामान्य प्रकारसे भी जैसे जीवोंकी दृष्टिमें नहीं आते हैं, और अपने छोटेसे घरमें अथवा अन्य किन्हीं वस्तुओंमें किसी प्रकारका मानो आश्चर्यकारक स्वरूप देखकर अहंत्व रहता है, यह देख ऐसा लगता है कि लोगोंका अनादिकालका दृष्टिभ्रम दूर नहीं हुआ, जिससे यह दूर हो ऐसे उपायमें जीव अल्प भी ज्ञानका उपयोग नहीं करता; और उसकी पहचान होनेपर भी स्वेच्छासे व्यवहार करनेकी बुद्धि वारंवार उदयमें आती है; इस प्रकार बहुत जीवोंकी स्थिति देखकर ऐसा समझें कि यह लोक अनन्तकाल रहनेवाला है।

नमस्कार पहुँचे।

---

३८५ बंबई, आषाढ़, १९४८

सूर्य उदय-अस्तरहित है, मात्र लोगोंको जब चक्षुमर्यादासे बाहर हो तब अस्त और जब चक्षुमर्यादामें हो तब उदय ऐसा भासता है। परंतु सूर्यमें तो उदय अस्त नहीं है। वैसे ही ज्ञानी है, वे सभी प्रसंगमें जैसे हैं वैसे हैं, मात्र प्रसंगकी मर्यादाके अतिरिक्त लोगोंका ज्ञान नहीं है इसलिये उस प्रसंगमें अपनी जैसी दशा हो सके वैसी दशाकी ज्ञानीके संबंधमें कल्पना करते हैं; और यह कल्पना जीवको ज्ञानीके परम आत्मत्व, परितोषत्व, मुक्तत्वको जानने नहीं देती ऐसा जानना योग्य है।

जिस प्रकारसे प्रारब्धका क्रम उदय होता है उस प्रकारसे अब तो वर्तन करते हैं, और ऐसा वर्तन करना किसी प्रकारसे तो सुगम भासता है। ठाकुर साहबको मिलनेकी बात आजके पत्रमें लिखी, पर प्रारब्ध क्रम वैसा नहीं रहना। उदीरणा कर सकें ऐसी असुगम वृत्ति उत्पन्न नहीं होती।

यद्यपि हमारा चित्त नेत्र जैसा है; नेत्रमें दूसरे अवयवोंकी भाँति एक रजकण भी सहन नहीं हो सकता। दूसरे अवयवोंरूप अन्य चित्त है। हमारा जो चित्त है वह नेत्ररूप है, उसमें वाणीका उठना, समझाना, यह करना, अथवा यह न करना, ऐसा विचार करना बहुत मुश्किलसे होता है। बहुतसी क्रियाएँ तो शून्यताकी भाँति होती हैं; ऐसी स्थिति होनेपर भी उपाधियोगको तो बलपूर्वक आराधते हैं। यह वेदन करना कम विकट नहीं लगता, कारण कि आँखसे जमीनकी रेती उठाने जैसा यह कार्य है। वह जैसे दुःखसे—अत्यंत दुःखसे—होना विकट है, वैसे चित्तको उपाधि उस परिणामरूप होनेके समान है। सुगमतासे स्थित चित्त होनेसे वेदनाको सम्यक्प्रकारसे भोगता है, अखंड समाधिरूपसे भोगता है। यह बात लिखनेका आशय तो यह है कि ऐसे उत्कृष्ट वैराग्यमें ऐसा उपाधियोग भोगनेका जो प्रसंग है, उसे कैसा समझना और यह सब किसलिये किया जाता है जानते हुए भी उसे छोड़ा क्यों नहीं जाता यह सब विचारणीय है।

मणिके विषयमें लिखा सो सत्य है।

'ईश्वरेच्छा' जैसी होगी वैसे होगा। विकल्प करनेसे खेद होता है; और वह तो जब तक उसकी

इच्छा होगी तब तक उसी प्रकार प्रवृत्ति करेगा। सम रहना योग्य है।

दूसरी तो कोई स्पृहा नहीं है, कोई प्रारब्धरूप स्पृहा भी नहीं है, सत्तारूप कोई पूर्वमें उपार्जित की हुई उपाधिरूप स्पृहाका तो अनुक्रमसे संवेदन करना है। एक सत्संग—आपके सत्संगकी स्पृहा रहती है। रुचिमात्र समाधानको प्राप्त हुई है। यह आश्चर्यरूप बात कहाँ कहनी आश्चर्य होता है। यह जो देह मिली है वह पूर्व कालमें कभी न मिली हो तो भविष्यकालमें भी प्राप्त होनेवाली नहीं है। धन्यरूप—कृतार्थरूप ऐसे हममें यह उपाधियोग देखकर सभी लोग भूलें, इसमें आश्चर्य नहीं है। और पूर्वमें यदि सत्पुरुषकी पहचान नहीं हुई है तो वह ऐसे योगके कारणसे है। अधिक लिखना नहीं सूझता।

नमस्कार पहुँचे। गोशलियाको समपरिणामरूप यथायोग्य और नमस्कार पहुँचे।

समस्वरूप श्री रायचन्द्रके यथायोग्य।

---

३८६ बंबई, आषाढ़ वदी ३०, १९४८

पत्र प्राप्त हुए हैं। अत्र उपाधिनामसे प्रारब्ध उदयरूप है। उपाधिमें विक्षेपरहित होकर व्यवहार करना यह बात अत्यंत विकट है; जो ऐसा व्यवहार करता है वह थोड़े कालमें परिपक्व समाधिरूप हो जाता है।

समात्मप्रदेश-स्थितिसे यथायोग्य। शांतिः

---

३८७ बंबई, श्रावण सुदी, १९४८

जीवको स्वस्वरूप जाने बिना छुटकारा नहीं है; तब तक यथायोग्य समाधि नहीं है। यह जाननेके लिये मुमुक्षुता और ज्ञानीकी पहचान उत्पन्न होने योग्य है। ज्ञानीको जो यथायोग्यरूपसे पहचानता है वह ज्ञानी हो जाता है—क्रमसे ज्ञानी हो जाता है।

आनन्दघनजीने एक स्थानपर ऐसा कहा है कि—

[1]'जिन थई' 'जिनने' जे आराधे, ते सही जिनवर होवे रे।
भृंगी इलिकाने चटकावे, ते भृंगी जग जोवे रे॥

जिनेन्द्र होकर अर्थात् सांसारिक भाव संबंधी आत्मभाव त्यागकर, जो कोई जिनेन्द्र अर्थात् केवलज्ञानीकी—वीतरागकी आराधना करता है, वह निश्चयसे जिनवर अर्थात् कैवल्यपदसे युक्त हो जाता है। उन्होंने भृंगी और इलिकाका ऐसा दृष्टांत दिया है जो प्रत्यक्ष—स्पष्ट समझमें आता है।

यहाँ हमें भी उपाधियोग रहता है; अन्य भावमें यद्यपि आत्मभाव उत्पन्न नहीं होता और यही मुख्य समाधि है।

---

३८८ बंबई, श्रावण सुदी ४, बुध, १९४८

'जगत जिसमें सोता है, उसमें ज्ञानी जागते हैं, जिसमें ज्ञानी जागते हैं उसमें जगत सोता है। जिसमें जगत जागता है, उसमें ज्ञानी सोते हैं' ऐसा श्रीकृष्ण कहते हैं।[2]

(आत्मप्रदेश समस्थितिसे नमस्कार।)

---

३८९ बंबई, श्रावण सुदी १०, बुध, १९४८

असत्संगमें उदासीन रहनेके लिये जीवमें अप्रमादरूपसे निश्चय होता है, तब 'सत्ज्ञान' समझमें आता है; उससे पहले प्राप्त हुए बोधको बहुत प्रकारका अन्तराय होता हैं।

---

१. पाठान्तर—जिनस्वरूप थई जिन आराधे.....। २. भगवद्गीता अ० २, श्लोक ६९।

जगत और मोक्षका मार्ग ये दोनों एक नहीं है। जिसे जगतकी इच्छा, रुचि, भावना है उसे मोक्षमें अनिच्छा, अरुचि, अभावना होती है, ऐसा मालूम होता है।

---

३९० बंबई, श्रावण सुदी १०, बुध, १९४८

ॐ नमः

आत्मरूप श्री सुभाग्यके प्रति,

निष्काम यथायोग्य।

जिन उपार्जित कर्मोंको भोगते हुए भावीमें बहुत समय व्यतीत होगा, वे बलपूर्वक उदयमें आकर क्षीण होते हों तो वैसा होने देना योग्य है, ऐसा अनेक वर्षोंका संकल्प है।

व्यावहारिक प्रसंग संबंधी चारो तरफसे चिंता उत्पन्न हो, ऐसे कारण देखकर भी निर्भयता, आश्रय रखना योग्य है। मार्ग ऐसा है।

अभी हम विशेष कुछ लिख नहीं सकते, इसके लिये क्षमा माँगते हैं और निष्कामतासे स्मृतिपूर्वक नमस्कार करते हैं। यही विनंती।

[1]नागर सुख पामर नव जाणे, वल्लभ सुख न कुमारी,
अनुभव विण तेम ध्यान तणुं सुख, कोण जाणे नर नारी रे, भविका०

---

[2]मन महिलानुं रे वहाला उपरे, बीजां काम करंत।

---

३९१ बंबई, श्रावण सुदी १०, बुध, १९४८

केवल निष्काम यथायोग्य।

यहाँ उपाधियोगमें हैं, ऐसा समझकर पत्रादि भेजनेका काम नहीं किया होगा, ऐसा समझते हैं। शास्त्रादि विचार और सत्कथा-प्रसंगमें वहाँ कैसे योगसे रहना होता है सो लिखियेगा।

'सत्' एक प्रदेश भी दूर नहीं है, तथापि उसकी प्राप्तिमें अनंत अंतराय—लोकानुसार प्रत्येक ऐसे रहे हैं। जीवका कर्तव्य यह है कि अप्रमत्ततासे उस 'सत्' का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करनेका अखंड निश्चय रखे।

आप सबको निष्कामतासे यथायोग्य।

---

३९२ बंबई, श्रावण सुदी १०, बुध, १९४८

हे राम जिस अवसरपर जो प्राप्त हो उसमें सन्तुष्ट रहना, यह सत्पुरुषोंका कहा हुआ सनातन धर्म है, ऐसा वसिष्ठ कहते थे।

---

३९३ बंबई, श्रावण सुदी १०, बुध, १९४८

[2]मन महिलानुं रे वहाला उपरे, बीजां काम करंत।
तेम श्रुतधर्मे रे मन दृढ धरे, ज्ञानाक्षेपकवंत॥

जिसमें मनकी व्याख्याके विषयमें लिखा है वह पत्र, जिसमें पीपल-पानका दृष्टांत लिखा है वह पत्र, जिसमें 'यमनियम संयम आप कियो' इत्यादि काव्यादिके विषयमें लिखा है वह पत्र, जिसमें मनादिका

---

१. भावार्थके लिये देखे आंक ३११ २. विशेषार्थके लिये देखें आंक ३९४

निरोध करते हुए शरीरादि व्यथा उत्पन्न होने संबंधी सूचन है वह पत्र, और उसके बाद एक सामान्य, इस तरह सभी पत्र मिले हैं। उनमें मुख्य भक्तिसंबंधी इच्छा, मूर्त्तिका प्रत्यक्ष होना, इस बात संबंधी प्रधान वाक्य पढ़ा है, ध्यानमें है।

इस प्रश्नके सिवाय बाकीके पत्रोंका उत्तर अनुक्रमसे लिखनेका विचार होते हुए भी अभी उसे समागममें पूछने योग्य समझते हैं, अर्थात् यह जताना अभी योग्य लगता है।

दूसरे भी जो कोई परमार्थसंबंधी विचार-प्रश्न उत्पन्न हों उन्हें लिख रखना शक्य हो तो लिख रखनेका विचार योग्य है।

पूर्वकालमें आराधित, जिसका नाम मात्र उपाधि है ऐसी समाधि उदयरूपसे रहती है।

अभी वहाँ पठन, श्रवण और मननका योग किस प्रकारका होता है?

आनन्दघनजीके दो पद्य स्मृतिमें आते हैं, उन्हें लिखकर अब यह पत्र समाप्त करता हूँ।

[1]**इणविध परखी मन विसरामी जिनवर गुण जे गावे।**
दीनबन्धुनी महेर नजरथी, आनंदघन पद पावे॥
हो मल्लिजिन सेवक केम अवगणीए।

मन महिलानुं रे वहाला उपरे, बीजां काम करंत,

जिन थई जिनवर जे आराधे, ते सही जिनवर होवे रे।
भृंगी इलिकाने चटकावे, ते भृंगी जग जोवे रे॥—श्री आनन्दघन

---

३९४ बंबई, श्रावण वदी १०, १९४८

मन महिलानुं रे वहाला उपरे, बीजां काम करंत।
तेम श्रुतधर्मे रे मन दृढ धरे, ज्ञानाक्षेपकवंत॥—धन०

घरसंबंधी दूसरे समस्त कार्य करते हुए भी जैसे पतिव्रता (महिला शब्दका अर्थ) स्त्रीका मन अपने प्रिय भरतारमें लीन रहता है, वैसे सम्यग्दृष्टि जीवका चित्त संसारमें रहकर समस्त कार्य प्रसंगोको करते हुए भी ज्ञानीसे श्रवण किये हुए उपदेशधर्ममें तल्लीन रहता है।

समस्त संसारमें स्त्रीपुरुषके स्नेहको प्रधान माना गया है, उसमें भी पुरुषके प्रति स्त्रीके प्रेमको किसी प्रकारसे भी उससे विशेष प्रधान माना गया है, और उसमें भी पतिके प्रति पतिव्रता स्त्रीके स्नेहको प्रधानमें भी प्रधान माना गया है। वह स्नेह ऐसा प्रधान-प्रधान किसलिये माना गया है? तब जिसने सिद्धांतको प्रबलतासे प्रदर्शित करनेके लिये उस दृष्टांतको ग्रहण किया है, ऐसा सिद्धांतकार कहता है कि हमने उस स्नेहको इसलिये प्रधानमें भी प्रधान समझा है कि दूसरे सभी घर संबंधी (और दूसरे भी) काम करते हुए भी उस पतिव्रता महिलाका चित्त पतिमें ही लीनरूपसे, प्रेमरूपसे, स्मरणरूपसे, ध्यानरूपसे, इच्छारूपसे रहता है।

परंतु सिद्धांतकार कहता है कि इस स्नेहका कारण तो संसार प्रत्ययी है, और यहाँ तो उसे असंसार-प्रत्ययी करनेके लिये कहना है; इसलिये वह स्नेह लीनरूपसे, प्रेमरूपसे, स्मरणरूपसे, ध्यानरूपसे, इच्छारूपसे जहाँ करने योग्य है, जहाँ वह स्नेह असंसार परिणामको प्राप्त होता है उसे कहते है।

---

१. **भावार्थ**—इस प्रकार परीक्षा करके अठारह दोषोंसे रहित देख करके मनको विश्राम देनेवाले जिनवरका जो गुणगान करता है, वह दीनबंधुकी कृपादृष्टिसे आनंदघनपद-मोक्ष पाता हैं। हे मल्लिनाथ! सेवककी उपेक्षा किसलिये?

वह स्नेह तो पतिव्रतारूप मुमुक्षुको ज्ञानी द्वारा श्रवण किये हुए उपदेशादि धर्मके प्रति उसी प्रकारसे करना योग्य है; और उसके प्रति उस प्रकारसे जो जीव रहता है, तब 'कान्ता' नामकी समकित संबंधी दृष्टिमें वह जीव स्थित है, ऐसा जानते हैं।

ऐसे अर्थसे भरे हुए ये दो पद हैं; वे पद तो भक्ति प्रधान हैं, तथापि उस प्रकारसे गूढ़ आशयमें जीवका निदिध्यासन न हो तो क्वचित् अन्य ऐसा पद ज्ञानप्रधान जैसा भासित होता है, और आपको भासित होगा ऐसा जानकर उस दूसरे पदका वैसा भास बाधित करनेके लिये पत्र पूर्ण करते हुए फिर मात्र प्रथमका एक ही पद लिखकर प्रधानरूपसे भक्तिको बताया है।

भक्तिप्रधान दशामें रहनेसे जीवके स्वच्छंदादि दोष सुगमतासे विलय होते हैं; ऐसा ज्ञानी-पुरुषोंका प्रधान आशय है।

यदि जीवमें अल्प भी निष्काम भक्ति उत्पन्न हुई होती है तो वह अनेक दोषोंसे निवृत्त करनेके लिये योग्य होती है। अल्प ज्ञान अथवा ज्ञानप्रधानदशा असुगम मार्गके प्रति, स्वच्छंदादि दोषके प्रति, अथवा पदार्थसंबंधी भ्रांतिके प्रति ले जाता है, प्रायः ऐसा होता है; उसमें भी इस कालमें तो बहुत काल तक जीवनपर्यंत भी जीवको भक्तिप्रधानदशाकी आराधना करना योग्य है; ऐसा निश्चय ज्ञानियोंने किया ज्ञात होता है। (हमें ऐसा लगता है, और ऐसा ही है।)

हृदयमें जो मूर्त्तिसंबंधी दर्शन करनेकी आपकी इच्छा है, उसे प्रतिबंध करनेवाली प्रारब्ध स्थिति (आपकी) है, और उस स्थितिके परिपक्व होनेमें अभी देर है। और उस मूर्तिकी प्रत्यक्षतामें तो अभी गृहाश्रम है; और चित्रपटमें संन्यस्ताश्रम है, यह एक ध्यानका दूसरा मुख्य प्रतिबंध है। उस मूर्तिसे उस आत्मस्वरूप पुरुषकी दशा पुनः पुनः उसके वाक्यादिके अनुसंधानमें विचारणीय है, और उसका उस हृदयदर्शनसे भी बड़ा फल है। इस बातको यहाँ संक्षिप्त करना पड़ता है।

'भृंगी इलिकाने चटकावे, ते भृंगी जग जोवे रे।"

यह पद्य परंपरागत है। ऐसा होना किसी प्रकारसे संभव है, तथापि उसे प्रोफेसरके गवेषणके अनुसार मानें कि वैसा नहीं होता, तो भी इसमें कोई हानि नहीं है, क्योंकि दृष्टांत वैसा प्रभाव उत्पन्न करने योग्य है, तो फिर सिद्धांतका ही अनुभव या विचार कर्तव्य है। प्रायः इस दृष्टांतसंबंधी किसीको ही विकल्प होगा। इसलिये यह दृष्टांत मान्य है, ऐसा लगता है। लोकदृष्टिसे अनुभवगम्य है, इसलिये सिद्धांतमें उसकी प्रबलता समझकर महापुरुष यह दृष्टांत देते आये हैं और हम किसी प्रकारसे वैसा होना संभव भी समझते हैं। एक समयके लिये भी कदाचित् यह दृष्टांत सिद्ध न हो ऐसा प्रमाणित हो, तो भी तीनों कालमें निराबाध, अखण्ड-सिद्ध ऐसी बात उसके सिद्धांतपदकी तो है।

[1]'जिन स्वरूप थई जिन आराधे, ते सही जिनवर होवे रे।'

आनन्दघनजी और अन्य सभी ज्ञानी पुरुष ऐसे ही कहते हैं, और जिनेन्द्र कुछ अन्य ही प्रकार कहते हैं कि अनन्त बार जिनसंबंधी भक्ति करनेपर भी जीवका कल्याण नहीं हुआ; जिनमार्गमें अपनेको माननेवाले स्त्री पुरुष ऐसा कहते हैं कि हम जिनेंद्रकी आराधना करते हैं, और उसकी आराधना करने जाते हैं, अथवा आराधनाके उपाय अपनाते हैं, वैसा होनेपर भी वे जिनवर हुए दिखायी नहीं देते, तीनों कालमें अखण्ड ऐसा यह सिद्धांत यहाँ खंडित हो जाता है, तब यह बात विकल्प करने योग्य क्यों नहीं ??

निष्काम यथायोग्य।

---

१. देखे आंक ३८७ अर्थके लिये।

३९५ बंबई, श्रावण वदी, १९४८

ॐ

'तेम श्रुतधर्मे रे मन दृढ धरे, ज्ञानाक्षेपकवंत'

जिसका विचारज्ञान विक्षेपरहित हुआ है, ऐसा 'ज्ञानाक्षेपकवंत' आत्मकल्याणकी इच्छावाला पुरुष हो वह ज्ञानीमुखसे श्रवण किये हुए आत्मकल्याणरूप धर्ममें निश्चल परिणामसे मनको धारण करता है, यह सामान्य भाव उपर्युक्त पदका है।

उस निश्चल परिणामका स्वरूप वहाँ कैसे घटित होता है यह पहले ही बता दिया है कि जैसे दूसरे घर काम करते हुए भी पतिव्रता स्त्रीका मन अपने प्रिय स्वामीमें रहता है वैसे। जिस पदका विशेष अर्थ आगे लिखा है, उसे स्मरणमें लाकर सिद्धांतरूप उपर्युक्त पदमें संधीभूत करना योग्य है क्यों कि 'मन महिलानुं वहाला उपरे' यह पद दृष्टांतरूप है।

अत्यंत समर्थ सिद्धांतका प्रतिपादन करते हुए जीवके परिणाममें वह सिद्धांत स्थित होनेके लिये समर्थ दृष्टांत देना ठीक है, ऐसा जानकर ग्रंथकर्ता उस स्थानपर जगतमें, संसारमें प्रायः मुख्य पुरुषके प्रति स्त्रीका 'क्लेशादि भाव' रहित जो काम्यप्रेम है उसी प्रेमको सत्पुरुषसे श्रवण किये हुए धर्ममें परिणमित करनेको कहते हैं। उस सत्पुरुष द्वारा श्रवणप्राप्त धर्ममें, दूसरे सब पदार्थोंमें रहे हुए प्रेमसे उदासीन होकर, एक लक्षसे, एक ध्यानसे, एक लयसे, एक स्मरणसे, एक श्रेणिसे, एक उपयोगसे, एक परिणामसे सर्व वृत्तिमें रहे हुए काम्यप्रेमको मिटाकर, श्रुतधर्मरूप करनेका उपदेश किया है। इस काम्यप्रेमसे अनन्तगुणविशिष्ट श्रुतप्रेम करना उचित है। तथापि दृष्टांत परिसीमा नहीं कर सका, जिससे दृष्टांतकी परिसीमा जहाँ हुई वहाँ तकका प्रेम कहा है। सिद्धांत वहाँ परिसीमाको प्राप्त नहीं किया है।

अनादिसे जीवको संसाररूप अनंत परिणति प्राप्त होनेसे असंसारत्वरूप किसी अंशका उसे बोध नहीं है। अनेक कारणोंका योग प्राप्त होनेपर उस अंशदृष्टिको प्रगट करनेका योग प्राप्त हुआ तो उस विषम संसारपरिणतिके आड़े आनेसे उसे वह अवकाश प्राप्त नहीं होता; जब तक वह अवकाश प्राप्त नहीं होता तब तक जीव स्वप्राप्तिभानके योग्य नहीं है। जब तक वह प्राप्ति नहीं होती तब तक जीवको किसी प्रकारसे सुखी कहना योग्य नहीं है, दुःखी कहना योग्य है, ऐसा देखकर जिन्हें अत्यंत अनन्त करुणा प्राप्त हुई है, ऐसे आप्तपुरुषने दुःख मिटनेका मार्ग जाना है जिसे वे कहते थे, कहते हैं, भविष्यकालमें कहेंगे। वह मार्ग यह है कि जिनमें जीवकी स्वाभाविकता प्रगट हुई है, जिनमें जीवका स्वाभाविक सुख प्रगट हुआ है; ऐसे ज्ञानीपुरुष ही उस अज्ञानपरिणति और उससे प्राप्त होनेवाले दुःखपरिणामको दूरकर आत्माको स्वाभाविकरूपसे समझा सकने योग्य है; कह सकने योग्य है; और वह वचनस्वाभाविक आत्मज्ञानपूर्वक होनेसे दुःख मिटानेमें समर्थ है। इसलिये यदि किसी भी प्रकारसे जीवको उस वचनका श्रवण प्राप्त हो, उसे अपूर्वभावरूप जानकर उसमें परम प्रेम रहे, तो तत्काल अथवा अमुक अनुक्रमसे आत्माकी स्वाभाविकता प्रगट होती है।

---

३९६ बंबई, श्रावण वदी, १९४८

ॐ

अन-अवकाश आत्मस्वरूप रहता है; जिसमें प्रारब्धोदयके सिवाय दूसरा कोई अवकाश-योग नहीं है।

उस उदयमें क्वचित् परमार्थभाषा कहनेका योग उदयमें आता है, क्वचित् परमार्थभाषा लिखनेका योग उदयमें आता है, और क्वचित् परमार्थभाषा समझानेका योग उदयमें आता है। अभी तो वैश्यदशाका

योग विशेषरूपसे उदयमें रहता है; और जो कुछ उदयमें नहीं आता उसे कर सकनेकी अभी तो असमर्थता है।

जीवितव्यको मात्र उदयाधीन करनेसे, होनेसे विषमता मिटी है। आपके प्रति, अपने प्रति, अन्यके प्रति किसी प्रकारका वैभाविक भाव प्रायः उदयको प्राप्त नहीं होता; और इसी कारणसे पत्रादि कार्य करनेरूप परमार्थभाषा-योगसे अवकाश प्राप्त नहीं है ऐसा लिखा है, वह वैसा ही है।

पूर्वोपार्जित स्वाभाविक उदयके अनुसार देहस्थिति है; आत्मरूपसे उसका अवकाश अत्यंताभावरूप है।

उस पुरुषके स्वरूपको जानकर उसकी भक्तिके सत्संगका महान फल है, जो मात्र चित्रपटके योगसे, ध्यानसे नहीं है।

जो उस पुरुषके स्वरूपको जानता है, उसे स्वाभाविक अत्यंत शुद्ध आत्मस्वरूप प्रगट होता है। उसके प्रगट होनेका कारण उस पुरुषको जानकर सर्व प्रकारकी संसारकामनाका परित्याग करके—असंसार—परित्यागरूप करके—शुद्ध भक्तिसे वह पुरुषस्वरूप विचारने योग्य है। चित्रपटकी प्रतिमाके हृदय-दर्शनसे उपर्युक्त 'आत्मस्वरूपकी प्रगटता' रूप महान फल है, यह वाक्य निर्विसंवादी जानकर लिखा है।

'मन महिलानुं वहाला उपरे, बीजां काम करंत' इस पदके विस्तारवाले अर्थको आत्मपरिणामरूप करके उस प्रेमभक्तिको सत्पुरुषमें अत्यंतरूपसे करना योग्य है, ऐसा सब तीर्थंकरोंने कहा है, वर्तमानमें कहते हैं और भविष्यमें भी ऐसा ही कहेंगे।

उस पुरुषसे प्राप्त हुई उसकी आत्मपद्धतिसूचक भाषामें जिसका विचारज्ञान अक्षेपक हुआ है, ऐसा पुरुष, वह उस पुरुषको आत्मकल्याणका कारण समझकर, वह श्रुत (श्रवण) धर्ममें मन (आत्मा) को धारण (उस रूपसे परिणाम) करता है। वह परिणाम कैसा करना योग्य है? 'मन महिलानुं रे वहाला उपरे, बीजां काम करंत' यह दृष्टांत देकर उसका समर्थन किया है।

घटित तो इस तरह होता है कि पुरुषके प्रति स्त्रीका काम्यप्रेम संसारके दूसरे भावोंकी अपेक्षा शिरोमणि है, तथापि उस प्रेमसे अनंतगुणविशिष्ट प्रेम, सत्पुरुषसे प्राप्त हुए आत्मरूप श्रुतधर्ममें करना योग्य है; परंतु उस प्रेमका स्वरूप जहाँ अदृष्टांतता—दृष्टान्ताभावको प्राप्त होता है, वहाँ बोधका अवकाश नहीं है ऐसा समझकर उस श्रुतधर्मके लिये भरतारके प्रति स्त्रीके काम्यप्रेमका परिसीमाभूत दृष्टांत दिया है। सिद्धांत वहाँ परिसीमाको प्राप्त नहीं होता। इसके आगे सिद्धांत वाणीके पीछेके परिणामको पाता है अर्थात् वाणीसे अतीत-परे हो जाता है और आत्मव्यक्तिसे ज्ञात होता है, ऐसा है।

---

३९७ बंबई, श्रावण वदी ११, गुरु, १९४८

शुभेच्छासम्पन्न भाई त्रिभोवन, स्थंभतीर्थ।

आत्मस्वरूपमें स्थिति है ऐसा जो.....उसके निष्काम स्मरणपूर्वक यथायोग्य पढ़ियेगा। उस तरफका 'आज क्षायिकसमकित नहीं होता' इत्यादि संबंधी व्याख्यानके प्रसंगका आपका लिखा पत्र प्राप्त हुआ है। जो जीव उस उस प्रकारसे प्रतिपादन करते हैं, उपदेश करते हैं, और उस संबंधी विशेषरूपसे जीवोंको प्रेरणा करते हैं, वे जीव यदि उतनी प्रेरणा, गवेषणा जीवके कल्याणके विषयमें करेंगे तो उस प्रश्नके समाधान होनेका कभी भी उन्हें प्रसंग प्राप्त होगा। उन जीवोंके प्रति दोषदृष्टि करना योग्य नहीं है, केवल

निष्काम करुणासे उन जीवोंको देखना योग्य है। तत्संबंधी किसी प्रकारका खेद चित्तमें लाना योग्य नहीं है, उस उस प्रसंगमें जीवको उनके प्रति क्रोधादि करना योग्य नहीं है। उन जीवोंको उपदेशद्वारा समझानेका कदाचित् आपको विचार होता हो, तो भी उसके लिये आप वर्तमान दशासे देखते हुए तो निरुपाय है, इसलिये अनुकंपाबुद्धि और समताबुद्धिसे उन जीवोंके प्रति सरल परिणामसे देखना और ऐसी ही इच्छा करना, और यही परमार्थमार्ग है, ऐसा निश्चय रखना योग्य है।

अभी उन्हें जो कर्मसंबंधी आवरण है, उसे भंग करनेकी यदि उन्हें ही चिंता उत्पन्न हो तो फिर आपसे अथवा आप जैसे दूसरे सत्संगीके मुखसे कुछ भी श्रवण करनेकी वारंवार उन्हें उल्लास वृत्ति उत्पन्न होगी, और किसी आत्मस्वरूप सत्पुरुषके योगसे मार्गकी प्राप्ति होगी, परंतु ऐसी चिंता उत्पन्न होनेका यदि उन्हें समीप योग हो तो अभी वे ऐसी चेष्टामें न रहेंगे। और जब तक जीवकी उस प्रकारकी चेष्टा है तब तक तीर्थंकर जैसे ज्ञानीपुरुषका वाक्य भी उसके लिये निष्फल होता है, तो आप आदिके वाक्य निष्फल हों, और उन्हें क्लेशरूप भासित हों, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं, ऐसा समझकर ऊपर प्रदर्शित अंतरंग भावनासे उनके प्रति बर्ताव करना, और किसी प्रकारसे भी उन्हें आपसंबंधी क्लेशका कम कारण प्राप्त हो, ऐसा विचार करना इस मार्गमें योग्य माना गया है।

फिर एक और सूचना स्पष्टरूपसे लिखना योग्य प्रतीत होता है, इसलिये लिखते हैं। वह यह है कि हमने पहिले आप इत्यादिको बताया था कि यथासंभव हमारे संबंधी दूसरे जीवोंसे कम बात करना। इस अनुक्रममें बर्ताव करनेके ध्यानका विसर्जन हुआ हो तो अब फिरसे स्मरण रखना। हमारे संबंधमें और हमारे कहे या लिखे हुए वाक्योंके संबंधमें ऐसा करना योग्य है, और अभी इसके कारणोंको आपको स्पष्ट बताना योग्य नहीं है। तथापि यदि अनुक्रमसे अनुसरण करनेमें उसका विसर्जन होता हो तो दूसरे जीवोंको क्लेशादिका कारण हो जाता है, यह भी अब 'क्षायिककी चर्चा' इत्यादि प्रसंगसे आपके अनुभवमें आ गया है। जो कारण जीवको प्राप्त होनेसे कल्याणका कारण हों उन जीवोंको इस भवमें उन कारणोंकी प्राप्ति होती हुई रुक जाती है, क्योंकि वे तो अपनी अज्ञानतासे न पहचाने हुए सत्पुरुषसंबंधी आप इत्यादिसे प्राप्त हुई बातसे वे सत्पुरुषके प्रति विमुखताको प्राप्त होते हैं, उसके विषयमें आग्रहपूर्वक अन्य अन्य चेष्टाएँ कल्पित करते हैं, और फिर वैसा योग होनेपर वैसी विमुखता प्रायः प्रबलताको प्राप्त होती है। ऐसा न होने देनेके लिये और इस भवमें यदि उन्हें वैसा योग अज्ञानतासे प्राप्त हो जाये तो कदाचित् श्रेयको प्राप्त करेंगे, ऐसी धारणा रखकर, अंतरंगमें ऐसे सत्पुरुषको प्रगट रखकर बाह्यरूपसे गुप्तता रखना अधिक योग्य है। वह गुप्तता मायाकपट नहीं है; क्योंकि वैसा बर्ताव करनेमें मायाकपटका हेतु नहीं है, उनके भविष्यकल्याणका हेतु है; जो वैसा होता है वह मायाकपट नहीं होता, ऐसा समझते हैं।

जिसे दर्शनमोहनीय उदयमें प्रबलतासे है, ऐसे जीवको अपनी ओरसे सत्पुरुषादिके विषयमें मात्र अवज्ञापूर्वक बोलनेका प्रसंग प्राप्त न हो, इतना उपयोग रखकर बर्ताव करना, यह उसके और उपयोग रखनेवाले दोनोंके कल्याणका कारण है।

ज्ञानीपुरुषकी अवज्ञा बोलना तथा उस प्रकारके प्रसंगमें उमंगी होना, यह जीवके अनंत संसार बढ़नेका कारण है, ऐसा तीर्थंकर कहते हैं। उस पुरुषके गुणगान करना, उस प्रसंगमें उमंगी होना और उसकी आज्ञामें सरल परिणामसे परम उपयोग-दृष्टिसे वर्तन करना, इसे तीर्थंकर अनंत संसारका नाश करनेवाला कहते हैं; और ये वाक्य जिनागममें हैं। बहुतसे जीव इन वाक्योंका श्रवण करते होंगे, तथापि जिन्होंने प्रथम वाक्यको अफल और दूसरे वाक्यको सफल किया हो ऐसे जीव तो क्वचित् ही देखनेमें

आते है। प्रथम वाक्यको सफल और दूसरे वाक्यको अफल, ऐसा जीवने अनंत बार किया है। वैसे परिणाममें आनेमें उसे देर नहीं लगती, क्योंकि अनादिकालसे मोह नामकी मदिरा उसके 'आत्मा'में परिणमित हुई है, इसलिये वारंवार विचार कर वैसे वैसे प्रसंगमें यथाशक्ति, यथाबलवीर्य ऊपर दर्शित किये हुए प्रकारसे वर्तन करना योग्य है।

कदाचित् ऐसा मान लें कि 'क्षायिकसमकित इस कालमें नहीं होता', ऐसा जिनागममें स्पष्ट लिखा है। अब जीवको यह विचार करना योग्य है कि 'क्षायिकसमकितका अर्थ क्या समझना ?' जिसे एक नवकारमंत्र जितना भी व्रत, प्रत्याख्यान नहीं होता, फिर भी वह जीव विशेष तो तीन भवमें और नहीं तो उसी भवमें परम पदको पाता है, ऐसी महान आश्चर्यकारक तो उस समकितकी व्याख्या है; फिर अब ऐसी वह कौनसी दशा समझना कि जिसे 'क्षायिकसमकित' कहा जाये ? 'भगवान तीर्थंकरमें दृढ़ श्रद्धा'का नाम यदि 'क्षायिकसमकित' मानें तो वह श्रद्धा कैसी समझना कि जो श्रद्धा हम जानते हैं कि निश्चितरूपसे इस कालमें होती ही नहीं। यदि ऐसा मालूम नहीं होता कि अमुक दशा या अमुक श्रद्धाको 'क्षायिकसमकित' कहा है, तो फिर वह नहीं है, ऐसा केवल जिनागमके शब्दोंसे जानना हुआ यों कहते हैं। अब ऐसा मानें कि वे शब्द अन्य आशयसे कहे गये हैं, अथवा किसी पिछले कालके विसर्जन-दोषसे लिखे गये हैं तो जिस जीवने इस विषयमें आग्रहपूर्वक प्रतिपादन किया हो वह जीव कैसे दोषको प्राप्त होगा यह सखेद करुणासे विचार करने योग्य है।

अभी जिन्हें जिनसूत्रोंके नामसे जाना जाता है, उनमें 'क्षायिकसमकित नहीं है', ऐसा स्पष्ट लिखा नहीं है; और परंपरागत तथा दूसरे कितने ही ग्रंथोंमें यह बात चली आती है ऐसा पढ़ा है, और सुना है; और यह वाक्य मिथ्या है या मृषा है, ऐसा हमारा अभिप्राय नहीं है; और वह वाक्य जिस प्रकारसे लिखा है, वह एकांत अभिप्रायसे ही लिखा है, ऐसा हमें नहीं लगता। कदाचित् ऐसा मानें कि वह वाक्य एकांत ही है तो भी किसी भी प्रकारसे व्याकुलता करना योग्य नहीं है। क्योंकि यदि इन सभी व्याख्याओंको सत्पुरुषके आशयसे नहीं जाना तो फिर सफल नहीं है। कदाचित् ऐसा मानें कि इसके बदले जिनागममें लिखा हो कि चौथे कालकी भाँति पाँचवें कालमें भी बहुतसे जीव मोक्षमें जानेवाले हैं, तो इस बातका श्रवण आपके लिये और हमारे लिये कुछ कल्याणकारी नहीं हो सकता, अथवा मोक्षप्राप्तिका कारण नहीं हो सकता; क्योंकि वह मोक्षप्राप्ति जिस दशामें कही हैं, उसी दशाकी प्राप्ति ही सिद्ध है, उपयोगी है, कल्याणकर्त्ता है। श्रवण तो मात्र बात है, उसी प्रकार उससे प्रतिकूल वाक्य भी मात्र बात है। वे दोनों लिखी हों, अथवा एक ही लिखी हो अथवा व्यवस्थाके बिना रखा हो; तो भी वह बंध अथवा मोक्षका कारण नहीं है। मात्र बंधदशा बंध है, मोक्षदशा मोक्ष है, क्षायिकदशा क्षायिक है, अन्यदशा अन्य है, श्रवण श्रवण है, मनन मनन है, परिणाम परिणाम है, प्राप्ति प्राप्ति है, ऐसा सत्पुरुषोंका निश्चय है। बंध मोक्ष नहीं है, और मोक्ष बंध नहीं है, जो जो है वह वह है, जो जिस स्थितिमें है, वह उस स्थितिमें है। बंधबुद्धि टली नहीं है और मोक्ष—जीवन्मुक्तता—माननेमें आये तो यह जैसे सफल नहीं है, वैसे ही अक्षायिकदशासे क्षायिक माननेमें आये, तो वह भी सफल नहीं है। माननेका फल नहीं है परंतु दशाका फल है।

जब यह स्थिति है तो फिर अब हमारा आत्मा अभी किस दशामें है, और वह क्षायिकसमकिती जीवकी दशाका विचार करनेके योग्य है या नहीं, अथवा उससे उतरती या उससे चढ़ती दशाका विचार यह जीव यथार्थ कर सकता है या नहीं ? इसीका विचार करना जीवके लिये श्रेयस्कर है। परंतु अनन्तकालसे जीवने वैसा विचार नहीं किया है, उसे वैसा विचार करना योग्य है ऐसा भासित भी नहीं

हुआ, और निष्फलतापूर्वक सिद्धपद तकका उपदेश यह जीव अनंत बार कर चुका है, वह उपर्युक्त प्रकारका विचार किये बिना कर चुका है, विचारकर—यथार्थ विचार कर—नहीं कर चुका है। जैसे पूर्वकालमें जीवने यथार्थ विचारके बिना वैसा किया है, वैसे ही उस दशा (यथार्थ विचारदशा) के बिना वर्तमानमें वैसा करता है। जब तक जीवको अपने बोधके बलका भान नहीं आयेगा तब तक वह भविष्यमें भी इसी तरह प्रवृत्ति करता रहेगा। किसी भी महा पुण्यके योगसे जीव पीछे हटकर, तथा वैसे मिथ्या-उपदेशके प्रवर्तनसे अपना बोधबल आवरणको प्राप्त हुआ है, ऐसा समझकर उसके प्रति सावधान होकर निरावरण होनेका विचार करेगा, तब वैसा उपदेश करनेसे, दूसरेको प्रेरणा देनेसे और आग्रहपूर्वक कहनेसे रुकेगा। अधिक क्या कहें ? एक अक्षर बोलते हुए अतिशय-अतिशय प्रेरणा करते हुए भी वाणी मौनको प्राप्त होगी; और उस मौनको प्राप्त होनेसे पहले जीव एक अक्षर सत्य बोल पाये, ऐसा होना अशक्य है; यह बात किसी भी प्रकारसे तीनों कालोंमें संदेहपात्र नहीं है।

तीर्थंकरने भी ऐसा ही कहा है, और वह अभी उनके आगममें भी है, ऐसा ज्ञात है। कदाचित' आगममें तथाकथित अर्थ न रहा हो, तो भी ऊपर बताये हुए शब्द आगम ही हैं, जिनागम ही हैं। राग, द्वेष और अज्ञान, इन तीनों कारणोंसे रहित होकर ये शब्द प्रगट लिखे गये हैं, इसलिये सेवनीय हैं।

थोड़े ही वाक्योंमें लिखनेका सोचा था ऐसा यह पत्र विस्तृत हो गया है, और बहुत ही संक्षेपमें उसे लिखा है, फिर भी कितने ही प्रकारसे अपूर्ण स्थितिमें यह पत्र यहाँ परिसमाप्त करना पड़ता है।

आपको तथा आप जैसे दूसरे जिन जिन भाइयोंका प्रसंग है उन्हें यह पत्र, विशेषतः प्रथम भाग वैसे प्रसंगमें स्मरणमें रखना योग्य है, और बाकीका दूसरा भाग आपको और दूसरे मुमुक्षु जीवोंको वारंवार विचारना योग्य है। यहाँ उदय-गर्भमें स्थित समाधि है।

कृष्णदासके संगमें 'विचारसागर' के थोड़े भी तरंग पढ़नेका प्रसंग मिले तो लाभरूप है। कृष्णदासको आत्मस्मरणपूर्वक यथायोग्य। "प्रारब्ध देही"

---

३९८ बंबई, श्रावण वदी १४, रवि, १९४८

ॐ

स्वस्तिश्री सायला ग्राम शुभस्थानमें स्थित परमार्थके अखण्ड निश्चयी, निष्काम स्वरूप (.....)के वारंवार स्मरणरूप, मुमुक्षु पुरुषोंके द्वारा अनन्य प्रेमसे सेवन करने योग्य, परम सरल और शांतमूर्ति श्री 'सुभाग्य' के प्रति,

श्री 'मोहमयी' स्थानसे निष्कामस्वरूप तथा स्मरणरूप सत्पुरुषके विनयपूर्वक यथायोग्य प्राप्त हो।

जिनमें प्रेमभक्ति प्रधान निष्कामरूपसे है, ऐसे आपसे लिखित बहुतसे पत्र अनुक्रमसे प्राप्त हुए हैं। आत्माकारस्थिति और उपाधियोगरूप कारणसे मात्र उन पत्रोंकी पहुँच लिखी जा सकी है।

यहाँ श्री रेवाशंकरकी शारीरिक स्थिति यथायोग्यरूप रहती न होनेसे, और व्यवहार संबंधी कामकाजके बढ़ जानेसे उपाधियोग भी विशेष रहा है, और रहता है, जिससे इस चातुर्मासमें बाहर निकलना अशक्य हुआ है, और इसके कारण आपका निष्काम समागम प्राप्त नहीं हो सका। फिर दिवालीके पहले वैसा योग प्राप्त होना सम्भव नहीं हैं।

आपके लिखे कितने ही पत्रोंमें जीवादिके स्वभाव और परभावके बहुतसे प्रश्न आते थे, उनके उत्तर इस कारणसे लिखे नहीं जा सके। दूसरे भी जिज्ञासुओंके पत्र इस दौरान बहुत मिले हैं। प्रायः उनके लिये भी वैसा ही हुआ है।

अभी जो उपाधियोग प्राप्त हो रहा है, यदि उस योगका प्रतिबंध त्यागनेका विचार करें तो वैसा हो सकता है; तथापि उस उपाधियोगको भोगनेसे जो प्रारब्ध निवृत्त होनेवाला है, उसे उसी प्रकारसे भोगनेके सिवाय दूसरी इच्छा नहीं होती; इसलिये उसी योगसे उस प्रारब्धको निवृत्त होने देना योग्य है, ऐसा समझते हैं, और वैसी स्थिति है।

शास्त्रोंमें इस कालको अनुक्रमसे क्षीणता योग्य कहा है; और वैसे ही अनुक्रमसे हुआ करता है। यह क्षीणता मुख्यतः परमार्थ संबंधी कही है। जिस कालमें अत्यंत दुर्लभतासे परमार्थकी प्राप्ति हो वह काल दुःषम कहने योग्य है। यद्यपि सर्व कालमें जिनसे परमार्थप्राप्ति होती है, ऐसे पुरुषोंका योग दुर्लभ ही है, तथापि ऐसे कालमें तो अत्यंत दुर्लभ होता है। जीवोंकी परमार्थवृत्ति क्षीण परिणामको प्राप्त होती जा रही है, जिससे उनके प्रति ज्ञानीपुरुषोंके उपदेशका बल भी कम होता जाता है, और इससे परंपरासे वह उपदेश भी क्षीणताको प्राप्त हो रहा है, इसलिये परमार्थमार्ग अनुक्रमसे व्यवच्छेद होने योग्य काल आ रहा है।

इस कालमें और उसमें भी लगभग वर्तमान सदीसे मनुष्यकी परमार्थवृत्ति बहुत क्षीणताको प्राप्त हुई है, और यह बात प्रत्यक्ष है। सहजानन्दस्वामीके समय तक मनुष्योंमें जो सरलवृत्ति थी, उसमें और आजकी सरलवृत्तिमें बड़ा अंतर हो गया है। तब तक मनुष्योंकी वृत्तिमें कुछ कुछ आज्ञाकारित्व, परमार्थकी इच्छा और तत्संबंधी निश्चयमें दृढ़ता जैसे थे, वैसे आज नहीं हैं; उसकी अपेक्षा तो आज बहुत क्षीणता हो गयी है। यद्यपि अभी तक इस कालमें परमार्थवृत्ति सर्वथा व्यवच्छेदप्राप्त नहीं हुई है, तथा भूमि सत्पुरुषरहित नहीं हुई है, तो भी यह काल उस कालकी अपेक्षा अधिक विषम है, बहुत विषम है, ऐसा जानते हैं।

कालका ऐसा स्वरूप देखकर हृदयमें बड़ी अनुकंपा अखंडरूपसे रहा करती है। अत्यंत दुःखकी निवृत्तिका उपायभूत जो सर्वोत्तम परमार्थ है उस संबंधी वृत्ति जीवोंमें किसी भी प्रकारसे कुछ भी वर्धमानताको प्राप्त हो, तभी उन्हें सत्पुरुषकी पहचान होती है, नहीं तो नहीं होती। वह वृत्ति सजीवन हो और किन्हीं भी जीवोंको—बहुतसे जीवोंको—परमार्थसंबंधी मार्ग प्राप्त हो, ऐसी अनुकंपा अखंडरूपसे रहा करती है; तथापि वैसे होना बहुत दुष्कर समझते हैं और उसके कारण भी ऊपर बतलाये हैं।

जिस पुरुषकी दुर्लभता चौथे कालमें थी वैसे पुरुषका योग इस कालमें होने जैसा हुआ है, तथापि जीवोंकी परमार्थसंबंधी चिंता अत्यंत क्षीण हो गयी है; इसलिये उस पुरुषकी पहचान होना अत्यंत विकट है। उसमें भी जिस गृहवासादि प्रसंगमें उस पुरुषकी स्थिति है, उसे देखकर जीवको प्रतीति आना दुर्लभ है, अत्यंत दुर्लभ है; और कदाचित् प्रतीति आयी, तो उसका जो प्रारब्ध प्रकार अभी प्रवर्तमान है, उसे देखकर निश्चय रहना दुर्लभ है, और कदाचित् निश्चय हो जाये तो भी उसका सत्संग रहना दुर्लभ है; और जो परमार्थका मुख्य कारण है वह तो यही है। इसे ऐसी स्थितिमें देखकर ऊपर बताये हुए कारणोंको अधिक बलवानरूपमें देखते हैं; और यह बात देखकर पुनः पुनः अनुकंपा उत्पन्न होती है।

'ईश्वरेच्छासे' जिन किन्हीं भी जीवोंका कल्याण वर्तमानमें भी होना सर्जित होगा, वह तो वैसे होगा, और वह दूसरेसे नहीं परंतु **हमसे,** ऐसा भी यहाँ मानते हैं। तथापि जैसी हमारी अनुकम्पासंयुक्त इच्छा है, वैसी परमार्थ विचारणा और परमार्थप्राप्ति जीवोंको हो वैसा योग किसी प्रकारसे कम हुआ है, ऐसा मानते हैं। गंगा यमुनादिके प्रदेशमें अथवा गुजरात देशमें यदि यह देह उत्पन्न हुई होती, वहाँ वर्धमानताको प्राप्त हुई होती, तो वह एक बलवान कारण था ऐसा जानते हैं। फिर प्रारब्धमें गृहवास बाकी न होता और ब्रह्मचर्य, वनवास होता तो वह दूसरा बलवान कारण था, ऐसा जानते हैं। कदाचित् गृहवास बाकी

होता और उपाधियोगरूप प्रारब्ध न होता तो यह परमार्थके लिये तीसरा बलवान कारण था ऐसा जानते हैं। पहले कहे हुए दो कारण तो हो चुके हैं; इसलिये अब उनका निवारण नहीं है। तीसरा उपाधियोगरूप जो प्रारब्ध है वह शीघ्रतासे निवृत्त हो, और निष्काम करुणाके हेतुसे वह भोगा जाये, तो वैसा होना अभी बाकी है, तथापि वह भी अभी विचारयोग्य स्थितिमें है। अर्थात् उस प्रारब्धका सहजमें प्रतिकार हो जाये, ऐसी ही इच्छाकी स्थिति है, अथवा तो विशेष उदयमें आकर थोड़े कालमें उस प्रकारका उदय परिसमाप्त हो जाये, तो वैसी निष्काम करुणाकी स्थिति है; और इन दो प्रकारोंमें तो अभी उदासीनरूपसे अर्थात् सामान्यरूपसे रहना है, ऐसी आत्मसम्भावना है; और इस संबंधी महान विचार वारंवार रहा करता है।

जब तक उपाधियोग परिसमाप्त न हो तब तक परमार्थ किस प्रकारके सम्प्रदायसे कहना, इसे मौनमें और अविचार अथवा निर्विचारमें रखा है, अर्थात् अभी वह विचार करनेके विषयमें उदासीनता रहती है।

आत्माकार स्थिति हो जानेसे चित्त प्रायः एक अंश भी उपाधियोगका वेदन करने योग्य नहीं है, तथापि वह तो जिस प्रकारसे वेदन करना प्राप्त हो उसी प्रकारसे वेदन करता है, इसलिये उसमें समाधि है। परंतु किन्हीं जीवोंसे परमार्थ संबंधी प्रसंग आता है उन्हें उस उपाधियोगके कारणसे हमारी अनुकंपाके अनुसार लाभ नहीं मिलता; और परमार्थ संबंधी आपकी लिखी हुई कुछ बात आती है, वह भी मुश्किलसे चित्तमें प्रवेश पाती है, कारण कि उसका अभी उदय नहीं है। इससे पत्रादिके प्रसंगसे आपके सिवाय दूसरे मुमुक्षु जीवोंको इच्छित अनुकंपासे परमार्थवृत्ति दी नहीं जा सकती, यह भी बहुत बार चित्तको खलता है।

चित्त बंधनवाला न हो सकनेसे जो जीव संसारके संबंधसे स्त्री आदि रूपमें प्राप्त हुए हैं उन जीवोंकी इच्छाको भी क्लेश पहुँचानेकी इच्छा नहीं होती, अर्थात् उसे भी अनुकंपासे और माता-पिता आदिके उपकारादि कारणोंसे उपाधियोगका प्रबलतासे वेदन करते हैं; और जिस जिसकी जो कामना है वह वह प्रारब्धके उदयमें जिस प्रकारसे प्राप्त होना सर्जित है उस प्रकारसे प्राप्त होने तक निवृत्ति ग्रहण करते हुए भी जीव 'उदासीन' रहता है; इसमें किसी प्रकारकी हमारी सकामता नहीं है, हम इन सबमें निष्काम ही हैं, ऐसा है। तथापि प्रारब्ध उस प्रकारका बंधन रखनेके लिये उदयमें रहता है, इसे भी दूसरे मुमुक्षुकी परमार्थवृत्ति उत्पन्न करनेमें अवरोधरूप मानते हैं।

जबसे आप हमें मिले है, तबसे यह बात कि जो ऊपर अनुक्रमसे लिखी है, वह बतानेकी इच्छा थी, परंतु उसका उदय उस प्रकारमें नहीं था, इसलिये वैसा नहीं हो सका; अब वह उदय बताने योग्य होनेसे संक्षेपसे बताया है, जिसे वारंवार विचार करनेके लिये आपको लिखा है। बहुत विचार करके सूक्ष्मरूपसे हृदयमें निर्धार रखने योग्य प्रकार इसमें लिखा गया है। आप और गोशलियाके सिवाय इस पत्रका विवरण जाननेके योग्य अन्य जीव अभी आपके पास नहीं है, इतनी बात स्मरण रखनेके लिये लिखी है। किसी बातमें शब्दोंके संक्षेपसे यह भासित होना सम्भव हो कि अभी हमें किसी प्रकारकी कुछ संसारसुखवृत्ति है, तो वह अर्थ फिर विचार करने योग्य है। निश्चय है कि तीनों कालमें हमारे संबंधमें वह भासित होना आरोपित समझने योग्य है; अर्थात् संसारसुखवृत्तिसे निरंतर उदासीनता ही है। ये वाक्य, आपका हमारे प्रति कुछ कम निश्चय है अथवा होगा तो निवृत्त हो जायेगा ऐसा समझकर नहीं लिखे हैं, अन्य हेतुसे लिखे हैं। इस प्रकारसे यह विचार करने योग्य, वारंवार विचार करके हृदयमें निर्धार करने योग्य वार्ता संक्षेपसे यहाँ तो परिसमाप्त होती है।

इस प्रसंगके सिवाय अन्य कुछ प्रसंग लिखना चाहें तो ऐसा हो सकता है, तथापि वे बाकी रखकर

इस पत्रको परिसमाप्त करना योग्य भासित होता है।

जगतमें किसी भी प्रकारसे जिसकी किसी भी जीवके प्रति भेददृष्टि नहीं है, ऐसे श्री.....निष्काम आत्मस्वरूपके नमस्कार प्राप्त हो।

'उदासीन' शब्दका अर्थ समता है।

---

३९९ बंबई, श्रावण, १९४८

मुमुक्षुजन सत्संगमें हों तो निरंतर उल्लासित परिणाममें रहकर आत्मसाधन अल्पकालमें कर सकते हैं, यह वार्ता यथार्थ है; और सत्संगके अभावमें समपरिणति रहना विकट है। तथापि ऐसे करनेमें ही आत्मसाधन रहा होनेसे चाहे जैसे अशुभ निमित्तोंमें भी जिस प्रकारसे समपरिणति आये उस प्रकारसे प्रवृत्ति करना यही योग्य है। ज्ञानीके आश्रयमें निरंतर वास हो तो सहज साधनसे भी समपरिणाम प्राप्त होता है, इसमें तो निर्विवादता है, परंतु जब पूर्वकर्मके निबंधनसे प्रतिकूल निमित्तोंमें निवास प्राप्त हुआ है, तब चाहे किसी तरह भी उनके प्रति अद्वेष परिणाम रहे ऐसी प्रवृत्ति करना यही हमारी वृत्ति है, और यही शिक्षा है।

वे जिस प्रकारसे सत्पुरुषके दोषका उच्चारण न कर सकें उस प्रकारसे यदि आप प्रवृत्ति कर सकते हों तो विकटता सहन करके भी वैसी प्रवृत्ति करना योग्य है। अभी हमारी आपको ऐसी कोई शिक्षा नहीं है कि आपको उनसे बहुत प्रकारसे प्रतिकूल वर्तन करना पड़े। किसी बाबतमें वे आपको बहुत प्रतिकूल समझते हों तो यह जीवका अनादि अभ्यास है, ऐसा जानकर सहनशीलता रखना अधिक योग्य है।

जिसके गुणगान करनेसे जीव भवमुक्त होता है, उसके गुणगानसे प्रतिकूल होकर दोषभावसे प्रवृत्ति करना, यह जीवके लिये महा दुःखदायक है, ऐसा मानते हैं; और जब वैसे प्रकारमें वे आ जाते हैं तब समझते हैं कि जीवको किसी वैसे पूर्वकर्मका निबंधन होगा। हमें तो तत्संबंधी अद्वेष परिणाम ही है, और उनके प्रति करुणा आती है। आप भी इस गुणका अनुकरण करें और जिस तरह वे गुणगान करने योग्य पुरुषका अवर्णवाद बोलनेका प्रसंग प्राप्त न करें, वैसा योग्य मार्ग ग्रहण करें, यह अनुरोध है।

हम स्वयं उपाधि प्रसंगमें रहे थे और रह रहे हैं, इससे स्पष्ट जानते हैं कि उस प्रसंगमें सर्वथा आत्मभावसे प्रवृत्ति करना दुष्कर है। इसलिये निरुपाधिवाले द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका सेवन करना आवश्यक है; ऐसा जानते हुए भी अभी तो यही कहते हैं कि उस उपाधिका वहन करते हुए निरुपाधिका विसर्जन न किया जाये, ऐसा करते रहें।

हम जैसे सत्संगको निरंतर भजते हैं, तो वह आपके लिये अभजनीय क्यों होगा? यह जानते हैं; परंतु अभी तो पूर्वकर्मको भजते हैं, इसलिये आपको दूसरा मार्ग कैसे बतायें? वह आप विचारें।

एक क्षणभर भी इस संसर्गमें रहना अच्छा नहीं लगता, ऐसा होनेपर भी बहुत समयसे इसका सेवन करते आये हैं; सेवन कर रहे हैं, और अभी अमुक काल तब सेवन करना ठान रखना पड़ा है; और आपको यही सूचना करना योग्य माना है। यथासंभव विनयादि साधनसंपन्न होकर सत्संग, सत्शास्त्राभ्यास और आत्मविचारमें प्रवृत्ति करना, ऐसा करना ही श्रेयस्कर है।

आप तथा दूसरे भाइयोंको अभी सत्संग प्रसंग कैसा रहता है? सो लिखियेगा।

समय मात्र भी प्रमाद करनेकी तीर्थंकरदेवकी आज्ञा नहीं है।

---

४०० बंबई, श्रावण वदी, १९४८

वह पुरुष नमन करने योग्य है,
कीर्तन करने योग्य है,
परमप्रेमसे गुणगान करने योग्य है,
वारंवार विशिष्ट आत्मपरिणामसे ध्यान करने योग्य है,
कि
जिस पुरुषको द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे
किसी भी प्रकारकी प्रतिबद्धता नहीं रहती।

आपके बहुतसे पत्र मिले हैं, उपाधियोग इस प्रकारसे रहता है कि उसकी विद्यमानतामें पत्र लिखने योग्य अवकाश नहीं रहता, अथवा उस उपाधिको उदयरूप समझकर मुख्यरूपसे आराधते हुए आप जैसे पुरुषको भी जानबूझकर पत्र नहीं लिखा, इसके लिये क्षमा करने योग्य है।

जबसे इस उपाधियोगका आराधन करते हैं, तबसे चित्तमें जैसी मुक्तता रहती है वैसी मुक्तता अनुपाधिप्रसंगमें भी नहीं रहती थी; ऐसी निश्चलदशा मगसिर सुदी ६ से एक धारासे चली आ रही है।

आपके समागमकी बहुत इच्छा रहती है, उस इच्छाका संकल्प दीवाली के बाद ईश्वर पूर्ण करेगा, ऐसा मालूम होता है।

बंबई तो उपाधिस्थान है, उसमें आप इत्यादिका समागम हो तो भी उपाधिके आड़े आनेसे यथा-योग्य समाधि प्राप्त नहीं होती, जिससे किसी ऐसे स्थलका विचार करते हैं कि जहाँ निवृत्तियोग रहे।

लीमडीके ठाकुरसंबंधी प्रश्नोत्तर और विवरण जाना है। अभी 'ईश्वरेच्छा' वैसी नहीं है। प्रश्नोत्तरके लिये खीमचंदभाई मिले होते तो हम योग्य बात करते। तथापि वह योग नहीं हुआ, और वह अभी न हो तो ठीक, ऐसा हमारे मनमें भी रहता था।

आपके आजीविका-साधनसंबंधी बात ध्यानमें है, तथापि हम तो मात्र संकल्पधारी हैं। ईश्वरेच्छा होगी वैसा होगा। और अभी तो वैसा होने देनेकी हमारी इच्छा है।

परमप्रेमसे नमस्कार प्राप्त हो।

---

४०१ बंबई, भादों सुदी १, मंगल, १९४८

ॐ सत्

शुभवृत्ति मणिलाल, बोटाद।

आपका वैराग्यादिके विचारवाला एक सविस्तर पत्र तीनेक दिन पहले मिला है।

जीवमें वैराग्य उत्पन्न होना इसे एक महान गुण मानते हैं; और उसके साथ शम, दम, विवेकादि साधन अनुक्रमसे उत्पन्न होनेरूप योग प्राप्त हो तो जीवको कल्याणकी प्राप्ति सुलभ होती है, ऐसा समझते हैं। (ऊपरकी पंक्तिमें 'योग' शब्द लिखा है, उसका अर्थ प्रसंग अथवा सत्संग समझना चाहिये।)

अनंत कालसे जीवका संसारमें परिभ्रमण हो रहा है, और इस परिभ्रमणमें इसने अनंत जप, तप, वैराग्य आदि साधन किये प्रतीत होते हैं, तथापि जिससे यथार्थ कल्याण सिद्ध होता है, ऐसा एक भी साधन हो सका हो ऐसा प्रतीत नहीं होता। ऐसे तप, जप या वैराग्य अथवा दूसरे साधन मात्र संसाररूप हुए हैं; वैसा किस कारणसे हुआ ? यह बात अवश्य वारंवार विचारणीय है। (यहाँ किसी भी प्रकारसे जप, तप, वैराग्य आदि साधन निष्फल हैं, ऐसा कहनेका हेतु नहीं है, परंतु निष्फल हुए हैं, उसका हेतु क्या होगा ? उसका विचार करनेके लिये लिखा गया है। कल्याणकी प्राप्ति जिसे होती है, ऐसे जीवमें

वैराग्यादि साधन तो अवश्य होते हैं।)

श्री सुभाग्यभाईके कहनेसे, यह पत्र जिसकी ओरसे लिखा गया है, उसके लिये आपने जो कुछ श्रवण किया है, वह उनका कहना तथातथ्य है या नहीं ? यह भी निर्धार करने जैसी बात है।

हमारे सत्संगमें निरंतर रहने संबंधी आपकी जो इच्छा है, उसके विषयमें अभी कुछ लिख सकना अशक्य है।

आपके जाननेमें आया होगा कि यहाँ हमारा जो रहना होता है वह उपाधिपूर्वक होता है, और वह उपाधि इस प्रकारसे है कि वैसे प्रसंगमें श्री तीर्थंकर जैसे पुरुषके विषयमें निर्धार करना हो तो भी विकट हो जाये, क्योंकि अनादिकालसे जीवको मात्र बाह्यप्रवृत्ति अथवा बाह्यनिवृत्तिकी पहचान है, और उसके आधारसे ही वह सत्पुरुष, असत्पुरुषकी कल्पना करना आया है। कदाचित् किसी सत्संगके योगसे 'सत्पुरुष ये हैं,' ऐसा जीवके जाननेमें आता हैं, तो भी फिर उनका बाह्यप्रवृत्तिरूप योग देखकर जैसा चाहिये वैसा निश्चय नहीं रहता; अथवा तो निरंतर बढ़ता हुआ भक्तिभाव नहीं रहता; और कभी तो संदेहको प्राप्त होकर जीव वैसे सत्पुरुषके योगका त्यागकर जिसकी बाह्यनिवृत्ति दिखायी देती है, ऐसे असत्पुरुषका दृढ़ाग्रहसे सेवन करता है। इसलिये जिस कालमें सत्पुरुषको निवृत्तिप्रसंग रहता हो वैसे प्रसंगमें उनके समीप रहना इसे जीवके लिये विशेष हितकर समझते हैं।

इस बातका इस समय इससे विशेष लिखा जाना अशक्य है। यदि किसी प्रसंगसे हमारा समागम हो तो उस समय आप इस विषयमें पूछियेगा और कुछ विशेष कहने योग्य प्रसंग होगा तो कह सकना संभव है।

दीक्षा लेनेकी वारंवार इच्छा होती हो तो भी अभी उस वृत्तिको शांत करना, और कल्याण क्या तथा वह कैसे हो इसकी वारंवार विचारणा और गवेषणा करना। इस प्रकारमें अनन्तकालसे भूल होती आयी है, इसलिये अत्यंत विचारसे कदम उठाना योग्य है।

अभी यही विनती। रायचंदके निष्काम यथायोग्य।

---

४०२ बंबई, भादों सुदी ७, सोम, १९४८

उदय देखकर उदास न होवें।

स्वस्ति श्री सायला शुभस्थानमें स्थित, मुमुक्षुजनके परम हितैषी, सर्व जीवोंके प्रति परमार्थ करुणादृष्टि है जिनकी, ऐसे निष्काम, भक्तिमान श्री सुभाग्यके प्रति,

श्री 'मोहमयी' स्थानसे .....के निष्काम विनयपूर्वक यथायोग्य प्राप्त हो।

संसारका सेवन करनेके आरंभकाल (?) से लेकर आज दिन पर्यंत आपके प्रति जो कुछ अविनय, अभक्ति, और अपराधादि दोष उपयोगपूर्वक अथवा अनुपयोगसे हुए हों, उन सबकी अत्यंत नम्रतासे क्षमा चाहता हूँ।

श्री तीर्थंकरने जिसे मुख्य धर्मपर्व गिनने योग्य माना है, ऐसी इस वर्षकी संवत्सरी व्यतीत हुई। किसी भी जीवके प्रति किसी भी प्रकारसे किसी भी कालमें अत्यंत अल्प मात्र दोष करना योग्य नहीं है, ऐसी बातका जिसमें परमोत्कृष्टरूपसे निर्धार हुआ है, ऐसे इस चित्तको नमस्कार करते हैं, और वही वाक्य मात्र स्मरणयोग्य ऐसे आपको लिखा है कि जिस वाक्यको आप निःशंकतासे जानते हैं।

'रविवारको आपको पत्र लिखूँगा', ऐसा लिखा था तथापि वैसा नहीं हो सका, यह क्षमा करने योग्य है। आपने व्यवहार प्रसंगके विवरण संबंधी पत्र लिखा था, उस विवरणको चित्तमें उतारने और विचारनेकी इच्छा थी, तथापि वह चित्तके आत्माकार होनेसे निष्फल हो गयी है, और अब कुछ लिखा जा

सके ऐसा प्रतीत नहीं होता, जिसके लिये अत्यंत नम्रतासे क्षमा चाहकर यह पत्र परिसमाप्त करता हूँ। सहजस्वरूप।

---

४०३ बंबई, भादों सुदी १०, गुरु, १९४८

जिस जिस प्रकारसे आत्मा आत्मभावको प्राप्त हो वह प्रकार धर्मका है। आत्मा जिस प्रकारसे अन्यभावको प्राप्त हो वह प्रकार अन्यरूप है, धर्मरूप नहीं है। आपने वचनके श्रवणके पश्चात् अभी जो निष्ठा अंगीकृत की है वह निष्ठा श्रेययोग्य है। दृढ़ मुमुक्षुको सत्संगसे वह निष्ठादि अनुक्रमसे वृद्धिको प्राप्त होकर आत्मस्थितिरूप होती है।

जीवको धर्म अपनी कल्पनासे अथवा कल्पनाप्राप्त अन्य पुरुषसे श्रवण करने योग्य, मनन करने योग्य या आराधने योग्य नहीं है। मात्र आत्मस्थिति है जिनकी ऐसे सत्पुरुषसे ही आत्मा अथवा आत्मधर्म श्रवण करने योग्य है, यावत् आराधने योग्य है।

---

४०४ बंबई, भादों सुदी १०, गुरु, १९४८

स्वस्तिश्री स्थंभतीर्थ शुभस्थानमें स्थित, शुभवृत्तिसम्पन्न मुमुक्षुभाई कृष्णदासादिके प्रति,

संसारकालसे इस क्षण तक आपके प्रति किसी भी प्रकारका अविनय, अभक्ति, असत्कार अथवा वैसा दूसरे अन्य प्रकार संबंधी कोई भी अपराध मन, वचन, कायाके परिणामसे हुए हों, उन सबके लिये अत्यंत नम्रतासे, उन सर्व अपराधोंके अत्यंत लय परिणामरूप आत्मस्थितिपूर्वक मैं सब प्रकारसे क्षमा माँगता हूँ, और उन्हें क्षमा करानेके योग्य हूँ। आपका, किसी भी प्रकारसे उन अपराधादिकी ओर उपयोग न हो तो भी अत्यंतरूपसे, हमारी वैसी पूर्वकालसंबंधी किसी प्रकारसे भी संभावना जानकर अत्यंत रूपसे क्षमा देने योग्य आत्मस्थिति करनेके लिये इस क्षण लघुतासे विनती है। अभी यही।

---

४०५ बंबई, भादों सुदी १०, गुरु, १९४८

इस क्षणपर्यंत आपके प्रति किसी भी प्रकारसे पूर्वादि कालमें मन, वचन, कायाके योगसे जो जो अपराधादि कुछ हुए हों उन सबको अत्यंत आत्मभावसे विस्मरण करके क्षमा चाहता हूँ। भविष्यके किसी भी कालमें आपके प्रति वैसा प्रकार होना असंभव समझता हूँ, ऐसा होनेपर भी किसी अनुपयोगभावसे देहपर्यंत वैसा प्रकार क्वचित् हो तो इस विषयमें भी इस समय अत्यंत नम्र परिणामसे क्षमा चाहता हूँ; और उस क्षमारूप भावका, इस पत्रको विचारते हुए, वारंवार चिंतन करके आप भी, हमारे प्रति पूर्वकालके उन सब प्रकारका विस्मरण करने योग्य हैं।

कुछ भी सत्संगवार्ताका परिचय बढ़े, वैसा यत्न करना योग्य है। यही विनती।

रायचंद।

---

४०६ बंबई, भादों सुदी १२, रवि, १९४८

परमार्थके शीघ्र प्रगट होनेके विषयमें आप दोनोंका आग्रह ज्ञात हुआ; तथा व्यवहारचिंताके विषयमें लिखा, और उसमें भी सकामताका निवेदन किया, वह भी आग्रहरूपसे प्राप्त हुआ है। अभी तो इन सबके विसर्जन करनेरूप उदासीनता रहती है; और उस सबको ईश्वरेच्छाधीन करना योग्य है। अभी ये दोनों बातें हम फिर न लिखें तब तक विस्मरण करने योग्य हैं।

यदि हो सके तो आप और गोशलिया कुछ अपूर्व विचार आया हो तो वह लिखियेगा। यही विनती।

---

४०७ बंबई, भादों वदी ३, शुक्र, १९४८

शुभवृत्तिसंपन्न मणिलाल, भावनगर।

वि० यथायोग्यपूर्वक विज्ञापन।

आपका एक पत्र आज पहुँचा है, और वह मैंने पढ़ा है। यहाँसे लिखा हुआ पत्र आपको मिलनेसे जो आनंद हुआ उसका निवेदन करते हुए आपने अभी दीक्षासंबंधी वृत्ति क्षुभित होनेके विषयमें लिखा, वह क्षोभ अभी योग्य है।

क्रोधादि अनेक प्रकारके दोषोंके परिक्षीण हो जानेसे, संसारत्यागरूप दीक्षा योग्य है, अथवा तो किसी महान पुरुषके योगसे यथाप्रसंग वैसा करना योग्य है। उसके सिवाय अन्य प्रकारसे दीक्षाका धारण करना सफल नहीं होता। और जीव वैसी अन्य प्रकारकी दीक्षारूप भ्रांतिसे ग्रस्त होकर अपूर्व कल्याणको चूकता है, अथवा तो उससे विशेष अंतराय आये ऐसे योगका उपार्जन करता है। इसलिये अभी तो आपके उस क्षोभको योग्य समझते हैं।

आपकी इच्छा यहाँ समागममें आनेकी विशेष है, इसे हम जानते हैं, तथापि अभी उस योगकी इच्छाका निरोध करना योग्य है, अर्थात् वह योग होना अशक्य है; और इसकी स्पष्टता पहले पत्रमें लिखी है, उसे आप जान सके होंगे। इस तरफ आनेकी इच्छामें आपके बुजुर्ग आदिका जो निरोध है उस निरोधका अतिक्रम करनेकी इच्छा करना अभी योग्य नहीं है। हमारा उस प्रदेशके पाससे कभी जाना आना होगा तब कदाचित् समागमयोग होने योग्य होगा, तो हो सकेगा।

मताग्रहमें बुद्धिको उदासीन करना योग्य है, और अभी तो गृहस्थधर्मका अनुसरण करना भी योग्य है। अपने हितरूप जानकर या समझकर आरंभ-परिग्रहका सेवन करना योग्य नहीं है, और इस परमार्थका वारंवार विचार करके सद्ग्रंथका पठन, श्रवण, मननादि करना योग्य है। यही विनती।

निष्काम यथायोग्य।

---

४०८ बंबई, भादों वदी ८, बुध, १९४८

ॐ नमस्कार

जिस जिस कालमें जो जो प्रारब्ध उदयमें आता है उसे भोगना, यही ज्ञानीपुरुषोंका सनातन आचरण है, और यह आचरण हमें उदयरूपसे रहता है; अर्थात् जिस संसारमें स्नेह नहीं रहा, उस संसारके कार्यकी प्रवृत्तिका उदय है, और उदयका अनुक्रमसे वेदन हुआ करता है। इस उदयके क्रममें किसी भी प्रकारकी हानि-वृद्धि करनेकी इच्छा उत्पन्न नहीं होती, और ऐसा जानते हैं कि ज्ञानीपुरुषोंका भी यह सनातन आचरण है; तथापि जिसमें स्नेह नहीं रहा, अथवा स्नेह रखनेकी इच्छा निवृत्त हुई है, अथवा निवृत्त होने आयी है, ऐसे इस संसारमें कार्यरूपसे-कारणरूपसे प्रवर्तन करनेकी इच्छा नहीं रही, उससे निवृत्ति ही आत्मामें रहा करती है, ऐसा होनेपर भी उसके अनेक प्रकारके संग- प्रसंगमें प्रवर्तन करना पड़ता है ऐसा पूर्वमें किसी प्रारब्धका उपार्जन किया है, जिसे समपरिणामसे वेदन करते हैं तथापि अभी भी कुछ समय तक वह उदययोग है, ऐसा जानकर कभी खेद पाते हैं, कभी विशेष खेद पाते है; और विचारकर देखनेसे तो उस खेदका कारण परानुकंपा ज्ञात होता है। अभी तो वह प्रारब्ध स्वाभाविक उदयके अनुसार भोगनेके सिवाय अन्य इच्छा उत्पन्न नहीं होती, तथापि उस उदयमें अन्य किसीको सुख, दुःख, राग, द्वेष, लाभ अलाभके कारणरूप दूसरेको भासित होते हैं। उस भासनेमें लोक प्रसंगकी विचित्र भ्रांति देखकर खेद होता है। जिस संसारमें साक्षी कर्तारूपसे माना जाता है, उस संसारमें उस साक्षीको

साक्षीरूपसे रहना और कर्ताकी तरह भासमान होना, यह दुधारी तलवारपर चलनेके बराबर है।

ऐसा होनेपर भी वह साक्षीपुरुष भ्रांतिगत लोगोंको किसीके खेद, दुःख, अलाभका कारण भासित न हो, तो उस प्रसंगमें उस साक्षीपुरुषकी अत्यंत विकटता नहीं है। हमें तो अत्यंत अत्यंत विकटताके प्रसंगका उदय है। इसमें भी उदासीनता यही ज्ञानीका सनातन धर्म है। 'धर्म' शब्द आचरणके अर्थमें है।

एक बार एक तिनकेके दो भाग करनेकी क्रिया कर सकनेकी शक्तिका भी उपशम हो, तब जो ईश्वरेच्छा होगी वह होगा।

---

४०९ बंबई, आसोज सुदी १, बुध, १९४८

जीवके कर्तृत्व-अकर्तृत्वका समागममें श्रवण होकर निदिध्यासन करना योग्य है।

वनस्पति आदिके योगसे बँधकर पारेका चाँदी आदिरूप हो जाना, यह संभव नहीं है, ऐसा नहीं है। योगसिद्धिके प्रकारसे किसी तरह ऐसा होना योग्य है, और उस योगके आठ अंगोंमेंसे जिसे पाँच अंग प्राप्त हैं, उसे सिद्धियोग होता है। इसके सिवायकी कल्पना मात्र कालक्षेपरूप है। उसका विचार उदयमें आये, वह भी एक कौतुकभूत है। कौतुक आत्मपरिणामके लिये योग्य नहीं है। पारेका स्वाभाविक पारापन है।

---

४१० बंबई, आसोज सुदी ७, मंगल, १९४८

प्रगट आत्मस्वरूप अविच्छिन्नरूपसे भजनीय है।

वास्तविक तो यह है कि किये हुए कर्म भोगे बिना निवृत्त नहीं होते, और न किये हुए किसी कर्मका फल प्राप्त नहीं होता। किसी किसी समय अकस्मात् वर अथवा शापसे किसीका शुभ अथवा अशुभ हुआ देखनेमें आता है, वह कुछ न किये हुए कर्मका फल नहीं है। किसी भी प्रकारसे किये हुए कर्मका फल हैं।

एकेन्द्रियका एकावतारीपन अपेक्षासे जानने योग्य है। यही विनती।

---

४११ बंबई, आसोज सुदी १० (दशहरा), १९४८

'भगवती' इत्यादि शास्त्रोंमें जो किन्हीं जीवोंके भवांतरका वर्णन किया है, उसमें कुछ संशयात्मक होने जैसा नहीं है। तीर्थंकर तो पूर्ण आत्मस्वरूप है। परंतु जो पुरुष मात्र योगध्यानादिकके अभ्यासबलसे स्थित हों, उन पुरुषोंमेंसे बहुतसे पुरुष भी उस भवांतरको जान सकते हैं, और ऐसा होना यह कुछ कल्पित प्रकार नहीं है। जिस पुरुषको आत्माका निश्चयात्मक ज्ञान है, उसे भवांतरका ज्ञान होना योग्य है, होता है। क्वचित् ज्ञानके तारतम्यक्षयोपशमके भेदसे वैसा नहीं भी होता, तथापि जिसे आत्माकी पूर्ण शुद्धता रहती है, वह पुरुष तो निश्चयसे उस ज्ञानको जानता है, भवांतरको जानता है। आत्मा नित्य है; अनुभवरूप है, वस्तु है, इन सब प्रकारोंके अत्यंतरूपसे दृढ़ होनेके लिये शास्त्रमें वे प्रसंग कहनेमें आये हैं।

यदि भवांतरका स्पष्ट ज्ञान किसीको न होता हो तो आत्माका स्पष्ट ज्ञान भी किसीको नहीं होता, ऐसा कहने बराबर है; तथापि ऐसा तो नहीं है। आत्माका स्पष्ट ज्ञान होता है, और भवांतर भी स्पष्ट प्रतीत होता है। अपने और दूसरेके भवको जाननेका ज्ञान किसी प्रकारसे विसंवादिताको प्राप्त नहीं होता।

तीर्थंकरके भिक्षार्थ जाते हुए प्रत्येक स्थानपर सुवर्णवृष्टि इत्यादि हो, यों शास्त्रके कथनका अर्थ समझना योग्य नहीं है; अथवा शास्त्रमें कहे हुए वाक्योंका वैसा अर्थ होता हो तो वह सापेक्ष है,

लोकभाषाके ये वाक्य समझने योग्य हैं। उत्तम पुरुषका आगमन किसीके वहाँ हो तो वह जैसे यह कहे कि 'आज अमृतका मेंह बरसा', तो वह कहना सापेक्ष है, यथार्थ है; तथापि शब्दके भावार्थमें यथार्थ है, शब्दके सीधे–मूल अर्थमें यथार्थ नहीं हैं; और तीर्थंकरादिकी भिक्षाके संबंधमें भी वैसा ही है। तथापि ऐसा ही मानना योग्य है कि आत्मस्वरूपसे पूर्ण पुरुषके प्रभावयोगसे वह होना अत्यंत संभव है। सर्वत्र ऐसा हुआ है ऐसा कहनेका अर्थ नहीं है, ऐसा होना संभव है, यों घटित होता है, यह कहनेका हेतु है। जहाँ पूर्ण आत्मस्वरूप है वहाँ सर्व महत् प्रभावयोग अधीन है, यह निश्चयात्मक बात है, निःसंदेह अंगीकार करने योग्य बात है। जहाँ पूर्ण आत्मस्वरूप रहता है वहाँ यदि सर्व महत् प्रभावयोग न हो तो फिर वह दूसरे किस स्थलमें रहे? यह विचारणीय है। वैसा तो कोई दूसरा स्थान संभव नहीं है, तब सर्व महत् प्रभावयोगका अभाव होगा। पूर्ण आत्मस्वरूपका प्राप्त होना अभावरूप नहीं है, तो फिर सर्व महत् प्रभावयोगका अभाव तो कहाँसे होगा ? और यदि कदाचित् ऐसा कहा जाये कि आत्मस्वरूपका पूर्ण प्राप्त होना तो संगत है, महत् प्रभावयोगका प्राप्त होना संगत नहीं है, तो यह कहना एक विसंवादके सिवाय अन्य कुछ नहीं है; क्योंकि यह कहनेवाला शुद्ध आत्मस्वरूपकी महत्तासे अत्यंत हीन ऐसे प्रभावयोगको महान समझता है, अंगीकार करता है; और यह ऐसा सूचित करता है कि वह वक्ता आत्मस्वरूपका ज्ञाता नहीं है।

उस आत्मस्वरूपसे महान ऐसा कुछ नहीं है। इस सृष्टिमें ऐसा कोई प्रभावयोग उत्पन्न नहीं हुआ है, नहीं और होनेवाला भी नहीं है कि जो प्रभावयोग पूर्ण आत्मस्वरूपको भी प्राप्त न हों। तथापि उस प्रभावयोगके विषयमें प्रवृत्ति करनेमें आत्मस्वरूपका कुछ कर्तव्य नहीं है, ऐसा तो है; और यदि उसे उस प्रभावयोगमें कुछ कर्तव्य प्रतीत होता है, तो वह पुरुष आत्मस्वरूपसे अत्यंत अज्ञात है, ऐसा समझते हैं। कहनेका हेतु यह है कि सर्व प्रकारका प्रभावयोग आत्मारूप महाभाग्य ऐसे तीर्थंकरमें होना योग्य है, होता है; तथापि उसे अभिव्यक्त करनेका एक अंश भी उसमें संगत नहीं है; स्वाभाविक किसी पुण्यप्रकारवशात् सुवर्णवृष्टि इत्यादि हो, ऐसा कहना असंभव नहीं है, और तीर्थंकरपदके लिये वह बाधरूप नहीं है। जो तीर्थंकर हैं, वे आत्मस्वरूपके बिना अन्य प्रभावादिको नहीं करते, और जो करते हैं वे आत्मारूप तीर्थंकर कहने योग्य नहीं हैं, ऐसा मानते है, ऐसा ही है।

जो जिनकथित शास्त्र माने जाते हैं, उनमें अमुक बोलोंका विच्छेद हो जानेका कथन है, और उनमें केवलज्ञानादि दस बोल मुख्य हैं; और उन दस बोलोंका विच्छेद दिखानेका आशय यह बताना हैं कि इस कालमें 'सर्वथा मोक्ष नहीं होता।' वे दस बोल जिसे प्राप्त हो अथवा उनमेंसे एक बोल प्राप्त हो तो उसे चरमशरीरी जीव कहना योग्य है, ऐसा समझकर उस बातको विच्छेदरूप माना है, तथापि वैसा एकांत ही कहना योग्य नहीं है ऐसा हमे प्रतीत होता है, ऐसा ही है। क्योंकि क्षायिक समकितका इनमें निषेध है, वह चरमशरीरीको ही हो, ऐसा तो संगत नहीं होता, अथवा ऐसा एकांत नहीं है। महाभाग्य श्रेणिक क्षायिकसमकिती होते हुए भी चरमशरीरी नहीं थे, ऐसा उन्हीं जिनशास्त्रोंमें कथन है। जिनकल्पीविहार व्यवच्छेद, ऐसा श्वेताम्बरका कथन है, दिगम्बरका कथन नहीं है। 'सर्वथा मोक्ष होना' ऐसा इस कालमें संभव नहीं है, ऐसा दोनोंका अभिप्राय है, वह भी अत्यंत एकांतरूपसे नहीं कहा जा सकता। मान लें कि चरमशरीरीपन इस कालमें नहीं है, तथापि अशरीरीभावसे आत्मस्थिति है तो वह भावनयसे चरमशरीरीपन नहीं, अपितु सिद्धत्व है, और यह अशरीरीभाव इस कालमें नहीं है ऐसा यहाँ कहें तो इस कालमें हम खुद नहीं हैं, ऐसा कहने तुल्य है। विशेष क्या कहें ? यह केवल एकांत नहीं है। कदाचित् एकांत हो तो भी जिसने आगम कहे हैं, उसी आशयवाले सत्पुरुषसे वे समझने योग्य है, और वही

आत्मस्थितिका उपाय है। यही विनती। गोशलियाको यथायोग्य।

---

४१२ बंबई, आसोज वदी ६, १९४८

यहाँ आत्माकारकता रहती है, आत्माका आत्मस्वरूपसे परिणामका होना उसे आत्माकारता कहते हैं।

---

४१३ बंबई, आसोज वदी ८, १९४८

ॐ

लोकव्यापक अंधकारमें स्वयंप्रकाशित ज्ञानीपुरुष ही यथातथ्य देखते हैं। लोककी शब्दादि कामनाओंके प्रति देखते हुए भी उदासीन रहकर जो केवल अपनेको ही स्पष्टरूपसे देखते हैं, ऐसे ज्ञानीको नमस्कार करते हैं, और अभी इतना लिखकर ज्ञानसे स्फुरित आत्मभावको तटस्थ करते हैं। यही विनती।

---

४१४ बंबई, आसोज, १९४८

ॐ

जो कुछ उपाधि की जाती है, वह कुछ 'अस्मिता' के कारण करनेमें नहीं आती, तथा नहीं की जाती। जिस कारणसे की जाती है, वह कारण अनुक्रमसे वेदन करने योग्य ऐसा प्रारब्ध कर्म है। जो कुछ उदयमें आता है उसका अविसंवाद परिणामसे वेदन करना, ऐसा जो ज्ञानीका बोधन है वह हममें निश्चल है, इसलिये उस प्रकारसे वेदन करते हैं। तथापि इच्छा तो ऐसी रहती है कि अल्पकालमें, एक समयमें यदि वह उदय असत्ताको प्राप्त होता हो, तो हम इन सबमेंसे उठकर चले जायें, इतना आत्माको अवकाश रहता है। तथापि 'निद्राकाल', भोजनकाल तथा अमुक अतिरिक्त कालके सिवाय उपाधिका प्रसंग रहा करता है, और कुछ भिन्नांतर नहीं होता, तो भी आत्मोपयोग किसी प्रसंगमें भी अप्रधानभावका सेवन करता हुआ देखनेमें आता है, और उस प्रसंगपर मृत्युके शोकसे अत्यंत अधिक शोक होता है, यह निःसंदेह है।

ऐसा होनेसे और गृहस्थप्रत्ययी प्रारब्ध जब तक उदयमें रहे तब तक 'सर्वथा' अयाचकताका सेवन करनेवाला चित्त रहनेमें ज्ञानीपुरुषोंका मार्ग निहित है, इस कारण इस उपाधियोगका सेवन करते हैं। यदि उस मार्गकी उपेक्षा करें तो भी ज्ञानीका अपराध नहीं करते, ऐसा है, फिर भी उपेक्षा नहीं हो सकती। यदि उपेक्षा करें तो गृहाश्रमका सेवन भी वनवासीरूपसे हो, ऐसा तीव्र वैराग्य रहता है।

सर्व प्रकारके कर्तव्यके प्रति उदासीन ऐसे हमसे कुछ हो सकता हो तो एक यही हो सकता है कि पूर्वोपार्जितका समताभावसे वेदन करना, और जो कुछ किया जाता है वह उसके आधारसे किया जाता है, ऐसी स्थिति है।

हमारे मनमें ऐसा आ जाता है कि हम ऐसे हैं कि जो अप्रतिबद्धरूपसे रह सकते हैं, फिर भी संसारके बाह्य प्रसंगका, अंतर प्रसंगका, और कुटुम्बादि स्नेहका सेवन करना नहीं चाहते, तो आप जैसे मार्गेच्छावानको उसके अहोरात्र सेवन करनेका अत्यंत उद्वेग क्यों नहीं होता कि जिसे प्रतिबद्धतारूप भयंकर यमका साहचर्य रहता है ?

ज्ञानीपुरुषका योग होनेके बाद जो संसारका सेवन करता है, उसे तीर्थंकर अपने मार्गसे बाहर कहते हैं।

कदाचित् ज्ञानीपुरुषका योग होनेके बाद जो संसारका सेवन करते हैं, वे सब तीर्थंकरोंके मार्गसे

बाहर कहने योग्य हों तो श्रेणिकादिमें मिथ्यात्वका संभव होता है और विसंवादिता प्राप्त होती है। उस विसंवादितासे युक्त वचन यदि तीर्थंकरका हो तो उसे तीर्थंकर कहना योग्य नहीं है।

ज्ञानीपुरुषका योग होनेके बाद जो आत्मभावसे, स्वच्छंदतासे, कामनासे, रससे, ज्ञानीके वचनोंकी उपेक्षा करके, 'अनुपयोगपरिणामी' होकर संसारका सेवन करता है, वह पुरुष तीर्थंकरके मार्गसे बाहर है, ऐसा कहनेका तीर्थंकरका आशय है।

---

४१५ बंबई, आसोज, १९४८

किसी भी प्रकारके अपने आत्मिक बंधनको लेकर हम संसारमें नहीं रह रहे हैं। जो स्त्री है उससे पूर्वबद्ध भोगकर्मको निवृत्त करना है। कुटुम्ब है उसके पूर्वमें लिये हुए ऋणको देकर निवृत्त होनेके लिये रह रहे हैं। रेवाशंकर है उसका हमारे से जो कुछ लेना है उसे देनेके लिये रह रहे हैं। उसके सिवायके जो जो प्रसंग हैं वे उसके अंदर समा जाते हैं। तनके लिये, धनके लिये, भोगके लिये, सुखके लिये, स्वार्थके लिये अथवा किसी प्रकारके आत्मिक बंधनसे हम संसारमें नहीं रह रहे हैं। ऐसा जो अंतरंगका भेद उसे, जिस जीवको मोक्ष निकटवर्ती न हो, वह जीव कैसे समझ सकता है ?

दुःखके भयसे भी संसारमें रहना रखा है, ऐसा नहीं है। मान-अपमानका तो कुछ भेद है, वह निवृत्त हो गया है।

ईश्वरेच्छा हो और हमारा जो कुछ स्वरूप है वह उनके हृदयमें थोड़े समयमें आये तो भले और हमारे विषयमें पूज्यबुद्धि हो तो भले, नहीं तो उपर्युक्त प्रकारसे रहना अब तो होना भयंकर लगता है।

---

४१६ बंबई, आसोज, १९४८

जिस प्रकारसे यहाँ कहनेमें आया था उस प्रकारसे भी सुगम ऐसा ध्यानका स्वरूप यहाँ लिखा है।

१. किसी निर्मल पदार्थमें दृष्टिको स्थापित करनेका अभ्यास करके प्रथम उसे अचपल स्थितिमें लाना।

२. ऐसी कुछ अचपलता प्राप्त होनेके पश्चात् दायें चक्षुमें सूर्य और बायें चक्षुमें चंद्र स्थित है, ऐसी भावना करना।

३. यह भावना जब तक उस पदार्थके आकारादिका दर्शन न कराये तब तक सुदृढ़ करना।

४. वैसी सुदृढ़ता होनेके बाद चंद्रको दक्षिण चक्षुमें और सूर्यको वाम चक्षुमें स्थापित करना।

५. यह भावना जब तक उस पदार्थके आकारादिका दर्शन न कराये तब तक सुदृढ़ करना। यह जो दर्शन कहा है वह भासमान दर्शन समझना।

६. यह दो प्रकारकी उलट सुलट भावना सिद्ध होनेपर भ्रूकुटिके मध्यभागमें उन दोनोंका चिंतन करना।

७. प्रथम वह चिंतन आँख खुली रखकर करना।

८. अनेक प्रकारसे उस चिंतनके दृढ़ होनेके बाद आँख बंद रखना। उस पदार्थके दर्शनकी भावना करना।

९. उस भावनासे दर्शन सुदृढ़ होनेके बाद हृदयमें एक अष्टदलकमलका चिंतन करके उन दोनों पदार्थोंको अनुक्रमसे स्थापित करना।

१०. हृदयमें ऐसा एक अष्टदलकमल माननेमें आया है, तथापि वह विमुखरूपसे रहा है, ऐसा माननेमें आया है, इसलिये उसका सन्मुखरूपसे चिंतन करना, अर्थात् सुलटा चिंतन करना।

११. उस अष्टदलकमलमें प्रथम चंद्रके तेजको स्थापित करना, फिर सूर्यके तेजको स्थापित करना, और फिर अखण्ड दिव्याकार अग्निकी ज्योतिको स्थापित करना।

१२. उस भावके दृढ़ होनेपर जिसका ज्ञान, दर्शन और आत्मचारित्र पूर्ण है ऐसे श्री वीतरागदेवकी प्रतिमाका महातेजोमय स्वरूपसे उसमें चिंतन करना।

१३. उस परम दिव्य प्रतिमाका न बाल, न युवा और न वृद्ध, इस प्रकार दिव्यस्वरूपसे चिंतन करना।

१४. संपूर्ण ज्ञान, दर्शन उत्पन्न होनेसे स्वरूपसमाधिमें श्री वीतरागदेव यहाँ हैं, ऐसी भावना करना।

१५. स्वरूपसमाधिमें स्थित वीतराग आत्माके स्वरूपमें तदाकार ही है, ऐसी भावना करना।

१६. उनके मूर्धस्थानसे उस समय ॐकारकी ध्वनि हो रही है, ऐसी भावना करना।

१७. उन भावनाओंके दृढ़ होनेपर वह ॐकार सर्व प्रकारके वक्तव्य ज्ञानका उपदेश करता हैं, ऐसी भावना करना।

१८. जिस प्रकारके सम्यक्मार्गसे वीतरागदेव वीतराग निष्पन्नताको प्राप्त हुए ऐसा ज्ञान उस उपदेशका रहस्य है, ऐसा चिंतन करते हुए वह ज्ञान क्या है ? ऐसी भावना करना।

१९. उस भावनाके दृढ़ होनेके बाद उन्होंने जो द्रव्यादि पदार्थ कहे हैं, उनकी भावना करके आत्माका स्वस्वरूपमें चिंतन करना, सर्वांग चिंतन करना।

ध्यानके अनेकानेक प्रकार हैं। उन सबमें श्रेष्ठ ध्यान तो वह कहा जाता है कि जिसमें आत्मा मुख्यरूपसे रहता है; और इसी आत्मध्यानकी प्राप्ति प्रायः आत्मज्ञानकी प्राप्तिके बिना नहीं होती। ऐसा जो आत्मज्ञान वह यथार्थ बोधकी प्राप्तिके सिवाय उत्पन्न नहीं होता। इस यथार्थ बोधकी प्राप्ति प्रायः क्रमसे बहुतसे जीवोंको होती है, और उसका मुख्य मार्ग, उस बोधस्वरूप ज्ञानीपुरुषका आश्रय या संग और उसके प्रति बहुमान, प्रेम है। ज्ञानीपुरुषका वैसा वैसा संग जीवको अनंतकालमें बहुत बार हो चुका है तथापि यह पुरुष ज्ञानी है, इसलिये अब उसका आश्रय ग्रहण करना, यही कर्तव्य है, ऐसा जीवको लगा नहीं है; और इसी कारण जीवका परिभ्रमण हुआ है ऐसा हमें तो दृढ़तासे लगता है।

ज्ञानीपुरुषकी पहचान न होनेमें मुख्यतः जीवके तीन महान दोष जानते हैं। एक तो 'मैं जानता हूँ,' 'मैं समझता हूँ,' इस प्रकारका जो मान जीवको रहा करता है, वह मान। दूसरा, ज्ञानीपुरुषके प्रति रागकी अपेक्षा परिग्रहादिकमें विशेष राग। तीसरा, लोकभयके कारण, अपकीर्तिभयके कारण और अपमानभयके कारण ज्ञानीसे विमुख रहना, उनके प्रति जैसा विनयान्वित होना चाहिये वैसा न होना। ये तीन कारण जीवको ज्ञानीसे अनजान रखते हैं; ज्ञानीके विषयमें अपने समान कल्पना रहा करती है; अपनी कल्पनाके अनुसार ज्ञानीके विचारका, शास्त्रका तोलन किया जाता है; थोड़ा भी ग्रंथसंबंधी वाचनादि ज्ञान मिलनेसे अनेक प्रकारसे उसे प्रदर्शित करनेकी जीवको इच्छा रहा करती है। इत्यादि दोष उपर्युक्त तीन दोषोंमें समा जाते हैं, और इन तीनों दोषोंका उपादान कारण तो एक 'स्वच्छंद' नामका महा दोष है; और उसका निमित्त कारण असत्संग है।

जिसे आपके प्रति, आपको किसी प्रकारसे परमार्थकी कुछ भी प्राप्ति हो, इस हेतुके सिवाय दूसरी स्पृहा नहीं है, ऐसा मैं यहाँ स्पष्ट बताना चाहता हूँ, और वह यह कि उपर्युक्त दोषोंमें अभी आपको प्रेम रहता है; 'मैं जानता हूँ', 'मैं समझता हूँ,' यह दोष बहुत बार वर्तनमें रहता है, असारभूत परिग्रह आदिमें भी महत्ताकी इच्छा रहती है, इत्यादि जो दोष हैं वे ध्यान, ज्ञान इन सबके कारणभूत ज्ञानीपुरुष और उसकी आज्ञाका अनुसरण करनेमें आड़े आते हैं। इसलिये यथासम्भव आत्मवृत्ति करके उन्हें कम

करनेका प्रयत्न करना, और लौकिक भावनाके प्रतिबंधसे उदास होना, यही कल्याणकारक है, ऐसा समझते हैं।

---

४१७ आसोज, १९४८

हे परमकृपालु देव! जन्म, जरा, मरणादि सर्व दुःखोंका अत्यंत क्षय करनेवाला वीतराग पुरुषका मूलमार्ग आप श्रीमानने अनंत कृपा करके मुझे दिया, उस अनंत उपकारका प्रत्युपकार करनेमें मैं सर्वथा असमर्थ हूँ, फिर आप श्रीमान कुछ भी लेनेमें सर्वथा निःस्पृह हैं; जिससे मैं मन, वचन, कायाकी एकाग्रतासे आपके चरणारविंदमें नमस्कार करता हूँ। आपकी परमभक्ति और वीतराग पुरुषके मूलधर्मकी उपासना मेरे हृदयमें भवपर्यंत अखण्ड जागृत रहें, इतना माँगता हूँ, वह सफल हो।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः।

---

४१८ सं० १९४८

*रविकै उदोत अस्त होत दिन दिन प्रति,
अंजुलीकै जीवन ज्यौं, जीवन घटतु है;
कालकै ग्रसत छिन छिन, होत छीन तन,
आरेकै चलत मानो काठसौ कटतु है,
एते परि मूरख न खोजै परमारथकौं,
स्वारथकै हेतु भ्रम भारत ठटतु है;
लगौ फिरै लोगनिसौं, पग्यौ परै जोगनिसौं,
विषैरस भोगनिसौं, नेकु न हटतु है ॥१॥
जैसे मृग मत्त वृषादित्यकी तपति मांही,
तृषावंत मृषाजल कारण अटतु है;
तैसैं भववासी मायाहीसौं हित मानि मानि,
ठानि ठानि भ्रम श्रम नाटक नटतु है।
आगेकों धुकत धाई पीछे बछरा चवाई,
जैसै नैन हीन नर जेवरी वटतु है;
तैसै मूढ़ चेतन सुकृत करतूति करै,
रोवत हसत फल खोवत खटतु है ॥२॥ (समयसार नाटक)

---

* **भावार्थ**—जिस प्रकार अंजलि—करसम्पुटका पानी क्रमशः घटता है, उसी प्रकार सूर्यका उदय अस्त होता है और प्रतिदिन जीवन (आयुष्य) घटता है। जिस प्रकार आरेके चलनेसे लकड़ी कटती है, उसी प्रकार काल शरीरको क्षण क्षण क्षीण करता हैं। इतनेपर भी अज्ञानी जीव परमार्थकी खोज नहीं करता और लौकिक स्वार्थके लिये अज्ञानका बोझ उठाता है, शरीर आदि परवस्तुओंसे प्रीति करता है; मन, वचन और कायाके योगोंमें अहंबुद्धि करता है, और विषयभोगोंसे किंचित् भी विरक्त नहीं होता ॥१॥

जिस प्रकार ग्रीष्मऋतुमें सूर्यकी कडी धूप होनेपर तृषातुर मृग उन्मत्त होकर मृगतृष्णासे व्यर्थ ही दौड़ता है, उसी प्रकार संसारी जीव मायामें ही कल्याण मानकर मिथ्या कल्पना करके संसारमें नाचते हैं। जिस प्रकार अंधा मनुष्य आगेको रस्सी बटता जाये और पीछेसे बछड़ा खाता जाये, तो उसका परिश्रम व्यर्थ जाता है; उसी प्रकार मूर्ख जीव शुभाशुभ क्रिया करता है और शुभ क्रियाके फलमें हर्ष एवं अशुभ क्रियाके फलमें विषाद करके क्रियाका फल खो देता है ॥२॥

४१९ बंबई, १९४८

संसारमें कौनसा सुख है कि जिसके प्रतिबंधमें जीव रहनेकी इच्छा करता है ?

---

४२० बंबई, १९४८

किं बहुणा इह जह जह, रागद्दोसा लहु विलिज्जंति ।
तह तह पयट्टि अव्वं, एसा आणा जिणिंदाणं ॥

(उपदेशरहस्य—यशोविजयजी)

कितना कहें ? जिस जिस प्रकारसे इस रागद्वेषका विशेषरूपसे नाश हो उस उस प्रकारसे प्रवृत्ति करना, यही जिनेश्वरदेवकी आज्ञा है।

---

४२१ बंबई, आसोज, १९४८

जिस पदार्थमेंसे नित्य व्यय विशेष होता हो और आय कम हो, वह पदार्थ क्रमसे अपने स्वत्त्वका त्याग करता है, अर्थात् नष्ट होता है, ऐसा विचार रखकर इस व्यवसायका प्रसंग रखने जैसा है।

पूर्वमें उपार्जित किया हुआ जो कुछ प्रारब्ध है, उसे वेदन करनेके सिवाय दूसरा प्रकार नहीं है, और योग्य भी इस तरह है, ऐसा समझकर जिस जिस प्रकारसे जो कुछ प्रारब्ध उदयमें आता है उसे समपरिणामसे वेदन करना योग्य है, और इस कारणसे यह व्यवसाय-प्रसंग रहता है।

चित्तमें किसी प्रकारसे उस व्यवसायकी कर्तव्यता प्रतीत न होनेपर भी, वह व्यवसाय मात्र खेदका हेतु है, ऐसा परमार्थनिश्चय होनेपर भी प्रारब्धरूप होनेसे, सत्संगादि योगका अप्रधानरूपसे वेदन करना पड़ता है। उसका वेदन करनेमें इच्छा-अनिच्छा नहीं है; परंतु आत्माको अफल ऐसी इस प्रवृत्तिका संबंध रहते देखकर खेद होता है और इस विषयमें वारंवार विचार रहा करता है।

---

२६ वाँ वर्ष

४२२ बंबई, कार्तिक सुदी, १९४९

धर्मसंबंधी पत्रादि व्यवहार भी बहुत कम रहता है; जिससे आपके कुछ पत्रोंकी पहुँच मात्र लिखी जा सकी है।

जिनागममें इस कालको जो 'दुषम' संज्ञा कही है, वह प्रत्यक्ष दिखायी देती है; क्योंकि 'दुषम' शब्दका अर्थ 'दुःखसे प्राप्त होने योग्य' ऐसा होता है। वह दुःखसे प्राप्त होने योग्य तो मुख्यरूपसे एक परमार्थमार्ग ही कहा जा सकता है; और वैसी स्थिति प्रत्यक्ष देखनेमें आती है। यद्यपि परमार्थ मार्गकी दुर्लभता तो सर्वकालमें हैं, परंतु ऐसे कालमें तो विशेषतः काल भी दुर्लभताका कारणरूप है।

यहाँ कहनेका हेतु ऐसा है कि अधिकतर इस क्षेत्रमें वर्तमान कालमें जिसने पूर्वकालमें परमार्थमार्गका आराधन किया है, वह देह धारण न करे, और यह सत्य है; क्योंकि यदि वैसे जीवोंका समूह इस क्षेत्रमें देहधारीरूपसे रहता होता; तो उन्हे और उनके समागममें आनेवाले अनेक जीवोंको परमार्थ मार्गकी प्राप्ति सुखपूर्वक हो सकती होती और इससे इस कालको 'दुषम' कहनेका कारण न रहता। इस प्रकार पूर्वाराधक जीवोंकी अल्पता इत्यादि होनेपर भी वर्तमान कालमें यदि कोई भी जीव परमार्थमार्गका आराधन करना चाहे तो अवश्य आराधन कर सकता है, क्योंकि दुःखपूर्वक भी इस कालमें परमार्थमार्ग प्राप्त होता है, ऐसा पूर्वज्ञानियोंका कथन है।

वर्तमान कालमें सब जीवोंको मार्ग दुःखसे ही प्राप्त होता है, ऐसा एकांत अभिप्राय विचारणीय नहीं है, प्रायः वैसा होता है ऐसा अभिप्राय समझना योग्य है। उसके बहुतसे कारण प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं।

प्रथम कारण—ऊपर यह बताया है कि प्रायः पूर्वकी आराधकता नहीं है।

दूसरा कारण—वैसी आराधकता न होनेके कारण वर्तमानदेहमें उस आराधकमार्गकी रीति भी प्रथम समझमें न हो, जिससे अनाराधकमार्गको आराधकमार्ग मानकर जीवने प्रवृत्ति की होती है।

तीसरा कारण—प्रायः कहीं ही सत्समागम अथवा सद्गुरुका योग हो, और वह भी क्वचित् हो।

चौथा कारण—असत्संगादि कारणोंसे जीवको सद्गुरु आदिकी पहचान होना भी दुष्कर है, और प्रायः असद्गुरु आदिमें सत्य प्रतीति मानकर जीव वहीं रुका रहता है।

पाँचवाँ कारण—क्वचित् सत्समागमका योग हो तो भी बल, वीर्य आदिकी ऐसी शिथिलता कि जीव तथारूप मार्ग ग्रहण न कर सके अथवा समझ न सके, अथवा असत्समागमादिसे या अपनी कल्पनासे मिथ्यामें सत्यरूपसे प्रतीति की हो।

प्रायः वर्तमानकालमें जीवने या तो शुष्कक्रियाप्रधानतामें मोक्षमार्गकी कल्पना की है, अथवा बाह्यक्रिया और शुद्ध व्यवहारक्रियाका उत्थापन करनेमें मोक्षमार्गकी कल्पना की है, अथवा स्वमति कल्पनासे अध्यात्म ग्रंथ पढ़कर कथन मात्र अध्यात्म पाकर मोक्षमार्गकी कल्पना की है। ऐसी कल्पना कर लेनेसे जीवको सत्समागमादि हेतुमें उस उस मान्यताका आग्रह आड़े आकर परमार्थ प्राप्त करनेमें स्थंभभूत होता है।

जो जीव शुष्कक्रियाप्रधानतामें मोक्षमार्गकी कल्पना करते हैं, उन जीवोंको तथारूप उपदेशका पोषण भी रहा करता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ऐसे चार प्रकारसे मोक्षमार्ग कहे जानेपर भी प्रथमके दो पद तो उन्होंने विस्मृत किये जैसे होते हैं, और चारित्र शब्दका अर्थ वेश तथा मात्र बाह्य विरतिमें समझे हुए जैसा होता है। तप शब्दका अर्थ मात्र उपवासादि व्रतका करना और वह भी बाह्य

संज्ञासे उसमें समझे हुए जैसा होता है; और क्वचित् ज्ञान, दर्शन पद कहने पड़े तो वहाँ लौकिक कथन जैसे भावोंके कथनको ज्ञान और उसकी प्रतीति अथवा उसे कहनेवालेकी प्रतीतिमें दर्शन शब्दका अर्थ समझने जैसा रहता है।

जो जीव बाह्यक्रिया (अर्थात् दानादि) और शुद्ध व्यवहार क्रियाका उत्थापन करनेमें मोक्षमार्ग समझते हैं, वे जीव शास्त्रोंके किसी एक वचनको नासमझीसे ग्रहण करके समझते हैं। दानादि क्रिया यदि किसी अहंकारादिसे, निदानबुद्धिसे, अथवा जहाँ वैसी क्रिया संभव न हो ऐसे छट्ठे गुणस्थानादि स्थानमें करे, तो वह संसारहेतु है, ऐसा शास्त्रोंका मूल आशय है। परंतु दानादि क्रियाका समूल उत्थापन करनेका शास्त्रोंका हेतु नहीं है; वे मात्र अपनी मतिकल्पनासे निषेध करते हैं। तथा व्यवहार दो प्रकारका है, एक परमार्थमूलहेतु व्यवहार और दूसरा व्यवहाररूप व्यवहार। पूर्वकालमें इस जीवने अनंतबार किया फिर भी आत्मार्थ नहीं हुआ, ऐसे शास्त्रोंमें वाक्य हैं; उन वाक्योंको ग्रहण करके संपूर्ण व्यवहारका उत्थापन करनेवाले अपनेको समझे हुए मानते हैं; परंतु शास्त्रकारने तो वैसा कुछ नहीं कहा है। जो व्यवहार परमार्थहेतुमूल व्यवहार नहीं है, और मात्र व्यवहारहेतु व्यवहार है, उसके दुराग्रहका शास्त्रकारने निषेध किया है। जिस व्यवहारका फल चार गति हो वह व्यवहार व्यवहारहेतु कहा जा सकता है, अथवा जिस व्यवहारसे आत्माकी विभाव दशा जाने योग्य न हो उस व्यवहारको व्यवहारहेतु व्यवहार कहा जाता है। इसका शास्त्रकारने निषेध किया है, वह भी एकांतसे नहीं; केवल दुराग्रहसे अथवा उसीमें मोक्षमार्ग माननेवालेको इस निषेधसे सच्चे व्यवहारपर लानेके लिये किया है। और परमार्थमूलहेतु व्यवहार शम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा, आस्था अथवा सद्गुरु, सत्शास्त्र और मनवचनादि समिति तथा गुप्ति, उसका निषेध नहीं किया है; और यदि उसका निषेध करने योग्य हो तो फिर शास्त्रोंका उपदेश करके बाकी क्या समझाने जैसा रहता था, अथवा क्या साधन करानेका बताना बाकी रहता था कि शास्त्रोंका उपदेश किया ? अर्थात् वैसे व्यवहारसे परमार्थ प्राप्त किया जाता है, और जीवको वैसा व्यवहार अवश्य ग्रहण करना चाहिये कि जिससे परमार्थकी प्राप्ति होगी, ऐसा शास्त्रोंका आशय है। शुष्कअध्यात्मी अथवा उसके प्रसंगमें आनेवाले इस आशयको समझे बिना उस व्यवहारका उत्थापन करके अपने और परके लिये दुर्लभबोधिता करते हैं।

शम, संवेगादि गुण उत्पन्न होनेपर अथवा वैराग्यविशेष एवं निष्पक्षता होनेपर, कषायादि क्षीण होनेपर, अथवा कुछ भी प्रज्ञाविशेषसे समझनेकी योग्यता होनेपर, जो सद्गुरुगमसे समझने योग्य अध्यात्म ग्रंथ, तब तक प्रायः शस्त्र जैसे हैं, उन्हें अपनी कल्पनासे जैसे-तैसे पढ़कर, निश्चय करके, वैसा अंतर्भेद हुए बिना अथवा दशा बदले बिना, विभाव दूर हुए बिना अपनेमें ज्ञानकी कल्पना करता है; और क्रिया तथा शुद्ध व्यवहाररहित होकर प्रवृत्ति करता है, ऐसा तीसरा प्रकार शुष्कअध्यात्मीका है। जगह जगह जीवको ऐसा योग मिलता रहता है, अथवा तो ज्ञानरहित गुरु या परिग्रहादिके इच्छुक गुरु, मात्र अपने मानपूजादिकी कामनासे फिरनेवाले जीवोंको अनेक प्रकारसे उलटे रास्तेपर चढ़ा देते हैं, और प्रायः क्वचित् ही ऐसा नहीं होता। जिससे ऐसा मालूम होता है कि कालकी दुःषमता है। यह दुःषमता जीवको पुरुषार्थरहित करनेके लिये नहीं लिखी है, परंतु पुरुषार्थजागृतिके लिये लिखी है। अनुकूल संयोगमें तो जीवमें कुछ कम जागृति हो तो भी कदाचित् हानि न हो; परंतु जहाँ ऐसे प्रतिकूल योग रहते हों वहाँ मुमुक्षु जीवको अवश्य अधिक जाग्रत रहना चाहिये, कि जिससे तथारूप पराभव न हो, और वैसे किसी प्रवाहमें न बहा जाये। वर्तमानकाल दुःषम कहा है, फिर भी इसमें अनन्त भवको छेदकर मात्र एक भव बाकी रखे, ऐसी एकावतारिता प्राप्त हो, ऐसा भी है। इसलिये विचारवान जीव यह लक्ष रखकर, उपर्युक्त

प्रवाहोंमें न बहते हुए यथाशक्ति वैराग्यादिकी आराधना अवश्य करके, सद्गुरुका योग प्राप्त करके, कषायादि दोषका छेदक और अज्ञानसे रहित होनेका सत्यमार्ग प्राप्त करे। मुमुक्षु जीवमें कथित शमादिगुण अवश्य संभव हैं; अथवा उन गुणोंके बिना मुमुक्षुता नहीं कही जा सकती। नित्य ऐसा परिचय रखते हुए, उस उस बातका श्रवण करते हुए, विचार करते हुए, पुनः पुनः पुरुषार्थ करते हुए वह मुमुक्षुता उत्पन्न होती है। वह मुमुक्षुता उत्पन्न होनेपर जीवको परमार्थमार्ग अवश्य समझमें आता है।

---

४२३ बंबई, कार्तिक वदी ९, १९४९

कम प्रमाद होनेका उपयोग जीवको मार्गके विचारमें स्थिति कराता है, और विचार मार्गमें स्थिति कराता है। इस बातका पुनः पुनः विचार करके, यह प्रयत्न वहाँ वियोगमें भी किसी प्रकारसे करना योग्य है। यह बात विस्मरणीय नहीं है।

---

४२४ बंबई, कार्तिक वदी १२, १९४९

समागम चाहने योग्य मुमुक्षुभाई कृष्णदासादिके प्रति,

"पुनर्जन्म है—जरूर है। इसके लिये 'मैं' अनुभवसे हाँ कहनेमें अचल हूँ।" यह वाक्य पूर्वभवके किसी योगका स्मरण होते समय सिद्ध हुआ लिखा है। जिसने पुनर्जन्मादि भाव किये हैं, उस 'पदार्थ'को, किसी प्रकारसे जानकर यह वाक्य लिखा गया है।

मुमुक्षुजीवके दर्शनकी तथा समागमकी निरंतर इच्छा रखते हैं। तापमें विश्रांतिका स्थान उसे समझते हैं। तथापि अभी तो उदयाधीन योग रहता है। अभी इतना ही लिख सकते हैं। श्री सुभाग्य यहाँ सुखवृत्तिमें है। प्रणाम प्राप्त हो।

---

४२५ बंबई, मागसिर वदी ९, सोम, १९४९

उपाधिका वेदन करनेके लिये अपेक्षित दृढ़ता मुझमें नहीं है, इसलिये उपाधिसे अत्यंत निवृत्तिकी इच्छा रहा करती है, तथापि उदयरूप जानकर यथाशक्ति सहन होती है।

परमार्थका दुःख मिटनेपर भी संसारका प्रासंगिक दुःख रहा करता है, और वह दुःख अपनी इच्छा आदिके कारणसे नहीं है, परंतु दूसरेकी अनुकंपा तथा उपकार आदिके कारणसे रहता है; और इस विडंबनामें चित्त कभी कभी विशेष उद्वेगको प्राप्त हो जाता है।

इतने लेखसे वह उद्वेग स्पष्ट समझमें नहीं आयेगा, तथापि कुछ अंशमें आप समझ सकेंगे। इस उद्वेगके सिवाय दूसरा कोई दुःख संसारप्रसंगका भी मालूम नहीं होता। जितने प्रकारके संसारके पदार्थ हैं, उन सबमें यदि अस्पृहता हो और उद्वेग हो तो वह अन्यकी अनुकंपा या उपकार या वैसे कारणसे हो, ऐसा मुझे निश्चित लगता है। इस उद्वेगके कारण कभी आँखोंमें आँसु आ जाते हैं, और उन सब कारणोंके प्रति वर्तन करनेका मार्ग अमुक अंशमें परतंत्र दिखायी देता है। इसलिये समान उदासीनता आ जाती है।

ज्ञानीके मार्गका विचार करते हुए ज्ञात होता है कि किसी भी प्रकारसे यह देह मूर्च्छापात्र नहीं है, उसके दुःखसे इस आत्माको शोक करना योग्य नहीं है। आत्माको आत्म-अज्ञानसे शोक करनेके सिवाय दूसरा शोक करना उचित नहीं है। प्रगट यमको समीप देखते हुए भी जिसे देहमें मूर्च्छा नहीं रहती, उस पुरुषको नमस्कार है। इसी बातका चिंतन करते रहना हमें, आपको, प्रत्येकको योग्य है।

देह आत्मा नहीं है, आत्मा देह नहीं है। घटादिको देखनेवाला जैसे घटादिसे भिन्न है, वैसे ही देहको

देखनेवाला, जाननेवाला आत्मा देहसे भिन्न है, अर्थात् देह नहीं है।

विचार करते हुए यह बात प्रगट अनुभवसिद्ध होती है, तो फिर इस भिन्न देहके स्वाभाविक क्षय-वृद्धि-रूपादि परिणाम देखकर हर्ष-शोकवान होना किसी प्रकारसे संगत नहीं है; और हमें, आपको वह निर्धार करना, रखना योग्य है, और यह ज्ञानीके मार्गकी मुख्य ध्वनि है।

व्यापारमें कोई यांत्रिक व्यापार सूझे तो वर्तमानमें कुछ लाभ होना संभव है।

---

४२६ बंबई, मगसिर वदी १३, शनि, १९४९

भावसार खुशाल रायजीने केवल पाँच मिनटकी माँदगीमें देह छोड़ा है।

संसारमें उदासीन रहनेके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है।

---

४२७ बंबई, माघ वदी ९, गुरु, १९४९

ॐ

आप सब मुमुक्षुजनके प्रति नम्रतासे यथायोग्य प्राप्त हो। निरंतर ज्ञानीपुरुषकी सेवाके इच्छावान हम हैं, तथापि इस दुःषमकालमें तो उसकी प्राप्ति परम दुःषम देखते हैं, और इसलिये ज्ञानीपुरुषके आश्रयमें स्थिर बुद्धि है जिनकी, ऐसे मुमुक्षुजनमें सत्संगपूर्वक भक्तिभावसे रहनेकी प्राप्तिको महा भाग्यरूप मानते हैं; तथापि अभी तो उससे विपरीत प्रारब्धोदय रहता है। सत्संगका लक्ष्य हमारे आत्मामें रहता है, तथापि उदयाधीन स्थिति है, और वह अभी ऐसे परिणाममें रहती है कि आप मुमुक्षुजनके पत्रकी पहुँच मात्र विलंबसे दी जाती है। चाहे जैसी स्थितिमें भी अपराधयोग्य परिणाम नहीं है।

---

४२८ बंबई, माघ वदी ४, १९४९

शुभेच्छासम्पन्न मुमुक्षुजन श्री अंबालाल इत्यादि,

दो पत्र पहुँचे हैं। यहाँ समाधि परिणाम है। तथापि उपाधिका प्रसंग विशेष रहता है। और वैसा करनेमें उदासीनता होनेपर भी उदययोग होनेसे निष्क्लेश परिणामसे प्रवृत्ति करना योग्य है।

प्रमाद कम होनेके लिये किसी सद्ग्रंथको पढ़ते रहना योग्य है।

---

४२९ बंबई, माघ वदी ११, रवि, १९४९

कोई मनुष्य अपने विषयमें कुछ बताये तब उसे यथासंभव गंभीर मनसे सुनते रहना इतना मुख्य काम है। वह बात ठीक है या नहीं यह जाननेसे पहिले कोई हर्ष-खेद जैसा नहीं होता।

मेरी चित्तवृत्तिके विषयमें कभी कभी लिखा जाता है, उसका अर्थ परमार्थसंबंधी लेना योग्य है, और यह लिखनेका अर्थ व्यवहारमें कुछ अशुभ परिणामवाला दिखाना योग्य नहीं है।

पड़े हुए संस्कारोंका मिटना दुष्कर होता है। कुछ कल्याणका कार्य हो या चिंतन हो, यह साधनका मुख्य कारण है। बाकी ऐसा कोई विषय नहीं है कि जिसके पीछे उपाधितापसे, दीनतासे दुःखी होना योग्य हो अथवा ऐसा कोई भय रखना योग्य नहीं है कि जो अपनेको केवल लोकसंज्ञासे रहता हो।

---

४३० बंबई, माघ वदी ३०, गुरु, १९४९

ॐ

यहाँ प्रवृत्ति-उदयसे समाधि है। आपको लीमडी संबंधी जो विचार रहता है, वह करुणा भावके कारणसे रहता है, ऐसा हम समझते हैं।

कोई भी जीव परमार्थको मात्र अंशरूपसे भी प्राप्त होनेके कारणोंको प्राप्त हो, ऐसा निष्कारण करुणाशील ऋषभादि तीर्थंकरोंने भी किया है; क्योंकि सत्पुरुषोंके संप्रदायकी ऐसी सनातन करुणावस्था होती है कि समयमात्रके अनवकाशसे समूचा लोक आत्मावस्थामें हो, आत्मस्वरूपमें हो, आत्मसमाधिमें हो, अन्य अवस्थामें न हो, अन्य स्वरूपमें न हो, अन्य आधिमें न हो; जिस ज्ञानसे स्वात्मस्थ परिणाम होता है, वह ज्ञान सर्व जीवोंमें प्रगट हो, अनवकाशरूपसे सर्व जीव उस ज्ञानमें रुचियुक्त हों, ऐसा ही जिसका करुणाशील सहज स्वभाव है, वह सनातन संप्रदाय सत्पुरुषोंका है।

आपके अंतःकरणमें ऐसी करुणावृत्तिसे लीमडीके विषयमें वारंवार विचार आया करता है, और आपके विचारका एक अंश भी फल प्राप्त हो अथवा वह फल प्राप्त होनेका एक अंश भी कारण उत्पन्न हो तो इस पंचमकालमें तीर्थंकरका मार्ग बहुत अंशोंसे प्रगट होनेके बराबर है, तथापि वैसा होना संभव नहीं है, और उस मार्गसे होने योग्य नहीं है, ऐसा हमें लगता है। जिससे संभव होना योग्य है अथवा इसका जो मार्ग है, वह अभी तो प्रवृत्तिके उदयमें है; और वह कारण जब तक उनको लक्ष्यगत न हो तब तक दूसरे उपाय प्रतिबंधरूप हैं, निःसंशय प्रतिबंधरूप हैं।

जीव यदि अज्ञानपरिणामी हो तो जैसे उस अज्ञानका नियमितरूपसे आराधन करनेसे कल्याण नहीं है वैसे मोहरूप मार्ग अथवा यह लोकसंबंधी जो मार्ग है वह मात्र संसार है; उसे फिर चाहे जिस आकारमें रखें तो भी संसार है। उस संसारपरिणामसे रहित करनेके लिये असंसारगत वाणीका अस्वच्छंदपरिणामसे जब आधार प्राप्त होता है, तब उस संसारका आकार निराकारताको प्राप्त होता जाता है। वे अपनी दृष्टिके अनुसार दूसरे प्रतिबंध किया करते हैं, उसी प्रकार वे अपनी उस दृष्टिसे ज्ञानीके वचनोंकी आराधना करें तो कल्याण होने योग्य नहीं लगता। इसलिये आप वहाँ ऐसा सूचित करें कि आप किसी कल्याणके कारणके नजदीक होनेके उपायकी इच्छा करते हों तो उसके प्रतिबंध कम होनेके उपाय करें, और नहीं तो कल्याणकी तृष्णाका त्याग करें। आप ऐसा समझते हों कि हम जैसे वर्तन करते हैं वैसे कल्याण है, मात्र अव्यवस्था हो गयी है, वही मात्र अकल्याण है, ऐसा समझते हों तो यह यथार्थ नहीं है। वस्तुतः आपका जो वर्तन है, उससे कल्याण भिन्न है, और वह तो जब जब जिस जिस जीवको वैसा वैसा भवस्थित्यादि समीप योग होता है तब तब उसे वह प्राप्त होने योग्य है। सारे समूहमें कल्याण मान लेना योग्य नहीं है, और यदि ऐसे कल्याण होता हो, तो उसका फल संसारार्थ है, क्योंकि पूर्वकालमें ऐसा करके ही जीव संसारी रहता आया है। इसलिये वह विचार तो जब जिसे आना होगा, तब आयेगा। अभी आप अपनी रुचिके अनुसार अथवा आपको जो भासित होता है उसे कल्याण मानकर प्रवृत्ति करते हैं, इस विषयमें सहज, किसी प्रकारके मानकी इच्छाके बिना, स्वार्थकी इच्छाके बिना, आपमें क्लेश उत्पन्न करनेकी इच्छाके बिना मुझे जो कुछ चित्तमें लगता है, वह बताता हूँ।

कल्याण जिस मार्गसे होता है उस मार्गके दो मुख्य कारण देखनेमें आते हैं। एक तो जिस संप्रदायमें आत्मार्थके लिये सभी असंगतावाली क्रियाएँ हों, अन्य किसी भी अर्थ–प्रयोजनकी इच्छासे न हों, और निरंतर ज्ञानदशापर जीवोंका चित्त हो, उसमें अवश्य कल्याणके उत्पन्न होनेका योग मानते हैं। ऐसा न हो तो उस योगका संभव नहीं होता। यहाँ तो लोकसंज्ञासे, ओघसंज्ञासे, मानार्थ, पूजार्थ, पदके महत्वार्थ, श्रावकादिके अपनेपनके लिये अथवा ऐसे दूसरे कारणोंसे जपतपादि, व्याख्यानादि करनेकी प्रवृत्ति हो गयी है, वह किसी तरह आत्मार्थके लिये नहीं है, आत्मार्थके प्रतिबंधरूप है। इसलिये यदि आप कुछ इच्छा करते हों तो उसका उपाय करनेके लिये जो दूसरा कारण कहते हैं, उसके असंगतासे सिद्ध होनेपर किसी दिन भी कल्याण होना संभव है।

असंगता अर्थात् आत्मार्थके सिवायके संगप्रसंगमें नहीं पड़ना, संसारके संगीके संगमें बातचीतादिका प्रसंग शिष्यादि बनानेके कारणसे नहीं रखना, शिष्यादि बनानेके लिये गृहवासी वेषवालोंको साथमें नहीं घुमाना। 'दीक्षा ले तो तेरा कल्याण होगा' ऐसे वाक्य तीर्थंकरदेव कहते नहीं थे। उसका एक हेतु यह भी था कि ऐसा कहना यह भी उसके अभिप्रायके उत्पन्न होनेसे पहले उसे दीक्षा देना है; वह कल्याण नहीं है। जिसमें तीर्थंकरदेवने ऐसे विचारसे प्रवृत्ति की है, उसमें हम छः छः मास दीक्षा लेनेका उपदेश जारी रखकर उसे शिष्य बनाते हैं, वह मात्र शिष्यार्थ है, आत्मार्थ नहीं है। पुस्तक, यदि सब प्रकारके अपने ममत्वभावसे रहित होकर ज्ञानकी आराधना करनेके लिये रखी जाय तो ही आत्मार्थ है, नहीं तो महान प्रतिबंध है, यह भी विचारणीय है।

यह क्षेत्र अपना है, और उस क्षेत्रकी रक्षाके लिये वहाँ चातुर्मास करनेके लिये जो विचार किया जाता है, वह क्षेत्रप्रतिबंध है। तीर्थंकरदेव तो ऐसा कहते हैं कि द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे—इन चारों प्रतिबंधसे यदि आत्मार्थ होता हो अथवा निर्ग्रंथ हुआ जाता हो तो वह तीर्थंकरदेवके मार्गमें नहीं हैं, परंतु संसारके मार्गमें है। इत्यादि बात यथाशक्ति विचारकर आप बताइयेगा। लिखनेसे बहुत लिखा जा सके, ऐसा सूझता है, परंतु अब यहाँ स्थिति—विराम करता है।

लि० रायचंदके प्रणाम।

---

४३१ बंबई, फागुन सुदी ७, गुरु, १९४९

आत्मारूपसे सर्वथा जाग्रत अवस्था रहे, अर्थात् आत्मा अपने स्वरूपमें सर्वथा जाग्रत हो तब उसे केवलज्ञान हुआ है, ऐसा कहना योग्य है, ऐसा श्री तीर्थंकरका आशय है।

जिस पदार्थको तीर्थंकरने 'आत्मा' कहा है, उसी पदार्थकी उसी स्वरूपमें प्रतीति हो, उसी परिणामसे आत्मा साक्षात् भासित हो, तब उसे परमार्थ-सम्यक्त्व है, ऐसा श्री तीर्थंकरका अभिप्राय है। जिसे ऐसा स्वरूप भासित हुआ है, ऐसे पुरुषमें जिसे निष्काम श्रद्धा है, उस पुरुषको बीजरुचि-सम्यक्त्व है। उस पुरुषकी निष्काम भक्ति अबाधासे प्राप्त हो, ऐसे गुण जिस जीवमें हों, वह जीव मार्गानुसारी होता है, ऐसा जिनेंद्र कहते हैं।

हमारा अभिप्राय कुछ भी देहके प्रति हो तो वह मात्र एक आत्मार्थके लिये ही है, अन्य अर्थके लिये नहीं। दूसरे किसी भी पदार्थके प्रति अभिप्राय हो तो वह पदार्थके लिये नहीं, परंतु आत्मार्थके लिये है। वह आत्मार्थ उस पदार्थकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें हो, ऐसा हमें नहीं लगता। 'आत्मत्व' इस ध्वनिके सिवाय दूसरी कोई ध्वनि किसी भी पदार्थके ग्रहण-त्यागमें स्मरण योग्य नहीं है। अनवकाश आत्मत्व जाने बिना, उस स्थितिके बिना अन्य सर्व क्लेशरूप है।

---

४३२ बंबई, फागुन सुदी ७, गुरु, १९४९

अंबालालका लिखा हुआ पत्र पहुँचा था।

आत्माको विभावसे अवकाशित करनेके लिये और स्वभावमें अनवकाशरूपसे रहनेके लिये कोई भी मुख्य उपाय हो तो आत्माराम ऐसे ज्ञानीपुरुषका निष्काम बुद्धिसे भक्तियोगरूप संग है। उसकी सफलताके लिये निवृत्ति-क्षेत्रमें वैसा योग प्राप्त होना, यह किसी महान पुण्यका योग है, और वैसा पुण्ययोग प्रायः इस जगतमें अनेक प्रकारके अन्तरायवाला दिखायी देता है। इसलिये हम समीपमें हैं, ऐसा वारंवार याद करके जिसमें इस संसारकी उदासीनता कही हो उसे अभी पढ़ें, विचारें। आत्मारूपसे केवल आत्मा रहे, ऐसा जो चिंतन रखना वह लक्ष्य है, शास्त्रके परमार्थरूप है।

इस आत्माको पूर्वकालमें अनंतकाल व्यतीत करनेपर भी नहीं जाना, इससे ऐसा लगता है कि उसे

जाननेका कार्य सबसे विकट है, अथवा तो उसे जाननेके तथारूप योग परम दुर्लभ हैं। जीव अनंतकालसे ऐसा समझा करता है कि मैं अमुकको जानता हूँ, अमुकको नहीं जानता, ऐसा नहीं है, ऐसा होनेपर भी जिस रूपसे स्वयं है उस रूपका निरंतर विस्मरण चला आता है, यह बात बहुत-बहुत प्रकारसे विचारणीय है, और उसका उपाय भी बहुत प्रकारसे विचार करने योग्य है।

---

४३३ बंबई, फागुन सुदी १४, १९४९

ॐ

श्री कृष्णादिके सम्यक्त्व संबंधी प्रश्नके बारेमें आपका पत्र मिला है। तथा उसके अगले दिनके यहाँके पत्रोंसे आपको स्पष्टीकरण प्राप्त हुआ, उस संबंधी आपका पत्र मिला है। यथोचित अवलोकनसे उन पत्रों द्वारा श्री कृष्णादिके प्रश्नोंका आपको स्पष्टीकरण होगा, ऐसा संभव है।

जिस कालमें परमार्थधर्मकी प्राप्तिके साधन प्राप्त होना अत्यंत दुषम हों उस कालको तीर्थंकरदेवने दुषम कहा है, और इस कालमें यह बात स्पष्ट दिखायी देती है। सुगमसे सुगम जो कल्याणका उपाय है, वह जीवको इस कालमें प्राप्त होना अत्यंत दुष्कर है। मुमुक्षुता, सरलता, निवृत्ति, सत्संगादि साधनोंको इस कालमें परम दुर्लभ जानकर, पूर्व पुरुषोंने इस कालको हुँडा-अवसर्पिणीकाल कहा है, और यह बात भी स्पष्ट है। प्रथमके तीन साधनोंका संयोग तो क्वचित् भी प्राप्त होना दूसरे अमुक कालमें सुगम था; परंतु सत्संग तो सर्व कालमें दुर्लभ ही दीखता है; तो फिर इस कालमें सत्संग सुलभ कहाँसे हो ? प्रथमके तीन साधन किसी तरह इस कालमें जीव प्राप्त करे तो भी धन्य है।

कालसंबंधी तीर्थंकरवाणीको सत्य करनेके लिये 'ऐसा' उदय हमें रहता है, और वह समाधिरूपसे वेदन करने योग्य है।

आत्मस्वरूप।

---

४३४ बंबई, फागुन वदी ९, शनि, १९४९

ॐ

भक्तिपूर्वक प्रणाम पहुँचे।

यहाँ उपाधियोग है। बहुत करके कल कुछ लिखा जा सकेगा तो लिखूँगा। यही विनती।

अत्यंत भक्ति

---

४३५ बंबई, फागुन वदी ३०, १९४९

'मणिरत्नमाला' तथा 'योगकल्पद्रुम' पढ़नेके लिये इसके साथ भेजे हैं। जो कुछ बाँधे हुए कर्म है, उन्हें भोगे बिना निरुपायता है। चिंतारहित परिणामसे जो कुछ उदयमें आये उसे वेदन करना, ऐसा श्री तीर्थंकरादि ज्ञानियोंका उपदेश है।

---

४३६ बंबई, चैत्र सुदी १, १९४९

ॐ

'समता, रमता, ऊरधता, ज्ञायकता, सुखभास।
वेदकता, चैतन्यता, ए सब जीव विलास॥'

जिन तीर्थंकरदेवने स्वरूपस्थ आत्मारूप होकर, वक्तव्यरूपसे जिस प्रकार वह आत्मा कहा जा सके तदनुसार अत्यंत यथास्थित कहा है, उन तीर्थंकरको दूसरी सब प्रकारकी अपेक्षाका त्याग करके नमस्कार करते हैं।

ॐ

સમતા રમતા ઉરધતા, જ્ઞાયકતા સુખભાસ,
વેદકતા ચૈતન્યતા, એ સબ જીવ વિલાસ.

જે તીર્થંકરદેવે સ્વરૂપસ્થ આત્માપણે થઈ વક્તવ્ય પણે જે પ્રકારે તે આત્મા કહી શકાય તે પ્રમાણે અત્યંત યથાસ્થિત કહ્યો છે તે તીર્થંકરને બાજુ સર્વપ્રકારની અપેક્ષાનો ત્યાગ કરી નમસ્કાર કરીએ છૈયે.

પૂર્વે ઘણાં શાસ્ત્રોનો વિચાર કરવાથી તે વિચારનાં ફળમાં સત્પુરુષને વિષે જેનાં વચનથી ભક્તિ ઉત્પન્ન થઈ છે, તે તીર્થંકરના વચનને નમસ્કાર કરીએ છૈયે.

ઘણા પ્રકારે જીવનો વિચાર કરવાથી, તે જીવ આત્મારૂપ પુરુષ વિના જાણ્યો જાય એવો નથી, એવી નિશ્ચળ શ્રદ્ધા ઉત્પન્ન થઈ તે તીર્થંકરના માર્ગબોધને નમસ્કાર કરીએ છૈયે.

ભિન્ન ભિન્ન પ્રકારે તે જીવનો વિચાર થવા અર્થે — તે જીવ પ્રાપ્ત થવા અર્થે યોગાદિક અનેક સાધનોનો બળવાન પરિશ્રમ કર્યો છતે પ્રાપ્તિ નથી, તે જીવ જેવડે સાર જ પ્રાપ્ત થાય છે તે જ દૃષ્ટિ વિષે જેનો ઉદ્દેશ છે તે તીર્થંકરને નમસ્કાર કરીએ છૈયે.

श्रीमद् राजचंद्रजीके हस्ताक्षर

पत्रांक -४३६

पूर्वकालमें अनेक शास्त्रोंका विचार करनेसे, उस विचारके फलस्वरूप सत्पुरुषमें जिनके वचनसे भक्ति उत्पन्न हुई है, उन तीर्थंकरके वचनोंको नमस्कार करते हैं।

अनेक प्रकारसे जीवका विचार करनेसे, वह जीव आत्मारूप पुरुषके बिना जाना जाये ऐसा नहीं है, ऐसी निश्चल श्रद्धा उत्पन्न हुई, उन तीर्थंकरके मार्गबोधको नमस्कार करते हैं।

भिन्न भिन्न प्रकारसे उस जीवका विचार होनेके लिये, वह जीव प्राप्त होनेके लिये योगादिक अनेक साधनोंका बलवान परिश्रम करनेपर भी प्राप्ति न हुई, वह जीव जिसके द्वारा सहज प्राप्त होता है, वही कहनेका जिनका उद्देश्य है, उन तीर्थंकरके उद्देश्यवचनको नमस्कार करते हैं। (अपूर्ण)

४३७

ॐ

इस जगतमें जिसमें विचारशक्ति वाचासहित रहती है, ऐसा मनुष्य प्राणी कल्याणका विचार करनेके लिये सबसे अधिक योग्य है। तथापि प्रायः जीवको अनंत बार मनुष्यभव मिलनेपर भी वह कल्याण सिद्ध नहीं हुआ, जिससे वर्तमान तक जन्ममरणके मार्गका आराधन करना पड़ा है। इस अनादि लोकमें जीवकी अनंतकोटी संख्या है। उन जीवोंकी समय-समयपर अनंत प्रकारकी जन्म मरणादि स्थिति होती रहती है; ऐसा अनंतकाल पूर्वकालमें व्यतीत हुआ है। अनंतकोटी जीवोंमें जिसने आत्मकल्याणकी आराधना की है, अथवा जिसे आत्मकल्याण प्राप्त हुआ है, ऐसे जीव अत्यंत थोड़े हुए हैं, वर्तमानमें ऐसा है, और भविष्यकालमें भी ऐसी ही स्थिति संभव है, ऐसा ही है। अर्थात् जीवको कल्याणकी प्राप्ति तीनों कालोंमें अत्यंत दुर्लभ हैं; ऐसा जो श्री तीर्थंकरदेवादि ज्ञानीका उपदेश है वह सत्य है। जीवसमुदायकी ऐसी भ्रांति अनादि संयोगसे है, यही योग्य है, ऐसा ही है। यह भ्रांति जिस कारणसे होती है, उस कारणके मुख्य दो प्रकार प्रतीत होते हैं—एक पारमार्थिक और दूसरा व्यावहारिक; और उन दोनों प्रकारोंका जो एकत्र अभिप्राय है वह यह है कि इस जीवमें सच्ची मुमुक्षुता नहीं आयी; इस जीवमें एक भी सत्य अक्षरका परिणमन नहीं हुआ; सत्पुरुषके दर्शनमें जीवको रुचि नहीं हुई; उस उस प्रकारके योगसे समर्थ अंतरायसे जीवको वह प्रतिबंध होता रहा है; और उसका सबसे बड़ा कारण असत्संगकी वासनासे उत्पन्न हुई स्वेच्छाचारिता और असत्दर्शनमें सत्दर्शनरूप भ्रांति है। 'आत्मा नामका कोई पदार्थ नहीं है' ऐसा एक दर्शनका अभिप्राय है; 'आत्मा नामका पदार्थ संयोगिक है,' ऐसा अभिप्राय कोई दूसरा दर्शन मानता है; 'आत्मा देहस्थितिरूप है, देहकी स्थितिके पश्चात् नहीं है,' ऐसा अभिप्राय किसी दूसरे दर्शनका है। 'आत्मा अणु है,' 'आत्मा सर्वव्यापक है,' 'आत्मा शून्य है,' 'आत्मा साकार है,' 'आत्मा प्रकाशरूप है,' 'आत्मा स्वतंत्र नहीं है,' 'आत्मा कर्त्ता नहीं है,' 'आत्मा कर्त्ता है भोक्ता नहीं,' 'आत्मा कर्त्ता नहीं, भोक्ता है,' 'आत्मा कर्त्ता नहीं, भोक्ता नहीं,' 'आत्मा जड़ है,' 'आत्मा कृत्रिम है,' इत्यादि अनंत नय जिसके हो सकते हैं ऐसे अभिप्रायकी भ्रांतिके कारणरूप असत्दर्शनकी आराधना करनेसे पूर्वकालमें इस जीवने अपना स्वरूप जैसा है वैसा नहीं जाना। उसे उपर्युक्त एकांत—अयथार्थरूपसे जानकर आत्मामें अथवा आत्माके नामसे ईश्वरादिमें पूर्वकालमें जीवने आग्रह किया है, ऐसा जो असत्संग, स्वेच्छाचारिता और मिथ्यादर्शनका परिणाम है वह जब तक नहीं मिटता तब तक यह जीव क्लेशरहित शुद्ध असंख्य प्रदेशात्मक मुक्त होनेके योग्य नहीं है, और उस असत्संगादिकी निवृत्तिके लिये सत्संग, ज्ञानीकी आज्ञाका अत्यंत अंगीकार करना और परमार्थस्वरूप आत्मत्वको जानना योग्य है।

पूर्वकालमें हुए तीर्थंकरादि ज्ञानीपुरुषोंने उपर्युक्त भ्रांतिका अत्यंत विचार करके, अत्यंत एकाग्रतासे, तन्मयतासे जीवस्वरूपका विचार करके जीवस्वरूपमें शुद्ध स्थिति की है। उस आत्मा और दूसरे सब

पदार्थोंको सर्व प्रकारसे भ्रांतिरहित रूपसे जाननेके लिये श्री तीर्थंकरादिने अत्यंत दुष्कर पुरुषार्थका आराधन किया है। आत्माको एक भी अणुके आहारपरिणामसे अनन्य भिन्न करके उन्होंने इस देहमें स्पष्ट ऐसा अनाहारी आत्मा, मात्र स्वरूपसे जीनेवाला ऐसा देखा है। उसे देखनेवाले तीर्थंकरादि ज्ञानी स्वयं ही शुद्धात्मा हैं, तो वहाँ भिन्नरूपसे देखनेका कहना यद्यपि संगत नहीं है, तथापि वाणीधर्मसे ऐसा कहा है। ऐसे अनंत प्रकारसे विचार करके भी जानने योग्य जो 'चैतन्यघन जीव' है उसे तीर्थंकरने दो प्रकारसे कहा है, कि जिसे सत्पुरुषसे जानकर, विचार कर, सत्कार करके जीव स्वयं उस स्वरूपमें स्थिति करे। तीर्थंकरादि ज्ञानीने पदार्थमात्रको 'वक्तव्य' और 'अवक्तव्य' ऐसे दो व्यवहारधर्मवाला माना है। अवक्तव्यरूपसे जो है वह यहाँ 'अवक्तव्य' ही है। वक्तव्यरूपसे जो जीवका धर्म है उसे सब प्रकारसे कहनेके लिये तीर्थंकरादि समर्थ हैं, और वह मात्र जीवके विशुद्ध परिणामसे अथवा सत्पुरुष द्वारा जाना जाये, ऐसा जीवका धर्म है, और वही धर्म उस लक्षण द्वारा अमुक मुख्य प्रकारसे इस दोहेमें कहा है। परमार्थके अत्यंत अभ्याससे वह व्याख्या अत्यंत स्फुट समझमें आती है, और उसके समझमें आनेपर आत्मत्व भी अत्यंत प्रगट होता है, तथापि यथावकाश यहाँ उसका अर्थ लिखा है।

---

४३८ बंबई, चैत्र सुदी १, १९४९

ॐ

'समता, रमता, ऊरधता, ज्ञायकता, सुखभास।
वेदकता, चैतन्यता, ए सब जीव विलास॥'

श्री तीर्थंकर ऐसा कहते हैं कि इस जगतमें इस जीव नामके पदार्थको चाहे जिस प्रकारसे कहा हो वह प्रकार उसकी स्थितिमें हो, इसमें हमारी उदासीनता है। जिस प्रकारसे निराबाधरूपसे उस जीव नामके पदार्थको हमने जाना है, उस प्रकारसे उसे हमने प्रगट कहा है। जिस लक्षणसे कहा है वह सब प्रकारसे बाधारहित कहा है। हमने उस आत्माको ऐसा जाना है, देखा है, स्पष्ट अनुभव किया है, और हम प्रगट वही आत्मा है। वह आत्मा 'समता' नामके लक्षणसे युक्त है। वर्तमान समयमें जो असंख्य प्रदेशात्मक चैतन्यस्थिति उस आत्माकी है, वह पहलेके एक, दो, तीन, चार, दस, संख्यात, असंख्यात, अनन्त समयमें थी, वर्तमानमें है और भविष्यकालमें भी उसी प्रकारसे उसकी स्थिति है। किसी भी कालमें उसकी असंख्यात प्रदेशात्मकता, चैतन्यता, अरूपित्व इत्यादि समस्त स्वभाव छूटने योग्य नहीं है; ऐसा जो समत्व, समता वह जिसका लक्षण है, वह जीव है।

पशु, पक्षी, मनुष्यादिकी देहमें, वृक्षादिमें जो कुछ रमणीयता दिखायी देती है, अथवा जिससे वे सब प्रगट स्फूर्तिवाले मालूम होते हैं, प्रगट सुंदरता समेत लगते हैं, वह रमता, रमणीयता है लक्षण जिसका वह जीव नामका पदार्थ है। जिसकी विद्यमानताके बिना सारा जगत शून्यवत् संभव है, ऐसी रमणीयता जिसमें है, वह लक्षण जिसमें घटित होता है, वह जीव है।

कोई भी जाननेवाला कभी भी किसी भी पदार्थको अपनी अविद्यमानतासे जाने, ऐसा होने योग्य नहीं है। प्रथम अपनी विद्यमानता घटित होती है, और किसी भी पदार्थका ग्रहण, त्यागादि अथवा उदासीन ज्ञान होनेमें स्वयं ही कारण है। दूसरे पदार्थके अंगीकारमें, उसके अल्पमात्र भी ज्ञानमें प्रथम जो हो, तभी वह हो सकता है, ऐसा सबसे प्रथम रहनेवाला जो पदार्थ है वह जीव है। उसे गौण करके अर्थात् उसके बिना कोई कुछ भी जानना चाहे तो वह संभव नहीं है, मात्र वही मुख्य हो तभी दूसरा कुछ जाना जा सकता है, ऐसा यह प्रगट 'ऊर्ध्वताधर्म', वह जिसमें है, उस पदार्थको श्री तीर्थंकर जीव कहते हैं।

प्रगट जड पदार्थ और जीव, वे जिस कारणसे भिन्न होते हैं, वह लक्षण जीवका ज्ञायकता नामका गुण हैं। किसी भी समय वह जीव-पदार्थ ज्ञायकतारहित रूपसे किसीको भी अनुभवगम्य नहीं हो सकता। और इस जीव नामके पदार्थके सिवाय दूसरे किसी भी पदार्थमें ज्ञायकता नहीं हो सकती, ऐसा जो अत्यंत अनुभवका कारण ज्ञायकता, वह लक्षण जिसमें है उस पदार्थको तीर्थंकरने जीव कहा है।

शब्दादि पाँच विषयसंबंधी अथवा समाधि आदि योगसंबंधी जिस स्थितिमें सुख होना संभव है, उसे भिन्न भिन्नरूपसे देखनेसे अंतमें केवल उन सबमें सुखका कारण एक यह जीव-पदार्थ ही संभव है। इसलिये श्री तीर्थंकरने जीवका 'सुखभास' नामका लक्षण कहा है, और व्यवहार दृष्टांतसे निद्रा द्वारा वह प्रगट मालूम होता है। जिस निद्रामें अन्य सब पदार्थोंसे रहितपन है, वहाँ भी 'मैं सुखी हूँ,' ऐसा जो ज्ञान रहता है, वह बाकी बचे हुए जीव पदार्थका ही है; अन्य कोई वहाँ विद्यमान नहीं है, और सुखका आभास होना तो अत्यंत स्पष्ट है; वह जिससे भासित होता है उस जीव नामके पदार्थके सिवाय अन्य कहीं-भी वह लक्षण नहीं देखा।

यह फीका है, यह मीठा है, यह खट्टा है, यह खारा है, मैं इस स्थितिमें हूँ, ठण्ड़से ठिठुरता हूँ, गरमी पड़ती है, दुःखी हूँ, दुःखका अनुभव करता हूँ, ऐसा जो स्पष्ट ज्ञान, वेदनज्ञान, अनुभवज्ञान, अनुभवता, वह यदि किसीमें भी हो तो वह इस जीवपदमें है, अथवा यह जिसका लक्षण होता है, वह पदार्थ जीव होता है, यही तीर्थंकरादिका अनुभव है।

स्पष्ट प्रकाशता, अनन्त अनन्त कोटी तेजस्वी दीपक, मणि, चंद्र, सूर्यादिकी कांति जिसके प्रकाशके बिना प्रगट होनेके लिये समर्थ नहीं है, अर्थात् वे सब अपने आपको बताने अथवा जाननेके योग्य नहीं हैं। जिस पदार्थके प्रकाशमें चैतन्यतासे वे पदार्थ जाने जाते हैं, वे पदार्थ प्रकाश पाते हैं, स्पष्ट भासित होते हैं, वह पदार्थ जो कोई है वह जीव है। अर्थात् वह लक्षण प्रगटरूपसे स्पष्ट प्रकाशमान, अचल ऐसा निराबाध प्रकाशमान चैतन्य, उस जीवका उस जीवके प्रति उपयोग लगानेसे प्रगट दिखायी देता है।

ये जो लक्षण कहे हैं उन्हें पुनः पुनः विचारकर जीव निराबाधरूपसे जाना जाता है, जिन्हें जाननेसे जीवको जाना है, ये लक्षण इस प्रकारसे तीर्थंकरादिने कहे हैं।

---

४३९ बंबई, चैत्र सुदी ६, गुरु, १९४९

ॐ

"समता रमता ऊरधता" ये पद इत्यादि पद जो जीवके लक्षणके लिखे थे, उनका विशेष अर्थ लिखकर एक पत्र पाँच दिन हुए मोरबी भेजा है, जो मोरबी जानेपर प्राप्त होना संभव है।

उपाधिका योग विशेष रहता है। जैसे जैसे निवृत्तिके योगकी विशेष इच्छा हो आती है, वैसे वैसे उपाधिकी प्राप्तिका योग विशेष दिखायी देता है। चारों तरफसे उपाधिकी भीड़ है। कोई ऐसा मार्ग अभी दिखायी नहीं देता कि अभी इसमेंसे छूटकर चले जाना हो तो किसीका अपराध किया न समझा जाय। छूटनेका प्रयत्न करते हुए किसीके मुख्य अपराधमें आ जानेका स्पष्ट संभव दिखायी देता है, और यह वर्तमान अवस्था उपाधिरहित होनेके लिये अत्यंत योग्य है; प्रारब्धकी व्यवस्था ऐसी बाँधी होगी।

लि० रायचंदके प्रणाम।

---

४४० बंबई, चैत्र सुदी ९, १९४९

मुमुक्षुभाई सुखलाल छगनलाल, वीरमगाम।

कल्याणकी अभिलाषावाला एक पत्र गत वर्षमें मिला था, उसी अर्थका दूसरा पत्र थोड़े दिन हुए

मिला है।

केशवलालका आपको वहाँ समागम होता है यह श्रेयस्कर योग है।

आरंभ, परिग्रह, असत्संग आदि कल्याणके प्रतिबंधक कारणोंका यथासंभव कम परिचय हो तथा उनमें उदासीनता प्राप्त हो, यह विचार अभी मुख्यतः रखने योग्य है।

---

४४१ बंबई, चैत्र सुदी ९, १९४९

मुमुक्षुभाई श्री मनसुख देवशी, लीमडी।

अभी उस तरफ हुए श्रावकों आदिके समागम संबंधी विवरण पढ़ा है। उस प्रसंगमें जीवको रुचि या अरुचि उदयमें नहीं आयी, उसे श्रेयस्कर कारण जानकर, उसका अनुसरण करके निरंतर प्रवर्तन करनेका परिचय करना योग्य है; और उस असत्संगका परिचय जैसे कम हो वैसे उसकी अनुकंपाकी इच्छा करके रहना योग्य है। जैसे हो वैसे सत्संगके योगकी इच्छा करना और अपने दोष देखना योग्य है।

---

४४२ बंबई, चैत्र वदी १, रवि, १९४९

***धार तरवारनी सोहली, दोहली चौदमा जिनतणी चरणसेवा;**
धार पर नाचता देख बाजीगरा, सेवना धार पर रहे न देवा।

—श्री आनंदघन—अनंतजिनस्तवन

मार्गकी ऐसी अत्यंत दुष्करता किस कारणसे कही है यह विचार करने योग्य है।

आत्मप्रणाम

---

४४३ बंबई, चैत्र वदी ८, रवि, १९४९

जिसे संसार संबंधी कारणके पदार्थोंकी प्राप्ति सुलभतासे निरंतर हुआ करे और बंधन न हो, ऐसा कोई पुरुष हो तो उसे तीर्थंकर या तीर्थंकर जैसा मानते हैं; परंतु प्रायः ऐसी सुलभ प्राप्तिके योगसे जीवको अल्प कालमें संसारसे अत्यंत वैराग्य नहीं होता, और स्पष्ट आत्माज्ञानका उदय नहीं होता ऐसा जानकर जो कुछ उस सुलभ प्राप्तिको हानि करनेवाला योग होता है उसे उपकारकारक जानकर सुखसे रहना योग्य है।

---

४४४ बंबई, चैत्र वदी ३०, रवि, १९४९

संसारीरूपसे रहते हुए किस स्थितिसे वर्तन करें तो अच्छा, ऐसा कदाचित् भासित हो, तो भी वह वर्तन प्रारब्धाधीन है। किसी प्रकारके कुछ राग, द्वेष या अज्ञानके कारणसे जो न होता हो, उसका कारण उदय मालूम होता है। और आपके लिखे हुए पत्रके संबंधमें भी वैसा जानकर अन्य विचार या शोक करना ठीक नहीं है।

जलमें स्वाभाविक शीतलता है, परंतु सूर्यादिके तापके योगसे वह उष्णतावाला दिखायी देता है; उस तापका योग दूर होनेपर वही जल शीतल लगता है। बीचमें वह जल शीतलतासे रहित लगता है, वह तापके योगसे है। इसी तरह यह प्रवृत्तियोग हमें है, परंतु अभी तो उस प्रवृत्तिका वेदन करनेके सिवाय

---

* **भावार्थ**—तलवारकी धारपर चलना तो आसान है, परंतु चौदहवें तीर्थंकर श्री अनन्तनाथजीके चरणोंकी सेवा करना मुश्किल है। बाजीगर तलवारकी धारपर नाचते हुए देखे जाते हैं, परंतु प्रभुके चरणोंकी सेवारूप धारपर तो देवगण भी नहीं चल सकते।

हमारा अन्य उपाय नहीं है।

नमस्कार प्राप्त हो।

---

४४५ बंबई, चैत्र वदी ३०, रवि, १९४९

जो मु० यहाँ चातुर्मासके लिये आना चाहते हैं, यदि उनका आत्मा दुःखित न होता हो तो उनसे कहना कि उन्हें इस क्षेत्रमें आना निवृत्तिरूप नहीं है। कदाचित् यहाँ सत्संगकी इच्छासे आनेका सोचा हो तो वह योग मिलना बहुत विकट है; क्योंकि हमारा वहाँ जाना-आना संभव नहीं है। प्रवृत्तिके बलवान कारणोंकी उन्हें प्राप्ति हो, ऐसी यहाँ स्थिति है; ऐसा जानकर यदि उन्हें कोई दूसरा विचार करना सुगम हो तो करना योग्य है। इस प्रकारसे लिख सकें तो लिखियेगा।

अभी आपकी वहाँ कैसी दशा रहती है ? वहाँ विशेषरूपसे सत्संगका समागम योग करना योग्य है। आपके प्रश्नके उत्तरके सिवाय विशेष लिखना अभी सूझता नहीं है।

आत्मस्थित।

---

४४६ बंबई, वैशाख वदी ६, रवि, १९४९

प्रत्येक प्रदेशसे जीवके उपयोगके लिये आकर्षक इस संसारमें एक समय मात्र भी अवकाश लेनेकी ज्ञानीपुरुषोंने हाँ नहीं कही; इस विषयमें केवल नकार कहा है।

उस आकर्षणसे यदि उपयोग अवकाशको प्राप्त हो तो उसी समय वह आत्मरूप हो जाता है। उसी समय आत्मामें वह उपयोग अनन्य हो जाता है।

इत्यादि अनुभववार्ता जीवको सत्संगके दृढ़ निश्चयके बिना प्राप्त होना अत्यंत विकट है।

उस सत्संगको जिसने निश्चयरूपसे जाना है, ऐसे पुरुषको उस सत्संगका योग रहना इस दुषमकालमें अत्यंत विकट है।

जिस चिंताके उपद्रवसे आप घबराते हैं, वह चिंता-उपद्रव कोई शत्रु नहीं है। कोई ज्ञानवार्ता जरूर लिखिये।

प्रेमभक्तिसे नमस्कार।

---

४४७ बंबई, वैशाख वदी ८, मंगल, १९४९

जहाँ उपाय नहीं वहाँ खेद करना योग्य नहीं है।

ईश्वरेच्छाके अनुसार जो हो उसमें समता रखना योग्य है; और उसके उपायका कोई विचार सूझे उसे करते रहना, इतना मात्र हमारा उपाय है।

संसारके प्रसंगोंमें क्वचित् जब तक हमें अनुकूलता हुआ करती है, तब तक उस संसारका स्वरूप विचारकर त्याग योग्य है, ऐसा प्रायः हृदयमें आना दुष्कर है उस संसारमें जब बहुत-बहुत प्रतिकूल प्रसंगोंकी प्राप्ति होती है, उस समय भी जीवको प्रथम वह अरुचिकर होकर पीछे वैराग्य आता है; फिर आत्मसाधनकी कुछ सूझ पड़ती है। और परमात्मा श्रीकृष्णके वचनके अनुसार मुमुक्षुजीवको उन-उन प्रसंगोंको सुखदायक मानना योग्य है कि जिन प्रसंगोंके कारण आत्मसाधन सूझता है।

अमुक समय तक अनुकूलप्रसंगी संसारमें कदाचित् सत्संगका योग हुआ हो, तो भी इस कालमें उस द्वारा वैराग्यका यथास्थित वेदन होना दुष्कर है; परंतु उसके बाद कोई कोई प्रसंग प्रतिकूल ही प्रतिकूल

होता आया हो, तो उसके विचारसे, उसके पश्चात्तापसे सत्संग हितकारक हो जाता है, ऐसा समझकर जिस किसी प्रतिकूल प्रसंगकी प्राप्ति हो, उसे आत्मसाधनका कारणरूप मानकर समाधि रखकर जाग्रत रहना। कल्पित भावमें किसी प्रकारसे भूलने जैसा नहीं है।

---

४४८ बंबई, वैशाख वदी ९, १९४९

श्री महावीरदेवको गौतमादि मुनिजन ऐसा पूछते थे कि हे पूज्य! 'माहण,' 'श्रमण,' 'भिक्षु' और 'निर्ग्रंथ' इन चार शब्दोंका अर्थ क्या है? वह हमें कहें। फिर उसका अर्थ श्री तीर्थंकर विस्तारसे कहते थे। वे अनुक्रमसे इन चारोंकी अनेक प्रकारकी वीतराग अवस्थाओंको विशेषातिविशेषरूपसे कहते थे, और इस तरह उन शब्दोंका अर्थ शिष्य धारण करते थे।

निर्ग्रंथकी बहुतसी दशाएँ कहते हुए एक 'आत्मवादप्राप्त' ऐसा शब्द उस निर्ग्रंथका तीर्थंकर कहते थे। टीकाकार शीलांगाचार्य उस [1]'आत्मवादप्राप्त' शब्दका अर्थ ऐसा कहते थे कि—'उपयोग है लक्षण जिसका, असंख्यप्रदेशी, संकोच-विकासका भाजन, अपने किये हुए कर्मोंका भोक्ता, व्यवस्थासे द्रव्यपर्यायरूप, नित्यानित्यादि अनंत धर्मात्मक ऐसे आत्माका ज्ञाता।'

---

४४९ बंबई, जेठ सुदी ११, शुक्र, १९४९

वैराग्यादि साधनसंपन्न भाई कृष्णदास, श्री खंभात।

शुद्ध चित्तसे विदित की हुई आपकी विज्ञप्ति पहुँची है।

सब परमार्थके साधनोंमें परम साधन सत्संग है, सत्पुरुषके चरणके समीपका निवास है। सर्वकालमें उसकी दुर्लभता है, और ऐसे विषम कालमें उसकी अत्यंत दुर्लभता ज्ञानीपुरुषोंने जानी है।

ज्ञानीपुरुषोंकी प्रवृत्ति प्रवृत्ति जैसी नहीं होती। जैसे गरम पानीमें अग्निका मुख्य गुण नहीं कहा जा सकता, वैसे ज्ञानीकी प्रवृत्ति है; तथापि ज्ञानीपुरुष भी किसी प्रकारसे भी निवृत्तिको चाहते हैं। पूर्वकालमें आराधन किये हुए निवृत्तिके क्षेत्र, वन, उपवन, योग, समाधि और सत्संगादि ज्ञानीपुरुषको प्रवृत्तिमें रहते हुए वारंवार याद आ जाते हैं। तथापि ज्ञानी उदयप्राप्त प्रारब्धका अनुसरण करते हैं। हमें सत्संगकी रुचि रहती है, उसका लक्ष्य रहता है, परंतु यहाँ नियमितरूपसे वैसा अवकाश नहीं है।

कल्याणमें प्रतिबंधरूप जो-जो कारण हैं, उनका जीवको वारंवार विचार करना योग्य है; उन-उन कारणोंका वारंवार विचार करके उन्हें दूर करना योग्य है; और इस मार्गका अनुसरण किये बिना कल्याणकी प्राप्ति नहीं होती। मल, विक्षेप और अज्ञान ये जीवके अनादिके तीन दोष हैं। ज्ञानीपुरुषोंके वचनोंकी प्राप्ति होनेपर, उनका यथायोग्य विचार होनेसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है। उस अज्ञानकी संतति बलवान होनेसे उसका रोध होनेके लिये और ज्ञानीपुरुषोंके वचनोंका यथायोग्य विचार होनेके लिये मल और विक्षेपको दूर करना योग्य है। सरलता, क्षमा, अपने दोष देखना, अल्पारंभ, अल्पपरिग्रह इत्यादि मल मिटनेके साधन हैं। ज्ञानीपुरुषकी अत्यंत भक्ति विक्षेप मिटनेका साधन है।

ज्ञानीपुरुषके समागमका अंतराय रहता हो, उस-उस प्रसंगमें वारंवार उन ज्ञानीपुरुषकी दशा, चेष्टा

---

१. देखें श्री सूत्रकृतांग, श्रुतस्कंध १, अध्ययन १६, गाथा ५ 'आयवायपत्ते'=आत्मवादप्राप्त आत्मनः उपयोगलक्षणस्य जीवस्यासंख्येयप्रदेशात्मकस्य संकोचविकाशभाजः स्वकृतफलभुजः प्रत्येकसाधारणतया व्यवस्थितस्य द्रव्यपर्यायतया नित्यानित्याद्यनंतधर्मात्मकस्य वा वाद आत्मवादस्तं प्राप्त आत्मवादप्राप्तः सम्यग् यथावस्थितात्मस्वतत्त्ववेदीत्यर्थः।

और वचनोंका निरीक्षण करना, स्मरण करना और विचार करना योग्य है। और उस समागमके अंतरायमें, प्रवृत्तिके प्रसंगोंमें अत्यंत सावधानी रखना योग्य है; क्योंकि एक तो समागमका बल नहीं है और दूसरा अनादि अभ्यास है जिसका, ऐसी सहजाकार प्रवृत्ति है; जिससे जीव आवरणप्राप्त होता है। घरका, जातिका अथवा दूसरे वैसे कर्योंका कारण आनेपर उदासीन भावसे उन्हें प्रतिबंधरूप जानकर प्रवृत्ति करना योग्य है। उन कारणोंको मुख्य बनाकर कोई प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है; और ऐसा हुए बिना प्रवृत्तिका अवकाश प्राप्त नहीं होता।

आत्माको भिन्न-भिन्न प्रकारकी कल्पनासे विचार करनेमें लोकसंज्ञा, ओघसंज्ञा और असत्संग ये कारण हैं; जिन कारणोंमें उदासीन हुए बिना, निःसत्त्व ऐसी लोकसंबंधी जपतपादि क्रियामें साक्षात् मोक्ष नहीं है, परंपरा मोक्ष नहीं है, ऐसा माने बिना, निःसत्त्व असत्शास्त्र और असद्गुरु जो आत्मस्वरूपके आवरणके मुख्य कारण हैं, उन्हें साक्षात् आत्मघाती जाने बिना जीवको जीवके स्वरूपका निश्चय होना बहुत दुष्कर है, अत्यंत दुष्कर है। ज्ञानीपुरुषके प्रगट आत्मस्वरूपको कहनेवाले वचन भी उन कारणोंके कारण जीवको स्वरूपका विचार करनेके लिये बलवान नहीं होते।

अब ऐसा निश्चय करना योग्य है कि जिसे आत्मस्वरूप प्राप्त है, प्रगट है, उस पुरुषके बिना अन्य कोई उस आत्मस्वरूपको यथार्थ कहनेके योग्य नहीं है; और उस पुरुषसे आत्मा जाने बिना अन्य कोई कल्याणका उपाय नहीं है। उस पुरुषसे आत्मा जाने बिना, आत्मा जाना है, ऐसी कल्पनाका मुमुक्षुजीवको सर्वथा त्याग करना योग्य है। उस आत्मारूप पुरुषके सत्संगकी निरंतर कामना रखकर उदासीनतासे लोकधर्मसंबंधी और कर्मसंबंधी परिणामसे छूटा जा सके इस प्रकारसे व्यवहार करना। जिस व्यवहारके करनेमें जीवको अपनी महत्तादिकी इच्छा हो वह व्यवहार करना यथायोग्य नहीं है।

हमारे समागमका अभी अंतराय जानकर निराशाको प्राप्त होना योग्य है; तथापि वैसा करनेमें 'ईश्वरेच्छा' जानकर समागमकी कामना रखकर जितना परस्पर मुमुक्षुभाइयोंका समागम हो सके उतना करें, जितनी हो सके उतनी प्रवृत्तिमें विरक्तता रखें, सत्पुरुषोंके चरित्र और मार्गानुसारी (सुंदरदास, प्रीतम, अखा, कबीर आदि) जीवोंके वचन और जिनका उद्देश मुख्यतः आत्माको कहनेका है, ऐसे (विचारसागर, सुंदरदासके ग्रंथ, आनन्दघनजी, बनारसीदास, कबीर, अखा इत्यादिके पद) ग्रंथोंका परिचय रखें, और इन सब साधनोंमें मुख्य साधन तो श्री सत्पुरुषका समागम मानें।

हमारे समागमका अंतराय जानकर चित्तमें प्रमादको अवकाश देना योग्य नहीं है, परस्पर मुमुक्षुभाइयोंके समागमको अव्यवस्थित होने देना योग्य नहीं है; निवृत्तिके क्षेत्रका प्रसंग न्यून होने देना योग्य नहीं है; कामनापूर्वक प्रवृत्ति योग्य नहीं है; ऐसा विचारकर यथासंभव अप्रमत्तताका, परस्परके समागमका, निवृत्तिके क्षेत्रका और प्रवृत्तिकी उदासीनताका आराधन करें।

जो प्रवृत्ति यहाँ उदयमें है, वह ऐसी है कि दूसरे द्वारसे चले जाते हुए भी छोड़ी नहीं जा सकती, वेदन करने योग्य है, इसलिये उसका अनुसरण करते हैं, तथापि अव्याबाध स्थितिमें जैसाका तैसा स्वास्थ्य है।

आज यह आठवाँ पत्र लिखते हैं। वे सब आप सभी जिज्ञासुभाइयोंके वारंवार विचार करनेके लिये लिखे गये हैं। चित्त ऐसे उदयवाला कभी ही रहता है। आज अनुक्रमसे वैसा उदय होनेसे, उस उदयके अनुसार लिखा है। हम सत्संग और निवृत्तिकी कामना रखते हैं, तो फिर आप सबको यह रखनी योग्य हो, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। हम व्यवहारमें रहते हुए अल्पारंभको, अल्पपरिग्रहको प्रारब्धनिवृत्तिरूपसे चाहते हैं, महान आरंभ और महान परिग्रहमें नहीं पड़ते। तो फिर आपको वैसा बर्ताव करना योग्य हो,

इसमें कोई संशय करना योग्य नहीं है। समागम होनेके योगका नियमित समय लिखा जा सके ऐसा अभी नहीं सूझता। यही विनती।

---

४५० बंबई, जेठ सुदी १५, मंगल, १९४९

[1]"जीव तुं शीद शोचना धरे कृष्णने करवुं होय ते करे।
चित्त तुं शीद शोचना धरे कृष्णने करवुं होय ते करे॥" –दयाराम

पूर्वकालमें जो ज्ञानीपुरुष हुए हैं, उन ज्ञानियोंमें बहुतसे ज्ञानीपुरुष सिद्धियोगवाले हुए हैं, ऐसा जो लोककथन है वह सच्चा है या झूठा ऐसा आपका प्रश्न है, और यह सच्चा होना संभव है ऐसा आपका अभिप्राय है। साक्षात् देखनेमें नहीं आता, यह विचाररूप जिज्ञासा है।

कितने ही मार्गानुसारी पुरुषों और अज्ञानयोगी पुरुषोंमें भी सिद्धियोग होता है। प्रायः उनके चित्तकी अत्यंत सरलतासे अथवा सिद्धियोगादिको अज्ञानयोगसे स्फुरणा देनेसे वह प्रवृत्ति करता है।

सम्यग्दृष्टिपुरुष कि जिनका चौथे गुणस्थानमें होना संभव है, वैसे ज्ञानीपुरुषोंमें क्वचित् सिद्धि होती है, और क्वचित् सिद्धि नहीं होती। जिनमें होती है, उन्हें उसकी स्फुरणाकी प्रायः इच्छा नहीं होती, और बहुत करके यह इच्छा तब होती है जब जीव प्रमादवश होता है; और यदि वैसी इच्छा हुई तो उसका सम्यक्त्वसे पतन होना संभव है।

प्रायः पाँचवें, छट्ठे गुणस्थानमें भी उत्तरोत्तर सिद्धियोगका विशेष संभव होता जाता है, और वहाँ भी यदि जीव प्रमादादि योगसे सिद्धिमें प्रवृत्ति करे तो प्रथम गुणस्थानमें स्थिति होना संभव है।

सातवें, आठवें, नवमें और दसवें गुणस्थानमें प्रायः प्रमादका अवकाश कम है। ग्यारहवें गुणस्थानमें सिद्धियोगका लोभ संभव होनेके कारण वहाँसे प्रथम गुणस्थानमें स्थिति होना संभव है। बाकी जितने सम्यक्त्वके स्थानक हैं, और जहाँ तक सम्यक्परिणामी आत्मा है वहाँ तक उस एक भी योगमें जीवकी प्रवृत्ति त्रिकालमें भी होना संभव नहीं है।

सम्यग्ज्ञानीपुरुषोंसे लोगोंने सिद्धियोगके जो चमत्कार जाने हैं, वे सब ज्ञानीपुरुष द्वारा किये हुए नहीं हो सकते; वे सिद्धियोग स्वभावतः परिणामको प्राप्त हुए होते हैं। दूसरे किसी कारणसे ज्ञानीपुरुषमें वह योग नहीं कहा जाता।

मार्गानुसारी अथवा सम्यग्दृष्टि पुरुषोंके अत्यंत सरल परिणामसे उनके वचनानुसार कितनी ही बार होता है। जिसका योग अज्ञानपूर्वक है, उसके उस आवरणके उदय होनेपर अज्ञानका स्फुरण होकर वह सिद्धियोग अल्पकालमें फलित होता है। ज्ञानीपुरुषसे तो मात्र स्वाभाविक स्फुरित होकर ही फलित होता है, अन्य प्रकारसे नहीं। जिन ज्ञानीसे सिद्धियोग स्वाभाविक परिणामी होता है, वे ज्ञानीपुरुष, हम जो करते हैं वैसा और वह इत्यादि दूसरे अनेक प्रकारके चारित्रके प्रतिबंधक कारणोंसे मुक्त होते हैं, कि जिस कारणसे आत्माका ऐश्वर्य विशेष स्फुरित होकर मनादि योगमें सिद्धिके स्वाभाविक परिणामको प्राप्त होता है। क्वचित् ऐसा भी जानते हैं कि किसी प्रसंगमें ज्ञानीपुरुषने भी सिद्धियोग परिणमित किया होता है तथापि वह कारण अत्यंत बलवान होता है; और वह भी संपूर्ण ज्ञानदशाका कार्य नहीं है। हमने जो यह लिखा है, वह बहुत विचार करनेसे समझमें आयेगा।

---

१. **भावार्थ**–जीव ! तू किसलिये शोक करता है ? कृष्णको जो करना होगा सो करेगा। चित्त ! तू किसलिये शोक करता है ? कृष्णको जो करना होगा सो करेगा।

हममें मार्गानुसारिता कहना संगत नहीं है। अज्ञानयोगिता तो जबसे इस देहको धारण किया तभीसे नहीं होगी ऐसा लगता है। सम्यग्दृष्टिपन तो जरूर संभव है। किसी प्रकारका सिद्धियोग साधनेका हमने कभी भी सारी जिंदगीमें अल्प भी विचार किया हो ऐसा याद नहीं आता, अर्थात् साधनसे वैसा योग प्रगट हुआ हो, ऐसा नहीं लगता। आत्माकी विशुद्धताके कारण यदि कोई वैसा ऐश्वर्य हो तो उसकी असत्ता नहीं कही जा सकती। वह ऐश्वर्य कुछ अंशमें संभव है, तथापि यह पत्र लिखते समय इस ऐश्वर्यकी स्मृति हुई है, नहीं तो बहुत कालसे वैसा होना स्मरणमें नहीं है तो फिर उसे स्फुरित करनेकी इच्छा कभी हुई हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता, यह स्पष्ट बात है। आप और हम कुछ दुःखी नहीं हैं। जो दुःख है वह रामके चौदह वर्षके दुःखका एक दिन भी नहीं है, पांडवोंके तेरह वर्षके दुःखकी एक घड़ी नहीं है, और गजसुकुमारके ध्यानका एक पल नहीं है, तो फिर हमें यह अत्यंत कारण कभी भी बताना योग्य नहीं है।

आपको शोक करना योग्य नहीं है, फिर भी करते है। जो बात आपसे न लिखी जाये वह लिखी जाती है। उसे न लिखनेके लिये हमारा इस पत्रसे उपदेश नहीं है। मात्र जो हो उसे देखते रहना, ऐसा निश्चय रखनेका विचार करें, उपयोग करें, और साक्षी रहें; यही उपदेश है।

नमस्कार प्राप्त हो।

---

४५१ बंबई, प्रथम आषाढ़ सुदी ९, १९४९

कृष्णदासका प्रथम विनयभक्तिरूप पत्र मिला था। उसके बाद त्रिभोवनका पत्र और फिर आपका पत्र पहुँचा। बहुत करके रविवारको पत्र लिखा जा सकेगा।

सत्संगके इच्छावान जीवोंके प्रति कुछ भी उपकारक देखभाल होती हो तो होने योग्य है। परंतु अव्यवस्थाके कारण हम उन कारणोंमें अशक्त होकर प्रवृत्ति करते हैं, अंतःकरणसे कहते हैं कि वह क्षमा योग्य है। यही विनती।

---

४५२ बंबई, प्रथम आषाढ़ सुदी १२, १९४९

उपाधिके कारण अभी यहाँ स्थिति संभव है।

यहाँ सुखवृत्ति है। दुःख कल्पित है।

लि० रायचंदके प्रणाम

---

४५३ बंबई, प्रथम आषाढ़ वदी ३, रवि, १९४९

मुमुक्षुजनके परमबांधव, परमस्नेही श्री सुभाग्य, मोरबी।

यहाँ समाधिका यथायोग्य अवकाश नहीं है। अभी कोई पूर्वोपार्जित प्रारब्ध ऐसे उदयमें रहता है।

गत सालके मार्गशीर्ष मासमें यहाँ आना हुआ, तभीसे उत्तरोत्तर उपाधियोग विशेषाकार होता आया है, और बहुत करके उस उपाधियोगका विशेष प्रकारसे उपयोग द्वारा वेदन करना पड़ा है।

इस कालको तीर्थंकरादिने स्वभावतः दुषम कहा है। उसमें विशेष करके प्रयोगसे अनार्यताके योग्यभूत ऐसे इन क्षेत्रोंमें यह काल बलवानरूपसे रहता है। लोगोंकी आत्मप्रत्यय योग्यबुद्धि अत्यंत नाश हो जाने योग्य हुई है, ऐसे सब प्रकारके दुषमयोगमें व्यवहार करते हुए परमार्थका विस्मरण अत्यंत सुलभ है। और परमार्थका स्मरण अत्यंत अत्यंत दुर्लभ है। आनंदघनजीने चौदहवें जिनके स्तवनमें कहा है, उसमें इस क्षेत्रकी दुषमता इतनी विशेषता है, और आनंदघनजीके कालकी अपेक्षा वर्तमानकाल विशेष दुषमपरिणामी है। उसमें यदि किसी आत्मप्रत्ययी पुरुषके लिये बचने योग्य कोई उपाय हो तो वह एक

मात्र निरंतर अविच्छिन्न धारासे सत्संगकी उपासना करना यही प्रतीत होता है।

प्रायः सर्व कामनाओंके प्रति उदासीनता है, ऐसे हमको भी यह सर्व व्यवहार और कालादि, गोते खाते खाते संसारसमुद्रको मुश्किलसे तरने देता है। तथापि प्रति समय उस परिश्रमका अत्यंत प्रस्वेद उत्पन्न हुआ करता है, और उत्ताप उत्पन्न होकर सत्संगरूप जलकी तृषा अत्यंतरूपसे रहा करती है, और यही दुःख लगा करता है।

ऐसा होनेपर भी ऐसे व्यवहारका सेवन करते हुए उसके प्रति द्वेषपरिणाम करना योग्य नहीं है, ऐसा जो सर्व ज्ञानीपुरुषका अभिप्राय है, वह उस व्यवहारको प्रायः समतासे कराता है। आत्मा उस विषयमें मानो कुछ करता नहीं है, ऐसा लगा करता है।

विचार करनेसे ऐसा भी नहीं लगता कि यह जो उपाधि उदयवर्ती है, वह सर्व प्रकारसे कष्टरूप है। पूर्वोपार्जित प्रारब्ध जिससे शांत होता है, वह उपाधि परिणामसे आत्मप्रत्ययी कहने योग्य है।

मनमें ऐसा ही रहा करता है कि अल्पकालमें यह उपाधियोग मिटकर बाह्याभ्यंतर निर्ग्रंथता प्राप्त हो तो अधिक योग्य है। तथापि यह बात अल्पकालमें हो ऐसा नहीं सूझता, और जब तक ऐसा नहीं होता तब तक वह चिंता मिटनी संभव नहीं है।

दूसरा सब व्यवहार वर्तमानमें ही छोड दिया हो, तो यह हो सकता है। दो तीन उदय-व्यवहार ऐसे हैं कि जो भोगनेसे ही निवृत्त हो सकते हैं; और कष्टसे भी उस विशेष कालकी स्थितिमेंसे अल्पकालमें उनका वेदन नहीं किया जा सकता ऐसे हैं; और इसी कारणसे मूर्खकी भाँति इस व्यवहारका सेवन किया करते हैं।

किसी द्रव्यमें, किसी क्षेत्रमें, किसी कालमें, किसी भावमें स्थिति हो, ऐसा प्रसंग मानों कहीं भी दिखायी नहीं देता। केवल सर्व प्रकारकी उसमेंसे अप्रतिबद्धता ही योग्य है, तथापि निवृत्तिक्षेत्र और निवृत्तिकाल, सत्संग और आत्मविचारमें हमें प्रतिबद्ध रुचि रहती है। वह योग किसी प्रकारसे भी यथासंभव थोड़े कालमें हो, इसी चिंतनमें अहोरात्र रहते हैं।

आपके समागमकी अभी विशेष इच्छा रहती है, तथापि उसके लिये किसी प्रसंगके बिना योग न करना, ऐसा रखना पड़ा है और उसके लिये बहुत विक्षेप रहता है।

आपको भी उपाधियोग रहता है। उसका विकटतासे वेदन किया जाये, ऐसा है, तथापि मौनरूपसे, समतासे उसका वेदन करना, ऐसा निश्चय रखें। उस कर्मका वेदन करनेसे अंतरायका बल कम होगा।

क्या लिखें ? और क्या कहें ? एक आत्मवार्तामें ही जिसका अविच्छिन्न काल बीतता है, ऐसे आप जैसे पुरुषके सत्संगके हम दास है। अत्यंत नम्रतासे हमारा, चरणके प्रति नमस्कार स्वीकार कीजिये। यही विनती।

दासानुदास रायचंदके प्रणाम पढ़ियेगा।

---

४५४ बंबई, प्रथम आषाढ़ वदी ४, सोम, १९४९

ॐ

यदि स्पष्ट प्रीतिसे संसार करनेकी इच्छा होती हो तो उस पुरुषने ज्ञानीके वचन सुने नहीं है; अथवा ज्ञानीपुरुषके दर्शन भी उसने किये नहीं है ऐसा तीर्थंकर कहते हैं।

जिसकी कमर टूट गई है, उसका प्रायः सारा बल परिक्षीणताको प्राप्त होता है। जिसे ज्ञानीपुरुषके वचनरूप लकड़ीका प्रहार हुआ है उस पुरुषमें उस प्रकारसे संसार संबंधी बल होता है, ऐसा तीर्थंकर

कहते हैं।

ज्ञानीपुरुषको देखनेके बाद स्त्रीको देखकर यदि राग उत्पन्न होता हो तो उसने ज्ञानीपुरुषको नहीं देखा, ऐसा आप समझें।

ज्ञानीपुरुषके वचन सुननेके बाद स्त्रीका सजीवन शरीर अजीवनरूपसे भासे बिना नहीं रहेगा।

धनादि संपत्ति वास्तवमें पृथ्वीका विकार भासित हुए बिना नहीं रहेगा।

ज्ञानीपुरुषके सिवाय उसका आत्मा और कहीं भी क्षणभर स्थायी होना नहीं चाहेगा।

इत्यादि वचनोंका पूर्वकालमें ज्ञानीपुरुष मार्गानुसारी पुरुषोंको बोध देते थे।

जिन्हें जानकर, सुनकर वे सरल जीव आत्मामें अवधारण करते थे।

प्राणत्याग जैसे प्रसंगमें भी वे उन वचनोंको अप्रधान न करने योग्य जानते थे, वर्तन करते थे।

आप सर्व मुमुक्षुभाइयोंको हमारा भक्तिभावसे नमस्कार पहुँचे। हमारा ऐसा उपाधियोग देखकर अंतरमें क्लेशित हुए बिना जितना हो सके उतना आत्मा संबंधी अभ्यास बढ़ानेका विचार करें।

सर्वसे अधिक स्मरणयोग्य बातें तो बहुतसी हैं, तथापि संसारमें एकदम उदासीनता, परके अल्पगुणोंमें भी प्रीति, अपने अल्प दोषोंमें भी अत्यंत क्लेश, दोषके विलयमें अत्यंत वीर्यका स्फुरना, ये बातें सत्संगमें केवल शरणागतरूपसे अखण्ड ध्यानमें रखने योग्य हैं। यथासंभव निवृत्तिकाल, निवृत्तिक्षेत्र, निवृत्तिद्रव्य और निवृत्तिभावका सेवन कीजिये। तीर्थंकर गौतम जैसे ज्ञानीपुरुषको भी संबोधन करते थे कि समयमात्र भी प्रमाद योग्य नहीं है। प्रणाम।

---

४५५ बंबई, प्रथम आषाढ़ वदी १३, मंगल, १९४९

अनुकूलता, प्रतिकूलताके कारणमें विषमता नहीं है। सत्संगके कामीजनको यह क्षेत्र विषम जैसा है। किसी किसी उपाधियोगका अनुक्रम हमें भी रहा करता है। इन दो कारणोंकी विस्मृति करते हुए भी जिस घरमें रहना है उसकी कितनी ही प्रतिकूलता है, इसलिये अभी आप सब भाइयोंका विचार कुछ स्थगित करने योग्य (जैसा) है।

---

४५६ बंबई, प्रथम आषाढ़ वदी १४, बुध, १९४९

प्रायः प्राणी आशासे जीते हैं। जैसे जैसे संज्ञा विशेष होती जाती है, वैसे वैसे विशेष आशाके बलसे जीना होता है। एक मात्र जहाँ आत्मविचार और आत्मज्ञानका उद्भव होता है, वहाँ सर्व प्रकारकी आशाकी समाधि होकर जीवके स्वरूपसे जिया जाता है। जो कोई भी मनुष्य इच्छा करता है वह भविष्यमें उसकी प्राप्ति चाहता है, और उस प्राप्तिकी इच्छारूप आशासे उसकी कल्पनाका जीना है, और वह कल्पना प्रायः कल्पना ही रहा करती है। यदि जीवको वह कल्पना न हो और ज्ञान भी न हो तो उसकी दुःखकारक भयंकर स्थिति अकथनीय होना संभव है। सर्व प्रकारकी आशा, उसमें भी आत्माके सिवाय दूसरे अन्य पदार्थोंकी आशामें समाधि किस प्रकारसे हो, यह कहें।

---

४५७ बंबई, द्वि० आषाढ़ सुदी ६, बुध, १९४९

रखा कुछ रहता नहीं, और छोड़ा कुछ जाता नहीं, ऐसे परमार्थका विचारकर किसीके प्रति दीनता करना या विशेषता दिखाना योग्य नहीं है। समागममें दीनतासे नहीं आना चाहिये।

---

४५८ बंबई, द्वि० आषाढ़ सुदी १२, मंगल, १९४९

अंबालालके नामसे एक पत्र लिखा है, वह पहुँचा होगा। उसमें आज एक पत्र लिखनेका सूचन किया है। लगभग एक घंटे तक विचार करते हुए कुछ सूझ न आनेसे पत्र नहीं लिखा जा सका सो क्षमा योग्य है।

उपाधिके करणसे अभी यहाँ स्थिति संभव है। आप किन्हीं भाइयोंका प्रसंग, इस तरफ अभी कुछ थोड़े समयमें होना संभव हो तो सूचित कीजियेगा।

भक्तिपूर्वक प्रणाम।

---

४५९ बंबई, द्वि० आषाढ़ वदी ६, १९४९

श्री कृष्णादिकी क्रिया उदासीन जैसी थी। जिस जीवको सम्यक्त्व उत्पन्न हो, उसे सर्व प्रकारकी संसारी क्रियाएँ उसी समय न हों, ऐसा कोई नियम नहीं है। सम्यक्त्व उत्पन्न होनेके बाद संसारी क्रियाओंका रसरहितरूपसे होना संभव है। प्रायः ऐसी कोई भी क्रिया उस जीवकी नहीं होती कि जिससे परमार्थके विषयमें भ्रांति हो; और जब तक परमार्थके विषयमें भ्रांति न हो तब तक दूसरी क्रियासे सम्यक्त्वको बाधा नहीं आती। इस जगतके लोग सर्पकी पूजा करते हैं, वे वस्तुतः पूज्यबुद्धिसे पूजा नहीं करते, परंतु भयसे पूजा करते हैं, भावसे पूजा नहीं करते; और इष्टदेवकी पूजा लोग अत्यंत भावसे करते हैं। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव इस संसारका सेवन करता हुआ दिखाई देता है, वह पूर्वकालमें निबंधन किये हुए प्रारब्ध कर्मसे दिखाई देता है। वस्तुतः भावसे इस संसारमें उसका प्रतिबंध संगत नहीं है, पूर्वकर्मके उदयरूप भयसे संगत होता है। जितने अंशमें भावप्रतिबंध न हो उतने अंशमें ही सम्यग्दृष्टिपन उस जीवको होता है।

अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभका सम्यक्त्वके सिवाय जाना संभव नहीं है, ऐसा जो कहा जाता है, वह यथार्थ है। संसारी पदार्थोंमें तीव्र स्नेहके बिना जीवको ऐसे क्रोध, मान, माया और लोभ नहीं होते कि जिस कारणसे उसे अनन्त संसारका अनुबंध हो। जिस जीवको संसारी पदार्थोंमें तीव्र स्नेह रहता हो, उसे किसी प्रसंगमें भी अनन्तानुबंधी चतुष्कमेंसे किसीका भी उदय होना संभव है, और जब तक उन पदार्थोंमें तीव्र स्नेह हो तब तक वह जीव अवश्य परमार्थमार्गी नहीं होता। परमार्थमार्गका लक्षण यह है कि अपरमार्थका सेवन करते हुए जीव सभी प्रकारसे सुख अथवा दुःखमें कायर हुआ करे। दुःखमें कायरता कदाचित् दूसरे जीवोंको भी हो सकती है, परंतु संसारसुखकी प्राप्तिमें भी कायरता, उस सुखकी अरुचि, नीरसता परमार्थमार्गी पुरुषको होती है।

वैसी नीरसता जीवको परमार्थज्ञानसे अथवा परमार्थज्ञानीपुरुषके निश्चयसे होना संभव है, दूसरे प्रकारसे होना संभव नहीं है। परमार्थज्ञानसे इस संसारको अपरमार्थरूप जानकर, फिर उसके प्रति तीव्र क्रोध, मान, माया या लोभ कौन करेगा ? अथवा कैसे होगा ? जिस वस्तुका माहात्म्य दृष्टिमेंसे चला गया उस वस्तुके लिये अत्यंत क्लेश नहीं होता। संसारमें भ्रांतिसे जाना हुआ सुख परमार्थज्ञानसे भ्रांति ही भासित होता है, और जिसे भ्रांति भासित हुई है उसे फिर उसका माहात्म्य क्या लगेगा ? ऐसी माहात्म्यदृष्टि परमार्थज्ञानीपुरुषके निश्चयवाले जीवको होती है, उसका कारण भी यही है। किसी ज्ञानके आवरणके कारण जीवको व्यवच्छेदक ज्ञान नहीं होता, तथापि उसे सामान्य ज्ञान ज्ञानीपुरुषकी श्रद्धारूप होता है। यही ज्ञान बड़के बीजकी भाँति परमार्थ-बड़का बीज है।

तीव्र परिणामसे, भवभयरहितरूपसे ज्ञानीपुरुष अथवा सम्यग्दृष्टि जीवको क्रोध, मान, माया या

लोभ नहीं होता। जो संसारके लिये अनुबंध करता है, उसकी अपेक्षा परमार्थके नामसे, भ्रांतिगत परिणामसे असद्गुरु देव, धर्मका सेवन करता है, उस जीवको प्रायः अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ होते हैं, क्योंकि संसारकी दूसरी क्रियाएँ प्रायः अनंत अनुबंध करनेवाली नहीं होती; मात्र अपरमार्थको परमार्थ मानकर जीव आग्रहसे उसका सेवन किया करे, यह परमार्थज्ञानी ऐसे पुरुषके प्रति, देवके प्रति, धर्मके प्रति निरादर है, ऐसा कहना प्रायः यथार्थ है। वह सद्गुरु, देव, धर्मके प्रति, असद्गुर्वादिकके आग्रहसे, मिथ्याबोधसे, आशातनासे, उपेक्षासे प्रवृत्ति करे, ऐसा संभव है। तथा उस कुसंगसे उसकी संसारवासनाका परिच्छेद न होते हुए भी वह परिच्छेद मानकर परमार्थके प्रति उपेक्षक रहता है; यही अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभका आकार है।

---

४६० बंबई, द्वि० आषाढ़ वदी १०, सोम, १९४९

भाई कुंवरजी, श्री कलोल।

शारीरिक वेदनाको देहका धर्म मानकर और बाँधे हुए कर्मोंका फल जानकर सम्यक् प्रकारसे सहन करना योग्य है। बहुत बार शारीरिक वेदना विशेष बलवती होती है, उस समय उत्तम जीवोंको भी उपर्युक्त सम्यक्प्रकारसे स्थिर रहना कठिन होता है; तथापि हृदयमें वारंवार उस बातका विचार करते हुए और आत्माको नित्य, अछेद्य, अभेद्य, जरा, मरणादि धर्मसे रहित भाते हुए विचार करते हुए, कितने ही प्रकारसे उस सम्यक्प्रकारका निश्चय आता है। महान पुरुषों द्वारा सहन किये हुए उपसर्ग तथा परिषहके प्रसंगोंकी जीवमें स्मृति करके, उसमें उनके रहे हुए अखंड निश्चयको वारंवार हृदयमें स्थिर करने योग्य जाननेसे जीवको वह सम्यक्परिणाम फलीभूत होता है, और वेदना, वेदनाके क्षयकालमें निवृत्त होनेपर, फिर वह वेदना किसी कर्मका कारण नहीं होती। व्याधिरहित शरीर हो, उस समयमें यदि जीवने उससे अपनी भिन्नता जानकर, उसका अनित्यादि स्वरूप जानकर, उसके प्रति मोह, ममत्वादिका त्याग किया हो, तो यह महान श्रेय है; तथापि ऐसा न हुआ हो तो किसी भी व्याधिके उत्पन्न होनेपर, वैसी भावना करते हुए जीवको प्रायः निश्चल कर्मबंधन नहीं होता; और महाव्याधिके उत्पत्तिकालमें तो जीव देहके ममत्वका जरूर त्याग करके ज्ञानीपुरुषके मार्गकी विचारणाके अनुसार आचरण करे, यह सम्यक् उपाय है। यद्यपि देहका वैसा ममत्व त्याग करना अथवा कम करना, यह महादुष्कर बात है, तथापि जिसका वैसा करनेका निश्चय है, वह कभी-न-कभी फलीभूत होता है।

जब तक जीवको देहादिसे आत्मकल्याणका साधन करना रहा है, तब तक उस देहमें अपारिणामिक ममताका सेवन करना योग्य है; अर्थात् यदि इस देहका कोई उपचार करना पड़े तो वह उपचार देहके ममतार्थ करनेकी इच्छासे नहीं, परंतु उस देहसे ज्ञानीपुरुषके मार्गका आराधन हो सकता है, ऐसे किसी प्रकारसे उसमें रहे हुए लाभके लिये, और वैसी ही बुद्धिसे उस देहकी व्याधिके उपचारमें प्रवृत्ति करनेमें बाधा नहीं है। जो कुछ वह ममता है वह अपारिणामिक ममता है, इसलिये परिणाममें समता स्वरूप है; परंतु उस देहके प्रियतार्थ, सांसारिक साधनोंमें प्रधान भोगका यह हेतु है, उसका त्याग करना पड़ता है, ऐसे आर्त्तध्यानसे किसी प्रकारसे भी उस देहमें बुद्धि न करना, ऐसी ज्ञानीपुरुषके मार्गकी शिक्षा जानकर वैसे प्रसंगमें आत्मकल्याणका लक्ष्य रखना योग्य है।

सर्व प्रकारसे ज्ञानीकी शरणमें बुद्धि रखकर निर्भयताका, शोकरहितताका सेवन करनेकी शिक्षा श्री तीर्थंकर जैसोंने दी है, और हम भी यही कहते हैं। किसी भी कारणसे इस संसारमें क्लेशित होना योग्य नहीं है। अविचार और अज्ञान ये सर्व क्लेशके, मोहके और अशुभ गतिके कारण हैं। सद्विचार

और आत्मज्ञान आत्मगतिके कारण हैं।

उसका प्रथम साक्षात् उपाय ज्ञानीपुरुषकी आज्ञाका विचार करना यही प्रतीत होता है।

प्रणाम प्राप्त हो।

---

४६१ बंबई, श्रावण सुदी ४, मंगल, १९४९

परमस्नेही श्री सुभाग्य,

आपके प्रतापसे यहाँ कुशलता है। इस तरफ दंगा उत्पन्न होने संबंधी बात सच्ची है। हरीच्छासे और आपकी कृपासे यहाँ कुशलक्षेम है।

श्री गोसलियाको हमारा प्रणाम कहियेगा। ईश्वरेच्छा होगी तो श्रावण वदी १ के आसपास यहाँसे कुछ दिनोंके लिये बाहर जानेका विचार आता है। कौनसे गाँव अथवा किस तरफ जाना, यह अभी कुछ सूझा नहीं है। काठियावाडमें आना सूझे, ऐसा भासित नहीं होता।

आपको एक बार उसके लिये अवकाशके बारेमें पुछवाया था। उसका यथायोग्य उत्तर नहीं आया। गोसलिया बाहर जानेका कम डर रखता हो और आपको निरुपाधि जैसा अवकाश हो, तो पाँच-पंद्रह दिन किसी क्षेत्रमें निवृत्तिवासका विचार होता है, वह ईश्वरेच्छासे करें।

कोई जीव सामान्य मुमुक्षु होता है, उसका भी इस संसारके प्रसंगमें प्रवृत्ति करनेका वीर्य मंद पड़ जाता है, तो हमें उसके संबंधमें अधिक मंदता रहे, इसमें आश्चर्य नहीं लगता। तथापि किसी पूर्वकालमें प्रारब्ध उपार्जन होनेका ऐसा ही प्रकार होगा कि जिससे उस प्रसंगमें प्रवृत्ति करना रहा करता है, परंतु वह कैसा रहा करता है? ऐसा रहा करता है कि जो खास संसार-सुखकी इच्छावाला हो, उसे भी वैसा करना न पुसाये। यद्यपि इस बातका खेद करना योग्य नहीं है, और उदासीनताका ही सेवन करते हैं; तथापि उस कारणसे एक दूसरा खेद उत्पन्न होता है, वह यह कि सत्संग और निवृत्तिकी अप्रधानता रहा करती है और जिसमें परम रुचि है, ऐसे आत्मज्ञान और आत्मवार्ताको किसी भी प्रकारकी इच्छाके बिना क्वचित् त्याग जैसे रखने पड़ते हैं। आत्मज्ञान वेदक होनेसे उद्विग्न नहीं करता, परंतु आत्मवार्ताका वियोग उद्विग्न करता है। आप भी चित्तमें इसी कारणसे उद्विग्न होते हैं। जिन्हें बहुत इच्छा है ऐसे कई मुमुक्षुभाई भी उस कारणसे विरहका अनुभव करते हैं। आप दोनों ईश्वरेच्छा क्या समझते हैं? यह विचारियेगा। और यदि किसी प्रकारसे श्रावण वदीका योग हो तो वह भी कीजियेगा।

संसारकी ज्वाला देखकर चिंता न कीजियेगा। चिंतामें समता रहे तो वह आत्मचिंतन जैसा है। कुछ ज्ञानवार्ता लिखियेगा। यही विनती। प्रणाम।

---

४६२ बंबई, श्रावण सुदी ५, १९४९

जौहरी लोग ऐसा मानते हैं कि एक साधारण सुपारी जैसा सुंदर रंगका, पाणीदार और घाटदार माणिक (प्रत्यक्ष) दोषरहित हो तो उसकी करोडों रुपये कीमत गिनें तो भी वह कम है। यदि विचार करें तो इसमें मात्र आँखकी तृप्ति, और मनकी इच्छा तथा कल्पित मान्यताके सिवाय दूसरा कुछ नहीं है। तथापि इसमें केवल आँखकी तृप्तिरूप करामातके लिये और दुर्लभ प्राप्तिके कारण जीव उसका अद्भुत माहात्म्य बताते हैं; और जिसमें आत्मा स्थिर रहता है, ऐसा जो अनादि दुर्लभ सत्संगरूप साधन है, उसमें कुछ आग्रह-रुचि नहीं है, यह आश्चर्य विचारणीय है।

---

४६३ बंबई, श्रावण सुदी १५, रवि, १९४९

परमस्नेही श्री सोभाग,

यहाँ कुशलक्षेम है। यहाँसे अब थोड़े दिनोंमें मुक्त हुआ जाये तो ठीक, ऐसा मनमें रहता है। परंतु कहाँ जाना यह अभी तक मनमें आ नहीं सका। आपका और गोसलिया आदिका आग्रह सायलाकी तरफ आनेमें रहता है, तो वैसा करनेमें कुछ दुःख नहीं है, तथापि आत्माको यह बात अभी नहीं सूझती।

प्रायः आत्मामें यही रहा करता है कि जब तक इस व्यापारप्रसंगमें कामकाज करना रहा करे तब तक धर्म-कथादिके प्रसंगमें और धर्मके जानकारके रूपमें किसी प्रकारसे प्रगटरूपमें न आया जाये, यह यथायोग्य प्रकार है। व्यापार-प्रसंगमें रहते हुए भी जिसका भक्तिभाव रहा करता है, उसका प्रसंग भी ऐसे प्रकारमें करना योग्य है कि जहाँ आत्मामें जो उपर्युक्त प्रकार रहा करता है, उस प्रकारको बाधा न हो।

जिनेन्द्रके कहे हुए मेरु आदिके संबंधमें तथा अंग्रेजोंकी कही हुई पृथिवी आदिके संबंधमें समागम-प्रसंगमें बातचीत करियेगा।

हमारा मन बहुत उदास रहता है और प्रतिबंध इस प्रकारका रहता है कि उस उदासीको एकदम गुप्त जैसी करके असह्य ऐसे व्यापारादि प्रसंगमें उपाधियोगका वेदन करना पड़ता है; यद्यपि वास्तविकरूपसे तो आत्मा समाधिप्रत्ययी है। लि०— प्रणाम।

---

४६४ बंबई, श्रावण वदी ४, बुध, १९४९

थोड़े समयके लिये बंबईमें प्रवृत्तिसे अवकाश लेनेका विचार सूझ आनेसे दो-एक जगह लिखनेमें आया था, परंतु यह विचार तो थोड़े समयके लिये किसी निवृत्तिक्षेत्रमें स्थिति करनेका था। ववाणिया या काठियावाडकी तरफकी स्थितिका नहीं था। अभी वह विचार निश्चित अवस्थामें नहीं आया है। प्रायः इस पखवारेमें और गुजरातकी तरफके किसी एक निवृत्तिक्षेत्रके संबंधमें विचार आना संभव है। विचारके व्यवस्थित हो जानेपर लिखकर सूचित करूँगा। यही विनती।

सबको प्रणाम प्राप्त हो।

---

४६५ बंबई, श्रावण वदी ५, १९४९

ॐ

परमस्नेही श्री सोभाग,

यहाँ कुशलक्षेम समाधि है। थोड़े दिनके लिये मुक्त होनेका जो विचार सूझा था, वह अभी उसी स्वरूपमें है। उससे विशेष परिणामको प्राप्त नहीं हुआ। अर्थात् कब यहाँसे छूटना और किस क्षेत्रमें जाकर स्थिति करना, यह विचार अभी तक सूझ नहीं सका। विचारके परिणामकी स्वाभाविक परिणति प्रायः रहा करती है। उसे विशेषतासे प्रेरकता नहीं हो सकती।

गत वर्ष मगसिर सुदी छठको यहाँ आना हुआ था, तबसे आज दिवसपर्यंत अनेक प्रकारके उपाधियोगका वेदन करना हुआ है और यदि भगवत्कृपा न हो तो इस कालमें वैसे उपाधियोगमें धडके ऊपर सिरका रहना कठिन हो जाये, ऐसा होते होते अनेक बार देखा है; और जिसने आत्मस्वरूप जाना है ऐसे पुरुषका और इस संसारका मेल न खाये, ऐसा अधिक निश्चय हुआ है। ज्ञानीपुरुष भी अत्यंत

निश्चयात्मक उपयोगसे वर्तन करते करते भी क्वचित् मंद परिणामी हो जाये, ऐसी इस संसारकी रचना है। यद्यपि आत्मस्वरूप संबंधी बोधका नाश तो नहीं होता, तथापि आत्मस्वरूपके बोधके विशेष परिणामके प्रति एक प्रकारका आवरण होनेरूप उपाधियोग होता है। हम तो उस उपाधियोगसे अभी त्रास पाते रहते हैं, और उस उस योगमें हृदयमें और मुखमें मध्यमा वाचासे प्रभुका नाम रखकर मुश्किलसे कुछ प्रवृत्ति करके स्थिर रह सकते हैं। सम्यक्त्वमें अर्थात् बोधमें भ्रांति प्रायः नहीं होती, परंतु बोधके विशेष परिणामका अनवकाश होता है, ऐसा तो स्पष्ट दिखायी देता है। और उससे आत्मा अनेक बार आकुलता-व्याकुलताको पाकर त्यागका सेवन करता था; तथापि उपार्जित कर्मकी स्थितिका समपरिणामसे, अदीनतासे, अव्याकुलतासे वेदन करना, यही ज्ञानीपुरुषोंका मार्ग है, और उसीका सेवन करना है, ऐसी स्मृति होकर स्थिरता रहती आयी है, अर्थात् आकुलादि भावकी होती हुई विशेष घबराहट समाप्त होती थी।

जब तक दिन भर निवृत्तिके योगमें समय न बीते तब तक सुख न रहे, ऐसी हमारी स्थिति है। "आत्मा आत्मा," उसका विचार, ज्ञानीपुरुषकी स्मृति, उनके माहात्म्यकी कथावार्ता, उनके प्रति अत्यंत भक्ति, उनके अनवकाश आत्मचारित्रके प्रति मोह, यह हमें अभी आकर्षित किया करता है, और उस कालकी हम रटन किया करते हैं।

पूर्वकालमें जो जो ज्ञानीपुरुषके प्रसंग व्यतीत हुए हैं उस कालको धन्य है; उस क्षेत्रको अत्यंत धन्य है; उस श्रवणको, श्रवणके कर्त्ताको और उसमें भक्तिभाववाले जीवोंको त्रिकाल दंडवत् है। उस आत्मस्वरूपमें भक्ति, चिंतन, आत्मव्याख्याता ज्ञानीपुरुषकी वाणी अथवा ज्ञानीके शास्त्र या मार्गानुसारी ज्ञानीपुरुषके सिद्धांत, उसकी अपूर्वताको अतिभक्तिसे प्रणाम करते हैं। अखंड आत्मधुनके एकतार प्रवाहपूर्वक वह बात हमें अद्यापि भजनेकी अत्यंत आतुरता रहा करती है; और दूसरी ओरसे ऐसे क्षेत्र, ऐसा लोकप्रवाह, ऐसा उपाधियोग और दूसरे दूसरे वैसे वैसे प्रकार देखकर विचार मूर्च्छावत् होता है। ईश्वरेच्छा। प्रणाम प्राप्त हो।

---

४६६ पेटलाद, भादों सुदी ६, १९४९

ॐ

१. जिससे धर्म माँगे, उसने धर्म प्राप्त किया है या नहीं उसकी पूर्ण चौकसी करे, इस वाक्यका स्थिर चित्तसे विचार करे।

२. जिससे धर्म माँगे, वैसे पूर्ण ज्ञानीकी पहचान जीवको हुई हो, तो वैसे ज्ञानियोंका सत्संग करे और सत्संग हो, उसे पूर्ण पुण्योदय समझे। उस सत्संगमें वैसे परमज्ञानीके द्वारा उपदिष्ट शिक्षाबोधको ग्रहण करे कि जिससे कदाग्रह, मतमतांतर, विश्वासघात और असत् वचन इत्यादिका तिरस्कार हो; अर्थात् उन्हें ग्रहण नहीं करे। मतका आग्रह छोड़ दे। आत्माका धर्म आत्मामें है। आत्मत्वप्राप्तपुरुषके द्वारा उपदिष्ट धर्म आत्मतामार्गरूप होता है। बाकीके मार्गके मतमें नहीं पड़े।

३. इतना होनेपर भी यदि जीवसे सत्संग होनेके बाद कदाग्रह, मतमतांतरादि दोष छोड़े न जा सकते हों तो फिर उसे छूटनेकी आशा नहीं करनी चाहिये।

हम स्वयं किसीको आदेशबात अर्थात् 'ऐसा करना' यों नहीं कहते। वारंवार पूछें तो भी यह स्मृतिमें होता है। हमारे संगमें आये हुए कई जीवोंको अभी तक हमने ऐसा बताया नहीं है कि ऐसे वर्तन करें या ऐसा करें। मात्र शिक्षाबोधके रूपमें बताया होगा।

४. हमारा उदय ऐसा है कि ऐसी उपदेशबात करते हुए वाणी पीछे खिंच जाती है। साधारण प्रश्न पूछे तो उसमें वाणी प्रकाश करती है, और ऐसी उपदेशबातमें तो वाणी पीछे खिंच जाती है, इससे हम ऐसा जानते हैं कि अभी वैसा उदय नहीं है।

५. पूर्वकालमें हुए अनंत ज्ञानी यद्यपि महाज्ञानी हो गये हैं, परंतु उससे जीवका कुछ दोष नहीं जाता; अर्थात् इस समय जीवमें मान हो तो पूर्वकालमें हुए ज्ञानी कहने नहीं आयेंगे; परंतु हाल जो प्रत्यक्ष ज्ञानी विराजमान हों वे ही दोषको बतलाकर निकलवा सकते हैं। जैसे दूरके क्षीरसमुद्रसे यहाँके तृषातुरकी तृषा शांत नहीं होती, परंतु एक मीठे पानीका कलश यहाँ हो तो उससे तृषा शांत होती है।

६. जीव अपनी कल्पनासे मान लें कि ध्यानसे कल्याण होता है या समाधिसे या योगसे या ऐसे ऐसे प्रकारसे, परंतु उससे जीवका कुछ कल्याण नहीं होता। जीवका कल्याण होना तो ज्ञानीपुरुषके लक्ष्यमें होता है, और उसे परम सत्संगसे समझा जा सकता है; इसलिये वैसे विकल्प करना छोड़ देना चाहिये।

७. जीवको मुख्यमें मुख्य इस बातपर विशेष ध्यान देना योग्य है कि सत्संग हुआ हो तो सत्संगमें सुना हुआ शिक्षाबोध परिणत होकर जीवमें उत्पन्न हुए कदाग्रहादि दोष तो सहजमें ही छूट जाने चाहिये, कि जिससे दूसरे जीवोंको सत्संगका अवर्णवाद बोलनेका मौका न मिले।

८. ज्ञानीपुरुषोंने कहना बाकी नहीं रखा; परंतु जीवने करना बाकी रखा है। ऐसा योगानुयोग किसी समय ही उदयमें आता है। वैसी वांछासे रहित महात्माकी भक्ति तो सर्वथा कल्याणकारक ही सिद्ध होती है; परंतु किसी समय महात्माके प्रति वैसी वांछा हुई और वैसी प्रवृत्ति हो चुकी, तो भी वही वांछा यदि असत्पुरुषके प्रति की हो और जो फल होता है, उसकी अपेक्षा इसका फल भिन्न होना संभव है। सत्पुरुषके प्रति वैसे कालमें यदि निःशंकता रही हो, तो समय आनेपर उनके पाससे सन्मार्गकी प्राप्ति हो सकती है। एक प्रकारसे हमें स्वयं इसके लिये बहुत शोक रहता था, परंतु उसके कल्याणका विचार करके शोकका विस्मरण किया है।

९. मन, वचन, कायाके योगमेंसे जिसे केवलीस्वरूप भाव होनेसे अहंभाव मिट गया है, ऐसे जो ज्ञानीपुरुष, उसके परम उपशमरूप चरणारविंदको नमस्कार करके, वारंवार उसका चिंतन करके आप उसी मार्गमें प्रवृत्तिकी इच्छा करते रहें, ऐसा उपदेश देकर यह पत्र पूरा करता हूँ।

विपरीत कालमें एकाकी होनेसे उदास!!

---

४६७ खंभात, भादों, १९४९

ॐ

अनादिकालसे विपर्यय बुद्धि होनेसे, और ज्ञानीपुरुषकी कितनी ही चेष्टाएँ अज्ञानीपुरुष जैसी दिखायी देनेसे ज्ञानीपुरुषके विषयमें विभ्रम बुद्धि हो आती है, अथवा जीवको ज्ञानीपुरुषके प्रति उस उस चेष्टाका विकल्प आया करता है। यदि दूसरी दृष्टियोंसे ज्ञानीपुरुषका यथार्थ निश्चय हुआ हो तो किसी विकल्पको उत्पन्न करनेवाली ऐसी ज्ञानीकी उन्मत्तादि भाववाली चेष्टा प्रत्यक्ष देखनेमें आये तो भी दूसरी दृष्टिके निश्चयके बलके कारण वह चेष्टा अविकल्परूप होती है; अथवा ज्ञानीपुरुषकी चेष्टाकी कोई अगम्यता ही ऐसी है कि अधूरी अवस्थासे अथवा अधूरे निश्चयसे जीवके लिये विभ्रम और विकल्पका कारण होती है। परंतु वास्तविक रूपमें तथा पूरा निश्चय होनेपर वह विभ्रम और विकल्प उत्पन्न होने योग्य नहीं हैं; इसलिये इस जीवको ज्ञानीपुरुषके प्रति अधूरा निश्चय है, यही इस जीवका दोष है।

ज्ञानीपुरुष सभी प्रकारसे चेष्टारूपसे अज्ञानीपुरुषके समान नहीं होते, और यदि हो तो फिर ज्ञानी

नहीं है ऐसा निश्चय करना वह यथार्थ कारण है; तथापि ज्ञानी और अज्ञानी पुरुषमें किन्हीं ऐसे विलक्षण कारणोंका भेद है, कि जिससे ज्ञानी और अज्ञानीका किसी प्रकारसे एक रूप नहीं होता। अज्ञानी होनेपर भी जो जीव अपनेको ज्ञानीस्वरूप मनवाता हो, वह उस विलक्षणताके द्वारा निश्चयमें आता है। इसलिये ज्ञानीपुरुषकी जो विलक्षणता है, उसका निश्चय प्रथम विचारणीय है; और यदि वैसे विलक्षण कारणका स्वरूप जानकर ज्ञानीका निश्चय होता है तो फिर अज्ञानी जैसी क्वचित् जो जो चेष्टा ज्ञानीपुरुषकी देखनेमें आती है, उसके विषयमें निर्विकल्पता प्राप्त होती है, अर्थात् विकल्प नहीं होता; प्रत्युत ज्ञानीपुरुषकी वह चेष्टा उसके लिये विशेष भक्ति और स्नेहका कारण होती है।

प्रत्येक जीव अर्थात् ज्ञानी, अज्ञानी यदि सभी अवस्थाओंमें सरीखे ही हों तो फिर ज्ञानी और अज्ञानी यह नाम मात्र होता है; परंतु वैसा होना योग्य नहीं है। ज्ञानीपुरुष और अज्ञानीपुरुषमें अवश्य विलक्षणता होना योग्य है। जो विलक्षणता यथार्थ निश्चय होनेपर जीवको समझनेमें आती है, जिसका कुछ स्वरूप यहाँ बता देना योग्य है। मुमुक्षुजीवको ज्ञानीपुरुष और अज्ञानीपुरुषकी विलक्षणता उनकी अर्थात् ज्ञानी और अज्ञानी पुरुषकी दशा द्वारा समझमें आती है। उस दशाकी विलक्षणता जिस प्रकारसे होती है, वह बताने योग्य है। एक तो मूलदशा और दूसरी उत्तरदशा, ऐसे दो भाग जीवकी दशाके हो सकते हैं।

(अपूर्ण)

---

४६८ बंबई, भाद्रपद, १९४९

अज्ञानदशा रहती हो और जीवने भ्रमादि कारणसे उस दशाको ज्ञानदशा मान लिया हो, तब देहको उस उस प्रकारके दुःख होनेके प्रसंगोंमें अथवा वैसे अन्य कारणोंमें जीव देहकी साताका सेवन करनेकी इच्छा करता है, और वैसा वर्तन करता है। सच्ची ज्ञानदशा हो तो उसे देहकी दुःखप्राप्तिके कारणोंमें विषमता नहीं होती, और उस दुःखको दूर करनेकी इतनी अधिक परवा भी नहीं होती।

---

४६९ बंबई, भादों वदी ३०, १९४९

जैसी दृष्टि इस आत्माके प्रति है, वैसी दृष्टि जगतके सर्व आत्माओंके प्रति है। जैसा स्नेह इस आत्माके प्रति है, वैसा स्नेह सर्व आत्माओंके प्रति है। जैसी इस आत्माकी सहजानन्द स्थिति चाहते हैं, वैसी ही सर्व आत्माओंकी चाहते हैं। जो जो इस आत्माके लिये चाहते हैं, वह सब सर्व आत्माओंके लिये चाहते हैं। जैसा इस देहके प्रति भाव रखते हैं, वैसा ही सर्व देहोंके प्रति भाव रखते हैं। जैसा सर्व देहोंके प्रति बर्ताव करनेका प्रकार रखते हैं, वैसा ही प्रकार इस देहके प्रति रहता है। इस देहमें विशेष बुद्धि और दूसरी देहोंमें विषम बुद्धि प्रायः कभी भी नहीं हो सकती। जिन स्त्री आदिका आत्मीयतासे संबंध गिना जाता है, उन स्त्री आदिके प्रति जो कुछ स्नेहादिक है, अथवा समता है, वैसा ही प्रायः सर्वके प्रति रहता है। आत्मरूपताके कार्यमें मात्र प्रवृत्ति होनेसे जगतके सर्व पदार्थोंके प्रति जैसी उदासीनता रहती है, वैसी आत्मीय गिने जानेवाले स्त्री आदि पदार्थोंके प्रति रहती है।

प्रारब्धके प्रबंधसे स्त्री आदिके प्रति जो कुछ उदय हो उससे विशेष वर्तना प्रायः आत्मासे नहीं होती। कदाचित् करुणासे कुछ वैसी विशेष वर्तना होती हो तो वैसी उसी क्षणमें वैसे उदयप्रतिबद्ध आत्माओंके प्रति रहती है, अथवा सर्व जगतके प्रति रहती है। किसीके प्रति कुछ विशेष नहीं करना अथवा न्यून नहीं करना, और यदि करना हो तो वैसा एकसा वर्तन सर्व जगतके प्रति करना; ऐसा ज्ञान आत्माको बहुत समयसे दृढ़ है, निश्चयरूप है। किसी स्थलमें न्यूनता, विशेषता, अथवा कुछ वैसी सम-विषम चेष्टासे वर्तन

दीखता हो तो जरूर वह आत्मस्थिति, आत्मबुद्धिसे नहीं होता, ऐसा लगता है। पूर्वप्रबंधित प्रारब्धके योगसे कुछ वैसा उदयभावरूपसे होता हो तो उसमें भी समता है। किसीके प्रति न्यूनता या अधिकता कुछ भी आत्माको रुचिकर नहीं है, वहाँ फिर अन्य अवस्थाका विकल्प होना योग्य नहीं है, यह आपको क्या कहें ? संक्षेपमें लिखा है।

सबसे अभिन्न भावना है; जिसकी जितनी योग्यता रहती है, उसके प्रति अभिन्नभावकी उतनी स्फूर्ति होती है; क्वचित् करुणाबुद्धिसे विशेष स्फूर्ति होती है; परंतु विषमतासे अथवा विषय, परिग्रहादि कारणप्रत्ययसे उसके प्रति वर्तन करनेका आत्मामें कोई संकल्प प्रतीत नहीं होता। अविकल्परूप स्थिति है। विशेष क्या कहूँ ? हमें कुछ हमारा नहीं है, या दूसरेका नहीं है या दूसरा नहीं है, जैसे है वैसे है। आत्माकी जैसी स्थिति है, वैसी स्थिति है। सर्व प्रकारकी वर्तना निष्कपटतासे उदयकी हैं, सम-विषमता नहीं है। सहजानंद स्थिति है। जहाँ वैसे हो वहाँ अन्य पदार्थमें आसक्त बुद्धि योग्य नहीं, नहीं होती।

(० ० ० ०)

---

४७० बंबई, आसोज सुदी १, मंगल, १९४९

'ज्ञानीपुरुषके प्रति अभिन्नबुद्धि हो, यह कल्याणका महान निश्चय है,' ऐसा सर्व महात्मा पुरुषोंका अभिप्राय प्रतीत होता है। आप तथा वे, जिनकी देह अभी अन्य वेदसे रहती है, आप दोनों ही ज्ञानीपुरुषके प्रति जिस प्रकार विशेष निर्मलतासे अभिन्नता आये उस प्रकारकी बात प्रसंगोपात्त करें, यह योग्य है; और परस्परमें अर्थात् उनके और आपके बीच निर्मल प्रेम रहे वैसी प्रवृत्ति करनेमें बाधा नहीं है, परंतु वह प्रेम जात्यंतर होना योग्य है। जैसा स्त्री-पुरुषका कामादि कारणसे प्रेम होता है, वैसा प्रेम नहीं, परंतु ज्ञानीपुरुषके प्रति दोनोंका भक्तिराग है, ऐसा दोनोंका एक ही गुरुके प्रति शिष्यभाव देखकर, और निरंतरका सत्संग रहा करता है यह जानकर, भाई जैसी बुद्धिसे, वैसे प्रेमसे रहा जाये, यह बात विशेष योग्य है। ज्ञानीपुरुषके प्रति भिन्नभावको सर्वथा दूर करना योग्य है।

श्रीमद्भागवतके बदले अभी योगवासिष्ठादि पढ़ना योग्य है।

इस पत्रका जो अर्थ आपकी समझमें आये वह लिखिये।

---

४७१ बंबई, आसोज सुदी ५, शनि, १९४९

आत्माको समाधि होनेके लिये, आत्मस्वरूपमें स्थितिके लिये सुधारस कि जो मुखमें रहता है, वह एक अपूर्व आधार है, इसलिये उसे किसी प्रकारसे बीजज्ञान कहें तो कोई हानि नहीं है। मात्र इतना भेद है कि वह ज्ञान, ज्ञानीपुरुष कि जो उससे आगे है, आत्मा है, ऐसा जानकार होना चाहिये।

द्रव्यसे द्रव्य नहीं मिलता, इसे जाननेवालेको कोई कर्तव्य नहीं कहा जा सकता, परंतु वह कब ? स्वद्रव्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे यथावस्थित समझमें आनेपर स्वद्रव्य स्वरूपपरिणामसे परिणमित होकर अन्य द्रव्यके प्रति सर्वथा उदास होकर, कृतकृत्य होनेपर कुछ कर्तव्य नहीं रहता, ऐसा योग्य है, और ऐसा ही है।

---

४७२ बंबई, आसोज सुदी ९, बुध, १९४९

परमस्नेही श्री सुभाग्य तथा श्री डुंगर,

श्री सायला।

आज श्री सुभाग्यका लिखा हुआ एक पत्र मिला है।

खुले पत्रमें[1] सुधारस संबंधी प्रायः स्पष्ट लिखा था, सो जानबूझकर लिखा था। ऐसा लिखनेसे विपरिणाम आनेवाला नहीं है, यह समझकर लिखा था। यदि कुछ कुछ इस बातके चर्चक जीवके पढ़नेमें यह बात आये तो केवल उससे निर्धार हो जाये, यह संभव नहीं है; परंतु यह संभव है कि जिस पुरुषने ये वाक्य लिखे है वह पुरुष किसी अपूर्व मार्गका ज्ञाता है और उससे इस बातका निराकरण होना मुख्यतः संभव है। ऐसा जानकर उसकी उसके प्रति कुछ भी भावना उत्पन्न होती है। कदाचित् ऐसा मानें कि उसे इस विषयकी कुछ कुछ संज्ञा हुई हो, और यह स्पष्ट लेख पढ़नेसे उसे विशेष संज्ञा होकर अपने आप वह निर्धारपर आ जाये, परंतु यह निर्धार ऐसे नहीं होता। उससे उसका यथार्थ स्थल जानना नहीं हो सकता, और इस कारणसे जीवको विक्षेपकी उत्पत्ति होती है कि यह बात किसी प्रकारसे जाननेमें आये तो अच्छा। तो उस प्रकारसे भी जिस पुरुषने लिखा है उसके प्रति उसे भावनाकी उत्पत्ति होना संभव है।

तीसरा प्रकार इस तरह समझना योग्य है कि सत्पुरुषकी वाणी स्पष्टतासे लिखी गयी हो तो भी उसका परमार्थ, जिसे सत्पुरुषका सत्संग आज्ञाकारितासे नहीं हुआ उसे समझमें आना दुष्कर होता है, ऐसे उस पढ़नेवालेको कभी भी स्पष्ट जाननेका कारण होता है। यद्यपि हमने तो अति स्पष्ट नहीं लिखा था, तो भी उन्हें ऐसा कुछ संभव होता है। परंतु हम तो ऐसा मानते हैं कि अति स्पष्ट लिखा हो तो भी प्रायः समझमें नहीं आता, अथवा विपरीत समझमें आता है और परिणाममें फिर उसे विक्षेप उत्पन्न होकर सन्मार्गमें भावना होना संभव होता है। यह बात पत्रमें हमने इच्छापूर्वक स्पष्ट लिखी थी।

सहज स्वभावसे भी न विचार किया हुआ प्रायः परमार्थके संबंधमें नहीं लिखा जाता, अथवा नहीं कहा जाता कि जो अपरमार्थरूप परिणामको प्राप्त करे।

उस ज्ञानके विषयमें लिखनेका जो हमारा दूसरा आशय है, उसे विशेषतासे यहाँ लिखा है। (१) जिस ज्ञानीपुरुषने स्पष्ट आत्माका, किसी अपूर्व लक्षणसे, गुणसे और वेदनरूपसे अनुभव किया है, और जिसके आत्माका वही परिणाम हुआ है, उस ज्ञानीपुरुषने यदि उस सुधारस संबंधी ज्ञान दिया हो तो उसका परिणाम परमार्थ-परमार्थस्वरूप है। (२) और जो पुरुष उस सुधारसको ही आत्मा जानता है, उससे उस ज्ञानकी प्राप्ति हुई हो तो वह व्यवहार-परमार्थस्वरूप है। (३) वह ज्ञान कदाचित् परमार्थ-परमार्थस्वरूप ज्ञानीने न दिया हो, परंतु उस ज्ञानीपुरुषने सन्मार्गके सन्मुख आकर्षित करे ऐसा जो जीवको उपदेश किया हो वह जीवको रुचिकर लगा हो, उसका ज्ञान परमार्थ-व्यवहारस्वरूप है। (४) और इसके सिवाय शास्त्रादिका ज्ञाता सामान्य प्रकारसे मार्गानुसारी जैसी उपदेशबात करे, उसकी श्रद्धा की जाय, वह व्यवहार-व्यवहारस्वरूप है। सुगमतासे समझनेके लिये ये चार प्रकार होते हैं। परमार्थ-परमार्थस्वरूप मोक्षका निकट उपाय है। इसके अनंतर परमार्थ-व्यवहारस्वरूप परंपरासंबंधसे मोक्षका उपाय है। व्यवहार-परमार्थस्वरूप बहुत कालमें किसी प्रकारसे भी मोक्षके साधनका कारणभूत होनेका उपाय है। व्यवहार-व्यवहारस्वरूपका फल आत्मप्रत्ययी संभव नहीं होता। यह बात फिर किसी प्रसंगसे विशेषरूपसे लिखेंगे, तब विशेषरूपसे समझमें आयेगी; परंतु इतनी संक्षेपतासे विशेष समझमें न आये तो घबराइयेगा नहीं।

लक्षणसे, गुणसे और वेदनसे जिसे आत्मस्वरूप ज्ञात हुआ है, उसके लिये ध्यानका यह एक उपाय है कि जिससे आत्मप्रदेशकी स्थिरता होती है, और परिणाम भी स्थिर होता है। लक्षणसे, गुणसे और वेदनसे जिसने आत्मस्वरूप नहीं जाना, ऐसे मुमुक्षुको यदि ज्ञानीपुरुषका बताया हुआ यह ज्ञान हो तो उसे अनुक्रमसे लक्षणादिका बोध सुगमतासे होता है। मुखरस और उसका उत्पत्तिक्षेत्र यह कोई अपूर्व

१. देखें आंक ४७१

कारणरूप है, यह आप निश्चयरूपसे समझिये। ज्ञानीपुरुषके उसके बादके मार्गका अनादर न हो, ऐसा आपको प्रसंग मिला है। इसलिये आपको वैसा निश्चय रखनेका कहा है। यदि उसके बादके मार्गका अनादर होता हो और तद्विषयक किसीको अपूर्व कारणरूपसे निश्चय हुआ हो तो किसी प्रकारसे उस निश्चयको बदलना ही उपायरूप होता है, ऐसा हमारे आत्मामें लक्ष्य रहता है।

कोई अज्ञानतासे पवनकी स्थिरता करता है, परंतु श्वासोच्छ्वासके निरोधसे उसे कल्याणका हेतु नहीं होता; और कोई ज्ञानीकी आज्ञापूर्वक श्वासोच्छ्वासका निरोध करता है, तो उसे उस कारणसे जो स्थिरता आती है वह आत्माको प्रगट करनेका हेतु होती है। श्वासोच्छ्वासकी स्थिरता होना, यह एक प्रकारसे बहुत कठिन बात है। उसका सुगम उपाय मुखरस एकतार करनेसे होता है, इसलिये वह विशेष स्थिरताका साधन है। परंतु यह सुधारस-स्थिरता अज्ञानतासे फलीभूत नहीं होती अर्थात् कल्याणरूप नहीं होती; इसी तरह उस बीजज्ञानका ध्यान भी अज्ञानतासे कल्याणरूप नहीं होता, इतना विशेष निश्चय हमें भासित हुआ करता है। जिसने वेदनरूपसे आत्माको जाना है, उस ज्ञानीपुरुषकी आज्ञासे वह कल्याणरूप होता है, और आत्माके प्रगट होनेका अत्यंत सुगम उपाय होता है।

एक दूसरी अपूर्व बात भी यहाँ लिखनी सूझती है। आत्मा है वह चंदनवृक्ष है। उसके समीप जो-जो वस्तुएँ विशेषतासे रहती हैं वे वे वस्तुएँ उसकी सुगंध (!) का विशेष बोध करती है। जो वृक्ष चंदनसे विशेष समीप होता है उस वृक्षमें चंदनकी गंध विशेषरूपसे स्फुरित होती है। जैसे जैसे दूरके वृक्ष होते हैं वैसे वैसे सुगंध मंद परिणामवाली होती जाती है; और अमुक मर्यादाके पश्चात् असुगंधरूप वृक्षोंका वन आता है, अर्थात् फिर चंदन उस सुगंध परिणामको नहीं करता। वैसे जब तक यह आत्मा विभाव परिणामका सेवन करता है, तब तक उसे हम चंदनवृक्ष कहते हैं, और सबसे उसका अमुक अमुक सूक्ष्म वस्तुका संबंध है, उसमें उसकी छाया (!) रूप सुगंध विशेष पड़ती है, जिसका ध्यान ज्ञानीकी आज्ञासे होनेसे आत्मा प्रगट होता है। पवनकी अपेक्षा भी सुधारसमें आत्मा विशेष समीप रहता है, इसलिये उस आत्माकी विशेष छाया-सुगंध (!) का ध्यान करने योग्य उपाय है। यह भी विशेषरूपसे समझने योग्य है। प्रणाम पहुँचे।

---

४७३ बंबई, आसोज वदी ३, १९४९

ॐ

परमस्नेही श्री सुभाग्य,

श्री मोरबी।

आज एक पत्र पहुँचा है।

इतना तो हमें बराबर ध्यान है कि व्याकुलताके समयमें प्रायः चित्त कुछ व्यापारादिका एकके पीछे एक विचार किया करता है, और व्याकुलता दूर करनेकी जल्दीमें, योग्य होता है या नहीं, इसकी सहज सावधानी कदाचित् मुमुक्षुजीवको भी कम हो जाती है; परंतु योग्य बात तो यह है कि वैसे प्रसंगमें कुछ थोड़ा समय चाहे जैसे करके कामकाजमें मौन जैसा, निर्विकल्प जैसा कर डालना।

अभी आपको जो व्याकुलता रहती है वह ज्ञात है, परंतु उसे सहन किये बिना उपाय नहीं है। ऐसा लगता है कि उसे बहुत लम्बे कालकी स्थितिकी समझ लेना योग्य नहीं है, और यदि वह धीरजके बिना सहन करनेमें आती है, तो वह अल्प कालकी हो तो भी कभी विशेष कालकी भी हो जाती है। इसलिये अभी तो यथासंभव 'ईश्वरेच्छा' और 'यथायोग्य' समझकर मौन रहना योग्य है। मौनका अर्थ ऐसा करना

कि अंतरमें अमुक अमुक व्यापार करनेके संबंधमें विकल्प, उताप न किया करना।

अभी तो उदयके अनुसार प्रवृत्ति करना सुगम मार्ग है। दोहा ध्यानमें है। संसारी प्रसंगमें एक हमारे सिवाय दूसरे सत्संगीके प्रसंगमें कम आना हो, ऐसी इच्छा इस कालमें रखने जैसी है। विशेष आपका पत्र आनेसे। यह पत्र व्यावहारिक पद्धतिमें लिखा है, तथापि विचार करने योग्य है। बोधज्ञान ध्यानमें है।

प्रणाम प्राप्त हो।

---

४७४ बंबई, आसोज वदी, १९४९

ॐ

[1]आतमभावना भावतां, जीव लहे केवलज्ञान रे।

---

४७५ बंबई, आसोज वदी १२, रवि, १९४९

आपके दो पत्र 'समयसार'के कवित्त सहित मिले हैं। निराकार-साकार-चेतना विषयक कवित्तका 'मुखरस'से कुछ संबंध किया जा सके, ऐसे अर्थवाला नहीं है, जिसे फिर बतायेंगे।

"शुद्धता विचारै ध्यावै, शुद्धतामें केलि करै।
शुद्धतामें स्थिर व्है, अमृतधारा बरसै॥"

इस कवित्तमें 'सुधारस' का जो माहात्म्य कहा है, वह केवल एक विस्रसा (सर्व प्रकारके अन्य परिणामसे रहित असंख्यातप्रदेशी आत्मद्रव्य) परिणामसे स्वरूपस्थ ऐसे अमृतरूप आत्माका वर्णन है। उसका यथार्थ परमार्थ हृदयगत रखा है, जो अनुक्रमसे समझमें आयेगा।

---

४७६ बंबई, आश्विन, १९४९

जो ईश्वरेच्छा होगी वह होगा। मनुष्यके लिये तो मात्र प्रयत्न करना सृष्ट है; और इसीसे जो अपने प्रारब्धमें होगा वह मिल जायेगा। इसलिये मनमें संकल्प-विकल्प नहीं करना।

निष्काम यथायोग्य।

---

१. देखें आंक ४७११. अर्थात् आत्मभावना भाते भाते जीव केवलज्ञान पा लेता है।

२७ वाँ वर्ष

४७७ बंबई, कार्तिक सुदी ९, शुक्र, १९५०

'सिरपर राजा है,' इतने वाक्यके ऊहापोह (विचार) से गर्भश्रीमंत श्री शालिभद्रने उस समयसे स्त्री आदिके परिचयके त्याग करनेका प्रारंभ कर दिया।

'प्रति दिन एक एक स्त्रीका त्याग करके अनुक्रमसे बत्तीस स्त्रियोंका त्याग करना चाहते हैं, इस प्रकार श्री शालिभद्र बत्तीस दिन तक कालपारधीका विश्वास करते हैं, यह महान आश्चर्य है।' ऐसे स्वाभाविक वैराग्यवचन श्री धनाभद्रके मुखसे उद्भवको प्राप्त हुए।

'आप जो ऐसा कहते हैं, यद्यपि वह मुझे मान्य है, तथापि आपके लिये भी उस प्रकारसे त्याग करना दुष्कर है,' ऐसे सहज वचन शालिभद्रकी बहन और धनाभद्रकी पत्नीने धनाभद्रसे कहे। जिसे सुनकर चित्तमें किसी प्रकारका क्लेशपरिणाम लाये बिना श्री धनाभद्रने उसी क्षण संसारका त्याग कर दिया और श्री शालिभद्रसे कहा कि 'आप किस विचारसे कालका विश्वास करते हैं?' उसे सुनकर, जिसका चित्त आत्मरूप है ऐसा वह शालिभद्र और धनाभद्र 'मानों किसी दिन कुछ अपना किया ही नहीं,' इस प्रकारसे गृहादिका त्याग करके चले गये।

ऐसे सत्पुरुषके वैराग्यको सुनकर भी यह जीव बहुत वर्षोंके अभ्याससे कालका विश्वास करता आया है, वह कौनसे बलसे करता होगा? यह विचारकर देखने योग्य है।

---

४७८ बंबई, कार्तिक सुदी १३, १९५०

उपाधिके योगसे उदयाधीनरूपसे बाह्य चित्तकी क्वचित् अव्यवस्थाके कारण आप मुमुक्षुओंके प्रति जैसा वर्तन करना चाहिये वैसा वर्तन हम नहीं कर सकते। यह क्षमा योग्य है, अवश्य क्षमा योग्य है।

यही नम्र विनती।

आ० स्व० प्रणाम।

---

४७९ बंबई, मगसिर सुदी ३, सोम, १९५०

वाणीका संयम श्रेयरूप है, तथापि व्यवहारका संबंध इस प्रकारका रहता है, कि सर्वथा वैसा संयम रखें तो प्रसंगमें आनेवाले जीवोंके लिये वह क्लेशका हेतु हो; इसलिये बहुत करके सप्रयोजन सिवायमें संयम रखा जाये, तो उसका परिणाम किसी प्रकारसे श्रेयरूप होना संभव है।

नीचेका वचन आपके पास लिखे हुए वचनोंमें लिख दीजियेगा।

"जीवकी मूढ़ताका पुनः पुनः, क्षण क्षणमें, प्रसंग प्रसंगपर विचार करनेमें यदि सावधानी न रखी गई तो ऐसा योग जो हुआ वह भी वृथा है।"

कृष्णदासादि मुमुक्षुओंको नमस्कार।

---

४८० बंबई, पोष सुदी ५, १९५०

किसी भी जीवको कुछ भी परिश्रम देना, यह अपराध है। और उसमें मुमुक्षुजीवको उसके अर्थके सिवाय परिश्रम देना, यह अवश्य अपराध है, ऐसा हमारे चित्तका स्वभाव रहता है। तथापि परिश्रमका हेतु ऐसे कामका प्रसंग क्वचित् आपको बतानेका होता है, जिस विषयके प्रसंगमें हमारे प्रति आपकी निःशंकता है, तथापि आपको वैसे प्रसंगमें क्वचित् परिश्रमका कारण हो, यह हमारे चित्तमें सहन नहीं होता; तो भी प्रवृत्ति करते हैं। यह अपराध क्षमा योग्य है; और हमारी ऐसी किसी प्रवृत्तिके प्रति क्वचित् भी अस्नेह न हो, इतना ध्यान भी रखना योग्य है।

साथका पत्र श्री रेवाशंकरका है, वह हमारी प्रेरणासे लिखा गया है। जिस प्रकारसे किसीका मन दुःखी न हो उस प्रकारसे वह कार्य करनेकी जरूरत है, और तत्संबंधी प्रसंगमें कुछ भी चित्तव्याकुलता न हो, इतना ध्यान रखना योग्य है।

---

४८१ पौष वदी १, मंगल, १९५०

ॐ

आज यह पत्र लिखनेका हेतु यह है कि हमारे चित्तमें विशेष खेद रहता है। खेदका कारण यह व्यवहाररूप प्रारब्ध रहता है, वह किसी प्रकारसे है, कि जिसके कारण मुमुक्षुजीवको क्वचित् वैसा परिश्रम देनेका प्रसंग आता है। और वैसा परिश्रम देते हुए हमारी चित्तवृत्ति संकोचवश होती-होती प्रारब्धके उदयानुसार वर्तती है। तथापि तद्विषयक संस्कारित खेद कई बार स्फुरित होता रहता है।

कभी कभी वैसे प्रसंगसे हमने लिखा हो अथवा श्री रेवाशंकरने हमारी अनुमतिसे लिखा हो तो वह कोई व्यावहारिक दृष्टिका कार्य नहीं है, कि जो चित्तकी आकुलता करनेके प्रति प्रेरित किया गया हो, ऐसा निश्चय स्मरणयोग्य है।

---

४८२ बंबई, पौष वदी १४, रवि, १९५०

अभी विशेषरूपसे लिखनेका नहीं होता, इसमें उपाधिकी अपेक्षा चित्तका संक्षेपभाव विशेष कारणरूप है। (चित्तका इच्छारूपमें कुछ प्रवर्तन होना संक्षिप्त हो, न्यून हो वह संक्षेपभाव यहाँ लिखा है।) हमने ऐसा वेदन किया है, कि जहाँ कुछ भी प्रमत्तदशा होती है वहाँ आत्मामें जगतप्रत्ययी कामका अवकाश होना योग्य है। जहाँ केवल अप्रमत्तता रहती है वहाँ आत्माके सिवाय अन्य किसी भी भावका अवकाश नहीं रहता; यद्यपि तीर्थंकरादिक संपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेनेके पश्चात् किसी प्रकारकी देहक्रियासहित दिखायी देते हैं, तथापि आत्मा, इस क्रियाका अवकाश प्राप्त करे तभी कर सके, ऐसी कोई क्रिया उस ज्ञानके पश्चात् नहीं हो सकती, और तभी वहाँ संपूर्ण ज्ञान टिकता है; ऐसा ज्ञानीपुरुषोंका असंदिग्ध निर्धार है, ऐसा हमें लगता है। जैसे ज्वरादि रोगमें चित्तको कोई स्नेह नहीं होता, वैसे इन भावोंमें भी स्नेह नहीं रहता, लगभग स्पष्टरूपसे नहीं रहता, और उस प्रतिबंधके अभावका विचार हुआ करता है।

---

४८३ मोहमयी, माघ वदी ४, शुक्र, १९५०

परमस्नेही श्री सोभाग, श्री अंजार।

आपके पत्र पहुँचे हैं। उसके साथ जो प्रश्नोंकी सूची उतारकर भेजी है वह पहुँची है। उन प्रश्नोंमें जो

विचार प्रदर्शित किये हैं, वे प्रथम विचारभूमिकामें विचारणीय है। जिस पुरुषने वह ग्रंथ बनाया है, उसने वेदांतादि शास्त्रके अमुक ग्रंथके अवलोकनके आधार पर वे प्रश्न लिखे हैं। अत्यंत आश्चर्य योग्य वार्ता इसमें नहीं लिखी। इन प्रश्नोंका तथा इस प्रकारके विचारोंका बहुत समय पहले विचार किया था, और ऐसे विचारोंकी विचारणा करनेके संबंधमें आपको तथा गोसलियाको सूचित किया था। तथा दूसरे वैसे मुमुक्षुको वैसे विचारोंके अवलोकन करनेके विषयमें कहा था, अथवा कहनेकी इच्छा हो आती है कि जिन विचारोंकी विचारणासे अनुक्रमसे सद्-असद्का पूरा विवेक हो सके।

अभी सात-आठ दिन हुए शारीरिक स्थिति ज्वरग्रस्त थी, अब दो दिनसे ठीक है।

कविता भेजी, सो मिली है। उसमें आलापिकाके भेदके रूपमें अपना नाम बताया है और कविता करनेमें जो कुछ विचक्षणता चाहिये उसे बतानेका विचार रखा है। कविता ठीक है। कविताका आराधन कविताके लिये करना योग्य नहीं है, संसारके लिये आराधन करना योग्य नहीं है; भगवद्- भजनके लिये, आत्मकल्याणके लिये यदि उसका प्रयोजन हो तो जीवको उस गुणकी क्षयोपशमताका फल मिलता है। जिस विद्यासे उपशम गुण प्रगट नहीं हुआ, विवेक नहीं आया अथवा समाधि नहीं हुई उस विद्याके विषयमें श्रेष्ठ जीवको आग्रह करना योग्य नहीं है।

हालमें अब प्रायः मोतीकी खरीद बंद रखी है। जो विलायतमें हैं उनको अनुक्रमसे बेचनेका विचार रखा है। यदि यह प्रसंग न होता तो उस प्रसंगमें उत्पन्न होनेवाला जंजाल और उसका उपशमन नहीं होता। अब वह स्वसंवेद्यरूपसे अनुभवमें आया है। वह भी एक प्रकारके प्रारब्ध निवर्तनरूप है। सविस्तर ज्ञानवार्ताका अब पत्र लिखेंगे, तो बहुत करके उसका उत्तर लिखूँगा।

लि० आत्मस्वरूप।

---

४८४ मोहमयी, माघ वदी ८, गुरु, १९५०

परमस्नेही श्री सोभाग, श्री अंजार।

यहाँके उपाधिप्रसंगमें कुछ विशेष सहनशीलतासे रहना पड़े, ऐसी ऋतु होनेसे आत्मामें गुणकी विशेष स्पष्टता रहती है। प्रायः अबसे यदि हो सके तो नियमितरूपसे कुछ सत्संगकी बात लिखियेगा।

आ० स्व० से प्रणाम।

---

४८५ बंबई, फागुन सुदी ४, रवि, १९५०

ॐ

परमस्नेही श्री सुभाग्य, श्री अंजार।

अभी वहाँ उपाधिके अवकाशसे कुछ पढ़ने आदिका प्रकार होता हो, वह लिखियेगा।

अभी डेढ़से दो मास हुए उपाधिके प्रसंगमें विशेष विशेषरूपसे संसारके स्वरूपका वेदन किया गया है। यद्यपि पूर्वकालमें ऐसे अनेक प्रसंगोंका वेदन किया है, तथापि प्रायः ज्ञानपूर्वक वेदन नहीं किया। इस देहमें और इससे पहलेकी बोधबीजहेतुवाली देहमें होनेवाला वेदन मोक्षकार्यमें उपयोगी है।

बड़ौदावाले मांकुभाई यहाँ है। प्रवृत्तिमें उनका साथ रहने और कार्य करनेका हुआ करता है, ऐसे इस प्रसंगके वेदन करनेका उन्हें भी अवसर मिला है। वैराग्यवान जीव है। यदि प्रज्ञाका विशेष प्रकाशन उन्हें हो तो सत्संग सफल हो ऐसे योग्य जीव हैं।

वारंवार तंग आ जाते हैं, तथापि प्रारब्धयोगसे उपाधिसे दूर नहीं हो सकते। यही विज्ञापना। सविस्तर पत्र लिखियेगा।

आत्मस्वरूपसे प्रणाम।

---

४८६ बंबई, फागुन सुदी ११, रवि, १९५०

तीर्थंकरदेव प्रमादको कर्म कहते हैं, और अप्रमादको उससे दूसरा अर्थात् अकर्मरूप ऐसा आत्मस्वरूप कहते हैं। ऐसे भेदके प्रकारसे अज्ञानी और ज्ञानीका स्वरूप है; (कहा है।)

(सूयगडांगसूत्र वीर्य अध्ययन)[1]

जिस कुलमें जन्म हुआ है, और जिसके सहवासमें जीव रहा है, उसमें यह अज्ञानी जीव ममता करता है, और उसीमें निमग्न रहा करता है।

(सूयगडांग–प्रथमाध्ययन)[2]

जो ज्ञानीपुरुष भूतकालमें हो गये हैं, और जो ज्ञानीपुरुष भावीकालमें होंगे, उन सब पुरुषोंने 'शांति' (समस्त विभावपरिणामसे थकना, निवृत्त होना) को सर्व धर्मोंका आधार कहा है। जैसे भूतमात्रको पृथ्वी आधारभूत है, अर्थात् प्राणीमात्र पृथ्वीके आधारसे स्थितिवाले हैं, उसका आधार उन्हें प्रथम होना योग्य है, वैसे सर्व प्रकारके कल्याणका आधार, पृथिवीकी भाँति 'शांति' को ज्ञानीपुरुषोंने कहा है।(सूयगडांग)[3]

---

४८७ बंबई, फागुन सुदी ११, रवि, १९५०

ॐ

बुधवारको एक पत्र लिखेंगे, नहीं तो रविवारको सविस्तर पत्र लिखेंगे, ऐसा लिखा था। उसे लिखते समय चित्तमें ऐसा था कि आप मुमुक्षुओंको कुछ नियम जैसी स्वस्थता होना योग्य है, और उस विषयमें कुछ लिखना सूझे तो लिखूँ, ऐसा चित्तमें आया था। लिखते हुए ऐसा हुआ कि जो कुछ लिखनेमें आता है उसे सत्संग-प्रसंगमें विस्तारसे कहना योग्य है, और वह कुछ फलरूप होने योग्य है। जितना सविस्तर लिखनेसे आप समझ सकें उतना लिखना अभी हो सके, ऐसा यह व्यवसाय नहीं है, और जो व्यवसाय है वह प्रारब्धरूप होनेसे तदनुसार प्रवृत्ति होती है, अर्थात् उसमें विशेष बलपूर्वक लिख सकना मुश्किल है। इसलिये उसे क्रमसे लिखनेका चित्त रहता है।

इतनी बातका निश्चय रखना योग्य है कि ज्ञानीपुरुषको भी प्रारब्धकर्म भोगे बिना निवृत्त नहीं होते, और बिना भोगे निवृत्त होनेकी ज्ञानीको कोई इच्छा नहीं होती। ज्ञानीके सिवाय दूसरे जीवोंको भी कितने ही कर्म हैं कि जो भोगनेपर ही निवृत्त होते हैं, अर्थात् वे प्रारब्ध जैसे होते हैं। तथापि भेद इतना है कि ज्ञानीकी प्रवृत्ति मात्र पूर्वोपार्जित कारणसे होती है, और दूसरोंकी प्रवृत्तिमें भावी संसारका हेतु है; इसलिये ज्ञानीका प्रारब्ध भिन्न होता है। इस प्रारब्धका ऐसा निर्धार नहीं है कि वह निवृत्तिरूपसे ही उदयमें आये। जैसे श्री कृष्णादिक ज्ञानीपुरुष, कि जिन्हें प्रवृत्तिरूप प्रारब्ध होनेपर भी ज्ञानदशा थी, जैसे

---

१. पम्पयं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहावरं। तब्भावदेसओवावि, बालं पंडियमेय वा॥
(सू० कृ० १ श्रु० ८ अ० तीसरी गाथा।)

२. जेसिंस कुले समुप्पन्ने जेहिं वा संवसे नरे। ममाइ लुप्पइ बाले, अण्णे अण्णेहि मुच्छिए।
(सू० कृ० १ श्रु० १ अ० चौथी गाथा।)

३. जे य बुद्धा अतिक्कंता, जे य बुद्धा अणागया। संति तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगती जहा॥
(सू० कृ० १ श्रु० ११ अ० ३६वीं गाथा।)

गृहस्थावस्थामें श्री तीर्थंकर। इस प्रारब्धका निवृत्त होना केवल भोगनेसे ही संभव है। कितनी ही प्रारब्धस्थिति ऐसी है कि जो ज्ञानीपुरुषके विषयमें उसके स्वरूपके लिये जीवोंको संदेहका हेतु हो; और इसीलिये ज्ञानीपुरुष प्रायः जड़मौनदशा रखकर अपने ज्ञानित्वको अस्पष्ट रखते हैं। तथापि प्रारब्धवशात् वह दशा किसीके स्पष्ट जाननेमें आये, तो फिर उसे उस ज्ञानीपुरुषका विचित्र प्रारब्ध संदेहका कारण नहीं होता।

---

४८८ बंबई, फागुन वदी १०, शनि, १९५०

श्री 'शिक्षापत्र' ग्रंथको पढ़ने और विचारनेमें अभी कोई बाधा नहीं है। जहाँ किसी संदेहका हेतु हो वहाँ विचार करना, अथवा समाधान पूछना योग्य हो तो पूछनेमें प्रतिबंध नहीं है।

सुदर्शन सेठ पुरुषधर्ममें थे, तथापि रानीके समागममें वे अविकल थे। अत्यंत आत्मबलसे कामका उपशमन करनेसे कामेंद्रियमें अजागृति ही संभव है; और उस समय रानीने कदाचित् उनकी देहका संसर्ग करनेकी इच्छा की होती, तो भी श्री सुदर्शनमें कामकी जागृति देखनेमें न आती, ऐसा हमें लगता है।

---

४८९ बंबई, फागुन वदी ११, रवि, १९५०

'शिक्षापत्र' ग्रंथमें मुख्य भक्तिका प्रयोजन है। भक्तिके आधाररूप विवेक, धैर्य और आश्रय इन तीन गुणोंकी उसमें विशेष पुष्टि की है। उसमें धैर्य और आश्रयका प्रतिपादन विशेष सम्यक् प्रकारसे किया है, जिन्हें विचारकर मुमुक्षुजीवको उन्हें स्वगुण करना योग्य है। इसमें श्री कृष्णादिके जो जो प्रसंग आते हैं वे क्वचित् संदेहके हेतु होने जैसे हैं, तथापि उनमें श्री कृष्णके स्वरूपकी समझफेर मानकर उपेक्षित रहना योग्य है। मुमुक्षुका प्रयोजन तो केवल हितबुद्धिसे पढ़ने-विचारनेका होता है।

प्रणाम

---

४९० बंबई, फागुन वदी ११, रवि, १९५०

उपाधि दूर करनेके लिये दो प्रकारसे पुरुषार्थ हो सकता है, एक तो किसी भी व्यापारादि कार्यसे, और दूसरे विद्या, मंत्रादि साधनसे। यद्यपि इन दोनोंमें पहिले जीवके अंतरायके दूर होनेका संभव होना चाहिये। पहिला बताया हुआ प्रकार किसी तरह हो तो उसे करनेमें अभी हमें कोई प्रतिबंध नहीं है, परंतु दूसरे प्रकारमें तो केवल उदासीनता ही है; और यह प्रकार स्मरणमें आनेसे भी चित्तमें खेद हो आता है, ऐसी उस प्रकारके प्रति अनिच्छा है। पहिले प्रकारके संबंधमें अभी कुछ लिखना नहीं सूझता। भविष्यमें लिखना या नहीं वह, उस प्रसंगमें जो होने योग्य होगा वह होगा।

जितनी आकुलता है उतना मार्गका विरोध है, ऐसा ज्ञानीपुरुष कह गये हैं, जो बात हमारे लिये अवश्य विचारणीय है।

---

४९१ बंबई, फागुन, १९५०

ॐ

तीर्थंकर वारंवार नीचे कहा हुआ उपदेश करते थे—

"हे जीवों! आप समझें, सम्यक्प्रकारसे समझें। मनुष्यभव मिलना बहुत दुर्लभ है, और चारों गतियोंमें भय है, ऐसा जानें। अज्ञानसे सद्विवेक पाना दुर्लभ है, ऐसा समझें। सारा लोक एकांत दुःखसे

जल रहा है, ऐसा जानें, और 'सब जीव' अपने अपने कर्मोंसे विपर्यासताका अनुभव करते हैं, इसका विचार करें।" (सूयगडांग अध्ययन ७ वाँ, ११)

जिसका सर्व दुःखसे मुक्त होनेका अभिप्राय हुआ हो, वह पुरुष आत्माकी गवेषणा करे, और आत्माकी गवेषणा करनी हो, वह यमनियमादिक सर्व साधनोंका आग्रह अप्रधान करके सत्संगकी गवेषणा करे, तथा उपासना करे। सत्संगकी उपासना करनी हो वह संसारकी उपासना करनेके आत्मभावका सर्वथा त्याग करे। अपने सर्व अभिप्रायका त्याग करके, अपनी सर्व शक्तिसे उस सत्संगकी आज्ञाकी उपासना करे। तीर्थंकर ऐसा कहते हैं कि जो कोई उस आज्ञाकी उपासना करता है, वह अवश्य सत्संगकी उपासना करता है। इस प्रकार जो सत्संगकी उपासना करता है, वह अवश्य आत्माकी उपासना करता है, और आत्माका उपासक सर्व दुःखसे मुक्त होता है।

(द्वादशांगीका अखंड सूत्र)

पहले जो अभिप्राय प्रदर्शित किया है वह गाथा सूयगडांगमें निम्नलिखित है—

संबुज्झहा जंतवो माणुसत्तं, दट्ठुं भयं बालिसेणं अलंभो।
एगंतदुक्खे जरिए व लोए, सक्कम्मणा विप्परियासुवेई॥

सर्व प्रकारकी उपाधि, आधि, व्याधिसे मुक्तरूपसे रहते हों तो भी सत्संगमें रही हुई भक्ति दूर होना हमें दुष्कर प्रतीत होता है। सत्संगकी सर्वोत्तम अपूर्वता हमें अहोरात्र रहा करती है, तथापि उदययोग प्रारब्धसे ऐसा अंतराय रहता है। प्रायः किसी बातका खेद "हमारे" आत्मामें उत्पन्न नहीं होता, तथापि सत्संगके अंतरायका खेद प्रायः अहोरात्र रहा करता है। 'सर्व भूमि, सर्व मनुष्य, सर्व काम, सर्व बातचीतादि प्रसंग अपरिचित जैसे, एकदम पराये, उदासीन जैसे, अरमणीय, अमोहकर और रसरहित स्वभावतः भासित होते हैं।' मात्र ज्ञानी पुरुष, मुमुक्षु पुरुष, अथवा मार्गानुसारी पुरुषका सत्संग परिचित, अपना, प्रीतिकर, सुंदर, आकर्षक और रसस्वरूप भासित होता है। ऐसा होनेसे हमारा मन प्रायः अप्रतिबद्धताका सेवन करते करते आप जैसे मार्गेच्छावान पुरुषोंमें प्रतिबद्धताको प्राप्त होता है।

४९२

बंबई, फागुन, १९५०

मुमुक्षुजनके परम हितैषी, मुमुक्षु पुरुष श्री सोभाग,

यहाँ समाधि है। उपाधियोगसे आप कुछ आत्मवार्ता नहीं लिख सकते हो, ऐसा मानते हैं।

हमारे चित्तमें तो ऐसा आता है कि इस कालमें मुमुक्षुजीवको संसारकी प्रतिकूल दशाएँ प्राप्त होना, यह उसे संसारसे तरनेके समान है। अनंतकालसे अभ्यस्त इस संसारका स्पष्ट विचार करनेका समय प्रतिकूल प्रसंगमें विशेष होता है, यह बात निश्चय करने योग्य है।

अभी कुछ सत्संगयोग मिलता है क्या? यह अथवा कोई अपूर्व प्रश्न उद्भव होता है क्या? यह लिखनेमें नहीं आता, सो लिखियेगा। आपको ऐसा एक साधारण प्रतिकूल प्रसंग हुआ है, उसमें घबराना योग्य नहीं है। यदि इस प्रसंगका समतासे वेदन किया जाये तो जीवके लिये निर्वाणके समीपका साधन है। व्यावहारिक प्रसंगोंकी नित्य चित्रविचित्रता है। मात्र कल्पनासे उनमें सुख और कल्पनासे दुःख ऐसी उनकी स्थिति है। अनुकूल कल्पनासे वे अनुकूल भासित होते हैं; प्रतिकूल कल्पनासे वे प्रतिकूल भासित होते हैं; और ज्ञानी पुरुषोंने उन दोनों कल्पनाओंके करनेका निषेध किया है। और आपको वे करनी योग्य नहीं है। विचारवानको शोक योग्य नहीं है ऐसा श्री तीर्थंकर कहते थे।

---

४९३ बंबई, फागुन, १९५०

अनन्य शरणके दाता ऐसे श्री सद्गुरुदेवको अत्यंत भक्तिसे नमस्कार

जो शुद्ध आत्मस्वरूपको प्राप्त हुए हैं, ऐसे ज्ञानीपुरुषोंने नीचे कहे हुए छः पदोंको सम्यग्दर्शनके निवासके सर्वोत्कृष्ट स्थानक कहे हैं–

प्रथम पद–'आत्मा है।' जैसे घटपटादि पदार्थ हैं, वैसे आत्मा भी है। अमुक गुण होनेके कारण जैसे घटपटादिके होनेका प्रमाण है, वैसे स्वपरप्रकाशक चैतन्यसत्ताका प्रत्यक्ष गुण जिसमें है, ऐसा आत्माके होनेका प्रमाण है।

दूसरा पद–'आत्मा नित्य है।' घटपटादि पदार्थ अमुक कालवर्ती है। आत्मा त्रिकालवर्ती है। घटपटादि संयोगजन्य पदार्थ हैं। आत्मा स्वाभाविक पदार्थ है, क्योंकि उसकी उत्पत्तिके लिये कोई भी संयोग अनुभव योग्य नहीं होते। किसी भी संयोगी द्रव्यसे चेतनसत्ता प्रगट होने योग्य नहीं है, इसलिये अनुत्पन्न है। असंयोगी होनेसे अविनाशी है, क्योंकि जिसकी उत्पत्ति किसी संयोगसे नहीं होती, उसका किसीमें लय भी नहीं होता।

तीसरा पद–'आत्मा कर्त्ता है।' सर्व पदार्थ अर्थक्रियासम्पन्न हैं। किसी न किसी परिणाम-क्रियासहित ही सर्व पदार्थ देखनेमें आते हैं। आत्मा भी क्रियासंपन्न है। क्रियासंपन्न है, इसलिये कर्त्ता है। श्री जिनने उस कर्तृत्वका त्रिविध विवेचन किया है–परमार्थसे स्वभावपरिणति द्वारा आत्मा निजस्वरूपका कर्त्ता है। अनुपचरित (अनुभवमें आने योग्य, विशेष संबंधसहित) व्यवहारसे यह आत्मा द्रव्यकर्मका कर्त्ता है। उपचारसे घर, नगर आदिका कर्त्ता है।

चौथा पद–'आत्मा भोक्ता है।' जो जो कुछ क्रियाएँ हैं वे सब सफल हैं, निरर्थक नहीं। जो कुछ भी किया जाता है उसका फल भोगनेमें आता है, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव है। जैसे विष खानेसे विषका फल, मिसरी खानेसे मिसरीका फल, अग्निस्पर्शसे अग्निस्पर्शका फल, हिमका स्पर्श करनेसे हिमस्पर्शका फल हुए बिना नहीं रहता, वैसे कषायादि अथवा अकषायादि जिस किसी भी परिणामसे आत्मा प्रवृत्ति करता है उसका फल भी होने योग्य ही है, और वह होता है। उस क्रियाका कर्त्ता होनेसे आत्मा भोक्ता है।

पाँचवाँ पद–'मोक्षपद है।' जिस अनुपचरित व्यवहारसे जीवके कर्मके कर्तृत्वका निरूपण किया, कर्तृत्व होनेसे भोक्तृत्वका निरूपण किया, उस कर्मकी निवृत्ति भी है; क्योंकि प्रत्यक्ष कषायादिकी तीव्रता हो, परंतु उसके अनभ्याससे, उसके अपरिचयसे, उसका उपशम करनेसे उसकी मंदता दिखायी देती है, वह क्षीण होने योग्य दीखता है, क्षीण हो सकता है। वह बंधभाव क्षीण हो सकने योग्य होनेसे, उससे रहित जो शुद्ध आत्मस्वभाव है, वही मोक्षपद है।

छठा पद–'उस मोक्षका उपाय है।' यदि कभी ऐसा ही हो कि कर्मबंध मात्र हुआ करे तो उसकी निवृत्ति किसी कालमें संभव नहीं है, परंतु कर्मबंधसे विपरीत स्वभाववाले ज्ञान, दर्शन, समाधि, वैराग्य, भक्ति आदि साधन प्रत्यक्ष हैं, जिन साधनोंके बलसे कर्मबंध शिथिल होता है, उपशांत होता है, क्षीण होता है। इसलिये वे ज्ञान, दर्शन, संयम आदि मोक्षपदके उपाय हैं।

श्री ज्ञानीपुरुषों द्वारा सम्यक्दर्शनके मुख्य निवासभूत कहे हुए इन छः पदोंको यहाँ संक्षेपमें बताया हैं। समीपमुक्तिगामी जीवको सहज विचारमें ये सप्रमाण होने योग्य हैं, परम निश्चयरूप प्रतीत होने योग्य हैं, उसका सर्व विभागसे विस्तार होकर उसके आत्मामें विवेक होने योग्य है। ये छः पद अत्यंत संदेहरहित हैं, ऐसा परमपुरुषने निरूपण किया है। इन छः पदोंका विवेक जीवको स्वस्वरूप समझनेके

लिये कहा है। अनादि स्वप्नदशाके कारण उत्पन्न हुए जीवके अहंभाव, ममत्व भावके निवृत्त होनेके लिये ज्ञानीपुरुषोंने इन छः पदोंकी देशना प्रकाशित की है। उस स्वप्नदशासे रहित मात्र अपना स्वरूप है, ऐसा यदि जीव परिणाम करे, तो वह सहजमात्रमें जागृत होकर सम्यग्दर्शनको प्राप्त होता है; सम्यग्दर्शनको प्राप्त होकर स्वस्वभावरूप मोक्षको प्राप्त होता है। किसी विनाशी, अशुद्ध और अन्य ऐसे भावमें उसे हर्ष, शोक, संयोग उत्पन्न नहीं होता। इस विचारसे स्वस्वरूपमें ही शुद्धता, संपूर्णता, अविनाशता, अत्यंत आनंदता, अंतर रहित उसके अनुभवमें आते हैं। सर्व विभावपर्यायमें मात्र स्वयंको अध्याससे एकता हुई है, उससे केवल अपनी भिन्नता ही है, ऐसा स्पष्ट—प्रत्यक्ष—अत्यंत प्रत्यक्ष—अपरोक्ष उसे अनुभव होता है। विनाशी अथवा अन्य पदार्थके संयोगमें उसे इष्ट-अनिष्टता प्राप्त नहीं होती। जन्म, जरा, मरण, रोगादि बाधारहित संपूर्ण माहात्म्यका स्थान, ऐसा निजस्वरूप जानकर, वेदन कर वह कृतार्थ होता है। जिन जिन पुरुषोंको इन छः पदोंसे सप्रमाण ऐसे परम पुरुषोंके वचनसे आत्माका निश्चय हुआ है, वे सब पुरुष स्वस्वरूपको प्राप्त हुए हैं, आधि, व्याधि, उपाधि और सर्व संगसे रहित हुए हैं, होते हैं, और भविष्यकालमें भी वैसे ही होंगे।

जिन सत्पुरुषोंने जन्म, जरा और मरणका नाश करनेवाला, स्वस्वरूपमें सहज अवस्थान होनेका उपदेश दिया हैं, उन सत्पुरुषोंको अत्यंत भक्तिसे नमस्कार है। उनकी निष्कारण करुणाकी नित्य प्रति निरंतर स्तुति करनेसे भी आत्मस्वभाव प्रगट होता है। ऐसे सर्व सत्पुरुषोंके चरणारविंद सदा ही हृदयमें स्थापित रहे।

जिसके वचन अंगीकार करनेपर छः पदोंसे सिद्ध ऐसा आत्मस्वरूप सहजमें प्रगट होता है, जिस आत्मस्वरूपके प्रगट होनेसे सर्व काल जीव संपूर्ण आनंदको प्राप्त होकर निर्भय हो जाता है, उन वचनोंके कहनेवाले सत्पुरुषके गुणोंकी व्याख्या करनेकी शक्ति नहीं है; क्योंकि जिसका प्रत्युपकार नहीं हो सकता, ऐसा परमात्मभाव मानों कुछ भी इच्छा किये बिना मात्र निष्कारण करुणाशीलतासे दिया; ऐसा होनेपर भी जिसने दूसरे जीवको यह मेरा शिष्य है, अथवा मेरी भक्ति करनेवाला है, इसलिये मेरा है, इस प्रकार कभी नहीं देखा, ऐसे सत्पुरुषको अत्यंत भक्तिसे वारंवार नमस्कार हो।

सत्पुरुषोंने सद्गुरुकी जिस भक्तिका निरूपण किया है, वह भक्ति मात्र शिष्यके कल्याणके लिये कही है। जिस भक्तिको प्राप्त होनेसे सद्गुरुके आत्माकी चेष्टामें वृत्ति रहे, अपूर्व गुण दृष्टिगोचर होकर अन्य स्वच्छंद मिटे, और सहजमें आत्मबोध हो, ऐसा जानकर जिस भक्तिका निरूपण किया है, उस भक्तिको और उन सत्पुरुषोंको पुनः पुनः त्रिकाल नमस्कार हो।

यद्यपि वर्तमानकालमें प्रगटरूपसे केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हुई, परंतु जिसके वचनके विचारयोगसे शक्तिरूपसे केवलज्ञान है, यह स्पष्ट जाना है, श्रद्धारूपसे केवलज्ञान हुआ है, विचारदशासे केवलज्ञान हुआ है, इच्छादशासे केवलज्ञान हुआ है, मुख्य नयके हेतुसे केवलज्ञान रहता है, जिसके योगसे जीव सर्व अव्याबाध सुखके प्रगट करनेवाले उस केवलज्ञानको सहजमात्रमें प्राप्त करने योग्य हुआ, उस सत्पुरुषके उपकारको सर्वोत्कृष्ट भक्तिसे नमस्कार हो ! नमस्कार हो ! !

---

४९४ बंबई, चैत्र सुदी, १९५०

ॐ

यहाँ अभी बाह्य-उपाधि कुछ कम रहती है। आपके पत्रमें जो प्रश्न हैं, उनका समाधान नीचे लिखे परसे विचारियेगा।

पूर्वकर्म दो प्रकारके हैं, अथवा जीवसे जो जो कर्म किये जाते हैं, वे दो प्रकारसे किये जाते हैं। एक प्रकारके कर्म ऐसे हैं कि उनकी कालादिकी स्थिति जिस प्रकारसे है उसी प्रकारसे वह भोगी जा सकती है। दूसरे प्रकारके कर्म ऐसे हैं कि जो ज्ञानसे, विचारसे निवृत्त हो सकते हैं। ज्ञान होनेपर भी जिस प्रकारके कर्म अवश्य भोगनेयोग्य है, वे प्रथम प्रकारके कर्म कहे गये हैं, और जो ज्ञानसे दूर हो सकते हैं वे दूसरे प्रकारके कर्म कहे गये हैं। केवलज्ञानके उत्पन्न होनेपर भी देह रहती है; उस देहका रहना केवलज्ञानीकी इच्छासे नहीं परंतु प्रारब्धसे है। इतना संपूर्ण ज्ञानबल होनेपर भी उस देह- स्थितिका वेदन किये बिना केवलज्ञानीसे भी नहीं छूटा जा सकता, ऐसी स्थिति है; यद्यपि उस प्रकारसे छूटनेके लिये कोई ज्ञानीपुरुष इच्छा नहीं करते; तथापि यहाँ कहनेका आशय यह है कि ज्ञानीपुरुषको भी वह कर्म भोगने योग्य हैं, तथा अंतरायादि अमुक कर्मकी व्यवस्था ऐसी है कि वह ज्ञानीपुरुषको भी भोगने योग्य है, अर्थात् ज्ञानीपुरुष भी भोगे बिना उस कर्मको निवृत्त नहीं कर सकते। सर्व प्रकारके कर्म ऐसे हैं कि वे अफल नहीं होते, मात्र उनकी निवृत्तिके प्रकारमें अंतर है।

एक कर्म, जिस प्रकारसे स्थिति आदिका बंध किया है, उसी प्रकारसे भोगनेयोग्य होते हैं। दूसरे कर्म ऐसे होते हैं, जो जीवके ज्ञानादि पुरुषार्थधर्मसे निवृत्त होते हैं। ज्ञानादि पुरुषार्थधर्मसे निवृत्त होनेवाले कर्मकी निवृत्ति ज्ञानीपुरुष भी करते हैं; परंतु भोगनेयोग्य कर्मको ज्ञानीपुरुष सिद्धि आदिके प्रयत्नसे निवृत्त करनेकी इच्छा नहीं करते यह संभव है। कर्मको यथायोग्यरूपसे भोगनेमें ज्ञानीपुरुषको संकोच नहीं होता। कोई अज्ञानदशा होनेपर भी अपनी ज्ञानदशा माननेवाला जीव कदाचित् भोगनेयोग्य कर्मको भोगना न चाहे, तो भी भोगनेपर ही छुटकारा होता है, ऐसी नीति है। जीवका किया हुआ कर्म यदि बिना भोगे अफल जाता हो, तो फिर बंध मोक्षकी व्यवस्था कैसे हो सकेगी ?

जो वेदनीयादि कर्म हों उन्हें भोगनेकी हमें अनिच्छा नहीं होती। यदि अनिच्छा होती हो तो चित्तमें खेद होता है कि जीवको देहाभिमान है, जिससे उपार्जित कर्म भोगते हुए खेद होता है, और इससे अनिच्छा होती है।

मंत्रादिसे, सिद्धिसे और दूसरे वैसे अमुक कारणोंसे अमुक चमत्कार हो सकना असंभव नहीं है; तथापि ऊपर जैसे हमने बताया है, वैसे भोगनेयोग्य जो 'निकाचित कर्म' हैं, वे उनमेंसे किसी भी प्रकारसे मिट नहीं सकते। क्वचित् अमुक 'शिथिल कर्म' की निवृत्ति होती है; परंतु वह कुछ उपार्जित करनेवालेके वेदन किये बिना निवृत्त होता है, ऐसा नहीं है; किन्तु आकारफेरसे उस कर्मका वेदन होता है।

कोई एक ऐसा 'शिथिल कर्म' है कि जिसमें अमुक समय चित्तकी स्थिरता रहे तो वह निवृत्त हो जाये। वैसा कर्म उस मंत्रादिमें स्थिरताके योगसे निवृत्त हो, यह संभव है। अथवा किसीके पास पूर्वलाभका कोई ऐसा बंध है कि जो मात्र उसकी थोड़ी कृपासे फलीभूत हो आये; यह भी एक सिद्धि जैसा है। उसी तरह अमुक मंत्रादिके प्रयत्नमें हो और अमुक पूर्वांतराय नष्ट होनेका प्रसंग समीपवर्त्ती हो, तो भी मंत्रादिसे कार्यसिद्धि हुई मानी जाती है; परंतु इस बातमें कुछ थोड़ा भी चित्त होनेका कारण नहीं है, निष्फल बात है। इसमें आत्माके कल्याण संबंधी कोई मुख्य प्रसंग नहीं है। ऐसी कथा मुख्य प्रसंगकी विस्मृतिका हेतु होती है; इसलिये उस प्रकारके विचारका अथवा शोधका निर्धार करनेकी इच्छा करनेकी अपेक्षा उसका त्याग कर देना अच्छा है, और उसके त्यागसे सहजमें निर्धार होता है।

आत्मामें विशेष आकुलता न हो वैसे रहें। जो होने योग्य होगा वह होकर रहेगा। और आकुलता करने पर भी जो होनहार होगा वही होगा, उसके साथ आत्मा भी अपराधी होगा।

---

४९५ बंबई, चैत्र वदी ११, मंगल, १९५०

श्री त्रिभोवन,

जिस कारणके विषयमें लिखा था, उस कारणके विचारमें अभी चित्त है, और वह विचार अभी तक चित्तसमाधानरूप अर्थात् पूरा न हो सकनेसे आपको पत्र नहीं लिखा गया। तथा कोई 'प्रमाद-दोष' जैसा कोई प्रसंगदोष रहता है कि जिससे कुछ भी परमार्थबात लिखनेके संबंधमें चित्त उद्विग्न होकर, लिखते हुए एकदम रुक जाना होता है। और जो कार्यप्रवृत्ति है, उस कार्यप्रवृत्तिमें और अपरमार्थ प्रसंगमें मानों मेरेसे यथायोग्य उदासीनबल नहीं होता; ऐसा लगनेसे अपने दोषके विचारमें पड़ जानेसे पत्र लिखना रुक जाता है, और प्रायः ऊपर जो विचारका समाधान नहीं हुआ, ऐसा लिखा है, वही कारण है।

यदि किसी भी प्रकारसे हो सके तो इस त्रासरूप संसारमें अधिक व्यवसाय न करना; सत्संग करना योग्य है।

मुझे ऐसा लगता है कि जीवको मूलरूपसे देखते हुए यदि मुमुक्षुता आयी हो तो नित्य प्रति उसका संसारबल घटता रहता है। संसारमें धनादि संपत्तिका घटना या न घटना अनियत है; परंतु संसारके प्रति जीवकी जो भावना है वह मंद होती रहे, अनुक्रमसे नाश होने योग्य हो; यह बात इस कालमें प्रायः देखनेमें नहीं आती। किसी भिन्न स्वरूपमें मुमुक्षुको और भिन्न स्वरूपमें मुनि आदिको देखकर विचार आता है कि ऐसे संगसे जीवकी ऊर्ध्वदशा होना योग्य नहीं परंतु अधोदशा होना योग्य है। फिर जिसे सत्संगका कुछ प्रसंग हुआ है ऐसे जीवकी व्यवस्था भी कालदोषसे पलटते देर नहीं लगती। ऐसा प्रगट देखकर चित्तमें खेद होता है और अपने चित्तकी व्यवस्था देखते हुए मुझे भी ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे लिये किसी भी प्रकारसे यह व्यवसाय योग्य नहीं है, अवश्य योग्य नहीं है। अवश्य—अत्यंत अवश्य—इस जीवका कोई प्रमाद है, नहीं तो जिसे प्रगट जाना है ऐसे जहरके पीनेमें जीवकी प्रवृत्ति क्यों हो ? अथवा ऐसा नहीं तो उदासीन प्रवृत्ति हो, तो भी वह प्रवृत्ति भी अब तो किसी प्रकारसे भी परिसमाप्तिको प्राप्त हो ऐसा होना योग्य है, नहीं तो किसी भी प्रकारसे जीवका जरूर दोष है।

अधिक लिखना नहीं हो सकता, इसलिये चित्तमें खेद होता है, नहीं तो प्रगटरूपसे किसी मुमुक्षुको इस जीवके दोष भी यथासंभव प्रकारसे विदित करके, जीवका उतना तो खेद दूर करना। और उन विदित दोषोंकी परिसमाप्तिके लिये उसके संगरूप उपकारकी इच्छा करना।

मुझे अपने दोषके लिये वारंवार ऐसा लगता है कि जिस दोषका बल परमार्थसे देखते हुए मैंने कहा है; परंतु अन्य आधुनिक जीवोंके दोषके सामने मेरे दोषकी अत्यंत अल्पता लगती है। यद्यपि ऐसा माननेकी कोई बुद्धि नहीं है, तथापि स्वभावसे कुछ ऐसा लगता है। फिर भी किसी विशेष अपराधीकी भाँति जब तक हम यह व्यवहार करते हैं तब तक अपने आत्मामें संलग्न रहेंगे। आपको और आपके संगमें रहनेवाले किसी भी मुमुक्षुको यह बात कुछ भी विचारणीय अवश्य है।

---

४९६ बंबई, चैत्र वदी १४, शुक्र, १९५०

जो मुमुक्षुजीव गृहस्थ व्यवहारमें प्रवृत्त हो, उसे तो अखंड नीतिका मूल प्रथम आत्मामें स्थापित करना चाहिये; नहीं तो उपदेशादिकी निष्फलता होती है।

द्रव्यादि उत्पन्न करने आदिमें सांगोपांग न्यायसंपन्न रहना, इसका नाम नीति है। यह नीति छोड़ते हुए प्राण जानेकी दशा आनेपर त्याग और वैराग्य सच्चे स्वरूपमें प्रगट होते हैं; और उसी जीवको सत्पुरुषके वचनोंका तथा आज्ञाधर्मका अद्भुत सामर्थ्य, माहात्म्य और रहस्य समझमें आता है; और सभी वृत्तियोंके

निजरूपसे प्रवृत्ति करनेका मार्ग स्पष्ट सिद्ध होता है।

प्रायः आपको देश, काल, संग आदिका विपरीत योग रहता है। इसलिये वारंवार, पल पलमें तथा कार्य कार्यमें सावधानीसे नीति आदि धर्मोंमें प्रवृत्ति करना योग्य है। आपकी भाँति जो जीव कल्याणकी आकांक्षा रखता है, और प्रत्यक्ष सत्पुरुषका निश्चय है, उसे प्रथम भूमिकामें यह नीति मुख्य आधार है। जो जीव सत्पुरुषका निश्चय हुआ है ऐसा मानता है, उसमें यदि उपर्युक्त नीतिका प्राबल्य न हो और कल्याणकी याचना करे तथा वार्ता करे, तो यह निश्चय मात्र सत्पुरुषको ठगनेके समान है। यद्यपि सत्पुरुष तो निराकांक्षी है इसलिये उनके लिये तो ठगे जाने जैसा कुछ है नहीं, परंतु इस प्रकारसे प्रवृत्ति करनेवाला जीव अपराधयोग्य होता है। इस बातपर वारंवार आपको और और आपके समागमकी इच्छा करनेवाले मुमुक्षुओंको ध्यान देना चाहिये। कठिन बात है, इसलिये नहीं हो सकती, यह कल्पना मुमुक्षुके लिये अहितकारी है और त्याज्य है।

---

४९७ बंबई, चैत्र वदी १४, शुक्र, १९५०

उपदेशकी आकांक्षा रहा करती है, ऐसी आकांक्षा मुमुक्षुजीवके लिये हितकारी है, जागृतिका विशेष हेतु है। ज्यों ज्यों जीवमें त्याग, वैराग्य और आश्रयभक्तिका बल बढ़ता है त्यों त्यों सत्पुरुषके वचनका अपूर्व और अद्‌भुत स्वरूप भासित होता है, और बंधनिवृत्तिके उपाय सहजमें सिद्ध होते हैं। प्रत्यक्ष सत्पुरुषके चरणारविंदका योग कुछ समय तक रहे तो फिर वियोगमें भी त्याग, वैराग्य और आश्रयभक्तिकी धारा बलवती रहती है; नहीं तो अशुभ देश, काल, संगादिके योगसे सामान्य वृत्तिके जीव त्याग-वैराग्यादिके बलमें नहीं बढ़ सकते, अथवा मंद हो जाते हैं, अथवा उसका सर्वथा नाश कर देते हैं।

---

४९८ बंबई, वैशाख सुदी १, रवि, १९५०

श्री त्रिभोवनादि,

'योगवासिष्ठ' पढ़नेमें आपत्ति नहीं है। आत्माको संसारका स्वरूप कारागृह जैसा वारंवार क्षण क्षणमें भासित हुआ करे, यह मुमुक्षुताका मुख्य लक्षण है। योगवासिष्ठादि जो जो ग्रंथ उस कारणके पोषक हैं, उनका विचार करनेमें आपत्ति नहीं है। मूल बात तो यह है कि जीवको वैराग्य आनेपर भी जो उसकी अत्यंत शिथिलता है—ढ़ीलापन है—उसे दूर करते हुए उसे अत्यंत कठिन लगता है, और चाहें जैसे भी प्रथम इसे ही दूर करना योग्य है।

---

४९९ बंबई, वैशाख सुदी ९, १९५०

जिस व्यवसायसे जीवकी भावनिद्रा न घटती हो वह व्यवसाय किसी प्रारब्धयोगसे करना पड़ता हो तो वह पुनः पुनः पीछे हटकर, 'मैं बड़ा भयंकर हिंसायुक्त यह दुष्ट काम ही किया करता हूँ,' ऐसा पुनः पुनः विचारकर और 'जीवमें ढ़ीलेपनसे ही प्रायः मुझे यह प्रतिबंध है,' ऐसा पुनः पुनः निश्चय करके जितना बने उतना व्यवसायका संक्षेप करते हुए प्रवृत्ति हो, तो बोधका फलित होना संभव है।

चित्तका लिखने आदिमें अधिक प्रयास नहीं हो सकता, इसलिये चिट्ठी लिखी है।

---

५०० बंबई, वैशाख सुदी ९, रवि, १९५०

श्री सूर्यपुरस्थित, शुभेच्छाप्राप्त श्री लल्लुजी,

यहाँ उपाधिरूप व्यवहार रहता है। प्रायः आत्मसमाधिकी स्थिति रहती है। तो भी उस व्यवहारके प्रतिबंधसे छूटनेका वारंवार स्मृतिमें आया करता है। उस प्रारब्धकी निवृत्ति होने तक तो व्यवहारका

प्रतिबंध रहना योग्य है, इसलिये समचित्तपूर्वक स्थिति रहती है।

आपका लिखा एक पत्र प्राप्त हुआ है। 'योगवासिष्ठादि' ग्रंथका अध्ययन होता हो तो वह हितकारी है। जिनागममें भिन्न भिन्न आत्मा मानकर परिमाणमें अनंत आत्मा कहे हैं और वेदान्तमें उसे भिन्न भिन्न कहकर, सर्वत्र जो चेतनसत्ता दिखायी देती है, वह एक ही आत्माकी है, और आत्मा एक ही है, ऐसा प्रतिपादन किया है। ये दोनों ही बातें मुमुक्षुपुरुषके लिये अवश्य विचारणीय हैं, और यथाप्रयत्न इन्हें विचारकर निर्धार करना योग्य है, यह बात निःसंदेह है। तथापि जब तक प्रथम वैराग्य और उपशमका बल दृढ़तासे जीवमें न आया हो, तब तक उस विचारसे चित्तका समाधान होनेके बदले चंचलता होती है, और उस विचारका निर्धार प्राप्त नहीं होता; तथा चित्त विक्षेप पाकर फिर वैराग्य-उपशमको यथार्थरूपसे धारण नहीं कर सकता। इसलिये उस प्रश्नका समाधान ज्ञानी- पुरुषोंने किया है, उसे समझनेके लिये इस जीवमें वैराग्य-उपशम और सत्संगका बल अभी तो बढ़ाने योग्य है, ऐसा विचार करके जीवमें वैराग्यादि बल बढ़नेके साधनोंका आराधन करनेके लिये नित्यप्रति विशेष पुरुषार्थ योग्य है।

विचारकी उत्पत्ति होनेके बाद वर्धमानस्वामी जैसे महात्मापुरुषोंने पुनः पुनः विचार किया कि इस जीवका अनादिकालसे चारों गतियोंमें अनंतानंतबार जन्म-मरण होनेपर भी, अभी वह जन्म-मरणादिकी स्थिति क्षीण नहीं होती, उसे अब किस प्रकारसे क्षीण करना ? और ऐसी कौन सी भूल इस जीवकी रहती आयी है कि जिस भूलका यहाँ तक परिणमन हुआ है ? इस प्रकारसे पुनः पुनः अत्यंत एकाग्रतासे सद्बोधके वर्धमान परिणामसे विचार करते करते जो भूल भगवानने देखी हैं, उसे जिनागममें जगह जगह कहा है, कि जिस भूलको समझकर मुमुक्षुजीव उससे रहित हो। जीवकी भूल देखनेपर तो वह अनंत विशेष लगती है, परंतु सबसे पहले जीवको सब भूलोंकी बीजभूत भूलका विचार करना योग्य है, कि जिस भूलका विचार करनेसे सभी भूलोंका विचार होता है, और जिस भूलके दूर होनेसे सब भूलें दूर होती हैं। कोई जीव कदाचित् नाना प्रकारकी भूलोंका विचार करके उस भूलसे छूटना चाहे, तो भी वह कर्तव्य है, और वैसी अनेक भूलोंसे छूटनेकी इच्छा मूल भूलसे छूटनेका सहज कारण होता है।

शास्त्रमें जो ज्ञान बताया गया है, वह ज्ञान दो प्रकारसे विचारणीय है। एक प्रकार 'उपदेश'का और दूसरा प्रकार 'सिद्धांत' का है। "जन्ममरणादि क्लेशयुक्त इस संसारका त्याग करना योग्य है; अनित्य पदार्थमें विवेकीको रुचि करना नहीं होता; माता-पिता, स्वजनादि सबका 'स्वार्थरूप' संबंध होने पर भी यह जीव उस जालका आश्रय किया करता है, यही उसका अविवेक है; प्रत्यक्षरूपसे त्रिविध तापरूप यह संसार ज्ञात होते हुए भी मूर्ख जीव उसीमें विश्रांति चाहता है; परिग्रह, आरंभ और संग, ये सब अनर्थके हेतु हैं," इत्यादि जो शिक्षा है, वह 'उपदेशज्ञान' है। "आत्माका अस्तित्व, नित्यत्व, एकत्व अथवा अनेकत्व, बंधादिभाव, मोक्ष, आत्माकी सर्व प्रकारकी अवस्था, पदार्थ और उसकी अवस्था इत्यादि विषयोंको दृष्टांतादिसे जिस प्रकारसे सिद्ध किया जाता है, वह 'सिद्धांतज्ञान' है।"

मुमुक्षुजीवको प्रथम तो वेदांत और जिनागम इन सबका अवलोकन उपदेशज्ञानकी प्राप्तिके लिये ही करना योग्य है, क्योंकि सिद्धांतज्ञान जिनागम और वेदांतमें परस्पर भिन्न देखनेमें आता है, और उस भिन्नताको देखकर मुमुक्षुजीव शंकायुक्त हो जाता है, और यह शंका चित्तमें असमाधि उत्पन्न करती है, ऐसा प्रायः होने योग्य ही है। क्योंकि सिद्धांतज्ञान तो जीवमें किसी अत्यंत उज्ज्वल क्षयोपशमसे और सद्गुरुके वचनकी आराधनासे अद्भूत होता है। सिद्धांतज्ञानका कारण उपदेशज्ञान है। सद्गुरु या सत्शास्त्रसे जीवमें पहले यह ज्ञान दृढ़ होना योग्य है कि जिस उपदेशज्ञानका फल वैराग्य और उपशम है। वैराग्य और उपशमका बल बढ़नेसे जीवमें सहज ही क्षयोपशमकी निर्मलता होती है, और सहज सहजमें

सिद्धांतज्ञान होनेका कारण होता है। यदि जीवमें असंगदशा आ जाये तो आत्मस्वरूपका समझना एकदम सरल हो जाता है; और उस असंगदशाका हेतु वैराग्य और उपशम है, जिसे जिनागममें तथा वेदांतादि अनेक शास्त्रोंमें वारंवार कहा है—विस्तारसे कहा है। अतः निःसंशयतासे वैराग्य-उपशमके हेतुभूत योगवासिष्ठादि जैसे सद्ग्रंथ विचारणीय हैं।

हमारे पास आनेमें किसी किसी प्रकारसे आपके साथी श्री देवकरणजीका मन रुकता था, और यह रुकना स्वाभाविक है; क्योंकि हमारे विषयमें सहज ही शंका उत्पन्न हो ऐसे व्यवहारका प्रारब्धवशात् हमें उदय रहता है; और वैसे व्यवहारका उदय देखकर प्रायः हमने 'धर्मसंबंधी' संगमें लौकिक एवं लोकोत्तर प्रकारसे मेलजोल नहीं किया, कि जिससे लोगोंको हमारे इस व्यवहारके प्रसंगका विचार करनेका अवसर कम आये। आपसे या श्री देवकरणजीसे अथवा किसी अन्य मुमुक्षुसे किसी प्रकारकी कुछ भी परमार्थकी बात की हो, उसमें मात्र परमार्थके सिवाय कोई अन्य हेतु नहीं है। इस संसारके विषम एवं भयंकर स्वरूपको देखकर हमें उससे निवृत्त होनेका बोध हुआ, जिस बोधसे जीवमें शांति आकर समाधिदशा हुई; वह बोध इस जगतमें किसी अनंत पुण्यके योगसे जीवको प्राप्त होता है, ऐसा महात्मापुरुष पुनः पुनः कह गये हैं। इस दुःषमकालमें अंधकार प्रगट होकर बोधका मार्ग आवरण-प्राप्त हुए जैसा हुआ है। इस कालमें हमें देहयोग मिला, इसके लिये किसी प्रकारसे खेद होता है, तथापि परमार्थसे उस खेदका भी समाधान होता रहा है; परंतु उस देहयोगमें कभी-कभी किसी मुमुक्षुके प्रति कदाचित् लोकमार्गका प्रतिकार पुनः पुनः कहना होता है, ऐसा ही एक योग आपके और श्री देवकरणजीके संबंधमें सहज ही हो गया है। परंतु इससे आप हमारा कथन मान्य करें, ऐसे आग्रहके लिये कुछ भी कहना नहीं होता। केवल हितकारी जानकर उस बात का आग्रह किया रहता है या होता है, इतना ध्यान रहे तो किसी तरह संगका फल होना संभव है।

यथासंभव जीवके अपने दोषके प्रति ध्यान करके, दूसरे जीवोंके प्रति निर्दोष दृष्टि रखकर प्रवृत्ति करना, और जैसे वैराग्य-उपशमका आराधन हो वैसे करना यह प्रथम स्मरणयोग्य बात है।

आ० स्व० नमस्कार प्राप्त हो।

---

५०१ बंबई, वैशाख वदी ७, रवि, १९५०

सूर्यपुरस्थित शुभेच्छासंपन्न आर्य श्री लल्लुजी,

प्रायः जिनागममें सर्वविरति साधुको पत्र समाचारादि लिखनेकी आज्ञा नहीं है, और यदि वैसी सर्वविरति भूमिकामें रहकर करना चाहे तो वह अतिचार योग्य समझा जाता है। इस प्रकार साधारणतया शास्त्रका उद्देश है, और वह मुख्य मार्गसे तो यथायोग्य लगता है; तथापि जिनागमकी रचना पूर्वापर अविरोध प्रतीत होती है; और वैसा अविरोध रहनेके लिये पत्र-समाचारादि लिखनेकी आज्ञा किसी प्रकारसे जिनागममें है, उसे आपके चित्तका समाधान होनेके लिये यहाँ संक्षेपमें लिखता हूँ।

जिनेन्द्रकी जो जो आज्ञाएँ हैं वे सब आज्ञाएँ, सर्व प्राणी अर्थात् जिनकी आत्म-कल्याणकी कुछ इच्छा है उन सबको, वह कल्याण जिस प्रकार उत्पन्न हो और जिस प्रकार वह वृद्धिगत हो, तथा जिस प्रकार उस कल्याणकी रक्षा की जा सके, उस प्रकारसे वे आज्ञाएँ की है। यदि जिनागममें कोई ऐसी आज्ञा कही हो कि वह आज्ञा अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके संयोगमें न पल सकनेके कारण आत्माको बाधकारी होती हो, तो वहाँ उस आज्ञाको गौण करके—उसका निषेध करके श्री तीर्थंकरने दूसरी आज्ञा कही है।

जिसने सर्वविरति की है ऐसे मुनिको सर्वविरति करते समयके प्रसंगमें **"सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि, सव्वं मुसावायं पच्चक्खामि, सव्वं अदिन्नादाणं पच्चक्खामि, सव्वं मेहुणं पच्चक्खामि, सव्वं परिग्गहं पच्चक्खामि,"** इस उद्देश्यके वचनोंका उच्चारण करनेके लिये कहा है, अर्थात् 'सर्व-प्राणातिपातसे मैं निवृत्त होता हूँ,' 'सर्व प्रकारके मृषावादसे मैं निवृत्त होता हूँ', 'सर्व प्रकारके अदत्तादानसे मैं निवृत्त होता हूँ', 'सर्व प्रकारके मैथुनसे निवृत्त होता हूँ', और 'सर्व प्रकारके परिग्रहसे निवृत्त होता हूँ।' (सर्व प्रकारके रात्रिभोजनसे तथा दूसरे वैसे वैसे कारणोंसे निवृत्त होता हूँ, इस प्रकार उसके साथ बहुतसे त्यागके कारण जानना।) ऐसे जो वचन कहे हैं, वे सर्वविरतिकी भूमिकाके लक्षणसे कहे हैं। तथापि उन पाँच महाव्रतोंमें मैथुनत्यागके सिवायके चार महाव्रतोंमें भगवानने फिर दूसरी आज्ञा की है कि जो आज्ञा प्रत्यक्षतः तो महाव्रतको बाधकारी लगती है, परंतु ज्ञानदृष्टिसे देखते हुए तो रक्षणकारी है।

'मैं सर्व प्रकारके प्राणातिपातसे निवृत्त होता हूँ' ऐसा पच्चक्खान (प्रत्याख्यान) होनेपर भी नदी पार करने जैसे प्राणातिपातरूप प्रसंगकी आज्ञा करनी पड़ी हैं; जिस आज्ञाका, यदि लोकसमुदायके विशेष समागमपूर्वक साधु आराधन करेगा, तो पंचमहाव्रतके निर्मूल होनेका समय आयेगा ऐसा जानकर भगवानने नदी पार करनेकी आज्ञा दी है। वह आज्ञा प्रत्यक्ष प्राणातिपातरूप होनेपर भी पाँच महाव्रतकी रक्षाका अमूल्य हेतुरूप होनेसे प्राणातिपातकी निवृत्तिरूप है, क्योंकि पाँच महाव्रतोंकी रक्षाका हेतु ऐसा जो कारण, वह प्राणातिपातकी निवृत्तिका भी हेतु ही है। प्राणातिपात होनेपर भी अप्राणातिपातरूप, ऐसी नदी पार करनेकी आज्ञा होती है, तथापि 'सर्व प्रकारके प्राणातिपातसे निवृत्त होता हूँ,' इस वाक्यको उस कारणसे एक बार हानि पहुँचती है, जो हानि फिरसे विचार करते हुए तो उसकी विशेष दृढ़ताके लिये प्रतीत होती है, वैसा ही दूसरे व्रतोंके लिये है। 'परिग्रहकी सर्वथा निवृत्ति करता हूँ,' ऐसा व्रत होनेपर भी वस्त्र, पात्र, पुस्तकका संबंध देखनेमें आता है, वे अंगीकार किये जाते हैं, वे परिग्रहकी सर्वथा निवृत्तिके कारणको किसी प्रकारसे रक्षणरूप होनेसे कहे हैं, और इससे परिणामतः अपरिग्रहरूप होते हैं। मूर्च्छारहितरूपसे नित्य आत्मदशा बढ़नेके लिये पुस्तकका अंगीकार करना कहा है। तथा इस कालमें शरीर संहननकी हीनता देखकर, चित्तस्थितिका प्रथम समाधान रहनेके लिये वस्त्र-पात्रादिका ग्रहण करना कहा हैं; अर्थात् जब आत्महित देखा तो परिग्रह रखना कहा है। प्राणातिपात क्रिया-प्रवर्तन कहा है, परंतु भावकी दृष्टिसे इसमें अंतर है। परिग्रहबुद्धिसे अथवा प्राणातिपातबुद्धिसे इसमेंसे कुछ भी करनेके लिये कभी भगवानने नहीं कहा है। भगवानने जहाँ सर्वथा निवृत्तिरूप पाँच महाव्रतोंका उपदेश दिया है, वहाँ भी दूसरे जीवोंके हितके लिये कहा है, और उसमें उसके त्याग जैसे दिखाई देनेवाले अपवादको भी आत्महितके लिये कहा है, अर्थात् एक परिणाम होनेसे त्याग की हुई क्रिया ग्रहण करायी है। 'मैथुनत्याग' में जो अपवाद नहीं है उसका हेतु यह है कि रागद्वेषके बिना उसका भंग नहीं हो सकता, और रागद्वेष आत्माके लिये अहितकारी है, जिससे भगवानने उसमें कोई अपवाद नहीं कहा है। नदी पार करना रागद्वेषके बिना भी हो सकता है, पुस्तक आदिका ग्रहण करना भी वैसे हो सकता है; परंतु मैथुनसेवन वैसे नहीं हो सकता; इसलिये भगवानने यह व्रत अनपवाद कहा है, और दूसरे व्रतोंमें आत्महितके लिये अपवाद कहे हैं; ऐसा होनेसे, जैसे जीवका, संयमका रक्षण हो, वैसा कहनेके लिये जिनागम है।

पत्र लिखने या समाचारादि कहनेका जो निषेध किया है, वह भी इसी हेतुसे है। लोकसमागम बढ़े, प्रीति-अप्रीतिके कारण बढ़े, स्त्री आदिके परिचयमें आनेका हेतु हो, संयम ढ़ीला हो, उस उस प्रकारका

परिग्रह बिना कारण अंगीकृत हो, ऐसे सान्निपातिक अनंत कारण देखकर पत्रादिका निषेध किया है, तथापि वह भी अपवादसहित है। 'बृहत्कल्प' में अनार्यभूमिमें विचरनेका निषेध किया है, और वहाँ क्षेत्रमर्यादा की है; परंतु ज्ञान, दर्शन और संयमके हेतुसे वहाँ विचरनेका भी विधान किया है। इसी आधारसे यह सिद्ध होता है कि किन्हीं ज्ञानीपुरुषका दूर रहता होता हो, उनका समागम होना मुश्किल हो, और पत्र-समाचारके सिवाय दूसरा कोई उपाय न हो, तो फिर आत्महितके सिवायकी दूसरी सर्व प्रकारकी बुद्धिका त्याग करके, वैसे ज्ञानीपुरुषकी आज्ञासे अथवा किसी मुमुक्षु सत्संगीकी सामान्य आज्ञासे वैसा करनेका जिनागमसे निषेध नहीं होता ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि जहाँ पत्र-समाचार लिखनेसे आत्महितका नाश होता हो, वहीं उसका निषेध किया गया है। जहाँ पत्र-समाचार न होनेसे आत्महितका नाश होता हो, वहाँ पत्र-समाचारका निषेध किया हो, यह जिनागमसे कैसे हो सकता है? यह अब विचारणीय है।

इस प्रकार विचार करनेसे जिनागममें ज्ञान, दर्शन और संयमके संरक्षणके लिये पत्र-समाचारादिके व्यवहारका भी स्वीकार करनेका समावेश होता है, तथापि वह किसी कालके लिये, किसी महान प्रयोजनके लिये, महात्मा पुरुषोंकी आज्ञासे अथवा केवल जीवके कल्याणके ही कारणमें उसका उपयोग किसी पात्रके लिये है, ऐसा समझना योग्य है। नित्यप्रति और साधारण प्रसंगमें पत्र-समाचारादिका व्यवहार संगत नहीं है, ज्ञानीपुरुषके प्रति उनकी आज्ञासे नित्यप्रति पत्रादि व्यवहार संगत है, तथापि दूसरे लौकिक जीवके कारणमें तो सर्वथा निषेध प्रतीत होता है। फिर काल ऐसा आया है कि जिसमें ऐसा कहनेसे भी विषम परिणाम आता है। लोकमार्गमें प्रवृत्ति करनेवाले साधु आदिके मनमें यह व्यवहारमार्गका नाश करनेवाला भासमान होना संभव है; तथा इस मार्गको समझानेसे भी अनुक्रमसे बिना कारण पत्र-समाचारादि चालू हो जाये कि जिससे बिना कारण साधारण द्रव्यत्याग भी नष्ट हो जाये।

ऐसा समझकर यह व्यवहार प्रायः अंबालाल आदिसे भी नहीं करें, क्योंकि वैसा करनेसे भी व्यवसायका बढ़ना संभव है। यदि आपको सर्व पच्चक्खान हो तो फिर पत्र न लिखनेका साधुने जो पच्चक्खान दिया है, वह नहीं दिया जा सकता। तथापि दिया हो तो भी इसमें आपत्ति न माने; वह पच्चक्खान भी ज्ञानीपुरुषकी वाणीसे रूपांतर हुआ होता तो हानि न थी; परंतु साधारणरूपसे रूपांतर हुआ है, वह योग्य नहीं हुआ। यहाँ मूल स्वाभाविक पच्चक्खानकी व्याख्या करनेका अवसर नहीं है, लोकपच्चक्खानकी बातका अवसर है; तथापि वह भी साधारणतया अपनी इच्छासे तोड़ना ठीक नहीं; अभी तो ऐसा दृढ़ विचार ही रखे। गुण प्रगट होनेके साधनमें जब रोध होता हो, तब उस पच्चक्खानको ज्ञानीपुरुषकी वाणीसे या मुमुक्षुजीवके सत्संगके सहज आकारफेर होने देकर रास्तेपर लाये क्योंकि बिना कारण लोगोंमें शंका उत्पन्न होने देनेकी बात योग्य नहीं है। अन्य पामरजीवोंको बिना कारण वह जीव अहितकारी होता है। इत्यादि अनेक हेतु मानकर यथासंभव पत्रादि व्यवहार कम करना ही योग्य है। हमारे प्रति कभी वैसा व्यवहार करना आपके लिये हितकारी है, इसलिये करना योग्य लगता हो तो वह पत्र श्री देवकरणजी जैसे किसी सत्संगीको पढ़वा कर भेजें, कि जिससे 'ज्ञानचर्चाके सिवाय इसमें कोई दूसरी बात नहीं है,' ऐसा उनका साक्षित्व आपके आत्माको दूसरे प्रकारके पत्र-व्यवहारको करते हुए रोकनेका कारण हो। मेरे विचारके अनुसार ऐसे प्रकारमें श्री देवकरणजी विरोध नहीं समझेंगे, कदाचित् उन्हें वैसा लगता हो तो किसी प्रसंगमें उनकी वह आशंका हम निवृत्त करेंगे, तथापि आपको प्रायः विशेष पत्र-व्यवहार करना योग्य नहीं है इस लक्ष्यको न चूकियेगा। 'प्रायः' शब्दका अर्थ यह है कि मात्र हितकारी प्रसंगमें पत्रका कारण कहा है, उसमें बाधा न आये। विशेष पत्र-व्यवहार करनेसे यदि वह

ज्ञानचर्चारूप होगा तो भी लोकव्यवहारमें बहुत आशंकाका कारण होगा। इसलिये जिस प्रकार प्रसंग प्रसंगपर आत्महितार्थ हो उसका सोच-विचार करना योग्य है। आप हमारे प्रति किसी ज्ञानप्रश्नके लिये पत्र लिखना चाहें तो वह श्री देवकरणजीको पूछकर लिखें कि जिससे आपको गुणप्राप्तिमें कम बाधा हो।

आपके अंबालालको पत्र लिखनेके विषयमें चर्चा हुई, वह यद्यपि योग्य नहीं हुआ। आपको कुछ प्रायश्चित्त दें तो उसे स्वीकारे परंतु किसी ज्ञानवार्ताको लिखनेके बदले लिखवानेमें आपको कोई रुकावट नहीं करनी चाहिये, ऐसा साथमें यथायोग्य निर्मल अन्तःकरणसे बताना योग्य है कि जो बात मात्र जीवका हित करनेके लिये हे। पर्युषणादिमें साधु दूसरेसे लिखवाकर पत्र-व्यवहार करते हैं, जिसमें आत्महित जैसा थोड़ा ही होता है। तथापि वह रूढ़ि हो जानेसे लोग उसका निषेध नहीं करते। आप उसी तरह रूढ़िके अनुसार व्यवहार रखेंगे, तो भी हानि नहीं है; अर्थात् आपको पत्र दूसरोंसे लिखवानेमें बाधा नहीं आयेगी और लोगोंको आशंका नहीं होगी।

उपमा आदि लिखनेमें लोगोंकी विपरीतता रहती हो तो हमारे लिये एक साधारण उपमा लिखें। उपमा नहीं लिखें तो भी आपत्ति नहीं है। मात्र चित्तसमाधिके लिये, आपको लिखनेका प्रतिबंध नहीं किया। हमारे लिये उपमाकी कुछ सार्थकता नहीं है। आत्मस्वरूपसे प्रणाम।

---

*५०२

मुनि श्री लल्लुजी तथा देवकरणजी आदिके प्रति–

सहज समागम हो जाये अथवा वे लोग इच्छापूर्वक समागम करनेके लिये आते हो तो समागम करनेमें क्या हानि है? कदाचित् वे लोग विरोधवृत्तिसे समागम करनेका प्रयत्न करते हों तो भी क्या हानि है? हमें तो उनके प्रति केवल हितकारीवृत्तिसे, अविरोध दृष्टिसे समागममें भी बरताव करना है, इसमें कौनसा पराभव है? मात्र उदीरणा करके समागम करेनका अभी कारण नहीं है। आप सब मुमुक्षुओंके आचारके विषयमें उन्हें कुछ संशय हो, तो भी विकल्पका अवकाश नहीं है। वड़वामें सत्पुरुषके समागममें गये आदिका प्रश्न करें तो उसके उत्तरमें इतना ही कहना योग्य है कि "आप, हम सब आत्महितकी कामनासे निकले हैं, और करनेयोग्य भी यही है। जिन पुरुषके समागम में हम आये हैं, उनके समागममें कभी आप आकर निश्चय कर देखें कि उनके आत्माकी दशा कैसी है? और वे हमारे लिये कैसे उपकारके कर्ता है? अभी यह बात आप जाने दे...तक सहजमें भी जाना हो सके, और यह तो ज्ञान...उपकाररूप प्रसंगमें जाना हुआ है, इतना ओचा...विकल्प करना ठीक नहीं है। अधिक रागद्वेष परि...उपदेशसे कुछ भी समझमें आये। प्रा...टला यह वैसे पुरुषकी कैसा...तथा शास्त्रादिसे विचारकर...नहीं है, क्योंकि उन्होंने स्वयं ऐसा कहा था कि,

'आपके मुनिपनका सामान्य व्यवहार ऐसा है कि बाह्य अविरति पुरुषके प्रति वन्दनादिका व्यवहार कर्तव्य नहीं है। उस व्यवहारकी आप भी रक्षा करे। आप वह व्यवहार करें इसमें आपकी स्वच्छंदता नहीं है, इसलिये करने योग्य है। अनेक जीवोंके लिये संशयका हेतु नहीं होगा। हमें कुछ वंदनादिकी अपेक्षा नहीं है।'

इस प्रकार जिन्होंने सामान्य व्यवहारकी भी रक्षा करवायी थी, उनकी दृष्टि कैसी होनी चाहिये, इसका आप विचार करें। कदाचित् अभी यह बात आपकी समझमें न आये तो आगे जाकर समझमें

---

* यह पत्र फटा हुआ मिला है। जहाँ जहाँ अक्षर नहीं हैं वहाँ वहाँ...(बिंदु) रखे हैं। बादमें यह पत्र पूरा मिल जानेसे पुनः आंक ७५० के रूपमें प्रकाशित किया है।

आयेगी, इस विषयमें आप निःसंदेह हो जायें।

दूसरी बात, सन्मार्गरूप आचारविचारमें हमारी कुछ शिथिलता हुई हो, तो आप कहें, क्योंकि वैसी शिथिलता दूर किये बिना तो हितकारी मार्ग प्राप्त नहीं होगा ऐसी हमारी दृष्टि है" इत्यादि प्रसंगानुसार कहना योग्य हो तो कहना, और उनके प्रति अद्वेषभाव है, यह सब उनके ध्यानमें आये, ऐसी वृत्ति और रीतिसे बरताव करना, इसमें संशय करना योग्य नहीं है।

अन्य साधुके विषयमें आपको कुछ कहना योग्य नहीं है। समागममें आनेके बाद भी कुछ न्यूनाधिकता उनका...क्षेप प्राप्त नहीं करना...प्रति बलवान अद्वेष...

---

५०३ बंबई, वैशाख वदी ३०, १९५०

श्री स्थंभतीर्थक्षेत्रमें स्थित, शुभेच्छासंपन्न भाई श्री अंबालालके प्रति यथायोग्य विनती कि—

आपका लिखा हुआ एक पत्र पहुँचा है। यहाँ कुशलता है।

सुरतसे मुनिश्री लल्लुजीका एक पत्र पहले आया था। उसके उत्तरमें एक पत्र यहाँसे लिखा था। उसके बाद पाँच-छः दिन पहले उनका एक पत्र था, जिसमें आपके प्रति जो पत्रादि लिखना हुआ, उसके संबंधमें हुई लोकचर्चाके विषयमें बहुतसी बातें थीं, उस पत्रका उत्तर भी यहाँसे लिखा है। वह संक्षेपमें इस प्रकार है।

प्राणातिपातादि पाँच महाव्रत हैं वे सब त्यागके हैं, अर्थात् सब प्रकारके प्राणातिपातसे निवृत्त होना, सब प्रकारके मृषावादसे निवृत्त होना, इस प्रकार साधुके पाँच महाव्रत होते हैं। और जब साधु इस आज्ञाके अनुसार चले तब वह मुनिके संप्रदायमें है, ऐसा भगवानने कहा है। इस प्रकार पाँच महाव्रतोंका उपदेश करनेपर भी जिसमें प्राणातिपातका कारण है ऐसी नदीको पार करने आदिकी क्रियाकी आज्ञा भी जिनेंद्रने दी है। वह इस अर्थमें कि नदीको पार करनेमें जीवको जो बंध होगा उसकी अपेक्षा एक क्षेत्रमें निवास करनेसे बलवान बंध होगा और परंपरासे पाँच महाव्रतोंकी हानिका प्रसंग आयेगा, यह देखकर, जिसमें द्रव्य प्राणातिपात है, ऐसी नदीको पार करनेकी आज्ञा श्री जिनेंद्रने दी है। इसी प्रकार वस्त्र, पुस्तक रखनेसे सर्वपरिग्रहविरमणव्रत नहीं रह सकता, फिर भी देहके सातार्थका त्याग कराकर आत्मार्थ साधनेके लिये देहको साधनरूप समझकर उसमेंसे संपूर्ण मूर्च्छा दूर होने तक वस्त्रके निःस्पृह संबंधका और विचारबल बढ़ने तक पुस्तकके संबंधका उपदेश जिनेन्द्रने दिया है। अर्थात् सर्व त्यागमें प्राणातिपात तथा परिग्रहका सब प्रकारसे अंगीकार करनेका निषेध होनेपर भी, इस प्रकारसे अंगीकार करनेकी आज्ञा जिनेन्द्रने दी है। वह सामान्य दृष्टिसे देखने पर विषम प्रतीत होगा, तथापि जिनेन्द्रने तो सम ही कहा है। दोनों ही बातें जीवके कल्याणके लिये कही गयी हैं। जैसे सामान्य जीवका कल्याण हो वैसे विचारकर कहा है। इसी प्रकार मैथुनत्यागव्रत होनेपर भी उसमें अपवाद नहीं कहा है, क्योंकि मैथुनकी आराधना रागद्वेषके बिना नहीं हो सकती, ऐसा जिनेंद्रका अभिमत है। अर्थात् रागद्वेषको अपरमार्थरूप जानकर मैथुनत्यागकी अपवादरहित आराधना कही है। इसी प्रकार बृहत्कल्पसूत्रमें जहाँ साधुके विचरनेकी भूमिका प्रमाण कहा है, वहाँ चारों दिशाओंमें अमुक नगर तककी मर्यादा बतायी है, तथापि उसके अतिरिक्त जो अनार्य क्षेत्र है, उसमें भी ज्ञान, दर्शन और संयमकी वृद्धिके लिये विचरनेका अपवाद बताया है। क्योंकि आर्यभूमि में यदि किसी योगवश ज्ञानीपुरुषका समीपमें विचरना न होता हो और प्रारब्धयोगसे ज्ञानीपुरुषका अनार्यभूमिमें विचरना हो तो वहाँ जाना, इसमें भगवानकी बतायी हुई आज्ञाका भंग नहीं होता।

इसी प्रकार यदि साधु पत्र-समाचार आदिका प्रसंग रखे तो प्रतिबंध बढ़ता है, इसी कारणसे भगवानने इसका निषेध किया है; परंतु वह निषेध ज्ञानीपुरुषके किसी वैसे पत्र-समाचारमें अपवादरूप लगता है, क्योंकि ज्ञानीके प्रति निष्कामरूपसे ज्ञानाराधनके लिये पत्र-समाचारका व्यवहार होता है। इसमें अन्य कोई संसारार्थ हेतु—उद्देश्य नहीं है, प्रत्युत संसारार्थ दूर होनेका हेतु है; और संसारको दूर करना इतना ही परमार्थ है। जिससे ज्ञानीपुरुषकी अनुज्ञासे अथवा किसी सत्संगी जनकी अनुज्ञासे पत्र-समाचारका कारण उपस्थित हो तो वह संयमके विरुद्ध ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता; तथापि आपको साधुने जो पच्चक्खान दिया था, उसके भंग होनेका दोष आप पर आरोपित करना योग्य है। यहाँ पच्चक्खानके स्वरूपका विचार नहीं करना है, परंतु आपने उन्हें जो प्रगट विश्वास दिलाया, उसे भंग करनेका क्या हेतु है ? यदि वह पच्चक्खान लेनेमें आपका यथायोग्य चित्त नहीं था, तो आपको वह लेना योग्य न था, और यदि किसी लोक-दबावसे वैसा हुआ तो उसका भंग करना योग्य नहीं है; और भंग करनेका जो परिणाम है वह भंग न करनेकी अपेक्षा विशेष आत्महितकारी हो, तो भी उसे स्वेच्छासे भंग करना योग्य नहीं है, क्योंकि जीव रागद्वेष अथवा अज्ञानसे सहजमें अपराधी होता है; उसका विचारा हुआ हिताहित विचार कई बार विपर्यय होता है। इसलिये आपने जिस प्रकारसे पच्चक्खानका भंग किया है, वह अपराधयोग्य है, और उसका प्रायश्चित्त लेना भी किसी तरह योग्य है। 'परंतु किसी प्रकारकी संसारबुद्धिसे यह कार्य नहीं हुआ, और संसारकार्यके प्रसंगसे पत्र- समाचार का व्यवहार करनेकी मेरी इच्छा नहीं है; यह जो कुछ पत्रादि लिखना हुआ है, वह मात्र किसी जीवके कल्याणकी बातके विषयमें हुआ है और यदि वह न किया गया होता तो वह एक प्रकारसे कल्याणरूप था, परंतु दूसरे प्रकारसे चित्तकी व्यग्रता उत्पन्न होकर अंतर क्लेशित होता था। इसलिये जिसमें कुछ संसारार्थ नहीं है, किसी प्रकारकी अन्य वांछा नहीं है, मात्र जीवके हितका प्रसंग है, ऐसा समझकर लिखना हुआ है। महाराज द्वारा दिया हुआ पच्चक्खान भी मेरे हितके लिये था कि जिससे मैं किसी संसारी प्रयोजनमें न पड़ जाऊँ; और उसके लिये उनका उपकार था। परंतु मैंने संसारी प्रयोजनसे यह कार्य नहीं किया है, आपके संघाडेके प्रतिबंधको तोड़नेके लिये यह कार्य नहीं किया है; तो भी यह एक प्रकारसे मेरी भूल है, तब उसे अल्प साधारण प्रायश्चित्त देकर क्षमा करना योग्य है। पर्युषणादि पर्वमें साधु श्रावकसे श्रावकके नामसे पत्र लिखवाते हैं, उसके सिवाय किसी दूसरे प्रकारसे अब प्रवृत्ति न की जाये और ज्ञानचर्चा लिखी जाये तो भी बाधा नहीं है," इत्यादि भाव लिखे हैं। आप भी उस तथा इस पत्रको विचारकर जैसे क्लेश उत्पन्न न हो वैसा कीजियेगा। किसी भी प्रकारसे सहन करना अच्छा है। ऐसा न हो तो साधारण कारणमें महान विपरीत क्लेशरूप परिणाम आता है। यथासंभव प्रायश्चित्तका कारण न हो तो न करना, नहीं तो फिर अल्प भी प्रायश्चित्त लेनेमें बाधा नहीं है। वे यदि प्रायश्चित्त दिये बिना कदाचित् इस बातको जाने दें, तो भी आप अर्थात् साधु लल्लुजीको चित्तमें इस बातका इतना पश्चात्ताप करना तो योग्य है कि ऐसा करना भी योग्य न था। भविष्यमें देवकरणजी साधु जैसेकी समक्षतामें वहाँसे कोई श्रावक लिखनेवाला हो और पत्र लिखवाये तो बाधा नहीं है, इतनी व्यवस्था उस संप्रदायमें चली आती है, इससे प्रायः लोग विरोध नहीं करेंगे। और उसमें भी यदि विरोध जैसा लगता हो तो अभी उस बातके लिये भी धैर्य रखना हितकारी है। लोकसमुदायमें क्लेश उत्पन्न न हो, इस लक्ष्यको चूकना अभी योग्य नहीं है, क्योंकि वैसा कोई बलवान प्रयोजन नहीं है।

श्री कृष्णदासका पत्र पढ़कर सात्त्विक हर्ष हुआ है। जिज्ञासाका बल जैसे बढ़े वैसे प्रयत्न करना, यह प्रथम भूमिका है। वैराग्य और उपशमके हेतुभूत 'योगवासिष्ठादि' ग्रंथोंके पठनमें बाधा नहीं है।

अनाथदासजी रचित 'विचारमाला' ग्रंथ सटीक अवलोकन करने योग्य है। हमारा चित्त नित्य सत्संगकी इच्छा करता है, तथापि प्रारब्धयोग स्थिति है। आपके समागमी भाइयों द्वारा यथासंभव सद्ग्रंथोंका अवलोकन हो, उसे अप्रमादपूर्वक करना योग्य है। और एक दूसरेका नियमित परिचय किया जाये इतना ध्यान रखना योग्य है। प्रमाद सब कर्मोंका हेतु है।

---

५०४ बंबई, वैशाख १९५०

ॐ

मनका, वचनका तथा कायाका व्यवसाय जितना चाहते हैं, उसकी अपेक्षा इस समय विशेष रहा करता है। और इसी कारणसे आपको पत्रादि लिखना नहीं हो सकता। व्यवसायके विस्तारकी इच्छा नहीं की जाती है, फिर भी वह प्राप्त हुआ करता है। और ऐसा लगता है कि वह व्यवसाय अनेक प्रकारसे वेदन करने योग्य है, कि जिसके वेदनसे पुनः उसका उत्पत्तियोग दूर होगा, निवृत्त होगा। कदाचित् प्रबलरूपसे उसका निरोध किया जाये तो भी उस निरोधरूप क्लेशके कारण आत्मा आत्म- रूपसे विस्रसापरिणामकी तरह परिणमन नहीं कर सकता, ऐसा लगता है। इसलिये उस व्यवसायकी अनिच्छारूपसे जो प्राप्ति हो, उसे वेदन करना, यह किसी प्रकारसे विशेष सम्यक् लगता है।

किसी प्रगट कारणका अवलम्बन लेकर, विचारकर परोक्ष चले आते हुए सर्वज्ञपुरुषको मात्र सम्यग्दृष्टिरूपसे भी पहिचान लिया जाये तो उसका महान फल है; और यदि वैसे न हो तो सर्वज्ञको सर्वज्ञ कहनेका कोई आत्मा संबंधी फल नहीं है, ऐसा अनुभवमें आता है।

प्रत्यक्ष सर्वज्ञपुरुषको भी यदि किसी कारणसे, विचारसे, अवलंबनसे, सम्यग्दृष्टिरूपसे भी न जाना हो तो उसका आत्मप्रत्ययी फल नहीं है। परमार्थसे उसकी सेवा-असेवासे जीवको कोई जाति-()-भेद नहीं होता। इसलिये उसे कुछ सफल कारणरूपसे ज्ञानीपुरुषने स्वीकार नहीं किया है, ऐसा मालूम होता है।

कई प्रत्यक्ष वर्तमानोंसे ऐसा प्रगट ज्ञात होता है कि यह काल विषम या दुषम या कलियुग है। कालचक्रके परावर्तनमें दुषमकाल पूर्वकालमें अनंत बार आ चुका है, तथापि ऐसा दुषमकाल किसी समय ही आता है। श्वेताम्बर संप्रदायमें ऐसी परंपरागत बात चली आती है कि 'असंयतिपूजा' नामसे आश्चर्ययुक्त 'हुंड़'-ढ़ीठ ऐसे इस पंचमकालको तीर्थंकर आदिने अनंत कालमें आश्चर्यस्वरूप माना है, यह बात हमें बहुत करके अनुभवमें आती है; मानों साक्षात् ऐसी प्रतीत होती है।

काल ऐसा है। क्षेत्र प्रायः अनार्य जैसा है, वहाँ स्थिति है, प्रसंग, द्रव्य, काल आदि कारणोंसे सरल होनेपर भी लोकसंज्ञारूपसे गिनने योग्य है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भावके आलंबन बिना निराधाररूपसे जैसे आत्मभावका सेवन किया जाये वैसे सेवन करता है। अन्य क्या उपाय ?

५०५

ॐ

वीतरागका कहा हुआ परम शांत रसमय धर्म पूर्ण सत्य है, ऐसा निश्चय रखना। जीवकी अनधिकारिताके कारण तथा सत्पुरुषके योगके बिना समझमें नहीं आता; तो भी जीवके संसाररोगको मिटानेके लिये उस जैसा दूसरा कोई पूर्ण हितकारी औषध नहीं है, ऐसा वारंवार चिंतन करना।

यह परम तत्त्व है, इसका मुझे सदैव निश्चय रहो; यह यथार्थ स्वरूप मेरे हृदयमें प्रकाश करो, और जन्ममरणादि बंधनसे अत्यंत निवृत्ति होओ ! निवृत्ति होओ ! !

हे जीव ! इस क्लेशरूप संसारसे विरत हो, विरत हो; कुछ विचार कर, प्रमाद छोड़कर जागृत हो ! जागृत हो ! ! नहीं तो रत्नचिंतामणि जैसी यह मनुष्यदेह निष्फल जायेगी।

हे जीव ! अब तुझे सत्पुरुषकी आज्ञा निश्चयसे उपासने योग्य है। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

---

५०६ बंबई, वैशाख, १९५०

श्री तीर्थंकर आदि महात्माओंने ऐसा कहा है कि विपर्यास दूर होकर जिसकी देहादिमें हुई आत्मबुद्धि और आत्मभावमें हुई देहबुद्धि नष्ट हो गयी है, अर्थात् आत्मा आत्मपरिणामी हो गया है, ऐसे ज्ञानीपुरुषको भी जब तक प्रारब्ध व्यवसाय है, तब तक जागृतिमें रहना योग्य है। क्योंकि अवकाश प्राप्त होनेपर वहाँ भी अनादि विपर्यास भयका हेतु हमें लगता है। जहाँ चार घनघाती कर्म छिन्न हो गये हैं, ऐसे सहजस्वरूप परमात्मामें तो संपूर्ण ज्ञान और संपूर्ण जागृतिरूप तुर्यावस्था है; इसलिये वहाँ अनादि विपर्यास निर्बीजताको प्राप्त हो जानेसे किसी भी प्रकारसे उसका उद्भव हो ही नहीं सकता; तथापि उससे न्यून ऐसे विरति आदि गुणस्थानकमें स्थित ज्ञानीको तो प्रत्येक कार्यमें और प्रत्येक क्षणमें आत्मजागृति होना योग्य है। जिसने चौदह पूर्वको अंशतः न्यून जाना है, ऐसे ज्ञानी- पुरुषको भी प्रमादवशात् अनंतकाल परिभ्रमण हुआ है। इसलिये जिसकी व्यवहारमें अनासक्त बुद्धि हुई है उस पुरुषको भी यदि वैसे उदयका प्रारब्ध हो तो उसकी निवृत्तिका क्षण क्षण चिंतन करना और निजभावकी जागृति रखना चाहिये। इस प्रकार महाज्ञानी श्री तीर्थंकर आदिने ज्ञानीपुरुषको सूचना की है, तो फिर जिसका मार्गानुसारी अवस्थामें भी अभी प्रवेश नहीं हुआ है, ऐसे जीवको तो इस सर्व व्यवसायसे विशेष विशेष निवृत्तभाव रखना, और विचार-जागृति रखना योग्य है, ऐसा बताने जैसा भी नहीं रहता, क्योंकि वह तो सहजमें ही समझमें आ सकता है।

ज्ञानीपुरुषोंने दो प्रकारसे बोध दिया है। एक तो 'सिद्धांतबोध' और दूसरा उस सिद्धांतबोधके होनेमें कारणभूत ऐसा 'उपदेशबोध'। यदि उपदेशबोध जीवके अन्तःकरणमें स्थितिमान हुआ न हो तो, उसे सिद्धांतबोधका मात्र श्रवण भले ही हो, परंतु उसका परिणमन नहीं हो सकता। सिद्धांतबोध अर्थात् पदार्थका जो सिद्ध हुआ स्वरूप है; ज्ञानीपुरुषोंने निष्कर्ष निकालकर जिस प्रकारसे अंतमें पदार्थको जाना है, उसे जिस प्रकारसे वाणी द्वारा कहा जा सके उस प्रकार बताया है, ऐसा जो बोध है वह 'सिद्धांतबोध' है। परंतु पदार्थका निर्णय करनेमें जीवको अंतरायरूप उसकी अनादि विपर्यास- भावको प्राप्त हुई बुद्धि है, जो व्यक्तरूपसे या अव्यक्तरूपसे विपर्यासभावसे पदार्थस्वरूपका निर्धार कर लेती है; उस विपर्यासबुद्धिका बल घटनेके लिये, यथावत् वस्तुस्वरूपके ज्ञानमें प्रवेश होनेके लिये, जीवको वैराग्य और उपशम साधन कहे हैं; और ऐसे जो जो साधन जीवको संसारभय दृढ़ कराते हैं, उन उन साधनों संबंधी जो उपदेश कहा है, वह 'उपदेशबोध' है।

यहाँ ऐसा भेद उत्पन्न होता है कि 'उपदेशबोध' की अपेक्षा 'सिद्धांतबोध' की मुख्यता प्रतीत होती है, क्योंकि उपदेशबोध भी उसीके लिये है, तो फिर यदि सिद्धांतबोधका ही पहलेसे अवगाहन किया हो तो वह जीवको पहलेसे ही उन्नतिका हेतु है। यदि ऐसा विचार उत्पन्न हो तो वह विपरीत है, क्योंकि सिद्धांतबोधका जन्म उपदेशबोधसे होता है। जिसे वैराग्य-उपशम संबंधी उपदेशबोध नहीं हुआ उसे बुद्धिकी विपर्यासता रहा करती है, और जब तक बुद्धिकी विपर्यासता हो तब तक सिद्धांतका विचार करना भी विपर्यासरूपसे होना ही संभव है। क्योंकि चक्षुमें जितना धुँधलापन रहता है, वह उतना ही पदार्थको धुँधला देखता है, और यदि उसका पटल अत्यंत बलवान हो तो उसे समूचा पदार्थ दिखायी नहीं

देता; तथा जिसका चक्षु यथावत् संपूर्ण तेजस्वी है, वह पदार्थको भी यथायोग्य देखता है। इस प्रकार जिस जीवकी गाढ़ विपर्यासबुद्धि है, उसे तो किसी भी तरह सिद्धांतबोध विचारमें नहीं आ सकता। जिसकी विपर्यासबुद्धि मंद हुई है उसे तदनुसार सिद्धांतका अवगाहन होता है; और जिसने उस विपर्यासबुद्धिको विशेषरूपसे क्षीण किया है, ऐसे जीवको विशेषरूपसे सिद्धांतका अवगाहन होता है।

गृहकुटुंब परिग्रहादि भावमें जो अहंता ममता है और उसकी प्राप्ति-अप्राप्तिके प्रसंगमें जो रागद्वेष कषाय है, वही 'विपर्यासबुद्धि' है; और जहाँ वैराग्य उपशमका उद्भव होता है, वहाँ अहंता-ममता तथा कषाय मंद पड़ जाते हैं; अनुक्रमसे नष्ट होने योग्य हो जाते हैं। गृहकुटुंबादि भावमें अनासक्तबुद्धि होना 'वैराग्य' है; और उसकी प्राप्ति-अप्राप्तिके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले कषायक्लेशका मंद होना 'उपशम' है। अर्थात् ये दो गुण विपर्यासबुद्धिको पर्यायांतर करके सद्बुद्धि करते हैं; और वह सद्बुद्धि, जीवाजीवादि पदार्थकी व्यवस्था जिससे ज्ञात होती है ऐसे सिद्धांतकी विचारणा करने योग्य होती है। क्योंकि जैसे चक्षुको पटलादिका अंतराय दूर होनेसे पदार्थ यथावत् दीखता है वैसे ही अहंतादि पटलकी मंदता होनेसे जीवको ज्ञानीपुरुषके कहे हुए सिद्धांतभाव, आत्मभाव विचारचक्षुसे दिखायी देते हैं। जहाँ वैराग्य और उपशम बलवान हैं, वहाँ विवेक बलवानरूपमें होता है; जहाँ वैराग्य और उपशम बलवान नहीं होते वहाँ विवेक प्रबल नहीं होता, अथवा यथावत् विवेक नहीं होता। सहज आत्मस्वरूप ऐसा केवलज्ञान भी प्रथम मोहनीय कर्मके क्षयके बाद प्रगट होता है। और इस बातसे उपर्युक्त सिद्धांत स्पष्ट समझा जा सकेगा।

फिर ज्ञानीपुरुषोंकी विशेष शिक्षा वैराग्य-उपशमका प्रतिबोध करती हुई दिखायी देती है। जिनागमपर दृष्टि ड़ालनेसे यह बात विशेष स्पष्ट जानी जा सकेगी। 'सिद्धांतबोध' अर्थात् जीवाजीव पदार्थका विशेषरूपसे कथन उस आगममें जितना किया है, उसकी अपेक्षा विशेषरूपसे, अति विशेषरूपसे वैराग्य और उपशमका कथन किया हैं, क्योंकि उसकी सिद्धि होनेके पश्चात् सहजमें ही विचारकी निर्मलता होगी, और विचारकी निर्मलता सिद्धांतरूप कथनको सहजमें ही अथवा थोड़े ही परिश्रमसे अंगीकार कर सकती है, अर्थात् उसकी भी सहजमें ही सिद्धि होगी; और वैसा ही होते रहनेसे जगह जगह इसी अधिकारका व्याख्यान किया है। यदि जीवको आरंभ-परिग्रहकी विशेष प्रवृत्ति रहती हो तो, वैराग्य और उपशम हो तो उनका भी नष्ट हो जाना संभव है, क्योंकि आरंभ-परिग्रह अवैराग्य और अनुपशमके मूल हैं, वैराग्य और उपशमके काल हैं।

श्री ठाणांगसूत्रमें आरंभ और परिग्रहके बलको बताकर, फिर उससे निवृत्त होना योग्य है, यह उपदेश करनेके लिये इस भावसे द्विभंगी कही है—

१. जीवको मतिज्ञानावरणीय कब तक हो ? जब तक आरंभ और परिग्रह हो तब तक।

२. जीवको श्रुतज्ञानावरणीय कब तक हो ? जब तक आरंभ और परिग्रह हो तब तक।

३. जीवको अवधिज्ञानावरणीय कब तक हो ? जब तक आरंभ और परिग्रह हो तब तक।

४. जीवको मनःपर्यायज्ञानावरणीय कब तक हो ? जब तक आरंभ और परिग्रह हो तब तक।

५. जीवको केवलज्ञानावरणीय कब तक हो ? जब तक आरंभ और परिग्रह हो तब तक।

ऐसा कहकर दर्शनादिके भेद बताकर सत्रह बार वही की वही बात बतायी है कि वे आवरण तब तक रहते हैं जब तक आरंभ और परिग्रह हों। ऐसा परिग्रहका बल बताकर फिर अर्थापत्तिरूपसे पुनः उसका वहीं कथन किया है।

१. जीवको मतिज्ञान कब उपजे ? आरंभ-परिग्रहसे निवृत्त होने पर।
२. जीवको श्रुतज्ञान कब उपजे ? आरंभ-परिग्रहसे निवृत्त होने पर।
३. जीवको अवधिज्ञान कब उपजे ? आरंभ-परिग्रहसे निवृत्त होने पर।
४. जीवको मनःपर्यायज्ञान कब उपजे ? आरंभ-परिग्रहसे निवृत्त होने पर।
५. जीवको केवलज्ञान कब उपजे ? आरंभ-परिग्रहसे निवृत्त होने पर।

इस प्रकार सत्रह प्रकारोंको फिरसे कहकर, आरंभ-परिग्रहकी निवृत्तिका फल, जहाँ अंतमें केवलज्ञान है, वहाँ तक लिया है; और प्रवृत्तिके फलको केवलज्ञान तकके आवरणका हेतुरूप कहकर, उसकी अत्यंत प्रबलता बताकर, जीवको उससे निवृत्त होनेका ही उपदेश किया है। बार बार ज्ञानीपुरुषोंके वचन जीवको इस उपदेशका ही निश्चय करनेकी प्रेरणा करना चाहते हैं; तथापि अनादि असत्संगसे उत्पन्न हुई ऐसी दुष्ट इच्छा आदि भावोंमें मूढ़ बना हुआ यह जीव प्रतिबोध नहीं पाता, और उन भावोंकी निवृत्ति किये बिना अथवा निवृत्तिका प्रयत्न किये बिना श्रेय चाहता है, कि जिसका संभव कभी भी नहीं हो सका है, वर्तमानमें होता नहीं है, और भविष्यमें होगा नहीं।

---

५०७ बंबई, ज्येष्ठ सुदी ११, गुरु, १९५०

यहाँ उपाधिका बल जैसेका तैसा रहता है। जैसे उसके प्रति उपेक्षा होती है वैसे बलवान उदय होता है; प्रारब्ध धर्म समझकर वेदन करना योग्य है; तथापि निवृत्तिकी इच्छा और आत्माकी शिथिलता है, ऐसा विचार खेद देता रहता है।

कुछ भी निवृत्तिका स्मरण रहे इतना सत्संग तो करते रहना योग्य है। आ० स्व० प्रणाम।

---

५०८ बंबई, जेठ सुदी १४, रवि, १९५०

ॐ

परमस्नेही श्री सोभाग,

आपका एक पत्र सविस्तर मिला है। उपाधिके प्रसंगसे उत्तर लिखना नहीं हुआ, सो क्षमा कीजियेगा।

चित्तमें उपाधिके प्रसंगके लिये वारंवार खेद होता है कि यदि ऐसा उदय इस देहमें बहुत समय तक रहा करे तो समाधिदशाका जो लक्ष्य है वह जैसेका तैसा अप्रधानरूपसे रखना पड़े, और जिसमें अत्यंत अप्रमादयोग जरूरी है, उसमें प्रमादयोग जैसा हो जाये।

कदाचित् वैसा न हो तो भी यह संसार किसी प्रकारसे रुचियोग्य प्रतीत नहीं होता; प्रत्यक्ष रसरहित स्वरूप ही दिखायी देता है; उसमें सद्विचारवान जीवको अल्प भी रुचि अवश्य नहीं होती, ऐसा निश्चय रहा करता है। वारंवार संसार भयरूप लगता है। भयरूप लगनेका दूसरा कोई कारण प्रतीत नहीं होता, मात्र इसमें शुद्ध आत्मस्वरूपको अप्रधान रखकर प्रवृत्ति होती है, जिससे बड़ी परेशानी रहती है, और नित्य छूटनेका लक्ष्य रहता है। तथापि अभी तो अंतरायका संभव है, और प्रतिबंध भी रहा करता है। तथा तदनुसारी दूसरे अनेक विकल्पोंसे कटु लगनेवाले इस संसारमें बरबस स्थिति है।

आप कितने ही प्रश्न लिखते हैं वे उत्तरयोग्य होते हैं, फिर भी वह उत्तर न लिखनेका कारण उपाधि प्रसंगका बल है, तथा उपर्युक्त जो चित्तका खेद रहता है, वह है। आ० स्व० प्रणाम।

---

५०९ मोहमयी, आषाढ़ सुदी ६, रवि, १९५०

श्री सूर्यपुरस्थित, शुभवृत्तिसंपन्न, सत्संगयोग्य श्री लल्लुजीके प्रति,

यथायोग्यपूर्वक विनती कि–

पत्र प्राप्त हुआ है। उसके साथ तीन प्रश्न अलग लिखे हैं, वे भी प्राप्त हुए हैं। जो तीन प्रश्न लिखे हैं उन प्रश्नोंका मुमुक्षु जीवको विचार करना हितकारी है।

जीव और काया पदार्थरूपसे भिन्न हैं, परंतु संबंधरूपसे सहचारी है, कि जब तक उस देहसे जीवको कर्मका भोग है। श्री जिनेन्द्रने जीव और कर्मका संबंध क्षीरनीरके संबंधकी भाँति कहा है, उसका हेतु भी यही है कि क्षीर और नीर एकत्र हुए स्पष्ट दीखते हैं, फिर भी परमार्थसे वे अलग हैं, पदार्थरूपसे भिन्न हैं, अग्निप्रयोगसे वे फिर स्पष्ट अलग हो जाते हैं। उसी प्रकार जीव और कर्मका संबंध है। कर्मका मुख्य आकार किसी प्रकारसे देह है, और जीवको इन्द्रियादि द्वारा क्रिया करता हुआ देखकर जीव है, ऐसा सामान्यतः कहा जाता है। परंतु ज्ञानदशा आये बिना जीव और कायाकी जो स्पष्ट भिन्नता है, वह जीवको भासित नहीं होती; तथापि क्षीरनीरवत् भिन्नता है। ज्ञानसंस्कारसे वह भिन्नता एकदम स्पष्ट हो जाती है। अब यहाँ आपने ऐसा प्रश्न किया है कि, यदि ज्ञानसे जीव और कायाको भिन्न भिन्न जाना है तो फिर वेदनाका वेदन करना और मानना क्यों होता है ? यह फिर न होना चाहिये, यह प्रश्न यद्यपि होता है, तथापि उसका समाधान इस प्रकार है–

जैसे सूर्यसे तप्त हुआ पत्थर सूर्यके अस्त होनेके बाद भी अमुक समय तक तप्त रहता है, और फिर अपने स्वरूपमें आता है; वैसे पूर्वके अज्ञान-संस्कारसे उपार्जित किये हुए वेदना आदि तापका इस जीवसे संबंध है। यदि ज्ञानयोगका कोई कारण हुआ तो फिर अज्ञानका नाश हो जाता है, और उससे उत्पन्न होनेवाला भावी कर्म नष्ट हो जाता है; परंतु उस अज्ञानसे उत्पन्न हुए वेदनीय कर्मका–उस अज्ञानके सूर्यकी भाँति, उसके अस्त होनेके पश्चात्–पत्थररूपी जीवके साथ संबंध रहता है, जो आयुकर्मके नाशसे नष्ट होता है। भेद इतना है कि ज्ञानीपुरुषको कायामें आत्मबुद्धि नहीं होती, और आत्मामें कायाबुद्धि नहीं होती, उनके ज्ञानमें दोनों ही स्पष्ट भिन्न प्रतीत होते हैं। मात्र जैसे पत्थरको सूर्यके तापका संबंध रहता है, वैसे पूर्व संबंध होनेसे वेदनीय कर्मका, आयु-पूर्णता तक अविषमभावसे वेदन होता है; परंतु वह वेदन करते हुए जीवके स्वरूपज्ञानका भंग नहीं होता, अथवा यदि होता है तो उस जीवको वैसा स्वरूपज्ञान होना संभव नहीं है। आत्मज्ञान होनेसे पूर्वोपार्जित वेदनीय कर्मका नाश ही हो जाये, ऐसा नियम नहीं है; वह अपनी स्थितिसे नष्ट होता है। फिर वह कर्म ज्ञानको आवरण करनेवाला नहीं है, अव्याबाधत्वको आवरणरूप है, अथवा तब तक संपूर्ण अव्याबाधत्व प्रगट नहीं होता; परंतु संपूर्ण ज्ञानके साथ उसका विरोध नहीं है। संपूर्ण ज्ञानीको आत्मा अव्याबाध है, ऐसा निजरूपका अनुभव रहता है। तथापि संबंधरूपसे देखते हुए उसका अव्याबाधत्व वेदनीय कर्मसे अमुकभावसे रुका हुआ है। यद्यपि उस कर्ममें ज्ञानीको आत्मबुद्धि नहीं होनेसे अव्याबाध गुणको भी मात्र संबंधका आवरण है, साक्षात् आवरण नहीं है।

वेदनाका वेदन करते हुए जीवको कुछ भी विषमभाव होना, यह अज्ञानका लक्षण है; परंतु वेदना है यह अज्ञानका लक्षण नहीं है, पूर्वोपार्जित अज्ञानका फल है। वर्तमानमें वह मात्र प्रारब्धरूप है, उसका वेदन करते हुए ज्ञानीको अविषमता रहती है, अर्थात् जीव और काया अलग है, ऐसा जो ज्ञानीपुरुषका ज्ञानयोग वह अबाध ही रहता है। मात्र विषमभावरहितपन है, यह प्रकार ज्ञानको अव्याबाध है। जो विषमभाव है वह ज्ञानको बाधाकारक है। देहमें देहबुद्धि और आत्मामें आत्मबुद्धि, देहसे उदासीनता और आत्मामें स्थिति है, ऐसे ज्ञानीपुरुषको वेदनाका उदय प्रारब्धके वेदनरूप है, नये कर्मका हेतु नहीं है।

दूसरा प्रश्न—परमात्मस्वरूप सब जगह एकसा है, सिद्ध और संसारी जीव एकसे हैं, तब सिद्धकी स्तुति करनेमें कुछ बाधा है या नहीं? इस प्रकारका प्रश्न है। परमात्मस्वरूप प्रथम विचारणीय है। व्यापकरूपसे परमात्मस्वरूप सर्वत्र है या नहीं? यह बात विचार करने योग्य है।

सिद्ध और संसारी जीव समसत्तावानस्वरूपसे हैं, यह निश्चय ज्ञानीपुरुषोंने किया है, वह यथार्थ है। तथापि भेद इतना है कि सिद्धमें वह सत्ता प्रकटरूपसे है, संसारी जीवमें वह सत्ता सत्तारूपसे है। जैसे दीपकमें अग्नि प्रकट है और चकमक पत्थरमें अग्नि सत्तारूपसे है, वैसे यहाँ समझें। दीपकमें और चकमकमें जो अग्नि है वह अग्निरूपसे समान है। व्यक्ति (प्रगटता) रूपसे और शक्ति (सत्ता) रूपसे भेद हैं, परंतु वस्तुकी जातिरूपसे भेद नहीं है। उसी तरह सिद्धके जीवमें जो चेतनसत्ता है वही सब संसारी जीवोंमें है। भेद मात्र प्रगटता-अप्रगटताका है। जिसे वह चेतनसत्ता प्रगट नहीं हुई ऐसे संसारी जीवको, वह सत्ता प्रगट होनेका हेतु, जिसमें प्रगट सत्ता है ऐसे सिद्ध भगवानका स्वरूप, वह विचार करने योग्य है, ध्यान करने योग्य है, स्तुति करने योग्य है क्योंकि उससे आत्माको निजस्वरूपका विचार, ध्यान तथा स्तुति करनेका प्रकार मिलता है कि जो कर्तव्य है। सिद्धस्वरूप जैसा आत्मस्वरूप है ऐसा विचारकर और इस आत्मामें वर्तमानमें उसकी अप्रगटता है, उसका अभाव करनेके लिये उस सिद्धस्वरूपका विचार, ध्यान तथा स्तुति करना योग्य है। यह प्रकार समझकर सिद्धकी स्तुति करनेमें कोई बाधा प्रतीत नहीं होती।

'आत्मस्वरूपमें जगत नहीं है,' यह बात वेदान्तमें कही है अथवा ऐसा योग्य है; परंतु 'बाह्य जगत नहीं है,' ऐसा अर्थ मात्र जीवको उपशम होनेके लिये मानना योग्य समझा जाये।

इस प्रकार इन तीन प्रश्नोंका संक्षेपमें समाधान लिखा है, उसे विशेषरूपसे विचारियेगा। कुछ विशेष समाधान जाननेकी इच्छा हो, वह लिखियेगा। जिस तरह वैराग्य उपशमकी वर्धमानता हो उस तरह करना अभी तो कर्तव्य है।

---

५१० बंबई, आषाढ़ सुदी ६, रवि, १९५०

श्री स्थंभतीर्थस्थित शुभेच्छासंपन्न श्री त्रिभुवनदासके प्रति यथायोग्यपूर्वक विनती कि—

बंधवृत्तियोंका उपशम करनेके लिये और निर्वतन करनेके लिये जीवको अभ्यास, सतत अभ्यास कर्त्तव्य है, क्योंकि विचारके बिना और प्रयासके बिना उन वृत्तियोंका उपशमन अथवा निवर्तन कैसे हो? कारणके बिना किसी कार्यका होना संभव नहीं है; तो फिर यदि इस जीवने उन वृत्तियोंके उपशमन अथवा निवर्तनका कोई उपाय न किया हो तो उनका अभाव नहीं होता, यह स्पष्ट संभव है। कई बार पूर्वकालमें वृत्तियोंके उपशमन तथा निर्वतनका जीवने अभिमान किया है, परंतु वैसा कोई साधन नहीं किया, और अभी तक जीव उस प्रकारका कोई उपाय नहीं करता; अर्थात् अभी उसे उस अभ्यासमें कोई रस दिखायी नहीं देता; तथा कटुता लगनेपर भी उस कटुताकी अवगणना कर यह जीव उपशमन एवं निवर्तनमें प्रवेश नहीं करता। यह बात इस दुष्टपरिणामी जीवके लिये वारंवार विचारणीय है, किसी प्रकारसे विसर्जन करने योग्य नहीं है।

जिस प्रकारसे पुत्रादि संपत्तिमें इस जीवको मोह होता है, वह प्रकार सर्वथा नीरस और निन्दनीय है। जीव यदि जरा भी विचार करे तो यह बात स्पष्ट समझमें आने जैसी है कि इस जीवने किसीमें पुत्रत्वकी भावना करके अपना अहित करनेमें कोई कसर नहीं रखी, और किसीको पिता मानकर भी वैसा ही किया है, और कोई जीव अभी तक तो पिता पुत्र हो सका हो, ऐसा देखनेमें नहीं आया। सब कहते आये हैं कि इसका यह पुत्र अथवा इसका यह पिता है, परंतु विचार करते हुए स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह बात किसी

भी कालमें संभव नहीं है। अनुत्पन्न ऐसे इस जीवको पुत्ररूपसे मानना अथवा ऐसा मनवानेकी इच्छा रहना, यह सब जीवकी मूढ़ता है, और यह मूढ़ता किसी भी प्रकारसे सत्संगकी इच्छावाले जीवको करना योग्य नहीं है।

आपने जो मोहादि प्रकारके विषयमें लिखा है, वह दोनोंके लिये भ्रमणका हेतु है, अत्यंत विडम्बनाका हेतु है। ज्ञानीपुरुष भी यदि इस तरह आचरण करे तो ज्ञानको ठोकर मारने जैसा है, और सब प्रकारसे अज्ञाननिद्राका वह हेतु है। इस प्रकारके विचारसे दोनोंको सीधा भाव कर्त्तव्य है। यह बात अल्पकालमें ध्यानमें लेने योग्य है। आप और आपके सत्संगी यथासंभव निवृत्तिका अवकाश लें, यही जीवको हितकारी है।

---

५११ मोहमयी, आषाढ़ सुदी ६, रवि, १९५०

ॐ

श्री अंजारस्थित, परमस्नेही श्री सुभाग्य,

आपका सविस्तर एक पत्र तथा एक चिट्ठी प्राप्त हुए हैं। उनमें लिखे हुए प्रश्न मुमुक्षुजीवके लिये विचारणीय हैं।

इस जीवने पूर्वकालमें जो जो साधन किये हैं, वे वे साधन ज्ञानीपुरुषकी आज्ञासे हुए मालूम नहीं होते, यह बात संदेहरहित प्रतीत होती है। यदि ऐसा हुआ होता तो जीवको संसारपरिभ्रमण न होता। ज्ञानीपुरुषकी जो आज्ञा है वह भवभ्रमणको रोकनेके लिये प्रतिबंध जैसी है, क्योंकि जिन्हें आत्मार्थके सिवाय दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है और आत्मार्थ साधकर भी जिनकी देह प्रारब्धवशात् है, ऐसे ज्ञानीपुरुषकी आज्ञा सन्मुख जीवको केवल आत्मार्थमें ही प्रेरित करती है; और इस जीवने तो पूर्वकालमें कोई आत्मार्थ जाना नहीं है; प्रत्युत आत्मार्थ विस्मरणरूपसे चला आया है। वह अपनी कल्पनासे साधन करे तो उससे आत्मार्थ नहीं होता, प्रत्युत आत्मार्थका साधन करता हूँ ऐसा दुष्ट अभिमान उत्पन्न होता है कि जो जीवके लिये संसारका मुख्य हेतु है। जो बात स्वप्नमें भी नहीं आती, उसे जीव यदि व्यर्थ कल्पनासे साक्षात्कार जैसी मान ले तो उससे कल्याण नहीं हो सकता; उसी प्रकार यह जीव पूर्वकालसे अंधा चला आता हुआ भी यदि अपनी कल्पनासे आत्मार्थ मान ले तो उसमें सफलता नहीं होती, यह बात बिलकुल समझमें आने जैसी है। इसलिये यह तो प्रतीत होता है कि जीवके पूर्वकालीन सभी अशुभ साधन, कल्पित साधन दूर होनेके लिये अपूर्व ज्ञानके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है, और वह अपूर्व विचारके बिना उत्पन्न होना संभव नहीं है, और यह अपूर्व विचार, अपूर्व पुरुषके आराधनके बिना दूसरे किस प्रकारसे जीवको प्राप्त हो, यह विचार करते हुए यही सिद्धांत फलित होता है कि ज्ञानीपुरुषकी आज्ञाका आराधन, यह सिद्धपदका सर्वश्रेष्ठ उपाय है; और यह बात जब जीवको मान्य होती है, तभीसे दूसरे दोषोंका उपशमन और निवर्तन शुरू होता है।

श्री जिनेन्द्रने इस जीवके अज्ञानकी जो जो व्याख्या की है, उसमें समय समयपर उसे अनंतकर्मका व्यवसायी कहा है; और अनादिकालसे अनंतकर्मका बंध करता आया है, ऐसा कहा है। यह बात तो यथार्थ है। परंतु यहाँ आपको एक प्रश्न हुआ है कि 'तो फिर वैसे अनंतकर्मोंको निवृत्त करनेका साधन चाहे जैसा बलवान हो, तो भी अनंतकाल बीतनेपर भी वह पार न पाये।' यदि सर्वथा ऐसा हो तो आपको जैसा लगा वैसा संभव है। तथापि जिनेन्द्रने प्रवाहसे जीवको अनंतकर्मका कर्त्ता कहा है, वह अनंतकालसे कर्मका कर्त्ता चला आता है, ऐसा कहा है, परंतु समय समय अनंतकाल तक भोगने पड़े ऐसे कर्म वह

आगामिक कालके लिये उपार्जन करता है, ऐसा नहीं कहा है। किसी जीव-आश्रयी इस बातको दूर रखकर विचार करते हुए ऐसा कहा है कि सब कर्मोंका मूल जो अज्ञान, मोह परिणाम है, वह अभी जीवमें जैसेका तैसा चला आता है, कि जिस परिणामसे उसे अनंतकाल तक भ्रमण हुआ है; और यदि यह परिणाम बना रहा तो अभी भी ज्योंका त्यों अनंतकाल तक परिभ्रमण होता रहेगा। अग्निकी एक चिनगारीमें इतना ऐश्वर्य गुण है कि वह समस्त लोकको जला सके, परंतु उसे जैसा जैसा योग मिलता है वैसा वैसा उसका गुण फलवान होता है। उसी प्रकार अज्ञानपरिणाममें अनादिकालसे जीवका भटकना हुआ है, वैसे अभी अनंतकाल तक भी चौदह राजलोकमें प्रत्येक प्रदेशमें उस परिणामसे अनंत जन्ममरण होना अभी भी संभव है। तथापि जैसे चिनगारीकी अग्नि योगवश है, वैसे अज्ञानके कर्मपरिणामकी भी अमुक प्रकृति है। उत्कृष्टसे उत्कृष्ट यदि एक जीवको मोहनीयकर्मका बंध हो तो सत्तर कोडाकोडी सागरोपमका होता है, ऐसा जिनेन्द्रने कहा है। उसका हेतु स्पष्ट है कि यदि अनंतकालका बंध होता हो तो फिर जीवका मोक्ष नहीं हो सकता। यह बंध अभी निवृत्त न हुआ हो परंतु लगभग निवृत्त होने आया हो, तब कदाचित् दूसरी वैसी स्थितिका संभव हो; परंतु ऐसे मोहनीयकर्म कि जिनकी कालस्थिति ऊपर कही है वैसे एक समयमें अनेक कर्म बाँधे, यह संभव नहीं है। अनुक्रमसे अभी उस कर्मसे निवृत्त होनेसे पहले दूसरा उसी स्थितिका बाँधे, तथा दूसरा निवृत्त होनेसे पहले तीसरा बाँधे; परंतु दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ, छठा इस तरह सबके सब कर्म एक मोहनीयकर्मके संबंधमें उसी स्थितिके बाँधा करे, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि जीवको इतना अवकाश नहीं है। मोहनीयकर्मकी इस प्रकारसे स्थिति है। और आयुकर्मकी स्थिति श्री जिनेन्द्रने ऐसी कही है कि एक जीव एक देहमें रहते हुए उस देहकी जितनी आयु है उसके तीन भागमेंसे दो भाग व्यतीत होनेपर जीव आगामी भवकी आयु बाँधता है उससे पहले नहीं बाँधता, और एक भवमें आगामी कालके दो भवोंकी आयु नहीं बाँधता, ऐसी स्थिति है। अर्थात् जीवको अज्ञानभावसे कर्मबंध चला आता है, तथापि उन उन कर्मोंकी स्थिति चाहे जितनी विडंबनारूप होनेपरभी अनंतदुःख और भवका हेतु होनेपर भी जिसमें जीव उससे निवृत्त हो इतना अमुक प्रकार निकाल देनेपर संपूर्ण अवकाश है। यह बात जिनेंद्रने बहुत सूक्ष्मरूपसे कही है, वह विचार करने योग्य है। जिसमें जीवको मोक्षका अवकाश कहकर कर्मबंध कहा है।

आपको यह बात संक्षेपमें लिखी है। उसका पुनः पुनः विचार करनेसे कुछ समाधान होगा, और क्रमसे अथवा समागमसे उसका संपूर्ण समाधान हो जायेगा।

जो सत्संग है वह कामको जलानेका बलवान उपाय है। सब ज्ञानीपुरुषोंने कामके जीतनेको अत्यंत दुष्कर कहा है, यह एकदम सिद्ध है; और ज्यों ज्यों ज्ञानीके वचनका अवगाहन होता है, त्यों त्यों कुछ कुछ करके पीछे हटनेसे अनुक्रमसे जीवका वीर्य बलवान होकर जीवसे कामकी सामर्थ्यका नाश होता है। जीवने ज्ञानीपुरुषके वचन सुनकर कामका स्वरूप ही नहीं जाना, और यदि जाना होता तो उसमें निपट नीरसता हो गयी होती, यह विनती। आ० स्व० प्रणाम।

---

५१२ मोहमयी, आषाढ़ सुदी १५, मंगल, १९५०

ॐ

श्री सूर्यपुरस्थित, शुभेच्छाप्राप्त, सत्संगयोग्य श्री लल्लुजीके प्रति,

यथायोग्यपूर्वक विनती कि,—एक पत्र प्राप्त हुआ है।

"भगवानने ऐसा कहा है कि चौदह राजलोकमें काजलके कुप्पेकी तरह सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव भरे

हुए हैं, कि जो जीव जलानेसे जलते नहीं, छेदनेसे छिदते नहीं, मारनेसे मरते नहीं, ऐसे कहे हैं। उन जीवोंके औदारिक शरीर नहीं होता, क्या इसलिये उनका अग्नि आदिसे व्याघात नहीं होता? अथवा औदारिक शरीर होनेपर भी उनका अग्नि आदिसे व्याघात नहीं होता हो? यदि औदारिक शरीर हो तो वह शरीर अग्नि आदिसे व्याघातको क्यों प्राप्त न हो?" इस प्रकारका प्रश्न उस पत्रमें लिखा है, उसे पढ़ा है।

विचारके लिये यहाँ उसका संक्षेपमें समाधान लिखा है कि एक देहको त्यागकर दूसरी देह धारण करते समय कोई जीव जब रास्तेमें होता है तब अथवा अपर्याप्तरूपसे उसे मात्र तैजस और कार्मण ये दो शरीर होते हैं; बाकी सब स्थितिमें अर्थात् सकर्म स्थितिमें सब जीवोंको तीन शरीरोंकी संभावना श्री जिनेन्द्रने बतायी है : कार्मण, तैजस और औदारिक या वैक्रिय इन दोनोंमेंसे कोई एक। केवल रास्तेमें गमन करते हुए जीवको कार्मण और तैजस ये दो शरीर होते हैं, अथवा जब तक जीवकी अपर्याप्त स्थिति है, तब तक उसका कार्मण और तैजस शरीरसे निर्वाह हो सकता है, परंतु पर्याप्त स्थितिमें उसको तीसरे शरीरका नियमसे संभव है। पर्याप्त स्थितिका लक्षण यह है कि आहार आदिके ग्रहण करनेरूप यथोचित सामर्थ्यका होना और यह आहार आदिका जो कुछ भी ग्रहण है वह तीसरे शरीरका प्रारंभ है, अर्थात् वही तीसरा शरीर शुरू हुआ ऐसा समझना चाहिये। भगवानने जो सूक्ष्म एकेन्द्रिय कहे हैं वे अग्नि आदिसे व्याघातको प्राप्त नहीं होते। वे पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय होनेसे उनेक तीन शरीर हैं; परंतु उनका जो तीसरा औदारिक शरीर है वह इतने सूक्ष्म अवगाहनका है कि उसे शस्त्र आदिका स्पर्श नहीं हो सकता। अग्नि आदिका जो महत्त्व है और एकेन्द्रिय शरीरका जो सूक्ष्मत्व है, वे इस प्रकारके हैं कि जिन्हें एक दूसरेका संबंध नहीं हो सकता; अर्थात् साधारण संबंध होता है ऐसा कहें, तो भी अग्नि, शस्त्र आदिमें जो अवकाश है, उस अवकाशमेंसे उन एकेन्द्रिय जीवोंका सुगमतासे गमनागमन हो सके, ऐसा होनेसे उन जीवोंका नाश हो सके अथवा उनका व्याघात हो, ऐसा अग्नि, शस्त्र आदिका संबंध उन्हें नहीं होता। यदि उन जीवोंकी अवगाहना महत्त्ववाली हो अथवा अग्नि आदिकी अत्यंत सूक्ष्मता हो कि जो उस एकेन्द्रिय जीव जैसी सूक्ष्मता गिनी जाये तो, वह एकेन्द्रिय जीवका व्याघात करनेमें संभवित मानी जाये, परंतु ऐसा नहीं है। यहाँ तो जीवोंका अत्यंत सूक्ष्मत्व है, और अग्नि, शस्त्र आदिका महत्त्व है, जिससे व्याघातयोग्य संबंध नहीं होता, ऐसा भगवानने कहा है। अर्थात् औदारिक शरीर अविनाशी कहा है ऐसा नहीं है, स्वभावसे वह विपरिणामको प्राप्त होकर अथवा उपार्जित किये हुए ऐसे उन जीवोंके पूर्वकर्म परिणमित होकर औदारिक शरीरका नाश करते हैं। वह शरीर कुछ दूसरेसे ही नाशको प्राप्त किया जाये तो ही नाश हो, ऐसा भी नियम नहीं है।

यहाँ अभी व्यापारसंबंधी प्रयोजन रहता है। इसलिये तुरत थोड़े समयके लिये भी निकल सकना दुष्कर है। क्योंकि प्रसंग ऐसा है कि जिसमें मेरी विद्यमानताको प्रसंगमें आनेवाले लोग आवश्यक समझते हैं। उनका मन दुःखी न हो सके, अथवा उनके कामको यहाँसे मेरे दूर हो जानेसे कोई प्रबल हानि न हो सके, ऐसा व्यवसाय हो तो वैसा करके थोड़े समयके लिये इस प्रवृत्तिसे अवकाश लेनेका चित्त है, तथापि आपकी तरफ आनेसे लोगोंके परिचयमें अवश्य आनेका संभव होनेसे उस तरफ आनेका चित्त होना मुश्किल है। इस प्रकारके प्रसंग रहनेपर भी लोगोंके परिचयमें धर्मप्रसंगसे आना हो, उसे विशेष आशंका योग्य समझकर यथासंभव उस परिचयसे धर्मप्रसंगके नामसे विशेषरूपसे दूर रहनेका चित्त रहा करता है।

वैराग्य-उपशमका बल बढ़े उस प्रकारके सत्संग एवं सत्शास्त्रका परिचय करना, यह जीवके लिये

परम हितकारी है। दूसरा परिचय यथासंभव निवर्तन करने योग्य है। आ० स्व० प्रणाम।

---

५१३ मोहमयी, श्रावण सुदी ११, रवि, १९५०

ॐ

श्री सूर्यपुरस्थित, सत्संगयोग्य श्री लल्लुजीके प्रति विनती कि–

दो पत्र प्राप्त हुए हैं। यहाँ भावसमाधि है।

'योगवासिष्ठ' आदि ग्रंथ पढ़ने-विचारनेमें कोई दूसरी बाधा नहीं है। हमने पहिले लिखा था कि उपदेशग्रंथ समझकर ऐसे ग्रंथ विचारनेसे जीवको गुण प्रगट होता है। प्रायः वैसे ग्रंथ वैराग्य और उपशमके लिये हैं। सिद्धांतज्ञान सत्पुरुषसे जाननेयोग्य समझकर जीवमें सरलता, निरहंता आदि गुणोंका उद्‌भव होनेके लिये 'योगवासिष्ठ', 'उत्तराध्ययन', 'सूत्रकृतांग' आदिके विचारनेमें बाधा नहीं है इतना स्मरण रखिये।

वेदांत और जिन सिद्धांत इन दोनोंमें अनेक प्रकारसे भेद है। वेदांत एक ब्रह्मस्वरूपसे सर्व स्थिति कहता है। जिनागममें उससे दूसरा प्रकार कहा है। 'समयसार' पढ़ते हुए भी बहुतसे जीवोंका एक ब्रह्मकी मान्यतारूप सिद्धांत हो जाता है। सिद्धांतका विचार, बहुत सत्संगसे तथा वैराग्य और उपशमका बल विशेषरूपसे बढ़नेके बाद कर्तव्य है। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो जीव दूसरे मार्गमें आरूढ़ होकर वैराग्य और उपशमसे हीन हो जाता है। 'एक ब्रह्मस्वरूप' विचारनेमें बाधा नहीं है, अथवा 'अनेक आत्मा' विचारनेमें बाधा नहीं है। आपको अथवा किसी मुमुक्षुको मात्र अपना स्वरूप जानना ही मुख्य कर्तव्य है, और उसे जाननेके साधन शम, संतोष, विचार और सत्संग है। उन साधनोंके सिद्ध होनेपर, वैराग्य एवं उपशमके वर्धमान परिणामी होनेपर, 'आत्मा एक है' या 'आत्मा अनेक है'' इत्यादि भेदका विचार करना योग्य है। यही विनती। आ० स्व० प्रणाम।

---

५१४ बंबई, श्रावण सुदी १४, बुध, १९५०

निःसारताको अत्यंतरूपसे जाननेपर भी व्यवसायका प्रसंग आत्मवीर्यकी कुछ भी मन्दताका हेतु होता है; फिर भी वह व्यवसाय करते हैं। आत्मासे जो सहन करने योग्य नहीं है उसे सहन करते हैं। यही विनती। आ० प्र०

---

५१५ बंबई, श्रावण सुदी १४, बुध, १९५०

यहाँसे थोड़े दिनके लिये छूटा जा सके, ऐसा विचार रहता है; तथापि इस प्रसंगमें वैसा होना कठिन है।

जैसे आत्मबल अप्रमादी हो, वैसे सत्संग, सद्‌वाचनका प्रसंग नित्यप्रति करना योग्य है। उसमें प्रमाद करना योग्य नहीं हैं, अवश्य ऐसा करना योग्य नहीं है, यही विनती। आ० स्व० प्रणाम।

---

५१६ बंबई, श्रावण वदी १, १९५०

पानी स्वभावसे शीतल होनेपर भी, उसे किसी बरतनमें रखकर नीचे अग्नि जलती रखी जाये तो उसकी अनिच्छा होनेपर भी वह पानी उष्णता प्राप्त करता है, ऐसा यह व्यवसाय, समाधिसे शीतल ऐसे पुरुषके प्रति उष्णताका हेतु होता है, यह बात हमें तो स्पष्ट लगती है।

वर्धमानस्वामीने गृहवासमें भी यह सर्व व्यवसाय असार है, कर्तव्यरूप नहीं है, ऐसा जाना था। तथापि उन्होंने उस गृहवासको त्यागकर मुनिचर्या ग्रहण की थी। उस मुनित्वमें भी आत्मबलसे समर्थ होनेपर भी, उस बलसे भी अत्यंत अधिक बलकी जरूरत है, ऐसा जानकर उन्होंने मौन और अनिद्राका लगभग साढ़े बारह वर्षतक सेवन किया है, कि जिससे व्यवसायरूप अग्नि तो प्रायः न हो सके।

जो वर्धमानस्वामी गृहवासमें होनेपर भी अभोगी जैसे थे, अव्यवसायी जैसे थे, निःस्पृह थे, और सहज स्वभावसे मुनि जैसे थे, आत्माकार परिणामी थे, वे वर्धमानस्वामी भी सर्व व्यवसायमें असारता समझकर, नीरसता समझकर दूर रहे; उस व्यवसायको करते हुए दूसरे जीवने किस प्रकारसे समाधि रखनेका विचार किया है, यह विचारणीय है। इसका विचार करके पुनः पुनः वह चर्या प्रत्येक कार्यमें, प्रत्येक प्रवर्तनमें, स्मृतिमें लाकर व्यवसायके प्रसंगमें रहती हुई रुचिका विलय करना योग्य है। यदि ऐसा न किया जाय तो प्रायः ऐसा लगता है कि अभी इस जीवकी मुमुक्षु पदमें यथायोग्य अभिलाषा नहीं हुई है, अथवा तो यह जीव मात्र लोकसंज्ञासे कल्याण हो, ऐसी भावना करना चाहता है, परंतु कल्याण करनेकी अभिलाषा उसे है ही नहीं; क्योंकि दोनों जीवोंके समान परिणाम हो, और एकको बंध हो, दूसरेको बंध न हो, ऐसा त्रिकालमें होना योग्य नहीं है।

---

५१७ बंबई, श्रावण वदी ७, गुरु, १९५०

आपकी और अन्य मुमुक्षुजनोंकी चित्तसंबंधी दशा जानी है। ज्ञानीपुरुषोंने अप्रतिबद्धताको प्रधानमार्ग कहा है, और सबसे अप्रतिबद्धदशा में लक्ष्य रखकर प्रवृत्ति है तो भी सत्संगादिमें अभी हमें भी प्रतिबद्धबुद्धि रखनेका चित्त रहता है। अभी हमारे समागमका अप्रसंग है, ऐसा जाननेपर भी आप सब भाइयोंको, जिस प्रकारसे जीवको शांत, दांत भावका उद्भव हो उस प्रकारसे पढ़ने आदिका समागम करना योग्य है। यह बात बलवान करने योग्य है।

---

५१८ बंबई, श्रावण वदी ९, १९५०

'योगवासिष्ठ'—जीवमें जिस प्रकार त्याग, वैराग्य और उपशम गुण प्रगट हों, उदयमें आयें, वह प्रकार ध्यानमें रखनेका समाचार जिस पत्रमें लिखा, वह पत्र प्राप्त हुआ है।

ये गुण जब तक जीवमें स्थिर नहीं होते तब तक जीवसे आत्मस्वरूपका यथार्थरूपसे विशेष विचार होना कठिन है। आत्मा रूपी है, अरूपी है, इत्यादि विकल्पोंका जो उसके पहले विचार किया जाता है, वह कल्पना जैसा है। जीव कुछ भी गुण प्राप्तकर यदि शीतल हो जाये तो फिर उसे विशेष विचार कर्तव्य है। आत्मदर्शनादि प्रसंग, तीव्र मुमुक्षुता उत्पन्न होनेसे पहले प्रायः कल्पितरूपसे समझमें आते हैं, जिससे अभी तत्संबंधी प्रश्न शांत करने योग्य है। यही विनती।

---

५१९ बंबई, श्रावण वदी ९, शनि, १९५०

प्रारब्धवशात् चारों दिशाओंसे प्रसंगके दबावसे कितने ही व्यवसायी कार्य खड़े हो जाते हैं, परंतु चित्तपरिणाम साधारण प्रसंगमें प्रवृत्ति करते हुए विशेष संकुचित रहा करते होनेसे इस प्रकारके पत्र आदि लिखना आदि नहीं हो सकता, जिससे अधिक नहीं लिखा गया, उसके लिये आप दोनों क्षमा करें।

---

५२० बंबई, श्रावण वदी ३०, गुरु, १९५०

श्री सायला ग्राममें स्थित, परमस्नेही श्री सोभागको,

श्री मोहमयी क्षेत्रसे------के भक्तिपूर्वक यथायोग्य प्राप्त हो। विशेष विनती है कि आपका लिखा पत्र आया है। उसका नीचे लिखा उत्तर विचारियेगा।

ज्ञानवार्त्ताके प्रसंगमें उपकारी कितने ही प्रश्न आपको उठते हैं, वे आप हमें लिखते हैं, और उनके समाधानकी आपको विशेष इच्छा रहती है; इसलिये यदि किसी भी प्रकारसे आपको उनका समाधान लिखा जाये तो ठीक, ऐसा चित्तमें रहते हुए भी उदययोगसे वैसा नहीं हो पाता। पत्र लिखनेमें चित्तकी स्थिरता बहुत ही कम रहती है। अथवा चित्त उस कार्यमें अल्प मात्र छाया जैसा प्रवेश कर सकता है। जिससे आपको विशेष विस्तारसे पत्र नहीं लिखा जाता। चित्तकी स्थितिके कारण एक एक पत्र लिखते हुए दस-दस, पाँच-पाँच बार, दो-दो चार-चार पंक्तियाँ लिखकर उस पत्रको अधूरा छोड़ देना पड़ता है। क्रियामें रुचि नहीं है, और अभी प्रारब्ध बल भी उस क्रियामें विशेष उदयमान नहीं होनेसे आपको तथा अन्य मुमुक्षुओंको विशेषरूपसे कुछ ज्ञानचर्चा नहीं लिखी जा सकती। इस विषयमें चित्तमें खेद रहता है, तथापि अभी तो उसका उपशम करनेका ही चित्त रहता है। अभी कोई ऐसी ही आत्मदशाकी स्थिति रहती है। प्रायः जान-बूझकर कुछ करनेमें नहीं आता, अर्थात् प्रमाद आदि दोषके कारण वह क्रिया नहीं होती, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

'समयसार' ग्रंथके कवित्त आदिका आप जो मुखरस संबंधी ज्ञानविषयक अर्थ समझते हैं, वह वैसा ही है; ऐसा सर्वत्र है, ऐसा कहना योग्य नहीं है। बनारसीदासने 'समयसार' ग्रंथको हिन्दी भाषामें करते हुए बहुतसे कवित्त, सवैया इत्यादिमें वैसी ही बात कही है, और वह किसी तरह 'बीजज्ञान'से मिलती हुई प्रतीत होती है। तथापि कहीं कहीं वैसे शब्द उपमारूपसे भी आते है। बनारसीदासने 'समयसार' रचा है, उसमें वे शब्द जहाँ जहाँ आये हैं, वहाँ वहाँ सर्वत्र उपमारूप हैं, ऐसा नहीं लगता, परंतु कई स्थलोंमें वस्तुरूपसे कहे हैं, ऐसा लगता है। यद्यपि यह बात कुछ आगे बढ़नेपर मिलती झुलती हो सकती है। अर्थात् आप जिसे 'बीजज्ञान'में कारण मानते हैं उससे कुछ आगे बढ़ती हुई बात, अथवा वह बात उसमें विशेषज्ञानसे अंगीकृत की हुई मालूम होती हैं।

बनारसीदासको कोई वैसा योग हुआ हो, ऐसा 'समयसार' ग्रंथकी उनकी रचनासे प्रतीत होता है। 'मूल समयसार'में 'बीजज्ञान' संबंधी इतनी अधिक स्पष्ट बात कही हुई मालूम नहीं होती, और बनारसीदासने तो कई जगह वस्तुरूपसे और उपमारूपसे वह बात कही है। जिससे ऐसा ज्ञात होता है कि बनारसीदासने साथमें अपने आत्मामें जो कुछ अनुभव हुआ है, उसका भी कुछ उस प्रकारसे प्रकाश किया है कि किसी विचक्षण जीवके अनुभवके लिये वह बात आधारभूत हो, उसे विशेष स्थिर करनेवाली हो।

ऐसा भी लगता है कि बनारसीदासने लक्षणादिके भेदसे जीवका विशेष निर्धार किया था, और उन उन लक्षण आदिका सतत मनन होते रहनेसे, आत्मस्वरूप कुछ तीक्ष्णरूपसे उनके अनुभवमें आया है; और उन्हें अव्यक्तरूपसे आत्मद्रव्यका भी लक्ष्य हुआ है, और उस अव्यक्त लक्ष्यसे उन्होंने उस बीजज्ञानको गाया है। अव्यक्त लक्ष्यका अर्थ यहाँ यह है कि चित्तवृत्ति आत्मविचारमें विशेषरूपसे लगी रहनेसे, बनारसीदासको जिस अंशमें परिणामकी निर्मल धारा प्रगट हुई है, उस निर्मल धाराके कारण स्वयंको 'द्रव्य यही है' ऐसा यद्यपि स्पष्ट जाननेमें नहीं आया, तथापि अस्पष्टरूपसे अर्थात् स्वाभाविकरूपसे भी

उनके आत्मामें वह छाया भासमान हुई है, और जिसके कारण यह बात उनके मुखसे निकल सकी है; और सहज आगे बढ़नेसे वह बात उन्हें एकदम स्पष्ट हो जाये ऐसी दशा उस ग्रंथको रचते हुए उनकी प्रायः रही है।

श्री डुंगरके अंतरमें जो खेद रहता है वह किसी तरह योग्य है, और वह खेद प्रायः आपको भी रहता है, ऐसा जानते हैं। तथा अन्य भी कई मुमुक्षुजीवोंको उसी प्रकारका खेद रहता है, ऐसा जाननेपर भी, और आप सबका यह खेद दूर किया जाये तो ठीक, यह मनमें रहते हुए भी प्रारब्धका वेदन करते हैं। फिर हमारे चित्तमें इस विषयमें अत्यंत बलवान खेद है। जो खेद दिनमें प्रायः अनेक-अनेक प्रसंगोंमें स्फुरित हुआ करता है, और उसका उपशमन करना पड़ता है; और प्रायः आप लोगोंको भी हमने विशेषरूपसे उस खेदके विषयमें नहीं लिखा है, अथवा नहीं बताया है। हमें यह बताना भी योग्य नहीं लगता था, परंतु अभी श्री डुंगरके कहनेसे, प्रसंगवश बताना हुआ है। आपको और डुंगरको जो खेद रहता है, उसकी अपेक्षा हमें असंख्यातगुण-विशिष्ट खेद तत्संबंधी रहता होगा ऐसा लगता है। क्योंकि जिस जिस प्रसंगपर आत्मप्रदेशमें उस बातका स्मरण होता है उस उस प्रसंगपर सभी प्रदेश शिथिल जैसे हो जाते हैं; और जीवका नित्य स्वभाव होनेसे जीव ऐसा खेद रखते हुए भी जीता है; उस हद तक खेदको प्राप्त होता है। फिर परिणामांतर होकर थाड़े अवकाशमें भी वह की वह बात प्रदेश-प्रदेशमें स्फुरित हो उठती है, और वैसी की वैसी दशा हो जाती है, तथापि आत्मापर अत्यंत दृष्टि करके अभी तो उस प्रकारका उपशमन करना ही योग्य है, ऐसा समझकर उपशमन किया जाता है।

श्री डुंगरके अथवा आपके चित्तमें ऐसा आता हो कि साधारण कारणोंके बहाने हम इस प्रकारकी प्रवृत्ति नहीं करते, यह योग्य नहीं है। इस प्रकारसे यदि रहता हो तो प्रायः वैसा नहीं है, ऐसा हमें लगता है। नित्य प्रति उस बातका विचार करनेपर भी अभी बलवान कारणोंका उसके प्रति संबंध है, ऐसा जानकर जिस प्रकारकी आपकी इच्छा प्रभावना हेतुमें है उस हेतुको ढ़ीला करना पड़ता है; और उसके अवरोधक कारणोंको क्षीण होने देनेमें कुछ भी आत्मवीर्य परिणमित होकर स्थितिमें रहता है। आपकी इच्छानुसार अभी जो प्रवृत्ति नहीं की जाती उस विषयमें जो बलवान कारण अवरोधक हैं, उन्हें आपको विशेषरूपसे बतानेका चित्त नहीं होता, क्योंकि अभी उन्हें विशेषरूपसे बतानेमें अवकाश जाने देना योग्य है।

जो बलवान कारण प्रभावना हेतुके अवरोधक हैं, उनमें हमारा बुद्धिपूर्वक कुछ भी प्रमाद हो, ऐसा किसी तरह संभव नहीं है। तथा अव्यक्तरूपसे अर्थात् न जाननेपर भी जो सहजमें जीवसे हुआ करता हो, ऐसा प्रमाद हो, यह भी प्रतीत नहीं होता। तथापि किसी अंशमें उस प्रमादका संभव समझते हुए भी उससे अवरोधकता हो, ऐसा लग नहीं सकता, क्योंकि आत्माकी निश्चयवृत्ति उससे असन्मुख है।

लोगोंमें वह प्रवृत्ति करते हुए मानभंग होनेका प्रसंग आये तो वह मानभंग भी सहन न हो सके, ऐसा होनेसे प्रभावना हेतुकी उपेक्षा की जाती हो, ऐसा भी नहीं लगता। क्योंकि उस मानामानमें चित्त प्रायः उदासीन जैसा है, अथवा उस प्रकारमें चित्तको विशेष उदासीन किया हो तो हो सके ऐसा है।

शब्दादि विषयोंका कोई बलवान कारण भी अवरोधक हो ऐसा प्रतीत नहीं होता। केवल उन विषयोंका क्षायिकभाव हैं, ऐसा यद्यपि कहनेका प्रसंग नहीं है, तथापि उनमें अनेकरूपसे विरसता भास रही है। उदयसे भी कभी मंद रुचिका जन्म होता हो तो वह भी विशेष अवस्था पानेसे पहले नाशको प्राप्त होती है; और उस मंद रुचिका वेदन करते हुए भी आत्मा खेदमें ही रहता है, अर्थात् वह रुचि अनाधार होती जाती होनेसे बलवान कारणरूप नहीं है।

अन्य कई प्रभावक हुए हैं, उनकी अपेक्षा किसी तरह विचारदशादिकी प्रबलता भी होगी; ऐसा लगता है कि वैसे प्रभावक पुरुष आज दिखायी नहीं देते; और मात्र उपदेशकरूपसे नाम जैसी प्रभावनासे प्रवर्तन करते हुए कई देखनेमें, सुननेमें आते हैं, उनकी विद्यमानताके कारण हमें कुछ अवरोधकता हो ऐसा भी प्रतीत नहीं होता।

अभी तो इतना लिखा जा सका है। विशेष समागमके प्रसंगपर अथवा अन्य प्रसंगपर बतायेंगे। इस विषयमें आप और श्री डुंगर यदि कुछ भी विशेष लिखना चाहते हों, तो खुशीसे लिखियेगा। और हमारे लिखे हुए कारण मात्र बहानारूप है ऐसा विचार करना योग्य नहीं है, इतना ध्यान रखियेगा।

---

५२१ बंबई, श्रावण, १९५०

जिस पत्रमें प्रत्यक्ष आश्रयका स्वरूप लिखा है वह पत्र यहाँ प्राप्त हुआ है। मुमुक्षुजीवको परम भक्तिसहित उस स्वरूपकी उपासना करना योग्य है।

योगबलसहित, अर्थात् जिनका उपदेश बहुतसे जीवोंको थोड़े ही प्रयाससे मोक्षसाधनरूप हो सके ऐसे अतिशयसहित जो सत्पुरुष हों, वे जब यथाप्रारब्ध उपदेश व्यवहारका उदय प्राप्त होता है तब मुख्यरूपसे प्रायः उस भक्तिरूप प्रत्यक्ष आश्रयमार्गको प्रगट करते हैं, परंतु वैसे उदययोगके बिना प्रायः प्रगट नहीं करते।

सत्पुरुष प्रायः दूसरे व्यवहारके योगमें मुख्यतः उस मार्गको प्रगट नहीं करते, यह उनकी करुणा स्वभावता है। जगतके जीवोंका उपकार पूर्वापर विरोधको प्राप्त न हो अथवा बहुतसे जीवोंका उपकार हो इत्यादि अनेक कारण देखकर अन्य व्यवहारमें रहते हुए सत्पुरुष वैसे प्रत्यक्ष आश्रयरूप मार्गको प्रगट नहीं करते। प्रायः अन्य व्यवहारके उदयमें तो वे अप्रसिद्ध रहते हैं; अथवा कुछ प्रारब्ध विशेषसे सत्पुरुषरूपसे किसीके जाननेमें आयें, तो भी पूर्वापर उसके श्रेयका विचार करके यथासंभव विशेष प्रसंगमें नहीं आते; अथवा प्रायः अन्य व्यवहारके उदयमें सामान्य मनुष्यकी तरह विचरते हैं।

वैसी प्रवृत्ति की जाये ऐसा प्रारब्ध न हो तो जहाँ कोई वैसे उपदेशका अवसर प्राप्त होता है वहाँ भी 'प्रत्यक्ष आश्रयमार्ग' का प्रायः उपदेश नहीं करते। क्वचित् 'प्रत्यक्ष आश्रयमार्ग' के स्थानपर 'आश्रयमार्ग' ऐसे सामान्य शब्दसे, बहुत उपकारका हेतु देखकर कुछ कहते हैं। अर्थात् उपदेशव्यवहारका प्रवर्तन करनेके लिये उपदेश नहीं करते।

प्रायः जिन किन्हीं मुमुक्षुओंको हमारा समागम हुआ है, उन्हें दशाके विषयमें थोड़े बहुत अंशमें प्रतीति है। तथापि यदि किसीको भी समागम न हुआ होता तो अधिक योग्य था। यहाँ जो कोई व्यवहार उदयमें रहता है, वह व्यवहार आदि आगे जाकर उदयमें आने योग्य है, ऐसा मानकर तथा उपदेश व्यवहारका उदय प्राप्त न हुआ हो तब तक हमारी दशाके विषयमें आप इत्यादिको जो कुछ समझमें आया हो उसे प्रगट न करनेकी सूचना देनेमें मुख्य कारण यह था और है।

---

५२२ बंबई, भादों सुदी ३, रवि, १९५०

जीवको ज्ञानीपुरुषकी पहचान होनेपर, तथाप्रकारसे अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभका मंद हो जाना योग्य है कि जिससे अनुक्रमसे वे परिक्षीणताको प्राप्त होते हैं। ज्यों ज्यों जीवको सत्पुरुषकी पहचान होती है त्यों त्यों मताभिग्रह, दुराग्रहता आदि भाव शिथिल होने लगते हैं, और अपने दोषोंको देखनेकी ओर चित्त मुड़ जाता है; विकथा आदि भावमें नीरसता लगती है, अथवा जुगुप्सा उत्पन्न होती है।

जीवको अनित्य आदि भावनाका चिंतन करनेके प्रति बलवीर्यके स्फुरित होनेमें जिस प्रकारसे ज्ञानी पुरुषके समीप सुना है, उससे भी विशेष बलवान परिणामसे वह पंचविषयादिमें अनित्यादि भावको दृढ़ करता है। अर्थात् सत्पुरुषकी प्राप्ति होनेपर, ये सत्पुरुष हैं, इतना जानकर, सत्पुरुषको जाननेसे पहले जिस तरह आत्मा पंचविषयादिमें रक्त था, उस तरह उसके पश्चात् रक्त नहीं रहता, और अनुक्रमसे वह रक्तभाव मंद हो जाये ऐसे वैराग्यमें जीव आ जाता है। अथवा सत्पुरुषका योग होनेके पश्चात् आत्मज्ञान कुछ दुर्लभ नहीं है। तथापि सत्पुरुषमें, उनके वचनोंमें, उन वचनोंके आशयमें, जब तक प्रीति भक्ति न हो तब तक जीवमें आत्मविचार भी उदय होने योग्य नहीं है; और जीवको सत्पुरुषका योग हुआ है, ऐसा सचमुच उस जीवको भासित हुआ है, यों कहना भी कठिन है।

जीवको सत्पुरुषका योग होनेपर तो ऐसी भावना होती है कि अब तक मेरे जो प्रयत्न कल्याणके लिये थे वे सब निष्फल थे, लक्ष्य बिनाके बाणकी भाँति थे; परंतु अब सत्पुरुषका अपूर्व योग हुआ है, तो मेरे सब साधनोंके सफल होनेका हेतु है। लोकप्रसंगमें रहकर जो निष्फल, निर्लक्ष्य साधन किये, उस प्रकारसे अब सत्पुरुषके योगमें न करते हुए, अवश्य अंतरात्मामें विचारकर दृढ़ परिणाम रखकर, जीवको इस योगमें, वचनमें जागृत होना योग्य है, जागृत रहना योग्य है; और उस उस प्रकारसे भावना करके जीवको दृढ़ करना कि जिससे उसे प्राप्त हुआ योग 'अफल' न हो जाये और सब प्रकारसे इसी बलको आत्मामें वर्धमान करना कि इस योगसे जीवको अपूर्व फल होना योग्य है; उसमें अंतराय करनेवाला 'मैं जानता हूँ, यह मेरा अभिमान, कुलधर्मका और जिसे करते आये हैं उस क्रियाका त्याग कैसे किया जा सके ऐसा लोकभय, सत्पुरुषकी भक्ति आदिमें भी लौकिकभाव, और कदाचित् कोई पंचविषयाकार ऐसे कर्मको ज्ञानीके उदयमें देखकर वैसे भावका स्वयं आराधन करना इत्यादि प्रकार है,' वही अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ है। यह प्रकार विशेषरूपसे समझना योग्य है; तथापि अभी जितना हो सका उतना लिखा है।

उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक सम्यक्त्वके लिये संक्षेपमें व्याख्या कही थी, तदनुसारी व्याख्या त्रिभोवनके स्मरणमें है।

जहाँ जहाँ इस जीवने जन्म लिया है, भवके प्रकार धारण किये हैं, वहाँ वहाँ तथाप्रकारके अभिमानरूपसे बरताव किया है; जिस अभिमानको निवृत्त किये बिना उस उस देहका और देहके संबंधमें आनेवाले पदार्थोंका इस जीवने त्याग किया है, अर्थात् अभी तक उस भावको ज्ञानविचार द्वारा क्षीण नहीं किया है, और वे पूर्वसंज्ञाएँ अभी जैसीकी तैसी इस जीवके अभिमानमें चली आती हैं, यही सारे लोककी अधिकरणक्रियाका हेतु कहा है, जिसे भी विशेषरूपसे यहाँ लिखा नहीं जा सका है। पत्रादिकी नियमितताके लिये विचार करूँगा।

---

५२३ बंबई, भादों सुदी ४, सोम, १९५०

श्री सायला ग्राममें स्थित, सत्संगयोग्य, परमस्नेही श्री सोभाग तथा डुंगरके प्रति,

श्री मोहमयीपुरीसे.....का आत्मस्वरूप स्मृतिपूर्वक यथायोग्य प्राप्त हो। यहाँ समाधि है। आपका लिखा हुआ एक पत्र आज मिला है।

आपकी विद्यमानतामें प्रभावना-हेतुकी आपको जो विशेष जिज्ञासा है, और वह हेतु उत्पन्न हो तो आपको जो असीम हर्ष उत्पन्न होना योग्य है, उस विशेष जिज्ञासा और असीम हर्षसंबंधी आपकी चित्तवृत्तिको हम समझते हैं।

अनेक जीवोंकी अज्ञान दशा देखकर, फिर वे जीव 'हम कल्याण करते हैं' अथवा 'हमारा कल्याण होगा' ऐसी भावना या इच्छासे अज्ञानमार्गको प्राप्त होते हुए देखकर, उसके लिये अत्यंत करुणा उद्भव होती है, और किसी भी प्रकारसे यह दूर करने योग्य है, ऐसा हो जाता है; अथवा वैसा भाव चित्तमें जैसेका तैसा रहा करता है, तथापि वह होने योग्य होगा, उस प्रकारसे होगा, और जिस समय वह प्रकार होने योग्य होगा उस समय होगा, ऐसा प्रकार भी चित्तमें रहता है; क्योंकि उस करुणाभावका चिन्तन करते करते आत्मा बाह्य माहात्म्यका सेवन करे ऐसा होने देना योग्य नहीं है; और अभी कुछ वैसा भय रखना योग्य लगता है। अभी तो प्रायः दोनों प्रकारोंका नित्य विचार करनेमें आता है, तथापि बहुत समीपमें उसका परिणाम आनेका संभव प्रतीत न होनेसे संभवतः आपको लिखा या कहा नहीं है। आपकी इच्छा होनेसे वर्तमान जो स्थिति है, वह इस संबंधमें संक्षेपमें लिखी है, और उससे आपको किसी भी प्रकारसे उदास होना योग्य नहीं हैं, क्योंकि हमें वर्तमानमें वैसा उदय नहीं है, परंतु हमारा आत्मपरिणाम उस उदयको अल्प कालमें दूर करनेकी ओर है, अर्थात् उस उदयकी कालस्थितिका किसी भी प्रकारसे बलवानरूपसे वेदन करनेसे वह घटती हो तो उसे घटानेमें रहता है। बाह्य माहात्म्यकी इच्छा आत्माको बहुत समयसे नहीं जैसी ही हो गयी है, अर्थात् बुद्धि प्रायः बाह्य माहात्म्यकी इच्छा करती हुई प्रतीत नहीं होती, ऐसा है। तथापि बाह्य माहात्म्यसे जीव सहज भी परिणामभेद प्राप्त न करे ऐसी स्वास्थामें कुछ न्यूनता कहने योग्य है, और उससे जो कुछ भय रहता है वह रहता है, जिस भयसे तुरत मुक्ति होगी, ऐसा लगता है।

'कबीर साहब' के दो पद और 'चारित्रसागर'का एक पद निर्भयतासे उन्होंने जो कहे हैं, वे आपने लिखे, सो पढ़े हैं। श्री 'चारित्रसागर' के वैसे कई पद पहले भी पढ़नेमें आये हैं। वैसी निर्भय वाणी मुमुक्षुजीवको प्रायः धर्मपुरुषार्थमें बलवान करती है।

हमारे द्वारा वैसे पद अथवा काव्य रचे हुए देखनेकी आपकी जो इच्छा है, उसका अभी तो उपशमन करना योग्य है। क्योंकि वैसे पद पढ़ने-विचारनेमें या बनानेमें उपयोगका अभी विशेष प्रवेश नहीं हो सकता, छाया जैसा भी प्रवेश नहीं हो सकता।

सोनेकी आकृतियाँ भिन्न भिन्न हैं, परंतु उन आकृतियोंको यदि पिघला दिया जाये तो वे सभी आकृतियाँ मिटकर एक सोना ही अवशेष रहता है; अर्थात् सब आकृतियाँ भिन्न भिन्न द्रव्यत्वका त्याग कर देती हैं, और सब आकृतियोंकी जातिकी सजातीयता होनेसे मात्र एक सोनारूप द्रव्यत्वको प्राप्त होती हैं। इस प्रकार दृष्टांत लिखकर आत्माकी मुक्ति और द्रव्यत्वके सिद्धांतपर प्रश्न किया है, उस संबंधमें संक्षेपमें इस प्रकार जानना योग्य है—

सोना औपचारिक द्रव्य है, ऐसा जिनेन्द्रका अभिप्राय है, और जब अनंत परमाणुओंके समुदायरूपसे वह रहता है तब चक्षुगोचर होता है। उसकी जो भिन्न भिन्न आकृतियाँ बन सकती है वे सभी संयोगभावी है, और फिरसे वे एकत्र की जा सकती हैं, वह उसी कारणसे है। परंतु सोनेका मूल स्वरूप देखें तो अनंत परमाणु-समुदाय है। जो भिन्न भिन्न परमाणु हैं वे सब अपने अपने स्वरूपमें ही रहे हुए हैं। कोई भी परमाणु अपने स्वरूपको छोड़कर दूसरे परमाणुरूपसे किसी भी तरह परिणमन करने योग्य नहीं है; मात्र वे सजातीय होनेसे और उनमें स्पर्शगुण होनेसे उस स्पर्शके समविषमयोगसे उनका मिलना हो सकता है, परंतु वह मिलना कुछ ऐसा नहीं है, कि जिसमें किसी भी परमाणुने अपने स्वरूपका त्याग कर दिया हो। करोड़ों प्रकारसे उस अनंत परमाणुरूप सोनेकी आकृतियोंको यदि एक रसरूप करें, तो भी सबके सब परमाणु अपने ही स्वरूपमें रहते हैं; अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका त्याग नहीं करते; क्योंकि वैसा

होनेका किसी भी तरहसे अनुभव नहीं हो सकता। उस सोनेके अनंत परमाणुओंके अनुसार अनंत सिद्धकी अवगाहना माने तो बाधा नहीं है, परंतु इससे कुछ कोई भी जीव किसी भी दूसरे जीवके साथ सर्वथा एकत्वरूपसे मिल गया है, ऐसा है ही नहीं। सब निजभावमें स्थिति करके ही रह सकते हैं। प्रत्येक जीवकी जाति एक हो, इससे जो एक जीव है वह अपनापन त्याग करके दूसरे जीवोंके समुदायमें मिलकर स्वरूपका त्याग कर देता है, ऐसा होनेका क्या हेतु है ? उसके अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, कर्मबंध और मुक्तावस्था, ये अनादिसे भिन्न हैं, और मुक्तावस्थामें फिर वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका त्याग करे; तो फिर उसका अपना स्वरूप क्या रहा ? उसका क्या अनुभव रहा ? और अपने स्वरूपके जानेसे उसकी कर्मसे मुक्ति हुई अथवा अपने स्वरूपसे मुक्ति हुई ? यह प्रकार विचार करने योग्य है। इत्यादि प्रकारसे जिनेन्द्रने सर्वथा एकत्वका निषेध किया है।

अभी समय नहीं होनेसे इतना लिखकर पत्र पूरा करना पड़ता है। यही विनती।

आ० स्व० प्रणाम।

---

५२४ बंबई, भादों सुदी ८, शुक्र, १९५०

श्री स्तंभतीर्थक्षेत्रमें स्थित श्री अंबालाल, कृष्णदास आदि सर्व मुमुक्षुजनके प्रति

श्री मोहमयी क्षेत्रसे...आत्मस्वरूपकी स्मृतिपूर्वक यथायोग्य प्राप्त हो।

विशेष विनती कि आप सब भाइयोंके प्रति आज दिन तक हमसे मन, वचन, कायाके योगसे जानते या अजानते कुछ भी अपराध हुआ हो उसकी विनयपूर्वक शुद्ध अंतःकरणसे क्षमा माँगता हूँ। यही विनती।

आ० स्व० प्रणाम।

---

५२५ बंबई, भादों सुदी १०, रवि, १९५०

यह आत्मभाव है और यह अन्यभाव है, ऐसा बोधबीज आत्मामें परिणमित होनेसे अन्यभावमें सहजमें उदासीनता उत्पन्न होती है, और वह उदासीनता अनुक्रमसे उन अन्यभावसे सर्वथा मुक्त करती है। जिसने निजपरभावको जाना है ऐसे ज्ञानीपुरुषको, उसके पश्चात् परभावके कार्यका जो कुछ प्रसंग रहता है उस प्रसंगमें प्रवृत्ति करते-करते भी उससे उस ज्ञानीका संबंध छूटा करता है; परंतु उसमें हितबुद्धि होकर प्रतिबंध नहीं होता।

प्रतिबंध नहीं होता यह बात एकांत नहीं है, क्योंकि जहाँ ज्ञानकी विशेष प्रबलता नहीं होती वहाँ परभावके विशेष परिचयका प्रतिबंधरूप हो जाना भी संभव है, और इसलिये भी श्री जिनेन्द्रने ज्ञानी पुरुषके लिये भी निजज्ञानके परिचय-पुरुषार्थको सराहा है; उसे भी प्रमाद कर्तव्य नहीं है, अथवा परभावका परिचय करना योग्य नहीं है; क्योंकि वह किसी अंशमें भी आत्मधाराके लिये प्रतिबंधरूप कहने योग्य है।

ज्ञानीको प्रमादबुद्धि संभव नहीं है, ऐसा यद्यपि सामान्य पदमें श्री जिनेन्द्र आदि महात्माओंने कहा है, तो भी वह पद चौथे गुणस्थानसे संभवित नहीं माना, आगे जाकर संभवित माना है, जिससे विचारवान जीवका तो अवश्य कर्तव्य है कि यथासंभव परभावके परिचित कार्यसे दूर रहना, निवृत्त होना। प्रायः विचारवान जीवको तो यही बुद्धि रहती है, तथापि किसी प्रारब्धवशात् परभावका परिचय प्रबलतासे उदयमें हो वहाँ निजपदबुद्धिमें स्थिर रहना विकट है, ऐसा मानकर नित्य निवृत्तबुद्धिकी विशेष भावना करनी, ऐसा महापुरुषोंने कहा है।

अल्पकालमें अव्याबाध स्थिति होनेके लिये तो अत्यंत पुरुषार्थ करके जीवको परपरिचयसे निवृत्त होना ही योग्य है। धीरे धीरे निवृत्त होनेके कारणों पर भार देनेकी अपेक्षा जिस प्रकार त्वरासे निवृत्ति हो वह विचार कर्तव्य है; और ऐसा करते हुए यदि असाता आदि आपत्तियोगका वेदन करना पड़ता हो तो उसका वेदन करके भी परपरिचयसे शीघ्रतः दूर होनेका उपाय करना योग्य है। इस बातका विस्मरण होने देना योग्य नहीं है।

ज्ञानकी बलवती तारतम्यता होनेपर तो जीवको परपरिचयमें स्वात्मबुद्धि होना कदापि संभव नहीं है, और उसकी निवृत्ति होनेपर भी ज्ञानबलसे वह एकांतरूपसे विहार करने योग्य है। परंतु उससे जिसकी नीची दशा है, ऐसे जीवको तो अवश्य परपरिचयका छेदन करके सत्संग कर्तव्य है, कि जिस सत्संगसे सहजमें अव्याबाध स्थितिका अनुभव होता है। ज्ञानीपुरुष कि जिन्हें एकांतमें विचरते हुए भी प्रतिबंधका संभव नहीं है, वे भी सत्संगकी निरंतर इच्छा रखते हैं, क्योंकि जीवको यदि अव्याबाध समाधिकी इच्छा हो तो सत्संग जैसा कोई सरल उपाय नहीं है।

ऐसा होनेसे दिन प्रतिदिन, प्रसंग प्रसंगमें, अनेक बार क्षण क्षण में सत्संगका आराधन करनेकी ही इच्छा वर्धमान हुआ करती है। यही विनती। आ० स्व० प्रणाम।

---

५२६ बंबई, भादों वदी ५, गुरु, १९५०

ॐ

श्री सूर्यपुरस्थित, सत्संगयोग्य, आत्मगुण इच्छुक श्री लल्लुजीके प्रति,

श्री मोहमयीक्षेत्रसे जीवन्मुक्तदशाके इच्छुक...का आत्मस्मृतिपूर्वक यथायोग्य प्राप्त हो। विशेष आपके लिखे हुए दो पत्र मिले हैं। अभी कुछ अधिक विस्तारसे लिखना नहीं हो सका। उस कार्यमें चित्तस्थितिका विशेष प्रवेश नहीं हो सकता।

'योगवासिष्ठादि' जो जो उत्तम पुरुषोंके वचन हैं वे सब अहंवृत्तिका प्रतिकार करनेके लिये ही हैं। जिस जिस प्रकारसे अपनी भ्रांति कल्पित की गयी है, उस उस प्रकारसे उस भ्रांतिको समझकर तत्संबंधी अभिमानको निवृत्त करना, यही सर्व तीर्थंकर आदि महात्माओंका कहना है, और उसी वाक्यपर जीवको विशेषतः स्थिर होना है, उसीका विशेष विचार करना है, और वही वाक्य मुख्यतः अनुप्रेक्षायोग्य है। उस कार्यकी सिद्धिके लिये सब साधन कहे हैं। अहंतादि बढ़नेके लिये, बाह्य क्रिया अथवा मतके आग्रहके लिये, संप्रदाय चलानेके लिये, अथवा पूजाश्लाछादि प्राप्त करनेके लिये किसी महापुरुषका कोई उपदेश नहीं है और वही कार्य करनेकी ज्ञानीपुरुषकी सर्वथा आज्ञा है। अपनेमें उत्पन्न हुआ हो ऐसे महिमायोग्य गुणसे उत्कर्ष प्राप्त करना योग्य नहीं है, परंतु अल्प भी निजदोष देखकर पुनः पुनः पश्चात्ताप करना योग्य है, और प्रमाद किये बिना उससे पीछे मुडना योग्य है; यह सूचना ज्ञानीपुरुषके वचनमें सर्वत्र निहित है। और उस भावके आनेके लिये सत्संग, सद्गुरु और सत्शास्त्र आदि साधन कहे हैं, जो अनन्य निमित्त है।

जीवको उन साधनोंकी आराधना निजस्वरूपके प्राप्त करनेके हेतुरूप ही है, तथापि जीव यदि वहाँ भी वंचनाबुद्धिसे प्रवृत्ति करे तो कभी कल्याण नहीं हो सकता। वंचनाबुद्धि अर्थात् सत्संग, सद्गुरु आदिमें सच्चे आत्मभावसे जो माहात्म्यबुद्धि होना योग्य है, वह माहात्म्यबुद्धि नहीं और अपने आत्मामें अज्ञानता ही रहती चली आयी है, इसलिये उसकी अल्पज्ञता, लघुता विचारकर अमाहात्म्य-बुद्धि करनी चाहिये सो नहीं करना, तथा सत्संग, सद्गुरु आदिके योगमें अपनी अल्पज्ञता, लघुताको मान्य नहीं करना

यह भी वंचना बुद्धि है। वहाँ भी यदि जीव लघुता धारण न करे तो प्रत्यक्षरूपसे जीव भवपरिभ्रमणसे भयको प्राप्त नहीं होता, यही विचार करना योग्य है। जीवको यदि प्रथम यह लक्ष्य अधिक हो तो सब शास्त्रार्थ और आत्मार्थका सहजतासे सिद्ध होना संभव है। यही विज्ञापन। आ० स्व० प्रणाम।

---

५२७ बंबई, भादों वदी १२, बुध, १९५०

पूज्य श्री सोभागभाई, श्री सायला।

यहाँ कुशलता है। आपका एक पत्र आज आया है। प्रश्नोंके उत्तर अब तुरत लिखेंगे।

आपने आजके पत्रमें जो समाचार लिखा है, तत्संबंधी श्री रेवाशंकरभाईको जो राजकोट हैं, उन्हें लिखा है वे सीधे आपको उत्तर लिखेंगे।

गोसलियाके दोहे मिले हैं। उनका उत्तर लिखने जैसा विशेषरूपसे नहीं है। एक अध्यात्म दशाके अंकुरसे—स्फुरणसे ये दोहे उत्पन्न होना संभव है। परंतु ये एकांत सिद्धांतरूप नहीं है।

श्री महावीरस्वामीसे वर्तमान जैन शासनका प्रवर्तन हुआ है, वे अधिक उपकारी? या प्रत्यक्ष हितमें प्रेरक और अहितके निवारक ऐसे अध्यात्ममूर्ति सद्गुरु अधिक उपकारी? यह प्रश्न मांकुभाईकी तरफसे है। इस विषयमें इतना विचार रहता है कि महावीरस्वामी सर्वज्ञ हैं और प्रत्यक्ष पुरुष आत्मज्ञ-सम्यग्दृष्टि है, अर्थात् महावीरस्वामी विशेष गुणस्थानकमें स्थित थे। महावीरस्वामीकी प्रतिमाकी वर्तमानमें भक्ति करे, उतने ही भावसे प्रत्यक्ष सद्गुरुकी भक्ति करे, इन दोनोंमें विशेष हितयोग्य किसे कहना योग्य है? इसका उत्तर आप दोनों विचारकर सविस्तर लिखियेगा।

पहले सगाईके संबंधमें सूचना की थी, अर्थात् हमने रेवाशंकरभाईको सहज ही लिखा था, क्योंकि उस समय विशेष लिखा जाना अनवसर आर्तध्यान कहने योग्य है। आज आपके स्पष्ट लिखनेसे रेवाशंकरभाईको मैंने स्पष्ट लिख दिया है। व्यावहारिक जंजालमें हम उत्तर देने योग्य न होनेसे रेवाशंकरभाईको इस प्रसंगमें लिखा है, जो लौटती ड़ाकसे आपको उत्तर लिखेंगे। यही विनती। गोसलियाको प्रणाम। लि० आ० स्व० प्रणाम।

---

५२८ बंबई, आसोज सुदी ११, बुध, १९५०

जिन्हें स्वप्नमें भी संसारसुखकी इच्छा नहीं रही, और जिन्हें संसारका स्वरूप संपूर्ण निःसारभूत भासित हुआ है, ऐसे ज्ञानीपुरुष भी आत्मावस्थाको वारंवार संभाल संभालकर उदय प्राप्त प्रारब्धका वेदन करते हैं; परंतु आत्मावस्थामें प्रमाद नहीं होने देते। प्रमादके अवकाश योगमें ज्ञानीको भी जिस संसारसे अंशतः व्यामोह होनेका संभव कहा है, उस संसारमें साधारण जीव रहकर, उसका व्यवसाय लौकिकभावसे करके आत्महितकी इच्छा करे, यह न होने जैसा ही कार्य है; क्योंकि लौकिकभावके कारण जहाँ आत्माको निवृत्ति नहीं होती, वहाँ अन्य प्रकारसे हितविचारणा होना संभव नहीं है। यदि एककी निवृत्ति हो तो दूसरेका परिणाम होना संभव है। अहितहेतु ऐसे संसारसंबंधी प्रसंग, लौकिकभाव, लोकचेष्टा इन सबकी संभाल यथासंभव छोड़ करके, उसे कम करके आत्महितको अवकाश देना योग्य है।

आत्महितके लिये सत्संग जैसा बलवान अन्य कोई निमित्त प्रतीत नहीं होता, फिर भी वह सत्संग भी जो जीव लौकिकभावसे अवकाश नहीं लेता, उसके लिये प्रायः निष्फल होता है, और सत्संग कुछ सफल हुआ हो, तो भी यदि लोकावेश विशेष-विशेष रहता हो तो उस फलके निर्मूल हो जानेमें देर नहीं लगती,

और स्त्री, पुत्र, आरंभ तथा परिग्रहके प्रसंगमेंसे यदि निजबुद्धि छोड़नेका प्रयास न किया जाये तो सत्संगके सफल होनेका संभव कैसे हो? जिस प्रसंगमें महा ज्ञानीपुरुष सँभल सँभलकर चलते हैं, उसमें इस जीवको तो अत्यंत अत्यंत सावधानतासे, संकोचपूर्वक चलना चाहिये, यह बात भूलने जैसी ही नहीं है, ऐसा निश्चय करके प्रसंग-प्रसंगमें, कार्य-कार्यमें और परिणाम-परिणाममें उसका ध्यान रखकर उससे छूटा जाये, वैसे ही करते रहना, यह हमने श्री वर्धमानस्वामीकी छद्मस्थ मुनिचर्याके दृष्टांतसे कहा था।

---

५२९ बंबई, आसोज वदी ३, बुध, १९५०

ॐ

'भगवान भगवानका सँभालेगा, परंतु जब जीव अपना अहं छोड़ेगा तब,' ऐसा जो भद्रजनोंका वचन है, वह भी विचार करनेसे हितकारी है। आप कुछ ज्ञानकथा लिखियेगा।

---

५३० बंबई, आसोज वदी ६, शनि, १९५०

ॐ

सत्पुरुषको नमस्कार

आत्मार्थी, गुणग्राही, सत्संगयोग्य भाई श्री [1]मोहनलालके प्रति, डरबन।

श्री बंबईसे लिखित जीवन्मुक्तदशाके इच्छुक रायचंदका आत्मस्मृतिपूर्वक यथायोग्य प्राप्त हो।

यहाँ कुशलता है। आपका लिखा हुआ एक पत्र मुझे मिला है। कई कारणोंसे उसका उत्तर लिखनेमें ढ़ील हुई थी। बादमें, आप इस तरफ तुरंत आनेवाले हैं, ऐसा जाननेमें आनेसे पत्र नहीं लिखा था; परंतु अभी ऐसा जाननेमें आया है कि स्थानीय कारणसे अभी वहाँ लगभग एक वर्ष तक ठहरनेका है, जिससे मैंने यह पत्र लिखा है। आपके लिखे हुए पत्रमें जो आत्मा आदिके विषयमें प्रश्न हैं और जिन प्रश्नोंके उत्तर जाननेकी आपके चित्तमें विशेष आतुरता है, उन दोनोंके प्रति मेरा सहज सहज अनुमोदन है। परंतु जिस समय आपका वह पत्र मुझे मिला उस समय उसका उत्तर लिखा जा सके ऐसी मेरे चित्तकी स्थिति नहीं थी, और प्रायः वैसा होनेका कारण भी यह था कि उस प्रसंगमें बाह्योपाधि संबंधी वैराग्य विशेष परिणामको प्राप्त हुआ था, और वैसा होनेसे उस पत्रका उत्तर लिखने जैसे कार्यमें भी प्रवृत्ति हो सकना संभव न था। थोड़ा समय जाने देकर, कुछ वैसे वैराग्यमेंसे भी अवकाश लेकर आपके पत्रका उत्तर लिखूँगा, ऐसा सोचा था; परंतु बादमें वैसा होना भी अशक्य हो गया। आपके पत्रकी पहुँच भी मैंने लिखी न थी और इस प्रकार उत्तर लिख भेजनेमें ढ़ील हुई, इससे मेरे मनमें भी खेद हुआ था, और जिसका अमुक भाव तो अभी तक रहा करता है। जिस प्रसंगमें विशेष करके खेद हुआ, उस प्रसंगमें ऐसा सुननेमें आया कि आप तुरंत ही इस देशमें आनेका विचार रखते हैं, जिससे चित्तमें कुछ ऐसा आया कि आपको उत्तर लिखनेमें देर हुई है, परंतु आपका समागम होनेसे वह उलटी लाभकारक होगी। क्योंकि लेख द्वारा बहुतसे उत्तर समझाना विकट था; और आपको तुरंत पत्र न मिल सकनेसे आपके चित्तमें जो आतुरता वर्धमान हुई वह समागममें उत्तर तुरत ही समझ सकनेके लिये एक सुंदर कारण मानने योग्य था। अब प्रारब्धोदयसे जब समागम हो तब कुछ भी वैसी ज्ञानवार्ता होनेका प्रसंग आये ऐसी आकांक्षा रखकर संक्षेपमें आपके प्रश्नोंके उत्तर लिखता हूँ, जिन प्रश्नोंके उत्तरोंका विचार करनेके लिये निरंतर तत्संबंधी विचाररूप अभ्यासकी आवश्यकता है। वे उत्तर संक्षेपमें लिखे गये हैं, जिससे कुछ एक

---

१. महात्मा गांधीजीने डरबन–आफ्रीकासे जो प्रश्न पूछे थे उनके उत्तर यहाँ दिये हैं।

संदेहोंकी निवृत्ति होना शायद मुश्किल होगा, तो भी मेरे चित्तमें ऐसा रहता है कि मेरे वचनके प्रति कुछ भी विशेष विश्वास है, और इससे आपको धैर्य रह सकेगा, और प्रश्नोंका यथायोग्य समाधान होनेके लिये अनुक्रमसे कारणभूत होगा ऐसा मुझे लगता है। आपके पत्रमें २७ प्रश्न हैं, उनके उत्तर संक्षेपमें नीचे लिखता हूँ–

१. प्रश्न–(१) आत्मा क्या है ? (२) वह कुछ करता है ? (३) और उसे कर्म दुःख देते हैं या नहीं ?

उ०–(१) जैसे घटपटादि जड़ वस्तुएँ हैं वैसे आत्मा ज्ञानस्वरूप वस्तु है। घटपटादि अनित्य हैं, वे एकस्वरूपसे स्थिति करके त्रिकाल नहीं रह सकते। आत्मा एकस्वरूपसे स्थिति करके त्रिकाल रह सकता है ऐसा नित्य पदार्थ है। जिस पदार्थकी उत्पत्ति किसी भी संयोगसे नहीं हो सकती, वह पदार्थ नित्य होता है। आत्मा किसी भी संयोगसे बन सके, ऐसा प्रतीत नहीं होता। क्योंकि जड़के चाहे हजारों संयोग करें तो भी उससे चेतनकी उत्पत्ति हो सकने योग्य नहीं है। जो धर्म जिस पदार्थमें नहीं होता, वैसे बहुतसे पदार्थोंको इकट्ठा करनेसे भी, उसमें जो धर्म नहीं है, वह उत्पन्न नहीं हो सकता, ऐसा अनुभव सबको हो सकता है। जो घटपटादि पदार्थ हैं उनमें ज्ञानस्वरूपता देखनेमें नहीं आती। वैसे पदार्थोंका परिणामांतर करके संयोग किया हो अथवा हुआ हो तो भी वह उसी जातिका होता है अर्थात् जड़स्वरूप होता है, परंतु ज्ञानस्वरूप नहीं होता। तो फिर वैसे पदार्थका संयोग होनेपर आत्मा कि जिसे ज्ञानीपुरुष मुख्य ज्ञानस्वरूप लक्षणवाला कहते हैं वह वैसे (घटपटादि, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश) पदार्थोंसे किसी तरह उत्पन्न हो सकने योग्य नहीं है। ज्ञानस्वरूपता यह आत्माका मुख्य लक्षण है, और उसके अभाववाला मुख्य लक्षण जड़का है। उन दोनोंके ये अनादि सहज स्वभाव है। यह तथा वैसे दूसरे हजारों प्रमाण आत्माकी नित्यताका प्रतिपादन कर सकते हैं। तथा उसका विशेष विचार करनेपर नित्यरूपसे सहजस्वरूप आत्मा अनुभवमें भी आता है। जिससे सुख दुःख आदि भोगना, उससे निवृत्त होना, विचार करना, प्रेरणा करना इत्यादि भाव जिसकी विद्यमानतासे अनुभवमें आते हैं, वह आत्मा मुख्य चेतन (ज्ञान) लक्षणवाला है; और उस भावसे (स्थितिसे) वह सर्व काल रह सकनेवाला नित्य पदार्थ है, ऐसा माननेमें कोई भी दोष या बाधा प्रतीत नहीं होती, परंतु सत्यका स्वीकार होनेरूप गुण होता है।

यह प्रश्न तथा आपके दूसरे कितने ही प्रश्न ऐसे हैं कि जिनमें विशेष लिखने तथा कहने और समझानेकी आवश्यकता है, उन प्रश्नोंके उत्तर वैसे स्वरूपमें लिख पाना अभी कठिन है। इसलिये पहले 'षड्दर्शनसमुच्चय' ग्रंथ आपको भेजा था कि जिसे पढ़ने और विचारनेसे आपको किसी भी अंशमें समाधान हो, और इस पत्रसे भी कुछ विशेष अंशमें समाधान हो सकना संभव है। क्योंकि तत्संबंधी अनेक प्रश्न उठने योग्य है, जिनका पुनः पुनः समाधान होनेसे, विचार करनेसे वे शांत हो जाये, ऐसी प्रायः स्थिति है।

(२) ज्ञानदशामें, अपने स्वरूपके यथार्थबोधसे उत्पन्न हुई दशामें वह आत्मा निजभावका अर्थात् ज्ञान, दर्शन (यथास्थित निर्धार) और सहजसमाधिपरिणामका कर्त्ता है। अज्ञानदशामें क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि प्रकृतिका कर्त्ता है, और उस भावके फलका भोक्ता होनेसे प्रसंगवशात् घटपटादि पदार्थका निमित्तरूपसे कर्त्ता है, अर्थात् घटपटादि पदार्थके मूल द्रव्यका कर्त्ता नहीं है, परंतु उसे किसी आकारमें लानेरूप क्रियाका कर्त्ता है। यह जो पीछे उसकी दशा कही है, उसे जैन 'कर्म' कहता है, वेदांत 'भ्रांति' कहता है, तथा दूसरे भी तदनुसारी ऐसे शब्द कहते हैं। वास्तविक विचार करनेसे आत्मा घटपटादिका तथा क्रोधादिका कर्त्ता नहीं हो सकता, मात्र निजस्वरूप ज्ञानपरिणामका ही कर्त्ता है, ऐसा स्पष्ट समझमें आता है।

(३) अज्ञानभावसे किये हुए कर्म प्रारंभकालमें बीजरूप होकर समयका योग पाकर फलरूप वृक्षपरिणामसे परिणमते हैं; अर्थात् वे कर्म आत्माको भोगने पड़ते हैं। जैसे अग्निके स्पर्शसे उष्णताका संबंध होता है, और उसका सहज वेदनारूप परिणाम होता है, वैसे आत्माको क्रोधादि भावके कर्त्तारूपसे जन्म, जरा, मरणादि वेदनारूप परिणाम होता है, इस विचारका आप विशेषरूपसे विचार कीजियेगा, और तत्संबंधी जो कोई प्रश्न हो उसे लिखियेगा। क्योंकि जिस प्रकारकी समझ है उससे निवृत्त होनेरूप कार्य करनेपर जीवको मोक्षदशा प्राप्त होती है।

२. प्र०—(१) ईश्वर क्या है ? (२) क्या वह सचमुच जगतकर्त्ता है ?

उ०—(१) हम आप कर्मबंधमें फँसे हुए जीव हैं। उस जीवका सहजस्वरूप अर्थात् कर्मरहितरूपसे मात्र एक आत्मत्वरूपसे जो स्वरूप है वह ईश्वरत्व है। जिसमें ज्ञानादि ऐश्वर्य है उसे ईश्वर कहना योग्य है, और वह ईश्वरता आत्माका सहजस्वरूप है। जो स्वरूप कर्मप्रसंगसे प्रतीत नहीं होता, परंतु उस प्रसंगको अन्यस्वरूप जानकर, जब आत्माकी ओर दृष्टि होती है, तभी अनुक्रमसे सर्वज्ञतादि ऐश्वर्य उसी आत्मामें प्रतीत होता है, और उससे विशेष ऐश्वर्यवाला कोई पदार्थ समस्त पदार्थोंको देखते हुए भी अनुभवमें नहीं आ सकता। इसलिये जो ईश्वर है वह आत्माका दूसरा पर्यायवाची नाम है, इससे कोई विशेष सत्तावाला पदार्थ ईश्वर है, ऐसा नहीं है। ऐसे निश्चयमें मेरा अभिप्राय है।

(२) वह जगतकर्त्ता नहीं है, अर्थात् परमाणु, आकाश आदि पदार्थ नित्य होने योग्य हैं, वे किसी भी वस्तुमेंसे बनने योग्य नहीं हैं। कदाचित् ऐसा मानें कि वे ईश्वरमेंसे बने हैं, तो यह बात भी योग्य नहीं लगती; क्योंकि ईश्वरको यदि चेतनरूपसे मानें, तो उससे परमाणु, आकाश इत्यादि कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? क्योंकि चेतनसे जड़की उत्पत्ति होना ही संभव नहीं है। यदि ईश्वरको जड़रूप स्वीकार किया जाय तो वह सहज ही अनैश्वर्यवान ठहरता है, तथा उससे जीवरूप चेतन पदार्थकी उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। जड़चेतन उभयरूप ईश्वर मानें तो फिर जडचेतनरूप जगत है उसका ईश्वर ऐसा दूसरा नाम कहकर संतोष मानने जैसा होता है; और जगतका नाम ईश्वर रखकर संतोष मानना, इसकी अपेक्षा जगतको जगत कहना, यह विशेष योग्य है। कदाचित् परमाणु, आकाश आदिको नित्य मानें और ईश्वरको कर्मादिका फल देनेवाला मानें तो भी यह बात सिद्ध प्रतीत नहीं होती। इस विचारपर 'षड्दर्शनसमुच्चय' में अच्छे प्रमाण दिये हैं।

३. प्र०—मोक्ष क्या है ?

उ०—जिस क्रोधादि अज्ञानभावमें, देहादिमें आत्माको प्रतिबंध है, उससे सर्वथा निवृत्ति होना, मुक्ति होना, उसे ज्ञानियोंने मोक्षपद कहा है। उसका सहज विचार करनेपर यह प्रमाणभूत लगता है।

४. प्र०—मोक्ष मिलेगा या नहीं यह निश्चितरूपसे इस देहमें ही जाना जा सकता है ?

उ०—एक रस्सीके बहुतसे बंधोंसे हाथ बाँध दिया गया हो, उनमेंसे अनुक्रमसे ज्यों ज्यों बंध छोड़नेमें आते हैं, त्यों त्यों उस बंधके संबंधकी निवृत्ति अनुभवमें आती है, और वह रस्सी बल छोड़कर छूट जानेके परिणाममें रहती है, ऐसा भी मालूम होता है, अनुभवमें आता है। उसी प्रकार अज्ञानभावके अनेक परिणामरूप बंधका प्रसंग आत्माको है, वह ज्यों ज्यों छूटता है त्यों त्यों मोक्षका अनुभव होता है; और जब उसकी अतीव अल्पता हो जाती है तब सहज ही आत्मामें निजभाव प्रकाशित होकर अज्ञानभावरूप बंधसे छूट सकनेका प्रसंग है, ऐसा स्पष्ट अनुभव होता है। तथा समस्त अज्ञानादिभावसे निवृत्ति होकर संपूर्ण आत्मभाव इसी देहमें स्थितिमान होते हुए भी आत्माको प्रगट होता है, और सर्व संबंधसे सर्वथा अपनी

भिन्नता अनुभवमें आती है; अर्थात् मोक्षपद इस देहमें भी अनुभवमें आने योग्य है।

५. प्र०—ऐसा पढ़नेमें आया है कि मनुष्य देह छोड़कर कर्मके अनुसार जानवरोंमें जन्म लेता है, पत्थर भी होता है, वृक्ष भी होता है, क्या यह ठीक है ?

उ०—देह छोड़नेके बाद उपार्जित कर्मके अनुसार जीवकी गति होती है, इससे वह तिर्यंच (जानवर) भी होता है और पृथ्वीकाय अर्थात् पृथ्वीरूप शरीर धारणकर बाकीकी दूसरी चार इन्द्रियोंके बिना कर्म भोगनेका जीवको प्रसंग भी आता है; तथापि वह सर्वथा पत्थर अथवा पृथ्वी हो जाता है, ऐसा कुछ नहीं है। पत्थररूप काया धारण करे और उसमें भी अव्यक्तरूपसे जीव जीवरूप ही होता है। दूसरी चार इन्द्रियोंकी वहाँ अव्यक्तता (अप्रगटता) होनेसे पृथ्वीकायरूप जीव कहने योग्य है। अनुक्रमसे उस कर्मको भोगकर जीव निवृत्त होता है, तब केवल पत्थरका दल परमाणुरूपसे रहता है, परंतु जीवके उसके संबंधको छोड़कर चले जानेसे उसे आहारादि संज्ञा नहीं होती, अर्थात् केवल जड़ ऐसा पत्थर जीव होता है, ऐसा नहीं है। कर्मकी विषमतासे चार इंद्रियोंका प्रसंग अव्यक्त होकर केवल एक स्पर्शेन्द्रियरूपसे देहका प्रसंग जीवको जिस कर्मसे होता है, उस कर्मको भोगते हुए वह पृथ्वी आदिमें जन्म लेता है, परंतु वह सर्वथा पृथ्वीरूप अथवा पत्थररूप नहीं हो जाता। जानवर होते हुए भी सर्वथा जानवर नहीं हो जाता। जो देह है, वह जीवकी वेशधारिता है, स्वरूपता नहीं है।

६-७. प्र०—५वें प्रश्नके उत्तरमें छठे प्रश्नका भी समाधान आ गया है, और सातवें प्रश्नका भी समाधान आ गया है कि केवल पत्थर या केवल पृथ्वी कुछ कर्मका कर्त्ता नहीं है। उसमें आकर उत्पन्न हुआ जीव कर्मका कर्त्ता है, और वह भी दूध और पानीकी तरह है। जैसे दूध पानीका संयोग होनेपर भी दूध दूध है और पानी पानी है, वैसे एकेन्द्रिय आदि कर्मबंधसे जीवमें पत्थरपन, जड़ता मालूम होती है, तो भी वह जीव अंतरमें तो जीवरूपसे ही है; और वहाँ भी वह आहार, भय आदि संज्ञापूर्वक है, जो अव्यक्त जैसी है।

८. प्र०—(१) आर्यधर्म क्या है ? (२) सबकी उत्पत्ति वेदमेंसे ही है क्या ?

उ०—(१) आर्यधर्मकी व्याख्या करनेमें सभी अपने पक्षको आर्यधर्म कहना चाहते हैं। जैन जैनको, बौद्ध बौद्धको, वेदांती वेदांतको आर्यधर्म कहते हैं, ऐसा साधारण है। तथापि ज्ञानीपुरुष तो जिससे आत्माको निजस्वरूपकी प्राप्ति हो, ऐसा जो आर्य (उत्तम) मार्ग, उसे आर्यधर्म कहते हैं, और ऐसा ही होने योग्य है।

(२) सबकी उत्पत्ति वेदमेंसे होना संभव नहीं है। वेदमें जितना ज्ञान कहा है उससे हजारगुना आशयवाला ज्ञान श्री तीर्थंकरादि महात्माओंने कहा है, ऐसा मेरे अनुभवमें आता है, और इससे मैं ऐसा मानता हूँ कि अल्प वस्तुमेंसे संपूर्ण वस्तु नहीं हो सकती; ऐसा होनेसे वेदमेंसे सबकी उत्पत्ति कहना योग्य नहीं है। वैष्णवादि संप्रदायोंकी उत्पत्ति उसके आश्रयसे माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। जैन, बौद्धके अंतिम महावीरादि महात्मा होनेसे पहले वेद थे; ऐसा मालूम होता है, और वे बहुत प्राचीन ग्रंथ हैं, ऐसा भी मालूम होता है। तथापि जो कुछ प्राचीन हो वही संपूर्ण हो या सत्य हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता, और जो बादमें उत्पन्न हुए हों वे अपूर्ण तथा असत्य हों, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। बाकी वेद जैसा अभिप्राय और जैन जैसा अभिप्राय अनादिसे चला आता है। सर्व भाव अनादि हैं, मात्र रूपांतर होता है। केवल उत्पत्ति अथवा केवल नाश नहीं होता। वेद, जैन और अन्य सबके अभिप्राय अनादि हैं, ऐसा माननेमें आपत्ति नहीं है; वहाँ फिर विवाद किसका रहे ? तथापि इन सबमें विशेष बलवान, सत्य अभिप्राय

किसका कहने योग्य है, उसका विचार करना, यह हमें, आपको, सबको योग्य है।

९. प्र०—(१) वेद किसने बनाये ? वे अनादि हैं ? (२) यदि अनादि हों तो अनादिका अर्थ क्या ?

उ०—(१) बहुत काल पहले वेदोंका होना संभव है।

(२) पुस्तकरूपसे कोई भी शास्त्र अनादि नहीं है; उसमें कहे हुए अर्थके अनुसार तो सब शास्त्र अनादि है; क्योंकि उस उस प्रकारका अभिप्राय भिन्न-भिन्न जीव भिन्न भिन्नरूपसे कहते आये हैं; और ऐसी ही स्थिति संभव है, क्रोधादि भाव भी अनादि हैं, और क्षमादि भाव भी अनादि हैं; हिंसादि धर्म भी अनादि है, और अहिंसादि धर्म भी अनादि है। मात्र जीवके लिये हितकारी क्या है ? इतना विचार करना कार्यरूप है। अनादि तो दोनों हैं। फिर कभी कम परिमाणमें और कभी विशेष परिमाणमें किसीका बल होता है।

१०. प्र०—गीता किसने बनायी ? ईश्वरकृत तो नहीं है ? यदि वैसा हो तो उसका कोई प्रमाण है ?

उ०—उपर्युक्त उत्तरोंसे कुछ समाधान हो सकने योग्य है कि 'ईश्वर'का अर्थ ज्ञानी (संपूर्णज्ञानी) ऐसा करनेसे वह ईश्वरकृत हो सकती है, परंतु नित्य अक्रिय ऐसे आकाशकी तरह व्यापक ईश्वरको स्वीकार करनेपर वैसी पुस्तक आदिकी उत्पत्ति होना संभव नहीं है, क्योंकि यह तो साधारण कार्य है कि जिसका कर्तृत्व आरंभपूर्वक होता है, अनादि नहीं होता। गीता वेदव्यासजीकी बनायी हुई पुस्तक मानी जाती है और महात्मा श्रीकृष्णने अर्जुनको वैसा बोध किया था, इसलिये मुख्यरूपसे कर्त्ता श्रीकृष्ण कहे जाते हैं, जो बात संभव है। ग्रंथ श्रेष्ठ है, ऐसा भावार्थ अनादिसे चला आता है; परंतु वे ही श्लोक अनादिसे चले आते हों, ऐसा होना योग्य नहीं है; तथा निष्क्रिय ईश्वरसे भी उसकी उत्पत्ति हो, यह संभव नहीं है। सक्रिय अर्थात् किसी देहधारीसे वह क्रिया होने योग्य है। इसलिये संपूर्णज्ञानी वही ईश्वर है, और उसके द्वारा उपदिष्ट शास्त्र ईश्वरीय शास्त्र हैं, ऐसा माननेमें कोई बाधा नहीं है।

११. प्र०—पशु आदिके यज्ञसे जरा भी पुण्य है क्या ?

उ०—पशुके वधसे, होमसे या जरा भी उसे दुःख देनेसे पाप ही है, वह फिर यज्ञमें करे या चाहे तो ईश्वरके धाममें बैठकर करें, परंतु यज्ञमें जो दानादि क्रिया होती है, वह कुछ पुण्य हेतु है, तथापि हिंसामिश्रित होनेसे वह भी अनुमोदन योग्य नहीं है।

१२. प्र०—जो धर्म उत्तम है, ऐसा आप कहें तो उसका प्रमाण माँगा जा सकता है क्या ?

उ०—प्रमाण माँगनेमें न आये और उत्तम है ऐसा प्रमाणके बिना प्रतिपादन किया जाय तो फिर अर्थ, अनर्थ, धर्म, अधर्म सब उत्तम ही ठहरें। प्रमाणसे ही उत्तम अनुत्तम मालूम होता है। जो धर्म संसारको परिक्षीण करनेमें सबसे उत्तम हो, और निजस्वभावमें स्थिति करानेमें बलवान हो वही उत्तम और वही बलवान है।

१३. प्र०—क्या आप ईसाईधर्मके विषयमें कुछ जानते हैं ? यदि जानते हों तो अपने विचार बतलाइयेगा।

उ०—ईसाईधर्मके विषयमें मैं साधारणरूपसे जानता हूँ। भरतखंडमें महात्माओंने जैसा धर्म शोधा है, विचारा है, वैसा धर्म किसी दूसरे देशसे विचारा नहीं गया है, यह तो अल्प अभ्याससे भी समझा जा सकता है। उसमें (ईसाईधर्ममें) जीवकी सदा परवशता कही गयी है, और मोक्षमें भी वह दशा वैसी ही रखी है। जिसमें जीवके अनादि स्वरूपका विवेचन यथायोग्य नहीं है, कर्मसंबंधी व्यवस्था, और उसकी निवृत्ति भी यथायोग्य नहीं कही है, उस धर्मके विषयमें मेरा ऐसा अभिप्राय होना संभव नहीं है कि वह सर्वोत्तम धर्म है। ईसाईधर्ममें जो मैंने ऊपर कहा उस प्रकारका यथायोग्य समाधान दिखायी नहीं देता।

यह वाक्य मतभेदवशात् नहीं कहा है। अधिक पूछने योग्य लगे तो पूछियेगा, तो विशेष समाधान किया जा सकेगा।

१४. प्र०—वे ऐसा कहते हैं कि बाईबिल ईश्वरप्रेरित है, ईसा ईश्वरका अवतार है, उसका पुत्र है, और था।

उ०—यह बात तो श्रद्धासे मानी जा सकती है, परंतु प्रमाणसे सिद्ध नहीं है। जैसा गीता और वेदके ईश्वरप्रेरित होनेके बारेमें ऊपर लिखा है, वैसा ही बाईबिलके संबंधमें भी मानना। जो जन्ममरणसे मुक्त हुआ वह ईश्वर अवतार ले, यह संभव नहीं है; क्योंकि रागद्वेषादि परिणाम ही जन्मका हेतु है; वह जिसे नहीं है ऐसा ईश्वर अवतार धारण करे, यह बात विचार करनेसे यथार्थ प्रतीत नहीं होती। 'ईश्वरका पुत्र है और था,' इस बातका भी किसी रूपकके तौरपर विचार करे तो कदाचित् मेल बैठता है; नहीं तो प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित है। मुक्त ऐसे ईश्वरको पुत्र हो, यह किस तरह कहा जाये? और कहें तो उसकी उत्पत्ति किस तरह कह सकते हैं? दोनोंको अनादि मानें तो पिता-पुत्र संबंध किस तरह मेल खाये? इत्यादि बातें विचारणीय हैं। जिनका विचार करनेसे मुझे ऐसा लगता है, कि यह बात यथायोग्य नहीं है।

१५. प्र०—पुराने करारमें जो भविष्य कहा गया है वह सब ईसाके विषयमें सच सिद्ध हुआ है।

उ०—ऐसा हो तो भी उससे उन दोनों शास्त्रोंके विषयमें विचार करना योग्य है। तथा ऐसा भविष्य भी ईसाको ईश्वरावतार कहनेमें बलवान प्रमाण नहीं है; क्योंकि ज्योतिषादिकसे भी महात्माकी उत्पत्ति बतायी हो ऐसा संभव है। अथवा भले किसी ज्ञानसे वैसी बात बतायी हो, परंतु वैसे भविष्यवेत्ता संपूर्ण मोक्षमार्गके ज्ञाता थे, यह बात जब तक यथास्थित प्रमाणरूप न हो, तब तक वह भविष्य इत्यादि एक श्रद्धाग्राह्य प्रमाण है, और वह अन्य प्रमाणोंसे बाधित न हो, ऐसा धारणामें नहीं आ सकता।

१६. प्र०—इसमें 'ईसामसीहके चमत्कार' के विषयमें लिखा है।

उ०—जो जीव कायामेंसे सर्वथा चला गया हो, उसी जीवको यदि उसी कायामें दाखिल किया हो, अथवा किसी दूसरे जीवको उसमें दाखिल किया हो, तो यह हो सकना संभव नहीं हैं; और यदि ऐसा हो तो फिर कर्मादिकी व्यवस्था भी निष्फल हो जाये। बाकी योगादिकी सिद्धिसे कितने ही चमत्कार उत्पन्न होते हैं, और वैसे कुछ चमत्कार ईसाके हो, तो यह एकदम मिथ्या है या असंभव है, ऐसा नहीं कहा जा सकता; वैसी सिद्धियाँ आत्माके ऐश्वर्यके आगे अल्प हैं, आत्माका ऐश्वर्य उससे अनंतगुना महान संभव है। इस विषयमें समागममें पूछना योग्य है।

१७. प्र०—भविष्यमें कौनसा जन्म होगा उसका इस भवमें पता चलता है? अथवा पहले क्या थे इसका पता चल सकता है?

उ०—यह हो सकता है। जिसका ज्ञान निर्मल हुआ हो उसे वैसा होना संभव है। जैसे बादल इत्यादि चिह्नोंसे बरसातका अनुमान होता है, वैसे इस जीवकी इस भवकी चेष्टासे उसके पूर्वकारण कैसे होने चाहिये, यह भी समझा जा सकता है, कदाचित् थोड़े अंशमें समझा जाये। तथा वह चेष्टा भविष्यमें कैसे परिणामको प्राप्त होगी, यह भी उसके स्वरूपसे जाना जा सकता है। और उसका विशेष विचार करनेपर कैसा भव होना संभव है, तथा कैसा भव था, यह भी विचारमें भलीभाँति आ सकता है।

१८. प्र०—पुनर्जन्म तथा पूर्वजन्मका पता किसे चल सकता है?

उ०—इसका उत्तर ऊपर आ चुका है।

१९. प्र०—जिन मोक्षप्राप्त पुरुषोंके नाम आप बताते हैं, वह किस आधारसे?

उ०—इस प्रश्नको यदि मुझे खास तौरसे लक्ष्य करके पूछते हैं तो उसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि जिनकी संसारदशा अत्यंत परिक्षीण हुई है, उनके वचन ऐसे हों, ऐसी उनकी चेष्टा हो, इत्यादि अंशसे भी अपने आत्मामें अनुभव होता है, और उसके आश्रयसे उनके मोक्षके विषयमें कहा जा सकता है; और प्रायः वह यथार्थ होता है, ऐसा माननेके प्रमाण भी शास्त्रादिसे जाने जा सकते हैं।

२०. प्र०—बुद्धदेव भी मोक्षको प्राप्त नहीं हुए, यह आप किस आधारसे कहते हैं ?

उ०—उनके शास्त्रसिद्धांतोंके आधारसे। जिस प्रकारसे उनके शास्त्रसिद्धांत हैं, उसीके अनुसार यदि उनका अभिप्राय हो तो वह अभिप्राय पूर्वापर विरुद्ध भी दिखायी देता है; और वह संपूर्ण ज्ञानका लक्षण नहीं है।

यदि संपूर्ण ज्ञान न हो तो संपूर्ण रागद्वेषका नाश होना संभव नहीं है। जहाँ वैसा हो वहाँ संसारका संभव है। इसलिये, उन्हें संपूर्ण मोक्ष प्राप्त हुआ है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। और उनके कहे हुए शास्त्रोंमें जो अभिप्राय है उसके सिवाय उनका अभिप्राय दूसरा था, उसे दूसरी तरह जानना आपके लिये और हमारे लिये कठिन है; और वैसा होने पर भी यदि कहें कि बुद्धदेवका अभिप्राय दूसरा था तो उसे कारणपूर्वक कहनेसे प्रमाणभूत न हो, ऐसा कुछ नहीं है।

२१. प्र०—दुनियाकी अंतिम स्थिति क्या होगी ?

उ०—सब जीवोंकी स्थिति सर्वथा मोक्षरूपसे हो जाये अथवा इस दुनियाका सर्वथा नाश हो जाये, वैसा होना मुझे प्रमाणभूत नहीं लगता। ऐसेके ऐसे प्रवाहमें उसकी स्थिति संभव है। कोई भाव रूपांतर पाकर क्षीण हो, तो कोई वर्धमान हो, परंतु वह एक क्षेत्रमें बढ़े तो दूसरे क्षेत्रमें घटे इत्यादि इस सृष्टिकी स्थिति है। इससे और बहुत ही गहरे विचारमें जानेके अनंतर ऐसा संभवित लगता है, कि इस सृष्टिका सर्वथा नाश हो या प्रलय हो, यह न होने योग्य है। सृष्टि अर्थात् एक यही पृथ्वी ऐसा अर्थ नहीं है।

२२. प्र०—इस अनीतिमेंसे सुनीति होगी क्या ?

उ०—इस प्रश्नका उत्तर सुनकर जो जीव अनीतिकी इच्छा करता है, उसे यह उत्तर उपयोगी हो, ऐसा होने देना योग्य नहीं है। सर्व भाव अनादि हैं, नीति, अनीति; तथापि आप हम अनीति छोड़कर नीति स्वीकार करें, तो इस स्वीकार किया जा सकता है और यही आत्माको कर्तव्य है। और सर्व जीवआश्रयी अनीति मिटकर नीति स्थापित हो, ऐसा वचन नहीं कहा जा सकता; क्योंकि एकांतसे वैसी स्थिति हो सकना योग्य नहीं है।

२३. प्र०—दुनियाका प्रलय है ?

उ०—प्रलय अर्थात् सर्वथा नाश, यदि ऐसा अर्थ किया जाये तो यह बात योग्य नहीं है, क्योंकि पदार्थका सर्वथा नाश होना संभव नहीं है। प्रलय अर्थात् सर्व पदार्थोंका ईश्वरादिमें लीन होना, तो किसीके अभिप्रायमें इस बातका स्वीकार है, परंतु मुझे यह संभवित नहीं लगता, क्योंकि सर्व पदार्थ, सर्व जीव ऐसे समपरिणामको किस तरह पायें कि ऐसा योग हो, और यदि वैसे समपरिणामका प्रसंग आये तो फिर पुनः विषमता होना संभव नहीं है। यदि अव्यक्तरूपसे जीवमें विषमता हो और व्यक्तरूपसे समता हो इस तरह प्रलयको स्वीकार करें तो भी देहादि संबंधके बिना विषमता किस आश्रयसे रहे ? देहादि संबंध मानें तो सबकी एकेन्द्रियता माननेका प्रसंग आये, और वैसा माननेसे तो बिना कारण दूसरी गतियोंका अस्वीकार समझा जाये अर्थात् ऊँची गतिके जीवको यदि वैसे परिणामका प्रसंग मिटने आया हो, वह प्राप्त होनेका प्रसंग आये इत्यादि बहुतसे विचार उठते हैं। सर्व जीवआश्रयी प्रलयका संभव नहीं है।

२४. प्र०—अनपढ़को भक्तिसे ही मोक्ष मिल सकता है क्या ?

उ०—भक्ति ज्ञानका हेतु है। ज्ञान मोक्षका हेतु है। जिसे अक्षरज्ञान न हो उसे अनपढ़ कहा हो, तो उसे भक्ति प्राप्त होना असंभवित है, ऐसा कुछ है नहीं। जीव मात्र ज्ञानस्वभावी है। भक्तिके बलसे ज्ञान निर्मल होता है। निर्मल ज्ञान मोक्षका हेतु होता है। संपूर्ण ज्ञानकी अभिव्यक्ति हुए बिना सर्वथा मोक्ष हो, ऐसा मुझे नहीं लगता; और जहाँ संपूर्ण ज्ञान हो वहाँ सर्व भाषाज्ञान समा जाय, ऐसा कहनेकी भी आवश्यकता नहीं है। भाषाज्ञान मोक्षका हेतु है तथा वह जिसे न हो उसे आत्मज्ञान न हो ऐसा कुछ नियम संभव नहीं है।

२५. प्र०—(१) कृष्णावतार और रामावतार होनेकी बात क्या सच्ची है ? यदि ऐसा हो तो वें क्या थे ? वे साक्षात् ईश्वर थे या उसके अंश थे ? (२) उन्हें माननेसे मोक्ष मिलता है क्या ?

उ०—(१) दोनों महात्मा पुरुष थे, ऐसा तो मुझे भी निश्चय है। आत्मा होनेसे वे ईश्वर थे। उनके सब आवरण दूर हो गये हों तो उनका सर्वथा मोक्ष भी माननेमें विवाद नहीं है। कोई जीव ईश्वरका अंश है, ऐसा मुझे नहीं लगता, क्योंकि उसके विरोधी हजारों प्रमाण देखनेमें आते हैं। जीवको ईश्वरका अंश माननेसे बंध-मोक्ष सब व्यर्थ हो जाते हैं क्योंकि ईश्वर ही अज्ञानादिका कर्ता हुआ; और अज्ञान आदिका जो कर्त्ता हो उसे फिर सहज ही अनैश्वर्यता प्राप्त होती है और ऐश्वर्य खो बैठता है; अर्थात् जीवका स्वामी होने जाते हुए ईश्वरको उलटे हानि सहन करनेका प्रसंग आये वैसा है। तथा जीवको ईश्वरका अंश माननेके बाद पुरुषार्थ करना किस तरह योग्य लगे ? क्योंकि वह स्वयं तो कोई कर्त्ता-हर्त्ता सिद्ध नहीं हो सकता। इत्यादि विरोधसे किसी जीवको ईश्वरके अंशरूपसे स्वीकार करनेकी भी मेरी बुद्धि नहीं होती। तो फिर श्रीकृष्ण या राम जैसे महात्माओंको वैसे योगमें माननेकी बुद्धि कैसे हो ? वे दोनों अव्यक्त ईश्वर थे, ऐसा माननेमें बाधा नहीं है। तथापि उनमें संपूर्ण ऐश्वर्य प्रगट हुआ था या नहीं, यह बात विचारणीय है।

(२) उन्हें माननेसे मोक्ष मिलता है क्या ? इसका उत्तर सहज है। जीवके सर्व रागद्वेष और अज्ञानका अभाव अर्थात् उनसे छूटना ही मोक्ष है। वह जिनके उपदेशसे हो सके उन्हें मानकर और उनका परमार्थस्वरूप विचारकर, स्वात्मामें भी वैसी ही निष्ठा होकर उसी महात्माके आत्माके आकारसे (स्वरूपसे) प्रतिष्ठान हो, तब मोक्ष होना संभव है। बाकी अन्य उपासना सर्वथा मोक्षका हेतु नहीं है, उसके साधनका हेतु होती है, वह भी निश्चयसे हो ही ऐसा कहना योग्य नहीं है।

२६. प्र०—ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर कौन थे ?

उ०—सृष्टिके हेतुरूप तीन गुणोंको मानकर, उनके आश्रयसे उन्हें यह रूप दिया हो तो यह बात मेल खा सकती है तथा वैसे अन्य कारणोंसे उन ब्रह्मादिका स्वरूप समझमें आता है। परंतु पुराणोंमें जिस प्रकारका उनका स्वरूप कहा है, उस प्रकारका स्वरूप है, ऐसा माननेमें मेरा विशेष झुकाव नहीं है। क्योंकि उनमें बहुतसे रूपक उपदेशके लिये कहे हों, ऐसा भी लगता है। तथापि हमें भी उनका उपदेशके रूपमें लाभ लेना चाहिये और ब्रह्मादिके स्वरूपका सिद्धांत करनेकी जंजालमें न पड़ना चाहिये यह मुझे ठीक लगता है।

२७. प्र०—जब मुझे सर्प काटने आये तब मुझे उसे काटने देना या मार डालना ? उसे दूसरी तरहसे दूर करनेकी शक्ति मुझमें न हो, ऐसा मानते हैं।

उ०—आप सर्पको काटने दें, ऐसा काम बताते हुए विचारमें पड़ने जैसा है। तथापि आपने यदि ऐसा जाना हो कि 'देह अनित्य है,' तो फिर इस असारभूत देहके रक्षणके लिये, जिसे देहमें प्रीति है, ऐसे

सर्पको मारना आपके लिये कैसे योग्य हो ? जिसे आत्महितकी इच्छा हो, उसे तो वहाँ अपनी देह छोड़ देना ही योग्य है। कदाचित् आत्महितकी इच्छा न हो, वह क्या करे ? तो इसका उत्तर यही दिया जाये कि वह नरकादिमें परिभ्रमण करे; अर्थात् सर्पको मारे ऐसा उपदेश कहाँसे कर सकते हैं ? अनार्यवृत्ति हो तो मारनेका उपदेश किया जा सकता है। वह तो हमें तुम्हें स्वप्नमें भी न हो, यही इच्छा करने योग्य है।

अब संक्षेपमें इन उत्तरोंको लिखकर पत्र पूरा करता हूँ। 'षड्दर्शनसमुच्चय' को विशेष समझनेका प्रयत्न कीजियेगा। इन प्रश्नोंके उत्तर संक्षेपमें लिखनेसे आपको समझनेमें कहीं भी कुछ दुविधा हो तो भी विशेषतासे विचारियेगा, और कुछ भी पत्र द्वारा पूछने योग्य लगे तो पूछियेगा, तो प्रायः उसका उत्तर लिखूँगा। समागममें विशेष समाधान होना अधिक योग्य लगता है।

लि० आत्मस्वरूपमें नित्य निष्ठाके हेतुभूत विचारकी चिंतामें रहनेवाले
रायचंदके प्रणाम।

---

५३१ बंबई, आसोज वदी ३०, १९५०

आपके लिखे हुए तीनों पत्र मिले हैं। जिसका परमार्थ हेतुसे प्रसंग हो वह यदि आजीविकादिके प्रसंगके विषयमें थोड़ीसी बात लिखे या सूचित करे, तो उससे परेशानी हो आती है। परंतु यह कलिकाल महात्माके चित्तको भी ठिकाने रहने दे, ऐसा नहीं है, यह सोचकर मैंने आपके पत्र पढ़े हैं। उनमें व्यापारकी व्यवस्थाके विषयमें आपने जो लिखा, वह अभी करने योग्य नहीं है। बाकी इस प्रसंगमें आपने जो कुछ सूचित किया है उसे या उससे अधिक आपके वास्ते कुछ करना हो तो इसमें आपत्ति नहीं है। क्योंकि आपके प्रति अन्यभाव नहीं है।

---

५३२ बंबई, आसोज वदी ३०, १९५०

आपके लिखे हुए तीन पत्रोंके उत्तरमें एक चिट्ठी[1] आज लिखी है। जिसे बहुत संक्षेपमें लिखा होनेसे उनका उत्तर कदाचित् न समझा जा सके, इसलिये फिर यह चिट्ठी लिखी है। आपका निर्दिष्ट कार्य आत्मभावका त्याग किये बिना चाहे जो करनेका हो तो उसे करनेमें हमें विषमता नहीं है। परंतु हमारा चित्त, अभी आप जो काम लिखते हैं उसे करनेमें फल नहीं है, ऐसा समझकर आप उस विचारका उपशमन करें, ऐसा कहता है। आगे क्या होता है उसे धीरतासे साक्षीवत् देखना श्रेयरूप है। तथा अभी कोई दूसरा भय रखना योग्य नहीं है। और ऐसी ही स्थिति बहुत काल तक रहनेवाली है, ऐसा है ही नहीं। प्रणाम।

---

१. देखें आंक ५३१

२८ वाँ वर्ष

५३३ बंबई, कार्तिक सुदी १, १९५१

मतिज्ञानादिके प्रश्नोंके विषयमें पत्र द्वारा समाधान होना कठिन है। क्योंकि उन्हें विशेष पढ़नेकी या उत्तर लिखनेकी प्रवृत्ति अभी नहीं हो सकती।

महात्माके चित्तकी स्थिरता भी जिसमें रहनी कठिन है, ऐसे दुषमकालमें आप सबके प्रति अनुकंपा करना योग्य है, यह विचारकर लोकके आवेशमें प्रवृत्ति करते हुए आपने प्रश्नादि लिखनेरूप चित्तमें अवकाश दिया, इससे मेरे मनको संतोष हुआ है। निष्कपट दासानुदासभावसे०

---

५३४ बंबई, कार्तिक सुदी ३, बुध, १९५१

श्री सत्पुरुषको नमस्कार

श्री सूर्यपुरस्थित, वैराग्यचित्त, सत्संगयोग्य श्री लल्लुजीके प्रति,

श्री मोहमयी भूमिसे, जीवन्मुक्तदशाके इच्छुक श्री.....का आत्मस्मृतिपूर्वक यथायोग्य प्राप्त हो। विशेष विनती कि आपके लिखे हुए तीन पत्र थोड़े थोड़े दिनोंके अंतरसे मिले हैं।

यह जीव अत्यंत मायाके आवरणसे दिशामूढ़ हुआ है, और उस योगसे उसकी परमार्थदृष्टिका उदय नहीं होता। अपरमार्थमें परमार्थका दृढाग्रह हुआ है; और उससे बोध प्राप्त होनेका योग होने पर भी उसमें बोधका प्रवेश हो, ऐसा भाव स्फुरित नहीं होता, इत्यादि जीवकी विषम दशा कहकर प्रभुके प्रति दीनता प्रदर्शित की है कि 'हे नाथ! अब मेरी कोई गति (मार्ग) मुझे दिखायी नहीं देती। क्योंति मैंने सर्वस्व लुटा देने जैसा योग किया है, और सहज ऐश्वर्य होते हुए भी, प्रयत्न करनेपर भी, उस ऐश्वर्यसे विपरीत मार्गका ही मैंने आचरण किया है। उस उस योगसे मेरी निवृत्ति कर, और उस निवृत्तिका सर्वोत्तम सदुपाय जो सद्गुरुके प्रति शरणभाव है वह उत्पन्न हो, ऐसी कृपा कर,' ऐसे भावके बीस दोहे हैं, जिनमें प्रथम वाक्य 'हे प्रभु! हे प्रभु! शुं कहुं? दीनानाथ दयाल' है। वे दोहे आपके स्मरणमें होंगे। उन दोहोंकी विशेष अनुप्रेक्षा हो, वैसा करेंगे तो वह विशेष गुणाभिव्यक्तिका हेतु होगा।

उनके साथ दूसरे आठ त्रोटक छंद अनुप्रेक्षा करने योग्य है, जिनमें इस जीवको क्या आचरण

करना बाकी है, और जो जो परमार्थके नामसे आचरण किये हैं वे अब तक वृथा हुए, और उन आचरणमें जो मिथ्याग्रह है उसे निवृत्त करनेका बोध दिया है, वे भी अनुप्रेक्षा करनेसे जीवको पुरुषार्थविशेषके हेतु हैं।

'योगवासिष्ठ' का पठन पूरा हुआ हो तो कुछ समय उसका अवकाश रखकर अर्थात् अभी फिरसे पढ़ना बंद रखकर 'उत्तराध्ययनसूत्र' को विचारियेगा, परंतु उसे कुलसंप्रदायके आग्रहार्थको निवृत्त करनेके लिये विचारियेगा। क्योंकि जीवको कुलयोगसे जो संप्रदाय प्राप्त हुआ होता है, वह परमार्थरूप है या नहीं? ऐसा विचार करते हुए दृष्टि आगे नहीं चलती और सहजमें उसे ही परमार्थ मानकर जीव परमार्थ चूक जाता है। इसलिये मुमुक्षुजीवका तो यही कर्तव्य है कि जीवको सद्गुरुके योगसे कल्याणकी प्राप्ति अल्पकालमें हो, उसके साधन, वैराग्य और उपशमके लिये 'योगवासिष्ठ', 'उत्तराध्ययनादि' विचारणीय है, तथा प्रत्यक्ष पुरुषके वचनकी निराबाधता, पूर्वापर अविरोधिता जाननेके लिये विचारणीय हैं। आ० स्व० प्रणाम।

---

५३५ बंबई, कार्तिक सुदी ३, बुध, १९५१

आपको दो चिट्ठियाँ लिखी थीं, वे मिली होंगी। हमने संक्षेपमें लिखा है। अभिन्नभावसे लिखा है। इसलिये कदाचित् उसमें कुछ आशंकायोग्य नहीं है। तो भी संक्षेपके कारण समझमें न आये, ऐसा कुछ हो तो पूछनेमें आपत्ति नहीं है।

श्रीकृष्ण चाहे जिस गतिको प्राप्त हुए हों, परंतु विचार करनेसे वे आत्मभाव-उपयोगी थे, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। जिन श्रीकृष्णने कांचनकी द्वारिकाका, छप्पन करोड़ यादवों द्वारा संगृहीतका, पंचविषयके आकर्षक कारणोंके योगमें स्वामित्व भोगा, उन श्रीकृष्णने जब देहको छोड़ा है तब क्या स्थिति थी, वह विचार करने योग्य है; और उसे विचारकर इस जीवको अवश्य आकुलतासे मुक्त करना योग्य है। कुलका संहार हुआ है, द्वारिकाका दाह हुआ है, उसके शोकसे शोकवान अकेले वनमें भूमिपर आधार करके सो रहे हैं, वहाँ जराकुमारने जब बाण मारा, उस समय भी जिन्होंने धैर्यको अपनाया है, उन श्रीकृष्णकी दशा विचारणीय है।

---

५३६ बंबई, कार्तिक सुदी ४, गुरु, १९५१

आज एक पत्र प्राप्त हुआ है, और उस संबंधमें यथाउदय समाधान लिखनेका विचार करता हूँ, और वह पत्र तुरत लिखूँगा।

मुमुक्षुजीवको दो प्रकारकी दशा रहती है, एक 'विचारदशा' और दूसरी 'स्थितप्रज्ञदशा'। स्थितप्रज्ञदशा विचारदशाके लगभग पूरी हो जानेपर अथवा संपूर्ण होनेपर प्रगट होती है। उस स्थितप्रज्ञदशाकी प्राप्ति इस कालमें कठिन है; क्योंकि इस कालमें आत्मपरिणामके लिये व्याघातरूप योग प्रधानरूपसे रहता है। और इससे विचारदशा का योग भी सद्गुरु और सत्संगके अभावसे प्राप्त नहीं होता; वैसे कालमें कृष्णदास विचारदशाकी इच्छा करते हैं यह विचारदशा प्राप्त होनेका मुख्य कारण है, और ऐसे जीवको भय, चिंता, पराभव आदि भावमें निजबुद्धि करना योग्य नहीं है, तो भी धैर्यसे उन्हें समाधान होने देना, और निर्भय चित्त रखवाना योग्य है।

---

५३७ बंबई, कार्तिक सुदी ७, शनि, १९५१

श्री सत्पुरुषोंको नमस्कार

श्री स्थंभतीर्थवासी मुमुक्षुजनोंके प्रति,

श्री मोहमयी भूमिसे.....का आत्मस्मृतिपूर्वक यथायोग्य प्राप्त हो। विशेष विनती कि मुमुक्षु अंबालालका लिखा हुआ एक पत्र आज प्राप्त हुआ है।

कृष्णदासके चित्तकी व्यग्रता देखकर आप सबके मनमें खेद रहता है; वैसा होना स्वाभाविक है। यदि हो सके तो 'योगवासिष्ठ' ग्रंथ तीसरे प्रकरणसे उन्हें पढ़ावे अथवा श्रवण करावे; और प्रवृत्तिक्षेत्रसे जैसे अवकाश मिले तथा सत्संग हो वैसे करें। दिनभरमें वैसा अधिक समय अवकाश लिया जा सके, उतना ध्यान रखना योग्य है।

सब मुमुक्षुभाइयोंकी समागमकी इच्छा है ऐसा लिखा, उसका विचार करूँगा। मार्गशीर्ष मासके पिछले भागमें या पौष मासके आरंभमें बहुत करके वैसा योग होना संभव है।

कृष्णदासको चित्तके विक्षेपकी निवृत्ति करना योग्य है। क्योंकि मुमुक्षुजीवको अर्थात् विचारवान जीवको इस संसारमें अज्ञानके सिवाय और कोई भय नहीं होता। एक अज्ञानकी निवृत्ति करनेकी जो इच्छा है, उसके सिवाय विचारवान जीवको दूसरी इच्छा नहीं होती, और पूर्वकर्मके योगसे वैसा कोई उदय हो, तो भी विचारवानके चित्तमें संसार कारागृह है, समस्त लोक दुःखसे आर्त्त है, भयाकुल है, रागद्वेषके प्राप्त फलसे जलता है, ऐसा विचार निश्चयरूप ही रहता है; और ज्ञानप्राप्तिमें कुछ अंतराय है, इसलिये यह कारागृहरूप संसार मुझे भयका हेतु है और लोकका प्रसंग करना योग्य नहीं है, यही एक भय विचारवानको होना योग्य है।

महात्मा श्री तीर्थंकरने निर्ग्रंथको प्राप्तपरिषह सहन करनेकी वारंवार सूचना दी है। उस परिषहके स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए अज्ञानपरिषह और दर्शनपरिषह ऐसे दो परिषहोंका प्रतिपादन किया है, कि किसी उदययोगकी प्रबलता हो और सत्संग एवं सत्पुरुषका योग होनेपर भी जीवकी अज्ञानके कारणोंको दूर करनेकी हिम्मत न चल सकती हो, आकुलता आ जाती हो, तो भी धैर्य रखना; सत्संग एवं सत्पुरुषके योगका विशेष विशेष आराधन करना; तो अनुक्रमसे अज्ञानकी निवृत्ति होगी; क्योंकि निश्चय जो उपाय है, और जीवको निवृत्त होनेकी बुद्धि है, तो फिर वह अज्ञान निराधार हो जानेपर किस तरह टिक सकता है ? एक मात्र पूर्वकर्मके योगके सिवाय वहाँ उसे कोई आधार नहीं है। वह तो जिस जीवको सत्संग एवं सत्पुरुषका योग हुआ है और पूर्वकर्मनिवृत्तिका प्रयोजन है, उसका अज्ञान क्रमशः दूर होना ही योग्य है; ऐसा विचारकर वह मुमुक्षुजीव उस अज्ञानजन्य आकुलता-व्याकुलताको धैर्यसे सहन करे, इस तरह परमार्थ कहकर परिषह कहा है। यहाँ हमने उन दोनों परिषहोंका स्वरूप संक्षेपमें लिखा है। ऐसा परिषहका स्वरूप जानकर, सत्संग एवं सत्पुरुषके योगसे, जो अज्ञानसे आकुलता होती है वह निवृत्त होगी, ऐसा निश्चय रखकर, यथाउदय जानकर, धैर्य रखनेका भगवान तीर्थंकरने कहा है; परंतु वह धैर्य ऐसे अर्थमें नहीं कहा है, कि सत्संग एवं सत्पुरुषका योग होनेपर प्रमाद हेतुसे विलंब करना, वह धैर्य है और उदय है, यह बात भी विचारवान जीवको स्मृतिमें रखना योग्य है।

श्री तीर्थंकरादिने बार-बार जीवोंको उपदेश दिया है; परंतु जीव दिङ्मूढ़ रहना चाहता है, वहाँ उपाय नहीं चल सकता। पुनः पुनः ठोक-ठोककर कहा है कि एक यह जीव समझ ले तो सहज मोक्ष है, नहीं तो अनंत उपायोंसे भी नहीं है। और यह समझना भी कुछ विकट नहीं है, क्योंकि जीवका जो सहज स्वरूप है वही मात्र समझना है; और वह कुछ दूसरेके स्वरूपकी बात नहीं है कि कदाचित् वह छिपा ले

या न बताये कि जिससे समझमें न आवें। अपनेसे आप गुप्त रहना किस तरह हो सकता है? परंतु स्वप्नदशामें जैसे न होने योग्य ऐसी अपनी मृत्युको भी जीव देखता है, वैसे ही अज्ञानदशारूप स्वप्नरूप योगसे यह जीव अपनेको, जो अपने नहीं हैं ऐसे दूसरे द्रव्योंमें निजरूपसे मानता है; और यही मान्यता संसार है, यही अज्ञान है, नरकादि गतिका हेतु यही है, यही जन्म है, मरण है, और यही देह है, देहका विकार है, यही पुत्र है, यही पिता, यही शत्रु, यही मित्रादि भावकल्पनाका हेतु है; और जहाँ उसकी निवृत्ति हुई वहाँ सहज मोक्ष है; और इसी निवृत्तिके लिये सत्संग, सत्पुरुष आदि साधन कहे हैं; और वे साधन भी, यदि जीव अपने पुरुषार्थको छिपाये बिना उनमें लगाये, तभी सिद्ध होते हैं। अधिक क्या कहें? इतनी संक्षिप्त बात यदि जीवमें परिणमित हो जाये तो वह सर्व व्रत, यम, नियम, जप, यात्रा, भक्ति, शास्त्रज्ञान आदि कर चुका, इसमें कुछ संशय नहीं है। यही विनती। आ० स्व० प्रणाम।

---

५३८ बंबई, कार्तिक सुदी ९, बुध, १९५१

दो पत्र प्राप्त हुए हैं।

मुक्त मनसे स्पष्टीकरण किया जाये ऐसी आपकी इच्छा रहती है, उस इच्छाके कारण ही मुक्त मनसे स्पष्टीकरण नहीं किया जा सका, और अब भी उस इच्छाका निरोध करनेके सिवाय आपके लिये दूसरा कोई विशेष कर्तव्य नहीं है। हम मुक्त मनसे स्पष्टीकरण करेंगे ऐसा जानकर इच्छाका निरोध करना योग्य नहीं है, परंतु सत्पुरुष के संगके माहात्म्यकी रक्षाके लिये उस इच्छाको शांत करना योग्य है, ऐसा विचारकर शांत करना योग्य है। सत्संगकी इच्छासे ही यदि संसारके प्रतिबंधके दूर होनेकी स्थितिके सुधारकी इच्छा रहती हो तो भी अभी उसे छोड़ देना योग्य है, क्योंकि हमें ऐसा लगता है कि वारंवार आप जो लिखते हैं, वह कुटुम्बमोह है, संक्लेशपरिणाम है, और असाता न सहन करनेकी किसी भी अंशमें बुद्धि है; और जिस पुरुषको वह बात किसी भक्तजनने लिखी हो, तो उससे उसका रास्ता निकालनेके बदले ऐसा होता है, कि ऐसी निदानबुद्धि जब तक रहे तब तक सम्यक्त्वका रोध अवश्य रहता है, ऐसा विचारकर बहुत बार खेद हो आता है; वह लिखना आपके लिये योग्य नहीं है।

---

५३९ बंबई, कार्तिक सुदी १४, सोम, १९५१

सर्व जीव आत्मरूपसे समस्वभावी है। अन्य पदार्थमें जीव यदि निजबुद्धि करे तो परिभ्रमणदशा प्राप्त करता है, और निजमें निजबुद्धि हो तो परिभ्रमणदशा दूर होती है। जिसके चित्तमें ऐसे मार्गका विचार करना आवश्यक है उसको, जिसके आत्मामें वह ज्ञान प्रकाशित हुआ है, उसकी दासानुदास-रूपसे अनन्य भक्ति करना ही परम श्रेय है; और उस दासानुदास भक्तिमानकी भक्ति प्राप्त होनेपर जिसमें कोई विषमता नहीं आती, उस ज्ञानीको धन्य है; उतनी सर्वांशदशा जब तक प्रगट न हुई हो तब तक आत्माकी कोई गुरुरूपसे आराधना करे, वहाँ पहले उस गुरुपनेको छोडकर उस शिष्यमें अपनी दासानुदासता करना योग्य है।

---

५४० बंबई, कार्तिक सुदी १४, सोम, १९५१

विषम संसाररूप
बंधनका छेदन करके जो पुरुष चल पड़े
उन पुरुषोंको अनंत प्रणाम है।

आज आपका एक पत्र प्राप्त हुआ है।

सुदी पंचमी या छठके बाद यहाँसे विदाय होकर मेरा वहाँ आना होगा, ऐसा लगता है। आपने लिखा कि विवाहके काममें पहलेसे आप पधारे हों, तो कितने ही विचार हो सकें। उस संबंधमें ऐसा है कि ऐसे कार्योंमें मेरा चित्त अप्रवेशक होनेसे, और वैसे कार्योंका माहात्म्य कुछ है नहीं ऐसा निश्चय होनेसे मेरा पहलेसे आना कुछ वैसा उपयोगी नहीं है; जिससे रेवाशंकरभाईका आना ठीक समझकर वैसा किया है।

रूईके व्यापारके विषयमें कभी कभी करनेरूप कारण आप पत्र द्वारा लिखते हैं। उस विषयमें एक बारके सिवाय स्पष्टीकरण नहीं लिखा; इसलिये आज इकट्ठा लिखा है। आढ़तका व्यवसाय उत्पन्न हुआ उसमें कुछ इच्छाबल और उदयबल था। परंतु मोतीका व्यवसाय उत्पन्न होनेमें तो मुख्य उदयबल था। बाकी व्यवसायका अभी उदय मालूम नहीं होता। और व्यवसायकी इच्छा होना यह तो असंभव जैसी है।

श्री रेवाशंकरभाईसे आपने रुपयोंकी माँग की थी, वह पत्र भी मणि तथा केशवलालके पढ़नेमें आये उस तरह उनके पत्रमें रखा था। यद्यपि वे जानें इसमें कोई दूसरी बाधा नहीं है, परंतु जीवको लौकिक भावनाका अभ्यास विशेष बलवान है, इससे उसका क्या परिणाम आया और हमने उस विषयमें क्या अभिप्राय दिया ?उसे जाननेकी उनकी आतुरता विशेष हो तो वह भी योग्य नहीं है। अभी रुपयोंकी व्यवस्था करनी पड़े इसलिये आपके व्यवसायके संबंधमें हमने कदाचित् ना कही हो, ऐसा अकारण उनके चित्तमें विचार आये। और अनुक्रमसे हमारे प्रति व्यावहारिक बुद्धि विशेष हो जाये, वह भी यथार्थ नहीं है।

जीजीबाका लग्न माघ मासमें होगा या नहीं ? इस संबंधमें ववाणियासे हमारे जाननेमें कुछ नहीं आया, तथा मैंने इस विषयमें कोई विशेष विचार नहीं किया है। ववाणियासे खबर मिलेगी तो आपको यहाँसे रेवाशंकरभाई या केशवलाल सूचित करेंगे। अथवा रेवाशंकरभाईका विचार माघ मासका होगा तो वे ववाणिया लिखेंगे, और आपको भी सूचित करेंगे। उस प्रसंगपर आना या न आना, इसका पक्का फैसला अभी चित्त नहीं कर सकेगा, क्योंकि उसे बहुत समय है। और अभीसे उसके लिये कुछ निश्चित करना कठिन है। तीन वर्षसे उधर जाना नहीं हुआ, जिससे श्री रवजीभाईके चित्तमें तथा माताजीके चित्तमें हमारा जाना न हो तो अधिक खेद रहे, यह मुख्य कारण उस तरफ आनेमें है। तथा हमारा आना न हो तो भाई-बहनोंको भी खेद रहे, यह दूसरा कारण भी उधर आनेके विचारको बलवान करता है। और बहुत करके आना होगा, ऐसा चित्तमें लगता है। हमारा चित्त पौष मासके आरंभमें यहाँसे निकलनेका रहता है, और बीचमें रुकना हो तो प्रवृत्तिके कारण लगी हुई थकावटमें कुछ विश्रांति क्वचित् मिले। परंतु कितना ही कामकाज ऐसा है कि निर्धारित दिनोंसे कुछ अधिक दिन जानेके बाद यहाँसे छूटा जा सकेगा।

आप अभी किसीको व्यापार-रोजगारकी प्रेरणा करते हुए इतना ध्यान रखें कि जो उपाधि आपको स्वयं करनी पड़े उस उपाधिकी आप उदीरणा करना चाहते हैं। और फिर उससे निवृत्ति चाहते हैं। यद्यपि चारों तरफसे आजीविकादि कारणोंसे उस कार्यकी प्रेरणा करनेकी आपके चित्तमें उदयसे स्फुरणा होती होगी तो भी उस संबंधी चाहे जैसी घबराहट होनेपर भी धीरतासे विचार कर कुछ भी व्यापार-रोजगारकी दूसरोंको प्रेरणा करना या लड़कोंको व्यापार करानेके विषयमें भी सूचना लिखना। क्योंकि अशुभ उदयको इस तरह दूर करनेका प्रयत्न करते हुए बल प्राप्त करने जैसा हो जाता है।

आप हमें यथासंभव व्यावहारिक बात कम लिखे ऐसा जो हमने लिखा था उसका हेतु मात्र इतना ही है कि हम इतना व्यवहार करते हैं, उस विचारके साथ दूसरे व्यवहारको सुनते-पढ़ते आकुलता हो जाती

है। आपके पत्रमें कुछ निवृत्तिवार्ता आये तो अच्छा, ऐसा रहता है। और फिर आपको हमें व्यावहारिक बात लिखनेका कोई हेतु नहीं है, क्योंकि वह हमारी स्मृतिमें है और कदाचित् आप घबराहटको शांत करनेके लिये लिखते हों तो उस प्रकारसे वह लिखी नहीं जाती है। बात आर्त्तध्यानके रूप जैसी लिखी जाती है, जिससे हमें बहुत संताप होता है। यही विनती। प्रणाम।

---

५४१ सं० १९५१

ज्ञानीपुरुषोंको समय-समयमें अनंत संयमपरिणाम वर्धमान होते हैं ऐसा सर्वज्ञने कहा है, यह सत्य है। वह संयम, विचारकी तीक्ष्ण परिणतिसे ब्रह्मरसके प्रति स्थिरता होनेसे उत्पन्न होता है।

---

५४२ बंबई, कार्तिक सुदी १५, मंगल, १९५१

श्री सोभागभाईको मेरा यथायोग्य कहियेगा।

उन्होंने श्री ठाणांगसूत्रकी एक चौभंगीका उत्तर विशेष समझनेके लिये माँगा था, उसे संक्षेपमें यहाँ लिखा है—

१. एक, आत्माका भवांत करे, परंतु दूसरेका न करे, वे प्रत्येकबुद्ध या असोच्या केवली हैं, क्योंकि वे उपदेशमार्गका प्रवर्तन नहीं करते हैं, ऐसा व्यवहार है। २. एक, आत्माका भवांत न कर सके, और दूसरेका भवांत करे, वे अचरमशरीरी आचार्य, अर्थात् जिन्हें अभी अमुक भव बाकी हैं, परंतु उपदेशमार्गका आत्मा द्वारा ज्ञान है, इससे उनसे उपदेश सुनकर सुननेवाला जीव उसी भवमें भवका अंत भी कर सकता है; और आचार्य उस भवमें भवांत करनेवाले न होनेसे उन्हें दूसरे भंगमें रखा है; अथवा कोई जीव पूर्वकालमें ज्ञानाराधन कर प्रारब्धोदयसे मंद क्षयोपशमसे वर्तमानमें मनुष्यदेह पाकर, जिसने मार्ग नहीं जाना है ऐसे किसी उपदेशकके पाससे उपदेश सुनते हुए पूर्वसंस्कारसे, पूर्वके आराधनसे ऐसा विचार प्राप्त करे कि यह प्ररूपणा अवश्य मोक्षका हेतु नहीं होगी, क्योंकि वह अज्ञानतासे मार्ग कहता है, अथवा यह उपदेश देनेवाला जीव स्वयं अपरिणामी रहकर उपदेश करता है, यह महा अनर्थ है, ऐसा विचार करते हुए पूर्वाराधन जागृत हो और उदयका छेदनकर भवांत करे, जिससे निमित्तिरूप ग्रहण करके वैसे उपदेशकका भी इस भंगमें समावेश किया हो, ऐसा लगता है। ३. जो स्वयं तरें और दूसरोंको तारें, वे श्री तीर्थंकरादि हैं। ४. जो स्वयं भी न तरे और दूसरोंको भी न तार सके वह 'अभव्य या दुर्भव्य' जीव है। इस प्रकार समाधान किया हो तो जिनागम विरोधको प्राप्त नहीं होता। इस विषयमें विशेष पूछनेकी इच्छा हो तो पूछियेगा, ऐसा सोभागभाईको कहियेगा। लि० रायचंदका प्रणाम।

---

५४३ बंबई, कार्तिक, १९५१

अन्यसंबंधी जो तादात्म्य भासित हुआ है, वह तादात्म्य निवृत्त हों तो सहजस्वभावसे आत्मा मुक्त ही है; ऐसा श्री ऋषभादि अनंत ज्ञानीपुरुष कह गये हैं, यावत् तथारूपमें समा गये हैं।

---

५४४ बंबई, कार्तिक वदी १३, रवि, १९५१

आपका पत्र मिला है। यहाँ सुखवृत्ति है। जब प्रारब्धोदय द्रव्यादि कारणमें निर्बल हो तब विचारवान जीवको विशेष प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है, अथवा धीरता रखकर आसपासकी बहुत संभालसे प्रवृत्ति करना योग्य है, एक लाभका ही प्रकार देखते रहकर करना योग्य नहीं है। इस बातको समझानेका

हमारा प्रयत्न होनेपर भी आपको उस बात पर यथायोग्य संलग्नचित्त हो जानेका योग नहीं हुआ, इतना चित्तमें विक्षेप रहा, तथापि आपके, आत्मामें वैसी बुद्धि किसी भी दिन नहीं हो सकती कि आपसे हमारे वचनके प्रति कुछ गौणभाव रखा जाये, ऐसा जानकर हमने आपको उपालंभ नहीं दिया। तथापि अब यह बात ध्यानमें लेनेमें बाधा नहीं है। आकुल होनेसे कुछ कर्मकी निवृत्ति चाहते हैं, वह नहीं होती; और आर्त्तध्यान होकर ज्ञानीके मार्गकी अवहेलना होती है। इस बातका स्मरण रखकर ज्ञानकथा लिखियेगा। विशेष आपका पत्र आनेपर। यह हमारा आपको लिखना सहज कारणसे है। यही विनती।

---

५४५ बंबई, मार्गशीर्ष वदी १, गुरु, १९५१

कुछ ज्ञानवार्ता लिखियेगा।

अभी व्यवसाय विशेष है। कम करनेका अभिप्राय चित्तसे खिसकता नहीं है। और अधिक होता रहता है। आ० स्व० प्रणाम।

---

५४६ बंबई, मार्गशीर्ष वदी ३, शुक्र, १९५१

प्र०—"जिसका मध्य नहीं, अर्ध नहीं, अछेद्य, अभेद्य इत्यादि परमाणुकी व्याख्या श्री जिनेंद्रने कही है, तो इसमें अनंत पर्याय किस तरह हो सकते हैं ? अथवा पर्याय यह एक परमाणुका दूसरा नाम होगा ? या किस तरह ?" इस प्रश्नवाला पत्र आया था। उसका समाधान—

प्रत्येक पदार्थके अनंत पर्याय (अवस्थाएँ) हैं। अनंत पर्यायके बिना कोई पदार्थ नहीं हो सकता, ऐसा श्री जिनेंद्रका अभिमत है, और वह यथार्थ लगता है; क्योंकि प्रत्येक पदार्थ समय समयमें अवस्थांतरता पाता हुआ होना चाहिये, ऐसा प्रत्यक्ष दिखायी देता है। क्षण-क्षणमें जैसे आत्मामें संकल्प- विकल्प परिणति होकर अवस्थांतर हुआ करता है, वैसे परमाणुमें वर्ण, गंध, रस, रूप अवस्थांतरता पाते हैं, वैसी अवस्थांतरता पानेसे उस परमाणुके अनंत भाग हुए, यह कहना योग्य नहीं है; क्योंकि वह परमाणु अपनी एकप्रदेशक्षेत्रावगाहिताका त्याग किये बिना उस अवस्थांतरको प्राप्त होता है। एकप्रदेशक्षेत्रावगाहिताके वे अनंत भाग नहीं हो सकते। समुद्र एक होनेपर भी जैसे उसमें तरंगें उठती हैं, और वे तरंगें उसीमें समाती हैं, तरंगरूपसे उस समुद्रकी अवस्थाएँ भिन्न भिन्न होती रहनेसे भी समुद्र अपने अवगाहक क्षेत्रका त्याग नहीं करता, और कुछ समुद्रके अनंत भिन्न भिन्न टुकड़े नहीं होते, मात्र अपने स्वरूपमें वह रमण करता है, तरंगता यह समुद्रकी परिणति है, यदि जल शांत हो तो शांतता यह उसकी परिणति है, कुछ भी परिणति उसमें होनी ही चाहिये। उसी तरह वर्णगंधादि परिणाम परमाणुमें बदलते रहते हैं, परंतु उस परमाणुके कुछ टुकड़े होनेका प्रसंग नहीं होता, अवस्थांतरताको प्राप्त होता रहता है। जैसे सोना कुंडलाकारको छोड़कर मुकुटाकार होता है वैसे परमाणु, इस समयकी अवस्थासे दूसरे समयकी कुछ अंतरवाली अवस्थाको प्राप्त होता है। जैसे सोना दोनों पर्यायोंको धारण करते हुए भी सोना ही है, वैसे परमाणु भी परमाणु ही रहता है। एक पुरुष (जीव) बालकपन छोड़कर युवा होता है, युवत्व छोड़कर वृद्ध होता है, परंतु पुरुष वहीका वही रहता है, वैसे परमाणु पर्यायोंको प्राप्त होता है। आकाश भी अनंत पर्यायी है और सिद्ध भी अनंत पर्यायी है, ऐसा जिनेंद्रका अभिप्राय है, वह विरोधी नहीं लगता; प्रायः मेरी समझमें आता है परंतु विशेषरूपसे लिखने का न हो सकनेसे आपको यह बात विचार करनेमें कारण हो, इसलिये ऊपर ऊपरसे लिखा है।

चक्षुमें जो निमेषोन्मेषकी अवस्थाएँ हैं, वे पर्याय हैं। दीपककी जो चलनस्थिति वह पर्याय है।

आत्माकी संकल्प-विकल्प दशा या ज्ञानपरिणति, वह पर्याय है। उसी तरह वर्ण, गंध, आदि परिणामोंको प्राप्त होना ये परमाणुके पर्याय हैं। यदि वैसा परिणमन न होता हो तो यह जगत ऐसी विचित्रताको प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि एक परमाणुमें पर्यायता न हो तो सर्व परमाणुओंमें भी नहीं होती। संयोग-वियोग, एकत्व-पृथक्त्व इत्यादि परमाणुके पर्याय हैं और वे सब परमाणुमें हैं। यदि वे भाव समय समयपर उसमें परिणमन पाते रहें तो भी परमाणुका व्यय (नाश) नहीं होता, जैसे कि निमेषोन्मेषसे चक्षुका नाश नहीं होता।

---

५४७ मोहमयी क्षेत्र, मार्गशीर्ष वदी ८, बुध, १९५१

यहाँसे निवृत्त होनेके बाद प्रायः ववाणिया अर्थात् इस भवके जन्म-ग्राममें साधारण व्यावहारिक प्रसंगसे जानेका कारण है। चित्तमें अनेक प्रकारसे उस प्रसंगसे छूट सकनेका विचार करते हुए छूटा जा सके यह भी संभव है, तथापि बहुतसे जीवोंको अल्प कारणमें कदाचित् विशेष असमाधान होनेका संभव रहे, जिससे अप्रतिबंधभावको विशेष दृढ़ करके जानेका विचार रहता है। वहाँ जानेपर, कदाचित् एक माससे विशेष समय लग जानेका संभव है, शायद दो मास भी लग जायें। उसके बाद फिर वहाँसे लौटकर इस क्षेत्रकी तरफ आना पड़े, ऐसा है; फिर भी यथासंभव बीचमें दो-एक मास एकांत जैसा निवृत्तियोग हो सके तो वैसा करनेकी इच्छा रहती है; और वह योग अप्रतिबंधरूपसे हो सके, इसका विचार करता हूँ।

सर्व व्यवहारसे निवृत्त हुए बिना चित्त एकाग्र (स्थिर) नहीं होता, ऐसे अप्रतिबंध—असंगभावका चित्तमें बहुत विचार किया होनेसे उसी प्रवाहमें रहना होता है। परंतु उपार्जित प्रारब्ध निवृत्त होनेपर वैसा हो सके, इतना प्रतिबंध पूर्वकृत है, आत्माकी इच्छाका प्रतिबंध नहीं है। सर्व सामान्य लोकव्यवहारकी निवृत्ति संबंधी प्रसंगके विचारको दूसरे प्रसंगपर बताना रखकर, इस क्षेत्रसे निवृत्त होनेका विशेष अभिप्राय रहता है; वह भी उदयके कारण नहीं हो सकता। तो भी अहर्निश यही चिंतन रहता है, तो वह कदाचित् थोड़े समयमें होगा ऐसा लगता है। इस क्षेत्रके प्रति कुछ द्वेष परिणाम नहीं है, तथापि संगका विशेष कारण है। प्रवृत्तिके प्रयोजनके बिना यहाँ रहना कुछ आत्माके लिये वैसे लाभका कारण नहीं है, ऐसा जानकर, इस क्षेत्रसे निवृत्त होनेका विचार रहता है। प्रवृत्ति भी निजबुद्धिसे किसी भी प्रकारसे प्रयोजनभूत नहीं लगती, तथापि उदयके अनुसार प्रवृत्ति करनेके ज्ञानीके उपदेशको अंगीकार करके उदय भोगनेका प्रवृत्तियोग सहन करते हैं।

आत्मामें ज्ञानद्वारा उत्पन्न हुआ यह निश्चय बदलता नहीं है कि सर्वसंग बड़ा आस्रव है; चलते, देखते और प्रसंग करते हुए समय मात्रमें यह निजभावका विस्मरण करा देता है, और यह बात सर्वथा प्रत्यक्ष देखनेमें आयी है, आती है, और आ सकने जैसी है; इसलिए अहर्निश उस बड़े आस्रवरूप सर्व संगमें उदासीनता रहती है, और वह दिन प्रतिदिन बढ़ते हुए परिणामको प्राप्त करती रहती है; वह उससे विशेष परिणामको प्राप्त करके सर्वसंगसे निवृत्ति हो, ऐसी अनन्य कारणयोगसे इच्छा रहती है।

यह पत्र प्रथमसे व्यावहारिक आकृतिमें लिखा गया हो ऐसा कदाचित् लगे, परंतु इसमें यह सहज मात्र नहीं है। असंगताका, आत्मभावनाका मात्र अल्प विचार लिखा है।

आ० स्व० प्रणाम।

---

५४८ बंबई, मार्गशीर्ष वदी ९, शुक्र, १९५१

परम स्नेही श्री सोभाग,

आपके तीन पत्र आये हैं। एक पत्रमें दो प्रश्न लिखे थे, जिनमेंसे एकका समाधान नीचे लिखा है।

ज्ञानीपुरुषका सत्संग होनेसे, निश्चय होनेसे और उसके मार्गका आराधन करनेसे जीवके दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम या क्षय होता है, और अनुक्रमसे सर्व ज्ञानकी प्राप्ति होकर जीव कृतकृत्य होता है, यह बात प्रगट सत्य है; परंतु उससे उपार्जित प्रारब्ध भी भोगना नहीं पडता, ऐसा सिद्धांत नहीं हो सकता। केवलज्ञान प्राप्त हुआ है, ऐसे वीतरागको भी उपार्जित प्रारब्धरूप ऐसे चार कर्म भोगने पड़ते हैं, तो उससे नीची भूमिकामें स्थित जीवोंको प्रारब्ध भोगना पड़े, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। जैसे सर्वज्ञ वीतरागको, घनघाती चार कर्मोंका नाश हो जानेसे वे भोगने नहीं पड़ते हैं, और उन कर्मोंके पुनः उत्पन्न होनेके कारणोंकी स्थिति उस सर्वज्ञ वीतरागमें नहीं है; वैसे ज्ञानीका निश्चय होनेसे जीवको अज्ञानभावसे उदासीनता होती है, और उस उदासीनताके कारण भविष्यकालमें उस प्रकारका कर्म उपार्जन करनेका मुख्य कारण उस जीवको नहीं होता। क्वचित् पूर्वानुसार किसी जीवको विपर्यय-उदय हो, तो भी वह उदय अनुक्रमसे उपशांत एवं क्षीण होकर, जीव ज्ञानीके मार्गको पुनः प्राप्त करता है, और अर्धपुद्गल-परावर्तनमें अवश्य संसारमुक्त हो जाता है। परंतु समकिती जीवको, या सर्वज्ञ वीतरागको या किसी अन्य योगी या ज्ञानीको ज्ञानकी प्राप्तिके कारण उपार्जित प्रारब्ध भोगना न पड़े या दुःख न हो, ऐसा सिद्धांत नहीं हो सकता। तो फिर हमको-आपको सत्संगका मात्र अल्प लाभ हो तो सर्व संसारी दुःख निवृत्त होने चाहिये, ऐसा मानें तो फिर केवलज्ञानादि निरर्थक होते हैं; क्योंकि यदि उपार्जित प्रारब्ध बिना भोगे नष्ट हो जाये तो फिर सब मार्ग मिथ्या ही ठहरे। ज्ञानीके सत्संगसे अज्ञानीके प्रसंगकी रुचि मंद हो जाये, सत्यासत्यका विवेक हो, अनंतानुबंधी क्रोधादिका नाश हो, अनुक्रमसे सब रागद्वेषका क्षय हो जाय, यह संभव है; और ज्ञानीके निश्चय द्वारा यह अल्पकालमें अथवा सुगमतासे हो, यह सिद्धांत है। तथापि जो दुःख इस प्रकारसे उपार्जित किया है कि अवश्य भोगे बिना नष्ट न हो, वह तो भोगना ही पड़ेगा, इसमें कुछ संशय नहीं होता। इस विषयमें अधिक समाधानकी इच्छा हो तो समागममें हो सकता है।

मेरी आंतरवृत्ति ऐसी है कि परमार्थ-प्रसंगसे किसी मुमुक्षुजीवको मेरा प्रसंग हो तो वह अवश्य मुझसे परमार्थके हेतुकी ही इच्छा करे तभी उसका श्रेय हो; परंतु द्रव्यादि कारणकी कुछ भी इच्छा रखे अथवा वैसे व्यवसायके लिये वह मुझे सूचित करे, तो फिर अनुक्रमसे वह जीव मलिन वासनाको प्राप्त होकर मुमुक्षुताका नाश करे, ऐसा मुझे निश्चय रहता है। और इसी कारणसे जब कई बार आपकी तरफसे कोई व्यावहारिक प्रसंग लिखनेमें आया है तब आपको उपालंभ देकर सूचित भी किया था कि आप अवश्य यही प्रयत्न करें कि मुझे वैसे व्यवसायके लिये न लिखें, और मेरी स्मृतिके अनुसार आपने उस बातको स्वीकार भी किया था; परंतु तदनुसार थोड़े समय तक ही हुआ। अब फिर व्यवसायके संबंधमें लिखना होता है। इसलिये आजके मेरे पत्रको विचार कर आप उस बातका अवश्य विसर्जन कर दें, और नित्य वैसी वृत्ति रखें तो अवश्य हितकारी होगी। और आपने मेरी आंतरवृत्तिको उल्लासका कारण अवश्य दिया है, ऐसा मुझे प्रतीत होगा।

दूसरा कोई भी सत्संगके प्रसंगमें ऐसा करता है तो मेरा चित्त बहुत विचारमें पड़ जाता है या घबरा जाता है, क्योंकि परमार्थका नाश करनेवाली यह भावना इस जीवके उदयमें आयी। आपने जब जब व्यवसायके विषयमें लिखा होगा, तब तब मुझे प्रायः ऐसा ही हुआ होगा। तथापि आपकी वृत्तिमें विशेष

अंतर होनेके कारण चित्तमें कुछ घबराहट कम हुई होगी। परंतु अभी तत्कालके प्रसंगसे आपने भी लगभग उस घबराहट जैसी घबराहटका कारण प्रस्तुत किया है ऐसा चित्तमें रहता है।

जैसे रवजीभाई के कुटुंबके लिये मुझे व्यवसाय करना पड़ता है वैसे आपके लिये मुझे करना हो तो भी मेरे चित्तमें अन्यभाव न आयेगा। परंतु आप दुःख सहन न कर सकें तथा मुझे व्यवसाय बतायें, यह बात किसी तरह श्रेयरूप नहीं लगती; क्योंकि रवजीभाईको वैसी परमार्थ इच्छा नहीं है और आपको है, जिससे आपको इस बातमें अवश्य स्थिर होना चाहिये। इस बातका विशेष निश्चय रखिये।

[1]यह पत्र कुछ अधूरा है, जो प्रायः कल पूरा होगा।

५४९

माकुभाई इत्यादिको जो उपाधि कार्य करनेमें अधीरतासे, आर्त्त जैसे परिणामसे, दूसरेकी आजीविकाका भंग होता है यह जानते हुए भी, राजकाजमें अल्प कारणमें विशेष संबंध करना योग्य नहीं, ऐसा होनेका कारण होनेपर भी, जिसमें तुच्छ द्रव्यादिका भी विशेष लाभ नहीं है, फिर भी उसके लिये आप बारबार लिखते हैं, यह क्या योग्य है ? आप जैसे पुरुष वैसे विकल्पको शिथिल न कर सकेंगे, तो इस दुषमकालमें कौन समझकर शांत रहेगा ?

कितने ही प्रकारसे निवृत्तिके लिये और सत्समागमके लिये वह इच्छा रखते हैं, यह बात ध्यानमें है; तथापि वह इच्छा यदि अकेली ही हो तो इस प्रकारकी अधीरता आदि होने योग्य नहीं है।

माकुभाई इत्यादिको भी अभी उपाधिके संबंधमें लिखना योग्य नहीं है। जैसे हो वैसे देखते रहना, यही योग्य है। इस विषयमें जितना उपालम्भ लिखना चाहिये, उतना लिखा नहीं है, तथापि विशेषतासे इस उपालम्भको विचारियेगा।

---

५५० बंबई, मार्गशीर्ष वदी ११, रवि, १९५१

परम स्नेही श्री सोभाग,

कल आपका लिखा एक पत्र प्राप्त हुआ है। यहाँसे परसों एक पत्र लिखा है वह आपको प्राप्त हुआ होगा। तथा उस पत्रका पुनः पुनः विचार किया होगा, अथवा विशेष विचार कर सकें तो अच्छा।

वह पत्र हमने संक्षेपमें लिखा था, इससे शायद आपके चित्तके समाधानका पर्याप्त कारण न हो, इसलिये उसमें अतंमें लिखा था कि यह पत्र अधूरा है, जिससे बाकी लिखना अगले दिन होगा।[2]

अगले दिन अर्थात् पिछले दिन यह पत्र लिखनेकी कुछ इच्छा होनेपर भी अगले दिन अर्थात् आज लिखना ठीक है, ऐसा लगनेसे पिछले दिन पत्र नहीं लिखा था।

परसों लिखे हुए पत्रमें जो गंभीर आशय लिखे हैं, वे विचारवान जीवके आत्माको परम हितैषी हों, ऐसे आशय हैं। हमने आपको यह उपदेश कई बार सहज सहज किया है, फिर भी आजीविकाके कष्टक्लेशसे आपने उस उपदेशका कई बार विसर्जन किया है, अथवा हो जाता है। हमारे प्रति माँ-बाप जितना आपका भक्तिभाव है, इसलिये लिखनेमें बाधा नहीं है, ऐसा मानकर तथा दुःख सहन करनेकी असमर्थताके कारण हमसे वैसे व्यवहारकी याचना आप द्वारा दो प्रकारसे हुई है—एक तो किसी सिद्धियोगसे दुःख मिटाया जा सके ऐसे आशयकी, और दूसरी याचना किसी व्यापार रोजगार आदिकी। आपकी दोनों याचनाओंमेंसे एक भी हमारे पास की जाय, यह आपके आत्माके हितके कारणको

१. आंक ५५० । २. आंक ५४८ ।

रोकनेवाला, और अनुक्रमसे मलिन वासनाका हेतु हो; क्योंकि जिस भूमिकामें जो उचित नहीं हैं, उसे वह जीव करे तो उस भूमिकाका उसके द्वारा सहजमें त्याग हो जाता है, इसमें कुछ संदेह नहीं है। आपकी हमारे प्रति निष्काम भक्ति होनी चाहिये, और आपको चाहे जितना दुःख हो, फिर भी उसे धीरतासे भोगना चाहिये। वैसा न हो सके तो भी हमें तो उसकी सूचनाका एक अक्षर भी नहीं लिखना चाहिये; यह आपके लिये सर्वांग योग्य है; और आपको वैसी ही स्थितिमें देखनेकी जितनी मेरी इच्छा है, और उस स्थितिमें जितना आपका हित है, वह पत्रसे या वचनसे हमसे बताया नहीं जा सकता। परंतु पूर्वके किसी वैसे ही उदयके कारण आपको वह बात विस्मृत हो गयी है, जिससे हमें फिर सूचित करनेकी इच्छा रहा करती है।

उन दो प्रकारकी याचनाओंमें प्रथम विदित की हुई याचना तो किसी भी निकटभवीको करनी योग्य ही नहीं है, और अल्पमात्र हो तो भी उसका मूलसे छेदन करना उचित है; क्योंकि लोकोत्तर मिथ्यात्वका वह सबल बीज है, ऐसा तीर्थंकरादिका निश्चय है, वह हमें तो सप्रमाण लगता है। दूसरी याचना भी कर्तव्य नहीं है, क्योंकि वह भी हमें परिश्रमका हेतु है। हमें व्यवहारका परिश्रम देकर व्यवहार निभाना, यह इस जीवकी सद्वृत्तिका बहुत ही अल्पत्व बताता है; क्योंकि हमारे लिये परिश्रम उठाकर आपको व्यवहार चला लेना पड़ता हो तो वह आपके लिये हितकारी है, और हमारे लिये वैसे दुष्ट निमित्तका कारण नहीं है, ऐसी स्थिति होनेपर भी हमारे चित्तमें ऐसा विचार रहता है कि जब तक हमें परिग्रहादिका लेना-देना हो, ऐसा व्यवहार उदयमें हो तब तक स्वयं उस कार्यको करना, अथवा व्यावहारिक परिग्रहादिका आदि द्वारा करना, परंतु मुमुक्षु पुरुषको तत्संबंधी परिश्रम देकर तो नहीं करना; क्योंकि वैसे कारणसे जीवकी मलिन वासनाका उद्भव होना संभव है। कदाचित् हमारा चित्त शुद्ध ही रहे ऐसा है, तथापि काल ऐसा है कि यदि हम उस शुद्धिको द्रव्यसे भी रखें तो सन्मुख जीवमें विषमता उत्पन्न न हो, और अशुद्ध वृत्तिवान जीव भी तदनुसार व्यवहार कर परम पुरुषोंके मार्गका नाश न करे। इत्यादि विचारमें मेरा चित्त रहता है। तो फिर जिसका परमार्थ-बल या चित्तशुद्धि हमारेसे कम हो उसे तो अवश्य ही वह मार्गणा प्रबलतासे रखनी चाहिये, यही उसके लिये बलवान श्रेय है, और आप जैसे मुमुक्षुपुरुषको तो अवश्य वैसा वर्तन करना योग्य है। क्योंकि आपका अनुकरण सहज ही दूसरे मुमुक्षुओंके हिताहितका कारण हो सके। प्राण जाने जैसी विषम अवस्थामें भी आपको निष्कामता ही रखनी योग्य है, ऐसा हमारा विचार, आपको आजीविकासे चाहे जैसे दुःखोंकी अनुकंपाके प्रति जाते हुए भी मिटता नहीं है, प्रत्युत अधिक बलवान होता है। इस विषयमें विशेष कारण बताकर आपको निश्चय करानेकी इच्छा है, और वह होगा ऐसा हमें निश्चय रहता है।

इस प्रकार आपके या दूसरे मुमुक्षुजीवोंके हितके लिये मुझे जो योग्य लगा वह लिखा है। इतना लिखनेके बाद अपने आत्माके लिये उस संबंधमें मेरा अपना कुछ दूसरा भी विचार रहता है, जिसे लिखना योग्य नहीं था, परंतु आपके आत्माको कुछ दुःख देने जैसा हमने लिखा है तब उस लिखनेको योग्य समझकर लिखा है। वह इस प्रकार है, कि जब तक परिग्रहादिका लेना-देना हो, ऐसा व्यवहार मुझे उदयमें हो तब तक जिस किसी भी निष्काम मुमुक्षु या सत्पात्र जीवकी तथा अनुकंपायोग्य जीवकी, उसे बताये बिना, हमसे जो कुछ भी सेवाचाकरी हो सके, उसे द्रव्यादि पदार्थसे भी करना, क्योंकि ऐसा मार्ग ऋषभ आदि महापुरुषोंने भी कहीं कहीं जीवकी गुण निष्पन्नताके लिये माना है; यह हमारा निजी (आंतरिक) विचार है, और ऐसे आचरणका सत्पुरुषके लिये निषेध नहीं है, किन्तु किसी तरह कर्तव्य है। यदि वह विषय या वह सेवाचाकरी मात्र सन्मुख जीवके परमार्थको रोधक होते हों तो सत्पुरुषको भी

उनका उपशमन करना चाहिये।

असंगता होने या सत्संगके योगका लाभ प्राप्त होनेके लिये आपके चित्तमें ऐसा रहता है कि केशवलाल, त्रंबक इत्यादिसे गृहव्यवहार चलाया जा सके तो मुझसे छूटा जा सकता है। अन्यथा, आप उस व्यवहारको छोड़ सके, वैसा कुछ कारणोंसे नहीं हो सकता, यह बात हम जानते हैं, फिर भी आपके लिये उसे बारबार लिखना योग्य नहीं हैं, ऐसा जानकर उसका भी निषेध किया है। यही विनती।

प्रणाम प्राप्त हो।

---

५५१ बंबई, मार्गशीर्ष, १९५१

श्री सोभाग,

श्री जिनेंद्र आत्मपरिणामकी स्वस्थताको समाधि और आत्मपरिणामकी अस्वस्थताको असमाधि कहते हैं, यह अनुभवज्ञानसे देखते हुए परम सत्य है।

अस्वस्थ कार्यकी प्रवृत्ति करना और आत्मपरिणामको स्वस्थ रखना, ऐसी विषम प्रवृत्ति श्री तीर्थंकर जैसे ज्ञानीसे होनी कठिन कही है, तो फिर दूसरे जीवमें यह बात संभवित करना कठिन हो, इसमें आश्चर्य नहीं है।

किसी भी परपदार्थमें इच्छाकी प्रवृत्ति है, और किसी भी परपदार्थके वियोगकी चिंता है, इसे श्री जिनेन्द्र आर्त्तध्यान कहते हैं, इसमें संदेह करना योग्य नहीं है।

तीन वर्षके उपाधियोगसे उत्पन्न हुआ जो विक्षेपभाव उसे दूर करनेका विचार रहता है। जो प्रवृत्ति दृढ वैराग्यवानके चित्तको बाधा कर सके ऐसी है, वह प्रवृत्ति यदि अदृढ वैराग्यवान जीवको कल्याणके सन्मुख न होने दे तो इसमें आश्चर्य नहीं है।

संसारमें जितनी सारपरिणति मानी जाय उतनी आत्मज्ञानकी न्यूनता श्री तीर्थंकरने कही है।

परिणाम जड़ होता है ऐसा सिद्धांत नहीं है। चेतनको चेतनपरिणाम होता है और अचेतनको अचेतनपरिणाम होता है, ऐसा जिनेन्द्रने अनुभव किया है। कोई भी पदार्थ परिणाम या पर्यायके बिना नहीं होता, ऐसा श्री जिनेंद्रने कहा है और वह सत्य है।

श्री जिनेन्द्रने जो आत्मानुभव किया है, और पदार्थके स्वरूपका साक्षात्कार करके जो निरूपण किया है, वह सर्व मुमुक्षुजीवोंको परम कल्याणके लिये निश्चय करके विचार करने योग्य है। जिनकथित सर्व पदार्थोंके भाव केवल आत्माको प्रगट करनेके लिये है, और मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति दोकी होती है—एक आत्मज्ञानीकी और एक आत्मज्ञानीके आश्रयवानकी, ऐसा श्री जिनेन्द्रने कहा है।

आत्माको सुनना, उसका विचार करना, उसका निदिध्यासन करना और उसका अनुभव करना ऐसी एक वेदकी श्रुति है; अर्थात् यदि एक यही प्रवृत्ति करनेमें आये तो जीव संसारसागर तरकर पार पाये ऐसा लगता है। बाकी तो मात्र किसी श्री तीर्थंकर जैसे ज्ञानीके बिना सबको यह प्रवृत्ति करते हुए कल्याणका विचार करना, उसका निश्चय होना और आत्मस्वस्थता होना दुष्कर है। यही विनती।

---

५५२ बंबई, मार्गशीर्ष, १९५१

उपकारशील श्री सोभागके प्रति, श्री सायला।

ईश्वरेच्छा बलवान है, और कालकी भी दुःषमता है। पूर्वकालमें जाना था और स्पष्ट प्रतीतिस्वरूप

था कि ज्ञानीपुरुषको सकामतासे भजते हुए आत्माको प्रतिबंध होता है, और कई बार परमार्थदृष्टि मिटकर संसारार्थदृष्टि हो जाती है। ज्ञानीके प्रति ऐसी दृष्टि होनेसे पुनः सुलभबोधिता पाना कठिन पड़ता है, ऐसा जानकर कोई भी जीव सकामतासे समागम न करे, इस प्रकारसे आचरण होता था। आपको तथा श्री डुंगर आदिको इस मार्गके संबंधमें हमने कहा था, परंतु हमारे दूसरे उपदेशकी भाँति किसी प्रारब्धयोगसे उसका तत्काल ग्रहण नहीं होता था। हम जब उस विषयमें कुछ कहते थे, तब पूर्वकालके ज्ञानियोंने आचरण किया है, ऐसे प्रकारादिसे प्रत्युत्तर कहने जैसा होता था। हमें उससे चित्तमें बड़ा खेद होता था कि यह सकामवृत्ति दुःषमकालके कारण ऐसे मुमुक्षुपुरुषमें विद्यमान है, नहीं तो उसका स्वप्नमें भी संभव न हो। यद्यपि उस सकामवृत्तिके कारण आप परमार्थदृष्टि भूल जायें, ऐसा संशय नहीं होता था। परंतु प्रसंगोपात्त परमार्थदृष्टिके लिये शिथिलताका हेतु होनेका संभव दिखायी देता था। परंतु उसकी अपेक्षा बड़ा खेद यह होता था कि इस मुमुक्षुके कुटुंबमें सकामबुद्धि विशेष होगी, और परमार्थदृष्टि मिट जायेगी, अथवा उत्पन्न होनेकी संभावना दूर हो जायेगी, और इस कारणसे दूसरे भी बहुतसे जीवोंके लिये वह स्थिति परमार्थकी अप्राप्तिमें हेतुभूत होगी; फिर सकामतासे भजनेवालेकी वृत्तिको हमारे द्वारा कुछ शांत किया जाना कठिन है इसलिये सकामी जीवोंको पूर्वापर विरोधबुद्धि हो अथवा परमार्थपूज्यभावना दूर हो जाये, ऐसा जो देखा था, वह वर्तमानमें न हो, ऐसा विशेष उपयोग होनेके लिये सहज लिखा है। पूर्वापर इस बातका माहात्म्य समझमें आये और अन्य जीवोंका उपकार हो, वैसा विशेष ध्यान रखियेगा।

---

५५३ बंबई, पौष सुदी १, शुक्र, १९५१

एक पत्र प्राप्त हुआ है। यहाँसे निकलनेमें लगभग एक महीना होगा, ऐसा लगता है। यहाँसे निकलनेके बाद समागमसंबंधी विचार रहता है और श्री कठोरमें इस बातकी अनुकूलता आनेका अधिक संभव रहता है, क्योंकि उसमें विशेष प्रतिबंध होनेका कारण मालूम नहीं होता।

संभवतः श्री अंबालाल उस समय कठोर आ सकें, इसके लिये उन्हें सूचित करूँगा।

हमारे आनेके बारेमें अभी किसीको कुछ बतानेकी जरूरत नहीं है, तथा हमारे लिये कोई दूसरी विशेष व्यवस्था करनेकी भी जरूरत नहीं हैं। सायण स्टेशन पर उतरकर कठोर आया जाता है, और वह लम्बा रास्ता नहीं है, जिससे वाहन आदिकी हमें कुछ जरूरत नहीं है। और कदाचित् वाहनकी अथवा और कुछ जरूरत होगी तो श्री अंबालाल उसकी व्यवस्था कर सकेंगे।

कठोरमें भी वहाँके श्रावकों आदिको हमारे आनेके बारेमें कहनेकी जरूरत नहीं है; तथा ठहरनेके स्थानकी कुछ व्यवस्था करनेके लिये उन्हें सूचित करनेकी जरूरत नहीं है। इसके लिये जो सहजमें उस प्रसंगमें हो जायेगा उससे हमें बाधा नहीं होगी। श्री अंबालालके सिवाय कदाचित् दूसरे कोई मुमुक्षु श्री अंबालालके साथ आयेंगे; परंतु उनके आनेका भी कठोर या सूरत या सायणमें पता न चले, यह हमें ठीक लगता है, क्योंकि इस कारण कदाचित् हमें भी प्रतिबंध हो जाये।

हमारी यहाँ स्थिरता है, तब तक हो सके तो पत्र, प्रश्न आदि लिखियेगा। साधु श्री देवकरणजीको आत्मस्मृतिपूर्वक यथायोग्य प्राप्त हो।

जिस प्रकार असंगतासे आत्मभाव साध्य हो उस प्रकार प्रवृत्ति करना यही जिनेंद्रकी आज्ञा है। इस उपाधिरूप व्यापारादि प्रसंगसे निवृत्त होनेका वारंवार विचार रहा करता है, तथापि उसका अपरिपक्व काल जानकर उदयवश व्यवहार करना पड़ता है। परंतु उपर्युक्त जिनेंद्रकी आज्ञाका प्रायः विस्मरण नहीं

होता। और आपको भी अभी तो उसी भावनाका विचार करनेके लिये कहते हैं।

आ० स्व० प्रणाम।

---

५५४ बंबई, पौष सुदी १०, १९५१

श्री अंजारग्राममें स्थित परम स्नेही श्री सोभागके प्रति,

श्री मोहमयी भूमिसे लि०.....आत्मस्मृतिपूर्वक यथायोग्य प्राप्त हो।

विशेष आपका पत्र मिला है।

चत्रभुजके प्रसंगमें लिखते हुए आपने ऐसा लिखा है कि 'काल जायेगा और कहनी रहेगी', यह आपको लिखना योग्य न था। जो कुछ शक्य है उसे करनेमें मेरी विषमता नहीं है, परंतु वह परमार्थसे अविरोधी हो तो हो सकता है, नहीं तो हो सकना बहुत कठिन पडता है, अथवा नहीं हो सकता, जिससे 'काल जायेगा और कहनी रहेगी', ऐसा यह चत्रभुज संबंधी प्रसंग नहीं है; परंतु वैसा प्रसंग हो तो भी बाह्य कारणपर जानेकी अपेक्षा अंतर्धमपर प्रथम जाना श्रेयरूप है, इसका विसर्जन होने देना योग्य नहीं है।

रेवाशंकरभाईके आनेसे लग्नप्रसंगमें जैसे आपके और उनके ध्यानमें आये वैसे करनेमें आपत्ति नहीं है। परंतु इतना ध्यान रखनेका है कि बाह्य आडंबर जैसा कुछ चाहना ही नहीं कि जिससे शुद्ध व्यवहार या परमार्थको बाधा हो। रेवाशंकरभाईको यह सूचना देते हैं, और आपको भी यह सूचना देते हैं। इस प्रसंगके लिये नहीं, परंतु सर्व प्रसंगमें यह बात ध्यानमें रखने योग्य है; द्रव्यव्ययके लिये नहीं, परंतु परमार्थके लिये।

हमारा कल्पित माहात्म्य कहीं भी दिखाई दे ऐसा करना, कराना या अनुमोदन करना हमें अत्यंत अप्रिय है। बाकी ऐसा भी है कि परमार्थकी रक्षा करके किसी जीवको संतोष दिया जाये तो वैसा करनेमें हमारी इच्छा है। यही विनती। प्रणाम।

---

५५५ बंबई, पौष सुदी १०, रवि, १९५१

प्रत्यक्ष कारागृह होनेपर भी उसका त्याग करना जीव न चाहे, अथवा अत्यागरूप शिथिलताका त्याग न कर सके, अथवा त्यागबुद्धि होनेपर भी त्याग करते करते कालव्यय किया जाये, इन सब विचारोंको जीव किस तरह दूर करे? अल्पकालमें वैसा किस तरह हो? इस विषयमें उस पत्रमें लिखनेका हो तो लिखियेगा। यही विनती।

---

५५६ बंबई, पौष वदी २, रवि, १९५१

परम पुरुषको नमस्कार

परम स्नेही श्री सोभागभाई, श्री मोरबी।

कल एक पत्र प्राप्त हुआ था, तथा एक पत्र आज प्राप्त हुआ है।

ब्रह्मरससंबंधी नडियादवासीके विषयमें लिखी हुई बात जानी है; तथा समकितकी सुगमता शास्त्रमें अत्यंत कही है, वह वैसी ही होनी चाहिये, इस संबंधमें जो लिखा उसे पढ़ा है। तथा त्याग अवसर है, ऐसा लिखा उसे भी पढ़ा है। प्रायः माघ सुदी दूजके बाद समागम होगा, और तब उसके लिये जो कुछ पूछने योग्य हो सो पूछियेगा।

अभी जो महान पुरुषके मार्गके विषयमें आपके एक पत्रमें लिखा गया है, उसे पढ़कर बहुत संतोष होता है। आ० स्व० प्रणाम।

---

५५७ बंबई, पौष वदी ९, शनि, १९५१

वेदांत जगतको मिथ्या कहता है, इसमें असत्य क्या है ?

---

५५८ बंबई, पौष वदी १०, रवि, १९५१

विषम संसारबंधनका छेदनकर जो चल पड़े, उन पुरुषोंको अनंत प्रणाम।

माघ सुदी एकम दूजको शायद निकला जाये तो भी रास्तेमें तीन दिन लग सकते हैं, परंतु माघ सुदी दूजको निकलना संभव नहीं है। सुदी पंचमीको निकलना संभव है। बीचमें तीन दिन होंगे, वह विवशतासे रुकनेका कारण है। प्रायः सुदी पंचमीको निवृत्त होकर सुदी अष्टमीको ववाणिया पहुँचा जा सके ऐसा है, इसलिये बाह्य कारण देखते हुए लीमड़ी आना संभव नहीं है; तो भी कदाचित् लौटते समय एक दिनका अवकाश मिल सकता है। परंतु आंतरिक कारण भिन्न होनेसे वैसा करनेका अभी किसी प्रकारसे चित्तमें नहीं आता है। वढ़वाण स्टेशनपर केशवलालकी या आपकी मुझे मिलनेकी इच्छा हो तो उसे रोकनेमें मनको असंतोष प्राप्त होता है, तो भी अभी रोकनेका मेरा चित्त रहता है; क्योंकि चित्तकी व्यवस्था यथायोग्य नहीं होनेसे उदय प्रारब्धके बिना दूसरे सब प्रकारोंमें असंगता रखना योग्य लगता है; वह यहाँ तक कि जो परिचित हैं वे भी अभी भूल जायें तो अच्छा, क्योंकि संगसे उपाधि निष्कारण बढ़ती रहती है, और वैसी उपाधि सहन करने योग्य अभी मेरा चित्त नहीं है। निरुपायताके सिवाय कुछ भी व्यवहार करनेका चित्त अभी मालूम नहीं होता; और जो व्यापार-व्यवहारकी निरुपायता है, उससे भी निवृत्त होनेकी चिंतना रहा करती है। तथा चित्तमें दूसरेको बोध देने योग्य जितनी योग्यता अभी मुझे नहीं लगती है; क्योंकि जब तक सर्व प्रकारके विषम स्थानकोंमें समवृत्ति न हो तब तक यथार्थ आत्मज्ञान कहा नहीं जाता, और जब तक वैसा हो तब तक तो निज अभ्यासकी रक्षा करना उचित है, और अभी उस प्रकारकी मेरी स्थिति होनेसे मैं ऐसे करता हूँ, वह क्षमायोग्य है, क्योंकि मेरे चित्तमें अन्य कोई हेतु नहीं है।

लौटते समय श्री वढ़वाणमें समागम करनेका मुझसे हो सकेगा तो पहिलेसे आपको लिखूँगा, परंतु मेरे समागममें आपके आनेसे मेरा वढ़वाण आना हुआ था, ऐसा उस प्रसंगके कारण दूसरोंके जाननेमें आये तो वह मुझे योग्य नहीं लगता; तथा आपने व्यावहारिक कारणसे समागम किया है ऐसा कहना अयथार्थ है, जिससे यदि समागम होनेका मुझसे लिखा जाये तो जैसे बात अप्रसिद्ध रहे वैसे कीजियेगा, ऐसी विनती है।

तीनोंके पत्र अलग लिख सकनेकी अशक्तिके कारण एक पत्र लिखा है। यही विनती।

आ० स्व० प्रणाम।

---

५५९ बंबई, पौष वदी ३०, शनि, १९५१

शुभेच्छासंपन्न भाई सुखलाल छगनलालके प्रति, श्री वीरमगाम।

समागमकी आपको इच्छा है और तदनुसार करनेमें सामान्यतः बाधा नहीं है, तथापि चित्तके कारण अभी अधिक समागममें आनेकी इच्छा नहीं होती। यहाँसे माघ सुदी पूर्णिमाको निवृत्त होनेका संभव

दिखाई देता है, तथापि उस समय रुकने जितना अवकाश नहीं है, और उसका मुख्य कारण ऊपर लिखा सो है, तो भी यदि कोई बाधा जैसा नहीं होगा तो स्टेशनपर मिलनेके लिये आगेसे आपको लिखूँगा। मेरे आनेकी खबर विशेष किसीको अभी नहीं दीजियेगा, क्योंकि अधिक समागममें आनेकी उदासीनता रहती है।

आत्मस्वरूपसे प्रणाम।

---

५६० बंबई, पौष, १९५१

ॐ

यदि ज्ञानीपुरुषसे दृढाश्रयसे सर्वोत्कृष्ट मोक्षपद सुलभ है, तो फिर क्षण क्षणमें आत्मोपयोगको स्थिर करना योग्य है, ऐसा जो कठिन मार्ग है वह ज्ञानीपुरुषके दृढ आश्रयसे प्राप्त होना क्यों सुलभ न हो? क्योंकि उस उपयोगकी एकाग्रताके बिना तो मोक्षपदकी उत्पत्ति है नहीं। ज्ञानीपुरुषके वचनका दृढ आश्रय जिसे हो उसे सर्व साधन सुलभ हो जायें, ऐसा अखंड निश्चय सत्पुरुषोंने किया है। तो फिर हम कहते हैं कि इन वृत्तियोंका जय करना योग्य है, उन वृत्तियोंका जय क्यों न हो सके? इतना सत्य है कि इस दुषमकालमें सत्संगकी समीपता या दृढ आश्रय विशेष चाहिये और असत्संगसे अत्यंत निवृत्ति चाहिये; तो भी मुमुक्षुके लिये तो यही योग्य है कि वह कठिनसे कठिन आत्मसाधनकी प्रथम इच्छा करे कि जिससे सर्व साधन अल्पकालमें फलीभूत हो।

श्री तीर्थंकरने तो यहाँ तक कहा है कि जिन ज्ञानीपुरुषकी दशा संसारपरिक्षीण हुई है उन ज्ञानीपुरुषको परंपरा कर्मबंध संभवित नहीं है, तो भी पुरुषार्थको मुख्य रखना चाहिये कि जो दूसरे जीवके लिये भी आत्मसाधन-परिणामका हेतु हो।

'समयसार'मेंसे जो काव्य लिखा है, उसके लिये तथा दूसरे सिद्धांतोंके लिये समागममें समाधान करना सुगम होगा।

ज्ञानीपुरुषको आत्मप्रतिबंधरूपसे संसारसेवा नहीं होती परंतु प्रारब्धप्रतिबंधरूपसे होती है। ऐसा होनेपर भी उससे निवृत्तिरूप परिणामको प्राप्त करे, ऐसी ज्ञानीकी रीति होती है, जिस रीतिका आश्रय करते हुए आज तीन वर्षोंसे विशेषतः वैसा किया है तो उसमें अवश्य आत्मदशाको भुलाने जैसा संभव रहे, वैसे उदयको भी यथाशक्ति समपरिणामसे सहन किया है। यद्यपि उस सहन करनेके कालमें सर्वसंगनिवृत्ति किसी तरह हो तो अच्छा, ऐसा सूझता रहा है; तो भी सर्वसंगनिवृत्तिमें जो दशा रहनी चाहिये वह दशा उदयमें रहे तो अल्पकालमें विशेष कर्मकी निवृत्ति हो, ऐसा समझकर यथाशक्य उस प्रकारसे किया है। परंतु अब मनमें ऐसा रहा करता है कि इस प्रसंगसे अर्थात् सकल गृहवाससे दूर न हुआ जा सके तो भी व्यापारादि प्रसंगसे निवृत्त, दूर हुआ जाये तो अच्छा। क्योंकि आत्मभावमें परिणत होनेके लिये जो दशा ज्ञानीकी होनी चाहिये यह दशा इस व्यापार-व्यवहारसे मुमुक्षुजीवको दिखायी नहीं देती। यह प्रकार जो लिखा है उस विषयमें अब कभी कभी विशेष विचारका उदय होता है। उसका जो परिणाम आये सो ठीक। यह प्रसंग लिखा है, उसे अभी लोगोंमें प्रगट होने देना योग्य नहीं है। माघ सुदी दूजको उस तरफ आनेकी संभावना रहती है। यही विनती। आ०स्व०प्रणाम।

---

५६१ बंबई, माघ सुदी २, रवि, १९५१

शुभेच्छासंपन्न भाई कुंवरजी आणंदजीके प्रति, श्री भावनगर।

चित्तमें कुछ भी विचारवृत्ति परिणत हुई है, यह जानकर हृदयमें आनंद हुआ है।

असार और क्लेशरूप आरंभ-परिग्रहके कार्यमें रहते हुए यदि यह जीव कुछ भी निर्भय या अजागृत रहे तो बहुत वर्षोंका उपासित वैराग्य भी निष्फल जाये ऐसी दशा हो जाती है, ऐसे निश्चयको नित्य प्रति यादकर निरुपाय प्रसंगमें काँपते हुए चित्तसे विवशतासे ही प्रवृत्ति करना योग्य है, इस बातका, मुमुक्षुजीव द्वारा कार्य-कार्यमें, क्षण-क्षणमें और प्रसंग-प्रसंगमें ध्यान रखे बिना मुमुक्षुता रहनी दुष्कर है; और ऐसी दशाका वेदन किये बिना मुमुक्षुता भी संभव नहीं है। मेरे चित्तमें आजकल यह मुख्य विचार रहता है। यही विनती। रायचंदके प्रणाम।

---

५६२ बंबई, माघ सुदी ३, सोम, १९५१

जिस प्रारब्धको भोगे बिना दूसरा कोई उपाय नहीं है, वह प्रारब्ध ज्ञानीको भी भोगना पड़ता है। ज्ञानी अंत तक आत्मार्थका त्याग करना नहीं चाहते, इतनी भिन्नता ज्ञानीमें होती है, ऐसा जो महापुरुषोंने कहा है वह सत्य है।

---

५६३ बंबई, माघ सुदी ८, रवि, १९५१

पत्र प्राप्त हुआ है। विस्तारसे पत्र लिखना अभी शक्य नहीं है, जिसके लिये चित्तमें कुछ खेद होता है, तथापि प्रारब्धोदय समझकर समता रखता हूँ।

आपने पत्रमें जो कुछ लिखा है, उस पर वारंवार विचार करनेसे, जागृति रखनेसे, जिनमें पंचविषयादिके अशुचिस्वरूपका वर्णन किया हो ऐसे शास्त्रों तथा सत्पुरुषोंके चरित्रोंका विचार करनेसे और कार्य कार्यमें ध्यान रखकर प्रवृत्ति करनेसे जो कोई उदासभावना होनी योग्य है वह होगी।

लि० रायचंदके प्रणाम।

---

५६४ बंबई, माघ सुदी ८, रवि, १९५१

यहाँ इस बार तीन वर्षोंसे अधिक प्रवृत्तिके उदयको भोगा है। और वहाँ आनेके बाद भी थोड़े दिन कुछ प्रवृत्तिका संबंध रहे, इससे अब उपरामता प्राप्त हो तो अच्छा, ऐसा चित्तमें रहता है। दूसरी उपरामता अभी होना कठिन है, कम संभव है। परंतु आपका तथा श्री डुंगर आदिका समागम हो तो अच्छा, ऐसा चित्तमें रहता है। इसलिये आप श्री डुंगरको सूचित कीजियेगा और वे ववाणिया आ सकें ऐसा कीजियेगा।

किसी भी प्रकारसे ववाणिया आनेमें उन्हें कल्पना करना योग्य नहीं है। अवश्य आ सके ऐसा कीजियेगा। लि० रायचंदके प्रणाम।

---

५६५ बंबई, फागुन सुदी १२, शुक्र, १९५१

जिस प्रकार बंधनसे छूटा जाये, उस प्रकार प्रवृत्ति करना, यह हितकारी कार्य है। बाह्य परिचयको सोच-सोचकर निवृत्त करना, यह छूटनेका एक प्रकार है। जीव इस बातका जितना विचार करेगा उतना ज्ञानीपुरुषके मार्गको समझनेका समय समीप आयेगा। आ० स्व० प्रणाम।

---

५६६ बंबई, फागुन सुदी १३, १९५१

अशरण ऐसे संसारमें निश्चित बुद्धिसे व्यवहार करना जिसे योग्य प्रतीत न होता हो और उस

व्यवहारके संबंधको निवृत्त करते हुए तथा कम करते हुए विशेषकाल व्यतीत हुआ करता हो, तो उस कामको अल्पकालमें करनेके लिये जीवको क्या करना योग्य है? समस्त संसार मृत्यु आदिके भयसे अशरण है, वह शरणका हेतु हो ऐसी कल्पना करना मृगमरीचिका जैसा है। सोच-सोच कर श्री तीर्थंकर जैसोंने भी उससे निवृत्त होना, छूटना यही उपाय खोजा है। उस संसारका मुख्य कारण प्रेमबंधन तथा द्वेषबंधन सब ज्ञानियोंने स्वीकार किया है। उसकी आकुलतासे जीवको निजविचार करनेका अवकाश प्राप्त नहीं होता, अथवा होता हो तो ऐसे योगसे उस बंधनके कारणसे आत्मवीर्य प्रवृत्ति नहीं कर सकता, और यह सब प्रमादका हेतु है, और वैसे प्रमादसे लेशमात्र समय काल भी निर्भय रहना या अजागृत रहना, यह इस जीवकी अतिशय निर्बलता है, अविवेकता है, भ्रांति है, और अत्यंत दुर्निवार्य ऐसा मोह है।

समस्त संसार दो प्रवाहोंसे बह रहा है, प्रेमसे और द्वेषसे। प्रेमसे विरक्त हुए बिना द्वेषसे छूटा नहीं जाता और जो प्रेमसे विरक्त हो उसे सर्वसंगसे विरक्त हुए बिना व्यवहारमें रहकर अप्रेम (उदास) दशा रखनी यह भयंकर व्रत है। यदि केवल प्रेमका त्याग करके व्यवहारमें प्रवृत्ति की जाये तो कितने ही जीवोंकी दयाका, उपकारका और स्वार्थका भंग करने जैसा होता है; और वैसा विचार कर यदि दया उपकारादिके कारण कुछ प्रेमदशा रखते हुए चित्तमें विवेकीको क्लेश भी हुए बिना रहना नहीं चाहिये, तब उसका विशेष विचार किस प्रकारसे करें?

---

५६७ बंबई, फागुन सुदी १५, १९५१

श्री वीतरागको परम भक्तिसे नमस्कार

दो तार, दो पत्र तथा दो चिट्ठियाँ मिली है। श्री जिनेन्द्र जैसे पुरुषने गृहवासमें जो प्रतिबंध नहीं किया है, वह प्रतिबंध न होनेके लिये आना या पत्र लिखना नहीं हुआ, उसके लिये अत्यंत दीनतासे क्षमा चाहता हूँ। संपूर्ण वीतरागता न होनेसे इस प्रकार बरताव करते हुए अंतरमें विक्षेप हुआ है, जिस विक्षेपको भी शांत करना योग्य है, ऐसा मार्ग ज्ञानीने देखा है।

आत्माका जो अंतर्व्यापार (अंतरपरिणामकी धारा) है वह, बंध तथा मोक्षकी (कर्मसे आत्माका बँधना और उससे आत्माका छूटना) व्यवस्थाका हेतु है, मात्र शरीरचेष्टा बंध-मोक्षकी व्यवस्थाका हेतु नहीं है। विशेष रोगादिके योगसे ज्ञानीपुरुषकी देहमें भी निर्बलता, मंदता, म्लानता, कंप, स्वेद, मूर्च्छा, बाह्य विभ्रमादि दिखायी देते हैं; तथापि जितनी ज्ञान द्वारा, बोध द्वारा, वैराग्य द्वारा आत्माकी निर्मलता हुई है, उतनी निर्मलता द्वारा ज्ञानी उस रोगका अंतर्परिणामसे वेदन करते हैं और वेदन करते हुए कदाचित् बाह्य स्थिति उन्मत्त देखनेमें आये तो भी अंतर्परिणामके अनुसार कर्मबंध अथवा निवृत्ति होती है। आत्मा जहाँ अत्यंत शुद्ध निजपर्यायका सहज स्वभावसे सेवन करे वहाँ— (अपूर्ण)

---

५६८ बंबई, फागुन, १९५१

आत्मस्वरूपका निर्णय होनेमें अनादिसे जीवकी भूल होती आयी है, जिससे अब हो, इसमें आश्चर्य नहीं लगता।

सर्व क्लेशसे और सर्व दुःखसे मुक्त होनेका, आत्मज्ञानके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है। सद्विचारके बिना आत्मज्ञान नहीं होता, और असत्संग-प्रसंगसे जीवका विचारबल नहीं चलता, इसमें किंचित्मात्र संशय नहीं है।

आत्मपरिणामकी स्वस्थताको श्री तीर्थंकर 'समाधि' कहते हैं।
आत्मपरिणामकी अस्वस्थताको श्री तीर्थंकर 'असमाधि' कहते हैं।
आत्मपरिणामकी सहज स्वरूपसे परिणति होना उसे श्री तीर्थंकर 'धर्म' कहते हैं।
आत्मपरिणामकी कुछ भी चपल परिणति होना उसे श्री तीर्थंकर 'कर्म' कहते हैं।

श्री जिन तीर्थंकरने जैसा बंध एवं मोक्षका निर्णय कहा है, वैसा निर्णय वेदांतादि दर्शनमें दृष्टिगोचर नहीं होता, और श्री जिनमें जैसा यथार्थवक्तृत्व देखनेमें आता है वैसा यथार्थवक्तृत्व दूसरेमें देखनेमें नहीं आता।

आत्माके अंतर्व्यापार (शुभाशुभ परिणामधारा) के अनुसार बंध-मोक्षकी व्यवस्था है, वह शारीरिक चेष्टाके अनुसार नहीं है। पूर्वकालमें उत्पन्न किये हुए वेदनीय कर्मके उदयके अनुसार रोगादि उत्पन्न होते हैं, और तदनुसार निर्बल, मंद, म्लान, उष्ण, शीत आदि शरीरचेष्टा होती है।

विशेष रोगके उदयसे अथवा शारीरिक मंद बलसे ज्ञानीका शरीर कंपित हो, निर्बल हो, म्लान हो, मंद हो, रौद्र लगे, उसे भ्रमादिका उदय भी रहे; तथापि जिस प्रकारसे जीवमें बोध एवं वैराग्यकी वासना हुई होती है उस प्रकारसे उस रोगका, जीव उस उस प्रसंगमें प्रायः वेदन करता है।

किसी भी जीवको अविनाशी देहकी प्राप्ति हुई हो, ऐसा देखा नहीं, जाना नहीं तथा संभव नहीं; और मृत्युका आना निश्चित है, ऐसा प्रत्यक्ष निःसंशय अनुभव है। ऐसा होनेपर भी यह जीव उस बातको वारंवार भूल जाता है, यह बड़ा आश्चर्य है।

जिस सर्वज्ञ वीतरागमें अनन्त सिद्धियाँ प्रगट हुई थीं उस वीतरागने भी इस देहको अनित्यभावी देखा है, तो फिर अन्य जीव किस प्रयोगसे देहको नित्य बना सकेंगे ?

श्री जिनेंद्रका ऐसा अभिप्राय है कि प्रत्येक द्रव्य अनंत पर्यायी है। जीवके अनंत पर्याय हैं और परमाणुके भी अनंत पर्याय हैं। जीव चेतन होनेसे उसके पर्याय भी चेतन हैं, और परमाणु अचेतन होनेसे उसके पर्याय भी अचेतन हैं। जीवके पर्याय अचेतन नहीं है और परमाणुके पर्याय सचेतन नहीं है ऐसा श्री जिनेंद्रने निश्चय किया है तथा वही योग्य है, क्योंकि प्रत्यक्ष पदार्थके स्वरूपका भी विचार करते हुए वैसा प्रतीत होता है।

जीवके विषयमें, प्रदेशके विषयमें, पर्यायके विषयमें, तथा संख्यात, असंख्यात, अनंत आदिके विषयमें यथाशक्ति विचार करना। जो कुछ अन्य पदार्थका विचार करना है वह जीवके मोक्षके लिये करना है, अन्य पदार्थके ज्ञानके लिये नहीं करना है।

---

५६९ बंबई, फागुन वदी ३, १९५१

श्री सत्पुरुषोंको नमस्कार

सर्व क्लेशसे और सर्व दुःखसे मुक्त होनेका उपाय एक आत्मज्ञान है। विचारके बिना आत्मज्ञान नहीं होता, और असत्संग तथा असत्प्रसंगसे जीवका विचारबल प्रवृत्त नहीं होता, इसमें किंचित् मात्र संशय नहीं है।

आरंभ-परिग्रहकी अल्पता करनेसे असत्प्रसंगका बल घटता है, सत्संगके आश्रयसे असत्संगका बल घटता है। असत्संगका बल घटनेसे आत्मविचार होनेका अवकाश प्राप्त होता है। आत्मविचार होनेसे

आत्मज्ञा न होता है, और आत्मज्ञानसे निजस्वभावस्वरूप, सर्व क्लेश एवं सर्व दुःखसे रहित मोक्ष प्राप्त होता है, यह बात सर्वथा सत्य है।

जो जीव मोहनिद्रामें सोये हुए हैं वे अमुनि हैं। निरंतर आत्मविचारपूर्वक मुनि तो जाग्रत रहते है। प्रमादीको सर्वथा भय है, अप्रमादीको किसी तरहसे भय नहीं है, ऐसा श्री जिनेंद्रने कहा है।

सर्व पदार्थके स्वरूपको जाननेका हेतु मात्र एक आत्मज्ञान करना ही है। यदि आत्मज्ञान न हो तो सर्व पदार्थोंके ज्ञानकी निष्फलता है।

जितना आत्मज्ञान होता है उतनी आत्मसमाधि प्रगट होती है।

किसी भी तथारूप योगको प्राप्त करके जीवको एक क्षण भी अंतर्भेदजागृति हो जाये तो उससे मोक्ष विशेष दूर नहीं है।

अन्य परिणाममें जितनी तादात्म्यवृत्ति है, उतना जीवसे मोक्ष दूर है।

यदि कोई आत्मयोग बने तो इस मनुष्य भवका मूल्य किसी तरहसे नहीं हो सकता। प्रायः मनुष्यदेहके बिना आत्मयोग नहीं बनता ऐसा जानकर, अत्यंत निश्चय करके इसी देहमें आत्मयोग उत्पन्न करना योग्य है।

विचारकी निर्मलतासे यदि यह जीव अन्यपरिचयसे पीछे हटे तो सहजमें अभी ही उसे आत्मयोग प्रगट हो जाये। असत्संग-प्रसंगका घिराव विशेष है, और यह जीव उससे अनादिकालका हीनसत्त्व हुआ होनेसे उससे अवकाश प्राप्त करनेके लिये अथवा उसकी निवृत्ति करनेके लिये यथासंभव सत्संगका आश्रय करे तो किसी तरह पुरुषार्थयोग्य होकर विचारदशाको प्राप्त करे।

जिस प्रकारसे इस संसारकी अनित्यता, असारता अत्यंतरूपसे भासित हो उस प्रकारसे आत्मविचार उत्पन्न होता है।

अब इस उपाधिकार्यसे छूटनेकी विशेष-विशेष आर्त्ति हुआ करती है, और छूटे बिना जो कुछ भी काल बीतता है, वह इस जीवकी शिथिलता ही है, ऐसा लगता है; अथवा ऐसा निश्चय रहता है।

जनकादि उपाधिमें रहते हुए भी आत्मस्वभावमें रहते थे, ऐसे आलंबनके प्रति कभी भी बुद्धि नहीं जाती। श्री जिनेंद्र जैसे जन्मत्यागी भी छोड़कर चल निकले, ऐसे भयके हेतुरूप उपाधियोगकी निवृत्ति यह पामर जीव करते-करते काल व्यतीत करेगा तो अश्रेय होगा, ऐसा भय जीवके उपयोगमें रहता है, क्योंकि यही कर्तव्य है।

जो रागद्वेषादि परिणाम अज्ञानके बिना संभवित नहीं है, उन रागद्वेषादि परिणामोंके होते हुए भी, सर्वथा जीवन्मुक्तता मानकर जीवन्मुक्तदशाकी जीव आसातना करता है, ऐसे प्रवृत्ति करता है। सर्वथा रागद्वेषपरिणामकी परिक्षीणता ही कर्तव्य है।

जहाँ अत्यंत ज्ञान हो वहाँ अत्यंत त्यागका संभव है। अत्यंत त्याग प्रगट हुए बिना अत्यंत ज्ञान नहीं होता, ऐसा श्री तीर्थंकरने स्वीकार किया है।

आत्मपरिणामसे जितना अन्य पदार्थका तादात्म्य-अध्यास निवृत्त होना, उसे श्री जिनेंद्र त्याग कहते हैं।

वह तादात्म्य-अध्यास-निवृत्तिरूप त्याग होनेके लिये यह बाह्य प्रसंगका त्याग भी उपकारी है, कार्यकारी है। बाह्य प्रसंगके त्यागके लिये अंतरत्याग कहा नहीं है, ऐसा है; तो भी इस जीवको

अंतर्त्यागके लिये बाह्य प्रसंगकी निवृत्तिको कुछ भी उपकारी मानना योग्य है।

नित्य छूटनेका विचार करते हैं और जैसे वह कार्य तुरत पूरा हो वैसे जाप जपते हैं। यद्यपि ऐसा लगता है कि वह विचार और जाप अभी तक तथारूप नहीं है, शिथिल है; अतः अत्यंत विचार और उस जापका उग्रतासे आराधन करनेका अल्पकालमें योग करना योग्य है, ऐसा रहा करता है।

प्रसंगसे कुछ परस्परके संबंध जैसे वचन इस पत्रमें लिखे हैं, वे विचारमें स्फुरित हो आनेसे स्वविचार बल बढनेके लिये और आपके पढ़ने-विचारनेके लिये लिखे हैं।

जीव, प्रदेश, पर्याय तथा संख्यात, असंख्यात, अनंत आदिके विषयमें तथा रसके व्यापकताके विषयमें क्रमपूर्वक समझना योग्य होगा।

आपका यहाँ आनेका विचार है, तथा श्री डुंगरका आना संभव है, यह लिखा सो जाना है। सत्संगयोगकी इच्छा रहा करती है।

---

५७० बंबई, फागुन वदी ५, शनि, १९५१

सुज्ञ भाई श्री [1]मोहनलालके प्रति, श्री डरबन।

पत्र एक मिला है। ज्यों ज्यों उपाधिका त्याग होता है, त्यों त्यों समाधिसुख प्रगट होता है। ज्यों ज्यों उपाधिका ग्रहण होता है त्यों त्यों समाधिसुखकी हानि होती है। विचार करें तो यह बात प्रत्यक्ष अनुभवमें आती है। यदि इस संसारके पदार्थोंका कुछ भी विचार किया जाये, तो उसके प्रति वैराग्य आये बिना नहीं रहेगा, क्योंकि मात्र अविचारके कारण उसमें मोहबुद्धि रहती है।

'आत्मा है,' 'आत्मा नित्य है,' 'आत्मा कर्मका कर्त्ता है,' 'आत्मा कर्मका भोक्ता है,' 'उससे वह निवृत्त हो सकता है,' और 'निवृत्त हो सकनेके साधन हैं,'—ये छः कारण जिसे विचारपूर्वक सिद्ध हो उसे विवेकज्ञान अथवा सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति मानना, ऐसा श्री जिनेंद्रने निरूपण किया है, उस निरूपणका मुमुक्षुजीवको विशेष करके अभ्यास करना योग्य है।

पूर्वके किसी विशेष अभ्यासबलसे इन छः कारणोंका विचार उत्पन्न होता है; अथवा सत्संगके आश्रयसे उस विचारके उत्पन्न होनेका योग बनता है।

अनित्य पदार्थके प्रति मोहबुद्धि होनेके कारण आत्माका अस्तित्व, नित्यत्व और अव्याबाध समाधिसुख भानमें नहीं आता। उसकी मोहबुद्धिमें जीवको अनादिसे ऐसी एकाग्रता चली आती है, कि उसका विवेक करते करते जीवको अकुलाकर पीछे लौटना पड़ता है, और उस मोहग्रंथिको छेदनेका समय आनेसे पहले वह विवेक छोड़ देनेका योग पूर्व कालमें बहुत बार हुआ है; क्योंकि जिसका अनादिकालसे अभ्यास है वह, अत्यंत पुरुषार्थके बिना, अल्पकालमें छोडा नहीं जा सकता। इसलिये पुनः पुनः सत्संग, सत्शास्त्र और अपनेमें सरल विचारदशा करके उस विषयमें विशेष श्रम करना योग्य है, कि जिसके परिणाममें नित्य शाश्वत सुखस्वरूप ऐसा आत्मज्ञान होकर स्वरूपका आविर्भाव होता है। इसमें प्रथमसे उत्पन्न होनेवाले संशय धैर्यसे और विचारसे शांत होते हैं। अधीरतासे अथवा टेढी कल्पना करनेसे मात्र जीवको अपने हितका त्याग करनेका समय आता है, और अनित्य पदार्थका राग रहनेके कारणसे पुनः पुनः संसारपरिभ्रमणका योग रहा करता है।

---

१. महात्मा गांधीजी।

कुछ भी आत्मविचार करनेकी इच्छा आपको रहती है, ऐसा जानकर बहुत संतोष हुआ है। उस संतोषमें मेरा कोई स्वार्थ नहीं है। मात्र आप समाधिके रास्तेपर चढ़ना चाहते हैं, जिससे आपको संसारक्लेशसे निवृत्त होनेका अवसर प्राप्त होगा। इस प्रकारकी संभावना देखकर स्वभावतः संतोष होता है। यही विनती। आ० स्व० प्रणाम।

---

५७१ बंबई, फागुन वदी ५, शनि, १९५१

अधिकसे अधिक एक समयमें १०८ जीव मुक्त हो, इससे अधिक न हो; ऐसी लोकस्थिति जिनागममें स्वीकृत है, और प्रत्येक समयमें एक सौ आठ एक सौ आठ जीव मुक्त होते ही रहते हैं, ऐसा मानें तो इस परिमाणसे तीनों कालमें जितने जीव मोक्ष प्राप्त करें, उतने जीवोंकी जो अनंत संख्या हो, उसकी अपेक्षा संसारनिवासी जीवोंकी संख्या जिनागममें अनंत गुनी निरूपित की है। अर्थात् तीनों कालमें मुक्तजीव जितने हों उनकी अपेक्षा संसारमें अनंत गुने जीव रहते हैं, क्योंकि उनका परिमाण इतना अधिक है, और इसलिये मोक्षमार्गका प्रवाह बहते रहते हुए भी संसारमार्गका अच्छेद हो जाना संभव नहीं है, और इससे बंध-मोक्षकी व्यवस्थामें विपर्यय नहीं होता। इस विषयमें अधिक चर्चा समागममें करेंगे तो बाधा नहीं है।

जीवके बंध-मोक्षकी व्यवस्थाके विषयमें संक्षेपमें पत्र लिखा है। इस प्रकारके जो जो प्रश्न हों वे सब समाधान हो सकने जैसे हैं, कोई फिर अल्पकालमें और कोई फिर विशेष कालमें समझे अथवा समझमें आये, परंतु इन सबकी व्यवस्थाका समाधान हो सकने जैसा है।

सबकी अपेक्षा अभी विचारणीय बात तो यह है कि उपाधि तो की जाये और सर्वथा असंगदशा रहे, ऐसा होना अत्यंत कठिन है; और उपाधि करते हुए आत्मपरिणाम चंचल न हो, ऐसा होना असंभवित जैसा है। उत्कृष्ट ज्ञानीको छोड़कर हम सबको तो यह बात अधिक ध्यानमें रखने योग्य है कि आत्मामें जितनी असंपूर्णता—असमाधि रहती है अथवा रह सकने जैसी हो, उसका उच्छेद करना।

---

५७२ बंबई, फागुन वदी ७, रवि, १९५१

सर्व विभावसे उदासीन और अत्यंत शुद्ध निज पर्यायका सहजरूपसे आत्मा सेवन करे, उसे श्री जिनेंद्रने तीव्रज्ञानदशा कही है। जिस दशाके आये बिना कोई भी जीव बंधनमुक्त नहीं होता, ऐसा सिद्धांत श्री जिनेंद्रने प्रतिपादित किया है, जो अखंड सत्य है।

किसी ही जीवसे इस गहन दशाका विचार हो सकना योग्य है, क्योंकि अनादिसे अत्यंत अज्ञानदशासे इस जीवने जो प्रवृत्ति की है, उस प्रवृत्तिको एकदम असत्य, असार समझकर उसकी निवृत्ति सूझे ऐसा होना बहुत कठिन है; इसलिये जिनेंद्रने ज्ञानीपुरुषका आश्रय करनेरूप भक्तिमार्गका निरूपण किया है, कि जिस मार्गके आराधनसे सुलभतासे ज्ञानदशा उत्पन्न होती है।

ज्ञानीपुरुषके चरणमें मनको स्थापित किये बिना यह भक्तिमार्ग सिद्ध नहीं होता, जिससे जिनागममें पुनः पुनः ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन करनेका स्थान स्थानपर कथन किया है। ज्ञानीपुरुषके चरणमें मनका स्थापित होना पहिले तो कठिन पड़ता है, परंतु वचनकी अपूर्वतासे, उस वचनका विचार करनेसे तथा ज्ञानीको अपूर्व दृष्टिसे देखनेसे मनका स्थापित होना सुलभ होता है।

ज्ञानीपुरुषके आश्रयमें विरोध करनेवाले पंच विषयादि दोष हैं। उन दोषोंके होनेके साधनोंसे

यथाशक्ति दूर रहना, और प्राप्तसाधनमें भी उदासीनता रखना, अथवा उन उन साधनोंमेंसे अहंबुद्धिको दूरकर, उन्हें रोगरूप समझकर प्रवृत्ति करना योग्य है। अनादि दोषका ऐसे प्रसंगमें विशेष उदय होता है। क्योंकि आत्मा उस दोषको नष्ट करनेके लिये अपने सन्मुख लाता है कि वह स्वरूपांतर करके उसे आकर्षित करता है, और जागृतिमें शिथिल करके अपनेमें एकाग्र बुद्धि करा देता है। वह एकाग्र बुद्धि इस प्रकारकी होती है कि 'मुझे इस प्रवृत्तिसे वैसी विशेष बाधा नहीं होगी, मैं अनुक्रमसे उसे छोड़ूँगा, और करते हुए जागृत रहूँगा', इत्यादि भ्रांतदशा उन दोषोंसे होती है; जिससे जीव उन दोषोंका संबंध नहीं छोड़ता, अथवा वे दोष बढ़ते हैं, उसका ध्यान उसे नहीं आ सकता।

इस विरोधी साधनका दो प्रकारसे त्याग हो सकता है—एक, उस साधनके प्रसंगकी निवृत्ति, दूसरा, विचारपूर्वक उसकी तुच्छता समझना।

विचारपूर्वक तुच्छता समझनेके लिये प्रथम उस पंचविषयादिके साधनकी निवृत्ति करना अधिक योग्य है, क्योंकि उससे विचारका अवकाश प्राप्त होता है।

उस पंचविषयादिके साधनकी सर्वथा निवृत्ति करनेके लिये जीवका बल न चलता हो, तब क्रम-क्रमसे, अंश-अंशसे उसका त्याग करना योग्य है; परिग्रह तथा भोगोपभोगके पदार्थोंका अल्प परिचय करना योग्य है। ऐसा करनेसे अनुक्रमसे वह दोष मंद पड़ता है और आश्रयभक्ति दृढ होती है तथा ज्ञानीके वचन आत्मामें परिणमित होकर, तीव्रज्ञानदशा प्रगट होकर जीवन्मुक्त हो जाता है।

जीव क्वचित् ऐसी बातका विचार करे, इससे अनादि अभ्यासका बल घटना कठिन है परंतु दिन-प्रतिदिन, प्रसंग-प्रसंगमें और प्रवृत्ति-प्रवृत्तिमें पुनः पुनः विचार करे, तो अनादि अभ्यासका बल घटकर अपूर्व अभ्यासकी सिद्धि होकर सुलभ ऐसा आश्रयभक्तिमार्ग सिद्ध होता है। यही विनती।

आ० स्व० प्रणाम।

---

५७३ बंबई, फागुन वदी ११, शुक्र, १९५१

जन्म, जरा, मरण आदि दुःखोंसे समस्त संसार अशरण है। जिसने सर्वथा उस संसारकी आस्था छोड़ दी है, वही आत्मस्वभावको प्राप्त हुआ है, और निर्भय हुआ है। विचारके बिना वह स्थिति जीवको प्राप्त नहीं हो सकती, और संगके मोहसे पराधीन इस जीवको विचार प्राप्त होना दुर्लभ है।

आ० स्व० प्रणाम।

---

५७४ बंबई, फागुन, १९५१

यथासंभव तृष्णा कम करनी चाहिये। जन्म, जरा, मरण किसके हैं? कि जो तृष्णा रखता है, उसके जन्म, जरा, मरण हैं। इसलिये तृष्णाको यथाशक्ति कम करते जाना।

---

५७५ बंबई, फागुन, १९५१

जब तक यथार्थ निज स्वरूप संपूर्ण प्रकाशित हो तब तक निज स्वरूपके निदिध्यासनमें स्थिर रहनेके लिये ज्ञानीपुरुषके वचन आधारभूत हैं, ऐसा परम पुरुष श्री तीर्थंकरने कहा है, वह सत्य है। बारहवें गुणस्थानमें रहनेवाले आत्माको निदिध्यासनरूप ध्यानमें श्रुतज्ञान अर्थात् ज्ञानीके मुख्य वचनोंका आशय वहाँ आधारभूत है, ऐसा प्रमाण जिनमार्गमें वारंवार कहा है। बोधबीजकी प्राप्ति होनेपर, निर्वाणमार्गकी यथार्थ प्रतीति होनेपर भी उस मार्गमें यथास्थित स्थिति होनेके लिये ज्ञानीपुरुषका आश्रय

मुख्य साधन है, और वह ठेठ पूर्ण दशा होने तक है; नहीं तो जीवको पतित होनेका भय है, ऐसा माना है। तो फिर अपने आप अनादिसे भ्रांत जीवको सद्गुरुके योगके बिना निजस्वरूपका भान होना अशक्य है, इसमें संशय क्यों हो? जिसे निज स्वरूपका दृढ निश्चय रहता है, ऐसे पुरुषको प्रत्यक्ष जगतव्यवहार वारंवार मार्गच्युत करा देने वाले प्रसंग प्राप्त कराता है, तो फिर उससे न्यूनदशामें जीव मार्ग भूल जाये, इसमें आश्चर्य क्या है? अपने विचारके बलसे, सत्संग-सत्शास्त्रके आधारसे रहित प्रसंगमें यह जगतव्यवहार विशेष बल करता है, और तब वारंवार श्री सद्गुरुका माहात्म्य और आश्रयका स्वरूप तथा सार्थकता अत्यंत अपरोक्ष सत्य दिखायी देते हैं।

---

५७६ बंबई, चैत्र सुदी ६, सोम, १९५१

आज एक पत्र आया है। यहाँ कुशलता है। पत्र लिखते लिखते अथवा कुछ कहते कहते वारंवार चित्तकी अप्रवृत्ति होती है, और कल्पितका इतना अधिक माहात्म्य क्या? कहना क्या? जानना क्या? सुनना क्या? प्रवृत्ति क्या? इत्यादि विक्षेपसे चित्तकी उसमें अप्रवृत्ति होती है; और परमार्थसंबंधी कहते हुए, लिखते हुए उससे दूसरे प्रकारके विक्षेपकी उत्पत्ति होती है, जिस विक्षेपमें मुख्य इस तीव्र प्रवृत्तिके निरोधके बिना उसमें, परमार्थकथनमें भी अप्रवृत्ति अभी श्रेयभूत लगती है। इस कारणके विषयमें पहिले एक सविस्तर पत्र लिखा है, इसलिये यहाँ विशेष लिखने जैसा नहीं है। केवल चित्तमें विशेष स्फूर्ति होनेसे यहाँ लिखा है।

मोतीके व्यापार आदिकी प्रवृत्ति अधिक न करनेका हो सके तो ठीक है, ऐसा जो लिखा वह यथायोग्य है; और चित्तकी इच्छा नित्य ऐसी रहा करती है। लोभहेतुसे वह प्रवृत्ति होती है या नहीं? ऐसा विचार करते हुए लोभका निदान प्रतीत नहीं होता। विषयादिकी इच्छासे प्रवृत्ति होती है, ऐसा भी प्रतीत नहीं होता; तथापि प्रवृत्ति होती है, इसमें संदेह नहीं। जगत कुछ लेनेके लिये प्रवृत्ति करता है, यह प्रवृत्ति देनेके लिये होती होगी ऐसा लगता है। यहाँ जो यह लगता है वह यथार्थ होगा या नहीं? उसके लिये विचारवान पुरुष जो कहे वह प्रमाण है। यही विनती।

लि० रायचंदके प्रणाम।

---

५७७ बंबई, चैत्र सुदी १३, १९५१

अभी यदि किन्हीं वेदांतसंबंधी ग्रंथोंका अध्ययन तथा श्रवण करनेका रहता हो तो उस विचारका विशेष विचार होनेके लिये कुछ समय श्री 'आचारांग', 'सूयगडांग' तथा 'उत्तराध्ययन' को पढ़ने एवं विचार करनेका हो सके तो कीजियेगा।

वेदांतके सिद्धांतमें तथा जिनागमके सिद्धांतमें भिन्नता है, तो भी जिनागमको विशेष विचारका स्थान मानकर वेदांतका पृथक्करण होनेके लिये वे आगम पढ़ने विचारने योग्य हैं। यही विनती।

---

५७८ बंबई, चैत्र सुदी १४, शनि, १९५१

बंबईमें आर्थिक तंगी विशेष है। सट्टेवालोंको बहुत नुकसान हुआ है। आप सबको सूचना है कि सट्टे जैसे रास्तेको न अपनाया जाये, इसका पूरा ध्यान रखियेगा। माताजी तथा पिताजीको प्रादप्रणाम।

रायचंदके यथायोग्य।

---

५७९ बंबई, चैत्र सुदी १५, १९५१

परम स्नेही श्री सोभागके प्रति, श्री सायला।

मोरबीसे लिखा हुआ एक पत्र मिला है। यहाँसे रविवारको एक चिट्ठी मोरबी लिखी है। वह आपको सायलामें मिली होगी।

श्री डुंगरके साथ इस तरफ आनेका विचार रखा है, उस विचारके अनुसार आनेमें श्री डुंगरको भी कोई विक्षेप न करना योग्य है; क्योंकि यहाँ मुझे विशेष उपाधि अभी तुरत नहीं रहेगी ऐसा संभव है। दिन तथा रातका बहुतसा भाग निवृत्तिमें बिताना हो तो मुझसे अभी वैसा हो सकता है।

परम पुरुषकी आज्ञाके निर्वाहके लिये तथा बहुतसे जीवोंके हितके लिये आजीविकादि संबंधी आप कुछ लिखते हैं, अथवा पूछते हैं, उनमें मौन जैसा बरताव होता है, उसमें अन्य कोई हेतु नहीं हैं, जिससे मेरे वैसे मौनके लिये चित्तमें अविक्षेपता रखियेगा, और अत्यंत प्रयोजनके बिना अथवा मेरी इच्छा जाने बिना उस विषयमें मुझे लिखने या पूछनेका न हो तो अच्छा। क्योंकि आपको और मुझे ऐसी दशामें रहना विशेष आवश्यक है, और उस आजीविकादिके कारणसे आपको विशेष भयाकुल होना भी योग्य नहीं है। मुझपर कृपा करके इतनी बात तो आप चित्तमें दृढ करें तो हो सकती है। बाकी किसी तरह कभी भी भेदभावकी बुद्धिसे मौन धारण करना मुझे सूझे, ऐसा संभवित नहीं है, ऐसा निश्चय रखिये। इतनी सूचना देनी भी योग्य नहीं है, तथापि स्मृतिमें विशेषता आनेके लिये लिखा है।

आनेका विचार करके तिथि लिखियेगा। जो कुछ पूछना-करना हो वह समागममें पूछा जाय तो बहुतसे उत्तर दिये जा सकते हैं। अभी पत्र द्वारा अधिक लिखना नहीं हो सकता।

ड़ाकका समय हो जानेसे यह पत्र पूरा करता हूँ। श्री डुंगरको प्रणाम कहियेगा। और हमारे प्रति लौकिक दृष्टि रखकर, आनेके विचारमें कुछ शिथिलता न करें, इतनी विनती करियेगा।

आत्मा सबसे अत्यंत प्रत्यक्ष है, ऐसा परम पुरुष द्वारा किया हुआ निश्चय भी अत्यंत प्रत्यक्ष है। यही विनती। आज्ञाकारी रायचंदके प्रणाम विदित हो।

---

५८० बंबई, चैत्र वदी ५, रवि, १९५१

कितने ही विचार विदित करनेकी इच्छा रहा करती होनेपर भी किसी उदयके प्रतिबंधसे वैसा हो सकनेमें बहुतसा समय व्यतीत हुआ करता है। इसलिये विनती है कि आप जो कुछ भी प्रसंगोपात्त पूछने अथवा लिखनेकी इच्छा करते हों तो वैसा करनेमें मेरी ओरसे प्रतिबंध नहीं है, ऐसा समझकर लिखने अथवा पूछनेमें न रुकियेगा। यही विनती। आ० स्व० प्रणाम।

---

५८१ बंबई, चैत्र वदी ८, बुध, १९५१

चेतनका चेतन पर्याय होता है, और जड़का जड़ पर्याय होता है, यही पदार्थकी स्थिति है। प्रत्येक समयमें जो जो परिणाम होते हैं वे वे पर्याय हैं। विचार करनेसे यह बात यथार्थ लगेगी।

अभी कम लिखना बन पाता है, इसलिये बहुतसे विचार कहे नहीं जा सकते, तथा बहुतसे विचारोंका उपशम करनेरूप प्रकृतिका उदय होनेसे किसीको स्पष्टतासे कहना नहीं हो सकता। अभी यहाँ इतनी अधिक उपाधि नहीं रहती, तो भी प्रवृत्तिरूप संग होनेसे तथा क्षेत्र उत्तापरूप होनेसे थोड़े दिनके लिये यहाँसे निवृत्त होनेका विचार होता है। अब इस विषयमें जो होना होगा सो होगा। यही विनती।

प्रणाम।

---

५८२ बंबई, चैत्र वदी ८, १९५१

आत्मवीर्यके प्रवर्तन और संकोच करनेमें बहुत विचारपूर्वक प्रवृत्ति करना योग्य है।

शुभेच्छासंपन्न भाई कुंवरजी आणंदजीके प्रति, श्री भावनगर।

विशेष विनती है कि आपका लिखा हुआ एक पत्र प्राप्त हुआ है। उस तरफ आनेके संबंधमें निम्नलिखित स्थिति है। लोगोंको संदेह हो इस प्रकारके बाह्य व्यवहारका उदय है। और वैसे व्यवहारके साथ बलवान निर्ग्रंथ पुरुष जैसा उपदेश करना, वह मार्गका विरोध करने जैसा है; और ऐसा जानकर तथा उस जैसे दूसरे कारणोंका स्वरूप विचारकर प्रायः जिससे लोगोंको संदेहका हेतु हो वैसे प्रसंगमें मेरा आना नहीं होता। कदाचित् कभी कोई समागममें आता है, और कुछ स्वाभाविक कहना-करना होता है, इसमें भी चित्तकी इच्छित प्रवृत्ति नहीं है। पूर्वकालमें यथास्थित विचार किये बिना जीवने प्रवृत्ति की, उससे ऐसे व्यवहारका उदय प्राप्त हुआ है, जिससे कई बार चित्तमें शोक रहता है। परंतु यथास्थित समपरिणामसे वेदन करना योग्य है, ऐसा समझकर प्रायः वैसी प्रवृत्ति रहती है। फिर आत्मदशाके विशेष स्थिर होनेके लिये असंगतामें ध्यान रहा करता है। इस व्यापारादिके उदय-व्यवहारसे जो जो संग होते हैं, उनमें प्रायः असंग परिणामवत् प्रवृत्ति होती है, क्योंकि उनमें सारभूत कुछ नहीं लगता। परंतु जिस धर्मव्यवहारके प्रसंगमें आना होता है, वहाँ उस प्रवृत्तिके अनुसार व्यवहार करना योग्य नहीं है। तथा दूसरे आशयका विचारकर प्रवृत्ति की जाये तो उतनी सामर्थ्य अभी नहीं है, इसलिये वैसे प्रसंगमें प्रायः मेरा आना कम होता है; और इस क्रमको बदलना अभी चित्तको जचता नहीं है। फिर भी उस तरफ आनेके प्रसंगमें वैसा करनेका कुछ भी विचार मैंने किया था, तथापि उस क्रमको बदलते हुए दूसरे विषम कारणोंका आगे जाकर संभव होगा ऐसा प्रत्यक्ष दीखनेसे क्रम बदलने संबंधी वृत्तिका उपशम करना योग्य लगनेसे वैसा किया है। इस आशयके सिवाय चित्तमें दूसरा आशय भी उस तरफ अभी नहीं आनेके संबंधमें है; परंतु किसी लोकव्यवहाररूप कारणसे आनेके विचारका विसर्जन नहीं किया है।

चित्तपर अधिक दबाव ड़ालकर यह स्थिति लिखी है, उसपर विचारकर यदि कुछ आवश्यक जैसा लगे तो प्रसंगोपात्त रतनजीभाईसे स्पष्टता करें। मेरे आने न आनेके विषयमें यदि कुछ बात न कह सकें तो वैसा करनेकी विनती है। वि० रायचंदके प्रणाम।

---

५८३ बंबई, चैत्र वदी ११, शुक्र, १९५१

एक आत्मपरिणतिके सिवाय दूसरे जो विषय हैं उनमें चित्त अव्यवस्थिततासे रहता है, और वैसी अव्यवस्थितता लोकव्यवहारसे प्रतिकूल होनेसे लोकव्यवहार करना रुचता नहीं है, और छोड़ना नहीं बन पाता; यह वेदना प्रायः दिनभर वेदनमें आती रहती है।

खानेमें, पीनेमें, बोलनेमें, शयनमें, लिखनेमें या अन्य व्यावहारिक कार्योंमें यथोचित भानसे प्रवृत्ति नहीं की जाती और वैसे प्रसंग रहा करनेसे आत्मपरिणतिका स्वतंत्र प्रगटरूपसे अनुसरण करनेमें विपत्ति आया करती है; और इस विषयका प्रतिक्षण दुःख रहा करता है।

अचलित आत्मरूपसे रहनेकी स्थितिमें ही चित्तेच्छा रहती है, और उपर्युक्त प्रसंगोंकी आपत्तिके कारण कितना ही उस स्थितिका वियोग रहा करता है; और वह वियोग मात्र परेच्छासे रहा है, स्वेच्छाके कारणसे नहीं रहा; यह एक गंभीर वेदना प्रतिक्षण हुआ करती है।

इसी भवमें और थोड़े ही समय पहले व्यवहारके विषयमें भी स्मृति तीव्र थी। वह स्मृति अब व्यवहारके विषयमें क्वचित् ही रहती है और वह भी मंदरूपसे। थोड़े ही समय पहले अर्थात् थोड़े वर्षों

पहले वाणी बहुत बोल सकती थी, वक्तारूपसे कुशलतासे प्रवृत्ति कर सकती थी, वह अब मंदरूपसे अव्यवस्थासे प्रवृत्ति करती है। थोड़े वर्ष पहले, थोड़े समय पहले लेखनशक्ति अति उग्र थी; अब क्या लिखना यह सूझते सूझते दिनपर दिन व्यतीत हो जाते हैं, और फिर भी जो कुछ लिखा जाता है, वह इच्छित या योग्य व्यवस्थापूर्वक लिखा नहीं जाता, अर्थात् एक आत्मपरिणामके सिवाय दूसरे सर्व परिणामोंमें उदासीनता रहती है। और जो कुछ किया जाता है वह यथोचित भानके सौवें अंशसे भी नहीं होता। ज्यों-त्यों और जो-सो किया जाता है। लिखनेकी प्रवृत्तिकी अपेक्षा वाणीकी प्रवृत्ति कुछ ठीक है; अतः आप कुछ पूछना चाहे, जानना चाहे तो उसके विषयमें समागममें कहा जा सकेगा।

कुन्दकुन्दाचार्य और आनंदघनजीको सिद्धांत संबंधी तीव्र ज्ञान था। कुन्दकुन्दाचार्यजी तो आत्मस्थितिमें बहुत स्थित थे।

जिन्हें कहने मात्र दर्शन हो, वे सब सम्यग्ज्ञानी नहीं कहे जा सकते। विशेष अब फिर।

---

५८४ बंबई, चैत्र वदी ११, शुक्र, १९५१

[1]"जेम निर्मळता रे रत्न स्फटिक तणी, तेम ज जीवस्वभाव रे।
ते जिन वीरे रे धर्म प्रकाशियो, प्रबळ कषाय अभाव रे॥"

विचारवानको संगसे व्यतिरिक्तता परम श्रेयरूप है।

---

५८५ बंबई, चैत्र वदी ११, शुक्र, १९५१

"जेम निर्मळता रे रत्न स्फटिक तणी, तेम ज जीवस्वभाव रे।
ते जिन वीरे रे धर्म प्रकाशियो, प्रबळ कषाय अभाव रे॥"

सत्संग नैष्ठिक श्री सोभाग तथा श्री डुंगरके प्रति नमस्कारपूर्वक,

सहज द्रव्यके अत्यंत प्रकाशित होनेपर अर्थात् सर्व कर्मोंका क्षय होनेपर ही असंगता कही है और सुखस्वरूपता कही है। ज्ञानीपुरुषोंके वे वचन अत्यंत सत्य हैं; क्योंकि सत्संगसे उन वचनोंका प्रत्यक्ष, अत्यंत प्रगट अनुभव होता है।

निर्विकल्प उपयोगका लक्ष्य स्थिरताका परिचय करनेसे होता है। सुधारस, सत्समागम, सत्शास्त्र, सद्विचार और वैराग्य-उपशम ये सब उस स्थिरताके हेतु हैं।

---

५८६ बंबई, चैत्र वदी १२, रवि, १९५१

ॐ

अधिक विचारका साधन होनेके लिये यह पत्र लिखा है।

पूर्णज्ञानी श्री ऋषभदेवादि पुरुषोंको भी प्रारब्धोदय भोगनेपर क्षय हुआ है; तो हम जैसोंको वह प्रारब्धोदय भोगना ही पड़े इसमें कुछ संशय नहीं है। मात्र खेद इतना होता है कि हमें ऐसे प्रारब्धोदयमें श्री ऋषभदेवादि जैसी अविषमता रहे इतना बल नहीं है; और इसलिये प्रारब्धोदयके होनेपर वारंवार उससे अपरिपक्वकालमें छूटनेकी कामना हो आती है, कि यदि इस विषम प्रारब्धोदयमें कुछ भी उपयोगकी यथातथ्यता न रही तो फिर आत्मस्थिरता प्राप्त करनेके लिये पुनः अवसर खोजना होगा; और पश्चात्तापपूर्वक देह छूटेगी; ऐसी चिंता अनेक बार हो आती है।

---

१. **भावार्थ**—जिस तरह स्फटिक रत्नकी निर्मलता होती है, उसी तरह जीवका स्वभाव है। जिन वीरने प्रबल कषायके अभावरूप धर्मका निरूपण किया है।

यह प्रारब्धोदय मिटकर निवृत्तिकर्मका वेदन करनेरूप प्रारब्धका उदय होनेका आशय रहा करता है, परंतु वह तुरत अर्थात् एकसे डेढ़ वर्षमें हो ऐसा तो दिखायी नहीं देता; और पल पल बीतना कठिन पड़ता है। एकसे डेढ़ वर्षके बाद प्रवृत्तिकर्मका वेदन करनेरूप उदय सर्वथा परिक्षीण होगा, ऐसा भी नहीं लगता; कुछ उदय विशेष मंद पड़ेगा, ऐसा लगता है।

आत्माकी कुछ अस्थिरता रहती है। गत वर्षका मोती संबंधी व्यापार लगभग पूरा होने आया है। इस वर्षका मोती संबंधी व्यापार गत वर्षकी अपेक्षा लगभग दुगुना हुआ है। गत वर्ष जैसा उसका परिणाम आना कठिन है। थोड़े दिनोंकी अपेक्षा अभी ठीक है; और इस वर्ष भी उसका गत वर्ष जैसा नहीं तो भी कुछ ठीक परिणाम आयेगा, ऐसा संभव रहता है। परंतु बहुतसा वक्त उसके विचारमें व्यतीत होने जैसा होता है, और उसके लिये शोक होता है, कि यह एक परिग्रहकी कामनाके बलवान प्रवर्तन जैसा होता है, उसे शांत करना योग्य है; और कुछ करना पड़े ऐसे कारण रहते हैं। अब जैसे तैसे करके उस प्रारब्धोदयका तुरत क्षय हो तो अच्छा है, ऐसा मनमें बहुत बार रहा करता है।

जहाँ जो आढ़त और मोती संबंधी व्यापार है, उससे मेरा छूटना हो सके अथवा उसका बहुत प्रसंग कम हो जाये, वैसा कोई रास्ता ध्यानमें आये तो लिखियेगा; चाहे तो इस विषयमें समागममें विशेषतासे कहा जा सके तो कहियेगा। यह बात ध्यानमें रखियेगा।

लगभग तीन वर्षसे ऐसा रहा करता है कि परमार्थ संबंधी अथवा व्यवहार संबंधी कुछ भी लिखते हुए उद्वेग आ जाता है; और लिखते लिखते कल्पित जैसा लगनेसे वारंवार अपूर्ण छोड़ देना पड़ता है। जिस समय चित्त परमार्थमें एकाग्रवत् होता है तब यदि परमार्थ संबंधी लिखना अथवा कहना हो तो वह यथार्थ कहा जाये, परंतु चित्त अस्थिरवत् हो और परमार्थ संबंधी लिखना या कहना किया जाये तो वह उदीरणा जैसा होता है, तथा उसमें अन्तर्वृत्तिका यथातथ्य उपयोग न होनेसे, वह आत्मबुद्धिसे लिखा या कहा न होनेसे कल्पितरूप कहा जाता है। उससे तथा वैसे दूसरे कारणोंसे परमार्थ संबंधी लिखना तथा कहना बहुत कम हो गया है। इस स्थलपर सहज प्रश्न होगा कि चित्त अस्थिरवत् हो जानेका हेतु क्या है ? परमार्थमें जो चित्त विशेष एकाग्रवत् रहता था उस चित्तके परमार्थमें अस्थिरवत् हो जानेका कुछ भी कारण होना चाहिये। यदि परमार्थ संशयका हेतु लगा हो तो वैसा हो सकता है, अथवा कोई तथाविध आत्मवीर्य मंद होनेरूप तीव्र प्रारब्धोदयके बलसे वैसा होता है। इन दो हेतुओंसे परमार्थका विचार करते हुए, लिखते हुए या कहते हुए चित्त अस्थिरवत् रहता है। उसमें प्रथम कहे हुए हेतुका होना संभव नहीं है। मात्र दूसरा कहा हुआ हेतु संभवित है। आत्मवीर्य मंद होनेरूप तीव्र प्रारब्धोदय होनेसे उस हेतुको दूर करनेका पुरुषार्थ होनेपर भी कालक्षेप हुआ करता है; और वैसे उदय तक वह अस्थिरता दूर होना कठिन है; और इसलिये परमार्थस्वरूप चित्तके बिना तत्संबंधी लिखना, कहना कल्पित जैसा लगता है, तो भी कितने ही प्रसंगोंमें विशेष स्थिरता रहती है। व्यवहार संबंधी कुछ भी लिखते हुए वह असारभूत और साक्षात् भ्रांतिरूप लगनेसे तत्संबंधी जो कुछ लिखना या कहना है वह तुच्छ है, आत्माको विकलताका हेतु है, और जो कुछ लिखना, कहना है वह न कहा हो तो भी चल सकता है। अतः जब तक वैसा रहे तब तक तो अवश्य वैसा करना योग्य है, ऐसा समझकर बहुतसी व्यावहारिक बातें लिखने, करने और कहनेकी आदत चली गयी है। मात्र जो व्यापारादि व्यवहारमें तीव्र प्रारब्धोदयसे प्रवृत्ति है, वहाँ कुछ प्रवृत्ति होती है। यद्यपि उसकी भी यथार्थता प्रतीत नहीं होती।

श्री जिन वीतरागने द्रव्य-भाव संयोगसे वारंवार छूटनेकी प्रेरणा दी है; और उस संयोगका विश्वास परम ज्ञानीके लिये भी कर्तव्य नहीं है, ऐसा निश्चल मार्ग कहा है, उन श्री जिन वीतरागके चरणकमलमें

अत्यंत नम्र परिणामसे नमस्कार है।

जो प्रश्न आजके पत्रमें लिखे हैं उनका उत्तर समागममें पूछियेगा। दर्पण, जल, दीपक, सूर्य और चक्षुके स्वरूपपर विचार करेंगे, तो केवलज्ञानसे पदार्थ प्रकाशित होते हैं, ऐसा जिनेन्द्रने कहा है, उसे समझनेमें कुछ साधन होगा।

---

५८७ बंबई, चैत्र वदी १२, रवि, १९५१

'केवलज्ञानसे पदार्थ किस प्रकार दिखायी देते हैं ?' इस प्रश्नका उत्तर विशेषतः समागममें समझनेसे स्पष्ट समझा जा सकता है, तो भी संक्षेपमें नीचे लिखा है—

जैसे दीपक जहाँ जहाँ होता है, वहाँ वहाँ प्रकाशकरूपसे होता है, वैसे ज्ञान जहाँ जहाँ होता है वहाँ वहाँ प्रकाशकरूपसे होता है। जैसे दीपकका सहज स्वभाव ही पदार्थप्रकाशक होता है वैसे ज्ञानका सहज स्वभाव भी पदार्थप्रकाशक है। दीपक द्रव्यप्रकाशक है, और ज्ञान द्रव्य, भाव दोनोंका प्रकाशक है। दीपकके प्रकाशित होनेसे उसके प्रकाशकी सीमामें जो कोई पदार्थ होता है वह सहज ही दिखायी देता है; वैसे ज्ञानकी विद्यमानतासे पदार्थ सहज ही दिखायी देता है। जिसमें यथातथ्य और संपूर्ण पदार्थ सहज देखे जाते हैं, उसे 'केवलज्ञान' कहा है। यद्यपि परमार्थसे ऐसा कहा है कि केवलज्ञान भी अनुभवमें तो मात्र आत्मानुभवकर्त्ता है, व्यवहारनयसे लोकालोक प्रकाशक है। जैसे दर्पण, दीपक, सूर्य और चक्षु पदार्थप्रकाशक हैं, वैसे ज्ञान भी पदार्थप्रकाशक है।

---

५८८ बंबई, चैत्र वदी १२, रवि, १९५१

ॐ

श्री जिन वीतरागने द्रव्य-भाव संयोगसे वारंवार छूटनेकी प्रेरणा की है, और उस संयोगका विश्वास परमज्ञानीको भी कर्तव्य नहीं है, ऐसा अखंडमार्ग कहा है; उन श्री जिन वीतरागके चरणकमलमें अत्यंत भक्तिपूर्वक नमस्कार।

आत्मस्वरूपका निश्चय होनेमें जीवकी अनादिकालसे भूल होती आयी है। समस्त श्रुतज्ञानस्वरूप द्वादशांगमें सर्व प्रथम उपदेश योग्य 'आचारांगसूत्र' है; उसके प्रथम श्रुतस्कंधमें, प्रथम अध्ययनके प्रथम उद्देशमें प्रथम वाक्यमें श्री जिनने जो उपदेश किया है, वह सर्व अंगोंका, सर्व श्रुतज्ञानका सारस्वरूप है, मोक्षका बीजभूत है, सम्यक्त्वस्वरूप है। उस वाक्यमें उपयोग स्थिर होनेसे जीवको निश्चय होगा कि ज्ञानीपुरुषके समागमकी उपासनाके बिना जीव स्वच्छंदसे निश्चय करे, यह छूटनेका मार्ग नहीं है।

सभी जीवमें परमात्मस्वरूप है, इसमें संशय नहीं है; तो फिर श्री देवकरणजी स्वयंको परमात्म-स्वरूप मान लें तो यह बात असत्य नहीं है; परंतु जब तक वह स्वरूप यथातथ्य प्रगट न हो, तब तक मुमुक्षु, जिज्ञासु रहना अधिक अच्छा है, और उस मार्गसे यथार्थ परमात्मस्वरूप प्रगट होता है। उस मार्गको छोड़कर प्रवर्त्तन करनेसे उस पदका भान नहीं होता; तथा श्री जिन वीतराग सर्वज्ञ पुरुषोंकी आसातना करनेरूप प्रवृत्ति होती है। दूसरा कोई मतभेद नहीं है।

मृत्यु अवश्य आनेवाली है।

आ० स्व० प्रणाम।

---

५८९ बंबई, चैत्र वदी १३, १९५१

आपको वेदांत ग्रंथ पढ़नेका अथवा उस प्रसंगकी बातचीत सुननेका प्रसंग रहता हो तो उसे पढ़नेसे तथा सुननेसे जीवमें वैराग्य और उपशम वर्धमान हो वैसा करना योग्य है। उसमें प्रतिपादन किये हुए सिद्धांतका यदि निश्चय होता हो तो करनेमें बाधा नहीं है, तथापि ज्ञानीपुरुषके समागम और उपासनासे सिद्धांतका निश्चय किये बिना आत्मविरोध होना संभव है।

---

५९० बंबई, चैत्र वदी १४, १९५१

चारित्र (श्री जिनेन्द्रके अभिप्रायमें क्या है ? उसे विचारकर समवस्थित होना) दशा संबंधी अनुप्रेक्षा करनेसे जीवमें स्वस्थता उत्पन्न होती है। उस विचार द्वारा उत्पन्न हुई चारित्रपरिणाम स्वभावरूप स्वस्थताके बिना ज्ञान निष्फल है, ऐसा जिनेन्द्रका अभिमत अव्याबाध सत्य है।

तत्संबंधी अनुप्रेक्षा बहुत बार रहनेपर भी चंचल परिणतिका हेतु ऐसा उपाधियोग तीव्र उदयरूप होनेसे चित्तमें प्रायः खेद जैसा रहता है, और उस खेदसे शिथिलता उत्पन्न होकर विशेष नहीं कहा जा सकता। बाकी कुछ बतानेके विषयमें तो चित्तमें बहुत बार रहता है। प्रसंगोपात्त कुछ विचार लिखें, उसमें आपत्ति नहीं है। यही विनती।

---

५९१ बंबई, चैत्र, १९५१

विषयादि इच्छित पदार्थ भोगकर उनसे निवृत्त होनेकी इच्छा रखना और उस क्रमसे प्रवृत्ति करनेसे आगे जाकर उस विषयमूर्च्छाका उत्पन्न होना संभव न हो, ऐसा होना कठिन है; क्योंकि ज्ञानदशाके बिना विषयकी निर्मूलता होना संभव नहीं है। विषय भोगनेसे मात्र उदय नष्ट होता है, परंतु यदि ज्ञानदशा न हो तो उत्सुक परिणाम, विषयका आराधन करते हुए, उत्पन्न हुए बिना नहीं रहते; और उससे विषय पराजित होनेके बदले विशेष वर्धमान होता है। जिन्हें ज्ञानदशा है वैसे पुरुष विषयाकांक्षासे अथवा विषयका अनुभव करके उससे विरक्त होनेकी इच्छासे उसमें प्रवृत्ति नहीं करते, और यदि ऐसे प्रवृत्ति करने लगे तो ज्ञानपर भी आवरण आना योग्य है। मात्र प्रारब्ध संबंधी उदय हो अर्थात् छूटा न जा सके, इसीलिये ज्ञानीपुरुषकी भोगप्रवृत्ति है। वह भी पूर्वपश्चात् पश्चात्ताप-वाली और मंदमें मंद परिणामसंयुक्त होती है। सामान्य मुमुक्षुजीव वैराग्यके उद्भवके लिये विषयका आराधन करने जाय तो प्रायः उसका बँधा जाना संभव है; क्योंकि ज्ञानीपुरुष भी उन प्रसंगोंको बड़ी मुश्किलसे जीत सके हैं; तो फिर जिसकी मात्र विचारदशा है ऐसे पुरुषकी सामर्थ्य नहीं कि वह विषयको इस प्रकारसे जीत सके।

---

५९२ बंबई, वैशाख सुदी, १९५१

आर्य श्री सोभागके प्रति, सायला।

पत्र मिला है।

श्री अंबालालसे सुधारस संबंधी बातचीत करनेका अवसर आपको प्राप्त हो तो कीजियेगा।

जो देह पूर्ण युवावस्थामें और संपूर्ण आरोग्यमें दिखायी देती हुई भी क्षणभंगुर है, उस देहमें प्रीति करके क्या करें ?

जगतके सर्व पदार्थोंकी अपेक्षा जिसके प्रति सर्वोत्कृष्ट प्रीति है, ऐसी यह देह वह भी दुःखका हेतु है, तो दूसरे पदार्थोंमें सुखके हेतुकी क्या कल्पना करना ?

जिन पुरुषोंने वस्त्र जैसे शरीरसे भिन्न है, वैसे आत्मासे शरीर भिन्न है, ऐसा देखा है, वे पुरुष धन्य हैं।

दूसरेकी वस्तुका अपनेसे ग्रहण हुआ हो, जब यह मालूम हो कि वह दूसरेकी है, तब उसे दे देनेका ही कार्य महात्मा पुरुष करते हैं।

दुषमकाल है इसमें संशय नहीं है।

तथारूप परमज्ञानी आप्तपुरुषका प्रायः विरह है।

विरले जीव सम्यग्दृष्टि प्राप्त करें, ऐसी कालस्थिति हो गयी है। जहाँ सहजसिद्ध आत्मचारित्रदशा रहती है ऐसा केवलज्ञान प्राप्त करना कठिन है, इसमें संशय नहीं है।

प्रवृत्ति विराम पाती नहीं; विरक्ति बहुत रहती है।

वनमें अथवा एकांतमें सहजस्वरूपका अनुभव करता हुआ आत्मा सर्वथा निर्विषय रहे ऐसा करनेमें सारी इच्छाएँ लगी है।

---

५९३ बंबई, वैशाख सुदी १५, बुध, १९५१

आत्मा अत्यंत सहज स्वस्थता प्राप्त करे यही श्री सर्वज्ञने सर्व ज्ञानका सार कहा है।

अनादिकालसे जीवने निरंतर अस्वस्थताकी आराधना की है, जिससे स्वस्थताकी ओर आना उसे दुर्गम लगता है। श्री जिनेंद्रने ऐसा कहा है कि यथाप्रवृत्तिकरण तक जीव अनंत बार आया है, परंतु जिस समय ग्रंथिभेद होने तक आना होता है तब क्षोभयुक्त होकर फिरसे संसारपरिणामी होता रहा है। ग्रंथिभेद होनेमें जो वीर्यगति चाहिये, उसके होनेके लिये जीवको नित्यप्रति सत्समागम, सद्विचार और सद्ग्रंथका परिचय निरंतररूपसे करना श्रेयभूत है।

इस देहकी आयु प्रत्यक्ष उपाधियोगमें व्यतीत होती जा रही है। इसके लिये अत्यंत शोक होता है, और उसका यदि अल्पकालमें उपाय न किया तो हम जैसे अविचारी भी थोड़े समझना।

जिस ज्ञानसे कामका नाश होता है उस ज्ञानको अत्यंत भक्तिसे नमस्कार हो।

आ० स्व० यथा०

---

५९४ बंबई, वैशाख सुदी १५, बुध, १९५१

सर्वकी अपेक्षा जिसमें अधिक स्नेह रहा करता है, ऐसी यह काया रोग, जरा आदिसे स्वात्माको ही दुःखरूप हो जाती है; तो फिर उससे दूर ऐसे धनादिसे जीवको तथारूप (यथायोग्य) सुखवृत्ति हो ऐसा मानते हुए विचारवानकी बुद्धि अवश्य क्षोभको प्राप्त होनी चाहिये, और किसी अन्य विचारमें लगनी चाहिये, ऐसा ज्ञानीपुरुषोंने निर्णय किया है, वह यथातथ्य है।

---

५९५ बंबई, वैशाख वदी ७, गुरु, १९५१

वेदांत आदिमें जो आत्मस्वरूपकी विचारणा कही है, उस विचारणाकी अपेक्षा श्री जिनागममें जो आत्मस्वरूपकी विचारणा कही है, उसमें भेद आता है। सर्व विचारणाका फल आत्माका सहजस्वभावमें परिणमित होना ही है। संपूर्ण रागद्वेषके क्षयके बिना संपूर्ण आत्मज्ञान प्रगट नहीं होता ऐसा निश्चय जिनेंद्रने कहा है, वह वेदांत आदिकी अपेक्षा बलवान प्रमाणभूत है।

---

५९६ बंबई, वैशाख वदी ७, गुरु, १९५१

सर्वकी अपेक्षा वीतरागके वचनको संपूर्ण प्रतीतिका स्थान कहना योग्य है, क्योंकि जहाँ रागादि दोषका संपूर्ण क्षय हो वहाँ संपूर्ण ज्ञानस्वभाव प्रगट होने योग्य नियम घटित होता है।

श्री जिनेंद्रको सबकी अपेक्षा उत्कृष्ट वीतरागता संभव है, क्योंकि उनके वचन प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। जिस किसी पुरुषको जितने अंशमें वीतरागता संभव है, उतने अंशमें उस पुरुषका वाक्य मान्यता योग्य है। सांख्यादि दर्शनमें बंध-मोक्षकी जो जो व्याख्या उपदिष्ट है, उससे बलवान प्रमाणसिद्ध व्याख्या श्री जिन वीतरागने कही है, ऐसा जानता हूँ।

---

५९७ बंबई, वैशाख वदी ७, गुरु, १९५१

हमारे चित्तमें वारंवार ऐसा आता है और ऐसा परिणाम स्थिर रहा करता है, कि जैसा आत्मकल्याणका निर्धार श्रीवर्धमानस्वामीने या श्रीऋषभादिने किया है, वैसा निर्धार दूसरे संप्रदायमें नहीं है।

वेदांत आदि दर्शनका लक्ष्य आत्मज्ञानके प्रति और संपूर्ण मोक्षके प्रति जाता हुआ देखनेमें आता है, परंतु उसका संपूर्णरूपसे यथायोग्य निर्धार उसमें मालूम नहीं होता, अंशतः मालूम होता है और कुछ कुछ उसका भी पर्यायांतर दिखायी देता है। यद्यपि वेदांतमें जगह जगह आत्मचर्याका ही विवेचन किया है, तथापि वह चर्या स्पष्टतः अविरुद्ध है, ऐसा अभी तक प्रतीत नहीं हो पाता। ऐसा भी संभव है कि कदाचित् विचारके किसी उदयभेदसे वेदांतका आशय अन्य स्वरूपसे समझमें आता हो और उससे विरोधका भास होता हो, ऐसी आशंका भी पुनः पुनः चित्तमें करनेमें आयी है, विशेष विशेष आत्मवीर्यका परिणमन करके उसे अविरोधी देखनेके लिये विचार किया गया है, तथापि ऐसा मालूम होता है कि वेदांत जिस प्रकारसे आत्मस्वरूप कहता है उस प्रकारसे वेदांत सर्वथा अविरोधिताको प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि वह जो कहता है उसीके अनुसार आत्मस्वरूप नहीं है; उसमें कोई बड़ा भेद देखनेमें आता है; और उसी प्रकारसे सांख्य आदि दर्शनोंमें भी भेद देखनेमें आता है। श्री जिनेंद्रने जो आत्मस्वरूप कहा है, एक मात्र वही विशेष विशेष अविरोधी देखनेमें आता है और उस प्रकारसे वेदन करनेमें आता है। श्री जिनेंद्रका कहा हुआ आत्मस्वरूप संपूर्णतः अविरोधी होने योग्य है, ऐसा प्रतीत होता है। संपूर्णतः अविरोधी ही है, ऐसा जो नहीं कहा जाता उसका हेतु मात्र इतना ही है कि संपूर्णतः आत्मावस्था प्रगट नहीं हुई है। जिससे जो अवस्था अप्रगट है, उस अवस्थाका अनुमान वर्तमानमें करते हैं, जिससे उस अनुमानपर अत्यंत भार न देना योग्य समझकर विशेष विशेष अविरोधी है, ऐसा कहा है; संपूर्ण अविरोधी होने योग्य है, ऐसा लगता है।

संपूर्ण आत्मस्वरूप किसी भी पुरुषमें प्रगट होना चाहिये, ऐसा आत्मामें निश्चित प्रतीतिभाव आता है; और वह कैसे पुरुषमें प्रगट होना चाहिये, ऐसा विचार करते हुए, जिनेंद्र जैसे पुरुषमें प्रगट होना चाहिये ऐसा स्पष्ट लगता है। इस सृष्टिमंडलमें यदि किसीमें भी संपूर्ण आत्मस्वरूप प्रगट होने योग्य हो तो श्री वर्धमानस्वामीमें प्रथम प्रगट होने योग्य लगता है, अथवा उस दशाके पुरुषोंमें सबसे प्रथम संपूर्ण आत्मस्वरूप— (अपूर्ण)

---

५९८ बंबई, वैशाख वदी १०, रवि, १९५१

ॐ

परमस्नेही श्री सोभागके प्रति नमस्कारपूर्वक—श्री सायला।

आज एक पत्र मिला है।

'अल्पकालमें उपाधिरहित होनेकी इच्छा करनेवालेके लिये आत्मपरिणतिको किस विचारमें लाना योग्य है कि जिससे वह उपाधिरहित हो सके ?' यह प्रश्न हमने लिखा था। उसके उत्तरमें आपने लिखा कि 'जब तक रागबंधन है तब तक उपाधिरहित नहीं हुआ जाता; और वह बंधन आत्मपरिणतिसे कम हो जाये, वैसी परिणति रहे तो अल्पकालमें उपाधिरहित हुआ जाता है,' इस प्रकार जो उत्तर लिखा वह यथार्थ है। यहाँ प्रश्नमें विशेषता इतनी है कि 'बलात् उपाधियोग प्राप्त होता हो, उसके प्रति रागद्वेषादि परिणति कम हो, उपाधि करनेके लिये चित्तमें वारंवार खेद रहता हो, और उस उपाधिका त्याग करनेका परिणाम रहा करता हो, वैसा होनेपर भी उदयबलसे उपाधि प्रसंग रहता हो तो वह किस उपायसे निवृत्त किया जा सके ?' इस प्रश्नके विषयमें जो ध्यानमें आये सो लिखियेगा।

'भावार्थप्रकाश' ग्रंथ हमने पढ़ा है, उसमें संप्रदायके विवादका कुछ समाधान हो सके ऐसी रचना की है, परंतु तारतम्यसे वस्तुतः यह ज्ञानवानकी रचना नहीं है, ऐसा मुझे लगता है।

श्री डुंगरने [1]'अखे पुरुष एक वरख हे,' यह सवैया लिखाया है, उसे पढ़ा है। श्री डुंगरको ऐसे सवैयोंका विशेष अनुभव है। तथापि ऐसा सवैयोंमें भी प्रायः छाया जैसा उपदेश देखनेमें आता है, और उससे अमुक निर्णय किया जा सकता है, और कभी निर्णय किया जा सके तो वह पूर्वापर अविरोध रहता है, ऐसा प्रायः ध्यानमें नहीं आता। जीवके पुरुषार्थधर्मको कितने ही प्रकारसे ऐसी वाणी बलवान करती है, इतना उस वाणीका उपकार कितने ही जीवोंके प्रति होना संभव है।

श्री नवलचंदकी अभी दो चिट्ठियाँ आयी थीं, कुछ धर्म-प्रकारको जाननेकी अभी उन्हें इच्छा हुई है, तथापि उसे अभ्यासवत् और द्रव्याकार जैसी अभी समझना योग्य है। यदि किसी पूर्वके कारणयोगसे इस प्रकारके प्रति उनका ध्यान बढेगा तो भावपरिणामसे धर्मविचार हो सके ऐसा उनका क्षयोपशम है।

आपके आजके पत्रमें श्री डुंगरने जो साखी लिखवायी है, [2]'व्यवहारनी झाळ पांदडे पांदड़े परजळी' यह पद जिसमें पहला है वह यथार्थ है। उपाधिसे उदासीन चित्तको धीरताका हेतु हो ऐसी साखी है।

आपका और श्री डुंगरका यहाँ आनेका विशेष चित्त है ऐसा लिखा उसे विशेषतः जाना। श्री डुंगरका चित्त ऐसे प्रकारमें कई बार शिथिल होता है; वैसा इस प्रसंगमें करनेका कारण दिखायी नहीं देता। श्री डुंगरको द्रव्य (बाहर) से मानदशा ऐसे प्रसंगमें कुछ आड़े आती होनी चाहिये, ऐसा हमें लगता है, परंतु वह ऐसे विचारवानको रहे यह योग्य नहीं है; फिर दूसरे साधारण जीवोंके विषयमें वैसे दोषकी निवृत्ति सत्संगसे भी कैसे होगी ?

हमारे चित्तमें एक इतना रहता है कि यह क्षेत्र सामान्यतः अनार्य चित्त कर ड़ाले ऐसा है। ऐसे क्षेत्रमें सत्समागमका यथास्थित लाभ लेना बहुत कठिन पड़ता है, क्योंकि आसपासके समागम, लोकव्यवहार सब प्रायः विपरीत ठहरे, और इस कारणसे प्रायः कोई मुमुक्षुजीव यहाँ चाहकर समागमके लिये आनेकी इच्छा करता हो उसे भी उत्तरमें 'ना' लिखने जैसा होता है, क्योंकि उसके श्रेयको बाधा न होने देना योग्य है। आपके और श्री डुंगरके आनेके संबंधमें इतना सब विचार तो चित्तमें नहीं होता, परंतु कुछ सहज

१. अक्षय पुरुष एक वृक्ष है। २. व्यवहारकी ज्वाला पत्ते-पत्तेपर प्रज्वलित हुई।

होता है। यह सहज विचार जो होता है वह ऐसे कारणसे नहीं होता कि यहाँका उदयरूप उपाधियोग देखकर हमारे प्रति आपके चित्तमें कुछ विक्षेप हो; परंतु ऐसा रहता है कि आपके तथा श्री डुंगर जैसेके सत्समागमका लाभ क्षेत्रादिकी विपरीततासे यथायोग्य न लिया जाये, इससे चित्तमें खेद आ जाता है। यद्यपि आपके आनेके प्रसंगमें उपाधि बहुत कम की जा सकेगी, तथापि आसपासके साधन सत्समागमको और निवृत्तिको वर्धमान करनेवाले नहीं हैं, इससे चित्तमें सहज खेद होता है। इतना लिखनेसे चित्तमें आया हुआ एक विचार लिखा है ऐसा समझना। परंतु आपको अथवा श्री डुंगरकी रोकने संबंधी किसी भी आशयसे नहीं लिखा है; परंतु इतना आशय चित्तमें है कि यदि श्री डुंगरका चित्त आनेके प्रति कुछ शिथिल दिखायी दे तो आप उनपर विशेष दबाव न डालें, तो भी आपत्ति नहीं है; क्योंकि श्री डुंगर आदिके समागमकी विशेष इच्छा रहती है, और यहाँसे कुछ समयके लिये निवृत्त हुआ जा सके तो वैसा करनेकी इच्छा है, तो श्री डुंगरका समागम किसी दूसरे निवृत्तिक्षेत्रमें होगा ऐसा लगता है।

आपके लिये भी इसी प्रकारका विचार रहता है, तथापि उसमें भेद इतना होता है कि आपके आनेसे यहाँकी कई उपाधियाँ अल्प कैसे की जा सके? उसे प्रत्यक्ष दिखाकर, तत्संबंधी विचार लेनेका हो सकता है। जितने अंशमें श्री सोभागके प्रति भक्ति है, उतने ही अंशमें श्री डुंगरके प्रति भक्ति है, इसलिये उन्हें इस उपाधिसंबंधी विचार बतानेसे भी हम पर तो उपकार है। तथापि श्री डुंगरके चित्तमें कुछ भी विक्षेप होता हो और यहाँ अनिच्छासे आना पड़ता हो तो सत्समागम यथायोग्य नहीं हो सकता। वैसा न होता हो तो श्री डुंगर और श्री सोभागको यहाँ आनेमें कोई प्रतिबंध नहीं है। यही विनती।

आ० स्व० प्रणाम।

---

५९९ बंबई, वैशाख वदी १४, गुरु, १९५१

शरण (आश्रय) और निश्चय कर्तव्य है। अधीरतासे खेद कर्तव्य नहीं है। चित्तको देहादिके भयका विक्षेप भी करना योग्य नहीं है। अंस्थिर परिणामका उपशम करना योग्य है।

आ० स्व० प्रणाम।

---

६०० बंबई, जेठ सुदी २, रवि, १९५१

अपारवत् संसारसमुद्रसे तारनेवाले सद्धर्मका निष्कारण करुणासे जिसने उपदेश किया है, उस ज्ञानीपुरुषके उपकारको नमस्कार हो! नमस्कार हो!

परम स्नेही श्री सोभागके प्रति, श्री सायला।

यथायोग्यपूर्वक विनती कि—आपका लिखा एक पत्र कल मिला है। आपके तथा श्री डुंगरके यहाँ आनेके विचार संबंधी यहाँसे एक पत्र हमने लिखा था उसका अर्थ कुछ और समझा गया मालूम होता है। उस पत्रमें इस प्रसंगमें जो कुछ लिखा है उसका संक्षेपमें भावार्थ इस प्रकार है—

मुझे प्रायः निवृत्ति मिल सकती है, परंतु यह क्षेत्र स्वभावसे प्रवृत्तिविशेषवाला है, जिससे निवृत्ति-क्षेत्रमें सत्समागमसे जैसा आत्मपरिणामका उत्कर्ष हो, वैसा प्रायः प्रवृत्तिविशेष क्षेत्रमें होना कठिन पड़ता है। बाकी आप अथवा श्री डुंगर अथवा दोनों आये उसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। प्रवृत्ति बहुत कम की जा सकती है; परंतु श्री डुंगरका चित्त आनेमें कुछ विशेष शिथिल हो तो आग्रहसे न लायें तो भी आपत्ति नहीं है, क्योंकि उस तरफ थोड़े समयमें समागम होनेका कदाचित् योग हो सकेगा।

इस प्रकार लिखनेका आशय था। आप अकेले ही आयें और श्री डुंगर न आयें अथवा हमें अभी

निवृत्ति नहीं है, ऐसा लिखनेका आशय नहीं था। मात्र निवृत्तिक्षेत्रमें किसी तरह समागम होनेके विषयमें विशेषता लिखी है। कभी विचारवानको तो प्रवृत्तिक्षेत्रमें सत्समागम विशेष लाभकारक हो पड़ता है। ज्ञानीपुरुषकी भीड़में निर्मलदशा देखना बनता है। इत्यादि निमित्तसे विशेष लाभकारक भी होता है।

आप दोनों अथवा आप कब आयें, इस विषयमें मनमें कुछ विचार आता है, जिससे अभी यहाँसे कुछ विचार सूचित करने तक आनेमें विलम्ब करेंगे तो आपत्ति नहीं है।

परपरिणतिके कार्य करनेका प्रसंग रहे और स्वपरिणतिमें स्थिति रखे रहना, यह श्री आनंदघनजीने जो चौदहवें जिनेंद्रकी सेवा कही है उससे भी विशेष दुष्कर है।

ज्ञानीपुरुषको जबसे नौ बाड़से विशुद्ध ब्रह्मचर्यकी दशा रहती है, तबसे जो संयमसुख प्रगट होता है वह अवर्णनीय है। उपदेशमार्ग भी उस सुखके प्रगट होनेपर प्ररूपण करने योग्य है। श्री डुंगरको अत्यंत भक्तिसे प्रणाम।

आ० स्व० प्रणाम।

---

६०१ बंबई, जेठ सुदी १०, रवि, १९५१

ॐ

परम स्नेही श्री सोभागके प्रति, श्री सायला।

तीन दिन पहिले आपका लिखा पत्र मिला है। यहाँ आनेके विचारका उत्तर मिलने तक उपशम किया है ऐसा लिखा, वह पढ़ा है। उत्तर मिलने तक आनेका विचार बंद रखनेके बारेमें यहाँसे लिखा था उसके मुख्य कारण इस प्रकार हैं—

यहाँ आपका आनेका विचार रहता है, उसमें एक हेतु समागम-लाभका है और दूसरा अनिच्छनीय हेतु कुछ उपाधिके संयोगके कारण व्यापारके प्रसंगसे किसीको मिलनेका है। जिस पर विचार करते हुए अभी आनेका विचार रोका जाये तो भी आपत्ति नहीं है ऐसा लगा, इसलिये इस प्रकारसे लिखा था। समागमयोग प्रायः यहाँसे एक या डेढ़ महीने बाद कुछ निवृत्ति मिलना संभव है तब उस तरफ होना संभव है। और उपाधिके लिये अभी त्रंबक आदि प्रयासमें हैं। तो आपका उस प्रसंगसे आनेका विशेष कारण जैसा तुरतमें नहीं है। हमारा उस तरफ आनेका योग होनेमें अधिक समय जाने जैसा दिखायी देगा तो फिर आपको एक चक्कर लगा जानेका कहनेका चित्त है। इस विषयमें जो आपके ध्यानमें आये सो लिखियेगा।

कई बड़े पुरुषोंके सिद्धियोग संबंधी शास्त्रमें बात आती है, तथा लोककथामें वैसी बातें सुनी जाती है। उसके लिये आपको संशय रहता है, उसका संक्षेपमें उत्तर इस प्रकार है—

अष्ट महासिद्धि आदि जो जो सिद्धियाँ कही हैं, ॐआदि मंत्रयोग कहे हैं, वे सब सच्चे हैं। आत्मैश्वर्यकी तुलनामें ये सब तुच्छ हैं। जहाँ आत्मस्थिरता है, वहाँ सर्व प्रकारके सिद्धियोग रहते हैं। इस कालमें वैसे पुरुष दिखायी नहीं देते, इससे उनकी अप्रतीति होनेका कारण है, परन्तु वर्तमानमें किसी जीवमें ही वैसी स्थिरता देखनेमें आती है। बहुतसे जीवोंमें सत्त्वकी न्यूनता रहती है और उस कारणसे वैसे चमत्कारादि दिखाई नहीं देते, परंतु उनका अस्तित्व नहीं है, ऐसा नहीं है। आपको शंका रहती है, यह आश्चर्य लगता है। जिसे आत्मप्रतीति उत्पन्न हो उसे सहज ही इस बातकी निःशंकता होती है, क्योंकि आत्मामें जो सामर्थ्य है, उस सामर्थ्यके सामने इस सिद्धि-लब्धिकी कुछ भी विशेषता नहीं है।

ऐसे प्रश्न आप कभी कभी लिखते हैं, उसका क्या कारण है, वह लिखियेगा। इस प्रकारके प्रश्न विचारवानको क्यों हो ? श्री डुंगरको नमस्कार। कुछ ज्ञानवार्ता लिखियेगा।

---

६०२ बंबई, जेठ सुदी १०, रवि, १९५१

मनमें जो रागद्वेषादिके परिणाम हुआ करते हैं उन्हें समयादि पर्याय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि समयकी अत्यंत सूक्ष्मता है, और मनपरिणामकी वैसी सूक्ष्मता नहीं है। पदार्थका अत्यंतसे अत्यंत सूक्ष्मपरिणतिका जो प्रकार है, वह समय है।

रागद्वेषादि विचारोंका उद्भव होना, वह जीवके पूर्वोपार्जित कर्मोंके योगसे होता है; वर्तमानकालमें आत्माका पुरुषार्थ उसमें कुछ भी हानिवृद्धिमें कारणरूप है, तथापि वह विचार विशेष गहन है।

श्री जिनेन्द्रने जो अस्वाध्याय-काल कहा है, वह यथार्थ है। उस उस (अकालके) प्रसंगमें प्राणादिका कुछ संधिभेद होता है। चित्तको विक्षेपनिमित्त सामान्य प्रकारसे होता है, हिंसादि योगका प्रसंग होता है, अथवा कोमल परिणाममें विघ्नभूत कारण होता है, इत्यादिके आश्रयसे स्वाध्यायका निरूपण किया है।

अमुक स्थिरता होने तक विशेष लिखना नहीं हो सकता; फिर भी यथाशक्ति प्रयास करके ये तीन चिट्ठियाँ लिखी है।

---

६०३ बंबई, जेठ सुदी १०, रवि, १९५१

ज्ञानीपुरुषको जो सुख रहता है, वह निजस्वभावमें स्थितिका रहता है। बाह्यपदार्थमें उन्हें सुख बुद्धि नहीं होती, इसलिये उस उस पदार्थसे ज्ञानीको सुखदुःखादिकी विशेषता या न्यूनता नहीं कही जा सकती। यद्यपि सामान्यरूपसे शरीरके स्वास्थ्यादिसे साता और ज्वरादिसे असाता ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंको होती है, तथापि ज्ञानीके लिये वह-वह प्रसंग हर्षविषादका हेतु नहीं होता, अथवा ज्ञानके तारतम्यमें यदि न्यूनता हो तो उससे कुछ हर्षविषाद होता है, तथापि सर्वथा अजागृतताको पाने योग्य ऐसा हर्षविषाद नहीं होता। उदयबलसे कुछ वैसा परिणाम होता है, तो भी विचारजागृतिके कारण उस उदयको क्षीण करनेके प्रति ज्ञानीपुरुषका परिणाम रहता है।

वायुकी दिशा बदल जानेसे जहाज दूसरी तरफ चलने लगता है, तथापि जहाज चलानेवाला जैसे उस जहाजको अभीष्ट मार्गकी और रखनेके प्रयत्नमें ही रहता है; वैसे ज्ञानीपुरुष मन, वचन आदिके योगको निजभावमें स्थिति होनेकी और ही लगाते हैं; तथापि उदयवायुयोगसे यत्किंचित् दशाफेर हो जाता है, तो भी परिणाम, प्रयत्न स्वधर्ममें रहता है।

ज्ञानी निर्धन हो अथवा धनवान हो, अज्ञानी निर्धन हो अथवा धनवान हो, ऐसा कुछ नियम नहीं है। पूर्वनिष्पन्न शुभाशुभ कर्मके अनुसार दोनोंको उदय रहता है। ज्ञानी उदयमें सम रहते हैं; अज्ञानी हर्षविषादको प्राप्त होता है।

जहाँ संपूर्ण ज्ञान है वहाँ तो स्त्री आदि परिग्रहका भी अप्रसंग है। उससे न्यून भूमिकाकी ज्ञानदशामें (चौथे, पाँचवे गुणस्थानमें जहाँ उस योगका प्रसंग संभव है, उस दशामें) रहनेवाले ज्ञानीसम्यग्दृष्टिको स्त्री आदि परिग्रहकी प्राप्ति होती है।

---

६०४ बंबई, जेठ सुदी १२, बुध, १९५१

ॐ

मुनिको वचनोंकी पुस्तक (आपने जो पत्रादिका संग्रह लिखा है वह) पढ़नेकी इच्छा रहती है। भेजनेमें आपत्ति नहीं है। यही विनती। आ० स्व० प्रणाम।

---

६०५ बंबई, जेठ वदी २, १९५१

सविस्तर पत्र लिखनेका विचार था, तदनुसार प्रवृत्ति नहीं हो सकी। अभी उस तरफ कितनी स्थिरता होना संभव है? चौमासा कहाँ होना संभव है? उसे सूचित कर सकें तो सूचित कीजियेगा।

पत्रमें तीन प्रश्न लिखे थे, उनका उत्तर समागममें दिया जा सकने योग्य है। कदाचित् थोड़े समयके बाद समागमयोग होगा।

विचारवानको देह छूटने संबंधी हर्षविषाद योग्य नहीं है। आत्मपरिणामकी विभावता ही हानि और वही मुख्य मरण है। स्वभावसन्मुखता तथा उसकी दृढ़ इच्छा भी उस हर्षविषादको दूर करती है।

---

६०६ बंबई, जेठ वदी ५, बुध, १९५१

सर्वमें समभावकी इच्छा रहती है।

[1]ए श्रीपाळनो रास करंतां, ज्ञान अमृत रस वूठ्यो रे, मुज०

—श्री यशोविजयजी।

परम स्नेही श्री सोभाग, श्री सायला।

जो उदयके प्रसंग तीव्र वैराग्यवानको शिथिल करनेमें बहुत बार फलीभूत होते हैं, वैसे उदयके प्रसंग देखकर चित्तमें अत्यंत उदासीनता आती है। यह संसार किस कारणसे परिचय करने योग्य है? तथा उसकी निवृत्ति चाहनेवाले विचारवानको प्रारब्धवशात् उसका प्रसंग रहा करता हो तो उस प्रारब्धका किसी दूसरे प्रकारसे शीघ्रतासे वेदन किया जा सकता है या नहीं? उसे आप तथा श्री डुंगर विचारकर लिखियेगा।

जिन तीर्थंकरने ज्ञानका फल विरति कहा है उन तीर्थंकरको अत्यंत भक्तिसे नमस्कार हो!

इच्छा न करते हुए भी जीवको भोगना पड़ता है, यह पूर्वकर्मके संबंधको यथार्थ सिद्ध करता है। यही विनती। आ० स्व० दोनोंको प्रणाम।

---

६०७ बंबई, जेठ वदी ७, १९५१

श्री मुनि,

[2]'जंगमनी जुक्ति तो सर्वे जाणीए, समीप रहे पण शरीरनो नहीं संग जो;'
'एकांते वसवुं रे एक ज आसने, भूल पडे तो पड़े भजनमां भंग जो;'
—ओधवजी अबळा ते साधन शुं करे?

---

६०८ बंबई, जेठ वदी १०, सोम, १९५१

तथारूप गंभीर वाक्य नहीं है, तो भी आशय गंभीर होनेसे एक लौकिक वचनका आत्मामें अभी बहुत बार स्मरण हो आता है, वह वाक्य इस प्रकार है—[3]**'रांडी रुए, मांडी रुए, पण सात भरतारवाळी तो मोढुं ज न उघाडे।'** वाक्य गंभीर न होनेसे लिखनेकी प्रवृत्ति न होती; परंतु आशय

१. **भावार्थ**—इस श्रीपालके रासको लिखते हुए ज्ञानामृत रस बरसा है।

२. **भावार्थ**—जंगम अर्थात् आत्माकी सभी युक्तियाँ हम जानती है। शरीरमें रहते हुए भी उसका संग नहीं है, उससे भिन्न है। मुमुक्षु किंवा साधक एकांतमें असंग होकर एक ही आसनपर स्थिर होकर रहे। यदि उस समय अन्य विचार-संकल्प-विकल्प उठ खड़े हो तो भक्तिसाधनमें भंग पड़ जाये। ओधवजी! अबला वह साधन कैसे करे?

३. राँड रोए, सुहागन रोए, परंतु सात भर्तारवाली तो मुँह ही न खोले।

गंभीर होनेसे और अपने विषयमें विशेष विचारणीय दीखनेसे, आपको पत्र लिखनेका स्मरण हो आनेसे यह वाक्य लिखा है, इसपर यथाशक्ति विचार कीजियेगा। यही विनती।

लि० रायचंदके प्रणाम विदित हो।

---

६०९ बंबई, जेठ, १९५१

१. सहजस्वरूपसे जीवकी स्थिति होना, इसे श्री वीतराग 'मोक्ष' कहते हैं।

२. जीव सहजस्वरूपसे रहित नहीं है, परंतु उस सहजस्वरूपका जीवको मात्र भान नहीं है, जो भान होना, वही सहजस्वरूपसे स्थिति है।

३. संगके योगसे यह जीव सहजस्थितिको भूल गया है; संगकी निवृत्तिसे सहजस्वरूपका अपरोक्ष भान प्रगट होता है।

४. इसीलिये सर्व तीर्थंकरादि ज्ञानियोंने असंगता ही सर्वोत्कृष्ट कही है, कि जिसमें सर्व आत्मसाधन रहे हैं।

५. सर्व जिनागममें कहे हुए वचन एक मात्र असंगतामें ही समा जाते हैं; क्योंकि वह होनेके लिये ही वे सर्व वचन कहे हैं। एक परमाणुसे लेकर चौदह राजलोककी और निमेषोन्मेषसे लेकर शैलेशीअवस्था पर्यंतकी सर्व क्रियाओंका जो वर्णन किया गया है, वह इसी असंगताको समझानेके लिये किया है।

६. सर्व भावसे असंगता होना, यह सबसे दुष्करसे दुष्कर साधन है; और वह निराश्रयतासे सिद्ध होना अत्यंत दुष्कर है। ऐसा विचारकर श्री तीर्थंकरने सत्संगको उसका आधार कहा है, कि जिस सत्संगके योगसे जीवको सहजस्वरूपभूत असंगता उत्पन्न होती है।

७. वह सत्संग भी जीवको कई बार प्राप्त होनेपर भी फलवान नहीं हुआ, ऐसा श्री वीतरागने कहा है, क्योंकि उस सत्संगको पहचानकर इस जीवने उसे परम हितकारी नहीं समझा, परमस्नेहसे उसकी उपासना नहीं की, और प्राप्तका भी अप्राप्त फलवान होनेयोग्य संज्ञासे विसर्जन किया है, ऐसा कहा है। यह जो हमने कहा है उसी बातकी विचारणासे हमारे आत्मामें आत्मगुणका आविर्भाव होकर सहज समाधिपर्यंत प्राप्त हुए, ऐसे सत्संगको मैं अत्यंत अत्यंत भक्तिसे नमस्कार करता हूँ।

८. अवश्य इस जीवको प्रथम सर्व साधनोंको गौण मानकर निर्वाणके मुख्य हेतुभूत सत्संगकी ही सर्वार्पणतासे उपासना करना योग्य है; कि जिससे सर्व साधन सुलभ होते हैं, ऐसा हमारा आत्मसाक्षात्कार है।

९. उस सत्संगके प्राप्त होनेपर यदि इस जीवको कल्याण प्राप्त न हो तो अवश्य इस जीवका ही दोष है; क्योंकि उस सत्संगके अपूर्व, अलभ्य और अत्यंत दुर्लभ योगमें भी उसने उस सत्संगके योगके बाधक अनिष्ट कारणोंका त्याग नहीं किया।

१०. मिथ्याग्रह, स्वच्छंदता, प्रमाद और इन्द्रियविषयकी उपेक्षा न की हो तभी सत्संग फलवान नहीं होता, अथवा सत्संगमें एकनिष्ठा, अपूर्वभक्ति न की हो तो फलवान नहीं होता। यदि एक ऐसी अपूर्वभक्तिसे सत्संगकी उपासना की हो तो अल्पकालमें मिथ्याग्रहादिका नाश होता है और अनुक्रमसे जीव सर्व दोषोंसे मुक्त हो जाता है।

११. सत्संगकी पहचान होना जीवको दुर्लभ है। किसी महान पुण्ययोगसे उसकी पहचान होनेपर निश्चयसे यही सत्संग, सत्पुरुष है, ऐसा साक्षीभाव उत्पन्न हुआ हो, वह जीव तो अवश्य ही प्रवृत्तिका

संकोच करे; अपने दोषोंको क्षण क्षणमें, कार्य कार्यमें और प्रसंग प्रसंगमें तीक्ष्ण उपयोगसे देखे; देखकर उन्हें परिक्षीण करे; और उस सत्संगके लिये देहत्याग करनेका योग होता हो तो उसे स्वीकार करे; परंतु उससे किसी पदार्थमें विशेष भक्तिस्नेह होने देना योग्य नहीं है। तथा प्रमादवश रसगारव आदि दोषोंसे उस सत्संगके प्राप्त होनेपर पुरुषार्थधर्म मंद रहता है, और सत्संग फलवान नहीं होता, ऐसा जानकर पुरुषार्थवीर्यका गोपन करना योग्य नहीं है।

१२. सत्संगकी अर्थात् सत्पुरुषकी पहचान होनेपर भी यदि वह योग निरंतर न रहता हो तो सत्संगसे प्राप्त हुए उपदेशको ही प्रत्यक्ष सत्पुरुषके तुल्य समझकर विचार करना तथा आराधन करना कि जिस आराधनसे जीवको अपूर्व सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

१३. जीवको मुख्यसे मुख्य और अवश्यसे अवश्य यह निश्चय रखना चाहिये कि मुझे जो कुछ करना है वह आत्माके लिये कल्याणरूप हो, उसे ही करना है, और उसीके लिये इन तीन योगोंकी उदयबलसे प्रवृत्ति होती हो तो होने देना, परंतु अंतमें उस त्रियोगसे रहित स्थिति करनेके लिये उस प्रवृत्तिका संकोच करते करते क्षय हो जाये, यही उपाय कर्तव्य है। वह उपाय मिथ्याग्रहका त्याग, स्वच्छंदताका त्याग, प्रमाद और इन्द्रियविषयका त्याग, यह मुख्य है। उसे सत्संगके योगमें अवश्य आराधन करते ही रहना, और सत्संगकी परोक्षतामें तो अवश्य अवश्य आराधन किये ही जाना क्योंकि सत्संगके प्रसंगमें तो यदि जीवकी कुछ न्यूनता हो तो उसके निवारण होनेका साधन सत्संग है, परंतु सत्संगकी परोक्षतामें तो एक अपना आत्मबल ही साधन है। यदि वह आत्मबल सत्संगसे प्राप्त हुए बोधका अनुसरण न करे, उसका आचरण न करे, आचरणमें होनेवाले प्रमादको न छोड़े, तो किसी दिन भी जीवका कल्याण न हो।

संक्षेपमें लिखे हुए ज्ञानीके मार्गके आश्रयके उपदेशक इन वाक्योंका मुमुक्षुजीवको अपने आत्मामें निरंतर परिणमन करना योग्य हैं, जिन्हें हमने अपने आत्मगुणका विशेष विचार करनेके लिये शब्दोंमें लिखा है।

---

६१० बंबई, आषाढ़ सुदी १, रवि, १९५१

लगभग पंद्रह दिन पहले एक और आज एक ऐसे दो पत्र मिले हैं। आजके पत्रसे दो प्रश्न जाने हैं। संक्षेपमें उनका समाधान इस प्रकार है–

(१) सत्यका ज्ञान होनेके बाद मिथ्याप्रवृत्ति दूर न हो, ऐसा नहीं होता। क्योंकि जितने अंशमें सत्यका ज्ञान हो उतने अंशमें मिथ्याभावप्रवृत्ति दूर हो, ऐसा जिनेंद्रका निश्चय है। कभी पूर्व प्रारब्धसे बाह्य प्रवृत्तिका उदय रहता हो तो भी मिथ्या प्रवृत्तिमें तादात्म्य न हो, यह ज्ञानका लक्षण है और नित्यप्रति मिथ्या प्रवृत्ति परिक्षीण हो, यही सत्य ज्ञानकी प्रतीतिका फल है। मिथ्या प्रवृत्ति कुछ भी दूर न हो, तो सत्यका ज्ञान भी संभव नहीं है।

(२) देवलोकमेंसे जो मनुष्यलोकमें आये, उसे अधिक लोभ होता है, इत्यादि कहा है वह सामान्यतः है, एकांत नहीं है। यही विनती।

---

६११ बंबई, आषाढ़ सुदी १, रवि, १९५१

जैसे अमुक वनस्पतिकी अमुक ऋतुमें उत्पत्ति होती है, वैसे अमुक ऋतुमें विपरिणाम भी होता है। सामान्यतः आमके रस-स्पर्शका विपरिणाम आर्द्रा नक्षत्रमें होता है। आर्द्रा नक्षत्रके बाद जो आम उत्पन्न

होता है उसका विपरिणामकाल आर्द्रा नक्षत्र है, ऐसा नहीं है। परंतु सामान्यतः चैत्र, वैशाख आदि मासमें उत्पन्न होनेवाले आमकी आर्द्रा नक्षत्रमें विपरिणामिता संभव है।

---

६१२ बंबई, आषाढ़ सुदी १, रवि, १९५१

ॐ

परम स्नेही श्री सोभाग, श्री सायला।

आपके दो पत्र मिले हैं। हमसे अभी कुछ विशेष लिखना नहीं होता, पहले जो विस्तारसे एक प्रश्नके समाधानमें अनेक प्रकारके दृष्टांत देकर सिद्धांतसे लिखना हो सकता था उतना अभी नहीं हो सकता है। इतना ही नहीं परंतु चार पंक्तियाँ जितना लिखना हो तो भी कठिन पड़ता है; क्योंकि अभी चित्तकी प्रवृत्ति अंतर्विचारमें विशेष रहती है, और लिखने आदिकी प्रवृत्तिसे चित्त संकुचित रहता है। फिर उदय भी तथारूप रहता है। पहलेकी अपेक्षा बोलनेके संबंधमें भी प्रायः ऐसा ही उदय रहता है। तो भी कई बार लिखनेकी अपेक्षा बोलनेका कुछ विशेष बन पाता है। जिससे समागममें कुछ जानने योग्य पूछना हो तो स्मरण रखियेगा।

अहोरात्र प्रायः विचारदशा रहा करती है, जिसे संक्षेपमें भी लिखना नहीं हो सकता। समागममें कुछ प्रसंगोपात्त कहा जा सकेगा तो वैसा करनेकी इच्छा रहती है, क्योंकि उससे हमें भी हितकारक स्थिरता होगी।

कबीरपंथी वहाँ आये हैं; उनका समागम करनेमें बाधाका संभव नहीं है। और यदि उनकी कोई प्रवृत्ति यथायोग्य न लगती हो तो उस बातपर अधिक ध्यान न देते हुए उनके विचारका कुछ अनुकरण करना योग्य लगे तो विचार करना।

जो वैराग्यवान होता है उसका समागम कई प्रकारसे आत्मभावकी उन्नति करता है।

सायलामें अमुक समय स्थिरता करनेके संबंधमें आपने लिखा, इस बातका अभी उपशम करनेका प्रायः चित्त रहता है। क्योंकि लोकसंबंधी समागमसे उदासभाव विशेष रहता है। तथा एकांत जैसे योगके बिना कितनी ही प्रवृत्तियोंका निरोध करना नहीं हो सकता, जिससे आपकी लिखी हुई इच्छाके लिये प्रवृत्ति हो सकना अशक्य है।

यहाँसे जिस तिथिको निवृत्ति हो सकेगी, उस तिथि तथा बादकी व्यवस्थाके विषयमें यथायोग्य विचार हो जानेपर उस विषयमें आपको पत्र लिखूँगा।

श्री डुंगर और आप कुछ ज्ञानवार्ता लिखियेगा। यहाँसे पत्र आये या न आये, इसकी राह न देखियेगा।

श्री सोभागका विचार अभी इस तरफ आनेका रहता हो तो अभी विलंब करना योग्य है।

कुछ ज्ञानवार्ता लिख सकें तो लिखियेगा। यही विनती। आ० स्व० प्रणाम।

---

६१३ बंबई, आषाढ़ सुदी ११, बुध, १९५१

जिस कषाय-परिणामसे अनंत संसारका बंध हो उस कषाय-परिणामको जिनप्रवचनमें 'अनंतानुबंधी' संज्ञा दी है। जिस कषायमें तन्मयतासे अप्रशस्त (अशुभ) भावसे तीव्र उपयोगसे आत्माकी प्रवृत्ति है, वहाँ 'अनंतानुबंधी' का संभव है। मुख्यतः यहाँ कहे हुए स्थानकमें उस कषायका विशेष संभव है। सद्देव, सद्गुरु और सद्धर्मका जिस प्रकारसे द्रोह हो, अवज्ञा हो, तथा विमुखभाव हो, इत्यादि

प्रवृत्तिसे, तथा असद्देव, असद्गुरु तथा असद्धर्मका जिस प्रकारसे आग्रह हो, तत्संबंधी कृतकृत्यता मान्य हो, इत्यादि प्रवृत्ति करते हुए 'अनंतानुबंधी कषाय' का संभव है; अथवा ज्ञानीके वचनमें स्त्रीपुत्रादि भावोंको, जिस मर्यादाके पश्चात् इच्छा करते हुए निर्ध्वंस परिणाम कहा है, उस परिणामसे प्रवृत्ति करते हुए भी 'अनंतानुबंधी' होने योग्य है। संक्षेपमें अनंतानुबंधी कषायकी व्याख्या इस प्रकार प्रतीत होती है।

जो पुत्रादि वस्तु लोकसंज्ञासे इच्छनीय मानी जाती है, उस वस्तुको दुःखदायक एवं असारभूत जानकर प्राप्त होनेके बाद नष्ट हो जानेपर भी इच्छनीय नहीं लगती थी, वैसी वस्तुकी अभी इच्छा उत्पन्न होती है, और उससे अनित्यभाव जैसे बलवान हो वैसा करनेकी अभिलाषा उद्भव होती है, इत्यादि जो उदाहरणसहित लिखा उसे पढ़ा है।

जिस पुरुषकी ज्ञानदशा स्थिर रहने योग्य है, ऐसे ज्ञानीपुरुषको भी संसारप्रसंगका उदय हो तो जागृतरूपसे प्रवृत्ति करना योग्य है, ऐसा वीतरागने कहा है, वह अन्यथा नहीं है। और हम सब जागृतरूपसे प्रवृत्ति करनेमें कुछ शिथिलता रखें तो उस संसारप्रसंगसे बाधा होनेमें देर नहीं लगती, ऐसा उपदेश इन वचनोंसे आत्मामें परिणमन करना योग्य है, इसमें संशय करना उचित नहीं है। प्रसंगकी यदि सर्वथा निवृत्ति अशक्य होती हो तो प्रसंगको कम करना योग्य है, और क्रमशः सर्वथा निवृत्तिरूप परिणाम लाना योग्य है, यह मुमुक्षुपुरुषका भूमिकाधर्म है। सत्संग और सत्शास्त्रके योगसे उस धर्मका विशेषरूपसे आराधन संभव है।

६१४

पुत्रादि पदार्थकी प्राप्तिमें अनासक्ति होने जैसा हुआ था, परंतु अभी उससे विपरीत भावना रहती है। उस पदार्थको देखकर प्राप्तिसंबंधी इच्छा हो आती है, इससे यह समझमें आता है कि किसी विशेष सामर्थ्यवान महापुरुषके सिवाय सामान्य मुमुक्षुने उस पदार्थका समागम करके उस पदार्थकी तथारूप अनित्यता समझकर त्याग किया हो तो उस त्यागका निर्वाह हो सकता है। नहीं तो अभी जैसे विपरीत भावना उत्पन्न हुई है वैसे प्रायः होनेका समय वैसे मुमुक्षुको आनेका संभव है। और ऐसा क्रम कितने ही प्रसंगोंसे महापुरुषोंको भी मान्य होता है, ऐसा समझमें आता है। इसपर सिद्धांतसिंधुका कथासंक्षेप तथा अन्य दृष्टांत लिखे हैं उसका संक्षेपमें यह लिखनेसे समाधान विचारियेगा।

---

६१५ बंबई, आषाढ़ सुदी १३, गुरु, १९५१

श्रीमद् वीतरागाय नमः

शाश्वत मार्गनैष्ठिक श्री सोभागके प्रति यथायोग्यपूर्वक, श्री सायला।

आपके लिखे पत्र मिले हैं। तथारूप उदयविशेषसे उत्तर लिखनेकी प्रवृत्ति अभी बहुत कम रहती है। इसलिये यहाँसे पत्र लिखनेमें विलंब होता है। परंतु आप, कुछ ज्ञानवार्ता लिखनी सूझे तो उस विलंबके कारण उसे, लिखनेसे न रुकियेगा। अभी आप तथा श्री डुंगरकी ओरसे ज्ञानवार्ता लिखी नहीं जाती, सो लिखियेगा। अभी श्री कबीरसंप्रदायी साधुका कुछ समागम होता है या नहीं ? सो लिखियेगा।

यहाँसे थोड़े समयके लिये निवृत्ति योग्य समयके बारेमें पूछा, उसका उत्तर लिखते हुए मनमें संकोच होता है। यदि हो सका तो एक-दो दिनके बाद लिखूँगा।

नीचेके बोलोंके प्रति आपको तथा श्री डुंगरको विशेष विचारपरिणति करना योग्य है—

(१) केवलज्ञानका स्वरूप किस प्रकार घटता है ?

(२) इस भरतक्षेत्रमें इस कालमें उसका संभव है या नहीं ?

(३) केवलज्ञानीमें किस प्रकारकी आत्मस्थिति होती है ?

(४) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और केवलज्ञानके स्वरूपमें किस प्रकारसे भेद होना योग्य है ?

(५) सम्यग्दृष्टि पुरुषकी आत्मस्थिति कैसी होती है ?

आपको तथा श्री डुंगरको उपर्युक्त बोलोंपर यथाशक्ति विशेष विचार करना योग्य है। तत्संबंधी पत्रद्वारा आपसे लिखाने योग्य लिखियेगा। अभी यहाँ उपाधिकी कुछ न्यूनता है। यही विनती।

आ० स्व० यथायोग्य।

---

६१६ बंबई, आषाढ़ वदी २, रवि, १९५१

श्रीमद् वीतरागको नमस्कार

शुभेच्छासंपन्न भाई अंबालाल तथा भाई त्रिभोवनके प्रति, श्री स्थंभतीर्थ।

भाई अंबालालके लिखे चिट्ठी-पत्र तथा भाई त्रिभोवनका लिखा पत्र मिला है। अमुक आत्मदशाके कारण विशेषतः लिखना, सूचित करना नहीं हो पाता। जिससे किसी मुमुक्षुको होने योग्य लाभमें मेरी तरफसे जो विलंब होता है, उस विलंबको निवृत्त करनेकी वृत्ति होती है; परंतु उदयके किसी योगसे अभी तक वैसा ही व्यवहार होता है।

आषाढ़ वदी २ को इस क्षेत्रसे थोड़े समयके लिये निवृत्त हो सकनेकी संभावना थी, उस समयके आसपास दूसरे कार्यका उदय प्राप्त होनेसे लगभग आषाढ़ वदी ३० तक स्थिरता होना संभव है। यहाँसे निकलकर ववाणिया जाने तक बीचमें एकाध दो दिनकी स्थिति करना चित्तमें यथायोग्य नहीं लगता। ववाणियामें कितने दिनकी स्थिति संभव है, यह अभी विचारमें नहीं आ सका है, परंतु भादों सुदी दशमीके आसपास यहाँ आनेका कुछ कारण संभव है और इससे ऐसा लगता है कि ववाणिया श्रावण सुदी १५ तक अथवा श्रावण वदी १० तक रहना होगा। लौटते समय श्रावण वदी दशमीको ववाणियासे निकलना हो तो भादों सुदी दशमी तक बीचमें किसी निवृत्तिक्षेत्रमें रुकना बन सकता है। अभी इस संबंधमें अधिक विचार करना अशक्य है।

अभी इतना विचारमें आता है कि यदि किसी निवृत्तिक्षेत्रमें रुकना हो तो भी मुमुक्षु भाइयोंसे अधिक प्रसंग करनेका मुझसे होना अशक्य है, यद्यपि इस बातपर अभी विशेष विचार होना संभव है।

सत्समागम और सत्शास्त्रका लाभ चाहनेवाले मुमुक्षुओंको आरंभ परिग्रह और रसस्वादादिका प्रतिबंध कम करना योग्य है, ऐसा श्री जिनादि महापुरुषोंने कहा है। जब तक अपने दोष विचारकर उन्हें कम करनेके लिये प्रवृत्तिशील न हुआ जाये तब तक सत्पुरुषका कहा हुआ मार्ग परिणाम पाना कठिन है। इस बातपर मुमुक्षु जीवको विशेष विचार करना योग्य है।

निवृत्तिक्षेत्रमें रुकने संबंधी विचारको अधिक स्पष्टतासे सूचित करना संभव होगा तो करूँगा। अभी यह बात मात्र प्रसंगसे आपको सूचित करनेके लिये लिखी है, जो विचार अस्पष्ट होनेसे दूसरे मुमुक्षु भाइयोंको भी बताना योग्य नहीं है। आपको सूचित करनेमें भी कोई राग हेतु नहीं है। यही विनती।

आ० स्व० यथायोग्य।

---

६१७ बंबई, आषाढ़ वदी ७, रवि, १९५१

ॐ नमो वीतरागाय

सत्संगनैष्ठिक श्री सोभाग, श्री सायला।

आपका और श्री लहेराभाईका लिखा पत्र मिला है।

इस भरतक्षेत्रमें इस कालमें केवलज्ञान संभव है या नहीं? इत्यादि प्रश्न लिखे थे, उसके उत्तरमें आपके तथा श्री लहेराभाईके विचार, प्राप्त पत्रसे विशेषतः जाने हैं। इन प्रश्नोंपर आपको, लहेराभाईको तथा श्री डुंगरको विशेष विचार कर्तव्य है। अन्य दर्शनमें जिस प्रकारसे केवलज्ञानादिका स्वरूप कहा है, उसमें और जैनदर्शनमें उस विषयका जो स्वरूप कहा है, उनमें कितना ही मुख्य भेद देखनेमें आता है, उन सबका विचार होकर समाधान हो तो आत्माको कल्याणके अंगभूत है; इसलिये इस विषयपर अधिक विचार हो तो अच्छा है।

'अस्ति' इस पदसे लेकर सर्व भाव आत्माके लिये विचारणीय हैं। उसमें जो स्वस्वरूपकी प्राप्तिका हेतु है, वह मुख्यतः विचारणीय है, और उस विचारके लिये अन्य पदार्थके विचारकी भी अपेक्षा रहती है, उसके लिये वह भी विचारणीय है।

परस्पर दर्शनोंमें बड़ा भेद देखनेमें आता है। उन सबकी तुलना करके अमुक दर्शन सच्चा है ऐसा निर्धार सभी मुमुक्षुओंसे होना दुष्कर है, क्योंकि वह तुलना करनेकी क्षयोपशमशक्ति किसी ही जीवमें होती है। फिर एक दर्शन सर्वांशमें सत्य है और दूसरे दर्शन सर्वांशमें असत्य हैं, ऐसा विचारमें सिद्ध हो, तो दूसरे दर्शनकी प्रवृत्ति करनेवालेकी दशा आदि विचारणीय है, क्योंकि जिसके वैराग्य-उपशम बलवान हैं, उसने सर्वथा असत्यका निरूपण क्यों किया होगा? इत्यादि विचारणीय है। परंतु सब जीवोंसे यह विचार होना दुष्कर है। और यह विचार कार्यकारी भी है, करने योग्य है। परंतु वह किसी माहात्म्यवानको होना योग्य है। तब बाकी जो मुमुक्षुजीव हैं, उन्हें इस संबंधमें क्या करना योग्य है? यह भी विचारणीय है।

सर्व प्रकारके सर्वांग समाधानके बिना सर्व कर्मसे मुक्त होना अशक्य है, यह विचार हमारे चित्तमें रहा करता है, और सर्व प्रकारका समाधान होनेके लिये अनंतकाल पुरुषार्थ करना पड़ता हो तो प्रायः कोई जीव मुक्त नहीं हो सकता। इसलिये यह मालूम होता है कि अल्पकालमें उस सर्व प्रकारके समाधानका उपाय होना योग्य है; जिससे मुमुक्षुजीवको निराशाका कारण भी नहीं है।

श्रावण सुदी ५-६ के बाद यहाँसे निवृत्ति हो सके ऐसा मालूम होता है; परंतु यहाँसे जाते समय बीचमें रुकना योग्य है या नहीं? यह अभी तक विचारमें नहीं आ सका है। कदाचित् जाते या लौटते समय बीचमें रुकना हो सके, तो वह किस क्षेत्रमें हो सके, यह अभी स्पष्ट विचारमें नहीं आता। जहाँ क्षेत्रस्पर्शना होगी वहाँ स्थिति होगी। आ० स्व० प्रणाम।

---

६१८ बंबई, आषाढ़ वदी ११, गुरु, १९५१

परमार्थनैष्ठिकादि गुणसम्पन्न श्री सोभागके प्रति,

पत्र मिला है। केवलज्ञानादिके प्रश्नोत्तरका आपको तथा श्री डुंगर एवं लहेराभाईको यथाशक्ति विचार कर्तव्य है।

जिस विचारवान पुरुषकी दृष्टिमें संसारका स्वरूप नित्य प्रति क्लेशस्वरूप भासमान होता हो, सांसारिक भोगोपभोगमें जिसे विरसता जैसा रहता हो, उस विचारवानको दूसरी तरफ लोकव्यवहारादि, व्यापारादिका उदय रहता हो, तो वह उदय प्रतिबंध इन्द्रियसुखके लिये नहीं परंतु आत्महितके लिये दूर करना हो, तो दूर कर सकनेके क्या उपाय होने चाहिये? इस संबंधमें कुछ सूचित करना हो तो कीजियेगा। यही विनती। आ० स्व० यथा०

---

६१९ बंबई, आषाढ़ वदी १४, रवि, १९५१

ॐ

नमो वीतरागाय

सर्व प्रतिबंधसे मुक्त हुए बिना सर्व दुःखसे मुक्त होना संभव नहीं है।

परमार्थनैष्ठिक श्री सोभागके प्रति, श्री सायला।

यहाँसे ववाणिया जाते हुए सायला ठहरनेके संबंधमें आपकी विशेष इच्छा मालूम हुई है; और इस विषयमें कोई भी रास्ता निकले तो ठीक, ऐसा कुछ चित्तमें रहता था, तथापि एक कारणका विचार करते हुए दूसरा कारण बाधित होता हो वहाँ क्या करना योग्य है ? उसका विचार करते हुए जब कोई वैसा मार्ग देखनेमें नहीं आता तब जो सहजमें बन आये उसे करनेकी परिणति रहती है; अथवा आखिर कोई उपाय न चले तो बलवान कारण बाधित न हो वैसा प्रवर्तन होता है। बहुत समयके व्यावहारिक प्रसंगके कंटालेसे थोड़ा समय भी किसी तथारूप क्षेत्रमें निवृत्तिसे रहा जाये तो अच्छा, ऐसा चित्तमें रहा करता था। तथा यहाँ अधिक समय स्थिति होनेसे जो देहके जन्मके निमित्त कारण हैं, ऐसे मातापितादिके वचनके लिये, चित्तकी प्रियताके अक्षोभके लिये, तथा कुछ दूसरोंके चित्तकी अनुप्रेक्षाके लिये भी थोड़े दिनके लिये ववाणिया जानेका विचार उत्पन्न हुआ था। उन दोनों प्रकारके लिये कब योग हो तो अच्छा, ऐसा विचार करनेसे कोई यथायोग्य समाधान नहीं होता था। तत्संबंधी विचारकी सहज हुई विशेषतासे अभी जो कुछ विचारकी अल्पता स्थिर हुई, उसे आपको सूचित किया था। सर्व प्रकारके असंगलक्ष्यके विचारको यहाँसे अप्रसंग समझकर, दूर रखकर, अल्प कालकी अल्प असंगताका अभी कुछ विचार रखा है, वह भी सहज स्वभावसे उदयानुसार हुआ है।

उसमें किन्हीं कारणोंका परस्पर विरोध न होनेके लिये इस प्रकार विचार आता है—यहाँसे श्रावण सुदीमें निवृत्ति हो तो इस बार बीचमें कहीं भी न ठहरकर सीधा ववाणिया जाना। वहाँसे शक्य हो तो श्रावण वदी ११को वापिस लौटना और भादों सुदी १० के आसपास किसी निवृत्तिक्षेत्रमें स्थिति हो वैसे यथाशक्ति उदयको उपराम जैसा रखकर प्रवृत्ति करना। यद्यपि विशेष निवृत्ति, उदयका स्वरूप देखते हुए, प्राप्त होनी कठिन मालूम होती है; तो भी सामान्यतः जाना जा सके उतनी प्रवृत्तिमें न आया जाये तो अच्छा ऐसा लगता है। और इस बातपर विचार करते हुए यहाँसे जाते समय रुकनेका विचार छोड़ देनेसे सुलभ होगा ऐसा लगता है। एक भी प्रसंगमें प्रवृत्ति करते हुए तथा लिखते हुए प्रायः जो अक्रियपरिणति रहती है, उस परिणतिके कारण अभी ठीक तरहसे सूचित नहीं किया जा सकता; तो भी आपकी जानकारीके लिये मुझसे यहाँ जो कुछ सूचित किया जा सका उसे सूचित किया है। यही विनती। श्री डुंगर तथा लहेराभाईको यथायोग्य।

सहजात्मस्वरूप यथायोग्य।

---

६२० बंबई, आषाढ़ वदी ३०, सोम, १९५१

जन्मसे जिन्हें मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान थे और आत्मोपयोगी वैराग्यदशा थी, अल्पकालमें भोगकर्म क्षीण करके संयमको ग्रहण करते हुए मनःपर्याय नामके ज्ञानको जो प्राप्त हुए थे; ऐसे श्रीमद् महावीरस्वामी भी बारह वर्ष और साढ़े छः मास तक मौन रहकर विचरते रहे। इस प्रकारका उनका प्रवर्तन, उस उपदेशमार्गका प्रवर्तन करते हुए किसी भी जीवको अत्यंतरूपसे विचार करके प्रवृत्ति करना योग्य है, ऐसी अखंड शिक्षाका प्रतिबोध करता है; तथा जिनेंद्र जैसोंने जिस प्रतिबंधकी निवृत्तिके लिये

प्रयत्न किया, उस प्रतिबंधमें अजागृत रहने योग्य कोई भी जीव नहीं है ऐसा बताया है, तथा अनंत आत्मार्थका उस प्रवर्तनसे बोध किया है। जिस प्रकारके प्रति विचारकी विशेष स्थिरता रहती है, रखना योग्य है।

जिस प्रकारका पूर्वप्रारब्ध भोगनेसे निवृत्त होना योग्य है, उस प्रकारका प्रारब्ध उदासीनतासे वेदन करना योग्य है; जिससे उस प्रकारके प्रति प्रवृत्ति करते हुए जो कोई प्रसंग प्राप्त होता है, उस उस प्रसंगमें जागृत उपयोग न हो, तो जीवको समाधिविराधना होनेमें देर नहीं लगती। इसलिये सर्व संग-भावको मूलरूपसे परिणामी करके भोगे बिना न छूट सके वैसे प्रसंगके प्रति प्रवृत्ति होने देना योग्य है, तो भी उस प्रकारकी अपेक्षा जिससे सर्वांश असंगता उत्पन्न हो उस प्रकारका सेवन करना योग्य है।

कुछ समयसे सहजप्रवृत्ति और उदीरणप्रवृत्ति, इस भेदसे प्रवृत्ति रहती है। मुख्यतः सहजप्रवृत्ति रहती है। सहजप्रवृत्ति अर्थात् जो प्रारब्धोदयसे उत्पन्न होती हो, परंतु जिसमें कर्तव्य परिणाम नहीं है। दूसरी उदीरणप्रवृत्ति वह है जो परार्थ आदिके योगसे करनी पड़ती है। अभी दूसरी प्रवृत्ति होनेमें आत्मा संकुचित होता है; क्योंकि अपूर्व समाधियोगको उस कारणसे भी प्रतिबंध होता है, ऐसा सुना था तथा जाना था; और अभी वैसा स्पष्टरूपसे वेदन किया है। उन उन कारणोंसे अधिक समागममें आनेका, पत्रादिसे कुछ भी प्रश्नोत्तरादि लिखनेका तथा दूसरे प्रकारसे परमार्थ आदिके लिखने-करनेका भी मंद होनेके पर्यायका आत्मा सेवन करता है। ऐसे पर्यायका सेवन किये बिना अपूर्व समाधिकी हानिका संभव था। ऐसा होनेपर भी यथायोग्य मंद प्रवृत्ति नहीं हुई।

यहाँसे श्रावण सुदी ५-६ को निकलना संभव है, परंतु यहाँसे जाते समय समागमका योग हो सकने योग्य नहीं है। और हमारे जानेके प्रसंगके विषयमें अभी आपके लिये किसी दूसरेको भी बतानेका विशेष कारण नहीं है, क्योंकि जाते समय समागम नहीं करनेके संबंधमें उन्हें कुछ संशय प्राप्त होनेका संभव हो, जो न हो तो अच्छा। यही विनती।

---

६२१ बंबई, आषाढ़ वदी ३०, सोम, १९५१

आपके तथा दूसरे किन्हीं सत्समागमकी निष्ठावाले भाइयोंको हमारे समागमकी अभिलाषा रहती है, यह बात ध्यानमें है, परंतु अमुक कारणोंसे इस विषयका विचार करते हुए प्रवृत्ति नहीं होती, जिन कारणोंको बताते हुए भी चित्तको क्षोभ होता है। यद्यपि उस विषयमें कुछ भी स्पष्टतासे लिखना बन पाया हो तो पत्र तथा समागमादिकी प्रतीक्षा करानेकी और उसमें अनिश्चितता होती रहनेसे हमारी ओरसे जो कुछ क्लेश प्राप्त होने देनेका होता है उसके होनेका संभव कम हो; परंतु उस संबंधमें स्पष्टतासे लिखते हुए भी चित्त उपशांत हुआ करता है, इसलिये जो कुछ सहजमें हो उसे होने देना योग्य भासित होता है।

ववाणियासे लौटते समय प्रायः समागमका योग होगा। प्रायः चित्तमें ऐसा रहा करता है कि अभी अधिक समागम भी कर सकने योग्य दशा नहीं है। प्रथमसे इस प्रकारका विचार रहा करता था, और वह विचार अधिक श्रेयस्कर लगता था; परंतु उदयवशात् कितने ही भाइयोंका समागम होनेका प्रसंग हुआ; जिसे एक प्रकारसे प्रतिबंध होने जैसा समझा था, और अभी कुछ भी वैसा हुआ है, ऐसा लगता है। वर्तमान आत्मदशा देखते हुए उतना प्रतिबंध होने देने योग्य अधिकार मुझे संभव नहीं है। यहाँ कुछ प्रसंगसे स्पष्टार्थ बताना योग्य है।

इस आत्मामें गुणकी विशेष अभिव्यक्ति जानकर आप इत्यादि किन्हीं मुमुक्षुभाइयोंकी भक्ति रहती हो

तो भी उससे उस भक्तिकी योग्यता मुझमें संभव है ऐसा समझनेकी मेरी योग्यता नहीं है; क्योंकि बहुत विचार करते हुए वर्तमानमें तो वैसा संभव रहता है, और उस कारणसे समागमसे कुछ समय दूर रहनेका चित्त रहा करता है; तथा पत्रादि द्वारा प्रतिबंधकी भी अनिच्छा रहा करती है। इस बातपर यथाशक्ति विचार करना योग्य है। प्रश्न-समाधानादि लिखनेका उदय भी अल्प रहनेसे प्रवृत्ति नहीं हो सकती। तथा व्यापाररूप उदयका वेदन करनेमें विशेष ध्यान रखनेसे भी उसका इस कालमें बहुत भार कम हो सके, ऐसे विचारसे भी दूसरे प्रकार उसके साथ आते जानकर भी मंद प्रवृत्ति होती है। पूर्वकथितके अनुसार लौटते समय प्रायः समागम होनेका ध्यान रखूँगा।

एक विनती यहाँ करने योग्य है कि इस आत्मामें आपको गुणाभिव्यक्ति भासमान होती हो, और उससे अंतरमें भक्ति रहती हो तो उस भक्तिका यथायोग्य विचारकर जैसे आपको योग्य लगे वैसे करने योग्य है; परंतु इस आत्माके संबंधमें अभी बाहर किसी प्रसंगकी चर्चा होने देना योग्य नहीं है; क्योंकि अविरतिरूप उदय होनेसे गुणाभिव्यक्ति हो तो भी लोगोंको भासमान होना कठिन पड़े; और उससे विराधना होनेका कुछ भी हेतु हो जाय; तथा पूर्व महापुरुषके अनुक्रमका खण्डन करने जैसा प्रवर्तन इस आत्मासे कुछ भी हुआ समझा जाय।

इस पत्रपर यथाशक्ति विचार कीजियेगा और आपके समागमवासी जो कोई मुमुक्षुभाई हों, उनका अभी नहीं, प्रसंग प्रसंगसे अर्थात् जिस समय उन्हें उपकारक हो सके वैसा संभव हो तब इस बातकी ओर ध्यान खींचियेगा। यही विनती।

---

६२२ बंबई, आषाढ़ वदी ३०, १९५१

'अनंतानुबंधी' का जो [1]दूसरा प्रकार लिखा है, तत्संबंधी विशेषार्थ निम्नलिखितसे जानियेगा—

उदयसे अथवा उदासभावसंयुक्त मंदपरिणतबुद्धिसे भोगादिमें प्रवृत्ति हो, तब तक ज्ञानीकी आज्ञाको ठुकराकर प्रवृत्ति हुई ऐसा नहीं कहा जा सकता; परंतु जहाँ भोगादिमें तीव्र तन्मयतासे प्रवृत्ति हो वहाँ ज्ञानीकी आज्ञाकी कोई अंकुशताका संभव नहीं है, निर्भयतासे भोगप्रवृत्ति संभवित है; जो निर्ध्वंस परिणाम कहे हैं। वैसे परिणाम रहें, वहाँ भी 'अनंतानुबंधी' संभवित है। तथा 'मैं समझता हूँ, 'मुझे बाधा नहीं है,' ऐसीकी ऐसी भ्रांतिमें रहे और 'भोगसे निवृत्ति करना योग्य है' और फिर कुछ भी पुरुषार्थ करे तो वैसा हो सकने योग्य होनेपर भी मिथ्याज्ञानसे ज्ञानदशा मानकर भोगादिमें प्रवृत्ति करे, वहाँ भी 'अनंतानुबंधी' संभवित है।

जाग्रत अवस्थामें ज्यों ज्यों उपयोगकी शुद्धता हो त्यों त्यों स्वप्नदशाकी परिक्षीणता संभव है।

---

६२३ बंबई, श्रावण सुदी २, बुध, १९५१

आज चिट्ठी मिली है। ववाणिया जाते हुए तथा वहाँसे लौटते हुए सायला होकर जानेके बारेमें विशेषतासे लिखा है, इस विषयमें क्या लिखना ? उसका विचार एकदम स्पष्ट निश्चयमें नहीं आ सका है, तो भी स्पष्टास्पष्ट जो कुछ यह पत्र लिखते समय ध्यानमें आया वह लिखा है।

आपकी आजकी चिट्ठीमें हमारे लिखे हुए जिस पत्रकी आपने पहुँच लिखी है, उस पत्रपर अधिक विचार करना योग्य था, और ऐसा लगता था कि आप उसपर विचार करेंगे तो सायला आनेके संबंधमें अभी हमारी इच्छानुसार रखेंगे। परंतु आपके चित्तमें यह विचार विशेषतः आनेसे पहले यह चिट्ठी लिखी गयी है फिर आपके चित्तमें जाते समय समागमकी विशेष इच्छा रहती है। तो उस इच्छाकी उपेक्षा

---

१. देखें आंक ६१३

करनेकी मेरी योग्यता नही है। ऐसे किसी प्रकारमें आपकी आसातना जैसा हो जाय, यह डर रहता है। अभी आपकी इच्छानुसार समागमके लिये आप, श्री डुंगर तथा श्री लहेराभाईका आनेका विचार हो तो एक दिन मूळी रुकूँगा। और दूसरे दिन कहेंगे तो मूळीसे जानेका विचार करूँगा। लौटते समय सायला रुकना या नहीं ? इसका उस समागममें आपकी इच्छानुसार विचार करूँगा।

मूळी एक दिन रुकनेका विचार यदि रखते हैं तो सायला एक दिन रुकनेमें आपत्ति नहीं है, ऐसा आप न कहियेगा क्योंकि ऐसा करनेसे अनेक प्रकारके अनुक्रमोंका भंग होना संभव है। यही विनती।

---

६२४ बंबई, श्रावण सुदी ३, गुरु, १९५१

किसी दशाभेदसे अमुक प्रतिबंध करनेकी मेरी योग्यता नहीं है।

दो पत्र प्राप्त हुए हैं। इस प्रसंगमें समागम संबंधी प्रवृत्ति हो सकना योग्य नहीं है।

---

६२५ ववाणिया, श्रावण सुदी १०, १९५१

ॐ

जो पर्याय है वह पदार्थका विशेष स्वरूप है, इसलिये मनःपर्यायज्ञानको भी पर्यायार्थिक ज्ञान समझकर उसे विशेष ज्ञानोपयोगमें गिना है; उसका सामान्य ग्रहणरूप विषय भासित न होनेसे दर्शनोपयोगमें नहीं गिना है, ऐसा सोमवारको दोपहरके समय कहा था; तदनुसार जैनदर्शनका अभिप्राय भी आज देखा है। यह बात अधिक स्पष्ट लिखनेसे समझमें आ सकने जैसी है, क्योंकि उसे बहुतसे दृष्टांतोंकी सहचारिता आवश्यक है, तथापि यहाँ तो वैसा होना अशक्य है।

मनःपर्याय संबंधी लिखा है वह प्रसंग, चर्चा करनेकी निष्ठासे नहीं लिखा है।

सोमवारकी रातको लगभग ग्यारह बजेके बाद जो मुझसे वचनयोगकी अभिव्यक्ति हुई थी उसकी स्मृति रही हो तो यथाशक्ति लिखा जा सके तो लिखियेगा।

---

६२६ ववाणिया, श्रावण सुदी १२, शुक्र, १९५१

'निमित्तवासी यह जीव है,' ऐसा एक सामान्य वचन है। वह संगप्रसंगसे होती हुई जीवकी परिणतिको देखते हुए प्रायः सिद्धांतरूप लग सकता है। सहजात्मस्वरूपसे यथा॰

---

६२७ ववाणिया, श्रावण सुदी १५, सोम, १९५१

आत्मार्थके लिये विचारमार्ग और भक्तिमार्गका आराधन करना योग्य है; परंतु जिसकी सामर्थ्य विचारमार्गके योग्य नहीं है उसे उस मार्गका उपदेश देना योग्य नहीं है, इत्यादि जो लिखा है वह योग्य है, तो भी इस विषयमें किञ्चित् मात्र लिखना अभी चित्तमें नहीं आ सकता।

*श्री नागजीस्वामीने केवलदर्शनके संबंधमें कही हुई आशंका लिखी है, उसे पढ़ा है। दूसरे अनेक प्रकार समझमें आनेके पश्चात् उस प्रकारकी आशंका निवृत्त होती है, अथवा वह प्रकार प्रायः समझने योग्य होता है। ऐसी आशंका अभी मंद अथवा उपशांत करके विशेष निकट ऐसे आत्मार्थका विचार करना योग्य है।

---

६२८ ववाणिया, श्रावण वदी ६, रवि, १९५१

ॐ

यहाँ पर्युषण पूरे होने तक स्थिति होना संभव है।

केवलज्ञानादि इस कालमें हो इत्यादि प्रश्न पहले लिखे थे, उन प्रश्नोंपर यथाशक्ति अनुप्रेक्षा तथा

---

* वचनामृत (गुजराती) १२ वीं आवृत्तिके अनुसार.

परस्पर प्रश्नोत्तर श्री डुंगर आदिको करना योग्य है।

गुणके समुदायसे भिन्न ऐसा कुछ गुणीका स्वरूप होना योग्य है क्या ? इस प्रश्नका आप सब यदि विचार कर सकें तो कीजियेगा। श्री डुंगरको तो जरूर विचार करना योग्य है।

कुछ उपाधियोगके व्यवसायसे तथा प्रश्नादि लिखने इत्यादिकी वृत्ति मंद होनेसे अभी सविस्तर पत्र लिखनेमें कम प्रवृत्ति होती होगी, तो भी हो सके तो यहाँ स्थिति है तब तकमें कुछ विशेष प्रश्नोत्तर इत्यादिसे युक्त पत्र लिखनेका हो तो लिखियेगा।

सहजात्मभावनासे यथा॰

---

६२९ ववाणिया, श्रावण वदी ११, शुक्र, १९५१

आत्मार्थी श्री सोभाग तथा श्री डुंगर, श्री सायला।

यहाँसे प्रसंगोपात्त लिखे हुए जो चार प्रश्नोंके उत्तर लिखे उसे पढ़ा है। प्रथमके दो प्रश्नोंका उत्तर संक्षेपमें है, तथापि यथायोग्य है। तीसरे प्रश्नका उत्तर सामान्यतः ठीक है, तथापि विशेष सूक्ष्म आलोचनसे उस प्रश्नका उत्तर लिखने योग्य है। वह तीसरा प्रश्न इस प्रकार है—'गुणके समुदायसे भिन्न गुणीका स्वरूप होना योग्य है क्या ? अर्थात् सभी गुणोंका समुदाय वही गुणी अर्थात् द्रव्य ? अथवा उस गुणके समुदायके आधारभूत ऐसे भी किसी दूसरे द्रव्यका अस्तित्व है ?' उसके उत्तरमें ऐसा लिखा कि—'आत्मा गुणी है। उसके गुण ज्ञानदर्शन आदि भिन्न हैं। यों गुणी और गुणकी विवक्षा की है, तथापि वहाँ विशेष विवक्षा करना योग्य है। ज्ञानदर्शन आदि गुणसे भिन्न ऐसा बाकीका आत्मत्व क्या है ?' यह प्रश्न है। इसलिये यथाशक्ति इस प्रश्नका परिशीलन करना योग्य है।

चौथा प्रश्न 'केवलज्ञान इस कालमें होने योग्य है क्या ?' उसका उत्तर ऐसा लिखा कि— 'प्रमाणसे देखते हुए वह होने योग्य है।' यह उत्तर भी संक्षेपमें है, जिसका बहुत विचार करना योग्य है। इस चौथे प्रश्नका विशेष विचार करनेके लिये उसमें इतना विशेष ग्रहण कीजियेगा कि—'जिस प्रकारसे जैनागममें केवलज्ञान माना है, अथवा कहा है, वह केवलज्ञानका स्वरूप यथातथ्य कहा है ऐसा भासमान होता है या नहीं ? और वैसा केवलज्ञानका स्वरूप हो ऐसा भासमान होता हो तो वह स्वरूप इस कालमें भी प्रगट होने योग्य है या नहीं ? किंवा जो जैनागम कहता है उसके कहनेका हेतु कुछ भिन्न है, और केवलज्ञानका स्वरूप किसी दूसरे प्रकारसे कहने योग्य है तथा समझने योग्य है ?' इस बातपर यथाशक्ति अनुप्रेक्षा करना योग्य है। तथा तीसरा प्रश्न है वह भी अनेक प्रकारसे विचारणीय है। विशेष अनुप्रेक्षा करके, इन दोनों प्रश्नोंका उत्तर लिख सकें तो लिखियेगा। प्रथमके दो प्रश्न हैं, उनके उत्तर संक्षेपमें लिखे हैं, वे विशेषतासे लिखे जा सके तो वे भी लिखियेगा। आपने पाँच प्रश्न लिखे हैं। उनमेंसे तीन प्रश्नोंके उत्तर यहाँ संक्षेपमें लिखे हैं—

प्रथम प्रश्न—'जातिस्मरणज्ञानवाला पिछला भव किस तरह देखता है ?' उसके उत्तरका विचार इस प्रकार कीजियेगा—

बचपनमें कोई गाँव, वस्तु आदि देखे हों, और बड़े होनेपर किसी प्रसंगपर उस गाँव आदिका आत्मामें स्मरण होता है, उस वक्त उस गाँव आदिका आत्मामें जिस प्रकार भान होता है, उस प्रकार जातिस्मरणज्ञानवालेको पूर्वभवका भान होता है। कदाचित् यहाँ यह प्रश्न होगा कि, 'पूर्वभवमें अनुभव किये हुए देहादिका इस भवमें ऊपर कहे अनुसार भान हो, इस बातको यथातथ्य मानें तो भी पूर्वभवमें अनुभव किये हुए देहादि अथवा कोई देवलोकादि निवासस्थानके जो अनुभव किये हों, उन अनुभवोंकी

स्मृति हुई है, और वे अनुभव यथातथ्य हुए हैं, ऐसा किस आधारसे समझा जाय?' तो इस प्रश्नका समाधान इस प्रकार है—अमुक अमुक चेष्टा और लिंग तथा परिणाम आदिसे अपनेको उसका स्पष्ट भान होता है, परंतु किसी दूसरे जीवको उसकी प्रतीति हो ऐसा तो कोई नियम नहीं है। क्वचित् अमुक देशमें, अमुक गाँवमें, अमुक घरमें, पूर्वकालमें देह धारण किया हो, और उसके चिह्न दूसरे जीवको बतानेसे उस देशादिकी अथवा उसके निशानादिकी कुछ भी विद्यमानता हो तो दूसरे जीवको भी प्रतीतिका हेतु होना संभव है; अथवा जातिस्मरणज्ञानवालेकी अपेक्षा जिसका विशेष ज्ञान है, वह जाने। तथा जिसे 'जातिस्मरणज्ञान' है, उसकी प्रकृति आदिको जाननेवाला कोई विचारवान पुरुष भी जाने कि इस पुरुषको वैसे किसी ज्ञानका संभव है, अथवा 'जातिस्मृति' होना संभव है, अथवा जिसे 'जातिस्मृतिज्ञान' है, उस पुरुषके संबंधमें कोई जीव पूर्वभवमें आया है, विशेषतः आया है उसे उस संबंधके बतानेसे कुछ भी स्मृति हो तो वैसे जीवको भी प्रतीति आती है।

दूसरा प्रश्न—'जीव प्रति समय मरता है, इसे किस तरह समझना?' इसका उत्तर इस प्रकार विचारियेगा—

जिस प्रकार आत्माको स्थूल देहका वियोग होता है, उसे मरण कहा जाता है, उस प्रकार स्थूल देहके आयु आदि सूक्ष्मपर्यायका भी प्रति समय हानिपरिणाम होनेसे वियोग हो रहा है, इसलिये उसे प्रति समय मरण कहना योग्य है। यह मरण व्यवहारनयसे कहा जाता है; निश्चयनयसे तो आत्माके स्वाभाविक ज्ञानदर्शनादि गुणपर्यायकी, विभावपरिणामके योगके कारण हानि हुआ करती है; और वह हानि आत्माके नित्यतादि स्वरूपको भी आवरण करती रहती है, यह प्रति समय मरण है।

तीसरा प्रश्न—'केवलज्ञानदर्शनमें भूत और भविष्यकालके पदार्थ वर्तमानकालमें वर्तमानरूपसे दिखायी देते हैं, वैसे ही दिखायी देते हैं या दूसरी तरह?' इसका उत्तर इस प्रकार विचारियेगा—

वर्तमानमें वर्तमान पदार्थ जिस प्रकार दिखायी देते हैं, उसी प्रकार भूतकालके पदार्थ भूतकालमें जिस स्वरूपसे थे उस स्वरूपसे वर्तमानकालमें दिखायी देते हैं, और भविष्यकालमें वे पदार्थ जिस स्वरूपको प्राप्त करेंगे उस स्वरूपसे वर्तमानकालमें दिखायी देते है। भूतकालमें पदार्थने जिन जिन पर्यायोंको अपनाया है, वे कारणरूपसे वर्तमानमें पदार्थमें निहित है, और भविष्यकालमें जिन जिन पर्यायोंको अपनायेगा उनकी योग्यता वर्तमानमें पदार्थमें विद्यमान है। उस कारण और योग्यताका ज्ञान वर्तमानकालमें भी केवलज्ञानीको यथार्थ स्वरूपसे हो सकता है। यद्यपि इस प्रश्नके विषयमें बहुतसे विचार बताना योग्य है।

---

६३० ववाणिया, श्रावण वदी १२, शनि, १९५१

गत शनिवारको लिखा हुआ पत्र मिला है। उस पत्रमें मुख्यतः तीन प्रश्न लिखे हैं। उनके उत्तर निम्नलिखित हैं, जिन्हें विचारियेगा—

प्रथम प्रश्नमें ऐसा बताया है कि 'एक मनुष्यप्राणी दिनके समय आत्माके गुण द्वारा अमुक हद तक देख सकता है; और रात्रिके समय अंधेरेमें कुछ नहीं देखता, फिर दूसरे दिन पुनः देखता है और फिर रात्रिको अंधेरेमें कुछ नहीं देखता। इससे एक अहोरात्रमें चालू इस प्रकारसे आत्माके गुणपर, अध्यवसायके बदले बिना, क्या न देखनेका आवरण आ जाता होगा? अथवा देखना यह आत्माका गुण नहीं परंतु सूरज द्वारा दिखायी देता है, इसलिये सूरजका गुण होनेसे उसकी अनुपस्थितिमें दिखायी नहीं देता? और फिर इसी तरह सुननेके दृष्टांतमें कान आडा रखनेसे सुनायी नहीं देता, तब आत्माका गुण

क्यों भुला दिया जाता है ?' इसका संक्षेपमें उत्तर–

ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय कर्मका अमुक क्षयोपशम होनेसे इंद्रियलब्धि उत्पन्न होती है। वह इंद्रियलब्धि सामान्यतः पाँच प्रकारकी कही जा सकती है। स्पर्शेंद्रियसे श्रवणेंद्रिय पर्यंत सामान्यतः मनुष्यप्राणीको पाँच इंद्रियोंकी लब्धिका क्षयोपशम होता है। उस क्षयोपशमकी शक्तिकी अमुक व्याहति होने तक जान-देख सकती है। देखना यह चक्षुरिंद्रियका गुण है, तथापि अंधकारसे अथवा वस्तु अमुक दूर होनेसे उसे पदार्थ देखनेमें नहीं आ सकता; क्योंकि चक्षुरिंद्रियकी क्षयोपशमलब्धि उस हद तक रुक जाती है, अर्थात् क्षयोपशमकी सामान्यतः इतनी शक्ति है। दिनमें भी विशेष अंधकार हो अथवा कोई वस्तु बहुत अंधेरेमें पड़ी हो अथवा अमुक हदसे दूर हो तो चक्षुसे दिखायी नहीं दे सकती। इसी तरह दूसरी इंद्रियोंकी लब्धिसंबंधी क्षयोपशमशक्ति तक उसके विषयमें ज्ञानदर्शनकी प्रवृत्ति है। अमुक व्याघात तक वह स्पर्श कर सकती है, अथवा सूँघ सकती है, स्वाद पहचान सकती है, अथवा सुन सकती है।

दूसरे प्रश्नमें ऐसा बताया है कि 'आत्माके असंख्यात प्रदेश सारे शरीरमें व्यापक होनेपर भी, आँखके बीचके भागकी पुतलीसे ही देखा जा सकता है, इसी तरह सारे शरीरमें असंख्यात प्रदेश व्यापक होनेपर भी एक छोटेसे कानसे सुना जा सकता है, दूसरे स्थानसे सुना नहीं जा सकता। अमुक स्थानसे गंधकी परीक्षा होती है, अमुक स्थानसे रसकी परीक्षा होती है; जैसे कि शक्करका स्वाद हाथ-पैर नहीं जानते, परंतु जिह्वा जानती है। आत्मा सारे शरीरमें समानरूपसे व्यापक होनेपर भी अमुक भागसे ही ज्ञान होता है, इसका कारण क्या होगा ?' इसका संक्षेपमें उत्तर–

जीवको ज्ञान, दर्शन क्षायिकभावसे प्रगट हुए हों तो सर्व प्रदेशसे तथाप्रकारकी उसे निरावरणता होनेसे एक समयमें सर्व प्रकारसे सर्व भावकी ज्ञायकता होती है; परंतु जहाँ क्षयोपशम भावसे ज्ञानदर्शन रहते हैं, वहाँ भिन्न भिन्न प्रकारसे अमुक मर्यादामें ज्ञायकता होती है। जिस जीवको अत्यंत अल्प ज्ञानदर्शनकी क्षयोपशमशक्ति रहती है, उस जीवको अक्षरके अनंतवें भाग जितनी ज्ञायकता होती है। उससे विशेष क्षयोपशमसे स्पर्शेंद्रियकी लब्धि कुछ विशेष व्यक्त (प्रगट) होती है; उससे विशेष क्षयोपशमसे स्पर्श और रसेंद्रियकी लब्धि उत्पन्न होती है, इस तरह विशेषतासे उत्तरोत्तर स्पर्श, रस, गंध और वर्ण तथा शब्दको ग्रहण करने योग्य पंचेन्द्रिय संबंधी क्षयोपशम होता है। तथापि क्षयोपशमदशामें गुणकी समविषमता होनेसे सर्वाङ्गसे पंचेन्द्रिय संबंधी ज्ञान और दर्शन नहीं होते; क्योंकि शक्तिका वैसा तारतम्य (सत्त्व) नहीं है कि वह पाँचों विषय सर्वाङ्गसे ग्रहण करे। यद्यपि अवधि आदि ज्ञानमें वैसा होता है, परंतु यहाँ तो सामान्य क्षयोपशम, और वह भी इंद्रिय सापेक्ष क्षयोपशमका प्रसंग है। अमुक नियत प्रदेशमें ही उस इंद्रियलब्धिका परिणाम होता है, इसका हेतु क्षयोपशम तथा प्राप्त हुई योनिका संबंध है कि नियत प्रदेशमें (अमुक मर्यादा-भागमें) अमुक अमुक विषयका जीवको ग्रहण हो।

तीसरे प्रश्नमें ऐसा बताया है कि, 'शरीरके अमुक भागमें पीडा होती है, तब जीव वहीं संलग्न हो जाता है, इससे जिस भागमें पीडा है उस भागकी पीडाका वेदन करनेके लिये समस्त प्रदेश उस तरफ खिंच आते होंगे ? जगतमें कहावत है कि जहाँ पीडा हो, वहीं जीव संलग्न रहता है।' इसका संक्षेपमें उत्तर–

उस वेदनाके वेदन करनेमें बहुतसे प्रसंगोंमें विशेष उपयोग रुकता है और दूसरे प्रदेशोंका उस ओर बहुतसे प्रसंगोंमें सहज आकर्षण भी होता है। किसी प्रसंगमें वेदनाका बाहुल्य हो तो सर्व प्रदेश मूर्च्छागत स्थिति भी प्राप्त करते हैं; और किसी प्रसंगमें वेदना या भयके बाहुल्यके कारण सर्व प्रदेश अर्थात् आत्माकी दशमद्वार आदि एक स्थानमें स्थिति होती है। ऐसा होनेका हेतु भी अव्याबाध नामके

जीवस्वभावके तथाप्रकारसे परिणामी न होनेसे, उस वीर्यान्तरायके क्षयोपशमकी समविषमता होती है।

ऐसे प्रश्न बहुतसे मुमुक्षुजीवोंको विचारकी परिशुद्धिके लिये कर्तव्य है। और वैसे प्रश्नोंका समाधान बतानेकी चित्तमें क्वचित् सहज इच्छा भी रहती है, तथापि लिखनेमें विशेष उपयोग रोक सकनेका काम बड़ी मुश्किलसे होता है। और इसलिये कभी लिखना होता है और कभी लिखना नहीं हो पाता, अथवा नियमित, उत्तर लिखना नहीं हो सकता। प्रायः अमुक काल तक तो अभी तो तथाप्रकारसे रहना योग्य है तो भी प्रश्नादि लिखनेमें आपको प्रतिबंध नहीं है।

---

६३१ ववाणिया, श्रावण वदी १४, सोम, १९५१

प्रथम पदमें ऐसा कहा है कि 'हे मुमुक्षु ! एक आत्माको जाननेसे तू समस्त लोकालोकको जानेगा, और सब जाननेका फल भी एक आत्मप्राप्ति ही है; इसलिये आत्मासे भिन्न अन्य भावोंको जाननेकी वारंवारकी इच्छासे तू निवृत्त हो और एक निजस्वरूपमें दृष्टि दे, कि जिस दृष्टिसे समस्त सृष्टि ज्ञेयरूपसे तुझमें दिखायी देगी। तत्त्वस्वरूप सत्शास्त्रमें कहे हुए मार्गका भी यह तत्त्व है, ऐसा तत्त्वज्ञानियोंने कहा है, तथापि उपयोगपूर्वक उसे समझना दुष्कर है। यह मार्ग भिन्न है, और उसका स्वरूप भी भिन्न है, जैसा मात्र कथनज्ञानी कहते हैं, वैसा नहीं है; इसलिये जगह जगह जाकर क्यों पूछता है ? क्योंकि उस अपूर्वभावका अर्थ जगह जगहसे प्राप्त होने योग्य नहीं है।'

दूसरे पदका संक्षेप अर्थ—'हे मुमुक्षु ! यमनियमादि जो साधन सब शास्त्रोंमें कहे हैं वे उपर्युक्त अर्थसे निष्फल ठहरेंगे, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि वे भी कारणके लिये हैं; वह कारण इस प्रकार है— आत्मज्ञान रह सके ऐसी पात्रता प्राप्त होनेके लिये तथा उसमें स्थिति हो वैसी योग्यता आनेके लिये इन कारणोंका उपदेश किया है। इसलिये तत्त्वज्ञानियोंने ऐसे हेतुसे ये साधन कहे हैं; परंतु जीवकी समझमें नितान्त फेर होनेसे उन साधनोंमें ही अटका रहा, अथवा वे साधन भी अभिनिवेश परिणामसे अपनाये। जिस प्रकार उँगलीसे बालकको चाँद दिखाया जाता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानियोंने यह तत्त्वका तत्त्व कहा है।'

---

६३२ ववाणिया, श्रावण वदी १४, सोम, १९५१

'बाल्यावस्थाकी अपेक्षा युवावस्थामें इंद्रियविकार विशेषरूपसे उत्पन्न होता है, उसका क्या कारण होना चाहिये ?' ऐसा जो लिखा उसके लिये संक्षेपमें इस प्रकार विचारणीय है—

ज्यों ज्यों क्रमसे अवस्था बढ़ती है त्यों त्यों इंद्रियबल बढ़ता है, तथा उस बलको विकारके हेतुभूत निमित्त मिलते हैं; और पूर्वभवके वैसे विकारके संस्कार रहते आये हैं, इसलिये वह निमित्त आदि योग पाकर विशेष परिणामको प्राप्त होता है। जैसे बीज है वह तथारूप कारण पाकर क्रमसे वृक्षाकारमें परिणमित होता है वैसे पूर्वके बीजभूत संस्कार क्रमसे विशेषाकारमें परिणमित होते हैं।

---

६३३ ववाणिया, श्रावण वदी १४, सोम, १९५१

आत्मार्थ-इच्छायोग्य श्री लल्लुजीके प्रति, श्री सूर्यपुर।

आपके लिखे हुए दो पत्र तथा श्री देवकरणजीका लिखा हुआ एक पत्र, ये तीन पत्र मिले हैं। आत्मसाधनके लिये क्या कर्तव्य है; इस विषयमें श्री देवकरणजीको यथाशक्ति विचार करना योग्य है। इस प्रश्नका समाधान हमारेसे जाननेके लिये उनके चित्तमें विशेष अभिलाषा रहती हो तो किसी समागमके प्रसंगपर यह प्रश्न करना योग्य है, ऐसा उन्हें कहियेगा।

इस प्रश्नका समाधान पत्र द्वारा बताना क्वचित् हो सकता है। तथापि लिखनेमें अभी विशेष

उपयोगकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। तथा श्री देवकरणजीको भी अभी इस विषयमें यथाशक्ति विचार करना चाहिये।

सहजस्वरूपसे यथायोग्य।

---

६३४ ववाणिया, भादों सुदी ७, मंगल, १९५१

आज दिन तक अर्थात् संवत्सरी तक आपके प्रति मन, वचन और कायाके योगसे मुझसे जाने-अनजाने कुछ अपराध हुआ हो उसके लिये शुद्ध अंतःकरणपूर्वक लघुताभावसे क्षमा माँगता हूँ। इसी प्रकार अपनी बहनको भी खमाता हूँ। यहाँसे इस रविवारको विदाय होनेका विचार है।

लि० रायचंदने यथा०

---

६३५ ववाणिया, भादों सुदी ७, मंगल, १९५१

संवत्सरी तक तथा आज दिन तक आपके प्रति मन, वचन और कायाके योगसे जो कुछ जाने अनजाने अपराध हुआ हो उसके लिये सर्व भावसे क्षमा माँगता हूँ। तथा आपके सत्समागमवासी सब भाइयों तथा बहनोंसे क्षमा माँगता हूँ।

यहाँसे प्रायः रविवारको जाना होगा ऐसा लगता है। मोरबीमें सुदी १५ तक स्थिति होना संभव है। उसके बाद किसी निवृत्तिक्षेत्रमें लगभग पंद्रह दिनकी स्थिति हो तो करनेके लिये चित्तकी सहजवृत्ति रहती है।

कोई निवृत्तिक्षेत्र ध्यानमें हो तो लिखियेगा।

आ० सहजात्मस्वरूप।

---

६३६ ववाणिया, भादों सुदी ९, गुरु, १९५१

निमित्तसे जिसे हर्ष होता है, निमित्तसे जिसे शोक होता है, निमित्तसे जिसे इंद्रियजन्य विषयके प्रति आकर्षण होता है, निमित्तसे जिसे इंद्रियके प्रतिकूल प्रकारोंमें द्वेष होता है, निमित्तसे जिसे उत्कर्ष आता है, निमित्तसे जिसे कषाय उत्पन्न होता है, ऐसे जीवको यथाशक्ति उन निमित्तवासी जीवोंका संग छोड़ना योग्य है, और नित्य प्रति सत्संग करना योग्य है।

सत्संगके अयोगमें तथाप्रकारके निमित्तसे दूर रहना योग्य है। क्षण क्षणमें, प्रसंग प्रसंगपर और निमित्त निमित्तमें स्वदशाके प्रति उपयोग देना योग्य है।

आपका पत्र मिला है। आज तक सर्व भावसे क्षमा माँगता हूँ।

---

६३७ ववाणिया, भादों सुदी ९, गुरु, १९५१

आज दिन तक सर्व भावसे क्षमा माँगता हूँ।

नीचे लिखे वाक्य तथारूप प्रसंगपर विस्तारसे समझने योग्य है।

'अनुभवप्रकाश' ग्रंथमेंसे श्री प्रह्लादजीके प्रति सद्गुरुदेवका कहा हुआ जो उपदेशप्रसंग लिखा, वह वास्तविक है। तथारूपसे निर्विकल्प और अखंड स्वस्वरूपमें अभिन्नज्ञानके सिवाय अन्य कोई सर्व दुःख मिटानेका उपाय ज्ञानीपुरुषोंने नहीं जाना है। यही विनती।

---

६३८ राणपुर (हड़मतिया), भादों वदी १३, १९५१

दो पत्र मिले थे। कल यहाँ अर्थात् राणपुरके समीपके गाँवमें आना हुआ है।

अंतिम पत्रमें प्रश्न लिखे थे, वह पत्र कही गुम हुआ मालूम होता है। संक्षेपमें निम्नलिलिखत उत्तरका

विचार कीजियेगा–

(१) धर्म, अधर्म द्रव्य स्वभावपरिणामी होनेसे निष्क्रिय कहे हैं। परमार्थनयसे ये द्रव्य भी सक्रिय हैं। व्यवहारनयसे परमाणु, पुद्गल और संसारी जीव सक्रिय हैं, क्योंकि वे अन्योन्य ग्रहण, त्याग आदिसे एक परिणामवत् संबंध पाते हैं। सडना यावत्.....विध्वंस पाना यह पुद्गलपरमाणुका धर्म कहा है।

परमार्थसे शुभ वर्णादिका पलटना और स्कंधका मिलकर बिखर जाना कहा है.....(पत्र खंडित)

---

६३९ राणपुर, आसोज सुदी २, शुक्र, १९५१

हो सके तो जहाँ आत्मार्थकी कुछ भी चर्चा होती हो वहाँ जाने-आनेका और श्रवण आदिका प्रसंग करना योग्य है। चाहे तो जैनके सिवाय दूसरे दर्शनकी व्याख्या होती हो तो उसे भी विचारार्थ श्रवण करना योग्य है।

---

६४० बंबई, आसोज सुदी ११, १९५१

आज सुबह यहाँ कुशलतासे आना हुआ है।

वेदांत कहता है कि आत्मा असंग है, जिनेन्द्र भी कहते है कि परमार्थनयसे आत्मा वैसा ही है। इसी असंगताका सिद्ध होना, परिणत होना–यह मोक्ष है। स्वतः वैसी असंगता सिद्ध होना प्रायः असंभवित है, और इसीलिये ज्ञानीपुरुषोंने, जिसे सर्व दुःख क्षय करनेकी इच्छा है, उस मुमुक्षुको सत्संगकी नित्य उपासना करनी चाहिये, ऐसा जो कहा है वह अत्यंत सत्य है।

हमारे प्रति अनुकंपा रखियेगा। कुछ ज्ञानवार्ता लिखियेगा। श्री डुंगरको प्रणाम।

---

६४१ बंबई, आसोज सुदी १२, सोम, १९५१

[1]'देखतभूली टळे तो सर्व दुःखनो क्षय थाय' ऐसा स्पष्ट अनुभव होता है, फिर भी उसी देखतभूलीके प्रवाहमें ही जीव बहा चला जाता है, ऐसे जीवोंके लिये इस जगतमें कोई ऐसा आधार है कि जिस आधारसे, आश्रयसे वे प्रवाहमें न बहें ?

---

६४२ बंबई, आसोज सुदी १३, १९५१

समस्त विश्व प्रायः परकथा तथा परवृत्तिमें बहा चला जा रहा है, उसमें रहकर स्थिरता कहाँसे प्राप्त हो ?

ऐसे अमूल्य मनुष्य जन्मका एक समय भी परवृत्तिसे जाने देना योग्य नहीं है, और कुछ भी वैसा हुआ करता है, उसका उपाय कुछ विशेषतः खोजने योग्य है।

ज्ञानीपुरुषका निश्चय होकर अंतर्भेद न रहे तो आत्मप्राप्ति एकदम सुलभ है, ऐसा ज्ञानी पुकारकर कह गये हैं, फिर भी लोक क्यों भूलते हैं ? श्री डुंगरको प्रणाम।

---

६४३ बंबई, आसोज सुदी १३, १९५१

श्री स्थंभतीर्थवासी तथा निंबपुरीवासी मुमुक्षुजनके प्रति, श्री स्तंभतीर्थ।

कुछ पूछने योग्य लगता हो तो पूछियेगा।

जो कुछ करने योग्य कहा हो, वह विस्मरण योग्य न हो इतना उपयोग करके क्रमसे भी उसमें

---

१. **भावार्थ**–देखते ही भूलनेकी आदत दूर हो जाये तो सर्व दुःखका क्षय हो जाये।

अवश्य परिणति करना योग्य है। त्याग, वैराग्य, उपशम और भक्तिको सहज स्वभावरूप कर डाले बिना मुमुक्षुजीवको आत्मदशा कैसे आये? परंतु शिथिलतासे, प्रमादसे यह बात विस्मृत हो जाती है।

---

६४४ बंबई, आसोज वदी ३, रवि, १९५१

पत्र मिला है।

अनादिसे विपरीत अभ्यास है, इससे वैराग्य, उपशमादि भावोंकी परिणति एकदम नहीं हो सकती, किंवा होनी कठिन पड़ती है, तथापि निरंतर उन भावोंके प्रति ध्यान रखनेसे अवश्य सिद्धि होती है। सत्समागमका योग न हो तब वे भाव जिस प्रकारसे वर्धमान हों उस प्रकारके द्रव्यक्षेत्रादिकी उपासना करना, सत्शास्त्रका परिचय करना योग्य है। सब कार्यकी प्रथम भूमिका विकट होती है, तो अनंतकालसे अनभ्यस्त ऐसी मुमुक्षुताके लिये वैसा हो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। सहजात्मस्वरूपसे प्रणाम।

---

६४५ बंबई, आसोज वदी ११, १९५१

परमनैष्ठिक, सत्समागम योग्य, आर्य श्री सोभाग तथा श्री डुंगरके प्रति, श्री सायला।

यथायोग्यपूर्वक—श्री सोभागका लिखा हुआ पत्र मिला है।

[1]'समज्या ते शमाई रह्या,' तथा 'समज्या ते शमाई गया,' इन वाक्योंमें कुछ अर्थांतर होता है क्या? तथा दोनोंमेंसे कौनसा वाक्य विशेषार्थ वाचक मालूम होता है? तथा समझने योग्य क्या है? तथा शमन क्या है? तथा समुच्चय वाक्यका एक परमार्थ क्या है? यह विचारणीय है, विशेषरूपसे विचारणीय है, और जो विचारमें आया हो उसे तथा विचार कहते हुए उन वाक्योंका जो विशेष परमार्थ ध्यानमें आया हो उसे लिख सकें तो लिखियेगा। यही विनती। सहजात्मस्वरूपसे यथा०

---

६४६ बंबई, आसोज, १९५१

सब जीवोंको अप्रिय होनेपर भी जिस दुःखका अनुभव करना पड़ता है, वह दुःख सकारण होना चाहिये, इस भूमिकासे मुख्यतः विचारवानकी विचारश्रेणि उदित होती है, और उस परसे अनुक्रमसे आत्मा, कर्म, परलोक, मोक्ष आदि भावोंका स्वरूप सिद्ध हुआ हो, ऐसा प्रतीत होता है।

वर्तमानमें यदि अपनी विद्यमानता है, तो भूतकालमें भी उसकी विद्यमानता होनी चाहिये और भविष्यमें भी वैसा ही होना चाहिये। इस प्रकारके विचारका आश्रय मुमुक्षुजीवको कर्तव्य है। किसी भी वस्तुका पूर्वपश्चात् अस्तित्व न हो तो मध्यमें उसका अस्तित्व नहीं होता, ऐसा अनुभव विचार करनेसे होता है।

वस्तुकी सर्वथा उत्पत्ति अथवा सर्वथा नाश नहीं है, सर्व काल उसका अस्तित्व है, रूपातंर परिणाम हुआ करते हैं, वस्तुता बदलती नहीं है, ऐसा श्री जिनेन्द्रका अभिमत है, वह विचारणीय है।

'षड्दर्शनसमुच्चय' कुछ गहन है, तो भी पुनः पुनः विचार करनेसे उसका बहुत कुछ बोध होगा। ज्यों ज्यों चित्तकी शुद्धि और स्थिरता होती है त्यों त्यों ज्ञानीके वचनका विचार यथायोग्य हो सकता है। सर्व ज्ञानका फल भी आत्मस्थिरता होना यही है, ऐसा वीतराग पुरुषोंने जो कहा है वह अत्यंत सत्य है।

मेरे योग्य कामकाज लिखियेगा। यही विनती। लि० रायचंदके प्रणाम विदित हो।

---

१. देखें आंक ६५१।

६४७ बंबई, आसोज, १९५१

निर्वाणमार्ग अगम अगोचर है, इसमें संशय नहीं है। अपनी शक्तिसे, सद्गुरुके आश्रयके बिना उस मार्गको खोजना अशक्य है; ऐसा वारंवार दिखायी देता है। इतना ही नहीं, किन्तु श्री सद्गुरुचरणके आश्रयसे जिसे बोधबीजकी प्राप्ति हुई हो ऐसे पुरुषको भी सद्गुरुके समागमका आराधन नित्य कर्तव्य है। जगतके प्रसंग देखते हुए ऐसा मालूम होता है कि वैसे समागम और आश्रयके बिना निरालम्ब बोध स्थिर रहना विकट है।

---

६४८ बंबई, आसोज, १९५१

ॐ

दृश्यको अदृश्य किया, और अदृश्यको दृश्य किया ऐसा ज्ञानीपुरुषोंका आश्चर्यकारक अनन्त ऐश्वर्यवीर्य वाणीसे कहा जा सकने योग्य नहीं है।

---

६४९ बंबई, आसोज, १९५१

बीता हुआ एक पल भी फिर नहीं आता, और वह अमूल्य है, तो फिर सारी आयुस्थिति !

एक पलका हीन उपयोग एक अमूल्य कौस्तुभ खो देनेसे भी विशेष हानिकारक है, तो वैसे साठ पलकी एक घडीका हीन उपयोग करनेसे कितनी हानि होनी चाहिये ? इसी तरह एक दिन, एक पक्ष, एक मास, एक वर्ष और अनुक्रमसे सारी आयुस्थितिका हीन उपयोग, यह कितनी हानि और कितने अश्रेयका कारण होगा, यह विचार शुक्ल हृदयसे तुरत आ सकेगा। सुख और आनन्द यह सर्व प्राणियों, सर्व जीवों, सर्व सत्त्वों और सर्व जंतुओंको निरंतर प्रिय है, फिर भी दुःख और आनन्द भोगते हैं, इसका क्या कारण होना चाहिये ? अज्ञान और उसके द्वारा जिन्दगीका हीन उपयोग। हीन उपयोग होनेसे रोकनेके लिये प्रत्येक प्राणीकी इच्छा होनी चाहिये, परंतु किस साधनसे ?

---

६५० बंबई, आसोज, १९५१

जिन पुरुषोंकी अंतर्मुखदृष्टि हुई है उन पुरुषोंको भी सतत जागृतिरूप शिक्षा श्री वीतरागने दी है, क्योंकि अनन्तकालके अध्यासवाले पदार्थोंका संग है वह कुछ भी दृष्टिको आकर्षित करे ऐसा भय रखना योग्य है। ऐसी भूमिकामें इस प्रकारकी शिक्षा योग्य है, ऐसा है तो फिर जिसकी विचारदशा है ऐसे मुमुक्षुजीवको सतत जागृति रखना योग्य है; ऐसा कहनेमें न आया हो, तो भी स्पष्ट समझा जा सकता है कि मुमुक्षुजीवको जिस जिस प्रकारसे पर-अध्यास होने योग्य पदार्थ आदिका त्याग हो, उस उस प्रकारसे अवश्य करना योग्य है। यद्यपि आरंभ-परिग्रहका त्याग स्थूल दिखायी देता है तथापि अंतर्मुखवृत्तिका हेतु होनेसे वारंवार उसके त्यागका उपदेश दिया है।

---

२९ वाँ वर्ष

६५१ बंबई, कार्त्तिक, १९५२

[1]जैसा है वैसा आत्मस्वरूप जाना, इसका नाम समझना है। इससे उपयोग अन्य विकल्पसे रहित हुआ, इसका नाम शांत होना है। वस्तुतः दोनों एक ही है।

जैसा है वैसा समझनेसे उपयोग स्वरूपमें शांत हो गया, और आत्मा स्वभावमय हो गया, यह प्रथम वाक्य–'समजीने शमाई रह्या' का अर्थ है।

अन्य पदार्थके संयोगमें जो अध्यास था, और उस अध्यासमें जो आत्मत्व माना था वह अध्यासरूप आत्मत्व शांत हो गया, यह दूसरे वाक्य–'समजीने शमाई गया' का अर्थ है।

पर्यायांतरसे अर्थांतर हो सकता है। वास्तवमें दोनों वाक्योंका परमार्थ एक ही विचारणीय है।

जिस जिसने समझा उस उसने मेरा तेरा इत्यादि अहंत्व, ममत्व शांत कर दिया; क्योंकि कोई भी निज स्वभाव वैसा देखा नहीं; और निज स्वभाव तो अचिंत्य, अव्याबाधस्वरूप सर्वथा भिन्न देखा, इसलिये उसीमें समाविष्ट हो गया।

आत्माके सिवाय अन्यमें स्वमान्यता थी, उसे दूर कर परमार्थसे मौन हुआ; वाणीसे 'यह इसका है' इत्यादि कथन करनेरूप व्यवहार वचनादि योग तक क्वचित् रहा, तथापि आत्मासे 'यह मेरा है', यह विकल्प सर्वथा शांत हो गया; यथातथ्य अचिंत्य स्वानुभवगोचरपदमें लीनता हो गयी।

ये दोनों वाक्य लोकभाषामें प्रचलित हुए हैं, वे 'आत्मभाषा'मेंसे आये हैं। जो उपर्युक्त प्रकारसे शांत नहीं हुए वे समझे नहीं है ऐसा इस वाक्यका सारभूत अर्थ हुआ, अथवा जितने अंशमें शांत हुए उतने अंशमें समझे, और जिस प्रकारसे शांत हुए उस प्रकारसे समझे इतना विभागार्थ हो सकने योग्य है, तथापि मुख्य अर्थमें उपयोग लगाना योग्य है।

अनंतकालसे यम, नियम, शास्त्रावलोकन आदि कार्य करनेपर भी समझना और शांत होना यह प्रकार आत्मामें नहीं आया, और इससे परिभ्रमणनिवृत्ति नहीं हुई।

जो कोई समझने और शांत होनेका ऐक्य करे, वह स्वानुभवपदमें रहे; उसका परिभ्रमण निवृत्त हो जाये। सद्गुरुकी आज्ञाका विचार किये बिना जीवने उस परमार्थको जाना नहीं; और जाननेमें प्रतिबंधरूप असत्संग, स्वच्छंद और अविचारका निरोध नहीं किया, जिससे समझना और शांत होना तथा दोनोंका ऐक्य नहीं हुआ, ऐसा निश्चय प्रसिद्ध है।

यहाँसे आरंभ करके ऊपर ऊपरकी भूमिकाकी उपासना करे तो जीव समझकर शांत हो जाये, यह निःसंदेह है।

अनंत ज्ञानी पुरुषोंका अनुभव किया हुआ यह शाश्वत सुगम मोक्षमार्ग जीवके ध्यानमें नहीं आता, इससे उत्पन्न हुए खेदसहित आश्चर्यको भी यहाँ शांत करते हैं। सत्संग, सद्विचारसे शांत होने तकके सर्व पद अत्यंत सच्चे हैं, सुगम हैं, सुगोचर हैं, सहज हैं और निःसंदेह हैं। ॐॐॐॐ

---

६५२ बंबई, कार्त्तिक सुदी ३, सोम, १९५२

श्री वेदांतमें निरूपित मुमुक्षुजीवके लक्षण तथा श्री जिनेंद्र द्वारा निरूपित सम्यग्दृष्टि जीवके लक्षण सुनने योग्य हैं; (तथारूप योग न हो तो पढ़ने योग्य हैं;) विशेषरूपसे मनन करने योग्य हैं; आत्मामें परिणत

१. देखें आंक ६४५।

करने योग्य हैं। अपने क्षयोपशमबलको कम जानकर अहंताममतादिका पराभव होनेके लिये नित्य अपनी न्यूनता देखना; विशेष संग प्रसंग कम करना योग्य है। यही विनती।

---

६५३ बंबई, कार्त्तिक सुदी १३, गुरु, १९५२

दो पत्र मिले हैं।

आत्महेतुभूत संगके सिवाय मुमुक्षुजीवको सर्व संग कम करना योग्य है। क्योंकि उसके बिना परमार्थका आविर्भूत होना कठिन है, और इस कारण श्री जिनेंद्रने यह व्यवहार, द्रव्यसंयमरूप साधुत्वका उपदेश किया है। यही विनती।

सहजात्मस्वरूप।

---

६५४ बंबई, कार्त्तिक सुदी १३, गुरु, १९५२

पहले एक पत्र मिला था। जिस पत्रका उत्तर लिखनेका विचार किया था। तथापि विस्तारसे लिख सकना अभी कठिन मालूम हुआ, जिससे आज संक्षेपमें पहुँचके रूपमें चिट्ठी लिखनेका विचार हुआ था। आज आपका लिखा हुआ दूसरा पत्र मिला है।

अंतर्लक्ष्यवत् अभी जो वृत्ति रहती हुई दीखती है वह उपकारी है, और वह वृत्ति क्रमसे परमार्थकी यथार्थतामें विशेष उपकारभूत होती है। यहाँ आपने दोनों पत्र लिखे, इससे कोई हानि नहीं है।

अभी सुंदरदासजीका ग्रंथ अथवा श्री योगवासिष्ठ पढ़ियेगा। श्री सोभाग यहाँ है।

---

६५५ बंबई, कार्त्तिक वदी ८, रवि, १९५२

निशदिन नैनमें नींद न आवे,
नर तबहि नारायन पावे। —श्री सुंदरदासजी

---

६५६ बंबई, मार्गशीर्ष सुदी १०, मंगल, १९५२

श्री त्रिभोवनके साथ इतना सूचित किया था कि आपके पहले पत्र मिले थे, उन पत्रों आदिसे वर्तमान दशाको जानकर उस दशाकी विशेषताके लिये संक्षेपमें कहा था।

जिस जिस प्रकारसे परद्रव्य (वस्तु) के कार्यकी अल्पता हो, निज दोष देखनेका दृढ़ ध्यान रहे, और सत्समागम, सत्शास्त्रमें वर्धमान परिणतिसे परम भक्ति रहा करे उस प्रकारकी आत्मता करते हुए, तथा ज्ञानीके वचनोंका विचार करनेसे दशा विशेषता प्राप्त करते हुए यथार्थ समाधिके योग्य हो, ऐसा लक्ष्य रखियेगा, ऐसा कहा था। यही विनती।

---

६५७ बंबई, मार्गशीर्ष सुदी १०, मंगल, १९५२

शुभेच्छा, विचार, ज्ञान इत्यादि सब भूमिकाओंमें सर्वसंगपरित्याग बलवान उपकारी है, ऐसा जानकर ज्ञानीपुरुषोंने 'अनगारत्व'का निरूपण किया है। यद्यपि परमार्थसे सर्वसंगपरित्याग यथार्थ बोध होने पर प्राप्त होना योग्य है, यह जानते हुए भी यदि सत्संगमें नित्य निवास हो, तो वैसा समय प्राप्त होना योग्य है ऐसा जानकर, ज्ञानीपुरुषोंने सामान्यतः बाह्य सर्वसंगपरित्यागका उपदेश दिया है, कि जिस निवृत्तिके योगसे शुभेच्छावान जीव सद्गुरु, सत्पुरुष और सत्शास्त्रकी यथायोग्य उपासना करके यथार्थ बोध प्राप्त करे। यही विनती।

---

६५८ बंबई, पौष सुदी ६, रवि, १९५२

तीनों पत्र मिले हैं। स्तंभतीर्थ कब जाना संभव है ? वह लिख सकें तो लिखियेगा।

दो अभिनिवेशोंके बाधक रहते होनेसे जीव 'मिथ्यात्व' का त्याग नहीं कर सकता। वे इस प्रकार हैं—'लौकिक' और 'शास्त्रीय'। क्रमशः सत्समागमके योगसे जीव यदि उन अभिनिवेशोंको छोड़ दे तो 'मिथ्यात्व' का त्याग होता है, ऐसा वारंवार ज्ञानीपुरुषोंने शास्त्रादि द्वारा उपदेश दिया है फिर भी जीव उन्हें छोड़नेके प्रति उपेक्षित किसलिये होता है ? यह बात विचारणीय है।

---

६५९ बंबई, पौष सुदी ६, रवि, १९५२

सर्व दुःखका मूल संयोग (संबंध) है, ऐसा ज्ञानी तीर्थंकरोंने कहा है। समस्त ज्ञानीपुरुषोंने ऐसा देखा है। वह संयोग मुख्यरूपसे दो प्रकारका कहा है—'अंतरसंबंधी' और 'बाह्यसंबंधी'। अंतर संयोग का विचार होनेके लिये आत्माको बाह्यसंयोगका अपरिचय कर्तव्य है, जिस अपरिचयकी सपरमार्थ इच्छा ज्ञानीपुरुषोंने भी की है।

---

६६० बंबई, पौष सुदी ६, रवि, १९५२

[1]'श्रद्धा ज्ञान लह्यां छे तोपण, जो नवि जाय पमायो (प्रमाद) रे,
वंध्य तरु उपम ते पामे, संयम ठाण जो नायो रे;
—गायो रे, गायो, भले वीर जगत्गुरु गायो।'

---

६६१ बंबई, पौष सुदी ८, मंगल, १९५२

आज एक पत्र मिला है।

आत्मार्थके सिवाय जिस जिस प्रकारसे जीवने शास्त्रकी मान्यता करके कृतार्थता मानी है, वह सर्व 'शास्त्रीय अभिनिवेश' है। स्वच्छंदता दूर नहीं हुई, और सत्समागमका योग प्राप्त हुआ है, उस योगमें भी स्वच्छंदताके निर्वाहके लिये शास्त्रके किसी एक वचनको बहुवचन जैसा बताकर, मुख्य साधन जो सत्समागम है, उसके समान शास्त्रको कहता है अथवा उससे विशेष भार शास्त्रपर देता है; उस जीवको भी 'अप्रशस्त शास्त्रीय अभिनिवेश' है। आत्माको समझनेके लिये शास्त्र उपकारी हैं, और वह भी स्वच्छंदरहित पुरुषको; इतना ध्यान रखकर सत्शास्त्रका विचार किया जाये तो वह 'शास्त्रीय अभिनिवेश' गिनने योग्य नहीं है। संक्षेपसे लिखा है।

---

६६२ बंबई, पौष वदी, १९५२

सर्व प्रकारके भयके रहनेके स्थानरूप इस संसारमें मात्र एक वैराग्य ही अभय है। इस निश्चयमें तीनों कालमें शंका होना योग्य नहीं है।

[2]'योग असंख जे जिन कह्या, घटमांही रिद्धि दाखी रे;
नवपद तेम ज जाणजो, आतमराम छे साखी रे।' —श्री श्रीपाळरास

---

१. **भावार्थ**—श्रद्धा और ज्ञान प्राप्त कर लेनेपर भी यदि संयमस्थान नहीं आया और प्रमादका नाश नहीं हुआ तो जीव बांझ वृक्षकी उपमाको पाता है। जगतगुरु वीर प्रभुने कैसा सुंदर उपदेश दिया है !

२. भावार्थके लिये देखें आंक ३७७

६६३ बंबई, पौष, १९५२

ॐ

गृहादि प्रवृत्तिके योगसे उपयोग विशेष चलायमान रहना संभव है, ऐसा जानकर परम पुरुष सर्वसंगपरित्यागका उपदेश करते थे।

---

६६४ बंबई, पौष वदी २, १९५२

सर्व प्रकारके भयके रहनेके स्थानरूप इस संसारमें मात्र एक वैराग्य ही अभय है।

जो वैराग्यदशा महान मुनियोंको प्राप्त होना दुर्लभ है, वह वैराग्यदशा तो प्रायः जिन्हें गृहवासमें रहती थी, ऐसे श्री महावीर, ऋषभ आदि पुरुष भी त्यागको ग्रहण करके घरसे चल निकले, यही त्यागकी उत्कृष्टता बताई है।

जब तक गृहस्थादि व्यवहार रहे तब तक आत्मज्ञान न हो, अथवा जिसे आत्मज्ञान हो, उसे गृहस्थादि व्यवहार न हो, ऐसा नियम नहीं है। वैसा होनेपर भी परमपुरुषोंने ज्ञानीको भी त्याग-व्यवहारका उपदेश किया है; क्योंकि त्याग ऐश्वर्यको स्पष्ट व्यक्त करता है, इससे और लोकको उपकारभूत होनेसे त्याग अकर्तव्यलक्ष्यसे कर्तव्य है, इसमें संदेह नहीं है।

जो स्वस्वरूपमें स्थिति है, उसे 'परमार्थसंयम' कहा है। उस संयमके कारणभूत अन्य निमित्तोंके ग्रहणको 'व्यवहारसंयम' कहा है। किसी ज्ञानीपुरुषने उस संयमका भी निषेध नहीं किया है। परमार्थकी उपेक्षा (लक्षके बिना) से जो व्यवहारसंयममें ही परमार्थसंयमकी मान्यता रखे, उसके व्यवहारसंयमका उसका अभिनिवेश दूर करनेके लिये, निषेध किया है। परंतु व्यवहारसंयममें कुछ भी परमार्थकी निमित्तता नहीं है, ऐसा ज्ञानीपुरुषोंने कहा नहीं है।

परमार्थके कारणभूत 'व्यवहारसंयम' को भी परमार्थसंयम कहा है।

श्री डुंगरकी इच्छा विशेषतासे लिखना हो सके तो लिखियेगा।

प्रारब्ध है, ऐसा मानकर ज्ञानी उपाधि करते हैं, ऐसा मालूम नहीं होता; परंतु परिणतिसे छूट जानेपर भी त्याग करते हुए बाह्य कारण रोकते हैं, इसलिये ज्ञानी उपाधिसहित दिखायी देते हैं, तथापि वे उसकी निवृत्तिके लक्ष्यका नित्य सेवन करते हैं। प्रणाम।

---

६६५ बंबई, पौष वदी ९, गुरु, १९५२

ॐ

देहाभिमानरहित सत्पुरुषोंको अत्यंत भक्तिसे त्रिकाल नमस्कार

ज्ञानीपुरुषोंने वारंवार आरंभ-परिग्रहके त्यागकी उत्कृष्टता कही है, और पुनः पुनः उस त्यागकाउपदेश किया है, और प्रायः स्वयं भी ऐसा आचरण किया है; इसलिये मुमुक्षुपुरुषको अवश्य उसे कम करना चाहिये, इसमें संदेह नहीं है।

आरंभ-परिग्रहका त्याग किस किस प्रतिबंधसे जीव नहीं कर सकता, और वह प्रतिबंध किस प्रकारसे दूर किया जा सकता है, इस प्रकारसे मुमुक्षुजीवको अपने चित्तमें विशेष विचार-अंकुर उत्पन्न करके कुछ भी तथारूप फल लाना योग्य है। यदि वैसा न किया जाये तो उस जीवको मुमुक्षुता नहीं है, ऐसा प्रायः कहा जा सकता है।

आरंभ और परिग्रहका त्याग किस प्रकारसे हुआ हो तो यथार्थ कहा जाये इसे पहले विचारकर बादमें उपर्युक्त विचार-अंकुर मुमुक्षुजीवको अपने अंतःकरणमें अवश्य उत्पन्न करना योग्य है। तथारूप उदयसे विशेष लिखना अभी नहीं हो सकता।

---

६६६ बंबई, पौष वदी १२, रवि, १९५२

ॐ

उत्कृष्ट संपत्तिके स्थान जो चक्रवर्ती आदि पद हैं उन सबको अनित्य जानकर विचारवान पुरुष उन्हें छोड़कर चल दिये हैं; अथवा प्रारब्धोदयसे वास हुआ तो भी अमूर्च्छितरूपसे और उदासीनतासे उसे प्रारब्धोदय समझकर आचरण किया है, और त्यागका लक्ष्य रखा है।

---

६६७ बंबई, पौष वदी १२, रवि, १९५२

महात्मा बुद्ध (गौतम) जरा, दारिद्र्य, रोग और मृत्यु इन चारोंको एक आत्मज्ञानके बिना अन्य सर्व उपायोंसे अजेय समझकर, जिसमें उनकी उत्पत्तिका हेतु हैं, ऐसे संसारको छोड़कर चल दिये थे। श्री ऋषभ आदि अनंत ज्ञानीपुरुषोंने इसी उपायकी उपासना की है; और सर्व जीवोंको इस उपायका उपदेश दिया है। उस आत्मज्ञानको प्रायः दुर्गम देखकर निष्कारण करुणाशील उन सत्पुरुषोंने भक्तिमार्ग कहा है, जो सर्व अशरणको निश्चल शरणरूप है, और सुगम है।

---

६६८ बंबई, माघ सुदी ४, रवि, १९५२

पत्र मिला है।

असंग आत्मस्वरूप सत्संगके योगसे नितांत सरलतासे जानना योग्य है, इसमें संशय नहीं है। सत्संगके माहात्म्यको सब ज्ञानीपुरुषोंने अतिशयरूपसे कहा है, यह यथार्थ है। इसमें विचारवानको किसी तरह विकल्प होना योग्य नहीं है।

अभी तत्काल समागम संबंधी विशेषरूपसे लिखना नहीं हो सकता।

---

६६९ बंबई, माघ वदी ११, रवि, १९५२

यहाँसे सविस्तर पत्र मिलनेमें अभी विलंब होता है, इसलिये प्रश्नादि लिखना नहीं हो पाता, ऐसा आपने लिखा तो वह योग्य है। प्राप्त प्रारब्धोदयके कारण यहाँसे पत्र लिखनेमें विलंब होना संभव है। तथापि तीन-तीन चार-चार दिनके अंतरसे आप अथवा श्री डुंगर कुछ ज्ञानवार्ता नियमितरूपसे लिखते रहियेगा, जिससे प्रायः यहाँसे पत्र लिखनेमें कुछ नियमितता हो सकेगी।

त्रिविध त्रिविध नमस्कार।

---

६७० बंबई, फागुन सुदी १, १९५२

ॐ सद्गुरुप्रसाद

ज्ञानीका सर्व व्यवहार परमार्थमूल होता है, तो भी जिस दिन उदय भी आत्माकार रहेगा, वह दिन धन्य होगा।

सर्व दुःखसे मुक्त होनेका सर्वोत्कृष्ट उपाय आत्मज्ञानको कहा है, यह ज्ञानीपुरुषोंका वचन सत्य है, अत्यंत सत्य है।

जब तक जीवको तथारूप आत्मज्ञान न हो तब तक बंधनकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती, इसमें संशय नहीं है।

उस आत्मज्ञानके होने तक जीवको मूर्तिमान आत्मज्ञानस्वरूप सद्गुरुदेवका निरंतर आश्रय अवश्य करना योग्य है, इसमें संशय नहीं है। उस आश्रयका वियोग हो तब आश्रयभावना नित्य कर्तव्य है।

उदयके योगसे तथारूप आत्मज्ञान होनेसे पूर्व उपदेशकार्य करना पड़ता हो तो विचारवान मुमुक्षु परमार्थमार्गके अनुसरण करनेके हेतुभूत ऐसे सत्पुरुषकी भक्ति, सत्पुरुषका गुणगान, सत्पुरुषके प्रति प्रमोदभावना और सत्पुरुषके प्रति अविरोधभावनाका लोगोंको उपदेश देता है; जिस तरह मतमतांतरका अभिनिवेश दूर हो, और सत्पुरुषके वचन ग्रहण करनेकी आत्मवृत्ति हो, वैसा करता है। वर्तमानकालमें उस प्रकारकी विशेष हानि होगी, ऐसा जानकर ज्ञानीपुरुषोंने इस कालको दुषमकाल कहा है, और वैसा प्रत्यक्ष दिखायी देता है।

सर्व कार्यमें कर्तव्य मात्र आत्मार्थ है, यह सम्यग्भावना मुमुक्षुजीवको नित्य करना योग्य है।

---

६७१ बंबई, फागुन सुदी ३, रवि, १९५२

आपका एक पत्र आज मिला है। उस पत्रमें श्री डुंगरने जो प्रश्न लिखवाये हैं उनके विशेष समाधानके लिये प्रत्यक्ष समागमपर ध्यान रखना योग्य है।

प्रश्नोंसे बहुत संतोष हुआ है। जिस प्रारब्धके उदयसे यहाँ स्थिति है, उस प्रारब्धका जिस प्रकारसे विशेषतः वेदन किया जाय उस प्रकारसे रहा जाता है। और इससे विस्तारपूर्वक पत्रादि लिखना प्रायः नहीं होता।

श्री सुंदरदासजीके ग्रंथोंका अथसे इति तक अनुक्रमसे विचार हो सके, वैसा अभी कीजियेगा, तो कितने ही विचारोंका स्पष्टीकरण होगा। प्रत्यक्ष समागममें उत्तर समझमें आने योग्य होनेसे पत्र द्वारा मात्र पहुँच लिखी है। यही। भक्तिभावसे नमस्कार।

---

६७२ बंबई, फागुन सुदी १०, १९५२

ॐ सद्गुरुप्रसाद

आत्मार्थी श्री सोभाग तथा श्री डुंगरके प्रति, श्री सायला।

विस्तारपूर्वक पत्र लिखना अभी नहीं होता, इससे चित्तमें वैराग्य, उपशम आदि विशेष प्रदीप्त रहनेमें सत्शास्त्रको एक विशेष आधारभूत निमित्त जानकर, श्री सुंदरदास आदिके ग्रंथोंका हो सके तो दो से चार घड़ी तक नियमित वाचना-पृच्छना हो, वैसा करनेके लिये लिखा था। श्री सुंदरदासके ग्रंथोंका आदिसे लेकर अंत तक अभी विशेष अनुप्रेक्षापूर्वक विचार करनेके लिये आपसे और श्री डुंगरसे विनती है।

काया तक माया (अर्थात् कषायादि) का संभव रहा करता है, ऐसा श्री डुंगरको लगता है, यह अभिप्राय प्रायः तो यथार्थ है, तो भी किसी पुरुषविशेषमें सर्वथा सब प्रकारके संज्वलन आदि कषायका अभाव हो सकना संभव लगता है, और हो सकनेमें संदेह नहीं होता, इसलिये कायाके होनेपर भी कषायका अभाव संभव है; अर्थात् सर्वथा रागद्वेषरहित पुरुष हो सकता है। रागद्वेषरहित यह पुरुष है, ऐसा बाह्य चेष्टासे सामान्य जीव जान सकें, यह संभव नहीं। इससे वह पुरुष कषायरहित, संपूर्ण वीतराग न हो, ऐसा अभिप्राय विचारवान स्थापित नहीं करते; क्योंकि बाह्य चेष्टासे आत्मदशाकी स्थिति सर्वथा समझमें आ सके, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

श्री सुंदरदासने आत्मजागृतदशामें 'शूरातनअंग' कहा है, उसमें विशेष उल्लास परिणतिसे शूरवीरताका निरूपण किया है–

*मारे काम क्रोध सब, लोभ मोह पीसि डारे, इन्द्रिहु कतल करी, कियो रजपूतो है ।
मार्यो महा मत्त मन, मारे अहंकार मीर, मारे मद मछर हू, ऐसो रन रूतो है ॥
मारी आशा तृष्णा पुनि, पापिनी सापिनी दोउ, सबको संहार करि, निज पद पहूतो है ।
सुंदर कहत ऐसो, साधु कोउ शूरवीर, वैरि सब मारिके, निचिंत होई सूतो है ॥

–श्री सुंदरदास रचित सुंदरविलास-शूरातनअंग, २८-११

---

६७३ बंबई, फागुन सुदी १०, रवि, १९५२

ॐ श्री सद्गुरुप्रसाद

श्री सायलाक्षेत्रमें क्रमसे विचरते हुए प्रतिबंध नहीं है।

यथार्थज्ञान उत्पन्न होनेसे पहले जिन जीवोंको, उपदेश देनेका रहता हो उन जीवोंको, जिस तरह वैराग्य, उपशम और भक्तिका लक्ष्य हो, उस तरह प्रसंगप्राप्त जीवोंको उपदेश देना योग्य है; और जिस तरह उनका नाना प्रकारके असद्आग्रहका तथा सर्वथा वेषव्यवहारादिका अभिनिवेश कम हो, उस तरह उपदेश परिणमित हो वैसे आत्मार्थ विचारकर कहना योग्य है। क्रमशः वे जीव यथार्थ मार्गके सन्मुख हों ऐसा यथाशक्ति उपदेश कर्तव्य है।

---

६७४ बंबई, फागुन वदी ३, सोम, १९५२

ॐ सद्गुरुप्रसाद

देहधारी होनेपर भी निरावरणज्ञानसहित रहते हैं ऐसे महापुरुषोंको त्रिकाल नमस्कार

आत्मार्थी श्री सोभागके प्रति, श्री सायला।

देहधारी होनेपर भी परम ज्ञानीपुरुषमें सर्व कषायका अभाव हो सके, ऐसा हमने लिखा है, उस प्रसंगमें 'अभाव' शब्दका अर्थ 'क्षय' समझकर लिखा है।

जगतवासी जीवको रागद्वेष दूर होनेका पता नहीं चलता, परंतु जो महान पुरुष हैं वे जानते हैं कि इस महात्मा पुरुषमें रागद्वेषका अभाव या उपशम है, ऐसा लिखकर आपने शंका की है कि जैसे महात्मा पुरुषको ज्ञानीपुरुष अथवा दृढ़ मुमुक्षुजीव जानते हैं वैसे जगतके जीव क्यों न जाने? मनुष्य आदि प्राणीको देखकर जैसे जगतवासी जीव जानते हैं कि ये मनुष्य आदि हैं, और महात्मा पुरुष भी जानते हैं कि ये मनुष्य आदि हैं, इन पदार्थोंको देखनेसे दोनों समानरूपसे जानते हैं; और इसमें भेद रहता है, वैसा भेद होनेके क्या कारण मुख्यतः विचारणीय है? ऐसा लिखा उसका समाधान–

मनुष्य आदिको जो जगतवासी जीव जानते हैं, वह दैहिक स्वरूपसे तथा दैहिक चेष्टासे जानते हैं। एक दूसरेकी मुद्रामें, आकारमें और इन्द्रियोंमें जो भेद है, उसे चक्षु आदि इन्द्रियोंसे जगतवासी जीव जान

---

* **भावार्थ**–जिसने काम व क्रोधको मार ड़ाला है, लोभ व मोहको पीस ड़ाला है और इन्द्रियोंको कत्ल करके शूरवीरता दिखाई है; जिसने मदोन्मत्त मन और अहंकाररूप सेनापतिका नाश कर दिया है, तथा मद एवं मत्सरको निर्मूल कर दिया है ऐसा रणबँका है; जिसने आशा-तृष्णारूपी पापिष्ठ साँपिनोंको भी मार दिया है वह सब वैरियोंका संहार करके निजपद अर्थात् अपने स्वभावमें स्थिर हुआ है। सुंदरदास कहते हैं कि कोई विरल शूरवीर साधु ही सभी वैरियोंका नाशकर निश्चिंत होकर सो रहा है अर्थात् स्वभावमें मग्न होकर आत्मानंदका उपभोग करता है।

सकते हैं, और उन जीवोंके कितने ही अभिप्रायोंको भी जगतवासी जीव अनुमानसे जान सकते हैं; क्योंकि वह उनके अनुभवका विषय है। परंतु जो ज्ञानदशा अथवा वीतरागदशा है वह मुख्यतः दैहिक स्वरूप तथा दैहिक चेष्टाका विषय नहीं है, अंतरात्मगुण है, और अंतरात्मता बाह्य जीवोंके अनुभवका विषय न होनेसे, तथा जगतवासी जीवोंमें तथारूप अनुमान करनेके भी प्रायः संस्कार न होनेसे वे ज्ञानी या वीतरागको पहचान नहीं सकते। कोई जीव सत्समागमके योगसे, सहज शुभकर्मके उदयसे, तथारूप कुछ संस्कार प्राप्त कर ज्ञानी या वीतरागको यथाशक्ति पहचान सकता है। तथापि सच्ची पहचान तो दृढ़ मुमुक्षुताके प्रगट होनेपर, तथारूप सत्समागमसे प्राप्त हुए उपदेशका—अवधारण करनेपर और अन्तरात्मवृत्ति परिणमित होनेपर जीव ज्ञानी या वीतरागको पहचान सकता है। जगतवासी अर्थात् जो जगतदृष्टि जीव हैं, उनकी दृष्टिसे ज्ञानी या वीतरागकी सच्ची पहचान कहाँसे हो ? जिस तरह अंधकारमें पड़े हुए पदार्थको मनुष्यचक्षु देख नहीं सकते, उसी तरह देहमें रहे हुए ज्ञानी या वीतरागको जगतदृष्टि जीव पहचान नहीं सकता। जैसे अंधकारमें पड़े हुए पदार्थको मनुष्यचक्षुसे देखनेके लिये किसी दूसरे प्रकाशकी अपेक्षा रहती है, वैसे जगतदृष्टि जीवोंको ज्ञानी या वीतरागकी पहचानके लिये विशेष शुभ संस्कार और सत्समागमकी अपेक्षा होना योग्य है। यदि वह योग प्राप्त न हो तो जैसे अंधकारमें रहा हुआ पदार्थ और अंधकार ये दोनों एकाकार भासित होते हैं, भेद भासित नहीं होता, वैसे तथारूप योगके बिना ज्ञानी या वीतराग और अन्य संसारी जीवोंकी एकाकारता भासित होती है; देहादि चेष्टासे प्रायः भेद भासित नहीं होता।

जो देहधारी सर्व अज्ञान और सर्व कषायोंसे रहित हुए हैं, उन देहधारी महात्माको त्रिकाल परम भक्तिसे नमस्कार हो ! नमस्कार हो ! वे महात्मा जहाँ रहते हैं, उस देहको, भूमिको, घरको, मार्गको, आसन आदि सबको नमस्कार हो ! नमस्कार हो ! !

श्री डुंगर आदि सर्व मुमुक्षुजनको यथायोग्य।

---

६७५ बंबई, फागुन वदी ५, बुध, १९५२

ॐ

दो पत्र मिले हैं। मिथ्यात्वके पच्चीस प्रकारमेंसे प्रथमके आठ प्रकारका सम्यक्स्वरूप समझनेके लिये पूछा वह तथारूप प्रारब्धोदयसे अभी थोड़े समयमें लिख सकनेका संभव कम है।

'सुंदर कहत ऐसो, साधु कोउ शूरवीर,
वैरि सब मारिके निचिंत होई सूतो है।'

---

६७६ बंबई, फागुन वदी ९, रवि, १९५२

आत्मार्थी जीवको विशेषतः अनुप्रेक्षा करने योग्य आशंका सहज निर्णयके लिये तथा दूसरे किन्हीं मुमुक्षु जीवोंके विशेष उपकारके लिये उस पत्रमें लिखी उसे पढ़ा है। थोड़े दिनोंमें हो सकेगा तो कुछ प्रश्नोंका समाधान लिखूँगा।

श्री डुंगर आदि मुमुक्षुजीवोंका यथायोग्य।

---

६७७ बंबई, चैत्र सुदी १, रवि, १९५२

पत्र मिला है। सहज उदयमान चित्तवृत्तियाँ लिखीं वे पढ़ी हैं। विस्तारसे हितवचन लिखनेकी

अभिलाषा बतायी, इस विषयमें संक्षेपमें नीचेके लेखसे विचारियेगा–

प्रारब्धोदयसे जिस प्रकारका व्यवहार प्रसंगमें रहता है, उसको नजरमें रखते हुए जैसे पत्र आदि लिखनेमें संक्षेपसे प्रवृत्ति होती है, वैसा अधिक योग्य है, ऐसा अभिप्राय प्रायः रहता है।

आत्माके लिये वस्तुतः उपकारभूत उपदेश करनेमें ज्ञानीपुरुष संक्षेपसे प्रवृत्ति नहीं करते, ऐसा होना प्रायः संभव है; तथापि दो कारणोंसे ज्ञानीपुरुष उस प्रकारसे भी प्रवृत्ति करते हैं–(१) वह उपदेश जिज्ञासु जीवमें परिणमित हो ऐसे संयोगोंमें वह जिज्ञासु जीव न रहता हो, अथवा वह उपदेश विस्तारसे करनेपर भी उसमें उसे ग्रहण करनेकी तथारूप योग्यता न हो, तो ज्ञानीपुरुष उन जीवोंको उपदेश करनेमें संक्षेपसे भी प्रवृत्ति करते हैं। (२) अथवा अपनेको बाह्य व्यवहारका ऐसा उदय हो कि वह उपदेश जिज्ञासु जीवमें परिणमित होनेमें प्रतिबंधरूप हो, अथवा तथारूप कारणके बिना वैसा वर्तन कर मुख्यमार्गके विरोधरूप या संशयके हेतुरूप होनेका कारण होता हो तो भी ज्ञानीपुरुष उपदेशमें संक्षेपसे प्रवृत्ति करते हैं अथवा मौन रहते हैं।

सर्वसंगपरित्याग कर चले जानेसे भी जीव उपाधिरहित नहीं होता। क्योंकि जब तक अंतरपरिणतिपर दृष्टि न हो और तथारूप मार्गमें प्रवृत्ति न की जाये तब तक सर्वसंगपरित्याग भी नाम मात्र होता है। और वैसे अवसरमें भी अंतरपरिणतिपर दृष्टि देनेका भान जीवको आना कठिन है, तो फिर ऐसे गृहव्यवहारमें लौकिक अभिनिवेशपूर्वक रहकर अंतरपरिणतिपर दृष्टि दे सकना कितना दुःसाध्य होना चाहिये, यह विचारणीय है; और वैसे व्यवहारमें रहकर जीवको अंतरपरिणतिपर कितना बल रखना चाहिये, यह भी विचारणीय है, और अवश्य वैसा करना योग्य है।

अधिक क्या लिखें? जितनी अपनी शक्ति हो उस सारी शक्तिसे एक लक्ष्य रखकर, लौकिक अभिनिवेशको कम करके, कुछ भी अपूर्व निरावरणता दीखती नहीं है, इसलिये 'समझका केवल अभिमान है', इस तरह जीवको समझाकर जिस प्रकार जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्रमें सतत जाग्रत हो, वही करनेमें वृत्ति लगाना, और रात-दिन उसी चिंतनमें प्रवृत्ति करना यही विचारवान जीवका कर्तव्य है; और उसके लिये सत्संग, सत्शास्त्र और सरलता आदि निजगुण उपकारभूत है, ऐसा विचारकर उसका आश्रय करना योग्य है।

जब तक लौकिक अभिनिवेश अर्थात् द्रव्यादि लोभ, तृष्णा, दैहिक मान, कुल, जाति आदि संबंधी मोह या विशेषत्व मानना हो, वह बात न छोड़नी हो, अपनी बुद्धिसे स्वेच्छासे अमुक गच्छादिका आग्रह रखना हो, तब तक जीवमें अपूर्व गुण कैसे उत्पन्न हो? इसका विचार सुगम है।

अधिक लिखा जा सके ऐसा उदय अभी यहाँ नहीं है, तथा अधिक लिखना या कहना भी किसी प्रसंगमें होने देना योग्य है, ऐसा है। आपकी विशेष जिज्ञासाके कारण प्रारब्धोदयका वेदन करते हुए जो कुछ लिखा जा सकता था, उसकी अपेक्षा कुछ उदीरणा करके विशेष लिखा है। यही विनती।

---

६७८ बंबई, चैत्र सुदी २, सोम, १९५२

ॐ

क्षणमें हर्ष और क्षणमें शोक हो आये ऐसे इस व्यवहारमें जो ज्ञानीपुरुष समदशासे रहते हैं, उन्हें अत्यंत भक्तिसे धन्य कहते हैं; और सर्व मुमुक्षुजीवोंको इसी दशाकी उपासना करना योग्य है, ऐसा निश्चय देखकर परिणति करना योग्य है। यही विनती। श्री डुंगर आदि मुमुक्षुओंको नमस्कार।

---

६७९ बंबई, चैत्र सुदी ११, शुक्र, १९५२

ॐ

सद्गुरुचरणाय नमः

आत्मनिष्ठ श्री सोभागके प्रति, श्री सायला।

फागुन वदी ६ के पत्रमें लिखे हुए प्रश्नोंका समाधान इस पत्रमें संक्षेपसे लिखा है, उसे विचारियेगा।

१. जिस ज्ञानमें देह आदिका अध्यास मिट गया है, और अन्य पदार्थमें अहंता-ममताका अभाव है, तथा उपयोग स्वभावमें परिणमता है, अर्थात् ज्ञान स्वरूपताका सेवन करता है, उस ज्ञानको 'निरावरणज्ञान' कहना योग्य है।

२. सर्व जीवोंको अर्थात् सामान्य मनुष्योंको ज्ञानी-अज्ञानीकी वाणीमें जो अंतर है सो समझना कठिन है, यह बात यथार्थ है; क्योंकि शुष्कज्ञानी कुछ सीख कर ज्ञानी जैसा उपदेश करे, जिससे उसमें वचनकी समानता दीखनेसे शुष्कज्ञानीको भी सामान्य मनुष्य ज्ञानी मानें, मंददशावान मुमुक्षुजीव भी वैसे वचनोंसे भ्रांतिमें पड़ जायें; परंतु उत्कृष्टदशावान मुमुक्षुपुरुष शुष्कज्ञानीकी वाणी शब्दसे ज्ञानीकी वाणी जैसी देखकर प्रायः भ्रांति पाने योग्य नहीं है, क्योंकि आशयसे शुष्कज्ञानीकी वाणीसे ज्ञानीकी वाणीकी तुलना नहीं होती।

ज्ञानीकी वाणी पूर्वापर अविरोधी, आत्मार्थ-उपदेशक और अपूर्व अर्थका निरूपण करनेवाली होती है, और अनुभवसहित होनेसे आत्माको सतत जाग्रत करनेवाली होती है। शुष्कज्ञानीकी वाणीमें तथारूप गुण नहीं होते। सर्वसे उत्कृष्ट गुण जो पूर्वापर अविरोधिता है, वह शुष्कज्ञानीकी वाणीमें नहीं हो सकता, क्योंकि उसे यथास्थित पदार्थदर्शन नहीं होता; और इस कारणसे जगह जगह उसकी वाणी कल्पनासे युक्त होती है।

इत्यादि नाना प्रकारके भेदसे ज्ञानी और शुष्कज्ञानीकी वाणीकी पहचान उत्कृष्ट मुमुक्षुको होने योग्य है। ज्ञानीपुरुषको तो उसकी पहचान सहजस्वभावसे होती है, क्योंकि स्वयं भानसहित है, और भानसहित पुरुषके बिना इस प्रकारके आशयका उपदेश नहीं दिया जा सकता, ऐसा सहज ही वे जानते हैं।

जिसे अज्ञान और ज्ञानका भेद समझमें आया है, उसे अज्ञानी और ज्ञानीका भेद सहजमें समझमें आ सकता है। जिसका अज्ञानके प्रति मोह समाप्त हो गया है, ऐसे ज्ञानीपुरुषको शुष्कज्ञानीके वचन कैसे भ्रांति कर सकते हैं? किंतु सामान्य जीवोंको अथवा मंददशा और मध्यमदशाके मुमुक्षुको शुष्कज्ञानीके वचन समानरूप दिखायी देनेसे, दोनों ज्ञानीके वचन हैं, ऐसी भ्रांति होना संभव है। उत्कृष्ट मुमुक्षुको प्रायः वैसी भ्रांति संभव नहीं है, क्योंकि ज्ञानीके वचनोंकी परीक्षाका बल उसे विशेषरूपसे स्थिर हो गया है।

पूर्वकालमें ज्ञानी हो गये हों, और मात्र उनकी मुखवाणी रही हो तो भी वर्तमानकालमें ज्ञानीपुरुष यह जान सकते हैं कि यह वाणी ज्ञानीपुरुषकी है; क्योंकि रात्रि-दिनके भेदकी तरह अज्ञानी-ज्ञानीकी वाणीमें आशय-भेद होता है, और आत्मदशाके तारतम्यके अनुसार आशयवाली वाणी निकलती है। वह आशय, वाणीपरसे 'वर्तमान ज्ञानीपुरुष' को स्वाभाविक दृष्टिगत होता है। और कहनेवाले पुरुषकी दशाका तारतम्य ध्यानगत होता है। यहाँ जो 'वर्तमान ज्ञानी' शब्द लिखा है, वह किसी विशेष प्रज्ञावान, प्रगट बोधबीजसहित पुरुषके अर्थमें लिखा है। ज्ञानीके वचनोंकी परीक्षा यदि सर्व जीवोंको सुलभ होती तो निर्वाण भी सुलभ ही होता।

३. जिनागममें मति, श्रुत आदि ज्ञानके पाँच प्रकार कहे हैं। वे ज्ञानके प्रकार सच्चे हैं, उपमावाचक नहीं हैं। अवधि, मनःपर्यय आदि ज्ञान वर्तमानकालमें व्यवच्छेद जैसे लगते हैं, इससे ये ज्ञान उपमावाचक समझना योग्य नहीं है। ये ज्ञान मनुष्य जीवोंको चारित्रपर्यायकी विशुद्ध तरतमतासे उत्पन्न होते हैं। वर्तमानकालमें वह विशुद्ध तरतमता प्राप्त होना दुष्कर है, क्योंकि कालका प्रत्यक्ष स्वरूप चारित्रमोहनीय आदि प्रकृतियोंके विशेष बलसहित प्रवर्तमान दिखायी देता है।

सामान्य आत्मचारित्र भी किसी ही जीवमें होना संभव है। ऐसे कालमें उस ज्ञानकी लब्धि व्यवच्छेद जैसी हो, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है, इसलिये उस ज्ञानको उपमावाचक समझना योग्य नहीं है। आत्मस्वरूपका विचार करते हुए तो उस ज्ञानकी कुछ भी असंभावना दीखती नहीं है। सर्व ज्ञानकी स्थितिका क्षेत्र आत्मा है, तो फिर अवधि, मनःपर्यय आदि ज्ञानका क्षेत्र आत्मा हो, इसमें संशय करना कैसे योग्य हो ? यद्यपि शास्त्रके यथास्थित परमार्थसे अज्ञ जीव उसकी व्याख्या जिस प्रकारसे करते हैं, वह व्याख्या विरोधवाली हो, परंतु परमार्थसे उस ज्ञानका होना संभव है।

जिनागममें उसकी जिस प्रकारके आशयसे व्याख्या की हो, वह व्याख्या और अज्ञानी जीव आशय जाने बिना जो व्याख्या करें उन दोनोंमें महान भेद हो इसमें आश्चर्य नहीं है, और उस भेदके कारण उस ज्ञानके विषयके लिये संदेह होना योग्य है, परंतु आत्मदृष्टिसे देखते हुए उस संदेहका अवकाश नहीं है।

४. कालका सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभाग 'समय' है, रूपी पदार्थका सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभाग 'परमाणु' है, और अरूपी पदार्थका सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभाग 'प्रदेश' है। ये तीनों ऐसे सूक्ष्म हैं कि अत्यंत निर्मल ज्ञानकी स्थिति उनके स्वरूपको ग्रहण कर सकती है। सामान्यतः संसारी जीवोंका उपयोग असंख्यात समयवर्ती है; उस उपयोगमें साक्षात्‌रूपसे एक समयका ज्ञान संभव नहीं है। यदि वह उपयोग एक समयवर्ती और शुद्ध हो तो उसमें साक्षात्‌रूपसे समयका ज्ञान होता है। उस उपयोगका एक समयवर्तित्व कषायादिके अभावसे होता है, क्योंकि कषायादिके योगसे उपयोग मूढ़तादि धारण करता है, और असंख्यात समयवर्तित्वको प्राप्त होता है। वह कषायादिके अभावसे एक समयवर्ती होता है, अर्थात् कषायादिके योगसे असंख्यात समयमेंसे एक समयको अलग करनेकी सामर्थ्य उसमें नहीं थी, वह कषायादिके अभावसे एक समयको अलग करके अवगाहन करता है। उपयोगका एक समयवर्तित्व, कषायरहितता होनेके बाद होता है। इसलिये जिसे एक समयका, एक परमाणुका और एक प्रदेशका ज्ञान हो उसे 'केवलज्ञान' प्रगट होता है, ऐसा जो कहा है, वह सत्य है। कषायरहितताके बिना केवलज्ञानका संभव नहीं है और कषायरहितताके बिना उपयोग एक समयको साक्षात्‌रूपस ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिये जिस समयमें एक समयको ग्रहण करे उस समय अत्यंत कषायरहितता होनी चाहिये। और जहाँ अत्यंत कषायका अभाव हो वहाँ 'केवलज्ञान' होता है। इसलिये इस प्रकार कहा है कि जिसे एक समय, एक परमाणु और एक प्रदेशका अनुभव हो उसे 'केवलज्ञान' प्रगट होता है। जीवको विशेष पुरुषार्थके लिये इस एक सुगम साधनका ज्ञानीपुरुषने उपदेश किया है। समयकी तरह परमाणु और प्रदेशका सूक्ष्मत्व होनेसे तीनोंको एक साथ ग्रहण किया है। अंतर्विचारमें रहनेके लिये ज्ञानीपुरुषोंने असंख्यात योग कहे हैं। उनमेंसे एक यह 'विचारयोग' कहा है, ऐसा समझना योग्य है।

५. शुभेच्छासे लेकर सर्व कर्मरहितरूपसे स्वस्वरूपस्थिति तकमें अनेक भूमिकाएँ हैं। जो जो आत्मार्थी जीव हुए, और उनमें जिस जिस अंशमें जाग्रतदशा उत्पन्न हुई, उस उस दशाके भेदसे उन्होंने अनेक भूमिकाओंका आराधन किया है। श्री कबीर, सुंदरदास आदि साधुजन आत्मार्थी गिने जाने योग्य हैं; और शुभेच्छासे ऊपरकी भूमिकाओंमें उनकी स्थिति होना संभव है। अत्यंत स्वस्वरूपस्थितिके लिये

उनकी जागृति और अनुभव भी ध्यानगत होता है। इससे विशेष स्पष्ट अभिप्राय अभी देनेकी इच्छा नहीं होती।

६. 'केवलज्ञान' के स्वरूपका विचार दुर्गम है, और श्री डुंगर केवल-कोटीसे उसका निर्धार करते हैं, उसमें यद्यपि उनका अभिनिवेश नहीं है, परंतु वैसा उन्हें भासित होता है, इसलिये कहते हैं। मात्र 'केवल-कोटी' है, और भूत-भविष्यका कुछ भी ज्ञान किसीको न हो, ऐसी मान्यता करना योग्य नहीं है। भूत-भविष्यका यथार्थज्ञान होने योग्य है; परंतु वह किन्हीं विरल पुरुषोंको, और वह भी विशुद्ध चारित्र-तारतम्यसे, इसलिये वह संदेहरूप लगता है, क्योंकि वैसी विशुद्ध चारित्रतरतमताका वर्तमानमें अभाव-सा रहता है। वर्तमानमें शास्त्रवेत्ता मात्र शब्दबोधसे 'केवलज्ञान' का जो अर्थ कहते हैं, वह यथार्थ नहीं है, ऐसा श्री डुंगरको लगता हो तो वह संभवित है। फिर भूत-भविष्य जानना, इसका नाम 'केवलज्ञान' है, ऐसी व्याख्या मुख्यतः शास्त्रकारने भी नहीं की है। ज्ञानका अत्यंत शुद्ध होना उसे ज्ञानीपुरुषोंने 'केवलज्ञान' कहा है, और उस ज्ञानमें मुख्य तो आत्मस्थिति और आत्मसमाधि कही है। जगतका ज्ञान होना इत्यादि जो कहा है, वह सामान्य जीवोंसे अपूर्व विषयका ग्रहण होना अशक्य जानकर कहा है; क्योंकि जगतके ज्ञानपर विचार करते-करते आत्मसामर्थ्य समझमें आता है। श्री डुंगर, महात्मा श्री ऋषभ आदिमें केवल-कोटी न कहते हों तो और उनके आज्ञावर्ती अर्थात् जैसे महावीर स्वामीके दर्शनसे पाँच सौ मुमुक्षुओंने केवलज्ञान प्राप्त किया, उन आज्ञावर्तियोंको केवलज्ञान कहा है, उस 'केवलज्ञान'को 'केवलकोटी' कहते हों, तो यह बात किसी भी तरह योग्य है। केवलज्ञानका श्री डुंगर एकांत निषेध करें, तो वह आत्माका निषेध करने जैसा है। लोग अभी 'केवलज्ञान'की जो व्याख्या करते हैं, वह 'केवलज्ञान' की व्याख्या विरोधवाली मालूम होती है, ऐसा उन्हें लगता हो तो यह भी संभवित है; क्योंकि वर्तमान प्ररूपणामें मात्र जगतज्ञान 'केवलज्ञान'का विषय कहा जाता है। इस प्रकारका समाधान लिखते हुए बहुतसे प्रकारके विरोध दृष्टिगोचर होते हैं, और उन विरोधोंको बताकर उसका समाधान लिखना अभी तत्काल होना अशक्य है, इसलिये संक्षेपमें समाधान लिखा है। समाधानका समुच्चयार्थ इस प्रकार है—

"आत्मा जब अत्यंत शुद्ध ज्ञानस्थितिका सेवन करे, उसका नाम मुख्यतः 'केवलज्ञान' है। सर्व प्रकारके रागद्वेषका अभाव होनेपर अत्यंत शुद्ध ज्ञानस्थिति प्रगट होने योग्य है। उस स्थितिमें जो कुछ जाना जा सके वह 'केवलज्ञान' है; और वह संदेहयोग्य नहीं है। श्री डुंगर 'केवल-कोटी' कहते हैं, वह भी महावीरस्वामीके समीपवर्ती आज्ञावर्ती पाँच सौ केवली जैसे प्रसंगमें संभवित है। जगतके ज्ञानका लक्ष्य छोड़कर जो शुद्ध आत्मज्ञान है वह 'केवलज्ञान' है, ऐसा विचारते हुए आत्मदशा विशेषत्वका सेवन करती है।" ऐसा इस प्रश्नके समाधानका संक्षिप्त आशय है। यथासंभव जगतके ज्ञानका विचार छोड़कर स्वरूपज्ञान हो उस प्रकारसे केवलज्ञानका विचार होनेके लिये पुरुषार्थ कर्तव्य है। जगतका ज्ञान होना उसे मुख्यतः 'केवलज्ञान' मानना योग्य नहीं है। जगतके जीवोंको विशेष लक्ष्य होनेके लिये वारंवार जगतका ज्ञान साथमें लिया है, और वह कुछ कल्पित है, ऐसा नहीं है, परंतु उसका अभिनिवेश करना योग्य नहीं है। इस स्थानपर विशेष लिखनेकी इच्छा होती है, और उसे रोकना पड़ता है; तो भी संक्षेपसे पुनः लिखते हैं। "आत्मामेंसे सर्व प्रकारका अन्य अध्यास दूर होकर स्फटिककी भाँति आत्मा अत्यंत शुद्धताका सेवन करे, वह 'केवलज्ञान' है, और जगतज्ञानरूपसे उसे वारंवार जिनागममें कहा है, उस माहात्म्यसे बाह्यदृष्टि जीव पुरुषार्थमें प्रवृत्ति करें, यह हेतु है।"

यहाँ श्री डुंगरको, 'केवल-कोटी' सर्वथा हमने कही है, ऐसा कहना योग्य नहीं है। हमने

अंतरात्मरूपसे भी वैसा माना नहीं है। आपने यह प्रश्न लिखा, इसलिये कुछ विशेष हेतु विचारकर समाधान लिखा है, परंतु अभी उस प्रश्नका समाधान करनेमें जितना मौन रहा जाये उतना उपकारी है, ऐसा चित्तमें रहता है। बाकीके प्रश्नोंका समाधान समागममें कीजियेगा।

---

६८० बंबई, चैत्र सुदी १३, १९५२

ॐ

जिसकी मोक्षके सिवाय किसी भी वस्तुकी इच्छा या स्पृहा नहीं थी और अखंड स्वरूपमें रमणता होनेसे मोक्षकी इच्छा भी निवृत्त हो गयी है, उसे हे नाथ! तू तुष्टमान होकर भी और क्या देनेवाला था?

हे कृपालु! तेरे अभेद स्वरूपमें ही मेरा निवास है वहाँ अब तो लेने-देनेकी भी झंझटसे छूट गये हैं और यही हमारा परमानंद है।

कल्याणके मार्गको और परमार्थस्वरूपको यथार्थतः नहीं समझनेवाले अज्ञानी जीव, अपनी मतिकल्पनासे मोक्षमार्गकी कल्पना करके विविध उपायोंमें प्रवृत्ति करते हैं फिर भी मोक्ष पानेके बदले संसारमें भटकते हैं; यह जानकर हमारा निष्कारण करुणाशील हृदय रोता है।

वर्तमानमें विद्यमान वीरको भूलकर, भूतकालकी भ्रांतिमें वीरको खोजनेके लिये भटकते जीवोंको श्री महावीरका दर्शन कहाँसे हो?

हे दुषमकालके दुर्भागी जीवों! भूतकालकी भ्रांतिको छोड़कर वर्तमानमें विद्यमान महावीरकी शरणमें आओ तो तुम्हारा श्रेय ही है।

संसारतापसे संतप्त और कर्मबंधनसे मुक्त होनेके इच्छुक परमार्थप्रेमी जिज्ञासु जीवोंकी त्रिविध तापाग्निको शांत करनेके लिये हम अमृतसागर हैं।

मुमुक्षुजीवोंका कल्याण करनेके लिये हम कल्पवृक्ष ही है।

अधिक क्या कहें? इस विषमकालमें परमशांतिके धामरूप हम दूसरे श्री राम अथवा श्री महावीर ही हैं, क्योंकि हम परमात्मस्वरूप हुए हैं।

यह अंतर अनुभव परमात्मस्वरूपकी मान्यताके अभिमानसे उद्‌भूत हुआ नहीं लिखा है, परंतु कर्मबंधनसे दुःखी होते जगतके जीवोंपर परम करुणाभाव आनेसे उनका कल्याण करनेकी तथा उनका उद्धार करनेकी निष्कारण करुणा ही यह हृदयचित्र प्रदर्शित करनेकी प्रेरणा करती है।

ॐ श्री महावीर (निजी)

---

६८१ बंबई, चैत्र वदी १, १९५२

पत्र मिला है। कुछ समयसे ऐसा होता रहता है कि विस्तारसे पत्र लिखना नहीं हो सकता, और पत्रकी पहुँच भी क्वचित् अनियमित लिखी जाती है। जिस कारणयोगसे ऐसी स्थिति रहती है, उस कारणयोगके प्रति दृष्टि करते हुए अभी भी कुछ समय ऐसी स्थिति वेदन करने योग्य लगती है। वचन पढ़नेकी विशेष अभिलाषा रहती है, उन वचनोंको भेजनेके लिये आप स्थंभतीर्थवासीको लिखियेगा। वे यहाँ पुछवायेंगे तो प्रसंगोचित लिखूँगा।

यदि उन वचनोंको पढ़ने-विचारनेका आपको प्रसंग प्राप्त हो तो जितनी हो सके उतनी चित्तस्थिरतासे पढ़ियेगा और उन वचनोंको अभी तो स्व उपकारके लिये उपयोगमें लीजियेगा, प्रचलित न कीजियेगा। यही विनती।

---

६८२ बंबई, चैत्र वदी १, सोम, १९५२

दोनों मुमुक्षुओं (श्री लल्लुजी आदि) को अभी कुछ लिखना नहीं हुआ। अभी कुछ समयसे ऐसी स्थिति रहती है कि कभी ही पत्रादि लिखना हो पाता है, और वह भी अनियमितरूपसे लिखा जाता है। जिस कारण-विशेषसे तथारूप स्थिति रहती है उस कारणविशेषकी ओर दृष्टि करते हुए कुछ समय तक वैसी स्थिति रहनेकी संभावना दिखायी देती है। मुमुक्षुजीवकी वृत्तिको पत्रादिसे कुछ उपदेशरूप विचार करनेका साधन प्राप्त हो तो उससे वृत्तिका उत्कर्ष हो और सद्विचारका बल वर्धमान हो, इत्यादि उपकार इस प्रकारमें समाविष्ट हैं; फिर भी जिस कारणविशेषसे वर्तमान स्थिति रहती है, वह स्थिति वेदन करने योग्य लगती है।

---

६८३ बंबई, चैत्र वदी ७, रवि, १९५२

दो पत्र मिले हैं। अभी विस्तारपूर्वक पत्र लिखना प्रायः कभी ही होता है, और कभी तो पत्रकी पहुँच भी कितने दिन बीतनेके बाद लिखी जाती है।

सत्समागमके अभावके प्रसंगमें तो विशेषतः आरंभ-परिग्रहकी वृत्तिको कम करनेका अभ्यास रखकर, जिन ग्रंथोंमें त्याग, वैराग्य आदि परमार्थ साधनोंका उपदेश दिया है, उन ग्रंथोंको पढ़नेका अभ्यास कर्तव्य है, और अप्रमत्तरूपसे अपने दोषोंको वारंवार देखना योग्य है।

---

६८४ बंबई, चैत्र वदी १४, रवि, १९५२

'अन्य पुरुषकी दृष्टिमें, जग व्यवहार लखाय,
वृंदावन, जब जग नहीं कौन व्यवहार बताय?"

—विहार वृंदावन

---

६८५ बंबई, चैत्र वदी १४, रवि, १९५२

एक पत्र मिला है। आपके पास जो उपदेशवचनोंका संग्रह हैं, वह पढ़नेके लिये प्राप्त हो इसलिये श्री कुंवरजीने विनती की थी। उन वचनोंको पठनार्थ भेजनेके लिये स्थंभतीर्थ लिखियेगा, और यहाँ वे लिखेंगे तो प्रसंगोचित लिखूँगा, ऐसा हमने कलोल लिखा था। यदि हो सके तो उन्हें वर्तमानमें विशेष उपकारभूत हों ऐसे कितने ही वचन उनमेंसे लिख भेजियेगा। सम्यग्दर्शनके लक्षणादिवाले पत्र उन्हें विशेष उपकारभूत हो सकने योग्य हैं।

वीरमगामसे श्री सुखलाल यदि श्री कुंवरजीकी भाँति पत्रोंकी माँग करें तो उनके लिये भी ऊपर लिखे अनुसार करना योग्य है।

---

६८६ बंबई, चैत्र वदी १४, रवि, १९५२

आप आदिके समागमके बाद यहाँ आना हुआ था। इतनेमें आपका एक पत्र मिला था। अभी तीन-चार दिन पहले एक दूसरा पत्र मिला है। कुछ समयसे सविस्तर पत्र लिखना कभी ही बन पाता है। और कभी पत्रकी पहुँच लिखनेमें भी ऐसा हो जाता है। पहले कुछ मुमुक्षुओंके प्रति उपदेशपत्र लिखे गये हैं, उनकी प्रतियाँ श्री अंबालालके पास हैं। उन पत्रोंको पढ़ने-विचारनेका अभ्यास करनेसे क्षयोपशमकी विशेष शुद्धि हो सकने योग्य है। श्री अंबालालको वे पत्र पठनार्थ भेजनेके लिये विनती कीजियेगा। यही विनती।

---

६८७ बंबई, वैशाख सुदी १, मंगल, १९५२

ॐ

बहुत दिनोंसे पत्र नहीं है, सो लिखियेगा।

यहाँसे जैसे पहले विस्तारपूर्वक पत्र लिखना होता था, वैसे प्रायः बहुत समयसे तथारूप प्रारब्धके कारण नहीं होता।

करनेके प्रति वृत्ति नहीं है, अथवा एक क्षण भी जिसे करना भासित नहीं होता, करनेसे उत्पन्न होनेवाले फलके प्रति जिसकी उदासीनता है, वैसा कोई आप्तपुरुष तथारूप प्रारब्ध योगसे परिग्रह, संयोग आदिमें प्रवृत्ति करता हुआ दिखायी देता हो, और जैसे इच्छुक पुरुष प्रवृत्ति करे, उद्यम करे, वैसे कार्यसहित प्रवर्तमान देखनेमें आता हो, तो वैसे पुरुषमें ज्ञानदशा है, यह किस तरह जाना जा सकता है? अर्थात् वह पुरुष आप्त (परमार्थके लिये प्रतीति करने योग्य) है, अथवा ज्ञानी है; यह किस लक्षणसे पहचाना जा सकता है? कदाचित् किसी मुमुक्षुको दूसरे किसी पुरुषके सत्संगयोगसे ऐसा जाननेमें आया तो उस पहचानमें भ्रांति हो वैसा व्यवहार उस सत्पुरुषमें प्रत्यक्ष दिखायी देता है; उस भ्रांतिके निवृत्त होनेके लिये मुमुक्षुजीवको वैसे पुरुषको किस प्रकारसे पहचानना योग्य है कि जिससे वैसे व्यवहारमें प्रवृत्ति करते हुए भी ज्ञानलक्षणता उसके ध्यानमें रहे?

सर्व प्रकारसे जिसे परिग्रह आदि संयोगके प्रति उदासीनता रहती है, अर्थात् अहंता-ममता तथारूप संयोगमें जिसे नहीं होती, अथवा परिक्षीण हो गयी है; 'अनंतानुबंधी' प्रकृतिसे रहित मात्र प्रारब्धोदयसे व्यवहार रहता हो, वह व्यवहार सामान्य दशाके मुमुक्षुको संदेहका हेतु होकर, उसे उपकारभूत होनेमें निरोधरूप होता हो, ऐसा वह ज्ञानीपुरुष देखता है, और उसके लिये भी परिग्रह संयोग आदि प्रारब्धोदय रूप व्यवहारकी परिक्षीणताकी इच्छा करता है, वैसा होने तक किस प्रकारसे उस पुरुषने प्रवृत्ति की हो, तो उस सामान्य मुमुक्षुको उपकार होनेमें हानि न हो? पत्र विशेष संक्षेपसे लिखा गया है, परंतु आप तथा श्री अचल उसका विशेष मनन कीजियेगा।

---

६८८ बंबई, वैशाख सुदी ६, रवि, १९५२

पत्र मिला है। तथा वचनोंकी प्रति मिली है। उस प्रतिमें किसी किसी स्थलमें अक्षरांतर तथा शब्दांतर हुआ है; परंतु प्रायः अर्थांतर नहीं हुआ। इसलिये वैसी प्रतियाँ श्री सुखलाल तथा श्री कुंवरजीको भेजनेमें आपत्ति जैसा नहीं है। बादमें भी उस अक्षर तथा शब्दकी शुद्धि हो सकने योग्य है।

---

६८९ ववाणिया, वैशाख वदी ६, रवि, १९५२

आर्य श्री माणेकचंद आदिके प्रति, श्री स्थंभतीर्थ।

सुंदरलालके वैशाख वदी एकमको देह छोड़नेकी जो खबर लिखी, सो जानी। विशेष कालकी बीमारीके बिना, युवावस्थामें अकस्मात् देह छोड़नेसे सामान्यरूपसे परिचित मनुष्योंको भी उस बातसे खेद हुए बिना नहीं रहता, तो फिर जिसने कुटुम्ब आदि संबंधके स्नेहसे उसमें मूर्च्छा की हो, उसके सहवासमें रहा हो, उसके प्रति कुछ आश्रय-भावना रखी हो उसे खेद हुए बिना कैसे रहेगा? इस संसारमें मनुष्य प्राणीको जो खेदके अकथ्य प्रसंग प्राप्त होते हैं, उन अकथ्य प्रसंगोंमेंसे यह एक महान खेदकारक प्रसंग है। ऐसे प्रसंगमें यथार्थ विचारवान पुरुषोंके सिवाय सर्व प्राणी खेद विशेषको प्राप्त होते हैं, और यथार्थ

विचारवान पुरुषोंको वैराग्य विशेष होता है, संसारकी अशरणता अनित्यता और असारता विशेष दृढ़ होती है।

विचारवान पुरुषोंको उस खेदकारक प्रसंगका मूर्च्छाभावसे खेद करना, यह मात्र कर्मबंधका हेतु भासित होता है, और वैराग्यरूप खेदसे कर्मसंगकी निवृत्ति भासित होती है, और यह सत्य है। मूर्च्छाभावसे खेद करनेसे भी जिस संबंधीका वियोग हुआ है, उसकी प्राप्ति नहीं होती, और जो मूर्च्छा होती है वह भी अविचारदशाका फल है, ऐसा विचारकर विचारवान पुरुष उस मूर्च्छाभाव-प्रत्ययी खेदको शांत करते हैं, अथवा प्रायः वैसा खेद उन्हें नहीं होता। किसी तरह वैसे खेदकी हितकारिता दिखायी नहीं देती, और यह प्रसंग खेदका निमित्त है, इसलिये वैसे अवसर पर विचारवान पुरुषोंको, जीवके लिये हितकारी ऐसा खेद उत्पन्न होता है। सर्व संगकी अशरणता, अबंधुता, अनित्यता और तुच्छता तथा अन्यत्वभाव देखकर अपने आपको विशेष प्रतिबोध होता है कि हे जीव! तुझे कुछ भी इस संसारमें उदयादि भावसे भी मूर्च्छा रहती हो तो उसका त्याग कर, त्याग कर; उस मूर्च्छाका कुछ फल नहीं है, संसारमें कभी भी शरणत्व आदि प्राप्त होना नहीं है, और अविचारिताके बिना इस संसारमें मोह होना योग्य नहीं है, जो मोह अनंत जन्ममरणका और प्रत्यक्ष खेदका हेतु है, दुःख और क्लेशका बीज है; उसे शांत कर, उसका क्षय कर। हे जीव! इसके बिना अन्य कोई हितकारी उपाय नहीं है, इत्यादि भावितात्मतासे वैराग्यको शुद्ध और निश्चल करता है। जो कोई जीव यथार्थ विचारसे देखता है, उसे इसी प्रकारसे भासित होता है।

इस जीवको देहसंबंध होकर मृत्यु न होती तो इस संसारके सिवाय अन्यत्र अपनी वृत्ति लगानेका अभिप्राय न होता। मुख्यतः मृत्युके भयने परमार्थरूप दूसरे स्थानमें वृत्तिको प्रेरित किया है, वह भी किसी विरले जीवको प्रेरित हुई है। बहुतसे जीवोंको तो बाह्य निमित्तसे मृत्युभयके कारण बाह्य क्षणिक वैराग्य प्राप्त होकर विशेष कार्यकारी हुए बिना नाश पाता है। मात्र किसी एक विचारवान अथवा सुलभबोधी या लघुकर्मी जीवको उस भयसे अविनाशी निःश्रेयस पदके प्रति वृत्ति होती है।

मृत्युभय होता तो भी यदि वह मृत्यु वृद्धावस्थामें नियमित प्राप्त होती तो भी जितने पूर्वकालमें विचारवान हुए हैं, उतने न होते; अर्थात् वृद्धावस्था तक तो मृत्युका भय नहीं है ऐसा देखकर, प्रमादसहित प्रवृत्ति करते। मृत्युका अवश्य आना देखकर तथा अनियमितरूपसे उसका आना देखकर, उस प्रसंगके प्राप्त होनेपर स्वजनादि सबसे अरक्षणता देखकर, परमार्थका विचार करनेमें अप्रमत्तता ही हितकारी प्रतीत हुई, और सर्वसंगकी अहितकारिता प्रतीत हुई। विचारवान पुरुषोंका यह निश्चय निःसंदेह सत्य है, त्रिकाल सत्य है। मूर्च्छाभावका खेद छोड़कर असंगभावप्रत्ययी खेद करना विचारवानको कर्तव्य है।

यदि इस संसारमें ऐसे प्रसंगोंका संभव न होता, अपनेको या दूसरोंको वैसे प्रसंगकी अप्राप्ति दिखायी देती होती, अशरणता आदि न होते तो पंचविषयके सुख-साधनकी जिन्हें प्रायः कुछ भी न्यूनता न थी, ऐसे श्री ऋषभदेव आदि परमपुरुष, और भरतादि चक्रवर्ती आदि उसका क्यों त्याग करते? एकांत असंगताका सेवन वे क्यों करते?

हे आर्य माणेकचंद आदि! यथार्थ विचारकी न्यूनताके कारण, पुत्र आदि भावकी कल्पना और मूर्च्छाके कारण आपको कुछ भी खेद विशेष प्राप्त होना संभव है, तो भी उस खेदका दोनोंके लिये कुछ भी हितकारी फल न होनेसे, मात्र असंग विचारके बिना किसी दूसरे उपायसे हितकारिता नहीं है, ऐसा विचारकर, वर्तमान खेदको यथाशक्ति विचारसे, ज्ञानी पुरुषोंके वचनामृतसे तथा साधु पुरुषके आश्रय,

समागम आदिसे और विरतिसे उपशांत करना ही कर्तव्य है।

---

६९० बंबई, द्वितीय जेठ सुदी २, शनि, १९५२

मुमुक्षु श्री छोटालालके प्रति, श्री स्थंभतीर्थ।

पत्र मिला है।

जिस हेतुसे अर्थात् शारीरिक रोगविशेषसे आपके नियममें आगार था, वह रोगविशेष उदयमें है, इसलिये उस आगारका ग्रहण करते हुए आज्ञाका भंग अथवा अतिक्रम नहीं होता; क्योंकि आपके नियमका प्रारंभ तथाप्रकारसे हुआ था। यही कारणविशेष होनेपर भी यदि अपनी इच्छासे उस आगारका ग्रहण करना हो तो आज्ञाका भंग या अतिक्रम होता है।

सर्व प्रकारके आरंभ तथा परिग्रहके संबंधके मूलका छेदन करनेके लिये समर्थ ऐसा ब्रह्मचर्य परम साधन है। यावत् जीवनपर्यंत उस व्रतको ग्रहण करनेका आपका निश्चय रहता है, ऐसा जानकर प्रसन्न होना योग्य है। अगले समागमके आश्रयमें उस प्रकारके विचारको निवेदित करना रखकर संवत् १९५२ के आसोज मासकी पूर्णता तक या संवत् १९५३ की कार्तिक सुदी पूर्णिमा पर्यंत श्री लल्लुजीके पास उस व्रतको ग्रहण करते हुए आज्ञाका अतिक्रम नहीं है।

श्री माणेकचंदका लिखा हुआ पत्र मिला है। सुंदरलालके देहत्याग संबंधी खेद बताकर, उसके आधारपर संसारकी अशरणतादि लिखी है, वह यथार्थ है; वैसी परिणति अखंड रहे तभी जीव उत्कृष्ट वैराग्यको पाकर स्वस्वरूपज्ञानको प्राप्त करता है; कभी कभी किसी निमित्तसे वैसे परिणाम होते हैं परंतु उनमें विघ्नरूप संग तथा प्रसंगमें जीवका वास होनेसे वे परिणाम अखंड नहीं रहते, और संसाराभिरुचि हो जाती है; वैसी अखंड परिणतिके इच्छुक मुमुक्षुको उसके लिये नित्य सत्समागमका आश्रय करनेकी परम पुरुषने शिक्षा दी है।

जब तक जीवको वह योग प्राप्त न हो तब तक कुछ भी उस वैराग्यके आधारका हेतु तथा अप्रतिकूल निमित्तरूप मुमुक्षुजनका समागम तथा सत्शास्त्रका परिचय कर्तव्य है। अन्य संग तथा प्रसंगसे दूर रहनेकी वारंवार स्मृति रखनी चाहिये, और वह स्मृति प्रवर्तनरूप करनी चाहिये। वारंवार जीव इस बातको भूल जाता है; और इस कारणसे इच्छित साधन तथा परिणतिको प्राप्त नहीं होता।

श्री सुंदरलालकी गतिविषयक प्रश्न पढ़ा है। इस प्रश्नको अभी शांत करना योग्य है, तथा तद्विषयक विकल्प करना योग्य भी नहीं हैं।

---

६९१ बंबई, द्वितीय जेठ वदी ६, गुरु, १९५२

ॐ

'वर्तमानकालमें इस क्षेत्रसे निर्वाणकी प्राप्ति नहीं होती' ऐसा जिनागममें कहा है, और वेदांत आदि ऐसा कहते हैं कि (इस कालमें इस क्षेत्रसे) निर्वाणकी प्राप्ति होती है। इसके लिये श्री डुंगरको जो परमार्थ भासित होता हो, सो लिखियेगा। आप और लहेराभाई भी इस विषयमें यदि कुछ लिखना चाहे तो लिखियेगा।

वर्तमानकालमें इस क्षेत्रसे निर्वाणप्राप्ति नहीं होती, इसके सिवाय अन्य कितने ही भावोंका भी जिनागममें तथा तदाश्रित आचार्यरचित शास्त्रमें विच्छेद कहा है। केवलज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, अवधिज्ञान,

पूर्वज्ञान, यथाख्यात चारित्र, सूक्ष्मसंपराय चारित्र, परिहारविशुद्धि चारित्र, क्षायिक समकित और पुलाकलब्धि इन भावोंका मुख्यतः विच्छेद कहा है। श्री डुंगरको उस उसका जो परमार्थ भासित होता हो सो लिखियेगा। आपको और लहेराभाईको इस विषयमें यदि कुछ लिखनेकी इच्छा हो सो लिखियेगा।

वर्तमानकालमें इस क्षेत्रसे आत्मार्थकी कौन कौनसी मुख्य भूमिका उत्कृष्ट अधिकारीको प्राप्त हो सकती है, और उसकी प्राप्तिका मार्ग क्या है ? वह भी श्री डुंगरसे लिखवाया जाये तो लिखियेगा। तथा इस विषयमें यदि आपको तथा लहेराभाईको कुछ लिखनेकी इच्छा हो जाये तो लिखियेगा। उपर्युक्त प्रश्नोंका उत्तर अभी न लिखा जा सके तो उन प्रश्नोंके परमार्थका विचार करनेका ध्यान रखियेगा।

---

६९२ बंबई, द्वितीय जेठ वदी, १९५२

दुर्लभ मनुष्यदेह भी पूर्वकालमें अनंतबार प्राप्त होनेपर भी कुछ भी सफलता नहीं हुई; परंतु इस मनुष्यदेहकी कृतार्थता है कि जिस मनुष्यदेहमें इस जीवने ज्ञानीपुरुषको पहचाना, तथा उस महाभाग्यका आश्रय किया। जिस पुरुषके आश्रयसे अनेक प्रकारके मिथ्या आग्रह आदिकी मंदता हुई, उस पुरुषके आश्रयपूर्वक यह देह छूटे, यही सार्थकता है। जन्मजरामरणादिका नाश करनेवाला आत्मज्ञान जिसमें विद्यमान है, उस पुरुषका आश्रय ही जीवके जन्मजरामरणादिका नाश कर सकता है; क्योंकि वह यथासंभव उपाय है। संयोग-संबंधसे इस देहके प्रति इस जीवका जो प्रारब्ध होगा उसके व्यतीत हो जानेपर इस देहका प्रसंग निवृत्त होगा। इसका चाहे जब वियोग निश्चित है, परंतु आश्रयपूर्वक देह छूटे, यही जन्म सार्थक है, कि जिस आश्रयको पाकर जीव इस भवमें अथवा भविष्यमें थोड़े कालमें भी स्वस्वरूपमें स्थिति करे।

आप तथा श्री मुनि प्रसंगोपात्त खुशालदासके यहाँ जानेका रखियेगा। ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदिको यथाशक्ति धारण करनेकी उनमें संभावना दिखायी दे तो मुनिको वैसा करनेमें प्रतिबंध नहीं है।

श्री सद्गुरुने कहा है ऐसे निर्ग्रंथमार्गका सदैव आश्रय रहे।

मैं देहादिस्वरूप नहीं हूँ, और देह, स्त्री, पुत्र आदि कोई भी मेरे नहीं हैं, शुद्ध चैतन्यस्वरूप अविनाशी ऐसा मैं आत्मा हूँ, इस प्रकार आत्मभावना करते हुए रागद्वेषका क्षय होता है।

---

६९३ बंबई, आषाढ़ सुदी २, रवि, १९५२

जिसकी मृत्युके साथ मित्रता हो, अथवा जो मृत्युसे भागकर छूट सकता हो, अथवा मैं नहीं ही मरूँगा ऐसा जिसे निश्चय हो, वह भले सुखसे सोये। —श्री तीर्थंकर—छ जीवनिकाय अध्ययन।

ज्ञानमार्ग दुराराध्य है। परमावगाढ़दशा पानेसे पहले उस मार्गमें पतनके बहुत स्थान हैं। संदेह, विकल्प, स्वच्छंदता, अतिपरिणामिता इत्यादि कारण वारंवार जीवके लिये उस मार्गसे पतनके हेतु होते हैं, अथवा ऊर्ध्वभूमिका प्राप्त होने नहीं देते।

क्रियामार्गमें असद्अभिमान, व्यवहार-आग्रह, सिद्धिमोह, पूजसत्कारादि योग और दैहिक क्रियामें आत्मनिष्ठा आदि दोषोंका संभव रहा है।

किसी एक महात्माको छोड़कर बहुतसे विचारवान जीवोंने इन्हीं कारणोंसे भक्तिमार्गका आश्रय लिया है, और आज्ञाश्रितता अथवा परमपुरुष सद्गुरुमें सर्वार्पण-स्वाधीनताको शिरसावंद्य माना है, और वैसी ही प्रवृत्ति की है। तथापि वैसा योग प्राप्त होना चाहिये; नहीं तो चिंतामणि जैसा जिसका एक समय

है ऐसी मनुष्यदेह उलटे परिभ्रमणवृद्धिका हेतु होती है।

६९४ बंबई, आषाढ़ सुदी २, रवि, १९५२

ॐ

आत्मार्थी श्री सोभागके प्रति, श्री सायला।

श्री डुंगरके अभिप्रायपूर्वक आपका लिखा हुआ पत्र तथा श्री लहेराभाईका लिखा हुआ पत्र मिला है। श्री डुंगरके अभिप्रायपूर्वक श्री सोभागने लिखा है कि निश्चय और व्यवहारकी अपेक्षासे जिनागम तथा वेदांत आदि दर्शनमें वर्तमानकालमें इस क्षेत्रसे मोक्षकी ना और हाँ कही होनेका संभव है, यह विचार विशेष अपेक्षासे यथार्थ दिखायी देता है; और लहेराभाईने लिखा है कि वर्तमानकालमें संघयणादिके हीन होनेके कारणसे केवलज्ञानका जो निषेध किया है, वह भी सापेक्ष है।

आगे चलकर विशेषार्थ ध्यानगत होनेके लिये पिछले पत्रके प्रश्नको कुछ स्पष्टतासे लिखते हैं— वर्तमानमें जिनागमसे जैसा केवलज्ञानका अर्थ वर्तमान जैनसमुदायमें चलता है, वैसा ही उसका अर्थ आपको यथार्थ प्रतीत होता है या कुछ दूसरा अर्थ प्रतीत होता है? सर्व देशकालादिका ज्ञान केवलज्ञानीको होता है, ऐसा जिनागमका अभी रूढ़ि-अर्थ है; अन्य दर्शनोंमें ऐसा मुख्यार्थ नहीं है, और जिनागमसे वैसा मुख्यार्थ लोगोंमें अभी प्रचलित है। वही केवलज्ञानका अर्थ हो तो उसमें बहुतसे विरोध दिखायी देते हैं। जो सब यहाँ नहीं लिखे जा सके हैं। तथा जो विरोध लिखे हैं वे भी विशेष विस्तारसे नहीं लिखे जा सके हैं; क्योंकि वे यथावसर लिखने योग्य लगते हैं। जो लिखा है वह उपकारदृष्टिसे लिखा है, यह ध्यान रखें।

योगधारिता अर्थात् मन, वचन और कायासहित स्थिति होनेसे आहारादिके लिये प्रवृत्ति होते हुए उपयोगांतर हो जानेसे उसमें कुछ भी वृत्तिका अर्थात् उपयोगका निरोध होता है। एक समयमें किसीको दो उपयोग नहीं रहते ऐसा सिद्धांत है, तब आहारादिकी प्रवृत्तिके उपयोगमें रहते हुए केवलज्ञानीका उपयोग केवलज्ञानके ज्ञेयके प्रति नहीं रहता; और यदि ऐसा हो तो केवलज्ञानको जो अप्रतिहत कहा है, वह प्रतिहत हुआ माना जाये। यहाँ कदाचित् ऐसा समाधान करें कि जैसे दर्पणमें पदार्थ प्रतिबिंबित होते हैं वैसे केवलज्ञानमें सर्व देशकाल प्रतिबिंबित होते हैं। केवलज्ञानी उनमें उपयोग देकर जानते हैं यह बात नहीं है, सहजस्वभावसे ही उसमें पदार्थ प्रतिभासित हुआ करते हैं; इसलिये आहारादिमें उपयोग रहते हुए भी सहजस्वभावसे प्रतिभासित केवलज्ञानका अस्तित्व यथार्थ है, तो यहाँ प्रश्न होना संभव है कि 'दर्पणमें प्रतिभासित पदार्थका ज्ञान दर्पणको नहीं होता, और यहाँ तो केवलज्ञानीको उनका ज्ञान होता है, ऐसा कहा है; तथा उपयोगके सिवाय आत्माका दूसरा ऐसा कौनसा स्वरूप है कि आहारादिमें उपयोगकी प्रवृत्ति हो तब केवलज्ञानमें प्रतिभासित होने योग्य ज्ञेयको आत्मा उससे जाने?'

सर्व देशकाल आदिका ज्ञान जिस केवलीको हो वह केवली 'सिद्ध' को कहें तो संभवित होने योग्य माना जाये; क्योंकि उसे योगधारिता नहीं कही है। इसमें भी प्रश्न हो सकता है, तथापि योगधारीकी अपेक्षासे सिद्धमें वैसे केवलज्ञानकी मान्यता हो तो योगरहितत्व होनेसे उसमें संभवित हो सकता है, इतना प्रतिपादन करनेके लिये लिखा है; सिद्धको वैसा ज्ञान होता ही है ऐसे अर्थका प्रतिपादन करनेके लिये नहीं लिखा। यद्यपि जिनागमके रूढ़ि-अर्थके अनुसार देखनेसे तो 'देहधारी केवली' और 'सिद्ध' में केवलज्ञानका भेद नहीं होता; दोनोंको सर्व देशकाल आदिका संपूर्ण ज्ञान होता है यह रूढ़ि-अर्थ है। दूसरी अपेक्षासे जिनागम देखनेसे भिन्नरूपसे दिखायी देता है। जिनागममें इस प्रकार पाठार्थ देखनेमें आते हैं—

"केवलज्ञान दो प्रकारसे कहा है। वह इस तरह–'सयोगी भवस्थ केवलज्ञान', 'अयोगी भवस्थ केवलज्ञान'। सयोगी केवलज्ञान दो प्रकारसे कहा है, वह इस तरह–प्रथम समय अर्थात् उत्पन्न होनेके समयका सयोगी केवलज्ञान, अप्रथम समय अर्थात् अयोगी होनेके प्रवेश समयसे पहलेका केवलज्ञान। इसी तरह अयोगी भवस्थ केवलज्ञान दो प्रकारसे कहा है, वह इस तरह–प्रथम समय केवलज्ञान और अप्रथम अर्थात् सिद्ध होनेसे पहलेके अंतिम समयका केवलज्ञान।"

इत्यादि प्रकारसे केवलज्ञानके भेद जिनागममें कहे हैं, उसका परमार्थ क्या होना चाहिये ? कदाचित् ऐसा समाधान करें कि बाह्य कारणकी अपेक्षासे केवलज्ञानके भेद बताये हैं, तो वहाँ यों शंका करना संभव है कि 'कुछ भी पुरुषार्थ सिद्ध न होता हो और जिसमें विकल्पका अवकाश न हो उसमें भेद करनेकी प्रवृत्ति ज्ञानीके वचनमें संभव नहीं है। प्रथम समय केवलज्ञान और अप्रथम समय केवलज्ञान ऐसे भेद करते हुए केवलज्ञानका तारतम्य बढ़ता घटता हों तो वह भेद संभव है, परंतु तारतम्यमें वैसा नहीं है; तब भेद करनेका क्या कारण ?' इत्यादि प्रश्न यहाँ संभव हैं, उनपर और पहलेके पत्रपर यथाशक्ति विचार कर्तव्य है।

---

६९५ बंबई, आषाढ़ सुदी ५, बुध, १९५२

ॐ

श्री सहजानंदके वचनामृतमें आत्मस्वरूपके साथ अहर्निश प्रत्यक्ष भगवानकी भक्ति करना, और वह भक्ति 'स्वधर्म'में रहकर करना, इस तरह जगह जगह मुख्यरूपसे बात आती है। अब यदि 'स्वधर्म' शब्दका अर्थ 'आत्मस्वभाव' अथवा 'आत्मस्वरूप' होता हो तो फिर 'स्वधर्मसहित भक्ति करना' यह कहनेका क्या कारण ? ऐसा आपने लिखा उसका उत्तर यहाँ लिखा है–

स्वधर्ममें रहकर भक्ति करना ऐसा बताया है, वहाँ 'स्वधर्म' शब्दका अर्थ 'वर्णाश्रम धर्म' है। जिस ब्राह्मण आदि वर्णमें देह धारण हुआ हो, उस वर्णका श्रुति-स्मृतिमें कहे हुए धर्मका आचरण करना, यह 'वर्णधर्म' है, और ब्रह्मचर्य आदि आश्रमके क्रमसे आचरण करनेकी जो मर्यादा श्रुति-स्मृतिमें कही है, उस मर्यादासहित उस उस आश्रममें प्रवृत्ति करना, यह 'आश्रमधर्म' है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं, तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यस्त ये चार आश्रम हैं। ब्राह्मणवर्णमें इस प्रकारसे वर्णधर्मका आचरण करना, ऐसा श्रुति-स्मृतिमें कहा हो उसके अनुसार ब्राह्मण आचरण करे तो 'स्वधर्म' कहा जाता है। और यदि वैसा आचरण न करते हुए क्षत्रिय आदिके आचरण करने योग्य धर्मका आचरण करे तो 'परधर्म' कहा जाता है। इस प्रकार जिस जिस वर्णमें देह धारण हुआ हो, उस उस वर्णके श्रुति-स्मृतिमें कहे हुए धर्मके अनुसार प्रवृत्ति करना, इसे 'स्वधर्म' कहा जाता है, और दूसरे वर्णके धर्मका आचरण करे तो 'परधर्म' कहा जाता है।

उसी तरह आश्रमधर्म संबंधी भी स्थिति है। जिन वर्णोंको श्रुति-स्मृतिमें ब्रह्मचर्य आदि आश्रमसहित प्रवृत्ति करनेके लिये कहा है, उस वर्णमें प्रथम चौबीस वर्ष तक ब्रह्मचर्याश्रममें रहना, फिर चौबीस वर्ष तक गृहस्थाश्रममें रहना, क्रमसे वानप्रस्थ और संन्यस्त आश्रममें आचरण करना, इस प्रकार आश्रमका सामान्य क्रम है। उस उस आश्रममें आचरण करनेकी मर्यादाके समयमें दूसरे आश्रमके आचरणको ग्रहण करे तो वह 'परधर्म' कहा जाता है; और उस उस आश्रममें उस उस आश्रमके धर्मोंका आचरण करे तो वह 'स्वधर्म' कहा जाता है। इस प्रकार वेदाश्रित मार्गमें वर्णाश्रम धर्मको 'स्वधर्म' कहा है, उस वर्णाश्रम धर्मको यहाँ 'स्वधर्म' शब्दसे समझना योग्य है; अर्थात् सहजानंदस्वामीने वर्णाश्रम धर्मको यहाँ

'स्वधर्म' शब्दसे कहा है। भक्तिप्रधान संप्रदायोंमें प्रायः भगवद्भक्ति करना, यही जीवका 'स्वधर्म' है, ऐसा प्रतिपादन किया है; परंतु उस अर्थमें यहाँ 'स्वधर्म' शब्द नहीं कहा है; क्योंकि भक्ति 'स्वधर्म' में रहकर करना, ऐसा कहा है, इसलिये स्वधर्मका भिन्नरूपसे ग्रहण किया है, और वह वर्णाश्रम धर्मके अर्थमें ग्रहण किया है। जीवका 'स्वधर्म' भक्ति है, यह बतानेके लिये तो भक्ति शब्दके बदले क्वचित् ही इन संप्रदायोंमें स्वधर्म शब्दका ग्रहण किया है, और श्री सहजानंदके वचनामृतमें भक्तिके बदले स्वधर्म शब्द संज्ञावाचकरूपसे भी प्रयुक्त नहीं किया है, श्री वल्लभाचार्यने तो क्वचित् प्रयुक्त किया है।

---

६९६ बंबई, आषाढ़ वदी ८, रवि, १९५२

ॐ

भुजा द्वारा जो स्वयंभूरमणसमुद्रको तर गये, तरते हैं और तरेंगे,
उन सत्पुरुषोंको निष्काम भक्तिसे त्रिकाल नमस्कार

आपने सहज विचारके लिये जो प्रश्न लिखे थे, वह पत्र प्राप्त हुआ था।

एक धारासे वेदन करने योग्य प्रारब्धका वेदन करते हुए कुछ एक परमार्थ व्यवहाररूप प्रवृत्ति कृत्रिम जैसी लगती है, इत्यादि कारणोंसे मात्र पहुँच लिखना भी नहीं हुआ। चित्तको जो सहज भी आलंबन है, उसे खींच लेनेसे वह आर्त्तता प्राप्त करेगा, ऐसा जानकर उस दयाके प्रतिबंधसे यह पत्र लिखा है।

सूक्ष्मसंगरूप और बाह्यसंगरूप दुस्तर स्वयंभूरमणसमुद्रको भुजा द्वारा जो वर्धमान आदि पुरुष तर गये हैं, उन्हें परमभक्तिसे नमस्कार हो! पतनके भयंकर स्थानकमें सावधान रहकर तथारूप सामर्थ्यको विस्तृत करके जिसने सिद्धि सिद्ध की है, उस पुरुषार्थको याद करके रोमांचित, अनंत और मौन ऐसा आश्चर्य उत्पन्न होता है।

---

६९७ बंबई, आषाढ़ वदी ८, रवि, १९५२

भुजा द्वारा जो स्वयंभूरमणसमुद्रको तर गये, तरते हैं, और तरेंगे,
उन सत्पुरुषोंको निष्काम भक्तिसे त्रिकाल नमस्कार

श्री अंबालालका लिखा हुआ तथा श्री त्रिभोवनका लिखा हुआ तथा श्री देवकरणजी आदिके लिखे हुए पत्र प्राप्त हुए हैं।

प्रारब्धरूप दुस्तर प्रतिबंध रहता है, उसमें कुछ लिखना या कहना कृत्रिम जैसा लगता है और इसलिये अभी पत्रादिकी मात्र पहुँच भी नहीं लिखी गयी। बहुतसे पत्रोंके लिये वैसा हुआ है, जिससे चित्तको विशेष व्याकुलता होगी, उस विचाररूप दयाके प्रतिबंधसे यह पत्र लिखा है। आत्माको मूलज्ञानसे चलायमान कर ड़ालें ऐसे प्रारब्धका वेदन करते हुए ऐसा प्रतिबंध उस प्रारब्धके उपकारका हेतु होता है, और किसी विकट अवसरमें एक बार आत्माको मूलज्ञानके वमन करा देने तककी स्थितिको प्राप्त करा देता है, ऐसा जानकर, उससे डरकर आचरण करना योग्य है, ऐसा विचारकर पत्रादिकी पहुँच नहीं लिखी, सो क्षमा करें ऐसी नम्रतासहित प्रार्थना है।

अहो! ज्ञानीपुरुषकी आशय-गंभीरता, धीरता और उपशम! अहो! अहो! वारंवार अहो!

ॐ

---

६९८ बंबई, श्रावण सुदी ५, शुक्र, १९५२

ॐ

'जिनागममें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि छः द्रव्य कहे हैं, उनमें कालको भी द्रव्य कहा है और अस्तिकाय पाँच कहे हैं। कालको अस्तिकाय नहीं कहा है; इसका क्या हेतु होना चाहिये? कदाचित् कालको अस्तिकाय न कहनेमें यह हेतु हो कि धर्मास्तिकायादि प्रदेशके समूहरूप हैं, और पुद्गल-परमाणु वैसी योग्यतावाला द्रव्य है, काल वैसा नहीं है, मात्र एक समयरूप है, इसलिये कालको अस्तिकाय नहीं कहा। यहाँ ऐसी आशंका होती है कि एक समयके बाद दूसरा फिर तीसरा इस तरह समयकी धारा बहा ही करती है, और उस धारामें बीचमें अवकाश नहीं है, इससे एक-दूसरे समयका अनुसंधानत्व अथवा समूहात्मकत्व संभव है, जिससे काल भी अस्तिकाय कहा जा सकता है। तथा सर्वज्ञको तीन कालका ज्ञान होता है, ऐसा कहा है, इससे भी ऐसा समझमें आता है कि सर्व कालका समूह ज्ञानगोचर होता है, और सर्व समूह ज्ञानगोचर होता हो तो कालका अस्तिकाय होना संभव है, और जिनागममें उसे अस्तिकाय नहीं माना,' यह आशंका लिखी थी उसका समाधान निम्नलिखितसे विचारणीय है—

जिनागमकी ऐसी प्ररूपणा है कि काल औपचारिक द्रव्य है, स्वाभाविक द्रव्य नहीं है।

जो पाँच अस्तिकाय कहे हैं, उनकी वर्तनाका नाम मुख्यतः काल है। उस वर्तनाका दूसरा नाम पर्याय भी है। जैसे धर्मास्तिकाय एक समयमें असंख्यात प्रदेशके समूहरूपसे मालूम होता है, वैसे काल समूहरूपसे मालूम नहीं होता। एक समय रहकर लयको प्राप्त होता है, उसके बाद दूसरा समय उत्पन्न होता है। वह समय द्रव्यकी वर्तनाका सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग है।

सर्वज्ञको सर्व कालका ज्ञान होता है, ऐसा जो कहा है, उसका मुख्य अर्थ तो यह है कि पंचास्तिकाय द्रव्यपर्यायात्मकरूपसे उन्हें ज्ञानगोचर होता है; और सर्व पर्यायका जो ज्ञान है वही सर्व कालका ज्ञान कहा गया है। एक समयमें सर्वज्ञ भी एक समयको ही वर्तमान देखते हैं, और भूतकाल या भाविकालको विद्यमान नहीं देखते; यदि उसे भी विद्यमान देखें तो वह भी वर्तमानकाल ही कहा जायेगा। सर्वज्ञ भूतकालको बीत चुका है इस रूपसे और भाविकालको आगे ऐसा होगा, ऐसा देखते हैं।

भूतकाल द्रव्यमें समा गया है, और भाविकाल सत्तारूपसे रहा है, दोनोंमेंसे एक भी वर्तमानरूपसे नहीं है, मात्र एक समयरूप ऐसा वर्तमानकाल ही विद्यमान है; इसलिये सर्वज्ञको ज्ञानमें भी उसी प्रकारसे भासमान होता है।

एक घड़ा अभी देखा हो, वह उसके बाद दूसरे समयमें नाशको प्राप्त हो गया, तब घड़ारूपसे विद्यमान नहीं है; परंतु देखनेवालेको वह घड़ा जैसा था वैसा ज्ञानमें भासमान होता है; इसी तरह अभी एक मिट्टीका पिंड पड़ा है, उसमेंसे थोड़ा समय बीतनेपर एक घड़ा उत्पन्न होगा, ऐसा भी ज्ञानमें भासित हो सकता है; तथापि मिट्टीका पिंड़ वर्तमानमें कुछ घड़ारूपसे तो नहीं रहता। इस तरह एक समयमें सर्वज्ञको त्रिकालज्ञान होनेपर भी वर्तमान समय तो एक ही है।

सूर्यके कारण जो दिन-रातरूप काल समझमें आता है वह व्यवहारकाल है; क्योंकि सूर्य स्वाभाविक द्रव्य नहीं है। दिगम्बर, कालके असंख्यात अणु मानते हैं, परंतु उनका एक दूसरेके साथ संधान है, ऐसा उनका अभिप्राय नहीं है, और इसलिये कालको अस्तिकायरूपसे नहीं माना।

प्रत्यक्ष सत्समागममें भक्ति, वैराग्य आदि दृढ़ साधनसहित मुमुक्षुको सद्गुरुकी आज्ञासे द्रव्यानुयोग

विचारणीय है।

अभिनंदनजिनकी श्री देवचंद्रजीकृत स्तुतिका पद लिखकर अर्थ पुछवाया है, उसमें 'पुद्गल-अनुभवत्यागथी, करवी ज शुं परतीत हो,' ऐसा लिखा है, वैसा मूलमें नहीं है। 'पुद्गलअनुभव-त्यागथी, करवी जसु परतीत हो,' ऐसा मूल पद है। अर्थात् वर्ण, गंध आदि पुद्गलगुणके अनुभवका अर्थात् रसका त्याग करनेसे, उसके प्रति उदासीन होनेसे, 'जसु' अर्थात् जिसकी (आत्माकी) प्रतीति होती है, ऐसा अर्थ है।

---

६९९ बंबई, श्रावण, १९५२

पंचास्तिकायका स्वरूप संक्षेपमें कहा है—

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म अने आकाश ये पाँच अस्तिकाय कहे जाते हैं। अस्तिकाय अर्थात् प्रदेशसमूहात्मक वस्तु। एक परमाणुके प्रमाणवाली अमूर्त वस्तुके भागकी 'प्रदेश' ऐसी संज्ञा है। जो वस्तु अनेकप्रदेशात्मक हो वह 'अस्तिकाय' कहलाती है। एक जीव असंख्यातप्रदेशप्रमाण है। पुद्गल परमाणु यद्यपि एकप्रदेशात्मक है, परंतु दो परमाणुसे लेकर असंख्यात, अनंत परमाणु एकत्र हो सकते हैं। इस तरह उसमें परस्पर मिलनेकी शक्ति रहनेसे वह अनेक प्रदेशात्मकता प्राप्त कर सकता है; जिससे वह भी अस्तिकाय कहने योग्य है। 'धर्मद्रव्य' असंख्यातप्रदेशप्रमाण, 'अधर्मद्रव्य' असंख्यातप्रदेश-प्रमाण, 'आकाशद्रव्य' अनंतप्रदेशप्रमाण होनेसे वे भी 'अस्तिकाय' है। इस तरह पाँच अस्तिकाय है। जिन पाँच अस्तिकायकी एकरूपतासे इस 'लोक' की उत्पत्ति है, अर्थात् 'लोक' पंचास्तिकायमय है।

प्रत्येक प्रत्येक जीव असंख्यातप्रदेशप्रमाण है। वे जीव अनंत हैं। एक परमाणु जैसे अनंत परमाणु हैं। दो परमाणुओंके एकत्र मिलनेसे द्व्यणुकस्कंध होता है, जो अनंत है। इस तरह तीन परमाणुओंके मिलनेसे त्र्यणुकस्कंध होता है, जो अनंत हैं। चार परमाणुओंके एकत्र मिलनेसे चतुरणुकस्कंध होता है, जो अनंत हैं। पाँच परमाणुओंके मिलनेसे पंचाणुकस्कंध होता है, जो अनंत हैं। इस तरह छः परमाणु, सात परमाणु, आठ परमाणु, नौ परमाणु, दस परमाणु एकत्र मिलनेसे तथारूप अनंत स्कंध हैं। इसी तरह ग्यारह परमाणु, यावत् सो परमाणु, संख्यात परमाणु, असंख्यात परमाणु तथा अनंत परमाणु मिलनेसे अनंत स्कंध हैं।

'धर्म द्रव्य' एक है। वह असंख्यातप्रदेशप्रमाण लोकव्यापक है। 'अधर्मद्रव्य' एक है। वह भी असंख्यातप्रदेशप्रमाण लोकव्यापक है। 'आकाशद्रव्य' एक है। वह अनंतप्रदेशप्रमाण है, लोकालोक-व्यापक है। लोकप्रमाण आकाश असंख्यातप्रदेशात्मक है।

'कालद्रव्य' यह पाँच अस्तिकायोंका वर्तनारूप पर्याय है, अर्थात् औपचारिक द्रव्य है, वस्तुतः तो पर्याय ही है; और पल विपलसे लेकर वर्षादि पर्यंत जो काल सूर्यकी गतिसे समझा जाता है, वह 'व्यावहारिक काल' है, ऐसा श्वेतांबर आचार्य कहते हैं। दिगम्बर आचार्य भी ऐसा कहते हैं, परंतु विशेषमें इतना कहते हैं कि लोकाकाशके एक एक प्रदेशमें एक एक कालाणु रहा हुआ है; जो अवर्ण, अगंध, अरस और अस्पर्श है; अगुरुलघु स्वभाववान है। वे कालाणु वर्तनापर्याय और व्यावहारिक कालके लिये निमित्तोपकारी हैं। उन कालाणुओंको 'द्रव्य' कहना योग्य है, परंतु 'अस्तिकाय' कहना योग्य नहीं है; क्योंकि एक दूसरेसे मिलकर वे अणु क्रियाकी प्रवृत्ति नहीं करते, जिससे बहुप्रदेशात्मक न होनेसे 'कालद्रव्य' अस्तिकाय कहने योग्य नहीं है; और पंचास्तिकायके विवेचनमें भी उसका गौणरूपसे स्वरूप कहते हैं।

'आकाश' अनंतप्रदेशप्रमाण है। उसमें असंख्यातप्रदेशप्रमाणमें धर्म, अधर्म द्रव्य व्यापक है। धर्म, अधर्म द्रव्यका ऐसा स्वभाव है कि जीव और पुद्गल उनकी सहायताके निमित्तसे गति और स्थिति कर सकते हैं, जिससे धर्म, अधर्मकी व्यापकतापर्यंत ही जीव और पुद्गलकी गति स्थिति है; और इससे लोकमर्यादा उत्पन्न होती है।

जीव, पुद्गल और धर्म, अधर्म, द्रव्यप्रमाण आकाश ये पाँच जहाँ व्यापक है, वह 'लोक' कहा जाता है।

---

७०० कावीठा, श्रावण वदी, १९५२

शरीर किसका है ? मोहका है। इसलिये असंग भावना रखना योग्य है।

---

७०१ राळज, श्रावण वदी १३, शनि, १९५२

(१) 'अमुक पदार्थके जाने-आने आदिके प्रसंगमें धर्मास्तिकाय आदिके अमुक प्रदेशमें क्रिया होती है, और यदि इस प्रकार हो तो उनमें विभाग हो जाये, जिससे वे भी कालके समयकी भाँति अस्तिकाय न कहे जा सकें' इस प्रश्नका समाधान—

जैसे धर्मास्तिकाय आदिके सर्व प्रदेश एक समयमें वर्तमान हैं अर्थात् विद्यमान हैं, वैसे कालके सर्व समय कुछ एक समयमें विद्यमान नहीं होते, और फिर द्रव्यके वर्तनापर्यायके सिवाय कालका कोई भिन्न द्रव्यत्व नहीं है, कि उसके अस्तिकायत्वका संभव हो। अमुक प्रदेशमें धर्मास्तिकाय आदिमें क्रिया हो और अमुक प्रदेशमें न हो इससे कुछ उसके अस्तिकायत्वका भंग नहीं होता; मात्र एकप्रदेशात्मक वह द्रव्य हो और समूहात्मक होनेकी उसमें योग्यता न हो तो उसके अस्तिकायत्वका भंग होता है, अर्थात् कि, तो वह 'अस्तिकाय' नहीं कहा जाता। परमाणु एकप्रदेशात्मक है, तो भी वैसे दूसरे परमाणु मिलकर वह समूहात्मकत्वको प्राप्त होता है। इसलिये वह 'अस्तिकाय' (पुद्गलास्तिकाय) कहा जाता है। और एक परमाणुमें भी अनंतपर्यायात्मकत्व है, और कालके एक समयमें कुछ अनंतपर्यायात्मकत्व नहीं है; क्योंकि वह स्वयं ही वर्तमान एक पर्यायरूप है। एक पर्यायरूप होनेसे वह द्रव्यरूप नहीं ठहरता, तो फिर अस्तिकायरूप माननेका विकल्प भी संभवित नहीं है।

(२) मूल अप्कायिक जीवोंका स्वरूप बहुत सूक्ष्म होनेसे सामान्य ज्ञानसे उसका विशेषरूपसे ज्ञान होना कठिन है; तो भी 'षड्दर्शनसमुच्चय' ग्रंथ अभी प्रसिद्ध हुआ है, उसमें १४१ से १४३ पृष्ठ तक उसका कुछ स्वरूप समझाया है। उसका विचार कर सकें तो विचार कीजियेगा।

(३) अग्नि अथवा दूसरे बलवान शस्त्रसे अप्कायिक मूल जीवोंका नाश होता है, ऐसा समझमें आता है। यहाँसे बाष्प आदिरूप होकर जो पानी ऊँचे आकाशमें बादलरूपमें इकट्ठा होता है वह बाष्प आदिरूप होनेसे अचित् होने योग्य लगता है, परंतु बादलरूप होनेसे फिर सचित् हो जाने योग्य है। वह वर्षारूपसे जमीनपर गिरने पर भी सचित् होता है। मिट्टी आदिके साथ मिलनेसे भी वह सचित् रह सकने योग्य है। सामान्यतः मिट्टी अग्नि जैसा बलवान शस्त्र नहीं है, अर्थात् वैसा हो तब भी सचित् होना संभव है।

(४) बीज जब तक बोनेसे उगनेकी योग्यतावाला है तब तक निर्जीव नहीं होता, सजीव ही कहा जाता है। अमुक अवधिके बाद अर्थात् सामान्यतः बीज (अन्न आदिका) तीन वर्ष तक सजीव रह सकता है, इससे बीचमें उसमेंसे जीव चला भी जाये, परंतु उस अवधिके बीत जानेके बाद उसे निर्जीव अर्थात् निर्बीज हो जाने योग्य कहा है। कदाचित् उसका आकार बीज जैसा हो, परंतु वह बोनेसे उगनेकी

योग्यतासे रहित हो जाता है। सर्व बीजोंकी अवधि तीन वर्षकी संभवित नहीं है, कुछ बीजोंकी संभव है।

(५) फ्रेंच विद्वान द्वारा खोजे गये यंत्रके व्योरेका समाचारपत्र भेजा उसे पढ़ा है। उसमें उसका नाम जो 'आत्मा देखनेका यंत्र' रखा है, वह यथार्थ नहीं है। ऐसे किसी भी प्रकारके दर्शनकी व्याख्यामें आत्माका समावेश होना योग्य नहीं है। आपने भी उसे आत्मा देखनेका यंत्र नहीं समझा है, ऐसा जानते हैं, तथापि कार्मण या तैजस शरीर दिखायी देने योग्य है या कुछ दूसरा भास होना योग्य है, उसे जाननेकी आपकी इच्छा मालूम होती है। कार्मण या तैजस शरीर भी उस तरह दिखायी देने योग्य नहीं है। परंतु चक्षु, प्रकाश, वह यंत्र, मरनेवालेकी देह और उसकी छाया अथवा किसी आभासविशेषसे वैसा दिखायी देना संभव है। उस यंत्रके विषयमें अधिक विवरण प्रसिद्ध होनेपर यह बात प्रायः पूर्वापर जाननेमें आयेगी। हवाके परमाणुओंके दिखायी देनेके विषयमें भी उनके लिखनेकी या देखे हुए स्वरूपकी व्याख्या करनेमें कुछ पर्यायांतर लगता है। हवासे गतिमान कोई परमाणुस्कंध (व्यावहारिक परमाणु, कुछ विशेष प्रयोगसे दृष्टिगोचर हो सकने योग्य हो वह) दृष्टिगोचर होना संभव है। अभी उनकी कृति अधिक प्रसिद्ध होनेपर विशेषरूपसे समाधान करना योग्य लगता है।

---

७०२ राळज, श्रावण वदी १४, रवि, १९५२

विचारवान पुरुष तो कैवल्यदशा होने तक मृत्युको नित्य समीप ही समझकर प्रवृत्ति करते हैं।

भाई श्री अनुपचंद मलुकचंदके प्रति, श्री भृगुकच्छ।

प्रायः किये हुए कर्मोंकी रहस्यभूत मति मृत्युके समय रहती है। एक तो क्वचित् मुश्किलसे परिचित परमार्थभाव; और दूसरा नित्य परिचित निजकल्पना आदि भावसे रूढ़िधर्मके ग्रहण करनेका भाव ऐसे दो प्रकारके भाव हो सकते हैं। सद्विचारसे यथार्थ आत्मदृष्टि या वास्तविक उदासीनता तो सर्व जीवसमूहको देखते हुए किसी विरल जीवको क्वचित् ही होती है, और दूसरा भाव अनादिसे परिचित है, वही प्रायः सब जीवोंमें देखनेमें आता है, और देहांत होनेके प्रसंगपर भी उसका प्राबल्य देखनेमें आता है, ऐसा जानकर मृत्युके समीप आनेपर तथारूप परिणति करनेका विचार विचारवान पुरुष छोड़कर, पहलेसे ही उस प्रकारसे रहता है। आप स्वयं बाह्यक्रियाके विधि-निषेधके आग्रहको विसर्जनवत् करके अथवा उसमें अंतर्परिणामसे उदासीन होकर, देह और तत्संबंधी संबंधका वारंवारका विक्षेप छोड़कर, यथार्थ आत्मभावका विचार करना ध्यानगत करे तो वही सार्थक है। अंतिम अवसर पर अनशनादि या संस्तरादिक या संलेखनादिक क्रियाएँ क्वचित् हो, या न हो तो भी जिस जीवको उपर्युक्त भाव ध्यानगत है, उसका जन्म सफल है, और वह क्रमसे निःश्रेयसको प्राप्त होता है।

आपका, कितने ही कारणोंसे बाह्यक्रियादिके विधि-निषेधका विशेष ध्यान देखकर हमें खेद होता था कि इसमें काल व्यतीत होनेसे आत्मावस्था कितनी स्वस्थताका सेवन करती है, और क्या यथार्थ स्वरूपका विचार कर सकती है कि जिससे आपको उसका इतना अधिक परिचय खेदका हेतु नहीं लगता ? जिसमें सहजमात्र उपयोग दिया हो तो चल सकता है, उसमें 'जागृति' कालका लगभग बहुतसा भाग व्यतीत होने जैसा होता है, वह किसलिये और उसका क्या परिणाम ? वह क्यों आपके ध्यानमें नहीं आता ? इस विषयमें क्वचित् कुछ प्रेरणा करनेकी संभवतः इच्छा हुई थी; परंतु आपकी तथारूप रुचि और स्थिति दिखायी न देनेसे प्रेरणा करते करते वृत्तिको संकुचित कर लिया था। आज भी आपके चित्तमें इस बातको अवकाश देने योग्य अवसर है। लोग मात्र विचारवान या सम्यग्दृष्टि समझें, इससे

कल्याण नहीं है अथवा बाह्य-व्यवहारके अनेक विधि-निषेधके कर्तृत्वके माहात्म्यमें कुछ कल्याण नहीं है, ऐसा हमें तो लगता है। यह कुछ एकान्तिक दृष्टिसे लिखा है अथवा अन्य कोई हेतु है, ऐसा विचार छोड़कर, जो कुछ उन वचनोंसे अंतर्मुखवृत्ति होनेकी प्रेरणा हो उसे करनेका विचार रखना, यही सुविचारदृष्टि है।

लोकसमुदाय कुछ भला होनेवाला नहीं है, अथवा स्तुतिनिंदाके प्रयत्नार्थ इस देहकी प्रवृत्ति विचारवानके लिये कर्तव्य नहीं है। अंतर्मुखवृत्ति रहित बाह्यक्रियाके विधि-निषेधमें कुछ भी वास्तविक कल्याण नहीं है। गच्छादि भेदका निर्वाह करनेमें, नाना प्रकारके विकल्प सिद्ध करनेमें आत्माको आवृत्त करनेके बराबर है। अनेकान्तिक मार्ग भी सम्यग्, एकान्त निजपदकी प्राप्ति करानेके सिवाय दूसरे किसी अन्य हेतुसे उपकारी नहीं है, ऐसा जानकर लिखा है। वह मात्र अनुकंपा बुद्धिसे, निराग्रहसे, निष्कपटतासे, निर्दंभतासे और हितार्थ लिखा है, ऐसा यदि आप यथार्थ विचार करेंगे तो दृष्टिगोचर होगा, और वचनके ग्रहण अथवा प्रेरणा होनेका हेतु होगा।

---

७०३ राळज, भादों सुदी ८, १९५२

कितने ही प्रश्नोंका समाधान जाननेकी अभिलाषा रहती है यह स्वाभाविक है।

"प्रायः सभी मार्गोंमें मनुष्यभवको मोक्षका एक साधन मानकर उसकी बहुत प्रशंसा की है, और जीवको जिस तरह वह प्राप्त हो अर्थात् उसकी वृद्धि हो उस तरह बहुतसे मार्गोंमें उपदेश किया मालूम होता है। जिनोक्त मार्गमें वैसा उपदेश किया मालूम नहीं होता। वेदोक्त मार्गमें 'अपुत्रकी गति नहीं होती', इत्यादि कारणोंसे तथा चार आश्रमोंका क्रमादिसे विचार करनेसे मनुष्यकी वृद्धि हो ऐसा उपदेश किया हुआ दृष्टिगोचर होता है। जिनोक्त मार्गमें उससे विपरीत देखनेमें आता है, अर्थात् वैसा न करते हुए, जब भी जीव वैराग्य प्राप्त करे तो संसारका त्याग कर देना, ऐसा उपदेश देखनेमें आता है, इसलिये बहुतसे गृहस्थाश्रमको प्राप्त किये बिना त्यागी हो, और मनुष्यकी वृद्धि रुक जाये; क्योंकि उनके अत्यागसे, जो कुछ उन्हें संतानोत्पत्तिका संभव रहता वह न हो और उससे वंशके नाश होने जैसा हो, जिससे दुर्लभ मनुष्यभव, जिसे मोक्षसाधनरूप माना है, उसकी वृद्धि रुक जाती है, इसलिये जिनेंद्रका वैसा अभिप्राय क्यों हो?" उसे जानने आदि विचारका प्रश्न लिखा है, उसके समाधानका विचार करनेके लिये यहाँ लिखा है।

लौकिक दृष्टि और अलौकिक (लोकोत्तर) दृष्टिसे बड़ा भेद है, अथवा ये दोनों दृष्टियाँ परस्पर विरुद्ध स्वभाववाली है। लौकिक दृष्टिमें व्यवहार (सांसारिक कारणों) की मुख्यता है और अलौकिक दृष्टिमें परमार्थकी मुख्यता है। इसलिये अलौकिक दृष्टिको लौकिक दृष्टिके फलके साथ प्रायः (बहुत करके) मिलाना योग्य नहीं है।

जैन और अन्य सभी मार्गोंमें प्रायः मनुष्यदेहका विशेष माहात्म्य कहा है, अर्थात् मोक्षसाधनका कारणरूप होनेसे उसे चिंतामणि जैसा कहा है, वह सत्य है। परंतु यदि उससे मोक्षसाधन किया तो ही उसका यह माहात्म्य है, नहीं तो वास्तविक दृष्टिसे पशुकी देह जितनी भी उसकी कीमत मालूम नहीं होती।

मनुष्यादि वंशकी वृद्धि करना यह विचार मुख्यतः लौकिक दृष्टिका है, परंतु उस देहको पाकर अवश्य मोक्षसाधन करना, अथवा उस साधनका निश्चय करना, यह विचार मुख्यतः अलौकिक दृष्टिका है। अलौकिकदृष्टिमें मनुष्यादि वंशकी वृद्धि करना, ऐसा नहीं कहा है, इससे मनुष्यादिका नाश करना

ऐसा उसमें आशय रहता है, यह नहीं समझना चाहिये। लौकिक दृष्टिमें तो युद्धादि अनेक प्रसंगोंमें हजारों मनुष्योंके नाश हो जानेका समय आता है, ओर उसमें बहुतसे वंशरहित हो जाते है, परंतु परमार्थ अर्थात् अलौकिक दृष्टिमें वैसे कार्य नहीं होते कि जिससे प्रायः वैसा होनेका समय आवे, अर्थात् यहाँ अलौकिक दृष्टिसे निर्वैरता, अविरोध, मनुष्य आदि प्राणीयोंकी रक्षा और उनके वंशका रहना, यह सहज ही बन जाता है, और मनुष्य आदि वंशकी वृद्धि करनेका जिसका हेतु है, ऐसी लौकिक दृष्टि इसके विपरीत वैर, विरोध, मनुष्य आदि प्राणियोंका नाश और वंशहीनता करनेवाली होती है।

अलौकिक दृष्टिको पाकर अथवा अलौकिक दृष्टिके प्रभावसे कोई भी मनुष्य छोटी उमरमें त्यागी हो जाये तो उससे जिसने गृहस्थाश्रम ग्रहण न किया हो उसके वंशका, अथवा जिसने गृहस्थाश्रम ग्रहण किया हो और पुत्रोत्पत्ति न हुई हो, उसके वंशका नाश होनेका समय आये, और उतने मनुष्योंका जन्म कम हो, जिससे मोक्षसाधनकी हेतुभूत मनुष्यदेहकी प्राप्तिके रोकने जैसा हो जाये, ऐसा लौकिक दृष्टिसे योग्य लगता है; परंतु परमार्थदृष्टिसे वह प्रायः कल्पना मात्र लगता है।

किसीने भी पूर्वकालमें परमार्थमार्गका आराधन करके यहाँ मनुष्यभव प्राप्त किया हो, उसे छोटी उमरसे ही त्याग-वैराग्य तीव्रतासे उदयमें आते हैं, वैसे मनुष्यको संतानकी उत्पत्ति होनेके पश्चात् त्याग करनेका उपदेश करना, अथवा आश्रमके अनुक्रममें रखना, यह यथार्थ प्रतीत नहीं होता; क्योंकि मनुष्यदेह तो बाह्य दृष्टिसे अथवा अपेक्षासे मोक्षसाधनरूप है, और यथार्थ त्याग-वैराग्य तो मूलतः मोक्षसाधनरूप है, और वैसे कारण प्राप्त करनेसे मनुष्यदेहकी मोक्षसाधनता सिद्ध होती थी, वे कारण प्राप्त होनेपर उस देहसे भोग आदिमें पड़नेका कहना, इसे मनुष्यदेहको मोक्षसाधनरूप करनेके समान कहा जाय या संसारसाधनरूप करनेके समान कहा जाय यह विचारणीय है।

वेदोक्त मार्गमें जो चार आश्रमोंकी व्यवस्था है वह एकान्तरूपसे नहीं है। वामदेव, शुकदेव, जड़भरतजी इत्यादि आश्रमके क्रमके बिना त्यागवृत्तिसे विचरे हैं। जिनसे वैसा होना अशक्य हो, वे परिणाममें यथार्थ त्याग करनेका लक्ष्य रखकर आश्रमपूर्वक प्रवृत्ति करें तो यह सामान्यतः ठीक है, ऐसा कहा जा सकता है। आयुकी ऐसी क्षणभंगुरता है कि वैसा क्रम भी किसी विरलेको ही प्राप्त होनेका अवसर आये। कदाचित् वैसी आयु प्राप्त हुई हो तो भी वैसी वृत्तिसे अर्थात् वैसे परिणामसे यथार्थ त्याग हो ऐसा लक्ष्य रखकर प्रवृत्ति करना तो किसीसे ही बन सकता है।

जिनोक्त मार्गका भी ऐसा एकांत सिद्धांत नहीं है कि चाहे जिस उमरमें चाहे जिस मनुष्यको त्याग करना चाहिये। तथारूप सत्संग और सद्गुरुका योग होनेपर, उस आश्रयसे कोई पूर्वके संस्कारवाला अर्थात् विशेष वैराग्यवान पुरुष गृहस्थाश्रमको ग्रहण करनेसे पहले त्याग करे तो उसने योग्य किया है, ऐसा जिनसिद्धांत प्रायः कहता है; क्योंकि अपूर्व साधनोंके प्राप्त होने पर भोगादि भोगनेके विचारमें पड़ना, और उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करके अपने प्राप्त आत्मसाधनको गँवाने जैसा करना, और अपनेसे जो संतति होगी वह मनुष्यदेह प्राप्त करेगी, वह देह मोक्षके साधनरूप होगी, ऐसी मनोरथ मात्र कल्पनामें पड़ना, यह मनुष्यभवकी उत्तमता दूर करके उसे पशुवत् करने जैसा है।

इंद्रियाँ आदि जिसकी शांत नहीं हुई हैं, ज्ञानीपुरुषकी दृष्टिमें अभी जो त्याग करनेके योग्य नहीं है, ऐसे किसी मंद अथवा मोहवैराग्यवान जीवको त्याग अपनाना प्रशस्त ही है; ऐसा कुछ एकांतरूपसे जिनसिद्धांत नहीं है।

प्रथमसे ही जिसे उत्तम संस्कारयुक्त वैराग्य न हो, वह पुरुष कदाचित् परिणाममें त्यागका लक्ष्य

रखकर आश्रमपूर्वक प्रवृत्ति करे, तो उसने एकांत भूल ही की है, और त्याग ही किया होता तो उत्तम था, ऐसा भी जिनसिद्धांत नहीं है। मात्र मोक्षसाधनका प्रसंग प्राप्त होनेपर उस प्रसंगको जाने नहीं देना चाहिये, ऐसा जिनेंद्रका उपदेश है।

उत्तम संस्कारवाले पुरुष गृहस्थाश्रम अपनाये बिना त्याग करें, तो उससे मनुष्यकी वृद्धि रुक जाये, और उससे मोक्षसाधनके कारण रुक जायें, यह विचार करना अल्प दृष्टिसे योग्य दिखायी दे, परंतु तथारूप त्याग-वैराग्यका योग प्राप्त होनेपर, मनुष्यदेहकी सफलता होनेके लिये, उस योगका अप्रमत्ततासे विलम्बके बिना लाभ प्राप्त करना, यह विचार तो पूर्वापर अविरुद्ध और परमार्थदृष्टिसे सिद्ध कहा जा सकता है। आयु संपूर्ण है और अपनेको संतति होगी तो वे मोक्षसाधन करेगी ऐसा निश्चय करके, संतति होगी ही ऐसा मानकर, पुनः ऐसा ही त्याग प्रकाशित होगा, ऐसे भविष्यकी कल्पना करके आश्रमपूर्वक प्रवृत्ति करनेको कौनसा विचारवान एकांतसे योग्य समझे ? अपने वैराग्य में मंदता न हो, और ज्ञानीपुरुष जिसे त्याग करने योग्य समझते हों, उसे अन्य मनोरथ मात्र कारणों के अथवा अनिश्चित कारणोंके विचारको छोड़कर निश्चित और प्राप्त उत्तम कारणोंका आश्रय करना, यही उत्तम है, और यही मनुष्यभवकी सार्थकता है; बाकी वृद्धि आदिकी तो कल्पना है। सच्चे मोक्षमार्गका नाश कर मात्र मनुष्यकी वृद्धि करनेकी कल्पना करने जैसा करें तो हो सके।

इत्यादि अनेक कारणोंसे परमार्थदृष्टिसे जो उपदेश दिया है, वही योग्य दिखायी देता है। ऐसे प्रश्नोत्तरमें विशेषतः उपयोगको प्रेरित करना कठिन पड़ता है। तो भी संक्षेपमें जो कुछ लिखना बन पाया, उसे उदीरणावत् करके लिखा है।

जहाँ तक हो सके वहाँ तक ज्ञानीपुरुषके वचनोंको लौकिक आशयमें न लेना; अथवा अलौकिक दृष्टिसे विचारना योग्य है; और जहाँ तक हो सके वहाँ तक लौकिक प्रश्नोत्तरमें भी विशेष उपकारके बिना पड़ना योग्य नहीं है। वैसे प्रसंगोंसे कई बार परमार्थदृष्टिको क्षुब्ध करने जैसा परिणाम आता है।

बड़के बड़बट्टे या पीपलके गोदेका रक्षण भी कुछ उनके वंशकी वृद्धि करनेके हेतुसे उन्हें अभक्ष्य कहा है, ऐसा समझना योग्य नहीं है। उनमें कोमलता होती है, जिससे उनमें अनंतकायका संभव है, तथा उनके बदले दूसरी अनेक वस्तुओंसे निष्पापतासे रहा जा सकता है, फिर भी उन्हींको अंगीकार करनेकी इच्छा रखना यह वृत्तिकी अति तुच्छता है; इसलिये उन्हें अभक्ष्य कहा है, यह यथार्थ लगने योग्य है।

पानीकी बूँदमें असंख्यात जीव हैं, यह बात सच्ची है। परंतु उपर्युक्त बड़के बड़बट्टे आदिमें जो कारण हैं, वैसे कारण इसमें नहीं है, इसलिये इसे अभक्ष्य नहीं कहा है। यद्यपि वैसे पानीको काममें लेनेकी भी आज्ञा है, ऐसा नहीं कहा, और उससे भी अमुक पाप होता है, ऐसा उपदेश है।

[1]पहलेके पत्रमें बीजके सचित्-अचित् संबंधी समाधान लिखा है; वह किसी विशेष हेतुसे संक्षिप्त किया है। परंपरा रूढ़िके अनुसार लिखा है, तथापि उसमें कुछ विशेष भेद समझमें आता है, उसे नहीं लिखा है। लिखने योग्य न लगनेसे नहीं लिखा है। क्योंकि वह भेद विचार मात्र है, और उसमें कुछ वैसा उपकार गर्भित हो ऐसा नहीं दीखता।

नाना प्रकारके प्रश्नोत्तरोंका लक्ष्य एक मात्र आत्मार्थके लिये हो तो आत्माका बहुत उपकार होना संभव है।

---

१. देखें आंक ७०१-४

७०४ राळज, भादों सुदी ८, १९५२

लौकिक दृष्टि और अलौकिक दृष्टिमें बड़ा भेद है। लौकिक दृष्टिमें व्यवहारकी मुख्यता है, और अलौकिक दृष्टिमें परमार्थकी मुख्यता है।

जैन और दूसरे सब मार्गोंमें मनुष्यदेहकी विशेषता एवं अमूल्यता कही है, यह सत्य है; परंतु यदि उससे मोक्षसाधन किया जा सके तो ही उसकी विशेषता एवं अमूल्यता है।

मनुष्य आदि वंशकी वृद्धि करना यह विचार लौकिक दृष्टिका है; परंतु मनुष्यको यथातथ्य योग होनेपर कल्याणका अवश्य निश्चय करना तथा प्राप्ति करना यह विचार अलौकिक दृष्टिका है।

यदि ऐसा ही निश्चय किया गया हो कि क्रमसे ही सर्वसंगपरित्याग करना, तो वह यथास्थित विचार नहीं कहा जा सकता। क्योंकि पूर्वकालमें कल्याणका आराधन किया है ऐसे कई उत्तम जीव लघु वयसे ही उत्कृष्ट त्यागको प्राप्त हुए हैं। इसके दृष्टांतरूप शुकदेवजी, जडभरत आदिके प्रसंग अन्य दर्शनमें है। यदि ऐसा ही नियम बनाया हो कि गृहस्थाश्रमका आराधन किये बिना त्याग होता ही नहीं है तो फिर वैसे परम उदासीन पुरुषको, त्यागका नाश कराकर, कामभोगमें प्रेरित करने जैसा उपदेश कहा जाये, और मोक्षसाधन करनेरूप जो मनुष्यभवकी उत्तमता थी, उसे दूर कर, साधन प्राप्त होनेपर, संसारसाधनका हेतु किया ऐसा कहा जाये।

और एकांतसे ऐसा नियम बनाया हो कि ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम आदिका क्रमसे इतने इतने वर्ष तक सेवन करनेके पश्चात् त्यागी होना तो वह भी स्वतंत्र बात नहीं है। तथारूप आयु न हो तो त्यागका अवसर ही न आये।

और यदि अपुत्ररूपसे त्याग न किया जाये, ऐसा मानें तो तो किसीको वृद्धावस्था तक भी पुत्र नहीं होता, उसके लिये क्या समझना ?

जैनमार्गका भी ऐसा एकांत सिद्धांत नहीं है कि चाहे जिस अवस्थामें चाहे जैसा मनुष्य त्याग करे; तथारूप सत्संग और सद्गुरुका योग होने पर विशेष वैराग्यवान पुरुष सत्पुरुषके आश्रयसे लघु वयमें त्याग करे तो इससे उसे वैसा करना योग्य नहीं था ऐसा जिनसिद्धांत नहीं है; वैसा करना योग्य है ऐसा जिनसिद्धांत है; क्योंकि अपूर्व साधनोंके प्राप्त होनेपर भोगादि साधन भोगनेके विचारमें पड़ना और उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करके उसे अमुक वर्ष तक भोगना ही, यह तो जिस मोक्षसाधनसे मनुष्यभवकी उत्तमता थी, उसे दूर कर पशुवत् करने जैसा होता है।

जिसकी इंद्रियाँ आदि शांत नहीं हुई, ज्ञानीपुरुषकी दृष्टिमें अभी जो त्याग करनेके योग्य नहीं है, ऐसे मंद वैराग्यवान अथवा मोहवैराग्यवानके लिये त्यागको अपनाना प्रशस्त ही है, ऐसा कुछ जिनसिद्धांत नहीं है।

पहलेसे ही जिसे सत्संगादिका योग न हो, तथा पूर्वकालके उत्तम संस्कारयुक्त वैराग्य न हो वह पुरुष कदाचित् आश्रमपूर्वक प्रवृत्ति करे तो इससे उसने एकांत भूल की है, ऐसा नहीं कहा जा सकता; यद्यपि उसे भी रातदिन उत्कृष्ट त्यागकी जागृति रखते हुए गृहस्थाश्रम आदिका सेवन करना प्रशस्त है।

उत्तम संस्कारवाले पुरुष गृहस्थाश्रमको अपनाये बिना त्याग करें, उससे मनुष्यप्राणीकी वृद्धि रुक जाये, और उससे मोक्षसाधनके कारण रुक जाये, यह विचार करना अल्पदृष्टिसे योग्य दिखायी दे, क्योंकि प्रत्यक्ष मनुष्यदेह जो मोक्षसाधनका हेतु होती थी उसे रोककर पुत्रादिकी कल्पनामें पड़कर, फिर वे मोक्षसाधनका आराधन करेंगे ही ऐसा निश्चय करके उनकी उत्पत्तिके लिये गृहस्थाश्रममें पड़ना; और

फिर उनकी उत्पत्ति होगी यह भी मान लेना और कदाचित् वे संयोग हुए तो जैसे अभी पुत्रोत्पत्तिके लिये इस पुरुषको रुकना पड़ा था वैसे उसे भी रुकना पड़े, इससे तो किसीको उत्कृष्ट त्यागरूप मोक्षसाधन प्राप्त होनेके योगको न आने देने जैसा हो।

और किसी किसी उत्तम संस्कारवान पुरुषके गृहस्थाश्रम प्राप्तिके पूर्वके त्यागसे वंशवृद्धि न हो ऐसा विचार करें तो वैसे उत्तम पुरुषके उपदेशसे अनेक जीव जो मनुष्य आदि प्राणियोंका नाश करनेसे नहीं डरते, वे उपदेश पाकर वर्तमानमें उस प्रकार मनुष्य आदि प्राणियोंका नाश करनेसे क्यों न रुकें? तथा शुभवृत्ति होनेसे फिर मनुष्यभव क्यों न प्राप्त करें? और इस तरह मनुष्यका रक्षण तथा वृद्धि भी संभव है।

अलौकिक दृष्टिमें तो मनुष्यकी हानि-वृद्धि आदिका मुख्य विचार नहीं है, कल्याण-अकल्याणका मुख्य विचार है। एक राजा यदि अलौकिक दृष्टि प्राप्त करे तो अपने मोहसे हजारों मनुष्य प्राणियोंका युद्धमें नाश होनेका हेतु देखकर बहुत बार बिना कारण वैसे युद्ध उत्पन्न न करे, जिससे बहुतसे मनुष्योंका बचाव हो और उससे वंशवृद्धि होकर बहुतसे मनुष्य बढ़ें ऐसा विचार भी क्यों न किया जाये?

इंद्रियाँ अतृप्त हों, विशेष मोहप्रधान हो, मोहवैराग्यसे मात्र क्षणिक वैराग्य उत्पन्न हुआ हो और यथातथ्य सत्संगका योग न हो तो उसे दीक्षा देना प्रायः प्रशस्त नहीं कहा जा सकता, ऐसा कहें तो विरोध नहीं। परंतु उत्तम संस्कारयुक्त और मोहांध, ये सब गृहस्थाश्रम भोगकर ही त्याग करें ऐसा प्रतिबंध करनेसे तो आयु आदिकी अनियमितता, योग प्राप्त होनेपर उसे दूर करना इत्यादि अनेक विरोधोंसे मोक्षसाधनका नाश करने जैसा होता है, और जिससे उत्तमता मानी जाती थी वह न हुआ, तो फिर मनुष्यभवकी उत्तमता भी क्या है? इत्यादि अनेक प्रकारसे विचार करनेसे लौकिक दृष्टि दूर होकर अलौकिक दृष्टिसे विचार-जागृति होगी।

बड़के बड़बट्टे या पीपलके गोदेकी वंशवृद्धिके लिये उनका रक्षण करनेके हेतुसे कुछ उन्हें अभक्ष्य नहीं कहा है। उनमें कोमलता होती है, तब अनन्तकायका संभव है। इससे तथा उनके बदले दूसरी अनेक वस्तुओंसे चल सकता है, फिर भी उसीका ग्रहण करना, यह वृत्तिकी अति क्षुद्रता है, इसलिये अभक्ष्य कहा है, यह यथातथ्य लगने योग्य है।

पानीकी बूँदमें असंख्यात जीव हैं, यह बात सच्ची है, परंतु वैसा पानी पीनेसे पाप नहीं है ऐसा नहीं कहा। फिर उसके बदले गृहस्थ आदिको दूसरी वस्तुसे चल नहीं सकता, इसलिये अंगीकार किया जाता है, परंतु साधुको तो वह भी लेनेकी आज्ञा प्रायः नहीं दी है।

जब तक हो सके तब तक ज्ञानीपुरुषके वचनोंको लौकिक दृष्टिके आशयमें न लेना योग्य है, और अलौकिक दृष्टिसे विचारणीय है। उस अलौकिक दृष्टिके कारण यदि सन्मुख जीवके हृदयमें अंकित करनेकी शक्ति हो तो अंकित करना, नहीं तो इस विषयमें अपना विशेष ज्ञान नहीं है ऐसा बताना तथा मोक्षमार्गमें केवल लौकिक विचार नहीं होता इत्यादि कारण यथाशक्ति बताकर संभवित समाधान करना, नहीं तो यथासंभव वैसे प्रसंगसे दूर रहना, यह ठीक है।

---

७०५ वडवा, भादों सुदी ११, गुरु, १९५२

आज दिन पर्यंत इस आत्मासे मन, वचन और कायाके योगसे आप संबंधी जो कुछ अविनय, आसातना या अपराध हुआ हो उसकी शुद्ध अंतःकरणसे नम्रताभावसे मस्तक झुकाकर दोनों हाथ जोड़कर क्षमा माँगता हूँ। आपके समीपवासी भाइयोंसे भी उसी प्रकारसे क्षमा माँगता हूँ।

---

७०६ वडवा (स्थंभतीर्थके समीप),
भादों सुदी ११, गुरु, १९५२

शुभेच्छासंपन्न आर्य केशवलालके प्रति, लींबडी।

सहजात्मस्वरूपसे यथायोग्य प्रणाम प्राप्त हो।

तीन पत्र प्राप्त हुए हैं। 'कुछ भी वृत्ति रोकते हुए, उसकी अपेक्षा विशेष अभिमान रहता है', तथा 'तृष्णाके प्रवाहमें चलते हुए बह जाते हैं, और उसकी गतिको रोकनेकी सामर्थ्य नहीं रहती।' इत्यादि विवरण तथा 'क्षमापना और कर्कटी राक्षसीके 'योगवासिष्ठ' संबंधी प्रसंगकी, जगतका भ्रम दूर करनेके लिये विशेषता' लिखी यह सब विवरण पढ़ा है। अभी लिखनेमें विशेष उपयोग नहीं रह सकता जिससे पत्रकी पहुँच भी लिखनेसे रह जाती है। संक्षेपमें उन पत्रोंका उत्तर निम्नलिखितसे विचारणीय है।

(१) वृत्ति आदिका संयम अभिमानपूर्वक होता हो तो भी करना योग्य है। विशेषता इतनी है कि उस अभिमानके लिये निरंतर खेद रखना। वैसा हो तो क्रमशः वृत्ति आदिका संयम हो और तत्संबंधी अभिमान भी न्यून होता जाय।

(२) अनेक स्थलोंपर विचारवान पुरुषोंने ऐसा कहा है कि ज्ञान होनेपर काम, क्रोध, तृष्णा आदि भाव निर्मूल हो जाते हैं, यह सत्य है। तथापि उन वचनोंका ऐसा परमार्थ नहीं है कि ज्ञान होनेसे पहले वे मंद न पड़ें या कम न हों। यद्यपि उनका समूल छेदन तो ज्ञानसे होता है, परंतु जब तक कषाय आदिकी मंदता या न्यूनता न हो तब तक ज्ञान प्रायः उत्पन्न ही नहीं होता। ज्ञान प्राप्त होनेमें विचार मुख्य साधन है, और उस विचारके वैराग्य (भोगके प्रति अनासक्ति) तथा उपशम (कषाय आदिकी बहुत ही मंदता, उनके प्रति विशेष खेद) ये दो मुख्य आधार हैं। ऐसा जानकर उसका निरंतर लक्ष्य रखकर वैसी परिणति करना योग्य है।

सत्पुरुषके वचनके यथार्थ ग्रहणके बिना प्रायः विचारका उद्भव नहीं होता; और सत्पुरुषके वचनका यथार्थ ग्रहण तभी होता है जब सत्पुरुषकी 'अनन्य आश्रय भक्ति' परिणत होती है, क्योंकि सत्पुरुषकी प्रतीति ही कल्याण होनेमें सर्वोत्तम निमित्त है। प्रायः ये कारण परस्पर अन्योन्याश्रय जैसे हैं। कहीं किसीकी मुख्यता है, और कहीं किसीकी मुख्यता है, तथापि ऐसा तो अनुभवमें आता है कि जो सच्चा मुमुक्षु हो, उसे सत्पुरुषकी 'आश्रयभक्ति', अहंभाव आदिके छेदनके लिये और अल्पकालमें विचारदशा परिणमित होनेके लिये उत्कृष्ट कारणरूप होती है।

भोगमें अनासक्ति हो, तथा लौकिक विशेषता दिखानेकी बुद्धि कम की जाये तो तृष्णा निर्बल होती जाती है। लौकिक मान आदिकी तुच्छता समझमें आ जाये तो उसकी विशेषता नहीं लगती; और इससे उसकी इच्छा सहजमें मंद हो जाती है, ऐसा यथार्थ भासित होता है। बहुत ही मुश्किलसे आजीविका चलती हो तो भी मुमुक्षुके लिये वह पर्याप्त है; क्योंकि विशेषकी कुछ आवश्यकता या उपयोग (कारण) नहीं है, ऐसा जब तक निश्चय न किया जाये तब तक तृष्णा नाना प्रकारसे आवरण किया करती है। लौकिक विशेषतामें कुछ सारभूतता नहीं है, ऐसा निश्चय किया जाये तो मुश्किलसे आजीविका जितना मिलता हो तो भी तृप्ति रहती है। मुश्किलसे आजीविका जितना न मिलता हो तो भी मुमुक्षुजीव प्रायः आर्त्तध्यान न होने दे अथवा होनेपर विशेष खेद करे; और आजीविकामें कर्मीको यथाधर्म पूर्ण करनेकी मंद कल्पना करे; इत्यादि प्रकारसे बर्ताव करते हुए तृष्णाका पराभव (क्षय) होना योग्य दीखता है।

(३) बहुधा सत्पुरुषके वचनसे आध्यात्मिक शास्त्र भी आत्मज्ञानका हेतु होता है, क्योंकि परमार्थ आत्मा शास्त्रमें नहीं रहता, सत्पुरुषमें रहता है। मुमुक्षुको यदि किसी सत्पुरुषका आश्रय प्राप्त हुआ हो तो

प्रायः ज्ञानकी याचना करना योग्य नहीं है, मात्र तथारूप वैराग्य उपशम आदि प्राप्त करनेका उपाय करना योग्य है। वह योग्य प्रकारसे सिद्ध होनेपर ज्ञानीका उपदेश सुलभतासे परिणमित होता है, और यथार्थ विचार और ज्ञानका हेतु होता है।

(४) जब तक कम उपाधिवाले क्षेत्रमें आजीविका चलती हो तब तक विशेष प्राप्त करनेकी कल्पनासे मुमुक्षुको, किसी एक विशेष अलौकिक हेतुके बिना अधिक उपाधिवाले क्षेत्रमें जाना योग्य नहीं है, क्योंकि उससे बहुतसी सद्वृत्तियाँ मंद पड़ जाती हैं, अथवा वर्धमान नहीं होती।

(५) 'योगवासिष्ठ'के पहले दो प्रकरण और वैसे ग्रंथोंका मुमुक्षुको विशेष ध्यान करना योग्य है।

---

७०७ वडवा, भादों सुदी ११, गुरु, १९५२

ब्रह्मरंध्र आदिमें होनेवाले भासके विषयमें पहले बंबई पत्र मिला था। अभी उस विषयके विवरणका दूसरा पत्र मिला है। वह वह भास होना संभव है, ऐसा कहनेमें कुछ समझके भेदसे व्याख्याभेद होता है। श्री वैजनाथजीका आपको समागम है, तो उनके द्वारा उस मार्गका यथाशक्ति विशेष पुरुषार्थ होता हो तो करना योग्य है। वर्तमानमें उस मार्गके प्रति हमारा विशेष उपयोग नहीं रहता है। और पत्र द्वारा प्रायः उस मार्गका विशेष ध्यान कराया नहीं जा सकता, जिससे, आपको श्री वैजनाथजीका समागम है तो यथाशक्ति उस समागमका लाभ लेनेकी वृत्ति रखें तो आपत्ति नहीं है।

आत्माकी कुछ उज्ज्वलताके लिये, उसके अस्तित्व तथा माहात्म्य आदिकी प्रतीतिके लिये तथा आत्मज्ञानकी अधिकारिताके लिये वह साधन उपकारी है। इसके सिवाय प्रायः अन्य प्रकारसे उपकारी नहीं है; इतना ध्यान अवश्य रखना योग्य है। यही विनती।

सहजात्मस्वरूपसे यथायोग्य प्रणाम विदित हो।

---

७०८ राळज, भादों, १९५२

द्वितीय जेठ सुदी १, शनिको आपको लिखा पत्र ध्यानमें आये तो यहाँ भेज × × ×[1] जैसे चलता आया है, वैसे चलता आये, और मुझे किसी प्रतिबंधसे प्रवृत्ति करनेका कारण नहीं है, ऐसा भावार्थ आपने लिखा, उस विषयमें जाननेके लिये संक्षेपमें नीचे लिखता हूँ—

जैनदर्शनकी पद्धतिसे देखते हुए सम्यग्दर्शन और वेदांतकी पद्धतिसे देखते हुए केवलज्ञान हमें संभव है। जैनमें केवलज्ञानका जो स्वरूप लिखा है, मात्र उसीको समझना मुश्किल हो जाता है। फिर वर्तमानमें उस ज्ञानका उसीने निषेध किया है, जिससे तत्संबंधी प्रयत्न करना भी सफल दिखायी नहीं देता।

जैनप्रसंगमें हमारा अधिक निवास हुआ है, तो किसी भी प्रकारसे उस मार्गका उद्धार हम जैसों द्वारा विशेषतः हो सकता है, क्योंकि उसका स्वरूप विशेषतः समझमें आया हो, इत्यादि। वर्तमानमें जैनदर्शन इतना अधिक अव्यवस्थित अथवा विपरीत स्थितिमें देखनेमें आता है, कि उसमेंसे मानों जिनेंद्रको × × × ×[2] गया है, और लोग मार्ग प्ररूपित करते हैं। बाह्य झंझट बहुत बढ़ा दी है, और अंतर्मार्गका ज्ञान प्रायः विच्छेद जैसा हुआ है। वेदोक्त मार्गमें दो सौ चार सौ बरसमें कोई कोई महान आचार्य हुए दिखायी देते हैं कि जिससे लाखों मनुष्योंको वेदोक्त पद्धति सचेत होकर प्राप्त हुई हो। फिर साधारणतः कोई कोई आचार्य अथवा उस मार्गके जाननेवाले सत्पुरुष इसी तरह हुआ करते हैं, और जैनमार्गमें बहुत वर्षोंसे वैसा हुआ मालूम नहीं होता। जैनमार्गमें प्रजा भी बहुत थोड़ी रह गयी है और उसमें

१-२. यहाँ अक्षर खंडित हो गये हैं।

सैंकड़ों भेद हैं। इतना ही नहीं, किन्तु 'मूलमार्ग' के सन्मुख होनेकी बात भी उनके कानमें नहीं पड़ती, और उपदेशकके ध्यानमें नहीं है, ऐसी स्थिति है। इसलिये चित्तमें ऐसा आया करता है कि यदि उस मार्गका अधिक प्रचार हो तो वैसे करना, नहीं तो उसमें रहनेवाली प्रजाको मूललक्ष्यरूपसे प्रेरित करना। यह काम बहुत विकट है। तथा जैनमार्गको स्वयमेव समझना और समझाना कठिन है। उसे समझाते हुए अनेक प्रतिबंधक कारण आ खड़े हों, ऐसी स्थिति है। इसलिये वैसी प्रवृत्ति करते हुए डर लगता है। उसके साथ-साथ ऐसा भी रहता है कि यदि यह कार्य इस कालमें हमारेसे कुछ भी बने तो बन सकता है, नहीं तो अभी तो मूलमार्गके सन्मुख होनेके लिये दूसरेका प्रयत्न काम आये वैसा दिखायी नहीं देता। प्रायः मूलमार्ग दूसरेके ध्यानमें नहीं है, तथा उसका हेतु दृष्टांतपूर्वक उपदेश करनेमें परमश्रुत आदि गुण अपेक्षित हैं, एवं बहुतसे अंतरंग गुण अपेक्षित है, वे यहाँ हैं, ऐसा दृढ़ भास होता है।

इस तरह यदि मूलमार्गको प्रकाशमें लाना हो तो प्रकाशमें लानेवालेको सर्वसंगपरित्याग करना योग्य है; क्योंकि उससे यथार्थ समर्थ उपकार होनेका प्रसंग आता है। वर्तमान दशाको देखते हुए, सत्तागत कर्मोंपर दृष्टि डालते हुए कुछ समयके बाद उसका उदयमें आना संभव है। हमें सहजस्वरूपज्ञान है, जिससे योगसाधनकी इतनी अपेक्षा न होनेसे उसमें प्रवृत्ति नहीं की, तथा वह सर्वसंगपरित्यागमें अथवा विशुद्ध देशपरित्यागमें साधने योग्य है। इससे लोगोंका बहुत उपकार होता है, यद्यपि वास्तविक उपकारका कारण तो आत्मज्ञानके बिना दूसरा कोई नहीं है।

अभी दो वर्ष तक तो वह योगसाधन विशेषतः उदयमें आये वैसा दिखायी नहीं देता, इसलिये इसके बादकी कल्पना की जाती है, और तीनसे चार वर्ष उस मार्गमें व्यतीत किये जायें तो ३६वें वर्षमें सर्वसंगपरित्यागी उपदेशकका समय आये, और लोगोंका श्रेय होना हो तो हो।

छोटी उमरमें मार्गका उद्धार करनेकी अभिलाषा रहा करती थी, उसके बाद ज्ञानदशा आनेपर क्रमशः वह उपशांत जैसी हो गयी; परंतु कोई कोई लोग परिचयमें आये थे, उन्हें कुछ विशेषता भासित होनेसे किंचित् मूलमार्गपर लक्ष्य आया था, और इस तरफ तो सैकड़ों या हजारों मनुष्य समागममें आये थे जिनमेंसे लगभग सौ मनुष्य कुछ समझदार और उपदेशकके प्रति आस्थावाले निकलेंगे। इस परसे ऐसा देखनेमें आया कि लोग तरनेके इच्छुक विशेष हैं; परंतु उन्हें वैसा योग मिलता नहीं है। यदि सचमुच उपदेशक पुरुषका योग बने तो बहुतसे जीव मूलमार्ग प्राप्त कर सकते हैं, और दया आदिका विशेष उद्योत हो सकता है। ऐसा दिखायी देनेसे कुछ चित्तमें आता है कि यह कार्य कोई करे तो बहुत अच्छा; परंतु नजर दौड़ानेसे वैसा पुरुष ध्यानमें नहीं आता, इसलिये लिखनेवालेकी ओर ही कुछ नजर जाती है; परंतु लिखनेवालेका जन्मसे लक्ष्य ऐसा है कि इसके जैसा एक भी जोखिमवाला पद नहीं है, और जब तक अपनी उस कार्यकी यथायोग्यता न हो तब तक उसकी इच्छा मात्र भी नहीं करनी चाहिये, और बहुत करके अभी तक वैसा ही वर्तन किया गया है। मार्गका यत्किंचित् स्वरूप किसी-किसीको समझाया है, तथापि किसीको एक भी व्रतपच्चक्खान दिया नहीं है, अथवा तुम मेरे शिष्य हो और हम गुरु है, ऐसा प्रकार प्रायः प्रदर्शित हुआ नहीं है। कहनेका हेतु यह है कि सर्वसंगपरित्याग होनेपर उस कार्यकी प्रवृत्ति सहजस्वभावसे उदयमें आये तो करना, ऐसी मात्र कल्पना है। उसका वास्तवमें आग्रह नहीं है, मात्र अनुकंपा आदि तथा ज्ञानप्रभाव है, इससे कभी-कभी वह वृत्ति उद्भवित होती है, अथवा अल्पांशमें वह वृत्ति अंतरमें है, तथापि वह स्ववश है। हमारी धारणाके अनुसार सर्वसंगपरित्यागादि हो तो हजारों मनुष्य मूलमार्गको प्राप्त करें, और हजारों मनुष्य उस सन्मार्गका आराधन करके सद्गतिको प्राप्त करें, ऐसा हमारे द्वारा होना संभव है। हमारे संगमें अनेक जीव त्यागवृत्तिवाले हो जाये ऐसा हमारे

अंतरमें त्याग है। धर्म स्थापित करनेका मान बड़ा है; उसकी स्पृहासे भी कदाचित् ऐसी वृत्ति रहे, परंतु आत्माको बहुत बार कसकर देखनेसे उसकी संभावना वर्तमान दशामें कम ही दीखती है; और किंचित् सत्तामें रही होगी तो वह क्षीण हो जायेगी, ऐसा अवश्य भासित होता है, क्योंकि यथायोग्यताके बिना, देह छूट जाये वैसी दृढ़ कल्पना हो तो भी, मार्गका उपदेश नहीं करना, ऐसा आत्मनिश्चय नित्य रहता है। एक इस बलवान कारणसे परिग्रह आदिका त्याग करनेका विचार रहा करता है। मेरे मनमें ऐसा रहता है कि वेदोक्त धर्म प्रकाशित या स्थापित करना हो तो मेरी दशा यथायोग्य है। परंतु जिनोक्त धर्म स्थापित करना हो तो अभी तक उतनी योग्यता नहीं है, फिर भी विशेष योग्यता है ऐसा लगता है।

---

७०९ राळज, भादों, १९५२

१. हे नाथ! या तो धर्मोन्नति करनेकी इच्छा सहजतासे शांत हो जाओ; या फिर वह इच्छा अवश्य कार्यरूप हो जाओ। अवश्य कार्यरूप होना बहुत दुष्कर दिखाई देता है, क्योंकि छोटी छोटी बातोंमें मतभेद बहुत हैं, और उनकी जड़ें बहुत गहरी हैं। मूलमार्गसे लोग लाखों कोस दूर हैं, इतना ही नहीं परंतु मूलमार्गकी जिज्ञासा उनमें जगानी हों, तो भी दीर्घकालका परिचय होनेपर भी उसका जगना कठिन हो ऐसी उनकी दुराग्रह आदिसे जड़प्रधानदशा हो गई है।

२. उन्नतिके साधनोंकी स्मृति करता हूँ—

बोधबीजके स्वरूपका निरूपण मूलमार्गके अनुसार जगह-जगह हो।
जगह जगह मतभेदसे कुछ भी कल्याण नहीं है, यह बात फैले।
प्रत्यक्ष सद्गुरुकी आज्ञासे धर्म है, यह बात ध्यानमें आये।
द्रव्यानुयोग—आत्मविद्याका प्रकाश हो।
त्याग वैराग्यकी विशेषतापूर्वक साधु विचरें।
नवतत्त्वप्रकाश।
साधुधर्मप्रकाश।
श्रावकधर्मप्रकाश।
विचार।
अनेक जीवोंको प्राप्ति।

---

७१० वडवा, भादों सुदी १५, सोम, १९५२

आत्मा ॐ आत्मा
सच्चिदानंद सच्चिदानंद

ज्ञानापेक्षासे सर्वव्यापक, सच्चिदानंद ऐसा मैं आत्मा एक हूँ, ऐसा विचार करना, ध्यान करना।
निर्मल, अत्यंत निर्मल, परमशुद्ध, चैतन्यघन, प्रगट आत्मस्वरूप है।
सबको कम करते करते जो अबाध्य अनुभव रहता है वह आत्मा है।
जो सबको जानता है वह आत्मा है।
जो सब भावोंको प्रकाशित करता है वह आत्मा है।
उपयोगमय आत्मा है।
अव्याबाध समाधिस्वरूप आत्मा है।
आत्मा है, आत्मा अत्यंत प्रगट है, क्योंकि स्वसंवेदन प्रगट अनुभवमें है।

वह आत्मा नित्य है, अनुत्पन्न और अमिलनस्वरूप होनेसे।
भ्रांतिरूपसे परभावका कर्ता है।
उसके फलका भोक्ता है।
भान होनेपर स्वभावपरिणामी है।
सर्वथा स्वभावपरिणाम वह मोक्ष है।
सद्गुरु, सत्संग, सत्शास्त्र, सद्विचार और संयम आदि उसके साधन हैं।
आत्माके अस्तित्वसे लेकर निर्वाण तकके पद सच्चे हैं, अत्यंत सच्चे हैं, क्योंकि प्रगट अनुभवमें आते हैं।
भ्रांतिरूपसे आत्मा परभावका कर्ता होनेसे शुभाशुभ कर्मकी उत्पत्ति होती है।
कर्म सफल होनेसे उस शुभाशुभ कर्मको आत्मा भोगता है।
उत्कृष्ट शुभसे उत्कृष्ट अशुभ तकके सर्व न्यूनाधिक पर्याय भोगनेरूप क्षेत्र अवश्य है।
निजस्वभावज्ञानमें केवल उपयोगसे, तन्मयाकार, सहजस्वभावसे, निर्विकल्परूपसे आत्मा जो परिणमन करता है, वह केवलज्ञान है।
तथारूप प्रतीतिरूपसे जो परिणमन करता है वह सम्यक्त्व है।
निरंतर वह प्रतीति रहा करे, उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं।
क्वचित् मंद, क्वचित् तीव्र, क्वचित् विसर्जन, क्वचित् स्मरणरूप, ऐसी प्रतीति रहे उसे क्षयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं।
उस प्रतीतिको जब तक सत्तागत आवरण उदयमें नहीं आया तब तक उपशम सम्यक्त्व कहते हैं।
आत्माको जब आवरण उदयमें आये तब वह उस प्रतीतिसे गिर पड़े उसे सास्वादन सम्यक्त्व कहते हैं।
अत्यंत प्रतीति होनेके योगमें सत्तागत अल्प पुद्गलका वेदन जहाँ रहा है, उसे वेदक सम्यक्त्व कहते हैं।
तथारूप प्रतीति होनेपर अन्यभाव संबंधी अहंत्व-ममत्व आदिका, हर्ष-शोकका क्रमशः क्षय होता है।
मनरूपी योगमें तारतम्यसहित जो कोई चारित्रकी आराधना करता है वह सिद्धि पाता है। और जो स्वरूपस्थिरताका सेवन करता है वह स्वभावस्थिति प्राप्त करता है।
निरंतर स्वरूपलाभ, स्वरूपाकार उपयोगका परिणमन इत्यादि स्वभाव अंतराय कर्मके क्षयसे प्रगट होते हैं।
जो केवल स्वभावपरिणामी ज्ञान है वह केवलज्ञान है.....केवलज्ञान है।

---

७११ राळज, भादों, १९५२

बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन और मीमांसा ये पाँच आस्तिक दर्शन अर्थात् बंध-मोक्ष आदि भावको स्वीकार करनेवाले दर्शन हैं। नैयायिकके अभिप्राय जैसा ही वैशेषिकका अभिप्राय है, सांख्य जैसा ही योगका अभिप्राय है—इनमें सहज भेद है, इसलिये उन दर्शनोंका अलग विचार नहीं किया है। पूर्व और उत्तर, ये मीमांसादर्शनके दो भेद है। पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसामें विचारभेद विशेष हैं; तथापि मीमांसा शब्दसे दोनोंका बोध होता है, इसलिये यहाँ उस शब्दसे दोनों समझें। पूर्वमीमांसाका 'जैमिनी' और उत्तरमीमांसाका

'वेदांत' ये नाम भी प्रसिद्ध हैं।

बौद्ध और जैनके सिवाय बाकीके दर्शन वेदको मुख्य मानकर चलते हैं; इसलिये वेदाश्रित दर्शन हैं; और वेदार्थको प्रकाशित कर अपने दर्शनको स्थापित करनेका प्रयत्न करते हैं। बौद्ध और जैन वेदाश्रित नहीं हैं, स्वतंत्र दर्शन हैं।

आत्मा आदि पदार्थको न स्वीकार करनेवाला ऐसा चार्वाक नामका छठा दर्शन है।

बौद्धदर्शनके मुख्य चार भेद हैं—१. सौत्रांतिक, २. माध्यमिक, ३. शून्यवादी और ४. विज्ञानवादी। वे भिन्न भिन्न प्रकारसे भावोंकी व्यवस्था मानते हैं।

जैनदर्शनके सहज प्रकारांतरसे दो भेद हैं—दिगंबर ओर श्वेतांबर।

पाँचों आस्तिक दर्शनोंको जगत अनादि अभिमत है।

बौद्ध, सांख्य, जैन और पूर्वमीमांसाके अभिप्रायसे सृष्टिकर्ता ऐसा कोई ईश्वर नहीं है।

नैयायिकके अभिप्रायसे तटस्थरूपसे ईश्वर कर्ता है। वेदांतके अभिप्रायसे आत्मामें जगत विवर्तरूप अर्थात् कल्पितरूपसे भासित होता है, और इस तरहसे ईश्वरको कल्पितरूपसे कर्ता माना है।

योगके अभिप्रायसे नियंतारूपसे ईश्वर पुरुषविशेष है।

बौद्धके अभिप्रायसे त्रिकाल और वस्तुस्वरूप आत्मा नहीं है, क्षणिक है। शून्यवादी बौद्धके अभिप्रायसे विज्ञान मात्र है; और विज्ञानवादी बौद्धके अभिप्रायसे दुःख आदि तत्त्व हैं। उनमें विज्ञानस्कन्ध क्षणिकरूपसे आत्मा है।

नैयायिकके अभिप्रायसे सर्वव्यापक ऐसे असंख्य जीव हैं। ईश्वर भी सर्वव्यापक है। आत्मा आदिको मनके सान्निध्यसे ज्ञान उत्पन्न होता है।

सांख्यके अभिप्रायसे सर्वव्यापक ऐसे असंख्य आत्मा हैं। वे नित्य, अपरिणामी और चिन्मात्रस्वरूप हैं।

जैनके अभिप्रायसे अनंत द्रव्य आत्मा हैं, प्रत्येक भिन्न है। ज्ञान, दर्शन आदि चेतना स्वरूप, नित्य और परिणामी प्रत्येक आत्मा असंख्यातप्रदेशी स्वशरीरावगाहवर्त्ती माना है।

पूर्वमीमांसाके अभिप्रायसे जीव असंख्य हैं, चेतन हैं।

उत्तरमीमांसाके अभिप्रायसे एक ही आत्मा सर्वव्यापक और सच्चिदानंदमय त्रिकालाबाध्य है।

---

७१२ आणंद, भादों वदी १२, रवि, १९५२

पत्र मिला है। 'मनुष्य आदि प्राणीकी वृद्धि'के संबंधमें आपने जो प्रश्न लिखा था, वह प्रश्न जिस कारणसे लिखा गया था, वह कारण प्रश्न मिलनेके समय सुना था। ऐसे प्रश्नसे आत्मार्थ सिद्ध नहीं होता, अथवा वृथा कालक्षेप जैसा होता है; इसलिये आत्मार्थका लक्ष्य होनेके लिये, आपको वैसे प्रश्नके प्रति अथवा वैसे प्रसंगोंके प्रति उदासीन रहना योग्य है, ऐसा लिखा था। तथा वैसे प्रश्नका उत्तर लिखने जैसी यहाँ वर्तमान दशा प्रायः नहीं है, ऐसा लिखा था। अनियमित और अल्प आयुवाली इस देहमें आत्मार्थका लक्ष्य सर्व प्रथम कर्तव्य है।

---

७१३ आणंद, आसोज, १९५२

ॐ

आस्तिक ऐसे मूल पाँच दर्शन आत्माका निरूपण करते हैं, उनमें भेद देखनेमें आता है, उसका समाधान—

दिन प्रतिदिन जैनदर्शन क्षीण होता हुआ देखनेमें आता है, और वर्धमानस्वामीके बाद थोड़े ही वर्षोंमें उसमें नाना प्रकारके भेद हुए दिखायी देते हैं, इत्यादिके क्या कारण हैं ?

हरिभद्र आदि आचार्योंने नवीन योजनाकी भाँति श्रुतज्ञानकी उन्नति की है ऐसा दिखायी देता है; परंतु लोकसमुदायमें जैनमार्गका अधिक प्रचार हुआ दिखायी नहीं देता, अथवा तथारूप अतिशय संपन्न धर्मप्रवर्तक पुरुषका उस मार्गमें उत्पन्न होना कम दिखायी देता है, उसके क्या कारण हैं ?

अब वर्तमानमें उस मार्गकी उन्नति होना संभव है या नहीं ? और हो तो किस किस तरह होनी संभव दीखती है, अर्थात् उस बातका, कहाँसे उत्पन्न होकर, किस तरह, किस द्वारसे और किस स्थितिमें प्रचार होना संभवित दीखता है ? और फिर वर्धमानस्वामीके समयकी तरह वर्तमानकालके योग आदिके अनुसार उस धर्मका उदय हो ऐसा क्या दीर्घदृष्टिसे संभव है ? और यदि संभव हो तो वह किस किस कारणसे संभव है ?

जो जैनसूत्र अभी वर्तमानमें हैं, उनमें उस दर्शनका स्वरूप बहुत अधूरा रहा हुआ दिखाई देता है, वह विरोध किस तरह दूर हो ?

उस दर्शनकी परंपरामें ऐसा कहा गया है कि वर्तमानकालमें केवलज्ञान नहीं होता, और केवलज्ञानका विषय सर्व कालमें लोकालोकको द्रव्यगुणपर्यायसहित जानना माना है, क्या वह यथार्थ मालूम होता है ? अथवा उसके लिये विचार करनेपर कुछ निर्णय हो सकता है या नहीं ? उसकी व्याख्यामें कुछ अंतर दिखायी देता है या नहीं ? और मूल व्याख्याके अनुसार कुछ दूसरा अर्थ होता हो तो उस अर्थके अनुसार वर्तमानमें केवलज्ञान उत्पन्न हो सकता है या नहीं ? और उसका उपदेश किया जा सकता है या नहीं ? तथा दूसरे ज्ञानोंकी जो व्याख्या कही गयी है वह भी कुछ अंतरवाली लगती है या नहीं ? और वह किन कारणोंसे ?

द्रव्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय; आत्मा मध्यम अवगाही, संकोच-विकासका भाजन; महाविदेह आदि क्षेत्रकी व्याख्या—वे कुछ अपूर्व रीतिसे या कही हुई रीतिसे अत्यंत प्रबल प्रमाणसहित सिद्ध होने योग्य मालूम होते हैं या नहीं ?

गच्छके मतमतांतर बहुत ही तुच्छ तुच्छ विषयोंमें बलवान आग्रही होकर भिन्न भिन्नरूपसे दर्शनमोहनीयके हेतु हो गये हैं; उसका समाधान करना बहुत विकट है। क्योंकि उन लोगोंकी मति विशेष आवरणको प्राप्त हुए बिना इतने अल्प कारणोंमें बलवान आग्रह नहीं होता।

अविरति, देशविरति, सर्वविरति इनमेंसे किस आश्रमवाले पुरुषसे विशेष उन्नति हो सकना संभव है ? सर्वविरति बहुतसे कारणोंमें प्रतिबंधके कारण प्रवृत्ति नहीं कर सकता; देशविरति और अविरतिकी तथारूप प्रतीति होना मुश्किल है, और फिर जैनमार्गमें भी उस रीतिका समावेश कम है। ये विकल्प हमें किसलिये उठते हैं ? और उन्हें शांत कर देनेका चित्त है तो क्या उसे शांत कर दें ? (अपूर्ण)

७१४

सं० १९५२

ॐ जिनाय नमः

भगवान जिनेंद्रके कहे हुए लोकसंस्थान आदि भाव आध्यात्मिक दृष्टिसे सिद्ध होने योग्य है।

चक्रवर्ती आदिका स्वरूप भी आध्यात्मिक दृष्टिसे समझमें आने जैसा है।

मनुष्यकी ऊँचाईके प्रमाण आदिमें भी वैसा संभव है।

काल प्रमाण आदि भी उसी तरह घटित होते हैं।

निगोद आदि भी उसी तरह घटित होने योग्य हैं।

सिद्धस्वरूप भी इसी भावसे निदिध्यासनके योग्य है।

—संप्राप्त होने योग्य मालूम होता है।

लोक शब्दका अर्थ
अनेकांत शब्दका अर्थ } आध्यात्मिक है।

सर्वज्ञ शब्दको समझना बहुत गूढ़ है।

धर्मकथारूप चरित्र आध्यात्मिक परिभाषासे अलंकृत लगते हैं।

जंबुद्वीप आदिका वर्णन भी अध्यात्म परिभाषासे निरूपित किया हुआ लगता है।

अतींद्रिय ज्ञानके भगवान जिनेंद्रने दो भेद किये हैं।

देश प्रत्यक्ष,

वह दो भेदसे—

अवधि,

मनःपर्याय।

इच्छितरूपसे अवलोकन करता हुआ आत्मा इन्द्रियके अवलंबनके बिना अमुक मर्यादाको जाने, वह अवधि है।

अनिच्छित होनेपर भी मानसिक विशुद्धिके बल द्वारा जाने, वह मनःपर्याय है।

सामान्य विशेष चैतन्यात्मदृष्टिमें परिनिष्ठित शुद्ध केवलज्ञान है।

श्री जिनेंद्रके कहे हुए भाव अध्यात्म परिभाषामय होनेसे समझमें आने कठिन हैं। परम पुरुषका योग संप्राप्त होना चाहिये।

जिनपरिभाषा-विचारका यथावकाश विशेष निदिध्यास करना योग्य है।

---

७१५ आणंद, आसोज सुदी १, १९५२

***मूळ मारग सांभळो जिननो रे, करी वृत्ति अखंड सन्मुख मूळ०**
नो'य पूजादिनी जो कामना रे, नो'य व्हालुं अंतर भवदुःख मूळ० १

करी जोजो वचननी तुलना रे, जोजो शोधीने जिनसिद्धांत मूळ०
मात्र कहेवुं परमारथ हेतुथी रे, कोई पामे मुमुक्षु वात मूळ० २

***ज्ञान, दर्शन, चारित्रनी शुद्धता रे, एकपणे अने अविरुद्ध मूळ०**
जिनमारग ते परमार्थथी रे, एम कह्युं सिद्धांते बुध मूळ० ३

---

* **भावार्थ**— हे भव्यों ! जिनेंद्र भगवान कथित मूल मार्ग (मोक्षमार्ग) को अखंड चित्तवृत्तिसे सुनें। इसमें हमें मान-पूजाकी कोई कामना नहीं है या नया पंथ चलानेका कोई स्वार्थ नहीं है; और न ही उत्सूत्र प्ररूपणा करके भववृद्धि करने रूप दुःख हमें अंतरमें प्रिय है। इसलिये हम सत्यमार्ग कहते हैं ॥१॥ इन वचनोंको आप न्यायके तराजू पर तोलकर देखें और जिनसिद्धांतको भी खोजकर देख लें, तो यह हमारा कहना केवल सत्य प्रतीत होगा। हम वह केवल परमार्थ हेतुसे कहते हैं कि जिससे कोई मुमुक्षु मोक्षमार्गके रहस्यको प्राप्त करें ॥२॥

* **भावार्थ**—ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी जो एकरूप तथा अविरुद्ध शुद्धता है, वही परमार्थसे जिनमार्ग है, ऐसा ज्ञानियोंने सिद्धांतमें कहा है ॥३॥

लिंग अने भेदी जे व्रतना रे, द्रव्य दोश काळादि भेद मूळ०
पण ज्ञानादिनी जे शुद्धता रे, ते तो त्रणे काळे अभेद मूळ० ४

हवे ज्ञान दर्शनादि शब्दनो रे, संक्षेपे सुणो परमार्थ मूळ०
तेने जोतां विचारी विशेषथी रे, समजाशे उत्तम आत्मार्थ मूळ० ५

छे देहादिथी भिन्न आतमा रे, उपयोगी सदा अविनाश मूळ०
एम जाणे सद्गुरु उपदेशथी रे, कह्युं ज्ञान तेनुं नाम खास मूळ० ६

जे ज्ञाने करीने जाणियुं रे, तेनी वर्ते छे शुद्ध प्रतीत मूळ०
कह्युं भगवंते दर्शन तेहने रे, जेनुं बीजुं नाम समकित मूळ० ७

जेम आवी प्रतीति जीवनी रे, जाण्यो सर्वेथी भिन्न असंग मूळ०
तेवो स्थिर स्वभाव ते ऊपजे रे, नाम चारित्र ते अणलिंग मूळ० ८

ते त्रणे अभेद परिणामथी रे, ज्यारे वर्ते ते आत्मारूप मूळ०
तेह मारग जिननो पामियो रे, किंवा पाम्यो ते निजस्वरूप मूळ० ९

एवां मूळ ज्ञानादि पामवा रे, अने जवा अनादि बंध मूळ०
उपदेश सद्गुरुनो पामवो रे, टाळी स्वच्छंद ने प्रतिबंध मूळ० १०

एम देव जिनंदे भाखियुं रे, मोक्षमारगनुं शुद्ध स्वरूप मूळ०
भव्य जनोना हितने कारणे रे, संक्षेपे कह्युं स्वरूप मूळ० ११

---

७१६ श्री आणंद, आसोज सुदी २, गुरु, १९५२

ॐ सद्गुरुप्रसाद

श्री रामदासस्वामी द्वारा संयोजित 'दासबोध' नामकी पुस्तक मराठी भाषामें हैं। उसका गुजराती भाषांतर प्रगट हुआ है; जिसे पढ़ने और विचारनेके लिये भेजा है।

पहले गणपति आदिकी स्तुति की है, तथा बादमें जगतके पदार्थोंका आत्मरूपसे वर्णन करके उपदेश दिया है, तथा उसमें वेदांतकी मुख्यता वर्णित है, इत्यादिसे कुछ भी भय न पाते हुए अथवा विकल्प न करते हुए, ग्रंथकर्ताके आत्मार्थसंबंधी विचारोंका अवगाहन करना योग्य है। आत्मार्थके विचारनेमें उससे क्रमशः सुगमता होती है।

भावार्थ– लिंग और व्रतके जो भेद हैं, वे द्रव्य, देश, काल आदिकी अपेक्षासे भेद हैं। परंतु ज्ञान आदिकी जो शुद्धता है वह तो तीनों कालोंमें भेदरहित है॥४॥ अब ज्ञान, दर्शन आदि शब्दोंका संक्षेपसे परमार्थ सुनें। उसे समझकर विशेषरूपसे विचारनेसे उत्तम आत्मार्थ समझमें आयेगा॥५॥ आत्मा देह आदिसे भिन्न, सदा उपयोगयुक्त और अविनाशी है, ऐसा सद्गुरुके उपदेशसे जो जानना है, उसका विशेष नाम ज्ञान है; अर्थात् यथार्थ ज्ञान वही है॥६॥ जो ज्ञान द्वारा जाना है, उसकी जो शुद्ध प्रतीति रहती है, उसे भगवानने दर्शन कहा है, जिसका दूसरा नाम समकित है॥७॥ जैसे जीवकी प्रतीति हुई अर्थात् उसने अपने आपको सर्वसे भिन्न और असंग समझा; वैसे स्थिर स्वभावकी उत्पत्ति–आत्मस्थिरता उत्पन्न होती है उसीका नाम चारित्र है और वह अलिंग अर्थात् भावचारित्र है॥८॥ जब ये तीनों गुण अभेद-परिणामसे रहते हैं, तब एक आत्मरूप रहता है। उसने जिनेंद्रका मार्ग पा लिया है अथवा निजस्वरूपको पा लिया है॥९॥ ऐसे मूलज्ञान आदिके पानेके लिये, अनादि बंध दूर होनेके लिये, स्वच्छंद और प्रतिबंधको दूरकर सद्गुरुका उपदेश प्राप्त करें॥१०॥ इस प्रकार जिनेंद्र देवने मोक्षमार्गका शुद्ध स्वरूप कहा है। भव्य जनोंके हितके लिये यहाँ संक्षेपसे उसका स्वरूप कहा है॥११॥

श्री देवकरणजीको व्याख्यान करना पड़ता है, उससे जो अहंभाव आदिका भय रहता है, वह संभव है।

जिस जिसने सद्गुरुमें तथा उनकी दशामें विशेषता देखी है, उस उसको प्रायः तथारूप प्रसंग जैसे प्रसंगोंमें अहंभावका उदय नहीं होता, अथवा तुरत शांत हो जाता है। उस अहंभावको यदि पहलेसे जहरके समान प्रतीत किया हो, तो पूर्वापर उसका संभव कम होता है। कुछ अंतरमें चातुर्य आदि भावसे, सूक्ष्म परिणतिसे भी कुछ मिठास रखी हो, तो वह पूर्वापर विशेषता प्राप्त करती है; परंतु वह जहर ही है, निश्चयसे जहर ही है, स्पष्ट कालकूट जहर है, उसमें किसी तरहसे संशय नहीं है; और संशय हो तो उस संशयको मानना नहीं है; उस संशयको अज्ञान ही जानना है, ऐसा तीव्र खारापन कर डाला हो, तो वह अहंभाव प्रायः जोर नहीं कर सकता। उस अहंभावको रोकनेसे क्वचित् निरहंभाव हुआ, उसका फिरसे अहंभाव हो जाना संभव है, उसे भी पहलेसे जहर, जहर और जहर मानकर प्रवृत्ति की गई हो तो आत्मार्थको बाधा नहीं होती।

आप सर्व मुमुक्षुओंको यथाविधि नमस्कार।

---

७१७ आणंद, आसोज सुदी ३, शुक्र, १९५२

आत्मार्थी भाई श्री [1]मोहनलालके प्रति, डरबन।

आपका लिखा हुआ पत्र मिला था। इस पत्रसे संक्षेपमें उत्तर लिखा है।

नातालमें रहनेसे आपकी बहुतसी सद्वृत्तियोंने विशेषता प्राप्त की है, ऐसी प्रतीति होती है। परंतु आपकी उस तरह प्रवृत्ति करनेकी उत्कृष्ट इच्छा उसमें हेतुभूत है। राजकोटकी अपेक्षा नाताल ऐसा क्षेत्र अवश्य है कि जो कई तरहसे आपकी वृत्तिको उपकारक हो सकता है, ऐसा माननेमें हानि नहीं है। क्योंकि आपकी सरलताकी रक्षा करनेमें जिससे निजी विघ्नोंका भय रह सके ऐसे प्रपंचमें अनुसरण करनेका दबाव नातालमें प्रायः नहीं है। परंतु जिसकी सद्वृत्तियाँ विशेष बलवान न हों अथवा निर्बल हों, और उसे इंग्लैंड आदि देशमें स्वतंत्ररूपसे रहनेका हो तो वह अभक्ष्य आदिमें दूषित हो जाये ऐसा लगता है। जैसे आपको नाताल क्षेत्रमें प्रपंचका विशेष योग न होनेसे आपकी सद्वृत्तियोंने विशेषता प्राप्तकी है, वैसे राजकोट जैसे स्थानमें होना कठिन है, यह यथार्थ है; परंतु किसी अच्छे आर्यक्षेत्रमें सत्संग आदिके योगमें आपकी वृत्तियाँ नातालकी अपेक्षा भी अधिक विशेषता प्राप्त करतीं, यह संभव है। आपकी वृत्तियाँ देखते हुए आपको नाताल अनार्यक्षेत्ररूपसे असर करे, ऐसी मेरी मान्यता प्रायः नहीं है। परंतु वहाँ प्रायः सत्संग आदि योगकी प्राप्ति न होनेसे कुछ आत्मनिराकरण न हो पाये, तद्रूप हानि मानना कुछ विशेष योग्य लगता है।

यहाँसे 'आर्य आचार-विचार'के सुरक्षित रखनेके संबंधमें लिखा था वह ऐसे भावार्थमें लिखा था—'आर्य आचार' अर्थात् मुख्यतः दया, सत्य, क्षमा आदि गुणोंका आचरण करना; और 'आर्य विचार' अर्थात् मुख्यतः आत्माका अस्तित्व, नित्यत्व, वर्तमान काल तक उस स्वरूपका अज्ञान, तथा उस अज्ञान और अभानके कारण, उन कारणोंकी निवृत्ति और वैसा होनेसे अव्याबाध आनंदस्वरूप अभान ऐसे निजपदमें स्वाभाविक स्थिति होना। इस तरह संक्षेपमें मुख्य अर्थसे वे शब्द लिखे हैं।

वर्णाश्रमादि, वर्णाश्रमादिपूर्वक आचार यह सदाचारके अंगभूत जैसा है। विशेष पारमार्थिक हेतुके बिना तो वर्णाश्रमादिपूर्वक व्यवहार करना योग्य है, यह विचारसिद्ध है। यद्यपि वर्तमानकालमें वर्णाश्रम

---

१. महात्मा गाँधीजी।

धर्म बहुत निर्बल स्थितिको प्राप्त हुआ है, तो भी हमें तो, जब तक हम उत्कृष्ट त्यागदशा प्राप्त न करें, और जब तक गृहस्थाश्रममें वास हो, तब तक तो वैश्यरूप वर्णधर्मका अनुसरण करना योग्य है; क्योंकि अभक्ष्यादि ग्रहण करनेका उसमें व्यवहार नहीं है। तब यह आशंका होने योग्य है कि 'लुहाणा भी उसी तरह आचरण करते हैं तो उनका अन्न, आहार आदि ग्रहण करनेमें क्या हानि है ?' तो उसके उत्तरमें इतना कहना योग्य हो सकता है कि बिना कारण उस रिवाजको भी बदलना योग्य नहीं है; क्योंकि उससे फिर दूसरे समागमवासी या प्रसंगादिमें अपने रीतिरिवाजको देखनेवाले ऐसे उपदेशका निमित्त प्राप्त करें कि चाहे जिस वर्णवालेके यहाँ भोजन करनेमें बाधा नहीं है। लुहाणाके यहाँ अन्नाहार लेनेसे वर्णधर्मकी हानि नहीं होती; परंतु मुसलमानके यहाँ अन्नाहार लेनेसे तो वर्णधर्मकी हानिका विशेष संभव है, और वर्णधर्मके लोप करनेरूप दोष जैसा होता है। हम कुछ लोकके उपकार आदिके हेतुसे वैसी प्रवृत्ति करते हों और रसलुब्धतासे वैसी प्रवृत्ति न होती हो, तो भी दूसरें लोग उस हेतुको समझे बिना प्रायः उसका अनुकरण करें और अंतमें अभक्ष्यादिके ग्रहण करनेमें प्रवृत्ति करें ऐसे निमित्तका हेतु अपना यह आचरण है इसलिये वैसा आचरण नहीं करना अर्थात् मुसलमान आदिके अन्नाहार आदिका ग्रहण नहीं करना, यह उत्तम है। आपकी वृत्तिकी कुछ प्रतीति होती है, परंतु यदि किसीकी उससे निम्नकोटिकी वृत्ति हो तो वह स्वतः ही उस रास्तेसे प्रायः अभक्ष्यादि आहारके योगको प्राप्त करे। इसलिये उस प्रसंगसे दूर रहा जाये वैसा विचार करना कर्तव्य है।

दयाकी भावना विशेष रहने देनी हो तो जहाँ हिंसाके स्थानक हैं, तथा वैसे पदार्थोंका जहाँ लेनदेन होता है, वहाँ रहनेके तथा जाने-आनेके प्रसंगको न आने देना चाहिये; नहीं तो जैसी चाहिये वैसी प्रायः दयाकी भावना नहीं रहती। तथा अभक्ष्यपर वृत्ति न जाने देनेके लिये, और उस मार्गकी उन्नतिका अनुमोदन न करनेके लिये अभक्ष्यादि ग्रहण करनेवालेका, आहारादिके लिये परिचय नहीं रखना चाहिये।

ज्ञानदृष्टिसे देखते हुए ज्ञाति आदि भेदकी विशेषता आदि मालूम नहीं होती; परंतु भक्ष्याभक्ष्य-भेदका तो वहाँ भी विचार कर्तव्य है; और उसके लिये मुख्यतः यह वृत्ति रखना उत्तम है। कितने ही कार्य ऐसे होते हैं कि उनमें प्रत्यक्ष दोष नहीं होता, अथवा उनसे अन्य दोष नहीं लगता; परंतु उसके संबंधसे दूसरे दोषोंका आश्रय होता है, उसका भी विचारवानको लक्ष्य रखना उचित है। नातालके लोगोंके उपकारके लिये कदाचित् आपकी ऐसी प्रवृत्ति होती है, ऐसा भी निश्चय नहीं माना जा सकता। यदि दूसरे किसी भी स्थलपर वैसा आचरण करते हुए बाधा मालूम हो, और आचरण न हो तो मात्र वह हेतु माना जा सकता है। फिर उन लोगोंके उपकारके लिये वैसा आचरण करना चाहिये, ऐसा विचार करनेमें भी कुछ आपकी गलत-फहमी होती होगी, ऐसा लगा करता है। आपकी सद्वृत्तिकी कुछ प्रतीति है, इसलिये इस विषयमें अधिक लिखना योग्य नहीं लगता। जैसे सदाचार और सद्विचारका आराधन हो वैसा आचरण करना योग्य है।

दूसरी नीच जातियों अथवा मुसलमान आदिके किन्हीं वैसे निमंत्रणोंमें अन्नाहारादिके बदले अपक्व आहार यानि फलाहार आदि लेनेसे उन लोगोंके उपकारकी रक्षाका सम्भव रहता हो, तो वैसा करें तो अच्छा है। यही विनती।

---

७१८ नडियाद, आसोज वदी १, गुरु, १९५२

ॐ

आत्म-सिद्धि*

जे स्वरूप समज्या विना, पाम्यो दुःख अनंत ।
समजाव्युं ते पद नमुं, श्री सद्गुरु भगवंत ॥१॥

जिस आत्मस्वरूपको समझे बिना भूतकालमें मैंने अनंत दुःख पाया, उस पदको (स्वरूपको) जिसने समझाया—अर्थात् भविष्यकालमें उत्पन्न होने योग्य जिन अनंत दुःखोंको मैं प्राप्त करता, उनका जिसने मूलोच्छेद किया ऐसे श्री सद्गुरु भगवानको मैं नमस्कार करता हूँ॥१॥

वर्तमान आ काळमां, मोक्षमार्ग बहु लोप ।
[1]विचारवा आत्मार्थीने, भाख्यो अत्र अगोप्य ॥२॥

इस वर्तमानकालमें मोक्षमार्गका बहुत लोप हो गया है, उस मोक्षमार्गको आत्मार्थीके विचार करनेके लिये (गुरु-शिष्यके संवादके रूपमें) यहाँ स्पष्ट कहते हैं॥२॥

कोई क्रियाजड थई रह्या, शुष्कज्ञानमां कोई ।
माने मारग मोक्षनो, करुणा ऊपजे जोई ॥३॥

कोई क्रियासे ही चिपके हुए हैं, और कोई शुष्कज्ञानसे ही चिपके हुए हैं; इस तरह वे मोक्षमार्ग मानते हैं; जिसे देखकर दया आती है॥३॥

बाह्य क्रियामां राचता, अंतर्भेद न कांई ।
ज्ञानमार्ग निषेधता, तेह क्रियाजड आंई ॥४॥

जो मात्र बाह्य क्रियामें अनुरक्त हो रहे हैं, जिनका अंतर कुछ भिदा नहीं है; और जो ज्ञानमार्गका निषेध किया करते हैं, उन्हें यहाँ क्रियाजड़ कहा है॥४॥

बंध मोक्ष छे कल्पना, भाखे वाणी मांही ।
वर्ते मोहावेशमां, शुष्कज्ञानी ते आंही ॥५॥

---

* श्रीमद्जी सं० १९५२ के आसोज वदी १ गुरुवारको नडियादमें ठहरे हुए थे; तब उन्होंने इस 'आत्मसिद्धिशास्त्र'की १४२ गाथाएँ 'आत्मसिद्धि' के रूपमें रची थी। इन गाथाओंका संक्षिप्त अर्थ खंभातके एक परम मुमुक्षु श्री अंबालाल लालचंदने किया था, जिसे श्रीमद्जीने देख लिया था, (देखें पत्रांक ७३०)। इसके अतिरिक्त 'श्रीमद् राजचंद्र' के दूसरे संस्करणके आंक ४४४, ४४५, ४४६, ४४७, ४४८, ४४९, ४५० और ४५१ के पत्र आत्मसिद्धिके विवेचनके रूपमें श्रीमद्ने स्वयं लिखे हैं, जो आत्मसिद्धिकी रचनाके दूसरे दिन अर्थात् आसोज वदी २, १९५२ को लिखे गये हैं। यह विवेचन जिस जिस गाथाका है उस उस गाथाके नीचे दिया है।

१. पाठांतर : गुरु शिष्य संवादथी, कहीए तेह अगोप्य।

बंध और मोक्ष मात्र कल्पना है, ऐसा निश्चयवाक्य जो मात्र वाणीसे बोलते हैं, और जिसकी तथारूप दशा नहीं हुई है, और जो मोहके प्रभावमें रहते हैं; उन्हें यहाँ शुष्कज्ञानी कहा है॥५॥

वैराग्यादि सफळ तो, जो सह आतमज्ञान ।
तेम ज आतमज्ञाननी, प्राप्तितणां निदान॥६॥

वैराग्य, त्याग आदि यदि आत्मज्ञानके साथ हो तो वे सफल हैं, अर्थात् मोक्षकी प्राप्तिके हेतु हैं; और जहाँ आत्मज्ञान न हो वहाँ भी यदि आत्मज्ञानके लिये वे किये जायें, तो वे आत्मज्ञानकी प्राप्तिके हेतु हैं॥६॥

वैराग्य, त्याग, दया आदि अंतरंगवृत्तिवाली क्रियाएँ हैं, यदि उनके साथ आत्मज्ञान हो तो वे सफल हैं, अर्थात् भवके मूलका नाश करती हैं; अथवा वैराग्य, त्याग, दया आदि आत्मज्ञानकी प्राप्तिके कारण हैं। अर्थात् जीवमें प्रथम इन गुणोंके आनेसे सद्गुरुका उपदेश उसमें परिणमित होता है। उज्ज्वल अंतःकरणके बिना सद्गुरुका उपदेश परिणमित नहीं होता। इसलिये वैराग्य आदि आत्मज्ञानकी प्राप्तिके साधन हैं ऐसा कहा है।

यहाँ जो जीव क्रियाजड़ हैं, उन्हें ऐसा उपदेश किया है कि मात्र कायाका ही रोकना कुछ आत्मज्ञानकी प्राप्तिका हेतु नहीं है, वैराग्य आदि गुण आत्मज्ञानकी प्राप्तिके हेतु हैं, इसलिये आप उन क्रियाओंका अवगाहन करें, और उन क्रियाओंमें भी रुके रहना योग्य नहीं हैं, क्योंकि आत्मज्ञानके बिना वे भी भवके मूलका छेदन नहीं कर सकतीं। इसलिये आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये उन वैराग्य आदि गुणोंका आचरण करें; और कायक्लेशरूप क्रियामें—जिसमें कषाय आदिकी तथारूप कुछ भी क्षीणता नहीं होती—उसमें आप मोक्षमार्गका दुराग्रह न रखें; ऐसा क्रियाजड़ोंको कहा है। और जो शुष्कज्ञानी त्याग, वैराग्य आदिसे रहित हैं, मात्र वाचाज्ञानी हैं, उन्हें ऐसा कहा है कि वैराग्य आदि जो साधन हैं, वे आत्मज्ञानकी प्राप्तिके कारण हैं, कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती, आपने वैराग्य आदि भी प्राप्त नहीं किये, तो आत्मज्ञान कहाँसे प्राप्त किया होगा? इसका कुछ आत्मामें विचार करें। संसारके प्रति बहुत उदासीनता, देहकी मूर्च्छाकी अल्पता, भोगमें अनासक्ति तथा मान आदिकी कृशता इत्यादि गुणोंके बिना तो आत्मज्ञान परिणमित नहीं होता; और आत्मज्ञानकी प्राप्ति होनेपर तो वे गुण अत्यंत दृढ़ हो जाते हैं, क्योंकि आत्मज्ञानरूप मूल उन्हें प्राप्त हुआ है। इसके बदले आप स्वयंको आत्मज्ञानी मानते हैं, और आत्मामें तो भोग आदिकी कामनाकी अग्नि जला करती है, पूजा, सत्कार आदिकी कामना वारंवार स्फुरित होती रहती है, सहज असातासे बहुत आकुलता-व्याकुलता हो जाती है। यह क्यों ध्यानमें नहीं आता कि ये आत्मज्ञानके लक्षण नहीं हैं? 'मैं मात्र मान आदिकी कामनासे आत्मज्ञानी कहलवाता हूँ', यह जो समझमें नहीं आता उसे समझें; और वैराग्य आदि साधन प्रथम तो आत्मामें उत्पन्न करें कि जिससे आत्मज्ञानकी सन्मुखता हो।(६)

त्याग विराग न चित्तमां, थाय न तेने ज्ञान ।
अटके त्याग विरागमां, तो भूले निजभान॥७॥

जिसके चित्तमें त्याग और वैराग्य आदि साधन उत्पन्न न हुए हों उसे ज्ञान नहीं होता; और जो त्याग-वैराग्यमें ही अटककर आत्मज्ञानकी आकांक्षा न रखे वह अपना भान भूल जाता है; अर्थात् अज्ञानपूर्वक त्याग-वैराग्य आदि होनेसे वह पूजा-सत्कार आदिसे पराभवको प्राप्त होता है और आत्मार्थ चूक जाता है॥७॥

जिसके अंतःकरणमें त्याग-वैराग्य आदि गुण उत्पन्न नहीं हुए ऐसे जीवको आत्मज्ञान नहीं होता; क्योंकि मलिन अंतःकरणरूप दर्पणमें आत्मोपदेशका प्रतिबिंब पड़ना योग्य नहीं है। तथा मात्र त्यागवैराग्यमें अनुरक्त होकर जो कृतार्थता मानता है वह भी अपने आत्माका भान भूलता है। अर्थात् आत्मज्ञान न होनेसे अज्ञानकी सहचारिता रहती है, जिससे वह त्यागवैराग्य आदिका मान उत्पन्न करनेके लिये और मानके लिये उसकी सर्व संयम आदिकी प्रवृत्ति हो जाती है; जिससे संसारका उच्छेद नहीं होता, मात्र वहीं उलझ जाना होता है। अर्थात् वह आत्मज्ञानको प्राप्त नहीं करता। इस तरह क्रियाजड़को साधनक्रियाका और उस साधनकी जिससे सफलता होती है ऐसे आत्मज्ञानका उपदेश किया है और शुष्कज्ञानीको त्याग वैराग्य आदि साधनका उपदेश करके वाचाज्ञानमें कल्याण नहीं है, ऐसी प्रेरणा की है। (७)

ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, तहां समजवुं तेह ।
त्यां त्यां ते ते आचरे, आत्मार्थी जन एह ॥८॥

जहाँ जहाँ जो जो योग्य है वहाँ वहाँ उस उसको समझे और वहाँ वहाँ उस उसका आचरण करे, ये आत्मार्थी पुरुषके लक्षण हैं॥८॥

जिस जिस स्थानमें जो जो योग्य है अर्थात् त्याग-वैराग्य आदि योग्य हो वहाँ त्याग-वैराग्य आदि समझे; जहाँ आत्मज्ञान योग्य हो वहाँ आत्मज्ञान समझे; इस तरह जो जहाँ चाहिये उसे वहाँ समझना और वहाँ वहाँ तदनुसार प्रवृत्ति करना, यह आत्मार्थी जीवका लक्षण है। अर्थात् जो मतार्थी या मानार्थी हो वह योग्य मार्गको ग्रहण नहीं करता। अथवा जिसे क्रियामें ही दुराग्रह हो गया है, अथवा शुष्कज्ञानके ही अभिमानमें जिसने ज्ञानित्व मान लिया है, वह त्याग-वैराग्य आदि साधनको अथवा आत्मज्ञानको ग्रहण नहीं कर सकता।

जो आत्मार्थी होता है वह जहाँ जहाँ जो जो करना योग्य है उस उसको करता है और जहाँ जहाँ जो जो समझना योग्य है उस उसको समझता है; अथवा जहाँ जहाँ जो जो समझना योग्य है उस उसको समझता है और जहाँ जो जो आचरण करना योग्य है वहाँ उस उसका आचरण करता है, वह आत्मार्थी कहा जाता है।

यहाँ 'समझना' और 'आचरण करना' ये दो सामान्य अर्थमें हैं। परंतु दोनोंको अलग-अलग कहनेका यह भी आशय है कि जो जो जहाँ समझना योग्य है वह वह वहाँ समझनेकी कामना जिसे है और जो जो जहाँ आचरण करना योग्य है वह वह वहाँ आचरण करनेकी जिसे कामना है वह भी आत्मार्थी कहा जाता है। (८)

सेवे सद्गुरुचरणने, त्यागी दई निजपक्ष ।
पामे ते परमार्थने, निजपदनो ले लक्ष ॥९॥

अपने पक्षको छोड़कर जो सद्गुरुके चरणकी सेवा करता है, वह परमार्थको पाता है, और उसे आत्मस्वरूपका लक्ष्य होता है॥९॥

बहुतोंको क्रियाजड़ता रहती है और बहुतोंको शुष्कज्ञानिता रहती है, उसका क्या कारण होना चाहिये ? ऐसी आशंका की उसका समाधान : जो अपने पक्ष अर्थात् मतको छोड़कर सद्गुरुके चरणकी सेवा करता है, वह परमार्थको पाता है, और निज पद अर्थात् आत्मस्वभावका लक्ष्य अपनाता है, अर्थात् बहुतोंको क्रियाजड़ता रहती है उसका हेतु यह है कि असद्गुरु कि जो आत्मज्ञान और आत्मज्ञानके

साधनको नहीं जानता, उसका उन्होंने आश्रय लिया है, जिससे वह असद्गुरु जो मात्र क्रियाजड़ताका अर्थात् कायक्लेशका मार्ग जानता है, उसमें उन्हें लगाता है, और कुलधर्मको दृढ़ कराता है, जिससे उन्हें सद्गुरुका योग प्राप्त करनेकी आकांक्षा नहीं होती, अथवा वैसा योग मिलनेपर भी पक्षकी दृढ़ वासना उन्हें सदुपदेशके सन्मुख नहीं होने देती, इसलिये क्रियाजड़ता दूर नहीं होती, और परमार्थकी प्राप्ति नहीं होती।

और जो शुष्कज्ञानी है उसने भी सद्गुरुके चरणका सेवन नहीं किया; मात्र अपनी मति-कल्पनासे स्वच्छंदरूपसे अध्यात्मग्रंथ पढ़े हैं, अथवा शुष्कज्ञानीके पाससे वैसे ग्रंथ या वचन सुनकर अपनेमें ज्ञानित्व मान लिया है, और ज्ञानी मनवानेके पदका जो एक प्रकारका मान है वह उसे मीठा लगता है और वह उसका पक्ष हो गया है। अथवा किसी एक विशेष कारणसे शास्त्रोंमें दया, दान और हिंसा, पूजाकी समानता कही है, वैसे वचनोंको, उनका परमार्थ समझे बिना पकड़कर, मात्र अपनेको ज्ञानी मनवानेके लिये, और पामर जीवके तिरस्कारके लिये वह उन वचनोंका उपयोग करता है। परंतु वैसे वचनोंको किस लक्ष्यसे समझनेसे परमार्थ होता है, यह नहीं जानता। फिर जैसे दया, दान आदिकी शास्त्रोंमें निष्फलता कही है, वैसे नवपूर्व तक पढ़ लेनेपर भी वह भी निष्फल गया, इस तरह ज्ञानकी भी निष्फलता कही है, तो वह शुष्कज्ञानका ही निषेध है। ऐसा होनेपर भी उसे उसका लक्ष्य नहीं होता; क्योंकि ज्ञानी बननेके मानसे उसका आत्मा मूढ़ताको प्राप्त हो गया है, इसलिये उसे विचारका अवकाश नहीं रहा। इस तरह क्रियाजड़ अथवा शुष्कज्ञानी दोनों भूले हुए हैं, और वे परमार्थ पानेकी इच्छा रखते हैं, अथवा परमार्थ पा लिया है, ऐसा कहते हैं। यह मात्र उनका दुराग्रह है, यह प्रत्यक्ष दिखायी देता है। यदि सद्गुरुके चरणका सेवन किया होता तो ऐसे दुराग्रहमें पड़ जानेका समय न आता, और जीव आत्मसाधनमें प्रेरित होता, और तथारूप साधनसे परमार्थको पाता, और निजपदका लक्ष्य ग्रहण करता; अर्थात् उसकी वृत्ति आत्मसन्मुख हो जाती।

तथा स्थान स्थानपर एकाकीरूपसे विचरनेका निषेध किया है, और सद्गुरुकी सेवामें विचरनेका ही उपदेश किया है; उससे भी यह समझमें आता है कि जीवके लिये हितकारी और मुख्य मार्ग वही है। तथा असद्गुरुसे भी कल्याण होता है ऐसा कहना तो तीर्थंकर आदिकी, ज्ञानीकी आसातना करनेके समान है; क्योंकि उनमें और असद्गुरुमें कुछ भेद न हुआ; जन्मांध और अत्यंत शुद्ध निर्मल चक्षुवालेमें कुछ न्यूनाधिकता ही न ठहरी। तथा कोई 'श्री ठाणांगसूत्र' की चौभंगी[1] ग्रहण करके ऐसा कहे कि 'अभव्यका तारा हुआ भी तरता है', तो यह वचन भी वदतोव्याघात जैसा है। एक तो मूलमें 'ठाणांग' में तदनुसार पाठ ही नहीं है, जो पाठ है वह इस प्रकार है[2]...उसका शब्दार्थ इस प्रकार है[2]...उसका विशेषार्थ टीकाकारने इस प्रकार किया है[2]...जिसमें किसी स्थलपर ऐसा नहीं कहा है कि 'अभव्यका तारा हुआ तरता है।' और किसी एक टब्बेमें किसीने यह वचन लिखा है वह उसकी समझकी अयथार्थता समझमें आती है।

कदाचित् कोई ऐसा कहे कि अभव्य जो कहता है वह यथार्थ नहीं है, ऐसा भासित होनेसे यथार्थ क्या है, उसका लक्ष्य होनेसे जीव स्वविचारको पाकर तरा, ऐसा अर्थ करें तो एक प्रकारसे संभवित है, परंतु इससे ऐसा नहीं कहा जा सकता कि अभव्यका तारा हुआ तरा। ऐसा विचार कर जिस मार्गसे अनंत जीव तरे हैं और तरेंगे, उस मार्गका अवगाहन करना और मान आदिकी अपेक्षा का त्यागकर स्वकल्पित अर्थका त्याग करना यही श्रेयस्कर है। यदि आप ऐसा कहें कि अभव्यसे तरा जाता है, तो तो

१. देखें आंक ५४२ २. मूल पाठ रखना चाहा परंतु रखा हो ऐसा नहीं लगता।

अवश्य निश्चय होता है कि असद्गुरुसे तरा जायेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।

और अशोच्या केवली, जिसने पूर्वकालमें किसीसे धर्म नहीं सुना, उसे किसी तथारूप आवरणके क्षयसे ज्ञान उत्पन्न हुआ है, ऐसा शास्त्रमें निरूपण किया है; वह आत्माका माहात्म्य बतानेके लिये और जिसे सद्गुरुका योग न हो उसे जाग्रत करनेके लिये, उस उस अनेकांत मार्गका निरूपण करनेके लिये बताया है; परंतु सद्गुरुकी आज्ञासे प्रवृत्ति करनेके मार्गकी उपेक्षा करनेके लिये नहीं कहा है। और फिर इस स्थलपर तो उलटे उस मार्गपर दृष्टि आनेके लिये उसे अधिक सबल किया है, और कहा है कि वह अशोच्या केवली[1]...अर्थात् अशोच्या केवलीका यह प्रसंग सुनकर कोई, जो शाश्वत मार्ग चला आया है, उसका निषेध करे, यह आशय नहीं, ऐसा निवेदन किया है।

किसी तीव्र आत्मार्थीको कदाचित् सद्गुरुका ऐसा योग न मिला हो, और उसे अपनी तीव्र कामना और कामनामें ही निजविचारमें संलग्न होनेसे, अथवा तीव्र आत्मार्थके कारण निजविचारमें लीन होनेसे आत्मज्ञान हुआ हो तो वह सद्गुरुके मार्गका निषेधक जीव न हो तभी हुआ हो और 'मुझे सद्गुरुसे ज्ञान नहीं मिला, इसलिये मैं बड़ा हूँ' ऐसा भाव न रखनेसे हुआ हो; ऐसा विचार कर विचारवान जीवको जिससे शाश्वत मार्गका लोप न हो ऐसे वचन प्रकाशित करने चाहिये।

एक गाँवसे दूसरे गाँव जाना हो और जिसने उस गाँवका मार्ग न देखा हो, ऐसा कोई पचास वर्षका पुरुष हो और लाखों गाँव देख आया हो, उसे भी उस मार्गका पता नहीं चलता, और किसीको पूछनेपर ही मालूम होता है, नहीं तो वह भूल खा जाता है; और उस मार्गका जानकार दस वर्षका बालक भी उसे मार्ग दिखाता है, जिससे वह पहुँच सकता है; ऐसा लोकमें अथवा व्यवहारमें भी प्रत्यक्ष है, इसलिये जो आत्मार्थी हो, अथवा जिसे आत्मार्थकी इच्छा हो उसे सद्गुरुके योगसे तरनेके अभिलाषी जीवका जिससे कल्याण हो उस मार्गका लोप करना योग्य नहीं है, क्योंकि उससे सर्व ज्ञानीपुरुषोंकी आज्ञाका लोप करने जैसा होता है।

पूर्वकालमें सद्गुरुका योग तो अनेक बार हुआ है, फिर भी जीवका कल्याण नहीं हुआ, जिससे सद्गुरुके उपदेशकी ऐसी कुछ विशेषता दिखायी नहीं देती, ऐसी आशंका हो तो उसका उत्तर दूसरे ही पदमें कहा है कि—

जो अपने पक्षको छोड़कर सद्गुरुके चरणका सेवन करे, वह परमार्थको पाता है। अर्थात् पूर्वकालमें सद्गुरुका योग होनेकी बात सत्य है, परंतु वहाँ जीवने उसे सद्गुरु नहीं जाना, अथवा उसे नहीं पहचाना, उसकी प्रतीति नहीं की, और उसके पास अपने मान और मत नहीं छोडे, और इसलिये सद्गुरुका उपदेश परिणमित नहीं हुआ, और परमार्थकी प्राप्ति नहीं हुई। इस तरह यदि जीव अपने मत अर्थात् स्वच्छंद और कुलधर्मका आग्रह दूर करके सदुपदेशको ग्रहण करनेका अभिलाषी हुआ होता तो अवश्य परमार्थको पाता।

यहाँ असद्गुरु द्वारा दृढ़ कराये हुए दुर्बोधसे अथवा मानादिकी तीव्र कामनासे ऐसी आशंका भी हो सकती है कि कई जीवोंका पूर्वकालमें कल्याण हुआ है, और उन्हें सद्गुरुके चरणका सेवन किये बिना कल्याणकी प्राप्ति हुई है, अथवा असद्गुरुसे भी कल्याणकी प्राप्ति होती है; असद्गुरुको स्वयं भले मार्गकी प्रतीति नहीं हैं, परंतु दूसरेको वह प्राप्त करा सकता है अर्थात् दूसरा कोई उसका उपदेश सुनकर उस मार्गकी प्रतीति करे, तो वह परमार्थको पाता है। इसलिये सद्गुरुके चरणका सेवन किये बिना भी परमार्थकी प्राप्ति होती है, ऐसी आशंकाका समाधान करते हैं—

---

१. मूल पाठ रखना चाहा परंतु रखा हो ऐसा नहीं लगता।

यद्यपि कई जीव स्वयं विचार करते हुए उद्बुध्ध हुए हैं, ऐसा शास्त्रमें वर्णन है; परंतु किसी स्थल पर ऐसा दृष्टांत नहीं कहा है कि अमुक जीव असद्गुरु द्वारा उद्बुध्ध हुए हैं। अब कई जीव स्वयं विचार करते हुए उद्बुध्ध हुए हैं, ऐसा कहा है, उसमें शास्त्रोंके कहनेका ऐसा हेतु नहीं है कि सद्गुरुकी आज्ञासे चलनेसे जीवका कल्याण होता है ऐसा हमने कहा है, परंतु यह बात यथार्थ नहीं है; अथवा सद्गुरुकी आज्ञाकी जीवको कोई जरूरत नहीं है ऐसा कहनेके लिये भी वैसा नहीं कहा। तथा जो जीव अपने विचारसे स्वयं बोधको प्राप्त हुए हैं, ऐसा कहा है, वह भी वर्तमान देहमें अपने विचारसे अथवा बोधसे उद्बुध्ध हुए ऐसा कहा है; परंतु पूर्वकालमें वह विचार अथवा बोध सद्गुरुने उनके सन्मुख किया है, जिससे वर्तमानमें उसका स्फुरित होना संभव है। तीर्थंकर आदिको 'स्वयंबुद्ध' कहा है वे भी पूर्व कालमें तीसरे भवमें सद्गुरुसे निश्चय समकितको प्राप्त हुए हैं, ऐसा कहा है। अर्थात् जो स्वयंबुद्धता कही है वह वर्तमान देहकी अपेक्षासे कही है, और उसे सद्गुरुपदके निषेधके लिये कहा नहीं है।

और यदि सद्गुरुपदका निषेध करे तो तो 'सद्देव, सद्गुरु और सद्धर्मकी प्रतीतिके बिना समकित नहीं होता,' यह कथन मात्र ही हुआ।

अथवा जिस शास्त्रका आप प्रमाण लेते हैं वह शास्त्र सद्गुरु ऐसे जिनेन्द्रका कहा हुआ है, इसलिये उसे प्रामाणिक मानना योग्य है ? अथवा किसी असद्गुरुका कहा हुआ है इसलिये प्रामाणिक मानना योग्य है ? यदि असद्गुरुके शास्त्रोंको भी प्रामाणिक माननेमें बाधा न हो तो फिर अज्ञान और रागद्वेषका आराधन करनेसे भी मोक्ष होता है, ऐसा कहनेमें बाधा नहीं है, यह विचारणीय है।

'आचारांग सूत्र' (प्रथम श्रुत स्कंध, प्रथम अध्ययनके प्रथम उद्देशमें, प्रथम वाक्य) में कहा है– क्या यह जीव पूर्वसे आया है ? पश्चिमसे आया है ? उत्तरसे आया है ? दक्षिणसे आया है ? अथवा ऊपरसे आया है ? नीचेसे या किसी दूसरी दिशासे आया है ? ऐसा जो नहीं जानता वह मिथ्यादृष्टि है, जो जानता है वह सम्यग्दृष्टि है। उसे जाननेके तीन कारण हैं–(१) तीर्थंकरका उपदेश (२) सद्गुरुका उपदेश और (३) जातिस्मरणज्ञान।

यहाँ जो जातिस्मरणज्ञान कहा है वह भी पूर्वकालके उपदेशकी संधि है। अर्थात् पूर्वकालमें उसे बोध होनेमें सद्गुरुका असंभव मानना योग्य नहीं है। तथा जगह जगह जिनागममें ऐसा कहा है कि–

[1]**'गुरुणो छंदाणुवत्तगा'** अर्थात् गुरुकी आज्ञानुसार चलना।

गुरुकी आज्ञाके अनुसार चलनेसे अनंत जीव सिद्ध हुए हैं, सिद्ध होते हैं और सिद्ध होंगे। तथा कोई जीव अपने विचारसे बोधको प्राप्त हुआ, उसमें प्रायः पूर्वकालका सद्गुरुका उपदेश कारण होता है। परंतु कदाचित् जहाँ वैसा न हो वहाँ भी वह सद्गुरुका नित्य अभिलाषी रहते हुए, सद्विचारमें प्रेरित होते होते स्वविचारसे आत्मज्ञानको प्राप्त हुआ, ऐसा कहना योग्य है; अथवा उसे कुछ सद्गुरुकी उपेक्षा नहीं है और जहाँ सद्गुरुकी उपेक्षा रहती है वहाँ मानका संभव है; और जहाँ सद्गुरुके प्रति मान हो वहाँ कल्याण होना कहा है अथवा उसे सद्विचारके प्रेरित करनेका आत्मगुण कहा है।

तथारूप मान आत्मगुणका अवश्य घातक है। बाहुबलीजीमें अनेक गुणसमूह विद्यमान होते हुए भी छोटे अट्ठानवे भाइयोंको वंदन करनेमें अपनी लघुता होगी, इसलिये यहीं ध्यानमें स्थित हो जाना योग्य है, ऐसा सोचकर एक वर्ष तक निराहाररूपसे अनेक गुणसमुदायसे आत्मध्यानमें रहे, तो भी आत्मज्ञान नहीं हुआ। बाकी दूसरी सब प्रकारकी योग्यता होनेपर भी एक इस मानके कारणसे वह ज्ञान रुका हुआ था। जब श्री ऋषभदेव द्वारा प्रेरित ब्राह्मी और सुंदरी सतियोंने उनसे उस दोषका निवेदन किया और उस

१. सूत्रकृतांग, प्रथम श्रुतस्कंध, द्वितीय अध्ययन उद्देश २, गा० ३२।

दोषका उन्हें भान हुआ, तथा उस दोषकी उपेक्षा कर उसकी असारता उन्हें समझमें आयी तब केवलज्ञान हुआ। वह मान ही यहाँ चार घनघाती कर्मोंका मूल होकर रहा था। और बारह बारह महीने तक निराहाररूपसे, एक लक्ष्यसे, एक आसनसे आत्मविचारमें रहनेवाले ऐसे पुरुषको इतनेसे मानने वैसी बारह महीनेकी दशाको सफल न होने दिया, अर्थात् उस दशासे मान समझमें न आया और जब सद्गुरु ऐसे श्री ऋषभदेवने 'वह मान है' ऐसा प्रेरित किया तब एक मुहूर्तमें वह मान जाता रहा; यह भी सद्गुरुका ही माहात्म्य प्रदर्शित किया है।

फिर सारा मार्ग ज्ञानीकी आज्ञामें निहित है, ऐसा वारंवार कहा है। 'आचारांगसूत्र'में कहा है कि– (सुधर्मास्वामी जंबुस्वामीको उपदेश करते हैं कि जिसने सारे जगतका दर्शन किया है, ऐसे महावीर भगवानने हमें इस तरह कहा है।) गुरुके अधीन होकर चलनेवाले ऐसे अनंत पुरुष मार्ग पाकर मोक्षको प्राप्त हुए।

'उत्तराध्ययन', 'सूयगडांग' आदिमें जगह जगह यही कहा है। (९)

[1]आत्मज्ञान समदर्शिता, विचरे उदयप्रयोग ।
अपूर्व वाणी परमश्रुत, सद्गुरु लक्षण योग्य ॥१०॥

आत्मज्ञानमें जिसकी स्थिति है, अर्थात् जो परभावकी इच्छासे रहित हुआ है; तथा शत्रु, मित्र, हर्ष, शोक, नमस्कार, तिरस्कार आदि भावोंके प्रति जिसे समता रहती है; मात्र पूर्वकृत कर्मोंके उदयके कारण जिसकी विचरना आदि क्रियाएँ हैं; अज्ञानीकी अपेक्षा जिसकी वाणी प्रत्यक्ष भिन्न है, और जो षड्दर्शनके तात्पर्यको जानता है; ये सद्गुरुके उत्तम लक्षण हैं॥१०॥

स्वरूपस्थित इच्छारहित, विचरे पूर्वप्रयोग ।
अपूर्व वाणी, परमश्रुत, सद्गुरु लक्षण योग्य ॥

आत्मस्वरूपमें जिसकी स्थिति है, विषय एवं मान, पूजा आदिकी इच्छासे जो रहित है, और मात्र पूर्वकृत कर्मोंके उदयसे जो विचरता है; जिसकी वाणी अपूर्व है, अर्थात् निज अनुभव सहित जिसका उपदेश होनेसे अज्ञानीकी वाणीकी अपेक्षा प्रत्यक्ष भिन्न है; और परमश्रुत अर्थात् षड्दर्शनका जिसे यथास्थित ज्ञान होता है; ये सद्गुरुके योग्य लक्षण हैं।

यहाँ 'स्वरूपस्थित' ऐसा प्रथम पद कहा, इससे ज्ञानदशा कही है; 'इच्छारहित' होना कहा, इससे चारित्रदशा कही है। जो इच्छारहित हो वह किस तरह विचर सकता है? ऐसी आशंका, 'विचरे पूर्वप्रयोग' अर्थात् पूर्वोपार्जित प्रारब्धसे विचरता है, विचरने आदिकी कोई कामना जिसे नहीं है, ऐसा कहकर निवृत्त की है। 'अपूर्व वाणी' ऐसा कहनेसे वचनातिशयता कही है; क्योंकि उसके बिना मुमुक्षुका उपकार नहीं होता। 'परमश्रुत' कहनेसे षड्दर्शनके अविरुद्ध दशासे ज्ञाता है ऐसा कहा है; इससे श्रुतज्ञानकी विशेषता दिखायी है।

आशंका–वर्तमानकालमें स्वरूपस्थित पुरुष नहीं होता, इसलिये जो स्वरूपस्थित विशेषणवाला सद्गुरु कहा है, वह वर्तमानमें होना संभव नहीं।

समाधान–वर्तमानकालमें कदाचित् ऐसा कहा हो तो यह कहा जा सकता है कि 'केवलभूमिका' के विषयमें ऐसी स्थिति असंभव है; परंतु आत्मज्ञान ही नहीं होता ऐसा नहीं कहा जा सकता; और जो आत्मज्ञान है वही स्वरूपस्थिति है।

---

१. देखें आंक ८३७

आशंका—आत्मज्ञान हो तो वर्तमानकालमें मुक्ति होनी चाहिये, और जिनागममें तो इसका निषेध किया है।

समाधान—इस वचनको कदाचित् एकांतसे ऐसा ही मान लें, तो भी इससे एकावतारिताका निषेध नहीं होता, और एकावतारिता आत्मज्ञानके बिना प्राप्त नहीं होती।

आशंका—त्याग, वैराग्य आदिकी उत्कृष्टतासे उसे एकावतारिता कही होगी।

समाधान—परमार्थसे उत्कृष्ट त्यागवैराग्यके बिना एकावतारिता होती ही नहीं, ऐसा सिद्धांत है, और वर्तमानमें भी चौथे, पाँचवें और छट्ठे गुणस्थानका कुछ निषेध है नहीं, और चौथे गुणस्थानसे ही आत्मज्ञानका संभव होता है, पाँचवेंमें विशेष स्वरूपस्थिति होती है, छट्ठेमें बहुत अंशसे स्वरूपस्थिति होती है, पूर्व प्रेरित प्रमादके उदयसे मात्र कुछ प्रमाद-दशा आ जाती है; परंतु वह आत्मज्ञानकी रोधक नहीं, चारित्रकी रोधक है।

आशंका—यहाँ तो 'स्वरूपस्थित' ऐसे पदका प्रयोग किया है, और स्वरूपस्थित पद तो तेरहवें गुणस्थानमें ही संभव है।

समाधान—स्वरूपस्थितिकी पराकाष्ठा तो चौदहवें गुणस्थानके अंतमें होती है, क्योंकि नाम गोत्र आदि चार कर्मका नाश वहाँ होता है, उससे पहले केवलीको चार कर्मोंका संग रहता है, इसलिये संपूर्ण स्वरूपस्थिति तो तेरहवें गुणस्थानमें भी कही नहीं जा सकती।

आशंका—वहाँ नाम आदि कर्मोंके कारण अव्याबाध स्वरूपस्थितिका निषेध करें तो वह ठीक है; परंतु स्वरूपस्थिति तो केवलज्ञानरूप है, इसलिये स्वरूपस्थिति कहनेमें दोष नहीं है, और यहाँ तो वैसा नहीं है, इसलिये स्वरूपस्थिति कैसे कही जाये ?

समाधान—केवलज्ञानमें स्वरूपस्थितिका तारतम्य विशेष है, और चौथे, पाँचवें, छट्ठे गुणस्थानमें उससे अल्प है, ऐसा कहा जाये, परंतु स्वरूपस्थिति नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता। चौथे गुणस्थानमें मिथ्यात्वमुक्तदशा होनेसे आत्मस्वभावका आविर्भाव है, और स्वरूपस्थिति है। पाँचवें गुणस्थानमें देशतः चारित्रघातक कषायोंका निरोध हो जानेसे चौथेकी अपेक्षा आत्मस्वभावका विशेष आविर्भाव है, और छट्ठेमें कषायोंका विशेष निरोध होनेसे सर्व चारित्रका उदय है, इसलिये वहाँ आत्मस्वभावका विशेष आविर्भाव है। मात्र छट्ठे गुणस्थानमें पूर्वनिबंधित कर्मके उदयसे क्वचित् प्रमत्तदशा रहती है, इसलिये 'प्रमत्त' सर्वचारित्र कहा जाता है, परंतु इससे स्वरूपस्थितिमें विरोध नहीं है; क्योंकि आत्मस्वभावका बाहुल्यसे आविर्भाव है। और आगम भी ऐसा कहते हैं कि चौथे गुणस्थानसे लेकर तेरहवें गुणस्थान तक आत्मप्रतीति समान है; ज्ञानका तारतम्य भेद है।

यदि चौथे गुणस्थानमें अंशतः भी स्वरूपस्थिति न हो, तो मिथ्यात्व जानेका फल क्या हुआ ? कुछ भी नहीं हुआ। जो मिथ्यात्व चला गया वही आत्मस्वभावका आविर्भाव है, और वही स्वरूपस्थिति है। यदि सम्यक्त्वसे तथारूप स्वरूपस्थिति न होती, तो श्रेणिक आदिको एकावतारिता कैसे प्राप्त होती ? वहाँ एक भी व्रत, पच्चक्खान नहीं था और मात्र एक ही भव बाकी रहा ऐसी अल्पसंसारिता हुई वही स्वरूपस्थितिरूप समकितका बल है। पाँचवें और छट्ठे गुणस्थानमें चारित्रका बल विशेष है और मुख्यतः उपदेशक गुणस्थान तो छठा और तेरहवाँ है। बाकीके गुणस्थान उपदेशककी प्रवृत्ति कर सकने योग्य नहीं है; इसलिये तेरहवें और छट्ठे गुणस्थानमें वह पद होता है।(१०)

[1]प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार ।
एवो लक्ष थया विना, ऊगे न आत्मविचार ॥११॥

जब तक जीवको पूर्वकालीन जिनेश्वरोंकी बातपर ही लक्ष्य रहा करे, और वह उनके उपकारको गाया करे; और जिससे प्रत्यक्ष आत्मभ्रांतिका समाधान होता है ऐसे सद्गुरुका समागम प्राप्त हुआ हो, उसमें परोक्ष जिनेश्वरोंके वचनोंकी अपेक्षा महान उपकार समाया हुआ है, ऐसा जो न जाने उसे आत्मविचार उत्पन्न नहीं होता ॥११॥

सद्गुरुना उपदेश वण, समजाय न जिनरूप ।
समज्या वण उपकार शो ? समज्ये जिनस्वरूप ॥१२॥

सद्गुरुके उपदेशके बिना जिनेश्वरका स्वरूप समझमें नहीं आता, और स्वरूपको समझे बिना उपकार क्या हो ? यदि सद्गुरुके उपदेशसे जिनेश्वरका स्वरूप समझ ले तो समझनेवालेका आत्मा परिणाममें जिनेश्वरकी दशाको प्राप्त होता है ॥१२॥

सद्गुरुना उपदेशथी, समजे जिननुं रूप ।
तो ते पामे निजदशा, जिन छे आत्मस्वरूप ॥
पाम्या शुद्ध स्वभावने, छे जिन तेथी पूज्य ।
समजो जिनस्वभाव तो, आत्मभाननो गुज्य ॥

सद्गुरुके उपदेशसे जो जिनेश्वरका स्वरूप समझे, वह अपने स्वरूपकी दशाको प्राप्त करे; क्योंकि शुद्ध आत्मत्व ही जिनेश्वरका स्वरूप है, अथवा राग, द्वेष और अज्ञान जिनेश्वरमें नहीं हैं, वही शुद्ध आत्मपद है, और वह पद तो सत्तासे सब जीवोंका है। वह सद्गुरु–जिनेश्वरके अवलंबनसे और जिनेश्वरका स्वरूप कहनेसे मुमुक्षुजीवको समझमें आता है।(१२)

आत्मादि अस्तित्वनां, जेह निरूपक शास्त्र ।
प्रत्यक्ष सद्गुरु योग नहि, त्यां आधार सुपात्र ॥१३॥

जो जिनागम आदि आत्माके अस्तित्वका तथा परलोक आदिके अस्तित्वका उपदेश करनेवाले शास्त्र हैं, वे भी, जहाँ प्रत्यक्ष सद्गुरुका योग न हो वहाँ सुपात्र जीवको आधाररूप हैं; परंतु उन्हें सद्गुरुके समान भ्रांतिका छेदक नहीं कहा जा सकता ॥१३॥

[2]अथवा सद्गुरुए कह्यां, जे अवगाहन काज ।
ते ते नित्य विचारवां, करी मतांतर त्याज ॥१४॥

अथवा यदि सद्गुरुने उन शास्त्रोंका विचार करनेकी आज्ञा दी हो, तो मतांतर अर्थात् कुलधर्मको सार्थक करनेका हेतु आदि भ्रांतियाँ छोड़कर मात्र आत्मार्थके लिये उन शास्त्रोंका नित्य विचार करना चाहिये ॥१४॥

रोके जीव स्वच्छंद तो, पामे अवश्य मोक्ष ।
पाम्या एम अनंत छे, भाख्युं जिन निर्दोष ॥१५॥

जीव अनादि कालसे अपनी चतुराई और अपनी इच्छाके अनुसार चला है, इसका नाम 'स्वच्छंद' है। यदि वह इस स्वच्छंदको रोके तो वह अवश्य मोक्ष प्राप्त करे; और इस तरह भूतकालमें अनंत जीवोंने मोक्ष प्राप्त किया है। राग, द्वेष और अज्ञान, इनमेंसे एक भी दोष जिनमें नहीं है ऐसे दोषरहित वीतरागने ऐसा कहा है ॥१५॥

---

१. देखें आंक ५२७। २. पाठांतर–अथवा सद्गुरुए कह्यां, जो अवगाहन काज।
तो ते नित्य विचारवां, करी मतांतर त्याज॥

प्रत्यक्ष सद्गुरु योगथी, स्वच्छंद ते रोकाय ।
अन्य उपाय कर्या थकी, प्राये बमणो थाय ॥१६॥

प्रत्यक्ष सद्गुरुके योगसे वह स्वच्छंद रुक जाता है, नहीं तो अपनी इच्छासे अन्य अनेक उपाय करनेपर भी प्रायः वह दुगुना होता है॥१६॥

स्वच्छंद, मत आग्रह तजी, वर्ते सद्गुरुलक्ष ।
समकित तेने भाखियुं, कारण गणी प्रत्यक्ष ॥१७॥

स्वच्छंदको तथा अपने मतके आग्रहको छोड़कर जो सद्गुरुके लक्ष्यसे चलता है, उसे प्रत्यक्ष कारण मानकर वीतरागने 'समकित' कहा है॥१७॥

मानादिक शत्रु महा, निज छंदे न मराय ।
जातां सद्गुरु शरणमां, अल्प प्रयासे जाय ॥१८॥

मान और पूजा-सत्कार आदिका लोभ इत्यादि महा शत्रु हैं, वे अपनी चतुराईसे चलते हुए नष्ट नहीं होते, और सद्गुरुकी शरणमें जानेपर सहज प्रयत्नसे दूर हो जाते हैं॥१८॥

जे सद्गुरु उपदेशथी, पाम्यो केवळज्ञान ।
गुरु रह्या छद्मस्थ पण, विनय करे भगवान ॥१९॥

जिस सद्गुरुके उपदेशसे कोई केवलज्ञानको प्राप्त हुआ, वह सद्गुरु अभी छद्मस्थ रहा हो तो भी जिसने केवलज्ञानको प्राप्त किया है, ऐसा वह केवली भगवान अपने छद्मस्थ सद्गुरुका वैयावृत्य करता है॥१९॥

एवो मार्ग विनय तणो, भाख्यो श्री वीतराग ।
मूळ हेतु ए मार्गनो, समजे कोई सुभाग्य ॥२०॥

श्री जिनेन्द्रने ऐसे विनयमार्गका उपदेश दिया है। इस मार्गका मूल हेतु अर्थात् उससे आत्माका क्या उपकार होता है, उसे कोई सुभाग्य अर्थात् सुलभबोधी अथवा आराधक जीव हो, वह समझता है॥२०॥

असद्गुरु ए विनयनो, लाभ लहे जो कांई ।
महामोहनीय कर्मथी, बूडे भवजळ मांही ॥२१॥

यह जो विनयमार्ग कहा है, उसका लाभ अर्थात् उसे शिष्य आदिसे करानेकी इच्छा करके यदि कोई भी असद्गुरु अपनेमें सद्गुरुताकी स्थापना करता है, तो वह महामोहनीय कर्मका उपार्जन करके भवसमुद्रमें डूबता है॥२१॥

होय मुमुक्षु जीव ते, समजे एह विचार ।
होय मतार्थी जीव ते, अवळो ले निर्धार ॥२२॥

जो मोक्षार्थी जीव होता है, वह इस विनयमार्ग आदिके विचारको समझता है; और जो मतार्थी होता है, वह उसका उलटा निर्धार करता है, अर्थात् या तो स्वयं शिष्य आदिसे वैसी विनय करवाता है, अथवा असद्गुरुमें सद्गुरुकी भाँति रखकर स्वयं इस विनयमार्गका उपयोग करता है॥२२॥

होय मतार्थी तेहने, थाय न आतम लक्ष ।
तेह मतार्थी लक्षणो, अहीं कह्यां निर्पक्ष ॥२३॥

जो मतार्थी जीव होता है, उसे आत्मज्ञानका लक्ष्य नहीं होता, ऐसे मतार्थी जीवके लक्षण यहाँ निष्पक्षतासे कहे हैं॥२३॥

मतार्थी-लक्षण

बाह्यत्याग पण ज्ञान नहि, ते माने गुरु सत्य ।
अथवा निजकुळधर्मना, ते गुरुमां ज ममत्व ॥२४॥

जिसमें मात्र बाह्यसे त्याग दिखायी देता है, परंतु जिसे आत्मज्ञान नहीं है, और उपलक्षणसे अंतरंग त्याग नहीं है, ऐसे गुरुको जो सच्चा गुरु मानता है, अथवा तो अपने कुलधर्मका चाहे जैसा गुरु हो तो भी उसमें ममत्व रखता है॥२४॥

जे जिनदेह प्रमाण ने, समवसरणादि सिद्धि ।
वर्णन समजे जिननुं, रोकी रहे निज बुद्धि ॥२५॥

जो जिनेन्द्रकी देह आदिका वर्णन है, उसे जिनेंद्रका वर्णन समझता है, और मात्र अपने कुलधर्मके देव हैं, इसलिये ममत्वके कल्पित रागसे जो उनके समवसरण आदिका माहात्म्य कहा करता है, और उसमें अपनी बुद्धिको रोक रखता है, अर्थात् परमार्थहेतुस्वरूप ऐसा जिनेंद्रका जो जानने योग्य अंतरंग स्वरूप है, उसे नहीं जानता, तथा उसे जाननेका प्रयत्न नहीं करता, और मात्र समवसरण आदिमें ही जिनेंद्रका स्वरूप बताकर मतार्थमें ग्रस्त रहता है॥२५॥

प्रत्यक्ष सद्गुरुयोगमां वर्ते दृष्टि विमुख ।
असद्गुरुने दृढ करे, निज मानार्थे मुख्य ॥२६॥

प्रत्यक्ष सद्गुरुका क्वचित् योग मिले, तो दुराग्रह आदिकी छेदक उसकी वाणी सुनकर उससे उलटा ही चलता है, अर्थात् उस हितकारी वाणीको ग्रहण नहीं करता; और 'स्वयं सच्चा दृढ़ मुमुक्षु है,' ऐसे मानको मुख्यतः प्राप्त करनेके लिये असद्गुरुके पास जाकर, स्वयं उसके प्रति अपनी विशेष दृढ़ता बताता है॥२६॥

देवादि गति भंगमां, जे समजे श्रुतज्ञान ।
माने निज मत वेषनो, आग्रह मुक्तिनिदान ॥२७॥

देव, नरक आदि गतिके 'भंग' आदिके स्वरूप किसी विशेष परमार्थहेतुसे कहे हैं, उस हेतुको नहीं जाना, और उस भंगजालको जो श्रुतज्ञान समझता है; तथा अपने मतका, वेषका आग्रह रखनेमें ही मुक्तिका हेतु मानता है॥२७॥

लह्युं स्वरूप न वृत्तिनुं, ग्रह्युं व्रत अभिमान ।
ग्रहे नहीं परमार्थने, लेवा लौकिक मान ॥२८॥

वृत्तिका स्वरूप क्या है ? उसे भी वह नहीं जानता, और मैं व्रतधारी हूँ, ऐसा अभिमान धारण किया है। क्वचित् परमार्थके उपदेशका योग बने, तो भी लोगोंमें जो अपने मान, पूजा, सत्कार आदि हैं, वे चले जायेंगे; अथवा वे मान आदि फिर प्राप्त नहीं होंगे, ऐसा समझकर वह परमार्थको ग्रहण नहीं करता॥२८॥

अथवा निश्चयनय ग्रहे, मात्र शब्दनी मांय ।
लोपे सद्व्यवहारने, साधन रहित थाय ॥२९॥

अथवा 'समयसार' या 'योगवासिष्ठ' जैसे ग्रंथ पढ़कर वह मात्र निश्चयनयको ग्रहण करता है। किस तरह ग्रहण करता है ? मात्र कहनेमें; अंतरंगमें तथारूप गुणकी कुछ भी स्पर्शना नहीं, और सद्गुरु, सत्शास्त्र तथा वैराग्य, विवेक आदि सद्व्यवहारका लोप करता है, तथा अपनेको ज्ञानी मानकर साधनरहित होकर आचरण करता है॥२९॥

ज्ञानदशा पामे नहीं, साधनदशा न कांई ।
पामे तेनो संग जे, ते बूडे भव मांही ॥३०॥

वह ज्ञानदशाको नहीं पाता, और वैराग्य आदि साधनदशा भी उसे नहीं है, जिससे वैसे जीवका संग दूसरे जिस जीवको होता है वह भी भवसागरमें डूबता है॥३०॥

ए पण जीव मतार्थमां, निजमानादि काज ।
पामे नहि परमार्थने, अन्-अधिकारीमां ज ॥३१॥

यह जीव भी मतार्थमें ही प्रवृत्त है; क्योंकि उपर्युक्त जीवको जिस तरह कुलधर्म आदिके कारण मतार्थता है, उसी तरह इसे अपनेको ज्ञानी मनवानेके मानकी इच्छासे अपने शुष्कमतका आग्रह है, इसलिये वह भी परमार्थको नहीं पाता; और अनधिकारी अर्थात् जिसमें ज्ञानका परिणमन होना योग्य नहीं है, ऐसे जीवोंमें वह भी गिना जाता है॥३१॥

नहि कषाय उपशांतता, नहि अंतर वैराग्य ।
सरळपणुं न मध्यस्थता, ए मतार्थी दुर्भाग्य ॥३२॥

जिसके क्रोध, मान, माया और लोभरूप कषाय पतले नहीं पड़े हैं, तथा जिसे अंतर वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ है, जिसके आत्मामें गुण ग्रहण करनेरूप सरलता नहीं रही है तथा सत्यासत्यकी तुलना करनेकी जिसमें अपक्षपातदृष्टि नहीं है, वह मतार्थी जीव दुर्भाग्य है अर्थात् जन्म, जरा, मरणका छेदन करनेवाले मोक्षमार्गको प्राप्त करने योग्य उसका भाग्य नहीं है, ऐसा समझें॥३२॥

लक्षण कह्यां मतार्थीनां, मतार्थ जावा काज ।
हवे कहुं आत्मार्थीनां, आत्म-अर्थ सुखसाज ॥३३॥

इस तरह मतार्थी जीवके लक्षण कहे। उसके कहनेका हेतु यह है कि उन्हें जानकर किसी भी जीवका मतार्थ दूर हो। अब आत्मार्थी जीवके लक्षण कहते हैं। वे लक्षण कैसे हैं? आत्माके लिये अव्याबाध सुखकी सामग्रीके हेतु है॥३३॥

आत्मार्थी-लक्षण

आत्मज्ञान त्यां मुनिपणुं, ते साचा गुरु होय ।
बाकी कुलगुरु कल्पना, आत्मार्थी नहि जोय ॥३४॥

जहाँ आत्मज्ञान होता है, वहाँ मुनित्व होता है, अर्थात् जहाँ आत्मज्ञान नहीं होता वहाँ मुनित्व संभव नहीं है। **जं सम्मंति पासह तं मोणंति पासह**—जहाँ समकित अर्थात् आत्मज्ञान है वहाँ मुनित्व समझें, ऐसा आचारांगसूत्रमें कहा है। अर्थात् जिसमें आत्मज्ञान हो वह सच्चा गुरु है, ऐसा जो जानता है, और जो यह भी जानता है कि आत्मज्ञानसे रहित अपने कुलगुरुको सद्गुरु मानना कल्पना मात्र है, उससे कुछ भवच्छेद नहीं होता, वह आत्मार्थी है॥३४॥

प्रत्यक्ष सद्गुरु प्राप्तिनो, गणे परम उपकार ।
त्रणे योग एकत्वथी, वर्ते आज्ञाधार ॥३५॥

वह प्रत्यक्ष सद्गुरुकी प्राप्तिका महान उपकार समझता है, अर्थात् शास्त्र आदिसे जो समाधान हो सकने योग्य नहीं है, और जो दोष सद्गुरुकी आज्ञा धारण किये बिना दूर नहीं होते; वह सद्गुरुके योगसे समाधान हो जाता है, और वे दोष दूर हो जाते हैं; इसलिये वह प्रत्यक्ष सद्गुरुका महान उपकार समझता है, और उन सद्गुरुके प्रति मन, वचन और कायाकी एकतासे आज्ञापूर्वक आचरण करता है॥३५॥

एक होय त्रण कालमां, परमारथनो पंथ ।
प्रेरे ते परमार्थने, ते व्यवहार समंत ॥३६॥

तीनों कालमें परमार्थका पंथ अर्थात् मोक्षका मार्ग एक होना चाहिये, और जिससे वह परमार्थ सिद्ध हो वह व्यवहार जीवको मान्य रखना चाहिये, अन्य नहीं॥३६॥

एम विचारी अन्तरे, शोधे सद्गुरु योग ।
काम एक आत्मार्थनुं, बीजो नहि मनरोग ॥३७॥

इस तरह अंतरमें विचारकर जो सद्गुरुके योगको खोजता है, मात्र एक आत्मार्थकी इच्छा रखना है; परंतु मान, पूजा आदि ऋद्धि-सिद्धिकी तनिक भी इच्छा नहीं रखता, यह रोग जिसके मनमें नहीं है, वह आत्मार्थी है॥३७॥

कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष अभिलाष ।
भवे खेद, प्राणीदया, त्यां आत्मार्थ निवास ॥३८॥

जिसके कषाय पतले पड़ गये हैं, जिसे मात्र एक मोक्षपदके सिवाय अन्य किसी पदकी अभिलाषा नहीं है, संसारके प्रति जिसे वैराग्य रहता है, और प्राणीमात्रपर जिसे दया है, ऐसे जीवमें आत्मार्थका निवास होता है॥३८॥

दशा न एवी ज्यां सुधी, जीव लहे नहि जोग ।
मोक्षमार्ग पामे नहीं, मटे न अंतर रोग ॥३९॥

जब तक ऐसी योग्य दशाको जीव नहीं पाता, तब तक उसे मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं होती, और आत्मभ्रांतिरूप अनंत दुःखका हेतु ऐसा अंतर रोग नहीं मिटता॥३९॥

आवे ज्यां एवी दशा, सद्गुरुबोध सुहाय ।
ते बोधे सुविचारणा, त्यां प्रगटे सुखदाय ॥४०॥

जहाँ ऐसी दशा आती है वहाँ सद्गुरुका बोध शोभित होता है अर्थात् परिणमित होता है, और उस बोधके परिणामसे सुखदायक सुविचारदशा प्रगट होती है॥४०॥

ज्यां प्रगटे सुविचारणा, त्यां प्रगटे निज ज्ञान ।
जे ज्ञाने क्षय मोह थई, पामे पद निर्वाण ॥४१॥

जहाँ सुविचारदशा प्रगट होती है वहाँ आत्मज्ञान उत्पन्न होता है, और उस ज्ञानसे मोहका क्षय करके जीव निर्वाणपद पाता है॥४१॥

ऊपजे ते सुविचारणा, मोक्षमार्ग समजाय ।
गुरु-शिष्य संवादथी, भाखुं षट्पद आंही ॥४२॥

जिससे वह सुविचारदशा उत्पन्न होती है और मोक्षमार्ग समझमें आता है वह षट्पदरूपमें गुरुशिष्यके संवाद द्वारा यहाँ कहता हूँ॥४२॥

षट्पदनामकथन

'आत्मा छे,' 'ते नित्य छे', 'छे कर्ता निजकर्म' ।
'छे भोक्ता' वळी 'मोक्ष छे', 'मोक्ष उपाय सुधर्म' ॥४३॥

'आत्मा है,' 'वह आत्मा नित्य है,' 'वह आत्मा अपने कर्मका कर्ता है,' 'वह कर्मका भोक्ता है,' 'उस कर्मसे मोक्ष होता है,' और 'उस मोक्षका उपाय सद्धर्म है'॥४३॥

षट्स्थानक संक्षेपमां, षट्दर्शन पण तेह ।
समजावा परमार्थने, कह्यां ज्ञानीए एह ॥४४॥

ये छः स्थानक अथवा छः पद यहाँ संक्षेपमें कहे हैं। और विचार करनेसे षड्दर्शन भी यही हैं। परमार्थ समझनेके लिये ज्ञानीपुरुषने ये छः पद कहे हैं॥४४॥

शंका–शिष्य उवाच

(शिष्य आत्माके अस्तित्वरूप प्रथम स्थानककी शंका करता है–)

नथी दृष्टिमां आवतो, नथी जणातुं रूप ।
बीजो पण अनुभव नहीं, तेथी न जीवस्वरूप ॥४५॥

वह दृष्टिमें नहीं आता, तथा उसका कोई रूप जान नहीं पड़ता, तथा स्पर्श आदि अन्य अनुभवसे भी वह जाना नहीं जाता, इसलिये जीवका स्वरूप नहीं है, अर्थात् जीव नहीं है॥४५॥

अथवा देह ज आतमा, अथवा इन्द्रिय प्राण ।
मिथ्या जुदो मानवो, नहीं जुदुं एंधाण ॥४६॥

अथवा जो देह है वही आत्मा है, अथवा जो इन्द्रियाँ हैं, वही आत्मा है, अथवा श्वासोच्छ्वास है, वह आत्मा है, अर्थात् ये सब किसी न किसी रूपमें देहरूप हैं; इसलिये आत्माको भिन्न मानना मिथ्या है क्योंकि उसका कोई भी भिन्न चिह्न नहीं है॥४६॥

वळी जो आत्मा होय तो जणाय ते नहि केम ? ।
जणाय जो ते होय तो, घट, पट आदि जेम ॥४७॥

और यदि आत्मा हो तो वह मालूम क्यों नहीं होता ? जैसे घट, पट आदि पदार्थ हैं तो वे जान पड़ते हैं, वैसे आत्मा हो तो किसलिये मालूम न हो ?॥४७॥

माटे छे नहि आतमा, मिथ्या मोक्ष उपाय ।
ए अन्तर शंका तणो, समजावो सदुपाय ॥४८॥

इसलिये आत्मा नहीं है, और जब आत्मा ही नहीं है तब उसके मोक्षके लिये उपाय करना व्यर्थ है; इस मेरी अंतरकी शंकाका कुछ भी सदुपाय समझाइये अर्थात् समाधान हो तो कहिये॥४८॥

समाधान–सद्गुरु उवाच

(आत्माका अस्तित्व है ऐसा सद्गुरु समाधान करते हैं–)

भास्यो देहाध्यासथी, आत्मा देह समान ।
पण ते बन्ने भिन्न छे, प्रगट लक्षणे भान ॥४९॥

देहाध्याससे अर्थात् अनादिकालसे अज्ञानके कारण देहका परिचय है, इससे आत्मा देह जैसा अर्थात् देहरूप ही तुझे भासित हुआ है; परंतु आत्मा और देह दोनों भिन्न हैं, क्योंकि दोनों भिन्न भिन्न लक्षणोंसे प्रगट ज्ञानमें आते हैं॥४९॥

भास्यो देहाध्यासथी, आत्मा देह समान ।
पण ते बन्ने भिन्न छे, जेम असि ने म्यान ॥५०॥

अनादिकालसे अज्ञानके कारण देहके परिचयसे देह ही आत्मा भासित हुआ है, अथवा देह जैसा आत्मा भासित हुआ है; परंतु जैसे तलवार और म्यान, म्यानरूप लगते हुए भी दोनों भिन्न भिन्न हैं, वैसे

आत्मा और देह दोनों भिन्न-भिन्न हैं॥५०॥

जे द्रष्टा छे दृष्टिनो, जे जाणे छे रूप ।
अबाध्य अनुभव जे रहे, ते छे जीवस्वरूप ॥५१॥

वह आत्मा दृष्टि अर्थात् आँखसे कैसे दिखायी दे सकता है? क्योंकि वह तो उलटा उसको देखने वाला है (अर्थात् आँखको देखनेवाला तो आत्मा ही है)। और जो स्थूल, सूक्ष्म आदि रूपको जानता है, और सबको बाधित करता हुआ जो किसीसे भी बाधित नहीं हो सकता, ऐसा जो शेष अनुभव है वह जीवका स्वरूप है॥५१॥

[1]छे इन्द्रिय प्रत्येकने, निज निज विषयनुं ज्ञान ।
पाँच इंद्रीना विषयनुं, पण आत्माने भान ॥५२॥

[1]कर्णेन्द्रियसे जो सुना उसे वह कर्णेन्द्रिय जानती है, परंतु चक्षुरिन्द्रिय उसे नहीं जानती, और चक्षुरिन्द्रियने जो देखा उसे कर्णेन्द्रिय नहीं जानती। अर्थात् सभी इन्द्रियोंको अपने अपने विषयका ज्ञान है, परंतु दूसरी इन्द्रियोंके विषयका ज्ञान नहीं है; और आत्माको तो पाँचों इन्द्रियोंके विषयका ज्ञान है। अर्थात् जो उन पाँचों इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये हुए विषयको जानता है वह 'आत्मा' है, और आत्माके बिना एक एक इन्द्रिय एक एक विषयको ग्रहण करती है ऐसा जो कहा है, वह भी उपचारसे कहा है॥५२॥

देह न जाणे तेहने, जाणे न इन्द्री, प्राण ।
आत्मानी सत्ता वडे, तेह प्रवर्ते जाण ॥५३॥

देह उसे नहीं जानती, इन्द्रियाँ उसे नहीं जानती, और श्वासोच्छ्वासरूप प्राण भी उसे नहीं जानता; वे सब एक आत्माकी सत्ता पाकर प्रवृत्ति करते हैं, नहीं तो वे जड़रूप पड़े रहते हैं, ऐसा तू समझ॥५३॥

सर्व अवस्थाने विषे, न्यारो सदा जणाय ।
प्रगटरूप चैतन्यमय, ए एंधाण सदाय ॥५४॥

जाग्रत, स्वप्न और निद्रा इन अवस्थाओंमें रहनेपर भी जो उन सब अवस्थाओंसे भिन्न रहा करता है, और उस उस अवस्थाके बीत जानेपर भी जिसका अस्तित्व है, और उस उस अवस्थाको जो जानता है, ऐसा प्रगटस्वरूप चैतन्यमय है, अर्थात् जाना ही करता है ऐसा जिसका स्वभाव प्रगट है, और उसकी यह निशानी सदा ही रहती है, किसी दिन उस निशानीका नाश नहीं होता॥५४॥

घट पट आदि जाण तुं, तेथी तेने मान ।
जाणनार ते मान नहि, कहीए केवुं ज्ञान? ॥५५॥

घट, पट आदिको तू स्वयं जानता है, 'वे हैं' ऐसा तू मानता है, और जो उन घट, पट आदिका ज्ञाता है उसे तू नहीं मानता; तो फिर इस ज्ञानको कैसा कहा जाये? ॥५५॥

परम बुद्धि कृश देहमां, स्थूळ देह मति अल्प ।
देह होय जो आतमा, घटे न आम विकल्प ॥५६॥

दुर्बल देहमें परम बुद्धि देखनेमें आती है, और स्थूल देहमें थोड़ी बुद्धि भी देखनेमें आती है; यदि देह ही आत्मा होता तो ऐसा विकल्प अर्थात् विरोध होनेका अवसर न आता॥५६॥

जड चेतननो भिन्न छे, केवळ प्रगट स्वभाव ।
एकपणुं पामे नहीं, त्रणे काळ द्रयभाव ॥५७॥

---

१. पाठांतर—कान न जाणे आँखने, आँख न जाणे कान;

किसी कालमें जिसमें जाननेका स्वभाव नहीं है वह जड़ है, और जो सदा ही जाननेके स्वभाव वाला है वह चेतन है। ऐसा दोनोंका सर्वथा भिन्न स्वभाव है, और वह किसी भी प्रकारसे एकत्व पाने योग्य नहीं है। तीनों कालमें जड़ जड़भावमें और चेतन चेतनभावमें रहता है, ऐसा दोनोंका द्वैतभाव स्पष्ट ही अनुभवमें आता है॥५७॥

आत्मानी शंका करे, आत्मा पोते आप ।
शंकानो करनार ते, अचरज एह अमाप ॥५८॥

आत्माकी शंका आत्मा स्वयं करता है। परंतु जो शंका करनेवाला है, वही आत्मा है। वह मालूम नहीं होता, यह ऐसा आश्चर्य है कि जिसका माप नहीं हो सकता॥५८॥

शंका–शिष्य उवाच

(आत्मा नित्य नहीं है ऐसा शिष्य कहता है–)

आत्माना अस्तित्वना, आपे कह्या प्रकार ।
संभव तेनो थाय छे, अंतर कर्ये विचार ॥५९॥

आत्माके अस्तित्वके विषयमें आपने जो जो प्रकार कहे हैं उनका अंतरमें विचार करनेसे उसका अस्तित्व संभव लगता है॥५९॥

बीजी शंका थाय त्यां, आत्मा नहि अविनाश ।
देहयोगथी ऊपजे, देहवियोगे नाश ॥६०॥

परंतु दूसरी शंका यह होती है, कि यदि आत्मा है तो भी वह अविनाशी अर्थात् नित्य नहीं है; तीनों कालोंमें रहनेवाला पदार्थ नहीं है; मात्र देहके संयोगसे उत्पन्न होता है और उसके वियोगसे विनाशको प्राप्त होता है॥६०॥

अथवा वस्तु क्षणिक छे, क्षणे क्षणे पलटाय ।
ए अनुभवथी पण नहीं, आत्मा नित्य जणाय ॥६१॥

अथवा वस्तु क्षण-क्षणमें बदलती हुई देखनेमें आती है, अतः सर्व वस्तु क्षणिक है, और अनुभवसे देखते हुए भी आत्मा नित्य मालूम नहीं होता॥६१॥

समाधान–सद्गुरु उवाच

(आत्मा नित्य है ऐसा सद्गुरु समाधान करते हैं–)

देह मात्र संयोग छे, वळी जड रूपी दृश्य ।
चेतननां उत्पत्ति लय, कोना अनुभव वश्य ? ॥६२॥

देह मात्र परमाणुका संयोग है, अथवा संयोगसे आत्माके संबंधमें है। तथा वह देह जड़ है, रूपी है, और दृश्य अर्थात् दूसरे किसी दृष्टाके जाननेका वह विषय है; इसलिये वह अपने आपको नहीं जानती, तो फिर चेतनकी उत्पत्ति और नाशको वह कैसे जानेगी ? उस देहके एक एक परमाणुका विचार करते हुए भी वह जड़ ही है, ऐसा समझमें आता है। इसलिये उसमेंसे चेतनकी उत्पत्ति होना योग्य नहीं है; और उत्पत्ति होना योग्य नहीं है इसलिये चेतनका उसमें नाश होना भी योग्य नहीं है। तथा वह देह रूपी अर्थात् स्थूल आदि परिणामवाली है, और चेतन द्रष्टा है, तब उसके संयोगसे चेतनकी उत्पत्ति किस तरह हो सकती है ? और उसमें लय भी कैसे हो सकता है ? देहमेंसे चेतन उत्पन्न होता है, और उसमें ही नाशको

प्राप्त होता है, यह बात किसके अनुभवके वश रही ? अर्थात् ऐसा किसने जाना ? क्योंकि जाननेवाले चेतनकी उत्पत्ति देहसे पहले है नहीं, और नाश तो उससे पहले है, तब यह अनुभव हुआ किसको ?॥६२॥

जीवका स्वरूप अविनाशी अर्थात् नित्य त्रिकालवर्ती होना संभव नहीं। देहके योगसे अर्थात् देहके जन्मके साथ वह जन्म लेता है और देहके वियोगसे अर्थात् देहके नाशसे वह नष्ट हो जाता है, इस आशंकाका समाधान इस तरह विचारियेगा—

देहका जीवके साथ मात्र संयोग-संबंध है, परंतु जीवके मूलस्वरूपके उत्पन्न होनेका वह कुछ कारण नहीं है। अथवा देह मात्र संयोगसे उत्पन्न हुआ पदार्थ है। तथा वह जड़ है अर्थात् किसीको नहीं जानती; अपनेको नहीं जानती तो दूसरेको क्या जाने ? तथा देह रूपी है, स्थूल आदि स्वभाववाली है और चक्षुका विषय है। इस प्रकार देहका स्वरूप है, तो वह चेतनकी उत्पत्ति और लयको किस तरह जाने ? अर्थात् वह अपनेको नहीं जानती तो 'मेरेसे यह चेतन उत्पन्न हुआ है', इसे किस तरह जाने ? और 'मेरे छूट जानेके बाद यह चेतन भी छूट जायेगा अर्थात् नष्ट हो जायेगा', इसे जड़ देह कैसे जाने ? क्योंकि जाननेवाला पदार्थ तो जाननेवाला ही रहता है; देह जाननेवाली नहीं हो सकती तो फिर चेतनकी उत्पत्ति-लयके अनुभवको किसके वश कहना ?

देहके वश तो कहा ही नहीं जा सकता, क्योंकि वह प्रत्यक्ष जड़ है और उसके जड़त्वको जाननेवाला ऐसा उससे भिन्न दूसरा पदार्थ भी समझमें आता है।

यदि कदाचित् ऐसा कहें कि चेतनके उत्पत्तिलयको चेतन जानता है तो यह बात तो 'वदतो व्याघात' है। क्योंकि चेतनकी उत्पत्ति और लयके जाननेवालेके रूपमें चेतनको ही अंगीकार करना पड़ा; इसलिये यह वचन तो मात्र अपसिद्धांतरूप और कथनमात्र हुआ; जैसे कोई यह वचन कहे कि 'मेरे मुँहमें जीभ नहीं है', वैसे यह कथन है कि चेतनकी उत्पत्ति और लयको चेतन जानता है, इसलिये चेतन नित्य नहीं, वैसा प्रमाण हुआ। उस प्रमाणकी कैसी यथार्थता है, इसे तो आप ही विचार कर देखें।(६२)

जेना अनुभव वश्य ए, उत्पन्न लयनुं ज्ञान ।
ते तेथी जुदा विना, थाय न केमे भान ॥६३॥

जिसके अनुभवमें इस उत्पत्ति और नाशका ज्ञान रहता है, वह ज्ञान उससे भिन्न हुए बिना किसी भी प्रकारसे संभव नहीं है, अर्थात् चेतनकी उत्पत्ति और लय होते हैं, ऐसा अनुभव किसीको भी होने योग्य नहीं है॥६३॥

देहकी उत्पत्ति और देहके लयका ज्ञान जिसके अनुभवमें रहता है, वह उस देहसे भिन्न न हो तो किसी भी प्रकारसे देहकी उत्पत्ति और लयका ज्ञान नहीं होता। अथवा जिसकी उत्पत्ति और लयको जो जानता है वह उससे भिन्न ही है, क्योंकि वह उत्पत्तिलयरूप नहीं ठहरा, परंतु उसका जाननेवाला ठहरा। इसलिये उन दोनोंकी एकता कैसे हो ?(६३)

जे संयोगो देखिये, ते ते अनुभव दृश्य ।
ऊपजे नहि संयोगथी, आत्मा नित्य प्रत्यक्ष ॥६४॥

जो जो संयोग हम देखते हैं वे सब अनुभवस्वरूप ऐसे आत्माके दृश्य हैं अर्थात् उन्हें आत्मा जानता है, और उन संयोगोंके स्वरूपका विचार करने पर ऐसा कोई भी संयोग समझमें नहीं आता कि जिससे आत्मा उत्पन्न होता है, इसलिये आत्मा संयोगसे उत्पन्न नहीं हुआ है, अर्थात् असंयोगी है, स्वाभाविक पदार्थ है, इसलिये यह प्रत्यक्ष 'नित्य' समझमें आता है॥६४॥

जो जो देह आदि संयोग दिखायी देते हैं वे सब अनुभवस्वरूप ऐसे आत्माके दृश्य हैं, अर्थात् आत्मा उन्हें देखता है, और जानता है, ऐसे पदार्थ हैं। उन सब संयोगोंका विचारकर देखें, तो आपको किसी भी संयोगसे अनुभवस्वरूप आत्मा उत्पन्न हो सकने योग्य मालूम नहीं होगा। कोई भी संयोग आपको नहीं जानते और आप उन सब संयोगोंको जानते हैं, यही आपकी उनसे भिन्नता है, और असंयोगिता अर्थात् उन संयोगोंसे उत्पन्न न होना सहज ही सिद्ध होता है, और अनुभवमें आता है। इससे अर्थात् किसी भी संयोगसे जिसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, कोई भी संयोग जिसकी उत्पत्तिके लिये अनुभवमें नहीं आ सकते, जिन जिन संयोगोंकी कल्पना करें उनसे वह अनुभव भिन्न और भिन्न ही है, मात्र उनके ज्ञातारूपसे ही रहता है, उस अनुभवस्वरूप आत्माको आप नित्य अस्पृश्य अर्थात् जिसने उन संयोगोंके भावरूप स्पर्शको प्राप्त नहीं किया, ऐसा समझें। (६४)

जडथी चेतन ऊपजे, चेतनथी जड थाय ।
एवो अनुभव कोईने, क्यारे कदी न थाय ॥६५॥

जड़से चेतन उत्पन्न हो, और चेतनसे जड़ उत्पन्न हो ऐसा किसीको कहीं कभी भी अनुभव नहीं होता ॥६५॥

कोई संयोगोथी नहीं, जेनी उत्पत्ति थाय ।
नाश न तेनो कोईमां, तेथी नित्य सदाय ॥६६॥

जिसकी उत्पत्ति किसी भी संयोगसे नहीं होती, उसका नाश भी किसीमें नहीं होता, इसलिये आत्मा त्रिकाल 'नित्य' है ॥६६॥

जो किसी भी संयोगसे उत्पन्न न हुआ हो अर्थात् अपने स्वभावसे जो पदार्थ सिद्ध हो, उसका लय दूसरे किसी भी पदार्थमें नहीं होता; और यदि दूसरे पदार्थमें उसका लय होता हो, तो उसमेंसे उसकी पहले उत्पत्ति होनी चाहिये थी, नहीं तो उसमें उसकी लयरूप एकता नहीं होती। इसलिये आत्माको अनुत्पन्न और अविनाशी जानकर नित्य है ऐसी प्रतीति करना योग्य होगा। (६६)

क्रोधादि तरतम्यता, सर्पादिकनी मांय ।
पूर्वजन्म संस्कार ते, जीव-नित्यता त्यांय ॥६७॥

क्रोध आदि प्रकृतियोंकी विशेषता सर्प आदि प्राणियोंमें जन्मसे ही देखनेमें आती है, वर्तमान देहमें तो उन्होंने वह अभ्यास नहीं किया; जन्मके साथ ही वह है; अर्थात् यह पूर्वजन्मका ही संस्कार है, जो पूर्वजन्म जीवकी नित्यता सिद्ध करता है ॥६७॥

सर्पमें जन्मसे क्रोधकी विशेषता देखनेमें आती है; कबूतरमें जन्मसे ही अहिंसकता देखनेमें आती है, खटमल आदि जन्तुओंको पकड़ते हुए उन्हें पकड़नेसे दुःख होता है ऐसी भयसंज्ञा पहलेसे ही उनके अनुभवमें रही है, जिससे वे भाग जानेका प्रयत्न करते हैं। किसी प्राणीमें जन्मसे ही प्रीतिकी, किसीमें समताकी, किसीमें विशेष निर्भयताकी, किसीमें गंभीरताकी, किसीमें विशेष भय संज्ञाकी, किसीमें काम आदिके प्रति असंगताकी, और किसीमें आहार आदिमें अधिकाधिक लुब्धताकी विशेषता देखनेमें आती है। इत्यादि भेद अर्थात् क्रोध आदि संज्ञाकी न्यूनाधिकता आदिसे, तथा वे वे प्रकृतियाँ जन्मसे सहचारीरूपसे विद्यमान देखनेमें आती हैं, उससे उसका कारण पूर्वके संस्कार ही संभव हैं।

कदाचित् ऐसा कहें कि गर्भमें वीर्य-रेतके गुणके योगसे उस उस प्रकारके गुण उत्पन्न होते हैं, परंतु उसमें पूर्वजन्म कुछ कारणभूत नहीं है; यह कहना भी यथार्थ नहीं है। जो माता-पिता काममें विशेष प्रीतिवाले देखनेमें आते हैं, उनके पुत्र परम वीतराग जैसे बाल्यकालसे ही देखनेमें आते हैं। तथा जिन

माता-पिताओंमें क्रोधकी विशेषता देखनेमें आती है, उनकी संततिमें समताकी विशेषता दृष्टिगोचर होती है, यह कैसे हो सकता है ? तथा उस वीर्य-रेतके वैसे गुण संभव नहीं हैं; क्योंकि वह वीर्य-रेत स्वयं चेतन नहीं है, उसमें चेतन संचार करता है, अर्थात् देह धारण करता है; इसलिये वीर्य-रेतके आश्रित क्रोध आदि भाव नहीं माने जा सकते, चेतनके बिना किसी भी स्थानमें वैसे भाव अनुभवमें नहीं आते। मात्र वे चेतनाश्रित हैं, अर्थात् वीर्य-रेतके गुण नहीं हैं, जिससे उसकी न्यूनाधिकतासे क्रोध आदिकी न्यूनाधिकता मुख्यतः हो सकने योग्य नहीं है। चेतनके न्यूनाधिक प्रयोगसे क्रोध आदिकी न्यूनाधिकता होती है, जिससे वह गर्भके वीर्य-रेतका गुण नहीं है, परंतु चेतनका उन गुणोंको आश्रय है; और वह न्यूनाधिकता उस चेतनके पूर्वके अभ्याससे ही संभव है; क्योंकि कारण बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती। चेतनका पूर्वप्रयोग तथाप्रकारसे हो, तो वे संस्कार रहते हैं, जिससे इस देह आदिके पूर्वके संस्कारोंका अनुभव होता है, और वे संस्कार पूर्वजन्मको सिद्ध करते हैं, और पूर्वजन्मकी सिद्धिसे आत्माकी नित्यता सहज ही सिद्ध होती है।(६७)

आत्मा द्रव्ये नित्य छे, पर्याये पलटाय।
बाळादि वय त्रण्यनुं, ज्ञान एकने थाय ॥६८॥

आत्मा वस्तुरूपसे नित्य है। समय-समयपर ज्ञान आदि परिणामके परिवर्तनसे उसके पर्यायमें परिवर्तन होता है। (कुछ समुद्र बदलता नहीं, मात्र लहरें बदलती हैं, उसी तरह।) जैसे बाल, युवा और वृद्ध ये तीन अवस्थाएँ हैं, वे विभावसे आत्माके पर्याय हैं, और बाल अवस्थाके रहते हुए आत्मा बालक जान पड़ता था। उस बाल अवस्थाको छोड़कर जब आत्माने युवावस्था धारण की, तब युवा जान पड़ा, और जब युवावस्थाको छोड़कर वृद्धावस्था अंगीकार की तब वृद्ध दीखने लगा। यह तीन अवस्थाओंका भेद हुआ, वह पर्यायभेद है, परंतु उन तीनों अवस्थाओंमें आत्म-द्रव्यका भेद नहीं हुआ, अर्थात् अवस्थाएँ बदलीं परंतु आत्मा नहीं बदला। आत्मा इन तीनों अवस्थाओंको जानता है और उन तीनों अवस्थाओंकी उसे ही स्मृति है। तीनों अवस्थाओंमें आत्मा एक हो तो ऐसा हो सकता है परंतु यदि आत्मा क्षण क्षण बदलता हो तो वैसा अनुभव संभव ही नहीं है॥६८॥

अथवा ज्ञान क्षणिकनुं, जे जाणी वदनार।
वदनारो ते क्षणिक नहि, कर अनुभव निर्धार ॥६९॥

तथा अमुक पदार्थ क्षणिक है, ऐसा जो जानता है और क्षणिकता कहता है, वह कहनेवाला अर्थात् जाननेवाला क्षणिक नहीं हो सकता; क्योंकि प्रथम क्षणमें जो अनुभव हुआ उसे दूसरे क्षणमें कहा जा सकता है। उस दूसरे क्षणमें वह स्वयं न हो तो कैसे कहा सकता है ? इसलिये अनुभवसे भी आत्माकी अक्षणिकताका निश्चय कर॥६९॥

क्यारे कोई वस्तुनो, केवळ होय न नाश।
चेतन पामे नाश तो, केमां भळे तपास ॥७०॥

तथा किसी भी वस्तुका किसी भी कालमें सर्वथा नाश तो होता ही नहीं है, मात्र अवस्थांतर होता है; इसलिये चेतनका भी सर्वथा नाश नहीं होता। और यदि अवस्थांतररूप नाश होता हो तो वह किसमें मिल जाता है ? अथवा किस प्रकारके अवस्थांतरको प्राप्त करता है, उसकी खोज कर। अर्थात् घट आदि पदार्थ फूट जाते हैं, तब लोग ऐसा कहते हैं कि घटका नाश हुआ है, परंतु कुछ मिट्टीपनका तो नाश नहीं हुआ। वह छिन्न-भिन्न होकर सूक्ष्मसे सूक्ष्म चूरा हो जाये, तो भी परमाणु समूहरूपसे रहता है परंतु उसका सर्वथा नाश नहीं होता; और उसमेंसे एक परमाणु भी कम नहीं होता। क्योंकि अनुभवसे

देखते हुए अवस्थांतर हो सकता है। परंतु पदार्थका समूल नाश हो जाये, ऐसा भासित होने योग्य ही नहीं है। इसलिये यदि तू चेतनका नाश कहता है, तो भी सर्वथा नाश तो कहा ही नहीं जा सकता; अवस्थांतररूप नाश कहा जा सकता है। जैसे घट फूटकर क्रमशः परमाणु-समूहरूपसे स्थितिमें रहता है, वैसे चेतनका अवस्थांतररूप नाश तुझे कहना हो, तो वह किस स्थितिमें रहता है ? अथवा घटके परमाणु जैसे परमाणुसमूहमें मिल जाते हैं वैसे चेतन किस वस्तुमें मिलने योग्य है ? उसे खोज। अर्थात् इस तरह यदि तू अनुभव करके देखेगा तो किसीमें नहीं मिल सकने योग्य, अथवा परस्वरूपमें अवस्थांतर नहीं पाने योग्य ऐसा चेतन अर्थात् आत्मा तुझे भासमान होगा ॥७०॥

शंका—शिष्य उवाच

(आत्मा कर्मका कर्ता नहीं है ऐसा शिष्य कहता है—)

कर्ता जीव न कर्मनो, कर्म ज कर्ता कर्म ।
अथवा सहज स्वभाव कां, कर्म जीवनो धर्म ॥७१॥

जीव कर्मका कर्ता नहीं, कर्म ही कर्मका कर्ता है, अथवा कर्म अनायास होते रहते हैं। यदि ऐसा न हो, और जीव ही उनका कर्ता है, ऐसा कहें तो फिर वह जीवका धर्म ही है, अर्थात् धर्म होनेसे कभी निवृत्त नहीं हो सकता ॥७१॥

आत्मा सदा असंग ने, करे प्रकृति बंध ।
अथवा ईश्वर प्रेरणा, तेथी जीव अबंध ॥७२॥

अथवा ऐसा न हो, तो आत्मा सदा असंग है, और सत्त्व आदि गुणवाली प्रकृति कर्मका बंध करती है। यदि ऐसा भी न हो तो जीवको कर्म करनेकी प्रेरणा ईश्वर करता है, इसलिये ईश्वरेच्छारूप होनेसे जीव उस कर्मसे 'अबंध' है ॥७२॥

माटे मोक्ष उपायनो, कोई न हेतु जणाय ।
कर्मतणुं कर्तापणुं, कां नहि, कां नहि जाय ॥७३॥

इसलिये जीव किसी तरह कर्मका कर्ता नहीं हो सकता, और मोक्षका उपाय करनेका कोई हेतु नहीं जान पड़ता। इसलिये या तो जीवको कर्मका कर्तृत्व नहीं है, और यदि कर्तृत्व है तो किसी तरह उसका वह स्वभाव मिटने योग्य नहीं है ॥७३॥

समाधान—सद्गुरु उवाच

(सद्गुरु समाधान करते हैं कि कर्मका कर्तृत्व आत्माको किस तरह है—)

होय न चेतन प्रेरणा, कोण ग्रहे तो कर्म ?
जडस्वभाव नहि प्रेरणा, [1]जुओ विचारी धर्म ॥७४॥

चेतन अर्थात् आत्माकी प्रेरणारूप प्रवृत्ति न हो, तो कर्मको कौन ग्रहण करेगा ? जड़का स्वभाव प्रेरणा नहीं है। जड़ और चेतन दोनोंके धर्मोंका विचारकर देखें ॥७४॥

यदि चेतनकी प्रेरणा न हो, तो कर्मको कौन ग्रहण करे ? प्रेरणारूपसे ग्रहण करानेरूप स्वभाव जड़का है ही नहीं; और ऐसा हो तो घट, पट आदिका भी क्रोध आदि भावमें परिणमन होना चाहिये और वे कर्मके ग्रहणकर्ता होने चाहिये, परंतु वैसा अनुभव तो किसीको कभी भी होता नहीं, जिससे चेतन

---

१. पाठान्तर—जुओ विचारी मर्म।

अर्थात्‌म जीव कर्मको ग्रहण करता है, ऐसा सिद्ध होता है, और इसलिये उसे कर्मका कर्ता कहते हैं। अर्थात् इस तरह जीव कर्मका कर्ता है।

'कर्मका कर्ता कर्म कहा जाये या नहीं?' उसका भी समाधान इससे हो जायेगा कि जड़कर्ममें प्रेरणारूप धर्म न होनेसे वह उस तरह कर्मका ग्रहण करनेमें असमर्थ है, और कर्मका कर्तृत्व जीवको है, क्योंकि उसमें प्रेरणाशक्ति है। (७४)

जो चेतन करतुं नथी, नथी थतां तो कर्म ।
तेथी सहज स्वभाव नहि, तेम ज नहि जीवधर्म ॥७५॥

यदि आत्मा कर्मोंको करता नहीं है तो वे होते नहीं है; इसलिये सहज स्वभावसे अर्थात् अनायास वे होते हैं, ऐसा कहना योग्य नहीं है। और वह जीवका धर्म (स्वभाव) भी नहीं है; क्योंकि स्वभावका नाश नहीं होता, और आत्मा न करे तो कर्म नहीं होते, अर्थात् यह भाव दूर हो सकता है, इसलिये यह आत्माका स्वाभाविक धर्म नहीं है॥७५॥

केवळ होत असंग जो, भासत तने न केम?
असंग छे परमार्थथी, पण निजभाने तेम ॥७६॥

यदि आत्मा सर्वथा असंग होता अर्थात् कभी भी उसे कर्मका कर्तृत्व न होता, तो स्वयं तुझे वह आत्मा पहलेसे क्यों भासित न होता? परमार्थसे वह आत्मा असंग है, परंतु यह तो जब स्वरूपका भान हो तब होता है॥७६॥

कर्ता ईश्वर कोई नहि, ईश्वर शुद्ध स्वभाव ।
अथवा प्रेरक ते गण्ये, ईश्वर दोषप्रभाव ॥७७॥

जगतका अथवा जीवोंके कर्मोंका कर्ता कोई ईश्वर नहीं है; जिसका शुद्ध आत्मस्वभाव प्रगट हुआ है वह ईश्वर है, और यदि उसे प्रेरक अर्थात् कर्मका कर्ता मानें तो उसे दोषका प्रभाव हुआ मानना चाहिये। अतः जीवके कर्म करनेमें भी ईश्वरकी प्रेरणा नहीं कही जा सकती॥७७॥

अब आपने 'वे कर्म अनायास होते हैं', ऐसा जो कहा उसका विचार करें। अनायासका अर्थ क्या है? आत्मा द्वारा नहीं विचारा हुआ? अथवा आत्माका कुछ भी कर्तृत्व होनेपर भी प्रवृत्त नहीं हुआ हुआ? अथवा ईश्वरादि कोई कर्म लगा दे उससे हुआ हुआ? अथवा प्रकृतिके बलात् लगनेसे हुआ हुआ? इन चार मुख्य विकल्पोंसे अनायासकर्तृत्व विचारणीय है। प्रथम विकल्प आत्मा द्वारा नहीं विचारा हुआ, ऐसा है। यदि वैसे होता हो तो फिर कर्मका ग्रहण करना ही नहीं रहता, और जहाँ कर्मका ग्रहण करना न रहे वहाँ कर्मका अस्तित्व संभव नहीं है और जीव तो प्रत्यक्ष विचार करता है, और ग्रहणाग्रहण करता है, ऐसा अनुभव होता है।

जिसमें वह किसी तरह प्रवृत्ति ही नहीं करता वैसे क्रोध आदि भाव उसे संप्राप्त होते ही नहीं; इससे ऐसा मालूम होता है कि न विचारे हुए अथवा आत्मासे न किये हुए ऐसे कर्मोंका ग्रहण उसे होने योग्य नहीं है; अर्थात् इन दोनों प्रकारसे अनायास कर्मका ग्रहण सिद्ध नहीं होता।

तीसरा प्रकार यह है कि ईश्वरादि कोई कर्म लगा दे, इससे अनायास कर्मका ग्रहण होता है, ऐसा कहें तो यह योग्य नहीं है। प्रथम तो ईश्वरके स्वरूपका निर्धारण करना योग्य है; और यह प्रसंग भी विशेष समझने योग्य है। तथापि यहाँ ईश्वर या विष्णु आदि कर्ताका किसी तरह स्वीकार कर लेते हैं, और उसपर विचार करते हैं—

यदि ईश्वर आदि कर्मोंको लगा देनेवाले हों तब तो जीव नामका कोई भी पदार्थ बीचमें रहा नहीं;

क्योंकि प्रेरणा आदि धर्मके कारण उसका अस्तित्व समझमें आता था, वे प्रेरणा आदि तो ईश्वरकृत ठहरे, अथवा ईश्वरके गुण ठहरे; तो फिर बाकी जीवका स्वरूप क्या रहा कि उसे जीव अर्थात् आत्मा कहें ? इसलिये कर्म ईश्वरप्रेरित नहीं, अपितु आत्माके अपने ही किये हुए होने योग्य है।

तथा चौथा विकल्प यह है कि प्रकृति आदिके बलात् लगनेसे कर्म होते हों ? यह विकल्प भी यथार्थ नहीं है। क्योंकि प्रकृति आदि जड़ हैं, उन्हें आत्मा ग्रहण न करे तो वे किस तरह लगने योग्य हों ? अथवा द्रव्यकर्मका दूसरा नाम प्रकृति है, अर्थात् कर्मका कर्तृत्व कर्मको ही कहनेके समान हुआ, इसे तो पहले निषिद्ध कर दिखाया है। प्रकृति नहीं, तो अंतःकरण आदि कर्म ग्रहण करते हैं, इससे आत्मामें कर्तृत्व आता है, ऐसा कहें, तो यह भी एकांतसे सिद्ध नहीं होता। अंतःकरण आदि भी चेतनकी प्रेरणाके बिना अंतःकरण आदि रूपसे पहले ठहरे ही कहाँसे ? चेतन कर्म-संलग्नताका मनन करनेके लिये जो आलंबन लेता है, उसे अंतःकरण कहते हैं। यदि चेतन उसका मनन न करे तो कुछ उस संलग्नतामें मनन करनेका धर्म नहीं है; वह तो मात्र जड़ है। चेतन चेतनकी प्रेरणासे उसका आलंबन लेकर कुछ ग्रहण करता है, जिससे उसमें कर्तृत्वका आरोप होता है; परंतु मुख्यतः वह चेतन कर्मका कर्ता है।

यहाँ यदि आप वेदांत आदि दृष्टिसे विचार करेंगे तो हमारे ये वाक्य आपको भ्रांतिगत पुरुषके कहे हुए लगेंगे। परंतु अब जो प्रकार कहा है, उसे समझनेसे आपको उन वाक्योंकी यथार्थता मालूम होगी और भ्रांतिगतता भासित नहीं होगी।

यदि किसी भी प्रकारसे आत्माका कर्मकर्तृत्व न हो तो किसी भी प्रकारसे उसका भोक्तृत्व भी सिद्ध नहीं होता, और जब ऐसा ही हो तो फिर उसको किसी भी प्रकारके दुःखोंका संभव ही नहीं होता। जब आत्माको किसी भी प्रकारके दुःखोंका संभव ही न होता हो तो फिर वेदांत आदि शास्त्र सर्व दुःखोंके क्षयके जिस मार्गका उपदेश करते हैं वे किसलिये उपदेश करते हैं ? 'जब तक आत्मज्ञान नहीं होता तब तक दुःखकी आत्यंतिक निवृत्ति नहीं होती' ऐसा वेदांत आदि कहते हैं, वह यदि दुःख ही न हो तो उसकी निवृत्तिका उपाय किसलिये कहना चाहिये ? और कर्तृत्व न हो, तो दुःखका भोक्तृत्व कहाँसे हो ? ऐसा विचार करनेसे कर्मका कर्तृत्व सिद्ध होता है।

अब यहाँ एक प्रश्न होने योग्य है और आपने भी वह प्रश्न किया है कि 'यदि आत्माको कर्मका कर्तृत्व मानें तब तो आत्माका वह धर्म सिद्ध होता है, और जो जिसका धर्म हो उसका कभी भी उच्छेद होना योग्य नहीं है; अर्थात् उससे सर्वथा भिन्न हो सकने योग्य नहीं है, जैसे अग्निकी उष्णता अथवा प्रकाश वैसे।' इस तरह यदि कर्मका कर्तृत्व आत्माका धर्म सिद्ध हो तो उसका नाश नहीं हो सकता।

उत्तर—सर्व प्रमाणांशका स्वीकार किये बिना ऐसा सिद्ध होता है; परंतु जो विचारवान हो वह किसी एक प्रमाणांशका स्वीकार कर दूसरे प्रमाणांशका नाश नहीं करता। 'उस जीवको कर्मका कर्तृत्व न हो', अथवा 'हो तो वह प्रतीत होने योग्य नहीं है।' इत्यादि किये गये प्रश्नोंके उत्तरमें जीवका कर्मकर्तृत्व बताया है। कर्मका कर्तृत्व हो तो वह दूर ही नहीं होता, ऐसा कुछ सिद्धांत समझना योग्य नहीं है, क्योंकि जिस किसी भी वस्तुका ग्रहण किया हो वह छोड़ी जा सकती है अर्थात् उसका त्याग हो सकता है; क्योंकि ग्रहण की हुई वस्तुसे ग्रहण करनेवाली वस्तुका सर्वथा एकत्व कैसे हो सकता है ? इसलिये जीवसे ग्रहण किये हुए ऐसे जो द्रव्य-कर्म, उनका जीव त्याग करे तो हो सकने योग्य है, क्योंकि वे उसे सहकारी स्वभावसे हैं, सहज स्वभावसे नहीं। और उस कर्मको मैंने आपको अनादि-भ्रम कहा है, अर्थात् उस कर्मका कर्तृत्व अज्ञानसे प्रतिपादित किया है, इससे भी वह निवृत्त होने योग्य है, ऐसा साथमें समझना योग्य है। जो जो भ्रम होता है वह वह वस्तुकी विपरीत स्थितिकी मान्यतारूप होता है, और इससे वह दूर

होने योग्य है, जैसे मृगजलमेंसे जलबुद्धि। कहनेका हेतु यह है कि यदि अज्ञानसे भी आत्माको कर्तृत्व न हो तब तो कुछ उपदेश आदिका श्रवण, विचार, ज्ञान आदि समझनेका कोई हेतु नहीं रहता। अब यहाँ जीवका परमार्थसे जो कर्तृत्व है उसे कहते हैं।(७७)

चेतन जो निज भानमां, कर्ता आप स्वभाव।
वर्ते नहि निज भानमां, कर्ता कर्म-प्रभाव ॥७८॥

आत्मा यदि अपने शुद्ध चैतन्य आदि स्वभावमें रहे तो वह अपने उसी स्वभावका कर्ता है, अर्थात् उसी स्वरूपमें परिणमित है, और जब वह शुद्ध चैतन्य आदि स्वभावके भानमें न रहता हो तब कर्मभावका कर्ता है॥७८॥

अपने स्वरूपके भानमें आत्मा अपने स्वभावका अर्थात् चैतन्य आदि स्वभावका ही कर्ता है, अन्य किसी भी कर्म आदिका कर्ता नहीं है; और जब आत्मा अपने स्वरूपके भानमें नहीं रहता तब कर्मके प्रभावका कर्ता कहा है।

परमार्थसे तो जीव निष्क्रिय है, ऐसा वेदांत आदिका निरूपण है; और जिन-प्रवचनमें भी सिद्ध अर्थात् शुद्ध आत्माकी निष्क्रियता है, ऐसा निरूपण किया है। फिर भी हमने आत्माको, शुद्ध अवस्थामें कर्ता होनेसे सक्रिय कहा, ऐसा संदेह यहाँ होने योग्य है, उस संदेहको इस प्रकार शांत करना योग्य है—शुद्धात्मा परयोगका, परभावका और विभावका वहाँ कर्ता नहीं हैं, इसलिये निष्क्रिय कहना योग्य है; परंतु चैतन्य आदि स्वभावका भी आत्मा कर्ता नहीं है, ऐसा यदि कहे तब तो फिर उसका कुछ भी स्वरूप नहीं रहता। शुद्धात्माको योगक्रिया न होनेसे वह निष्क्रिय है, परंतु स्वाभाविक चैतन्य आदि स्वभावरूप क्रिया होनेसे वह सक्रिय है। चैतन्यात्मता आत्माको स्वाभाविक होनेसे उसमें आत्माका परिणमन होना एकात्मरूपसे ही है, और इसलिये परमार्थनयसे सक्रिय ऐसा विशेषण वहाँ भी आत्माको नहीं दिया जा सकता। निजस्वभावमें परिणमनरूप सक्रियतासे निजस्वभाव का कर्तृत्व शुद्धात्माको है, इसलिये सर्वथा शुद्ध स्वधर्म होनेसे एकात्मरूपसे परिणमित होता है, इससे निष्क्रिय कहते हुए भी दोष नहीं है। जिस विचारसे सक्रियता, निष्क्रियता निरूपित की है, उस विचारके परमार्थको ग्रहण करके सक्रियता, निष्क्रियता कहते हुए कोई दोष नहीं है।(७८)

शंका—शिष्य उवाच

(जीव कर्मका भोक्ता नहीं है ऐसा शिष्य कहता है—)

जीव कर्म कर्ता कहो, पण भोक्ता नहि सोय ।
शुं समजे जड कर्म के, फळ परिणामी होय ? ॥७९॥

जीवको कर्मका कर्ता कहें तो भी उस कर्मका भोक्ता जीव नहीं ठहरता; क्योंकि जड़कर्म क्या समझे कि वह फल देनेमें परिणामी हो ? अर्थात् फलदाता हो सके ?॥७९॥

फळदाता ईश्वर गण्ये, भोक्तापणुं सधाय ।
एम कह्ये ईश्वरतणुं, ईश्वरपणुं ज जाय ॥८०॥

फलदाता ईश्वरको मानें तो जीवका भोक्तृत्व सिद्ध किया जा सकता है, अर्थात् जीवको ईश्वर कर्म भोगवाये, इससे जीव कर्मका भोक्ता सिद्ध होता है परंतु दूसरेको फल देने आदिकी प्रवृत्तिवाला ईश्वर मानें तो उसकी ईश्वरता ही नहीं रहती, ऐसा भी फिर विरोध आता है॥८०॥

'ईश्वर सिद्ध हुए बिना अर्थात् कर्मफलदातृत्व आदि किसी भी ईश्वरके सिद्ध हुए बिना जगतकी

व्यवस्था रहना संभव नहीं है', ऐसे अभिप्रायके विषयमें निम्नलिखित विचारणीय है–

यदि कर्मके फलको ईश्वर देता है, ऐसा मानें तो इसमें ईश्वरकी ईश्वरता ही नहीं रहती, क्योंकि दूसरेको फल देने आदिके प्रपंचमें प्रवृत्ति करते हुए ईश्वरको देह आदि अनेक प्रकारका संग होना संभव है और इससे यथार्थ शुद्धताका भंग होता है। मुक्त जीव जैसे निष्क्रिय है अर्थात् परभाव आदिका कर्ता नहीं है; यदि परभाव आदिका कर्ता हो तब तो संसारकी प्राप्ति होती है, वैसे ही ईश्वर भी दूसरेको फल देनेरूप आदि क्रियामें प्रवृत्ति करे तो उसे भी परभाव आदिके कर्तृत्वका प्रसंग आता है, और मुक्त जीवकी अपेक्षा उसका न्यूनत्व ठहरता है, इससे तो उसकी ईश्वरताका ही उच्छेद करने जैसी स्थिति होती है।

फिर जीव और ईश्वरका स्वभावभेद मानते हुए भी अनेक दोषोंका संभव है। दोनोंको यदि चैतन्यस्वभाव मानें तो दोनों समान धर्मके कर्ता हुए; उसमें ईश्वर जगत आदिकी रचना करे अथवा कर्मका फल देनेरूप कार्य करे और मुक्त गिना जाये; और जीव एक मात्र देह आदि सृष्टिकी रचना करे, और अपने कर्मोंका फल पानेके लिये ईश्वराश्रय ग्रहण करे, तथा बंधनमें माना जाये, यह बात यथार्थ मालूम नहीं होती। ऐसी विषमता कैसे संभवित हो ?

फिर जीवकी अपेक्षा ईश्वरकी सामर्थ्य विशेष मानें तो भी विरोध आता है। ईश्वरको शुद्ध चैतन्यस्वरूप मानें तो शुद्ध चैतन्य ऐसे मुक्तजीवमें और उसमें भेद नहीं आना चाहिये, और ईश्वरसे कर्मका फल देने आदिके कार्य नहीं होने चाहिये, अथवा मुक्त जीवसे भी वे कार्य होने चाहिये। और यदि ईश्वरको अशुद्ध चैतन्यस्वरूप मानें तो तो संसारी जीवों जैसी उसकी स्थिति ठहरे; वहाँ फिर सर्वज्ञ आदि गुणोंका संभव कहाँसे हो ? अथवा देहधारी सर्वज्ञकी भाँति उसे 'देहधारी सर्वज्ञ ईश्वर' मानें तो भी सर्व कर्मफलदातृत्वरूप 'विशेष स्वभाव' ईश्वरमें किस गुणके कारण मानना योग्य हो ? और देह तो नष्ट होने योग्य है, इससे ईश्वरकी भी देह नष्ट हो जाये, और वह मुक्त होनेपर कर्मफलदातृत्व न रहे, इत्यादि अनेक प्रकारसे ईश्वरको कर्मफलदातृत्व कहते हुए दोष आते हैं; और ईश्वरको वैसे स्वरूपसे मानते हुए उसकी ईश्वरताका उत्थापन करनेके समान होता है।(८०)

ईश्वर सिद्ध थया विना, जगत नियम नहि होय ।
पछी शुभाशुभ कर्मनां, भोग्यस्थान नहि कोय ॥८१॥

वैसा फलदाता ईश्वर सिद्ध नहीं होता इससे जगतका कोई नियम भी नहीं रहता, और शुभाशुभ कर्म भोगनेका कोई स्थान भी नहीं ठहरता, अतः जीवको कर्मका भोक्तृत्व कहाँ रहा ?॥८१॥

समाधान–सद्गुरु उवाच

(जीवको अपने किये हुए कर्मोंका भोक्तृत्व है इस प्रकार सद्गुरु समाधान करते हैं–)

भावकर्म निज कल्पना, माटे चेतनरूप ।
जीववीर्यनी स्फुरणा, ग्रहण करे जडधूप ॥८२॥

जीवको अपने स्वरूपकी भ्रांति है वह भावकर्म है, इसलिये चेतनरूप है; और उस भ्रांतिका अनुयायी होकर जीव-वीर्य स्फुरित होता है, इससे जड़ द्रव्य-कर्मकी वर्गणाको वह ग्रहण करता है॥८२॥

कर्म जड़ है तो वह क्या समझे कि इस जीवको इस तरह मुझे फल देना है, अथवा उस स्वरूपसे परिणमन करना है ? इसलिये जीव कर्मका भोक्ता होना संभव नहीं है, इस आशंकाका समाधान निम्नलिखितसे होगा–

जीव अपने स्वरूपके अज्ञानसे कर्मका कर्ता है। वह अज्ञान चेतनरूप है, अर्थात् जीवकी अपनी कल्पना है, और उस कल्पनाका अनुसरण करके उसके वीर्यस्वभावकी स्फूर्ति होती है, अथवा उसकी सामर्थ्य तदनुयायीरूपसे परिणमित होती है, और इससे जड़की धूप अर्थात् द्रव्य-कर्मरूप पुद्गलकी वर्गणाको वह ग्रहण करता है।(८२)

झेर सुधा समजे नहीं, जीव खाय फळ थाय ।
एम शुभाशुभ कर्मनुं, भोक्तापणुं जणाय ॥८३॥

विष और अमृत स्वयं नहीं जानते कि हमें इस जीवको फल देना है; तो भी जो जीव उन्हें खाता है उसे वह फल होता है; इसी प्रकार शुभाशुभ कर्म ऐसा नहीं जानते कि इस जीवको यह फल देना है, तो भी उन्हें ग्रहण करनेवाला जीव विष-अमृतके परिणामकी तरह फल पाता है॥८३॥

विष और अमृत स्वयं ऐसा नहीं समझते कि हमें खानेवालेकी मृत्यु और दीर्घायु होती है, परंतु जैसे उन्हें ग्रहण करनेवालेके प्रति स्वभावतः उनका परिणमन होता है, वैसे जीवमें शुभाशुभ कर्म भी परिणमित होते हैं, और उसका फल प्राप्त होता है; इस तरह जीवका कर्मभोक्तृत्व समझमें आता है(८३)

एक रांक ने एक नृप, ए आदि जे भेद ।
कारण विना न कार्य ते, ते ज शुभाशुभ वेद्य ॥८४॥

एक रंक है और एक राजा है, 'ए आदि' (इत्यादि) शब्दसे नीचता, उच्चता, कुरूपता, सुरूपता ऐसी बहुतसी विचित्रताएँ हैं, और ऐसा जो भेद रहता है अर्थात् सबमें समानता नहीं है, यही शुभाशुभ कर्मका भोक्तृत्व है, ऐसा सिद्ध करता है; क्योंकि कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती॥८४॥

उस शुभाशुभ कर्मका फल न होता हो, तो एक रंक और एक राजा, इत्यादि जो भेद हैं वे न होने चाहिये; क्योंकि जीवत्व समान है, तथा मनुष्यत्व समान है, तो सबको सुख अथवा दुःख भी समान होना चाहिये; जिसके बदले ऐसी विचित्रता मालूम होती है, यही शुभाशुभ कर्मसे उत्पन्न हुआ भेद है; क्योंकि कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती। इस तरह शुभ और अशुभ कर्म भोगे जाते हैं(८४)

फळदाता ईश्वरतणी, एमां नथी जरूर ।
कर्म स्वभावे परिणमे, थाय भोगथी दूर ॥८५॥

इसमें फलदाता ईश्वरकी कुछ जरूरत नहीं है। विष और अमृतकी भाँति शुभाशुभ कर्म स्वभावसे परिणमित होते हैं; और निःसत्त्व होने पर विष और अमृत फल देनेसे जैसे निवृत्त होते हैं, वैसे शुभाशुभ कर्मको भोगनेसे वे निःसत्त्व होने पर निवृत्त हो जाते हैं॥८५॥

विषरूपसे परिणमित होता है और अमृत अमृतरूपसे परिणमित होता है, उसी तरह अशुभ कर्म अशुभ रूपसे परिणमित होता है और शुभ कर्म शुभरूपसे परिणमित होता है। इसलिये जीव जिस जिस प्रकारके अध्यवसायसे कर्मको ग्रहण करता है, उस उस प्रकारके विपाकरूपसे कर्म परिणमित होता है; और जैसे विष तथा अमृत परिणामी हो जानेपर निःसत्त्व हो जाते हैं, वैसे भोगसे वे कर्म दूर होते हैं।(८५)

ते ते भोग्य विशेषनां, स्थानक द्रव्य स्वभाव ।
गहन वात छे शिष्य आ, कही संक्षेपे साव ॥८६॥

उत्कृष्ट शुभ अध्यवसाय उत्कृष्ट शुभगति है, और उत्कृष्ट अशुभ अध्यवसाय उत्कृष्ट अशुभगति है, शुभाशुभ अध्यवसाय मिश्र गति है, और वह जीवपरिणाम ही मुख्यतः तो गति है। तथापि उत्कृष्ट

शुभ द्रव्यका ऊर्ध्वगमन, उत्कृष्ट अशुभ द्रव्यका अधोगमन, शुभाशुभकी मध्यस्थिति, ऐसा द्रव्यका विशेष स्वभाव है। और इत्यादि हेतुओंसे वे वे भोगस्थान होने योग्य हैं। हे शिष्य! जड़-चेतनके स्वभाव, संयोग आदि सूक्ष्म स्वरूपका यहाँ बहुतसा विचार समा जाता है, इसलिये यह बात गहन है, तो भी उसे एकदम संक्षेपमें कहा है॥८६॥

तथा, यदि ईश्वर कर्मफलदाता न हो अथवा उसे जगतकर्ता न मानें तो कर्म भोगनेके विशेष स्थान अर्थात् नरक आदि गति-स्थान कहाँसे हों, क्योंकि उसमें तो ईश्वरके कर्तृत्वकी आवश्यकता है, ऐसी आशंका भी करने योग्य नहीं है; क्योंकि मुख्यतः तो उत्कृष्ट शुभ अध्यवसाय वही उत्कृष्ट देवलोक है, और उत्कृष्ट अशुभ अध्यवसाय वही उत्कृष्ट नरक है, शुभाशुभ अध्यवसाय मनुष्यतिर्यंच आदि गतियाँ हैं; और स्थानविशेष अर्थात् ऊर्ध्वलोकमें देवगति इत्यादि भेद हैं। जीवसमूहके कर्मद्रव्यके भी वे परिणामविशेष हैं अर्थात् वे सब गतियाँ जीवके कर्मके विशेष परिणामादिरूप हैं।

यह बात अति गहन है। क्योंकि अचिंत्य जीव-वीर्य, अचिंत्य पुद्गल-सामर्थ्य, इनके संयोगविशेषसे लोकका परिणमन होता है। उसका विचार करनेके लिये उसे अधिक विस्तारसे कहना चाहिये। परंतु यहाँ तो मुख्यतः आत्मा कर्मका भोक्ता है इतना लक्ष्य करानेका आशय होनेसे अत्यंत संक्षेपसे यह प्रसंग कहा है।(८६)

शंका–शिष्य उवाच

(जीवका उस कर्मसे मोक्ष नहीं है ऐसा शिष्य कहता है–)

कर्ता भोक्ता जीव हो, पण तेनो नहि मोक्ष ।
वीत्यो काळ अनंत पण, वर्तमान छे दोष ॥८७॥

जीव कर्ता और भोक्ता हो, परंतु इससे उसका मोक्ष होना संभव नहीं है; क्योंकि अनंत काल बीत जानेपर भी कर्म करनेरूप दोष आज भी उसमें वर्तमान ही है॥८७॥

शुभ करे फळ भोगवे, देवादि गति मांय ।
अशुभ करे नरकादि फळ, कर्म रहित न क्यांय ॥८८॥

शुभ कर्म करे तो उससे देवादि गतिमें उसका शुभ फल भोगता है और अशुभ कर्म करे तो नरकादि गतिमें उसका अशुभ फल भोगता है; परंतु जीव कर्मरहित कहीं भी नहीं हो सकता॥८८॥

समाधान–सद्गुरु उवाच

(उस कर्मसे जीवका मोक्ष हो सकता है ऐसा सद्गुरु समाधान करते हैं–)

जेम शुभाशुभ कर्मपद, जाण्यां सफळ प्रमाण ।
तेम निवृत्ति सफळता, माटे मोक्ष सुजाण ॥८९॥

जिस तरह तूने शुभाशुभ कर्म उस जीवके करनेसे होते हुए जाने, और उससे उसका भोक्तृत्व जाना, उसी तरह कर्म नहीं करनेसे अथवा उस कर्मकी निवृत्ति करनेसे वह निवृत्ति भी होना योग्य है; इसलिये उस निवृत्तिकी भी सफलता है; अर्थात् जिस तरह वे शुभाशुभ कर्म निष्फल नहीं जाते उसी तरह उनकी निवृत्ति भी निष्फल जाना योग्य नहीं है; इसलिये वह निवृत्तिरूप मोक्ष है ऐसा हे विचक्षण! तू विचार कर॥८९॥

वीत्यो काळ अनंत ते, कर्म शुभाशुभ भाव ।
तेह शुभाशुभ छेदतां, ऊपजे मोक्ष स्वभाव ॥९०॥

कर्मसहित अनंतकाल बीता, वह तो उस शुभाशुभ कर्मके प्रति जीवकी आसक्तिके कारण बीता, परंतु उसके प्रति उदासीन होनेसे उस कर्मफलका छेदन होता है, और उससे मोक्षस्वभाव प्रगट होता है ॥९०॥

देहादिक संयोगनो, आत्यंतिक वियोग ।
सिद्ध मोक्ष शाश्वत पदे, निज अनंत सुखभोग ॥९१॥

देहादि संयोगका अनुक्रमसे वियोग तो हुआ करता है, परंतु उनका फिरसे ग्रहण न हो इस तरह वियोग किया जाय, तो सिद्धस्वरूप मोक्षस्वभाव प्रगट होता है, और शाश्वतपदमें अनंत आत्मानंद भोगा जाता है ॥९१॥

शंका–शिष्य उवाच

(मोक्षका उपाय नहीं है ऐसा शिष्य कहता है–)

होय कदापि मोक्षपद, नहि अविरोध उपाय ।
कर्मो काळ अनंतनां, शाथी छेद्यां जाय ? ॥९२॥

मोक्षपद कदाचित् हो तो भी वह प्राप्त होनेका कोई अविरोधी अर्थात् यथातथ्य प्रतीत हो ऐसा उपाय मालूम नहीं होता; क्योंकि अनंतकालके कर्म हैं, उनका ऐसी अल्पायुवाली मनुष्यदेहसे छेदन कैसे किया जाये ? ॥९२॥

अथवा मत दर्शन घणां, कहे उपाय अनेक ।
तेमां मत साचो कयो, बने न एह विवेक ॥९३॥

अथवा कदाचित् मनुष्यदेहकी अल्पायु आदिकी शंका छोड़ दें, तो भी मत और दर्शन बहुतसे हैं, और वे मोक्षके अनेक उपाय कहते हैं, अर्थात् कोई कुछ कहता है और कोई कुछ कहता है उनमें कौनसा मत सच्चा है, यह विवेक नहीं हो सकता ॥९३॥

कई जातिमां मोक्ष छे, कया वेषमां मोक्ष ।
एनो निश्चय ना बने, घणा भेद ए दोष ॥९४॥

ब्राह्मण आदि किस जातिमें मोक्ष है, अथवा किस वेषमें मोक्ष है, इसका निश्चय भी नहीं हो सकने जैसा है, क्योंकि वैसे अनेक भेद हैं, और इस दोषसे भी मोक्षका उपाय प्राप्त होने योग्य दिखायी नहीं देता ॥९४॥

तेथी एम जणाय छे, मळे न मोक्ष उपाय ।
जीवादि जाण्या तणो, शो उपकार ज थाय ? ॥९५॥

इससे ऐसा लगता है कि मोक्षका उपाय प्राप्त नहीं हो सकता, इसलिये जीव आदिका स्वरूप जाननेसे भी क्या उपकार हो ? अर्थात् जिस पदके लिये जानना चाहिये उस पदका उपाय प्राप्त होना अशक्य दिखायी देता है ॥९५॥

पांचे उत्तरथी थयुं, समाधान सर्वांग ।
समजुं मोक्ष उपाय तो, उदय उदय सद्भाग्य ॥९६॥

आपने जो पाँचों उत्तर कहे हैं, उनसे मेरी शंकाओंका सर्वांग अर्थात् सर्वथा समाधान हुआ है, परंतु यदि मैं मोक्षका उपाय समझूँ तो सद्भाग्यका उदय-उदय हो। यहाँ 'उदय' 'उदय' शब्द दो बार कहा है, वह पाँच उत्तरोंके समाधानसे हुई मोक्षपदकी जिज्ञासाकी तीव्रता प्रदर्शित करता है ॥९६॥

समाधान–सद्गुरु उवाच

(मोक्षका उपाय है ऐसा सद्गुरु समाधान करते हैं–)

पांचे उत्तरनी थई, आत्मा विषे प्रतीत ।
थाशे मोक्षोपायनी, सहज प्रतीत ए रीत ॥९७॥

जिस तरह तेरे आत्मामें पाँचों उत्तरोंकी प्रतीति हुई है, उसी तरह तुझे मोक्षके उपायकी भी सहजमें प्रतीति होगी। यहाँ 'होगी' और 'सहज' ये दो शब्द सद्गुरुने कहे हैं, वे यह बतानेके लिये कहे हैं कि जिसे पाँच पदोंकी शंका निवृत्त हो गई है, उसके लिये मोक्षोपाय समझना कुछ कठिन ही नहीं है, तथा शिष्यकी विशेष जिज्ञासावृत्ति जानकर उसे अवश्य मोक्षोपाय परिणमित होगा, ऐसा भासित होनेसे (वे शब्द) कहे हैं; ऐसा सद्गुरुके वचनका आशय है ॥९७॥

कर्मभाव अज्ञान छे, मोक्षभाव निजवास ।
अंधकार अज्ञान सम, नाशे ज्ञानप्रकाश ॥९८॥

जो कर्मभाव है वह जीवका अज्ञान है और जो मोक्षभाव है वह जीवकी अपने स्वरूपमें स्थिति होना है। अज्ञानका स्वभाव अंधकार जैसा है। इसलिये जैसे प्रकाश होते ही बहुतसे कालका अंधकार होनेपर भी वह नष्ट हो जाता है, वैसे ज्ञानका प्रकाश होते ही अज्ञान भी नष्ट हो जाता है ॥९८॥

जे जे कारण बंधनां, तेह बंधनो पंथ ।
ते कारण छेदक दशा, मोक्षपंथ भवअंत ॥९९॥

जो जो कर्मबंधके कारण हैं, वे वे कर्मबंधके मार्ग हैं; और उन कारणोंका छेदन करनेवाली जो दशा है वह मोक्षका मार्ग है, भवका अंत है ॥९९॥

राग, द्वेष, अज्ञान ए, मुख्य कर्मनी ग्रंथ ।
थाय निवृत्ति जेहथी, ते ज मोक्षनो पंथ ॥१००॥

राग, द्वेष और अज्ञान इनका एकत्व कर्मकी मुख्य गाँठ है, अर्थात् इनके बिना कर्मका बंध नहीं होता; जिससे उनकी निवृत्ति हो, वही मोक्षका मार्ग है ॥१००॥

आत्मा सत् चैतन्यमय, सर्वाभास रहित ।
जेथी केवळ पामिये, मोक्षपंथ ते रीत ॥१०१॥

'सत्' अर्थात् 'अविनाशी' और 'चैतन्यमय' अर्थात् 'सर्वभावको प्रकाशित करनेरूप स्वभावमय' 'अन्य सर्व विभाव और देहादि संयोगके आभाससे रहित ऐसा', 'केवल' अर्थात् 'शुद्ध आत्मा' प्राप्त करें इस प्रकार प्रवृत्ति की जाये वह मोक्षमार्ग है ॥१०१॥

कर्म अनंत प्रकारनां, तेमां मुख्ये आठ ।
तेमां मुख्ये मोहनीय, हणाय ते कहुं पाठ ॥१०२॥

कर्म अनंत प्रकारके हैं, परंतु उनके ज्ञानावरण आदि मुख्य आठ भेद होते हैं। उनमें भी मुख्य मोहनीयकर्म है। उस मोहनीय कर्मका नाश जिस प्रकार किया जाये, उसका पाठ कहता हूँ ॥१०२॥

कर्म मोहनीय भेद बे, दर्शन चारित्र नाम ।
हणे बोध वीतरागता, अचूक उपाय आम ॥१०३॥

उस मोहनीय कर्मके दो भेद हैं–एक 'दर्शनमोहनीय' अर्थात् 'परमार्थमें अपरमार्थबुद्धि और अपरमार्थमें परमार्थबुद्धिरूप'; दूसरा 'चारित्रमोहनीय', 'तथारूप परमार्थको परमार्थ जानकर आत्म-

स्वभावमें जो स्थिरता हो, उस स्थिरताके रोधक पूर्वसंस्काररूप कषाय और नौकषाय', यह चारित्रमोहनीय है।

आत्मबोध दर्शनमोहनीयका और वीतरागता चारित्रमोहनीयका नाश करते हैं। इस तरह वे उसके अचूक उपाय हैं, क्योंकि मिथ्याबोध दर्शनमोहनीय है, उसका प्रतिपक्ष सत्यात्मबोध है। और चारित्रमोहनीय रागादिक परिणामरूप है, उसका प्रतिपक्ष वीतरागभाव है। अर्थात् जिस तरह प्रकाश होनेसे अंधकारका नाश होता है, वह उसका अचूंक उपाय है; उसी तरह बोध और वीतरागता दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप अंधकारको दूर करनेमें प्रकाशस्वरूप हैं, इसलिये वे उसके अचूक उपाय हैं॥१०३॥

कर्मबंध क्रोधादिथी, हणे क्षमादिक तेह ।
प्रत्यक्ष अनुभव सर्वने, एमां शो संदेह ? ॥१०४॥

क्रोधादि भावसे कर्मबंध होता है, और क्षमादि भावसे उसका नाश होता है; अर्थात् क्षमा रखनेसे क्रोध रोका जा सकता है, सरलतासे माया रोकी जा सकती है, संतोषसे लोभ रोका जा सकता है, इसी तरह रति, अरति आदिके प्रतिपक्षसे वे वे दोष रोके जा सकते हैं, यही कर्मबंधका निरोध है; और यही उसकी निवृत्ति है। तथा इस बातका सबको प्रत्यक्ष अनुभव है अथवा सभी इसका प्रत्यक्ष अनुभव भी कर सकते हैं। क्रोधादि रोकनेसे रुकते हैं, और जो कर्मबंधको रोकता है, वह अकर्मदशाका मार्ग है। यह मार्ग परलोकमें नहीं, परंतु यहीं अनुभवमें आता है, तो फिर इसमें संदेह क्या करना ?॥१०४॥

छोडी मत दर्शन तणो, आग्रह तेम विकल्प ।
कह्यो मार्ग आ साधशे, जन्म तेहना अल्प ॥१०५॥

यह मेरा मत है, इसलिये मुझे इससे चिपटा ही रहना चाहिये; अथवा यह मेरा दर्शन है, इसलिये चाहे जैसे मुझे उसे सिद्ध करना चाहिये, ऐसे आग्रह अथवा ऐसे विकल्पको छोड़कर, यह जो मार्ग कहा है, इसका जो साधन करेगा, उसके अल्प जन्म समझना।

यहाँ 'जन्म' शब्दका बहुवचनमें प्रयोग किया है, वह इतना ही बतानेके लिये कि क्वचित् वे साधन अधूरे रहे हों उससे, अथवा जघन्य या मध्यम परिणामकी धारासे आराधित हुए हों, उससे सर्व कर्मोंका क्षय न हो सकनेसे दूसरा जन्म होना संभव है; परंतु वे बहुत नहीं, बहुत ही अल्प। 'समकित आनेके पश्चात् यदि जीव उसका वमन न करे तो अधिकसे अधिक पंद्रह भव होते हैं', ऐसा जिनेश्वरने कहा है, और 'जो उत्कृष्टतासे उसका आराधन करे उसका उसी भवमें भी मोक्ष होता है'; यहाँ इस बातका विरोध नहीं है॥१०५॥

षट्पदनां षट्प्रश्न तें, पूछ्यां करी विचार ।
ते पदनी सर्वांगता, मोक्षमार्ग निर्धार ॥१०६॥

हे शिष्य ! तूने छः पदोंके छः प्रश्न विचार कर पूछे हैं, और उन पदोंकी सर्वांगतामें मोक्षमार्ग है, ऐसा निश्चय कर। अर्थात् उसमेंसे किसी भी पदका एकांतसे या अविचारसे उत्थापन करनेसे मोक्षमार्ग सिद्ध नहीं होता॥१०६॥

जाति, वेषनो भेद नहि, कह्यो मार्ग जो होय ।
साधे ते मुक्ति लहे, एमां भेद न कोय ॥१०७॥

जो मोक्षका मार्ग कहा है, वह हो तो चाहे जिस जाति या वेषसे मोक्ष होता है, इसमें कोई भेद नहीं है। जो साधन करे वह मुक्तिपद पाता है; और उस मोक्षमें भी अन्य किसी प्रकारके ऊँच, नीच आदि भेद

नहीं हैं, अथवा ये जो वचन कहे हैं उनमें कोई दूसरा भेद या अंतर नहीं है ॥१०७॥

कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष अभिलाष ।
भवे खेद अंतरदया, ते कहीए जिज्ञास ॥१०८॥

क्रोध आदि कषाय जिसके पतले पड़ गये हैं, जिसके आत्मामें मात्र मोक्ष पानेके सिवाय अन्य कोई इच्छा नहीं है, और संसारके भोगके प्रति उदासीनता रहती है, तथा अंतरमें प्राणियों पर दया रहती है, उस जीवको मोक्षमार्गका जिज्ञासु कहते हैं, अर्थात् उसे मार्ग प्राप्त करनेके योग्य कहते हैं ॥१०८॥

ते जिज्ञासु जीवने, थाय सद्गुरुबोध ।
तो पामे समकितने, वर्ते अंतरशोध ॥१०९॥

उस जिज्ञासु जीवको यदि सद्गुरुका उपदेश प्राप्त हो जाये तो वह समकितको प्राप्त होता है और अंतरकी शोधमें रहता है ॥१०९॥

मत दर्शन आग्रह तजी, वर्ते सद्गुरुलक्ष ।
लहे शुद्ध समकित ते, जेमां भेद न पक्ष ॥११०॥

मत और दर्शनका आग्रह छोड़कर जो सद्गुरुके लक्ष्यमें प्रवृत्त होता है, वह शुद्ध समकित पाता है कि जिसमें भेद तथा पक्ष नहीं है ॥११०॥

वर्ते निज स्वभावनो, अनुभव लक्ष प्रतीत ।
वृत्ति वहे निजभावमां, परमार्थे समकित ॥१११॥

जहाँ आत्मस्वभावका अनुभव, लक्ष्य, और प्रतीति रहती है, तथा वृत्ति आत्माके स्वभावमें बहती है, वहाँ परमार्थसे समकित है ॥१११॥

वर्धमान समकित थई, टाळे मिथ्याभास ।
उदय थाय चारित्रनो, वीतरागपद वास ॥११२॥

वह समकित, बढती हुई धारासे हास्य, शोक आदिसे जो कुछ आत्मामें मिथ्याभास भासित हुआ है, उसे दूर करता है, और स्वभाव समाधिरूप चारित्रका उदय होता है, जिससे सर्व रागद्वेषके क्षयरूप वीतरागपदमें स्थिति होती है ॥११२॥

केवळ निजस्वभावनुं, अखंड वर्ते ज्ञान ।
कहीए केवळज्ञान ते, देह छतां निर्वाण ॥११३॥

जहाँ सर्व आभाससे रहित आत्मस्वभावका अखंड अर्थात् कभी भी खंडित न हो, मंद न हो, नष्ट न हो ऐसा ज्ञान रहे, उसे केवलज्ञान कहते हैं; जिस केवलज्ञानको पानेसे उत्कृष्ट जीवन्मुक्तदशारूप निर्वाण, देहके रहते हुए भी यहीं अनुभवमें आता है ॥११३॥

कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जाग्रत थतां शमाय ।
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय ॥११४॥

करोड़ों वर्षका स्वप्न हो तो भी जाग्रत होनेपर तुरत शांत हो जाता है, उसी तरह अनादिका जो विभाव है, वह आत्मज्ञान होनेपर दूर हो जाता है ॥११४॥

छूटे देहाध्यास तो, नहि कर्ता तुं कर्म ।
नहि भोक्ता तुं तेहनो, ए ज धर्मनो मर्म ॥११५॥

हे शिष्य ! देहमें जो आत्मभाव मान लिया है, और उसके कारण स्त्री, पुत्र आदि सर्वमें अहंताममता

रहती है, वह आत्मभाव यदि आत्मामें ही माना जाये, और वह देहाध्यास अर्थात् देहमें आत्मबुद्धि तथा आत्मामें देहबुद्धि है, वह छूट जाये; तो तू कर्मका कर्ता भी नहीं है और भोक्ता भी नहीं है; और यही धर्मका मर्म है॥११५॥

ए ज धर्मथी मोक्ष छे, तुं छो मोक्ष स्वरूप ।
अनंत दर्शन ज्ञान तुं, अव्याबाध स्वरूप ॥११६॥

इसी धर्मसे मोक्ष है, और तू ही मोक्षस्वरूप है, अर्थात् शुद्ध आत्मपद ही मोक्ष है। तू अनंत ज्ञान दर्शन तथा अव्याबाध सुखस्वरूप है॥११६॥

शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयंज्योति सुखधाम ।
बीजुं कहीए केटलुं? कर विचार तो पाम ॥११७॥

तू देह आदि सब पदार्थोंसे भिन्न है। किसीमें आत्मद्रव्य मिलता नहीं है, कोई द्रव्य उसमें मिलता नहीं है। परमार्थसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे सदा ही भिन्न है, इसलिये तू शुद्ध है, बोधस्वरूप है, चैतन्यप्रदेशात्मक है, स्वयंज्योत्ति अर्थात् कोई भी तुझे प्रकाशित नहीं करता है, स्वभावसे ही तू प्रकाशस्वरूप है, और अव्याबाध सुखका धाम है। और कितना कहें? अथवा अधिक क्या कहें? संक्षेपमें इतना ही कहते हैं कि यदि तू विचार करेगा तो उस पदको पायेगा॥११७॥

निश्चय सर्वे ज्ञानीनो, आवी अत्र समाय ।
धरी मौनता एम कही, सहजसमाधि मांय ॥११८॥

सर्व ज्ञानियोंका निश्चय यहाँ आकर समा जाता है; ऐसा कहकर सद्गुरु मौन धारण कर सहज समाधिमें स्थित हुए, अर्थात् उन्होंने वाणी योगकी प्रवृत्ति बंद कर दी॥११८॥

शिष्यबोधबीजप्राप्तिकथन

सद्गुरुना उपदेशथी, आव्युं अपूर्व भान ।
निजपद निजमांही लह्युं, दूर थयुं अज्ञान ॥११९॥

शिष्यको सद्गुरुके उपदेशसे अपूर्व अर्थात् पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ था ऐसा भान आया, और उसे अपना स्वरूप अपनेमें यथातथ्य भासित हुआ; और देहात्मबुद्धिरूप अज्ञान दूर हुआ॥११९॥

भास्युं निजस्वरूप ते, शुद्ध चेतनारूप ।
अजर, अमर, अविनाशी ने, देहातीत स्वरूप ॥१२०॥

अपना स्वरूप शुद्ध चैतन्यस्वरूप, अजर, अमर, अविनाशी और देहसे स्पष्ट भिन्न भासित हुआ॥१२०॥

कर्ता भोक्ता कर्मनो, विभाव वर्ते ज्यांय ।
वृत्ति वही निजभावमां, थयो अकर्ता त्यांय ॥१२१॥

जहाँ विभाव अर्थात् मिथ्यात्व है, वहाँ मुख्य नयसे कर्मका कर्तृत्व और भोक्तृत्व है; आत्मस्वभावमें वृत्ति बही, उससे अकर्ता हुआ॥१२१॥

अथवा निजपरिणाम जे, शुद्ध चेतनारूप ।
कर्ता भोक्ता तेहनो, निर्विकल्प स्वरूप ॥१२२॥

अथवा आत्मपरिणाम जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, उसका निर्विकल्परूपसे कर्ता-भोक्ता हुआ॥१२२॥

मोक्ष कह्यो निजशुद्धता, ते पामे ते पंथ ।
समजाव्यो संक्षेपमां, सकळ मार्ग निर्ग्रंथ ॥१२३॥

आत्माका जो शुद्ध पद है वह मोक्ष है और जिससे वह प्राप्त किया जाये, वह उसका मार्ग है; श्री सद्गुरुने कृपा करके निर्ग्रंथका सारा मार्ग समझाया ॥१२३॥

अहो ! अहो ! श्री सद्गुरु, करुणा सिंधु अपार ।
आ पामर पर प्रभु कर्यो, अहो ! अहो ! उपकार ॥१२४॥

अहो ! अहो ! करुणाके अपार समुद्रस्वरूप, आत्मलक्ष्मीसे युक्त सद्गुरु, आप प्रभुने इस पामर जीवपर आश्चर्यकारक उपकार किया है ॥१२४॥

शुं प्रभु चरण कने धरुं, आत्माथी सौ हीन ।
ते तो प्रभुए आपियो, वर्तुं चरणाधीन ॥१२५॥

मैं प्रभुके चरणोंमें क्या रखूं ? (सद्गुरु तो परम निष्काम हैं; केवल निष्काम करुणासे मात्र उपदेशके दाता हैं, परंतु शिष्यने शिष्यधर्मानुसार यह वचन कहा है।) जगतमें जो जो पदार्थ हैं वे सब आत्माकी अपेक्षासे मूल्यहीन जैसे हैं; वह आत्मा तो जिसने दिया उसके चरणोंमें मैं अन्य क्या रखूँ ? मैं केवल उपचारसे इतना करनेको समर्थ हूँ कि मैं एक प्रभुके चरणोंके ही अधीन रहूँ ॥१२५॥

आ देहादि आजथी, वर्तो प्रभु आधीन ।
दास, दास हुं दास छुं, तेह प्रभुनो दीन ॥१२६॥

यह देह 'आदि' शब्दसे जो कुछ मेरा माना जाता है, वह आजसे सद्गुरु प्रभुके अधीन रहे। मैं उस प्रभुका दास हूँ, दास हूँ, दीनदास हूँ ॥१२६॥

षट् स्थानक समजावीने, भिन्न बताव्यो आप ।
म्यान थकी तरवारवत्, ए उपकार अमाप ॥१२७॥[1]

छहों स्थानक समझाकर हे सद्गुरुदेव ! आपने देहादिसे आत्माको, जैसे म्यानसे तलवार अलग निकालकरके दिखाते हैं वैसे स्पष्ट भिन्न बताया। आपने ऐसा उपकार किया जिसका माप नहीं हो सकता ॥१२७॥

उपसंहार

दर्शन षटे समाय छे, आ षट् स्थानक मांही ।
विचारतां विस्तारथी, संशय रहे न कांई ॥१२८॥

छहों दर्शन इन छः स्थानकोंमें समा जाते हैं। इनका विशेषतासे विचार करनेसे किसी भी प्रकारका संशय नहीं रहता ॥१२८॥

आत्मभ्रांति सम रोग नहि, सद्गुरु वैद्य सुजाण ।
गुरुआज्ञा सम पथ्य नहि, औषध विचार ध्यान ॥१२९॥

---

१. इस 'आत्मसिद्धिशास्त्र' की रचना श्री सोभागभाई आदिके लिये हुई थी, यह इस अतिरिक्त गाथासे मालूम होगा।

श्री सुभाग्य ने श्री अचळ, आदि मुमुक्षु काज।
तथा भव्यहित कारणे, कह्यो बोध सुखसाज॥

भावार्थ—श्री सुभाग्य तथा श्री अचल (डुंगरसी भाई) आदि मुमुक्षुओंके लिये तथा भव्यजीवोंके हितके किये यह सुखदायक उपदेश दिया है।

आत्माको अपने स्वरूपका भान न होनेके समान दूसरा कोई रोग नहीं है, सद्गुरुके समान उसका कोई सच्चा अथवा निपुण वैद्य नहीं है, सद्गुरुकी आज्ञामें चलनेके समान और कोई पथ्य नहीं है, और विचार तथा निदिध्यासनके समान उस रोगका कोई औषध नहीं है ॥१२९॥

जो इच्छो परमार्थ तो, करो सत्य पुरुषार्थ ।
भवस्थिति आदि नाम लई, छेदो नहि आत्मार्थ ॥१३०॥

यदि परमार्थकी इच्छा करते हो तो सच्चा पुरुषार्थ करो, और भवस्थिति आदिका नाम लेकर आत्मार्थका छेदन न करो ॥१३०॥

निश्चयवाणी सांभळी, साधन तजवां नो'य ।
निश्चय राखी लक्षमां, साधन करवां सोय ॥१३१॥

आत्मा अबंध है, असंग है, सिद्ध है, ऐसी निश्चय-प्रधान वाणीको सुनकर साधनोंका त्याग करना योग्य नहीं है। परंतु तथारूप निश्चयको लक्ष्यमें रखकर साधन अपनाकर उस निश्चय स्वरूपको प्राप्त करना चाहिये ॥१३१॥

नय निश्चय एकांतथी, आमां नथी कहेल ।
एकांते व्यवहार नहि, बन्ने साथ रहेल ॥१३२॥

यहाँ एकांतसे निश्चयनय नहीं कहा है, अथवा एकांतसे व्यवहारनय नहीं कहा है; दोनों जहाँ जहाँ जिस तरह घटित होते हैं उस तरह साथ साथ रहे हुए हैं ॥१३२॥

गच्छमतनी जे कल्पना, ते नहि सद्व्यवहार ।
भान नहीं निजरूपनुं, ते निश्चय नहि सार ॥१३३॥

गच्छ-मतकी जो कल्पना है वह सद्व्यवहार नहीं है, परंतु आत्मार्थीके लक्षणोंमें जो दशा कही है और मोक्षोपायमें जिज्ञासुके जो लक्षण आदि कहे हैं, वे सद्व्यवहार हैं; जिसे यहाँ तो संक्षेपमें कहा है। अपने स्वरूपका भान नहीं है, अर्थात् जिस तरह देह अनुभवमें आती है उस तरह आत्माका अनुभव नहीं हुआ है, देहाध्यास रहता है, और जो वैराग्य आदि साधन प्राप्त किये बिना निश्चय निश्चय चिल्लाया करता है, वह निश्चय सारभूत नहीं है ॥१३३॥

आगळ ज्ञानी थई गया, वर्तमानमां होय ।
थाशे काळ भविष्यमां, मार्गभेद नहि कोय ॥१३४॥

भूतकालमें जो ज्ञानीपुरुष हो गये हैं, वर्तमानकालमें जो हैं, और भविष्यकालमें जो होंगे, उनके मार्गमें कोई भेद नहीं है, अर्थात् परमार्थसे उन सबका एक मार्ग है; और उसे प्राप्त करने योग्य व्यवहार भी, उसी परमार्थके साधकरूपसे देश, काल आदिके कारण भेद कहा हो, फिर भी एक फलका उत्पादक होनेसे उसमें भी परमार्थसे भेद नहीं है ॥१३४॥

सर्व जीव छे सिद्ध सम, जे समजे ते थाय ।
सद्गुरुआज्ञा जिनदशा, निमित्त कारण मांय ॥१३५॥

सब जीवोंमें सिद्धके समान सत्ता है, परंतु वह तो जो समझता है उसे प्रगट होती है। उसके प्रगट होनेमें ये दो निमित्त कारण हैं—सद्गुरुकी आज्ञासे प्रवृत्ति करना और सद्गुरु द्वारा उपदिष्ट जिनदशाका विचार करना ॥१३५॥

उपादाननुं नाम लई, ए जे तजे निमित्त ।
पामे नहि सिद्धत्वने, रहे भ्रांतिमां स्थित ॥१३६॥

सद्गुरुकी आज्ञा आदि उस आत्मसाधनमें निमित्त कारण है, और आत्माके ज्ञान-दर्शन आदि उपादान कारण है, ऐसा शास्त्रमें कहा है; इससे उपादानका नाम लेकर जो कोई उस निमित्तका त्याग करेगा वह सिद्धत्वको प्राप्त नहीं करेगा, और भ्रांतिमें रहा करेगा; क्योंकि सच्चे निमित्तके निषेधके लिये शास्त्रमें उस उपादानकी व्याख्या नहीं कही है; परंतु उपादानको अजाग्रत रखनेसे सच्चा निमित्त मिलनेपर भी काम नहीं होगा, इसलिये सच्चा निमित्त मिलनेपर उस निमित्तका अवलम्बन लेकर उपादानको सन्मुख करना और पुरुषार्थरहित नहीं होना ऐसा शास्त्रकारकी कही हुई व्याख्याका परमार्थ है ॥१३६॥

मुखथी ज्ञान कथे अने, अंतर् छूट्यो न मोह ।
ते पामर प्राणी करे, मात्र ज्ञानीनो द्रोह ॥१३७॥

मुखसे निश्चय-प्रधान वचन कहता है, परंतु अंतरसे अपना ही मोह नहीं छूटा, ऐसा पामर प्राणी मात्र ज्ञानी कहलवानेकी कामनासे सच्चे ज्ञानीपुरुषका द्रोह करता है ॥१३७॥

दया, शांति, समता, क्षमा, सत्य, त्याग, वैराग्य ।
होय मुमुक्षु घट विषे, एह सदाय सुजाग्य ॥१३८॥

दया, शांति, समता, क्षमा, सत्य, त्याग और वैराग्य ये गुण मुमुक्षुके घटमें सदा ही जाग्रत रहते हैं, अर्थात् इन गुणोंके बिना मुमुक्षुता भी नहीं होती ॥१३८॥

मोहभाव क्षय होय ज्यां, अथवा होय प्रशांत ।
ते कहीए ज्ञानीदशा, बाकी कहीए भ्रांत ॥१३९॥

जहाँ मोहभावका क्षय हुआ हो, अथवा जहाँ मोहदशा अति क्षीण हुई हो, वहाँ ज्ञानीकी दशा कही जाती है और बाकी तो जिसने अपनेमें ज्ञान मान लिया है उसे भ्रांति कहते हैं ॥१३९॥

सकळ जगत ते एठवत्, अथवा स्वप्न समान ।
ते कहीए ज्ञानीदशा, बाकी वाचाज्ञान ॥१४०॥

जिसने समस्त जगतको जूठनके समान जाना है, अथवा जिसे ज्ञानमें जगत स्वप्नके समान लगता है, वह ज्ञानीकी दशा है; बाकी मात्र वाचाज्ञान अर्थात् कथनमात्र ज्ञान है ॥१४०॥

स्थानक पांच विचारीने, छट्ठे वर्ते जेह ।
पामे स्थानक पांचमुं, एमां नहि संदेह ॥१४१॥

पाँचों स्थानकोंका विचारकर जो छट्ठे स्थानकमें प्रवृत्ति करता है; अर्थात् उस मोक्षके जो उपाय कहे हैं, उनमें प्रवृत्ति करता है, वह पाँचवें स्थानक अर्थात् मोक्षपदको पाता है ॥१४१॥

देह छतां जेनी दशा, वर्ते देहातीत ।
ते ज्ञानीना चरणमां, हो वंदन अगणित ॥१४२॥

पूर्वप्रारब्धयोगसे जिसे देह रहती है, परंतु उस देहसे अतीत अर्थात् देहादिकी कल्पनासे रहित आत्मामय जिसकी दशा रहती है, उस ज्ञानीपुरुषके चरणकमलमें अगणित बार वंदन हो ॥१४२॥

***साधन सिद्ध दशा अहीं, कही सर्व संक्षेप ।**
षट्दर्शन संक्षेपमां, भाख्यां निर्विक्षेप ॥

श्रीसद्गुरुचरणार्पणमस्तु ।

---

* **भावार्थ**—यहाँ सब साधन और सिद्ध दशा संक्षेपमें कहे हैं, और संक्षेपमें विक्षेपरहित षड्दर्शन बताये हैं।

७१९ नडियाद, आसोज वदी १०, शनि, १९५२

आत्मार्थी, मुनिपथाभ्यासी श्री लल्लुजी तथा श्री देवकरणजी आदिके प्रति, श्री स्थंभतीर्थ।

पत्र प्राप्त हुआ था।

श्री सद्गुरुदेवके अनुग्रहसे यहाँ समाधि है।

इसके साथ एकांतमें अवगाहन करनेके लिये 'आत्मसिद्धिशास्त्र' भेजा है। वह अभी श्री लल्लुजीको अवगाहन करना योग्य है।

श्री लल्लुजी अथवा श्री देवकरणजीको यदि जिनागमका विचार करनेकी इच्छा हो तो 'आचारांग' 'सूयगडांग', 'दशवैकालिक', 'उत्तराध्ययन' और 'प्रश्नव्याकरण' विचारणीय हैं।

'आत्मसिद्धिशास्त्र' का अवगाहन श्री देवकरणजीके लिये भविष्यमें अधिक हितकारी समझकर, अभी मात्र श्री लल्लुजीको उसका अवगाहन करनेके लिये लिखा है; फिर भी यदि श्री देवकरणजीकी अभी विशेष आकांक्षा रहती हो तो उन्हें भी, प्रत्यक्ष सत्पुरुष जैसा मुझपर किसीने परमोपकार नहीं किया है, ऐसा अखंड निश्चय आत्मामें लाकर, और इस देहके भविष्य जीवनमें भी उस अखंड निश्चयको छोड़ दूँ तो मैंने आत्मार्थका ही त्याग कर दिया और सच्चे उपकारीका कृतघ्न बननेका दोष किया, ऐसा ही समझूँगा; और सत्पुरुषका नित्य आज्ञाकारी रहनेमें ही आत्माका कल्याण है, ऐसा, भिन्नभावरहित, लोकसंबंधी दूसरे प्रकारकी सर्व कल्पना छोड़कर, निश्चय लाकर, श्री लल्लुजी मुनिके सान्निध्यमें यह ग्रंथ अवगाहन करनेमें अभी भी आपत्ति नहीं है। बहुत-सी शंकाओंका समाधान होने योग्य है।

सत्पुरुषकी आज्ञामें चलनेका जिसका दृढ़ निश्चय है और जो उस निश्चयका आराधन करता है, उसे ही ज्ञान सम्यक् परिणामी होता है, यह बात आत्मार्थी जीवको अवश्य ध्यानमें रखना योग्य है। हमने जो ये वचन लिखे हैं, उसके सर्व ज्ञानीपुरुष साक्षी हैं।

दूसरे मुनियोंको भी जिस जिस प्रकारसे वैराग्य, उपशम और विवेककी वृद्धि हो, उस उस प्रकारसे श्री लल्लुजी तथा श्री देवकरणजीको उन्हें यथाशक्ति सुनाना और प्रवृत्ति कराना योग्य है। तथा अन्य जीव भी आत्मार्थके सन्मुख हों, और ज्ञानीपुरुषकी आज्ञाके निश्चयको प्राप्त करें तथा विरक्त परिणामको प्राप्त करें, रसादिकी लुब्धता मंद करें इत्यादि प्रकारसे एक आत्मार्थके लिये उपदेश कर्तव्य है।

अनंतबार देहके लिये आत्माका उपयोग किया है। जिस देहका आत्माके लिये उपयोग होगा उस देहमें आत्मविचारका आविर्भाव होने योग्य जानकर, सर्व देहार्थकी कल्पना छोड़कर; एक मात्र आत्मार्थमें ही उसका उपयोग करना, ऐसा निश्चय मुमुक्षुजीवको अवश्य करना चाहिये। यही विनती।

सर्व मुमुक्षुओंको नमस्कार प्राप्त हो।

श्री सहजात्मस्वरूप।

---

७२० नडियाद, आसोज वदी १२, सोम, १९५२

शिरछत्र श्री पिताजी,

आपकी चिट्ठी आज मिली है। आपके प्रतापसे यहाँ सुखवृत्ति है।

बंबईसे इस ओर आनेमें केवल निवृत्तिका हेतु है; शरीरकी बाधासे इस तरफ आना हुआ हो ऐसा नहीं है। आपकी कृपासे शरीर ठीक रहता है। बंबईमें रोगके उपद्रवके कारण आपकी तथा

रेवाशंकरभाईकी आज्ञा होनेसे इस ओर विशेष स्थिरता की है; और इस स्थिरतामें आत्माको विशेषतः निवृत्ति रही है। अभी बंबईमें रोगकी शांति बहुत कुछ हो गयी है, संपूर्ण शांति हो जानेपर उस ओर जानेका विचार रखा है, और वहाँ जानेके बाद प्रायः भाई मनसुखको आपकी ओर कुछ समयके लिये भेजनेका चित्त है; जिससे मेरी माताजीके मनको भी अच्छा लगेगा। आपके प्रतापसे पैसा कमानेका प्रायः लोभ नहीं है, परंतु आत्माका परम कल्याण करनेकी इच्छा है। मेरी माताजीको पादवंदन प्राप्त हो। बहिन झबक तथा भाई पोपट आदिको यथायोग्य।

बालक रायचंदके दंडवत् प्राप्त हो।

---

७२१ नडियाद, आसोज वदी ३०, १९५२

श्री डुंगरको 'आत्मसिद्धि' कंठस्थ करनेकी इच्छा है। उसके लिये वह प्रति उन्हें देनेके बारेमें पूछा है, तो वैसा करनेमें आपत्ति नहीं है। श्री डुंगरको यह शास्त्र कण्ठस्थ करनेकी आज्ञा है, परंतु अभी उसकी दूसरी प्रति न लिखते हुए इस प्रतिसे ही कण्ठस्थ करना योग्य है, और अभी यह प्रति आप श्री डुंगरको दीजियेगा। उन्हें कहियेगा कि कंठस्थ करनेके बाद वापस लौटायें, परंतु दूसरी नकल न करें।

जो ज्ञान महा निर्जराका हेतु होता है वह ज्ञान अनधिकारी जीवके हाथमें जानेसे उसे प्रायः अहितकारी होकर परिणत होता है।

श्री सोभागके पाससे पहले कितने ही पत्रोंकी नकल किसी किसी अनधिकारीके हाथमें गयी है। पहले उनके पाससे किसी योग्य व्यक्तिके पास जाती है और बादमें उस व्यक्तिके पाससे अयोग्य व्यक्तिके पास जाती है ऐसा होनेकी संभावना हमारे जाननेमें हैं। 'आत्मसिद्धि' के संबंधमें आप दोनोंमेंसे किसीको आज्ञाका उल्लंघन कर बरताव करना योग्य नहीं है। यही विनती।

---

३० वाँ वर्ष

७२२ ववाणिया, कार्त्तिक सुदी १०, शनि, १९५३

माताजीको बुखार आ जानेसे तथा कुछ समयसे यहाँ आनेके संबंधमें उनकी विशेष आकांक्षा होनेसे गत सोमवारको यहाँसे आज्ञा मिलनेसे, नडियादसे मंगलवारको रवाना होना हुआ था। यहाँ बुधवारकी दोपहरको आना हुआ है।

शरीरमें वेदनीयका असातारूपसे परिणमन हुआ हो उस समय शरीरके विपरिणामी स्वभावका विचारकर, उस शरीर और शरीरके संबंधसे प्राप्त हुए स्त्री, पुत्र आदिका मोह विचारवान पुरुष छोड़ देते हैं; अथवा उस मोहको मंद करनेमें प्रवृत्त होते हैं।

'आत्मसिद्धिशास्त्र' विशेष विचार करने योग्य है।

श्री अचल इत्यादिको यथायोग्य।

---

७२३ ववाणिया, कार्त्तिक सुदी ११, रवि, १९५३

जब तक यह जीव लोकदृष्टिका वमन न करे तथा उसमेंसे अंतर्वृत्ति छूट न जाय तब तक ज्ञानीकी दृष्टिका वास्तविक माहात्म्य ध्यानगत नहीं हो सकता, इसमें संशय नहीं है।

---

७२४ ववाणिया, कार्त्तिक, १९५३

गीति[1]

***पंथ परमपद बोध्यो, जेह प्रमाणे परम वीतरागे।**
ते अनुसरी कहीशुं, प्रणमीने ते प्रभु भक्ति रागे ॥१॥

मूळ परमपद कारण, सम्यक् दर्शन ज्ञान चरण पूर्ण।
प्रणमे एक स्वभावे, शुद्ध समाधि त्यां परिपूर्ण ॥२॥

---

१. श्रीमद्जीके देहांतके बाद उनके वचनोंका संग्रह किया गया; तब इस विषयकी ३६ या ५० गीतियाँ थीं, परंतु बादमें संभाल न रहनेसे बाकीकी गुम हो गयी है।

* **भावार्थ**–परम वीतरागने जिस प्रकार परमपद–मोक्षके पंथका उपदेश किया है, उसका अनुसरण कर, उस प्रभुको परम भक्तिभावसे प्रणाम करके, उस पंथको यहाँ कहेंगे ॥१॥

पूर्ण सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये परमपदके मूल कारण हैं। जहाँ ये तीनों एक स्वभावसे आत्मस्वभावरूपसे पूर्णतया परिणमन करते हैं, वहाँ परिपूर्ण शुद्ध सहज आत्मदशारूप समाधि प्राप्त होती है ॥२॥

जे चेतन जड भावो, अवलोक्या छे मुनींद्र सर्वज्ञे।
तेवी अंतर आस्था, प्रगट्ये दर्शन कह्युं छे तत्त्वज्ञे ॥३॥

सम्यक् प्रमाणपूर्वक, ते ते भावो ज्ञान विषे भासे।
सम्यग् ज्ञान कह्युं ते, संशय, विभ्रम, मोह त्यां नाश्ये ॥४॥

विषयारंभ-निवृत्ति, राग-द्वेषनो अभाव ज्यां थाय।
सहित सम्यक्दर्शन, शुद्ध चरण त्यां समाधि सदुपाय ॥५॥

त्रणे अभिन्न स्वभावे, परिणमी आत्मस्वरूप ज्यां थाय।
पूर्ण परमपदप्राप्ति, निश्चयथी त्यां अनन्य सुखदाय ॥६॥

जीव, अजीव पदार्थो, पुण्य, पाप, आस्रव तथा बंध।
संवर, निर्जरा, मोक्ष, तत्त्व कह्यां नव पदार्थ संबंध ॥७॥

जीव अजीव विषे ते, नवे तत्त्वनो समावेश थाय।
वस्तु विचार विशेषे, भिन्न प्रबोध्या महान मुनिराय ॥८॥

---

७२५ ववाणिया, कार्त्तिक वदी २, रवि, १९५३

ज्ञानियोंने मनुष्यभवको चिंतामणिरत्नतुल्य कहा है, इसका विचार करें तो प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाली बात है। विशेष विचार करनेसे तो उस मनुष्यभवका एक समय भी चिंतामणिरत्नसे परम माहात्म्यवान और मूल्यवान मालूम होता है। और यदि यह मनुष्यभव देहार्थमें ही व्यतीत हो गया तब तो वह एक फूटी कौड़ीकी कीमतका भी नहीं है, यह निःसंदेह मालूम होता है।

---

७२६ ववाणिया, कार्त्तिक वदी ३०, शुक्र, १९५३

ॐ सर्वज्ञाय नमः

देहका और जब तक प्रारब्धका उदय बलवान है, तब तक देहसंबंधी कुटुंब कि जिसके भरणपोषण करनेका संबंध न छूट सकनेवाला हो अर्थात् आगारवासपर्यंत जिसका भरण-पोषण करना योग्य हो, उसका भरण-पोषण मात्र मिलता हो तो उसमें संतोष करके मुमुक्षुजीव आत्महितका ही

मुनींद्र सर्वज्ञने जड़ और चेतन पदार्थोंका जैसा अवलोकन किया है, वे पदार्थ वैसे ही हैं ऐसी अंतर आस्था-श्रद्धा प्रगट होनेपर तत्त्वज्ञोंने उस श्रद्धाको सम्यग्दर्शन कहा हैं॥३॥

वे सब पदार्थ सम्यक् प्रमाणपूर्वक ज्ञानमें भासित हों, उस ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहा है। वहाँ संशय, विभ्रम और मोहका नाश हो जाता है॥४॥

जहाँ सम्यग्दर्शनसहित विषयोंकी तथा आरंभ-परिग्रहकी निवृत्ति हो जाती है और रागद्वेषका अभाव हो जाता है, वहाँ समाधिका सदुपाय शुद्ध चारित्र प्रकट होता है॥५॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इन तीनोंका जहाँ अभिन्न स्वभावसे परिणमन होनेसे आत्मस्वरूप प्रकट होता है, वहाँ निश्चयसे अनन्य-अद्वितीय सुखदायक पूर्ण परमपदकी प्राप्ति होती है॥६॥

जड़ और चेतनके संयोग संबंधके कारण, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये नौ पदार्थ या तत्त्व कहे गये हैं। (पुण्य और पापको छोड़कर बाकीके सातको सात तत्त्व भी कहते हैं।)॥७॥

जीव और अजीव इन दो तत्त्वोंमें नौ तत्त्वोंका समावेश हो जाता है, परंतु वस्तुका विशेषरूपसे विचार करनेके लिये महान मुनिराज भगवानने इन्हें भिन्न भिन्न प्ररूपित किया है॥८॥

विचार करता है, तथा पुरुषार्थ करता है। देह और देहसंबंधी कुटुंबके माहात्म्यादिके लिये परिग्रह आदिकी परिणामपूर्वक स्मृति भी नहीं होने देता; क्योंकि उस परिग्रह आदिकी प्राप्ति आदि कार्य ऐसे हैं कि वे प्रायः आत्महितके अवसरको ही प्राप्त नहीं होने देते।

---

७२७ ववाणिया, मार्गशीर्ष सुदी १, शनि, १९५३

ॐ सर्वज्ञाय नमः

अल्प आयु और अनियत प्रवृत्ति, असीम बलवान असत्संग, पूर्वकी प्रायः अनाराधकता, बलवीर्यकी हीनता ऐसे कारणोंसे रहित कोई ही जीव होगा, ऐसे इस कालमें, पूर्वकालमें कभी भी न जाना हुआ, प्रतीत न किया हुआ, आराधित न किया हुआ और स्वभावसिद्ध न हुआ हुआ ऐसा "मार्ग" प्राप्त करना दुष्कर हो इसमें आश्चर्य नहीं है। तथापि जिसने उसे प्राप्त करनेके सिवाय दूसरा कोई लक्ष्य रखा ही नहीं वह इस कालमें भी अवश्य उस मार्गको प्राप्त करता है।

मुमुक्षुजीव लौकिक कारणोंमें अधिक हर्ष-विषाद नहीं करता।

---

७२८ ववाणिया, मार्गशीर्ष सुदी ६, गुरु, १९५३

श्री माणेकचंदकी देहके छूट जानेके समाचार जानें।

सभी देहधारी जीव मरणके समीप शरणरहित हैं। मात्र उस देहके यथार्थ स्वरूपको पहलेसे जानकर, उसके ममत्वका छेदन कर निजस्थिरताको अथवा ज्ञानीके मार्गकी यथार्थ प्रतीतिको प्राप्त हुए हैं वे ही जीव उस मरणकालमें शरणसहित होकर प्रायः फिरसे देह धारण नहीं करते, अथवा मरणकालमें देहके ममत्वभावकी अल्पता होनेसे भी निर्भय रहते हैं। देह छूटनेका काल अनियत होनेसे विचारवान पुरुष अप्रमादभावसे पहलेसे ही उसके ममत्वको निवृत्त करनेके अविरुद्ध उपायका साधन करते हैं; और यही आपको, हमें और सबको ध्यानमें रखना योग्य है। प्रीतिबंधनसे खेद होना योग्य है, तथापि इसमें दूसरा कोई उपाय न होनेसे, उस खेदको वैराग्यस्वरूपमें परिणमन करना ही विचारवानका कर्तव्य है।

---

७२९ ववाणिया, मार्गशीर्ष सुदी १०, सोम, १९५३

सर्वज्ञाय नमः

'योगवासिष्ठ' के पहले दो प्रकरण, 'पंचीकरण', 'दासबोध' तथा 'विचारसागर' ये ग्रंथ आपको विचार करने योग्य हैं। इनमेंसे किसी ग्रंथको आपने पहले पढ़ा हो तो भी पुनः पढ़ने योग्य है और विचार करने योग्य है। ये ग्रंथ जैनपद्धतिके नहीं है, यह जानकर उन ग्रंथोंका विचार करते हुए क्षोभ प्राप्त करना योग्य नहीं है।

लोकदृष्टिमें जो जो बातें या वस्तुएँ—जैसे शोभायमान गृहादि आरंभ, अलंकारादि परिग्रह, लोकदृष्टिकी विचक्षणता, लोकमान्य धर्मकी श्रद्धा—बड़प्पनवाली मानी जाती हैं उन सब बातों और वस्तुओंका ग्रहण करना प्रत्यक्ष जहरका ही ग्रहण करना है यों यथार्थ समझे बिना आप जिस वृत्तिका लक्ष्य करना चाहते हैं, वह नहीं होता। पहले इन बातों और वस्तुओंके प्रति जहरदृष्टि आना कठिन देखकर कायर न होते हुए पुरुषार्थ करना योग्य है।

---

७३० ववाणिया, मार्गशीर्ष सुदी १२, १९५३

सर्वज्ञाय नमः

'आत्मसिद्धि' की टीकाके पन्ने मिले हैं।

यदि सफलताका मार्ग समझमें आ जाये तो इस मनुष्यदेहका एक समय भी सर्वोत्कृष्ट चिंतामणि है, इसमें संशय नहीं हैं।

---

७३१ ववाणिया, मार्गशीर्ष सुदी १२, १९५३

सर्वज्ञाय नमः

वृत्तिका लक्ष्य तथारूप सर्वसंगपरित्यागके प्रति रहनेपर भी जिस मुमुक्षुको प्रारब्धविशेषसे उस योगका अनुदय रहा करता है, और कुटुंब आदिके प्रसंग तथा आजीविका आदिके कारण प्रवृत्ति रहती है, जो यथान्याय करनी पड़ती है, परंतु उसे त्यागके उदयको प्रतिबंधक जानकर खिन्नताके साथ करता है; उस मुमुक्षुको पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मानुसार आजीविकादि प्राप्त होगी, ऐसा विचारकर मात्र निमित्तरूप प्रयत्न करना योग्य है, परंतु भयाकुल होकर चिंता या न्यायत्याग करना योग्य नहीं है, क्योंकि वह तो मात्र व्यामोह है; इसे शांत करना योग्य है। प्राप्ति शुभाशुभ प्रारब्धानुसार है। प्रयत्न व्यावहारिक निमित्त है, इसलिये करना योग्य है, परंतु चिंता तो मात्र आत्मगुणरोधक है।

---

७३२ ववाणिया, मार्गशीर्ष वदी ११, बुध, १९५३

श्री लल्लुजी आदि मुनियोंको नमस्कार प्राप्त हो।

आरंभ तथा परिग्रहकी प्रवृत्ति आत्महितको बहुत प्रकारसे रोधक है, अथवा सत्समागमके योगमें एक विशेष अंतरायका कारण समझकर ज्ञानीपुरुषोंने उसके त्यागरूप बाह्यसंयमका उपदेश दिया है, जो प्रायः आपको प्राप्त है। फिर आप यथार्थ भावसंयमकी अभिलाषासे प्रवृत्ति करते हैं, इसलिये अमूल्य अवसर प्राप्त हुआ समझकर सत्शास्त्र, अप्रतिबंधता, चित्तकी एकाग्रता और सत्पुरुषोंके वचनोंकी अनुप्रेक्षा द्वारा उसे सफल करना योग्य है।

---

७३३ ववाणिया, मार्गशीर्ष वदी ११, बुध, १९५३

वैराग्य और उपशमकी वृद्धिके लिये 'भावनाबोध', 'योगवासिष्ठ'के पहले दो प्रकरण, 'पंचीकरण' इत्यादि ग्रंथ विचार करने योग्य है।

जीवमें प्रमाद विशेष है, इसलिये आत्मार्थके कार्यमें जीवको नियमित होकर भी उस प्रमादको दूर करना चाहिये, अवश्य दूर करना चाहिये।

---

७३४ ववाणिया, मार्गशीर्ष वदी ११, बुध, १९५३

श्री सुभाग्य आदिके प्रति लिखे गये पत्रोंमेंसे जो परमार्थ संबंधी पत्र हों उनकी अभी हो सके तो एक अलग प्रति लिखियेगा।

सौराष्ट्रमें अभी कब तक स्थिति होगी, यह लिखना अशक्य है।

यहाँ अभी थोड़े दिन स्थिति होगी ऐसा संभव है।

---

७३५ ववाणिया, पौष सुदी १०, मंगल, १९५३

विषमभावके निमित्त प्रबलतासे प्राप्त होनेपर भी जो ज्ञानीपुरुष अविषम उपयोगमें रहे हैं, रहते हैं, और भविष्यकालमें रहेंगे उन सबको वारंवार नमस्कार।

उत्कृष्टसे उत्कृष्ट व्रत, उत्कृष्टसे उत्कृष्ट तप, उत्कृष्टसे उत्कृष्ट नियम, उत्कृष्टसे उत्कृष्ट लब्धि, और उत्कृष्टसे उत्कृष्ट ऐश्वर्य ये जिसमें सहज ही समाविष्ट हो जाते हैं ऐसे निरपेक्ष अविषम उपयोगको नमस्कार। यही ध्यान है।

---

७३६ ववाणिया, पौष सुदी ११, बुध, १९५३

रागद्वेषके प्रत्यक्ष बलवान निमित्त प्राप्त होनेपर भी जिनका आत्मभाव किंचित् मात्र भी क्षोभको प्राप्त नहीं होता, उन ज्ञानीके ज्ञानका विचार करते हुए भी महती निर्जरा होती है, इसमें संशय नहीं है।

---

७३७ ववाणिया, पौष वदी ४, शुक्र, १९५३

आरंभ और परिग्रहका इच्छापूर्वक प्रसंग हो तो आत्मलाभको विशेष घातक है, और वारंवार अस्थिर एवं अप्रशस्त परिणामका हेतु है, इसमें तो संशय नहीं है; परंतु जहाँ अनिच्छासे उदयके किसी एक योगसे वह प्रसंग रहता हो वहाँ भी आत्मभावकी उत्कृष्टताको बाधक तथा आत्मस्थिरताको अंतराय करनेवाला, वह आरंभ-परिग्रहका प्रसंग प्रायः होता है, इसलिये परम कृपालु ज्ञानीपुरुषोंने त्यागमार्गका उपदेश दिया है, वह मुमुक्षुजीवको देशसे और सर्वथा अनुसरण करने योग्य है।

---

७३८ ववाणिया, सं० १९५३[1]

ॐ

*अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे?
क्यारे थईशुं बाह्यांतर निर्ग्रंथ जो?
सर्व संबंधनुं बंधन तीक्ष्ण छेदीने,
विचरशुं कव महत्पुरुषने पंथ जो? ॥अपूर्व० १॥

सर्व भावथी औदासीन्यवृत्ति करी,
मात्र देह ते संयमहेतु होय जो;
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहीं,
देहे पण किंचित् मूर्छा नव जोय जो ॥अपूर्व० २॥

---

१ इस काव्यका निर्णीत समय नहीं मिलता।

* **भावार्थ**—ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा कि जब मैं बाह्य तथा अभ्यंतरसे निर्ग्रंथ बनूँगा? सर्व संबंधोंके बंधनका तीक्ष्णतासे छेदनकर महापुरुषोंके मार्गपर कब चलूँगा? ॥१॥

मन सभी परभावोंके प्रति सर्वथा उदासीन हो जाये, देह भी केवल संयमसाधनाके लिये ही रहे, किसी सांसारिक प्रयोजनके लिये किसी भी वस्तुकी इच्छा न करें, और फिर देहमें भी किंचित्मात्र मूर्च्छा न रहे। ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा? ॥२॥

दर्शनमोह व्यतीत थई ऊपज्यो बोध जे,
देह भिन्न केवल चैतन्यनुं ज्ञान जो;
तेथी प्रक्षीण चारित्रमोह विलोकिये,
वर्ते एवुं शुद्धस्वरूपनुं ध्यान जो ॥अपूर्व० ३॥

आत्मस्थिरता त्रण संक्षिप्त योगनी,
मुख्यपणे तो वर्ते देहपर्यंत जो;
घोर परीषह के उपसर्ग भये करी,
आवी शके नहीं ते स्थिरतानो अंत जो ॥अपूर्व० ४॥

संयमना हेतुथी योगप्रवर्त्तना,
स्वरूपलक्षे जिनआज्ञा आधीन जो;
ते पण क्षण क्षण घटती जाती स्थितिमां,
अंते थाये निजस्वरूपमां लीन जो ॥अपूर्व० ५॥

पंच विषयमां रागद्वेष विरहितता,
पंच प्रमादे न मळे मननो क्षोभ जो;
द्रव्य, क्षेत्र ने काळ, भाव प्रतिबंध वण,
विचरवुं उदयाधीन पण वीतलोभ जो ॥अपूर्व० ६॥

क्रोध प्रत्ये तो वर्ते क्रोधस्वभावता,
मान प्रत्ये तो दीनपणानुं मान जो;
माया प्रत्ये माया साक्षी भावनी,
लोभ प्रत्ये नहीं लोभ समान जो ॥अपूर्व० ७॥

दर्शनमोह व्यतीत होकर देहसे भिन्न केवल चैतन्यस्वरूपका बोधरूप ज्ञान उत्पन्न होता है, जिससे चारित्रमोह प्रक्षीण हुआ दिखाई देता है; ऐसा शुद्ध स्वरूपका ध्यान जहाँ रहता है ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ?॥३॥

मन, वचन और कायाके तीन योगोंकी प्रवृत्तिको निरुद्ध करके ध्यानमग्न होनेसे वह आत्मस्थिरता मुख्यतः देहपर्यंत अखंड बनी रहती है तथा घोर परिषहसे अथवा उपसर्गके भयसे उस स्थिरताका अंत नहीं आ सकता—ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ?॥४॥

संयमके हेतुसे ही तीन योगोंकी प्रवृत्ति होती है और वह भी जिनाज्ञाके अनुसार आत्मस्वरूपमें अखंड स्थिर रहनेके लक्ष्यसे होती है तथा वह प्रवृत्ति भी प्रति क्षण घटती हुई स्थितिमें होती है ताकि अंतमें निजस्वरूपमें लीन हो जाये। ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ?॥५॥

पाँच इन्द्रियोंके विषयोंमें रागद्वेष नहीं रहता; (१) इन्द्रिय (२) विकथा, (३) कषाय, (४) स्नेह और (५) निद्रा इन पाँच प्रमादोंसे मनमें किसी प्रकारका क्षोभ नहीं होता तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके प्रतिबंधके बिना ही लोभरहित होकर उदयवशात् विचरण होता है ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ?॥६॥

क्रोधके प्रति क्रोध स्वभावता अर्थात् क्रोधके प्रति क्रोध करनेकी वृत्ति रहती है, मानके प्रति अपनी दीनताका मान होता है, मायाके प्रति साक्षीभावकी माया रहती है अर्थात् माया करनी हो तो साक्षीभावकी माया की जाये, लोभके प्रति उसके समान लोभ नहीं रहता अर्थात् लोभ करना हो तो लोभ जैसा न हुआ जाये—लोभका लोभ न किया जाये। ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ?॥७॥

बहु उपसर्गकर्ता प्रत्ये पण क्रोध नहीं,
वंदे चक्री तथापि न मळे मान जो;
देह जाय पण माया थाय न रोममां,
लोभ नहीं छो प्रबळ सिद्धि निदान जो ॥अपूर्व०८॥

नग्नभाव, मुण्डभाव सह अस्नानता,
अदंतधोवन आदि परम प्रसिद्ध जो;
केश, रोम, नख के अंगे शृंगार नहीं,
द्रव्यभाव संयममय निर्ग्रंथ सिद्ध जो ॥अपूर्व०९॥

शत्रु मित्र प्रत्ये वर्ते समदर्शिता,
मान अमाने वर्ते ते ज स्वभाव जो;
जीवित के मरणे नहीं न्यूनाधिकता,
भव मोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो ॥अपूर्व०१०॥

एकाकी विचरतो वळी स्मशानमां,
वळी पर्वतमां वाघ सिंह संयोग जो;
अडोल आसन, ने मनमां नहीं क्षोभता,
परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो ॥अपूर्व०११॥

घोर तपश्चर्यामां पण मनने ताप नहीं,
सरस अन्ने नहीं मनने प्रसन्नभाव जो;
रजकण के रिद्धि वैमानिक देवनी,
सर्वे मान्यां पुद्गल एक स्वभाव जो ॥अपूर्व०१२॥

एम पराजय करीने चारित्रमोहनो,
आवुं त्यां ज्यां करण अपूर्व भाव जो;

बहुत उपसर्ग करनेवालेके प्रति भी क्रोध नहीं आता; यदि चक्रवर्ती वंदन करे तो भी लेश मात्र मान उत्पन्न नहीं होता; देहका नाश होता हो तो भी एक रोममें भी माया उत्पन्न नहीं होती; चाहे जैसी प्रबल ऋद्धिसिद्धि प्रगट हो तो भी उसका लेशमात्र लोभ नहीं होता—ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ?॥८॥

दिगंबरता, केशलुंचन, स्नान तथा दंत-धावनका त्याग, केश, रोम, नख और शरीरका शृंगार न करना इत्यादि अत्यधिक प्रसिद्ध मुनिचर्यासे बाह्य त्यागरूप द्रव्यसंयम और कषायादिकी निवृत्तिरूप भावसंयमसे पूर्ण निर्ग्रंथ अवस्था प्राप्त हो—ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ?॥९॥

जहाँ शत्रुमित्रके प्रति समदर्शिता है, मान-अपमानमें समभाव है, जीवन और मरणमें न्यूनाधिकताका भाव नहीं है तथा जहाँ संसार और मोक्षमें भी शुद्ध समभाव है—ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ?॥१०॥

और स्मशान आदि निर्जन स्थानमें अकेले विचरते हुए, पर्वत, वन आदिमें बाघ, सिंह आदि क्रूर एवं हिंसक प्राणियोंका संयोग होनेपर भी मनमें जरा भी क्षोभ न हो; प्रत्युत ऐसा समझूँ कि मानो परम मित्र मिले हैं, ऐसी आत्मदृष्टिसे उनके समीपमें भी निर्भय एवं स्थिर आसनसे ध्यानमग्न रहूँ—ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ?॥११॥

घोर तपश्चर्यामें भी मनको संताप न हो, स्वादिष्ट भोजनसे मनमें प्रसन्नता न हो, रजकण और वैमानिक देवकी ऋद्धिमें अंतर न मानूँ—दोनोंको समान समझूँ। तत्त्वदृष्टिसे खाद्य पदार्थ, धूल और वैमानिक देवकी धन-संपत्ति सभी पुद्गलरूप ही है। ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ?॥१२॥

श्रेणी क्षपकतणी करीने आरूढता,
अनन्य चिंतन अतिशय शुद्धस्वभाव जो ॥अपूर्व०१३॥

मोह स्वयंभूरमण समुद्र तरी करी,
स्थिति त्यां ज्यां क्षीणमोह गुणस्थान जो;
अंत समय त्यां पूर्णस्वरूप वीतराग थई,
प्रगटावुं निज केवळज्ञान निधान जो ॥अपूर्व०१४॥

चार कर्म घनघाती ते व्यवच्छेद ज्यां,
भवनां बीजतणो आत्यंतिक नाश जो;
सर्व भाव ज्ञाता द्रष्टा सह शुद्धता,
कृतकृत्य प्रभु वीर्य अनंत प्रकाश जो ॥अपूर्व०१५॥

वेदनीयादि चार कर्म वर्ते जहां,
बळी सींदरीवत् आकृति मात्र जो;
ते देहायुष आधीन जेनी स्थिति छे,
आयुष पूर्णे, मटिये दैहिक पात्र जो ॥अपूर्व०१६॥

मन, वचन, काया ने कर्मनी वर्गणा,
छूटे जहां सकळ पुद्गल संबंध जो;
एवुं अयोगी गुणस्थानक त्यां वर्ततुं,
महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अबंध जो ॥अपूर्व०१७॥

एक परमाणु मात्रनी मळे न स्पर्शता,
पूर्ण कलंक रहित अडोल स्वरूप जो;
शुद्ध निरंजन चैतन्यमूर्ति अनन्यमय,
अगुरुलघु, अमूर्त्त सहजपदरूप जो ॥अपूर्व०१८॥

इस प्रकार आत्मस्थिरतामें विघ्नभूत कषाय–नोकषायरूप चारित्रमोहका पराजय करके आठवें अपूर्वकरण गुणस्थानकी प्राप्ति हो, जिससे मोहनीयकर्मका क्षय करनेमें समर्थ क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ होकर आत्माके अतिशय शुद्ध स्वभावके अनन्य चिंतनमें तल्लीन हो जाऊँ। ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ?॥१३॥

मोहरूपी स्वयंभूरमण समुद्रको पार करके क्षीणमोह नामके बारहवें गुणस्थानमें आकर रहूँ, और वहाँ अंतर्मुहूर्तमें पूर्ण वीतरागस्वरूप होकर अपने केवलज्ञानकी निधिको प्रगट करूँ। ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ?॥१४॥

जहाँ चार घनघाती कर्मों–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय–का नाश हो जाता है; वहाँ संसारके बीजका आत्यंतिक नाश हो जाता है ऐसे अनंत चतुष्टयरूप परमात्मपदकी प्राप्ति हो, और सर्व भावोंका शुद्ध ज्ञाता-द्रष्टा होकर कृतकृत्यदशा प्रगटे और अनंत वीर्यका प्रकाश हो–ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ?॥१५॥

जहाँपर–तेरहवें गुणस्थानमें जली हुई रस्सीकी आकृतिके समान वेदनीय आदि चार अघाती कर्म ही शेष रह जाते हैं, उनकी स्थिति देहायुके अधीन है, और आयु-कर्मके नाश होनेपर उनका भी नाश हो जाता है, जिससे शरीर धारण करना ही नहीं रहता–ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ?॥१६॥

जहाँ मन, वचन, काया और कर्मकी वर्गणारूप समस्त पुद्गलोंका संबंध छूट जाता है, ऐसे अयोगी गुणस्थानमें अल्प समय रहकर महाभाग्य स्वरूप अनंत सुखदायक पूर्ण अबंधपद–मुक्तपद प्राप्त हो। ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ?॥१७॥

अयोगी गुणस्थानमें एक परमाणु मात्रका भी स्पर्श–बंध नहीं होता। यह स्वरूप कर्मरूप कलंकसे रहित और प्रदेशोंके निष्कंपनसे अचल शुद्ध सहज आत्मस्वरूप है। ऐसी शुद्ध, निरंजन, चैतन्यमूर्ति, एक आत्मामय, अगुरुलघु और अमूर्त्त सहजात्मस्वरूपदशा प्रगट हो–ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ?॥१८॥

पूर्वप्रयोगादि कारणना योगथी,
ऊर्ध्वगमन सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो;
सादि अनंत अनंत समाधिसुखमां,
अनंत दर्शन, ज्ञान अनंत सहित जो ॥अपूर्व०१९॥

जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां,
कही शक्या नहीं पण ते श्री भगवान जो;
तेह स्वरूपने अन्य वाणी ते शुं कहे?
अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो ॥अपूर्व०२०॥

एह परमपद प्राप्तिनुं कर्युं ध्यानमें,
गजा वगर ने हाल मनोरथरूप जो;
तो पण निश्चय राजचंद्र मनने रह्यो,
प्रभुआज्ञाअे थाशुं ते ज स्वरूप जो ॥अपूर्व०२१॥

---

७३९ मोरबी, माघ सुदी ९, बुध, १९५३

मुनिजीके प्रति,

ववाणिया पत्र मिला था। यहाँ शुक्रवारको आना हुआ है। यहाँ कुछ दिन स्थिति संभव है।

नडियादसे अनुक्रमसे किस क्षेत्रकी ओर विहार होना संभव है, तथा श्री देवकीर्ण आदि मुनियोंका कहाँ एकत्र होना संभव है, यह सूचित कर सकें तो सूचित करनेकी कृपा कीजियेगा।

द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे यों चारों प्रकारसे अप्रतिबंधता, आत्मतासे रहनेवाले निर्ग्रंथके लिये कही है, वह विशेष अनुप्रेक्षा करने योग्य है।

अभी किन शास्त्रोंका विचार करनेका योग रहता है, यह सूचित कर सकें तो सूचित करनेकी कृपा कीजियेगा।

श्री देवकीर्ण आदि मुनियोंको नमस्कार प्राप्त हो।

---

७४० मोरबी, माघ सुदी ९, बुध, १९५३

'आत्मसिद्धि'का विचार करते हुए आत्मा संबंधी कुछ भी अनुप्रेक्षा रहती है या नहीं? यह लिख सकें तो लिखियेगा।

कोई पुरुष स्वयं विशेष सदाचारमें तथा संयममें प्रवृत्ति करता है, उसके समागममें आनेके इच्छुक

पूर्वप्रयोगादि कारणोंके योगसे ऊर्ध्वगमन कर सादि-अनंत समाधिसुखसे पूर्ण और अनंत ज्ञान-दर्शनसहित सिद्धपदमें सुस्थित हो—ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा?॥१९॥

श्री सर्वज्ञ भगवानने इस पदको अपने ज्ञानमें देखा, परंतु वे भी इसे नहीं कह सके। तो फिर अन्य अल्पज्ञकी वाणीसे उस स्वरूपको कैसे कहा जा सके? यह ज्ञान तो मात्र अनुभवगोचर ही है॥२०॥

मैंने इस परमपदकी प्राप्तिका ध्यान किया है। उसे प्राप्त करनेकी शक्ति प्रतीत नहीं होती, इसलिये अभी तो यह मनोरथरूप है। तो भी राजचंद्र कहते हैं कि हृदयमें यह निश्चय रहता है कि प्रभुकी आज्ञाका आराधन करनेसे उसी परमात्मस्वरूपको प्राप्त करेंगे॥२१॥

जीवोंको, उस पद्धतिके अवलोकनसे जैसा सदाचार तथा संयमका लाभ होता है, वैसा लाभ प्रायः विस्तृत उपदेशसे भी नहीं होता, यह ध्यानमें रखने योग्य है।

---

७४१ मोरबी, माघ सुदी १०, शुक्र, १९५३

सर्वज्ञाय नमः

यहाँ कुछ दिन तक स्थिति होना संभव है।

अभी ईडर जानेका विचार रखते हैं। तैयार रहें। श्री डुंगरको आनेके लिये विनती करें। उन्हें भी तैयार रखें। उनके चित्तमें यों आये कि वारंवार जाना होनेसे लोकापेक्षामें योग्य नहीं दिखायी देता। क्योंकि उम्रमें अंतर। परंतु ऐसा विचार करना उन्हें योग्य नहीं है।

परमार्थदृष्टि पुरुषको अवश्य करने योग्य ऐसे समागमके लाभमें यह विकल्परूप अंतराय कर्तव्य नहीं है। इस बार समागमका विशेष लाभ होना योग्य है। इसलिये श्री डुंगरको अन्य सभी विकल्प छोड़कर आनेका विचार रखना चाहिये।

श्री डुंगर तथा लहेराभाई आदि मुमुक्षुओंको यथायोग्य।

आनेके बारेमें श्री डुंगरको कुछ भी संशय न रखना योग्य है।

---

७४२ मोरबी, माघ वदी ४, रवि, १९५३

संस्कृतका परिचय न हो तो कीजियेगा।

जिस तरह अन्य मुमुक्षुजीवोंके चित्तमें और अंगमें निर्मल भावकी वृद्धि हो उस तरह प्रवृत्ति कर्तव्य है। नियमित श्रवण कराया जाये तथा आरंभ-परिग्रहके स्वरूपको सम्यक् प्रकारसे देखते हुए, वे निवृत्ति और निर्मलताको कितने प्रतिबंधक है यह बात चित्तमें दृढ़ हो ऐसी परस्परमें ज्ञानकथा हो यह कर्तव्य है।

---

७४३ मोरबी, माघ वदी ४, रवि, १९५३

[1]'सकळ संसारी इन्द्रियरामी, मुनिगुण आतमरामी रे।
मुख्यपणे जे आतमरामी, ते कहिये निष्कामी रे॥'—मुनि श्री आनंदघनजी

तीनों पत्र मिले थे। अभी लगभग पंद्रह दिनसे यहाँ स्थिति है। अभी यहाँ कुछ दिन और रहना संभव है।

पत्राकांक्षा और दर्शनाकांक्षा मालूम हुई है। अभी पत्र आदि लिखनेमें बहुत ही कम प्रवृत्ति हो सकती है। समागमके बारेमें अभी कुछ भी उत्तर लिखना अशक्य है।

श्री लल्लुजी और श्री देवकरणजी 'आत्मसिद्धिशास्त्र' का विशेषतः मनन करें। दूसरे मुनियोंको भी प्रश्नव्याकरण आदि सूत्र सत्पुरुषके लक्ष्यसे सुनाये जायें तो सुनायें। श्री सहजात्मस्वरूपसे यथायोग्य।

---

७४४ ववाणिया, माघ वदी १२, शनि, १९५३

[2]ते माटे ऊभा करजोडी, जिनवर आगळ कहीए रे।
समयचरण सेवा शुद्ध देजो, जेम आनंदघन लहीए रे॥ —मुनि श्री आनंदघनजी

---

१. **भावार्थ**—सब संसारी जीव इन्द्रियसुखमें ही रमण करनेवाले हैं, और केवल मुनिजन ही आत्मरामी है। जो मुख्यतासे आत्मरामी होते हैं वे निष्कामी कहे जाते हैं।

२. **भावार्थ**—इस कारण मैं हाथ जोड खड़ा रहकर जिनेंद्र भगवानसे प्रार्थना करता हूँ कि वे मुझे शास्त्रानुसार चारित्रकी शुद्ध सेवा प्रदान करें, जिससे मैं आनंदघन—मोक्ष प्राप्त करूँ।

'कर्मग्रंथ' नामका शास्त्र है, उसे अभी आदिसे अंत तक पढ़नेका, सुननेका और अनुप्रेक्षा करनेका परिचय रख सकें तो रखियेगा। अभी उसे पढ़ने और सुननेमें नित्य प्रति दो-से चार घड़ी नियमपूर्वक व्यतीत करना योग्य है।

---

७४५ ववाणिया, फागुन सुदी २, १९५३

एकांत निश्चयनयसे मति आदि चार ज्ञान, संपूर्ण शुद्ध ज्ञानकी अपेक्षासे विकल्प ज्ञान कहे जा सकते हैं; परंतु संपूर्ण शुद्ध ज्ञान अर्थात् संपूर्ण निर्विकल्प ज्ञान उत्पन्न होनेके ये ज्ञान साधन हैं। उसमें भी श्रुतज्ञान मुख्य साधन है। केवलज्ञान उत्पन्न होनेमें अंत तक उस ज्ञानका अवलंबन है। यदि कोई जीव पहलेसे इसका त्याग कर दे तो केवलज्ञानको प्राप्त नहीं होता। केवलज्ञान तककी दशा प्राप्त करनेका हेतु श्रुतज्ञानसे होता है।

---

७४६ ववाणिया, फागुन सुदी २, १९५३

[1]त्याग विराग न चित्तमां, थाय न तेने ज्ञान।
अटके त्याग विरागमां, तो भूले निज भान॥

जहां कल्पना जल्पना, तहां मानुं दुःख छांई।
मिटे कल्पना जल्पना, तब वस्तु तिन पाई॥

'पढ़ी पार कहाँ पावनो, मिटे न मनको चार।
ज्यों कोलुके बैलकुं, घर ही कोश हजार॥'

'मोहनीय'का स्वरूप इस जीवको वारंवार अत्यंत विचार करने योग्य है। मोहिनीने महान मुनीश्वरोंको भी पलभरमें अपने पाशमें फँसाकर ऋद्धि-सिद्धिसे अत्यंत विमुक्त कर दिया है, शाश्वत सुखको छीनकर उन्हें क्षणभंगुरतामें ललचाकर भटकाया है।

निर्विकल्प स्थिति लाना, आत्मस्वभावमें रमण करना और मात्र द्रष्टाभावसे रहना ऐसा ज्ञानियोंका जगह जगह बोध है; इस बोधके यथार्थ प्राप्त होनेपर इस जीवका कल्याण होता है।

जिज्ञासामें रहें यह योग्य है।

[2]कर्म मोहनीय भेद बे, दर्शन चारित्र नाम।
हणे बोध वीतरागता, अचूक उपाय आम॥

ॐ शांतिः

---

७४७ ववाणियो, फागुन सुदी २, शुक्र, १९५३

सर्व मुनियोंको नमस्कार प्राप्त हो।

मुनि श्री देवकरणजी 'दीनता' के बीस दोहे कण्ठस्थ करना चाहते हैं, इसमें आज्ञाका अतिक्रम नहीं है। अर्थात् वे दोहे कण्ठस्थ करने योग्य हैं।

कर्म अनंत प्रकारनां, तेमां मुख्ये आठ।
तेमां मुख्ये मोहनीय, हणाय ते कहुं पाठ॥

---

१. अर्थ के लिये देखें 'आत्मसिद्धि' का पद्य ६। २. अर्थके लिये देखें 'आत्मसिद्धि' का पद्य १०३।

कर्म मोहनीय भेद बे, दर्शन चारित्र नाम।
हणे बोध वीतरागता, उपाय अचूक आम ॥

—श्री 'आत्मसिद्धिशास्त्र'

७४८ ववाणिया, फागुन सुदी ४, रवि, १९५३

जहाँ उपाय नहीं वहाँ खेद करना योग्य नहीं है। उन्हें शिक्षा अर्थात् उपदेश देकर सुधार करनेका बंद रखकर, मिलते रहकर काम निबाहना ही योग्य है।

जाननेसे पहले उपालंभ लिखना ठीक नहीं। तथा उपालंभसे अक्ल ला देना मुश्किल है। अक्लकी वर्षा की जाती है तो भी इन लोगोंकी रीति अभी रास्तेपर नहीं आती। वहाँ क्या उपाय?

उनके प्रति कोई दूसरा खेद करना व्यर्थ है। कर्मबंधकी विचित्रता है इससे सभीको सच्ची बात समझमें नहीं आ सकती। इसलिये उनके दोषका क्या विचार करना?

७४९ ववाणिया, फागुन वदी ११, १९५३

त्रिभोवनकी लिखी हुई चिट्ठी तथा सुणाव और पेटलादके पत्र मिले हैं।

'कर्मग्रंथ' का विचार करनेसे कषाय आदिका बहुतसा स्वरूप यथार्थ समझमें नहीं आता, वह विशेष अनुप्रेक्षासे, त्यागवृत्तिके बलसे और समागमसे समझमें आने योग्य है।

'ज्ञानका फल विरति है'। वीतरागका यह वचन सभी मुमुक्षुओंको नित्य स्मरणमें रखने योग्य है। जिसे पढ़नेसे, समझनेसे और विचारनेसे आत्मा विभावसे, विभावके कार्योंसे और विभावके परिणामसे उदास न हुआ, विभावका त्यागी न हुआ, विभावके कार्योंका और विभावके फलका त्यागी न हुआ; वह पढ़ना, वह विचारना और वह समझना अज्ञान है। विचारवृत्तिके साथ त्यागवृत्तिको उत्पन्न करना यही विचार सफल है, यह ज्ञानीके कहनेका परमार्थ है।

समयका अवकाश प्राप्त करके नियमितरूपसे दो-से चार घडी तक मुनियोंको अभी 'सूयगडांग' का विचार करना योग्य है—शांत और विरक्त चित्तसे।

७५०* ववाणिया, फागुन सुदी ६, सोम, १९५३

मुनि श्री ललुजी तथा देवकरणजी आदिके प्रति—

सहज समागम हो जाये अथवा ये लोग इच्छापूर्वक समागम करनेके लिये आते हों तो समागम करनेमें क्या हानि है? कदाचित् विरोधवृत्तिसे ये लोग समागम करते हों तो भी क्या हानि है? हमें तो उनके प्रति केवल हितकारी वृत्तिसे, अविरोध दृष्टिसे समागममें भी बर्ताव करना है। इसमें क्या पराभव है? मात्र उदीरणा करके समागम करनेका अभी कारण नहीं है। आप सब मुमुक्षुओंके आचार संबंधी उन्हें कोई संशय हो तो भी विकल्पका अवकाश नहीं है। वडवामें सत्पुरुषके समागममें गये आदि संबंधी प्रश्न करें तो उसके उत्तरमें तो इतना ही कहना योग्य है कि "आप, हम और सब आत्महितकी कामनासे निकले हैं; और करने योग्य भी यही है। जिस पुरुषके समागममें हम आये हैं, उसके समागममें आप कभी आकर प्रतीति कर देखें कि उनके आत्माकी दशा कैसी है? और वे हमें कैसे उपकारी हैं? अभी आप इस बातको जाने दें। वडवा तक सहजमें भी जाना हो सकता है, और यह तो ज्ञान, दर्शन आदिके उपकाररूप प्रसंगमें जाना हुआ है, इसलिये आचारकी मर्यादाके भंगका विकल्प करना योग्य नहीं है।

* देखें आंक ५०२। आंक ५०२ के छपनेके बाद यह पत्र मितिसहित सारा मिला है, इसलिये यहाँ फिरसे दिया है।

रागद्वेष परिक्षीण होनेका मार्ग जिस पुरुषके उपदेशसे कुछ भी समझमें आये, प्राप्त हो, उस पुरुषका उपकार कितना ? और वैसा पुरुषकी कैसे भक्ति करनी, उसे आप ही शास्त्र आदिसे विचार कर देखें। हम तो वैसा कुछ नहीं कर सके क्योंकि उन्होंने स्वयं यों कहा था कि–

'आपके मुनिपनका सामान्य व्यवहार ऐसा है कि इस अविरति पुरुषके प्रति बाह्य वन्दनादि व्यवहार कर्तव्य नहीं है। उस व्यवहारको आप भी निभायें। उस व्यवहारको आप रखें इसमें आपका स्वच्छंद नहीं है, इसलिये रखना योग्य है। बहुतसे जीवोंको संशयका हेतु नहीं होगा। हमें कुछ वंदनादिकी अपेक्षा नहीं है।' इस प्रकारसे जिन्होंने सामान्य व्यवहारको भी निभाया था, उनकी दृष्टि कैसी होनी चाहिये, इसका आप विचार करें। कदाचित् अभी आपको यह बात समझमें न आये तो आगे जाकर समझमें आयेगी, इस बातमें आप निःसंदेह रहें।

दूसरे कुछ सन्मार्गरूप आचार-विचारमें हमारी शिथिलता हुई हो तो आप कहे क्योंकि वैसी शिथिलता तो दूर किये बिना हितकारी मार्ग प्राप्त नहीं हो सकता, ऐसी हमारी दृष्टि है।" इत्यादि प्रसंगसे कहना योग्य लगे तो कहें; और उनके प्रति अद्वेषभाव है ऐसा स्पष्ट उनके ध्यानमें आये वैसी वृत्ति एवं रीतिसे वर्तन करें, इसमें संशय कर्तव्य नहीं है।

दूसरे साधुओंके बारेमें आपको कुछ कहना कर्तव्य नहीं है। समागममें आनेके बाद भी उनके चित्तमें कुछ न्यूनाधिकता रहे तो भी विक्षिप्त न होवें। उनके प्रति प्रबल अद्वेष भावनासे बर्ताव करना ही स्वधर्म है।

---

७५१ ववाणिया, फागुन वदी ११, रवि, १९५३

ॐ सर्वज्ञाय नमः

'आत्मसिद्धि' में कहे हुए समकितके प्रकारोंका विशेषार्थ जाननेकी इच्छा संबंधी पत्र मिला है।

आत्मसिद्धिमें तीन प्रकारके समकित उपदिष्ट हैं–

(१) आप्तपुरुषके वचनकी प्रतीतिरूप, आज्ञाकी अपूर्व रुचिरूप, स्वच्छंदनिरोधतासे आप्तपुरुषकी भक्तिरूप, यह समकितका पहला प्रकार है।

(२) परमार्थकी स्पष्ट अनुभवांशसे प्रतीति यह समकितका दूसरा प्रकार है।

(३) निर्विकल्प परमार्थअनुभव यह समकितका तीसरा प्रकार है।

पहला समकित दूसरे समकितका कारण है। दूसरा समकित तीसरे समकितका कारण है। वीतरागने तीनों समकित मान्य किये हैं। तीनों समकित उपासना करने योग्य हैं, सत्कार करने योग्य हैं; और भक्ति करने योग्य हैं।

केवलज्ञान उत्पन्न होनेके अंतिम समय तक वीतरागने सत्पुरुषके वचनोंके आलंबनका विधान किया है; अर्थात् बारहवें क्षीणमोह गुणस्थानकपर्यंत श्रुतज्ञानसे आत्माके अनुभवको निर्मल करते करते उस निर्मलताकी संपूर्णता प्राप्त होनेपर 'केवलज्ञान' उत्पन्न होता है। उसके उत्पन्न होनेके पहले समय तक सत्पुरुषका उपदिष्ट मार्ग आधारभूत है, यह जो कहा है वह निःसंदेह सत्य है।

---

७५२ ववाणिया, फागुन वदी ११, रवि, १९५३

लेश्या=जीवके कृष्ण आदि द्रव्यकी तरह भासमान परिणाम।

अध्यवसाय=लेश्या-परिणामकी कुछ स्पष्टरूपसे प्रवृत्ति।

संकल्प=कुछ भी प्रवृत्ति करनेका निर्धारित अध्यवसाय।

विकल्प=कुछ भी प्रवृत्ति करनेका अपूर्ण अनिर्धारित, संदेहात्मक अध्यवसाय।

संज्ञा=कुछ भी आगे पीछे की चिंतनशक्तिविशेष अथवा स्मृति।

परिणाम=जलके द्रवणस्वभावकी तरह द्रव्यकी कथंचित् अवस्थांतर पानेकी शक्ति है, उस अवस्थांतरकी विशेष धारा, वह परिणति है।

अज्ञान=मिथ्यात्वसहित मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान हो वह 'अज्ञान' है।

विभंगज्ञान=मिथ्यात्वसहित अतींद्रिय ज्ञान हो वह 'विभंगज्ञान' है।

विज्ञान=कुछ भी विशेषरूपसे जानना यह 'विज्ञान' है।

---

७५३ ववाणिया, १९५३

(१)

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, ओर न चाहुं रे कंत।
रीझ्यो साहेब संग न परिहरे रे, भांगे सादि अनंत॥ ऋषभ०१

नाभिराजाके पुत्र श्री ऋषभदेवजी तीर्थंकर मेरे परम प्रिय हैं, जिससे मैं दूसरे स्वामीको न चाहूँ। ये स्वामी ऐसे हैं कि प्रसन्न होने पर फिर कभी संग नहीं छोड़ते। जबसे संग हुआ तबसे उसकी आदि है, परंतु वह संग अटल होनेसे अनंत है॥१॥

विशेषार्थ—जो स्वरूपजिज्ञासु पुरुष हैं वे, जो पूर्ण शुद्ध स्वरूपको प्राप्त हुए हैं ऐसे भगवानके स्वरूपमें अपनी वृत्तिको तन्मय करते हैं; जिससे अपनी स्वरूपदशा जागृत होती जाती है और सर्वोत्कृष्ट यथाख्यातचारित्रको प्राप्त होती है। जैसा भगवानका स्वरूप है, वैसा ही शुद्धनयकी दृष्टिसे आत्माका स्वरूप है। इस आत्मा और सिद्ध भगवानके स्वरूपमें औपाधिक भेद है। स्वाभाविकरूपसे देखें तो आत्मा सिद्ध भगवानके तुल्य ही है। सिद्ध भगवानका स्वरूप निरावरण है; और वर्तमानमें इस आत्माका स्वरूप आवरणसहित है, और यही भेद है; वस्तुतः भेद नहीं है। उस आवरणके क्षीण हो जानेसे आत्माका स्वाभाविक सिद्धस्वरूप प्रगट होता है।

और जब तक वह स्वाभाविक सिद्धस्वरूप प्रगट नहीं हुआ, तब तक स्वाभाविक शुद्ध स्वरूपको प्राप्त हुए हैं ऐसे सिद्ध भगवानकी उपासना कर्तव्य है; इसी तरह अर्हंत भगवानकी उपासना भी कर्तव्य है, क्योंकि वे भगवान सयोगी सिद्ध हैं। सयोगरूप प्रारब्धके कारण वे देहधारी हैं; परंतु वे भगवान स्वरूपसमवस्थित हैं। सिद्ध भगवान और उनके ज्ञानमें, दर्शनमें, चारित्रमें या वीर्यमें कुछ भी भेद नहीं है; इसलिये अर्हंत भगवानकी उपासनासे भी यह आत्मा स्वरूपलयको पा सकता है।

पूर्व महात्माओंने कहा है—

'जे जाणइ अरिहंते, दव्व गुण पज्जवेहिं य।
सो जाणइ निय अप्पा, मोहो खलु जाइ तस्स लयं॥'

जो अर्हंत भगवानका स्वरूप द्रव्य, गुण और पर्यायसे जानता है, वह अपने आत्माके स्वरूपको जानता है और निश्चयसे उसके मोहका नाश हो जाता है। उस भगवानकी उपासना किस अनुक्रमसे जीवोंको कर्तव्य है, उसे श्री आनंदघनजी नौवें स्तवनमें कहनेवाले हैं, जिससे उस प्रसंगपर विस्तारसे कहेंगे।

भगवान सिद्धको नाम, गोत्र, वेदनीय और आयु इन कर्मोंका भी अभाव है; वे भगवान सर्वथा कर्मरहित हैं। भगवान अर्हंतको आत्मस्वरूपको आवरण करनेवाले कर्मोंका क्षय रहता है, परंतु उपर्युक्त चार कर्मोंका पूर्वबंध, वेदन करके क्षीण करने तक उन्हें रहता है, जिससे वे परमात्मा साकार भगवान कहने योग्य हैं।

उन अर्हंत भगवानमें जिन्होंने पूर्वकालमें 'तीर्थंकरनामकर्म' का शुभयोग उत्पन्न किया होता है, वे 'तीर्थंकर भगवान' कहे जाते हैं। जिनके प्रताप, उपदेशबल आदिकी शोभा महापुण्ययोगके उदयसे आश्चर्यकारी होती है। भरतक्षेत्रमें वर्तमान अवसर्पिणीकालमें ऐसे चौबीस तीर्थंकर हुए हैं—श्री ऋषभदेवसे श्री वर्धमान तक।

वर्तमानकालमें वे भगवान सिद्धालयमें स्वरूपस्थितरूपसे विराजमान हैं। परंतु 'भूतप्रज्ञापनीय-नय' से उनमें 'तीर्थंकरपद' का उपचार किया जाता है। उस औपचारिक नयदृष्टिसे उन चौबीस भगवानकी स्तुतिरूपसे इन चौबीस स्तवनोंकी रचना की है।

सिद्ध भगवान सर्वथा अमूर्तपदमें स्थित होनेसे उनके स्वरूपका सामान्यतः चिंतन करना दुष्कर है। अर्हत भगवानके स्वरूपका मूलदृष्टिसे चिंतन करना तो वैसा ही दुष्कर है, परंतु सयोगी पदके अवलंबनपूर्वक चिंतन करनेसे वह सामान्य जीवोंके लिये भी वृत्ति स्थिर होनेका कुछ सुगम उपाय है। इस कारण अर्हंत भगवानके स्तवनसे सिद्धपदका स्तवन हो जानेपर भी इतना विशेष उपकार समझकर श्री आनंदघनजीने चौबीस तीर्थंकरोंके स्तवनरूप इस चौबीसीकी रचना की है। नमस्कारमंत्रमें भी अर्हंतपद प्रथम रखनेका हेतु इतना ही है कि उनकी विशेष उपकारिता है।

भगवानके स्वरूपका चिंतन करना यह परमार्थदृष्टिवान पुरुषोंके लिये गौणतासे स्वस्वरूपका ही चिंतन है। 'सिद्धप्राभृत' में कहा है—

'जारिस सिद्ध सहावो, तारिस सहावो सव्वजीवाणं।
तम्हा सिद्धंतरुई, कायव्वा भव्वजीवेहिं॥'

जैसा सिद्ध भगवानका आत्मस्वरूप है वैसा सब जीवोंका आत्मस्वरूप है; इसलिये भव्य जीवोंको सिद्धत्वमें रुचि कर्तव्य है।

इसी तरह श्री देवचंद्रस्वामीने श्री वासुपूज्यके स्तवनमें कहा है कि 'जिनपूजा रे ते निजपूजना'।

यदि यथार्थ मूलदृष्टिसे देखें तो जिनकी पूजा वह आत्मस्वरूपका ही पूजन है।

स्वरूपाकांक्षी महात्माओंने यों जिन भगवान तथा सिद्ध भगवानकी उपासनाको स्वरूपकी प्राप्तिका हेतु माना है। क्षीणमोह गुणस्थानपर्यंत यह स्वरूपचिंतन जीवके लिये प्रबल अवलंबन है। और फिर मात्र अकेला अध्यात्मस्वरूपचिंतन जीवको व्यामोह उत्पन्न करता है; बहुतसे जीवोंको शुष्कता प्राप्त कराता है, अथवा स्वेच्छाचारिता उत्पन्न करता है, अथवा उन्मत्त प्रलापदशा उत्पन्न करता है। भगवानके स्वरूपके ध्यानावलंबनसे भक्तिप्रधानदृष्टि होती है, और अध्यात्मदृष्टि गौण होती है। जिससे शुष्कता, स्वेच्छाचारिता और उन्मत्त प्रलापता नहीं होती, आत्मदशा बलवान हो जानेसे स्वाभाविक अध्यात्मप्रधानता होती है। आत्मा स्वाभाविक उच्च गुणोंको भजता है। इसलिये शुष्कता आदि दोष उत्पन्न नहीं होते, और भक्तिमार्गके प्रति भी जुगुप्सित नहीं होता। स्वाभाविक आत्मदशा स्वरूपलीनताको प्राप्त करती जाती है। जहाँ अर्हंत आदिके स्वरूपध्यानके आलंबनके बिना वृत्ति आत्माकारता भजती है, वहाँ[1]..... (अपूर्ण)

१. आनन्दघन तीर्थंकर स्तवनावलीका यह विवेचन लिखते हुए इस जगह अपूर्ण छोड़ दिया गया है।—संशोधक

(२)

वीतराग स्तवन

[२]वीतरागोंमें ईश्वर ऐसे ऋषभदेव भगवान मेरे स्वामी है। इसलिये अब मैं दूसरे पतिकी इच्छा नहीं करती; क्योंकि ये प्रभु रीझनेके बाद साथ नहीं छोड़ते। इन प्रभुका योग प्राप्त होना उसकी आदि है; परंतु वह योग कभी भी निवृत्त नहीं होता, इसलिये अनन्त है।

जगतके भावोंसे उदासीन होकर चैतन्यवृत्ति शुद्ध चैतन्यस्वभावमें समवस्थित भगवानमें प्रीतिमान हुई, उसका आनन्दघनजी हर्ष प्रदर्शित करते हैं।

अपनी श्रद्धा नामकी सखीको आनन्दघनजीकी चैतन्यवृत्ति कहती है—"हे सखी! मैंने ऋषभदेव भगवानसे लग्न किया है, और ये भगवान मुझे सबसे प्यारे हैं। ये भगवान मेरे पति हुए हैं, इसलिये अब मैं दूसरे किसी भी पतिकी इच्छा करूँ ही नहीं। क्योंकि अन्य सब जन्म, जरा, मरण आदि दुःखोंसे आकुल-व्याकुल हैं, क्षणभरके लिये भी सुखी नहीं हैं; ऐसे जीवको पति बनानेसे मुझे सुख कहाँसे हो सकता है? भगवान ऋषभदेव तो अनन्त अव्याबाध सुखसमाधिको प्राप्त हुए हैं, इसलिये उनका आश्रय लूँ तो मुझे उसी वस्तुकी प्राप्ति हो। यह योग वर्तमानमें प्राप्त होनेसे हे सखी! मुझे परमशीतलता हुई है। दूसरे पतिका तो किसी समय वियोग भी हो जाये, परंतु मेरे इन स्वामीका तो किसी भी समय वियोग होता ही नहीं। जबसे ये स्वामी प्रसन्न हुए हैं तबसे किसी भी दिन संग नहीं छोड़ते। इन स्वामीके योगके स्वभावको सिद्धांतमें 'सादि-अनंत' अर्थात् इस योगके होनेकी आदि है, परंतु किसी दिन इनका वियोग होनेवाला नहीं है, इसलिये अनंत है, ऐसा कहा है; इसलिये अब मुझे कभी भी इन पतिका वियोग होगा ही नहीं॥१॥

हे सखी! इस जगतमें पतिका वियोग न होनेके लिये स्त्रियाँ जो नाना प्रकारके उपाय करती हैं वे उपाय सच्चे नहीं हैं; और इस तरह अपने पतिकी प्राप्ति नहीं होती। उन उपायोंके मिथ्यापनको बतलानेके लिये उनमेंसे थोड़ेसे उपाय तुझे बताती हूँ—कोई एक स्त्री तो पतिके साथ काष्ठमें जल जानेकी इच्छा करती है, कि जिससे पतिके साथ मिलाप ही बना रहे; परंतु उस मिलापका कुछ संभव नहीं है, क्योंकि वह पति तो अपने कर्मानुसार उसे जहाँ जाना था वहाँ चला गया। और जो स्त्री सती होकर मिलापकी इच्छा करती है वह स्त्री भी मिलापके लिये एक चितामें जलकर मरनेकी इच्छा करती है तो भी वह अपने कर्मानुसार देहको प्राप्त होनेवाली है; दोनों एक ही जगह देह धारण करें, और पति-पत्नीरूपसे योग प्राप्तकर निरंतर सुख भोगें ऐसा कोई नियम नहीं है। इसलिये उस पतिका वियोग हुआ, और उसका योग भी असंभव रहा, ऐसे पतिके मिलापको मैंने झूठा माना है, क्योंकि उसका ठौर-ठिकाना कुछ नहीं है।

अथवा प्रथम पदका यह अर्थ भी होता है कि परमेश्वररूप पतिकी प्राप्तिके लिये कोई काष्ठका भक्षण करता है, अर्थात् पंचाग्निकी धूनी जलाकर उसमें काष्ठ होमकर उस अग्निका परिषह सहन

---

२. श्री ऋषभजिनस्तवन—

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, और न चाहुं रे कन्त।
रीझ्यो साहेब संग न परिहरे रे, भांगे सादि अनन्त॥ऋषभ०१
कोई कंत कारण काष्ठभक्षण करे रे, मिलशुं कंतने धाय।
ए मेळो नवि कहिये संभवे रे, मेळो ठाम न ठाय॥ऋषभ०३
कोई पतिरंजन अति घणुं तप करे रे, पतिरंजन तनताप।
ए पतिरंजन में नवि चित्त धर्युं रे, रंजन धातु मेळाप॥ऋषभ०४

करता है, और इससे ऐसा समझता है कि परमेश्वररूप पतिको पा लेंगे, परंतु यह समझना मिथ्या है; क्योंकि पंचाग्नि तापनेमें उसकी प्रवृत्ति है; उस पतिका स्वरूप जानकर, उस पतिके प्रसन्न होनेके कारणोंको जानकर उस कारणोंकी उपासना वह नहीं करता, इसलिये वह परमेश्वररूप पतिको कहाँसे पायेगा ? उसकी मतिका जिस स्वभावमें परिणमन हुआ है उसी प्रकारकी गतिको वह पायेगा, जिससे उस मिलापका कोई ठौर-ठिकाना नहीं है।।३।।

हे सखी ! कोई पतिको रिझानेके लिये अनेक प्रकारके तप करती है, परंतु वह मात्र शरीरको कष्ट है। इसे पतिको राजी करनेका मार्ग मैंने समझा नहीं है। पतिको रंजन करनेके लिये तो दोनोंकी धातुओंका मिलाप होना चाहिये। कोई स्त्री चाहे जितने कष्टसे तपश्चर्या करके अपने पतिको रिझानेकी इच्छा करे तो भी जब तक वह स्त्री अपनी प्रकृतिको पतिकी प्रकृतिके स्वभावानुसार न कर सके तब तक प्रकृतिकी प्रतिकूलताके कारण वह पति प्रसन्न होता ही नहीं है, और उस स्त्रीको मात्र अपने शरीरमें क्षुधा आदि कष्टोंकी प्राप्ति होती है। इसी तरह किसी मुमुक्षुकी वृत्ति भगवानको पतिरूपसे प्राप्त करनेकी हो तो वह भगवानके स्वरूपानुसार वृत्ति न करे और अन्य स्वरूपमें रुचिमान होते हुए अनेक प्रकारका तप करके कष्टका सेवन करे, तो भी वह भगवानको नहीं पाता; क्योंकि जैसे पति-पत्नीका सच्चा मिलाप, और सच्ची प्रसन्नता धातुके एकत्वमें है वैसे हे सखी ! भगवानमें पतिभावकी इस वृत्तिको स्थापन करके उसे यदि अचल रखना हो तो उस भगवानके साथ धातुमिलाप करना ही योग्य है; अर्थात् वे भगवान जिस शुद्धचैतन्यधातुरूपसे परिणमित हुए हैं वैसी शुद्धचैतन्यवृत्ति करनेसे ही उस धातुमेंसे प्रतिकूल स्वभाव निवृत्त होनेसे ऐक्य होना संभव है; और उसी धातुमिलापसे उस भगवानरूप पतिकी प्राप्तिका किसी भी समय वियोग नहीं होगा।।४।।

हे सखी ! कोई फिर ऐसा कहता है कि यह जगत ऐसे भगवानकी लीला है कि जिसके स्वरूपको पहचाननेका लक्ष्य नहीं हो सकता; और वह अलक्ष्य भगवान सबकी इच्छा पूर्ण करता है; इसलिये वह यों समझकर इस जगतको भगवानकी लीला मानकर, उस भगवानकी उस स्वरूपसे महिमा गानेमें ही अपनी इच्छा पूर्ण होगी, अर्थात् भगवान प्रसन्न होकर उसमें लग्नता करेगा ऐसा मानता है, परंतु यह मिथ्या है, क्योंकि वह भगवानके स्वरूपके अज्ञानसे ऐसा कहता है।

जो भगवान अनंत ज्ञानदर्शनमय सर्वोत्कृष्ट सुखसमाधिमय है, वह भगवान इस जगतका कर्त्ता कैसे हो सकता है ? और लीलाके लिये प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? लीलाकी प्रवृत्ति तो सदोषमें ही संभव है। जो पूर्ण होता है वह कुछ इच्छा ही नहीं करता। भगवान तो अनंत अव्याबाध सुखसे पूर्ण है, उसमें अन्य कल्पनाका अवकाश कहाँसे हो ? लीलाकी उत्पत्ति कुतूहलवृत्तिसे होती है। वैसी कुतूहलवृत्ति तो ज्ञान-सुखकी अपरिपूर्णतासे ही होती है। भगवानमें तो वे दोनों (ज्ञान और सुख) परिपूर्ण हैं, इसलिये उसकी प्रवृत्ति जगतको रचनेरूप लीलामें हो ही नहीं सकती। यह लीला तो दोषका विलास है और सरागीको ही उसका संभव है। जो सरागी होता है वह द्वेषसहित होता है, और जिसे ये दोनों होते हैं, उसे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि सभी दोषोंका होना संभव है। इसलिये यथार्थ दृष्टिसे देखते हुए तो लीला दोषका ही विलास है, और ऐसे दोषविलासकी इच्छा तो अज्ञानीको ही होती है। विचारवान मुमुक्षु भी ऐसे

कोई कहे लीला रे अलख अलख तणी रे, लख पूरे मन आश।
दोषरहितने लीला नवि घटे रे, लीला दोष विलास।।ऋषभ०५
चित्तप्रसन्ने रे पूजन फळ कह्युं रे, पूजा अखंडित एह।
कपटरहित थई आतम अरपणा रे, आनंदघन पदरेह।।ऋषभ०६

दोषविलासकी इच्छा नहीं करते, तो अनंत ज्ञानमय भगवान उसकी इच्छा क्यों करेंगे ? इसलिये जो उस भगवानके स्वरूपको लीलाके कर्तृत्व भावसे समझता है, वह भ्रांति है; और उस भ्रांतिका अनुसरण करके भगवानको प्रसन्न करनेका जो मार्ग वह अपनाता है वह भी भ्रांतिमय ही है; जिससे भगवानरूप पतिकी उसे प्राप्ति नहीं होती ॥५॥

हे सखी ! पतिको प्रसन्न करनेके तो कई प्रकार हैं। अनेक प्रकारके शब्द, स्पर्श आदिके भोगसे पतिकी सेवा की जाती है। ऐसे अनेक प्रकार हैं, परंतु इन सबमें चित्तप्रसन्नता ही सबसे उत्तम सेवा है, और वह ऐसी सेवा है जो कभी खंडित नहीं होती। कपटरहित होकर आत्मार्पण करके पतिकी सेवा करनेसे अत्यंत आनंदके समूहकी प्राप्तिका भाग्योदय होता है।

भगवानरूप पतिकी सेवाके अनेक प्रकार हैं। द्रव्यपूजा, भावपूजा और आज्ञापूजा। द्रव्यपूजाके भी अनेक भेद हैं; परंतु उनमें सर्वोत्कृष्ट पूजा तो चित्त प्रसन्नता अर्थात् उस भगवानमें चैतन्यवृत्तिका परम हर्षसे एकत्वको प्राप्त करना ही है; इसीमें सब साधन समा जाते हैं। यही अखंडित पूजा है, क्योंकि यदि चित्त भगवानमें लीन हो तो दूसरे योग भी चित्ताधीन होनेसे भगवानके अधीन ही हैं; और चित्तकी लीनता भगवानमेंसे दूर न हो तो ही जगतके भावोंमें उदासीनता रहती है और उनमें ग्रहण-त्यागरूप विकल्पकी प्रवृत्ति नहीं होती; जिससे वह सेवा अखंड ही रहती है।

जब तक चित्तमें दूसरा भाव हो तब तक यदि यह प्रदर्शित करें कि आपके सिवाय दूसरेमें मेरा कोई भी भाव नहीं है तो यह वृथा ही है और कपट है। और जब तक कपट है तब तक भगवानके चरणोंमें आत्मार्पण कहाँसे हो ? इसलिये जगतके सभी भावोंसे विराम प्राप्त करके, वृत्तिको शुद्ध चैतन्य भावयुक्त करनेसे ही उस वृत्तिमें अन्यभाव न रहनेसे शुद्ध कही जाती है और वह निष्कपट कही जाती है। ऐसी चैतन्यवृत्ति भगवानमें लीन की जाये वही आत्मार्पणता कही जाती है।

धन-धान्य आदि सभी भगवानको अर्पित किये हो; परंतु यदि आत्मा अर्पण न किया हो अर्थात् उस आत्माकी वृत्तिको भगवानमें लीन न किया हो तो उस धन-धान्य आदिका अर्पण करना सकपट ही है, क्योंकि अर्पण करनेवाला आत्मा अथवा उसकी वृत्ति तो अन्यत्र लीन है। जो स्वयं अन्यत्र लीन है उसके अर्पण किये हुए दूसरे जड़ पदार्थ भगवानमें कहाँसे अर्पित हो सकेंगे ? इसलिये भगवानमें चित्तवृत्तिकी लीनता ही आत्म-अर्पणता है, और यही आनंदघनपदकी रेखा अर्थात् परम अव्याबाध सुखमय मोक्षपदकी निशानी है। अर्थात् जिसे ऐसी दशाकी प्राप्ति हो जाये वह परम आनंदघनस्वरूप मोक्षको प्राप्त होगा, ऐसे लक्षण ही लक्षण हैं ॥६॥

ऋषभजिनस्तवन संपूर्ण।

---

(३)[1]

प्रथम स्तवनमें भगवानमें वृत्तिके लीन होनेरूप हर्ष बताया, परंतु वह वृत्ति अखंड और पूर्णरूपसे लीन हो तो ही आनंदघनपदकी प्राप्ति होती है, जिससे उस वृत्तिकी पूर्णताकी इच्छा करते हुए आनंदघनजी दूसरे तीर्थंकर श्री अजितनाथका स्तवन करते हैं। जो पूर्णताकी इच्छा है, उसे प्राप्त होनेमें जो जो विघ्न देखे उन्हें आनंदघनजी संक्षेपमें इस दूसरे स्तवनमें भगवानसे निवेदन करते हैं; और अपने

---

१. दूसरा श्री अजितजिनस्तवन–

पंथडो निहाळुं रे बीजा जिन तणो रे, अजित अजित गुणधाम।
जे तें जीत्या रे तेणे हुं जीतियो रे, पुरुष किश्युं मुज नाम ?॥पंथडो० १
चरम नयण करी मारग जोवतां रे, भूल्यो सयल संसार।
जेणे नयणे करी मारग जोईये रे, नयण ते दिव्य विचार॥पंथडो० २

पुरुषत्वको मंद देखकर खेदखिन्न होते हैं, ऐसा बताकर, पुरुषत्व जाग्रत रहे ऐसी भावनाका चिंतन करते हैं।

हे सखी ! दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ भगवानने पूर्ण लीनताका जो मार्ग प्रदर्शित किया है अर्थात् जो सम्यक् चारित्ररूप मार्ग प्रकाशित किया है वह, देखता हूँ, तो अजित अर्थात् जो मेरे जैसे निर्बल वृत्तिके मुमुक्षुसे जीता न जा सके ऐसा है; भगवानका नाम अजित है वह तो सत्य है; क्योंकि जो बड़े बड़े पराक्रमी पुरुष कहे जाते हैं, उनसे भी जिस गुणोंके धामरूप पंथका जय नहीं हुआ, उसका भगवानने जय किया है, इसलिये भगवानका अजित नाम तो सार्थक ही है। और अनंत गुणोंके धामरूप उस मार्गको जीतनेसे भगवानका गुणधामत्व सिद्ध है। हे सखी ! परंतु मेरा नाम पुरुष कहा जाता है, वह सत्य नहीं है। भगवानका नाम अजित है। जैसे वह तद्रूप गुणके कारण है वैसे मेरा नाम पुरुष तद्रूप गुणके कारण नहीं है। क्योंकि पुरुष तो उसे कहा जाता है कि जो पुरुषार्थसहित हो– स्वपराक्रमसहित हो, परंतु मैं तो वैसा नहीं हूँ। इसलिये भगवानसे कहता हूँ कि हे भगवान ! आपका नाम जो अजित है वह तो सच्चा है; परंतु मेरा नाम जो पुरुष है वह तो झूठा है। क्योंकि आपने राग, द्वेष, अज्ञान, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दोषोंका जय किया है, इसलिये आप अजित कहे जाने योग्य है, परंतु उन्हीं दोषोंने मुझे जीत लिया है, इसलिये मेरा नाम पुरुष कैसे कहा जाये ?॥१॥

हे सखी ! उस मार्गको पानेके लिये दिव्य नेत्र चाहिये। चर्मनेत्रोंसे देखते हुए तो समस्त संसार भूला हुआ है। उस परमतत्त्वका विचार होनेके लिये जो दिव्य नेत्र चाहिये, उस दिव्य नेत्रका निश्चयसे वर्तमानकालमें वियोग हो गया है।

हे सखी ! उस अजित भगवानने अजित होनेके लिये अपनाया हुआ मार्ग कुछ इन चर्मचक्षुओंसे दिखायी नहीं देता। क्योंकि वह मार्ग दिव्य है, और अंतरात्मदृष्टिसे ही उसका अवलोकन किया जा सकता है। जिस तरह एक गाँवसे दूसरे गाँवमें जानेके लिये पृथ्वीतलपर सडक वगैरह मार्ग होते हैं, उसी तरह यह कुछ एक गाँवसे दूसरे गाँव जानेके मार्गकी तरह बाह्य मार्ग नहीं है, अथवा चर्मचक्षुसे देखने पर वह दीखने योग्य नहीं है, चर्मचक्षुसे वह अतींद्रिय मार्ग कुछ दिखायी नहीं देता॥२॥ (अपूर्ण)

---

७५४ संवत् १९५३

हे ज्ञातपुत्र भगवन् ! कालकी बलिहारी है। इस भारतके हीनपुण्य मनुष्योंको तेरा सत्य, अखंड और पूर्वापर अविरुद्ध शासन कहाँसे प्राप्त हो ? उसके प्राप्त होनेमें इस प्रकारके विघ्न उत्पन्न हुए हैं–तुझसे उपदिष्ट शास्त्रोंकी कल्पित अर्थसे विराधना की; कितनोंका तो समूल ही खंडन कर दिया, ध्यानका कार्य और स्वरूपका कारणरूप जो तेरी प्रतिमा है, उससे कटाक्षदृष्टिसे लाखों लोग फिर गये, तेरे बादमें परंपरासे जो आचार्य पुरुष हुए उनके वचनोंमें और तेरे वचनोंमें भी शंका डाल दी। एकांतका उपयोग करके तेरे शासनकी निंदा की।

हे शासनदेवी ! कुछ ऐसी सहायता दे कि जिससे मैं दूसरोंको कल्याणके मार्गका बोध कर सकूँ–उसे प्रदर्शित कर सकूँ,–सच्चे पुरुष प्रदर्शित कर सकते हैं। सर्वोत्तम निर्ग्रंथ-प्रवचनके बोधकी ओर मोडकर उन्हें इन आत्मविराधक पंथोंसे पीछे खींचनेमें सहायता दे ! ! तेरा धर्म है कि समाधि और बोधिमें सहायता देना। (निजी)

---

७५५ संवत् १९५३

ॐ नमः

अनंत प्रकारके शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे आकुल-व्याकुल जीवोंकी उन दुःखोंसे छूटनेकी अनेक प्रकारसे इच्छा होते हुए भी उनसे वे मुक्त नहीं हो सकते, इसका क्या कारण है ? ऐसा प्रश्न अनेक जीवोंको हुआ करता है, परंतु उसका यथार्थ समाधान किसी विरल जीवको ही प्राप्त होता है। जब तक दुःखका मूल कारण यथार्थरूपसे जाननेमें न आया हो, तब तक उसे दूर करनेके लिये चाहे जैसा प्रयत्न किया जाये, तो भी दुःखका क्षय नहीं हो सकता, और उस दुःखके प्रति चाहे जितनी अरुचि, अप्रियता और अनिच्छा हो, तो भी उसका अनुभव करना ही पड़ता है। अवास्तविक उपायसे उस दुःखको मिटानेका प्रयत्न किया जाये, और वह प्रयत्न असह्य परिश्रमपूर्वक किया गया हो, फिर भी वह दुःख न मिटनेसे दुःख मिटानेके इच्छुक मुमुक्षुको अत्यंत व्यामोह हो जाता है, अथवा हुआ करता है कि इसका क्या कारण ? यह दुःख दूर क्यों नहीं होता ? किसी भी तरह मुझे उस दुःखकी प्राप्ति इच्छित नहीं होनेपर भी, स्वप्नमें भी उसके प्रति कुछ भी वृत्ति न होनेपर भी, उसकी प्राप्ति हुआ करती है, और मैं जो जो प्रयत्न करता हूँ वे सब निष्फल जाकर दुःखका अनुभव किया ही करता हूँ, इसका क्या कारण ?

क्या यह दुःख किसीका मिटता ही नहीं होगा ? दुःखी होना ही जीवका स्वभाव होगा ? क्या कोई एक जगतकर्त्ता ईश्वर होगा, जिसने इसी तरह करना योग्य समझा होगा ? क्या यह बात भवितव्यताके अधीन होगी ? अथवा किन्हीं मेरे पूर्वकृत अपराधोंका फल होगा ? इत्यादि अनेक प्रकारके विकल्प जो जीव मनसहित देहधारी हैं वे किया करते हैं, और जो जीव मनरहित हैं वे अव्यक्त रूपसे दुःखका अनुभव करते हैं और वे अव्यक्तरूपसे उस दुःखके मिटनेकी इच्छा रखा करते हैं।

इस जगतमें प्राणी मात्रकी व्यक्त अथवा अव्यक्त इच्छा भी यही है, कि किसी भी प्रकारसे मुझे दुःख न हो, और सर्वथा सुख हो। इसीके लिये प्रयत्न होनेपर भी यह दुःख क्यों नहीं मिटता ? ऐसा प्रश्न अनेकानेक विचारवानोंको भी भूतकालमें हुआ था, वर्तमानकालमें भी होता है, और भविष्यकालमें भी होगा। उन अनंतानंत विचारवानोंमेंसे अनंत विचारवानोंने उसका यथार्थ समाधान पाया, और दुःखसे मुक्त हुए। वर्तमानकालमें भी जो जो विचारवान यथार्थ समाधान प्राप्त करते हैं, वे भी तथारूप फलको पाते हैं और भविष्यकालमें भी जो जो विचारवान यथार्थ समाधान प्राप्त करेंगे वे सब तथारूप फल प्राप्त करेंगे इसमें संशय नहीं है।

शरीरका दुःख मात्र औषध करनेसे मिट जाता होता, मनका दुःख धन आदिके मिलनेसे दूर हो जाता होता, और बाह्य संसर्ग संबंधी दुःख मनपर कुछ असर न डाल सकता होता तो दुःख मिटनेके लिये जो जो प्रयत्न किये जाते हैं वे सभी जीवोंके प्रयत्न सफल हो जाते। परंतु जब ऐसा होता दिखायी न दिया तभी विचारवानोंको प्रश्न उत्पन्न हुआ कि दुःख मिटनेका कोई दूसरा ही उपाय होना चाहिये; यह जो उपाय किया जा रहा है वह अयथार्थ है, और सारा श्रम वृथा है। इसलिये उस दुःखका मूल कारण यदि यथार्थरूपसे जाननेमें आ जाये और तदनुसार ही उपाय किया जाये, तो दुःख मिटता है; नहीं तो मिटता ही नहीं।

जो विचारवान दुःखके यथार्थ मूल कारणका विचार करनेके लिये कटिबद्ध हुए, उनमें भी किसीको ही उसका यथार्थ समाधान हाथ लगा और बहुतसे यथार्थ समाधान न पानेपर भी मतिव्यामोह आदि कारणोंसे, वे यथार्थ समाधान पा गये हैं ऐसा मानने लगे और तदनुसार उपदेश करने लगे और

बहुतसे लोग उनका अनुसरण भी करने लगे। जगतमें भिन्न भिन्न धर्ममत देखनेमें आते हैं उनकी उत्पत्तिका मुख्य कारण यही है।

'धर्मसे दुःख मिटता है', ऐसी बहुतसे विचारवानोंकी मान्यता हुई। परंतु धर्मका स्वरूप समझनेमें एक दूसरेमें बहुत अंतर पड़ गया। बहुतसे तो अपने मूल विषयको चूक गये; और बहुतसे तो उस विषयमें मतिके थक जानेसे अनेक प्रकारसे नास्तिक आदि परिणामोंको प्राप्त हो गये।

दुःखके मूल कारण और उनकी किस तरह प्रवृत्ति हुई, इसके संबंधमें यहाँ थोड़ेसे मुख्य अभिप्राय संक्षेपमें बताते हैं।

दुःख क्या है ? उसके मूल कारण क्या है ? और वे किस तरह मिट सकते हैं ? तत्संबंधी जिनों अर्थात् वीतरागोंने अपना जो मत प्रदर्शित किया है उसे यहाँ संक्षेपमें कहते हैं–

अब, वह यथार्थ है या नहीं ? उसका अवलोकन करते हैं–

जो उपाय बताये हैं वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं, अथवा तीनोंका एक नाम 'सम्यक्मोक्ष' है।

उन वीतरागोंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें सम्यग्दर्शनकी मुख्यता अनेक स्थलोंमें कही है; यद्यपि सम्यग्ज्ञानसे ही सम्यग्दर्शनकी भी पहचान होती है, तो भी सम्यग्दर्शन रहित ज्ञान संसार अर्थात् दुःखका हेतुरूप होनेसे सम्यग्दर्शनकी मुख्यताको ग्रहण किया है।

ज्यों ज्यों सम्यग्दर्शन शुद्ध होता जाता है, त्यों त्यों सम्यक्चारित्रके प्रति वीर्य उल्लसित होता जाता है, और क्रमसे सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति होनेका समय आ जाता है; जिससे आत्मामें स्थिर स्वभाव सिद्ध होता जाता है, और क्रमसे पूर्ण स्थिर स्वभाव प्रगट होता है, और आत्मा निजपदमें लीन होकर सर्व कर्मकलंकसे रहित होनेसे एक शुद्ध आत्मस्वभावरूप मोक्षमें परम अव्याबाध सुखके अनुभवसमुद्रमें स्थित हो जाता है।

सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिसे जैसे ज्ञान सम्यक्स्वभावको प्राप्त होता है, यह सम्यग्दर्शनका परम उपकार है, वैसे ही सम्यग्दर्शन क्रमसे शुद्ध होता हुआ पूर्ण स्थिर स्वभाव सम्यक्चारित्रको प्राप्त हो इसके लिये सम्यग्ज्ञानके बलकी उसे सच्ची आवश्यकता है। उस सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिका उपाय वीतरागश्रुत और उस श्रुततत्त्वोपदेष्टा महात्मा है।

वीतरागश्रुतके परम रहस्यको प्राप्त हुए असंग तथा परम करुणाशील महात्माका योग प्राप्त होना अतिशय कठिन है। महद्भाग्योदयके योगसे ही वह योग प्राप्त होता है इसमें संशय नहीं है। कहा है कि–

तहा रुवाणं समणाणं–

उन श्रमण महात्माओंके प्रवृत्तिलक्षण परमपुरुषने इस प्रकार कहे हैं–

उन महात्माओंके प्रवृत्तिलक्षणोंसे अभ्यंतरदशाके चिह्न निर्णीत किये जा सकते हैं; यद्यपि प्रवृत्तिलक्षणोंकी अपेक्षा अभ्यंतरदशा संबंधी निश्चय अन्य भी निकलता है। किसी एक शुद्ध वृत्तिमान मुमुक्षुको वैसी अभ्यंतरदशाकी परीक्षा आती है।

ऐसे महात्माओंके समागम और विनयकी क्या जरूरत है ? चाहे जैसा भी पुरुष हो, परंतु जो अच्छी तरह शास्त्र पढ़कर सुना दे ऐसे पुरुषसे जीव कल्याणका यथार्थ मार्ग क्यों प्राप्त न कर सके ? ऐसी आशंकाका समाधान किया जाता है–

ऐसे महात्मा पुरुषोंका योग अतीव दुर्लभ है। अच्छे देशकालमें भी ऐसे महात्माओंका योग दुर्लभ है; तो ऐसे दुःखमुख्य कालमें वैसा हो इसमें कुछ कहना ही नहीं रहता। कहा है कि–

यद्यपि वैसे महात्मा पुरुषोंका क्वचित् योग मिलता है, तो भी शुद्ध वृत्तिमान मुमुक्षु हो तो वह उनके मुहूर्त्तमात्रके समागममें अपूर्व गुणको प्राप्त कर सकता है। जिन महापुरुषोंके वचन-प्रतापसे चक्रवर्ती मुहूर्त्तमात्रमें अपना राजपाट छोड़कर भयंकर वनमें तपश्चर्या करनेके लिये चल निकलते थे, उन महात्मा पुरुषोंके योगसे अपूर्व गुण क्यों प्राप्त न हो ?

अच्छे देशकालमें भी क्वचित् वैसे महात्माओंका योग हो जाता है, क्योंकि वे अप्रतिबद्ध विहारी होते हैं। तब ऐसे पुरुषोंका नित्य संग रहना किस तरह हो सकता है कि जिससे मुमुक्षुजीव सब दुःखोंका क्षय करनेके अनन्य कारणोंकी पूर्णरूपसे उपासना कर सके ? भगवान जिनने उसके मार्गका अवलोकन इस तरह किया है–

नित्य उनके समागममें आज्ञाधीन रहकर प्रवृत्ति करनी चाहिये, और इसके लिये बाह्याभ्यंतर परिग्रह आदिका त्याग करना ही योग्य है।

जो सर्वथा वैसा त्याग करनेके लिये समर्थ नहीं है, उन्हें इस प्रकार देशत्यागपूर्वक प्रवृत्ति करना योग्य है। उसके स्वरूपका इस तरह उपदेश किया है–

उस महात्मा पुरुषके गुणोंकी अतिशयतासे, सम्यक्आचरणसे, परमज्ञानसे, परमशांतिसे, परमनिवृत्तिसे मुमुक्षुजीवकी अशुभ वृत्तियाँ परावर्तित होकर शुभस्वभावको पाकर स्वरूपके प्रति मुडती जाती है।

उस पुरुषके वचन आगमस्वरूप हैं, तो भी वारंवार अपनेसे वचनयोगकी प्रवृत्ति न होनेसे तथा निरंतर समागमका योग न बननेसे, तथा उस वचनका श्रवण स्मरणमें तादृश न रह सकनेसे, तथा बहुतसे भावोंका स्वरूप जाननेमें परावर्तनकी जरूरत होनेसे, और अनुप्रेक्षाके बलकी वृद्धिके लिये वीतरागश्रुत-वीतरागशास्त्र एक बलवान उपकारी साधन है। यद्यपि प्रथम तो वैसे महात्मापुरुषोंके द्वारा ही उसका रहस्य जानना चाहिये, फिर विशुद्धदृष्टि हो जानेपर वह श्रुत महात्माके समागमके अंतरायमें भी बलवान उपकार करता है, अथवा जहाँ केवल वैसे महात्माओंका योग हो ही नहीं सकता, वहाँ भी विशुद्धदृष्टिमानको वीतरागश्रुत परमोपकारी है, और इसलिये महापुरुषोंने एक श्लोकसे लेकर द्वादशांग पर्यंत रचना की है।

उस द्वादशांगके मूल उपदेष्टा सर्वज्ञ वीतराग हैं, कि जिनके स्वरूपका महात्मा पुरुष निरंतर ध्यान करते हैं, और उस पदकी प्राप्तिमें ही सर्वस्व समाया हुआ है, ऐसा प्रतीतिसे अनुभव करते हैं। सर्वज्ञ वीतरागके वचनोंको धारण करके महान आचार्योंने द्वादशांगीकी रचना की थी, और तदाश्रित आज्ञाकारी महात्माओंने दूसरे अनेक निर्दोष शास्त्रोंकी रचना की है। द्वादशांगके नाम इस प्रकार हैं–

(१) आचारांग, (२) सूत्रकृतांग, (३) स्थानांग, (४) समवायांग, (५) भगवती, (६) ज्ञाताधर्म-कथांग, (७) उपासकदशांग, (८) अंतकृतदशांग, (९) अनुत्तरौपपातिक, (१०) प्रश्नव्याकरण, (११) विपाक और (१२) दृष्टिवाद।

उनमें इस प्रकारसे निरूपण है–

कालदोषसे उनमेंसे बहुतसे स्थलोंका विसर्जन हो गया और मात्र अल्प स्थल रहे हैं।

जो अल्प स्थल रहे हैं उन्हें एकादशांगके नामसे श्वेताम्बर आचार्य कहते हैं। दिगम्बर इससे अनुमत

न होते हुए यों कहते हैं कि–

विसंवाद या मताग्रहकी दृष्टिसे उसमें दोनों संप्रदाय भिन्न भिन्न मार्गकी भाँति देखनेमें आते हैं। दीर्घदृष्टिसे देखनेपर उसके भिन्न ही कारण देखनेमें आते हैं।

चाहे जैसा हो, परंतु इस प्रकारसे दोनों बहुत पासमें आ जाते हैं–

विवादके अनेक स्थल तो अप्रयोजन जैसे हैं; प्रयोजन जैसे हैं वे भी परोक्ष हैं।

अपात्र श्रोताको द्रव्यानुयोग आदि भावोंका उपदेश करनेसे नास्तिकता आदि भाव उत्पन्न होनेका अवसर आता है, अथवा शुष्कज्ञानी होनेका अवसर आता है।

अब यह प्रस्तावना यहाँ संक्षिप्त करते हैं; और जिस महापुरुषने–

यदि इस तरह सुप्रतीत हो तो

[1]हिंसारहिए धम्मे अट्ठारस दोष विवज्जिए देवे।
निग्गंथे पवयणे सद्दहणं होई सम्मत्तं ॥१॥

तथा

जीवके लिये मोक्षमार्ग है, नहीं तो उन्मार्ग है।

सर्व दुःखोंका क्षय करनेवाला एक परम सदुपाय,

सर्व जीवोंको हितकारी, सर्व दुःखोंके एक आत्यंतिक उपाय, परम सदुपायरूप वीतरागदर्शन है। उसकी प्रतीतिसे, उसके अनुसरणसे, उसकी आज्ञाके परम अवलंबनसे जीव भवसागर तर जाता है। 'समवायांग सूत्र' में कहा है–

आत्मा क्या है ? कर्म क्या है ? उसका कर्त्ता कौन है ? उसका उपादान कौन है ? निमित्त कौन है ? उसकी स्थिति कितनी है ? कर्त्ता कैसे है ? किस परिमाणमें वह बाँध सकता है ? इत्यादि भावों का स्वरूप जैसा निर्ग्रंथसिद्धांतमें स्पष्ट, सूक्ष्म और संकलनापूर्वक है वैसा किसी भी दर्शनमें नहीं है।

(अपूर्ण)

---

७५६ संवत् १९५३

जैनमार्गविवेक

अपने समाधानके लिये यथाशक्ति जैनमार्गको जाना है, उसका संक्षेपमें कुछ भी विवेक (विचार) करता हूँ–

वह जैनमार्ग जिस पदार्थका अस्तित्व है उसका अस्तित्व और जिसका अस्तित्व नहीं है उसका नास्तित्व मानता है।

जिसका अस्तित्व है, वह दो प्रकारसे है, ऐसा कहते हैं : जीव और अजीव। ये पदार्थ स्पष्ट भिन्न हैं। कोई अपने स्वभावका त्याग नहीं कर सकता।

अजीव रूपी और अरूपी दो प्रकारसे हैं।

जीव अनंत हैं। प्रत्येक जीव तीनों कालोंमें भिन्न भिन्न है। ज्ञान, दर्शन आदि लक्षणोंसे जीव पहचाना जाता है। प्रत्येक जीव असंख्यात प्रदेशकी अवगाहनासे रहता है। संकोच-विकासका भाजन है। अनादिसे कर्मग्राहक है। तथारूप स्वरूप जाननेसे, प्रतीतिमें लानेसे, स्थिर परिणाम होनेपर उस कर्मकी निवृत्ति

१. **भावार्थ**–हिंसारहित धर्म, अठारह दोषोंसे रहित देव और निर्ग्रंथ प्रवचनमें श्रद्धा करना सम्यक्त्व है।

होती है। स्वरूपसे जीव वर्ण, गंध रस और स्पर्शसे रहित है। अजर, अमर और शाश्वत वस्तु है।

(अपूर्ण)

७५७

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

मोक्षसिद्धांत

अनंत अव्याबाध सुखमय परमपदकी प्राप्तिके लिये भगवान सर्वज्ञद्वारा निरूपित 'मोक्षसिद्धांत' उस भगवानको परम भक्तिसे नमस्कार करके कहता हूँ।

द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और धर्मकथानुयोगके महानिधि वीतराग-प्रवचनको नमस्कार करता हूँ।

कर्मरूप वैरीका पराजय करनेवाले अर्हंत भगवान; शुद्ध चैतन्यपदमें सिद्धालयमें विराजमान सिद्ध भगवान; ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन मोक्षके पाँच आचारोंका आचरण करनेवाले और अन्य भव्यजीवोंको उस आचारमें प्रवृत्त करनेवाले आचार्य भगवान; द्वादशांगके अभ्यासी और उस श्रुतका शब्द, अर्थ और रहस्यसे अन्य भव्य जीवोंको अध्ययन करानेवाले उपाध्याय भगवान; और मोक्षमार्गका आत्मजागृतिपूर्वक साधन करनेवाले साधु भगवानको मैं परमभक्तिसे नमस्कार करता हूँ।

श्री ऋषभदेवसे श्री महावीरपर्यंत भरतक्षेत्रके वर्तमान चौबीस तीर्थंकरोंके परम उपकारका मैं वारंवार स्मरण करता हूँ।

वर्तमानकालके चरम तीर्थंकरदेव श्रीमान वर्धमानजिनकी शिक्षासे अभी मोक्षमार्ग अस्तित्वमें है, उनके इस उपकारको सुविहित पुरुष वारंवार आश्चर्यमय देखते हैं।

कालदोषसे अपार श्रुतसागरके बहुतसे भागका विसर्जन होता गया और बिंदुमात्र अथवा अल्पमात्र वर्तमानमें विद्यमान हैं।

अनेक स्थलोंके विसर्जन होनेसे, अनेक स्थलोंमें स्थूल निरूपण रहा होनेसे निर्ग्रंथ भगवानके उस श्रुतका पूर्ण लाभ, वर्तमान मनुष्योंको इस क्षेत्रमें प्राप्त नहीं होता।

अनेक मतमतांतर आदिके उत्पन्न होनेका हेतु भी यही है, और इसलिये निर्मल आत्मतत्त्वके अभ्यासी महात्माओंकी अल्पता हो गई।

श्रुतके अल्प रह जानेपर भी, मतमतांतर अनेक होनेपर भी, समाधानके कितने ही साधन परोक्ष होनेपर भी, महात्मा पुरुषोंके क्वचित् क्वचित् ही रहनेपर भी, हे आर्यजनों! सम्यग्दर्शन, श्रुतका रहस्यभूत परमपदका पंथ, आत्मानुभवके हेतु, सम्यक्चारित्र और विशुद्ध आत्मध्यान आज भी विद्यमान हैं, यह परम हर्षका कारण है।

वर्तमानकालका नाम दुःषमकाल है, इसलिये अनेक अंतरायोंसे, प्रतिकूलतासे, साधनकी दुर्लभता होनेसे मोक्षमार्गकी प्राप्ति दुःखसे होती है; परंतु वर्तमानमें मोक्षमार्गका विच्छेद है, ऐसा सोचनेकी जरूरत नहीं है।

पंचमकालमें हुए महर्षियोंने भी ऐसा ही कहा है। तदनुसार भी यहाँ कहता हूँ।

सूत्र और दूसरे प्राचीन आचार्यों द्वारा तदनुसार रचे हुए अनेक शास्त्र विद्यमान हैं। सुविहित पुरुषोंने

तो हितकारी बुद्धिसे ही रचे हैं। किन्हीं मतवादी, हठवादी और शिथिलताके पोषक पुरुषोंकी रची हुई कुछ पुस्तकें सूत्रसे अथवा जिनाचारसे मेल न खाती हों और प्रयोजनकी मर्यादासे बाह्य हों, उन पुस्तकोंके उदाहरणसे प्राचीन सुविहित आचार्योंके वचनोंका उत्थापन करनेका प्रयत्न भवभीरू महात्मा नहीं करते, परंतु उससे उपकार होता है, ऐसा समझकर उनका बहुत मान करते हुए यथायोग्य सदुपयोग करते हैं।

जिनदर्शनमें दिगंबर और श्वेतांबर ये दो भेद मुख्य है। मतदृष्टिसे उनमें बड़ा अंतर देखनेमें आता है। तत्त्वदृष्टिसे जिनदर्शनमें वैसा विशेष भेद मुख्यतः परोक्ष है; जो प्रत्यक्ष कार्यभूत हो सकें उनमें वैसा भेद नहीं है। इसलिये दोनों संप्रदायोंमें उत्पन्न होनेवाले गुणवान पुरुष सम्यग्दृष्टिसे देखते हैं; और जैसे तत्त्वप्रतीतिका अंतराय कम हो वैसे प्रवृत्ति करते हैं।

जैनाभाससे प्रवर्तित दूसरे अनेक मतमतांतर हैं; उनके स्वरूपका निरूपण करते हुए भी वृत्ति संकुचित होती है। जिनमें मूल प्रयोजनका भान नहीं है, इतना ही नहीं परंतु मूल प्रयोजनसे विरुद्ध पद्धतिका अवलंबन रहा है उन्हें मुनित्वका स्वप्न भी कहाँसे हो? क्योंकि मूल प्रयोजनको भूल कर क्लेशमें पड़े हैं, और अपनी पूज्यता आदिके लिये जीवोंको परमार्थमार्गमें अंतराय करते हैं।

वे मुनिका लिंग भी धारण किये हुए नहीं है, क्योंकि स्वकपोलरचनासे उनकी सारी प्रवृत्ति है। जिनागम अथवा आचार्यकी परंपराका नाम मात्र उनके पास है, वस्तुतः तो वे उससे पराङ्मुख ही हैं।

एक तुंबे जैसी और डोरे जैसी अत्यंत अल्प वस्तुके ग्रहण-त्यागके आग्रहसे भिन्न मार्ग खड़ा करके प्रवृत्ति करते हैं, और तीर्थका भेद करते हैं, ऐसे महामोहमूढ़ जीव लिंगाभाससे भी आज वीतरागके दर्शनको घेर बैठे हैं, यही असंयतिपूजा नामका आश्चर्य लगता है।

महात्मा पुरुषोंकी अल्प भी प्रवृत्ति स्व-परको मोक्षमार्गसन्मुख करनेकी होती है। लिंगाभासी जीव मोक्षमार्गसे पराङ्मुख करनेमें अपने बलका प्रवर्तन देखकर हर्षित होते हैं, और यह सब कर्मप्रकृतिमें बढ़ते हुए अनुभाग और स्थिति-बंधके स्थानक है, ऐसा मैं मानता हूँ। (अपूर्ण)

---

७५८ संवत् १९५३

द्रव्यप्रकाश

द्रव्य अर्थात् वस्तु, तत्त्व, पदार्थ। इसमें मुख्य तीन अधिकार हैं।

प्रथम अधिकारमें जीव और अजीव द्रव्यके मुख्य प्रकार कहे हैं।

दूसरे अधिकारमें जीव और अजीवका पारस्परिक संबंध और उससे जीवका हिताहित क्या है, उसे समझानेके लिये, उसके विशेष पर्यायरूपसे पाप पुण्य आदि दूसरे सात तत्त्वोंका निरूपण किया है; जो सात तत्त्व जीव और अजीव इन दो तत्त्वोंमें समा जाते हैं।

तीसरे अधिकारमें यथास्थित मोक्षमार्ग प्रदर्शित किया है, कि जिसके लिये ही समस्त ज्ञानीपुरुषोंका उपदेश है।

पदार्थके विवेचन और सिद्धांतपर जिनकी नींव रखी गयी है, और उसके द्वारा जो मोक्षमार्गका प्रतिबोध करते हैं ऐसे छः दर्शन हैं—(१) बौद्ध, (२) न्याय, (३) सांख्य, (४) जैन, (५) मीमांसा और (६) वैशेषिक। वैशेषिकको यदि न्यायमें अंतर्भूत किया जाये तो नास्तिक विचारका प्रतिपादक चार्वाक दर्शन छट्ठा माना जाता है।

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, उत्तरमीमांसा और पूर्वमीमांसा ये छः दर्शन वेद परिभाषामें माने गये

हैं, उसकी अपेक्षा उपर्युक्त दर्शन भिन्न पद्धतिसे माने हैं इसका क्या कारण है ? ऐसा प्रश्न हो तो उसका समाधान यह है—

वेद परिभाषामें बताये हुए दर्शन वेदको मानते हैं, इसलिये उन्हें इस दृष्टिसे माना है; और उपर्युक्त क्रममें तो विचारकी परिपाटीके भेदसे माने हैं। जिससे यही क्रम योग्य है।

द्रव्य और गुणका अनन्यत्व-अविभक्तत्व अर्थात् प्रदेशभेद रहितत्व है, क्षेत्रांतर नहीं है। द्रव्यके नाशसे गुणका नाश और गुणके नाशसे द्रव्यका नाश होता है ऐसा [1]ऐक्यभाव हैं। द्रव्य और गुणका भेद कहते हैं, सो कथनसे है, वस्तुसे नहीं है। संस्थान, संख्याविशेष आदिसे ज्ञान और ज्ञानीमें सर्वथा भेद हो तो दोनों अचेतन हो जायें ऐसा सर्वज्ञ वीतरागका सिद्धांत है। ज्ञानके साथ समवाय संबंधसे आत्मा ज्ञानी नहीं है। समवर्तित्व समवाय है।

वर्ण, गंध, रस और स्पर्श परमाणु-द्रव्यके विशेष हैं। (अपूर्ण)

---

७५९ संवत् १९५३

यह अत्यंत सुप्रसिद्ध है कि प्राणीमात्रको दुःख प्रतिकूल और अप्रिय है और सुख अनुकूल तथा प्रिय है। उस दुःखसे रहित होनेके लिये और सुखकी प्राप्तिके लिये प्राणीमात्रका प्रयत्न है।

प्राणीमात्रका ऐसा प्रयत्न होनेपर भी वे दुःखका अनुभव करते हुए ही दृष्टिगोचर होते हैं। क्वचित् कुछ सुखका अंश किसी प्राणीको प्राप्त हुआ दीखता है, तो भी वह दुःखकी बहुलतासे देखनेमें आता है।

प्राणीमात्रको दुःख अप्रिय होनेपर भी, और फिर उसे मिटानेके लिये उसका प्रयत्न रहने पर भी वह दुःख नहीं मिटता, तो फिर उस दुःखके दूर होनेका कोई उपाय ही नहीं है, ऐसा समझमें आता है; क्योंकि जिसमें सभीका प्रयत्न निष्फल हो वह बात निरुपाय ही होनी चाहिये, ऐसी यहाँ आशंका होती है।

इसका समाधान इस प्रकारसे है—दुःखका स्वरूप यथार्थ न समझनेसे, उसके होनेके मूल कारण क्या है और वे किससे मिट सके, इसे यथार्थ न समझनेसे, दुःख मिटानेके संबंधमें उनका प्रयत्न स्वरूपसे अयथार्थ होनेसे दुःख मिट नहीं सकता।

दुःख अनुभवमें आता है, तो भी वह स्पष्ट ध्यानमें आनेके लिये थोड़ीसी उसकी व्याख्या करते हैं—

प्राणी दो प्रकारके हैं—एक त्रस—स्वयं भय आदिका कारण देखकर भाग जाते हैं और चलने-फिरने इत्यादिकी शक्तिवाले हैं। दूसरे स्थावर—जिस स्थलमें देह धारण की है, उसी स्थलमें स्थितिमान, अथवा भय आदिके कारणको जानकर भाग जाने आदिकी समझशक्ति जिनमें नहीं है।

अथवा एकेंद्रियसे लेकर पाँच इंद्रिय तकके प्राणी हैं। एकेंद्रिय प्राणी स्थावर कहे जाते हैं, और दो इंद्रियवाले प्राणियोंसे लेकर पाँच इंद्रियवाले प्राणी तकके त्रस कहे जाते हैं। किसी भी प्राणीको पाँच इंद्रियोंसे अधिक इंद्रियाँ नहीं होती।

एकेंद्रिय प्राणीके पाँच भेद हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति।

वनस्पतिका जीवत्व साधारण मनुष्योंको भी कुछ अनुमानगोचर होता है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुका जीवत्व आगम-प्रमाणसे और विशेष विचारबलसे कुछ भी समझा जा सकता है, सर्वथा तो प्रकृष्ट ज्ञानगोचर है।

---

१. देखें आंक ७६६ 'पंचास्तिकाय' ४६, ४८, ४९ और ५०।

अग्नि और वायुके जीव कुछ गतिमान देखनेमें आते हैं, परंतु उनकी गति अपनी समझशक्तिपूर्वक नहीं होती, इस कारण उन्हें स्थावर कहा जाता है।

एकेंद्रिय जीवोंमें वनस्पतिमें जीवत्व सुप्रसिद्ध है, फिर भी उसके प्रमाण इस ग्रंथमें अनुक्रमसे आयेंगे। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुका जीवत्व इस प्रकारसे सिद्ध किया है— (अपूर्ण)

७६०

संवत् १९५३

जीवलक्षण

- चैतन्य जिसका मुख्य लक्षण है,
- देह प्रमाण है,
- असंख्यात प्रदेशप्रमाण है। वह असंख्यात प्रदेशता लोकपरिमित है,
- परिणामी है,
- अमूर्त्त है,
- अनंत अगुरुलघु परिणत द्रव्य है,
- स्वाभाविक द्रव्य है,
- कर्त्ता है,
- भोक्ता है,
- अनादि संसारी है,
- भव्यत्व लब्धि परिपाक आदिसे मोक्षसाधनमें प्रवृत्ति करता है,
- मोक्ष होता है,
- मोक्षमें स्वपरिणामी है।

संसारी जीव — संसार अवस्थामें मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग उत्तरोत्तर बंधके स्थानक हैं।

सिद्धात्मा — सिद्धावस्थामें योगका भी अभाव है। मात्र चैतन्यस्वरूप आत्मद्रव्य सिद्धपद है।

विभाव परिणाम 'भावकर्म' है।

पुद्गलसंबंध 'द्रव्यकर्म' है। (अपूर्ण)

७६१

संवत् १९५३

ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंके योग्य जो पुद्गल ग्रहण होता है उसे 'द्रव्यास्रव' जानें। जिनेंद्र भगवानने उसके अनेक भेद कहे हैं।

जीव जिस परिणामसे कर्मका बंध करता है वह 'भावबंध' है। कर्मप्रदेश, परमाणु और जीवका अन्योन्य प्रदेशरूपसे संबंध होना 'द्रव्यबंध' है।

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इस तरह चार प्रकारका बंध है। प्रकृति और प्रदेशबंध योगसे होता है; स्थिति और अनुभागबंध कषायसे होता है।

जो आस्रवको रोक सके वह चैतन्यस्वभाव 'भावसंवर' है, और उससे जो द्रव्यास्रवको रोके वह 'द्रव्यसंवर' है।

व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परिषहजय तथा चारित्रके जो अनेक प्रकार हैं उन्हें 'भावसंवर' के विशेष जानें।

जिस भावसे, तपश्चर्या द्वारा या यथासमय कर्मके पुद्गल रस भोगा जानेपर गिर जाते हैं, वह 'भावनिर्जरा' है। उन पुद्गल परमाणुओंका आत्मप्रदेशसे अलग हो जाना 'द्रव्यनिर्जरा' है।

सर्व कर्मोंका क्षय होनेरूप आत्मस्वभाव 'भावमोक्ष' है। कर्मवर्गणासे आत्मद्रव्यका अलग हो जाना 'द्रव्यमोक्ष' है।

शुभ और अशुभ भावके कारण जीवको पुण्य और पाप होते हैं। साता, शुभ आयु, शुभ नाम और उच्च गोत्रका हेतु 'पुण्य' है, 'पाप' से उससे विपरीत होता है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षके कारण हैं। व्यवहारनयसे वे तीनों हैं। निश्चयसे आत्मा इन तीनोंरूप है।

आत्माको छोड़कर ये तीनों रत्न दूसरे किसी भी द्रव्यमें नहीं रहते, इसलिये आत्मा इन तीनोंरूप है, और इसलिये मोक्षका कारण भी आत्मा ही है।

जीव आदि तत्त्वोंके प्रति आस्थारूप आत्मस्वभाव 'सम्यग्दर्शन' है; जिससे मिथ्या आग्रहसे रहित 'सम्यग्ज्ञान' होता है।

संशय, विपर्यय और भ्रांतिसे रहित आत्मस्वरूप और परस्वरूपको यथार्थरूपसे ग्रहण कर सके वह 'सम्यग्ज्ञान' है, जो साकारोपयोगरूप है। उसके अनेक भेद हैं।

भावोंके सामान्य स्वरूपको जो उपयोग ग्रहण कर सके वह 'दर्शन' है, ऐसा आगममें कहा है। 'दर्शन' शब्द श्रद्धाके अर्थमें भी प्रयुक्त होता है।

छद्मस्थको पहले दर्शन और पीछे ज्ञान होता है। केवली भगवानको दोनों एक साथ होते हैं।

अशुभ भावसे निवृत्ति और शुभ भावमें प्रवृत्ति होना सो 'चारित्र' है। व्यवहारनयसे उस चारित्रको श्री वीतरागोंने व्रत, समिति और गुप्तिरूपसे कहा है।

संसारके मूल हेतुओंका विशेष नाश करनेके लिये ज्ञानीपुरुषकी बाह्य और अंतरंग क्रियाका जो निरोध होता है, उसे वीतरागोंने 'परमसम्यक्चारित्र' कहा है।

मुनि ध्यानद्वारा मोक्षके हेतुरूप इन दोनों चारित्रोंको अवश्य प्राप्त करते हैं, इसलिये प्रयत्नवान चित्तसे ध्यानका उत्तम अभ्यास करें।

यदि आप अनेक प्रकारके ध्यानकी प्राप्तिके लिये चित्तकी स्थिरता चाहते हैं तो प्रिय अथवा अप्रिय वस्तुमें मोह न करें, राग न करें और द्वेष न करें।

पैंतीस, सोलह, छः, पाँच, चार, दो और एक अक्षरके परमेष्ठीपदके वाचक जो मंत्र हैं, उनका जपपूर्वक ध्यान करें। विशेष स्वरूपको श्री गुरुके उपदेशसे जानना योग्य है। (अपूर्ण)

---

७६२ संवत् १९५३

ॐ नमः

सर्व दुःखका आत्यंतिक अभाव और परम अव्याबाध सुखकी प्राप्ति ही मोक्ष है और वही परमहित है।

वीतराग सन्मार्ग उसका सदुपाय है।

वह सन्मार्ग संक्षेपमें इस प्रकार है—

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकत्रता 'मोक्षमार्ग' है।

सर्वज्ञके ज्ञानमें भासमान तत्त्वोंकी सम्यक्प्रतीति होना 'सम्यग्दर्शन' है।

उन तत्त्वोंका बोध होना 'सम्यग्ज्ञान' है।

उपादेय तत्त्वका अभ्यास होना 'सम्यक्चारित्र' है।

शुद्ध आत्मपद स्वरूप वीतरागपदमें स्थिति होना यह तीनोंकी एकत्रता है।

सर्वज्ञदेव, निर्ग्रंथगुरु और सर्वज्ञोपदिष्ट धर्मकी प्रतीतिसे तत्त्वप्रतीति प्राप्त होती है।

सर्व ज्ञानावरण, दर्शनावरण, सर्व मोह और सर्व वीर्य आदि अंतरायका क्षय होनेसे आत्माका सर्वज्ञवीतराग स्वभाव प्रगट होता है।

निर्ग्रंथपदके अभ्यासका उत्तरोत्तर क्रम उसका मार्ग है। उसका रहस्य सर्वज्ञोपदिष्ट धर्म है।

---

७६३ संवत् १९५३

गुरुके उपदेशसे सर्वज्ञकथित आत्माका स्वरूप जानकर, सुप्रतीत करके उसका ध्यान करें।

ज्यों ज्यों ध्यानविशुद्धि होगी त्यों त्यों ज्ञानावरणीयका क्षय होगा।

अपनी कल्पनासे वह ध्यान सिद्ध नहीं होता।

जिन्हें ज्ञानमय आत्मा परमोत्कृष्ट भावसे प्राप्त हुआ है, और जिन्होंने परद्रव्यमात्रका त्याग किया है, उन देवको नमन हो ! नमन हो !

बारह प्रकारके, निदानरहित तपसे, वैराग्यभावनासे भावित और अहंभावसे रहित ज्ञानीको कर्मोंकी निर्जरा होती है।

वह निर्जरा भी दो प्रकारकी जाननी चाहिये—स्वकालप्राप्त और तपसे। एक चारों गतियोंमें होती है, दूसरी व्रतधारीको ही होती है।

ज्यों ज्यों उपशमकी वृद्धि होती है त्यों त्यों तप करनेसे कर्मकी बहुत निर्जरा होती है।

उस निर्जराका क्रम कहते हैं। मिथ्यादर्शनमें रहता हुआ भी थोड़े समयमें उपशम सम्यग्दर्शन पानेवाला है, ऐसे जीवकी अपेक्षा असंयत सम्यग्दृष्टिको असंख्यातगुण निर्जरा होती है, उससे असंख्यातगुण निर्जरा देशविरतिको होती है, उससे असंख्यातगुण निर्जरा सर्वविरति ज्ञानीको होती है, उससे... (अपूर्ण)

---

७६४ संवत् १९५३

ॐ

हे जीव ! इतना अधिक प्रमाद क्या ?

शुद्ध आत्मपदकी प्राप्तिके लिये वीतराग सन्मार्गकी उपासना कर्तव्य है।

सर्वज्ञदेव
निर्ग्रंथ गुरु
दया मुख्य धर्म } शुद्ध आत्मदृष्टि होनेके अवलंबन हैं।

श्री गुरुसे सर्वज्ञके अनुभूत शुद्धात्मप्राप्तिका उपाय जानकर, उसका रहस्य ध्यानमें लेकर आत्मप्राप्ति करें।

यथाजातलिंग सर्वविरतिधर्म।
द्वादशविध देशविरतिधर्म।
द्रव्यानुयोग सुसिद्ध—स्वरूपदृष्टि होनेसे,
करणानुयोग सुसिद्ध—सुप्रतीतदृष्टि होनेसे,
चरणानुयोग सुसिद्ध—पद्धति विवाद शांत करनेसे,
धर्मकथानुयोग सुसिद्ध—बालबोधहेतु समझानेसे।

---

७६५ संवत् १९५३

(१)	(२)	(१)	(२)
मोक्षमार्गका अस्तित्व	प्रमाण	निर्जरा	आगम
आप्त	नय	बंध	संयम
गुरु	अनेकांत	मोक्ष	वर्तमानकाल
धर्म	लोक	ज्ञान	गुणस्थानक
धर्मकी योग्यता	अलोक	दर्शन	द्रव्यानुयोग
कर्म	अहिंसा	चारित्र	करणानुयोग
जीव	सत्य	तप	चरणानुयोग
अजीव	असत्य	द्रव्य	धर्मकथानुयोग
पुण्य	ब्रह्मचर्य	गुण	मुनित्व
पाप	अपरिग्रह	पर्याय	गृहधर्म
आस्रव	आज्ञा	संसार	परिषह
संवर	व्यवहार	एकेन्द्रियका अस्तित्व	उपसर्ग

---

७६६ संवत् १९५३

ॐ सर्वज्ञाय नमः। नमः सद्गुरवे।

पंचास्तिकाय[1]

१. सौ इन्द्रोंसे वंदनीय, तीनलोकके कल्याणकारी, मधुर और निर्मल जिनके वाक्य हैं, अनंत जिनके गुण हैं, जिन्होंने संसारका पराजय किया है ऐसे भगवान सर्वज्ञ वीतरागको नमस्कार।

२. सर्वज्ञ महामुनिके मुखसे उत्पन्न अमृत, चार गतिसे जीवको मुक्तकर निर्वाण प्राप्त करानेवाले आगमको नमन करके यह शास्त्र कहता हूँ उसे श्रवण करें।

३. पाँच अस्तिकायके समूहरूप अर्थसमयको सर्वज्ञ वीतरागदेवने 'लोक' कहा है। उसके अनन्तर मात्र आकाशरूप अनन्त 'अलोक' है।

४-५. 'जीव', 'पुद्गलसमूह', 'धर्म', 'अधर्म' तथा 'आकाश' ये पदार्थ अपने अस्तित्वमें नियमसे रहते हैं, अपनी सत्तासे अभिन्न हैं, और अनेक प्रदेशात्मक हैं। अनेक गुण और पर्यायसहित जिनका अस्तित्वस्वभाव है वे 'अस्तिकाय' हैं। उनसे त्रैलोक्य उत्पन्न होता है।

---

१. देखें आंक ८६६।

६. ये अस्तिकाय तीनों कालमें भावरूपसे परिणामी हैं, और परावर्तन लक्षणवाले कालसहित छहों 'द्रव्यसंज्ञा' को प्राप्त होते हैं।

७. ये द्रव्य एक दूसरेमें प्रवेश करते हैं, एक दूसरेको अवकाश देते हैं, परस्पर मिल जाते हैं, और अलग हो जाते हैं; परंतु अपने स्वभावका त्याग नहीं करते।

८. सत्तास्वरूपसे सब पदार्थ एकत्ववाले हैं, वह सत्ता अनन्त प्रकारके स्वभाववाली है, अनन्त गुण और पर्यायात्मक है, उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप एवं सामान्य विशेषात्मक है।

९. जो उन उन अपने सद्भावपर्यायों—गुणपर्याय स्वभावोंको प्राप्त होता है उसे द्रव्य कहते हैं, जो अपनी सत्तासे अनन्य है।

१०. द्रव्य सत् लक्षणवाला है, जो उत्पादव्ययध्रौव्यसहित है, जो गुणपर्यायका आश्रय है, ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं।

११. द्रव्यकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होता, उसका 'अस्ति' स्वभाव ही है। उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व ये पर्यायके कारण होते हैं।

१२. पर्यायरहित द्रव्य नहीं है और द्रव्यरहित पर्याय नहीं है, दोनों अनन्यभावसे हैं, ऐसा महामुनि कहते हैं।

१३. द्रव्यके बिना गुण नहीं होते और गुणोंके बिना द्रव्य नहीं होता, इसलिये द्रव्य और गुण दोनोंका अभिन्न भाव है।

१४. 'स्यात् [१]अस्ति', 'स्यात् [२]नास्ति', 'स्यात् [३]अस्ति नास्ति', 'स्यात् [४]अवक्तव्यं', 'स्यात् [५]अस्ति अवक्तव्यं', 'स्यात् [६]नास्ति अवक्तव्यं' 'स्यात् [७]अस्तिनास्ति अवक्तव्यं', यों विवक्षासे द्रव्यके सात भंग होते हैं।

१५. भाव-द्रव्यका नाश नहीं होता, और अभाव-अद्रव्यकी उत्पत्ति नहीं होती। गुणपर्यायके स्वभावसे उत्पाद और व्यय होते हैं।

१६. जीव आदि पदार्थ हैं। जीवके गुण चेतना और उपयोग हैं। देव, मनुष्य, नारक, तिर्यंच आदि जीवके अनेक पर्याय हैं।

१७. मनुष्यपर्यायसे नष्ट हुआ जीव देव या अन्य पर्यायसे उत्पन्न होता है। दोनोंमें जीवभाव ध्रुव है। वह नष्ट होकर कुछ अन्य नहीं होता।

१८. जो जीव उत्पन्न हुआ था वही जीव नष्ट हुआ है। वस्तुतः तो वह जीव उत्पन्न नहीं हुआ और नष्ट भी नहीं हुआ। उत्पत्ति और नाश देवत्व और मनुष्यत्वका होता है।

१९. इस तरह सत्का विनाश, और असत् जीवका उत्पाद नहीं होता। जीवके देव, मनुष्य आदि पर्याय गतिनामकर्मसे होते हैं।

२०. ज्ञानावरणीय आदि कर्मभाव जीवने सुदृढ़ (अवगाढ़) रूपसे बाँधे हैं, उनका अभाव करनेसे वह अभूतपूर्व 'सिद्ध भगवान' होता है।

२१. इस तरह गुणपर्यायसहित जीव भाव, अभाव, भावाभाव और अभावभावसे संसारमें परिभ्रमण करता है।

२२. जीव, पुद्गलसमूह, आकाश तथा दूसरे अस्तिकाय किसीके बनाये हुए नहीं है, स्वरूपसे ही अस्तित्ववाले हैं, और लोकके कारणभूत हैं।

२३. सद्भाव स्वभाववाले जीवों और पुद्गलके परावर्तनसे उत्पन्न जो काल है उसे निश्चयकाल कहा है।

२४. वह काल पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध और आठ स्पर्शसे रहित है, अगुरुलघु है, अमूर्त्त है और वर्तनालक्षणवाला है।

२५. समय, निमेष, काष्ठा, कला, नाली, मुहूर्त, दिवस, रात्रि, मास, ऋतु और संवत्सर आदि यह व्यवहारकाल है।

२६. कालके किसी भी परिमाण (माप) के बिना बहुत काल, अल्प काल यों नहीं कहा जा सकता। उसकी मर्यादा पुद्गलद्रव्यके बिना नहीं होती। इस कारण कालका पुद्गलद्रव्यसे उत्पन्न होना कहा जाता है।

२७. जीवत्ववाला, ज्ञाता, उपयोगवाला, प्रभु, कर्त्ता, भोक्ता, देहप्रमाण, वस्तुतः अमूर्त्त और कर्मावस्थामें मूर्त्त ऐसा जीव है।

२८. कर्ममलसे सर्वथा मुक्त हो जानेसे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी आत्मा ऊर्ध्व लोकांतको प्राप्त होकर अतींद्रिय अनन्त सुखको प्राप्त होता है।

२९. अपने स्वाभाविक भावसे आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होता है और अपने कर्मसे मुक्त होनेसे वह अनंत सुखको प्राप्त होता है।

३०. बल, इन्द्रिय, आयु और उच्छ्वास इन चार प्राणोंसे जो भूतकालमें जीता था, वर्तमानकालमें जीता है, और भविष्यकालमें जीयेगा वह 'जीव' है।

३१. अनंत अगुरुलघु गुणोंसे निरंतर परिणत अनंत जीव हैं। वे असंख्यात प्रदेशप्रमाण हैं। कुछ जीव लोकप्रमाण अवगाहनाको प्राप्त हुए हैं।

३२. कुछ जीव उस अवगाहनाको प्राप्त नहीं हुए हैं। मिथ्यादर्शन, कषाय और योगसहित अनंत संसारी जीव हैं। उनसे रहित अनंत सिद्ध हैं।

३३. जिस प्रकार पद्मराग नामका रत्न दूधमें डालनेसे दूधके परिमाणके अनुसार प्रकाशित होता है, उसी प्रकार देहमें स्थित आत्मा मात्र देहप्रमाण प्रकाशक–व्यापक है।

३४. जैसे एक कायामें सर्व अवस्थाओंमें वहीका वही जीव रहता है, वैसे सर्वत्र संसारावस्थामें भी वहीका वही जीव रहता है। अध्यवसायविशेषसे कर्मरूपी रजोमलसे वह जीव मलिन होता है।

३५. जिनको प्राणधारिता नहीं है, जिनको प्राणधारिताका सर्वथा अभाव हो गया है; वे–देहसे भिन्न और वचनसे अगोचर जिनका स्वरूप हैं ऐसे–'सिद्ध' जीव हैं।

३६. वस्तुदृष्टिसे देखें तो सिद्ध पद उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि वह किसी दूसरे पदार्थसे उत्पन्न होनेवाला कार्य नहीं है, इसी तरह वह किसीके प्रति कारणरूप भी नहीं है, क्योंकि किसी अन्य संबंधसे उसकी प्रवृत्ति नहीं है।

३७. यदि मोक्षमें जीवका अस्तित्व ही न हो तो शाश्वत, अशाश्वत, भव्य, अभव्य, शून्य, अशून्य, विज्ञान और अविज्ञान ये भाव किसको हों ?

३८. कोई जीव कर्मके फलका वेदन करते हैं, कोई जीव कर्मबंधकर्तृत्वका वेदन करते हैं, और कोई जीव मात्र शुद्ध ज्ञानस्वभावका वेदन करते हैं; इस तरह वेदकभावसे जीवराशिके तीन भेद हैं।

३९. स्थावर कायके जीव अपने अपने किये हुए कर्मोंके फलका वेदन करते हैं, त्रस जीव कर्मबंध चेतनाका वेदन करते हैं, और प्राणरहित अतींद्रिय जीव शुद्धज्ञानचेतनाका वेदन करते हैं।

४०. ज्ञान और दर्शनके भेदसे उपयोग दो प्रकारका है, उसे जीवसे सर्वदा अनन्यभूत समझें।

४१. मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल ये ज्ञानके पाँच भेद हैं। कुमति, कुश्रुत और विभंग ये अज्ञानके तीन भेद हैं। ये सब ज्ञानोपयोगके भेद हैं।

४२. चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और अविनाशी अनंत केवलदर्शन ये दर्शनोपयोगके चार भेद हैं।

४३. आत्मासे ज्ञानगुणका संबंध है, और इसीसे आत्मा ज्ञानी है ऐसा नहीं है; परमार्थसे दोनोंमें अभिन्नता ही है।

४४. यदि द्रव्य भिन्न हो और गुण भी भिन्न हो तो एक द्रव्यके अनंत द्रव्य हो जायें, अथवा द्रव्यका अभाव हो जाये।

४५. द्रव्य और गुण अनन्यरूपसे हैं, दोनोंमें प्रदेशभेद नहीं है। द्रव्यके नाशसे गुणका नाश हो जाता है और गुणके नाशसे द्रव्यका नाश हो जाता है ऐसा उनमें एकत्व है।

४६. व्यपदेश (कथन), संस्थान, संख्या और विषय इन चार प्रकारकी विवक्षाओंसे द्रव्यगुणके अनेक भेद हो सकते हैं, परंतु परमार्थनयसे ये चारों अभेद हैं।

४७. जिस तरह यदि पुरुषके पास धन हो तो वह धनवान कहा जाता है, उसी तरह आत्माके पास ज्ञान है, जिससे वह ज्ञानवान कहा जाता है। इस तरह भेद-अभेदका स्वरूप है, इसे तत्त्वज्ञ दोनों प्रकारसे जानते हैं।

४८. यदि आत्मा और ज्ञानका सर्वथा भेद हो तो दोनों ही अचेतन हो जायें ऐसा वीतराग सर्वज्ञका सिद्धांत है।

४९. ज्ञानका संबंध होनेसे आत्मा ज्ञानी होता है ऐसा माननेसे आत्मा और अज्ञान—जड़त्वका ऐक्य होनेका प्रसंग आता है।

५०. समवर्तित्व समवाय है। वह अपृथक्भूत और अपृथक् सिद्ध है; इसलिये वीतरागोंने द्रव्य और गुणके संबंधको अपृथक् सिद्ध कहा है।

५१. वर्ण, रस, गंध और स्पर्श ये चार विशेष (गुण) परमाणु द्रव्यसे अभिन्न हैं। व्यवहारसे वे पुद्गलद्रव्यसे भिन्न कहे जाते हैं।

५२. इसी तरह दर्शन और ज्ञान भी जीवसे अनन्यभूत हैं। व्यवहारसे उनका आत्मासे भेद कहा जाता है।

५३. आत्मा (वस्तुतः) अनादि-अनंत है, और संतानकी अपेक्षासे सादि-सांत भी है और सादिअनंत भी है। पाँच भावोंकी प्रधानतासे वे सब भंग होते हैं। सद्भावसे जीव द्रव्य अनंत है।

५४. इस तरह सत् (जीव-पर्याय) का विनाश और असत् जीवका उत्पाद परस्पर विरुद्ध होनेपर भी जैसा अविरोधरूपसे सिद्ध हैं वैसा सर्वज्ञ वीतरागने कहा है।

५५. नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव—ये नामकर्मकी प्रकृतियाँ सत्का विनाश और असत्भावका उत्पाद करती हैं।

५६. उदय, उपशम, क्षायिक, क्षयोपशम और पारिणामिक भावोंसे जीवके गुणोंका बहुत विस्तार है।

५७, ५८, ५९.

६०. द्रव्यकर्मका निमित्त पाकर जीव उदय आदि भावोंमें परिणमन करता है; भावकर्मका निमित्त पाकर द्रव्यकर्मका परिणमन होता है। कोई किसीके भावका कर्ता नहीं है, और कर्ताके बिना हुए नहीं हैं।

६१. सब अपने अपने स्वभावके कर्त्ता हैं, इसी तरह आत्मा भी अपने ही भावका कर्त्ता है; आत्मा पुद्गलकर्मका कर्त्ता नहीं है; ये वीतराग-वचन समझने योग्य हैं।

६२. कर्म अपने स्वभावके अनुसार यथार्थ परिणमन करता है, उसी प्रकार जीव अपने स्वभावके अनुसार भावकर्मको करता है।

६३. यदि कर्म ही कर्मका कर्त्ता हो, और आत्मा ही आत्माका कर्त्ता हो, तो फिर उस कर्मका फल कौन भोगेगा ? और कर्म अपने फलको किसे देगा ?

६४. संपूर्ण लोक पुद्गल-समूहोंसे भरपूर भरा हुआ है सूक्ष्म और बादर ऐसे विविध प्रकारके अनंत स्कंधोंसे।

६५. आत्मा जब भावकर्मरूप अपने स्वभावको करता है, तब वहाँ रहे हुए पुद्गलपरमाणु अपने स्वभावके कारण कर्मभावको प्राप्त होते हैं, और परस्पर एकक्षेत्रावगाहरूपसे अवगाढ़ता पाते हैं।

६६. कोई कर्त्ता नहीं होने पर भी जैसे पुद्गलद्रव्यसे अनेक स्कंधोंकी उत्पत्ति होती है वैसे ही कर्मरूपसे स्वभावतः पुद्गलद्रव्य परिणमित होते हैं ऐसा जानें।

६७. जीव और पुद्गलसमूह परस्पर अवगाढ़-ग्रहणसे प्रतिबद्ध हैं। इसलिये यथाकाल उदय होनेपर जीव सुखदुःखरूप फलका वेदन करता है।

६८. इसलिये कर्मभावका कर्त्ता जीव है और भोक्ता भी जीव है। वेदक भावके कारण वह कर्मफलका अनुभव करता है।

६९. इस तरह आत्मा अपने भावसे कर्त्ता और भोक्ता होता है। मोहसे भली भाँति आच्छादित जीव संसारमें परिभ्रमण करता है।

७०. (मिथ्यात्व) मोहका उपशम होनेसे अथवा क्षय होनेसे वीतरागकथित मार्गको प्राप्त हुआ धीर, शुद्ध ज्ञानाचारवान जीव निर्वाणपुरको जाता है।

७१-७२. एक प्रकारसे, दो प्रकारसे, तीन प्रकारसे, चार गतियोंके भेदसे, पाँच गुणोंकी मुख्यतासे, छः कायके भेदसे, सात भंगोंके उपयोगसे, आठ गुणों अथवा आठ कर्मोंके भेदसे, नव तत्त्वसे, और दशस्थानकसे जीवका निरूपण किया गया है।

७३. प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंधसे सर्वथा मुक्त होनेसे जीव ऊर्ध्वगमन करता है। संसार अथवा कर्मावस्थामें जीव विदिशाको छोड़कर दूसरी दिशाओंमें गमन करता है।

७४. स्कंध, स्कंधदेश, स्कंधप्रदेश और परमाणु इस तरह पुद्गलास्तिकायके चार भेद समझें।

७५. सकल समस्तको 'स्कंध', उसके आधेको 'देश', उसके आधेको 'प्रदेश' और अविभागीको 'परमाणु' कहते हैं।

७६. बादर और सूक्ष्म परिणमन पाने योग्य स्कंधोंमें पूरण (बढ़ना) और गलन (घटना, विभक्त होना) स्वभाव जिनका हैं वे पुद्गल कहे जाते हैं। उनके छः भेद हैं, जिनसे त्रैलोक्य उत्पन्न होता है।

७७. सर्व स्कंधोंका जो अंतिम भेद है वह परमाणु है। वह शाश्वत, शब्दरहित, एक, अविभागी और मूर्त होता है।

७८. जो विवक्षासे मूर्त्त और चार धातुओंका कारण है उसे परमाणु जानना चाहिये। वह परिणामी है, स्वयं अशब्द अर्थात् शब्दरहित है, परंतु शब्दका कारण है।

७९. स्कंधसे शब्द उत्पन्न होता है। अनंत परमाणुओंके मिलापके संघात-समूहको 'स्कंध' कहा है। इन 'स्कंधों' का परस्पर स्पर्श होनेसे, संघर्ष होनेसे निश्चय ही 'शब्द' उत्पन्न होता है।

८०. वह परमाणु नित्य है, अपने रूप आदि गुणोंको अवकाश—आश्रय देता है, स्वयं एकप्रदेशी होनेसे एक प्रदेशके बाद अवकाशको प्राप्त नहीं होता, दूसरे द्रव्यको अवकाश (आकाशकी तरह) नहीं देता, स्कंधके भेदका कारण है—स्कंधके खंडका कारण है, स्कंधका कर्त्ता है, और कालके परिमाण (माप) और संख्या (गिनती)का हेतु है।

८१. जो द्रव्य एक रस, एक वर्ण, एक गंध और दो स्पर्शसे युक्त है, शब्दकी उत्पत्तिका कारण है, एकप्रदेशात्मकतासे शब्दरहित है, स्कंधपरिणमित होनेपर भी उससे भिन्न है, उसे परमाणु समझें।

८२. जो इंद्रियोंसे उपभोग्य है, तथा काया, मन और कर्म आदि जो जो मूर्त्त पदार्थ हैं उन सबको पुद्गलद्रव्य समझें।

८३. धर्मास्तिकाय अरस, अवर्ण, अगंध, अशब्द और अस्पर्श है; सकल लोकप्रमाण है; अखंडित, विस्तीर्ण और असंख्यातप्रदेशात्मक द्रव्य है।

८४. वह अनंत अगुरुलघुगुणोंसे निरंतर परिणमित है; गतिक्रियायुक्त जीव आदिके लिये कारणभूत है; और स्वयं अकार्य है; अर्थात् वह द्रव्य किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ है।

८५. जिस तरह मत्स्यकी गतिमें जल उपकारक है, उसी तरह जो जीव और पुद्गलकी गतिमें उपकारक है, उसे 'धर्मास्तिकाय' जानें।

८६. जैसे धर्मास्तिकाय द्रव्य है वैसे अधर्मास्तिकाय भी द्रव्य है ऐसा जानें। वे स्थितिक्रियायुक्त जीव और पुद्गलको पृथ्वीकी भाँति कारणभूत हैं।

८७. धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके कारण लोक-अलोकका विभाग होता है। ये धर्म और अधर्म द्रव्य दोनों अपने अपने प्रदेशोंसे भिन्न भिन्न हैं। स्वयं हलन-चलन क्रियासे रहित हैं, और लोकप्रमाण हैं।

८८. धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गलको चलाता है, ऐसी बात नहीं है; जीव और पुद्गल गति करते हैं, उन्हें सहायक है।

८९.

९०. जो सब जीवोंको तथा शेष पुद्गल आदि द्रव्योंको संपूर्ण अवकाश देता है, उसे 'लोकाकाश' कहते हैं।

९१. जीव, पुद्गलसमूह, धर्म और अधर्म, ये द्रव्य लोकसे अनन्य हैं; अर्थात् लोकमें हैं, लोकसे बाहर नहीं हैं। आकाश लोकसे भी बाहर है, और वह अनंत है, जिसे 'अलोक' कहते है।

९२. यदि गति और स्थितिका कारण आकाश होता, तो धर्म और अधर्म द्रव्यके अभावके कारण सिद्ध भगवानका अलोकमें भी गमन होता।

९३. इसीलिये सर्वज्ञ वीतरागदेवने सिद्ध भगवानका स्थान ऊर्ध्वलोकांतमें बताया है। इससे आकाश गति और स्थितिका कारण नहीं है ऐसा जानें।

९४. यदि गतिका कारण आकाश होता अथवा स्थितिका कारण आकाश होता, तो अलोककी हानि होती और लोकके अंतकी वृद्धि भी हो जाती।

९५. इसलिये धर्म और अधर्म द्रव्य गति तथा स्थितिके कारण हैं, परंतु आकाश नहीं है। इस प्रकार सर्वज्ञ वीतरागदेवने श्रोता जीवोंको लोकका स्वभाव बताया है।

९६. धर्म, अधर्म और (लोक) आकाश अपृथग्भूत (एकक्षेत्रावगाही) और समान परिमाणवाले हैं। निश्चयसे तीनों द्रव्योंकी पृथक् उपलब्धि है, और वे अपनी अपनी सत्तासे रहे हुए हैं। इस तरह इनमें एकता और अनेकता, दोनों हैं।

९७. आकाश, काल, जीव, धर्म और अधर्मद्रव्य अमूर्त्त हैं, और पुद्गल द्रव्य मूर्त्त है। उनमें जीवद्रव्य चेतन है।

९८. जीव और पुद्गल एक दूसरेकी क्रियामें सहायक हैं। दूसरे द्रव्य (उस प्रकारसे) सहायक नहीं हैं। जीव पुद्गलद्रव्यके निमित्तसे क्रियावान होता है। कालके कारणसे पुद्गल अनेक स्कंधरूपसे परिणमन करता है।

९९. जीवद्वारा जो इंद्रियग्राह्य विषय है वे पुद्गल-द्रव्य मूर्त्त हैं, शेष अमूर्त्त हैं। मन मूर्त्त एवं अमूर्त्त दोनों प्रकारके पदार्थोंको जानता है, अपने विचारसे निश्चित पदार्थोंको जानता है।

१००. काल परिणामसे उत्पन्न होता है, परिणाम कालसे उत्पन्न होता है। दोनोंका यह स्वभाव है। 'निश्चयकाल' से 'क्षणभंगुरकाल' होता है।

१०१. काल शब्द अपने सद्भाव—अस्तित्वका बोधक है, उनमेंसे एक (निश्चयकाल) नित्य है। दूसरा (समयरूप व्यवहारकाल) उत्पत्ति विनाशवाला है, और दीर्घांतर स्थायी है।

१०२. काल, आकाश, धर्म, अधर्म, पुद्गल और जीव, इन सबकी द्रव्य संज्ञा है। कालकी अस्तिकाय संज्ञा नहीं है।

१०३. इस तरह निर्ग्रंथके प्रवचनके रहस्यभूत इस पंचास्तिकायके स्वरूप-विवेचनके संक्षेपको जो यथार्थ रूपसे जानकर राग और द्वेषसे मुक्त हो जाता है वह सब दुःखोंसे परिमुक्त हो जाता है।

१०४. इस परमार्थको जानकर जो जीव मोहका नाशक हुआ है और जिसने रागद्वेषको शांत किया है वह जीव संसारकी दीर्घ परंपराका नाश करके शुद्धात्मपदमें लीन हो जाता है।

इति पंचास्तिकाय प्रथम अध्याय।

ॐ जिनाय नमः। नमः श्री सद्गुरवे।

१०५. मोक्षके कारणभूत श्री भगवान महावीरको भक्तिपूर्वक नमस्कार करके उन भगवानके कहे हुए पदार्थप्रभेदरूप मोक्षमार्गको कहता हूँ।

१०६. सम्यक्त्व, आत्मज्ञान और रागद्वेषसे रहित ऐसा चारित्र तथा सम्यक् बुद्धि जिन्हें प्राप्त हुई है ऐसे भव्यजीवको मोक्षमार्ग प्राप्त होता है।

१०७. तत्त्वार्थकी प्रतीति 'सम्यक्त्व' है, तत्त्वार्थका ज्ञान 'ज्ञान' है और विषयके विमूढ़ मार्गके प्रति शांतभाव 'चारित्र' है।

१०८. जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष—ये नव तत्त्व हैं।

१०९. जीव दो प्रकारके हैं—संसारी और असंसारी। दोनों चैतन्यस्वरूप और उपयोगलक्षणवाले हैं। संसारी देहसहित और असंसारी देहरहित होते हैं।

११०. पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति—ये जीवसंश्रित काय हैं। इन जीवोंको मोहकी प्रबलता है और स्पर्श-इंद्रियके विषयका उन्हें ज्ञान है।

१११. इनमेंसे तीन स्थावर हैं और अल्पयोगवाले अग्नि और वायुकाय त्रस हैं। ये सभी मनपरिणामसे रहित 'एकेंद्रिय जीव' हैं ऐसा जानें।

११२. ये पाँचों प्रकारके जीवसमूह मनपरिणामसे रहित और एकेंद्रिय हैं ऐसा सर्वज्ञने कहा है।

११३. जिस तरह अंडेमें पक्षीका गर्भ बढ़ता है, जिस तरह मनुष्यगर्भमें मूर्च्छागत अवस्था होने पर भी जीवत्व है; उसी तरह 'एकेंद्रिय जीव' भी जानना चाहिये।

११४. शंबूक, शंख, सीप, कृमि इत्यादि जो जीव रस और स्पर्शको जानते हैं, उन्हें 'दो इन्द्रिय जीव' जानना चाहिये।

११५. जूँ, खटमल, चींटी, बिच्छू इत्यादि अनेक प्रकारके दूसरे भी कीडे रस, स्पर्श और गंधको जानते हैं, उन्हें 'तीन इन्द्रिय जीव' जानना चाहिये।

११६. डांस, मच्छर, मक्खी, भ्रमरी, भ्रमर, पतंग आदि रूप, रस, गंध और स्पर्शको जानते हैं, उन्हें 'चार इंद्रिय जीव' जानना चाहिये।

११७. देव, मनुष्य, नारक, तिर्यंच, जलचर, स्थलचर और खेचर वर्ण, रस, स्पर्श, गंध और शब्दको जानते हैं, ये बलवान 'पाँच इंद्रियवाले जीव' हैं।

११८. देवताके चार निकाय हैं। मनुष्य कर्म और अकर्म भूमिके भेदसे दो प्रकारके हैं। तिर्यंचके अनेक प्रकार हैं; और नारकी जितने नरक-पृथ्वीके भेद हैं, उतने ही हैं।

११९. पूर्वकालमें बाँधी हुई आयुके क्षीण हो जानेपर जीव गतिनामकर्मके कारण आयु और लेश्याके प्रभावसे अन्य देहको प्राप्त होता है।

१२०. देहाश्रित जीवोंके स्वरूपका यह विचार निरूपित किया। ये भव्य और अभव्यके भेदसे दो प्रकारके हैं। देहरहित जीव 'सिद्ध भगवान' है।

१२१. इंद्रियाँ जीव नहीं हैं, तथा काया भी जीव नहीं हैं; परंतु जीवके ग्रहण किये हुए साधन मात्र हैं। वस्तुतः तो जिन्हें ज्ञान है उनको ही जीव कहते हैं।

१२२. जो सब जानता है, देखता है, दुःखको दूर कर सुख चाहता है, शुभ-अशुभ क्रियाको करता है और उनका फल भोगता है, वह 'जीव' है।

१२३.

१२४. आकाश, काल, पुद्गल, धर्म और अधर्म द्रव्यमें जीवत्वगुण नहीं हैं; उन्हें अचेतन कहते हैं, और जीवको सचेतन कहते हैं।

१२५. सुख दुःखका वेदन, हितमें प्रवृत्ति, अहितसे भीति—ये तीनों कालमें जिसको नहीं है उसे

सर्वज्ञ महामुनि 'अजीव' कहते हैं।

१२६. संस्थान, संघात, वर्ण, रस, स्पर्श, गंध और शब्द इस तरह पुद्गलद्रव्यसे उत्पन्न होनेवाले अनेक गुणपर्याय हैं।

१२७. अरस, अरूप, अगंध, अशब्द, अनिर्दिष्ट संस्थान और वचन अगोचर ऐसा जिसका चैतन्यगुण है वह 'जीव' है।

१२८. जो निश्चयसे संसारस्थित जीव है, उसका अशुद्ध परिणाम होता है। उस परिणामसे कर्म उत्पन्न होता है, उससे शुभ और अशुभ गति होती है।

१२९. गतिकी प्राप्तिसे देह होती है, देहसे इंद्रियाँ और इंद्रियोंसे विषय ग्रहण होता है, और उससे राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं।

१३०. संसारचक्रमें अशुद्ध भावसे परिभ्रमण करते हुए जीवोंमेंसे, कुछ जीवोंका संसार अनादि सांत है और किसीका अनादि अनंत है ऐसा भगवान सर्वज्ञने कहा है।

१३१. जिसके भावोंमें अज्ञान, रागद्वेष और चित्तप्रसन्नता रहती है, उसके शुभ-अशुभ परिणाम होते हैं।

१३२. जीवको शुभ परिणामसे पुण्य होता है, और अशुभ परिणामसे पाप होता है। उससे शुभाशुभ पुद्गलके ग्रहणरूप कर्मत्व प्राप्त होता है।

१३३, १३४, १३५, १३६.

१३७. तृषातुर, क्षुधातुर, रोगी अथवा अन्य दुःखी मनके जीवको देखकर उसका दुःख मिटानेकी प्रवृत्ति की जाय उसे 'अनुकंपा' कहते हैं।

१३८. क्रोध, मान, माया और लोभकी मीठाश जीवको क्षुभित करती है, और पाप भावको उत्पन्न करती है।

१३९. बहुत प्रमादवाली क्रिया, चित्तकी मलिनता, इंद्रिय-विषयमें लोलुपता, दूसरे जीवोंको दुःख देना और उनकी निंदा करना इत्यादि आचरणोंसे जीव 'पापास्रव' करता है।

१४०. चार संज्ञा, कृष्णादि तीन लेश्या, इंद्रियवशता, आर्त्त और रौद्र ध्यान, दुष्ट भाववाली धर्म क्रियामें मोह ये 'भाव-पापास्रव' हैं।

१४१. इंद्रियों, कषाय और संज्ञाको जय करनेवाले कल्याणकारी मार्गमें जीव जिस समय रहता है उस समय उसके पापास्रवरूप छिद्रका निरोध हो जाता है ऐसा जानना चाहिये।

१४२. जिनको सब द्रव्योंमें राग, द्वेष और अज्ञान नहीं रहते, ऐसे सुख-दुःखमें समदृष्टिके स्वामी निर्ग्रंथ महात्माको शुभाशुभ आस्रव नहीं होता।

१४३. जिस संयमीको योगोंमें जब पुण्य-पापकी प्रवृत्ति नहीं होती तब उसको शुभाशुभ कर्मके कर्तृत्वका 'संवर' हो जाता है, 'निरोध' हो जाता है।

१४४. जो योगका निरोध करके तप करता है वह निश्चयसे अनेक प्रकारके कर्मोंकी निर्जरा करता है।

१४५. जो आत्मार्थका साधक संवरयुक्त होकर, आत्मस्वरूपको जानकर तद्रूप ध्यान करता है वह महात्मा साधु कर्मरजको झाड़ डालता है।

१४६. जिसको राग, द्वेष, मोह और योगपरिणमन नहीं है उसको शुभाशुभ कर्मोंको जलाकर भस्म कर देनेवाली ध्यानरूपी अग्नि प्रगट होती है।

१४७, १४८, १४९, १५०, १५१.

१५२. दर्शनज्ञानसे परिपूर्ण, अन्य द्रव्यके संसर्गसे रहित ऐसा ध्यान जो निर्जराहेतुसे करता है वह महात्मा 'स्वभावसहित' है।

१५३. जो संवरयुक्त सब कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ वेदनीय और आयुकर्मसे रहित होता है, वह महात्मा उसी भवमें 'मोक्ष' जाता है।

१५४. जीवका स्वभाव अप्रतिहत ज्ञान-दर्शन है। उसके अनन्यमय आचरण (शुद्ध निश्चयमय स्थिर स्वभाव) को सर्वज्ञ वीतरागने 'निर्मल चारित्र' कहा है।

१५५. वस्तुतः आत्माका स्वभाव निर्मल ही है। गुण और पर्याय अनादिसे परसमयपरिणामीरूपसे परिणत है उस दृष्टिसे अनिर्मल है। यदि वह आत्मा स्वसमयको प्राप्त हो तो कर्मबंधसे रहित होता है।

१५६. जो परद्रव्यमें शुभ अथवा अशुभ राग करता है वह जीव 'स्वचारित्र'से भ्रष्ट है और 'परचारित्र'का आचरण करता है, ऐसा समझें।

१५७. जिस भावसे आत्माको पुण्य अथवा पाप-आस्रवकी प्राप्ति होती है, उसमें प्रवृत्ति करनेवाला आत्मा परचारित्रका आचरण करता है, इस प्रकार वीतराग सर्वज्ञने कहा है।

१५८. जो सर्व संगसे मुक्त होकर अनन्यमयतासे आत्मस्वभावमें स्थित है, निर्मल ज्ञाता-द्रष्टा है, वह 'स्वचारित्र'का आचरण करनेवाला जीव है।

१५९. परद्रव्यमें अहंभावरहित, निर्विकल्प ज्ञानदर्शनमय परिणामी आत्मा है वह स्वचारित्राचरण है।

१६०. धर्मास्तिकायादिके स्वरूपकी प्रतीति 'सम्यक्त्व' है, बारह अंग और चौदह पूर्वका जानना 'ज्ञान' है, और तपश्चर्यादिमें प्रवृत्ति करना 'व्यवहार-मोक्षमार्ग' है।

१६१. उन तीनसे समाहित आत्मा, जहाँ आत्माके सिवाय अन्य किंचित् मात्र नहीं करता, मात्र अनन्य आत्मामय है वहाँ सर्वज्ञ वीतरागने 'निश्चय-मोक्षमार्ग' कहा है।

१६२. जो आत्मा आत्मस्वभावमय ज्ञानदर्शनका अनन्यमयतासे आचरण करता है, उसे वह निश्चय ज्ञान, दर्शन और चारित्र है।

१६३. जो यह सब जानेगा और देखेगा वह अव्याबाध सुखका अनुभव करेगा। इन भावोंकी प्रतीति भव्यको होती है, अभव्यको नहीं होती।

१६४. दर्शन, ज्ञान और चारित्र यह 'मोक्षमार्ग' है; इसके सेवनसे 'मोक्ष' प्राप्त होता है और (अमुक हेतुसे) 'बंध' होता है ऐसा मुनियोंने कहा है।

१६५.

१६६. अर्हंत, सिद्ध, चैत्य, प्रवचन, मुनिगण और ज्ञानकी भक्तिसे परिपूर्ण आत्मा बहुत पुण्यका उपार्जन करता है, किन्तु वह कर्मक्षय नहीं करता।

१६७. जिसके हृदयमें अणुमात्र भी परद्रव्यके प्रति राग है, वह सभी आगमोंका ज्ञाता हो तो भी 'स्वसमय'को नहीं जानता, ऐसा समझें।

१६८.

१६९. इसलिये जो सर्व इच्छासे निवृत्त होकर निःसंग और निर्ममत्व होकर सिद्धस्वरूपकी भक्ति करता है वह निर्वाणको प्राप्त होता है।

१७०. जिसे परमेष्ठीपदमें तत्त्वार्थप्रतीति पूर्वक भक्ति है, और निर्ग्रंथ-प्रवचनमें रुचिपूर्वक जिसकी बुद्धि परिणत हुई है और जो संयमतपसहित है, उसके लिये मोक्ष बिलकुल दूर नहीं है।

१७१. अर्हंत, सिद्ध, चैत्य और प्रवचनकी भक्तिपूर्वक यदि जीव तपश्चर्या करता है, तो वह अवश्य ही देवलोकको अंगीकार करता है।

१७२. इसलिये इच्छामात्रकी निवृत्ति करे, सर्वत्र किंचित्मात्र भी राग न करे, क्योंकि वीतराग ही भवसागरको तर जाता है।

१७३. मैंने प्रवचनकी भक्तिसे प्रेरित होकर मार्गकी प्रभावनाके लिये प्रवचनके रहस्यभूत 'पंचास्तिकाय'के संग्रहरूप इस शास्त्रको कहा है।

इति पंचास्तिकायसमाप्तम्।

---

७६७ ववाणिया, चैत्र सुदी ३, रवि, १९५३

परमभक्तिसे स्तुति करनेवालेके प्रति भी जिसे राग नहीं है और परमद्वेषसे उपसर्ग करनेवालेके प्रति भी जिसे द्वेष नहीं है, उस पुरुषरूप भगवानको वारंवार नमस्कार।

अद्वेषवृत्तिसे वर्तन करना योग्य है, धीरज कर्तव्य है।

मुनि देवकीर्णजीको 'आचारांग' पढ़ते हुए दीर्घशंका आदि कारणोंके विषयमें भी साधुका मार्ग अत्यंत संकुचित देखनेमें आया, जिससे यह आशंका हुई कि ऐसी साधारण क्रियामें भी इतनी अधिक संकुचितता रखनेका क्या कारण होगा? उस आशंकाका समाधान—

सतत अंतर्मुख उपयोगमें स्थिति रखना ही निर्ग्रंथका परम धर्म है। एक समयके लिये भी बहिर्मुख उपयोग न करना यह निर्ग्रंथका मुख्य मार्ग है; परंतु उस संयमके लिये देह आदि साधन हैं, उनके निर्वाहके लिये सहज भी प्रवृत्ति होना योग्य है। कुछ भी वैसी प्रवृत्ति करते हुए उपयोग बहिर्मुख होनेका निमित्त हो जाता है, इसलिये उस प्रवृत्तिको इस ढ़ंगसे करनेका विधान है कि उपयोगकी अंतर्मुखता बनी रहे। केवल और सहज अंतर्मुख उपयोग तो मुख्यतया केवलभूमिका नामके तेरहवें गुणस्थानकमें होता है। और निर्मल विचारधाराकी प्रबलतासहित अंतर्मुख उपयोग सातवें गुणस्थानकमें होता है। प्रमादसे वह उपयोग स्खलित होता है; और कुछ विशेष अंशमें स्खलित हो जाये तो विशेष बहिर्मुख उपयोग हो जाता है, जिससे भाव-असंयमरूपसे उपयोगकी प्रवृत्ति होती है। वैसा न होने देनेके लिये और देह आदि साधनोंके निर्वाहकी प्रवृत्ति भी छोड़ी न जा सके ऐसी होनेसे, वह प्रवृत्ति अंतर्मुख उपयोगसे हो सके, ऐसी अद्भुत संकलनासे उसका उपदेश किया है, जिसे पाँच समिति कहा जाता है।

चलना पड़े तो आज्ञानुसार उपयोगपूर्वक चलना; बोलना पड़े तो आज्ञानुसार उपयोगपूर्वक बोलना; आज्ञानुसार उपयोगपूर्वक आहार आदिका ग्रहण करना; आज्ञानुसार उपयोगपूर्वक वस्त्र आदिका लेना और रखना; और आज्ञानुसार उपयोगपूर्वक दीर्घशंका आदि शरीर-मलका त्याग करने योग्य त्याग करना; इस प्रकार प्रवृत्ति रूप पाँच समिति कही है। संयममें प्रवृत्ति करनेके लिये जिन जिन दूसरे

प्रकारोंका उपदेश किया है, उन सबका इन पाँच समितियोंमें समावेश हो जाता है; अर्थात् जो कुछ निर्ग्रंथको प्रवृत्ति करनेकी आज्ञा दी है, उनमेंसे जिस प्रवृत्तिका त्याग करना अशक्य है, उसी प्रवृत्तिकी आज्ञा दी है, और वह इस प्रकारसे दी है कि मुख्य हेतुभूत अंतर्मुख उपयोग अस्खलित बना रहे। तदनुसार प्रवृत्ति की जाये तो उपयोग सतत जाग्रत बना रहे, और जिस जिस समय जीवकी जितनी जितनी ज्ञानशक्ति तथा वीर्यशक्ति है वह सब अप्रमत्त बनी रहे।

दीर्घशंका आदि क्रियाओंको करते हुए भी अप्रमत्त संयमदृष्टिका विस्मरण न हो जाये इस हेतुसे वैसी वैसी कठोर क्रियाओंका उपदेश दिया है, परंतु सत्पुरुषकी दृष्टिके बिना वे समझमें नहीं आती। यह रहस्यदृष्टि संक्षेपमें लिखी है, इस पर अधिकाधिक विचार कर्तव्य है। सभी क्रियाओंमें प्रवृत्ति करते हुए इस दृष्टिको स्मरणमें रखनेका ध्यान रखना योग्य है।

श्री देवकीर्णजी आदि सभी मुनियोंको इस पत्रकी वारंवार अनुप्रेक्षा करना योग्य है। श्री लल्लुजी आदि मुनियोंको नमस्कार प्राप्त हो। कर्मग्रंथकी वाचना पूरी होनेपर पुनः आवर्तन करके अनुप्रेक्षा कर्तव्य है।

---

७६८ ववाणिया, चैत्र सुदी ४, सोम, १९५३

शुभेच्छायुक्त श्री केशवलालके प्रति, श्री भावनगर।

पत्र प्राप्त हुआ है। आशंकाका समाधान इस प्रकार है—

एकेंद्रिय जीवको अव्यक्तरूपसे अनुकूल स्पर्श आदिकी प्रियता है, वह 'मैथुनसंज्ञा' है।

एकेंद्रिय जीवको देह और देहके निर्वाह आदिके साधनोंमें अव्यक्त मूर्च्छारूप 'परिग्रहसंज्ञा' है।

वनस्पति एकेंद्रिय जीवमें यह संज्ञा कुछ विशेष व्यक्त है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, केवलज्ञान, मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और विभंगज्ञान—ये आठों जीवके उपयोगरूप होनेसे अरूपी कहे हैं। ज्ञान और अज्ञान इन दोनोंमें मुख्य अंतर इतना ही है कि जो ज्ञान समकितसहित है उसे 'ज्ञान' कहा है और जो ज्ञान मिथ्यात्वसहित है उसे 'अज्ञान' कहा है। परंतु वस्तुतः दोनों ज्ञान हैं।

'ज्ञानावरणीयकर्म' और 'अज्ञान' दोनों एक नहीं हैं। 'ज्ञानावरणीयकर्म' ज्ञानको आवरणरूप है, और 'अज्ञान' ज्ञानावरणीयकर्मके क्षयोपशमरूप अर्थात् आवरण दूर होनेरूप है।

साधारण भाषामें 'अज्ञान' शब्दका अर्थ 'ज्ञानरहित' होता है, जैसे कि जड़ ज्ञानसे रहित है। परंतु निर्ग्रंथ-परिभाषामें तो मिथ्यात्वसहित ज्ञानका नाम अज्ञान है; इसलिये उस दृष्टिसे अज्ञानको अरूपी कहा है।

यह आशंका हो सकती है कि यदि अज्ञान अरूपी हो तो सिद्धमें भी होना चाहिये। इसका समाधान यह है—मिथ्यात्वसहित ज्ञानको ही 'अज्ञान' कहा है, उसमेंसे मिथ्यात्व निकल जानेसे शेष ज्ञान रहता है, वह ज्ञान संपूर्ण शुद्धतासहित सिद्ध भगवानमें रहता है। सिद्ध, केवलज्ञानी और सम्यग्दृष्टिका ज्ञान मिथ्यात्वरहित है। मिथ्यात्व जीवको भ्रांतिरूप है। वह भ्रांति यथार्थ समझमें आ जानेपर निवृत्त हो सकने योग्य है। मिथ्यात्व दिशाभ्रमरूप है।

श्री कुंवरजीकी अभिलाषा विशेष थी, परंतु किसी एक हेतुविशेषके बिना पत्र लिखना अभी बन नहीं पाता। यह पत्र उन्हें पढ़वानेकी विनती है।

---

७६९ ववाणिया, चैत्र सुदी ४, १९५३

तीनों प्रकारके समकितमेंसे चाहे जिस प्रकारका समकित प्रगट हो तो भी अधिकसे अधिक पंद्रह भवोंमें मोक्ष होता है; और यदि उस समकितके होनेके बाद जीव उसका वमन कर दे तो अधिकसे अधिक अर्ध पुद्गलपरावर्तनकाल तक संसार परिभ्रमण होकर मोक्ष होता है।

तीर्थंकरके निर्ग्रंथ, निर्ग्रंथिनियों, श्रावक और श्राविकाओं सभीको जीव-अजीवका ज्ञान था इसलिये उन्हें समकित कहा है, यह बात नहीं है। उनमेंसे अनेक जीवोंको मात्र सच्चे अंतरंग भावसे तीर्थंकरकी और उनके उपदिष्ट मार्गकी प्रतीतिसे भी समकित कहा है। इस समकितकी प्राप्तिके बाद यदि उसका वमन न किया हो तो अधिकसे अधिक पंद्रह भव होते हैं। सच्चे मोक्षमार्गको प्राप्त ऐसे सत्पुरुषकी तथारूप प्रतीतिसे सिद्धांतमें अनेक स्थलोंमें समकित कहा है। इस समकितके आये बिना जीवको प्रायः जीव और अजीवका यथार्थ ज्ञान भी नहीं होता। जीव-अजीवका ज्ञान प्राप्त करनेका मुख्य मार्ग यही है।

---

७७० ववाणिया, चैत्र सुदी ४, १९५३

ज्ञान जीवका रूप है, इसलिये वह अरूपी है, और जब तक ज्ञान विपरीतरूपसे जाननेका कार्य करता है, तब तक उसे अज्ञान कहना ऐसी निर्ग्रंथ-परिभाषा है, परंतु यहाँ ज्ञानका दूसरा नाम ही अज्ञान है यों समझना चाहिये।

ज्ञानका दूसरा नाम अज्ञान हो तो जिस तरह ज्ञानसे मोक्ष होना कहा है, उसी तरह अज्ञानसे भी मोक्ष होना चाहिये। इसी तरह जैसे मुक्त जीवमें भी ज्ञान कहा है वैसे अज्ञान भी कहना चाहिये, ऐसी आशंका की है, जिसका समाधान यह है—

गाँठ पड़नेसे उलझा हुआ सूत्र और गाँठ निकल जानेसे सुलझा हुआ सूत्र ये दोनों सूत्र ही हैं; फिर भी गाँठकी अपेक्षासे उलझा हुआ सूत्र और सुलझा हुआ सूत्र कहा जाता है। उसी तरह मिथ्यात्वज्ञान 'अज्ञान' और सम्यग्ज्ञान 'ज्ञान' ऐसी परिभाषा की है; परंतु मिथ्यात्वज्ञान जड़ है और सम्यग्ज्ञान चेतन है यह बात नहीं है। जिस तरह गाँठवाला सूत्र और गाँठ रहित सूत्र दोनों सूत्र ही हैं, उसी तरह मिथ्यात्वज्ञानसे संसार-परिभ्रमण और सम्यग्ज्ञानसे मोक्ष होता है। जैसे कि यहाँसे पूर्व दिशामें दस कोस दूर एक गाँव है; वहाँ जानेके लिये निकला हुआ मनुष्य दिशाभ्रमसे पूर्वके बदले पश्चिममें चला जाये, तो वह पूर्व दिशावाला गाँव प्राप्त नहीं होता, परंतु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उसने चलनेकी क्रिया नहीं की; उसी तरह देह और आत्मा भिन्न होनेपर भी जिसने देह और आत्माको एक समझा है वह जीव देहबुद्धिसे संसारपरिभ्रमण करता है; परंतु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उसने जाननेका कार्य नहीं किया है। पूर्वसे पश्चिमकी ओर चला है, यह जिस तरह पूर्वको पश्चिम माननेरूप भ्रम है, उसी तरह देह और आत्मा भिन्न होनेपर भी दोनोंको एक माननेरूप भ्रम है; परंतु पश्चिममें जाते हुए—चलते हुए जिस तरह चलनेरूप स्वभाव है, उसी तरह देह और आत्माको एक माननेमें भी जाननेरूप स्वभाव है। जिस तरह पूर्वके बदले पश्चिमको पूर्व मान लेना भ्रम है, वह भ्रम तथारूप हेतु-सामग्रीके मिलनेपर समझमें आनेसे पूर्व पूर्व ही समझमें आता है, और पश्चिम पश्चिम ही समझमें आता है, तब वह भ्रम दूर हो जाता है, और पूर्वकी तरफ चलने लगता है; उसी तरह देह और आत्माको एक मान लिया है वह सद्गुरुउपदेशादि सामग्री मिलनेपर दोनों भिन्न हैं यों यथार्थ समझमें आ जाता है, तब भ्रम दूर होकर आत्माके प्रति ज्ञानोपयोग परिणमित होता है। भ्रममें पूर्वको पश्चिम और पश्चिमको पूर्व मान लेनेपर भी पूर्व पूर्व ही और पश्चिम पश्चिम दिशा ही थी, मात्र भ्रमसे विपरीत भासित होता था। उसी तरह अज्ञानमें भी देह देह ही और आत्मा

आत्मा ही होनेपर भी वे उस तरह भासित नहीं होते, यह विपरीत भासना है। वह यथार्थ समझमें आनेपर, भ्रम निवृत्त हो जानेसे देह देह ही भासित होती है और आत्मा आत्मा ही भासित होता है; और जाननेरूप स्वभाव जो विपरीत भावको भजता था वह सम्यग्भावको भजता है। वस्तुतः दिशाभ्रम कुछ भी नहीं है, और चलनेरूप क्रियासे इष्ट गाँव प्राप्त नहीं होता, उसी तरह मिथ्यात्व भी वस्तुतः कुछ भी नहीं है, और उसके साथ जाननेरूप स्वभाव भी है; परंतु साथमें मिथ्यात्वरूप भ्रम होनेसे स्वस्वरूपतामें परमस्थिति नहीं होती। दिशाभ्रम दूर हो जानेसे इष्ट गाँवकी ओर मुडनेके बाद मिथ्यात्वका भी नाश हो जाता है, और स्वस्वरूप शुद्ध ज्ञानात्मपदमें स्थिति हो सकती है इसमें किसी संदेहको स्थान नहीं है।

---

७७१ ववाणिया, चैत्र सुदी ५, १९५३

यहाँसे [1]पिछले पत्रमें तीन प्रकारके समकित बताये थे। उन तीनों समकितमेंसे चाहे जो समकित प्राप्त करनेसे जीव अधिकसे अधिक पंद्रह भवमें मोक्ष प्राप्त करता है, और कमसे कम उसी भवमें भी मोक्ष होता है; और यदि वह समकितका वमन कर दे, तो अधिकसे अधिक अर्ध पुद्गलपरावर्तनकाल तक संसारपरिभ्रमण करके भी मोक्षको प्राप्त करता है। समकित प्राप्त करनेके बाद अधिकसे अधिक अर्ध पुद्गलपरावर्तन संसार होता है।

क्षयोपशम समकित हो अथवा उपशम समकित हो, तो जीव उसका वमन कर सकता है; परंतु क्षायिक समकित हो तो उसका वमन नहीं किया जा सकता। क्षायिक समकिती जीव उसी भवमें मोक्ष प्राप्त करता है, अधिक भव करे तो तीन भव करता है, और किसी एक जीवकी अपेक्षा क्वचित् चार भव होते हैं। युगलियाकी आयुका बंध होनेके बाद क्षायिक समकित उत्पन्न हुआ हो, तो चार भव होना संभव है; प्रायः किसी ही जीवको ऐसा होता है।

भगवान तीर्थंकरके निर्ग्रंथ, निर्ग्रंथिनियों, श्रावक तथा श्राविकाओंको कुछ सभीको जीवाजीवका ज्ञान था, इसलिये उन्हें समकित कहा है ऐसा सिद्धांतका अभिप्राय नहीं है। उनमेंसे कितने ही जीवोंको, तीर्थंकर सच्चे पुरुष हैं, सच्चे मोक्षमार्गके उपदेष्टा हैं, जिस तरह वे कहते हैं उसी तरह मोक्षमार्ग है, ऐसी प्रतीतिसे, ऐसी रुचिसे, श्री तीर्थंकरके आश्रयसे और निश्चयसे समकित कहा है। ऐसी प्रतीति, ऐसी रुचि, और ऐसे आश्रयका तथा आज्ञाका जो निश्चय है, वह भी एक तरहसे जीवाजीवके ज्ञानस्वरूप है। पुरुष सच्चे हैं और उनकी प्रतीति भी सच्ची हुई है कि जिस तरह ये परमकृपालु कहते हैं उसी तरह मोक्षमार्ग है, वैसा ही मोक्षमार्ग होता है, उस पुरुषके लक्षण आदि भी वीतरागताकी सिद्धि करते हैं। जो वीतराग होता है वह पुरुष यथार्थ वक्ता होता है, और उसी पुरुषकी प्रतीतिसे मोक्षमार्ग स्वीकार करने योग्य होता है ऐसी सुविचारणा भी एक प्रकारका गौणतासे जीवाजीवका ही ज्ञान है। उस प्रतीतिसे, उस रुचिसे और उस आश्रयसे फिर अनुक्रमसे स्पष्ट विस्तारसहित जीवाजीवका ज्ञान होता है। तथारूप पुरुषकी आज्ञाकी उपासनासे रागद्वेषका क्षय होकर वीतरागदशा उत्पन्न होती है। तथारूप सत्पुरुषके प्रत्यक्ष योगके बिना यह समकित होना कठिन है। वैसे पुरुषके वचनरूप शास्त्रोंसे पूर्वकालके किसी आराधक जीवको समकित होना संभव है; अथवा कोई एक आचार्य प्रत्यक्षरूपसे उस वचनके हेतुसे किसी जीवको समकित प्राप्त कराता है।

---

१. देखें आंक ७५१

७७२ ववाणिया, चैत्र सुदी १०, सोम, १९५३

ॐ सर्वज्ञाय नमः

औषधादि संप्राप्त होनेपर कितने ही रोगादिपर असर करते हैं; क्योंकि उस रोगादिके हेतुका कर्मबंध कुछ उसी प्रकारका होता है। औषधादिके निमित्तसे वह पुद्गल विस्तारमें फैलकर अथवा दूर होकर वेदनीयके उदयके निमित्तपनको छोड़ देता है। यदि उस तरह निवृत्त होने योग्य उस रोगादि संबंधी कर्मबंध न हो तो उस पर औषधादिका असर नहीं होता, अथवा औषधादि प्राप्त नहीं होते या सम्यक् औषधादि प्राप्त नहीं होते।

अमुक कर्मबंध किस प्रकारका है उसे तथारूप ज्ञानदृष्टिके बिना जानना कठिन है। इससे औषधादि व्यवहारकी प्रवृत्तिका एकांतसे निषेध नहीं किया जा सकता। अपनी देहके संबंधमें कोई एक परम आत्मदृष्टिवाला पुरुष उस तरह आचरण करे तो, अर्थात् वह औषधादिका ग्रहण न करे, तो वह योग्य है; परंतु दूसरे सामान्य जीव उस तरह आचरण करने लगे तो वह एकांतिक दृष्टिसे कितनी ही हानि कर डालते हैं। फिर उसमें भी अपने आश्रित जीवोंके प्रति अथवा किसी दूसरे जीवके प्रति रोगादि कारणोंमें वैसा उपचार करनेके व्यवहारमें प्रवृत्ति की जा सकती है, फिर भी उपचार आदि करनेमें उपेक्षा करे तो अनुकंपा-मार्गको छोड़ देने जैसा हो जाता है। कोई जीव चाहे जैसा पीड़ित हो तो भी उसे दिलासा देने तथा औषधादि देनेके व्यवहारको छोड़ दिया जाये तो उसे आर्तध्यानका हेतु होने जैसा हो जाता है। गृहस्थव्यवहारमें ऐसी एकांतिक दृष्टि करनेसे बहुत विरोध उत्पन्न होते हैं।

ज्ञानियोंने त्याग व्यवहारमें भी एकांतसे उपचारादिका निषेध नहीं किया है। निर्ग्रंथको स्वपरिग्रहित शरीरमें रोगादि हो तब औषधादिके ग्रहण संबंधी ऐसी आज्ञा है कि जब तक आर्त्तध्यान उत्पन्न न होने योग्य दृष्टि रहे तब तक औषधादिका ग्रहण नहीं करना, और वैसा विशेष कारण दिखायी दे तो निरवद्य औषधादिका ग्रहण करनेसे आज्ञाका अतिक्रम नहीं होता, अथवा यथासूत्र औषधादिका ग्रहण करनेसे आज्ञाका अतिक्रम नहीं होता। तथा दूसरे निर्ग्रंथको शरीरमें रोगादि हुआ हो तब उसकी वैयावृत्यादि करनेका प्रकार जहाँ प्रदर्शित किया है वहाँ उसे इसी तरह प्रदर्शित किया है कि जिससे कुछ भी विशेष अनुकंपादि दृष्टि रहे। इसलिये गृहस्थ-व्यवहारमें एकांतसे उसका त्याग करना अशक्य है यह समझमें आयेगा।

वे औषधादि कुछ भी पापक्रियासे उत्पन्न हुए हों तो भी वे अपने निजी गुण दिखाये बिना नहीं रहेंगे, और उसमें हुई पापक्रिया भी अपना गुण दिखाये बिना नहीं रहेगी। अर्थात् जिस तरह औषधादिके पुद्गलोंमें रोगादिके पुद्गलोंके पराभव करनेका गुण है उसी प्रकार उसे बनानेमें की गयी पापक्रियामें भी पापरूपसे परिणमन करनेका गुण है, और इससे कर्मबंध होकर यथावसर उस पापक्रियाका फल उदयमें आता है। उस पापक्रियावाला औषधादि करनेमें, करानेमें और अनुमोदन करनेमें, ग्रहण करनेवाले जीवकी जैसी जैसी देहादिके प्रति मूर्च्छा है, जैसी मनकी आकुल-व्याकुलता है, जैसा आर्त्तध्यान है, तथा उस औषधादिकी पापक्रिया है, वे सब अपने अपने स्वभावसे परिणमन कर यथावसर फल देते हैं। जिस तरह रोगादिका कारणरूप कर्मबंध अपना जैसा स्वभाव है वैसा प्रदर्शित करता है, जिस तरह औषधादिके पुद्गल अपना स्वभाव दिखाते हैं, उसी तरह औषधादिकी उत्पत्ति आदिमें हुई क्रिया, उसके कर्त्ताकी ज्ञानादि वृत्ति तथा उस ग्रहणकर्त्ताके जैसे परिणाम है, उसका जैसा ज्ञानादि है, वृत्ति है, वैसा उसे अपना स्वभाव दिखाना योग्य है, तथारूप शुभ शुभस्वरूपसे और अशुभ अशुभस्वरूपसे सफल है।

गृहस्थ-व्यवहारमें भी अपनी देहमें रोगादि होनेपर जितनी मुख्य आत्मदृष्टि रहे उतनी रखनी, और

यदि यथादृष्टिसे देखनेसे आर्तध्यानका परिणाम अवश्य आने योग्य दिखायी दे, अथवा आर्तध्यान उत्पन्न होता हुआ दिखायी दे तो औषधादिके व्यवहारका ग्रहण करते हुए निरवद्य (निष्पाप) औषधादिकी वृत्ति रखनी। क्वचित् अपने लिये अथवा अपने आश्रित अथवा अनुकंपा योग्य दूसरे जीवके लिये सावद्य औषधादिका ग्रहण हो तो उसकी सावद्यता निर्ध्वंस (क्रूर) परिणामके हेतु जैसी अथवा अधर्ममार्गका पोषण करनेवाली नहीं होनी चाहिये, यह ध्यानमें रखना योग्य है।

सर्व जीव-हितकारी ज्ञानीपुरुषकी वाणीको किसी भी एकांत दृष्टिको ग्रहण करके अहितकारी अर्थमें न ले जायें, यह उपयोग निरंतर स्मरणमें रखना योग्य है।

---

७७३ ववाणिया, चैत्र सुदी १५, शनि, १९५३

श्री सर्वज्ञाय नमः

जिस वेदनीयपर औषध असर करता है, वह औषध वस्तुतः वेदनीयके बंधको निवृत्त कर सकता है, ऐसा नहीं कहा है; क्योंकि वह औषध अशुभकर्मरूप वेदनीयका नाश करे तो अशुभ कर्म निष्फल हो जायें अथवा औषध शुभ कर्मरूप कहा जाये। परंतु यहाँ यह समझना योग्य है कि वह अशुभ वेदनीयकर्म इस प्रकारका है कि उसे परिणामांतर प्राप्त करनेमें औषधादि निमित्तकारणरूप हो सकता है। मंद या मध्यम शुभ अथवा अशुभ बंधको किसी एक स्वजातीय कर्मके मिलनेसे उत्कृष्ट बंध भी हो सकता है। मंद या मध्यम बाँधे हुए कितने ही शुभ बंधका किसी एक अशुभ कर्मविशेषके पराभवसे अशुभ परिणाम होता है। उसी तरह वैसे अशुभ बंधका किसी एक शुभ कर्मके योगसे शुभ परिणाम होता है।

मुख्यतः बंध परिणामानुसार होता है। किसी एक मनुष्यने किसी एक मनुष्य प्राणीका तीव्र परिणामसे नाश करनेसे उसने निकाचित कर्म उत्पन्न किया। फिर भी कितने ही बचावके कारणोंसे और साक्षी आदिके अभावसे, राजनीतिके नियमसे वह कर्म करनेवाला मनुष्य छूट जाये तो इससे यह समझना योग्य नहीं है कि उसका बंध निकाचित नहीं है; उसके विपाकके उदय होनेका समय दूर होनेसे भी ऐसा हो सकता है। फिर बहुतसे अपराधोंमें राजनीतिके नियमानुसार दंड होता है वह भी कर्त्ताके परिणामके समान ही है, ऐसा एकांतिक नहीं है, अथवा वह दंड किसी पूर्वकालमें उत्पन्न किये हुए अशुभकर्मके उदयरूप भी होता है, और वर्तमान कर्मबंध सत्तामें पड़े रहते हैं, जो यथावसर विपाक देते हैं।

सामान्यतः असत्यादिकी अपेक्षा हिंसाका पाप विशेष है। परंतु विशेष दृष्टिसे तो हिंसाकी अपेक्षा असत्यादिका पाप एकांतसे कम ही है, ऐसा न समझें अथवा अधिक है, ऐसा भी एकांतसे न समझें। हिंसाके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और उसके कर्ताके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके अनुसार कर्ताको उसका बंध होता है। इसी तरह असत्यादिके संबंधमें भी समझना योग्य है। किसी एक हिंसाकी अपेक्षा किसी एक असत्यादिका फल एक गुना, दो गुना अथवा अनंत गुना विशेष तक होता है; इसी तरह किसी एक असत्यादिकी अपेक्षा किसी एक हिंसाका फल एक गुना, दो गुना अथवा अनंत गुना विशेष तक होता है।

त्यागकी वारंवार विशेष अभिलाषा होनेपर भी, संसारके प्रति विशेष उदासीनता होनेपर भी, किसी एक पूर्वकर्मके प्राबल्यसे जो जीव गृहस्थावासका त्याग नहीं कर सकता, वह पुरुष गृहस्थावासमें कुटुंब आदिके निर्वाहके लिये जो कुछ प्रवृत्ति करता है, उसमें उसके परिणाम जैसे जैसे रहते हैं, तदनुसार बंधादि होते हैं। मोह हो किंतु अनुकंपा माने, अथवा प्रमाद हो किंतु उदय माने तो इससे कर्मबंध कुछ धोखा नहीं खाता। वह तो यथापरिणाम बंधको प्राप्त होता है। कर्मके सूक्ष्म प्रकारोंका मति यदि विचार न कर सके तो भी शुभ और अशुभ कर्म सफल हैं, इस निश्चयका जीवको विस्मरण नहीं करना चाहिये।

प्रत्यक्ष परम उपकारी होनेसे तथा सिद्धपदके बतानेवाले भी होनेसे सिद्धकी अपेक्षा अर्हंतको प्रथम नमस्कार किया है।

७७४

(१) शुभ बंध मंद हो और उसे किसी अशुभकर्मका योग मिले तो शुभ बंध पहलेकी अपेक्षा अधिक मंद हो जाता है। (२) शुभ बंध मंद हो और उसमें किसी शुभ कर्मयोगका मिलना हो तो मूलकी अपेक्षा अधिक दृढ़ होता है अथवा निकाचित होता है। (३) कोई अशुभ बंध मंद हो और उसे किसी एक शुभ कर्मका योग मिले तो मूलकी अपेक्षा अशुभ बंध कम मंद होता है। (४) अशुभ बंध मंद हो उसमें अशुभ कर्म मिल जाये तो अशुभ बंध अधिक दृढ़ होता है अथवा निकाचित होता है। (५) अशुभ बंधको अशुभ कर्म दूर नहीं कर सकते और शुभ बंधको शुभ कर्म दूर नहीं कर सकते। (६) शुभ कर्मबंधका फल शुभ होता है और अशुभ कर्मबंधका फल अशुभ होता है। दोनोंके फल तो होने ही चाहिये, निष्फल नहीं हो सकते।

रोग आदि औषधसे दूर हो सकते हैं, इससे किसीको यह लगे कि पापवाला औषध करना अशुभकर्मरूप है, फिर भी उससे अशुभ कर्मका फल जो रोग है वह मिट सकता है, अर्थात् यह कि अशुभसे शुभ हो सकता है; ऐसी शंका हो सकती है; परंतु ऐसा नहीं है। इस शंकाका समाधान निम्नलिखित है—

किसी एक पुद्गलके परिणामसे हुई वेदना (पुद्गलविपाकी वेदना) तथा मंद रसकी वेदना कई संयोगोंसे दूर हो सकती है और कई संयोगोंसे अधिक होती है अथवा निकाचित होती है। ऐसी वेदनामें परिवर्तन होनेमें बाह्य पुद्गलरूप औषध आदि निमित्त कारण देखनेमें आते हैं; परंतु वास्तवमें तो वह बंध पूर्वसे ही ऐसा बाँधा हुआ है कि उस प्रकारके औषध आदिसे दूर हो सकता है। औषध आदि मिलनेका कारण यह है कि अशुभ बंध मंद बाँधा था, और बंध भी ऐसा था कि उसे ऐसे निमित्त कारण मिलें तो दूर हो सके। परंतु इससे यों कहना ठीक नहीं है कि पाप करनेसे उस रोगका नाश हो सका, अर्थात् पाप करनेसे पुण्यका फल प्राप्त किया जा सका। पापवाले औषधकी इच्छा और उसे प्राप्त करनेकी प्रवृत्तिसे अशुभ कर्म बंधने योग्य है और उस पापवाली क्रियासे कुछ शुभ फल नहीं होता। ऐसा लगे कि अशुभ कर्मके उदयरूप असाताको उसने दूर किया जिससे वह शुभरूप हुआ, तो यह समझकी भूल है; असाता ही इस प्रकारकी थी कि उस तरह मिट सके और इतनी आर्त्तध्यान आदिकी प्रवृत्ति कराकर दूसरा बंध कराये।

'पुद्गलविपाकी' अर्थात् जो किसी बाह्य पुद्गलके संयोगसे पुद्गलविपाकरूपसे उदयमें आये और किसी बाह्य पुद्गलके संयोगसे निवृत्त भी हो जाये; जैसे ऋतुके परिवर्तनके कारणसे सरदीकी उत्पत्ति होती है और ऋतु-परिवर्तनसे उसका नाश हो जाता है, अथवा किसी गरम औषध आदिसे वह निवृत्त हो जाती है।

निश्चयमुख्यदृष्टिसे तो औषध आदि कथनमात्र है। बाकी तो जो होना होता है वही होता है।

---

७७५ ववाणिया, चैत्र वदी ५, १९५३

दो पत्र प्राप्त हुए हैं।

ज्ञानीकी आज्ञारूप जो जो क्रिया है उस उस क्रियामें तथारूपसे प्रवृत्ति की जाये तो वह अप्रमत्त उपयोग होनेका मुख्य साधन है, ऐसे [1]भावार्थमें यहाँसे पहले पत्र लिखा था। उसका ज्यों ज्यों विशेष

१. देखें आंक ७६७

विचार किया जायेगा त्यों त्यों अपूर्व अर्थका उपदेश मिलेगा। नित्य अमुक शास्त्रस्वाध्याय करनेके बाद उस पत्रका विचार करनेसे अधिक स्पष्ट बोध होना योग्य है।

छकायका स्वरूप भी सत्पुरुषकी दृष्टिसे प्रतीत करनेसे तथा उसका विचार करनेसे ज्ञान ही है। यह जीव किस दिशासे आया है, इस वाक्यसे शस्त्रपरिज्ञा अध्ययनका आरंभ हुआ है। सद्गुरुके मुखसे इस प्रारंभवाक्यका आशय समझनेसे समस्त द्वादशांगीका रहस्य समझमें आना योग्य है। अभी तो जो आचारांग आदि पढ़ें उसका अधिक अनुप्रेक्षण कीजियेगा। कितने ही उपदेश पत्रोंसे वह सहजमें समझमें आ सकेगा। सभी मुनियोंको नमस्कार प्राप्त हो। सभी मुमुक्षुओंको प्रणाम प्राप्त हो।

---

७७६ सायला, वैशाख सुदी १५, १९५३

ॐ

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये कर्मबंधके पाँच कारण हैं। किसी जगह प्रमादके सिवाय चार कारण बताये होते हैं। वहाँ मिथ्यात्व, अविरति और कषायमें प्रमादका अंतर्भाव किया होता है।

शास्त्रपरिभाषासे 'प्रदेशबंध' शब्दका अर्थ :– परमाणु सामान्यतः एक प्रदेशावगाही है। ऐसे एक परमाणुका ग्रहण एक प्रदेश कहा जाता है। जीव कर्मबंधमें अनंत परमाणुओंको ग्रहण करता है। वे परमाणु यदि फैल जाये तो अनंतप्रदेशी हो सकें, जिससे अनंत प्रदेशका बंध कहा जाये। उसमें बंध अनन्त आदिसे भेद पड़ता है; अर्थात् जहाँ अल्प प्रदेशबंध कहा हो वहाँ परमाणु अनन्त समझें, परंतु उस अनन्तकी सघनता अल्प समझें। यदि उससे विशेष-विशेष लिखा हो तो अनन्तताकी सघनता समझें।

जरा भी व्याकुल न होते हुए कर्मग्रंथको आद्यंत पढ़े और विचारें।

---

७७७ ईडर, वैशाख वदी १२, शुक्र, १९५३

तथारूप (यथार्थ) आप्त (जिसके विश्वाससे मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति की जा सके ऐसे) पुरुषका जीवको समागम होनेमें किसी एक पुण्यहेतुकी जरूरत है, उसकी पहचान होनेमें महान पुण्यकी जरूरत है, और उसकी आज्ञाभक्तिसे प्रवृत्ति करनेमें महान महान पुण्यकी जरूरत है, ऐसे जो ज्ञानीके वचन हैं, वे सत्य हैं। यह प्रत्यक्ष अनुभवमें आने जैसी बात है।

तथारूप आप्तपुरुषके अभाव जैसा यह काल चल रहा है। तो भी ऐसे समागमके इच्छुक आत्मार्थी जीवको उसके अभावमें भी विशुद्धिस्थानकके अभ्यासका लक्ष्य अवश्य ही कर्तव्य है।

---

७७८ ईडर, वैशाख वदी १२, शुक्र, १९५३

दो पत्र मिले हैं। यहाँ प्रायः मंगलवार तक स्थिति होगी। बुधवार शामको अहमदाबादसे डाकगाडीमें बंबई जानेके लिये बैठना होगा। प्रायः गुरुवार सबेरे बंबई उतरना होगा।

सर्वथा निराश हो जानेसे जीवको सत्समागमका प्राप्त हुआ लाभ भी शिथिल हो जाता है। सत्समागमके अभावका खेद रखते हुए भी सत्समागम हुआ है, यह परमपुण्यका योग है। इसलिये सर्वसंगत्यागका योग बनने तक जब तक गृहस्थावासमें स्थिति हो तब तक उस प्रवृत्तिकी नीतिसहित कुछ भी रक्षा करके परमार्थमें उत्साहसहित प्रवृत्ति करके विशुद्धिस्थानकका नित्य अभ्यास करते रहना यही कर्तव्य है।

---

७७९ बंबई, ज्येष्ठ सुदी, १९५३

ॐ सर्वज्ञ

स्वभावजागृतदशा

[1]चित्रसारी न्यारी, परजंक न्यारौ, सेज न्यारी।
चादरि भी न्यारी, इहाँ झूठी मेरी थपना॥
अतीत अवस्था सैन, निद्रावाहि कोऊ पै न।
विद्यमान पलक न, यामैं अब छपना॥
स्वास औ सुपन दोऊ, निद्राकी अलंग बूझै।
सूझै सब अंग लखि, आतम दरपना॥
त्यागी भयौ चेतन, अचेतनता भाव त्यागि।
भालै दृष्टि खोलिकै, संभालै रूप अपना॥

अनुभवउत्साहदशा

[2]जैसौ निरभेदरूप, निहचै अतीत हुतौ।
तैसौ निरभेद अब, भेदकौ न गहैगौ!
दीसै कर्मरहित सहित सुख समाधान।
पायौ निजथान फिर बाहरि न बहैगौ॥
कबहूँ कदापि अपनौ सुभाव त्यागि करि।
राग रस राचिकैं न परवस्तु गहैगौ॥
अमलान ज्ञान विद्यमान परगट भयौ।
याहि भांति आगम अनंत काल रहैगौ॥

स्थितिदशा

[3]एक परिनामके न करता दरव दोई।
दोई परिनाम एक दर्व न धरतु है॥
एक करतूति दोई दर्व कबहूँ न करै।
दोई करतूति एक दर्व न करतु है॥
जीव पुद्गल एक खेत अवगाही दोऊ।
अपने अपने रूप कोऊ न टरतु है॥
जड परिनामनिकौ करता है पुद्गल।
चिदानंद चेतन सुभाव आचरतु है॥

---

१. **भावार्थ**–जब सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ तब जीव विचारता है–शरीररूप महल जुदा है, कर्मरूप पलंग जुदा है, मायारूप सेज जुदी है, कल्पनारूप चादर भी जुदी है, यह निद्रावस्था मेरी नहीं है–पूर्वकालमें सोनेवाला मेरा दूसरा ही पर्याय था। अब वर्तमानका एक पल भी निद्रामें नहीं बिताऊँगा। उदयका निश्वास और विषयका स्वप्न ये दोनों निद्राके संयोगसे दीखते थे। अब आत्मरूप दर्पणमें मेरे समस्त गुण दीखने लगे। इस प्रकार आत्मा अचेतन भावोंका त्यागी होकर ज्ञानदृष्टिसे देखकर अपने स्वरूपको संभालता है।

२. **भावार्थ**–संसारी दशामें निश्चयनयसे आत्मा जिस प्रकार अभेदरूप था उसी प्रकार प्रगट हो गया। उस परमात्माको अब भेदरूप कोई नहीं कहेगा। जो कर्मरहित और सुख-शांतिसहित दिखायी देता है, तथा जिसने अपने स्थान–मोक्षको पा लिया है, वह अब जन्म-मरण रूप संसारमें नहीं आयेगा। वह कभी भी अपना स्वभाव छोड़कर रागद्वेषमें पड़कर परवस्तुको ग्रहण नहीं करेगा; क्योंकि वर्तमानकालमें जो निर्मल पूर्ण ज्ञान प्रगट हुआ है, वह तो आगामी अनंतकाल तक ऐसा ही रहेगा।

३. भावार्थके लिये देखें आंक ३१७

श्री सोभागको विचार करनेके लिये यह पत्र लिखा है, इसे अभी श्री अंबालाल अथवा किसी दूसरे योग्य मुमुक्षु द्वारा उन्हें ही सुनाना योग्य है।

आत्मा सर्व अन्यभावसे रहित है, जिसे सर्वथा ऐसा अनुभव रहता है वह 'मुक्त' है।

जिसे अन्य सर्व द्रव्यसे असंगता, क्षेत्रसे असंगता, कालसे असंगता और भावसे असंगता सर्वथा रहती है, वह 'मुक्त' है।

अटल अनुभवस्वरूप आत्मा सब द्रव्योंसे प्रत्यक्ष भिन्न भासित हो तबसे मुक्तदशा रहती है। वह पुरुष मौन हो जाता है, वह पुरुष अप्रतिबद्ध हो जाता है, वह पुरुष असंग हो जाता है, वह पुरुष निर्विकल्प हो जाता है और वह पुरुष मुक्त हो जाता है।

जिन्होंने तीनों कालमें देहादिसे अपना कुछ भी संबंध न था, ऐसी असंगदशा उत्पन्न की है उन भगवानरूप सत्पुरुषोंको नमस्कार हो।

तिथि आदिका विकल्प छोड़कर निज विचारमें रहना यही कर्तव्य है।

शुद्ध सहज आत्मस्वरूप।

---

७८० बंबई, जेठ सुदी ८, मंगल, १९५३

जिसे किसीके भी प्रति राग, द्वेष नहीं रहा,
उस महात्माको वारंवार नमस्कार।

परम उपकारी, आत्मार्थी सरलतादि गुणसंपन्न श्री सोभाग,

त्रंबकभाईका लिखा एक पत्र आज मिला है।

"आत्मसिद्धि" ग्रंथके संक्षिप्त अर्थकी पुस्तक तथा कितने ही उपदेश-पत्रोंकी प्रति यहाँ थी, उन्हें आज डाकसे भेजा है। दोनोंमें मुमुक्षु जीवके लिये विचार करने योग्य अनेक प्रसंग हैं।

परमयोगी ऐसे श्री ऋषभदेव आदि पुरुष भी जिस देहको नहीं रख सके, उस देहमें एक विशेषता रही हुई है, वह यह है कि जब तक उसका संबंध रहे, तब तकमें जीवको असंगता, निर्मोहता प्राप्त करके अबाध्य अनुभवस्वरूप ऐसे निजस्वरूपको जानकर, दूसरे सभी भावोंसे व्यावृत्त (मुक्त) हो जाना कि जिससे फिर जन्म-मरणका फेरा न रहे। उस देहको छोड़ते समय जितने अंशमें असंगता, निर्मोहता, यथार्थ समरसता रहती है, उतना ही मोक्षपद समीप है ऐसा परम ज्ञानीपुरुषोंका निश्चय है।

मन, वचन और कायाके योगसे जाने-अनजाने कुछ भी अपराध हुआ हो, उस सबकी विनयपूर्वक क्षमा माँगता हूँ, अति नम्रभावसे क्षमा माँगता हूँ।

इस देहसे करने योग्य कार्य तो एक ही है कि किसीके प्रति राग अथवा किसीके प्रति किंचित्मात्र द्वेष न रहे। सर्वत्र समदशा रहे। यही कल्याणका मुख्य निश्चय है। यही विनती।

श्री रायचंद्रके नमस्कार प्राप्त हो।

---

७८१ बंबई, जेठ वदी ६, रवि, १९५३

परमपुरुषदशावर्णन

'कीचसौ कनक जाकै, नीच सौ नरेसपद,
मीचसी मिताई, गरुवाई जाकै गारसी।

जहरसी जोग जाति, कहरसी करामाति,
हहरसी हौस, पुद्गलछबि छारसी ॥
जालसौ जगविलास, भालसौं भुवनवास,
कालसौ कुटुम्बकाज, लोकलाज लारसी।
सीठसौ सुजसु जानै, बीठसौ बखत मानै,
ऐसी जाकी रीति ताही, बंदत बनारसी ॥'

जो कंचनको कीचड़के समान जानता है, राजगद्दीको नीचपदके समान समझता है, किसीसे स्नेह करनेको मृत्युके समान मानता है, बड़प्पनको लीपनेके गारे जैसा समझता है, कीमिया आदि योगको जहरके समान गिनता है, सिद्धि आदि ऐश्वर्यको असाताके समान समझता है, जगतमें पूज्यता होने आदिकी लालसाको अनर्थके समान मानता है, पुद्गलकी मूर्तिरूप औदारिकादि कायाको राखके समान मानता है, जगतके भोगविलासको दुविधारूप जालके समान समझता है, गृहवासको भालेके समान मानता है, कुटुंबके कार्यको काल अर्थात् मृत्युके समान गिनता है, लोकमें लाज बढ़ानेकी इच्छाको मुखकी लारके समान समझता है, कीर्तिकी इच्छाको नाकके मैलके समान मानता है, और पुण्यके उदयको जो विष्टाके समान समझता है ऐसी जिसकी रीति हो उसे बनारसीदास वंदन करते हैं।

किसीके लिये विकल्प न करते हुए असंगता ही रखियेगा। ज्यों ज्यों सत्पुरुषके वचन उन्हें प्रतीतिमें आयेंगे, ज्यों ज्यों आज्ञासे अस्थिमज्जा रंगी जायेगी, त्यों त्यों वे सब जीव आत्मकल्याणको सुगमतासे प्राप्त करेंगे, यह निःसंदेह है।

त्रंबक, मणि आदि मुमुक्षुओंको तो इस बारके समागममें कुछ आंतरिक इच्छासे सत्समागममें रुचि हुई है, इसलिये एकदम दशा विशेष न हो तो भी आश्चर्य नहीं है।

सच्चे अंतःकरणसे विशेष सत्समागमके आश्रयसे जीवको उत्कृष्ट दशा भी बहुत थोड़े समयमें प्राप्त होती है।

व्यवहार अथवा परमार्थसंबंधी किसी भी जीवके बारेमें इच्छा रहती हो, तो उसे उपशांत करके सर्वथा असंग उपयोगसे अथवा परमपुरुषकी उपर्युक्त दशाके अवलंबनसे आत्मस्थिति करें, यह विज्ञापना है; क्योंकि दूसरा कोई भी विकल्प रखने जैसा नहीं है। जो कोई सच्चे अंतःकरणसे सत्पुरुषके वचनोंको ग्रहण करेगा वह सत्यको पायेगा, इसमें कोई संशय नहीं है; और शरीर-निर्वाह आदि व्यवहार सबके अपने अपने प्रारब्धके अनुसार प्राप्त होने योग्य है, इसलिये तत्संबंधी भी कोई विकल्प रखना योग्य नहीं है। जिस विकल्पको आपने प्रायः शांत कर दिया है, तो भी निश्चयकी प्रबलताके लिये लिखा है।

सब जीवोंके प्रति, सभी भावोंके प्रति अखंड एकरस वीतरागदशा रखना यही सर्व ज्ञानका फल है। आत्मा शुद्ध चैतन्य, जन्मजरामरणरहित असंग स्वरूप है; इसमें सर्व ज्ञान समा जाता है; उसकी प्रतीतिमें सर्व सम्यक्दर्शन समा जाता है; आत्माकी असंगस्वरूपसे स्वभावदशा रहे वही सम्यक्चारित्र, उत्कृष्ट संयम और वीतरागदशा है। जिसकी संपूर्णताका फल सर्व दुःखका क्षय है, यह सर्वथा निःसंदेह है, सर्वथा निःसंदेह है। यही विनती।

---

७८२ बंबई, जेठ वदी १२, शनि, १९५३

आर्य श्री सोभागने जेठ वदी १० गुरुवार सबेरे १० बजकर ५० मिनिटपर देह त्याग किया, यह समाचार पढ़कर बहुत खेद हुआ है। ज्यों ज्यों उनके अद्भुत गुणोंके प्रति दृष्टि जाती है, त्यों त्यों

अधिकाधिक खेद होता है।

जीवके साथ देहका संबंध इसी तरहका है। ऐसा होनेपर भी अनादिसे उस देहका त्याग करते हुए जीव खेद प्राप्त किया करता है, और उसमें दृढ़ मोहमें एकमेककी तरह प्रवर्तन करता है; यही जन्म-मरणादि संसारका मुख्य बीज है। श्री सोभागने ऐसी देहका त्याग करते हुए महामुनियोंको भी दुर्लभ ऐसी निश्चल असंगतासे निज उपयोगमय दशा रखकर अपूर्व हित किया है, इसमें संशय नहीं है।

गुरुजन होनेसे, आपके प्रति उनके बहुत उपकार होनेसे तथा उनके गुणोंकी अद्भुततासे उनका वियोग आपके लिये अधिक खेदकारक हुआ है, और होने योग्य है। उनकी सांसारिक गुरुजनताके खेदको विस्मरणकर, उन्होंने आप सब पर जो परम उपकार किया हो तथा उनके गुणोंकी जो जो अद्भुतता आपको प्रतीत हुई हो, उसे वारंवार याद करके, वैसे पुरुषके वियोगका अंतरमें खेद रखकर, उन्होंने आराधन करने योग्य जो जो वचन और गुण बताये हो उनका स्मरण कर उनमें आत्माको प्रेरित करें, यह आप सबसे विनती है। समागममें आये हुए मुमुक्षुओंको श्री सोभागका स्मरण सहज ही बहुत समय तक रहने योग्य है।

मोहसे जिस समय खेद उत्पन्न हो उस समय भी उनके गुणोंकी अद्भुतताका स्मरण करके मोहजन्य खेदको शांत करके, उनके गुणोंकी अद्भुतताके विरहमें उस खेदको लगाना योग्य है।

इस क्षेत्रमें, इस कालमें श्री सोभाग जैसे विरल पुरुष मिलते हैं, ऐसा हमें वारंवार भासित होता है।

धीरजसे सभी खेदको शांत करें, और उनके अद्भुत गुणों तथा उपकारी वचनोंका आश्रय लें, यह योग्य है। मुमुक्षुको श्री सोभागका विस्मरण करना योग्य नहीं है।

जिसने संसारका स्वरूप स्पष्ट जाना है उसे उस संसारके पदार्थकी प्राप्ति अथवा अप्राप्तिसे हर्ष-शोक होना योग्य नहीं है, तो भी ऐसा लगता है कि सत्पुरुषके समागमकी प्राप्तिसे कुछ भी हर्ष और उनके वियोगसे कुछ भी खेद अमुक गुणस्थानक तक उसे भी होना योग्य है।

'आत्मसिद्धि' ग्रंथ आप अपने पास रखें। त्रंबक और मणि विचार करना चाहें तो विचार करें; परंतु उससे पहले कितने ही वचन तथा सद्ग्रंथोंका विचारना बनेगा तो आत्मसिद्धि बलवान उपकारका हेतु होगा, ऐसा लगता है।

श्री सोभागकी सरलता, परमार्थ संबंधी निश्चय, मुमुक्षुके प्रति परम उपकारशीलता आदि गुण वारंवार विचारणीय हैं। शांतिः शांतिः शांतिः

---

७८३ बंबई, आषाढ़ सुदी ४, रवि, १९५३

श्री सोभागको नमस्कार

श्री सोभागकी मुमुक्षुदशा तथा ज्ञानीके मार्गके प्रति उनका अद्भुत निश्चय वारंवार स्मृतिमें आया करता है।

सर्व जीव सुखकी इच्छा करते हैं, परंतु कोई विरले पुरुष उस सुखके यथार्थ स्वरूपको जानते हैं।

जन्म, मरण आदि अनंत दुःखोंके आत्यंतिक (सर्वथा) क्षय होनेके उपायको जीव अनादिकालसे नहीं जानता, उस उपायको जानने और करनेकी सच्ची इच्छा उत्पन्न होनेपर जीव यदि सत्पुरुषके समागमका लाभ प्राप्त करे तो वह उस उपायको जान सकता है, और उस उपायकी उपासना करके सर्व दुःखसे मुक्त हो जाता है।

ऐसी सच्ची इच्छा भी प्रायः जीवको सत्पुरुषके समागमसे ही प्राप्त होती है। ऐसा समागम, उस समागमकी पहचान, प्रदर्शित मार्गकी प्रतीति और उसी तरह चलनेकी प्रवृत्ति जीवको परम दुर्लभ है।

मनुष्यता, ज्ञानीके वचनोंका श्रवण प्राप्त होना, उसकी प्रतीति होना, और उनके कहे हुए मार्गमें प्रवृत्ति होना परम दुर्लभ है, ऐसा श्री वर्धमानस्वामीने उत्तराध्ययनके तीसरे अध्ययनमें उपदेश किया है।

प्रत्यक्ष सत्पुरुषका समागम और उनके आश्रयमें विचरनेवाले मुमुक्षुओंको मोक्षसंबंधी सभी साधन प्रायः अल्प प्रयाससे और अल्पकालमें सिद्ध हो जाते हैं; परंतु उस समागमका योग मिलना बहुत दुर्लभ है। उसी समागमके योगमें मुमुक्षुजीवका चित्त निरंतर रहता है।

जीवको सत्पुरुषका योग मिलना तो सर्व कालमें दुर्लभ है। उसमें भी ऐसे दुःषमकालमें तो वह योग क्वचित् ही मिलता है। विरले ही सत्पुरुष विचरते हैं। उस समागमका लाभ अपूर्व है, यों समझकर जीवको मोक्षमार्गकी प्रतीति कर, उस मार्गका निरंतर आराधन करना योग्य है।

जब उस समागमका योग न हो तब आरंभ-परिग्रहकी ओरसे वृत्तिको हटाकर सत्शास्त्रका परिचय विशेषतः कर्तव्य है। व्यावहारिक कार्योंकी प्रवृत्ति करनी पड़ती हो तो भी जो जीव उसमें वृत्तिको मंद करनेकी इच्छा करता है वह जीव उसे मंद कर सकता है और सत्शास्त्रके परिचयके लिये बहुत अवकाश प्राप्त कर सकता है।

आरंभ-परिग्रहसे जिनकी वृत्ति खिन्न हो गई है, अर्थात् उसे असार समझकर जो जीव उससे पीछे हट गये हैं, उन जीवोंको सत्पुरुषोंका समागम और सत्शास्त्रका श्रवण विशेषतः हितकारी होता है। जिस जीवकी आरंभ परिग्रहमें विशेष वृत्ति रहती हो, उस जीवमें सत्पुरुषके वचनोंका अथवा सत्शास्त्रका परिणमन होना कठिन है।

आरंभ परिग्रहमें वृत्तिको मंद करना और सत्शास्त्रके परिचयमें रुचि करना प्रथम तो कठिन पड़ता है, क्योंकि जीवका अनादि प्रकृतिभाव उससे भिन्न है, तो भी जिसने वैसा करनेका निश्चय कर लिया है वह वैसा कर सका है; इसलिये विशेष उत्साह रखकर वह प्रवृत्ति कर्तव्य है।

सब मुमुक्षुओंको इस बातका निश्चय और नित्य नियम करना योग्य है, प्रमाद और अनियमितता दूर करना योग्य है।

---

७८४ बंबई, आषाढ़ सुदी ४, रवि, १९५३

सच्चे ज्ञानके बिना और सच्चे चारित्रके बिना जीवका कल्याण नहीं होता, यह निःसंदेह है।

सत्पुरुषके वचनोंका श्रवण, उसकी प्रतीति, और उसकी आज्ञासे प्रवृत्ति करते हुए जीव सच्चे चारित्रको प्राप्त करते हैं, ऐसा निःसंदेह अनुभव होता है।

यहाँसे 'योगवासिष्ठ'की पुस्तक भेजी है, उसे पाँच-दस बार पुनः पुनः पढ़ना और वारंवार विचारना योग्य है।

---

७८५ बंबई, आषाढ़ वदी १, गुरु, १९५३

श्री धुरीभाईने 'अगुरुलघु' के विषयमें प्रश्न लिखवाया, उसे प्रत्यक्ष समागममें समझना विशेष सुगम है।

शुभेच्छासे लेकर शैलेशीकरण तककी सभी क्रियाएँ जिस ज्ञानीको मान्य है, उस ज्ञानीके वचन त्यागवैराग्यका निषेध नहीं करते। त्याग-वैराग्यके साधनरूपमें प्रथम जो त्याग-वैराग्य आता है, उसका

भी ज्ञानी निषेध नहीं करते।

किसी एक जड़-क्रियामें प्रवृत्ति करके जो ज्ञानीके मार्गसे विमुख रहता हो, अथवा मतिकी मूढ़ताके कारण ऊँची दशाको पानेसे रुक जाता हो, अथवा असत्समागमसे मतिव्यामोहको प्राप्त होकर जिसने अन्यथा त्याग-वैराग्यको सच्चा त्याग-वैराग्य मान लिया हो, उसका निषेध करनेके लिये करुणाबुद्धिसे ज्ञानी योग्य वचनसे क्वचित् उसका निषेध करते हों, तो व्यामोहित न होते हुए उसका सद्हेतु समझकर यथार्थ त्याग-वैराग्यकी अंतर तथा बाह्य क्रियामें प्रवृत्ति करना योग्य है।

---

७८६ बंबई, आषाढ़ वदी १, गुरु, १९५३

[1]'सकळ संसारी इंद्रियरामी, मुनिगुण आतमरामी रे।
मुख्यपणे जे आतमरामी, ते कहिये निःकामी रे॥'

हे मुनियों! आपको आर्य सोभागकी अंतरंग दशा और देहमुक्त समयकी दशाकी वारंवार अनुप्रेक्षा करना योग्य है।

हे मुनियों! आपको द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे असंगतापूर्वक विचरनेका सतत उपयोग सिद्ध करना योग्य है। जिन्होंने जगतसुखस्पृहाको छोडकर ज्ञानीके मार्गका आश्रय ग्रहण किया है वे अवश्य उस असंग उपयोगको प्राप्त करते हैं। जिस श्रुतसे असंगता उल्लसित हो उस श्रुतका परिचय कर्तव्य है।

---

७८७ बंबई, आषाढ़ वदी १, गुरु, १९५३

ॐ

श्री सोभागकी देहमुक्त समयकी दशाके बारमें जो पत्र लिखा है वह यहाँ मिला है। कर्मग्रंथका संक्षिप्त स्वरूप लिखा वह भी यहाँ मिला है।

आर्य सोभागकी बाह्याभ्यंतर दशाकी वारंवार अनुप्रेक्षा कर्तव्य है।

श्री नवलचंदद्वारा प्रदर्शित प्रश्नका विचार आगे कर्तव्य है।

जगतसुखस्पृहामें ज्यों ज्यों खेद उत्पन्न होता है त्यों त्यों ज्ञानीका मार्ग स्पष्ट सिद्ध होता है।

---

७८८ बंबई, आषाढ़ वदी ११, रवि, १९५३

परम संयमी पुरुषोंको नमस्कार

असारभूत व्यवहारको सारभूत प्रयोजनकी भाँति करनेका उदय रहनेपर भी जो पुरुष उस उदयसे क्षोभ न पाकर सहजभाव स्वधर्ममें निश्चलतासे रहे हैं, उन पुरुषोंके भीष्मव्रतका वारंवार स्मरण करते हैं।

सब मुनियोंको नमस्कार प्राप्त हो।

---

७८९ बंबई, आषाढ़ वदी १४, बुध, १९५३

ॐ नमः

प्रथम पत्र मिला था। अभी एक चिट्ठी मिली है।

---

१. भावार्थके लिये देखें आंक ७४३

मणिरत्नमालाकी पुस्तक फिरसे पढ़नेसे अधिक मनन हो सकेगा।

श्री डुंगर तथा लहेराभाई आदि मुमुक्षुओंको धर्मस्मरण प्राप्त हो। श्री डुंगरसे कहियेगा कि प्रसंगोपात्त कुछ ज्ञानवार्ता प्रश्नादि लिखें अथवा लिखवायें।

सत्शास्त्रका परिचय नियमपूर्वक निरंतर करना योग्य है। एक दूसरेके समागममें आनेपर आत्मार्थ वार्ता कर्तव्य है।

---

७९० बंबई, श्रावण सुदी ३, रवि, १९५३

परम उत्कृष्ट संयम जिनके लक्ष्यमें निरंतर रहा करता है,
उन सत्पुरुषोंके समागमका ध्यान निरंतर रहता है।

प्रतिष्ठित व्यवहारकी श्री देवकीर्णजीकी अभिलाषासे अनंतगुणविशिष्ट अभिलाषा रहती है। बलवान और वेदन किये बिना अटल उदय होनेसे अंतरंग खेदका समतासहित वेदन करते हैं। दीर्घकालको अति अल्पकालमें लानेके ध्यानमें रहते हैं।

यथार्थ उपकारी प्रत्यक्ष पुरुषमें एकत्वभावना आत्मशुद्धिकी उत्कृष्टता करती है।

सब मुनियोंको नमस्कार।

---

७९१ बंबई, श्रावण सुदी १५, गुरु, १९५३

जिसकी दीर्घकालकी स्थिति है, उसे अल्पकालकी स्थितिमें लाकर,
जिन्होंने कर्मक्षय किया है, उन महात्माओंको नमस्कार।

सद्वर्तन, सद्ग्रंथ और सत्समागममें प्रमाद कर्तव्य नहीं है।

---

७९२ बंबई, श्रावण सुदी १५, गुरु, १९५३

दो पत्र मिले हैं। 'मोक्षमार्गप्रकाश' नामक ग्रंथ आज डाकसे भिजवाया है, वह मुमुक्षुजीवको विचार करने योग्य है। अवकाश निकालकर प्रथम श्री लल्लुजी और देवकीर्णजी उसे संपूर्ण पढ़े और मनन करे; बादमें बहुतसे प्रसंग दूसरे मुनियोंको श्रवण कराने योग्य है।

श्री देवकीर्ण मुनिने दो प्रश्न लिखे हैं। उनका उत्तर प्रायः अबके पत्रमें लिखूँगा।

'मोक्षमार्गप्रकाश' का अवलोकन करते हुए किसी विचारमें मतांतर जैसा लगे, तो उद्विग्न न होकर उस स्थलका अधिक मनन करना, अथवा सत्समागमके योगमें उस स्थलको समझना योग्य है।

परमोत्कृष्ट संयममें स्थितिकी बात तो दूर रही, परंतु उसके स्वरूपका विचार होना भी विकट है।

---

७९३ बंबई, श्रावण सुदी १५, गुरु, १९५३

'सम्यग्दृष्टि अभक्ष्य आहार करता है ?' इत्यादि प्रश्न लिखे। उन प्रश्नोंके हेतुका विचार करनेसे पता चलेगा कि प्रथम प्रश्नमें किसी एक दृष्टांतको लेकर जीवको शुद्ध परिणामकी हानि करने जैसा है। मतिकी अस्थिरतासे जीव परिणामका विचार नहीं कर सकता। श्रेणिक आदिके संबंधमें किसी एक स्थलपर ऐसी बात किसी एक ग्रंथमें कही है, परंतु वह किसीके प्रवृत्ति करनेके लिये नहीं कही है; तथा

यह बात यथार्थ इसी तरह है ऐसा भी नहीं है। यद्यपि सम्यग्दृष्टि पुरुषको अल्पमात्र व्रत नहीं होता तो भी सम्यग्दर्शन होनेके बाद जीव उसका वमन न करे तो अधिकसे अधिक पंद्रह भवमें मोक्ष प्राप्त करता है, ऐसा सम्यग्दर्शनका बल है, इस हेतुसे कही हुई बातको दूसरे रूपमें न ले जायें। सत्पुरुषकी वाणी विषय और कषायके अनुमोदनसे अथवा रागद्वेषके पोषणसे रहित होती है, यह निश्चय रखें, और चाहे जैसे प्रसंगमें उसी दृष्टिसे अर्थ करना योग्य है।

श्री डुंगर आदि मुमुक्षुओंको यथायोग्य। अभी डुंगर कुछ पढ़ते हैं ? सो लिखियेगा।

---

७९४ बंबई, श्रावण वदी १, शुक्र, १९५३

पहले एक पत्र मिला था। दूसरा पत्र अभी मिला है।

आर्य सोभागका समागम आपको अधिक समय रहा होता तो बहुत उपकार होता। परंतु भावी प्रबल है। उसके लिये उपाय यह है कि उनके गुणोंका वारंवार स्मरण करके जीवमें वैसे गुण उत्पन्न हों, ऐसा वर्तन करें।

नियमितरूपसे नित्य सद्ग्रंथका पठन तथा मनन रखना योग्य है। पुस्तक आदि कुछ चाहिये तो यहाँ मनसुखको लिखें। वे आपको भेज देंगे। ॐ

---

७९५ बंबई, श्रावण वदी ८, शुक्र, १९५३

शुभेच्छासंपन्न श्री मनसुख पुरुषोत्तम आदि, श्री खेडा।

पत्र मिला है।

आपकी तरफ विचरनेवाले मुनि श्रीमान लल्लुजी आदिको नमस्कार प्राप्त हो। मुनि श्री देवकीर्णजीके प्रश्न मिले थे। उन्हें विनयसहित विदित कीजियेगा कि 'मोक्षमार्गप्रकाश' पढ़नेसे उन प्रश्नोंका बहुतसा समाधान हो जायेगा और विशेष स्पष्टता समागमके अवसरपर होना योग्य है।

पारमार्थिक करुणाबुद्धिसे निष्पक्षतासे कल्याणके साधनके उपदेष्टा पुरुषका समागम, उसकी उपासना और आज्ञाका आराधन कर्तव्य है। ऐसे समागमके वियोगमें सत्शास्त्रका यथामति परिचय रखकर सदाचारसे प्रवृत्ति करना योग्य है। यही विनती। ॐ

---

७९६ बंबई, श्रावण वदी ८, शुक्र, १९५३

'मोहमुद्गर' और 'मणिरत्नमाला' ये दो पुस्तकें पढ़नेका अभी अभ्यास रखें। इन दो पुस्तकोंमें मोहके स्वरूपके तथा आत्मसाधनके कितने ही उत्तम प्रकार बताये हैं।

---

७९७ बंबई, श्रावण वदी ८, शुक्र, १९५३

ॐ

पत्र मिला है।

श्री डुंगरकी दशा लिखी सो जानी है। श्री सोभागके वियोगसे उन्हें सबसे ज्यादा खेद होना योग्य है। एक बलवान सत्समागमका योग चला जानेसे आत्मार्थीके अंतःकरणमें बलवान खेद होना योग्य है।

आप, लहेराभाई, मगन आदि सभी मुमुक्षु निरंतर सत्शास्त्रका परिचय रखना न चूकें। आप कोई कोई प्रश्न यहाँ लिखते हैं; उसका उत्तर लिखना अभी प्रायः नहीं बन पाता, इसलिये किसी भी विकल्पमें

न पड़ते हुए, अनुक्रमसे वह उत्तर मिल जायेगा यह विचार करना योग्य है।

थोड़े दिनोंके बाद प्रायः श्री डुंगरको पढ़नेके लिये एक पुस्तक भेजी जायेगी ताकि उन्हें निवृत्तिकी प्रधानता रहे। यहाँसे मणिलालको राधनपुर एक चिट्ठी लिखी थी।

---

७९८ बंबई, श्रावण वदी १०, रवि, १९५३

जिन जिज्ञासुओंको 'मोक्षमार्गप्रकाश' का श्रवण करनेकी अभिलाषा है, उन्हें श्रवण करायें। अधिक स्पष्टीकरणसे और धीरजसे श्रवण करायें। श्रोताको किसी एक स्थानपर विशेष संशय हो तो उसका समाधान करना योग्य है। किसी एक स्थानपर समाधान अशक्य जैसा मालूम हो तो किसी महात्माके योगसे समझनेके लिये कहकर श्रवणको न रोकें; तथा उस संशयको किसी महात्माके सिवाय अन्य किसी स्थानमें पूछनेसे वह विशेष भ्रमका हेतु होगा, और निःसंशयतासे किये हुए श्रवणका लाभ वृथासा होगा, ऐसी दृष्टि श्रोताकी हो तो अधिक हितकारी होगा।

---

७९९ बंबई, श्रावण वदी १२, १९५३

ॐ

सर्वोत्कृष्ट भूमिकामें स्थिति होने तक, श्रुतज्ञानका अवलंबन लेकर सत्पुरुष भी स्वदशामें स्थिर रह सकते हैं, ऐसा जिनेंद्रका अभिमत है, वह प्रत्यक्ष सत्य दिखायी देता है।

सर्वोत्कृष्ट भूमिकापर्यंत श्रुतज्ञान (ज्ञानीपुरुषोंके वचनों) का अवलंबन जब जब मंद पड़ता है तब तब सत्पुरुष भी कुछ न कुछ चपलता पा जाते हैं, तो फिर सामान्य मुमुक्षु जीव कि जिन्हें विपरीत समागम, विपरीत श्रुत आदि अवलंबन रहे हैं उन्हें वारंवार विशेष विशेष चपलता होना संभव है।

ऐसा है तो भी जो मुमुक्षु सत्समागम, सदाचार और सत्शास्त्रविचाररूप अवलंबनमें दृढ़ निवास करते हैं, उन्हें सर्वोत्कृष्ट भूमिकापर्यंत पहुँचना कठिन नहीं है; कठिन होनेपर भी कठिन नहीं है।

---

८०० बंबई, श्रावण वदी १२, १९५३

ॐ

पत्र मिला है। दीवाली तक प्रायः इस क्षेत्रमें स्थिति होगी।

द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे जिन सत्पुरुषोंको प्रतिबंध नहीं है उन सत्पुरुषोंको नमस्कार।

सत्समागम, सत्शास्त्र और सदाचारमें दृढ़ निवास, ये आत्मदशा होनेके प्रबल अवलंबन हैं। सत्समागमका योग दुर्लभ हैं, तो भी मुमुक्षुको उस योगकी तीव्र अभिलाषा रखना और प्राप्ति करना योग्य है। उस योगके अभावमें तो जीवको अवश्य ही सत्शास्त्ररूप विचारके अवलंबनसे सदाचारकी जाग्रति रखना योग्य है।

---

८०१ बंबई, भादों सुदी ६, गुरु, १९५३

परमकृपालु पूज्य पिताजी, ववाणियाबंदर।

आज दिन तक मैंने आपकी कुछ भी अविनय, अभक्ति या अपराध किया हो, तो दो हाथ जोड़कर मस्तक झुकाकर शुद्ध अंतःकरणसे क्षमा माँगता हूँ। कृपा करके आप क्षमा प्रदान करें। अपनी माताजीसे भी इसी तरह क्षमा माँगता हूँ। इसी प्रकार अन्य सब साथियोंके प्रति मैंने जाने-अनजाने किसी

भी प्रकारका अपराध या अविनय किया हो उसके लिये शुद्ध अंतःकरणसे क्षमा माँगता हूँ। कृपया सब क्षमा प्रदान करें।

---

८०२ बंबई, भादों सुदी ९, रवि, १९५३

बाह्य क्रिया और गुणस्थानकादिमें की जानेवाली क्रियाके स्वरूपकी चर्चा करना, अभी प्रायः स्व-पर उपकारी नहीं होगा। इतना कर्तव्य है कि तुच्छ मतमतांतर पर दृष्टि न डालते हुए असद्वृत्तिके निरोधके लिये सत्शास्त्रके परिचय और विचारमें जीवकी स्थिति करना। ॐ

---

८०३ बंबई, भादों सुदी ९, रवि, १९५३

शुभेच्छा योग्य,

आपका पत्र मिला है। इस क्षण तक आपका तथा आपके समागमवासी भाइयोंका कोई भी अपराध या अविनय मुझसे हुआ हो उसके लिये नम्रभावसे क्षमा माँगता हूँ। ॐ

---

८०४ बंबई, भादों सुदी ९, रवि, १९५३

मुनिपथानुगामी श्री लल्लुजी आदि मुमुक्षु तथा शुभेच्छायोग्य भावसार मनसुखलाल आदि मुमुक्षु, श्री खेडा।

आज तक आपका कोई भी अपराध या अविनय इस जीवसे हुआ हो, उसके लिये नम्रभावसे क्षमा माँगता हूँ। ॐ

---

८०५ बंबई, भादों सुदी ९, रवि, १९५३

आज तक आपका तथा अंबालाल आदि सभी मुमुक्षओंका मुझसे कोई अपराध या अविनय हुआ हो उसके लिये आप सबसे क्षमा चाहता हूँ। ॐ

फेणायसे पोपटभाईका पत्र मिला था। अभी किसी सद्ग्रंथको पढ़नेके लिये उन्हें लिखें।

यही विनती।

---

८०६ बंबई, भादों वदी ८, रवि, १९५३

श्री डुंगर आदि मुमुक्षु,

मगनलालने मन आदिकी पहचानके प्रश्न लिखे हैं, उन्हें समागममें पूछनेसे समझना बहुत सुलभ होगा। पत्रद्वारा समझमें आने कठिन है।

श्री लहेराभाई आदि मुमुक्षुओंको आत्मस्मरणपूर्वक यथाविनय प्राप्त हो।

जीवको परमार्थप्राप्तिमें अपार अंतराय है; उसमें भी इस कालमें तो उन अंतरायोंका अवर्णनीय बल होता है। शुभेच्छासे लेकर कैवल्यपर्यंतकी भूमिकामें पहुँचते हुए जगह जगह वे अंतराय देखनेमें आते हैं, और वे अंतराय जीवको वारंवार परमार्थसे गिराते हैं। जीवको महापुण्यके उदयसे यदि सत्समागमका अपूर्व लाभ मिलता रहे तो वह निर्विघ्नतासे कैवल्यपर्यंतकी भूमिकामें पहुँच जाता है। सत्समागमके वियोगमें जीवको आत्मबल विशेष जाग्रत रखकर सत्शास्त्र और शुभेच्छासंपन्न पुरुषोंके समागममें रहना योग्य है।

---

८०७ बंबई, भादों वदी ३०, रवि, १९५३

शरीर आदि बलके घटनेसे सब मनुष्योंसे मात्र दिगंबर-वृत्तिसे रहकर चारित्रका निर्वाह नहीं हो सकता, इसलिये वर्तमानकाल जैसे कालमें मर्यादापूर्वक श्वेताम्बर-वृत्तिसे चारित्रका निर्वाह करनेके लिये ज्ञानीने जिस प्रवृत्तिका उपदेश किया है, उसका निषेध करना योग्य नहीं है। इसी तरह वस्त्रका आग्रह रखकर दिगंबर-वृत्तिका एकांत निषेध करके वस्त्रमूर्च्छा आदि कारणोंसे चारित्रमें शिथिलता भी कर्तव्य नहीं है।

दिगंबरत्व और श्वेतांबरत्व, देश, काल और अधिकारीके योगसे उपकारके हेतु हैं। अर्थात् जहाँ ज्ञानीने जिस प्रकार उपदेश किया है उस तरह प्रवृत्ति करनेसे आत्मार्थ ही है।

'मोक्षमार्गप्रकाश'में, वर्तमान जिनागम जो श्वेतांबर संप्रदायको मान्य है, उनका निषेध किया है, वह निषेध करना योग्य नहीं है। वर्तमान आगममें अमुक स्थल अधिक संदेहास्पद हैं, परंतु सत्पुरुषकी दृष्टिसे देखनेपर उसका निराकरण हो जाता है, इसलिये उपशमदृष्टिसे उन आगमोंका अवलोकन करनेमें संशय करना योग्य नहीं है।

---

८०८ बंबई, आसोज सुदी ८, रवि, १९५३

ॐ

सत्पुरुषोंके अगाध गंभीर संयमको नमस्कार

अविषम परिणामसे जिन्होंने कालकूट विष पिया ऐसे श्री ऋषभ आदि परम पुरुषोंको नमस्कार।

परिणाममें तो जो अमृत ही है, परंतु प्रथम दशामें कालकूट विषकी भाँति उद्विग्न करता है, ऐसे श्री संयमको नमस्कार।

उस ज्ञानको, उस दर्शनको और उस चारित्रको वारंवार नमस्कार। ॐ

---

८०९ बंबई, आसोज सुदी ८, रवि, १९५३

आप सबके लिखे पत्र अनेक बार हमें मिलते हैं; और उनकी पहुँच भी लिखना अशक्य हो जाता है; अथवा तो वैसा करना योग्य लगता है। इतनी बात स्मरणमें रखनेके लिये लिखी है। वैसा प्रसंग होनेपर, कुछ आपके पत्रादिके लेखन-दोषसे ऐसा हुआ होगा या नहीं इत्यादि विकल्प आपके मनमें न होनेके लिये यह स्मरण रखनेके लिये लिखा है।

जिनकी भक्ति निष्काम है ऐसे पुरुषोंका सत्संग या दर्शन महापुण्यरूप समझना योग्य है। आपके निकटवर्ती सत्संगियोंको समस्थितिसे यथायोग्य।

---

८१० बंबई, आसोज सुदी ८, रवि, १९५३

ॐ

पारमार्थिक हेतुविशेषसे पत्रादि लिखना नहीं बन पाता।

जो अनित्य है, जो असार है और जो अशरणरूप है वह इस जीवको प्रीतिका कारण क्यों होता है यह बात रात-दिन विचार करने योग्य है।

लोकदृष्टि और ज्ञानीकी दृष्टिमें पश्चिम पूर्व जितना अंतर है। ज्ञानीकी दृष्टि प्रथम तो निरालंबन है,

रुचि उत्पन्न नहीं करती, जीवकी प्रकृतिसे मेल नहीं खाती, जिससे जीव उस दृष्टिमें रुचिमान नहीं होता। परंतु जिन जीवोंने परिषह सहन करके कुछ समय तक उस दृष्टिका आराधन किया है, वे सर्व दुःखके क्षयरूप निर्वाणको प्राप्त हुए हैं, उसके उपायको प्राप्त हुए हैं।

जीवको प्रमादमें अनादिसे रति है, परंतु उसमें रति करने योग्य कुछ दिखायी नहीं देता। ॐ

---

८११ बंबई, आसोज सुदी ८, रवि, १९५३

ॐ

सब जीवोंके प्रति हमारी तो क्षमादृष्टि है।

सत्पुरुषका योग और सत्समागम मिलना बहुत कठिन है, इसमें संशय नहीं है। ग्रीष्म ऋतुके तापसे संतप्त प्राणीको शीतल वृक्षकी छायाकी तरह मुमुक्षुजीवको सत्पुरुषका योग तथा सत्समागम उपकारी है। सर्व शास्त्रोंमें वैसा योग मिलना दुर्लभ कहा है।

'शांतसुधारस' और 'योगदृष्टिसमुच्चय' ग्रंथोंका अभी विचार करना रखें। ये दोनों ग्रंथ प्रकरणरत्नाकर पुस्तकमें छपे हैं। ॐ

---

८१२ बंबई, आसोज सुदी ८, रवि, १९५३

ॐ

किसी एक परमार्थिक हेतुविशेषसे पत्रादि लिखना नहीं हो सकता।

विशेष ऊँची भूमिकाको प्राप्त मुमुक्षुओंको भी सत्पुरुषोंका योग अथवा सत्समागम आधारभूत है, इसमें संशय नहीं है। निवृत्तिमान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका योग होनेसे जीव उत्तरोत्तर ऊँची भूमिकाको प्राप्त करता है। निवृत्तिमान भाव-परिणाम होनेके लिये जीवको निवृत्तिमान द्रव्य, क्षेत्र और काल प्राप्त करना योग्य है। शुद्ध समझसे रहित इस जीवको किसी भी योगसे शुभेच्छा, कल्याण करनेकी इच्छा प्राप्त हो और निःस्पृह परम पुरुषका योग मिले तो ही इस जीवको भान आना संभव है। उसके वियोगमें सत्शास्त्र और सदाचारका परिचय कर्तव्य है, अवश्य कर्तव्य है। श्री डुंगर आदि मुमुक्षुओंको यथायोग्य।

---

८१३ बंबई, आसोज वदी ७, १९५३

ऊपरकी भूमिकाओंमें भी अवकाश मिलनेपर अनादि वासनाका संक्रमण हो आता है, और आत्माको वारंवार आकुल-व्याकुल कर देता है। वारंवार यों हुआ करता है कि अब ऊपरकी भूमिकाकी प्राप्ति होना दुर्लभ ही है, और वर्तमान भूमिकामें स्थिति भी पुनः होना दुर्लभ है। ऐसे असंख्य अंतराय-परिणाम ऊपरकी भूमिकामें भी होते हैं, तो फिर शुभेच्छादि भूमिकामें वैसा हो, यह कुछ आश्चर्यकारक नहीं है। वैसे अंतरायसे खिन्न न होते हुए आत्मार्थी जीव पुरुषार्थदृष्टि रखें, शूरवीरता रखे, हितकारी द्रव्य, क्षेत्र आदि योगका अनुसंधान करे, सत्शास्त्रका विशेष परिचय रखकर, वारंवार हठ करके भी मनको सद्विचारमें लगाये और मनके दुरात्म्यसे आकुल-व्याकुल न होते हुए धैर्यसे सद्विचारपथपर जानेका उद्यम करते हुए जय पाकर ऊपरकी भूमिकाको प्राप्त करता है और अविक्षिप्तता प्राप्त करता है। 'योगदृष्टिसमुच्चय' वारंवार अनुप्रेक्षा करने योग्य है।

---

८१४ बंबई, आसोज वदी १४, रवि, १९५३

ॐ

श्री हरिभद्राचार्यने 'योगदृष्टिसमुच्चय' ग्रंथ संस्कृतमें रचा है। 'योगबिंदु' नामक योगका दूसरा ग्रंथ भी उन्होंने रचा है। हेमचंद्राचार्यने 'योगशास्त्र' नामक ग्रंथ रचा है। श्री हरिभद्रकृत 'योगदृष्टि-समुच्चय'की पद्धतिसे गुर्जरभाषामें श्री यशोविजयजीने स्वाध्यायकी रचना की है। शुभेच्छासे लेकर निर्वाणपर्यंतकी भूमिकाओंमें मुमुक्षुजीवको वारंवार श्रवण करने योग्य, विचार करने योग्य और स्थिति करने योग्य आशयसे बोध-तारतम्य तथा चारित्र-स्वभावका तारतम्य उस ग्रंथमें प्रकाशित किया है। यमसे लेकर समाधिपर्यंत अष्टांगयोग दो प्रकारके हैं—एक प्राणादि निरोधरूप और दूसरा आत्मस्वभावपरिणामरूप। 'योगदृष्टिसमुच्चय'में आत्मस्वभावपरिणामरूप योगका मुख्य विषय है। वारंवार वह विचार करने योग्य है।

श्री धुरीभाई आदि मुमुक्षुओंको यथायोग्य प्राप्त हो।

३१ वाँ वर्ष

८१५ बंबई, कार्त्तिक वदी १, बुध, १९५४

आत्मार्थी श्री मनसुख द्वारा लिखे हुए प्रश्नका समाधान विशेष करके सत्समागममें मिलनेसे यथायोग्य समझमें आयेगा।

जो आर्य अब अन्य क्षेत्रमें विहार करनेके आश्रममें हैं, उन्हें जिस क्षेत्रमें शांतरसप्रधान वृत्ति रहे, निवृत्तिमान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका लाभ हो, उस क्षेत्रमें विचरना योग्य है। समागमकी आकांक्षा है, तो अभी अधिक दूर क्षेत्रमें विचरना न हो सकेगा, चरोतर आदि प्रदेशमें विचरना योग्य है। यही विनती। ॐ

---

८१६ बंबई, कार्त्तिक वदी ५, १९५४

आपके लिखे पत्र मिले हैं।

अमुक सद्ग्रंथोंका लोकहितार्थ प्रचार हो ऐसा करनेकी वृत्ति बतायी सो ध्यानमें हैं। मगनलाल आदिने दर्शन तथा समागमकी आकांक्षा प्रदर्शित की है वे पत्र भी मिले हैं।

केवल अंतर्मुख होनेका सत्पुरुषोंका मार्ग सर्व दुःखक्षयका उपाय है, परंतु वह किसी ही जीवको समझमें आता है। महत्पुण्यके योगसे, विशुद्ध मतिसे, तीव्र वैराग्यसे और सत्पुरुषके समागमसे वह उपाय समझमें आने योग्य है। उसे समझनेका अवसर एक मात्र यह मनुष्य देह है। वह भी अनियत कालके भयसे गृहीत है; वहाँ प्रमाद होता है, यह खेद और आश्चर्य है। ॐ

---

८१७ बंबई, कार्त्तिक वदी १२, १९५४

पहले आपके दो पत्र और अभी एक पत्र मिला है। अभी यहाँ स्थिति होना संभव है।

आत्मदशाको पाकर जो निर्द्वन्द्वतासे यथाप्रारब्ध विचरते हैं, ऐसे महात्माओंका योग जीवको दुर्लभ है। वैसा योग मिलनेपर जीवको उस पुरुषकी पहचान नहीं होती, और तथारूप पहचान हुए बिना उस महात्माका दृढ़ाश्रय नहीं होता। जब तक आश्रय दृढ़ न हो तब तक उपदेश फलित नहीं होता। उपदेशके फलित हुए बिना सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं होती। सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके बिना जन्मादि दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं बन पाती। वैसे महात्मा पुरुषोंका योग तो दुर्लभ है, इसमें संशय नहीं है। परंतु आत्मार्थी जीवोंका योग मिलना भी कठिन है। तो भी क्वचित् क्वचित् वह योग वर्तमानमें होना संभव है। सत्समागम और सत्शास्त्रका परिचय कर्त्तव्य है। ॐ

---

८१८ बंबई, मार्गशीर्ष सुदी ५, रवि, १९५४

ॐ

क्षयोपशम, उपशम, क्षायिक, पारिणामिक, औदयिक और सान्निपातिक, इन छः भावोंको ध्यानमें रखकर आत्माको उन भावोंसे अनुप्रेक्षित करके देखनेसे सद्विचारमें विशेष स्थिति होगी।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र जो आत्मभावरूप हैं, उन्हें समझनेके लिये उपर्युक्त भाव विशेष अवलंबनभूत हैं।

---

८१९ बंबई, मार्गशीर्ष सुदी ५, रवि, १९५४

ॐ

खेद न करते हुए शूरवीरता ग्रहण करके ज्ञानीके मार्गपर चलनेसे मोक्षपट्टन सुलभ ही है। विषयकषाय आदि विशेष विकार कर डालें, उस समय विचारवानको अपनी निर्वीर्यता देखकर बहुत ही खेद होता है, और आत्माकी वारंवार निंदा करता है, पुनः पुनः तिरस्कार-वृत्तिसे देखकर, पुनः महापुरुषके चरित्र और वाक्यका अवलंबन ग्रहण कर, आत्मामें शौर्य उत्पन्न कर, उन विषयादिके विरुद्ध अति हठ करके उन्हें हटाता है; तब तक हिम्मत हारकर बैठ नहीं जाता, और केवल खेद करके रुक नहीं जाता। इसी वृत्तिका अवलंबन आत्मार्थी जीवोंने लिया है; और इसीसे अंतमें विजय पाई है। यह बात सभी मुमुक्षुओंको मुखाग्र करके हृदयमें स्थिर करना योग्य है।

---

८२० बंबई, मार्गशीर्ष सुदी ५, रवि, १९५४

त्रंबकलालका लिखा एक पत्र तथा मगनलालका लिखा एक पत्र तथा मणिलालका लिखा एक पत्र यों तीन पत्र मिले हैं। मणिलालका लिखा पत्र अभी तक चित्तपूर्वक पढ़ा नहीं जा सका है।

श्री डुंगरकी अभिलाषा 'आत्मसिद्धि' पढ़नेकी है। इसलिये उनके पढ़नेके लिये उस पुस्तककी व्यवस्था करें। 'मोक्षमार्गप्रकाश' नामक ग्रंथ श्री रेवाशंकरके पास है वह श्री डुंगरके लिये पढ़ने योग्य है, प्रायः थोड़े दिनोंमें उन्हें वह ग्रंथ वे भेजेंगे।

'कौनसे गुण अंगमें आनेसे यथार्थ मार्गानुसारिता कही जाये?' 'कौनसे गुण अंगमें आनेसे यथार्थ सम्यग्दृष्टिता कही जाये?' 'कौनसे गुण अंगमें आनेसे श्रुतकेवलज्ञान हो?' 'तथा कौनसी दशा होनेसे यथार्थ केवलज्ञान हो, अथवा कहा जाये?' इन प्रश्नोंके उत्तर लिखवानेके लिये श्री डुंगरसे कहें।

आठ दिन रुककर उत्तर लिखनेमें बाधा नहीं है, परंतु सांगोपांग, यथार्थ और विस्तारसे लिखवायें। सद्विचारवानके लिये ये प्रश्न हितकारी हैं। सभी मुमुक्षुओंको यथायोग्य।

---

८२१ बंबई, पौष सुदी ३, रवि, १९५४

त्रंबकलालने क्षमा माँगकर लिखा है कि सहजभावसे व्यावहारिक बात लिखी गयी है, उस संबंधमें आप खेद न करें। यहाँ वह खेद नहीं है, परंतु जब तक आपकी दृष्टिमें वह बात रहेगी अर्थात् व्यावहारिक वृत्ति रहेगी तब तक आत्महितके लिये बलवान प्रतिबंध है, यों समझियेगा। और स्वप्नमें भी उस प्रतिबंधमें न रहा जाये इसका ध्यान रखियेगा।

हमने जो यह अनुरोध किया है, उस पर आप यथाशक्ति पूर्ण विचार कर देखें, और उस वृत्तिका मूल अंतरसे सर्वथा निवृत्त कर डालिये। नहीं तो समागमका लाभ प्राप्त होना असंभव है। यह बात शिथिलवृत्तिसे नहीं परंतु उत्साहवृत्तिसे सिरपर चढ़ानी योग्य है।

मगनलालने मार्गानुसारीसे लेकर केवलपर्यंत दशासंबंधी प्रश्नोंके उत्तर लिखे थे, वे उत्तर हमने पढ़े हैं। वे उत्तर शक्तिके अनुसार हैं, परंतु सद्बुद्धिसे लिखे गये हैं।

मणिलालने लिखा कि गोशळियाको 'आत्मसिद्धि' ग्रंथ घर ले जानेके लिये न देनेसे बुरा लगा इत्यादि

लिखा, उसे लिखनेका कारण न था। हम इस ग्रंथके लिये कुछ रागदृष्टि या मोहदृष्टिमें पड़कर डुंगरको अथवा दूसरेको देनेमें प्रतिबंध करते हैं, यह होना संभव नहीं है। इस ग्रंथकी अभी दूसरी नकल करनेकी प्रवृत्ति न करें।

---

८२२ आणंद, पौष वदी ११, मंगल, १९५४

आज सबेरे यहाँ आना हुआ है। लीमडीवाले भाई केशवलालका भी आज यहाँ आना हुआ है। भाई केशवलालने आप सबको आनेके लिये तार किया था सो सहजभावसे था। आप सब कोई न आ सके यों विचार कर इस प्रसंगपर चित्तमें खिन्न न होवें। आपके लिखें पत्र और चिट्ठी मिले हैं। किसी एक हेतुविशेषसे समागमके प्रति अभी विशेष उदासीनता रहा करती थी, और वह अभी योग्य है, ऐसा लगनेसे अभी मुमुक्षुओंका समागम कम हो ऐसी वृत्ति थी। मुनियोंसे कहें कि विहार करनेमें अभी अप्रवृत्ति न करें; क्योंकि अभी तुरत प्रायः समागम नहीं होगा। पंचास्तिकाय ग्रंथका विचार ध्यानपूर्वक करें।

---

८२३ आणंद, पौष वदी १३, गुरु, १९५४

मंगलवारको सुबह यहाँ आना हुआ था। प्रायः कल सबेरे यहाँसे जाना होगा। मोरबी जाना संभव है।

सर्व मुमुक्षु बहनों और भाइयोंको स्वरूपस्मरण कहियेगा।

श्री सोभागकी विद्यमानतामें कुछ पहलेसे सूचित किया जाता था, और अभी वैसा नहीं हुआ, ऐसी किसी भी लोकदृष्टिमें पड़ना योग्य नहीं है।

अविषमभावके बिना हमें भी अबंधताके लिये दूसरा कोई अधिकार नहीं है। मौन रहना योग्य मार्ग है।

लि० रायचंद्र

---

८२४ मोरबी, माघ सुदी ४, बुध, १९५४

ॐ

मुनियोंको विज्ञप्ति कि–

शुभेच्छासे लेकर क्षीणमोहपर्यंत सत्श्रुत और सत्समागमका सेवन करना योग्य है। सर्वकालमें जीवके लिये इस साधनकी दुर्लभता है। उसमें फिर ऐसे कालमें दुर्लभता रहे यह यथासंभव है।

दुःषमकाल और 'हुंडावसर्पिणी' नामका आश्चर्यभाव अनुभवसे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने जैसा है। आत्मश्रेयके इच्छुक पुरुषको उससे क्षुब्ध न होकर वारंवार उस योगपर पैर रखकर सत्श्रुत, सत्समागम और सद्वृत्तिको बलवान करना योग्य है।

---

८२५ मोरबी, माघ सुदी ४, बुध, १९५४

आत्मस्वभावकी निर्मलता होनेके लिये मुमुक्षुजीवको दो साधन अवश्य ही सेवन करने योग्य हैं– सत्श्रुत और सत्समागम। प्रत्यक्ष सत्पुरुषोंका समागम जीवको कभी कभी ही प्राप्त होता है, परंतु यदि जीव सद्दृष्टिमान हो तो सत्श्रुतके बहुत कालके सेवनसे होनेवाला लाभ प्रत्यक्ष सत्पुरुषके समागमसे बहुत अल्पकालमें प्राप्त कर सकता है; क्योंकि प्रत्यक्ष गुणातिशयवान निर्मल चेतनके प्रभाववाले वचन और वृत्ति क्रिया-चेष्टित्व है। जीवको वैसा समागमयोग प्राप्त हो ऐसा विशेष प्रयत्न कर्तव्य है। वैसे

योगके अभावमें सत्श्रुतका परिचय अवश्य ही करना योग्य है। जिसमें शांतरसकी मुख्यता है, शांतरसके हेतुसे जिसका समस्त उपदेश है, और जिसमें सभी रसोंका शांतरसगर्भित वर्णन किया गया है, ऐसे शास्त्रका परिचय सत्श्रुतका परिचय है।

---

८२६ मोरबी, माघ सुदी ४, बुध, १९५४

ॐ

यदि हो सके तो बनारसीदासके जो ग्रंथ आपके पास हों (समयसार-भाषाके सिवाय), दिगम्बर 'नयचक्र', 'पंचास्तिकाय' (दूसरी प्रति हो तो), 'प्रवचनसार' (श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत हो तो) और 'परमात्मप्रकाश' यहाँ भेजियेगा।

जीवको सत्श्रुतका परिचय अवश्य ही कर्तव्य है। मल, विक्षेप और प्रमाद उसमें वारंवार अंतराय करते हैं, क्योंकि दीर्घकालसे परिचित हैं; परंतु यदि निश्चय करके उन्हें अपरिचित करनेकी प्रवृत्ति की जाये तो ऐसे हो सकता है। यदि मुख्य अंतराय हो तो वह जीवका अनिश्चय है।

---

८२७ ववाणिया, माघ वदी ४, गुरु, १९५४

इस जीवको उत्तापके मूल हेतु क्या है तथा उनकी निवृत्ति क्यों नहीं होती, और वह कैसे हो ? ये प्रश्न विशेषतः विचार करने योग्य हैं, अंतरमें उतारकर विचार करने योग्य हैं। जब तक इस क्षेत्रमें स्थिति रहे तब तक चित्तको अधिक दृढ़ रखकर प्रवृत्ति करें। यही विनती।

---

८२८ सं. १९५४

श्री भाणजीस्वामीको पत्र लिखवाते हुए सूचित करें—'विहार करके अहमदाबाद स्थिति करनेमें मनको भय, उद्वेग या क्षोभ नहीं है, परंतु हितबुद्धिसे विचार करते हुए हमारी दृष्टिमें यह आता है कि अभी उस क्षेत्रमें स्थिति करना योग्य नहीं है। यदि आप कहेंगे तो उसमें आत्महितको क्या बाधा आती है, सो विदित करेंगे, और उसके लिये आप सूचित करेंगे तो उस क्षेत्रमें समागममें आयेंगे। अहमदाबादका पत्र पढ़कर आप सबको कुछ भी उद्वेग या क्षोभ कर्तव्य नहीं है, समभाव कर्तव्य है। लिखनेमें यदि कुछ भी अनम्रभाव हुआ हो तो क्षमा करें।'

यदि तुरत ही उनका समागम होनेवाला हो तो ऐसा कहें—'आपने विहार करनेके बारेमें सूचित किया, उस बारेंमें आपका समागम होनेपर जैसा कहेंगे वैसा करेंगे।' और समागम होनेपर कहें—"पहलेकी अपेक्षा संयममें शिथिलता की हो ऐसा आपको मालूम होता हो तो वह बतायें, जिससे उसकी निवृत्ति की जा सके; और यदि आपको वैसा न मालूम होता हो तो फिर यदि कोई जीव विषमभावके अधीन होकर वैसा कहें तो उस बातपर ध्यान न देकर आत्मभावका ध्यान रखकर प्रवृत्ति करना योग्य है।

ऐसा जानकर अभी अहमदाबाद-क्षेत्रमें जानेकी वृत्ति योग्य नहीं लगती, क्योंकि रागदृष्टिवाले जीवके पत्रकी प्रेरणासे, और मानके रक्षणके लिये उस क्षेत्रमें जाने जैसा होता है, जो बात आत्माके अहितका हेतु है। कदाचित् आप ऐसा समझते हों कि जो लोग असंभव बात कहते हैं उन लोगोंके मनमें अपनी भूल मालूम होगी और धर्मकी हानि होनेसे रुक जायेगी तो यह एक हेतु ठीक है; परंतु वैसा रक्षण करनेके लिये उपर्युक्त दो दोष न आते हों तो किसी अपेक्षासे लोगोंकी भूल दूर होनेके लिये विहार कर्तव्य

है। परंतु एक बार तो अविषमभावसे उस बातको सहन करके अनुक्रमसे स्वाभाविक विहार होते होते उस क्षेत्रमें जाना हो और किन्हीं लोगोंको वहम हो वह निवृत्त हो ऐसा करना उचित है; परंतु रागदृष्टिवालेके वचनोंकी प्रेरणासे, तथा मानके रक्षणके लिये अथवा अविषमता न रहनेसे लोगोंकी भूल मिटानेका निमित्त मानना, वह आत्महितकारी नहीं है, इसलिये अभी इस बातको उपशांत कर अहमदाबाद आप बताये कि क्वचित् लल्लुजी आदि मुनियोंके लिये किसीने कुछ कहा हो तो इससे वे मुनि दोषपात्र नहीं होते; उनके समागममें आनेसे जिन लोगोंको वैसा संदेह होगा वह सहज ही निवृत्त हो जायेगा, अथवा किसी समझनेकी भूलसे संदेह हो या दूसरा कोई स्वपक्षके मानके लिये संदेह प्रेरित करे तो वह विषम मार्ग है; इसलिये विचारवान मुनियोंको वहाँ समदर्शी होना योग्य है; आपको चित्तमें कोई क्षोभ करना योग्य नहीं है, ऐसा बतायें। आप ऐसा करेंगे तो हमारे आत्माका, आपके आत्माका, और धर्मका रक्षण होगा।" इस प्रकार जैसे उनकी वृत्तिमें जचे, वैसे योगमें बातचीत करके समाधान करें, और अभी अहमदाबाद-क्षेत्रमें स्थिति करना न बने ऐसा करेंगे तो आगे जाकर विशेष उपकारका हेतु है। ऐसा करते हुए भी यदि किसी भी प्रकारसे भाणजीस्वामी न मानें तो अहमदाबाद-क्षेत्रकी ओर भी विहार कीजिये, और संयमके उपयोगमें सावधान रहकर आचरण करिये। आप अविषम रहिये।

---

८२९ मोरबी, माघ वदी ०)), १९५४

मुमुक्षुता जैसे दृढ़ हो वैसे करें; हारने अथवा निराश होनेका कोई हेतु नहीं है। जीवको दुर्लभ योग प्राप्त हुआ तो फिर थोड़ासा प्रमाद छोड़ देनेमें जीवको उद्विग्न अथवा निराश होने जैसा कुछ भी नहीं है।

---

८३० मोरबी, चैत्र वदी १२, रवि, १९५४

'पंचास्तिकाय' ग्रंथ रजिस्टर्ड बुक-पोस्टसे भेजनेकी व्यवस्था करें।

आप, छोटालाल, त्रिभोवन, कीलाभाई, धुरीभाई और झवेरभाई आदिको 'मोक्षमार्गप्रकाश' आदिसे अंत तक पढ़ना अथवा सुनना योग्य है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भावसे नियमित शास्त्रावलोकन कर्तव्य है।

---

८३१ मोरबी, चैत्र वदी १२, रवि, १९५४

श्री देवकीर्ण आदि मुमुक्षुओंको यथाविनय नमस्कार प्राप्त हो।

'कर्मग्रंथ', 'गोम्मटसारशास्त्र' आदिसे अंत तक विचार करने योग्य है।

दुःषमकालका प्रबल राज्य चल रहा है, तो भी अडिग निश्चयसे, सत्पुरुषकी आज्ञामें वृत्तिका अनुसंधान करके जो पुरुष अगुप्तवीर्यसे सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी उपासना करना चाहता है, उसे परम शान्तिका मार्ग अभी भी प्राप्त होना योग्य है।

---

८३२ ववाणिया, ज्येष्ठ, १९५४

देहसे भिन्न स्वपरप्रकाशक परम ज्योतिस्वरूप यह आत्मा है, इसमें निमग्न होवें। हे आर्य जनों! अन्तर्मुख होकर, स्थिर होकर उस आत्मामें ही रहें तो अनन्त अपार आनन्दका अनुभव करेंगे।

सर्व जगतके जीव कुछ न कुछ प्राप्त करके सुख प्राप्त करना चाहते हैं; महान चक्रवर्ती राजा भी बढ़ते हुए वैभव, परिग्रहके संकल्पमें प्रयत्नवान है; और प्राप्त करनेमें सुख मानता है; परंतु अहो!

ज्ञानियोंने तो उससे विपरीत ही सुखका मार्ग निर्णीत किया कि किंचित्मात्र भी ग्रहण करना यही सुखका नाश है।

विषयसे जिसकी इन्द्रियाँ आर्त्त है उसे शीतल आत्मसुख, आत्मतत्त्व कहाँसे प्रतीतिमें आयेगा ?

परम धर्मरूप चंद्रके प्रति राहु जैसे परिग्रहसे अब मैं विराम पाना ही चाहता हूँ। हमें परिग्रहको क्या करना है ?

कुछ प्रयोजन नहीं है।

'जहाँ सर्वोत्कृष्ट शुद्धि वहाँ सर्वोत्कृष्ट सिद्धि।'

हे आर्यजनों ! इस परम वाक्यका आत्मभावसे आप अनुभव करें।

---

८३३ ववाणिया, ज्येष्ठ सुदी १, शनि, १९५४

सर्व द्रव्यसे, सर्व क्षेत्रसे, सर्व कालसे और सर्व भावसे जो सर्वथा अप्रतिबद्ध होकर निजस्वरूपमें स्थित हुए उन परम पुरुषोंको नमस्कार।

जिन्हें कुछ प्रिय नहीं है, जिन्हें कुछ अप्रिय नहीं है, जिनका कोई शत्रु नहीं है, जिनका कोई मित्र नहीं है, जिन्हें मान-अपमान, लाभ-अलाभ, हर्ष-शोक, जन्म-मृत्यु आदि द्वन्द्वोंका अभाव होकर जो शुद्ध चैतन्यस्वरूपमें स्थित हुए हैं, स्थित होते हैं, और स्थित होंगे उनका अति उत्कृष्ट पराक्रम सानंदाश्चर्य उत्पन्न करता है।

देहसे जैसा वस्त्रका संबंध है, वैसा आत्मासे देहका संबंध जिन्होंने यथातथ्य देखा है, म्यानसे तलवारका जैसा संबंध है, वैसा देहसे आत्माका संबंध जिन्होंने देखा है, अबद्ध-स्पष्ट आत्माका जिन्होंने अनुभव किया है, उन महत्पुरुषोंको जीवन और मरण दोनों समान हैं।

जिस अचिंत्य द्रव्यकी शुद्धचितिस्वरूप कांति परम प्रगट होकर अचिंत्य करती है, वह अचिंत्य द्रव्य सहज स्वाभाविक निजस्वरूप है, निश्चय ऐसा जिस परमकृपालु सत्पुरुषने प्रकाशित किया उसका अपार उपकार है।

चंद्र भूमिको प्रकाशित करता है, उसकी किरणोंकी कांतिके प्रभावसे समस्त भूमि श्वेत हो जाती है, परंतु चंद्र कुछ भूमिरूप किसी कालमें नहीं होता; इसी प्रकार समस्त विश्वका प्रकाशक ऐसा यह आत्मा कभी भी विश्वरूप नहीं होता, सदा-सर्वदा चैतन्यस्वरूप ही रहता है। विश्वमें जीव अभेदता मानता है यही भ्रांति है।

जैसे आकाशमें विश्वका प्रवेश नहीं है, सर्व भावकी वासनासे आकाश रहित ही है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि पुरुषोंने प्रत्यक्ष सर्व द्रव्यसे भिन्न, सर्व अन्य पर्यायसे रहित ही आत्मा देखा है।

जिसकी उत्पत्ति किसी भी अन्य द्रव्यसे नहीं होती, ऐसे आत्माका नाश भी कहाँसे हो ?

अज्ञानसे और स्वस्वरूपके प्रमादसे आत्माको मात्र मृत्युकी भ्रांति है। उसी भ्रांतिको निवृत्त करके शुद्ध चैतन्य निजअनुभवप्रमाणस्वरूपमें परम जाग्रत होकर ज्ञानी सदैव निर्भय है। इसी स्वरूपके लक्ष्यसे सर्व जीवोंके प्रति साम्यभाव उत्पन्न होता है। सर्व परद्रव्यसे वृत्तिको व्यावृत्त करके आत्मा अक्लेश समाधिको पाता है।

जिन्होंने परमसुखस्वरूप, परमोत्कृष्ट शांत, शुद्ध चैतन्यस्वरूप समाधिको सदाके लिये प्राप्त किया उन भगवंतको नमस्कार, और जिनका उस पदमें निरंतर ध्यानरूप प्रवाह है उन सत्पुरुषोंको नमस्कार।

सर्वसे सर्वथा मैं भिन्न हूँ, एक केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूप, परमोत्कृष्ट, अचिंत्य सुखस्वरूप मात्र एकांत शुद्ध अनुभवरूप मैं हूँ, वहाँ विक्षेप क्या ? विकल्प क्या ? भय क्या ? खेद क्या ? दूसरी अवस्था क्या ? मैं मात्र निर्विकल्प शुद्ध, शुद्ध, प्रकृष्ट शुद्ध परमशांत चैतन्य हूँ। मैं मात्र निर्विकल्प हूँ। मैं निजस्वरूपमय उपयोग करता हूँ। तन्मय होता हूँ। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

---

८३४ ववाणिया, ज्येष्ठ सुदी ६, गुरु, १९५४

महद्गुणनिष्ठ स्थविर आर्य श्री डुंगर ज्येष्ठ सुदी ३ सोमवारकी रातको नौ बजे समाधिसहित देहमुक्त हुए।

मुनियोंको नमस्कार प्राप्त हो।

---

८३५ बंबई, ज्येष्ठ वदी ४, बुध, १९५४

ॐ नमः

जिससे मनकी वृत्ति शुद्ध और स्थिर हो ऐसा सत्समागम प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है। और उसमें यह दुःषमकाल होनेसे जीवको उसका विशेष अंतराय है। जिस जीवको प्रत्यक्ष सत्समागमका विशेष लाभ प्राप्त हो वह महापुण्यवान है। सत्समागमके वियोगमें सत्शास्त्रका सदाचारपूर्वक परिचय अवश्य करने योग्य है।

८३६

उत्पाद
व्यय
ध्रुव
} ये भाव एक वस्तुमें एक समयमें है।

जीव और परमाणुओंका

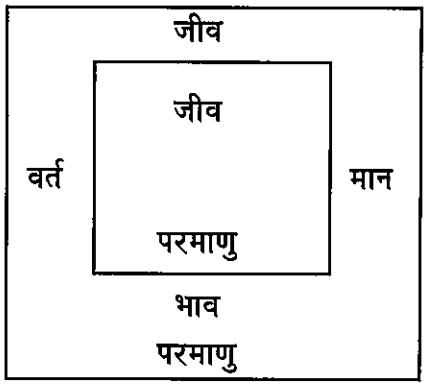

संयोग

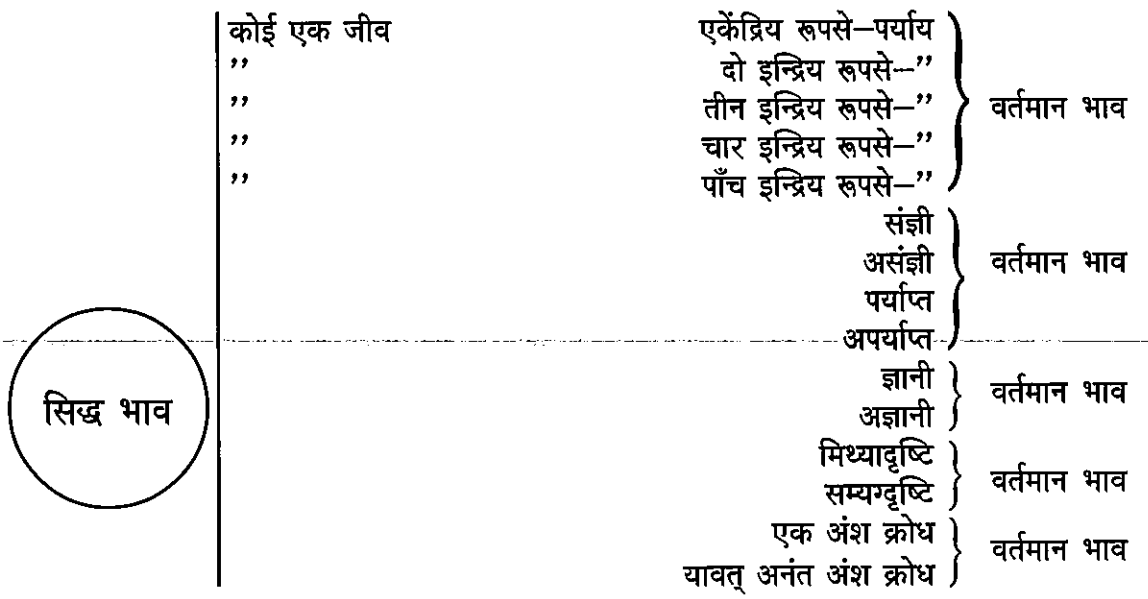

८३७ सं० १९५४

आत्मज्ञान समदर्शिता, विचरे उदयप्रयोग ।
अपूर्ववाणी परमश्रुत, सद्गुरु लक्षण योग्य ॥–आत्मसिद्धिशास्त्र,१०वाँ पद

प्रश्न–(१) सद्गुरु योग्य ये लक्षण मुख्यतः किस गुणस्थानकमें संभव हैं ?

(२) समदर्शिता किसे कहते हैं ?

उत्तर–(१) सद्गुरु योग्य जो ये लक्षण बताये हैं, वे मुख्यतः विशेषतः उपदेशक अर्थात् मार्ग-प्रकाशक सद्गुरुके लक्षण कहे हैं। उपदेशक गुणस्थान छट्ठा और तेरहवाँ हैं; बीचके सातवेंसे बारहवें तक के गुणस्थान अल्पकालवर्ती हैं, इसलिये उनमें उपदेशक-प्रवृत्तिका संभव नहीं है। मागो-पदेशक-प्रवृत्ति छट्ठेसे शुरू होती है।

छट्ठे गुणस्थानमें संपूर्ण वीतरागदशा और केवलज्ञान नहीं हैं। वे तो तेरहवेंमें हैं, और यथावत् मार्गोपदेशकत्व तेरहवें गुणस्थानमें स्थित संपूर्ण वीतराग और कैवल्यसंपन्न परम सद्गुरु श्री जिन तीर्थंकर आदिमें होना योग्य है। तथापि छट्ठे गुणस्थानमें स्थित मुनि, जो संपूर्ण वीतरागता और कैवल्यदशाका उपासक है, उस दशाके लिये जिसका प्रवर्तन-पुरुषार्थ है, जो उस दशाको संपूर्णरूपसे प्राप्त नहीं हुआ है, तथापि उस संपूर्ण दशाके प्राप्त करनेके मार्ग–साधनको स्वयं परम सद्गुरु श्री तीर्थंकर आदि आप्तपुरुषके आश्रय-वचनसे जिसने जाना है, प्रतीत किया है, अनुभव किया है, और उस मार्ग-साधनकी उपासनासे जिसकी वह दशा उत्तरोत्तर विशेष विशेष प्रकट होती जाती है, तथा श्री जिन तीर्थंकर आदि परम सद्गुरुकी, उनके स्वरूपकी पहचान जिसके निमित्तसे होती है, उस सद्गुरुमें भी मार्गका उपदेशकत्व अविरुद्ध है।

उससे नीचेके पाँचवें और चौथे गुणस्थानमें मार्गोपदेशकत्व प्रायः घटित नहीं होता, क्योंकि वहाँ बाह्य (गृहस्थ) व्यवहारका प्रतिबंध है, और बाह्य अविरतिरूप गृहस्थ व्यवहार होते हुए विरतिरूप मार्गका प्रकाश करना यह मार्गके लिये विरोधरूप है।

चौथेसे नीचेके गुणस्थानकमें तो मार्गका उपदेशकत्व योग्य ही नहीं है; क्योंकि वहाँ मार्गकी, आत्माकी, तत्त्वकी, ज्ञानीकी पहचान-प्रतीति नहीं है, और सम्यग्विरति नहीं है; और यह पहचान-प्रतीति और सम्यग्विरति न होनेपर भी उसकी प्ररूपणा करना, उपदेशक होना, यह प्रगट मिथ्यात्व, कुगुरुपन और मार्गका विरोध है।

चौथे पाँचवें गुणस्थानमें यह पहचान प्रतीति है, और आत्मज्ञान आदि गुण अंशतः मौजूद हैं; और पाँचवेंमें देशविरति भावको लेकर चौथेसे विशेषता है, तथापि सर्वविरति जितनी वहाँ विशुद्धि नहीं है।

आत्मज्ञान, समदर्शिता आदि जो लक्षण बताये हैं, वे संयतिधर्ममें स्थित वीतरागदशासाधक उपदेशक-गुणस्थानमें स्थित सद्गुरुको ध्यानमें रखकर मुख्यतः बताये हैं और उनमें वे गुण बहुत अंशोंमें रहते हैं। तथापि वे लक्षण सर्वांशमें संपूर्णरूपसे तो तेरहवें गुणस्थानमें स्थित संपूर्ण वीतराग और कैवल्यसंपन्न जीवन्मुक्त सयोगी केवली परम सद्गुरु श्री जिन अरिहंत तीर्थंकरमें विद्यमान हैं। उनमें आत्मज्ञान अर्थात् स्वरूपस्थिति संपूर्णरूपसे है, यह उनकी ज्ञानदशा अर्थात् 'ज्ञानातिशय' सूचित किया। उनमें समदर्शिता अर्थात् इच्छारहितता संपूर्णरूपसे है, यह उनकी वीतराग चारित्रदशा अर्थात् 'अपायापगमातिशय' सूचित किया। संपूर्णरूपसे इच्छारहित होनेसे उनकी विचरने आदिकी दैहिक आदि योगक्रिया पूर्वप्रारब्धोदयका मात्र वेदन कर लेनेके लिये ही है, इसलिये 'विचरे उदयप्रयोग' कहा। संपूर्ण निज अनुभवरूप उनकी वाणी अज्ञानीकी वाणीसे विलक्षण और एकांत आत्मार्थबोधक होनेसे उनमें वाणीकी अपूर्वता कही है, यह उनका 'वचनातिशय' सूचित किया। वाणीधर्ममें रहनेवाला श्रुत भी उनमें ऐसी सापेक्षतासे रहता है कि जिससे कोई भी नय बाधित नहीं होता, यह उनका 'परमश्रुत' गुण सूचित किया और जिनमें परमश्रुत गुण रहता है वे पूजने योग्य होते हैं यह उनका 'पूजातिशय' सूचित किया।

इन श्री जिन अरिहंत तीर्थंकर परम सद्गुरुकी भी पहचान करनेवाले विद्यमान सर्वविरति सद्गुरु हैं, इसलिये इन सद्गुरुको ध्यानमें रखकर ये लक्षण मुख्यतः बताये हैं।

(२) समदर्शिता अर्थात् पदार्थमें इष्टानिष्टबुद्धिरहितता, इच्छारहितता और ममत्वरहितता। समदर्शिता चारित्रदशा सूचित करती है। रागद्वेषरहित होना यह चारित्रदशा है। इष्टानिष्टबुद्धि, ममत्व और भावाभावका उत्पन्न होना रागद्वेष है। यह मुझे प्रिय है, यह अच्छा लगता है, यह मुझे अप्रिय है, यह अच्छा नहीं लगता ऐसा भाव समदर्शीमें नहीं होता। समदर्शी बाह्य पदार्थको, उसके पर्यायको, वह पदार्थ तथा पर्याय जिस भावसे रहते हैं उन्हें उसी भावसे देखता है, जानता है और कहता है; परंतु उस पदार्थ अथवा उसके पर्यायमें ममत्व या इष्टानिष्ट बुद्धि नहीं करता।

आत्माका स्वाभाविक गुण देखने-जाननेका होनेसे वह ज्ञेय पदार्थको ज्ञेयाकारसे देखता-जानता है; परंतु जिस आत्मामें समदर्शिता प्रगट हुई है, वह आत्मा उस पदार्थको देखते हुए, जानते हुए भी उसमें ममत्वबुद्धि, तादात्म्यभाव और इष्टानिष्टबुद्धि नहीं करता। विषमदृष्टि आत्माको पदार्थमें तादात्म्यवृत्ति होती है; समदृष्टि आत्माको नहीं होती।

कोई पदार्थ काला हो तो समदर्शी उसे काला देखता है, जानता है और कहता है। कोई श्वेत हो तो उसे वैसा देखता है, जानता है और कहता है। कोई पदार्थ सुरभि (सुगंधी) हो तो उसे वह वैसा देखता है, जानता है और कहता है। कोई दुरभि (दुर्गंधी) हो तो उसे वैसा देखता है, जानता है और कहता है। कोई ऊँचा हो, कोई नीचा हो तो उसे वैसा देखता है, जानता है और कहता है। सर्पको सर्पकी प्रकृतिरूपसे वह देखता है, जानता है और कहता है। बाघको बाघकी प्रकृतिरूपसे देखता है, जानता है

और कहता है। इत्यादि प्रकारसे वस्तु मात्र जिस रूपसे जिस भावसे होती है, उस रूपसे, उस भावसे समदर्शी उसे देखता है जानता है और कहता है हेय (छोडने योग्य) को हेयरूपसे देखता है, जानता है और कहता है। उपादेय (ग्रहण करने योग्य) को उपादेयरूपसे देखता है, जानता है और कहता है। परंतु समदर्शी आत्मा उन सबमें ममत्व, इष्टानिष्टबुद्धि और रागद्वेष नहीं करता, सुगंध देखकर प्रियता नहीं करता, दुर्गंध देखकर अप्रियता, दुगंछा नहीं करता। (व्यवहारसे) अच्छी मानी गयी वस्तुको देखकर यह वस्तु मुझे मिल जाये तो ठीक ऐसी इच्छाबुद्धि (राग, रति) नहीं करता। (व्यवहारसे) बुरी मानी गयी वस्तुको देखकर यह वस्तु मुझे न मिले तो ठीक ऐसी अनिच्छाबुद्धि (द्वेष, अरति) नहीं करता। प्राप्त स्थिति संयोगमें अच्छा-बुरा, अनुकूल-प्रतिकूल, इष्टानिष्टबुद्धि, आकुलता-व्याकुलता न करते हुए उसमें समवृत्तिसे, अर्थात् अपने स्वभावसे रागद्वेषरहित भावसे रहना यह समदर्शिता है।

साता असाता, जीवन मरण, सुगंध-दुर्गंध, सुस्वर-दुस्वर, सुरूप-कुरूप, शीत-उष्ण आदिमें हर्ष-शोक, रति-अरति, इष्टानिष्टभाव और आर्तध्यान न रहे यह समदर्शिता है।

हिंसा, असत्य, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रहका परिहार समदर्शीमें अवश्य होता है। अहिंसा आदि व्रत न हों तो समदर्शिता संभव नहीं। समदर्शिता और अहिंसादि व्रतोंका कार्यकारण, अविना-भावी और अन्योन्याश्रय संबंध है। एक न हो तो दूसरा न हो, और दूसरा न हो तो पहला न हो।

समदर्शिता हो तो अहिंसादि व्रत हों।
समदर्शिता न हो तो अहिंसादि व्रत न हों।
अहिंसादि व्रत न हों तो समदर्शिता न हो।
अहिंसादि व्रत हों तो समदर्शिता हो।
जितने अंशमें समदर्शिता उतने अंशमें अहिंसादि व्रत और
जितने अंशमें अहिंसादि व्रत उतने अंशमें समदर्शिता।

सद्गुरुयोग्य लक्षणरूप समदर्शिता मुख्यतया सर्वविरति गुणस्थानमें होती है, बादके गुणस्थानोंमें वह उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होती जाती है, विशेष प्रगट होती जाती है; क्षीणमोहगुणस्थानमें उसकी पराकाष्ठा और फिर संपूर्ण वीतरागता होती है।

समदर्शिता अर्थात् लौकिकभावमें समान-भाव, अभेद-भाव, एक समान-बुद्धि और निर्विशेषता नहीं; अर्थात् काच और हीरा दोनोंको समान समझना, अथवा सत्श्रुत और असत्श्रुतमें समत्व समझना, अथवा सद्धर्म और असद्धर्ममें अभेद मानना, अथवा सद्गुरु और असद्गुरुमें एकसी बुद्धि रखना, अथवा सद्देव और असद्देवमें निर्विशेषता दिखाना अर्थात् दोनोंको एकसा समझना, इत्यादि समान वृत्ति, यह समदर्शिता नहीं; यह तो आत्माकी मूढ़ता, विवेक-शून्यता, विवेक-विकलता है। समदर्शी सत्को सत् जानता है, सत्का बोध करता है; असत्को असत् जानता है, असत्का निषेध करता है; सत्श्रुतको सत्श्रुत जानता है, उसका बोध करता है; कुश्रुतको कुश्रुत जानता है, उसका निषेध करता है; सद्धर्मको सद्धर्म जानता है, उसका बोध करता है; असद्धर्मको असद्धर्म जानता है, उसका निषेध करता है; सद्गुरुको सद्गुरु जानता है, उसका बोध करता है; असद्गुरुको असद्गुरु जानता है, उसका निषेध करता है, सद्देवको सद्देव जानता है, उसका बोध करता है; असद्देवको असद्देव जानता है, उसका निषेध करता है; इत्यादि जो जैसा होता है, उसे वैसा देखता है, जानता है और उसका प्ररूपण करता है; उसमें रागद्वेष, इष्टानिष्टबुद्धि नहीं करता; इस प्रकारसे समदर्शिता समझे। ॐ

८३८ बंबई, ज्येष्ठ वदी १४, शनि, १९५४

नमो वीतरागाय

मुनियोंके समागममें ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण करनेके संबंधमें यथासुख प्रवृत्ति करे, प्रतिबंध नहीं है।

श्री लल्लुजी मुनि तथा देवकीर्ण आदि मुनियोंको जिनस्मरण प्राप्त हो। मुनियोंकी ओरसे पत्र मिला था। यही विज्ञापन।

श्री राजचंद्र देव।

---

८३९ बंबई, आषाढ़ सुदी ११, गुरु, १९५४

अनंत अंतराय होनेपर भी धीर रहकर जो पुरुष अपार महामोहजलको तर गये उन श्री पुरुष भगवानको नमस्कार।

अनंतकालसे जो ज्ञान भवहेतु होता था, उस ज्ञानको एक समयमात्रमें जात्यंतर करके जिसने भवनिवृत्तिरूप किया उस कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शनको नमस्कार।

'आत्मसिद्धि'की प्रति तथा पत्र प्राप्त हुए।

निवृत्तियोगमें सत्समागमकी वृत्ति रखना योग्य है।

'आत्मसिद्धि'की प्रतिके विषयमें आपने इस पत्रमें विवरण लिखा, तत्संबंधी अभी विकल्प कर्तव्य नहीं है। उसके बारेमें निर्विक्षेप रहें।

लिखनेमें अधिक उपयोगका प्रवर्तन अभी शक्य नहीं है।

---

८४० मोहमयी क्षेत्र, श्रावण सुदी १५, सोम, १९५४

'मोक्षमार्गप्रकाश' ग्रंथका विचार करनेके पश्चात् 'कर्मग्रंथ'का विचारना अनुकूल होगा।

दिगंबर संप्रदायमें द्रव्य-मन आठ पंखडीका कहा है। श्वेतांबर संप्रदायमें इस बातकी विशेष चर्चा नहीं है। 'योगशास्त्र'में उसके बहुत प्रसंग है। समागममें उसका स्वरूप सुगम हो सकता है।

---

८४१ मोहमयी क्षेत्र, श्रावण वदी ४, शुक्र, १९५४

ॐ

समाधिके विषयमें यथाप्रारब्ध विशेष अवसरपर।

---

८४२ कावियाठा, श्रावण वदी १२, शनि, १९५४

ॐ नमः

शुभेच्छासंपन्न, श्री ववाणिया।

बहुत करके मंगलवारके दिन आपका लिखा एक पत्र बंबईमें मिला था। बुधवारकी रातको बंबईसे निवृत्त होकर गुरुवार सबेरे आणंद आना हुआ था। और उसी दिन रातके लगभग ग्यारह बजे यहाँ आना हुआ।

यहाँ दससे पंद्रह दिन तक स्थिति होना संभव है।

आपने अभी समागममें आनेकी वृत्ति प्रदर्शित की, उसमें आपको अंतराय जैसा हुआ। क्योंकि इस पत्रके पहुँचनेसे पहले ही लोगोंमें पर्युषणका प्रारंभ हुआ समझा जायेगा। जिससे आप इस तरफ आयें तो गुण-अवगुणका विचार किये बिना मताग्रही मनुष्य निंदा करेंगे, और वैसे निमित्तको ग्रहण कर वे निंदा द्वारा बहुतसे जीवोंको परमार्थप्राप्ति होनेमें अंतराय उत्पन्न करेंगे। इसलिये वैसा न होनेके लिये आपको अभी तो पर्युषणमें बाहर न जाने संबंधी लोक-पद्धतिको निभाना योग्य है।

आप और महेताजी 'वैराग्यशतक', 'आनंदघन चौबीसी', 'भावनाबोध' आदि पुस्तकें पढ़-विचारकर जितना हो सके उतना निवृत्तिका लाभ प्राप्त करें।

प्रमाद और लोक-पद्धतिमें काल सर्वथा वृथा गँवा देना, यह मुमुक्षुजीवका लक्षण नहीं है। दूसरे शास्त्रोंका योग बनना कठिन है, ऐसा समझकर उपर्युक्त पुस्तकें लिखी हैं। ये पुस्तकें भी विशेष विचार करने योग्य है। माताजी तथा पिताजीसे पादवंदनपूर्वक सुखवृत्तिके समाचार विदित करें।

अमुक समय जब निवृत्तिके लिये किसी क्षेत्रमें रहना होता है, तब प्रायः पत्र लिखनेकी वृत्ति कम रहती है, इस बार विशेष कम है; परंतु आपका पत्र इस प्रकारका था कि जिसका उत्तर न मिलनेसे आपको पता न चले कि किस कारणसे ऐसा हुआ।

अमुक स्थलमें स्थिति होना अनिश्चित होनेसे बंबईसे पत्र नहीं लिखा जा सका था।

---

८४३ वसो, प्रथम आसोज सुदी ६, बुध, १९५४

श्रीमान वीतराग भगवानोंने जिसका अर्थ निश्चित किया है ऐसा,
अचिंत्य चिंतामणिस्वरूप, परम हितकारी,
परम अद्भुत, सर्व दुःखोंका निःसंशय आत्यंतिक क्षय करनेवाला,
परम अमृतस्वरूप सर्वोत्कृष्ट शाश्वत धर्म
जयवंत रहे, त्रिकाल जयवंत रहे।

उन श्रीमान अनंत चतुष्टयस्थित भगवानका और उस जयवंत धर्मका आश्रय सदैव कर्तव्य है। जिन्हें दूसरी कोई सामर्थ्य नहीं, ऐसे अबुध एवं अशक्त मनुष्योंने भी उस आश्रयके बलसे परम सुखहेतु अद्भुत फलको प्राप्त किया है, प्राप्त करते हैं और प्राप्त करेंगे। इसलिये निश्चय और आश्रय ही कर्तव्य है, अधीरतासे खेद कर्तव्य नहीं है।

चित्तमें देहादि भयका विक्षेप भी करना योग्य नहीं है।

जो पुरुष देहादि संबंधी हर्षविषाद नहीं करते, वे पुरुष पूर्ण द्वादशांगको संक्षेपमें समझे हैं, ऐसा समझें। यही दृष्टि कर्तव्य है।

'मैंने धर्म नहीं पाया', 'मैं धर्म कैसे पाऊँगा ?' इत्यादि खेद न करते हुए वीतराग पुरुषोंका धर्म, जो देहादिसंबंधी हर्षविषादवृत्ति दूर करके 'आत्मा असंग-शुद्ध-चैतन्य-स्वरूप है' ऐसी वृत्तिका निश्चय और आश्रय ग्रहण करके उसी वृत्तिका बल रखना, और जहाँ वृत्ति मंद हो जाय वहाँ वीतराग पुरुषोंकी दशाका स्मरण करना, उस अद्भुत चरित्रपर दृष्टि प्रेरित कर वृत्तिको अप्रमत्त करना, यह सुगम और सर्वोत्कृष्ट उपकारक तथा कल्याणस्वरूप है। निर्विकल्प

---

८४४ आसोज, १९५४

कराल काल ! इस अवसर्पिणीकालमें चौबीस तीर्थंकर हुए। उनमें अंतिम तीर्थंकर श्रमण भगवान श्री महावीर दीक्षित हुए भी अकेले ! सिद्धि प्राप्त की भी अकेले ! उनका भी प्रथम उपदेश निष्फल गया !

---

८४५ आसोज, १९५४

ॐ

[1]मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृतां ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये ॥
अज्ञानतिमिरांधानां ज्ञानांजनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

यथाविधि अध्ययन और मनन कर्तव्य है।

---

८४६ वनक्षेत्र उत्तरसंडा,
प्रथम आसोज वदी ९, रवि, १९५४

ॐ नमः

अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिआ ।
मुक्खसाहणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा ॥

-दशवैकालिक अध्ययन ५-९२

भगवान जिनने आश्चर्यकारक निष्पापवृत्ति (आहारग्रहण) का मुनियोंको उपदेश दिया। (वह भी किसलिये ?) मात्र मोक्ष-साधनके लिये। मुनिको देहकी जरूरत है, उसको टिकानेके लिये। (किसी भी दूसरे हेतुसे नहीं।)

अहो निच्चं तवो कम्मं सव्व बुद्धेहिं वण्णिअं।
जाव लज्जासमा वित्ती एगभत्तं च भोअणं ॥

—दशवैकालिक अध्ययन ६-२३

सर्व जिन भगवानोंने आश्चर्यकारक (अद्भुत उपकारभूत) तपःकर्मको नित्य करनेके लिये उपदेश किया है। (वह इस प्रकार—) संयमके रक्षणके लिये सम्यग्वृत्तिसे एक बार आहारग्रहण। (दशवैकालिक सूत्र।)

तथारूप असंग निर्ग्रंथपदका अभ्यास सतत वर्धमान कीजिये। 'प्रश्नव्याकरण', 'दशवैकालिक' और 'आत्मानुशासन'का अभी संपूर्ण ध्यान देकर विचार कीजियेगा। एक शास्त्रको पूरा पढ़नेके बाद दूसरा विचारियेगा।

---

८४७ खेडा, द्वि० आसोज सुदी ६, १९५४

ॐ

विक्षेपरहित रहें। यथावसर अवश्य समाधान होगा। यहाँ समागमके लिये आनेके बारेमें यथासुख

---

१. भावार्थके लिये देखें उपदेश नोंध ३७

प्रवृत्ति करें।

---

८४८ खेडा, द्वि० आसोज सुदी ९, शनि, १९५४

लगभग अब तीन मास पूर्ण होने आये हैं। इस क्षेत्रमें अब स्थिति करनेकी इस समयके लिये वृत्ति नहीं रही। परिचय बढ़नेका वक्त आ जाये।

---

८४९ खेडा, द्वि० आश्विन वदी, १९५४

हे जीव! इस क्लेशरूप संसारसे निवृत्त हो, निवृत्त हो। वीतराग प्रवचन

---

८५० आसोज, १९५४

मेरा चित्त—मेरी चित्तवृत्तियाँ इतनी शांत हो जायें कि कोई मृग भी इस शरीरको देखता ही रहे, भय पाकर भाग न जाये!

मेरी चित्तवृत्ति इतनी शांत हो जाये कि कोई वृद्ध मृग, जिसके सिरमें खुजली आती हो वह इस शरीरको जड़-पदार्थ समझ कर खुजली मिटानेके लिये अपना सिर इस शरीरसे घिसे!

---

३२ वाँ वर्ष

८५१ मोहमयी क्षेत्र, कार्त्तिक सुदी १४, गुरु,१९५५

अभी मैं अमुक मासपर्यंत यहाँ रहनेका विचार रखता हूँ। मैं यथाशक्ति ध्यान दूँगा। आप मनमें निश्चिंत रहें।

मात्र अन्न-वस्त्र हो तो भी बहुत है। परंतु व्यवहारप्रतिबद्ध मनुष्यको कितने ही संयोगोंके कारण थोड़ा-बहुत तो चाहिये, इसलिये वह प्रयत्न करना पड़ा है। तो वह संयोग जब तक उदयमान हो तब तक धर्मकीर्तिपूर्वक बन पाये तो बहुत है।

अभी मानसिक वृत्तिकी अपेक्षा बहुत ही प्रतिकूल मार्गमें प्रवास करना पड़ता है। तप्तहृदयसे और शांत आत्मासे सहन करनेमें ही हर्ष मानता हूँ।

ॐ शांतिः

---

८५२ बंबई, मार्गशीर्ष सुदी ३, शुक्र, १९५५

ॐ नमः

प्रायः कल रातकी डाकगाडीसे यहाँसे उपरामता (निवृत्ति) होगी। थोड़े दिन तक बहुत करके ईडर क्षेत्रमें स्थिति होगी।

मुनियोंको यथाविधि नमस्कार कहियेगा।

वीतरागोंके मार्गकी उपासना कर्तव्य है। ॐ

---

८५३ ईडर, मार्गशीर्ष सुदी १४, सोम, १९५५

ॐ नमः

'पंचास्तिकाय' यहाँ भेज सकें तो भेजियेगा। भेजनेमें विलम्ब होता हो तो न भेजियेगा।

'समयसार' मूल प्राकृत (मागधी) भाषामें है। तथा 'स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' ग्रंथ भी प्राकृत भाषा में है। वह यदि प्राप्त हो सके तो 'पंचास्तिकाय'के साथ भेजियेगा। थोड़े दिन यहाँ स्थिति संभव है।

जैसे बने वैसे वीतराग श्रुतका अनुप्रेक्षण (चिंतन) विशेष कर्तव्य है। प्रमाद परम रिपु है, यह वचन जिन्हें सम्यक् निश्चित हुआ है वे पुरुष कृतकृत्य होने तक निर्भयतासे वर्तन करनेके स्वप्नकी भी इच्छा नहीं करते। राज्यचंद्र।

---

८५४ ईडर, मार्गशीर्ष सुदी १५, सोम, १९५५

ॐ नमः

आपने तथा वनमाळीदासने बंबई एक पत्र लिखा था वह वहाँ प्राप्त हुआ था।

अभी एक सप्ताहसे यहाँ स्थिति है। 'आत्मानुशासन' ग्रंथ पढ़नेके लिये प्रवृत्ति करते हुए आज्ञाका अतिक्रम (उल्लंघन) नहीं है। अभी आपको और उन्हें वह ग्रंथ वारंवार पढ़ने तथा विचारने योग्य है। 'उपदेश-पत्रो'के बारेमें बहुत करके तुरत उत्तर प्राप्त होगा। विशेष यथावसर। राजचंद्र।

---

८५५ ईडर, मार्गशीर्ष सुदी १५, सोम, १९५५

वीतरागश्रुतका अभ्यास रखिये।

---

८५६ ईडर, मार्गशीर्ष वदी ४, शनि, १९५५

ॐ नमः

आपका लिखा पत्र तथा सुखलालके लिखे पत्र मिले हैं।

अभी यहाँ समागम होना अशक्य है। अब विशेष स्थितिका भी संभव मालूम नहीं होता।

आपको जो समाधानविशेषकी जिज्ञासा है, वह किसी निवृत्तियोगके समागममें प्राप्त होने योग्य है।

जिज्ञासाबल, विचारबल, वैराग्यबल, ध्यानबल और ज्ञानबल वर्धमान होनेके लिये आत्मार्थी जीवको तथारूप ज्ञानीपुरुषके समागमकी उपासना विशेषतः करनी योग्य है। उसमें भी वर्तमानकालके जीवोंको उस बलकी दृढ़ छाप पड़ जानेके लिये बहुत अंतराय देखनेमें आते हैं, जिससे तथारूप शुद्ध जिज्ञासुवृत्तिसे दीर्घकालपर्यंत सत्समागमकी उपासना करनेकी आवश्यकता रहती है। सत्समागमके अभावमें वीतरागश्रुत—परमशांतरसप्रतिपादक वीतरागवचनोंकी अनुप्रेक्षा वारंवार कर्तव्य है। चित्तस्थैर्यके लिये वह परम औषध है।

---

८५७ ईडर, मार्गशीर्ष वदी ३०, गुरु, सबेरे,१९५५

ॐ नमः

आत्मार्थी भाई अंबालाल तथा मुनदासके प्रति, स्थंभतीर्थ।

मुनदासका लिखा हुआ पत्र मिला। वनस्पतिसंबंधी त्यागमें अमुक दससे पाँच वनस्पतिका अभी आगार रखकर दूसरी वनस्पतियोंसे विरत होनेमें आज्ञाका अतिक्रम नहीं है।

आप सबका अभी अभ्यासादि कैसा चलता है?

सद्देवगुरुशास्त्रभक्ति अप्रमत्ततासे उपासनीय है। श्री ॐ

---

८५८ ईडर, पौष, १९५४

मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु ।
थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥
पणतीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च जवह झाएह ।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण ॥ —द्रव्यसंग्रह

यदि तुम स्थिरताकी इच्छा करते हो तो प्रिय अथवा अप्रिय वस्तुमें मोह न करो, राग न करो, द्वेष न करो। अनेक प्रकारके ध्यानकी प्राप्तिके लिये पैंतीस, सोलह, छः, पाँच, चार, दो और एक—इस तरह परमेष्ठीपदके वाचक हैं उनका जपपूर्वक ध्यान करो। विशेष स्वरूप श्री गुरुके उपदेशसे जानना योग्य है।

जं किंचि वि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू ।
लद्धूणय एयत्तं तदा हु तं तस्स णिच्चयं झाणं ॥ —द्रव्यसंग्रह

ध्यानमें एकाग्र वृत्ति रखकर साधु निःस्पृहवृत्तिवान अर्थात् सब प्रकारकी इच्छाओंसे रहित होता है उसे परम पुरुष निश्चय ध्यान कहते हैं।

---

८५९ ईडर, पौष सुदी १५, गुरु, १९५५

ॐ

आपका लिखा एक पत्र तथा मुनदासके लिखे तीन पत्र मिले हैं।

वसोमें ग्रहण किये हुए नियमके अनुसार मुनदास वनस्पतिके बारेमें विरतिरूपसे वर्तन करें। दो श्लोकोंके स्मरणके नियमको शारीरिक उपद्रवविशेषके बिना सदा निबाहें। गेहूँ और घीको शारीरिक हेतुसे ग्रहण करनेमें आज्ञाका अतिक्रम नहीं है।

किंचित् दोषका संभव हुआ हो तो उसका प्रायश्चित्त श्री देवकीर्ण मुनि आदिके समीप लेना योग्य है।

आपको अथवा किन्हीं दूसरे मुमुक्षुओंको नियमादिका ग्रहण उन मुनियोंके समीप कर्तव्य है। प्रबल कारणके बिना उस संबंधी पत्रादि द्वारा हमें सूचित न करके मुनियोंसे तत्संबंधी समाधान समझना योग्य है। ॐ

---

८६० मोरबी, फाल्गुन सुदी १, रवि, १९५५

ॐ नमः

पत्र प्राप्त हुआ।

'नाके रूप निहाळता' इस चरणका अर्थ वीतरागमुद्रासूचक है। रूपावलोकनदृष्टिसे स्थिरता प्राप्त होनेपर स्वरूपवलोकनदृष्टिमें भी सुगमता प्राप्त होती है। दर्शनमोहका अनुभाग घटनेसे स्वरूपावलोकनदृष्टि परिणमित होती है।

महापुरुषका निरंतर अथवा विशेष समागम, वीतरागश्रुतका चिंतन और गुणजिज्ञासा दर्शनमोहके अनुभागके घटनेके मुख्य हेतु हैं। इससे स्वरूपदृष्टि सहजमें परिणमित होती है।

---

८६१ मोरबी, फागुन सुदी १, रवि, १९५५

ॐ नमः

पत्र प्राप्त हुआ।

'पुरुषार्थ सिद्धि उपाय' का भाषांतर गुर्जरभाषामें करनेमें आज्ञाका अतिक्रम नहीं है।

'आत्मसिद्धि' के स्मरणार्थ यथावसर आज्ञा प्राप्त होना योग्य है।

वनमाळीदासको 'तत्त्वार्थसूत्र' विशेषतः विचारना योग्य है।

हिन्दी भाषा समझमें न आती हो तो ऊगरी बहनको कुंवरजीके पाससे उस ग्रंथको श्रवण कर समझना योग्य है।

शिथिलता घटनेका उपाय यदि जीव करे तो सुगम है।

---

८६२ मोरबी, फागुन सुदी १, रवि, १९५५

वीतरागवृत्तिका अभ्यास रखियेगा।

---

८६३ ववाणिया, फागुन वदी १०, बुध, १९५५

आत्मार्थीको, बोध कब परिणमित हो सकता है, यह भाव स्थिरचित्तसे विचारणीय है, जो मूलभूत है।

अमुक असद्वृत्तियोंका प्रथम अवश्य ही निरोध करना योग्य है। इस निरोधके हेतुका दृढ़तासे अनुसरण करना ही चाहिये, इसमें प्रमाद करना योग्य नहीं है। ॐ

---

८६४ ववाणिया, फागुन वदी ३०, १९५५

*चरमावर्त हो चरमकरण तथा रे, भवपरिणति परिपाक ।
दोष टळे वळी दृष्टि खूले भली रे, प्रापति प्रवचन वाक ॥१॥

परिचय पातिक घातिक साधुशुं रे, अकुशल अपचय चेत ।
ग्रंथ अध्यातम श्रवण मनन करी रे, परिशीलन नयहेत ॥२॥

मुगध सुगम करी सेवन लेखवे रे, सेवन अगम अनुप ।
देजो कदाचित् सेवक याचना रे, आनंदघन रसरूप ॥३॥

—आनंदघन, संभवजिनस्तवन

किसी निवृत्तिमुख्य क्षेत्रमें विशेष स्थितिके अवसरपर सत्श्रुत विशेष प्राप्त होना योग्य है। गुर्जर देशकी ओर आपका आगमन हो यों खेराळुक्षेत्रमें मुनिश्री चाहते हैं। वेणासर और टीकरके रास्तेसे होकर धांगध्राकी तरफसे अभी गुर्जर देशमें जा सकना संभव है। उस मार्गमें पिपासा परिषहका कुछ संभव रहता है।

---

८६५ ववाणिया, चैत्र सुदी १, १९५५

उवसंतखीणमोहो, मग्गे जिणभासिदेण समुवगदो ।
णाणाणुमग्गचारी णिव्वाणपुरं वज्जदि धीरो ॥ —पंचास्तिकाय, ७०

---

* **भावार्थ**—जब अंतिम पुद्गल परावर्त आ पहुँचे और तीन करणोंमेंसे तीसरा करण—अनिवृत्तिकरण हो तथा संसारमें भटकनेकी आदतका अंत आ पहुँचे, तब तीन दोष—भय, द्वेष और खेद—दूर हो जाते हैं, भली दृष्टि खुल जाती है और प्रवचन, सिद्धांतके वचनका लाभ होता है॥१॥

फिर पापके नाशक साधुके साथ परिचय बढ़ता चले, मनसंबंधी अकल्याणकारिताकी कमी होती जाये और आत्मिक सेवनके लिये तथा दृष्टिबिंदु धारण करनेके लिये आध्यात्मिक ग्रंथोंका श्रवण एवं मनन बन पाये॥२॥

भोले भाले मनुष्य सरल एवं सहज मानकर सेवाका कार्य शुरू कर देते हैं, परंतु उन्हें समझना चाहिये कि सेवाका कार्य तो अगम्य एवं अनुपम है। यह तो कठिन और बेजोड़ है। हे आनंदघनके रसमय प्रभु! इस सेवककी माँगको कभी सफल कीजिये अथवा आनंदसमुच्चयके रसरूप सेवाकी माँगको कभी सफल कीजिये॥३॥

जिसका दर्शनमोह उपशांत अथवा क्षीण हुआ है ऐसा धीर पुरुष वीतरागों द्वारा प्रदर्शित मार्गको अंगीकार करके शुद्धचैतन्यस्वभाव परिणामी होकर मोक्षपुरको जाता है।

मुनि महात्मा श्री देवकीर्णस्वामी अंजारकी ओर हैं। यदि खेराळुसे मुनिश्री आज्ञा करेंगे तो वे बहुत करके गुजरातकी तरफ आयेंगे। वेणासर या टीकरके रास्तेसे धांगध्रा आना हो तो रेगिस्तान पार करनेके कष्टको उठानेका संभव कम है। मुनिश्रीको अंजार लिखें।

किसी स्थलमें विशेष स्थिरताका योग होनेपर अमुक सत्श्रुत प्राप्त होना योग्य है।

---

८६६ श्री ववाणिया, चैत्र सुदी ५, १९५५

ॐ

द्रव्यानुयोग परम गंभीर और सूक्ष्म है, निर्ग्रंथ-प्रवचनका रहस्य है, शुक्ल ध्यानका अनन्य कारण है। शुक्लध्यानसे केवलज्ञान समुत्पन्न होता है। महाभाग्यसे इस द्रव्यानुयोगकी प्राप्ति होती है।

दर्शनमोहका अनुभाग घटनेसे अथवा नष्ट होनेसे, विषयके प्रति उदासीनतासे, और महत् पुरुषके चरणकमलकी उपासनाके बलसे द्रव्यानुयोग परिणत होता है।

ज्यों-ज्यों संयम वर्धमान होता है, त्यों-त्यों द्रव्यानुयोग यथार्थ परिणत होता है। संयमकी वृद्धिका कारण सम्यग्दर्शनकी निर्मलता है, उसका कारण भी 'द्रव्यानुयोग' होता है।

सामान्यतः द्रव्यानुयोगकी योग्यता प्राप्त करना दुर्लभ है। आत्मारामपरिणामी, परमवीतराग दृष्टिवान्, परम असंग ऐसे महात्मापुरुष उसके मुख्य पात्र हैं।

किसी महत्पुरुषके मननके लिये [1]पंचास्तिकायका संक्षिप्त स्वरूप लिखा था; उसे मननके लिये इसके साथ भेजा है।

हे आर्य! द्रव्यानुयोगका फल सर्व भावसे विराम पानेरूप संयम है। इस पुरुषके ये वचन अंतःकरणमें तू कभी भी शिथिल मत करना। अधिक क्या? समाधिका रहस्य यही है। सर्व दुःखसे मुक्त होनेका अनन्य उपाय यही है।

---

८६७ ववाणिया, चैत्र वदी २, गुरु, १९५५

हे आर्य! जैसे रेगिस्तान पार कर पारको संप्राप्त हुए, वैसे भवस्वयंभूरमण तर कर पारको संप्राप्त होवें।

महात्मा मुनिश्रीकी स्थिति अभी प्रांतीज-क्षेत्रमें है। कुछ विज्ञप्ति-पत्र लिखना हो तो परी० घेलाभाई केशवलाल, प्रांतीज, इस पतेपर लिखनेकी विनती है।

आपकी स्थिति धांगध्राकी तरफ होनेका समाचार यहाँसे आज उन्हें लिखा गया है।

अधिक निवृत्तिवाले क्षेत्रमें चातुर्मासका योग बननेसे आत्मोपकार विशेष संभव है। मुनिश्रीको भी वैसे सूचित किया है।

---

८६८ ववाणिया, चैत्र वदी २, गुरु, १९५५

पत्र प्राप्त हुआ। किसी विशेष निवृत्तिवाले क्षेत्रमें चातुर्मास हो तो आत्मोपकार विशेष हो सकता है।

---

१. देखें आंक ७६६

इस तरफ निवृत्तिवाले क्षेत्रका संभव है।

मुनि कच्छका रेगिस्तान समाधिपूर्वक पार कर धांगध्राकी तरफ उनके विचरनेके समाचार प्राप्त हुए हैं।

वे आपका समागम त्वरासे चाहते हैं।

उनका चातुर्मास भी निवृत्तिवाले क्षेत्रमें हो ऐसा करनेके लिये विज्ञापन है।

---

८६९ मोरबी, चैत्र वदी ९, गुरु, १९५५

ॐ नमः

पत्र और समाचारपत्र मिले। 'आचारांगसूत्र' के एक वाक्य संबंधी चर्चा-पत्रादि देखा है। बहुत करके थोड़े दिनोंमें किसी सुज्ञ पुरुषके द्वारा उसका समाधान प्रगट होगा। तीनेक दिनसे यहाँ स्थिति है।

आत्महित अति दुर्लभ है ऐसा समझकर विचारवान पुरुष अप्रमत्त भावसे उसकी उपासना करते हैं। आपके समीपवासी सभी आत्मार्थी जनोंको यथाविनय प्राप्त हो। ॐ

---

८७० मोरबी, वैशाख सुदी ६, सोम, १९५५

ॐ

आत्मार्थी मुनिवर अभी वहाँ स्थित होंगे। उनसे सविनय निम्नलिखित निवेदन करे।

ध्यान, श्रुतके अनुकूल क्षेत्रमें चातुर्मास करनेसे भगवानकी आज्ञाका संरक्षण होगा। स्थंभतीर्थमें यदि वह अनुकूलता रह सकती हो तो उस क्षेत्रमें चातुर्मास करनेसे आज्ञाका संरक्षण है।

जिस सत्श्रुतकी मुनि श्री देवकीर्ण आदिने जिज्ञासा प्रदर्शित की वह सत्श्रुत लगभग एक मासमें प्राप्त होना योग्य है।

यदि स्थंभतीर्थमें स्थिति न हो तो किसी अन्य निवृत्तिक्षेत्रमें समागमका योग हो सकता है। स्थंभतीर्थके चातुर्माससे वह होना अभी अशक्य है। जहाँ तक बने वहाँ तक किसी अन्य निवृत्तिक्षेत्रकी वृत्ति रखें। कदाचित् मुनियोंको दो विभागोंमें बट जाना पड़े तो वैसा करनेमें भी आत्मार्थदृष्टिसे अनुकूल रहेगा। हमने सहज मात्र लिखा है। आप सबको द्रव्यक्षेत्रादि देखकर जैसे अनुकूल श्रेयस्कर लगे वैसे प्रवृत्ति करनेका अधिकार है।

इस प्रकार सविनय नमस्कारपूर्वक निवेदन करें। वैशाख सुदी पूर्णिमा तक बहुत करके इन क्षेत्रोंकी तरफ स्थिति होगी।

---

८७१ मोरबी, वैशाख सुदी ७, १९५५

ॐ

यदि किसी निवृत्तिवाले अन्य क्षेत्रमें वर्षा-चातुर्मासका योग बने तो वैसे करना योग्य है। अथवा स्थंभतीर्थमें चातुर्माससे अनुकूलता रहे ऐसा मालूम हो तो वैसा करना योग्य है।

ध्यान और श्रुतके उपकारक साधनवाले चाहे जिस क्षेत्रमें चातुर्मासकी स्थिति होनेसे आज्ञाका अतिक्रम नहीं है, ऐसा मुनि श्री देवकीर्ण आदिको सविनय विदित करें।

इस तरफ एक सप्ताहपर्यंत स्थितिका संभव है। आज बहुत करके श्री ववाणिया जाना होगा। वहाँ

एक सप्ताह तक स्थिति संभव है।

जिस सत्श्रुतकी जिज्ञासा है, वह सत्श्रुत थोड़े दिनोंमें प्राप्त होना संभव है, ऐसा मुनिश्रीसे निवेदन करें।

वीतराग सन्मार्गकी उपासनामें वीर्यको उत्साहयुक्त करें।

---

८७२ ववाणिया, वैशाख सुदी ७, १९५५

ॐ

जिसे गृहवासका उदय रहता है, वह यदि कुछ भी शुभ ध्यानकी प्राप्ति चाहता हो तो उसके मूल हेतुभूत ऐसे अमुक सद्वर्तनपूर्वक रहना योग्य है। उन अमुक नियमोंमें 'न्यायसंपन्न आजीविकादि व्यवहार' यह पहला नियम सिद्ध करना योग्य है। यह नियम सिद्ध होनेसे अनेक आत्मगुण प्राप्त करनेका अधिकार उत्पन्न होता है। इस प्रथम नियमपर यदि ध्यान दिया जाये, और इस नियमको सिद्ध ही कर लिया जाये तो कषायादि स्वभावसे मंद पड़ने योग्य हो जाते हैं, अथवा ज्ञानीका मार्ग आत्मपरिणामी होता है, जिस पर ध्यान देना योग्य है।

---

८७३ ईडर, वैशाख वदी ६, मंगल, १९५५

ॐ

शनिवार तक यहाँ स्थिरता संभव है। रविवारको उस क्षेत्रमें आगमन होना संभव है।

इस कारण मुनिश्रीको चातुर्मास करने योग्य क्षेत्रमें विचरनेकी त्वरा हो, उसमें कुछ संकोच प्राप्त होता हो, तो इस पत्रके प्राप्त होनेपर कहेंगे तो यहाँ एक दिन कम स्थिरता की जायेगी।

निवृत्तिका योग उस क्षेत्रमें विशेष है, तो 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' का वारंवार निदिध्यासन कर्त्तव्य है, ऐसा मुनिश्रीको यथाविनय विदित करना योग्य है।

जिन्होंने बाह्याभ्यंतर असंगता प्राप्त की है ऐसे महात्माओंके संसारका अंत समीप है, ऐसा निःसंदेह ज्ञानीका निश्चय है।

---

८७४ ईडर, वैशाख वदी १०, शनि, १९५५

ॐ

अब स्थंभतीर्थसे किसनदासजीकृत 'क्रियाकोष' की पुस्तक प्राप्त हुई होगी। उसका आद्यंत अध्ययन करनेके बाद सुगम भाषामें उस विषयमें एक निबंध लिखनेसे विशेष अनुप्रेक्षा होगी; और वैसी क्रियाका वर्तन भी सुगम है ऐसी स्पष्टता होगी, ऐसा संभव है। सोमवार तक यहाँ स्थिति संभव है। राजनगरमें परम तत्त्वदृष्टिका प्रसंगोपात्त उपदेश हुआ था, उसे अप्रमत्त चित्तसे एकांतयोगमें वारंवार स्मरण करना योग्य है। यही विनती।

---

८७५ बंबई, जेठ, १९५५

ॐ

परम कृपालु मुनिवर्यके चरणकमलमें परम भक्तिसे
सविनय नमस्कार प्राप्त हो।

अहो सत्पुरुषके वचनामृत, मुद्रा और सत्समागम! सुषुप्त चेतनको जागृत करनेवाले, गिरती वृत्तिको स्थिर रखनेवाले, दर्शनमात्रसे भी निर्दोष अपूर्व स्वभावके प्रेरक, स्वरूपप्रतीति, अप्रमत्त संयम और पूर्ण वीतराग निर्विकल्प स्वभावके कारणभूत;—अंतमें अयोगी स्वभाव प्रगट करके अनंत अव्याबाध स्वरूपमें स्थिति करानेवाले! त्रिकाल जयवंत रहें! ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

---

८७६ बंबई, जेठ सुदी ११, १९५५

महात्मा मुनिवरोंको परमभक्तिसे नमस्कार हो।

*जेनो काळ ते किंकर थई रह्यो, मृगतृष्णाजळ त्रैलोक। जीव्युं धन्य तेहनुं।
दासी आशा पिशाची थई रही, काम क्रोध ते केदी लोक। जीव्युं०
खातां पीतां बोलतां नित्ये, छे निरंजन निराकार। जीव्युं०
जाणे संत सलूणा तेहने, जेने होय छेल्लो अवतार। जीव्युं०
जगपावनकर ते अवतर्या, अन्य मात उदरनो भार। जीव्युं०
तेने चौद लोकमां विचरतां, अंतराय कोईये नव थाय। जीव्युं०
ऋद्धि सिद्धि ते दासीओ थई रही, ब्रह्म आनंद हृदे न समाय। जीव्युं०

यदि मुनि अध्ययन करते हों तो 'योगप्रदीप' श्रवण करें। 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा'का योग आपको बहुत करके प्राप्त होगा। ॐ

---

८७७ बंबई, जेठ वदी २, रवि, १९५५

ॐ

[1]जिस विषयकी चर्चा हो रही है वह ज्ञात है। उस विषयमें यथावसरोदय।

---

८७८ बंबई, जेठ वदी ७, शुक्र, १९५५

'कार्तिकेयानुप्रेक्षा'की पुस्तक चार दिन पूर्व प्राप्त हुई तथा एक पत्र प्राप्त हुआ।

व्यवहार प्रतिबंधसे विक्षिप्त न होते हुए धैर्य रखकर उत्साहयुक्त वीर्यसे स्वरूपनिष्ठ वृत्ति करनी योग्य है। ॐ

---

८७९ मोहमयी, आषाढ़ सुदी ८, रवि, १९५५

ॐ

'क्रियाकोष' इससे सरल और कोई नहीं है। विशेष अवलोकन करनेसे स्पष्टार्थ होगा।

शुद्धात्मस्थितिके पारमार्थिक श्रुत और इंद्रियजय दो मुख्य अवलंबन हैं। सुदृढ़तासे उपासना करनेसे

---

* **भावार्थ**—जिसका काल किंकर हो गया है, और जिसे त्रिलोक मृगतृष्णाके जलके समान मालूम होता है, उसका जीना धन्य है। जिसकी आशारूपी पिशाचिनी दासी है, और काम क्रोध जिसके कैदी है, जो यद्यपि खाता, पीता और बोलता हुआ दीखता है, परंतु वह नित्य निरंजन और निराकार है। उसे सलोना संत जाने और उसका यह अंतिम भव है, उसने जगतको पावन करनेके लिये अवतार लिया है, बाकी तो सब माताके उदरमें भारभूत ही है, उसे चौदह राजलोकमें विचरते हुए किसीसे भी अंतराय नहीं होता, उसकी ऋद्धि-सिद्धि सब दासियाँ हो गयी है, और उसके हृदयमें ब्रह्मानंद नहीं समाता।

१. श्री आचारांगसूत्रके एक वाक्यसंबंधी। देखें आंक ८६९।

वे सिद्ध होते हैं। हे आर्य! निराशाके समय महात्मा पुरुषोंका अद्भुत आचरण याद करना योग्य है। उल्लसित वीर्यवान परमतत्त्वकी उपासना करनेका मुख्य अधिकारी है। शांतिः

---

८८० मोहमयी, आषाढ़ सुदी ८, रवि, १९५५

ॐ

दोनों क्षेत्रोंमें सुस्थित मुनिवरोंको यथाविनय वंदन प्राप्त हो।

पत्र प्राप्त हुआ। संस्कृतके अभ्यासके लिये अमुक समयका नित्य नियम रखकर प्रवृत्ति करना योग्य है।

अप्रमत्त स्वभावका वारंवार स्मरण करते हैं।

पारमार्थिक श्रुत और वृत्तिजयका अभ्यास बढ़ाना योग्य है। ॐ

---

८८१ बंबई, आषाढ़ वदी ६, शुक्र, १९५५

ॐ

परमकृपालु मुनिवर्यके चरणकमलमें परम भक्तिसे सविनय नमस्कार प्राप्त हो।

कल रातकी डाकगाडीसे यहाँसे भाई त्रिभोवन वीरचंदके साथ 'पद्मनंदी पंचविंशति' नामक सत्शास्त्र मुनिवर्यके मननार्थ भेजनेकी वृत्ति है। इसलिये डाकगाडीके समय आप स्टेशनपर आ जायें। महात्माश्री उस ग्रंथका मनन कर लेनेके बाद परमकृपालु मुनिश्री श्रीमान देवकीर्णस्वामीको वह ग्रंथ भेज दें।

अन्य मुनियोंको सविनय नमस्कार प्राप्त हो।

---

८८२ बंबई, आषाढ़ वदी ८, रवि, १९५५

ॐ

मुमुक्षु तथा दूसरे जीवोंके उपकारके निमित्त जो उपकारशील बाह्य प्रतापकी सूचना–विज्ञापन किया है, वह अथवा दूसरे कोई कारण किसी अपेक्षासे उपकारशील होते हैं। अभी वैसे प्रवृत्तिस्वभावके प्रति उपशांतवृत्ति है।

प्रारब्ध योगसे जो बने वह भी शुद्ध स्वभावके अनुसंधानपूर्वक होना योग्य है। महात्माओंने निष्कारण करुणासे परमपदका उपदेश किया है, इसमें ऐसा मालूम होता है कि उस उपदेशका कार्य परम महान ही है। सब जीवोंके प्रति बाह्य दयामें भी अप्रमत्त रहनेका जिसके योगका स्वभाव है, उसका आत्मस्वभाव सब जीवोंको परमपदके उपदेशका आकर्षक हो, ऐसी निष्कारण करुणावाला हो, यह यथार्थ है।

---

८८३ बंबई, आषाढ़ वदी ८, रवि, १९५५

ॐ नमः

[1]**बिना नयन पावे नहीं बिना नयनकी बात।**

इस वाक्यका मुख्य हेतु आत्मदृष्टि संबंधी है। स्वाभाविक उत्कर्षके लिये यह वाक्य है। समागमके योगमें इसका स्पष्टार्थ समझमें आना संभव है। तथा दूसरे प्रश्नोंके समाधानके लिये अभी बहुत अल्प

१. देखें आंक २५८

प्रवृत्ति रहती है। सत्समागमके योगमें सहजमें समाधान हो सकता है।

'बिना नयन' आदि वाक्यका स्वकल्पनासे कुछ भी विचार न करते हुए, अथवा शुद्ध चैतन्य-दृष्टिकी वृत्ति जिससे विक्षिप्त न हो ऐसा वर्तन योग्य है। 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' अथवा दूसरा सत्शास्त्र थोड़े वक्तमें बहुत करके प्राप्त होगा।

दुःषमकाल है, आयु अल्प है, सत्समागम दुर्लभ है, महात्माओंके प्रत्यक्ष वाक्य, चरण और आज्ञाका योग कठिन है। इसलिये बलवान अप्रमत्त प्रयत्न कर्तव्य है।

आपके समीप रहनेवाले मुमुक्षुओंको यथाविनय प्राप्त हो। शांतिः

८८४

इस दुषमकालमें सत्समागम और सत्संगता अति दुर्लभ हैं। इसमें परम सत्संग और परम असंगताका योग कहाँसे छाजे ?

---

८८५ बंबई, श्रावण सुदी ३, १९५५

ॐ

परम पुरुषकी मुख्य भक्ति ऐसे सद्वर्तनसे प्राप्त होती है कि जिससे उत्तरोत्तर गुणोंकी वृद्धि हो। चरणप्रतिपत्ति (शुद्ध आचरणकी उपासना) रूप सद्वर्तन ज्ञानीकी मुख्य आज्ञा है, जो आज्ञा परम पुरुषकी मुख्य भक्ति है।

उत्तरोत्तर गुणकी वृद्धि होनेमें गृहवासी जनोंको सदुद्यमरूप आजीविका-व्यवहारसहित प्रवर्तन करना योग्य है।

अनेक शास्त्रों और वाक्योंका अभ्यास करनेकी अपेक्षा जीव यदि ज्ञानीपुरुषोंकी एक एक आज्ञाकी उपासना करे, तो अनेक शास्त्रोंसे होनेवाला फल सहजमें प्राप्त होता है।

---

८८६ मोहमयी क्षेत्र, श्रावण सुदी ७, १९५५

ॐ

श्री 'पद्मनंदी शास्त्र'की एक प्रति किसी अच्छे व्यक्तिके साथ वसो क्षेत्रमें मुनिश्रीको भेजनेकी व्यवस्था करें।

बलवान निवृत्तिवाले द्रव्य-क्षेत्रादिके योगमें आप उस सत्शास्त्रका वारंवार मनन और निदिध्यासन करें। प्रवृत्तिवाले द्रव्यक्षेत्रादिमें वह शास्त्र पढ़ना योग्य नहीं है।

जब तीन योगकी अल्प प्रवृत्ति हो, वह भी सम्यक् प्रवृत्ति हो तब महापुरुषके वचनामृतका मनन परम श्रेयके मूलको दृढ़ीभूत करता है; क्रमसे परमपदको संप्राप्त करता है।

चित्तको विक्षेपरहित रखकर परमशांत श्रुतका अनुप्रेक्षण कर्तव्य है।

---

८८७ मोहमयी, श्रावण वदी ३०, १९५५

अगम्य होनेपर भी सरल ऐसे महापुरुषोंके मार्गको नमस्कार

सत्समागम निरंतर कर्तव्य है। महान भाग्यके उदयसे अथवा पूर्वकालके अभ्यस्त योगसे जीवको

सच्ची मुमुक्षुता उत्पन्न होती है, जो अति दुर्लभ है। वह सच्ची मुमुक्षुता बहुत करके महापुरुषके चरणकमलकी उपासनासे प्राप्त होती है, अथवा वैसी मुमुक्षुतावाले आत्माको महापुरुषके योगसे आत्मनिष्ठत्व प्राप्त होता है; सनातन अनंत ज्ञानीपुरुषों द्वारा उपासित सन्मार्ग प्राप्त होता है। जिसे सच्ची मुमुक्षुता प्राप्त हुई हो उसे भी ज्ञानीका समागम और आज्ञा अप्रमत्त योग संप्राप्त कराते हैं। मुख्य मोक्षमार्गका क्रम इस प्रकार मालूम होता है।

वर्तमानकालमें वैसे महापुरुषोंका योग अति दुर्लभ है। क्योंकि उत्तम कालमें भी उस योगकी दुर्लभता होती है, ऐसा होनेपर भी जिसे सच्ची मुमुक्षुता उत्पन्न हुई हो, रात-दिन आत्मकल्याण होनेका तथारूप चिंतन रहा करता हो, वैसे पुरुषको वैसा योग प्राप्त होना सुलभ है।

'आत्मानुशासन' अभी मनन करने योग्य है। शांतिः

---

८८८ बंबई, भाद्रपद सुदी ५, रवि, १९५५

ॐ

जिन वचनोंकी आकांक्षा है वे बहुत करके थोड़े समयमें प्राप्त होंगे।

इंद्रियनिग्रहके अभ्यासपूर्वक सत्श्रुत और सत्समागम निरंतर उपासनीय है।

क्षीणमोहपर्यंत ज्ञानीकी आज्ञाका अवलंबन परम हितकारी है।

आज दिन पर्यंत आपके प्रति तथा आपके समीपवासी बहनों और भाइयोंके प्रति योगके प्रमत्त स्वभाव द्वारा जो कुछ अन्यथा हुआ हो, उसके लिये नम्रभावसे क्षमाकी याचना है। शमम्

---

८८९ बंबई, भाद्रपद सुदी ५, रवि, १९५५

ॐ

जो वनवासी शास्त्र[1] भेजा है, वह प्रबल निवृत्तिके योगमें इंद्रियसंयमपूर्वक मनन करनेसे अमृत है।

अभी 'आत्मानुशासन'का मनन करें।

आज दिन तक आपके तथा समीपवासी बहनों और भाइयोंके प्रति योगके प्रमत्त स्वभावसे कुछ भी अन्यथा हुआ हो, उसके लिये नम्रभावसे क्षमायाचना करते हैं। ॐ शांतिः

---

८९० बंबई, भाद्रपद सुदी ५, रवि, १९५५

ॐ

श्री अंबालाल आदि मुमुक्षुजन,

आज-दिन तक आपके प्रति तथा आपके समीपवासी बहनों और भाईयोंके प्रति योगके प्रमत्त स्वभावसे जो कुछ अन्यथा हुआ हो, उसके लिये नम्रभावसे क्षमायाचना करते हैं। ॐ शांतिः

---

८९१ बंबई, भाद्रपद सुदी ५, रवि, १९५५

ॐ

आपके तथा भाई वणारसीदास आदिके लिखे पत्र मिले थे।

आपके पत्रोंमें कुछ न्यूनाधिक लिखा गया हो, ऐसा विकल्प प्रदर्शित किया हो, वैसा कुछ भासमान

---

१. श्री पद्मनंदी पंचविंशति।

नहीं हुआ है। निर्विक्षिप्त रहें। बहुत करके यहाँ वैसा विकल्प संभव नहीं है।

इंद्रियोंके निग्रहपूर्वक सत्समागम और सत्शास्त्रका परिचय करें। आपके समीपवासी मुमुक्षुओंका उचित विनय चाहते हैं।

क्षीणमोहपर्यंत ज्ञानीकी आज्ञाका अवलंबन परम हितकारी है। आज दिन पर्यंत आपके प्रति तथा आपके समीपवासी बहनों और भाइयोंके प्रति योगके प्रमत्त स्वभावसे कुछ अन्यथा हुआ हो, उसके लिये नम्रभावसे क्षमा चाहते हैं। शमम्

---

८९२ बंबई, भाद्रपद सुदी ५, रविवार, १९५५

ॐ शांतिः

श्री झवेरचंद और रतनचंद आदि मुमुक्षु, कावियाठा-बोरसद।

आज दिन पर्यंत आपके प्रति तथा आपके समीपवासी बहनों और भाइयोंके प्रति योगके प्रमत्त स्वभावसे जो कुछ, किंचित् भी अन्यथा हुआ हो, उसके लिये नम्रभावसे क्षमा चाहते हैं। ॐ शांतिः

---

८९३ बंबई, भाद्रपद सुदी ५, रवि, १९५५

ॐ

पत्र मिला है। किसी मनुष्यके बताये हुए स्वप्न आदि प्रसंगके संबंधमें निर्विक्षिप्त रहें, तथा अपरिचित रहें। उस विषयमें कुछ उत्तर प्रत्युत्तर आदिका भी हेतु नहीं है।

इंद्रियोंके निग्रहपूर्वक सत्समागम और सत्श्रुत उपासनीय हैं।

आज दिन पर्यंत आपके प्रति तथा आपके समीपवासी बहनों और भाइयोंके प्रति योगके प्रमत्त स्वभावसे जो कुछ अन्यथा हुआ हो उसके लिये नम्रभावसे क्षमायाचना करते हैं। शमम्

---

८९४ बंबई, भादों सुदी ५, रवि, १९५५

ॐ

परम कृपालु मुनिवरोंको नमस्कार।

आज दिन पर्यंत योगके प्रमत्त स्वभावके कारण आपके प्रति यत्किंचित् अन्यथा हुआ हो, उसके लिये नम्रभावसे क्षमायाचना करते हैं।

भाई वल्लभ आदि मुमुक्षुओंको क्षमापना आदि कण्ठस्थ करनेके विषयमें आप योग्य आज्ञा करें।

ॐ शांतिः

---

८९५ बंबई, आसोज, १९५५

ॐ

जिन ज्ञानीपुरुषोंका देहाभिमान दूर हुआ है उन्हें कुछ करना बाकी नहीं रहा, ऐसा है, तो भी उन्हें सर्वसंगपरित्यागादि सत्पुरुषार्थता परमपुरुषने उपकारभूत कही है।

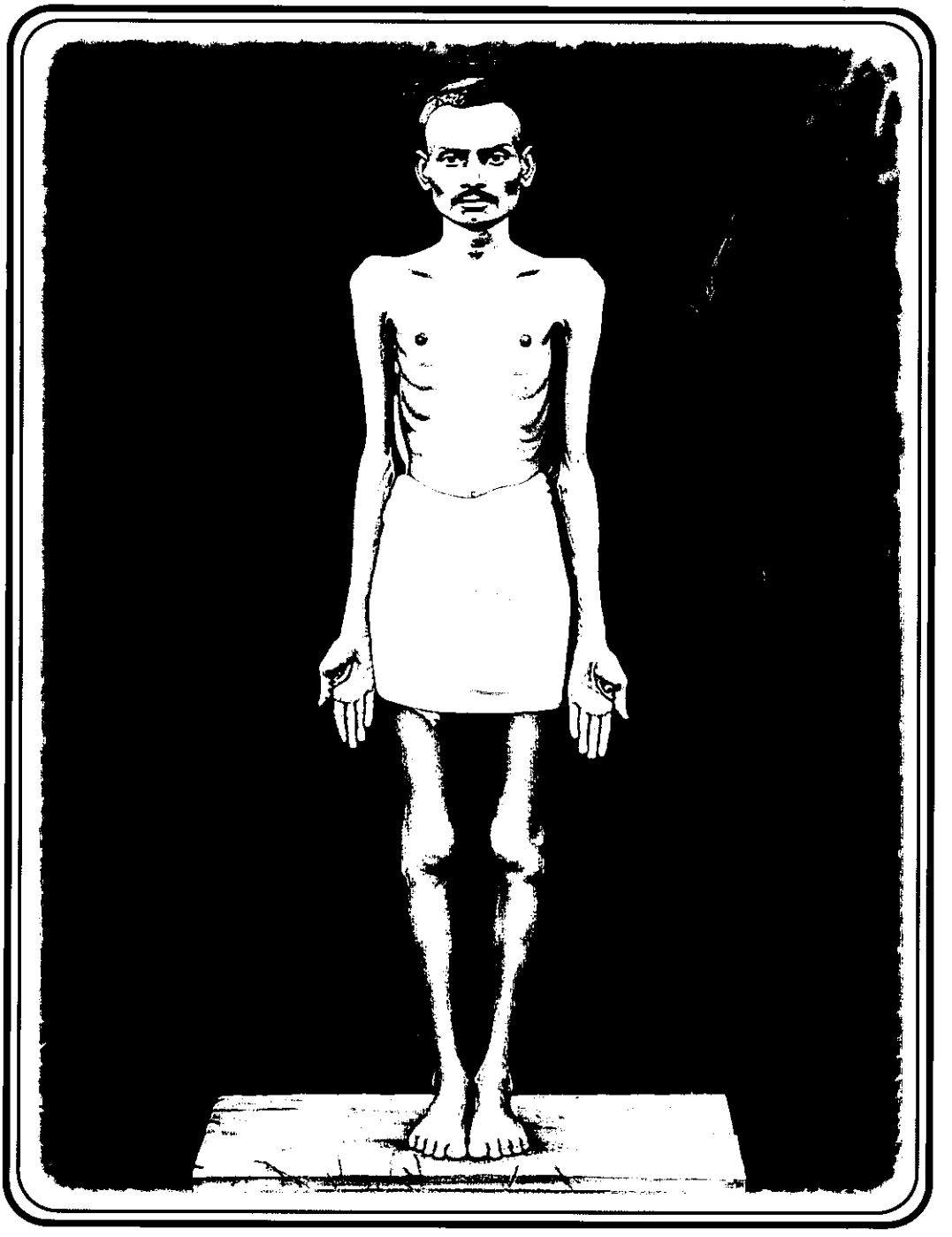

३३ वाँ वर्ष श्रीमद् राजचंद्र वि. सं. १९५६

३३ वाँ वर्ष

८९६ बंबई, कार्त्तिक, १९५६

ॐ

परम वीतरागोंद्वारा आत्मस्थ किये हुए, यथाख्यात चारित्रसे प्रगट किये हुए परम असंगत्वको निरंतर व्यक्ताव्यक्तरूपसे याद करता हूँ।

इस दुःषमकालमें सत्समागमका योग भी अति दुर्लभ है, उसमें परम सत्संग और परम असंगत्वका योग कहाँसे हो ?

सत्समागमका प्रतिबंध करनेके लिये कहें तो वैसा प्रतिबंध न करनेकी वृत्ति बतायी तो वह योग्य है, यथार्थ है। तदनुसार वर्तन कीजियेगा। सत्समागमका प्रतिबंध करना योग्य नहीं है, तथा सामान्यतः उनके साथ समाधान रहे ऐसा बर्ताव रखना हितकारी है।

फिर जिस प्रकार विशेष उस संगमें आना न हो ऐसे क्षेत्रमें विचरना योग्य है, कि जिस क्षेत्रमें आत्मसाधन सुलभतासे हो।

परम शांत श्रुतके विचारमें इन्द्रियनिग्रहपूर्वक आत्मप्रवृत्ति रखनेमें स्वरूपस्थिरता अपूर्वतासे प्रगट होती है।

संतोष आर्या आदिके लिये यथाशक्ति ऊपर दर्शित किया हुआ प्रयत्न योग्य है। ॐ शांतिः

---

८९७ मोहमयी क्षेत्र, कार्त्तिक सुदी ५ (ज्ञानपंचमी), १९५६

ॐ

परम शांत श्रुतका मनन नित्य नियमपूर्वक कर्तव्य है। शांतिः

---

८९८ बंबई, कार्त्तिक सुदी ५, बुध, १९५६

ॐ

यह प्रवृत्ति व्यवहार ऐसा है कि जिसमें वृत्तिकी यथाशांतता रखना यह असंभव जैसा है। कोई विरले ज्ञानी इसमें शांत स्वरूपनैष्ठिक रह सकते हो, इतना बहुत दुर्घटतासे बनना संभव है। उसमें अल्प अथवा सामान्य मुमुक्षुवृत्तिके जीव शांत रह सकें, स्वरूपनैष्ठिक रह सकें, ऐसा यथारूप नहीं परंतु अमुक अंशमें होनेके लिये जिस कल्याणरूप अवलंबनकी आवश्यकता है, वह समझमें आना, प्रतीत होना, और अमुक स्वभावसे आत्मामें स्थित होना कठिन है। यदि वैसा कोई योग बने तो और जीव शुद्धनैष्ठिक हो तो, शांतिका मार्ग प्राप्त होता है, ऐसा निश्चय है। प्रमत्त स्वभावकी जय करनेके लिये प्रयत्न करना योग्य है।

इस संसाररणभूमिमें दुःषमकालरूप ग्रीष्मके उदयके योगका वेदन न करे, ऐसी स्थितिका विरल जीव अभ्यास करते हैं।

---

८९९ मोहमयी, कार्तिक सुदी ५, बुध, १९५६

ॐ

सर्व सावद्य आरंभकी निवृत्तिपूर्वक दो घडीसे अर्ध प्रहरपर्यंत 'स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' आदि ग्रंथकी नकल करनेका नित्यनियम योग्य है। (चार मासपर्यंत।)

---

९०० मोहमयी, कार्तिक सुदी ५, बुध, १९५६

ॐ

अविरोध और एकता रहे ऐसा करना योग्य है, और यह सबके उपकारका मार्ग होना संभव है।

भिन्नता मानकर प्रवृत्ति करनेसे जीव उलटा चलता है। अभिन्नता है, एकता है, इसमें कुछ गैरसमझसे भिन्नता मानते हैं, ऐसी उन जीवोंको सीख मिले तो सन्मुखवृत्ति होने योग्य है।

जहाँ तक अन्योन्य एकताका व्यवहार रहे वहाँ तक वह सर्वथा कर्तव्य है। ॐ

---

९०१ बंबई, कार्तिक सुदी १५, १९५६

ॐ

[1]'गुरु गणधर गुणधर अधिक, प्रचुर परंपर और।
व्रत तपधर, तनु नगनधर, वंदौ वृषसिरमोर॥'

जगत विषयके विक्षेपमें स्वरूपभ्रांतिसे विश्रांति नहीं पाता।

अनंत अव्याबाध सुखका एक अनन्य उपाय स्वरूपस्थ होना यही है। यही हितकारी उपाय ज्ञानियोंने देखा है।

भगवान जिनने द्वादशांगीका इसीलिये निरूपण किया है, और इसी उत्कृष्टतासे वह शोभित है, जयवंत है।

ज्ञानीके वाक्यके श्रवणसे उल्लासित होता हुआ जीव चेतन-जड़को यथार्थरूपसे भिन्नस्वरूप प्रतीत करता है, अनुभव करता है, और अनुक्रमसे स्वरूपस्थ होता है।

यथास्थित अनुभव होनेसे स्वरूपस्थ हो सकता है।

दर्शनमोह नष्ट हो जानेसे ज्ञानीके मार्गमें परम भक्ति समुत्पन्न होती है, तत्त्वप्रतीति सम्यक्‌रूपसे उत्पन्न होती है।

तत्त्वप्रतीतिसे शुद्ध-चैतन्यके प्रति वृत्तिका प्रवाह मुड़ता है। शुद्ध-चैतन्यके अनुभवके लिये चारित्रमोह नष्ट करना योग्य है।

चैतन्यके—ज्ञानीपुरुषके सन्मार्गकी नैष्ठिकतासे चारित्रमोहका प्रलय होता है।

असंगतासे परमावगाढ़ अनुभव हो सकता है।

हे आर्य मुनिवरों! इसी असंग शुद्ध-चैतन्यके लिये असंगयोगकी हम अहर्निश इच्छा करते हैं। हे मुनिवरों! असंगताका अभ्यास करें।

---

१. **भावार्थ**—गुरु गणधर तथा परम्परागत बहुतसे गुणधारी, व्रत-तपधारी, दिगम्बर धर्मशिरोमणि, आचार्योंको वंदन करता हूँ।

दो वर्ष कदापि समागम न करना ऐसा होनेसे अविरोधता होती हो तो अन्तमें दूसरा कोई सदुपाय न हो तो वैसा करें।

जो महात्मा असंग चैतन्यमें लीन हुए, होते हैं, और होंगे, उन्हें नमस्कार। ॐ शांतिः

---

९०२ बंबई, कार्त्तिक वदी ११, मंगल, १९५६

*जड ने चैतन्य बन्ने द्रव्यनो स्वभाव भिन्न,
सुप्रतीतपणे बन्ने जेने समजाय छे;
स्वरूप चेतन निज, जड़ छे संबंध मात्र,
अथवा ते ज्ञेय पण परद्रव्यमांय छे;
एवो अनुभवनो प्रकाश उल्लासित थयो,
जडथी उदासी तेने आत्मवृत्ति थाय छे,
कायानी विसारी माया, स्वरूपे समाया एवा,
निर्ग्रंथनो पंथ भवअंतनो उपाय छे ॥१॥

देह जीव एकरूपे भासे छे अज्ञान वडे,
क्रियानी प्रवृत्ति पण तेथी तेम थाय छे;
जीवनी उत्पत्ति अने रोग, शोक, दुःख, मृत्यु,
देहनो स्वभाव जीव पदमां जणाय छे;
एवो जे अनादि एकरूपनो मिथ्यात्वभाव,
ज्ञानीनां वचन वडे दूर थई जाय छे;
भासे जड चैतन्यनो प्रगट स्वभाव भिन्न,
बन्ने द्रव्य निज निज रूपे स्थित थाय छे ॥२॥

---

९०३ बंबई, कार्त्तिक वदी ११, मंगल, १९५६

प्राणीमात्रका रक्षक, बांधव और हितकारी, यदि ऐसा कोई उपाय हो तो वह वीतरागका धर्म ही है।

---

* **भावार्थ**—जड़ और चैतन्य दोनों द्रव्योंका स्वभाव भिन्न है, ऐसा यथार्थ प्रतीतिपूर्वक जिसे समझमें आता है; उसे भान होता है कि निजस्वरूप तो चेतन है और जड़ तो संबंध मात्र है, अथवा जड़ तो ज्ञेयरूप परद्रव्य है और स्वयं तो उसका ज्ञाता-द्रष्टा है। चैतन्यस्वरूप आत्मा उससे सर्वथा भिन्न है। यों स्वरूपका अनुभव अर्थात् आत्म-साक्षात्कार हो जानेसे जड़ पदार्थके प्रति उदासीनता आ जाती है, जिससे बहिर्मुखता दूर होकर अंतर्मुखता हो जाती है अर्थात् आत्मा स्वरूपमें स्थित हो जाता है अथवा आत्म-लीनता आ जाती है। आत्म-जागृति एवं आत्मभान हो जानेपर कायाकी ममता, आसक्ति नहीं रहती अथवा देहाध्यास दूर हो जाता है और आत्मा स्वरूपस्थ हो जाता है। इसलिये निर्ग्रंथका पंथ भवांत-मोक्षका सच्चा उपाय है॥१॥

अज्ञानसे शरीर और आत्मा एकरूप—अभिन्न लगते है। यह भ्रांति अनादि कालसे चली आ रही है। इसलिये क्रियाकी प्रवृत्ति भी उसी भ्रांतिपूर्वक होती रहती है। जन्म, रोग, शोक, दुःख, मृत्यु आदि देहका स्वभाव है, परंतु अज्ञानवश आत्माका स्वभाव माना जाता है। देह और आत्माको एकरूप माननेका जो अनादि मिथ्यात्व भाव है वह ज्ञानीपुरुषके बोधसे दूर हो जाता है। जीव जब ज्ञानीके बोधको आत्मसात् कर लेता है तब जड़ और चेतनका भिन्न-स्वभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। फिर दोनों द्रव्य अपने अपने रूपमें स्थित हो जाते हैं अर्थात् आत्मा आत्मरूपमें और कर्मरूप पुद्गल पुद्गलरूपमें स्थित हो जाते हैं॥२॥

९०४ बंबई, कार्त्तिक वदी ११, मंगल, १९५६

संतजनों! जिनवरेंद्रोंने लोक आदिका जो स्वरूप निरूपण किया है, वह आलंकारिक भाषामें निरूपण है, जो पूर्ण योगाभ्यासके बिना ज्ञानगोचर होने योग्य नहीं है। इसलिये आप अपने अपूर्ण ज्ञानके आधारसे वीतरागके वाक्योंका विरोध न करें; परंतु योगका अभ्यास करके पूर्णतासे उस स्वरूपके ज्ञाता होवें।

---

९०५ मोहमयी क्षेत्र, पौष वदी १२, रवि, १९५६

महात्मा मुनिवरोंके चरणकी, संगकी उपासना और सत्शास्त्रका अध्ययन मुमुक्षुओंके लिये आत्मबलकी वृद्धिके सदुपाय हैं।

ज्यों ज्यों इंद्रियनिग्रह, ज्यों ज्यों निवृत्तियोग होता है, त्यों त्यों वह सत्समागम और सत्शास्त्र अधिकाधिक उपकारी होते हैं। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

---

९०६ बंबई, माघ वदी १०, शनि, १९५६

आज आपका पत्र मिला। बहन इच्छाके वरकी अकाल मृत्युके खेदकारक समाचार जानकर बहुत शोक होता है। संसारकी ऐसी अनित्यताके कारण ही ज्ञानियोंने वैराग्यका उपदेश दिया है।

घटना अत्यंत दुःखकारक है। परंतु निरुपाय होनेसे धीरज रखनी चाहिये। तो आप मेरी ओरसे बहन इच्छाको और घरके लोगोंको दिलासा और धीरज दिलायें। और बहनका मन शांत हो वैसे उसकी संभाल लें।

---

९०७ मोहमयी, माघ वदी ११, १९५६

ॐ

शुद्ध गुर्जर भाषामें 'समयसार'की प्रतिकी जा सके तो वैसा करनेसे अधिक उपकार हो सकता है। यदि वैसा न हो सके तो वर्तमान प्रतिके अनुसार दूसरी प्रति लिखनेमें अप्रतिबंध है।

---

९०८ बंबई, माघ वदी १४, मंगल, १९५६

बताते हुए अतिशय खेद होता है कि सुज्ञ भाई श्री कल्याणजीभाई (केशवजी) ने आज दोपहरमें लगभग पंद्रह दिनकी मरोडकी तकलीफसे नामधारी देहपर्यायको छोड़ा है।

---

९०९ धर्मपुर, चैत्र सुदी ८, शनि, १९५६

ॐ

यदि 'स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा' और 'समयसार' की नकलें लिखी गयी हो तो यहाँ मूल प्रतियोंके साथ भिजवायें। अथवा मूल प्रतियाँ बंबई भिजावयें और नकल की हुई प्रतियाँ यहाँ भिजवायें। नकलें अभी अधूरी हों तो कब पूर्ण होना संभव है यह लिखें। शांतिः

---

९१० धर्मपुर, चैत्र सुदी ११, मंगल, १९५६

ॐ

श्री 'समयसार' और 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' भेजनेके बारेमें पत्र मिला होगा।

इस पत्रके मिलनेसे यहाँ आनेकी वृत्ति और अनुकूलता हो तो आज्ञाका अतिक्रम नहीं है।

आपके साथ एक मुमुक्षुभाईके आनेसे भी आज्ञाका अतिक्रम नहीं होगा।

यदि 'गोम्मटसार' आदि कोई ग्रंथ प्राप्त हो तो वह और 'कर्मग्रंथ', 'पद्मनंदी पंचविंशति', 'समयसार' तथा श्री 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' आदि ग्रंथ अनुकूलतानुसार साथ रखें। शांतिः

---

९११ धर्मपुर, चैत्र सुदी १३, १९५६

'अष्टप्राभृत' के ११५ पन्ने प्राप्त हुए।

स्वामी वर्धमान जन्मतिथि। शांतिः

---

९१२ धर्मपुर, चैत्र वदी १, रवि, १९५६

ॐ

[1]"धन्य ते मुनिवरा जे चाले समभावे रे,
ज्ञानवंत ज्ञानीशुं मळतां तनमनवचने साचा,
द्रव्यभाव सुधा जे भाखे, साची जिननी वाचा रे;
धन्य ते मुनिवरा, जे चाले समभावे रे।"

पत्र प्राप्त हुए थे।

एक पखवाडेसे यहाँ स्थिति है।

श्री देवकीर्ण आदि आर्योंको नमस्कार प्राप्त हो। साणंद और अमहदाबादके चातुर्मासकी वृत्ति उपशांत करना योग्य है और यही श्रेयस्कर है।

खेडाकी अनुकूलता न हो तो दूसरे अनेक योग्य क्षेत्र मिल सकते हैं। अभी उनसे अनुकूलता रहे यही कर्तव्य है।

बाह्य और अंतर समाधियोग रहता है। परम शांतिः

---

९१३ धर्मपुर, चैत्र वदी ४, बुध, १९५६

पत्र प्राप्त हुआ। यहाँ समाधि है।

अकस्मात् शारीरिक असाताका उदय हुआ है और शांत स्वभावसे उसका वेदन किया जाता है, ऐसा जानते थे, और इससे संतोष प्राप्त हुआ था।

समस्त संसारी जीव कर्मवशात् साता-असाताके उदयका अनुभव किया ही करते हैं। जिसमें मुख्यतः तो असाताके ही उदयका अनुभव किया जाता है। क्वचित् अथवा किसी देह संयोगमें साताका उदय अधिक अनुभवमें आता हुआ दिखाई देता है, परंतु वस्तुतः वहाँ भी अंतर्दाह जला ही करता है। पूर्ण ज्ञानी भी जिस असाताका वर्णन कर सकने योग्य वचनयोग नहीं रखते, वैसी अनंतानंत असाता इस जीवने भोगी है, और यदि अब भी उनके कारणोंका नाश न किया जाये तो भोगनी पड़े, यह सुनिश्चित है, ऐसा समझकर

---

१. **भावार्थ**—वे मुनिवर धन्य हैं जो समभावपूर्वक आचरण करते हैं। जो स्वयं ज्ञानवान हैं, और ज्ञानियोंसे मिलते हैं। जिनके मन, वचन और काया सच्चे हैं तथा जो द्रव्यभावसे अमृत वाणी बोलते हैं, वह जिन भगवानकी सच्ची वाणी ही है। वे मुनिवर धन्य हैं जो समभावपूर्वक आचरण करते हैं।

विचारवान उत्तम पुरुष उस अंतर्दाहरूप साता और बाह्याभ्यंतर संक्लेशाग्निरूपसे प्रज्वलित असाताका आत्यंतिक वियोग करनेके मार्गकी गवेषणा करनेके लिये तत्पर हुए और उस सन्मार्गकी गवेषणा कर, प्रतीति कर उसका यथायोग्य आराधन कर अव्याबाध सुखस्वरूप आत्माके सहज शुद्ध स्वभावरूप परमपदमें लीन हुए।

साता-असाताका उदय अथवा अनुभव प्राप्त होनेके मूल कारणोंकी गवेषणा करनेवाले उन महान पुरुषोंको ऐसी विलक्षण सानंदाश्चर्यकारी वृत्ति उद्भूत होती थी कि साताकी अपेक्षा असाताका उदय प्राप्त होनेपर और उसमें भी तीव्रतासे उस उदयके प्राप्त होनेपर उनका वीर्य विशेषरूपसे जाग्रत होता था, उल्लसित होता था, और वह समय अधिकतासे कल्याणकारी माना जाता था।

कितने ही कारणविशेषके योगसे व्यवहारदृष्टिसे ग्रहण करने योग्य औषध आदि आत्म-मर्यादामें रहकर ग्रहण करते थे; परंतु मुख्यतः वे परम उपशमकी ही सर्वोत्कृष्ट औषधरूपसे उपासना करते थे।

उपयोग-लक्षणसे सनातन-स्फुरित ऐसे आत्माको देहसे, तैजस और कार्मण शरीरसे भी भिन्न अवलोकन करनेकी दृष्टि सिद्ध करके, वह चैतन्यात्मकस्वभाव आत्मा निरंतर वेदक स्वभाववाला होनेसे अबंधदशाको जब तक संप्राप्त न हो तब तक साता-असातारूप अनुभवका वेदन किये बिना रहनेवाला नहीं है यह निश्चय करके, जिस शुभाशुभ परिणामधाराकी परिणतिसे वह साता-असाताका संबंध करता है उस धाराके प्रति उदासीन होकर, देह आदिसे भिन्न और स्वरूपमर्यादामें रहे हुए उस आत्मामें जो चल स्वभावरूप परिणामधारा है उसका आत्यंतिक वियोग करनेका सन्मार्ग ग्रहण करके, परम शुद्धचैतन्यस्वभावरूप प्रकाशमय वह आत्मा कर्मयोगसे सकलंक परिणाम प्रदर्शित करता है उससे उपरत होकर, जिस प्रकार उपशमित हुआ जाये उस उपयोगमें और उस स्वरूपमें स्थिर हुआ जाये, अचल हुआ जाये, वही लक्ष्य, वही भावना, वही चिंतन और वही सहज परिणामरूप स्वभाव करना योग्य है। महात्माओंकी वारंवार यही शिक्षा है।

उस सन्मार्गकी गवेषणा करते हुए, प्रतीति करनेकी इच्छा करते हुए, उसे संप्राप्त करनेकी इच्छा करते हुए ऐसे आत्मार्थी जनको परमवीतरागस्वरूप देव, स्वरूपनैष्ठिक निःस्पृह निर्ग्रंथ रूप गुरु, परमदयामूल धर्मव्यवहार और परमशांतरस रहस्य-वाक्यमय सत्शास्त्र, सन्मार्गकी संपूर्णता होने तक परमभक्तिसे उपासनीय है; जो आत्माके कल्याणके परम कारण हैं।

यहाँ एक स्मरण-संप्राप्त गाथा लिखकर यहाँ इस पत्रको संक्षिप्त करते हैं।

भीसण नरयगईए, तिरियगईए कुदेवमणुयगईए।
पत्तोसि तिव्व दुःखं, भावहि जिणभावणा जीव॥

भयंकर नरकगतिमें, तिर्यंचगतिमें और बुरी देव तथा मनुष्यगतिमें हे जीव! तू तीव्र दुःखको प्राप्त हुआ, इसलिये अब तो जिन-भावना (जिन भगवान जिस परमशांतरसमें परिणमन कर स्वरूपस्थ हुए, उस परमशांतस्वरूप चिंतन) का भावन–चिंतन कर (कि जिससे वैसे अनंत दुःखोंका आत्यंतिक वियोग होकर परम अव्याबाध सुखसंपत्ति संप्राप्त हो।) ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

---

९१४ धर्मपुर, चैत्र वदी ५, गुरु, १९५६

जहाँ संकुचित जनवृत्तिका संभव न हो और जहाँ निवृत्तिके योग्य विशेष कारण हों, ऐसे क्षेत्रमें महान पुरुषोंको विहार, चातुर्मासरूप स्थिति कर्त्तव्य है। शांतिः

---

९१५ धर्मपुर, चैत्र वदी ६, शुक्र, १९५६

ॐ नमः

मुमुक्षुजनों,

आपका लिखा पत्र बंबईमें मिला था। यहाँ बीस दिनसे स्थिति है। पत्रमें आपने दो प्रश्नोंका समाधान जाननेकी अभिलाषा प्रदर्शित की थी। उन दो प्रश्नोंका समाधान यहाँ संक्षेपमें लिखा है।

(१) उपशमश्रेणिमें मुख्यतः उपशमसम्यक्त्वका संभव है।

(२) चार घनघाती कर्मोंका क्षय होनेसे अंतराय कर्मकी प्रकृतिका भी क्षय होता है और इससे दानांतराय, लाभांतराय, वीर्यांतराय, भोगांतराय और उपभोगांतराय इन पाँच प्रकारके अंतरायोंका क्षय होकर अनंत दानलब्धि, अनंत लाभलब्धि, अनंत वीर्यलब्धि और अनंत भोग-उपभोगलब्धि संप्राप्त होती है। जिससे जिनके अंतराय कर्मका क्षय हो गया है ऐसे परमपुरुष अनंत दानादि देनेको संपूर्ण समर्थ हैं; तथापि परमपुरुष पुद्गल-द्रव्यरूपसे इन दान आदि लब्धियोंकी प्रवृत्ति नहीं करते। मुख्यतः तो उस लब्धिकी संप्राप्ति भी आत्माकी स्वरूपभूत है, क्योंकि क्षायिकभावसे वह संप्राप्ति है, औदयिकभावसे नहीं, इसलिये आत्मस्वभाव स्वरूपभूत है, और जो अनंत सामर्थ्य आत्मामें अनादिसे शक्तिरूपसे था वह व्यक्त होकर आत्मा निजस्वरूपमें आ सकता है, तद्रूप शुद्ध स्वच्छ भावसे एक स्वभावसे परिणमन करा सकता है, उसे अनंत दानलब्धि कहना योग्य है। उसी प्रकार अनंत आत्म-सामर्थ्यकी संप्राप्तिमें किंचित्मात्र वियोगका कारण नहीं रहा, इसलिये उसे अनन्त लाभलब्धि कहना योग्य है। और अनन्त आत्मसामर्थ्यकी संप्राप्ति संपूर्णरूपसे परमानंदस्वरूपसे अनुभवमें आती है, उसमें भी किंचित्मात्र भी वियोगका कारण नहीं रहा, इसलिये अनन्त भोगोपभोगलब्धि कहना योग्य है, तथा अनन्त आत्मसामर्थ्यकी संप्राप्ति संपूर्णरूपसे होनेपर भी उस सामर्थ्यके अनुभवसे आत्मशक्ति थक जाये या उसका सामर्थ्य झेल न सके, वहन न कर सके अथवा उस सामर्थ्यको किसी प्रकारके देश-कालका असर होकर किंचित्मात्र भी न्यूनाधिकता करा दे, ऐसा कुछ भी नहीं रहा; उस स्वभावमें रहनेका संपूर्ण सामर्थ्य त्रिकाल संपूर्ण बलसहित रहनेवाला है, उसे अनंत वीर्यलब्धि कहना योग्य है।

क्षायिकभावकी दृष्टिसे देखते हुए उपर्युक्त अनुसार उस लब्धिका परम पुरुषको उपयोग है। फिर ये पाँच लब्धियाँ हेतुविशेषसे समझानेके लिये भिन्न बतायी है, नहीं तो अनंत वीर्यलब्धिमें भी उन पाँचोंका समावेश हो सकता है। आत्मा संपूर्ण वीर्यको संप्राप्त होनेसे इन पाँचों लब्धियोंका उपयोग पुद्गलद्रव्यरूपसे करे तो वैसा सामर्थ्य उसमें है, तथापि कृतकृत्य ऐसे परम पुरुषमें संपूर्ण वीतराग स्वभाव होनेसे उस उपयोगका इस कारणसे संभव नहीं है; और उपदेश आदिके दानरूपसे जो उस कृतकृत्य परम पुरुषकी प्रवृत्ति है, वह योगाश्रित पूर्व-बंधकी उदयमानतासे है, आत्माके स्वभावके किंचित् भी विकृतभावसे नहीं है।

इस प्रकार संक्षेपमें उत्तर समझें। निवृत्तिवाला अवसर संप्राप्त करके अधिकाधिक मनन करनेसे विशेष समाधान और निर्जरा संप्राप्त होंगे। सोल्लास चित्तसे ज्ञानकी अनुप्रेक्षा करनेसे अनंत कर्मका क्षय होता है। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

---

९१६ धर्मपुर, चैत्र वदी १३, शुक्र, १९५६

ॐ

कृपालु मुनिवरोंकी यथाविधि विनय चाहते हैं।

बलवान निवृत्तिके हेतुभूत क्षेत्रमें चातुर्मास कर्तव्य है। नडियाद, वसो आदि जो सानुकूल हो वह, एक स्थलके बदले दो स्थलमें हो उसमें विक्षिप्तताके हेतुका संभव नहीं है। असत्समागमका योग प्राप्त कर यदि बटवारा करे तो उस संबंधी समयानुसार जैसा योग्य लगे वैसा, उन्हें बताकर उस कारणकी निवृत्ति करके सत्समागमरूप स्थिति करना योग्य है।

यहाँ स्थितिका संभव वैशाख सुदी २ से ५ तक है।

समागम संबंधी अनिश्चित है। परमशांतिः

---

९१७ अहमदाबाद, भीमनाथ, वैशाख सुदी ६, १९५६

आज दशा आदि संबंधी जो बताया है और बीज बोया है उसे न खोदे। वह सफल होगा।

'चतुरांगुल है दृगसें मिल है'[1]—यह आगे जाकर समझमें आयेगा।

एक श्लोक पढ़ते हुए हमें हजारों शास्त्रोंका भान होकर उसमें उपयोग घूम आता है (अर्थात् रहस्य समझमें आ जाता है।)

---

९१८ ववाणिया, वैशाख, १९५६

आपने कितने ही प्रश्न लिखे उन प्रश्नोंका समाधान समागममें समझना विशेष उपकाररूप जानता हूँ। तो भी किंचित् समाधानके लिये यथामति संक्षेपमें उनके उत्तर यहाँ लिखता हूँ।

सत्पुरुषकी यथार्थ ज्ञानदशा, सम्यक्त्वदशा, और उपशमदशाको तो, जो यथार्थ मुमुक्षु जीव सत्पुरुषके समागममें आता है वह जानता है, क्योंकि प्रत्यक्ष उन तीन दशाओंका लाभ श्री सत्पुरुषके उपदेशसे कुछ अंशोंमें होता है। जिनके उपदेशसे वैसी दशाके अंग प्रगट होते हैं उनकी अपनी दशामें वे गुण कैसे उत्कृष्ट रहे होने चाहिये, उसका विचार करना सुगम है; और जिनका उपदेश एकांत नयात्मक हो उनसे वैसी एक भी दशा प्राप्त होनी संभव नहीं है यह भी प्रत्यक्ष समझमें आयेगा। सत्पुरुषकी वाणी सर्व नयात्मक होती है।

अन्य प्रश्नोंके उत्तर—

प्र०—जिनाज्ञाराधक स्वाध्याय-ध्यानसे मोक्ष है या और किसी तरह ?

उ०—तथारूप प्रत्यक्ष सद्गुरुके योगमें अथवा किसी पूर्व-कालके दृढ़ आराधनसे जिनाज्ञा यथार्थ समझमें आये, यथार्थ प्रतीत हो, और उसकी यथार्थ आराधना की जाये तो मोक्ष होता है इसमें संदेह नहीं है।

प्र०—ज्ञानप्रज्ञासे जानी हुई सर्व वस्तुका प्रत्याख्यानप्रज्ञासे जो प्रत्याख्यान करता है उसे पंडित कहा है।

उ०—वह यथार्थ है। जिस ज्ञानसे परभावके मोहका उपशम अथवा क्षय न हुआ हो, वह ज्ञान 'अज्ञान' कहने योग्य है अर्थात् ज्ञानका लक्षण परभावके प्रति उदासीन होना है।

प्र०—जो एकांत ज्ञान मानता है उसे मिथ्यात्वी कहा है।

उ०—वह यथार्थ है।

प्र०—जो एकांत क्रिया मानता है उसे मिथ्यात्वी कहा है।

उ०—वह यथार्थ है।

प्र०—मोक्ष जानेके चार कारण कहे हैं। तो क्या उन चारोंमेंसे किसी एक कारणको छोड़कर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है या संयुक्त चार कारणसे ?

---

१. देखें आंक २६५ का ७ वाँ पद।

उ०—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ये मोक्षके चार कारण कहे हैं, वे परस्पर अविरोधरूपसे प्राप्त होनेपर मोक्ष होता है।

प्र०—समकित अध्यात्मकी शैली किस तरह है ?

उ०—यथार्थ समझमें आनेपर परभावसे आत्यंतिक निवृत्ति करना यह अध्यात्ममार्ग है। जितनी जितनी निवृत्ति होती है उतने उतने सम्यक् अंश होते हैं।

प्र०—'पुद्गलसें रातो रहे', इत्यादिका क्या अर्थ है ?

उ०—पुद्गलमें आसक्ति होना मिथ्यात्वभाव है।

प्र०—'अंतरात्मा परमात्माने ध्यावे', इत्यादिका क्या अर्थ है ?

उ०—अंतरात्मरूपसे यदि परमात्मस्वरूपका ध्यान करे तो परमात्मा हो जाते हैं।

प्र०—और अभी कौनसा ध्यान रहता है ? इत्यादि।

उ०—सद्गुरुके वचनका वारंवार विचार कर, अनुप्रेक्षण कर परभावसे आत्माको असंग करना।

प्र०—मिथ्यात्व (?) अध्यात्मकी प्ररूपणा आदि लिखकर आपने पूछा कि वह यथार्थ कहता है या नहीं ? अर्थात् समकिती नाम धारणकर विषय आदिकी आकांक्षा और पुद्गलभावका सेवन करनेमें कोई बाधा नहीं समझता, और 'हमें बंध नहीं है'—ऐसा जो कहता है, क्या वह यथार्थ कहता है ?

उ०—ज्ञानीके मार्गकी दृष्टिसे देखते हुए वह मात्र मिथ्यात्व ही कहता है। पुद्गलभावसे भोगे और ऐसा कहे कि आत्माको कर्म नहीं लगते तो वह ज्ञानीकी दृष्टिका वचन नहीं, वाचाज्ञानीका वचन है।

प्र०—जैनदर्शन कहता है कि पुद्गलभावके कम होनेपर आत्मध्यान फलित होगा, यह कैसे ?

उ०—वह यथार्थ कहता है।

प्र०—स्वभावदशा क्या फल देती है ?

उ०—तथारूप संपूर्ण हो तो मोक्ष होता है।

प्र०—विभावदशा क्या फल देती है ?

उ०—जन्म, जरा, मरण आदि संसार।

प्र०—वीतरागकी आज्ञासे पोरसीका स्वाध्याय करे तो क्या फल होता है ?

उ०—तथारूप हो तो यावत् मोक्ष होता है।

प्र०—वीतरागकी आज्ञासे पोरसीका ध्यान करे तो क्या फल होता है ?

उ०—तथारूप हो तो यावत् मोक्ष होता है।

इस प्रकार आपके प्रश्नोंका संक्षेपमें उत्तर लिखता हूँ। लौकिकभावको छोड़कर, वाचाज्ञान छोड़कर, कल्पित विधि-निषेध छोड़कर जो जीव प्रत्यक्ष ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन कर, तथारूप उपदेश पाकर, तथारूप आत्मार्थमें प्रवृत्ति करे तो उसका अवश्य कल्याण होता है।

निज कल्पनासे ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदिका स्वरूप चाहे जैसा समझकर अथवा निश्चयनयात्मक बोल सीखकर जो सद्व्यवहारका लोप करनेमें प्रवृत्ति करे, उससे आत्माका कल्याण होना संभव नहीं है, अथवा कल्पित व्यवहारके दुराग्रहमें रुके रहकर प्रवृत्ति करते हुए भी जीवका कल्याण होना संभव नहीं है।

ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, तहां समजवुं तेह ।
त्यां त्यां ते ते आचरे, आत्मार्थी जन एह ॥ —'आत्मसिद्धिशास्त्र'

एकांत क्रियाजड़तामें अथवा एकांत शुष्कज्ञानसे जीवका कल्याण नहीं होता।

---

९१९ ववाणिया, वैशाख वदी ८, मंगल, १९५६

ॐ

प्रमत्त-प्रमत्त ऐसे वर्तमान जीव हैं, और परम पुरुषोंने अप्रमत्तमें सहज आत्मशुद्धि कही है, इसलिये उस विरोधके शांत होनेके लिये परम पुरुषका समागम, चरणका योग ही परम हितकारी है।

ॐ शांतिः

---

९२० ववाणिया, वैशाख वदी ८, मंगल, १९५६

ॐ

भाई छगनलालका और आपका लिखा हुआ यों दो पत्र मिले। वीरमगामकी अपेक्षा यहाँ पहले स्वास्थ्य कुछ ढ़ीला रहा था। अब कुछ भी ठीक हुआ होगा ऐसा मालूम होता है। ॐ परमशांतिः

---

९२१ ववाणिया, वैशाख वदी ९, बुध, १९५६

ॐ

'मोक्षमाला'में शब्दांतर अथवा प्रसंगविशेषमें कोई वाक्यांतर करनेकी वृत्ति हो तो करें। उपोद्घात आदि लिखनेकी वृत्ति हो तो लिखें। जीवनचरित्रकी वृत्ति उपशांत करें।

उपोद्घातसे वाचकको, श्रोताको अल्प अल्प मतांतरकी वृत्ति विस्मृत होकर ज्ञानी पुरुषोंके आत्मस्वभावरूप परम धर्मका विचार करनेकी स्फुरणा हो, ऐसा लक्ष्य सामान्यतः रखें। यह सहज सूचना है। शांतिः

---

९२२ ववाणिया, वैशाख वदी ९, बुध, १९५६

ॐ

साणंदसे मुनिश्रीने श्री अंबालालके प्रति लिखवाया हुआ पत्र स्थंभतीर्थसे आज यहाँ मिला।

नडियाद और वसो-क्षेत्रके चातुर्मासमें तीन तीन मुनियोंकी स्थिति हो तो भी श्रेयस्कर ही है।

ॐ परमशांतिः

---

९२३ ववाणिया, वैशाख वदी ९, बुध, १९५६

ॐ

आज पत्र प्राप्त हुआ।

साथके पत्रका उत्तर—पत्रानुसार क्षेत्रमें आज गया है। शरीरप्रकृति उदयानुसार सहज स्वस्थ हुई है। शांतिः

---

९२४ ववाणिया, वैशाख वदी १३, शनि, १९५६

ॐ

आर्य मुनिवरोंके चरणकमलमें यथाविधि नमस्कार प्राप्त हो। वैशाख वदी ७ सोमवारका लिखा पत्र

संप्राप्त हुआ।

नडियाद, नरोडा और वसो तथा उनके सिवाय अन्य कोई क्षेत्र जो निवृत्तिके अनुकूल तथा आहारादि संबंधी विशेष संकोचवाला न हो वैसे क्षेत्रमें तीन तीन मुनियोंके चातुर्मास करनेमें श्रेय ही है।

इस वर्ष जहाँ उन वेषधारियोंकी स्थिति हो उस क्षेत्रमें चातुर्मास करना योग्य नहीं है। नरोडामें आर्याओंका चातुर्मास उन लोगोंके पक्षका हो तो वह होनेपर भी आपको वहाँ चातुर्मास करना अनुकूल लगता हो तो भी बाधा नहीं है; परंतु वेषधारीके समीपके क्षेत्रमें भी अभी यथासंभव चातुर्मास न हो तो अच्छा।

ऐसा कोई योग्य क्षेत्र दीखता हो कि जहाँ छहों मुनियोंका चातुर्मास रहते हुए आहार आदिका संकोच विशेष न हो सके तो उस क्षेत्रमें छहों मुनियोंको चातुर्मास करनेमें बाधा नहीं है, परंतु जहाँ तक बने वहाँ तक तीन तीन मुनियोंका चातुर्मास करना योग्य है।

जहाँ अनेक विरोधी गृहवासी जन या उन लोगोंकी रागदृष्टिवाले हों अथवा जहाँ आहारादिका, जनसमूहका संकोचभाव रहता हो वहाँ चातुर्मास योग्य नहीं है। बाकी सर्व क्षेत्रोंमें श्रेयस्कर ही है।

आत्मार्थीको विक्षेपका हेतु क्या हो ? उसे सब समान ही हैं। आत्मतासे विचरनेवाले आर्य पुरुषोंको धन्य है ! ॐ शांतिः

---

९२५ ववाणिया, वैशाख वदी ३०, सोम, १९५६

ॐ

आर्य मुनिवरोंके लिये अविक्षेपता संभव है। विनयभक्ति यह मुमुक्षुओंका धर्म है।

अनादिसे चपल ऐसे मनको स्थिर करें। प्रथम अत्यंततासे विरोध करे इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। क्रमशः उस मनको महात्माओंने स्थिर किया है, शांत किया है, क्षीण किया है, यह सचमुच आश्चर्यकारक है।

---

९२६ ववाणिया, वैशाख वदी ३०, सोम, १९५६

ॐ

मुनियोंके लिये अविक्षेपता ही संभव है। मुमुक्षुओंके लिये विनय कर्तव्य है।

'क्षायोपशमिक असंख्य, क्षायिक एक अनन्य।' (अध्यात्म गीता)

मनन और निदिध्यासन करनेसे, इस वाक्यसे जो परमार्थ अंतरात्मवृत्तिमें प्रतिभासित हो उसे यथाशक्ति लिखना योग्य है। शांतिः

---

९२७ ववाणिया, वैशाख वदी ३०, १९५६

ॐ

पत्र प्राप्त हुआ।

यथार्थ देखें तो शरीर ही वेदनाकी मूर्ति है। समय-समयपर जीव उस द्वारा वेदनाका ही अनुभव करता है। क्वचित् साता और प्रायः असाताका ही वेदन करता है। मानसिक असाताकी मुख्यता होनेपर भी वह सूक्ष्म सम्यग्दृष्टिमानको मालूम होती है। शारीरिक असाताकी मुख्यता स्थूल दृष्टिमानको भी मालूम होती है। जो वेदना पूर्वकालमें सुदृढ़ बंधसे जीवने बाँधी है, वह वेदना उदय संप्राप्त होनेपर इंद्र, चंद्र, नागेन्द्र या जिनेन्द्र भी उसे रोकनेको समर्थ नहीं है। उसके उदयका जीवको वेदन करना ही

चाहिये। अज्ञानदृष्टि जीव खेदसे वेदन करें तो भी कुछ वह वेदना कम नहीं होती या चली नहीं जाती। सत्यदृष्टिमान जीव शांतभावसे वेदन करें तो उससे वह वेदना बढ़ नहीं जाती, परंतु नवीन बंधका हेतु नहीं होती। पूर्वकी बलवान निर्जरा होती है। आत्मार्थीको यही कर्तव्य है।

"मैं शरीर नहीं हूँ, परंतु उससे भिन्न ऐसा ज्ञायक आत्मा हूँ, और नित्य शाश्वत हूँ। यह वेदना मात्र पूर्व कर्मकी है, परंतु मेरे स्वरूपका नाश करनेको वह समर्थ नहीं है; इसलिये मुझे खेद कर्तव्य ही नहीं है" इस तरह आत्मार्थीका अनुप्रेक्षण होता है।

---

९२८ ववाणिया, ज्येष्ठ सुदी ११, १९५६

आर्य त्रिभोवनके अल्प समयमें शांतवृत्तिसे देहोत्सर्ग करनेकी खबर सुनी। सुशील मुमुक्षुने अन्य स्थान ग्रहण किया।

जीवके विविध प्रकारके मुख्य स्थान हैं। देवलोकमें इंद्र तथा सामान्य त्रायस्त्रिंशदादिकके स्थान है। मनुष्यलोकमें चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव तथा मांडलिक आदिके स्थान है। तिर्यंचमें भी कहीं इष्ट भोगभूमि आदि स्थान है। उन सब स्थानोंको जीव छोड़ेगा, यह निःसंदेह है। जाति, गोत्री और बंधु आदि इन सबका अशाश्वत अनित्य ऐसा यह वास हैं। शांतिः

---

९२९ ववाणिया, ज्येष्ठ सुदी १३, सोम, १९५६

ॐ

परम कृपालु मुनिवरोंको रोमांचित भक्तिसे नमस्कार हो!

पत्र प्राप्त हुआ।

चातुर्मास संबंधी मुनियोंको कहाँसे विकल्प हो?

निर्ग्रंथ क्षेत्रको किस सिरेसे बाँधें? इस सिरेका संबंध नहीं है।

निर्ग्रंथ महात्माओंके दर्शन और समागम मुक्तिकी सम्यक् प्रतीति कराते हैं।

तथारूप महात्माके एक आर्य वचनका सम्यक् प्रकारसे अवधारण होनेसे यावत् मोक्ष होता है ऐसा श्रीमान् तीर्थंकरने कहा है, यह यथार्थ है। इस जीवमें तथारूप योग्यता चाहिये।

परम कृपालु मुनिवरोंको फिर नमस्कार करते हैं। शांतिः

---

९३० ववाणिया, ज्येष्ठ सुदी १३, सोम, १९५६

ॐ

पत्र और 'समयसार' की प्रति संप्राप्त हुई।

कुंदकुंदाचार्यकृत 'समयसार' ग्रंथ भिन्न है। यह ग्रंथकर्ता अलग है, और ग्रंथका विषय भी अलग है। ग्रंथ उत्तम है।

आर्य त्रिभोवनके देहोत्सर्ग करनेकी खबर आपको मिली जिससे खेद हुआ, यह यथार्थ है। ऐसे कालमें आर्य त्रिभोवन जैसे मुमुक्षु विरल है। दिन प्रति दिन शांतावस्थासे उसका आत्मा स्वरूपलक्षित होता जाता था। कर्मतत्त्वका सूक्ष्मतासे विचार कर, निदिध्यासन कर आत्माको तदनुयायी परिणतिका निरोध हो यह उसका मुख्य लक्ष्य था। विशेष आयु होती तो वह मुमुक्षु चारित्रमोहको क्षीण करनेके लिये अवश्य प्रवृत्ति करता। शांतिः शांतिः शांतिः

---

९३१ ववाणिया, जेठ वदी ९, गुरु, १९५६

शुभोपमालायक मेता चत्रभुज बेचर,

मोरबी।

आज आपका एक पत्र डाकमें मिला।

पूज्यश्रीको यहाँ आनेके लिये कहें। उन्हें अपना वजन बढ़ाना अपने हाथमें है। अन्न, वस्त्र या मनकी कुछ तंगी नहीं है। केवल उनके समझनेमें अंतर हुआ है इसलिये यूँ ही रोष करते हैं, इससे उलटा उनका वजन घटता है परंतु बढ़ता नहीं है। उनका वजन बढ़े और वे अपने आत्माको शांत रखकर कुछ भी उपाधिमें न पड़ते हुए इस देह-प्राप्तिको सार्थक करें इतनी ही हमारी विनती है। उन्हें दोनों व्यसन वशमें रखने चाहिये। व्यसन बढ़ानेसे बढ़ते हैं और नियममें रखनेसे नियममें रहते हैं। उन्होंने थोड़े समयमें व्यसनको तीन गुना कर डाला है, तो उसके लिये उन्हें उलाहना देनेका हेतु इतना ही है कि इससे उनकी कायाको बहुत नुकसान होता है, तथा मन परवश होता जाता है, जिससे इस लोक और परलोकका कल्याण चूक जाता है। उमरके अनुसार मनुष्यकी प्रकृति न हो तो मनुष्यका वजन नहीं पड़ता और वजन रहित मनुष्य इस जगतमें निकम्मा है। इसलिये उनका वजन रहे इस तरह वर्तन करनेके लिये हमारा अनुरोध है। सहज बातमें बीचमें आनेसे वजन नहीं रहता पर घटता है। यह ध्यान रखना चाहिये। अब तो थोड़ा समय रहा है तो जैसे वजन बढ़े वैसे वर्तन करना चाहिये।

हमें संप्राप्त हुई मनुष्यदेह भगवानकी भक्ति और अच्छे काममें गुजारनी चाहिये।

पूज्यश्रीको आज रातकी ट्रेनमें भेजें।

---

९३२ ववाणिया, जेठ वदी १०, १९५६

ॐ

पत्र प्राप्त हुए। शरीर-प्रकृति स्वस्थास्वस्थ रहती है, विक्षेप कर्तव्य नहीं है।

हे आर्य! अंतर्मुख होनेका अभ्यास करें। शांतिः

९३३

ॐ नमः

अपूर्व शांति और समाधि अचलतासे रहती है। कुंभक, रेचक, पाँचों वायु सर्वोत्तम गतिको आरोग्यबलसहित देती हैं।

---

९३४ ववाणिया, ज्येष्ठ वदी ३०, बुध, १९५६

ॐ

परम पुरुषको अभिमत ऐसे अभ्यंतर और बाह्य दोनों संयमको
उल्लासित भक्तिसे नमस्कार

'मोक्षमाला'के विषयमें आप यथासुख प्रवृत्ति करें।

मनुष्यदेह, आर्यता, ज्ञानीके वचनोंका श्रवण, उनमें आस्तिकता, संयम, उसके प्रति वीर्य प्रवृत्ति, प्रतिकूल योगोंमें भी स्थिति, अंतपर्यंत संपूर्ण मार्गरूप समुद्रको तर जाना—ये उत्तरोत्तर दुर्लभ और अत्यंत कठिन हैं, यह निःसंदेह है।

शरीर-स्थिति क्वचित् ठीक देखनेमें आती है, क्वचित् उससे विपरीत देखनेमें आती है। अभी कुछ असाताकी मुख्यता देखनेमें आती है। ॐ शांतिः

---

९३५ ववाणिया, ज्येष्ठ वदी ३०, बुध, १९५६

ॐ

चक्रवर्तीकी समस्त संपत्तिकी अपेक्षा भी जिसका एक समय मात्र भी विशेष मूल्यवान है ऐसी यह मनुष्यदेह और परमार्थके अनुकूल योग प्राप्त होनेपर भी, यदि जन्म-मरणसे रहित परमपदका ध्यान न रहा तो इस मनुष्य-देहमें अधिष्ठित आत्माको अनंतबार धिक्कार हो!

जिन्होंने प्रमादको जीता उन्होंने परमपदको जीत लिया।

पत्र प्राप्त हुआ।

शरीर-स्थिति अमुक दिन स्वस्थ रहती है और अमुक दिन अस्वस्थ रहती है। योग्य स्वस्थताकी ओर अभी वह गमन नहीं करती, तथापि अविक्षेपता कर्तव्य है।

शरीर स्थितिकी अनुकूलता-प्रतिकूलताके अधीन उपयोग कर्तव्य नहीं है। शांतिः

---

९३६ ववाणिया, ज्येष्ठ वदी ३०, १९५६

जिससे चिंतित प्राप्त हो उस मणिको चिंतामणि कहा है; यही यह मनुष्यदेह है कि जिस देहमें, योगमें सर्व दुःखका आत्यंतिक क्षय करनेका निश्चय किया तो अवश्य सफल होता है।

जिसका माहात्म्य अचिंत्य है, ऐसा सत्संगरूपी कल्पवृक्ष प्राप्त होनेपर जीव दरिद्र रहे, ऐसा हो तो इस जगतमें वह ग्यारहवाँ आश्चर्य ही है।

---

९३७ ववाणिया, आषाढ़ सुदी १, गुरु, १९५६

ॐ

परम कृपालु मुनिवरोंको नमस्कार प्राप्त हो।

नडियादसे लिखवाया पत्र आज यहाँ प्राप्त हुआ।

जहाँ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदिकी अनुकूलता दिखायी देती हो वहाँ चातुर्मास करनेमें आर्य पुरुषोंको विक्षेप नहीं होता। दूसरे क्षेत्रकी अपेक्षा बोरसद अनुकूल प्रतीत हो तो वहाँ चातुर्मासकी स्थिति कर्तव्य है।

दो बार उपदेश और एक बार आहार ग्रहण तथा निद्रा-समयके सिवाय बाकीका अवकाश मुख्यतः आत्मविचारमें, 'पद्मनंदी' आदि शास्त्रावलोकनमें और आत्मध्यानमें व्यतीत करना योग्य है। कोई बहन या भाई कभी कुछ प्रश्न आदि करे तो उसका योग्य समाधान करना, कि जिससे उसका आत्मा शांत हो। अशुद्ध क्रियाके निषेधक वचन उपदेशरूपसे न कहते हुए, शुद्ध क्रियामें जैसे लोगोंकी रुचि बढ़े वैसे क्रिया कराते जायें।

उदाहरणके लिये, जैसे कोई एक मनुष्य अपनी रूढ़िके अनुसार सामायिक व्रत करता है, तो उसका निषेध न करते हुए, जिस तरह उसका वह समय उपदेशके श्रवणमें या सत्शास्त्रके अध्ययनमें अथवा कायोत्सर्गमें बीते, उस तरह उसे उपदेश करे। उसके हृदयमें भी सामायिक व्रत आदिके निषेधका किंचित्मात्र आभास भी न हो ऐसी गंभीरतासे शुद्ध क्रियाकी प्रेरणा दे। स्पष्ट प्रेरणा करते हुए भी वह क्रियासे रहित होकर उन्मत्त हो जाता है; अथवा 'आपकी यह क्रिया ठीक नहीं है' इतना कहनेसे भी,

आपको दोष देकर वह क्रिया छोड़ देता है ऐसा प्रमत्त जीवोंका स्वभाव है; और लोगोंकी दृष्टिमें ऐसा आयेगा कि आपने ही क्रियाका निषेध किया है। इसलिये मतभेदसे दूर रहकर, मध्यस्थवत् रहकर, स्वात्माका हित करते हुए, ज्यों ज्यों परमात्माका हित हो त्यों त्यों प्रवृत्ति करना, और ज्ञानीके मार्गका, ज्ञान-क्रियाका समन्वय स्थापित करना, यही निर्जराका सुंदर मार्ग है।

स्वात्महितमें प्रमाद न हो और दूसरेको अविक्षेपतासे आस्तिक्यवृत्ति हो, वैसा उन्हें श्रवण हो, क्रियाकी वृद्धि हो, फिर भी कल्पित भेद न बढ़े और स्व-पर आत्माको शांति हो ऐसी प्रवृत्ति करनेमें उल्लसित वृत्ति रखिये। जैसे सत्शास्त्रके प्रति रुचि बढ़े वैसे कीजिये।

यह पत्र परम कृपालु श्री लल्लुजी मुनिकी सेवामें प्राप्त हो। ॐ शांतिः

---

९३८ ववाणिया, आषाढ़ सुदी १, १९५६

[1]'ते माटे ऊभा कर जोडी, जिनवर आगळ कहीए रे।
समयचरण सेवा शुद्ध देजो, जेम आनंदघन लहीए रे ॥'

—श्रीमान आनंदघनजी

पत्र प्राप्त हुए। शरीरस्थिति स्वस्थास्वस्थ रहती है; अर्थात् क्वचित् ठीक, क्वचित् असातामुख्य रहती है। मुमुक्षुभाइयोंको, वह भी लोक विरुद्ध न हो इस ढ़ंगसे तीर्थयात्राके लिये जानेमें आज्ञाका अतिक्रम नहीं है। ॐ शांतिः

---

९३९ मोरबी, आषाढ़ वदी ९, शुक्र, १९५६

ॐ नमः

सम्यक् प्रकारसे वेदना सहन करनेरूप परम धर्म परम पुरुषोंने कहा है।

तीक्ष्ण वेदनाका अनुभव करते हुए स्वरूपभ्रंशवृत्ति न हो यही शुद्ध चारित्रका मार्ग है।

उपशम ही जिस ज्ञानका मूल है, उस ज्ञानमें तीक्ष्ण वेदना परम निर्जरा रूप भासने योग्य है।

ॐ शांतिः

---

९४० मोरबी, आषाढ़ वदी ९, शुक्र, १९५६

ॐ

परमकृपानिधि मुनिवरोंके चरणकमलमें विनय भक्तिसे नमस्कार प्राप्त हो।

पत्र प्राप्त हुए।

शरीरमें असाता मुख्यतः उदयमान है। तो भी अभी स्थिति सुधारपर मालूम होती है।

आषाढ़ पूर्णिमापर्यंतके चातुर्मास संबंधी आपश्रीके प्रति जो कुछ अपराध हुआ हो उसके लिये नम्रतासे क्षमा माँगता हूँ।

गच्छवासीको भी इस वर्ष क्षमापत्र लिखनेमें प्रतिकूलता नहीं लगती।

पद्मनंदी, गोम्मटसार, आत्मानुशासन, समयसारमूल इत्यादि परम शांत श्रुतका अध्ययन होता होगा।

आत्माका शुद्ध स्वरूप याद करते हैं। ॐ शांतिः

---

१. भावार्थ के लिये देखें आंक ७४४

९४१ मोरबी, श्रावण वदी ४, मंगल, १९५६

ॐ

संस्कृत-अभ्यासके योगके विषयमें लिखा, परंतु जब तक आत्मा सुदृढ़ प्रतिज्ञासे वर्तन न करे तब तक आज्ञा करना भयंकर है।

जिन नियमोंमें अतिचार आदि प्राप्त हुए हों, उनका यथाविधि कृपालु मुनियोंसे प्रायश्चित्त ग्रहण करके आत्मशुद्धता करना योग्य है, नहीं तो भयंकर तीव्र बंधका हेतु है। नियममें स्वेच्छाचारसे प्रवर्तन करनेकी अपेक्षा मरण श्रेयस्कर है, ऐसी महापुरुषोंकी आज्ञाका कुछ विचार नहीं रखा; ऐसा प्रमाद आत्माके लिये भयंकर क्यों न हो?

मुमुक्षु उमेद आदिको यथायोग्य।

---

९४२ मोरबी, श्रावण वदी ५, बुध, १९५६

ॐ

यदि कदाचित् निवृत्तिमुख्य स्थलकी स्थितिके उदयका अंतराय प्राप्त हुआ हो तो हे आर्य! आप श्रावण वदी ११ से भाद्रपद सुदी पूर्णिमापर्यंत सदा सविनय ऐसी परम निवृत्तिका इस तरह सेवन कीजिये कि समागमवासी मुमुक्षुओंके लिये आप विशेष उपकारक हो जायें और वे सब निवृत्तिभूत सद्नियमोंका सेवन करते हुए सत्शास्त्रके अध्ययन आदिमें एकाग्र हों, यथाशक्ति व्रत, नियम और गुणको ग्रहण करें।

शरीरस्थितिमें सबल असाताके उदयसे यदि निवृत्तिमुख्य स्थलका अंतराय मालूम होगा तो यहाँसे आपके अध्ययन, मनन आदिके लिये प्रायः 'योगशास्त्र' पुस्तक भेजेंगे, जिसके चार प्रकाश दूसरे मुमुक्षुभाइयोंको भी श्रवण करानेसे परम लाभका संभव है।

हे आर्य! अल्पायुषी दुषमकालमें प्रमाद कर्तव्य नहीं है; तथापि आराधक जीवोंका तद्वत् सुदृढ़ उपयोग रहता है।

आत्मबलाधीनतासे पत्र लिखा गया है। ॐ शांतिः

---

९४३ मोरबी, श्रावण वदी ७, शुक्र, १९५६

ॐ

जिनाय नमः

परम निवृत्तिका निरंतर सेवन करना यही ज्ञानीकी प्रधान आज्ञा है; तथारूप योगमें असमर्थता हो तो निवृत्तिका सदा सेवन करना, अथवा स्वात्मवीर्यका गोपन किये बिना हो सके उतना निवृत्तिका सेवन करने योग्य अवसर प्राप्त कर आत्माको अप्रमत्त करना, ऐसी आज्ञा है।

अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वतिथियोंमें ऐसे ही आशयसे सुनियमित वर्तनसे प्रवृत्ति करनेके लिये आज्ञा की है।

काविठा आदि जिस स्थलमें उस स्थितिसे आपको और समागमवासी भाइयों और बहनोंको धर्म सुदृढ़ता संप्राप्त हो, वहाँ श्रावण वदी ११ से भाद्रपद पूर्णिमा पर्यंत स्थिति करना योग्य है। आपको और दूसरे समागमवासियोंको ज्ञानीके मार्गकी प्रतीतिमें निःसंशयता प्राप्त हो, उत्तम गुण, व्रत, नियम, शील और देवगुरुधर्मकी भक्तिमें वीर्य परम उल्लासपूर्वक प्रवृत्ति करे, ऐसी सुदृढ़ता करना योग्य है, और यही

परम मंगलकारी है।

जहाँ स्थिति करें वहाँ, उन सब समागमवासियोंको ज्ञानीके मार्गकी प्रतीति सुदृढ़ हो और वे अप्रमत्ततासे सुशीलकी वृद्धि करें, ऐसा आप अपना वर्तन रखें। ॐ शांतिः

---

९४४ मोरबी, श्रावण वदी १०, १९५६

ॐ

भाई कीलाभाई तथा त्रिभोवन आदि मुमुक्षु, स्थंभतीर्थ।

आज 'योगशास्त्र' ग्रंथ डाकमें भेजा गया है।

श्री अंबालालकी स्थिति स्थंभतीर्थमें ही होनेका योग बने तो वैसे, नहीं तो आप और कीलाभाई आदि मुमुक्षुओंके अध्ययन और श्रवण-मननके लिये श्रावण वदी ११ से भाद्रपद पूर्णिमा पर्यंत सुव्रत, नियम, और निवृत्तिपरायणताके हेतुसे इस ग्रंथका उपयोग कर्तव्य है।

प्रमत्तभावने इस जीवका बुरा करनेमें कोई न्यूनता नहीं रखी, तथापि इस जीवको निज हितका ध्यान नहीं है, यही अतिशय खेदकारक है।

हे आर्यो! अभी उस प्रमत्तभावको उल्लासित वीर्यसे शिथिल करके, सुशीलसहित सत्श्रुतका अध्ययन करके निवृत्तिपूर्वक आत्मभावका पोषण करें।

अभी नित्यप्रति पत्रसे निवृत्ति-परायणता लिखनी योग्य है। अंबालालको पत्र प्राप्त हुआ होगा।

यहाँ स्थितिमें परिवर्तन होगा और अंबालालको विदित करना योग्य होगा तो कल तक हो सकता है। यथासंभव तारसे खबर दी जायेगी।

---

९४५ मोरबी, श्रावण वदी १०, १९५६

श्री पर्युषण-आराधना

एकांत योग्य स्थलमें, प्रभातमें–(१) देवगुरुकी उत्कृष्ट भक्तिवृत्तिसे अंतरात्मध्यानपूर्वक दो घडीसे चार घडी तक उपशांत व्रत। (२) श्रुत 'पद्मनंदी' आदिका अध्ययन श्रवण।

मध्याह्नमें–(१) चार घडी उपशांत व्रत। (२) श्रुत 'कर्मग्रंथ'का अध्ययन, श्रवण; 'सुदृष्टितरंगिणी' आदिका थोड़ा अध्ययन।

सायंकालमें–(१) क्षमापनाका पाठ। (२) दो घडी उपशांत व्रत। (३) कर्मविषयकी ज्ञानचर्चा।

सर्व प्रकारके रात्रिभोजनका सर्वथा त्याग। हो सके तो भाद्रपद पूर्णिमा तक एक बार आहारग्रहण। पंचमीके दिन घी, दूध, तेल और दहीका भी त्याग। उपशांत व्रतमें विशेष कालनिर्गमन। हो सके तो उपवास करना। हरी वनस्पतिका सर्वथा त्याग। आठों दिन ब्रह्मचर्यका पालन। हो सके तो भाद्रपद पूनम तक।

शमम्

९४६

श्री 'मोक्षमाला' के 'प्रज्ञावबोध' भागकी संकलना

१. वाचकको प्रेरणा	२. जिनदेव	३. निर्ग्रंथ
४. दयाकी परम धर्मता	५. सच्चा ब्राह्मणत्व	६. मैत्री आदि चार भावना

७. सत्शास्त्रका उपकार
८. प्रमादके स्वरूपका विशेष विचार
९. तीन मनोरथ
१०. चार सुख शय्या
११. व्यावहारिक जीवोंके भेद
१२. तीन आत्मा
१३. सम्यग्दर्शन
१४. महात्माओंकी असंगता
१५. सर्वोत्कृष्ट सिद्धि
१६. अनेकांतकी प्रमाणता
१७. मन-भ्रांति
१८. तप
१९. ज्ञान
२०. क्रिया
२१. आरंभ-परिग्रहकी निवृत्तिपर ज्ञानी द्वारा दिया हुआ बहुत बल।
२२. दान
२३. नियमितता
२४. जिनागमस्तुति
२५. नवतत्त्वका सामान्य संक्षिप्त स्वरूप
२६. सार्वत्रिक श्रेय
२७. सद्गुण
२८. देशधर्म संबंधी विचार
२९. मौन
३०. शरीर
३१. पुनर्जन्म
३२. पंचमहाव्रत संबंधी विचार
३३. देशबोध
३४. प्रशस्त योग
३५. सरलता
३६. निरभिमानता
३७. ब्रह्मचर्यकी सर्वोत्कृष्टता
३८. आज्ञा
३९. समाधिमरण
४०. वैतालीय अध्ययन
४१. संयोगकी अनित्यता
४२. महात्माओंकी अनंत समता
४३. सिरपर न चाहिये
४४. (चार) उदय आदि भंग
४५. जिनमतनिराकरण
४६. महामोहनीय स्थानक
४७. तीर्थंकरपद संप्राप्तिस्थानक
४८. माया
४९. परिषहजय
५०. वीरत्व
५१. सद्गुरुस्तुति
५२. पाँच परमपद संबंधी विशेष विचार
५३. अविरति
५४. अध्यात्म
५५. मंत्र
५६. छ पद निश्चय
५७. मोक्षमार्गकी अविरोधता
५८. सनातन धर्म
५९. सूक्ष्म तत्त्वप्रतीति
६०. समिति गुप्ति
६१. कर्मके नियम
६२. महापुरुषोंकी अनंत दया
६३. निर्जराक्रम
६४. आकांक्षाके स्थानमें किस तरह वर्तन करना ?
६५. मुनिधर्मयोग्यता
६६. प्रत्यक्ष और परोक्ष
६७. उन्मत्तता
६८. एक अंतर्मुहूर्त
६९. दर्शनस्तुति
७०. विभाव
७१. रसास्वाद
७२. अहिंसा और स्वच्छंदता
७३. अल्प शिथिलतासे महादोषका जन्म
७४. पारमार्थिक सत्य
७५. आत्मभावना
७६. जिनभावना
७७-९०. महापुरुष चरित्र
९१-१००. (किसी भागमें वृद्धि)
१०१-१०६. हितार्थी प्रश्न
१०७-१०८. समाप्ति अवसर

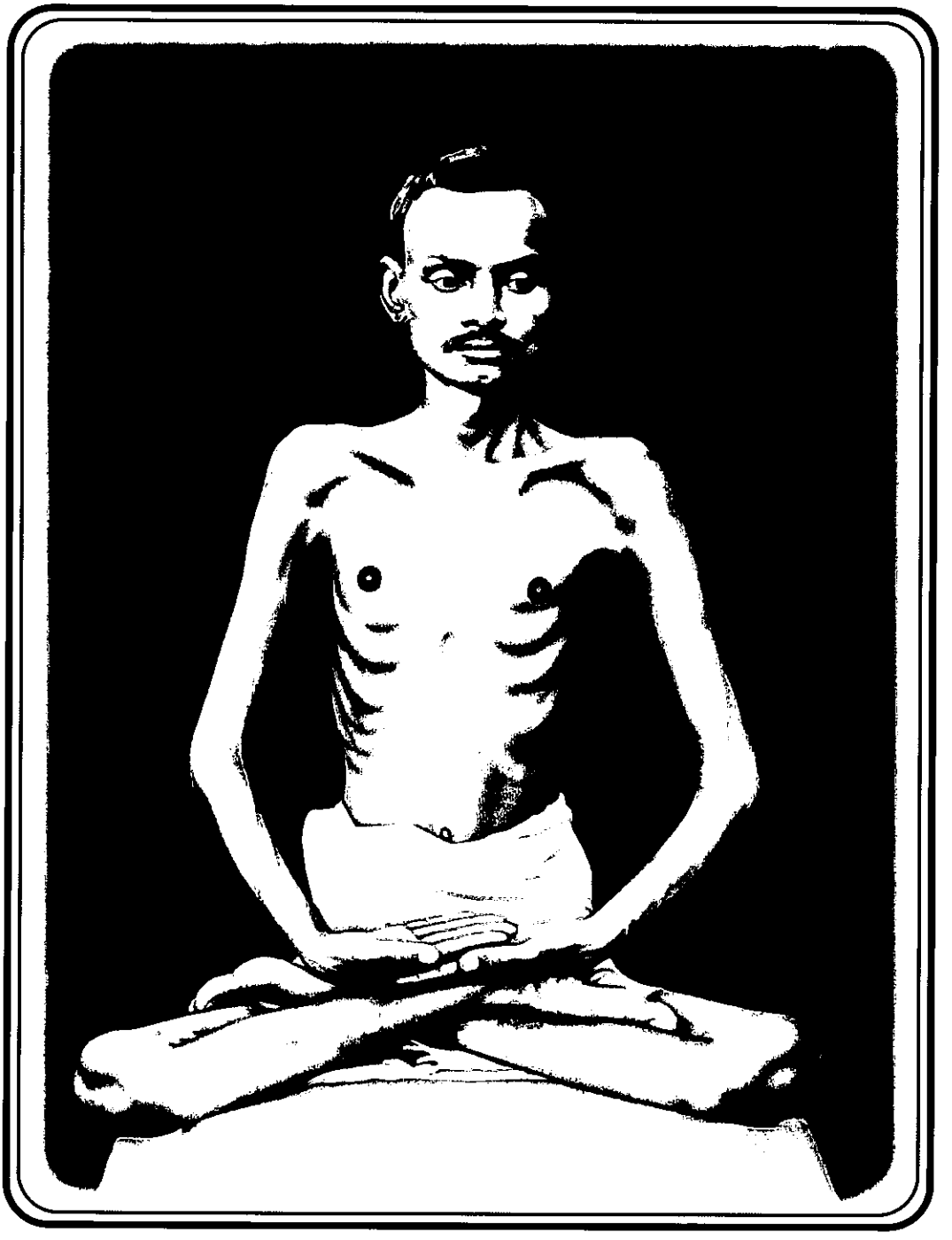

३३ वाँ वर्ष **श्रीमद् राजचंद्र** वि. सं. १९५६

३४ वाँ वर्ष

९४७ वढ़वाण केम्प, कार्तिक सुदी ५, रवि, १९५७

ॐ

वर्तमान दुःषमकाल है। मनुष्योंके मन भी दुःषम ही देखनेमें आते हैं। बहुत करके परमार्थसे शुष्क अंतःकरणवाले परमार्थका दिखाव करके स्वेच्छासे चलते हैं।

ऐसे समयमें किसका संग करना, किसके साथ कितना संबंध रखना, किसके साथ कितना बोलना, और किसके साथ अपने कितने कार्य-व्यवहारका स्वरूप विदित किया जा सके; ये सब ध्यानमें रखनेका समय है। नहीं तो सद्वृत्तिमान जीवको ये सब कारण हानिकर्त्ता होते हैं। इसका आभास तो आपको भी अब ध्यानमें आता होगा। शांतिः

---

९४८ बंबई शिव, मगसिर वदी ८, १९५७

मदनरेखाका अधिकार, 'उत्तराध्ययन'के नौवें अध्ययनमें नमिराज ऋषिका चरित्र दिया है, उसकी टीकामें है। ऋषिभद्र पुत्रका अधिकार 'भगवतीसूत्र'के...[1]शतकके उद्देशमें आया है। ये दोनों अधिकार अथवा दूसरे वैसे बहुतसे अधिकार आत्मोपकारी पुरुषके प्रति वंदन आदि भक्तिका निरूपण करते हैं। परंतु जनमंडलके कल्याणका विचार करते हुए वैसे विषयकी चर्चा करनेसे आपको दूर रहना योग्य है। अवसर भी वैसा ही है। इसलिये आप इन अधिकार आदिकी चर्चा करनेमें एकदम शांत रहें। परंतु दूसरी तरहसे उन लोगोंकी आपके प्रति उत्तम मनोभाववृत्ति किंवा भावना हो ऐसा आप वर्तन करे, कि जिससे पूर्वापर बहुतसे जीवोंके हितका ही हेतु हो।

जहाँ परमार्थके जिज्ञासु पुरुषोंका मंडल हो वहाँ शास्त्रप्रमाण आदिकी चर्चा करना योग्य है; नहीं तो बहुत करके उससे श्रेय नहीं होता। यह मात्र छोटा परिषह है। योग्य उपायसे प्रवृत्ति करें; परंतु उद्वेगवाला चित्त न रखें।

---

९४९ तिथ्थल-वलसाड, पौष वदी १०, मंगल,१९५७

ॐ

भाई मनसुखकी पत्नीके स्वर्गवास होनेका समाचार जानकर आपने दिलासाभरित पत्र लिखा, वह मिला।

---

१. शतक ११, उद्देश १२।

परिचर्याका प्रसंग लिखते हुए आपने जो वचन लिखे हैं वे यथार्थ हैं। शुद्ध अंतःकरणपर असर होनेसे निकले हुए वचन हैं।

लोकसंज्ञा जिसकी जिंदगीका लक्ष्यबिंदु है वह जिंदगी चाहे जैसी श्रीमंतता, सत्ता या कुटुंब परिवार आदिके योगवाली हो तो भी वह दुःखका ही हेतु है। आत्मशांति जिस जिंदगीका लक्ष्यबिंदु है वह जिंदगी चाहे तो एकाकी, निर्धन और निर्वस्त्र हो तो भी परम समाधिका स्थान है।

---

९५० वढ़वाण केम्प, फागुन सुदी ६, शनि, १९५७

ॐ

कृपालु मुनिवरोंको सविनय नमस्कार हो।

पत्र प्राप्त हुआ।

जो अधिकारी संसारसे विराम पाकर मुनिश्रीके चरणकमलके योगमें विचरना चाहता है, उस अधिकारीको दीक्षा देनेमें मुनिश्रीको दूसरा प्रतिबंधका कोई हेतु नहीं है। उस अधिकारीको अपने बुजुर्गोंका संतोष सम्पादन कर आज्ञा लेना योग्य है, जिससे मुनिश्रीके चरणकमलमें दीक्षित होनेमें दूसरा विक्षेप न रहे।

इसे अथवा किसी दूसरे अधिकारीको संसारसे उपरामवृत्ति हुई हो और वह आत्मार्थ-साधक है ऐसा प्रतीत होता हो तो उसे दीक्षा देनेमें मुनिवर अधिकारी हैं। मात्र त्याग लेनेवाले और त्याग देनेवालेके श्रेयका मार्ग वृद्धिमान रहे, ऐसी दृष्टिसे वह प्रवृत्ति होनी चाहिये।

शरीर-स्थिति उदयानुसार है। बहुत करके आज राजकोटकी ओर प्रस्थान होगा। प्रवचनसार ग्रंथ लिखा जा रहा है, वह यथावसर मुनिवरोंको प्राप्त होना संभव है। राजकोटमें कुछ दिन स्थितिका संभव है। ॐ शांतिः

---

९५१ राजकोट, फागुन वदी ३, शुक्र, १९५७

अति त्वरासे प्रवास पूरा करना था। वहाँ बीचमें सहराका रेगिस्तान संप्राप्त हुआ।

सिरपर बहुत बोझ रहा था उसे आत्मवीर्यसे जिस तरह अल्पकालमें वेदन कर लिया जाये उस तरह योजना करते हुए पैरोंने निकाचित उदयमान थकान ग्रहण की।

जो स्वरूप है वह अन्यथा नहीं होता, यही अद्‌भुत आश्चर्य है। अव्याबाध स्थिरता है।

शरीर-स्थिति उदयानुसार मुख्यतः कुछ असाताका वेदन कर साताके प्रति। ॐ शांतिः

---

९५२ राजकोट, फागुन वदी १३, सोम, १९५७

ॐ शरीरसंबंधी दूसरी बार आज अप्राकृत क्रम शुरू हुआ।

ज्ञानियोंका सनातन सन्मार्ग जयवंत रहे।

---

९५३ राजकोट, चैत्र सुदी २, शुक्र, १९५७

ॐ

अनंत शांतमूर्ति चंद्रप्रभस्वामीको नमोनमः।

वेदनीयको तथारूप उदयमानतासे वेदन करनेमें हर्ष-शोक क्या ? ॐ शांतिः

---

९५४ राजकोट, चैत्र सुदी ९, १९५७

ॐ

श्री जिन परमात्मने नमः

*(१) इच्छे छे जे जोगी जन, अनंत सुखस्वरूप ।
मूळ शुद्ध ते आत्मपद, सयोगी जिनस्वरूप ॥१॥

आत्मस्वभाव अगम्य ते, अवलंबन आधार ।
जिनपदथी दर्शावियो, तेह स्वरूप प्रकार ॥२॥

जिनपद निजपद एकता, भेदभाव नहि कांई ।
लक्ष थवाने तेहनो, कह्यां शास्त्र सुखदाई ॥३॥

जिन प्रवचन दुर्गम्यता, थाके अति मतिमान ।
अवलंबन श्री सद्गुरु, सुगम अने सुखखाण ॥४॥

उपासना जिनचरणनी,अतिशय भक्तिसहित ।
मुनिजन संगति रति अति, संयम योग घटित ॥५॥

गुणप्रमोद अतिशय रहे, रहे अंतर्मुख योग ।
प्राप्ति श्री सद्गुरु वडे, जिन दर्शन अनुयोग ॥६॥

प्रवचन समुद्र बिंदुमां, ऊलटी[1] आवे एम ।
पूर्व चौदनी लब्धिनुं, उदाहरण पण तेम ॥७॥

विषय विकार सहित जे, रह्या मतिना योग ।
परिणामनी विषमता, तेने यथोग अयोग ॥८॥

मंद विषय ने सरळता, सह आज्ञा सुविचार ।
करुणा कोमळतादि गुण, प्रथम भूमिका धार ॥९॥

---

*(१) **भावार्थ**—योगीजन जिस अनंत सुखकी इच्छा करते हैं वह मूल शुद्ध आत्मस्वरूप सयोगी जिनस्वरूप है ॥१॥ वह आत्मस्वभाव अरूपी होनेसे समझना मुश्किल है इसलिये देहधारी जिनभगवानके अवलंबनके आधारसे उसे समझाया है ॥२॥ मूल स्वरूपकी दृष्टिसे जिनस्वरूप और निजस्वरूप एक है—इनमें कोई भेदभाव नहीं है। इसका लक्ष्य होनेके लिये सुखदायी शास्त्र रचे गये हैं ॥३॥ जिनप्रवचन दुर्गम्य है, अति मतिमान पंडित भी उसका मर्म पानेमें थक जाते हैं। वह श्री सद्गुरुके अवलंबनसे सुगम एवं सुखनिधि सिद्ध होता है ॥४॥ यदि जिनचरणकी अतिशय भक्तिसहित उपासना हो; मुनिजनोंकी संगतिमें अति रति हो; मन वचनकायाकी शक्तिके अनुसार संयम हो; गुणोंके प्रति अतिशय प्रमोदभावना रहे; और मन, वचन एवं कायाका योग अंतर्मुख रहे, तो श्री सद्गुरुकी कृपासे चार अनुयोग गर्भित जिनसिद्धांतका रहस्य प्राप्त होता है ॥५-६॥ समुद्रके एक बिंदुमें समुद्रके क्षार आदि समस्त गुण आ जाते हैं उसी प्रकार प्रवचनसमुद्रके एक वचनरूप बिंदुमें चौदह पूर्व आ जाय ऐसी लब्धि जीवको सद्गुरुके योगसे प्राप्त होती है ॥७॥ जिसकी मति विषयविकार सहित है और इससे जिसकेपरिणाममें विषमता है, उसे सद्गुरुका योग भी अयोग होता है अर्थात् निष्फल जाता है ॥८॥ विषयासक्तिकी मंदता, सरलता, सद्गुरु-आज्ञापूर्वक सुविचार, करुणा, कोमलता आदि गुण रखनेवाले जीव आत्मप्राप्तिकी प्रथम भूमिकाके योग्य हैं ॥९॥ जिन्होंने शब्दादि विषयोंका निरोध किया है, जिन्हें संयमके साधनोंमें प्रीति है, जिन्हें आत्माके सिवाय जगतंका कोई जीव इष्ट (प्रिय) नहीं है, वे महाभाग्य जीव मध्यम पात्र हैं अर्थात् आत्मप्राप्तिकी मध्यम भूमिकाके योग्य है ॥१०॥ जिन्हें जीनेकी तृष्णा नहीं है और मरणका क्षोभ (भय) नहीं है, जिन्होंने लोभ आदि कषायोंको जीत लिया है और जिनका मोक्षके उपायमें प्रवर्तन है, वे आत्मप्राप्तिके मार्गके महा (उत्कृष्ट) पात्र है ॥११॥

१. पाठांतर 'उल्लसी'

रोक्या शब्दादिक विषय, संयम साधन राग।
जगत इष्ट नहि आत्मथी,मध्य पात्र महाभाग्य ॥१०॥

नहि तृष्णा जीव्यातणी, मरण योग नहि क्षोभ।
महापात्र ते मार्गना, परम योग जितलोभ ॥११॥

(२) आव्ये बहु समदेशमां, छाया जाय समाई।
आव्ये तेम स्वभावमां, मन स्वरूप पण जाई ॥१॥

ऊपजे मोह विकल्पथी, समस्त आ संसार।
अंतर्मुख अवलोकतां, विलय थतां नहि वार ॥२॥

(३) सुखधाम अनंत सुसंत चही, दिन रात्र रहे तद्ध्यानमहीं।
परशांति अनंत सुधामय जे, प्रणमुं पद ते वर ते जय ते ॥१॥

---

९५५ राजकोट, चैत्र सुदी ११॥, सोम, १९५७

ॐ

यद्यपि बहुत ही धीमा सुधार होता हो ऐसा लगता है, तथापि अब शरीर-स्थिति ठीक है।

कोई रोग हो ऐसा नहीं लगता। सभी डॉक्टरोंका भी यही अभिप्राय है। निर्बलता बहुत है। वह कम हो ऐसे उपायों या कारणोंकी अनुकूलताकी आवश्यकता है। अभी वैसी कुछ भी अनुकूलता मालूम होती है।

कल या परसोंसे यहाँ एक सप्ताहके लिये धारशीभाई रहनेवाले हैं। इसलिये अभी तो सहजतासे आपका आगमन न हो तो भी अनुकूलता है। मनसुख प्रसंगोपात्त घबरा जाता है और दूसरोंको घबरा देता है। वैसी कभी शरीर स्थिति भी होती है। जरूर जैसा होगा तो मैं आपको बुला लूँगा। अभी आप आना स्थगित रखे। शांत मनसे काम करते जायें। यही विनती। शांतिः

---

*४४२-१ बंबई, चैत्र वदी ७, १९४९

चित्तमें आप परमार्थकी इच्छा रखते हैं ऐसा है; तथापि उस परमार्थप्राप्तिको अत्यंतरूपसे बाधा करनेवाले जो दोष हैं उनमें, अज्ञान, क्रोध, मान आदिके कारणसे उदास नहीं हो सकते अथवा उनके अमुक संबंधमें रुचि रहती है और उन्हें परमार्थप्राप्तिमें बाधक कारण जानकर अवश्य सर्पके विषकी भाँति छोड़ना योग्य है। किसीका दोष देखना उचित नहीं है, सभी प्रकारसे जीवको अपने ही दोषका विचार करना योग्य है; ऐसी भावना अत्यंतरूपसे दृढ़ करने योग्य है। जगतदृष्टिसे कल्याण असंभवित जानकर यह कही हुई बात ध्यानमें लेने योग्य है यह विचार रखें।

---

(२) जिस तरह जब सूर्य मध्याह्नमें मध्यमें–बहुत समप्रदेशमें आता है तब पदार्थोंकी छाया उन्हींमें समा जाती है; उसी तरह आत्मस्वभावमें आने पर मनका लय हो जाता है ॥१॥ यह समस्त संसार मोहविकल्पसे उत्पन्न होता है। अंतर्मुख वृत्तिसे देखनेसे इसका नाश होनेमें देर नहीं लगती ॥२॥

(३) जो अनन्त सुखका धाम है, जिसे सन्तजन चाहते हैं, जिसके ध्यानमें वे दिनरात लीन रहते हैं, जो परम शांति और अनन्त सुधासे परिपूर्ण है उस पदको मैं प्रणाम करता हूँ, वह श्रेष्ठ है, उसकी जय हो ॥१॥

*यह पत्र पुरानी आवृत्तियोंमें नहीं है। फिर भी 'तत्त्वज्ञान'की आवृत्तियोंमें प्रकाशित हुआ है; अतः मितीके अनुसार यह आंक ४४२ के बाद रखने योग्य है। परंतु वहाँ छूट जानेसे यहाँ आंक ४४२-१ के रूपमें रखा है।

९५६

उपदेश नोंध

(प्रासंगिक)

१* बंबई, कार्तिक सुदी, १९५०

श्री 'षड्दर्शनसमुच्चय' ग्रंथका भाषांतर श्री मणिभाई नभुभाईने अभिप्रायार्थ भेजा है। अभिप्रायार्थ भेजनेवालेकी कुछ अंतर इच्छा ऐसी होती है कि उससे रंजित होकर उसकी प्रशंसा लिख भेजना। श्री मणिभाईने भाषांतर अच्छा किया है, परंतु वह दोषरहित नहीं है।

---

२ ववाणिया, चैत्र सुदी ६, बुध, १९५३

वेशभूषा चटकीली न होनेपर भी साफ-सुथरी हो ऐसी सादगी अच्छी है। चटकीलेपनसे कोई पाँचसौके वेतनके पाँच-सौ-एक नहीं कर देता, और योग्य सादगीसे कोई पाँच-सौके चार-सौ निन्यानवे नहीं कर देता।

धर्ममें लौकिक बड़प्पन, मान, महत्त्वकी इच्छा, ये धर्मके द्रोहरूप हैं।

धर्मके बहानेसे अनार्य देशमें जाने अथवा सूत्रादि भेजनेका निषेध करनेवाले, नगारा बजाकर निषेध करनेवाले, अपने मान, महत्व और बड़प्पनका प्रश्न आये वहाँ इसी धर्मको ठुकराकर, इसी धर्मपर पैर रखकर, इसी निषेधका निषेध करें, यह धर्मद्रोह ही है। धर्मका महत्व तो बहानारूप है, और स्वार्थ संबंधी मान आदिका प्रश्न मुख्य है, यह धर्मद्रोह ही है।

श्री वीरचंद गांधीको विलायत आदि भेजने आदिमें ऐसा हुआ है।

जब धर्म ही मुख्य रंग हो तब अहोभाग्य है!

प्रयोगके बहानेसे पशुवध करनेवाले रोग-दुःख दूर करेंगे तबकी बात तब, परंतु अभी तो बेचारे निरपराधी प्राणियोंको खूब दुःख देकर, मारकर अज्ञानवश कर्मका उपार्जन करते हैं! पत्रकार भी विवेक-विचारके बिना इस कार्यकी पुष्टि करनेके लिये लिख मारते हैं।

---

३ मोरबी, चैत्र वदी ७, १९५५

विशेष हो सके तो अच्छा। ज्ञानियोंको भी सदाचरण प्रिय है। विकल्प कर्तव्य नहीं है।

'जातिस्मृति' हो सकती है। पूर्वभव जाना जा सकता है।

अवधिज्ञान है।

---

* मोरबीके मुमुक्षु साक्षर श्री मनसुखभाई किरतचंदने अपनी स्मृतिसे श्रीमद्जीके प्रसंगोंकी जो नोंध की थी, उसमेंसे १ से २६ तकके आंक लिये गये हैं।

तिथिका पालन करना।

रातको नहीं खाना, न चले तो उबाला हुआ दूध लेना।

वैसा वैसेको मिले; वैसा वैसेको रुचे।

[1]'चाहे चकोर ते चंद्रने, मधुकर मालती भोगी रे।
तेम भवि सहज गुणे होये, उत्तम निमित्त संजोगी रे॥'

[2]'चरमावर्त वळी चरमकरण तथा रे, भवपरिणति परिपाक।
दोष टळे ने दृष्टि खूले अति भली रे, प्राप्ति प्रवचन वाक॥'

अव्यवहार-राशिमेंसे व्यवहार-राशिमें सूक्ष्म निगोदमेंसे मारा-पीटा जाता हुआ कर्मकी अकामनिर्जरा करता हुआ, दुःख भोगकर उस अकाम-निर्जराके योगसे जीव पंचेंद्रिय मनुष्यभव पाता है। और इस कारणसे प्रायः उस मनुष्यभवमें मुख्यतः छल-कपट, माया, मूर्च्छा, ममत्व, कलह, वंचना, कषायपरिणति आदि रहे हुए हैं।

सकाम-निर्जरापूर्वक प्राप्त मनुष्यदेह विशेष सकाम-निर्जरा कराकर, आत्मतत्त्वको प्राप्त कराती है।

---

४ मोरबी, चैत्र वदी ८, १९५५

'षड्दर्शनसमुच्चय' अवलोकन करने योग्य है।

'तत्त्वार्थसूत्र' पढ़ने योग्य और वारंवार विचारने योग्य है।

'योगदृष्टिसमुच्चय' ग्रंथ श्री हरिभद्राचार्यने संस्कृतमें रचा है। श्री यशोविजयजीने गुजरातीमें उसकी ढ़ालबद्ध सज्झाय रची है। उसे कंठाग्र कर विचारने योग्य है। ये दृष्टियाँ आत्मदशामापी (थर्मामीटर) यंत्र है।

शास्त्रको जाल समझनेवाले भूल करते हैं। शास्त्र अर्थात् शास्तापुरुषके वचन। इन वचनोंको समझनेके लिये दृष्टि सम्यक् चाहिये।

सदुपदेष्टाकी बहुत जरूरत है। सदुपदेष्टाकी बहुत जरूरत है।

पाँच-सौ हजार श्लोक मुखाग्र करनेसे पंडित नहीं बना जाता। फिर भी थोड़ा जानकर ज्यादाका ढ़ोंग करनेवाले पंडितोंकी कमी नहीं है।

[3]ऋतुको सन्निपात हुआ है।

एक पाईकी चार बीडी आती है। हजार रूपये रोज कमानेवाले बैरिस्टरको बीडीका व्यसन हो और उसकी तलब होनेपर बीडी न हो तो एक चतुर्थांश पाईकी कीमतकी तुच्छ वस्तुके लिये व्यर्थ दौडधूप करता है। हजार रुपये रोज कमानेवाला अनंत शक्तिवान आत्मा है जिसका ऐसा बैरिस्टर मूर्च्छावश तुच्छ वस्तुके लिये व्यर्थ दौड-धूप करता है! जीवको विभावके कारण आत्मा और उसकी शक्तिका पता नहीं है।

हम अंग्रेजी नहीं पढ़े यह अच्छा हुआ। पढ़े होते तो कल्पना बढ़ती। कल्पनाको तो छोड़ना है। पढ़ा

---

१. **भावार्थ**—जैसे चकोर पक्षी चंद्रको चाहता है, मधुकर—भ्रमर मालतीके पुष्पमें आसक्त होता है वैसे मित्रा दृष्टिमें रहता हुआ भव्य जीव सद्गुरुयोगसे वंदन-क्रिया आदि उत्तम निमित्तको स्वाभाविकरूपसे चाहता है।

२. देखे आंक ८६४।

३. दोपहरके चार बजे पूर्व दिशामें आकाशमें काला बादल देखते हुए, उसे दुष्कालका एक निमित्त जानकर उपर्युक्त शब्द बोले थे। इस वर्ष १९५५ का चोमासा खाली गया और १९५६ का भयंकर दुष्काल पड़ा।

हुआ भूलने पर ही छुटकारा है। भूले बिना विकल्प दूर नहीं होते। ज्ञानकी जरूरत है।

---

५ मोरबी, चैत्र वदी ९, गुरु, १९५५

यदि परम सत् पीडित होता हो तो वैसे विशिष्ट प्रसंगपर सम्यग्दृष्टि देवता सार-संभाल करते हैं, प्रत्यक्ष भी आते हैं; परंतु बहुत ही थोड़े प्रसंगोंपर।

योगी या वैसी विशिष्ट शक्तिवाला वैसे प्रसंगपर सहायता करता है।

जीवको मति-कल्पनासे ऐसा भासित होता है कि मुझे देवताके दर्शन होते हैं; मेरे पास देवता आते हैं, मुझे दर्शन होता है। देवता यों दिखायी नहीं देते।

प्रश्न—श्री नवपद पूजामें आता है कि [1]'ज्ञान एहि ज आत्मा;' आत्मा स्वयं ज्ञान है तो फिर पढ़ने-गुननेकी अथवा शास्त्राभ्यासकी क्या जरूरत ? पढ़े हुए सबको कल्पित समझकर अंतमें भूल जानेपर ही छुटकारा है तो फिर पढ़नेकी, उपदेशश्रवणकी या शास्त्रपठनकी क्या जरूरत ?

उत्तर—'ज्ञान एहि ज आत्मा' यह एकांत निश्चयनयसे है। व्यवहारसे तो यह ज्ञान आवृत है। उसे प्रगट करना है। इस प्रकटताके लिये पढ़ना, गुनना, उपदेशश्रवण, शास्त्रपठन आदि साधनरूप हैं। परंतु यह पढ़ना, गुनना, उपदेशश्रवण और शास्त्रपठन आदि सम्यग्दृष्टिपूर्वक होना चाहिये। यह श्रुतज्ञान कहलाता है। संपूर्ण निरावरण ज्ञान होने तक इस श्रुतज्ञानके अवलंबनकी आवश्यकता है। 'मैं ज्ञान हूँ', 'मैं ब्रह्म हूँ', यों पुकारनेसे ज्ञान या ब्रह्म नहीं हुआ जाता। तद्रूप होनेके लिये सत्शास्त्र आदिका सेवन करना चाहिये।

---

६ मोरबी, चैत्र वदी १०, १९५५

प्रश्न—दूसरेके मनके पर्याय जाने जा सकते हैं ?

उत्तर—हाँ, जाने जा सकते हैं। स्व-मनके पर्याय जाने जा सकते हैं, तो पर-मनके पर्याय जानना सुलभ है। स्व-मनके पर्याय जानना भी मुश्किल है। स्व-मन समझमें आ जाये तो वह वशमें हो जाये। उसे समझनेके लिये सद्विचार और सतत एकाग्र उपयोगकी जरूरत है।

आसनजयसे उत्थानवृत्ति उपशांत होती है; उपयोग अचपल हो सकता है; निद्रा कम हो सकती है।

सूर्यके प्रकाशमें सूक्ष्म रज जैसा जो दिखायी देता है, वह अणु नहीं है; परंतु अनेक परमाणुओंका बना हुआ स्कंध है। परमाणु चक्षुसे देखे नहीं जा सकते। चक्षुरिंद्रियलब्धिके प्रबल क्षयोपशमवाले जीव, दूरदर्शीलब्धिसंपन्न योगी अथवा केवलीसे वे देखें जा सकते हैं।

---

७ मोरबी, चैत्र वदी ११, १९५५

'मोक्षमाला' हमने सोलह वर्ष और पाँच मासकी उम्रमें तीन दिनमें लिखी थी। ६७ वें पाठपर स्याही ढुल जानेसे वह पाठ पुनः लिखना पड़ा था और उस स्थानपर 'बहु पुण्य केरा पुंजथी' का अमूल्य तात्त्विक विचारका काव्य रखा था।

जैनमार्गको यथार्थ समझानेका उसमें प्रयास किया है। जिनोक्तमार्गसे कुछ भी न्यूनाधिक उसमें नहीं कहा है। वीतरागमार्गमें आबालवृद्धकी रुचि हो, उसका स्वरूप समझमें आये, उसके बीजका हृदयमें रोपण हो, इस हेतुसे उसकी बालावबोधरूप योजना की है। परंतु लोगोंको विवेक, विचार और कदर कहाँ है ?

---

१. 'ज्ञानावरणी जे कर्म छे, क्षय उपशम तस थाय रे।
तो हुए एहि ज आतमा, ज्ञान अबोधता जाय रे।'

आत्मकल्याणकी इच्छा ही कम है। उस शैली और उस बोधका अनुसरण करनेके लिये भी यह नमूना दिया गया है। इसका 'प्रज्ञावबोध' भाग भिन्न है, उसे कोई रचेगा।

इसके छपनेमें विलंब होनेसे ग्राहकोंकी आकुलता दूर करनेके लिये तत्पश्चात् 'भावनाबोध' रचकर उपहाररूपमें ग्राहकोंको दिया था।

[1] 'हुं कोण छुं? क्यांथी थयो? शुं स्वरूप छे मारुं खरुं?
कोना संबंधे वळगणा छे? राखुं के ए परिहरुं?'

इसपर जीव विचार करें तो उसे नवों तत्त्वका, तत्त्वज्ञानका संपूर्ण बोध हो जाय ऐसा है। इसमें तत्त्वज्ञानका संपूर्ण समावेश हो जाता है। इसका शांतिपूर्वक और विवेकसे विचार करना चाहिये।

अधिक और लम्बे लेखोंसे कुछ ज्ञानकी, विद्वत्ताकी तुलना नहीं होती, परंतु सामान्यतः जीवोंको इस तुलनाकी समझ नहीं हैं।

[2]प्र०—किरतचंदभाई जिनालयमें पूजा करने जाते हैं?

[3]उ०—ना साहिब, समय नहीं मिलता।

समय क्यों नहीं मिलता? चाहे तो समय मिल सकता है, प्रमाद बाधक है। हो सके तो पूजा करने जाना।

काव्य, साहित्य या संगीत आदि कला यदि आत्मार्थके लिये न हों तो वे कल्पित हैं। कल्पित अर्थात् निरर्थक, सार्थक नहीं—जीवकी कल्पना मात्र है। जो भक्तिप्रयोजनरूप या आत्मार्थके लिये न हो वह सब कल्पित ही है।

---

८ मोरबी, चैत्र वदी १२, १९५५

श्रीमद् आनंदघनजी श्री अजितनाथके स्तवनमें स्तुति करते हैं—

'तरतम योगे रे तरतम वासना रे, वासित बोध आधार—पंथडो०'

इसका क्या अर्थ है? ज्यों ज्यों योगकी—मन, वचन और कायाकी तरतमता अर्थात् अधिकता त्यों त्यों वासनाकी भी अधिकता, ऐसा 'तरतम योगे रे तरतम वासना रे' का अर्थ होता है। अर्थात् यदि कोई बलवान योगवाला पुरुष हो, उसके मनोबल, वचनबल आदि बलवान हों, और वह पंथका प्रवर्तन करता हो; परंतु जैसा उसका बलवान मन, वचन आदि योग है, वैसी ही फिर मनवानेकी, पूजा करानेकी, मान, सत्कार, अर्थ, वैभव आदिकी बलवान वासना हो तो वैसी वासनावालेका बोध वासनासहित बोध हुआ, कषाययुक्त बोध हुआ, विषयादिकी लालसावाला बोध हुआ, मानार्थ बोध हुआ, आत्मार्थ बोध न हुआ। श्री आनंदघनजी श्री अजित प्रभुका स्तवन करते हैं—'हे प्रभो! ऐसा वासनासहित बोध आधाररूप है, वह मुझे नहीं चाहिये। मुझे तो कषायरहित, आत्मार्थसंपन्न, मान आदि वासनारहित बोध चाहिये ऐसे पंथकी गवेषणा मैं कर रहा हूँ। मनवचनादि बलवान योगवाले भिन्न भिन्न पुरुष बोधका प्ररूपण करते आये हैं, प्ररूपण करते हैं, परंतु हे प्रभो! वासनाके कारण वह बोध वासित है, मुझे तो वासनारहित बोधकी जरूरत है। वह तो, हे वासना, विषय, कषाय आदि जीतनेवाले जिन वीतराग अजित देव! तेरा है। उस तेरे पंथको मैं खोज रहा हूँ—देख रहा हूँ। वह आधार मुझे चाहिये। क्योंकि प्रगट सत्यसे धर्मप्राप्ति होती है।'

---

१. देखें मोक्षमाला पाठ ६७। २. श्रीमद्जीने पूछा। ३. श्री मनसुखभाईका प्रत्युत्तर।

आनंदघनजीकी चौबीसी मुखाग्र करने योग्य है। उसका अर्थ विवेचनपूर्वक लिखने योग्य है। वैसा करें।

---

९ मोरबी, चैत्र वदी १४, १९५५

प्र०—आप जैसे समर्थ पुरुषसे लोकोपकार हो ऐसी इच्छा रहे यह स्वाभाविक है।

उ०—लोकानुग्रह अच्छा और आवश्यक अथवा आत्महित ?

म०—साहब, दोनोंकी जरूरत है।

श्रीमद्—

श्री हेमचंद्राचार्यको हुए आठ सौ बरस हो गये। श्री आनंदघनजीको हुए दो सौ बरस हो गये। श्री हेमचंद्राचार्यने लोकानुग्रहमें आत्मार्पण किया। श्री आनंदघनजीने आत्महित साधनप्रवृत्तिको मुख्य बनाया। श्री हेमचंद्राचार्य महा प्रभावक बलवान क्षयोपशमवाले पुरुष थे। वे इतने सामर्थ्यवान थे कि वे चाहते तो अलग पंथका प्रवर्तन कर सकते थे। उन्होंने तीस हजार घरोंको श्रावक बनाया। तीस हजार घर अर्थात् सवा लाखसे डेढ़ लाख मनुष्योंकी संख्या हुई। श्री सहजानंदजीके संप्रदायमें एक लाख मनुष्य होंगे। एक लाखके समूहसे सहजानंदजीने अपना संप्रदाय चलाया, तो डेढ़ लाख अनुयायियोंका एक अलग संप्रदाय श्री हेमचंद्राचार्य चाहते तो चला सकते थे।

परंतु श्री हेमचंद्राचार्यको लगा कि संपूर्ण वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर ही धर्मप्रवर्तक हो सकते हैं। हम तो तीर्थंकरोंकी आज्ञासे चलकर उनके परमार्थ मार्गका प्रकाश करनेके लिये प्रयत्न करनेवाले हैं। श्री हेमचंद्राचार्यने वीतरागमार्गके परमार्थका प्रकाशनरूप लोकानुग्रह किया। वैसा करनेकी जरूरत थी। वीतरागमार्गके प्रति विमुखता और अन्य मार्गकी तरफसे विषमता, ईर्ष्या आदि शुरू हो चुके थे। ऐसी विषमतामें लोगोंको वीतराग मार्गकी ओर मोडनेकी, लोकोपकारकी तथा उस मार्गके रक्षणकी उन्हें जरूरत मालूम हुई। हमारा चाहे कुछ भी हो, इस मार्गका रक्षण होना चाहिये। इस प्रकार उन्होंने स्वार्पण किया। परंतु इस तरह उनके जैसे ही कर सकते हैं। वैसे भाग्यवान, माहात्म्यवान, क्षयोपशमवान ही कर सकते हैं। भिन्न भिन्न दर्शनोंको यथावत् तोलकर अमुक दर्शन संपूर्ण सत्य स्वरूप है, ऐसा जो निश्चय कर सकते हैं वैसे पुरुष ही लोकानुग्रह, परमार्थप्रकाश और आत्मार्पण कर सकते हैं।

श्री हेमचंद्राचार्यने बहुत किया। श्री आनंदघनजी उनके छः सौ बरस बाद हुए। इन छः सौ बरस के अंतरालमें वैसे दूसरे हेमचंद्राचार्यकी जरूरत थी। विषमता व्याप्त होती जाती थी। काल उग्रस्वरूप लेता जाता था। श्री वल्लभाचार्यने शृंगारयुक्त धर्मका प्ररूपण किया। शृंगारयुक्त धर्मकी ओर लोक मुडे—आकर्षित हुए। वीतरागधर्म-विमुखता बढ़ती चली। अनादिसे जीव शृंगार आदि विभावमें तो मूर्च्छा प्राप्त कर रहा है, उसे वैराग्यके सन्मुख होना मुश्किल है। वहाँ यदि उसके पास शृंगारको ही धर्मरूपसे रखा जाये तो वह वैराग्यकी ओर कैसे मुड सकता है ? यों वीतरागमार्ग-विमुखता बढ़ी।

वहाँ फिर प्रतिमाप्रतिपक्ष संप्रदाय जैनमें ही खड़ा हो गया। ध्यानका कार्य और स्वरूपका कारण ऐसी जिन-प्रतिमाके प्रति लाखों लोग दृष्टिविमुख हो गये, वीतरागशास्त्र कल्पित अर्थसे विराधित हुए, कितने तो समूल ही खंडित किये गये। इस तरह इन छः सौ बरसके अंतरालमें वीतरागमार्गरक्षक दूसरे हेमचंद्राचार्यकी जरूरत थी। अन्य अनेक आचार्य हुए, परंतु वे श्री हेमचंद्राचार्य जैसे प्रभावशाली नहीं थे। इसलिये विषमताके सामने टिका न जा सका। विषमता बढ़ती चली। वहाँ दो सौ बरस पूर्व श्री आनंदघनजी हुए।

श्री आनंदघनजीने स्वपरहितबुद्धिसे लोकोपकार-प्रवृत्ति शुरू की। इस मुख्य प्रवृत्तिमें आत्महितको गौण किया, परंतु वीतरागधर्मविमुखता, विषमता इतनी अधिक व्याप्त हो गयी थी कि लोग धर्मको अथवा आनंदघनजीको पहचान नहीं सके, पहचानकर कदर न कर सके। परिणामतः श्री आनंदघनजीको लगा कि प्रबल व्याप्त विषमताके योगमें लोकोपकार, परमार्थप्रकाश कारगर नहीं होता और आत्महित गौण होकर उसमें बाधा आती है, इसलिये आत्महितको मुख्य करके उसमें प्रवृत्ति करना योग्य है। ऐसी विचारणासे अंतमें वे लोकसंगको छोड़कर वनमें चल दिये। वनमें विचरते हुए भी अप्रगटरूपसे रहकर चौबीसी, पद आदिसे लोकोपकार तो कर ही गये। निष्कारण लोकोपकार यह महापुरुषोंका धर्म है।

प्रगटरूपसे लोग आनंदघनजीको पहचान नहीं सके। परंतु आनंदघनजी तो अप्रगट रहकर उनका हित करते गये। अब तो श्री आनंदघनजीके समयसे भी अधिक विषमता, वीतरागमार्ग-विमुखता व्याप्त है।

श्री आनंदघनजीको सिद्धांतबोध तीव्र था। वे श्वेतांबर संप्रदायमें थे। 'चूर्णि, भाष्य, सूत्र, निर्युक्ति वृत्ति परंपर अनुभव रे' इत्यादि पंचांगीका नाम उनके श्री नेमिनाथजीके स्तवनमें न आया होता तो यह पता भी न चलता कि वे श्वेताबंर संप्रदायके थे या दिगंबर संप्रदायके ?

---

१० मोरबी, चैत्र वदी ३०, १९५५

'इस भारतवर्षकी अधोगति जैनधर्मसे हुई है' ऐसा महीपतराम रूपराम कहते थे, लिखते थे। दसेक वर्ष पहले उनका मिलाप अहमदाबादमें हुआ था, तब उन्हें पूछा—

प्र०—भाई ! जैनधर्म अहिंसा, सत्य, मेल, दया, सर्व प्राणीहित, परमार्थ, परोपकार, न्याय, नीति, आरोग्यप्रद आहारपान, निर्व्यसनता, उद्यम आदिका उपदेश करता है ?

उ०—हाँ। (महीपतरामने उत्तर दिया।)

प्र०—भाई ! जैनधर्म हिंसा, असत्य, चोरी, फूट, क्रूरता, स्वार्थपरायणता, अन्याय, अनीति, छल-कपट, विरुद्ध आहार-विहार, मौज-शौक, विषय-लालसा, आलस्य, प्रमाद आदिका निषेध करता है ?

म०उ०—हाँ।

प्र०—देशकी अधोगति किससे होती है ? अहिंसा, सत्य, मेल, दया, परोपकार, परमार्थ, सर्व प्राणीहित, न्याय, नीति, आरोग्यप्रद एवं आरोग्यरक्षक ऐसा शुद्ध सादा आहार-पान, निर्व्यसनता, उद्यम आदिसे अथवा उससे विपरीत हिंसा, असत्य, फूट, क्रूरता, स्वार्थपटुता, छल-कपट, अन्याय, अनीति, आरोग्यको बिगाडे और शरीर-मनको अशक्त करे ऐसा विरुद्ध आहार-विहार, व्यसन, मौज-शौक, आलस्य, प्रमाद आदिसे ?

म०उ०—दूसरेसे अर्थात् विपरीत ऐसे हिंसा, असत्य, फूट, प्रमाद आदिसे।

प्र०—तब देशकी उन्नति इन दूसरोंसे विपरीत ऐसे अहिंसा, सत्य, मेल, निर्व्यसनता, उद्यम आदिसे होती है ?

म०उ०—हाँ।

प्र०—तब 'जैनधर्म' देशकी अधोगति हो ऐसा उपदेश करता है या देशकी उन्नति हो ऐसा ?

म०उ०—भाई ! मैं कबूल करता हूँ कि जैनधर्म ऐसे साधनोंका उपदेश करता है कि जिनसे देशकी उन्नति हो। ऐसी सूक्ष्मतासे विवेकपूर्वक मैंने विचार नहीं किया था। हमने तो बचपनमें पादरीकी शालामें

पढ़ते समय पड़े हुए संस्कारोंसे, बिना विचार किये ऐसा कह दिया था, लिख मारा था। महीपतरामने सरलतासे कबूल किया। सत्य शोधनमें सरलताकी जरूरत है। सत्यका मर्म लेनेके लिये विवेकपूर्वक मर्ममें उतरना चाहिये।

---

११ मोरबी, वैशाख वदी २, १९५५

श्री आत्मारामजी सरल थे। कुछ धर्मप्रेम था। खण्डन-मंडनमें न पड़े होते तो अच्छा उपकार कर सकते थे। उनके शिष्यसमुदायमें कुछ सरलता रही है। कोई कोई संन्यासी अधिक सरल देखनेमें आते हैं। श्रावकता या साधुता कुल संप्रदायमें नहीं, आत्मामें है।

'ज्योतिष'को कल्पित समझकर हमने उसे छोड़ दिया है। लोगोंमें आत्मार्थता बहुत कम हो गयी है, नहीं जैसी रही है। इस संबंधमें स्वार्थहेतुसे लोगोंने हमें सताना शुरू कर दिया। जिससे आत्मार्थ सिद्ध न हो ऐसे इस ज्योतिषके विषयको कल्पित(असार्थक) समझकर हमने गौण कर दिया, उसका गोपन कर दिया।

गत रात्रिमें श्री आनन्दघनजीके, सद्देवतत्त्वका निरूपण करनेवाले श्री मल्लिनाथके स्तवनकी चर्चा हो रही थी, उस समय बीचमें आपने प्रश्न किया था इस बारेमें हम सकारण मौन रहे थे। आपका प्रश्न संगत और अनुसंधिवाला था। परंतु वह सभी श्रोताओंको ग्राह्य हो सके ऐसा न था, और किसीके समझमें न आनेसे विकल्प उत्पन्न करनेवाला था। चलते हुए विषयमें श्रोताओंका श्रवणसूत्र टूट जाये ऐसा था। और अब आपको स्वयमेव स्पष्टता हो गयी है। अब पूछना है ?

लोग एक कार्यकी तथा उसके कर्ताकी प्रशंसा करते हैं यह ठीक है। यह उस कार्यका पोषक तथा उसके कर्त्ताके उत्साहको बढ़ानेवाला है। परंतु साथ ही उस कार्यमें जो कमी हो उसे भी विवेक और निरभिमानतासे सभ्यतापूर्वक बताना चाहिये, कि जिससे फिर त्रुटिका अवकाश न रहे और वह कार्य त्रुटिरहित होकर पूर्ण हो जाये। अकेली प्रशंसा-गुणगानसे सिद्धि नहीं होती। इससे तो उलटा मिथ्याभिमान बढ़ता है। आजके मानपत्र आदिमें यह प्रथा विशेष है। विवेक चाहिये।

म०—साहब ! चंद्रसूरि आपको याद करके पूछा करते थे। आप यहाँ हैं यह उन्हें मालूम नहीं था। आपसे मिलनेके लिये आये हैं।

श्रीमद्—परिग्रहधारी यतियोंका सन्मान करनेसे मिथ्यात्वको पोषण मिलता है, मार्गका विरोध होता है। दाक्षिण्य-सभ्यताको भी निभाना चाहिये। चंद्रसूरि हमारे लिये आये हैं। परंतु जीवको छोड़ना अच्छा नहीं लगता, मिथ्या चतुराईकी बातें करनी है, मान छोड़ना रुचता नहीं। उससे आत्मार्थ सिद्ध नहीं होता।

हमारे लिये आये, इसलिये सभ्यता धर्मको निभानेके लिये हम उनके पास गये। प्रतिपक्षी स्थानक संप्रदायवाले कहेंगे कि इन्हें इनपर राग है, इसलिये वहाँ गये, हमारे पास नहीं आते। परंतु जीव हेतु एवं कारणका विचार नहीं करता। मिथ्या दूषण, खाली आरोप लगानेके लिये तैयार है। ऐसे वर्तनके जानेपर छुटकारा है। भवपरिपाकसे सद्विचार स्फुरित होता है और हेतु एवं परमार्थका विचार उदित होता है।

बड़े जैसे कहें वैसे करना, जैसे करें वैसे नहीं करना चाहिये।

श्री कबीरका अंतर समझे बिना भोलेपनसे लोग उन्हें परेशान करने लगे। इस विक्षेपको दूर करनेके लिये कबीरजी वेश्याके यहाँ जाकर बैठ गये। लोकसमूह वापिस लौटा। कबीरजी भ्रष्ट हो गये ऐसा लोग कहने लगे। सच्चे भक्त थोड़े थे वे कबीरको चिपके रहे। कबीरजीका विक्षेप तो दूर हुआ, परंतु दूसरोंको उनका अनुकरण नहीं करना चाहिये।

नरसिंह मेहता गा गये हैं–

*मारुं गायुं गाशे ते झाझा गोदा खाशे।
समझीने गाशे ते वहेलो वैकुण्ठ जाशे॥

तात्पर्य यह कि समझकर विवेकपूर्वक करना है। अपनी दशाके बिना, विवेकके बिना, समझे बिना जीव अनुकरण करने लगे तो मार खाकर ही रहेगा। इसलिये बड़े कहे वैसे करना, करे वैसा नहीं करना चाहिये। यह वचन सापेक्ष है।

---

१२ बम्बई, कार्तिक वदी ९, १९५६

(दूसरे भोईवाडेमें श्री शांतिनाथजीके दिगंबरी मंदिरमें दर्शन-प्रसंगका वर्णन)

प्रतिमाको देखकर दूरसे वंदन किया।

तीन बार पंचांग प्रणाम किया।

श्री आनंदघनजीका श्री पद्मप्रभुका स्तवन सुमधुर, गंभीर और सुस्पष्ट ध्वनिसे गाया।

जिन-प्रतिमाके चरण धीरे धीरे दबाए।

कायोत्सर्ग-मुद्रावाली एक छोटी पंचधातुकी जिनप्रतिमा अंदरसे कोरकर निकाली थी। वह सिद्धकी अवस्थामें होनेवाले घनकी सूचक थी। उस अवगाहनाको बताकर कहा कि जिस देहसे आत्मा संपूर्ण सिद्ध होता है उस देहप्रमाणसे किंचित् न्यून जो क्षेत्रप्रमाण घन हो वह अवगाहना है। जीव अलग अलग सिद्ध हुए। वे एक क्षेत्रमें स्थित होनेपर भी प्रत्येक पृथक् पृथक् है। निज क्षेत्र घनप्रमाण अवगाहनासे है।

प्रत्येक सिद्धात्माकी ज्ञायक सत्ता लोकालोकप्रमाण, लोकके ज्ञाता होनेपर भी लोकसे भिन्न है।

भिन्न भिन्न प्रत्येक दीपकका प्रकाश एक हो जानेपर भी दीपक जैसे भिन्न भिन्न हैं, इस न्यायसे प्रत्येक सिद्धात्मा भिन्न भिन्न है।

ये मुक्तागिरि आदि तीर्थोंके चित्र हैं।

यह गोमटेश्वर नामसे प्रसिद्ध श्री बाहुबलस्वामीकी प्रतिमाका चित्र है। बेंगलोरके पास एकांत जंगलमें पर्वतमेंसे कोरकर निकाली हुई सत्तर फुट ऊँची यह भव्य प्रतिमा है। आठवीं सदीमें श्री चामुंडरायने इसकी प्रतिष्ठा की है। अडोल ध्यानमें कायोत्सर्ग मुद्रामें श्री बाहुबलजी अनिमेष नेत्रसे खड़े हैं। हाथ-पैरमें वृक्षकी लतायें लिपटी होनेपर भी देहभानरहित ध्यानस्थ श्री बाहुबलजीको उसका पता नहीं है। कैवल्य प्रगट होने योग्य दशा होनेपर भी जरा मानका अंकुर बाधक हुआ है। "वीरा मारा गज थकी ऊतरो" इस मानरूपी गजसे उतरनेके अपनी बहनें ब्राह्मी और सुंदरीके शब्द कर्णगोचर होनेसे सुविचारमें सज्ज होकर, मान दूर करनेके लिये तैयार होने पर कैवल्य प्रगट हुआ। वह इन श्री बाहुबलजीकी ध्यानस्थ मुद्रा है।

(दर्शन करके श्री मंदिरकी ज्ञानशालामें)

'श्री गोम्मटसार' लेकर उसका स्वाध्याय किया।

श्री 'पांडवपुराण' मेंसे प्रद्युम्न अधिकारका वर्णन किया। प्रद्युम्नका वैराग्य गाया।

वसुदेवने पूर्वभवमें सुरूपसंपन्न होनेके निदानपूर्वक उग्र तपश्चर्या की।

---

* **भावार्थ**–बिना समझे मेरा कहा करेगा वह मार ही खायेगा। समझकर जो मेरा अनुकरण करेगा वह जल्दी वैकुण्ठमें जायेगा।

भावनारूप तपश्चर्या फलित हुई। सुरूपसंपन्न देह प्राप्त की। वह सुरूप अनेक विक्षेपोंका कारण हुआ। स्त्रियाँ व्यामुग्ध होकर पीछे घूमने लगीं। निदानको दोष वसुदेवको प्रत्यक्ष हुआ। विक्षेपसे छूटनेके लिये भाग जाना पड़ा।

'मुझे इस तपश्चर्यासे ऋद्धि मिले या वैभव मिले या अमुक इच्छित होवे,' ऐसी इच्छाको निदान दोष कहते हैं। वैसा निदान बाँधना योग्य नहीं है।

---

१३ बंबई, कार्तिक वदी ९, १९५६

'अवगाहना' अर्थात् अवगाहना। अवगाहना अर्थात् कद-आकार ऐसा नहीं। कितने ही तत्त्वके पारिभाषिक शब्द ऐसे होते हैं कि जिनका अर्थ दूसरे शब्दोंसे व्यक्त नहीं किया जा सकता; जिनके अनुरूप दूसरे शब्द नहीं मिलते; जो समझे जा सकते हैं, परंतु व्यक्त नहीं किये जा सकते।

अवगाहना ऐसा शब्द है। बहुत बोधसे, विशेष विचारसे यह समझा जा सकता है। अवगाहना क्षेत्राश्रयी है। भिन्न होते हुए भी परस्पर मिल जाना, फिर भी अलग रहना। इस तरह सिद्ध आत्माकी जितने क्षेत्रप्रमाण व्यापकता वह उसकी अवगाहना कही है।

---

१४ बंबई, कार्तिक वदी ९, १९५६

जो बहुत भोगा जाता है वह बहुत क्षीण होता है। समतासे कर्म भोगनेसे उनकी निर्जरा होती है, वे क्षीण होते हैं। शारीरिक विषय भोगनेसे शारीरिक शक्ति क्षीण होती है।

ज्ञानीका मार्ग सुलभ है परंतु उसे प्राप्त करना दुष्कर है; यह मार्ग विकट नहीं है, सीधा है, परंतु उसे पाना विकट है। प्रथम सच्चा ज्ञानी चाहिये। उसे पहचानना चाहिये। उसकी प्रतीति आनी चाहिये। बादमें उसके वचनपर श्रद्धा रखकर निःशंकतासे चलनेसे मार्ग सुलभ है, परंतु ज्ञानीका मिलना और पहचानना विकट है, दुष्कर है।

घनी झाड़ीमें भूले पड़े हुए मनुष्यको वनोपकंठमें जानेका मार्ग कोई दिखाये कि 'जा, नीचे-नीचे चला जा। रास्ता सुलभ है, यह रास्ता सुलभ है।' परंतु उस भूले पड़े हुए मनुष्यके लिये जाना विकट है; इस मार्गमें जानेसे पहुँचूँगा या नहीं, यह शंका आड़े आती है। शंका किये बिना ज्ञानियोंके मार्गका आराधन करे तो उसे पाना सुलभ है।

---

१५ बंबई, कार्तिक वदी ११, १९५६

श्री सत्श्रुत

१. श्री पांडव पुराणमें प्रद्युम्न चरित्र
२. श्री पुरुषार्थसिद्धि उपाय
३. श्री पद्मनंदिपंचविंशति
४. श्री गोम्मटसार
५. श्री रत्नकरंड श्रावकाचार
६. श्री आत्मानुशासन
७. श्री मोक्षमार्गप्रकाश
८. श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा
११. श्री क्षपणासार
१२. श्री लब्धिसार
१३. श्री त्रिलोकसार
१४. श्री तत्त्वसार
१५. श्री प्रवचनसार
१६. श्री समयसार
१७. श्री पंचास्तिकाय
१८. श्री अष्टप्राभृत

९. श्री योगदृष्टि समुच्चय
१०. श्री क्रियाकोष
१९. श्री परमात्मप्रकाश
२०. श्री रयणसार

आदि अनेक हैं। इंद्रियनिग्रहके अभ्यासपूर्वक इस सत्श्रुतका सेवन करना योग्य है। यह फल अलौकिक है, अमृत है।

---

१६ बंबई, कार्तिक वदी ११, १९५६

ज्ञानीको पहचानें; पहचान कर उनकी आज्ञाका आराधन करें। ज्ञानीकी एक आज्ञाका आराधन करनेसे अनेकविध कल्याण है।

ज्ञानी जगतको तृणवत् समझते हैं, यह उनके ज्ञानकी महिमा समझें।

कोई मिथ्याभिनिवेशी ज्ञानका ढोंग करके जगतका भार व्यर्थ सिरपर वहन करता हो तो वह हास्यपात्र है।

---

१७ बंबई, कार्तिक वदी ११, १९५६

वस्तुतः दो वस्तुएँ हैं—जीव और अजीव। लोगोंने सुवर्ण नाम कल्पित रखा। उसकी भस्म होकर पेटमें गया। विष्टामें परिणत होकर खाद हुआ, क्षेत्रमें उगा, धान्य हुआ, लोगोंने खाया; कालांतरसे लोहा हुआ। वस्तुतः एक द्रव्यके भिन्न भिन्न पर्यायोंको कल्पनारूपसे भिन्न भिन्न नाम दिये गये। एक द्रव्यके भिन्न भिन्न पर्यायों द्वारा लोग भ्रांतिमें पड़ गये। इस भ्रांतिने ममताको जन्म दिया।

रुपये वस्तुतः हैं, फिर भी लेनेवाले और देनेवालेका मिथ्या झगड़ा होता है। लेनेवालेकी अधीरतासे उसका मन रुपये गये ऐसा समझता है। वस्तुतः रुपये हैं। इसी तरह भिन्न भिन्न कल्पनाओं ने भ्रमजाल फैला दिया है। उसमेंसे जीव-अजीवका, जड़-चैतन्यका भेद करना यह विकट हो पड़ा है। भ्रमजाल यथार्थरूपसे ध्यानमें आये, तो जड़-चैतन्य क्षीर-नीरवत् भिन्न स्पष्ट भासित होता है।

---

१८ बंबई, कार्तिक वदी १२, १९५६

'इनॉक्युलेशन'—महामारीका टीका। टीकेके नामसे डॉक्टरोंने यह पाखण्ड खडा किया है। बेचारे निरपराध अश्व आदिको टीकेके बहाने दारुण दुःख देकर मार डालते हैं, हिंसा करके पापका पोषण करते हैं, पाप कमाते हैं। पहले पापानुबंधी पुण्य उपार्जन किया है, उसके प्रभावसे वर्तमानमें वे पुण्य भोगते हैं, परंतु परिणाममें पाप मोल लेते हैं, यह उन बेचारे डाक्टरोंको पता नहीं है। टीकेसे रोग दूर हो तबकी बात तब; परंतु अभी तो हिंसा प्रत्यक्ष है। टीकेसे एक रोगको निकालते दूसरा रोग भी खड़ा हो जाये।

---

१९ बंबई, कार्तिक वदी १२, १९५६

प्रारब्ध और पुरुषार्थ ये शब्द समझने योग्य है। पुरुषार्थ किये बिना प्रारब्धकी खबर नहीं पड़ सकती। प्रारब्धमें होगा सो होगा यों कहकर बैठे रहनेसे काम नहीं चलता। निष्काम पुरुषार्थ करना चाहिये। प्रारब्धका समपरिणामसे वेदन करना—भोग लेना, यह महान पुरुषार्थ है। सामान्य जीव समपरिणामसे विकल्परहित होकर प्रारब्धका वेदन नहीं कर सकता, विषम परिणाम होता ही है। इसलिये उसे न होने देनेके लिये, कम होनेके लिये उद्यम करना चाहिये। समता और निर्विकल्पता सत्संगसे आती है और बढ़ती है।

---

२० मोरबी, वैशाख सुदी ८, १९५६

'भगवत्गीता'में पूर्वापर विरोध है, उसे देखनेके लिये उसे दे रखा है। पूर्वापर विरोध क्या है, यह अवलोकन करनेसे मालूम हो जायेगा। पूर्वापर अविरोधी दर्शन एवं वचन तो वीतरागके हैं।

भगवद्गीतापर बहुतसे भाष्य और टीकाएँ रचे गये हैं—विद्यारण्यस्वामीकी 'ज्ञानेश्वरी' आदि। प्रत्येकने अपनी मान्यताके अनुसार टीका बनायी है। थियॉसॉफीवाली टीका जो आपको दी है वह अधिकांश स्पष्ट है। मणिलाल नभुभाईने गीतापर विवेचनरूप टीका करते हुए बहुत मिश्रता ला दी है, मिश्रित खिचड़ी बना दी है।

विद्वत्ता और ज्ञान इन दोनोंको एक न समझें, दोनों एक नहीं है। विद्वत्ता हो, फिर भी ज्ञान न हो। सच्ची विद्वत्ता तो यह है कि जो आत्मार्थके लिये हो, जिससे आत्मार्थ सिद्ध हो, आत्मत्व समझमें आये, प्राप्त किया जाये। जहाँ आत्मार्थ होता है वहाँ ज्ञान होता है, विद्वत्ता हो या न भी हो।

मणिभाई कहते हैं (षड्दर्शनसमुच्चयकी प्रस्तावनामें) कि हरिभद्रसूरिको वेदांतका ज्ञान न था, वेदांतका ज्ञान होता तो ऐसी कुशाग्र बुद्धिवाले हरिभद्रसूरि जैनदर्शनकी ओरसे अपनी वृत्तिको फिराकर वेदांती हो जाते। मणिभाईके ये वचन गाढ़ मताभिनिवेशसे निकले हैं। हरिभद्रसूरिको वेदांतका ज्ञान था या नहीं, इस बातको, मणिभाईने यदि हरिभद्रसूरिकी 'धर्मसंग्रहणी' देखी होती, तो उन्हें खबर पड़ जाती। हरिभद्रसूरिको वेदांत आदि सभी दर्शनोंका ज्ञान था। उन सब दर्शनोंकी पर्यालोचनापूर्वक उन्होंने जैन दर्शनको पूर्वापर अविरुद्ध प्रतीत किया था। यह अवलोकनसे मालूम होगा। 'षड्दर्शन-समुच्चय' के भाषांतरमें दोष होनेपर भी मणिभाईने भाषांतर ठीक किया है। अन्य ऐसा भी नहीं कर सकते। यह सुधारा जा सकेगा।

---

२१ श्री मोरबी, वैशाख सुदी ९, १९५६

वर्तमानकालमें क्षयरोगकी विशेष वृद्धि हुई है और हो रही है। इसका मुख्य कारण ब्रह्मचर्यकी कमी, आलस्य और विषय आदिकी आसक्ति है। क्षयरोगका मुख्य उपाय ब्रह्मचर्य-सेवन, शुद्ध सात्त्विक आहार-पान और नियमित वर्तन है।

---

२२ मोरबी, आषाढ़ सुदी, १९५६

'प्रशमरसनिमग्नं दृष्टियुग्मं प्रसन्नं वदनकमलमंकः कामिनीसंगशून्यः।
करयुगमपि यत्ते शस्त्रसंबंधवंध्यं, तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव ।।'

'तेरे दो चक्षु प्रशमरसमें डूबे हुए हैं, परमशांत रसका अनुभव कर रहे हैं। तेरा मुखकमल प्रसन्न है; उसमें प्रसन्नता व्याप्त हो रही है। तेरी गोद स्त्रीके संगसे रहित है। तेरे दो हाथ शस्त्रसंबंधरहित हैं—तेरे हाथोंमें शस्त्र नहीं है। इस तरह तू ही जगतमें वीतरागदेव है।'

देव कौन ? वीतराग। दर्शनयोग्य मुद्रा कौनसी ? जो वीतरागता सूचित करे वह।

'स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' वैराग्यका उत्तम ग्रंथ है। द्रव्यको, वस्तुको यथावत् दृष्टिमें रखकर इसमें वैराग्यका निरूपण किया है। द्रव्यका स्वरूप बतलानेवाले चार श्लोक अद्भुत हैं। इसके लिये इस ग्रंथकी राह देखते थे। गत वर्ष ज्येष्ठ मासमें मद्रासकी ओर जाना हुआ था। कार्तिकस्वामी इस भूमिमें बहुत विचरे हैं। इस तरफके नग्न, भव्य, ऊँचे, अडोल वृत्तिसे खड़े पहाड़ देखकर स्वामी कार्तिकेय आदिकी अडोल, वैराग्यमय दिगंबरवृत्ति याद आती थी।

नमस्कार उन स्वामी कार्तिकेय आदिको।

२३ मोरबी, श्रावण वदी ८, १९५६

'षड्दर्शनसमुच्चय' और 'योगदृष्टिसमुच्चय' का भाषांतर गुजरातीमें करने योग्य है। 'षड्दर्शन-समुच्चय' का भाषांतर हुआ है परंतु उसे सुधारकर फिरसे करना योग्य है। धीरे धीरे होगा, करें। आनंदघनजीकी चौबीसीका अर्थ भी विवेचनके साथ लिखें।

नमो दुर्वाररागादिवैरिवार निवारिणे।
अर्हते योगिनाथाय महावीराय तायिने॥

श्री हेमचंद्राचार्य 'योगशास्त्र' की रचना करते हुए मंगलाचरणमें वीतराग सर्वज्ञ अरिहंत योगीनाथ महावीरको स्तुतिरूपसे नमस्कार करते हैं।

'जो रोके रुक नहीं सकते, जिनको रोकना बहुत बहुत मुश्किल है, ऐसे राग, द्वेष, अज्ञानरूपी शत्रुके समूहको जिन्होंने रोका, जीता; जो वीतराग सर्वज्ञ हुए; वीतराग सर्वज्ञ होनेसे जो अर्हंत पूजनीय हुए; और वीतराग अर्हंत होनेसे, जिनका मोक्षके लिये प्रवर्तन है ऐसे भिन्न भिन्न योगियोंके जो नाथ हुए, नेता हुए; और इस तरह नाथ होनेसे जो जगतके नाथ, तात, और त्राता हुए; ऐसे जो महावीर है उन्हें नमस्कार हो।' यहाँ सद्देवके अपायापगमातिशय, ज्ञानातिशय, वचनातिशय और पूजातिशय सूचित किये हैं। इस मंगल स्तुतिमें समग्र 'योगशास्त्र' का सार समा दिया है। सद्देवका निरूपण किया है। समग्र वस्तुस्वरूप, तत्त्वज्ञानका समावेश कर दिया है। खोलनेवाला खोजी चाहिये।

लौकिक-मेलेमें वृत्तिको चंचल करनेवाले प्रसंग विशेष होते हैं। सच्चा मेला सत्संगका है। ऐसे मेलेमें वृत्तिकी चंचलता कम होती है, दूर होती है। इसलिये ज्ञानियोंने सत्संग-मेलेका बखान किया है, उपदेश किया है।

२४ वढ़वाणकेम्प, भाद्रपद वदी, १९५६

'मोक्षमाला' के पाठ हमने माप माप कर लिखे हैं। पुनरावृत्तिके बारेमें आप यथासुख प्रवृत्ति करें। कतिपय वाक्योंके नीचे लकीर खींची है, वैसा करनेकी जरूरत नहीं है। श्रोता-वाचकको यथासंभव अपने अभिप्रायसे प्रेरित न करनेका लक्ष्य रखें। श्रोता-वाचकमें स्वतः अभिप्राय उत्पन्न होने दें। सारासारके तोलनका कार्य स्वयं वाचक-श्रोतापर छोड़ दें। हम उन्हें प्रेरित कर, उनमें स्वयं उत्पन्न हो सकनेवाले अभिप्रायको रोक न दें।

'मोक्षमाला' के [1]'प्रज्ञावबोध' भागके १०८ मनके यहाँ लिखायेंगे।

परम सत्श्रुतके प्रचाररूप एक योजना सोची है। उसका प्रचार होकर परमार्थमार्ग प्रकाशित होगा।

२५ बंबई, माटुंगा, मार्गशीर्ष, १९५७

श्री 'शांतसुधारस' का भी पुनः विवेचनरूप भाषांतर करने योग्य है, सो कीजियेगा।

२६ बंबई, शिव, मार्गशीर्ष, १९५७

'देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यंते नातस्त्वमसि नो महान्॥'

१. देखें आंक ९४६।

स्तुतिकार श्री समंतभद्रसूरिको वीतरागदेव मानो कहते हों–'हे समंतभद्र! यह हमारी अष्ट-प्रातिहार्य आदि विभूति तू देख, हमारा महत्त्व देख।' तब सिंह गुफामेंसे गंभीर चालसे बाहर निकलकर जिस तरह गर्जना करता है उसी तरह श्री समंतभद्रसूरि गर्जना करते हुए कहते हैं–'देवताओंका आना, आकाशमें विचरना, चामरादि विभूतियोंका भोग करना, चामर आदिके वैभवसे पूजनीय दिखाना यह तो मायावी इन्द्रजालिक भी बता सकता है। तेरे पास देवोंका आना होता है, अथवा तू आकाशमें विचरता है, अथवा तू चामर छत्र आदि विभूतिका उपभोग करता है, इसलिये तू हमारे मनको महान है! नहीं, नहीं, इसलिये तू हमारे मनको महान नहीं, उतनेसे तेरा महत्त्व नहीं। ऐसा महत्त्व तो मायावी इन्द्रजालिक भी दिखा सकता है।' तब फिर सद्देवका वास्तविक महत्त्व क्या है? तो कहते हैं कि वीतरागता। इस तरह आगे बताते हैं।

ये श्री समंतभद्रसूरि विक्रमकी दूसरी शताब्दीमें हुए थे। वे श्वेतांबर-दिगंबर दोनोंमें एक सरीखे सन्मानित हैं। उन्होंने देवागमस्तोत्र (उपर्युक्त स्तुति इस स्तोत्रका प्रथम पद है) अथवा आप्तमीमांसा रची है। तत्त्वार्थसूत्रके मंगलाचरणकी टीका करते हुए यह देवागमस्तोत्र लिखा गया है और उसपर अष्टसहस्री टीका तथा चौरासी हजार श्लोकप्रमाण 'गंधहस्ती महाभाष्य' टीका रची गयी है।

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये॥

यह इसका प्रथम मंगल स्तोत्र है।

मोक्षमार्गके नेता, कर्मरूपी पर्वतके भेत्ता–भेदन करनेवाले, विश्व अर्थात् समग्र तत्त्वके ज्ञाता, जाननेवाले–उन्हें गुणोंकी प्राप्तिके लिये मैं वंदन करता हूँ।

'आप्तमीमांसा', 'योगबिंदु' और 'उपमितिभवप्रपंचकथा' का गुजराती भाषांतर कीजियेगा। 'योगबिंदु' का भाषांतर हुआ है, 'उपमितिभवप्रपंच' का हो रहा है; परंतु वे दोनों फिरसे करने योग्य हैं, उसे कीजियेगा; धीरे धीरे होगा।

लोककल्याण हितरूप है और वह कर्तव्य है। अपनी योग्यताकी न्यूनतासे और जोखिमदारी न समझी जा सकनेसे अपकार न हो, यह भी ख्याल रखनेका है।

---

[1]२७

मनःपर्यायज्ञान किस तरह प्रगट होता है? साधारणतः प्रत्येक जीवको मतिज्ञान होता है। उसके आश्रित श्रुतज्ञानमें वृद्धि होनेसे वह मतिज्ञानका बल बढ़ाता है; इस तरह अनुक्रमसे मतिज्ञान निर्मल होनेसे आत्माकी असंयमता दूर होकर संयमता होती है, और उससे मनःपर्यायज्ञान प्रगट होता है। उसके योगसे आत्मा दूसरेका अभिप्राय जान सकता है।

लिंग–चिह्न देखनेसे दूसरेके क्रोध, हर्ष आदि भाव जाने जा सकते हैं, यह मतिज्ञानका विषय है। वैसे चिह्न न देखनेसे जो भाव जाने जा सकते हैं वह मनःपर्यायज्ञानका विषय है।

२८

पाँच इन्द्रियोंके विषय संबंधी–

जिस जीवको मोहनीयकर्मरूपी कषायका त्याग करना हो, और 'जब वह उसका एकदम त्याग

---

१. आंक २७ से आंक ३१ तब खंभातके श्री त्रिभुवनभाईकी नोंधमेंसे लिये हैं।

करना चाहेगा तब कर सकेगा' ऐसे विश्वासपर रहकर, जो क्रमशः त्याग करनेका अभ्यास नहीं करता, वह एकदम त्याग करनेका प्रसंग आनेपर मोहनीय कर्मके बलके आगे टिक नहीं सकता; क्योंकि कर्मरूप शत्रुको धीरे-धीरे निर्बल किये बिना निकाल देनेमें वह एकदम असमर्थ हो जाता है। आत्माकी निर्बलताके कारण उसपर मोहका प्राबल्य रहता है। उसका जोर कम करनेके लिये यदि आत्मा प्रयत्न करे तो एक ही बारमें उसपर जय पानेकी धारणमें वह ठगा जाता है। जब तक मोहवृत्ति लड़नेके लिये सामने नहीं आती तभी तक मोहवश आत्मा अपनी बलवत्ता समझता है, परंतु इस प्रकारकी कसौटीका प्रसंग आनेपर आत्माको अपनी कायरता समझमें आती है। इसलिये जैसे बने वैसे पाँच इंद्रियोंके विषयोंको शिथिल करना, उसमें भी मुख्यतः उपस्थ इंद्रियको वशमें लाना; इस तरह अनुक्रमसे दूसरी इंद्रियोंके विषयोंपर काबू पाना।

इंद्रियके विषयरूपी क्षेत्रकी दो तसू जमीन जीतनेके लिये आत्मा असमर्थता बताता है और सारी पृथ्वीको जीतनेमें समर्थता मानता है, यह कैसा आश्चर्यरूप है ?

प्रवृत्तिके कारण आत्मा निवृत्तिका विचार नहीं कर सकता, यों कहना मात्र एक बहाना है। यदि थोड़े समयके लिये भी आत्मा प्रवृत्ति छोडकर प्रमादरहित होकर सदा निवृत्तिका विचार करे, तो उसका बल प्रवृत्तिमें भी अपना कार्य कर सकता है। क्योंकि प्रत्येक वस्तुका अपनी न्यूनाधिक बलवत्ताके अनुसार ही अपना कार्य करनेका स्वभाव है। जिस तरह मादक वस्तु दूसरी खुराकके साथ अपने असली स्वभावके अनुसार परिणमन करनेको नहीं भूल जाती उसी तरह ज्ञान भी अपने स्वभावको नहीं भूलता। इसलिये प्रत्येक जीवको प्रमादरहित होकर योग, काल, निवृत्ति और मार्गका विचार निरंतर करना चाहिये।

२९

व्रत संबंधी–

यदि प्रत्येक जीवको व्रत लेना हो तो स्पष्टताके साथ दूसरेकी साक्षीसे लेना चाहिये। उसमें स्वेच्छासे वर्तन नहीं करना चाहिये। व्रतमें रह सकनेवाला आगार रखा हो और कारणविशेषको लेकर वस्तुका उपयोग करना पड़े तो वैसा करनेमें स्वयं अधिकारी नहीं बनना चाहिये। ज्ञानीकी आज्ञाके अनुसार वर्तन करना चाहिये। नहीं तो उसमें शिथिल हुआ जाता है; और व्रतका भंग हो जाता है।

३०

मोह-कषाय संबंधी–

प्रत्येक जीवकी अपेक्षासे ज्ञानीने क्रोध, मान, माया और लोभ, यों अनुक्रम रखा है, वह क्षय होनेकी अपेक्षासे है।

पहले कषायके क्षयसे अनुक्रमसे दूसरे कषायोंका क्षय होता है, और अमुक अमुक जीवोंकी अपेक्षासे मान, माया, लोभ और क्रोध, ऐसा क्रम रखा है, वह देश, काल और क्षेत्र देखकर। पहले जीवको दूसरेसे ऊँचा माना जानेके लिये मान उत्पन्न होता है, उसके लिये वह छल-कपट करता है; और उससे पैसा पैदा करता है, और वैसे करनेमें विघ्न करनेवाले पर क्रोध करता है। इस प्रकार कषायकी प्रकृतियाँ अनुक्रमसे बँधती हैं; जिसमें लोभकी इतनी बलवत्तर मिठास है, कि उसमें जीव मान भी भूल जाता है, और उसकी परवाह नहीं करता, इसलिये मानरूपी कषायको कम करनेसे अनुक्रमसे दूसरे कषाय अपने आप कम हो जाते हैं।

३१

आस्था तथा श्रद्धा–

प्रत्येक जीवको जीवके अस्तित्वसे लेकर मोक्ष तककी पूर्णरूपसे श्रद्धा रखनी चाहिये। इसमें जरा भी शंका नहीं रखनी चाहिये। इस जगह अश्रद्धा रखना, यह जीवके पतित होनेका कारण है, और यह ऐसा स्थानक है कि वहाँसे गिरनेसे कोई स्थिति नहीं रहती।

अंतर्मुहूर्त्तमें सत्तर कोटाकोटि सागरोपमकी स्थिति बँधती है, जिसके कारण जीवको असंख्यात भवोंमें भ्रमण करना पड़ता है।

चारित्रमोहसे पतित हुआ जीव तो ठिकाने आ जाता है, परंतु दर्शनमोहसे पतित हुआ जीव ठिकाने नहीं आता, क्योंकि समझनेमें फेर होनेसे करनेमें फेर हो जाता है। वीतरागरूप ज्ञानीके वचनोंमें अन्यथा भाव होना संभव ही नहीं है। उसका अवलंबन लेकर ध्रुवतारेकी भाँति श्रद्धा इतनी दृढ़ करना कि कभी विचलित न हो। जब जब शंका होनेका प्रसंग आये तब तब जीवको विचार करना चाहिये कि उसमें अपनी भूल ही होती है। वीतराग पुरुषोंने जिस मतिसे ज्ञान कहा है, वह मति इस जीवमें है नहीं; और इस जीवकी मति तो शाकमें नमक कम पड़ा हो तो उतनेमें ही रुक जाती है। तो फिर वीतरागके ज्ञानकी मतिका मुकाबला कहाँसे कर सके? इसलिये बारहवें गुणस्थानके अंत तक भी जीवको ज्ञानीका अवलंबन लेना चाहिये, ऐसा कहा है।

अधिकारी न होनेपर भी जो ऊँचे ज्ञानका उपदेश किया जाता है वह मात्र इसलिये कि जीवने अपनेको ज्ञानी तथा चतुर मान लिया है, उसका मान नष्ट हो और जो नीचेके स्थानकोंसे बातें कही जाती हैं, वे मात्र इसलिये कि वैसा प्रसंग प्राप्त होनेपर जीव नीचेका नीचे ही रहे।

---

३२ बंबई, आश्विन, १९४९

जे अबुद्धा महाभागा वीरा असमत्तदंसिणो ।
असुद्धं तेसिं परक्कंतं सफलं होइ सव्वसो ॥२२॥
जे य बुद्धा महाभागा वीरा सम्मत्तदंसिणो ।
सुद्धं तेसिंह परक्कंतं अफलं होइ सव्वसो ॥२३॥

–श्री सूयगडांग सूत्र, वीर्याध्ययन ८वाँ, गाथा २२-२३

ऊपरकी गाथाओंमें जहाँ 'सफल' शब्द है वहाँ 'अफल' ठीक लगता है, और जहाँ 'अफल' शब्द है वहाँ 'सफल' शब्द ठीक लगता है; इसलिये उसमें लेखन-दोष है या बराबर है? इसका समाधान– यहाँ लेखन-दोष नहीं है। जहाँ 'सफल' शब्द है वहाँ सफल ठीक है और जहाँ 'अफल' शब्द है वहाँ अफल ठीक है।

मिथ्यादृष्टिकी क्रिया सफल है–फलसहित है, अर्थात् उसे पुण्य-पापका फल भोगना है। सम्यक्-दृष्टिकी क्रिया अफल है–फलरहित है, उसे फल नहीं भोगना है, अर्थात् निर्जरा है। एककी, मिथ्यादृष्टिकी क्रियाकी संसारहेतुक सफलता है, और दूसरेकी, सम्यग्दृष्टिकी क्रियाकी संसारहेतुक अफलता है, यों परमार्थ समझना योग्य है।

---

३३ वैशाख, १९५०

नित्यनियम[1]

ॐ श्रीमत्परमगुरुभ्यो नमः

सबेरे उठकर ईर्यापथिकी प्रतिक्रमण करके रात-दिनमें जो कुछ अठारह पापस्थानकमें प्रवृत्ति हुई हो, सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र संबंधी तथा पंचपरमपद संबंधी जो कुछ अपराध हुआ हो, किसी भी जीवके प्रति किंचित् मात्र भी अपराध किया हो, वह जाने-अनजाने हुआ हो, उस सबको क्षमाना, उसकी निंदा करना, विशेष निंदा करना, आत्मामेंसे उस अपराधका विसर्जन करके निःशल्य होना। रात्रिको सोते समय भी इसी तरह करना।

श्री सत्पुरुषके दर्शन करके चार घडीके लिये सर्व सावद्य व्यापारसे निवृत्त होकर एक आसनपर स्थिति करना। उस समयमें 'परमगुरु' शब्दकी पाँच मालाएँ गिनकर दो घडी तक सत्शास्त्रका अध्ययन करना। उसके बाद एक घडी कायोत्सर्ग करके श्री सत्पुरुषोंके वचनोंका उस कायोत्सर्गमें जप-रटन करके सद्वृत्तिका अनुसंधान करना। उसके बाद आधी घडीमें भक्तिकी वृत्तिको उत्साहित करनेवाले पद (आज्ञानुसार) बोलना। आधी घडीमें 'परमगुरु' शब्दका कायोत्सर्गके रूपमें जप करना, और 'सर्वज्ञदेव' इस नामकी पाँच मालाएँ गिनना।

अभी अध्ययन करने योग्य शास्त्र—वैराग्यशतक, इंद्रियपराजयशतक, शांतसुधारस, अध्यात्म-कल्पद्रुम, योगदृष्टिसमुच्चय, नवतत्त्व, मूलपद्धति कर्मग्रंथ, धर्मबिंदु, आत्मानुशासन, भावनाबोध, मोक्षमार्गप्रकाश, मोक्षमाला, उपमितिभवप्रपंच, अध्यात्मसार, श्री आनंदघनजी कृत चौबीसीमेंसे ये स्तवन—१,३,५,७,८,९,१०,१३,१५,१६,१७,१९,२२।

सात व्यसन (जूआ, मांस, मदिरा, वेश्यागमन, शिकार, चोरी, परस्त्री) का त्याग।

(अथ सप्तव्यसन नाम चौपाई)

"जूवा[1], आमिष[2], मदिरा[3], दारी[4], आहेटक[5], चोरी[6], परनारी[7]।
एहि सप्तव्यसन दुःखदाई, दुरितमूळ दुर्गतिके जाई॥"

इस सप्तव्यसनका त्याग। रात्रिभोजनका त्याग। अमुकको छोड़कर सभी वनस्पतिका त्याग। अमुक तिथियोंमें अत्यक्त वनस्पतिका भी प्रतिबंध। अमुक रसका त्याग। अब्रह्मचर्यका त्याग। परिग्रह परिमाण।

शरीरमें विशेष रोग आदिके उपद्रवसे, बेभानपनसे, राजा अथवा देव आदिके बलात्कारसे यहाँ बताये हुए नियमोंमें प्रवृत्ति करनेके लिये अशक्त हुआ जाये तो उसके लिये पश्चात्तापका स्थानक समझना। स्वेच्छासे उस नियममें कुछ भी न्यूनाधिकता करनेकी प्रतिज्ञा। सत्पुरुषकी आज्ञासे उस नियममें फेरफार करनेसे नियम भंग नहीं।

---

३४ श्री खंभात, आसोज सुदी, १९५१

सत्य[2]

वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जैसा जानना, अनुभव करना वैसा ही कहना यह सत्य है। यह दो प्रकारका है—'परमार्थसत्य' और 'व्यवहारसत्य'।

---

१. यह जो नित्यनियम बताया है वह 'श्रीमद्' के उपदेशामृतमेंसे लेकर श्री खंभातके एक मुमुक्षुभाईने योजित किया है।
२. खंभातके एक मुमुक्षु भाईने यथाशक्ति स्मृतिमें रखकर की हुई नोंध।

'परमार्थसत्य' अर्थात् आत्माके सिवाय दूसरा कोई पदार्थ आत्माका नहीं हो सकता, ऐसा निश्चय जानकर, भाषा बोलनेमें व्यवहारसे देह, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, धान्य, गृह आदि वस्तुओंके प्रसंगमें बोलनेसे पहले एक आत्माके सिवाय दूसरा कोई मेरा नहीं है, यह उपयोग रहना चाहिये। अन्य आत्माके संबंधमें बोलते समय आत्मामें जाति, लिंग और वैसे औपचारिक भेदवाला वह आत्मा न होनेपर भी मात्र व्यवहारनयसे कार्यके लिये संबोधित किया जाता है, इस प्रकार उपयोगपूर्वक बोला जाये तो वह पारमार्थिक सत्य भाषा है ऐसा समझें।

१. **दृष्टांत**–एक मनुष्य अपनी आरोपित देहकी, घरकी, स्त्रीकी, पुत्रकी या अन्य पदार्थकी बात करता हो, उस समय स्पष्टरूपसे उन सब पदार्थोंसे वक्ता 'मैं भिन्न हूँ, और वे मेरे नहीं हैं' इस प्रकार स्पष्टरूपसे बोलनेवालेको भान हो तो वह सत्य कहा जाता है।

२. **दृष्टांत**–जिस प्रकार कोई ग्रंथकार श्रेणिक राजा और चेलना रानीका वर्णन करता हो; तो वे दोनों आत्मा थे और मात्र श्रेणिकके भवकी अपेक्षासे उनका संबंध, अथवा स्त्री, पुत्र, धन, राज्य, आदिका संबंध था; यह बात ध्यानमें रखनेके बाद बोलनेकी प्रवृत्ति करे, यही परमार्थ सत्य है।

व्यवहारसत्यके आये बिना परमार्थसत्य वचनका बोलना नहीं हो सकता। इसलिये व्यवहारसत्य नीचे अनुसार जानें–

जिस प्रकारसे वस्तुका स्वरूप देखनेसे, अनुभव करनेसे, श्रवणसे अथवा पढ़नेसे हमें अनुभवमें आया हो उसी प्रकारसे यथातथ्यरूपसे वस्तुका स्वरूप कहना और उस प्रसंगपर वचन बोलना उसका नाम व्यवहारसत्य है।

दृष्टांत–जैसे कि अमुक मनुष्यका लाल घोडा जंगलमें दिनके बारह बजे देखा हो, और किसीके पूछनेसे उसी प्रकारसे यथातथ्य वचन बोलना यह व्यवहारसत्य है। इसमें भी किसी प्राणीके प्राणका नाश होता हो, अथवा उन्मत्ततासे वचन बोला गया हो, वह यद्यपि सच्चा हो तो भी असत्य तुल्य ही है, ऐसा जानकर प्रवृत्ति करें। सत्यसे विपरीत उसे असत्य कहा जाता है।

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, दुगंछा, अज्ञान आदिसे बोला जाता है। क्रोध आदि मोहनीयके अंगभूत है। उसकी स्थिति दूसरे सभी कर्मोंसे अधिक अर्थात् (७०) सत्तर कोडाकोडी सागरोपमकी है। इस कर्मका क्षय हुए बिना ज्ञानावरण आदि कर्मोंका संपूर्णतासे क्षय नहीं हो सकता। यद्यपि गणितमें प्रथम ज्ञानावरण आदि कर्म कहे हैं; परंतु इस कर्मकी बहुत महत्ता है, क्योंकि संसारके मूलभूत रागद्वेषका यह मूलस्थान है, इसलिये भवभ्रमण करनेमें इस कर्मकी मुख्यता है, ऐसी मोहनीयकर्मकी बलवत्ता है, फिर भी उसका क्षय करना सरल है। अर्थात् जैसे वेदनीयकर्म भोगे बिना निष्फल नहीं होता परंतु इस कर्मके लिये वैसा नहीं है। मोहनीयकर्मकी प्रकृतिरूप क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषाय तथा नौकषायका अनुक्रमसे क्षमा, नम्रता, निरभिमानता, सरलता, निर्दंभता और संतोष आदिकी विपक्षभावनासे अर्थात् मात्र विचार करनेसे उपर्युक्त कषाय निष्फल किये जा सकते हैं, नोकषाय भी विचारसे क्षीण किये जा सकते हैं, अर्थात् उसके लिये बाह्य कुछ नहीं करना पड़ता।

'मुनि' यह नाम भी इस पूर्वोक्त रीतिसे विचार कर वचन बोलनेसे सत्य है। बहुत करके प्रयोजनके बिना बोलना ही नहीं, उसका नाम मुनित्व है। रागद्वेष और अज्ञानके बिना यथास्थित वस्तुका स्वरूप कहते-बोलते हुए भी मुनित्व-मौन समझें। पूर्व तीर्थंकर आदि महात्माओंने ऐसा ही विचार कर मौन धारण किया था; और लगभग साढ़े बारह वर्ष मौन धारण करनेवाले भगवान वीर प्रभुने ऐसे उत्कृष्ट विचारसे

आत्मामेंसे फिरा-फिराकर मोहनीयकर्मके संबंधको बाहर निकाल करके केवलज्ञानदर्शन प्रगट किया था।

आत्मा चाहे तो सत्य बोलना कुछ कठिन नहीं है। व्यवहारसत्यभाषा बहुत बार बोली जाती है; परंतु परमार्थसत्य बोलनेमें नहीं आया; इसीलिये इस जीवका भवभ्रमण नहीं मिटता। सम्यक्त्व होनेके बाद अभ्याससे परमार्थसत्य बोला जा सकता है; और फिर विशेष अभ्याससे सहज उपयोग रहा करता है। असत्य बोले बिना माया नहीं हो सकती। विश्वासघात करना इसका भी असत्यमें समावेश होता है। झूठे दस्तावेज करना, इसे भी असत्य जानें। अनुभव करने योग्य पदार्थके स्वरूपका अनुभव किये बिना और इन्द्रिय द्वारा जानने योग्य पदार्थके स्वरूपको जाने बिना उपदेश करना, इसे भी असत्य समझें। तो फिर तप इत्यादि मान आदिकी भावनासे करके, आत्महितार्थ करने जैसा देखाव करना असत्य ही है, ऐसा समझें। अखंड सम्यग्दर्शन प्राप्त हो तभी संपूर्णरूपसे परमार्थसत्य वचन बोला जा सकता है; अर्थात् तभी आत्मामेंसे अन्य पदार्थको भिन्नरूपसे उपयोगमें लेकर वचनकी प्रवृत्ति हो सकती है।

कोई पूछे कि लोक शाश्वत है या अशाश्वत तो उपयोगपूर्वक न बोलते हुए 'लोक शाश्वत' है ऐसा यदि कहे तो असत्य वचन बोला गया ऐसा होता है। उस वचनको बोलते हुए, लोक शाश्वत क्यों कहा गया उसका कारण ध्यानमें रखकर वह बोले तो वह सत्य समझा जाता है।

इस व्यवहारसत्यके भी दो प्रकार हो सकते हैं—एक सर्वथा व्यवहारसत्य और दूसरा देश व्यवहारसत्य।

निश्चय सत्यपर उपयोग रखकर, प्रिय अर्थात् जो वचन अन्यको अथवा जिसके संबंधमें बोला गया हो उसे प्रीतिकर हो, और पथ्य एवं गुणकर हो, ऐसा ही सत्य वचन बोलनेवाले प्रायः सर्वविरति मुनिराज हो सकते हैं।

संसारपर अभाव रखनेवाला होनेपर भी पूर्वकर्मसे, अथवा दूसरे कारणसे संसारमें रहनेवाले गृहस्थको देशसे सत्यवचन बोलनेका नियम रखना योग्य है। वह मुख्यतः इस प्रकार है—

कन्यालीक, मनुष्यसंबंधी असत्य; गवालीक, पशुसंबंधी असत्य; भौमालीक, भूमिसंबंधी असत्य; झूठी साक्षी; और थाती असत्य अर्थात् विश्वाससे रखनेके लिये दिये हुए द्रव्यादि पदार्थ वापस माँगनेपर, उस संबंधी इनकार कर देना, ये पाँच स्थूल भेद हैं। इस संबंधमें वचन बोलते हुए परमार्थ सत्य पर ध्यान रखकर, यथास्थित अर्थात् जिस प्रकारसे वस्तुओंका सम्यक् स्वरूप हो उसी प्रकारसे ही कहनेका जो नियम है उसे देशसे व्रत धारण करनेवालेको अवश्य करना योग्य है। इस कहे हुए सत्य संबंधी उपदेशका विचार कर उस क्रममें अवश्य आना ही फलदायक है।

३५

सत्पुरुष अन्याय नहीं करते। सत्पुरुष अन्याय करेंगे तो इस जगतमें वर्षा किसके लिये बरसेगी ? सूर्य किसके लिये प्रकाशित होगा ? वायु किसके लिये चलेगी ?

आत्मा कैसा अपूर्व पदार्थ है ! जब तक शरीरमें होता है—भले ही हजारों बरस रहे, तब तक शरीर नहीं सड़ता। आत्मा पारे जैसा है। चेतन चला जाये तो शरीर शब हो जाये और सड़ने लगे !

जीवमें जागृति और पुरुषार्थ चाहिये। कर्मबंध हो जानेके बाद भी उसमेंसे (सत्तामेंसे उदय आनेसे पहले) छूटना हो तो अबाधाकाल पूर्ण होने तकमें छूटा जा सकता है।

पुण्य, पाप और आयु, ये किसी दूसरेको नहीं दिये जा सकते। उन्हें प्रत्येक स्वयं ही भोगता है।

स्वच्छंदसे, स्वमतिकल्पनासे और सद्गुरुकी आज्ञाके बिना ध्यान करना यह तरंगरूप है और उपदेश, व्याख्यान करना यह अभिमानरूप है।

देहधारी आत्मा पथिक है और देह वृक्ष है। इस देहरूपी वृक्षमें (वृक्षके नीचे) जीवरूपी पथिक—बटोही विश्रांति लेने बैठा है। वह पथिक वृक्षको ही अपना मानने लगे यह कैसे चलेगा ?

'सुंदरविलास' सुंदर, अच्छा ग्रंथ है। उसमें कहाँ कमी, भूल है उसे हम जानते हैं। वह कमी दूसरेकी समझमें आना मुश्किल है। उपदेशके लिये यह ग्रंथ उपकारी है।

छः दर्शनोंपर दृष्टांत—छः भिन्न भिन्न वैद्योंकी दुकान है। उनमें एक वैद्य संपूर्ण सच्चा है। वह सब रोगोंको, उनके कारणोंको और उनके दूर करनेके उपायोंको जानता है। उसका निदान एवं चिकित्सा सच्चे होनेसे रोगीका रोग निर्मूल हो जाता है। वैद्य कमाई भी अच्छी करता है। यह देखकर दूसरे पाँच कूटवैद्य भी अपनी-अपनी दुकान खोलते हैं। उसमें जितनी सच्चे वैद्यके घरकी दवा अपने पास होती है उतना तो रोगीका रोग वे दूर करते हैं, और दूसरी अपनी कल्पनासे अपने घरकी दवा देते हैं, उससे उलटा रोग बढ़ जाता है; परंतु दवा सस्ती देते हैं इसलिये लोभके मारे लोग लेनेके लिये बहुत ललचाते हैं, और उल्टा नुकसान उठाते हैं।

इसका उपनय यह है कि सच्चा वैद्य वीतरागदर्शन है; जो संपूर्ण सत्य स्वरूप है। वह मोह, विषय आदिको, रागद्वेषको, हिंसा आदिको संपूर्ण दूर करनेको कहता है, जो विषयविवश रोगीको महँगा पड़ता है, अच्छा नहीं लगता। और दूसरे पाँच कूटवैद्य हैं वे कुदर्शन हैं, वे जितनी वीतरागके घरकी बातें करते हैं उस हद तक तो रोग दूर करनेकी बात है; परंतु साथ साथ मोहकी, संसारवृद्धिकी, मिथ्यात्वकी, हिंसा आदिकी धर्मके बहानेसे बात करते हैं, वह अपनी कल्पनाकी है, और वह संसाररूप रोग दूर करनेके बदले वृद्धिका कारण होती है। विषयमें आसक्त पामर संसारीको मोहकी बातें तो मीठी लगती हैं; अर्थात् सस्ती पड़ती हैं, इसलिये कूट वैद्यकी तरफ आकर्षित होता है, परंतु परिणाममें अधिक रोगी हो जाता है।

वीतरागदर्शन त्रिवैद्य जैसा है, अर्थात् (१) रोगीका रोग दूर करता है (२) नीरोगीको रोग होने नहीं देता, और (३) आरोग्यकी पुष्टि करता है। अर्थात् (१) सम्यग्दर्शनसे जीवका मिथ्यात्व रोग दूर करता है, (२) सम्यग्ज्ञानसे जीवको रोगका भोग होनेसे बचाता है और (३) सम्यक् चारित्रसे संपूर्ण शुद्ध चेतनारूप आरोग्यकी पुष्टि करता है।

---

३६ सं० १९५४

जो सर्व वासनाका क्षय करता है वह संन्यासी है। जो इन्द्रियोंको काबूमें रखता है वह गोसाई है। जो संसारका पार पाता है वह यति (जति) है।

समकितीको आठ मदोंमेंसे एक भी मद नहीं होता।

(१) अविनय, (२) अहंकार, (३) अर्धदग्धता—अपनेको ज्ञान न होते हुए भी अपनेको ज्ञानी मान बैठना, और (४) रसलुब्धता—इन चारमेंसे एक भी दोष हो तो जीवको समकित नहीं होता, ऐसा श्री 'ठाणांगसूत्र'में कहा है।

मुनिको व्याख्यान करना पड़ता हो तो स्वयं स्वाध्याय करता है ऐसा भाव रखकर व्याख्यान करे।

मुनिको सवेरे स्वाध्यायकी आज्ञा है, उसे मनमें ही किया जाता है, उसके बदले व्याख्यानरूप स्वाध्याय ऊँचे स्वरसे, मान, पूजा, सत्कार, आहार आदिकी अपेक्षाके बिना केवल निष्काम बुद्धिसे आत्मार्थके लिये करे।

क्रोध आदि कषायका उदय हो, तब उसके विरुद्ध होकर उसे बताना कि तूने मुझे अनादि कालसे हैरान किया है। अब मैं इस तरह तेरा बल नहीं चलने दूँगा। देख, अब मैं तेरे विरुद्ध युद्ध करने बैठा हूँ।

निद्रा आदि प्रकृति (क्रोध आदि अनादि वैरी), उनके प्रति क्षत्रियभावसे वर्तन करें, उन्हें अपमानित करें, फिर भी न मानें तो उन्हें क्रूर बनकर शांत करें, फिर भी न मानें तो ख्यालमें रखकर, वक्त आनेपर उन्हें मार डालें। यों शूर क्षत्रियस्वभावसे वर्तन करें, जिससे वैरीका पराभव होकर समाधिसुख मिले।

प्रभुपूजामें पुष्प चढ़ाये जाते हैं, उसमें जिस गृहस्थको हरी वनस्पतिका नियम नहीं है वह अपने हेतुसे उसका उपयोग कम करके प्रभुको फूल चढ़ाये। त्यागी मुनिको तो पुष्प चढ़ानेका अथवा उसके उपदेशका सर्वथा निषेध है ऐसा पूर्वाचार्योंका प्रवचन है।

कोई सामान्य मुमुक्षु भाई-बहन साधनके बारेमें पूछे तो ये साधन बतायें–

(१) सात व्यसनका त्याग।
(२) हरी वनस्पतिका त्याग।
(३) कंदमूलका त्याग।
(४) अभक्ष्यका त्याग।
(५) रात्रिभोजनका त्याग।
(६) 'सर्वज्ञदेव' और 'परमगुरु' की पाँच पाँच मालाओंका जप।
(७) भक्तिरहस्य दोहाका[1] पठन मनन।
(८) क्षमापनाका पाठ[2]।
(९) सत्समागम और सत्शास्त्रका सेवन।

'सिज्झंति', फिर 'बुज्झंति', फिर 'मुच्चंति', फिर 'परिणिव्वायंति', फिर 'सव्वदुक्खाणमंतंकरंति', इन शब्दोंका रहस्यार्थ विचारने योग्य है। 'सिज्झंति' अर्थात् सिद्ध होते हैं, उसके बाद 'बुज्झंति' अर्थात् बोधसहित–ज्ञानसहित होते हैं ऐसा सूचित किया है। सिद्ध होनेके बाद कोई आत्माकी शून्य (ज्ञानरहित) दशा मानते हैं उसका निषेध 'बुज्झंति'से किया गया। इस तरह सिद्ध और बुद्ध होनेके बाद 'मुच्चंति' अर्थात् सर्व कर्मसे रहित होते हैं और उसके बाद 'परिणिव्वायंति' अर्थात् निर्वाण पाते हैं, कर्मरहित होनेसे फिर जन्म–अवतार धारण नहीं करते। मुक्त जीव कारणविशेषसे अवतार धारण करते हैं इस मतका 'परिणिव्वायंति'से निषेध सूचित किया है। भवका कारण कर्म, उससे सर्वथा जो मुक्त हुए हैं वे फिरसे भव धारण नहीं करते। कारणके बिना कार्य नहीं होता। इस तरह निर्वाणप्राप्त 'सव्वदुक्खाणमंतंकरंति' अर्थात् सर्व दुःखोंका अंत करते हैं, उनको दुःखका अंत करते हैं, उनको दुःखका सर्वथा अभाव हो जाता है, वे सहज स्वाभाविक सुख आनन्दका अनुभव करते हैं। ऐसा कहकर मुक्त आत्माओंको शून्यता है, आनन्द नहीं है इस मतका निषेध सूचित किया है।

३७

'अज्ञानतिमिरांधानां ज्ञानांजनशलाकया।
नेत्रमुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥'

अज्ञानरूपी तिमिर–अंधकारसे जो अंध हैं, उनके नेत्रोंको जिसने ज्ञानरूपी अंजनकी शलाका–अंजनकी सलाईसे खोला, उस श्री सद्गुरुको नमस्कार।

---

१. आंक २६४ के बीस दोहे। २. मोक्षमाला शिक्षापाठ ५६।

'मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूमृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये॥'

मोक्षमार्गके नेता—मोक्षमार्गमें ले जानेवाले, कर्मरूप पर्वतके भेत्ता—भेदन करनेवाले, और समग्र तत्त्वोंके ज्ञाता—जाननेवाले, उन्हें मैं उन गुणोंकी प्राप्तिके लिये वंदन करता हूँ।

यहाँ 'मोक्षमार्गके नेता' कहकर आत्माके अस्तित्वसे लेकर उसके मोक्ष और मोक्षके उपायसहित सभी पदों तथा मोक्षप्राप्तोंका स्वीकार किया है तथा जीव, अजीव आदि सभी तत्त्वोंका स्वीकार किया है। मोक्ष बंधकी अपेक्षा रखता है, बंध, बंधके कारणों—आस्रव, पुण्य-पाप कर्म और बँधने वाले नित्य अविनाशी आत्माकी अपेक्षा रखता है। इसी तरह मोक्ष, मोक्षमार्गकी, संवरकी, निर्जराकी, बंधके कारणोंको दूर करनेरूप उपायकी अपेक्षा रखता है। जिसने मार्ग देखा, जाना और अनुभव किया है वह नेता हो सकता है। अर्थात् मोक्षमार्गके नेता ऐसा कहकर उसे प्राप्त सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतरागका स्वीकार किया है। इस तरह मोक्षमार्गके नेता इस विशेषणसे जीव, अजीव आदि नवों तत्त्व, छहों द्रव्य, आत्माके अस्तित्व आदि छहों पद और मुक्त आत्माका स्वीकार किया है।

मोक्षमार्गका उपदेश करनेका, उस मार्गमें ले जानेका कार्य देहधारी साकार मुक्त पुरुष कर सकता है, देहरहित निराकार नहीं कर सकता ऐसा कहकर आत्मा स्वयं परमात्मा हो सकता है, मुक्त हो सकता है, ऐसा देहधारी मुक्त पुरुष ही उपदेश कर सकता है ऐसा सूचित किया है, इससे देहरहित अपौरुषेय बोधका निषेध किया है।

'कर्मरूप पर्वतके भेदन करनेवाले' ऐसा कहकर यह सूचित किया है कि कर्मरूप पर्वतोंको तोडनेसे मोक्ष होता है; अर्थात् कर्मरूप पर्वतोंको स्ववीर्य द्वारा देहधारीरूपसे तोडा, और इससे जीवन्मुक्त होकर मोक्षमार्गके नेता, मोक्षमार्गके बतानेवाले हुए। पुनः पुनः देह धारण करनेका, जन्म-मरणरूप संसारका कारण कर्म है, उसका समूल छेदन—नाश करनेसे पुनः उन्हें देह धारण करना नहीं रहता यह सूचित किया है। मुक्त आत्मा फिरसे अवतार नहीं लेते ऐसा सूचित किया है।

'विश्वतत्त्वके ज्ञाता'—समस्त द्रव्यपर्यायात्मक लोकालोकके—विश्वके जाननेवाले यह कहकर मुक्त आत्माकी अखंड स्वपरज्ञायकता सूचित की है। मुक्त आत्मा सदा ज्ञानरूप ही है यह सूचित किया है।

'जो इन गुणोंसे सहित है उन्हें उन गुणोंकी प्राप्तिके लिये मैं वंदन करता हूँ', यह कहकर परम आप्त, मोक्षमार्गके लिये विश्वास करने योग्य, वंदन करने योग्य, भक्ति करने योग्य, जिसकी आज्ञामें चलनेसे निःसंशय मोक्ष प्राप्त होता है, उन्हें प्रगट हुए गुणोंकी प्राप्ति होती है, वे गुण प्रगट होते हैं, ऐसा कौन होता है यह सूचित किया है। उपर्युक्त गुणोंवाले मुक्त परम आप्त वंदन योग्य होते हैं, उन्होंने जो बताया वह मोक्षमार्ग है, और उनकी भक्तिसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, उन्हें प्रगट हुए गुण, उनकी आज्ञामें चलनेवाले भक्तिमानको प्रगट होते हैं यह सूचित किया है।

३८* श्री खेडा, द्वि० आसोज वदी, १९५४

प्र०—आत्मा है?

श्रीमद्ने उत्तर दिया—हाँ, आत्मा है।

प्र०—अनुभवसे कहते हैं कि आत्मा है?

---

* श्री खेडाके एक वेदांतविद् विद्वान वकील पंचदशीके लेखक भट्ट पूंजाभाई सोमेश्वरका यह प्रसंग है।

उ०—हाँ, अनुभवसे कहते हैं कि आत्मा है। शक्करके स्वादका वर्णन नहीं हो सकता। वह तो अनुभवगोचर है; इसी तरह आत्माका वर्णन नहीं हो सकता, वह भी अनुभवगोचर हैं, परंतु वह है ही।

प्र०—जीव एक है या अनेक है ? आपके अनुभवका उत्तर चाहता हूँ।

उ०—जीव अनेक है।

प्र०—जड़, कर्म यह वस्तुतः है या मायिक है ?

उ०—जड़, कर्म यह वस्तुतः है, मायिक नहीं है।

प्र०—पुनर्जन्म है ?

उ०—हाँ, पुनर्जन्म है।

प्र०—वेदांतको मान्य मायिक ईश्वरका अस्तित्व आप मानते हैं ?

उ०—नहीं।

प्र०—दर्पणमें पड़नेवाला प्रतिबिंब मात्र खाली देखाव है या किसी तत्त्वका बना हुआ है ?

उ०—दर्पणमें पड़नेवाला प्रतिबिंब मात्र खाली देखाव नहीं है, वह अमुक तत्त्वका बना हुआ है।

---

३९ मोरबी, माघ वदी ९, सोम (रातमें), १९५५

कर्मकी मूल प्रकृतियाँ आठ हैं; उनमें चार घातिनी और चार अघातिनी कही जाती हैं।

चार घातिनीका धर्म आत्माके गुणका घात करना है, अर्थात् (१) उस गुणका आवरण करना, अथवा (२) उस गुणके बल-वीर्यका निरोध करना, अथवा (३) उसे विकल करना है, और इसलिये उस प्रकृतिको 'घातिनी' संज्ञा दी है।

जो आत्माके गुण ज्ञान और दर्शनका आवरण करता है उसे अनुक्रमसे (१) ज्ञानावरणीय और (२) दर्शनावरणीय नाम दिया है। अंतराय प्रकृति इस गुणको आवरण नहीं करती, परंतु उसके भोग, उपभोग आदिको, उसके बलवीर्यको रोकती है। यहाँ पर आत्मा भोग आदिको समझता है, जानता-देखता है, इसलिये आवरण नहीं है; परंतु समझते हुए भी भोग आदिमें विघ्न-अंतराय करती है, इसलिये उसे आवरण नहीं परंतु अंतराय प्रकृति कहा है।

इस तरह तीन आत्मघातिनी प्रकृतियाँ हुई। चौथी घातिनी प्रकृति मोहनीय है। यह प्रकृति आवरण नहीं करती, परंतु आत्माको मूर्च्छित करके, मोहित करके विकल करती है। ज्ञान-दर्शन होते हुए भी, अंतराय न होते हुए भी आत्माको कभी विकल करती है, उलटा पट्टा बँधा देती है, व्याकुल कर देती है, इसलिये इसे मोहनीय कहा है। इस तरह ये चार सर्व घातिनी प्रकृतियाँ कही। दूसरी चार प्रकृतियाँ यद्यपि आत्माके प्रदेशोंके साथ लगी हुई हैं तथा अपना कार्य किया करती हैं, और उदयके अनुसार वेदी जाती है; तथापि वे आत्माके गुणको आवरण करनेरूपसे या अंतराय करनेरूपसे या उसे विकल करनेरूपसे घातक नहीं है; इसलिये उन्हें अघातिनी कहा है।

४०

स्त्री, परिग्रह आदिमें जितना मूर्च्छाभाव रहता है उतना ज्ञानका तारतम्य न्यून है, ऐसा श्री तीर्थंकरने निरूपण किया है। संपूर्ण ज्ञानमें वह मूर्च्छा नहीं होती।

श्री ज्ञानीपुरुष संसारमें किस प्रकारसे रहते हैं ? आँखमें जैसे रज खटकती रहती है वैसे ज्ञानीको

किसी कारणसे या उपाधि प्रसंगसे कुछ हुआ हो तो वह मगजमें पाँच दस सेर जितना बोझा हो पड़ता है। और उसका क्षय होता है तभी शांति होती है। स्त्री आदिके प्रसंगमें आत्माकी अतिशय अतिशय समीपता एकदम प्रगटरूपसे भासित होती है।

सामान्यरूपसे स्त्री, चंदन, आरोग्य आदिसे साता और ज्वर आदिसे असाता रहती है, वह ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंको समान है। ज्ञानीको उस उस प्रसंगमें हर्ष-विषादका हेतु नहीं होता।

४१*

चार गोलोंके दृष्टांतसे जीवके चार प्रकारसे भेद हो सकते हैं।

१. मोमका गोला।

२. लाखका गोला।

३. लकडीका गोला।

४. मिट्टीका गोला।

१. प्रथम प्रकारके जीव मोमके गोले जैसे कहे हैं।

मोमका गोला जिस तरह ताप लगनेसे पिघल जाता है, और फिर ठण्डी लगनेसे वैसाका वैसा हो जाता है; उसी तरह संसारी जीवको सत्पुरुषका बोध सुनकर संसारसे वैराग्य हुआ, वह असार संसारकी निवृत्तिका चिंतन करने लगा, कुटुंबके पास आकर कहता है कि इस असार संसारसे मैं निवृत्त होना चाहता हूँ। इस बातको सुनकर कुटुंबी कोपयुक्त हुए। अबसे तू इस तरफ मत जाना। अब जायेगा तो तेरेपर सख्ती करेंगे, इत्यादि कहकर संतका अवर्णवाद बोलकर वहाँ जाना रोक दें। इस प्रकार कुटुंबके भयसे, लज्जासे जीव सत्पुरुषके पास जानेसे रुक जाये, और फिर संसार कार्यमें प्रवृत्ति करने लगे। ये प्रथम प्रकारके जीव कहे हैं।

२. दूसरे प्रकारके जीव लाखके गोले जैसे कहे हैं।

लाखका गोला तापसे नहीं पिघल जाता परंतु अग्निसे पिघल जाता है। इस तरहका जीव संतका बोध सुनकर संसारसे उदासीन होकर यह चिंतन करे कि इस दुःखरूप संसारसे निवृत्त होना है, ऐसा चिंतन करके कुटुंबके पास जाकर कहे कि 'मैं संसारसे निवृत्त होना चाहता हूँ। मुझे यह झूठ बोलकर व्यापार करना अनुकूल नहीं आयेगा,' इत्यादि कहनेके बाद कुटुंबीजन उसे सख्ती और स्नेहके वचन कहे तथा स्त्रीके वचन उसे एकांतके समयमें भोगमें तदाकार कर डालें। स्त्रीका अग्निरूप शरीर देखकर दूसरे प्रकारके जीव तदाकार हो जायें। संतके चरणसे दूर हो जायें।

३. तीसरे प्रकारके जीव काष्ठके गोले जैसे कहे हैं।

वह जीव संतका बोध सुनकर संसारसे उदास हो गया। यह संसार असार है, ऐसा विचार करता हुआ कुटुंब आदिके पास आकर कहता है कि 'इस असार संसारसे मैं खिन्न हुआ हूँ। मुझे ये कार्य करने ठीक नहीं लगते।' ये वचन सुनकर कुटुंबी उसे नरमीसे कहते हैं, 'भाई, अपने लिये तो निवृत्ति जैसा है।' उसके बाद स्त्री आकर कहती है—'प्राणपति! मैं तो आपके बिना पल भी नहीं रह सकती। आप मेरे जीवनके आधार हैं।' इस तरह अनेक प्रकारसे भोगमें आसक्त करनेके लिये अनेक पदार्थोंकी वृद्धि करते हैं, उसमें तदाकार होकर संतके वचन भूल जाता है। अर्थात् जैसे काष्ठका गोला अग्निमें डालनेके

---

* खंभातके श्री अंबालालभाईकी लिखी नोटमेंसे।

बाद भस्म हो जाता है, वैसे स्त्रीरूप अग्निमें पड़ा हुआ जीव उसमें भस्म हो जाता है। इससे संतके बोधका विचार भूल जाता है। स्त्री आदिके भयसे सत्समागम नहीं कर सकता, जिससे वह जीव दावानलरूप स्त्री आदि अग्निमें फँस कर, विशेष विशेष विडम्बना भोगता है। ये तीसरे प्रकारके जीव कहे हैं।

४. चौथे प्रकारके जीव मिट्टीके गोले जैसे कहे हैं।

वह पुरुष सत्पुरुषका बोध सुनकर इंद्रियके विषयकी उपेक्षा करता है। संसारसे महा भय पाकर उससे निवृत्त होता है। उस प्रकारका जीव कुटुंब आदिके परिषहसे चलायमान नहीं होता। स्त्री आकर कहे—'प्यारे प्राणनाथ ! इस भोगमें जैसा स्वाद है वैसा स्वाद उसके त्यागमें नहीं है।' इत्यादि वचन सुनकर महा उदास होता हैं, विचारता है कि इस अनुकूल भोगसे यह जीव बहुत बार भूला है। ज्यों ज्यों उसके वचन सुनता है त्यों त्यों महा वैराग्य उत्पन्न होता है। और इसलिये सर्वथा संसारसे निवृत्त होता है। मिट्टका गोला अग्निमें पड़नेसे विशेष विशेष कठिन होता है, उसी तरह वैसे पुरुष संतका बोध सुनकर संसारमें नहीं पड़ते। वे चौथे प्रकारके जीव कहे हैं।

९५७

*उपदेश छाया

१ कावितठा, श्रावण वदी २, १९५२

स्त्री, पुत्र, परिग्रह आदि भावोंके प्रति मूल ज्ञान होनेके बाद यदि ऐसी भावना रहे कि 'जब मैं चाहूँगा तब इन स्त्री आदिके प्रसंगका त्याग कर सकूँगा' तो यह मूल ज्ञानसे वंचित कर देनेकी बात समझें; अर्थात् मूल ज्ञानमें यद्यपि भेद नहीं पड़ता परंतु आवरणरूप हो जाता है। तथा शिष्य आदि अथवा भक्ति करनेवाले मार्गसे च्युत हो जायेंगे अथवा रुक जायेंगे, ऐसी भावनासे यदि ज्ञानी पुरुष भी वर्तन करे तो ज्ञानीपुरुषको भी निरावरणज्ञान आवरणरूप हो जाता है; और इसीलिये वर्धमान आदि ज्ञानीपुरुष साढ़े बारह वर्ष तक अनिद्रित ही रहे; सर्वथा असंगताको ही उन्होंने श्रेयस्कर समझा; एक शब्दके उच्चार करनेको भी यथार्थ नहीं माना; एकदम निरावरण, निर्योग, निर्भोग और निर्भय ज्ञान होनेके बाद उपदेशकार्य किया। इसलिये 'इसे इस तरह कहेंगे तो ठीक है अथवा इसे इस तरह न कहा जाये तो मिथ्या है' इत्यादि विकल्प साधु-मुनि न करें।

निर्ध्वंसपरिणाम अर्थात् आक्रोश परिणामपूर्वक घातकता करते हुए जिसमें चिंता अथवा भय और भवभीरुता न हो वैसा परिणाम।

आधुनिक समयमें मनुष्योंकी कुछ आयु बचपनमें जाती है, कुछ स्त्रीके पास जाती है, कुछ निद्रामें जाती है, कुछ धंधेमें जाती है, और जो थोड़ी रहती है उसे कुगुरु लूट लेता है। तात्पर्य कि मनुष्यभव निरर्थक चला जाता है।

लोगोंको कुछ झूठ बोलकर सद्गुरुके पास सत्संगमें आनेकी जरूरत नहीं है। लोग यों पूछें, 'कौन पधारे हैं?' तो स्पष्ट कहें, 'मेरे परम कृपालु सद्गुरु पधारे हैं। उनके दर्शनके लिये जानेवाला हूँ।' तब कोई कहे, 'मैं आपके साथ आऊँ?' तब कहें, 'भाई, वे कुछ अभी उपदेश देनेका कार्य करते नहीं हैं। और आपका हेतु ऐसा है कि वहाँ जायेंगे तो कुछ उपदेश सुनेंगे। परंतु वहाँ कुछ उपदेश देनेका नियम नहीं है।' तब वह भाई पूछे, 'आपको उपदेश क्यों दिया?' तो कहें 'मेरा प्रथम उनके समागममें जाना हुआ था और उस समय धर्मसंबंधी वचन सुने थे कि जिससे मुझे ऐसा विश्वास हुआ कि ये महात्मा हैं।

*. सं० १९५२ के श्रावण-भाद्रपद मासमें आणंदके आसपास कावितठा, राळज, वडवा आदि स्थलोंमें श्रीमद्का निवृत्तिके लिये रहना हुआ था। उस समय उनके समीपवासी भाई श्री अंबालाल लालचंदने प्रास्ताविक उपदेश अथवा विचारोंका श्रवण किया था, जिसकी छाया मात्र उनकी स्मृतिमें रह गयी थी उसके आधारसे उन्होंने भिन्न-भिन्न स्थलोंमें उस छायाका सार संक्षेपमें लिख लिया था उसे यहाँ देते हैं।

एक मुमुक्षुभाईका यह कहना है कि श्री अंबालालभाईने लिखे हुए इस उपदेशके भागको भी श्रीमद्से पढ़वाया था और श्रीमद्ने उसमें कहीं कहीं सुधार किया था।

यों पहचान होनेसे मैंने उन्हें ही अपना सद्गुरु मान लिया है।' तब वह यों कहे,'उपदेश दें या न दें परंतु मुझे तो उनके दर्शन करने हैं।' तब कहें, 'कदाचित्, उपदेश न दें तो आप विकल्प न करें।' ऐसा करते हुए भी जब वह आये तब तो हरीच्छा। परंतु आप स्वयं कुछ वैसी प्रेरणा न करें कि चलो, वहाँ तो बोध मिलेगा, उपदेश मिलेगा। ऐसी भावना न स्वयं करें और न दूसरेको प्रेरणा करें।

---

२ कावीठा, श्रावण वदी ३, १९५२

प्र०—केवलज्ञानीने जो सिद्धांतोंका निरूपण किया है वह 'पर-उपयोग' है या 'स्व-उपयोग' ? शास्त्रमें कहा है कि केवलज्ञानी स्व-उपयोगमें ही रहते हैं।

उ०—तीर्थंकर किसीको उपदेश दें तो इससे कुछ 'पर-उपयोग' नहीं कहा जाता। 'पर-उपयोग' उसे कहा जाता है कि जिस उपदेशको देते हुए रति, अरति, हर्ष और अहंकार होते हों। ज्ञानीपुरुषको तो तादात्म्यसंबंध नहीं होता जिससे उपदेश देते हुए रति-अरति नहीं होते। रति-अरति हों तो 'पर-उपयोग' कहा जाता है। यदि ऐसा हो तो केवली लोकालोक जानते हैं, देखते हैं वह भी 'पर-उपयोग' कहा जायेगा। परंतु ऐसा नहीं है, क्योंकि उनमें रति-अरति भाव नहीं है।

सिद्धांतकी रचनाके विषयमें यों समझें कि अपनी बुद्धि न पहुँचे तो इससे वे वचन असत् हैं, ऐसा न कहें; क्योंकि जिसे आप असत् कहते हैं, उसी शास्त्रसे ही पहले तो आपने जीव, अजीव ऐसा कहना सीखा हैं; अर्थात् उन्हीं शास्त्रोंके आधारसे ही, आप जो कुछ जानते हैं उसे जाना है; तो फिर उसे असत् कहना, यह उपकारके बदले दोष करनेके बराबर है। फिर शास्त्रके लिखनेवाले भी विचारवान थे; इसलिये वे सिद्धांतके बारेमें जानते थे। महावीरस्वामीके बहुत वर्षोंके बाद सिद्धांत लिखे गये हैं, इसलिये उन्हें असत् कहना दोष गिना जायेगा।

अभी सिद्धांतोंकी जो रचना देखनेमें आती है, उन्हीं अक्षरोंमें अनुक्रमसे तीर्थंकरने कहा हो यह बात नहीं है। परंतु जैसे किसी समय किसीने वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा संबंधी पूछा तो उस समय तत्संबंधी बात कही। फिर किसीने पूछा कि धर्मकथा कितने प्रकारकी है तो कहा कि चार प्रकारकी—आक्षेपणी, विक्षेपणी, निर्वेदणी, संवेगणी। इस इस प्रकारकी बातें होती है उसे उनके पास जो गणधर होते हैं वे ध्यानमें रख लेते हैं, और अनुक्रमसे उसकी रचना करते हैं। जैसे यहाँ कोई बात करनेसे कोई ध्यानमें रखकर अनुक्रमसे उसकी रचना करता है वैसे। बाकी तीर्थंकर जितना कहे उतना कहीं उनके ध्यानमें नहीं रहता, अभिप्राय ध्यानमें रहता है। फिर गणधर भी बुद्धिमान थे, इसलिये उन तीर्थंकर द्वारा कहे हुए वाक्य कुछ उनमें नहीं आये, यह बात भी नहीं है।

सिद्धांतोंके नियम इतने अधिक सख्त हैं, फिर भी यति लोगोंको उनसे विरुद्ध आचरण करते हुए देखते हैं। उदाहरणके लिये, कहा है कि साधुको तेल नहीं ड़ालना चाहिये, फिर भी वे ड़ालते हैं। इससे कुछ ज्ञानीकी वाणीका दोष नहीं है; परंतु जीवकी समझशक्तिका दोष है। जीवमें सद्बुद्धि न हो तो प्रत्यक्ष योगमें भी उसे उलटा ही प्रतीत होता है, और जीवमें सद्बुद्धि हो तो सुलटा मालूम होता है।

ज्ञानीकी आज्ञासे चलनेवाले भद्रिक मुमुक्षुजीवको, यदि गुरुने ब्रह्मचर्य पालनेकी अर्थात् स्त्री आदिके प्रसंगमें न जानेकी आज्ञा की हो, तो उस वचनपर दृढ़ विश्वास कर वह उस उस स्थानमें नहीं जाता; तब जिसे मात्र आध्यात्मिक शास्त्र आदि पढ़कर मुमुक्षुता हुई हो, उसे ऐसा अहंकार रहा करता है, कि 'इसमें भला क्या जीतना है ?' ऐसे पागलपनके कारण वह वैसे स्त्री आदिके प्रसंगमें जाता है। कदाचित् उस प्रसंगसे एक-दो बार बच भी जाये परंतु बादमें उस पदार्थकी ओर दृष्टि करते हुए 'यह ठीक है', ऐसे करते करते

उसे उसमें आनंद आने लगता है, और इससे स्त्रियोंका सेवन करने लग जाता है। भोलाभाला जीव तो ज्ञानीकी आज्ञानुसार वर्तन करता है; अर्थात् वह दूसरे विकल्प न करते हुए वैसे प्रसंगमें जाता ही नहीं। इस प्रकार, जिस जीवको, 'इस स्थानमें जाना योग्य नहीं' ऐसे ज्ञानीके वचनोंका दृढ़ विश्वास है वह ब्रह्मचर्य व्रतमें रह सकता है; अर्थात् वह इस अकार्यमें प्रवृत्त नहीं होता। तो फिर जो ज्ञानीके आज्ञाकारी नहीं है ऐसे मात्र आध्यात्मिकशास्त्र पढ़कर होनेवाले मुमुक्षु अहंकारमें फिरा करते हैं और माना करते हैं कि 'इसमें भला क्या जीतना है ?' ऐसी मान्यताके कारण ये जीव पतित हो जाते हैं, और आगे नहीं बढ़ सकते। यह क्षेत्र है वह निवृत्तिवाला है, परंतु जिसे निवृत्ति हुई हो उसे वैसा है। उसी तरह जो सच्चा ज्ञानी है उसके सिवाय अन्य कोई अब्रह्मचर्यवश न हो, यह तो कथन मात्र है। और जिसे निवृत्ति नहीं हुई उसे प्रथम तो यों होता है कि 'यह क्षेत्र अच्छा है, यहाँ रहने जैसा है', परंतु फिर यों करते करते विशेष प्रेरणा होनेसे क्षेत्राकारवृत्ति हो जाती है। ज्ञानीकी वृत्ति क्षेत्राकार नहीं होती, क्योंकि क्षेत्र निवृत्तिवाला है, और स्वयं भी निवृत्ति भावको प्राप्त हुए हैं, इसलिये दोनों योग अनुकूल हैं। शुष्कज्ञानियोंको प्रथम तो यों अभिमान रहा करता है, कि 'इसमें भला क्या जीतना है ?' परंतु फिर धीरे धीरे वे स्त्री आदि पदार्थोंमें फँस जाते हैं; जब कि सच्चे ज्ञानीको वैसा नहीं होता।

प्राप्त=ज्ञानप्राप्त पुरुष। आप्त=विश्वास करने योग्य पुरुष।

मुमुक्षुमात्रको सम्यग्दृष्टि जीव नहीं समझना चाहिये।

जीवको भुलावेके स्थान बहुत हैं; इसलिये विशेष-विशेष जागृति रखें; व्याकुल न हो; मंदता न करे, और पुरुषार्थधर्मको वर्धमान करे।

जीवको सत्पुरुषका योग मिलना दुर्लभ है। अपारमार्थिक गुरुको, यदि अपना शिष्य दूसरे धर्ममें चला जाये तो बुखार चढ़ जाता है। पारमार्थिक गुरुको 'यह मेरा शिष्य है', ऐसा भाव नहीं होता। कोई कुगुरु-आश्रित जीव बोधश्रवणके लिये सद्गुरुके पास एक बार गया हो, और फिर वह अपने उस कुगुरुके पास जाये, तो वह कुगुरु उस जीवके मनपर अनेक विचित्र विकल्प अंकित कर देता है कि जिससे वह जीव फिर सद्गुरुके पास न जायें। उस बेचारे जीवको तो सत्-असत् वाणीकी परीक्षा नहीं है, इसलिये वह धोखा खा जाता है, और सच्चे मार्गसे पतित हो जाता है।

---

३ कावीठा (महुडी), श्रावण वदी ४, १९५२

तीन प्रकारके ज्ञानीपुरुष हैं—प्रथम, मध्यम, और उत्कृष्ट। इस कालमें ज्ञानीपुरुषकी परम दुर्लभता है, तथा आराधक जीव भी बहुत कम हैं।

पूर्वकालमें जीव आराधक और संस्कारी थे, तथारूप सत्संगका योग था, और सत्संगके माहात्म्यका विसर्जन नहीं हुआ था, अनुक्रमसे चला आता था, इसलिये उस कालमें उन संस्कारी जीवोंको सत्पुरुषकी पहचान हो जाती थी।

इस कालमें सत्पुरुषकी दुर्लभता है, बहुत कालसे सत्पुरुषका मार्ग, माहात्म्य और विनय क्षीणसे हो गये हैं और पूर्वके आराधक जीव कम हो गये हैं, इसलिये जीवको सत्पुरुषकी पहचान तत्काल नहीं होती। बहुतसे जीव तो सत्पुरुषका स्वरूप भी नहीं समझते। या तो छकायके रक्षक साधुको, या तो शास्त्र पढ़े हुएको, या तो किसी त्यागीको और या तो चतुरको सत्पुरुष मानते हैं, परंतु यह यथार्थ नहीं है।

सत्पुरुषके सच्चे स्वरूपको जानना आवश्यक है। मध्यम सत्पुरुष हो तो शायद थोड़े समयमें उसकी

पहचान होना संभव है, क्योंकि वह जीवकी इच्छाके अनुकूल वर्तन करता है, सहज बातचीत करता है और आदरभाव रखता है, इसलिये जीवको प्रीतिका कारण हो जाता है। परंतु उत्कृष्ट सत्पुरुषको तो वैसी भावना नहीं होती अर्थात् निःस्पृहता होनेसे वे वैसा भाव नहीं रखते, इसलिये या तो जीव रुक जाता है या दुविधामें पड़ जाता है अथवा उसका जो होना हो सो होता है।

जैसे बने वैसे सद्वृत्ति और सदाचारका सेवन करें। ज्ञानीपुरुष कोई व्रत नहीं देते अर्थात् जब प्रगट मार्ग कहे और व्रत देनेकी बात करे तब व्रत अंगीकार करे। परंतु तब तक यथाशक्ति सद्व्रत और सदाचारका सेवन करनेमें तो ज्ञानीपुरुषकी सदैव आज्ञा है। दंभ, अहंकार, आग्रह, कोई भी कामना, फलकी इच्छा और लोक-दिखावेकी बुद्धि ये सब दोष हैं उनसे रहित होकर व्रत आदिका सेवन करें, उनकी किसी भी संप्रदाय या मतके व्रत, प्रत्याख्यान आदिके साथ तुलना न करें, क्योंकि लोग जो व्रत पच्चक्खान आदि करते हैं उनमें उपर्युक्त दोष होते हैं। हमें तो उन दोषोंसे रहित और आत्मविचारके लिये करने हैं, इसलिये उनके साथ कभी भी तुलना न करें।

उपर्युक्त दोषोंको छोड़कर सभी सद्वृत्ति और सदाचारका उत्तम प्रकारसे सेवन करें।

जो निर्दंभतासे, निरहंकारतासे और निष्कामतासे सद्व्रत करता है उसे देखकर अडोसी-पड़ोसी और दूसरे लोगोंको भी उसे अंगीकार करनेका भान होता है। जो कुछ भी सद्व्रत करें वह लोकदिखावेके लिये नहीं अपितु मात्र अपने हितके लिये करें। निर्दंभतासे होनेसे लोगोंपर उसका असर तुरंत होता है।

कोई भी दंभसे दालमें ऊपरसे नमक न लेता हो और कहे कि 'मैं ऊपरसे कुछ नहीं लेता, क्या नहीं चलता ? इससे क्या ?' इससे कुछ लोगोंपर असर नहीं होता। और जो किया हो वह भी उलटा कर्मबंधके लिये हो जाता है। इसलिये यों न करते हुए निर्दंभतासे और उपर्युक्त दूषण छोडकर व्रत आदि करें।

प्रतिदिन नियमपूर्वक आचारांग आदि पढ़ा करें। आज एक शास्त्र पढ़ा और कल दूसरा पढ़ा यों न करते हुए क्रमपूर्वक एक शास्त्रको पूरा करें। आचारांगसूत्रमें कितने ही आशय गंभीर हैं, सूत्रकृतांगमें भी गंभीर हैं, उत्तराध्ययनमें भी किसी किसी स्थलमें गंभीर हैं। दशवैकालिक सुगम है। आचारांगमें कोई स्थल सुगम है, परंतु गंभीर है। सूत्रकृतांग किसी स्थलमें सुगम है, उत्तराध्ययन किसी जगह सुगम है; इसलिये नियमपूर्वक पढ़ें। यथाशक्ति उपयोगपूर्वक गहराईमें जाकर हो सके उतना विचार करें।

देव अरिहंत, गुरु निर्ग्रंथ और केवलीका प्ररूपित धर्म, इन तीनोंकी श्रद्धाको जैनमें सम्यक्त्व कहा है। मात्र गुरु असत् होनेसे देव और धर्मका भान न था। सद्गुरु मिलनेसे उस देव और धर्मका भान हुआ। इसलिये सद्गुरुके प्रति आस्था यही सम्यक्त्व है। जितनी जितनी आस्था और अपूर्वता उतनी उतनी सम्यक्त्वकी निर्मलता समझें। ऐसा सच्चा सम्यक्त्व प्राप्त करनेकी इच्छा, कामना सदैव रखें।

कभी भी दंभसे या अहंकारसे आचरण करनेका जरा भी मनमें न लायें। जहाँ कहना योग्य हो वहाँ कहें, परंतु सहज स्वभावसे कहें। मंदतासे न कहें और आक्रोशसे भी न कहें। मात्र सहज स्वभावसे शांतिपूर्वक कहें।

सद्व्रतका आचरण शूरतापूर्वक करे, मंद परिणामपूर्वक नहीं। जो जो आगार बताये हो, उन सबको ध्यानमें रखें, परंतु भोगनेकी बुद्धिसे उनका भोग न करें।

सत्पुरुषकी तेंतीस आशातनाएँ आदि टालनेका कहा है, उनका विचार कीजिये। आशातना करनेकी बुद्धिसे आशातना न करें। सत्संग हुआ है उस सत्संगका फल होना चाहिये। कोई भी अयोग्य

आचरण हो जाये अथवा अयोग्य व्रत सेवित हो जाये वह सत्संगका फल नहीं है। सत्संग करनेवाले जीवसे वैसा वर्तन नहीं होता, वैसा वर्तन करे तो लोकनिंदाका कारण होता है, और इससे सत्पुरुषकी निंदा होती है। और सत्पुरुषकी निंदा अपने निमित्तसे हो यह आशातनाका कारण अर्थात् अधोगतिका कारण होता है, इसलिये वैसा न करें।

सत्संग हुआ है उसका क्या परमार्थ ? सत्संग हुआ हो उस जीवकी कैसी दशा होनी चाहिये ? इसे ध्यानमें लें। पाँच वर्षका सत्संग हुआ है, तो उस सत्संगका फल जरूर होना चाहिये और जीवको तदनुसार चलना चाहिये। यह वर्तन जीवको अपने कल्याणके लिये ही करना चाहिये परंतु लोक-दिखावेके लिये नहीं। जीवके वर्तनसे लोगोंमें ऐसी प्रतीति हो कि इसे जो मिले हैं वह अवश्य ही कोई सत्पुरुष हैं। और उन सत्पुरुषके समागमका, सत्संगका यह फल है, इसलिये अवश्य ही वह सत्संग है इसमें संदेह नहीं।

वारंवार बोध सुननेकी इच्छा रखनेकी अपेक्षा सत्पुरुषके चरणोंके समीप रहनेकी इच्छा और चिंतना विशेष रखें। जो बोध हुआ है उसे स्मरणमें रखकर विचारा जाये तो अत्यंत कल्याणकारक है।

---

४ राळज, श्रावण वदी ६, १९५२

भक्ति यह सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। भक्तिसे अहंकार मिटता है, स्वच्छंद दूर होता है, और सीधे मार्गमें चला जाता है; अन्य विकल्प दूर होते हैं। ऐसा यह भक्तिमार्ग श्रेष्ठ है।

प्र०—आत्माका अनुभव किसे हुआ कहा जाता है ?

उ०—जिस तरह तलवार म्यानमेंसे निकालनेपर भिन्न मालूम होती है उसी तरह जिसे आत्मा देहसे स्पष्ट भिन्न मालूम होता है उसे आत्माका अनुभव हुआ कहा जाता है। जिस तरह दूध और पानी मिले हुए हैं उसी तरह आत्मा और देह मिले हुए रहते हैं। जिस तरह दूध और पानी क्रिया करनेसे जब अलग हो जाते हैं तब भिन्न कहे जाते हैं; उसी तरह आत्मा और देह जब क्रियासे अलग हो जाते हैं तब भिन्न कहे जाते हैं। जब तक दूध दूधके और पानी पानीके परिणामको प्राप्त नहीं करता तब तक क्रिया करते रहना चाहिये। यदि आत्माको जान लिया हो तो फिर एक पर्यायसे लेकर सारे स्वरूप तककी भ्रांति नहीं होती।

अपने दोष कम हो जायें, आवरण दूर हो जायें तभी समझें कि ज्ञानीके वचन सच्चे हैं।

आराधकता नहीं है इसलिये प्रश्न उलटे ही करता है। हमें भव्य-अभव्यकी चिंता नहीं रखनी चाहिये। अहो ! अहो !! अपने घरकी बात छोड़कर बाहरकी बात करता है ! परंतु वर्तमानमें जो उपकारक हो वही करें। इसलिये अभी तो जिससे लाभ हो वैसा धर्म व्यापार करें।

ज्ञान उसे कहते हैं जो हर्ष-शोकके समय उपस्थित रहें; अर्थात् हर्ष-शोक न हों।

सम्यग्दृष्टि हर्ष-शोक आदिके प्रसंगमें एकदम तदाकार नहीं होते। उनके निर्ध्वंस परिणाम नहीं होते; अज्ञान खड़ा हो कि जाननेमें आनेपर तुरत ही दबा देते है; उनमें बहुत ही जागृति होती है। जैसे कोरा कागज पढ़ता हो वैसे उन्हें हर्ष-शोक नहीं होते। भय अज्ञानका है। जैसे सिंह चला आता हो तो सिंहनीको भय नहीं लगता, परंतु मनुष्य भयभीत होकर भाग जाता है। मानो वह कुत्ता चला आता हो ऐसे सिंहनीको लगता है। इसी तरह ज्ञानी पौद्गलिक संयोगको समझते हैं। राज्य मिलनेपर आनंद हो तो वह अज्ञान। ज्ञानीकी दशा बहुत ही अद्भुत है।

यथातथ्य कल्याण समझमें नहीं आया उसका कारण वचनको आवरण करनेवाला दुराग्रह भाव, कषाय है। दुराग्रह भावके करण मिथ्यात्व क्या है यह समझमें नहीं आता; दुराग्रहको छोड़े कि मिथ्यात्व दूर भागने लगता है। कल्याणको अकल्याण और अकल्याणको कल्याण समझना मिथ्यात्व है। दुराग्रह आदि भावके कारण जीवको कल्याणका स्वरूप बतानेपर भी समझमें नहीं आता। कषाय, दुराग्रह आदि छोड़े न जायें तो फिर वे विशेष प्रकारसे पीडित करते हैं। कषाय सत्तारूपसे है, निमित्त आनेपर खड़े होते हैं, तब तक खड़े नहीं होते।

प्र०—क्या विचार करनेसे समभाव आता है ?

उ०—विचारवानको पुद्गलमें तन्मयता, तादात्म्य नहीं होता। अज्ञानी पौद्गलिक संयोगके हर्षका पत्र पढ़े तो उसका चेहरा प्रसन्न दिखायी देता है, और भयका पत्र आता है तो उदास हो जाता है। सर्प देखकर आत्मवृत्तिमें भयका हेतु हो तब तादात्म्य कहा जाता है। जिसे तन्मयता होती है उसे ही हर्ष-शोक होता है। जो निमित्त है वह अपना कार्य किये बिना नहीं रहता।

मिथ्यादृष्टिको बीचमें साक्षी (ज्ञानरूपी) नहीं है। देह और आत्मा दोनों भिन्न हैं ऐसा ज्ञानीको भेद हुआ है। ज्ञानीको बीचमें साक्षी है। ज्ञानजागृति हो तो ज्ञानके वेगसे, जो जो निमित्त मिले उन सबको पीछे मोड़ सकते हैं।

जीव जब विभाव-परिणाममें रहता है उस समय कर्म बाँधता है, और स्वभाव-परिणाममें रहता है उस समय कर्म नहीं बाँधता। इस तरह संक्षेपमें परमार्थ कहा है। परंतु जीव नहीं समझता, इसलिये विस्तार करना पड़ा है, जिससे बड़े शास्त्रोंकी रचना हुई है।

स्वच्छंद दूर हो तभी मोक्ष होता है।

सद्गुरुकी आज्ञाके बिना आत्मार्थी जीवके श्वासोच्छ्वासके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं चलता ऐसी जिनेन्द्रकी आज्ञा है।

प्र०—पाँच इन्द्रियाँ किस तरह वश होती है ?

उ०—वस्तुओंपर तुच्छभाव लानेसे। जैसे फूल सूख जानेसे उसकी सुगंध थोड़ी देर रहकर नष्ट हो जाती है, और फूल मुरझा जाता है; उससे कुछ संतोष नहीं होता, वैसे तुच्छभाव आनेसे इन्द्रियोंके विषयमें लुब्धता नहीं होती। पाँच इंद्रियोंमें जिह्वा इंद्रियको वश करनेसे बाकीकी चार इंद्रियाँ सहज ही वश हो जाती है।

ज्ञानीपुरुषको शिष्यने प्रश्न पूछा, "बारह उपांग तो बहुत गहन हैं; और इसलिये वे मुझसे समझे नहीं जा सकते; अतः बारह उपांगका सार ही बतायें कि जिसके अनुसार चलूँ तो मेरा कल्याण हो जाये।" सद्गुरुने उत्तर दिया : बारह उपांगका सार आपसे कहते हैं—"वृत्तियोंका क्षय करना।" ये वृत्तियाँ दो प्रकारकी कही हैं—एक बाह्य और दूसरी अंतर। बाह्यवृत्ति अर्थात् आत्मासे बाहर वर्तन करना। आत्माके अंदर परिणमन करना, उसमें समा जाना, यह अंतर्वृत्ति। पदार्थकी तुच्छता भासमान हुई हो तो अंतर्वृत्ति रहती है। जिस तरह थोड़ीसी कीमतके मिट्टीके घडेके फूट जानेके बाद उसका त्याग करते हुए आत्मवृत्ति क्षोभको प्राप्त नहीं होती, क्योंकि उसमें तुच्छता समझी गयी है। इसी तरह ज्ञानीको जगतके सभी पदार्थ तुच्छ भासमान होते हैं। ज्ञानीको एक रुपयेसे लेकर सुवर्ण इत्यादि तक सब पदार्थोंमें एकदम मिट्टीपन ही भासित होता है।

स्त्री हड्डी मांसका पुतला है ऐसा स्पष्ट जाना है, इसलिये विचारवानकी वृत्ति उसमें क्षुब्ध नहीं होती;

फिर भी साधुको ऐसी आज्ञा की है कि जो हजारों देवांगनाओंसे चलित न हो सके ऐसा मुनि भी, कटे हुए नाक-कानवाली जो सौ बरसकी वृद्ध स्त्री है उसके समीप भी न रहे; क्योंकि वह वृत्तिको क्षुब्ध करती ही है, ऐसा ज्ञानीने जाना है। साधुको इतना ज्ञान नहीं है कि वह उससे चलित ही न हो सके, ऐसा मानकर उसके समीप रहनेकी आज्ञा नहीं की। इस वचनपर ज्ञानीने स्वयं ही विशेष भार दिया है। इसीलिये यदि वृत्तियाँ पदार्थोंमें क्षोभ प्राप्त करें तो उन्हें तुरत ही खींच लेकर उन बाह्य-वृत्तियोंका क्षय करें।

चौदह गुणस्थान हैं वे अंश-अंशसे आत्माके गुण बताये हैं, और अंतमें वे कैसे हैं यह बताया है। जैसे एक हीरा है, उसके एक एक करके चौदह पहल बनाये तो अनुक्रमसे विशेष-विशेष कांति प्रगट होती है, और चौदहों पहल बनानेसे अंतमें हीरेकी संपूर्ण स्पष्ट कांति प्रगट होती है। इसी तरह संपूर्ण गुण प्रगट होनेसे आत्मा संपूर्णरूपसे प्रगट होता है।

चौदह पूर्वधारी ग्यारहवें गुणस्थानसे पतित होता है, उसका कारण प्रमाद है। प्रमादके कारणसे वह ऐसा मानता है कि 'अब मुझमें गुण प्रकट हुआ।' ऐसे अभिमानसे पहले गुणस्थानमें जा गिरता है; और अनंत कालका भ्रमण करना पड़ता है। इसलिये जीव अवश्य जाग्रत रहे; क्योंकि वृत्तियोंका प्राबल्य ऐसा है कि वह हर तरहसे ठगता है।

ग्यारहवें गुणस्थानसे जीव गिरता है उसका कारण यह है कि वृत्तियाँ प्रथम तो जानती हैं कि 'अभी यह शूरतामें है इसलिये अपना बल चलनेवाला नहीं है', और इससे चुप होकर सब दबी रहती हैं। 'क्रोध कडवा है इससे ठगा नहीं जायेगा, मानसे भी ठगा नहीं जायेगा, और मायाका बल चलने जैसा नहीं है,' ऐसा वृत्तियोंने समझा कि तुरत वहाँ लोभका उदय हो जाता है। 'मुझमें कैसे ऋद्धि, सिद्धि और ऐश्वर्य प्रगट हुए हैं,' ऐसी वृत्ति वहाँ आगे आनेसे उसका लोभ होनेसे जीव वहाँसे गिरता है और पहले गुणस्थानमें आता है।

इस कारणसे वृत्तियोंका उपशम करनेकी अपेक्षा क्षय करना चाहिये ताकि ये फिरसे उद्भूत न हों। जब ज्ञानीपुरुष त्याग करानेके लिये कहे कि यह पदार्थ छोड़ दे तब वृत्ति भुलाती है कि ठीक है, मैं दो दिनके बाद त्याग करूँगा। ऐसे भुलावेमें पड़ता है कि वृत्ति जानती है कि ठीक हुआ, अडीका चूका सौ वर्ष जीता है। इतनेमें शिथिलताके कारण मिल जाते हैं कि 'इसके त्यागसे रोगके कारण खड़े होंगे; इसलिये अभी नहीं परंतु बादमें त्याग करूँगा।' इस तरह वृत्तियाँ ठगती हैं।

इस प्रकार अनादिकालसे जीव ठगा जाता है। किसीका बीस बरसका पुत्र मर गया हो, उस समय उस जीवको ऐसी कडवाहट लगती है कि यह संसार मिथ्या है। परंतु दूसरे ही दिन बाह्यवृत्ति यह कहकर इस विचारका विस्मरण करा देती है कि 'इसका लड़का कल बड़ा हो जायेगा, ऐसा तो होता ही रहता है, क्या करे ?' ऐसा लगता है, परंतु ऐसा नहीं लगता कि जिस तरह वह पुत्र मर गया, उसी तरह मैं भी मर जाऊँगा। इसलिये समझकर वैराग्य पाकर चला जाऊँ तो अच्छा है। ऐसी वृत्ति नहीं होती। यों वृत्ति ठग लेती है।

कोई अभिमानी जीव यों मान बैठता है कि 'मैं पंडित हूँ, शास्त्रवेत्ता हूँ, चतुर हूँ, गुणवान हूँ, लोग मुझे गुणवान कहते हैं,' परंतु उसे जब तुच्छ पदार्थका संयोग होता है तब तुरत ही उसकी वृत्ति उस ओर आकर्षित होती है। ऐसे जीवको ज्ञानी कहते हैं कि तू जरा विचार तो सही कि उस तुच्छ पदार्थकी कीमतकी अपेक्षा तेरी कीमत तुच्छ है ! जैसे एक पाईकी चार बीडी मिलती है, अर्थात् पाव पाईकी एक बीडी है। उस बीडीका यदि तुझे व्यसन हो तो तू अपूर्व ज्ञानीके वचन सुनता हो तो भी यदि वहाँ कहींसे बीडीका धुआँ आ गया कि तेरे आत्मामेंसे वृत्तिका धुआँ निकलने लगता है, और ज्ञानीके वचनोंपरसे प्रेम

जाता रहता है। बीडी जैसे पदार्थमें, उसकी क्रियामें वृत्ति आकृष्ट होनेसे वृत्तिक्षोभ निवृत्त नहीं होता! पाव पाईकी बीडीसे यदि ऐसा हो जाता है, तो व्यसनीकी कीमत उससे भी तुच्छ हुई, एक पाईके चार आत्मा हुए। इसलिये प्रत्येक पदार्थमें तुच्छताका विचार कर बाहर जाती हुई वृत्तिको रोके; और उसका क्षय करें।

अनाथदासजीने कहा है कि 'एक अज्ञानीके कोटि अभिप्राय हैं और कोटि ज्ञानियोंका एक अभिप्राय है।'

आत्माके लिये जो मोक्षका हेतु है वह 'सुपच्चक्खान'। आत्माके लिये जो संसारका हेतु है वह 'दुपच्चक्खान'। ढूँढ़िया और तपा कल्पना करके जो मोक्ष जानेका मार्ग कहते हैं तदनुसार तो तीनों कालमें मोक्ष नहीं है।

उत्तम जाति, आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल और सत्संग इत्यादि प्रकारसे आत्मगुण प्रकट होता है।

आपने माना है वैसा आत्माका मूल स्वभाव नहीं है; और आत्माको कर्मने कुछ एकदम आवृत नहीं कर डाला है। आत्माके पुरुषार्थधर्मका मार्ग बिलकुल खुला है।

बाजरे अथवा गेहूँके एक दानेको लाख वर्ष तक रख छोड़ा हो (सड़ जाये यह बात हमारे ध्यानमें है) परंतु यदि उसे पानी, मिट्टी आदिका संयोग न मिले तो उसका उगना संभव नहीं है, उसी तरह सत्संग और विचारका योग न मिले तो आत्मगुण प्रगट नहीं होता।

श्रेणिक राजा नरकमें है, परंतु समभावमें है, समकिती है, इसलिये उन्हें दुःख नहीं है।

चार लकडहारोंके दृष्टांतसे चार प्रकारके जीव हैं—चार लकडहारे जंगलमें गये। पहले सबने लकडियाँ लीं। वहाँसे आगे चले कि चंदन आया। वहाँ तीनने चंदन ले लिया। एकने कहा 'ना मालूम इस तरहकी लकडियाँ बिकें या नहीं, इसलिये मुझे तो नहीं लेनी हैं। हम जो रोज लेते हैं वही मुझे तो अच्छी हैं।' आगे चलनेपर सोना-चाँदी आया। तीनमेंसे दोने चंदन फेंककर सोना-चाँदी लिया, एकने नहीं लिया। वहाँसे आगे चले कि रत्नचिंतामणि आया। दोमेंसे एकने सोना फेंककर रत्नचिंतामणि लिया, एकने सोना रहने दिया।

(१) यहाँ इस तरह दृष्टांतका उपनय ग्रहण करे कि जिसने लकडियाँ ही ली और दूसरा कुछ भी नहीं लिया उस प्रकारका एक जीव है कि जिसने लौकिक काम करते हुए ज्ञानीपुरुषको नहीं पहचाना, दर्शन भी नहीं किया; इससे उसके जन्म-जरा-मरण भी दूर नहीं हुए; गति भी नहीं सुधरी।

(२) जिसने चंदन लिया और लकडियाँ फेंक दी, वहाँ दृष्टांत यों घटित करे कि जिसने थोड़ा-सा ज्ञानीको पहचाना, दर्शन किये, जिससे उसकी गति अच्छी हुई।

(३) सोना आदि लिया, इस दृष्टांतको यों घटित करे कि जिसने ज्ञानीको उस प्रकारसे पहचाना इसलिये उसे देवगति प्राप्त हुई।

(४) जिसने रत्नचिंतामणि लिया, इस दृष्टांतको यों घटित करें कि जिस जीवको ज्ञानीकी यथार्थ पहचान हुई वह जीव भवमुक्त हुआ।

एक वन है। उसमें माहात्म्यवाले पदार्थ है। उनकी जितनी पहचान होती है उतना माहात्म्य लगता है, और उसी प्रमाणमें वह उसे ग्रहण करता है। इस तरह ज्ञानीपुरुषरूपी वन है। ज्ञानी पुरुषका अगम्य, अगोचर माहात्म्य है। उसकी जितनी पहचान होती है उतना उसका माहात्म्य लगता है; और उस उस प्रमाणमें उसका कल्याण होता है।

सांसारिक खेदके कारणोंको देखकर जीवको कडवाहट मालूम होते हुए भी वह वैराग्यपर पैर रखकर चला जाता है परंतु वैराग्यमें प्रवृत्ति नहीं करता।

लोग ज्ञानीको लोकदृष्टिसे देखें तो पहचान नहीं सकते।

आहार आदिमें भी ज्ञानीपुरुषकी प्रवृत्ति बाह्य रहती है। किस तरह ? जो घडा ऊपर (आकाशमें) है, और पानीमें खड़े रहकर, पानीमें दृष्टि रखकर, बाण साधकर उस (ऊपरके घडे) को बींधना है। लोग समझते हैं कि बींधनेवालेकी दृष्टि पानीमें है, परंतु वास्तवमें देखें तो जिस घडेको बींधना है उसका लक्ष्य करनेके लिये बींधनेवालेकी दृष्टि आकाशमें है। इस तरह ज्ञानीकी पहचान किसी विचारवानको होती है।

दृढ़ निश्चय करें कि बाहर जाती हुई वृत्तियोंका क्षय करके अंतर्वृत्ति करना; अवश्य यही ज्ञानीकी आज्ञा है।

स्पष्ट प्रीतिसे संसारका व्यवहार करनेकी इच्छा होती हो तो समझना कि ज्ञानीपुरुषको देखा नहीं है। जिस प्रकार प्रथम संसारमें रससहित वर्तन करता हो उस प्रकार, ज्ञानीका योग होनेके बाद वर्तन न करे, यही ज्ञानीका स्वरूप है।

ज्ञानीको ज्ञानदृष्टिसे, अंतर्दृष्टिसे देखनेके बाद स्त्रीको देखकर राग उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि ज्ञानीका स्वरूप विषयसुखकल्पनासे भिन्न है। जिसने अनंत सुखको जाना हो उसे राग नहीं होता, और जिसे राग नहीं होता उसीने ज्ञानीको देखा है और उसीने ज्ञानीपुरुषके दर्शन किये है; फिर स्त्रीका सजीवन शरीर अजीवनरूपसे भासित हुए बिना नहीं रहता, क्योंकि ज्ञानीके वचनोंको यथार्थ रूपसे सत्य जाना हैं। ज्ञानीके समीप देह और आत्माको भिन्न–पृथक् पृथक् जाना है, उसे देह और आत्मा भिन्न-भिन्न भासित होते हैं; और इससे स्त्रीका शरीर और आत्मा भिन्न भासित होते हैं। उसने स्त्रीके शरीरको मांस, मिट्टी, हड्डी आदिका पुतला समझा है इसलिये उसमें राग उत्पन्न नहीं होता।

सारे शरीरका बल, ऊपर-नीचेका दोनों कमरके ऊपर है। जिसकी कमर टूट गई है उसका सारा बल चला गया। विषयादि जीवकी तृष्णा है। संसाररूपी शरीरका बल इस विषयादि रूप कमरके ऊपर है। ज्ञानीपुरुषका बोध लगनेसे विषयादि रूप कमर टूट जाती है। अर्थात् विषयादिकी तुच्छता लगती है; और इस प्रकार संसारका बल घटता है; अर्थात् ज्ञानीपुरुषके बोधमें ऐसा सामर्थ्य है।

श्री महवीरस्वामीको संगम नामके देवताने बहुत ही, प्राणत्याग होनेमें देर न लगे ऐसे परिषह दिये। उस समय कैसी अद्‌भुत समता ! उस समय उन्होंने विचार किया कि जिनके दर्शन करनेसे कल्याण होता है, नामस्मरण करनेसे कल्याण होता है, उनके संगमें आकर इस जीवको अनंत संसार बढ़नेका कारण होता है। ऐसी अनुकंपा आनेसे आँखमें आँसू आ गये। कैसी अद्भुत समता ! परकी दया किस तरह फूट निकली थी ! उस समय मोहराजाने यदि जरा धक्का लगाया होता तो तो तुरत ही तीर्थंकरत्वका संभव न रहता; यद्यपि देवता तो भाग जाता। परंतु जिसने मोहनीय मलका मूलसे नाश किया है, अर्थात् मोहको जीता है, वह मोह कैसे करें ?

श्री महावीरस्वामीके समीप गोशालेने आकर दो साधुओंको जला ड़ाला, तब यदि थोड़ा ऐश्वर्य बताकर साधुओंकी रक्षा की होती तो तीर्थंकरत्वको फिरसे करना पड़ता; परंतु जिसे 'मैं गुरु हूँ, ये मेरे शिष्य है,' ऐसी भावना नहीं है उसे वैसा कोई प्रकार नहीं करना पड़ता। 'मैं शरीर-रक्षणका दातार नहीं हूँ, केवल भाव-उपदेशका दातार हूँ; यदि मैं रक्षा करूँ तो मुझे गोशालेकी रक्षा करनी चाहिये अथवा

सारे जगतकी रक्षा करनी उचित है,' ऐसा सोचा। अर्थात् तीर्थंकर यों ममत्व करते ही नहीं।

वेदांतमें इस कालमें चरमशरीरी कहा है। जिनेन्द्रके अभिप्रायके अनुसार भी इस कालमें एकावतारी जीव होता है। यह कुछ मामूली बात नहीं है क्योंकि इसके बाद कुछ मोक्ष होनेमें अधिक देर नहीं है। जरा कुछ बाकी रहा हो, रहा है वह फिर सहजमें चला जाता है। ऐसे पुरुषकी दशा, वृत्तियाँ कैसी होती है ? अनादिकी बहुतसी वृत्तियाँ शांत हो गयी होती हैं; और इतनी अधिक शांत हो गयी होती है कि रागद्वेष सब नष्ट होने योग्य हो जाते हैं, उपशांत हो जाते हैं।

सद्वृत्तियाँ होनेके लिये जो जो कारण, साधन बताये हुए होते हैं उन्हें न करनेको ज्ञानी कभी नहीं कहते। जैसे रातमें खानेसे हिंसाका कारण होता है, इसलिये ज्ञानी आज्ञा करते ही नहीं कि तू रातमें खा। परंतु जो जो अहंभावसे आचरण किया हो, और रात्रिभोजनसे ही अथवा अमुकसे ही मोक्ष हो, अथवा इसमें ही मोक्ष है, ऐसा दुराग्रहसे माना हो तो वैसे दुराग्रहको छुड़ानेके लिये ज्ञानीपुरुष कहते हैं कि 'छोड़ दे, तूने अहंवृत्तिसे जो किया था उसे छोड दे और ज्ञानी पुरुषोंकी आज्ञासे वैसा कर।' और वैसा करे तो कल्याण होता है। अनादिकालसे दिनमें और रातमें खाया है परंतु जीवका मोक्ष नहीं हुआ !

इस कालमें आराधकताके कारण घटते जाते हैं, और विराधकताके लक्षण बढ़ते जाते हैं।

केशीस्वामी बड़े थे, और पार्श्वनाथस्वामीके शिष्य थे, तो भी पांच महाव्रत अंगीकार किये थे। केशीस्वामी और गौतमस्वामी महा विचारवान थे, परंतु केशीस्वामीने यों नहीं कहा—'मैं दीक्षामें बड़ा हूँ, इसलिये आप मेरे पास चारित्र ग्रहण करें।' विचारवान और सरल जीव, जिसे तुरत कल्याणयुक्त हो जाना है उसे ऐसी बातका आग्रह नहीं होता।

कोई साधु जिसने प्रथम आचार्यरूपसे अज्ञानावस्थासे उपदेश किया हो, और पीछेसे उसे ज्ञानीपुरुषका समागम होनेपर वे ज्ञानीपुरुष यदि आज्ञा करे कि जिस स्थलमें आचार्यरूपसे उपदेश किया हो वहाँ जाकर एक कोनेमें सबसे पीछे बैठकर सभी लोगोंसे ऐसा कहे कि 'मैंने अज्ञानतासे उपदेश दिया है, इसलिये आप भूल न खायें,' तो साधुको उस तरह किये बिना छुटकारा नहीं है। यदि वह साधु यों कहे कि 'मुझसे ऐसा नहीं होगा, इसके बदले आप कहें तो पहाड़परसे कूद पड़ूँ अथवा दूसरा चाहे जो कहें वह करूँ, परंतु वहाँ तो मुझसे नहीं जाया जा सकेगा।' ज्ञानी कहते हैं कि 'तब इस बातको जाने दें। हमारे संगमें भी मत आना। कदाचित् तू लाख बार पर्वतसे गिरे तो भी वह किसी कामका नहीं है। यहाँ तो वैसे करेगा तो ही मोक्ष मिलेगा। वैसा किये बिना मोक्ष नहीं है; इसलिये जाकर क्षमापना माँगे तो ही कल्याण होगा।'

गौतमस्वामी चार ज्ञानके धारक थे और आनंद श्रावकके पास गये थे। आनंद श्रावकने कहा, 'मुझे ज्ञान उत्पन्न हुआ है।' तब गौतमस्वामीने कहा 'नहीं, नहीं, इतना सारा हो नहीं सकता, इसलिये आप क्षमापना लें।' तब आनंद श्रावकने विचार किया कि ये मेरे गुरु हैं, कदाचित् इस समय भूल करते हों तो भी भूल करते हैं, यह कहना योग्य नहीं; गुरु हैं इसलिये शांतिसे कहना योग्य है।' वों सोचकर आनंद श्रावकने कहा कि 'महाराज ! सद्भूत वचनका मिच्छा मि दुक्कडं या असद्भूत वचनका मिच्छा मि दुक्कडं ?' तब गौतमस्वामीने कहा 'असद्भूत वचनका मिच्छा मि दुक्कडं।' तब आनंद श्रावकने कहा, 'महाराज ! मैं मिच्छा मि दुक्कडं लेने योग्य नहीं हूँ।' फिर गौतमस्वामी चले गये, और जाकर महावीरस्वामीसे पूछा। (गौतमस्वामी उसका समाधान कर सकते थे, परंतु गुरुके होते हुए वैसा न करे जिससे महावीरस्वामीके पास जाकर यह सब बात कही।) महावीरस्वामीने कहा 'हे गौतम ! हाँ, आनंद देखता है ऐसा ही है और आपकी भूल है, इसलिये आप आनंदके पास जाकर क्षमा माँगे।' 'तहत्'

कहकर गौतमस्वामी क्षमा माँगनेके लिये चल दिये। यदि गौतमस्वामीने मोहनामके महा सुभटका पराभव न किया होता तो वे वहाँ न जाते, और कदाचित् गौतमस्वामी यों कहते कि 'महाराज ! आपके इतने सब शिष्य हैं, उनकी मैं चाकरी करूँ, परंतु वहाँ तो नहीं जाऊँ;' तो वह बात मान्य न होती। गौतमस्वामी स्वयं वहाँ जाकर क्षमा माँग आये !

'सास्वादन-समकित' अर्थात् वमन किया हुआ समकित, अर्थात् जो परीक्षा हुई थी, उसपर आवरण आ जाये तो भी मिथ्यात्व और समकितकी कीमत उसे भिन्न भिन्न लगती है। जैसे बिलोकर छाछमेंसे मक्खन निकाल लिया, और फिर वापस छाछमें डाला। मक्खन और छाछ पहले जैसे परस्पर मिले हुए थे वैसे फिरसे नहीं मिलते, उसी तरह समकित मिथ्यात्वके साथ नहीं मिलता। हीरामणिकी कीमत हुई है, परंतु काचकी मणि आये तब हीरामणि साक्षात् अनुभवमें आता है, यह दृष्टांत भी यहाँ घटता है।

निर्ग्रंथगुरु अर्थात् पैसा रहित गुरु नहीं, परंतु जिसका ग्रंथिभेद हो गया है, ऐसे गुरु। सद्गुरुकी पहचान होना व्यवहारसे ग्रंथिभेद होनेका उपाय है। जैसे किसी मनुष्यने काचकी मणि लेकर सोचा कि 'मेरे पास असली मणि है, ऐसी कहीं भी नहीं मिलती।' फिर उसने एक विचारवानके पास जाकर कहा, 'मेरी मणि असली है।' फिर उस विचारवानने उससे बढ़िया बढ़िया और अधिकाधिक मूल्यकी मणियाँ बताकर कहा कि 'देखो, इनमें कुछ फरक लगता है ? ठीक तरहसे देखो।' तब उसने कहा, 'हाँ, फरक लगता है।' फिर उस विचारवानने झाड-फानूस बताकर कहा, देखो आपकी मणि जैसी तो हजारों मिलती हैं। सारा झाड-फानूस देखनेके बाद उसे जब मणि दिखायी तब उसे उसकी ठीक ठीक कीमत मालूम हुई; फिर उसने नकलीको नकली जानकर छोड़ दिया। बादमें कोई प्रसंग मिलनेसे उसने कहा कि 'तूने जिस मणिको असली समझा है ऐसी मणियाँ तो बहुत मिलती हैं।' ऐसे आवरणोंसे वहम आ जानेसे जीव भूल जाता है, परंतु बादमें उसे नकली समझता है। जिस प्रकार असलीकी कीमत हुई हो उस प्रकारसे वह तुरत जागृतिमें आता है कि असली अधिक नहीं होती, अर्थात् आवरण तो होता है परंतु पहलेकी पहचान भूली नहीं जाती। इस प्रकार विचारवानको सद्गुरुका योग मिलनेसे तत्त्वप्रतीति होती है, परंतु फिर मिथ्यात्वके संगसे आवरण आ जानेसे शंका हो जाती है। यद्यपि तत्त्वप्रतीति नष्ट नहीं होती परंतु उसपर आवरण आ जाता है। इसका नाम 'सास्वादनसम्यक्त्व' है।

सद्गुरु, सद्देव, केवली द्वारा प्ररूपित धर्मको सम्यक्त्व कहा है, परंतु सद्देव और केवली ये दोनों सद्गुरुमें समाये हुए हैं।

सद्गुरु और असद्गुरुमें रात-दिनका अंतर है।

एक जौहरी था। व्यापार करते हुए बहुत नुकसान हो जानेसे उसके पास कुछ भी द्रव्य नहीं रहा। मरनेका समय आ पहुँचा, तब स्त्री-बच्चोंका विचार करता है कि मेरे पास कुछ भी द्रव्य नहीं है, परंतु यदि अभी यह बात करूँगा तो लड़का छोटी उमरका है, इससे उसकी देह छूट जायेगी। उसने स्त्रीकी ओर देखा तो स्त्रीने पूछा, 'आप कुछ कहते हैं ?' पुरुषने कहा, 'क्या कहूँ ?' स्त्रीने कहा कि 'जिससे मेरा और बच्चेका उदर-पोषण हो ऐसा कोई उपाय बताइये और कुछ कहिये।' तब उसने विचार कर कहा कि घरमें जवाहरातकी पेटीमें कीमती नगकी डिबिया है उसे, जब तुझे बहुत जरूरत पड़े तब निकाल कर मेरे मित्रके पास जाकर बिकवा देना, उससे तुझे बहुतसा द्रव्य मिल जायेगा। इतना कहकर वह पुरुष कालधर्मको प्राप्त हुआ। कुछ दिनोंके बाद बिना पैसे उदरपोषणके लिये पीडित होते देखकर, वह लड़का, अपने पिताके पूर्वोक्त जवाहरातके नग लेकर अपने चाचा (पिताके मित्र जौहरी) के पास गया और कहा कि 'मुझे ये नग बेचने हैं, उनका जो द्रव्य आये वह मुझे दें।' तब उस जौहरी भाईने पूछा, 'ये

नग बेचकर क्या करना है ?' 'उदर भरनेके लिये पैसोंकी जरूरत है,' यों उस लड़केने कहा। तब उस जौहरीने कहा, 'सौ-पचास रुपये चाहिये तो ले जा, और रोज मेरी दुकानपर आते रहना, और खर्च ले जाना। ये नग अभी रहने दे।' उस लड़केने उस भाईकी बातको मान ली, और उस जवाहरातको वापस ले गया। फिर रोज वह लड़का जौहरीकी दुकानपर जाने लगा और जौहरीके समागमसे हीरा, पन्ना, माणिक, नीलम सबको पहचानना सीख गया और उसे उन सबकी कीमत मालूम हो गयी। फिर उस जौहरीने कहा, 'तू अपना जो जवाहरात पहले बेचने लाया था उसे ले आ, अब बेच देंगे।' फिर घरसे लड़केने अपने जवाहरातकी डिबिया लाकर देखा तो नग नकली लगे इसलिये तुरत फेंक दिये। तब उस जौहरीने पूछा कि 'तूने फेंक क्यों दिये ?' तब उसने कहा कि 'एकदम नकली हैं इसलिये फेंक दिये हैं, यदि उस जौहरीने पहलेसे ही नकली कहे होते तो वह मानता नहीं, परंतु जब स्वयंको वस्तुकी कीमत मालूम हो गयी और नकलीको नकलीरूपसे जान लिया तब जौहरीको कहना नहीं पड़ा कि नकली है। इसी तरह स्वयंको सद्गुरुकी परीक्षा हो जानेपर असद्गुरुको असत् जान लिया तो फिर जीव तुरत ही असद्गुरुको छोड़कर सद्गुरुके चरणमें आ पड़ता है; अर्थात् अपनेमें कीमत करनेकी शक्ति आनी चाहिये।

गुरुके पास रोज जाकर कोई जीव एकेंद्रिय आदि जीवोंके संबंधमें अनेक प्रकारकी शंकाएँ तथा कल्पनाएँ करके पूछा करता है; रोज जाता है और वहीकी वही बात पूछता है। परंतु उसने क्या सोच रखा है ? एकेंद्रियमें जाना सोचा है क्या ? परंतु किसी दिन यह नहीं पूछता कि एकेंद्रियसे लेकर पंचेंद्रियको जाननेका परमार्थ क्या है ? एकेंद्रिय आदि जीवों संबंधी कल्पनाओंसे कुछ मिथ्यात्व ग्रंथिका छेदन नहीं होता। एकेंद्रिय आदि जीवोंका स्वरूप जाननेका कोई फल नहीं है। वास्तवमें तो समकित प्राप्त करना है। इसलिये गुरुके पास जाकर निकम्मे प्रश्न करनेकी अपेक्षा गुरुसे कहना कि एकेंद्रिय आदिकी बात आज जान ली है, अब उस बातको आप कल न करें; परंतु समकितकी व्यवस्था करे। ऐसा कहे तो इसका किसी दिन अंत आवे। परंतु रोज एकेंद्रिय आदिकी माथापच्ची करें तो इसका कल्याण कब होगा ?

समुद्र खारा है। एकदम तो उसका खारापन दूर नहीं होता। उसके लिये इस प्रकार उपाय है कि समुद्रमेंसे एक एक प्रवाह लेना, और उस प्रवाहमें, जिससे उस पानीका खारापन दूर हो और मिठास आ जाये ऐसा क्षार ड़ालना। परंतु उस पानीके सुखानेके दो प्रकार हैं—एक तो सूर्यका ताप और दूसरा जमीन; इसलिये पहले जमीन तैयार करना और फिर नालियों द्वारा पानी ले जाना और फिर क्षार डालना कि जिससे खारापन मिट जायेगा। इसी तरह मिथ्यात्वरूपी समुद्र है, उसमें कदाग्रहरूपी खारापन है; इसलिये कुल-धर्मरूपी प्रवाहको योग्यतारूप जमीनमें ले जाकर सद्बोधरूपी क्षार ड़ालना जिससे सत्पुरुषरूपी तापसे खारापन मिट जायेगा।

[1]**'दुर्बल देह ने मास उपवासी, जो छे मायारंग रे।**
तोपण गर्भ अनंता लेशे, बोले बीजुं अंग रे॥'

जितनी भ्रांति अधिक उतना मिथ्यात्व अधिक।

सबसे बड़ा रोग मिथ्यात्व।

जब जब तपश्चर्या करना तब तब उसे स्वच्छंदसे न करना, अहंकारसे न करना, लोगोंके लिये न

१. **भावार्थ**—दुर्बल देह है और एक-एक मासका उपवास करता है; परंतु यदि अंतरमें माया है तो भी जीव अनंत गर्भ धारण करेगा, ऐसा दूसरे अंगमें कहा है।

करना। जीवको जो कुछ करना है उसे स्वच्छंदसे न करे। 'मैं सयाना हूँ', ऐसा मान रखना वह किस भवके लिये ? 'मैं सयाना नहीं हूँ' यों जिसने समझा वह मोक्षमें गया है। मुख्यसे मुख्य विघ्न स्वच्छंद है। जिसके दुराग्रहका छेदन हो गया है वह लोगोंको भी प्रिय होता है; दुराग्रह छोड़ दिया हो तो दूसरोंको भी प्रिय होता है; इसलिये दुराग्रह छोड़नेसे सब फल मिलने संभव है।

गौतमस्वामीने महावीरस्वामीसे वेदके प्रश्न पूछे; उनका, जिन्होंने सभी दोषोंका क्षय किया है ऐसे उन महावीरस्वामीने वेदके दृष्टांत देकर समाधान सिद्ध कर दिया।

दूसरेको ऊँचे गुणपर चढ़ाना, परंतु किसीकी निंदा नहीं करना। किसीको स्वच्छंदसे कुछ नहीं कहना। कहने योग्य हो तो अहंकाररहित भावसे कहना। परमार्थदृष्टिसे रागद्वेष कम हुए हों तो फलीभूत होते हैं। व्यवहारसे तो भोले जीवोंके भी रागद्वेष कम हुए होते हैं; परंतु परमार्थसे रागद्वेष मंद हो जायें तो कल्याणका हेतु हैं।

महान पुरुषोंकी दृष्टिसे देखनेसे सभी दर्शन समान हैं। जैनमें बीस लाख जीव मतमतांतरमें पड़े हैं। ज्ञानीकी दृष्टिसे भेदाभेद नहीं होता।

जिस जीवको अनंतानुबंधीका उदय है उसको सच्चे पुरुषकी बात सुनना भी नहीं भाता।

मिथ्यात्वकी ग्रंथि है उसकी सात प्रकृतियाँ हैं। मान आये तो सातों आती है, उनमें अनन्ता-नुबंधीकी चार प्रकृतियाँ चक्रवर्तीके समान है। वे किसी तरह ग्रंथिमेंसे निकलने नहीं देती। मिथ्यात्व रखवाला है। सारा जगत उसकी सेवा-चाकरी करता है।

प्र०—उदय कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—ऐश्वर्यपद प्राप्त होने पर उसे धक्का मारकर वापस बाहर निकाल दे कि 'इसकी मुझे जरूरत नहीं है, मुझे इसे क्या करना है ?' कोई राजा मंत्रीपद दे तो भी स्वयं उसे लेनेकी इच्छा न करे, 'मुझे इसको क्या करना है ? यह घर संबंधी इतनी उपाधि भी बहुत है।' इस तरह मना करे। ऐश्वर्यपदकी अनिच्छा होनेपर भी राजा पुनः पुनः देना चाहे और इस कारण वह सिरपर आ पड़े, तो वह विचार करे कि 'यदि तू मंत्री होगा तो बहुतसे जीवोंकी दया पलेगी, हिंसा कम होगी, पुस्तकशालाएँ होंगी, पुस्तकें छपायी जायेंगी।' ऐसे धर्मके बहुतसे हेतुओंको समझकर वैराग्यभावनासे वेदन करे, उसे उदय कहा जाता है। इच्छासहित भोगे और उदय कहे, वह तो शिथिलताका और संसारमें भटकनेका कारण होता है।

कितने ही जीव मोहगर्भित वैराग्यसे और कितने दुःखगर्भित वैराग्यसे दीक्षा लेते हैं। 'दीक्षा लेनेसे अच्छे अच्छे नगरों और गाँवोंमें फिरनेको मिलेगा। दीक्षा लेनेके बाद अच्छे अच्छे पदार्थ खानेको मिलेंगे, नंगे पैर धूपमें चलना पड़ेगा इतनी तकलीफ है, परंतु वैसे तो साधारण किसान या जमीनदार भी धूपमें अथवा नंगे पैर चलते हैं, तो उनकी तरह सहज हो जायेगा; परंतु और किसी तरहसे दुःख नहीं है और कल्याण होगा।' ऐसी भावनासे दीक्षा लेनेका जो वैराग्य हो वह 'मोहगर्भित वैराग्य' है।

पूनमके दिन बहुतसे लोग डाकोर जाते हैं, परंतु कोई यह विचार नहीं करता कि इससे अपना क्या कल्याण होता है ? पूनमके दिन रणछोडजीके दर्शन करनेके लिये बाप-दादा जाते थे यह देखकर लड़के जाते हैं, परंतु उसके हेतुका विचार नहीं करते। यह प्रकार भी मोहगर्भित वैराग्यका है।

जो सांसारिक दुःखसे संसारत्याग करता है, उसे दुःखगर्भित वैराग्य समझें।

जहाँ जाये वहाँ कल्याणकी वृद्धि हो ऐसी दृढ़ मति करना, कुलगच्छका आग्रह छूटना यही सत्संगके

माहात्म्यके सुननेका प्रमाण है। धर्मके मतमतांतर आदि बड़े बड़े अनंतानुबंधी पर्वतकी दरारोंकी तरह कभी मिलते ही नहीं। कदाग्रह नहीं करना और जो कदाग्रह करता हो उसे धीरजसे समझाकर छुड़ा देना तभी समझनेका फल है। अनंतानुबंधी मान कल्याण होनेमें बीचमें स्तंभरूप कहा गया है। जहाँ जहाँ गुणी मनुष्य हो वहाँ वहाँ उसका संग करनेके लिये विचारवान जीव कहता है। अज्ञानीके लक्षण लौकिकभावके होते हैं। जहाँ जहाँ दुराग्रह हो वहाँ वहाँसे छूटना। 'इसकी मुझे जरूरत नहीं है' यही समझना है।

---

५ राळज, भादों सुदी ६, शनि, १९५२

प्रमादसे योग उत्पन्न होता है। अज्ञानीको प्रमाद है। योगसे अज्ञान उत्पन्न होता हो तो वह ज्ञानीमें भी संभव है, इसलिये ज्ञानीको योग होता है परंतु प्रमाद नहीं होता।

"स्वभावमें रहना और विभावसे छूटना" यही मुख्य बात तो समझनी है। बाल जीवोंके समझनेके लिये ज्ञानीपुरुषोंने सिद्धांतोंके अधिकांश भागका वर्णन किया है।

किसीपर रोष नहीं करना, तथा किसीपर प्रसन्न नहीं होना, यों करनेसे एक शिष्यको दो घड़ीमें केवलज्ञान प्रगट हुआ ऐसा शास्त्रमें वर्णन है।

जितना रोग होता है उतनी ही उसकी दवा करनी पड़ती है। जीवको समझना हो तो सहज ही विचार प्रगट हो जाये। परंतु मिथ्यात्वरूपी बड़ा रोग है, इसलिये समझनेके लिये बहुत काल बीतना चाहिये। शास्त्रमें जो सोलह रोग कहे हैं, वे सभी इस जीवको हैं; ऐसा समझें।

जो साधन बताये हैं वे एकदम सुलभ हैं। स्वच्छंदसे, अहंकारसे, लोकलाजसे, कुलधर्मके रक्षणके लिये तपश्चर्या न करें, आत्मार्थके लिये करें। तपश्चर्या बारह प्रकारकी कही है। आहार न लेना इत्यादि बारह प्रकार हैं। सत्साधन करनेके लिये जो कुछ बताया हो उसे सत्पुरुषके आश्रयसे उस प्रकारसे करे। अपने आपसे वर्तन करना वही स्वच्छंद है ऐसा कहा है। सद्गुरुकी आज्ञाके बिना श्वासोच्छ्वास क्रियाके सिवाय अन्य कुछ न करे।

साधु लघुशंका भी गुरुसे पूछकर करे ऐसी ज्ञानीपुरुषोंकी आज्ञा है।

स्वच्छंदाचारसे शिष्य बनाना हो तो साधु आज्ञा नहीं माँगता अथवा उसकी कल्पना कर लेता है। परोपकार करनेमें अशुभ कल्पना रहती हो, और वैसे ही अनेक विकल्प करके स्वच्छंद न छोड़े वह अज्ञानी आत्माको विघ्न करता है, तथा ऐसे सब प्रकारोंका सेवन करता है, और परमार्थका मार्ग छोड़कर वाणी कहता है यही अपनी चतुराई और इसीको स्वच्छंद कहा है।

ज्ञानीकी प्रत्येक आज्ञा कल्याणकारी है। इसलिये उसमें न्यूनाधिक या छोटे-बड़ेकी कल्पना न करें। तथा उस बातका आग्रह करके झगड़ा न करें। ज्ञानी जो कहते हैं वही कल्याणका हेतु है यों समझमें आये तो स्वच्छंद मिटता है। ये ही यथार्थ ज्ञानी है इसलिये ये जो कहते हैं तदनुसार ही करें। दूसरा कोई विकल्प न करें।

जगतमें भ्रांति न रखें, इसमें कुछ भी नहीं है। यह बात ज्ञानीपुरुष बहुत ही अनुभवसे वाणी द्वारा कहते हैं। जीव विचार करे कि 'मेरी बुद्धि स्थूल है, मुझे समझमें नहीं आता। ज्ञानी जो कहते हैं वे वाक्य सच्चे हैं, यथार्थ हैं;' यों समझे तो सहजमें ही दोष कम होते हैं।

जैसे एक वर्षासे बहुतसी वनस्पति फूट निकलती है, वैसे ज्ञानीकी एक भी आज्ञाका आराधन करते हुए बहुतसे गुण प्रगट हो जाते हैं।

यदि ज्ञानीकी यथार्थ प्रतीति हो गयी है, और ठीक तरहसे जाँच की है कि 'ये सत्पुरुष है, इनकी दशा सच्ची आत्मदशा है, और इनसे कल्याण होगा ही,' और ऐसे ज्ञानीके वचनोंके अनुसार प्रवृत्ति करे, तो बहुत ही दोष, विक्षेप मिट जाते हैं। जहाँ जहाँ देखे वहाँ वहाँ अहंकाररहित वर्तन करता है और उसका सभी प्रर्वतन सीधा ही होता है। यों सत्संग, सत्पुरुषका योग अनंत गुणोंका भण्डार है।

जो जगतको बतानेके लिये कुछ नहीं करता उसीको सत्संग फलीभूत होता है। सत्संग और सत्पुरुषके बिना त्रिकालमें कल्याण होता ही नहीं।

बाह्य त्यागसे जीव बहुत ही भूल जाता है। वेश, वस्त्र आदिमें भ्रांति भूल जायें। आत्माकी विभावदशा और स्वभावदशाको पहचानें।

कई कर्मोंको भोगे बिना छुटकारा नहीं है। ज्ञानीको भी उदयकर्मका संभव है। परंतु गृहस्थपना साधुपनेकी अपेक्षा अधिक है यों बाहरसे कल्पना करे तो किसी शास्त्रका योगफल नहीं मिलता।

तुच्छ पदार्थमें भी वृत्ति चलायमान होती है। चौदह पूर्वधारी भी वृत्तिकी चपलतासे और अहंता स्फुरित हो जानेसे निगोद आदिमें परिभ्रमण करते हैं। ग्यारहवें गुणस्थानसे भी जीव क्षणिक लोभसे गिरकर पहले गुणस्थानमें आता है। 'वृत्ति शांत की है', ऐसी अहंता जीवको स्फुरित होनेसे, ऐसे भुलावेसे भटक पड़ता है।

अज्ञानीको धन आदि पदार्थोंमें अतीव आसक्ति होनेसे कोई भी चीज खो जाये तो उससे अनेक प्रकारकी आर्त्तध्यान आदिकी वृत्तिको बहुत प्रकारसे फैलाकर, प्रसरित कर कर क्षोभको प्राप्त होता है, क्योंकि उसने उस पदार्थकी तुच्छता नहीं समझी; परंतु उसमें महत्त्व माना है।

मिट्टीके घड़ेमें तुच्छता समझी है इसलिये उसके फूट जानेसे क्षोभ प्राप्त नहीं होता। चाँदी, सुवर्ण आदिमें महत्त्व माना है इसलिये उनका वियोग होनेसे अनेक प्रकारसे आर्त्तध्यानकी वृत्तिको स्फुरित करता है।

जो जो वृत्तिमें स्फुरित होता है और इच्छा करता है वह 'आस्रव' है।

उस उस वृत्तिका निरोध करता है वह 'संवर' है।

अनंत वृत्तियाँ अनंत प्रकारसे स्फुरित होती हैं, और अनंत प्रकारसे जीवको बाँधती हैं। बाल-जीवोंको यह समझमें नहीं आता, इसलिये ज्ञानीयोंने उनके स्थूल भेद इस तरह कहे हैं कि समझमें आ जायें।

वृत्तियोंका मूलसे क्षय नहीं किया इसलिये पुनः पुनः स्फुरित होती हैं। प्रत्येक्ष पदार्थके विषयमें स्फुरायमान बाह्य वृत्तियोंको रोके और उन वृत्तियों–परिणामोंको अंतर्मुख करे।

अनंतकालके कर्म अनंतकाल बितानेपर नहीं जाते, परंतु पुरुषार्थसे जाते हैं। इसलिये कर्ममें बल नहीं है परंतु पुरुषार्थमें बल है। इसलिये पुरुषार्थ करके आत्माको ऊँचे लानेका लक्ष्य रखें।

परमार्थकी एककी एक बात सौ बार पूछें तो भी ज्ञानीको कंटाला नहीं आता; परंतु उन्हें अनुकंपा आती है कि इस बेचारे जीवके आत्मामें यह बात विचारपूर्वक स्थिर हो जाये तो अच्छा है।

क्षयोपशमके अनुसार श्रवण होता है।

सम्यक्त्व ऐसी वस्तु है कि वह आता है तब गुप्त नहीं रहता। वैराग्य पाना हो तो कर्मकी निंदा करें। कर्मको प्रधान न करें परंतु आत्माको मूर्धन्य रखें–प्रधान करें।

संसारी काममें कर्मको याद न करें, परंतु पुरुषार्थको आगे लायें। कर्मका विचार करते रहनेसे तो

वह दूर होनेवाला नहीं है, परंतु धक्का लगायेंगे तो जायेगा, इसलिये पुरुषार्थ करें।

बाह्य क्रिया करनेसे अनादि दोष कम नहीं होता। बाह्य क्रियामें जीव कल्याण मानकर अभिमान करता है।

बाह्य व्रत अधिक लेनेसे मिथ्यात्वका नाश कर देंगे, ऐसा जीव सोचे तो यह संभव नहीं, क्योंकि जैसे एक भैंसा जो ज्वार-बाजरेके हजारों पूले खा गया है वह एक तिनकेसे नहीं डरता वैसे मिथ्यात्वरूपी भैंसा जो अनंतानुबंधी कषायसे पूलारूपी अनंत चारित्र खा गया है वह तिनके रूपी बाह्य व्रतसे कैसे डरेगा? परंतु जैसे भैंसेको किसी बंधनसे बाँध दें तो वह अधीन हो जाता है, वैसे मिथ्यात्वरूपी भैंसेको आत्माके बलरूपी बंधनसे बाँध दें तो अधीन होता है; अर्थात् आत्माका बल बढ़ता है तब मिथ्यात्व घटता है।

अनादिकालके अज्ञानके कारण जितना काल बीता, उतना काल मोक्ष होनेके लिये नहीं चाहिये; क्योंकि पुरुषार्थका बल कर्मोंकी अपेक्षा अधिक है। कई जीव दो घडीमें कल्याण कर गये हैं! सम्यग्दृष्टि जीव चाहे जहाँसे आत्माको ऊँचा उठाता है, अर्थात् सम्यक्त्व आनेपर जीवकी दृष्टि बदल जाती है।

मिथ्यादृष्टि समकितीके अनुसार जप, तप आदि करता है, ऐसा होनेपर भी मिथ्यादृष्टिके जप, तप आदि मोक्षके हेतुभूत नहीं होते, संसारके हेतुभूत होते हैं। समकितीके जप, तप आदि मोक्षके हेतुभूत होते हैं। समकिती दंभरहित करता है, आत्माकी ही निंदा करता है, कर्म करनेके कारणोंसे पीछे हटता है। ऐसा करनेसे उसके अहंकार आदि सहज ही घट जाते हैं। अज्ञानीके सभी जप, तप आदि अहंकारको बढ़ाते है, और संसारके हेतु होते हैं।

जैन शास्त्रोंमें कहा है कि लब्धियाँ उत्पन्न होती हैं। जैन और वेद जन्मसे ही लड़ते आये हैं, परंतु इस बातको तो दोनों ही मान्य करते हैं, इसलिये यह संभव है। आत्मा साक्षी देता है तब आत्मामें उल्लास परिणाम आता है।

होम, हवन आदि लौकिक रिवाज बहुत प्रचलित देखकर तीर्थंकर भगवानने अपने कालमें दयाका वर्णन बहुत ही सूक्ष्म रीतिसे किया है। जैनधर्मके जैसे दया संबंधी विचार कोई दर्शन अथवा संप्रदायवाले नहीं कर सके हैं, क्योंकि जैन पंचेंद्रियका घात तो नहीं करते, परंतु उन्होंने एकेंद्रिय आदिमें जीवके अस्तित्वको विशेष-विशेष दृढ़ करके दयाके मार्गका वर्णन किया है।

इस कारण चार वेद, अठारह पुराण आदिका जिसने वर्णन किया है, उसने अज्ञानसे, स्वच्छंदसे, मिथ्यात्वसे और संशयसे किया है, ऐसा कहा है। ये वचन बहुत ही कठोर कहे हैं, वहाँ बहुत अधिक विचार करके फिर वर्णन किया है कि अन्य दर्शन, वेद आदिके जो ग्रंथ हैं, उन्हें यदि सम्यग्दृष्टि जीव पढ़े तो वे सम्यक् प्रकारसे परिणमित होते हैं, और जिनेन्द्रके अथवा चाहे जैसे ग्रंथोंको यदि मिथ्यादृष्टि पढ़े तो मिथ्यात्वरूपसे परिणमित होते हैं।

जीवको ज्ञानीपुरुषके समीप उनके अपूर्व वचन सुननेसे अपूर्व उल्लास परिणाम आता है, परंतु फिर प्रमादी हो जानेसे अपूर्व उल्लास नहीं आता। जिस तरह अग्निकी अंगीठीके पास बैठे हों तब ठंडी नहीं लगती, और अंगीठीसे दूर चले जानेसे ठंडी लगती है; उसी तरह ज्ञानी पुरुषके समीप उनके अपूर्व वचन सुननेसे प्रमाद आदि चले जाते हैं, और उल्लास परिणाम आता है, परंतु फिर प्रमाद आदि उत्पन्न हो जाते हैं। यदि पूर्वके संस्कारसे वे वचन अंतरमें परिणत हो जाये तो दिन प्रतिदिन उल्लास परिणाम बढ़ता ही जाता है और यथार्थरूपसे भान होता है। अज्ञान मिटनेपर सारी भूल मिटती है, स्वरूप जागृतिमान होता है। बाहरसे वचन सुननेसे अंतर्परिणाम नहीं होता, तो फिर जिस तरह अंगीठीसे दूर चले जानेपर ठंडी

लगती है उसी तरह दोष कम नहीं होते।

केशीस्वामीने परदेशी राजाको बोध देते समय 'जड़ जैसा', 'मूढ़ जैसा' कहा था, उसका कारण परदेशी राजामें पुरुषार्थ जगाना था। जड़ता-मूढ़ता मिटानेके लिये उपदेश दिया था। ज्ञानीके वचन अपूर्व परमार्थके सिवाय दूसरे किसी हेतुसे नहीं होते। बालजीव ऐसी बातें करते हैं कि छद्मस्थतासे केशीस्वामी परदेशी राजाके प्रति इस प्रकार बोले थे, परंतु यह बात नहीं है। उनकी वाणी परमार्थके लिये ही निकली थी।

जड़ पदार्थके लेने-रखनेमें उन्मादसे वर्तन करे तो उसे असंयम कहा है। उसका कारण यह है कि जल्दीसे लेने-रखनेमें आत्माका उपयोग चूककर तादात्म्यभाव हो जाता है। इस हेतुसे उपयोग चूक जानेको असंयम कहा है।

मुहपत्ती बाँध कर झूठ बोले, अहंकारसे आचार्यपद धारण कर दंभ रखे और उपदेश दे, तो पाप लगता है; मुहपत्तीकी जयणासे पाप रोका नहीं जा सकता। इसलिये आत्मवृत्ति रखनेके लिये उपयोग रखे। ज्ञानीके उपकरणको छूनेसे या शरीरका स्पर्श होनेसे आशातना लगती है ऐसा मानता है, किन्तु वचनको अप्रधान करनेसे तो विशेष दोष लगता है, उसका तो भान नहीं है। इसलिये ज्ञानीकी किसी भी प्रकारसे आशातना न हो ऐसा उपयोग जागृत-जागृत रखकर भक्ति प्रगट हो तो वह कल्याणका मुख्य मार्ग है।

श्री आचारांगसूत्रमें कहा है कि 'जो आस्रव हैं वे परिस्रव हैं', 'जो परिस्रव हैं वे आस्रव हैं'। जो आस्रव है वह ज्ञानीको मोक्षका हेतु होता है, और जो संवर है फिर भी वह अज्ञानीको बंधका हेतु होता है, ऐसा स्पष्ट कहा है। उसका कारण ज्ञानीमें उपयोगकी जागृति है; और अज्ञानीमें नहीं है।

उपयोग दो प्रकारके कहे हैं—१. द्रव्य-उपयोग २. भाव-उपयोग।

द्रव्यजीव, भावजीव। द्रव्यजीव वह द्रव्य मूल पदार्थ है। भावजीव, वह आत्माका उपयोग-भाव है।

भावजीव अर्थात् आत्माका उपयोग जिस पदार्थमें तादात्म्यरूपसे परिणमे तद्रूप आत्मा कहे। जैसे टोपी देखकर, उसमें भावजीवकी बुद्धि तादात्म्यरूपसे परिणमती है तो टोपी-आत्मा कहते हैं। जैसे नदीका पानी द्रव्य आत्मा है। उसमें क्षार, गंधक डालें तो गंधकका पानी कहा जाता है। नमक डालें तो नमकका पानी कहा जाता है। जिस पदार्थका संयोग हो उस पदार्थरूप पानी कहा जाता है। उसी तरह आत्माको जो संयोग मिले उसमें तादात्म्यभाव होनेसे वही आत्मा उस पदार्थरूप हो जाता है। उसे कर्मबंधकी अनंत वर्गणा बँधती हैं, और वह अनंत संसारमें भटकता है। अपने उपयोगमें, स्वभावमें आत्मा रहे तो कर्मबंध नहीं होता।

पाँच इंद्रियोंका अपना अपना स्वभाव है। चक्षुका देखनेका स्वभाव है वह देखता है। कानका सुननेका स्वभाव है वह सुनता है। जीभका स्वाद, रस लेनेका स्वभाव है, वह खट्टा, खारा स्वाद लेती है। शरीर, स्पर्शेन्द्रियका स्वभाव स्पर्श करनेका है, वह स्पर्श करता है। इस तरह प्रत्येक इंद्रिय अपना अपना स्वभाव किया करती है, परंतु आत्माका उपयोग तद्रूप होकर, तादात्म्यरूप होकर उसमें हर्षविषाद न करे तो कर्मबंध नहीं होता। इंद्रियरूप आत्मा हो तो कर्मबंधका हेतु है।

---

६ भादों सुदी ९, १९५२

जैसा सिद्धका सामर्थ्य है वैसा सब जीवोंका है। मात्र अज्ञानसे ध्यानमें नहीं आता। विचारवान जीव हो उसे तो तत्संबंधी नित्य विचार करना चाहिये।

जीव यों समझता है कि मैं जो क्रिया करता हूँ उससे मोक्ष है। क्रिया करना यह अच्छी बात है, परंतु लोकसंज्ञासे करे तो उसे उसका फल नहीं मिलता।

एक मनुष्यके हाथमें चिंतामणि आया हो, परंतु यदि उसे उसका पता न चले तो निष्फल है, यदि पता चले तो सफल है। उसी तरह जीवको सच्चे ज्ञानीकी पहचान हो तो सफल है।

जीवकी अनादिकालसे भूल चली आती है। उसे समझनेके लिये जीवकी जो भूल मिथ्यात्व है उसका मूलसे छेदन करना चाहिये। यदि मूलसे छेदन किया जाये तो वह फिर अंकुरित नहीं होती। नहीं तो वह फिर अंकुरित हो जाती है। जिस तरह पृथ्वीमें वृक्षका मूल रह गया हो तो वृक्ष फिर उग आता है उसी तरह। इसलिये जीवकी मूल भूल क्या है उसका पुनः पुनः विचार करके उससे मुक्त होना चाहिये। 'मुझे किससे बंधन होता है ?' 'वह कैसे दूर हो ?' यह विचार प्रथम कर्तव्य है।

रात्रिभोजन करनेसे आलस्य, प्रमाद आता है, जागृति नहीं होती, विचार नहीं आता, इत्यादि अनेक प्रकारके दोष रात्रिभोजनसे उत्पन्न होते हैं, मैथुनके अतिरिक्त भी दूसरे बहुतसे दोष उत्पन्न होते हैं।

कोई हरी वनस्पति छीलता हो तो हमसे तो वह देखा नहीं जा सकता। इस तरह कोई भी आत्मा उज्ज्वलता प्राप्त करे तो उसे अतीव अनुकंपा बुद्धि रहती है।

ज्ञानमें सीधा भासता है, उलटा नहीं भासता। ज्ञानी मोहको पैठने नहीं देते। उनका जागृत उपयोग होता है। ज्ञानीके जैसे परिणाम रहते है वैसा कार्य ज्ञानीका होता है तथा अज्ञानीका जैसा परिणाम होता है, वैसा अज्ञानीका कार्य होता हैं। ज्ञानीका चलना सीधा, बोलना सीधा और सब कुछ ही सीधा ही होता है। अज्ञानीका सब कुछ उलटा ही होता है, वर्तनके विकल्प होते हैं।

मोक्षका उपाय है। ओघभावसे खबर होगी, विचारभावसे प्रतीति आयेगी।

अज्ञानी स्वयं दरिद्री है। ज्ञानीकी आज्ञासे काम, क्रोध आदि घटते हैं। ज्ञानी उनके वैद्य है। ज्ञानीके हाथसे चारित्र प्राप्त हो तो मोक्ष हो जाता है। ज्ञानी जो जो व्रत देते हैं वे सब ठेठ अंत तक ले जाकर पार उतारनेवाले हैं। समकित आनेके बाद आत्मा समाधिको प्राप्त होगा, क्योंकि वह सच्चा हो गया है।

प्र०—ज्ञानसे कर्मकी निर्जरा होती है क्या ?

उ०—सार जानना ज्ञान है। सार न जानना अज्ञान है। हम किसी भी पापसे निवृत्त हो अथवा कल्याणमें प्रवृत्ति करें, वह ज्ञान है। परमार्थ समझकर करे। अहंकाररहित, कदाग्रहरहित, लोकसंज्ञारहित आत्मामें प्रवृत्ति करना 'निर्जरा' है।

इस जीवके साथ रागद्वेष लगे हुए हैं; जीव अनंत ज्ञान-दर्शनसहित है, परंतु राग-द्वेषसे वह जीवके ध्यानमें नहीं आता। सिद्धको रागद्वेष नहीं है। जैसा सिद्धका स्वरूप है वैसा ही सब जीवोंका स्वरूप है। मात्र अज्ञानके कारण जीवके ध्यानमें नहीं आता; इसलिये विचारवान सिद्धके स्वरूपका विचार करे, जिससे अपना स्वरूप समझमें आये।

एक आदमीके हाथमें चिंतामणि आया हो, और उसे उसकी खबर (पहचान) है तो उसके प्रति उसे अतीव प्रेम हो जाता है; परंतु जिसे खबर नहीं है उसे कुछ भी प्रेम नहीं होता।

इस जीवकी अनादिकालकी जो भूल है उसे दूर करना है। दूर करनेके लिये जीवकी बड़ीसे बड़ी भूल क्या है ? उसका विचार करे, और उसके मूलका छेदन करनेकी ओर लक्ष्य रखे। जब तक मूल रहता है तब तक बढ़ता है।

'मुझे किससे बंधन होता है ?' और 'वह किससे दूर हो ?' यह जाननेके लिये शास्त्र रचे गये हैं।

लोगोंमें पूजे जानेके लिये शास्त्र नहीं रचे गये हैं।

जीवका स्वरूप क्या है ? जीवका स्वरूप जब तक जाननेमें न आये तब तक अनंत जन्ममरण करने पड़ते हैं। जीवकी क्या भूल है ? वह अभी तक ध्यानमें नहीं आती। जीवका क्लेश नष्ट होगा तो भूल दूर होगी। जिस दिन भूल दूर होगी उसी दिनसे साधुता कही जायेगी। इसी तरह श्रावकपनके लिये समझें।

कर्मकी वर्गणा जीवको दूध और पानीके संयोगकी भाँति है। अग्निके प्रयोगसे पानी जल जानेसे दूध बाकी रह जाता है, इसी तरह ज्ञानरूपी अग्निसे कर्मवर्गणा नष्ट हो जाती है।

देहमें अहंभाव माना हुआ है, इसलिये जीवकी भूल दूर नहीं होती। जीव देहके साथ मिल जानेसे ऐसा मानता है कि 'मैं वणिक हूँ', 'ब्राह्मण हूँ'; परंतु शुद्ध विचारसे तो उसे ऐसा अनुभव होता है कि 'मैं शुद्ध स्वरूपमय हूँ।' आत्माका नाम-ठाम या कुछ भी नहीं है, इस तरह सोचे तो उसे कोई गाली आदि दे तो उससे उसे कुछ भी नहीं लगता।

जीव जहाँ जहाँ ममत्व करता है वहाँ वहाँ उसकी भूल है। उसे दूर करनेके लिये शास्त्र कहे हैं।

चाहे कोई भी मर गया हो उसका यदि विचार करे तो वह वैराग्य है। जहाँ जहाँ 'ये मेरे भाईबंधु' इत्यादि भावना है वहाँ वहाँ कर्मबंधका हेतु है। इसी तरहकी भावना यदि साधु भी चेलेके प्रति रखे तो उसका आचार्यपन नष्ट हो जाता है। निर्दंभता, निरहंकारता करे तो आत्माका कल्याण ही होता है।

पाँच इंद्रियाँ किस तरह वश होती है ? वस्तुओंपर तुच्छभाव लानेसे। जैसे फूलमें सुगंध होती है उससे मन संतुष्ट होता है; परंतु सुगंध थोड़ी देर रहकर नष्ट हो जाती है, और फूल मुरझा जाता है, फिर मनको कुछ भी संतोष नहीं होता। उसी तरह सभी पदार्थोंमें तुच्छभाव लानेसे इन्द्रियोंको प्रियता नहीं होती, और इससे क्रमशः इंद्रियाँ वश होती है। और पाँच इंद्रियोंमें भी जिह्वा इंद्रिय वश करनेसे शेष चार इन्द्रियाँ अनायास वश हो जाती हैं। तुच्छ आहार करें, किसी रसवाले पदार्थमें न ललचायें, बलिष्ठ आहार न करें।

एक बर्तनमें रक्त, मांस, हड्डियाँ, चमड़ा, वीर्य, मल, मूत्र ये सात धातुएँ पड़ी हों; और उसकी ओर कोई देखनेको कहे तो उसपर अरुचि होती है, और थूँकनेके लिये भी नहीं जाता। उसी तरह स्त्रीपुरुषके शरीरकी रचना है, परंतु ऊपरकी रमणीयता देखकर जीव मोहको प्राप्त होता है और उसमें तृष्णापूर्वक प्रवृत्ति करता है। अज्ञानसे जीव भूलता है, ऐसा विचार कर, तुच्छ समझकर पदार्थपर अरुचि-भाव लायें। इस तरह प्रत्येक वस्तुकी तुच्छता समझें। इस तरह समझकर मनका निरोध करें।

तीर्थंकरने उपवास करनेकी आज्ञा दी है, वह मात्र इन्द्रियोंको वश करनेके लिये। अकेला उपवास करनेसे इंद्रियाँ वश नहीं होती; परंतु उपयोग हो तो, विचारसहित हो तो वश होती हैं। जैसे बिना लक्ष्यका बाण निकम्मा जाता है, वैसे बिना उपयोगका उपवास आत्मार्थके लिये नहीं होता।

अपनेमें कोई गुण प्रगट हुआ हो, और उसके लिये यदि कोई मनुष्य अपनी स्तुति करे और उससे यदि हमारा आत्मा अहंकार करे तो वह पीछे हटता है। अपने आत्माकी निंदा न करे, अभ्यंतर दोषका विचार न करे, तो जीव लौकिकभावमें चला जाता है; परंतु यदि अपने दोष देखे, अपने आत्माकी निंदा करे, अहंभावसे रहित होकर विचार करे, तो सत्पुरुषके आश्रयसे आत्मलक्ष्य होता है।

मार्गप्राप्तिमें अनंत अंतराय हैं। उनमें फिर 'मैंने यह किया', 'मैंने यह कैसा सुंदर किया ?' इस प्रकारका अभिमान है। 'मैंने कुछ भी किया ही नहीं', ऐसी दृष्टि रखनेसे वह अभिमान दूर होता है।

लौकिक और अलौकिक ऐसे दो भाव हैं। लौकिकसे संसार, और अलौकिकसे मोक्ष होता है।

बाह्य इन्द्रियाँ वशमें की हों, तो सत्पुरुषके आश्रयसे अंतर्लक्ष्य हो सकता है। इस कारणसे बाह्य इंद्रियोंको वशमें करना श्रेष्ठ है। बाह्य इंद्रियाँ वशमें हों, और सत्पुरुषका आश्रय न हो तो लौकिकभावमें चले जानेका संभव रहता है।

उपाय किये बिना कुछ रोग नहीं मिटता। इसी तरह जीवको जो लोभरूपी रोग है, उसका उपाय किये बिना वह दूर नहीं होता। ऐसे दोषको दूर करनेके लिये जीव जरा भी उपाय नहीं करता। यदि उपाय करे तो वह दोष अभी भाग जाये। कारणको खड़ा करे तो कार्य होता है। कारणके बिना कार्य नहीं होता।

सच्चे उपायको जीव नहीं खोजता। ज्ञानीपुरुषके वचन सुनता है परंतु प्रतीति नहीं है। 'मुझे लोभ छोड़ना है', 'क्रोध, मान आदि छोड़ने हैं', ऐसी बीजभूत भावना हो और छोड़े, तो दोष दूर होकर अनुक्रमसे 'बीजज्ञान' प्रगट होता है।

प्र०—आत्मा एक है या अनेक ?

उ०—यदि आत्मा एक ही हो तो पूर्वकालमें रामचंद्रजी मुक्त हुए हैं, और उससे सर्वकी मुक्ति होनी चाहिये; अर्थात् एककी मुक्ति हुई हो तो सबकी मुक्ति हो जाये; और फिर दूसरोंको सत्शास्त्र, सद्गुरु आदि साधनोंकी जरूरत नहीं है।

प्र०—मुक्ति होनेके बाद क्या जीव एकाकार हो जाता है ?

उ०—यदि मुक्त होनेके बाद जीव एकाकार हो जाता हो तो स्वानुभव आनंदका अनुभव नहीं कर सकता। एक पुरुष यहाँ आकर बैठा, और वह विदेह मुक्त हो गया। उसके बाद दूसरा यहाँ आकर बैठा। वह भी मुक्त हो गया। इससे कुछ तीसरा मुक्त नहीं हुआ। एक आत्मा है उसका आशय ऐसा है कि सर्व आत्मा वस्तुतः समान है; परंतु स्वतंत्र हैं, स्वानुभव करते हैं इस कारणसे आत्मा भिन्न भिन्न हैं। 'आत्मा एक है इसलिये तुझे दूसरी कोई भ्रांति रखनेकी जरूरत नहीं है, जगत कुछ है ही नहीं; ऐसे भ्रांतिरहित भावसे वर्तन करनेसे मुक्ति है', ऐसा जो कहता है उसे विचार करना चाहिये कि, तो एककी मुक्तिसे सर्वकी मुक्ति होनी ही चाहिये। परंतु ऐसा नहीं होता, इसलिये आत्मा भिन्न भिन्न है। जगतकी भ्रांति दूर हो गयी, इसका आशय यों नहीं समझना है कि चंद्र-सूर्य आदि ऊपरसे नीचे गिर पड़ते हैं। आत्मविषयक भ्रांति दूर हो गयी ऐसा आशय समझना है।

रूढ़िसे कुछ कल्याण नहीं है। आत्मा शुद्ध विचारको प्राप्त हुए बिना कल्याण नहीं होता।

मायाकपटसे झूठ बोलनेमें बहुत पाप है। वह पाप दो प्रकारका है। मान और धन प्राप्त करनेके लिये झूठ बोले तो उसमें बहुत पाप है। आजीविकाके लिये झूठ बोलना पड़ा हो, और पश्चात्ताप करे, तो पहलेकी अपेक्षा कुछ कम पाप लगता है।

सत् और लोभ इन दोनोंको इकट्ठा किसलिये जीव समझता है ?

बाप स्वयं पचास वर्षका हो और उसका बीस वर्षका लड़का मर जाये तो वह बाप उसके पास जो आभूषण होते हैं उन्हें निकाल लेता है ! पुत्रके देहांतके समय जो वैराग्य था वह स्मशानवैराग्य था।

भगवानने कोई भी पदार्थ दूसरेको देनेकी मुनिको आज्ञा नहीं दी। देहको धर्मसाधन मानकर उसे निभानेके लिये जो कुछ आज्ञा दी है वह दी है; बाकी दूसरेको कुछ भी देनेकी भगवानने आज्ञा नहीं दी। आज्ञा दी होती तो परिग्रह बढ़ता, और उससे अनुक्रमसे अन्न, पानी आदि लाकर कुटुंबका अथवा दूसरेका पोषण करके दानवीर होता। इसलिये मुनिको सोचना चाहिये कि तीर्थंकरने जो कुछ रखनेकी

आज्ञा दी है वह मात्र तेरे अपने लिये, और वह भी लौकिकदृष्टि छुड़ाकर संयममें लगानेके लिये दी है।

मुनि गृहस्थके यहाँसे एक सूई लाया हो, और वह खो जानेसे भी वापस न दे तो वह तीन उपवास करे ऐसी ज्ञानीपुरुषोंने आज्ञा दी है; उसका कारण यह है कि वह उपयोगशून्य रहा। यदि इतना अधिक भार न रखा होता तो दूसरी वस्तुएँ लानेका मन होता, और कालक्रमसे परिग्रह बढ़ाकर मुनित्वको खो बैठता। ज्ञानीने ऐसा कठिन मार्ग प्ररूपित किया है उसका कारण यह है कि वे जानते हैं कि यह जीव विश्वास करने योग्य नहीं है; क्योंकि वह भ्रांतिवाला है। यदि छूट दी होगी तो कालक्रमसे उस उस प्रकारमें विशेष प्रवृत्ति करेगा, ऐसा जानकर ज्ञानीने सूई जैसी निर्जीव वस्तुके संबंधमें इस प्रकार वर्तन करनेकी आज्ञा की है। लोककी दृष्टिमें तो यह बात साधारण है, परंतु ज्ञानीकी दृष्टिमें उतनी छूट भी मूलसे गिरा दे इतनी बड़ी लगती है।

ऋषभदेवजीके पास अट्ठानवे पुत्र 'हमें राज्य दें' ऐसा कहनेके अभिप्रायसे आये थे, वहाँ तो ऋषभदेवने उपदेश देकर अट्ठानवोंको ही मूंड दिया! देखिये महान पुरुषकी करुणा!

केशीस्वामी और गौतमस्वामी कैसे सरल थे! दोनोंका मार्ग एक प्रतीत होनेसे पाँच महाव्रत ग्रहण किये। आधुनिक कालमें दो पक्षोंका एक होना संभव नहीं है। आजके ढूंढ़िया और तपा, तथा भिन्न भिन्न संघाडोंका एकत्र होना नहीं हो सकता। उसमें कितना ही काल बीत जाता है। उसमें कुछ है नहीं, परंतु असरलताके कारण संभव ही नहीं है।

सत्पुरुष कुछ सदनुष्ठानका त्याग नहीं कराते; परंतु यदि उसका आग्रह हुआ होता है तो आग्रह दूर करानेके लिये उसका एक बार त्याग कराते हैं; आग्रह मिटनेके बाद फिर उसे ही ग्रहण करनेको कहते हैं।

चक्रवर्ती राजा जैसे भी नग्न होकर चले गये हैं! चक्रवर्ती राजा हो, उसने राज्यका त्यागकर दीक्षा ली हो, और उसकी कुछ भूल हो, और उस चक्रवर्तीके राज्यकालकी दासीका लड़का उस भूलको सुधार सकता हो, तो उसके पास जाकर, उसके कथनको ग्रहण करनेकी आज्ञा की है। यदि उसे दासीके लड़केके पास जाते हुए यों लगे कि 'मैं दासीके लड़केके पास कैसे जाऊँ?' तो उसे भटक मरना है। ऐसे कारणोंमें लोकलाजको छोड़नेका कहा है, अर्थात् जहाँ आत्माको ऊँचा उठानेका कारण हो वहाँ लोकलाज नहीं मानी गयी है। परंतु कोई मुनि विषयकी इच्छासे वेश्याशालामें गया; वहाँ जाकर उसे ऐसा लगा, 'मुझे लोग देख लेंगे तो मेरी निंदा होगी। इसलिये यहाँसे लौट जाऊँ।' तात्पर्य कि मुनिने परभवके भयको नहीं गिना, आज्ञाभंगके भयको भी नहीं गिना, तो ऐसी स्थितिमें लोकलाजसे भी ब्रह्मचर्य रह सकता है, इसलिये वहाँ लोकलाज मानकर वापस आया, तो वहाँ लोकलाज रखनेका विधान है, क्योंकि इस स्थलमें लोकलाजका भय खानेसे ब्रह्मचर्य रहता है, जो उपकारक है।

हितकारी क्या है उसे समझना चाहिये। अष्टमीका झगड़ा तिथिके लिये न करे, परंतु हरी वनस्पतिके रक्षणके लिये तिथिका पालन करें। हरी वनस्पतिके रक्षणके लिये अष्टमी आदि तिथियाँ कही गयी हैं, कुछ तिथिके लिये अष्टमी आदि नहीं कही। इसलिये अष्टमी आदि तिथिका कदाग्रह दूर करें। जो कुछ कहा है वह कदाग्रह करनेके लिये नहीं कहा। आत्माकी शुद्धिसे जितना करेंगे उतना हितकारी है। अशुद्धिसे करेंगे उतना अहितकारी है; इसलिये शुद्धतापूर्वक सद्व्रतका सेवन करें।

हमें तो ब्राह्मण, वैष्णव चाहे जो हो सब समान हैं। जैन कहलाते हों और मतवाले हों तो वे अहितकारी हैं; मतरहित हितकारी हैं।

सामायिक-शास्त्रकारने विचार किया कि यदि कायाको स्थिर रखना होगा तो फिर विचार करेगा; नियम नहीं बनाया होगा तो दूसरे काममें लग जायेगा, ऐसा समझकर उस प्रकारका नियम बनाया। जैसे मनपरिणाम रहें वैसी सामायिक होती है। मनका घोड़ा दौड़ता हो तो कर्मबंध होता है। मनका घोड़ा दौड़ता हो, और सामायिक की हो तो उसका फल कैसा होगा ?

कर्मबंधको थोड़ा थोड़ा छोड़ना चाहे तो छूटता है। जैसे कोठी भरी हो, परंतु छेद करके निकाले तो अंतमें खाली हो जाती है। परंतु दृढ़ इच्छासे कर्मोंको छोडना ही सार्थक है।

आवश्यकके छः प्रकार—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तवन, वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान। सामायिक अर्थात् सावद्ययोगकी निवृत्ति।

वाचना (पढ़ना), पृच्छना (पूछना), परावर्तना (पुनः पुनः विचार करना), धर्मकथा (धर्म- विषयक कथा करनी), ये चार द्रव्य हैं; और अनुप्रेक्षा ये भाव हैं। यदि अनुप्रेक्षा न आये तो पहले चार द्रव्य हैं।

अज्ञानी आज 'केवलज्ञान नहीं है', 'मोक्ष नहीं है' ऐसी हीन-पुरुषार्थकी बातें करते हैं। ज्ञानीका वचन पुरुषार्थको प्रेरित करनेवाला होता है। अज्ञानी शिथिल है इसलिये ऐसे हीन-पुरुषार्थके वचन कहता है। पंचमकालकी, भवस्थितिकी, देहदुर्बलताकी या आयुकी बात कभी भी मनमें नहीं लानी चाहिये; और कैसे होगा ऐसी वाणी भी नहीं सुननी चाहिये।

कोई हीन-पुरुषार्थी बातें करे कि उपादानकारण—पुरुषार्थका क्या काम है ? पूर्वकालमें अशोच्या-केवली हुए हैं। तो ऐसी बातोंसे पुरुषार्थहीन न होना चाहिये।

सत्संग और सत्यसाधनके बिना किसी कालमें भी कल्याण नहीं होता। यदि अपने आप कल्याण होता हो तो मिट्टीमेंसे घडा होना संभव है। लाख वर्ष हो जाये तो भी मिट्टीमेंसे घड़ा स्वयं नहीं होता, इसी तरह कल्याण नहीं होता।

तीर्थंकरका योग हुआ होगा ऐसा शास्त्रवचन है, फिर भी कल्याण नहीं हुआ, उसका कारण पुरुषार्थहीनता है। पूर्वकालमें ज्ञानी मिले थे फिर भी पुरुषार्थके बिना जैसे वह योग निष्फल गया, वैसे इस बार ज्ञानीका योग मिला है और पुरुषार्थ नहीं करेंगे तो यह योग भी निष्फल जायेगा। इसलिये पुरुषार्थ करें; और तो ही कल्याण होगा। उपादानकारण—पुरुषार्थ श्रेष्ठ है।

यों निश्चय करें कि सत्पुरुषके कारण-निमित्त-से अनंत जीव तर गये हैं। कारणके बिना कोई जीव नहीं तरता। अशोच्याकेवलीको भी आगे पीछे वैसा योग प्राप्त हुआ होगा। सत्संगके बिना सारा जगत डूब गया है !

मीरांबाई महा भक्तिमान थीं। वृंदावनमें जीवा गोसांईके दर्शन करनेके लिये वे गयीं, और पुछवाया, 'दर्शन करनेके लिये आऊँ ?' तब जीवा गोसांईने कहलवाया, 'मैं स्त्रीका मुँह नहीं देखता।' तब मीरांबाईने कहलाया, 'वृंदावनमें रहते हुए भी आप पुरुष रहे हैं यह बहुत आश्चर्यकारक है। वृंदावनमें रहकर मुझे भगवानके सिवाय अन्य पुरुषके दर्शन नहीं करने हैं। भगवानका भक्त है वह तो स्त्रीरूप है, गोपीरूप है। कामको मारनेके लिये उपाय करें, क्योंकि लेते हुए भगवान, देते हुए भगवान, चलते हुए भगवान, सर्वत्र भगवान हैं।'

नाभा भगत था। किसीने चोरी करके चोरीका माल भगतके घरके आगे दबा दिया। इससे भगत पर चोरीका आरोप लगाकर कोतवाल पकड़कर ले गया। कैदमें ड़ालकर, चोरी मनानेके लिये रोज बहुत मार मारने लगा। परंतु भला जीव, भगवानका भगत, इसलिये शांतिसे सहन किया। गोसांईजीने

आकर कहा, 'मैं विष्णु भक्त हूँ, चोरी किसी दूसरेने की है, ऐसा कह।' तब भगतने कहा, 'ऐसा कहकर छूटनेकी अपेक्षा इस देहको मार पड़े यह क्या बुरा है ? मारता है तब मैं तो भक्ति करता हूँ। भगवानके नामसे देहको दंड हो यह अच्छा है। इसके नामसे सब कुछ सीधा। देह रखने के लिये भगवानका नाम नहीं लेना है। भले देहको मार पड़े यह अच्छा—क्या करना है देहको !'

अच्छा समागम, अच्छी रहन-सहन हो वहाँ समता आती है। समताकी विचारणाके लिये दो घड़ीकी सामायिक करना कहा है। सामायिकमें उलटे-सुलटे मनोरथोंका चिंतन करे तो कुछ भी फल नहीं होता। मनके दौड़ते हुए घोडोंको रोकनेके लिये सामायिकका विधान है।

संवत्सरीके दिनसंबंधी एक पक्ष चतुर्थीकी तिथिका आग्रह करता है, और दूसरा पक्ष पंचमीकी तिथिका आग्रह करता है। आग्रह करनेवाले दोनों मिथ्यात्वी हैं। ज्ञानीपुरुषोंने जो दिन निश्चित किया होता है वह आज्ञाका पालन होनेके लिये होता है। ज्ञानी पुरुष अष्टमी न पालनेकी आज्ञा करें और दोनोंको सप्तमी पालनेको कहें अथवा सप्तमी अष्टमी इकट्ठी करेंगे यों सोचकर षष्ठी कहें अथवा उसमें भी पंचमी इकट्ठी करेंगे यों सोचकर दूसरी तिथि कहें तो वह आज्ञा पालनेके लिये कहते हैं। बाकी तिथियोंका भेद छोड देना चाहिये। ऐसी कल्पना नहीं करनी चाहिये, ऐसे भंगजालमें नहीं पड़ना चाहिये। ज्ञानीपुरुषोंने तिथियोंकी मर्यादा आत्मार्थके लिये की है।

यदि अमुक दिन निश्चित न किया होता, तो आवश्यक विधियोंका नियम न रहता। आत्मार्थके लिये तिथिकी मर्यादाका लाभ लें।

आनंदघनजीने श्री अनंतनाथस्वामीके स्तवनमें कहा है—

[1]**एक कहे सेवीए विविध किरिया करी, फळ अनेकांत लोचन न देखे।**
फळ अनेकांत किरिया करी बापड़ा, रडवडे चार गतिमांही लेखे ॥'

अर्थात् जिस क्रियाके करनेसे अनेक फल हों वह क्रिया मोक्षके लिये नहीं है। अनेक क्रियाओंका फल एक मोक्ष ही होना चाहिये। आत्माके अंश प्रगट होनेके लिये क्रियाओंका वर्णन है। यदि क्रियाओंका वह फल न हुआ तो वे सब क्रियाएँ संसारके हेतु हैं।

'निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि' ऐसा जो कहा है उसका हेतु कषायके त्याग करनेका है, परंतु बेचारे लोग तो एकदम आत्माका ही त्याग कर देते हैं।

जीव देवगतिकी, मोक्षके सुखकी अथवा दूसरी वैसी कामनाकी इच्छा न रखे।

पंचमकालके गुरु कैसे हैं उसके बारेमें एक संन्यासीका दृष्टांत—एक संन्यासी था। वह अपने शिष्यके घर गया। ठंडी बहुत थी। जीमने बैठते समय शिष्यने नहानेको कहा। तब गुरुने मनमें विचार किया, 'ठंडी बहुत है, और नहाना पड़ेगा।' यों सोचकर संन्यासीने कहा, 'मैं तो ज्ञानगंगाजलमें स्नान कर रहा हूँ।' शिष्य विचक्षण होनेसे समझ गया, और उसने, गुरुको कुछ शिक्षा मिले ऐसा रास्ता लिया। शिष्यने 'भोजनके लिये पधारिये' ऐसे मानसहित बुलाकर भोजन कराया। प्रसादके बाद गुरु महाराज एक कोठड़ीमें सो गये। गुरुको तृषा लगी इसलिये शिष्यसे जल माँगा। तब तुरत शिष्यने कहा, 'महाराज, जल ज्ञान-गंगामेंसे पी लें।' जब शिष्यने ऐसा कठिन रास्ता लिया तब गुरुने कबूल किया 'मेरे

१. **भावार्थ**—कुछ लोग कहते हैं कि भिन्न-भिन्न प्रकारकी सेवा-भक्ति अथवा क्रिया करके भगवानकी सेवा करते है, परंतु उन्हें क्रियाका फल दिखायी नहीं देता। वे बेचारे एकसा फल न देनेवाली क्रिया करके चारों गतियोंमें भटकते रहते हैं, और उनकी मुक्ति नहीं हो पाती।

पास ज्ञान नहीं है। देहकी साताके लिये ठंडीमें मैंने स्नान नहीं करनेके लिये यों कहा था।'

मिथ्यादृष्टिके पूर्वके जप-तप अभी तक मात्र आत्महितार्थ नहीं हुए!

आत्मा मुख्यतः आत्मस्वभावसे वर्तन करे वह 'अध्यात्मज्ञान'। मुख्यतः जिसमें आत्माका वर्णन किया हो वह 'अध्यात्मशास्त्र'। भाव-अध्यात्मके बिना अक्षर(शब्द)अध्यात्मीका मोक्ष नहीं होता। जो गुण अक्षरोंमें कहे गये हैं वे गुण यदि आत्मामें रहें तो मोक्ष होता है। सत्पुरुषमें भाव-अध्यात्म प्रगट है। सत्पुरुषकी वाणी जो सुनता है वह द्रव्य-अध्यात्मी, शब्द-अध्यात्मी कहा जाता है। शब्द-अध्यात्मी अध्यात्मकी बातें कहते हैं; और महा अनर्थकारक प्रवर्तन करते हैं; इस कारणसे उन्हें ज्ञानदग्ध कहें। ऐसे अध्यात्मियोंको शुष्क और अज्ञानी समझे।

ज्ञानीपुरुषरूपी सूर्यके प्रगट होनेके बाद सच्चे अध्यात्मी शुष्क रीतिसे प्रवृत्ति नहीं करते, भाव-अध्यात्ममें प्रगटरूपसे रहते हैं। आत्मामें सच्चे गुण उत्पन्न होनेके बाद मोक्ष होता है। इस कालमें द्रव्य-अध्यात्मी, ज्ञानदग्ध बहुत हैं। द्रव्य-अध्यात्मी मंदिरके कलशके दृष्टांतसे मूल परमार्थको नहीं समझते।

मोह आदि विकार ऐसे हैं कि सम्यग्दृष्टिको भी चलायमान कर देते हैं; इसलिये आप तो समझे कि मोक्षमार्ग प्राप्त करनेमें वैसे अनेक विघ्न हैं। आयु थोड़ी है, और कार्य महाभारत करना है। जिस तरह नाव छोटी हो और बड़ा महासागर पार करना हो, उसी तरह आयु तो थोड़ी है, और संसाररूपी महासागर पार करना है। जो पुरुष प्रभुके नामसे पार हुए है उन पुरुषोंको धन्य है! अज्ञानी जीवको पता नहीं है कि अमुक गिरनेकी जगह है, परंतु ज्ञानियोंने उसे देखा हुआ है। अज्ञानी, द्रव्य-अध्यात्मी कहते हैं कि मुझमें कषाय नहीं है। सम्यग्दृष्टि चैतन्यसंयुक्त है।

एक मुनि गुफामें ध्यान करनेके लिये जा रहे थे। वहाँ सिंह मिल गया। उनके हाथमें लकड़ी थी। सिंहके सामने लकड़ी उठाई जाये तो सिंह चला जाये यों मनमें होनेपर मुनिको विचार आया– 'मैं आत्मा अजर अमर हूँ; देहप्रेम रखना योग्य नहीं है; इसलिये हे जीव! यहीं खड़ा रहा सिंहका भय है वही अज्ञान है। देहमें मूर्च्छाके कारण भय है।' ऐसी भावना करते करते वे दो घड़ी तक वहीं खड़े रहे कि इतनेमें केवलज्ञान प्रगट हो गया। इसलिये विचारदशा, विचारदशामें बहुत ही अंतर है।

उपयोग जीवके बिना नहीं होता। जड़ और चेतन इन दोनोंमें परिणाम होता है। देहधारी जीवमें अध्यवसायकी प्रवृत्ति होती है, संकल्प-विकल्प खड़े होते हैं, परंतु ज्ञानसे निर्विकल्पता होती है। अध्यवसायका क्षय ज्ञानसे होता है। ध्यानका हेतु यही है। उपयोग रहना चाहिये।

धर्मध्यान, शुक्लध्यान उत्तम कहे जाते हैं। आर्त्त और रौद्रध्यान अशुभ कहे जाते हैं। बाह्य उपाधि ही अध्यवसाय है। उत्तम लेश्या हो तो ध्यान कहा जाता है; और आत्मा सम्यक् परिणाम प्राप्त करता है।

माणेकदासजी एक वेदांती थे। उन्होंने एक ग्रंथमें मोक्षकी अपेक्षा सत्संगको अधिक यथार्थ माना है। कहा है–

"निज छंदनसे ना मिले, हेरो वैकुंठ धाम।
संतकृपासे पाईए, सो हरि सबसें ठाम॥"

जैनमार्गमें अनेक शाखाएँ हो गयी हैं। लोंकाशाको हुए लगभग चार सौ वर्ष हुए हैं। परंतु उस ढूंढ़िया संप्रदायमें पाँच ग्रंथ भी नहीं रचे गये हैं और वेदांतमें दस हजार जितने ग्रंथ हुए हैं। चार सौ वर्षमें, बुद्धि होती तो वह छिपी न रहती।

कुगुरु और अज्ञानी पाखंडियोंका इस कालमें पार नहीं है।

बड़े बड़े जुलूस निकालता है, और धन खर्च करता है; यों जानकर कि मेरा कल्याण होगा, ऐसी बड़ी बात समझकर हजारों रुपये खर्च कर डालता है। एक एक पैसा तो झूठ बोल बोलकर इकट्ठा करता है, और एक साथ हजारों रुपये खर्च कर डालता है! देखिये, जीवका कितना अधिक अज्ञान! कुछ विचार ही नहीं आता!

आत्माका जैसा स्वरूप है, वैसे ही स्वरूपको 'यथाख्यातचारित्र' कहा है।

भय अज्ञानसे है। सिंहका भय सिंहनीको नहीं होता। नागिनीको नागका भय नहीं होता। इसका कारण यह है कि इस प्रकारका उनका अज्ञान दूर हो गया है।

जब तक सम्यक्त्व प्रकट नहीं होता तब तक मिथ्यात्व है; और मिश्रगुणस्थानकका नाश हो जाये तब सम्यक्त्व कहा जाता है। सभी अज्ञानी पहले गुणस्थानकमें हैं।

सत्शास्त्र, सद्गुरुके आश्रयसे जो संयम होता है उसे 'सरागसंयम' कहा जाता है। निवृत्ति, अनिवृत्ति स्थानकका अंतर पड़े तो सरागसंयममेंसे 'वीतरागसंयम' होता है। उसे निवृत्ति-अनिवृत्ति दोनों बराबर हैं।

स्वच्छंदसे कल्पना वह भ्रांति है।

'यह तो इस तरह नहीं, इस तरह होगा' ऐसा जो भाव वह 'शंका' है।

समझनेके लिये विचार करके पूछना, यह 'आशंका' कही जाती है।

अपने आपसे जो समझमें न आये वह 'आशंकामोहनीय' है। सच्चा जान लिया हो फिर भी सच्चा भाव न आये, वह भी 'आशंकामोहनीय' है। अपने आप जो समझमें न आये, उसे पूछना। मूल जाननेके बाद उत्तर विषयके लिये इसका किस तरह होगा ऐसा जाननेकी आकांक्षा हो, उसका सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता, अर्थात् वह पतित नहीं होता। मिथ्या भ्रांतिका होना सो शंका है। मिथ्या प्रतीतिका अनंता-नुबंधीमें समावेश होता है। नासमझीसे दोष देखे तो यह समझका दोष है, परंतु उससे समकित नहीं जाता; परंतु अप्रतीतिसे दोष देखे तो यह मिथ्यात्व है। क्षयोपशम अर्थात् क्षय और शांत हो जाना।

---

७ राळजके सीमांतमें बड़के नीचे

यह जीव क्या करे? सत्समागममें आकर साधनके बिना रह गया, ऐसी कल्पना मनमें होती हो और सत्समागममें आनेका प्रसंग बने और वहाँ आज्ञा, ज्ञानमार्गका आराधन करे तो और उस रास्तेसे चले तो ज्ञान होता है। समझमें आ जाये तो आत्मा सहजमें प्रगट होता है; नहीं तो जिंदगी चली जाये तो भी प्रगट नहीं होता। माहात्म्य समझमें आना चाहिये। निष्कामबुद्धि और भक्ति चाहिये। अंतःकरण-की शुद्धि हो तो ज्ञान अपनेआप होता है। ज्ञानीको पहचाना जाये तो ज्ञानकी प्राप्ति होती है। किसी योग्य जीवको देखे तो ज्ञानी उसे कहते हैं कि सभी कल्पनाएँ छोड़ने जैसी हैं। ज्ञान ले। ज्ञानीको ओघ-संज्ञासे पहचाने तो यथार्थ ज्ञान नहीं होता। भक्तिकी रीति नहीं जानी। आज्ञाभक्ति नहीं हुई, तब तक आज्ञा हो तो माया भुलाती है। इसलिये जागृत रहें। मायाको दूर करते रहें। ज्ञानी सभी रीति जानते हैं।

जब ज्ञानीका त्याग (दृढ़ त्याग) आये अर्थात् जैसा चाहिये वैसा यथार्थ त्याग करनेको ज्ञानी कहे तब माया भुला देती है; इसलिये वहाँ भलीभाँति जागृत रहे। ज्ञानी मिले कि तभीसे तैयार होकर रहें, कमर कस कर तैयार रहें।

सत्संग होता है तब माया दूर रहती है; और सत्संगका योग दूर हुआ कि फिर वह तैयारकी तैयार

खड़ी है। इसलिये बाह्य उपाधिको कम करें। इससे सत्संग विशेष होता है। इस कारणसे बाह्य त्याग श्रेष्ठ है। बाह्य त्यागमें ज्ञानीको दुःख नहीं है, अज्ञानीको दुःख है। समाधि करनेके लिये सदाचारका सेवन करना है। नकली रंग सो नकली रंग है। असली रंग सदा रहता है। ज्ञानी मिलनेके बाद देह छूट गयी, (देह धारण करना नहीं रहता) ऐसा समझें। ज्ञानीके वचन पहले कडवे लगते हैं, परंतु बादमें मालूम होता है कि ज्ञानीपुरुष संसारके अनंत दुःखोंको मिटाते हैं। जैसे औषध कडवा होता है, परंतु वह दीर्घकालके रोगको मिटाता है उसी तरह।

त्यागपर सदा ध्यान रखें। त्यागको शिथिल न करें। श्रावक तीन मनोरथोंका चिंतन करे। सत्यमार्गका आराधन करनेके लिये मायासे दूर रहे। त्याग करता ही रहे। माया किस तरह भुलाती है उसका एक दृष्टांत–

कोई एक संन्यासी था वह यों कहा करता कि 'मैं मायाको घुसने ही नहीं दूँगा। नग्न होकर विचरूँगा।' तब मायाने कहा कि 'मैं तेरे आगे ही आगे चलूँगी।' 'जंगलमें अकेला विचरूँगा', ऐसा संन्यासीने कहा तब मायाने कहा कि 'मैं सामने आ जाऊँगी।' संन्यासी फिर जंगलमें रहता, और 'मुझे कंकड और रेत दोनों समान हैं,' यों कहकर रेतीपर सोया करता। फिर मायाको कहा कि 'तू कहाँ है ?' मायाने समझ लिया कि इसे बहुत गर्व चढ़ा है, इसलिये कहा कि 'मेरे आनेकी क्या जरूरत है ? मेरा बड़ा पुत्र अहंकार तेरी सेवामें छोड़ा हुआ था।'

माया इस तरह ठगती है। इसलिये ज्ञानी कहते हैं कि 'मैं सबसे न्यारा हूँ, सर्वथा त्यागी हुआ हूँ, अवधूत हूँ, नग्न हूँ, तपश्चर्या करता हूँ। मेरी बात अगम्य है। मेरी दशा बहुत ही अच्छी है। माया मुझे बाधित नहीं करेगी, ऐसी मात्र कल्पनासे मायासे ठगे न जाना।'

जरा समता आती है कि अहंकार आकर भुला देता है कि 'मैं समतावाला हूँ,' इसलिये उपयोगको जागृत रखें। मायाको खोज खोजकर ज्ञानीने सचमुच जीता है। भक्तिरूपी स्त्री है। उसे मायाके सामने रखा जाये, तो मायाको जीता जा सकता है। भक्तिमें अहंकार नहीं है, इसलिये मायाको जीतती है। आज्ञामें अहंकार नहीं है। स्वच्छंदमें अहंकार है। जब तक रागद्वेष नहीं जाते तब तक तपश्चर्या करनेका फल ही क्या ? 'जनकविदेहीमें विदेहिता नहीं हो सकती, यह केवल कल्पना है, संसारमें विदेहिता नहीं रहती', ऐसा चिंतन न करें। जिसका अपनापन दूर हो जाये उससे वैसे रहा जा सकता है। मेरा तो कुछ नहीं है। मेरी तो काया भी नहीं है, इसलिये मेरा कुछ नहीं है, ऐसा हो तो अहंकार मिटता है यह यथार्थ है। जनक विदेहीकी दशा उचित है। वसिष्ठजीने रामको उपदेश दिया, तब राम गुरुको राज्य अर्पण करने लगे, परंतु गुरुने राज्य लिया ही नहीं। परंतु अज्ञान दूर करना है, ऐसा उपदेश देकर अपनापन मिटाया। जिसका अज्ञान गया उसका दुःख चला गया। शिष्य और गुरु ऐसे होने चाहिये।

ज्ञानी गृहस्थावासमें बाह्य उपदेश, व्रत देते हैं या नहीं ? गृहस्थावासमें हो ऐसे परमज्ञानी मार्ग नहीं चलाते–मार्ग चलानेकी रीतसे मार्ग नहीं चलाते; स्वयं अविरत रहकर व्रत नहीं दिलाते; परंतु अज्ञानी ऐसा करता है। इससे राजमार्गका उल्लंघन होता है। क्योंकि वैसा करनेसे बहुतसे कारणोंमें विरोध आता है ऐसा है परंतु इससे यह विचार न करे कि ज्ञानी निवृत्तिरूपसे नहीं है, परंतु विचार करें तो विरतिरूपसे ही हैं। इसलिये बहुत ही विचार करना है।

सकाम भक्तिसे ज्ञान नहीं होता। निष्काम भक्तिसे ज्ञान होता है। ज्ञानीके उपदेशमें अद्भुतता है। वे अनिच्छा भावसे उपदेश देते हैं, स्पृहारहित होते हैं। उपदेश यह ज्ञानका माहात्म्य है, इसलिये माहात्म्यके कारण अनेक जीव सरलतासे प्रतिबुद्ध होते हैं।

अज्ञानीका सकाम उपदेश होता है; जो संसार फलका कारण है। वह रुचिकर, रागपोषक और संसारफल देनेवाला होनेसे लोगोंको प्रिय लगता है, और इसलिये जगतमें अज्ञानीका मार्ग अधिक चलता है। ज्ञानीके मिथ्या भावका क्षय हुआ है, अहंभाव मिट गया है; इसलिये अमूल्य वचन निकलते हैं। बालजीवोंको ज्ञानी-अज्ञानीकी पहचान नहीं होती।

विचार करें, 'मैं वणिक हूँ', इत्यादि आत्मामें रोम-रोममें व्याप्त हैं, उसे दूर करना है।

आचार्यजीने जीवोंका स्वभाव प्रमादी जानकर दो दो तीन तीन दिनोंके अंतरसे नियम पालनेकी आज्ञा की है।

संवत्सरीका दिन कुछ साठ घड़ीसे ज्यादा-कम नहीं होता; तिथिमें कुछ अंतर नहीं है। अपनी कल्पनासे कुछ अंतर नहीं हो जाता। क्वचित् बीमारी आदि कारणसे पंचमीका दिन न पाला गया और छठ पाले और आत्मामें कोमलता हो तो वह सफल होता है। अभी बहुत वर्षोंसे पर्युषणमें तिथियोंकी भ्रांति चलती है। दूसरे आठ दिन धर्म करे तो कुछ फल कम होता है, ऐसी बात नहीं है। इसलिये तिथियोंका मिथ्या कदाग्रह न रखें, उसे छोड़ दें। कदाग्रह छुड़ानेके लिये तिथियाँ बनायी हैं, उसके बदले उसी दिन जीव कदाग्रह बढ़ाता है।

ढूंढ़िया और तपा तिथियोंका विरोध खड़ा करके—अलग होकर—'मैं अलग हूँ', ऐसा सिद्ध करनेके लिये झगड़ा करते हैं यह मोक्ष जानेका रास्ता नहीं है। वृक्षको भानके बिना कर्म भोगने पड़ते हैं तो मनुष्यको शुभाशुभ क्रियाका फल क्यों नहीं भोगना पड़े?

जिससे सचमुच पाप लगता है उसे रोकना अपने हाथमें हैं, वह अपनेसे हो सकता है, उसे तो जीव नहीं रोकता; और दूसरी तिथि आदिकी और पापकी व्यर्थ चिंता किया करता है। अनादिसे शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्शका मोह रहा है। उस मोहका निरोध करना है। बड़ा पाप अज्ञानका है।

जिसे अविरतिके पापकी चिंता होती हो उससे वैसे स्थानमें कैसे रहा जा सकता है?

स्वयं त्याग नहीं कर सकता और बहाना करता है कि मुझे अंतराय बहुत हैं। धर्मका प्रसंग आता है तो कहता है, 'उदय है।' 'उदय उदय' कहा करता है, परंतु कुछ कुएँमें नहीं गिर जाता। छकड़ेमें बैठा हो और गड्ढ़ा आ जाये तो ध्यानसे सँभलकर चलता है। उस समय उदयको भूल जाता है। अर्थात् अपनी शिथिलता हो तो उसके बदले उदयका दोष निकालता है, ऐसा अज्ञानीका वर्तन है।

लौकिक और अलौकिक स्पष्टीकरण भिन्न भिन्न होते हैं। उदयका दोष निकालना यह लौकिक स्पष्टी-करण है। अनादिकालके कर्म दो घड़ीमें नष्ट होते हैं, इसलिये कर्मका दोष न निकालें। आत्माकी निंदा करें। धर्म करनेकी बात आती है तब जीव पूर्वकृत कर्मकी बात आगे कर देता है। जो धर्मको आगे करता है उसे धर्मका लाभ होता है; और जो कर्मको आगे करता है उसे कर्म आडे आता है, इसलिये पुरुषार्थ करना श्रेष्ठ है। पुरुषार्थ पहले करना चाहिये। मिथ्यात्व, प्रमाद और अशुभ योगको छोड़ना चाहिये।

पहले तप नहीं करना, परंतु मिथ्यात्व और प्रमादका पहले त्याग करना चाहिये। सबके परिणामोंके अनुसार शुद्धता एवं अशुद्धता होती है। कर्म दूर किये बिना दूर होनेवाले नहीं है। इसीलिये ज्ञानियोंने शास्त्र प्ररूपित किये हैं। शिथिल होनेके लिये साधन नहीं बताये। परिणाम ऊँचे आने चाहिये। कर्म उदयमें आयेगा, ऐसा मनमें रहे तो कर्म उदयमें आता है! बाकी पुरुषार्थ करे तो कर्म दूर हो जाते हैं। उपकार हो यही ध्यान रखना चाहिये।

८ वडवा, भाद्रपद सुदी १०, गुरु, १९५२

कर्म गिन गिनकर नष्ट नहीं किये जाते। ज्ञानीपुरुष तो एकदम समूहरूपसे जला देते हैं।

विचारवान दूसरे आलंबन छोड़कर, आत्माके पुरुषार्थके जयका आलंबन ले। कर्मबंधनका आलंबन न लें। आत्मामें परिणमित होना अनुप्रेक्षा है।

मिट्टीमें घडा होनेकी सत्ता है; परंतु यदि दंड, चक्र, कुम्हार आदि मिलें तो होता है। इसी तरह आत्मा मिट्टीरूप है, उसे सद्गुरु आदि साधन मिलें तो आत्मज्ञान होता है। जो ज्ञान हुआ हो वह पूर्वकालमें हुए ज्ञानियोंका संपादन किया हुआ है उसके साथ पूर्वापर मिलता आना चाहिये; और वर्तमानमें भी जिन ज्ञानीपुरुषोंने ज्ञानका संपादन किया है उनके वचनोंके साथ मेल खाता हुआ होना चाहिये; नहीं तो अज्ञानको ज्ञान मान लिया है ऐसा कहा जायेगा।

ज्ञान दो प्रकारके हैं—एक बीजभूत ज्ञान, और दूसरा वृक्षभूत ज्ञान। प्रतीतिसे दोनों सरीखे हैं, उनमें भेद नहीं है। वृक्षभूत ज्ञान सर्वथा निरावरण हो तो उसी भवमें मोक्ष होता है; और बीजभूत ज्ञान हो तो अंतमें पंद्रह भवमें मोक्ष होता है।

आत्मा अरूपी है; अर्थात् वर्ण-गंध-रस-स्पर्शरहित वस्तु है; अवस्तु नहीं है।

जिसने षड्दर्शन रचे हैं उसने बहुत ही चतुराईका उपयोग किया है।

बंध अनेक अपेक्षाओंसे होता है; परंतु मूल प्रकृतियाँ आठ हैं, वे कर्मकी आँटी खोलनेके लिये आठ प्रकारसे कही है।

आयुकर्म एक ही भवका बँधता है। अधिक भवकी आयु नहीं बँधती। यदि बँधती हो तो किसीको केवलज्ञान उत्पन्न न हो।

ज्ञानीपुरुष समतासे कल्याणका जो स्वरूप बताते हैं वह उपकारके लिये बताते हैं। ज्ञानीपुरुष मार्गमें भूले भटके जीवको सीधा रास्ता बताते हैं। जो ज्ञानीके मार्गपर चलता है उसका कल्याण होता है। ज्ञानीके वियोगके बाद बहुतसा काल बीत जाये तब अंधकार हो जानेसे अज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। और ज्ञानीपुरुषोंके वचन समझमें नहीं आते, जिससे लोगोंको उलटा भासता है। समझमें न आनेसे लोग गच्छके भेद बना डालते हैं। गच्छके भेद ज्ञानियोंने नहीं डाले। अज्ञानी मार्गका लोप करता है। जब ज्ञानी होते हैं तब मार्गका उद्योत करते हैं। अज्ञानी ज्ञानीका विरोध करते हैं। मार्गसन्मुख होना चाहिये, क्योंकि विरोध करनेसे तो मार्गका भान ही नहीं होता।

बाल और अज्ञानी जीव छोटी-छोटी बातोंमें भेद खड़ा कर देते हैं। तिलक और मुँहपत्ती इत्यादिके आग्रहमें कल्याण नहीं है। अज्ञानीको मतभेद करते हुए देर नहीं लगती। ज्ञानीपुरुष रूढ़िमार्गके बदले शुद्धमार्गका प्ररूपण करते हों तो भी जीवको भिन्न भासता है, और वह मानता है कि यह अपना धर्म नहीं है। जो जीव कदाग्रहरहित होता है वह शुद्धमार्गको स्वीकार करता है। जैसे व्यापार अनेक प्रकारके होते हैं परंतु लाभ एक ही प्रकारका होता हैं। विचारवानोंका तो कल्याणका मार्ग एक ही होता है। अज्ञानमार्गके अनन्त प्रकार है।

जैसे अपना लड़का कुबड़ा हो और दूसरेका लड़का बहुत रूपवान हो, परंतु राग अपने लड़केपर होता है, और वह अच्छा लगता है; उसी तरह जिस कुलधर्मको स्वयंने माना है, वह चाहे जैसा दोषवाला हो तो भी सच्चा लगता है। वैष्णव, बौद्ध, श्वेतांबर, ढूँढ़िया, दिगम्बर जैन आदि चाहे जो हो परंतु जो कदाग्रहरहित होकर शुद्ध समतासे अपने आवरणोंको घटायेगा उसीका कल्याण होगा।

सामायिक कायाके योगको रोकती है; आत्माको निर्मल करनेके लिये कायाके योगको रोकें। रोकनेसे परिणाममें कल्याण होता है। कायाकी सामायिक करनेकी अपेक्षा आत्माकी साम्मायिक एक बार करें। ज्ञानीपुरुषके वचन सुन सुनकर गाँठ बाँधें तो आत्माकी सामायिक होगी। इस कालमें आत्माकी सामायिक होती है। मोक्षका उपाय अनुभवगोचर है। जैसे अभ्यास करते-करते आगे बढ़ते हैं वैसे ही मोक्षके लिये भी है।

जब आत्मा कुछ भी क्रिया न करे तब अबंध कहा जाता है।

पुरुषार्थ करे तो कर्मसे मुक्त होता है। अनंतकालके कर्म हों, और यदि यथार्थ पुरुषार्थ करे तो कर्म यों नहीं कहते कि मैं नहीं जाऊँगा। दो घड़ीमें अनंत कर्मोंका नाश होता है। आत्माकी पहचान हो तो कर्मका नाश होता है।

प्र०—सम्यक्त्व किससे प्रगट होता है ?

उ०—आत्माका यथार्थ लक्ष्य होनेसे। सम्यक्त्वके दो प्रकार हैं—(१) व्यवहार और (२) परमार्थ। सद्गुरुके वचनोंका सुनना, उन वचनोंका विचार करना, उनकी प्रतीति करना, यह 'व्यवहार-सम्यक्त्व' है। आत्माकी पहचान हो, यह 'परमार्थ-सम्यक्त्व' है।

अंतःकरणकी शुद्धिके बिना बोध असर नहीं करता; इसलिये पहले अंतःकरणमें कोमलता लायें, व्यवहार और निश्चय इत्यादिकी मिथ्या चर्चामें निराग्रही रहें; मध्यस्थभावसे रहें। आत्माके स्वभावको जो आवरण है उसे ज्ञानी 'कर्म' कहते हैं।

जब सात प्रकृतियोंका क्षय हो तब सम्यक्त्व प्रगट होता है। अनंतानुबंधी चार कषाय, मिथ्यात्व-मोहनीय, मिश्रमोहनीय, समकितमोहनीय, इस सात प्रकृतियोंका क्षय हो जाये तब सम्यक्त्व प्रगट होता है।

प्र०—कषाय क्या है ?

उ०—सत्पुरुष मिलनेपर, जीवको वे बताये कि तू जो विचार किये बिना करता जाता है उसमें कल्याण नहीं है, फिर भी उसे करनेके लिये दुराग्रह रखना वह 'कषाय' है।

उन्मार्गको मोक्षमार्ग माने और मोक्षमार्गको उन्मार्ग माने, यह 'मिथ्यात्वमोहनीय' है।

उन्मार्गसे मोक्ष नहीं होता, इसलिये मार्ग दूसरा होना चाहिये, ऐसा जो भाव वह 'मिश्रमोहनीय' है।

'आत्मा यह होगा ?' ऐसा ज्ञान होना 'सम्यक्त्व मोहनीय' है।

'आत्मा यह है', ऐसा निश्चयभाव 'सम्यक्त्व' है।

ज्ञानीके प्रति यथार्थ प्रतीति हो और रात-दिन उस अपूर्व योगकी याद आती रहे तो सच्ची भक्ति प्राप्त होती है।

नियमसे जीव कोमल होता है, दया आती है। मनके परिणाम यदि उपयोगसहित हों तो कर्म कम लगते है उपयोगरहित हों तो कर्म अधिक लगते है। अन्तःकरणको कोमल करनेके लिये, शुद्ध करनेके लिये व्रत आदि करनेका विधान किया है। स्वादबुद्धिको कम करनेके लिये नियम करें। कुलधर्म जहाँ जहाँ देखते हैं वहाँ वहाँ आड़े आता है।

---

९ वडवा, भाद्रपद सुदी १३, शनि, १९५२

श्री वल्लभाचार्य कहते हैं कि श्रीकृष्ण गोपियोंके साथ रहते थे, उसे जानकर भक्ति करें। योगी

समझकर तो सारा जगत भक्ति करता है परंतु गृहस्थाश्रममें योगदशा है, उसे समझकर भक्ति करना वैराग्यका कारण है। गृहस्थाश्रममें सत्पुरुष रहते हैं उनका चित्र देखकर विशेष वैराग्यकी प्रतीति होती है। योगदशाका चित्र देखकर सारे जगतको वैराग्यकी प्रतीति होती है, परंतु गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी त्याग और वैराग्य योगदशा जैसे रहते हैं, यह कैसी अद्‌भुत दशा है! योगमें जो वैराग्य रहता है वैसा अखंड वैराग्य सत्पुरुष गृहस्थाश्रममें रखते हैं। उस अद्‌भुत वैराग्यको देखकर मुमुक्षुको वैराग्य, भक्ति होनेका निमित्त बनता है। लौकिकदृष्टिमें वैराग्य, भक्ति नहीं है।

पुरुषार्थ करना और सत्य रीतिसे वर्तन करना ध्यानमें ही नहीं आता। वह तो लोग भूल ही गये हैं।

लोग जब वर्षा आती है तब पानी टंकीमें भर रखते हैं, वैसे मुमुक्षुजीव इतना सारा उपदेश सुनकर जरा भी ग्रहण नहीं करते, यह एक आश्चर्य है। उनका उपकार किस तरह हो? सत्पुरुषकी वर्तमान स्थितिकी विशेष अद्भुतदशा है। सत्पुरुषके गृहस्थाश्रमकी सारी स्थिति प्रशस्त है। सभी योग पूजनीय हैं।

ज्ञानी दोष कम करनेके लिये अनुभवके वचन कहते हैं; इसलिये वैसे वचनोंका स्मरण करके यदि उन्हें समझा जाये, उनका श्रवण मनन हो तो सहजमें ही आत्मा उज्ज्वल होता है। वैसा करनेमें कुछ बहुत मेहनत नहीं है। वैसे वचनोंका विचार न करे, तो कभी भी दोष कम नहीं होते।

सदाचारका सेवन करना चाहिये। ज्ञानीपुरुषोंने दया, सत्य, अदत्तादान, ब्रह्मचर्य, परिग्रह-परिमाण आदि सदाचार कहे हैं। ज्ञानियोंने जिन सदाचारोंका सेवन करना कहा है वह यथार्थ है, सेवन करने योग्य है। बिना साक्षीके जीव व्रत, नियम न करे।

विषय-कषाय आदि दोष दूर हुए बिना सामान्य आशयवाले दया आदि भी नहीं आते; तो फिर गूढ़ आशयवाले दया आदि कहाँसे आयेंगे? विषय-कषायसहित मोक्षमें जाया नहीं जाता। अंतःकरणकी शुद्धिके बिना आत्मज्ञान नहीं होता। भक्ति सब दोषोंका क्षय करनेवाली है, इसलिये वह सर्वोत्कृष्ट है।

जीव विकल्पका व्यापार न करे। विचारवान अविचार और अकार्य करते हुए क्षोभ पाता है। अकार्य करते हुए जो क्षोभ नहीं पाता वह अविचारवान है। अकार्य करते हुए पहले जितना त्रास रहता है उतना दूसरी बार करते हुए नहीं रहता। इसलिये पहलेसे ही अकार्य करते हुए रुक जायें, दृढ़ निश्चय करके अकार्य न करें।

सत्पुरुष उपकारके लिये जो उपदेश करते हैं, उसे सुने और विचारे तो जीवके दोष अवश्य कम होते हैं। पारसमणिका संग हुआ, और लोहेका सुवर्ण न हुआ तो, या तो पारसमणि नहीं और या तो असली लोहा नहीं। उसी तरह जिसके उपदेशसे आत्मा सुवर्णमय न हो वह उपदेष्टा, या तो सत्पुरुष नहीं, और या तो उपदेश सुननेवाला योग्य जीव नहीं। योग्य जीव और सच्चे सत्पुरुष हो तो गुण प्रकट हुए बिना नहीं रहते।

लौकिक आलंबन करना ही नहीं। जीव स्वयं जागृत हो तो सभी विपरीत कारण दूर हो जाते हैं। जिस तरह कोई पुरुष घरमें निद्रावश है, उसके घरमें कुत्ते, बिल्ले आदि घुस जानेसे नुकसान करते हैं; और फिर वह पुरुष जागनेके बाद नुकसान करनेवाले कुत्ते आदि प्राणियोंका दोष निकालता है; परंतु अपना दोष नहीं निकालता कि मैं सो गया तो ऐसा हुआ; उसी तरह जीव अपने दोष नहीं देखता। स्वयं जागृत रहता हो तो सभी विपरीत कारण दूर हो जाते हैं; इसलिये स्वयं जागृत रहें।

जीव यों कहता है कि तृष्णा, अहंकार, लोभ आदि मेरे दोष दूर नहीं होते; अर्थात् जीव अपना दोष नहीं निकालता; और दोषोंका ही दोष निकालता है। जैसे सूर्यका ताप बहुत पड़ता है, इससे जीव बाहर

नहीं निकल सकता, इसलिये सूर्यका दोष निकालता है, परंतु छतरी और जूते सूर्यके तापसे बचनेके लिये बताये हैं, उनका उपयोग नहीं करता। ज्ञानीपुरुषोंने लौकिकभावको छोड़कर जिन विचारोंसे अपने दोष कम किये, नष्ट किये, वे विचार और वे उपाय ज्ञानी उपकारके लिये बताते हैं। उन्हें सुनकर वे आत्मामें परिणमित हो ऐसा पुरुषार्थ करे।

किस तरह दोष कम हो ? जीव लौकिक भाव, क्रिया किया करता है, और दोष क्यों कम नहीं होते यों कहा करता है !

जो जीव योग्य नहीं होता उसे सत्पुरुष उपदेश नहीं देते।

सत्पुरुषकी अपेक्षा मुमुक्षुका त्याग-वैराग्य बढ़ जाना चाहिये। मुमुक्षुओंको जागृत-जागृत होकर वैराग्य बढ़ाना चाहिये। सत्पुरुषका एक भी वचन सुनकर अपनेमें दोषोंके अस्तित्वका बहुत ही खेद करेगा और दोष कम करेगा तभी गुण प्रकट होंगे। सत्संग-समागमकी आवश्यकता है। बाकी सत्पुरुष तो, जैसे एक बटोही दूसरे बटोहीको रास्ता बताकर चला जाता है, उसी तरह रास्ता बताकर चले जाते हैं। गुरुपद धारण करनेके लिये अथवा शिष्य बनानेके लिये सत्पुरुषकी इच्छा नहीं है। सत्पुरुषके बिना एक भी आग्रह, कदाग्रह दूर नहीं होता। जिसका दुराग्रह दूर हुआ उसे आत्माका भान होता है। सत्पुरुषके प्रतापसे ही दोष कम होते हैं। भ्रांति दूर हो जाये तो तुरत सम्यक्त्व होता है।

बाहुबलीजीको जैसे केवलज्ञान पासमें—अंतरमें—था, कुछ बाहर न था, वैसे ही सम्यक्त्व अपने पास ही है।

शिष्य ऐसा हो कि सिर काट कर दे दे, तब ज्ञानी सम्यक्त्व प्राप्त कराते हैं। ज्ञानीपुरुषको नमस्कार आदि करना शिष्यके अहंकारको दूर करनेके लिये है। परंतु मनमें उथल-पुथल हुआ करे तो किनारा कब आयेगा ?

जीव अहंकार रखता है, असत् वचन बोलता है, भ्रांति रखता है; उसका उसे तनिक भी भान नहीं है। यह भान हुए बिना निबेडा आनेवाला नहीं है।

शूरवीर वचनोंके समान दूसरा एक भी वचन नहीं है। जीवको सत्पुरुषका एक शब्द भी समझमें नहीं आया। बड़प्पन बाधा डालता हो तो उसे छोड़ दे। ढूँढ़ियाने मुँहपत्ती और तपाने मूर्त्ति आदिका कदाग्रह पकड़ रखा है, परंतु वैसे कदाग्रहमें कुछ भी हित नहीं है। शौर्य करके आग्रह, कदाग्रहसे दूर रहें; परंतु विरोध न करें।

जब ज्ञानीपुरुष होते हैं तब मतभेद एवं कदाग्रह कम कर देते हैं। ज्ञानी अनुकंपाके लिये मार्गका बोध देते हैं। अज्ञानी कुगुरु जगह जगह मतभेद बढ़ाकर कदाग्रहको दृढ़ करते हैं।

सच्चे पुरुष मिलें, और वे जो कल्याणका मार्ग बतायें, उसीके अनुसार जीव वर्तन करे तो अवश्य कल्याण होता है। सत्पुरुषकी आज्ञाका पालन करना ही कल्याण है। मार्ग विचारवानको पूछें। सत्पुरुषके आश्रयसे सदाचरण करें। खोटी बुद्धि सभीको हैरान करनेवाली है, पापकारी है। जहाँ ममत्व हो वहीं मिथ्यात्व है। श्रावक सब दयालु होते हैं। कल्याणका मार्ग एक ही होता है, सौ दो सौ नहीं होते। अंदरके दोषोंका नाश होगा, और समपरिणाम आयेगा तो ही कल्याण होगा।

जो मतभेदका छेदन करे वही सच्चा पुरुष है। जो समपरिणामके रास्तेपर चढ़ाये वह सच्चा संग है। विचारवानको मार्गका भेद नहीं है।

हिंदु और मुसलमान सरीखे नहीं है। हिंदुओंके धर्मगुरु जो धर्मबोध कह गये थे उसे बहुत उपकारके

लिये कह गये थे। वैसा बोध पीराना मुसलमानोंके शास्त्रोंमें नहीं है। आत्मापेक्षासे कुनबी, बनिया, मुसलमान कोई नहीं है। वह भेद जिसका दूर हो गया है, वही शुद्ध है; भेद भासना ही अनादि भूल है। कुलाचारके अनुसार जिसे सच्चा माना वही कषाय है।

प्र०—मोक्ष क्या है ?

उ०—आत्माकी अत्यंत शुद्धता, अज्ञानसे छूट जाना, सब कर्मोंसे मुक्त होना 'मोक्ष' है। यथातथ्य ज्ञानके प्रगट होनेपर मोक्ष होता है। जब तक भ्रांति है तब तक आत्मा जगतमें ही है। अनादिकालका जो चेतन है उसका स्वभाव जानना अर्थात् ज्ञान है, फिर भी जीव भूल जाता है वह क्या है ? जाननेमें न्यूनता है, यथातथ्य ज्ञान नहीं है। वह न्यूनता किस तरह दूर हो ? उस ज्ञानरूपी स्वभावको भूल न जाये, उसे वारंवार दृढ़ करे तो न्यूनता दूर होती है। ज्ञानीपुरुषके वचनोंका आलंबन लेनेसे ज्ञान होता है। जो साधन हैं वे उपकारके हेतु है। जैसा जैसा अधिकारी वैसा वैसा उनका फल होता है। सत्पुरुषके आश्रयसे ले तो साधन उपकारके हेतु हैं। सत्पुरुषकी दृष्टिसे चलनेसे ज्ञान होता है। सत्पुरुषके वचन आत्मामें परिणत होनेपर मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, अशुभयोग इत्यादि सभी दोष अनुक्रमसे शिथिल पड़ जाते हैं। आत्मज्ञानका विचार करनेसे दोषोंका नाश होता है। सत्पुरुष पुकार पुकार कर कह गये हैं, परंतु जीवको लोकमार्गमें पड़े रहना है; और लोकोत्तर कहलवाना है; और दोष दूर क्यों नहीं होते यों मात्र कहते रहना है। लोकका भय छोड़कर सत्पुरुषके वचनोंको आत्मामें परिणत करे, तो सब दोष दूर हो जाते हैं। जीव ममत्व न रखे; बड़प्पन और महत्ता छोड़े बिना आत्मामें सम्यक्त्वका मार्ग परिणमित होना कठिन है।

वर्तमानमें स्वच्छंदसे वेदांतशास्त्र पढ़े जाते हैं, और इससे शुष्कता जैसा हो जाता है। षड्दर्शनमें झगड़ा नहीं है, परंतु आत्माको केवल मुक्तदृष्टिसे देखते हुए तीर्थंकरने लंबा विचार किया है। मूल लक्ष्यगत होनेसे जो जो वक्ताओं (सत्पुरुषों) ने कहा है, वह यथार्थ है, ऐसा मालूम होगा।

आत्मामें कभी भी विकार उत्पन्न न हो, तथा रागद्वेषपरिणाम न हो, तभी केवलज्ञान कहा जाता है। षड्दर्शनवालोंने जो विचार किये हैं उससे आत्माका उन्हें भान होता है, परंतु तारतम्यमें भेद पड़ता है। मूलमें भूल नहीं है। परंतु षड्दर्शनको अपनी समझसे लगाये तो कभी नहीं लगते अर्थात् समझमें नहीं आते। सत्पुरुषके आश्रयसे वे समझमें आते हैं। जिसने आत्माको असंग, निष्क्रिय विचारा हो उसे भ्रांति नहीं होती, संशय भी नहीं होता। फिर आत्माके अस्तित्वका भी प्रश्न नहीं रहता।

प्र०—सम्यक्त्व कैसे ज्ञात हो ?

उ०—अंदरसे दशा बदले तब सम्यक्त्वका ज्ञान अपने आप स्वयंको हो जाता है। सद्देव अर्थात् रागद्वेष और अज्ञान जिसके क्षीण हुए है वह। सद्गुरु किसे कहा जाता है ? मिथ्यात्वकी ग्रंथि जिसकी छिन्न हो गयी है उसे। सद्गुरु अर्थात् निर्ग्रंथ। सद्धर्म अर्थात् ज्ञानीपुरुषों द्वारा बोधित धर्म। इन तीन तत्त्वोंको यथार्थरूपसे जाने तब सम्यक्त्व हुआ समझा जाता है।

अज्ञान दूर करनेके लिये कारण, साधन बताये हैं। ज्ञानका स्वरूप जब जाने तब मोक्ष होता है।

परम वैद्यरूपी सद्गुरु मिले और उपदेशरूपी दवा आत्मामें परिणमित हो तब रोग दूर होता है। परंतु उस दवाको अंतरमें ग्रहण न करे, तो उसका रोग कभी दूर नहीं होता। जीव वास्तविक साधन नहीं करता। जिस तरह सारे कुटुंबको पहचानना हो तो पहले एक व्यक्तिको पहचाने तो सबकी पहचान हो जाती है, उसी तरह पहले सम्यक्त्वकी पहचान हो तब आत्माके समस्त गुणरूपी परिवारकी पहचान हो

जाती है। सम्यक्त्वको सर्वोत्कृष्ट साधन कहा है। बाह्य वृत्तियोंको कम करके अंतर्परिणाम करे तो सम्यक्त्वका मार्ग मिलता है। चलते चलते गाँव आता है, परंतु बिना चले गाँव नहीं आता। जीवको यथार्थ सत्पुरुषकी प्राप्ति और प्रतीति नहीं हुई है।

बहिरात्मामेंसे अंतरात्मा होनेके बाद परमात्मत्व प्राप्त होना चाहिये। जैसे दूध और पानी अलग हैं वैसे सत्पुरुषके आश्रयसे, प्रतीतिसे देह और आत्मा अलग हैं ऐसा भान होता है। अंतरमें अपने आत्मानुभवरूपसे जैसे दूध और पानी भिन्न भिन्न होते हैं, वैसे ही देह और आत्मा भिन्न भिन्न लगते हैं तब परमात्मत्व प्रगट होता है। जिसे आत्माका विचाररूपी ध्यान है, सतत निरंतर ध्यान है, आत्मा जिसे स्वप्नमें भी अलग ही भासता है, कभी जिसे आत्माकी भ्रांति होती ही नहीं उसीको परमात्मत्व होता है।

अंतरात्मा कषाय आदि दूर करनेके लिये निरंतर पुरुषार्थ करता है। चौदहवें गुणस्थान तक यह विचाररूपी क्रिया है। जिसे वैराग्य उपशम रहता हो उसीको विचारवान कहते हैं। आत्मा मुक्त होनेके बाद संसारमें नहीं आता। आत्मा स्वानुभवगोचर है, वह चक्षुसे दीखता नहीं है, इंद्रियसे रहित ज्ञान उसे जानता है। आत्माका उपयोग मनन करे वह मन है। लगाव है इसलिये मन भिन्न कहा जाता है। संकल्प-विकल्प छोड़ देना 'उपयोग' है। ज्ञानको आवरण करनेवाला निकाचित कर्म जिसने न बाँधा हो उसे सत्पुरुषका बोध लगता है। आयुका बंध हो उसे रोका नहीं जाता।

जीवने अज्ञानको ग्रहण किया है इसलिये उपदेश नहीं लगता। क्योंकि आवरणके कारण उपदेश लगनेका कोई रास्ता नहीं है। जब तक लोकके अभिनिवेशकी कल्पना करते रहें तब तक आत्मा ऊँचा नहीं उठता, और तब तक कल्याण भी नहीं होता। बहुतसे जीव सत्पुरुषका बोध सुनते हैं, परंतु उसे विचारनेका योग नहीं बनता।

इंद्रियोंके निग्रहका न होना, कुलधर्मका आग्रह, मानश्लाघाकी कामना, और अमध्यस्थता, यह कदाग्रह है। इस कदाग्रहको जीव जब तक नहीं छोड़ता तब तक कल्याण नहीं होता। नव पूर्व पढ़े तो भी जीव भटका। चौदह राजलोक जाने परंतु देहमें रहे हुए आत्माको नहीं पहचाना, इसलिये भटका! ज्ञानीपुरुष सभी शंकाएँ दूर कर सकते हैं; परंतु तरनेका कारण है सत्पुरुषकी दृष्टिसे चलना, और तभी दुःख मिटता है। आज भी पुरुषार्थ करे तो आत्मज्ञान होता है। जिसे आत्मज्ञान नहीं है उससे कल्याण नहीं होता।

व्यवहार जिसका परमार्थ है ऐसे आत्मज्ञानीकी आज्ञासे वर्तन करनेपर आत्मा लक्ष्यगत होता है, कल्याण होता है।

जीवको बंध कैसे पड़ता है? निकाचित संबंधी—उपयोगसे, अनुपयोगसे।

आत्माका मुख्य लक्षण उपयोग है। आत्मा तिलमात्र दूर नहीं है, बाहर देखनेसे दूर भासता है; परंतु वह अनुभवगोचर है। यह नहीं, यह नहीं, यह नहीं इससे भिन्न जो रहा सो वह है।

जो आकाश दीखता है वह आकाश नहीं है। आकाश चक्षुसे नहीं दीखता। आकाशको अरूपी कहा है।

आत्माका भान स्वानुभवसे होता है। आत्मा अनुभवगोचर है। अनुमान जो है वह माप है। अनुभव जो है वह अस्तित्व है।

आत्मज्ञान सहज नहीं है। 'पंचीकरण', 'विचारसागर' को पढ़कर कथन मात्र माननेसे ज्ञान नहीं होता। जिसे अनुभव हुआ है ऐसे अनुभवीके आश्रयसे उसे समझकर उसकी आज्ञाके अनुसार वर्तन करे

तो ज्ञान होता है। समझे बिना रास्ता अति विकट है। हीरा निकालनेके लिये खान खोदनेमें तो मेहनत है, परंतु हीरा लेनेमें मेहनत नहीं है। इसी तरह आत्मा संबंधी समझ आना दुष्कर है, नहीं तो आत्मा कुछ दूर नहीं है। भान न होनेसे दूर लगता है। जीवको कल्याण करने न करनेका भान नहीं है; परंतु अपनापन रखना है।

चौथे गुणस्थानमें ग्रंथिभेद होता है। ग्यारहवेंसे पड़ता है उसे 'उपशम सम्यक्त्व' कहा जाता है। लोभ चारित्रको गिरानेवाला है। चौथे गुणस्थानमें उपशम और क्षायिक दोनों होते हैं। उपशम अर्थात् सत्तामें आवरणका रहना। कल्याणके सच्चे कारण जीवके ख्यालमें नहीं है। जो शास्त्र वृत्तिको संक्षिप्त न करें, वृत्तिको संकुचित न करें अपितु उसे बढ़ायें, ऐसे शास्त्रोंमें न्याय कहाँसे होगा ?

व्रत देनेवाले और व्रत लेनेवाले दोनों विचार तथा उपयोग रखें। उपयोग न रखें और भार रखें तो निकाचित कर्म बाँधे। 'कम करना', परिग्रह मर्यादा करना ऐसा जिसके मनमें हो वह शिथिल कर्म बाँधे। पाप करनेपर कुछ मुक्ति नहीं होती। एक व्रत मात्र लेकर जो अज्ञानको निकालना चाहता है ऐसे जीवको अज्ञान कहता है कि तेरे कितने ही चारित्र मैं खा गया हूँ, तो इसमें क्या बड़ी बात है ?

जो साधन बताये वे तरनेके साधन हों तो ही सच्चे साधन हैं। बाकी निष्फल साधन हैं। व्यवहारमें अनंत भंग उठते हैं; तो कैसे पार आयेगा ? कोई आदमी जोरसे बोले उसे कषाय कहा जाता है। कोई धीरजसे बोले तो उसे शांति है ऐसा लगता है, परंतु अंतर्परिणाम हो तो ही शांति कही जाती है।

जिसे सोनेके लिये एक बिस्तर चाहिये वह दस घर खुले रखे तो ऐसे मनुष्यकी वृत्ति कब संकुचित होगी ? जो वृत्तिको रोके उसे पाप नहीं होता। कितने ही जीव ऐसे हैं कि जिनसे वृत्ति न रुके ऐसे कारण इकट्ठे करते हैं; इससे पाप नहीं रुकता।

१०

भाद्रपद सुदी १५, १९५२

चौदह राजूलोककी जो कामना है वह पाप है। इसलिये परिणाम देखें। चौदह राजूलोकका पता नहीं ऐसा कदाचित् कहें, तो भी जितना सोचा उतना तो अवश्य पाप हुआ। मुनिको तिनका भी लेनेकी छूट नहीं है। गृहस्थ इतना ले तो उतना उसे पाप है।

जड़ और आत्मा तन्मय नहीं होते। सूतकी आँटी सूतसे कुछ भिन्न नहीं है, परंतु आँटी खोलनेमें विकटता है; यद्यपि सूत्र न घटता है और न बढ़ता है। उसी तरह आत्मामें आँटी पड़ गयी है।

सत्पुरुष और सत्शास्त्र यह व्यवहार कुछ कल्पित नहीं है। सद्गुरु, सत्शास्त्ररूपी व्यवहारसे स्वरूप शुद्ध हो, केवल रहे, अपना स्वरूप समझे वह समकित है। सत्पुरुषका वचन सुनना दुर्लभ है, श्रद्धा करना दुर्लभ है, विचारना दुर्लभ है, तो फिर अनुभव करना दुर्लभ हो इसमें क्या नवीनता ?

उपदेशज्ञान अनादिसे चला आता है, अकेली पुस्तकसे ज्ञान नहीं होता। पुस्तकसे ज्ञान होता हो तो पुस्तकका मोक्ष हो जाये। सद्गुरुकी आज्ञानुसार चलनेमें भूल हो जाये तो पुस्तक अवलंबनभूत है। चैतन्यकी रटन रहे तो चैतन्य प्राप्त होता है, चैतन्य अनुभवगोचर होता है। सद्गुरुके वचनका श्रवण करे, मनन करे, और आत्मामें परिणत करे तो कल्याण होता है।

ज्ञान और अनुभव हो तो मोक्ष होता है। व्यवहारका निषेध न करें, अकेले व्यवहारको पकड़ न रखें।

आत्मज्ञानकी बात इस तरह करना योग्य नहीं कि वह सामान्य हो जाये। आत्मज्ञानकी बात एकांत

में कहें। आत्माके अस्तित्वका विचार किया जाये, तो अनुभवमें आता है; नहीं तो उसमें शंका होती है। जैसे किसी मनुष्यको अधिक पटल होनेसे नहीं दीखता, उसी तरह आवरणकी संलग्नताके कारण आत्माको नहीं दीखता। नींदमें भी आत्माको सामान्यतः जागृति रहती है। आत्मा सर्वथा नहीं सोता; उसपर आवरण आ जाता है। आत्मा हो तो ज्ञान होता है। जड़ हो तो ज्ञान किसे हो ?

अपनेको अपना भान होना, स्वयं अपना ज्ञान पाना, जीवन्मुक्त होना।

चैतन्य एक हो तो भ्रांति किसे हुई ? मोक्ष किसका हुआ ? सभी चैतन्यकी जाति एक है, परंतु प्रत्येक चैतन्यकी स्वतंत्रता है, भिन्न भिन्न है। चैतन्यका स्वभाव एक है। मोक्ष स्वानुभवगोचर है। निरावरणमें भेद नहीं है। परमाणु एकत्रित न हों अर्थात् आत्माका जब परमाणुसे संबंध न हो तब मुक्ति है, परस्वरूपमें नहीं मिलना वह मुक्ति है।

कल्याण करने, न करनेका तो भान नहीं है; परंतु जीवको अपनापन रखना है। बंध कब तक होता है ? जीव चैतन्य न हो तब तक। एकेंद्रिय आदि योनि हो तो भी जीवका ज्ञानस्वभाव सर्वथा लुप्त नहीं हो जाता, अंशसे खुला रहता है। अनादि कालसे जीव बँधा हुआ है। निरावरण होनेके बाद नहीं बँधता। 'मैं जानता हूँ,' ऐसा जो अभिमान है वह चैतन्यकी अशुद्धता है। इस जगतमें बंध और मोक्ष न होते तो फिर श्रुतिका उपदेश किसके लिये ? आत्मा स्वभावसे सर्वथा निष्क्रिय है, प्रयोगसे सक्रिय है। जब निर्विकल्प समाधि होती है तभी निष्क्रियता कही है। निर्विवादरूपसे वेदांतका विचार करनेमें बाधा नहीं है। आत्मा अर्हंतपदका विचार करे तो अर्हंत होता है। सिद्धपदका विचार करे तो सिद्ध होता है। आचार्यपदका विचार करे तो आचार्य होता है। उपाध्यायका विचार करे तो उपाध्याय होता है। स्त्रीरूपका विचार करे तो स्त्री हो जाता है; अर्थात् आत्मा जिस स्वरूपका विचार करे तद्रूप भावात्मा हो जाता है। आत्मा एक है या अनेक है इसकी चिंता न करें। हमें तो यह विचार करनेकी जरूरत है कि 'मैं एक हूँ'। जगतको मिलानेकी क्या जरूरत है ? एक अनेकका विचार बहुत आगेकी दशामें पहुँचनेके बाद करना है। जगत और आत्माको स्वप्नमें भी एक न समझें। आत्मा अचल है, निरावरण है। वेदांत सुनकर भी आत्माको पहचानें। आत्मा सर्वव्यापक है या आत्मा देहमें है, यह प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है।

सभी धर्मोंका तात्पर्य यह है कि आत्माको पहचानें। दूसरे सब जो साधन हैं, वे जिस जगह चाहिये (योग्य हैं) वहाँ ज्ञानीकी आज्ञासे उपयोग करते हुए अधिकारी जीवको फल होता है। दया आदि आत्माके निर्मल होनेके साधन हैं।

मिथ्यात्व, प्रमाद, अव्रत, अशुभयोग, ये अनुक्रमसे जायें तो सत्पुरुषका वचन आत्मामें परिणाम पाता है; उससे सभी दोषोंका अनुक्रमसे नाश होता है। आत्मज्ञान विचारसे होता है। सत्पुरुष तो पुकार पुकार कर कह गये हैं; परंतु जीव लोकमार्गमें पड़ा है, और उसे लोकोत्तरमार्ग मानता है। इसलिये किसी तरह भी दोष नहीं जाते। लोकका भय छोड़कर सत्पुरुषोंके वचन आत्मामें परिणमित करे तो सब दोष चले जाते हैं। जीव ममत्व न लाये; बड़प्पन और महत्ता छोड़े बिना सम्यक् मार्ग आत्मामें परिणाम नहीं पाता।

ब्रह्मचर्यके विषयमें—परमार्थहेतु नदी उतरनेके लिये ठंडे पानीकी मुनिको आज्ञा दी है, परंतु अब्रह्मचर्यकी आज्ञा नहीं दी है, और उसके लिये कहा है कि अल्प आहार करना, उपवास करना, एकांतर करना, अंतमें जहर खाकर मर जाना; परंतु ब्रह्मचर्यका भंग मत करना।

जिसे देहकी मूर्च्छा हो उसे कल्याण किस तरह भासे ? साँप काटे और भय न हो तब समझना कि आत्मज्ञान प्रगट हुआ है। आत्मा अजर अमर है। 'मैं' मरनेवाला नहीं, तो मरनेका भय क्या ? जिसकी

देहकी मूर्च्छा चली गयी है उसे आत्मज्ञान हुआ कहा जाता है।

प्रश्न–जीव कैसे वर्तन करे ?

उत्तर–ऐसे वर्तन करे कि सत्संगके योगसे आत्माकी शुद्धता प्राप्त हो। परंतु सत्संगका योग सदा नहीं मिलता। जीव योग्य होनेके लिये हिंसा न करे, सत्य बोले, अदत्त न ले, ब्रह्मचर्य पाले, परिग्रहकी मर्यादा करे, रात्रिभोजन न करे इत्यादि सदाचरण शुद्ध अंतःकरणसे करनेका ज्ञानियोंने कहा है; वह भी यदि आत्माके लिये ध्यान रखकर किया जाता हो तो उपकारी है, नहीं तो पुण्ययोग प्राप्त होता है। उससे मनुष्यभव मिलता है, देवगति मिलती है, राज्य मिलता है, एक भवका सुख मिलता है, और फिर चार गतिमें भटकना होता है; इसलिये ज्ञानियोंने तप आदि जो क्रियाएँ आत्माके उपकारके लिये अहंकाररहित भावसे करनेके लिये कही हैं, उनका परमज्ञानी स्वयं भी जगतके उपकारके लिये निश्चयसे सेवन करते हैं।

महावीरस्वामीने केवलज्ञान उत्पन्न होनेके बाद उपवास नहीं किये, उसी तरह किसी ज्ञानीने भी नहीं किये; तथापि लोगोंके मनमें ऐसा न आये कि ज्ञान होनेके बाद खाना पीना सब एकसा है, इसलिये अंतिम समयमें तपकी आवश्यकता बतानेके लिये उपवास किये, दानको सिद्ध करनेके लिये दीक्षा लेनेसे पहले स्वयं वर्षीदान दिया, इससे जगतको दान सिद्ध कर दिखाया। मातापिताकी सेवा सिद्ध कर दिखायी। छोटी उमरमें दीक्षा नहीं ली वह उपकारके लिये। नहीं तो अपनेको करना, न करना कुछ नहीं है, क्योंकि जो साधन कहे हैं वे आत्मलक्ष्य करनेके लिये हैं, जो स्वयंको तो संपूर्ण प्राप्त हुआ है। परंतु परोपकारके लिये ज्ञानी सदाचरणका सेवन करते हैं।

अभी जैनधर्ममें बहुत समयसे अव्यवहृत कुएँकी भाँति आवरण आ गया है; कोई ज्ञानीपुरुष है नहीं। कितने ही समयसे ज्ञानी हुए नहीं; क्योंकि, नहीं तो उसमें इतने अधिक कदाग्रह न होते। इस पंचम कालमें सत्पुरुषका योग मिलना दुर्लभ है; उसमें अभी तो विशेष दुर्लभ देखनेमें आता है; प्रायः पूर्वके संस्कारी जीव देखनेमें नहीं आते। बहुतसे जीवोंमें कोई ही सच्चा मुमुक्षु, जिज्ञासु देखनेमें आता है; बाकी तो तीन प्रकारके जीव देखनेमें आते है; जो बाह्यदृष्टिवाले हैं–

(१) 'क्रिया नहीं करना, क्रियासे देवगति प्राप्त होती है, दूसरा कुछ प्राप्त नहीं होता। जिससे चार गतियोंका भटकना मिटे, यह यथार्थ है।' ऐसा कहकर सदाचरणको पुण्यका हेतु मानकर नहीं करते; और पापके कारणोंका सेवन करते हुए नहीं रुकते। इस प्रकारके जीवोंको कुछ करना ही नहीं है, और केवल बड़ी बड़ी बातें ही करनी है। इन जीवोंको 'अज्ञानवादी'के तौरपर रखा जा सकता है।

(२) 'एकांत क्रिया करनी, उसीसे कल्याण होगा', ऐसा माननेवाले एकदम व्यवहारमें कल्याण मानकर कदाग्रह नहीं छोड़ते। ऐसे जीवोंको 'क्रियावादी' अथवा 'क्रियाजड़' समझें। क्रियाजड़को आत्माका लक्ष्य नहीं होता।

(३) 'हमें आत्मज्ञान है। आत्माको भ्रांति होती ही नहीं, आत्मा कर्ता भी नहीं और भोक्ता भी नहीं है; इसलिये कुछ नहीं है।' ऐसा बोलनेवाले 'शुष्क-अध्यात्मी' पोले ज्ञानी होकर अनाचारका सेवन करते हुए नहीं रुकते।

ऐसे तीन प्रकारके जीव अभी देखनेमें आते हैं। जीवको जो कुछ करना है वह आत्माके उपकार के लिये करना है, इस बातको वे भूल गये हैं। आजकल जैनमें चौरासीसे सौ गच्छ हो गये हैं। उन सबमें कदाग्रह हो गये हैं; फिर भी वे सब कहते हैं कि 'जैनधर्ममें हम ही हैं, जैनधर्म हमारा है'।

'पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि' आदि पाठका लोकमें अभी ऐसा अर्थ प्रचलित हुआ मालूम होता है कि 'आत्माका व्युत्सर्जन करता हूँ,' अर्थात् जिसका अर्थ आत्माका उपकार करना है, उसीको, आत्माको ही भूल गये हैं। जैसे बारात चढ़ी हो और विविध वैभव आदि हों, परंतु यदि एक वर न हो तो बारात शोभित नहीं होती और वर हो तो शोभित होती है; उसी तरह क्रिया, वैराग्य आदि यदि आत्माका ज्ञान हो तो शोभा देते हैं, नहीं तो शोभा नहीं देते। जैनोंमें अभी आत्मा भुला दिया गया है।

सूत्र, चौदहपूर्वका ज्ञान, मुनिपन, श्रावकपन, हजारों तरहके सदाचरण, तपश्चर्या, आदि जो जो साधन, जो जो परिश्रम, जो जो पुरुषार्थ कहे हैं वे सब एक आत्माको पहचाननेके लिये, खोज निकालनेके लिये कहे हैं। वे प्रयत्न यदि आत्माको पहचाननेके लिये, खोज निकालनेके लिये, आत्माके लिये हों तो सफल हैं, नहीं तो निष्फल हैं। यद्यपि उनसे बाह्य फल होता है, परंतु चार गतिका नाश नहीं होता। जीवको सत्पुरुषका योग मिले, और लक्ष्य हो तो वह सहजमें ही योग्य जीव होता है; और फिर सद्गुरुकी आस्था हो तो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

(१) शम=क्रोध आदिको कृश करना।

(२) संवेग=मोक्षमार्गके सिवाय और किसी इच्छाका न होना।

(३) निर्वेद=संसारसे थक जाना, संसारसे रुक जाना।

(४) आस्था=सच्चे गुरुकी, सद्गुरुकी आस्था होना।

(५) अनुकंपा=सब प्राणियोंपर समभाव रखना, निर्वैर बुद्धि रखना।

ये गुण समकिती जीवमें सहज होते हैं। पहले सच्चे पुरुषकी पहचान हो तो फिर ये चार गुण आते हैं।

वेदांतमें विचार करनेके लिये षट्संपत्ति बतायी है। विवेक, वैराग्य आदि सद्गुण प्राप्त होनेके बाद जीव योग्य मुमुक्षु कहा जाता है।

नय आत्माको समझनेके लिये कहे हैं, परंतु जीव तो नयवादमें उलझ जाते हैं। आत्माको समझाने जाते हुए नयमें उलझ जानेसे यह प्रयोग उलटा पड़ा। समकितदृष्टि जीवको 'केवलज्ञान' कहा जाता है। वर्तमानमें भान हुआ है, इसलिये 'देश केवलज्ञान' हुआ कहा जाता है; बाकी तो आत्माका भान होना ही केवलज्ञान है। यह इस तरह कहा जाता है—समकितदृष्टिको आत्माकाभान हुआ, तब उसे केवलज्ञानका भान प्रगट हुआ; और उसका भान प्रगट हुआ तो केवलज्ञान अवश्य होनेवाला है। इसलिये इस अपेक्षासे समकितदृष्टिको केवलज्ञान कहा है। सम्यक्त्व हुआ अर्थात् जमीन जोत कर बीजको बो दिया, वृक्ष हुआ, फल थोड़े खाये, खाते खाते आयु पूरी हुई, तो फिर दूसरे भवमें फल खाये जायेंगे। इसलिये 'केवलज्ञान' इस कालमें नहीं है, नहीं है ऐसा उलटा न मानना और न कहना। सम्यक्त्व प्राप्त होनेसे अनंत भव दूर होकर एक भव बाकी रहा, इसलिये सम्यक्त्व उत्कृष्ट है। आत्मामें केवलज्ञान है, परंतु आवरण दूर होनेपर केवलज्ञान प्रगट होता है। इस कालमें संपूर्ण आवरण दूर नहीं होता, एक भव बाकी रह जाता है; अर्थात् जितना केवलज्ञानावरणीय दूर होता है उतना केवलज्ञान होता है। समकित आनेपर भीतरमें—अंतरमें दशा बदलती है; केवलज्ञानका बीज प्रगट होता है। सद्गुरुके बिना मार्ग नहीं है ऐसा महापुरुषोंने कहा है। यह उपदेश बिना कारण नहीं किया।

समकिती अर्थात् मिथ्यात्वमुक्त; केवलज्ञानी अर्थात् चारित्रावरणसे संपूर्णतया मुक्त; और सिद्ध

अर्थात् देह आदिसे संपूर्णतया मुक्त।

प्रश्न–कर्म कैसे कम होते हैं ?

उत्तर–क्रोध न करे, मान न करे, माया न करे, लोभ न करे, उससे कर्म कम होते हैं।

बाह्य क्रिया करूँगा तो मनुष्यजन्म मिलेगा, और किसी दिन सच्चे पुरुषका योग मिलेगा।

प्रश्न–व्रत नियम करना या नहीं ?

उत्तर–व्रतनियम करना है। उसके साथ झगड़ा, क्लेश, बाल-बच्चे और घरमें ममत्व नहीं करना। ऊँची दशामें जानेके लिये व्रत-नियम करना।

सच्चे झूठेकी परीक्षा करनेके बारेमें एक सच्चे भक्तका दृष्टांत–एक राजा बहुत भक्तिवाला था; और इसलिये वह भक्तोंकी सेवा बहुत करता; बहुतसे भक्तोंका अन्न, वस्त्र आदिसे पोषण करनेसे बहुत भक्त इकट्ठे हो गये। मंत्रीने सोचा कि राजा भोला है; भक्त ठग है; इसलिये इस बातकी राजाको परीक्षा कराई जाये। परंतु अभी राजाको प्रेम बहुत है, इसलिये मानेगा नहीं; इसलिये किसी अवसरपर बात करेंगे, ऐसा विचारकर कुछ समय ठहरकर कोई अवसर मिलनेसे उसने राजासे कहा–'आप बहुत समयसे सभी भक्तोंकी सरीखी सेवा-चाकरी करते हैं, परंतु उनमें कोई बडे होंगे कोई छोटे होंगे। इसलिये सबको पहचानकर भक्ति करें।' तब राजाने हाँ कहकर पूछा–'तब कैसे करना ?' राजाकी अनुमति लेकर मंत्रीने जो दो हजार भक्त थे उन सबको इकट्ठा करके कहलवाया–'आप सब दरवाजेके बाहर आइये; क्योंकि राजाको जरूरत होनेसे आज भक्त-तेल निकालना है। आप सब बहुत दिनोंसे राजाका माल मलीदा खाते हैं, तो आज राजाका इतना काम आपको करना ही चाहिये।' घानीमें ड़ालकर तेल निकालनेका सुना कि सभी भक्त तो भागने लगे, और पलायन कर गये। एक सच्चा भक्त था उसने विचार किया– "राजाका नमक खाया है तो उसका नमकहराम क्यों हुआ जाये ? राजाने परमार्थ समझकर अन्न दिया है; इसलिये राजा जैसे चाहे वैसे करने देना चाहिये।' ऐसा विचार कर घानीके पास जाकर कहा–"आपको भक्त-तेल निकालना हो तो निकालें।" फिर मंत्रीने राजासे कहा–"देखिये, आप सब भक्तोंकी सेवा करते थे; परंतु सच्चे-झूठेकी परीक्षा नहीं थी।" देखिये, इस तरह सच्चे जीव तो विरले ही होते हैं, और ऐसे विरल सच्चे सद्गुरुकी भक्ति श्रेयस्कर है। सच्चे सद्गुरुकी भक्ति मन, वचन और कायासे करें।

एक बात समझमें न आये तब तक दूसरी बात सुननी किस कामकी ? एक बार सुना वह समझमें न आये तब तक दूसरी बार न सुनें। सुने हुएको न भूलें, जैसे एक बार खाया, उसके पचे बिना और न खायें। तप इत्यादि करना यह कोई महाभारत काम नहीं है, इसिलये तप करनेवाला अहंकार न करे। तप यह छोटेसे छोटा भाग है। भूखा रहना और उपवास करना उसका नाम तप नहीं है। भीतरसे शुद्ध अंतःकरण हो तब तप कहा जाता है; और तब मोक्षगति होती है। बाह्य तप शरीरसे होता है। तपके छः प्रकार है–(१) अंतर्वृत्ति होना, (२) एक आसनसे कायाको बिठाना, (३) कम आहार करना, (४) नीरस आहार करना, और वृत्तियोंको कम करना, (५) संलीनता, (६) आहारका त्याग।

तिथिके लिये उपवास नहीं करना है; परंतु आत्माके लिये उपवास करना है। बारह प्रकारका तप कहा है। उसमें आहार न करना, इस तपको जिह्वाइन्द्रियको वश करनेका उपाय समझकर कहा है। जिह्वाइन्द्रिय वशकी तो यह सभी इन्द्रियोंके वश होनेका निमित्त है। उपवास करें तो इसकी बात बाहर न करें, दूसरेकी निंदा न करें, क्रोध न करें। यदि ऐसे दोष कम हो तो बड़ा लाभ होता है। तप आदि

आत्माके लिये करना है; लोगोंको दिखानेके लिये नहीं करना है। कषाय कम हो उसे 'तप' कहा है। लौकिक दृष्टिको भूल जाये। लोग तो जिस कुलमें जन्म लेते हैं उस कुलके धर्मको मानते हैं और वहाँ जाते हैं। परंतु वह तो नाममात्र धर्म कहा जाता है; परंतु मुमुक्षु वैसा न करे।

सब सामायिक करते हैं, और कहते हैं कि जो ज्ञानी स्वीकार करे वह सच है। समकित होगा या नहीं, उसे भी ज्ञानी स्वीकार करे तो सच्चा है। परंतु ज्ञानी क्या स्वीकार करे? अज्ञानी स्वीकार करे ऐसा तो आपका सामायिक, व्रत और समकित है। अर्थात् आपके सामायिक, व्रत और समकित वास्तविक नहीं हैं। मन, वचन और काया व्यवहारसमतामें स्थिर रहें यह समकित नहीं है। जैसे नींदमें स्थिर योग मालूम पड़ता है, फिर भी वह वस्तुतः स्थिर नहीं है, और इसलिये वह समता भी नहीं है। मन, वचन, काया चौदहवें गुणस्थान तक होते हैं, मन तो कार्य किये बिना बैठता ही नहीं है। केवलीका मन-योग चपल होता है, परंतु आत्मा चपल नहीं होता। आत्मा चौथे गुणस्थानकमें अचपल होता है, परंतु सर्वथा नहीं।

'ज्ञान' अर्थात् आत्माको यथातथ्य जानना। 'दर्शन' अर्थात् आत्माकी यथातथ्य प्रतीति। 'चारित्र' अर्थात् आत्माका स्थिर होना।

आत्मा और सद्गुरु एक ही समझें। यह बात विचारसे ग्रहण होती है। वह विचार यह कि देह नहीं अथवा देहसंबंधी दूसरे भाव नहीं, परंतु सद्गुरुका आत्मा ही सद्गुरु है। जिसने आत्मस्वरूपका लक्षणसे, गुणसे और वदनसे प्रगट अनुभव किया है ओर वही परिणाम जिसके आत्माका हुआ है, वह आत्मा और सद्गुरु एक ही है, ऐसा समझें। पूर्वकालमें जो अज्ञान इकट्ठा किया है वह दूर हों तो ज्ञानीकी अपूर्व वाणी समझमें आती है।

मिथ्यावासना=धर्मके मिथ्या स्वरूपको सच्चा समझना।

तप आदि भी ज्ञानीकी कसौटी है। साताशील वर्तन रखा हो, और असाता आये तो वह अदुःखभावित ज्ञान मंद होता है। विचारके बिना इंद्रियाँ वश होनेवाली नहीं है। अविचारसे इंद्रियाँ दौडती हैं। निवृत्तिके लिये उपवास बताया है। आजकल कितने ही अज्ञानी जीव उपवास करके दुकानपर बैठते हैं, और उसे पौषध ठहराते हैं। ऐसे कल्पित पौषध जीवने अनादिकालसे किये हैं। उन सबको ज्ञानियोंने निष्फल ठहराया है। स्त्री, घर, बाल-बच्चे भूल जायें तब सामायिक की ऐसा कहा जाता है। सामान्य विचारको लेकर, इन्द्रियाँ वश करनेके लिये छकायका आरंभ कायासे न करते हुए वृत्ति निर्मल हो तब सामायिक हो सकती है। व्यवहार सामायिक बहुत निषिद्ध करने जैसी नहीं है; यद्यपि जीवने व्यवहाररूप सामायिकको एकदम जड़ बना ड़ाला है। उसे करनेवाले जीवोंको पता भी नहीं होता कि इससे क्या कल्याण होगा? सम्यक्त्व पहले चाहियै। जिसके वचन सुननेसे आत्मा स्थिर हो, वृत्ति निर्मल हो, उस सत्पुरुषके वचनोंका श्रवण हो तो फिर सम्यक्त्व होता है।

भवस्थिति, पंचमकालमें मोक्षका अभाव आदि शंकाओंसे जीवने बाह्य वृत्ति कर डाली है, परंतु यदि ऐसे जीव पुरुषार्थ करें, और पंचमकाल मोक्ष होते हुए हाथ पकड़ने आये तब उसका उपाय हम कर लेंगे। वह उपाय कोई हाथी नहीं है, झलझलाती अग्नि नहीं है। व्यर्थ ही जीवको भडका दिया है। ज्ञानीके वचन सुनकर याद रखने नहीं, जीवको पुरुषार्थ करना नहीं, और उसे लेकर बहाने बनाने हैं। इसे अपना दोष समझें। समताकी, वैराग्यकी बातें सुनें और विचार करें। बाह्य बातें यथासंभव छोड़ दें। जीव तरनेका अभिलाषी हो, और सद्गुरुकी आज्ञासे वर्तन करे तो सभी वासनाएँ चली जाती है।

सद्गुरुकी आज्ञामें सभी साधन समा गये हैं। जो जीव तरनेका कामी होता है उसकी सभी वासनाओंका नाश हो जाता है। जैसे कोई सौ पचास कोस दूर हो, तो दो चार दिनमें भी घर पहुँच जाये, परंतु लाखों कोस दूर हो तो एकदम घर कहाँसे पहुँचे ? वैसे ही यह जीव कल्याण मार्गसे थोड़ा दूर हो तो तो किसी दिन कल्याण प्राप्त करे, परंतु यदि एकदम उलटे रास्तेपर हो तो कहाँसे पार पाये ?

देह आदिका अभाव होना, मूर्च्छाका नाश होना यही मुक्ति है। जिसका एक भव बाकी रहा हो उसे देहकी इतनी अधिक चिंता नहीं करनी चाहिये। अज्ञान जानेके बाद एक भवका कुछ महत्त्व नहीं। लाखों भव चले गये तो फिर एक भव किस हिसाबमें ?

हो तो मिथ्यात्व और माने छठा या सातवाँ गुणस्थान तो उसका क्या करना ? चौथे गुणस्थानकी स्थिति कैसी होती है ? गणधर जैसी, मोक्षमार्गकी परम प्रतीति आये ऐसी।

जो तरनेका कामी हो वह सिर काटकर देते हुए पीछे नहीं हटता। जो शिथिल हो वह तनिक पैर धोने जैसा कुलक्षण हो उसे भी छोड नहीं सकता, और वीतरागकी बात ग्रहण करने जाता है। वीतराग जिस वचनको कहते हुए डरे हैं उसे अज्ञानी स्वच्छंदसे कहता है; तो वह कैसे छूटेगा ?

महावीरस्वामीकी दीक्षाके जुलूसकी बातके स्वरूपका यदि विचार करे तो वैराग्य हो जाये। यह बात अद्भुत है। वे भगवान अप्रमादी थे। उनमें चारित्र विद्यमान था, परंतु जब बाह्य चारित्र लिया तब मोक्ष गये।

अविरति शिष्य हो तो उसकी आवभगत कैसे की जाये ? रागद्वेषको मारनेके लिये निकला, और उसे तो काममें लिया, तब रागद्वेष कहाँसे जाये ? जिनेन्द्रके आगमका जो समागम हुआ हो, वह तो अपने क्षयोपशमके अनुसार हुआ हो परंतु सद्गुरुके योगके अनुसार न हुआ हो। सद्गुरुका योग मिलनेपर उनकी आज्ञाके अनुसार जो चला उसका सचमुच रागद्वेष गया।

गंभीर रोग मिटानेके लिये असली दवा तुरत फल देती है। बुखार तो एक दो दिनमें भी मिट जाये।

मार्ग और उन्मार्गकी पहचान होनी चाहिये। 'तरनेका कामी' इस शब्दका प्रयोग करें तो इसमें अभव्यका प्रश्न नहीं उठता। कामी कामीमें भी भेद है।

प्रश्न—सत्पुरुषकी पहचान कैसे हो ?

उत्तर—सत्पुरुष अपने लक्षणोंसे पहचाने जाते हैं। सत्पुरुषोंके लक्षण—उनकी वाणीमें पूर्वापर अविरोध होता है, वे क्रोधका जो उपाय बताते हैं उससे क्रोध चला जाता है। मानका जो उपाय बताते हैं उससे मान दूर हो जाता है। ज्ञानीकी वाणी परमार्थरूप ही होती है; वह अपूर्व है। ज्ञानीकी वाणी दूसरे अज्ञानीकी वाणीसे ऊँची और ऊँची ही होती है। जब तक ज्ञानीकी वाणी सुनी नहीं, तब तक सूत्र भी नीरस लगते हैं। सद्गुरु और असद्गुरुकी पहचान, सोने और पीतलकी कंठीकी पहचानकी भाँति होनी चाहिये। तरनेका कामी हो, और सद्गुरु मिल जाये, तो कर्म दूर हो जाते हैं। सद्गुरु कर्म दूर करनेका कारण है। कर्म बाँधनेके कारण मिलें तो कर्म बँधे जाते हैं और कर्म दूर करनेके कारण मिलें तो कर्म दूर होते हैं। तरनेका कामी हो वह भवस्थिति आदिके आलंबनोंको मिथ्या कहता है। तरनेका कामी किसे कहा जाये ? जिस पदार्थको ज्ञानी जहर कहते हैं उसे जहर समझकर छोड़ दे, और ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन करे उसे तरनेका कामी कहा जाये।

उपदेश सुननेके लिये सुननेके कामीने कर्मरूपी गुदडी ओढ़ी है, इसलिये उपदेशरूपी लकडी नहीं लगती। जो तरनेका कामी हो उसने धोतीरूप कर्म ओढ़े हैं इसलिये उपदेशरूप लकडी पहले लगती है।

शास्त्रमें अभव्यके तारनेसे तरे ऐसा नहीं कहा है। चौभंगीमें ऐसा अर्थ नहीं है। ढूँढियाके धरमशी नामके मुनिने इसकी टीका की है। स्वयं तरा नहीं और दूसरोंको तारता है, इसका अर्थ अंधा मार्ग बतावे ऐसा है। असद्गुरु ऐसे मिथ्या आलंबन देते हैं।

'ज्ञानापेक्षासे सर्वव्यापक, सच्चिदानंद ऐसा मैं आत्मा एक हूँ,' ऐसा विचार करना, ध्यान करना। निर्मल, अत्यंत निर्मल, परमशुद्ध, चैतन्यघन, प्रगट आत्मस्वरूप है। सबको कम करते करते जो अबाध्य अनुभव रहता है वह 'आत्मा' है। जो सबको जानता है वह 'आत्मा' है। जो सब भावोंको प्रकाशित करता है वह 'आत्मा' है। उपयोगमय 'आत्मा' है। अव्याबाध समाधिस्वरूप 'आत्मा' है।

'आत्मा है।' आत्मा अत्यंत प्रगट है; क्योंकि स्वसंवेदन प्रगट अनुभवमें है। अनुत्पन्न और अमिलन स्वरूप होनेसे 'आत्मा नित्य है'। भ्रांतिरूपसे 'परभावका कर्त्ता है'। उसके 'फलका भोक्ता है'। भान होनेपर 'स्वभाव परिणामी है'। सर्वथा स्वभाव परिणाम 'मोक्ष है'। सद्गुरु, सत्संग, सत्शास्त्र, सद्विचार और संयम आदि उसके साधन हैं। आत्माके अस्तित्वसे लेकर निर्वाण तकके पद सच्चे हैं, अत्यंत सच्चे हैं। क्योंकि प्रगट अनुभवमें आते हैं। भ्रांतिरूपसे आत्मा परभावका कर्ता होनेसे शुभाशुभ कर्मकी उत्पत्ति होती है। कर्म सफल होनेसे उस शुभाशुभ कर्मको आत्मा भोगता है। इसलिये उत्कृष्ट शुभसे उत्कृष्ट अशुभ तकके न्यूनाधिक पर्याय भोगनेरूप क्षेत्र अवश्य है।

निजस्वभाव ज्ञानमें केवल उपयोगसे, तन्मयाकार, सहज स्वभावसे, निर्विकल्परूपसे आत्मा जो परिणमन करता है वह 'केवलज्ञान' है। तथारूप प्रतीतिरूपसे जो परिणमन करता है वह 'सम्यक्त्व' है। निरंतर वह प्रतीति रहा करे उसे 'क्षायिक सम्यक्त्व' कहते हैं। क्वचित् मंद, क्वचित् तीव्र, क्वचित् विसर्जन, क्वचित् स्मरणरूप ऐसी प्रतीति रहे, उसे 'क्षयोपशम सम्यक्त्व' कहते हैं। उस प्रतीतिको जब तक सत्तागत आवरण उदय नहीं आयें, तब तक 'उपशम सम्यक्त्व' कहते हैं। आत्माको आवरण उदयमें आये तब वह प्रतीतिसे गिर जाता है उसे 'सास्वासत सम्यक्त्व' कहते है। अत्यंत प्रतीति होनेके योगमें सत्तागत अल्प पुद्गलका वेदन करना जहाँ रहा है, उसे 'वेदक सम्यक्त्व' कहते हैं। तथारूप प्रतीति होनेपर अन्यभाव संबंधी अहंत्व, ममत्व आदि, हर्ष-शोकका क्रमसे क्षय होता है। मनरूप योगमें तारतम्यसहित जो कोई चारित्रकी आराधना करता है वह सिद्धि प्राप्त करता है; और जो स्वरूपस्थितिका सेवन करता है वह 'स्वभावस्थिति' पाता है। निरंतर स्वरूपलाभ, स्वरूपाकार उपयोगका परिणमन इत्यादि स्वभाव अंतराय कर्मके क्षयसे प्रगट होते हैं। जो केवल स्वभावपरिणामी ज्ञान है वह 'केवलज्ञान' है।

---

११ आणंद, भादों वदी १, मंगल, १९५२

'जंबुद्वीपप्रज्ञप्ति' नामके जैनसूत्रमें ऐसा कहा है कि इस कालमें मोक्ष नहीं है। इससे यह न समझें कि मिथ्यात्वका दूर होना, और उस मिथ्यात्वके दूर होनेरूप मोक्ष नहीं है। मिथ्यात्वके दूर होनेरूप मोक्ष है; परंतु सर्वथा अर्थात् आत्यंतिक देहरहित मोक्ष नहीं है। इससे यह कहा जा सकता है कि सर्व प्रकारका केवलज्ञान नहीं होता; बाकी सम्यक्त्व नहीं होता, ऐसा नहीं है। इस कालमें मोक्षके अभावकी ऐसी बातें कोई कहे उसे न सुनें। सत्पुरुषकी बात पुरुषार्थको मंद करनेवाली नहीं होती, अपितु पुरुषार्थको उत्तेजन देनेवाली होती है।

विष और अमृत समान है, ऐसा ज्ञानियोंने कहा हो तो वह अपेक्षित है। विष और अमृत समान कहनेसे विष लेनेका कहा है यह बात नहीं है। इसी तरह शुभ और अशुभ दोनों क्रियाओंके संबंधमें

समझें। शुभ और अशुभ क्रियाका निषेध कहा हो तो मोक्षकी अपेक्षासे है। इसलिये शुभ और अशुभ क्रिया समान है, यह समझकर अशुभ क्रिया करनी, ऐसा ज्ञानीपुरुषका कथन कभी भी नहीं होता। सत्पुरुषका वचन अधर्ममें धर्मका स्थापन करनेका कभी भी नहीं होता।

जो क्रिया करें उसे निर्दंभतासे, निरहंकारतासे करें। क्रियाके फलकी आकांक्षा न रखे। शुभ क्रियाका कोई निषेध हैं ही नहीं; परंतु जहाँ जहाँ शुभ क्रियासे मोक्ष माना है वहाँ वहाँ निषेध है।

शरीर ठीक रहे, यह भी एक तरहकी समाधि है। मन ठीक रहे यह भी एक तरहकी समाधि है। सहजसमाधि अर्थात् बाह्य कारणोंके बिनाकी समाधि। उससे प्रमाद आदिका नाश होता है। जिसे यह समाधि रहती है, उसे पुत्रमरण आदिसे भी असमाधि नहीं होती, और उसे कोई लाख रुपये दे तो आनंद नहीं होता, अथवा कोई छीन ले तो खेद नहीं होता। जिसे साता-असाता दोनों समान है उसे सहजसमाधि कहा है। समकितदृष्टिको अल्प हर्ष, अल्प शोक कभी हो जाये परंतु फिर वह शांत हो जाता है, अंगका हर्ष नहीं रहता; ज्यों ही उसे खेद हो त्यों ही वह उसे पीछे खींच लेता है। वह सोचता है कि ऐसा होना योग्य नहीं, और आत्माकी निंदा करता है। हर्ष शोक हो तो भी उसका (समकितका) मूल नष्ट नहीं होता। समकितदृष्टिको अंशसे सहज प्रतीतिके अनुसार सदा ही समाधि रहती है। पतंगकी डोरी जैसे हाथमें रहती है वैसे समकितदृष्टिके हाथमें उसकी वृत्तिरूपी डोरी रहती है। समकितदृष्टि जीवको सहजसमाधि है। सत्तामें कर्म रहे हों, परंतु स्वयंको सहजसमाधि है। बाहरके कारणोंसे उसे समाधि नहीं है। आत्मामेंसे जो मोह चला गया वही समाधि है। अपने हाथमें डोरी न होनेसे मिथ्यादृष्टि बाह्य कारणोंमें तदाकार होकर तद्रूप हो जाता है। समकितदृष्टिको बाह्य दुःख आनेपर खेद नहीं होता, यद्यपि वह ऐसी इच्छा नहीं करता कि रोग न आये; परंतु रोग आनेपर उसे रागद्वेष परिणाम नहीं होते।

शरीरके धर्म रोग आदि केवलीको भी होते हैं; क्योंकि वेदनीयकर्मको तो सभीको भोगना ही चाहिये। समकित आये बिना किसीको सहजसमाधि नहीं होती। समकित हो जानेसे सहजमें ही समाधि होती है। समकित हो जानेसे सहजमें ही आसक्ति मिट जाती है। बाकी आसक्तिको यों ही ना कहनेसे वह दूर नहीं होती। सत्पुरुषके वचनके अनुसार, उनकी आज्ञाके अनुसार जो वर्तन करे उसे अंशसे समकित हुआ है।

दूसरी सब प्रकारकी कल्पनाएँ छोड़कर, प्रत्यक्ष सत्पुरुषकी आज्ञासे उनके वचन सुनना, उनमें सच्ची श्रद्धा करना और उन्हें आत्मामें परिणमित करना, तो समकित होता है। शास्त्रमें कही हुई महावीर स्वामीकी आज्ञासे वर्तन करनेवाले जीव अभी नहीं है, क्योंकि उन्हें हुए २५०० वर्ष हो गये हैं, इसलिये प्रत्यक्ष ज्ञानी चाहिये। काल विकराल है, कुगुरुओंने लोगोंको उलटा मार्ग बताकर बहका दिया है, मनुष्यत्व लूट लिया है; इसलिये जीव मार्गमें कैसे आये ? यद्यपि कुगुरुओंने लूट लिया है परंतु इसमें उन बेचारोंका दोष नहीं है, क्योंकि कुगुरुको भी उस मार्गका पता नहीं है। कुगुरुको किसी प्रश्नका उत्तर न आता हो परंतु यों नहीं कहता कि 'मुझे नहीं आता'। यदि वैसा कहे तो कर्म थोड़े बाँधे। मिथ्यात्वरूपी तिल्लीकी गाँठ बड़ी है, इसलिये सारा रोग कहाँसे मिटे ? जिसकी ग्रंथि छिन्न हो गई हो उसे सहजसमाधि होती है; क्योंकि जिसका मिथ्यात्व छिन्न हुआ, उसकी मूल गाँठ छिन्न हो गयी, और इससे दूसरे गुण प्रगट होते ही हैं।

समकित देश चारित्र है; देशसे केवलज्ञान है।

शास्त्रमें इस कालमें मोक्षका बिलकुल निषेध नहीं है। जैसे रेलगाड़ीके रास्तेसे जल्दी पहुँचा जाता है,

और पगरास्तेसे देरमें पहुँचा जाता है; वैसे इस कालमें मोक्षका रास्ता पगरास्ते जैसा हो तो उससे न पहुँचा जाये, ऐसी कुछ बात नहीं है। जल्दी चले तो जल्दी पहुँचे, किन्तु कुछ रास्ता बंद नहीं है। इस तरह मोक्षमार्ग है, उसका नाश नहीं है। अज्ञानी अकल्याणके मार्गमें कल्याण मानकर, स्वच्छंदसे कल्पना करके, जीवोंका तरना बंद करा देता है। अज्ञानीके रागी भोले-भाले जीव अज्ञानीके कहनेके अनुसार चलते हैं, और इस प्रकार कर्मके बाँधे हुए वे दोनों दुर्गतिको प्राप्त होते हैं। ऐसा बखेडा जैनमतोंमें विशेष हुआ है।

सच्चे पुरुषका बोध प्राप्त होना अमृत प्राप्त होनेके समान है। अज्ञानी गुरुओंने बेचारे मनुष्योंको लूट लिया है। किसी जीवको गच्छका आग्रही बनाकर, किसीको मतका आग्रही बनाकर, जिनसे तरा न जाये ऐसे आलंबन देकर, बिलकुल लूटकर दुविधामें डाल दिया है; मनुष्यत्व लूट लिया है।

समवसरणसे भगवानकी पहचान होती है, इस सारी माथापच्चीको छोड़ दे। लाख समवसरण हों, परंतु ज्ञान न हो तो कल्याण नहीं होता। ज्ञान हो तो कल्याण होता है। भगवान मनुष्य जैसे मनुष्य थे। वे खाते, पीते, बैठते और उठते थे; ऐसा कुछ अंतर नहीं है, अंतर दूसरा ही है। समवसरण आदिके प्रसंग लौकिक भावके हैं। भगवानका स्वरूप ऐसा नहीं है। संपूर्ण ज्ञान प्रगट होनेपर आत्मा नितांत निर्मल होता है, ऐसा भगवानका स्वरूप है। संपूर्ण ज्ञानका प्रगट होना, वही भगवानका स्वरूप है। वर्तमानमें भगवान होते तो आप न मानते। भगवानका माहात्म्य ज्ञान है। भगवानके स्वरूपका चिंतन करनेसे आत्मा भानमें आता है, परंतु भगवानकी देहसे भान प्रगट नहीं होता। जिसे संपूर्ण ऐश्वर्य प्रगट हो उसे भगवान कहा जाता है। जैसे यदि भगवान वर्तमानमें होते, और आपको बताते तो आप न मानते; इसी तरह वर्तमानमें ज्ञानी हो तो वह माना नहीं जाता। स्वधाम पहुँचनके बाद लोग कहते हैं कि ऐसा ज्ञानी होनेवाला नहीं है। पीछेसे जीव उसकी प्रतिमाकी पूजा करते हैं; परंतु वर्तमानमें प्रतीति नहीं करते। जीवको ज्ञानीकी पहचान प्रत्यक्षमें, वर्तमानमें नहीं होती।

समकितका सचमुच विचार करे तो नौवें समयमें केवलज्ञान होता है, नहीं तो एक भवमें केवलज्ञान होता है; और अंतमें पंद्रहवें भवमें तो केवलज्ञान होता ही है। इसलिये समकित सर्वोत्कृष्ट है। भिन्न भिन्न विचार-भेद आत्मामें लाभ होनेके लिये कहे गये हैं, परंतु भेदोंमें ही आत्माको फँसाने के लिये नहीं कहे हैं। प्रत्येकमें परमार्थ होना चाहिये। समकितीको केवलज्ञानकी इच्छा नहीं है!

अज्ञानी गुरुओंने लोगोंको उलटे मार्गपर चढा दिया है। उलटा मार्ग पकडा दिया है, इसलिये लोग गच्छ, कुल आदि लौकिक भावोंमें तदाकार हो गये हैं। अज्ञानियोंने लोगोंको बिलकुल उलटा ही मार्ग समझा दिया है। उनके संगसे इस कालमें अंधकार हो गया है। हमारी कही हुई एक एक बातको याद कर करके विशेषरूपसे पुरुषार्थ करें। गच्छ आदिके कदाग्रह छोड़ देने चाहिये। जीव अनादिकालसे भटका है। समकित हो तो सहजमें ही समाधि हो जाये, और परिणाममें कल्याण हो। जीव सत्पुरुषके आश्रयसे यदि आज्ञा आदिका सचमुच आराधन करे, उसपर प्रतीति लाये, तो उपकार होगा ही।

एक तरफ तो चौदह राजूलोकका सुख हो, और दूसरी तरफ सिद्धके एक प्रदेशका सुख हो तो भी सिद्धके एक प्रदेशका सुख अनंतगुना हो जाता है।

वृत्तिको चाहे जिस तरहसे रोकें; ज्ञानविचारसे रोकें; लोकलाजसे रोकें; उपयोगसे रोकें; चाहें जिस तरह भी वृत्तिको रोकें। किसी पदार्थके बिना चले नहीं ऐसा मुमुक्षुको नहीं होना चाहिये।

जीव ममत्व मानता है, वही दुःख है, क्योंकि ममत्व माना कि चिंता हुई कि कैसे होगा? कैसे

करें ? चिंतामें जो स्वरूप होता है, तद्रूप हो जाता है, वही अज्ञान है। विचारसे, ज्ञानसे देखें तो ऐसा प्रतीत होता कि कोई मेरा नहीं है। यदि एककी चिंता करे तो सारे जगतकी चिंता करनी चाहिये। इसलिये प्रत्येक प्रसंगमें ममत्व न होने दें, तो चिंता, कल्पना कम होगी। तृष्णाको यथासंभव कम करें। विचार कर करके तृष्णाको कम करें। इस देहको पचास रुपयेका खर्च चाहिये, उसके बदले, हजारों लाखोंकी चिंतारूप अग्निसे दिनभर जला करता है। बाह्य उपयोग तृष्णाकी वृद्धि होनेका निमित्त है। जीव बड़ाईके लिये तृष्णाको बढ़ाता है। उस बड़ाईको रखकर मुक्ति नहीं होती। जैसे बने वैसे बड़ाई, तृष्णा कम करें। निर्धन कौन ? जो धन माँगे, धन चाहे, वह निर्धन; जो न माँगे वह धनवान है। जिसे विशेष लक्ष्मीकी तृष्णा, संताप और जलन है, उसे जरा भी सुख नहीं है। लोग समझते हैं कि श्रीमंत सुखी है, परंतु वस्तुतः उसे रोम-रोममें पीडा है। इसलिये तृष्णा कम करें।

आहारकी बात अर्थात् खानेके पदार्थोंकी बात तुच्छ है, वह न करें। विहारकी अर्थात् स्त्री, क्रीडा आदिकी बात बहुत तुच्छ है। निहारकी बात भी बहुत तुच्छ है। शरीरकी साता या दीनता यह सब तुच्छताकी बातें न करें। आहार विष्टा है। विचार करे कि खानेके बाद विष्टा हो जाती है। विष्टा गाय खाती है तो दूध हो जाता है, और खेतमें खाद ड़ालनेसे अनाज होता है। इस प्रकार उत्पन्न हुए अनाजके आहारको विष्टा तुल्य जानकर उसकी चर्चा न करे। यह तुच्छ बात है।

सामान्य जीवोंसे बिलकुल मौन नहीं रहा जाता, और रहें तो अंतरकी कल्पना नहीं मिटती; और जब तक कल्पना हो तब तक उसके लिये रास्ता निकालना ही चाहिये। इसलिये फिर लिखकर कल्पना बाहर निकालते हैं। परमार्थकाममें बोलना, व्यवहारकाममें बिना प्रयोजन बकवास नहीं करना। जहाँ माथापच्ची होती है वहाँसे दूर रहना; वृत्ति कम करनी।

क्रोध, मान, माया और लोभको मुझे कृश करना है; ऐसा जब लक्ष्य होगा, जब इस लक्ष्यमें थोड़ा थोड़ा भी वर्तन होगा तब फिर सहजरूप हो जायेगा। बाह्य प्रतिबंध, अंतर प्रतिबंध आदि आत्माको आवरण करनेवाला प्रत्येक दूषण जाननेमें आये कि उसे दूर भगानेका अभ्यास करें। क्रोध आदि थोड़े थोड़े दुर्बल पड़नेके बाद सहजरूप हो जायेंगे। फिर उन्हें वशमें लेनेके लिये यथाशक्ति अभ्यास रखें और उस विचारमें समय बितायें। किसीके प्रसंगसे क्रोध आदि उत्पन्न होनेका निमित्त मानते हैं, उसे न मानें। उसे महत्त्व न दें; क्योंकि क्रोध स्वयं करें तो होता है। जब अपनेपर कोई क्रोध करे तब विचार करें कि उस बेचारेको अभी उस प्रकृतिका उदय है, अपने आप घडी दो घडीमें शांत हो जायेगा। इसलिये यथासंभव अंतर्विचार करके स्वयं स्थिर रहें। क्रोधादि कषाय आदि दोषका सदा विचार कर करके उन्हें दुर्बल करें। तृष्णा कम करें, क्योंकि वह एकांत दुःखदायी है। जैसे उदय होगा वैसे होगा, इसलिये तृष्णाको अवश्य कम करें। बाह्य प्रसंग अंतर्वृत्तिके लिये आवरणरूप हैं इसलिये उन्हें यथासंभव कम करते रहें।

चेलातीपुत्र किसीका सिर काट लाया था। उसके बाद वह ज्ञानीसे मिला और कहा—'मोक्ष दो; नहीं तो सिर काट डालूँगा।' फिर ज्ञानीने कहा—क्या बिलकुल ठीक कहता है ? विवेक (सच्चेको सच्चा समझना), शम (सबपर समभाव रखना) और उपशम (वृत्तियोंको बाहर नहीं जाने देना और अंतर्वृत्ति रखना), उन्हें अधिकाधिक आत्मामें परिणमानेसे आत्माका मोक्ष होता है।

कोई एक संप्रदायवाले ऐसा कहते हैं कि वेदांतीकी मुक्तिकी अपेक्षा—इस भ्रमदशाकी अपेक्षा चार गतियाँ अच्छी; इनमें अपने सुखदुःखका अनुभव तो रहता है।

वेदांती ब्रह्ममें समा जानेरूप मुक्ति मानते हैं, इसलिये वहाँ अपनेको अपना अनुभव नहीं रहता। पूर्व मीमांसक देवलोक मानते हैं, फिर जन्म अवतार हो ऐसा मोक्ष मानते हैं। सर्वथा मोक्ष नहीं होता, होता हो तो बंधता नहीं, बंधे तो छूटता नहीं। शुभ क्रिया करे उसका शुभ फल होता है, फिरसे संसारमें आना-जाना होता है, यों सर्वथा मोक्ष नहीं होता—ऐसा पूर्वमीमांसक मानते हैं।

सिद्धमें संवर नहीं कहा जाता, क्योंकि वहाँ कर्म नहीं आते, इसलिये फिर रोकना भी नहीं होता। मुक्तमें स्वभाव संभव है, एक गुणसे, अंशसे लेकर संपूर्ण तक। सिद्धदशामें स्वभावसुख प्रगट हुआ, कर्मके आवरण दूर हुए, इसलिये अब संवर और निर्जरा किसे होंगे ? तीन योगभी नहीं होते। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग इन सबसे जो मुक्त हुआ उसे कर्म नहीं आते। इसलिये उसे कर्मोंका निरोध करना नहीं होता। एक हजारकी रकम हो और उसे थोड़ा थोड़ा करके पूरा कर दिया तो फिर खाता बंद हो गया, इसी तरह कर्मोंके पाँच कारण थे, उन्हें संवर-निर्जरासे समाप्त कर दिया, इसलिये पाँच कारणरूप खाता बंद हो गया, अर्थात् बादमें फिर वे प्राप्त होते ही नहीं।

धर्मसंन्यास=क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दोषोंका नाश करना।

जीव तो सदा जीवित ही है। वह किसी समय सोता नहीं या मरता नहीं, उसका मरना संभव नहीं। स्वभावसे सर्व जीव जीवित ही हैं। जैसे श्वासोच्छ्वासके बिना कोई जीव देखनेमें नहीं आता वैसे ही ज्ञानस्वरूप चैतन्यके बिना कोई जीव नहीं है।

आत्माकी निंदा करें, और ऐसा खेद करें कि जिससे वैराग्य आये, संसार झूठा लगे। चाहे जो कोई मरे, परंतु जिसकी आँखोंमें आँसू आयें, संसारको असार जानकर जन्म, जरा और मरणको महा भयंकर जानकर वैराग्य पाकर आँसू आयें, वह उत्तम है। अपना लडका मर जाये, और रोये, इसमें कोई विशेषता नहीं है, यह तो मोहका कारण है।

आत्मा पुरुषार्थ करे तो क्या नहीं होता ? बड़े बड़े पर्वतके पर्वत काट डाले हैं, और कैसे कैसे विचार करके उन्हें रेल्वेके काममें लिया है ! ये तो बाहरके काम हैं, फिर भी विजय पायी है। आत्माका विचार करना, यह कोई बाहरकी बात नहीं है। जो अज्ञान है वह मिटे तो ज्ञान हो।

अनुभवी वैद्य तो दवा देता है, परंतु रोगी यदि उसे खाये तो रोग दूर होता है। इसी तरह सद्गुरु अनुभव करके ज्ञानरूप दवा देते हैं, परंतु मुमुक्षु उसे ग्रहण करे तो मिथ्यात्वरूप रोग दूर होता है।

दो घडी पुरुषार्थ करे तो केवलज्ञान हो जाता है, ऐसा कहा है। चाहे जैसा पुरुषार्थ करे तो भी रेल्वे आदि दो घडीमें तैयार नहीं होती; तो फिर केवलज्ञान कितना सुलभ है इसका विचार करें।

जो बातें जीवको मंद कर डालें, प्रमादी कर डाले वैसी बातें न सुनें। इसीसे जीव अनादिसे भटका है। भवस्थिति, काल आदिके अवलंबन न लें, ये सब बहाने हैं।

जीवको संसारी आलंबन और विडम्बनाएँ छोड़नी नहीं है, और मिथ्या आलंबन लेकर कहता है कि कर्मके दल हैं, इसलिये मुझसे कुछ हो नहीं सकता। ऐसे आलंबन लेकर पुरुषार्थ नहीं करता। यदि पुरुषार्थ करे और भवस्थिति या काल बाधा डाले तब उसका उपाय करेंगे। परंतु प्रथम पुरुषार्थ करना चाहिये।

सच्चे पुरुषकी आज्ञाका आराधन करना परमार्थरूप ही है। उसमें लाभ ही होता है। यह व्यापार लाभका ही है।

जिस मनुष्यने लाखों रुपयोंकी ओर मुडकर पीछे नहीं देखा, वह अब हजारके व्यापारमें बहाना निकालता है, उसका कारण यह है कि अंतरसे आत्मार्थके लिये कुछ करनेकी इच्छा नहीं है। जो आत्मार्थी हो गया वह मुडकर पीछे नहीं देखता, वह तो पुरुषार्थ करके सामने आ जाता है। शास्त्रमें कहा है कि आवरण, स्वभाव, भवस्थिति कब पके ? तो कहते हैं जब पुरुषार्थ करता है तब।

पाँच कारण मिले तब मुक्त होता है। वे पाँचों कारण पुरुषार्थमें निहित हैं। अनंत चौथे कालचक्र मिलें परंतु यदि स्वयं पुरुषार्थ करे तो ही मुक्ति प्राप्त होती है। जीवने अनंत कालसे पुरुषार्थ नहीं किया है। सभी मिथ्या आलंबन लेकर मार्गमें विघ्न डाले हैं। कल्याणवृत्ति उदित हो तब भवस्थितिको परिपक्व हुई समझें। शौर्य हो तो वर्षका कार्य दो घडीमें किया जा सकता है।

प्रश्न–व्यवहारमें चौथे गुणस्थानमें कौन कौनसे व्यवहार लागू होते हैं ? शुद्ध व्यवहार या और कोई ?

उत्तर–दूसरे सभी व्यवहार लागू होते हैं। उदयसे शुभाशुभ व्यवहार होता है; और परिणतिसे शुद्ध व्यवहार होता है।

परमार्थसे शुद्ध कर्ता कहा जाता है। प्रत्याख्यानी, अप्रत्याख्यानी क्षय किये हैं, इसलिये शुद्ध व्यवहारका कर्ता है। समकितीको अशुद्ध व्यवहार दूर करना है। समकिती परमार्थसे शुद्ध कर्ता है।

नयके प्रकार अनेक हैं, परंतु जिस प्रकारसे आत्मा ऊँचा उठे, पुरुषार्थ वर्धमान हो, उसी प्रकारका विचार करें। प्रत्येक कार्य करते हुए अपनी भूलपर ध्यान रखें। एक सम्यक् उपयोग हो तो स्वयंको अनुभव हो जाता है कि कैसी अनुभवदशा प्रगट होती है !

सत्संग हो तो सभी गुण अनायास ही प्राप्त होते हैं। दया, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहमर्यादा आदिका आचरण अहंकार रहित करें। लोगोंको दिखानेके लिये कुछ भी न करें। मनुष्यका अवतार मिला है, और सदाचारका सेवन नहीं करेगा तो पछताना पड़ेगा। मनुष्यके अवतारमें सत्पुरुषके वचन सुनने और विचार करनेका योग मिला है।

सत्य बोलना, यह कुछ मुश्किल नहीं है, बिलकुल सहज है। जो व्यापार आदि सत्यसे होते हों, उन्हें ही करें। यदि छः महीने तक इस तरह आचरण किया जाये तो फिर सत्य बोलना सहज हो जाता है। सत्य बोलनेसे कदाचित् प्रथम थोड़े समय तक थोड़ा नुकसान भी हो जाये; परंतु फिर अनंत गुणका स्वामी आत्मा जो सारा लूटा जा रहा है वह लुटता हुआ बंद हो जाता है। सत्य बोलनेसे धीरे धीरे सहज हो जाता है और यह होनेके बाद व्रत ले; अभ्यास रखे; क्योंकि उत्कृष्ट परिणामवालें आत्मा विरल ही होते हैं।

जीव यदि लौकिक भयसे भयभीत हुआ, तो उससे कुछ भी नहीं होता। लोग चाहे जो कहे उसकी परवा न करते हुए जिससे आत्महित हो ऐसे सदाचरणका सेवन करें।

ज्ञान जो काम करता है वह अद्‌भुत है। सत्पुरुषके वचनोंके बिना विचार नहीं आता; विचारके बिना वैराग्य नहीं आता; वैराग्य एवं विचारके बिना ज्ञान नहीं आता। इस कारणसे सत्पुरुषके वचनोंका वारंवार विचार करें।

संपूर्ण आशंका दूर हो तो बहुत निर्जरा होती है। जीव यदि सत्पुरुषका मार्ग जानता हो, उसका उसे वारंवार बोध होता हो, तो बहुत फल होता है।

सात नय अथवा अनंत नय हैं, वे सब एक आत्मार्थके लिये ही हैं, और आत्मार्थ यही एक सच्चा नय

है। नयका परमार्थ जीवसे निकले तो फल होता है; अंतमें उपशमभाव आये तो फल होता है; नहीं तो नयका ज्ञान जीवके लिये जालरूप हो जाता है; और वह फिर अहंकार बढ़नेका स्थान होता है। सत्पुरुषके आश्रयसे जाल दूर हो जाता है।

व्याख्यानमें कोई भंगजाल, राग (स्वर) निकालकर सुनाता है, परंतु उसमें आत्मार्थ नहीं है। यदि सत्पुरुषके आश्रयसे कषाय आदि मंद करें, और सदाचारका सेवन कर अहंकाररहित हो जायें, तो आपका और दूसरेका हित होगा। दंभरहित, आत्मार्थके लिये सदाचारका सेवन करें कि जिससे उपकार हो।

खारी जमीन हो और उसमें वर्षा हो तो वह किस कामकी ? इसी तरह जब तक ऐसी स्थिति हो कि आत्मामें उपदेश-वार्ता परिणमन न करे तब तक वह किस कामकी ? जब तक उपदेशवार्ता आत्मामें परिणमन न करे तब तक उसे पुनः पुनः सुने, विचार करें, उसका पीछा न छोड़े, कायर न बनें; कायर हो तो आत्मा ऊँचा नहीं उठता। ज्ञानका अभ्यास जैसे बने वैसे बढायें; अभ्यास रखें, उसमें कुटिलता या अहंकार न रखें।

आत्मा अनंत ज्ञानमय है। जितना अभ्यास बढ़े उतना कम है। 'सुन्दरविलास' आदि पढ़नेका अभ्यास रखें। गच्छ या मतमतांतरकी पुस्तकें हाथमें न लें। परम्परासे भी कदाग्रह आ गया, तो जीव फिर मारा जाता है। इसलिये मतोंके कदाग्रहकी बातोंमें न पड़े। मतोंसे अलग रहें, दूर रहें। जिन पुस्तकोंसे वैराग्य-उपशम हो वे समकितदृष्टिकी पुस्तकें है। वैराग्यवाली पुस्तकें पढें—'मोहमुद्गर', 'मणिरत्नमाला' आदि।

दया, सत्य आदि जो साधन हैं वे विभावका त्याग करनेके साधन हैं। अंतःस्पर्शसे तो विचारको बड़ा सहारा मिलता है। अब तकके साधन विभावके आधार थे, उन्हें सच्चे साधनोंसे ज्ञानी पुरुष हिला देते हैं। जिसे कल्याण करना हो उसे सत्साधन अवश्य करने होते हैं।

सत्समागममें जीव आया, और इन्द्रियोंकी लुब्धता न गयी तो समझें कि सत्समागममें नहीं आया। जब तक सत्य नहीं बोलता तब तक गुण प्रगट नहीं होता। सत्पुरुष हाथसे पकड़कर व्रत दे तो लें। ज्ञानीपुरुष परमार्थका ही उपदेश देते हैं। मुमुक्षुओंको सच्चे साधनोंका सेवन करना योग्य है।

समकितके मूल बारह व्रत हैं—स्थूल प्राणातिपात, स्थूल मृषावाद आदि। सभी स्थूल कहकर ज्ञानीने आत्माका और ही मार्ग समझाया है। व्रत दो प्रकारके हैं—(१) समकितके बिना बाह्य व्रत हैं, और (२) समकितसहित अंतर्व्रत हैं। समकितसहित बारह व्रतोंका परमार्थ समझमें आये तो फल होता है।

बाह्यव्रत अंतर्व्रतके लिये हैं, जैसे कि एकका अंक सीखनेके लिये लकीरें होती है वैसे। पहले तो लकीरें खींचतें हुए एकका अंक टेढा-मेढा होता है, और यों करते करते फिर एकका अंक ठीक बन जाता है।

जीवने जो जो सुना है वह सब उलटा ही ग्रहण किया है। ज्ञानी बिचारे क्या करे ? कितना समझाये ? समझानेकी रीतिसे समझाते हैं। मारकूट कर समझानेसे आत्मज्ञान नहीं होता। पहले जो जो व्रत आदि किये थे वे सब निष्फल गये; इसलिये अब सत्पुरुषकी दृष्टिसे उसका परमार्थ और ही समझमें आयेगा। समझकर करें। एकका एक ही व्रत हो परंतु वह मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षासे बंध है और सम्यग्दृष्टिकी अपेक्षासे निर्जरा है। पूर्वकालमें जो व्रत आदि निष्फल गये हैं उन्हें अब सफल करने योग्य सत्पुरुषका योग मिला है; इसलिये पुरुषार्थ करें, टेकसहित सदाचरणका सेवन करें, मरण आनेपर भी पीछे न हटें। आरंभ, परिग्रहके कारण ज्ञानीके वचनोंका श्रवण नहीं होता, मनन नहीं होता; नहीं तो दशा

बदले बिना कैसे रह सके ?

आरंभ-परिग्रहको कम करें। पढनेमें चित्त न लगनेका कारण नीरसता है। जैसे कि मनुष्य नीरस आहार कर ले तो फिर उत्तम भोजन अच्छा नहीं लगता वैसे।

ज्ञानियोंने जो कहा है, उससे जीव उलटा चलता है; इसलिये सत्पुरुषकी वाणी कहाँसे परिणत हो ? लोकलाज, परिग्रह आदि शल्य है। इस शल्यके कारण जीवका पुरुषार्थ जागृत नहीं होता। वह शल्य सत्पुरुषके वचनकी टाँकीसे छिदे तो पुरुषार्थ जाग्रत हो। जीवके शल्य, दोष, हजारों दिनोंके प्रयत्नसे भी स्वतः दूर नहीं होते, परंतु सत्संगका योग एक मास तक हो तो दूर होते है; और जीव मार्गपर चला जाता है।

कितने ही लघुकर्मी संसारी जीवोंको पुत्रपर मोह करते हुए जितना दुःख होता है उतना भी दुःख कई आधुनिक साधुओंको शिष्योंपर मोह करते हुए नहीं होता !

तृष्णावाला जीव सदा भिखारी, संतोषवाला जीव सदा सुखी।

सच्चे देवकी, सच्चे गुरुकी और सच्चे धर्मकी पहचान होना बहुत मुश्किल है। सच्चे गुरुकी पहचान हो, उनका उपदेश हो; तो देव, सिद्ध, धर्म इन सबकी पहचान हो जाती है। सबका स्वरूप सद्गुरुमें समा जाता है।

सच्चे देव अर्हंत, सच्चे गुरु निर्ग्रंथ, और सच्चे हरि, जिसके रागद्वेष और अज्ञान दूर हो गये हैं वे। ग्रंथिरहित अर्थात् गाँठरहित। मिथ्यात्व अंतर्ग्रंथि है, परिग्रह बाह्यग्रंथि है। मूलमें अभ्यंतर ग्रंथिका छेदन न हो तब तक धर्मका स्वरूप समझमें नहीं आता। जिसकी ग्रंथि दूर हो गयी है वैसा पुरुष मिले तो सचमुच काम हो जाये; और फिर उसके समागममें रहे तो विशेष कल्याण हो। जिस मूल ग्रंथिका छेदन करनेका शास्त्रमें कहा है, उसे सब भूल गये हैं; और बाहरसे तपश्चर्या करते हैं। दुःख सहन करते हुए भी मुक्ति नहीं होती, क्योंकि दुःख वेदन करनेका कारण जो वैराग्य है उसे भूल गये। दुःख अज्ञानका है।

अंदरसे छूटे तभी बाहरसे छूटता है; अंदरसे छूटे बिना बाहरसे नहीं छूटता। केवल बाहरसे छोड़नेसे काम नहीं होता। आत्मसाधनके बिना कल्याण नहीं होता।

जिसे बाह्य और अंतर दोनों साधन है वह उत्कृष्ट पुरुष है, वह श्रेष्ठ है। जिस साधुके संगसे अंतर्गुण प्रगट हो उसका संग करे। कलई और चाँदीके रुपये समान नहीं कहे जाते। कलईपर सिक्का लगा दें तो भी उसकी रुपयेकी कीमत नहीं हो जाती। जब कि चाँदीपर सिक्का न लगायें तो भी उसकी कीमत कम नहीं हो जाती। उसी तरह यदि गृहस्थावस्थामें ज्ञान प्राप्त हो, गुण प्रगट हो, समकित हो तो उसका मूल्य कम नहीं हो जाता। सब कहते हैं कि हमारे धर्मसे मोक्ष है।

आत्मामें रागद्वेष दूर हो जानेपर ज्ञान प्रगट होता है। चाहे जहाँ बैठे हों और चाहे जिस स्थितिमें हों, मोक्ष हो सकता है, परंतु रागद्वेष नष्ट हो तो। मिथ्यात्व और अहंकारका नाश हुए बिना कोई राजपाट छोड दे, वृक्षकी तरह सूख जाये परंतु मोक्ष नहीं होता। मिथ्यात्व नष्ट होनेके बाद सब साधन सफल होते हैं। इसलिये सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ है।

---

१२ आणंद, भादों वदी १३, रवि, १९५२

संसारमें जिसे मोह है, स्त्री-पुत्रमें ममत्व हो गया है; और जो कषायसे भरा हुआ है वह रात्रिभोजन न करे तो भी क्या हुआ ? जब मिथ्यात्व चला जाये तभी उसका सच्चा फल होता है।

अभी जैनके जितने साधु विचरते हैं, उन सभीको समकिती न समझें। उन्हें दान देनेमें हानि नहीं है; परंतु वे हमारा कल्याण नहीं कर सकते। वेश कल्याण नहीं करता। जो साधु मात्र बाह्य क्रियाएँ किया करता है उसमें ज्ञान नहीं है।

ज्ञान तो वह है कि जिससे बाह्य वृत्तियाँ रुक जाती हैं, संसारपरसे सचमुच प्रीति घट जाती है, सच्चेको सच्चा जानता है। जिससे आत्मामें गुण प्रगट हो वह ज्ञान है।

मनुष्यभव पाकर कमानेमें और स्त्री-पुत्रमें तदाकार होकर यदि आत्मविचार नहीं किया, अपने दोष नहीं देखे, आत्माकी निंदा नहीं की; तो वह मनुष्यभव, रत्नचिंतामणिरूप देह व्यर्थ जाता है।

जीव कुसंगसे और असद्गुरुसे अनादिकालसे भटका है; इसलिये सत्पुरुषको पहचाने। सत्पुरुष कैसे हैं? सत्पुरुष तो वे हैं कि जिनका देहममत्व चला गया है, जिन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ है। ऐसे ज्ञानीपुरुषकी आज्ञासे आचरण करे तो अपने दोष घटते हैं, और कषाय आदि मंद पडते हैं तथा परिणाममें सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

क्रोध, मान, माया, लोभ ये सचमुच पाप हैं। उनसे बहुत कर्मोंका उपार्जन होता है। हजार वर्ष तप किया हो परंतु एक दो घडी क्रोध करे तो सारा तप निष्फल हो जाता है।

'छः खंडके भोक्ता राज छोड़कर चले गये और मैं ऐसे अल्प व्यवहारमें बड़प्पन और अहंकार कर बैठा हूँ,' यों जीव क्यों विचार नहीं करता?

आयुके इतने वर्ष बीत गये तो भी लोभ कुछ कम न हुआ, और न ही कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ। चाहे जितनी तृष्णा हो परंतु आयु पूरी हो जानेपर जरा भी काम नहीं आती, और तृष्णा की हो उससे कर्म ही बँधते हैं। अमुक परिग्रहकी मर्यादा की हो, जैसे कि दस हजार रुपयेकी, तो समता आती है। इतना मिलनेके बाद धर्मध्यान करेंगे ऐसा विचार भी रखें तो नियममें आया जा सकता है।

किसी पर क्रोध न करे। जैसे रात्रिभोजनका त्याग किया है वैसे ही क्रोध, मान, माया, लोभ, असत्य आदि छोडनेका प्रयत्न करके उन्हें मंद करे; और उन्हें मंद करनेसे परिणाममें सम्यक्त्व प्राप्त होता है। विचार करे तो अनंत कर्म मंद होते हैं और विचार न करे तो अनंत कर्मोंका उपार्जन होता है।

जब रोग उत्पन्न होता है तब स्त्री, बाल-बच्चे, भाई या दूसरा कोई भी उस रोगको नहीं ले सकता!

संतोष करके धर्मध्यान करें; बाल-बच्चे आदि किसीकी अनावश्यक चिंता न करें। एक स्थानमें बैठकर, विचार कर, सत्पुरुषके संगसे, ज्ञानीके वचन सुनकर विचार कर धन आदिकी मर्यादा करें।

ब्रह्मचर्यको यथातथ्य रीतिसे तो कोई विरला जीव ही पाल सकता है; तो भी लोकलाजसे ब्रह्मचर्यका पालन किया जाय तो वह उत्तम है।

मिथ्यात्व दूर हुआ हो तो चार गति दूर हो जाती है। समकित न आया हो और ब्रह्मचर्यका पालन करे तो देवलोक मिलता है।

वणिक, ब्राह्मण, पशु, पुरुष, स्त्री आदिकी कल्पनासे 'मैं वणिक, ब्राह्मण, पुरुष, स्त्री, पशु हूँ,', ऐसा मानता है; परंतु विचार करे तो वह स्वयं उनमेंसे कोई भी नहीं है। 'मेरा' स्वरूप तो उससे भिन्न ही है।

सूर्यके उद्योतकी तरह दिन बीत जाता है, उसी तरह अंजलिजलकी भाँति आयु चली जाती है।

जिस तरह लकड़ी करवतसे चीरी जाती है उसी तरह आयु चली जाती है; तो भी मूर्ख परमार्थका साधन नहीं करता, और मोहके पुंज इकट्ठे करता है।

'सबकी अपेक्षा मैं जगतमें बड़ा हो जाऊँ,' ऐसा बड़प्पन प्राप्त करनेकी तृष्णामें पाँच इन्द्रियोंमें लवलीन, मद्यपायीकी भाँति, मृगजलकी तरह संसारमें जीव भ्रमण किया करता है; और कुल, गाँव तथा गतियोंमें मोहके नचानेसे नाचा करता है।

जिस तरह कोई अंधा रस्सी बटता जाता है और बछड़ा उसे चबाता जाता है, उसी तरह अज्ञानीकी क्रिया निष्फल जाती है।

'मैं कर्ता', 'मैं करता हूँ', 'मैं कैसा करता हूँ', इत्यादि जो विभाव हैं वही मिथ्यात्व है। अहंकारसे संसारमें अनंत दुःख प्राप्त होता है; चारों गतियोंमें भटकता है।

किसीका दिया हुआ नहीं दिया जाता, किसीका लिया हुआ नहीं लिया जाता; जीव व्यर्थकी कल्पना करके भटकता है। जिस तरह कर्मोंका उपार्जन किया हो उसीके अनुसार लाभ, अलाभ, आयु, साता, असाता मिलते हैं। अपनेसे कुछ दिया लिया नहीं जाता। अहंकारसे 'मैंने उसे सुख दिया', 'मैंने दुःख दिया', 'मैंने अन्न दिया', ऐसी मिथ्या भावना करता है और उसके कारण कर्मका उपार्जन करता है। मिथ्यात्वसे कुधर्मका उपार्जन करता है।

जगतमें इसका यह पिता, इसका यह पुत्र ऐसा कहा जाता है; परंतु कोई किसीका नहीं है। पूर्वकर्मके उदयसे सब कुछ हुआ है।

अहंकारसे जो ऐसी मिथ्याबुद्धि करता है वह भूला है; चार गतिमें भटकता है, और दुःख भोगता है।

अधमाधम पुरुषके लक्षण—सत्पुरुषको देखकर उसे रोष आता है, उनके सच्चे वचन सुनकर निंदा करता है; दुर्बुद्धि सद्बुद्धिको देखकर रोष करता है; सरलको मूर्ख कहता है; विनयीको खुशामदी कहता है; पाँच इन्द्रियाँ वश करनेवालेको भाग्यहीन कहता है; सद्गुणीको देखकर रोष करता है; स्त्रीपुरुषके सुखमें लवलीन, ऐसे जीव दुर्गतिको प्राप्त होते हैं। जीव कर्मके कारण अपने स्वरूपज्ञानसे अंध है, उसे ज्ञानका पता नहीं है।

एक नाकके लिये—मेरी नाक रहे तो अच्छा—ऐसी कल्पनाके कारण जीव अपनी शूरवीरता दिखानेके लिये लड़ाईमें उतरता है; नाककी तो राख होनेवाली है!

देह कैसी है? रेतके घर जैसी, स्मशानकी मढी जैसी। पर्वतकी गुफाकी तरह देहमें अंधेरा है। चमड़ीके कारण देह ऊपरसे रूपवती लगती है। देह अवगुणकी कोठरी, माया और मैलके रहनेका स्थान है। देहमें प्रेम रखनेसे जीव भटका है। यह देह अनित्य है, मलमूत्रकी खान है। इसमें मोह रखनेसे जीव चार गतिमें भटकता है। कैसा भटकता है? कोल्हूके बैलकी तरह। आँखोंपर पट्टी बाँध लेता है, उसे चलनेके मार्गमें तंगीसे रहना पड़ता है; लकड़ीकी मार खाता है; चारों तरफ फिरते रहना पड़ता है; छूटनेका मन होनेपर भी छूट नहीं सकता; भूखे प्यासे होनेकी बात कह नहीं सकता; सुखसे श्वासोच्छ्वास ले नहीं सकता। उसकी तरह जीव पराधीन है। जो संसारमें प्रीति करता है वह इस प्रकारके दुःख सहन करता है।

धुएँ जैसे कपडे पहन कर वह आडंबर करता है, परंतु वह धुएँकी तरह नष्ट होने योग्य है। आत्माका ज्ञान मायासे दबा रहता है।

जो जीव आत्मेच्छा रखता है वह पैसेको नाकके मैलकी तरह छोड़ देता है। मक्खी मिठाईमें फँसी है उसकी तरह यह अभागा जीव कुटुंबके सुखमें फँसा है।

वृद्ध, युवान, बालक—ये सब संसारमें डूबे हैं, कालके मुखमें हैं, ऐसा भय रखना। यह भय रखकर संसारमें उदासीनतापूर्वक रहना।

सौ उपवास करे, परंतु जब तक भीतरसे सचमुच दोष दूर न हों तब तक फल नहीं मिलता।

श्रावक किसे कहना ? जिसे संतोष आया हो, जिसके कषाय मंद हो गये हों, भीतरसे गुण प्रगट हुए हों, सच्चा संग मिला हो, उसे श्रावक कहना। ऐसे जीवको बोध लगे तो सारी वृत्ति बदल जाती है, दशा बदल जाती है। सच्चा संग मिलना यह पुण्यका योग है।

जीव अविचारसे भूला है। उसे कोई जरा कुछ कहे तो तुरत बुरा लग जाता है। परंतु विचार नहीं करता कि 'मुझे क्या ? वह कहेगा तो उसे कर्मबंध होगा। क्या तुझे अपनी गति बिगाड़नी है ?' क्रोध करके सामने बोलता है तो तू स्वयं ही भूल करता है। जो क्रोध करता है वही बुरा है। इस बारेमें संन्यासी और चांडालका दृष्टांत है।[1]

ससुर-बहूके दृष्टांतसे[2] सामायिक समताको कहा जाता है। जीव अहंकारसे बाह्य क्रिया करता है; अहंकारसे माया खर्च करता है; ये दुर्गतिके कारण हैं। सत्संगके बिना यह दोष कम नहीं होता।

जीवको अपने आपको चतुर कहलाना बहुत भाता है। बिना बुलाये चतुराई कर बड़ाई लेता है। जिस जीवको विचार नहीं, उसके छूटनेका मार्ग नहीं। यदि जीव विचार करे और सन्मार्गपर चले तो छूटनेका मार्ग मिलता है।

[3]बाहुबलजीके दृष्टांतसे, अहंकारसे और मानसे कैवल्य प्रगट नहीं होता। वह बड़ा दोष है। अज्ञानमें बड़े-छोटेकी कल्पना है।

---

१३ आणंद, भादों वदी १४, सोम, १९५२

पंद्रह भेदोंसे सिद्ध होनेका वर्णन किया है उसका कारण यह है कि जिसके राग, द्वेष और अज्ञान दूर हो गये हैं, उसका चाहे जिस वेषसे, चाहे जिस स्थानसे और चाहे जिस लिंगसे कल्याण होता है।

सच्चा मार्ग एक ही है; इसलिये आग्रह नहीं रखना। 'मैं ढूँढिया हूँ', 'मैं तपा हूँ' ऐसी कल्पना नहीं रखना। दया, सत्य आदि सदाचरण मुक्तिका रास्ता है; इसलिये सदाचरणका सेवन करें।

लोच करना किसलिये कहा है ? वह शरीरकी ममताकी परीक्षा है इसलिये। (सिरपर बाल होना) यह मोह बढ़नेका कारण है। नहानेका मन होता है; दर्पण लेनेका मन होता है; उसमें मुँह देखनेका मन होता है; और इसके अतिरिक्त उनके साधनोंके लिये उपाधि करनी पड़ती है। इस कारणसे ज्ञानियोंने लोच करनेका कहा है।

यात्रा करनेका हेतु एक तो यह है कि गृहवासकी उपाधिसे निवृत्ति ली जाये, सौ दो सौ रुपयोंकी मूर्च्छा कम की जाये; परदेशमें देशाटन करते हुए कोई सत्पुरुष खोजनेसे मिल जाये तो कल्याण हो जाये। इन कारणोंसे यात्रा करना बताया है।

जो सत्पुरुष दूसरे जीवोंको उपदेश देकर कल्याण बताते हैं, उन सत्पुरुषोंको तो अनंत लाभ प्राप्त हुआ है। सत्पुरुष परजीवकी निष्काम करुणाके सागर है। वाणीके उदयके अनुसार उनकी वाणी निकलती है। वे किसी जीवको ऐसा नहीं कहते कि तू दीक्षा ले। तीर्थंकरने पूर्वकालमें कर्म बाँधा है

---

१. क्रोध चांडाल है। एक संन्यासी स्नान करनेके लिये जा रहा था। रास्तेमें सामनेसे चांडाल आ रहा था। संन्यासीने उसे एक ओर होनेको कहा, परंतु उसने सुना नहीं। इससे संन्यासी क्रोधमें आ गया। चांडाल उसके गले लग गया और बोला कि, 'मेरा भाग आपमें है।' २. ससुर कहाँ गये है ? भंगीबस्तीमें ३. देखें पृष्ठ ७१।

उसका वेदन करनेके लिये दूसरे जीवोंका कल्याण करते हैं; बाकी तो उदयानुसार दया रहती है। वह दया निष्कारण है, तथा उन्हें परायी निर्जरासे अपना कल्याण नहीं करना है। उनका कल्याण तो हो चुका ही है। वे तीन लोकके नाथ तो तरकर ही बैठे हैं। सत्पुरुष या समकितीको भी ऐसी (सकाम) उपदेश देनेकी इच्छा नहीं होती। वे भी निष्कारण दयाके लिये उपदेश देते हैं।

महावीरस्वामी गृहवासमें रहते हुए भी त्यागी जैसे थे।

हजारों वर्षके संयमी भी जैसा वैराग्य नहीं रख सकते वैसा वैराग्य भगवानका था। जहाँ जहाँ भगवान रहते हैं, वहाँ वहाँ सभी प्रकारके अर्थ भी रहते हैं। उनकी वाणी उदयानुसार शांति पूर्वक परमार्थहेतुसे निकलती है अर्थात् उनकी वाणी कल्याणके लिये ही हैं। उन्हें जन्मसे मति, श्रुत, अवधि ये तीन ज्ञान थे। उस पुरुषके गुणगान करनेसे अनंत निर्जरा होती है। ज्ञानीकी बात अगम्य है। उनका अभिप्राय मालूम नहीं होता। ज्ञानीपुरुषकी सच्ची खूबी यह है कि उन्होंने अनादिसे अटल ऐसे रागद्वेष तथा अज्ञानको छिन्न भिन्न कर ड़ाला है। यह भगवानकी अनंत कृपा है। उन्हें पच्चीस सौ वर्ष हो गये फिर भी उनकी दया आदि आज भी विद्यमान है। यह उनका अनंत उपकार है। ज्ञानी आडंबर दिखानेके लिये व्यवहार नहीं करते। वे सहज स्वभावसे उदासीन भावसे रहते हैं।

ज्ञानी रेलगाडीमें सेकन्ड क्लासमें बैठे तो वह देहकी साताके लिये नहीं। साता लगे तो थर्ड क्लाससे भी नीचेके क्लासमें बैठे, उस दिन आहार न ले; परंतु ज्ञानीको देहका ममत्व नहीं है। ज्ञानी व्यवहारमें संगमें रहकर, दोषके पास जाकर दोषका छेदन कर ड़ालते हैं, जब कि अज्ञानी जीव संगका त्याग करके भी उस स्त्री आदिके दोष छोड़ नहीं सकता। ज्ञानी तो दोष, ममत्व और कषायको उस संगमें रहकर भी नष्ट करते हैं। इसलिये ज्ञानीकी बात अद्‌भुत है।

संप्रदायमें कल्याण नहीं है, अज्ञानीके संप्रदाय होते हैं। ढूँढिया क्या ? तपा क्या ? जो मूर्त्तिको नहीं मानता और मुँहपत्ती बाँधता हैं वह ढूँढिया, जो मूर्त्तिको मानता है और मुँहपत्ती नहीं बाँधता वह तपा। यों कहीं धर्म होता है ? यह तो ऐसी बात है कि लोहा स्वयं तरता नहीं और दूसरेको तारता नहीं। वीतरागका मार्ग तो अनादिका है। जिसके राग, द्वेष और अज्ञान दूर हो गये उसका कल्याण, बाकी अज्ञानी कहे कि मेरे धर्मसे कल्याण है तो उसे नहीं मानना; यों कल्याण नहीं होता। ढूँढियापन या तपापन माना तो कषाय आता है; तपा ढूँढियाके साथ बैठा हो तो कषाय आता है; और ढूँढिया तपाके साथ बैठा हो तो कषाय आता है; इन्हें अज्ञानी समझें। दोनों नासमझसे संप्रदाय बनाकर कर्म उपार्जन करके भटकते हैं। बोहरेके नाडे[1] की तरह मताग्रह पकड़ बैठे हैं। मुँहपत्ती आदिका आग्रह छोड़ दें।

जैनमार्ग क्या है ? राग, द्वेष और अज्ञानका नाश हो जाना। अज्ञानी साधुओंने भोले जीवोंको समझाकर उन्हें मार डालने जैसा कर दिया है। यदि प्रथम स्वयं विचार करे, कि क्या मेरे दोष कम हुए है ? तो फिर मालूम होगा कि जैनधर्म तो मेरेसे दूर ही रहा है। जीव विपरीत समझसे अपना कल्याण भूल कर दूसरेका अकल्याण करता है। तपा ढूँढियाके साधुको और ढूँढिया तपाके साधुको अन्नपानी न देनेके लिये अपने शिष्योंको उपदेश देता है। कुगुरु एक दूसरेको मिलने नहीं देते, एक दूसरेको मिलने दें तब तो कषाय कम हो और निंदा घटे।

---

१. माल भरकर रस्सीसे बाँधे हुए छकडेपर एक बोहराजी बैठे हुए थे, उन्हें छकडेवालेने कहा, "रास्ता खराब हैं इसलिये, बोहराजी, नाडा पकडिये, नहीं तो गिर जायेंगे।" रास्तेमें गड्ढा आनेसे धक्का लगा कि बोहराजी नीचे गिर पडे। छकडेवालेने कहा, "चिताया था और नाडा क्यों नहीं पकड़ा ?" बोहराजी बोले, "यह नाडा पकडे रखा है, अभी छोड़ा नहीं" यों कहकर पाजामेका नाडा बताया।

जीव निष्पक्ष नहीं रहते। अनादिसे पक्षमें पड़े हुए है, और उसमें रहकर कल्याण भूल जाते हैं।

बारह कुलकी गोचरी कही है, वैसी कितने ही मुनि नहीं करते। उन्हें वस्त्र आदि परिग्रहका मोह दूर नहीं हुआ है। एक बार आहार लेनेका कहा है, फिर भी दो बार लेते हैं। जिस ज्ञानी पुरुषके वचनसे आत्मा ऊँचा उठे वह सच्चा मार्ग है, वह अपना मार्ग है। हमारा धर्म सच्चा है पर पुस्तकमें है। आत्मामें जब तक गुण प्रगट न हो तब तक कुछ फल नहीं होता। 'हमारा धर्म' ऐसी कल्पना है। हमारा धर्म क्या ? जैसे महासागर किसीका नहीं है, वैसे ही धर्म किसीके बापका नहीं है। जिसमें दया, सत्य आदि हो उसका पालन करें। वे किसीके बापके नहीं है। अनादिकालके हैं; शाश्वत है। जीवने गाँठ पकड़ी है कि हमारा धर्म है, परंतु शाश्वत धर्म है, उसमें हमारा क्या ? शाश्वत मार्गसे सब मोक्ष गये हैं। रजोहरण, डोरा, मुँहपत्ती, कपडे इनमेंसे कोई आत्मा नहीं हैं।

कोई एक बोहरा था। वह छकडेमें माल भरकर दूसरे गाँवमें ले जा रहा था। छकडेवालेने कहा, 'चोर आयेंगे इसलिये सावधान होकर रहना, नहीं तो लूट लेंगे।' परंतु उस बोहरेने स्वच्छंदसे माना नहीं और कहा, 'कुछ फिक्र नहीं !' फिर मार्गमें चोर मिले। छकडेवालेने माल बचानेके लिये महेनत करनी शुरू की परंतु उस बोहरेने कुछ भी न करते हुए माल ले जाने दिया; और चोर माल लूट गये। परंतु उसने माल वापस प्राप्त करनेके लिये कोई उपाय नहीं किया। घर गया तब सेठने पूछा, 'माल कहाँ है ?' तब उसने कहा कि 'माल तो चोर लूट गये हैं।' तब सेठने पूछा—'माल पकड़नेके लिये कछ उपाय किया है ?' तब उस बोहरेने कहा, 'मेरे पास बीजक है, इससे चोर माल ले जाकर किस तरह बेचेंगे ? इसलिये वे मेरे बीजक लेने आयेंगे तब पकड़ लूँगा।' ऐसी जीवकी मूढता है। 'हमारे जैन धर्मके शास्त्रोंमें सब कुछ है, शास्त्र हमारे पास हैं।' ऐसा मिथ्याभिमान जीव कर बैठा है। क्रोध, मान, माया, लोभरूपी चोर दिनरात माल चुरा रहे हैं, उसका भान नहीं है।

तीर्थंकरका मार्ग सच्चा है। द्रव्यमें कोडी तक भी रखनेकी आज्ञा नहीं है। वैष्णवके कुलधर्मके कुगुरु आरंभ-परिग्रह छोड़े बिना ही लोगोंके पाससे लक्ष्मी ग्रहण करते हैं, और यह एक व्यापार हो गया है। वे स्वयं अग्निमें जलते हैं, तो उनसे दूसरोंकी अग्नि किस तरह शांत हो ? जैनमार्गका परमार्थ सच्चे गुरुसे समझना है। जिस गुरुको स्वार्थ होता है वह अपना अकल्याण करता है और शिष्योंका भी अकल्याण होता है।

जैनलिंगधारी होकर जीव अनंत बार भटका है। बाह्यवर्ती लिंग धारण करके लौकिक व्यवहारमें अनंतबार भटका है। यहाँ हम जैनमार्गका निषेध नहीं करते। जो अंतरंगसे सच्चा मार्ग बताये वह 'जैन' है। बाकी तो अनादिकालसे जीवने झूठेको सच्चा माना हैं; और यही अज्ञान है। मनुष्यदेहकी सार्थकता तभी है कि जब जीव मिथ्या आग्रह, दुराग्रह छोड़कर कल्याणको प्राप्त करे। ज्ञानी सीधा मार्ग ही बताते हैं। आत्मज्ञान जब प्रगट हो तभी आत्मज्ञानीपन मानना, गुण प्रगट हुए बिना उसे मानना भूल है। जवाहरातकी कीमत जाननेकी शक्तिके बिना जौहरीपन न मानें। अज्ञानी झूठेको सच्चा नाम देकर संप्रदाय बनाता है। सत्‌की पहचान हो तो कभी भी सत्य ग्रहण होगा।

---

१४ आणंद, भादों वदी ३०, मंगल, १९५२

जो जीव अपनेको मुमुक्षु मानता हो, तरनेका कामी मानता हो, समझदार हूँ ऐसा मानता हो, उसे देहमें रोग होते समय आकुल-व्याकुलता होती हो, तो उस समय विचार करे—'तेरी मुमुक्षुता, चतुरता कहाँ चली गयीं ?' उस समय विचार क्यों नहीं करता होगा ? यदि तरनेका कामी है तो तो वह देहको असार समझता है, देहको आत्मासे भिन्न मानता है, उसे आकुलता नहीं आनी चाहिये। देह सँभालनेसे

सँभाली नहीं जाती, क्योंकि वह क्षणमें नष्ट हो जाती है, क्षणमें रोग, क्षणमें वेदना हो जाती है। देहके संगसे देह दुःख देती है; इसलिये आकुल-व्याकुलता होती है यही अज्ञान है। शास्त्रका श्रवणकर रोज सुना है कि देह आत्मासे भिन्न है, क्षणभंगुर है; परंतु देहमें वेदना होनेपर तो रागद्वेष परिणाम करके हाय-हाय करता है। देह क्षणभंगुर है, ऐसी बात आप शास्त्रमें क्यों सुनने जाते हैं? देह तो आपके पास है तो अनुभव करें। देह स्पष्ट मिट्टी जैसी है, सँभालनेसे सँभाली नहीं जाती, रखनेसे रखी नहीं जाती। वेदनाका वेदन करते हुए उपाय नहीं चलता। तब क्या सँभालें? कुछ भी नहीं हो सकता। ऐसा देहका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, तो फिर उसकी ममता करके क्या करना? देहका प्रत्यक्ष अनुभव करके शास्त्रमें कहा है कि वह अनित्य है, असार है, इसलिये देहमें मूर्च्छा करना योग्य नहीं है।

जब तक देहात्मबुद्धि दूर नहीं होती तब तक सम्यक्त्व नहीं होता। जीवको सत्य कभी मिला ही नहीं, मिला होता तो मोक्ष हो जाता। भले ही साधुपन, श्रावकपन अथवा तो चाहे जो स्वीकार कर लें परंतु सत्यके बिना साधन व्यर्थ है। देहात्मबुद्धि मिटानेके लिये जो साधन बताये हैं वे, देहात्मबुद्धि मिटे तभी सच्चे समझे जाते हैं। देहात्मबुद्धि हुई है उसे मिटानेके लिये, ममत्व छुड़ानेके लिये साधन करने हैं। वह न मिटे तो साधुपन, श्रावकपन, शास्त्र-श्रवण या उपदेश सब कुछ अरण्यरुदनके समान हैं। जिसका यह भ्रम नष्ट हो गया है, वही साधु, वही आचार्य, वही ज्ञानी है। जिस तरह कोई अमृतभोजन करे वह कुछ छिपा नहीं रहता, उसी तरह भ्रांति, भ्रमबुद्धि दूर हो जाये वह कुछ छिपा नहीं रहता।

लोग कहते हैं कि समकित है या नहीं, वह केवलज्ञानी जाने; परंतु स्वयं आत्मा है वह क्यों न जाने? कहीं आत्मा गाँव नहीं चला गया; अर्थात् समकित हुआ है उसे आत्मा स्वयं जानता है। जिस तरह कोई पदार्थ खानेपर उसका फल होता है, उसी तरह समकित होनेपर, भ्रांति दूर होनेपर, उसका फल स्वयं जानता है। ज्ञानका फल ज्ञान देता ही है। पदार्थका फल पदार्थ लक्षणके अनुसार देता ही है। आत्मामेंसे, अंतरमेंसे कर्म जानेको तैयार हुए हों तो उसकी खबर अपनेको क्यों न पड़े? अर्थात् खबर पड़ती ही है। समकितीकी दशा छिपी नहीं रहती। कल्पित समकितको समकित मानना वह पीतलकी कंठीको सोनेकी कंठी मानने जैसा है।

समकित हुआ हो तो देहात्मबुद्धि नष्ट होती है; यद्यपि अल्प बोध, मध्यम बोध, विशेष बोध—जैसा भी बोध हो तदनुसार पीछेसे देहात्मबुद्धि नष्ट होती है। देहमें रोग होनेपर जिसमें आकुल-व्याकुलता दिखाई दें उसे मिथ्यादृष्टि समझें।

जिस ज्ञानीको आकुल-व्याकुलता मिट गयी है, उसे अंतरंग पच्चक्खान ही है, उसमें सभी पच्चक्खान आ जाते हैं। जिसके रागद्वेष नष्ट हो गये हैं उसे यदि बीस बरसका पुत्र मर जाये तो भी खेद नहीं होता। शरीरमें व्याधि होनेसे जिसे व्याकुलता होती है, और जिसका ज्ञान कल्पना मात्र है उसे खोखला अध्यात्मज्ञान मानें। ऐसे कल्पित ज्ञानी उस खोखले ज्ञानको अध्यात्मज्ञान मानकर अनाचारका सेवन करके बहुत ही भटकते हैं। देखिये शास्त्रका फल!

आत्माको पुत्र भी नहीं होता और पिता भी नहीं होता। जो ऐसी (पिता-पुत्रकी) कल्पनाको सच्चा मान बैठे हैं वे मिथ्यात्वी हैं। कुसंगके कारण समझमें नहीं आता; इसलिये समकित नहीं आता। योग्य जीव हो तो सत्पुरुषके संगसे सम्यक्त्व होता है।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्वका तुरत पता चल जाता है। समकिती और मिथ्यात्वीकी वाणी घडी-घडीमें भिन्न दिखाई देती है। ज्ञानीकी वाणी एकतार पूर्वापर मिलती चली आती है। अन्तर्ग्रन्थिभेद होनेपर ही सम्यक्त्व होता है। रोगको जाने, रोगकी दवा जाने, परहेज जाने, पथ्य जाने और तदनुसार उपाय करे

तो रोग दूर होता है। रोग जाने बिना अज्ञानी जो उपाय करता है उससे रोग बढ़ता है। पथ्यका पालन करे और दवा करे नहीं, तो रोग कैसे मिटेगा ? अर्थात् नहीं मिटेगा। तो फिर यह तो रोग कुछ और दवा कुछ और ही ! कुछ शास्त्रको तो ज्ञान नहीं कहा जाता। ज्ञान तो तभी कहा जाये कि जब अंतरकी गाँठ दूर हो। तप, संयम आदिके लिये सत्पुरुषके वचनोंका श्रवण करनेका कहा है।

ज्ञानी भगवानने कहा है कि साधुओंको अचित् और नीरस आहार लेना चाहिये। इस कथनको तो कितने ही साधु भूल गये हैं। दूध आदि सचित् भारी-भारी विगय पदार्थ लेकर ज्ञानीकी आज्ञाको ठुकराकर चलना यह कल्याणका मार्ग नहीं है। लोग कहते हैं कि ये साधु हैं; परंतु जो आत्मदशा साधता है वही साधु है।

नरसिंह मेहता कहते हैं कि अनादिकालसे यों ही चलते चलते काल बीत गया परंतु अंत नहीं आया। यह मार्ग नहीं है; क्योंकि अनादिकालसे चलते चलते भी मार्ग हाथ लगा नहीं। यदि मार्ग यही होता तो ऐसा न होता कि अभी तक कुछ भी हाथमें नहीं आया। इसलिये मार्ग और ही होना चाहिये।

तृष्णा कैसे कम हो ? यदि लौकिक भावमें बड़प्पन छोड़ दे तो। 'घर-कुटुम्ब आदिको मुझे क्या करना है ? लौकिकमें चाहे जैसा हो, परंतु मुझे तो मान बड़ाई छोड़कर चाहे जिस प्रकारसे तृष्णाको कम करना है,' इस तरह विचार करे तो तृष्णा कम होती है, मंद हो जाती है।

तपका अभिमान कैसे कम हो ? त्याग करनेका उपयोग रखनेसे। 'मुझे यह अभिमान क्यों होता है ?' यों रोज विचार करते करते अभिमान मंद पड़ेगा।

ज्ञानी कहते हैं उस कुँजीरूपी ज्ञानका यदि जीव विचार करे तो अज्ञानरूपी ताला खुल जाता है; कितने ही ताले खुल जाते हैं। कुंजी हो तो ताला खुलता है; नहीं तो पत्थर मारनेसे तो ताला टूट जाता है।

'कल्याण क्या होगा ?' ऐसा जीवको झूठा भ्रम है। वह कुछ हाथी-घोड़ा नहीं है। जीवको ऐसी भ्रांतिके कारण कल्याणकी कुंजियाँ समझमें नहीं आती। समझमें आ जायें तो तो सुगम हैं। जीवकी भ्रांतियोंको दूर करनेके लिये जगतका वर्णन किया है। यदि जीव सदाके अंध मार्गसे थक जाये तो मार्गमें आता है।

ज्ञानी परमार्थ, सम्यक्त्वको ही बताते हैं। 'कषायका कम होना वही कल्याण है, जीवके राग, द्वेष और अज्ञानका दूर होना कल्याण कहा जाता है।' तब लोग कहते हैं, कि 'ऐसा तो हमारे गुरु भी कहते हैं, तो फिर आप भिन्न क्या बताते है ?' ऐसी उलटी-सीधी कल्पनाएँ करके जीव अपने दोषोंको दूर करना नहीं चाहता।

आत्मा अज्ञानरूपी पत्थरसे दब गया है। ज्ञानी ही आत्माको ऊँचा उठायेंगे। आत्मा दब गया है इसलिये कल्याण सूझता नहीं है। ज्ञानी सद्विचाररूपी सरल कुंजियाँ बताते हैं, वे कुंजियाँ हजारों तालोंको लगती है।

जीवका आंतरिक अजीर्ण दूर हो तब अमृत अच्छा लगता है; उसी तरह भ्रांतिरूप अजीर्ण दूर होनेपर कल्याण होता है; परंतु जीवको अज्ञानी गुरुओंने भडका रखा है, इसलिये भ्रांतिरूप अजीर्ण कैसे दूर हो ? अज्ञानी गुरु ज्ञानके बदले तप बताते हैं, तपमें ज्ञान बताते हैं, यों उलटा-उलटा बताते हैं इसलिये जीवके लिये तरना बहुत कठिन है। अहंकार आदिसे रहित होकर तप आदि करें।

कदाग्रह छोड़कर जीव विचार करे तो मार्ग तो अलग है। समकित सुलभ है, प्रत्यक्ष है, सरल है। जीव गाँव छोड़कर आगे निकल गया है वह पीछे लौटे तो गाँव आता है। सत्पुरुषके वचनोंका

आस्थासहित श्रवण-मनन करे तो सम्यक्त्व प्राप्त होता है। उसके प्राप्त होनेके बाद व्रत-पच्चक्खान आते हैं, उसके बाद पाँचवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है।

सत्य समझमें आकर उसकी आस्था होना यही सम्यक्त्व है। जिसे सच्चे-झूठेकी कीमत मालूम हो गयी है, वह भेद जिसका दूर हो गया है, उसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

असद्गुरुसे सत् समझमें नहीं आता, समकित नहीं होता। दया, सत्य, अदत्त न लेना इत्यादि सदाचार सत्पुरुषके समीप आनेके सत्साधन हैं। सत्पुरुष जो कहते हैं वह सूत्रका, सिद्धांतका परमार्थ है। सूत्रसिद्धांत तो कागज है। हम अनुभवसे कहते हैं, अनुभवसे शंका दूर करनेको कह सकते हैं। अनुभव प्रगट दीपक है, और सूत्र कागजमें लिखा हुआ दीपक है।

ढूँढियापन या तपापनकी दुहाई देते रहें, उससे समकित होनेवाला नहीं हैं। यथार्थ सच्चा स्वरूप समझमें आये, भीतरसे दशा बदले तो समकित होता है। परमार्थमें प्रमाद अर्थात् आत्मासे बाह्य वृत्ति। जो घात करे उसे घाती कर्म कहा जाता है। परमाणुको पक्षपात नहीं है, जिस रूपसे आत्मा उसे परिणमाये उस रूपसे परिणमता है।

निकाचित कर्ममें स्थिति-बंध हो तो यथोचित बंध होता है। स्थितिकाल न हो तो वह विचारसे, पश्चात्तापसे, ज्ञानविचारसे नष्ट होता है। स्थितिकाल हो तो भोगनेपर ही छुटकारा होता है।

क्रोध आदि करके जिन कर्मोंका उपार्जन किया हो उन्हें भोगनेपर ही छुटकारा होता है। उदय आनेपर भोगना ही चाहिये। जो समता रखे उसे समताका फल मिलता है। सबको अपने-अपने परिणामके अनुसार कर्म भोगने पड़ते हैं।

ज्ञान स्त्रीत्वमें, पुरुषत्वमें समान ही है। ज्ञान आत्माका है। वेदसे रहित होनेपर ही यथार्थ ज्ञान होता है।

स्त्री हो या पुरुष हो परंतु देहमेंसे आत्मा निकल जाये तब शरीर तो मुर्दा है और इंद्रियाँ झरोखे जैसी हैं।

भगवान महावीरके गर्भका हरण हुआ होगा या नहीं ? ऐसे विकल्पका क्या काम है ? भगवान चाहे जहाँसे आये; परंतु सम्यग्ज्ञान, दर्शन, और चारित्र थे या नहीं ? हमें तो इससे मतलब है। इनके आश्रयसे पार होनेका उपाय करना यही श्रेयस्कर है। कल्पना कर करके क्या करना है ? चाहे जैसे साधन प्राप्त कर भूख मिटानी है। शास्त्रोक्त बातोंको इस तरह ग्रहण करें कि आत्माका उपकार हो, दूसरी तरह नहीं।

जीव डूब रहा हो तब वहाँ अज्ञानी जीव पूछे कि 'कैसे गिरा ?' इत्यादि माथापच्ची करे तो इतनेमें यह जीव डूब ही जायेगा, मर जायेगा। परंतु ज्ञानी तो तारक होनेसे वे दूसरी माथापच्ची छोड़कर डूबते हुएको तुरत तारते हैं।

जगतकी झंझट करते करते जीव अनादिकालसे भटका है। एक घरमें ममत्व माना इसमें तो इतना सारा दुःख है तो फिर जगतकी, चक्रवर्तीकी रिद्धिकी कल्पना, ममता करनेसे दुःखमें क्या खामी रहेगी ! अनादिकालसे इससे हारकर मर रहा है।

ज्ञान क्या ? जो परमार्थके काममें आये वह ज्ञान है। सम्यग्दर्शनसहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

नवपूर्व तो अभव्य भी जानता है। परंतु सम्यग्दर्शनके बिना उसे सूत्र-अज्ञान कहा है।

सम्यक्त्व हो और शास्त्रके मात्र दो शब्द जाने तो भी मोक्षके काम आते हैं। जो ज्ञान मोक्षके काममें नहीं आता वह अज्ञान है।

मेरु आदिका वर्णन जानकर उसकी कल्पना, चिंता करता है, मानो मेरुका ठेका न लेना हो ? जानना तो ममता छोड़नेके लिये है।

जो विषको जानता है वह उसे नहीं पीता। विषको जानकर पीता है तो वह अज्ञान है। इसलिये जानकर छोड़नेके लिये ज्ञान कहा है।

जो दृढ निश्चय करता है कि चाहे जो करूँ, विष पीऊँ, पर्वतसे गिरूँ, कुएँमें पड़ूँ परंतु जिससे कल्याण हो वही करूँ। उसका ज्ञान सच्चा है। वही तरनेका कामी कहा जाता है।

देवताको हीरामाणिक आदि परिग्रह अधिक है। उसमें अतिशय ममता-मूर्छा होनेसे वहाँसे च्यवनकर वह हीरा आदिमें एकेंद्रियरूपसे जन्म लेता है।

जगतका वर्णन करते हुए, जीव अज्ञानसे अनंतबार उसमें जन्म ले चुका है, उस अज्ञानको छोड़नेके लिये ज्ञानियोंने यह वाणी कही है। परंतु जगतके वर्णनमें ही जीव फँस जाये तो उसका कल्याण किस तरह होगा ! वह तो अज्ञान ही कहा जाता है। जिसे जानकर जीव अज्ञानको छोड़नेका उपाय करता है वह ज्ञान है।

अपने दोष दूर हों ऐसे प्रश्न करे तो दोष दूर होनेका कारण होता है। जीवके दोष कम हों, दूर हों तो मुक्ति होती है।

जगतकी बात जानना इसे शास्त्रमें मुक्ति नहीं कहा है। परंतु निरावरण होना ही मोक्ष है।

पाँच वर्षोंसे एक बीड़ी जैसा व्यसन भी प्रेरणा किये बिना छोड़ा नहीं जा सका। हमारा उपदेश तो उसीके लिये है जो तुरंत ही करनेका विचार रखता हो। इस कालमें बहुतसे जीव विराधक होते हैं और उनपर नहीं जैसा ही संस्कार पड़ता है।

ऐसी बात तो सहज ही समझने जैसी है, और तनिक विचार करे तो समझमें आ सकती है कि जीव मन, वचन और कायाके तीन योगसे रहित है, सहजस्वरूप है। जब ये तीन योग तो छोड़ने हैं तब इन बाह्य पदार्थोंमें जीव क्यों आग्रह करता होगा ? यह आश्चर्य होता है ! जीव जिस जिस कुलमें उत्पन्न होता है उस उसका आग्रह करता है, जोर करता है। वैष्णवके यहाँ जन्म लिया होता तो उसका आग्रह हो जाता। यदि तपामें हो तो तपाका आग्रह हो जाता है। जीवका स्वरूप ढूँढिया नहीं, तपा नहीं, कुल नहीं, जाति नहीं, वर्ण नहीं। ऐसी ऐसी कुकल्पना करके आग्रहपूर्वक आचरण करवाना यह कैसा अज्ञान है ! जीवको लोगोंको अच्छा दिखाना ही बहुत भाता है और इससे जीव वैराग्य-उपशमके मार्गसे रुक जाता है। अब आगेसे और पहले कहा है, कि दुराग्रहके लिये जैनशास्त्र मत पढ़ना। जिससे वैराग्य-उपशम बढ़े वही करना। इनमें (मागधी गाथाओंमें) कहाँ ऐसी बात है कि इसे ढूँढिया या इसे तपा मानना ? उनमें ऐसी बात होती ही नहीं है।

(त्रिभोवनको) जीवको उपाधि बहुत है। ऐसा योग-मनुष्यभव आदि साधन मिले है और जीव विचार नहीं करेगा तो क्या यह पशुके देहमें विचार करेगा ? कहाँ करेगा ?

जीव ही परमाधामी (यम) जैसा है, और यम है, क्योंकि नरकगतिमें जीव जाता हैं, उसका कारण जीव यहीं खड़ा करता है।

जीव पशुकी जातिके शरीरोंके दुःख प्रत्यक्ष देखता है, जरा विचार आता है और फिर भूल जाता है। लोग प्रत्यक्ष देखते हैं कि यह मर गया, मुझे मरना है ऐसी प्रत्यक्षता है; तथापि शास्त्रमें उस व्याख्याको दृढ करनेके लिये वारंवार वही बात कही है। शास्त्र तो परोक्ष है और यह तो प्रत्यक्ष है, परंतु जीव फिर भूल जाता है, इसलिये वहीकी वही बात कही है।

*९५८

मोरबी, संवत् १९५४-५५

श्री

व्याख्यानसार—१

१. प्रथम गुणस्थानकमें ग्रंथि है उसका भेदन किये बिना आत्मा आगेके गुणस्थानकमें नहीं जा सकता। योगानुयोग मिलनेसे अकामनिर्जरा करता हुआ जीव आगे बढ़ता है, और ग्रंथिभेद करनेके समीप आता है। यहाँ ग्रंथिकी इतनी अधिक प्रबलता है कि वह ग्रंथिभेद करनेमें शिथिल होकर, असमर्थ होकर, वापस लौट आता है। वह हिम्मत करके आगे बढ़ना चाहता है, परंतु मोहनीयके कारण रूपांतर समझमें आनेसे वह ऐसा समझता है कि स्वयं ग्रंथिभेद कर रहा है; बल्कि विपरीत समझनेरूप मोहके कारण ग्रंथिकी निबिड़ता ही करता है। उसमेंसे कोई जीव ही योगानुयोग प्राप्त होनेपर अकामनिर्जरा करता हुआ अति बलवान होकर उस ग्रंथिको शिथिल करके अथवा दुर्बल करके आगे बढ़ जाता है। यह अविरतिसम्यग्दृष्टि नामक चौथा गुणस्थानक है, जहाँ मोक्षमार्गकी सुप्रतीति होती है; इसका दूसरा नाम 'बोधबीज' है। यहाँ आत्माके अनुभवका श्रीगणेश होता है, अर्थात् मोक्ष होनेका बीज यहाँ बोया जाता है।

२. इस 'बोधबीज गुणस्थानक' रूप चौथे गुणस्थानकसे तेरहवें गुणस्थानक तक आत्मानुभव एकसा हैं, परंतु ज्ञानावरणीय कर्मकी निरावरणताके अनुसार ज्ञानकी विशुद्धता न्यूनाधिक होती है, उसके प्रमाणमें अनुभवका वर्णन कर सकता है।

---

३. ज्ञानावरणका सर्वथा निरावरण होना 'केवलज्ञान' अर्थात् 'मोक्ष' है; जो बुद्धिबलसे कहा नहीं जा सकता, परंतु अनुभवगम्य है।

४. बुद्धिबलसे निश्चित किया हुआ सिद्धांत उससे विशेष बुद्धिबल अथवा तर्कसे कदाचित् बदल सकता है; परंतु जो वस्तु अनुभवगम्य (अनुभवसिद्ध) हुई है वह त्रिकालमें बदल नहीं सकती।

५. वर्तमान समयमें जैनदर्शनमें अविरतिसम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थानसे अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थान तक आत्मानुभव स्पष्ट स्वीकृत है।

---

* वि॰सं॰१९५४ और १९५५ में माघ माससे चैत्र मास तक श्रीमद्जी मोरबीमें ठहरे थे। उस अरसेमें उन्होंने जो व्याख्यान दिये थे, उनका सार एक मुमुक्षु श्रोताने अपनी स्मृतिके अनुसार लिख लिया था जिसे यहाँ दिया गया है।

६. सातवेंसे सयोगीकेवली नामक तेरहवे गुणस्थान तकका काल अंतर्मुहूर्तका है। तेरहवेंका काल क्वचित् लंबा भी होता है। वहाँ तक आत्मानुभव प्रतीतिरूप है।

७. इस कालमें मोक्ष नहीं है ऐसा मानकर जीव मोक्षहेतुभूत क्रिया नहीं कर सकता; और वैसी मान्यताके कारण जीवकी प्रवृत्ति दूसरे ही प्रकारकी होती है।

८. पिंजरेमें बंद किया हुआ सिंह पिंजरेसे प्रत्यक्ष भिन्न है, तो भी बाहर निकलनेके सामर्थ्यसे रहित है। इसी तरह अल्प आयुके कारण अथवा संघयण आदि अन्य साधनोंके अभावसे आत्मारूपी सिंह कर्मरूपी पिंजरेसे बाहर नहीं आ सकता ऐसा माना जाये तो यह मानना सकारण है।

९. इस असार संसारमें मुख्य चार गतियाँ हैं, जो कर्मबंधसे प्राप्त होती है। बंधके बिना वे गतियाँ प्राप्त नहीं होती। बंधरहित मोक्षस्थान बंधसे होनेवाली चारगतिरूप संसारमें नहीं है। सम्यक्त्व अथवा चारित्रसे बंध नहीं होता यह तो निश्चित है; तो फिर चाहे जिस कालमें सम्यक्त्व अथवा चारित्र प्राप्त करे वहाँ उस समय बंध नहीं है; और जहाँ बंध नहीं है वहाँ संसार भी नहीं है।

१०. सम्यक्त्व और चारित्रमें आत्माकी शुद्ध परिणति है, तथापि उसके साथ मन, वचन और शरीरके शुभ योगकी प्रवृत्ति होती है। उस शुभ योगसे शुभ बंध होता है। उस बंधके कारण देव आदि गतिरूप संसार करना पड़ता है। परंतु उससे विपरीत जो सम्यक्त्व और चारित्र हैं वे जितने अंशमें प्राप्त होते हैं उतने अंशमें मोक्ष प्रगट होता है; उसका फल देव आदि गतिका प्राप्त होना नहीं है। देव आदि गति जो प्राप्त हुई है वह उपर्युक्त मन, वचन और शरीरके शुभ योगसे हुई है; और जो बंधरहित सम्यक्त्व तथा चारित्र प्रगट हुए हैं वे स्थिर रहकर फिर मनुष्यभव प्राप्त कराकर, फिर उस भागसे संयुक्त होकर मोक्ष होता है।

११. चाहे जिस कालमें कर्म है, उसका बंध है, और उस बंधकी निर्जरा है, और संपूर्ण निर्जराका नाम 'मोक्ष' है।

---

१२. निर्जराके दो भेद हैं–एक सकाम अर्थात् सहेतु (मोक्षकी हेतुभूत) निर्जरा और दूसरी अकाम अर्थात् विपाकनिर्जरा।

१३. अकामनिर्जरा औदयिक भावसे होती है। यह निर्जरा जीवने अनंत बार की है और यह कर्मबंधका कारण है।

१४. सकामनिर्जरा क्षायोपशमिक भावसे होती है, जो कर्मके बंधका कारण है। जितने अंशमें सकामनिर्जरा (क्षायोपशमिक भावसे) होती है उतने अंशमें आत्मा प्रगट होता है। यदि अकाम (विपाक) निर्जरा हो तो वह औदयिक भावसे होती है, और वह कर्मबंधका कारण है। यहाँ भी कर्मकी निर्जरा होती है, परंतु आत्मा प्रगट नहीं होता।

१५. अनंत बार चारित्र प्राप्त करनेसे जो निर्जरा हुई है वह औदयिक भावसे (जो भाव अबंधक नहीं है) हुई है; क्षायोपशमिक भावसे नहीं हुई। यदि वैसे हुई होती तो इस तरह भटकना नहीं पड़ता।

१६. मार्ग दो प्रकारके हैं–एक लौकिक मार्ग और दूसरा लोकोत्तर मार्ग; जो एक दूसरेसे विरुद्ध है।

१७. लौकिक मार्गसे विरुद्ध जो लोकोत्तर मार्ग है, उसका पालन करनेसे उसका फल उससे विरुद्ध अर्थात् लौकिक नहीं होता। जैसा कृत्य वैसा फल।

---

१८. इस संसारमें जीवोंकी संख्या अनंत कोटि है। व्यवहार आदि प्रसंगमें अनंत जीव क्रोध आदि से बर्ताव करते हैं। चक्रवर्ती राजा आदि क्रोध आदि भावसे संग्राम करते हैं, और लाखों मनुष्योंका घात करते हैं, तो भी उनमेंसे किसी किसीका उसी कालमें मोक्ष हुआ है।

१९. क्रोध, मान, माया और लोभकी चौकडी 'कषाय'के नामसे पहचानी जाती है। यह कषाय अत्यंत क्रोधादिवाला है। यदि वह अनंत संसारका हेतु होकर अनंतानुबंधी कषाय होता हो तो फिर चक्रवर्ती आदिको अनंत संसारकी वृद्धि होनी चाहिये, और इस हिसाबसे अनंत संसार बीतनेसे पहले उनका मोक्ष कैसे हो सकता है? यह बात विचारणीय है।

२०. जिस क्रोध आदिसे अनंत संसारकी वृद्धि हो वह अनंतानुबंधी कषाय है, यह भी निःशंक है। इस हिसाबसे उपर्युक्त क्रोध आदि अनन्तानुबंधी नहीं हो सकते। तो फिर अनंतानुबंधी चौकडी दूसरी तरहसे होना संभव है।

२१. सम्यक्ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तीनोंकी एकता 'मोक्ष' है। वह सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र अर्थात् वीतराग ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। उसीसे अनंत संसारसे मुक्ति प्राप्त होती है। यह वीतरागज्ञान कर्मके अबंधका हेतु है। वीतरागके मार्गमें चलना अथवा उनकी आज्ञाके अनुसार चलना भी अबंधक है। उनके प्रति जो क्रोध आदि कषाय हों उनसे विमुक्त होना, यही अनंत संसारसे अत्यंतरूपसे मुक्त होना है; अर्थात् मोक्ष है। जिससे मोक्षसे विपरीत ऐसे अनंत संसारकी वृद्धि होती है उसे अनंतानुबंधी कहा जाता है और है भी इसी तरह। वीतरागके मार्गमें और उनकी आज्ञानुसार चलनेवालोंका कल्याण होता है। ऐसा जो बहुतसे जीवोंके लिये कल्याणकारी मार्ग है उसके प्रति क्रोध आदि भाव (जो महा विपरीत करनेवाले हैं) ही अनंतानुबंधी कषाय हैं।

२२. यद्यपि क्रोध आदि भाव लौकिक व्यवहारमें भी निष्फल नहीं होते; परंतु वीतराग द्वारा प्ररूपित वीतरागज्ञान अथवा मोक्षधर्म अथवा तो सद्धर्म उसका खंडन करना या उसके प्रति तीव्र, मंद आदि जैसे भावसे क्रोध आदि भाव होते हों वैसे भावसे अनंतानुबंधी कषायसे बंध होकर अनंत संसारकी वृद्धि होती है।

---

२३. किसी भी कालमें अनुभवका अभाव नहीं है। बुद्धिबलसे निश्चित की हुई जो अप्रत्यक्ष बात है उसका क्वचित् अभाव भी हो सकता है।

२४. केवलज्ञान अर्थात् जिससे कुछ भी जानना शेष नहीं रहता वह, अथवा जो आत्मप्रदेशका स्वभाव-भाव है वह ?–

(अ) आत्मासे उत्पन्न किया हुआ विभाव-भाव, और उसमें होनेवाले जड़ पदार्थके संयोगरूप आवरणसे जो कुछ देखना, जानना आदि होता है वह इंद्रियकी सहायतासे हो सकता है; परंतु उस संबंधी यह विवेचन नहीं है। यह विवेचन 'केवलज्ञान' संबंधी है।

(आ) विभाव-भावसे हुआ जो पुद्गलास्तिकायका संबंध है वह आत्मासे पर है। उसका तथा जितना पुद्गलका संयोग हुआ उसका यथान्यायसे ज्ञान अर्थात् अनुभव होता है वह अनुभवगम्यमें समाता है, और उसके कारण लोकसमस्तके पुद्गलोंका भी ऐसा ही निर्णय होता है उसका समावेश बुद्धिबलमें होता है। जिस तरह, जिस आकाशप्रदेशमें अथवा तो उसके पास विभावी आत्मा स्थित है उस आकाशप्रदेशके उतने भागको लेकर जो अछेद्य अभेद्य अनुभव होता है वह अनुभवगम्यमें समाता है; और उसके अतिरिक्त शेष आकाश जिसे केवलज्ञानीने स्वयं भी अनंत (जिसका अंत नहीं) कहा है, उस अनंत आकाशका भी

तदनुसार गुण होना चाहिये ऐसा बुद्धिबलसे निर्णीत किया हुआ होना चाहिये।

(इ) आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ अथवा तो आत्मज्ञान हुआ, यह बात अनुभवगम्य है। उस आत्मज्ञानके उत्पन्न होनेसे आत्मानुभव होनेके उपरांत क्या क्या होना चाहिये ऐसा जो कहा गया है वह बुद्धिबलसे कहा है, ऐसा माना जा सकता है।

(ई) इंद्रियके संयोगमें जो कुछ भी देखना जानना होता है वह यद्यपि अनुभवगम्यमें समाता जरूर है; परंतु यहाँ तो अनुभवगम्य आत्मतत्त्वके विषयमें कहना है, जिसमें इंद्रियोंकी सहायता अथवा तो संबंधकी आवश्यकता नहीं है, उसके सिवायकी बात है। केवलज्ञानी सहज देख-जान रहे हैं; अर्थात् लोकके सर्व पदार्थोंका उन्होंने अनुभव किया है यह जो कहा जाता है उसमें उपयोगका संबंध रहता है; क्योंकि केवलज्ञानीके तेरहवाँ गुणस्थानक और चौदहवाँ गुणस्थानक ऐसे दो विभाग किये गये हैं, उसमें तेरहवें गुणस्थानकवाले केवलज्ञानीके योग है, यह स्पष्ट है; और जहाँ इस तरह है वहाँ उपयोगकी विशेषरूपसे आवश्यकता है, और जहाँ विशेषरूपसे जरूरत है वहाँ बुद्धिबल है, यह कहे बिना चल नहीं सकता; और जहाँ यह बात सिद्ध होती है वहाँ अनुभवके साथ बुद्धिबल भी सिद्ध होता है।

(उ) इस प्रकार उपयोगके सिद्ध होनेसे आत्माको समीपवर्ती जड़ पदार्थका तो अनुभव होता है परंतु दूरवर्ती पदार्थका योग न होनेसे उसका अनुभव होनेकी बात कहना कठिन है; और उसके साथ, दूरवर्ती पदार्थ अनुभवगम्य नहीं है, ऐसा कहनेसे तथाकथित केवलज्ञानके अर्थसे विरोध आता है। इसलिये वहाँ बुद्धिबलसे सर्व पदार्थका सर्वथा एवं सर्वदा ज्ञान होता है यह सिद्ध होता है।

२५. एक कालमें कल्पित जो अनंत समय है, उसके कारण अनंत काल कहा जाता है। उसमेंसे, वर्तमान कालसे पहलेके जो समय व्यतीत हो गये हैं वे फिरसे आनेवाले नहीं हैं यह बात न्यायसंपन्न है। वे समय अनुभवगम्य किस तरह हो सकता हैं यह विचारणीय है।

२६. अनुभवगम्य जो समय हुए हैं, उनका जो स्वरूप है वह, तथा उस स्वरूपके सिवाय उनका दूसरा स्वरूप नहीं होता, और इसी तरह अनादि-अनंत कालके दूसरे जो समय उनका भी वैसा ही स्वरूप है; ऐसा बुद्धिबलसे निर्णीत हुआ मालूम होता है।

---

२७. इस कालमें ज्ञान क्षीण हुआ है, और ज्ञानके क्षीण हो जानेसे अनेक मतभेद हो गये हैं। जैसे ज्ञान कम वैसे मतभेद अधिक, और जैसे ज्ञान अधिक वैसे मतभेद कम। जैसे कि जहाँ पैसा घटता है वहाँ क्लेश बढ़ता है, और जहाँ पैसा बढ़ता है वहाँ क्लेश कम होता है।

२८. ज्ञानके बिना सम्यक्त्वका विचार नहीं सूझता। जिसके मनमें यह है कि मतभेद उत्पन्न नहीं करना, वह जो जो पढ़ता है, या सुनता है वह वह उसके लिये फलित होता है। मतभेद आदिके कारणसे श्रुत-श्रवण आदि फलीभूत नहीं होते।

---

२९. जैसे रास्तेमें चलते हुए किसीका मुँडासा काँटोंमें फँस गया और सफर अभी बाकी है, तो पहले यथासंभव काँटोंको दूर करना; परंतु काँटोंको दूर करना संभव न हो तो उसके लिये वहाँ रातभर रुक न जाना; परंतु मुँडासेको छोड़कर चल देना। उसी तरह जिनमार्गका स्वरूप तथा उसका रहस्य क्या है उसे समझे बिना, अथवा उसका विचार किये बिना छोटी छोटी शंकाओंके लिये बैठे रहकर आगे न बढ़ना यह उचित नहीं है। जिनमार्ग वस्तुतः देखनेसे तो जीवके लिये कर्मक्षय करनेका उपाय है, परंतु जीव अपने मतमें फँस गया है।

---

३०. जीव पहले गुणस्थानसे निकलकर ग्रंथिभेद तक अनंत बार आया और वहाँसे वापस लौट गया है।

३१. जीवको ऐसा भाव रहता है कि सम्यक्त्व अनायास आता होगा, परंतु वह तो प्रयास (पुरुषार्थ) किये बिना प्राप्त नहीं होता।

३२. कर्मप्रकृति १५८ है। सम्यक्त्वके आये बिना उनमेंसे किसी भी प्रकृतिका समूल क्षय नहीं होता। अनादिसे जीव निर्जरा करता है, परंतु मूलमेंसे एक भी प्रकृतिका क्षय नहीं होता। सम्यक्त्वमें ऐसा सामर्थ्य है कि वह मूलसे प्रकृतिका क्षय करता है। वह इस तरह कि—अमुक प्रकृतिका क्षय होनेके बाद वह आता है; और जीव बलवान हो तो धीरे धीरे सब प्रकृतियोंका क्षय कर देता है।

३३. सम्यक्त्व सभीको मालूम हो ऐसी बात भी नहीं है; और किसीको भी मालूम न हो ऐसा भी नहीं है। विचारवानको वह मालूम हो जाता है।

३४. जीवकी समझमें आ जाये तो समझनेके बाद सम्यक्त्व बहुत सुगम है; परंतु समझनेके लिये जीवने आज तक सचमुच ध्यान ही नहीं दिया। जीवको सम्यक्त्व प्राप्त होनेका जब जब योग मिला है तब तब यथोचित ध्यान नहीं दिया, क्योंकि जीवको अनेक अंतराय हैं। कितने ही अंतराय तो प्रत्यक्ष हैं, फिर भी वे जाननेमें नहीं आते। यदि बतानेवाला मिल जाये तो भी अंतरायके योगसे ध्यानमें लेना नहीं बन पाता। कितने ही अंतराय तो अव्यक्त हैं कि जो ध्यानमें आने ही मुश्किल हैं।

३५. सम्यक्त्वका स्वरूप केवल वाणीयोगसे कहा जा सकता है। यदि एकदम कहा जाये तो उससे जीवको उलटा भाव भासित होता है, तथा सम्यक्त्व पर उलटी अरुचि होने लगती है; परंतु वही स्वरूप यदि अनुक्रमसे ज्यों ज्यों दशा बढ़ती जाये त्यों त्यों कहा अथवा समझाया जाये तो वह समझमें आ सकता है।

३६. इस कालमें मोक्ष है यों दूसरे मार्गोंमें भी कहा गया है। यद्यपि जैनमार्गमें इस कालमें अमुक क्षेत्रमें मोक्ष होना कहा नहीं जाता; फिर भी उसी क्षेत्रमें इस कालमें सम्यक्त्व हो सकता है, ऐसा कहा गया है।

३७. ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये तीनों इस कालमें होते हैं। प्रयोजनभूत पदार्थोंका जानना 'ज्ञान', उसके कारण उनकी सुप्रतीति होना 'दर्शन' और उससे होनेवाली क्रिया 'चारित्र' है। यह चारित्र, इस कालमें जैनमार्गमें सम्यक्त्व होनेके बाद सातवें गुणस्थानक तक प्राप्त किया जा सकता है ऐसा माना गया है।

३८. कोई सातवें तक पहुँच जाये तो भी बड़ी बात है।

३९. सातवें तक पहुँच जाये तो उसमें सम्यक्त्वका समावेश हो जाता है; और यदि वहाँ तक पहुँच जाये तो उसे विश्वास हो जाता है कि अगली दशा किस तरहकी है? परंतु सातवें तक पहुँचे बिना आगेकी बात ध्यानमें नहीं आ सकती।

---

४०. यदि बढ़ती हुई दशा होती हो तो उसका निषेध करनेकी जरूरत नहीं है; और न हो तो माननेकी जरूरत नहीं है। निषेध किये बिना आगे बढ़ते जाना।

---

४१. सामायिक, छः आठ कोटिका विवाद छोड़ देनेके बाद नव कोटिके बिना नहीं होता; और अंतमें नव कोटि वृत्तिको भी छोड़े बिना मोक्ष नहीं है।

४२. ग्यारह प्रकृतियोंका क्षय किये बिना सामायिक नहीं आता। जिसे सामायिक होता है उसकी दशा तो अद्भुत होती है। वहाँसे जीव छठे, सातवें और आठवें गुणस्थानकमें जाता है, और वहाँसे दो घड़ीमें मोक्ष हो सकता है।

---

४३. मोक्षमार्ग तलवारकी धार जैसा है, अर्थात् वह एक धारा (एक प्रवाहरूप) है। तीनों कालमें एक धारासे अर्थात् एकसा रहे वही मोक्षमार्ग है,–बहनेमें जो खंडित नहीं वही मोक्षमार्ग है।

---

४४. पहले दो बार कहा गया है, फिर भी यह तीसरी बार कहा जाता है कि कभी भी बादर और बाह्यक्रियाका निषेध नहीं किया गया है; क्योंकि हमारे आत्मामें वैसा भाव कभी स्वप्नमें भी उत्पन्न नहीं हो सकता।

४५. रूढिवाली गाँठ, मिथ्यात्व अथवा कषायका सूचन करनेवाली क्रियाके संबंधमें कदाचित् किसी प्रसंगपर कुछ कहा गया हो, तो वहाँ क्रियाके निषेधके लिये तो कहा ही नहीं गया हो। फिर भी कहनेसे दूसरी तरह समझमें आया हो, तो उसमें समझनेवालेकी अपनी भूल हुई है, ऐसा समझना है।

४६. जिसने कषाय भावका छेदन किया वह ऐसा कभी भी नहीं करता कि जिससे कषायका सेवन हो।

४७. जब तक हमारी ओरसे ऐसा नहीं कहा जाता कि अमुक क्रिया करना तब तक ऐसा समझना कि वह सकारण है; और उससे यह सिद्ध नहीं होता कि क्रिया न करना।

४८. यदि अभी यह कहा जाये कि अमुक क्रिया करना और बादमें देशकालके अनुसार उस क्रियाको दूसरे प्रकारसे कहा जाये तो श्रोताके मनमें शंका लानेका कारण होता है कि एक बार इस तरह कहा जाता था, और दूसरी बार इस तरह कहा जाता है; ऐसी शंकासे उसका श्रेय होनेके बदले अश्रेय होता है।

---

४९. बारहवें गुणस्थानकके अंतिम समय तक भी ज्ञानीकी आज्ञाके अनुसार चलना होता है। उससे स्वच्छंदताका विलय होता है।

५०. स्वच्छंदसे निवृत्ति करनेसे वृत्तियाँ शांत नहीं होतीं, परंतु उन्मत्त होती हैं, और इससे पतनका समय आ जाता है; और ज्यों ज्यों आगे जानेके बाद यदि पतन होता है तो त्यों त्यों उसे मार अधिक लगती है, अतः वह अधिक नीचे जाता है; अर्थात् पहलेमें जाकर पड़ता है। इतना ही नहीं परंतु उसे जोरकी मारके कारण वहाँ अधिक समय तक पड़े रहना पड़ता है।

५१. अब भी शंका करना हो तो करे; परंतु इतनी तो निश्चयसे श्रद्धा करे कि जीवसे लेकर मोक्ष तकके पाँच पद (जीव है, वह नित्य है, वह कर्मका कर्ता है, वह कर्मका भोक्ता है, मोक्ष है) अवश्य है, और मोक्षका उपाय भी है, उसमें कुछ भी असत्य नहीं है। ऐसा निर्णय करनेके बाद उसमें तो कभी भी शंका न करे; और इस प्रकार निर्णय हो जानेके बाद प्रायः शंका नहीं होती। यदि कदाचित् शंका हो तो वह देशशंका होती है, और उसका समाधान हो सकता है। परंतु मूलमें अर्थात् जीवसे लेकर मोक्ष तक अथवा उसके उपायमें शंका हो तो वह देशशंका नहीं अपितु सर्वशंका है; और उस शंकासे प्रायः पतन होता है; और वह पतन इतने अधिक जोरसे होता है कि उसकी मार अत्यंत लगती है।

५२. यह श्रद्धा दो प्रकारसे है–एक 'ओघसे' और दूसरी 'विचारपूर्वक'।

---

५३. मतिज्ञान और श्रुतज्ञानसे जो कुछ जाना जा सकता है उसमें अनुमान साथमें रहता है; परंतु उससे आगे, और अनुमानके बिना शुद्धरूपसे जानना यह मनःपर्यायज्ञानका विषय है। अर्थात् मूलमें तो मति, श्रुत और मनःपर्यायज्ञान एक है, परंतु मनःपर्यायमें अनुमानके बिना मतिकी निर्मलतासे शुद्ध जाना जा सकता है।

५४. मतिकी निर्मलता संयमके बिना नहीं हो सकती। वृत्तिके निरोधसे संयम होता है, और उस संयमसे मतिकी शुद्धता होकर अनुमानके बिना शुद्ध पर्यायको जो जानना हो वह मनःपर्याय ज्ञान है।

५५. मतिज्ञान लिंग अर्थात् चिह्नसे जाना जा सकता है; और मनःपर्याय ज्ञानमें लिंग अथवा चिह्नकी जरूरत नहीं रहती।

५६. मतिज्ञानसे जाननेमें अनुमानकी आवश्यकता रहती है, और उस अनुमानसे जाने हुएमें परिवर्तन भी होता है। जब कि मनःपर्यायज्ञानमें वैसा परिवर्तन नहीं होता, क्योंकि उसमें अनुमानकी सहायताकी आवश्यकता नहीं है। शरीरकी चेष्टासे क्रोध आदि परखे जा सकते हैं, परंतु उनके (क्रोध आदिके) मूलस्वरूपको न दिखानेके लिये शरीरकी विपरीत चेष्टा की गयी हो तो उस परसे परख सकना, परीक्षा करना दुष्कर है। तथा शरीरकी चेष्टा किसी भी आकारमें न की गयी हो फिर भी चेष्टाको बिलकुल देखे बिना उनका (क्रोध आदिका) जानना अति दुष्कर है, फिर भी उन्हें साक्षात् जान सकना मनःपर्यायज्ञान है।

---

५७. लोगोंमें ओघसंज्ञासे यह माना जाता था कि 'हमें सम्यक्त्व है या नहीं इसे केवली ही जानते हैं, निश्चय सम्यक्त्व है यह बात तो केवलीगम्य है।' प्रचलित रूढिके अनुसार यह माना जाता था, परंतु बनारसीदास और उस दशाके अन्य पुरुष ऐसा कहते हैं कि हमें सम्यक्त्व हुआ है यह निश्चयसे कहते हैं।

५८. शास्त्रमें ऐसा कहा गया है कि 'निश्चय सम्यक्त्व है या नहीं इसे केवली ही जानते हैं' यह बात अमुक नयसे सत्य है; तथा केवलज्ञानीके सिवाय भी बनारसीदास आदिने सामान्यतः ऐसा कहा है कि 'हमें सम्यक्त्व है अथवा प्राप्त हुआ है', यह बात भी सत्य है, क्योंकि 'निश्चयसम्यक्त्व' है उसे प्रत्येक रहस्यके पर्यायसहित केवली जान सकते हैं, अथवा प्रत्येक प्रयोजनभूत पदार्थके हेतुअहेतुको संपूर्णतया केवलीके सिवाय दूसरा कोई नहीं जान सकता, वहाँ 'निश्चयसम्यक्त्व' को केवलीगम्य कहा है। उस प्रयोजनभूत पदार्थके सामान्यरूपसे अथवा स्थूलरूपसे हेतु-अहेतुको समझ सकना संभव है और इस कारणसे महान बनारसीदास आदिने अपनेको सम्यक्त्व है ऐसा कहा है।

५९. 'समयसार' में महान बनारसीदासकी बनायी हुई कवितामें 'हमारे हृदयमें बोध-बीज हुआ है', ऐसा कहा है; अर्थात् 'हमें सम्यक्त्व है' यह कहा है।

६०. सम्यक्त्व प्राप्त होनेके बाद अधिकसे अधिक पंद्रह भवमें मुक्ति होती है, और यदि वहाँसे वह पतित होता है तो अर्धपुद्गलपरावर्तनकाल माना जाता है। अर्धपुद्गलपरावर्तनकाल माना जाये तो भी वह सादि-सांतके भंगमें आ जाता है, यह बात निःशंक है।

६१. सम्यक्त्वके लक्षण—

(१) कषायकी मंदता अथवा उसके रसकी मंदता।

(२) मोक्षमार्गकी ओर वृत्ति।

(३) संसारका बंधनरूप लगना अथवा संसार विषतुल्य लगना।

(४) सब प्राणियोंपर दयाभाव; उसमें विशेषतः अपने आत्माके प्रति दयाभाव।

(५) सद्देव, सद्धर्म और सद्गुरुपर आस्था।

---

६२. आत्मज्ञान अथवा आत्मासे भिन्न कर्मस्वरूप, अथवा पुद्गलास्तिकाय आदिका, भिन्न भिन्न प्रकारसे भिन्न भिन्न प्रसंगमें, अति सूक्ष्मसे सूक्ष्म और अति विस्तृत जो स्वरूप ज्ञानी द्वारा कहा हुआ है, उसमें कोई हेतु समाता है या नहीं? और यदि समाता है तो क्या? इस विषयमें विचार करनेसे उसमें सात कारण समाये हुए मालूम होते हैं–सद्भूतार्थप्रकाश, उसका विचार, उसकी प्रतीति, जीवसंरक्षण इत्यादि। इन सातों हेतुओंका फल मोक्षकी प्राप्ति होना है। तथा मोक्षकी प्राप्तिका जो मार्ग है वह इन हेतुओंसे सुप्रतीत होता है।

६३. कर्म अनंत प्रकारके हैं। उनमें मुख्य १५८ हैं। उनमें मुख्य आठ कर्म प्रकृतियोंका वर्णन किया गया है। इन सब कर्मोंमें मुख्य, प्रधान मोहनीय है जिसका सामर्थ्य दूसरोंकी अपेक्षा अत्यंत है, और उसकी स्थिति भी सबकी अपेक्षा अधिक है।

६४. आठ कर्मोंमें चार कर्म घनघाती हैं। उन चारमें भी मोहनीय अत्यंत प्रबलतासे घनघाती है। मोहनीयकर्मके सिवाय सात कर्म हैं, वे मोहनीयकर्मके प्रतापसे प्रबल होते हैं। यदि मोहनीय दूर हो जाये तो दूसरे कर्म निर्बल हो जाते हैं। मोहनीय दूर होनेसे दूसरोंका पैर टिक नहीं सकता।

६५. कर्मबंधके चार प्रकार हैं–प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और रसबंध। उनमें प्रदेश, स्थिति और रस इन तीन बंधोंके जोडका नाम प्रकृति रखा गया है। आत्माके प्रदेशोंके साथ पुद्गलका जमाव अर्थात् जोड प्रदेशबंध होता है। वहाँ उसकी प्रबलता नहीं होती; उसे जीव हटाना चाहे तो हट सकता है। मोहके कारण स्थिति और रसका बंध होता है, और उस स्थिति तथा रसका जो बंध है, उसे जीव बदलना चाहे तो उसका बदल सकना अशक्य ही है। मोहके कारण इस स्थिति और रसकी ऐसी प्रबलता है।

---

६६. सम्यक्त्व अन्योक्तिसे अपना दूषण बताता है–'मुझे ग्रहण करनेसे यदि ग्रहण करनेवालेकी इच्छा न हो तो भी मुझे उसे बरबस मोक्ष ले जाना पड़ता है। इसलिये मुझे ग्रहण करनेसे पहले यह विचार करे कि मोक्ष जानेकी इच्छा बदलनी होगी तो भी वह कुछ काम आनेवाली नहीं है। क्योंकि मुझे ग्रहण करनेके बाद नौवें समयमें तो मुझे उसे मोक्षमें पहुँचाना ही चाहिये। ग्रहण करनेवाला कदाचित् शिथिल हो जाये तो भी हो सके तो उसी भवमें और नहीं तो अधिकसे अधिक पंद्रह भवोंमें मुझे उसे मोक्षमें पहुँचाना चाहिये। कदाचित् वह मुझे छोड़कर मुझसे विरुद्ध आचरण करे, अथवा प्रबलसे प्रबल मोहको धारण करे, तो भी अर्धपुद्गलपरावर्तनके भीतर मुझे उसे मोक्षमें पहुँचाना ही है यह मेरी प्रतिज्ञा है!' अर्थात् यहाँ सम्यक्त्वकी महत्ता बतायी है।

---

६७. सम्यक्त्व केवलज्ञानसे कहता है–'मैं इतना कार्य कर सकता हूँ कि जीवको मोक्षमें पहुँचा दूँ, और तू भी यही कार्य करता है, तू उससे कुछ विशेष कार्य नहीं कर सकता; तो फिर तेरी अपेक्षा मुझमें न्यूनता किस बातकी? इतना ही नहीं अपितु तुझे प्राप्त करनेमें मेरी जरूरत रहती है।'

६८. ग्रंथ आदिका पढ़ना शुरू करनेसे पहले प्रथम मंगलाचरण करें, और उस ग्रंथको फिरसे पढ़ते हुए अथवा चाहे जिस भागसे उसका पढ़ना शुरू करनेसे पहले मंगलाचरण करें, ऐसी शास्त्रपद्धति है। इसका मुख्य कारण यह है कि बाह्यवृत्तिसे आत्मवृत्तिकी ओर अभिमुख होना है, अतः वैसा करनेके लिये

पहले शांति लानेकी जरूरत है, और तदनुसार प्रथम मंगलाचरण करनेसे शांति आती है। पढ़नेका जो अनुक्रम हो उसे यथासंभव कभी नहीं तोड़ना चाहिये। इसमें ज्ञानीका दृष्टांत लेनेकी जरूरत नहीं है।

---

६९. आत्मानुभवगम्य अथवा आत्मजनित सुख और मोक्षसुख दोनों एक ही हैं। मात्र शब्द भिन्न हैं।

७०. केवलज्ञानी शरीरके कारण केवलज्ञानी नहीं कहे जाते कि दूसरोंके शरीरकी अपेक्षा उनका शरीर विशेषतावाला देखनेमें आये। और फिर वह केवलज्ञान शरीरसे उत्पन्न हुआ है ऐसा भी नहीं है; वह तो आत्मा द्वारा प्रगट किया गया है; इस कारण उसकी शरीरसे विशेषता समझनेका कोई हेतु नहीं है, और विशेषतावाला शरीर लोगोंके देखनेमें नहीं आता इसलिये लोग उसका माहात्म्य बहुत नहीं जान सकते।

७१. जो जीव मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानको अंशसे भी नहीं जानता वह केवलज्ञानके स्वरूपको जानना चाहे तो यह किस तरह हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

७२. मति स्फुरायमान होकर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह 'मतिज्ञान' है; और श्रवण होनेसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह 'श्रुतज्ञान' है, और उस श्रुतज्ञानका मनन होकर परिणमित होता है तो फिर वह मतिज्ञान हो जाता है, अथवा उस श्रुतज्ञानके परिणमित होनेके बाद दूसरेको कहा जाये तब वही कहनेवालेमें मतिज्ञान और सुननेवालेके लिये श्रुतज्ञान होता है; तथा श्रुतज्ञान मतिके बिना नहीं हो सकता और वही मतिज्ञान पूर्वमें श्रुतज्ञान होना चाहिये। इस तरह एक दूसरेका कार्यकारण संबंध है। उनके अनेक भेद हैं, उन सब भेदोंको जैसे चाहिये वैसे हेतुसहित नहीं जाना है। हेतुसहित जानना, समझना दुष्कर है। और उसके बाद आगे बढ़नेसे अवधिज्ञान आता है, जिसके भी अनेक भेद हैं, और सभी रूपी पदार्थोंको जानना जिसका विषय है उसे, और तदनुसार ही मनःपर्यायका विषय है, उन सबको किसी अंशमें भी जानने-समझनेकी जिन्हें शक्ति नहीं है वे मनुष्य, पर और अरूपी पदार्थोंके समस्त भावोंको जाननेवाले 'केवलज्ञान'के विषयमें जानने-समझनेके लिये प्रश्न करे तो वें किस तरह समझ सकते हैं ? अर्थात् नहीं समझ सकते।

---

७३. ज्ञानीके मार्गमें चलनेवालेको कर्मबंध नहीं है, तथा उस ज्ञानीकी आज्ञाके अनुसार चलनेवालेको भी कर्मबंध नहीं हैं, क्योंकि क्रोध, मान, माया, लोभ आदिका वहाँ अभाव है; और उस अभावके कारण कर्मबंध नहीं होता। तो भी 'ईरियापथ' में चलते हुए 'ईरियापथ'की क्रिया ज्ञानीको लगती है, और ज्ञानीकी आज्ञाके अनुसार चलनेवालेको भी वह क्रिया लगती है।

---

७४. जिस विद्यासे जीव कर्म बाँधता है उसी विद्यासे जीव कर्म छोड़ता है।

७५. उसी विद्यासे सांसारिक हेतुके प्रयोजनसे विचार करनेसे जीव कर्मबंध करता है, और उसी विद्यासे द्रव्यका स्वरूप समझनेके प्रयोजनसे विचार करता है तो कर्म छोड़ता है।

---

७६. 'क्षेत्रसमास'में क्षेत्रसंबंध आदिकी जो जो बातें हैं, उन्हें अनुमानसे मानना है। उनमें अनुभव नहीं होता; परंतु उन सबका वर्णन कुछ कारणोंसे किया जाता है। उनकी श्रद्धा विश्वास-पूर्वक रखना है। मूल श्रद्धामें अंतर हो जानेसे आगे समझनेमें अंत तक भूल चली आती है। जैसे गणितमें पहले भूल हो गयी तो फिर वह भूल अंत तक चली आती है वैसे।

---

७७. ज्ञान पाँच प्रकारका है। वह ज्ञान यदि सम्यक्त्वके बिना मिथ्यात्वसहित हो तो 'मति अज्ञान', 'श्रुत अज्ञान' और 'अवधि अज्ञान' कहा जाता है। उन्हें मिलाकर ज्ञानके कुल आठ प्रकार है।

७८. मति, श्रुत और अवधि मिथ्यात्वसहित हों तो वे 'अज्ञान' है, और सम्यक्त्वसहित हों तो 'ज्ञान' हैं। इसके सिवाय और अंतर नहीं है।

---

७९. जीव रागादि सहित कुछ भी प्रवृत्ति करे तो उसका नाम 'कर्म' है, शुभ अथवा अशुभ अध्यवसायवाला परिणमन 'कर्म' कहा जाता है; और शुद्ध अध्यवसायवाला परिणमन कर्म नहीं परंतु निर्जरा है।

---

८०. अमुक आचार्य यों कहते हैं कि दिगम्बर आचार्यने ऐसा माना है कि "जीवका मोक्ष नहीं होता, परंतु मोक्ष समझमें आता है। वह इस तरह कि जीव शुद्ध स्वरूपवाला है, उसे बंध ही नहीं हुआ तो फिर मोक्ष होनेका प्रश्न ही क़हाँ है ? परंतु उसने यह मान रखा है, कि मैं बँधा हुआ हूँ, यह मान्यता विचारद्वारा समझमें आती है कि मुझे बंधन नहीं है, मात्र मान लिया था; वह मान्यता शुद्ध स्वरूप समझमें आनेसे नहीं रहती; अर्थात् मोक्ष समझमें आ जाता है।" यह बात 'शुद्धनय' अथवा 'निश्चयनय' की है। पर्यायार्थिक नयवाले इस नयको पकड कर आचरण करें तो उन्हें भटक भटक कर मरना है।

---

८१. ठाणांगसूत्रमें कहा गया है कि जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये पदार्थ सद्भाव है, अर्थात् इनका अस्तित्व विद्यमान है; कल्पित किये गये हैं ऐसा नहीं है।

---

८२. वेदांत शुद्धनयाभासी है। शुद्धनयाभासमतवाले 'निश्चयनय'के सिवाय दूसरे नयको अर्थात् 'व्यवहारनय' को ग्रहण नहीं करते। जिनदर्शन अनेकांतिक है, अर्थात् वह स्याद्वादी है।

---

८३. कोई नव तत्त्वकी, कोई सात तत्त्वकी, कोई षड्द्रव्यकी, कोई षट् पदकी, कोई दो राशिकी बात करते हैं; परंतु यह सब जीव, अजीव ऐसी दो राशि अथवा इन दो तत्त्व अर्थात् द्रव्यमें समा जाते हैं।

---

८४. निगोदमें अनंत जीव रहे हुए हैं, इस बातमें और कंदमूलमें सूईकी नोक जितने सूक्ष्म भागमें अनंत जीव रहे हैं, इस बातमें आशंका करने जैसा नहीं है। ज्ञानीने जैसा स्वरूप देखा है वैसा ही कहा है। यह जीव जो स्थूल देहप्रमाण हो रहा है और जिसे अपने स्वरूपका अभी ज्ञान नहीं हुआ उसे ऐसी सूक्ष्म बात समझमें नहीं आती यह बात सच्ची है; परंतु उसके लिये आशंका करनेका कारण नहीं है। वह इस तरह–

चौमासेके समय किसी गाँवके सीमांतकी जाँच करें तो बहुतसी हरी वनस्पति दिखाई देती है, और उस थोड़ी हरी वनस्पतिमें अनंत जीव हैं, तो फिर ऐसे अनेक गाँवोंका विचार करें, तो जीवोंकी संख्याके परिमाणका अनुभव न होनेपर भी, उसका बुद्धिबलसे विचार करनेसे अनंतताकी संभावना हो सकती है। कंदमूल आदिमें अनंतताका संभव है। दूसरी हरी वनस्पतिमें अनंतताका संभव नहीं है; परंतु कंदमूलमें अनंतता घटित होती है। कंदमूलके अमुक थोड़े भागको यदि बोया जाये तो वह उगता है, इस कारणसे भी उसमें जीवोंकी अधिकता घटित होती है; तथापि यदि प्रतीति न होती हो तो आत्मानुभव करें; आत्मानुभव होनेसे प्रतीति होती है। जब तक आत्मानुभव नहीं होता, तब तक उस प्रतीतिका होना मुश्किल है, इसलिये यदि उसकी प्रतीति करनी हो तो पहले आत्माके अनुभवी बनें।

---

८५. जब तक ज्ञानावरणीयका क्षयोपशम नहीं हुआ, तब तक सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेकी इच्छा रखनेवाला उसकी प्रतीति रखकर आज्ञानुसार वर्तन करे।

---

८६. जीवमें संकोच-विस्तारकी शक्तिरूप गुण रहता है, इस कारणसे वह छोटे-बड़े शरीरमें देहप्रमाण स्थिति करके रहता है। इसी कारणसे जहाँ थोड़े अवकाशमें भी वह विशेषरूपसे संकोच कर सकता है वहाँ जीव वैसा करके रहे हुए हैं।

८७. ज्यों ज्यों जीव कर्मपुद्गल अधिक ग्रहण करता है, त्यों त्यों वह अधिक निबिड़ होकर छोटे देहमें रहता है।

८८. पदार्थमें अचिंत्य शक्ति है। प्रत्येक पदार्थ अपने अपने धर्मका त्याग नहीं करता। एक जीवके द्वारा परमाणुरूपसे ग्रहण किये हुए कर्म अनंत हैं। ऐसे अनंत जीव, जिनके पास कर्मरूपी परमाणु अनंतानंत है, वे सब निगोदाश्रयी थोड़े अवकाशमें रहे हुए हैं, यह बात भी शंका करने योग्य नहीं है। साधारण गिनतीके अनुसार एक परमाणु एक आकाशप्रदेशका अवगाहन करता है, परंतु उसमें अचिंत्य सामर्थ्य है, उस सामर्थ्यधर्मसे थोड़े आकाशमें अनंत परमाणु रहते हैं। जैसे किसी दर्पणके सन्मुख उससे बहुत बड़ी वस्तु रखी जाये तो भी उतना आकार उसमें समा जाता है। आँख एक छोटी वस्तु है, फिर भी उस छोटीसी वस्तुमें सूर्य, चंद्र आदि बड़े पदार्थोंका स्वरूप दिखाई देता है। उसी तरह आकाश जो बहुत बड़ा क्षेत्र है वह भी आँखमें दृश्यरूपसे समा जाता है। तथा आँख जैसी छोटीसी वस्तु बड़े बड़े बहुतसे घरोंको भी देख सकती है। यदि थोड़े आकाशमें अनंत परमाणु अचिंत्य सामर्थ्यके कारण न समा सकते हों तो फिर आँखसे अपने आकार जितनी वस्तु ही देखी जा सकती है, परंतु अधिक बड़ा भाग देखा नहीं जा सकता; अथवा दर्पणमें अनेक घर आदि बड़ी वस्तुओंका प्रतिबिंब नहीं पड़ सकता। इसी कारणसे परमाणुका भी अचिंत्य सामर्थ्य है और उसके कारण थोड़े आकाशमें अनंत परमाणु समा कर रह सकते हैं।

८९. इस तरह परमाणु आदि द्रव्योंका सूक्ष्मभावसे निरूपण किया गया है, वह यद्यपि परभावका विवेचन है, तो भी वह सकारण है, और सहेतु किया गया है।

९०. चित्त स्थिर करनेके लिये, अथवा वृत्तिको बाहर न जाने देकर अंतरंगमें ले जानेके लिये परद्रव्यके स्वरूपका समझना काम आता है।

९१. परद्रव्यके स्वरूपका विचार करनेसे वृत्ति बाहर न जाकर अंतरंगमें रहती है, और स्वरूप समझनेके बाद उससे प्राप्त हुए ज्ञानसे वह उसका विषय हो जानेसे, अथवा अमुक अंशमें समझनेसे उतना उसका विषय हो रहनेसे, वृत्ति सीधी बाहर निकलकर परपदार्थोंमें रमण करनेके लिये दौड़ती है; तब परद्रव्य कि जिसका ज्ञान हुआ है उसे सूक्ष्मभावसे फिरसे समझने लगनेसे वृत्तिको फिर अंतरंगमें लाना पड़ता है; और इस तरह उसे अंतरंगमें लानेके बाद विशेषरूपसे स्वरूप समझमें आनेसे ज्ञानसे उतना उसका विषय हो रहनेसे फिर वृत्ति बाहर दौडने लगती है; तब जितना समझा हो उससे विशेष सूक्ष्मभावसे पुनः विचार करने लगनेसे वृत्ति फिर अंतरंगमें प्रेरित होती है। यों करते करते वृत्तिको वारंवार अंतरंगमें लाकर शांत किया जाता है और इस तरह वृत्तिको अंतरंगमें लाते लाते कदाचित् आत्माका अनुभव भी हो जाता है, और जब इस तरह हो जाता है तब वृत्ति बाहर नहीं जाती, परंतु आत्मामें शुद्ध परिणतिरूप होकर परिणमन करती है। और तदनुसार परिणमन करनेसे बाह्य पदार्थका दर्शन सहज हो जाता है। इन कारणोंसे पर द्रव्यका विवेचन उपयोगी अथवा हेतुरूप होता है।

९२. जीव, स्वयंको जो अल्प ज्ञान होता है उससे बड़े ज्ञेयपदार्थके स्वरूपको जानना चाहता है, यह कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। जब जीव ज्ञेयपदार्थके स्वरूपको नहीं जान सकता, तब वह अपनी अल्पज्ञतासे समझमें न आनेका कारण तो मानता नहीं, प्रत्युत बड़े ज्ञेयपदार्थमें दोष निकालता है, परंतु सीधी तरह अपनी अल्पज्ञतासे समझमें नहीं आनेके कारणको नहीं मानता।

९३. जीव जब अपने ही स्वरूपको नहीं जान सकता, तो फिर परके स्वरूपको जानना चाहे तो उसे वह किस तरह जान-समझ सकता है ? और जब तक वह समझमें नहीं आता तब तक उसीमें उलझा रहकर उधेड-बुन किया करता है। श्रेयस्कर निजस्वरूपका ज्ञान जब तक प्रगट नहीं किया, तब तक परद्रव्यका चाहे जितना ज्ञान प्राप्त करे तो भी वह किसी कामका नहीं है; इसलिये उत्तम मार्ग यह है कि दूसरी सब बातें छोड़कर अपने आत्माको पहचाननेका प्रयत्न करे। जो सारभूत है उसे देखनेके लिये 'यह आत्मा सद्भाववाला है', 'वह कर्मका कर्ता है', और 'उससे (कर्मसे) उसे बंध होता है,' 'वह बंध किस तरह होता है ?' 'वह बंध किस तरह निवृत्त होता है ?' और 'उस बंधसे निवृत्त होना मोक्ष है', इत्यादि संबंधी वारंवार और प्रत्येक क्षणमें विचार करना योग्य है; और इस तरह वारंवार विचार करनेसे विचार वृद्धिको प्राप्त होता है, और उसके कारण निजस्वरूपका अंश-अंशसे अनुभव होने लगता है। ज्यों ज्यों निजस्वरूपका अनुभव होता है, त्यों त्यों द्रव्यका अचिंत्य सामर्थ्य जीवके अनुभवमें आता जाता है। जिससे उपर्युक्त शंकाएँ (जैसे कि थोड़े आकाशमें अनंत जीवका समा जाना अथवा अनंत पुद्गल-परमाणुओंका समा जाना) करनेका अवकाश नहीं रहता, और उनकी यथार्थता समझमें आ जाती हैं। यह होनेपर भी यदि वह माननेमें न आता हो तो अथवा शंका करनेका कारण रहता हो, तो ज्ञानी कहते हैं कि उपर्युक्त पुरुषार्थ करनेसे अनुभवसिद्ध होगा।

---

९४. जीव जो कर्मबंध करता है वह देहस्थित आकाशमें रहनेवाले सूक्ष्म पुद्गलोंमेंसे ग्रहण करता है। वह बाहरसे लेकर कर्म नहीं बाँधता।

९५. आकाशमें चौदह राजूलोकमें पुद्गल-परमाणु सदा भरपूर हैं, उसी तरह शरीरमें रहनेवाले आकाशमें भी सूक्ष्म पुद्गल-परमाणुओंका समूह भरपूर है। जीव वहाँसे सूक्ष्म पुद्गलोंको ग्रहण करके कर्मबंध करता है।

९६. ऐसी आशंका की जाये कि शरीरसे दूर–बहुत दूर रहनेवाले किसी किसी पदार्थके प्रति जीव रागद्वेष करे तो वह वहाँके पुद्गल ग्रहण करके कर्मबंध करता है या नहीं ? इसका समाधान यह है कि वह रागद्वेषरूप परिणति तो आत्माकी विभावरूप परिणति है, और उस परिणतिका कर्त्ता आत्मा है और वह शरीरमें रहकर करता है, इसलिये शरीरमें रहनेवाला जो आत्मा है, वह जिस क्षेत्रमें है, उस क्षेत्रमें रहे हुए पुद्गल-परमाणुओंको ग्रहण करके बाँधता है। वह उन्हें ग्रहण करनेके लिये बाहर नहीं जाता।

---

९७. यश, अपयश, कीर्ति जो नामकर्म है वह नामकर्मसंबंध जिस शरीरके कारण है, वह शरीर जहाँ तक रहता है वहाँ तक चलता है, वहाँ से आगे नहीं चलता। जीव जब सिद्धावस्थाको प्राप्त होता है, अथवा विरति प्राप्त करता है तब वह संबंध नहीं रहता। सिद्धावस्थामें एक आत्माके सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं है; और नामकर्म तो एक प्रकारका कर्म है, तो फिर वहाँ यश-अपयश आदिका संबंध किस तरह घटित हो सकता है ? अविरतिपनसे जो कुछ पाप क्रिया होती है वह पाप चला आता है।

९८. 'विरति' अर्थात् 'छूटना', अथवा रतिसे विरुद्ध, अर्थात् रति न होना। अविरतिमें तीन शब्द है–अ + वि + रति = अ = नहीं + वि = विरुद्ध + रति = प्रीति, अर्थात् जो प्रीतिसे विरुद्ध नहीं है वह

'अविरति' है। वह अविरति बारह प्रकारकी है।

९९. पाँच इन्द्रिय, छठा मन तथा पाँच स्थावर जीव, और एक त्रस जीव ये सब मिलाकर उसके कुल बारह प्रकार हैं।

१००. ऐसा सिद्धांत है कि कृतिके बिना जीवको पाप नहीं लगता। उस कृतिकी जब तक विरति नहीं की तब तक अविरतिपनेका पाप लगता है। समस्त चौदह राजूलोकमेंसे उसकी पाप-क्रिया चली आती है।

१०१. कोई जीव किसी पदार्थकी योजना कर मर जाये, और उस पदार्थकी योजना इस प्रकारकी हो कि वह योजित पदार्थ जब तक रहे, तब तक उससे पापक्रिया हुआ करे; तो तब तक उस जीवको अविरतिपनेकी पापक्रिया चली आती है। यद्यपि जीवने दूसरे पर्यायको धारण किया होनेसे पहलेके पर्यायके समय जिस जिस पदार्थकी योजना की है उसका उसे पता नहीं है तो भी, तथा वर्तमान पर्यायके समय वह जीव उस योजित पदार्थकी क्रिया नहीं करता तो भी, जब तक उसका मोहभाव विरतिपनेको प्राप्त नहीं हुआ तब तक, अव्यक्तरूपसे उसकी क्रिया चली आती है।

१०२. वर्तमान पर्यायके समय उसके अनजानपनेका लाभ उसे नहीं मिल सकता। उस जीवको समझना चाहिये था कि इस पदार्थसे होनेवाला प्रयोग जब तक कायम रहेगा तब तक उसकी पापक्रिया चालू रहेगी। उस योजित पदार्थसे अव्यक्तरूपसे भी होनेवाली (लगनेवाली) क्रियासे मुक्त होना हो तो मोहभावको छोड़ना चाहिये। मोह छोड़नेसे अर्थात् विरतिपन करनेसे पापक्रिया बंध होती है। उस विरतिपनेको उसी पर्यायमें अपनाया जाये, अर्थात् योजित पदार्थके ही भवमें अपनाया जाये तो वह पापक्रिया, जबसे विरतिपना ग्रहण करे तबसे आनी बंद होती है। यहाँ जो पापक्रिया लगती है वह चारित्रमोहनीयके कारण आती है। वह मोहभावका क्षय हो जानेसे आनी बंद होती है।

१०३. क्रिया दो प्रकारसे होती है—एक व्यक्त अर्थात् प्रगटरूपसे और दूसरी अव्यक्त अर्थात् अप्रगटरूपसे। यद्यपि अव्यक्तरूपसे होनेवाली क्रिया सबसे जानी नहीं जा सकती, इसलिये नहीं होती ऐसी बात तो नहीं है।

१०४. पानीमें लहरे अथवा हिलोरें स्पष्टतासे मालूम होती है; परंतु उस पानीमें गंधक या कस्तूरी डाल दी हो, और वह पानी शांत स्थितिमें हो तो भी उसमें गंधक या कस्तूरीकी जो क्रिया है वह यद्यपि दीखती नहीं है, तथापि उसमें अव्यक्तरूपसे रही हुई है। इस तरह अव्यक्तरूपसे होनेवाली क्रियामें श्रद्धा न की जाये और मात्र व्यक्तरूप क्रियामें श्रद्धा की जाये, तो एक ज्ञानी जिसमें अविरतिरूप क्रिया नहीं होती वह भाव और दूसरा निद्राधीन मनुष्य जो व्यक्तरूपसे कुछ भी क्रिया नहीं करता वह भाव, दोनों एकसे लगते हैं, परंतु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। निद्राधीन मनुष्यको अव्यक्तरूपसे क्रिया लगती है। इसी तरह जो मनुष्य (जीव) चारित्रमोहनीय नामकी निद्रामें सोया हुआ है उसे अव्यक्त क्रिया नहीं लगती ऐसा नहीं है। यदि मोहभावका क्षय हो जाये तो ही अविरतिरूप चारित्रमोहनीय क्रिया बंद होती है, उससे पहले बंद नहीं होती।

क्रियासे होनेवाला बंध मुख्यतः पाँच प्रकारका है—

१ मिथ्यात्व	२ अविरति	३ कषाय	४ प्रमाद	५ योग
५	१२	२५		१५

१०५. जब तक मिथ्यात्वका अस्तित्व हो तब तक अविरतिपना निर्मूल नहीं होता अर्थात् नष्ट नहीं

होता, परंतु यदि मिथ्यात्व दूर हो जाये तो अविरतिपना दूर होना चाहिये, यह निःसंदेह है; क्योंकि मिथ्यात्वसहित विरतिपनेको अपनानेसे मोहभाव नहीं जाता। जब तक मोहभाव विद्यमान है तब तक अभ्यंतर विरतिपना नहीं होता, और मुख्यतासे रहे हुए मोहभावका नाश हो जानेसे अभ्यंतर अविरतिपन नहीं रहता, और यदि बाह्य विरतिपना अपनाया न गया हो तो भी यदि अभ्यंतर हो तो सहज ही बाहर आ जाता है।

१०६. अभ्यंतर विरतिपना प्राप्त होनेके पश्चात् और उदयाधीन बाह्य विरतिपना न अपना सके तो भी, जब उदयकाल संपूर्ण हो जाये तब सहज ही विरतिपना रहता है, क्योंकि अभ्यंतर विरतिपन पहलेसे ही प्राप्त है; जिससे अब अविरतिपन है नहीं, कि वह अविरतिपनेकी क्रिया कर सके।

१०७. मोहभावके कारण ही मिथ्यात्व है। मोहभावका क्षय हो जानेसे मिथ्यात्वका प्रतिपक्षी सम्यक्त्व भाव प्रगट होता है। इसलिये वहाँ मोहभाव कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं होता।

१०८. यदि ऐसी आशंका की जाये कि पाँच इंद्रियाँ और छठा मन, तथा पाँच स्थावरकाय और छठी त्रसकाय, यों बारह प्रकारसे विरति अपनायी जाये तो लोकमें रहे हुए जीव और अजीव नामकी राशिके जो दो समूह हैं उनमेंसे पाँच स्थावरकाय और छठी त्रसकाय मिलकर जीवराशिकी विरति हुई; परंतु लोकमें भटकानेवाली अजीवराशि जो जीवसे भिन्न है, उसकी प्रीतिकी निवृत्ति इसमें नहीं आती, तब तक विरति किस तरह मानी जा सकती है? इसका समाधान यह है कि पाँच इंद्रियाँ और छठे मनसे जो विरति करना है, उसके विरतिपनमें अजीवराशिकी विरति आ जाती है।

---

१०९. पूर्वकालमें इस जीवने ज्ञानीकी वाणी कभी निश्चयरूपसे नहीं सुनी अथवा वह वाणी सम्यक् प्रकारसे शिरोधार्य नहीं की, ऐसा सर्वदर्शीने कहा है।

११०. सद्गुरु द्वारा उपदिष्ट यथोक्त संयमको पालते हुए अर्थात् सद्गुरुकी आज्ञासे चलते हुए पापसे विरति होती है और अभेद्य संसारसमुद्र तरा जाता है।

---

१११. वस्तुस्वरूप कितने ही स्थानकोंमें आज्ञासे प्रतिष्ठित है, और कितने ही स्थानकोंमें सद्विचारपूर्वक प्रतिष्ठित है, परंतु इस दुःषमकालकी इतनी अधिक प्रबलता है कि इसके बादके क्षणमें भी विचारपूर्वक प्रतिष्ठितके लिये जीव किस तरह प्रवृत्ति करेगा यह जाननेकी इस कालमें शक्ति दिखाई नहीं देती, इसलिये वहाँ आज्ञापूर्वक प्रतिष्ठित रहना ही योग्य है।

११२. ज्ञानीने कहा है कि 'समझें! क्यों नहीं समझते? फिर ऐसा अवसर आना दुर्लभ हे।'

---

११३. लोकमें जो पदार्थ हैं उनके धर्मोंका, देवाधिदेवने अपने ज्ञानमें भासनेसे यथावत् वर्णन किया है। पदार्थ उन धर्मोंसे बहार जाकर प्रवृत्ति नहीं करते; अर्थात् ज्ञानी महाराजने उन्हें जिस तरह प्रकाशित किया है उनसे भिन्न प्रकारसे वे प्रवर्तन नहीं करते। इसलिये ऐसा कहा है कि वे ज्ञानीकी आज्ञाके अनुसार प्रवर्तन करते हैं। क्योंकि ज्ञानीने पदार्थोंके धर्म यथावत् ही कहे हैं।

---

११४. काल मूल द्रव्य नहीं है, औपचारिक द्रव्य है; और वह जीव तथा अजीव (अजीवमें— मुख्यतः पुद्गलास्तिकायमें—विशेषरूपसे समझमें आता है) मेंसे उत्पन्न हुआ है; अथवा जीवाजीवकी पर्यायावस्था काल है। प्रत्येक द्रव्यके अनंत धर्म हैं। उनमें ऊर्ध्वप्रचय और तिर्यक्प्रचय ऐसे दो धर्म हैं; और कालमें तिर्यक्प्रचय धर्म नहीं है, मात्र ऊर्ध्वप्रचय धर्म है।

११५. ऊर्ध्वप्रचयसे पदार्थमें जिस धर्मका उद्भव होता है उस धर्मका तिर्यक्प्रचयसे फिर उसमें समावेश हो जाता है। कालके समयका तिर्यक्प्रचय नहीं है, इसलिये जो समय चला गया वह फिर पीछे नहीं आता।

११६. दिगम्बर मतके अनुसार लोकमें 'कालद्रव्य'के असंख्यात अणु हैं।

११७. प्रत्येक द्रव्यके अनंत धर्म हैं। उनमें कितने ही व्यक्त हैं, कितने ही अव्यक्त हैं, कितने ही मुख्य हैं, कितने ही सामान्य हैं, कितने ही विशेष हैं।

११८. असंख्यातको असंख्यातसे गुना करनेसे भी असंख्यात होता है, अर्थात् असंख्यातके असंख्यात भेद हैं।

११९. एक अंगुलके असंख्यात भाग-अंश-प्रदेश, वे एक अंगुलमें असंख्यात हैं। लोकके भी असंख्यात प्रदेश हैं। चाहे जिस दिशाकी समश्रेणिसे असंख्यात होते हैं। इस तरह एकके बाद एक, दूसरी, तीसरी समश्रेणिका योग करनेसे जो योगफल आता है वह एक गुना, दो गुना, तीन गुना, चार गुना होता है परंतु असंख्यात गुना नहीं होता। परंतु एक समश्रेणि जो असंख्यात प्रदेशवाली है उस समश्रेणिकी दिशावाली सभी समश्रेणियाँ जो असंख्यात गुनी है, उस प्रत्येकको असंख्यातसे गुणा करनेसे, इसी तरह दूसरी दिशाकी समश्रेणिका भी गुणा करनेसे, और इसी तरह तीसरी दिशाकी समश्रेणिका भी गुणा करनेसे असंख्यात होते हैं। इस असंख्यातके भंगोंको जहाँ तक एक दूसरेका गुनाकार किया जा सकता है वहाँ तक असंख्यात होते हैं और जब उस गुणाकारसे कोई गुणाकार करना बाकी नहीं रहता तब असंख्यात पूरा होनेपर उसमें एक मिला देनेसे जघन्यसे जघन्य अनंत होता है।

---

१२०. जो नय है वह प्रमाणका एक अंश है। जिस नयसे जो धर्म कहा गया है, वहाँ उतना प्रमाण है। इस नयसे जो धर्म कहा गया है, उसके सिवाय वस्तुमें दूसरे जो धर्म हैं उनका निषेध नहीं किया गया है। एक ही समयमें वाणीसे समस्त धर्म नहीं कहे जा सकते। तथा जो जो प्रसंग होता है उस उस प्रसंगपर वहाँ मुख्यतः वही धर्म कहा जाता है। वहाँ वहाँ उस उस नयसे प्रमाण है।

१२१. नयके स्वरूपसे दूर जाकर जो कुछ कहा जाता है वह नय नहीं है, परंतु नयाभास है, और जहाँ नयाभास है वहाँ मिथ्यात्व सिद्ध होता है।

१२२. नय सात माने हैं। उनके उपनय सात सौ हैं, और विशेष स्वरूपसे अनंत हैं, अर्थात् जितने वचन हैं उतने नय हैं।

१२३. एकान्तिकता ग्रहण करनेका स्वच्छंद जीवको विशेषरूपसे होता है, और एकान्तिकता ग्रहण करनेसे नास्तिकता होती है। उसे न होने देनेके लिये यह नयका स्वरूप कहा गया है। जिसे समझनेसे जीव एकान्तिकता ग्रहण करनेसे रुककर मध्यस्थ रहता है, और मध्यस्थ रहनेसे नास्तिकता अवकाश नहीं पा सकती।

१२४. जो नय कहनेमें आता है वह नय स्वयं कोई वस्तु नहीं है, परंतु वस्तुका स्वरूप समझने और उसकी सुप्रतीति होनेके लिये प्रमाणका एक अंश है।

१२५. यदि अमुक नयसे कहा गया तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि दूसरे नयसे प्रतीत होनेवाले धर्मका अस्तित्व नहीं है।

---

१२६. केवलज्ञान अर्थात् मात्र ज्ञान ही, उसके सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं, और जब ऐसा है तब

उसमें दूसरा कुछ नहीं समाता। जब सर्वथा सर्व प्रकारसे रागद्वेषका क्षय हो जाये तभी केवलज्ञान कहा ज़ाता है। यदि किसी अंशमें रागद्वेष हों तो वह चारित्रमोहनीयके कारणसे हैं। जहाँ जितने अंशमें रागद्वेष हैं, वहाँ उतने ही अंशमें अज्ञान है, जिससें वे केवलज्ञानमें समा नहीं सकते, अर्थात् केवलज्ञानमें वे नहीं होते। वे एक दूसरेके प्रतिपक्षी हैं। जहाँ केवलज्ञान है वहाँ रागद्वेष नहीं है अथवा जहाँ रागद्वेष हैं वहाँ केवलज्ञान नहीं है।

---

१२७. गुण और गुणी एक ही हैं; परंतु किसी कारणसे वे भिन्न भी हैं। सामान्यतः तो गुणोंका समुदाय 'गुणी' है; अर्थात् गुण और गुणी एक ही है, भिन्न-भिन्न वस्तु नहीं हैं। गुणीसे गुण अलग नहीं हो सकता। जैसे मिस्रीका टुकडा गुणी है और मिठास गुण है। गुणी मिस्री और गुण मिठास वे दोनों साथ ही रहते हैं, मिठास कुछ भिन्न नहीं होती; तथापि गुण और गुणी किसी अंशसे भेदवाले हैं।

१२८. केवलज्ञानीका आत्मा भी देहव्यापकक्षेत्रावगाहित है; फिर भी लोकालोकके समस्त पदार्थ, जो देहसे दूर है, उन्हें भी एकदम जान सकता है।

१२९. स्व-परको अलग करनेवाला जो ज्ञान है वही ज्ञान है। इस ज्ञानको प्रयोजनभूत कहा गया है। इसके सिवाय जो ज्ञान है वह अज्ञान है। शुद्ध आत्मदशारूप शांत जिन है। उसकी प्रतीति जिनप्रतिबिंब सूचित करता है। उस शांत दशाको पानेके लिये जो परिणति, अथवा अनुकरण अथवा मार्ग है उसका नाम 'जैन'–जिस मार्गपर चलनेसे जैनत्व प्राप्त होता है।

१३०. यह मार्ग आत्मगुणरोधक नहीं है परंतु बोधक है, अर्थात् आत्मगुणको प्रगट करता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। यह बात परोक्ष नहीं परंतु प्रत्यक्ष है। प्रतीति करनेके अभिलाषीको पुरुषार्थ करनेसे सुप्रतीत होकर प्रत्यक्ष अनुभवगम्य हो जाता है।

१३१. सूत्र और सिद्धांत ये दोनों भिन्न हैं। रक्षण करनेके लिये सिद्धांत सूत्ररूपी पेटीमें रखे गये हैं। देश-कालके अनुसार सूत्र रचे अर्थात् गूँथे जाते हैं; और उनमें सिद्धांत गूँथे जाते हैं। वे सिद्धांत चाहे जिस कालमें, चाहे जिस क्षेत्रमें बदलते नहीं हैं, अथवा खंडित नहीं होते; और यदि वे खंडित हो जाये तो वे सिद्धांत नहीं हैं।

१३२. सिद्धांत गणितकी तरह प्रत्यक्ष हैं, इसलिये उनमें किसी तरहकी भूल या अधूरापन नहीं रहता। अक्षर विकल अर्थात् मात्रा, शिरोरेखा आदिके बिना हों तो उन्हें सुधारकर मनुष्य पढ़ लेते हैं; परंतु यदि अंकोंकी भूल हो तो हिसाब झूठा ठहरता है, इसलिये अंक विकल नहीं होते। इस दृष्टांतको उपदेशमार्ग और सिद्धांतमार्गपर घटायें।

१३३. सिद्धांत चाहे जिस देशमें, चाहे जिस भाषामें और चाहे जिस कालमें लिखे गये हो तो भी वे असिद्धांत नहीं हो जाते। उदाहरणरूपमें दो और दो चार होते हैं। फिर चाहे वे गुजराती, संस्कृत, प्राकृत, चीनी, अरबी, फारसी या अंगरेजी भाषामें क्यों न लिखे गये हों। उन अंकोंको चाहे जिस संज्ञासे पहचाना जाये तो भी दो और दोका योगफल चार ही होता है यह बात प्रत्यक्ष है। जैसे नौ नवाँ इक्यासी उसे चाहे जिस देशमें, चाहे जिस भाषामें, और दिन-दहाडे या काली रातमें गिना जाये तो भी अस्सी या बियासी नहीं होते, परंतु इक्यासी ही होते हैं। यही बात सिद्धांतकी भी है।

१३४. सिद्धांत प्रत्यक्ष है, ज्ञानीका अनुभवसिद्ध विषय है। उनमें अनुमान काम नहीं आता। अनुमान तो तर्कका विषय है, और तर्क आगे बढ़नेपर कितनी ही बार झूठा भी हो जाता है; परंतु प्रत्यक्ष जो अनुभवसिद्ध है उसमें कुछ भी असत्यता नहीं रहती।

१३५. जिसे गुणन या जोडका ज्ञान हुआ है वह यह कहता है कि नौ नवाँ इक्यासी, परंतु जिसे जोड अथवा गुणनका ज्ञान नहीं हुआ, अर्थात् क्षयोपशम नहीं हुआ वह अनुमानसे या तर्कसे यों कहे कि 'अट्ठानवे होते हों तो क्यों न कहा जा सके ?' तो इसमें कुछ आश्चर्य करने जैसी बात नहीं है, क्योंकि उसे ज्ञान न होनेसे वैसा कहता है यह स्वाभाविक है। परंतु यदि उसे गुणनकी रीतिको अलग अलग करके, एकसे नौ तक अंक बताकर नौ बार गिनाया जाये तो इक्यासी होनेसे अनुभवगम्य हो जानेसे उसे सिद्ध होते हैं। कदाचित् उसके मंद क्षयोपशमसे, गुणन अथवा जोड करनेसे इक्यासी समझमें न आयें तो भी इक्यासी होते हैं इसमें फर्क नहीं है। इसी तरह आवरणके कारण सिद्धांत समझमें न आयें तो भी वे असिद्धांत नहीं हो जाते इस बातकी अवश्य प्रतीति रखें। फिर भी प्रतीति करनेकी जरूरत हो तो उसमें बताये अनुसार करनेसे प्रतीति हो जानेसे प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध होता है।

१३६. जब तक अनुभवसिद्ध न हो तब तक सुप्रतीति रखनेकी जरूरत है, और सुप्रतीतिसे क्रमशः अनुभवसिद्ध होता है।

१३७. सिद्धांतके दृष्टांत–(१) 'रागद्वेषसे बंध होता है।' (२) 'बंधका क्षय होनेसे मुक्ति होती है।' इस सिद्धांतकी प्रतीति करनी हो तो रागद्वेष छोडें। यदि सर्व प्रकारसे रागद्वेष छूट जायें तो आत्माका सर्व प्रकारसे मोक्ष हो जाता है। आत्मा बंधनके कारण मुक्त नहीं हो सकता। बंधन छूटा कि मुक्त है। बंधन होनेके कारण रागद्वेष हैं। जहाँ रागद्वेष सर्वथा छूटे कि बंधसे छूट ही गया है। इसमें कोई प्रश्न या शंका नहीं रहती।

१३८. जिस समय रागद्वेषका सर्वथा क्षय होता है, उसे दूसरे ही समयमें 'केवलज्ञान' होता है।

---

१३९. जीव पहले गुणस्थानकमेंसे आगे नहीं जाता। आगे जानेका विचार नहीं करता। पहलेसे आगे किस तरह बढ़ा जा सकता है ? उसके क्या उपाय हैं ? किस तरह पुरुषार्थ करे ? उसका विचार भी नहीं करता; और जब बातें करने बैठता है तब ऐसी करता है कि इस क्षेत्रमें इस कालमें तेरहवाँ गुणस्थानक प्राप्त नहीं होता। ऐसी ऐसी गहन बातें, जो अपनी शक्तिके बाहरकी है, उन्हें वह कैसे समझ सकता है ? अर्थात् अपनेको जितना क्षयोपशम हो उसके अतिरिक्तिकी बातें करने बैठे तो वे समझी ही नहीं जा सकती।

१४०. ग्रंथि पहले गुणस्थानकमें है, उसका भेदन करके आगे बढ़कर संसारी जीव चौथे गुणस्थानक तक नहीं पहुँचे। कोई जीव निर्जरा करनेसे ऊँचे भावोंमें आनेसे, पहलेमेंसे निकलनेका विचार करके, ग्रंथिभेदके समीप आता है, परंतु वहाँ उसपर ग्रंथिका इतना अधिक जोर होता है कि ग्रंथिभेद करनेमें शिथिल होकर जीव रुक जाता है, और इस प्रकार मंद होकर वापस लौटता है। इस तरह जीव अनंत बार ग्रंथिभेदके समीप आकर वापस लौट गया है। कोई जीव प्रबल पुरुषार्थ करके, निमित्त कारणका योग पाकर पूर्ण शक्ति लगाकर ग्रंथिभेद करके आगे बढ़ जाता है, और जब ग्रंथिभेद करके आगे बढ़ा कि चौथेमें आ जाता है, और चौथेमें आया कि जल्दी या देरसे मोक्ष होगा, ऐसी उस जीवको मुहर लग जाती है।

१४१. इस गुणस्थानकका नाम 'अविरतिसम्यग्दृष्टि' है, जहाँ विरतिपनेके बिना सम्यक् ज्ञान-दर्शन है।

१४२. यह कहा जाता है कि तेरहवाँ गुणस्थानक इस कालमें और इस क्षेत्रसे प्राप्त नहीं होता; परंतु ऐसा कहनेवाले पहले गुणस्थानकमेंसे भी नहीं निकलते। यदि वे पहलेमेंसे निकलकर चौथे तक आये,

और वहाँ पुरुषार्थ करके सातवें अप्रमत्त गुणस्थानक तक पहुँच जायें, तो भी यह एक बड़ीसे बड़ी बात है। सातवें तक पहुँचे बिना उसके बादकी दशाकी सुप्रतीति हो सकना मुश्किल है।

१४३. आत्मामें जो प्रमादरहित जागृतदशा है वही सातवाँ गुणस्थानक है। वहाँ तक पहुँच जानेसे उसमें सम्यक्त्व समा जाता है। जीव चौथे गुणस्थानकमें आकर वहाँसे पाँचवें 'देशविरति', छठे 'सर्वविरति' और सातवें 'प्रमादरहित विरति' में पहुँचता है। वहाँ पहुँचनेसे आगेकी दशाका अंशतः अनुभव अथवा सुप्रतीति होती है। चौथे गुणस्थानकवाला जीव सातवें गुणस्थानकमें पहुँचनेवालेकी दशाका यदि विचार करे तो किसी अंशसे प्रतीति हो सकती है। परंतु पहले गुणस्थानकवाला जीव उसका विचार करे तो वह किस तरह प्रतीतिमें आ सकता है? क्योंकि उसे जाननेका साधन जो आवरणरहित होना है वह पहले गुणस्थानकवालेके पास नहीं होता।

१४४. सम्यक्त्वप्राप्त जीवकी दशाका स्वरूप ही भिन्न होता है। पहले गुणस्थानकवाले जीवकी दशाकी जो स्थिति अथवा भाव है उसकी अपेक्षा चौथे गुणस्थानकको प्राप्त करनेवालेकी दशाकी स्थिति अथवा भाव भिन्न देखनेमें आते हैं अर्थात् भिन्न ही दशाका वर्तन देखनेमें आता है।

१४५. पहलेको शिथिल करे तो चौथेमें आये यह कथन मात्र है। चौथेमें आनेके लिये जो वर्तन है वह विषय विचारणीय है।

१४६. पहले, चौथे, पाँचवें, छट्ठे और सातवें गुणस्थानककी जो बात कही गयी है वह कुछ कथन मात्र अथवा श्रवण मात्र ही है, यह बात नहीं है; परंतु समझकर वारंवार विचारणीय है।

१४७. हो सके उतना पुरुषार्थ करके आगे बढ़नेकी जरूरत है।

१४८. न प्राप्त हो सके ऐसे धैर्य, संहनन, आयुकी पूर्णता इत्यादिके अभावसे कदाचित् सातवें गुणस्थानकसे आगेका विचार अनुभवमें नहीं आ सकता, परंतु सुप्रतीत हो सकता है।

१४९. सिंहके दृष्टांतकी तरह–सिंहको लोहेके मजबूत पिंजरेमें बंद किया गया हो तो वह अंदर रहा हुआ अपनेको सिंह समझता है, पिंजरेमें बंद किया हुआ मानता है; और पिंजरेसे बाहरकी भूमि भी देखता है; मात्र लोहेकी मजबूत छडोंकी आडके कारण बाहर नहीं निकल सकता। इसी तरह सातवें गुणस्थानकसे आगेका विचार सुप्रतीत हो सकता है।

१५०. इस प्रकार होनेपर भी जीव मतभेद आदि कारणोंसे अवरुद्ध होकर आगे नहीं बढ़ सकता।

१५१. मतभेद अथवा रूढि आदि तुच्छ बातें हैं, अर्थात् उसमें मोक्ष नहीं है। इसलिये वस्तुतः सत्यकी प्रतीति करनेकी जरूरत है।

---

१५२. शुभाशुभ और शुद्धाशुद्ध परिणामपर सारा आधार है। छोटी छोटी बातोंमें भी दोष माना जायें तो उस स्थितिमें मोक्ष नहीं होता। लोकरूढि अथवा लोकव्यवहारमें पड़ा हुआ जीव मोक्षतत्त्वका रहस्य नहीं जान सकता, उसका कारण यह है कि उसके मनमें रूढि अथवा लोकसंज्ञाका माहात्म्य है। इसलिये बादर क्रियाका निषेध नहीं किया जाता। जो कुछ भी न करता हुआ एकदम अनर्थ करता है उसकी अपेक्षा बादरक्रिया उपयोगी है। तो भी इसका आशय यह भी नहीं है कि बादरक्रियासे आगे न बढ़े।

१५३. जीवको अपनी चतुराई और इच्छानुसार चलना अच्छा लगता है, परंतु यह जीवका बुरा करनेवाली वस्तु है। इस दोषको दूर करनेके लिये ज्ञानीका यह उपदेश है कि पहले तो किसीको उपदेश नहीं देना है परंतु पहले स्वयं उपदेश लेना है। जिसमें रागद्वेष न हो उसका संग हुए बिना सम्यक्त्व प्राप्त

नहीं हो सकता। सम्यक्त्व आनेसे (प्राप्त होनेसे) जीव बदलता है, (जीवकी दशा बदलती है); अर्थात् प्रतिकूल हो तो अनुकूल हो जाती है। जिनेन्द्रकी प्रतिमाका (शांतिके लिये) दर्शन करनेसे सातवें गुणस्थानकमें स्थित ज्ञानीकी जो शांतदशा है उसकी प्रतीति होती है।

१५४. जैनमार्गमें आजकल अनेक गच्छ प्रचलित हैं, जैसे कि तपगच्छ, अंचलगच्छ, लुंकागच्छ, खरतरगच्छ इत्यादि। यह प्रत्येक अपनेसे अन्य पक्षवालेको मिथ्यात्वी मानता है। इसी तरह दूसरा विभाग छ कोटि, आठ कोटि इत्यादिका है। यह प्रत्येक अपनेसे अन्य कोटिवालेको मिथ्यात्वी मानता है। वस्तुतः नौ कोटि चाहिये। उनमेंसे जितनी कम उतना कम; और उसकी अपेक्षा भी आगे जायें तो समझमें आता है कि अंतमें नौ कोटि भी छोड़े बिना रास्ता नहीं है।

१५५. तीर्थंकर आदिने जिस मार्गसे मोक्ष प्राप्त किया वह मार्ग तुच्छ नहीं है। जैनरूढिका अंश भी छोडना अत्यंत कठिन लगता है, तो फिर महान तथा महाभारत जैसे मोक्षमार्गको किस तरह ग्रहण किया जा सकेगा ? यह विचारणीय है।

---

१५६. मिथ्यात्व प्रकृतिका क्षय किये बिना सम्यक्त्व नहीं आता। जिसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है उसकी दशा अद्‌भुत होती है। वहाँसे पाँचवें, छठें, सातवें और आठवेंमें जाकर दो घड़ीमें मोक्ष हो सकता है। एक सम्यक्त्व प्राप्तकर लेनेसे कैसा अद्‌भुत कार्य हो जाता है ! इससे सम्यक्त्वकी चमत्कृति अथवा उसका माहात्म्य किसी अंशमें समझा जा सकता है।

१५७. दुर्धर पुरुषार्थसे प्राप्त होने योग्य मोक्षमार्ग अनायास प्राप्त नहीं होता। आत्मज्ञान अथवा मोक्षमार्ग किसीके शापसे अप्राप्त नहीं होता, या किसीके आशीर्वादसे प्राप्त नहीं होता। पुरुषार्थके अनुसार होता है, इसलिये पुरुषार्थकी जरूरत है।

---

१५८. सूत्र, सिद्धांत, शास्त्र सत्पुरुषके उपदेशके बिना फल नहीं देते। जो भिन्नता है वह व्यवहार मार्गमें है। मोक्षमार्गमें तो कोई भेद नहीं है, एक ही है। उसे प्राप्त करनेमें जो शिथिलता है उसका निषेध किया गया है। इसमें शूरवीरता ग्रहण करने योग्य है। जीवको अमूर्च्छित करना ही जरूरी है।

१५९. विचारवान पुरुषको व्यवहारके भेदसे नहीं घबराना चाहिये।

१६०. ऊपरकी भूमिकावाला नीचेकी भूमिकावालेके बराबर नहीं है, परंतु नीचेकी भूमिकावालेसे ठीक है। स्वयं जिस व्यवहारमें हो उससे दूसरेका ऊँचा व्यवहार देखनेमें आये, तो उस ऊँचे व्यवहारका निषेध न करे, क्योंकि मोक्षमार्गमें कुछ भी अंतर नहीं है। तीनों कालमें चाहे जिस क्षेत्रमें जो एक ही सरीखा रहे वही मोक्षमार्ग है।

---

१६१. अल्पसे अल्प निवृत्ति करनेमें भी जीवको कँपकँपी होती है तो फिर वैसी अनन्त प्रवृत्तियोंसे जो मिथ्यात्व होता है, उसकी निवृत्ति करना यह कितना दुर्धर हो जाना चाहिये ? मिथ्यात्वकी निवृत्ति ही 'सम्यक्त्व' है।

१६२. जीवाजीवकी विचाररूपसे प्रतीति न की गयी हो और कथन मात्र ही जीवाजीव है, यों कहे तो यह सम्यक्त्व नहीं है। तीर्थंकर आदिने भी पूर्वकालमें इसका आराधन किया है, इसलिये पहलेसे ही उनमें सम्यक्त्व होता है, परंतु दूसरोंको कुछ अमुक कुलमें, अमुक जातिमें या अमुक वर्गमें अथवा अमुक देशमें उत्पन्न होनेसे जन्मसे ही सम्यक्त्व हो, यह बात नहीं है।

१६३. विचारके बिना ज्ञान नहीं होता। ज्ञानके बिना सुप्रतीति अर्थात् सम्यक्त्व नहीं होता। सम्यक्त्वके बिना चारित्र नहीं आता, और जब तक चारित्र नहीं आता तब तक केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता, और जब तक केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता तब तक मोक्ष नहीं है; ऐसा देखनेमें आता है।

---

१६४. देवका वर्णन। तत्त्व। जीवका स्वरूप।

---

१६५. कर्मरूपसे रहे हुए परमाणु केवलज्ञानीको दृश्य होते हैं, उनके सिवाय दूसरोंके लिये कोई निश्चित नियम नहीं होता। परमावधिवालेको उनका दृश्य होना संभव है, और मनःपर्यायज्ञानीको अमुक देशसे दृश्य होना संभव है।

---

१६६. पदार्थमें अनन्त धर्म (गुण आदि) निहित हैं। उनका अनंतवाँ भाग वाणीसे कहा जा सकता है। उसका अनंतवाँ भाग सूत्रमें गूँथा जा सकता है।

---

१६७. यथाप्रवृत्तिकरण, अनिवृत्तिकरण, अपूर्वकरणके बाद युंजनकरण और गुणकरण है। युंजनकरणको गुणकरणसे क्षय किया जा सकता है।

१६८. युंजनकरण अर्थात् प्रकृतिको योजित करना। आत्मगुण जो ज्ञान, और उससे दर्शन, और उससे चारित्र, ऐसे गुणकरणसे युंजनकरणका क्षय किया जा सकता है। अमुक अमुक प्रकृति जो आत्मगुणरोधक है उसका गुणकरणसे क्षय किया जा सकता है।

---

१६९. कर्मप्रकृति, उसके सूक्ष्मसे सूक्ष्मभाव, उसके बंध, उदय, उदीरणा, संक्रमण, सत्ता और क्षयभाव जो बताये गये हैं (वर्णित किये गये हैं), वे परम सामर्थ्यके बिना वर्णित नहीं किये जा सकते। इनका वर्णन करनेवाला जीवकोटिका पुरुष नहीं, परंतु ईश्वरकोटिका पुरुष होना चाहिये, ऐसी सुप्रतीति होती है।

१७०. किस किस प्रकृतिका कैसे रससे क्षय हुआ होना चाहिये? कौनसी प्रकृति सत्तामें हैं? कौनसी उदयमें है? किसने संक्रमण किया है? इत्यादिका विधान करनेवालेने, उपर्युक्तके अनुसार प्रकृतिके स्वरूपको माप-तोल कर कहा है, उनके इस परमज्ञानकी बात एक ओर रहने दें तो भी यह कहनेवाला ईश्वरकोटिका पुरुष होना चाहिये, यह निश्चित होता है।

१७१. जातिस्मरणज्ञान मतिज्ञानके 'धारणा' नामके भेदके अंतर्गत है। वह पिछले भव जान सकता है। जहाँ तक पिछले भवमें असंज्ञीपना न आया हो वहाँ तक वह आगे चल सकता है।

१७२. (१) तीर्थंकरने आज्ञा न दी हो और जीव अपनी वस्तुके सिवाय परवस्तुका जो कुछ ग्रहण करता है वह पराया लिया हुआ और अदत्त गिना जाता है। उस अदत्तमेंसे तीर्थंकरने परवस्तु जितनी ग्रहण करनेकी छूट दी है उतनेको अदत्त नहीं गिना जाता। (२) गुरुकी आज्ञाके अनुसार किये हुए वर्तनके संबंधमें अदत्त नहीं गिना जाता।

१७३. उपदेशके मुख्य चार प्रकार हैं–(१) द्रव्यानुयोग, (२) चरणानुयोग, (३) गणितानुयोग, (४) धर्मकथानुयोग।

(१) लोकमें रहनेवाले द्रव्य, उनका स्वरूप, उनका गुण, धर्म, हेतु, अहेतु, पर्याय आदि अनंतानंत प्रकारके है, उनका जिसमें वर्णन है वह 'द्रव्यानुयोग' है।

(२) इस द्रव्यानुयोगका स्वरूप समझमें आनेके बाद, आचरण संबंधी वर्णन जिसमें है वह 'चरणानुयोग' है।

(३) द्रव्यानुयोग तथा चरणानुयोगकी गिनतीके प्रमाण, तथा लोकमें रहनेवाले पदार्थ, भाव, क्षेत्र, काल आदिकी गिनतीके प्रमाणका जो वर्णन है वह 'गणितानुयोग' है।

(४) सत्पुरुषोंके धर्मचरित्रोंकी कथाएँ, जिनका बोध लेनेसे वे गिरनेवाले जीवको अवलंबनभूत सिद्ध होती हैं, वह 'धर्मकथानुयोग' है।

१७४. परमाणुमें रहनेवाले गुण, स्वभाव आदि स्थिर रहते हैं, और पर्याय बदलते हैं। दृष्टांतरूपमें—पानीमें रहनेवाला शीत-गुण नहीं बदलता, परंतु पानीमें जो तरंगें उठती हैं वे बदलती हैं अर्थात् वे एकके बाद एक उठकर उसमें समा जाती हैं। इस प्रकार पर्याय, अवस्था अवस्थांतर हुआ करते हैं। इससे पानीमें रहनेवाली शीतलता अथवा पानीपन नहीं बदलते, परंतु स्थिर रहते हैं; और पर्यायरूप तरंगें बदलती रहती हैं। इसी तरह उस गुणकी हानिवृद्धिरूप परिवर्तन भी पर्याय है। उसके विचारसे प्रतीति, प्रतीतिसे त्याग और त्यागसे ज्ञान होता है।

१७५. तेजस और कार्मण शरीर स्थूलदेहप्रमाण हैं। तेजस शरीर गरमी करता है, तथा आहारको पचानेका काम करता है। शरीरके अमुक अमुक अंग घिसनेसे गरम मालूम होते हैं, वे तेजसके कारणसे मालूम होते हैं। सिरपर घृत आदि रखकर उस (तेजस) शरीरकी परीक्षा करनेकी जो रूढि है, उसका अर्थ यह है कि वह शरीर स्थूल शरीरमें है या नहीं? अर्थात् स्थूल शरीरमें जीवकी भाँति वह सारे शरीरमें रहता है।

१७६. इसी तरह कार्मण शरीर भी है, जो तेजसकी अपेक्षा सूक्ष्म है। वह भी तेजसकी तरह रहता है। स्थूल शरीरमें पीडा होती है, अथवा क्रोध आदि होते हैं, वही कार्मण शरीर है। कार्मणसे क्रोध आदि होकर तेजोलेश्या आदि उत्पन्न होते हैं। वेदनाका अनुभव जीव करता है, परंतु वेदना कार्मण शरीरके कारण होती है। कार्मण शरीर जीवका अवलंबन है।

१७७. उपर्युक्त चार अनुयोगों तथा उनके सूक्ष्म भावोंका स्वरूप जीवके लिये वारंवार विचारणीय है, ज्ञेय है। वह परिणाममें निर्जराका हेतु होता है, अथवा उससे निर्जरा होती है। चित्तकी स्थिरता करनेके लिये यह सब कहा गया है; क्योंकि इस सूक्ष्मसे सूक्ष्म स्वरूपको यदि जीवने कुछ जाना हो तो उसके लिये वारंवार विचार करना होता है, और वैसे विचारसे जीवकी बाह्यवृत्ति न होकर, वह विचार करने तक अंदरकी अंदर ही समायी रहती है।

१७८. अंतर्विचारका साधन न हो तो जीवकी वृत्ति बाह्य वस्तुपर जाकर अनेक प्रकारकी योजनाएँ की जाती है। जीवको आलंबनकी जरूरत है। उसे खाली बैठे रहना ठीक नहीं लगता। उसे ऐसी ही आदत पड़ गयी है; इसलिये यदि उक्त पदार्थोंका ज्ञान हुआ हो तो उसके विचारके कारण सत्चित्वृत्ति बाहर जानेके बदले भीतर समायी रहती है, और ऐसा होनेसे निर्जरा होती है।

१७९. पुद्गल, परमाणु और उसके पर्याय आदिकी सूक्ष्मता है, वह जितनी वाणीगोचर हो सकती है उतनी कही गयी है। वह इसलिये कि ये पदार्थ मूर्त्त हैं, अमूर्त्त नहीं है। मूर्त्त होनेपर भी इतने सूक्ष्म हैं कि उनका वारंवार विचार करनेसे उनका स्वरूप समझमें आता है, और उस तरह समझमें आनेसे उनसे सूक्ष्म अरूपी ऐसे आत्मा संबंधी जाननेका काम सरल हो जाता है।

१८०. मान और मताग्रह ये मार्गप्राप्तिमें अवरोधक स्थंभरूप हैं। उन्हें छोड़ा नहीं जा सकता, और

इसलिये मार्ग समझमें नहीं आता। समझनेमें विनय-भक्तिकी प्रथम जरूरत है। वह भक्ति मान, मताग्रहके कारण अपनायी नहीं जा सकती।

१८१. (१) वाचना, (२) पृच्छना, (३) परावर्तना, (४) चित्तको निश्चयमें लाना, (५) धर्मकथा। वेदांतमें भी श्रवण, मनन और निदिध्यासन। ये भेद बताएँ हैं।

१८२. उत्तराध्ययनमें धर्मके मुख्य चार अंग कहे हैं–(१) मनुष्यता, (२) सत्पुरुषके वचनोंका श्रवण, (३) उनकी प्रतीति, (४) धर्ममें प्रवर्तन करना। ये चार वस्तुएँ दुर्लभ हैं।

१८३. मिथ्यात्वके दो भेद हैं–(१) व्यक्त, (२) अव्यक्त। उसके तीन भेद भी किये हैं–(१) उत्कृष्ट, (२) मध्यम, (३) जघन्य। जब तक मिथ्यात्व होता है तब तक जीव पहले गुणस्थानकसे बाहर नहीं निकलता। तथा जब तक उत्कृष्ट मिथ्यात्व होता है तब तक वह मिथ्यात्व गुणस्थानक नहीं माना जाता। गुणस्थानक जीवाश्रयी है।

१८४. मिथ्यात्व द्वारा मिथ्यात्व मंद पड़ता है, और इसलिये वह जरा आगे चला कि तुरत वह मिथ्यात्व गुणस्थानकमें आता है।

१८५. गुणस्थानक यह आत्माके गुणको लेकर होता है।

१८६. मिथ्यात्वमेंसे जीव संपूर्ण न निकला हो परंतु थोड़ा निकला हो तो भी उससे मिथ्यात्व मंद पड़ता है। यह मिथ्यात्व भी मिथ्यात्वसे मंद होता है। मिथ्यात्व गुणस्थानकमें भी मिथ्यात्वका अंश कषाय हो, उस अंशसे भी मिथ्यात्वमेसे मिथ्यात्व गुणस्थानक कहा जाता है।

१८७. प्रयोजनभूत ज्ञानके मूलमें, पूर्ण प्रतीतिमें, वैसे ही आकारमें मिलते-जुलते अन्य मार्गकी समानताके अंशसे समानतारूप प्रतीति होना मिश्रगुणस्थानक है। परंतु अमुक दर्शन सत्य है, और अमुक दर्शन भी सत्य है, ऐसी दोनोंपर एकसी प्रतीति होना मिश्र नहीं परंतु मिथ्यात्वगुणस्थानक है। अमुक दर्शनसे अमुक दर्शन अमुक अंशमें मिलता जुलता है, ऐसा कहनेमें सम्यक्त्वको बाधा नहीं आती; क्योंकि वहाँ तो अमुक दर्शनकी दूसरे दर्शनके साथ समानता करनेमें पहला दर्शन संपूर्णरूपसे प्रतीतिरूप होता है।

१८८. पहले गुणस्थानकसे दूसरेमें नहीं जाया जाता, परंतु चौथेसे वापस लौटते हुए पहलेमें आनेके बीचका अमुक काल दूसरा गुणस्थानक है। उसे यदि चौथेके बाद पाँचवाँ माना जाये तो चौथेसे पाँचवाँ ऊँचा ठहरता है और यहाँ तो सास्वादन चौथेसे पतित हुआ माना गया है, अर्थात् वह नीचा है इसलिये पाँचवाँ नहीं कहा जा सकता परंतु दूसरा कहना ठीक है।

१८९. आवरण है यह बात निःसंदेह है, जिसे श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों कहते हैं; परंतु आवरणको साथ लेकर कहनेमें एक दूसरेसे थोड़ा भेदवाला है।

१९०. दिगम्बर कहते हैं कि केवलज्ञान सत्तारूपसे नहीं परंतु शक्तिरूपसे है।

१९१. यद्यपि सत्ता और शक्तिका सामान्य अर्थ एक है, परंतु विशेषार्थकी दृष्टिसे कुछ फर्क है।

---

१९२. दृढ़तापूर्वक ओघ आस्थासे, विचारपूर्वक अभ्याससे 'विचारसहित आस्था' होती है।

---

१९३. तीर्थंकर जैसे भी संसारपक्षमें विशेष-विशेष समृद्धिके स्वामी थे, फिर भी उन्हें भी त्याग करनेकी जरूरत पड़ी थी, तो फिर अन्य जीवोंको वैसा किये बिना छुटकारा नहीं है।

१९४. त्यागके दो प्रकार हैं–एक बाह्य और दूसरा अभ्यंतर। इसमेंसे बाह्य त्याग अभ्यंतर त्यागका सहकारी है। त्यागके साथ वैराग्य जोड़ा जाता है, क्योंकि वैराग्य होनेपर ही त्याग होता है।

१९५. जीव ऐसा मानता है कि 'मैं कुछ समझता हूँ, और जब मैं त्याग करना चाहूँगा तब एकदम त्याग कर सकूँगा, परंतु यह मानना भूलभरा होता है। जब तक ऐसा प्रसंग नहीं आया तब तक अपना जोर रहता है। जब ऐसा समय आता है तब शिथिल-परिणामी होकर मंद पड़ जाता है। इसलिये धीरे धीरे जीव जाँच करे और त्यागका परिचय करने लगे, जिससे मालूम हो कि त्याग करते समय परिणाम कैसे शिथिल हो जाते हैं ?

१९६. आँख, जीभ आदि इंद्रियोंकी एक एक अंगुल जितनी जगहको जीतना भी जिसके लिये मुश्किल हो जाता है, अथवा जीतना असंभव हो जाता है; उसे बड़ा पराक्रम करनेका अथवा बड़ा क्षेत्र जीतनेका काम सौंपा हो तो वह किस तरह बन सकता है ? 'एकदम त्याग करनेका समय आये, तबकी बात तब', इस विचारकी ओर ध्यान रखकर अभी तो धीरे धीरे त्यागकी कसरत करनेकी जरूरत है। उसमें भी शरीर और शरीरके साथ संबंध रखनेवाले सगे-संबंधियोंके बारेमें पहले आजमाइश करनी है; और शरीरमें भी पहले आँख, जीभ और उपस्थ इन तीन इंद्रियोंके विषयको देश-देशसे त्याग करनेकी तरफ लगाना है, और इसके अभ्याससे एकदम त्याग सुगम हो जाता है।

१९७. अभी जाँचके तौरपर अंश अंशसे जितना जितना त्याग करना है उसमें भी शिथिलता नहीं रखना, तथा रूढिका अनुसरण करके त्याग करनेकी बात भी नहीं है। जो कुछ त्याग करना वह शिथिलतारहित तथा छूट-छाटरहित करना, अथवा छूट-छाट रखनेकी जरूरत हो तो वह भी निश्चित-रूपसे खुले तौरसे रखना, परंतु ऐसी न रखना कि उसका अर्थ जिस समय जैसा करना हो वैसा हो सके। जब जिसकी जरूरत पड़े तब उसका इच्छानुसार अर्थ हो सके ऐसी व्यवस्था ही त्यागमें नहीं रखना। यदि ऐसी व्यवस्था की जाय कि अनिश्चितरूपसे अर्थात् जब जरूरत पड़े तब मनमाना अर्थ हो सके, तो जीव शिथिल-परिणामी होकर त्याग किया हुआ सब कुछ बिगाड डालता है।

१९८. यदि अंशसे भी त्याग करें तो पहलेसे ही उसकी मर्यादा निश्चित करके और साक्षी रखकर त्याग करें, तथा त्याग करनेके बाद अपना मनमाना अर्थ न करें।

१९९. संसारमें परिभ्रमण करानेवाले क्रोध, मान, माया और लोभकी चौकडीरूप कषाय है, उसका स्वरूप भी समझने योग्य है। उसमें भी जो अनंतानुबंधी कषाय है वह अनंत संसारमें भटकानेवाला है। उस कषायके क्षय होनेका क्रम सामान्यतः इस तरह है कि पहले क्रोधका और फिर क्रमसे मान, माया और लोभका क्षय होता है, और उसके उदय होनेका क्रम सामान्यतः इस तरह है कि पहले मान और फिर क्रमसे लोभ, माया और क्रोधका उदय होता है।

२००. इस कषायके असंख्यात भेद हैं। जिस रूपमें कषाय होता है उस रूपमें जीव संसार-परिभ्रमणके लिये कर्मबंध करता है। कषायमें बड़ेसे बड़ा बंध अनंतानुबंधी कषायका है। जो अंतर्मुहूर्तमें चालीस कोडाकोडी सागरोपमका बंध करता है, उस अनंतानुबंधीका स्वरूप भी जबरदस्त है। वह इस तरह कि मिथ्यात्वमोहरूपी एक राजाको भलीभाँति हिफाजतसे सैन्यके मध्यभागमें रखकर क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार उसकी रक्षा करते है, और जिस समय जिसकी जरूरत होती है उस समय वह बिना बुलाये मिथ्यात्वमोहकी सेवामें लग जाता है। इसके अतिरिक्त नोकषायरूप दूसरा परिवार है वह कषायके अग्रभागमें रहकर मिथ्यात्वमोहकी रखवाली करता है, परंतु ये दूसरे सब चौकीदार नहीं-जैसे कषायका काम करते हैं। भटकानेवाला तो कषाय है। और उस कषायमें भी अनंतानुबंधी कषायके चार योद्धा बहुत ही मार डालते हैं। इन चार योद्धाओंमेंसे क्रोधका स्वभाव दूसरे तीनकी अपेक्षा कुछ भोला मालूम पड़ता है; क्योंकि उसका स्वरूप सबकी अपेक्षा जल्दी मालूम हो सकता है। इस तरह जब

जिसका स्वरूप जल्दी मालूम हो जाये तब उसके साथ लडाई करनेमें क्रोधीकी प्रतीति हो जानेसे लडनेकी हिम्मत आती है।

---

२०१. घनघाती चार कर्म–मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय; जो आत्माके गुणोंको आवरण करनेवाले हैं। उनका एक प्रकारसे क्षय करना सरल भी है। वेदनीय आदि कर्म जो घनघाती नहीं हैं तो भी उनका एक प्रकारसे क्षय करना कठिन है। वह इस तरह कि वेदनीय आदि कर्मका उदय प्राप्त हो तो उनका क्षय करनेके लिये उन्हें भोगना चाहिये; उन्हें न भोगनेकी इच्छा हो तो भी वहाँ वह काम नहीं आती, भोगने ही चाहिये; और ज्ञानावरणीयका उदय हो तो यत्न करनेसे उसका क्षय हो जाता है। उदाहरणरूपमें, कोई श्लोक ज्ञानावरणीयके उदयसे याद न रहता हो तो उसे दो, चार, आठ, सोलह, बत्तीस, चौसठ, सौ अर्थात् अधिक बार रटनेसे ज्ञानावरणीयका क्षयोपशम अथवा क्षय होकर याद रहता है; अर्थात् बलवान हो जानेसे उसका उसी भवमें अमुक अंशमें क्षय किया जा सकता है। इसी तरह दर्शनावरणीय कर्मके संबंधमें समझें। मोहनीयकर्म जो महा बलशाली एवं भोला भी है, वह तुरत क्षय किया जा सकता है। जैसे उसका आना, आनेका वेग प्रबल है, वैसे वह जल्दीसे दूर भी हो सकता है। मोहनीयकर्मका तीव्र बंध होता है, तो भी वह प्रदेशबंध न होनेसे तुरत क्षय किया जा सकता है। नाम, आयु आदि कर्म जिनका प्रदेशबंध होता है वे केवलज्ञान उत्पन्न होनेके बाद भी अंत तक भोगने पड़ते हैं; जब कि मोहनीय आदि चार कर्म उससे पहले ही क्षीण हो जाते हैं।

२०२. 'उन्माद' यह चारित्रमोहनीयका विशेष पर्याय है। वह क्वचित् हास्य, क्वचित् शोक, क्वचित् रति, क्वचित् अरति, क्वचित् भय, और क्वचित् जुगुप्सारूपसे दिखायी देता है। कुछ अंशसे उसका ज्ञानावरणीयमें भी समावेश होता है। स्वप्नमें विशेषरूपसे ज्ञानावरणीयके पर्याय मालूम होते हैं।

२०३. 'संज्ञा' यह ज्ञानका भाग है। परंतु 'परिग्रहसंज्ञा'का 'लोभप्रकृति' में समावेश होता है, 'मैथुनसंज्ञा'का वेदप्रकृतिमें समावेश होता है; 'आहारसंज्ञा'का वेदनीयमें समावेश होता है; और 'भयसंज्ञा'का भयप्रकृतिमें समावेश होता है।

२०४. अनंत प्रकारके कर्म मुख्य आठ प्रकारसे और उत्तर एक सौ अट्ठावन प्रकारसे 'प्रकृति'के नामसे पहचाने जाते हैं। वह इस तरह कि अमुक अमुक प्रकृति अमुक अमुक गुणस्थानक तक होती है। इस तरह मापतोल कर ज्ञानीदेवने दूसरोंको समझानेके लिये स्थूल स्वरूपसे उसका विवेचन किया है। उसमें दूसरे कितने ही तरहके कर्म अर्थात् 'कर्मप्रकृति'का समावेश होता है। अर्थात् जिस जिस प्रकृतिके नाम कर्मग्रंथमें नहीं आते वे सब प्रकृतियाँ उपर्युक्त प्रकृतिके विशेष पर्याय हैं अथवा वे उपर्युक्त प्रकृतिमें समा जाते हैं।

२०५. 'विभाव' अर्थात् 'विरुद्धभाव' नहीं, परंतु 'विशेषभाव'। आत्मा आत्मारूपसे परिणमित हो वह 'भाव' है अथवा 'स्वभाव' है। जब आत्मा और जड़का संयोग होनेसे आत्मा स्वभावसे आगे जाकर 'विशेषभाव' से परिणमित हो, वह 'विभाव' है। इसी तरह जड़के बारेमें भी समझें।

२०६. 'काल' के 'अणु' लोकप्रमाण असंख्यात हैं। उस अणुमें रुक्ष अथवा स्निग्ध गुण नहीं हैं। इसलिये एक अणु दूसरेमें नहीं मिलता, और प्रत्येक पृथक् पृथक् रहता है। परमाणु-पुद्गलमें वह गुण होनेसे मूल सत्ता कायम रहकर उसका (परमाणु-पुद्गलका) स्कंध होता है।

---

२०७. धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, (लोक) आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय उसके भी असंख्यात प्रदेश है। और उसके प्रदेशमें रुक्ष अथवा स्निग्ध गुण नहीं है, फिर भी वे कालकी तरह प्रत्येक अणु अलग अलग रहनेके बदले एक समूह होकर रहते हैं। इसका कारण यह है कि काल प्रदेशात्मक नहीं हैं, परंतु अणु होकर पृथक् पृथक् है, और धर्मास्तिकाय आदि चार द्रव्य प्रदेशात्मक है।

२०८. वस्तुको समझानेके लिये अमुक नयसे भेदरूपसे वर्णन किया गया है। वस्तुतः वस्तु, उसके गुण और पर्याय यों तीन पृथक् पृथक् नहीं हैं, एक ही हैं। गुण और पर्यायके कारण वस्तुका स्वरूप समझमें आता है। जैसे मिस्री यह वस्तु, मिठास यह गुण और खुरदरा आकार यह पर्याय है। इन तीनोंको लेकर मिस्री है। मिठासवाले गुणके बिना मिस्री पहचानी नहीं जा सकती। वैसा ही कोई खुरदरे आकारवाला टुकडा हो, परंतु उसमें खारेपनका गुण हो तो वह मिस्री नहीं परंतु नमक है। इस जगह पदार्थकी प्रतीति अथवा ज्ञान, गुणके कारण होता है, इस तरह गुणी और गुण भिन्न नहीं है। फिर भी अमुक कारणको लेकर पदार्थका स्वरूप समझानेके लिये भिन्न कहे गये हैं।

२०९. गुण और पर्यायके कारण पदार्थ है। यदि वे दोनों न हों तो फिर पदार्थका होना न होनेके बराबर है, क्योंकि वह किस कामका है ?

२१०. एक दूसरेसे विरुद्ध पदवाली ऐसी त्रिपदी पदार्थमात्रमें रही हुई है। ध्रुव अर्थात् सत्ता-अस्तित्व पदार्थका सदा है। उसके होनेपर भी पदार्थमें उत्पाद और व्यय ये दो पद रहते हैं। पूर्व पर्यायका व्यय और उत्तर पर्यायका उत्पाद हुआ करता है।

२११. इस पर्यायके परिवर्तनसे काल मालूम होता है। अथवा उस पर्यायका परिवर्तन होनेमें काल सहकारी है।

२१२. प्रत्येक पदार्थमें समय-समयपर षट्चक्र उठता है। वह यह कि संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनंतगुणवृद्धि, संख्यातगुणहानि, असंख्यातगुणहानि और अनंतगुणहानि; जिसका स्वरूप श्री वीतरागदेव अवाक्गोचर कहते हैं।

२१३. आकाशके प्रदेशकी श्रेणि सम है। विषम मात्र एक प्रदेशकी विदिशाकी श्रेणि है। समश्रेणि छः हैं और वे दो प्रदेशी हैं। पदार्थमात्रका गमन समश्रेणिसे होता है, विषमश्रेणिसे नहीं होता। क्योंकि आकाशके प्रदेशकी समश्रेणि है। इसी तरह पदार्थमात्रमें अगुरुलघु धर्म है। उस धर्मके कारण पदार्थ विषमश्रेणिसे गमन नहीं कर सकता।

---

२१४. चक्षुरिंद्रियके सिवाय दूसरी इंद्रियोंसे जो जाना जा सकता है उसका समावेश जाननेमें होता है।

२१५. चक्षुरिंद्रियसे जो देखा जाता है वह भी जानना है। जब तक संपूर्ण जानने-देखनेमें नहीं आता तब तक जानना अधूरा माना जाता है, केवलज्ञान नहीं माना जाता।

२१६. जहाँ त्रिकाल अवबोध है वहाँ संपूर्ण जानना होता है।

२१७. भासन शब्दमें जानना और देखना दोनोंका समावेश होता है।

२१८. जो केवलज्ञान है वह आत्मप्रत्यक्ष है अथवा अतींद्रिय है। जो अंधता है वह इंद्रिय द्वारा देखनेका व्याघात है। वह व्याघात अतींद्रियको बाधक होना संभव नहीं है।

जब चार घनघाती कर्मोंका नाश होता है तब केवलज्ञान उत्पन्न होता है। उन चार घनघातियोंमें एक

दर्शनावरणीय है। उसकी उत्तर प्रकृतिमें एक चक्षुदर्शनावरणीय है उसका क्षय होनेके बाद केवलज्ञान उत्पन्न होता है। अथवा जन्मांधता या अंधताका आवरण क्षय होनेसे केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

अचक्षुदर्शन आँखके सिवाय दूसरी इंद्रियों और मनसे होता है। उसका भी जब तक आवरण होता है तब तक केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इसलिये जैसे चक्षुके लिये है वैसे दूसरी इंद्रियोंके लिये भी मालूम होता है।

२१९. ज्ञान दो प्रकारसे बताया गया है। आत्मा इंद्रियोंकी सहायताके बिना स्वतंत्ररूपसे जाने-देखे वह आत्मप्रत्यक्ष है। आत्मा इंद्रियोंकी सहायतासे अर्थात् आँख, कान, जिह्वा आदिसे जाने-देखे वह इंद्रियप्रत्यक्ष है। व्याघात और आवरणके कारणसे इंद्रियप्रत्यक्ष न हो तो इससे आत्मप्रत्यक्षको बाध नहीं है। जब आत्माको प्रत्यक्ष होता है, तब इंद्रियप्रत्यक्ष स्वयमेव होता है अर्थात् इंद्रियप्रत्यक्षके आवरणके दूर होनेपर ही आत्मप्रत्यक्ष होता है।

---

२२०. आज तक आत्माका अस्तित्व भासित नहीं हुआ। आत्माके अस्तित्वका भास होनेसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है। अस्तित्व सम्यक्त्वका अंग है। अस्तित्व यदि एक बार भी भासित हो तो वह दृष्टिके सामने रहा करता है, और सामने रहनेसे आत्मा वहाँसे हट नहीं सकता। यदि आगे बढ़े तो भी पैर पीछे पड़ते हैं, अर्थात् प्रकृति जोर नहीं मारती। एक बार सम्यक्त्व आनेके बाद वह पड़े तो फिर ठिकानेपर आ जाता है। ऐसा होनेका मूल कारण अस्तित्वका भासना है।

यदि कदाचित् अस्तित्वकी बात कही जाती हो तो भी वह कथन मात्र है, क्योंकि सच्चा अस्तित्व भासित नहीं हुआ।

२२१. जिसने बड़का वृक्ष न देखा हो उसे यह कहा जाये कि इस राईके दाने जितने बड़के बीजमेंसे, लगभग एक मीलके विस्तारमें समाये इतना बड़ा वृक्ष हो सकता है तो यह बात उसके माननेमें नहीं आती और कहनेवालेको अन्यथा समझ लेता है। परंतु जिसने बड़का वृक्ष देखा है और जिसे इस बातका अनुभव है उसे बड़के बीजमें शाखा, मूल, पत्ते, फल, फूल आदि वाला बड़ा वृक्ष समाया हुआ है यह बात माननेमें आती है, प्रतीत होती है। पुद्गल रूपी पदार्थ है, मूर्तिमान है, उसके एक स्कंधके एक भागमें अनंत भाग हैं यह बात प्रत्यक्ष होनेसे मानी जाती है; परंतु उतने ही भागमें जीव अरूपी एवं अमूर्त्त होनेसे अधिक समा सकते हैं। परंतु वहाँ अनंतके बदले असंख्यात कहा जाये तो भी माननेमें नहीं आता, यह आश्चर्यकारक बात है।

इस प्रकार प्रतीत होनेके लिये अनेक नय–रास्ते बताये गये हैं, जिससे किसी तरह यदि प्रतीति हो गयी तो बड़के बीजकी प्रतीतिकी भाँति मोक्षके बीजकी सम्यक्त्वरूपसे प्रतीति होती है; मोक्ष है यह निश्चय हो जाता है, इसमें कुछ भी शक नहीं है।

---

२२२. धर्मसंबंधी (श्री रत्नकरंड श्रावकाचार)–

आत्माको स्वभावमें धारण करे वह धर्म है।

आत्माका स्वभाव धर्म है।

जो स्वभावमेंसे परभावमें नहीं जाने देता वह धर्म है।

परभाव द्वारा आत्माको दुर्गतिमें जाना पड़ता है। जो आत्माको दुर्गतिमें न जाने देकर स्वभावमें रखता है वह धर्म है।

सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और स्वरूपाचरण धर्म है। वहाँ बंधका अभाव है।

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र इस रत्नत्रयीको श्री तीर्थंकरदेव धर्म कहते हैं।

षड्द्रव्यका श्रद्धान, ज्ञान और स्वरूपाचरण धर्म है।

जो संसारपरिभ्रमणसे छुड़ाकर उत्तम सुखमें धारण करता है वह धर्म है।

आप्त अर्थात् सब पदार्थोंको जानकर उनके स्वरूपका सत्यार्थ प्रगट करनेवाला।

आगम अर्थात् आप्तकथित पदार्थकी शब्दद्वारा रचनारूप शास्त्र।

आप्तप्ररूपित शास्त्रानुसार आचरण करनेवाला, आप्तप्रदर्शित मार्गमें चलता है वह सद्गुरु है।

सम्यग्दर्शन अर्थात् सत्य आप्त, शास्त्र और गुरुका श्रद्धान।

सम्यग्दर्शन तीन मूढतासे रहित, निःशंक आदि आठ अंगसहित, आठ मद और छः अनायतनसे रहित है।

सात तत्त्व अथवा नव पदार्थके श्रद्धानको शास्त्रमें सम्यग्दर्शन कहा है। परंतु दोषरहित शास्त्रके उपदेशके बिना सात तत्त्वका श्रद्धान किस तरह होगा? निर्दोष आप्तके बिना सत्यार्थ आगम किस तरह प्रगट होगा? इसलिये सम्यग्दर्शनका मूल कारण सत्यार्थ आप्त ही है।

आप्तपुरुष क्षुधातृषा आदि अठारह दोषोंसे रहित होता है।

धर्मका मूल आप्त भगवान है।

आप्त भगवान निर्दोष सर्वज्ञ और हितोपदेशक है।

९५९

श्री

व्याख्यानसार—२

१* मोरबी, आषाढ़ सुदी ४, १९५६

१. ज्ञानके साथ वैराग्य और वैराग्यके साथ ज्ञान होता है। वे अकेले नहीं होते।

२. वैराग्यके साथ शृङ्गार नहीं होता, और शृंगारके साथ वैराग्य नहीं होता।

३. वीतराग वचनके असरसे जिसे इंद्रियसुख नीरस न लगे तो उसने ज्ञानीके वचन सुने ही नहीं, ऐसा समझें।

४. ज्ञानीके वचन विषयका वमन, विरेचन करानेवाले हैं।

५. छद्मस्थ अर्थात् आवरणयुक्त।

६. शैलेशीकरण=शैल=पर्वत+ईश=महान, अर्थात् पर्वतोंमें महान मेरुके समान अकंपगुणवाला।

७. अकंपगुणवाला=मन, वचन और कायाके योगकी स्थिरतावाला।

८. मोक्षमें आत्माके अनुभवका यदि नाश होता हो तो वह मोक्ष किस कामका ?

९. आत्माका ऊर्ध्वस्वभाव है, तदनुसार आत्मा पहले ऊँचे जाता है और कदाचित् सिद्ध शिलासे टकराये; परंतु कर्मरूपी बोझ होनेसे नीचे आता है। जैसे कि डूबा हुआ मनुष्य उछालसे एक बार ऊपर आ जाता है वैसे।

१०. भरतेश्वरकी कथा। (भरत चेत, काल झटका दे रहा है।)

११. सगर चक्रवर्तीकी कथा। (६०००० पुत्रोंकी मृत्युके श्रवणसे वैराग्य।

१२. नमिराजर्षिकी कथा। (मिथिला जलती हुई दिखायी इत्यादि।)

---

२ मोरबी, आषाढ़ सुदी ५, सोम, १९५६

१. जैन आत्माका स्वरूप है। उस स्वरूप (धर्म) के प्रवर्तक भी मनुष्य थे। जैसे कि वर्तमान अवसर्पिणीकालमें ऋषभ आदि पुरुष उस धर्मके प्रवर्तक थे। बुद्ध आदि पुरुषोंको भी उस उस धर्मके प्रवर्तक जानें। इससे कुछ अनादि आत्मधर्मका विचार न था ऐसा नहीं था।

---

* वि० सं० १९५६ के आषाढ़ और श्रावणमें श्रीमद्जी मोरबीमें ठहरे थे। उस अरसेमें उन्होंने समयसमयपर जो व्याख्यान दिये थे और मुमुक्षुओंके प्रश्नोंका समाधान किया था, उस सबका सार एक मुमुक्षु श्रोताने संक्षेपमें लिख लिया था। वही संक्षिप्त सार यहाँ दिया गया है।

२. लगभग दो हजार वर्ष पहले जैन यति शेखरसूरि आचार्यने वैश्योंको क्षत्रियोंके साथ मिलाया।

३. 'ओसवाल' 'ओरपाक' जातिके राजपूत हैं।

४. उत्कर्ष अपकर्ष और संक्रमण ये सत्तामें रही हुई कर्म-प्रकृतिके हो सकते हैं; उदयमें आई हुई प्रकृतिके नहीं हो सकते।

५. आयुकर्मका जिस प्रकारसे बंध होता है उस प्रकारसे देहस्थिति पूर्ण होती है।

६. अंधेरेमें नहीं देखना, यह एकांत दर्शनावरणीय कर्म नहीं कहा जाता, परंतु मंद दर्शनावरणीय कहा जाता है। तमके निमित्तसे और तेजके अभावके कारण वैसा होता है।

७. दर्शन रुकनेपर ज्ञान रुक जाता है।

८. ज्ञेय जाननेके लिये ज्ञानको बढ़ाना चाहिये। जैसा वजन वैसे बाट।

९. जैसे परमाणुकी शक्ति पर्यायको प्राप्त करनेसे बढ़ती जाती है, वैसे ही चैतन्यद्रव्यकी शक्ति विशुद्धताको प्राप्त करनेसे बढ़ती जाती है। काँच, चश्मा, दूरबीन आदि पहले (परमाणु) के प्रमाण हैं, और अवधि, मनःपर्याय, केवलज्ञान, लब्धि, ऋद्धि आदि दूसरे (चैतन्यद्रव्य) के प्रमाण हैं।

---

३ मोरबी, आषाढ़ सुदी ६, मंगल, १९५६

१. क्षयोपशमसम्यक्त्वको वेदकसम्यक्त्व भी कहा जाता है। परंतु क्षयोपशममेंसे क्षायिक होनेकी संधिके समयका जो सम्यक्त्व है वह वस्तुतः वेदकसम्यक्त्व है।

२. पाँच स्थावर एकेन्द्रिय बादर हैं, तथा सूक्ष्म भी हैं। निगोद बादर और सूक्ष्म है। वनस्पतिके सिवाय बाकीके चारमें असंख्यात सूक्ष्म कहे जाते हैं। निगोद सूक्ष्म अनंत हैं, और वनस्पतिके सूक्ष्म अनंत है; वहाँ निगोदमें सूक्ष्म वनस्पति होती है।

३. श्री तीर्थंकर ग्यारहवें गुणस्थानकका स्पर्श नहीं करते; इसी तरह वे पहले, दूसरे तथा तीसरेका भी स्पर्श नहीं करते।

४. वर्धमान, हीयमान और स्थित ऐसी जो परिणामकी तीन धाराएँ हैं, उनमें हीयमान परिणामकी धारा सम्यक्त्व-आश्रयी (दर्शन-आश्रयी) श्री तीर्थंकरदेवको नहीं होती; और चारित्रआश्रयी भजना।

५. जहाँ क्षायिकचारित्र है वहाँ मोहनीयका अभाव है; और जहाँ मोहनीयका अभाव है वहाँ पहला, दूसरा, तीसरा और ग्यारहवाँ इन चार गुणस्थानकोंकी स्पर्शनाका अभाव है।

६. उदय दो प्रकारका है—एक प्रदेशोदय और दूसरा विपाकोदय। विपाकोदय बाह्य (दीखती हुई) रीतिसे वेदन किया जाता है, और प्रदेशोदय भीतरसे वेदन किया जाता है।

७. आयुकर्मका बंध प्रकृतिके बिना नहीं होता, परंतु वेदनीयका होता है।

८. आयुप्रकृतिका वेदन एक ही भवमें किया जाता है। दूसरी प्रकृतियोंका वेदन उस भव और अन्य भवमें भी किया जाता है।

९. जीव जिस भवकी आयुप्रकृति भोगता है, वह सारे भवकी एक ही बंधप्रकृति है। उस बंधप्रकृतिका उदय आयुके आरंभसे गिना जाता है। इसलिये उस भवकी जो आयुप्रकृति उदयमें है उसमें संक्रमण, उत्कर्ष, अपकर्ष आदि नहीं हो सकते।

१०. आयुकर्मकी प्रकृति दूसरे भवमें नहीं भोगी जाती।

११. गति, जाति, स्थिति, संबंध, अवगाह (शरीरप्रमाण) और रस इन्हें अमुक जीव अमुक प्रमाणमें भोगे इसका आधार आयुकर्म पर है। जैसे कि एक मनुष्यको सौ वर्षकी आयुकर्म प्रकृतिका उदय हो, उसमेंसे वह अस्सीवें वर्षमें अधूरी आयुमें मर जाये तो बाकीके बीस वर्ष कहाँ और किस तरह भोगे जायें? दूसरे भवमें गति, जाति, स्थिति, संबंध आदि नये सिरेसे होते हैं, इक्यासीवें वर्षसे नहीं होते। इसलिये आयुकी उदयप्रकृति बीचमें नहीं टूट सकती। जिस जिस प्रकारसे बंध पड़ा हो उस उस प्रकारसे उदयमें आनेसे किसीकी दृष्टिमें कदाचित् आयुका टूटना आये, परंतु ऐसा नहीं हो सकता।

१२. जब तक आयुकर्मवर्गणा सत्तामें होती है तब तक संक्रमण, अपकर्ष, उत्कर्ष आदि करणका नियम लागू हो सकता है; परंतु उदयका आरंभ होनेके बाद लागू नहीं हो सकता।

१३. आयुकर्म पृथ्वीके समान है और दूसरे कर्म वृक्षके समान हैं। (यदि पृथ्वी हो तो वृक्ष होता है।)

१४. आयुके दो प्रकार हैं–(१) सोपक्रम और (२) निरुपक्रम। इनमेंसे जिस प्रकारकी आयु बाँधी हो उसी प्रकारकी आयु भोगी जाती है।

१५. उपशमसम्यक्त्व क्षयोपशम होकर क्षायिक होता है; क्योंकि उपशममें जो प्रकृतियाँ सत्तामें हैं वे उदयमें आकर क्षीण होती है।

१६. चक्षुके दो प्रकार हैं–(१) ज्ञानचक्षु और (२) चर्मचक्षु। जैसे चर्मचक्षुसे एक वस्तु जिस स्वरूपसे दिखायी देती हैं वह वस्तु दूरबीन तथा सूक्ष्मदर्शक आदि यंत्रोंसे भिन्न स्वरूपसे ही दिखायी देती है; वैसे चर्मचक्षुसे वह जिस स्वरूपसे दिखायी देती है, वह ज्ञानचक्षुसे किसी भिन्न स्वरूपसे ही दिखायी देती है और उसी तरह कही जाती है; उसे हम अपनी चतुराई, अहंत्वसे न मानें यह योग्य नहीं है।

---

४ मोरबी, आषाढ़ सुदी ७, बुध, १९५६

१. श्रीमान कुन्दकुन्दाचार्यने अष्टपाहुड (अष्टप्राभृत) रचा है। प्राभृतभेद—दर्शनप्राभृत, ज्ञान-प्राभृत, चारित्रप्राभृत, भावप्राभृत इत्यादि। दर्शनप्राभृतमें जिनभावका स्वरूप बताया है।

शास्त्रकर्ता कहते हैं कि अन्य भावोंका हमने, आपने और देवाधिदेव तकने पूर्वकालमें भावन किया है, और उससे कार्य सिद्ध नहीं हुआ; इसलिये जिनभावका भावन करनेकी जरूरत है। जो जिनभाव शांत है, आत्माका धर्म है और उसका भावन करनेसे ही मुक्ति होती है।

२. चारित्रप्राभृत।

३. द्रव्य और उसके पर्याय माननेमें नहीं आते; वहाँ विकल्प होनेसे उलझ जाना होता है। पर्यायोंको न माननेका कारण, उतने अंश तक नहीं पहुँचना है।

४. द्रव्यके पर्याय हैं ऐसा माना जाता है, वहाँ द्रव्यका स्वरूप समझनेमें विकल्प रहनेसे उलझ जाना होता है, और इसीसे भटकना होता है।

५. सिद्धपद द्रव्य नहीं है, परंतु आत्माका एक शुद्ध पर्याय है। उससे पहले मनुष्य अथवा देव था, तब वह पर्याय था, यों द्रव्य शाश्वत रहकर पर्यायांतर होता है।

६. शांतता प्राप्त होनेसे ज्ञान बढ़ता है।

७. आत्मसिद्धिके लिये द्वादशांगीका ज्ञान प्राप्त करते हुए बहुत समय चला जाता है; जब कि एक मात्र शांतताका सेवन करनेसे तुरत प्राप्त होता है।

८. पर्यायका स्वरूप समझानेके लिये श्री तीर्थंकरदेवने त्रिपद (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य) समझाया है।

९. द्रव्य ध्रुव सनातन है।

१०. पर्याय उत्पादव्ययुक्त है।

११. छहों दर्शन एक जैनदर्शनमें समाते हैं। उनमें भी जैन एक दर्शन है। बौद्ध–क्षणिकवादी= पर्यायरूपसे 'सत्' है। वेदांत–सनातन=द्रव्यरूपसे 'सत्' है। चार्वाक निरीश्वरवादी जब तक आत्माकी प्रतीति नहीं हुई तब तक उसे पहचाननेरूपसे 'सत्' है।

१२. जीवपर्यायके दो भेद हैं–संसारपर्याय और सिद्धपर्याय। सिद्धपर्याय शत प्रतिशत शुद्ध सुवर्णके समान है और संसारपर्याय खोटसहित सुवर्णके समान है।

१३. व्यंजनपर्याय।

१४. अर्थपर्याय।

१५. विषयका नाश (वेदका अभाव) क्षायिकचारित्रसे होता है। चौथे गुणस्थानकमें विषयकी मंदता होती है, और नौवें गुणस्थानक तक वेदका उदय होता है।

१६. जो गुण अपनेमें नहीं है, वह गुण अपनेमें है, ऐसा जो कहता है अथवा मनवाता है उसे मिथ्यादृष्टि समझे।

१७. जिन और जैन शब्दका अर्थ–

[1]"घट घट अंतर् जिन बसै, घट घट अंतर् जैन।
मत मदिराके पानसें, मतवारा समझै न॥" –समयसार

१८. सनातन आत्मधर्म है शांत होना, विराम पाना; सारी द्वादशांगीका सार भी यही है। वह षड्दर्शनमें समा जाता है, और वह षड्दर्शन जैनदर्शनमें समा जाता है।

१९. वीतरागके वचन विषयका विरेचन करानेवाले हैं।

२०. जैनधर्मका आशय, दिगम्बर तथा श्वेतांबर आचार्योंका आशय, और द्वादशांगीका आशय मात्र आत्माका सनातन धर्म प्राप्त कराना है, और यही साररूप है। इस बातमें किसी प्रकारसे ज्ञानियों विकल्प नहीं है। यही तीनों कालके ज्ञानियोंका कथन है, था और होगा, परंतु यह समझमें नहीं आता यही बड़ी समस्या है।

२१. बाह्य विषयोंसे मुक्त होकर ज्यों ज्यों उसका विचार किया जाये त्यों त्यों आत्मा अविरोधी होता जाता है; निर्मल होता है।

२२. भंगजालमें न पड़ें। मात्र आत्माकी शांतिका विचार करना योग्य है।

२३. ज्ञानी यद्यपि वणिककी तरह हिसाबी (सूक्ष्मरूपसे शोधन कर तत्त्वोंको स्वीकार करनेवाले) होते हैं, तो भी आखिर लोग जैसे लोग (एक सारभूत बातको पकड़ रखनेवाले) होते हैं। अर्थात् अंतमें चाहे जो हो परंतु एक शांततासे नहीं चूकते; और सारी द्वादशांगीका सार भी यही है।

२४. ज्ञानी उदयको जानते हैं, परंतु वे साता-असातामें परिणमित नहीं होते।

---

१. **भावार्थ**–प्रत्येक हृदयमें जिनराज और जैनधर्मका निवास है, परंतु संप्रदाय-मदिराके पानसे मतवाले लोग नहीं समझते।

२५. इंद्रियोंके भोगसहित मुक्ति नहीं है। जहाँ इंद्रियोंका भोग है वहाँ संसार है; और जहाँ संसार है वहाँ मोक्ष नहीं है।

२६. बारहवें गुणस्थानक तक ज्ञानीका आश्रय लेना है, ज्ञानीकी आज्ञासे वर्तन करना है।

२७. महान आचार्यों और ज्ञानियोंमें दोष तथा भूलें नहीं होती। अपनी समझमें न आनेसे हम भूल मानते हैं। हमारेमें ऐसा ज्ञान नहीं है कि जिससे अपनी समझमें आ जाये। इसलिये वैसा ज्ञान प्राप्त होनेपर जो ज्ञानीका आशय भूलवाला लगता है, वह समझमें आ जायेगा, ऐसी भावना रखें। परस्पर आचार्योंके विचारमें यदि किसी जगह कुछ भेद देखनेमें आये तो वह क्षयोपशमके कारण संभव है, परंतु वस्तुतः उसमें विकल्प करना योग्य नहीं है।

२८. ज्ञानी बहुत चतुर थे। वे विषयसुख भोगना जानते थे, उनकी पाँचों इन्द्रियाँ पूर्ण थी, (जिसकी पाँचों इंद्रियाँ पूर्ण होती है वही आचार्यपदवीके योग्य होता है।) फिर भी यह संसार (इंद्रियसुख) निःसार लगनेसे तथा आत्माके सनातन धर्ममें श्रेय मालूम होनेसे वे विषयसुखसे विरत होकर आत्माके सनातन धर्ममें संलग्न हुए हैं।

२९. अनंतकालसे जीव भटकता है, फिर भी उसका मोक्ष नहीं हुआ। जब कि ज्ञानीने एक अंतर्मुहूर्तमें मोक्ष बताया है।

३०. जीव ज्ञानीकी आज्ञाके अनुसार शांतिमें रहे तो अंतर्मुहूर्तमें मुक्त होता है।

३१. अमुक वस्तुओंका व्यवच्छेद हो गया है, ऐसा कहा जाता है; परंतु उनके लिये पुरुषार्थ नहीं किया जाता, इसलिये उनके व्यवच्छेदकी बात कही जाती है। यदि उनके लिये सच्चा-जैसा चाहिये वैसा–पुरुषार्थ हो तो वे गुण प्रगट होते हैं इसमें संशय नहीं है। अंग्रेजोंने उद्यम किया तो हुनर और राज्य प्राप्त किये; और हिन्दुस्तानियोंने उद्यम नहीं किया तो प्राप्त नहीं कर सके, इसलिये विद्या (ज्ञान)का व्यवच्छेद हुआ ऐसा नहीं कहा जा सकता।

३२. विषय क्षीण नहीं हुए, फिर भी जो जीव अपनेमें वर्तमानमें गुण मान बैठे हैं, उन जीवों जैसी भ्रांति न करते हुए उन विषयोंका क्षय करनेकी ओर ध्यान दें।

---

५ मोरबी, आषाढ़ सुदी ८, गुरु, १९५६

१. धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंमें मोक्ष प्रथम तीनसे बढ़कर है, मोक्षके लिये बाकी तीन हैं।

२. सुखरूप आत्माका धर्म है, ऐसा प्रतीत होता है। वह सोनेकी तरह शुद्ध है।

३. कर्मसे सुखदुःख सहन करते हुए भी परिग्रहके उपार्जन तथा उसके रक्षणके लिये सब प्रयत्न करते हैं। सब सुखको चाहते हैं, परंतु वे परतंत्र हैं। परतंत्रता प्रशंसापात्र नहीं है, वह दुर्गतिका हेतु है। अतः सच्चे सुखके इच्छुकके लिये मोक्षमार्गका वर्णन किया गया है।

४. वह मार्ग (मोक्ष) रत्नत्रयकी आराधनासे सब कर्मोंका क्षय होनेसे प्राप्त होता है।

५. ज्ञानी द्वारा निरूपित तत्त्वोंका यथार्थ बोध होना 'सम्यग्ज्ञान' है।

६. जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा; बंध और मोक्ष ये तत्त्व हैं। यहाँ पुण्य पाप आस्रवमें गिने हैं।

७. जीवके दो भेद–सिद्ध और संसारी।

सिद्ध : अनंत ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख ये सिद्धके स्वभाव समान हैं फिर भी अनंतर परंपरा होनेरूप पंद्रह भेद इस प्रकार कहे हैं–(१) तीर्थ, (२) अतीर्थ, (३) तीर्थंकर, (४) अतीर्थंकर, (५) स्वयंबुद्ध, (६) प्रत्येक बुद्ध, (७) बुद्धबोधित, (८) स्त्रीलिंग, (९) पुरुषलिंग, (१०) नपुंसकलिंग, (११) अन्यलिंग, (१२) जैनलिंग, (१३) गृहस्थलिंग, (१४) एक, (१५) अनेक।

संसारी : संसारी जीव एक प्रकारसे, दो प्रकारसे इत्यादि अनेक प्रकारसे कहे हैं।

एक प्रकार : सामान्यरूपसे 'उपयोग' लक्षणवाले सर्व संसारी जीव हैं।

दो प्रकार : त्रस, स्थावर अथवा व्यवहारराशि, अव्यवहारराशि। सूक्ष्म निगोदमेंसे निकलकर एक बार त्रसपर्यायको प्राप्त किया है, वह 'व्यवहारराशि'।

फिर वह सूक्ष्म निगोदमें जाये तो भी वह 'व्यवहारराशि'। अनादिकालसे सूक्ष्म निगोदमेंसे निकल कर कभी त्रसपर्यायको प्राप्त नहीं किया है वह 'अव्यवहारराशि'।

तीन प्रकार : संयत, असंयत और संयतासंयत अथवा स्त्री, पुरुष और नपुसंक।

चार प्रकार : गतिकी अपेक्षासे।

पाँच प्रकार : इंद्रियकी अपेक्षासे।

छः प्रकार : पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, वनस्पति और त्रस।

सात प्रकार : कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म, शुक्ल और अलेशी। (चौदहवें गुणस्थानकवाले जीव लेना परंतु सिद्ध न लेना, क्योंकि संसारी जीवकी व्याख्या है।

आठ प्रकार : अंडज, पोतज, जरायुज, स्वेदज, रसज, संमूर्च्छन, उद्भिज और उपपाद।

नौ प्रकार : पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

दस प्रकार : पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, संज्ञी और असंज्ञी पंचेन्द्रिय।

ग्यारह प्रकार : सूक्ष्म, बादर, तीन विकलेन्द्रिय, और पंचेन्द्रियमें जलचर, स्थलचर, नभश्चर, मनुष्य, देवता और नारक।

बारह प्रकार : छकायके पर्याप्त और अपर्याप्त।

तेरह प्रकार : उपर्युक्त बारह भेद संव्यवहारिक तथा एक असंव्यवहारिक (सूक्ष्म निगोदका)।

चौदह प्रकार : गुणस्थानक-आश्रयी, अथवा सूक्ष्म, बादर, तीन विकलेन्द्रिय, तथा संज्ञी, असंज्ञी इन सातके पर्याप्त और अपर्याप्त।

इस तरह बुद्धिमान पुरुषोंने सिद्धांतके अनुसार जीवके अनेक भेद (विद्यमान भावोंके भेद) कहे हैं।

---

६ मोरबी, आषाढ़ सुदी ९, शुक्र, १९५६

१. 'जातिस्मरणज्ञान'के विषयमें जो शंका रहती है, उसका समाधान इस प्रकारसे होगा–जैसे बाल्यावस्थामें जो कुछ देखा हो अथवा अनुभव किया हो उसका स्मरण वृद्धावस्थामें किसी-किसीको होता है और किसी-किसीको नहीं होता, वैसे ही पूर्वभवका भान किसी-किसीको रहता है और किसी-किसीको नहीं रहता। न रहनेका कारण यह है कि पूर्वदेहको छोड़ते समय बाह्य पदार्थोंमें जीव आसक्त रह कर मरण करता है और नयी देह प्राप्त कर उसीमें आसक्त रहता है, उसे पूर्वपर्यायका भान नहीं रहता। इससे उलटी रीतसे प्रवृत्ति करनेवालेको अर्थात् जिसने अवकाश रखा हो उसे पूर्वभव अनुभवमें आता है।

२. एक सुंदर वनमें आपके आत्मामें क्या निर्मलता है, जिसे जाँचते हुए आपको अधिकसे अधिक स्मृति होती है या नहीं? आपकी शक्ति भी हमारी शक्तिकी तरह स्फुरायमान क्यों नहीं होती? उसके कारण विद्यमान हैं। प्रकृतिबंधमें उसके कारण बताये हैं। 'जातिस्मरणज्ञान' मतिज्ञानका भेद है।

एक मनुष्य बीस वर्षका और दूसरा मनुष्य सौ वर्षका होकर मर जाये, उन दोनोंने पाँच वर्षकी उमरमें जो देखा या अनुभव किया हो वह यदि अमुक वर्ष तक स्मृतिमें रह सकता हो तो बीस वर्षमें मर जाये उसे इक्कीसवें वर्षमें फिरसे जन्म लेनेके बाद स्मृति होनी चाहिये परंतु वैसा होता नहीं है। कारण कि पूर्वपर्यायमें उसके स्मृतिके साधन पर्याप्त न होनेसे, पूर्वपर्यायको छोड़ते समय मृत्यु आदि वेदनाके कारण, नयी देह धारण करते समय गर्भावासके कारण, बचपनमें मूढ़ताके कारण और वर्तमान देहमें अति लीनताके कारण पूर्वपर्यायकी स्मृति करनेका अवकाश ही नहीं मिलता; तथापि जिस तरह गर्भावास तथा बचपन स्मृतिमें न रहे, इससे वे नहीं थे ऐसा नहीं कह सकते; उसी तरह उपर्युक्त कारणोंसे पूर्वपर्याय स्मृतिमें न रहे, इससे वे नहीं थे ऐसा नहीं कहा जा सकता। जिस तरह आम आदि वृक्षोंकी कलम की जाती है, उसमें सानुकूलता हो तो होती है, उसी तरह यदि पूर्वपर्यायकी स्मृति करनेके लिये क्षयोपशमादि सानुकूलता (योग्यता) हो तो 'जातिस्मरणज्ञान' होता है। पूर्वसंज्ञा कायम होनी चाहिये। असंज्ञीका भव आनेसे 'जातिस्मरणज्ञान' नहीं होता।

कदाचित् स्मृतिका काल थोड़ा कहें तो सौ वर्षका होकर मर जानेवाले व्यक्तिने पाँच वर्षकी उमरमें जो देखा अथवा अनुभव किया हो वह पंचानवें वर्षमें स्मृतिमें नहीं रहना चाहिये, परंतु यदि पूर्वसंज्ञा कायम हो तो स्मृतिमें रहता है।

३. आत्मा है। आत्मा नित्य है। उसके प्रमाण–

(१) बालकको स्तनपान करते हुए चुक-चुक करना क्या कोई सिखाता है? वह तो पूर्वाभ्यास है। (२) सर्प और मोरका, हाथी और सिंहका, चूहे और बिल्लीका स्वाभाविक वैर है। उसे कोई नहीं सिखाता। पूर्वभवके वैरकी स्वाभाविक संज्ञा है, पूर्वज्ञान है।

४. निःसंगता वनवासीका विषय है ऐसा ज्ञानियोंने कहा है, वह सत्य है। जिसमें दो व्यवहार-सांसारिक और असांसारिक–होते हैं, उससे निःसंगता नहीं होती।

५. संसार छोड़े बिना अप्रमत्तगुणस्थानक नहीं है। अप्रमत्त गुणस्थानककी स्थिति अंतर्मुहूर्तकी है।

६. 'हम समझ गये हैं', 'हम शांत हैं', ऐसा जो कहते हैं वे तो ठगे गये हैं।

७. संसारमें रहकर सातवें गुणस्थानकसे आगे नहीं बढ़ सकते, इससे संसारीको निराश नहीं होना है, परंतु उसे ध्यानमें रखना है।

८. पूर्वकालमें स्मृतिमें आयी हुई वस्तुको फिर शांतिसे याद करे तो यथास्थित याद आ जाती है। अपना दृष्टांत देते हुए बताया कि उन्हें ईडर और वसोके शांत स्थान याद करनेसे तद्रूप याद आ जाते हैं। तथा खंभातके पास वडवा गाँवमें ठहरे थे, वहाँ बावडीके पीछे थोड़े ऊँचे टीलेके पास बाडके आगे जाकर रास्ता, फिर शांत और शीतल अवकाशका स्थान था। उन स्थानोंमें स्वयं शांत समाधिस्थ दशामें बैठे थे, वह स्थिति आज उन्हें पाँच सौ बार स्मृतिमें आयी है। दूसरे भी उस समय वहाँ थे। परंतु सभीको उस प्रकारसे याद नहीं आता। क्योंकि वह क्षयोपशमके अधीन है। स्थल भी निमित्त कारण है।

९. *ग्रंथिके दो भेद हैं–एक द्रव्य, बाह्य ग्रंथि (चतुष्पद, द्विपद, अपद इत्यादि); दूसरी भाव,

* धर्मसंग्रहणी ग्रंथ गाथा १०७०, १०७१, १०७४, १०७५।

अभ्यंतर ग्रंथि (आठ कर्म इत्यादि)। सम्यक् प्रकारसे जो दोनों ग्रंथियोंसे निवृत्त हो वह 'निर्ग्रंथ' है।

१०. मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति आदि भाव जिसे छोड़ने ही नहीं है उसे वस्त्रका त्याग हो, तो भी वह पारलौकिक कल्याण क्या कर सकता है?

११. सक्रिय जीवको अबंधका अनुष्ठान हो ऐसा कभी नहीं होता। क्रिया होनेपर भी अबंध गुणस्थानक नहीं होता।

१२. राग आदि दोषोंका क्षय हो जानेसे उनके सहायक कारणोंका क्षय होता है। जब तक संपूर्णरूपसे उनका क्षय नहीं होता तब तक मुमुक्षुजीव संतोष मानकर नहीं बैठते।

१३. राग आदि दोष और उनके सहायक कारणोंके अभावमें बंध नहीं होता। राग आदिके प्रयोगसे कर्म होता है। उनके अभावमें सब जगह कर्मका अभाव समझें।

१४. आयुकर्मसंबंधी—(कर्मग्रंथ)

(अ) अपवर्तन=जो विशेष कालका हो वह कर्म थोड़े कालमें वेदा जा सकता है। उसका कारण पूर्वका वैसा बंध है, जिससे वह इस प्रकारसे उदयमें आता है और भोगा जाता है।

(आ) 'टूट गया' शब्दका अर्थ बहुतसे लोग 'दो भाग हुए' ऐसा करते हैं; परंतु वैसा अर्थ नहीं है। जिस तरह 'कर्जा टूट गया' शब्दका अर्थ 'कर्जा उतर गया, कर्जा दे दिया' ऐसा होता है, उसी तरह 'आयु टूट गयी' शब्दका आशय समझें।

(इ) सोपक्रम=शिथिल, जिसे एकदम भोग लिया जाये।

(ई) निरुपक्रम=निकाचित। देव, नारक, युगलिया, त्रिषष्टि शलाकापुरुष और चरमशरीरीको वह होता है।

(उ) प्रदेशोदय=प्रदेशको आगे लाकर वेदन करना वह 'प्रदेशोदय'। प्रदेशोदयसे ज्ञानी कर्मका क्षय अंतर्मुहूर्तमें करते हैं।

(ऊ) 'अनपवर्तन' और 'अनुदीरणा' इन दोनोंका अर्थ मिलता-जुलता है, तथापि अंतर यह है कि 'उदीरणा'में आत्माकी शक्ति है, और 'अनपवर्तन'में कर्मकी शक्ति है।

(ए) आयु घटती है, अर्थात् थोड़े कालमें भोगी जाती है।

१५. असाताके उदयमें ज्ञानकी कसौटी होती है।

१६. परिणामकी धारा थरमामीटरके समान है।

७

मोरबी, आषाढ़ सुदी १०, शनि, १९५६

१. मोक्षमालामेंसे—

असमंजसता=अमिलनता, अस्पष्टता।

विषम=जैसे तैसे।

आर्य=उत्तम। 'आर्य' शब्द श्री जिनेश्वर, मुमुक्षु, तथा आर्यदेशके रहनेवालेके लिये प्रयुक्त होता है।

निक्षेप=प्रकार, भेद, भाग।

भयत्राण=भयसे तारनेवाला, शरण देनेवाला।

२. हेमचंद्राचार्य धंधुकाके मोढ़ वणिक थे। उन महात्माने कुमारपाल राजासे अपने कुटुंबके लिये

एक क्षेत्र भी नहीं माँगा था, तथा स्वयं भी राजाके अन्नका एक ग्रास भी नहीं लिया था ऐसा श्री कुमारपालने उन महात्माके अग्निदाहके समय कहा था। उनके गुरु देवचंद्रसूरि थे।

---

८ मोरबी, आषाढ़ सुदी ११, रवि, १९५६

१. सरस्वती=जिनवाणीकी धारा।

२. (१) बाँधनेवाला, (२) बाँधनेके हेतु, (३) बंधन और (४) बंधनके फलसे सारे संसारका प्रपंच रहता है ऐसा श्री जिनेन्द्रने कहा है।

---

९ मोरबी, आषाढ़ सुदी १२, सोम, १९५६

१. श्री यशोविजयजीने 'योगदृष्टि' ग्रंथमें छठी 'कांतादृष्टि'में बताया है कि वीतरागस्वरूपके सिवाय अन्यत्र कहीं भी स्थिरता नहीं हो सकती; वीतरागसुखके सिवाय अन्य सुख निःसत्व लगता है, आडंबररूप लगता है। पाँचवीं 'स्थिरादृष्टि' में बताया है कि वीतरागसुख प्रियकारी लगता है। आठवीं 'परादृष्टि' में बताया है कि 'परमावगाढ़ सम्यक्त्व' का संभव है, जहाँ केवलज्ञान होता है।

२. 'पातंजलयोग'के कर्ताको सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुआ था; परंतु हरिभद्रसूरिने उन्हें मार्गानुसारी माना है।

३. हरिभद्रसूरिने उन दृष्टियोंका अध्यात्मरूपसे संस्कृतमें वर्णन किया है, और उसपरसे यशोविजयजी महाराजने पद्यरूपसे गुजरातीमें लिखा है।

४. 'योगदृष्टि'में छहों भाव–औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, पारिणामिक, और सान्निपातिक–का समावेश होता है। ये छः भाव जीवके स्वतत्त्वभूत हैं।

५. जब तक यथार्थ ज्ञान नहीं होता तब तक मौन रहना ठीक है। नहीं तो अनाचार दोष लगता है। इस विषयमें 'उत्तराध्ययनसूत्र' में 'अनाचार' नामक अधिकार है। (अध्ययन छठा)

६. ज्ञानीके सिद्धांतमें अंतर नहीं हो सकता।

७. सूत्र आत्माका स्वधर्म प्राप्त करनेके लिये बनाये गये हैं; परंतु उनका रहस्य, यथार्थ समझमें नहीं आता, इससे अंतर लगता है।

८. दिगम्बरके तीव्र वचनोंके कारण कुछ रहस्य समझा जा सकता है। श्वेताम्बरकी शिथिलताके कारण रस ठंडा होता गया।

९. 'शाल्मलि वृक्ष' नरकमें नित्य असातारूपसे है। वह वृक्ष शमी वृक्षसे मिलता-जुलता होता है भावसे संसारी आत्मा उस वृक्षरूप है। आत्मा परमार्थसे, उस अध्यवसायको छोड़नेसे, नंदनवनके समान होता है।

१०. जिनमुद्रा दो प्रकारकी है–कायोत्सर्ग और पद्मासन। प्रमाद दूर करनेके लिये दूसरे अनेक आसन किये हैं। परंतु मुख्यतः ये दो आसन हैं।

११. [1]प्रशमरसनिमग्नं दृष्टियुग्मं प्रसन्नं, वदनकमलमंकः कामिनीसंगशून्यः।
करयुगमपि यत्ते शस्त्रसंबंधवंध्यं, तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव॥

१२. चैतन्यका लक्ष्य करनेवालेकी बलिहारी है!

१३. तीर्थ=तरनेका मार्ग।

---

१. अर्थके लिये देखें उपदेश नोंध २२।

१४. अरनाथ प्रभुकी स्तुति महात्मा आनंदघनजीने की है। श्री आनंदघनजीका दूसरा नाम 'लाभानंदजी' था। वे तपगच्छमें हुए हैं।

१५. वर्तमानमें लोगोंका ज्ञान और शांतिके साथ संबंध नहीं रहा; मताचार्यने मार ड़ाला है।

१६. [1]"आशय आनंदघन तणो, अति गंभीर उदार।
बालक बांय पसारीने, कहे उदधि विस्तार॥"

१७. ईश्वरत्व तीन प्रकारसे जाना जाता है–(१) जड़ जड़ात्मकतासे रहता है। (२) चैतन्यसंसारी जीव विभावात्मकतासे रहते हैं। (३) सिद्ध–शुद्ध चैतन्यात्मकतासे रहते हैं।

१०

मोरबी, आषाढ़ सुदी १३, मंगल, १९५६

१. 'भगवती आराधना' जैसी पुस्तकें मध्यम एवं उत्कृष्ट भावके महात्माओंके तथा मुनियोंके ही योग्य हैं। ऐसे ग्रंथ उससे कम पदवी, योग्यतावाले साधु तथा श्रावकको देनेसे वे कृतघ्नी होते हैं, उन्हें उनसे उलटी हानि होती है। सच्चे मुमुक्षुओंको ही ये लाभकारी हैं।

२. मोक्षमार्ग अगम्य तथा सरल है।

अगम्य–मात्र विभावदशाके कारण मतभेद पड़ जानेसे किसी भी जगह मोक्षमार्ग समझमें आ सके ऐसा नहीं रहा, और इस कारण वर्तमानमें वह अगम्य है। मनुष्यके मर जानेके बाद अज्ञानसे नाडी पकड़कर इलाज करनेके फलके समान मतभेद पड़नेका फल हुआ है, और इससे मोक्षमार्ग समझमें नहीं आता।

सरल–मतभेदकी माथापच्ची दूर कर, आत्मा और पुद्गलका भेद करके शांतिसे आत्माका अनुभव किया जाये तो मोक्षमार्ग सरल है; और दूर नहीं है। जैसे कि एक ग्रंथको पढ़नेमें कितना ही समय जाता है और उसे समझनेमें अधिक समय जाना चाहिये; वैसे अनेक शास्त्र हैं, उन्हें एक एक करके पढ़नेके बाद उनका निर्णय करनेके लिये बैठा जाये, तो उस हिसाबसे पूर्व आदिका ज्ञान और केवलज्ञान किसी भी उपायसे प्राप्त नहीं हो सकता अर्थात् इस तरह पढ़नेमें आते हों तो कभी पार नहीं आ सकता; परंतु उसकी संकलना है, और उसे श्री गुरुदेव बताते हैं कि महात्मा उसे अंतर्मुहूर्तमें प्राप्त करते हैं।

३. इस जीवने नवपूर्व तक ज्ञान प्राप्त किया तो भी कुछ सिद्धि नहीं हुई, उसका कारण विमुखदशासे परिणमन होना है। यदि सन्मुखदशासे परिणमन हो तो तत्क्षण मुक्त हो जाता है।

४. परमशांत रसमय 'भगवती आराधना' जैसे एक ही शास्त्रका अच्छी तरह परिणमन हुआ हो तो बस है। क्योंकि इस आरे-कालमें वह सहज है, सरल है।

५. इस आरे-कालमें संहनन अच्छे नहीं है, आयु कम है, दुर्भिक्ष और महामारी जैसे संयोग वारंवार आते हैं, इसलिये आयुकी कोई निश्चयपूर्वक स्थिति नहीं है, इसलिये यथासंभव आत्महितकी बात तुरत ही करे। उसे स्थगित कर देनेसे जीव धोखा खा बैठता है। ऐसे अल्प समयमें तो नितांत सम्यक्-मार्ग जो परमशांत होनेरूप है, उसे ग्रहण करे। उसीसे उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक भाव होते हैं।

६. काम आदि कभी ही हमसे हार मानते हैं, नहीं तो कई बार हमें थप्पड़ मार देते हैं। इसलिये भरसक यथासंभव जल्दी ही उन्हें छोड़नेके लिये अप्रमादी बनें। जैसे शीघ्र हुआ जाये वैसे होना। शूरवीरतासे वैसा तुरत हुआ जा सकता है।

---

१. **भावार्थ**–योगीवर श्री आनंदघनजीका आशय अति गंभीर और उदार है, उसे पूरी तरहसे समझना असंभवसा है; जैसे कि बालक बाहु फैलाकर सागरके विस्तारका मात्र संकेत करता है।

७. वर्तमानमें दृष्टिरागानुसारी मनुष्य विशेषरूपसे हैं।

८. यदि सच्चे वैद्यकी प्राप्ति हो जाये तो देहका विधर्म सहज ही औषधि द्वारा विधर्ममेंसे निकलकर स्वधर्म पकड़ लेता है। इसी तरह यदि सच्चे गुरुकी प्राप्ति हो जाये तो आत्माकी शांति बहुत ही सुगमतासे और सहजमें हो जाती है। इसलिये वैसी क्रिया करनेमें स्वयं तत्पर अर्थात् अप्रमादी होवें। प्रमादसे उलटे कायर न होवें।

९. सामायिक=संयम।

१०. प्रतिक्रमण=आत्माकी क्षमापना, आराधना।

११. पूजा=भक्ति।

१२. जिनपूजा, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि किस अनुक्रमसे करना, यह कहते हुए एकके बाद एक प्रश्न उठता है, और उसका किसी तरह अंत आनेवाला नहीं है। परंतु यदि ज्ञानीकी आज्ञासे यह जीव चाहे जैसे (ज्ञानीके कहे अनुसार) चले तो भी वह मोक्षमार्गमें है।

१३. हमारी आज्ञासे चलनेपर यदि पाप लगे तो उसे हम अपने सिरपर ले लेते हैं; क्योंकि जैसे कि रास्तेमें काँटे पड़े हों तो, वे किसीको लगेंगे, ऐसा जानकर मार्गमें चलता हुआ कोई व्यक्ति उन्हें वहाँसे उठाकर, किसी ऐसी एकांत जगहमें रख दे कि जहाँ वे किसीको न लगें, तो उसने कुछ राज्यका अपराध किया है ऐसा नहीं कहा जायेगा और राजा उसे दंड नहीं देगा; उसी तरह मोक्षका शांतमार्ग बतानेसे पाप किस तरह लग सकता है?

१४. ज्ञानीकी आज्ञासे चलने पर ज्ञानी गुरुने योग्यतानुसार क्रियासंबंधी किसीको कुछ बताया हो और किसीको कुछ बताया हो, तो इससे मोक्ष (शांति) का मार्ग रुकता नहीं है।

१५. यथार्थ स्वरूप समझे बिना अथवा जो स्वयं कहता है वह परमार्थसे यथार्थ है या नहीं, यह जाने बिना, समझे बिना जो वक्ता होता है वह अनंत संसार बढ़ाता है। इसलिये जब तक यह समझनेकी शक्ति न हो तब तक मौन रहना अच्छा है।

१६. वक्ता होकर एक भी जीवको यथार्थ-मार्ग प्राप्त करानेसे तीर्थंकरगोत्र बँधता है और उससे उलटा करनेसे महामोहनीयकर्म बँधता है।

१७. यद्यपि हम आप सबको अभी ही मार्गपर चढ़ा दें, परंतु बरतनके अनुसार वस्तु रखी जाती है। नहीं तो जिस तरह हलके बरतनमें भारी वस्तु रख देनेसे बरतनका नाश हो जाता है, उसी तरह यहाँ भी हो जाता है। क्षयोपशमके अनुसार समझा जा सकता है।

१८. आपको किसी तरह डरने जैसा नहीं है, क्योंकि आपके सिरपर हमारे जैसे हैं, तो अब मोक्ष आपके पुरुषार्थके अधीन है। यदि आप पुरुषार्थ करेंगे तो मोक्ष होना दूर नहीं। जिन्होंने मोक्ष प्राप्त किया वे सब महात्मा पहले हम जैसे मनुष्य थे; और केवलज्ञान प्राप्त करनेके बाद भी (सिद्ध होनेसे पहले) देह तो वहीकी वही रहती है; तो फिर अब उस देहमेंसे उन महात्माओंने क्या निकाल डाला, यह समझ कर हमें भी उसे निकाल डालना है। इसमें डर किसका? वादविवाद या मतभेद किसका? मात्र शांतिसे वही उपासनीय है।

---

११ मोरबी, आषाढ़ सुदी १४, बुध, १९५६

१. पहलेसे आयुधको बाँधना और उसका उपयोग करना सीखा हों तो लड़ाईके समय वह काम

आता है; उसी तरह पहलेसे वैराग्यदशा प्राप्त की हो तो अवसर आनेपर काम आती है; आराधना हो सकती है।

२. यशोविजयजीने ग्रंथ रचते हुए इतना उपयोग रखा था कि वे प्रायः किसी जगह भी चूके न थे। तो भी छद्मस्थ अवस्थाके कारण डेढ़ सौ गाथाके स्तवनमें सातवें ठाणांगसूत्रकी साख दी है वह मिलती नहीं है। वह श्री भगवतीसूत्रके पाँचवें शतकके उद्देशमें मालूम होती है। इस जगह अर्थकर्ताने 'रासभवृत्ति'का अर्थ पशुतुल्य किया है; परंतु उसका अर्थ ऐसा नहीं है। 'रासभवृत्ति' अर्थात् गधेको अच्छी शिक्षा दी हो तो भी जातिस्वभावके कारण धूल देखकर उसका मन लोटनेका हो जाता है; उसी तरह वर्तमानकालमें बोलते हुए भविष्यकालमें कहनेकी बात बोल दी जाती है।

३. 'भगवती आराधना'में लेश्याके अधिकारमें प्रत्येककी स्थिति आदि अच्छी तरह बतायी है।

४. परिणाम तीन प्रकारके हैं—हीयमान, वर्धमान और समवस्थित। पहले दो छद्मस्थको होते हैं, और अंतिम समवस्थित (अचल अकंप शैलेशीकरण) केवलज्ञानीको होता है।

५. तेरहवें गुणस्थानकमें लेश्या तथा योगकी चलाचलता है, तो फिर वहाँ समवस्थित परिणाम किस तरह हो सकते हैं ? उसका आशय यह है कि सक्रिय जीवको अबंध अनुष्ठान नहीं होता। तेरहवें गुणस्थानकमें केवलीको भी योगके कारण सक्रियता है, और उससे बंध है; परंतु वह बंध अबंधबंध गिना जाता है। चौदहवें गुणस्थानकमें आत्माके प्रदेश अचल होते हैं। उदाहरणरूपमें, जिस तरह पिंजरेका सिंह जालीको नहीं छूता, और स्थिर होकर बैठा रहता है, तथा कोई क्रिया नहीं करता, उसी तरह यहाँ आत्माके प्रदेश अक्रिय रहते हैं। जहाँ प्रदेशकी अचलता है वहाँ अक्रियता मानी जाती है।

६. 'चलई सो बंधे', योगका चलायमान होना बंध है; योगका स्थिर होना अबंध है।

७. जब अबंध होता है तब मुक्त हुआ कहा जाता है।

८. उत्सर्ग अर्थात् ऐसे होना चाहिये अथवा सामान्य।

अपवाद अर्थात् ऐसा होना चाहिये परंतु वैसे न हो सके तो ऐसे। अपवादके लिये गली शब्दका प्रयोग करना बहुत ही हलका है। इसलिये उसका प्रयोग न करें।

९. उत्सर्गमार्ग अर्थात् यथाख्यातचारित्र, जो निरतिचार है। उत्सर्गमें तीन गुप्ति समाती है; अपवादमें पाँच समिति समाती है। उत्सर्ग अक्रिय है। अपवाद सक्रिय है। उत्सर्गमार्ग उत्तम है; और उससे निकृष्ट अपवाद है। चौदहवाँ गुणस्थानक उत्सर्ग है, उससे नीचेके गुणस्थानक एक दूसरेकी अपेक्षासे अपवाद हैं।

१०. मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगसे एकके बाद एक अनुक्रमसे बंध पड़ता है।

११. मिथ्यात्व अर्थात् यथार्थ समझमें न आना। मिथ्यात्वके कारण विरति नहीं होती, विरतिके अभावसे कषाय होता है, कषायसे योगकी चलायमानता होती है, योगकी चलायमानता 'आस्रव' है, और उससे उलटा 'संवर' है।

१२. दर्शनमें भूल होनेसे ज्ञानमें भूल होती है। जिस प्रकारके रससे ज्ञानमें भूल होती है उसी प्रकारसे आत्माका वीर्य स्फुरित होता है, और तदनुसार वह परमाणु ग्रहण करता है और वैसा ही बंध पड़ता है; और तदनुसार विपाक उदयमें आता है। दो उँगलियोंको परस्पर फँसानेसे अँकुडी पड़ती है, उस अँकुडीरूप उदय है और उनको मरोडनेरूप भूल है; उस भूलसे दुःख होता है अर्थात् बंध बाँधता है। परंतु मरोडनेरूप भूल दूर हो जानेसे अँकुडी सहजमें ही छूट जाती है। उसी तरह दर्शनकी भूल दूर हो जानेसे कर्मोदय सहजमें ही विपाक देकर झड़ जाता है और नया बंध नहीं होता।

१३. दर्शनमें भूल होती है, उसका उदाहरण–जैसे लड़का बापके ज्ञानमें और दूसरेके ज्ञानमें देहकी अपेक्षासे एक ही है, अन्य नहीं है, परंतु बाप उसे अपना लड़का करके मानता है वही भूल है। वही दर्शनमें भूल है और इससे यद्यपि ज्ञानमें भेद नहीं है फिर भी वह भूल करता है, और उससे उपर्युक्तके अनुसार बंध होता है।

१४. यदि उदयमें आनेसे पहले रसमें मंदता कर दी जाये तो आत्मप्रदेशसे कर्म झड़कर निर्जरा हो जाती है, अथवा मंद रससे कर्म उदयमें आते हैं।

१५. ज्ञानी नयी भूल नहीं करते, इसलिये वे अबंध हो सकते हैं।

१६. ज्ञानियोंने माना है कि यह देह अपनी नहीं है, यह रहनेवाली भी नहीं हैं, कभी न कभी उसका वियोग होनेवाला ही है। इस भेदविज्ञानके कारण ज्ञानी नगारेकी आवाजकी तरह उक्त तथ्यको सदा सुनते रहते हैं और अज्ञानीके कान बहरे होते हैं इसीलये वह उसे नहीं सुनता।

१७. ज्ञानी देहको नश्वर समझकर, उसका वियोग होनेपर खेद नहीं करते। परंतु जैसे किसीसे कोई चीज ली हो और उसे वापिस देनी पड़ती है उसी तरह ज्ञानी देहको उल्लासपूर्वक वापस दे देते हैं; अर्थात् देह-परिणामी नहीं होते।

१८. देह और आत्माका भेद करना 'भेदज्ञान' है। ज्ञानीका वह जाप है। उस जापसे वे देह और आत्माको अलग कर सकते हैं। वह भेदविज्ञान होनेके लिये महात्माओंने सब शास्त्र रचे हैं। जैसे तेजाबसे सोना और रांगा अलग हो जाते हैं, वैसे ज्ञानीके भेदविज्ञानके जापरूप तेजाबसे स्वाभाविक आत्मद्रव्य अगुरुलघु स्वभाववाला होकर प्रयोगी द्रव्यसे पृथक् होकर स्वधर्ममें आ जाता है।

१९. दूसरे उदयमें आये हुए कर्मोंका आत्मा चाहे जिस तरहसे समाधान कर सकता है, परंतु वेदनीयकर्ममें वैसा नहीं हो सकता; और उसका आत्मप्रदेशोंसे वेदन करना ही चाहिये; और उसका वेदन करते हुए कठिनाईका पूर्ण अनुभव होता है। वहाँ यदि भेदज्ञान संपूर्ण प्रगट न हुआ हो तो आत्मा देहाकारसे परिणमन करता है, अर्थात् देहको अपनी मानकर वेदन करता है, जिससे आत्माकी शांतिका भंग होता है। ऐसे प्रसंगमें जिन्हें संपूर्ण भेदज्ञान हुआ है ऐसे ज्ञानियोंको असातावेदनीयका वेदन करते हुए निर्जरा होती है, और वहाँ ज्ञानीकी कसौटी होती है। अर्थात् अन्य दर्शनवाले वहाँ उस तरह नहीं टिक सकते, और ज्ञानी इस तरह मानकर टिक सकते हैं।

२०. पुद्गलद्रव्यकी सँभाल रखी जाये तो भी वह कभी न कभी नष्ट हो जानेवाला है; और जो अपना नहीं है, वह अपना होनेवाला नहीं है; इसलिये लाचार होकर दीन बनना किस कामका ?

२१. 'जोगा पयडिपदेसा'=योगसे प्रकृति और प्रदेश बंध होता है।

२२. स्थिति तथा अनुभाग कषायसे बँधते हैं।

२३. आठविध, सातविध, छविध और एकविध इस प्रकार बंध बँधा जाता है।

---

१२ मोरबी, आषाढ़ सुदी १५, गुरु, १९५६

१. ज्ञानदर्शनका फल यथाख्यातचारित्र, और उसका फल निर्वाण; उसका फल अव्याबाध सुख है।

---

१३ मोरबी, आषाढ़ वदी १, शुक्र, १९५६

१. 'देवागमस्तोत्र' महात्मा समंतभद्राचार्यने (जिसके नामका शब्दार्थ यह होता है कि 'जिसे

कल्याण मान्य है') बनाया है, और उसपर दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्योंने टीका लिखी है। ये महात्मा दिगम्बराचार्य थे, फिर भी उनका बनाया हुआ उक्त स्तोत्र श्वेताम्बर आचार्योंको भी मान्य है। उस स्तोत्रमें प्रथम श्लोक निम्नलिखित है—

'देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः
मायाविष्वपि दृश्यंते, नातस्त्वमसि नो महान् ॥'

इस श्लोकका भावार्थ यह है कि देवागम (देवताओंका आना होता हो), आकाशगमन (आकाशमें गमन हो सकता हो), चामरादि विभूति (चामर आदि विभूति हो—समवसरण होता हो इत्यादि,) ये सब तो मायावियोंमें भी देखे जाते हैं (मायासे अर्थात् युक्तिसे भी हो सकते हैं), इसलिये उतनेसे ही आप हमारे महत्तम नहीं है। (उतने मात्रसे कुछ तीर्थंकर अथवा जिनेंद्रदेवका अस्तित्व माना नहीं जा सकता। ऐसी विभूति आदिसे हमें कुछ मतलब नहीं है। हमने तो उसका त्याग किया है।)

इन आचार्यने न जाने गुफामेंसे निकलते हुए तीर्थंकरकी कलाई पकड़कर उपर्युक्त निरपेक्षतासे वचन कहे हों, ऐसा आशय यहाँ बताया गया है।

२. आप्त अथवा परमेश्वरके लक्षण कैसे होने चाहिये, उसके संबंधमें 'तत्त्वार्थसूत्र'की टीकामें (सर्वार्थसिद्धिमें) पहली गाथा निम्नलिखित है—

'मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वंदे तद्गुणलब्धये ॥'

सारभूत अर्थ :— **'मोक्षमार्गस्य नेतारं'** (मोक्षमार्गमें ले जानेवाला नेता)—यह कहनेसे मोक्षका 'अस्तित्व', 'मार्ग' और 'ले जानेवाला', ये तीन बातें स्वीकृत की हैं। यदि मोक्ष है तो उसका मार्ग भी होना चाहिये और यदि मार्ग है तो उसका द्रष्टा भी होना चाहिये, और जो द्रष्टा होता है वही मार्गमें ले जा सकता है। मार्गमें ले जानेका काम निराकार नहीं कर सकता, परंतु साकार कर सकता है, अर्थात् मोक्षमार्गका उपदेश साकार उपदेष्टा अर्थात् जिसने देहस्थितिसे मोक्षमार्गका अनुभव किया है वही कर सकता है। **'भेत्तारं कर्मभूभृताम्'**—(कर्मरूप पर्वतोंका भेदन करनेवाला) अर्थात् कर्मरूपी पर्वतोंको तोड़नेसे मोक्ष हो सकता है। इसलिये जिसने देहस्थितिसे कर्मरूपी पर्वतोंको पर्वत तोडे हैं वह साकार उपदेष्टा है। वैसा कौन है ? वर्तमान देहमें जो जीवन्मुक्त है वह। जो कर्मरूपी पर्वत तोड़कर मुक्त हुआ है, उसके लिये फिर कर्मका अस्तित्व नहीं रहता। इसलिये जैसा कि बहुतसे मानते हैं कि मुक्त होनेके बाद जो देह धारण करता है वह जीवन्मुक्त है, सो हमें ऐसा जीवन्मुक्त नहीं चाहिये। **'ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां'**—(विश्वके तत्त्वोंको जाननेवाला) यों कहनेसे यह बताया कि आप्त ऐसा होना चाहिये कि जो समस्त विश्वका ज्ञाता हो। **'वंदे तद्गुणलब्धये'**—(उसके गुणोंकी प्राप्तिके लिये उसे वंदन करता हूँ), अर्थात् जो इन गुणोंसे युक्त पुरुष हो वही आप्त है और वही वंदनीय है।

३. मोक्षपद सभी चैतन्योंके लिये सामान्य होना चाहिये, एक जीवाश्रयी नहीं; अर्थात् यह चैतन्यका सामान्य धर्म है। एक जीवको हो और दूसरे जीवको न हो, ऐसा नहीं हो सकता।

४. 'भगवती आराधना' पर श्वेताम्बर आचार्योंने जो टीका की है वह भी उसी नामसे प्रसिद्ध है।

५. करणानुयोग या द्रव्यानुयोगमें दिगम्बर और श्वेताम्बरके बीचमें अंतर नहीं है। मात्र बाह्य व्यवहारमें अंतर है।

६. करणानुयोगमें गणितरूपसे सिद्धांत एकत्रित किये हैं। उनमें अंतर होना संभव नहीं है।

७. कर्मग्रंथ मुख्यतः करणानुयोगके अंतर्गत है।

८. 'परमात्मप्रकाश' दिगम्बर आचार्यका बनाया हुआ है। उसपर टीका हुई है।

९. निराकुलता सुख है। संकल्प दुःख है।

१०. कायक्लेश तप करते हुए भी महामुनिमें निराकुलता अर्थात् स्वस्थता देखनेमें आती है। तात्पर्य कि जिसे तप आदिकी आवश्यकता है, और इसलिये जो तप आदि कायक्लेश करता है, फिर भी वह स्वास्थ्ययशाका अनुभव करता है; तो फिर जिन्हें कायक्लेश करना नहीं रहा ऐसे सिद्ध भगवानको निराकुलता क्यों नहीं हो सकती ?

११. देहकी अपेक्षा चैतन्य बिलकुल स्पष्ट है। जैसे देहगुणधर्म देखनेमें आते हैं वैसे आत्मगुणधर्म देखनेमें आयें तो देहका राग नष्ट हो जाता है। आत्मवृत्ति विशुद्ध हो जानेसे दूसरे द्रव्यके संयोगसे आत्मा देहरूपसे, विभावसे परिणमित हुआ दिखाई देता है।

१२. चैतन्यका अत्यंत स्थिर होना 'मुक्ति' है।

१३. मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, इनके अभावमें अनुक्रमसे योग स्थिर होता है।

१४. पूर्वके अभ्यासके कारण जो झोंका आ जाता है वह 'प्रमाद' है।

१५. योगको आकर्षण करनेवाला न होनेसे वह स्वयं ही स्थिर हो जाता है।

१६. राग और द्वेष आकर्षण हैं।

१७. संक्षेपमें ज्ञानीका यों कहना है कि पुद्गलसे चैतन्यका वियोग कराना है; अर्थात् रागद्वेषसे आकर्षण दूर करना है।

१८. जहाँ तक अप्रमत्त हुआ जाये वहाँ तक जागृत ही रहना है।

१९. जिनपूजा आदि अपवाद मार्ग है।

२०. मोहनीयकर्म मनसे जीता जाता है परंतु वेदनीयकर्म मनसे नहीं जीता जाता; तीर्थंकर आदिको भी उसका वेदन करना पड़ता है, और दूसरोंके समान कठिन भी लगता है। परंतु उसमें (आत्मधर्ममें) उनके उपयोगकी स्थिरता होनेसे, निर्जरा होती है, और दूसरेको (अज्ञानीको) बंध होता है। क्षुधा, तृषा यह मोहनीय नहीं परंतु वेदनीयकर्म है।

२१. [1]'जो पुमान परधन हरै, सो अपराधी अज्ञ।
जे अपनो धन विवहरै, सो धनपति धर्मज्ञ॥' –श्री बनारसीदास

श्री बनारसीदास आगराके दशाश्रीमाली वणिक थे।

२२. 'प्रवचनसारोद्धार' ग्रंथके तीसरे भागमें जिनकल्पका वर्णन किया है। यह ग्रंथ श्वेताम्बरीय है। उसमें कहा है कि इस कल्पका साधक निम्नलिखित गुणवाला महात्मा होना चाहिये–

१. संहनन, २. धीरता, ३. श्रुत, ४. वीर्य और ५. असंगता।

२३. दिगम्बरदृष्टिमें यह दशा सातवें गुणस्थानकवर्तीकी है। दिगम्बर-दृष्टिके अनुसार स्थविर-कल्पी और जिनकल्पी नग्न होते हैं; और श्वेताम्बर-दृष्टिके अनुसार प्रथम अर्थात् स्थविर नग्न नहीं होते। इस कल्पके साधकका श्रुतज्ञान इतना अधिक बलवान होना चाहिये कि वृत्ति श्रुतज्ञानाकार हो जानी चाहिये, विषयाकार वृत्ति नहीं होनी चाहिये। दिगम्बर कहते हैं कि नग्न स्थितिवालेका मोक्षमार्ग है,

१. परधन=जड़, परसमय। अपनो धन=अपना धन, चेतन, स्वसमय। विवहरै=व्यवहार करे, विभाग करे, विवेक करे।

बाकीका तो उन्मत्त मार्ग है। **'णग्गो विमोक्खमग्गो, सेसाय उम्मग्गया सव्वे।'** तथा 'नागो ए बादशाहथी आघो' अर्थात् नंगा बादशाहसे भी बढ़कर है, इस कहावतके अनुसार यह स्थिति बादशाहको भी पूज्य है।

२४. चेतना तीन प्रकारकी है—१. कर्मफलचेतना—एकेंद्रिय जीव अनुभव करते हैं। २. कर्म-चेतना—विकलेंद्रिय तथा पंचेंद्रिय अनुभव करते हैं। ३. ज्ञानचेतना—सिद्धपर्यायवाले अनुभव करते हैं।

२५. मुनियोंकी वृत्ति अलौकिक होनी चाहिये, उसके बदले अभी लौकिक देखनेमें आती है।

---

१४ मोरबी, आषाढ़ वदी २, शनि, १९५६

१. पर्यायालोचन=एक वस्तुका दूसरी तरहसे विचार करना।

२. आत्माकी प्रतीतिके लिये संकलनाका दृष्टांत—छः इंद्रियोंमें मन अधिष्ठाता है, और बाकी पाँच इन्द्रियाँ उसकी आज्ञानुसार चलनेवाली हैं, और उनकी संकलना करनेवाला भी एक मन ही है। यदि मन न होता तो कोई कार्य नहीं हो सकता। वस्तुतः किसी इन्द्रियका कुछ भी बस नहीं चलता। मनका ही समाधान होता है; वह इस तरह कि कोई चीज आँखसे देखी, उसे लेनेके लिये पैरोंसे चलने लगे, वहाँ जाकर उसे हाथमें लिया और खाया इत्यादि। उन सब क्रियाओंका समाधान मनने किया, फिर भी उन सबका आधार आत्मापर है।

३. जिस प्रदेशमें वेदना अधिक हो वह उसका मुख्यतः वेदन करता है और बाकी प्रदेश गौणतासे उसका वेदन करते हैं।

४. जगतमें अभव्य जीव अनंत हैं। उससे अनंत गुने परमाणु एक समयमें एक जीव ग्रहण करता है और छोड़ता है।

५. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे बाह्य और अभ्यंतर परिणमन करते हुए परमाणु जिस क्षेत्रमें वेदनारूपसे उदयमें आते हैं, वहाँ इकट्ठे होकर वे वहाँ उस रूपसे परिणमन करते हैं; और वहाँ जिस प्रकारका बंध होता है, वह उदयमें आता है। परमाणु यदि सिरमें इकट्ठे हों तो वहाँ वे सिरदर्दके आकारसे परिणमन करते हैं, आँखमें आँखकी वेदनाके आकारसे परिणमन करते हैं।

६. वहीका वही चैतन्य स्त्रीमें स्त्रीरूपसे और पुरुषमें पुरुषरूपसे परिणमन करता है; और भोजन भी तथाप्रकारके ही आकारसे परिणमन कर पुष्टि देता है।

७. शरीरमें परमाणुसे परमाणुको लड़ते हुए किसीने नहीं देखा; परंतु उसका परिणामविशेष जाननेमें आता है। बुखारकी दवा बुखारको रोकती है, इसे हम जान सकते हैं; परंतु भीतर क्या क्रिया हुई, उसे नहीं जान सकते। इस दृष्टांतसे कर्मबंध होता हुआ देखनेमें नहीं आता, परंतु उसका विपाक देखनेमें आता है।

८. अनागार=जिसे व्रतमें अपवाद नहीं।

९. अणगार=घर रहित।

१०. समिति=सम्यक् प्रकारसे जिसकी मर्यादा है उस मर्यादासहित, यथास्थितरूपसे प्रवृत्ति करनेका ज्ञानियोंने जो मार्ग कहा है उस मार्गके अनुसार मापसहित प्रवृत्ति करना।

११. सत्तागत=उपशम।

१२. श्रमण भगवान=साधु भगवान अथवा मुनि भगवान।

१३. अपेक्षा=जरूरत, इच्छा।

१४. सापेक्ष=दूसरे कारणकी, हेतुकी जरूरतकी इच्छा करना।

१५. सापेक्षत्व अथवा अपेक्षासे=एक दूसरेको लेकर।

---

१५ मोरबी, आषाढ़ वदी ३, रवि, १९५६

१. अनुपपन्न=असंभवित; सिद्ध होने योग्य नहीं।

---

१६ रातमें

श्रावकाश्रयी, परस्त्रीत्याग तथा अन्य अणुव्रतोंके विषयमें।

१. जब तक मृषा और परस्त्रीका त्याग न किया जाये, तब तक सब क्रियाएँ निष्फल हैं; तब तक आत्मामें छलकपट होनेसे धर्म परिणमित नहीं होता।

२. धर्म पानेकी यह प्रथम भूमिका है।

३. जब तक मृषात्याग और परस्त्रीत्यागरूप गुण न हों तब तक वक्ता और श्रोता नहीं हो सकते।

४. मृषा दूर हो जानेसे बहुतसी असत्य प्रवृत्ति कम होकर निवृत्तिका प्रसंग आता है। सहज बातचीत करते हुए भी विचार करना पड़ता है।

५. मृषा बोलनेसे ही लाभ होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है। यदि ऐसा होता हो तो सच बोलनेवालोंकी अपेक्षा जगतमें जो असत्य बोलनेवाले बहुत होते हैं, उन्हें अधिक लाभ होना चाहिये, परंतु वैसा कुछ देखनेमें नहीं आता; तथा असत्य बोलनेसे लाभ होता हो तो कर्म एकदम रद्द हो जायेंगे और शास्त्र भी झूठे सिद्ध होंगे।

६. सत्यकी ही जय है। पहले मुश्किली महसूस होती है, परंतु पीछेसे सत्यका प्रभाव होता है और उसका असर दूसरे मनुष्य तथा संबंधमें आनेवालोंपर होता है।

७. सत्यसे मनुष्यका आत्मा स्फटिक जैसा मालूम होता है।

---

१७ मोरबी, आषाढ़ वदी ४, सोम, १९५६

१. दिगम्बरसंप्रदाय यह कहता है कि आत्मामें 'केवलज्ञान' शक्तिरूपसे रहता है।

२. श्वेताम्बरसंप्रदाय आत्मामें केवलज्ञानको सत्तारूपसे मानता है।

३. 'शक्ति' शब्दका अर्थ 'सत्ता' से अधिक गौण होता है।

४. शक्तिरूपसे है अर्थात् आवरणसे रुका हुआ नहीं है, ज्यों ज्यों शक्ति बढ़ती जाती है अर्थात् उस पर ज्यों ज्यों प्रयोग होता जाता है, त्यों त्यों ज्ञान विशुद्ध होकर केवलज्ञान प्रगट होता है।

५. सत्तामें अर्थात् आवरणमें रहा हुआ है, ऐसा कहा जाता है।

६. सत्तामें कर्मप्रकृति हो वह उदयमें आये यह शक्तिरूपसे नहीं कहा जाता।

७. सत्तामें केवलज्ञान हो और आवरणमें न हो, यह नहीं हो सकता। 'भगवती आराधना' देखियेगा।

८. कांति, दीप्ति, शरीरका मुड़ना, भोजनका पचना, रक्तका फिरना, ऊपरके प्रदेशोंका नीचे आना, नीचेके प्रदेशोंका ऊपर जाना (विशेष कारणसे समुद्घात आदि), ललाई, बुखार आना, ये सब तैजस् परमाणुकी क्रियाएँ हैं। तथा सामान्यतः आत्माके प्रदेश ऊँचे नीचे हुआ करते हैं अर्थात् कंपायमान

रहते हैं, यह भी तैजस् परमाणुसे होता है।

९. कार्मणशरीर उसी स्थलमें आत्मप्रदेशोंको अपना आवरणका स्वभाव बताता है।

१०. आत्माके आठ रुचक प्रदेश अपना स्थान नहीं बदलते। सामान्यतः स्थूल नयसे ये आठ प्रदेश नाभिके कहे जाते हैं, सूक्ष्मरूपसे वहाँ असंख्यात प्रदेश कहे जाते हैं।

११. एक परमाणु एकप्रदेशी होते हुए भी छः दिशाओंको स्पर्श करता है। चार दिशाएँ तथा एक ऊर्ध्व और एक अधः यह सब मिलाकर छः दिशाएँ होती हैं।

१२. नियाणुं अर्थात् निदान।

१३. आठ कर्म सभी वेदनीय हैं, क्योंकि सबका वेदन किया जाता है; परंतु उनका वेदन लोकप्रसिद्ध नहीं होनेसे लोकप्रसिद्ध वेदनीयकर्म अलग माना है।

१४. कार्मण, तैजस, आहारक, वैक्रिय और औदारिक इन पाँच शरीरोंके परमाणु एकसे अर्थात् समान हैं; परंतु वे आत्माके प्रयोगके अनुसार परिणमन करते हैं।

१५. मस्तिष्ककी अमुक अमुक नसें दबानेसे क्रोध, हास्य, उन्मत्तता उत्पन्न होते हैं। शरीरमें मुख्य मुख्य स्थल जीभ, नासिका इत्यादि प्रगट दिखायी देते हैं इसलिये मानते हैं; परंतु ऐसे सूक्ष्म स्थान प्रगट दिखायी नहीं देते; अतः नहीं मानते; परंतु वे हैं जरूर।

१६. वेदनीयकर्म निर्जरारूप है, परंतु दवा इत्यादि उसमेंसे हिस्सा ले लेती है।

१७. ज्ञानीने ऐसा कहा है कि आहार लेते हुए भी दुःख होता हो और छोड़ते हुए भी दुःख होता हो, तो वहाँ संलेखना करें। उसमें भी अपवाद होता है। ज्ञानीने कुछ आत्मघात करनेका नहीं कहा है।

१८. ज्ञानीने अनंत औषधियाँ अनंत गुणोंसे संयुक्त देखी हैं, परंतु कोई ऐसी औषधि देखनेमें नहीं आयी कि जो मौतको दूर कर सके! वैद्य और औषधि ये निमित्तरूप हैं।

१९. बुद्धदेवको रोग, दरिद्रता, वृद्धावस्था और मौत, इन चार बातोंसे वैराग्य उत्पन्न हुआ था।

---

१८ मोरबी, आषाढ़ वदी ५, मंगल, १९५६

१. चक्रवर्तीको उपदेश किया जाये तो वह घड़ी-भरमें राज्यका त्याग कर देता है परंतु भिक्षुको अनंत तृष्णा होनेसे उस प्रकारका उपदेश उसे असर नहीं करता।

२. यदि एक बार आत्मामें अंतर्वृत्तिका स्पर्श हो जाये, तो उसे अर्धपुद्गलपरावर्तन संसार ही रहता है यों तीर्थंकर आदिने कहा है। अंतर्वृत्ति ज्ञानसे होती है। अंतर्वृत्ति होनेका आभास स्वतः (स्वभावसे ही) आत्मामें होता है; और वैसा होनेकी प्रतीति भी स्वाभाविक होती है। अर्थात् आत्मा 'थरमामीटर' के समान है। बुखार होनेकी और उतरनेकी प्रतीति 'थरमामीटर' कराता है। यद्यपि 'थरमामीटर' बुखारकी आकृति नहीं बताता, फिर भी उससे प्रतीति होती है। उसी तरह अंतर्वृत्ति होनेकी आकृति मालूम नहीं होती फिर भी अंतर्वृत्ति हुई है ऐसी आत्माको प्रतीति होती है। औषध बुखारको किस तरह दूर करता है वह कुछ नहीं बताता, फिर भी औषधसे बुखार चला जाता है, ऐसी प्रतीति होती है; इसी तरह अंतर्वृत्ति होनेकी प्रतीति अपनेआप ही हो जाती है। यह प्रतीति 'परिणामप्रतीति' है।

३. वेदनीयकर्म।[1]

---

१. श्रोताकी नोंध—वेदनीयकर्मकी उदयमान प्रकृतिमें आत्मा हर्ष धारण करता है, तो कैसे भावमें आत्माके भावित रहनेसे वैसा होता है इस विषयमें श्रीमद्ने स्वात्माश्रयी विचार करना कहा है।

४. निर्जराका असंख्यातगुना उत्तरोत्तर क्रम है। जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टि असंख्यातगुनी निर्जरा करता है।[1]

५. तीर्थंकर आदिको गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी गाढ़ अथवा अवगाढ़ सम्यक्त्व होता है।

६. 'गाढ़' अथवा 'अवगाढ़' एक ही कहा जाता है।

७. केवलीको 'परमावगाढ़ सम्यक्त्व' होता है।

८. चौथे गुणस्थानकमें 'गाढ़' अथवा 'अवगाढ़' सम्यक्त्व होता है।

९. क्षायिक सम्यक्त्व अथवा गाढ़-अवगाढ़ सम्यक्त्व एकसा है।

१०. देव, गुरु, तत्त्व अथवा धर्म अथवा परमार्थकी परीक्षा करनेके तीन प्रकार हैं–(१) कष, (२) छेद और (३) ताप। इस तरह तीन प्रकारसे कसौटी होती है। इसे सोनेकी कसौटीके दृष्टांतसे समझें। (धर्मबिंदु ग्रंथमें है।) पहले और दूसरे प्रकारसे किसीमें मिलनता आ सके, परंतु तापकी विशुद्ध कसौटीसे शुद्ध मालूम हो तो वह देव, गुरु और धर्म सच्चे माने जायें।

११. शिष्यकी जो कमियाँ होती है, वे जिस उपदेशकके ध्यानमें नहीं आतीं उसे उपदेश-कर्ता न समझें। आचार्य ऐसे होने चाहिये कि शिष्यका अल्प दोष भी जान सकें और उसका यथासमय बोध भी दे सकें।

१२. सम्यग्दृष्टि गृहस्थ ऐसे होने चाहिये कि जिनकी प्रतीति शत्रु भी करें, ऐसा ज्ञानियोंने कहा है। तात्पर्य कि ऐसे निष्कलंक धर्म पालनेवाले होने चाहिये।

---

१९ रातमें

१. अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञानमें अंतर।[2]

२. परमावधिज्ञान मनःपर्यायज्ञानसे भी बढ़ जाता है, और वह एक अपवादरूप है।

---

२० मोरबी, आषाढ़ वदी ७, बुध, १९५६

१. आराधना होनेके लिये सारा श्रुतज्ञान है, और उस आराधनाका वर्णन करनेके लिये श्रुतकेवली भी अशक्त है।

२. ज्ञान, लब्धि, ध्यान और समस्त आराधनाका प्रकार भी ऐसा ही है।

३. गुणकी अतिशयता ही पूज्य है, और उसके अधीन लब्धि, सिद्धि इत्यादि हैं, और चारित्र स्वच्छ करना यह उसकी विधि है।

४. दशवैकालिककी पहली गाथा–

[3]**धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।**
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥

---

१. इस तरह असंख्यातगुनी निर्जराका वर्धमान क्रम चौदहवें गुणस्थानक तक श्रीमद्‌ने बताया है, और स्वामीकार्तिककी साख दी है।

२. श्रीमद्‌ने बताया कि अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञानके संबंधमें जो कथन नंदीसूत्रमें है उससे भिन्न आशयवाला कथन भगवती आराधनामें है। अवधिज्ञानके टुकड़े हो सकते हैं; हीयमान इत्यादि चौथे गुणस्थानकमें भी हो सकते हैं; स्थूल है, अर्थात् मनके स्थूल पर्याय जान सकता है; और दूसरा मनःपर्यायज्ञान स्वतंत्र है; खास मनके पर्यायसंबंधी शक्तिविशेषको लेकर एक अलग तहसीलकी तरह है, वह अखंड है; अप्रमत्तको ही हो सकता है, इत्यादि मुख्य मुख्य अंतर कह बताये।

३. **भावार्थ**–धर्म, अहिंसा, संयम और तप ही उत्कृष्ट मंगल है। जिसका धर्ममें निरंतर मन है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं।

इसमें सारी विधि समा जाती है। परंतु अमुक विधि ऐसे कहनेमें नहीं आयी, इससे यों समझमें आता है कि स्पष्टतासे विधि नहीं बतायी।

५. (आत्माके) गुणातिशयमें ही चमत्कार है।

६. सर्वोत्कृष्ट शांत स्वभाव करनेसे परस्पर वैरवाले प्राणी अपना वैरभाव छोड़कर शांत हो जाते हैं, ऐसा श्री तीर्थंकरका अतिशय है।

७. जो कुछ सिद्धि, लब्धि इत्यादि हैं वे आत्माके जागृतभावमें अर्थात् आत्माके अप्रमत्त स्वभावमें हैं। वे सब शक्तियाँ आत्माके अधीन हैं। आत्माके बिना कुछ नहीं है। इन सबका मूल सम्यक्ज्ञान, दर्शन, और चारित्र है।

८. अत्यंत लेश्याशुद्धि होनेके कारण परमाणु भी शुद्ध होते हैं, इसे सात्त्विक वृक्षके नीचे बैठनेसे प्रतीत होनेवाले असरके दृष्टांतसे समझे।

९. लब्धि, सिद्धि सच्ची हैं, और वे निरपेक्ष महात्माको प्राप्त होती है; जोगी, वैरागी ऐसे मिथ्यात्वीको प्राप्त नहीं होती। उसमें भी अनंत प्रकार होनेसे सहज अपवाद है। ऐसी शक्तिवाले महात्मा प्रकाशमें नहीं आते, और शक्ति बताते भी नहीं। जो कहता है उसके पासे वैसा नहीं होता।

१०. लब्धि क्षोभकारी और चारित्रको शिथिल करनेवाली है। लब्धि आदि मार्गसे पतित होनेके कारण हैं। इसलिये ज्ञानी उनका तिरस्कार करते हैं। ज्ञानीको जहाँ लब्धि, सिद्धि आदिसे पतित होनेका संभव होता है वहाँ वे अपनेसे विशेष ज्ञानीका आश्रय खोजते हैं।

११. आत्माकी योग्यताके बिना यह शक्ति नहीं आती। आत्मा अपना अधिकार बढ़ाये तो वह आती है।

१२. देहका छूटना पर्यायका छूटना है; परंतु आत्मा आत्माकारसे अखंड अवस्थित रहता है, उसका अपना कुछ नहीं जाता। जो जाता है वह अपना नहीं, ऐसा प्रत्यक्षज्ञान जब तक नहीं होता तब तक मृत्युका भय लगता है।

१३. [1]"गुरु गणधर गुणधर अधिक (सकल) प्रचुर परंपर और।
व्रत तपधर, तनु नगनतर, वंदौ वृष सिरमौर॥"

—स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, दोहा ३

गणधर=गण-समुदायका धारक; गुणकर=गुणका धारक ; प्रचुर=बहुत; वृष=धर्म; सिरमौर=सिरका मुकुट।

१४. अवगाढ़=मजबूत। परमावगाढ़=उत्कृष्टरूपसे मजबूत। अवगाह=एक परमाणुप्रदेश रोकना, व्याप्त होना। श्रावक=ज्ञानीके वचनका श्रोता, ज्ञानीका वचन सुननेवाला। दर्शन-ज्ञानके बिना, क्रिया करते हुए भी, श्रुतज्ञान पढ़ते हुए भी श्रावक या साधु नहीं हो सकता। औदयिक भावसे वह श्रावक, साधु कहा जाता है; पारिणामिक भावसे नहीं कहा जाता। स्थविर=स्थिर, दृढ़।

१५. स्थविरकल्प=जो साधु वृद्ध हो गये हैं उनके लिये, शास्त्रमर्यादासे वर्तन करनेका, चलनेका ज्ञानियों द्वारा मुकर्रर किया हुआ, बाँधा हुआ, निश्चित किया हुआ मार्ग या नियम।

१६. जिनकल्प=एकाकी विचरनेवाले साधुओंके लिये निश्चित किया हुआ अर्थात् बाँधा हुआ, मुकर्रर किया हुआ जिनमार्ग या नियम।

---

१. अर्थके लिये देखें आंक ९०१

२१ मोरबी, आषाढ़ वदी ८, गुरु, १९५६

१. सब धर्मोंकी अपेक्षा जैनधर्म उत्कृष्ट दयाप्रणीत है। दयाका स्थापन जैसा उसमें किया गया है वैसा दूसरे किसीमें नहीं है। 'मार' इस शब्दको ही मार ड़ालनेकी दृढ़ छाप तीर्थंकरोंने आत्मामें मारी है। इस जगहमें उपदेशके वचन भी आत्मामें सर्वोत्कृष्ट असर करते हैं। श्री जिनेन्द्रकी छातीमें जीवहिंसाके परमाणु ही नहीं होंगे ऐसा अहिंसाधर्म श्री जिनेन्द्रका है। जिसमें दया नहीं होती वह जिनेंद्र नहीं होता। जैनके हाथसे खून होनेकी घटनाएँ प्रमाणमें अल्प होगी। जो जैन होता है वह असत्य नहीं बोलता।

२. जैनधर्मके सिवाय दूसरे धर्मोंकी तुलनामें अहिंसामें बौद्धधर्म भी बढ़ जाता है। ब्राह्मणोंकी यज्ञ आदि हिंसक क्रियाओंका नाश भी श्री जिनेन्द्र और बुद्धने किया है, जो अभी तक कायम है।

३. श्री जिनेन्द्र तथा बुद्धने, यज्ञ आदि हिंसक धर्मवाले होनेसे ब्राह्मणोंको सख्त शब्दोंका प्रयोग करके धिक्कारा है, वह यथार्थ है।

४. ब्राह्मणोंने स्वार्थबुद्धिसे ये हिंसक क्रियाएँ दाखिल की है। श्री जिनेन्द्र तथा बुद्धने स्वयं वैभवका त्याग किया था, इसलिये उन्होंने निःस्वार्थबुद्धिसे दयाधर्मका उपदेश करके हिंसक क्रियाओंका विच्छेद किया। जगतके सुखमें उनकी स्पृहा न थी।

५. हिन्दुस्तानके लोग एक बार एक विद्याका अभ्यास इस तरह छोड़ देते हैं कि उसे फिरसे ग्रहण करते हुए उन्हें कंटाला आता है। युरोपियन प्रजामें इससे उलटा है, वे एकदम उसे छोड़ नहीं देते, परंतु चालू ही रखते हैं। प्रवृत्तिके कारण कम-ज्यादा अभ्यास हो सके, यह बात अलग है।

---

२२ रातमें

१. वेदनीयकर्मकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्तकी है; उससे कम स्थितिका बंध भी कषायके बिना एक समयका होता है, दूसरे समयमें वेदन होता है, और तीसरे समयमें निर्जरा होती है।

२. ईर्यापथिकी क्रिया=चलनेकी क्रिया।

३. एक समयमें सात अथवा आठ प्रकृतियोंका बंध होता है। प्रत्येक प्रकृति उसका बटवारा किस तरह करती है इस संबंधमें भोजन तथा विषका दृष्टांत–जैसे भोजन एक जगहसे लिया जाता है परंतु उसका रस प्रत्येक इन्द्रियको पहुँचता है, और प्रत्येक इंद्रिय ही अपनी अपनी शक्तिके अनुसार ग्रहण कर उस रूपसे परिणमन करती है, उसमें अंतर नहीं आता। उसी तरह विष लिया जाये, अथवा सर्प काट ले तो वह क्रिया तो एक ही जगह होती है; परंतु उसका असर विषरूपसे प्रत्येक इंद्रियको भिन्न भिन्न प्रकारसे सारे शरीरमें होता है। इसी तरह कर्म बाँधते समय मुख्य उपयोग एक प्रकृतिका होता है, परंतु उसका असर अर्थात् बटवारा दूसरी सब प्रकृतियोंके पारस्परिक संबंधको लेकर मिलता है। जैसा रस वैसा ही उसका ग्रहण होता है। जिस भागमें सर्पदंश होता है उस भागको यदि काट दिया जाये तो विष नहीं चढ़ता; उसी तरह यदि प्रकृतिका क्षय किया जाये तो बंध होनेसे रुक जाता है, और उस कारण दूसरी प्रकृतियोंमें बटवारा होनेसे रुक आता है। जैसे दूसरे प्रयोगसे चढ़ा हुआ विष वापस उतर जाता है, वैसे प्रकृतिका रस मंद कर ड़ाला जाये तो उसका बल कम होता है। एक प्रकृति बंध करती है तो दूसरी प्रकृतियाँ उसमेंसे भाग लेती है, ऐसा उनका स्वभाव है।

४. मूल कर्मप्रकृतिका क्षय न हुआ हो तब तक उत्तर कर्मप्रकृतिका बंध विच्छेद हो गया हो तो भी उसका बंध मूल प्रकृतिमें रहे हुए रसके कारण हो सकता है, यह आश्चर्य जैसा है। जैसे दर्शनावरणीयमें निद्रा-निद्रा आदि।

५. अनंतानुबंधी कर्मप्रकृतिकी स्थिति चालीस कोडाकोडीकी, और मोहनीय (दर्शनमोहनीय) की सत्तर कोडाकोडीकी है।

---

२३ मोरबी, आषाढ़ वदी ९, शुक्र, १९५६

१. आयुका बंध आगामी एक भवका आत्मा कर सकता है, उससे अधिक भवोंका बंध नहीं कर सकता।

२. कर्मग्रंथके बंधचक्रमें जो आठ कर्मप्रकृतियाँ बतायी हैं, उसकी उत्तरप्रकृतियाँ एक जीवआश्रयी अपवादके साथ बंध उदय आदिमें हैं; परंतु उसमें आयु अपवादरूप है। वह इस तरह कि मिथ्यात्वगुण-स्थानकवर्ती जीवको बंधमें चार आयुकी प्रकृतिका (अपवाद) बताया है। उसमें ऐसा नहीं समझना कि जीव चालू पर्यायमें चारों गतियोंकी आयुका बंध करता है; परंतु आयुका बंध करनेके लिये वर्तमान पर्यायमें इस गुणस्थानकवर्ती जीवके लिये चारों गतियाँ खुली हैं। उन चारोंमेंसे एक एक गतिका बंध कर सकता है। उसी तरह जिस पर्यायमें जीव हो उसे उस आयुका उदय होता है। तात्पर्य कि चार गतियोंमेंसे वर्तमान एक गतिका उदय हो सकता है; और उदीरणा भी उसीकी हो सकती है।

३. बड़ेसे बड़ा स्थितिबंध सत्तर कोडाकोडीका है। उसमें असंख्यात भव होते हैं। फिर वैसेका वैसा क्रम क्रमसे बंध होता जाता है। ऐसे अनंत बंधकी अपेक्षासे अनंत भव कहे जाते हैं; परंतु पूर्वोक्तके अनुसार ही भवका बंध होता है।

---

२४ मोरबी, आषाढ़ वदी १०, शनि, १९५६

१. विशिष्ट—मुख्यतः—मुख्यतावाचक शब्द है।

२. ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय ये तीन प्रकृतियाँ उपशमभावमें हो ही नहीं सकती, क्षयोपशमभावमें ही होती है। ये प्रकृतियाँ यदि उपशमभावमें हों तो आत्मा जड़वत् हो जाता है और क्रिया भी नहीं कर सकता; अथवा तो उससे प्रवर्तन भी नहीं हो सकता। ज्ञानका काम जानना है, दर्शनका काम देखना है, और वीर्यका काम प्रवर्तन करना है। वीर्य दो प्रकारसे प्रवर्तन कर सकता है— (१) अभिसंधि, (२) अनभिसंधि। अभिसंधि=आत्माकी प्रेरणासे वीर्यका प्रवर्तन होना। अनभिसंधि= कषायसे वीर्यका प्रवर्तन होना। ज्ञानदर्शनमें भूल नहीं होती। परंतु उदयभावमें रहे हुए दर्शनमोहके कारण भूल होनेसे अर्थात् कुछका कुछ जाननेसे वीर्यकी प्रवृत्ति विपरीतरूपसे होती है, यदि सम्यक्-रूपसे हो तो सिद्ध पर्याय प्राप्त हो जाता है। आत्मा कभी भी क्रियाके बिना नहीं हो सकता। जब तक योग है तब तक जो क्रिया करता है, वह अपनी वीर्यशक्तिसे करता है। वह क्रिया देखनेमें नहीं आती; परंतु परिणामसे जाननेमें आती है। खाई हुई खुराक निद्रामें पच जाती है, यों सबेरे उठनेपर मालूम होता है। निद्रा अच्छी आयी थी इत्यादि कहते हैं, यह भी हुई क्रियाके समझमें आनेसे कहा जाता है। यदि चालीस बरसकी उमरमें अंक गिनना आये तो इससे क्या यह कहा जा सकेगा कि अंक पहले नहीं थे? बिलकुल नहीं। स्वयंको उसका ज्ञान नहीं था इसलिये ऐसा कहता है। इसी तरह ज्ञान- दर्शनके बारेमें समझना है। आत्माके ज्ञान, दर्शन और वीर्य थोड़े-बहुत भी खुले रहनेसे आत्मा क्रियामें प्रवृत्ति कर सकता है। वीर्य सदा चलाचल रहा करता है। कर्मग्रंथ पढ़नेसे विशेष स्पष्ट होगा। इतने स्पष्टीकरणसे बहुत लाभ होगा।

३. पारिणामिक भावसे सदा जीवत्व है, अर्थात् जीव जीवरूपसे परिणमन करता है, और सिद्धत्व क्षायिक-भावसे होता है, क्योंकि प्रकृतियोंका क्षय करनेसे सिद्धपर्याय मिलता है।

४. मोहनीयकर्म औदयिक भावसे होता है।

५. वणिक विकल अर्थात् मात्रा, शिरोरेखा आदिके बिना अक्षर लिखते हैं, परंतु अंक विकल नहीं लिखते, उन्हें तो बहुत स्पष्टतासे लिखते हैं। उसी तरह कथानुयोगमें ज्ञानियोंने शायद विकल लिखा हो तो भले; परंतु कर्मप्रकृतिमें तो निश्चित अंक लिखे हैं। उसमें जरा भी फर्क नहीं आने दिया।

---

२५ मोरबी, आषाढ़ वदी ११, रवि, १९५६

१. ज्ञान धागा पिरोयी हुई सूईके समान है, ऐसा उत्तराध्ययन सूत्रमें कहा है। धागेवाली सूई खोयी नहीं जाती। उसी तरह ज्ञान होनेसे संसारमें गुमराह नहीं हुआ जाता।

---

२६ मोरबी, आषाढ़ वदी १२, सोम, १९५६

१. प्रतिहार=तीर्थंकरका धर्मराज्यत्व बतानेवाला। प्रतिहार=दरबान।

२. स्थूल, अल्पस्थूल, उससे भी स्थूल; दूर, दूरसे दूर, उससे भी दूर; ऐसा मालूम होता है; और इस आधारसे सूक्ष्म, सूक्ष्मसे सूक्ष्म आदिका ज्ञान किसीको भी होना सिद्ध हो सकता है।

३. नग्न=आत्ममग्न।

४. उपहत=मारा गया। अनुपहत=नहीं मारा गया। उपष्टंभजन्य=आधारभूत। अभिधेय=जो वस्तुधर्म कहा जा सके। पाठांतर=एक पाठकी जगह दूसरा पाठ। अर्थांतर=कहनेका हेतु बदल जाना। विषम=जो यथायोग्य न हो, अंतरवाला, कम-ज्यादा। आत्मद्रव्य सामान्य विशेष उभयात्मक सत्तावाला है। सामान्य चेतनसत्ता दर्शन है। सविशेष चेतनसत्ता ज्ञान है।

५. सत्तासमुद्भूत=सम्यक् प्रकारसे सत्ताका उदयभूत होना, प्रकाशित होना, स्फुरित होना, ज्ञात होना।

६. दर्शन=जगतके किसी भी पदार्थका भेदरूप रसगंधरहित निराकार प्रतिबिंबित होना, उसका अस्तित्व भास्यमान होना; निर्विकल्परूपसे कुछ है, इस तरह आरसीकी झलककी भाँति सामनेके पदार्थका भास होना, यह दर्शन है। विकल्प हो वहाँ 'ज्ञान' होता है।

७. दर्शनावरणीय कर्मके आवरणके कारण दर्शन अवगाढ़तासे आवृत्त होनेसे चेतनमें मूढ़ता हो गयी और वहाँसे शून्यवाद शुरू हुआ।

८. जहाँ दर्शन रुक जाता है वहाँ ज्ञान भी रुक जाता है।

९. दर्शन और ज्ञानका बटवारा किया गया है। ज्ञान-दर्शनके कुछ टुकड़े होकर वे अलग अलग नहीं हो सकते। ये आत्माके गुण हैं। जिस तरह रुपयेमें दो अठन्नी होती हैं उसी तरह आठ आना दर्शन और आठ आना ज्ञान है।

१०. तीर्थंकरको एक ही समयमें दर्शन और ज्ञान दोनों साथ होते हैं, इस तरह दो उपयोग दिगम्बरमतके अनुसार हैं, श्वेताम्बर-मतके अनुसार नहीं। बारहवें गुणस्थानकमें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय इन तीन प्रकृतियोंका क्षय एक साथ होता है, और उत्पन्न होनेवाली लब्धि भी एक साथ होती है। यदि एक समयमें न होते हों तो एक दूसरी प्रकृतिको रुकना चाहिये। श्वेताम्बर कहते हैं कि ज्ञान सत्तामें रहना चाहिये, क्योंकि एक समयमें दो उपयोग नहीं होते; परंतु दिगम्बरोंकी उससे भिन्न मान्यता है।

११. शून्यवाद=कुछ भी नहीं ऐसा माननेवाला; यह बौद्धधर्मका एक भेद है। आयतन=किसी भी

पदार्थका स्थल, पात्र। कूटस्थ=अचल, जो दूर न हो सके। तटस्थ=किनारे पर; उस स्थलमें। मध्यस्थ=बीचमें।

---

२७ मोरबी, आषाढ़ वदी १३, मंगल, १९५६

१. चयोपचय=जाना-जाना, परंतु प्रसंगवशात् आना-जाना, गमनागमन। मनुष्यके जाने आनेको लागू नहीं होता। श्वासोच्छ्वास इत्यादि सूक्ष्म क्रियाको लागू होता है। चयविचय=जाना आना।

२. आत्माका ज्ञान जब चिंतामें रुक जाता है तब नये परमाणु ग्रहण नहीं हो सकते; और जो होते हैं, वे चले जाते हैं, इससे शरीरका वजन घट जाता है।

३. श्री आचारांगसूत्रके पहले शस्त्रपरिज्ञा अध्ययनमें और श्री षड्दर्शनसमुच्चयमें मनुष्य और वनस्पतिके धर्मकी तुलना कर वनस्पतिमें आत्माका अस्तित्व सिद्ध कर बताया है, वह इस तरह कि दोनों उत्पन्न होते हैं, बढ़ते हैं, आहार लेते हैं, परमाणु लेते हैं, छोडते हैं, मरते हैं इत्यादि।

---

२८ मोरबी, श्रावण सुदी ३, रवि, १९५६

१. साधु=सामान्यतः गृहवासका त्यागी, मूलगुणोंका धारक। यति=ध्यानमें स्थिर होकर श्रेणि शुरू करनेवाला। मुनि=जिसे अवधि, मनःपर्यायज्ञान हो तथा केवलज्ञान हो। ऋषि=बहुत ऋद्धिधारी। ऋषिके चार भेद–(१) राज०, (२) ब्रह्म०, (३) देव० (४) परम० राजर्षि=ऋद्धिवाला, ब्रह्मर्षि=अक्षीण महान ऋद्धिवाला, देवर्षि=आकाशगामी मुनिदेव, परमर्षि=केवलज्ञानी।

---

२९ मोरबी, श्रावण सुदी १०, सोम, १९५६

१. अभव्य जीव अर्थात् जो जीव उत्कट रससे परिणमन करे और उससे कर्म बाँधा करे, और इस कारण उसका मोक्ष न हो। भव्य अर्थात् जिस जीवका वीर्य शांतरससे परिणमन करे और उससे नया कर्मबंध न होनेसे मोक्ष हो। जिस जीवकी वृत्ति उत्कट रससे परिणमन करती हो उसका वीर्य उसके अनुसार परिणमन करता है; इसलिये ज्ञानीके ज्ञानमें अभव्य प्रतीत हुए। आत्माकी परमशांत दशासे 'मोक्ष' और उत्कट दशासे 'अमोक्ष'। ज्ञानीने द्रव्यके स्वभावकी अपेक्षासे भव्य, अभव्य कहे हैं। जीवका वीर्य उत्कट रससे परिणमन करनेसे सिद्धपर्याय प्राप्त नहीं हो सकता, ऐसा ज्ञानीने कहा है। भजना=अंशसे; हो या न हो। वंचक=(मन, वचन और कायासे) ठगनेवाला।

---

३० मोरबी, श्रावण वदी ८, शनि, १९५६

१. कम्मदव्वेहिं संम्मं संजोगो होई जो उ जीवस्स।
सो बंधो नायव्वो तस्स विओगो भवे मुक्खो।

अर्थ–कर्मद्रव्य अर्थात् पुद्गलद्रव्यके साथ जीवका जो संबंध होना है वह बंध है, उसका वियोग होना मोक्ष है। संमं=अच्छी तरहसे संबंध होना, यथार्थतासे संबंध होना, जैसे-तैसे कल्पना करके संबंध होनेका मान लेना सो नहीं।

२. प्रदेश और प्रकृतिबंध मन-वचन-कायाके योगसे होता है। स्थिति और अनुभागबंध कषायसे होता है।

३. विपाक अर्थात् अनुभाग द्वारा फलपरिपक्वता होना। सब कर्मोंका मूल अनुभाग है, उसमें जैसा

तीव्र, तीव्रतर, मंद, मंदतर रस पड़ा है वैसा उदयमें आता है। उसमें अंतर या भूल नहीं होती। कुल्हिया में पैसा, रुपया, मुहर आदि रखनेका दृष्टांत–जैसी किसी कुल्हियामें बहुत समय पहले पैसा, रुपया और मुहर डाल रखें हों; उन्हें जिस समय निकालें तो वे उसी जगह उसी धातुरूपसे निकलते हैं, उसमें जगहमें और उनकी स्थितिमें परिवर्तन नहीं होता अर्थात् पैसा रुपया नहीं हो जाता, और रुपया पैसा नहीं हो जाता; उसी तरह बाँधा हुआ कर्म द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार उदयमें आता है।

४. आत्माके अस्तित्वमें जिसे शंका होती है उसे 'चार्वाक' कहा जाता है।

५. तेरहवें गुणस्थानकमें तीर्थंकर आदिको एक समयका बंध होता है। मुख्यतः कदाचित् ग्यारहवें गुणस्थानकमें अकषायीको भी एक समयका बंध हो सकता है।

६. पवन पानीकी निर्मलताका भंग नहीं कर सकता; परंतु उसे चलायमान कर सकता है। उसी तरह आत्माके ज्ञानमें कुछ निर्मलता कम नहीं होती, परंतु योगकी चलायमानता है, इसलिये रसके बिना एक समयका बंध कहा है।

७. यद्यपि कषायका रस पुण्य तथा पापरूप है तो भी उसका स्वभाव कडवा है।

८. पुण्य भी खारापनमेंसे होता है। पुण्यका चौठाणिया रस नहीं है, क्योंकि एकांत साताका उदय नहीं है। कषायके दो भेद–(१) प्रशस्तराग और (२) अप्रशस्तराग। कषायके बिना बंध नहीं होता।

९. आर्तध्यानका समावेश मुख्यतः कषायमें हो सकता है, प्रमादका चारित्रमोहमें और योगका नामकर्ममें समावेश हो सकता है।

१०. श्रवण पवनकी लहरके समान है। वह आता है और चला जाता है।

११. मनन करनेसे छाप पड़ती है, और निदिध्यासन करनेसे ग्रहण होता है।

१२. अधिक श्रवण करनेसे मननशक्ति मंद होती हुई देखनेमें आती है।

१३. प्राकृतजन्य अर्थात् लौकिक वाक्य, ज्ञानीका वाक्य नहीं।

१४. आत्मा प्रत्येक समय उपयोगसहित होनेपर भी अवकाशकी कमी अथवा कामके बोझके कारण उसे आत्मासंबंधी विचार करनेका समय नहीं मिल सकता यों कहना प्राकृतजन्य 'लौकिक' वचन है। यदि खाने, पीने, सोने इत्यादिका समय मिला और काम किया वह भी आत्माके उपयोगके बिना नहीं हुआ; तो फिर खास जिस सुखकी आवश्यकता है, और जो मनुष्य जन्मका कर्तव्य है उसके लिये समय नहीं मिला, इस वचनको ज्ञानी कभी भी सच्चा नहीं मान सकते। इसका अर्थ इतना ही है कि दूसरे इंद्रिय आदि सुखके काम तो जरूरी लगे हैं, और उसके बिना दुःखी होनेके डरकी कल्पना है।

आत्मिक सुखके विचारका काम किये बिना अनंतकाल दुःख भोगना पड़ेगा और अनंत संसारभ्रमण करना पड़ेगा, यह बात जरूरी नहीं लगती ! मतलब यह कि इस चैतन्यने कृत्रिम मान रखा है, सच्चा नहीं माना।

१५. सम्यग्दृष्टि पुरुष, अनिवार्य उदयके कारण लोकव्यवहार निर्दोषता एवं लज्जाशीलतासे करते हैं। प्रवृत्ति करनी चाहिये, उससे शुभशुभ जैसा होना होगा, वैसा होगा ऐसी दृढ़ मान्यताके साथ वे ऊपर-ऊपरसे प्रवृत्ति करते हैं।

१६. दूसरे पदार्थोंपर उपयोग दें तो आत्माकी शक्तिका आविर्भाव होता है, तो सिद्धि, लब्धि आदि शंकास्पद नहीं हैं। वे प्राप्त नहीं होतीं इसका कारण यह है कि आत्मा निरावरण नहीं किया जा सकता। ये सब शक्तिएँ सच्ची हैं। चैतन्यमें चमत्कार चाहिये, उसका शुद्ध रस प्रगट होना चाहिये। ऐसी

सिद्धिवाले पुरुष असाताकी साता कर सकते हैं, फिर भी वे उसकी अपेक्षा नहीं करते। वे वेदन करनेमें ही निर्जरा समझते हैं।

१७. आप जीवोंमें उल्लासमान वीर्य या पुरुषार्थ नहीं है। जहाँ वीर्य मंद पड़ा वहाँ उपाय नहीं है।

१८. जब असाताका उदय न हो तब काम कर लेना, ऐसा ज्ञानीपुरुषोंने जीवका असामर्थ्य देखकर कहा है, कि जिससे उसका उदय आनेपर चलित न हो।

१९. सम्यग्दृष्टि पुरुषको जहाजके कप्तानकी तरह पवन विरुद्ध होनेसे जहाजको मोडकर रास्ता बदलना पड़ता है। उससे वे ऐसा समझते हैं कि स्वयं ग्रहण किया हुआ रास्ता सच्चा नहीं है, उसी तरह ज्ञानीपुरुष उदय-विशेषके कारण व्यवहारमें भी अंतरात्मदृष्टि नहीं चूकते।

२०. उपाधिमें उपाधि रखनी। समाधिमें समाधि रखनी। अंग्रेजोंकी तरह कामके वक्त काम और आरामके वक्त आराम। एक दूसरेका मिश्रण नहीं कर देना चाहिये।

२१. व्यवहारमें आत्मकर्तव्य करते रहें। सुखदुःख, धनकी प्राप्ति-अप्राप्ति, यह शुभाशुभ तथा लाभांतरायके उदयपर आधार रखता है। शुभके उदयके साथ पहलेसे अशुभके उदयकी पुस्तक पढ़ी हो तो शोक नहीं होता। शुभके उदयके समय शत्रु मित्र हो जाता है, और अशुभके उदयके समय मित्र शत्रु हो जाता है। सुखदुःखका असली कारण कर्म ही है। 'कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा'में कहा है कि कोई मनुष्य कर्ज लेने आये तो उसे कर्ज चुका देनेसे सिरका बोझ कम हो जानेसे कैसा हर्ष होता है ? उसी तरह पुद्गल-द्रव्यरूप शुभाशुभ कर्ज जिस कालमें उदयमें आये उस कालमें उसका सम्यक् प्रकारसे वेदन कर चुका देनेसे निर्जरा होती है और नया कर्ज नहीं होता। इसलिये ज्ञानीपुरुषको कर्मरूपी कर्जमेंसे मुक्त होनेके लिये हर्ष विह्वलतासे तैयार रहना चाहिये; क्योंकि उसे दिये बिना छुटकारा होनेवाला नहीं है।

२२. सुखदुःख जिस द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे उदयमें आनेवाला हो उसमें इंद्र आदि भी परिवर्तन करनेके लिये शक्तिमान नहीं है।

२३. चरणानुयोगमें ज्ञानीने अंतर्मुहूर्त्त आत्माका अप्रमत्त उपयोग माना है।

२४. करणानुयोगमें सिद्धांतका समावेश होता है।

२५. चरणानुयोगमें जो व्यवहारमें आचरणीय है उसका समावेश किया है।

२६. सर्वविरति मुनिको ब्रह्मचर्यव्रतकी प्रतिज्ञा ज्ञानी देते हैं, वह चरणानुयोगकी अपेक्षासे, परंतु करणानुयोगकी अपेक्षासे नहीं; क्योंकि करणानुयोगके अनुसार नौवें गुणस्थानकमें वेदोदयका क्षय हो सकता है, तब तक नहीं हो सकता।

आभ्यंतरपरिणामअवलोकन

–संस्मरण पोथी–

२२वें वर्षसे ३४वें वर्ष पर्यंत

श्रीमद्जीके कितने ही निजी अभिप्राय वयक्रममें आ जाते हैं। उसके अतिरिक्त उनके आभ्यंतर परिणामावलोकन (Introspection) संबंधी तीन संस्मरण-पोथियाँ (Memo-Books) प्राप्त हुई हैं, जिन्हें यहाँ देते हैं। संस्मरणपोथियोंमें स्व-निरीक्षणसे उद्भूत पृथक् पृथक् उद्गार स्व-उपयोगार्थ क्रमरहित लिखे गये हैं। इनमेंसे दो विदेशी गठनकी है और एक देशी गठनकी है। पहली दोमेंसे एककी जिल्दपर अंग्रेजी वर्ष १८९० का और दूसरीमें १९१६ का 'कैलेण्डर' है, देशीमें नहीं है। विदेशी दोनोंका कद ७ × ४ $\frac{1}{2}$ इञ्च है, और देशीका कद ६ $\frac{3}{4}$ × ४ इञ्च है। १८९० वालीमें १००, १८१६ वालीमें ११६, और तीसरी देशीमें ६० पन्ने (Leaves) हैं। इन तीनोंमें प्रायः एक लेख भी क्रमवार नहीं है। जैसे कि १८९० वाली संस्मरण-पोथीमें लिखनेका आरंभ, दूसरे पन्ने (तीसरे पृष्ठ)से 'सहज' इस शीर्षकके नीचेका लेख देखते हुए हुआ लगता है। इस प्रारंभलेखकी शैली देखते हुए वह अंग्रेजी वर्ष १८९० अथवा विक्रम संवत् १९४६ में लिखा हो ऐसा संभव है। यह प्रारंभ लेख दूसरे पन्ने–तीसरे पृष्ठपर है, जब कि प्रारंभ लेख लिखते समय पहला पृष्ठ छोड़ दिया है जो बादमें लिखा है। इसी तरह ५१ वें पृष्ठपर संवत् १९५१ के पौष मासकी मितीका लेख है। उसके बाद ६२वें पृष्ठपर संवत् १९५३ के फागुन वदी १२का लेख है और ९७वें पृष्ठपर संवत् १९५१ के माघ सुदी ७का लेख है, जब कि १३० वें पृष्ठपर जो लेख है वह संवत् १९४७ का संभव है; क्योंकि उस लेखका विषय दर्शन-आलोचनारूप है, जो दर्शन-आलोचना संवत् १९४७ में सम्यग्दर्शन (देखें संस्मरण-पोथी पहलीका आंक ३१–'ओगणीससें ने सुडताळीसे समकित शुद्ध प्रकाश्युं रे–') होनेसे पूर्व होना योग्य है। फिर १८९६ अर्थात् संवत् १९५२ वाली संस्मरण-पोथी लिखना शुरू करनेके बाद उसीमें लिखा हो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि संवत् १९५२ वाली संस्मरण-पोथी नयी होते हुए भी १८९० (१९४६) वाली संस्मरण-पोथीमें संवत् १९५३ के लेख है। संवत् १९५२ (१८९६) वाली संस्मरण-पोथी पूरी हो जानेके बाद तीसरी–देशी गठनवालीका उपयोग किया है, ऐसा भी नहीं है; क्योंकि १८९६ वालीमें २७ पन्ने काममें लिये हैं, और उसके बाद सारे कोरे पड़े हैं। और तीसरी देशी गठनवालीमें बहुतसे लेख है। जैसे संवत् १८९६ वाली संस्मरणपोथीमें संवत् १९५४ के ही लेख हैं, वैसे देशी गठनवालीमें भी है। इसी तरह १८९० वाली में संवत् १९५३के ही लेख होंगे और उसके बादके नहीं होंगे यह भी कह सकना शक्य नहीं है। और तीनों संस्मरण पोथियोंमें बीच-बीचमें बहुत पन्ने केवल कोरे पड़े है; जिससे यह अनुमान होता है कि जब जो संस्मरण-पोथी हाथ लगी, और खोलते ही जो पन्ना निकला उसमें कहीं-कहीं स्वनिरीक्षण अपने ही जाननेके लिये लिख डाला है। जो निजी लेख वयक्रममें हैं वे, और इन तीनों संस्मरण-पोथियोंके लेख स्वनिरीक्षणके लिये हैं; इसलिये हमने इन संस्मरणपोथियोंको 'आभ्यंतर-परिणाम-अवलोकन' इस शीर्षकसे यहाँ प्रस्तुत किया है। इस निरीक्षणमें उनकी दशा, आत्मजागृति और आत्ममंदता, अनुभव, स्वविचारके लिये लिखे हुए प्रश्नोत्तर, अन्य जीवोंके निर्णय करनेके उद्देश्यसे लिखे हुए प्रश्नोत्तर, दर्शनोद्धार-योजनाएँ इत्यादि संबंधी अनेक उद्गार हैं, जिनमें कितने ही निजी सांकेतिक भाषामें है।

९६०

आभ्यंतरपरिणामअवलोकन

संस्मरण-पोथी

२२वें वर्षसे ३४वें वर्ष पर्यंत

संस्मरण-पोथी १

१ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १]

*प्रत्येक प्रत्येक पदार्थका अत्यंत विवेक करके इस जीवको उससे व्यावृत्त करें, ऐसा निर्ग्रंथ कहते हैं।

जैसे शुद्ध स्फटिकमें अन्य रंगका प्रतिभास होनेसे उसका मूल स्वरूप दृष्टिगत नहीं होता, वैसे ही शुद्ध निर्मल यह चेतन अन्य संयोगके तादात्म्यवत् अध्याससे अपने स्वरूपके लक्ष्यको नहीं पाता। यत्किंचित् पर्यायांतरसे इसी प्रकारसे जैन, वेदांत, सांख्य, योग आदि कहते हैं।

---

* संवत् १९७७ में अहमदाबादसे प्रकाशित "श्रीमद् राजचंद्र प्रणीत तत्त्वज्ञान" के सातवें संस्करणमेंसे प्राप्त हुआ लेख यहाँ प्रस्तुत है। यह मूल हस्ताक्षरवाली संस्मरण-पोथीमें न होनेसे पाद-टिप्पणमें दिया है।

१. प्रत्येक प्रत्येक पदार्थका अत्यंत विवेक करके इस जीवको उससे व्यावृत्त करें।

२. जगतके जितने पदार्थ हैं, उनमेंसे चक्षुरिंद्रियसे जो देखे जाते हैं उनका विचार करनेसे इस जीवसे वे पर हैं अथवा तो वे इस जीवके नहीं हैं, इतना ही नहीं अपितु उनपर राग आदि भाव हों तो उससे वे ही दुःखरूप सिद्ध होते हैं। इसलिये उनसे व्यावृत्त करनेके लिये निर्ग्रंथ कहते हैं।

३. जो पदार्थ चक्षुरिंद्रियसे देखे नहीं जाते अथवा चक्षुरिंद्रियसे जाने नहीं जा सकते, परंतु घ्राणेन्द्रियसे जाने जा सकते हैं, वे भी इस जीवके नहीं हैं, इत्यादि।

४. इन दो इन्द्रियोंसे नहीं परंतु जिनका बोध रसेंद्रियसे हो सकता है वे पदार्थ भी इस जीवके नहीं हैं, इत्यादि।

५. इन तीन इंद्रियोंसे नहीं परंतु जिनका ज्ञान स्पर्शेंद्रियसे हो सकता है वे भी इस जीवके नहीं हैं, इत्यादि।

६. इन चार इंद्रियोंसे नहीं परंतु जिनका ज्ञान कर्णेन्द्रियसे हो सकता है, वे भी इस जीवके नहीं हैं, इत्यादि।

७. इन पाँच इंद्रियोंसहित मनसे अथवा तो किसी एक इंद्रियसहित मनसे या इन इंद्रियोंके बिना अकेले मनसे जिनका बोध हो सकता है ऐसे रूपी पदार्थ भी इस जीवके नहीं हैं, परंतु उससे पर हैं, इत्यादि।

८. उन रूपी पदार्थोंके अतिरिक्त अरूपी पदार्थ आकाश आदि हैं, जो मनसे माने जाते हैं, वे भी आत्माके नहीं है परंतु उससे पर है, इत्यादि।

२

जीवके अस्तित्वका तो किसी कालमें भी संशय प्राप्त नहीं होता।

जीवकी नित्यताका, त्रिकाल-अस्तित्वका किसी कालमें भी संशय प्राप्त नहीं होता।

जीवकी चेतना एवं त्रिकाल-अस्तित्वमें कभी भी संशय प्राप्त नहीं होता।

उसे किसी भी प्रकारसे बंधदशा है, इस बातमें कभी भी संशय प्राप्त नहीं होता।

उस बंधकी निवृत्ति किसी भी प्रकारसे निःसंशय घटित होती है, इस विषयमें कभी भी संशय प्राप्त नहीं होता।

मोक्षपद है इस बातका कभी भी संशय नहीं होता।

---

९. इस जगतके पदार्थोंका विचार करनेसे वे सब नहीं परंतु उनमेंसे जिन्हें इस जीवने अपना माना है वे भी इस जीवके नहीं है अथवा उससे पर है, इत्यादि। जैसे कि–

१. कुटुंब और सगे-संबंधी, मित्र, शत्रु आदि मनुष्य-वर्ग।
२. नौकर, चाकर, गुलाम आदि मनुष्य-वर्ग।
३. पशु-पक्षी आदि तिर्यंच।
४. नारकी, देवता आदि।
५. पाँचों प्रकारके एकेंद्रिय।
६. घर, जमीन, क्षेत्र आदि, गाँव, जागीर आदि, तथा पर्वत आदि।
७. नदी, तालाब, कुआँ, बावडी, समुद्र आदि।
८. हरेक प्रकारका कारखाना आदि।

१०. अब कुटुंब और सगेके सिवाय स्त्री, पुत्र आदि जो अति समीपके हैं अथवा जो अपनेसे उत्पन्न हुए हैं वे भी।

११. इस तरह सबको बरतरफ करनेसे अंतमें जो अपना शरीर कहा जाता है उसके लिये विचार किया जाता है–

१. काया, वचन और मन ये तीन योग और इनकी क्रिया।
२. पाँच इन्द्रिय आदि।
३. सिरके बालोंसे लेकर पैरके नख तकका प्रत्येक अवयव जैसे कि–
४. सभी स्थानोंके बाल, चर्म (चमड़ी), खोपड़ी, भेजा, मांस, लहू, नाडी, हड्डी, सिर, कपाल, कान, आँख, नाक, मुख, जिह्वा, दांत, गला, होंठ, ठोडी, गरदन, छाती, पीठ, पेट, रीढ़, कमर, गुदा, चूतड, लिंग, जाँघ, घुटना, हाथ, बाहु, कलाई, कुहनी, टखना, चपनी, एडीके नीचेका भाग, नख इत्यादि अनेक अवयव अर्थात् विभाग।

उपर्युक्तमेंसे एक भी इस जीवका नहीं है, फिर भी अपना मान बैठा है, वह सुधरनेके लिये अथवा उससे जीवको व्यावृत्त करनेके लिये मात्र मान्यताकी भूल है, वह सुधारनेसे ठीक हो सकती है। वह भूल कैसे हुई है ? उसका विचार करनेसे पता चलता है कि वह भूल राग, द्वेष और अज्ञानसे हुई है। तो उन राग आदिको दूर करें। वे कैसे दूर हों ? ज्ञानसे। वह ज्ञान किस तरह प्राप्त हो ?

प्रत्यक्ष सद्गुरुकी अनन्य भक्तिकी उपासना करनेसे तथा तीन योग और आत्माका अर्पण करनेसे वह ज्ञान प्राप्त होता है। यदि वे प्रत्यक्ष सद्गुरु विद्यमान न हो तो क्या करें ? तो उनकी आज्ञानुसार वर्तन करें।

परम करुणाशील, जिनके प्रत्येक परमाणुसे दयाका झरना बह रहा है, ऐसे निष्कारण दयालुको अत्यंत भक्तिसहित नमस्कार करके आत्माके साथ संयुक्त हुए पदार्थोंका विचार करते हुए भी अनादिकालके देहात्मबुद्धिके

३ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ २]

जीवकी व्यापकता, परिणामिता, कर्मसंबद्धता, मोक्षक्षेत्र ये किस प्रकारसे घटित हो सकते है, इसका विचार किये बिना तथारूप समाधि नहीं होती। गुण और गुणीका भेद किस तरह समझमें आना योग्य है ?

जीवकी व्यापकता, सामान्यविशेषात्मकता, परिणामिता, लोकालोकज्ञायकता, कर्मसम्बद्धता मोक्षक्षेत्र, ये पूर्वापर अविरोधसे किस तरह सिद्ध होते हैं ?

एक ही जीव नामके पदार्थको भिन्न भिन्न दर्शन, संप्रदाय और मत भिन्न भिन्न स्वरूपसे कहते हैं, उसका कर्मसंबंध और मोक्ष भी भिन्न भिन्न स्वरूपसे कहते हैं, इसलिये निर्णय करना दुष्कर क्यों नहीं है ?

---

४ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ३]

सहज

जो पुरुष इस ग्रंथमें सहज नोंध करता है, उस पुरुषके लिये प्रथम सहज वही पुरुष लिखता है।

उसकी अभी अंतरंगमें ऐसी दशा रहती है कि कुछके सिवाय उसने सभी संसारी इच्छाओंकी भी विस्मृति कर डाली है।

वह कुछ पा भी चुका है, और पूर्णका परम मुमुक्षु है, अंतिम मार्गका निःशंक जिज्ञासु है।

अभी जो आवरण उसके उदयमें आये हैं, उन आवरणोंसे उसे खेद नहीं है; परंतु वस्तुभावमें होनेवाली मंदताका खेद है।

वह धर्मकी विधि, अर्थकी विधि, कामकी विधि और उसके आधारसे मोक्षकी विधिको प्रकाशित कर सकता है। इस कालमें बहुत ही थोड़े पुरुषोंको प्राप्त हुआ होगा, ऐसे क्षयोपशमवाला पुरुष है।

उसे अपनी स्मृतिके लिये गर्व नहीं है, तर्कके लिये गर्व नहीं है, तथा उसके लिये पक्षपात भी नहीं है; ऐसा होनेपर भी उसे कुछ बाह्याचार रखना पड़ता है, उसके लिये खेद है।

उसका अब एक विषयको छोड़कर दूसरे विषयमें ठिकाना नहीं हैं। वह पुरुष यद्यपि तीक्ष्ण उपयोगवाला है, तथापि उस तीक्ष्ण उपयोगको दूसरे किसी भी विषयमें लगानेके लिये वह प्रीति नहीं रखता। [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ४]

अभ्याससे जैसा चाहिये वैसा समझमें नहीं आता, तथापि किसी भी अंशमें देहसे आत्मा भिन्न है ऐसे अनिर्धारित निर्णय पर आया जा सकता है। और उसके लिये वारंवार गवेषणा की जाये तो अब तक जो प्रतीति होती है उससे विशेषरूपसे हो सकना संभव है; क्योंकि ज्यों ज्यों विचारश्रेणिकी दृढ़ता होती जाती है त्यों त्यों विशेष प्रतीति होती जाती है।

सभी संयोगों और संबंधोंका यथाशक्ति विचार करनेसे यह तो प्रतीति होती है कि देहसे भिन्न ऐसा कोई पदार्थ है।

ऐसे विचार करनेके लिये एकांत आदि जो साधन चाहिये वे प्राप्त न करनेसे विचार-श्रेणीको किसी न किसी प्रकारसे वारंवार व्याघात होता है और उससे चलती हुई विचारश्रेणी टूट जाती है। ऐसी टूटी-फूटी विचारश्रेणी होते हुए भी क्षयोपशमके अनुसार विचार करते हुए जड़-पदार्थ (शरीर आदि) के सिवाय उसके संबंधमें कोई भी वस्तु है, अवश्य है ऐसी प्रतीति हो जाती है। आवरणके बलसे अथवा तो अनादिकालके देहात्मबुद्धिके अध्याससे यह निर्णय भुला दिया जाता है, और भूलवाले रास्तेपर गमन हो जाता है।

५ [संस्मरण-पोथी १ पृष्ठ ९]

एक बार वह स्वभुवनमें बैठा था। जगतमें कौन सुखी है, उसे जरा देखूँ तो सही, फिर मैं अपने लिये विचार करूँगा। उसकी इस अभिलाषाको पूर्ण करनेके लिये अथवा स्वयं उस संग्रहालयको देखनेके लिये बहुतसे पुरुष (आत्मा) और बहुतसे पदार्थ उसके पास आये।

'इसमें कोई जड़ पदार्थ न था।'

'कोई अकेला आत्मा देखनेमें नहीं आया।'

मात्र कितने ही देहधारी थे, जो मेरी निवृत्तिके लिये आये हों ऐसी उस पुरुषको शंका हुई।

वायु, अग्नि, पानी और भूमि इनमेंसे कोई क्यों नहीं आया ?

(नेपथ्य) वे सुखका विचार भी नहीं कर सकते। वे बिचारे दुःखसे पराधीन है।

दो इंद्रिय जीव क्यों नहीं आये ?

(नेपथ्य) उनके लिये भी यही कारण है। इस चक्षुसे देखिये। उन बिचारोंको कितना अधिक दुःख है ?

उनका कम्प, उनकी थरथराहट, पराधीनता इत्यादि देखे नहीं जा सकते। वे बहुत दुःखी थे।

[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १०]

(नेपथ्य) इसी चक्षुसे अब आप सारा जगत देख लें। फिर दूसरी बात करें।

अच्छी बात है। दर्शन हुआ, आनन्द पाया; परंतु फिर खेद उत्पन्न हुआ।

(नेपथ्य) अब खेद क्यों करते हैं ?

मुझे दर्शन हुआ, क्या वह सम्यक् था ?

"हाँ"

सम्यक् हो तो फिर चक्रवर्ती आदि दुःखी क्यों दिखायी देते हैं ?

'जो दुःखी हो वे दुःखी, और जो सुखी हो वे सुखी दिखायी देंगे।'

चक्रवर्ती तो दुःखी नहीं होगा ?

'जैसा दर्शन हुआ वैसी श्रद्धा करें। विशेष देखना हो तो चलिये मेरे साथ।'

चक्रवर्तीके अंतःकरणमें प्रवेश किया।

अंतःकरण देखकर मैंने यह माना कि वह दर्शन सम्यक् था। उसका अंतःकरण बहुत दुःखी था। अनंत भयके पर्यायोंसे वह थरथराता था। काल आयुकी रस्सीको निगल रहा था। हड्डी-मांसमें उसकी वृत्ति थी। कंकरोंमें उसकी प्रीति थी। क्रोध, मानका वह उपासक था। बहुत दुःख—

[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ११]

अच्छा, क्या यह देवोंका दर्शन भी सम्यक् समझना ?

'निश्चय करनेके लिये इंद्रके अंतःकरणमें प्रवेश करें।'

चलिये अब—

(उस इंद्रकी भव्यतासे मैं धोखा खा गया) वह भी परम दुःखी था। बिचारा च्युत होकर किसी बीभत्स स्थलमें जन्म लेनेवाला था, इसलिये खेद कर रहा था। उसमें सम्यग्दृष्टि नामकी देवी बसी थी। वह उसके लिये खेदमें विश्रांति थी। इस महादुःखके सिवाय उसके और अनेक अव्यक्त दुःख थे।

परंतु, (नेपथ्य)—ये जड़ अकेल या आत्मा अकेले जगतमें नहीं हैं क्या ? उन्होंने मेरे आमंत्रणका सन्मान नहीं किया।

'जड़ोंको ज्ञान न होनेसे आपका आमंत्रण वे बिचारे कहाँसे स्वीकार करते ? सिद्ध (एकात्मभावी) आपका आमंत्रण स्वीकार नहीं कर सकते। उन्हें इसकी कुछ परवाह नहीं है।'

इतनी अधिक बेपरवाही ? आमंत्रण तो मान्य करना ही चाहिये; आप क्या कहते हैं ?

'इन्हें आमंत्रण-अनामंत्रणसे कोई संबंध नहीं है।

[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १२]

वे परिपूर्ण स्वरूपसुखमें विराजमान हैं।'

यह मुझे बताइये। एकदम—बहुत जल्दीसे।

'उनका दर्शन तो बहुत दुर्लभ है। लीजिये, यह अंजन आँजकर दर्शन प्रवेश साथमें कर देखें।

अहो ! ये बहुत सुखी हैं। इन्हें भय भी नहीं है। शोक भी नहीं है। हास्य भी नहीं है। वृद्धता नहीं है। रोग नहीं है। आधि भी नहीं है, व्याधि भी नहीं है, उपाधि भी नहीं है, यह सब कुछ नहीं है। परंतु.....अनंत-अनंत सच्चिदानंदसिद्धिसे वे पूर्ण हैं। हमें ऐसा होना है।

'क्रमसे हुआ जा सकेगा।'

यह क्रम-ब्रम यहाँ नहीं चलेगा। यहाँ तो तुरंत वही पद चाहिये।

'जरा शांत हो, समता रखें, और क्रमको अंगीकार करें। नहीं तो उस पदसे युक्त होना संभव नहीं।'

"होना संभव नहीं" इस अपने वचनको आप वापस लें। क्रम त्वरासे बतायें, और उस पदमें तुरंत भेजें।

'बहुतसे मनुष्य आये हैं। उन्हें यहाँ बुलाइयें। उनमेंसे आपको क्रम मिल सकेगा।'

[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १३]

चाहा कि वे आये;—

आप मेरा आमंत्रण स्वीकार कर चले आये इसके लिये आपका उपकार मानता हूँ। आप सुखी हैं, यह बात सच है क्या ? आपका पद क्या सुखवाला माना जाता है ऐसा ?

एक वृद्ध पुरुषने कहा—'आपका आमंत्रण स्वीकार करना या न करना ऐसा हमें कुछ बंधन नहीं है। हम सुखी हैं या दुःखी, यह बतानेके लिये भी हमारा यहाँ आगमन नहीं है। अपने पदकी व्याख्या करनेके लिये भी आगमन नहीं है। आपके कल्याणके लिये हमारा आगमन है।'

कृपा करके शीघ्र कहिये कि आप मेरा क्या कल्याण करेंगे ? और आये हुए पुरुषोंकी पहचान कराइये।

उन्होंने पहले परिचय कराया—

इस वर्गमें ४-५-६-७-८-९-१०-१२ नंबरवाले मुख्यतः मनुष्य हैं। ये सब उसी पदके आराधक योगी हैं कि जिस पदको आपने प्रिय माना है। [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १४]

नं० ४ से वह पद ही सुखरूप है, और बाकीकी जगत-व्यवस्था जैसे हम मानते हैं, वैसे वे मानते हैं। उस पदके लिये उनकी हार्दिक अभिलाषा है परंतु वे प्रयत्न नहीं कर सकते, क्योंकि कुछ समय तक उन्हें अंतराय है।

अंतराय क्या ? करनेके लिये तत्पर हुए कि बस वह हो गया।

वृद्ध—आप जल्दी न करें। इसका समाधान अभी आपको मिल सकेगा, मिल जायेगा।

ठीक, आपकी इस बातसे मैं सम्मत होता हूँ।

वृद्ध—यह '५' नंबरवाला कुछ प्रयत्न भी करता है। बाकी सब बातोंमें नंबर '४' की तरह है।

नंबर '६' सब प्रकारसे प्रयत्न करता है। परंतु प्रमत्तदशासे प्रयत्नमें मंदता आ जाती है।

नंबर '७' सर्वथा अप्रमत्त-प्रयत्नवान है।

नंबर '८-९-१०' उसकी अपेक्षा क्रमसे उज्ज्वल हैं, किंतु उसी जातिके हैं। '११' नंबरवाला पतित हो जाता है इसलिये उसका यहाँ आना नहीं हुआ। दर्शन होनेके लिये मैं बारहवेंमें ही हूँ—अभी मैं उस पदको संपूर्ण देखनेवाला हूँ, परिपूर्णता पानेवाला हूँ। आयुस्थिति पूरी होनेपर आपके देखे हुए पदमें एक मुझे भी देखेंगे।

[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १५]

पिताजी, आप महाभाग्य है।

ऐसे नंबर कितने हैं ?

वृद्ध—पहले तीन नंबर आपको अनुकूल नहीं आयेंगे। ग्यारहवाँ भी वैसा ही है। '१३-१४' आपके पास आयें ऐसा उनको निमित्त नहीं रहा। '१३' यत्किंचित् आ जाये; परंतु [1]पू० क० हो तो उनका आगमन हो, नहीं तो नहीं। चौदहवेंका आगमन-कारण मत पूछना, कारण नहीं है।

(नेपथ्य) "आप इन सबके अंतरमें प्रवेश करें। मैं सहायक होता हूँ।"

चलिये। ४ से ११ + १२ तक क्रम-क्रमसे सुखकी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई लहरें उमड़ रही थीं। अधिक क्या कहें ? मुझे वह बहुत प्रिय लगा; और यही मुझे अपना लगा।

वृद्धने मेरे मनोगत भावको जानकर कहा—यही है आपका कल्याणमार्ग। जायें तो भले और आयें तो यह समुदाय रहा।

मैं उठकर उनमें मिल गया।

[स्वविचार भुवन, द्वार प्रथम]

---

६ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १७]

कायाकी नियमितता।
वचनकी स्याद्वादिता।
मनकी उदासीनता।
आत्माकी मुक्तता।
(यह अंतिम समझ)

---

७ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १८]

आत्मसाधन

द्रव्य—मैं एक हूँ, असंग हूँ, सर्व परभावसे मुक्त हूँ।

क्षेत्र—असंख्यात निज-अवगाहना प्रमाण हूँ।

काल—अजर, अमर, शाश्वत हूँ। स्वपर्याय-परिणामी समयात्मक हूँ।

भाव—शुद्ध चैतन्य मात्र निर्विकल्प द्रष्टा हूँ।

---

१. पूर्वकर्म।

८ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १९]

वचनसंयम –	वचनसंयम –	वचनसंयम।
मनःसंयम –	मनःसंयम –	मनःसंयम।
कायसंयम –	कायसंयम –	कायसंयम।

कायसंयम

इंद्रियसंक्षेपता, आसनस्थिरता।

इंद्रियस्थिरता, सोपयोग यथासूत्र प्रवृत्ति।

वचनसंयम

मौन, सोपयोग यथासूत्र प्रवृत्ति।

वचनसंक्षेप, वचनगुणातिशयता।

मनःसंयम

मनःसंक्षेपता, मनःस्थिरता।

आत्मचिंतन।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव

संयमकारण निमित्तरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।

द्रव्य–संयमित देह।

क्षेत्र–निवृत्तिवाले क्षेत्रमें स्थिति-विहार।

काल–यथासूत्र काल।

भाव–यथासूत्र निवृत्तिसाधनविचार।

---

९ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ २१]

जो सुखको न चाहता हो वह नास्तिक, या सिद्ध या जड़ है।

---

१० [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ २५]

यही स्थिति–यही भाव और यही स्वरूप।

चाहे तो कल्पना करके दूसरी राह ले। यथार्थकी इच्छा हो तो यह.....लें।

विभंग ज्ञान-दर्शन अन्य दर्शनमें माना गया है। इसमें मुख्य प्रवर्तकोंने जिस धर्ममार्गका बोध दिया है, उसके सम्यक् होनेके लिये स्यात् मुद्रा चाहिये।

स्यात् मुद्रा स्वरूपस्थित आत्मा है। श्रुतज्ञानकी अपेक्षासे स्वरूपस्थित आत्मा द्वारा कही हुई शिक्षा है।

नाना प्रकारके नय, नाना प्रकारके प्रमाण, नाना प्रकारके भंगजाल, नाना प्रकारके अनुयोग, ये सब लक्षणरूप हैं। लक्ष्य एक सच्चिदानंद है।

दृष्टिविष दूर हो जानेके बाद कोई भी शास्त्र, कोई भी अक्षर, कोई भी कथन, कोई भी वचन और कोई भी स्थल प्रायः अहितका कारण नहीं होता।

पुनर्जन्म है, जरूर है, इसके लिये मैं अनुभवसे हाँ कहनेमें अचल हूँ।

इस कालमें मेरा जन्म मानूँ तो दुःखदायक है, और मानूँ तो सुखदायक भी है।

[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ २६]

अब ऐसा कोई पढ़ना नहीं रहा कि जिसे पढ़ देखें। हम जो हैं उसे प्राप्त करे, यह जिसके संगमें रहा है उस संगकी इस कालमें न्यूनता हो गयी है।

विकराल काल !.....विकराल कर्म !.....विकराल आत्मा !.....जैसे.....परंतु ऐसे.....

अब ध्यान रखें। यही कल्याण है।

---

११ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ २७]

इतना ही खोजा जाये तो सब मिल जायेगा; अवश्य इसमें ही है। मुझे निश्चित अनुभव है। सत्य कहता हूँ। यथार्थ कहता हूँ। निःशंक मानें।

इस स्वरूपके लिये सहज सहज किसी स्थलपर लिख मारा है।

---

१२ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ २९]

*मारग साचा मिल गया, छूट गये संदेह।
होता सो तो जल गया, [1]भिन्न किया निज देह॥

समज, पिछें सब सरल है, बिनू समज मुशकील।
ये मुशकीली क्या कहूँ ?.....॥

खोज़ पिंड़ ब्रह्मांडका, पत्ता तो लग जाय।
येहि ब्रह्मांडि वासना, जब जावे तब.....॥

आप आपकुं भूल गया, इनसे क्या अंधेर ?
समर समर अब हसत हैं, [1]नहि भूलेंगे फेर॥

जहाँ कलपना-जलपना, तहाँ मानुं दुःख छांई।
मिटे कलपना-जलपना, तब वस्तू तिन पाई॥

---

* **भावार्थ**—मोक्षका सच्चा मार्ग प्राप्त हुआ, जिससे सभी संदेह दूर हो गये। मिथ्यात्वसे जो कर्मबंध हुआ करता था वह जलकर नष्ट हो गया और चैतन्यस्वरूप आत्मा कर्मसे भिन्न प्रतीत हुआ।

आत्मस्वरूपका बोध हो जानेके बाद सब कुछ सरल हो जाता है अर्थात् आत्मसिद्धिका मार्ग और आत्मसिद्धि दोनों एकदम स्पष्ट एवं सरल हो जाते हैं। जब तक यथार्थ बोध नहीं होता तब तक मार्गप्राप्ति कठिन है। इस कठिनताकी बात क्या कहूँ ?

अपने पिंड़—शरीरमें परमात्माकी खोज कर अर्थात् आंतरिक खोजसे आत्मस्वरूपका अनुभव होगा और उस अनुभवके बढ़नेसे केवल ज्ञानमय दशा प्राप्त होगी जिससे ब्रह्मांड-समस्त विश्वका पता चल जायेगा। यह सब तभी हो सकता है कि जब ब्रह्मांडी वासना—जगतकी माया दूर हो जाये।

अहो ! यह जीव अपने आपको भूल गया है, इससे बढ़कर और क्या अंधेर होगा ? इस आत्मभ्रांति किंवा आत्मविस्मृतिकी समझ आनेसे उसे हँसी आती है और वैसी भूल फिर न करनेका निश्चय करता है।

जब तक कल्पना और जल्पना है अर्थात् मन और वचनकी दौड चलती है तब तक दुःख मानता हूँ। जिसकी कल्पना-जल्पना मिट जाती है उसे वस्तुकी प्राप्ति होती है। तात्पर्य कि आत्म-प्राप्तिके लिये मनकी स्थिरता और वाणीका संयम अनिवार्य है।

हे जीव ! अब तू किसकी इच्छा करता है ? इच्छा मात्र दुःखका मूल है। जब इच्छाका नाश होगा तब आत्मभ्रांतिरूप अनादिकी भूल दूर होकर स्वरूपप्राप्ति होगी।

१. मूल संस्मरण-पोथीमें ये चरण नहीं है, परंतु श्रीमद्ने स्वयं ही बादमें पूर्ति की है।

[1]हे जीव ! क्या इच्छत हवे ? है इच्छा दुःख मूल।
जब इच्छाका नाश तब, मिटे अनादि भूल॥
ऐसी कहाँसे मति भई, आप आप है नाहिं।
आपनकुं जब भूल गये, अवर कहाँसे लाई॥

आप आप ए शोधसें, आप आप मिल जाय। [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ३०]
आप मिलन नय बापको,..... ॥

---

१३ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ३३]

एक बार वह स्वभुवनमें बैठा था।.....प्रकाश था;—मंदता थी।

मंत्रीने आकर उसे कहा, आप किस विचारके लिये परिश्रम उठा रहे हैं ? वह योग्य हो तो इस दीनको बताकर उपकृत करें।

---

१४ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ३५]

*होत आसवा परिसवा, नहि इनमें संदेह।
मात्र दृष्टिकी भूल है, भूल गये गत एहि॥

रचना जिन उपदेशकी, परमोत्तम तिनु काल।
इनमें सब मत रहत हैं, करते निज संभाल॥

जिन सो ही है आतमा, अन्य होई सो कर्म।
कर्म कटे सो जिन बचन, तत्त्वज्ञानीको मर्म॥

जब जान्यो निजरूपको, तब जान्यो सब लोक।
[2]नहि जान्यो निजरूपको, सब जान्यो सो फोक॥

एहि दिशाकी मूढ़ता, है नहि जिनपें भाव।
जिनसें भाव बिनु कबू, नहि छूटत दुःखदाव॥

---

१. पाठांतर—'क्या इच्छत ? खोवत सबे।'

हे जीव ! तुझे अपने आपको भूल जानेकी बुद्धि कहाँसे आयी ? अपने आपको तो भूल गया परंतु देह आदि अन्यको अपना मानना कहाँसे ले आया ?

तुझे आत्मभान एवं आत्मप्राप्ति तब होगी जब तू आत्मनिष्ठा तथा आत्मश्रद्धासे अपने आपकी खोज करेगा। अर्थात् जब बहिर्मुखताकी माया छोड़कर अंतर्मुखता अपनायेगा तब आत्म-मिलनसे कृतकृत्य हो जायेगा।

* **भावार्थ**—अंतर्मुखी ज्ञानीके लिये आस्रव भी संवररूप तथा निर्जरारूप होते हैं यह निःसंदेह सत्य है। आत्मा बहिर्मुख-दृष्टिसे देह गेह आदिको अपना मान रहा है, यही भूल है। अंतर्मुख होनेसे यह भूल दूर होती है, फिर कर्मों का आस्रव और बंध दूर होकर संवर तथा निर्जरा करके मुक्त ज्ञानमयदशा प्राप्तकर जीव कृतार्थ हो जाता है।

जिनेश्वरके उपदेशकी रचना तीनों कालमें परमोत्तम है। छहों दर्शन अथवा सभी धर्म-मत अपनी अपनी संभाल करते हुए वीतरागदर्शनमें समा जाते हैं, क्योंकि वह एकांतवादी न होकर अनेकांतवादी है।

जिनेश्वर ही आत्मा है, कर्म आत्मासे भिन्न है और जिनेश्वरके वचन कर्मका नाशक हैं, यह मर्म तत्त्वज्ञानियोंने बताया है।

यदि निजस्वरूपको जान लिया तो सब लोकको जान लिया, और यदि आत्मस्वरूपको नहीं जाना तो सब जाना हुआ व्यर्थ है, अर्थात् आत्मज्ञानके बिना दूसरा सब ज्ञान निरर्थक है।

दिशामूढ़ जीवकी यही मूर्खता है कि उसे संसारके पदार्थोंसे प्रीति है, परंतु जिनेंद्र भगवानसे प्रेम नहीं है। वीतरागसे प्रेम किये बिना संसारका दुःख कभी दूर नहीं होता।

२. पाठांतर—'होत न्यूनसें न्यूनता।

व्यवहारसें देव जिन, निहचेसें है आप।
एहि बचनसें समज ले, जिनप्रवचनकी छाप॥

एहि नहीं है कल्पना, एही नहीं विभंग।
जब जागेंगे आतमा, तब लागेंगे रंग॥

---

१५ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ३७]

अनुभव

---

१६ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ३९]

यह त्यागी भी नहीं है, अत्यागी भी नहीं है। यह रागी भी नहीं है, वीतरागी भी नहीं है।

अपना क्रम निश्चल करें। उसके चारों ओर निवृत्त भूमिका रखें।

यह दर्शन होता है वह क्यों वृथा जाता है? इसका विचार पुनः पुनः करते हुए मूर्च्छा आती है।

संत जनोंने अपना क्रम नहीं छोड़ा है। जिन्होंने छोड़ा है वे परम असमाधिको प्राप्त हुए हैं।

संतपना अति अति दुर्लभ है। आनेके बाद संत मिलने दुर्लभ है। संतपनेके अभिलाषी अनेक हैं। परंतु संतपना दुर्लभ सो दुर्लभ ही है!

---

१७ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ४३]

प्रकाशभुवन

अवश्य वह सत्य है। ऐसी ही स्थिति है। आप इस ओर मुड़ें—

उन्होंने रूपकसे कहा है। भिन्न भिन्न प्रकारसे उससे बोध हुआ है, और होता है; परंतु वह विभंगरूप है।

यह बोध सम्यक् है। तथापि बहुत ही सूक्ष्म और मोह दूर होनेपर ग्राह्य हो सकता है।

सम्यक् बोध भी पूर्ण स्थितिमें नहीं रहा है। तो भी जो है वह योग्य है।

यह समझकर अब योग्य मार्ग ग्रहण करें।

कारण न खोजें, निषेध न करें, कल्पना न करें। ऐसा ही है।

यह पुरुष यथार्थवक्ता था। अयथार्थ कहनेका उन्हें कोई निमित्त न था।

---

१८ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ४६]

बड़ा आश्चर्य है कि निर्विकार मनवाले मुमुक्षु जिसके चरणोंकी भक्ति, सेवा चाहते हैं वैसे पुरुषको एक मृगतृष्णाके पानी जैसी,.....

---

१९ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ४७]

वह दशा किससे आवृत्त हुई? और वह दशा वर्धमान क्यों न हुई?

लोकप्रसंगसे, मानेच्छासे, अजागृतिसे, स्त्री आदि परिषहोंको न जीतनेसे।

जिस क्रियामें जीवको रंग लगता है, उसकी वहीं स्थिति होती है, ऐसा जो जिनेन्द्रका अभिप्राय है वह सत्य है।

व्यवहारनयसे जिनेश्वर देव है, और निश्चयनयसे तो अपना आत्मा ही देव है। इस वचनसे जिनेश्वरके प्रवचनके प्रभाव-महत्त्वको जीव समझ ले।

यह कथन मात्र कल्पना अर्थात् असत्य नहीं है, और यह विभंग-मिथ्याज्ञान भी नहीं है, अपितु नग्न सत्य है। जब आत्मा जागृत होगा अर्थात् अपने स्वरूपको पानेके लिये पुरुषार्थयुक्त होगा, तभी परमपदके रंगमें रंगेगा।

श्री तीर्थंकरने महामोहनीयके जो तीस स्थानक कहे हैं वे सच्चे हैं।

अनंत ज्ञानीपुरुषोंने जिसका प्रायश्चित्त नहीं बताया है, जिसके त्यागका एकांत अभिप्राय दिया है, ऐसे कामसे जो व्याकुल नहीं हुआ, वही परमात्मा है।

२०

[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ४९]

कोई ब्रह्मरसना भोगी,
कोई ब्रह्मरसना भोगी;
जाणे कोई विरला योगी,
कोई ब्रह्मरसना भोगी।

२१

[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ५१]

*२-२-३मा-१९५१

द्रव्य, एक लक्ष,
क्षेत्र, मोहमयी,
काल, मा० व०
८ १
भाव, उदयभाव

द्रव्य–	एक लक्ष	उदासीन
क्षेत्र–	मोहमयी	
काल–	८–१	इच्छा
भाव–	उदयभाव	प्रारब्ध

२२

[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ५२]

सामान्य चेतन	सामान्य चैतन्य
विशेष चेतन	विशेष चैतन्य
निर्विशेष चेतन	(चैतन्य)

स्वाभाविक अनेक आत्मा (जीव) निर्ग्रंथ।
सोपाधिक अनेक आत्मा (जीव) वेदांत।

२३

[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ५३]

चक्षु अप्राप्यकारी।
मन अप्राप्यकारी।
चेतनका बाह्य अगमन (गमन न होना)।

---

* स्पष्टीकरण–२-२-३ मा–१९५१ = [२ = द्वितीया, २ = कृष्णपक्ष, ३ = पौष, मा = मास, १९५१ = संवत् १९५१] = पौष वदी २, १९५१

द्रव्य = धन	एक लक्ष = एक लाख
क्षेत्र = स्थान	मोहमयी = बंबई
काल = समय	मा० व० ८-१ = एक वर्ष आठ महीने

–यह विचारणा पौष वदी २, १९५१ के दिन लिखी गयी है कि द्रव्य-मर्यादा एक लक्ष रुपयेकी करनी, बंबईमें एक वर्ष आठ महीने निवास करना, और ऐसी वृत्ति होनेपर भी उदय भावके अनुसार प्रवृत्ति करना।

[श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल, बंबई द्वारा प्रकाशित श्रीमद् राजचंद्र (हिन्दी) पृ०४३१ के फुटनोटसे उद्धृत]

२४ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ५५]

ज्ञानीपुरुषोंको समय समयमें अनंत संयमपरिणाम वर्धमान होते हैं ऐसा जो सर्वज्ञने कहा है वह सत्य है।

वह संयम, विचारकी तीक्ष्ण परिणतिसे तथा ब्रह्मरसके प्रति स्थिरतासे उत्पन्न होता है।

श्री तीर्थंकर आत्माको संकोच-विकासका भाजन योगदशामें मानते हैं, यह सिद्धांत विशेषतः विचारणीय है।

---

२५ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ५६]

ध्यान
ध्यान-ध्यान
ध्यान-ध्यान-ध्यान
ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान
ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान
ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान
ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान

---

२६ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ५७]

चिद्धातुमय, परमशांत, अडिग
एकाग्र, एकस्वभावमय
असंख्यात प्रदेशात्मक
पुरुषाकार चिदानंद-
घन उसका
ध्यान करें।



—का आत्यंतिक अभाव।
प्रदेश संबंधको प्राप्त हुए
पूर्वनिष्पन्न, सत्ताप्राप्त,
उदयप्राप्त, उदीरणाप्राप्त
चार ऐसे

ना० गो० आ० वेदनीयका
वेदन करनेसे इनका अभाव
जिसे हो गया है ऐसे शुद्ध स्वरूप जिन
चिन्मूर्त्ति, सर्व लोकालोकभासक
चमत्कारका धाम।

२७ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ५८]

विश्व अनादि है।
जीव अनादि है।
परमाणु-पुद्गल अनादि हैं।
जीव और कर्मका संबंध अनादि है।
संयोगी भावमें तादात्म्य अध्यास होनेसे जीव जन्म, मरण आदि दुःखोंका अनुभव करता है।

२८ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ५९]

पाँच अस्तिकायरूप लोक अर्थात् विश्व है।
चैतन्य लक्षण जीव है।
वर्ण-गंध-रस-स्पर्शवान परमाणु हैं।
वह संबंध स्वरूपसे नहीं है। विभावरूप है।

२९ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ६०]

शरीरमें आत्मभावना प्रथम होती हो तो होने देना, क्रमसे प्राणमें आत्मभावना करना, फिर इंद्रियोंमें आत्मभावना करना, फिर संकल्प-विकल्परूप परिणाममें आत्मभावना करना; फिर स्थिर ज्ञानमें आत्मभावना करना। वहाँ सर्व प्रकारकी अन्यालंबनरहित स्थिति करना।

३० [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ६१]

प्राण
वाणी } सोहं
रस } अनहद उसका ध्यान करना।

३१ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ६२]

संवत् १९५३ फागुन वदी १२, मंगलवार

जिन	मुख्य	आचार्य
सिद्धांत	पद्धति	धर्म
शांत रस	अहिंसा	मुख्य
लिंगादि	व्यवहार	जिनमुद्रा सूचक
मतांतर	समावेश	
शांत रस	प्रवहन	
जिन	अन्यको	धर्म प्राप्ति
लोकादि स्वरूप–	संशयकी	निवृत्ति समाधान
जिन	प्रतिमा	कारण

कुछ गृहव्यवहार शांत करके, परिग्रह आदि कार्यसे निवृत्त होना। अप्रमत्त गुणस्थानकपर्यंत पहुँचना। केवल भूमिका का सहजपरिणामी ध्यान--

---

३२ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ६३]

*धन्य रे दिवस आ अहो,
जागी रे शांति अपूर्व रे;
दश वर्षे रे धारा ऊलसी,
मट्यो उदय कर्मनो गर्व रे ॥धन्य०॥

ओगणीससें ने एकत्रीसे,
आव्यो अपूर्व अनुसार रे,
ओगणीससें ने बेताळीसे,
अद्‌भुत वैराग्य धार रे ॥धन्य०॥

ओगणीससें ने सुडताळीसे,
समकित शुद्ध प्रकाश्युं रे;
श्रुत अनुभव वधती दशा,
निज स्वरूप अवभास्युं रे ॥धन्य०॥

त्यां आव्यो रे उदय कारमो,
परिग्रह कार्य प्रपंच रे,
जेम जेम ते हडसेलीए,
तेम वधे न घटे एक रंच रे ॥धन्य०॥

[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ६४]

वधतुं एम ज चालियुं,
हवे दीसे क्षीण कांई रे;
क्रमे करीने रे ते जशे,
एम भासे मनमांहीं रे ॥धन्य०॥

---

* **भावार्थ**--अहो ! आजका दिन धन्य है, क्योंकि अपूर्व शांति प्रगट हुई है, और दस वर्षके बाद ज्ञान एवं वैराग्यकी धारा उल्लसित हुई है; और उपाधिरूप कर्मोदयका गर्व--बल नष्ट हो गया है।

वि०सं० १९३१ में सात वर्षकी उम्रमें जातिस्मरणज्ञान हुआ। वि०सं० १९४२में अद्‌भुत वैराग्यधारा प्रगट हुई।

वि०सं० १९४७ में शुद्ध सम्यक्त्व प्रकाशित हुआ; श्रुतज्ञान और अनुभवदशा दोनोंमें वृद्धि होती गई और निजस्वरूप अवभासित हुआ।

वहाँ तो प्रबल कर्मका उदय हुआ और व्यापार धंधेकी उपाधि सिर आ पड़ी। उसे ज्यों ज्यों दूर करनेका प्रयत्न करते हैं त्यों त्यों वह बढ़ती जाती है, मगर लेशमात्र भी कम नहीं होती।

यह उपाधि बढ़ती ही चली। अब किंचित् क्षीण हुई दीखती है; और क्रमशः यह उपाधि दूर हो जायेगी ऐसा हमें भास होता है।

यथा हेतु जे चित्तनो,
सत्य धर्मनो उद्धार रे;
थशे अवश्य आ देहथी,
एम थयो निरधार रे ॥धन्य०॥

आवी अपूर्व वृत्ति अहो,
थशे अप्रमत्त योग रे;
केवळ लगभग भूमिका,
स्पर्शीने देह वियोग रे ॥धन्य०॥

अवश्य कर्मनो भोग छे,
भोगववो अवशेष रे;
तेथी देह एक ज धारीने,
जाशुं स्वरूप स्वदेश रे ॥धन्य०॥

---

३३ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ६७]

[1]कम्मदव्वेहि सम्मं, संजोगो होई जो उ जीवस्स ।
सो बंधो नायव्वो, तस्स विओगो भवे मुक्खो ॥

---

३४ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ७३]

श्री जिनेंद्रने निम्नलिखित सम्यग्दर्शनस्वरूप जिन छः पदोंका उपदेश दिया है, उनका आत्मार्थी जीवको अतिशय विचार करना योग्य है।

आत्मा है यह **अस्तिपद**।

क्योंकि प्रमाणसे उसकी सिद्धि है।

आत्म नित्य है यह **नित्यपद**।

आत्माका जो स्वरूप है उसका किसी भी प्रकारसे उत्पन्न होना संभव नहीं है, तथा उसका विनाश भी संभव नहीं है।

आत्मा कर्मका कर्ता है, यह **कर्तापद**।

आत्मा कर्मका भोक्ता है।

[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ७४]

उस आत्माकी मुक्ति हो सकती है।

जिनसे मोक्ष हो सके ऐसे उपाय प्रसिद्ध हैं।

हमारे हृदयके उद्देशके अनुसार सत्य धर्मका उद्धार इस देहके द्वारा अवश्य होगा ऐसा निश्चय हुआ है।

हमारी ऐसी अपूर्ववृत्ति चलती है कि हमें इस देहमें अप्रमत्त योगकी प्राप्ति होगी और केवलज्ञानकी लगभगकी भूमिकाको स्पर्श करके इस देहका वियोग होगा।

(दशा तो इतनी ऊँची है, परंतु) अभी हमें कर्मका भोगना अवश्य अवशेष रहा है, इसलिये एक देह धारण कर कर्मसे मुक्त होकर स्वधामरूप मोक्षनगरीमें पहुँच जायेंगे।

१. अर्थके लिये देखें व्याख्यानसार २, आंक ३०।

३५ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ८०]

आत्मा–	वेदांत	जैन	सांख्य	योग	नैयायिक	बौद्ध
नित्य–	,,	,,	,,	,,	,,	+
अनित्य	+	,,	+	+	+	,,
परिणामी	+	,,	+	+	+	,,
अपरिणामी,,	,,	,,	+	+	+	+
साक्षी	,,	,,	,,	+	+	+
साक्षी-कर्ता	+	,,	+	,,	,,	+

---

३६ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ८१]

सांख्य कहता है कि बुद्धि जड़ है। पतंजलि और वेदांत ऐसा ही कहते हैं।
जिन कहता है कि बुद्धि चेतन है।
वेदांत कहता है कि आत्मा एक ही है।
जिन कहता है कि आत्मा अनंत है।
जाति एक है। सांख्य भी ऐसा ही कहता है।
पतंजलि भी ऐसा ही कहता है।

वेदांत कहता है कि यह समस्त विश्व वंध्यापुत्रवत् है।
जिन कहता है कि यह समस्त विश्व शाश्वत है।

पतंजलि कहता है कि नित्यमुक्त ऐसा एक ईश्वर होना चाहिये।
सांख्य उसका निषेध करता है। जिन उसका निषेध करता है।

---

३७ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ८७]

श्रीमान महावीरस्वामी जैसोंने अप्रसिद्ध पद रखकर गृहवासका वेदन किया, गृहवाससे निवृत्त होनेपर भी साढ़े बारह वर्ष जितने दीर्घकाल तक मौन रखा। निद्रा छोड़कर विषम परिषह सहन किये, इसका क्या हेतु है ?

और यह जीव इस तरह वर्तन करता है तथा इस तरह कहता है, उसका हेतु क्या है ?

जो पुरुष सद्गुरुकी उपासनाके बिना अपनी कल्पनासे आत्मस्वरूपका निर्धार करे वह मात्र अपने स्वच्छंदके उदयका वेदन करता है ऐसा विचार करना योग्य है।

जो जीव सत्पुरुषके गुणका विचार न करे, और अपनी कल्पनाके आश्रयसे वर्तन करे, वह जीव सहजमात्रमें भववृद्धि उत्पन्न करता है, क्योंकि अमर होनेके लिये जहर पीता है।

---

३८ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ८९]

श्री तीर्थंकरने सर्वसंगको महास्रवरूप कहा है, सो सत्य है।

ऐसी मिश्रगुणस्थानक जैसी स्थिति कब तक रखना ? जो बात चित्तमें नहीं, उसे करना, और जो चित्तमें है उसमें उदास रहना ऐसा व्यवहार किस तरह हो सकता है ?

वैश्यवेषसे और निर्ग्रंथभावसे रहते हुए कोटि-कोटि विचार हुआ करते हैं।

वेष और उस वेषसंबंधी व्यवहार देखकर लोकदृष्टि वैसा माने यह सच है, और निर्ग्रंथभावमें रहता हुआ चित्त उस व्यवहारमें यथार्थ प्रवृत्ति न कर सके यह भी सत्य है, जिसके लिये इन दो प्रकारकी एक स्थितिसे प्रवृत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि प्रथम प्रकारसे प्रवृत्ति करते हुए निर्ग्रंथभावसे उदास रहना पड़े तो ही यथार्थ व्यवहारकी रक्षा हो सकती है, और निर्ग्रंथभावसे रहें तो फिर वह व्यवहार चाहे जैसा हो उसकी उपेक्षा करना योग्य है। यदि उपेक्षा न की जाये तो निर्ग्रंथभावकी हानि हुए बिना नहीं रहेगी। [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ९०]

उस व्यवहारका त्याग किये बिना अथवा अत्यंत अल्प किये बिना निर्ग्रंथता यथार्थ नहीं रहती, और उदयरूप होनेसे व्यवहारका त्याग नहीं किया जाता।

ये सर्व विभाव-योग दूर हुए बिना हमारा चित्त दूसरे किसी उपायसे संतोष प्राप्त करे, ऐसा नहीं लगता।

वह विभावयोग दो प्रकारका है—एक पूर्वमें निष्पन्न किया हुआ उदयस्वरूप, और दूसरा आत्मबुद्धिसे रागसहित किया जानेवाला भावस्वरूप।

आत्मभावसे विभावसंबंधी योगकी उपेक्षा ही श्रेयभूत लगती है। नित्य उसका विचार किया जाता है, उस विभावरूपसे रहनेवाले आत्मभावको बहुत परिक्षीण किया है, और अभी भी वही परिणति रहती है।

उस संपूर्ण विभावयोगको निवृत्त किये बिना चित्त विश्रांतिको प्राप्त हो ऐसा नहीं लगता, और अभी तो उस कारणसे विशेष क्लेशका वेदन करना पड़ता है, क्योंकि उदय विभावक्रियाका है और इच्छा आत्मभावमें स्थिति करनेकी है। [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ९१]

फिर भी ऐसा रहता है कि यदि उदयकी विशेषकाल तक प्रवृत्ति रहे तो आत्मभाव विशेष चंचल परिणामको प्राप्त होगा; क्योंकि आत्मभावके विशेष संधान करनेका अवकाश उदयकी प्रवृत्तिके कारण प्राप्त नहीं हो सकेगा, और इसलिये वह आत्मभाव कुछ भी अजागृतावस्थाको प्राप्त हो जायेगा।

जो आत्मभाव उत्पन्न हुआ है, उस आत्मभावपर यदि विशेष ध्यान दिया जाये तो अल्प कालमें उसकी विशेष वुद्धि हो, और विशेष जागृतावस्था उत्पन्न हो, और थोड़े समयमें हितकारी उग्र आत्मदशा प्रगट हो, और यदि उदयकी स्थितिके अनुसार उदयका काल रहने देनेका विचार किया जाये तो अब आत्मशिथिलता होनेका प्रसंग आयेगा, ऐसा लगता है; क्योंकि दीर्घकालका आत्मभाव होनेसे अब तक चाहे जैसा उदयबल होनेपर भी वह आत्मभाव नष्ट नहीं हुआ, तो भी कुछ कुछ उसकी अजागृतावस्था होने देनेका वक्त आया है; ऐसा होनेपर भी अब केवल उदयपर ध्यान दिया जायेगा तो शिथिलभाव उत्पन्न होगा। [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ९२]

ज्ञानीपुरुष उदयवश देहादि धर्मकी निवृत्ति करते हैं। इस तरह प्रवृत्ति की हो तो आत्मभाव नष्ट नहीं होना चाहिये; इसलिये इस बातको ध्यानमें रखकर उदयका वेदन करना योग्य है ऐसा विचार भी अभी योग्य नहीं है, क्योंकि ज्ञानके तारतम्यकी अपेक्षा उदयबल बढ़ता हुआ देखनेमें आये तो जरूर वहाँ ज्ञानीको भी जागृतदशा करना योग्य है, ऐसा श्री सर्वज्ञने कहा है।

अत्यंत दुषमकाल है इस कारण और हतपुण्य लोगोंने भरतक्षेत्रको घेरा है इस कारण, परम सत्संग, सत्संग या सरलपरिणामी जीवोंका समागम भी दुर्लभ है, ऐसा समझकर जैसे अल्प कालमें सावधान हुआ जाये, वैसे करना योग्य है।

३९ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ९३]

मौनदशा धारण करनी ?

व्यवहारका उदय ऐसा है कि वह धारण की हुई दशा लोगोंके लिये कषायका निमित्त हो, और व्यवहारकी प्रवृत्ति न हो सके।

तब क्या उस व्यवहारको निवृत्त करना ?

यह भी विचार करनेसे होना कठिन लगता है, क्योंकि वैसी कुछ स्थितिका वेदन करनेका चित्त रहा करता है। फिर चाहे वह शिथिलतासे, उदयसे, या परेच्छासे या सर्वज्ञदृष्ट होनेसे हो। ऐसा होनेपर भी अल्पकालमें इस व्यवहारको संक्षेप करनेका चित्त है।

इस व्यवहारका संक्षेप किस प्रकारसे किया जा सकेगा ?

क्योंकि उसका विस्तार विशेषरूपसे देखनेमें आता है। व्यापाररूपसे, कुटुंबप्रतिबंधसे, युवावस्था-प्रतिबंधसे, दयास्वरूपसे, विकारस्वरूपसे, उदयस्वरूपसे, इत्यादि कारणोंसे वह व्यवहार विस्ताररूपसे दिखाई देता है। [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ९४]

मैं ऐसा जानता हूँ कि अनन्तकालसे अप्राप्तवत् ऐसा आत्मस्वरूप केवलज्ञान-केवलदर्शनस्वरूपसे अंतर्मुहूर्तमें उत्पन्न किया है, तो फिर वर्ष–छः मासके कालमें इतना यह व्यवहार क्यों निवृत्त न हो सके ? मात्र जागृतिके उपयोगांतरसे उसकी स्थिति है, और उस उपयोगके बलका नित्य विचार करनेसे अल्प कालमें यह व्यवहार निवृत्त हो सकने योग्य है। तो भी इसकी किस तरहसे निवृत्ति करनी, यह अभी विशेषरूपसे मुझे विचार करना योग्य है ऐसा मानता हूँ, क्योंकि वीर्यमें कुछ भी मंद दशा रहती है। उस मंद दशाका हेतु क्या है ?

उदयबलसे प्राप्त हुआ परिचय मात्र परिचय है, ऐसा कहनेमें कोई बाधा है ? उस परिचयमें विशेष अरुचि रहती है, यह होनेपर भी वह परिचय करना पड़ा है। यह परिचयका दोष नहीं कहा जा सकता, परंतु निज दोष कहा जा सकता है। अरुचि होनेसे इच्छारूप दोष न कहकर उदयरूप दोष कहा है।

---

४० [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ९६]

बहुत विचार करनेसे नीचेका समाधान होता है।

एकांत द्रव्य, एकांत क्षेत्र, एकांत काल और एकांत भावरूप संयमका आराधन किये बिना चित्तकी शांति नहीं होगी ऐसा लगता है। ऐसा निश्चय रहता है।

वह योग अभी कुछ दूर होना संभव है, क्योंकि उदयबल देखते हुए उसके निवृत्त होनेमें कुछ विशेष समय लगेगा।

---

४१ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ९७]

माघ सुदी ७ शनिवार, विक्रम संवत् १९५१ के बाद डेढ़ वर्षसे अधिक स्थिति नहीं।

और उतने कालमें उसके बाद जीवनकाल किस तरह भोगना इसका विचार किया जायेगा।

---

४२ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ९८]

[1]अवि अप्पणो वि देहंमि नायरंति ममाइयं॥

---

१. भावार्थ–(तत्त्वज्ञानी) अपनी देहमें भी ममत्व नहीं करते।

४३ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १००]

काम, मान और उतावल इन तीनका विशेष संयम करना योग्य है।

---

४४ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १०१]

हे जीव! असारभूत लगनेवाले इस व्यवसायसे अब निवृत्त हो, निवृत्त!

वह व्यवसाय क्ररनेमें चाहे जितना बलवान प्रारब्धोदय दिखायी देता हो तो भी उससे निवृत्त हो, निवृत्त!

यद्यपि श्री सर्वज्ञने ऐसा कहा है कि चौदहवें गुणस्थानकमें रहनेवाला जीव भी प्रारब्धका वेदन किये बिना मुक्त नहीं हो सकता, तो भी तू उस उदयका आश्रयरूप होनेसे निज दोष जानकर उसका अत्यंत तीव्रतासे विचार करके उससे निवृत्त हो, निवृत्त!

केवल मात्र प्रारब्ध हो और अन्य कर्मदशा न रहती हो तो वह प्रारब्ध सहज ही निवृत्त हो जाता है, ऐसा परम पुरुषने स्वीकार किया है, परंतु वह केवल प्रारब्ध तब कहा जा सकता है कि जब प्राणांतपर्यंत निष्ठाभेददृष्टि न हो, और तुझे सभी प्रसंगोंमें ऐसा होता है, ऐसा जब तक संपूर्ण निश्चय न हो तब तक श्रेयस्कर यह है कि उसमें त्यागबुद्धि रखनी, इस बातका विचार करके हे जीव! अब तू अल्पकालमें निवृत्त हो, निवृत्त!

---

४५ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १०२]

हे जीव! अब तू संगनिवृत्तिरूप कालकी प्रतिज्ञा कर, प्रतिज्ञा कर!

सर्व-संगनिवृत्तिरूप प्रतिज्ञाका विशेष अवकाश देखनेमें न आये तो अंश-संगनिवृत्तिरूप इस व्यवसायका त्याग कर!

जिस ज्ञानदशामें त्यागात्याग कुछ संभव नहीं है उस ज्ञानदशाकी जिसमें सिद्धि है ऐसा तू सर्वसंगत्यागदशाका अल्पकालभी वेदन करेगा तो संपूर्ण जगतके प्रसंगमें रहेगा तो भी तुझे बाधरूप नहीं होगा। इस प्रकार वर्तन करनेपर भी निवृत्तिको ही सर्वज्ञने प्रशस्त कहा है, क्योंकि ऋषभ आदि सर्व परम पुरुषोंने अंतमें ऐसा ही किया है।

---

४६ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १०३]

सं० १९५१ के वैशाख सुदी ५ सोमके सायंकालसे प्रत्याख्यान।

सं० १९५१ के वैशाख सुदी १४ मंगलसे।

---

४७ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १०५]

क्षायोपशमिक ज्ञानके विकल होनेमें क्या देर?

---

४८ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १०६]

[1]"जेम निर्मळता रे रत्न स्फटिक तणी,
तेम ज जीव स्वभाव रे।
ते जिन वीरे रे धर्म प्रकाशियो,
प्रबळ कषाय अभाव रे॥"

---

१. अर्थके लिये देखें आंक ५८४

४९ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १०८]

वीतरागदर्शन

उद्देशप्रकरण
सर्वज्ञमीमांसा
षड्दर्शन-अवलोकन
वीतराग-अभिप्राय-विचार
व्यवहारप्रकरण
मुनिधर्म
आगारधर्म
मतमतांतर-निराकरण
उपसंहार

---

५० [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ११०]

नवतत्त्वविवेचन
गुणस्थानकविवेचन
कर्मप्रकृतिविवेचन
विचारपद्धति
श्रवणादिविवेचन
बोधबीजसंपत्ति
जीवाजीवविभक्ति
शुद्धात्मपदभावना

---

५१ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १११]

अंग
उपांग
मूल
छेद
आशयप्रकाशिता टीका
व्यवहार हेतु
परमार्थ हेतु
परमार्थ गौणताकी प्रसिद्धि
व्यवहारविस्तारका पर्यवसान
अनेकांतदृष्टि हेतु
स्वगतमतांतरनिवृत्तिप्रयत्न
उपक्रम उपसंहार अविसंधि
लोकवर्णन स्थूलत्व हेतु
वर्तमानकालमें आत्मसाधनभूमिका
वीतरागदर्शन-व्याख्याका अनुक्रम

---

५२ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ११३]

मूल

लोकसंस्थान ?
धर्म-अधर्म अस्तिकायरूप द्रव्य ?
स्वाभाविक अभव्यत्व ?
अनादि-अनंत सिद्धि ?
अनादि-अनंतका ज्ञान किस तरह ?
आत्मा संकोच-विकाससे ?
सिद्ध ऊर्ध्वगमन-चेतन, खंडवत् क्यों नहीं ?
केवलज्ञानमें लोकालोकका ज्ञातृत्व किस तरह ?
लोकस्थितिमर्यादा हेतु ?
शाश्वतवस्तुलक्षण ?

उत्तर

उस उस स्थानवर्ती सूर्य चंद्र आदि वस्तु,
अथवा नियमित गतिहेतु ?
दुषम-सुषमादि काल ?
मनुष्य-उच्चत्वादि प्रमाण ?
अग्निकायादिका निमित्तयोगसे एकदम उत्पन्न होना ?
एक सिद्ध वहाँ अनंत सिद्ध अवगाहना ?

---

५३ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ११४]

हेतु अवक्तव्य ?
एकमें पर्यवसान किस तरह हो सकता है ?
अथवा नहीं होता ?
व्यवहार रचना की है, ऐसा किसी हेतुसे सिद्ध होता है ?

---

५४ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ११५]

स्वस्थिति—आत्मदशाके संबंधमें विचार।
तथा उसका पर्यवसान।
उसके बाद लोकोपकार प्रवृत्ति ?
लोकोपकारप्रवृत्तिका नियम।
वर्तमानमें (अभी) किस तरह प्रवृत्ति करना उचित है ?

---

५५ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ११७]

आत्मपरिणामकी विशेष स्थिरता होनेके लिये वाणी और कायाका संयम उपयोगपूर्वक करना योग्य है।

---

५६ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ११८]

तीनों कालोंमें जो वस्तु जात्यांतर न हो उसे श्री जिनेंद्र द्रव्य कहते हैं।

कोई भी द्रव्य पर-परिणामसे परिणमन नहीं करता। स्वत्वका त्याग नहीं कर सकता।

प्रत्येक द्रव्य (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे) स्वपरिणामी है।

नियत अनादि मर्यादारूपसे रहता है।

जो चेतन है वह कभी अचेतन नहीं होता; जो अचेतन है यह कभी चेतन नहीं होता।

---

५७ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १२०]

हे योग!

---

५८ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १२१]

एक चैतन्यमें यह सब किस तरह घटित होता है?

---

५९ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १२२]

यदि इस जीवने वे विभावपरिणाम क्षीण न किये तो इसी भवमें वह प्रत्यक्ष दुःखका वेदन करेगा।

---

६० [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १२४]

जिस जिस प्रकारसे आत्माका चिंतन किया हो उस उस प्रकारसे वह प्रतिभासित होता है।

विषयार्त्ततासे जिस जीवकी विचारशक्ति मूढ़ हो गयी है उसे आत्माकी नित्यता भासित नहीं होती, ऐसा प्रायः दिखायी देता है, वैसा होता है यह यथार्थ है; क्योंकि अनित्य विषयमें आत्मबुद्धि होनेसे अपनी भी अनित्यता भासित होती है।

विचारवानको आत्मा विचारवान लगता है। शून्यरूपसे चिंतन करनेवालेको आत्मा शून्य लगता है, अनित्यरूपसे चिंतन करनेवालेको आत्मा अनित्य लगता है, नित्यरूपसे चिंतन करनेवालेको आत्मा नित्य लगता है।

चेतनकी उत्पत्तिके कुछ भी संयोग दिखायी नहीं देते, इसलिये चेतन अनुत्पन्न है। उस चेतनके विनष्ट होनेका कोई अनुभव नहीं होता, इसलिये अविनाशी है—नित्य अनुभवस्वरूप होनेसे नित्य है।

समय समयमें परिणामांतरको प्राप्त होनेसे अनित्य है।

स्वस्वरूपका त्याग करनेके अयोग्य होनेसे मूल द्रव्य है।

---

६१ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १२६]

सबकी अपेक्षा वीतरागके वचनको संपूर्ण प्रतीतिका स्थान कहना योग्य है, क्योंकि जहाँ राग आदि दोषोंका संपूर्ण क्षय होता है वहाँ संपूर्ण ज्ञानस्वभाव प्रगट होना योग्य है ऐसा नियम है।

श्री जिनेन्द्रमें सबकी अपेक्षा उत्कृष्ट वीतरागता होना संभव है, क्योंकि उनके वचन प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। जिस किसी पुरुषमें जितने अंशमें वीतरागताका संभव है उतने अंशमें उस पुरुषका वाक्य मानने योग्य है।

सांख्य आदि दर्शनोंमें बंध एवं मोक्षकी जो जो व्याख्याएँ बतायी हैं उन सबसे बलवान प्रमाणसिद्ध व्याख्या श्री जिनेंद्र वीतरागने कही है, ऐसा जानता हूँ।

शंका—जिन जिनेंद्रने द्वैतका निरूपण किया है, आत्माको खंड द्रव्यवत् कहा है, कर्ताभोक्ता कहा है, और निर्विकल्प समाधिके अंतरायमें मुख्य कारण हो ऐसी पदार्थकी व्याख्या की है, उन जिनेंद्रकी शिक्षा प्रबल प्रमाणसिद्ध है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है? केवल अद्वैत—और—

[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १२७]

सहजमें निर्विकल्प समाधिके कारणभूत वेदांत आदि मार्गकी, उसकी अपेक्षा अवश्य विशेष प्रमाणसिद्धता संभव है।

उत्तर–एक बार जैसे आप कहते हैं वैसे यदि मान भी लें, परंतु सर्व दर्शनकी शिक्षाकी अपेक्षा जिनेंद्रकथित बंध-मोक्षके स्वरूपकी शिक्षा जितनी अविकल प्रतिभासित होती है उतनी दूसरे दर्शनोंकी प्रतिभासित नहीं होती। और जो अविकल शिक्षा है वही प्रमाणसिद्ध है।

शंका–यदि आप ऐसा मानते हैं तो किसी तरह निर्णयका समय नहीं आ सकता; क्योंकि सब दर्शनोंमें, जिस जिस दर्शनमें जिसकी स्थिति है उस उस दर्शनके लिये वह अविकलता मानता है।

उत्तर–यदि ऐसा हो तो उससे अविकलता सिद्ध नहीं होती; जिसकी प्रमाणसे अविकलता हो वही अविकल सिद्ध होता है।

प्र०–जिस प्रमाणसे आप जिनेंद्रकी शिक्षाको अविकल मानते हैं उसे आप कहें, ओर जिस तरह वेदांत आदिको विकलता आपको संभवित लगती है, उसे भी कहें।

---

६२ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १३०]

अनेक प्रकारके दुःख तथा दुःखी प्राणी प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं, तथा जगतकी विचित्र रचना देखनेमें आती है, यह सब होनेका क्या हेतु है ? तथा उस दुःखका मूल स्वरूप क्या है ? और उसकी निवृत्ति किस प्रकारसे हो सकती है ? तथा जगतकी विचित्र रचनाका आंतरिक स्वरूप क्या है ? इत्यादि प्रकारमें जिसे विचारदशा उत्पन्न हुई है ऐसे मुमुक्षु पुरुषने, पूर्व पुरुषोंने उपर्युक्त विचारों संबंधी जो कुछ समाधान किया था, अथवा माना था, उस विचारके समाधानके प्रति भी यथाशक्ति आलोचना की। वह आलोचना करते हुए विविध प्रकारके मतमतांतर तथा अभिप्रायसंबंधी यथाशक्ति विशेष विचार किया, तथा नाना प्रकारके रामानुज आदि संप्रदायोंका विचार किया; तथा वेदांत आदि दर्शनका विचार किया। उस आलोचनामें अनेक प्रकारसे उस दर्शनके स्वरूपका मंथन किया, और प्रसंग प्रसंगपर मंथनकी योग्यताको प्राप्त हुए जैनदर्शनके संबंधमें अनेक प्रकारसे जो मंथन हुआ, उस मंथनसे उस दर्शनके सिद्ध होनेके लिये जो पूर्वापर विरोध जैसे मालूम होते हैं ऐसे निम्नलिखित कारण दिखायी दिये।

---

६३ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १३२]

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा आकाशास्तिकाय अरूपी होनेपर भी रूपी पदार्थको सामर्थ्य देते हैं, और ये तीन द्रव्य स्वभावपरिणामी कहे हैं, तो ये अरूपी होनेपर रूपीको कैसे सहायक हो सकते हैं ?

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय एकक्षेत्रावगाही हैं, और उनका स्वभाव परस्पर विरुद्ध है, फिर भी उनमें, गतिप्राप्त वस्तुके प्रति स्थिति-सहायकतारूपसे और स्थितिप्राप्त वस्तुके प्रति गतिसहायकतारूपसे विरोध किसलिये न आये ?

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और एक आत्मा ये तीन समान असंख्यातप्रदेशी हैं, इसका कोई दूसरा रहस्यार्थ है ?

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकायकी अवगाहना अमुक अमूर्ताकारसे है, ऐसा होनेमें कोई रहस्यार्थ है ?

लोकसंस्थानके सदैव एक स्वरूपसे रहनेमें कोई रहस्यार्थ है ?

एक तारा भी घट-बढ़ नहीं होता, ऐसी अनादि-स्थिति किस हेतुसे मानना ?

शाश्वतताकी व्याख्या क्या ? आत्मा या परमाणुको शाश्वत माननेमें कदाचित् मूल द्रव्यत्व कारण है; परंतु तारा, चंद्र, विमान आदिमें वैसा क्या कारण है ?

---

६४ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १३३]

सिद्ध आत्मा लोकालोकप्रकाशक है, परंतु लोकालोकव्यापक नहीं है, व्यापक तो स्वावगाहनाप्रमाण है। जिस मनुष्य-देहसे सिद्धिको प्राप्त की उसका तीसरा भाग कम वह प्रदेश घन है। अर्थात् आत्मद्रव्य लोकालोकव्यापक नहीं परंतु लोकालोकप्रकाशक अर्थात् लोकालोकज्ञायक है। आत्मा लोकालोकमें नहीं जाता, और लोकालोक कुछ आत्मामें नहीं आता, सब अपनी-अपनी अवगाहनामें स्वसत्तामें स्थित हैं, फिर भी आत्माको उसका ज्ञानदर्शन किस तरह होता है ?

यहाँ यदि यह दृष्टांत दिया जाये कि जैसे दर्पणमें वस्तु प्रतिबिंबित होती है वैसे ही आत्मामें भी लोकालोक प्रकाशित होता है, प्रतिबिंबित होता है, तो यह समाधान भी अविरोधी दिखायी नहीं देता, क्योंकि दर्पणमें तो विस्रसापरिणामी पुद्गलरश्मिसे वस्तु प्रतिबिंबित होती है।

आत्माका अगुरुलघु धर्म है, उस धर्मको देखते हुए आत्मा सब पदार्थोंको जानता है; क्योंकि सब द्रव्योंमें अगुरुलघु गुण समान है, ऐसा कहा जाता है, वहाँ अगुरुलघुधर्मका अर्थ क्या समझना ?

---

६५ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १३६]

आहारकी जय,
आसनकी जय,
निद्राकी जय,
वाक्संयम,
जिनोपदिष्ट आत्मध्यान।
जिनोपदिष्ट आत्मध्यान किस तरह ?
ज्ञानप्रमाण ध्यान हो सकता है, इसलिये ज्ञान-तारतम्यता चाहिये।
क्या विचार करनेसे, क्या माननेसे, क्या दशा होनेसे चौथा गुणस्थानक कहा जाये ?
किससे चौथे गुणस्थानकसे तेरहवें गुणस्थानकमें आये ?

---

६६ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १४८]

वर्तमानकालकी तरह यह जगत सर्वकाल है।
वह पूर्वकालमें न हो तो वर्तमानकालमें उसका अस्तित्व भी नहीं हो सकता।
वह वर्तमानकालमें है तो भविष्यकालमें वह अत्यंत विनष्ट नहीं हो सकता।
पदार्थ मात्र परिणामी होनेसे यह जगत पर्यायांतर दिखायी देता है, परंतु मूलरूपसे इसकी सदा विद्यमानता है।

---

६७ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १५०]

जो वस्तु समयमात्रके लिये है, वह सर्वकालके लिये है।
जो भाव है वह है, जो नहीं है वह नहीं है।
दो प्रकारका पदार्थस्वभाव विभागपूर्वक स्पष्ट दिखायी देता है—जड़स्वभाव और चेतन-स्वभाव।

---

६८ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १५२]

गुणातिशयता क्या है ?
उसका आराधन कैसे किया जाये ?
केवलज्ञानमें अतिशयता क्या है ?

तीर्थंकरमें अतिशयता क्या है ? विशेष हेतु क्या है ?

यदि जिनसम्मत केवलज्ञानको लोकालोकज्ञायक मानें तो उस केवलज्ञानमें आहार, निहार, विहार आदि क्रियाएँ किस तरह हो सकती हैं ?

वर्तमानमें उसकी इस क्षेत्रमें अप्राप्तिका हेतु क्या है ?

---

६९ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १५४]

मति,
श्रुत,
अवधि,
मनःपर्याय,
परमावधि,
केवल,

---

७० [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १५५]

परमावधिज्ञान उत्पन्न होनेके बाद केवलज्ञान उत्पन्न होता है, यह रहस्य अनुप्रेक्षा करने योग्य है।

अनादि अनंत कालका, अनंत ऐसे अलोकका ? गणितसे अतीत अथवा असंख्यातसे पर ऐसे जीवसमूह, परमाणु-समूह अनंत होनेपर भी अनंतताका साक्षात्कार हो वह गणितातीतता होनेपर भी किस तरह साक्षात् अनंतता मालूम हो ? इस विरोधका परिहार उपर्युक्त रहस्यसे होने योग्य समझमें आता है।

और केवलज्ञान निर्विकल्प है, उसमें उपयोगका प्रयोग नहीं करना पड़ता। सहज उपयोग वह ज्ञान है; यह रहस्य भी अनुप्रेक्षा करने योग्य है।

क्योंकि प्रथम सिद्ध कौन है ? प्रथम जीवपर्याय कौनसा है ? प्रथम परमाणु पर्याय क्या है ? यह केवलज्ञानगोचर है परंतु अनादि ही मालूम होता है; अर्थात् केवलज्ञान उसके आदिको नहीं पाता, और केवलज्ञानसे कुछ छिपा हुआ नहीं है, ये दो बातें परस्पर विरोधी हैं, इसके समाधानका रास्ता परमावधिकी अनुप्रेक्षासे तथा सहज उपयोगकी अनुप्रेक्षासे समझमें आने योग्य दिखायी देता है।

---

७१ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १५६]

कुछ भी है ?
क्या है ?
किस प्रकारसे है ?
जानने योग्य है ?
जाननेका फल क्या है ? [संस्मरण-पोथी १ पृष्ठ १५७]
बंधका हेतु क्या है ?
पुद्गलनिमित्त बंध या जीवके दोषसे बंध ?

जिस प्रकारसे माने उस प्रकारसे बंध दूर नहीं किया जा सकता ऐसा सिद्ध होता है। इसलिये मोक्षपदकी हानि होती है। उसका नास्तित्व सिद्ध होता है।

अमूर्तता यह कुछ वस्तुता है या अवस्तुता ?
अमूर्तता यदि वस्तुता है तो वह कुछ महत्त्ववान है या नहीं ? [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १५८]

मूर्त पुद्गल और अमूर्त्त जीवका संयोग कैसे घटित हो ?

धर्म, अधर्म और जीव द्रव्यकी क्षेत्रव्यापिता जिस प्रकारसे जिनेन्द्र कहते हैं, तदनुसार माननेसे वे द्रव्य उत्पन्न-स्वभावीकी तरह सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि मध्यम-परिणामिता है।

धर्म, अधर्म और आकाश ये वस्तुएँ द्रव्यरूपसे एक जाति और गुणरूपसे भिन्न जाति ऐसा मानना योग्य है, अथवा द्रव्यता भी भिन्न भिन्न मानने योग्य है ? [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १५९]

द्रव्यका क्या अर्थ है ? गुणपर्यायके बिना उसका दूसरा क्या स्वरूप है ?

केवलज्ञान सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका ज्ञायक सिद्ध हो तो सर्व वस्तु नियत मर्यादामें आ जाये, अनंतता सिद्ध न हो, क्योंकि अनंतता-अनादिता समझी नहीं जाती, अर्थात् केवलज्ञानमें वे किस तरह प्रतिभासित हों ? उसका विचार बराबर संगत नहीं होता।

---

७२ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १६२]

जिसे जैनदर्शन सर्वप्रकाशकता कहता है, उसे वेदांत सर्वव्यापकता कहता है।

दृष्ट वस्तुसे अदृष्ट वस्तुका विचार अनुसंधान करने योग्य है।

जिनेन्द्रके अभिप्रायसे आत्माको माननेसे यहाँ लिखे हुए प्रसंगोंके बारेमें अधिक विचार करें—

१. असंख्यात प्रदेशका मूल परिमाण।
२. संकोच-विकास हो सके ऐसा आत्मा माना है; वह संकोच-विकास क्या अरूपीमें होने योग्य है ? तथा किस प्रकारसे होने योग्य है ?
३. निगोद अवस्थाका क्या कुछ विशेष कारण है ?
४. सर्व द्रव्य, क्षेत्र आदिकी प्रकाशकतारूप केवलज्ञानस्वभावी आत्मा है, अथवा स्वस्वरूपमें अवस्थित निजज्ञानमय केवलज्ञान है ?
५. आत्मामें योगसे विपरिणाम है ? स्वभावसे विपरिणाम है ? विपरिणाम आत्माकी मूल सत्ता है ? संयोगी सत्ता है ? उस सत्ताका कौनसा द्रव्य मूल कारण है ?

[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १६३]

६. चेतन हीनाधिक अवस्था प्राप्त करे, इसमें कुछ विशेष कारण है ? स्वस्वभावका ? पुद्गलसंयोगका या उससे व्यतिरिक्त ?
७. जिस तरह मोक्षपदमें आत्मता प्रगट हो उस तरह मूल द्रव्य मानें तो लोकव्यापकप्रमाण आत्मा न होनेका क्या कारण ?
८. ज्ञान गुण और आत्मा गुणी इस तथ्यको घटाते हुए आत्माको कथंचित् ज्ञानव्यतिरिक्त मानना सो किस अपेक्षासे ? जड़त्व भावसे या अन्य गुणकी अपेक्षासे ?
९. मध्यम परिणामवाली वस्तुकी नित्यता किस तरह संभव है ?
१०. शुद्ध चेतनमें अनेककी संख्याका भेद किस कारणसे घटित होता है ?
११.

---

७३ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १६५]

जिनसे मार्गका प्रवर्तन हुआ है, ऐसे महापुरुषके विचार, बल, निर्भयता आदि गुण भी महान थे।

एक राज्यके प्राप्त करनेमें जो पराक्रम अपेक्षित है उसकी अपेक्षा अपूर्व अभिप्रायसहित धर्मसंततिका प्रवर्तन करनेमें विशेष पराक्रम अपेक्षित है।

थोड़े समय पहले तथारूप शक्ति मुझमें मालूम होती थी, उसमें अभी विकलता देखनेमें आती है, उसका हेतु क्या होना चाहिये यह विचार करने योग्य है।

दर्शनकी रीतिसे इस कालमें धर्मका प्रवर्तन हो, इससे जीवोंका कल्याण है अथवा संप्रदायकी रीतिसे धर्मका प्रवर्तन हो तो जीवोंका कल्याण है, यह बात विचारणीय है।

संप्रदायकी रीतिसे वह मार्ग बहुतसे जीवोंको ग्राह्य होगा, दर्शनकी रीतिसे वह विरले जीवोंको ग्राह्य होगा।

यदि जिनाभिमत मार्ग निरूपण करने योग्य गिना जाये, तो वह संप्रदायके प्रकारसे निरूपित होना विशेष असंभव है। क्योंकि उसकी रचनाका सांप्रदायिक स्वरूप होना कठिन है।

दर्शनकी अपेक्षासे किसी ही जीवके लिये उपकारी होगा इतना विरोध आता है।

---

७४ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १६६]

जो कोई महान पुरुष हुए हैं वे पहलेसे स्वस्वरूप (निजशक्ति) समझ सकते थे, और भावी महत् कार्यके बीजको पहलेसे अव्यक्तरूपमें बोते रहते थे अथवा स्वाचरण अविरोधी जैसा रखते थे।

यहाँ वह प्रकार विशेष विरोधमें पड़ा हो ऐसा दिखाई देता है। उस विरोधके कारण भी यहाँ लिखे हैं—

१. अनिर्णयसे—

२. संसारीकी रीति जैसा विशेष व्यवहार रहनेसे।

३. ब्रह्मचर्यका धारण।

---

७५ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १६७]

सोहं (महापुरुषोंने आश्चर्यकारक गवेषणा की है।)

कल्पित परिणतिसे विरत होना जीवके लिये इतना अधिक कठिन हो पड़ा है, इसका हेतु क्या होना चाहिये ?

आत्माके ध्यानका मुख्य प्रकार कौनसा कहा जा सकता है ?

उस ध्यानका स्वरूप किस तरह है ?

आत्माका स्वरूप किस तरह है ?

केवलज्ञान जिनागममें प्ररूपित है, वह यथायोग्य है अथवा वेदांतमें प्ररूपित है, वह यथायोग्य है ?

---

७६ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १६८]

प्रेरणापूर्वक स्पष्ट गमनागमन क्रिया आत्माके असंख्यातप्रदेशप्रमाणत्वके लिये विशेष विचारणीय है।

प्रश्न—परमाणु एकप्रदेशात्मक, आकाश अनंतप्रदेशात्मक माननेमें जो हेतु है, वह हेतु आत्माके असंख्यातप्रदेशत्वके लिये यथातथ्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि मध्यम परिणामी वस्तु अनुत्पन्न देखनेमें नहीं आती।

उत्तर—

---

७७ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १६९]

अमूर्तत्वकी व्याख्या क्या ?

अनंतत्वकी व्याख्या क्या ?

आकाशका अवगाहक-धर्मत्व किस प्रकारसे है ?

मूर्तामूर्तका बंध आज नहीं होता तो अनादिसे कैसे हो सकता है ? वस्तु स्वभाव इस प्रकार अन्यथा कैसे माना जा सकता है ?

क्रोध आदि भाव जीवमें परिणामीरूपसे हैं या विवर्तरूपसे हैं ?

यदि परिणामीरूपसे कहें तो स्वाभाविक धर्म हो जाते हैं, और स्वाभाविक धर्मका दूर होना कहीं भी अनुभवमें नहीं आता।

यदि विवर्तरूपसे समझें तो जिस प्रकारसे जिनेन्द्र साक्षात् बंध कहते हैं, उस तरह माननेसे विरोध आना संभव है।

---

७८ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १७०]

जिनेन्द्रका अभिमत केवलदर्शन और वेदांतका अभिमत ब्रह्म इन दोनोंमें क्या भेद है ?

---

७९ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १७१]

जिनेन्द्रके अभिमतसे।

आत्मा असंख्यात प्रदेशी (?), संकोच-विकासका भाजन, अरूपी, लोकप्रमाण प्रदेशात्मक।

---

८० [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १७२]

जिन–

मध्यम परिमाणका नित्यत्व, क्रोध आदिका पारिणामिकत्व (?) आत्मामें कैसे घटित हो ? कर्मबंधका हेतु आत्मा है या पुद्गल है ? या दोनों हैं ? अथवा इससे भी कोई अन्य प्रकार है ? मुक्तिमें आत्मघन ? द्रव्यका गुणसे अतिरिक्तत्व क्या है ? सब गुण मिलकर एक द्रव्य, या उसके बिना द्रव्यका कुछ दूसरा विशेष स्वरूप है ? सर्व द्रव्यके वस्तुत्व, गुणको निकाल कर विचार करें तो वह एक है या नहीं ? आत्मा गुणी है और ज्ञान गुण है यों कहनेसे आत्माका कथंचित् ज्ञानरहित होना ठीक है या नहीं ? यदि ज्ञानरहित आत्मत्वका स्वीकार करें तो वह क्या जड़ हो जाता है ? चारित्र, वीर्य आदि गुण कहें तो उनकी ज्ञानसे भिन्नता होनेसे वे जड़ सिद्ध हो, इसका समाधान किस प्रकारसे घटित होता है ? अभव्यत्व पारिणामिकभावसे किसलिये घटित हो ? धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और जीवको द्रव्यदृष्टिसे देखें तो एक वस्तु है या नहीं ? द्रव्यत्व क्या है ? धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशके स्वरूपका विशेष प्रतिपादन किस तरह हो सकता है ? लोक असंख्यातप्रदेशी और द्वीप समुद्र असंख्यात है, इत्यादि विरोधका समाधान किस तरह है ? आत्मामें पारिणामिकता ? मुक्तिमें भी सब पदार्थोंका प्रतिभासित होना ? अनादिअनंतका ज्ञान किस तरह हो सकता है ?

---

८१ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १७३]

वेदांत–

एक आत्मा, अनादि-माया और बंध-मोक्षका प्रतिपादन, यह आप कहते हैं, परंतु ऐसे घटित नहीं हो सकता ?

आनंद और चैतन्यमें श्री कपिलदेवजीने विरोध कहा है, इसका समाधान क्या है ? यथायोग्य समाधान वेदांतमें देखनेमें नहीं आता।

आत्माको नाना माने बिना बंध एवं मोक्ष हो ही नहीं सकते। वे तो हैं, ऐसा होनेपर भी उन्हें कल्पित कहनेसे उपदेश आदि कार्य करनेयोग्य नहीं ठहरते।

---

८२ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १७४]

जैनमार्ग

१. लोकसंस्थान।
२. धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्य।
३. अरूपित्व।
४. सुषम-दुषम आदि काल।
५. उस उस कालमें भारत आदिकी स्थिति, मनुष्यकी ऊँचाई आदिका प्रमाण।
६. निगोद सूक्ष्म।
७. दो प्रकारके जीव—भव्य और अभव्य।
८. विभावदशा, पारिणामिक भावसे।
९. प्रदेश और समय उनका व्यावहारिक और पारमार्थिक कुछ स्वरूप।
१०. गुण-समुदायसे भिन्न कुछ द्रव्यत्व।
११. प्रदेश समुदायका वस्तुत्व।
१२. रूप, रस, गंध, स्पर्शसे भिन्न ऐसा कुछ भी परमाणुत्व।
१३. प्रदेशका संकोच-विकास।
१४. उससे घनत्व या कृशत्व।
१५. अस्पर्शगति।
१६. एक समयमें यहाँ और सिद्धक्षेत्रमें अस्तित्व, अथवा उसी समयमें लोकांतरगमन।
१७. सिद्धसंबंधी अवगाह।
१८. अवधि, मनःपर्याय और केवलकी व्यावहारिक-पारमार्थिक कुछ व्याख्या;—जीवकी अपेक्षा तथा दृश्य पदार्थकी अपेक्षासे। [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १७५]
'मतिश्रुतकी व्याख्या—उस प्रकारसे।'
१९. केवलज्ञानकी दूसरी कोई व्याख्या।
२०. क्षेत्रप्रमाणकी दूसरी कोई व्याख्या।
२१. समस्त विश्वका एक अद्वैत तत्त्वपर विचार।
२२. केवलज्ञानके बिना दूसरे किसी ज्ञानसे जीवस्वरूपका प्रत्यक्षरूपसे ग्रहण।
२३. विभावका उपादान कारण।
२४. और तथाप्रकारके समाधानके योग्य कोई प्रकार।
२५. इस कालमें दस बोलोंकी व्यवच्छेदता, उसका अन्य कुछ भी परमार्थ।
२६. बीजभूत और संपूर्ण यों केवलज्ञान दो प्रकारसे।
२७. वीर्य आदि आत्मगुण माने हैं, उनमें चेतनता।
२८. ज्ञानसे भिन्न ऐसा आत्मत्व।
२९. वर्तमानकालमें जीवका स्पष्ट अनुभव होनेके ध्यानके मुख्य प्रकार।
३०. उनमें भी सर्वोत्कृष्ट मुख्य प्रकार।
३१. अतिशयका स्वरूप।
३२.लब्धि (कितनी ही) अद्वैततत्त्व माननेसे सिद्ध हो ऐसी मान्य है।
[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १७९]
३३. लोकदर्शनका सुगम मार्ग—वर्तमानकालमें कुछ भी।

३४. देहांतदर्शनका सुगम मार्ग—वर्तमानकालमें।
३५. सिद्धत्वपर्याय सादि-अनंत, और मोक्ष अनादि-अनंत०।
३६. परिणामी पदार्थ, निरंतर स्वाकारपरिणामी हो तो भी अव्यवस्थित परिणामित्व अनादिसे हो, वह केवलज्ञानमें भासमान पदार्थमें किस तरह घटमान ?

८३ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १८०]

१. कर्मव्यवस्था।
२. सर्वज्ञता।
३. पारिणामिकता।
४. नाना प्रकारके विचार और समाधान।
५. अन्यसे न्यून पराभवता।
६. जहाँ जहाँ अन्य विकल है वहाँ वहाँ अविकल यह, जहाँ विकल दिखायी दे वहाँ अन्यकी क्वचित् अविकलता—नहीं तो नहीं।

८४ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १८१]

मोहमयी-क्षेत्रसंबंधी उपाधिका परित्याग करनेमें आठ महीने और दस दिन बाकी है, और यह परित्याग हो सकने योग्य है।

दूसरे क्षेत्रमें उपाधि (व्यापार) करनेके अभिप्रायसे मोहमयी-क्षेत्रकी उपाधिका त्याग करनेका विचार रहता है, ऐसा नहीं है

परंतु जब तक सर्वसंगपरित्यागरूप योग निरावरण न हो तब तक जो गृहाश्रम रहे उस गृहाश्रममें काल व्यतीत करनेका विचार कर्तव्य है। क्षेत्रका विचार कर्तव्य है। जिस व्यवहारमें रहना उस व्यवहारका विचार कर्तव्य है; क्योंकि पूर्वापर अविरोधता नहीं तो रहना कठिन है।

८५ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १८२]

भू :—	ब्रह्म
स्थापना :—	ध्यान
मुख :—	योगबल
ब्रह्मग्रहण।	निर्ग्रंथ आदि संप्रदाय।
ध्यान।	निरूपण।
योगबल।	भू, स्थापना, मुख।
	सर्व दर्शन अविरोध।
स्वायु-स्थिति।	
आत्मबल।	

८६ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १८३]

[1]**सो धम्मो जत्थ दया दसट्ठ दोसा न जस्स सो देवो।**
सो हु गुरू जो नाणी आरंभपरिग्गहा विरओ॥

१. **भावार्थ**—जहाँ दया है वहाँ धर्म है, जिसके अठारह दोष नहीं वह देव है, तथा जो ज्ञानी और आरंभपरिग्रहसे विरत है वह गुरु है।

८७ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १८७]

अकिंचनतासे विचरते हुए एकांत मौनसे जिनसदृश ध्यानसे तन्मयात्मस्वरूप ऐसा कब होऊँगा ?

---

८८ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १९५]

एक बार विक्षेप शांत हुए बिना अति समीप आ सकने योग्य अपूर्व संयम प्रगट नहीं होगा।
कैसे, कहाँ स्थिति करें ?

संस्मरणपोथी—२

१ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ३]

राग, द्वेष और अज्ञानका आत्यंतिक अभाव करके जिस सहज शुद्ध आत्मस्वरूपमें स्थित हुए वह स्वरूप हमारे स्मरण, ध्यान और पाने योग्य स्थान है।

---

२ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ५]

सर्वज्ञपदका ध्यान करें।

---

३ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ७]

शुद्ध चैतन्य
अनंत आत्मद्रव्य
केवलज्ञानस्वरूप
शक्तिरूपसे
वह
जिसे संपूर्ण व्यक्त हुआ है, तथा व्यक्त होनेका
जिन पुरुषोंने मार्ग पाया है उन पुरुषोंको
अत्यंत भक्तिसे नमस्कार

---

४ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ९]

नमो जिणाणं जिदभवाणं
जिनतत्त्वसंक्षेप

अनंत अवकाश है।
उसमें जड़-चेतनात्मक विश्व रहा है।
विश्वमर्यादा दो अमूर्त द्रव्योंसे है,
जिनकी संज्ञा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय है।
जीव और परमाणु पुद्गल ये दो द्रव्य सक्रिय हैं।
सर्व द्रव्य द्रव्यत्वसे शाश्वत हैं।
अनंत जीव हैं।
अनंत अनंत परमाणु पुद्गल हैं।
धर्मास्तिकाय एक है।

अधर्मास्तिकाय एक है ।
आकाशास्तिकाय एक है ।
काल द्रव्य है ।
विश्वप्रमाण क्षेत्रवगाह कर सके ऐसा एक-एक जीव है ।

---

५ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ १३]

नमो जिणाणं जिदभवाणं

जिसकी प्रत्यक्ष दशा ही बोधरूप है, उस महापुरुषको धन्य है ।

जिस मतभेदसे यह जीव ग्रस्त है, वही मतभेद ही उसके स्वरूपका मुख्य आवरण है ।

वीतराग पुरुषके समागमके बिना, उपासनाके बिना, इस जीवको मुमुक्षुता कैसे उत्पन्न हो ? सम्यग्ज्ञान कहाँसे हो ? सम्यग्दर्शन कहाँसे हो ? सम्यक्चारित्र कहाँसे हो ? क्योंकि ये तीनों वस्तुएँ अन्य स्थानमें नहीं होती ।

वीतरागपुरुषके अभाव जैसा वर्तमानकाल है ।

हे मुमुक्षु ! वीतरागपद वारंवार विचार करने योग्य है, उपासना करने योग्य है, ध्यान करने योग्य है ।

---

६ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ १५]

जीवके बंधनके मुख्य हेतु दो–
राग और द्वेष
रागके अभावसे द्वेषका अभाव होता है ।
रागकी मुख्यता है ।
रागके कारण ही संयोगमें आत्मा तन्मयवृत्तिमान है ।
वही कर्म मुख्यरूपसे है ।

ज्यों ज्यों रागद्वेष मंद, त्यों त्यों कर्मबंध मंद और ज्यों ज्यों रागद्वेष तीव्र, त्यों त्यों कर्मबंध तीव्र । जहाँ रागद्वेषका अभाव वहाँ कर्मबंधका सांपरायिक अभाव ।

रागद्वेष होनेके मुख्य कारण–
मिथ्यात्व अर्थात्
असम्यग्दर्शन है ।
सम्यग्ज्ञानसे सम्यग्दर्शन होता है ।
उससे असम्यग्दर्शनकी निवृत्ति होती है ।
उस जीवको सम्यक्चारित्र प्रगट होता है,
जो वीतरागदशा है ।
संपूर्ण वीतरागदशा जिसे रहती है उसे चरमशरीरी जानते हैं ।

---

७ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ १७]

हे जीव ! स्थिर दृष्टिसे तू अंतरगमें देख, तो सर्व परद्रव्यसे मुक्त ऐसा तेरा स्वरूप तुझे परम प्रसिद्ध अनुभवमें आयेगा ।

हे जीव ! असम्यग्दर्शनके कारण वह स्वरूप तुझे भासित नहीं होता । उस स्वरूपमें तुझे शंका है, व्यामोह और भय है ।

सम्यग्दर्शनका योग प्राप्त करनेसे उस अभासन आदिकी निवृत्ति ।

हे सम्यग्दर्शनी ! सम्यक्चारित्र ही सम्यग्दर्शनका फल घटिल होता है, इसलिये उसमें अप्रमत्त हो ।

जो प्रमत्तभाव उत्पन्न करता है वह तुझे कर्मबंधकी सुप्रतीतिका हेतु है ।

हे सम्यक्चारित्री ! अब शिथिलता योग्य नहीं । बहुत अंतराय था, वह निवृत्त हुआ तो अब निरंतराय पदमें शिथिलता किसलिये करता है ?

---

८ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ २१]

दुःखका अभाव करना सब जीव चाहते हैं ।

दुःखका आत्यंतिक अभाव कैसे हो ? वह ज्ञात न होनेसे जिससे दुःख उत्पन्न हो उस मार्गको दुःखसे छूटनेका उपाय जीव समझता है ।

जन्म, जरा, मरण मुख्यरूपसे दुःख हैं । उसका बीज कर्म है । कर्मका बीज रागद्वेष है, अथवा इस प्रकार पाँच कारण हैं–

मिथ्यात्व
अविरति
प्रमाद
कषाय
योग

पहले कारणका अभाव होनेपर दूसरेका अभाव, फिर तीसरेका, फिर चौथेका, और अंतमें पाँचवें कारणका यों अभाव होनेका क्रम है ।

मिथ्यात्व मुख्य मोह है ।
अविरति गौण मोह है ।

प्रमाद और कषायका अविरतिमें अंतर्भाव हो सकता है । योग सहचारीरूपसे उत्पन्न होत्ता है । चारों नष्ट हो जानेके बाद भी पूर्व-हेतुसे योग हो सकता है ।

---

९ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ २५]

हे मुनियों ! जब तक केवल समवस्थानरूप सहज स्थिति स्वाभाविक न हो तब तक आप ध्यान और स्वाध्यायमें लीन रहें ।

जीव केवल स्वाभाविक स्थितिमें स्थित हो वहाँ कुछ करना बाकी नहीं रहा ।

जहाँ जीवके परिणाम वर्धमान, हीयमान हुआ करते हैं वहाँ ध्यान कर्तव्य है । अर्थात् ध्यानलीनतानसे सर्व बाह्य द्रव्यके परिचयसे विराम पाकर निजस्वरूपके लक्ष्यमें रहना उचित है ।

उदयके धक्केसे वह ध्यान जब जब छूट जाये तब तब उसका अनुसंधान बहुत त्वरासे करना ।

बीचके अवकाशमें स्वाध्यायमें लीनता करना । सर्व पर-द्रव्यमें एक समय भी उपयोग संग प्राप्त न करे ऐसी दशाका जीव सेवन करे तब केवलज्ञान उत्पन्न होता है ।

---

१० [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ २७]

एकांत आत्मवृत्ति ।
एकांत आत्मा ।
केवल एक आत्मा ।
केवल एक आत्मा ही ।
केवल मात्र आत्मा ।
केवल मात्र आत्मा ही ।
आत्मा ही ।
शुद्धात्मा ही ।
सहजात्मा ही ।
निर्विकल्प, शब्दातीत सहज स्वरूप आत्मा ही ।

---

११ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ २९]

७–१२–५४*
३१–११–२२

यों काल बीतने देना योग्य नहीं । प्रत्येक समयको आत्मोपयोगसे उपकारी बनाकर निकृत होने देना योग्य है ।

अहो इस देहकी रचना ! अहो चेतन ! अहो उसका सामर्थ्य ! अहो ज्ञानी ! अहो उनकी गवेषणा ! अहो उनका ध्यान ! अहो उनकी समाधि ! अहो उनका संयम ! अहो उनका अप्रमत्त भाव ! अहो उनकी परम जागृति ! अहो उनका वीतराग स्वभाव ! अहो उनका निरावरण ज्ञान ! अहो उनके योगकी शांति ! अहो उनके वचन आदि योगका उदय !

हे आत्मन् ! यह सब तुझे सुप्रतीत होनेपर भी प्रमत्तभाव क्यों ? मंद प्रयत्न क्यों ? जघन्य मंद जागृति क्यों ? शिथिलता क्यों ? आकुलता क्यों ? अंतरायका हेतु क्या ?

अप्रमत्त हो, अप्रमत्त हो ।

परम जागृत स्वभावका सेवन कर, परम जागृत स्वभावका सेवन कर ।

---

१२ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ३०]

तीव्र वैराग्य, परम आर्जव, बाह्याभ्यंतर त्याग ।
आहारकी जय ।
आसनकी जय ।
निद्राकी जय ।
योगकी जय ।
आरंभ-परिग्रह विरति ।
ब्रह्मचर्यमें प्रतिनिवास ।

---

* संवत १९५४, १२वाँ मास आसोज सुदी ७, ३१वाँ वर्ष ११वाँ मास, २२वाँ दिन । [जन्म-तिथि सं० १९२४, कार्तिक सुदी १५ होनेसे सं० १९५४ आसेज सुदी ७को ३१वाँ वर्ष, ११वाँ मास और २२वाँ दिन आता है ।]

एकांतवास ।
अष्टांगयोग ।
सर्वज्ञध्यान ।
आत्म ईहा ।
आत्मोपयोग ।
मूल आत्मोपयोग ।
अप्रमत्त उपयोग ।
केवल उपयोग ।
केवल आत्मा ।
अचिंत्य सिद्धस्वरूप ।

---

*१३ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ३१]

जिनचैतन्यप्रतिमा ।
सर्वांगसंयम ।
एकांत स्थिर संयम ।
एकांत शुद्ध संयम ।
केवळ बाह्यभाव निरपेक्षता ।
आत्मतत्त्वविचार ।
जगततत्त्वविचार ।
जिनदर्शनतत्त्वविचार ।
अन्य दर्शनतत्त्वविचार । } समाधान ।
धर्मसुगमता ।
लोकानुग्रह । } पद्धति ।
यथास्थित शुद्ध सनातन
सर्वोत्कृष्ट जयवंत
धर्मका उदय । } वृत्ति

---

* इस योजनाका उद्देश्य यह मालूम होता है कि 'एकांत स्थिर संयम', एकांत शुद्ध संयम' और 'केवल बाह्यभाव निरपेक्षता' पूर्वक 'सर्वाङ्गसंयम' प्राप्तकर, उसके द्वारा 'जिनचैतन्यप्रतिमारूप' होकर, अर्थात् अडोल आत्मावस्था पाकर जगतके जीवोंके कल्याणके लिये अर्थात् मार्गके पुनरुद्धारके लिये प्रवृत्ति करनी चाहिये । यहाँ जो 'वृत्ति', 'पद्धति' और 'समाधान' शब्द आये हैं, सो उनमें 'वृत्ति क्या है ?' इसके उत्तरमें कहा गया है कि 'यथास्थित शुद्ध सनातन सर्वोत्कृष्ट जयवंत धर्मका उदय कबरना' यह वृत्ति है । उसे 'किस पद्धतिसे करना चाहिये ?' इसके उत्तरमें कहा गया है कि जिससे लोगोंको 'धर्मसुगमता हो और लोकानुग्रह भी हो ।' इसके बाद 'इस वृत्ति और पद्धतिका परिणाम क्या होगा ?' इसके समाधानमें कहा गया है कि 'आत्मतत्त्व-विचार, जगततत्त्व-विचार, जिनदर्शनतत्त्व-विचार और अन्य दर्शनतत्त्व-विचारके संबधमें संसारके जीवोंका समाधान करना ।'

इसी संस्मरण-पोथीके आंक १८ में कहा गया है कि "परानुग्रह परम कारुण्यवृत्तिकी अपेक्षा भी प्रथम चैतन्य जिनप्रतिमा हो । चैतन्य जिनप्रतिमा हो ।" —इस वाक्यसे भी यह बात अधिक स्पष्ट होती है ।

यहाँ यह स्पष्टीकरण श्रीमद् राजचंद्रकी गुजराती आवृत्तिके संबोधक श्री मनसुखभाई रवजीभाई मेहताके नोटके आधारसे लिखा गया है ।

[श्री परमश्रुतप्रभावक-मंडल, बंबई द्वारा प्रकाशित 'श्रीमद् राजचंद्र' (हिन्दी) के पृष्ठ ७२९ के फुटनोटसे उद्धृत ।]

१४ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ३२]

स्वपर परमोपकारक परमार्थमय सत्यधर्म जयवंत रहे ।

आश्चर्यकारक भेद पड़ गये हैं ।
खंडित है ।
संपूर्ण करनेका साधन दुर्गम दिखायी देता है ।
उस प्रभावमें महान अंतराय है ।
देश, काल आदि बहुत प्रतिकूल हैं ।
वीतरागोंका मत लोकप्रतिकूल हो गया है ।
रूढ़िसे जो लोग उसे मानते हैं उनके ध्यानमें भी वह सुप्रतीत मालूम नहीं होता । अथवा अन्यमतको वीतरागोंका मत समझ कर प्रवृत्ति करते रहते हैं ।
वीतरागोंके मतको यथार्थ समझनेकी उनमें योग्यताकी बहुत कमी है ।
दृष्टिरागका प्रबल राज्य चलता है ।
वेषादि व्यवहारमें बड़ी विडंबना कर मोक्षामार्गको अंतराय कर बैठे हैं ।
विराधकवृत्तिवाले तुच्छ पामर पुरुष अग्रभागमें रहते हैं ।
किंचित् सत्य बाहर आते हुए भी उन्हें प्राणघाततुल्य दुःख लगता हो ऐसा दिखायी देता है ।

---

१५ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ३४]

तब आप किसलिये उस धर्मका उद्धार चाहते हैं ?

परम कारुण्य-स्वभावसे ।
उस सद्धर्मके प्रति परमभक्तिसे ।

---

१६ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ३५]

एवंभूत-दृष्टिसे ऋजुसूत्र स्थिति कर ।
ऋजुसूत्र-दृष्टिसे एवंभूत स्थिति कर ।
नैगम-दृष्टिसे एवंभूत प्राप्ति कर ।
एवंभूत-दृष्टिसे नैगम विशुद्ध कर ।
संग्रह-दृष्टिसे एवंभूत हो ।
एवंभूत-दृष्टिसे संग्रह विशुद्ध कर ।
व्यवहार-दृष्टिसे एवंभूतके प्रति जा ।
एवंभूत-दृष्टिसे व्यवहार विनिवृत्त कर ।
शब्द-दृष्टिसे एवंभूतके प्रति जा ।
एवंभूत-दृष्टिसे शब्द निर्विकल्प कर ।
समभिरूढ़-दृष्टिसे एवंभूत अवलोकन कर ।
एवंभूत-दृष्टिसे समभिरूढ़ स्थिति कर ।
एवंभूत-दृष्टिसे एवंभूत हो ।
एवंभूत-स्थितिसे एवंभूत-दृष्टि शांत कर ।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

---

१७ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ३७]

मैं असंग शुद्धचेतन हूँ।
वचनातीत निर्विकल्प
एकांत शुद्ध
अनुभवस्वरूप हूँ।
मैं परम शुद्ध, अखंड चिद्धातु हूँ।
अचिद्धातुके संयोगरसका यह आभास तो देखें।
आश्चर्यवत्, आश्चर्यरूप, घटना है।
कुछ भी अन्य विकल्पका अवकाश नहीं है।
स्थिति भी ऐसी ही है।

---

१८ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ३९]

परानुग्रह परम कारुण्यवृत्तिकी अपेक्षा भी प्रथम चैतन्य जिनप्रतिमा हो।
चैतन्य जिनप्रतिमा हो।

वैसा काल है?
उस विषयमें निर्विकल्प हो।
वैसा क्षेत्रयोग है?
खोज।
वैसा पराक्रम है?
अप्रमत्त शूरवीर हो?
उतना आयुबल है?
क्या लिखना? क्या कहना?
अंतर्मुख उपयोग करके देख।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

---

१९ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ४१]

हे काम! हे मान! हे संग-उदय!
हे वचनवर्गणा! हे मोह! हे मोहदया!
हे शिथिलता! आप किसलिये अंतराय करते हैं?
परम अनुग्रह करके अब अनुकूल हो जायें! अनुकूल हो जायें।

---

२० [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ४५]

हे सर्वोत्कृष्ट सुखके हेतुभूत सम्यग्दर्शन! तुझे अत्यंत भक्तिसे नमस्कार हो!

इस अनादि अनन्त संसारमें अनंत-अनंत जीव तेरे आश्रयके बिना अनंत-अनंत दुःखका अनुभव करते हैं।

तेरे परमानुग्रहसे स्वस्वरूपमें रुचि हुई, परम वीतराग स्वभावके प्रति परम निश्चय हुआ, कृतकृत्य होनेका मार्ग ग्रहण हुआ।

हे जिन वीतराग ! आपको अत्यंत भक्तिसे नमस्कार करता हूँ । आपने इस पामरपर अनंत-अनंत उपकार किया है ।

हे कुन्दकुन्द आदि आचार्यों ! आपके वचन भी स्वरूपानुसंधानमें इस पामरको परम उपकारभूत हुए हैं । इसके लिये मैं आपको अतिशय भक्तिसे नमस्कार करता हूँ ।

हे श्री सोभाग ! तेरे सत्समागमके अनुग्रहसे आत्मदशाका स्मरण हुआ, उसके लिये तुझे नमस्कार करता हूँ ।

---

२१ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ४७]

जैसे भगवान जिनेन्द्रने निरूपण किया है वैसे ही सर्व पदार्थका स्वरूप है ।

भगवान जिनेन्द्रका उपदिष्ट आत्माका समाधिमार्ग श्री गुरुके अनुग्रहसे जानकर, परम प्रयत्नसे उसकी उपासना करें ।

---

२२ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ४९]

[1]**बंधविहाण विमुक्कं, वंदिअ सिरिवद्धमाणजिणचंदं ।**
[2]**सिरिवीर जिणं वंदिअ, कम्मविवागं समासओ वुच्छं ।**
कीरई जिएण हेऊहिं, जेणं तो भण्णए कम्मं ॥
[3]**कम्मदव्वेहिं सम्मं, संजोगो होई जो उ जीवस्स ।**
सो बंधो नायव्वो, तस्स विओगो भवे मुक्खो ॥

---

२३ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ५१]

केवल समवस्थित शुद्ध चेतन

मोक्ष

उस स्वभावका अनुसंधान वह

मोक्षमार्ग

प्रतीतिरूपमें वह मार्ग जहाँसे शुरू होता है वहाँ **सम्यग्दर्शन ।**

देश आचरणरूप	वह	पंचम गुणस्थानक ।
सर्व आचरणरूप	वह	षष्ठ गुणस्थानक ।
अप्रमत्तरूपसे उस आचरणमें स्थिति	वह	सप्तम गुणस्थानक ।
अपूर्व आत्मजागृति	वह	अष्टम गुणस्थानक ।
सत्तागत स्थूल कषाय बलपूर्वक स्वरूपस्थिति	वह	नवम गुणस्थानक ।
सत्तागत सूक्ष्म कषाय बलपूर्वक स्वरूपस्थिति	वह	दशम गुणस्थानक ।
उपशांत कषाय बलपूर्वक स्वरूपस्थिति	वह	एकादशम गुणस्थानक ।
क्षीण कषाय बलपूर्वक स्वरूपस्थिति	वह	द्वादशम गुणस्थानक ।

---

१. यह संपूर्ण गाथा इस प्रकार है–**बंधविहाण विमुक्कं, वंदिअ सिरिवद्धमाणजिणचंदं । गई आईसु वुच्छं, समासओ बंधसामित्तं** । अर्थात् कर्मबंधकी रचनासे रहित श्री वर्धमान जिनको नमस्कार करके गति और चौदह मार्गणाओं द्वारा संक्षेपसे बंधस्वामित्वको कहूँगा ।

२. **भावार्थ**–श्री वीर जिनको नमस्कार करके संक्षेपसे कर्मविपाक नामक ग्रंथको कहूँगा । जो जीवसे किसी हेतु द्वारा किया जाता है, उसे कर्म कहते है ।

३. अर्थके लिये देखें व्याख्यानसार–२ का आंक ३० ।

संस्मरण-पोथी ३

१ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ३]

ॐ नमः

सर्वज्ञ जिन वीतराग

सर्वज्ञ है ।

रागद्वेषका आत्यंतिक क्षय हो सकता है ।
ज्ञानका प्रतिबंधक रागद्वेष है ।
ज्ञान, जीवका स्वत्वभूत धर्म है ।
जीव, एक अखण्ड सपूर्ण द्रव्य होनेसे उसका ज्ञानसामर्थ्य संपूर्ण है ।

---

२ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ७]

सर्वज्ञपद वारंवार श्रवण करने योग्य, पठन करने योग्य, विचार करने योग्य, ध्यान करने योग्य और स्वानुभवसे सिद्ध करने योग्य है ।

---

३ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ९]

सर्वज्ञ देव सर्वज्ञदेव
निर्ग्रंथ गुरु निर्ग्रंथ गुरु
उपशममूल धर्म दयामूल धर्म

सर्वज्ञ देव
निर्ग्रंथ गुरु
सिद्धांतमूल धर्म

सर्वज्ञ देव
निर्ग्रंथ गुरु
जिनाज्ञामूल धर्म

सर्वज्ञका स्वरूप
निर्ग्रंथका स्वरूप
धर्मका स्वरूप

सम्यक् क्रियावाद

---

४ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ११]

ॐ नमः

प्रदेश
समय
परमाणु

द्रव्य
गुण
पर्याय

जड़
चेतन

---

५ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ १३]

ॐ नमः

मूल द्रव्य शाश्वत
मूल द्रव्य – जीव, अजीव ।

पर्याय –अशाश्वत ।
अनादि नित्य पर्याय –मेरु आदि ।

---

६ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ १५]

ॐ नमः

सर्व जीव सुखको चाहते हैं ।
दुःख सबको अप्रिय है ।
दुःखसे मुक्त होना सब जीव चाहते हैं ।
उसका वास्तविक स्वरूप समझमें न आनेसे वह दुःख नष्ट नहीं होता ।
उस दुःखके आत्यंतिक अभावका नाम मोक्ष कहते हैं ।
अत्यंत वीतराग हुए बिना आत्यंतिक मोक्ष नहीं होता ।
सम्यग्ज्ञानके बिना वीतराग नहीं हुआ जा सकता ।
सम्यग्दर्शनके बिना ज्ञान असम्यक् कहा जाता है ।
वस्तुकी जिस स्वभावसे स्थिति है, उस स्वभावसे उस वस्तुकी स्थिति समझमें आना उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं ।

[संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ १६]

सम्यग्ज्ञानदर्शनसे प्रतीत हुए आत्मभावसे आचरण करना चारित्र है ।
इन तीनोंकी एकतासे मोक्ष होता है ।
जीव स्वाभाविक है ।
परमाणु स्वाभाविक है ।
जीव अनंत हैं ।
परमाणु अनंत हैं ।

जीव और पुद्गलका संयोग अनादि है।
जब तक जीवको पुद्गल-संबंध है, तब तक सकर्म जीव कहा जाता है।
भावकर्मका कर्ता जीव है।
भावकर्मका दूसरा नाम विभाव कहा जाता है।
भावकर्मके हेतुसे जीव पुद्गलको ग्रहण करता है।
उससे तैजस आदि शरीर और औदारिक आदि शरीरका योग होता है।

[संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ १७]

भावकर्मसे विमुख हो तो निजभाव परिणामी हो।
सम्यग्दर्शनके बिना वस्तुतः जीव भावकर्मसे विमुख नहीं हो सकता।
सम्यग्दर्शन होनेका मुख्य हेतु जिनवचनसे तत्त्वार्थ प्रतीति होना है।

---

७ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ १९]

मैं केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूप सहज निज अनुभवस्वरूप हूँ।
व्यवहार दृष्टिसे मात्र इस वचनका वक्ता हूँ।
परमार्थसे तो मात्र उस वचनसे व्यंजित मूल अर्थरूप हूँ।
आपसे जगत भिन्न है, अभिन्न है, भिन्नाभिन्न है?
भिन्न, अभिन्न, भिन्नाभिन्न, ऐसा अवकाश स्वरूपमें नहीं है।
व्यवहारदृष्टिसे उसका निरूपण करते हैं।
—जगत मेरेमें भासमान होनेसे अभिन्न है, परंतु जगत जगतस्वरूपसे है, मैं स्वस्वरूपसे हूँ, इसलिये जगत मुझसे सर्वथा भिन्न है। इन दोनों दृष्टियोंसे जगत मुझसे भिन्नाभिन्न है।

ॐ शुद्ध निर्विकल्प चैतन्य।

---

८ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ २३]

ॐ नमः

केवलज्ञान।
एक ज्ञान।
सर्व अन्य भावोंके संसर्गसे रहित ऐकांत शुद्धज्ञान।
सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका सर्व प्रकारसे एक समयमें ज्ञान।
उस केवलज्ञानका हम ध्यान करते हैं।
निजस्वभावरूप हैं।
स्वतत्त्वभूत है।
निरावरण है।
अभेद है।
निर्विकल्प है।
सर्व भावोंका उत्कृष्ट प्रकाशक है।

---

९ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ २४]

मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ ।
ऐसा सम्यक् प्रतीत होता है ।
वैसा होनेके हेतु सुप्रतीत हैं ।
सर्व इन्द्रियोंको संयम कर, सर्व परद्रव्यसे निजस्वरूपको व्यावृत्त कर, योगको अचलकर, उपयोगसे उपयोगकी एकता करनेसे केवलज्ञान होता है ।

---

१० [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ २७]

आकाशवाणी

तप करें, तप करें; शुद्ध चैतन्यका ध्यान करें; शुद्ध चैतन्यका ध्यान करें ।

---

११ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ २९]

मैं एक हूँ, असंग हूँ, सर्व परभावसे मुक्त हूँ ।
असंख्यात प्रदेशात्मक निजावगाहना प्रमाण हूँ ।
अजन्म, अजर, अमर, शाश्वत हूँ । स्वपर्याय-परिणामी समयात्मक हूँ ।
शुद्ध चैतन्यस्वरूप मात्र निर्विकल्प द्रष्टा हूँ ।



---

१२ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ३१]

शुद्ध चैतन्य.
शुद्ध चैतन्य । शुद्ध चैतन्य ।

सद्भावकी प्रतीति-सम्यग्दर्शन ।

शुद्धात्मपद ।

ज्ञानकी सीमा कौनसी ?
निरावरण ज्ञानकी स्थिति क्या ?
अद्वैत एकांतसे घटित होता है ?
ध्यान और अध्ययन ।
उ० अप०

---

१३ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ३५]

ॐ

'ठाणांगसूत्र'में निम्नलिखित सूत्र क्या उपकार होनेके लिये लिखा है, इसका विचार करें ।

[1]एगे समणे भगवं महावीरे इमीसेणं ऊसप्पिणीए चउवीसं तित्थयराणं चरिमे तित्थयरे सिद्धे बुद्धे मुत्ते परिनिव्वुडे सव्वदुःखप्पहीणे ।

---

१४ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ३७]

अभ्यंतर भान अवधूत,
विदेहीवत्,
जिनकल्पीवत्,

सर्व परभाव और विभावसे व्यावृत्त, निज स्वभावके भानसहित, अवधूतवत्, विदेहीवत्, जिनकल्पीवत् विचरते पुरुष भगवानके स्वरूपका ध्यान करते हैं ।

---

१५ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ३९]

प्रवृत्तिके कार्योंसे विरति ।

संग और स्नेहपाशको तोड़ना (अतिशय विषम होते हुए भी तोड़ना, क्योंकि दूसरा कोई उपाय नहीं है ।)

आशंका :– जो स्नेह रखता है, उसके प्रति ऐसी क्रूर-दृष्टिसे वर्तन करना, क्या यह कृतघ्नता अथवा निर्दयता नहीं है ?

समाधान–

---

१६ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ४०]

स्वरूपबोध ।
योग निरोध।
सर्वधर्म स्वाधीनता ।
धर्ममूर्तिता ।
सर्वप्रदेश संपूर्ण गुणात्मकता ।
सर्वांग संयम ।
लोकपर निष्कारण अनुग्रह ।

---

१. **भावार्थ**–श्रमण भगवान महावीर एक हैं । वे इस अवसर्पिणी-कालमें चौबीस तीर्थंकरोंमें अंतिम तीर्थंकर हैं, वे सिद्ध हैं, बुद्ध हैं, मुक्त हैं, परिनिर्वृत्त हैं, और उनके सब दुःख क्षीण हो गये हैं ।

१७ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ४३]

ॐ नमः

सर्वज्ञ–वीतरागदेव

(सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका सर्व प्रकारसे ज्ञाता, रागद्वेषादि सर्व विभावोंको जिसने क्षीण किया है वह ईश्वर है।)

वह पद मनुष्यदेहमें संप्राप्त होने योग्य है।

जो संपूर्ण वीतराग हो वह **संपूर्ण** सर्वज्ञ होता है।

संपूर्ण वीतराग हुआ जा सकता है, ऐसे हेतु सुप्रतीत हैं।

---

१८ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ४५]

प्रत्यक्ष निज अनुभवस्वरूप हूँ, इसमें संशय क्या?

उस अनुभवमें जो विशेष संबंधी न्यूनाधिकता होती है, वह यदि दूर हो जाये तो केवल अखंडाकार स्वानुभव स्थिति रहे।

अप्रमत्त उपयोगसे वैसा हो सकता है।

अप्रमत्त उपयोग होनेके हेतु सुप्रतीत हैं। उस तरह वर्तन किया जा सकता है, वह प्रत्यक्ष सुप्रतीत है।

अविच्छिन्न वैसी धारा रहे तो अद्भुत अनंत ज्ञानस्वरूप अनुभव सुस्पष्ट समवस्थित रहे–

---

१९ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ४७]

सर्व चारित्र वशीभूत करनेके लिये, सर्व प्रमाद दूर करनेके लिये, आत्मामें अखंड वृत्ति रहनेके लिये, मोक्षसंबंधी सर्व प्रकारके साधनोंकी जय करनेके लिये 'ब्रह्मचर्य' अद्भुत अनुपम सहायकारी है, अथवा मूलभूत है।

---

२० [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ४९]

ॐ नमः

संयम

---

२१ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ५०]

जागृत सत्ता।

ज्ञायक सत्ता।

आत्मस्वरूप।

---

२२ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ५१]

सर्वज्ञोपदिष्ट आत्माको सद्गुरुकी कृपासे जानकर निरंतर उसके ध्यानके लिये विचरना, संयम और तपपूर्वक–

---

२३ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ५२]

अहो! सर्वोत्कृष्ट शांत रसमय सन्मार्ग–

अहो! उस सर्वोत्कृष्ट शांत रसप्रधान मार्गके मूल सर्वज्ञदेव –

अहो! उस सर्वोत्कृष्ट शांत रसको जिन्होंने सुप्रतीत कराया ऐसे परमकृपालु सद्गुरुदेव–

इस विश्वमें सर्वकाल आप जयवंत रहें, जयवंत रहें।

---

२४ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ५४]

ॐ नमः

विश्व अनादि है ।
आकाश सर्वव्यापक है ।
उसमें लोक स्थित है ।
जड़-चेतनात्मक लोक संपूर्ण भरपूर हैं ।
धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये जड़ द्रव्य हैं ।
जीव द्रव्य चेतन है ।
धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चार अमूर्त्त द्रव्य हैं ।
वस्तुतः काल औपचारिक द्रव्य हैं ।
धर्म, अधर्म, आकाश एक एक द्रव्य हैं ।
काल, पुद्गल और जीव अनंत द्रव्य हैं ।

[संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ५५]

द्रव्य गुणपर्यायात्मक है ।

---

२५ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ५७]

परम गुणमय चारित्र (बलवान असंगादि स्वभाव) चाहिये ।
परम निर्दोष श्रुत ।
परम प्रतीति ।
परम पराक्रम ।
परम इन्द्रियजय ।
१ मूलका विशेषत्व ।
२ मार्गके आरंभसे अंतपर्यंतकी अद्भूत संकलना ।
३ निर्विवाद–
४ मुनिधर्मप्रकाश ।
५ गृहस्थधर्मप्रकाश ।
६ निर्ग्रंथ परिभाषानिधि–
७ श्रुतसमुद्र प्रवेशमार्ग ।

---

२६ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ५८]

स्वपर उपकारका महान कार्य अब कर ले ! त्वरासे कर ले !
अप्रमत्त हो - अप्रमत्त हो !
क्या कालका क्षणवारका भी भरोसा आर्य पुरुषोंने किया है ?
हे प्रमाद ! अब तू जा, जा ।
हे ब्रह्मचर्य ! अब तू प्रसन्न हो, प्रसन्न हो ।

हे व्यवहारोदय ! अब प्रबलतासे उदय आकर भी तू शांत हो, शांत ।

हे दीर्घसूत्रता ! सुविचारका, धैर्यका, गंभीरताका परिणाम तू क्यों होना चाहती है ?

हे बोधबीज ! तू अत्यंत हस्तामलकवत् वर्तन कर, वर्तन कर ।

हे ज्ञान ! तू दुर्गमको भी अब सुगम स्वभावमें ला दे ।

[संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ५९]

हे चारित्र ! परम अनुग्रह कर, परम अनुग्रह कर ।

हे योग ! आप स्थिर होवें; स्थिर होवें ।

हे ध्यान ! तू निजस्वभावाकार हो, निजस्वभावकार हो ।

हे व्यग्रता ! तू चली जा, चली जा ।

हे अल्प या मध्य अल्प कषाय ! अब आप उपशांत होवें, क्षीण होवें । हमें आपके प्रति कोई रुचि नहीं रही ।

हे सर्वज्ञपद ! यथार्थ सुप्रतीतपणे तू हृदयावेश कर, हृदयावेश कर ।

हे असंग निर्ग्रंथपद ! तू स्वाभाविक व्यवहाररूप हो ।

हे परम करुणामय सर्व परमहितके मूल वीतरागधर्म ! प्रसन्न हो, प्रसन्न हो ।

हे आत्मन् ! तू निजस्वभावाकार वृत्तिमें ही अभिमुख हो ! अभिमुख हो ! ॐ

[संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ६१]

हे वचनसमिति ! हे काय-अचपलता ! हे एकांतवास और असंगता ! आप भी प्रसन्न होवें, प्रसन्न होवें ।

खलबली करती हुई जो अभ्यंतर वर्गणा है उसका या तो अभ्यंतर ही वेदन कर लेना, या तो उसे स्वच्छपुट देकर उपशांत कर देना ।

जैसे निःस्पृहता बलवान, वैसे ध्यान बलवान हो सकता है, कार्य बलवान हो सकता है ।

---

२७ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ६३]

इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्ण संसुद्धं णेयाउयं सल्लकत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं निज्जाणमग्गं निव्वाणमग्गं अवितहमसंदिठं सव्वदुक्खपहीणमग्गं । एथ्थंठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतंकरेंति तंमाणाए तहा गच्छामो तहा चिट्ठामो । तहा णिसियामो तहा सुयट्टामो तहा भुंजामो तहा भासामो तहा अब्भुट्ठामो तहा उट्ठाए उट्ठेमोत्ति पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं संजमेणं संजमोत्ति ।

२८

शरीरसंबंधी दूसरी बार आज अप्राकृत क्रम शुरू हुआ ।

ज्ञानीयोंका सनातन सन्मार्ग जयवंत रहे ! फागुन वदी १३, सोम, सं० १९५७

---

१. **भावार्थ**—यही निर्ग्रंथ-प्रवचन सत्य, अनुत्तर—श्रेष्ठ, सर्वज्ञका, प्रतिपूर्ण संशुद्ध—सर्वथा संशुद्ध, न्याय-युक्त, शल्यको काटनेवाला, सिद्धिमार्ग, मुक्तिमार्ग, विज्ञानमार्ग, निर्वाणमार्ग अवितथ—सत्य, असंदिग्ध और सर्व दुःख नाशक है ।इस मार्गमें स्थित हुए जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाणको प्राप्त होते हैं और सर्व दुःखोंका अंत करते हैं । उसकी आज्ञासे उस प्रकारसे चलें, रहें, बैठें, करवट बदलें, खायें, बोलें, गुरु आदिके सामने खड़े होवें और उठें कि प्राणभूत जीवभूत जीवसत्त्वोंकी हिंसा न हो । ऐसे संयमका आचरण हो ।

२९

द्वि० आ० सु० १, १९५४

ॐ नमः

सर्व विकल्पनो, तर्कका त्याग करके

मनका
वचनका
कायाका
इन्द्रियका
आहारका
निद्राका

जय करके

निर्विकल्परूपसे अंतर्मुखवृत्ति करके आत्मध्यान करना। मात्र निर्बाध अनुभवस्वरूपमें लीनता होने देना, दूसरी चिंतना न करना। जो जो तर्क आदि उठें उन्हें विस्तृत न करते हुए उपशमन करना।

३०

वीतरागदर्शन संक्षेप

मंगलाचरण—शुद्ध पदको नमस्कार।

भूमिका—मोक्ष प्रयोजन।

उस दुःखके मिटनेके लिये भिन्न भिन्न मतोंका पृथक्करण कर देखते हुए उनमें वीतराग दर्शन पूर्ण और अविरुद्ध है, ऐसा सामान्य कथन।

उस दर्शनका विशेष स्वरूप।

उसकी जीवको अप्राप्ति तथा प्राप्तिमें अनास्था होनेके कारण।

मोक्षाभिलाषी जीव उस दर्शनकी कैसे उपासना करे।

आस्था—उस आस्थाके प्रकार और हेतु।
विचार—उस विचारके प्रकार और हेतु।
विशुद्धि—उस विशुद्धिके प्रकार और हेतु।
मध्यस्थ रहनेके स्थान—उसके कारण।
धीरजके स्थान—उसके कारण।
शंकाके स्थान—उसके कारण।
पतित होनेके स्थान—उसके कारण।
उपसंहार।

आस्था—

पदार्थका अचिंत्यत्व, बुद्धिमें व्यामोह, कालदोष।

श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथ

समाप्त

परिशिष्ट १

अवतरणों की सूचि (पृष्ठ के अनुसार)

पृष्ठ

३१ .... संसारविषवृक्षस्य द्वे फले अमृतोपमे।
काव्यामृतरसास्वाद आलापः सज्जनैः सह ॥ ..... [पंचतंत्र]

३४ .... भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं,
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे तरुण्या भयं ।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतांताद्भयं,
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयं ॥ ..... [वैराग्यशतक-३४ भर्तृहरि]

३५ .... अधुवे असासयंमि संसारंमि दुक्खपउराए ।
किं नाम हुज्ज कम्मं जेणाहं दुग्गईं न गच्छिज्जा ॥ ..... [उत्तराध्यायन सूत्र ८-१]

३६ .... [ठिईण सेट्ठा लवसत्तमा वा सभा सुहम्मा व सभाण सेट्ठा] ।
निव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा [ण णायपुत्ता परमत्थी नाणी] ॥ ..... [सूत्रकृतांग सूत्र १-६-२४]

५५ .... [मिग चारियं चरिस्सामि] [1]**एवं पुत्ता जहासुखं,**
[अम्मापिऊहिं अणुजाओ जहाइ उवहिं तओ] ..... [उत्तराध्ययन सूत्र १९- ८५]

७७ .... [2]अजाहोतव्यं ..... [उत्तरपुराण प० ६७, ३२९]

९८ .... [कुसग्गे जह ओसबिंदुए थोवं चिट्ठइ लंबमाणए ।
एवं मणुयाण जीवियं] [3]**समयं गोयम मा पमाए** ॥ ..... [उत्तराध्ययन सूत्र १०-२]

१०१ .... [पुरिमा उज्जुजडा उ] [4]**वंक जडाय पछिमा ।**
[मज्झिमा उजुपन्नाओ तेण धम्मो दुहाकओ] ..... [उत्तराध्ययन सूत्र २३-२६]

१२६ .... [5]उपन्नेवा विघनेवा धुवेवा ..... [आगम]

१६६ .... णमो जहट्ठिय वत्थुवाईणं । ..... [?]

१६६ .... रूपातीत व्यतीतमल, पूर्णानंदी ईस,
चिदानंद ताकुं नमत, विनय सहित निज शीस । ..... [स्वरोदयज्ञान-चिदानंदजी]

१६७ .... काल ज्ञानादिक थकी, लही आगम अनुमान ।
गुरु करुना करी कहत हूँ, शुचि स्वरोदयज्ञान ॥ ..... [स्वरोदयज्ञान-चिदानंदजी]

१६७ .... स्वरका उदय पिछानिये, अति थिरता चित्त धार ।
ताथी शुभाशुभ कीजिये, भावि वस्तु विचार ॥ ..... [स्वरोदयज्ञान-चिदानंदजी]

१६७ .... नाडी तो तनमें घणी, पण चौबीस प्रधान;
तामें नव पुनि ताहुमें, तीन अधिक कर जान । ..... [स्वरोदयज्ञान-चिदानंदजी]

१६७ .... इंगला पिंगला सुखमना, ये तीनुंके नाम ।
[6]भिन्न भिन्न अब कहत हूँ ताके गुण अरु धाम ॥ ..... [स्वरोदयज्ञान-चिदानंदजी]

१६८ .... अल्पाहार निद्रा वश करे, हेत स्नेह जगथी परिहरे ।
लोकलाज नवि धरे लगार, एक चित्त प्रभुथी प्रीत धार ॥ ..... [स्वरोदयज्ञान-चिदानंदजी]

१६८ .... आशा एक मोक्षकी होय, बीजी दुविधा नवि चित्त कोय।
ध्यान जोग जाणो ते जीव, जे भवदुःखथी डरत सदीव ॥ ..... [स्वरोदयज्ञान-चिदानंदजी]

---

१. पाठा० एवं पुत्तो जहासुखं,....
२. पाठा० अजैर्होतव्यम् ।
३. पाठा० समयं गोयम मा पमायए ॥
४. पाठा० वक्क जडा य पच्छिमा ।
५. पाठा० उपन्ने वा, विगमे वा, धुवेइ वा ।
६. पाठा० भिन्न भिन्न अब कहत हूं, तीन अधिक कर जान.

पृष्ठ

१६८ .... परनिंदा मुखथी नवि करे, निज-निंदा सुणी समता धरे ।
करे सहु विकथा परिहार, रोके कर्म आगमन द्वार ॥ ..... [स्वरोदयज्ञान-चिदानंदजी]

१६८ .... [१] अहर्निश अधिका प्रेम लगावे, जोगानल धटमांहि जगावे ।
अल्पाहार आसान दृढ करे, नयन थकी निद्रा परिहरे ॥ ..... [स्वरोदयज्ञान-चिदानंदजी]

१६८ .... मेरा मेरा मत करे, तेरा नहिं है कोय ।
चिदानंद परिवारका, मेला है दिन दोय ॥ ..... [स्वरोदयज्ञान-चिदानंदजी]

१६९ .... ऐसा भाव निहार नित, कीजे ज्ञान विचार ।
मिटे न ज्ञान बिचार बिन, अंतर-भाव-विकार ॥ ..... [स्वरोदयज्ञान-चिदानंदजी]

१६९ .... ज्ञान रवि वैराग्य जस, हिरदे चंद समान ।
तास निकट कहो क्यों रहे, मिथ्यातम दुःख जान ॥ ..... [स्वरोदयज्ञान-चिदानंदजी]

१६९ .... जैसें कंचुक त्यागसें, बिनसत नहीं भुजंग ।
देहत्यागसें जीव पुनि, तैसें रहत अभंग ॥ ..... [स्वरोदयज्ञान-चिदानंदजी]

१९६ .... पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥ ..... [लोकतत्वनिर्णय ३८ हरिभद्रसूरि]

१९७ .... [२] एगं जाणई से सव्वं जाणई ।
जे सव्वं जाणई से एगं जाणई ॥ ..... [आचारांग सूत्र १-३-४-२]

२०२ .... [हांसीमैं विषाद बसै विद्यामैं विवाद बसै, कायामैं मरन गुरु वर्तनमैं हीनता,
सुचिमैं गिलानी बसै प्रापतिमैं हानि बसै, जैमैं हारि सुंदर दसामें छबि छीनता ।
रोग बसै भोगमें, संजोगमें वियोग बसै गुनमै, गरब बसै सेवामांहि दीनता,
और जगरीति जेती गर्भित असाता सेती,] **सुखकी सहेली है अकेली उदासीनता** ॥ .. [समयसार नाटक]

२२६ .... सुह जोगं पडुच्चं अणारंभी, असुहजोगं पडुच्चं आयारंभी, परारंभी, तदुभयारंभी । ..... [भगवती सूत्र]

२२९ .... जणं जणं दिसं इच्छइ तणं तणं दिसं अपडिबद्धे ..... [आचारांग सूत्र ?]

२३३ .... [नलिनीदलगतजलवत्तरलं तद्वज्जीवनमतिशयचपलं ।]
क्षणमपि सज्जनसंगतिरेका भवति भवार्णवतरणे नौका ॥ ..... [मोहमुद्गर-शंकराचार्य]

२३८ .... इच्छाद्वेषविहीनेन सर्वत्र समचेतसा ।
भगवद्भक्तियुक्तेन प्राप्ता भागवती गतिः ॥
[श्रीमद् भागवत् स्कंध ३, अध्याय २४, श्लोक ४७]

२४० .... ऊंचनीचनो अंतर नथी, समज्या ते पाम्या सद्गति । ..... [प्रीतमस्वामी-कक्कामें वव्वा]

२५८ .... एनुं स्वप्ने जो दर्शन पामे रे, तेनुं मन न चढे बीजे भामे रे ।
[३] थाय कृष्णनो लेश प्रसंग रे, तेने न गमे संसारनो संग रे ॥१॥
हसतां रमतां प्रगट हरि देखुं रे, मारुं जीव्युं सफळ तव लेखुं रे,
[४] मुक्तानंदनो नाथ विहारी रे, ओधा जीवनदोरी अमारी रे ॥२॥
[उद्धवगीता क. ८८-७, ८७-७ मुक्तानंदस्वामी]

२६८ .... अलखनाम धुनि लगी गगनमें, मगन भया मन मेराजी ।
आसान मारी सुरत दृढ धारी, दिया अगम घर डेराजी ॥
दरश्या अलख देदारजी ॥ ..... [अध्यात्म भजनमाला पद १३३-छोटम]

---

१. पाठा० अहर्निश अधिको प्रेम लगावे, जोगानल घटमांहि जगावे ।
अल्पाहार आसन दृढ धरे, नयन थकी निद्रा परिहरे ॥

२. पाठा० जे एगं जाणई से सव्वं जाणई.....

३. पाठा० थाय सद्गुरुनो लेश प्रसंग रे, तेने न गमे संसारीनो संग रे. (नित्यक्रम)

४. पाठा० मुक्तानंदनो नाथ विहारी रे, संतो जीवनदोरी अमारी रे. (नित्यक्रम)

पृष्ठ

२६९. . . . [1]करना फकीरी क्या दिलगीरी, सदा मगन मन रहेनाजी . . . . . [कबीरजी]

२७०. . . . आणाए धम्मो आणाए तवो । . . . . . [आचारांग सूत्र]

२७४. . . . कोइ माधव ल्यो, हांरे कोइ माधव ल्यो . . . . . [श्रीमद् भागवत]

२७६. . . . [यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।]
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥ . . . . . [ईशावास्य उपनिषद ७]

२८५. . . . **एक देखिये, जानिये,** [रमि रहिये ईकठौर ।
समल विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहि और ॥] . . . . . [समयसार नाटक जीवद्वार २०]

२८६. . . . देहाभिमाने गलिते, विज्ञाते परमात्मनि ।
यत्र यत्र मनो याति; तत्र तत्र समाधयः ॥ . . . . . [दृग्दृश्यविवेक, गा० ३० शंकराचार्य]

२९३. . . . [जुजवां जुओ धाम आप्यां जनने, जोई निष्काम सकाम रे;
आज तो अढळक ढळया हरि,] **आप्युं सौने ते अक्षरधाम रे.** . . . . [धीरजाख्यान कडवुं ६५-निष्कुलानंद]

३०१. . . . सुखना सिंधु श्री सहजानंदजी, जगजीवन के जगवंदजी,
शरणागतना सदा सुखकंदजी, परम स्नेही छो (!) परमानंदजी. . . . . [धीरजाख्यान १-निष्कुलानंद]

३१७. . . . कर्ता मटे तो छूटे कर्म, ए छे महा भजननो मर्म,
जो तुं जीव तो कर्ता हरि, जो तुं शिव तो वस्तु खरी,
तुं छो जीव ने तुं छो नाथ, एम कही अखे झटक्या हाथ ॥. . . . . .[अखाजी, अक्षय भगत कवि]

३१८. . . . हम परदेशी पंखी साधु, आ रे देशके नाहीं रे। . . . . . .[?]

३२२. . . . सत्यं परं धीमहि । . . . . . [श्रीमद् भागवत स्कंध १२, अ० १३, श्लो० १९]

३२४. . . . अनुक्रमे संयम स्पर्शतोजी, पाम्यो क्षायकभाव रे ।
संयम श्रेणी फूलडे जी, पूजुं पद निष्पाव रे ॥
[संयमश्रेणी स्तवन १-२ पंडित उत्तमविजयजी, प्रकरणत्नाकर भाग २]

३२४. . . . दर्शन सकळना नय ग्रहे, आप रहे निज भावे रे ।
हितकरी जनने संजीवनी, चारो तेह चरावे रे ॥ . . [आठ योगदृष्टिकी सज्झाय, १-४ यशोविजयजी]

३२४. . . . दर्शन जे थया जुजवां, ते ओघ नजरने फेरे रे ।
भेद थिरादिक दृष्टिमां, समकितदृष्टिने हेरे रे ॥ . . . . . [आठ योगदृष्टिकी सज्झाय, १-३ यशोविजयजी]

३२४. . . . योगनां बीज इहां ग्रहे, जिनवर शुद्ध प्रणामो रे ।
'भावाचारज' सेवना, भव उद्वेग सुठामो रे ॥ . . . . . [आठ योगदृष्टिकी सज्झाय, १-८ यशोविजयजी]

३२४. . . . अनुक्रमे संयम स्पर्शतोजी, पाम्यो क्षायकभाव रे ।
संयम श्रेणी फूलडे जी, पूजुं पद निष्पाव रे ॥
शुद्ध निरंजन अलख अगोचर, एहि ज साध्य सुहायो रे ।
ज्ञानक्रिया अवलंबी फरस्यो, अनुभव सिद्ध उपायो रे ॥
राय सिद्धारथ वंश विभूषण, त्रिशका राणी जायो रे ।
अज अजरामर सहजानंदी, ध्यानभुवनमां ध्यायो रे ॥
[संयमश्रेणी स्तवन १-२ पंडित उत्तमविजयजी, प्रकरणत्नाकर भाग २]

३२५+३५४ नागरसुख पामर नव जाणे, वल्लभसुख न कुमारी रे ।
अनुभव वण तेम ध्यानतणुं सुख, कोण जाणे नरनारी रे ?
[आठ योगदृष्टिकी सज्झाय, ७-३ यशोविजयजी]

---

१. पाठा० करना फकीरी क्या दिलगीरी सदा मगन मन रहना जी ।

पृष्ठ

३१७. . . . [1]जिन थई जिनवरने आराधे, ते सही जिनवर होवे रे ।
भृंगी इलिकाने चटकावे, ते भृंगी जग जोवे रे ॥
[आनंदघन चौबीसी नमिनाथजिन स्तवन]

३१७. . . . आतमध्यान करे जो कोउ, सो फिर इणमें नावे ।
[2]वाक्य जाल बीजुं सौ जाणे, एह तत्त्व चित्त चावे ॥
[आनंदघन चौबीशी-मुनिसुव्रतनाथजिनस्तवन]

३२६+६३० एक परिनामके न करता दरव दोई,
दोई परिनाम एक दर्व न धरतु है ।
एक करतूति दोई दर्व कबहूँ न करै,
दोई करतूति एक दर्व न करतु है ।
जीव पुद्गल एक खेत अवगाही दोउ,
अपने अपने रूप, कोउ न टरतु है ।
जड परिनामनिको, करता है पुद्गल,
चिदानंद चेतन सुभाव आचरतु है । . . . . . [समयसमर-नाटक-कर्ताकर्म-क्रियाद्वार १०]

३२८. . . . जीव नवि पुग्गली नैव पुग्गल कदा, पुग्गलाधार नहीं तास रंगी ।
परतणो ईश नहीं अपर ऐश्वर्यता, वस्तुधर्मे कदा न परसंगी ॥
[सुमतिजिन-स्तवन-देवचंद्रजी]

३३०. . . . दुःखसुखरूप करमफळ जाणो, निश्चय एक आनंदो रे ।
चेतनता परिणाम न चूके, चेतन कहे जिनचंदो रे ॥
[आनंदघन चौबीसी-वासुपूज्यजिन स्तवन]

३३१. . . . जबहीतें चेतन विभावसों उलटि आपु;
समै पाई अपनो सुभाव गहि लीनो है ।
तबहीतैं जो जो लेने जोग सो सो सब लीनो,
जो जो त्याग जोग सो सो सब छांडि दीनो है ।
लेवेकों न रही ठोर, त्यागीवेकों नाहीं और,
बाकी कहा उबर्यो जु, कारज नवीनो है ।
संगत्यागी, अंगत्यागी, वचनतरंगत्यागी,
मनत्यागी, बुद्धित्यागी, आपा शुद्ध कीनो है ॥ . . . . . [समयसार-नाटक सर्वविशुद्धिद्वार १०९]

३३१. . . . [जोई द्रिग ग्यान चरनातममें बैठी ठौर, भयौ निरदौर पर वस्तुकौं न परसै,]
[3]**शुद्धता विचारे ध्यावे शुद्धतामें केली करे, शुद्धतामें थिर व्हे, अमृतधारा बरसै,**
[त्यागि तन कष्ट व्है सपष्ट अष्ट करमकौ, करि थान भ्रष्ट नष्ट करै और करसै,
सोतौ विकलप विजई अलपकाल मांहि, त्यागी भौ विधान निरवान पद परसै]
[समयसार नाटक]

३३१. . . . [4]लेवेकों न रही ठोर, त्यागिवेकों नाहि ओर ।
बाकी कहा उबर्यो जु, कारज नवीनो है ॥ . . . . . [समयसार नाटक सर्वविशुद्धिद्वार १०९]

---

१. पाठा० जिनस्वरूप थई जिन आराधे, ते सही जिनवर होवे रे; (चैत्यवंदन चोबीशी)

२. पाठा० वागजाल बीजुं सहु जाणे, अेह तत्त्व चित्त लावे. (चैत्यवंदन चोबीशी)

३. पाठा० सुद्धता विचारै ध्यावै, सुद्धतामैं केलि करै, सुद्धतामैं थिर व्है, अमृतधारा बरसै;

४. पाठा० लैवैकौं न रही ठौर, त्यागिवेकौं नाहीं और,
बाकी कहा उबर्यौ जु, कारजु नवीनौ है!

पृष्ठ

३४९+५०८ योग असंख जे जिन कह्या, घटमांही रिद्धि दाखी रे।
नवपद तेम ज जाणजो, आतमराम छे साखी रे ॥
[श्रीपालरास चतुर्थखंड विनयविजयजी-यशोविजयजी]

३५३. . . . [1] 'जिन थई' 'जिनने' जे आराधे, ते सही जिनवर होवे रे।
भृंगी इलिकाने चटकावे, ते भृंगी जग जोवे रे ॥
[आनंदघन चौबीसी नमिनाथजिन स्तवन]

३५४+३२५ नागरसुख पामर नव जाणे, वल्लभसुख न कुमारी रे।
अनुभव विण तेम ध्यानतणुं सुख, कोण जाणे नरनारी रे?
[आठ योगदृष्टिकी सज्झाय, ७-३ यशोविजयजी]

३५४+३५५ मन महिलानुं रे वहाला उपरे, बीजां काम करंत।
तेम श्रुत धर्मे रे मन दृढ धरे, ज्ञानाक्षेपकवंत ॥
[आठ योगदृष्टिकी सज्झाय, ६-६ यशोविजयजी]

३५५. . . . इणविध परखी मन विसरामी, जिनवर गुण जे गावे।
दीनबंधुनी महेर नजरथी, आनंदघन पद पावे ॥
हो मल्लिजिन सेवक केम अवगणीए। . . . . . [आनंदघन चौबीसी-मल्लिनाथजिन स्तवन]

३५५. . . . [1] जिन थई जिनवर जे आराधे, ते सही जिनवर होवे रे।
३५५. . . . भृंगी इलिकाने चटकावे, ते भृंगी जग जोवे रे॥ . . [आनंदघन चौबीसी-नमिनाथजिन स्तवन]
३५६. . . . जिनस्वरूप थई जिन आराधे, ते सही जिनवर होवे रे;

३७४. . . . रविकै उदोत अस्त होत दिन दिन प्रति, अंजुलीकै जीवन ज्यौं जीवन घटतु हैं;
कालकै ग्रसत छिन छिन, होते छीन तन, आरेकै चलत मानो काठसौ कटतु है।
एते परि मूरख न खोजै परमारथको, स्वारथकै हेतु भ्रम भारत ठटतु है;
लगौ फिरै लोगनिसौं, पग्यौ परै जोगनिसौं, विषैरस भोगनिसौं, नेकु न हटतु है ॥
[समयसार-नाटक, बंधद्वार २६]

३७५. . . . जैसें मृग मत्त वृषादित्यकी तपति मांही,
तृषावंत मृषाजल कारण अटतु है;
तैसें भववासी मायाहीसौं हित मानि मानि,
ठानि ठानि भ्रम श्रम नाटक नटतु है;
आगेकों धुकत धाई, पीछे बछरा चवाइ,
[2] जैसें नैन हीन नर जेवरी वटतु है;
तैसें मूढ चेतन सुकृत करतूति कर,
रोवत हसत फल खोवत खटतु है ॥ . . . . . [समयसार-नाटक बंधद्वार २७]

३७५. . . . किं बहुणा इह जह जह, रागद्दोसा लहु विलिज्जंति।
तह तह पयट्टिअव्वं, एसा आणा जिणिंदाणम् ॥ . . . . . [उपदेशरहस्य, यशोविजयजी]

३८२+३८४ +३५५ समता, रमता, उरुधता, ज्ञायकता, सुखभास,
वेदकता, चैतन्यता, ए सब जीव विलास। . . . . . [समयसार नाटक उत्थानिका; २६]

३८६. . . . धार तरवारनी सोहली, दोहली, चौदमा जिन तणी चरणसेवा।
धार पर नाचता देख बाजीगरा, सेवना धार पर रहे न देवा ॥
[आनंदघन चौबीसी, अनंतनाथजिन-स्तवन]

---

१. पाठा० जिनस्वरूप थई जिन आराधे, ते सही जिनवर होवे रे; (चैत्यवंदन चोबीशी)
२. पाठा० जैसें नैन हीन नर जेवरी बटतु है;

पृष्ठ

३९०. . . . जीव तुं शीद शोचना धरे ? कृष्णने करवुं होय ते करे ।
चित्त तुं शीद शोचना धरे ? कृष्णने करवुं होय ते करे ॥
[दयाराम, पद-३४ भक्तिनीति काव्यसंग्रह]

४०४. . . . शुद्धताविचारै ध्यावै शुद्धतामें केली करैं, शुद्धतामें स्थिर व्है अमृतधारा बरसै,
[समयसार नाटक]

४१०. . . . संबुज्झहा जंतवो माणुसत्तं, दट्ठुं भयं बालिसेणं अलंभो ।
एगंतदुक्खे जरिए व लोए, सक्कम्मणा विप्परियासुवेई ॥ . . . . . [सूत्रकृतांग सूत्र १-७-११]

४७७+८४५ जेम निर्मलता रे रत्न स्फटिक तणी, तेम ज जीवस्वभाव रे ।
ते जिन वीरे रे धर्म प्रकाशियो, प्रबळ कषाय अभाव रे ॥
[नयरहस्य श्री सीमंधरजिन-स्तवन २-१७ यशोविजयजी]

४८३. . . . [1] अखे पुरुष एक वरख हे . . . . . [एक सवैया]

४८३. . . . व्यवहारनी झाळ पांदडे पांदडे परजळी । . . . . . [?]

४८७. . . . (तूठो तूठो रे मुज साहिब जगनो तूठो)
[2] ए श्रीपाळनो रास करंतां ज्ञान अमृतरस वूठ्यो रे ॥ मुज०
[श्रीपालरास खंड ४, विनयविजयजी-यशोविजयजी]

४८७. . . . जंगमनी जुक्ति तो सर्वे जाणीए, समीप रहे पण शरीरनो नहि संग जो,
एकांते वसवुं रे एक ज आसने, भूल पडे तो पडे भजनमां भंग जो,
ओधवजी अबला ते साधन शुं करे ?
[ओधवजीनो संदेशो गरबी ३-३, रघुनाथदास]

४८७. . . . रांडी रुए, मांडी रुए, पण सात भरतारवाली तो मोढुं ज न उघाडे । . . . . . [लोकोक्ति]

५०७. . . . निशदिन नैनमें नींद न आवे, नर तबहि नारायन पावे । . . . . . [श्री सुंदरदासजी]

५०८. . . . श्रद्धा ज्ञान लह्यां छे तो पण, जो नवि जाय पमायो रे,
वंध्य तरु उपम ते पामे, संयम ठाण जो नायो रे ।
गायो रे गायो, भले वीर जगतगुरु गायो ॥
[संयमश्रेणी स्तवन ४-३ पं० उत्तमविजयजी]

५०८+३४९ योग असंख जे जिन कह्या, घटमांही रिद्धि दाखी रे ।
नवपद तेम ज जाणजो, आतमराम छे साखी रे ॥
[श्रीपालरास चतुर्थखंड विनयविजयजी-यशोविजयजी]

६१२+६१३ मारे काम क्रोध सब, लोभ मोह पीसि डारे, इन्द्रिहु कतल करी, कियो रजपूतो है ।
मार्यो महा मत्त मन, मारे अहंकार मीर, मारे मद मछर हु, ऐसो रन रूतो है ॥
मारी आशातृष्णा पुनि, पापिनी सापिनी दोउ, सबको संहार करि, निज पद पहूतो है ।
सुंदर कहत ऐसो, साधु कोउ शूरवीर, वैरि सब मारिके निचिंत होई सूतो है ॥
[सुंदरविलास शूरातन अंग २८-११ सुंदरदासजी]

---

१. पाठा० अखै पुरुख एक वरख है । (अक्षय पुरुष एकवृक्ष है ।)

२. पाठा० ए श्रीपाळनो रास करंतां ज्ञान अमृतरस वूठो रे ॥ मुज०

पृष्ठ

५१९. . . . अन्य पुरुषकी दृष्टिमें, जग व्यवहार लखाय ।
[1]वृंदावन जब जग नहीं, कौन व्यवहार बताय ॥ . . . . . [विहारवृंदावन]

५२८. . . . (क्युं जाणुं क्युं बनी आवशे, अभिनंदन रस रीति हो मित्त ।)
पुद्गल अनुभव त्यागथी करवी जसु परतीत हो ॥ . . [अभिनंदनस्वामी जिनस्तवन-देवचंद्रजी]

५५२. . . . गुरुणो छंदाणुवत्तगा . . . . . [सूत्रकृतांग सूत्र प्रथम श्रुतस्कंध, द्वितीय अध्ययन, उद्देश २, गाथा ३२]

५५८. . . . [2]**जं संमंति पासह तं मोणंति पासह**
[जं मोणंति पासहा तं सम्मंति पासहा] . . . . . [आचारांग सूत्र १-५-३]

५९२+६३५ [3]सकल संसारी इन्द्रियरामी, मुनिगुण आतमरामी रे ।
मुख्यपणे जे आतमरामी, ते कहिये निष्कामी रे ॥
[आनंदघनचौबीसी, श्रेयांसनाथजिन स्तवन]

५९२+६८३ ते माटे ऊभा कर जोडी, जिनवर आगळ कहीए रे ।
समयचरण सेवा शुद्ध देजो, जेम आनंदघन लहीए रे ॥
[आनंदघन चौबीसी नमिनाथजिन स्तवन]

५९३. . . . पढी पार कहाँ पावनो, मिटे न मनको चार ।
ज्यों कोलुके बैलकुं, घर ही कोश हजार ॥ . . . . . [समाधिशतक ७९ यशोविजयजी]

५९६. . . . ऋषभजिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, ओर न चाहुं रे कंत ।
रीझ्यो साहीब संग न परिहरे रे, भांगे सादि अनंत ॥ ऋषभ.
[आनंदघन चौबीसी-ऋषभदेव जिनस्तवन]

५९६. . . . [4]जे जाणई अरिहंते, दव्व गुण पज्जवेहिं य ।
सो जाणई निय अप्पा, मोहो खलु जाई तस्स लयं ॥ . . . . . [प्रवचनसार १-८०, कुन्दकुन्दाचार्य]

५९७ जारिस सिद्ध सहावो, तारिस सहावो सव्वजीवाणं ।
तम्हा सिद्धंतरुई, कायव्वा भव्वजीवेहिं ॥ . . . . . [सिद्धप्राभृत]

५९७. . . . [5]**जिनपूजा रे ते निजपूजना** (रे प्रगटे अन्वय शक्ति ।
परमानंद विलासी अनुभवे रे, देवचंद्र पद व्यक्ति ॥)
[वासुपूज्यस्वामी जिनस्तवन-देवचंद्रजी]

६०३. . . . तहा रुवाणं समणाणं . . . . . [भगवती सूत्र]

६०५. . . . हिंसा रहिए धम्मे, अट्ठारस दोस विवज्जिए देवे ।
निग्गंथे पवयणे, सद्दहणं होई सम्मत्तं ॥ . . . [षट् प्राभृतादि संग्रह, मोक्षप्राभृत-९०]

---

१. पाठा० वृन्दावन जब जग नहीं, को व्यवहार बताय.
२. पाठा० जं संमंति पासहा तं मोणंति पासहा.....
३. पाठा० सयल संसारी इंद्रियरामी, मुनिगुण आतमरामी रे ।
मुख्यपणे जे आतमरामी, ते केवल निष्कामी रे ॥ (चैत्यवंदन चोबीशी)
४. पाठा० ये जाणई अरिहंते दव्व गुण पज्जवेहिं य ।
५. पाठा० जिनवर पूजा रे ते निज पूजना रे, ... (चैत्यवंदन चोबीशी)

पृष्ठ

६३०. . . . चित्रसारी न्यारी, परजंक न्यारौं, सेज न्यारी ।
चादरि भी न्यारी, इहाँ जूठी मेरी थपना ॥
अतीत अवस्था सैन, निद्रावाहि कोऊ पै न ।
विद्यमान पलक न, यामैं अब छपना ॥
स्वास औ सुपन दोउ, निद्राकी अलंग बुझे ।
सूझै सब अंग लखि, आतम दरपना ॥
त्यागी भयौ चेतन, अचेतनता भाव त्यागि ।
भालै दृष्टि खोलिके, संभालै रुप अपना ॥ . . . . . [समयसारनाटक, निर्जराद्वार १५]

६३०. . . . जैसो निरभेद रूप निहचै अतीत हुतौ ।
तैसो निरभेद अब, भेदकौ न गहैगो !
दीसै कर्मरहित सहित सुख समाधान ।
पायौ निज थान फिर बाहरि न बहैगौ ॥
कबहूं कदापि अपनौ सुभाव त्यागि करि ।
राग रस राचिकै न परवस्तु गहैगौ ॥
अमलान ज्ञान विद्यमान परगट भयौ ।
याहि भांति आगम अनंत काल रहैगौ ॥ . . . . . [समयसारनाटक, सर्वविशुद्धिद्वार १०८]

६३०+३२६ एक परिनामके न करता दरव दोई ।
दोई परिनाम एक दर्व न धरतु है ॥
एक करतूति दोई दर्व कबहूँ न करे ।
दोई करतूति एक दर्व न करतु है ॥
जीव पुद्गल एक खेत अवगाही दोउ ।
अपने अपने रूप, कोउ न टरतु है ॥
जड परिनामनिकौ, करता है पुद्गल ।
चिदानंद चेतन सुभाव आचरतु है ॥

[समयसारनाटक, कर्ताकर्म-क्रियाद्वार १०]

६३१+६३२ कीचसौ कनक जाकै, नीचसौ नरेसपद ।
मीचसी मिताई, गरुवाई जाकै गारसी ॥
जहरसी जोग जाति, कहरसी करामाति ।
हहरसी हौस, पुद्गल छबि छारसी ॥
जालसो जगविलास, भालसौ भुवनवास ।
कालसौ कुटुम्बकाज, लोकलाज लारसी ॥
सीठसो सुजसु जानै, बीठसौ बखत मानै ।
ऐसी जाकी रीति ताहि, बंदत बनारसी ॥ . . . . . [समयसारनाटक, बंधद्वार १९]

६३५+५९२ [1]सकल संसारी इन्द्रियरामी, मुनिगुण आतमरामी रे ।
मुख्यपणे जे आतमरामी, ते कहिये निष्कामी रे ॥

[आनंदघनचौबीसी, श्रेयांसनाथजिन स्तवन]

---

१. पाठा० सयल संसारी इंद्रियरामी, मुनिगुण आतमरामी रे;
मुख्यपणे जे आतमरामी, ते केवल निष्कामी रे. (चैत्यवंदन चोबीशी)

पृष्ठ

६५५+७०३ | मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
७११+८१२ | ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वंदे तद्गुणलब्धये ॥ . . . . . [तत्त्वार्थसूत्र टीका]

६५५. . . . [1] अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानांजनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥ . . . . . [गुरुगीता, ४५]

६५५. . . . अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिआ ।
मुक्खसाहणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा ॥ . . . . . [दशवैकालिक अध्ययन ५-९२]

६५५. . . . अहो निच्चं तवो कम्मं, सव्व बुद्धेहिं वण्णिअं ।
जाव लज्जासमा वित्ती, एगभतं च भोअणं ॥ . . . . . [दशवैकालिक अध्ययन ६-२३]

६५८. . . . मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु ।
थिरमिच्छह जइ चितं विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥
पणतीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च जवह झाएह ।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण ॥ . . . . . [द्रव्यसंग्रह]

६५९. . . . जं किंचि वि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू ।
लद्धूणय एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्चयं झाणं ॥ . . . . . [द्रव्यसंग्रह]

६५९. . . . नाके रूप निहाळतां . . . . . [?]

६६०. . . . चरमावर्त हो चरम करण तथा रे, भव परिणति परिपाक ।
[2] दोष टळे वळी दृष्टि खूले भली रे, प्रापति प्रवचन वाक ॥१॥
परिचय पातिक घातिक साधुशुं रे, अकुशल अपचय चेत ।
ग्रंथ अध्यातम श्रवण, मनन करी रे, परिशीलन नयहेत ॥२॥
[3] मुगध सुगम करी सेवन लेखवे रे, सेवन अगम अनुप ।
देजो कदाचित् सेवक याचना रे, आनंदघन रसरुप ॥३॥
[आनंदघन-चौबीसी संभवनाथ जिनस्तवन]

६६०. . . . उवसंतखीणमोहो मग्गे जिणभासिदेण समुवगदो ।
णाणाणुमग्गचारी, निव्वाणपुरं वज्जदि धीरो ॥ . . . . . [पंचास्तिकाय, ७०]

६६४. . . . जेनो काळ ते किंकर थई रह्यो, मृगतृष्णाजळ त्रैलोक, जीव्युं धन्य तेहनुं ।
दासी आशा पिशाची थई रही, काम क्रोध ते केदी लोक; जीव्युं०
[4] खातां पीतां बोलतां नित्ये, छे निरंजन निराकार; जीव्युं०
जाणे संत सलूणा तेहने, जेने होय छेल्लो अवतार; जीव्युं०
जगपावनकर ते अवतर्या, अन्य मात उदरनो भार, जीव्युं०
तेने चौद लोकमां विचरतां, अंतराय कोईये नव थाय; जीव्युं०
रिद्धि सिद्धि ते दासीओ थई रही, ब्रह्मानंद हृदे न समाय जीव्युं० . . . . . [मनमोहरदासकृत-मनहरपद]

६७०+८१८ गुरु गणधर गुणधर अधिक प्रचुर परंपर और ।
[5] व्रत तपधर तनु नगनधर वंदौ वृष सिरमौर ॥
[स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा-पं० जयचंद्रकृत अनुवादका मंगलाचरण]

---

१. पाठा० अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानांजनशलाकया ।
२. पाठा० दोष टळे वळी दृष्टि खूले भली रे, प्राप्ति प्रवचन वाक. (चैत्यवंदन चोबीशी)
३. पाठा० मुग्ध सुगम करी सेवन आदरे रे, ... (चैत्यवंदन चोबीशी)
४. पाठा० दीसे खातां पीतां बोलतां, नित्ये छे निरंजन निराकार; जीव्युं०
५. पाठा० व्रत तपधर, तनु नगनतर वंदौ वृष सिरमौर.

पृष्ठ

६७३. . . . धन्य ते मुनिवरा जे चाले समभावे रे,
ज्ञानवंत ज्ञानीशुं मळता, तन मन वचने साचा,
द्रव्यभाव सुधा जे भाखे, साची जिननी वाचा रे । धन्य०
[सिद्धांतरहस्य, सीमंधरजिनस्तवन-यशोविजयजी]

६७४.... भीसण नरयगईए, तिरियगईए कुदेवमणुयगईए।
पत्तोसि तिव्व दुःखं, भावहि जिणभावणा जीव ॥ . . . . . [षट्प्राभृतादि संग्रह भावप्राभृत ८]

६७७. . . . पुद्गलसे रातो रहे, ... [?]

६७९. . . . क्षायोपशमिक असंख्य, क्षायक एक अनन्य. . . . . [अध्यात्मगीता १-६, देवचन्द्रजी]

६८३+५९२ ते माटे ऊभा कर जोडी, जिनवर आगळ कहीए रे ।
समयचरण सेवा शुद्ध देजो, जेम आनंदघन लहीए रे ॥
[आनंदघन चौबीसी नमिनाथजिन स्तवन]

६९२.... चाहे चकोर ते चंद्रने, मधुकर मालती भोगी रे ।
तेम भवि सहज गुणे होये, उत्तम निमित्त संजोगी रे ॥
[आठयोगदृष्टिकी सज्झाय, १-१३ यशोविजयजी]

६९२. . . . [1] चरमावर्त वळी चरम करण तथा रे, भव परिणति परिपाक ।
दोष टळे वळी दृष्टि खूले अति भली रे, प्राप्ति प्रवचन वाक ॥
[आनंदघन चौबीसी संभवनाथ जिनस्तवन]

६९४. . . . तरतम योगे तरतम वासना रे, वासित बोध आधार, पंथडो०
[आनंदघन चौबीसी अजितनाथ स्तवन]

६९६. . . . चूर्णि भाष्य सूत्र निर्युक्ति, वृत्ति परंपर अनुभव रे ।
[आनंदघन चौबीसी-नमिनाथजिन स्तवन]

६९८. . . . मारुं गायुं गाशे, ते झाझा गोदा खाशे ।
समजीने गाशे ते वहेलो वैकुंट जाशे ॥ . . . . . [नरसिंह महेता]

७०१+८०७ प्रशमरसनिमग्नं दृष्टियुग्मं प्रसन्नं वदनकमलमंकः कामिनीसंगशून्यः ।
करयुगमपि यत्ते शस्त्रसंबंधवंध्यं तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव ॥ . . . . . [धनपाल कवि]

७०२. . . . नमो दुर्वाररागादिवैरिवारनिवारिणे ।
अर्हते योगिनाथाय महावीराय तायिने ॥ . . . . . [योगशास्त्र १-१, हेमचंद्राचार्य]

७०२+८१२ देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥ . . . . . [आप्तमीमांसा १-समंतभद्र]

७०३+७११ / ८१२+६५५ मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वंदे तद्गुणलब्धये ॥ . . . . . [तत्त्वार्थसूत्र टीका]

७०५. . . . जे अबुद्धा महाभागा वीरा असमत्तदंसिणो ।
असुद्धं तेसिं परक्कंतं सफलं होइ सव्वसो ॥
जे य बुद्धा महाभागा वीरा सम्मत्तदंसिणो ।
सुद्धं तेसिं परक्कंतं अफलं होइ सव्वसो ॥ . . . . . [सूत्रकृतांग सूत्र १-८-२२,२३]

७०६. . . . [2] जूवा, आमिष, मदिरा, दारी, आहेटक, चोरी, परनारी ।
अेई सप्त व्यसन दुःखदाई, दुरितमूल दुरगतिके जाई ॥
[समयसार नाटक, साध्यसाधकद्वार २७]

---

१. पाठा० चरमावर्त हो चरम करण तथा रे, भव परिणति परिपाक ।
दोष टळे वळी दृष्टि खूले भली रे, प्राप्ति प्रवचन वाक ॥ (चैत्यवंदन चोबीशी)

२. पाठा० जूवा, आमिष, मदिरा, दारी, आखेटक, चोरी, परनारी;
अेई सात विसन दुःखदाई, दुरितमूल दुरगतिके भाई.

पृष्ठ

७१०. . . . [1] अज्ञानतिमिरांधानां ज्ञानांजनशलाकया ।
नेत्रमुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ . . . . . [गुरुगीता, ४५]

७११+८१२ / ७०३+६५५ मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वंदे तद्गुणलब्धये ॥ . . . . . [तत्त्वार्थसूत्र टीका]

७२२. . . . एक अज्ञानीके कोटी अभिप्राय है, और कोटी ज्ञानीयोंका एक अभिप्राय है । . . . . . [अनाथदास]

७२६. . . . दुर्बल देह ने मास उपवासी, जो छे मायारंग रे ।
तोपण गर्भ अनंता लेशे, बोले बीजुं अंग रे ॥
[३५० गाथाका स्तवन ८-११-यशोविजयजी]

७३७. . . . एक कहे सेवीए विविध किरिया करी, फल अनेकांत लोचन न देखे ।
फल अनेकांत किरिया करी बापडा, रडवडे चार गतिमांहि लेखे ॥
[आनंदघन चौबीसी-अनंतनाथ जिनस्तवन]

७३८. . . . निजछंदनसें ना मिले, हेरो वैकुंठ धाम ।
संतकृपासे पाइये, सो हरि सबसें ठाम ॥ . . . . . [माणेकदास]

७५१. . . . पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि । . . . . . [प्रतिक्रमणसूत्र]

८०२. . . . घट घट अंतर् जिन बसै, घट घट अंतर् जैन ।
[2] मत मदिराके पानसें मतवारा समजै न ॥
[समयसार-नाटक, ग्रंथ-समाप्ति और अंतिम प्रशस्ति]

८०७+७०१ प्रशमरसनिमग्नं दृष्टियुग्मं प्रसन्नं वदनकमलमंकः कामिनीसंगशून्यः ।
करयुगमपि यत्ते शस्त्रसंबंधवंध्यं तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव ॥ . . . . . [धनपाल कवि]

८०८. . . . आशय आनंदघन तणो, अति गंभीर उदार ।
बालक बांह्य पसारीने, कहे उदधि विस्तार ॥
[आनंदघन चौबीसीके अंतमें ज्ञानविमलसूरिकी गाथा]

८१०. . . . चलई सो बंधे . . . . . [?]

८११. . . . [3] **जोगा पयडिपदेसा** [ठिदि अणुभागा कसायदो होंति] . . . . . [द्रव्यसंग्रह, ३३]

८१२+७०२ देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः ।
मायाविष्वपि दृश्यंते नातस्त्वमसि नो महान् ॥. . . . . [आप्तमीमांसा १-समंतभद्र]

८१२+७०३ / ७११+६५५ मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वंदे तद्गुणलब्धये ॥ . . . . . [तत्त्वार्थसूत्र टीका]

८१३. . . . जे पुमान परधन हरै, सो अपराधी अज्ञ ।
जो अपनो धन विवहरै, सो धनपति धर्मज्ञ ॥ . . . . . [समयसार नाटक मोक्षद्वार १८]

८१४. . . . [ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणो जइ वि होई तित्थयरो]
णग्गो विमोक्खमग्गो, सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥
[षट्प्राभृतादि संग्रह-सूत्र प्राभृत २३-कुन्दकुन्दाचार्य]

८१७. . . . धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥ . . . . . [दशवैकालिक अध्ययन १-१]

---

१. पाठा० अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानांजनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

२. पाठा० मति मदिराके पानसौं मतवारा समुझै न.

३. पाठा० योगा पयडिपदेसा.....

पृष्ठ

८१८+६७० गुरु गणधर गुणधर अधिक, प्रचुर परंपर और ।
व्रत तपधर, तनु नगनतर, वंदौ वृष सिरमौर ॥
[स्वामी कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा-पं० जयचंद्रकृत अनुवादका मंगलाचरण]

८२२+८४१ कम्मदव्वेहिं सम्मं, संजोगो होई जो उ जीवस्स ।
८६४ सो बंधो नायव्वो, तस्स विओगो भवे मुक्खो ॥
[आचारांग अ. ७. १. निर्युक्ति गा० २६०-?]

८४४.... [सव्वत्थुवहिणा बुद्धा, संरक्खणपरिग्गहे ।]
अवि अप्पणो वि देहंमि, नायरंति ममाइयं ॥ ..... [दशवैकालिक अध्ययन ६-२२]

८४५+४७७ जेम निर्मलता रे रत्न स्फटिक तणी, तेम ज जीवस्वभाव रे ।
ते जिनवीरे रे धर्म प्रकाशियो, प्रबळ कषाय अभाव रे ॥
[नयरहस्य श्री सीमंधरजिन स्तवन २-१७, यशोविजयजी]

८५६.... सो धम्मो जत्थ दया दसट्ठ दोसा न जस्स सो देवो ।
सो हु गुरु जो नाणी आरंभपरिग्गहा विरओ ॥ ..... [?]

८५७.... [इंदसदवंदियाणं तिहुअणहिदमधुरविसदवक्काणं ।
अंतातीदगुणाणं] **नमो जिणाणं जिदभवाणं** ..... [पंचास्तिकाय १]

८६४.... **बंधविहाणविमुक्कं, वंदिअ सिरिवद्धमाणजिणचंदं ।**
[गइआईसुं वुच्छ समासओ बंधसामित्तं ॥] ..... [कर्मग्रंथ तीसरा १-देवेन्द्रसूरि]

८६४.... सिरिवीर जिणं वंदिअ, कम्मविवागं समासओ वुच्छं ।
कीरई जिएण हेउहिं, जेणं तो भण्णए कम्मं ॥ ..... [प्रथम कर्मग्रंन्थ-देवेन्द्रसूरि]

८६४+८२२ कम्मदव्वेहिं सम्मं, संजोगो होइ जो उ जीवस्स ।
८४१ सो बंधो नायव्वो, तस्स विओगो भवे मुक्खो ॥
[आचारांग अ. ७. १. निर्युक्ति गा० २६०-?]

८६९.... [1] एगे समणे भगवं महावीरे इमीसेणं उसप्पिणीए
चउवीसं तित्थयराणं चरिमे तित्थयरे सिद्धे बुद्धे मुत्ते
परिनिव्वुडे सवदुःखप्पहीणे । ..... [ठाणांगसूत्र ५३]

८७२.... [2] इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं
पडिपुण्ण संसुद्धं णेयाउयं सल्लकत्तणं सिद्धिमग्गं
मुत्तिमग्गं निज्ञाणमग्गं निव्वाणमग्गं अवितहमसंदिठं
सव्वदुक्खपहीणमग्गं । एथ्थंठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति
मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतंकरेंति तंमाणाए
तहा गच्छामो तहा चिट्ठामो । तहा णिसियामो
तहा सुयट्ठामो तहा भुंजामो तहा भासामो
तहा अब्भुट्ठामो तहा उट्ठाए उट्ठेमोत्ति पाणाणं
भूयाणं जीवाणं सत्ताणं संजमेणं संजमोत्ति । ..... [सूत्रकृतांग सूत्र २-७-१५]

---

१. पाठा० एगे समणे भगवं महावीरं इमीए ओसप्पिणीए
चउव्वीसाए तित्थयराणं चरिमतित्थयरे सिद्धे बुद्धे मुत्ते
परिनिव्वुडे जाव सवदुक्खप्पहीणे ।

२. पाठा० इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुणसंसुद्धं णेयाउयं सल्लकत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं विज्ञाणमग्गं निव्वाणमग्गं अवितहमसंदिठं सव्वदुक्खपहीणमग्गं । एथ्थं ठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतंकरंति तंमाणाए तहा गच्छामो तहा चिट्ठामो । तहा णिसियामो तहा सुयट्ठामो तहा भुंजामो तहा भासामो तहा अब्भुट्ठामो तहा उट्ठाए उट्ठेमोत्ति पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं संजमेणं संजमामोत्ति ।

परिशिष्ट २

आत्मसिद्धिशास्त्रके दोहोंकी वर्णानुक्रमणिका

दोहा	क्रमांक	पृष्ठ
अथवा देह ज आतमा	४६	५६०
अथवा निज परिणाम जे	१२२	५७७
अथवा निश्चय नय ग्रहे	२९	५५७
अथवा मत-दर्शन घणा	९३	५७३
अथवा वस्तु क्षणिक छे	६१	५६२
अथवा सद्गुरुए कह्यां	१४	५५५
अथवा ज्ञान क्षणिकनुं	६९	५६५
असद्गुरु ए विनयनो	२१	५५६
अहो ! अहो ! श्री सद्गुरु	१२४	५७८
आगळ ज्ञानी थई गया	१३४	५७९
आत्मज्ञान त्यां मुनिपणुं	३४	५५८
आत्मज्ञान समदर्शिता	१०	५५३
आत्मभ्रांति सम रोग नहि	१२९	५७८
आत्मा छे ते नित्य छे	४३	५५९
आत्मादि अस्तित्वनां	१३	५५५
आत्मा द्रव्ये नित्य छे	६८	५६५
आत्माना अस्तित्वना	५९	५६२
आत्मानी शंका करे	५८	५६२
आत्मा सत् चैतन्यमय	१०१	५७४
आत्मा सदा असंग ने	७२	५६६
आ देहादि आजथी	१२६	५७८
आवे ज्यां एवी दशा	४०	५५९
ईश्वर सिद्ध थया विना	८१	५७०
ऊपजे ते सुविचारणा	४२	५५९
उपादाननुं नाम लई	१३६	५७९
एक रांक ने एक नृप	८४	५७१
एक होय त्रण काळमां	३६	५५९
ए ज धर्मथी मोक्ष छे	११६	५७७
ए पण जीव मतार्थमां	३१	५५८
एम विचारी अंतरे	३७	५५९
एवो मार्ग विनयतणो	२०	५५६
कई जातिमां मोक्ष छे	९४	५७३
कर्ता ईश्वर कोई नहि	७७	५६७
कर्ता जीव न कर्मनो	७१	५६६
कर्ता भोक्ता कर्मनो	१२१	५७७
कर्ता भोक्ता जीव हो	८७	५७२
कर्मभाव अज्ञान छे	९८	५७४
कर्म अनंत प्रकारनां	१०२	५७४
कर्मबंध क्रोधादिथी	१०४	५७५
कर्म मोहनीय भेद बे	१०३	५७४
कषायनी उपशांतता	३८	५५९
कषायनी उपशांतता	१०८	५७६
केवळ निज स्वभावनुं	११३	५७६
केवळ होत असंग जो	७६	५६७
कोई क्रियाजड थई रह्या	३	५४७
कोई संयोगोथी नहीं	६६	५६४
कोटि वर्षनुं स्वप्न पण	११४	५७६
क्यारे कोई वस्तुनो	७०	५६५
क्रोधादि तरतम्यता	६७	५६४
गच्छ-मतनी जे कल्पना	१३३	५७९
घटपट आदि जाण तुं	५५	५६१
चेतन जो निजभानमां	७८	५६९
छूटे देहाध्यास तो	११५	५७६
छे इन्द्रिय प्रत्येकने	५२	५६१
छोडी मत दर्शन तणो	१०५	५७५
जड चेतननो भिन्न छे	५७	५६१
जडथी चेतन ऊपजे	६५	५६४
जात वेषनो भेद नहि	१०७	५७५
जीव कर्म कर्ता कहो	७९	५६९
जे जिनदेह प्रमाण ने	२५	५५७
जे जे कारण बंधनां	९९	५७४
जे द्रष्टा छे दृष्टिनो	५१	५६१
जेना अनुभव वश्य ए	६३	५६३
जेम शुभाशुभ कर्मपद	८९	५७२
जे सद्गुरु उपदेशथी	१९	५५६
जे संयोगो देखिये	६४	५६३
जे स्वरूप समज्या विना	१	५४७
जो चेतन करतुं नथी	७५	५६७
जो इच्छो परमार्थ तो	१३०	५७९
ज्ञान दशा पामे नहीं	३०	५५८

दोहा	क्रमांक	पृष्ठ
ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे	८	५४९
ज्यां प्रगटे सुविचारणा	४१	५५९
झेर सुधा समजे नहीं	८३	५७१
ते जिज्ञासु जीवने	१०१	५७४
ते ते भोग्य विशेषनां	८६	५७१
तेथी एम जणाय छे	९५	५७३
त्याग विराग न चित्तमां	७	५४८
दया, शांति, समता, क्षमा	१३८	५८०
दर्शन षटे समाय छे	१२८	५७८
दशा न एवी ज्यां सुधी	३९	५५९
देवादि गति-भंगमां	२७	५५७
देह छतां जेनी दशा	१४२	५८०
देह न जाणे तेहने	५३	५६१
देह मात्र संयोग छे	६२	५६२
देहादिकसंयोगनो	९१	५७३
नथी दृष्टि आवतो	४५	५६०
नय निश्चय एकांतथी	१३२	५७९
नहि कषाय उपशांतता	३२	५५८
निश्चय वाणी सांभळी	१३१	५७९
निश्चय सर्वे ज्ञानीनो	११८	५७७
परम बुद्धि कृष देहमां	५६	५६१
पांचे उत्तरथी थयुं	९६	५७३
पांचे उत्तरनी थई	९७	५७४
प्रत्यक्ष सद्गुरु प्राप्तिनो	३५	५५८
प्रत्यक्ष सद्गुरु योगथी	१६	५५६
प्रत्यक्ष सद्गुरु योगमां	२६	५५७
प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं	११	५५५
फळदाता ईश्वर गण्ये	८०	५६९
फळदाता ईश्वतणी	८५	५७१
बाह्य क्रियामां राचता	४	५४७
बाह्य त्याग पण ज्ञान नहि	२४	५५७
बीजी शंका थाय त्यां	६०	५६२
बंध मोक्ष छे कल्पना	५	५४७
भावकर्म निज कल्पना	८२	५७०
भास्यो देहाध्यासथी	४९	५६०
भास्यो देहाध्यासथी	५०	५६०
भास्युं निजस्वरूप ते	१२०	५७७
मतदर्शन आग्रह तजी	११०	५७६
माटे छे नहि आतमा	४८	५६०
माटे मोक्ष उपायनो	७३	५६६
मानादिक शत्रु महा	१८	५५६
मुखथी ज्ञान कथे अने	१३७	५८०
मोहभाव क्षय होय ज्यां	१३९	५८०
मोक्ष कह्यो निज शुद्धता	१२३	५७८
राग, द्वेष, अज्ञान ए	१००	५७४
रोके जीव स्वच्छंद तो	१५	५५५
लह्युं स्वरूप न वृत्तिनुं	२८	५५७
लक्षण कह्यां मतार्थीनां	३३	५५८
वर्तमान आ काळमां	२	५४७
वर्ते निज स्वभावनो	१११	५७६
वर्धमान समकित थई	११२	५७६
वळी जो आत्मा होय तो	४७	५६०
वीत्यो काळ अनंत ते	९०	५७२
वैराग्यादि सफळ तो	६	५४८
शुद्ध शुद्ध चैतन्यघन	११७	५७७
शुभ करे फळ भोगवे	८८	५७२
शुं प्रभुचरण कने धरुं	१२५	५७८
षट्पदनां षट् प्रश्न तें	१०६	५७५
षट् स्थानक समजावीने	१२७	५७८
षट् स्थानक संक्षेपमां	४४	५६०
सकळ जगत ते एठवत्	१४०	५८०
सद्गुरुना उपदेशथी	११९	५७७
सद्गुरुना उपदेश वण	१२	५५५
सर्व अवस्थाने विषे	५४	५६१
सर्व जीव छे सिद्ध सम	१३५	५७९
सेवे सद्गुरु चरणने	९	५४९
स्थानक पांच विचारीने	१४१	५८०
स्वच्छंद, मत आग्रह तजी	१७	५५६
होय कदापि मोक्षपद	९२	५७३
होय न चेतन प्रेरणा	७४	५६६
होय मतार्थी तेहने	२३	५५६
होय मुमुक्षु जीव ते	२२	५५६

परिशिष्ट ३

पत्रोके संबंधमें विशेष जानकारी

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिति	
१	-------	---	---	-------	-----
२	-------	---	---	-------	-----
३	-------	---	---	-------	-----
४	-------	---	---	-------	-----
५	-------	---	---	-------	-----
६	-------	मोरबी	---	-------	-----
७	-------	बंबई	---	-------	-----
८	-------	बंबई	---	-------	-----
९	-------	---	---	-------	-----
१०	-------	---	---	-------	-----
११	-------	---	---	-------	-----
१२	-------	---	---	-------	-----
१३	-------	---	---	-------	-----
१४	-------	जेतपुर (जेतपर)	---	का०सु० १५,	१९४१
१५	-------	---	---	-------	-----
१६	-------	---	---	-------	-----
१७	-------	---	---	-------	-----
१८	रवजीभाई देवराज	ववाणिया	---	-------	१९४२
१९	-------	---	---	-------	-----
२०	-------	---	---	-------	-----
२१	-------	---	---	-------	-----
२२	-------	बंबई	---	कार्तिक ---	१९४३
२३	-------	---	---	-------	-----
२४	-------	---	---	-------	-----
२५	-------	---	---	कार्तिक ---	१९४३
२६	चत्रभुज बेचर	ववाणिया	---	-------	१९४३
२७	चत्रभुज बेचर	बंबई	---	-------	१९४३
२८	चत्रभुज बेचर	बंबई	---	----- सोम	१९४३
२९	चत्रभुज बेचर	बंबई	---	का० सु० ५,	१९४४
३०	चत्रभुज बेचर	बंबई	जेतपर	पो० व० १०,	१९४४
३१	रेवाशंकर जगजीवन	ववाणिया	मोरबी	प्र० चै० सु० ११॥	१९४४
३२	-------	ववाणिया	---	आ० व० ३,	१९४४
३३	रेवाशंकर जगजीवन	ववाणिया	मोरबी	आ० व० ४,	१९४४
३४	-------	ववाणिया	---	श्रा० व० १३,	१९४४
३५	-------	ववाणिया	---	श्रा० व० ३०,	१९४४
३६	जूठाभाई ऊजमसी	बंबई	कलोल	भा० व० १,	१९४४
३७	जूठाभाई ऊजमसी	बंबई	अमदावाद	आ० व० २,	१९४४

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिति	
३८	-------	---	---	-------	१९४४
३९	-------	---	---	-------	१९४४
४०	-------	बंबई	---	-------	१९४४
४१	जूठाभाई ऊजमसी	भरुच	अमदावाद	मा० सु० ३,	१९४५
४२	जूठाभाई ऊजमसी	भरुच	अमदावाद	मा० सु० १२	१९४५
४३	जूठाभाई ऊजमसी	बंबई	अमदावाद	मा० व० ७	१९४५
४४	जूठाभाई ऊजमसी	बंबई	अमदावाद	मा० व० १२	१९४५
४५	जूठाभाई ऊजमसी	बंबई	अमदावाद	मा० व० ३०	१९४५
४६	जूठाभाई ऊजमसी	बंबई	अमदावाद	मा० ---	१९४५
४७	(खीमजी देवजी)	ववाणिया	बंबई	माघ० व० -	१९४५
४८	-------	ववाणिया	---	माघ० ---	१९४५
४९	जूठाभाई ऊजमसी	ववाणिया	अमदावाद	माघ व० ७,	१९४५
५०	-------	ववाणिया	---	माघ व० ७,	१९४५
५१	-------	ववाणिया	---	माघ व० ७,	१९४५
५२	(खीमजी देवजी)	ववाणिया	बंबई	माघ व० १०,	१९४५
५३	जूठाभाई ऊजमसी	ववाणिया	अमदावाद	फा० सु० ६,	१९४५
५४	-------	ववाणिया	---	फा० सु० ९,	१९४५
५५	-------	ववाणिया	---	फा० सु० ९,	१९४५
५६	जूठाभाई ऊजमसी	मोरबी	अमदावाद	चै० सु० ११,	१९४५
५७	" "	मोरबी	---	चै० व० ९,	१९४५
५८	खीमजी देवजी (दयालजी)	मोरबी	बंबई	चैत्र व० १०,	१९४५
५९	जूठाभाई ऊजमसी	ववाणिया	अमदावाद	वै० सु० १,	१९४५
६०	-------	---	---	वैशाख ---	१९४५
६१	मनसुखराम सूर्यराम	ववाणिया	---	वै० सु० ६,	१९४५
६२	खीमजी देवजी (दयालजी)	ववाणिया	बंबई	वै० सु० १२,	१९४५
६३	-------	ववाणिया	---	वै० व० १३,	१९४५
६४	मनसुखराम सूर्यराम	ववाणिया	---	ज्ये० सु० ४,	१९४५
६५	जूठाभाई ऊजमसी	मोरबी	---	ज्ये० सु० १०,	१९४५
६६	मनसुखराम सूर्यराम	अमदावाद	---	ज्ये० व० १२,	१९४५
६७	खीमजी देवचंद	वढवाणकॅम्प	बंबई	आ० सु० ८,	१९४५
६८	मनसुखराम सूर्यराम	बजाणा	---	आ० सु० १५,	१९४५
६९	जूठाभाई ऊजमसी	ववाणिया	---	आ० व० १२,	१९४५
७०	-------	भरुच	---	श्रा० सु० १,	१९४५
७१	मनसुखराम सूर्यराम	भरुच	---	श्रा० सु० ३,	१९४५
७२	खीमजी देवजी	भरुच	बंबई	श्रा० सु० १०,	१९४५
७३	जूठाभाई ऊजमसी	बंबई	अमदावाद	श्रा० व० ७,	१९४५
७४	(जूठाभाई ऊजमसी ?)	ववाणिया	(अमदावाद)	भा० सु० २,	१९४५
७५	जूठाभाई ऊजमसी	बंबई	अमदावाद	भा० व० ४,	१९४५
७६	-------	बंबई	---	आसोज० व० १०,	१९४५
७७	-------	---	---	--------	१९४५

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिति	
७८	-------	---	---	-------	१९४५
७९	-------	---	---	-------	१९४५
८०	-------	---	---	-------	१९४५
८१	-------	---	---	-------	१९४५
८२	-------	---	---	-------	१९४५
८३	मनसुखराम सूर्यराम	---	---	-------	१९४५
८४	-------	---	---	-------	१९४६
८५	-------	बंबई	---	-------	१९४६
८६	-------	---	---	-------	१९४६
८७	मनसुखराम सूर्यराम	बंबई	---	का० सु० ७,	१९४६
८८	-------	बंबई	---	कार्तिक --	१९४६
८९	-------	बंबई	---	का० सु० १५,	१९४६
९०	-------	बंबई	---	कार्तिक --	१९४६
९१	-------	बंबई	---	कार्तिक --	१९४६
९२	-------	बंबई	---	कार्तिक --	१९४६
९३	-------	बंबई	---	कार्तिक --	१९४६
९४	जूठाभाई ऊजमसीभाई	बंबई	---	मग० सु० ९,	१९४६
९५	-------	बंबई	---	पौष ---	१९४६
९६	-------	बंबई	---	पौ० सु० ३,	१९४६
९७	-------	बंबई	---	पौ० सु० ३,	१९४६
९८	चीमनलाल महासुख (जूठाभाई)	बंबई	अमदावाद	पौ० व० ९,	१९४६
९९	-------	बंबई	---	पौष ---	१९४६
१००	-------	बंबई	---	पौष ---	१९४६
१०१	-------	बंबई	---	पौष ---	१९४६
१०२	-------	---	---	------	---
१०३	-------	बंबई	---	माघ	१९४६
१०४	चीमनलाल महासुख (जूठाभाई)	बंबई	---	माघ व० २,	१९४६
१०५	-------	बंबई	अमदावाद	फा० सु० ६,	१९४६
१०६	चीमनलाल महासुख (जूठाभाई)	बंबई	,,	फा० सु० ८,	१९४६
१०७	-------	बंबई	---	फा० व० १,	१९४६
१०८	-------	बंबई	---	फागुन --	१९४६
१०९	-------	---	---	------	-----
११०	-------	---	---	------	-----
१११	-------	बंबई	---	फागुन ---	१९४६
११२	-------	बंबई	---	चैत्र ----	१९४६
११३	-------	बंबई	---	वै० व० १२,	१९४६
११४	जूठाभाई ऊजमसीभाई	मोरबी	अमदावाद	आ० सु० ४,	१९४६
११५	अंबालाल, त्रिभोवन आदि	बंबई	खंभात	आ० सु० ५,	१९४६
११६	-------	बंबई	---	वै० सु० ३,	१९४६
११७	-------	बंबई	---	आ० सु० १०,	१९४६
११८	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	आ० सु० १५,	१९४६

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिति	
११९	त्रिभोवनदास माणेकचंद	बंबई	खंभात	आ० व० ७,	१९४६
१२०	मनसुखराम सूर्यराम	बंबई	- - -	आ० व० ३०,	१९४६
१२१	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	आषाढ - - - -	१९४६
१२२	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	आषाढ - - - -	१९४६
१२३	- - - - - - -	बंबई	- - -	आषाढ - - - -	१९४६
१२४	खीमजी देवजी	ववाणिया	बंबई	श्रा० व० ५,	१९४६
१२५	खीमजी देवजी	ववाणिया	बंबई	श्रा० व० १३,	१९४६
१२६	मनसुखराम सूर्यराम	ववाणिया	बंबई	प्र० भा० सु० ३,	१९४६
१२७	खीमजी देवजी	ववाणिया	बंबई	प्र० भा० सु० ४,	१९४६
१२८	अंबालाल लालचंद	ववाणिया	खंभात	प्र० भा० सु० ६,	१९४६
१२९	चत्रभुज बेचर	ववाणिया	जेतपर	प्र० भा० सु० ७,	१९४६
१३०	खीमजी देवजी	ववाणिया	बंबई	प्र० भा० सु० ११,	१९४६
१३१	अंबालाल लालचंद	जेतपर	खंभात	प्र० भा० व० ५,	१९४६
१३२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	मोरबी	प्र० भा० व० १३,	१९४६
१३३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	मोरबी	द्वि० भा० सु० २,	१९४६
१३४	त्रिभोवन, अंबालाल	ववाणिया	खंभात	द्वि० भा० सु० ८,	१९४६
१३५	त्रिभोवन, अंबालाल	ववाणिया	,,	द्वि० भा० सु० १४,	१९४६
१३६	खीमजी देवजी	ववाणिया	बंबई	द्वि० भा० सु० १४,	१९४६
१३७	त्रिभोवन माणेकचंद	मोरबी	खंभात	द्वि० भा० व० ४,	१९४६
१३८	अंबालाल लालचंद	मोरबी	खंभात	द्वि० भा० व० ६,	१९४६
१३९	अंबालाल लालचंद	मोरबी	खंभात	द्वि० भा० व० ७,	१९४६
१४०	त्रिभोवन माणेकचंद	मोरबी	खंभात	द्वि० भा० व० ८,	१९४६
१४१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	अंजार	द्वि० भा० व० १२,	१९४६
१४२	त्रिभोवन माणेकचंद	ववाणिया	खंभात	द्वि० भा० व० १३,	१९४६
१४३	खीमजी देवजी	ववाणिया	बंबई	द्वि० भा० व० १३,	१९४६
१४४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	अंजार	द्वि० भा० व० ३०,	१९४६
१४५	खीमजी देवजी	ववाणिया	बंबई	आसो० सु० २,	१९४६
१४६	अंबालाल लालचंद	ववाणिया	खंभात	आसो० सु० ५,	१९४६
१४७	खीमजी देवजी	ववाणिया	बंबई	आसो० सु० ६,	१९४६
१४८	अंबालाल लालचंद	ववाणिया	खंभात	आसो० सु० १०,	१९४६
१४९	- - - - - - -	ववाणिया	खंभात	आसो० सु० १०,	१९४६
१५०	- - - - - - -	ववाणिया	खंभात	आसोज - - - - -	१९४६
१५१	- - - - - - -	- - -	- - -	आसोज - - - - -	१९४६
१५२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	मोरबी	आसो० सु० ११	१९४६
१५३	त्रिभोवन माणेकचंद	ववाणिया	खंभात	आसो० सु० १२,	१९४६
१५४	- - - - - - -	मोरबी	- - -	आसोज - - - - -	१९४६
१५५	- - - - - - -	बंबई	- - -	- - - - - - - - -	१९४६
१५६	- - - - - - -	बंबई	- - -	- - - - - - - - -	१९४६
१५७	- - - - - - -	- - -	- - -	- - - - - - - - -	१९४६
१५७-अ	- - - - - - -	- - -	- - -	- - - - - - - - -	- - -
१५८	- - - - - - -	- - -	- - -	- - - - - - - - -	- - -
१५९	- - - - - - -	- - -	- - -	- - - - - - - - -	- - -

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिति	
१६०	-------	---	---	-------	---
१६१	-------	---	---	-------	---
१६२	-------	---	---	-------	---
१६३	-------	---	---	-------	---
१६४	-------	---	---	-------	---
१६५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	का० सु० ५,	१९४७
१६६	(सोभाग्यभाई लल्लुभाई ?)	बंबई	खंभात	का० सु० ६,	१९४७
१६७	त्रिभोवन तथा अंबालाल	बंबई	---	का० सु० १२,	१९४७
१६८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	का० सु० १३,	१९४७
१६९	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	का० सु० १३,	१९४७
१७०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	का० सु० १४,	१९४७
१७१	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	का० सु० १४,	१९४७
१७२	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	खंभात	का० सु० १४,	१९४७
१७३	त्रिभोवन आदि	बंबई	खंभात	का० व० ३,	१९४७
१७४	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	का० व० ५,	१९४७
१७५	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	का० व० ८,	१९४७
१७६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	का० व० ९,	१९४७
१७७	त्रिभोवन माणेकचंद	बंबई	खंभात	का० व० १४,	१९४७
१७८	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	का० व० ३०,	१९४७
१७९	-------	बंबई	---	कार्तिक ---	१९४७
१८०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	मगसिर सु० ४,	१९४७
१८१	छोटालाल माणेकचंद	बंबई	खंभात	मगसिर सु० ९,	१९४७
१८२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	मग० सु० १३,	१९४७
१८३	-------	बंबई	---	मग० सु० १४,	१९४७
१८४	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	मग० सु० १५,	१९४७
१८५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	मग० व० ७,	१९४७
१८६	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	मग० व० १०,	१९४७
१८७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	मग० व० ३०,	१९४७
१८८	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	पौष० सु० २,	१९४७
१८९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	पौष० सु० ५,	१९४७
१९०	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	पौष० सु० ९,	१९४७
१९१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	पौष० सु० १०,	१९४७
१९२	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	पौष० सु० १४,	१९४७
१९३	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	पौष० व० २,	१९४७
१९४	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	---	पौष, -----	१९४७
१९५	-------	बंबई	---	पौष, -----	१९४७
१९६	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	---	माघ सु० ७,	१९४७
१९७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	माघ सु० ९,	१९४७
१९८	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	---	माघ सु० ११,	१९४७
१९९	(अंबालाल लालचंद)	बंबई	खंभात	माघ सु० ११,	१९४७
२००	मणिलाल सोभाग्यभाई	बंबई	सायला	माघ सु० ----	१९४७

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिति	
२०१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	माघ. व० ३,	१९४७
२०२	चत्रभुज बेचर	बंबई	---	माघ. व० ३,	१९४७
२०३	अंबालाल लालचंद	बंबई	---	माघ. व० ४,	१९४७
२०४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	माघ. व० ७,	१९४७
२०५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	माघ. व० ११,	१९४७
२०६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	माघ. व० १३,	१९४७
२०७	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	---	माघ. व० ३०,	१९४७
२०८	-------	बंबई	---	माघ. व० ३०,	१९४७
२०९	-------	---	---	-------	-----
२१०	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	---	माघ. व० ३०,	१९४७
२११	(अंबालाल लालचंद)	बंबई	खंभात	माघ. व० ३०,	१९४७
२१२	त्रिभोवन माणेकचंद	बंबई	खंभात	माघ. व० --	१९४७
२१३	(सोभाग्यभाई लल्लुभाई)	बंबई	---	फा० सु० ४,	१९४७
२१४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	फा० सु० ५,	१९४७
२१५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	फा० सु० ८,	१९४७
२१६	-------	---	---	-------	-----
२१७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	माघ सुदी, --	१९४७
२१८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	फा० सु० १३,	१९४७
२१९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	फा० व० १,	१९४७
२२०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	फा० व० ३,	१९४७
२२१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	फा० व० ८,	१९४७
२२२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	फा० व० ११,	१९४७
२२३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	फा० व० १४,	१९४७
२२४	-------	बंबई	---	फा० व० २,	१९४७
२२५	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	फा० व० ३,	१९४७
२२६	छोटालाल माणेकचंद	बंबई	खंभात	फागुन, ----	१९४७
२२७	-------	बंबई	---	फागुन, ----	१९४७
२२८	-------	बंबई	---	फागुन, ----	१९४७
२२९	-------	बंबई	---	फागुन, ----	१९४७
२३०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	चैत्र सु० ४,	१९४७
२३१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	चैत्र सु० ७,	१९४७
२३२	त्रिभोवन माणेकचंद	बंबई	खंभात	चैत्र सु० ९,	१९४७
२३३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	चैत्र सु० १०,	१९४७
२३४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	चैत्र सु० १०,	१९४७
२३५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	चैत्र सु० १४,	१९४७
२३६	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	चैत्र सु० १५,	१९४७
२३७	त्रिभोवन माणेकचंद	बंबई	---	चैत्र व० २,	१९४७
२३८	त्रिभोवन माणेकचंद	बंबई	---	चैत्र व० ३,	१९४७
२३९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	चैत्र व० ७,	१९४७
२४०	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	चैत्र व० ९,	१९४७
२४१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	चैत्र व० १४,	१९४७

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिति	
२४२	(अंबालाल लालचंद)	बंबई	---	चैत्र ----	१९४७
२४३	-------	बंबई	---	वै० सु० २,	१९४७
२४४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	वै० सु० ७,	१९४७
२४५	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	वै० सु० १३,	१९४७
२४६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	वै० व० ३,	१९४७
२४७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	वै० व० ८,	१९४७
२४८	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	वै० व० ८,	१९४७
२४९	-------	बंबई	---	जे० सु० ७,	१९४७
२५०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	जे० सु० १५,	१९४७
२५१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	जे० व० ६,	१९४७
२५२	-------	बंबई	---	जे० सु० ---	१९४७
२५३	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	आ० सु० १,	१९४७
२५४	(खंभातके मुमुक्षुओंपर)	बंबई	खंभात	आ० सु० ८,	१९४७
२५५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	आ० सु० १३,	१९४७
२५६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	आ० व० २,	१९४७
२५७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	”	आ० व० ४,	१९४७
२५८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	आषाढ ---	१९४७
२५९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	श्रा० सु० १,	१९४७
२६०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	श्रा० सु० ९,	१९४७
२६१	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	श्रा० सु० ९,	१९४७
२६२	उगरी बहन	बंबई	कलोल	श्रा० सु० --	१९४७
२६३	खीमजी देवजी	राळज	बंबई	भा० सु० ८,	१९४७
२६४	-------	राळज	---	भा० सु० ८,	१९४७
२६५	-------	राळज	---	भा० सु० ८,	१९४७
२६६	-------	राळज	---	भा० सु० ८,	१९४७
२६७	-------	राळज	---	भाद्रपद ---	१९४७
२६८	-------	राळज	---	भाद्रपद ---	१९४७
२६९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	मोरबी	भा० व० ३,	१९४७
२७०	-------	ववाणिया	---	भा० व० ४,	१९४७
२७१	अंबालाल लालचंद	ववाणिया	खंभात	भा० व० ४,	१९४७
२७२	कुंवरजी मगनलाल	ववाणिया	कलोल	भा० व० ४,	१९४७
२७३	खीमजी देवजी	ववाणिया	बंबई	भा० व० ५,	१९४७
२७४	-------	ववाणिया	---	भा० व० ५,	१९४७
२७५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	---	भा० व० ५,	१९४७
२७६	अंबालाल लालचंद	ववाणिया	खंभात	भा० व० ७,	१९४७
२७७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	मोरबी	भा० व० ७,	१९४७
२७८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	---	भा० व० १०,	१९४७
२७९	मगनलाल खीमचंद	ववाणिया	लींबडी	भा० व० ११,	१९४७
२८०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	---	भा० व० १२,	१९४७
२८१	खीमजी देवजी	ववाणिया	बंबई	भा० व० १३,	१९४७
२८२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	---	भा० व० १४,	१९४७

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिति	
२८३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	---	भा० व० ३०,	१९४७
२८४	-------	ववाणिया	---	आ० सु० ६,	१९४७
२८५	अंबालाल लालचंद	ववाणिया	---	आ० सु० ७,	१९४७
२८६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	मोरबी	आ० सु० --	१९४७
२८७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	अंजार	आ० व० १,	१९४७
२८८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	अंजार	आ० व० ५,	१९४७
२८९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	---	आ० व० १०,	१९४७
२९०	धारशीभाई कुशळचंद	---	भुज	आ० व० १०,	१९४७
२९१	अंबालाल लालचंद	ववाणिया	खंभात	आ० व० १२,	१९४७
२९२	-------	ववाणिया	---	आ० व० १२,	१९४७
२९३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	अंजार	आ० व० १३,	१९४७
२९४	-------	बंबई	---	-------	१९४७
२९५	-------	बंबई	---	-------	१९४७
२९६	-------	बंबई	---	-------	१९४७
२९७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	-------	१९४७
२९८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	अंजार	का० सु० ४,	१९४८
२९९	-------	ववाणिया	---	का० सु० ७,	१९४८
३००	अंबालाल लालचंद	ववाणिया	खंभात	का० सु० ८,	१९४८
३०१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	अंजार	का० सु० ८,	१९४८
३०२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	मोरबी	का० सु० १३,	१९४८
३०३	अंबालाल लालचंद	ववाणिया	खंभात	का० सु० १३,	१९४८
३०४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	मोरबी	का० सु० ---	१९४८
३०५	त्रिभोवन माणेकचंद	ववाणिया	---	का० व० १,	१९४८
३०६	अंबालाल लालचंद	मोरबी	खंभात	का० व० ७,	१९४८
३०७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	आणंद	मोरबी	मगसिर सु० २,	१९४८
३०८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	मग० सु० १४,	१९४८
३०९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	मग० व० ३०,	१९४८
३१०	त्रिभोवन माणेकचंद	बंबई	खंभात	पोष सु० ३,	१९४८
३११	-------	बंबई	---	पोष सु० ३,	१९४८
३१२	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	पोष सु० ५,	१९४८
३१३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	पोष सु० ७,	१९४८
३१४	-------	बंबई	---	पोष सु० ११,	१९४८
३१५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	पोष सु० ११,	१९४८
३१६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	पोष व० ३,	१९४८
३१७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबइ	मोरबी	पोष व० ९,	१९४८
३१८	कुंवरजी मगनलाल	बंबई	कलोल	पोष व० १३,	१९४८
३१९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	माघ सु० ५,	१९४८
३२०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	माघ सु० १३,	१९४८
३२१	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	माघ व० २,	१९४८
३२२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	---	मोरबी	--- रविवार	१९४८
३२३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	माघ व० २,	१९४८

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिति	
३२४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	माघ व० ४,	१९४८
३२५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	माघ व० ९,	१९४८
३२६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	माघ व० ११,	१९४८
३२७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	माघ व० १४,	१९४८
३२८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	माघ व० ३०,	१९४८
३२९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	माघ वदी --	१९४८
३३०	किसनदास आदि	बंबई	खंभात	माघ - - - -	१९४८
३३१	- - - - - - - - - - -	बंबई	- - -	माघ - - - -	१९४८
३३२	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	फा० सु० ४,	१९४८
३३३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	फा० सु० ४,	१९४८
३३४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	फा० सु० १०,	१९४८
३३५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	फा० सु० १०,	१९४८
३३६	कुंवरजी मगनलाल	बंबई	कलोल	फा० सु० ११,	१९४८
३३७	- - - - - - - - - - -	बंबई	- - -	फा० सु० ११॥,	१९४८
३३८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	फा० सु० १३,	१९४८
३३९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	फा० सु० १४,	१९४८
३४०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	फा० सु० १५,	१९४८
३४१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	फा० व० ४,	१९४८
३४२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	फा० व० ६,	१९४८
३४३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	फा० व० ७,	१९४८
३४४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	फा० व० १०,	१९४८
३४५	- - - - - - - - - - -	बंबई	- - -	फा० व० ११,	१९४८
३४६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	फा० व० १४,	१९४८
३४७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	फा० व० ३०,	१९४८
३४८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	चैत्र सु० २,	१९४८
३४९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	चैत्र सु० ४,	१९४८
३५०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	- - -	चैत्र सु० ६,	१९४८
३५१	कुंवरजी मगनलाल	बंबई	कलोल	चैत्र सु० ९,	१९४८
३५२	चत्रभुज बेचर	बंबई	जेतपर	चैत्र सु० ९,	१९४८
३५३	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	चैत्र सु० १२,	१९४८
३५४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	चैत्र सु० १३,	१९४८
३५५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	चैत्र व० १,	१९४८
३५६	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	चैत्र व० १,	१९४८
३५७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	चैत्र व० ५,	१९४८
३५८	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	चैत्र व० ५,	१९४८
३५९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	चैत्र व० ८,	१९४८
३६०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	चैत्र व० १२,	१९४८
३६१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	वै० सु० ३,	१९४८
३६२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	वै० सु० ४,	१९४८
३६३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	वै० सु० ५,	१९४८
३६४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	वै० सु० ९,	१९४८

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिति	
३६५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	वै० सु० ११,	१९४८
३६६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	वै० सु० १२,	१९४८
३६७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	वै० व० १,	१९४८
३६८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	वै० व० ६,	१९४८
३६९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	वै० व० ९,	१९४८
३७०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	वै० व० ११,	१९४८
३७१	कुंवरजी मगनलाल	बंबई	कलोल	वै० व० १३,	१९४८
३७२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	वै० व० १४,	१९४८
३७३	धारसीभाई तथा नवलचंदभाई	बंबई	भुज	वै० व० १४,	१९४८
३७४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	वैशाख ---	१९४८
३७५	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	---	वैशाख ---	१९४८
३७६	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	वैशाख व० -	१९४८
३७७	----------	बंबई	---	वैशाख ---	१९४८
३७८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	जेठ सु० १०,	१९४८
३७९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	जेठ व० ३०,	१९४८
३८०	(मुनिश्री लल्लुजी)	बंबई	---	जेठ-----	१९४८
३८१	मुनिश्री लल्लुजी	---	---	-------	---
३८२	मुनिश्री लल्लुजी	---	---	-------	---
३८३	----------	बंबई	---	जेठ-----	१९४८
३८४	(सोभाग्यभाई लल्लुभाई ?)	बंबई	---	आ० सु० ९,	१९४८
३८५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	आषाढ ---	१९४८
३८६	धारशीभाई कुशळचंद	बंबई	भुज	आ० व० ३०,	१९४८
३८७	-------	बंबई	---	श्रा० सु० --	१९४८
३८८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	श्रा० सु० ४,	१९४८
३८९	मनसुख देवसी	बंबई	लींबडी	श्रा० सु० १०,	१९४८
३९०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	श्रा० सु० १०,	१९४८
३९१	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	श्रा० सु० १०,	१९४८
३९२	----------	बंबई	---	श्रा० सु० १०,	१९४८
३९३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	श्रा० सु० १०,	१९४८
३९४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	श्रा० व० १०,	१९४८
३९५	----------	बंबई	---	श्रा० व० --	१९४८
३९६	----------	बंबई	---	श्रा० व० --	१९४८
३९७	त्रिभोवन माणेकचंद आदि	बंबई	खंभात	श्रा० व० ११,	१९४८
३९८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	श्रा० व० १४,	१९४८
३९९	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	श्रावण ---	१९४८
४००	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	श्रा० व० --	१९४८
४०१	मणिलाल रायचंद गांधी	बंबई	बोटाद	भा० सु० १,	१९४८
४०२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	भा० सु० ७,	१९४८
४०३	----------	बंबई	---	भा० सु० १०,	१९४८
४०४	कृष्णदास आदि	बंबई	खंभात	भा० सु० १०,	१९४८
४०५	मनसुख देवसी	बंबई	लींबडी	भा० सु० १०,	१९४८

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिति	
४०६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	भा० सु० १२,	१९४८
४०७	मणिलाल रायचंद गांधी	बंबई	भावनगर	भा० व० ३,	१९४८
४०८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	भा० व० ८,	१९४८
४०९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	आसोज सु० १,	१९४८
४१०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	आसो० सु० ७,	१९४८
४११	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	आसो० सु० १०,	१९४८
४१२	-------	बंबई	---	आसो० व० ६,	१९४८
४१३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	आसो० व० ८,	१९४८
४१४	-------	बंबई	---	आसोज ----	१९४८
४१५	-------	बंबई	---	आसोज ----	१९४८
४१६	-------	बंबई	---	आसोज ----	१९४८
४१७	-------	---	---	आसोज ----	१९४८
४१८	-------	---	---	--------	१९४८
४१९	-------	बंबई	---	--------	१९४८
४२०	-------	बंबई	---	--------	१९४८
४२१	-------	बंबई	---	आसोज ----	१९४८
४२२	-------	बंबई	---	का० सु० ---	१९४९
४२३	कुंवरजी मगनलाल	बंबई	कलोल	का० व० ९,	१९४९
४२४	कृष्णदास	बंबई	खंभात	का० व० १२,	१९४९
४२५	रेवाशंकर जगजीवन	बंबई	राजकोट	म० व० ९,	१९४९
४२६	रेवाशंकर जगजीवन	बंबई	राजकोट	म० व० १३,	१९४९
४२७	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	माघ० सु० ९,	१९४९
४२८	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	माघ० व० ४,	१९४९
४२९	रेवाशंकर जगजीवन	बंबई	---	माघ० व० ११,	१९४९
४३०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	माघ० व० ३०,	१९४९
४३१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	फा० सु० ७,	१९४९
४३२	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	फा० सु० ७,	१९४९
४३३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	फा० सु० १४,	१९४९
४३४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	फा० व० ९,	१९४९
४३५	-------	बंबई	---	फा० व० ३०,	१९४९
४३६	-------	बंबई	---	चैत्र० सु० १,	१९४९
४३७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	-------	---
४३८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	चैत्र० सु० १,	१९४९
४३९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	चैत्र० सु० ६,	१९४९
४४०	सुखलाल छगनलाल	बंबई	वीरमगाम	चैत्र० सु० ९,	१९४९
४४१	मनसुख देवसी	बंबई	लींबडी	चैत्र० सु० ९,	१९४९
४४२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	चैत्र० व० १,	१९४९
४४३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	चैत्र० व० ८,	१९४९
४४४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	चैत्र० व० ३०,	१९४९
४४५	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	चैत्र० व० ३०,	१९४९
४४६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	वै० व० ६,	१९४९

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिति	
४४७	रेवाशंकर जगजीवन	बंबई	मोरबी	वै० व० ८,	१९४९
४४८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	वै० व० ९,	१९४९
४४९	कृष्णदास (आठ पन्नोका पत्र)	बंबई	खंभात	जेठ सु० ११,	१९४९
४५०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	जेठ सु० १५,	१९४९
४५१	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	प्र० आ० सु० ९,	१९४९
४५२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	प्र० आ० सु० १२,	१९४९
४५३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	प्र० आ० व० ३,	१९४९
४५४	अंबालाल आदि मुमुक्षु	बंबई	खंभात	प्र० आ० व० ४,	१९४९
४५५	अंबालाल लालचंद	बंबई	---	प्र० आ० व० १३,	१९४९
४५६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	प्र० आ० व० १४,	१९४९
४५७	-------	बंबई	---	द्वि० आ० सु० ६,	१९४९
४५८	त्रिभोवन माणेकचंद	बंबई	खंभात	द्वि० आ० सु० १२,	१९४९
४५९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	द्वि० आ० व० ६,	१९४९
४६०	कुंवरजीभाई तथा ऊगरीबहन	बंबई	कलोल	द्वि० आ० व० १०,	१९४९
४६१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	श्रा० सु० ४,	१९४९
४६२	मनसुख देवसी	बंबई	लींबडी	श्रा० सु० ५,	१९४९
४६३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	श्रा० सु० १५,	१९४९
४६४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	श्रा० व० ४,	१९४९
४६५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	श्रा० व० ५,	१९४९
४६६	-------	पेटलाद	---	भा० सु० ६,	१९४९
४६७	(त्रिभोवन माणेकचंद ?)	खंभात	---	भाद्रपद ----	१९४९
४६८	-------	बंबई	---	भाद्रपद ----	१९४९
४६९	-------	बंबई	---	भा० व० ३०,	१९४९
४७०	त्रिभोवन माणेकचंद	बंबई	खंभात	आसोज सु० १,	१९४९
४७१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	आ० सु० ५,	१९४९
४७२	सोभाग्यभाई तथा डुंगरसीभाई	बंबई	सायला	आ० सु० ९,	१९४९
४७३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	आ० व० ३,	१९४९
४७४	-------	बंबई	मोरबी	आ० व०----	१९४९
४७५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	आ० व० १२,	१९४९
४७६	-------	बंबई	---	आसोज ----	१९४९
४७७	-------	बंबई	---	का० सु० ९,	१९५०
४७८	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	का० सु० १३,	१९५०
४७९	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	मगसिर सु० ३,	१९५०
४८०	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	पौष० सु० ५,	१९५०
४८१	अंबालाल लालचंद	---	खंभात	पौष० व० १,	१९५०
४८२	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	पौष० व० १४,	१९५०
४८३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	अंजार	माघ० व० ४,	१९५०
४८४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	अंजार	माघ० व० ८,	१९५०
४८५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	अंजार	फा० सु० ४,	१९५०
४८६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	अंजार	फा० सु० ११,	१९५०
४८७	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	फा० सु० ११,	१९५०

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिति	
४८८	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	फा० व० १०,	१९५०
४८९	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	फा० व० ११,	१९५०
४९०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	- - -	फा० व० ११,	१९५०
४९१	- - - - - - -	बंबई	- - -	फागुन, - - -	१९५०
४९२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	फागुन, - - -	१९५०
४९३	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	- - -	फागुन, - - -	१९५०
४९४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	अंजार	चैत्र सु० - - -	१९५०
४९५	त्रिभोवन माणेकचंद	बंबई	- - -	चैत्र० व० ११,	१९५०
४९६	धारशीभाई कुशळचंद	बंबई	मोरबी	चैत्र० व० १४,	१९५०
४९७	धारशीभाई कुशळचंद	बंबई	मोरबी	चैत्र० व० १४,	१९५०
४९८	त्रिभोवन माणेकचंद	बंबई	खंभात	वै० सु० १,	१९५०
४९९	- - - - - - -	बंबई	- - -	वै० सु० ९,	१९५०
५००	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	सुरत	वै० सु० ९,	१९५०
५०१	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	सुरत	वै० व० ७,	१९५०
५०२*	मुनिश्री लल्लुजी तथा देवकरणजी	ववाणिया	- - -	फा० सु० ६,	१९५३
५०३	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	वै० व० ३०,	१९५०
५०४	- - - - - - -	बंबई	- - -	वैशाख - - - -	१९५०
५०५	- - - - - - -	- - -	- - -	- - - - - - -	- - - - -
५०६	- - - - - - -	बंबई	- - -	वैशाख - - - -	१९५०
५०७	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	जेठ सु० ११,	१९५०
५०८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	- - -	जेठ सु० १४,	१९५०
५०९	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	सुरत	आ० सु० ६,	१९५०
५१०	त्रिभोवन माणेकचंद	बंबई	खंभात	आ० सु० ६,	१९५०
५११	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	अंजार	आ० सु० ६,	१९५०
५१२	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	सुरत	आ० सु० १५,	१९५०
५१३	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	सुरत	श्रा० सु० ११,	१९५०
५१४	- - - - - - -	बंबई	- - -	श्रा० सु० १४,	१९५०
५१५	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	श्रा० सु० १४,	१९५०
५१६	केशवलाल नथुभाई	बंबई	लींबडी	श्रा० व० १,	१९५०
५१७	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	श्रा० व० ७,	१९५०
५१८	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	सुरत	श्रा० व० ९,	१९५०
५१९	(सोभाग्यभाई लल्लुभाई ?)	बंबई	- - -	श्रा० व० ९,	१९५०
५२०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	श्रा० व० ३०,	१९५०
५२१	- - - - - - -	बंबई	- - -	श्रावण - - - -	१९५०
५२२	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	भा० सु० ३,	१९५०
५२३	सोभाग्यभाई तथा डुंगरसीभाई	बंबई	सायला	भा० सु० ४,	१९५०
५२४	अंबालाल लालचंद आदि मुमुक्षु	बंबई	खंभात	भा० सु० ८,	१९५०
५२५	- - - - - - -	बंबई	- - -	भा० सु० १०,	१९५०
५२६	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	सुरत	भा० व० ५,	१९५०
५२७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	भा० व० १२,	१९५०

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिति	
५२८	- - - - - - -	बंबई	- - -	आसोज सु० ११,	१९५०
५२९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	आ० व० ३,	१९५०
५३०	मोहनलाल करमचंद गांधी (महात्मा गांधीजी)	बंबई	डरबन	आ० व० ६,	१९५०
५३१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	अंजार	आ० व० ३०,	१९५०
५३२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	अंजार	आ० व० ३०,	१९५०
५३३	धारशीभाई कुशलचंद	बंबई	मोरबी	का० सु० १,	१९५१
५३४	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	सुरत	का० सु० ३,	१९५१
५३५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	अंजार	का० सु० ३,	१९५१
५३६	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	का० सु० ४,	१९५१
५३७	अंबालाल आदि मुमुक्षु	बंबई	खंभात	का० सु० ७,	१९५१
५३८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	अंजार	का० सु० ९,	१९५१
५३९	धारशीभाई कुशलचंद	बंबई	मोरबी	का० सु० १४,	१९५१
५४०	- - - - - - -	बंबई	- - -	का० सु० १४,	१९५१
५४१	- - - - - - -	- - -	- - -	- - - - - - -	१९५१
५४२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	अंजार	का० सु० १५,	१९५१
५४३	- - - - - - -	बंबई	- - -	कार्तिक - - -	१९५१
५४४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	अंजार	का० व० १३,	१९५१
५४५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	अंजार	मगसिर व० १,	१९५१
५४६	धारशीभाई कुशलचंद	बंबई	मोरबी	मग० व० ३,	१९५१
५४७	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	सुरत	मग० व० ८,	१९५१
५४८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	- - -	मग० व० ९,	१९५१
५४९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	- - -	- - -	- - - - - - -	१९५१
५५०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	- - -	मग० व० ११,	१९५१
५५१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	मगसिर - - - -	१९५१
५५२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	मगसिर - - - -	१९५१
५५३	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	सुरत	पौष सु० १,	१९५१
५५४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	अंजार	पौष सु० १०,	१९५१
५५५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	पौष सु० १०,	१९५१
५५६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	पौष व० २,	१९५१
५५७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	पौष व० ९,	१९५१
५५८	खीमजी देवजी	बंबई	लींबडी	पौष व० १०,	१९५१
५५९	सुखलाल छगनलाल	बंबई	वीरमगाम	पौष व० ३०,	१९५१
५६०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	- - -	पौष - - - - -	१९५१
५६१	कुंवरजी आणंदजी	बंबई	भावनगर	माघ सु० २,	१९५१
५६२	- - - - - - -	बंबई	- - -	माघ सु० ३,	१९५१
५६३	कुंवरजी आणंदजी	बंबई	भावनगर	माघ सु० ८,	१९५१
५६४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	माघ सु० ८,	१९५१
५६५	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	सुरत	फा० सु० १२,	१९५१
५६६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	फा० सु० १३,	१९५१

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिति	
५६७	- - - - - - -	बंबई	- - -	फा० सु० १५,	१९५१
५६८	- - - - - - -	बंबई	- - -	फागुन - - - -	१९५१
५६९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	- - -	फा० व० ३,	१९५१
५७०	मोहनलाल करमचंद गांधी (महात्मा गांधीजी)	बंबई	डरबन	फा० व० ५,	१९५१
५७१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	फा० व० ५,	१९५१
५७२	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	फा० व० ७,	१९५१
५७३	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	- - -	फा० व० ११,	१९५१
५७४	- - - - - - -	बंबई	- - -	फागुन - - - -	१९५१
५७५	- - - - - - -	बंबई	- - -	फागुन - - - -	१९५१
५७६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	चैत्र सु० ६,	१९५१
५७७	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	सुरत	चैत्र सु० १३,	१९५१
५७८	- - - - - - -	बंबई	- - -	चैत्र सु० १४,	१९५१
५७९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	चैत्र सु० १५,	१९५१
५८०	अंबालाल लालाचंद	बंबई	खंभात	चैत्र व० ५,	१९५१
५८१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	- - -	चैत्र व० ८,	१९५१
५८२	कुंवरजी आणंदजी	बंबई	भावनगर	चैत्र व० ८,	१९५१
५८३	- - - - - - -	बंबई	- - -	चैत्र व० ११,	१९५१
५८४	- - - - - - -	बंबई	- - -	चैत्र व० ११,	१९५१
५८५	सोभाग्यभाई तथा डुंगरसीभाई	बंबई	- - -	चैत्र व० ११,	१९५१
५८६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	- - -	चैत्र व० १२,	१९५१
५८७	- - - - - - -	बंबई	- - -	चैत्र व० १२,	१९५१
५८८	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	- - -	चैत्र व० १२,	१९५१
५८९	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	- - -	चैत्र व० १३,	१९५१
५९०	धारशीभाई कुशलचंद	बंबई	मांडवी	चैत्र व० १४,	१९५१
५९१	- - - - - - -	बंबई	- - -	चैत्र - - - - -	१९५१
५९२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	वै० सु० - - - -	१९५१
५९३	- - - - - - -	बंबई	- - -	वै० सु० १५,	१९५१
५९४	नवलचंद डोसा	बंबई	मोरबी	वै० सु० १५,	१९५१
५९५	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	सुरत	वै० व० ७,	१९५१
५९६	- - - - - - -	बंबई	- - -	वै० व० ७,	१९५१
५९७	- - - - - - -	बंबई	- - -	वै० व० ७,	१९५१
५९८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	वै० व० १०,	१९५१
५९९	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	सुरत	वै० व० १४,	१९५१
६००	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	जेठ सु० २,	१९५१
६०१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	जेठ सु० १०,	१९५१
६०२	नवलचंद डोसा	बंबई	मोरबी	जेठ सु० १०,	१९५१
६०३	- - - - - - -	बंबई	- - -	जेठ सु० १०,	१९५१
६०४	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	जेठ सु० १२,	१९५१
६०५	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	सुरत	जेठ व० २,	१९५१

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिति	
६०६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	जेठ व० ५,	१९५१
६०७	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	खंभात	जेठ व० ७,	१९५१
६०८	कुंवरजी आणंदजी	बंबई	भावनगर	जेठ व० १०,	१९५१
६०९	-------	बंबई	---	जेठ -----	१९५१
६१०	मगनलाल खीमचंद	बंबई	लींबडी	आ० सु० १,	१९५१
६११	नवलचंद डोसा	बंबई	मोरबी	आ० सु० १,	१९५१
६१२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	आ० सु० १,	१९५१
६१३	(त्रिभोवनभाई ?)	बंबई	---	आ० सु० ११,	१९५१
६१४	-------	---	---	-------	---
६१५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	आ० सु० १३,	१९५१
६१६	अंबालाल तथा त्रिभोवनभाई	बंबई	खंभात	आ० व० ---	१९५१
६१७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	आ० व० ७,	१९५१
६१८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	आ० व० ११,	१९५१
६१९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	आ० व० १४,	१९५१
६२०	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	सुरत	आ० व० ३०,	१९५१
६२१	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	आ० व० ३०,	१९५१
६२२	(त्रिभोवनभाई आदि ?)	बंबई	खंभात	आ० व० ३०,	१९५१
६२३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	श्रा० सु० २,	१९५१
६२४	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	सुरत	श्रा० सु० ३,	१९५१
६२५	धारशीभाई कुशलचंद	ववाणिया	मोरबी	श्रा० सु० १०,	१९५१
६२६	मुनिश्री लल्लुजी	ववाणिया	सुरत	श्रा० सु० १२,	१९५१
६२७	धारशीभाई कुशलचंद	ववाणिया	मोरबी	श्रा० सु० १५,	१९५१
६२८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	सायला	श्रा० व० ६,	१९५१
६२९	सोभाग्यभाई तथा डुंगरसी	ववाणिया	सायला	श्रा० व० ११,	१९५१
६३०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	सायला	श्रा० व० १२,	१९५१
६३१	(सोभाग्यभाई लल्लुभाई ?)	ववाणिया	सायला	श्रा० व० १४,	१९५१
६३२	अंबालाल लालचंद	ववाणिया	खंभात	श्रा० व० १४,	१९५१
६३३	मुनिश्री लल्लुजी	ववाणिया	सुरत	श्रा० व० १४,	१९५१
६३४	चत्रभुज बेचर	ववाणिया	जेतपर	भा० सु० ७,	१९५१
६३५	अंबालाल लालचंद	ववाणिया	खंभात	भा० सु० ७,	१९५१
६३६	कुंवरजी आणंदजी	ववाणिया	भावनगर	भा० सु० ९,	१९५१
६३७	खीमचंद लखमीचंद	ववाणिया	लींबडी	भा० सु० १३,	१९५१
६३८	धारसीभाई कुशलचंद	राणपुर	मोरबी	भा० व० १३,	१९५१
६३९	नवलचंद डोसा	राणपुर	मोरबी	आसोज सु० २,	१९५१
६४०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	आ० सु० ११,	१९५१
६४१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	आ० सु० १२,	१९५१
६४२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	आ० सु० १३,	१९५१
६४३	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	आ० सु० १३,	१९५१
६४४	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	आ० व० ३,	१९५१
६४५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	आ० व० ११,	१९५१

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिति	
६४६	-------	बंबई	---	आसोज ---	१९५१
६४७	-------	बंबई	---	आसोज ---	१९५१
६४८	-------	बंबई	---	आसोज ---	१९५१
६४९	-------	बंबई	---	आसोज ---	१९५१
६५०	-------	बंबई	---	आसोज ---	१९५१
६५१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	कार्तिक ---	१९५२
६५२	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	सुरत	का० सु० ३,	१९५२
६५३	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	सुरत	का० सु० १३,	१९५२
६५४	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	का० सु० १३,	१९५२
६५५	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	का० व० ८,	१९५२
६५६	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	मगसिर० सु० १०,	१९५२
६५७	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	कठोर	मग० सु० १०,	१९५२
६५८	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	कठोर	पौष सु० ६,	१९५२
६५९	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	पौष सु० ६,	१९५२
६६०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	पौष सु० ६,	१९५२
६६१	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	कठोर	पौष सु० ८,	१९५२
६६२	-------	बंबई	---	पौष व० ---	१९५२
६६३	-------	बंबई	---	पौष -----	१९५२
६६४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	पौष व० २,	१९५२
६६५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	पौष व० ९,	१९५२
६६६	खीमचंद लखमीचंद	बंबई	लींबडी	पौष व० १२,	१९५२
६६७	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	पौष व० १२,	१९५२
६६८	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	माध सु० ४,	१९५२
६६९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	माध व० ११,	१९५२
६७०	---------	बंबई	---	फा० सु० १,	१९५२
६७१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	फा० सु० ३,	१९५२
६७२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	फा० सु० १०,	१९५२
६७३	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	---	फा० सु० १०,	१९५२
६७४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	फा० व० ३,	१९५२
६७५	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	फा० व० ५,	१९५२
६७६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	फा० व० ९,	१९५२
६७७	कुंवरजी आणंदजी	बंबई	भावनगर	चैत्र सु० १,	१९५२
६७८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	चैत्र सु० २,	१९५२
६७९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	चैत्र सु० ११,	१९५२
६८०	-------	बंबई	---	चैत्र सु० १३,	१९५२
६८१	कुंवरजी मगनलाल	बंबई	कलोल	चैत्र व० १,	१९५२
६८२	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	चैत्र व० १,	१९५२
६८३	-------	बंबई	---	चैत्र व० ७,	१९५२
६८४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	चैत्र व० १४,	१९५२
६८५	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	चैत्र व० १४,	१९५२

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिति	
६८६	सुखलाल छगनलाल	बंबई	वीरमगाम	चैत्र व० १४,	१९५२
६८७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	वै० सु० १,	१९५२
६८८	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	वै० सु० ६,	१९५२
६८९	माणेकचंद आदि	ववाणिया	खंभात	वै० सु० ६,	१९५२
६९०	छोटालाल माणेकचंद	बंबई	खंभात	द्वि० जे० सु० २,	१९५२
६९१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	द्वि० जे० व० ६,	१९५२
६९२	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	द्वि० जे० व० ९,	१९५२
६९३	केशवलाल नथुभाई	बंबई	लींबडी	आषाढ सु० २,	१९५२
६९४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	आ० सु० २,	१९५२
६९५	-------	बंबई	---	आ० सु० ५,	१९५२
६९६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	---	आ० व० ८,	१९५२
६९७	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	आ० व० ८,	१९५२
६९८	-------	बंबई	---	श्रा० सु० ५,	१९५२
६९९	-------	बंबई	---	श्रावण ----	१९५२
७००	(सोभाग्यभाई लल्लुभाई ?)	काविठा	---	श्रा० व० ---	१९५२
७०१	-------	राळज	---	श्रा० व० १३,	१९५२
७०२	अनुपचंद मलुकचंद	राळज	भरूच	श्रा० व० १४,	१९५२
७०३	-------	राळज	---	भा० सु० ८,	१९५२
७०४	-------	राळज	---	भा० सु० ८,	१९५२
७०५	-------	वडवा (स्थंभतीर्थ)	---	भा० सु० ११,	१९५२
७०६	केशवलाल नथुभाई	वडवा	लींबडी	भा० सु० ११,	१९५२
७०७	-------	वडवा	---	भा० सु० ११,	१९५२
७०८	माणेकलाल घेलाभाई आदि	राळज	---	भाद्रपद ----	१९५२
७०९	-------	राळज	---	भाद्रपद ----	१९५२
७१०	-------	वडवा (स्थंभतीर्थ)	---	भा० सु० १५,	१९५२
७११	-------	राळज	---	भाद्रपद ----	१९५२
७१२	धारशीभाई कुशलचंद	आणंद	मोरबी	भा० व० १२,	१९५२
७१३	-------	आणंद	---	आसोज ----	१९५२
७१४	-------	---	---	--------	१९५२
७१५	-------	आणंद	---	आसो० सु० १,	१९५२
७१६	मुनिश्री लल्लुजी	आणंद	खंभात	आसो० सु० २,	१९५२
७१७	मोहनलाल करमचंद गांधी (महात्मा गांधीजी)	आणंद	डरबन	आसो० सु० ३,	१९५२
७१८	-------	नडियाद	---	आसो० व० १,	१९५२
७१९	मुनिश्री लल्लुजी तथा मुनि देवकरणजी आदि	नडियाद	खंभात	आसो० व० १०,	१९५२
७२०	रवजीभाई पंचाणजी	नडियाद	ववाणिया	आसो० व० १२,	१९५२
७२१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	नडियाद	सायला	आसो० व० ३०,	१९५२

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिति	
७२२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	सायला	का० सु० १०,	१९५३
७२३	धारशीभाई कुशलचंद	ववाणिया	मोरबी	का० सु० ११,	१९५३
७२४	-------	ववाणिया	---	कार्तिक ---	१९५३
७२५	धारशीभाई कुशलचंद	ववाणिया	मोरबी	का० व० २,	१९५३
७२६	केशवलाल नथुभाई	ववाणिया	भावनगर	का० व० ३०,	१९५३
७२७	धारशीभाई कुशलचंद	ववाणिया	मोरबी	मगसिर सु० १,	१९५३
७२८	त्रिभोवन माणेकचंद	ववाणिया	खंभात	मग सु० ६,	१९५३
७२९	कुंवरजी आणंदजी	ववाणिया	भावनगर	मग सु० १०,	१९५३
७३०	अंबालाल लालचंद	ववाणिया	खंभात	मग सु० १२,	१९५३
७३१	धारशीभाई कुशलचंद	ववाणिया	मोरबी	मग सु० १२,	१९५३
७३२	मुनिश्री लल्लुजी आदि	ववाणिया	वसो	मग व० ११,	१९५३
७३३	सुखलाल छगनलाल	ववाणिया	वीरमगाम	मग व० ११,	१९५३
७३४	अंबालाल लालचंद	ववाणिया	खंभात	मग व० ११,	१९५३
७३५	धारशीभाई कुशलचंद	ववाणिया	मोरबी	पौष सु० १०,	१९५३
७३६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	सायला	पौष सु० ११,	१९५३
७३७	झवेरभाई भगवानभाई	ववाणिया	काविठा	पौष व० ४,	१९५३
७३८	-------	ववाणिया	---	-------	१९५३
७३९	मुनिश्री लल्लुजी	मोरबी	नडियाद	माघ सु० ९,	१९५३
७४०	अंबालाल लालचंद	मोरबी	खंभात	माघ सु० ९,	१९५३
७४१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	मोरबी	सायला	माघ सु० १०,	१९५३
७४२	अंबालाल लालचंद	मोरबी	खंभात	माघ व० ४,	१९५३
७४३	मुनिश्री लल्लुजी	मोरबी	नडियाद	माघ व० ४,	१९५३
७४४	त्रिभोवन माणेकचंद	ववाणिया	खंभात	माघ व० १२,	१९५३
७४५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	सायला	फा० सु० २,	१९५३
७४६	-------	ववाणिया	---	फा० सु० २,	१९५३
७४७	मुनिश्री लल्लुजी	ववाणिया	नडियाद	फा० सु० २,	१९५३
७४८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	मोरबी	फा० सु० ४,	१९५३
७४९	अंबालाल लालचंद	ववाणिया	खंभात	फा० व० ११,	१९५३
७५०-५०२	मुनिश्री लल्लुजी तथा मुनि देवकरणजी आदि	ववाणिया	---	फा० सु० ६,	१९५३
७५१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	सायला	फा० व० ११,	१९५३
७५२	धारसीभाई कुशलचंद तथा नवलचंद डोसा	ववाणिया	मोरबी	फा० व० ११,	१९५३
७५३	-------	ववाणिया	---	-------	१९५३
७५४	-------	---	---	-------	१९५३
७५५	-------	---	---	-------	१९५३
७५६	-------	---	---	-------	१९५३
७५७	-------	---	---	-------	१९५३
७५८	-------	---	---	-------	१९५३
७५९	-------	---	---	-------	१९५३

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिति	
७६०	-------	---	---	,,	१९५३
७६१	-------	---	---	,,	१९५३
७६२	-------	---	---	,,	१९५३
७६३	-------	---	---	,,	१९५३
७६४	-------	---	---	,,	१९५३
७६५	-------	---	---	,,	१९५३
७६६	-------	---	---	,,	१९५३
७६७	मुनिश्री लल्लुजी	ववाणिया	खंभात	चैत्र सु० ३,	१९५३
७६८	केशवलाल नथुभाई	ववाणिया	भावनगर	चैत्र सु० ४,	१९५३
७६९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	सायला	चैत्र सु० ४,	१९५३
७७०	-------	ववाणिया	---	चैत्र सु० ४,	१९५३
७७१	-------	ववाणिया	---	चैत्र सु० ५,	१९५३
७७२	नवलचंद डोसा	ववाणिया	मोरबी	चैत्र सु० १०,	१९५३
७७३	-------	ववाणिया	,,	चैत्र सु० १५,	१९५३
७७४	-------	---	---	-------	---
७७५	मुनिश्री लल्लुजी तथा मुनि देवकरणजी	--- ववाणिया	--- खंभात	------- चैत्र व० ५,	--- १९५३
७७६	धारशीभाई कुशलचंद	सायला	मोरबी	वै० सु० १५,	१९५३
७७७	सुखलाल छगनलाल	ईडर	वीरमगाम	वै० व० १२,	१९५३
७७८	अंबालाल लालचंद	ईडर	खंभात	वै० व० १२,	१९५३
७७९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई (काव्य-पत्र)	बंबई	सायला	जे० सु० ---	१९५३
७८०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	जे० सु० ८,	१९५३
७८१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	जे० व० ६,	१९५३
७८२	त्रंबकलाल सोभाग्यभाई	बंबई	सायला	जे० व० १२,	१९५३
७८३	त्रंबकलाल सोभाग्यभाई	बंबई	सायला	आषाढ सु० ४,	१९५३
७८४	-------	बंबई	---	आ० सु० ४,	१९५३
७८५	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	आ० व० १,	१९५३
७८६	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	खेडा	आ० व० १,	१९५३
७८७	धारशीभाई कुशलचंद	बंबई	मोरबी	आ० व० १,	१९५३
७८८	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	खेडा	आ० व० ११,	१९५३
७८९	त्रंबकलाल सोभाग्यभाई	बंबई	सायला	आ० व० १४,	१९५३
७९०	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	खेडा	श्रा० सु० ३,	१९५३
७९१	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	श्रा० सु० १५,	१९५३
७९२	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	खेडा	श्रा० सु० १५,	१९५३
७९३	त्रंबकलाल सोभाग्यभाई	बंबई	सायला	श्रा० सु० १५,	१९५३
७९४	मणिलाल सोभाग्यभाई	बंबई	सायला	श्रा० व० १,	१९५३
७९५	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	खेडा	श्रा० व० ८,	१९५३
७९६	-------	बंबई	---	श्रा० व० ८,	१९५३
७९७	त्रंबकलाल सोभाग्यभाई	बंबई	सायला	श्रा० व० ८,	१९५३

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिति	
७९८	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	खेडा	श्रा० व० १०,	१९५३
७९९	सुखलाल छगनलाल	बंबई	वीरमगाम	श्रा० व० १२,	१९५३
८००	मगनलाल खीमचंद	बंबई	लींबडी	श्रा० व० १२,	१९५३
८०१	रवजीभाई पंचाणभाई	बंबई	ववाणिया	भा० सु० ६,	१९५३
८०२	केशवलाल नथुभाई	बंबई	भावनगर	भा० सु० ९,	१९५३
८०३	सुखलाल छगनलाल	बंबई	वीरमगाम	भा० सु० ९,	१९५३
८०४	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	खेडा	भा० सु० ९,	१९५३
८०५	त्रिभोवन माणेकचंद	बंबई	खंभात	भा० सु० ९,	१९५३
८०६	डुंगर आदि मुमुक्षु	बंबई	सायला	भा० व० ८,	१९५३
८०७	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	खेडा	भा० व० ३०,	१९५३
८०८	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	खेडा	आसोज सु० ८,	१९५३
८०९	-------	बंबई	---	आसोज सु० ८,	१९५३
८१०	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	आसोज सु० ८,	१९५३
८११	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	नडियाद	आसोज सु० ८,	१९५३
८१२	त्रंबकलाल सोभाग्यभाई	बंबई	सायला	आसोज सु० ८,	१९५३
८१३	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	आसोज व० ७,	१९५३
८१४	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	आसोज व० १४,	१९५३
८१५	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	खेडा	का० व० १,	१९५४
८१६	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	का० व० ५,	१९५४
८१७	मुनदास प्रभुदास	बंबई	सुणाव	का० व० १२,	१९५४
८१८	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	वसो	मगसिर सु० ५,	१९५४
८१९	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	मग० सु० ५,	१९५४
८२०	त्रंबकलाल सोभाग्यभाई	बंबई	सायला	मग० सु० ५,	१९५४
८२१	त्रंबकलाल सोभाग्यभाई	बंबई	सायला	पौष सु० ३,	१९५४
८२२	अंबालाल लालचंद	आणंद	खंभात	पौष व० ११,	१९५४
८२३	त्रंबकलाल सोभाग्यभाई	आणंद	सायला	पौष व० १३,	१९५४
८२४	मुनिश्री लल्लुजी	मोरबी	---	माध सु० ४,	१९५४
८२५	झवेरचंदभाई तथा रतनचंदभाई	मोरबी	काविठा	माध सु० ४,	१९५४
८२६	सुखलाल छगनलाल	मोरबी	वीरमगाम	माध सु० ४,	१९५४
८२७	खीमजी देवजी	ववाणिया	बंबई	माध व० ४,	१९५४
८२८	मुनिश्री लल्लुजी	---	वसो	------	१९५४
८२९	अंबालाल लालचंद	मोरबी	खंभात	माध व० ३०,	१९५४
८३०	अंबालाल लालचंद	मोरबी	खंभात	चैत्र व० १२,	१९५४
८३१	मुनिश्री लल्लुजी आदि	मोरबी	सोजीत्रा	चैत्र व० १२,	१९५४
८३२	-------	ववाणिया	---	ज्येष्ठ ----	१९५४
८३३	-------	ववाणिया	---	ज्ये० सु० १,	१९५४
८३४	अंबालाल लालचंद	ववाणिया	खंभात	ज्ये० सु० ६,	१९५४
८३५	रायचंद मनजी देसाई	बंबई	ववाणिया	ज्ये० व० ४,	१९५४
८३६	-------	---	---	-------	१९५४
८३७	-------	---	---	-------	१९५४

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिति	
८३८	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	खेडा	ज्ये० व० १४,	१९५४
८३९	(अंबालाल लालचंद ?)	बंबई	- - -	आ० सु० ११,	१९५४
८४०	केशवलाल नथुभाई	बंबई	लींबडी	श्रा० सु० १५,	१९५४
८४१	- - - - - - -	बंबई	- - -	श्रा० व० ४,	१९५४
८४२	रायचंद मनजी देसाई	कविठा	ववाणिया	श्रा० व० १२,	१९५४
८४३	- - - - - - -	वसो	- - -	प्र० आसोज सु० ६,	१९५४
८४४	- - - - - - -	- - -	- - -	आसोज - - -	१९५४
८४५	- - - - - - -	- - -	- - -	आसोज - - -	१९५४
८४६	- - - - - - -	वनक्षेत्र उत्तरसंडा	- - -	प्र० आसोज व० ९,	१९५४
८४७	झवेरभाई भगवानदास	खेडा	कविठा	द्वि० आसोज सु० ६,	१९५४
८४८	रेवाशंकर जगजीवन	खेडा	बंबई	द्वि० आसोज सु० ९,	१९५४
८४९	- - - - - - -	खेडा	- - -	द्वि० आ० व० -	१९५४
८५०	- - - - - - -	- - -	- - -	आसोज - - -	१९५४
८५१	- - - - - - -	बंबई	- - -	का० सु० १४,	१९५५
८५२	- - - - - - -	बंबई	- - -	मग० सु० ३,	१९५५
८५३	सुखलाल छगनलाल	ईडर	वीरमगाम	मग० सु० १४,	१९५५
८५४	(पोपटलाल मोहकमचंद ?)	ईडर	- - -	मग० सु० १५,	१९५५
८५५	- - - - - - -	ईडर	- - -	मग० सु० १५,	१९५५
८५६	सुखलाल छगनलाल	ईडर	वीरमगाम	मग० व० ४,	१९५५
८५७	अंबालाल लालचंद	ईडर	खंभात	मग० व० ३०,	१९५५
८५८	- - - - - - -	ईडर	- - -	पौष - - - - -	१९५५
८५९	अंबालाल लालचंद	ईडर	खंभात	पौष सु० १५,	१९५५
८६०	छगनलाल नानजी	मोरबी	लींबडी	फा० सु० १,	१९५५
८६१	पोपटलाल मोहकमचंद	मोरबी	अहमदाबाद	फा० सु० १,	१९५५
८६२	- - - - - - -	मोरबी	- - -	फा० सु० १,	१९५५
८६३	नगीनदास धरमचंद	ववाणिया	अहमदाबाद	फा० व० १०,	१९५५
८६४	मुनिश्री लल्लुजी (देवकरणजी)	ववाणिया	अंजार	फा० व० ३०,	१९५५
८६५	मुनिश्री लल्लुजी	ववाणिया	खेरालु	चैत्र सु० १,	१९५५
८६६	धारसीभाई कुशलचंद	ववाणिया	मोरबी	चैत्र सु० ५,	१९५५
८६७	मुनिश्री देवकरणजी	ववाणिया	धांगध्रा	चैत्र व० २,	१९५५
८६८	घेलाभाई केशवलाल(मुनिश्री लल्लुजी)	ववाणिया	प्रांतिज	चैत्र व० २,	१९५५
८६९	वाडीलाल मोतीलाल खुखारी	मोरबी	अहमदाबाद	चैत्र व० ९,	१९५५
८७०	मुनिश्री लल्लुजी	मोरबी	- - -	वै० सु० ६,	१९५५
८७१	मुनिश्री लल्लुजी	मोरबी	खंभात	वै० सु० ७,	१९५५
८७२	मनसुख देवसी	ववाणिया	लींबडी	वै० सु० ७,	१९५५
८७३	मुनिश्री लल्लुजी	ईडर	- - -	वै० व० ६,	१९५५
८७४	सुखलाल छगनलाल	ईडर	वीरमगाम	वै० व० १०,	१९५५
८७५	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	- - -	जेठ - - - -	१९५५
८७६	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	खेडा	जेठ सु० ११,	१९५५
८७७	मनसुखलाल कीरतचंद	बंबई	मोरबी	जेठ व० २,	१९५५

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिति	
८७८	पोपटलाल मोहकमचंद	बंबई	अहमदाबाद	जेठ व० ७,	१९५५
८७९	सुखलाल छगनलाल	बंबई	वीरमगाम	आषाढ सु० ८,	१९५५
८८०	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	नडियाद	आषाढ सु० ८,	१९५५
८८१	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	नडियाद	आषाढ व० ६,	१९५५
८८२	मनसुखलाल कीरतचंद	बंबई	अहमदाबाद	आषाढ व० ८,	१९५५
८८३	सुखलाल छगनलाल	बंबई	वीरमगाम	आषाढ व० ८,	१९५५
८८४	-------	---	---	-------	---
८८५	मनसुख देवसी	बंबई	---	श्रा० सु० ३,	१९५५
८८६	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	श्रा० सु० ७,	१९५५
८८७	-------	बंबई	---	श्रा० व० ३०,	१९५५
८८८	मनसुखलाल कीरतचंद	बंबई	अहमदाबाद	भा० सु० ५,	१९५५
८८९	सुखलाल छगनलाल	बंबई	वीरमगाम	भा० सु० ५,	१९५५
८९०	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	भा० सु० ५,	१९५५
८९१	वणारसीदास तलसीभाई	बंबई	---	भा० सु० ५,	१९५५
८९२	झवेरचंदभाई तथा रतनचंदभाई	बंबई	काविठा	भा० सु० ५,	१९५५
८९३	पोपटलाल मोहकमचंद	बंबई	अहमदाबाद	भा० सु० ५,	१९५५
८९४	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	वसो	भा० सु० ५,	१९५५
८९५	मनसुखलाल कीरतचंद	बंबई	---	आसोज ----	१९५५
८९६	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	---	कार्तिक ----	१९५६
८९७	धारशीभाई कुशलचंद	बंबई	मोरबी	का० सु० ५,	१९५६
८९८	झवेरचंदभाई तथा रतनचंदभाई	बंबई	काविठा	का० सु० ५,	१९५६
८९९	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	का० सु० ५,	१९५६
९००	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	---	का० सु० ५,	१९५६
९०१	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	---	का० सु० १५,	१९५६
९०२	-------	बंबई	---	का० व०११,	१९५६
९०३	-------	बंबई	---	का० व०११,	१९५६
९०४	-------	बंबई	---	का० व० ११,	१९५६
९०५	-------	बंबई	---	पौष व० १२,	१९५६
९०६	हेमचंद कुशलचंद	बंबई	खंभात	माध व० १०,	१९५६
९०७	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	माध व० ११,	१९५६
९०८	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	माध व० १४,	१९५६
९०९	अंबालाल लालचंद	धर्मपुर	खंभात	चैत्र सु० ८,	१९५६
९१०	अंबालाल लालचंद	धर्मपुर	खंभात	चैत्र सु० ११,	१९५६
९११	मुनिश्री लल्लुजी	धर्मपुर	नडियाद	चैत्र सु० १३,	१९५६
९१२	मुनिश्री लल्लुजी	धर्मपुर	---	चैत्र व० १,	१९५६
९१३	वनमालीभाई उमेदराम	धर्मपुर	गोधावी	चैत्र व० ४,	१९५६
९१४	मुनिश्री लल्लुजी	धर्मपुर	---	चैत्र व० ५,	१९५६
९१५	मुनिश्री लल्लुजी	धर्मपुर	---	चैत्र व० ६,	१९५६
९१६	मुनिश्री लल्लुजी	धर्मपुर	---	चैत्र व० १३,	१९५६
९१७	मुनिश्री लल्लुजी	अहमदाबाद	---	वै० सु० ६,	१९५६

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिति	
९१८	-------	ववाणिया	---	वैशाख ---	१९५६
९१९	अंबालाल लालचंद	ववाणिया	---	वै० व० ८,	१९५६
९२०	सुखलाल छगनलाल	ववाणिया	वीरमगाम	वै० व० ८,	१९५६
९२१	मनसुखलाल कीरतचंद	ववाणिया	मोरबी	वै० व० ९,	१९५६
९२२	मुनिश्री लल्लुजी	ववाणिया	साणंद	वै० व० ९,	१९५६
९२३	अंबालाल लालचंद	ववाणिया	खंभात	वै० व० ९,	१९५६
९२४	मुनिश्री लल्लुजी	ववाणिया	वसो	वै० व० १३,	१९५६
९२५	मुनिश्री लल्लुजी	ववाणिया	---	वै० व० ३०,	१९५६
९२६	सुखलाल छगनलाल	ववाणिया	वीरमगाम	वै० व० ३०,	१९५६
९२७	कुंवरजी मगनलाल	ववाणिया	कलोल	वै० व० ३०,	१९५६
९२८	-------	ववाणिया	---	जेठ सु० ११,	१९५६
९२९	मुनिश्री लल्लुजी	ववाणिया	वसो	जेठ सु० १३,	१९५६
९३०	सुखलाल छगनलाल	----	वीरमगाम	जेठ सु० १३,	१९५६
९३१	चत्रभुज बेचर	ववाणिया	मोरबी	जेठ व० ९,	१९५६
९३२	सुखलाल छगनलाल	ववाणिया	वीरमगाम	जेठ व० १०,	१९५६
९३३	-------	---	---	-------	
९३४	मनसुखलाल कीरतचंद	ववाणिया	मोरबी	जेठ व० ३०,	१९५६
९३५	अंबालाल लालचंद	ववाणिया	खंभात	जेठ व० ३०,	१९५६
९३६	-------	ववाणिया	---	जेठ व० ३०,	१९५६
९३७	मुनिश्री लल्लुजी	ववाणिया	नडियाद	आषाढ सु० १,	१९५६
९३८	अंबालाल लालचंद	ववाणिया	खंभात	आषाढ सु० १,	१९५६
९३९	सुखलाल छगनलाल	मोरबी	वीरमगाम	आषाढ व० ९,	१९५६
९४०	मुनिश्री लल्लुजी	मोरबी	---	आषाढ व० ९,	१९५६
९४१	मुनदास प्रभुदास	मोरबी	सुणाव	श्रा० व० ४,	१९५६
९४२	अंबालाल लालचंद	मोरबी	खंभात	श्रा० व० ५,	१९५६
९४३	अंबालाल लालचंद	मोरबी	खंभात	श्रा० व० ७,	१९५६
९४४	कीलाभाई और त्रिभोवन माणेकचंद	मोरबी	खंभात	श्रा० व० १०,	१९४६
९४५	-------	मोरबी	---	श्रा० व० १०,	१९४६
९४६	-------	---	---	-------	-----
९४७	-------	वढवाण केम्प	---	का० सु० ५,	१९५७
९४८	-------	बंबई-शिव	---	मगसिर व० ८,	१९५७
९४९	-------	तिथ्थल-वलसाड	---	पौष० व० १०,	१९५७
९५०	मुनिश्री लल्लुजी	वढवाण केम्प	---	फा० सु० ६,	१९५७
९५१	-------	राजकोट	---	फा० व० ३,	१९५७
९५२	सुखलाल छगनलाल	राजकोट	---	फा० व० १३,	१९५७
९५३	सुखलाल छगनलाल	राजकोट	भरूच	चैत्र सु० २,	१९५७
९५४	-------	राजकोट	---	चैत्र सु० ९,	१९५७
९५५	रेवाशंकर जगजीवन	राजकोट	बंबई	चैत्र सु० ११।,	१९५७
४४२-१	-------	बंबई	---	चैत्र व० ७,	१९४९

परिशिष्ट ४

किसके ऊपर कौन-कौनसे पत्र हैं उसकी सूची

नाम	पत्रांक
अनुपमचंद मलुकचंद	७०२.
अंबालाल लालचंद	११५, ११८, १२१, १२२, १२८, १३१, १३४, १३५, १३८, १३९, १४६, १४८, १६७,
,, ,,	१६९, १७१, १७४, १७५, १७८, १८४, १८६, १८८, १९०, १९२, १९३, १९९, २०३,
,, ,,	२११, २२५, २३६, २४०, २४२, २४५, २४८, २५३, २६१, २७१, २७६, २८५, २९१,
,, ,,	३००, ३०३, ३०६, ३१२, ३२१, ३३२, ३५३, ३५६, ३५८, ३७६, ३९१, ३९९, ४२७,
,, ,,	४२८, ४३२, ४४५, ४५१, ४५४, ४५५, ४७८, ४७९, ४८०, ४८१, ४८२, ४८७, ४८८,
,, ,,	४८९, ५०३, ५०७, ५१५, ५१७, ५२२, ५२४, ५३६, ५३७, ५७२, ५८०, ६०४, ६१६,
,, ,,	६२१, ६३२, ६३५, ६४३, ६४४, ६५४, ६५५, ६५६, ६५९, ६६७, ६६८, ६७५, ६८२,
,, ,,	६८५, ६८८, ६९२, ६९७, ७३०, ७३४, ७४०, ७४२, ७४९, ७७८, ७८५, ७९१, ८१०,
,, ,,	८१३, ८१४, ८१६, ८१९, ८२२, ८२९, ८३०, ८३४, ८३९, ८५७, ८५९, ८८६, ८९०,
,, ,,	८९९, ९०७, ९०८, ९०९, ९१०, ९१९, ९२३, ९३५, ९३८, ९४२, ९४३.
ऊगरी बहन	२६२, ४६०.
किसनदास	३३०.
किलाभाई	९४४.
कुंवरजी आणंदजी	५६१, ५६३, ५८२, ६०८, ६३६, ६७७, ७२९.
कुंवरजी मगनलाल	२७२, ३१८, ३३६, ३५१, ३७१, ४२३, ४६०, ६८१, ९२७.
कृष्णदास	४०४, ४२४, ४४९.
केशवलाल नथुभाई	५१६, ६९३, ७०६, ७२६, ७६८, ८०२, ८४०.
खंभातके मुमुक्षुओं पर	२५४.
खीमजी देवजी	४७, ५२, ५८, ६२, ६७, ७२, १२४, १२५, १२७, १३०, १३६, १४३, १४५, १४७,
,, ,,	२६३, २७३, २८१, ५५८, ८२७.
खीमजी लक्ष्मीचंद	६३७, ६६६.
घेलाभाई केशवलाल	८६८.
चत्रभुज बेचर	२६, २७, २८,२९, ३०, १२९, २०२, ३५२, ६३४, ९३१.
छगनलाल नानजी	८६०.
छोटालाल माणेकचंद	१८१, २२६, ६९०.
जूठाभाई ऊजमसी	३६, ३७, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ४६, ४९, ५३, ५६, ५७, ५९, ६५, ६९, ७३, ७४,
,, ,,	७५, ९४, ९८, १०४, १०६, ११४.
झवेरभाई भगवानदास	७३७, ८२५, ८४७, ८९२, ८९८.
डुंगरसी कलाभाई (गोसलिया)	४७२, ५२३, ५८५, ८०६.
त्रंबकलाल सोभागभाई	७८२, ७८३, ७८९, ७९३, ७९७, ८१२, ८२०, ८२१, ८२३.
त्रिभोवनभाई	११५, १३४, १३५, १६७, १७३, ६१६.
त्रिभोवन माणेकचंद	११९, १३७, १४०, १४२, १५३, १७७, २१२, २३२, २३७, २३८, ३०५, ३१०, ३९७,
,, ,,	४५८, ४६७, ४७०, ४९५, ४९८, ५१०, ६१३, ६२२, ७२८, ७४४, ८०२, ८०५, ९४४.
धारसीभाई कुशलचंद	२९०, ३७३, ३८६, ४९६, ४९७, ५३३, ५३९, ५४६, ५९०, ६२५, ६२७, ६३८, ७१२,
,, ,,	७२३, ७२५, ७२७, ७३१, ७३५, ७५२, ७७६, ७८७, ८६६, ८९७.
नगीनदास धरमचंद	८६३.
नवलचंद डोसा	३७३, ५९४, ६०२, ६११, ६३९, ७५२, ७७२, ७७३.
पोपटलाल मोहकमचंद	८५४, ८६१, ८७८, ८९३.
मगनलाल खीमचंद	२७९, ६१०, ८००.
मणिलाल रायचंद गांधी	४०१, ४०७.
मणिलाल सोभाग्यभाई	२००, ७९४.
मनसुखलाल देवसी	३८९, ४०५, ४४१, ४६२, ८७२, ८८५.

मनसुखलाल कीरतचंद ८७७, ८८२, ८८८, ८९५, ९२१, ९३४.
मनसुखराम सूर्यराम ६१, ६४, ६६, ६८, ७१, ८३, ८७, १२०, १२६.
माणेकचंद ६८९.
माणेकलाल घेलाभाई ७०८.
मुनदास प्रभुदास ८१७, ९४१.
मुनिश्री देवकरणजी ५०२, ७१९, ७५०, ७७५, ८६४, ८६७.
मोहनलाल करमचंद गांधी ५३०, ५७०, ७१७.
मुनिश्री लल्लुजी १७२, १९४, १९६, १९८, २०७, २१०, ३७५, ३८०, ३८१, ३८२, ४९३, ५००, ५०१,
" " ५०२, ५०९, ५१२, ५१३, ५१८, ५२६, ५३४, ५४७, ५५३, ५६५, ५७३, ५७७, ५८८,
" " ५८९, ५९५, ५९९, ६०५, ६०७, ६२०, ६२४, ६२६, ६३३, ६५२, ६५३, ६५७, ६५८,
" " ६६१, ६७३, ७१६, ७१९, ७३२, ७३९, ७४३, ७४७, ७५०, ७६७, ७७५, ७८६, ७८८,
" " ७९०, ७९२, ७९५, ७९८, ८०४, ८०७, ८०८, ८११, ८१५, ८१८, ८२४, ८२८, ८३१,
" " ८३८, ८६४, ८६५, ८६८, ८७०, ८७१, ८७३, ८७५, ८७६, ८८०, ८८१, ८९४, ८९६, ९००,
" " ९०१, ९११, ९१२, ९१४, ९१५, ९१६, ९१७, ९२२, ९२४, ९२५, ९२९, ९३७, ९४०, ९५०.
रतनचंदभाई ८२५, ८९२, ८९८.
रवजीभाई देवराज १८.
रवजीभाई पंचाणभाई ७२०, ८०१.
रायचंद मनजी देसाई ८३५, ८४२.
रेवाशंकर जगजीवन ३१, ३३, ४२५, ४२६, ४२९, ४४७, ८४८, ९५५.
वनमालीभाई उमेदराम ९१३.
वणारसीदास तलसीभाई ८९१.
वाडीलाल मोतीलाल खुखारी ८६९.
सुखलाल छगनलाल ४४०, ५५९, ६८६, ७३३, ७७७, ७९९, ८०३, ८२६, ८५३, ८५६, ८७४, ८७९, ८८३.
" " ८८९, ९२०, ९२६, ९३०, ९३२, ९३९, ९५२, ९५३.
सोभाग्यभाई लल्लुभाई १३२, १३३, १४१, १४४, १५२, १६५, १६६, १६८, १७०, १७६, १८०, १८२, १८५,
" " १८७, १८९, १९१, १९७, २०१, २०४, २०५, २०६, २१३, २१४, २१५, २१७, २१८,
" " २१९, २२०, २२१, २२२, २२३, २३०, २३१, २३३, २३४, २३५, २३९, २४१, २४४,
" " २४६, २४७, २५०, २५१, २५५, २५६, २५७, २५८, २५९, २६०, २६९, २७५, २७७,
" " २७८, २८०, २८२, २८३, २८६, २८७, २८८, २८९, २९३, २९७, २९८, ३०१, ३०२, ३०४,
" " ३०७, ३०८, ३०९, ३१३, ३१५, ३१६, ३१७, ३१९, ३२०, ३२२, ३२३, ३२४, ३२५,
" " ३२६, ३२७, ३२८, ३२९, ३३३, ३३४, ३३५, ३३८, ३३९, ३४०, ३४१, ३४२, ३४३,
" " ३४४, ३४६, ३४७, ३४८, ३४९, ३५०, ३५४, ३५५, ३५७, ३५९, ३६०, ३६१, ३६२,
" " ३६३, ३६४, ३६५, ३६६, ३६७, ३६८, ३६९, ३७०, ३७२, ३७४, ३७८, ३७९, ३८४,
" " ३८५, ३८८, ३९०, ३९३, ३९४, ३९८ ,४००, ४०२, ४०६, ४०८, ४०९, ४१०, ४११,
" " ४१३, ४३०, ४३१, ४३३, ४३४, ४३७, ४३८, ४३९, ४४२, ४४३, ४४४, ४४६, ४४८,
" " ४५०, ४५२, ४५३, ४५६, ४५९, ४६१, ४६३, ४६४, ४६५, ४७१, ४७२, ४७३,
" " ४७५, ४८३, ४८४, ४८५, ४८६, ४९०, ४९२, ४९४, ५०८, ५११, ५१९, ५२०, ५२३,
" " ५२७, ५२९, ५३१, ५३२, ५३५, ५३८, ५४२, ५४४, ५४५, ५४८, ५४९, ५५०,५५१,
" " ५५२, ५५४, ५५५, ५५६, ५५७, ५६०, ५६४, ५६६, ५६९, ५७१, ५७६, ५७९, ५८१,
" " ५८५, ५८६, ५९२, ५९८, ६००, ६०१, ६०६, ६१२, ६१५, ६१७, ६१८, ६१९, ६२३,
" " ६२८, ६२९, ६३०, ६३१, ६४०, ६४१, ६४२, ६४५, ६५१, ६६०, ६६४, ६६५, ६६९,
" " ६७१, ६७२, ६७४, ६७६, ६७८, ६७९, ६८४, ६८७, ६९१, ६९४, ६९६,
" " ७००, ७२१, ७२२, ७३६, ७४१, ७४५, ७४८, ७५१, ७६९, ७७९, ७८०, ७८१.
हेमचंद कुशलचंद ९०६.

परिशिष्ट - ५

विशिष्ट शब्दार्थ

अ

अकर्मभूमि-भोगभूमि । असि, मसि, कृषि आदि षट्कर्मरहित भोगभूमि; मोक्षके अयोग्य क्षेत्र ।

अकाल-असमय ।

अगुरुलघु-गुरुता और लघुतारहित ऐसा पदार्थका स्वभाव ।

अगोप्य-प्रगट ।

अघ-पाप ।

अचित-जीव रहित ।

अचेतन-जड पदार्थ ।

अज्ञान-मिथ्यात्व सहित ज्ञान । देखे आंक ७६८ ।

अज्ञानपरिषह-सत्पुरुषका योग मिलने पर भी जीवको अज्ञानकी निवृत्ति करनेका साहस न होता हो, उलझन आ पडती हो कि इतना सारा पुरुषार्थ करते हुए भी ज्ञान प्रगट क्यों नहीं होता इस प्रकारका भाव । देखें आंक ५३७ ।

अठारह दोष-पाँच प्रकारके अंतराय (दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य), हास्य, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, शोक, मिथ्यात्व, अज्ञान, अप्रत्याख्यान, राग, द्वेष, निद्रा और काम । (मोक्षमाला)

अणलिङ्ग-जिसका कोई विशिष्ट बाह्य चिह्न नहीं है, किसी प्रकारके वेषसे भिन्न ।

अणु-सूक्ष्म, अल्प; पुद्गलका छोटेसे छोटा भाग ।

अणुव्रत-अल्पव्रत; जिन व्रतोंको श्रावक धारण करते हैं ।

अतिक्रम-मर्यादाका उल्लंघन ।

अतिचार-दोष (व्रतको मलिन करे ऐसा व्रतभंगकी इच्छा बिना लगनेवाला दोष) ।

अतिपरिचय-गाढ़ संबंध, हदसे ज्यादा परिचय ।

अतीत काल-भूतकाल ।

अथसे इति-प्रारंभसे अंत तक ।

अदत्तादान-बिना दिये हुए वस्तुका ग्रहण करना । चोरी ।

अद्धासमय-कालका छोटेसे छोटा अंश; वस्तुके परिवर्तनमें निमित्तरूप एक द्रव्य ।

अद्वैत-एक ही वस्तु । एक आत्मा या ब्रह्मके बिना जगतमें दूसरा कुछ नहीं है ऐसी मान्यता ।

अधर्म द्रव्य-जीव और पुद्गलोंकी स्थितिमें उदासीन सहायक कारण; छह द्रव्योंमेंसे एक द्रव्य ।

अधिकरण क्रिया-तलवार आदि हिंसक साधनोंके आरंभ-समारंभके निमित्तसे होनेवाला कर्मबंधन (आंक ५२२) ।

अधिष्ठान-हरि भगवान, जिसमेंसे वस्तु उत्पन्न हुई, जिसमें वह स्थिर रही और जिसमें वह लयको प्राप्त हुई । (आंक २२०)

अधोदशा-नीची अवस्था ।

अध्यात्म-आत्मा संबंधी ।

अध्यात्ममार्ग-यथार्थ समझमें आने पर परभावसे आत्यंतिक निवृत्ति करना यह अध्यात्ममार्ग है । (आंक ९१८)

अध्यात्मशास्त्र-जिन शास्त्रोंमें आत्माका कथन है । 'निज स्वरूप जे किरिया साधे, तेह अध्यातम लहीए रे ।' —श्री आनन्दघनजी

अध्यास-मिथ्या आरोपण; भ्रांति ।

अनगार-मुनि; साधु; घर रहित ।

अनधिकारी-अधिकार रहित; अपात्र । (आत्मसिद्धि गाथा ३१)

अनन्यभाव-उत्कृष्ट भाव; शुद्ध भाव ।

अनन्यशरण-जिसके समान अन्य शरण नहीं है ।

अनभिसंधि-कषायसे वीर्यकी प्रवर्तना ।

अनंतकाय-जिसमें अनंत जीव हों ऐसे शरीरवाले, कंदमूलादि ।

अनंतचारित्र-मोहनीयकर्मके अभावमें आत्मस्थिरता-रूप दशा ।

अनंतज्ञान-केवलज्ञान ।

अनंत दर्शन-केवलदर्शन ।

अनंतराशि-अपार राशि ।

अनाकार-आकारका अभाव ।

अनाचार-पाप; दुराचार; व्रतभंग ।

अनाथता-निराधारता; अशरणता ।

अनादि-जिसकी आदि न हो ।

अनारंभ-सावद्य व्यापार रहित; जीवको उपद्रव न करना; निष्पाप ।

अनारंभी-पाप न करनेवाला ।

अनिमेष-स्थिर दृष्टि; निमेषरहित टकटकीके साथ देखना ।

अनुकंपा-दुःखी जीवोंपर करुणा । (आंक ५८, १३५)

अनुग्रह-दया; उपकार; कृपा ।
अनुचर-सेवक ।
अनुपचरित-अनुभवमें आने योग्य विशेष संबंध सहित (व्यवहार)। (आंक ४९३)
अनुप्रेक्षा-भावना; विचारणा; स्वाध्यायका एक प्रकार ।
अनुभव-प्रत्यक्षज्ञान; वेदन ।

"वस्तुविचारत ध्यावते, मन पावे विश्राम;
रस स्वादत सुख ऊपजे, अनुभव याको नाम ।"
श्री बनारसीदास ।

अनुष्ठान-धार्मिक आचार, क्रिया ।
अनेकांत-अनंतधर्मात्मक वस्तुकी स्वीकृत्ति; जो केवल एक दृष्टिरूप न हो ।
अनेकांतवाद-सापेक्षरूपसे एक पदार्थके अनेक धर्मोमेंसे अमुक धर्मको कहनेवाली वचन पद्धति ।
अन्योक्ति-वह अलंकार जिसमें अर्थसाधर्म्यके अनुसार वर्णित वस्तुओंके अलावा दूसरी वस्तुओं पर घटाया जाय । कटाक्षरूप वचन ।
अन्योन्य-परस्पर ।
अन्वय-एकके सद्भावमें दूसरेका अवश्य होना; परस्पर संबंध ।
अपकर्ष-पतन; कम होना ।
अप्काय-पानी ही जिसका शरीर है ऐसे जीव ।
अपरिग्रहव्रत-परिग्रह त्यागकी प्रतिज्ञा ।
अपवर्ग-मोक्ष ।
अपवाद-नियमोमें छूट, निंदा ।
अपरिच्छेद-यथार्थ; संपूर्ण ।
अपरिणामी-जो परिणमनको प्राप्त न हो ।
अपलक्षण-दोष ।
अपेक्षा-इच्छा; अभिलाषा ।
अप्रतिबद्ध-आसक्ति रहित ।
अप्रमत्त गुणस्थान-सातवाँ गुणस्थान । अप्रमत्तरूपसे आचरणमें स्थिति । (पृ० ८४०)
अप्रमादी-आत्मदशामें जागृति रखनेवाला ।
अप्रशस्त-बुरा; अशुभ ।
अबंध परिणाम-जिन परिणामोंसे बंध न हो । रागद्वेष-रहित परिणाम ।
अबोधता-अज्ञानता ।
अभक्ष्य-न खाने योग्य ।
अभयदान-रक्षण देना, जीवोंको बचाना ।
अभव्य-जिसे आत्मस्वरूपकी प्राप्ति न हो सके ऐसा जीव ।
अभाव-क्षय; जिसका अस्तित्व न हो ।(आंक ६७४)
अभिधेय-प्रतिपादन करने योग्य ।
अभिनिवेश-आसक्ति; आग्रह; हठ । (आंक ६७७) (लौकिक अभिनिवेश)
अभिमत-सम्मत ।
अभिवंदन-नमस्कार ।
अभिसंधिवीर्य-बुद्धि या आशयपूर्वक की गई क्रियाके रूपमें परिणमनेवाला वीर्य; आत्माकी प्रेरणासे वीर्यका प्रवर्तन; वीर्यका एक प्रकार ।
अभ्यंतर-भीतरका ।
अभ्यंतरमोहिनी-वासना, राग-द्वेष । (पुष्पमाला-६६)
अभ्यास-मुहावरा; टेव; अध्ययन ।
अमर-देव; आत्मा ।
अमाप-असीम; अपरिमित ।
अमूर्तिक-जिसमें रूप, रस, गंध, और स्पर्श नहीं है । निराकार ।
अयोग-योगका अभाव; मन, वचन, कायारूप योगका अभाव; सत्पुरुषके साथ संयोगका नहीं होना ।
अराग-राग रहित दशा ।
अरिहंत-केवली भगवान ।
अरूपी-जिसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श ये पुद्गलके गुण न हो ।
अर्थपर्याय-प्रदेशत्व गुणके सिवाय अन्य समस्त गुणोंकी अवस्था । (देखें जैनसिद्धांतप्रवेशिका)
अर्थांतर-दूसरा आशय या तात्पर्य ।
अर्धदग्ध-अधूरे ज्ञानवाला । ज्ञानी जैसा समझदार भी नहीं और अज्ञानी जैसा जिज्ञासु भी नहीं ।
अर्हंत-देखें अरिहंत ।
अलौकिक-लोकोत्तर; अद्भुत; अपूर्व; असाधारण; दिव्य ।
अल्पज्ञ-कम समझा; तुच्छबुद्धि; थोडा ज्ञान रखनेवाला ।
अल्पभाषी-कम बोलनेवाला ।
अवगत-ज्ञात; जाना हुआ ।
अवगाह-व्याप्त होनेका भाव ।
अवगाहन-अध्ययन; पढना-विचारना; गहन अभ्यास ।
अवग्रह-आरंभका मतिज्ञान । मतिज्ञानका एक भेद । (देखें जैनसिद्धांतप्रवेशिका)
अवधान-एक समयमें अनेक कार्योंमें उपयोग देकर स्मरणशक्ति तथा एकाग्रताकी अद्भुतता बताना । (आंक १८)

अवधिज्ञान-जो ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादासहित रूपी पदार्थको जाने।
अवनी-पृथ्वी; जगत।
अवबोध-ज्ञान।
अवर्णवाद-निन्दा
अवशेष-बाकी।
अवसर्पिणीकाल-उतरता हुआ काल, जिसमें जीवोंकी शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होती जाय। दस कोडाकोडी सागरका यह काल होता है।
अवाच्य-न कहने योग्य; जो न कहा जा सके।
अविवेक-विचारशून्यता; सत्यासत्यको न समझना।
अव्याबाध-बाधा-पीडारहित।
अशरीरी-जिसे शरीरभावका अभाव हो गया है; आत्ममग्न; सिद्ध भगवान।
अशातना-अविनय।
अशुभ-खराब।
अशौच-मलिनता।
अश्रद्धा-अविश्वास।
अष्टमभक्त-तीन उपवास।
अष्टावक्र-एक ऋषिका नाम। जनक राजाको ज्ञान देनेवाला। इनके आठों अंग वक्र (टेढ़े) होनेसे अष्टावक्र नाम प्रसिद्ध हुआ था।
अष्टांगयोग-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योगके आठ अंग।
असाता-दुःख।
असंग-मूर्च्छाका अभाव; परद्रव्यसे मुक्त; परिग्रह-रहित।
असंगता-आत्मार्थके सिवायके संगप्रसंगमें नहीं पड़ना (आंक ४३०, ६०९)
असंयतिपूजा-जिसे ज्ञानपूर्वक संयम न हो उसकी पूजा।
असंयम-उपयोग चूक जाना (उपदेशछाया)
असिपत्रवन-नरकका एक वन, जिसके पत्ते शरीर पर गिरनेसे तलवारकी भाँति अंगोंको छेद डालते हैं।
असोच्चाकेवली-केवली आदिके निकट धर्मको सुने बिना (असोच्चा=अश्रुत्वा) जो केवलज्ञान पावे। (आंक ५४२)
अस्त-छिपा हुआ, तिरोहित; अदृश्य; नष्ट; डूबा हुआ।
अस्ति-सत्ता; विद्यमानता; होनेका भाव।
अस्तिकाय-बहुत प्रदेशोंवाला द्रव्य।
अस्तित्व-मौजूदगी; सत्ताका भाव।
अहंता-अहंकार; गर्व।
अहंभाव-मैं पनेका भाव; अभिमान।
अंतरंग-अंदरका।
अंतरात्मा-सम्यग्दृष्टि; ज्ञानी आत्मा।
अंतराय-विघ्न, बाधा।
अंतर्ज्ञान-स्वाभाविक ज्ञान; आत्मिक ज्ञान।
अंतर्दशा-आत्माकी दशा।
अंतर्दृष्टि-आत्मदृष्टि; ज्ञानचक्षु।
अंतर्धान-लोप, छिपाव।
अंतर्मुख-आत्मचिंतन, जिसका लक्ष्य अंदरकी ओर हो।
अंतर्मुहूर्त-एक मुहूर्तके भीतरका काल (एक मुहूर्त=दो घडी, ४८ मिनट); एक मुहूर्तसे कम समय।
अंतर्लापिका-ऐसी काव्यरचना कि जिसके अक्षरोंको अमुक प्रकारसे लगानेपर किसीका नाम या दूसरा अर्थ निकले।
अंतर्वृत्ति-अंदरका वर्तन; आत्मामें वृत्ति।
अंतःकरण-मन; चित्त; अंदरकी इन्द्रिय।
अंतःपुर-महलके भीतर स्त्रियोंके रहनेकी जगह; रानिवास।

आ

आकाशद्रव्य-जीवादि समस्त द्रव्योंको अवकाश देनेवाला द्रव्य।
आकांक्षा मोहनीय-मिथ्यात्वमोहनीयका एक प्रकार, सांसारिक सुखकी इच्छा करना।
आक्रोश-क्रोध करना; गाली देना; निन्दा।
आगम-धर्मशास्त्र; ज्ञानीपुरुषोंके वचन।
आगमन-आना।
आगार-घर; व्रतोमें छूटछाट।
आग्रह-इच्छानुसार करने-करानेकी वृत्ति; हठ; दृढ मान्यता।
आचरण-व्यवहार; बर्ताव।
आचार्य-जो साधुओंका दीक्षा, शिक्षा देकर चारित्रका पालन कराते हैं।
आज्ञा-आदेश, अनुमति, हुक्म।
आज्ञा आराधक-आज्ञानुसार चलनेवाला।
आज्ञाधार-आज्ञापूर्वक। (आत्मसिद्धि दोहा-३५)
आठ समिति-तीन गुप्ति और पाँच समिति।
आतापनयोग-धूपमें बैठकर या खड़े रहकर ध्यान करना।

आत्मवाद-आत्माको बतानेवाला; आत्मस्वरूपको कहनेवाला।

आत्मवीर्य-आत्माकी शक्ति।

आत्मसंयम-आत्माको वशमें करना।

आत्मश्लाघा-अपनी प्रशंसा।

आत्मा-ज्ञानदर्शनमय अविनाशी पदार्थ।

आत्मार्थी-आत्माकी इच्छावाला।

"कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष अभिलाष,
भवे खेद, प्राणी दया, त्यां आत्मार्थ निवास।"
(आत्मसिद्धि दोहा-३८)

आत्मानुभव-आत्माका साक्षात्कार।

आत्यंतिक-पूर्णरूपसे; अत्यंतरूपसे; संपूर्ण।

आदि अंत-प्रारंभ और अंत।

आदि पुरुष-परमात्मा।

आदेश-आज्ञा।

आधार-सहारा; आश्रय।

आधि-मानसिक व्यथा; चिंता।

आधुनिक-वर्तमान समयका; नवीन; अर्वाचीन।

आनंदघन-आनंदसे परिपूर्ण; श्री लाभानन्दजी मुनिका दूसरा नाम।

आप्त-जिसके विश्वासपर मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति की जा सके। (आंक ७७७) सर्व पदार्थोंको जानकर उनके स्वरूपका सत्यार्थ प्रगट करनेवाला। (पृष्ठ ७७५)

आम्नाय-सम्प्रदाय; परंपरा; परिपाटी।

आरंभ-किसी भी क्रियाकी तैयारी, हिंसाका काम।

आरा-काल चक्र; उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीका विभाग। देखें मोक्षमाला पाठ ८१।

आराधना-पूजा; उपासना; साधना।

आराध्य-आराधना करने योग्य।

आर्त्त-पीडित।

आर्त्तध्यान-किसी भी परपदार्थमें इच्छाकी प्रवृत्ति है और किसी भी परपदार्थके वियोगकी चिंता है, उसे श्री जिन आर्त्तध्यान कहते हैं। आंक ५५१

आर्य-उत्तम। (आर्य शब्दसे जिनेश्वर, मुमुक्षु और आर्यदेशमें रहनेवालेको सम्बोधित किया जाता है)

आर्य आचार-मुख्यतः दया, सत्य, क्षमा आदि गुणोंका आचरण करना। (आंक ७१७)

आर्य देश-उत्तम देश। जहाँ आत्मा आदि तत्त्वोंकी विचारणा हो सके, आत्मोन्नति हो सके ऐसी अनुकूलतावाला देश।

आर्य विचार-मुख्यतः आत्माका अस्तित्व, नित्यत्व, वर्तमानकाल तक उस स्वरूपका अज्ञान तथा उस अज्ञान और अभानके कारणोंका विचार। (आंक ७१७)

आलेखन-लिपिबद्ध करना; चित्र बनाना।

आवरण-परदा, विघ्न।

आवश्यक-अवश्य करने योग्य कार्य या नियम। संयमीके योग्य क्रिया।

आविर्भाव-प्रगट होना; उत्पत्ति।

आशंका मोहनीय-जो स्वयंको समझमें न आवें; सत्य जानते हुए भी उसके प्रति यथार्थ भाव (रूचि) न प्रगटे। (उपदेश छाया)

आशुप्रज्ञ-जिसकी बुद्धि तत्काल काम करे; विचक्षण; हाजिरजवाब।

आश्रम-विश्रामका स्थान; ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यस्त इन जीवन-विभागोंमेंसे कोई भी एक।

आसक्त-अनुरक्त; लीन; लिप्त; मोहित; मुग्ध।

आसक्ति-गाढ मोह; लीनता।

आस्तिक्य-जिनका परम माहात्म्य है ऐसे निस्पृही पुरुषोंके वचनमें ही तल्लीनता। (आंक १३५)

आस्रव-ज्ञानावरणीयादि कर्मोंका आना।

आस्रवभावना-राग, द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व इत्यादि सर्व आस्रव हैं, वे रोकने या टालने योग्य है ऐसा चिंतन करना। (भावनाबोध)

इ

इतिहास-भूतकालका वृत्तान्त।

इन्द्र-स्वर्गका अधिपति; देवोंका स्वामी।

इन्द्राणी-इन्द्रकी पत्नी।

इंद्रिय-ज्ञानका बाह्य साधन।

इंद्रियगम्य-जो इंद्रियसे जाना जाय।

इंद्रियनिग्रह-इंद्रियोंको वश करना।

इष्टदेव-जिस पर श्रद्धा जम गई हो ऐसे आराध्यदेव।

इष्टसिद्धि-इच्छित कार्यकी सिद्धि

ई

ईर्यापथिकी क्रिया-कषायरहित पुरुषकी क्रिया; चलनेकी क्रिया।

ईर्यासमिति-दूसरे जीवोंकी रक्षाके लिये चार हाथ जमीन आगे देखकर ज्ञानीकी आज्ञानुसार चलना।

ईश्वर-जिसमें ज्ञानादि ऐश्वर्य है। "ईश्वर शुद्ध स्वभाव" (आत्मसिद्धि दोहा ७७)

ईश्वरेच्छा-प्रारब्ध; कर्मोदय; उपचारसे ईश्वरकी इच्छा, आज्ञा।

ईषत्प्राग्भारा-आठवीं पृथ्वी; सिद्धशिला ।

उ

उच्चगोत्र-लोकमान्य कुल ।

उजागर-आत्मजागृतिरूप दशा ।

उत्कट-प्रबल; तीव्र; विषम ।

उत्कर्ष-समृद्धि; श्रेष्ठता; उत्तमता । हर्ष; अहंकार ।

उत्तरोत्तर-आगे-आगे; क्रमशः; अधिक-अधिक ।

उत्पाद-उत्पत्ति ।

उत्सर्पिणीकाल-चढते हुए छह कालचक्र पूरे हों, उतना समय । दस कोडाकोडी सागरोपमका चढता हुआ काल । जिसमें आयु, वैभव, बल आदि बढते जावें ऐसा कालप्रवाह ।

उत्सुक परिणाम-रागपरिणाम । (आंक ५९१)

उत्सूत्रप्ररूपणा-आगमविरुद्ध कथन ।

उदक पेढाल-सूत्रकृताङ्ग नामक दूसरे अंगमें इस नामका एक अध्ययन है ।

उदय-द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको लेकर कर्म जो अपनी शक्ति दिखाते हैं उसे कर्मका उदय कहते हैं । स्थिति पूर्ण होनेपर कर्मफलका प्रगट होना ।

उदासीनता-समभाव; वैराग्य; शान्तता; मध्यस्थता ।

उदीरणा-स्थिति पूरी किये बिना ही कर्मोंका फल तपादिके कारणसे उदयमें आवे उसे उदीरणा कहते हैं ।

उपजीवन-आजीविका । (आंक ६४)

उपयोग-चैतन्य परिणति; जिससे पदार्थका बोध हो ।

उपशमभाव-कर्मोंके शांत होनेसे उत्पन्न हुआ भाव ।

उपशमश्रेणी-जिसमें चारित्र-मोहनीय कर्मकी २१ प्रकृतियोंका उपशम किया जाय । (जैनसिद्धांत-प्रवेशिका)

उपाधि-जंजाल ।

उपाध्याय-जो साधु शास्त्रोंका अध्ययन करावें ।

उपाश्रय- साधु साध्वियोंका आश्रयस्थान ।

उपासक-पूजाभक्ति करनेवाला; साधुओंकी उपासना करनेवाला श्रावक

उपेक्षा-अनादर; तिरस्कार; विरक्त; उदासीनता ।

ऊ

ऊर्ध्वगति-ऊँची गति ।

ऊर्ध्वप्रचय-पदार्थमें जो धर्मका उद्‌भव होता है वह, क्षण-क्षणमें होनेवाली अवस्था ।

ऊर्ध्वलोक-स्वर्ग; मोक्ष ।

ऊहापोह-तर्क-वितर्क; सोच-विचार ।

ऋ

ऋषभदेव-जैनोंके आदि तीर्थंकर ।

ऋषि-जो बहुत ऋद्धियोंके धारी हों । ऋषिके चार भेद है-(१) राजर्षि=ऋद्धिवाले, (२) ब्रह्मर्षि=अक्षीण महान ऋद्धिवाले, (३) देवर्षि=आकाशगामी मुनिदेव, (४) परमर्षि=केवळ ज्ञानी ।

ए

एकत्वभावना-यह मेरा आत्मा अकेला है, वह अकेला आया है, अकेला जायेगा, अपने किये हुए कर्म अकेला भोगेगा, ऐसा अंतःकरणसे चिंतन करना सो एकत्वभावना (भावनाबोध)

एकनिष्ठा-एक ही वस्तुके प्रति पूर्ण श्रद्धा ।

एकभक्त-दिनमें एक ही बार खाना ।

एकाकी-अकेला ।

एकान्तवाद-वस्तुको एक धर्मस्वरूप मानना ।

ओ

ओघसंज्ञा-जिस क्रियाको करते हुए जीव लोककी, सूत्रकी या गुरुके वचनकी अपेक्षा नहीं रखता; आत्माके अध्यवसाय रहित कुछ क्रियादि किया करे । (अध्यात्मसार)

औ

औदयिकभाव-कर्मके उदयसे होनेवाला भाव; कर्म बंधे ऐसा भाव । कर्मके उदयके साथ संबंध रखनेवाला जीवका विकारी भाव ।

औदारिक शरीर-स्थूल शरीर । मनुष्य और तिर्यंचोंको यह शरीर होता है ।

क

कदाग्रह-दुराग्रह; खोटी मान्यताकी दृढता । इन्द्रियोंके निग्रहका न होना, कुलधर्मका आग्रह, मान-श्लाघाकी कामना और अमध्यस्थता, यह कदाग्रह है । (उपदेशछाया-९)

कपिल-सांख्यमतके प्रवर्तक ।

करुणा-दया; दूसरेके दुःख या पीड़ा-निवारणकी इच्छा ।

कर्म-जिससे आत्माको आवरण हो या वैसी क्रिया ।

कर्मादानी धंधा-पंद्रह प्रकारके कर्मादानी व्यापार । श्रावक(सद्‌गृहस्थ)को न करने कराने योग्य कार्य; कर्मोंके आनेका मार्ग ।

कर्मप्रकृति-कर्मोंके भेद ।

कर्मभूमि-जहाँ मनुष्य व्यापारादिके द्वारा आजीविका चलाते हैं; मोक्षके योग्य क्षेत्र ।

कलुष-पाप; मल ।

कल्पकाल-बीस कोडाकोडी सागरका काल, जिसमें एक अवसर्पिणी और एक उत्सर्पिणीका काल होता है ।

कल्पना-जिससे किसी कार्यकी सिद्धि न हो ऐसे विचार; मनकी तरंग ।

कल्याण-मंगल; सत्पुरुषकी आज्ञानुसार चलना ।

कषाय-जो सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकलचारित्र तथा यथाख्यात-चारित्ररूप परिणामोंका घात करे अर्थात् न होने दे । (गो० जीवकांड) जो आत्माको कषे अर्थात् दुःख दे उसे कषाय कहते हैं । कषायके चार भेद हैं--अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन । जिन परिणामोंसे संसारकी वृद्धि हो वह कषाय हे । (उपदेशछाया)

कषायाध्यवसायस्थान-कषायके अंश, कि जो कर्मोंकी स्थितिमें कारण है ।

काकतालीयन्याय-कौएका ताड पर बैठना और अचानक ताडफलका गिर जाना इसी प्रकार संयोगवश किसी कार्यका अचानक सिद्ध हो जाना ।

कामना-इच्छा; अभिलाषा ।

कामिनी-स्त्री ।

कायोत्सर्ग-शरीरका ममत्व छोड़कर आत्माके सन्मुख होना; आत्मध्यान करना । छह आवश्यकोंमेंसे एक आवश्यक ।

कार्मणशरीर-ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप शरीर ।

कार्मणवर्गणा-अनंत परमाणुओंका स्कन्ध, जो कार्मण-शरीररूप परिणमता है । (जैनसिद्धांत-प्रवेशिका)

"मन वचन काया ने, कर्मनी वर्गणा"

(अपूर्व अवसर गा० १७)

कालक्षेप-समय गँवाना; समय खोना ।

कालधर्म-समयके योग्य धर्म; मौत; मरण ।

कालाणु-निश्चय कालद्रव्य ।

कुगुरु-मिथ्या वेषधारी आत्मज्ञानरहित ऐसे जो गुरु बन बैठे हैं ।

कुपात्र-अयोग्य; किसी विषयका अनधिकारी; वह जिसे दान देना शास्त्रमें निषिद्ध है ।

कूर्म-कछुआ ।

कूटस्थ-अटल; अचल ।

कृत्रिम-नकली; बनावटी; बनाया हुआ ।

केवलज्ञान-मात्र ज्ञान; केवल स्वभाव परिणामी ज्ञान । (संस्मरणपोथी तथा देखें आत्मसिद्धि-दोहा ११३)

कैवल्य कमला-केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी ।

कौतुक-आश्चर्य; कुतूहल ।

कंखा-इच्छा; आकांक्षा ।

कंखामोहनीय-तप आदि करके परलोकके सुखकी अभिलाषा करना । कर्म तथा कर्मके फलमें तन्मय होना या अन्य धर्मोंकी इच्छा करना (पंचाध्यायी)

कंचन-स्वर्ण; सोना ।

क्रम-अनुक्रम; एकके बाद एक आये ऐसी संकलना ।

क्रियाजड-जो मात्र बाह्यक्रियामें ही अनुरक्त हो रहे हैं, जिनका अंतर कुछ भिदा नहीं है और जो ज्ञान-मार्गका निषेध किया करते हैं । (आत्मसिद्धि-४)

क्रिडा-विलास-भोगविलास ।

क्षण-समय या कालका छोटा भाग ।

क्षपक-कर्मक्षय करनेवाला साधु; जैन तपस्वी ।

क्षपक श्रेणी-जिसमें चारित्र मोहनीय कर्मकी २१ प्रकृतियोंका क्षय किया जाय ऐसी क्षण-क्षणमें चढ़ती हुई दशा ।

क्षमा-चित्तकी एक प्रकारकी वृत्ति जिससे मनुष्य दूसरे द्वारा पहुँचाया हुआ कष्ट सह लेता है और उसके प्रतिकार या दंडकी अभिलाषा नहीं करता । क्रोध न करना । माफी देना ।

क्षमापना-भूलकी माफी माँगना ।

क्षायिकचारित्र-मोहनीयकर्मके क्षयसे जो चारित्र (आत्मस्थिरता) उत्पन्न हो ।

क्षायिकभाव-कर्मके नाशसे जो भाव उत्पन्न हो जैसे कि केवलदर्शन, केवलज्ञान ।

क्षायिक सम्यक्दर्शन-मोहनीयकर्मकी सात प्रकृतियोंके अभावमें जो आत्मप्रतीति, अनुभव उत्पन्न हो ।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व-जो दर्शन मोहनीयकर्मके क्षय और उपशमसे हो ऐसी आत्मश्रद्धा ।

क्षीणकषाय-(क्षीणमोह) बारहवाँ गुणस्थान, जो मोहनीयकर्मके सर्वथा क्षय होनेसे यथाख्यात-चारित्रके धारक मुनिको होता है ।

ख

खल-दुष्ट ।

खंती दंती प्रव्रज्या-जिस दीक्षामें क्षमा तथा इन्द्रिय-निग्रह है ।

ग

गच्छ-समुदाय; गण; संघ; साधुसमुदाय; एक आचार्यका परिवार ।

गजसुकुमार-श्रीकृष्ण वासुदेवके छोटे भाई । देखें 'मोक्षमाला' शिक्षापाठ ४३ ।

गणधर-तीर्थंकरके मुख्य शिष्य । आचार्यकी आज्ञानुसार साधुसमुदायको लेकर पृथ्वीमंडलपर विचरनेवाले समर्थ साधु ।

गणितानुयोग-जिन शास्त्रोंमें लोकका माप तथा स्वर्ग, नरक आदिकी लंबाई आदिका एवं कर्मके बंध आदिका वर्णन हो । (व्याख्यानसार १-१७३)

गतभव-पूर्वभव; पूर्वजन्म ।

गतशोक-शोकरहित ।

गति आगति-गमनागमन; जाना आना ।

गुमान-अहंकार; अभिमान ।

गुणनिष्पन्न-जिसे गुण प्राप्त हुए हैं ।

गुणस्थान-मोह और योगके निमित्तसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप आत्माके गुणोंकी तारतम्यरूप अवस्थाविशेषको गुणस्थान कहते हैं । (गोम्मटसार); गुणोंकी प्रगटता वह गुणस्थान हे ।

गुरुता-बड़प्पन, महत्त्व; गुरुपन ।

गोकुलचरित्र-श्री मनसुखराम सूर्यरामका लिखा हुआ श्री गोकुलजी झालाका जीवनचरित्र ।

गौतम-भगवान महावीरके मुख्य शिष्य गणधर । इनका मूल नाम इंद्रभूति था । गौतम उनका गोत्र था ।

ग्रंथ-पुस्तक; शास्त्र; बाह्य, अभ्यंतर परिग्रह, गाँठ । (आत्मसिद्धि, दोहा १००)

ग्रंथि-रागद्वेषकी निबिड गाँठ । मिथ्यात्वकी गाँठ ।

ग्रंथिभेद-जड़ और चेतनका विवेक करना ।

गृहस्थी-श्रावक; गृहवासी; घरमें रहनेवाला ।

ग्यारहवाँ गुणस्थान-उपशांतमोह ।

घ

घटपरिचय-हृदयकी पहिचान ।

घटाटोप-बादलोंके समान चारों ओरसे घेर लेनेवाला दल या समुह । चारों ओरसे आच्छादित झुँड ।

घनघातीकर्म-ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, तथा अंतराय, ये चार कर्म । आत्माके मूल गुणोंको आवरण करनेवाले होनेसे इन्हें घनघाती-कर्म कहते हैं ।

घनरज्जु-जिसकी लंबाई, चौडाई और मोटाई समान हो, उस प्रकार रज्जुका परिमाण करना वह । मध्यलोक पूर्वसे पश्चिम एक रज्जुप्रमाण है, उतना ही लम्बा, चौडा और ऊँचा लोकका विभाग ।

घनवात-घनोदधि अथवा विमान आदिको आधारभूत एक प्रकारकी कठिन वायु ।

घनवातवलय-वलयाकारसे रही हुई घनवायु ।

च

चक्ररत्न-चक्रवर्तीके चौदह रत्नोंमेंसे एक ।

चक्रवर्ती-सम्राट; भरत आदि क्षेत्रके छह खंडोका अधिपति ।

चक्षुर्दर्शन-आँखसे दीखनेवाली वस्तुका प्रथम जो सामान्य बोध हो ।

चक्षुर्दर्शनावरण-दर्शनावरणीय कर्मकी एक ऐसी प्रकृति कि जिसके उदयसे जीवको चक्षुदर्शन (आँखसे होनेवाला सामान्य बोध) न हो ।

चतुर्गति-चार गति । देवगति, मनुष्यगति, तिर्यंचगति तथा नरकगति ।

चतुष्पाद-पशु; चार पैरोंवाला प्राणी ।

चयविचय-जाना आना ।

चयोपचय-जाना जाना, परंतु प्रसंगवशात् आना जाना; गमनागमन । आदमीके जाने आनेमें यह लागू नहीं होता, श्वासोच्छ्वास आदि सूक्ष्मक्रियामें लागू होता है ।

चरणानुयोग-जिन शास्त्रोंमें मुनि तथा श्रावकके आचारका कथन हो । (व्याख्यानसार १-१७३)

चरमशरीर-अंतिम शरीर, कि जिस शरीरसे उसी भवमें मोक्षप्राप्ति हो ।

चर्मरत्न-चक्रवर्तीका एक रत्न, जिसे पानीमें बिछानेसे जमीनकी भाँति उस पर गमन किया जाता है, घरकी तरह उस पर रहा जा सकता है ।

चार आश्रम-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यस्त ।

चार पुरुषार्थ-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ।

चार वर्ग-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र ।

चार वेद-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ।

चारित्र-अशुभ कार्योंका त्याग करके शुभमें प्रवृत्ति करना वह व्यवहारचारित्र है, आत्मस्वरूपमें रमणता और उसीमें स्थिरता यह निश्चयचारित्र है ।

चार्वाक-नास्तिक मत; जो जीव, पुण्य, पाप, नरक, स्वर्ग, मोक्ष नहीं है ऐसा मानते हैं; दिखाई दे उतना ही माननेवाला ।

चित्-ज्ञानस्वरूप आत्मा ।

चूर्णि-महात्माकृत भिन्न-भिन्न पदकी व्याख्या (सर्व विद्वानोंके मदको चूरे वह चूर्णि ।)

चूवा-सुगंधित पदार्थ; एक प्रकारका चंदन ।

चैतन्य-ज्ञानदर्शनमय जीव ।

चैतन्यघन-ज्ञानादि गुणोंसे भरपूर ।

चौठाणिया रस-चतुर्थस्थानरूप रस । पुण्य पापरूप प्रकृतियोंमें तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अति

तीव्रतमरूप रस; पापमें कटु, कटुतर, कटुतम और अत्यंत कटुतम तथा पुण्यमें मधुर, मधुरतर, मधुरतम और अत्यंत मधुरतम; इस प्रकार चार रसोंमें चतुर्थस्थानरूप रस । नीम और इक्षुरसके दृष्टांतसे । (देखें शतकनामा पंचम कर्मग्रंथ गाथा ६३, प्रकरणरत्नाकरके भाग ४ में पृ० ६५२) प्रस्तुत ग्रंथमें व्याख्यानसार २-३० पृ० ७९९-'पुण्यका चौठाणिया रस नहीं है' अर्थात् चतुर्थस्थानरूप श्रेष्ठ पुण्य(अत्यंत तीव्रतम-एकांत साता)का उदय नहीं है ।

चौदह पूर्व-उत्पादपूर्व, आग्रायणीयपूर्व,वीर्यानुवादपूर्व, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यानपूर्व, विद्यानुवादपूर्व, कल्याणवादपूर्व, प्राणवादपूर्व, क्रियाविशालपूर्व, त्रिलोकबिन्दुसारपूर्व, ये चौदह पूर्व कहे जाते हैं । (गोम्मटसार जीवकांड)

चौदहपूर्वधारी-चौदह पूर्वके ज्ञाता । श्रुतकेवली । श्री भद्रबाहुस्वामी चौदह पूर्वके ज्ञाता थे ।

चौभंगी-चार भेदरूप कथन ।

चोविहार-रात्रिमें चार प्रकारके आहारका त्याग ।
१. खाद्य-जिससे पेट भरे, जैसे-रोटी आदि,
२. स्वाद्य-स्वाद लेनेयोग्य जैसे कि इलायची,
३. लेह्य-चाटने योग्य पदार्थ, जैसे-रबडी,
४. पेय-पीने योग्य, जैसे पानी, दूध इत्यादि ।

चोवीस दंडक- १ नरक, १० असुरकुमार, १ पृथ्वीकाय, १ जलकाय, १ अग्निकाय, १ वायुकाय, १ वनस्पतिकाय, १ तिर्यंच, १ द्वीइंद्रिय, १ तेइन्द्रिय, १ चतुरिन्द्रिय, १ मनुष्य, १ व्यंतर, १ ज्योतिषीदेव और १ वैमानिकदेव, इस प्रकार २४ दंडक हैं ।

च्यवन-एक देहको छोड़कर अन्य देहमें आना ।

छ

छट्ठ छट्ठ-दो उपवास करके पारणा करे, और फिर दो उपवास करे; इस प्रकारके क्रमसे चलना ।

छद्मस्थ-आवरणसहित जीव; जिसे केवलज्ञान प्रगट नहीं हुआ है ।

छह काय-पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय तथा त्रसकाय ।

छह खंड-इस भरतक्षेत्रके छह खंड हैं, जिनमें १ आर्यखंड और ५ म्लेच्छखंड है ।

छह पर्याप्ति-आहार, शरीर, इंद्रिय, भाषा, श्वासोच्छ्वास और मन । (विशेष स्पष्टीकरणके लिये देखें गोम्मटसार जीवकांड)

छंद-अभिप्राय; इच्छा, मनमाना आचरण ।

छंदाणुवत्तग-अपनी इच्छानुसार न चलते हुए गुरुकी आज्ञानुसार चलनेवाला ।

ज

जघन्यकर्मस्थिति-कर्मकी कमसे कम स्थिति ।

जडता-अज्ञानता; मूर्खता; जड़पन ।

जंजालमोहिनी-संसारकी उपाधि ।

जातिवृद्धता-जातिकी अपेक्षासे श्रेष्ठता, उत्तमता ।

जिज्ञासा-तत्त्वको जाननेकी इच्छा ।

"कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष अभिलाष;
भवे खेद अंतरदया, ते कहिये जिज्ञास."
(आत्मसिद्धि दोहा १०८)

जिन-रागद्वेषको जीतनेवाले ।

जिनकल्प-उत्कृष्ट आचार पालनेवाले साधु अर्थात् जिनवरकल्पीकी व्यवहारविधि; एकाकी विचरनेवाले साधुओंके लिये निश्चित किया हुआ जिनमार्ग या नियम । (पृष्ठ ७१५ व्याख्यानसार)

जिनकल्पी-उत्तम आचार पालनेवाला साधु ।

जिनधर्म-जिनभगवानका कहा हुआ धर्म । वीतराग द्वारा उपदिष्ट मोक्षका मार्ग ।

जिनमुद्रा-वीतरागकी आकृति । जिनमुद्रा दो प्रकारकी हैं-कायोत्सर्ग और पद्मासन । (देखें पृष्ठ ७८४ व्याख्यानसार ।)

जिनेंद्र-तीर्थंकर भगवान ।

जीव-आत्मा; जीवपदार्थ ।

जीवराशि-जीवोंका समुदाय ।

जीवास्तिकाय-ज्ञानदर्शनस्वरूप आत्मा । यह आत्मा असंख्यातप्रदेशी होनेसे अस्तिकाय कहा जाता है ।

जोगानल-ध्यानरूपी अग्नि ।

ज्ञात-विदित; अवगत; जाना हुआ ।

ज्ञातपुत्र-भगवान महावीर; ज्ञात नामक क्षत्रियवंशके होनेसे ज्ञातपुत्र कहलाते हैं ।

ज्ञाता-जाननेवाला; आत्मा; प्रथमानुयोगके सूत्रका नाम ।

ज्ञान-जिसके द्वारा पदार्थ जाने जायें । आत्माका गुण । ज्ञान आत्माका धर्म है ।

ज्ञानधारा-ज्ञानका प्रवाह ।

ज्ञानवृद्ध-जो ज्ञानमें विशेष है ।

ज्ञानाक्षेपकवंत-सम्यग्दृष्टि आत्मा; ज्ञानप्रिय; विक्षेपरहित विचार-ज्ञानवाला । देखें आंक ३९५

ज्ञेय-जानने योग्य पदार्थ ।

त

तत्त्व-रहस्य; सार; सत्पदार्थ; वस्तु; परमार्थ; यथावस्थित वस्तु ।

तत्त्वज्ञान-तत्त्वसंबंधी ज्ञान ।

तत्त्वनिष्ठा-तत्त्वोंकी श्रद्धा ।

तत्पर-तैयार; उद्यत; सज्ज; एकध्यानरूप ।

तदाकार-उसीके आकारका; तन्मय; लीन ।

तद्रूप-किसी भी पदार्थमें लीनता ।

तनय-पुत्र ।

तप-इंद्रियदमन; तपस्या; इच्छाका निरोध; तपके अनशन आदि बारह भेद हैं ।

तम-अंधकार ।

तमतमप्रभा-सातवाँ नरक ।

तमतमा-गाढ अंधकार वाला सातवाँ नरक ।

तस्कर-चोर ।

तंतहारक-वादविवादको नाश करनेवाले ।

तादात्म्य-एकता; लीनता ।

तारतम्य-न्यूनाधिकता; एक दूसरेकी तुलनामें कमीबेशीका विचार ।

तिरोभाव-छिपाव; ढँकाव ।

तिर्यक्प्रचय-पदार्थके प्रदेशोंका संचय; बहुप्रदेशीपन ।

तीर्थ-धर्म; तिरनेका स्थान; शासन; साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकारूप संघसमुदाय; गंगा, जमुना आदि लौकिक तीर्थ है ।

तीर्थंकर-धर्मके उपदेष्टा; जिनके चार घनघातीकर्म नष्ट हुए हैं, तथा तीर्थंकर नामकर्मकी प्रकृतिका जिन्हें उदय है । धर्मतीर्थके स्थापक ।

तीन मनोरथ-(१) आरंभ-परिग्रहका त्याग (२) पाँच महाव्रतोंका धारण, (३) मरणकालमें आलोचना-पूर्वक समाधिमरणकी प्राप्ति ।

तीन समकित-(१) उपशसमकित, (२) क्षायोपशमिक-समकित, (३) क्षायिक समकित; अथवा

(१) आप्तपुरुषके वचनकी प्रतीतिरूप, आज्ञाकी अपूर्व रुचिरूप, स्वच्छंदनिरोधपूर्व आप्तपुरुषकी भक्तिरूप, यह समकितका पहला प्रकार है ।

(२) परमार्थकी स्पष्ट अनुभवांशरूप प्रतीति यह समकितका दूसरा प्रकार है ।

(३) निर्विकल्प परमार्थ अनुभव यह समकितका तीसरा प्रकार है । (आंक ७५१)

तीव्रज्ञानदशा-सर्व विभावसे उदासीन और अत्यंत शुद्ध निजपर्यायका सहजरूपसे आश्रय । आंक ५७२

तीव्रमुमुक्षुता-प्रतिक्षण संसारसे छूटनेकी भावना; अनन्य प्रेमसे मोक्षके मार्गमें प्रतिक्षण प्रवृत्ति करना । (देखें आंक २५४)

तुच्छसंसारी-अल्पसंसारी ।

तुष्टमान-प्रसन्न; राजी; खुश ।

त्रस-हलन-चलन करनेवाले जीव; दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवोंको त्रस कहते हैं ।

त्रिदंड-मनदंड, वचनदंड, कायदंड ।

त्रिपद-उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य; या ज्ञान, दर्शन, चारित्र ।

त्रिराशि-मुक्तजीव, त्रसजीव और स्थावरजीव; या जीव, अजीव और दोनोंके संयोगरूप अवस्था ।

त्रेसठशलाकापुरुष-२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव, ९ बलभद्र, इस प्रकार ६३ उत्तम पुरुष माने गये हैं ।

द

दम-इन्द्रियोंको वश करना ।

दश अपवाद-इन दश अपवादोंको आश्चर्य भी कहते हैं । (१) तीर्थंकर पर उपसर्ग, (२) तीर्थंकरका गर्भहरण, (३) स्त्री-तीर्थंकर, (४) अभावित परिषद्, (५) कृष्णका अपरकंका नगरीमें जाना, (६) चंद्र तथा सूर्यका विमानसहित भगवान महावीरकी परिषद्में आना, (७) हरिवर्षके मनुष्यसे हरिवंशकी उत्पत्ति, (८) चमरोत्पात, (९) एक समयमें १०८ सिद्ध, (१०) असंयतिपूजा; ये दश अपवाद है । (ठाणांगसूत्र)

दश बोल विच्छेद-श्री जम्बूस्वामीके निर्वाणके बाद इस दश वस्तुओंका विच्छेद हुआ-(१) मनःपर्यव-ज्ञान, (२) परमावधिज्ञान, (३) पुलाकलब्धि (४) आहारक शरीर, (५) क्षपकश्रेणी, (६) उपशम-श्रेणी, (७) जिनकल्प, (८) तीन संयम-परिहार-विशुद्धि संयम, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यातचारित्र, (९) केवलज्ञान, (१०) मोक्षगमन

(प्रवचनसारोद्धार) ।

दशविधि यतिधर्म-उत्तम क्षमादि दशलक्षणरूप धर्म ।

दशविधि वैयावृत्य-आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी आदि दस प्रकारके मुनियोंकी सेवा करना यह दस प्रकारका वैयावृत्य तप हैं । (देखें मोक्षशास्त्र अ० ९, सूत्र २४)

दर्शन-जगतके किसी भी पदार्थका रसगंधादि भेदरहित

निराकाररूपसे प्रतिबिम्बित होना, उसका अस्तित्व ज्ञात होना, निर्विकल्परूपसे 'कुछ है' ऐसा दर्पणकी झलककी भाँति पदार्थका भास होना, यह दर्शन है; विकल्प होनेपर 'ज्ञान' होता है।

दर्शनपरिषह-परमार्थ प्राप्त होनेके विषयमें किसी भी प्रकारकी आकुलता-व्याकुलता। (आंक ३३०,५३७)

दर्शनमोहनीय-जिसके उदयसे जीवको निजस्वरूपका भान न हो, तत्त्वरुचि न हो।

दिङ्मूढ-अज्ञानी; दिशा भूला हुआ।

दीर्घशंका-शौचादि क्रिया।

दुरंत-जिसका पार पाना कठिन है, तथा जिसका परिणाम खराब है।

दुरिच्छा-खोटी इच्छा।

दुर्धर-कठिनतासे धारण करनेयोग्य; प्रबल; प्रचंड।

दुर्लभ-कठिनतासे प्राप्त होने योग्य।

दुर्लभबोधी-सम्यग्दर्शन आदिकी प्राप्तिकी दुर्लभता।

दुषमकाल (कलियुग)-पंचमकाल। वर्तमानमें पंचमकाल चल रहा है, अन्य दर्शनकारोंने इसे ही कलियुग कहा है। जिनागममें इस कालकी 'दुषम' संज्ञा कही है। (आंक ४२२)

दृष्टिराग-धर्मका ध्येय भूलकर व्यक्तिगत राग करना।

देखतभूली-दर्शनमोह; देहाध्यास; पदार्थको देखते ही उस पर रागादि भाव करना। (आंक ६४१)

देश-अंशसे; जैसे देशचारित्रका अर्थ आंशिक चारित्र।

देह-अवगाहना-देह जितने क्षेत्रको घेरे वह; देहप्रमाण क्षेत्र।

दोगुंदकदेव-अत्यधिक क्रीडा करनेवाले देव; तीव्र विषयाभिलाषी देव।

दोरंगी-दो रंगवाला; चंचल।

द्रव्य-गुण पर्यायके समूहको द्रव्य कहते हैं।

द्रव्यकर्म-ज्ञानावरणादिरूप कर्मपरमाणुओंको द्रव्यकर्म कहते हैं। वे मुख्यरूपसे आठ हैं।

द्रव्यमोक्ष-आठ कर्मोंसे सर्वथा छूट जाना।

द्रव्यलिंग-सम्यग्दर्शनरहित मात्र बाह्य साधुवेश।

द्रव्यानुयोग-जिन शास्त्रोंमें मुख्यरूपसे जीवादि छह द्रव्य और सात तत्त्वोंका कथन हो। (देखें व्याख्यानसार १-१७३)

द्रव्यार्थिकनय-जो वचन वस्तुकी मूलस्थितिको कहे; शुद्ध स्वरूपको कहनेवाला; द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिकनय।

ध

धर्म-जो प्राणियोंको संसारके दुःखोंसे छुड़ाकर उत्तम आत्मसुख दे। (रत्नकरण्डश्रावकाचार)

धर्मकथानुयोग-जिन शास्त्रोंमें तीर्थंकरादि महापुरुषोंके जीवनचरित्र हो। (व्याख्यानसार १-१७३)

धर्मद-धर्म देनेवाला।

धर्मध्यान-धर्ममें चित्तकी लीनता। यह धर्मध्यान चार प्रकारसे है-आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय। (विशेषके लिये देखें मोक्षमाला पाठ ७४, ७५, ७६)

धर्मास्तिकाय-एक द्रव्य; जो गतिपरिणत जीव तथा पुद्गलोंको गमन करनेमें सहायभूत हो, जैसे पानी मछलियोंको चलनेमें सहायक है। जीव तथा पुद्गलको गति करनेमें उदासीन सहायक। (द्रव्यसंग्रह)

धुवेइ वा-(ध्रौव्य) वस्तुमें किसी प्रकारसे परिणमन होते हुए भी वस्तुका जो मूल स्वरूप कायम रहता है वह। (मोक्षमाला)

न

नपुंसकवेद-जिस कषायके उदयसे स्त्री तथा पुरुष दोनोंमें रमण करनेकी इच्छा हो।

नमस्कारमंत्र-नवकार मंत्र।

नय-वस्तुके एक अंशको ग्रहण करनेवाले ज्ञानको नय कहते हैं। जैन शास्त्रोंमें मुख्यरूपसे दो नयोंका वर्णन हैं; द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय। इन दो नयोंमें ही सब नयोंका समावेश हो जाता है।

नरकगति-जिस गतिमें जीवोंको अत्यंत दुःख है। ऐसे नरक सात हैं-रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा और महतमप्रभा (तमतमप्रभा)। (देखें-तत्त्वार्थसूत्र)

नरगति-मनुष्यगति।

नव अनुदिश-दिगम्बर जैनशास्त्रोंमें ऊर्ध्वलोकमें नव ग्रैवेयकके ऊपर नौ विमान और माने हैं जिन्हें नव अनुदिश कहते हैं। इनमें सम्यग्दृष्टि जीव ही जन्म लेते हैं, तथा वहाँसे निकलकर जीव उत्कृष्ट दो भव धारण करके मोक्ष जाते हैं।

नवकारमंत्र-जैनोंका अत्यंत मान्य महामंत्र- "नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं।" (मोक्षमाला शिक्षापाठ ३५)

नवकेवललब्धि-चार घनघाती कर्मोंके क्षय होनेसे केवली भगवानको नौ विशेष गुण प्रगट होते हैं- अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक-चारित्र, अनंतदान, अनंतलाभ, अनंतभोग, अनंत-उपभोग, अनंतवीर्य। (देखें सर्वार्थसिद्धि अ० २)

नवग्रैवेयक-स्वर्गोंके ऊपर नवग्रैवेयकोंकी रचना है, वहाँ सभी अहमिन्द्र होते हैं। उन विमानोंके नाम इस प्रकार हैं-सुदर्शन, अमोघ, सुप्रबुद्ध, यशोधर, सुभद्र, सुविशाल, सुमनस, सौमनस, प्रीतिकर। (त्रिलोकसार)

नवतत्त्व-जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप (मोक्षमाला पाठ ९३)

नवनिधि-चक्रवर्ती नवनिधिके स्वामी होते हैं। उन नवनिधियोंके नाम इस प्रकार हैं-कालनिधि, महाकालनिधि, पांडुनिधि, माणवकनिधि, शंखनिधि, नैसर्पनिधि, पद्मनिधि, पिंगलनिधि और रत्ननिधि।

नव नोकषाय-अल्प कषायको अथवा कषायके कारणोंको नोकषाय कहते हैं। उसके नौ भेद इस प्रकार है-हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद।

नवपद-अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा तप।

नाभिनंदन-नाभिराजाके पुत्र, भगवान ऋषभदेव।

नारायण-परमात्मा, श्रीकृष्ण।

नास्ति-अभाव।

नास्तिक-आत्मा आदि पदार्थोंको नहीं माननेवाला।

निकाचित कर्म-जिन कर्मोंमें संक्रमण, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण आदि द्वारा परिवर्तन न हो, किन्तु निश्चित समयपर ही उदयमें आकर फल दें।

निगोद-एक शरीरमें अनंतजीव हो ऐसी अनंतकाय।

निज छंद-अपनी इच्छानुसार चलना।

निदान-धर्मकार्यके फलमें आगामी भवमें सांसारिक सुखकी अभिलाषा करना; कारण।

निदिध्यासन-अखंड चिंतन।

निबंधन-बंधन; बाँधा हुआ।

नियति-नियम; भाग्य; होनी; जो अवश्य होकर रहे।

निरंजन-कर्म-कालिमारहित।

निरुपक्रम आयुष्य-जो आयु बीचमें टूटे नहीं; निकाचित आयु।

निर्ग्रंथ-साधु; जिसकी मोहकी गाँठ टूटी है।

निर्ग्रंथिनी-साध्वी।

निर्जरा-आत्मासे कर्मका आंशिकरूपमें क्षय होना।

निर्युक्ति-शब्दके साथ अर्थको जोड़नेवाली; टीका।

निर्वाण-आत्माकी शुद्ध अवस्था; मोक्ष।

निर्विकल्प-निराकार दर्शनोपयोग; उपयोगकी स्थिरता; विकल्पोंका अभाव।

निर्विचिकित्सा-सम्यग्दर्शनका तीसरा अंग; महात्माओंके मलिन शरीरको देखकर ग्लानि न करना।

निर्वेद-संसारसे वैराग्य होना।

निर्वेदनी कथा-जिस कथामें वैराग्यकी प्रधानता हो।

निश्चयनय-शुद्ध वस्तुका प्रतिपादन करनेवाला ज्ञान।

निहार-मल-त्याग; शौचक्रिया।

निःश्रेयस-मोक्ष; दुःखका अभाव।

नेकी-भलाई; उपकार; ईमानदारी।

नेपथ्य-पर्देके पीछेका स्थान; अंतर।

नैष्ठिक-निष्ठावान; श्रद्धावान; दृढ।

नौतम-नवीन (नवतम)

प

पतंग-एक प्रकारका वृक्ष, जिसकी लकडीमेंसे लाल कच्चा रंग निकलता है, कागजकी पतंग।

पतित-पापी, अधोदशावाला।

पदस्थ-ध्यानका एक भेद, जिसमें अरिहंतादि परमेष्ठियोंका चिंतन किया जाता है।

पद्मवन-कमलवन।

पद्मासन-एक प्रकारका आसन।

परधर्म-अन्य मत। पुद्गलादि द्रव्योंका धर्म आत्माके लिये परधर्म है।

परभाव-परद्रव्यका भाव।

परमधाम-उत्तम स्थान, अतिशय तेज।

परमपद-मोक्ष; शुद्ध आत्मस्वभाव।

परम सत्-आत्मा; परमज्ञान; सर्वात्मा। (आंक २०९)

परम सत्संग-अपनेसे ऊँची दशावाले महात्माओंका समागम।

परमाणु-पुद्गलका छोटेसे छोटा भाग।

परमार्थ सम्यक्त्व-जिस पदार्थको तीर्थंकरने 'आत्मा' कहा है, उसी पदार्थकी उसी स्वरूपसे प्रतीति हो, और उसी परिणामसे आत्मा साक्षात् भासित हो। (आंक ४३१)

परमार्थ संयम-निश्चयसंयम; स्वस्वरूपमें स्थिति। (आंक ६६४)

परमावगाढ सम्यक्त्व-केवलज्ञानीका सम्यक्त्व परमावगाढ सम्यक्त्व है।

परसमय-अन्य दर्शन; समय अर्थात् आत्मा, उसे भूलकर दूसरे पदार्थोंमें वृत्तिका जाना या लीन होना।

पराभक्ति-उत्तम भक्ति; ज्ञानीपुरुषके सर्व चरित्रमें ऐक्यभावका लक्ष होनेसे उसके हृदयमें विराजमान परमात्माका ऐक्यभाव। (आंक २२३)

परिग्रह-वस्तुपर ममता; मूर्च्छाभाव।

परिवर्तन-घुमाव; फेरा, हेरफेर, रूपान्तर।

पर्यटन-परिभ्रमण।

पर्याय-पदार्थकी बदलती हुई अवस्था। प्रत्येक वस्तु पर्यायवाली है, उसमें परिणमन होता ही रहता है।

पर्यायवृद्धता-उमरमें बडाई; दीक्षामें बड़ा।

पर्यायालोचन-एक वस्तुको दूसरी तरहसे विचारना।

पर्युषण-जैनोंका एक महान पर्व।

पल-२४ सैकंड प्रमाण समय; ६० विपल।

पंथ-सम्प्रदाय, मत, मार्ग।

पंद्रह भेदसे सिद्ध-तीर्थ, अतीर्थ, तीर्थंकर, अतीर्थंकर, स्वयंबुद्ध, प्रत्येकबुद्ध, बुद्धबोधित, स्त्रीलिंग, पुरुषलिंग, नपुंसकलिंग, अन्यलिंग, जैनलिंग, गृहस्थलिंग, एक, अनेक। (व्याख्यानसार २-५)

पादप-वृक्ष।

पादाम्बुज-चरणकमल।

पापी जल-अयोग्य जल; जिस पानीको पीनेसे पाप हो।

पार्थिवपाक-सत्तासे उत्पन्न।

पार्श्वनाथ-तेईसवें तीर्थंकर।

पिशुन-चुगलखोर; इधरकी उधर लगानेवाला।

पुण्यानुबंधी पुण्य-जो पुण्योदय आगे-आगे पुण्यका कारण होता जाय।

पुद्गल-वह अचेतन पदार्थ, जिसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श हो।

पुरंदर-इंद्र।

पुरंदरी चाप-इंद्रधनुष।

पुराणपुरुष-परमात्मा; सनातन पुरुष। आत्मा ही सनातन है।

पुरुषवेद-जिस कषायके उदयसे जीवको स्त्रीसंभोगकी इच्छा हो।

पुलाकलब्धि-जिस लब्धिके बलसे जीव चक्रवर्तीके सैन्यका भी नाश कर सके।

पूर्णकामता-कृतकृत्यता।

पूर्व पश्चात्-आगे-पीछे।

पूर्वानुपूर्व-पूर्व-क्रमानुसार; पहले प्राप्त हुई वस्तु।

पूर्वापर अविरोध-आगे-पीछे जिसमें विरोध न हो।

प्रकृतिबंध-मोहादिजनक तथा ज्ञानादि घातक स्वभाववाले कार्मण पुद्गलस्कंधोंको आत्मासे संबंध होनेको प्रकृतिबंध कहते है। (जैनसिद्धांत प्रवेशिका)

प्रज्ञा-बुद्धि।

प्रज्ञापना-प्ररूपणा; निरूपण।

प्रज्ञापनीयता-जताने योग्य वर्णन।

प्रतिक्रमण-हुए दोषोंका पश्चात्तापकर पीछे हटना।

प्रतिपल-प्रतिक्षण, हर समय।

प्रतिबंध-परवस्तुओंमें मोह, रुकावट, विघ्न, बाधा।

प्रतिश्रोती-स्वीकारनेवाला।

प्रत्याख्यान-वस्तुका त्याग करना। (विशेष देखें मोक्षमाला शिक्षापाठ ३१)

प्रत्येकबुद्ध-किसी वस्तुका निमित्त पाकर जिसे स्वतः बोध हुआ हो, जैसे–करकंडु आदि पुरुष।

प्रत्येक शरीर-हरेक जीवका अलग-अलग शरीर।

प्रभुत्व-स्वामीपन, बड़ाई, महत्व।

प्रदेश-आकाशके जितने भागको एक अविभागी पुद्गल-परमाणु रोकता है उसे प्रदेश कहते हैं। उसमें अनेक परमाणुओंको स्थान देनेका सामर्थ्य होता है।

प्रदेशबंध-बँधनेवाले कर्मोंकी संख्याके निर्णयको प्रदेशबंध कहते हैं, अर्थात् आत्माके साथ कितने कर्मपरमाणु बँधे हैं इसका निर्णय।

प्रदेशसंहारविसर्प-शरीरके कारण आत्माके प्रदेशोंका संकुचित होना और फैलना।

प्रदेशोदय-कर्मोंका प्रदशोंमें उदय होना, रस दिये बिना ही खिर जाना।

प्रमाण-सम्यग्ज्ञान; वस्तुको संपूर्णरूपसे ग्रहण करनेवाला ज्ञान।

प्रमाणाबाधित-प्रमाणसे विचारते हुए जिसमें विरोध न आये।

प्रमाद-धर्मका अनादर, उन्माद, आलस्य और कषाय ये सब प्रमादके लक्षण हैं। (मोक्षमाला-५०)

प्रमोद-अंशमात्र भी किसीका गुण देखकर उल्लासपूर्वक रोमांचित होना। (आंक ६२)

ब

बारह अंग-आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, भगवती(व्याख्याप्रज्ञप्ति), ज्ञाताधर्मकथांग, उपासकदशांग, अन्तकृत्दशांग, अनुत्तरौपपातिक, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद।

बारह गुण-अरिहंत भगवानके ये बारह गुण हैं-(१) वचनातिशय, (२) ज्ञानातिशय, (३) अपायापगमातिशय, (४) पूजातिशय, (५) अशोकवृक्ष, (६) कुसुमवृष्टि, (७) दिव्यध्वनि, (८) चामर, (९) आसन, (१०) भामंडल, (११) भेरी, (१२) छत्र । इनमें चार अतिशय और आठ प्रातिहार्य कहे जाते हैं ।

बारह तप-अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिसंक्षेप, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ।

बारह व्रत-श्रावकके बारह व्रत ये हैं-अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणाणुव्रत ये पाँच अणुव्रत कहे जाते हैं । दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदंडव्रत ये तीन गुणव्रत है । सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग, ये चार शिक्षाव्रत है ।

बालजीव-अज्ञानी आत्मा ।

बाह्यपरिग्रह-बाहरके वे पदार्थ जिनमें जीव मोह करता है, इसके दस भेद हैं-क्षेत्र, घर, चाँदी, सोना, धन (गाय भैंस आदि पशु), धान्य, दासी, दास, कपड़े और बर्तन ।

बाह्यभाव-लौकिकभाव; संसारभाव ।

बीजज्ञान-सम्यग्दर्शन ।

बीजरुचि सम्यक्त्व-परमार्थसम्यक्त्ववान पुरुषमें निष्काम श्रद्धा । (आंक ४३१)

बोधबीज-सम्यग्दर्शन ।

ब्रह्मचर्य-आत्मामें रमणता; स्त्रीमात्रका त्याग ।

ब्रह्मरस-आत्म-अनुभव ।

ब्रह्मविद्या-आत्मज्ञान ।

ब्रह्मांड-संपूर्ण विश्व ।

ब्राह्मीवेदना-आत्मासंबंधी वेदना; आंतरिक पीडा ।

भ

भक्ति-वीतरागी पुरुषोंके गुणोंमें लीनता । उनके गुण गाना, स्तुति करना आदि क्रिया रूप भक्ति है ।

भद्रभरण-सज्जन पुरुषोंको पोषण देनेवाले ।

भद्रिकता-सरलता, उत्तमता ।

भय-एक मनोविकार जो आपत्ति या अनिष्टकी आशंकासे मनसे उत्पन्न होता है; डर ।

भयभंजन-भयको टालनेवाले ।

भयसंज्ञा-जिस प्रकृतिसे जीवको भय लगा करता है ।

भरत-भगवान ऋषभदेवके पुत्र, प्रथम चक्रवर्ती ।

भर्तृहरि-एक महान योगी हो गये हैं ।

भवनपति-एक प्रकारके देव । भवनोंमें रहते हैं इसलिये भवनवासी भी कहे जाते हैं ।

भवभ्रमण-संसारमें परिभ्रमण ।

भवस्थिति-संसारमें रहनेकी मर्यादा ।

भवितव्यता-प्रारब्ध; भाग्य; होनहार ।

भव्य-मोक्ष पानेकी योग्यतावाला ।

भामिनी-स्त्री ।

भाव-परिणाम, गुण, पदार्थ, अभिप्राय ।

भाव आस्रव-आत्माके जिन भावोंसे कर्मोंका आगमन हो ऐसे रागद्वेषादि परिणाम ।

भावनय-जो नय भावको ग्रहण करे ।

भावनिद्रा-मिथ्यात्व; रागद्वेषादि परिणाम ।

भावशून्य-भावरहित, बिना भावके ।

भावश्रुत-श्रवणके द्वारा जिस ज्ञानकी उत्पत्ति हो ।

भावसमाधि-आत्माकी स्वस्थता ।

भाष्य-विस्तारवाली टीका, किसी गूढ़ विषयका विस्तृत विवेचन ।

भिन्नभाव-भिन्नता; अलगाव; भेद ।

भेदज्ञान-जड चेतनका ज्ञान; स्वपर-विवेक ।

भूरसी दक्षिणा-रिश्वत; निश्चित राशिकी दक्षिणा ।

भ्रांति-मिथ्याज्ञान; असदारोप; भ्रम; संशय ।

म

मतार्थी-"नहि कषाय उपशांतता, नहि अंतर वैराग्य ।
सरळपणुं न मध्यस्थता ए मतार्थी दुर्भाग्य ॥"
(देखें आत्मसिद्धि दोहा ३२ ।)

मतिज्ञान-इन्द्रिय तथा मनके निमित्तसे जो ज्ञान हो ।

मध्यमा वाचा-मध्यम वाणी; बहुत जोरसे भी नहीं और बहुत धीरेसे भी नहीं ऐसी वाणी ।

मध्यस्थता-उदासीनता, तटस्थता, रागद्वेष-रहितता ।

मनन-विचार ।

मनःपर्यायज्ञान-जो द्रव्य क्षेत्र काल भावकी मर्यादासहित दूसरेके मनमें स्थित विकारी भावको स्पष्ट जाने ।

महा आरंभ-अतिशय आरंभ; अर्थात् अत्यंत हिंसक व्यापारादि कार्य ।

महाप्रतिमा-अभिग्रहविशेष ।

महामिथ्यात्व-गाढ विपरीतता, अत्यंत अज्ञान कि जिसके उदयमें सदुपदेश भी जीवको न रूचे ।

महाविदेह-क्षेत्रविशेष, जहाँसे जीव सदैव मोक्षको पा सकता है ।

महाव्रत-जिन व्रतोंको साधु स्वीकारते हैं ।

मंत्र-गुप्त रहस्यपूर्ण बात; वे अक्षर, शब्द या वाक्य, जिनका इष्टसिद्धिके लिये जाप किया जाता है; देवता अधिष्ठित अक्षरविशेष; मंत्रमूलं गुरुवाक्यं अर्थात् गुरुका दिया हुआ कोई भी शब्द मंत्र है।

माया-भ्रांति, कपट।

मायिकसुख-संसारका कल्पित सुख।

मार्गानुसारी-'आत्मज्ञानी पुरुषकी निष्काम भक्ति निराबाधरूपसे प्राप्त हो ऐसे गुण जिस जीवमें हों वह जीव मार्गानुसारी है ऐसा श्री जिन कहते हैं।' (आंक ४३१)

मिताहारी-थोडा परिमित भोजन करनेवाला।

मिथ्यादृष्टि-आत्मभानसे रहित।

मिथ्यावासना-खोटे धर्मको सच्चा मानना, धर्मके नामपर सांसारिक इच्छाओंका पोषण (आंक १९९)

मिश्रगुणस्थान-सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे जीवके न तो केवल सम्यक्त्व-परिणाम होते हैं और न केवल मिथ्यात्वरूप परिणाम होते हैं ऐसी भूमिकाका नाम मिश्रगुणस्थान हैं।

मुक्तिशिला-सिद्धस्थानके नीचे रही हुई ४५ लाख योजनप्रमाण सिद्धशिला।

मुनि-जिसे अवधि, मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान हो।

मुमुक्षु-मोक्षकी इच्छावाला; संसारसे छूटनेकी अभिलाषावाला।

मुमुक्षुता-सर्व प्रकारकी मोहासक्तिसे अकुलाकर एक मोक्षका ही यत्न करना। (आंक २५४)

मुहपत्ती-मुँहके आगे रखनेका कपडेका टुकडा।

मूर्च्छा भाव-मुँहके आगे रखनेका कपडेका टुकड़ा।

मूर्च्छा भाव-परपदार्थके प्रति आसक्ति।

मूढदृष्टि-अज्ञानभाव, सद्असद्के विवेकरहित मान्यता।

मृषा-असत्य, झूठ।

मेधावी-बुद्धिमान, तीव्र प्रज्ञावंत।

मेषोन्मेष-आँखका खुलना-मिचना।

मैत्री-सर्व जगतसे निर्वैरबुद्धि (आंक ५७)

मोक्ष-सर्वकर्मरहित आत्माकी शुद्ध अवस्था। आत्मासे कर्मोंका सर्वथा छूट जाना।

मोक्षमार्ग-सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकता यह मोक्षमार्ग है। 'सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।' (तत्वार्थसूत्र)

मोक्षसुख-अलौकिक सुख, अकथ्य आत्मानंद। (देखें मोक्षमाला, शिक्षापाठ ७३)

मोह-जो आत्माको पागल बना दे, स्व व परका भान भुला दे, परपदार्थमें एकत्वबुद्धि करा दे।

मोहनीयकर्म-आठ कर्मोंमेंसे एक कर्म, जिसे कर्मोंका राजा कहते हैं। इसके प्रभावसे जीव स्वरूपको भूलता है।

मोहमयी-बंबई।

य

यति-ध्यानमें स्थिर होकर श्रेणी चढ़नेवाला।

यत्ना-किसी भी जीवकी हिंसा न हो वैसे प्रवृत्ति करना। (देखें मोक्षमाला शिक्षापाठ २७)

यथार्थ-वास्तविक।

यशनामकर्म-जिस कर्मके उदयसे यश फैले।

याचकता-माँगनेका भाव।

यावज्जीवन-जब तक जीवन रहे तब तक; आजीवन।

युगलिया-भोगभूमिके जीव।

योग-मन वचन कायाके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंका चंचल होना, मोक्षके साथ आत्माका जुड़ना; मोक्षके कारणोंकी प्राप्ति; ध्यान।

योगक्षेम-जो वस्तु न हो उसकी प्राप्ति और जो हो उसका रक्षण; कुशलमंगल।

योगदशा-ध्यानदशा।

योगदृष्टिसमुच्चय-योगका एक ग्रंथ।

योगबिंदु-श्रीहरिभद्राचार्यका योगसंबंधी ग्रंथ।

योगवासिष्ठ-वैराग्यपोषक एक वेदांतका ग्रंथ।

योगस्फुरित-ध्यानदशासे प्रगटित।

योगानुयोग-योग आ मिलनेसे; संयोगवशात्।

योगींद्र-योगियोमें उत्तम।

योनि-उत्पत्तिस्थान।

र

रहनेमी-भगवान नेमिनाथका भाई।

राजसीवृत्ति-रजोगुणवाली वृत्ति; खाना-पीना और मजा करना; पुद्गलानंदी भाव।

राजेमती-भगवान नेमिनाथकी मुख्य शिष्या।

रुचकप्रदेश-मेरुके मध्यभागमें आठ रूचकप्रदेश माने गये हैं कि जहाँसे दिशाओंका प्रारंभ होता है। आत्माके भी आठ रूचकप्रदेश हैं, जिन्हें अबंध कहा गया है। (विशेषके लिये देखें आंक १३९)

रूपी-जिसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श हो उसे रूपी पदार्थ कहते हैं।

रौद्र-विकराल, भयानक।

रौद्रध्यान-दुष्ट अभिप्रायवाला ध्यान । इसके चार भेद है-हिंसानंदी, मृषानंदी, चौर्यानंदी और विषय-संरक्षणानंदी, अर्थात् हिंसा, असत्य, चोरी और परिग्रहमें आनंद मानना । यह ध्यान नरकगतिका कारण है ।

ल

लब्धि-वीर्यांतराय कर्मके क्षय या क्षयोपशमसे प्राप्त होनेवाली शक्ति; आत्माके चैतन्यगुणकी क्षयोपशमहेतुक प्रगटता । श्रुतज्ञानके आवरणका क्षयोपशम प्राप्त होना ।

लब्धिवाक्य-अक्षर कम होते हुए भी जिस वाक्यमें बहुत अर्थ समाया हुआ है; चमत्कारी वाक्य ।

लावण्य-अत्यंत सुंदरता ।

लिंगदेहजन्यज्ञान-दश इंद्रिय, पाँच विषय और मनरूप जीवके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न हुआ ज्ञान; अमुक चिह्न या साधनके निमित्तसे उत्पन्न ज्ञान ।

लेश्या-कषायसे अनुरंजित योगोंकी प्रवृत्ति । जीवके कृष्ण आदि द्रव्यकी तरह भासमान परिणाम (आंक ७५२)

लोक-सर्व द्रव्योंको आधार देनेवाला ।

लोकभावना-चौदहराजूप्रमाण लोकस्वरूपका चिंतन ।

लोकसंज्ञा-शुद्धका अन्वेषण करनेसे तीर्थका उच्छेद होना संभव है, ऐसा कहकर लोक प्रवृत्तिमें आदर तथा श्रद्धा रखते हुए वैसा प्रवर्तन किये जाना, यह लोकसंज्ञा है । (अध्यात्मसार)

लोकस्थिति-लोकरचना ।

लोकाग्र-सिद्धालय ।

लौकिक अभिनिवेश-द्रव्यादि लोभ, तृष्णा, दैहिक मान, कुल, जाति आदि संबंधी मोह (आंक ६७७)

लौकिकदृष्टि-संसारवासी जीवों जैसी दृष्टि । इस लोक अथवा संसारमें संबंधित दृष्टि ।

व

वक्रता-टेढ़ापन, असरलता ।

वनिता-स्त्री ।

वर्गणा-समान अविभाग प्रतिच्छेदोंके धारक कर्म परमाणुके समूहको वर्ग कहते हैं और ऐसे वर्गोंके समूहको वर्गणा कहते हैं । (जैनसिद्धांत-प्रवेशिका)

वंचनाबुद्धि-सत्संग, सद्गुरु आदिमें सच्चे आत्म-भावसे माहात्म्यबुद्धि होनी चाहिये सो नहीं होना, और अपने आत्मामें अज्ञानता ही निरंतर चली आई है इसलिये उसकी अल्पज्ञता, लघुता विचारकर अमाहात्म्यबुद्धि करनी चाहिये सो नहीं करना । ठगनेकी बुद्धि । विशेषके लिये देखें आंक ५२६ ।

वाचाज्ञान-कहनेमात्र ज्ञान, परंतु आत्मामें जिसका परिणमन नहीं हुआ है ।

"सकल जगत ते एठवत् अथवा स्वप्न समान;
ते कहिये ज्ञानीदशा, बाकी वाचाज्ञान"
—आत्मसिद्धि दोहा १४०

वारांगना-वेश्या ।

वाल्मीकि-आदि कवि और रामायणके रचयिता ।

वासना-मिथ्या विचार या इच्छा; संस्कार ।

विकथा-खोटी कथा, संसारकी कथा । इसके चार भेद हैं-स्त्रीकथा, भोजनकथा, देशकथा, राजकथा ।

विगमे वा-व्यय, अर्थात् नाश होना; विघ्नता । (मोक्षमाला शिक्षापाठ ८७, ८८, ८९, ९०)

विचारदशा-'विचारवानके चित्तमें संसार कारागृह है, समस्त लोक दुःखसे आर्त्त है, भयाकुल है, रागद्वेषके प्राप्त फलसे जलता है ।' ऐसे विचार जिस दशामें उत्पन्न हों वह विचारदशा । (आंक ५३७)

विच्छेद-बीचसे क्रम टूटना; नाश; वियोग ।

वितिगिच्छा-जुगुप्सा; ग्लानि; संदेह ।

विदेही दशा-देहके होते हुए भी जो अपने शुद्ध आत्मस्वरूपसे रहता है ऐसे पुरुषकी दशा वह विदेहीदशा । जैसे श्रीमद् राजचंद्र स्वयं विदेहीदशा-वाले थे ।

विपरिणाम-परिवर्तन, रूपांतर, विपरीत परिणाम ।

विपर्यास-विपरीत; मिथ्या ।

विभंगज्ञान-मिथ्यात्वसहित, अवधिज्ञान, कुअवधिज्ञान ।

विभाव-रागद्वेषादि भाव; विशेष भाव; आत्मा स्वभावकी अपेक्षा आगे जाकर 'विशेषभाव' से परिणमे वह विभाव । (व्याख्यानसार १-२०५)

विमति-विशेषबुद्धि, मिथ्या बुद्धि ।

विरोधाभास-दो बातोंमें दीख पड़नेवाला विरोध; मात्र विरोधका आभास ।

विवेक-सत्यासत्यको उनके स्वरूपसे समझनेका नाम विवेक है । (मोक्षमाला, शिक्षापाठ ५१)

विषयमूर्च्छा-पाँच इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्ति ।

विसर्जन-परित्याग, छोड़ना ।

विस्रसापरिणाम-सहज परिणाम ।

वीतराग-जिसने सांसारिक वस्तुओं तथा सुखोंके प्रति राग अथवा आसक्ति बिलकुल छोड़ दी है । सर्वज्ञ, केवली भगवान ।

वीर-भ० महावीर, बलवान ।

वीर्य-शक्ति, बल, पराक्रम, सामर्थ्य ।

वीर्यांतरायकर्म-आत्मशक्तिमें बाधक कर्मका प्रकार ।

वृंद-समूह ।

वृत्ति-परिणति, परिणाम, स्वभाव, प्रकृति ।

वेद-नोकषायके उदयसे उत्पन्न हुई जीवकी मैथुन करनेकी अभिलाषाको भाववेद कहते हैं और नामकर्मके उदयसे आविर्भूत देहके चिह्नविशेषको द्रव्यवेद कहते हैं । इस वेदके तीन भेद हैं, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद । (जैन-सिद्धांतप्रवेशिका)

वेदनीयकर्म-जिस कर्मके उदयसे जीव साता या असाता भोगे, सुखदुःखकी सामग्री प्राप्त करें ।

वेदांत-वेदोंके अंतिम भाग (उपनिषद् तथा आरण्यक आदि) जिसमें आत्मा, ईश्वर, जगत आदिका विवेचन है; छह दर्शनोंमेंसे एक, जिसका उत्तरमीमांसामें समावेश है । (विशेष देखें आंक ७११)

वैराग्य-गृहकुटुंबादि भावमें अनासक्तबुद्धि होना । (आंक ५०६)

व्यतिरेक-साध्यके अभावमें साधनका अभाव, जैसे अग्निके अभावमें धूमका अभाव; भेद, भिन्नता ।

व्यवच्छेद-नाश, पृथकता, विभाग, खण्ड ।

व्यवहार-सामान्य बरताव ।

व्यवहार आग्रह-बाह्य वस्तु, बाह्य क्रियाका आग्रह । जैसे कि इतना तो अवश्य करना चाहिये ।

व्यवहारनय-जो अभेद वस्तुको भेदरूपसे ग्रहण करे ।

व्यवहारशुद्धि-आचारशुद्धि; शुद्धआचरण; जो संसार प्रवृत्ति इस लोक और परलोकमें सुखका कारण हो उसका नाम व्यवहारशुद्धि है (आंक ४८)

व्यवहारसंयम-परमार्थसंयमके कारणभूत अन्य निमित्तोंके ग्रहण करनेको 'व्यवहारसंयम' कहा है । (आंक ६६४)

व्यसन-बुरी लत; खराब आदत । सामान्यरूपसे व्यसनके सात प्रकार हैं-जुआ, मांस, मदिरा, वेश्यागमन, शिकार, चोरी और परस्त्रीका सेवन । ये सातों व्यसन अवश्य त्यागने योग्य हैं । व्यसनका एक अर्थ 'दुःख' भी होता है क्योंकि ये सात व्यसन दुःखके ही कारण हैं ।

व्यंजनपर्याय-वस्तुके प्रदेशत्व गुणकी अवस्था (जैनसिद्धांतप्रवेशिका)

व्यास-महाभारत और पुराणोंके रचयिता ।

श

शतक-सौका समुदाय ।

शतावधान-एक साथ सौ बातोंपर ध्यान देना (शतावधानके प्रकारके लिये देखें पृ०१३६)

शर्वरी-रात्रि ।

शंकर-महादेव; सुख देनेवाला ।

शाल्मलीवृक्ष-नरकके एक वृक्षका नाम ।

शास्त्र-वीतरागी पुरुषोंके वचन । धर्मग्रंथ ।

शास्त्रकार-शास्त्र रचनार ।

शास्त्रावधान-शास्त्रमें चित्तकी एकाग्रता ।

शिक्षाबोध-न्यायनीतिका उपदेश; अच्छी शिक्षा ।

शिथिलकर्म-जो कर्म विचार आदिसे दूर किया जा सके ।

शुक्लध्यान-जीवोंके शुद्ध परिणामोंसे जो ध्यान होता है ।

शुद्धोपयोग-रागद्वेषरहित आत्माकी परिणति ।

शुभ उपयोग-मंदकषायरूप भाव । वीतराग-पुरुषोंकी भक्ति, जीवदया, दान, संयम आदि रूप भाव ।

शुभद्रव्य-जिस पदार्थके निमित्तसे आत्मामें अच्छे-प्रशस्तभाव हो ।

शुष्कज्ञानी-जिसे भेदज्ञान न हो, कथनमात्र अध्यात्मवादी; वाचाज्ञानी । (विशेषके लिये देखें आत्मसिद्धि दोहा ५, ६)

शैलेशीकरण-पर्वतोंमें बड़ा जो मेरु उसके समान निश्चल-अचल । (व्याख्यानसार)

श्रमण-साधु; मुनि ।

श्रमणोपासक-श्रावक; वीतरागमार्गका उपासक गृहस्थ ।

श्रावक-ज्ञानीके वचनोंको सुननेवाला । (विशेष देखें पृष्ठ ७४२ उपदेशछाया)

श्रुतज्ञान-मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थसे संबंधित किसी दूसरे पदार्थके ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं । जैसे-'घट' शब्द सुननेके अनन्तर उत्पन्न हुआ कंबुग्रीवादि-रूप घटका ज्ञान । (जैनसिद्धांत-प्रवेशिका)

श्रेणिक-भ० महावीरके समयमें मगधदेशका एक प्रतापशाली राजा, भ० महावीरका परम भक्त ।

श्रेणी-लोकके मध्यभागसे ऊपर, नीचे तथा तिर्यग्दिशामें क्रमसे रेखाबद्ध रचनावाले प्रदेशोंकी

पंक्ति; जहाँ चारित्रमोहनीयकी इक्कीस प्रकृतियोंका क्रमसे उपशम तथा क्षय किया जाय ऐसी आत्माकी उत्तरोत्तर वर्द्धमान होती हुई दशा।

श्रेयिक सुख-मोक्ष सुख।

श्वासोच्छ्वास-सांस लेना और छोड़ना।

ष

षट्पद-आत्मा है, वह नित्य है, कर्ता है, भोक्ता है, मोक्ष है और मोक्षका उपाय है। (आंक ४९३)

षट् सम्पत्ति-शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, और श्रद्धा ये वेदांतमें षट् संपत्ति मानी गई हैं।

षड्दर्शन-(१) बौद्ध, (२) नैयायिक, (३) सांख्य, (४) जैन, (५) मीमांसक, और (६) चार्वाक। (आंक७११)

षड्द्रव्य-जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये छः मूल पदार्थ।

स

सकाम-इच्छासहित।

सकामनिर्जरा-उदयकाल प्राप्त होनेसे पहले आत्माके पुरुषार्थ द्वारा जो कर्म आत्मासे अलग हो जाये वह सकामनिर्जरा है, इसे अविपाक निर्जरा भी कहते हैं।

सजीवनमूर्ति-देहधारी महात्मा।

सत्पुरुषार्थ-आत्माको कर्मबंधनसे मुक्त कर सके ऐसा प्रयत्न।

सत्मूर्ति-ज्ञानीपुरुष।

सत्संग-जो सत्यका रंग चढाये वह सत्संग है। (मोक्षमाला शिक्षापाठ २४); सन्मार्गमें अपनी जैसी योग्यता है, वैसी योग्यता रखनेवाले पुरुषोंका संग। (आंक २४९)

सनातन-शाश्वत, अत्यंत प्राचीन, अनादिकालसे चला आया हुआ।

सप्तदशविधि संयम-सत्रह प्रकारका संयम। हिंसादि पाँच पाप, स्पर्शनादि पाँच इन्द्रिय, चार कषाय तथा मन-वचन-कायरूप तीन दण्डका निग्रह।

समकित-सम्यग्दर्शन। (आंक ७१५ मूलमार्ग ७)

समदर्शिता-पदार्थमें इष्टानिष्ट-बुद्धिरहितता, इच्छा-रहितता और ममत्वरहितता। विशेष देखें पत्रांक ८३०। शत्रु, मित्र, हर्ष, शोक, नमस्कार, तिरस्कार आदि भावोंके प्रति समता। (आत्मसिद्धि दोहा १०)

समय-कालका सूक्ष्मतम विभाग।

समवायसंबंध-अभेद संबंध।

समश्रेणी-समभावकी चालू रहनेवाली परिणति।

समस्वभावी-समान स्वभाववाले।

समाधिमरण-सप्ताहपूर्वक देहत्याग।

समिति-सावधानीपूर्वक गमनादि क्रियाओंमें प्रवर्तन। (आंक ७६७ तथा व्याख्यानसार)

समुद्घात-मूल शरीरको छोड़े बिना आत्माके प्रदेशोंका बाहर निकलना। समुद्घातके सात भेद हैं-वेदना, कषाय, वैक्रियिक, मारणांतिक, तैजस, आहारक और केवलीसमुद्घात।

सरिता-नदी।

सलिल-पानी।

संज्वलन कषाय-यथाख्यात चारित्रको रोकनेवाला अधिकसे अधिक पंद्रह दिनकी स्थितिवाला कषाय।

संज्ञा-ज्ञानविशेष, कुछ भी आगे-पीछेकी चिंतन-शक्तिविशेष अथवा स्मृति। (आंक ७५२)

संयति-संयममें प्रयत्न करनेवाला।

संयम-इन्द्रियों तथा मनको वश रखकर पृथ्वी आदि छहकायके जीवोंकी रक्षा करना; आत्माकी अभेद चिंतना; सर्वभावसे विराम पानेरूप। (विशेष देखें आंक ६६४, ७६७, ८६६)

संयमश्रेणी-संयमके गुणकी श्रेणी।

संवत्सरी-वर्षसंबंधी, वार्षिक उत्सव।

संवर-आते हुए कर्मोंको रोकना, कर्मोंके आनेके द्वार बंध कर देना।

संवृत्त-संवरसहित, आस्रवका निरोध करनेवाला।

संवेग-वैराग्यभाव; मोक्षकी अभिलाषा; धर्म और धर्मके फलमें प्रीति।

संसार-जीवोंके परिभ्रमणका स्थान; वह चार गतिरूप है।

संसारानुप्रेक्षा-संसार अपार दुःखरूप है उसमें यह जीव अनादिकालसे भटक रहा है, ऐसा विचार करना।

संसाराभिरुचि-संसारके प्रति तीव्र आसक्ति।

संस्थान-आकार।

संहनन-शरीरमें हाड आदिका बंधनविशेष-गठन।

साखी-दो चरणवाला एक प्रकारका पद्य-दोहा, गझल, लावणी।

सातावेदनीय-जिस कर्मके उदयसे जीवको सुखकी सामग्री मिले।

साधु-जो आत्मदशाको साधे; सज्जन; सामान्यतः गृहवासको त्यागकर, मूलगुणोंको धारण करनेवाला साधु कहलाता है।

सामायिक-समभावका लाभ; मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे हिंसादि पांच पापोंका त्याग करना; दो घड़ी तक समताभावमें रहना।

सिद्ध-आठ कर्मोंसे मुक्त शुद्धात्मा, सिद्ध परमेष्ठी।

सिद्धांतबोध-पदार्थका जो सिद्ध हुआ स्वरूप है, ज्ञानीपुरुषोंने निष्कर्षसे जिस प्रकारसे अंतमें पदार्थको जाना है, वह जिस प्रकारसे वाणी द्वारा कहा जा सके उस प्रकार बताया है, ऐसा जो बोध है वह 'सिद्धांतबोध' है। (आंक ५०६)

सिद्धि-कार्य पूर्ण होना; सफलता; निश्चय; निर्णय, प्रमाणित होना; मुक्ति; योगकी अष्ट सिद्धियाँ मानी गई हैं-अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व।

सिद्धिमोह-सिद्धियाँ प्राप्त करने और चमत्कार दिखानेका लालच।

सुखद-सुख देनेवाला।

सुखाभास-कल्पित सुख; सुख नहीं होनेपर भी सुख जैसा लगना।

सुधर्मास्वामी-भ० महावीरके एक गणधर, इनके रचे हुए आगम वर्तमानमें विद्यमान है।

सुधारस-मुखमें झरनेवाला एक प्रकारका रस, जिसे आत्मस्थिरताका साधन माना है; अनुभवरस।

सुलभबोधि-जिसे सहजमें सम्यग्दर्शन हो सके।

सूर्यपुर-सूरतका पुराना नाम।

सोपक्रम आयुष्य-शिथिल, जिसे एकदम भोग लिया जाये। (व्याख्यानसार)

स्कंध-दो अथवा दोसे अधिक परमाणुओंके समूहको स्कंध कहते हैं।

स्थंभतीर्थ-खंभातका ऐतिहासिक नाम।

स्त्रीवेदकर्म-जिस कर्मके उदयसे पुरुषसंयोगकी इच्छा हो।

स्थविरकल्प-जो साधु वृद्ध हो गये हैं उनके लिये शास्त्रमर्यादासे वर्तन करनेका बाँधा हुआ-निश्चित किया हुआ मार्ग या नियम।

(व्याख्यानसार पृ० ७९५)

स्थितप्रज्ञदशा-मनमें रही हुई सर्व वासनाओंको जीव छोड़ दे और अंतरात्मामें ही संतुष्ट रहकर आत्म-स्थिरता पाये ऐसी दशा। (गीता अ० २)

स्थितिबंध-कर्मकी काल मर्यादा।

स्थितिस्थापकदशा-वीतरागदशा, मूलस्थितिमें फिरसे आ जाना।

स्यात्पद-कथंचित्, किसी एक प्रकारसे। उभयनय विरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके० (समयसार कलश-४)

स्याद्वाद-प्रत्येक वस्तु अनेकांत अर्थात् अनेक धर्मसहित होती है। वस्तुके उन सब धर्मोंको लक्षमें रखते हुए वर्तमानमें पदार्थके किसी एक धर्मको कहना स्याद्वाद या अनेकांतवाद है।

स्व उपयोग-आत्माका उपयोग।

स्वच्छंद-अपनी इच्छानुसार चलना। "परमार्थका मार्ग छोड़कर वाणी कहता है। यही अपनी चतुराई, और इसीको स्वच्छंद कहा है।" (पृ० ७०८ उपदेशछाया)

स्वद्रव्य-अनंतगुणपर्यायरूप अपना आत्मा ही स्वद्रव्य है। (स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके लिये देखें पृष्ठ ८०९, आभ्यंतरपरिणामावलोकन क्रम ७)

स्वधर्म-आत्माका धर्म, वस्तुका अपना स्वभाव।

स्वसमय-अपना दर्शन, मत; अपना शुद्ध आत्मा; अपने स्वभावमें परिणमनरूप अवस्था।

स्वात्मानुभव-स्वसंवेदन; अपने आत्माका अनुभव; "एक सम्यक् उपयोग हो तो स्वयंको अनुभव हो जाता है कि कैसी अनुभवदशा प्रगट होती है!"

(उपदेशछाया पृष्ठ ७३७)

ह

हस्तामलकवत्-हाथमें लिये हुए आँवलेकी तरह, स्पष्ट।

हावभाव-श्रृंगारयुक्त चेष्टा।

हुंडावसर्पिणीकाल-अनेक कल्पोंके बाद आनेवाला भयंकर काल, जिसमें धर्मकी विशेष हानि होकर मिथ्या धर्मोंका प्रचार होता है।

हेय-तजने योग्य पदार्थ।

परिशिष्ट - ६

सूची–१

विशेष नाम

(यहाँ पृष्ठांक दिये गये हैं । कोष्ठक ( ) में दिये हुए पृष्ठांक फुटनोटके सूचक है ।)

अकबर ६.
अखा २४४, ३१७, ३८९.
अचळ (डुंगरसीभाई गोसलिया) ५२०, ५७८, ५८३.
अंबारामजी ३३४.
अजितनाथ भगवान ६०१, ६९४.
अनंतनाथस्वामी ३८६, ७३७.
अनाथदासजी ४२३, ७२२.
अनाथी मुनि ३१, ४०, ४१, ६४.
अनुपचंद मलुकचंद ५३०.
अभयकुमार ८३, ८४.
अभया ८५.
अभिनंदनस्वामि ५२८.
अयमंतकुमार ६६.
अरनाथ प्रभु ८०८.
अर्जुन ४४६.
अष्टावक्र ३२९.
अंबालालभाई लालचंद (खंभात) २५६, २६०, २६२, २६३, २६५, २६६, २८८, २९१, ३१५, ३२२, ३७९, ३८१, ३९४, ४१९, ४२१, ४३९, ४५३, ४६३, ४८०, ४९२, ५१९, ५२६ ५४७, ६३९, ६५८, ६६७, ६७८, ६८५, (७१३), (७१५).
आत्मारामजी महाराज ६९७.
आनंदघनजी ३३०, ३५३, ३५५, ३५६, ३८६, ३८९, ३९१, ४७७, ४८५, ५९२, ५९७, ६६०, ६८३, ६९४, ७३७, ८०८.
आनंद श्रावक ७२४.
इच्छाबहन ७७२.
इंद्रदत्त ९५.
ईशुं ख्रिस्त (इसा) ६९, ४४६.
उजमसीभाई (जूठाभाईके पिता) १७६.
उमेदभाई ६८४.
ऊगरीबहन ६६०.
ऋजुवालिका १००.
ऋषभदेवजी १, २८, ७२, २१६, २७०, २७३, ३८०, ४५६, ४७७, ५०९, ५१७, ५२१, ५५२, ५९६, ६०६, ६३१, ६४०, ७३४.
ऋषिभद्रपुत्र ६८७.
ओधव २५८, ४८७.
कपिल ३५, १९६.
कपिल केवली ३५, ९४.
कपिला (दासी) ८५.
कबीर २४१, २६९, २७६, २८९, ३८९, ४३८, ५१६, ६९७.
करसनदास ३२५.
कल्याणजीभाई केशवजी ६७२.
कामदेव (श्रावक) ७६.
काश्यप ९४.
कार्त्तिकस्वामी ७०१.
किरतचंदभाई (मनसुखलालके पिता) ६९४.
किसनदास (खंभात) ३३३.
किसनदासजी (क्रियाकोषके रचयिता) ६६३.
कीलाभाई ३२१, ६४७, ६८५.
कुमारपाल ८०७.
कुंडरिक ५६.
कुंदकुंदाचार्य ४७७, ६४६, ६८०, ८६४.
कुंवरजी (कलोल) २६८, ३४५, ३९५, ५१९, ५२०.
कुंवरजी आणंदजी ४६६, ४७६, ६२३.
कृष्णदास ३४९, ३६१, ३६७, ३७८, ३८८, ३९१, ४०५, ४२२ ४३९, ४५२, ४५३.
केशवलाल (चिरम) २९८, ४५५, ४६२, ४६५.
केशवलाल (लींबडी) ३८६, ५३६, ६२३, ६४५.
केशीस्वामी ७२४, ७३१, ७३५.
खीमचंदभाई ३६५.
खीमजी २३२, २३९, २४०, २६८, २९२.
खुशालभाई ३२१, ३७९, ५२३.
खेतशी ८०.
गजसुकुमार ६६, ९३, १६४, १६५, ३०१.
गंगा (नदी) ३६२.
गोमटेश्वर (बाहुबलीजी) ६९८.
गोशाला ७२३.
गोसलिया (देखें डुंगरशीभाई, श्री अचल)
गौतम गणधर (गौतमस्वामी) ९४, ११७, १६३, २४३, ३८८, ७२४, ७२६, ७३५.

गौतम मुनि ३५.
घेलाभाई केशवलाल ६६१.
चत्रभुज बेचर महेता १७१, १७४, २७५, ३४०, ४६४, ६८१.
चमर २४३.
चंदु ३३६.
चंद्रप्रभस्वामी ६८८.
चंद्रसिंह २५.
चंद्रसूरि ६९७.
चामुंडराय ६९८.
चिदानंदजी १६६.
चुनीलाल २६८.
चेलाती पुत्र ७५८.
चेलना रानी ७०७.
छगनलाल (खंभात) ६७८.
छोटम कवि २९९.
छोटालाल (खंभात) २६२, २६५, २७२, २८८, २९५, ५२२, ६४७.
जडभरत १६३, २८२, ५३२, ५३४.
जनकविदेही १६३, २८४, २८७, ३२४, ३२९, ३३३, ४७०.
जराकुमार ४५२.
जंबुस्वामी १२३, २६५, २७०, २९०, ५५३.
जीजीबा ४५५.
जीवा गोसाई ७३६.
जूठाभाई १८३, १८४, २२६.
ज्ञातपुत्र (भगवान महावीर) ६०.
झबकबहन ५८२.
झवेरभाई (कविठा) ६६८.
झवेरभाई ६४७.
ठाकोरसाहेब (लींबडी) ३५२.
डुंगरसीभाई (श्री अचल, श्री गोसलिया) ३२०, ३२५, ३५३, ३६३, ३६७, ३९६, ३९७, ४०१, ४०७, ४३४, ४३५, ४३७, ४४१, ४६३, ४६७, ४७५, ४७६, ४८३, ४८५, ४८७, ४९०, ४९१, ४९२, ४९३, ४९४, ४९७, ४९८, ५०३, ५०४, ५०९, ५१०, ५११, ५१३, ५१४, ५१७, ५२२, ५२४, ५८२, ५९२, ६३६, ६३७, ६३९, ६४१, ६४५, ६४९.
त्रंबकलाल ४६२, ४८५, ६३१, ६३२, ६४४.
त्रिदंडी २८.
त्रिभोवनदास २१९, २२७, २३८, २४६, २५८, २६०, २६३, २६५, २६८, २७५, २७८, २८८, २९०, २९२, २९५, ३०५, ३१९, ३५८, ३९१, ४१४, ४१५, ४२८, ४९२, ५०४, ५२३, ५९४, ६४७, ६८०, ६८५.
त्रिशलादेवी ३२५.
दयानंद संन्यासी १३२.
दयालभाई १८८, १९६.
दामोदर २९७.
दीपचंदजी (मुनि) २५९, २६२, २६४, ३२२.
दृढप्रहारि ५८.
देवकरणजी (देवकीर्ण) ४१७, ४१९, ४२०, ४२२, ४६३, ४७९, ५२६, ५४५, ५८१, ५९१, ६२३, ६३६, ६४३, ६४७, ६५९, ६७३.
देवचंद्रजी ३२८, ५२८, ५९७.
देवचंद्रसूरि ८०७.
देवशी ८०.
धनाभद्र ४०५.
धरमशी मुनि ७५४.
धारशीभाई ६९०.
धुरीभाई ६३४, ६४२, ६४७.
नथ्थुरामजी ३०५.
नमिराजर्षि ४२, ११३, ६८७, ७९९.
नरसिंह महेता २८९, ७६९.
नवलचंद ४८३, ६३५.
नाभिपुत्र (देखें ऋषभदेवजी)
नाभिराजा ५९६.
नाभा भगत ७३६.
नारद ७७, २८५.
निरांत कोली २६७.
नेपोलियन बोनापार्ट ५.
नेमिनाथ ९३.
पतंजलि ३५, ८४२.
पद्मप्रभु ६९८.
परदेशी राजा ७३१.
परीक्षित २७३.
पंडित लालाजी १३९.
पार्श्वनाथस्वामी १६४, १९१, २४४.
पुंडरिक ५६.
पूंजाभाई सोमेश्वर भट्ट (खेडा) ७११.
पोपटभाई ५८२, ६३९.
प्रद्युम्न ६९८.

प्रह्लादजी ५०२.
प्रीतम ३८९.
बनारसीदास ३८९, ४३४, ६४६, ७७८, ८१३.
बलभद्र (राजा) ५१.
बाहुबलजी ७२, ५५२, ६९८, ७४५, ७६५.
बुद्ध (शुद्धोदन) ३५, १०४, १९९, ४४८, ५१०, ७९९, ८१६.
ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ७२.
ब्रह्मा ६९, ४४९.
ब्राह्मी ५५२, ६९८.
भद्रिक भील ११७.
भर्तृहरि ३४, ३५, १६४.
भरतेश्वर २८, ४७, ७२, २१६, २८२, ५२१, ७९९.
भाणजी स्वामी ६४६.
भूधर २७४.
भोजा भगत २६७.
मगनलाल २७२, २९७, ३१९, ३२१, ६३७, ६३९, ६४३, ६४४.
मणिभाई नभुभाई ६९१, ७०१.
मणिभाई सोभाग्यभाई (मणिलाल, मणि) २७४, ३५२, ४५५, ६३२, ६३३, ६३८, ६४४.
मणिलाल (बोटाद) ३६५, ३६८.
मदनरेखा ६८७.
मनसुखभाई रवजीभाई ६३७, ६८७, ६९०.
मनसुखभाई किरतचंद ६९१, ६९४.
मनसुखभाई देवशी ३८६.
मनसुखभाई पुरुषोत्तम (खेडा) ६३७, ६३९.
महावीर स्वामी (वर्धमान स्वामी) ११, १४, २८, ३५, ६२, ७०, ७६, ९३, १००, १३६, १६०, १६३, १७६, १८९, १९३, १९७, २१८, २२९, २४२, २४५, २४६, २६०, २६३, २७०, ३२५, ३४८, ३८८, ४१६, ४३३, ४४१, ४४२, ४४५, ४८२, ४९४, ५०९, ५१७, ५१८, ५४२, ५५३, ५९७, ६०७, ६१८, ६५५, ६७३, ७२३, ७२७, ७५०, ७५४, ७६६, ७७०, ८४२, ८६९.
महीपतराम रूपराम ६९६.
महेश्वर(महेश) ४४९.
माकुभाई (बडौदा) ४०७, ४४१, ४६०.
माणेकचंद (खंभात) ५२०, ५२१, ५२२, ५८५.
माणेकदासजी ७३८.
मीरांबाई ७३६.
मुक्तानंद २५८.
मुनदास ६४८, ६४९.
मृगा ५१,.
मृगापुत्र (बलश्री) ५१.
मोहनलाल करमचंद गाँधी (महात्मा गाँधी) ४४२, ४७१, ५४५.
यमुना (नदी) ३६२.
यशोदा ३५, १००.
यशोविजयजी ३७५, ४८७, ६४२, ६९२, ८०७, ८१०.
रतनचंद ६६८.
रतनजीभाई ४७६.
रवजीभाई देवराज १३९.
रवजीभाई पंचाण (श्रीमद्के पिताजी) ४५५, ४६०.
रहनेमि १६४.
राजेमती १६५.
राम (रामचंद्र, श्रीराम) २३०, ३५२, ३५४, ४६१, ४४९, ५१८.
रामदासजी साधु २१२.
रामदासस्वामी ५४४.
रायसी ८०.
रुक्मिणी ५७.
रेवाशंकर जगजीवनदास २४४, २८३, २९१, ३६१, ३७२, ४०६, ४४१, ४६४, ६४४.
लल्लुजी मुनि २९४, ४२०, ४२१, ४३०, ४३२, ४४०, ४५१, ५०१, ५२२, ५८१, ५८६, ५९२, ५९४, ६२३, ६३६, ६३७, ६३९, ६५३, ६८३.
लहेराभाई ४९२, ४९३, ४९४, ४९७, ५२२, ५२४, ५९२, ६३६, ६३७, ६३९.
लालचंद २९८.
लाभानंदजी ८०८ (देखें आनंदघनजी)
लोंकाशा ७३८.
वज्रस्वामी ५७.
वणारसीदास ६६७.
वनमालीदास ६५८, ६५९.
वर्धमानस्वामी, देखें महावीरस्वामी
वल्लभभाई ६६८.
वल्लभाचार्य ५२३, ६९५, ७४३.
वसिष्ठ ३५४.
वसुदेव ६९८.
वसुराजा ७७.
वामदेव ५३२.

वाल्मीकि ३६.
विक्टोरिया १७४.
विदुर ७.
विद्यारण्य स्वामी ७०१.
विष्णु ६९, ४४९, ५६७.
वीरचंद गांधी ६९१.
वैजनाथजी ५३७.
व्यास ३५, २३८, ३१६, ४४६.
शक्रेन्द्र ४२, ११३.
शंकर ३५, ६९.
शंकराचार्य ३१, १३२, २३३.
शालिभद्र ४०५.
शांतिनाथ ३१, ६९८.
शीलांगाचार्य ३८८.
शुकदेवजी २७३, ५३४.
शेखरसूरि आचार्य ८००.
श्री कृष्ण ९३, १८९, २१२, २५८, २७४, २८४, २८७, ३५३, ३८२, ३९०, ३९४, ४०८, ४४६, ४४९, ४५२, ७४३.
श्रीदेवी ९५.
श्रीपाल ५०८.
श्रीमद्, देखें विषयसूचीमें
श्रेणिकराजा ३९, ४०, ४१, ६५, ८२, ८४, ३१३, ५५४, ७०७, ७२२.
सगर चक्रवर्ती ७९९.
सत्यपरायण, सत्याभिलाषी-देखें जूठाभाई
सनत्कुमार ४९, ११४.
समंतभद्राचार्य ७०३, ८११.
सहजानंदस्वामी ३०१, ३६२, ५२५.
संगम देवता ७२३.
सिद्धसेन दिवाकर ३१७.
सिद्धार्थ राजा ३६, ३२४.
सुखलाल छगनलाल ३८५, ४६५, ५१९, ५२०, ६५८.
सुदर्शन शेठ ८५, ४०९.
सुधर्मास्वामी २६५, २७०, ५५३.
सुभूम चक्रवर्ती ७९.
सुंदरदासजी (सुंदरविलासके रचयिता) ३८९, ५०७, ५११, ५१२, ५१६.
सुन्दरलाल (खंभात) ५२०, ५२२.
सुन्दरी ६९८.
सोभाग्यभाई लल्लुभाई (सुभाग्य) २३४, २३८, २५५, २६२, २६७, २९७, ३१६, ३२०, ३२३, ३३५, ३३८, ३४१, ३५०, ३५४, ३६१, ३६५, ३६६, ३७८, ३७९, ४०१, ४०३, ४०७, ४१०, ४२६, ४२९, ४३४, ४३७, ४४१, ४५६, ४५९, ४६०, ४७५, ४७७, ४८०, ४८३, ४८४, ४८७, ४९०, ४९२, ४९८, ५०४, ५११, ५१२, ५१५, ५२४, ५८२, ५८६, ६३१, ६४५, ८६४.
सोमल ९३.
हरिभद्राचार्य १९६, ५४२, ६४२, ६९२, ७०१, ८०७.
हेमचंद्राचार्य ६९५, ७०२, ८०६.

सूची २

ग्रंथ नाम

अध्यात्म कल्पद्रुम ७०६.
अध्यात्म गीता ६७९.
अध्यात्मसार ३३३.
अनंतजिनस्तवन (श्री आनंदघनजी) ३८६.
अनुत्तरौपपातिक १८०, ६०४.
अनुभवप्रकाश ५०२.
अष्टप्राभृत ६७६, ६९९, ८०१.
अष्टसहस्री ७०३.
अंतकृतदशांग १८०, ६०४.
आचारांग सूत्र १८०, १९७, २१३, ४७४, ५५२, ५५८, ५८१, ६०४, ६२२, ६६२, ८२२.
आत्मसिद्धिशास्त्र ५४७, ५८६, ५९१, ५९२, ५९४, ५९५, ६३१, ६४४, ६५०, ६५३, ६५९, ६७६.
आत्मानुशासन ६५५, ६५८, ६६७, ६८३, ७०६.
आनंदघन चौबीसी ६५४, ६९५.
आप्तमीमांसा, देखें देवागमस्तोत्र
इंद्रियपराजयशतक ७०६.
उत्तराध्ययन सूत्र ३५, १०१, ११३, १७१, २३६, २९९, ३५१, ४३२, ४५२, ४७४, ५५३, ५८१, ६८७, ७९३, ८०७.
उपदेशरहस्य ३७५.
उपमितिभवप्रपंच ७०३, ७०६.
उपासकदशांग १८०, ६०४.
कर्मग्रंथ ५९२, ५९५, ६२२, ६३०, ६३६, ६४३, ६४७, ६७३.
कालज्ञान १६७.
क्रियाकोष ६६३, ६६४, ७००.
क्षपणासार ६९९.
क्षेत्रसमास ७८०.
गंधहस्ती महाभाष्य ७०३.
गीता ४४७, ७०१.
गीता ज्ञानेश्वरी ७०१.
गीता - थियोसोफी ७०१.
गोकुलचरित्र १९८.
गोम्मटसार ६४७, ६७३, ६८३, ६९८, ७००.
चारित्रसागर ४३८.
छजीवनिकाय अध्ययन ५२३.
छोटमकृत पदसंग्रह २९९.
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ७५५.
ज्ञाताधर्मकथांग १८०, ६०४.
ठाणांगसूत्र (स्थानांग) १८०, ३१३, ३१७, ४२५, ४५६, ५५०, ७८१, ८६९.
तत्त्वज्ञान ८२७.
तत्त्वसार ६९९.
तत्त्वार्थसूत्र ६४९, ६९२, ७०३.
त्रिलोकसार ७००.
दशवैकालिकसूत्र १२३, १९१, १९२, १९४, ५८१, ६५५, ८१७.
दासबोध ५४४, ५८५.
दृष्टिवाद १८०, ६०४.
देवागमस्तोत्र (आप्तमीमांसा) ७०३, ८११.
द्रव्यसंग्रह ६४९.
द्वादशांगी १७, ४१०, ६७०.
धर्मबिंदु ७०६, ८१७.
धर्मसंग्रहणी ७०१, ८०५.
नयचक्र ६४६.
नवतत्त्व ७०६.
नंदीसूत्र ३१२, ८१७.
नारद भक्तिसूत्र २८५.
पद्मनंदीपंचविंशति ६६५, ६६६, ६६७, ६७३, ६८२, ६८३, ६८५.
परमात्म प्रकाश ६४६, ७००, ८१३.
पंचास्तिकाय ६४५, ६६१, ७००.
पंचीकरण ५८५, ७४८.
पांडवपुराण ६९८.
पुराना करार ४४७.
पुरुषार्थसिद्धि उपाय ६५९, ७००.
प्रज्ञावबोध ६८५, ६९४, ७०२.
प्रद्युम्न चरित ६९८, ७००.
प्रबोधशतक २८१, २८३, २९७.
प्रवचनसार ६४६, ६८८, ७००.
प्रवचनसारोद्धार ८१३.
प्रवीणसागर १७४, १८८, १९६, २१२.
प्रश्नव्याकरण १८०, २६८, ५८१, ६०४, ६५५.
प्राणविनियम ३४३.
बाईबिल ४४७.
बृहत्कल्पसूत्र ४१९, ४२१.
भगवती आराधना ८०८, ८१०, ८१२.

भगवती सूत्र १८०, २३३, ३६९, ६०४, ६८७, ८१०.
भावनाबोध ३४, ५८६, ६५४, ७०६.
भावार्थप्रकाश ४८३.
मणिरत्नमाला ३८२, ६३६, ६३७, ७६१.
मनुस्मृति १४०.
मयूख १४०.
मिताक्षरा १४०.
मूलपद्धतिकर्मग्रंथ ७०६.
मोक्षमार्गप्रकाश ६३६, ६३८, ६४०, ६४४, ६४७, ६५३, ६९९.
मोक्षमाला ६०, २००, ६७८, ६८१, ६८६, ६९३, ७०२, ७०६, ८०६.
मोहमुद्गर ६३७.
योगकल्पद्रुम ३८२.
योगदृष्टिसमुच्चय ६४१, ६९२, ६९९, ७०२, ८०७.
योगप्रदीप ६६४.
योगबिंदु ६४२, ७०३.
योगवासिष्ठ २२८, २८८, ४१५, ४१६, ४२२, ४३२, ४३३, ४४०, ४५२, ४५३, ५०४, ५३७, ५५७, ५८५, ६३४.
योगशास्त्र ६४२, ६५३, ६८४, ६८५, ७०२.
रत्नकरण्ड श्रावकाचार ६९९, ७९७.
रयणसार ६९९.
लब्धिसार ६९९.
वासुपूज्यस्तवन ३३०.
विचारमाला ४२३.
विचारसागर ३४१, ३६१, ५८५.
विपाकसूत्र १८०, ६०४.
वेद १०६, २६५, ४४७, ४८१, ५०३, ५०६, ५२४, ५४१, ५६८.
वेदांतग्रन्थ प्रस्तावना २८०.
वैराग्यप्रकरण ३३६.
वैराग्यशतक ६५४.
वृंद-सतसई ३१.
शांतसुधारस ३३३, ६४१, ७०२.
शांतिप्रकाश २३६.
शिक्षापत्र ४०९.
शूरातन अंग (सुंदर विलास) ५१२.
श्रीपालरास ५०८.
श्रीमद् भागवत २७४, २८२, २८५, २८७, ३१५, ४०१.
षड्दर्शनसमुच्चय ४४३, ४४४, ४५०, ५०४, ५२९, ६९१, ७०१, ७०२, ८२२.
समयसार ३५०, ४०४, ४३२, ४३४, ४६६, ५५७, ६५७, ६७२, ६८०, ६८३.
समयसार नाटक ३२६, ३३१, ३७४, ७७८, ८०२.
समवायांग १८०, ६०४, ६०५.
सम्मतितर्क १३७, ३१७.
सर्वार्थसिद्धि ८१२.
संभवजिनस्तवन (आनंदघनजी) ६६०.
सातसौ महानीति (वचन सप्तशती) १४१.
सुदृष्टितरंगिणी ६८५.
सुमतिनाथ स्तवन (देवचंद्रजी) ३२८.
सूत्रकृतांग (सूयगडांग) ३६, १८०, २७०, २९९, ३४७, ३४८, ३५१, ४०९, ४३२, ४७४, ५५३, ५८१, ६०४.
स्थानांग, देखें ठाणांग स्वरोदयज्ञान १६५.
स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा ६५७, ६६३, ६६४, ६६६, ६७०, ६७२, ६९९, ७०१, ८१८.
सिद्धप्राभृत ५९७.

सूची ३
स्थल नाम

अमदावाद १९९, ६२६, ६४६, ६७३, ६७६.
अंजार ४०७, ४२९, ४६४, ६६१.
आगरा ८१३.
आणंद ३१९, ३२१, ३२३, ५४१, ५४५, ६४५, ६५३, ७५५, ७६२, ७६५, ७६७.
इंगलैण्ड ५४५.
ईडर ५९२, ६२९, ६५७, ६५८, ६५९, ६६३.
उज्जयिनी २५.
उत्तरसंडा (वनक्षेत्र) ६५५.
कच्छ ८०.
कठोर ४६३.
कलोल ३४५, ३९५.
काठियावाड ३९६.
काविठा ५२९, ६५३, ६६८, ६८४, ७१५.
काशी १४०.
कौशांबी ४०, ६४, ९४.
क्षत्रियकुंड १००.
खंभात (स्तंभतीर्थ) २५६, २७५, २९७, ३०४, ३३६, ३४८, ३५८, ३६७, ३८८, ३९९, ४२१, ४२८, ४३९, ४५३, ४९२, ५०३, ५०८, ५२०, ६६२, ६६३, ६७८, ६८५, ७०६.
खेडा ६३७, ६३९, ६५५, ६७३, ७११.
खेरालु ६६०.
गुजरात ३६२, ३९७, ६६१.
जावा १०८.
जेतपर (मोरबी) २३३.
टीकर ६६०, ६६१.
डरबन ४४२, ४७१, ५४५.
डाकोर ७२७.
तिथ्थल ६८७.
द्वारिका १०७, ४५२.
धर्मज २५६, ३१९, ३२३.
धर्मपुर ६७२, ६७३, ६७४.
धंधुका ८०६.
धांगध्रा ६६०, ६६१.
नडियाद ४६४, ५४७, ५८१, ५८२, ६७६, ६७८, ६७९, ६८२.
नरोडा ६७९.
नाताल ५४५.
निंबपुरी देखें लीमडी पुंडरिकिणी ५५
पूना १४०.
पेटलाद ३९८, ५९४.
प्रांतिज ६६१.
फेणाय ६३९.
बजाणा १९९.
बडौदा ४०७.
बंबई १७२, १७३, १७४, १७५, १८३, १८४, २०१, २०९, २१३, २२३, २२४, २२६, २२८, २४२, २५५, ३०५, ३२०, ३२३, ३६१, ३६४, ३६५, ३६६, ३६७, ३९१, ३९२, ४००, ४०१, ४१२, ४२१, ४२३, ४२६, ४२८, ४३२, ४३३, ४५१, ४५२, ४५३, ४५६, ४६०, ४७९, ४८४, ५०५, ५१३, ६३१, ६४९, ६५३, ६५७, ६६४, ६७३, ६८८, ६९८, ७०२, ७०५, ८३७.
बैंग्लोर ६९८.
बोटाद ३६५.
बोरसद ६६८.
भरुच (भृगकच्छ) २००, २०१, ५३०.
भारतवर्ष २९६, ४४६, ४९३, ६०६, ६९६.
भावनगर ३६८, ४६६, ४७६, ६२३.
भीमनाथ (अहमदाबाद) ६७६.
भोईवाडा (बंबई) ६९०.
मगध ४१, ६३, ८२, १००.
मद्रास ७०१.
मलातज २५६.
महाविदेह ५६.
मालवा देश २६, २७.
मिथिला ४२, ७९९.
मुक्तागिरि ६९८.
मूळी ४९७.
मेरु ३९७.
मोरबी १९०, १९९, २२५, २३३, ३२३, ३८५, ४०३, ४६४, ५०२, ५९१, ५९२, ६४५, ६४६, ६४७, ६५९, ६६२, ६८१, ६८३, ६८५, ६९७, ७०१,

७१२, ७७२, ७९९, ८०३, ८०६, ८०९, ८१०, ८१४, ८१७.
मोहमयी देखें बंबइ रतलाम २९१.
राजकोट ५४५, ६७०, ६७१.
राजगृही ८२, ८४.
राजनगर ६६३.
राणपुर (हडमतिया) ५०३.
राधनपुर ६३८.
राळज ३०६, ३०७, ३०८, ३०९, ३१०, ३१३, ५२९, ५३०, ५३१, ५३४, ५३७, ५३९, ५४०, ७१९, ७२८.
लीमडी ३६५, ३७९, ३८६, ४६५, ५३६, ६४५.
वडवा ५३४, ५३५, ५३७, ७४२, ७४४, ८०६.
वढवाणकेम्प १९९, ४६५, ६८७, ६८८, ७०२.
वलसाड ६८७.
ववाणिया १३९, १७१, १७५, १८४, १८५, १८६, १८७, १८८, १८९, १९०, १९५, १९६, २२९, २३०, २३१, २३२, २३४, २३५, २३६, २३९, ३१४, ४५५, ४६५, ४६७, ४९२, ४९७, ४९९, ५०१, ५८३, ५८४, ५८६, ५८७, ५९२, ५९३, ६२२, ६२७, ६२८, ६३८, ६४६, ६४७, ६४८, ६५३, ६६०, ६६१, ६६३, ६७६, ६७८.
वसो ६५४, ६५९, ६७६, ६७८, ६७९, ८०५.
विदेश ४४.
वीरमगाम ३८५, ४६५, ५१९, ६७८.
वृंदावन ७१५.
वेणासर ६६०.
श्रावस्ती ९४.
साणंद ६७३, ६७८.
सायण ४६३.
सायला ३६१, ३६६, ३९७, ४०१, ४३४, ४३७, ४४१, ४६२, ४७५, ४८०, ४८३, ४८४, ४८७, ४९०, ४९१, ४९२, ४९४, ४९८, ५०४, ५११, ५१२, ५१५, ६२९.
सुग्रीवनगर ५१.
सुणाव ५९४.
सुरत ४१५, ४१७, ४२१, ४२७, ४३०, ४३२, ४४०, ४५१, ५०१.
सुषुमारपुर २४३.
सूर्यपुर देखें सुरत सौराष्ट्र ५८६.
हिंदुस्तान ८१९

सूची ४
विषय सूची

अकाम निर्जरा ७७३.
अकाल दोष २९९.
अघातिनी ७१२.
अचक्षुदर्शन ७९७.
अजीव ११८, १२९, ६०६, ६१२, ७००, ०के भेद १७०
अज्ञान ३८७, ५९४, ७४६, ७६२; ०के भेद ६१५; ०और ज्ञानावरणीय कर्ममें भेद ६२३; ०से भय ७३८
अज्ञानपरीषह ३३३, ४५३.
अज्ञानी ३३, ७२८, ७३२; ०को संवर बंधका हेतु ७३१; ०का उपदेश ७४१.
अणुव्रत ८१५.
अदत्त ७९१.
अधमाधम पुरुषके लक्षण ७६४.
अधर्मद्रव्य ५२८, ६१७.
अधिकरण क्रिया ४३७.
अधिष्ठान २८३, २८४.
अध्यवसाय ५९५, ७३८.
अध्यात्मज्ञान, अध्यात्मशास्त्र ७३८.
अनंत ८००; ०दान-लाभ-वीर्य-भोगोपभोगलब्धि ६७५.
अनंतानुबंधी कषाय ३९५, ४३६, ४९०, ४९६, ७२७, ७७४, ७९४.
अनानुपूर्वी ८७.
अनित्यभावना १७, ३७; ०पर भिखारीका दृष्टांत ३८, ९२.
अनीति, ०और सुनीति ४४८.
अनुकंपा २३६, ६२०, ७५१.
अनुभवउत्साहदशा ६३०.
अनुदीरणा ८०६.
अनुयोग ७९२.
अन्यत्व भावना ४५.
अपवर्तन ८०६.
अपवाद ८१०.
अपारिणामिक ममता ३९५.
अपुत्रकी गति ५३१.
अपूर्व ३१७.
अपूर्व अवसर ५८७.
अपूर्व वाणी ५५३.
अप्कायिक जीव ५२९.
अभयदान २६; ०सर्वमान्य धर्म ६०
अभिनिवेश ५०५; ०लौकिक ५१४.
अयत्ना १९१.
अरूपीके प्रकार १७०.
अलोक १७०, ६१२, ६१७.
अलौकिक दृष्टि ५३१, ५३३.
अवगाहना ६९९.
अवतार ४४९.
अवधान १३९.
अवधिज्ञान ५४२.
अविरति ७८३, ८१०, ८४९.
अविरति सम्यक् दृष्टि ७७२, ७८८.
अविवेक ९९.
अविषम, उपयोग ५८७; ०भावके बिना अबंधता नहीं ६४५.
अशरण भावना २१; ०पर अनाथीमुनिका दृष्टांत ३९
अशुचि; ०दोष २९९; ०भावनापर सनत्कुमारका दृष्टांत ४९; ०किसे कहना ? १०२.
अष्ट महासिद्धि ४८५.
असत्य ७०७, ८१५.
असद्गुरु १७९, २४१, ५५६, ७२६, ७४५, ७७०.
असमाधि ४६१, ४६९.
असंगता २७१, २७३, २८०, २८२, ३८०, ४७६, ४७७, ४८८.
असंख्यात ७८६.
असंयम ७१३.
असोच्याकेवली ४५६, ५५१, ७३६.
अस्तिकाय ५२७, ६१२.
अहं ब्रह्मास्मि २४८.
अहिंसा १९३.
अंतःकरण ५६८.
अंतराय ७१२.
अंतर्मुखवृत्ति ५०५, ६४३.
अंतर्वृत्ति ८१६
आकाश द्रव्य (आकाशास्तिकाय) १७०, ५२८, ६१८, ७४७, ७९६.
आगम १८०, ७९८; ०समझमें आये बिना अनर्थकारक २३२.

आजीविका, ०की चिंता न करे ३२१, ४७५, ५३६; ०में सांगोपांग न्यायसम्पन्न ४१४; ०व्यवहार न्यायसंपन्न ६६३, ६६६.
आज्ञा २६९, ४७२, ७२८.
आठ रुचक प्रदेश निर्बंधन २३६.
आत्मगतिका कारण ३९६.
आत्मगुण ०का घातक ५४२, कब प्रगट हो ? ७२२.
आत्मचारित्र ५१६.
आत्मज्ञान ३४७, ४१०, ४६९, ५११, ५५३, ७५०; ०किसे होता है ? ५४८; ०होने तक उपदेशकका कर्तव्य ५११; ०की न्यूनता ४६२; ०प्राप्तिका साधन १२१; ०से आशाकी समाधि ३९३.
आत्मदर्शन २१४.
आत्मध्यान ३२६, ३४३, ३७३.
आत्मप्राप्ति ५०३; ०का उत्तम पात्र १७७; ०का उपाय ६१२.
आत्मभावना ५२२, ८३९.
आत्मयोग २५९, ४७०.
आत्मवादप्राप्तका अर्थ ३८८.
आत्मविचार ३९३, ४७१.
आत्मशांति ६८८.
आत्मसिद्धि ५४७, ५८६, ६४४, ६५३, ६७८; ०का उपाय १३०.
आत्महित ५८७, ५८८, ६६२, ६८२, ६९५; ०का बलवान प्रतिबंध ६४४.
आत्मा २२३, ७५४, ४६२, ५४०; ०ही मित्र और शत्रु ४१; ०की महत्ता किसमें है ? ७२; ०में मोक्षमार्ग १८९; ०को जाना तो सब जाना १९७; ०का स्वरुप २२३; ०चंदनवृक्ष ४०३; ०को पिता-पुत्र नहीं ४४८, ७६८; ०क्या है ? वह कुछ करता है ? और उसे कर्म दुःख देते हैं ? ४४३; ०के भवांतकी चौभंगी ४५६; ०के अंतर्व्यापारके अनुसार बंध-मोक्षकी व्यवस्था ४६९; ०देखना आत्माका गुण या सूरजका गुण ? ४९९; ०पाँचों विषय सर्वांगसे ग्रहण क्यों नहीं करता ? ५००; ०जाननेसे समस्त लोकालोक जानना ५०१; ०देखनेका यंत्र ५२९; ०शुद्ध नयसे सिद्ध समान ५७९, ५९६; ०की कीमत चतुर्थांश पाई ६९२; ०अपूर्व पदार्थ ७०८; ०का अनुभव किसे ? ७१९; ०एक या अनेक ? ७३४; ०और सदगुरु एक ७५३; ०को प्रतीतिके लिये संकलनाका दृष्टांत ८१४; ०केबारेमें छः दर्शनोंका मत ८४२.
आत्माका अस्तित्व ५५९, ७९७, ८२२.
आत्माका कर्तृत्व ५६६, ६१६.
आत्माका नित्यत्व ५६२, ८०५.
आत्माका भोक्तृत्व ५६९, ६१६.
आत्मार्थ ५४१, ५४७, ७६०.
आत्मार्थी ५५१; ०के लक्षण ५४९, ५५८; ०का अनुप्रेक्षण ६७९.
आप्तपुरुष ३५७, ६२९, ७९८; ०के लक्षण ८१२; ०के वचन १८० (देखे सत्पुरुष, ज्ञानीपुरुष)
आयुष्य ३८, ९२, ९९; ०कर्मप्रकृति ८००, ८०६, ८१९.
आरंभ-परिग्रह ३६८, ४६७, ४६९, ४९२, ५०९; ०का मोह मिटनेसे मुमुक्षता निर्मल ३३४; ०से मतिश्रुत अवधि आदि आवरण ४२५; ०का त्याग कर्तव्य ५८६; ०से वृत्ति हटाकर सत्शास्त्र परिचय ६३४.
आर्तध्यान १८६, ३२०, ४६२, ८२३.
आर्द्रा नक्षत्र ४८९.
आर्य आचार-विचार ५४५.
आर्यधर्म ४४५.
आशंका ७३९, ७६०; ०मोहनीय ७१८.
आशातना ७१८.
आश्रमधर्म २१६, ५२५, ५४६.
आश्रय ५११; ०का बल ६५४.
आश्रयभक्तिमार्ग ४१५, ४७२, ५३६.
आसनजय १६७, ६९३.
आस्था २३६, ७५१, ०विचारसहित ७९३.
आस्त्रव ७२९, ८०३, ८१०; ०भावना ५६; ०द्रव्य और भाव ६०९.
इनॉक्युलेशन ७००.
इंद्रियजय ११३, १३४, ७०४; ०कैसे ? ७२०, ७३३.
इंद्रियलब्धि ५००.
ईश्वर ४४४, ८७०; ०जगतकर्त्ता १३२, १३७, ४४४; ०पर विश्वास सुखदायक २३४; ०कर्मकर्त्ता ५६७; ०कर्मफलदाता ५७०; ०की लीलामें प्रवृत्ति कैसे ? ५९९.
ईश्वरेच्छा २९१, ३४९, ३६२, ४०४.
ईसाई धर्म ४४६.
उत्तम गृहस्थ ६८; ०में अखंड नीतीका मूल ४१४.
उत्सर्ग मार्ग ८१०.
उदय ७४१, ८००; ०कैसे भोगना ? ३२०, ४८०; ०कर्म ७२७.
उदासीनता २०२, २२१, २४१, २४९, २६०, २८५, ३३५.
उन्नतिके साधन ५३९.
उपदेशकार्य ५११, ५१२, ७११.

उपदेशज्ञान ४१६; ०बोध ४२४.
उपयोग १९८, ७३८, ७४७; ०अविषम ५८७; ०के प्रकार ६१५, ७३१; ०स्व और पर ७१६; ०शुद्ध और अशुद्ध १९८.
उपवास ७३३, ७६५.
उपशम ४२४, ४२८, ०के लिये जिनागम ३४८; ०भाव २६४; ०श्रेणी ६७५; ०श्रेणी के प्रकार २५९.
उपशम सम्यक्त्व ७५५.
उपेक्षा भावना १९०, १९६.
ऊर्ध्वता ३८५.
ऋषिके भेद ८२२.
एकपत्नी (पति) व्रत से लाभ २९
एकत्व भावना ३७, ४२
एकांत ७८; ०वाद १६०.
एकेन्द्रिय जीव ६१९, ६२३, ७२६; ०काजलके कुप्पेकी तरह संसारमें ४३०.
औषध २२, ६२६, ६७४, ८१६.
करणानुयोग १७१, ७९१, ८१२, ८२४.
करुणा, ०भावना १९०, १९६, २०९; ०वृत्ति ३८०, ५१८.
करज ७, १५.
कर्म २८, ४०८, ४६८; ०के चमत्कार ६२; ०जड होते हुए भी चेतनमय १८९; ०के आठ प्रकार १३५, ४७२, ७७९, ७८१, ७९५; ०के दो प्रकार ४१३; ०केसै कम हो? ७५१; ०का कर्तृव्य ५६६, ६१६; ०का क्षय केसै हो? ४५८, ६९८.
कर्मबंध ६२७; ०के कारण और निवृत्ति ५७५; ०परिणामानुसार ६२८; ०के पाँच कारण ६२९; ०का हेतु ७३१; ०के चार प्रकार ७७९; ०से मुक्ति ६२०.
कर्मवर्गणा, ०ज्ञानरुपी अग्निसे नष्ट ७३३
कलिकाल (युग) २२९, २४५, २६३, २६७, २८६; ०का स्वरुप २५४
कल्याण ३८०, ६७८, ७४५, ७६९; ०का मुख्य मार्ग ७३०.
कषाय ५१६, ७०७, ७१०, ७४३, ७७४, ७९४, ८४९; ०से स्थिति और अनुभाग बंध ८२२; ०का क्रम ७०४; ०के दो भेद ८२३.
काम (पुरुषार्थ) २१५, २७२, ८३७; ०जलाने का उपाय ४३०.
कार्मण शरीर ७९२.
काल, ०किसीको नहीं छोडता ८-९; ०क्या खाता है? ३१८; ०द्रव्य ७८६, ७९५; ०के भेद तथा स्वरुप ५२७, ६१४, ६१८.
कुगुरु ७१७, ७३८, ७५६.
कुटुंब, ०से महत्ता नहीं, लघुता ७१; ०रुपी काजल गृह से संसार क्षय नहीं २१८.
केवलकोटी ५१७.
केवलज्ञान ४१२, ५१७, ५२५, ५४०, ५४३, ५७६, ७५१, ७५५, ७७४, ७७९, ७८८, ७९६, ८१५; से पदार्थ किस प्रकार दिखाई देते हैं? ४७९, ४९९; ०इस कालमें है या नहीं? ५२३.
केवली ५२४, ७२५, ८१७; ०और तीर्थंकरमें भेद १३५; ०के लक्षण १३५.
क्रिया ७३७; ०के दो प्रकार ७८४; ०से पाँच प्रकारका बंध ७८४; ०का निषेध अकर्तव्य ६८३.
क्रियाजड ५४७; ०ता का कारण ५४९.
क्रियामार्ग ५२३.
क्रोध ७६३, ७६५.
क्षपक श्रेणी २५९.
क्षमापना (क्षमा) ९३, १०३, ७२३.
क्षयोपशम सम्यक्त्व ५४०, ७५५.
क्षायिक समकित ५४०, ०इस कालमें नहीं ३४९.
गणितानुयोग १७१, ७९१.
गुण और गुणी का संबंध ४९८.
गुणस्थानक; ०भेद १३५.
गोसांई ७०९.
ग्यारहवाँ गुणस्थान; ०से गिरा हुआ कब मोक्ष? २५९; ०से गिरनेका कारण ७२०; ७२९.
ग्रंथि ८०५.
घातनी कर्मप्रकृति ७१२, ७९५.
चक्षु ८०१.
चरणकरणानुयोग १७१, ७९१.
चार आश्रम २१६, ५३१.
चार गति ७३, देखें संसार
चार पुरुषार्थ २१५, २१७.
चार भावना १९०, १९५, २०९.
चार वेद २१६.
चारित्र मोह ७०५, ७९४; ०नष्ट होनेका उपाय ५७४, ६७१.
चित्त; ०प्रवृत्ति ४७६; ०प्रसन्नता ५९९; ०स्थिरताका औषध ६५८.
चिंता ३२९, ३८७; ०आत्मगुणरोधक ५८६. चेतना के तीन प्रकर ८१४.
चैतन्यता ३८५.
चौदह पूर्वधारी ७२१, ७२८; ०कुछ न्यून ज्ञानसे अनन्त निगोदमें २३७.

छद्मस्थ ५५६, ७९९.
छः पद ४११, ४७१, ५४०, ७५४, ८४१; ०में शंका न करें ७७७.
छः महाप्रवचन २३३.
जगत ३२२, ५४१, ८५०; ०कर्ता ईश्वर १३२, १३७, ४४४; ०और मोक्षका मार्ग ३५३; ०का स्वरुप २८३; ०अप्रयोजनभूत विषय १७९; ०की मोहिनी २०९ जड ५६४, ७१२; ०चेतन विवेक १९७, ३१०, ३२६, ६७१; ०कोई कालमें जीव नहीं होता ३१२.
जातिस्मरणज्ञान १९७, ४९८, ६९१, ७९१, ८०४.
जिज्ञासु ५७६.
जितेन्द्रियता ११३.
जिन ८५४; ०का अर्थ ८०२; ०केसै होना? ३५३, ३५६; ०भावना ६७४; ०में उत्कृष्ट वीतरागता ४८२, ८४८.
जिनकल्प ८१८.
जिनमुद्रा ८०७.
जिनागम उपशमस्वरुप ३४७.
जिनेश्वर, ०की वाणी १३७, ०की भक्तिका फल ६९; ०की आज्ञा ३७५.
जीव, ०भेद १७०, ६१९, ८०२, ८०३; ०के दोष-सहित स्थितिमें तीन प्रकार ३०६; ०नवि पुग्गलीका अर्थ ३३०; ०की प्राप्ति केसै? ३८३; ०के लक्षण 'समता, रमता...' ३८४; ०के तीन अनादि दोष ३८८; ०और कर्मका संबंध ४२७; ०प्रति समय मरता है सो कैसे? ४९९; ०का स्वरुप ६०५, ६१३; ०के लक्षण ६०९; ०के चार भेद गोलोंके दृष्टांतसे ७१३; ०के चार प्रकार लकडहारोंके दृष्टांतसे ७२२; ०मुक्तिके बाद एकाकार? ७३४; ०कैसे वर्तन करे? ७५०; ०के तीन प्रकार बाह्यदृष्टिवाले ७५०; ०सदा जीवित ७५९; ०में संकोचविस्तारकी शक्ति ७८२ जैनदर्शन ५४२; ०पूर्ण दर्शन १०६; ०की सर्वोत्कृष्टता १३१, २०९; ०पूर्ण सत्य ४२३; ०से देशकी अधोगति या उन्नति? ६९६; ०त्रिवैध जैसा ७०९; ०उत्कृष्ट दयाप्रणीत ८१९; और वेदांतकी तुलना ४८१, ४८२, ५३१, ७८१.
ज्ञान ६२३, ६६७, ७१९, ७६३, ७७०, ७७५, ७८७, ८२१; ०संबंधी दो शब्द १२०; ०का उद्धार २१४; ०में कुछ न्यून चौदहपूर्वधारी अनंत निगोदमें २३७; ०मार्गकी श्रेणी २७३; ०मीमांसा (काव्य) ३११; ०के दो प्रकार ४१६, ४८६, ०दशाके बिना विषयकी निर्मूलता नहीं ४८०; ०दशा जगतवासी जीवोंको ग्राह्य नहीं ५१३; ०के पाँच प्रकार सत्य ५१५; ०केसै प्राप्त हो? ५३६; ०का फल विरति ५९४; ०एहि ज आतमा ६९३; ०और विद्वत्ता ७०१; ०से कर्मकी निर्जरा ७३२; ०के प्रकार ७८१.
ज्ञानमार्ग ५२३; ०की श्रेणी २७३.
ज्ञानचक्षु ८०१.
ज्ञानदग्ध ७३८.
ज्ञानाक्षेपकवंत ३५७.
ज्ञानावरणीय कर्म ७१२; ०और अज्ञानमें भेद ६२३.
ज्ञानीपुरुष ३६८, ४५६, ४६६; ५१०, ६६८, ७४२, ७६६, ८०३, ८३८; ०का योग होनेके बाद संसारका सेवन करनेवाला तीर्थंकरके मार्गसे बाहर ३७१; ०की पहचान न होनेमें जीवके तीन महान दोष ३७३; ०की प्रवृत्ति कैसी? ३८८; ०को सिद्धियोग ३९०; ०के वचन दर्शनका प्रभाव ३९२, ७२३; ०और अज्ञानीमें भेद ४००, ४८६; ०के प्रति अभिन्न बुद्धि ४०१; ०की प्रवृत्ति प्रारब्धानुसार ४०८; ०की आज्ञाकी महत्ता ४२९, ७००; ०की पहचानका फल ४३३; ०के सत्संगका फल ४५८; ०के दृढाश्रयका फल ४६६; ०के आश्रयमें विरोध करनेवाले दोष और उनका निराकरण ४७३; ०की भोगप्रवृत्ति पूर्वपश्चात् पश्चाताप-वाली ४८०; ०उपदेशमें संक्षेपसे प्रवृत्ति क्यों करे? ५१४; ०और अज्ञानीकी वाणीमें भेद ५१५; ०की दशा ५७९, ७१२; ०का मार्ग सुलभ ७००; ०और शुष्क ज्ञानीमें भेद ७१७; ०के तीन प्रकार ७१७; ०की प्रवृत्ति बाह्य ७२२; ०की प्रत्येक आज्ञा कल्याणकारी ७२८; ०के व्रत मोक्षदायक ७३२; ०अविरत रहकर व्रत नहीं देते ७४२; ०की वर्तमानमें प्रतीति नहीं ७५५ ज्ञायकता ३८५.
ज्योतिष, कल्पित क्यों? २८६.
ढुंढिया ७३८, ७४१, ७४५, ७६६.
तत्त्व, ०समझने पर दृष्टांत ८०.
तत्त्वमसि २४७.
तत्त्वावबोध १२३.
तप २७, ५८; ०किस लक्ष्यसे? ७२७; ०के छः प्रकार ७५२.
तरनेका कामी ७५३, ७६७, ७७१.
तिथिका आग्रह आत्महितार्थ ७३५, ७३७, ७४१, ७५२.
तीर्थयात्रा ६८३.
तीर्थंकर ३३०, ३८१, ३८२, ३८६; ०और केवलीमें

भेद १३५; ०का उपदेश १३६; ०को देवता कैसे जाने? ३१७; ०के भिक्षार्थ जाते हुए सुवर्णवृष्टि ३६९; ०का अतिशय ८१८; ०को दर्शन और ज्ञान एक साथ ८२१; ०गोत्र ८०९.
तीव्र ज्ञानदशा ४७२.
तीव्र मुमुक्षता २९९.
तृष्णा ९६, ९७, ४७३; ०कैसे निर्बल हो? ५३६, ७५०, ७६८; ०पर दृष्टांत ९६.
तेरहवें गुणस्थानवर्तीका स्वरुप ३५१.
तैजस् शरीर ७९२, ८१५.
त्याग ४७०, ५०९, ७९३; ०का क्रम ५३१, ५३४; ०वैराग्य की सफलता ५४८.
त्रस ६०८.
त्रिपदी ७९६, ८०१.
दया ७३०; ०सर्वमान्य धर्म ६१; ०के आठ भेद ६६; ०ही धर्मका स्वरुप-श्रेणिकके सामंतोंका दृष्टांत ८२. दर्शन ८२१; ०और ज्ञान एक साथ ८२१; ०आस्तिक ५४१.
दर्शनपरिषह ३३३, ४५३.
दर्शनमोह ६७०, ७०५; ०के नाशका उपाय ५७४; ०घटनेके हेतु ६५९; ०घटनेसे द्रव्यानुयोगका परिणमन ६६१.
दर्शनावरणीय ७१२.
दासानुदास भाव ४५४.
दिबंगर वृत्ति ६४०, ८०२, ८१५, ८२१.
दीक्षा ३६६, ३८१, ६८९.
दुःखनिवृत्तिका उपाय २०८, ३४७, ४१०, ४६९, ४७०, ६०२, ६४३, ८४९.
दुनिया, ०की अंतिम स्थिति क्या? ४४८; ०का प्रलय है? ४४८.
दुपच्चक्खान २३३, ७२२.
दुषमकाल ३६२, ३८२, ३९२, ५११, ६४७, ६८६; ०के कारण ३७६.
दृष्टांत, ०चंद्रसिंहका (जैनसिद्धांत विषयक) २४; ०भिखारीका (अनित्य भावना) ३८, ९२; ०अनाथीमुनिका (अशरण भावना) ३९, ६३; ०नमिराजर्षिका (एकत्व भावना) ४२; ०भरतेश्वरका (अन्यत्व भावना) ४६; ०सनत्कुमारका (अशुचि भावना) ४९, ११४; ०मृगापुत्रका (निवृत्तिबोध) ५१; ०कुंडरिकका (आस्त्रव भावना) ५६; ०पुंडरिक तथा वज्रस्वामिका (संवर भावना) ५७; ०दृढप्रहारीका (निर्जरा भावना) ५८; ०बाहुबलका (मान छोडने पर) ७२; ०कामदेव श्रावकका (धर्मदृढता पर) ७६; ०वसुराजाका(सत्य बोलने पर) ७७; सुभूम चक्रवर्तीका (परिग्रह मर्यादा) ७९; ०कच्छी वैश्योंका (तत्त्व समझना) ८०; ०श्रेणिकके सामंतोंका (जीव दया) ८२; ०चंडालचोरका(विनयसे तत्त्वसिद्धि) ८४; ०सुदर्शन शेठका(ब्रह्मचर्य) ८५; ०गजसुकुमारका (क्षमा) ९३; ०गौतम गणधरका (राग) ९४; कपिलमुनिका (तृष्णा) ९५; ०धनाढ्यका (सुख संबंधी विचार) १०६; ०भीलका (मोक्षसुख) ११७; ०षड्दर्शनपर ६९० ०चारगोलोंका (जीव के भेद) ७१२; ०लकडहारोंका (जीवके चार प्रकार) ७२२; ०महावीर स्वामी और संगम देवता ७२३; गौतमस्वामी और आनंदश्रवाक ७२४; ०जौहरीके लडकेका (सदगुरुअसद्गुरुकी परिक्षा) ७२५; मीरांबाई और जीवा गोसांई ७३६; नाभा भगत ७३६; ०संन्यासीका (पंचमकालके गुरुओंपर) ७३७; ०मुनि और सिंह ७३८; ०सच्चे भक्तका (भक्त तेल) ७५२; ०बोहरेका (बीजक मेरे पास है) ७६७ देह, ०मूर्च्छापात्र नहीं ३७८; ०क्षणभंगुर ४८०; ०त्यागके प्रसंगमें खेद कर्तव्य नहीं ५२१; ०में एक विशेषता ६३१; ०का धर्म वेदना जानकर सम्यक् प्रकारसे सहन करना ३९४; ०वेदनाकी मूर्ति ६७९; ०की असाता अधिक कल्याणकारी ६७४; ०का स्वरुप ७६४, ७६८. द्रव्य ६०८, ६१३, ८०१, ८४८; ०और गुण ६०७, ६१५; ०और पर्याय ६१३; ०के तीन अधिकार ६०७; ०के प्रकार ५४२; ०के सात भंग ६१३; ०का लक्षण ६१३; ०के धर्म ७८६.
द्रव्यअध्यात्मी ७३८.
द्रव्य प्रकाश ६०७.
द्रव्यानुयोग १७१, ६६१, ७९१.
द्वादश तप ५८.
द्वादशानुप्रेक्षा १७, ३६, ७५.
द्वादशांग ६०४, ६७०, ८०१, ०के नाम १८०.
द्वादशांगी का अखण्ड सूत्र ४१०.
धर्म २७७, ४६९, ७९७; ०का अस्तित्व ४; ०विषयक पद्य ३, १०; ०के भेद ६७ (देखें सद्धर्म); के मतभेद १०४, ०के मतभेद के मुख्य कारण १७८; ०की दुर्लभता-शिक्षित एवं अशिक्षितके लिये १७९; अंतःशोधनसे प्राप्य १८५; निर्ग्रंथ प्रणीत धर्म अनुपमेय १८८; ०के दो प्रकार-देश और सर्व २१३; ०के उपदेशका पात्र कौन? २१८; ०ही

जिसका अस्थि है २३३; ०कहाँ से श्रवण करना योग्य ? ३६७; ०का मर्म ५७७; ०का स्वरुप वैराग्य १०३; ०का द्रोह ६९१; ०प्राप्तिकी प्रथम भूमिका ८१५.
धर्मकथा ७१६.
धर्मकथानुयोग १७१, ७९१.
धर्मद्रव्य (धर्मास्तिकाय) ५२८, ६१७, ७९६, ८४९, ८५७.
धर्मद्रोह ७९१.
धर्मध्यान ११८, १९५, ३२०, ७३८.
धर्म संन्यास ७५५.
ध्यान १६५, २१८; ०करने योग्य १६८; ०कैसे करना ? १९१; ०सत्संग के बिना तरंगरुप २३२; ०का स्वरुप ३७२.
नय २७७, ७६१, ७८६.
नरक का स्वरुप २४, ५३.
नवकारमंत्र ८६.
नवतत्त्व १२५, ५८५.
निकाचित कर्म ४१३.
नित्यनियम १०२, ७०६.
निमित्तवासी जीव ४९७; ०को क्या कर्तव्य ? ५०२.
निरावरण ज्ञान ५१५.
निरुपक्रम ८०१, ८०६.
निर्ग्रंथ ८०५; ०गुरु ७२५; ०के धर्ममें श्रद्धा १८८.
निर्जरा ७३२, ७७३, ७८१; ०भावना ५८; ०द्रव्य और भाव ६१०; ०के भेद तथा क्रम ६११; ०का मार्ग ६८३; ०कैसे होती है ? ८८, ८२४.
निर्ध्वंस परिणाम ४९१, ४९६, ७१५.
निर्वेद २३६, ७५१.
निवृत्ति, ०बोध ५१, ६८४; ०का फल ४२५; ०का सर्वोत्कृष्ट उपाय ४५१.
निश्चय धर्म ६७.
निश्चय ध्यान ६५९.
निश्चय सम्यक्त्व ७७८.
नीति ४१५; ०नियम २४३; ०वचन १४१, १६५.
नैयायिक ५४०.
परउपयोग ७१६.
परधर्म ५२५.
परमपदका पंथ ५८३.
परमपुरुषदशावर्णन ६३१.
परमश्रुत ५५३.
परमाणु ४५७, ५१६, ६१७; ०की अचिंत्य शक्ति ७८२.
परमार्थ मौन ३२२.
परमार्थ सत्य ७०६.
परमार्थ सम्यक्त्व ३८१, ७४३.
परमार्थ संयम ५०९
परमार्थहेतु मूल व्यवहार ३७७.
परसमय ३१६.
पराभक्ति २८६.
परिग्रह ३३४, ४२५, ५८३, ५८६, ६४८; ०मर्यादा से लाभ ७९; ०संज्ञा ६२३, ७९५.
परिणाम ५९६, ६२०; ०के तीन प्रकार ७९९, ८१०; ०की धारा ८०६
पर्याय ४५७, ४९७.
पर्युषण-आराधना ६८५.
पंचमकाल १२२, २८६ (देखें दुषमकाल)
पंचास्तिकाय ५२८, ६१२, ६२२.
पानी ५३५; ०गरम पानीका उपदेश २९.
पात्रता, ०के लिये ब्रह्मचर्य ८६; ०के लिये चार भावना १९०.
पाँच महाव्रतों में अपवाद ४१८, ४२१.
पुद्गल द्रव्य ५२८, ६१७; ०विपाकी ६२८.
पुनर्जन्म १९७, २०३, ३७८; ०का पता किसे लग सकता है ? ४४७.
पुरुषार्थ, ०के चार भेद २१५, २१७; ०और प्रारब्ध ७००; ०को मुख्य करे ७२९, ७४१, ७५९; ०श्रेष्ठ ७३६.
पुष्पपूजा ७१०; ०माला ३-७.
पूर्वजन्म-संस्कार ५६५.
पूर्णकामता २८०, २९६, ३४२.
प्रतिक्रमण ९०, ८०९.
प्रत्यक्ष आश्रयमार्ग ४३६.
प्रत्यक्ष ज्ञानी ३९९; ०से ही दोषविलय ५५२; ०का महान उपकार ५५४.
प्रतिबंध २७१.
प्रतिमा ६०१; ०सिद्धि १८०.
प्रत्याख्यान ८३, २३३.
प्रदेश १७०, ५१६, ५२७; ०उदय ८०६.
प्रदेशबंध ५९७.
प्रभावना हेतु-अवरोधक कारण ४३६.
प्रभुप्रार्थना १
प्रमाद ९९, १७१, ३२८, ३७८, ३९०, ३९३, ४०८,

५०८, ५८६, ६४६, ६४७, ६५३, ६५७, ६८२, ६८४, ७२१, ७२८, ८१३, ८२३, ८४९.
प्रमोद भावना १९०, १९५, २०९.
प्राणी के भेद ६०८.
प्रेमभक्ति २८२, २८४.
बंध-देखें कर्मबंध
बंधवृत्ति, ०का उपशमन और निवर्तन ४२८.
बाल्यावस्थासे युवास्थामें विशेष विकार क्यों? ५०१.
बाहर उपांगका सार ७२०.
बारह भावना-देखें द्वादशानुप्रेक्षा
बाह्यक्रिया ५४७, ७३०; ०के विधि-निषेध में कल्याण नहीं ५२९; ०का निषेध नहीं २७६, ७७७; ०का निषेध अकर्तव्य ६८३.
बाह्यत्याग ४७०, ७३९.
बीजज्ञान २४६, ४०१, ४३४, ७३३.
बीजभूत भूल ४१६.
बीजरुचि सम्यक्त्व ३८१.
बोधवचन ११; ०के पात्र कौन? २१८.
बौद्ध दर्शन ५४१, ८०२, ८४२.
ब्रह्मचर्य २७, २७२, ५२२, ७४९, ७६३, ८७०; ०संबंधी सुभाषित ८६; ०की नौ बाडें ११३; ०में अपवाद क्यों नहीं? ४१८, ४२१; ०से अवर्णनीय संयमसुख ४८५; ०की कमी से क्षयरोग ६८२.
ब्रह्मरंध्र ५३७.
ब्राह्मीवेदना २९३.
भक्ति, ०जिनेश्वरकी ६९-७०; ०का उपदेश ७१; ०सर्वोपरि मार्ग २७४, ७१९; पराभक्ति २८७; ०रहस्य २८९; ०पूर्णता पाने योग्य कब? २९८; प्रेमरूपके बिना ज्ञान शून्य ३०६; ०सद्गुरुभक्ति रहस्य (काव्य) २२५; ०देनेमें भगवान कृपण क्यों? ३१६; ०मोक्षका धुरंधुर मार्ग ३५०; ०प्रधानदशासे स्वच्छंदादि दोषका विलय ३५६; ०के आधार ४०९; ०शिष्यके कल्याणके लिये ४१२; ०से अनपढको मोक्ष मिलेगा? ४४९; ०के बीस दोहोंकी अनुप्रेक्षा ४५१; ०की सिद्धि कैसे? ४७२; ०सब दोषोंका क्षय करनेवाली ७४४.
भक्तिमार्ग ३२०, ४९७, ५१०, ५२३, ५९६.
भगवान ७५७, ८१२; ०रूप पतिकी प्राप्तिके मार्ग ५९८.
भाव २७; संग्राम ४२; ०जीव ७३१.
भेदज्ञान ८११.
मतभेद (देखें धर्मके मतभेद) ०रहित बोध २०१; ०का कारण दृष्टिभेद २०४.
मतार्थी लक्षण ५५७.
मतिज्ञान ७७८, ७८०.
मन १९५, ६७९; ०की एकाग्रताके लिये अनानुपूर्वी ८७; ०से सर्व उपाधि और इसका उपाय ११३; ०निग्रहके विघ्न १३०; ०वश करनेके साधन १६६, ३२०, ३४६, ३५०; ०अधिष्ठता ८१४.
मनुष्य, ०मरकर जानवर, पत्थर, वृक्ष होता है? ४४५; ०की वंशवृद्धिकी चर्चा ५३१-५३४; ०के प्रकार ६१९ मनःपर्यायज्ञान ५४३; ०कैसे प्रगट होता है? ७०३; ०और मतिज्ञानकी तुलना ७७८.
मल ३८९, ६४६.
महानीति १४१-१६०.
मंगलाचरण ७८०.
मंत्र २९३; ०से कर्मकी निवृत्ति ४१३.
मान, ०पर बाहुबलीकी कथा ७२, ५५०.
मानवदेह ५०, ६३, २१७; ०की दुर्लभता और सफलता ५२३, ६९२; ०चिंतामणि रत्नतुल्य ५८४. ०चक्रवर्तीकी संपत्तिसे विशेष मूल्यवान ६८१.
माया २१०, २४९, ३२९; ०का प्रपंच क्षण-क्षणमें बाधकर्ता २९०, ०से चौदह राजूलोक प्रज्वलित २९२; ०किस तरह भुलाती है? ७३९.
मिथ्यात्व ७२७; ७६४; ०कैसे कम हो? ७३०; ०के भेद ७९३; ०मोहनीय ७४३.
मिथ्यादृष्टि ६७७, ८०२.
मिथ्यावासना ७५३.
मिश्रमोहनीय ७४३, ०गुणस्थानक ७९३.
मुक्त, ०कौन? ६३१; ०होनेके बाद जीव एकाकार? ७३४.
मुनि ७०७, ८२२; ०धर्म ७३४.
मुमुक्षु, ०अखण्ड नीतिका मूल आत्मामें ४१४; ०की दो प्रकारकी दशा ४५२; ०को अज्ञानके सिवाय कोई भय नहीं ४५३; ०के गुण ५८०; ०संतोषपूर्वक आत्महितका ही विचार करे ५८५.
मुमुक्षुता २९९, ३७८, ४६७, ५१०, ६६६; ०कैसे वर्धमान हो? ३३४; का मुख्य लक्षण ४१४; मूल मारग ५४३.

मैथुन संज्ञा ६२३, ७९५.
मोक्ष (मुक्ति) २८५, ४४४, ४८८, ५७७, ७४६, ७४९, ७५४, ७७१, ७७४; ०का इस कालमें स्याद्वाद २६४, ७५६; ०का अवकाश ४२९; ०मिलेगा या नहीं ? ४४४; जीव समझ ले तो सहज मोक्ष ४५३; ०का उपाय-शंका एवं समाधान ५७३; ०द्रव्य और भाव ६१४; ०कैसे होता है ? ६७६, ६८०; ०होता नहीं, समझमें आता है ७८१; ०का स्वरूप २१७ मोक्षमार्ग १८८, २५५, ५८३, ६१८, ०की प्राप्ति कैसे ? २७०; ०सुगम २९३; ०में प्रवृत्ति किसकी ? ४६२; ०का क्रम ६६७; ०अगम्य और सरल ८०८.
मोक्षसुख ११७, ७८०.
मोक्षसिद्धांत ६०५.
मोहगर्भित वैराग्य ७२७.
मोहनीय कर्म ५९३, ७०७, ७१२, ८००, ०के भेद ५७४; ०नष्ट होनेका उपाय ५७४, ६७१; ०और वेदनीय कर्म ८१३.
मौन ४०४, ७०७.
यज्ञ ४४६.
यति १७९, ८२२.
यत्ना ८०, १९१.
यथाख्यातचारित्र ७३९.
यथाप्रवृत्तिकरण ४८१.
यात्राका हेतु ७६५.
योग-बत्तीस ७३; ०बलसहित ४३६.
रमता ३८४.
राग ९४, ०मोक्षमें विघ्नरूप २४०.
रात्रिभोजन, ०त्यागव्रत ८१; ०के दोष ७३२.
रुचक प्रदेश २३६.
लक्ष्मी १९, ७१; ०अंधता देती है १७४; ०का उपार्जन व्यवहारशुद्धिपूर्वक १८५.
लब्धि ६७५, ७३०, ७४६.
लेश्या ५९५.
लोक, ०स्वरूप भावना ५९; ०पुरुषाकार २१९; ०का स्वरूप ५२८, ६१२; ०का स्वरूप आलंकारिक भाषामें ६७२.
लोकलाज–कहाँ छोडना और कहाँ रखना ? ७३५.
लोकोपकार ६९५, ७०३.
लोच क्यों ? ७६५.
लौकिक अभिनिवेश ५१४.
लौकिक दृष्टि ५३१, ५३४; ०और ज्ञानकी दृष्टिमें अंतर ६४०.
वचनामृत १६०.
वचनावली २७३.
वर्णाश्रमधर्म ५४५.
वंचनाबुद्धि ४४१.
वाणीका संयम ४०५.
वासित बोध ६९४.
विकल्प ५९५.
विक्षेप ३८९, ६४६.
विचार, ०दशा ४५२; ०मार्ग ३२०; ०योग ५१६.
विज्ञान ५९६.
विद्या ४०७, ७८०.
विनय, ०से तत्त्वसिद्धि ८४; ०मार्ग ५५६.
विपर्यासबुद्धि ४२३.
विभाव ७९५; ०दशा ६७७; ०योग ८४३.
विरति ७८३; ०ज्ञानका फल ५९४.
विवेक ८१, ९९; ०ज्ञान ४७१.
वीतराग, ०देव क्यों पूज्य ? ७०१; ०धर्म पूर्ण सत्य ४२३, ६७२; ०के वचन पूर्ण प्रतीति योग्य ४८२, ८४८; ०दर्शन (देखें जैनदर्शन); ०संयम ७३९.
वीर्य, भेद-प्रभेद २४०; ०दो प्रकारसे प्रवर्तन ८२०.
वृत्ति, ०संक्षेप ४२८, ५३६; ०का क्षय ७२०; ०कैसे ठगती है ? ७२१; ०को रोकें ७५७.
वृद्धावस्थाका स्वरूप १८, २४२.
वेद ४४६.
वेदकता ३८४.
वेदक सम्यक्त्व ५४०, ७५५, ८००.
वेदना ८१३; ०को देहका धर्म मानकर सम्यक् प्रकारसे सहन करना ३९५; ०वेदते विषमभाव होना अज्ञानका लक्षण ४२७; ०पर औषधकी उपकारिता ६२६; ०में आत्मार्थीका अनुप्रेक्षण ६८०; ०परम निर्जरारूप ६८३.
वेदनीय कर्म ८११, ८१४, ८१६, ८१९.
वेदांत और जैनधर्मकी तुलना २१९, ४३२, ४८१, ४८२, ७८१.
वैराग्य २३१, २९३, ४२४, ४७१, ५०८, ५३६, ७९९, ५४८; ०का बोध क्यों दिया ? १००;

०धर्मका स्वरूप १०३; ०मोहगर्भित ७२७.

व्रत ७०४, ७४३; ०निर्दम्भतासे ७१८; ०करना या नहीं ? ७५२; ०के प्रकार ७६१.

व्यवहार, ०काल ५२७; ०धर्म ६८; ०सत्य ७०६; ०सम्यक्त्व ७४३; ०संयम ५०९; ०शुद्धि १८५.

व्याख्यान, किस लक्ष्य से ? २७१, ५११, ५१२, ५४५, ७०९.

शम २३६, ७५१.

शास्त्र १९०, २३६, ६९२; ०योग्यता वगर शस्त्र ३७७; ०की रचना क्यों ? ७३२.

शास्त्रीय अभिनिवेश ५०८.

शांति ४०८.

शिथिल कर्म ४१३.

शुक्लध्यान १९५, ६६१.

शुष्क, ०अध्यात्मी ३७६, ७३८; ०क्रिया ३७६; ०ज्ञानी ५४८, ५५०, ०ज्ञान ६७७.

शैलेशीकरण ७९९.

शौचाशौचस्वरूप १०२.

श्रावक ७६५, ८१८.

श्रीमद्–नित्यस्मृति १५; सुख संबंधी विचार १११; दूसरा महावीर १७२; ०परमेश्वर ग्रह १७२, ०लक्ष्मी पर प्रीति न होनेपर भी १७४; ०बायी आँखमें चमकारा १७५; ०दिनचर्या १७५; ०मैं किसी गच्छमें नहीं आत्मामें हूँ १७७; ०प्रतिमासिद्धि १८०; ०प्रणाम करने लायक ही हूँ १८४; ०व्यवहारशुद्धि १८५, ०समीप ही हूँ १९१; ०स्त्री संबंधी विचार २०३; ०दुःखी मनुष्योंका सिरताज २०५; ०गृहाश्रम संबंधी विचार २०६, २२५; ०समुच्चयवयचर्या २११; ०जूठाभाईके मरणकी पूर्वसूचना २२६; ०जैनधर्मके आग्रहसे मोक्ष नहीं २२८; ०परिभ्रमण न करनेके प्रत्याख्यान २३१; ०एक परमार्थका ही मनन २३४; ०'केवलज्ञान हवे पामशुं" २४१; ०रेवाशंकरसे कैसे व्यवहार करना ? २४४; ०हे सहजात्मस्वरूपी !... २५२; ०केवलज्ञान तकका परिश्रम व्यर्थ नहीं २५५; ०आत्माने ज्ञान पा लिया यह निःसंशय २५९; दृढ विश्वाससे मानिये कि...२६१; ०अमृतके नारियलका पूरा वृक्ष २६५, ०मुमुक्षुओंकी चरणसेवाकी ही इच्छा २६७; कोई माधव लो २७४; ०यम से भी अधिक संग दुःखदायक २८२; ०अथाह वेदना, साता पूछने वाला नहीं २९५; ०हम देहधारी हैं या नहीं यह भी मुश्किल से जान पाते हैं ३०१; ०सर्व हरिमय ३०३; ०देह होते हुए भी पूर्ण वीतराग ऐसा निश्चल अनुभव ३३५; ०हमने कर्म बाँधे इसलिये हमारा दोष ३३६; ०आत्मभाव से जन्म न लेने की प्रतिज्ञा ३५१; ०अशरीरी भाव से हमारी आत्मस्थिति, भावनयसे सिद्धत्व ३७०; ०आत्मिक बंधनसे हम संसारमें नहीं ३७२; ०हममें मार्गानुसारिता, अज्ञानयोगिता नहीं ३९१; ०सर्वके प्रति समदृष्टि ४००; ०प्रभावना हेतुमें प्रवृत्ति क्यों नहीं ? ४३५; ०सर्व संग खडा आस्रव है यह अनुभव सिद्ध ४५८; ०लग्न प्रसंगमें बाह्य आडंबर नहीं ४६४; ०लोगोंको संदेह हो ऐसे बाह्यव्यवहारके उदयमें उपदेश देना मार्गके विरोध जैसा ४७६; ०दूसरे श्री राम अथवा श्री महावीर ५१७; ०छोटी उमर में मार्ग का उद्धार करने की अभिलाषा और अपनी योग्यता ५३८; ०भीष्मव्रतका वारंवार स्मरण ६३६; ०मेरी चित्तवृत्तियाँ इतनी शांत हो जाये ६५६; ०तप्त हृदयसे और शांत आत्मासे सहन करनेमें हर्ष ६५७; ०बाह्य प्रताप के प्रति उपशांत वृत्ति ६६५; ०सहज दशा ८२९; ०स्वात्मवृत्तांत काव्य 'धन्य रे दिवस आ अहो' ८४०; वैश्य वेष और निर्ग्रंथ भावसे स्थिति ८४२; ०मौनदशा लोगोंके लिये कषायका निमित्त ८४३.

श्रीमान् पुरुषोत्तम २४७, २४८.

श्रुतज्ञान ७८०; ०ठेठ तक अवलम्बन भूत ४७३, ५९३, ५९५, ६३८.

श्वासजय १९६, १९८.

श्वेताम्बर वृत्ति ४२३, ६४०, ८०२, ८१५, ८२१.

षट्चक्र ७९६.

षड्दर्शन ५४१, ८४२; ०पर दृष्टांत ७०९.

सकामनिर्जरा ७७३.

सज्ञनता ३०

सजीवनमूर्ति, ०से मार्गप्राप्ति २७९.

सत् २५६, २७७, २७८, २८१, २८३, ३१४, ३५४; ०की प्राप्तिकी जिज्ञासा २९३.

सत्पुरुष १७७, ३१४, ४१२, ४१५, ७०८, ७१८; ०का समागम अमूल्य लाभ १७५; ०के अन्तरात्मामें मर्म १९०; ०के चरणकमलमें सर्वभावअर्पणतासे मोक्ष २०२; ०की पुराणपुरुषसे अधिक महत्ता २८०;

०की शरण औषधरूप २८१; ०मूर्तिमान मोक्ष २९८; ०में परमेश्वरबुद्धि ३००; ०के प्रति व्यावहारिक कल्पना कैसे दूर हो? ३३४; ०के सम्प्रदायकी सनातन करुणावस्था ३८०; ०की पहचानका फल ४३७; ०की वाणी विषय-कषायके अनुमोदनसे रहित ६३७; ०का योग शीतलवृक्षकी छाया समान ६४१; ०के वचनामृत, मुद्रा और सत्समागम ६६४; ०का यथार्थ स्वरूप ७१७; ०की पहचान कैसे हो? ७५४; ०कैसे है? ७६३ (देखें ज्ञानी पुरुष, सद्गुरु)

सत्य १४१, ३२३, ३३९, ८१५; ०सृष्टिका आधार ७८; ०के भेद ७०६; ०बोलना सहज ७६०.

सत्शास्त्र (सत्श्रुत) ६३८, ६४५, ६४९, ६५५.

सत्संग ७८ २७२, २९८, ३९३, ३९९, ४१०, ४४०, ४८८, ५०३, ६४०; ०के अभावमें क्या करना? ३०६; ०कल्याण का बलवान कारण ३४७; ०काम जलानेका बलवान उपाय ४३०; ०कब निष्फल ४४१, ४८८; ०रूपी कल्पवृक्ष ६८२; ०से समता ७००; ०सच्चा मेला ७०१; ०का फल ७१९; ०से दोष दूर होते हैं ७६२; ०का योग दुर्लभ १७९, ६४९, ६६६.

सद्गुरु २०८, २४२, २५६, ३०४, ३०८, ३११, ४७४, ५०५, ५११, ६८९, ७१०, ७२५, ७४८, ७५३, ७९८, ८०८; ०निःस्वार्थी गुरु २८; ०तत्त्व ६९; ०उपकारी या महावीर स्वामीविशेष उपकारी? ४४१; ०से ही मार्ग प्राप्ति ५५०; ०के लक्षण ५५३, ६५०; ०का अपार उपकार ५७८; ०के सत्संगमें झूठ बोलकर न जाना ७१५; ०और आत्मा एक ७५३.

सद्धर्म तत्त्व ६६.

सद्व्यवहार ५७९.

समता ३८४, समभाव १८८, ०कैसे आये? ७२०.

समदर्शिता ६५१.

समय ४८६, ५१६.

समाधि ४६२, ४६९, ७५६; ०सुख ४७१; ०का स्थान ६८७.

समिति ६२२, ८१४.

सम्यक्त्व (समकित) ५४४, ५५६, ५८४, ६१०, ६५३, ७१८, ७५५, ७७६, ७७८, ७८९; ०कब होता है? १८४; ०का माहात्म्य २१४; ०सर्वगणांश २१५; ०के पाँच लक्षण २३५, ७७८; ०का मुख्य लक्षण वीतरागता ३३०; ०के भेद ५४०, ५७६; ०के बाद पन्द्रह भव ५७६, ६२४; ०के तीन प्रकार आत्मसिद्धिमें ५९५; ०प्रतीतिरूप ६२५; ०चार दोषयुक्त जीवको नहीं होता ७०९; ०कैसे प्रगट हो? ७४३, ७६९; ०कैसे ज्ञात हो? ७४६; ०और व्रत ७६१;०अन्योक्तिसे अपना दूषण बताता है ७७९; ०केवलज्ञानसे कहता है ७७९.

सम्यक्त मोहनीय ७४३.

सम्यग्ज्ञान ५४४, ५८४, ६१०.

सम्यग्चारित्र ५४४, ५८४, ६१०.

सम्यग्दृष्टि ७०९, ७६१; ०की दशा ३९४; ७५६, ८१७; ०अभक्ष्य आहार करता है? ६३६; ०के गुण ७५१.

सरलता, ०धर्मके बीजरूप ८.

सरागसंयम ७३९.

सर्वसंगपरित्याग २०८, ३३५, ५०७, ५१४.

संकल्प ५९६.

संज्ञा ५९६, ७९५.

संन्यासी ७०९.

संयतिधर्म ५३, १९१; ०में पत्र-समाचारादिका निषेध ४१८; ०अति संकुचित मार्ग क्यों? ७३३; ०में एक बार आहार ग्रहण ६५५.

संयम ६२३, ६६१, ७७८, ८३९; ०के प्रकार ५०९; ८३३.

संलेखना ८१६.

संवर ७२९; ०भावना ५७; ०द्रव्य और भाव ६०९.

संवेग २३६, ७५१.

संसार, ०का स्वरूप ७३; ०की चार उपमाएँ ७४, ०परिभ्रमणके कारण १८३, ७९४; ०में रहना कब योग्य? ३२२; ०के प्रतिकूल प्रसंग हितकारी ३८७, ४१०; ०के मुख्य दो कारण ४६८.

संसार अनुप्रेक्षा २२; ०पर दृष्टांत ५०.

संसारी जीव, ०और सिद्धमें परमात्मस्वरूपका भेद ४२७; ०में परमात्मस्वरूप अप्रगट ४७९.

संस्कृत अभ्यास ६६५, ६८४.

सातवाँ गुणस्थानक ७८९.

साधु ७६९, ८२२.

सामान्य नित्यनियम १०२.

सामायिक ८९, ७५३, ७७६.

सांख्य ५४१.

सास्वादन सम्यक्त्व ५४०, ७२५, ७५५.
सिद्ध भगवान ५९७; ०का सुख ७५७; ०के भेद ८०४; आत्मा लोकालोक प्रकाशक ८५०.
सिद्धांत ७८७; ०की रचना असत् नहीं ७१६; ०ज्ञान ४१६; ०बोध ४२४.
सिद्धियोग ३२९, ३९०, ४८५.
सिद्धिलब्धि ८१८, ८२४.
सुख, ०सच्चा किसमें है? ३४; ०संबंधी विचार १०६, ०अंतरमें २२१; ०का समय कौनसा? २४३; ०का मार्ग ६४७.
सुखभास ३८४.
सुदेव, ०भक्ति २७; ०तत्त्व ६५.
सुधारस ४०१, ४०४.
सुपच्चक्खान ७२३.
सूक्ष्म एकेंद्रिय जीव, ०अग्निसे नहीं जलते ४३०.
सोपक्रम ८०६.
स्कंध १७०, ६१६.
स्त्री, ०प्रशंसनीय ८; ०संबंधी विचार २०३, २०५; ०से अनुरोध २४४.
स्थविरकल्प ८१८.
स्थावर ६०८.
स्थितप्रज्ञदशा ४५२.
स्थितिदशा ६३१.
स्वउपयोग ७१६.
स्वच्छंद २७१, ३२०, ५५५, ७२८.
स्वभावस्थिति ७५५.
स्वभावजागृतदशा ६३०.
स्वधर्म ५२५.
स्वयंबुद्ध ५५२.
स्वरूपस्थिति ५५३.
स्वाध्यायकाल ४८६.
हरि २५४; ०के प्रति विरहाग्निका फल २९५; ०इच्छा सुखदायक २९६, २९९, ३०४, ३२०; ०सर्व हरि ३०३.

श्री सनातन जैन धर्म, श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास

संक्षिप्त परिचय

परम ज्ञानावतार परमकृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजीके परम आज्ञानुवर्ती श्री लघुराज स्वामीके (प्रभुश्रीजीके) निमित्तसे इस आश्रमकी स्थापना वि. सं. १९७६ में हुई । मुनिश्री लघुराजस्वामीकी छत्रछायामें इस आश्रमकी उत्पत्ति हुई, अतः भक्तजनोने प्रारंभमें इसका नाम 'श्री लघुराज आश्रम' रखा, परंतु अपने नाम या स्थापनाकी अंशमात्र भी इच्छा न होनेसे परम निःस्पृह गुरुभक्त महर्षि मुनिश्रीने श्रीमद्के इस स्थूल कीर्तिस्तंभका नाम "श्री सनातन जैन धर्म, श्रीमद् राजचंद्र आश्रम" रखनेकी सूचना की। तदनुसार इस आश्रमका नाम रखा गया। श्री सनातन जैनधर्मकी पुष्टिके लिये ही यह आश्रम है।

इस आश्रममें प्रविष्ट होते ही एक भव्य प्रवेशद्वार दृष्टिगोचर होता है । जिस पर 'क्षमा ही मोक्षका भव्य दरवाजा है' यह बडे अक्षरोंमें उत्कीर्ण है । फिर सामने एक नयनरम्य मंदिर है । जिसमें नीचे श्वेतांबर और ऊपर दिगंबर मंदिर है। उसके भूमिगृहमें श्रीमद् राजचंद्रजीकी संगमरमरकी शरीरप्रमाण पद्मासन मुद्राकी प्रतिमा बिराजमान है। इस प्रतिमाके एक ओर प्रणवमंत्र 'ॐकार' तथा दूसरी ओर श्रीमद्जीकी पादुकाजीकी स्थापना है।

इस मंदिरकी बांई ओर एक भव्य सभामंडप है । जिसमें भक्ति, सत्संग, पूजा, सत्श्रवण आदिके लिये सैंकडो मुमुक्षु साथ बैठकर आत्मसाधना करते हैं। इस मंदिरके चौकमें मुख्य प्रवेशद्वारके उपर दूसरी मंजिल पर एक पुस्तकालय है । तीसरी मंजिल पर खुले चौकके मध्यमें सुंदर संगमरमरकी देरीमें श्रीमद्जीकी खडे कायोत्सर्गकी ध्यानमुद्राकी पंचधातुकी प्रतिमा बिराजमान है।

भक्ति संकुलमें मंदिरकी दांई ओर एक व्याख्यानमंदिर है । जहाँ श्रीमद्जीका पद्मासन मुद्राका भव्य चित्रपट स्थापित किया हुआ है । यहाँ वृद्ध मुमुक्षुओं जो सभामंडपकी सीढियाँ नहीं चढ सकते, वे यहाँ बैठकर भक्ति, सत्संग, पूजा, सत्श्रवण आदि करते हैं । पर्युषण आदि पर्वोमें मुमुक्षु बहनें यहाँ प्रतिक्रमण करते हैं । इसके ऊपर शांतिस्थान है जहाँ श्रीमद्जीका सुंदर चित्रपट स्थापित है। वहाँसे पूर्वमें आते हुए 'श्री राजमंदिर' आता है, जिसमें श्रीमद्जी तथा प. पू. लघुराजस्वामी (प्रभुश्रीजी)के सुंदर चित्रपट तथा आज्ञा संबंधी शिलालेख है। वहाँसे पूर्वमें पू. श्री ब्रह्मचारीजीका निवासखंड है । जहाँ उनके दो चित्रपट स्थापित है। वहाँसे पूर्वमें प. पू. प्रभुश्रीजीका निवासखंड है । जहाँ वि.सं. १९९२ की वैशाख सुदी ८ (दि. २८-४-१९३६)को वे समाधिस्थ हुए थे। वहाँ उनकी पाट, गद्दी, लकडी आदि स्मृतिचिह्न तथा उनका चित्रपट दर्शनार्थ रखे हुए है।

मंदिरके चौकके बाहर ईशान दिशाकी ओर प्रभुश्रीजीके अग्निसंस्कार स्थल पर एक देरीमें उनके पादुकाजी स्थापित किये हुए है, उससे आगे पू. श्री ब्रह्मचारीजीके अग्निसंस्कार स्थान पर भी उनकी देरी बनी हुई है, जिसमें उनके पादुकाजी स्थापित किये हुए है ।

वर्तमान सभामंडपमें श्रीमद्जीका कायोत्सर्ग मुद्राका उनके शरीर प्रमाणका भव्य चित्रपट स्थापित

किया हुआ है। वर्तमान सभामंडप पर्व दिनोंमें छोटा पड़नेसे उसके समांतर संगमरमरका १२०'×८०' का एक नूतन सभामंडप निर्मित किया गया है। कुल १७,००० वर्गफूटके इस सभामंडपमें अंदाजन ३,००० मुमुक्षु एक साथ बैठकर भक्ति स्वाध्याय कर सकते हैं। इस नूतन सभामंडपमें श्रीमद्जीका कायोत्सर्ग मुद्राका १३ फूट ऊँचाईका भव्य विशाल चित्रपट स्थापित किया हुआ है।

परमकृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजीने प्रभुश्रीजीसे कहा था-"मुनि, दुषमकाल है इसलिये जडभरत होकर विचरना। रिद्धि, सिद्धि प्रकट होगी, उन्हें लाँघ जाना। इस कालके जीव पके हुए चीभडे (एक फल) जैसे हैं। कठोरता सहन नहीं कर सकेंगे। इसलिये करुणामूर्ति बनोगे तो अनेक जीवोंका आपके द्वारा कल्याण होगा।"

वि. सं. १९७६ से १९९२ तक आश्रममें रहकर प्रभुश्रीजीने एक अनन्य भक्तिक्रम निश्चित करके दिया है। जिसका आराधन लगभग पिछले ९५ बरसोंसे अविरत उनकी आज्ञानुसार आश्रममें चल रहा है। यह आश्रमकी भूमि प्रभुश्रीजीके चरणस्पर्श तथा निवाससे पावन बनी हुई है और आज भी उनकी पवित्र चेतनासे स्पर्शित परमाणुओंका आश्रममें अनुभव होता है। इस पवित्र सत्संगधाम, तीर्थशिरोमणि आश्रमकी यह एक अनन्य विशिष्टता है।

प्रातःकालमें ४-०० बजेसे लेकर रात्रिके ९-३० बजे तक अविरत निम्नानुसार क्रम चलता है:-

प्रातः काल	४-००	से	६-३०	भक्तिके पद, मंत्रस्मरण, आलोचनापाठ, सामायिकपाठ, चैत्यवंदन, स्तवन।
सबेरे	९-००	से	११-४५	श्री आत्मसिद्धिशास्त्रकी पूजा अथवा अन्य पूजा।
दोपहर	२-००	से	४-१५	भक्तिके पद तथा वचनामृत आदि वांचन।
शाम	६-००	से	६-४५	देववंदन तथा ४ जगह पर आरती-मंगलदीवो।
रात	७-१५	से	९-३०	भक्तिके पद, मंत्रस्मरण, श्री आत्मसिद्धिशास्त्रकी भक्ति तथा उपदेशामृत एवं बोधामृतमें से वांचन।

(पर्व दिनोंमें तथा ऋतु अनुसार कार्यक्रम तथा समयमें परिवर्तन होता है)

इस आश्रममें मध्यस्थ वातावरण होनेसे श्वेतांबर, दिगंबर, स्थानकवासी, वैष्णव संप्रदायवाले तथा अन्य संप्रदायवाले किंतु आत्माका कल्याण करनेकी भावनावाले जिज्ञासु जीव आते हैं और रहते हैं। इस पवित्र सत्संगधाम, तीर्थशिरोमणि आश्रमकी यह भी एक अनन्य विशिष्टता है।

पू. श्री ब्रह्मचारीजीका कार्तिक सुदी ७, वि. सं. २०१० (दि. १३-११-१९५३) में देहोत्सर्ग हुए आज कई वर्ष हो गये हैं और उनका कोई उत्तराधिकारी भी नहीं है फिर भी इस आश्रममें ज्ञानीकी आज्ञानुसार भक्ति-सत्संगका निश्चित कार्यक्रम अस्खलितरूपसे चल रहा है। इस आश्रममें आनेवाले और रहनेवाले प्रत्येक मुमुक्षु भाईबहिनके लिये भक्ति स्वाध्यायके क्रममें उपस्थित रहना और भाग लेना अपेक्षित है। यहाँ सभीको मात्र आत्मार्थके लिये, सत्संग, त्याग, भक्ति आदिके लिये रहना है। किसी भी प्रकारके विषयकषाय या प्रमादके लिये आश्रममें रहनेकी मनाई है।

वि. सं. १९५४ में प. पू. प्रभुश्रीजी वसो गाँवमें थे तब परमकृपालुदेव वहाँ पधारे थे। उस समय परमकृपालुदेवने प. पू. प्रभुश्रीजीको, जो कोई मुमुक्षुभाई बहिन आत्मार्थ साधन माँगे तो उसे सात व्यसन, सात अभक्ष्य आदिके त्यागपूर्वक नित्य नियमके पाठ तथा "सहजात्मस्वरूप परमगुरु" मंत्र देनेकी आज्ञा की थी। इस प्रकारसे परमकृपालुदेवने वर्तमानकालमें मोक्षमार्गको प्रकट किया और उसे विश्वमें प्रवर्तमान करनेका अधिकार प. पू. प्रभुश्रीजीको दिया। इस अधिकारके अनुसार प. पू. प्रभुश्रीजीने आश्रमके लिये इस आराधना क्रमकी योजना की है।

इस बारेमें पू. श्री ब्रह्मचारीजी बोधामृत भाग ३, पत्रांक ९८० में लिखते है–

"प. पू. प्रभुश्रीजीने आश्रमके लिये जो कार्यक्रम बनाया है वह बहुत दीर्घदृष्टिपूर्वक निश्चित किया है। उसमें रस न आवे उतनी जीवकी मुमुक्षुताकी कमी है। अपनी कल्पनाके अनुसार प्रवृत्ति की जाये तो उसमें उसे कुछ रस (रुचि) लगता है, किंतु इससे तो स्वच्छंद पुष्ट होता है और वह संसारका कारण है, ऐसा सोचकर ज्ञानीपुरुषके मार्गमें मनको मोडना ही हितकारी है। न माने तो हठपूर्वक भी मनको क्रममें जोडना हितकारी है।"

"प. पू. प्रभुश्रीजीने अपने देहोत्सर्गके कुछ दिन पूर्व, सं. १९९२ की चैत्र वदी पंचमीके पवित्र दिनको इस आज्ञामार्गकी सुपुर्दगी पू. श्री ब्रह्मचारीजीको की थी। पू. श्री ब्रह्मचारीजीके देहोत्सर्गके बाद, परमकृपालुदेवकी प्रत्यक्ष आज्ञासे कोई वंचित न रहे और आज भी मुमुक्षुजीव उस आज्ञाको मान्य कर सके इस शुभ आशयसे जिस स्थान पर प. पू. प्रभुश्रीजी तथा पू. श्री ब्रह्मचारीजी आज्ञा देते थे, उस 'श्री राजमंदिर' के नामसे प्रसिद्ध धर्मस्थान पर यह नित्यनियमकी आज्ञा और स्मरणमंत्रका परिचय करानेवाले प.पू. प्रभुश्रीजीके उपदेशबोधके साथ एक शिलालेख रखा गया है। इस शिलालेखमें बताये अनुसार आज भी कई सत्साधक "संत (प्रभुश्रीजी) के कहे अनुसार मुझे परमकृपालुदेवकी आज्ञा मान्य है" (उ. पृ. २७३) ऐसी भावनासे, इस स्थानमें कृपालुदेवको प्रत्यक्ष मानकर, उनके चित्रपट समक्ष उनकी प्रत्यक्ष आज्ञाको श्रद्धा-पूर्वक मान्य करके, उसकी आराधना करनेका नियम लेते हैं।

आश्रममें सात व्यसन, सात अभक्ष्य, कंदमूल, रात्रिभोजनका सर्वथा निषेध है। ब्रह्मचर्य पालन, आश्रममें आने तथा रहनेवालोंके लिये अनिवार्य और आवश्यक है। आश्रमकी यह मूलभूत नींव है।

इस आश्रमके बारेमें प. पू. प्रभुश्रीजीने ऐसे उद्‌गार निकाले हैं–

"यह आश्रम कैसा है जानते हो? देवस्थानक है। यहाँ जिसे आना हो उसे लौकिकभाव बाहर, दरवाजेके बाहर छोड़कर आना है। यहाँ आत्माका योगबल प्रवर्तमान है।" (पृ. २६९)
"इस आश्रममें कृपालुदेवकी आज्ञा प्रवर्तमान है। वे महान अद्‌भुत ज्ञानी है। इस पुण्यभूमिका माहात्म्य अलग ही है। यहाँ रहनेवाले जीव भी पुण्यशाली है।" (पृ. ४३३)

आश्रममें मुमुक्षुओंके रहने और भोजनकी समुचित व्यवस्था है। पर्व दिनोंमें हजारों मुमुक्षु यहाँ आकर लाभ लेते हैं।

यहाँके पुस्तक बिक्री विभागमें आश्रम द्वारा प्रकाशित १२० से ज्यादा पुस्तकोंकी बिक्री होती है। जिसमें श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डलके अन्तर्गत श्रीमद् राजचंद्र जैन शास्त्रमालाके नामसे प्रकाशित शास्त्र भी समाविष्ट है। (पुस्तकसूची इसी पुस्तकमें अन्यत्र दी गई है।)

ओफिस कार्यालयके उपर पहली मंजिल पर प्राचीन जैन साहित्यका नमूनेदार संग्रह स्थान है। जहाँ ५०० से ज्यादा शास्त्रोंका संग्रह है, जिसमें कई शास्त्र हस्तलिखित है। लम्बे समय तक ये शास्त्र सुरक्षित रह सके इस हेतु उन्हें लेमीनेट करके व्यवस्थित रखा गया है।

इस आश्रमका संचालन सं. १९८०, चैत्र सुद ५ ता. ९-४-१९२४ के दिन प. उ. प. पू. प्रभुश्रीजी द्वारा किये गये ट्रस्टडीडके अनुसार तथा उसके बाद गुजरात राज्यके माननीय चेरिटी कमिश्नरश्री द्वारा बनाई हुई 'स्कीम' के आधीन ट्रस्टीमंडल द्वारा हो रहा है।

सुज्ञ पाठक अच्छी तरहसे समझ गये होंगे कि प. उ. प. पू. प्रभुश्रीजी द्वारा स्थापित इस आश्रममें उनकी आज्ञानुसार श्री सनातन जैनधर्मकी प्रणाली मान्य है। धर्मका यह मुख्य मार्ग यहाँ सतत बहता रहे एतदर्थ आश्रमका ट्रस्टीमंडल तथा अन्य समझदार मुमुक्षुवर्ग सदा जागृतरूपसे प्रयत्नशील हैं। फिर भी मिथ्या श्रद्धावालोंका परिबल चारों ओर दृष्टिगोचर हो रहा है। ऐसी परिस्थितिमें आश्रमकी सत्प्रणालीमें हस्तक्षेप कर उसके मूल ध्येय और आदर्शको हानि पहुँचानेका प्रयत्न करनेवाले ऐसे तत्त्वोंसे सचेत रहनेकी और समय आनेपर उसका प्रतिकार करनेकी हम सबकी पवित्र फर्ज है। आश्रमका अस्तित्व ही जिस पर टिका हुआ है ऐसे इस प्राणप्रश्नकी रक्षाके लिये ट्रस्टीमंडल आप सबका सहयोग चाहता है। जो इस तीर्थभूमिको आत्मकल्याणका एक अनुपम स्थान मानते है, उनकी तरफसे संपूर्ण सहयोग मिलेगा ही-ऐसी यह ट्रस्टीमंडल श्रद्धा रखता है।

अन्तमें, फिरसे निवेदन हैं कि श्री सनातन जैन वीतरागमार्गकी उपासनाके लिये ही यह आश्रम है। इस मूल ध्येयको सन्मान देकर, भावपूर्वक सहयोग देकर सब मुमुक्षु इस आश्रमका गौरव बढाये ऐसी हमारी नम्र विनंती है।

आश्रमके संपर्कके लिये एड्रेस :–
श्रीमद् राजचंद्र आश्रम,
स्टेशन अगास, वाया : आणंद
पोस्ट : बोरीआ, गुजरात ३८८ १३० (भारत)
टेलीफोन : ०२६९२-२८१७७८ - २८१८००
फेक्स : ०२६९२-२८१३७८
E-mail ID: info@agasashram.org
Website www.shrimadrajchandraashramagas.com

श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगासना प्रकाशनो
गुजराती प्रकाशन

૧.	અધ્યાત્મરસ-તરંગ	રૂા. ૪/-
૨.	આશ્રમ પરિચય (અમૃત મહોત્સવ)	રૂા. ૫/-
૩.	આઠ દૃષ્ટિની સજ્ઝાય	રૂા. ૩/-
૪.	અનિત્ય પંચાશત્ તથા હૃદયપ્રદીપ	રૂા. ૨/-
૫.	આત્મસિદ્ધિ શાસ્ત્ર (અર્થ સહિત) શ્રીમદ્ રાજચંદ્રના હસ્તાક્ષરમાં	રૂા.૧૨૫/-
૬.	આત્મસિદ્ધિ-વિવેચન	રૂા. ૫/-
૭.	આત્મસિદ્ધિશાસ્ત્ર	રૂા. ૨/-
૮.	આત્મસિદ્ધિશાસ્ત્ર (અર્થ સહિત)	રૂા. ૫/-
૯.	આત્મસિદ્ધિશાસ્ત્ર 'રાજ' જ્યોતિ-મહાભાષ્ય	રૂા. ૩૦/-
૧૦.	આલોચનાદિ પદ સંગ્રહ	રૂા. ૪/-
૧૧.	આલોચનાદિ પદ સંગ્રહ (સંક્ષિપ્ત)	રૂા. ૫/-
૧૨.	કર વિચાર તો પામ	રૂા. ૭/-
૧૩.	મોટું કેલેન્ડર	રૂા.૧૦૦/-
	નાનું કેલેન્ડર	રૂા. ૧૦/-
૧૪.	ચૈત્યવંદન ચોવીશી	રૂા. ૧૦/-
૧૫.	જ્ઞાનમંજરી	રૂા. ૪/-
૧૬.	તત્ત્વજ્ઞાન (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પ્રણીત)	રૂા. ૫/-
૧૭.	તત્ત્વજ્ઞાન-તરંગિણી	રૂા. ૧૨/-
૧૮.	તીર્થપરિચય	રૂા. ૨૦/-
૧૯.	ધર્મામૃત	રૂા. ૧૫/-
૨૦.	નાની છ પુસ્તિકાઓનો સેટ	રૂા. ૧૦/-
૨૧.	નાની ત્રણ પુસ્તિકાઓનો સેટ :-	
	નિત્યક્રમ : પ્રાતઃકાળ	રૂા. ૨/-
	નિત્યક્રમ : મધ્યાહ્નકાળ	રૂા. ૨/-
	નિત્યક્રમ : સાયંકાળ	રૂા. ૨/-
૨૨.	નિત્યક્રમ	રૂા. ૧૦/-
૨૩.	નિત્યનિયમાદિ પાઠ (ભાવાર્થ સહિત)	રૂા. ૮/-
૨૪.	નિયમસાર - કળશ	રૂા. ૫/-
૨૫.	પત્રશતક-(શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર વચનામૃત)	રૂા. ૫/-
૨૬.	પરમાત્મપ્રકાશ	રૂા. ૧૦/-
૨૭.	પંચાસ્તિકાય	રૂા. ૨/-
૨૮.	પૂજાસંચય	રૂા. ૧૦/-
૨૯.	પ્રત્યક્ષ સત્પુરુષ પરમકૃપાળુદેવ શ્રીમદ્-રાજચંદ્ર	રૂા. ૫/-
૩૦.	મુનિ પ્રત્યે	રૂા. ૫/-
૩૧.	મોક્ષમાળા (ભાવનાબોધ સહિત)	રૂા. ૫/-
૩૨.	રાજપદ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પ્રણીત)	રૂા. ૫/-
૩૩.	રાજપ્રશ્ન	રૂા. ૨૦/-
૩૪.	વિહરમાન જિન-સ્તવન	રૂા. ૩/-
૩૫.	શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર (વચનામૃત)	રૂા. ૧૦/-
૩૬.	શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર (વચનામૃત) ત્રણ ભાગમાં મોટા ટાઈપમાં	રૂા. ૫૦/-
૩૭.	શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર (વચનામૃત) આર્ટ પેપર	રૂા.૧૦૦/-
૩૮.	શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર આત્મકથા	રૂા. ૬/-
૩૯.	શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર ઉપદેશછાયા	રૂા. ૩/-
૪૦.	કાવ્ય-અમૃત ઝરણા (ભાવાર્થ સહિત)	રૂા. ૪/-
૪૧.	શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર જીવનકળા	રૂા. ૫/-
૪૨.	શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર જીવનચરિત (સંક્ષિપ્ત)	રૂા. ૧/-
૪૩.	શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર જીવન-સાધના	રૂા. ૧૦/-
૪૪.	શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર નિર્વાણ શતાબ્દી-સ્મારક ગ્રંથ	રૂા. ૧૦/-
૪૫.	શ્રીમદ્ લઘુરાજસ્વામી (પ્રભુશ્રીજી) ઉપદેશામૃત	રૂા. ૧૦/-
૪૬.	શ્રીમદ્ લઘુરાજસ્વામી (પ્રભુશ્રીજી)નું જીવનચરિત્ર	રૂા. ૩/-
૪૭.	સમયસાર	રૂા. ૮/-
૪૮.	સમયસાર 'અમૃતજ્યોતિ' મહાભાષ્ય ભાગ-૧ અને ભાગ-૨ (સેટ)	રૂા. ૬૦/-
૪૯.	સમાધિ - સાધના	રૂા. ૧૦/-
૫૦.	સમાધિ - સોપાન	રૂા. ૧૦/-
૫૧.	સહજ સુખ સાધન	રૂા. ૧૦/-
૫૨.	સાક્ષાત્ સરસ્વતી	રૂા. ૨/-
૫૩.	સુબોધ સંગ્રહ (સ્ત્રી-નીતિબોધક ગરબાવલી સહિત)	રૂા. ૩/-
૫૪.	શ્રી સોભાગ પ્રત્યે	રૂા. ૫/-
૫૫.	સ્નાત્રપૂજા	રૂા. ૫/-
૫૬.	સ્વામી કાર્ત્તિકેયાનુપ્રેક્ષા	રૂા. ૧૫/-
૫૭.	શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર જીવનકથા (સચિત્ર)	રૂા. ૧૦/-
૫૮.	ઉપદેશામૃત દૃષ્ટાંતકથાઓ	રૂા. ૩/-
૫૯.	ગાંધીજીના પ્રશ્નો અને શ્રીમદ્જીના ઉત્તર (અંગ્રેજી અનુવાદ સાથે)	રૂા. ૫-/-
૬૦.	પ.ઉ.પ.પૂ. પ્રભુશ્રીજી સાર્ધ શતાબ્દી-સ્મારકગ્રંથ	રૂા. ૫૦/-
૬૧.	સદ્ધા પરમ દુલ્લહા	રૂા. ૧૦/-

देवनागरी लिपि (भाषा गुजराती) में प्रकाशित

१.	आत्मसिद्धि शास्त्र	रु. २/-
२.	आलोचनादि पद संग्रह (संक्षिप्त)	रु. ५/-
३.	चैत्यवंदन चौवीशी	रु. ७/-
४.	तत्त्वज्ञान	रु. २/-
५.	नित्यक्रम	रु. ८/-
६.	नित्यक्रमकी तीन पुस्तिकाएँ	रु. ६/-
७.	पूजासंचय	रु. ७/-

हिन्दी अनुवाद

१.	आत्मसिद्धिशास्त्र (अर्थ सहित)	रु. ५/-
२.	कर विचार तो पाम	रु. ७/-
३.	नित्यनियमादि पाठ (भावार्थयुक्त)	रु. १०/-
४.	पत्रशतक	रु. ५/-
५.	मोक्षमाला (भावनाबोध सहित)	रु. ५/-
६.	श्रीमद् राजचंद्र	रु. १०/-
७.	श्रीमद् राजचंद्र उपदेशछाया	रु. ३/-
८.	श्रीमद् राजचंद्र - जीवनकला	रु. ५/-
९.	श्रीमद् राजचंद्र जीवनचरित्र (संक्षिप्त)	रु. २/-
१०.	श्रीमद् राजचंद्र जीवन-साधना	रु. १०/-
११.	छोटी छह पुस्तिकाओंका सेट	रु. १०/-
१२.	उपदेशामृत	रु. १०/-
१३.	श्रीमद् राजचंद्र जीवनकथा (सचित्र)	रु. १०/-
१४.	गांधीजीके प्रश्न तथा श्रीमद्जीके उत्तर (अंग्रेजी अनुवादके साथ)	रु. ५/-
१५.	मोक्षमाला प्रवेशिका	रु. ५/-

English Publications

1.	Shrimad Rajchandra: A Life	Rs. 10/-
2.	Shrimad Rajchandra: A Pictorial Biography	Rs. 10/-
3.	The Self Realization (Atmasiddhi)	Rs. 10/-
4.	Bhavana Bodh	Rs. 2/-
5.	Nityakram (Roman English)	Rs. 10/-
6.	Small Books Set (Five Books)	Rs. 10/-
7.	Laghurajswami Life	Rs. 5/-
8.	Brahmchariji Life	Rs. 5/-
9.	Apoorva Avsar	Rs. 5/-
10.	Jeevankala	Rs. 10/-
11.	Mokshamala	Rs. 10/-
12.	Introduction of Ashram	Rs. 5/-

श्री लघुराज स्मारक ग्रंथमाळा

१.	ग्रंथ युगल (लघुयोगवासिष्ठसार अने समाधिशतक)	રૂા. ४/-
२.	तत्त्वार्थसार	રૂા. १/-
३.	प्रज्ञावबोध (मोक्षमाळा-पुस्तक चोथुं)	રૂા. ८/-
४.	बोधामृत भाग १	રૂા.१०/-
५.	बोधामृत भाग २ (वचनामृत विवेचन)	રૂા.१०/-
६.	बोधामृत भाग ३ (पत्रसुधा)	રૂા.१०/-
७.	पू.श्री ब्रह्मचारीजी जन्मशताब्दी-स्मारक ग्रंथ	રૂા. ८/-
८.	प. पू. ब्रह्मचारीजी : जीवनरेखा	રૂા. २/-
९.	मोक्षमाळा - प्रवेशिका	રૂા. ५/-
१०.	मोक्षमाळा विवेचन	રૂા. ५/-
११.	श्रीमद् राजचंद्र अर्धशताब्दी-स्मारक ग्रंथ	રૂા.१०/-

श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल संचालित श्रीमद् राजचंद्र जैन शास्त्रमाला

१.	इष्टोपदेश	रु. १६/-
२.	क्रियाकोष	रु. ४८/-
३.	गोम्मटसार कर्मकाण्ड	रु. २८/-
४.	गोम्मटसार जीवकाण्ड	रु. ३०/-
५.	ज्ञानार्णव	रु. ३५/-
६.	तत्त्वसार	रु. २०/-
७.	द्रव्यानुयोगतर्कणा	रु. ३२/-
८.	न्यायावतार	रु. १६/-
९.	परमात्मप्रकाश और योगसार	रु. ४०/-
१०.	पञ्चास्तिकाय	रु. २४/-
११.	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	रु. २०/-
१२.	प्रवचनसार	रु. ५५/-
१३.	प्रशमरतिप्रकरण	रु. १२/-
१४.	बृहद्द्रव्यसंग्रह	रु. २८/-
१५.	लब्धिसार (क्षपणासार गर्भित)	रु. ५६/-
१६.	सप्तभंगीतरंगिणी	रु. १२/-
१७.	सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र (मोक्षशास्त्र)	रु. ४०/-
१८.	समयसार	रु. ४४/-
१९.	स्याद्वादमञ्जरी	रु. २४/-
२०.	स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा	रु. ५२/-
२१.	अध्यात्म राजचंद्र	રૂા.३०/-
२२.	अष्टप्राभृत	રૂા.१८/-
२३.	आत्मानुशासन	રૂા.२०/-

(विस्तृत सूचिपत्र जोईए तो मंगावजो.)

रकम	नाम	गाँव
११,५५५	श्री पारसभाई एम. जैन तथा श्री भावनाबेन पी. जैन	अगास आश्रम
११,१११	श्री स्मीताबेन वसंतभाई शाह	अगास आश्रम
११,०००	स्व. भुरीबेन संतोकचंदजी मेहता हा. सपरिवार	गढसिवाना
६,९२२	स्व. खेंगारभाई सवाजी पुरोहित हा. कस्तुरचंद ओटरमल एन्ड कुं.	हुबली
५,००१	श्री नटुभाई, शारदाबेन, धर्मेशकुमार	वाव
५,०००	श्री कामदार परिवार	मुंबई
५,०००	श्री ईश्वरभाई बावाभाई पटेल	साधली
५,०००	श्री अनुपाबेन जगदीशभाई संघवी	घाटकोपर
५,०००	श्री सुज्ञान मोदी	नोइडा
२,५०१	श्री राजेन्द्रकुमार - कल्याणीबेन मोदी	मीरारोड
२,२७५	श्री ह्युस्टन मुमुक्षु मंडळ	ह्युस्टन
२,१०१	श्री अशोकभाई, रसीलाबेन, रीनाबेन	मद्रास
२,१००	श्री संघवी कमलाबेन मांगीलालजी रतनपुरावोहरा	मोधरा
१,५००	श्री गीताबेन सतिषभाई शाह	मुंबई
१,५००	श्री मंगीबेन सोमाभाई पटेल	अगास आश्रम
१,१००	श्री कल्पनाबेन दोशी	मुंबई
१,००८	श्री महेन्द्रभाई रमणलाल शाह	अहमदाबाद
१,००१	श्री पारसबेन सुभाषभाई मुथा	नागपुर
१,००१	श्री मंजुलाबेन हिंमतलाल शाह	अगास आश्रम
१,००१	श्री शीलाबेन दिपकभाई शाह	अगास आश्रम
१,००१	स्व. अमृतभाई हीराचंद गंगर	थाणा
१,०००	एक मुमुक्षुभाई	अहमदाबाद
१,०००	श्री मृदुलाबेन बिपीनचंद्र शाह	वडोदरा
१,०००	श्री शांतिलालजी फकीरचंदजी सिंघवी	सुरत
१,०००	श्री किशोर, धनेश, प्रशम, ऋषभ गुंदेचा	नागपुर
१,०००	श्री हितैशी धिरेन गडा	मद्रास
१,०००	श्री सरसबेन उत्तमचंदजी गुंदेचा	अगास आश्रम
१,०००	श्री वीणाबेन सुरेन्द्रभाई परीख	वडोदरा
१,०००	एक मुमुक्षुभाई	अगास आश्रम
१,०००	श्री सुभाषभाई कटारीया	हिंगनघाट
१,०००	श्री मनुबेन - किशोरभाई पटेल	ह्युस्टन
१,०००	श्री धीरेनभाई विनयकान्त शेठ	मुंबई
५५५	श्री इन्दरसिंह गेहलोत	कोटा
५०१	श्री निर्मळाबेन हरीशभाई शाह	अगास आश्रम
५०१	श्री निकीता मिहीन शाह	अगास आश्रम
५०१	श्री हरमन तथा मनन शाह	अगास आश्रम
५००	श्री पूर्णि पुनित साटीया	हुबली
५००	श्री रंभाबेन रमणीकलाल महेता	पूना
५००	श्री नेमचंद वेलजी छेडा	मुंबई
५००	श्री रसीकलाल मोतीलाल शेटिया	पूना
५००	श्री आशा रसीकलाल शेटिया	पूना
५००	श्री मदनलालजी उत्तमचंदजी देसरडा	औरंगाबाद
५००	श्री सुशीलाबाई मदनलालजी देसरडा	औरंगाबाद
५००	श्री संतोषजी भीकमचंदजी दुग्गड	पूना
५००	श्री कल्पनाबेन संतोषजी दुग्गड	पूना
५००	श्री रमणीकलाल मगनलाल देढिया	मुंबई
५००	श्री डाह्यालाल चुनीलाल शाह	भीलोडा
५००	श्री कृणाल राजेन्द्रभाई दोशी	अहमदाबाद
५००	श्री कान्ताबेन जोरमलभाई शाह	अगास आश्रम
५००	स्व. संदीपभाई जोरमलभाई शाह	अगास आश्रम
५००	श्री चेतनाबेन अश्विनभाई शाह	हैद्राबाद
५००	श्री मैत्री अंकितभाई शाह	बोरीवली
५००	श्री दिव्याबेन धनजीभाई छेडा	अगास आश्रम
५००	श्री जयश्रीबेन हसुभाई पटेल	विहाण
५००	श्री दिपेन हसुभाई पटेल	विहाण
५००	श्री दर्शनाबेन हसुभाई पटेल	विहाण
५००	श्री नीताबेन सुधीरभाई शाह	मुंबई


G 024 ₹ 10